

[illegible]

पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ,

मंत्री—श्री आचार्य [illegible] दि० जैन ग्रन्थमाला समिति,

[illegible], जयपुर (सिटी)।

❀ विषय-सूची ❀

विषय	पृष्ठ संख्या
मङ्गलाचरण	५४१
भावना का महत्व	”
भावना शब्द का अर्थ और उसके भेद	५४२
बारह भावनाओं के नाम	५४३
अनित्य भावना	”
धन की अनित्यता	५४३
जीवन की अनित्यता	५४४
यौवन की अनित्यता	५४५
सब पदार्थों की अनित्यता	”
अशरण भावना	५४६
कर्मोदय की प्रबलता	५५०
शरण के भेद-प्रभेद	५५१
एकत्व भावना	५५२
एकत्व के भेद	”
प्रकारान्तर से एकत्व-भावना का स्वरूप	५५५
बन्धु आदि जीव के उपकारक नहीं	५५५
धर्म की प्रशंसा	५५६
ज्ञानवान को शरीर और धनादि में अनुराग क्यों नहीं होता ?	५५७
अन्यत्व भावना	५५८
अन्यत्व के ४ भेद	”
जीव से भिन्न अन्य वस्तु का स्वरूप	५५९
संसार में कौन किसका हुआ है ?	५६०
स्वजन व परजन का भेद	५६१
शत्रु व मित्र कौन है ?	५६२
संसारानुप्रेक्षा	५६३
संसार का स्वरूप	”
जीवों की अवस्था के भेद	”
(१) संसार	५६४
(२) असंसार	”
(३) नो संसार	”
(४) तत्त्रितय व्यपाय	”

विषय	पृष्ठ संख्या
चारों प्रकार के संसार का स्वरूप और उनका काल	४५४
पांच प्रकार का परिवर्तन	४६४
द्रव्य-परिवर्तन	४६५
क्षेत्र-परिवर्तन	४६६
काल-परिवर्तन	"
भाव का तात्पर्य	४६८
भाव-परिवर्तन का विस्तार पूर्वक वर्णन	"
भव-परिवर्तन	४७१
संसार में जीव को सर्वत्र भय	४७२
जीव का चौरासी लाख योनियों में जन्म	४७३
संसार के छह भेद	४७४
संसार में दुःख ही दुःख	४७४
सांसारिक सुख के साथ दुःख	४७६
लोकानुप्रेक्षा	४७७
लोक के भेद	४७७
लोक का स्वरूप	४७८
लोक का आकार	"
वातवलयों के आधार पर लोक की स्थिति	४७९
अन्यमतों की अपेक्षा लोक का स्वरूप	४७९
सांख्य मत की अपेक्षा लोक का स्वरूप	४८०
सांख्यादि अन्यमतों का निराकरण	४८०

विषय	पृष्ठ संख्या
लोक के विभाग—	५८२
अधोलोक का वर्णन	"
निगोदिया जीवों का निवास	"
नरक पृथ्वियों का वर्णन	५८३
प्रथम पृथ्वी और उसके विभाग	"
खर भाग की १६ पृथ्वियाँ	"
पंक भाग	"
अब्बहुल भाग	"
सातों नरकों की मोटाई व [illegible]	"
नारकियों के शरीर की ऊँचाई	५८४
नरक में ठंड और गर्मी	"
नारकियों के [illegible] का अन्तर	५८५
नरक में जन्म कौन लेता है?	५८६
नरकों के उत्पाद स्थानों का आकार व उनमें जन्म की दशा	५८७
नारकियों के दुःख	"
नारकियों की आयु व शरीर की ऊँचाई	"
नारक जीवों के अवधिज्ञान का क्षेत्र	५९१
नरक से निकले हुए जीवों की उत्पत्ति का [illegible]	"
नरक में [illegible] करने वाले जीवों का विभाग	"
नरक भूमि में जीवोत्पत्ति का अन्तर	"
भवनवासियों के आवास—	"
भवनवासी देवों के भेद	५९३
इन्द्रों में परस्पर ईर्ष्या	"
भवनवासी देवों के चिह्न	"
भवनवासी देवों के भवनों की विशेषतायें	"

विषय	पृष्ठ संख्या
व्यन्तरादि देवो के आवास-स्थान	५६४
देवो मे इन्द्र व प्रतीन्द्र का क्रम	"
इन्द्रो की सभा, सेना व देवागनाएँ	"
असुरादि देवो के श्वासोच्छ्वास तथा आहार का क्रम	५६५
देवो के शरीर का उत्सेध	"
व्यन्तर देव	५६६
व्यन्तरो के शरीर का वर्णन	"
व्यन्तरो के चैत्य वृक्ष	"
व्यन्तरो मे इन्द्र प्रतीन्द्र देवागना व सेना	"
व्यन्तरो के इन्द्रो के नगर	५६७
वाण व्यन्तरो के भेद, आवास स्थान और उनकी आयु	"
व्यन्तरो के निलय	५६८
व्यन्तरो के रहने के क्षेत्र	"
मध्यलोक	५६६
तिर्यक् लोक का वर्णन	"
जम्बूद्वीप का वर्णन	"
कुलाचलो का विस्तार और वर्णन	६००
कुलाचलो पर सरोवर	"
सरोवरों के मध्य कमल और उनपर सपरिवार देवियाँ	"
ह्रदो से नदियो का उद्गम	६०२
गङ्गा नदी के निकास व गमनादि	"
सिंधु " "	६०३
शेप नदियो का वर्णन	६०४
नदियो का विस्तार	६०५
भरतादि क्षेत्रो का विस्तार	"
विदेह क्षेत्र के मध्य मे स्थित मेरु का स्वरूप	६०६
अन्य चार मेरु पर्वत	"
सुमेरु पर्वत की चोडाई का क्रम	६०७
मेरु पर स्थित शिलाओ का वर्णन	६०८
जम्बू वृक्ष का वर्णन	"
विदेह क्षेत्र	६१०
वृपभाचल पर्वतो का वर्णन	६११
राजधानियो का वर्णन	६१२
नाभिगिरि का वर्णन	"
कूटो का वर्णन	"
कालचक्र का परिवर्तन	६१३
उत्सर्पिणी, अवसर्पिणीकाल और उनके ६ भेद	"
काल की अपेक्षा जीवो की आयु	"
कल्पवृक्षो के भेद	६१४
भोगभूमि का स्वरूप	६१५
कर्मभूमि के प्रवेश का अनुक्रम और कुलकरों की उत्पत्ति	"
कुलकरो का कार्य	६१६
तिरेसठशलाका के पुरुप	६१७
तीर्थंकरों के शरीरो की ऊँचाई व आयु का प्रमाण	"
तीर्थंकरों के अन्तराल	६१८
जिनधर्म का उच्छेदकाल	"
शक और कल्की की उत्पत्ति	६१९
नियत भोगभूमियाँ	"
कुभोग भूमि कहा कहा है ?	६२०
कुभोग भूमियो मे जन्म लेनेवाले जीव	"
धातकीखंड और पुष्करार्ध की रचना	६२१

विषय	पृष्ठ संख्या
लवण समुद्र के पाताल	६२१
अन्य द्वीप व समुद्र	६२२
समुद्रो के जल का रसास्वाद	६२३
ज्योतिष देवो का वर्णन	"
ज्योतिष देवो के विमाने	६२४
विमानों के आकार व वर्ण	"
ज्योतिष विमानों की गति	६२६
सूर्य व चन्द्रमा की संख्या	"
चन्द्रमा का विचरण क्षेत्र और वीथियाँ	६२७
ज्योतिषियो की आयु	६२८
ज्योतिष देवों की देवागनाएँ	"
ज्योतिष देवो मे उपपाद	"
ऊर्ध्वलोक	
ऊर्ध्वलोक का विस्तार	६२६
स्वर्गों मे इन्द्र-क्रम	"
नवग्रैवेयकादि वर्णन	"
प्रतर संख्या	६३०
विमानो की स्थिति	६३१
प्रकीर्णक विमानो की संख्या, विस्तार और बाहुल्य	६३२
विमानों का रंग	"
इन्द्र के निवास करने का विमान और उसका नाम	६३३
इन्द्रो के नगर	"
महादेवियाँ व विक्रिया परिवारादि का वर्णन	६३४
इन्द्र के आस्थान-मण्डप का स्वरूप	"
मानस्तम्भ और करण्डक	

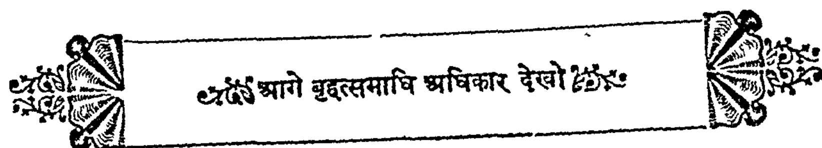
विषय	पृष्ठ संख्या
इन्द्र का उत्पत्ति गृह	६३५
कल्पवासिनी देवागनाओं के उत्पत्ति स्थान	"
देवों का प्रवीचार (काम सेवन)	"
वैमानिक देवों की विक्रिया, गमन-शक्ति और अवधिज्ञान	६३६
सौधर्मादि देवों के जन्म व मरण का विरह काल	"
इन्द्रादि का उत्कृष्ट विरहकाल	६३७
आभियोग्यादि अधम देव कैसी क्रिया व भावना से पर्याय पाते हैं	६३७
घातायुष्क की आयु	"
भवनत्रिक देवों मे घातायुष्क सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की आयु	६३८
लौकांतिक देवों का स्वरूप, अवस्थान आयु आदि का वर्णन	"
कल्पवासिनी देवियो की आयु का प्रमाण	६३६
गुणस्थान की अपेक्षा देवगति में जन्म	"
देवों के जन्म का वृत्तान्त	६४०
देवादि की विभूति किनको प्राप्त होती है ?	६४१
ईषत्प्राग्भार नामक अष्टम पृथ्वी	"
अशुचि अनुप्रेक्षा	६४२
शरीरादि की अपवित्रता	६४२
शरीर का उपादान भी अशुचि है	५४३
शरीर की उत्पत्ति का क्रम	"
शुद्धि के भेद	"
लौकिक शुद्धि के ८ भेद और उनका स्वरूप	६४५
लोकोत्तर शुद्धि के ८ भेद और उनका स्वरूप	६४६
आस्रवानुप्रेक्षा	६४८
आस्रव का स्वरूप	"

विषय	पृष्ठ संख्या
मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग का स्वरूप	६४६
अनुकम्पा के तीन भेद और उनका स्वरूप	"
शुद्धोपयोग के भेद	६५१
मुनि का शुद्धोपयोग	६५१
गृहस्थ का शुद्धोपयोग	"
संवर भावना	६५२
संवर का स्वरूप	"
बंध का संक्षिप्त स्वरूप	"
१५ प्रमादों का कथन	६५३
इन्द्रिय के विषयों से विरक्ति	"
निर्जरानुप्रेक्षा	६५४
निर्जरा के २ भेद व उनका स्वरूप	६५५
धर्मानुप्रेक्षा	६५६
धर्म का स्वरूप	"
दशलक्षण धर्म	"
उत्तम क्षमा	६५७
उत्तम मार्दव	६६०
उत्तम आर्जव	६६३
उत्तम शौच	६६४
लोभ के भेद और उनका स्वरूप	"
उत्तम सत्य	६६६
सत्य के दश भेद	६६७
उत्तम संयम	६६८
संयम के भेद और उनका स्वरूप	"
संयमी का निवास	"
उत्तम तप	६६९
उत्तम आकिञ्चन्य	"
उत्तम ब्रह्मचर्य	"
बोधिदुर्लभ भावना	६७०
मनुष्य–जन्म कितना दुर्लभ है	"
अनगार–भावना अधिकार	६७२
१ लिङ्ग शुद्धि	६७२
दीक्षा योग्य पात्र	६७३
पात्र के सम्बन्ध में विभिन्न शास्त्रों का उद्धरण	६७४
शूद्रों के पात्र की अपेक्षा भेद	६७५
दीक्षा लेकर कैसी अवस्था धारण करे	६७७
लिङ्गशुद्धि आयतन है	"
लिङ्गशुद्धि का प्रतिमा रूप से वर्णन	६७८
लिङ्गशुद्धि से लाभ	"
२ व्रत शुद्धि	६७९
३ वसतिका शुद्धि	६८०

विषय	पृष्ठ संख्या
भयानक वन मे मुनि का निवास	६८१
४ विहार शुद्धि	६८२
मुनि की पापभीरुता	”
५ भिक्षा शुद्धि	६८४
भिक्षार्थ पर्यटन विधि	६८४
६ ज्ञान-शुद्धि	६८७
विद्वान् साधु कैसे होते हैं	६८९
७ उज्झन शुद्धि	६९०
उज्झन शुद्धि के ४ भेद और उनका स्वरूप	६९१
व्याधि उत्पन्न होने पर मुनि क्या करते हैं	”
८ वाक्य शुद्धि	६९४
वचन प्रयोग	”
लौकिक कथा निषेध	६९५
९ तप शुद्धि	६९८
कायक्लेश तप	”
अभ्रावकाश योग	”
आतपन-योग	६९९
वृक्षमूल-योग	”
वचन-जन्य क्लेशतप	७००
शस्त्रादि प्रहार को सहने की क्षमता	”

विषय	पृष्ठ संख्या
१० ध्यान शुद्धि	७०१
इन्द्रिय विजय	”
इन्द्रिय-विजय से ही ध्यान सिद्धि होती है	७०२
मुनियों के पुलाकादि भेद और उनका संयमादि आठ अनुयोगों द्वारा वर्णन	७०३
लिंगकल्प के चार भेद	७०७
प्रतिलेखन (मयूरपिच्छिका) का स्वरूप	”
प्रतिलेखन मे आवश्यक पाँच गुण	७०८
मयूरपिच्छि का ही प्रतिलेखन क्यों ?	७०९
दश प्रकार का श्रमण-कल्प	७११
भाव श्रमण बनने का उपदेश	७१२
भिक्षा शुद्धि कब होती है ?	७१३
क्या मुनि आदर के भूखे हैं ?	७१४
मुनि के ठहरने योग्य स्थान	”
दुर्जन-ससर्ग त्याग	७१५
पापश्रमण का लक्षण	७१६
शास्त्र स्वाध्याय का महत्त्व	७१८
भेद चिन्तन	७१९
राग द्वेषादि का त्याग	७२०
पदार्थों से विरक्ति	”
इन्द्रियों पर विजय	७२१
मैथुनेन्द्रिय विजय	”
स्पर्शनेन्द्रिय विजय	”
स्त्री-स्वरूप चिन्तन-त्याग	”
ब्रह्मचर्य के भेद	७२३

विषय	पृष्ठ संख्या
ब्रह्मचर्य रक्षार्थ दश दोषों से बचना	७२४
यति के दो प्रकार का त्याग	७२५
शील निरूपण	७२६
शील के १८००० भेदों का वर्णन	७२७
चौरासी लाख उत्तर गुण	"
हिंसादि २१ भेद	७२८
शील विराधना के १० भेद	"
आकम्पित आदि १० आलोचना के दोष	७२९
प्रायश्चित्त के दश भेद	"
शील और उत्तर गुणों के विशद ज्ञान के लिए ५ प्रकार	७२९
शील व गुणो की सख्या निकालने का नियम	७३०
प्रस्तार का उत्पत्ति क्रम	"
सम प्रस्तार	७३१
विषम प्रस्तार	"
अक्षसंक्रमण का नियम	७३२
नष्ट निकालने की विधि	७३३
उद्दिष्ट का विधान	"
पूर्वार्द्ध चतुर्थ किरण की समाप्ति	७३५



❀ अथ भावनाधिकारः ❀

संयम—प्रकाश

पूर्वार्द्ध—चतुर्थ किरण

भावनाधिकार

❀ मङ्गलाचरण ❀

श्रीपर्नि बोधिदं नत्वा, नाभेयादिजिनेश्वरम् ।
यतेर्भावं प्रवक्ष्यामि, प्रशमामृतवर्षिणम् ॥१॥

भावना का महत्व

प्रत्येक प्राणी का उत्थान और पतन उसकी भावनाओं पर निर्भर है। सद्भावनाओं से वह ऊँचा चढ़ता है और असद्भावनाओं से वह नीचे गिरता है। भावना का उत्थान ही मनुष्य का उत्थान है और सद्भावना से गिरना ही मनुष्यत्व का पतन है। वास्तव में देखा जाय तो भाव के अतिरिक्त मनुष्य और है भी क्या? मनुष्य भावनामय ही तो है। जीवन-निर्माण में भावना का कम महत्व नहीं है। तीर्थंकर-प्रकृति ऐसे महान पुण्य का बन्ध भावना से ही होता है इसी से हम उसकी उपयोगिता और महत्व अच्छी तरह समझ सकते हैं।

भावना से पदार्थ की वास्तविक स्थिति मनुष्य के सामने आ जाती है। जब विवेकी मनुष्य अनित्य, अशरण आदि की भावना—अभ्यास—करता है तब उसे संसार, शरीर, भोग आदि की अस्थिरता एवं हेयता स्पष्ट प्रतीत होने लगती है। इसीलिए कहा गया है कि अपने आत्मा का हित चाहने वाले भव्यों को अनित्य आदि द्वादश भावनाओं को अपने जीवन में उतारना चाहिए।

सच्चे मनुष्यत्व का निर्माण करना है तो भावनाओं को जीवन में उतारो। अक्षय सुख की प्राप्ति चाहते हो तो भावनाओं का अवलम्बन लो।

'भावना भव-नाशिनी ।'

भावना भव का नाश करने वाली है। यदि भव (संसार) को नष्ट करना चाहते हो तो भावनामय बनो। भावनामय बनने-भावनाओं मे घुल-मिल जाने—मे ही मनुष्य का कल्याण है। ज्यो ज्यो भावनाएँ दृढ होती जाती हैं त्यो-त्यो वह आगे बढता जाता है और आत्मिक अक्षय सुख के निकट पहुँच जाता है।

कोई योगी-जीवन यदि भावना-हीन व्यतीत हो तो उसे योगी-जीवन कहना सङ्गत नहीं। योगी-पद पर प्रतिष्ठित होने के लिए जो भी कुछ विशेषता या महत्ता आनी चाहिए वह भावना के बिना आ ही नहीं सकती। योगी ने संसार, शरीर आदि को अनित्य और अशरण समझ कर ही तो छोडा है। यदि वह उन भावनाओं को जीवन मे दृढ न करे, तो उसकी फिर संसार और शरीर मे आसक्ति हो सकती है। और यदि ऐसा हुआ तब तो उसका घोर पतन हो जायगा। इसलिए उसे बहुत ही संभल कर रहना होगा। योग और क्षेम दोनों को साथ लेकर चलना होगा। जो अनिश्चलता अप्राप्त है उसे पाना और पाई हुई अनिश्चलता की रक्षा करना यही मुनि का योग-क्षेम है। भावनाओं से ही वह उन दोनों चीजों को पाता है। भावनाएँ न हो तो न पाया हुआ कुछ भी शुभ कभी भी प्राप्त न हो सकेगा और तब प्राप्त की रक्षा भी असम्भव ही रहेगी।

मुनि, यदि वस्तुत वह मुनि है तो उत्तरोत्तर बढता ही जाता है। वह धर्म्य से आर्त्त-रौद्र मे नहीं आता। उसका प्रयत्न धर्म्य से शुक्ल मे जाने का होता है। वह पूरे आदर्श को पाना चाहता है। अपूर्ण मनुष्यत्व को नष्ट कर पूर्ण मनुष्यत्व को पा लेना ही उसका ध्येय होता है और वह भावनाओं के द्वारा अपने इस ध्येय की पूर्ति मे सफल होता है। यह भावनाएँ धर्म्य-ध्यान रूप तो हैं ही, किन्तु आगे जाकर यही शुक्ल-ध्यान का आकार भी ग्रहण करती हैं। शुक्ल-ध्यान मे जो कर्मों के क्षय करने की शक्ति मानी गई है वह भावनाओं के बिना कैसे प्राप्त हो सकती है? अत. यह सिद्ध है कि योगी की सफलता का मुख्य कारण उसकी भावनाएँ ही होती हैं। अतएव योगियो के आचार-शास्त्र ने भावनाओं का वर्णन बहुत ही आवश्यक समझ कर वैराग्य की जननी बारह भावनाओं का वर्णन यहाँ किया जाता है।

भावना शब्द का अर्थ और उसके भेद ।

भावना का अर्थ है एक प्रकार का अभ्यास। वैराग्य की स्थिरता और प्रशम-सुख की वृद्धि के लिए बारह प्रकार के अभ्यास उपयोगी बताये गए हैं। मूलाचार मे लिखा है —

बारह भावनाओं के नाम

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णत्तसंसारलोगमसुचित्तं ।
आसव-संवर-णिज्जर-धम्मं बोधिं च चिंतिज्जो ॥ २ ॥

अर्थात्—(१) अनित्य, (२) अशरण, (३) एकत्व, (४) अन्यत्व, (५) ससार, (६) लोक, (७) अशुचि, (८) आस्रव, (९) सवर, (१०) निर्जरा, (११) धम और (१२) बोधि-दुर्लभ-यह बारह भावनाएँ हैं। इनका निरन्तर चिन्तन-अभ्यास-करना चाहिए।

अनित्य-भावना।

नित्य का अर्थ है हमेशा रहने वाली वस्तु। और अनित्य का अर्थ है विनाशमान। प्रत्येक वस्तु द्रव्य-दृष्टि मे नित्य होते हुए भी पर्यायापेक्षया अनित्य है। साधारण रूप से दुनियाँ की दृष्टि वस्तु के जिस रूप पर पडती है वह उसकी पर्याय है और वह अनित्य है। दिखने वाली कोई पर्याय—वस्तु की कोई स्थिति,कोई रूप—नित्य नहीं। प्रतिक्षण वस्तु की कोई दूसरी ही स्थिति, कोई दूसरा ही रूप होता है। फिर भी यह मूर्ख प्राणी उसे नित्य समझ कर प्रेम करता है और स्वभावत उसका विनाश होते देख दु.खी होता है। उसके वियोग मे छटपटाता है। जब नाश होना वस्तु का स्वभाव है, धर्म है, तब उसके लिए खिन्न क्यो होना ? किन्तु देखा यही जाता है कि प्रत्येक संसारी प्राणी, जिसे सम्यग्ज्ञान नहीं हुआ है, अपनी इष्ट वस्तु का वियोग देखकर दु खी होता है, सुनहरी जवानी पूरी होकर बुढापा आ जाता है तो रोता है, अपने जीवन की अन्तिम घडियाँ समीप आ जाती हैं तो विलाप करता है, पुत्र आदि किसी निकट सम्बन्धी की मृत्यु हो जाती है तो करुण-क्रन्दन मचाता है। इस दु.ख से बचने का और कोई उपाय नहीं। एक अनित्यता की भावना ही ऐसी है जो वियोग के दु ख को सहने की क्षमता प्रदान करती है और अनन्त दु खमय ससार मे भी अव्याकुल होकर सुख और शान्ति के साथ जीवन बिताने की कला सिखलाती है।

अज्ञानी मनुष्य दुनियाँ के मोह मे पडकर अपने आपको भूलता है। क्षणिक वस्तुओ से नाता जोडकर उनकी प्राप्ति का अभिमान करता है और उनके वियोग मे क्लेश उठाता है। किन्तु ज्ञानी मनुष्य वस्तु-स्थिति का अनुभव कर दुनियाँ से मोह तोडता है और आत्मा से प्रेम जोडता है। अनित्य-भावना इस अभ्यास को दृढ बनाती है और बढाती है। यही इसकी उपयोगिता है और इसी से यह योगी-जीवन का मूल मानी जाती है।

धन की अनित्यता का विचार

अज्ञानी प्राणी थोडा-सा धन पा लेता है तो अभिमान से फूला नहीं समाता। वह अपने आपकी स्थिति को भूल जाता है।

मदिरा को पीने पर नशा चढ़ा करता है किन्तु धन को पा लेने मात्र से ही उसमे उससे भी हजार गुणा पागलपन आ जाता है। उसे एक ऐसा रोग उत्पन्न हो जाता है जिससे आँख होते हुए भी वह देखता नहीं,कान होते हुए भी सुनता नहीं और मुँह होते हुए भी बोलता नहीं। वह धर्म-कर्म छोड देता है, व्यसनी बन जाता है। पर यह कभी नहीं सोचता कि यह लक्ष्मी कितने समय टिकने वाली है? यह तो चञ्चला है,आज तक किसी के पास नहीं टिकी। पुण्योदय से यदि इसका समागम हुआ है तो मैं इसे शुभ कार्यों मे खर्च करके इससे पुण्य की नवीन ज्योति प्रकाशित करूँ। वह उसे पाप के कार्यों मे खर्च कर अपने आगे के मार्ग मे काटे बोता है या यह मुझे बाद मे काम आवेगी इस विश्वास से ठगाया जाकर गुलाम की तरह उसकी रक्षा मे लगा रहता है। अन्त मे उसे अपना या लक्ष्मी का वियोग होते देख दु खी होना पड़ता है और रोना पडता है। आर्त्त-ध्यान से प्राण गँवाने पड़ते हैं। किन्तु ज्ञानी को, लक्ष्मी की अनित्यता का अनुभव करने वाले को, इस प्रकार का दुःख नही होता। न उसे लोभ सताता है, न तृष्णा। न वह मद से उद्धत होता है और न इसके लिए दूसरो को सताता ही है। वह अस्थायी सम्पत्ति से स्थायी स्वार्थ सिद्ध करता है। सत्कार्यों मे उसका उपयोग कर स्व-पर हित साधन करता है।

जीवन की अनित्यता

इस जगत् मे किसी का जीवन स्थिर नहीं। कोई राजा हो चाहे रङ्क, धनी हो चाहे निर्धन, मूर्ख हो चाहे विद्वान्, सबल हो चाहे निर्बल, जिसने भी यहाँ जन्म लिया है उसे एक न एक दिन मरना होगा। भरत आदि अतुल बल और वैभवशाली चक्रवर्त्ती हुए, पर आज उनका कही पता नहीं। अभिमानी रावण मारा गया, उसे मारने वाले रामचन्द्र भी न रहे। कौरव-पाण्डवो की कितनी प्रसिद्धि थी, पर आज उनके अस्तित्व का कहीं पता नहीं। जब बडो-बडो की ही यह दशा है तब बेचारे साधारण मनुष्यो का तो यहाँ टिकाव हो ही कैसे सकता है? ससार मे मृत्यु जैसा कोई निश्चित पदार्थ नहीं। वह हर एक के लिए अनिवार्य है। वह कब आवेगी यह कोई नहीं जानता, पर यह सबको मानना ही होगा कि वह अवश्य आएगी। आज आवे, कल आवे, १०-२० वर्ष मे आवे, या अभी आ जाय, उसे कोई रोक नहीं सकता। अनन्त भूतकाल से अब तक मनुष्य ने उसको रोकने के लिए बहुत-बहुत प्रयत्न किये हैं, लेकिन उसने सभी को पछाडा है। ऐसा ज्ञात होता है कि वह कभी न हारेगी। क्योकि वह वस्तु का स्वभाव है। जन्म के साथ मृत्यु लगी हुई है। जन्म लेने के दूसरे क्षण से ही मृत्यु प्रारम्भ हो जाती है। आयु के क्षण पूरे होते जाते हैं, मृत्यु नजदीक आती जाती है। जिसे हम 'मृत्यु' कहते हैं वह तो उसका स्थूल रूप है। आवीचिमरण सदा ही होता रहता है। जैसे छेद वाले घडे मे से थोडा-थोडा पानी हमेशा निकलता रहता है और इसी से थोडे समय मे वह बिल्कुल रीता दिखाई देने लगता है वैसा ही हाल हमारे जीवन का है। प्रतिक्षण खिरने वाले आयु के निषेक जब पूरे हो जाते हैं तब हम समझते हैं कि हमारी मृत्यु आ गई। पर यह भ्रम है। हमारा जीवन तो फूटे घडे के जल की तरह प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है, वह स्थिर है ही कहाँ? उसका व्यर्थ व्यय यदि विचारणीय है तो उस पर प्रारम्भ से ही विचार करना चाहिए। अन्त मे उसका उपयोग करने के लिए कोई

चाहे कितना ही प्रयत्न करें कोई लाभ नहीं हो सकता। बीता हुआ जीवन वापिस नहीं आ सकता। अत. अनित्य जीवन से नित्य (हमेशा रहने वाले) धर्म का सञ्चय करना है तो प्रारम्भ से ही करना चाहिए। यही बुद्धिमानी है। ऊपर हम समझा आए हैं कि जीवन हमेशा किसी का भी स्थिर नहीं रहता और थोड़े समय स्थिर रहने का भी कुछ भरोसा नहीं। क्या पता अभी आगे का श्वास भी आवे या न आवे। पर्वत की चोटी पर, जहाँ चारो ओर से जोर की हवा के झोंके आया करते हैं, तेल के बल से जलने वाले तुच्छ दीपक का थोडी भी देर तक जलते रहना आश्चर्य है। बुझ जाना आश्चर्य नहीं। उसी प्रकार रोगादि की अनेक बाधा-ग्रस्त इस जीवन का थोडे भी समय टिका रहना आश्चर्य है। विनाश आश्चर्य की चीज नहीं है। हमारा यह जीवन-मनुष्यादि पर्याय-पौद्गलिक शरीर के सहारे टिका हुआ है और वह प्रतिक्षण नश्वर है। तब यह जीवन नित्य कैसे हो सकता है?

यौवन की अनित्यता

जब जीवन का ही यह हाल है तब उसी के बीच मे प्राप्त होने वाले यौवन को स्थिर मानना नितान्त भ्रम और मूर्खता ही है। सूर्य प्रात काल उगता है, अपनी सहस्र किरणो को विस्मित कर मध्याह्न मे तेजी दिखाता है पर थोडी ही देर मे सायकाल आ पहुँचता है। न उसकी वह तेजी रहती है और न स्वय उसका ही यहाॅ अस्तित्व रहता है। जीवन मे यही हाल यौवन का है। वह तो चार दिन की चाॅदनी है। बाद मे अॅधेरा ही अॅधेरा। पर्वत से गिरने वाले नाले के पानी की तरह यौवन मे स्थिरता है ही कहाँ? आया और गया। यौवन के भोग चिरकाल तक नहीं टिक सकते। उनके साथ अनेक विपत्तियाँ लगी हुई हैं। 'भोगे रोग-भयम्।' भोगो की ओर झुको, रोग आ सतावेंगे। अतः यौवन के मद मे अपने आपको भूलने वाला मनुष्य यह देखे कि मेरा यह अभिमान कितने दिन चल सकेगा? सामने व्याघ्री की तरह ताक लगाये मौत की छोटी बहन जरा खडी है, इससे मेरा छुटकारा कैसे होगा? आज जिन बुड्ढो का मैं उपहास करता हू क्या शीघ्र वही दशा मेरी होने वाली नहीं है? ओह! वह झुकी हुई कमर, झुर्रियाँ पडा हुआ शिथिल शरीर, पोपला मुॅह, बहरे कान, गीड भरी हुई पानी झरने वाली आँखें, लडखडाते हुए पैर, वेग-शून्य गति, आदर रहित व्यक्तित्व मेरे से कितने कम दूर हैं? यदि दीवानी जवानी के वशीभूत हो मैंने अपने कर्तव्य को छोड दिया, दूर पर उसे खडे रहने का उचित प्रबन्ध न किया तो वह और भी शीघ्रता से मेरे नजदीक आ जावेगी और तब सारा दीवानापन अपने आप दूर हो जायगा। वास्तव मे यौवन के नशे मे अपने आपको—अपने आत्मा को और अपने कर्तव्य को—भूलने वाला मनुष्य ज्ञानी नहीं। ज्ञानी वही है जो इसे अनित्य अनुभव कर परमार्थ साधन करता है और आगे के लिए जन्म-मरण को जीत लेता है।

सब की अनित्यता

ऊपर धन. जीवन और यौवन की अनित्यता मुख्य रूप से बताई गई है, क्योकि बहुधा इन्हीं के मोह मे फॅस कर प्राणी अपने

आपका बहुत कुछ अहित करता है। किन्तु वस्तु-स्थिति पर विचार करने से तो यहाँ कोई भी वस्तु नित्य नहीं,जैसा कि पहले कहा जा चुका है। यह सारा ससार-ससार की सभी वस्तुएँ अनित्य हैं। ससार का अर्थ ही यही है, जो अनित्य हो, सदा एक-सा न रहे। यदि कहीं परिवर्तन नहीं तब तो वह संसार ही नहीं। सब वस्तुओ की अनित्यता का विचार कर श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना मे कहते हैं :—

लोगो विलीयदि इमो फेणोव्व स-देव-माणुस-तिरिक्खो।
रिद्धीओ-सव्वाओ सिविणय-संदंसण-समाओ ॥ १७१६ ॥ (भग आ.)

जैसे पानी के झाग या बुदबुदे की स्थिति टिकाऊ नहीं, क्षणिक है-वह देखते-देखते नष्ट हो जाती है वैसे ही देव, मनुष्य और तिर्यंचो से भरे हुए इस लोक की स्थिति भी विनाशमान है। यहाँ मनुष्य और तिर्यंचो का ही नहीं, देवो का शरीर भी अनित्य है। हाथी, घोडे, रथ, पयादे, राज-भवन, छत्र, सिंहासनादि सब विभूतियाँ भी स्वप्न-दर्शनोपम है। स्वप्न की तरह जीवन के कुछ क्षणो मे तो दिखती हैं और फिर सर्वदा के लिए लुप्त हो जाती हैं।

विज्जूव चञ्चलाइं दिट्ठपणट्ठाइं सव्व-सोक्खाइं।
जल-बुब्बुदोव्व अधुवाणि हुंति सव्वाणि ठाणाणि ॥ १७१७ ॥ (भग. आ.)

ससार के समस्त सुख-पचेन्द्रिय जनित सुख बिजली के समान चञ्चल है-एक वार दिखे और नष्ट हुए। कोमल स्पर्शवाली शय्या, सुस्वादु भोजन-पान, सुगन्धित इत्र, सुन्दर दृश्य, मनोहर गायन आदि भोग क्या स्थायी है? क्या जीव को समार मे सर्वदा मिल सकते है? पूर्व पुण्य से कोई सुख-सामग्री मिलती है तो वह सदा रहती है? इस जीवन की सामग्री आगे के जीवन मे तो कभी साथ जाती ही नहीं। उसमे यहाँ भी आसक्ति उत्पन्न हुई तो वियोग का दु:ख और आगे सुख के स्थान मे महा दु:ख। इसलिए सासारिक सभी सुख सामग्रियो की अनित्यता पर ध्यान दो। यह ग्राम, नगर, महल, मकान कोई भी सदा तुम्हारे रहने वाले नहीं। यह घर मेरा है, मैं यहाँ रहता हूँ, हमेशा रहूँगा- ऐसा कभी मत सोचो। इनमे स्थायिता का अभिमान तुम्हें इनके वियोग में ममवेधी पीडा देगा। इसलिए जल-बुद्बुदोपम यह अनित्य हैं तो इनको अनित्य ही समझो।

णावागदाव बहुगइ-पधाविदा हुंति सव्व-संबंधी।
सव्वेसिमासया वि अणिच्चा जह अब्भसंघाया ॥ १७१८ ॥ (भग. आ.)

दुनियों का कोई सम्बन्ध सदा रहने वाला नहीं। नदी को पार करते समय जिस प्रकार नाव मे अनेक देशों के अनेक यात्री आ बैठते हैं, थोडी देर एक साथ रहते हैं और किनारा आते ही उतर कर अपने अपने मार्ग की सुध लेते हैं वैसे ही कुटुम्ब की दशा है। एक कुल रूपी नाव मे अनेक यात्रियो की तरह कुटुम्ब के अनेक लोग जन्म लेकर आ बैठते हैं और किनारो की तरह आयु का अन्त होते ही बिदा होते हैं। इसी प्रकार स्वामी, सेवक, भ्राता, पुत्र, मित्र, स्त्री आदि किसी आश्रय को नित्य नहीं समझना, क्योकि इन सब की स्थिति बादलो के समूह की तरह देखते-देखते बिछुडने वाली है। इसलिए यह समझना इनके सहारे से मैं जीता रहूंगा ठीक नहीं।

मंवासो वि अणिचो पहियाणं पिण्डणं व छाहीए।

पीदी वि अच्छिरागोव्व अणिचा सव्वजीवाणं ॥ १७१९ ॥ (भग. आ.)

जैसे—अनियत नाना देशो से आये हुए पथिक (मुसाफिर) एक सराय या धर्मशाला मे निवास करते हैं, अथवा किसी घनी छाया वाले वट आदि वृक्ष के नीचे अनेक स्थानो के मनुष्य आकर मिलते हैं और दूसरे दिन अथवा कुछ काल के अन्तर अपना अपना मार्ग लेते हैं वैसे ही पूर्व कर्म के फल स्वरूप पुत्र, मित्र, स्त्री आदि पदार्थों का सयोग होता है। कर्म फल भोगने के पश्चात् वे भी कर्म से प्रेरित हुए वियुक्त हो जाते हैं। फिर कभी आकर नहीं मिलते। उनकी प्रीति भी स्थिर नहीं। निमित्त विशेष से जन्य नेत्रो की लालिमा के समान वह भी क्षणभगुर है। अर्थात् ससार के लोगो का प्रेम स्वार्थ का है। क्षणमात्र मे बदल जाता है। किसी का स्वार्थ न सधे तब देखो वह प्रेम रखता है गा नहीं ? इससे अनित्यता स्पष्ट होगी।

रत्तिं एगम्मि दुमे सउणाणं पिण्डणं व संजोगो।

परिवेसोव अणिचो इस्सरियाणाधणारोग्गं ॥ १७२० ॥ (भग. आ.)

अर्थ—सायकाल होने पर रात्रि के समय नाना देश व दिशाओ से आकर पक्षी एक वृक्ष पर निवास करते हैं उनका पहले से सकेत नहीं होता। पहले के सकेत के बिना ही वे आ मिलते हैं और प्रात.काल पुनः नाना दिग्देशो मे चले जाते हैं। उसी प्रकार सकेत बिना ही अनेक गतियो से आये हुए कुटुम्बियो का सयोग होता है और वे मर कर पुनः त्रस, स्थावर आदि अनेक योनियो मे चले जाते हैं। तथा चन्द्रमा का परिवेष (उसके बिम्ब के आस पास कभी कभी होने वाला मण्डल) जिस प्रकार क्षणभगुर है, उसी प्रकार संसार का ऐश्वर्य-प्रभुत्व, आज्ञा, धन-सम्पत्ति, आरोग्य आदि सब अस्थिर हैं।

इंदियसामग्गी वि अणिच्चा संझाव होइ जीवाणं।
मज्झण्हं व णराणं जोव्वणमणवट्ठिदं लोए ॥ १७२१ ॥
चंदो हीणो व पुणो विड्ढदि एदि य उदू अदीदो वि।
णदु जोव्वणं णियत्तइ णदीजलमदिच्छिदं चेव ॥ १७२२ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—इन्द्रिय-सामग्री भी अनित्य है। प्रथम तो इन्द्रियों की पूर्णता का होना ही कठिन है और कदाचित् क्षयोपशम विशेष से इन्द्रियों की अविकल प्राप्ति होती है और उनमें विषय ग्रहण करने की शक्ति भी विद्यमान होती है तो भयानक व्याधि के उपस्थित होने पर अथवा वीर्यान्तराय का तीव्रोदय होने पर अथवा अवस्था के ढलने पर उनकी वह विषय-ग्रहण की सामर्थ्य विलीन हो जाती है; अत. उसे संध्या की लालिमा के समान कुछ काल के लिए ही टिकाऊ समझना। मनुष्यों की यौवनावस्था भी मध्याह्न काल के सदृश अस्थिर है। अर्थात् जैसे दिवस का मध्याह्न काल सायंकाल के आगमन पर अन्त्य होजाता है, उसी प्रकार जरा अवस्था के आने की सूचना मिलते ही यौवन भी अपना रास्ता लेलेता है।

चन्द्रमा कृष्णपक्ष मे क्षीण होता है और शुक्ल पक्ष में वृद्धिंगत होता है। वसंतादि ऋतुएँ बीत जाने पर पुनरपि आती हैं। किन्तु मनुष्य की यौवनावस्था बीत जाने पर फिर लौट कर नहीं आती, जैसे नदी का बहकर आगे गया हुआ जल फिर वापिस लौटकर नहीं आता है।

धावदि गिरिणदिसोदं व आउगं सव्वजीवलोगम्मि।
सुकुमालदा वि हीयदि लोगे पुव्वण्हछाही व ॥ १७२३ ॥ [भग. आ]

अर्थ—सम्पूर्ण जगत् के जीवों की आयु पर्वत से गिरने वाली नदी के प्रवाह के समान तीव्रगति से निरन्तर दौड़ रही है। और समस्त प्राणियों की सुकुमारता (कोमलपन) प्रातःकाल की छाया के समान क्षण-क्षण मे क्षीण होती रहती है। सार यह है कि इस संसार मे जितने पदार्थ दिखाई देते हैं वे सब नष्ट होने वाले हैं यह स्पष्ट है। शरीर रोगों का घर है, उसके एक-एक रोम-कूप मे पौने दो दो रोगों की सत्ता है। यौवन के साथ बुढापा लगा हुआ है। बुढापे मे बल और ज्ञान भी साथ छोड़ देते हैं। ऐश्वर्य विनाश से व्याप्त है-चक्रवर्ति,बलभद्र, नारायण सरीखों का भी वैभव नहीं रहा। स्त्री, पुत्र, मित्र आदि के जितने भी संयोग होते हैं उनका भी वियोग होता ही है। जीवन मरण का अविनाभाव है। अति बलवान भी मृत्यु से नहीं बचे। अनेक प्रकार के भोजन आदि से पुष्ट करते करते भी आयु के पूर्ण होते ही शरीर साथ छोड़ देता है। उसे तीर्थंकर ऐसे भी विनाश से नहीं बचा सके। इसलिए संसार,शरीर,भोग आदि सब को अनित्य समझ कर किसी से मोह मत

करो। दुनियाँ की किसी विभूति को देख कर मत लुभाओ। यह विनाशी है, तुम्हें धोखा देगी। अस्थिर को स्थिर समझ लेने से पद पद पर दुःख उठाना पड़ता है। तुम अपने अविनाशी आत्मा से प्रेम करो। शरीर के शीर्ण होने से पहले ही धर्म की सिद्धि करो। धोखे में मत रहो। धन, यौवन आदि के उन्माद मे या कुटुम्बियो के मोह मे पड कर अपने हित-साधन को न भूलो। अन्यथा 'देह खेह हो जायगी, फिर का करि है धर्म ?, ज्ञान का उपार्जन करना है तो शीघ्र करो, तप की वृद्धि करनी है तो शीघ्र करो, दान देना है तो शीघ्र देओ। दूसरो की सेवा शुश्रूषा, उपकार आदि जो भी कुछ करना है उसमे विलम्ब मत करो। आगे के भरोसे मत रहो। यह अनित्यता का अभ्यास तुम्हें अपूर्व सुख-शान्ति देगा।

अशरण-भावना

अपने को अशरण अनुभव करने का अभ्यास करना अशरण भावना है। कर्मोदय से प्राप्त होने वाले जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदि दुःखो मे जीव को शरण देने वाला, इनसे बचाने वाला कोई नहीं अतः यह जीव अशरण है। कहा भी है :—

हयगयरहणरबलवाहणाणि मंतोसधाणि विज्जाओ।
मच्चुभयस्स ण सरणं णिगडी णीदी य णीया य ॥ ५ ॥
जम्मजरामरणसमाहिदम्हि सरणं ण विज्जदे लोए।
जरमरणमहारिउवारणं तु जिणसासणं मुच्चा ॥ ६ ॥ (मूला द्वा. अ/)

अर्थ—हाथी, घोडे, रथ, मनुष्य, सेना, वाहन, मन्त्र, औषधियाँ, प्रज्ञप्ति आदि विद्याएँ जीव को मृत्यु से बचाने मे असमर्थ हैं। मनुष्य दूसरो से अपनी रक्षा करने के लिए अनेक प्रकार यत्न करते हैं और उसमे कभी२ सफल भी हो जाते हैं—साम, दान, दण्ड और भेद यह चार प्रकार की नीति अन्यत्र तो कृतकार्य हो भी जाती है, किन्तु मृत्यु के सामने ये सब हतवीर्य हैं, जैसे गरुड के सम्मुख काले नाग। मृत्यु का भय उपस्थित होने पर भाई बन्धु आदि कोई शरण नहीं होता है।

मरणभयम्हि उवगदे देवा वि सइंदया ण तारंति।
धम्मो ताणं सरणं गदित्ति चिंतेहि सरणत्तं ॥ ७ ॥ (मूला द्वा अ)

अर्थ—मरण का भय प्राप्त होने पर इन्द्र सहित सब देव मिल कर भी जीव की रक्षा नहीं कर सकते। एक जिनेन्द्र निरूपित धर्म

ही रक्षक है, इसलिए उसे ही शरण रूप चिन्तन करो।

णासदि मदी उदिण्णे कम्मे ण य तस्स दीसदि उवाओ।
अमदं पि विसं सच्छं तणं पि णीयं वि हुंति अरी॥ १७२९॥ (भग. आ.)

अर्थ—कर्म का उदय होने पर जीवो की बुद्धि नष्ट हो जाती है। कुछ उपाय नहीं सूझता। अमृत विष हो जाता है। तृण शस्त्र रूप बनकर मृत्यु का कारण होजाते हैं। बन्धुजन शत्रु हो जाते हैं।

भावार्थ—अनादि काल से अज्ञान के वशीभूत हुआ यह आत्मा अपनी भूल से निरन्तर ज्ञानावरणादि कर्मों का ग्रहण करता है और बँधता है। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के संयोग से जब उसका अप्रिय एव कटु फल मिलता है तब उसमे बचाने के लिए कोई समर्थ नहीं होता है। इसलिए प्रत्येक आत्मा अपने आपको अशरण अनुभव करे। ससार मे दूसरा कोई कर्म-फल-भोग से बचाने वाला नहीं है।

प्रतीकार रहित कर्म का जब उदय आता है तब उसके फल स्वरूप दुःख को भोगे विना छुटकारा नहीं मिलता। अर्थात् जन्म, जरा, मरण, रोग, चिन्ता, भय, वेदना आदि के उपस्थित होने पर तज्जन्य कष्टो का भोग अवश्य करना पडता है। इस जगत् मे जीवो का रक्षक व आश्रय दाता कोई नहीं होता है, यदि कोई जीव अपने कर्म के उदय से बचने के लिए किसी देव की सहायता से पाताल लोक मे भी चला जावे तो भी उसका छूटना असम्भव है।

गिरि की कन्दरा, अटवी, पर्वत व समुद्र मे तो क्या, लोकान्त मे भी जीव निवास करने चला जावे तो भी यह अशरण जीव उदयागत कर्म से कदापि छूटने के लिए समर्थ नहीं हो सकता है। अर्थात् लोक के अन्त मे जाना असम्भव है, यह असम्भव कार्य भी कदाचित् सम्भव हो जावे तो हो जाओ, किन्तु निकाञ्चित (प्रतीकार रहित) कर्म का फल भोगे विना छूटना सर्वथा अशक्य है।

द्विपद, चतुष्पद तथा पेट के बल चलने वाले जीवो का गमन भूमि पर ही होता है, मच्छर आदि जलचर जन्तुओ की गति जल मे ही होती है, पक्षियो की गति आकाश मे ही होती है, किन्तु काल का गमन सर्वत्र अप्रतिहत है। इसकी गति को रोकने वाला ससार मे कोई भी नहीं है।

सूर्य, चन्द्र, पवन, और देव इनसे अगम्य प्रदेश हैं—अर्थात् सूर्य और चन्द्र का प्रताप व प्रकाश ससार के कोने कोने मे पहुँचता है, वायु प्रायः सर्वत्र बहती है और देवो का प्राय: सर्वत्र गमन है, तथापि लोक मे ऐसे भी कई स्थान हैं जहाँ उक्त चारो का गमन नहीं होता,

किन्तु काल की सर्वत्र गति है। ऐसा कोई स्थान संसार मे नहीं जहाँ काल का गमन न होता हो।

विद्या वल, मन्त्र वल, औषधि वल, शरीर का वल, आत्मा का वल और हाथी घोडे रथ योद्धा आदि सेना वल, साम दान दण्ड भेद यह नीति वल, कर्म जन्य फल को मिटाने के लिए समर्थ नहीं है। जैसे उदयाचल के शिखर पर प्रयाण करने वाले सूर्य को रोकने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है, वैसे ही दु:ख देने मे प्रवृत्त हुए कर्म के उदय का प्रतिरोध करने की किसी मे भी शक्ति नहीं है।

भयानक तथा सघातक रोगो व महामारियो से बचने के उपाय हैं, किन्तु कमलिनी के वन का विध्वंस करने वाले मदोन्मत्त हस्ती के समान संसार के जीवो का मर्दन करने वाले इस कर्म के उदय से बचने का कोई उपाय नहीं है। रोगों का भी प्रतीकार तभी हो सकता है जब कि कर्मों का मन्द उदय हो या उपशम हो। जिस समय कर्मों की उदीरणा या तीव्र उदय होता है उस समय उनका प्रतीकार करना सर्वथा अशक्य ही नहीं, असम्भव है।

निकाचित कर्मोदय को विद्याधर, वासुदेव, वलदेव और चक्रवर्ती तो क्या साक्षात् त्रिजगदीश्वर तीर्थंकर भी मिटा नहीं सकते तब साधारण अल्पशक्ति वाले मनुष्य की तो सामर्थ्य ही कहाँ?

दिव्य शक्ति का धारक कोई महावली पैदल चलकर पृथ्वी के दूसरे छोर तक भी पहुँच जावे, या भुजाओं से महासमुद्र को तैरकर उसको पार भी कर जावे, तो भी उदीर्ण कर्म के फल को उल्लंघन करने के लिए कोई समर्थ नहीं है। उसे तो भोगना ही पड़ता है।

सिंह की डाढ़ मे पहुँचे हुए मृग को तथा महामत्स्य के उदर में पहुँचे हुए छोटे मत्स्य को बचाने वाला कोई नहीं, उसका मरण अवश्यभावी है, इसी प्रकार आयु कर्म के अन्त मे काल के मुख मे पहुँचे हुए इस जीव का कोई शरण नहीं है।

ससार मे शरण (आश्रय) दो प्रकार का है। एक तो लौकिक शरण और दूसरा लोकोत्तर शरण। इन दोनो के तीन २ भेद हैं। अर्थात् लौकिक शरण तीन प्रकार का है- १ लौकिक जीव शरण, २ लौकिक अजीव शरण और ३ लौकिक जीवाजीव शरण। इसी प्रकार लोकोत्तर शरण भी तीन प्रकार का है-१ लोकोत्तर जीव शरण, २ लोकोत्तर अजीव शरण और ३ लोकोत्तर जीवाजीव शरण।

१ राजा, देवता आदि लौकिक जीव-शरण हैं।

२ कोट, खाई आदि लौकिक अजीव-शरण हैं।

३ कोट, खाई आदि सहित ग्राम, नगर, पर्वत आदि लौकिक मिश्र-शरण हैं।

१ लोकोत्तर जीव शरण—पञ्च परमेष्ठी-अरिहतादि लोकोत्तर (अलौकिक) जीव शरण हैं।

२ लोकोत्तर-अजीव शरण—पञ्च परमेष्ठी के प्रतिबिम्बादि अलौकिक अजीव शरण हैं।

३ लोकोत्तर मिश्रशरण -धर्मोपकरणसहित साधुवर्ग अलौकिक जीवाजीव शरण हैं।

इस लोक सम्बन्धी भय से बचाने वालो को लौकिक-शरण कहते है और परलोक सम्बन्धी भय से बचाने वालो को लोकोत्तर शरण कहते हैं। जैसे-बलवान् क्षुधातुर और मास के लम्पटी व्याघ्र के द्वारा एकान्त मे दवाए हुए मृग-बालक को उस व्याघ्र से छुडाने के लिए इस लोक मे कोई समर्थ नहीं है, उसी प्रकार जन्म, मरण,व्याधि, प्रिय वियोग,अप्रिय सयोग,इष्ट पदार्थ की अप्राप्ति,दारिद्रय आदि शारीरिक एवं मानसिक दु खो से घिरे हुए इस जीव को कोई शरण देने वाला नहीं है। अनेक सुखो से उपलालित यह पुष्ट शरीर भी भोजन करनेमे ही आत्मा का सहायक होता है, कष्टो के आने पर आत्मा की सहायता करने मे समर्थ नहीं होता है। घोर परिश्रम से उपार्जन किया हुआ विपुल धन भी मृत्यु से रक्षा नहीं करता, और न आत्मा के साथ परभव मे साथ ही जाता है। सुख दुःख के सहयोगी मित्र भी मरण का समय आने पर इस जीव का सरक्षण नहीं कर सकते। चारो तरफ सदा घिरे रहने वाले बन्धुजन भी इसको अन्त मे छोड़ कर अलग हो जाते हैं। परभव मे भी इसकी रक्षा करने वाला और प्रतिक्षण सहायता करने वाला यदि इस लोक मे कोई है तो वह एक धर्म ही है,दूसरा कोई रक्षक नहीं है। अतएव हे आत्मन्! जिस समय तुम्हें मृत्यु आकर घेर लेगी, उस समय इन्द्र भी उससे बचाने मे समर्थ नहीं होगा, न बन्धु होगे न मित्र-पुत्र-धन-बलादि। यदि सहायक होगा तो उत्तमता से आचरण किया हुआ एक धर्म ही होगा। इसलिए अपने को अशरण अनुभव करने का अभ्यास करो और धर्माराधन मे चित्त लगाओ।

एकत्व-भावना

इस जीव का कोई साथी नहीं। यह सदा अकेला ही है। अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है। जन्म, जरा, मरण, रोगादि की प्राप्ति मे कोई इसका हाथ नहीं बटाता। कर्मों के फल स्वरूप अनन्त दुख, अपार वेदनाएँ,अकेले को ही सहनी पडतीं हैं। इस प्रकार अभ्यास करना एकत्व भावना है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से एकत्व चार प्रकार का होता है।

जीवादि छह द्रव्यों मे से किसी एक द्रव्य के द्रव्य एकत्व है। परमाणु जितने क्षेत्र मे ठहरता है उतने क्षेत्र (प्रदेश) को क्षेत्र एकत्व कहते हैं। कालका जो एक समय है उसे काल एकत्व कहते हैं। मोक्ष मार्ग को भाव एकत्व कहते हैं।

संसार में जो अनेकपन दिखाई देता है वह एकपने को लिए हुए है।

जिसने बाह्य व आभ्यन्तर परिग्रह त्याग करके सम्यग्ज्ञान से अपने एकपने का निश्चय कर लिया है,जिसकी एक यथाख्यात चारित्र रूप प्रवृत्ति हो रही है, उस आत्मा के मोक्ष मार्ग रूप से एकपना होता है। उस एकपने की प्राप्ति के लिए ऐसी भावना करना चाहिए कि मैं इस संसार मे अकेला ही हूँ। मेरा दूसरा कोई स्व अथवा पर नहीं है। मैं अकेला ही जन्म लेता हूँ और अकेला ही मरता हूं। कोई दूसरा स्वजन या परजन मेरे व्याधि, जन्म-मरणादि के दु खो को दूर नहीं कर सकता। मेरे वन्धुजन व मित्रादि श्मशान तक ही रहते हैं, आगे साथ नहीं रहते। एक धर्म ही मेरा साथी है। जैसा कि कहा भी है —

वित्तं गेहाद्दृश्रितायां व्यावर्त्तन्त बान्धवाः श्मशानात्।
एकं नानाजन्मवल्लीनिदानं याति शुभाशुभं कर्म जीवेन सार्धम्।

अर्थ—जब आत्मा इस शरीर को छोड़कर परलोक मे जाता है तब उसका साथ कोई नहीं देते। बड़े कष्ट से उपार्जन किया हुआ धन, घर से ही साथ छोड देता है-वह तो घर मे ही रह जाता है। खूब लालन-पालन किया हुआ शरीर चिता मे ही छूट जाता है। आगे साथ नहीं जाता। पुत्र, मित्र, भ्रातादि भी श्मशान से ही लौट जाते हैं। यदि कोई परभव मे साथ जाने वाला है तो वह शुभाशुभ (पुण्य-पाप) कर्म ही है। उसके अतिरिक्त जीव का कोई साथी नहीं है।

इस प्रकार एकत्व का अभ्यास करने वाले के अपने आत्मीय (कुटम्बी) जनो मे प्रेम-बन्ध और परकीय (शत्रु आदि) जनों में द्वेष-सम्बन्ध नहीं होता। एकत्व भावना से उसके नि.सगपना उत्पन्न होता है और परिग्रह का बोझा उतर जाने पर वह-ऊर्ध्वगमन करता है। अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है।

सयणस्स परियणस्स य मज्झे एक्को रुयत्तओ दुहिदो।
वज्जदि मच्चुवसगदो ण जणो कोइ समं एदि ॥ ८ ॥
एक्को करेइ कम्मं एक्को हिंडदि य दीह संसारे।
एक्को जायदि मरदि य एवं चिंतेहि एयत्तं ॥ ९ ॥ [मूला. द्वा. अ.]

अर्थ—यह प्राणी भाई भतीजा पुत्रादि स्वजन और दास मित्र आदि परिजन के मध्य अकेला ही व्याधि से पीडित होकर दुःख भोगता हुआ काल का ग्रास बनता है। साथ मे न स्वजन जाते हैं और न परिजन जाते हैं।

अकेला ही शुभाशुभ कर्म करता है और अकेला ही अपार संसार मे भ्रमण करता है। अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है। इस प्रकार एकत्व भावना का चिन्तन करना चाहिए।

पावं करेदि जीवो बंधवहेदुं सरीरहेदुं च।
णिरयादिसु तस्स फलं एक्को सो चेव वेदेदि ॥ १७४७ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—यह आत्मा बन्धुओं के लिए–उनकी शरीर-रक्षा तथा उनके मनोरंजनादि के लिए, और स्वयं अपने शरीर आदि के पोषण के लिए अनेक पाप करता है; किन्तु उन पापों का नरक निगोदादि मे फल अकेले को ही भोगना पड़ता है। उसमे हिस्सा बँटाने वाला कोई नहीं होता।

रोगादिवेदणाओ वेदयमाणस्स णिययकम्मफलं।
पेच्छंता वि समक्खं किंचि वि ण करंति से णियया ॥ १७४८ ॥ [भग आ.]

अर्थ—पूर्वोपार्जित असातावेदनीय कर्म के उदय से उत्पन्न हुई रोग की वेदना का अनुभव करते हुए प्रत्यक्ष देखकर भी ये स्वजन बन्धु लोग उसका प्रतीकार नहीं करते हैं।

भावार्थ—जब आत्मा पूर्वकाल मे सञ्चित कर्मों के फल स्वरूप शरीर–विकार–वेदना–जन्य दु ख प्राप्त करता है उस समय उसे प्राण-समान प्रिय मानने वाले बन्धु क्या उन दु.खो का निवारण कर सकते है ? उनको तो उसे अकेले ही भोगना पडता है। तब हे आत्मन्! तुझे क्या करना चाहिए और तू क्या कर रहा है। जरा सोच। इस जन्म मे और परजन्म मे तेरा हित करने वाला, तुझे दु.ख से छुटकारा दिलाने वाला धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। जो हर हालत मे सुख देता रहे वह धर्म ही है। इसे मत भूल। दूसरो के लिए अनर्थ करके व्यर्थ दु.खी मत बन।

तह मरइ एक्कओ चेव तस्स ण विदिज्जगो हवइ कोई।
भोगे भोत्तुं णियया विदिज्जया ण पुण कम्मफलं ॥ १७४९ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—स्वकीय आयु का क्षय होने पर यह अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होता है। इसका सहायक दूसरा कोई भी नहीं होता है। ये स्वजन बन्धु लोग सुख-भोग भोगने के लिए हैं, परन्तु कर्म फल भोगने के लिए ये बन्धु सहायक नहीं होते।

हे आत्मन् ! इन बन्धुओ के प्रेम जाल मे फँसकर जो तू अपने स्वरूप को ही भूल रहा है उनका स्वरूप तो समझ ले। अनेक सुख-भोग की सामग्री का जो तू सञ्चय करता है उसका सुखानुभव करने के निमित्त तो ये बन्धु आदि तेरे घनिष्ट सम्बन्धी बन जाते हैं, परन्तु जब तेरा मरण होने वाला होता है, तब उस मरण को अपने मे बाँटकर क्या तेरी सहायता करते हैं? कभी नहीं करते। यदि मरण मे विभाग करते तो तू अकेला ही कैसे मृत्यु का ग्रास होता? अनेको का मरण एक साथ क्यो नहीं होता? इससे यह स्पष्ट है कि ये स्वार्थ के सगे और विपत्ति में दगा देने वाले वञ्चक (ठग) है।

प्रकारान्तर से एकत्व-भावना का स्वरूप

णीया अत्था देहादिया य संगा ण कस्स इह होंति।
परलोगं अण्णेत्ता जदिवि दइज्जंति ते सुट्ठु ॥ १७५० ॥ [भग आ]

अर्थ—परलोक मे गमन करते हुए जीव के साथ उसके प्रिय बन्धु, धन, शरीरादि, जिनको कि परलोक मे साथ ले जाने की उसकी बहुत उत्कण्ठा होती है, कोई भी नहीं जाते। इस जन्म मे भी विपत्ति आने पर जब उक्त बन्धु आदि साथ छोड़कर अलग हो जाते हैं तो उनसे परलोक मे साथ रहने की तो आशा ही क्या की जा सकती है ? अतः यह जीव सदा अकेला ही है-यह स्पष्ट है।

इह लोग बंधवा ते णियया ण परस्स होंति लोगस्स।
तह चेव धणं देहो संगा सयणासणादीयं ॥ १७५१ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—इस लोक मे जो बन्धु लोग हैं, उनका सम्बन्ध इस जन्म के साथ ही है, अर्थात् परजन्म के साथ नहीं है। धन, शरीर, शयन, आसन आदि परिग्रह का सम्बन्ध भी पूर्वोक्त प्रकार का ही है। बल्कि बन्धु, धन, शयनासन आदि परिग्रह कभी कभी इस जन्म में भी जीव की सहायता नहीं करते प्रत्युत उसका अपकार करने मे तत्पर हो जाते हैं, या इससे सर्वथा सम्बन्ध तोड़ देते है, तो वे इस जीव का उपकार परभव मे भी करेंगे-यह बात विश्वास करने योग्य कैसे हो सकती है ?

बन्धु आदि जीव के उपकारक नहीं, बल्कि बन्धन के कारण हैं।

शरणमशरणं बन्धवो बन्धमूलं,
चिरपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणाम्।

विपरिमृशतं पुत्राः शत्रवः सर्वमेतत् ।
त्यजत भजत धर्मं निर्मलं शर्मकामाः ॥ ६० ॥ [आत्मानु.]

अर्थ—शरण (घर) तेरा वास्तविक शरण (रक्षक) नहीं है। क्योंकि काल घर मे भी आकर जीव को दबोच लेता है। बन्धु लोग पाप कर्म का बन्ध कराने मे कारण होते हैं। क्योकि यह जीव उनके मोह जाल मे फँसकर उनके भरण–पोषण आदि के लिए अनेक पाप कर्म करता है। चिरकाल की परिचित (अनुभूत) पत्नी को सुख देने वाली समझना भी भ्रम है। वह भी पुरुष के अनेक आपत्ति रूप घर में प्रवेश करने का द्वार ही है। क्योकि स्त्री के मोह से ही परमार्थ छोडकर गृह–जाल मे फँसकर अनेक कष्ट उठाने पडते हैं। पुत्र भी शत्रु के समान होते हैं, क्योकि जन्मते ही माता का यौवन और सौन्दर्य नष्ट करते हैं। बाल्यावस्था मे माता पिता के सुख में विघ्न करते हैं। उनके पालन–पोषण आदि सुख साधनो के लिए माता–पिता को अनेक दुष्कर्म करके धन का अर्जन करना पड़ता है। इस पर भी यदि वह कुपथगामी निकल जावे तो माता पिता को जन्म भर का संताप उत्पन्न हो जाता है। अतः उसके सब कर्म शत्रु के समान दुःख दायक हैं। इसलिए हे आत्मन्! यदि तू दु.ख और संताप से बचना चाहता है और सुख की लालसा रखता है तो इन सब से अपना सम्बन्ध तोड दे और धर्म से प्रेम सम्बन्ध जोड ले। यही तेरा सच्चा साथी या मित्र है। कहा भी है—

जो पुण धम्मो जीवेण कदो सम्मत्तचरणसुदमइओ ।
सो परलोए जीवस्स होइ गुणकारकसहाओ ॥ १७५२ ॥ [भग. आ]

अर्थ–इस भव मे जीव जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र रूप धर्म का पालन करता है, वही परलोक में इस जीव का गुणकारक (सुखदायक) व सहायक होता है। अर्थात् धर्म, स्वर्गादि की प्राप्ति रूप अभ्युदय और निश्रेयस (मोक्ष) को देनेवाला व परलोक मे उपकारी होता है।

धर्म की प्रशसा में और भी कहा है—

दत्वा द्यावापृथिव्योर्वरविषयरतिं वीतभीशुग्विषादां
कृत्वा लोकत्रयीशं सुरनरपतिभिः प्राप्य पूजां विशिष्टाम् ।
मृत्युव्याधिप्रसूतिप्रियविगमजरारोगशोकप्रहीणे,
मोक्षे नित्योरुसौख्ये क्षिपति निरुपमे यः सःनोऽव्यात् सुधर्मः ॥ [भग. आ. संस्कृत टीका १७५२]

अर्थ—यह धर्म भय, शोक और विषाद (दुःख) का विनाश कर स्वर्गसम्बन्धी एव भूतलसम्बन्धी समस्त विषय-सुख को देता है। इसका पालन करने वाला जीव त्रिलोक का अधिपति होकर नरेन्द्रो और सुरेन्द्रो से विशेष पूजित होता है। इस धर्म के प्रसाद से जीव को जन्म, जरा-मरण, रोग, शोक, प्रिय-वियोग से रहित नित्य और सर्व श्रेष्ठ सुख से परिपूर्ण निरुपम मोक्ष प्राप्त होता है। इस प्रकार अपूर्व हितकारक रत्नत्रयरूप धर्म नित्य हमारी रक्षा करे।

शंका—एकत्व भावना अर्थात् असहायत्व की भावना के प्रकरण मे सहाय का निरूपण करना क्या उचित है ?

समाधान—यहाँ पर धर्म को सहायक बताकर अन्य वस्तु आदि को असहायक सिद्ध किया है। अतः इनमे उपकारकपने की बुद्धि का त्याग करने का उपदेश दिया गया है। क्योकि ससार मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप धर्म ही आत्मा का असली उपकारक है। क्योकि वह आत्मा का स्वभाव है। जो जिसका स्वभाव होता है, वही उसका उपकार कर्त्ता हो सकता है। कर्म के निमित्त से सयोग को प्राप्त हुए बन्धु धनादि बाह्य-पदार्थ आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, किन्तु आत्मा की विकार अवस्था (कर्म विशिष्ट अवस्था) के निमित्त से ये (बन्धु आदि) पदार्थ उपलब्ध हुए हैं। जैसे जल का स्वभाव शीतल है, वह शान्ति का कर्त्ता है, किन्तु अग्नि के सयोग से उत्पन्न हुआ उष्णपना जल का विकृत भाव है। वह शान्ति का कर्त्ता नहीं होता, प्रत्युत शान्ति का नाशक होता है। वैसे ही धर्म आत्मा का स्वभाव होने से आत्मा को शान्ति देने वाला है और बन्धु धन आदि आत्मा के कर्म-जन्य विभाव भाव-रागद्वेषादि भाव-कर्म से प्राप्त हुए हैं, इसलिए ये आत्मा की शान्ति के नाशक होते है। अतः ये आत्मा के उपकारक नहीं है।

सम्यक्त्वादि आत्मा के शुभपरिणाम-प्रशस्तगति, प्रशस्तजाति, उच्चगोत्र, प्रशस्त-सघात, सहनन, आयु, सातावेदनीय आदि शुभ कर्मों को आत्मा मे उत्पन्न करके नष्ट हो जाते है। और इनके कारण यह आत्मा देव या मनुष्य पर्याय प्राप्त करता है, पचेन्द्रिय, पर्याप्त, कुलीन, शुभ-नीरोग-शरीर का धारक, दीर्घकाल तक जीने वाला होता है और सुख का अनुभव करने वाला होता है। यह सब धर्मानुबन्धी पुण्य के उदय से उपलब्ध होते हैं। इस पुण्यानुबन्धी पुण्य के उदय से भविष्य मे दीक्षा-ग्रहण करने के परिणाम और निरतिचार रत्नत्रय की प्राप्ति होती है। अतएव धर्म उपकार करने वाला मुख्य साधन है। इसलिए ज्ञानी धर्म मे अनुराग करता है।

ज्ञानवान को शरीर और धनादि मे अनुराग क्यो नहीं होता, इसको कहते है—

वद्धस्स बंधणे व ण रागो देहम्मि होइ णाणिस्स।
विससरिसेसु ण रागो अत्थेसु महाभयेसु तहा ॥ १७५३ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—जैसे रस्सी साकल आदि वन्धन से बंधा हुआ मनुष्य वन्धन क्रिया के कारणभूत रस्सी आदि दु:ख के देने वाले पदार्थों से प्रीति नहीं करता है, वैसे ही सुख दुःख के साधनो का जिसे पृथक् २ ज्ञान है, वह ज्ञानी मनुष्य दुःख के कारण, सारहीन, अस्थिर (नश्वर) और महा अपवित्र शरीर मे राग नहीं करता है। क्योंकि बुद्धिमान पुरुष गुण के पक्षपाती हुआ करते हैं।

जैसे विष दु:ख का देने वाला है और प्राणो का विनाशक होता है, वैसे ही धन भी उसके उपार्जन, रक्षण आदि मे लगे हुए मनुष्य को दुःख उत्पन्न करता है तथा प्राणो के विनाश मे भी वह निमित्त होता है। क्योकि ससार मे प्रायः जितने नरसहारक सग्राम होते हैं, वे धन के लिए ही होते हैं। इसलिए धन-सम्पत्ति महान भय के उत्पन्न करने वाले होने से महाभयानक हैं।

जो पदार्थ जिसका अनुपकार करने वाला होता है, उस पदार्थ मे विवेकी पुरुष की सहाय बुद्धि नहीं होती है, जैसे कि विष कटक आदि मे नही होती है। शरीर धनादि भी आत्मा के अनुपकारी है, इसलिए विवेक-शील पुरुष को इसमे बारम्बार असहायता की भावना करनी चाहिए। अर्थात् ये कभी किसी के उपकारक नहीं हुए है। अत. मेरे ये उपकारक कैसे हो सकते हैं, इस प्रकार पुनः पुनः अभ्यास करना चाहिए।

अन्यत्व–भावना

अन्यत्व नाम भेद का है। ससार के समस्त पदार्थों से मेरा आत्मा सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार अभ्यास करने को अन्यत्व भावना कहते है।

अन्यत्व-नाम स्थापना, द्रव्य और भाव के आश्रय से चार प्रकार का है। आत्मा, जीव, प्राणी, यह भेद नाम की अपेक्षा से है। काष्ठ की प्रतिमा, प्रस्तर-प्रतिमा इत्यादि स्थापना से भेद है। जीव द्रव्य व अजीव द्रव्य यह द्रव्य से भेद है। एक ही जीव द्रव्य मे वालक, युवा, मनुष्य, देव इत्यादि भेद भाव की अपेक्षा से होता है।

जीव और कर्म का परस्पर वन्ध होकर दोनों का एकीभाव हो रहा है, तथापि लक्षण भेद से इनकी भिन्नता प्रतीत होती है। क्योकि जीव का लक्षण ज्ञान-दर्शन है और पुद्गल का लक्षण रूप, रस, गन्ध और स्पर्श है। इस प्रकार यह लक्षण कृत भेद होता है।

प्रत्येक समय मे अनन्तानन्त कर्म परमाणु योग के निमित्त से आकर कषाय के कारण से जीव के प्रदेशों में एकमेक होकर ठहरते हैं और प्रति समय अनन्तानन्त कर्मपुद्गल जीव से पृथक् होते हैं, इस प्रकार बन्ध की अपेक्षा से भेद (अन्यत्व) होता है। औदारिकादि शरीर के कारण नोकर्मवर्गणा के नवीन पुद्गल आकर क्षीर-नीर के समान जीव के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं और पुराने

स ।

य तत्क्षण निर्जरा को प्राप्त होते हैं।

जीव स्वय औदारिकादि शरीरनामकर्म के उदय से औदारिकादि शरीर का निर्माण करके शरीर मे स्थिति करता हुआ भी जैसे नख, रोम, दन्त, अस्थि आदि मे नहीं रहता है, वैसे ही रस, रुधिर, चर्वी, शुक्र,वीर्य,कफ,पित्त,मल,मूत्र, मस्तिष्क आदि प्रदेशो में भी नहीं रहता है। इस प्रकार कर्म तथा शरीर के अवयवों से जीव का भेद होता है। अतएव परम ध्यानी पुरुष तपस्या व ध्यान द्वारा शरीर से पृथक् होकर अनन्त ज्ञानादि गुणो से विशिष्ट हुआ मोक्ष मे प्रवस्थित होता है। उस मोक्षावस्था की प्राप्ति के लिए यह शरीर है। यह शरीर इन्द्रियगम्य है, मैं अतीन्द्रिय हूँ, अर्थात् इन्द्रियो के अगोचर हूँ। यह शरीर अज्ञ (ज्ञान हीन) है और मैं ज्ञाता हूँ, ज्ञानस्वभाव वाला हूँ। यह शरीर अनित्य है। मैं नित्य हूँ। इस शरीर का आदि और अन्त है। मैं आदि और अन्त से रहित हूँ। अनन्त काल ससार मे भ्रमण करते हुए मैंने अनन्त शरीर ग्रहण कर छोड दिये हैं, मैं उनसे भिन्न रहने वाला हूँ। इस प्रकार शरीर से जब मेरा सर्वथा भेद है तब बाह्य परिग्रहो से भेद के विषय मे कहना ही क्या है ? इस प्रकार की भावना करनी चाहिए। मूलाचार मे कहा है—

मादुपिदुमयणसंबंधिणो य सव्वे वि अत्तणो अण्णे।
इह लोग बधवा ते ण य परलोगं समं णेंति ॥ १० ॥
अण्णो अण्णं सोयदि मदोत्ति मम णाहोत्ति मण्णंतो।
अत्ताणं ण दु सोयदि संसारमहण्णवे बुड्ड ॥ ११ ॥

अर्थ—माता, पिता, कुटुम्ब और परिवार के लोग व सगे सम्बन्धी सबही मुझ से अन्य हैं। इस भव के जो बन्धु लोग हैं, वे परभव में साथ नहीं जाते हैं, न इनका किया हुआ कृत्य मेरे साथ जाने वाला है।

यह मूढ आत्मा, हाय मेरा नाथ मर गया, मेरा बन्धु मरगया इत्यादि अन्य जन का तो सोच-चिन्ता करता है, और ससार रूप महासागर मे गोते लगाते हुए, महा दु.ख ज्वालाओ का आलिंगन करते हुए अपने आपका सोच नहीं करता है ?

भावार्थ—मोहनीय कर्म ने आत्मा के असली स्वरूप को भुलाकर पर पदार्थ मे उसे इतना रत कर दिया है कि यह अज्ञानवश पर पदार्थों को ही आत्मा मान बैठा है, तथा उनको ही सुख दु.ख का मुख्य साधन समझ रहा है। तबही तो अपना प्रिय बन्धु या मित्र जब काल के गाल मे चला जाता है, तब अत्यन्त शोक सताप करने लगता है, किन्तु अपना आत्मा अनन्त काल से इस ससार समुद्र मे डुबकियाँ लगा रहा है, कभी कभी गोता लगाकर नीचे जाता है तब नरक निगोद मे जाकर जन्म धारण करता और वहाँ पर वचनागोचर एक श्वास

मे १८ वार जन्म मरण के दु ख को तथा छेदन-भेदन मरण आदि के वचनातीत दुःखों का अनुभव करता है, और डुवकी लगाकर ऊपर आता है तव तिर्यंच और मनुष्य भव के असह्य दु.खो को भोगता है। इन अपनी ही दु.ख पूर्ण अवस्थाओ का सोच नहीं करता है। इसलिए हे आत्मन् ! अव उस भ्रम को छोड़ दे, और माता, पिता, पुत्र, मित्र, कलत्रादि को आत्मा से सर्वथा भिन्न समझ। उनको दु खित व मरणोन्मुख देखकर दु.ख और शोक करना अज्ञानियो का कम है। कहा भी है :—

प्रीतिपूर्वं कृतं कर्म मनोवाक्कायकर्मभिः।
न निवारयितुं शक्यं संहतैस्त्रिदशैरपि ॥ [भग. आ. टीका १७५४]

अर्थ—जिस जीव ने मन वचन काय के द्वारा प्रीतिपूर्वक जो कर्म किया है, सव देव मिलकर भी उसका निवारण नहीं कर सकते, तव अन्य का क्या सामर्थ्य है जो उस कर्म का निराकरण कर सके।

शङ्का—पर-दु ख का निवारण करने के लिए जव कोई समर्थ नहीं हो सकता, तव किसी दु खित जीव के दुःख के प्रतीकार का प्रयत्न करना व्यर्थ हुआ। किसी व्याधि-पीडित मनुष्य को औषधि देने एवं उसकी वैयावृत्य आदि दु.ख दूर करने के जो उपाय किये जाते हैं, उनका भी निराकरण हुआ। किसी के दु ख के नाश के उपाय करने का भी निषेध हुआ। इस प्रकार आचरण करने से परस्पर में सहानुभूति व अनुकम्पा भाव का भी नाश हो जावेगा और कठोरता तथा निर्दयता का प्रचार होने लगेगा, जो कि धर्म भावना से विरुद्ध है।

समाधान—परदु ख के निवारण करने के लिए जो उचित प्रयत्न व उपाय किये जाते हैं, उनका निषेध नहीं किया गया है। निषेध तो इसका किया गया है कि यह मोही जीव परके दु ख व मरण आदि के निमित्त से आत्मा मे शोक, दु.ख और सताप करता है, यह उसकी मूर्खता है। उचित उपाय करते हुए जव दु.खादि दूर नहीं होते हैं, तो समझना चाहिए कि यह उनके पूर्वोपार्जित निकांचित वन्ध का परिणाम है। उनके निमित्त से अपनी आत्मा मे दु.ख और शोक करके शोक व दु.ख के दाता मोहनीय कर्म का वन्ध करना मूर्खता के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? दु.खादि के निवारण का प्रयत्न करना दूसरी वात है और उनमें ममत्व परिणाम करके दु.ख शोक का अनुभव करना दूसरी वात है।

ससार मे कौन किसका हुआ है ? कोई किसी का सम्बन्धी नहीं है। कहा है—

संसारम्मि अणंते सगेण कम्मेण हरिमाणाणं।
को कस्स होइ सयणो सज्जइ मोहा जणम्मि जणो ॥ १७५५ ॥ [भग. आ]

अर्थ—यह संसार पाँच प्रकार के परिवर्त्तनों से युक्त है और अनन्त है। इसमे अनादि काल से मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद आदि आत्मा के परिणामो से उपार्जित कर्म पुद्गलो से बन्धे हुए जीव अनेक प्रकार की गतियो में भ्रमण करते रहते हैं-ऐसी हालत में कौन किसका नियत कुटुम्बी हो सकता है? यदि कोई निश्चित सम्बन्ध होता तो, 'यह स्वजन है और यह परजन है' ऐसा विभाग हो सकता था, किन्तु ऐसा नहीं है। क्योकि कर्म से परतन्त्र हुए जीव के जो आज स्वजन है वे परभव मे परजन हो जाते हैं। इसलिए इस संसार में न तो कोई स्वजन है और न कोई परजन है, यह सब जीव राशि भिन्न-भिन्न मिथ्यात्वादि परिणामो के द्वारा अनेक अवस्थाओ का अनुभव करती हुई एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। ऐसा चिन्तन करने वाले ज्ञानी जीव के किसी पर दया व प्रेम नहीं होता है और न किसी पर निर्दयता व द्वेष उत्पन्न होता है। अर्थात् इस विषम भाव के न होने पर साम्यभाव प्रकट होता है। राग द्वेष के अभाव से आत्मा मे निर्विकल्पक ध्यान प्रादुर्भूत होता है। क्योकि मोह से यह जीव मेरा यह भाई, है यह पिता है, पुत्र है, भानजा है, यह मेरा दास है, यह मेरा स्वामी है, इस प्रकार अन्यजनो पर आसक्ति करता है। भेद ज्ञान न होने से मैं इनसे भिन्न हूं और ये मुझ से पृथक् हैं ऐसा विचार उत्पन्न नहीं होता है।

इस प्रकार तत्त्व का चिन्तन करने वाले भेदज्ञानी-आत्मा के स्वपर का विवेक ज्ञान होने से किसी पर रागद्वेष नहीं होता है और सहज ही मे निर्विकल्प समाधि उत्पन्न होती है।

प्रकारान्तर से स्वजन और परजन के भेदभाव को दिखाते हैं—

सव्वोवि जणो सयणो सव्वस्स वि आसि तीदकालम्मि।
एते य तहाकाले होहिदि सजणो जणस्स जणो ॥ १७५६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—भूतकाल मे सब जीव सब जीवो के स्वजन (कुटुम्बी) बन चुके होगे और भविष्य काल मे सब जीव सबके स्वजन बनेंगे। ऐसी अवस्था मे किसी एक दो को स्वजन मान लेना मिथ्या सकल्प है। वे सब जीव मुझ से अन्य (भिन्न) हैं और मैं भी उनसे अन्य (भिन्न) हूँ, ऐसा समझना ही वास्तविकता है।

इस जगत् के सब प्राणी वालुका के कणो के समान परस्पर भिन्न २ हैं। जैसे वालुका के कणो का सयोग जलादि द्रव पदार्थ के मिलने से होता है, जब उस द्रव पदार्थ का रस सूख जाता है, तब वे भी अलग २ होकर बिखर जाते हैं, उसी प्रकार बन्धु लोग कार्य-सिद्धि के उद्देश्य से ही सम्बन्ध को प्राप्त हुए हैं, कार्य-सिद्धि के पश्चात सब पृथक् पृथक् हो जाते हैं।

आशय यह है कि जगत् मे कार्य के उद्देश्य से स्वजन व परिजन का विभाग होता है। उपकार से मित्रता और अपकार से

शत्रुता है।

यहाँ कोई किसी का स्वाभाविक मित्र व शत्रु नहीं होता। प्रतिकूल व्यवहार से शत्रु बन गया है, उसके साथ उपकार का बर्त्ताव करने से वह पुनः मित्र बन जाता है। जो प्राणो का घातक बन बैठा था, उपकार रूपी मन्त्र से उसका स्वभाव बदल जाता है और वही प्राणों की रक्षा करता हुआ देखा जाता है। तथा जो स्वभावतः प्रिय होता है, ऐसे पुत्र पर भी अपकार रूपी विष का प्रयोग होने पर वही प्राण सहारक शत्रु बन बैठता है। उपकार और अपकार क्रियाएँ हमेशा एकसी नहीं रहती हैं। अतः उनके निमित्त से होने वाला बन्धु-भाव और शत्रु-भाव भी एकसा नहीं रहता है। इसलिए किसी पर राग-द्वेष कभी नहीं करना चाहिए। बल्कि शत्रु, मित्र, स्वजन, परिजन आदि का वास्तव मे अपने से कोई सम्बन्ध न समझ कर उनसे मोह हटा लेना चाहिए और ससार के सब सम्बन्धो को स्वार्थ-मूलक समझ कर अन्यत्व-भावना दृढ़ करनी चाहिए। अन्यथा शत्रु, मित्र आदि की कल्पना कर प्राणी अपने आपको भूलेगा तो कभी अपना हित-साधन न कर सकेगा। क्योकि अज्ञानी प्राणी को अपने सच्चे शत्रु और मित्रो की भी तो परख नहीं। कहा है :—

शत्रु व मित्र कौन है ?

जो जस्स वट्टदि हिदे पुरिसो सो तस्स बन्धवो होदि।
जो जस्स कुणदि अहिदं सो तस्स रिवुत्ति णायव्वो ॥ १७६३ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—जो मनुष्य जिसके हितकार्य मे प्रवृत्ति करता है वह उसका बन्धु व मित्र माना जाता है और जो मनुष्य जिसके अहितकार्य मे प्रवृत्ति करता है वह उसका शत्रु कहा जाता है। अर्थात् हित करने वाले को बन्धु और अहित करने वाले को शत्रु कहते हैं। इसलिए हे आत्मन्! जिनको तूने अपना बन्धु समझ रखा है, वे वास्तव मे तेरे शत्रु हैं, क्योकि वे अभ्युदय (स्वर्गादि की प्राप्ति) और निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति के कारण धर्म मे विघ्न करने वाले हैं। और तीव्र दुःख के कारण हिंसा असत्यादि असयम को भी तुझ से वे ही करवाते हैं।

तात्पर्य यह है कि जिसकी आराधना करने से अष्ट कर्मों का नाश होकर सुख शान्ति के देने वाले मोक्ष की प्राप्ति होती है और सासारिक उत्कृष्ट सुख के कारण अहमिन्द्रादि पद की उपलब्धि होती है, उस सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र (रत्नत्रय) रूप धर्म के धारण करने मे बन्धुगण विघ्न बाधाएँ उपस्थित करते हैं। अर्थात् अनुपम सुख के कारणभूत धर्म का पालन करने मे बाधक ही नहीं होते, अपितु आत्मा को नरक और निगोद के असीम दुःखो के कारण हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापो को भी वे ही करवाते हैं और नरकादि के घोर दुःखो से उद्धार करने वाले धर्म मे ये बन्धु विघ्न करते हैं। इसलिए ये बन्धु तेरे मित्र नहीं, भयानक शत्रु हैं। क्योकि हित मे बाधा करने वाले और अहित मे सहायता करने वाले शत्रु ही होते हैं।

तम्हा णीया पुरिमस्स होंति साहू अणेयसुहहेदू ।
संसारमदीणंता णीया य णरस्स होंति अरी ॥ १७६७ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—सत्पुरुष प्राणियो को हित मार्ग मे लगाते हैं, तथा स्वर्गादि मे इन्द्रिय-सुख व मोक्ष सम्बन्धी अतीन्द्रिय-सुख की प्राप्ति कराने मे कारण होते हैं, इसलिए वे ही असली बन्धु हैं। परन्तु जो पुत्र, मित्र, भ्रातादि बन्धु हैं,वे अनेक दु खो से व्याप्त अपार ससार समुद्र मे डुबोते हैं, इसलिए वे बन्धु बन्धु नहीं किन्तु शत्रु ही हैं।

इस गाथा से अपने से भिन्न जो सत्पुरुष हैं, उन्हे सच्चे बन्धु और अपने से भिन्न जो पुत्र, भ्राता आदि बान्धव हैं, उन्हें असली शत्रु बतलाया है। इससे सत्पुरुषो के धर्मोपदेश मे अनुराग और आदर भाव उत्पन्न होता है और बन्धुओ मे अप्रीति व अनादरभाव पैदा होता है। क्योकि सत्पुरुष इस लोक के सम्पूर्ण उत्तम से उत्तम इन्द्रिय-जन्य सुख को देने वाले और अतीन्द्रिय अनुपम निराबाध मोक्ष के नित्य सुख को देने वाले हैं एव धर्म के मार्ग पर लगाते हैं और ये बन्धु लोग मनोवाछित सुख को देने वाले, रत्नत्रय रूप धर्म का पालन करने मे बाधा उपस्थित करते हैं। ससार-वर्धक हिंसादि जनक आरम्भादि क्रियाओ मे जीवो को प्रवृत्त करते हैं। अत सत्पुरुषो को उपकारी समझ कर उनमे आदर बुद्धि करना और स्वजन आदि के सम्बन्ध को अहित रूप समझ कर उनमे अनादर बुद्धि करना यही अन्यत्वानुप्रेक्षा का फल है।

ससारानपेक्षा

अब ससारानुप्रेक्षा का वर्णन करते हुए ससार का स्वरूप वर्णन करते हैं।

संसार का स्वरूप

मिच्छत्तेण छण्णो मग्गं जिणदेसिदं अपेक्खंतो ।
भमिहदि भमिकुडिले जीवो संसारकंतारे ॥ १२ ॥ [मूला द्वा अ.]

अर्थ—मिथ्यात्व रूप अन्धकार से आछन्न (ढका हुआ) यह आत्मा जिनेन्द्र भगवान् द्वारा दिखलाये गये मोक्ष मार्ग को नहीं देखता हुआ अज्ञानवश भयानक तथा मोहलतादि से अत्यन्त गहन ससार रूप बीहड वन मे निरन्तर भ्रमण करता है।

भावार्थ—जीवो की अवस्था चार प्रकार की हैं–१ ससार २ अससार, ३ नो ससार, ४ तत्त्रितय व्यपाय (उक्त तीनो अवस्थाओ)की निवृत्ति रूप अवस्था विशेष)

[१] ससार—चौरासी लाख योनियों के भेदवाली नरकादि चारो गतियो मे परिभ्रमण करने को संसार कहते हैं।

[२] असंसार—मोक्षपद में परम अमृत रूप दिव्य-सुख मे प्रतिष्ठित होजाने को असंसार (संसार का अभाव) कहते हैं।

[३] नो संसार (ईषत् संसार)-तेरहवें गुणस्थान मे विराजमान सयोगकेवली (अरिहत) भगवान् के चतुर्गति रूप, ससार में परिभ्रमण का अभाव है अतः उनके ससार नहीं है। तथा संसार के अन्त (मुक्ति) की प्राप्ति नहीं हुई है; अतः असंसार भी नहीं इसलिए उनके ईषत् संसार को नो ससार कहते हैं।

[४] तत्त्रितयव्यपाय-उक्त तीनो अवस्थाओ की निवृत्ति रूप अवस्था विशेष-अयोगकेवली की अवस्था-को तत्त्रियव्यपायरूप अवस्था कहते हैं। इस अवस्था मे उक्त तीनो अवस्थाओ का अभाव पाया जाता है, क्योकि अयोगकेवली के भव भ्रमण का अभाव होने से ससार अवस्था नहीं है। सयोगकेवली के समान इनके आत्म-प्रदेशो का परिस्पन्द (चञ्चलपना) नहीं होने से ईषत्संसार रूप नोसंसार भी नहीं है। तथा ससार का अन्त (मोक्ष) प्राप्त नहीं होने से उनके असंसार भी नहीं है। इन तीनो अवस्थाओ से अतिरिक्त यह एक चौथी ही अवस्था है।

शरीर का परिस्पन्द (हिलन-चलन) न होने पर भी समस्त प्राणियो के निरन्तर आत्मा के प्रदेशो का परिस्पन्द (कम्पन) होता है, इसलिए उनके सदा संसार माना गया है; किन्तु सिद्धो के व अयोग केवलियो के आत्म-प्रदेशो का परिस्पन्द नहीं होता है। क्योकि उनके आत्म-प्रदेशो के परिस्पन्द की कारणभूत कर्म-सामग्री का अभाव है। इन दोनो के अतिरिक्त जीवो के तीन अवस्थाएँ होती हैं, जिनका निरूपण ऊपर कर आये हैं।

वह ससार अभव्य जीवो की अपेक्षा अनादि और अनन्त है। भव्य-सामान्य की अपेक्षा अनादि और सान्त है। भव्य विशेष (सम्यग्दृष्टि) की अपेक्षा से ससार सादि-सान्त है। क्योकि अनादिकाल से जो मिथ्यात्वसहित ससार था, उसका सम्यक्त्व के उत्पन्न होने पर नाश हो जाने से सम्यक्त्व सहित ससार की आदि हुई है, और इसका अन्त होने वाला है। इसलिए इसे सादि सान्त कहा है।

असंसार सादि और सान्त है। अर्थात् मोक्ष अवस्था आदि सहित और अन्त रहित है।

तत्त्रितयव्यपाय (अयोगकेवली की अवस्था) का काल अन्तर्मुहूर्त्त मात्र है। अर्थात् अ इ उ ऋ लृ इन पांच ह्रस्व-स्वरो के उच्चारण करने मे जितना काल लगता है उतने काल पर्यन्त अयोगकेवली अवस्था रहती है। उसके अनन्तर मोक्ष हो जाता है।

नो ससार (ईषत् ससार) का काल अन्तर्मुहूर्त्त सहित आठ वर्ष कम पूर्वकोटि मात्र है। अर्थात् पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाला

चतुर्थ काल का जीव आठ वर्ष के अनन्तर तपस्या ग्रहण करके केवलज्ञान उत्पन्न कर सकता है। इसलिए अन्तर्मुहूर्त्त सहित आठ वर्ष हीन पूर्व-कोटिवर्ष पर्यन्त सयोगकेवली अवस्था रह सकती है। अत: नोससार सादि सान्त है।

सादि-सान्त—संसार का काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त है और उत्कृष्टकाल अर्धपुद्गलपरावर्त्तन मात्र है। जो जीव अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि था उसने काललब्धि आदि के योग से सम्यक्त्व का ग्रहण किया, तब उसके सम्यक्त्व सहित ससार का आदि हुआ। वह संयम धारण कर अन्तर्मुहूर्त्त मे मोक्ष प्राप्त करले तो उसके ससार का काल अन्तर्मुहूर्त्तमात्र हुआ और वह सम्यक्त्व से च्युत होजावे और ससार मे अधिक से अधिक रहे तो अर्धपुद्गलपरावर्त्तनकाल तक रह सकता है, उसके अनन्तर उसका मोक्ष अवश्यभावी है।

वह ससार, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भव की अपेक्षा से पाच प्रकार का होता है।

मूलाचार की मूलगाथा मे चार प्रकार के (द्रव्य क्षेत्र काल भाव) परिवर्त्तन का निरूपण है, परन्तु सस्कृत टीकाकार ने पाचों परिवर्त्तनो का ग्रहण किया है। इसी प्रकार भगवतीआराधना मे भी मूलाचार के समान चार परिवर्त्तनों का ही विधान है। परन्तु सस्कृत टीकाकारो ने अन्य शास्त्रो के उद्धरण देकर भव-परिवर्त्तन को भी ग्रहण किया है। क्रमश. उक्त ग्रन्थो की गाथाओं को नीचे दिखाते हैं।

दव्वे खेत्ते काले भावे य चदुव्विहो य संसारो।
चदुगदिगमणणिबद्धो बहुप्पयोरहिं णादव्वो ॥ १४ ॥ [मूला]

अर्थ—नरकादि चारगतियो मे गमन कराने का कारणभूत ससार (परिवर्त्तन) द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इस तरह चार प्रकार का तथा आगे कहे गये छह सात आदि प्रकार का जानना चाहिए।

द्रव्य–परिवर्त्तन

अण्णं गिण्हदि देहं तं पुण मुत्तूण गिण्हदे अण्णं।
घडिजंत व य जीवो भमदि इमो दव्वसंसारे ॥ १७७३ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—जिस प्रकार कूए मे लगा हुआ घटीयन्त्र (अरघट) भ्रमण करता हुआ पहले ग्रहण किये हुए जल का त्याग करता है और अन्य जल का ग्रहण करता है उसी प्रकार संसार कूप में पडा हुआ यह प्राणी पूर्व ग्रहण किये हुए शरीर को छोड़ता और दूसरे शरीर

को धारण करता है, इस प्रकार भिन्न २ शरीरो का ग्रहण और त्याग करता हुआ यह जीव अनादिकाल से इस संसार में भ्रमण कर रहा है। अनेक प्रकार के शरीरो के ग्रहण करने को ही द्रव्य-परिवर्त्तन कहते हैं।

भावार्थ—एक शरीर का ग्रहण कर, आयु पूर्ण करके उसे छोड़ दूसरे शरीर का ग्रहण करना और उसे भी छोड़ तीसरे शरीर का ग्रहण करना-इसी प्रकार निरन्तर शरीर के ग्रहण और त्याग करने को द्रव्य-परिवर्त्तन कहते हैं।

द्रव्य परिवर्त्तन दो प्रकार का है-१ नोकर्मद्रव्य-परिवर्त्तन और कर्म-द्रव्य-परिवर्त्तन।

१ नोकर्मद्रव्य परिवर्त्तन—तीन शरीर (औदारिक, वैक्रियिक, आहारक) तथा छह पर्याप्ति (आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा, मन) के योग्य जो पुद्गल हैं वे तीव्र-मन्द-मध्यम भावो से युक्त स्पर्श (स्निग्ध रूक्ष) वर्ण, गन्ध आदि रूप जैसे थे वैसे ग्रहण किये और दूसरे तीसरे आदि समय मे वे निर्जरा को प्राप्त हुए। जिनका ग्रहण पहले नहीं किया था, ऐसे पूर्वोक्त पुद्गलों का अनन्त बार ग्रहण किया और त्याग किया तथा मिश्र (गृहीत और अगृहीत मिले हुए) पुद्गलों का अनन्तबार ग्रहण और त्याग किया। बीच बीच मे गृहीत पुद्गलो का भी ग्रहण व त्याग किया। काल पाकर पूर्व समय मे जिन पुद्गलो को ग्रहण किया था उन्हीं को उसी प्रकार (तीव्र-मन्द-मध्यम भावो द्वारा स्निग्ध, रूक्ष वर्णादि रूप) वही जीव जितने काल में नोकर्म रूप से ग्रहण करता है, उतने काल को नोकर्मद्रव्यपरिवर्त्तन कहते हैं।

कर्म-द्रव्य-परिवर्त्तन--किसी जीव ने एक समय मे ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप पुद्गल तीव्रादि भाव से युक्त स्निग्धरूक्षादि स्वरूप ग्रहण किये। एक समय अधिक एक आवली के अनन्तर द्वितीय आदि समय मे उनकी निर्जरा हुई। अनन्तबार अगृहीत कर्म पुद्गलो का ग्रहण कर निर्जरा की। मिश्र (गृहीत व अगृहीत मिले हुए) कर्म-पुद्गलों का ग्रहण कर निर्जरा की। मध्य मे गृहीत कर्म-पुद्गलों का ग्रहण कर निर्जरा की। इस प्रकार काल पाकर उन्हीं कर्म-पुद्गलपरमाणुओं का, जिनका पहले समय में जिस प्रकार ग्रहण किया था-ग्रहण जितने काल मे हो जावे उतने काल को कर्मद्रव्य-परिवर्त्तने कहते हैं। वही कहा है—

सव्वे वि पुग्गला खलु कमसो भुत्तुज्झिया य जीवेण।
असइं अणंतखुत्तो पुग्गलपरियट्टसंसारे। (टीका. भग आ. १७७३)

इसका आशय ऊपर आगया है।

जैसे—रङ्ग-भूमि (नाटकघर) मे आकर नट नाना प्रकार की आकृति रग व स्वभाव को धारण करता और छोड़ देता है, वैसे ही द्रव्य ससार मे भ्रमण करनेवाला यह जीव नाना प्रकार की आकृति, वर्ण और स्वभाव को बार बार धारण करता और छोड़ता रहता है।

क्षेत्र संसार

जत्थ ण जादो ण मदो हवेज्ज जीवो अणंतसो चेव ।
काले तीदम्मि इमो ण सो पदेसो जए अत्थि ॥ १७७५ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—इस लोक-क्षेत्र में ऐसा कोई प्रदेश नहीं बचा है, जहां पर यह जीव भूत काल मे अनन्त बार नहीं जन्मा हो और न मरा हो।

सव्वम्मि लोयखित्ते कमसो तं णत्थि जम्म उप्पण्णं ।
ओगाहणा य बहुसो परिभमिदो खित्तसंसारे ॥ १७७६ ॥ (भग. आ.)

भावार्थ—सबसे जघन्य शरीरवाला लब्ध्यपर्याप्तक सूक्ष्मनिगोदिया जीव लोक के आठ मध्य-प्रदेशों को अपने शरीर के प्रदेशो के मध्य मे करके उत्पन्न हुआ, और क्षुद्र भव ग्रहण से जीकर मर गया, उसी क्षेत्र मे वह जीव अगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण आकाश के जितने प्रदेश हैं उतनी बार जन्म लेकर मरण करता रहा है। उसके पश्चात् एक एक अधिक बढाते हुए उस जीवने सम्पूर्ण लोक-क्षेत्र को अपना जन्मक्षेत्र बना लिया। इसमे जितना काल लगता है उतने काल को क्षेत्र-परिवर्त्तन कहते हैं।

ऐसे क्षेत्र—परिवर्त्तन इस जीव ने अनन्त किये हैं। सम्पूर्ण लोक-क्षेत्र मे ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहां यह जीव अनेक अवगाहना धारण करके नहीं उत्पन्न हुआ हो। अर्थात् अनन्त बार प्रत्येक क्षेत्र मे जन्म मरण कर चुका है।

काल परिवर्त्तन

तक्कालतदाकालसमएसु जीवो अणंतसो चेव ।
जादो मदो य सव्वेसु इमो तीदम्मि कालम्मि ॥ १७७७ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के जितने समय हैं उन प्रत्येक मे यह जीव अनन्त बार भूतकाल मे जन्म मरण कर चुका है।

उवसप्पि-अवसप्पिणि-समयावलिगासु णिरवसेसासु ।
जादो मदो य बहुसो भमणेण दु कालसंसारे ॥ १७७८ ॥ (भग. आ.)

अर्थ– यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के सम्पूर्ण समय की पंक्तियों मे अनेक भव धारण करके बहुत बार जन्म मरण कर चुका है। उसे काल संसार कहते हैं।

भावार्थ—किसी जीव ने उत्सर्पिणी के प्रथम समय मे जन्म लिया और अपनी आयु के क्षय होने पर मरण किया। फिर उसी जीव ने उत्सर्पिणी के दूसरे समय मे जन्म लिया और स्वकीय आयु के समाप्त होने पर मरण किया। वही जीव पुनः तृतीय उत्सर्पिणी के तीसरे समय मे उत्पन्न हुआ और अपनी आयु के क्षय होने पर मृत्यु को प्राप्त हुआ। इसी क्रम से उस जीव ने सम्पूर्ण उत्सर्पिणी के समस्त जीवो मे यथाक्रम जन्म धारण किये और आयु की समाप्ति होने पर मरता रहा। इसी प्रकार अवसर्पिणी के प्रथम समय से लेकर अवसर्पिणी के अन्तिम समय पर्यन्त जन्म धारण करके स्व आयु के समाप्त होने पर मरण करता रहा। इस प्रकार निरन्तर जन्म कहे गये हैं। मध्य मे क्रम भग करके जन्म धारण किये, उनकी गिनती इनमे नहीं होती है। जिस प्रकार जन्म का क्रम दिखलाया गया, मरण का क्रम भी उसी प्रकार निरन्तर (अन्तर रहित) समझना चाहिए। इन जन्म और मरणो मे जितना काल लगता है, उसे काल परिवर्त्तन कहते हैं।

क्षेत्र–परिवर्तन

आत्मा के प्रदेशरूपक्षेत्र मे आत्मा के प्रदेशों का संसरण क्षेत्रपरिवर्त्तन है।

अट्ठपदेसे मुत्तूण इमो सेसेसु सगपदेसेसु ।
तत्तंपि व अद्दरणं उव्वत्तपरत्तण कुणादि ॥ १७७९ ॥ (भग. आ)

प्रदेशाष्टकमत्यस्य शेषेषु कुरुते भवी ।
उद्वर्त्तनपरावर्त्त संतप्तस्विव तंदुलाः ॥ १८४८ ॥ (टीका. भग. आ.)

अर्थ—रुचकाकार जो आत्मा के मध्य के आठ प्रदेश हैं, उनको छोडकर शेष सब प्रदेशों मे यह जीव उद्वर्त्तन और परावर्त्तन करता रहता है। आँधण मे (उकलते हुए जल मे) जिस प्रकार चावल ऊँचे-नीचे होते रहते हैं उसी प्रकार गोस्तनाकार आठ

प्रदेशो के अतिरिक्त आत्मा के सब प्रदेश ऊपर नीचे, ऊपर नीचे हुआ करते हैं अर्थात् उनमें स्पन्दन (चलनात्मक) क्रिया होती रहती है।

भाव संसार

लोगागास-पएसा असंखगुणिदा हवंति जावदिया।
तावदियाणि हु अज्झवसाणाणि इमस्स जीवस्स ॥ १७८० ॥ (भग. आ.)

अर्थ—लोक के असख्यात प्रदेशो को असख्यात से गुणित करने पर जितनी सख्या होती है, उतने एक जीव के अध्यवसाय स्थान होते हैं।

भावस्थानान्तराण्येवं देहवान् स प्रपद्यते।
कर्कैटुको यथानित्यं वर्णान् स्वीकुरुते बहून् ॥
अज्झवसाणठाणंतराणि जीवो विकुव्वइ इमो हु।
णिच्चं पि जहा सरडो गिण्हदि णाणाविहे वण्णे ॥ १७८१ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—शरट (गिर्गट कर्केटिया) जैसे अनेक रग बदलता रहता है, वैसे ही इस ससारी जीव के अध्यवसायो (भावों) मे नित्यप्रति परिवर्त्तन (परिणमन) होता रहता है। इसको भाव परिवर्त्तन कहते हैं।

भाव परिवर्त्तन का विस्तार पूर्वक निरूपण

पचेन्द्रिय सज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि किसी जीव ने अपने योग्य ज्ञानावरण कर्म-प्रकृति की सबसे जघन्य अन्तः कोडा-कोडी (अन्त. कोटि कोटि) सागर की स्थिति बाधी। उस जीव के उस स्थिति के योग्य कषाय-अध्यवसायस्थान (आत्म परिणाम विशेष) षट्स्थानपतित (अनन्त भागादि वृद्धि व हानिरूप) असख्याततलोक प्रमाण होते हैं। उन कषायाध्यवसाय स्थानो मे जो सर्व जघन्य कषायाध्यवसाय स्थान है, उसके निमित्तभूत अनुभागाध्यवसायस्थान भी असख्यातलोक प्रमाण होते हैं। इस प्रकार सर्वजघन्य स्थिति तथा सर्वजघन्य कषायाध्यवसायस्थान और सर्वजघन्य ही अनुभागाध्यवसायस्थान को प्राप्त हुए जीव के उनके योग्य सर्वजघन्य एक योगस्थान होता है। उसी स्थिति, उसी कषायाध्यवसाय व उसी अनुभागाध्यवसायस्थान के लिए असख्यातवृद्धियुक्त दूसरा योगस्थान होता है। तथा तृतीय चतुर्थ

आदि चारस्थान पतित हानि वृद्धिरूप असख्यातभागवृद्धि, सख्यातभागवृद्धि,सख्यातगुणवृद्धि,असख्यातगुणवृद्धि तथा असख्यातभागहानि, संख्यात भागहानि, सख्यातगुणहानि, असख्यातगुणहानिरूप) श्रेणी के असख्यात भाग प्रमाण योगस्थान होते हैं। जब श्रेणी के असख्यात भाग प्रमाण सब योगस्थान एक बार होजाते हैं, तब वही पूर्वोक्त स्थिति और वही पूर्वोक्त कपायाध्यवसायस्थान होता है, और अनुभागाध्यवसाय स्थान का प्रथमस्थान बदलकर द्वितीयस्थान हो जाता है। इस तरह एक २ बार श्रेणी के असख्यातभाग प्रमाण योग-स्थान होजाने पर अनुभागाध्यवसायस्थान का एक २ स्थान बदलते बदलते जब असख्यात लोक प्रमित अनुभागाध्यवसायस्थान बदल जाते हैं तब स्थिति तो वही पूर्वोक्त रहती है और कपायाध्यवसाय का प्रथम स्थान बदलकर द्वितीय स्थान हो जाता है। इस द्वितीय स्थान के लिए पूर्वोक्त असख्यात लोक प्रमाण अनुभागाध्यवसाय स्थान होते हैं। अर्थात् एक एक अनुभागाध्यवसाय स्थान के निमित्त श्रेणी के असंख्यातभाग असख्यातभाग प्रमाण योगस्थान होते हैं। और एक एक कपायाध्यवसायस्थान के निमित्त असख्यातलोकप्रमाण असख्यातलोकप्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थान होते हैं।

इस प्रकार पूर्व की भाति एक एक बार सम्पूर्ण असख्यातलोकप्रमाण अनुभागाध्यवसाय स्थानो के होने पर कपायाध्यवसाय स्थान का एक एक स्थान बदलते बदलते जब वे असख्यातलोकप्रमाण कपायाध्यवसायस्थान एक बार हो जाते हैं तब पूर्वोक्त सर्वजघन्य स्थिति मे एक समय की वृद्धि होती है। इसी क्रम से स्थिति मे एक एक समय की वृद्धि होते २ ज्ञानावरण की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस कोडाकोडी सागर की पूर्ण होती है। कपायाध्यवसायादि स्थानो का परिवर्त्तन पूर्व की तरह समझलेना चाहिए।

इस प्रकार सम्पूर्ण कर्मों की मूलप्रकृतियो व उत्तर प्रकृतियो के परिवर्त्तन का क्रम जान लेना चाहिए। उक्त सम्पूर्ण मूलोत्तर कर्म-प्रकृतियो की जघन्यस्थिति से लेकर उत्कृष्टस्थिति तक परिवर्त्तन क्रम मे जितना काल लगता है, उतने काल को भाव परिवर्त्तन कहते हैं। नही कहा है —

सव्वा पयडिठिदीओ अणुभागप्पदेसबंधठाणाणि।
मिच्छत्तसंसिदेण य भमिदा पुण भावसंसारे ॥ (भग. आ. टीका १७८१)

अर्थ—मिथ्यात्व के वशीभूत हुए इस जीव ने सम्पूर्ण कर्मों के प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, अनुभागबन्ध और स्थितिबन्ध के योग्य आत्मा के अध्यवसायो को धारण करके ससार मे परिभ्रमण किया है, इसे भाव ससार कहते हैं। ऐसे भाव ससार भी इस जीव ने अनन्त बार धारण किये हैं।

सं प्र.

भवसंसार

एगविगतिगचउपंचिंदियाण जाओ हवंति जोणीओ ।
सव्वाउ ताउ पत्तो अणँतखुत्तो इमो जीवो ॥ १७७२ ॥ भग. आ

अर्थ—नाम कर्म के गति, जाति आदि अनेक भेद माने हैं। उसमे जाति कर्म के पांच भेद हैं। जाति कर्म के उदय से एकेन्द्रिय आदि जीवो के जो आश्रय हैं, यहा उनको योनि माना है। सचित्त अचित्तादि चौरासी लाख भेद जो आगम मे अन्यत्र वर्णन किये गये हैं, उनका यहां ग्रहण नहीं किया है। यहा पर एकेन्द्रियादि के आश्रयभूत जो बत्तीस पर्यायें हैं उनका योनि शब्द से ग्रहण किया गया है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु कायिक जीवो मे से प्रत्येक के बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे चार चार भेद होते हैं। वनस्पतिकायिक जीवों के दो भेद हैं-साधारण और प्रत्येक। इनमे से साधारण वनस्पति कायिक के बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे चार भेद होते हैं। प्रत्येक वनस्पतिकायिकजीव बादर ही होते हैं, और उनके पर्याप्त और अपर्याप्त दो भेद होते हैं। इस प्रकार एकेन्द्रिय स्थावर जीवो के बाईस भेद हुए। तथा त्रसकाय के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय संज्ञी और पचेन्द्रिय असज्ञी ये पांच भेद होते हैं और इनमे प्रत्येक पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे दो दो भेद होने से दस भेद हुए। इस प्रकार सब मिल कर बत्तीस भेद हुए। इनमे जन्म धारण करते रहने को भव परिवर्त्तन कहते हैं।

दूसरे आचार्यों के मत से भव-परिवर्त्तन का स्वरूप निम्न प्रकार है:—

णिरयादिजहण्णादिसु जावदु उवरिल्लियादु गेवेज्जा।
मिच्छत्तसंसिदेण दु भवट्ठिदी भज्जिदा बहुसो॥ (टीका भग)

अर्थात्—नरकगति मे जघन्य आयु दश हजार वर्ष की है, उस आयु को धारण करके किसी ने वहाँ जन्म लिया और आयु पूर्ण होने पर ससार मे परिभ्रमण कर पुन पूर्वोक्त आयु धारण कर वही जीव उसी नरक मे जन्मा और आयु की समाप्ति के अनन्तर ससार में अन्य २ पर्यायें धारण करता रहा। पुनः उसी आयु से उसी नरक मे दशहजार वर्ष के जितने समय होते हैं, उतनी बार जन्म धारण करके मरण करता रहा। उसके पश्चात् एक समय अधिक दशहजार वर्ष की आयु धारण कर उसी नरक मे उत्पन्न हुआ और मरा। इसी प्रकार एक एक समय अधिक की आयु धारण करते और मरते हुए उस जीवने नरक मे तेतीस सागर की उत्कृष्ट आयुस्थिति समाप्त की। उसमे असख्यात बार जन्म मरण हुए।

तत्पश्चात् यह जीव सातवें नरक से निकलकर तिर्यंचगति मे उत्पन्न होकर सर्वजघन्य अन्तर्मुहूर्त की आयु का धारक हुवा और अन्तर्मुहूर्त के जितने समय होते हैं, उतनी बार उसी पर्याय मे पूर्व की भाँति जन्म मरण करता रहा। इसके बाद एक एक समय अधिक की आयु धारण करते हुए पूर्वोक्त क्रमसे उत्कृष्ट तीन पल्य की आयु समाप्त की।

तदनन्तर वहाँ से निकलकर वह जीव मनुष्यगति मे आया और यहाँ भी तिर्यंचगति के समान सर्वजघन्य अन्तर्मुहूर्त की आयु का धारक मनुष्य हुआ। अन्तर्मुहूर्त के जितने समय होते हैं, उतना बार उतनी आयु की मनुष्य पर्याय धारण करके मरता रहा। तत्पश्चात् एक समय अधिक के क्रमसे उत्कृष्ट तीन पल्य की आयु समाप्त की।

तत्पश्चात् वहाँ से निकलकर देवगति में उत्पन्न हुआ। यहाँ पर भी नरक के समान सर्वजघन्य आयु दश हजार वर्ष की धारण करके दशहजार वर्ष के जितने समय होते हैं उतनी बार उसी पर्याय में जन्म मरण करता रहा। उसके अनन्तर एक समय अधिक के क्रम से इकतीस सागर तक की आयु समाप्त की। क्योंकि नवग्रैवेयक तक ही मिथ्यादृष्टि का गमन है। आगे अहमिन्द्र सब नियम से सम्यग्दृष्टि होते हैं।

इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व के योग से नरक गति की जघन्य आयु से लेकर उत्कृष्ट आयु तथा इसी प्रकार तिर्यंच गति, मनुष्यगति और देवगति के उपरिम नवें ग्रैवेयक तक बहुत बार पर्याय धारण करते भवपरिवर्तन करता रहा है। अर्थात् इस जीव ने मिथ्यात्व के वश में होकर उक्त भव-परिवर्तन अनन्त बार किये हैं।

इस संसार में इस जीव को सब से भय लगा रहता है, किसी जगह भी सुख-शान्ति नहीं मिलती।

आगासम्मि वि पक्खी जले वि मच्छा थले वि थलचारी।
हिंसंति एक्कमेक्कं सव्वत्थ भयं खु संसारे ॥ १७८२ ॥ (भग. आ)

अर्थ—जब यह जीव कर्म-योग से पक्षी की पर्याय मे जन्म लेता है, और आकाश में स्वच्छन्दवृत्ति से विहार करता है, तब श्येन (बाज) आदि विरोधी पक्षी उसे सताते हैं। जब जलचर जीवों में जन्म धारण करता है तब छोटे मच्छों को महामत्स्य भक्षण करते हैं। जब थलचर मृगादि पशु होता है, तब सिंह, व्याघ्रादि हिंसक पशुओं से भक्षण किया जाता है, अर्थात् संसार में एक दूसरे की हिंसा करने मे जीव तत्पर रहते हैं। संसार मे सर्वत्र भय लगा हुआ है। कहीं पर भी सुख व शान्ति नहीं दिखाई देती है।

ससउ वाहपरद्धो विलत्ति णाऊण अजगरस्स मुहं।
सरणत्ति मण्णमाणो मच्चुस्स मुवं जह अदीदि ॥ १७८३ ॥ (भग आ.)

अर्थ—व्याध (शिकारी) के भय से भगा हुआ शशक (खरगोश) अजगर के मुख को बिल समझकर उसको शरण (रक्षा का उपाय) मानकर उसमे जैसे प्रवेश करता है, वैसे ही यह जीव काल के मुँह मे प्रविष्ट होता है।

तात्पर्य यह है कि यह जीव इस ससार मे जिसको शरण समझता है, वही इसका घातक होता है। प्रत्येक जीव काल के मुख के निकट निवास करता है। अवसर पाते ही उसके मुख मे पहुच जाता है। अत धर्म ही इस जीव का शरण है, इस भव और परभव मे सुख और शान्ति का देनेवाला है। किन्तु अज्ञानी प्राणी मोहनीयकर्म के उदय से धर्म से विमुख होकर क्षुधा-तृषादि रूपी व्याधो से पीड़ित हुआ उनसे बचने के लिए भयानक दुख के देनेवाले ससार-रूप भुजग (कालेनाग) के मुख मे प्रवेश करता है।

ससार मे जितनी भी—चौरासी लाख-योनियाँ हैं, उनमे यह जीव अनन्तवार जन्म ले चुका है।

इस ससार म यह जीव तीर्थंकर, गणधर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण, पंचानुत्तर विमानवासी देव, लोकान्तिक देव, लोकपाल, शक्रादि दक्षिणेन्द्र तथा शक्र की पट्ट-महिषी नहीं हुआ। इनके अतिरिक्त सब पर्यायें यह जीव अनन्तवार धारण कर चुका है।

जच्चंधवहिरमूओ छादो तिसिओ वणे व एयाई।
भमइ सुचिरंपि जीवो जम्मवणे णट्ठसिद्धिपहो ॥ १७८८ ॥, (भग. आ.)

अर्थ—इस ससार मे यह जीव कभी जन्म से अन्धा, बहरा व गूगा होकर जन्मा था। अनन्तवार भूख व प्यास से पीड़ित हुआ था। जैसे कोई सिद्धिनगर-मोक्षनगर-का पथभ्रष्ट (मार्गभूला) पथिक अकेला वने जगल मे इधर उधर भ्रमण करता है वैसे ही जीव अनादिकाल से ही मोक्षमार्ग से भ्रष्ट होकर इस भव-वन मे असहाय भ्रमण कर रहा है। और भी कहा है—

"कलुपचरितैर्नष्टज्ञानः सुसंचितकर्मभिः
करणविकलः कर्मोद्धूतो भवार्णवपाततः।
सुचिरमवशो दुःखार्त्तोयं निमीलितलोचनो—
भ्रमति कृपणो नष्टत्राणः शुभेतरकर्मकृत् ॥"

अर्थ—यह अज्ञानी जीव हिंसादि पापाचरणो से बहुत कर्मों का सचय करके उनके फल स्वरूप कभी नेत्रहीन हुआ, कभी कानो की श्रवण-शक्ति से रहित हुआ, कभी वचन उच्चारण करने की शक्ति से विकल हुआ, कभी बौना, लूला, लगडा, टूटा हुआ, कभी वचन बोलने की शक्ति पाई तो दुस्वर मिला-जिससे जीवो के कर्णों को अप्रिय हुआ। कभी इन्द्रियो की पूर्णता पाई तो मूर्ख-विवेकरहित हुआ।

व्याधि से पीडित होकर आर्त्तध्यानी बनारहा। कभी व्यसनो मे फँसकर अनेक पापक्रियाओ मे मग्न रहा। कभी इष्ट पदार्थों के वियोग से आतुर
होकर शोक मे दिन बिताये। कभी अपने से अधिक विभूतिवाले मनुष्यो को देखकर मॉत्सर्य भाव धारण कर भयानक कर्मों का सचय किया।
कभी अभिमानवश अधिक गुणवानो से विद्वेष कर ज्ञानावरणादिकर्मों का सचय करता रहा। कभी ससार के भोग विलास की लालसा के
वशीभूत हुआ अन्य जीवो की धनादि प्रियवस्तुओ के ठगने मे निपुण रहा। इस प्रकार चिरकाल तक इन्द्रियो के विषय मे परतन्त्र हुआ यह
जीव अशुभ कार्य करके इस संसार मे अशरण, दु ख पीडित और दीन होकर एकाकी- भ्रमण करता है।

विसयामिसारंगाढं कुजोणिणेमि सुहदुक्खदढखीलं।
अण्णाणतुंबधरिदं कसायदढपट्टयाबंधं॥ १७६१॥
बहुजम्मसहस्सविमालवत्तणिं मोहवेगमहिचवलं।
संसारचक्कमारुहिय भमदि जीवो अणप्पवसो॥ १७६२॥ (भग आ.)

अर्थ—कर्म के परतन्त्र हुआ यह जीव ससार रूपी चक्र पर चढा हुआ सतत भ्रमण करता रहता है। इस संसार चक्र के विषया-
भिलाषा रूपी मजबूत आरे हैं। नरकादि कुयोनि जिसके नेमि (पूठि) है। सुख दु.ख रूप जिसके दृढ कील लगी है। अज्ञानावस्था रूप तुंबे से
जो धारण किया गया है। जिस ससार-चक्र पर कषायरूप लोहे की पट्टी चढी हुई है। अनेक जन्म रूप विशाल मार्ग पर भ्रमण करता है।
मोहरूपी वेग से यह अत्यन्त चचल दिखाई देता है। ऐसे ससाररूपी चक्र पर चढे हुए इस जीव का निकल भागना अत्यन्त कठिन है।
सत्संगति के प्रभाव से जब इस आत्मा के सत्यज्ञान का उदय होकर मोहान्धकार दूर होता है, तब इस संसार रूप चक्र का वेग मन्द हो जाता
है और जीव उससे पृथक् होजाने की शक्ति प्राप्त करलेता है। ऐसे अवसर पर रत्नत्रय का आराधन यदि वह करले तो सदा के लिए उससे
पृथक् होकर मोक्ष के अविनश्वर पद को प्राप्त कर लेता है।

संसार के छह भेद

किं केण कस्स कत्थ व केवचिरं कदिविधो य भावो य।
छहिं अणिओगदारे हिं सव्वे भावाणुगतव्वा॥ १५॥ (मूला. द्वा. अ.)

अर्थ—१ ससार किसे कहते है? २ यह किन भावो से होता है? ३ किसके होता है? ४ कहा है? ५ कितने काल की स्थिति
वाला है? और कितने प्रकार का है? इन छह अनुयोगद्वारो की अपेक्षा ससार के छह भेद होजाते हैं। केवल ससार का स्वरूप वर्णन करने

के लिए ही ये छह अनुयोग द्वार नहीं, किन्तु सम्पूर्ण पदार्थों का विवेचन करने के लिए छह अनुयोगद्वार समझने चाहिए। पदार्थों की व्याख्या करने के उपायो को अनुयोगद्वार कहते हैं। इन अनुयोगद्वारो द्वारा व्याख्या करने से पदार्थों का विशद विवेचन हो जाता है।

१ प्रश्न—ससार किसे कहते हैं ?

उत्तर—नरक तिर्यंच देव और मनुष्य इन चारो गतियो मे जीव के भ्रमण करने को संसार कहते हैं।

२ प्रश्न—किन भावो से ससार होता है ?

उत्तर—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक भावो से ससार होता है। अर्थात् संसारी जीव के ये पाचो भाव पाये जाते हैं।

३—प्रश्न ससार किसके होता है।

उत्तर—अष्ट कर्मों से घिरे हुए नारक, तिर्यंच, देव और मनुष्य के होता है।

४ प्रश्न—यह ससार कहा रहता है ?

उत्तर—मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग मे ससार पाया जाता है। अर्थात् ससार के आधार मिथ्यात्वादि परिणाम हैं। जहा ये होते है वहा ससार होता है। अथवा ससार का आधार तिर्यक लोक है।

५ प्रश्न—ससार का काल कितना है ?

उत्तर—इसका काल अनादि-अनन्त और अनादि-सान्त है। अभव्य की अपेक्षा ससार अनादि-अनन्त है तथा भव्य की अपेक्षा अनादि सान्त है।

६ प्रश्न—ससार कितने प्रकार का है ?

उत्तर—सामान्य रूप से चतुर्गति मे भ्रमण रूप ससार एक प्रकार का है। भव्यजीव और अभव्यजीव की अपेक्षा से दो प्रकार का है। अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त इस प्रकार ससार के तीन भेद होते हैं। क्षेत्र, द्रव्य,काल और भाव की अपेक्षा से ससार के चार भेद हैं। तथा उक्त भेदो मे 'भव' भेद मिला देने पर संसार पाच प्रकार का है और उक्त गाथा मे वर्णित छह अनुयोग द्वारो की अपेक्षा से ससार के छह भेद हैं।

संसार में दुःख ही दुःख

तत्थ जरामरणभयं दुक्खं पियविप्पओगवीहणयं।
अप्पिय संजोगं पि य रोगमहावेदणाओ य ॥ १६ ॥ (मूला.द्वा. अ.)

अर्थ—उक्त प्रकार के ससार मे जन्म से उत्पन्न होने वाला कायिक (काय-जन्य) वाचनिक (वचन-जन्य) मानसिक (मन में उत्पन्न) दु.ख तथा प्रिय वस्तु के वियोग होने पर उत्पन्न होने वाला दुःख महा भयानक होता है। तथा अप्रिय-अनिष्ट वस्तु के संयोग-जन्य महादुःख होता है। इनको तथा ज्वरादि रोगो और खासी, श्वास, वमन, कुष्ट, राजयक्ष्मा आदि व्याधियो से उत्पन्न हुई वेदनाओ को यह जीव निरन्तर अनुभव करता रहता है। तथा

जायंतो य मरंतो जलथलखयरेसु तिरियणिरसेसु।
माणुसे देवत्ते दुक्खसहस्साणि पप्पोदि ॥ १७ ॥ (मूला. द्वा. अ.)

अर्थ—यह जीव ससार मे निरन्तर जन्म मरण करता हुआ तिर्यंचगति मे जलचर, थलचर और खेचर (पक्षी) बनकर अनेक दु ख भोगता है। तथा नरकगति मे वचन के अगोचर भीषण दुःखो को भोगता है। यदि किसी पुण्य के योग से मनुष्यगति पा लेता है तो वहा पर तृष्णावश मिथ्यात्व के निमित से अनेक सताप और इष्ट-वियोग, अनिष्ट-सयोग आदि से उत्पन्न अनेक दुःखो का अनुभव करता है। यदि पुण्य के निमित्त से कभी देवगति मे जन्म लिया तो वहा पर भी इसे सुख नहीं। उच्च ऋद्धि के धारक देवो को देखकर नित्य झूरता है। मिथ्यादर्शन के योग से तृष्णा-पिशाची वहा पर भी इसका पीछा नहीं छोडती। मोहकर्म की बलवत्ता से उसी को सुख का साधन समझलेता है और छह मास पूर्व माला के मुर्झाने पर अपने को स्वर्ग से च्युत हुआ समझ कर महान मानसिक पीड़ा को भोगता है। वहा पर वह रो रोकर समय बिताता है और पुन एकेन्द्रियादि जीवो मे जन्म लेकर अनन्त दु.ख का अनुभव करता है।

इस जीव ने ससार मे भ्रमण करते हुए सच्चे सुख का कभी अनुभव नहीं किया। जब कभी कुछ जिस सुख का अनुभव किया है वह इन्द्रियजन्य सुख है। सच्चा सुख नही, सुखाभास-सुख की कल्पनामात्र। और वह काल्पनिक सुख भी यहा मिलनेवाले अनन्त दु:ख के समक्ष नगण्य है—नहीं के बराबर है। यही कहा भी है —

जे भोगा खलु केई देवा माणुस्सिया य अणुभूदा।
दुक्खं अणंतखुत्तो णिरिए तिरिएसु जोणीसु ॥ १८ ॥ (मूला द्वा अ.)

अर्थ—कभी-कभी लाभान्तराय व भोगोपभोगान्तराय तथा सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृति के योग से देवपर्याय और मनुष्य पर्याय में सुख भोग की सामग्री भी मिली, किन्तु नरक और तिर्यंच योनि मे अनन्त वार घोर दुःख प्राप्त किया। उस दुःख के आगे वह सुख समुद्र में एक बूद के समान भी नहीं।

सामारिक सुख के साथ दुःख

संजोगविप्पजोगा लाहालाहं सुहं च दुक्खं च ।
संसारे अणुभूदा माणं च तहावमाणं च ॥ १९ ॥ (मूला. द्वा. अ.

अर्थ—ससार मे इस जीव को पुण्य योग से इष्ट वस्तुओ का समागम प्राप्त हुआ तो साथ ही मे पाप प्रकृति के उदय से उन्हीं इष्ट पदार्थों के वियोग से महादु.ख का अनुभव भी करना पडा । जहा लाभान्तरायकर्म के क्षयोपशम से मनोवाछित वस्तुओ का लाभ हुआ तो उसके साथ ही लाभान्तरायकर्म के उदय से उनका अलाभ भी हुआ अर्थात् उन अभीष्ट पदार्थों का असहयोग हुआ । सातवेदनीय कर्म के उदय से सुख प्राप्त हुआ तो वीर्यान्तराय कर्म के उदय से उनका सुखानुभव न कर सका अथवा तत्काल असातवेदनीय कर्म का उदय होने पर दु.ख के साधनो का सम्बन्ध हुआ और दु ख का अनुभव करने के लिए वाध्य होना पडा । यशःकीर्ति कर्म के उदय से व अन्य पुण्य प्रकृति के सहयोग से ससार मे आदर सम्मानादि की वृद्धि हुई तो लगातार अयशःकीर्ति व अन्य पाप प्रकृति के उदय से अपमानादि के प्राण-घातक कष्टों को भोगना पडा । तात्पर्य यह है कि ससार मे यह जीव कर्म रूप मदारी के हाथ का मर्कट वना हुआ सदा परतन्त्रता के असीम दु.खों का अनुभव कर रहा है । इसे कहीं सच्चा सुख नहीं मिलता । इस तरह का अनुभव कर भव्यो को ससार-भ्रमण से उन्मुक्त होने का उपाय करना चाहिए और ससार मे कहीं सुख मिलने की लालसा छोड देनी चाहिए ।

लोकानुप्रेक्षा

एगविहो खलु लोओ दुविहो तिविहो तहा बहुविहो वा ।
दव्वेहिं पज्जएहिं य चिंतिज्जो लोयसब्भावं ॥ २१ ॥ (मूला० द्वा० अ०)

अर्थ—(१)सामान्य रूप से लोक एक प्रकार है—जिसमे जीवादि पदार्थ दिखाई दे उसे लोक कहते हैं । (२) ऊर्ध्व लोक और अधोलोक के भेद से लोक दो प्रकार का है । (३) ऊर्ध्वलोक अधोलोक और तिर्यक् लोक के भेद से लोक तीन प्रकार का । है अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के भेद से लोक तीन प्रकार का है । (४) चारगति के भेद से लोक चार प्रकार का है । (५) जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, और आकाशास्तिकाय के भेद से लोक पॉच प्रकार का है । (६) उक्त पॉच अस्तिकाय और एक काल इन छह द्रव्यो के भेद से लोक छह प्रकार का है । (७) जीव, अजीव, आस्रव, वन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वो की अपेक्षा से लोक सात प्रकार का है । (८) ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की अपेक्षा लोक आठ प्रकार का है ।

इस प्रकार लोक की रचना के द्रव्यों और पर्यायो का विचार करने से लोक अनेक प्रकार का सिद्ध होता है। उसके स्वरूप के अभ्यास करने को लोकानुप्रेक्षा कहते हैं।

लोक का स्वरूप

लोओ अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिप्पण्णो ।
जीवाजीवेहिं भुडो णिच्चो तालुरुक्खसंठाणो ॥ २२ ॥ (मू० द्वा० अ०)

अर्थ—यह लोक अकृत्रिम है। अर्थात् ईश्वर आदि किसी का बनाया हुआ नहीं है। अनादि (आदिरहित) और अनिधन (अन्तरहित) है। न तो इसकी किसी ने सृष्टि (रचना) की है और न इसका कोई प्रलय (नाश) ही कर सकता है। यह स्वभाव से निष्पन्न है। अर्थात् घटादि की तरह इसकी परमाणुओ के सयोग से उत्पत्ति नहीं हुई है। तथा यह जीव द्रव्यो और अजीव द्रव्यो से भरा हुआ है। अर्थात् यह मायामयी असत्यभूत कल्पनामात्र नहीं जैसाकि वेदान्ती इसे माया रूप (मिथ्या) मानते हैं, यह नित्य है। जैसा कि बौद्ध मत वाले सब पदार्थों को क्षणिक (क्षण विनश्वर) मानते हैं, वैसा नहीं है, किन्तु शाश्वत है। और इस प्रकार के इस लोक का आकार ताड के वृक्ष समान है। अर्थात् जैसे ताडका वृक्ष जड़ मे चौडा, मध्य मे सकड़ा और ऊपर मे चौडा होता है, उसी प्रकार यह लोक अधोभाग में सात राजू प्रमाण चौडा है, मध्य मे सकडा होकर एक राजू मात्र चौडा रह गया है और फिर ऊपर ऊर्ध्व लोक मे ब्रह्म स्वर्ग के पास आकर पांच राजूप्रमाण चौड़ा और फिर और ऊँचा जाकर अन्तमे एक राजू प्रमाण मात्र रहगया है।

त्रिलोकसार मे इस लोक का आकार डेढ़ खड़ी मृदग के समान कहा है।

उब्भियदलेक्कदमुखद्वयसंचयसण्णिहो हवेलोगो ।
अध्दुदयो मुखसमो चोद्दसरज्जूदओ सव्वो ॥६॥ (त्रिलोकसार)

अर्थ—खडी रखी हुई डेढ मृदंग (आधी मृदग के ऊपर एक मृदग) समान आकृति वाला यह लोक है। मृदंग बीच में पोली होती है, किन्तु यह लोक उस की तरह पोला (खाली) नहीं है, मध्य मे भरा हुआ है। खड़ी की हुई अर्धमृदंग के समान अधोलोक और खड़ी हुई एकमृदग के आकार समान ऊर्ध्वलोक है। दोनो मिलाकर सब लोक चौदह राजू ऊँचा जानना।

भावार्थ—आकाश के बहुमध्य भाग मे ३४३ तीनसौ तेतालीस घनाकार राजू प्रमाण यह लोक स्थित है। यह किसी के आधार पर नहीं है। घर के मध्यभाग मे जैसे छींका होता है, उसी प्रकार आकाश के मध्य भाग में लोक अवस्थित है। छींके के जो ऊपर
सं प्र

के क्षेत्र का आश्रय होता है, किन्तु यह लोक आश्रय रहित है। इसके चारो ओर तीन वातवलय-घनोदधिवातवलय घनवातवलय, तनुवात-वलय हैं। इन तीनो वातवलय (वायुमण्डल) से यह लोक वेष्टित है। इस लोक के अधोभाग में तथालोक के नीचे दोनो पार्श्व भागो में एक राजू पर्यन्त तीनो वातवलयो की मोटाई बीस बीस हजार योजन है। यहा से (नीचे से एक राजू के) ऊपर सातवीं नरक पृथ्वी के निकट घनोदधि की सात, घन वातवलय की पाँच और तनुवातवलय की चार योजन मोटाई रह गई है। अर्थात् बीस हजार योजन से घट कर एकदम क्रमसे सात, पाच और चार योजन की मोटाई रह गई है। यहाँ से वातवलय की मोटाई घटते २ तिर्यक्लोक तक क्रमसे पांच, चार और तीन योजन की मोटाई रह गई है। फिर यहाँ से क्रममे बढ़ते बढते ब्रह्मलोक के निकट तीनो वातवलयों का परिमाण क्रमशः सात पांच और चार योजन का होगया है। तथा यहा से क्रम से घटते घटते उर्ध्वलोक मे तिर्यक् लोक के समान पाँच, चार और तीन योजन मोटाई रह गई है। लोक के उपरिम भाग मे तीनो वातवलय का प्रमाण दो कोश, एक कोश, और एक कोश में चारसो पच्चीस धनुष कम मोटाई का प्रमाण है। अर्थात् घनोदधिवातवलय दो कोश प्रमाण, घनवातवलय एक कोश प्रमाण और तनुवातवलय पन्द्रहसो पचहत्तर धनुष प्रमाण मोटे हैं।

इस प्रकार के तीन वातवलय के आधार पर लोक स्थित है। लोक को चार ओरों से घनोदधिवातवलय (जल मिश्रित मोटी वायु) वेष्टित किये हुए है। यह वायु इस लोक के चारो ओर समशक्ति अवस्थित हैं। अत इसी वायु के आश्रय पर लोक अवलम्बित है-ऐसा जानना। जैसे किसी पदार्थ को चारो ओर से समान शक्ति से धक्का लगता रहे तो वह पदार्थ बीच मे ही स्थिर रहता है, इसी प्रकार लोक के चारो तरफ समान शक्ति वाली वायु धक्का दे रही है, अत. यह मध्य मे जहाँ का तहाँ अवस्थित होरहा है। घनोदधि वायु के आधार पर लोक है। 'यह घनोदधिवातवलय घनवातवलय के आश्रय पर है। यह वायु भी मोटी है, लेकिन उस मे जलका भाग नहीं है। और यह घनवातवलय तनुवातवलय के आश्रित है। सूक्ष्म वायु को तनुवात कहते हैं। तनुवातवलय आकाश के आश्रित है। और आकाश अमूर्त होने से किसी के आधार पर नहीं है। यह स्वप्रतिष्ठ है अपने आपके आधार है।

घनोदधिवात का रग गोमूत्र के वर्ण समान है, घनवात का रग मूंग नाम के अन्न के समान हरा है और तनुवात का रग अनेक प्रकार का माना गया है।

अन्य मतो मे इस लोक के विषय मे भिन्न भिन्न अनेक मान्यताएँ हैं। कोई तो कहते है कि इस ससार मे सर्वत्र जल ही जल था। ईश्वर को सृष्टि करने की इच्छा उत्पन्न हुई। उस इच्छा से एक अण्डा जल मे उत्पन्न हुआ और वह बहुत बड़ा हो गया। उसके दो विभाग (खड) हुए। एक नीचे के विभाग मे पृथ्वी बनी और ऊपर के खड से आकाश की रचना हुई। उन दोनों के मध्य में मनुष्य लोक, स्वर्ग लोक, और पाताल लोक का निर्माण हुआ।

पू कि. ४

स. प्र.

कोई मानते हैं कि विष्णु इस जगत की रचना करता है, ब्रह्मा इस का पालन करता है और रुद्र (महादेव) इसका प्रलय (संहार-नाश) करता है। इस प्रकार इसकी उत्पत्ति स्थिति और प्रलय होता रहता है।

योग ईश्वर की इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति इन तीनों शक्तियों से जगत की उत्पत्ति मानते हैं। वे कहते हैं कि जीवों के शुभाशुभ कर्म के अनुसार ईश्वर जगत की रचना करता है।

सांख्य मानते हैं कि सत्त्व रज और तम ये तीन गुण प्रकृति में रहते हैं। इन तीनों की जब तक समानावस्था रहती है, तब तक प्रकृति अपने स्वरूप में ही रहती है और जब इन गुणों में विषमता होने लगती है, तब जगत का निर्माण प्रारम्भ होता है। उनका सृष्टिक्रम निम्न प्रकार करते हैं।

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि॥ (सांख्यतत्त्व कौमुदी)

भावार्थ—प्रकृति और पुरुष ये दो मूल तत्त्व हैं। सत्त्व, रज और तम इनकी साम्यावस्था को प्रकृति या प्रधान कहते हैं। और जो चेतन है उसे पुरुष कहते हैं। यह चेतन केवल अपने स्वरूप का अनुभव मात्र करता है। पदार्थों का ज्ञान बुद्धि से होता है और यह बुद्धि प्रकृति का धर्म है। क्योंकि प्रकृति के सत्त्वादि गुणों में जब विषमता प्रारम्भ होती है, तब प्रकृति से महत् (बुद्धि) की उत्पत्ति होती है। बुद्धि से अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार से सोलह तत्त्व उत्पन्न होते हैं—और ज्ञानेन्द्रियाँ (त्वचा, रसना, नाक, चक्षु और श्रोत्र) और कर्मेन्द्रियाँ (हाथ, पाँव, लिंग, गुदा और वाणी (वागिन्द्रिय) पाँच तन्मात्र अर्थात् इन्द्रियों के विषय (स्पर्श रस, गन्ध, रूप और शब्द और एक मन) तथा पाँच तन्मात्र (इन्द्रियों के विषय) से पाँच भूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) उत्पन्न होते हैं। यह सृष्टि प्रक्रिया है।

इन पच्चीस तत्त्वों में प्रकृति और पुरुष ये दो तत्त्व नित्य हैं। और शेष तेईस तत्त्व प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। और प्रलय काल में प्रकृति से जिस क्रम से उत्पन्न हुए हैं उसी क्रम से लीन हो जाते हैं। अर्थात् पंचभूत तो पंचतन्मात्र में लीन हो जाते हैं। पंचतन्मात्र पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ व पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन ये सोलह तत्त्व अहंकार में लीन हो जाते हैं और अहंकार महान् (बुद्धि) में लीन हो जाता है, और बुद्धि प्रकृति में लीन हो जाती है। इस प्रकार प्रलय काल में प्रकृति और पुरुष ये दो ही तत्त्व शेष रह जाते हैं।

उक्त रीति के अनेक मत प्रचलित हैं। उन सब का वर्णन करने से ग्रन्थ के विस्तृत होने का भय है, अतः विशेष नहीं लिखते हैं। किन्तु यह ध्यान रखना कि जैनेतर मत सब तर्क युक्ति से असंगत और बुद्धि से अप्रमाण हैं।

म. प्र.

इस संसार में पहले केवल जल ही जल था-ऐसा जो मानते हैं उनको सोचना चाहिए कि सबसे पहले जल ही जल था, और कुछ भी नहीं था, पृथ्वी आकाश भी नहीं थे, तो जल किस पर ठहरा हुआ था ? क्योंकि जल बिना आधार के ठहरने में असमर्थ है। उसके लिए कोई पृथ्वी या अन्य कोई आश्रय मानना ही पड़ेगा।

दूसरी बात यह है कि ईश्वर (ब्रह्मा) की इच्छा से जल मे एक अंडा उत्पन्न हुआ और इसी कारण इस जगत् को लोग ब्रह्माण्ड कहने लगे। इसमे यह शंका उत्पन्न होती है कि उस अण्डे का उपादान (जिस द्रव्य या पदार्थ ने वह उत्पन्न हुआ है-वह) क्या है, और वह कहाँ पर स्थित था ? तथा उस अण्डे को बनानेवाला ईश्वर किस स्थान पर निवास करता था ? उसके शरीर था या नहीं ?

शरीर धारण किये बिना तो मूर्त्तद्रव्य उत्पन्न नहीं किये जा सकते ? क्योंकि मूर्त्तद्रव्य की उत्पत्ति मूर्त्तद्रव्य से ही होती है। अमूर्त्त से मूर्त्तद्रव्य की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती।

प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति मे उपादान कारण और निमित्त कारण की आवश्यकता होती है। जो कारण कार्यरूप परिणमन करता है उसे उपादान कारण कहते हैं। जैसे घड़े का उपादान कारण मिट्टी है, क्योंकि मिट्टी घड़े के रूप मे परिणत हुई है। जो कार्य की उत्पत्ति मे प्रयत्न करता है या सहायक होता है उसे निमित्त कारण कहते हैं। जैसे कुम्हार घडे के बनाने में प्रयत्न करता है, अत.वह घडे का निमित्त कारण माना जाता है। इसी प्रकार यदि ईश्वर उत्पादक-निमित्त कारण है तो जगत् का उपादान कारण अन्य होना चाहिए। जगत् का उपादान कारण ईश्वर तो हो नहीं सकता, क्योंकि वह अमूर्त्त है, तथा अचेतन व चेतन रूप जगत् का उपादान कारण भी वैसाही चेतन व अचेतन रूप होना चाहिए।

प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति मे ज्ञान, इच्छा, और प्रयत्न की आवश्यकता होती है। ईश्वर मे ज्ञान तो माना जा सकता है, किन्तु उसमे इच्छा और प्रयत्न का सद्भाव मानना किसी भी तरह युक्ति-संगत नहीं है। ईश्वर के यदि इच्छा का सद्भाव माना जाय तो प्रश्न उपस्थित होता है कि वह ईश्वर की इच्छा नित्य है या अनित्य ? यदि वह नित्य है तो उसके साथ कभी कार्यों का अन्वय-व्यतिरेक नहीं बन सकता। यदि उसे अनित्य माना जाय तो बतलाना होगा कि उस इच्छा की उत्पत्ति का कारण क्या है ?

जगत् मे कोई भी इच्छा बिना कर्म के नहीं होती। यदि ईश्वर के इच्छा मानें तो उसे सकर्मा मानना होगा। पर ईश्वर को सकर्मा मानना तो बिल्कुल युक्ति-विरुद्ध है। क्योंकि तब हममें और ईश्वर मे कोई भेद ही न रहेगा इस तरह जब ईश्वर के किसी भी युक्ति से इच्छा सिद्ध नहीं हो सकती तब उसके प्रयत्न भी कैसे माना जा सकता है ?

जो लोग (सांख्य) प्रकृति (प्रधान) से जगत् की रचना मानते हैं उनसे हम पूछते हैं कि प्रकृति जब जड़ है तो उसमे बुद्धि (ज्ञान) कैसे उपन्न हो सकती है ? क्योंकि बुद्धि (ज्ञान) तो चेतन आत्मा का धर्म है ।

सत्त्व, रज और तम की समानावस्था को प्रकृति कहते हैं। इन सत्त्वादि गुणो मे विषमता उत्पन्न करने वाला कौन है ? पुरुष तत्त्व को तो उक्त कार्य करने मे असमर्थ माना गया है। वह तो अपने स्वरूप का अनुभव करता है, बाहर के कार्य में वह अकिंचित्कर है। जगत् की उत्पत्ति और प्रलय को सांख्यों ने प्रकृति के कार्य स्वीकार किये हैं, किन्तु उनका कारण प्रकृति नहीं हो सकती। क्योंकि प्रकृति का ठीक स्वरूप साम्यावस्था है। उसमें जब विषमावस्था उत्पन्न होती है तभी जगत् का निर्माण स्वीकार किया गया है। हम पूछते हैं कि उस वैषम्य (विषम अवस्था) को उत्पन्न करने वाला कौन है ?

इस प्रकार जगत् की सृष्टि माननेवाले जितने भी जैनेतर मत हैं वे सब युक्तियो से निराकृत होते हैं इसलिए अमान्य हैं।

लोक की रचना के समान लोक के आश्रय के विषय मे भी अनेक मत हैं वे भी युक्ति-सगत नहीं। जैसे—

कुछ लोग इस पृथ्वी को गाय के सींग पर टिकी हुई मानते हैं। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि गाय के सींग पर नहीं किन्तु कछुवे की पीठ पर यह पृथ्वी ठहरी हुई है। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो यह कहते हैं कि यह सारी पृथ्वी शेषनाग के माथे पर ठहरी हुई है। पर इन मे से किसी का भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह गाय, कछुवा और शेष नाग कहाँ पर ठहरे हुए हैं ? यदि इनका भी कोई आधार स्वीकार किया जाय तो फिर उस आधार के विषय में भी प्रश्न उपस्थित होंगे और इस तरह अनवस्था आजायगी। अत जैनाचार्यों ने जो इस सारे लोक को तीन प्रकार की वायु के आधार पर माना है वही बुद्धि-ग्राह्य और युक्ति-सगत है।

लोक के विभाग

इस लोक के तीन विभाग हैं—अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक।

अधोलोक सात राजू प्रमाण ऊँचा है। इसके अधोभाग मे चौड़ाई सात राजू प्रमाण है। पुन. घटते २ अधोलोक के ऊपर के अन्तिमभाग-नरक की प्रथम पृथ्वी-मे जाकर इसकी चौडाई एकराजू प्रमाण रहगई है। इसका क्षेत्रफल (लम्बाई चौड़ाई) अठाईस राजू प्रमाण है।

इस अधोलोक के (नरक की सातवीं पृथ्वी के) नीचे एकराजू प्रमाण क्षेत्र मे केवल निगोदिया जीवो का निवास है। उस एक राजू प्रमाण स्थान मे ठसाठस निगोदिया जीव भरे पड़े हैं। इस अधोलोक क शेष छह राजू प्रमाण क्षेत्र में सात नरक पृथ्वियाँ हैं।

नरक की पृथ्वियों का वर्णन

प्रथम पृथ्वी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है। इसके तीन भाग हैं–१ खरभाग, २ पकभाग। ३ अब्बहुलभाग। उनमे से खरभाग सोलह हजार योजन मोटा है। उसमे एक एक हजार योजन की मोटी सोलह भूमियाँ हैं। उनके नाम ये हैं—

१ चित्रा, २ वज्रा, ३ वैडूर्या, ४ लोहिता, ५ कामसार कल्पा, ६ गोमेदा, ७ प्रवाला, ८ ज्योतिरसा, ९ अंजना, १० अंजनमूलिका, ११ अङ्का, १२ स्फटिका, १३ चन्दना, १४ सर्वर्थका, १५ वकुला, १६ शैला।

इन सोलह भूमियो में से आदि की चित्रा और अन्त की शैला नाम की भूमि को छोड़ कर वाकी की चौदह भूमियो मे राक्षस और असुरकुमार देवो के अतिरिक्त सब व्यन्तर देवों और भवनवासी देवो के आवास स्थान बने हुए हैं। उनमें ये देव निवास करते है। जबूद्वीप से असख्यात द्वीप समुद्रो को छोडकर शेष द्वीप समुद्रो के नीचे के भूभाग मे भवनवासी और व्यन्तर देवो के उक्त निवास स्थान वने हुए हैं। अर्थात् जम्बूद्वीप और लवणसमुद्रादि असख्यात द्वीप समुद्रो के नीचे के भाग में उक्त देवो के निवास स्थान नहीं वने हैं, किन्तु उक्त असख्यात द्वीप समुद्रो के आगे के अधोभाग मे उक्त निवासस्थान वने हैं।

दूसरा पक भाग चौरासी हजार योजन का मोटा है। उसमे राक्षस नाम के व्यन्तर देवो के और असुरकुमार नामक भवनवासी देवो के निवासस्थान बने हुए हैं।

तीसरा अब्बहुल भाग है, उसमे प्रथम नरक है। उक्त तीनो भाग रत्नप्रभा नामक पृथ्वी के हैं। इन तीनों भागो के मध्य कोई पोल (रिक्त आकाश का अन्तराल) नहीं है। जैसे किसी पर्वत के किसी अपेक्षा से विभाग किये जाते हैं वैसे रत्नप्रभा पृथ्वी के ये तीन खण्ड है।

दूसरी शर्कराप्रभा पृथ्वी वत्तीसहजार योजन, तीसरी बालुकाप्रभा अठाईस हजार योजन, चौथी पंकप्रभा चौवीस हजार योजन, पाँचवी धूमप्रभा वीस हजार योजन, छठी तमःप्रभा सोलह हजार योजन और सातवीं महातमःप्रभा आठ हजार योजन मोटी है।

नरक की सात पृथिवियो के उक्त रत्नप्रभा आदि नाम भूमि के वर्ण (प्रभा) के साहचर्य के कारण निष्पन्न हुए हैं। इनके रूढ नाम तो ये हैं—१ वर्मा, २ वशा, ३ मेघा, ४ अंजना, ५ अरिष्टा, ६ मघवी और ७ माघवी।

ये सातो पृथ्वियाँ लोक के अत (दोनो छोर) तक चली गई है। लोक मे कुल ८ धरा (पृथ्वियाँ) हैं। सात तो ये नरक धरा,

और आठवीं सिद्धधरा (सिद्धशिला) है। धरा उसीको कहते हैं जो पूर्व पश्चिम लोक के अन्त को प्राप्त हो। स्वर्ग-विमानो को धरा इसीलिए नहीं कहा है कि वे लोकान्त तक अखड रूप नहीं हैं।

ये सातो भूमियाँ एक दूसरी से असख्यात योजन के अन्तर पर है। इन भूमियो के चारो ओर उक्त तीनो प्रकार की वायु का वेष्टन है अर्थात् इन भूमियों को घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय चारो तरफ से वेढे हुए हैं। इन भूमियो मे प्रथम पृथ्वी के अब्बहुल भाग और द्वितीयादि पाच पृथ्वीयो मे एक एक हजार योजन ऊपर नीचे का भूभाग छोडकर सातवीं पृथ्वी के ऊपर और नीचे बहुत भूभाग छोडकर मध्य भाग मे पटलो के अनुक्रम से नरक बिल हैं। शेष भूमिभाग मे एकेन्द्रिय जीवो का ही निवास है।

नारकियों के शरीर की उँचाई

प्रथम नरक के नारकी का शरीर सात धनुष, तीन हाथ और छह अगुल ऊँचा है। दूसरे आदि नरक मे दूना २ ऊँचा होता चला गया है। अर्थात दूसरे नरक के नारकी का शरीर साढे पन्द्रह धनुष, बारह अंगुल (आधा हाथ) ऊँचा है। तीसरे नरक के नारकी का शरीर सवा इकतीस धनुष ऊँचा है। चौथे नरक के नारकी का शरीर साढे बासठ धनुष ऊंचा है। पाँचवें नरक के नारकी का शरीर एक सौ पच्चीस धनुष ऊँचा, छठे नरक के नारकी का ढाईसौ धनुष ऊँचा और सातवें नरक के नारकी का शरीर पाँचसौ धनुष ऊँचा है।

इन सात पृथिवियो मे कुल उनचास पटल (प्रस्तार–खने) हैं। जैसे हवेली या महल मे खन होते हैं, वैसे ही इन पृथ्वियो मे पटल हैं। पहली पृथ्वी (अब्बहुल भाग) में तेरह, और द्वितीयादि पृथिवी मे क्रमसे ग्यारह, नव, सात, पाँच, तीन और एक पटल हैं।

उक्त सात पृथिवियो के उनचास पटलो मे कुल नारकियों के चौरासी लाख बिल हैं। अर्थात् पहली भूमि में तीस लाख, दूसरी में पच्चीस लाख, तीसरी मे पन्द्रह लाख, चौथी मे दश लाख, पाँचवीं मे तीन लाख, छठी मे पाँच कम एक लाख और सातवीं में केवल पाँच बिल हैं।

नरक में ठंढ और गर्मी

नरक की प्रथम भूमि रत्नप्रभा से लेकर चार भूमियो के और पाँचवी पृथ्वी के चार भागों मे से तीन भाग (ऊपर के दोलाख) तक के सब बिल अग्नि से भी अधिक उष्ण है। इन पृथ्वियो मे इतनी उष्णता है कि मेरु पर्वत के समान लोहे या तांबे का गोला ऊपर से गिराया जावे तो मार्ग मे ही पिघल कर पानी-सा होकर बह जावे तथा पाँचवीं पृथ्वी के चतुर्थ भाग से लेकर अन्त तक (सातवीं भूमि तक) उसी प्रकार शीत की पराकाष्ठा है।

नारकियों के बिलों की स्थिति का प्रकार

नरक की पृथ्वियो के पटलों मे तीन प्रकार के बिल हैं–इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक। जैसे एक हवेली में कई खन (मंजिल) होते हैं वैसे ही नरक भूमियो म कई पटल हैं। प्रत्येक खन मे जैसे बीचमें कोठा हो वैसे प्रत्येक पटल के बीच मे इन्द्रक नामका बिल है और उसकी चारो दिशाओ व विदिशाओ मे कोठा की पंक्तियाँ हो वैसे प्रत्येक पटल मे दिशाओ व विदिशाओं मे श्रेणीबद्ध बिल हैं, एवं प्रत्येक खन मे जैसे इधर-उधर दिशा-विदिशा के बीच-बीच-मे कोठे हो वैसे दिशा विदिशा के बीच २ में क्रमरहित बिल हैं, उन्हें प्रकीर्णक बिल कहते हैं। हवेली के खन पृथ्वी के ऊपर भाग मे रहते हैं वैसे नरक रचना नहीं है किन्तु एक के नीचे एक पटल होते हैं और उन पटलो के अधोभाग में जैसे यहाँ भूमि-गृह होते हैं वैसे नरक बिल हैं। महल मे चढने के लिए सीढियाँ और दर्वाजे आदि होते हैं वैसे नरक के बिलो मे नहीं होते हैं।

प्रथम नरक के प्रथम पटल के मध्य भाग मे एक इन्द्रक बिल है। ऐसे ही सम्पूर्ण पटलो मे एक एक इन्द्रक बिल होता है। प्रथम पटल की चारो दिशाओं मे चार पक्तियाँ हैं, उन हर एक पक्तियो मे उनचास २, और ऐसे ही चारो विदिशाओ मे चार पक्तियाँ हैं, उन प्रत्येक पंक्तियो मे अड़तालीस अड़तालीस बिल हैं, उन्हें श्रेणीबद्ध बिल कहते हैं। ये बिल प्रतिपटल एक एक कम होते चले गये हैं। इसलिए सब के अन्तिम सातवीं भूमि के उनचासवें पटल की विदिशा मे श्रेणीबद्ध बिल का सर्वथा अभाव है। चारो दिशाओ मे भी एक एक ही बिल है। और मध्य मे एक इन्द्रक बिल है। इस प्रकार सातवें नरक म केवल पॉच ही बिल हैं।

श्रेणीबद्ध और इन्द्रक बिलो की सख्या को सम्पूर्ण बिलो की सख्या मे घटाने पर जितनी सख्या आती है उतने प्रकीर्णक बिल हैं। जैसे प्रथम पृथ्वी म चारहजार चारसो बीस श्रेणीबद्ध बिल और तेरह इन्द्रक बिल इन दोनो को तीस लाख मे घटाने पर उनतीस लाख पिच्यानवे हजार पाँचसा सरसठ प्रकीर्णक बिलो की सख्या आती है।

जहाँ समान हानि या वृद्धि होती है उनका जोड़ लाने के लिए त्रिलोकसार मे करण सूत्र इस प्रकार है–'मुहभूमिजोगदले पदगुणिदे पदधणं होदि', अर्थात् मुख और भूमि का योग (जोड) करके आधा करे और उसे पद (गच्छ) से गुणा करे तब सब स्थानों का जोड़ होता है।

भावार्थ—जितने स्थानो का जोड़ देना हो उन स्थानो को पद या गच्छ कहते हैं। स्थान-स्थान प्रति जितने प्रमाण से हानि या वृद्धि होती है उसे चय कहते हैं। और आदि या अन्त के इन दो स्थानो मे से जो अधिक-प्रमाणवाला स्थान है उसे भूमि कहते हैं और जो अल्प प्रमाणवाला स्थान है उसे 'मुख' कहते हैं। जैसे प्रथम नरक के तेरह पटल के बिलो की सख्या का प्रमाण निकालना है तो-यहाँ

पद की सख्या तेरह है और प्रति पटल के श्रेणिबद्ध विमानो मे दिशा और विदिशा के बिलो मे एक एक घटता गया है। 'जैसे-प्रथम पटल की दिशा की प्रत्येक पक्ति मे उनचास-उनचास और विदिशा की प्रत्येक पक्ति मे अडतालीस-अडतालीस-बिले है। नीचे के दूसरे पटल मे दिशा की प्रतिपक्ति में अडतालीस-अड़तालीस और विदिशा की प्रत्येक पंक्ति मे सैंतालीस-सैंतालीस बिल है। इसी प्रकार प्रति पटल की दिशा व विदिशा की पक्ति मे एक एक घटता हुआ चला गया है।' अत: प्रथम पटल के दिशा की पक्ति मे उनचास और विदिशा की पक्ति मे अडतालीस श्रेणिबद्ध बिलो को जोडने पर सत्यानवे होते हैं, दिशा व विदिशा का प्रमाण चार है, अत. सत्यानवे को चौगुना करने पर प्रथम पटल के सम्पूर्ण श्रेणिबद्ध बिलो का प्रमाण तीनसौ अठासी होता है। यह यहाँ पर भूमि है। अन्त के तेरहवें पटल में दिशा मे सैंतीस और विदिशा मे छत्तीस श्रेणिबद्ध बिल हैं, इनको जोड़ने पर तिहत्तर हुए। इनको चार दिशा व विदिशा के प्रमाण से गुना करने पर दोसौ बानवे हुए। इतने अंतपटल मे श्रेणिबद्ध बिल हैं। यह यहाँ पर मुख है। प्रति पटल आठ-आठ श्रेणिबद्ध घटते जाते है, अतः चय का प्रमाण यहाँ आठ है। 'मुहभूमिजोगदले' के अनुसार मुख तो दो सौ बानवे और भूमि तीन सौ अठासी का योग (जोड) छहसौ अस्सी का दल (आधा) करने पर तीन सौ चालीस हुए। इन को पद तेरह से गुणा करने पर चार हजार चारसौ बीस प्रथम नरक के तेरह पटलो के सम्पूर्ण श्रेणिबद्ध बिलो का प्रमाण होता है। इनमें तेरह इन्द्रक बिलो का प्रमाण जोडने पर चार हजार चारसौ तेतीस होते है। इसी प्रकार द्वितीयादि नरक भूमि के श्रेणिबद्ध बिलो का प्रमाण निकाल लेना चाहिए।

समस्त भूमियो के श्रेणिबद्ध बिलो का प्रमाण भी उक्त प्रकार से निकाल लेना चाहिए। यहाँ पर मुख तो सप्तम भूमि सम्बन्धी श्रेणिबद्ध बिल 'चार' हैं। तथा भूमि प्रथम भूमि के प्रथम पटल के श्रेणिबद्ध बिल तीनसौ अठासी है। इनका योग तीनसौ बानवे के आधे एक सौ छियानवे को चय प्रमाण उनचास से गुणा करने पर नौ हजार छह सौ बावन सम्पूर्ण नरक भूमियो के श्रेणिबद्ध बिल होते है।

नरक भूमियों के इन्द्रक बिल का विस्तार संख्यात-सख्यात योजन, श्रेणिबद्ध बिल का विस्तार असख्यात २ योजन और प्रकीर्णक बिलका विस्तार सख्यात या असख्यात योजन है। अर्थात् कोई प्रकीर्णक बिल संख्यात योजन का है और कोई असख्यात योजन का है।

प्रथम पटल का इन्द्रक बिल मनुष्य क्षेत्र (पैतालीस लाख योजन) प्रमाण और पटल का इन्द्रक सातवे नरक का उनचासवे बिल जम्बूद्वीप (एकलाखयोजन) प्रमाण है। मध्य के पटलो के बिल नीचे नीचे क्रमशः हीन प्रमाण वाले है। इसका विशेष वर्णन त्रिलोकसार से जानना।

नरक में जन्म कौन लेता है ?

नरक के बिल कुत्ते, बिल्ली, शूकर आदि के अत्यन्त सडे हुए कलेवर से भी अत्यधिक दुर्गन्धमय हैं। उनमे वे जीव उत्पन्न होते है जिन्होने बहुत आरभ व परिग्रह के उपार्जनादि मे रौद्र परिणाम करके नरकायुका सचय किया है।

नारकों के उपपाद स्थानों का आकार व जन्म की दशा

जैसे महल की छत मे कोई स्थान बना हो वैसे उन नरक के बिलो मे ऊपर की ओर ऊंट आदि के मुख समान आकार वाले (भीतर मे पोले सकडे मुखवाले) उपपाद स्थान हैं, उनमे नारकी जन्म लेते हैं। अन्तर्मुहूर्त मे उनकी पर्याप्ति पूर्ण हो जाती है। उसके पश्चात वे उन उपपाद स्थानो से छूटकर नीचे नरक बिलो के भूमितल पर जो तीक्ष्ण शस्त्र रहते हैं उन पर गिरते हैं और वहाँ से उछल कर फिर उनहीं पर गिरते हैं। घर्मा पृथ्वी के नारकी एकसौ पच्चीस मे सोलह का भाग देने पर जितनी सख्या आवे उतने योजन (सात योजन सवाकोश) ऊपर उछलते हैं। वंशादि भूमि मे इनसे क्रमश· दूने २ उछलते हैं अर्थात् जिस भूमि मे नारकियो की जितने धनुष ऊँचाई है उतने ही योजन प्रमाण वे ऊपर उछलते हैं।

नारकियों के दुःख

पुराने नारकी नवीन नारकियो को देखकर अत्यन्त कठोर वचन उच्चारण करते हुए आते हैं और उन्हें मारते हैं। शस्त्र पर गिरने से उनके शरीर पर जो घाव होजाते हैं उनपर अत्यन्त खारा जल सींचते हैं।

नवीन नारकी जीवों के पर्याप्ति पूर्ण होने पर कुअवधिज्ञान उत्पन्न होता है, उससे वे अपना पूर्व जन्म का वैर-सम्बन्ध जानकर तथा अपृथक् विक्रिया द्वारा हिंसक जन्तु या शस्त्रादि का आकार धारण कर पुराने नारकियो को मारते हैं तथा पुराने नारकी उन्हें मारते हैं। नारकियों के अपृथक् विक्रिया ही होती है। अत वे अपने शरीर को हिंसक-सिंह, व्याघ्र, शूकर, वृक, काक, गिद्ध आदि मे किसी एक प्राणीरूप अथवा खड्ग, भाला, शूली, मुद्गर, अग्नि आदि शस्त्रादि रूप बनाकर दूसरो के हनन करने मे प्रवृत्त होते हैं।

वहाँ पर वेताल कीसी आकृति वाले भयानक पर्वत हैं, तथा दुःख देने वाले सैकडो यन्त्र के समान गुफाएँ हैं। अग्नि से तपी हुई लोहे की मूर्त्ति के समान वहाँ स्त्री आदि की प्रतिमा हैं। तथा वहाँ असि-पत्र वन है, जो छुरी, असि, फरसा आदि के समान अति तीक्ष्ण पत्रो (पत्तो) से सयुक्त है।

वहाँ अतिक्षार जल वाली वैतरणी नामक नदी है और अति दुर्गन्ध घृणास्पद रुधिर से सयुक्त महावीभत्स ह्रद हैं जो करोडो कीड़ो से भरे हुए हैं। नारकी जीव अग्नि के भय से दौड़ते हुए शान्ति के लिए उस वैतरणी नदी मे कूद पडते हैं तो उसके खारे जल से उनके क्षत-विक्षत हुए शरीर दग्ध हो जाते हैं। वहाँ से वे शान्ति के अर्थ असि-पत्र वन की छाया मे बडे वेगसे दौडकर जाते हैं तो वहाँ पवन से गिरे हुए असि, छुरी, भाले आदि सरीखे तीक्ष्ण पत्तो से उनके शरीरो के खड-खड हो जाते हैं और वे घोर दुःख पाते हैं।

तप्त लोहे के समान जल से भरी हुई कुंभी मे नारकियो को डालकर, जैसे हाण्डी में अन्न पकाते हैं वैसे, पकाते हैं। जैसे कडाहो मे तपे हुए तैल मे अन्नादि तलते है वैसे नारकियो को कडाहो में डालकर तलते हैं। इत्यादि अनेक प्रकार के दुःखो की सामग्री वहाँ पाई जाती है।

वहा की भूमि का स्पर्श तपेहुए लोहे के समान है। वह भूमि सूई सरीखी पैनी हरी घास से व्याप्त है। हजारो बिच्छुओ के काटने से जैसी वेदना यहाँ होती है उससे भी अधिक वेदना नरक की भूमि के स्पर्श मात्र से होती है। उन नारकियो के उदर, नेत्र और मस्तक आदि के रोगो से तथा क्षुधा, तृषा, भयादि से तीव्रवेदना निरन्तर हुआ करती है।

कुक्कुर (कुत्ता) बिलाव आदि निकृष्टजीवो की दुर्गन्धमय विष्टा से भी अत्यन्त दुर्गन्धमय प्रथम नरक की मिट्टी है। अत्यन्त भूखे नारकियो को वह मिट्टी बहुत थोडी खाने को मिलती है। दूसरे तीसरे आदि नरको की मिट्टी और भी अधिक २ दुर्गन्धमय है।

पहले नरक के प्रथम पटल की मृत्तिका (मिट्टी), जिसका भक्षण वहाँ के नारकी करते हैं, वह यदि इस मनुष्य लोक मे डाल दी जाय तो वह मृत्तिका अपनी दुर्गन्ध से आध २ कोश के जीवो को मारने मे समर्थ होसकती है। ऐसे नीचे नीचे के प्रत्येक पटल की अनुक्रम से उस मिट्टी मे आधे आधे कोश अधिक पृथ्वी मे स्थितजीवो को मारने की शक्ति होती है। अर्थात् दूसरे पटल की मिट्टी में दुर्गन्ध से एककोशतक के जीवो को मारने की शक्ति है। तीसरे पटल की मृत्तिका मे डेढ़ कोशतक के और चौथे पटल की मृत्तिका में दो कोशतक के जीवों का घात करने का सामर्थ्य है। इस प्रकार सातवें नरक की मृत्तिका मे साढ़े चोवीस कोश तक की पृथ्वी पर के जीवो का संहार करने की शक्ति होती है।

शस्त्रादि से उन नारकियो के शरीर के टुकडे २ होजाते हैं, किन्तु वे अकाल (आयु पूर्ण हुए विना) मृत्यु को प्राप्त नहीं होते है। उनके शरीर के हजारो खंड होने पर भी वे पारे (धातु) के समान तत्काल मिल जाते हैं।

जिनके तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता होती है। अर्थात् जो नरक से निकलकर तीर्थंकर होने वाले हैं, उन जीवो के नरकायु के छह मास शेष रहने पर नरकम देव उनके उपसर्ग का निवारण करते हैं। (इसी प्रकार जो जीव स्वर्ग से चय कर तीर्थंकर होने वाले होते हैं उन के छह मास पूर्व अन्य देवो की भॉति माला नहीं मुरझाती है।)

नारकियो की आयु अनपवर्त्य (अकाल मृत्युरहित) होती है। उनकी भुज्यमान आयु किसी निमित्त से नहीं घटती है। जितनी आयु है उसको पूर्ण भोगे विना मृत्यु नहीं होती है। पवन से जैसे मेघ-पटल नष्ट होकर आकाश मे विलीन हो जाते हैं वैसे ही नारकी जीवो के शरीर भी आयु के पूर्ण होने पर विलय को प्राप्त हो जाते हैं। मनुष्य व तिर्यंचो के मृतक शरीर के समान भूमिपर पड़े नहीं रहते हैं।

नारक जीवो को चार प्रकार के दु ख होते हैं-क्षेत्रजन्य-२ शरीरजन्य-३ मनोजन्य, व ४ असुरदेवजन्य ।

१ क्षेत्रजन्य—नरक भूमि के अतितीक्ष्ण शस्त्र, कठोरस्पर्श, विष से अति कटु रस, सडे हुए कुत्ते बिल्ली आदि के मृतक कलेवर से अत्यधिक दुर्गन्ध, जिसके पंख नोचलिये गये है ऐसे पक्षी के समान महाबीभत्स रूप, कूटशाल्मली, वैतरणी नदी, वेताल सम भयानक पर्वत गुफा आदि से वचनातीत क्षेत्रजन्य दु ख नारक जीवो के होता है ।

२ शरीरजन्य—शरीर मे अनेक प्रकार के भयानक उदरशूलरोग, मस्तक मे तीव्र पीड़ा, शरीर के व्रण (घाव) आदि की तीव्र वेदना होती है। यह शरीर-जन्य दु ख है ।

३ मनोजन्य—चारो ओर के भय से निरन्तर आकुल परिणामो के कारण जो सतत आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान से उत्पन्न होने वाला अतिशय दु ख नारक जीवों को होता रहता है, वह मनोजन्य दु ख है ।

४ असुरकुमारदेव जन्य—तीसरे नरक तक अम्बावरीषादि जाति के असुरकुमारदेव नारक जीवो को परस्पर लड़ाते हैं। उनको पूर्व वैर का स्मरण दिलाते हुए एक दूसरे को मारने का उपाय बतला कर दु ख देते हैं।

नारकियो की आयु

अब नारक जीवों की पटल-पटल प्रति जघन्य व उत्कृष्ट आयु को दिखाते हैं—

प्रथम पृथ्वी के प्रथम पटल मे नारक जीवो की जघन्य आयु दश हजारवर्ष और उत्कृष्ट आयु नब्बै हजार वर्ष की होती है। दूसरे पटल मे जघन्य आयु समयाधिक निब्बै हजार वर्ष और उत्कृष्ट आयु निब्बै लाख वर्ष की है। तीसरे पटल मे जघन्य आयु समयाधिक निब्बै लाख वर्ष और उत्कृष्ट आयु असख्यात कोटि वर्ष पूर्व है।(सत्तर लाखछप्पन हजार कोटि को पूर्व कहते हैं।) चौथे पटल मे जघन्य आयु तीसरे पटल की उत्कृष्ट आयु से समयाधिक प्रमाण है और उत्कृष्ट आयु एक सागर का दशवॉ भाग प्रमाण है। इस प्रकार सर्वत्र ऊपर की उत्कृष्ट आयु नीचे पटलकी जघन्य आयु समझनी चाहिए। पॉचवें छठे आदि पटल मे अनुक्रम से दो सागर के दशवें भाग, तीन सागर के दशवें भाग, चारसागर के दशवें भाग, पॉच सागर के दशवे भाग, छह सागर के दशवें भाग, सात सागर के दशवें भाग, आठ सागर के दशवें भाग, नौ सागर के दश भाग प्रमाण और एक सागर प्रमाण आयु समझना चाहिए।

अर्थात् प्रथम नरक पृथ्वी के नारको की उत्कृष्ट आयु एक सागर प्रमाण है। दूसरी पथ्वी मे तीन सागर, तीसरी मे सात सागर, चौथी मे दशसागर, पॉचवी मे सत्रह सागर, छठी मे बाईस सागर और सातवीं मे तेतीस सागर की उत्कृष्ट आयु है। पूर्व पूर्व

पृथ्वी की जो उत्कृष्ट आयु है वह समयाधिक उत्तर उत्तर पृथ्वी की जघन्य आयु जाननी चाहिए।

प्रथम नरक भूमि के अन्तिम पटल मे नारक जीवो की ऊँचाई सात धनुष, तीन हाथ और छह अंगुल प्रमाण है तथा द्वितीयादि भूमि मे नारकों के शरीरकी ऊँचाई दूनी दूनी होती गई है। सातवें नरक मे पाँचसौ धनुष की ऊँचाई है।

प्रथम नरक पृथ्वी के प्रथम पटल मे नारक जीवो के शरीर की ऊँचाई तीन हाथ प्रमाण है। प्रत्येक पटल के नारकियों की शरीर की ऊँचाई आयु आदि निकालने के लिए करण सूत्र कहते हैं —

"आदीअंतविसेसे रूऊणद्धाहिदम्हि हाणिचयं"

अर्थ—आदि के प्रमाण मे से अन्त प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे उसमे एक कम गच्छ का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना नीचे के पटल पटल प्रति बढने का प्रमाण होता है। यहाँ प्रकृत मे प्रथम नरक के प्रथम पटल मे तीन हाथ का उत्सेध (ऊंचाई) है सो तो आदि जानना और प्रथम नरक के अन्तिम पटल का उत्सेध सात धनुष, तीन हाथ और छह अगुल प्रमाण है, सो अन्त जानना। इस अत मे से आदि तीन हाथ घटाने से सात धनुष और छह अंगुल रहे। यहाँ तेरह पटल हैं सो गच्छ का प्रमाण तेरह मे से एक घटाने पर बारह रहे, उसका भाग सात धनुष के अठाईस हाथ मे देने पर दो तो हाथ हुए और शेष चार हाथ रहे। उनके छियानवे अगुल हुए और पू॰ छह अगुल थे उनको इनमे मिलाने पर एक सौ दो अगुल मे बारह का भाग देने पर आठ लब्ध आये सो ८ अगुल हुए। शेष छह रहे, उनमे बारह का भाग देने पर आधा अंगुल और हुआ। इस प्रकार प्रति पटल दो हाथ, साढ़े आठ अगुल बढने का प्रमाण जानना चाहिए। इस प्रमाण को प्रथम पटल के उत्सेध तीन हाथ प्रमाण मे जोड़ने पर दूसरे पटल के नारक जीवो के शरीर का पाच हाथ, साढे आठ अंगुल प्रमाण उत्सेध होता है। (चार हाथ का एक धनुप और चौबीस अगुल का एक हाथ होता है।) उक्त प्रकार चय (दो हाथ साढे आठ अगुल) पूर्व पूर्व पटल के उत्सेध में मिलाने से उत्तर उत्तर पटल के उत्सेध का प्रमाण होता है। उक्त क्रमसे तीसरे पटल के नारको के शरीर का उत्सेध एक धनुप तीन हाथ सत्रह अगुल होता है। इसी प्रकार प्रथम नरक के सब पटलो में समझ लेना चाहिए।

द्वितीयादि पृथ्वी के विषय मे भी पूर्व पृथ्वी के अन्त पटल का जो उत्सेध है वह तो आदि और विवक्षित पृथ्वी के अन्त पटल का जो उत्सेध है उसे अन्त स्थापन कर आदि को अन्त मे से घटाना चाहिए। यहा पर पूर्व पृथ्वी के अन्त पटल को आदि कहा है, इसलिए विवक्षित पृथ्वी मे जितने पटल का प्रमाण है उससे एक अधिक गच्छ कर उसमें से एक को घटाने पर जो प्रमाण हुआ उसका भाग देने पर जो लब्ध आता है वह चय होता है। जैसे द्वितीयादि पृथ्वी के विषय मे आदि तो सात धनुप, तीन हाथ, छह अगुल और अन्त पन्द्रह धनुप, दो हाथ,

बारह अंगुल है। यहाँ आदि को अन्त मे से घटाने पर सात धनुष, तीन हाथ, छह अंगुल रहे। उन मे द्वितीय पृथ्वी के पटल प्रमाण ग्यारह का भाग देने व धनुष आदि के हस्तादि करलेने पर दो हाथ, बीस अंगुल और दो अंगुल का ग्यारहवा भाग प्रमाण चय आया। इसी प्रकार तृतीयादि पृथ्वी मे भी चय का प्रमाण साधन करना चाहिए।

यहाँ प्रथम पृथ्वी के अन्त पटल के सात धनुष, तीन हाथ, छह अंगुल उत्सेध में चय का प्रमाण दो हाथ, बीस अंगुल और दो अंगुल के ग्यारहवें भाग को मिलाने पर द्वितीय पृथ्वी के प्रथम पटल का आठ धनुष, दो हाथ, दो अंगुल और दो अंगुल का ग्यारहवा भाग प्रमाण उत्सेध होता है। इसी प्रकार द्वितीयादि पटल का उत्सेध लाने के लिए पूर्व पटल के प्रमाण में चय का प्रमाण जोड़ते जाना चाहिए। द्वितीय पृथ्वी के उत्सेध प्रमाण के अनुक्रम से तृतीयादि पृथ्वी के उत्सेध का प्रमाण साधन करना चाहिए।

नारक जीवों का अवधिज्ञान का क्षेत्र

रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकों का अवधिज्ञान का क्षेत्र चारकोश प्रमाण है। शर्करादि शेष छह पृथ्वी के नारकों के अवधिज्ञान का क्षेत्र क्रमसे प्रति पृथ्वी आधा आधा कोश हीन होता गया है। अर्थात साढे तीन, तीन, ढाई, दो, डेढ और एक कोश क्षेत्र प्रमाण अवधिज्ञान क्रमसे द्वितीयादि पृथ्वी के नारकों का होता है।

नरक से निकले हुए जीवों के उत्पत्ति का नियम

नरक से निकले हुए जीव मनुष्य व तिर्यंच गति में ही उत्पन्न होते हैं। देव और नरक गति मे जन्म नहीं लेते हैं। मनुष्य और तिर्यंचों मे भी कर्मभूमि के सज्ञी पर्याप्तक गर्भजो में ही उत्पन्न होते हैं। सप्तम पृथ्वी के निकले हुए जीव कर्मभूमिज सज्ञी पर्याप्त गर्भज तिर्यंच ही होते हैं, मनुष्य नहीं होते। तिर्यंचो मे भी हिंसक सिंहादि क्रूर पशु ही होते हैं।

नरक से निकले हुए जीव नारायण, बलभद्र, चक्रवर्ती नहीं होते हैं। चतुर्थादि पृथ्वी से निकले हुए जीव तीर्थंकर नहीं होते हैं। पॉचवीं आदि पृथ्वी से निकले हुए चरमशरीरी नहीं होते। छठी आदि पृथ्वी से निकले हुए सकल-सयमी नहीं होते। तथा सातवीं पृथ्वी से निकले हुए सासादन, मिश्र (तीसरे गुणस्थान वर्त्ती), असंयत व देशासंयत नहीं होते हैं।

नरक में गमन करने वाले जीवों का नियम

असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय और सरीसृप (गिरगिट छिपकली आदि) प्राणी और भेरुंड आदि पक्षी, सर्प, सिंह, मानुषी स्त्री, मत्स्य और

मनुष्य इनकी प्रथमादि पृथ्वी मे निरन्तर उत्पत्ति आठ बार से लेकर दो बार तक जाननी चाहिए। अर्थात् असञ्ज्ञी मर कर प्रथम नरक में जाकर वहाँ से निकल सञ्ज्ञी हो मरकर फिर यहा ही असंज्ञी हो, मरकर फिर प्रथम नरक जावे तब एक बार होता है। ऐसे असञ्ज्ञी अधिक से अधिक आठ बार प्रथम नरक में जाता है। नरक से निकला हुआ असञ्ज्ञी नहीं होता है; अत: मध्य मे एक संज्ञी पर्याय का अन्तर होना है। सरीसृपादि में एक अन्तर न ग्रहण करना। सरीसृप दूसरे नरक जाकर वहाँ से सरीसृप हो फिर दूसरे नरक मे जावे। ऐसे निरन्तर सात बार जा सकता है। ऐसे ही पक्षी निरन्तर तीसरे नरक मे छह बार जा सकता है। सर्प चोथे नरक मे पाँच बार जा सकता है। सिह पाँचवें नरक मे चार बार जा सकता है। स्त्री छठे नरक म तीन बार निरन्तर जन्म ले सकती है। तथा मत्स्य व मनुष्य एक अन्तर देकर सातवें नरक मे निरन्तर दोबार उत्पन्न हो सकते हैं। उनमे से मत्स्य सातों नरक जाकर वहाँ से निकल कर गर्भज तिर्यंच होता है। मरकर फिर मत्स्य होकर सातवें नरक मे जाता है। क्योकि यहाँ नरक से निकला हुआ सम्मूर्छन नहीं होता है और मत्स्य सम्मूर्छन है, इसलिए यहाँ एक अन्तर कहागया है। इसी प्रकार मनुष्य म भी एक अन्तर जानना चाहिए। क्योकि सातवें नरक से निकला जीव मनुष्य नहीं होता है, इसलिए बीच मे एक अन्तर कहा है। इस प्रकार दोबार उत्पत्ति का नियम कहा है।

यहाँ जीवो के उत्पन्न होने का भी नियम जान लेना चाहिए। असञ्ज्ञी जीव प्रथम पृथ्वी मे ही उत्पन्न हो सकता है, द्वितीयादि पृथ्वी मे उत्पन्न नहीं हो सकता। सरीसृप दूसरी पृथ्वी पर्यन्त जन्म ले सकता है, तृतीयादि पृथ्वी मे जन्म धारण नहीं कर सकता। पक्षी तृतीय पृथ्वी तक उत्पन्न हो सकता है, आगे जन्म नहीं लेता। सर्प चतुर्थ पृथ्वी पर्यन्त जन्म ले सकता है आगे नहीं जा सकता। सिंह पाचवीं तक, स्त्री छठी तक और पुरुष एव मत्स्य सातवीं पृथ्वी पर्यन्त उत्पन्न हो सकते हैं।

नरक पृथ्वी में जीवोत्पत्ति का अन्तर

प्रथम पृथ्वी मे कोई जीव उत्पन्न न हो तो उत्कृष्ट चौबीस मुहूर्त्त पर्यन्त उत्पन्न नहीं होता है और न मरता है। चौबीस मुहूर्त्त के पश्चात् कोई न कोई अवश्य जन्म लेता है अथवा कोई अवश्य मरता है। ऐसे ही द्वितीय पृथ्वी मे सात दिन का, तृतीय पृथ्वी में एक पक्ष का, चतुर्थ पृथ्वी मे एक मास का, पाँचवी मे दो मास का, छठी मे चार मास का और सातवीं पृथ्वी मे छह मास का जन्म मरण का अन्तर है।

भवनवासियों के आवास

रत्नप्रभा पृथ्वी के खर भाग व पङ्क भाग मे भवनवासी व व्यन्तर देवों के भवन बने हुए हैं। उनमे से भवनवासी देवों का सक्षेप से वर्णन करते हैं—

सं, प्र.

असख्यात द्वीप समुद्रो के बीतने के बाद शेष असख्यात द्वीप समुद्रो के नीचे भवनवासी और व्यन्तर देवो के भवन बने हुए हैं।

भवनवासी देवो के सात करोड़ बहत्तर लाख भवन हैं, तथा एक-एक भवन में एक एक चैत्यालय है, इसलिए जितने भवन हैं, उतने ही चैत्यालय हैं।

भवनवासी देवो के भेद

भवनवासी देवो के दश भेद हैं—१—असुर कुमार, २ नागकुमार, ३ विद्युत्कुमार, ४ सुपर्णकुमार, ५ अग्निकुमार, ६ वातकुमार, ७ स्तनितकुमार, ८ उदधिकुमार, ९ द्वीपकुमार और दिक्कुमार। उक्त प्रत्येक भेद मे दो दो इन्द्र हैं।

असुर कुमार में चमर और वैरोचन, नागकुमार मे भूतानन्द और धरणानन्द, विद्युत्कुमार में घोष और महाघोष, सुपर्णकुमार मे वेणु और वेणुधारी, अग्निकुमार मे अग्निशिखी और अग्निवाहन, वातकुमार मे वेलम्ब और प्रभजन, स्तनितकुमार मे हरिषेण और हरिकान्त उदधिकुमार मे जलप्रभ और जलकान्त, द्वीपकुमार मे पूर्ण और वशिष्ठ, दिक्कुमार मे अमितगति और अमितवाहन इस प्रकार प्रत्येक भेद में दो दो इन्द्र कहे गये हैं।

इन्द्रो में परस्पर ईर्ष्या

चमरेन्द्र तो सौधर्म इन्द्र (शक्र) के साथ और भूतानन्दइन्द्र वेणुइन्द्र के साथ तथा वैरोचन ईशानइन्द्र के साथ और धरणानन्द वेणुधारीइन्द्र के साथ स्वाभाविक ईर्ष्या करते हैं। अर्थात् दो दो इन्द्रो मे से प्रथम प्रथम इन्द्र सौधर्मादि युगलो के प्रथम इन्द्र के साथ, तथा द्वितीय, द्वितीयस्वर्ग के इन्द्र के साथ स्वभावतः ईर्ष्याभाव रखते हैं।

भवनवासी देवों के चिह्न

असुरादि देवो के मुकुट मे क्रमसे चूडामणि, सर्प, स्वस्तिक, गरुड, कलश, घोड़ा, वज्र, मगर (मच्छ), हस्ती और सिंह के चिह्न पाये जाते हैं। तथा चैत्यवृक्ष और ध्वजा भी इनके चिह्न हैं। अश्वत्थ, सप्तपर्ण आदि दश प्रकार के चैत्यवृक्ष भी इनके चिह्न हैं। इन वृक्षो के मूल मे प्रतिदिशा में (हरएक दिशा) मे पाँच पाँच प्रतिमाएँ हैं, जिनकी देव पूजा करते हैं। इन प्रतिमाओ (चैत्य) के सम्बन्ध से इनको चैत्यवृक्ष कहते हैं।

भवनवासी देवों के भवनों की विशेषताएँ

भवनवासी देवों के भवन सुगंधित एवं पुष्पो से वासित रत्नमय भूमि से भूषित हैं, उनकी दीवारें भी रत्नों की होती हैं और नित्य

प्रकाश युक्त हैं। वे सम्पूर्ण इन्द्रियो को सुख देनेवाले चन्दनादि पदार्थों से व्याप्त होते है और उनमे निवास करनेवाले असुरकुमारादि देव अणिमा, महिमा आदि अष्ट ऋद्धि के धारक होते है, तथा वे नाना प्रकार के मणिनिर्मित झिलमिलाते हुए मुकुट, कटक अगद, हार आदि अलकारो से देदीप्यमान व अलकृत होते हैं। वे अपनी पूर्व-सचित तपस्या के फल का भोग करते हैं। उनके भवन भूमिगृह (तहखाने) के समान है। वे रत्नप्रभा पृथ्वी के खरभाग और पंकभाग मे हैं। उन भवनो की चौडाई व लम्बाई जघन्य तो सख्यात कोटि योजन और उत्कृष्ट असख्यात कोटि योजन प्रमाण है। ये भवन चौकोर होते हैं। इनकी ऊँचाई तीन सौ योजन प्रमाण है। प्रत्येक भवन के मध्य भाग मे सौ योजन ऊँचा एक २ पर्वत है। उसके ऊपर चैत्यालय बने हुए है।

व्यंतरादि देवो के आवास स्थान

चित्रा भूमि के नीचे एक हजार योजन जाकर व्यन्तर देवो के आवास बने हुए हैं। दो हजार योजन जाकर अल्प ऋद्धि धारक भवनवासियो के भवन है। तथा बियालीस हजार योजन जाकर महर्द्धि धारक भवनवासियो के भवन है और एक लक्ष योजन पर मध्यम ऋद्धि के धारक भवनवासियो के भवन हैं। भवनवासियो मे असुर कुमारो के और व्यन्तरो मे राक्षसो के भवन पङ्कभाग मे हैं।

देवों में इन्द्र व प्रतीन्द्र का क्रम

ज्योतिप व व्यन्तर देवो मे त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं होते हैं। अर्थात् भवनवासी और सोलह स्वर्गों के विमानवासियो मे तो १ इन्द्र, २ सामानिक, ३ त्रायस्त्रिंश, ४ पारिषद्, ५ आत्मरक्ष, ६ लोकपाल, ७ अनीक, ८ प्रकीर्णक, ९ आभियोग्य और १० किल्विषिक ये दश प्रकार के भेद प्रत्येक इन्द्र के साथ होते है। किन्तु ज्योतिप और व्यन्तरो मे त्रायस्त्रिंश और लोकपाल ये दो भेद नहीं होते। शेप आठ भेद ही होते हैं। सोलह स्वर्गों के ऊपर नवग्रैवेयक, नव अनुदिश और पचानुत्तर विमानो मे इन्द्रादि भेद नहीं होते। वे सब अहमिन्द्र होते हैं। अपने २ भेद मे उनमे हीनाधिकपना नहीं होता है। इन्द्र के साथ एक प्रतीन्द्र होता है, वह युवराज के समान माना गया है। भवनवासियो के प्रत्येक भेद मे दो दो इन्द्र और दो दो प्रतीन्द्र होते हैं। अर्थात् भवनवासियो के बीस इन्द्र और बीस प्रतीन्द्र तथा व्यन्तरो मे सोलह इन्द्र और सोलह प्रतीन्द्र होते है। शेप ज्योतिप देवों मे एक इन्द्र और एक प्रतीन्द्र तथा वैमानिक सोलह स्वर्गों मे बारह इन्द्र व बारह ही प्रतीन्द्र होते है।

इन्द्रों की सभा, सेना व देवांगनाएँ

प्रत्येक इन्द्र के तीन तीन परिषद् (सभा) होती है—अन्त, मध्य और बाह्य परिषद्। अन्त परिषद् को समित कहते हैं, मध्य परिषद् को चन्द्रा और बाह्य परिषद् को जतु इस नाम से कहते हैं। ऐसे ही सम्पूर्ण देवो की सभाओ के नाम हैं।

प्रत्येक इन्द्र के सात सात अनीक (सेनाएँ) होती हैं। असुर कुमार के १ महिष (भैंसा) २ घोटक (घोड़ा) ३ रथ ४ हाथी, ५ प्यादे, ६ गन्धर्व और ७ नर्तकी ये सात प्रकार की सेना है। उक्त सात प्रकार की सेना एक से दूसरे इन्द्र के दूनी दूनी होती चली गई है। असुर कुमार के अनीक के प्रथम भेद मे भैंसा था। नागकुमार के प्रथम भेद में नाव या सर्प, सुपर्ण कुमार के गरुड़, द्वीप कुमार के हाथी, उदधिकुमार के मगर विद्युत्कुमार के ऊट या गेंडा, स्तनित कुमार के सूर, दिक्कुमार के सिंह, अग्निकुमार के शिविका (पालकी) और वातकुमार के अश्व ये प्रथम भेद में हैं। शेष छह भेद असुर कुमार देवो के समान हैं।

असुर कुमार के इन्द्र के छप्पन हजार देवाङ्गनाएँ हैं, उनमें से सोलह हजार वल्लभिका (अतिप्रिय देवागना), पांच महादेवियाँ, और पांच कम चालीस हजार परिवार देवियाँ है। नागकुमार इन्द्र के पचास हजार देवियाँ हैं। सुपर्ण कुमार इन्द्र के चवालीस हजार देवियाँ हैं। शेष द्वीप कुमारादि सात भेदो में बत्तीस बत्तीस हजार देवियाँ हैं। उनमें दो दो हजार तो वल्लभिका हैं, पाच पाच महादेवी हैं और शेष सामान्य देवागना है।

असुरकुमार, नागकुमार व सुपर्णकुमार इन तीन भेदो के इन्द्रो के महादेवियाँ यदि विक्रिया करे तो एक एक महादेवी आठ आठ हजार मूल शरीर सहित विक्रिया कर सकती हैं, और शेष सात भेदो के इन्द्रो की महादेवियाँ छह छह हजार मूलशरीर सहित विक्रिया करती है। अर्थात देवियो के इतने रूप धारण कर सकती है।

चमरेन्द्र की देवाङ्गनाओ की आयु ढाई पल्य प्रमाण, वैरोचनेन्द्र की देवाङ्गनाओ की आयु तीन पल्य प्रमाण, तथा नागेन्द्र की देवियो की आयु पल्य के आठवें भाग प्रमाण, गरुडेन्द्र की देवाङ्गनाओं की आयु तीन कोटि पूर्व प्रमाण और शेष इन्द्रो के देवियो की आयु तीन कोटि प्रमाण है।

असुरादि देवो के श्वासोच्छ्वास तथा आहार का क्रम

असुर कुमार जाति के देवो के एक पक्ष बीतने पर एक बार श्वासोच्छ्वास होता है व एक हजार वर्ष बीतने पर एक बार आहार होता है। नागकुमार, सुपर्णकुमार व द्वीपकुमार के साढ़े बारह मुहूर्त्त बीतने पर श्वासोच्छ्वास और साढे बारह दिन बीतने पर आहार होता है। उदधिकुमार, विद्युत्कुमार के बारह मुहूर्त्त बीतने पर श्वासोच्छ्वास और बारह दिन बीतने पर आहार होता है। अवशेष दिक्कुमार, अग्निकुमार और वातकुमार के साढे सात मुहूर्त्त बीतने पर श्वासोच्छ्वास और साढे सात दिन बीतने पर आहार होता है।

देवो के शरीर का उत्सेध

असुर कुमार देवो के शरीर का उत्सेध (ऊँचाई) पच्चीस धनुष प्रमाण और शेष कुमारों का शरीरोत्सेध दश धनुष प्रमाण है। व्यन्तर देवो के शरीर का उत्सेध दश धनुष और ज्योतिष देवो का सात धनुष प्रमाण है।

व्यन्तर देव

व्यन्तर देवो के किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच ये आठ भेद हैं। राक्षस के अतिरिक्त सब व्यन्तर देवो के आवास खर पृथ्वी भाग के एक हजार योजन नीचे जाकर बने हुए हैं।

व्यन्तरों के शरीर का वर्ण

किन्नरो का प्रियंगुफल समान वर्ण है। किम्पुरुषों का धवल वर्ण है। महोरगो का काला (श्याम) वर्ण है। गन्धर्वों का स्वर्ण समान वर्ण है। यक्ष, राक्षस और भूत इन तीनो का श्याम वर्ण है। पिशाचों का काला वर्ण है। इन देवों के शरीर अगर, चन्दनादि के लेप व आभूषणो से भूषित हैं।

व्यन्तरों के चैत्यवृक्ष

उन व्यन्तरो के अनुक्रम से अशोक, चम्पक, नागकेसर, तुंबरु, वट, कंटतरु, तुलसी और कदम्ब ये चैत्यवृक्ष हैं। उनके मूल में पल्यंकासनवाली प्रतिमाएँ एक एक दिशा मे चार चार विराजमान हैं। वे प्रतिमाएँ चार तोरण द्वारो से संयुक्त हैं और जो भवन में चैत्यवृक्ष हैं उनका जम्बूद्वीप के वर्णन मे जम्बू वृक्ष के परिकर का जो प्रमाण कहेंगे, उससे अर्ध प्रमाण समझना चाहिए।

व्यन्तरों में इन्द्र, प्रतीन्द्र, देवांगना व सेना

उक्त आठ प्रकार के व्यन्तरो के प्रत्येक भेद मे दो दो इन्द्र और दो दो प्रतीन्द्र होते हैं। इनमें प्रत्येक इन्द्र के दो दो वल्लभिका (अतिप्रिय) देविया होती हैं। ये प्रत्येक देवी एक एक हजार देवागना से सयुक्त होती है। एक एक इन्द्र सम्बन्धी दो दो गणिका महत्तरी होती हैं। जिस प्रकार यहाँ पर वेश्या होती हैं, उसी प्रकार वहाँ पर जो देवागना होती हैं, उन्हें गणिका कहते हैं और उन मे जो प्रधान होती हैं उन्हें महत्तरी कहते हैं।

व्यन्तरो मे हर एक इन्द्र के सात सात प्रकार की सेनाएँ और प्रत्येक सेना के सात सात कक्ष (सेना) और होते हैं। सात प्रकार सेना के नाम हाथी, घोडे, प्यादे, रथ, गन्धर्व, नर्त्तकी और वृषभ ये हैं। इन सेनाओ मे एक महत्तर (प्रधान) होता है। उनके अनुक्रम से १, २ सुग्रीव, ३ निमल, ४ मरुदेव, ५ श्रीदामा, ६ दामश्री, और विशाल ये सात नाम हैं।

व्यन्तरों के इन्द्रो के नगर

अजनक, वज्रधातुक, सुवर्ण, मन:शिलक, वज्र, रजत, हिंगलुक और हरिताल-इन आठ द्वीपो मे क्रमसे किन्नरादि इन्द्रो के नगर बने हुए हैं। प्रथम इन्द्र के उत्तर मे और द्वितीय इन्द्र के दक्षिण मे नगर हैं। प्रत्येक इन्द्र के पाच पाच नगर हैं। एक मध्य मे और चार चारो दिशाओ मे होते है। मध्य मे जो नगर है, वह इन्द्र के नाम पर है और पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एव उत्तर मे जो नगर हैं उनके नाम इन्द्र के नाम के आगे क्रम से प्रभ, कान्त, आवर्त्त और मध्य ये लगादेने पर हो जाते हैं। जैसे किन्नरेन्द्र के पाच नगर उत्तर दिशा में हैं। उनमे जो बीच मे है, उसका नाम किन्नरपुर है। उसकी पूर्व दिशा मे किन्नरप्रभ नगर है, दक्षिण दिशा मे किन्नरकान्त नगर है, पश्चिम दिशा मे किन्नरावर्त्त नामक नगर और उत्तर दिशा मे किन्नरमध्य नामक नगर है। इसी प्रकार सब नगर इन्द्रो के नाम से होते हैं। इन्द्रों के ये सब नगर एक लक्ष योजन विस्तार वाले हैं और समतल भूमि पर हैं। न तो पर्वतादि ऊँचे प्रदेश पर हैं और न भूमि के नीचे हैं। उन नगरो के चारो ओर प्राकार (कोट) हैं। उनकी ऊँचाई साढे सैंतीस योजन, चौड़ाई साढे बारह योजन और मोटाई ढाई योजन है। इन कोटो के द्वारे (दर्वाजे) हैं, उनकी ऊँचाई साढे बासठ योजन और चौडाई सवा इकतीस योजन है। दर्वाजे पर पचहत्तर योजन प्रमाण ऊंचा सुन्दर प्रासाद है। उस प्रासाद के अभ्यन्तरभाग मे सुधर्मा नामकी सभा है। वह साढे बारह योजन लम्बी, सवा छह योजन चौडी और नव योजन ऊची है। उसका अवगाह (मूल-नींव) एक कोश प्रमाण है। इसी प्रकार सब इन्द्रो के नगर प्राकारादि की रचना व प्रमाण जानना चाहिए।

रत्नप्रभा पृथ्वी के खर भाग मे भूतो के चोदह हजार भवन हैं और पकप्रभा मे राक्षसों के सोलह हजार भवन हैं। व्यन्तर देवो की जो गणिका महत्तरी है, उसके नगर अपने २ इन्द्र सम्बन्धी द्वीपों मे हैं और अपने २ इन्द्रपुरों के दोनो पार्श्व भागों मे हैं। उनकी लवाई व चौडाई चौरासी लाख योजन प्रमाण है। शेष जो व्यन्तर हैं उनके नगर अनेक द्वीप व समुद्रों मे पाये जाते हैं।

वाणव्यन्तरों के भेद, आवासस्थान और उनकी आयु

उक्त भेदो के अतिरिक्त व्यन्तर देवो मे जो वाणव्यन्तर हैं, उनके स्थान पृथ्वी के ऊपर हैं। १ नीचोपपाद, २ दिग्वासी, ३ अन्तरनिवासी, ४ कुष्माण्ड, ५ उत्पन्न, ६ अनुत्पन्न, ७ प्रमाणक, ८ गन्ध, ९ महागन्ध, १० भुजंग, ११ प्रीतिक, और १२ आकाशोत्पन्न ये उनके नाम हैं। पृथ्वी से एक हाथ ऊपर क्षेत्र में नीचोपपाद वाणव्यन्तर हैं। उनके ऊपर दशहजार हाथ ऊचे क्षेत्र मे दिग्वासी वाणव्यन्तर देव हैं। उनके ऊपर दशहजार हाथ ऊचे क्षेत्र मे अन्तरनिवासी देव हैं। उनके ऊपर दशहजार हाथ ऊचे क्षेत्र मे कुष्माण्ड हैं। उनके ऊपर बीस हजार हाथ ऊचे क्षेत्र मे उत्पन्न वाणव्यतर हैं। इसी प्रकार अनुत्पन्नादि मे बीस बीस हजार हाथ का अन्तराल समझना चाहिए।

नीचोपपाद देवों की आयु दशहजार वर्ष, दिग्वासी देवों की बीसहजार, अन्तरनिवासी की तीस हजार, कूष्माण्ड देवों की चालीस हजार, उत्पन्न देवों की पचास हजार, अनुत्पन्न देवों की साठ हजार, प्रमाणक देवों की सत्तर हजार, गन्ध देवों की अस्सी हजार, महागन्ध देवों की चौरासी हजार, भुजग देवों की पल्य के आठवें भाग प्रमाण, प्रीतिक देवों की पल्य के चौथे भाग प्रमाण और आकाशोत्पन्न देवों की आधे पल्य प्रमाण आयु है।

व्यन्तरों के निलय

व्यन्तरों के निवास स्थानों के तीन नाम हैं—भवनपुर, आवास और भवन। उनमें से द्वीप समुद्रों में भवनपुर पाये जाते हैं जलाशय (सरोवर आदि) वृक्ष, पर्वत आदि में आवास और चित्रा पृथ्वी के नीचे भवन पाये जाते हैं। जो पृथ्वी से ऊंचे स्थान में निवास स्थान हैं–उन्हें आवास कहते हैं, जो पृथ्वी के नीचे हैं–उन्हें भवन और जो पृथ्वी के समतल प्रदेश पर हैं–उन्हें भवनपुर कहते हैं। ऐसे तीन प्रकार के निलय हैं।

व्यंतरों के रहने के क्षेत्र

चित्रा और वज्रा पृथ्वी के मध्य सन्धि से लेकर जितनी मेरुपर्वत की ऊँचाई है वहा तक, और तिर्यक्‌लोक का जितना विस्तार है वहाँ तक, विस्तृत क्षेत्र में व्यन्तरों के यथायोग्य भवनपुर या भवन या आवास हैं और उनमें वे निवास करते हैं।

कितने ही व्यंतरों के तो भवन ही हैं, तथा कितने ही के भवन और भवनपुर हैं। कई एक के भवन, पुर और आवास तीनों ही हैं।

असुरकुमार के सिवा अन्य कई एक भवनवासी देवों के भवन, भवनपुर या आवास तीन निलय पाये जाते हैं। इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि पृथ्वी के नीचे खरभाग और पंकभाग में तथा पृथ्वी से ऊपर पर्वतादि पर और समतल भूमि पर व्यन्तरों और भवनवासियों के स्थान पाये जाते हैं। जो उत्कृष्ट भवन हैं वे तो बारह हजार तीन सौ योजन ऊँचे हैं। तथा जितनी भवनों की ऊंचाई है, उसके तीसरे भाग प्रमाण ऊंचे कूट पाये जाते हैं और इन कूटों पर जिन मन्दिर हैं। उत्कृष्ट भवनों के चारों ओर आठ योजन ऊंची वेदी पाई जाती है तथा जघन्य भवनों के पच्चीस धनुष ऊंची वेदी होती है जैसे बाग बगीचे के चारों ओर दीवार होती है उसी प्रकार वेदी होती है।

गोल आदि आकारवाले जो पुर हैं, उनका क्रमसे उत्कृष्ट विस्तार लक्ष योजन प्रमाण है और जघन्य विस्तार एक योजन

प्रमाण है। तथा गोल आदि आकार वाले जो आवास हैं उनका उत्कृष्ट विस्तार बारह हजार दोसौ योजन है और जघन्य विस्तार पौन योजन है। भवन आवासादि के कोट, द्वार, नृत्यशाला इत्यादि पाये जाते हैं।

व्यन्तरों के आहार कुछ अधिक पॉच दिन बीतने पर होता है और उच्छ्वास कुछ अधिक पाँच मुहूर्त्त जाने पर होता है।

मध्यलोक

इस चित्रा पृथ्वी के एक हजार योजन नीचे से लेकर मेरु पर्वत की चूलिका तक मध्यलोक माना गया है। मध्यलोक की ऊंचाई मेरु प्रमाण है। इसका आशय यह है कि एक हजार योजन का उसका अवगाह है और एक हजार योजन कम एक लक्ष योजन प्रमाण यह चित्रा पृथ्वी के समतल से ऊंचा है, तथा चालीस योजन प्रमाण उसकी चूलिका है।

इस मध्यलोक मे ही ज्योतिष देवों के विमान हैं। इस चित्रापृथ्वी के समतल भूभाग से सातसौ निव्वे योजन से ज्योतिष देवों का निवास क्षेत्र प्रारभ होता है और नवसौ योजन पर उनका क्षेत्र समाप्त होता है। अर्थात् एकसौ दस योजन प्रमाण ऊंचे (मोटे) आकाश क्षेत्र मे ज्योतिष देवो के निवास (विमान) हैं। इसलिए इनका वर्णन भी इसी मध्यलोक मे आगे करेंगे।

यहाँ पर तिर्यक्लोक का संक्षिप्त निरूपण करते है।

जंबूद्वीप का वर्णन

इस लोक मे तिर्यक् असंख्यात द्वीप व समुद्र हैं। उन सब के मध्य मे एक लक्ष योजन के विस्तार (लम्बाई चौडाई) वाला जम्बूद्वीप है। उसके ठीक मध्य भाग मे मेरुगिरि है। उसकी दक्षिण दिशा से लेकर १ भरत, २ हैमवत, ३ हरि, ४ विदेह, ५ रम्यक, ६ हैरण्यवत और ७ ऐरावत ये सात वर्ष (क्षेत्र) हैं। इन क्षेत्रों (देशों) की सन्धि पर अर्थात् एक २ क्षेत्र के अनन्तर एक एक पर्वत है, जिन्हें कुलाचल कहते हैं। ऐसे कुलाचल छह हैं—१ हिमवान्, २ महाहिमवान, ३ निषध, ४ नील, ५ रुक्मी और ६ शिखरी। भरत और हैमवत क्षेत्र के मध्य मे (सन्धि पर) हिमवान् कुलाचल है। हैमवत और हरिक्षेत्र के बीच में महाहिमवान् कुलाचल है। हरिक्षेत्र और विदेहक्षेत्र की सन्धिपर निषधाचल है। इसी प्रकार सात क्षेत्रों की सन्धिपर छह कुलाचल हैं। क्षेत्रों का विभाग करने से इनको वर्षधर पर्वत भी कहते हैं।

कुलाचलों का विस्तार और वर्ण

हिमवान् आदि छहों कुलाचल मूल से लेकर ऊपर तक समान चौडाई वाले है। जसे महल भवनादि की दीवार नीचे से लेकर ऊपर तक समान चौडी होती है, वैसे ही ये छहों पर्वत नीचे, मध्य मे और ऊपर समान चौडे है। अन्य पर्वतो की तरह हीनाधिक विस्तार वाले नहीं है। उनके पार्श्व भाग (पसवाडे) विविध मणियो से विचित्र हैं। उनके दोनो तरफ के सिरे समुद्र को स्पर्श करते हैं। अर्थात जम्बूद्वीप के कुलाचलो के दोनो तरफ के तट लवण समुद्र को छूते हैं, तथा धातकीखंड के कुलाचलो के एक ओर के तट लवण समुद्र को और दूसरी ओर के तट कालोदधि को छूते है और पुष्करार्ध के कुलाचलो के एक ओर के तट तो कालोदधि को और दूसरी ओर के मानुषोत्तर पर्वत को छूते हैं।

इन पर्वतो के वर्ण क्रमश. हेम (सुवर्ण), अर्जुन (चादी), तपनीय (तपाहुआ सोना), वैडूर्य (नीलमणि), रजत (चादी) और सुवर्ण के समान हैं। अर्थात् हिमवान् सोने के समान, महाहिमवान् चॉदी के समान, निषध तपेहुए सोने के समान, नील वैडूर्यमणि के समान, रुक्मी चॉदी के समान और शिखरी सोने के समान पीतवर्ण है। हिमवान् एकसो योजन ऊचा, महाहिमवान् दोसौयोजन, निषध चारसौ योजन, नील चारसौ योजन, रुक्मी दोसो योजन और शिखरी एकसो योजन ऊचा है। इन पर्वतो की जितनी ऊचाई है उसके चतुर्थ भाग (चाथाई) अवगाह (भूमि के अन्दर) है।

कुलाचलों पर सरोवर

उक्त छह कुलाचलो के ऊपर क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ये ह्रद (सरोवर) हैं। इनका व्यास (चौडाई), आयाम (लम्बाई) और अवगाह (गहराई) अपने पर्वत की ऊॅचाई से क्रमश: पाँचगुणा, दशगुणा और दशवेभाग प्रमाण है। अर्थात् पद्मह्रद का व्यास (चौडाई) पॉचसौयोजन, आयाम (लम्बाई) एक हजार योजन और अवगाह (गहराई) दश योजन प्रमाण है। महापद्म ह्रद की चौडाई एक हजार योजन, लम्बाई दो हजार योजन व गहराई बीसयोजन प्रमाण है। तिगिंछ ह्रद की चौडाई दोहजार योजन, लम्बाई चारहजार योजन और गहराई चालीस योजन प्रमाण है। इसी प्रकार अपने २ पर्वत की ऊॅचाई से ह्रद की चौडाई पाचगुनी, लम्बाई दशगुनी और गहराई दशवे भाग प्रमाण समझना चाहिए।

सरोवरों के मध्य कमल और उन पर सपरिवार देवियाँ

उन ह्रदो के मध्य मे कमल है, ह्रदो की गहराई के दशवें भाग प्रमाण उनके कमलो की ऊचाई व चौडाई है। वे कमल पृथ्वीमय है। वनस्पति काय नहीं है। अर्थात् पद्मह्रद के कमल की ऊचाई व चौडाई एक योजन, महापद्म के कमल की दो योजन, तिगिंछ ह्रद

के कमल की चारयोजन। इसी प्रकार आगे के ह्रदों के कमलो की ऊचाई व चौडाई क्रमशः चार, दो और एक योजन प्रमाण है। ये कमल अपनी सुगन्ध से दशो दिशाओ को सुगन्धित करते हैं। इनकी नाल वैडूर्यमणि की बनी हुई है। उसकी ऊंचाई बियालीस कोश प्रमाण है। जिसमे से चालीस कोश प्रमाण नाल तो जल के भीतर रहती है और जलतल से ऊपर दोकोश ऊची है। तथा एक कोशमोटी है। इसके अन्दरका मृणाल तीनकोश का मोटा रूप्यमय श्वेतवर्ण है। कमल के ग्यारह हजार दल (पॉखुडियॉ) हैं। कमल की जितनी ऊंचाई व चौडाई है उसके अर्द्ध भाग प्रमाण नाल जल के ऊपर निकली हुई है। कमल की कर्णिका की चौडाई कमल की ऊचाई व चौडाई से आधी है और प्रत्येक दल की चौडाई उसके चतुर्थ भाग प्रमाण है। जैसे पद्मह्रद के कमल की ऊचाई व चौडाई एक योजन प्रमाण, अत. उसकी नाल उससे अर्ध (दोकोश) प्रमाण जल के ऊपर निकली है। उस कर्णिका की चौडाई दो कोश प्रमाण और उसका प्रत्येक पत्र एक २ कोश प्रमाण चौडा है। ऐसे ही अन्य ह्रदो मे समझलेना चाहिए।

पद्मह्रद के कमल की कर्णिका पर श्रीदेवी का रत्नमय प्रासाद है, जो शरद्-पूर्णिमा के चन्द्रमा की द्युति को लजाने वाला है। उसकी लम्बाई एक कोश, चौडाई आधे कोश और ऊचाई पौन कोश प्रमाण है। जिस प्रकार पद्मह्रद का वर्णन किया वैसाही महापद्मादि का हैं उनका प्रमाण यथासभव समझ लेना चाहिए।

पद्मह्रद के कमल की कर्णिका पर जसे श्रीदेवी निवास करती है, ऐसे शेष ह्रदों क कमल की कर्णिकाओं पर क्रमश. ह्री, धृति, कीर्त्ति, बुद्धि और लक्ष्मी देवी निवास करती हैं। इनकी आयु एक पल्य प्रमाण है। तथा एक एक कमल के परिवार रूप एक लाख चालीस हजार एकसौ पन्द्रह कमल उसी ह्रद मे स्थित हैं।

पद्मह्रद सम्बन्धी कमलों पर श्रीदेवी का परिवार स्थित है उसे दिखाते हैं।

मूल कमल के अग्निकोण, दक्षिण, और नैऋत्य दिशा मे जो कमल हैं उनपर श्रीदेवी के आदित्य, चन्द्र और जतु परिषद् के पारिषद्देव निवास करते है। आदित्य (आभ्यन्तर) परिषद् के पारिषद् देव बत्तीस हजार हैं। चन्द्र (मध्य) परिषद् के पारिषद्देव चालीस हजार और जतु (बाह्य) परिषद् के पारिषद्देव अडतालीस हजार हैं। एक एक पारिषद् देव के निवास के लिए एक एक कमल पर प्रसाद बने हैं। सात प्रकार की सेना के देवो के निवास करने के लिए मूल कमल से पश्चिमदिशा मे सात कमलो पर प्रासाद है तथा सामानिक देवो के कमल उत्तर दिशा के दोनो कोनों मे चार हजार हैं। और इन कमलो के अभ्यन्तर मूल कमल की तरफ एक एक दिशा में चार-चार हजार अंगरक्षको के कमलो पर मन्दिर (प्रासाद) हैं। प्रतीहार महत्तरो के एक सौ आठ कमल, उन अंगरक्षको के कमलो के अभ्यन्तर मूल कमल के निकट दिशा व विदिशा मे स्थित हैं।

ये सब परिवार-कमल भी मणिमय हैं। जलतल से ऊचे नहीं हैं। तथा परिवार-कमल की ऊँचाई, चौडाई आदि मूल कमल से अर्धप्रमाण जाननी चाहिए। अर्थात श्रीदेवी के प्रासाद की जितनी ऊँचाई-चौडाई आदि बतलाई गई है उससे आधी परिवार-कमलो की है।

श्री, ह्री व धृति ये तीन तो सौधर्म इन्द्र की देवियाँ हैं। और कीर्ति, बुद्धि व लक्ष्मी ये तीन ईशान इन्द्र की देवियाँ हैं।

ह्रदों से नदियों का उद्‌गम

उन ह्रदो से गगा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्या हरित, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा ये चौदह महानदियाँ निकली हैं। इनमे से दो दो नदियो के सात युगलों में पूर्व की (गंगा, रोहित, हरित, सीता, नारी, सुवर्णकुला, रक्ता) ये सात नदियाँ पूर्वदिशा की ओर मुख करके तथा शेप नदियाँ पश्चिम दिशा की ओर मुख करके क्षेत्रो के बीच मे स्थित पर्वतो की प्रदक्षिणा देकर समुद्र में मिली है।

उक्तनदियो के दोनो तट पुन्नाग, नागकेसर, सुपारी, अशोक, तमाल, कदली (केला), ताम्बूली, बडी इलायची, लवग, मालती आदि के वृक्ष आर लताओ से सुशोभित है।

आदि के पद्म ह्रद से गगा, सिन्धु और रोहितास्या ये तीन नदियाँ और अन्त के पुण्डरीक ह्रद से रक्ता, रक्तोदा और सुवर्णकूला ये तीन नदियाँ निकली है। शेप चार ह्रदो से दो दो नदियाँ निकली हैं। भरत व ऐरावत मे नाभिगिरि नहीं है, इसलिए इन क्षेत्रो में बहने वाली गगा, सिन्धु और रक्ता, रक्तोदा इन चारो नदियो को छोडकर शष नदियाँ क्षेत्र के मध्य में स्थित नाभिगिरि को आधायोजन छोड़कर समुद्र मे मिली है। विदेह क्षेत्र में मेरुपर्वत है, उसे यहाँ नाभिगिरि कहा है। हैमवत, हरिरम्यक और हैरण्यवत मे नाभिगिरि विद्यमान ही हैं। नदियाँ ह्रद से निकल कर नाभिगिरि के सम्मुख सीधी आकर, आधे योजन दूर से मुडकर नाभिगिरि की अर्ध प्रदक्षिणा करके समुद्र मे जा मिली हैं।

गंगा नदी के निकास और गमनादि

पद्म-ह्रद के पूर्वदिशा मे वज्र द्वार है, उससे गगानदी निकलकर हिमवान् पर्वत के ऊपर पूर्वदिशा की ओर पाँचसौ योजन जाकर हिमवान पर्वत पर स्थित जो गगा कूट है उससे आधा योजन पहले मुडगई है। वहाँ से दक्षिण दिशा की तरफ पाचसौ तेईस योजन और कुछ अधिक आधे कोश। जाकर पर्वत के तट पर पहुँची है। पर्वत पर गंगा नदी का व्यास सवा छह योजन प्रमाण है। जिस तट से गगा नदी नीचे गिरती है, उस तटपर मणिनिर्मित दो कोश लम्बी व ऊँची प्रणाली है। उस प्रणाली के मुख, कान, जीभ और नेत्र के आकार तो सिंह के समान हैं तथा भौंहें मस्तक आदि का आकार गौके समान है, इसलिए मुख्यरूप से प्रणाली को वृषभाकार कहते है। उससे गगा

नदी हिमवान् पर्वत से पच्चीस योजन की दूरी पर काहला के आकार होकर (क्रमशः चौडाई बढती हुई) दशयोजन की चौडाई को लिये हुए भरत क्षेत्र मे हिमवान् पर्वत के मूल मे दश योजन गहरे और साठ योजन चौड़े गोल कुण्ड मे गिरी है।

उस कुण्ड के बीच मे जल से ऊपर आधा योजन ऊँचा और आठ योजन चौडा गोल द्वीप है। उस द्वीप के मध्य मे वज्रमय दशयोजन ऊँचा एक पर्वत है। उसका व्यास (चौडाई) पृथ्वी पर चार योजन, मध्य मे दो योजन और अग्रभाग मे एक योजन प्रमाण है। उस पर्वत पर श्री देवी का मन्दिर है। जो नीचे तीन हजार धनुष, मध्य मे दो हजार धनुष और ऊपर मे एक हजार धनुष प्रमाण चौडा है और दो हजार धनुष ऊँचा है। उसका अभ्यन्तर का व्यास साढे सात सौ धनुष प्रमाण है। उस मन्दिर के द्वार की चौडाई चालीस धनुष और ऊँचाई अस्सी धनुष है। उस द्वार के वज्रमय दो कपाट हैं।

उक्त मन्दिर के मस्तक पर एक पार्थिव कमल है। उसकी कर्णिका पर सिंहासन है। उस पर जटा सहित जिनबिम्ब है। उस को अभिषेक करने के लिए ही मानों उसके मस्तक पर गगा का अवतरण हुआ है। अर्थात जिनबिम्ब के मस्तक पर गंगा नदी गिरती है।

कुड से निकल कर गगा नदी सीधी दक्षिण दिशा मे जाकर विजयार्ध पर्वत की खंडप्रपात नामा गुफा मे प्रवेश करती है। वहाँ यह आठ योजन चौडी होगई है और गुफा के उत्तर द्वार से बाहर निकली है। उक्त गुफा के पूर्व पश्चिम दिशा की दीवार के निकट दो कुण्ड हैं, उनसे दो योजन चौडी उन्मग्नजला और निमग्नजला नाम की दो नदियाँ निकली हैं और दोनो सीधी चलकर गगा नदी मे जा मिली हैं। गुफा की व गुफा के द्वार की ऊँचाई तो आठ आठ योजन की है, चोडाई बारह योजन की है और लम्बाई पचास योजन (विजयार्ध समान) है।

उक्त गुफा से निकल कर गंगा नदी दक्षिण भरत के अर्धभाग पर्यन्त सीधी दक्षिण की तरफ गई है और वहाँ से मुडकर पूर्व दिशा की ओर बहकर मागध नामक द्वार मे होकर लवण समुद्र मे मिली है।

सिन्धु नदी का निकास और गमनादि

गगा का जिस प्रकार वर्णन किया है उसी के समान सिन्धु नदी का वर्णन समझना चाहिए। केवल इतना अन्तर है कि सिन्धु नदी पद्मह्रद के पश्चिम द्वार से निकल कर पश्चिम की ओर बहकर सिन्धुकूट के पहले मुडकर पर्वत के निकट आकर कुड मे गिरी है। वहाँ से निकल कर विजयार्ध पर्वत की तमिस्रा नामक गुफा मे प्रवेशकर वहाँ से निकल जबूद्वीप के कोट के प्रभास नामक द्वार से पश्चिम समुद्र मे मिलती है।

शेष नदियों का वर्णन

रोहित नदी महापद्महद के दक्षिण द्वार से निकल कर सीधी महाहिमवान् पर्वत के तट पर्यन्त सोलह सौ पाँच योजन, उन्नीसवे भाग तक जाकर हैमवत क्षेत्र के कुंड मे पडी है। वहाॅ से निकलकर सीधी नाभिगिरि के आध योजन पहले से मुडकर पूर्व दिशा के सम्मुख होकर पूर्व समुद्र मे गिरी है। रोहितास्या नदी पद्महद के उत्तर द्वार से निकलकर सीधी हिमवान् के तट तक दोसौ छहत्तर योजन और छह उन्नीसवें भाग (२७६-६/१९) तक आकर हैमवत क्षेत्र मे कुंड मे पडी है। और वहाॅ से निकल कर सीधी नाभिगिरी के निकट आधे योजन की दूरी से मुडकर पश्चिम की ओर बहती हुई पश्चिम समुद्र में प्रवेश करती है। हरित नदी तिगिंछहद के दक्षिण द्वार से निकल कर सीधी निषध पर्वत क तट तक चवहत्तर सौ इकीस योजन, एक उन्नीसवें भाग तक जाकर हरि क्षेत्र के कुण्ड में गिरी है। वहाॅ से निकल पूर्व की भाॅति नाभिगिरी के समीपतक जाकर वहाॅ से मुडकर पूर्व दिशा की ओर बहकर पूर्व समुद्र मे जामिली है। हरिकान्ता नदी महापद्म हद के उत्तर द्वार से निकल सीधी महाहिमवान् के तटतक सोलह सौ पाचयोजन और पाॅच उन्नीसवे भाग (१६०५-५/१९) पर्यन्त जाकर हरिक्षेत्र के कुण्ड में गिरी है, वहाॅ से निकल कर सीधी पूर्ववत् नाभिगिरि के निकट जाकर और वहाॅ से पश्चिम दिशा की ओर बहती हुई पश्चिम समुद्र में प्रवेशकर गई है। सीता नदी केसरी हद के दक्षिण द्वार से निकलकर सीधी नील पर्वत के तट पर्यन्त चोहत्तर सौ इकीस योजन और एक के उन्नीसवें भाग तक जाकर विदेह क्षेत्र के कुड मे गिरी है। और वहाॅ से निकल कर सीधी मेरु गिरि के निकट तक जाकर उससे आधे योजन की दूरी से मुडकर पूर्वदिशा के सम्मुख होकर बहती हुई पूर्व समुद्र मे जाकर मिली है। सीतोदा नदी तिगिंछ हद के उत्तरद्वार से निकल कर सीधी निषधाचल के तट पर्यन्त चवहत्तर सौ इक्कीस योजन और एक के उन्नीसवें भाग तक जाकर विदेह क्षेत्र के कुड मे गिरी है। और वहाॅ से निकल कर सीधी पूर्ववत् मेरुगिरि के निकट तक जाकर और उससे आधे योजन दूर से मुडकर पश्चिम की ओर बहकर पश्चिम समुद्र मे मिली है। नारी नदी महापुडरीक हद के दक्षिण द्वार से निकल कर सीधी रुक्मी पर्वत के तट तक सोलह सौ पचास योजन, पाॅच उन्नीसवे भाग (१६०५-५/१९) पर्यन्त जाकर रम्यक क्षेत्र के कुड मे गिरी है और वहाॅ से निकल कर सीधी नाभिगिरि के निकट उरली तरफ से मुडकर पूर्व की ओर बहती हुई पूर्व समुद्र मे प्रवेश कर गई है। नरकान्ता नदी केसरीहद के उत्तर द्वार से निकल सीधी नील पर्वत के तट तक चवहत्तर सौ इक्कीस योजन और एक के उन्नीसवें भाग पर्यन्त जाकर रम्यक क्षेत्र के कुण्ड मे गिरी है। और वहाॅ से निकल सीधी नाभिगिरि के निकट उरली तरफ से मुडकर पश्चिम दिशा की तरफ बहती हुई पश्चिम मे जामिली है। स्वर्णकूला नदी पुण्डरीक हद के दक्षिण द्वार से निकल सीधी शिखर पर्वत के तट तक दोसौ छिहत्तर योजन, छह उन्नीसवें भाग (२७६-६/१९) पर्यन्त जाकर हेरण्यवत क्षेत्र के कुड मे गिरी है। और वहा से निकल सीधी नाभिगिरि के उरली ओर तक जाकर और वहाॅ से पर्वत के सम्मुख मुडकर बहती हुई पूर्व समुद्र मे प्रवेश कर गई है। रूप्यकूला नदी महापुण्डरीक हद के उत्तर द्वार से निकलकर रुक्मी पर्वत के तट तक सौलहसौ पाॅच योजन एवं उन्नीसवें भाग पर्यन्त जाकर हेरण्यवत क्षेत्र के कुड मे गिरी है। तथा वहाॅ स निकल सीधी नाभिगिरि के निकट जाकर उसके उरली तरफ से मुडकर

पश्चिम दिशा मे बहती हुई पश्चिम समुद्र मे मिली है। यहाँ पर्वत के ऊपर नदी के गमन करने का प्रमाण जम्बूद्वीप की अपेक्षा से कहा है। अन्यत्र धातकीखण्ड व पुष्करार्ध मे उनकी अपेक्षा से यथासंभव प्रमाण जानना चाहिए।

गंगा तथा सिन्धु का जैसा वर्णन कर आये है, वैसा ही वर्णन रक्ता व रक्तोदा का भी समझना चाहिए। केवल इतना विशेष है कि यहाँ पुण्डरीक ह्रद और शिखरी पर्वत समझना। प्रणाली आदि का सब वर्णन समान जानना। शेष नदियों, प्रणाली, कुंडादि के व्यासादि का प्रमाण भरत ऐरावत सम्बन्धी नदियो से अनुक्रम मे विदेह सम्बन्धी नदियों तक दूना दूना समझना।

नदियो का विस्तार

गंगा सिन्धु और रक्ता रक्तोदा इनकी चौडाई का प्रमाण ह्रद से निकलते समय सवाछह योजन है और समुद्र मे प्रवेश करते समय दशगुना होगया है। अन्य सब विदेह पर्यंत नदियों का क्रम से दूना दूना प्रमाण होता चलागया है। जैसे गंगा नदी का समुद्र में प्रवेश करते समय विस्तार (चौडाई) साढे बासठ योजन है। समस्त नदियों की गहराई अपने २ चौडाई के प्रमाण से पचासवें भाग है। जैसे गंगा नदी की गहराई आधे कोश प्रमाण है इसी प्रकार अन्य नदियो का समझना चाहिए।

नदियो के निकलने के ह्रद-द्वार, समुद्र मे प्रवेश करने के जम्बू द्वीपादि के कोट के द्वार, कुड मे निकलने के द्वार तथा अन्यत्र इन पर तोरण हैं, और उनपर जिनबिम्ब सहित दिक्कुमारियो के मन्दिर (प्रासाद) हैं।

उन तोरणों का विस्तार (चोडाई) अपनी २ नदियों के विस्तार प्रमाण है। तथा व्यास से डेढी ऊँचाई है। जैसे गंगानदी के निर्गम द्वार के तोरण की चौडाई का प्रमाण सवाछह योजन और ऊँचाई का प्रमाण नवयोजन तथा तीन के आठवें भाग प्रमाण है, और सर्वत्र तोरण का अवगाह (भूमि मे गहराई-नींव) आधे योजन प्रमाण है।

गगा और सिन्धु दोनों नदियाँ चौदह-चौदह हजार नदियों के परिवारवाली हैं। इनके आगे की नदियाँ प्रतिक्षेत्र मे अनुक्रम से विदेह क्षेत्र पर्यन्त दूनी दूनी होती चली गई है। विदेह क्षेत्र के उत्तर मे प्रतिक्षेत्र मे आधी-आधी हीन होती गई हैं।

भरतादि क्षेत्रों का विस्तार

जम्बूद्वीप के एकसौ नव्वे भाग प्रमाण अर्थात् पाँचसौ छब्बीस योजन और छह के उन्नीसवें भाग प्रमाण भरत क्षेत्र के विस्तार का प्रमाण है। क्रमसे इससे दुगुने दुगुने पर्वत क्षेत्रादि विदेह पर्यन्त हैं।

भावार्थ—भरत क्षेत्र से दूना हिमवान् पर्वत, हिमवान् से दूना हैमवत क्षेत्र, उससे दूना महाहिमवान् पर्वत, महाहिमवान् से दूना हरिक्षेत्र, हरिक्षेत्र से दूना निषध पर्वत, तथा निषध से दूना विदेह क्षेत्र है। विदेह क्षेत्र के विस्तार (चौडाई) का प्रमाण तेतीस हजार छहसौ चौरासी योजन और एक योजन की उन्नीस कला में से चार कला प्रमाण है। इसके बीच में सीता व सीतोदा नदी का प्रवाह है। इसलिए विदेह की चौडाई में से नदी की चौडाई को घटाने पर शेष का जो आधा प्रमाण रहता है वही बत्तीस विदेह क्षेत्र, सोलह वक्षार गिरी, बारह विभंगा नदी, देवारण्यादि वन इनकी लम्बाई प्रमाण है। विदेह का विष्कंभ (चौडाई) प्रमाण ३३६८४-४/१९ में से पाँचसौ योजन नदी का व्यास घटाने पर ३३१८४-४/१९ योजन रहे। इस का आधा करने पर सोलह हजार पाचसौ बानवें योजन और एक योजन के उन्नीस भागो में से दो भाग प्रमाण लम्बाई का प्रमाण होता है।

विदेह क्षेत्र के मध्य में स्थित मेरु का स्वरूप

मेरु पर्वत गोलाकार है और वह विदेह क्षेत्र के मध्य में स्थित है। उसकी ऊँचाई निन्यानवे हजार योजन प्रमाण है। मूलमें भूमिपर दशहजार योजन चौडा और ऊपर एक हजार योजन चौडा है। और उसकी ऊपर ऊपर कटनियाँ हैं, उन पर चार वन सुशोभित हैं।

भूमि पर भद्रशालवन है जो मेरु के मूल में भूमि पर चारों तरफ है। उससे पाचसौ योजन ऊपर जाकर एक कटनी मेरु के चहुँ ओर है, उस पर नन्दनवन है। वहाँ से साढे बासठ हजार योजन ऊपर जाकर कटनी है और उसपर सौमनसवन है। वहाँ से छत्तीस हजार योजन ऊपर जाकर एक कटनी है और उस पर पाण्डुक वन है। इनमें मन्दार, आम्र, चम्पा, चन्दन, घनसार, कदली, नारियल, सुपारी इत्यादि के सुन्दर वृक्ष सुशोभित हैं। इन से वे अत्यन्त रमणीय होरहे हैं। इस प्रकार जम्बूद्वीप सम्बन्धी मेरु की ऊँचाई आदि का वर्णन किया।

अन्य चार मेरु पर्वत-

धातकीखण्ड और पुष्करार्ध सम्बन्धी विजय, अचल, मन्दर और विद्युन्माली इन चारों मेरु पर्वतों के पृथ्वी पर भद्रशाल वन हैं। वहाँ से पाचसौ योजन ऊपर जाकर नन्दनवन है। वहाँ से पचपन हजार पाचसौ योजन ऊपर सौमनसवन है। तथा वहाँ से अठाईस हजार योजन ऊपर जाकर पाण्डुकवन है। इस प्रकार ये चारों मेरु चौरासी हजार योजन ऊँचे हैं। उक्त पाँचों मेरु की नींव एक हजार योजन प्रमाण है।

प्रत्येक मेरु के प्रत्येक वन की प्रत्येक दिशा में एक एक चैत्यालय है। इस तरह एक एक मेरु के प्रति सोलह चैत्यालय सुशोभित हैं। इन चैत्यालयों का वर्णन नंदीश्वरद्वीप का वर्णन करते समय करेंगे।

सुदर्शन मेरु के चारों गजदन्तों के मध्य चारों दिशाओं में भद्रशाल वन है, जो पूर्व पश्चिम दिशा में तो बाईस हजार योजन चौडा है और दक्षिण उत्तर में ढाईसौ योजन चौडा है। भद्रशालादि वन के बाह्य और आभ्यन्तर दोनों पार्श्व में वेदी है। जैसे बाग के चारों ओर कंगुरे रहित दीवार होती है वैसी ही वेदी है। वह वेदी एक योजन ऊँची, आधे योजन चौडी और पाव योजन नींव में है और सुवर्णमय है। तथा बडे २ घंटे और छोटी २ घंटिकाओं से अलंकृत सुन्दर २ तोरणों से संयुक्त बहुत द्वार वाली है।

सुमेरु पर्वत की चौडाई का क्रम

मेरु की भूमि तल से लेकर नन्दनवन तक क्रमशः चौडाई घटती गई है। यहाँ पर सर्वत्र चारों तरफ पाँचसौ योजन चौडी कटनी छूटी है, उस में नन्दनवन है। यहाँ दोनों तरफ की कटनी का एक हजार योजन प्रमाण मेरु की चौडाई घटी है इसलिए ग्यारह हजार योजन की ऊँचाई तक मेरु समान चौडा चलागया है। वहां तक चौडाई में कमी नहीं हुई है। उसके बाद पुनः क्रमशः घटता हुआ चलागया है। इसका गणित त्रैलोक्यसार ग्रन्थ से जानना।

मेरु नीचे से लेकर इकसठ हजार योजन की ऊँचाई पर्यन्त तो अनेक वर्णवाले नाना प्रकार के रत्नों से सुशोभित है और उसके ऊपर केवल सुवर्ण सदृशवर्ण से युक्त है।

नन्दनवन, सौमनसवन और पाण्डुकवन इन तीनों में चार चार भवन हैं, उनके अधिपति सौधर्म इन्द्र के सोम, यम, वरुण और कुवेर नामक चार लोकपाल हैं। ये पूर्वादि दिशा में रहते हैं और प्रत्येक लोकपाल के साढे तीन करोड साढे तीन करोड गिरिकन्या (व्यन्तरी) देवांगनाएँ पाई जाती हैं। इनमें से सोम और यम की आयु ढाई पल्य प्रमाण है तथा वरुण और कुबेर की आयु कुछ कम तीनपल्य प्रमाण है। सोमका लालवर्ण, यम का श्यामवर्ण, वरुण का कांचनवर्ण और कुबेर का श्वेतवर्ण है। और ये अनेक प्रकार के आभूषणों से भूषित रहते हैं। इन लोकपालों के स्वर्ग में निवास करने के विमान हैं और यहाँ मेरु के ऊपर भी उनके भवन पाये जाते हैं।

नन्दन वन के उक्त चारों भवनों के दोनों पार्श्वों में दो दो कूट बने हैं। सब कूट आठ हैं। प्रत्येक दिशा व विदिशा में चार चार सुन्दर वापिकाएँ हैं जो मणिमय तोरण और रत्नमय सोपान (सीडियों) से सुशोभित हैं। तथा हंस मयूर आदि यंत्रों से युक्त हैं। ये पचास योजन लम्बी, पच्चीस योजन चोडी और दश योजन गहरी है। इनके मध्य में सौधर्म और ऐशान के प्रासाद बने हुए हैं। स्वर्ग में सुधर्मा सभा में जैसे इन्द्र अपने परिवार सहित बैठता है, वैसे ही यहाँ पर जब आता है तब यहाँ भी सभा लगाकर बैठता है।

मेरु पर स्थित शिलाओं का वर्णन

मेरु पर पाण्डुक वन मे ईशानदिशा से लेकर चारों विदिशाओं मे क्रम से १ सुवर्ण समान वर्णवाली पाण्डुकशिला, २ रूप्य (चाँदी) समान वर्णवाली पाण्डुकम्बला शिला, ३ तपेहुए सुवर्ण समान वर्णवाली रक्ता शिला और ४ लोहित वर्णवाली रक्तकम्बला शिला-ये चार शिलाएँ हैं।

ये पाण्डुकादि शिलाएँ क्रमसे भरतक्षेत्र, पश्चिमविदेह, ऐरावत और पूर्वविदेह क्षेत्र मे उत्पन्न हुए तीर्थंकरों के जन्माभिषेक से सम्बन्ध रखती हैं। भरत क्षेत्र के तीर्थंकरो का पाण्डुकशिला पर, पश्चिमविदेह के तीर्थंकरों का पाण्डुकम्बला पर, ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकरों का रक्ताशिला पर और पूर्वविदेह क्षेत्र के तीथकरों का रक्तकम्बला पर जन्माभिषेक किया जाता है। ये शिलाएँ क्रमशः पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशा तक लम्बी हैं। ये सब अर्धचन्द्राकार हैं। सौ योजन लम्बी हैं। बीच मे पचास योजन चौडी व आठ योजन मोटी हैं। इन शिलाओं के ऊपर तीन २ गोल सिंहासन हैं—बीच मे श्रीमद्देवाधिदेव जिनेन्द्रदेव का सिंहासन है, उसकी दक्षिण दिशा मे सौधर्म इन्द्र का भद्रासन है और उत्तर दिशा म ऐशान इन्द्र का भद्रासन है। उन आसनो की ऊँचाई पाँचसौ धनुष, नीचे चौड़ाई पांचसौ धनुष, ऊपर चौड़ाई ढाईसौ धनुष प्रमाण है। और वे आसन पूर्वदिशा के सम्मुख हैं।

पाण्डुकवन के मध्य मेरु की चूलिका है जो वैडूर्यमणिमयी है। उसकी ऊँचाई चालीस योजन है। नीचे चौड़ाई बारह योजन और ऊपर चौड़ाई चार योजन प्रमाण है।

पर्वत, वापिका, कूट पाण्डुकादि-शिला ये सब नाना प्रकार की मणियों से निर्मित वन, वेदी और तोरण से संयुक्त हैं अर्थात् पर्वतादि के चहुँ ओर वन हैं उनके वेदिका है और वेदी के तोरण से अलङ्कृत द्वार पाये जाते हैं।

जम्बूवृक्ष का वर्णन

मेरु के उत्तर (नील पर्वत के पास दक्षिण की ओर जाती हुई सीता नदी के पूर्व तट व मेरु पर्वत से ईशान विदिशा मे) मे उत्तर कुरुनाम की भोग भूमि है उसमे जम्बू वृक्ष की स्थली है। जैसे यहाँ वृक्ष के थादला होता है वैसे ही जम्बूवृक्ष के चारों ओर गोलाकार स्थली समझना। यह मूल मे पाचसौ योजन चौड़ी है अन्त मे दो कोश प्रमाण मोटी है। मध्य मे आठ योजन ऊँची हैं, गोलाकार और सुवर्णमयी है। उस स्थली के बीच मे एक पीठ है। उसकी ऊँचाई आठ योजन है। चौड़ाई बारह योजन और ऊपर चार योजन है। उसस्थली के ऊपर के भाग मे बाहर की ओर वेढकर सुवर्ण के वलय समान आधे योजन ऊँची, एक योजन के सोलहवें भाग प्रमाण चौड़ी नानारत्नों से व्याप्त

बारह अम्बुजवेदिका हैं। अर्थात् स्थली के ऊपर पहली वेदी को बेढेहुए दूसरी वेदी है और दूसरी को बेढे हुए तीसरी है और तीसरी को बेढे हुए चौथी। इस प्रकार एक दूसरी को वेष्टित किये हुए बारह वेदियाँ हैं। बारह वेदियाँ चार चार द्वारों से संयुक्त हैं। बाह्य और आभ्यन्तर वेदी के बीच मे अन्तराल है। अतः बारह वेदियों के बीच मे ग्यारह अन्तराल समझने। उनमें से चौथे अन्तराल में एक मूल जम्बू वृक्ष है और चार जम्बू वृक्ष अन्य हैं। तथा अन्य अन्तरालों मे यथा संभव जम्बू वृक्ष हैं। सब मिलकर एक लाख चालीस हजार एकसौ बीस जम्बू वृक्ष हैं।

भावार्थ—उत्तरकुरु क्षेत्र के मध्य जम्बूवृक्ष की स्थली (थांवला) है जो तलभाग में पाचसौ योजन लम्बी चौडी है, जिसकी परिधि गोलाई चौडाई से कुछ अधिक तिगुनी है, और क्रमश.बाहरकी तरफ से घटती २ मध्य में बारह योजन मोटी और अन्त में दो कोश मोटी है और वह एक सुवर्ण की पद्मवर वेदी से वेष्टित है, उसके मध्य भाग में नानारत्नों से निर्मापित एक पीठ (पीढ़ा चौकी) है, जो आठ योजन लम्बा और चार योजन चौडा और चार योजन ही लम्बा है। उसको चारों ओर से बारह पद्मवेदिएँ बेढे हुए है। वह वेदिका एक दूसरी को वेढेहुए है। मुख्य पीठ के ऊपर एक दूसरा मणिमय उपपीठ है, जो एकयोजन लम्बा चौड़ा और दोकोश ऊँचा है। उस उपपीठ के मध्यभाग में सुदर्शन नाम का जम्बूवृक्ष है।

जिसकी जड़ आधे योजन भूमि में है, पीठ की भूमि से ऊपर उसका स्कन्ध दो योजन ऊँचा है और वह मरकतमणि निर्मित है, उस स्कन्ध के ऊपर वज्रमय आठ २ योजन लम्बी और आध २ योजन चौडी चार शाखाएँ (डालियाँ) हैं। अनेक प्रकार के रत्नों से निर्मित उसके उपशाखाएं (छोटी २ डालियाँ) हैं। प्रवाल (मूंगे) के समान वर्ण वाले उसके फूल हैं। तथा मृदंग के समान उसके फल पाये जाते हैं। यह जम्बू वृक्ष पृथ्वीकाय है, वनस्पतिकाय नहीं है। जामुन के वृक्ष का सा आकार है। इसलिए इसे जम्बू वृक्ष कहते हैं। यह जम्बू वृक्ष दश योजन ऊँचा है, मध्य में छह योजन और ऊपर में चार योजन चौडा है। यह मण्डलाकार है।

इस सुदर्शन नामक मूल वृक्ष की उत्तर दिशा वाली (नील पर्वत की ओर) शाखा पर श्री जिनचैत्यालय है। और बाकी तीन शाखाओं पर आदर व अनादर यक्षों (व्यन्तर देवों) के भवन हैं। इस मूल वृक्ष के अतिरिक्त जितने परिवार वृक्ष हैं उनपर आदर व अनादर के परिवार देवों के आवास स्थान हैं।

मेरु पर्वत के दक्षिण में देवकुरु नाम की भोग भूमि है, उसमे मनोज्ञ रजतमय शाल्मली वृक्षों की स्थली है। उसमें शाल्मली वृक्ष सपरिवार अवस्थित हैं। इसका समस्त वर्णन जम्बूवृक्ष के समान समझना चाहिए। इतना विशेष है कि उसके दक्षिण दिशा की शाखा पर जिनचैत्यालय है। शेष तीन शाखाओं पर गरुड कुमार के स्वामी वेणु और वेणुधारी देव के मन्दिर (भवन) हैं। और शाल्मली के परिवार वृक्षों पर इन्हीं देवों के परिवार-देवों के आवास स्थान हैं।

विदेह क्षेत्र

मेरु पर्वत के पूर्व दिशा और पश्चिम दिशा मे विदेह क्षेत्र है। पूर्व दिशा के विदह क्षेत्र को पूर्व विदेह और पश्चिम दिशा के विदेह क्षेत्र को पश्चिम विदेह कहते है। पूर्व विदेह क्षेत्र के मध्य भाग मे सीता नदी और पश्चिम विदेह क्षेत्र के मध्य भाग मे सीतोदा नदी वहती है। इस प्रकार इन दोनों नदियो के दक्षिण व उत्तर तट से चार विभाग होगये है। एक एक विभाग मे आठ आठ विदेह देश है। क्योकि पूर्व और पश्चिम म भद्रशाल की वेदी है। उसके आगे वक्षार पर्वत है, उसके आगे विभङ्गा नदी–इस प्रकार चार वक्षार पर्वत और तीन विभङ्गा नदी है और अन्त मे देवारण्य व भूतारण्य की वेदिका है। इस तरह भद्रशाल की वेदी, चार वक्षार, तीन विभङ्गा नदी, एक भूतारण्य या देवारण्य की वेदी–ऐसे नव हुए। इन नवो के बीच आठ देश एक विभाग के हुए। उसी प्रकार अन्य तीनें विभागो मे भी आठ आठ देश है। चारों विभागो के मिलकर विदेह सम्बन्धी बत्तीस देश होते है।

विदेह क्षेत्र मे सात प्रकार के काले वर्ण के मेघ है और बारह प्रकार के श्वेत वर्ण के द्रोण नामक मेघ है। ऐसे ये उन्नीस प्रकार के मेघ वर्षाकाल मे सात सात दिन तक वर्षा करते हैं। अर्थात् वहा पर वर्षाकाल मे एक सौ तेतीस दिन तक वृष्टि होती है।

विदह मे दुर्भिक्ष नहीं होता। १ अतिवृष्टि, २ अनावृष्टि, ३ मूषक, ४ टिड्डी, ५ सूवा, ६ स्वराष्ट्र और ७ परराष्ट्र इस प्रकार की ईति नहीं होती है। महामारी आदि प्राणि–समूह के नाशक रोग सर्वदा नही होते। जिनेन्द्र देव के सिवा अन्य देव कुदेव और जिन लिङ्ग के सिवा अन्य लिंगी (कुलिंगी) और जिनोक्त मत के अतिरिक्त अन्य मत (कुमत) वहाँ नहीं होता है। तथा वह देश सर्वदा केवली, तीर्थंकरादि, शलाका पुरुष और ऋद्धि धारक मुनियो के विहार से पवित्र रहते है।

विदेह के बत्तीस देशो मे से प्रत्येक देश मे तीर्थंकर, चक्रवर्ती, अर्धचक्री, नारायण और प्रतिनारायण एक एक हो तब उत्कृष्ट रूपसे पाच मेरु सम्बन्धी विदेह देशों मे एकसौ साठ होते हैं। और जघन्य रूप से सीता व सीतोदा नदी के दक्षिण और उत्तर तट में एक एक होते हैं। इस तरह एक मेरु की अपेक्षा चार और पॉच मेरु पर्वतों की अपेक्षा बीस होते हैं। अर्थात् बीस तीर्थंकर, बीसचक्री आदि तो सदा बने रहते है। तथा उत्कृष्ट रूप से पॉच भरत और पॉच ऐरावत क्षेत्र के दश और एकसौ साठ विदेह देश के मिलाकर कुल एकसौ सत्तर तीर्थंकरादि होते हैं।

विदेह क्षेत्र सम्बन्धी बत्तीस देशों के मध्य पूर्व-पश्चिम तक लम्बा विजयार्द्ध पर्वत है। चक्रवर्ती द्वारा विजय योग्य देश को अर्ध (आधे) करने वाले पर्वत को यहाँ विजयार्द्ध नाम से कहा है। भरत क्षेत्र मे जैसे गंगा, सिन्धु और ऐरावत क्षेत्र में जैसे रक्ता, रक्तोदा नदियाँ

विजयार्ध की गुफा मे से होकर निकली हैं वैसे ही प्रत्येक देश के दक्षिण विभाग मे गंगा, सिन्धु और उत्तर विभाग मे रक्ता, रक्तोदा नदी हैं। इस प्रकार प्रत्येक विदेह देश के छह खंड होगये हैं।

विजयार्ध शैल रजत (चाँदी) मय है। उस की ऊँचाई पच्चीस योजन प्रमाण है। भूमितल से लेकर दश योजन की ऊँचाई तक उसकी चौड़ाई बराबर पचास योजन की है। वहाँ पर दश दश योजन की उत्तर व दक्षिण मे दो कटनियाँ छूटी हैं। अतः मध्य मे तीस योजन की चौडाई रह गई है और उतनी चौडाई समान रूप मे दश योजन की ऊँचाई तक चली गई है। तथा वहाँ पर दश-दश योजन की उत्तर दक्षिण मे दो कटनियाँ और छूटी हैं, इसलिए मध्य भाग मे उसकी चौडाई दश योजन प्रमाण रह गई है और उतनी चौडाई पाँच योजन तक बराबर चली गई है। जो प्रथम कटनी उत्तर दक्षिण मे छूटी है, उस पर दो विद्याधर श्रेणियाँ हैं:—उत्तर श्रेणी व दक्षिण श्रेणी। उन दोनों श्रेणियो मे विद्याधरो के पचपन पचपन नगर हैं। जम्बूद्वीप के दोनो छोर पर जो भरत तथा ऐरावत क्षेत्र हैं, उनके विजयार्ध सम्बन्धी दक्षिण श्रेणी तथा उत्तर श्रेणी मे क्रमसे पचास व साठ नगर हैं।

विजयार्ध की दूसरी कटनी (श्रेणी) पर सौधर्म सम्बन्धी आभियोग्य जाति के देवो के मणि-निर्मित विचित्र नगर हैं और विजयार्ध के शिखर पर सिद्धायतनादि नवकूट हैं। उनमे जो पूर्ण भद्रनामक कूट है, उसपर विजयार्धकुमारपति देव का निवास है।

विजयार्ध पर्वत पर उत्तर व दक्षिण दोनों श्रेणियो मे एक सौ दश रत्नमय नगर हैं। उनमे (१) साधित (२) कुल और (३) जाति इन तीन विद्याओ से युक्त विद्याधर निवास करते हैं। जिसकी स्वयं साधना करते हैं, उस विद्या को साधित विद्या कहते हैं। जो पितृ कुल क्रम से चली आई है उसे कुल विद्या कहते हैं और जो मातृपक्ष (जाति) से चली आई हैं उसे जाति विद्या कहते हैं। विद्याधर इज्या, वार्त्ता, दत्ति, स्वाध्याय, सयम और तप इन षट्कर्म का आचरण करने वाले होते हैं। पूज्यपुरुषों की पूजा करने को इज्या कहते है। असिमषि कृषि आदि छह जीवन के उपायों को वार्त्ता कहते हैं। दान देने को दत्ति, शास्त्रो के पठन पाठनादि को स्वाध्याय, अविरति के त्याग करने को संयम और अनशनादि को तपश्चरण कहते हैं। वे विद्या की साधना विशेष करते हैं इसलिए उन्हे विद्याधर कहते हैं। उनकी अन्य सर्व क्रियाएँ भरतादि के मनुष्यवत् हैं।

वृषभाचल पर्वतो का वर्णन

विजयार्ध पर्वत के द्वारा किये गये छह खंडों मे कुलाचल, विजयार्ध और दोनो नदियों के मध्य वर्ती म्लेच्छ खण्ड के बहुमध्य भाग मे एक एक देश मे एक एक वृषभाचल है। अर्थात् विजयार्ध और दो दो नदियों के द्वारा प्रत्येक विदेह देश के छह छह खण्ड हुए हैं। उन में पाच म्लेच्छ खण्ड हैं और एक आर्य खण्ड है। पाँच म्लेच्छ खण्डो में से उत्तर के दो नदियों के मध्य वर्ती खण्ड मे वृषभाचल है

वह प्रत्येक देश में एक एक है। इस प्रकार पाँच मेरु सम्बन्धी पाँच विदेहों में एकसौसाठ और पाँच भरत और पाँच ऐरावत सम्बन्धी दश ऐसे सब मिलाकर एकसौ सत्तर वृषभाचल हैं। वे सब सुवर्ण वर्ण के हैं और मणिमय हैं। सब सौ योजन ऊँचे, पृथ्वी पर सौ योजन चौड़े और ऊपर पचास योजन चौडे हैं। उन पर भूतकाल सम्बन्धी चक्रवर्त्तियों के नाम हैं। जितने चक्रवर्त्ती उस उस क्षेत्र के होते हैं वे सब अपना नाम उस पर अङ्कित करदेते हैं।

राजधानियों का वर्णन

उपसमुद्र (खाडी) के निकट आर्यखण्ड (दक्षिण भाग में) है। उसमें क्षेमा, क्षेमपुरी आदि नाम की एक एक राजधानी नगरी है। उसमें चक्रवर्त्ती निवास करता है। वह बारह योजन लम्बी और नव योजन चौडी है। अढाई द्वीप सम्बन्धी सब मिलकर एकसौ सत्तर राजधानियाँ हैं। उनके द्वारों पर रत्नमय कपाट हैं। प्रत्येक नगरी के एक एक हजार बडे द्वार और पाँचसौ २ छोटे द्वार हैं। स्वर्णमय कोट हैं। नगर के अन्दर बारह हजार वीथियाँ (गलियाँ) हैं और एक एक हजार चौरहे बाजार हैं। नगर के बाहर तीनसौ साठ बाग-बगीचे हैं। नगर के मध्य श्री मज्जिनेन्द्रदेव के मन्दिर हैं और चक्रवर्त्ती के महल व अन्य समृद्ध जनों के प्रासाद हैं। वे सब रत्नमय सुशोभित हो रहे हैं।

नाभिगिरि का वर्णन

स्थिर भोगभूमि हैमवत, हरि, रम्यक और हैरण्यवत है। उनके मध्य में गोलाकार नाभिगिरि हैं। वे एक-एक हजार योजन ऊँचे और उतने ही नीचे से लेकर ऊपर तक चौड़े हैं। खडे किये गये ढोल के समान उनका आकार है। इस प्रकार पाँच मेरु सम्बन्धी कुल बीस नाभिगिरि हैं। वे श्वेतवर्ण के हैं और उनके शिखर पर सौधर्म और ऐशान इन्द्र के अनुचर देव निवास करते हैं।

कूटों का वर्णन

हिमवान् कुलाचल पर ग्यारह, महाहिमवान् के ऊपर आठ, निषध पर नव, नील पर नव, रुक्मी पर आठ, शिखरी पर ग्यारह तथा विजयार्ध पर नव नव कूट हैं। वे सब नीचे में अधिक चौड़े और ऊपर क्रमशः थोड़े थोड़े चौडे हैं। इनमें से जो पूर्व दिशा में कूट है उन पर जिन मन्दिर हैं और शेष कूटो पर देव और देवियाँ निवास करती हैं। ये गोल और रत्नमय हैं और अपने २ पर्वत की ऊँचाई के चौथे भाग प्रमाण ऊँचे हैं। इनकी भूमिपर चौड़ाई ऊँचाई के समान है और ऊपर में चौड़ाई नीचे से आधी रहगई है। सम्पूर्ण पर्वतों के मूल में, नीचे तथा ऊपर शिखरपर और ह्रदों के चारों ओर वन-खंड हैं। उनकी लम्बाई पर्वतों के समान है और चौड़ाई आधे योजन प्रमाण है। उनके चारों तरफ वेदी (कंगुरेरहित कोट) की चौडाई पाचसौ धनुष और ऊँचाई दो कोश है।

कालचक्र का परिवर्तन

विदेह क्षेत्र में सर्वदा चतुर्थकाल की प्रवृत्ति रहती है। हैमवत, हरि, रम्यक, हैरण्यवत, उत्तरकुरु और देवकुरु-ये भोग भूमियाँ हैं। केवल भरत और ऐरावत मे कालचक्र का परिवर्त्तन होता है। अत उनके अनुक्रम का प्रतिपादन करते हैं —

उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी काल और उनके छह २ भेद

अढाई द्वीप सम्बन्धी पॉच भरत और पॉच ऐरावत क्षेत्रों में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ये दो काल-चक्र परिवर्त्तन करते हैं। जिसकाल में जीवों की शरीर की ऊँचाई, आयु, शरीरबल आदि की क्रम से वृद्धि होती है, उसे उत्सर्पिणी काल कहते हैं और जिसमें इनकी क्रम से हानि होती है उसे अवसर्पिणी काल कहते हैं। इन दोनों के छह २ भेद हैं। १ सुषमासुषमा, २ सुषमा, ३ सुषमादु षमा, ४ दु.षमासुषमा, ५ दु षमा और ६ दु.षमा दु षमा (अति दु षमा) ये अवसर्पिणी काल के भेद हैं। इसके विपरीत क्रम को लिये हुए उत्सर्पिणी काल है। उसमे १ दु षमादु.षमा, २ दु षमा, ३ दु षमासुषमा, ४ सुषमादु षमा, ५ सुषमा और ६ सुषमासुषमा ऐसा क्रम होता है।

बीसकोडाकोडी (बीसकोटि-कोटि) सागर का एक कल्पकाल होता है। उसमे से दशकोटि-कोटि सागर का अवसर्पिणी काल और दशकोटि-कोटि सागर का एक उत्सर्पिणी काल होता है। इनके जो छह २ भेद कहे गये हैं उनमे सुषमासुषमा काल चार कोटि कोटि सागर का, सुषमा तीन कोटि-कोटि सागर का सुषमा दु षमा दो कोटि-कोटि सागर का दु षमा सुषमा बियालीस हजार वर्ष कम एक कोटि-कोटि सागर का तथा दु षमा इक्कीस हजार वर्ष का और दु षमादु षमा भी इक्कीस हजार वर्ष का होता है।

काल की अपेक्षा जीवों की आयु

उन मे से सुषमा सुषम नामक प्रथम काल सम्बन्धी जीवों की आयु प्रारंभ मे तीन पल्य की होती है और अन्त मे दो पल्य की होती है। शरीर की ऊंचाई प्रारम्भ मे छह हजार धनुष की और अन्त मे चार हजार धनुष की होती है। प्रारंभ में अष्टभक्ताहार (तीन दिन बीतने पर एक बार भोजन) करने वाले तथा अन्त मे षष्ठ भक्ताहार (दो दिन बीतने पर एक बार भोजन) करने वाले होते हैं। और उदय होते हुए सूर्य व सोने के समान वर्णवाले होते हैं।

सुषम नामक द्वितीय काल सम्बन्धी जीवों की आयु प्रारंभ मे दो पल्य और अन्त मे एक पल्य की होती है। शरीर की ऊँचाई प्रारंभ मे चार हजार धनुष और अन्त मे दो हजार धनुष की होती है। तथा प्रारंभ मे षष्ठ भक्ताहार (दो दिन मे बीतने पर एक बार

भोजन) करने वाले और अन्त मे चतुर्थ भक्ताहार एक दिन वीतने पर एक वार (भोजन) करने वाले होते हैं। चन्द्र व शंख के समान उनका वर्ण होता है।

सुपम दुःपम नामक तृतीय काल मे जीवों की आयु आदि मे एक पल्य की और अन्त में एक पूर्व कोटि की होती है। शरीर की ऊँचाई प्रारभ मे दो हजार धनुप की और अन्त मे पॉचसौ धनुप की होती है। प्रारभ मे एक दिन वीतने पर (दूसरे दिन) आहार करते है और अन्त में नित्य आहार करने वाले होते हैं। ये जीव हरित नील कमल के समान वर्ण वाले होते है।

दु पम सुपम नाम चतुर्थ काल के आदि मे पूर्व कोटि की आयु और अन्त मे एकसौ वीस वर्ष की होती है। प्रारभ मे नित्य आहार करने वाले और अंत मे दो वार भोजन आदि करने वाले होते हैं। शरीर की ऊँचाई प्रारभ में पॉचसौ धनुप और अन्त मे सात हाथ प्रमाण होती है तथा पॉचों वर्ण के शरीर वाले होते हैं।

दु:पम नामक पचम काल मे जीवों की आयु प्रारभ में एकसौ वीस वर्ष और अन्त में वीस वर्ष की होती है। प्रारभ में शरीर की ऊँचाई सात हाथ और अन्त में दो हाथ प्रमाण होती है। कान्ति हीन रुखे पॉचोंवर्ण के मिश्रित वर्ण वाले होते हैं।

दु:पम दु:पम नामक छठे काल के आदि में वीस वर्ष की आयु और अन्त में पन्द्रह वर्ष की आयु होती है। प्रारभ में दो हाथ प्रमाण शरीर की ऊँचाई होती है और अन्त में एक हाथ रह जाती है। वे जीव धुएँ के समान श्याम वर्ण युक्त होते हैं। और वे वारंवार आहार करने वाले होते हैं।

प्रथम काल के जीव वदरी फल (छोटे वेर) वरावर, दूसरे काल के जीव अक्षफल वरावर, तीसरे काल के जीव आँवले वरावर कल्प वृक्षों से प्राप्त दिव्य आहार करते हैं। वे मन्द कपायी होते हैं और मलमूत्रादि नीहार से रहित होते हैं। अर्थात् उनके मलमूत्रादि नहीं होते हैं।

कल्प वृक्षों के भेद

भोगभूमि में दश प्रकार के कल्प वृक्ष होते हैं। १ तूर्याङ्ग कल्पवृक्ष से सब प्रकार के वादित्र (वाजे) प्राप्त होते हैं। २ पात्रांग से सब प्रकार के पात्र (भाजन–वर्त्तन) मिलते हैं। ३ भूषणांग से अनेक प्रकार के भूषण उपलब्ध होते है। ४ पानांग से पीने की सब वस्तुऐं, ५ आहारांग से सब प्रकार के आहार, ६ पुष्पांग से सब प्रकार के पुष्प, ७ ज्योतिरंग से प्रकाश, ८ गृहांग से सब प्रकार के मकान-महल, ९ वस्त्रांग से वस्त्र और १० दीपांग से दीपक प्राप्त होते है। इस प्रकार कल्प वृक्षों के दश भेद है।

भोगभूमि का स्वरूप

दर्पण के समान मणिमय भोगभूमि है। वह चार अंगुल प्रमाण ऊँचे उत्तम रस और गंध युक्त कोमल तृणो से सुशोभित है और दुग्ध या इक्षुरस या जल अथवा मधु समान रस या घृत से परिपूर्ण वावडी और द्रह (सरोवर) से व्याप्त है।

वहाँ पर माता के गर्भ से एक साथ स्त्री पुरुष का युगल (जोडा) उत्पन्न होता है। वे युगल बालक जन्म दिन से लेकर सातदिन तक अपना अंगूठा चूसते है। फिर सात दिन में भूमि पर रेंगते हैं—पेट के बल चलते हैं। फिर सात दिन में लडखडाते चलने लगते हैं। तदन्तर सात दिन में स्थिरगति से चलने लगते हैं। उसके बाद सातदिन में कला गुण का ग्रहण करते हैं। पुन. सातदिन में यौवन अवस्था प्राप्त कर लेते हैं। पश्चात सातदिन में परस्पर का दर्शन व ग्रहण करते हैं। इस प्रकार उनचास दिनो में परिपूर्णता प्राप्त करलेते हैं।

ये युगल दम्पति होते हैं। इनके वज्रवृषभनाराच सहनन होता है, और समचतुरस्रसंस्थान होता है। वे मन्द कषाय वाले होते हैं अत· आर्य नाम के धारक होते हैं। इनको पंचेन्द्रियो के विषयों से अरुचि नहीं होती है। इनकी अनपवर्त्य आयु होती है। अर्थात् इनकी अकाल मृत्यु नहीं होती है। आयु के पूर्ण होने पर पुरुष तो छींक से और स्त्री जभाई से मृत्यु को प्राप्त होती हैं। इनका मृतक शरीर शरद् काल के मेघ समान विलीन होजाता है, इनके शरीर का अंश मात्र भी पडा नहीं रहता। ये मरकर देव पर्याय प्राप्त करते हैं। इनमे जो मिथ्या दृष्टि होते हैं वे तो भवनवासी, व्यन्तर या ज्योतिष देव होते हैं और जो सम्यग्दृष्टि होते हैं, वे सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में जन्म लेते है, अन्यत्र जन्म नही लेते है। इस प्रकार प्रथम काल की आदि मे उत्कृष्ट भोग भूमि होती है। क्रम से घटते घटते द्वितीय काल के प्रारंभ में मध्यम भोग भूमि होती है। और उससे भी क्रमश. घटते घटते तृतीय काल के प्रारंभ में जघन्य भोग भूमि होती है। इस प्रकार घटने का क्रम चलते हुए तृतीय काल के अन्त में कुलकर उत्पन्न होते हैं और फिर कर्म-भूमि का समय आता है।

कर्म-भूमि के प्रवेश का अनुक्रम और कुलकरो की उत्पत्ति

जब तृतीय काल पल्य के आठवें भाग प्रमाण शेप रहजाता है, तब कुलकर उत्पन्न होते हैं। वे चौदह होते हैं—१ प्रतिश्रुति, २ सम्मति, ३ क्षेमंकर, ४ क्षेमंधर, ५ सीमकर, ६ सीमंधर, ७ विमलवाहन, ८ चक्षुष्मान, ९ यशस्वी १० अभिचन्द्र, ११ चन्द्राभ, १२ मरुदेव, १३ प्रसेनजित और १४ नाभि। इन्ही चौदहवें नाभि कुलकर के पुत्र प्रथम तीर्थंकर श्री आदिदेव हुए। जो पहले पात्र दान के पुण्य से मनुष्य आयु का बन्ध करते है और पश्चात् क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं, वे ही जीव आकर कुलकर होते हैं। वे क्षत्रिय कुल में उत्पन्न होते है। यद्यपि प्रकट रूप मे क्षत्रियादि कुल की प्रवृत्ति तब तक नहीं होती तथापि भावी का भूत मे उपचार करके इन्हे क्षत्रिय कुल मे उत्पन्नका हुए कहा

जाता है। अथवा भाव में क्षत्रियत्व उनमें विद्यमान था अतः क्षत्रिय कुलोत्पन्न कहा है। उन कुलकरों में से कई तो जातिस्मरण ज्ञानवाले होते हैं और कई को अवधिज्ञान प्राप्त होता है।

प्रथम कुलकर की आयु पल्य के दशवें भाग प्रमाण होती है और आगे आगे के कुलकरों की आयु दश दश गुणी हीन है। अर्थात् प्रथम कुलकर की पल्य के दशवें भाग, दूसरे की पल्य के सौवें भाग, तीसरे की पल्य के हजारवें भाग इस क्रमसे घटते २ अन्तिम कुलकर नाभि महाराज की आयु पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण रह गई है।

एक कुलकर के मरने के पश्चात् जितना काल बीतने पर दूसरा कुलकर उत्पन्न होता है, उसको कुलकरों का अन्तराल कहते हैं। चौदह कुलकरों के तेरह अन्तराल होते हैं। उनमें से प्रथम अन्तराल पल्य के अस्सीवें भाग प्रमाण है। प्रथम कुलकर की मृत्यु होने के बाद पल्य के अस्सीवें भाग बीतने पर दूसरा कुलकर हुआ है। इसी प्रकार बारह अन्तराल दश दश गुणे भागहार से भाजित पल्य प्रमाण जानने चाहिए।

आदि के पांच कुलकर अपराधियों को 'हा' ऐसा वचन बोल कर दण्ड देते है। 'हा' का अर्थ है–हाय यह बुरा किया। उसके बाद के पाँच कुलकर 'हामा' बोलकर दण्ड देते हैं। अर्थात्–'हाय बुरा किया, मत करो। वे अपराधियों को ऐसा कहते है। इनके पश्चात् वृषभदेव सहित पाँच कुलकरों ने 'हामाधिक्' का दण्ड विधान नियत किया। इस का अर्थ है–हाय बुरा किया, मत करो, धिक्कार है तुम्हें।

चक्षुष्मान और यशस्वी के शरीर का वर्ण श्याम था, तथा प्रसेनजित और चन्द्राभ कुलकर के शरीर का वर्ण धवल और शेष कुलकरों के वर्ण सुवर्ण समान थे।

कुलकरों का कार्य

ज्योतिरंग जाति के कल्पवृक्षों के मन्द होजाने से सूर्य और चन्द्रमा दिखाई देने लगे। उनको देखकर प्रजा भयभीत हुई। प्रथम कुलकर ने प्रजा को समझा कर उसका भय दूर किया। दूसरे कुलकर ने ताराओं के दर्शन से उत्पन्न हुए प्रजा के भय को दूर किया। सिंह आदि जन्तुओं मे क्रूरता आने लगी। तब तीसरे कुलकर ने उनसे बचने का उपाय बतलाकर जनता को निर्भय किया। सिंहादि प्राणी अति क्रूर स्वभाव वाले होगये तब चौथे कुलकर ने उनको दण्ड देने का उपाय दिखलाकर लोगों को भयरहित किया। कल्पवृक्ष अल्पफल देने लगे तब प्रजा में परस्पर कलह होने लगा। पाँच कुलकर ने सीमा बाधें कर उनके झगडे दूर किये। जब कल्पवृक्ष अत्यन्त मन्द होने लगे तब प्रजा में उस मर्यादा मे भी झगडा होने लगा तो छठे कुलकर ने विशेष चिह्नादि द्वारा सीमा को दृढ़ करके झगडा मिटाया। सातवें कुलकर ने घोडे आदि की सवारी नियत की। आठवें ने बालक का जन्म होने के पश्चात् भी कुछ कालतक जब उसके माता-पिता जीवित रहने लगे और बालक का

मुख देखकर भय करने लगे तब उनके भय का निवारण किया। बालक के उत्पन्न होने के बहुत समय पश्चात् तक जब माता पिता जीवित रहने लगे तो उन्हें नवमे कुलकर ने बालक को आशीर्वादादि देना सिखलाया। बालक की उत्पत्ति होने के पश्चात् और भी अधिक काल तक माता-पिता जीने लगे तब दशवे कुलकर ने उनको बालक को चन्द्रमा दिखाना आदि केलि-क्रीडाएँ सिखलाई। बालक के जन्म के बाद माता-पिता बहुत अधिक काल तक जीवित रहने लगे तब प्रजा को भय उत्पन्न हुआ उसका निवारण ग्यारहवें कुलकर ने किया। बारहवें कुलकर ने जब जलवृष्टि से नदी जलाशय आदि हुए तो उनमें तिरने के उपाय व नाव आदि का विधान बतलाया। जब जरायु सहित बालक उत्पन्न होने लगे तब तेरहवें कुलकर ने जरायु का छेदन करना सिखलाया। अब नाल सहित बालक उत्पन्न होने लगे तो चौदहवें कुलकर ने नाल छेदन करना सिखलाया और इन्द्र धनुप, विद्युत् (बिजली) आदि होने लगे तब उनके देखने से उत्पन्न हुए प्रजा के भय को मिटाया, तथा फलो के आकारादि का ज्ञान और भोजन-विधि का ज्ञान कराया। इसके पश्चात् कर्मभूमि की प्रवृत्ति हुई।

तिरेसठशलाका पुरुष

श्री आदि ब्रह्मा ऋषभ देव तीर्थंकर ने नगर, ग्राम, पत्तनादि की रचना का ज्ञान, लौकिक कार्यों से सम्बन्ध रखने वाले शास्त्र, और असि मषि कृषि आदि जीवन के उपाय, और दयामूल धर्म की स्थापना की।

चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नव नारायण, नव प्रतिनारायण और नव बलभद्र ऐसे तिरेशठ शलाका पुरुप चौथेकाल मे उत्पन्न होते है।

तीर्थंकर के शरीरों की ऊँचाई व आयु का प्रमाण

आदि तीर्थंकर के शरीर की ऊँचाई पॉचसौ धनुप की होती है। द्वितीय तीर्थंकर से लेकर आठ तीर्थंकरो के शरीर की ऊँचाई पचास-पचास धनुप कम होती गई है। तथा दशमे तीर्थंकर से लेकर पॉच तीर्थंकरो की दश दश धनुप कम और पन्द्रहवें से लेकर आठ तीर्थंकरों की पॉच पॉच धनुप कम शरीर की ऊँचाई है। पार्श्वनाथ के नव हाथ और वर्धमान के सात हाथ शरीर की ऊँचाई है।

प्रथम तीर्थंकर की आयु चौरासी लाख पूर्व, दूसरे की बहत्तर लाख पूर्व, तीसरे की साठ लाख पूर्व, चौथे तीर्थंकर से लेकर पाँच तीथकरो की दशदश लाख पूर्व कम, नवें की दोलाख पूर्व, दशवें की एक लाख पूर्व वर्प की आयु है। ग्यारहवें से लेकर क्रम से चौरासीलाख बहत्तरलाख, साठलाख, तीसलाख, दसलाख, एकलाख, पिच्यानवे हजार, चौरासी हजार पचपनहजार, तीसहजार, दसहजार, एकहजार, एकसौ, और अन्तिम तीर्थंकर की बहत्तर वर्ष की आयु होती है।

तीर्थंकरों के अन्तराल

प्रथम तीर्थंकर के पश्चात् अगले तीर्थंकर जितने काल के बाद होते हैं उसे अन्तराल कहते हैं। ऐसे अन्तराल चौवीस तीर्थंकरों के तेईस होते हैं। प्रथम अन्तराल पचास कोटि सागर, तीन वर्ष, आठ महीने और एक पक्ष प्रमाण है। इतने काल के बीतने पर ऋषभदेव तीर्थंकर के पश्चात् अजितनाथ तीर्थंकर हुए। इसके बाद दूसरे से लेकर चौथे अन्तराल का काल क्रम से तीस लाख कोटि सागर, दशलाख कोटि सागर, नवलाख कोटि सागर है। इस के बाद पाँचवें अन्तर से लेकर पाँच अन्तरालों में क्रम से प्रत्येक अन्तराल दशवें-दशवें भाग प्रमाण है। अर्थात् क्रमसे निब्बे हजार कोटि, नवहजार कोटि, नवसौ कोटि, निब्बेकोटि और नव कोटि सागर प्रमाण अन्तराल है। इसके अनन्तर दशवाँ अन्तराल एकसौ सागर और छियासठ लाख छब्बीस हजार वर्ष हीन एक कोटि सागर प्रमाण है। इसके बाद ग्यारहवें आदि अन्तराल क्रमश चौवन सागर, तीस सागर, नव सागर, चार सागर प्रमाण है। पन्द्रहवाँ अन्तराल पौन पल्य हीन तीन सागर प्रमाण है। सोलहवाँ अन्तराल आधे पल्य का है। सत्रहवाँ हजार कोटि वर्ष हीन चौथाई पल्य प्रमाण है। इसके बाद अठारहवें आदि अन्तराल हजार कोटि वर्ष, चौवन लाख वर्ष, छह लाख वर्ष, पाँचलाख वर्ष, तियासी हजार सातसौ पचास वर्ष प्रमाण है। और अन्तिम तेईसवाँ अन्तराल तीन वर्ष आठ महीने व एक पक्ष हीन दौसौ पचास वर्ष का है। अर्थात् दोसौ छियालीस वर्ष, तीन मास और एक पक्ष प्रमाण अन्तराल है। ये सब अन्तराल एक के मोक्ष काल से लेकर दूसरे के मोक्ष काल तकके हैं, जन्मादि की अपेक्षा से नहीं हैं। अर्थात् ऋषभ देव के मोक्ष गमन से अजित नाथ के मोक्षगमन तक मध्य काल प्रथम अन्तराल है। इसी प्रकार सब अन्तरालों में समझ लेना चाहिए।

इन अन्तरालों में अपनी अपनी आयु के काल को घटाने पर पूर्व तीर्थंकर से आगे के तीर्थंकर का अन्तराल होता है। जैसे प्रथम अन्तराल में से अजित नाथ की आयु को घटा देने से प्रथम जिनेन्द्र के मोक्ष जाने और द्वितीय तीर्थंकर के जन्म लेने के बीच का अन्तरकाल निकलता है। ऐसे ही अन्य का भी जान लेना चाहिए।

श्री महावीर जिनेन्द्र का तीर्थंकाल इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण दुषम और उतना ही दुःषम दुःषम है। यह सब मिलाकर बियालीस हजार वर्ष प्रमाण है।

तीसरे काल के तीन वर्ष आठ महीने और एक पक्ष शेष रहने पर प्रथम तीर्थंकर मोक्ष गये और चौथे काल के उतने ही (तीन वर्ष आठ मास और एक पक्ष) बाकी रहने पर श्रीमहावीर भगवान सिद्ध हुए।

जिनधर्म का उच्छेद-काल

पुंष्पदत और शीतलनाथ के अन्तराल में पाव पल्य, शीतल नाथ और श्रेयोनाथ के अन्तराल में आधा पल्य, श्रेयोनाथ और

वासुपूज्य के अन्तराल मे पौन पल्य, वासु पूज्य और विमलनाथ के अन्तराल मे एक पल्य, विमलनाथ और अनन्तनाथ के अन्तराल में पौन पल्य, अनन्तनाथ और धर्मनाथ के अन्तराल मे आधा पल्य, धर्मनाथ और शान्तिनाथ के अन्तराल मे पाव पल्य तक धर्म का उच्छेद (अभाव) चतुर्थ काल मे रहा। उक्त समय मे जिन धर्म के वक्ता, श्रोता, आचरण कर्त्ता के अभाव से समीचीन जिनधर्म का अस्तित्व नहीं रहता है।

शक और कल्की की उत्पत्ति।

श्री वर्धमान जिनेन्द्र के मोक्षजाने के पश्चात् छहसौ पॉच वर्ष और पॉच महीने बीतने पर शक (विक्रम) राजा उत्पन्न होता है। और उसके अनन्तर तीनसौ चौरानवे वर्ष और सात महीने बीतने पर कल्की का जन्म होता है।

नियत भोग भूमियॉ

भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्र के अतिरिक्त सब भोग भूमियॉ है। उनमे देवकुरु और उत्तरकुरु ये दो उत्कृष्ट भोग भूमियॉ है। ये मेरु के निकट दक्षिण और उत्तर में हैं। इनकी परिस्थिति-जीवों की आयु, शरीरादि सब रचना प्रथम काल के आदि के समान सदा रहती है। हरिक्षेत्र और रम्यकक्षेत्र मे दूसरे काल के समान सब रचना प्रवृत्त होती है। ये मध्यम भोग भूमियाँ हैं। इनमे सर्वदा दूसरा काल (सुषम) रहता है। हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्र मे सदा तीसरा काल (सुषमदु षम) रहता है। और विदेह क्षेत्र मे सदा चतुर्थ काल अवस्थित है।

भरत और ऐरावत सम्बन्धी पॉच-पॉच म्लेच्छ खण्डों मे और विजयार्ध पर्वत पर विद्याधरो की श्रेणियो मे दु षम सुषम काल की आदि से लेकर उसी के अन्ततक जैसी हानि वृद्धि होती है वैसी हानि वृद्धि होती रहती है। अत अवसर्पिणीकाल मे तो चतुर्थ काल की आदि से लेकर अन्त पर्यन्त आर्य खड के अनुक्रम से आयु आदि की हानि होती है। वहॉ पर पचमकाल व छठा काल नहीं वर्त्तता है। तथा प्रथमादिकाल की भी प्रवृत्ति नहीं होती है। भाव यह है कि आर्यखण्ड मे प्रथमादि काल की प्रवृत्ति जिस समय होती है उस समय में भी उक्त म्लेच्छखडादि मे प्रथमादिकाल की प्रवृत्ति नहीं होती है, किन्तु अवसर्पिणी काल मे उस के चतुर्थ काल की आदि से अन्ततक और उत्सर्पिणी काल मे उसके तृतीय काल की आदि से लेकर अन्त पर्यन्त आर्य खड मे हानि वृद्धि जैसी होती है उसी के अनुसार वहॉ पर आर्य खण्ड मे अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी मे हानि वृद्धि होती है। अर्थात् वहा पर एक रूप वर्त्तना है।

देवगति मे सुषम-सुषम काल के समान सदा सुख की प्रवृत्ति होती है और नरकगति मे दु षम दु षम काल के समान सदा दु खमय प्रवृत्ति रहती है। मनुष्यगति और तिर्यंचगति मे छहो काल की प्रवृत्ति होती है।

स्वयभूरमण नामक द्वीप के मध्य मे चारो ओर मानुषोत्तर पर्वत के समान स्वयंप्रभ पर्वत है इसमे उसके दो भाग होगये हैं। उन मे से स्वयंभूरमण द्वीप के अग्रिमभाग मे तथा स्वयंभूरमण समुद्र मे दु षमकाल की सी सदा प्रवृत्ति रहती है। कुमनुष्य भोग भूमि जो समुद्र मे हैं वहाँ तीसरे काल के समान प्रवृत्ति है।

कुभोग भूमि कहाँ कहाँ हैं ?

लवण समुद्र के अभ्यन्तर आठ दिशाओ मे आठ, और उनके मध्य मे आठ, तथा हिमवान् और शिखरी एव भरत और ऐरावत के दोनो विजयार्ध के अन्तिम तटों पर आठ, इस प्रकार चौबीस द्वीपस्थ कुभोग भूमियॉ है। तथा लवण समुद्र के बाह्यतट पर उक्त प्रकार चौबीस कुभोग भूमियॉ लवण समुद्र सम्बन्धी हैं। और कालोदधि मे भी लवण समुद्र समान अडतालीस कुभोग भूमियॉ है। ये कुभोग भूमियॉ द्वीपो पर हैं।

जो दिशा सम्बन्धी द्वीप है, वे जम्बूद्वीप की वेदिका से पॉचसौ योजन दूरपर समुद्र मे स्थित हैं। विदिशाओं और अन्तर (मध्य) के जो द्वीप हैं वे वेदिका से साढे पाचसो योजन दूर पर अवस्थित हैं। और जो पर्वतों के अन्तिम तट पर अवस्थित हैं वे छहसौ योजन दूर पर हैं। दिशाओं के द्वीप सो योजन चोडे, विदिशाओं के पचास योजन और शैलान्त द्वीप पच्चीस योजन चौडे हैं। पूर्व दिशा सम्बन्धी द्वीपवर्त्ती कुभोग भूमि मे मनुष्य एक टागवाले, पश्चिम मे पूछवाले, उत्तर मे गूंगे और दक्षिण मे सींगवाले हैं। विदिशाओं मे खरगोश के समान कान, पूडी के समान कान, ओढने के वस्त्र समान कान और लम्बे कान वाले हैं। अन्तराल (दिशाविदिशा के मध्य) वर्त्ती द्वीपों मे अश्व, सिंह, कुत्ते, भैसे, शूकर, व्याघ्र, काक, घूक (उल्लू) और कपि के समान मुखवाले मनुष्य है। शिखरी पर्वत के दोनों तटों पर मेघ और बिजली के समान मुखवाले मनुष्य हैं। हिमवान् पर्वत के दोनों अन्तिम तटोपर मत्स्य (मच्छ) मुख और काल मुख हैं। उत्तर विजयार्ध के दोनों अन्त तटों पर हस्ति समान और आदर्श (दर्पण) समान मुखवाले हैं। और दक्षिण विजयार्ध के आखिरी तटों पर गोमुख मेघमुखवाले मनुष्य हैं। उनमे जो एक टागवाले हैं वे गुफाओं मे निवास करते हैं और अतिमिष्ट मृत्तिका का आहार करते हैं। शेष सब पुष्प व फल का आहार करते हैं और वृक्षो पर निवास करते हैं। सब कुभोग भूमि के मनुष्यों की आयु एकपल्य प्रमाण होती है।

कुभोगभूमियों में जन्म लेने वाले जीव

जो जीव जिन लिंग (मुनि भेष) धारण करके मायाचार करते है। ज्योतिष, मन्त्र वैद्यक आदि से आहारादि रूप आजीविका करते है, रुपया पैसा आदि धन चाहते है, ऋद्धि, यश, साताखप गोरव से सयुक्त है, आहार, भय मैथुन और परिग्रह सम्बन्धी संज्ञा (वांछा)

रखते हैं, गृहस्थों के परस्पर विवाह सम्बन्ध का मेल मिलाते हैं, सम्यग्दर्शन की विराधना करते हैं, अपने व्रतादि में लगे हुए दोषों की गुरु के निकट आलोचना नहीं करते हैं, अन्य जीवों को दोष लगाते हैं, या जो मिथ्यादृष्टि पंचाग्नि आदि तप करते हैं, मौन रहित भोजन करते हैं वे कुभोग भूमि में जन्म लेते हैं। इसी प्रकार जो गृहस्थ दान देने के अयोग्य अवस्था (सूतकादि अवस्था) में दान देते हैं तथा कुपात्रों को दान देते हैं वे भी उक्त कुभोग भूमि में जन्म लेते हैं।

धातकी खंड और पुष्करार्ध द्वीपों की रचना

जम्बूद्वीप से चतुर्गुण विस्तार वाला (चारलाख योजन) धातकी खंड है। उसमें जम्बूद्वीप से दूनी रचना है। और उतनी ही रचना पुष्करार्ध द्वीप में है। इन दोनों द्वीपों के मध्य में उत्तर दक्षिण तक लम्बे दो दो इष्वाकार पर्वत हैं जो सुवर्णमय हैं। पूर्व पश्चिम में एक हजार योजन चौड़े हैं और चारसौ योजन ऊंचे हैं और उत्तर दक्षिण में अपने अपने द्वीपसमान क्रमसे चार लाख और सोलह लाख योजन प्रमाण लम्बे हैं। एक एक क्षेत्रादि की रचनारूप वसती के धारक हैं।

धातकी खंड और पुष्करार्ध में दो दो मेरु हैं। बारह २ कुलाचल और चौदह २ क्षेत्र आदि हैं। अर्थात् पर्वत व क्षेत्रादि संख्या में जम्बूद्वीप से दुगने २ हैं। विस्तार में क्रमसे दुगने २ और अठगुने २ हैं। और ऊँचाई और गहराई आदि में जम्बूद्वीप के कुलाचल ह्रदादि के समान ही हैं। धातकी खंड और पुष्करार्ध के क्षेत्र और कुलाचलों का आकार पहिये के अरछिद्र और अरकाष्ठ के आकार के समान हैं। अरछिद्र के आकार के समान क्षेत्र हैं और अरकाष्ठ के आकार के समान कुलाचल हैं। धातकी खंड में पृथिवी कायिक रत्नमय धातकी वृक्ष हैं और पुष्कर हैं। उनका वर्णन जम्बूद्वीप स्थित जम्बूवृक्ष के समान जानना चाहिए।

लवण समुद्र के पाताल

जम्बूद्वीप की चारों ओर की वेदिका से पिच्यानवे हजार योजन दूर लवण समुद्र में जाकर चारों दिशाओं में चार महापाताल हैं। उनके तल व पार्श्व भाग वज्रमय हैं। प्रत्येक एक लाख योजन के गहरे हैं और मध्य भाग में उतने ही (एक लाख योजन प्रमाण) चौड़े, तथा मूल में मुख भाग में दशहजार योजन चौड़े हैं। पूर्व दिशा में पाताल, पश्चिम में वडवामुख, उत्तर में यूपकेसर और दक्षिण में कलंबुक नामक महापाताल हैं। इनमें से प्रत्येक के नीचे के तृतीय भाग में वायु भरा है। मध्य के तृतीय भाग में वायु और जल है और ऊपर के तृतीय भाग में केवल जल है। रत्नप्रभा पृथ्वी के खरभाग में भवनवासी देवों के भवन हैं। वहाँ पर वातकुमार देव और उनकी देवांगनाएँ क्रीडा करती हैं। उससे वायु में क्षोभ उत्पन्न होता है। उस क्षुब्ध वायु के निमित्त से पातालों के वायु और जलका निष्कासन व प्रवेश होता है।

उसके निमित्त से जल वृद्धि होती है। तथा पाताल मे वायु के वेग का शमन होजाने पर जल हानि होती है। अर्थात् जल समान स्थिति मे आजाता है। चारों पातालों मे एक दूसरे का अन्तर दो लाख सत्ताईस हजार सात सौ योजन और कुछ अधिक तीन कोश प्रमाण है।

उन महापातालो के मध्य मे चारों विदिशाओं मे चार क्षुद्रपाताल है। उनकी गहराई दश २ हजार योजन है तथा मध्य मे इतने ही चौडे हैं। और मूल और ऊपर मुख मे एक एक हजार-योजन चौडे हैं। महापातालों की तरह उनके नीचे के तृतीय भाग मे वायु है, मध्य के त्रिभाग मे वायु और जल है तथा ऊपर के त्रिभाग मे जल है।

उक्त आठों दिशा व विदिशा मे स्थित पातालों के अन्तरालो मे एक हजार क्षुद्रपाताल है। वे प्रत्येक एक एक हजार योजन के गहरे और मध्य मे उतने ही चौडे हैं तथा मूलतल मे व ऊपर मुख मे पॉच पॉच सौ योजन चौडे है। उनके भी पूर्व की तरह तीन भाग हैं। पहले (नीचे) के त्रिभाग मे वायु, मध्य के त्रिभाग मे वायु और जल तथा ऊपर के त्रिभाग मे जल है।

भावार्थ—लवण समुद्र का जल समभूमि से ग्यारह हजार योजन ऊचा है और पूर्णिमा को वह सोलह हजार योजन ऊँचा हो जाता है। कारण यह कि पातालों के मध्य त्रिभाग मे नीचे पवन और ऊपर जल है। सो कृष्णपक्ष मे प्रतिदिन पवन की जगह जल होता जाता है और शुक्ल पक्ष मे जल की जगह पवन होजाता है। इसलिए शुक्लपक्ष मे जल अधिक ऊँचा होता २ पूर्णिमा के दिन सोलह हजार योजन ऊँचा हो जाता है। और कृष्णपक्ष में घटता घटता अमावस्या के दिन अपनी समान स्थिति में आजाता है। अर्थात् समतल भूमि मे ग्यारह हजार योजन ऊँचा रहता है। यह इसकी स्वाभाविक स्थिति है। इसका विशेष वर्णन त्रिलोकसार आदि ग्रन्थों से जानना।

अन्य द्वीप व समुद्र

इस मध्य लोक मे असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। उनकी संख्या अढाई उद्धार सागर प्रमाण है। (दश उद्धार पल्य का एक उद्धार सागर होता है)। इन अढाई उद्धार सागर प्रमित द्वीप समुद्रों मे १ जम्बूद्वीप २ धातकीखण्ड, ३ पुष्करद्वीप, ४ वारुणिवर, ५ क्षीरवर, ६ घृतवर, ७ क्षौद्रवर (मधुवर) ८ नन्दीश्वर, ९ अरुणवर, १० अरुणाभास, ११ कुण्डलवर, १२ शंखवर, १३ रुचकवर, १४ भुजगवर १५ कुशगवर, १६ क्रौंचवर आदि असंख्यात द्वीप हैं।

जम्बूद्वीप को चारों तरफ से लवण समुद्र वेढे हुए है, धातकी खण्ड को कालोद समुद्र वेढे हुए है, पुष्कर द्वीप को पुष्कर समुद्र वेढे हुए है। इस प्रकार उत्तरोत्तर द्वीप व समुद्र एक दूसरे को वेढे हुए हैं। आगे के सब समुद्रों के नाम पूर्व-पूर्ववर्ती द्वीपों के समान हैं। जैसे पुष्कर द्वीप-पुष्कर समुद्र, वारुणि द्वीप-वारुणि समुद्र इत्यादि।

जम्बूद्वीप एकलाख योजन प्रमाण चौडा है और गोल है। उससे आगे द्वीप व समुद्र दूने दूने चौडे और पूर्व-पूर्व को घेरे हुए तथा गोल आकार के धारक हैं।

समुद्रों के जल का रसास्वाद

लवण समुद्र, वारुणि, क्षीरसागर, घृतवर, ये चार समुद्र अपने नामके अनुरूप स्वाद वाले हैं। लवण समुद्र में जल लवणसा खारे स्वाद वाला है, वारुणिसमुद्र में मदिरा के समान स्वाद वाला जल है, क्षीरसागर में दुग्धसमान रसवाला जल है और घृतवर में घृतसमान रस का धारक जल है। कालोद, पुष्कर और स्वयंभूरमण इन तीन समुद्रों में जल के समान स्वादवाला जल है। इनके अतिरिक्त सम्पूर्ण समुद्रों के जल का स्वाद इक्षु (ईख-साठे) के रस के समान है।

लवणसमुद्र, कालोदसमुद्र तथा अन्तिम स्वयभूरमण समुद्र में जलचर मत्स्यादि जीव पाये जाते हैं। क्योंकि ये तीनों समुद्र कर्म भूमि सम्बधी हैं। शेष समस्त समुद्रों में जलचर जीव नहीं हैं, क्योंकि वे भोगभूमि सम्बन्धी हैं और भोगभूमि में जलचर जीव नहीं होते हैं।

पुष्कर द्वीप के मध्य (बीचोबीच) वलयाकार गोल मानुषोत्तर पर्वत है। उसके भीतर-भीतर अर्थात् ढाई द्वीप और दो समुद्रों में ही मनुष्य पाये जाते हैं। मानुषोत्तर पर्वत को लांघकर बाहर जाने की मनुष्य में सामर्थ्य नहीं है।

मानुषोत्तर पर्वत के परे और स्वयभूरमण द्वीप के मध्य में स्थित स्वयप्रभ पर्वत के भीतर अर्थात् आधे स्वयभूरमण द्वीप तक भोगभूमिया तिर्यंच हैं। जैसे पुष्कर द्वीप के मध्य में मानुषोत्तर पर्वत है, तथा कुण्डलवर द्वीप के बीचो बीच कुण्डलगिरि और रुचकवर द्वीप के मध्य में रुचकगिरि है वैसे ही स्वयंभूरमणद्वीप के बीचोंबीच वलयाकार स्वयप्रभगिरि है। उससे स्वयभूरमणद्वीप के दो विभाग होगये हैं। उसके पिछले विभाग में तथा स्वयभूरमण समुद्र में कर्मभूमि है। इतना विशेष जानना।

ज्योतिष देवों का वर्णन

चित्रा पृथ्वी के प्रारम्भ से मेरु की चूलिका के अन्तिम भाग तक मध्यलोक माना गया है। मेरुपर्वत की अवगाहना (भूमि के अन्दर-नींव) एक हजार योजन है। वहीं से चित्रा पृथ्वी का प्रारम्भ माना है और उसकी मोटाई एक हजार योजन (मेरु पर्वत की नींव प्रमाण) है। चित्रा पृथ्वी के ऊपर के सम भूमि भाग से सातसौ निब्बे योजन ऊचे में ज्योतिष देवों का निवास क्षेत्र प्रारंभ होता है और नौसौ योजन की ऊँचाई पर समाप्त होता है। अर्थात् एकसौ दश योजन मोटे क्षेत्र में ज्योतिष देवों का निवास है। जैसा कि राजवार्तिक में कहा है—

ज्योतिष् देवों के विमान

णवदुत्तर सत्तमया दसमादी चदुतिगंच दुगचदुक्कं ।
तारणिमंमिरिक्खा बुहभग्गवगुरुअंगिरारमणी ॥ ? ॥

अर्थ—इस सम भूमिभाग से सातसौ नब्बे योजन ऊपर जाकर ताराओं का सचार है। उसके ऊपर दस योजन जाकर सूर्य का सचार है। उसमे अस्सी योजन ऊपर जाकर चन्द्रमा का भ्रमण होता है। उसके ऊपर तीन योजन जाकर नक्षत्र हैं। उसके तीन योजन ऊपर जाकर बुध विचरण करता है। उसके ऊपर तीन योजन जाकर शुक्र का सचार होता है। उसके ऊपर तीन योजन जाकर बृहस्पति भ्रमण करता है। उसके चार योजन ऊपर मगल का सचार होता है। उसके ऊपर चार योजन जाकर शनैश्चर भ्रमण करता है।

त्रिलोकसार मे उक्त कथन से भिन्नता प्रतीत होती है, जो निम्न प्रकार है—

णवदुत्तरसत्तसया दसमीदी चदुदुगं च तियचउक्के ।
तारिणससिरिक्खबुहा सुक्कगुरुंगारमंदगदी ॥ ३३२ ॥

अर्थ—समतल भूमिभाग से सातसौ निब्बे योजन ऊपर जाकर तारा है। उससे दस योजन ऊपर जाकर सूर्य का भ्रमण है। उससे अस्सी योजन ऊपर जाकर चन्द्रमा का सचार है। उससे चार योजन ऊपर जाकर नक्षत्र है। उससे चार योजन ऊपर जाकर बुध है। उससे तीन योजन ऊपर जाकर शुक्र है। उससे तीन योजन ऊपर जाकर बृहस्पति है। उससे तीन योजन ऊपर जाकर मंगल है तथा उससे तीन योजन ऊपर जाकर मन्दगति (शनैश्चर) है।

राजवार्तिक मे नक्षत्रादि चार को तीन तीन योजन के अन्तर और मगल शनि को चार २ योजन के अन्तर पर कहा है। और त्रिलोक सार मे नक्षत्र तथा बुध को चार चार योजन के अन्तर पर और शुक्र, गुरु, मंगल और शनि को तीन २ योजन के अन्तर पर दिखलाया है।

अठासी ग्रहों म से उक्त कथन से अवशिष्ट ग्रहो के विमान बुध और शनैश्चर के बीच अन्तराल में हैं।

विमानो के आकार और वर्ण

सम्पूर्ण ज्योतिष देवो के विमान आधे गोले के आकार है। अर्थात् गोल के बीच म से बराबर दो टुकडे करने पर एक आधे

गोले का चौडा भाग ऊपर और सकडा भाग नीचे रखने पर जैसा आकार होता है वैसा आकार ज्योतिष विमानों का है। उनमे देवो के नगर और जिन मन्दिर बने हुए हैं।

ज्योतिष देवों में चन्द्रमा तो इन्द्र है और सूर्य प्रतीन्द्र है। चन्द्रमा का विमान ५६/६१ योजन अर्थात् एक योजन के इकसठ भागों मे से छप्पन भाग प्रमाण लम्बा चौडा है। तथा २८/६१ योजन मोटा है। अर्थात् एक योजन के इकसठ भागो मे से अठाईस भाग प्रमाण उसकी मोटाई है। विमान का आधे गोले के समान आकार है। और उसको वहन करने (उठाने) वाले सोलह हजार देव हैं। निर्मल मृणाल के समान अकमणि से वह निर्मित है।

सूर्य का विमान तपे हुए सुवर्ण के समान कान्तिवाली लोहिताक्ष मणि से निर्मित है। उसकी चौडाई लम्बाई ४८/६१ योजन है। अर्थात् एक योजन के इकसठ भाग में से अड़तालीस भाग प्रमाण सूर्य-विमान लम्बा-चौड़ा है। और २४/६१ योजन प्रमाण उसकी मोटाई है। अर्थात् एक योजन के इकसठ भागो मे से चौबीस भाग प्रमाण मोटा है। उसके वाहक (उठानेवाले) देव सोलह हजार हैं।

राहु का विमान अंजन समान कृष्णवर्ण की अरिष्ट मणि से निर्मित है। उसकी लम्बाई चौडाई एक योजन प्रमाण है। और मोटाई ढाईसौ धनुप प्रमाण है। उसके वाहक देव चार हजार हैं।

शुक्र का विमान रजतमय है। एक कोश लम्बा चौडा है। इसके तथा आगे के सब विमानों के वाहक देव चार चार हजार हैं।

मुक्ता के समान श्वेतवर्ण अकनामक मणि से बना हुआ वृहस्पति का विमान है। वह कुछ कम एक कोश लम्बा चौडा है।

सुवर्णमय पीतवर्ण बुध का विमान है और आधकोश लम्बा चौडा है।

मगल का विमान तपे हुए सोने के समान लोहितमणि से बना हुआ है तथा शनैश्चर का तप्त सुवर्ण मय है। इन दोनो की लम्बाई चौडाई आधा कोश प्रमाण है।

केतु का विमान कृष्णवर्ण की मणि से निर्मित है तथा कुछ कम एक योजन प्रमाण लम्बा चौडा है।

तारा आदि के विमान कम से कम पाव कोश लम्बे चौडे हैं।

छह मास बीतने पर चन्द्रमा के नीचे राहु और सूर्य के नीचे केतु आता है। उनसे चन्द्रमा और सूर्य के विमान ढक जाते हैं। इसलिए चन्द्र और सूर्य हमको दिखाई नहीं देते। इसीको ग्रहण कहते हैं। चन्द्र-विमान और राहु-विमान का तथा सूर्य और केतु-विमान का परस्पर स्पर्श कभी नहीं होता।

राहु का विमान चन्द्र-विमान से और केतु का विमान सूर्य-विमान से चार प्रमाणागुल (दो हजार व्यवहारांगुल अर्थात् पौने चौरासी हाथ) नीचे रहता है।

जो ज्योतिष विमान (ताराआदि) समान क्षेत्र मे परिभ्रमण करते है वे भी परस्पर कभी नहीं मिलते। उनमे कमसे कम एक कोश के सातवे भाग प्रमाण (सवा दो फर्लांग से कुछ अधिक) अन्तर अवश्य रहता है। उनका सयोग कभी होता ही नहीं है।

ज्योतिष विमानों की गति

अढाई द्वीप और दो समुद्र सम्बन्धी ज्योतिष देवों के विमान निरन्तर भ्रमण करते हैं। मानुषोत्तर पर्वत के बाहर रहने वाले असख्यात द्वीप समुद्र सम्बन्धी ज्योतिष देवो के विमान स्थिर हैं। वे गमन नहीं करते हैं, अपने २ स्थान पर अवस्थित रहते हैं।

मानुषोत्तर पर्वत के आभ्यन्तर भाग मे ६५५३४ (पिन्यानवे हजार पाचसौ चौतीस) तारे ध्रुव स्थिर है। वे अपने स्थान को नहीं छोडते है। वे इस प्रकार है—जम्बूद्वीप मे ३६, लवण समुद्र मे १३६, धातकी खंड मे १०१०, कालोद मे ४११२०, और पुष्करार्ध मे ५३२३० है।

मानुषोत्तर शैल के आभ्यन्तर भाग के ज्योतिष्देवो के विमान मेरुपर्वत से ग्यारहसौ इक्कीस योजन दूर पर मेरु की प्रदक्षिणा करते है। मेरु से ग्यारहसौ इक्कीस योजन तक कोई ज्योतिष-देव-विमान नहीं पाये जाते है। तथा सूर्य, चन्द्र और ग्रहण के सिवा सब ज्योतिष विमान एक मार्ग पर गमन करते हैं। और नक्षत्र एव तारे अपनी २ एक परिधि मे भ्रमण करते हैं, भिन्न भिन्न मार्ग पर भ्रमण नहीं करते।

सूर्य व चन्द्रमा की संख्या

जम्बूद्वीप मे सूर्य और चन्द्रमा दो दो है लवण समुद्र मे चार चार है। धातकी खण्ड मे बारह, २ कालोद मे बियालीस २ और पुष्करार्ध द्वीप मे बहत्तर २ है। उत्तर पुष्करार्ध मे भी बहत्तर २ हैं। सब मिलाकर पुष्कर द्वीप मे एक सौ चवालीस हैं। इसके आगे के द्वीप समुद्रो मे दूने दूने होते चले गये है। जैसे पुष्कर द्वीप से दूने २८८ सूर्य चन्द्र पुष्कर समुद्र मे हैं और पुष्कर समुद्र से दूने ५७६ सूर्य चन्द्र वारुणि द्वीप मे है और इससे दूने ११५२ वारुणि समुद्र मे हैं। इसी प्रकार दूने दूने द्वीप समुद्रों मे सूर्य और चन्द्रमा समझ लेने चाहिए।

चन्द्रमा की सोलह कला (भाग) है। उनमें से कृष्णपक्ष की प्रत्येक तिथि मे एक एक कला श्याम होती है। इसी को लोग 'घटना' कहते है। और शुक्ल पक्ष मे पुन एक एक दिन में एक एक कला श्वेतवर्ण होती जाती है। इसीलिए अमावस्या मे सम्पूर्ण श्याम होजाने मे चन्द्रमा नहीं दिखाई देता और पूर्णिमा के दिन पूर्ण चन्द्रमा दिखाई देता है।

इसका आशय यह है कि चन्द्रविमान के नीचे राहु का विमान गमन करता है। उस राहु का भ्रमण सदा ऐसा ही होता है कि जिससे चन्द्रमा की एक एक कला (भाग) कृष्ण पक्ष में तो आच्छादित होती जाती है और शुक्ल पक्ष मे एक एक कला प्रतिदिन प्रकट होती जाती है।

एक एक चन्द्रमा के साथ सम्बन्ध रखने वाले ग्रह अठासी नक्षत्र अठाईस और तारे छियासठ हजार नवसौ पिचहत्तर कोटि कोटि (६६९७५००००००००००००००) हैं। राहु, केतु, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक, शनैश्चर आदि ग्रहों के नाम हैं। अश्विनी, भरणी, कृत्तिका रोहिणी आदि अठाईस नक्षत्र है।

प्रत्येक द्वीप या समुद्र सम्बन्धी जो ज्योतिष-विमान है उनमे से आधे एक पार्श्व (पसवाडे) भाग मे हैं और आधे दूसरे पार्श्व भाग मे हैं।

चन्द्रमा का विचरण क्षेत्र और वीथिया

दो दो सूय या दो दो चन्द्रमा का चार क्षेत्र (गमन करने का आकाश प्रदेश) एक है। उसका परिमाण ५१० व ४८ ६१ योजन है। इतने क्षेत्र में गलियाँ निर्धारित है उनका प्रमाण आगे कहेंगे। उनमे एक सूर्य और एक चन्द्रमा गमन करता है। उसीमे दूसरा सूर्य भी गमन करता है। इसलिए दो २ सूर्य और दो २ चन्द्रमा का एक चार-क्षेत्र है।

उक्त चारक्षेत्र मे चन्द्रमा की गलियाँ १५ और सूर्य की १८४ है। उनमे से एक एक गली मे एक एक दिन दो सूर्य और दो चन्द्रमा गमन करते है।

जो ५१० व ४८/६१ योजन चार क्षेत्र कहा गया है उसमे से जम्बूद्वीप सम्बन्धी सूर्य-चन्द्र का एक सौ अस्सी योजन प्रमाण चारक्षेत्र तो जम्बूद्वीप के भीतर आगया है और शेष चार-क्षेत्र लवण समुद्र म है। जम्बूद्वीप के सिवा समस्त द्वीप समुद्र सम्बन्धी ज्योतिषों का चार क्षेत्र अपने २ द्वीप समुद्र मे ही है।

सब से मदगति से गमन करने वाला चन्द्रमा है। उससे शीघ्रगामी सूर्य है। सूर्य से शीघ्रगामी ग्रह, ग्रह से नक्षत्र और नक्षत्र से तारे अति शीघ्र गमन करते है।

स. प्र,

ज्योतिषियों की आयु

चन्द्रमा की आयु एक लाख वर्ष अधिक एक पल्य प्रमाण है। सूर्य की आयु एक हजार वर्ष अधिक एक पल्य की है। शुक्र की आयु एक सौ वर्ष अधिक एक पल्य और बृहस्पति की आयु एक पल्य प्रमाण है। बुध, मगल और शनैश्चर की आयु आधे पल्य प्रमाण है। तारा और नक्षत्र की उत्कृष्ट आयु पाव पल्य और जघन्य पल्य के आठवे भाग प्रमाण है।

ज्योतिष देवों की देवांगनाएं

सूर्य और चन्द्रमा दोनों के चार २ पट्ट देवागनाएं हैं। और यह प्रत्येक पट्ट देवागना विक्रिया द्वारा चार चार हजार शरीर धारण करने वाली होती हैं। प्रत्येक पट्ट देवागना के चार चार हजार परिवार देवियाँ होती हैं।

ज्योतिष देवागनाओं की आयु अपने पति देव से आधी होती है। इनमे सबसे हीन-पुण्य देव के भी कमसे कम बत्तीस देवागनाएं होती हैं।

ज्योतिष देवो में उपपाद

भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष देवो मे वे जीव जन्म लेते है-जिन्होंने जिनमार्ग से विपरीत धर्म का आचरण किया हो, या निदान किया हो, या अग्नि में जल कर मरे हो, पानी मे डूब कर मरे हों, वृक्ष पर्वत मकान आदि के से नीचे गिरकर मरे हों अथवा परन्तत्रता से वधनादि के निमित्त से परिग्रह उपसर्ग सहन द्वारा निर्जरा कर मृत्यु प्राप्त की हो, अथवा पचाग्नि आदि द्वारा कुतपस्या की हो, या सदोष चारित्र का आराधन किया हो।

इस प्रकार मध्य लोक का वर्णन सम्पूर्ण हुआ अब ऊर्ध्व लोक का स्वरूप कहते है।

ऊर्ध्वलोक

ऊर्ध्वलोक का विस्तार

सुदर्शन मेरु की चूलिका से ऊपर सिद्ध-क्षेत्र पर्यन्त ऊर्ध्वलोक है। उसकी ऊँचाई सात राजू प्रमाण है। उसमे से डेढ राजू प्रमाण क्षेत्र मे सौधर्म-ऐशान युगल के विमान हैं। उसके ऊपर डेढ राजू पर्यन्त सानत्कुमार माहेन्द्र युगल के विमान हैं। उसके ऊपर आधे

आधे राजू के अन्तर पर छह युगल हैं। इस प्रकार छह राजू प्रमाण आकाश मे सोलह स्वर्ग हैं। उनके ऊपर सिद्ध क्षेत्र के बारह योजन नीचे तक क्रमसे नवग्रैवेयक, नव अनुदिश और पंच अनुत्तरविमान हैं।

स्वर्गों मे इन्द्र–क्रम

सौधर्म–ऐशान और सानत्कुमार-माहेन्द्र इन दो युगलों मे चार इन्द्र हैं। ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ट, शुक्र-महाशुक्र और शतार-सहस्रार इन चार युगलो में चार इन्द्र हैं। तथा आनत-प्राणत और आरण-अच्युत इन दो युगलों मे चार इन्द्र हैं। इस प्रकार सोलह स्वर्गो मे बारह इन्द्र है।

इन सोलह स्वर्गो को कल्प कहते है। क्योंकि इनमे इन्द्र, सामानिक आदि भेदो की कल्पना होती है। इनके ऊपर नवग्रैवेयक आदि को कल्पातीत कहते हैं। क्योंकि उनमे रहने वाले सब अहमिन्द्र होते हैं। वहां इन्द्रादि भेदो की कल्पना नही है।

नवग्रैवेयकादि का वर्णन

उक्त आठ स्वर्ग–युगलों के ऊपर नवग्रैवेयक हैं। उनमे अधोग्रैवेयक, मध्यग्रैवेयक और उपरिमग्रैवेयक ऐसे तीन भाग हैं और उन तीनो भागो मे तीन तीन ग्रैवेयक पटल है। उनके ऊपर नव अनुदिश विमान हैं। १ अर्चि, २ अर्चिमालिनी, ३ वैर, ४ वैरोचन, ये चार अनुदिश विमान पूर्वादि चारों दिशा मे तथा १ सोम, २ सोमरूप, ३ अ क और ४ स्फटिक ये चार विमान आग्नेयादि विदिशा में स्थित हैं और इनके मध्य में ९ आदित्य इन्द्रक विमान हैं।

इनके ऊपर १ विजय, २ वैजयन्त, ३ जयन्त और ४ अपराजित ये चार अनुत्तर विमान पूर्वादि चारों दिशाओं में हैं और ५ वां सर्वार्थसिद्धि नामक इन्द्रक विमान उनके मध्य मे है।

प्रतर सख्या

सौधर्मादि स्वर्गों मे तिरेसठ प्रतर है। जैसे महल प्रासाद आदि मे खण्ड (मंजिल) होते हैं वैसे ही स्वर्गों में प्रतर (खण्ड-पटल) है। एक प्रतर में एक इन्द्रक-विमान मध्य मे होता है। सौधर्मयुगल मे इकतीस प्रतर हैं। सानत्कुमार युगल मे सात, ब्रह्मयुगल में चार, लान्तवयुगल मे दो, शुक्रयुगल मे एक, शतार युगल मे एक, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत इन चार स्वर्गों मे छह-प्रतर है। ग्रैवेयक मे नव प्रतर तथा अनुदिश में एक और पचानुत्तर में एक प्रतर है। इस प्रकार सब तिरेसठ प्रतर हैं।

विमानों की स्थिति

मेरु की चूलिका से ऊपर एक बालाग्र के अन्तर पर सौधर्म युगल का ऋतु नामक पहला इन्द्रक विमान है। जो इन्द्रक का नाम है, प्रतर का भी वही नाम समझना चाहिए। इसी ऋतु विमान की सीध में ऊपर आगे के सब इन्द्रक विमान हैं। सौधर्म युगल के ऋतु नामक इन्द्रक विमान से विमल नामक दूसरा प्रतर (पटल) असंख्यात योजन के अन्तराल पर है। इसी प्रकार प्रत्येक पटल के असंख्यात २ योजन का अन्तराल है। अर्थात एक पटल के बाद असंख्यात योजन प्रमाण जगह खाली पड़ी है, उसके बाद दूसरा पटल है।

प्रथम इन्द्रक के चारों दिशाओं में चार विमान श्रेणियां हैं। और विदिशा में पुष्पप्रकीर्णक (बिखरे हुए फूलों के समान क्रमरहित) विमान हैं। एक एक श्रेणि (पंक्ति) मे बासठ बासठ विमान हैं। उन्हें श्रेणिबद्ध विमान कहते हैं। प्रति पटल एक एक विमान घटता गया है; इसलिए सौधर्म युगल के अन्तिम 'प्रभ' नामक पटल में बत्तीस श्रेणिबद्ध विमान हैं। डेढ़ राजू में सौधर्म युगल सम्बन्धी इकतीस पटल हैं। प्रत्येक पटल सम्बन्धी उत्तर दिशा के श्रेणिबद्ध विमान तथा वायव्य ईशान विदिशा सम्बन्धी प्रकीर्णक विमानों में तो उत्तर-इन्द्र ईशान की आज्ञा चलती है और तीन दिशा सम्बन्धी श्रेणिबद्ध विमानों मे (इन्द्र विमानों में) तथा आग्नेय नैऋत्य विदिशा सम्बन्धी प्रकीर्णक विमानों मे दक्षिण इन्द्र सौधम का शासन है। जिन विमानों मे सौधर्म इन्द्र की आज्ञा चलती है उनके समूह को सौधर्म स्वर्ग कहते हैं और जिन विमानों में ऐशान इन्द्र का शासन है उन के समूह को ऐशान स्वर्ग कहते हैं।

उसके पश्चात् असंख्यात योजन का अन्तराल है। उसके बाद सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्ग युगल का प्रथम पटल है। वहाँ से असंख्यात योजन का अन्तराल छोड़कर दूसरा पटल है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए। उन पटलों के मध्य में इन्द्रक आदि विमान पूर्वोक्त प्रकार हैं। उत्तर श्रेणिबद्ध विमान और ऐशान कोण व आग्नेय कोण (विदिशा) के प्रकीर्णक विमानों में उत्तर इन्द्र माहेन्द्र का आधिपत्य है तथा बाकी के सब विमानों पर दक्षिणेन्द्र सानत्कुमार का अनुशासन है। इसी अपेक्षा से उसके द्वारा शासित विमानों के समूह को सानत्कुमार का स्वर्ग कहते हैं। इसी प्रकार ऊपर के सब स्वर्ग पटलों में भी समझ लेना चाहिए।

ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार इन आठ स्वर्गों में चार इन्द्र हैं। वहाँ इन्द्र की अपेक्षा से नाम भेद नहीं है, किन्तु बसती की अपेक्षा से भेद हैं। जैसे यहाँ पर भी देश का एक अधिपति होता है, किन्तु नगरों के भिन्न २ नाम होते हैं इसी प्रकार वहाँ पर जानना चाहिए।

आनत-प्राणत, आरण-अच्युत इन चार स्वर्गों में चार इन्द्र हैं, उनमें से आनत और आरण तो दक्षिण इन्द्र हैं और प्राणत और अच्युत उत्तर इन्द्र हैं। वहाँ पूर्वोक्त प्रकार इन्द्र के भेद से स्वर्गों का भेद जानना चाहिए।

प्रत्येक पटल में एक एक श्रेणिबद्ध विमान घटता गया है, इसलिए अन्तिम ग्रैवेयक के सब से ऊपर के पटल में प्रत्येक दिशा में दो दो विमान हैं। उनके ऊपर असंख्यात योजन का अन्तराल छोड़कर अनुदिश विमान का पटल है। उसके मध्य मे एक इन्द्र विमान है और चारों दिशाओं में चार और विदिशाओंमें चार इस प्रकार नव विमान हैं। उनके ऊपर असंख्यात योजन का अन्तराल छोड़कर पंचअनुत्तर विमान हैं।

पाँच अनुत्तर विमानों के ऊपर बारह योजन का अवकाश छोड़कर सिद्ध-क्षेत्र है। इस प्रकार ऊर्ध्वलोक रचना है। जिस प्रकार प्रत्येक पटल के ऊर्ध्व व अधोभाग मे अन्तराल है, उसी प्रकार प्रत्येक विमान के ऊर्ध्वभाग व अधोभाग और तिर्यग्भाग में अन्तराल है। एक विमान दूसरे विमान से सर्वथा जुदा है। समान भाग मे एक इन्द्र की सीध में रहने वाले विमानों का एक पटल माना गया है। नरक भूमियों के समान विमान एक दूसरे से जुडे हुए नहीं है, इसलिए उनको पृथ्वी नहीं कहा है। लोकान्त तक पहुँचने वाले भूभाग को पृथ्वी कहते हैं। इसलिए सात नरक भूमियाँ और एक ईषत् प्राग्भार नामक सिद्धशिला ये आठ पृथ्वियाँ मानी गई हैं।

प्रकीर्णक विमानों की संख्या, विस्तार और बाहुल्य

सौधर्म स्वर्ग मे बत्तीसलाख, ऐशान मे अठाईस लाख, सानत्कुमार मे बारहलाख, माहेन्द्र में आठलाख, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर युगल में चार लाख, लान्तव-कापिष्ट युगल मे पचास हजार, शुक्र-महाशुक्र युगल म चालीस हजार, शतार-सहस्रार में छह हजार विमान है। तथा आनतादि चार स्वर्गों मे समुदाय रूप सात सौ विमान हैं। अधोग्रैवेयक के तीन पटलों मे एक सो ग्यारह विमान, मध्यम ग्रैवेयक के तीन पटलों मे एकसौ सात तथा उपरिम ग्रैवेयक के तीन पटलों में इक्यानवे विमान है। एवं अनुदिश मे नव और अनुत्तर मे पाँच विमान हैं। इनमे से अपने २ स्वर्गों के इन्द्रक और पंक्तिबद्ध विमानों की संख्या को घटाने पर प्रकीर्णक विमानों की सख्या निकल आती है।

प्रथम ऋतु इन्द्रक विमान का विस्तार मनुष्य लोक समान पैंतालीस लाख योजन प्रमाण है और सब से अन्तिम सर्वार्थ सिद्धि विमान का विस्तार जम्बूद्वीप समान एक लाख योजन प्रमाण है। शेष मध्यवर्ती द्वीतीयादि इन्द्रक विमानों का विस्तार क्रमशः अल्प २ प्रमाण है।

"श्रेणिबद्ध विमानों का विस्तार (लम्बाई चौडाई) असंख्यात योजन प्रमाण है और प्रकीर्णक विमानों का विस्तार संख्यात योजन और असंख्यात योजन है। कई एक प्रकीर्णक संख्यात योजन विस्तार वाले हैं और कई एक असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं। समस्त कल्प विमानों के पाँचवें भाग प्रमाण विमान तो संख्यात योजन विस्तारवाले हैं और शेष विमान असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं। तथा अधोग्रैवेयकों मे तीन विमान, मध्य ग्रैवेयक मे अठारह और उपरिम ग्रैवेयकों मे सत्रह विमान एवं पंच अनुत्तरों मे एक विमान सख्यात योजन

विस्तार वाला है। शेष सब असख्यात योजन विस्तार वाले हैं। अर्थात् सख्यात योजन विस्तार वाले विमानों से चौगुने असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं।

सौधर्मादि छह युगलों के छह स्थान, आनतादि चार स्वर्गों का एक स्थान, तथा तीन तीन अधोग्रैवेयकादि का एक एक स्थान, और अनुदिश व अनुत्तर का एक स्थान-ऐसे ग्यारह स्थान हुए। उनमे से आदि के स्थान (सौधर्म-ऐशान युगल) मे ग्यारह सौ इक्कीस योजन बाहुल्य (मोटाई) के धारक विमान हैं और शेष दश स्थानों मे निन्न्यानवे निन्न्यानवे योजन प्रमाण बाहुल्य प्रतिस्थान कम होता चला गया है। प्रथम स्थान मे ११२१, दूसरे से लेकर अन्ततक क्रमसे १०२२, ६२३, ८२४, ७२५, ६२६, ५२७, ४२८, ३२६, २३०, १३१ इस प्रकार विमानों का बाहुल्य (मोटाई) है।

विमानो का रंग

सोधर्म-ऐशान के विमान पाँच वर्णों के हैं। सानत्कुमार-माहेन्द्र कृष्ण वर्ण रहित चार वर्णों के हैं। ब्रह्मादि चारस्वर्गों में नीलवर्ण के भी विमान नहीं हैं, शेषतीन वर्ण के हैं। शुक्रादि चार स्वर्गों मे लाल रंग के भी नहीं है, शेष दो वर्ण के ही विमान पाये जाते हैं। आनत से लेकर अनुत्तर तक केवल शुक्लवर्ण के ही विमान हैं।

इन्द्र के निवास करने का विमान और उसका नाम

सोधर्म युगल के अन्तिम इकतीसवे पटल मे इन्द्रक विमान से दक्षिण दिशा सम्बन्धी अठारहवें श्रेणिबद्ध विमान मे तो सोधर्म इन्द्र निवास करता है और उत्तर दिशा के श्रेणिबद्ध के विमानो के अठारहवें विमान मे ईशान इन्द्र निवास करता है। सानत्कुमार युगल के अन्तिम पटल के दक्षिण दिशा सम्बन्धी सोलहवें श्रेणिबद्ध विमान मे सानत्कुमार इन्द्र और उत्तर दिशा सम्बन्धी सोलहवें विमान में माहेन्द्र इन्द्र निवास करता है। ब्रह्म युगल के अन्तिम पटल के दक्षिण दिशा सम्बन्धी चौदहवें श्रेणिबद्ध विमान मे ब्रह्म इन्द्र निवास करता है। लान्तवयुगल के उत्तर दिशा सम्बन्धी बारहवे श्रेणिबद्ध विमान मे लान्तव इन्द्रका निवास है। शुक्र युगल के अन्तिम पटल के दक्षिण दिशा सम्बन्धी दशवें श्रेणिबद्ध विमान मे शुक्र इन्द्र का निवास है। शतार युगल के अन्तिम पटल के उत्तर दिशा सम्बन्धी आठवें श्रेणिबद्ध विमान मे शतार इन्द्र का निवास है। आनत युगल के अन्तिम पटल के दक्षिण दिशा सम्बन्धी छठे श्रेणिबद्ध विमान मे आनत इन्द्र का निवास हैं और उत्तर दिशा के विमान मे अच्युत इन्द्र का निवास है।

जिस विमान मे इन्द्र का निवास है, उस विमान का नाम स्वर्ग के नाम पर है। जैसे सौधर्म इन्द्र जिस विमान में निवास करता है उसका नाम सौधर्म है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए।

इन्द्रों के नगर

सौधर्मादि चार स्वर्गों के चार स्थान, ब्रह्म युगलादि चार युगलों के चार स्थान, आनतादि चारस्वर्गों का एक स्थान-इन नवस्थानों मे अपनी २ देवागनाओं सहित इन्द्रों के नगर है। उनमे से सौधर्म मे चौरासी हजार योजन प्रमाण, ऐशान मे अस्सी हजार, सानत्कुमार में बहत्तर हजार, माहेन्द्र म सत्तर हजार, ब्रह्मयुगल म साठ हजार, लान्तव युगल मे पचास हजार, शुक्र युगल में चालीस हजार, शतार युगल में तीस हजार, आनतादि चार स्वर्गों मे बीस बीस हजार योजन प्रमाण विस्तार के धारक चौकोर रमणीय नगर हैं। इन नगरों के चारों ओर बहुत ऊँचे २ सुन्दर प्राकार (कोट) हैं, और उनके चारों दिशाओ मे चार चार गोपुर (दर्वाजे) हैं।

ऐसे पॉच पॉच कोट प्रत्येक नगर के है। एक कोट मे दूसरे कोट के बीच का अन्तराल तेरह लाख योजन से लेकर चौरासी लाख योजन तक का है। पाँच कोटों के चार अन्तराल होते है। उनमे मे पहले अन्तराल में सेना के अभ्यक्ष और अ गरक्षक देव रहते हैं। दूसरे में तीन जाति के पारिषद देव रहते है। तीसरे में सामानिक देव निवास करते है। तथा चौथे अन्तराल मे अश्वादिपर चढने वाले देव, आभियोग्य देव और किल्विषजाति के देव अपने २ योग्य भवनों में रहते हैं। उक्त पाँचवें कोट मे आधेलाख योजन की दूरी पर नन्दनवन है। वहाँ के वन आनन्द देने वाले हैं इसलिए उन्हे सामान्यरूप से नन्दनवन कहते है। वैसे तो उनका नाम पृथक् पृथक् है। उन वनो में चम्पक, आम्र, अशोकादि सुन्दर व सुगन्धमय अति सुहावने वृक्ष है। पद्म-ह्रद के ममान ह्रद (सरोवर) हैं और प्रत्येक वन में एक एक चैत्य वृक्ष है। सौधर्मादि स्वर्गों में चारों वनों में चार चैत्यवृक्ष हैं। प्रत्येक चैत्यवृक्ष जम्बूवृक्ष के समान प्रमाण वाला है। प्रत्येक चैत्यवृक्ष के चारों पार्श्वभागों में एकएक पल्यंकासन जिन-प्रतिमा विराजमान है।

उन वनखंडो से कई योजन दूर पर पूर्वादि दिशाओं मे लोकपालो के नगर हैं, जो साढे बारह लाख योजन विस्तार वाले हैं। उनके समीप अग्नि कोणादि चारों विदिशाओ मे गणिका-महत्तरियो के लाख लाख योजन के लबे चोडे नगर बने हैं। (वेश्याओं के समान जो देवागनाएँ होती है, उन्हें गणिका कहते हैं। और उनमे जो प्रधान देवागनाएँ होती है, उन्हे गणिका-महत्तरी कहते है।)

महादेवियाँ और उनकी विक्रिया, परिवारादि का वर्णन—

सम्पूर्ण इन्द्रो के आठ आठ महादेवियाँ होती है। सौधर्मादि छह युगलों के छहस्थान और आनतादि चार स्वर्गों का एक स्थान ऐसे सात स्थानों मे एक एक महादेवी की परिवार-देवियाँ महादेवी सहित आधी आधी होती हैं। अर्थात् क्रमसे सोलह हजार, आठ हजार, चार हजार, दोहजार, एक हजार, पाचसौ और ढाईसौ होती है। आठ २ महादेवियों में से प्रत्येक महादेवी के मूल शरीर सहित सोलह सोलह

हजार वैक्रियिक शरीर होते हैं। तथा उक्त सातों स्थानों मे से शेष छहस्थानों में दूने दूने वैक्रियिक शरीर होते हैं। अर्थात् प्रथम सौधर्म युगल स्थान की महादेवी अपने मूल शरीर सहित सोलह हजार वैक्रियक शरीर बनाती है। सानत्कुमार युगल की महादेवी बत्तीस हजार वैक्रियक शरीर धारण करती है। इसी प्रकार आगे आगे के स्थानों की महादेवियां दूने २ वैक्रियिक शरीर बनाती हैं। इस तरह अन्त के आनतादि-स्थान की महादेवियों दसलाख चौबीस हजार वैक्रियिक शरीर बनाती हैं।

देवियों के परिवार मे जो देवियाँ इन्द्र की वल्लभा (प्यारी) होती हैं उन्हें वल्लभिका कहते हैं। उक्त सात स्थानों में अर्थात् छह युगलों के छह और आनतादि का एक स्थान, इस प्रकार सात स्थानों में क्रमसे बत्तीस हजार, आठहजार, दोहजार पाचसौ, अढाईसौ, सवासौ और अन्त मे तिरेसठ वल्लभिकाएँ होती हैं।

इन्द्र के आस्थान—मण्डप का स्वरूप

अमरावती नामक इन्द्र का पुर है। उसके मध्य इन्द्र के निवास करने के मन्दिर से ईशान विदिशा में सुधर्मा नामक आस्थान-मण्डप अर्थात् सभास्थान है। वह सौ योजन लम्बा, पचास योजन चौड़ा और पिचहत्तर योजन ऊँचा है। उसके पूर्व, उत्तर और दक्षिण दिशा मे तीन द्वार हैं। उनमे से प्रत्येक द्वार की चौड़ाई तो आठ योजन और ऊँचाई सोलह योजन है। उस आस्थान के मध्य भाग मे इन्द्र का सिंहासन है। उसके सिंहासन के सामने आठ महादेवियों के आठ आसन हैं। उन महादेवियों के आसन के बाहर पूर्वादि दिशाओं मे १ सोम, २ यम, ३ वरुण और ४ कुबेर इन चार लोकपालों के चार आसन हैं। तथा इन्द्र के आसन से आग्नेय, दक्षिण और नैऋत्य दिशा में तीन प्रकार के परिषदों के क्रमसे बारह हजार, चौदह हजार, सोलह हजार आसन हैं। तथा त्रायस्त्रिंशत् देवों के तेतीस आसन भी नैऋत्य दिशा मे ही हैं। पश्चिम दिशा मे सेनाध्यक्षों के सात आसन हैं। वायव्य और ईशान दिशा मे सामानिक देवों के आसन हैं। सौधर्म के चौरासी हजार, सामानिक देवों के आसनों मे से बियालीस हजार तो वायव्य दिशा मे और बियालीस हजार ही ईशान दिशा में हैं। अ गरक्षक देवों के आसन चारों दिशाओं मे हैं। और वे प्रत्येक दिशा मे चौरासी हजार हैं। ये आसन सुधर्मा सभा सम्बन्धी हैं।

मानस्तम्भ और करण्डक

उस आस्थान-मण्डप के सामने पीठ सहित एक मानस्तम्भ है जो एक योजन चौड़ा व बत्तीस योजन ऊँचा है। उसके सोलह धाराएँ हैं प्रत्येक धारा एक कोश क विस्तार (लंबाई) की धारक हैं। यहाँ मानस्तंभ बारह कोने वाला गोल है।

उस मानस्तम्भ मे रत्ननिर्मित साकले हैं। उनमे रत्नमय करण्डक (पिटारे) हैं। वे चौथाई कोश प्रमाण चौडे और एक

कोश प्रमाण लम्बे है। उनमे तीर्थंकर देवों के पहनने योग्य आभरण भरे रहते हैं। इन्द्र इनमे से आभरण निकालकर तीर्थंकरों के लिए पहुँचाता है। छत्तीस योजन ऊँचा मानस्तम्भ है। उसमे ऊपर से सवा छह योजन नीचे तक और नीचे पौने छह योजन की ऊँचाई तक करण्ड नहीं पाये जाते है, मध्य मे चौबीस योजन की ऊँचाई मे करण्ड पाये जाते है

सौधर्म स्वर्ग मे जो मानस्तम्भ पर करण्ड हैं, उनमे भरत क्षेत्र सम्बन्धी तीर्थंकरों के आभरण हैं। ईशान स्वर्ग में मानस्तम्भ पर जो करण्ड हैं उनम ऐरावत क्षेत्र सम्बन्धी तीर्थंकरों के आभरण हैं। सानत्कुमार स्वर्ग मे मानस्तभ पर जो करण्ड हैं उनमें पूर्वदेह सम्बन्धी तीर्थंकरों के आभरण हैं। माहेन्द्र स्वर्ग में मानस्तम्भ पर जो करण्ड हैं उनमे पश्चिम विदेह सम्बन्धी तीर्थंकरों के आभरण हैं। मानस्तम्भों पर तीर्थंकरों के आभरण पाये जाते हैं, इसलिए वे देवों से पूज्य हैं।

इन्द्र का उत्पत्ति-गृह

उक्त मानस्तम्भ के निकट आठ योजन चौड़ा, लम्बा और उतना ही ऊँचा उपपाद गृह है। उसमें दो रत्नमयी उपपादशय्या बनी हैं। यहाँ इन्द्र का जन्म स्थान है। इसके समीप अनेक शिखरों से अलकृत परमोत्कृष्ट जिन मन्दिर है।

कल्पवासिनी देवांगनाओं के उत्पत्ति-स्थान

स्वर्गों की सब देवागनाएँ सौधर्म और ऐशान इन दो स्वर्गों में ही जन्म लेती हैं। ऊपर देवियों का जन्म नहीं होता है। दक्षिण दिशा के स्वर्गों से सम्बन्ध रखने वाली देवागनाएँ तो सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न होती हैं और उत्तर दिशा के स्वर्गों से सम्बन्ध रखने वाली देवागनाएँ ऐशान स्वर्ग में उत्पन्न होती हैं। जिन विमानों मे देव नहीं हैं, केवल देवागनाएँ ही पाई जाती हैं ऐसे विमान सौधर्म स्वर्ग में चार लाख हैं। उनमें जब देवियाँ उत्पन्न हो जाती हैं तब जिस देव की जो नियोगिनी होती है उस देवी को वह देव वहाँ आकर अपने २ स्वर्ग स्थान में ले जाता है। शेष सौधर्म स्वर्ग में छब्बीस लाख और ऐशान में चौबीस लाख विमान ऐसे हैं जो देवों और देवियों से सम्मिश्र हैं। उनमें देव भी उत्पन्न होते हैं और देवियाँ भी उत्पन्न होती हैं।

देवों का प्रवीचार

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग मे काय से प्रवीचार (काम-सेवन) होता है। उक्त दोनों स्वर्गों के देव देवागना मनुष्य जैसे काम सेवन करते हैं वैसे काम सेवन करते हैं। ऊपर के दो स्वर्ग (सानत्कुमार-माहेन्द्र) के देव-देवागना परस्पर शरीर का स्पर्श करके काम सेवन

की अभिलाषा का पूर्ण करते है। उनको शरीर स्पर्श करने मात्र से तृप्ति होती है। ब्रह्मादि चार स्वर्गों मे देव-देवाङ्गना एक दूसरे का रूप देखकर काम-तृप्ति का अनुभव करते हैं। शुक्रादि चार स्वर्गों के मे देव-देवाङ्गनाएँ एक दूसरे का शब्द सुनकर तृप्त हो जाते हैं। तथा इनके ऊपर आनतादि चार स्वर्गों के देव-देवाङ्गनाएँ मन मे संकल्प करके तृप्ति का अनुभव करते हैं। इनके ऊपर ग्रैवेयक आदि में अहमिंद्र हैं उनके प्रवीचार नहीं होता है। वे काम-सेवन की भावना से रहित हैं।

वैमानिक देवों की विक्रिया, गमन-शक्ति और अवधिज्ञान

अधोदिशा मे (नीचे के क्षेत्र मे) विक्रिया करके देव जितने क्षेत्र तक जा सकते हैं अवधि-ज्ञान द्वारा उतने ही क्षेत्र मे स्थित पदार्थों को जान सकते हैं। देवों के नीचे गमन करने की शक्ति और अवधिज्ञान द्वारा पदार्थ को जानने की शक्ति ये दोनों समान होती है। इसलिए इन दोनो का एक साथ वर्णन करते हैं। सौधर्मादि दो स्वर्गों के देवों की विक्रियाशक्ति व अवधिज्ञानशक्ति प्रथम नरक पृथ्वी पर्यन्त है। सानत्कुमारादि दो स्वर्गों मे दूसरी पृथ्वी पर्यन्त है। ब्रह्मादि चार स्वर्गों मे तीसरी पृथ्वी पर्यन्त है। शुक्रादि चार स्वर्गों में चौथी पृथ्वी पर्यन्त है। आनतादि चार स्वर्गों मे पाँचवी पर्यन्त है। नवग्रैवेयकों में छठी पृथ्वी पर्यन्त है। अनुदिश व अनुत्तर निवासियों की सातवीं पृथ्वी पर्यन्त है। सम्पूर्ण देवों का ऊर्ध्व दिशा सम्बन्धी अवधिज्ञान अपने २ स्वर्ग के ध्वजादण्ड पर्यन्त ही होता है। इससे ऊपर के क्षेत्र को अवधि ज्ञान से नहीं जान सकते हैं। नव अनुदिशवासी देव अपने विमान के शिखर से लेकर नीचे के बाह्य तनुवातवलय पर्यन्त (कुछ कम चौदह राजू) क्षेत्र को अवधि ज्ञान द्वारा जानते हैं। अनुत्तर विमानवासी सम्पूर्ण लोकनाली को जानते हैं। सम्पूर्ण विमानवासी देव अवधिज्ञान से असंख्यात कोटि कोटि योजन प्रमाण क्षेत्र को जानते हैं। इतना विशेष है कि ऊपर ऊपर के देवों का ज्ञान अधिक २ होता है। और नीचे २ के देवों का हीन होता है। असंख्यात कोटि कोटि योजन क्षेत्र सामान्य रूप से कहागया है।

अवधि ज्ञान के क्षेत्र का प्रमाण यहाँ प्रकरण पाकर सक्षेप मे लिख दिया है। अवधिज्ञान के विषय भूत द्रव्य काल और भाव का स्वरूप ज्ञानाचार मे अवधिज्ञान के वर्णन मे विशद रूप से लिख आये हैं, इसलिए यहा नहीं लिखा गया है। विशेष जानने की अभिलाषा हो तो वहाँ से जान लें।

सौधर्मादि देवो के जन्म व मरण का विरहकाल।

जितने काल पर्यन्त किसी का वहाँ जन्म न हो उसे जन्म का अन्तर और जितने काल पर्यन्त वहाँ पर किसी का मरण न हो उसे मरण का अन्तर कहते हैं। उत्कृष्ट रुप से सौधर्म और ऐशान दोनो स्वर्गों मे सात दिन हैं। आगे के सानत्कुमारादि दो स्वर्गों मे पन्द्रह

दिन, ब्रह्मादि चार स्वर्गों मे एक मास, शुक्रादि चार स्वर्गों मे दो मास, आनतादि चार स्वर्गों मे चार मास, ग्रैवेयक आदि मे उत्कृष्ट जन्म व मरण का अन्तर (विरह) छहमास है।

इन्द्रादि का उत्कृष्ट विरहकाल

इन्द्र और इन्द्र की पट्टदेवी और लोकपाल इनका विरहकाल छहमास है। सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद् और अंगरक्षक इन का उत्कृष्ट विरहकाल चार मास है।

आभियोग्यादि अधम देव कैसी क्रिया व भावना से पर्याय पाते हैं ?

जो मनुष्य विशेष काम-वासना से वासित होकर स्त्रीगमनादि काम-चेष्टाएँ करते हैं, कन्दर्प परिणाम युक्त रहते हैं, वे स्वोपार्जित अन्य शुभ कर्म के अनुसार उत्कृष्ट से उत्कृष्ट ऐशान स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं, वहा पर भी कन्दर्प जाति के ही देव होते हैं। जो मनुष्य गानादि संगीत से आजीविका करते हैं, नाटक आदि के परिणाम से जिनका चित्त अनुरंजित रहता है वे कैल्विषिक परिणामवाले प्राणी स्वोपार्जित अन्य शुभ कर्म के अनुसार लान्तवस्वर्ग तक जन्म लेते है किन्तु वहाँ पर भी वे किल्विषिक जाति के देव ही होते हैं। जो मनुष्य पापक्रिया करते हैं तथा सेवक वृत्ति दासत्वादि धारण कर अपने हाथ मे नाई आदि की नीच क्रियाएँ करते हैं, आभियोग्य भावना से भावित हैं वे अच्युत स्वर्ग पर्यन्त उत्पन्न होते हैं। और वहाँ पर भी वे आभियोग्य जाति के ही देव होते हैं। ये सब अपने अपने स्वर्ग सम्बन्धी जघन्य आयु को पाते हैं।

घातायुष्क की आयु

देवों की आयु हम पहले लिख आये हैं। केवल यहा पर घातायुष्क की आयु का विवेचन करते हैं।

किसी जीव ने पूर्वभव में अधिक आयु का बंध किया था वह पश्चात् परिणामों की विशेषता वश उसे घटाकर अल्प करदेता है तो उस जीव को घातायुष्क कहते हैं। आयु का घात दो प्रकार का होता है, एक अपवर्त्तनघात और दूसरा कदलीघात। बध्यमान आयु का घटना तो अपवर्त्तनघात है और उदीयमान (भुज्यमान) आयु का घात करना कदलीघात है। यहाँ पर कदलीघात की संभावना ही नहीं होसकती क्योकि अनपवर्त्य आयु है। इसलिए यहाँ पर अपवर्त्तनघात ही का ग्रहण किया है। पूर्वोक्त प्रकार घातायुष्क सम्यग्दृष्टि हो तो उस जीव के सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त पूर्वोत्कृष्ट आयु से आधे सागर अधिक आयु होती है। घातायुष्क की जघन्य आयु आधा सागर है, यह सौधर्म युगल की अपेक्षा से है। आगे आगे की घातायुष्क की जघन्य आयु पूर्व पूर्व की उत्कृष्ट आयु प्रमाण है।

भवनत्रिक देवों में घातायुष्क सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की आयु

घातायुष्क यदि सम्यग्दृष्टि हो तो उसकी आयु भवनवासी मे आधा सागर और व्यन्तर ज्योतिष मे आधा पल्य आयु अपनी २ उत्कृष्ट आयु मे अधिक होती है। यदि घातायुष्क मिथ्यादृष्टि हो तो उसकी सर्वत्र भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष और वैमानिक देवो मे अपनी अपनी उत्कृष्ट आयु के प्रमाण से पल्य के असख्यातवें भाग अधिक आयु होती है।

लौकान्तिक देवो का स्वरूप, अवस्थान, आयु आदि का वर्णन

समस्त लौकान्तिक देव परस्पर मे हीनाधिकता से रहित अर्थात् समान वैभव के धारक व विषयो मे विरक्त होते हैं। देवों में ऋषि समान होते हैं। इसलिए उन्हे देवर्षि कहते हैं। उनका चित्त निरन्तर अनित्यादि अनुप्रेक्षा (भावना) के चिन्तन मे रत रहता है। वे सम्पूर्ण इन्द्रादि के पूज्य होते हैं, चौदह पूर्वों के ज्ञाता होते हैं, तीर्थंकरों के निष्क्रमण कल्याण (तप कल्याण) के समय प्रतिबोध करने आते हैं। लौकान्तिक देवों की आयु आठसागर प्रमाण होती है। इतना विशेष है कि अरिष्ट जाति के लौकान्तिक देवों की आयु नवसागर प्रमाण होती है। वे सब अतिविशुद्ध सम्यग्दर्शन के धारक होते हैं। एक मनुष्य भव धारण कर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

व ब्रह्मलोक (पाँचवेस्वर्ग) के अन्त म निवास करते हैं। इसलिए उन्हे लौकान्तिक कहते हैं। सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट ये आठ क्रमश पूर्वोत्तरादि दिशाओं मे निवास करते हैं।

अत्यन्त तीव्र अन्धकार रूप समुद्र समान गोलाकार एक तम स्कन्ध (अन्धकार का समूह) अरुण समुद्र से उत्पन्न हुआ है। वह मूल मे असख्यात योजन प्रमाण विस्तार (लबाई चौडाई) वाला है और ऊपर मे क्रमसे बढता हुआ मध्य भाग व अन्त भाग मे सख्यात योजन मोटा होकर कुक्कुट कुटी के समान ब्रह्म युगल के अरिष्ट-इन्द्रक-विमान के अधोभाग मे अवस्थित हुआ है। उसकी आठ अन्धकार पक्तियाँ ऊपर की ओर उठकर अरिष्ट विमान के चारों तरफ होगई हैं। वहाँ पर उनके चारों दिशाओं में दो दो विभाग हो गये हैं। और वे तिर्यक् लोक के अन्त तक फैल गई हैं। अर्थात् आठ अन्धकार पंक्तियाँ की सोलह पक्तियाँ होगई हैं। उन सोलह अन्धकार पक्तियों के अन्तरालों मे सारस्वादि देव निवास करते हैं। पूर्वोत्तर कोण (ईशान) दिशा मे सारस्वत विमान पूर्व दिशा मे आदित्य विमान, पूर्व दक्षिण (आग्नेय) दिशा मे वह्नि विमान, दक्षिण मे अरुण विमान, दक्षिण पश्चिम (नैऋत्य) दिशा मे गर्दतोय विमान, पश्चिम दिशा में तुषित विमान, पश्चिम-उत्तर (वायव्य) दिशा में अव्याबाध विमान और उत्तर मे अरिष्ट विमान हैं। इन आठ भेदों के अन्तराल (मध्यप्रदेश) में अग्न्याभ-सूर्याभ आदि आठ जाति के लौकान्तिक देव हैं। वे इस प्रकार है—

सारस्वत–आदित्य के मध्य में अग्न्याभ-सूर्याभ जाति के देवों के विमान, आदित्य और वह्नि के मध्य में चन्द्राभ-सत्याभ के विमान, वह्नि और अरुण के मध्य मे श्रेयस्कर-क्षेमंकर के विमान, अरुण और गर्दतोय के मध्य मे वृषभेष्ट-कामचर के विमान, गर्दतोय और तुषित के मध्य मे निर्माणरज-दिगन्तरक्षित, तुषित और अव्याबाध के मध्य मे आत्मरक्षित-सर्वरक्षित, अव्याबाध और अरिष्ट के अन्तराल मे मरुत्-वसु, अरिष्ट और सारस्वत के अन्तराल मे अश्व-विश्व जाति के लौकांतिक देवों के विमान हैं।

सारस्वत सातसौ सात, आदित्य सातसौ सात, वह्नि सातहजार सात, अरुण सातहजार सात, गर्दतोय नवहजार नव, तुषित नवहजार नव, अव्याबाध ग्यारहहजार ग्यारह, अरिष्ट ग्यारहहजार ग्यारह हैं।

अग्न्याभ देव सातहजार सात, सूर्याभ देव नवहजार नव, चन्द्राभदेव ग्यारहहजार ग्यारह, सत्याभ तेरहहजार तेरह, श्रेयस्कर पन्द्रहहजार पन्द्रह, क्षेमंकर सत्रहहजार सत्रह इस प्रकार आगे दो हजार दो प्रत्येक देवों मे बढाते जाना चाहिए।

कल्पवासिनी देवियों की आयु का प्रमाण

सौधर्म–ऐशान युगल मे देवागनाओं की जघन्य आयु कुछ अधिक पल्य प्रमाण है। प्रथम स्वर्ग मे उत्कृष्ट पाँच पल्य प्रमाण है। ऊपर के प्रत्येक स्वर्ग मे जघन्य आयु पूर्व पूर्व स्वर्गयुगल की उत्कृष्ट आयु के प्रमाण है। तथा उत्कृष्ट आयु ऐशान स्वर्ग से लेकर सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त ग्यारह स्वर्गों मे दो दो पल्य और आनतादि चार स्वर्गों म सात सात पल्य बढती गई है। प्रथम स्वर्ग मे पाँच पल्य दूसरे मे सात पल्य, तीसरे मे नव पल्य, चौथे मे ग्यारह पल्य, पाँचवें मे तेरह पल्य, छठे मे पन्द्रह पल्य, सातवें मे सत्रह पल्य, आठवें मे उन्नीस पल्य, नवें मे इक्कीस पल्य, दशवें मे तेईस, ग्यारहवें मे पच्चीस, बारहवें मे सत्ताईस, तेरहवें मे चौंतीस, चौदहवें मे इकतालीस, पन्द्रहवें मे अडतालीस और सोलहवें स्वर्ग मे पचपन पल्य प्रमाण उत्कृष्ट आयु होती है।

देवों के उच्छ्वास और आहार के विषय मे पूर्व लिख आये हैं। जितने सागर की देवों की आयु होती है, उतने पक्ष बीतने पर वे उच्छ्वास लेते हैं। तथा उतने ही सागर बीतने पर उनके आहार की इच्छा होती है। जैसे सौधर्म युगल के देवों की आयु दो सागर की होती है। उन देवों के दो पक्ष के अन्तर पर उच्छ्वास होता है और दो हजार वर्ष के अन्तर पर आहार की इच्छा उत्पन्न होती है। इसी प्रकार सब देवों मे समझ लेना चाहिए।

गुणस्थान की अपेक्षा देवगति मे जन्म

असयत व देशसंयत मनुष्य और तिर्यंच अधिक से अधिक अच्युत स्वर्ग पर्यन्त जन्म लेते हैं। द्रव्य मे जिन लिंग के धारक

(द्रव्य लिंगी मुनि) और भाव से पहले, चौथे, या पाँचवें गुण स्थान में हैं, तथा निरतिचार चरित्र का पालन करते हैं वे मरकर अन्तिम ग्रैवेयक पर्यन्त जन्म लेते हैं, उसके ऊपर नहीं जा सकते। सम्यग्दृष्टि भाव-मुनि अर्थात् द्रव्य और भाव से मुनि धर्म का आचरण करनेवाले मुनि सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त जन्म धारण करते हैं। भोगभूमिज सम्यग्दृष्टि सौधर्मद्विक मे उत्पन्न होते हैं। भोगभूमिज मिथ्यादृष्टि जीव भवनत्रिक मे उत्पन्न होते हैं। पचाग्नि आदि तपश्चरण करनेवाले तापसी उत्कृष्ट रूप से भवनत्रिक मे जन्म धारण करते हैं। चरक, एकदंडी, त्रिदण्डी सन्न्यासी अधिक से अधिक ब्रह्म स्वर्ग तक जन्म लेते हैं। काजी आदि का आहार करनेवाले आजीवक साधु अधिक से अधिक अच्युत स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं।

अनुदिश व अनुत्तर विमान से चयकर नारायण तथा प्रतिनारायण नहीं होते हैं।

सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र, उसकी शची नामा महादेवी, उसके सोम आदि चार लोकपाल और सानत्कुमार आदि दक्षिण इन्द्र, सब लौकान्तिक देव और सब सर्वार्थसिद्धि के देव ये सब चयकर मनुष्य भव धारण कर नियम से निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

मनुष्यगति, तिर्यंचगति और भवनत्रिक से निकलकर जीव सीधे तिरेसठ शलाका के पुरुष नहीं होते हैं। (चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नव नारायण, नव प्रतिनारायण और नव बलभद्र इनको शलाका-पुरुष कहते हैं)।

देवों के जन्म का वृत्तान्त।

जैसे उदयाचल पर सूर्य उदित होता है वैसे उपपाद शय्यापर अन्तर्मुहूर्त्त मे छह पर्याप्ति पूर्ण करके मनोहर सुगन्धमय सुख रूप स्पर्शवाले पवित्र शरीर का धारक देव उत्पन्न होता है। जन्म के समय वहाँ आनंद रूप बाजे बजते हैं, जय जयकार आदि स्तुति रूप शब्द होता है, उन सबसे अपने को देव पर्याय मिली जानकर तथा वहाँ उपलब्ध हुए वैभव (ऐश्वर्य) व अपने देवांगनादि परिवार को देखकर भवप्रत्यय अवधिज्ञान से पूर्व-जन्म के वृत्तान्त को जानकर वह देव धर्म की प्रशंसा करता है कि धर्म के आचरण से मैं ऐसे दिव्य सुख सामग्री से परिपूर्ण स्वर्ग को प्राप्त हुआ हूँ। इस प्रकार धर्म की स्तुति करके वह निर्मल सुगन्धमय जल से परिपूर्ण ह्रद मे स्नान करता है। उसके बाद अन्य देव उसका पट्टाभिषेक करते हैं और दिव्य वस्त्राभूषण पहनाते हैं। सम्यग्दृष्टि देव तो स्वयमेव देवाधिदेव जिनेन्द्र का अभिषेक और पूजन करता है और मिथ्यादृष्टि देव अन्य देवों से संबोधित हुआ जिनेन्द्र भगवान की पूजन करता है। वहाँ के सब देव सुख रूप समुद्र मे मग्न होते हुए व्यतीत काल को नहीं जानते हैं। तीर्थंकरों की महापूजा और उनके गर्भादि पंच कल्याणकों मे कल्पवासी देव आते हैं। और अहमिन्द्र देव अपने स्थानों में ही सात पेंड तीर्थंकरों की दिशा मे चलकर रत्नमय मुकुट के धारक अपने मस्तक पर अंजुलि लगाकर अति विनीत भाव से नमस्कार करते हैं।

देवादि की विभूति किनको प्राप्त होती है ?

जिन जीवों ने अनेकप्रकार के तपश्चरणों से आत्मा को विभूषित किया है, सम्यग्दर्शन से जिनकी आत्मा पवित्र है और सम्यग्ज्ञान से जिन की आत्मा मे उज्ज्वल प्रकाश हो गया है, जो शील से सौम्य हैं उनही को स्वर्ग-मुक्ति-लक्ष्मी की प्राप्ति होती है।

ईषत्प्राग्भार नामक अष्टम पृथ्वी

तीन भुवन के मस्तक पर आरूढ ईषत्-प्राग्भार नामकी आठवीं धरा (पृथ्वी) है। उसकी चौड़ाई एकराजू, लम्बाई सात राजू और मोटाई आठयोजन प्रमाण है। वह लोक के अन्ततक चली गई है। उस अष्टम धरा के मध्य मे रूप्यमय उत्तान (ऊपर से चौडी नीचे से सकडी) श्वेत छत्र के आकार गोल सिद्धशिला है। जिसका व्यास (लम्बाई चोडाई) पैंतालीस लाख योजन प्रमाण-मनुष्य लोक के बराबर-है। उसकी मोटाई मध्य मे आठ योजन प्रमाण है और चारों ओर से क्रम क्रमसे घटती चली गई है। उस सिद्धशिला के ऊपर मे जो तनुवात है, उसके अन्त भाग मे सम्यक्त्वादि आठ गुणो से भूषित आनन्द से परिपूर्ण तृप्त सिद्ध परमेष्ठी विराजमान हैं। इस लोक मे जिस पुरुषपुगव के सत्यज्ञान उत्पन्न होजाता है, वस्तु का यथार्थ स्वरूप जिसके हृदय पटलपर प्रतिविम्वित हो जाता है उसकी आत्मा में अद्वितीय सन्तोषामृतपानजनित अनुपम आह्लाद उत्पन्न होता है तब जो चराचर त्रिलोकवर्त्ती पदार्थों का साक्षात् अवलोकन करते रहते हैं, जो अनन्त सुखादि के स्वामी हैं उनके आह्लाद का क्या ठिकाना ? चक्रवर्ती के सुख से भोगभूमिज मनुष्य का सुख अनन्त गुणा है। उससे अनन्तगुणा सुख धरणेंद्र के मानागया है। धरणेन्द्र से अनन्तगुणा देवेन्द्र के है। उससे अनन्तगुणा अहिमिन्द्र के होता है। अतीत अनागत वर्त्तमान सम्बन्धी उन सब सुखों को एकत्र किया जावे तो उसमे भी अनन्त गुणा सुख सिद्धों के क्षणमात्र से उत्पन्न होता है। यह कथन भी बिल्कुल ठीक नहीं है। क्योंकि अन्य सब ससारिक सुख आकुलतामय हैं, पराश्रत (इन्द्रियजन्य) है और सिद्धों का सुख निराकुल और आत्मोत्थ है। उस सुख का ठीक ठीक कथन करने की वचन मे शक्ति नहीं है, वह वचनातीत है।

इस प्रकार लोक के आकार का और उसके मध्यवर्त्ती क्षेत्रादि का तथा उनमे निवास करनेवाले जीवो के कर्मानुसार प्राप्त अवस्थाओं का चिन्तन करने से आत्मा मे धर्माचरण की रुचि विशेष जागृत होता है। लोक मे जिन प्राणियों ने धर्मपालन किया वे परभव मे स्वर्गादि सम्बन्धी दिव्य सुखों का अनुभव करते हुए निराकुल सिद्धावस्था को प्राप्त करके सदा के लिए सुखी बने। तथा जिन्होंने धर्माचरण की उपेक्षा की, मिथ्यात्व का सेवन किया, विषयसेवन मे ही सुख समझा, हिंसादि पापों मे ही मग्न रहे, उनको नरकादि के हृदयविदारक दुःख उठाने पड़े, अनन्त काल के लिए उस निगोद पर्याय की वेदना के पात्र बनना पड़ा जहां से कि निकलकर बाहर त्रस पर्याय मे आना भी अति कठिन है। इत्यादि विचारों का लाभ लोक के स्वरूप का चिन्तन करने से होता है। अर्थात् लोक के स्वरूप का विधिवत् अभ्यास करने से लोक

मे कहाँ कहाँ कितना दु.ख है और कहाँ कहाँ कितना सुख है तथा नित्य निराकुल सुख कहाँ है—यह सब समझ में आजाता है; जिसमे कि धर्म से प्रेम व पाप से भय उत्पन्न होता है और जीव का सुधार होता है। इसलिए लोकानुप्रेक्षा को बार-बार भावो और अपने को कल्याण मार्ग मे लगा रखो।

अशुचि (अशुभ) अनुप्रेक्षा

णिरिएसु असुहमेयं तमेव तिरिएसु बंधरोहादी।
मणुएसु रोगसोगादियं तु दिवि माणसं असुहं ॥ ३० ॥ (मूला द्वा०)

अर्थ-नरकों मे सर्वदा और सर्वप्रकार दु:ख ही होता है। वहाँ पर लेशमात्र भी (सुख) नहीं है। तिर्यंचों मे वध बन्धन, रोध आदि जन्य दु:ख प्राप्त होता है। मनुष्यों मे रोग-शोकादि के निमित्त मे निरन्तर सक्लेश उत्पन्न होता है तथा देवो मे मानसिक दु:ख सताप आत्मा को नित्य जलाता है।

और भी कहा है—

असुहा अत्था कामा य हुंति देहो य सव्वमणुयाणम्।
एओ चेव सुभो णवरि सव्व सोक्खायरो धम्मो ॥ १८१३ ॥ (भ० आ०)

अर्थ-अर्थ(धन) और काम (विषयाभिलाषा) अशुभ है। मनुष्यों का शरीर अशुभ है। संसार में सब जीवों को सुख देने वाला एक धर्म ही शुभ है। अर्थात् अर्थ कामादि सब आत्मा को अशुचि-अपवित्र करने वाले है। आत्मा को पवित्र करने वाला व सुख का अनुभव कराने वाला ससार मे यदि कोई है तो वह एक धर्म ही है।

धन के लोभ मे यह प्राणी राजदण्डादि भावी दुःख की परवाह न करके चोरी करता है। उत्तम कुल के अयोग्य अन्याय मार्ग पर गमन कर जनता मे निन्दनीय होता है। परलोक मे नरकादि के दुःखों को भोगता है, अतः धन मुक्ति का शत्रु, सब अनर्थों का मूल कारण और महाभय का जनक है।

विषय महाअपवित्र वघृणित शरीर से उत्पन्न होते हैं और वह शरीर रूपी कुटी (झोंपडी) अस्थि (हड्डी) रूपी पत्तों से बनी है। नसाजाल रूपी त्वचा (चकमल) से बंधी है। मांसरूपी मिट्टी से लीपी-पोती गई है, और अपवित्र रक्त, चर्बी मल मूत्रादि से भरी है और ग्लानि उत्पन्न करने वाली है। जिस प्रकार लकड़ी का कोयला जलादि से धोने पर भी शुद्ध नहीं होता, उसी प्रकार यह देह पवित्र और सुगन्धित जलादि पदार्थों से निरन्तर धोते रहने पर भी कभी पवित्र नहीं होती। बल्कि यह उन पवित्र और सुगन्धित जलादि को अपवित्र और दुर्गन्धमय बना देती है। क्या मल (विष्टा) से भरा हुआ घड़ा जलादि के द्वारा धोने पर कहीं पवित्र हो सकता है ? यदि नहीं तो क्या महा अपवित्र रुधिरादि से भरा हुआ यह शरीर जलादि मे पवित्र हो सकता है ? सर्वथा पवित्र तो एक रत्नत्रय रूप धर्म ही है जिसका भली भाँति आचरण करने से जल्लोषधि, मलौषधि आदि अनेक ऋद्धियाँ मुनि को उत्पन्न होती हैं। जिनसे मुनि के शरीर के स्वेद मल मूत्रादि अपवित्र पदार्थ औषधि रूप हो जाते हैं और उनके स्पर्श को प्राप्त हुई वायु भी जीवों के भयानक और असाध्य रोगों का क्षण भर मे ध्वंस करती है। अत धर्म ही परमपवित्र है, जो अपवित्र पदार्थों मे पवित्रता और अद्भुत शक्ति उत्पन्न करता है।

हे मुने ! धर्म मे पवित्रता इसलिए है कि वह परम पवित्र शुद्ध आत्मा मे उत्पन्न होता है और यह शरीर अपवित्र इसलिए है कि इसका उपादान कारण भी अपवित्र है।

वही कहा है—

कणिका शुद्धितः शुद्धः कणिकाघृतपूरकः।
वर्चोबीजः कथं देहो विशुद्ध्यति कदाचन ॥ १०३४ (सं भ आ.)

अर्थ—गेहूँ के आटे मे बना हुआ घृतपूरक (घेवर) शुद्ध है, क्योंकि उसका कारण गेहूँ का आटादि शुद्ध है। रक्त और वीर्य से उत्पन्न हुआ शरीर कैसे शुद्ध हो सकता है ? क्योंकि उसका उपादान कारण अशुद्ध है।

शरीर की उत्पत्ति का क्रम —

कललगदं दसरत्तं अच्छदि कलुसीकदं च दसरत्तं।
थिरभूदं दसरत्तं अच्छदि गब्भम्मि तं बीयं ॥ १००७ ॥

तत्तो मासं बुब्बुदभूदं अच्छदि पुणो वि घणभूदं।
जायदि मासेण तदो मंसप्पेसी य मासेण ॥ १००८ ॥

मासेण पंच पुलगा तत्तो हुंति हु पुणो वि मासेण।
अंगाणि उवंगाणि य णरस्स जायंति गब्भम्मि ॥ १००९ ॥

मासम्मि सत्तमे तस्स होदि चम्मणहरोमणिप्पत्ती।
फंदणमट्ठममासे णवमे दसमे य णिग्गमणं ॥ १०१० ॥ (भ. आ)

अर्थ—माता के उदर के भीतर गर्भाशय (बच्चेदानी) में पहुचा हुआ माता का रज और पिता का वीर्य दश दिन पर्यन्त कलल पर्याय मे रहते हैं। अर्थात् अग्नि के सयोग से पिघले हुए तावे और चादी के समान रहते हैं। तथा दशदिन पर्यन्त कलुषित (मिश्रित मलान) अवस्था मे रहते है। पश्चात् दशदिन पर्यन्त दृढ अवस्था मे रहते हैं। इस प्रकार एक मासक मे रजोवीर्य की तीन अवस्थाएँ होती हैं।

इसके अनन्तर दूसरे मास मे उसकी बुलबुले की सी अवस्था होती है। तीसरे मास में वह कठिन (ठोस) हो जाता है। इसके बाद वह चतुर्थ मास म मास की पेशी (डलो) के आकार होता है। पाँचवें मास मे उस मासपेशी से पाँच अ कुर निकलते हैं। नीचे के दो अ कुरों से दो पाँव, बीच के दो अंकुरों से दो हाथ और ऊपर के अंकुर से मस्तक का प्रारभ होता है। उक्त अवयवों की अंकुरावस्था रहती है। तदन्तर छठे मास मे हाथ पाँव नितम्ब (चूतड) छाती, पीठ और मस्तक इन आठ अ गो निर्माण होता है तथा आँख, कान, नाक, कपोल, ओष्ठ अ गुलि आदि उपागों की रचना होती है। सातवें मास मे गर्भ के अवयवों पर चर्म और रोम की उत्पत्ति होती है और हाथ पावों के नख उत्पन्न होते हैं। आठवें मास मे उस गर्भ मे हलन चलन क्रिया होने लगती है। नववें या दसवें मास मे गर्भस्थ बालक उदर से बाहर निकलता है। अर्थात् कभी नववें या कभी दशवें मास में जन्म होता है।

जिनसे यह शरीर बना है उन घृणित पदार्थों का नाम मात्र उच्चारण करने से आगम में भोजन अन्तराय बताया है। फिर ऐसे शरीर से प्रेम करना क्या उचित है ? इस शरीर मे सिवाय अशुचि पदार्थों के अन्य कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो पवित्र हो।

शरीर के स्वरूप का वर्णन प्रथम किरण मे पृष्ठ ७४ पर कर आये हैं। इस महा अपवित्र पदार्थों से भरे हुए शरीर मे जो राग करेगा उसे पुन गर्भ मे निवास करना पडेगा। गर्भ मे जीव की कैसी दशा होती है ? सुनिए —

असुइ विलविले गब्भे वसमाणो वत्थि पडल पच्छण्णो ।
मादुइ सेभलालाइयं पु तिव्वासुहं पिबदि ॥ ३३ ॥ (मू ब्रा)

अर्थ—मूत्र, विष्टा, कफ पित्त रुधिरादि से घृणित माता के उदर मे निवास करता हुआ प्राणी जरायु से आवृत (ढका हुआ) रहता है। वहाँ पर माता के द्वारा भक्षणकिये हुए भोजन से बना हुआ जो कफ और लार मिश्रित रस है, जिसमे भयानक दुर्गन्ध होती है, उसे पीता है। गर्भ मे यह जीव जब ऐसे महा अपवित्र आहार का ग्रहण करता है तब सोचना चाहिए कि जिस शरीर की उत्पत्ति का मूल कारण ही अशुचि है, जिसके प्रारभ का आहार भी अपवित्र है, तथा ससार मे जितने घृणाकारक पदार्थ हैं वे जिसमे सदा भरे रहते हैं, उसमें अनुराग की कौनसी वस्तु है ? इसमे जो जीव का अनुराग होता है उसका अज्ञान और मोह के सिवा कोई कारण दृष्टि-गोचर नहीं होता। क्या कोई बुद्धिमान् विष्टा रुधिरादि से भरे पात्र को शुचि समझेगा और उससे प्रेम करेगा ? जीव को अन्धा बनाने वाले इस मोह को धिक्कार हो।

शुद्धि के भेद

शुचिपना (शुद्धि) दो प्रकार का मानागया है—१ लौकिक और २ लोकोत्तर। लौकिक शुचिता का श्रावकधर्म मे विस्तृत वर्णन किया जावेगा, क्योंकि यहाँ उसका सम्बन्ध नहीं। मुनियों के लोकोत्तर शुचिता मानी गई है। लेकिन नाम निक्षेप मात्र यहाँ भी लौकिक शुद्धि का निरूपण करदेते हैं।

लौकिक शुद्धि के ८ भेद और उनका स्वरूप

लौकिक शुद्धि आठ प्रकार की मानी गई है—१ कालशुद्धि २ अग्निशुद्धि, ३ भस्मशुद्धि, ४ मृत्तिकाशुद्धि, ५ गोमयशुद्धि, ६ जलशुद्धि, ७ पवनशद्धि और ८ ज्ञानशुद्धि। श्री राजवार्तिक मे पवन शुद्धि के बजाय निर्विचिकित्सा शुद्धि मानी है। ये आठों शुद्धिया शरीर को शुद्ध करने मे असमर्थ हैं।

१ कालशुद्धि—रजस्वला स्त्री तीन रात्रि बीतने पर शुद्ध होती है। सूतक की शुद्धि दश दिन मे और पातक-शुद्धि बारह दिन मे मानी गई है। इत्यादि।

२ अग्निशुद्धि—शूद्रादि से स्पर्श किये हुए धातु-निर्मित पात्र अग्नि में तपाने पर शुद्ध माने गये हैं।

३ भस्मशुद्धि—भोजन के उच्छिष्ट वर्त्तन भस्म से मांजने पर शुद्ध होते हैं।

४ मृत्तिकाशुद्धि—मलमूत्रादि के हाथों को तथा उच्छिष्टादि के वर्त्तनों को मृत्तिका से धोने पर पवित्र माने गये हैं।

५ गोमयशुद्धि—भूमि को गोमय (गोबर) से लीपने पर उसकी शुद्धि होती है।

६ जलशुद्धि—वस्त्रादि की शुद्धि जल से धोने पर होती है, तथा कर्दमादि शरीर के लग जाने पर या अस्पृश्य पदार्थों का स्पर्श होने से जलस्नान करने पर शुद्धि मानी गई है।

७ पवनशुद्धि—भूमि, पापान, काष्ट-कपाट आदि की शुद्धि वायु से मानी गई है।

८ ज्ञानशुद्धि—ज्ञान द्वारा शुद्धि को ज्ञान शुद्धि कहते हैं। कालाध्ययनादि ज्ञान को विनय कर ज्ञान की आराधना भी ज्ञानशुद्धि है।

इस प्रकार लौकिक शुद्धि का सच्चेप से वर्णन किया। मुनिमार्ग में लोकोत्तर शुद्धि कार्य-कारिणी है अतः अब उसका वर्णन करते हैं—

लोकोत्तर शुद्धि के आठ भेद और उनका स्वरूप

श्री भट्टाकलकदेव ने तत्त्वार्थराजवार्त्तिक में लोकोत्तर शुद्धि आठ प्रकार की कही है-१भावशुद्धि, २ कायशुद्धि, ३ विनयशुद्धि, ४ ईर्यापथशुद्धि, ५ भिक्षाशुद्धि, ६ प्रतिष्ठापनशुद्धि, ७ शयनासन शुद्धि, ८ वाक्यशुद्धि।

१ भावशुद्धि—कर्मों के क्षयोपशम से मोक्षमार्ग में रुचि उत्पन्न होने से तथा रागादि के अभाव से जो आत्म-विशुद्धि होती है वह भावशुद्धि है।

२ कायशुद्धि—निराभरण, संस्कार रहित, अंगविकार से शून्य, यथाजातरूप को धारण करने वाली, प्रफुल्लित वदन जो शरीर की परम शान्त वृत्ति है वह कायशुद्धि है।

३ विनयशुद्धि—परमभट्टारक श्री अरिहंत देव में, पूज्य गुरुओं में तथा ज्ञानादि गुणों में यथायोग्य भक्ति का होना, गुरु के अनुकूल सदा प्रवृत्ति करना, आगम का पठन पाठन करना तथा मनन करने के पश्चात् द्रव्य, क्षेत्र, कालादि के अनुसार आगमानुकूल उपदेश करना, आचार्य की अनुमति के अनुसार प्रवृत्ति करना विनय शुद्धि मानी गई है।

४ ईर्यापथशुद्धि—नाना प्रकार के जीवों के स्थानों व उत्पत्ति के स्थानो को जानकर जीवों की पीड़ा का परिहार करने के लिए सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित चार हाथ भूमि को अपने नेत्रों से पूर्ण सावधानतया शोधते हुए चलना, न तो बहुत शीघ्र चलना, न बहुत विलम्ब करते हुए चलना, संभ्रान्तचित्त होकर न चलना, इधर उधर-दिशाओं का अवलोकन करते हुए न चलना, किन्तु सम्मुख मार्ग पर दृष्टि रखते हुए-खोये हुए रत्न को ढूढने वाले मनुष्य के समान उपयोग, पूर्ण दृष्टि से मार्गस्थ जीवों को बचाते हुए-गमन करना ईर्यापथशुद्धि कही जाती है।

५ भिक्षाशुद्धि—जिसने लौकिक और लोकोत्तर प्रवृत्ति का ज्ञान प्राप्त करलिया है, पिच्छिका से शरीर के ऊपर के और नीचे के भाग का प्रमार्जन कर लिया है, जो आचार शास्त्रोक्त काल और देश को जान कर उसमे प्रवृत्ति करने मे कुशल (प्रवीण) है, जिसको आहारादि पदार्थों की प्राप्ति मे हर्ष और अप्राप्ति में विषाद नहीं होता है, जिसका चित्त मान से सतुष्ट और अपमान से कुंठित नहीं होता है, जो लोक-निंद्य कुलों मे गोचरी नहीं करता है, जो दीन व अनाथशाला का तथा विवाह याग सम्बन्धी घरो का भोजन ग्रहण नहीं करता है, भोजन के अलाभ मे जिस के चित्त पर लेश मात्र दीनता प्रकट नहीं होती, आचार शास्त्रोक्त निर्दोष व निरन्तराय प्रासुक आहार से ही वैयावृत्यादि करने के लिए अपने शरीर का रक्षण करता है, सरस नीरस आहार मे तथा लाभ व अलाभ मे जो समान वृत्ति वाला है, सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित युवति के द्वारा दिये हुए घास को चरने में ही जैसे गाय लगी रहती है, और उस युवति के सौन्दर्य, वस्त्राभूषण और हाव भाव के अवलोकन करने मे निरुत्सुक होती है, उसी प्रकार मुनीश्वर भिक्षा(भोजन)परोसने वाले मनुष्यों के सुन्दर ललित रूप, वेष, भूषा, विलासादि के तथा उनके द्वारा की गई आहार पान की योजना के अवलोकन करने में निरुत्सुक हुआ यथाप्राप्त निरवद्य सरस नीरस आहार को ग्रहण करता है उसे मुनि के भिक्षा शुद्धि मानी गई है।

६ प्रतिष्ठापनशुद्धि—शरीर के मलमूत्र कफ नखे रोमादि का ऐसे जन्तु रहित एकान्त स्थान मे निक्षेपण करना जिससे कि किसी जन्तु को बाधा न हो और मनुष्यो को ग्लानि हो इसे प्रतिष्ठापन शुद्धि कहते है।

७ शयनासनशुद्धि—जिसस्थान पर स्त्री क्षुद्र-मनुष्य चोर मद्यपायी खटीक जुआरी आदि पापी मनुष्यों का निवास हो, जहा शृङ्गार रस का पोषण होता हो, सुन्दर ललित वेषवती वेश्यादि का तथा नपुसक गौ महिषी आदि तिर्यंचों का गमनागमन होता हो, तथा गीत नृत्य वादित्रादि का प्रचार हो रहा हो, ऐसे स्थानों का परित्याग कर, जन्तु-बाधा रहित अकृत्रिम पर्वत की गुफा वृक्ष कोटरादि मे तथा सूने घरों मे अपने उद्देश से रहित(खाली)किये गये या खाली कराये गये स्थानो मे शयनासन(सोने बैठने,) को शयनासन-शुद्धि कहते हैं।

८ वाक्यशुद्धि—जिनसे पृथिवीकायिकादि जीवों के आरम्भ मे प्रेरणा न हो, जिनमे दूसरे जीवों को पीडाजनक कटु

कठोर असुहावने वचनों का प्रयोग न हो, जो व्रत शील के पोषण करने वाले हों, इस प्रकार के हित, मित और प्रिय वाक्यों के उच्चारण करने को वाक्यशुद्धि कहते हैं।

आस्रवानुप्रेक्षा

दुक्ख-भय-मीण-पउरे संसार-महण्णवे परमघोरे।
जंतु जंतु णिमज्जदि कम्मासवहेदुयं सव्वं ॥ ३७ ॥ (मू० द्वा०)

अथ—दु खमय रूपी मत्स्य जिसमे भरे हैं-ऐसे महाभयानक संसार-समुद्र मे जो ये सब संसारी प्राणी डूबते हैं उसका मूल कारण आस्रव है।

भावार्थ—जिसकी आत्मा मे राग-द्वेष मोह का निवास है, उसके निरन्तर आस्रव होता रहता है। जिस भाव के द्वारा कर्मों का आगमन होता है उसे भावाआस्रव कहते हैं; और कर्मों के आगमन को द्रव्यास्रव कहते हैं। आगम मे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद कपायादि को आस्रव कहा है, वे सब राग द्वेप के ही परिणाम हैं। इनके निमित्त से आत्मा में निरंतर कर्मों का आगम होता रहता है। जैसे समुद्र मे पडे हुए जहाज के पैंदे मे छेद होजाने पर उसमें निरन्तर जल भरता रहता है, उसी प्रकार संसार समुद्र मे पडे हुए इस आत्मा के अन्दर भी राग द्वेप या मिथ्यात्वादि रूप छेद (आस्रव) हो रहे हैं, उनके द्वारा निरन्तर कर्म आते रहते हैं। उनके निमित्त को पाकर आत्मा के साथ लगे हुए कार्माण-वर्गणा रूपुग्दल कर्म रूप बन जाते हैं।

कर्म बनने की योग्यता रखने वाले सूक्ष्म और बादर पुद्गल-परमाणुओ से यह लोक ठसाठस भरा हुआ है। जो शरीर का हिलना चलना, वचनों का उच्चारण तथा मन मे भले बुरे विचार निरन्तर होते हैं उनसे आत्मा के प्रदेशो मे क्रिया होती है और उससे वे कर्म-परमाणु खिंचते हैं तथा आत्मा से सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं। जैसे अग्नि से तपा हुआ गोला जल के मध्य पड़ा हुआ चारों ओर से जल को खींचता है, उसी प्रकार मन वचन काय की क्रिया से सतप्त आत्मा चारों ओर से कर्म परमाणुओं को प्रतिक्षण ग्रहण करता रहता है। ये आगत कर्म परमाणु तब तक कुछ भी विगाड नहीं कर सकते, जब तक कि आत्मा में मिथ्यात्व, अविरति आदि का सद्भाव न हो। जैसे सूखे घडे पर लगी हुई रज चिकनाई के विना उस पर नहीं ठहरती है-वायु के लगते ही दूर हो जाती है। अत. यह सिद्ध है कि ये मिथ्यात्व, अविरति आदि ही कर्म-शत्रुओं को उत्पन्न करनेवाले हैं। ये ही महा शत्रु हैं। आस्रव से बचने के लिए इनको अपनी आत्मा से हटाना चाहिए। इनका स्वरूप सक्षेप मे इस प्रकार है—

वीतराग सर्वज्ञ अर्हंत भगवान् के द्वारा जो द्रव्य, पदार्थ व तत्वों का स्वरूप वर्णन किया गया है, उसका संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित श्रद्धान न करना ही मिथ्यात्व है। हिंसा, असत्य, स्तेय (चोरी), अब्रह्म (मैथुन) और परिग्रह इनका त्याग न करना अविरति (असयम) है। प्रशस्त क्रियाओ के आचरण करने मे उदासीनता रखने को प्रमाद कहते हैं। क्रोध मान माया लोभ ये चार कषाय हैं। ये चारों राग द्वेष की सन्तान हैं। द्वेष से क्रोध-मान उत्पन्न होते हैं और राग से माया-लोभ की उत्पत्ति होती है। यह अज्ञानी जीव अपने हित अहित के विचार से पराङ्मुख हुआ अहित करने वाले शरीर, इन्द्रिय-विषय आदि मे तो अनुराग करता है और हितकर अहिंसा, सत्य, क्षमा आदि धर्म के आचरण से विरक्त रहता है—उनसे द्वेष करता है। आत्मा के शत्रु जो विषय कषाय हैं उनको सुख देने वाले समझ अपनाता है। आत्मा के मित्र सम्यक्त्व सयमादि को दु.खद (शत्रु) समझ उनसे दूर भागता है।

दुर्लभ मनुष्य भव पाकर धर्माचरण की तो उपेक्षा करता है और विषयादि की अभिलाषा करता है। यह विवेकहीन कुकृत्य उस अविवेकी मनुष्य के समान है, जो रत्न द्वीप मे जाकर रत्नो का तो त्याग करता है और काष्ठ का भार ग्रहण करता है। अथवा उस पुरुष के समान है जो पूर्व पुण्य के योग से सुन्दर उपवन मे पहुच कर भी अमृत फल को छोडकर विष फल का भक्षण करता है। यह नर भव पूर्व पुण्य के उदय से मिला है। इसे पाकर जीव को चाहिए कि वह इसे अमृतमय धर्म के पान-करने मे लगावे। विषयादि रूप विष का पान करके तो पहले ही इसने अनन्त काल पर्यन्त वचनातीत दुःख पाये हैं। इसलिए उनका त्याग करना ही इसके लिए हितकर है। जिस दुष्ट योग पाप-जनक मन वचन काय की क्रिया से अशुभास्रव होता है वही जीव का शत्रु है, क्योंकि वही कर्म शत्रुओं का जनक है। अतः यहा शुभ अशुभ आस्रव का विशेष स्वरूप समझाते हैं। अनुकम्पा (दया) और शुद्धोपयोग पुण्य-कर्म के आस्रव द्वार हैं तथा इनसे विपरीत परिणाम पापास्रव के द्वार हैं। योग द्वारा आये हुए कर्मों मे पुण्य (शुभ) रूप परिणमन के उत्पन्न होने को पुण्य कहते हैं, और अशुभ रूप परिणमन के उत्पन्न होने को पाप कहते हैं।

अनुकम्पा के तीन भेद और उनका स्वरूप

अनुकम्पा (कृपा) तीन प्रकार की है—१ धर्मानुकम्पा, २ मिश्रानुकम्पा और ३ सर्वानुकम्पा। उनमे से धर्मानुकम्पा का स्वरूप इस प्रकार है—

धार्मिक पुरुषों पर भक्ति रूप परिणाम होने को धर्मानुकम्पा कहते हैं। उस धर्मानुकम्पा से प्रेरित हुआ विवेकी मनुष्य स्वशक्ति को न छिपाकर सयम मे तत्पर रहने वाले संयमीजनों के योग्य अन्न-पान, औषध, वसती, उपकरणादि संयम के साधक पदार्थों का दान करता है। उनपर आये हुए उपसर्गों का निवारण करता है। 'आज्ञा दीजिए, मैं आपकी सेवा मे उपस्थित हूँ' इत्यादि मधुर वचनों का उच्चारण करता

हुआ उनकी सेवा मे तत्पर रहता है। जिनको मार्ग मे भ्रम उत्पन्न होगया है उन्हें सन्मार्ग का उपदेश देता है। सधर्मियो का सयोग पाकर आनन्द मे विभोर होजाता है, और भाग्य को सराहता है कि मैं बडा पुण्यवान हूँ जो ऐसे सत्पुरुषों का योग मिला है। सभा मे उनके गुणों की महिमा गाता है। जो उन सत्पुरुषों के गुणो का कीर्तन करते हैं उनकी अनुमोदना करता है। उनका प्रतिक्षण स्मरण करता है, ऐसे महाभाग का सत्समागम मुझे कब मिलेगा, इस प्रकार उनके सम्मिलन की उत्कण्ठा रखता है। इत्यादि प्रकार से महापुरुषों की गुण-राशि मे हर्ष प्रकट करने से महान् पुण्य का आस्रव होता है।

जिन्होने असयम का त्याग किया है, मान-अपमान, लाभ-अलाभ, तृण-कचन म समानबुद्धि करली है, इन्द्रिय और मन को अपने वश करलिया है, तीव्रकषाय और विषयो का त्याग किया है, शरीर को नश्वर, धन-वैभव को क्षणभगुर और दिव्य भोगों को रोग समझकर वैराग्य भावना मे अपने को रगलिया है, ससार समुद्र से भयभीत होकर जो रात्रि म अल्पनिद्रा लेते और आत्मा की सुख साधना म सतत सचेत रहते है, जो उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों मे ऐसे मग्न रहते हैं मानो साक्षात् उत्तम क्षमादि धर्म ही शरीर धारण कर दर्शन दे रहे हों—ऐसे महात्माओं पर उक्त प्रकार से अनुकम्पा करने को धर्मानुकम्पा कहते है।

२ मिश्रानुकम्पा—महान् अनर्थ के मूल हिंसा आदि महापातको का एक देश त्याग कर जो अणुव्रती बने हैं तथा सन्तोषामृत के स्वाद का अनुभव करते हैं तथा वैराग्य भावना से जिनका अन्त-करण ओत-प्रोत है, जो दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डत्याग व्रत उन तीन गुणव्रतों का आचरण कर आत्मा के गुणो का विकास कर रहे हैं, जिनके सेवन मे महादोष प्रादुर्भूत होते हैं ऐसे भोग व उपभोग के पदार्थों का जितने त्याग किया है, जो पाप कृत्यो मे डरकर नित्यप्रति यथाकाल स्वल्पदेश व किंचित्वस्त्रादि परिग्रह के सिवा अन्य सब पापकृत्यो का तथा परिग्रहादि का त्यागकर सामायिक करते हैं, पर्वदिनो मे सब आरभ का त्यागकर जो उपवास कर धर्मध्यान में समय बिताते हैं, जो अतिथि के आतिथ्य मे आदर पूर्वक मन की परिणति लगाकर अपने को अहोभाग्य समझते हैं—ऐसे संयतासंयत (देशव्रती) पर अनुकम्पा करने को मिश्र-अनुकम्पा कहते हैं।

जो प्राणियों पर दया तो करते है, किन्तु दया का यथार्थ स्वरूप नहीं समझते हैं, जिनागम से बहिर्भूत अन्य पाखण्डी गुरुओ की सेवा करते हैं, कोमल और कष्टदायक कायक्लेश करते हैं उन पर अनुकम्पा करना भी मिश्रानुकम्पा है। क्योकि गृहस्थो की धर्म में प्रवृत्ति एक देशरूप है। उनको लौकिक व्यवहार और धर्म व्यवहार उभय का आचरण करना पड़ता है। जिस व्यवहार से सम्यक्त्व की हानि न होती हो ऐसी क्रिया करने मे उसे दोष नहीं होता है। इसलिए वह अन्यधर्म के दयालु व दुखी आदि जनो पर और स्वधर्मी गृहस्थों पर अनुकम्पा करता है। दोनो पर अनुकम्पा करने के कारण उसकी अनुकम्पा को मिश्र-अनुकम्पा कहते हैं।

सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि जो स्वभावतः कोमलचित्त होकर, दयासे आर्द्र हृदय होकर, सम्पूर्ण प्राणियों पर दया करते हैं, उस दया को सर्वानुकम्पा कहते हैं। जिससे प्रेरित हुआ वह जीव अन्य प्राणियों के दुःख को अपने दुःख समान मानता हुआ उनको सुख पहुचाने के लिए प्रत्युपकार की अपेक्षा न रखकर सतत प्रयत्नशील रहता है, सत्य उपदेश देता है, ऐसी सर्वानुकम्पा भी पुण्यास्रव का कारण होती है।

शुद्धोपयोग के भेद

शुद्धोपयोग अर्थात् शुद्धपरिणाम–दोप्रकार का है। मुनि का शुद्ध परिणाम और गृहस्थ का शुद्धपरिणाम।

मुनि का शुद्धोपयोग–निर्मल व्रतों का धारण, निर्दोषशील का पालन, स्वाध्यायतत्परता और ध्यानादि में लवलीनता ये सब शुद्धोपयोग हैं। उनके आचरण से निज आत्मा का कल्याण और अन्यजीवों का उपकार होता है। उसके विपरीत आचरण करने वाला मुनि अपने धर्म को कलंकित करता है।

सिद्ध, अर्हंत, आचार्य, उपाध्याय, जिन–प्रतिमा, संघ, जिनधर्म-इन पर भक्ति रखना, विषय में वैराग्य, गुणों पर प्रेम, गुरु आदि का विनय, इन्द्रिय व प्राणिसंयम, प्रमाद का त्याग कर स्वकृत्यों में सावधानता, क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष आदि गुणों का धारण, आहारादि चार संज्ञाओं पर विजय, तीन शल्य और तीन गारव का त्याग, उपसर्ग और परिषहों पर विजय, सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की शुद्धि, सराग संयम, धर्म्यध्यान इत्यादि गुणों को धारण कर जिनेन्द्र की भक्ति का उपदेश, निःशङ्कितादि आठ गुण, तपस्याद्वारा कर्मक्षय करने की उत्कृष्ट भावना, पाचसमिति और तीनगुप्ति आदि मुनियों का शुद्ध उपयोग है। यहाँ पर शुद्धोपयोग से निर्मल परिणाम का ग्रहण है जो शुभोपयोग और शुद्धोपयोग रूप होता है।

गृहस्थ का शुद्धोपयोग–जो व्रत धारण किया है उसका पालन करने की उत्कण्ठा रखना, एक क्षण मात्र भी व्रतभंग को अनिष्ट व अकल्याण-कारक समझना। सदा मुनि-समागम की अभिलाषा रखना, श्रद्धापूर्वक यथाविधि मुनि को आहारादि दान करना, विषय भोगों के सेवन को रोगप्रतीकार का कारण समझते हुए उनका त्याग करने में सामर्थ्य न होने पर भी उनकी निन्दा करना और गृहवास त्याग करने की भावना करते रहना, धर्म का श्रवण कर अत्यानन्द से उल्लासित होना, भक्ति से गद्गद हो पंचपरमेष्ठी की स्तुति करना, वन्दना प्रणाम करना, पूजा करना, अन्यजनों को भी धर्म मे लगाना, उनको स्थिर करना, उनके अज्ञानवश व प्रमाद कृत दोषों का उपगूहन करना (ढकना), साधर्मिक पुरुषों पर अतिप्रेम–वात्सल्य रखना, जिनेन्द्र के भक्तों का उपकार करना, जिनशास्त्रों का उद्धार प्रकाशन, पठन एवं पाठन करना, जिनधर्म की प्रभावना करना आदि गृहस्थों के शुद्ध उपयोग हैं अर्थात निर्मल शुभ परिणाम हैं।

उक्त अनुकम्पा और शुद्धोपयोग के विपरीत परिणामों से अशुभ कर्मों का आस्रव होता है।

संवर–भावना

तम्हा कम्मासवकारणाणि सव्वाणि ताणि रुंधेज्जो।
इंदिय–कसाय–सण्णा–गारव रागादि आदीणि ॥४८॥ (मूला. द्वा.)

अर्थ–इन्द्रिय, कषाय, संज्ञा गारव और रागादि इनसे कर्मों का आस्रव होता है। इन कारणों से निरन्तर आत्मा मे कर्मों का आगमन होता है इसलिए इन सम्पूर्ण कर्मास्रव के कारणों को रोकना चाहिए।

भावार्थ—इन्द्रियाँ दुर्दान्त अश्व के समान हैं, ये आत्मा को विषय रूप उत्पथ (कुमार्ग) मे लेजाकर नरकादि कुगति रूपी महागर्त (अगाध खड्डे) मे पटकती हैं। अर्थात् आत्मा पचेन्द्रियों के विषय भोग मे लम्पट होकर महान् पाप कर्मों का बन्ध करके, उनका फल भोगने के लिए नरक निगोदादि दुर्गति मे जाता है। वहाँ उसे मनसे भी अचिन्त्य दुःख भोगने के लिए वाध्य होना पड़ता हैं। उनको रोकने के लिए, अपने वश मे रखने के लिए ज्ञान और वैराग्य ये दो कारण हैं। जिस प्रकार दुर्दान्त अश्व को अपने वश मे रखने के लिए सवार के हाथ मे लगाम होती है, उसीसे वह अश्व को अनुचित मार्ग से रोक कर उचित सत्पथ पर ले आता है, उसी प्रकार विषय की ओर दौडती हुई इन्द्रियों को सन्मार्ग में लाने वाला विवेक-ज्ञान और विषय-वैराग्य हैं। क्योंकि विवेक ज्ञान और विषय–वैराग्य से अन्तःकरण की प्रवृत्ति विषयों से हटती है। उसकी चचलता दूर होकर एकाग्रता होती है। उसी मनकी एकाग्रता से इन्द्रिय रूपी सर्पों का निग्रह होता है। जिस प्रकार विद्या, मन्त्र और औषधि से रहित मनुष्य मे जहरीले सर्पों को वश मे करने का सामर्थ्य नहीं होता उसी प्रकार ज्ञान वैराग्य से जिसका मन वश मे नहीं हुआ–है एकाग्र नहीं हुआ है वह विषय–विष के आस्वादन करने मे चपल इन्द्रियों को अपने वश मे नहीं कर सकता है।

कषाय कर्मों के मूल कारण हैं। उन्हीं से स्थिति और अनुभाग (आत्मा को सुख दुःखादि देने की शक्ति) वंध होता है। अतः कषयों को रोकने पर सव कर्म–आस्रव रुक जाते हैं। अर्थात् योग द्वारा आये हुए कर्म भी कषाय के अभाव मे एक समय तक ठहर कर अपने आप निवृत्त हो जाते हैं। अधिक समय तक आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं रखते हैं। तथा एक समय तक भी आत्मा का भला बुरा नहीं कर सकते हैं। अतः कषाय ही आस्रव का द्वार है। जिस प्रकार समुद्र मे पडी हुई नाव के छिद्र वन्द करने पर उसमे जल नहीं भरता है, वह जल मे नहीं डूवती है, उसी प्रकार कर्मों के द्वारभूत कषायों के रोक देने पर आत्मा में कर्मों का सम्बन्ध नहीं होता है, और आत्मा ससार समुद्र मे नहीं डूवती है। आशय यह है कि कषायों के रोकदेने पर मूल से सव आस्रव रुक जाते हैं। यद्यपि योगादि के द्वारा आस्रव होता है, तथापि उससे आत्मा की कुछ हानि नहीं होती।

प्रमादकथन

४ विकथा, ४ कषाय ५ इन्द्रिया, १ निद्रा और १ स्नेह इन पन्द्रह प्रमादों से जीवों के निरन्तर कर्मों का आश्रव होता रहता है। इनका निरोध अप्रमाद अवस्था से होता है। जैसे रणागण में शत्रुओं के शस्त्र प्रहार को शूरवीर पुरुष ढाल से रोकते हैं, वैसे ही कर्मों को पराजित करने के लिए उनसे युद्ध करने वाला शान्त धीर वीर मुनि नवीन कर्म शत्रुओं का आगमन अप्रमाद (स्वाध्याय ध्यानादि) रूपी ढाल के द्वारा रोकता है।

स्वाध्याय और ध्यान मे एकाग्रता रूप अप्रमाद (सावधानी) से विकथा-प्रमाद-जन्य कर्मों का आगमन रुक जाता है। क्योंकि सत्य-भाषा, असत्यमृषाभाषा, स्वाध्याय और ध्यान मे चित्त की एकाग्रता ये विकथा-प्रमाद के प्रतिपक्षी हैं।

क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौच (सन्तोष) कषाय-प्रमाद के शत्रु हैं।

ज्ञान का सर्वदा अभ्यास करना, राग द्वेष उत्पन्न करने वाले इन्द्रियों के विषयों से अलग होकर एकान्त प्रदेश मे रहना, ज्ञान बल से मन को निज स्वरूप मे एकाग्र करना, इन्द्रियों के विषयों का स्मरण न करना, विषयों की प्राप्ति होने पर उनमें आदर न करना, ये सब प्रमाद के विनाशक हैं।

इन्द्रिय के विषयों से विरक्ति

प्रश्न—मुनि इन्द्रियों के विषय प्राप्त होने पर उनमे किस प्रकार अनादर करते हैं ?

उत्तर—मुनि राग भाव से सुन्दर स्त्री के अवयवों पर दृष्टि नहीं डालते हैं। अकस्मात् दृष्टि पड जाने पर राग भाव उत्पन्न नहीं करते और दृष्टि को खींच लेते हैं। द्वेष के वश होकर अशुभ रुप को नहीं देखते और अशुभ रूप दिखलाई देने पर उससे द्वेष नहीं करते हैं। इस प्रकार मुनि नेत्रेन्द्रिय को अपने वश मे करते हैं।

उत्तम गायन व कर्णमधुर संगीत की ध्वनि तथा युवती महिलाओ के कोकिल कण्ठ से निकले मधुर मंजुल स्वर सुनने की मुनि अभिलाषा नहीं करते हैं और अचानक सुनाई देने पर उनमे आसक्त नहीं होते हैं। तथा अनेक असुहावने कर्कश कठोर शब्दों को सुनकर क्रोधित नहीं होते, इस प्रकार कर्णेन्द्रिय पर अपना काबू रखते हैं।

जो मुनि, चन्दन, कर्पूर, केसर, चम्पक, गुलाब आदि की मनमोहक सुहावनी गन्ध को सूघने की उत्कण्ठा नहीं करते तथा अचानक

सुगन्ध घ्राणगोचर हो जाने पर चित्त में अनुराग नहीं करते हैं तथा अत्यन्त अप्रिय दुर्गंध का सम्बन्ध होने पर ग्लानि व द्वेष नहीं करते हैं वे मुनीश्वर घ्राणेन्द्रिय के विजयी होते हैं।

जो अतिमधुर सुस्वादु भोजन के रसास्वादन में लोलुप नहीं होते हैं, तथा दैवयोग से विशिष्ट स्वादिष्ट रसीले भोजन के प्राप्त होने पर उसका आसक्त भाव से आस्वादन नहीं करते हैं, तथा असुहावने कटु अस्वादु भोजन के रस मे द्वेश भाव नहीं करते ऐसे मुनि रसनेन्द्रिय को स्वाधीन करते हैं।

सुन्दर कोमल शय्या, रूपवती स्त्री तथा अन्य सुखदस्पर्श मन का आकर्षण करते हैं। किन्तु जो मुनि विरक्त भावना से भावित होकर उनके सेवन की अभिलाषा तो दूर रही, उनका स्मरण तक नहीं करते है, तथा स्वाभाविक सुन्दर स्पर्श का सयोग होने पर उसके सेवन मे अनुरक्त नहीं होते हैं, शीतस्पर्श या उष्णस्पर्श वाली भूमि, पर्वतशिला अथवा कठोर तृणादि का स्पर्श होने पर मनमे खेद नहीं करते वे ही स्पर्शनेन्द्रिय के विजयी होते हैं।

जो अनशन, अवमौदर्य रसपरित्याग करते हैं, ससार से भयभीत रहते हैं, रत्नत्रय मे अनुराग रखते और अपने दुष्कृत्यों का स्मरण कर उन पर पश्चात्ताप करते हैं, वे मुनिराज सदा आलस्य का त्याग कर निद्रा को जीतते हैं।

स्नेह का नाश करने के लिये मुनि ऐसा चिन्तन करते हैं कि बन्धुगण आदि सब अस्थिर हैं, स्वार्थ परायण हैं, अपने प्रयोजन की पूर्ति पर्यन्त साथ देने वाले हैं। उनके निमित्त आरंभादि पापकर्म करने की चिन्ता होती है, जो नरकादि कुगति में लेजाने वाली है। येही बन्धुगण धर्म मे विघ्नबाधा उपस्थित करते हैं, सदा आत्मा को विपरीत मार्ग मे लगाने वाले हैं इत्यादि। इस प्रकार अप्रमाद रूप ढाल हाथ मे लेकर मुनि प्रमाद शत्रु का मुकाबला करता है। जिस प्रकार किले के द्वार बन्द कर देने पर बाहर से शत्रु का प्रवेश रुक जाता है, उसी प्रकार अप्रमाद के किवाड़ जुड देने से आत्मा में कर्मशत्रु का प्रवेश रुक जाता है। जैसे-कोट खाई आदि से सुरक्षित नगर में शत्रु सेना प्रविष्ट नहीं होसकती वैसे ही मनोगुप्ति, वचन गुप्ति और कायगुप्ति से सुरक्षित आत्मा मे कर्म-शत्रुओ का प्रवेश बद हो जाता है।

इसलिए उक्त प्रकार से आस्रव के कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय के विपरीत सम्यक्त्व, सयम, स्वाध्याय, ध्यान और क्षमा मार्दव आर्जव सन्तोष का अभ्यास करके कर्मों के आस्रव का निरोध करने मे सतत उद्यत रहो।

निर्जरानुप्रेक्षा

रुद्धासवस्स एवं तवसा जुत्तस्स णिज्जरा होदि।
दुविहा य सावि भणिया देसादो सव्वदो चेव ॥ ५४ ॥ (मूला द्वा०)

अर्थ—जिसने कर्मागमन द्वार को ढक दिया है, एवं जो तपस्या से युक्त है, उसके कर्मों की निर्जरा होती है। वह दो प्रकार की है-१ एकदेशनिर्जरा और २ सर्वनिर्जरा।

भावार्थ—आत्मा के साथ सम्बद्ध कर्म परमाणुओ के आत्मा से पृथक् होजाने को अर्थात् उन कर्म-परमाणुओ में आत्मा को परतन्त्र करने की शक्ति के नष्ट होजाने को निर्जरा कहते हैं।

निर्जरा के भेद और उनका स्वरूप

पुव्वकदकम्मसडणं तु णिज्जरा सा पुणो हवेदुविहा।
पढमा विवागजादा विदिया अविवागजाया य ॥ १८४७ ॥ (भग-आ०)

अर्थ—पूर्वकाल मे किये हुए कर्मों का जीव के प्रदेशो से पृथक् होना निर्जरा है। उसके दो भेद हैं-१ सविपाक निर्जरा और २ अविपाक निर्जरा।

सम्पूर्ण ससारी जीवो के चाहे वह सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि सबके उदय में आये हुए कर्मों की सुख दु:खादि रूप फल देकर जो निर्जरा होती है उसे एकदेश निर्जरा कहते हैं। उसीका नाम सविपाक निर्जरा है। और जो तपस्या द्वारा बिना फल दिये हुए कर्मों की निर्जरा होती है, अर्थात तपश्चरण द्वारा कर्मों की फल देने की शक्ति का नाश करके जो निर्जरा होती है उसको अविपाक निर्जरा कहते हैं। इसका विशेष विवेचन पहले कर आये हैं।

आम्रादि फल दो तरह से पकते हैं। एक तो समय पर पकते हैं और दूसरे कच्चे फल तोडकर पाल मे पकाये जाते हैं, इसी प्रकार निर्जरा भी दो तरह की होती है। कर्मों की स्थिति पूर्ण हो जाने पर अपना सुख दु:खादि फल (रस) देकर शुष्क हुए कर्म स्वय झडजाते हैं—आत्मा से अलग हो जाते हैं वह सविपाक निर्जरा है। उस निर्जरा से आत्माका कुछ भी हित नहीं होता, क्योकि वह नवीन कर्म को उत्पन्न करके पश्चात् होती है। दूसरी अविपाक निर्जरा है। जो सवर पूर्वक तपस्या से कर्मों का रस सुखाकर स्थिति पूरी हुए बिना ही कर्मों की निर्जरा होती है, वही आत्मा का हित करने वाली है। इसीसे शनैः शनैः सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सवर रहित निर्जरा से नवीन कर्मों का बन्ध (सम्बन्ध) होता है, जैसे नौका के जल प्रवेश करने के छेद को न बन्द करने से नौका मे निरन्तर जल आता रहता है, वैसे ही बिना कर्मास्रव का निरोध किये निरन्तर कर्मों का सम्बन्ध होना रहता है। और जब तपरूपी

अग्नि मे सुवर्ण रूपी आत्मा को ज्ञानरूपी सुहागा डालकर चारित्र रूपी भस्त्रा (धोकनी) से धमा जाता है तब कपायादि रूप कीट कालिमा नष्ट होती जाती है और सुवर्ण रूपी आत्मा शुद्ध होती जाती है। इस प्रकार होते होते सम्पूर्ण कर्मों की जब निर्जरा हो जाती है, तब यह आत्मा जन्मजरामरणरोगशोकादि बन्धन से विमुक्त होकर अनन्त आनन्द को पाता है। इसलिए इस निर्जरा की निरन्तर आराधना करो जिससे ससार के सब दुःखों से मुक्ति पाकर अविनाशी सुख के अधिकारी बनो।

धर्मानुप्रेक्षा

सव्वजगस्स हिदकरो धम्मो तित्थकरेहिं अक्खादो।
धरणा तं पडिवरणा विसुद्धमणसा जगे मणुया ॥ ६० ॥ (मूला० द्वा०)

अर्थ—सम्पूर्ण जगत का हितकारक धर्म है-ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है। जिन मनुष्यो ने विशुद्ध अन्तःकरण मे उत्त. उत्तमक्षमादि रूप धर्म को धारण किया है-जगत् मे वे महात्मा धन्य हैं, कृतार्थ है।

धर्म का स्वरूप

ससार की दु ख परम्परा से हटाकर जो निराकुल सुख शान्ति देने वाला है उसे धर्म कहते हैं। धर्म नाम वस्तु के स्वभाव का है। जिस वस्तु का जो वास्तविक स्वभाव होता है वही उसके लिए हितकारी है। जब वस्तु मे किसी अन्य पदार्थ का मेल होता है तब वह विकृत और मलीन होजाती है। जैसे पारे के साथ गन्धक का योग होने पर कजली हो जाती है, जो पारे के रङ्ग-रूप आदि गुण की विकृत अवस्था है। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव राग द्वेप रहित निराकुल अवस्था है। उसको कर्म के सयोग ने विकृत बनाकर राग द्वेप रूप बना दिया है। इस विकृतावस्था को दूर करने के उपाय को भी धर्म कहते हैं उस उपाय रूप धर्म का नाम चारित्र है। जैसे पारे के साथ गधक का सयोग होने पर कजली बनती है। पारे की उस विकृत अवस्था को दूर कर पुनः शुद्ध अवस्था मे लाने के लिए रासायनिक विधि से अग्नि मे तपा कर उसको गन्धक से अलग कर दिया जाता है। तब पारा अपनी शुद्ध अवस्था को प्राप्त होजाता है। उसी प्रकार कर्मों के सयोग से उत्पन्न हुई रागद्वेपादि रूप मलीन अवस्था को दूर करने के लिए विवेक ज्ञान रूप रासायनिक विधि से चारित्र रूपी अग्निद्वारा आत्मा को शुद्ध किया जाता है। इसलिए उस शुद्धि के उपाय भूत चारित्र को भी आगम मे धर्म कहा है। इस प्रकार वस्तु के स्वभाव को तथा वस्तु को शुद्ध करने वाले-उसके शुद्ध स्वभाव को प्राप्त कराने वाले-उपायो को भी धर्म कहा है। अत. आगम मे धर्म के चार लक्षण बताये हैं :—

"धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो ।
चारित्तं खलु धम्मो जीवाणं रक्खणो धम्मो ॥"

अर्थात्—१ वस्तु का स्वभाव धर्म है । २ उत्तमक्षमादि दशलक्षण धर्म है । ३ महाव्रतादि तेरह प्रकार का मुनि-चारित्र और अणुव्रतादि गृहस्थ चारित्र धर्म है । ४ जीवों की रक्षा करना धर्म है । इनमें से पहला धर्म का मुख्य लक्षण जो वस्तु का स्वभाव है उसी को (आत्मा के स्वभाव को) स्पष्ट करने के लिए क्षमादि को धर्म कहा है । क्योंकि क्षमा मार्दव आर्जव सत्य शौचादि आत्मा के स्वभाव हैं। इसलिए इनका वस्तु-स्वभाव रूप धर्म के मुख्य लक्षण में समावेश होजाता है और जो तीसरा और चौथा धर्म का लक्षण है, दोनो वस्तु के स्वभाव की प्राप्ति के उपाय हैं । क्योंकि चारित्र का पालन करने से तथा स्वदया और परदया का आचरण करने से आत्मा की व्यावहारिक शुद्धि होती है और धीरे २ आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव को प्राप्त करता है।

इसका आशय यह है कि जिन जिन उपायों से आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव की ओर झुकता है, तथा जिनका आचरण-धारण व पालन करने से आत्मा में एकदेश व सर्वदेश निराकुलता की प्राप्ति होती है, उन्हें ही धर्म समझना चाहिए।

दश लक्षण धर्म

उत्तम क्षमा

यह शरीर मल का घड़ा है । आत्मा का शत्रु है । आत्मा में जितने भी क्रोधादि या राग द्वेषादि शत्रु उत्पन्न होते हैं वे इसी के निमित्त से उत्पन्न होते हैं । देखो जब तुम तप की साधना के लिए परगृह में आहार के लिए जाओ, प्रतिष्ठापनासमिति (मल मूत्र त्याग) के लिए जाओ, आगम की आज्ञा के अनुसार ग्रामान्तर के लिए मार्ग में ईर्या समिति का पालन करते हुए चलो, उपदेश देते होओ, ध्यान-निमग्न होओ या अन्य किसी स्थिति में होओ किसी भी समय कोई भी दुष्ट जीव अपने अशुभ कर्म के प्रेरित हुआ तुम्हें दुर्वचन कहे कि यह अज्ञानी पशु है, दम्भी है, पाखण्डी है, धूर्त है इत्यादि मन में क्षोभ उत्पन्न करने वाले मर्म भेदी कठोर निष्ठुर वचन बोले, तुम्हारी जन समाज के सम्मुख हंसी करे, अपमान और अनादर करे, तुम्हें पीटने लगे और प्राणघात का अवसर भी आवे, तो भी उस समय तुमको विचारना चाहिए कि ये दुर्वचनादि क्या पदार्थ हैं और ये दुर्वचन किसे कह रहा है ? ये वचन तो पुद्गल हैं, इसने क्रोधादि के वश होकर अपनी आत्मा का घात करके कलुषित परिणामों से तथा अपने तालु ओष्ठ आदि के व्यापार से ये वचन उत्पन्न किये हैं । इनका मेरी आत्मा के साथ क्या सम्बन्ध ? कोई सम्बन्ध नहीं है । मेरी आत्मा अमूर्त्त है और ये पुद्गल है । जैसे आकाश मे जलती हुई अग्नि आकाश का कुछ भी बिगाड

नहीं करसकती, क्योंकि वह अमूर्त्त है, उसी प्रकार मेरी अमूर्त्त आत्मा का ये कुछ भी विगाड़ नहीं कर सकते। आत्मा तो दूर रहा, ये दुर्वचन मेरे इस शरीर का भी कुछ बिगाड नहीं करसकते। फिर रोष करना कितनी मूर्खता है? इसने जो दुर्वचन कहे या गाली दी है वह किस को दी है? इस शरीर को ही तो दी हैं। मुझे तो इसने देखा ही नहीं। इसकी चर्म-चक्षु मुझे देख नहीं सकती और यदि देख लेती तो यह कभी दुर्वचन नहीं बोलता। इस शरीर को देखकर इसने गाली दी है और यह मेरा नहीं है-इस प्रकार चिन्तन करो।

यदि कोई मारने लगे तो सोचो कि यह किसको मारता है? मुझ को तो नहीं मार रहा है। मैं तो अजर अमर हूँ। इस शरीर को मारता है, इससे मेरा क्या सम्बन्ध? यह शरीर तो कर्म-कृत है, मेरा इसमें क्या है? इस प्रकार विचार करो। यदि तुम उसपर क्रोध करोगे तुम्हारा ही अनिष्ट है। क्रोधी मनुष्य प्रथम अपने आत्मा की हिंसा करता है, अपने शुद्ध स्वभाव का घातकर द्वेष उत्पन्न करता है, अपने ज्ञान गुण का विनाश कर अज्ञानी बनता है। क्रोध आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा तो शान्ति स्वभाव है। यदि तुमने अपने शान्त स्वभाव का नाश कर क्रोध किया तो तुम्हारा जिनलिंग धारण करना व्यर्थ है। कहीं जल में अग्नि लगते नहीं सुना और नहीं देखा। जिनेन्द्र समान रूप के धारक बनकर यदि तुम क्रोध करोगे तो मुनिपद की अवहेलना होगी। तुम्हारे निमित्त से जिनधर्म कलङ्कित होगा। शूर वीर मुनि की क्षमा ही ढाल है। दुर्वचनादि के प्रहार को क्षमा रूपी ढाल पर झेलने से शत्रु स्वय हार जावेगा, और तुम्हारी विजय होगी। यदि तुम उसे वास्तव में पराजित करना चाहते हो तो उसका क्रोध शान्त होजाने पर तुम्हारा अपराध न होने पर भी तुम उससे विनीत भाव से क्षमा मागो और कहो कि हे सज्जन! तुम मेरे बडे उपकारी हो। तुमने मुझे अपराध से सचेत किया। तुम्हारे चित्त को मेरे द्वारा बड़ा दुःख हुआ। मैं तुमसे इसकी क्षमा चाहता हूँ। यदि तुम्हारे में उसके प्रति किसी प्रकार के उपकार करने की शक्ति है तो उसका ऐसा उपकार करो कि उस उपकार के भार से वह इतना दब जावे कि जन्म भर तुम्हारे गुण को न भूले। उसका अन्तःकरण अन्दर ही अन्दर तुम्हारे लिए धन्य धन्य की ध्वनि करता रहे। इससे तुम्हारी महिमा की महक अदृश्य ससार में भी महकने लगेगी। जिसके पास क्षमा रूपी शस्त्र है उसका कोई कुछ नहीं बिगाड सकता।

जिसने क्रोध शत्रु को जीत लिया है वही वीर पुरुष क्षमा को धारण कर सकता है। कायर मनुष्य इसे धारण नहीं कर सकता। जिसकी आत्मा बाह्य तुच्छ निमित्तों के संयोग से विकारवान् होती है वह क्रोध शत्रु से लोहा नहीं ले सकता है। उसको परास्त करना साधारण व्यक्ति का काम नहीं है, इसीलिए कहा है 'क्षमा वीरस्य भूषणम्' क्षमा वीर पुरुष का भूषण है।

क्षमा तभी मानी जाती है जब कि अपराधी के प्रति मन में विकार भाव उत्पन्न न हो। किसी बलवान और समर्थ पुरुष के ऊपर बलहीन असमर्थ मनुष्य का वश न चलने पर वह मन ही मन में क्रोध को दबाये रहता है और ऊपर से क्षमा भाव दिखाता है तो वह क्षमा नहीं है। क्योंकि उसके अन्त करण में क्रोध की अग्नि दहक रही है। यदि उसके हृदय में इतनी निर्मलता हो कि उसमें प्रति–

क्रिया (वदला लेने) के भाव न हो और परोक्ष मे भी वह उसकी वचनादि द्वारा निन्दा न कर प्रशसा करे तो उस असमर्थ व्यक्ति के भी क्षमा कही जा सकती है, किन्तु जो समर्थ है और असमर्थ के ऊपर क्रोध न कर उसके प्रति उदार भाव प्रदर्शित करने के लिए उस अशक्त व्यक्ति पर उपकार करने का अवसर ढूढता है तथा अवसर मिलते ही उसका उपकार करके प्रसन्न होता है वह क्षमा श्लाघनीय है।

प्रश्न—क्षमादि के साथ जो उत्तम शब्द लगा है उसका क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—ख्याति, सासारिक लाभ, पूजा, सत्कार आदि की अभिलाषा न रखकर क्षमादि का धारण करना धर्म माना गया है। इस वात को सूचित करने के निमित्त उत्तम शब्द का प्रयोग किया गया है।

इस क्षमा के धारण से व्रत और शील की रक्षा होती है। क्षमा धारण करने वाले के कोई शत्रु नहीं होता। उसके स्वत. सब मित्र वन जाते हैं। इस लोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी दु.ख का विनाश होता है। समस्त प्राणी उसका आदर सम्मान करते हैं। उस को अलब्ध वस्तु का लाभ और ससार मे ख्याति होती है। इनके सिवा और भी अनेक गुण उत्पन्न होते हैं। और क्रोध करता है उसके निकट बन्धु भी शत्रु वन जाते हैं। माता पिता भी क्रोधी पुत्र का सयोग अनिष्ट कारक समझते हैं, धर्मपत्नी भी क्रोधी पति का अनादर करती है, पुत्र उसकी अवहेलना करता है, मित्र सम्बन्ध तोड लेते हैं, विना कारण सारा संसार उसका शत्रु वन जाता है। उसके धर्म, अर्थ काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थ नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार क्रोध-जन्य दोषों का विचार कर क्षमा धारण करना चाहिए।

क्रोध के कारण उपस्थित होने पर आत्मा मे विचारना चाहिए कि इसमे मेरा दोष है या नहीं ? यदि मेरा दोष है तो मेरा क्रोध करना निष्कारण है। इसने क्या मिथ्या कहा ? जो मेरे मे दोष हैं, उसका प्रकाशन किया। मैं अपराधी हूं। मुझे अपने अपराध का दण्ड मिलना आवश्यक है। यदि अपना दोष न हो तो ऐसा विचार करे कि कोई मुझे बुरा भला कहे, गाली गलोच दे, या निन्दा करे तो मेरी क्या हानि है ? मैं निर्दोष हू, मुझे क्या डर है ? इससे मेरी आत्मा को कुछ भी हानि नहीं होती। इसलिए मुझे क्षमा धारण करना चाहिए। यह अज्ञानी है और मैं ज्ञानवान्, चारित्रवान् हू। यदि मैं भी इसके समान क्रोध करूगा तो इसमे और मुझमे क्या अन्तर रहेगा ? मैंने वह जगत् पूज्य वेष धारण कर रखा है, जिसकी चक्रवर्ती और देवेन्द्रादि भी पूजा करते हैं। अज्ञानी लोग तो मारने लगजाते हैं। इसने मुझे मारा तो नहीं। दुष्ट जीव मारने भी लग जावें तो सोचे कि इसने मुझे प्राणरहित तो नहीं किया। क्योंकि क्रोधी दुष्ट जीव तो प्राणों का घात तक करते हैं। पुरातन समय मे सुकोशल, पच पाण्डव आदि मुनियों पर कितना भयानक उपसर्ग किया गया था। यदि प्राणों के घात का अवसर आजावे तो विचारे कि कि मेरा अहो भाग्य है कि सावधान अवस्था मे मेरी मृत्यु का समय उपस्थित हुआ है। यह शरीर तो अवश्य छूटता, अनेक रोगादि पीडित अवस्था मे प्राण छूटते तो दुर्ध्यान से मरना होता। यह तो मुझे वडा लाभ हुआ जो सावधान और ज्ञानवैराग्य अवस्था मे प्राणों का वियोग होता है। इसमे इसका कुछ भी अपराध नहीं है। यह तो निमित्त मात्र है। मैंने पूर्व जन्म मे जैसा कर्म उपार्जन

किया उसका फल मुझे अवश्य भोगना पड़ेगा। यह बेचारा क्या कर सकता है ? प्राण-वियोग अवश्य होता, उसमे यह निमित्त मात्र है । नहीं तो दूसरा निमित्त अवश्य मिलता। मुझे इस समय क्षमा धारण करना श्रेयस्कर है। सबसे बड़ा लाभ मुझे यह है कि मेरी आत्मा की नि जो रत्नत्रय है, वह सुरक्षित है। शरीर तो मेरी वस्तु नहीं है। यह तो कर्म ने दिया था और वह अपनी दी हुई वस्तु लेता है। मेरी वस्तु मेरे पास है। उसको कोई छीन नहीं सकता। यदि मैंने इस समय अपनी आत्मा मे क्रोध शत्रु को बुलाया तो वह दुष्ट मेरी चिर उपार्जि रत्नत्रय निधि को लूट लेगा और मैं दीन हीन होकर अनन्त काल के लिए दरिद्री बन कर न जाने कौनसी गति मे भटकता फिरूगा । अ एव मुझे माता के समान सर्वदा सुख देने वाली क्षमा का ही आराधन करना चाहिए।

उत्तम मार्दव—

मान कषाय के अभाव से आत्मा में जो विनय (नम्र) भाव उत्पन्न होता है उसे मार्दव गुण कहते हैं। मान दो प्रकार का है १ शुभ रूप २ अशुभ रूप। जिन कार्यों से आत्मा का पतन होता है, समाज और राज्य मे अपमान होता है उन नीच कार्यों को प्राणान्त क आने पर भी नहीं करना, उसे शुभमान कहते हैं। इसी का नाम स्वाभिमान है। कहा भी हैं.—

अपमानकरं कर्म येन दूरान्निषिध्यते ।
स उच्चैश्चेतसां मानः परः स्वपरघातकः ॥ ५६ ॥ (ज्ञाना०)

अर्थ—उन्नत चित्त वाले मनस्वी मानवों का वह मान प्रशस्त मानागया है, जिस मान से अपमान जनक कृत्यो का दूर से ही त्याग किया जाता है। मैंने उत्तम जाति मे जन्म लिया है। प्रशंसनीय कुल और सर्व श्रेष्ठ जिन धर्म को पाया है । क्या अधर्म व धर्महीन मनुष्यों के योग्य कार्यों को करूगा ? कदापि नहीं। इस प्रकार के स्वाभिमान को प्रशस्त मान माना है। ऐसा मान तब तक उपादेय है, जब तक शुद्ध उपयोग तथा आत्मध्यान में प्रवृत्ति नहीं हो रही है। उस समय तो यह मान भी सर्वथा त्याज है। भाव यह है कि आत्मा की उन्नति के लिए तथा दूसरों को उन्नत मार्ग मे प्रवृत्त कराने के लिए मान पूर्वावस्था में उपादेय हो सकता है। किन्तु जो जाति, कुल, ज्ञान, शरीर, ऐश्वर्य, तपस्या आदि का अभिमान करना अशुभ मान है–सर्वथा उस मान का त्याग करना चाहिए। श्री स्वामी समन्तभद्राचार्य ने कहा है:—

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥ १ ॥ (रत्न करण्ड श्रा०)

मेरी जाति श्रेष्ठ है, मैं उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ हूँ। तू नीच जाति व नीच कुल का है। मैं तुमसे श्रेष्ठ हूँ। मैंने बहुत ज्ञान प्राप्त किया है-मैं सबसे अधिक ज्ञानवान् हूँ, तुम सर्व मूर्ख हो। मैं बड़ा भारी ऐश्वर्यवान हूँ। ये रंक मेरी बराबरी क्या करते हैं? मैं जगत् मे पूज्य हूँ। सब मेरा सत्कार करते हैं। मेरे मे इतना सामर्थ्य है कि इन सबको क्षण भर मे पीस डालूँ। ये अशक्त मेरी शक्तिको नहीं जानते हैं। इनको मजा चखा दूँगा। मै बडा भारी तपस्वी हूँ। मेरी तपस्या के प्रभाव को ये रंक क्या समझते हैं? मेरा शरीर बड़ा सुन्दर है,ये सब कुरूप निन्दा के पात्र हैं, इत्यादि प्रकार से कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त हुए ज्ञान, आदर-सत्कार, कुल,जाति, बल, ऋद्धि (ऐश्वर्य), तप और शरीर का अभिमान करना अशुभमान है। क्योंकि यह अभिमान आत्मा को नीचे गिराने वाला है, इसका सम्बन्ध पुद्गल से है। इसका आश्रय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त तथा क्षणभगुर है। अपनी (आत्मा की) वस्तु नहीं है दूसरे की (कर्म की) थोड़े काल के लिए धरोहर है। दूसरे की सम्पत्ति से अपने को धनवान समझने वाला जैसे हास्य व निन्दा का पात्र होता है,वैसे ही उक्त जाति आदि वस्तुओ के निमित्त से अभिमान करने वाला हास्य व निन्दा का पात्र होता है।

शङ्का—जाति कुल पूजा (आदर सम्मान), शरीरादि के बल, ऐश्वर्य (वैभव) और शरीर सौन्दर्य का अभिमान करना तो अनुचित है, क्योंकि पुद्गल-जन्य है, किन्तु ज्ञान और तपस्या ये दोनों तो आत्मा से उत्पन्न होने के कारण आत्मा के हैं। और आत्म-गुण का अभिमान करना अप्रशस्त पुण्य कैसे हो सकता है?

समाधान—जाति आदि की तरह ज्ञान और तपस्या भी कर्म के क्षयोपशम से होते हैं, इसलिए कर्मजन्य हैं। ज्ञानावरण के क्षयोपशम स जो क्षायोपशमिक मति श्रुतादि ज्ञान होता है, वही मद (गर्व) को उत्पन्न करता है। कर्म के सर्वथा क्षय (अभाव) से उत्पन्न होन वाला तो सिर्फ केवलज्ञान है। केवलज्ञान से गर्व नहीं होता, क्योकि वह आत्मजन्य है और सर्वथा मान का नाश होने से उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त शेष मत्यादि चारो ज्ञान क्षायोपशमिक हैं। अर्थात् इन ज्ञानो के साथ कर्म का उदय रहता है, इसलिए ये अभिमान उत्पन्न करते हैं।

इसी प्रकार वही अपूर्ण तपस्या अभिमान पैदा करती है, जिसके साथ मोहनीय कर्म का सम्बन्ध है। मोहनीय कर्म के उदय से ही गर्व उत्पन्न होता है इसलिए क्षायोपशमिक और अपूर्ण तपस्या ये आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। इसलिए अभिमान को पैदा करते हैं। किन्तु इनका गर्व न करने पर ही आत्मा उन्नत-मार्ग पर लगा रहता है और अभिमान उत्पन्न होते ही उन्नत-मार्ग से गिर जाता है। जैसे ऊपर उछली हुई गेंद अवश्य नीचे गिरती है।

हे आत्मन! तू जाति और कुल का क्या अभिमान करता है? जाति और कुल तेरा स्वरूप नहीं हैं। अनन्त काल से ससार में

भ्रमण करते हुए तूने अनन्त बार ऐसी जाति और ऐसा कुल पाया है। परन्तु उससे तेरा क्या भला हुआ ? तेरा भला तो इसी में है कि इनका अभिमान त्याग कर मार्दव धर्म को अङ्गीकार करे। इसके बिना उत्तम जाति और उच्च कुल का पाना निष्फल है। मार्दव (विनय) धारण करने वाला मनुष्य सबका आदर-सम्मान पाता है। नम्रता से शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। कोमल आत्मा में ही जिनधर्म फलता और फूलता है। मानी का आत्मा कठोर पाषाण के समान होता है। उसमें जिनेन्द्र धर्म का तथा उत्तम गुणों का अंकुर नहीं जमता। विनयवान शिष्य पर गुरु का, विनीत पुत्र पर पिता का, नम्र भृत्य पर स्वामी का स्वतः अनुराग होता है, और वे गुरु, स्वामी आदि अपने विनीत शिष्यादि की सदा उन्नति चाहते हैं और उन्हें सदा सुखी रखने में प्रयत्नशील रहते हैं।

जो तूने थोडा बहुत ज्ञान प्राप्त किया है वह भी पराश्रित है, तीव्र वेदनीय कर्म के उदय से शरीर के निर्बल होने पर वह लुप्तसा हो जाता है। केवलज्ञानी और पूर्ण श्रुतज्ञानी के ज्ञान सूर्य के सामने तेरा यह अल्पज्ञान जुगनू के समान भी नहीं है। तू इस पर क्या इतराता है ? ज्ञान का फल तो चारित्र का आराधन और मोक्ष की प्राप्ति है। इस ज्ञान रूपी रत्न को तू अभिमान रूपी कीचड़ में क्यों फेंक रहा है। पुण्य-योग से यदि कुछ ज्ञान प्राप्त किया है तो नम्रता धारण कर अपनी आत्मा को सन्मार्ग में लगाने का प्रयत्न कर। यही तेरे ज्ञान प्राप्त करने का सुफल हो सकता है।

शरीरादि का बल भी क्षण-नश्वर है। शरीर में थोडी सी व्याधि के उत्पन्न होते ही यह विलीन हो जाता है। जो पहले बड़े बलवान पहलवान थे वे शारीरिक व्याधि के उत्पन्न होने पर अतिनिर्बल होते देखे गये हैं। यदि तुमने वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से शरीरादि की शक्ति पाई है तो उसको ज्ञानाभ्यास, और तप के आचरण में लगाओ, जिससे सदा के लिए सुखी बन जाओ।

राज्यादि के वैभव का अभिमान करना भी महा अज्ञानता है। जो आज राज्य का अधिपति है कल वही प्राणों की भिक्षा मागता दिखाई देता है। वह अपने प्राण बचाने में भी असमर्थ होकर इधर उधर छिपता फिरता है। जिस राज्य वैभव पर इतराता था वही उसके प्राणों का घातक और अतिनिन्दनीय पर्याय में जन्म लेने का कारण बन जाता है। कहा भी है—

क्व मानो नाम संसारे जन्तुव्रजविडम्बके।
यत्र प्राणी नृपो भूत्वा विष्टामध्ये कृमिर्भवेत् ॥ १ ॥ (ज्ञाना०)

अर्थ—सम्पूर्ण जीवों की विडम्बना करनेवाले इस संसार में मान किस वस्तु का किया जावे ? इस संसार में राजा भी विष्टा का कीडा बन जाता है। अर्थात् जो अभी राजा बना हुआ है वही भविष्य मे मरकर विष्टा में कीडा उत्पन्न होता देखा जाता है। फिर अभिमान

किस बात का किया जावे ?

जो वैभव इस भव में भी अनेक उपद्रव और पाप का जनक है और परभव में नीच गति का देने वाला है, उसका अभिमान कौन बुद्धिमान करेगा ?

शरीर का सौन्दर्य इन्द्र-धनुष के समान थोडी देर तक टिकने वाला है। जिसका शरीर बाल्यावस्था में अत्यन्त मनोहर था, चेचक आदि फोडा फुन्सी के हो जाने से युवावस्था में वही भयानक दिखाई देने लगता है। यह रूप तो रुधिरादि घृणित पदार्थों से उत्पन्न हुआ है। जो युवती यौवनावस्था में अपने को अप्सरा के समान समझती थी वह वृद्धावस्था में अपने को चुडेल के समान देखकर पश्चाताप करती है। अतः पूर्व कर्म के उदय से यदि तुमने सुन्दर और निरोग शरीर पाया है तो इससे पुण्योपार्जन करना तथा तपश्चरणादि द्वारा कर्मों की निर्जरा कर उसको सफल बनाना चाहिए। जो उस रूप का अभिमान करता है वह अनेक दुष्कृत्यों में फँस कर अपना नाश करता है। इसलिए रूप का अभिमान आत्मा का अहित करने वाला जानकर उसका त्याग कर मार्दव धर्म धारण करो।

उत्तम आर्जव

माया का त्याग करने से आर्जव गुण उत्पन्न होता है। आर्जव नाम मन, वचन और काय की निष्कपट प्रवृत्ति का है। मायावी-कपटाचारी मन में कुछ और विचारता है, वचन से कुछ और कहता है और शरीर के द्वारा कुछ और ही करता है। महात्मा और दुरात्मा की पहचान करने के लिए कहा है—

"मनस्यन्यद्वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद्धि पापिनाम्।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥ १ ॥"

जिनकी मन, वचन और काय की एकसी प्रवृत्ति है, अर्थात् जैसा मन में सोचते विचारते हैं वैसा ही मुख से बोलते और वैसा ही शरीर से करते हैं उन्हें महात्मा कहते हैं। और जो मन में कुछ रखते हैं, मुख से कुछ और कहते हैं और करते कुछ और ही हैं-उनको दुरात्मा (दुर्जन) कहते हैं।

मायाचार रूई से लपेटी हुई अग्नि के समान है। जो थोड़ी देर तक ही छिपा रहकर बडी तेजी से बाहर प्रकट होता है। छल-कपट से किया हुआ दुष्कृत्य छिपा नहीं रहता। यह तो पानी में दबाये हुए मल के समान अवश्य सबके समक्ष प्रकट हो जाता है, मायावी मनुष्य का कोई विश्वास नहीं करता। उसका पद पद पर अपमान होता है। उसके परिणाम निरन्तर कलुषित रहते हैं और वह सदा

भय और शका मे व्याकुल रहता है। उसके हृदय मे अनेक संकल्प उत्पन्न होते रहते हैं। जिससे सतत अशुभ कर्मों का बन्धन होता है। निगोद उसकी भावी निवास भूमि होती है और इस भव मे भी वह सदा दुखी रहता है। जो लोग मायाचार करके थोड़े देर तक अपने मनोरथ को सफल हुआ समझ कर हर्ष मानते हैं वे मूर्ख अमूल्य मानव जन्म को पापरूपी दलदल (की चड) मे फेंकते हैं। माया के विषय मे कहा है:—

जन्मभूमिरविद्यानामकीर्तेर्वासमन्दिरम् ।
पापपङ्कमहागर्त्तो निकृतिः कीर्त्तिता बुधैः ॥ १ ॥ ज्ञाना०

अर्थात्—यह माया अनेक अज्ञानों की जन्म भूमि है। अर्थात् मायाचारी मनुष्य मे अनेक खोटी २ बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनसे वह अपना व दूसरे का नाश करता है। वह अपयश का मन्दिर होता है। और पापरूपी कीचड का वह गहरा खड्डा होता है। अर्थात् उस की आत्मा मे पाप ठसाठस भरजाता है। इसीलिए वह निगोद का पात्र होता है।

मायाचार नाम कुटिलता का है। जिसका आत्मा कुटिल है उसके अन्दर अति सरल जैनधर्म कदापि निवास नहीं कर सकता, जैसे टेढे म्यान के भीतर सीधा खड्ग (खाडा) कभी नहीं जा सकता। जिसका मन आर्जव (सरलता) गुण से युक्त है वह प्रत्येक स्थान पर आदर पाता है। उसका आत्मा सदा प्रसन्न रहता है, उसमें अनेक गुण स्वतः आकर निवास करते हैं और वह प्राणी मात्र का विश्वास-पात्र होता है। इसलिए इस भव और पर भव मे दुःख देनेवाली माया (छल-कपट) का त्याग कर आर्जव (सरलता) धर्म को अङ्गीकार करो।

उत्तम शौच

लोभ का परित्याग करने से जो सन्तोष उत्पन्न होता है उसे शौच कहते हैं। संसार मे आत्मा का सबसे महान् शत्रु लोभ है। जिसके मन मे निर्लोभता उत्पन्न हो जाती है उसको लोग देवता के समान पूजते हैं, उसपर विश्वास करते हैं, उसकी महिमा संसार मे सूय के प्रकाश के समान सर्वत्र फैलती है और वह सब गुणों का आश्रय हो जाता है।

लोभ के भेद और उनका स्वरूप

ससार मे लोभ चार प्रकार का होता है—१ जीवित रहने का लोभ २ आरोग्य का लोभ, ३ इन्द्रिय-विषय का लोभ और ४ भोगोपभोग का लोभ। ये चारों स्व और पर के भेद से दो दो प्रकार के हैं—

स्वजीवित लोभ और परजीवित लोभ, स्वआरोग्य लोभ, और परआरोग्य लोभ। स्वइन्द्रियलोभ और परइन्द्रियलोभ। तथा स्व-भोगोपभोग-लोभ और पर-भोगोपभोग-लोभ

१ स्वजीवित व परजीवितलोभ—स्वय बहुत काल तक जीवित रहने के लिए तथा आत्मीय बन्धु पुत्रादि को जीवित रखने के लिए मनुष्य अनेक प्रकार के अनुचित उपायो का अवलम्बन लेता है। अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण स्वयं करता और करवाता है। मिथ्या दृष्टि कुलिंगी चण्डी-मुण्डी भवानी भैरू आदि की आराधना करता है। पशुबलि समान घोर पातक करने में भी नहीं चूकता। अनेक प्रकार के कूट कपट करता है।

स्व-पर-आरोग्य लोभ—अपने को और पुत्र-स्त्री आदि को नीरोग करने के लिए मास-मदिरा-मिश्रित अशुद्ध औषधियों का स्वयं सेवन करता और पुत्रादि को भी करवाता है। उसका भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों का विवेक-ज्ञान नष्ट हो जाता है। रात्रि-भोजन आदि पापाचार करता है और लोकनिन्दा का तथा पर लोक का भय लुप्त हो जाता है। क्या अधर्मपूर्ण आचरण करने से वह या उसके इष्ट-कुटुम्बी चिर-काल तक जीवित और नीरोग रह जावेंगे ? यह उसके अज्ञान और मोह का माहात्म्य है जो इस नर भव समान कल्पवृक्ष को अनुचित लोभ के वश होकर भस्म के निमित्त जलाता है। जीवन और आरोग्य के लिए उचित धर्मयुक्त उपायों का आश्रय लेना तो आवश्यक है। इसके विपरीत मार्ग का आश्रय लेना इस भव और परभव को विगाड कर परम्परा नरकादि गति का देने वाला है। ऐसा समझकर इस अनुचित लोभ का त्याग करना चाहिए।

स्व-इन्द्रिय विषय व पर-इन्द्रिय-विषय का लोभ—इन्द्रिय-विषय के वशीभूत हुए प्राणी ससार में दु.ख ज्वाला में निरन्तर जले रहे हैं। विषय-लोभ में अन्धे होकर अपने प्राणों तक की आहुति दे रहे हैं। स्पर्शन इन्द्रिय के वश हाथी गर्त्त मे गिर कर बधबन्धादि अनेक कष्टो को सहता है। रसना-इन्द्रिय के वश मछली जल मे काटे से अपना गला छिदाती है। घ्राण-इन्द्रिय के वश भ्रमर कमल में बन्द होकर मृत्यु का शिकार होता है। चक्षुइन्द्रिय के लोभ से पतङ्ग (कीड़ा) दीपक मे गिर कर अपनी आहुति देता है। श्रोत्रन्द्रिय के अधीन हुआ हिरन बहेलिया के जाल मे फंसता है। तात्पर्य यह है कि एक एक इन्द्रिय के विषय के लोलुपी प्राणी अपने प्राणो से हाथ धो बैठते हैं। तो फिर यह मानवपशु पाचों इन्द्रियों के विषय की लालसा से ललचाकर किस सुख की इच्छा रखता है ? यह समझ मे नहीं आता। हे आत्मन्! इन इन्द्रियों की प्राप्ति पूर्वजन्म कृत कठोर तपस्या स हुई है। इसलिए विषय-विष का भक्षण करके इनका विघात मत करो। अन्यथा भवभव मे इनके लिए तरसते रहोगे और निगोद मे या नरक मे सख्यातीत काल तक अचेत अवस्था मे या घोर सतापशील अवस्था में पडे हुए अनन्त दु ख सहोगे।

ज्यो ज्यो ये इन्द्रिया मद की उत्कटता को धारण करती हैं त्यो त्यो मनुष्यो के कपाय रूप अग्नि अधिक प्रज्वलित होती जाती है। अत- ज्ञान और वैराग्य भावना से कपाय अग्नि का शमन कर इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करो।

इन इन्द्रियों को लुटेरो व डाकुओ की सेना समझो क्योकि ये तुम्हारे अन्त.करण रूपी किले के भीतर सुरक्षित विवेक रूप रत्न को लूटती हैं।

इन्द्रिय विषयो से ठगे हुए मनुष्य की विषय-तृष्णा बढ़जाती है, सन्तोष नष्ट हो जाता है और विवेक विलीन हो जाता है।

विषयो को हालाहल विष से भी बहुत अधिक समझो। इनमे मेरु और सरसों का सा अन्तर है। कालकूट (विष) तो एक पर्याय घातक है, अत सरसों के सदृश है और विषय अनन्त भवों में आत्मा का विनाश करने वाला है अत. यह मेरु के समान है। इसलिए जो तुम्हे इनमे अपनी आत्मा की रक्षा करना है तो सत्सगति में रहकर विवेक-ज्ञान द्वारा परपदार्थ के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन करो। लोभ को सीमित कर शनै. शनै इसका अभाव करो। जब तक आत्मा मे पर पदार्थ का लोभ रहता है, सन्तोष नहीं होता और सन्तोष के अभाव से मन बाहर भटकता फिरता है।

ससार मे जितने भी अत्याचार अन्याय आदि महापातक होते हैं उनका मुख्य कारण लोभ है। इसलिए विषयादि के लोभ का त्याग कर ज्ञानोपार्जन का व शीलादि गुणो का लोभ करो जिसमे तुम्हारी आत्मा इस मनुष्य जन्म मे भी आनन्द का अनुभव करे और परभव मे कैवल्यादि विभूति का भोगने वाला बने।

उत्तम सत्य

प्राणियो को पीड़ा उत्पन्न करने वाले वचन न बोलना तथा स्व और पर के लिए हितकारक, प्रिय और परिमित वचन का उच्चारण करना ही सत्य है।

असत्पुरुषो के सामने मौन धारण करना ही श्रेष्ठ है। क्योकि आचार्यों ने प्रशस्त (सज्जन) पुरुषो के मध्य साधु (उत्तम) वचन बोलने को सत्य कहा है। इसका आशय यह है कि ध्यानादि कर्त्तव्य मे जब चित्त ऊब जाता है–थक जाता है, उस समय यदि उपदेशादि के लिए वचनोच्चारण करना पड़े तो इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मेरा बोलना इस समय उपयुक्त है या नहीं ? जन समाज कैसी प्रकृति वाला है। शान्तस्वभाव है या उग्रस्वभाव। शान्तस्वभाव जनसमूह मे वचनोच्चारण करना–धर्म का व्याख्यानादि करना स्वपर का कल्याण करने वाला होता है और जो उग्रस्वभाव जन समूह हो तो मौन धारण करलेना अथवा अपने निज कार्य स्वाध्यायादि मे लग जाना चाहिए। अन्यथा सदुपदेश का भी दुरुपयोग होजाता है और अशान्ति का वातावरण उत्पन्न हो जाता है।

आचार्यो ने सत्य के दश भेद कहे है-१ नामसत्य, २ रूपसत्य, ३ स्थापनासत्य, ४ प्रतीत्यसत्य, ५ सवृत्तिसत्य, ६ संयोजनासत्य, ७ जनपद सत्य, ८ देशसत्य ९ भावसत्य, १० और समयसत्य। इनका विशेष वर्णन पहले किया जा चुका है।

उक्त सत्य के भेदो को जानकर उनके अनुकूल वचन का उच्चारण करना सत्य है।

सत्य वचन बोलनेवाला मनुष्य ससार मे पूज्य माना जाता है । उसपर शत्रु भी विश्वास करता है । प्राणीमात्र उसका आश्रय लेते है। मनुष्य जीवन की उत्कृष्टता सत्य वचन से ही मानी गई है। इसलिए जो वचन बोलने की शक्ति इस मनुष्य भव में प्राप्त हुई है उसको कटु कठोर तथा अधम पुरुषों के उच्चारण करने योग्य निन्द्य वचन बोलकर मत खोवो। सत्य होने पर भी वचन से दूसरे का चित्त पीडित हो ऐसे वचन को भी आगम मे असत्य माना है। जो मनुष्य लोभादि के वश असत्य बोलता है उससे उसका स्वार्थ भी विगड़ जाता है और और वह लोक मे निन्दा का पात्र होता है। उसका वडप्पन क्षणभर मे मिट्टी मे मिल जाता है। उसकी प्रतिष्ठा चरणोंपर लोटती है। उसकी पूज्यता पैरो से ठुकराई जाती है और वह सब के लिए भयानक जन्तु बन जाता है।

अन्य दुर्गुणों से दूसरे मनुष्यों का उतना अकल्याण नहीं होता, जितना कि असत्य वचन से होता है। इसी असत्य वचन से संसार मे मिथ्या शास्त्रों का प्रचार हुआ है। तीनसौ तिरेसठ पाखड की प्रवृत्ति इस असत्यवचन द्वारा ही हुई है, जिसके कि जाल मे फंसे असंख्य प्राणी हिंसादि घोर पापो का आचरण कर रहे हैं।

नरसहार करनेवाले सग्राम इस असत्य वचन से ही प्रारम्भ होते हैं । यदि मनुष्य शान्तचित्त होकर पूर्वापर हिताहित का विचार कर वचन निकाला करे, प्रिय, मधुर और स्वपर-हितकारक वचन बोला करे तो यह मर्त्यलोक स्वर्ग समान बन जावे।

असत्य वचन बोलने मे तो आत्मा के स्वाभाविक भावों को दबाने मे बडी शक्ति लगानी पडती है, आत्मा कुठित होता है, और सत्य वचन उच्चारण करने में आत्मा को आह्लाद होता है। उसका प्रभाव सब सुननेवाले जीवों पर स्वत विदित हो जाता है। असत्य भाषी स्व और पर की हिंसा करता है। क्योंकि वह असत्य भाषण कर अपने सच्चे निराकुल भाव की हिंसा करता है और असत्य से सुनने वालो के चित्त मे गहरी चोट लगती है। उनका हृदय विदीर्ण हो जाता है । इसलिए असत्यभाषी आत्मघाती और परघाती मानागया है। इसलिए जब सत्य वचनामृत से अपनी व दूसरे की आत्मा को आनन्द मिलता है और उसके लिए कुछ कष्ट भी नहीं होता तो इस अमूल्य अमृत का आस्वादन क्यों नहीं करते ? इस सत्य के आधार पर सब ससार के कार्य होते हैं, इसलिए सत्य के आश्रित सारा ससार ठहरा है, ऐसा कहाजाय तो कोई अत्युक्ति नही है। सत्य ही जीवन का आधार है और ससार के सब कर्तव्यों का मुख्य साधन है। इसलिए वचन बोलते समय पूर्ण सावधानी रखना योग्य है।

उत्तम सयम

षट्काय के जीवो का रक्षण और पाँचो इन्द्रिय और मन का निग्रह करना संयम कहलाता है। लोभादि के वश विषय और कषाय मे भटकते हुए मन रूपी मातङ्ग (हाथी) को वश मे करने के लिए यह संयम अंकुश के समान है। अथवा कुमार्ग में गमन करते हुए इन्द्रिय रूपी घोडों के लगाम के समान है—क्योंकि मन और इन्द्रिय को रोकने का नाम सयम है। इसका पालन करने से इन्द्रिय और मन का प्रचार रुककर आत्मा मे स्थिरता आती है।

संयम के भेद और उनका स्वरूप

सयम दो प्रकार का है—१ उपेक्षा-सयम और २ अपहृत-सयम।

(१) उपेक्षा-सयम—देश काल-विधि के ज्ञाता उत्कृष्ट शरीर वाले, मनोयोग, वचनयोग एव काययोग का निग्रह कर तीन गुप्ति के धारण करनेवाले महामुनि के जो राग-द्वेष का अभाव होता है, उसे उपेक्षा-सयम कहते हैं।

(२) अपहृत-सयम—पॉच समिति का आचरण करने से अपहृत संयम होता है। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उत्सर्ग ये पॉच समिति हैं। इनका विवेचन पहले कर आये हैं, वहॉ से जान लेना चाहिये।

इन ईर्यादि पाच समितियों में प्रवृत्ति करने वाले मुनि के प्राणी और इन्द्रियों का परिहार होता है। अर्थात् पृथिवी-कायादि पाच स्थावर और त्रसकाय के जीवों की रक्षा और इन्द्रियो का निग्रह होता है। इसीको अपहृत सयम कहते हैं।

वह अपहृत संयम तीन प्रकार का है—१उत्कृष्ट, २ मध्यम और ३ जघन्य। जिनके प्रासुक वसतिका और आहार ये दोनों ही बाह्य साधन हैं, तथा ज्ञान और चारित्र क्रिया जिनके पराधीन है, तथा बाहर के जन्तुओं की रक्षा का उपनिपात (संयोग) होने पर वसति का आदि का त्याग कर जन्तुओं की रक्षा करने वाले मुनि के उत्कृष्ट अपहृत-संयम होता है। अर्थात् वसतिका आदि मे जन्तुओं का ससर्ग हो जाने पर उन जन्तुओं को न हटाकर जो मुनि स्वयं उस वसतिका आदि का त्याग कर देते हैं, उनके उत्कृष्ट अपहृत-संयम होता है। कोमल पिच्छिका से उन जन्तुओ प्रमार्जन करनेवाले मुनि के मध्यम अपहृत-संयम होता है। अन्य पुस्तकादि उपकरणों की इच्छा रखने वाले मुनि के जघन्य अपहृत-सयम है।

उस अपहृत-सयम का प्रतिपालन करने के लिए अभावशुद्धि आदि आठ शुद्धियाँ आवश्यक मानी गई हैं, उनका वर्णन पहले किया जा चुका है।

संयमी का निवास

सयमी का निवास तीन प्रकार का होता है। १ स्थान, २ आसन और ३ शयन।

(१) स्थान—दोनों पाँवों को चार अगुल के अन्तर पर स्थापन कर उपर, नीचा अथवा तिरछा मुख किये हुए जिसमें अपना भाव लगा रहे, अपने बल व वीय के अनुसार कर्मक्षय करने के निमित्त संक्लेश परिणाम रहित होकर जो खडा रहता है उसे स्थान कहते हैं।

(२) आसन—यदि खडा न रह सके और खड़े रहने की प्रतिज्ञा न की हो तो पर्यंक (पालथी माडकर बैठना) आदि आसन लगाकर बैठ जाये उसे आसन कहते हैं।

(३) शयन—यदि बहुत काल तक स्थान-आसन से खेद खिन्न(परिश्रम से थकना) हो जावे तो मुनि अपनी भुजा का तकिया बनाकर एक पसवाडे अग मुकोड कर अल्पकाल पर्यन्त श्रम दूर करने के निमित्त शयन करे—इसको शयन कहते हैं।

साक्षात् मोक्ष के कारण भूत सयम के पाच भेद हैं–१ सामायिक, २ छेदोपस्थान, ३ परिहारविशुद्धि, ४ सूक्ष्मसाम्पराय, ५ और यथाख्यात चारित्र। उनका स्वरूप पहले कह आये है।

उत्तम तप

कर्म का क्षय करने के लिए बाह्य और आभ्यन्तर रूप से जो तपा जाता है उसे तप कहते हैं। उसके दो भेद हैं—१ बाह्य और २ आभ्यन्तर। इन दोनों के छह भेद हैं। उनका विशद विवेचन तप आराधना मे कर आये हैं। अभ्रावकाशयोग वृक्षमूलयोग और वर्षायोग इस प्रकार तीन योग को तप के अन्तर्गत समझना चाहिए। इनका वर्णन भी पूर्व कर आये है।

उत्तम त्याग

चेतन व अचेतन दश प्रकार के परिग्रह के तथा मिथ्यात्वादि चौदह प्रकार के परिग्रह के उत्सर्ग करने (छोडने) को त्याग कहते हैं।

उत्तम आकिञ्चन्य

मेरा ससार मे कोई नहीं है। यह शरीर भी मेरा नहीं है, अन्य पुत्र स्त्री आदि मेरे कसे हो सकते हैं? मैं यहा पर अकेला ही आया हूँ और अकेला ही जाऊँगा। आत्मा के सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र मेरे हैं। ये ही मेरे साथ परभव में जाने वाले हैं। इस प्रकार अकिंचन भाव का चिन्तन करने से आकिञ्चन्य धर्म प्रकट होता है।

उत्तम ब्रह्मचर्य

(१०) ब्रह्म (आत्मा) मे चर्या करने को ब्रह्मचर्य कहते है। वह निश्चय ब्रह्मचर्य है। सम्पूर्ण स्त्रियों का त्याग

करना व्यवहार ब्रह्मचर्य है। स्त्रीमात्र के साथ रागद्वेष सम्बन्ध का त्याग करने से आत्मा अपने स्वरूप में रमण करती है इसलिए मुख्य ब्रह्मचर्य के साधन को भी ब्रह्मचर्य कहा है। इसका विशद विवेचन ब्रह्मचर्य महाव्रत मे किया जा चुका है।

बोधि दुर्लभ भावना

हे आत्मन्! बोधि (सम्यक्त्व अथवा दीक्षा धारण करने की बुद्धि) का मिलना अति दुर्लभ है। तुमने अनन्त काल तो निगोद में निवास किया है। क्योंकि सम्पूर्ण ससार निगोद जीवों से भरा हुआ है। जीव का चिर निवासस्थान निगोद है। उससे निकल कर पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय अवस्था प्राप्त करना भी अति कठिन है। उसमे निकल कर त्रसपर्याय प्राप्त करना बालू के समुद्र में खोई हुई हीरे की कणी के समान दुष्प्राप्य है। त्रस में विकलेन्द्रिय जीवों मे जन्म हुआ तो किस काम का? उससे निकलकर पचेन्द्रिय पर्याय मिलना दुष्कर है। पचेन्द्रिय मे पशु पक्षी आदि तिर्यंचों मे उत्पन्न हुए तो वहाँ पर हित अहित का विचार न होने से बोधि की प्राप्ति नहीं होती। मनुष्य होकर भी यदि नीच जाति, नीच कुल, म्लेच्छ क्षेत्रादि मे जन्म हुआ तो वह मनुष्य जन्म भी निरर्थक है। तुम्हें सब योग मिलगया है। उत्तम कुल, जाति, निरोग शरीर, जैन-धर्म का शरण, सत्सगति आदि आत्म-कल्याण का सब योग प्राप्त हुआ है। यदि अब भी बोधि की प्राप्ति नहीं की तो अधिक से अधिक पूर्व कोटि पृथक्त्व सहित दो हजार सागर तक त्रस पर्याय मे रहकर तुमको पुनः निगोद का शरण लेना पडेगा।

यह बोधि संसार में सब से श्रेष्ठ है। देखो! तीर्थंकर प्रकृति का उदय भी बोधि के प्राप्त हुए बिना नहीं होता है। तथा तीर्थंकर जब बोधि दुर्लभ भावना का चिन्तन करते हैं, तब ही लोकान्तिक देव आते हैं, गर्भादिक कल्याणा में नहीं आते, इसलिए स्पष्ट है कि बोधि ससार मे सर्वोत्कृष्ट है। अत: इसको हाथ से मत जाने दो।

मनुष्य जन्म कितना दुर्लभ है?

संसारम्हि अणंते जीवाणं दुल्लहं मणुसत्तम्।
जुगसमिलासंजोगो लवणसमुद्दे जहा चेव ॥ ६५ ॥ (मूला. द्वा)

अर्थ—लवण समुद्र की पूर्व दिशा मे युग (जूला-जूडा) डाला, और पश्चिम दिशा में डाली समिला (जूडे की कील)। उस कीला का जूडे के छेद म आकर प्रविष्ट होना जैस अति दुर्लभ है, वैसे ही इस अनन्त ससार में चौरासी लाख योनियों के मध्य मनुष्य पर्याय का मिलना अति दुर्लभ है।

भावार्थ—मोहनीय कर्म रूपी पिशाच के वशीभूत हुआ यह जीव सद्गुरुओं के सदुपदेश को कानों में सुनकर भी हृदय में धारण नहीं करता है। जिसके ससार का अन्त सन्निकट है उसी निकट भव्य का मन बोधि की दुर्लभता को समझकर उसका आराधन करता है,

वही मनुष्य पर्याय की दुष्करता को समझता है। उसके चित्त में देश, कुल, निरोगता आयु तथा, शारीरिक-सामर्थ्य का सदुपयोग करने की उत्कण्ठा जागृत होती है। प्राप्त हुए दिव्य जैन धर्म के असली स्वरूप का रहस्य उसी के अन्तःकरण में झलकता है। सत्पुरुषों के सत्संगरूप कल्पवृक्ष का लाभ वही लेता है। जिनागम के अमृत समान एक एक वचन को कर्णपुट द्वारा पान कर अपूर्व आनन्द का अनुभव करता है। इस नश्वर शरीर से अविनश्वर पद देने वाली बोधि की प्राप्ति करने में ही अपना कल्याण मानकर इसके पालन में निरत हो जाता है। क्योंकि संसार के सब पदार्थ आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं रखते हैं। वे जड़ स्वरूप है और आत्मा को बन्धन में डालने वाले हैं। आत्मा के बन्धन को खोलने वाली एक 'बोधि' है।

जिसको रत्नत्रय मे अनुराग होता है, सम्यग्दर्शन की जिसको प्राप्ति होगई है, वह जीव अर्धपुद्गल काल के अन्दर मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता रखता है। लेकिन जब तक वह चारित्र का अनुष्ठान नहीं करेगा उसको सिद्धस्थान प्राप्त होना दुर्लभ है। अतः चारित्र को पूज्य कहा है। चारित्र का धारक पूजा के योग्य माना है। अत हे आत्मन्! जो तुमको ऐसे सर्वोत्कृष्ट पूज्य पद तो प्राप्त करना है तो इस पूज्यता की कारण भूत चिन्तामणि रत्न के समान 'बोधि' को यदि पाकर तुमने खो दिया तो अनन्त काल के लिए दरिद्री बन जाओगे और दारिद्र्य का अनुभव करने के लिए निगोदादि पर्याय में जा पहुंचोगे, इसलिए पूर्ण सावधानी से इसका पालन करो।

तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति रूप बोधि तथा मुनि दीक्षा धारण करने की बुद्धि-रूप बोधि संसार में अति दुर्लभ है। ऐसा समझकर जीवादि तत्त्वों का यथार्थ बोध करके श्रद्धान करो तथा दीक्षा धारण करने के परिणाम को अति दुर्लभ समझो। उसकी प्राप्ति होना सुलभ नहीं है। कर्म के क्षयोपशमादि से यदि वह प्राप्त हो जावे तो चिंतामणिरत्न से अनन्त गुणा श्रेष्ठ समझकर उसे हाथ से मत जाने दो। जिन्होंने अचिन्त्यपद तथा सिद्धपद प्राप्त किया है, वह सब इसी बोधि का माहात्म्य है।

इस प्रकार बारह अनुप्रेक्षाओं का जीवन में उतारते रहने से आत्मा में दृढ संस्कार उत्पन्न होता है और उस संस्कार से संस्कृत हुई आत्मा धर्म से कभी नहीं डिगती है। क्रमशः कर्मों का क्षय करके निर्मल बन जाती है—विमल (मोक्ष) पद को प्राप्त करने में समर्थ हो जाती है।

अथ अनगार-भावना अधिकार

द्वादश भावनाओ के वर्णन के बाद अब अनगार भावनाधिकार का प्रारम्भ किया जाता है। यद्यपि इस प्रकरण की बहुत सी बातो का वर्णन यथावसर पहले किया चुका है फिर भी उन पर विशेष प्रकाश डालना यहाँ आवश्यक जान पडता है । क्योकि मुनिधर्म मे लिंग-शुद्धि आदि दश शुद्धियों का प्रकरण बडे महत्व का है। इसे समझे बिना किसी की मुनि धर्म मे स्थिति नहीं हो सकती। इसलिए मुनि-पद को विशुद्ध बनाने के लिए आगे कही जाने वाली शुद्धियो का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए और उनकी उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिए। अनगार-भावना के दश अधिकार हैं।

लिंगं वदं च सुद्धी वसदि विहारं च भिक्खणाणं च।
उज्झणसुद्धी य पुणो वक्कं च तवं तधा झाणं ॥ ३ ॥
एदमणयारसुत्तं दसविधपद विणयअत्थसंजुत्तं।
जो पढइ भत्तिजुत्तो तस्स पणस्संति पावाइ ॥ ४ ॥ (मू अ भा.)

अर्थ—इन्द्र, चन्द्र, नागेन्द्र, चक्रवर्त्ती आदि महापुरुष भी जिनके चरणारविन्द की पूजा करके अपना अहोभाग्य मानते है-अपने को कृतार्थ समझते हैं-ऐसे गृहत्यागी वैराग्य की मूर्त्ति अनगार के योग्य कर्त्तव्यो को दश पदो मे विभाजित किया है।

(१) लिंगशुद्धि, (२) व्रतशुद्धि, (३) वसतिशुद्धि, (४) विहारशुद्धि, (५) भिक्षाशुद्धि, (६) ज्ञानशुद्धि, (७) उज्झन शुद्धि, (८) वाक्यशुद्धि, (९) तपशुद्धि, (१०) ध्यानशुद्धि। ये दश प्रकार के कर्त्तव्य का निरूपण करने वाले दश अधिकार पद सर्व सुन्दर आचार सिद्धान्त के अर्थ का तथा मुनि-शिक्षा का प्रतिपादन करने वाले हैं। जो इनका भक्ति पूर्वक पठन-पाठन करता है उसके पापमल का प्रक्षालन होता है।

(१) लिंगशुद्धि-अधिकार

चलचवलजं विदमिणं णाऊण माणुसत्तणमसारं।
णिव्विण्णकामभोगा धम्मम्मि उवट्ठिदमदीया ॥ ७ ॥ (मू अ, भा,)

अर्थ—यह मानव जीवन अस्थिर व विद्युत् (बिजली) के चमत्कार के समान विनश्वर है। इसमे कुछ भी सार तत्त्व नहीं है।

प्रतिसमय इसका नाश हो रहा है, न जाने किस समय इसका सर्वथा क्षय जावे। अभीष्ट पदार्थ की कामना, स्त्री आदि उपभोग सामग्री आत्मा को व्याकुल करने वाली है, ताम्बूल कुसुम पुष्पादि के समान एक बार सेवन करने के पश्चात उच्छिष्ट हुई पुनः सेवन करने योग्य नहीं है। इस प्रकार काम भोग से विरक्त होकर निर्ग्रन्थ लिंग धारण करने की बुद्धि करो।

भावार्थ—काम भोग की निःसारता और असेव्यता को समझकर इनसे विरक्त चित्त हुआ विवेकी मनुष्य अपने चञ्चल और विनश्वर जीवन को शीघ्र सफल बनाने को उत्सुक हुआ संसार से भयभीत होकर आचार्य के चरण की शरण ले और गद्गदकण्ठ हो प्रार्थना करे कि भगवन्! इस संसार सागर मे उद्धार करने की कृपा करो। मुझे अपने आत्मा का कल्याण करने के लिए शुद्ध-लिंग-दिगम्बर मुनिवेष—की दीक्षा प्रदान करो।

इस प्रकार प्रार्थना करने पर आचार्य निम्नोक्त बातो का पूर्ण विचार करे। दीक्षा के योग्य जो व्यक्ति हो, उसके गुणादि की परीक्षा करके पश्चात् दीक्षा दे।

दीक्षा-योग्य पात्र

(१) जिसने उत्तम देश में जन्म लिया हो, उसे ही दीक्षा दे, क्योंकि देश के संस्कार आत्मा में स्थायी रहते हैं और देश के अनुकूल शरीर संस्थान आत्मपरिणाम, सहनशीलता आदि होते है। इसलिए जन्म व निवास का देश शुद्ध होना चाहिए।

(२) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीन उत्तम वर्ण ही मुनि दीक्षा के योग्य माने गये हैं। श्री जयसेनाचार्य कृत प्रवचनसार की टीका मे कहा है—

वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणंगो तवोसहो वयसा।
सुमुहो कुंछारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो ॥१०॥

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णों मे से ही कोई मुनि-दीक्षा का अधिकारी होता है। इनमें से भी वही योग्य मानागया है जिसका शारीरिक स्वास्थ्य अच्छा हो, तप के योग्य जिनकी वय हो, अर्थात् अतिवृद्ध और बालक न हो। जिसका मुख विकारहीन हो, अर्थात् निर्विकार शुद्धचैतन्य परिणाम की शुद्धि को प्रकट करने वाला प्रफुल्लित मुख जिसका हो। अथवा जिसके मुख मे वक्रतादि न हो। लोक मे जिसे किसी प्रकार के दुराचार आदि के कारण अपवाद न लगा हो। ऐसा क्रोधादि रहित विनयगुण सहित ही मुनि दीक्षा के योग्य माना गया है।

(३) मुखादि विकार न हो। हीनाग न हो, और अधिकाग भी न हो।

(४) जिसने राज्य विरुद्ध कार्य न किया हो। अन्यथा संघ पर आपत्ति विपत्ति आने की सम्भावना रहती है।

(५) जिसने लोकाचार के विरुद्ध आचरण न किया हो, दुराचारादि के कारण जिसका संसार में अपवाद न हो।

भाव यह है कि यदि कोई दुराचारी, चोर, क्रूर-परिणामी, निर्दयी, पर-उच्छिष्ट का भक्षण करने वाला, अवारा फिरने वाला, असत व्यापार करने वाला, निन्दनीय आजीविका करनेवाला, परधन को हड़पनेवाला, ऋणी, हत्यारा, जातिच्युत, वर्णसंकर, उन्मत्त, अतिक्रोधी, मानी, मायाचारी, राजा देश जाति व कुल का अपराधी या ऐसे ही अन्य दोषों से युक्त हो तो आचार्य उसे दीक्षा न दे।

भगवती आराधना की ७७ वीं गाथा की अपराजित सूरिकृत-विजयाटीका और पण्डित आशाधरजी कृत मूलाराधना टीका इन दोनों संस्कृत टीकाओं में बाह्य लिंग-शुद्धि अत्यावश्यक बताई गई है—

जिसका पुरुष चिन्ह मुनि दीक्षा के योग्य हो अर्थात् लिंग (पुरुषचिन्ह) का अग्रभाग चर्म से ढका हो, (यदि चर्म रहित (उघाड़ा) हो तो दीक्षा के अयोग्य है), अतिदीर्घ व स्थूल न हो और जिसमें विकार भाव उत्पन्न न होता हो तथा अण्डकोष बड़े न हों। यदि इन दोषों से युक्त हो तो वह व्यक्ति दिगम्बर दीक्षा के सर्वथा अयोग्य होता है। जो आचार्य इन उक्त लिंग-दोषों की ओर ध्यान न देकर दीक्षा देता है, तथा उक्त दोषों में से किसी भी दोष सहित जो व्यक्ति दीक्षा ग्रहण करता है वे दोनों जिनागम-विरुद्ध आचरण करने वाले हैं और मुनि धर्म की जगत में निन्दा कराने के कारण होते हैं।

प्रवचनसार की टीका पर म आचार्य जयसेन लिखते हैं—"यथायोग्यं सच्छूद्राद्यपि" इसका आशय ऐसा समझना चाहिए कि सत् शूद्रादि मुनि-दीक्षा के योग्य न होने पर भी उनको आगम के अनुकूल क्षुल्लकादि दीक्षा दी जाती है। 'यथायोग्य' पद से उक्त अर्थ ही ध्वनित होता है।

इसी प्रकार प. आशाधरजी ने सागारधर्मामृत में कहा—

शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपुःशुद्ध्याऽस्तु तादृशः ।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्माऽस्ति धर्मभाक् ॥

अर्थ—वर्ण से हीन शूद्र का यदि रहन-सहन शुद्ध है, वह मद्य मांसादि का भक्षण नहीं करता है तथा स्नानादि से शरीर वस्त्रादि को पवित्र रखता है तो वह भी जिन धर्म के श्रवण करने का अधिकारी है। क्योंकि जातिसे हीन जीव भी कालादि लब्धि के आनेपर

श्रावक धर्म का धारण करने वाला होता है।

सत् शूद्र ऐल्लक दीक्षा के योग्य भी नहीं माना गया है क्योंकि जो उत्तम आर्य है वही ऐल्लक हो सकता है। शूद्र उत्तम आर्य न होने से ऐल्लक दीक्षा का अधिकारी नहीं होता है तब उसमें मुनि दीक्षा की योग्यता कैसे हो सकती है? धर्मसंग्रह श्रावकाचार के नवें अधिकार में कहा है—

पशुपाल्यात् कृषेः शिल्पाद्वृत्तन्ते तेषु केचन।
शुश्रूषन्ते त्रिवर्णी ये भाण्डभूषाम्बरादिभिः॥ २३२॥

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णों में कई तो पशुपालन से अपना जीवन निर्वाह करते हैं, कई कृषि से अपनी जीविका करते हैं और कई शिल्पविद्या से अपना भरणपोषण करते हैं। जो उक्त तीनों वर्ण के मनुष्यों की वर्त्तन, भूषण और वस्त्रादि से सेवा करते हैं, वे शूद्र हैं। शूद्रों के भेद इस प्रकार किये गये हैं—

शूद्रों के भेद

ते सच्छूद्रा असच्छूद्रा द्विधा शूद्राः प्रकीर्तिताः।
येषां सकृद्विवाहोऽस्ति ते चाद्याः परथा परे॥ २३२॥ धर्म. श्रा.

अर्थ—उन शूद्रों के सत शूद्र और असत् शूद्र इस प्रकार दो भेद हैं। जिन शूद्रों के स्त्रियों का एक बार ही विवाह होता है वे सत शूद्र हैं और जिनके पुनर्विवाह (विधवा विवाह–धरेजा) होता है उन्हें असत् शूद्र कहते हैं। तथा—

सच्छूद्रा अपि स्वाधीनाः पराधीना अपि द्विधा।
दासीदासाः पराधीनाः स्वाधीनाः स्वोपजीविनः॥ २३४॥ धर्म. श्रा

अर्थ—सत शूद्रों के भी स्वाधीन और पराधीन के भेद से दो विकल्प हैं। जो दासी व दास हैं वे पराधीन सत शूद्र हैं और जो दास वृत्ति न करके अन्य प्रकार से स्वतन्त्र आजीविका करके अपना निर्वाह करते हैं वे स्वाधीन सत् शूद्र हैं।

निष्कर्ष यह है कि सत शूद्र मुनिलिंग नहीं धारण कर सकता। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्ण के पुरुष ही मुनिदीक्षा के अधिकारी माने गये हैं।

उक्त प्रकार मुनि दीक्षा के योग्य व्यक्ति की पूरी छान-बीन करके पश्चात् आचार्य मुनि-दीक्षा देवे। क्योंकि मुनि-लिङ्ग जगत्-पूज्य है। इसलिए विकलांग, अधिकांग, लिंगदोष (पुरुषेन्द्रिय दोष), विकार युक्त मुख इत्यादि शरीर के दोषों से युक्त व्यक्ति को तथा दुराचार दुर्व्यवहार, अन्यायसेवी, क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, राज, समाज व देश विरोधी मनुष्य को भूलकर भी दीक्षा न दे। शान्त, गम्भीर, सुशील अव्यसनी, सौम्याकृति, सरल चित्त, परम वैराग्यवान, कुलीन, मन्दकषायी, विवेकी, विनत इत्यादि गुणो से युक्त मनुष्य को बहुत काल पर्यन्त साथ मे रख कर भलीभांति परीक्षा करके पश्चात् दीक्षा देवे। इसी में दीक्षा लेने वाले व देने वाले का और जगत् का हित है। अन्यथा सब का अकल्याण और धर्म का अपवाद होने की सभावना रहती है और उसका कारण दीक्षा देने वाला आचार्य बनता है। उसका शिष्यमोह या प्रमाद समाज व धर्म का नाशक सिद्ध होता है। अत दीक्षकाचार्य को इस विषय मे पूर्ण सावधान रहना चाहिए।

(७) दीक्षकाचार्य को यह भी ध्यान म रखना चाहिए कि दीक्षा का अभिलाषी व्यक्ति, स्त्री पुत्र माता पिता आदि कुटुम्बियो से लडाई झगडा करके तथा जाति म किसी से वैर बाँधकर तो दीक्षा नहीं ले रहा है। क्योंकि वह गुरु बनकर अपने पूर्व वैर का बदला लेने में जगत्पूज्य मुनि भेष का दुरुपयोग करता है। और इस उत्कृष्ट विश्वसनीय परमशान्त मुनि धर्म की निन्दा व हास्य करवाता है। इसलिए सब प्रकार प्रकृति आदि सब बातों की जाचकर दीक्षा देनी चाहिए।

(८) जिसके धर्मपत्नी अल्पवय (छोटी उम्र) की हो या घर मे पाच बाल-बच्चे हों और उनके भरण-पोषण शिक्षणादि का प्रबन्ध न हो, या जिसके सर पर धनका ऋण हो, माता पिता वृद्ध हो, और उनकी सेवाशुश्रुषा करने वाला अन्य कोई न हो उसे दीक्षा नहीं देनी चाहिए। आचार्य का कर्तव्य होता है कि जिसको दीक्षा देना हो, उसके माता पिता, स्त्री पुत्रादि की आज्ञा मिलने पर उसे दीक्षा देवे। मुख्य सम्बन्धियों की आज्ञा मिले विना कदापि दीक्षा न दे। यदि बिना उन की अनुमति के दीक्षा देगा तो बड़ा उपद्रव उपस्थित हो जावेगा और उनकी निराधार पत्नी असहाय माता पिता व अनाथ बाल बच्चों के हाय विलाप करने व उनके करुण रोदन से उसका व समाज के अन्य दयालु मनुष्यों का हृदय फटने लगेगा। सम्पूर्ण विवेकी मनुष्य विरोधी बन जावेंगे। तथा अन्य विधर्मी भी मुनिधर्म की घोर निन्दा करने लगेंगे। वास्तव मे ऐसा अविवेक पूर्ण कृत्य निन्दा के योग्य ही माना गया है। इसलिए दीक्षाकाचार्य के लिए धर्मज्ञान के साथ व्यवहार ज्ञान का होना भी आवश्यक बताया गया है।

मुनि धर्म तो सब का हित चाहने वाला है, उसमे निर्दयता और अपवाद का क्या काम है? लेकिन अज्ञानी जीवों के निमित्त से अनुचित, धर्म-विरुद्ध कार्यों के कारण धर्म की भी निन्दा होती है और इस जिनेन्द्र के समान मुनि भेष की हँसी होने लगती है। साधु छह काय के जीवों के परम बन्धु और परमदया की मूर्ति होते हैं उनसे, जो अज्ञानवश अनुचित कार्य होने से सम्पूर्ण मुनियों को निर्दय आदि होने का कलङ्क लगता है वह अदूरदर्शी व अज्ञानी साध्वाभासों से ही लगता है।

किस प्रकार के पुरुष व स्त्री को दीक्षा देना चाहिए ?

(१०) जिसके चित्त से सासारिक सम्बन्धियो का मोह ममत्व निकल गया हो, जिसका मन विषयों से परम विरक्त हो गया हो, जिसको जैन सिद्धान्त का ज्ञान हो, अपने शरीर से वैराग्य और ससार से भय उत्पन्न हो गया हो, केवल आत्म-कल्याण की भावना ही जिसके हृदय मे लहराती हो, जिसे खोटे कार्यों से घृणा और पाप से भय होता हो, जिसकी प्रत्येक क्रिया मे दया भाव पाया जाता हो, जो शान्त स्वभाववाला और अपने कर्त्तव्य को समझनेवाला हो, वह दीक्षा के योग्य है। किन्तु यदि किसी के सफेद कोढ हो, मृगी रोग हो या वह काना हो, बहरा हो, नपुंसक हो, या किसी सक्रामक रोग से पीडित हो तो परिस्थिति के विचार से आचार्य दीक्षा न दे।

दोषरहित और गुणसहित दीक्षा के योग्य श्रेष्ठ जाति कुल के व्यक्ति को ही दीक्षा देनी चाहिए।

दीक्षा लेकर कैसी अवस्था धारण करे ?

शरीर के सम्पूर्ण सस्कारों का त्याग कर, बालक के समान निष्कषाय और निर्विकार नग्न-दिगम्बर वेष धारण कर, इन्द्रिय और मन को अपने वश मे रखे। वैराग्य भावना मे तत्पर हुआ अपने दाढ़ी और मूछ के बालो का लोच करे। जीवरक्षा के निमित्त मयूर की पिच्छी अपने हाथ मे धारण करे। शौच के लिए काष्ठ का कमण्डलु तथा ज्ञानाभ्यास के लिए योग्य पुस्तक ग्रहण करे। इस प्रकार जीव-रक्षा, शरीर-शुद्धि व ज्ञानाभ्यासके उपकरण के अतिरिक्त सम्पूर्ण बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना द्वारा नवकोटि त्याग करे, तथा निरन्तर आत्म-भावना मे अनुरक्त हुआ द्वादशानुप्रेक्षा का मनन चिन्तन करता रहे। एवं मन वचन व काय से लिंग शुद्धि दिगम्बर भेष की (निर्मलता) के लिए सदा सावधान रहे।

भगवान कुंदकुंदाचार्य ने ऐसे परमवीतराग दिगम्बर मुनि भेष को अर्थात् लिंग शुद्धि को आयतन कहा है—

मण-वयण-कायदव्वा आयत्ता जस्स इंदिया विसया।
आयदणं जिणमग्गे णिद्दिट्ठं संजयं रूव ॥ ५ ॥
मयरायदासमोहो कोहो लोहो य जस्स आयत्ता।
पंचमहव्वयधारा आयदणं महरिसी भणियं ॥ ६ ॥ (बोधपाहुड)

मन वचन काय द्रव्य तथा इन्द्रियो के विषय स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द ये जिसके आधीन हैं वह संयम विशिष्ट मुनि का

रूप जिन मार्ग में आयतन कहा गया है।

जिस मुनि के आठ प्रकार के मदों में से एक भी मद नहीं है, जिसके राग परिणति का सर्वथा अभाव है, बाह्य पदार्थ में तथा शरीर में भी जिसके मोह का लेश नहीं है, जिसकी आत्मा में क्रोध लोभ और मायाचार का अंश ढूंढने पर भी नहीं मिलता और जो परम अहिंसा, उत्कृष्ट सत्य, महान अचौर्य, पूर्ण ब्रह्मचर्य और समस्त परिग्रह का त्याग इन पञ्च महाव्रतों के धारण करनेवाला है वह आयतन है। अर्थात् दर्शन, स्पर्शन और पूजन के योग्य उसकी उक्त प्रकार की अवस्था को लिंगशुद्धि कहा गया है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने लिंग-शुद्धि को ही प्रतिमा रूप से वर्णन किया है।

सपरा जंगमदेहा दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं।
णिग्गंथवीयराया जिणमग्गे एरिमा पडिमा ॥ १० ॥ (बंध पाहुड)

अर्थ—दर्शन और ज्ञान से जिनका चारित्र निर्मलता को प्राप्त होगया है ऐसे मुनि का, आत्मा से भिन्न जो निर्ग्रन्थ, वीतराग शरीर है वह प्रतिमा स्वरूप है। अर्थात् जिसके बाल के अग्र भाग बराबर भी परिग्रह नहीं है, तथा जो वीतराग स्वरूप है, पर पदार्थ में न राग है, न द्वेष है और न मोह है-इस प्रकार शान्त-मुद्रा का धारक परम वीतराग स्वरूप निर्ग्रन्थ मुनि का दर्शन, ज्ञान, चारित्र सम्पन्न जो जङ्गम शरीर है वह जिन मत मे प्रतिमा मानी गई है। इस प्रकार की अवस्था का नाम लिंग-शुद्धि है।

लिंग-शुद्धि से लाभ

विस्सासकरं रूवं अणादरो विसयदेहसुक्खेसु।
रुव्वत्थ अप्पवसदा परिसह अधिवासणा चेव ॥ ८४ ॥ (भग. आ)

अर्थ—दिगम्बर मुद्रा सम्पूर्ण जीवों के विश्वास का कारण होती है। जगत् के प्राणी विचारते हैं कि ये अपने पास वस्त्र का खंड तक नहीं रखते हैं, तब अन्य वस्तु का ग्रहण कैसे कर सकते हैं? इनसे किसी को भय नहीं होता, क्योंकि भय उत्पन्न करने वाले शस्त्र अस्त्रादि इनके पास नहीं होते हैं। गुप्त (छिपे हुए) शस्त्रादि की भी सम्भावना या शङ्का नहीं हो सकती, क्योंकि शस्त्रादि छिपाने के लिए इनके पास वस्त्रादि कुछ भी नहीं हैं। तथा इनकी शान्त मुद्रा देख कर शत्रु भी विश्वास करने लगता है। उनके निर्विकार और कुरूप संस्कार रहित मलीन शरीर को देखकर दर्शक को विरक्ति उत्पन्न होती है। मुनि को भी मलीन संस्कार रहित शरीर के धारण करने से नित्य प्रतिक्षण

वैराग्य भावना की जागृति होती है। विषयों से विरक्ति उत्पन्न होती है। सम्पूर्ण मनुष्य (स्त्री या पुरुष) का उनपर पूज्य भाव पैदा होता है। वे सोचते हैं कि इनको अपने शरीर पर अनुराग नहीं है, अतः दूसरी वस्तुओं पर कैसे अनुराग कर सकते हैं? इसलिए उनका हृदय उनके प्रति निर्विकार और पवित्र रहता है। जातरूप धारक संयमी का मन भी नग्न वेष के धारण करने से व स्नानादि द्वारा शरीर का सस्कार न करने से विषय सुखों से सदा विरक्त रहता है। वह सदा चिन्तन करते हैं कि "मैं किस पर अनुराग करू? क्या मांस, रुधिर और मल मूत्र की गंदी झोपड़ी रूप अत्यन्त घृणित स्त्री आदि का शरीर अनुराग करने योग्य है? विवेकी पुरुष इस मांस रुधिरादि की थैली का छूना तो दूर रहा देखना व स्मरण करना भी नहीं चाहते हैं। मैंने तो शुद्ध बुद्ध अतिनिर्मल आनन्दमय चैतन्य स्वरूप की प्राप्ति के लिए इस सर्वोत्कृष्ट मुनि धर्म को धारण किया है।" इस प्रकार वे विवेकज्ञान से अपने स्वरूप का चिन्तन करते हैं। इसलिए उनके मनमें विषय सुख के प्रति कभी आदर भाव उत्पन्न नहीं होता है। प्रेताकार समान मलिन मुनि के शरीर को देखकर अविवेकी महिलाजन भी उनमें अनुराग नहीं करती हैं। इसलिए संसार के सब प्राणियों का आदर भाव निर्ग्रन्थ लिंग से होता है।

वस्त्रादि का सर्वथा त्याग करने से मुनि किसी के परतन्त्र नहीं होते। वस्त्रादि रखने से उनकी प्राप्ति के लिए संयमी को गृहस्थ के अधीन वृत्ति होती है। तथा उसी की रक्षा का सदा भय लगा रहता है। चोरादि के द्वारा चुराये जाने का भय बना रहता है। उनके प्रक्षालनादि के लिए आरम्भादि द्वारा हिंसादि दोष उत्पन्न होते हैं। वस्त्रादि के नाश के भय से उनकी रक्षा के लिए संयम के घातक उद्गमादि दोष सहित स्थान में शयनासन करना पड़ता है।

दिगम्बर मुद्रा धारण करने से दंश मशक शीत घामादि की परीषहों को सहने का सुअवसर प्रतिक्षण मिलता है जो कि कर्मनिर्जरा का मुख्य साधन है। इससे आत्मबल प्रकट होता है और अनेक उपसर्गों के आने पर भी चित्त चञ्चल नहीं होता है। धैर्य और सहिष्णुता की वृद्धि होती है। और सब प्रकार के परिग्रह के बोझ से रहित हुआ मुनि आत्मध्यानमें स्थिरता प्राप्त करता है। परिग्रहधारक के चित्त में निष्कम्पता नहीं आती है। उसके चित्त में चञ्चलता रहती है। कहां तक इसके गुण वर्णन किये जावें। यह दिगम्बर भेष जिनेन्द्र भगवान् का प्रतिरूप (प्रतिबिंब) है और मुमुक्षु जीवों के लिए मुक्ति का उपाय है। इससे रागादि दोषों का परिहार होता है। और आत्मानु भूति की जागृति होती है। और भी बहुत से गुण इस जिनसदृश लिंग (दिगम्बर भेष) के धारण करने पर स्वतः उत्पन्न होने लगते हैं।

(२) व्रतशुद्धिः

ते सव्वगन्थमुक्का अममा अपरिग्गहा जहाजादा।
वोसट्टचत्तदेहा जिणवरधम्मं समं णेंति ॥ १५ ॥ (मूला० अ १०)

अर्थ—जिस संयमी ने मिथ्यात्व, वेद, कषाय (क्रोध,मान,माया, लोभ), राग, द्वेष, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन चौदह प्रकार के आभ्यन्तर तथा क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य, भाण्ड इन दश प्रकार के बाह्य परिग्रहों का नवकोटि से जन्म भर के लिए त्याग किया है वही नग्नमुद्रा का धारक मुनि अपने शरीर मे भी ममत्व रहित, बालक समान निर्विकार होता हुआ तैलादि मर्दन, उद्वर्त्तन (उबटना) स्नानादि से शरीर के संस्कार का त्यागी होता है और जिनेन्द्र प्रणीत धर्म को पर भव मे भी अपने साथ ले जाता है।

भावार्थ—दिगम्बर मुद्रा धारण करने वाला मुनि चौदह प्रकार के आभ्यन्तर और दश प्रकार के बाह्य परिग्रह का त्याग कर शरीर से भी ममत्व नहीं करता है। शरीर के संस्कार का त्यागी होता है। सम्पूर्ण आरंभ (प्राणी हिंसा के कार्य) से अलग रहता है। हिंसादि सब पापो का त्याग करता है। बाल के अग्रभाग प्रमाण भी परिग्रह को नहीं रखता है। जिस स्थान पर सूर्य अस्त हो जाता है, वहीं निवास करता है। किसी के अधीन नहीं रहता। सब प्रकार स्वतन्त्र होता है, विद्युत् के समान जिसका स्थान नियत नहीं होता है, अर्थात् निश्चित रूप से एक स्थान मे निवास नहीं करता है।

(३) वसतिका शुद्धि

गामेयरादिवासी णयरे पचाहवासिणो धीरा।
सवणा फासुविहारी विवित्तएगतवासी य ॥ १६ ॥ (मू० आ० आ०)

अर्थ—जिस वस्ती के चारों ओर कांटे आदि बाड हो, उसे गॉव कहते हैं उसमे मुनि एक रात्रि वास करते हैं। जिसमें प्रवेश चार बडे दर्वाजे हो उसे नगर कहते हैं, उसमे पाच दिन तक निवास करते हैं। इसमे अधिक नहीं ठहर सकते, क्योकि पाच दिनों मे तीर्थ यात्रादि सब कार्य सिद्ध हो जाते हैं। इससे अधिक निवास करने से उस स्थान म ममत्व उत्पन्न होता है। स्त्री, नपुसक, पशु आदि से रहित एकान्त स्थान मे निवास करने वाले निर्दोष आचरण के पालक मुनियो का ग्राम में एक रात और नगर मे पाच दिन ठहरने का विधान है।

एकान्त स्थान का अन्वेषण करनेवाले गन्धहस्ती के समान मुनि विविक्त स्थान में ही सुख का अनुभव करते हैं। पर्वत की कन्दरा गुफा, वृक्ष-कोटर, शून्य-गृहादि मे रहते हुए भी धैर्य से विचलित नहीं होते हैं। जिनाज्ञा मे रमण करते हुए परम आनन्द चित्त होकर आत्मा को ध्यान मे सलग्न करते हैं।

जिस समय गॉव या नगर मे वास करते हैं, उस समय वहा पर भी एकान्त मठ शून्य गृहादि निर्दोष स्थान मे वास करते हैं। उस स्थान से ममत्व सम्बन्ध नहीं जोडते। वहा पर कमल पत्र की तरह निर्लेप रहते हैं।

मुनीश्वर पर्वत के शिखर, कन्दरा तथा गुफा आदि कायर पुरुषों को भय उत्पन्न करने वाले स्थानों में निवास करते हैं। जहा पर सिंह व्याघ्र आदि हिंसक जन्तुओं का प्रचार रहता है, उन विकट स्थानो मे रहकर वे ध्यान करने के लिए उत्सुक रहते हैं।

सिंह समान निर्भीक मुनि उन भयावह वने जगल में जाकर ध्यान धरते हैं, जहा पर सिंह व्याघ्र शूकर रीछ आदि के शब्द गूज रहे हो। उनकी त्रास जनक ध्वनि मुनीश्वरों के चित्त को लेशमात्र भी चचल नहीं करती है। वे धीर वीर मुनि ऐसे भयानक स्थानों मे उत्तम ध्यान सिद्धि प्राप्त करते हैं।

ऐसे भयानक वन म मुनि किस विधि से रहते हैं ? उसे दिखाते हैं—

मज्झायझाणजुत्ता रत्तिं ण सुवंति ते पयामं तु।
सुत्तत्थं चिंतंता णिद्दाए वस ण गच्छंति ॥ २८ ॥ (मूला. अ.)

अर्थ—भयकर वनादि तथा एकान्त शून्य गृहादि मे निवास करनेवाले मुनि स्वाध्याय और ध्यान मे दत्तचित्त हुए रात्रि में नहीं सोते। श्रुत भावना में और एकाग्रचित्त होकर ध्यान मे मग्न रहते हैं। रात्रि का प्रथम और अन्तिम प्रहर उक्त-प्रकार विताते हैं। वे सूत्र तथा अर्थ और उभय (सूत्र व अर्थ) का चिन्तन करते रहते हैं, इसलिए वे निद्रा के वश नहीं होते हैं।

भावार्थ—निर्ग्रन्थ मुनि ध्यान स्वाध्यायादि के कारण जब शरीर में थकान मालूम होती है, तब श्रम का परिहार करने के लिए रात्रि का पहला और पिछला पहर छोडकर शयन करते हैं। हाथ का तकिया लगाकर एक करवट सोते हैं। बार बार करवट बदलते नहीं हैं। गोदूहन आसन वीरासन, मृतकासन, पद्मासन, पर्यंकासन इत्यादि आसनों मे जो ध्यान मे स्थिरता करनेवाला प्रतीत हो उस आसन से एकाग्रचित्त होकर आत्मा के स्वरूप का चिन्तन करते हैं। श्रुतज्ञान के पद पदार्थ का मनन-चिन्तन करते हैं। आत्मा धर्म्यध्यान या शुक्लध्यान मे रमण करता रहे ऐसे उपायों का अवलम्बन करते हैं। अनेक प्रकार के परीषह और उपसर्गों के आने पर उनके प्रतीकार की इच्छा तक नहीं करते। अपने शरीर से ममत्व का त्याग करने के कारण परीषह व उपसर्ग उनकी आत्मा मे किसी प्रकार विकार उत्पन्न नहीं करते। जैसे किसी दूसरे के सूने घर मे अग्नि काण्ड आदि उपद्रव के उपस्थित होने पर मनुष्य के मन मे दुःख व शोक नहीं होत है उसी प्रकार भेद विज्ञान द्वारा शरीर को शून्य घर समझनेवाले मुनि के दुःख का आविर्भाव नहीं होता है। इस प्रकार की भावना जिनके अन्तःकरण मे निरन्तर निवास करती है वेही धीर वीर पापभीरु मुनीश्वर कर्म का क्षय करने मे समर्थ होते हैं।

(४) विहार शुद्धि

मुत्ता णिरावयेक्खा सच्छंदविहारिणो जहावादा ।
हिंडंदि णिरुव्विग्गा णयरायरमंडियं वसुहं ॥ ३१ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ—समस्त प्रकार के परिग्रह से सर्वथा निर्लेप, तथा किसी पदार्थ की आकांक्षा नहीं करने वाले मुनि, वायु के समान स्वच्छंद विहारी ग्राम नगर पत्तनादि से मण्डित वसु धरा (पृथ्वी) पर नित्यप्रति भ्रमण करते हैं। किन्तु किंचिन्मात्र भी उद्विग्न नहीं होते।

भावार्थ—नित्य विहार करनेवाले मुनि शुद्ध माने गये हैं। जो मुनि आगमोक्त विहार करने में प्रमाद करते हैं, अथवा जिन शासन की अवहेलना करके बिना विशेष कारण के महीनों तक एक स्थान मे निवास करते हैं वे मुनि सदोष हैं। मुनि की उत्तमता व निर्मलता तो वायु के समान निरन्तर स्वच्छन्द विहार करने से ही होती है। मुनि पैदल विहार करते हैं। किसी प्रकार की सवारी नहीं करते। क्योंकि चेतन बैल अश्वादि वाहन पर चढ़कर विहार करने से उन्हें पीड़ा पहुचती है और मार्गस्थित छोटे जन्तुओं की रक्षा नहीं हो सकती है। अचेतन मोटर वायुयान आदि की सवारी से भी जलकाय, पृथ्वीकाय, अग्निकायादि जन्तुओं की तथा मार्गस्थित त्रस जीवों की भारी हिंसा होती है। तथा वाहन पर सवारी करने से परतन्त्रता तथा दीनता आती है। समस्त परिग्रह के त्यागी मुनि के निकट रुपया पैसा नहीं होता और वे किसी से याचना नहीं करते। अतएव मुनि के सब प्रकार के वाहन का त्याग होता है। वे पैदल विहार करते हैं। मुनीश्वर सब जीवों के निष्कारण बन्धु होते हैं। करुणा से उनका हृदय आर्द्र रहता है। वे भूमि पर के जीवों को बचाते हुए इस प्रकार चलते हैं कि मानो खोये हुए रत्न का ही अन्वेषण कर रहे हो। तथा माता जैसे पुत्र पर स्नेह करती और उसकी सर्व प्रकार रक्षा करती है उसी प्रकार मुनि सब जीवों के रक्षक होते हैं। वे जीवादि छह द्रव्य और नवतत्त्व के पूर्ण ज्ञाता होते हैं। उनके स्वरूप को ज्ञान रूपी उज्ज्वल प्रकाश से भले प्रकार जानते हैं, इसलिए पापजनक क्रियाओं का परिहार कर प्रवृत्ति करते हैं।

निर्ग्रन्थ साधु पाप भीरु होते हैं। अतः उनके यावज्जीव मन वचन काय व कृत कारित अनुमोदना द्वारा सम्पूर्ण पाप जनक कर्मों का त्याग होता है। वे प्रयोजन वश भी तृण का छेदन नहीं करते, वृक्ष का पत्ता नहीं तोड़ते। किसी हरितकाय-वनस्पति का छेदन नहीं करते। वृक्ष की त्वचा, शाखा, कोपल, कन्दमूलादि छेदन, भेदन, मोटन (मरोड़ना) आदि नहीं करते। छेदन तो दूर रहा, उनका स्पर्श तक नहीं करते। प्रमाद से अथवा भूल से किसी सचित्त वनस्पति का स्पर्श होजाने पर प्रायश्चित्त लेकर उस दोष को दूर करते हैं। वे दूसरे से पत्र फलादि का आरम्भ नहीं करवाते और न उसको अनुमति देते हैं। जो साधु सचित्त वनस्पति के आरम्भ व भक्षणादि की प्रेरणा करता है उसको अहिंसा महाव्रत से च्युत समझना चाहिए।

दयापरायण परम अहिंसक निर्ग्रन्थ मुनि सचित्त मिट्टी आदि पृथ्वी आदि खोदना, पीटना, चूर्ण करना, कूटना आदि न तो स्वय करते और न दूसरे से करवाते हैं। जल का सिचनादि कदापि नहीं करते। पंखा आदि हिलाकर वायुकाय के जीवो की विराधना कभी नहीं करते। अग्नि को न जलाते और न बुझाते और न अन्य किसी प्रकार उक्त जीवों को पीड़ा पहुचाते हैं और न दूसरों के द्वारा उक्त जीवों को कष्ट दिलाते हैं। यदि अन्य पुरुष किसी प्रकार का सावद्य कार्य करता है ना उसकी अनुमोदना नहीं करते। बल्कि प्रिय मधुर वचन द्वारा उपदेश देकर पाप कार्य से होनेवाली हानि समझाकर सावद्य कार्यों से उसको बचाते हैं।

साधु सदा निर्भय निद्वन्द्वसिंह समान विचरते हैं। समस्त प्राणियो पर साम्य भाव रखते हैं, इसलिए किसी प्रकार के शस्त्र अस्त्र धारण नहीं करते। हाथ मे डडा तक नहीं रखते। उनका कोई शत्रु नहीं है। सब जीवों को मित्रवत समझते हैं। सम्पूर्ण जीवों को आत्मवत् चिन्तन करते हैं। मेरे द्वारा किसी तरह किसी जीव को पीड़ा न हो जावे। यदि मेरे निमित्त से इन जीवों को दुःख पहुंचा तो वह दु ख मेरी आत्मा को बेचैन करदेगा उनका ऐसा स्वच्छ व दृढ़ संकल्प सम्पूर्ण जीवों की पीडा के परिहार मे प्रवृत्ति करता है।

आत्म-साधना मे तत्पर रहने वाले निर्ग्रन्थों का अतिशान्त गम्भीर चित्त क्षुधा तृषा शीत उष्ण इत्यादि परीषहों के तथा देव-तिर्यंचादि कृत उपसर्गों के प्राप्त होने पर दीनता नहीं दिखाता, किन्तु रणागण मे उत्साहित शूरवीर पुरुष की तरह धैर्य धारण कर वैराग्य भावना रूपी शस्त्र का प्रयोग कर उन पर विजय प्राप्त करता है। साधु शत्रु मित्र पर माध्यस्थ भावना धारण कर रागद्वेष को परास्त करते है। कूर्म (कछुए) की तरह अपनी सब इन्द्रियों को सुकोड कर प्रिय व अप्रिय विषयों में आदर व अनादर बुद्धि नहीं करते हैं। संसार के किसी पदार्थ की आकांक्षा न होने से उनके मन की चचलता दूर होकर स्थिरता उत्पन्न हो जाती है। उनके निर्मल अन्तःकरण में माया प्रपन्च का लेशमात्र सद्भाव न होने के कारण वे सब जीवों के विश्वास पात्र होते हैं।

जिनेन्द्र शासन रूपी मार्ग पर सदा दृष्टि रखते हैं। उसके उल्लघन से आत्मा की महती हानि को समझते हैं। जन्म मरण के तथा सासारिक इष्ट-वियोगादि जन्य दु खों से भयभीत हुए गर्भावास के असह्य कष्टों से घबराते हैं।

हे आत्मन्। घोर नरक के कुंभीपाक के समान दु खदेने वाले माता के उदर में बहुत काल तक मल, मूत्र, रुधिरादि से लिपटे हुए रहकर भयानक सताप भोगना पड़ता है। इसलिए इस गर्भ वसती से अतित्रस्त होकर मुनि छुटकारा चाहते हैं।

ज्ञान-दीपक से जगत के समस्त पदार्थों की असली हालत को देखकर कामभोग मे विरक्त होते हैं और ज्ञान-चक्षु से अगर्भ-वास के स्थान को ढूंढते हैं और वहां पर पहुचने के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का आश्रय लेकर वैराग्य भावना मे लीन होते हैं। शरीर से निरपेक्ष हुए धैर्य रूप लगाम हाथ मे लेकर आत्मा का दमन कर ससार के मूल (मोह राग द्वेष) का छेदन करते हैं।

(५) भिक्षा शुद्धि

छट्ठट्ठमभत्तेहिं पारेंति य परघरम्मि भिक्खाए ।
जमणट्ठं भुंजंति य ण विय पयामं रसट्ठाए ॥ ४४ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ—मुनीश्वर अपने संयम की साधनाके लिए वेला,तेला,चोला,पचोला आदिके पारणे निमित्त परघर भिक्षा से भोजन करते हैं। जो भोजन कृत कारित और अनुमोदना से रहित हो तथा उद्दिष्टादि दोषों से वर्जित हो उसे ही ग्रहण करते हैं। जिव्हारसकी लोलुपता से अधिक भोजन नहीं करते हैं।

भावार्थ—साधु जन आहार को उपादेय नहीं समझते। जहाँ तक हो सके उसका त्याग करते हैं। अपनी शक्ति को न छिपाकर वेला तेला आदि उपवास धारण कर निरन्तर आत्म-ध्यान, स्वाध्याय में लगे रहते हैं। जब देखते हैं कि आहार के बिना स्वाध्यायादि कार्यों मे बाधा उपस्थित होती है तब भिक्षा के लिए बस्ती मे निकलते हैं। क्षुधा व तृषा से अतिपीडित होने पर भी मुखादि द्वारा दीनता प्रकट नहीं करते। नवधा भक्ति के साथ दिया हुआ कृत कारित अनुमोदना से रहित नवकोटि विशुद्ध, उद्दिष्टादि दोषवर्जित तथा चौदह मल (नख रोमादि) रहित प्रासुक शुद्ध आहार पर-घर मे लेते हैं। जिस घर पर ममत्व हो उसमे आहार ग्रहण नहीं करते हैं। रस की लालसा रहित उतना आहार करते हैं जिससे स्वाध्यायनादि आत्मीय कार्य की सिद्धि हो सके। आधा उदर अन्न से और चौथाई जल से भरते हैं। चौथाई खाली रखते हैं। स्वादिष्ट भोजन की लोलुपता वश रस हीन भोजन का त्याग नहीं करते हैं। गृहस्थ जैसा भी शुद्ध और ग्राह्य भोजन देता है उसे मौन पूर्वक ग्रहण करते हैं और वह भी पाणि-पात्र मे है।

उद्दिष्टादि छियालीस दोष और बत्तीस अन्तराय रहित साधु का भोजन होता है। उसका विवेचन पिण्ड शुद्धि अधिकार में किया गया है। वहाँ से जान लेना चाहिए।

मुनि भिक्षा के लिए किस प्रकार भ्रमण करते हैं इसका खुलासा निम्न प्रकार है।

अण्णादमणुण्णादं भिक्खं णिच्चुच्चमज्झिमकुलेसु ।
घरपंतिहिं हिंडंति य मोणेण मुणी समादिंति ॥ ४७ ॥ (मूला० आ० अ०)

अर्थ—आज मुनीश्वर भिक्षा के लिए यहा पर आवेंगे इस प्रकार गृहस्थो को ज्ञात नहीं हो उसे अज्ञात कहते हैं। अनभिप्रेत

अर्थात् मुनि अमुक अभिग्रहादि धारण करेंगे व अमुक घर जावेंगे इत्यादि अभिप्राय का ज्ञान न हो उसे अनभिप्रेत कहते हैं। ऐसे अज्ञात और अनभिप्रेत घर मे चाहे वह धनिक का घर हो, या मध्यम स्थिति वाले का घर हो चाहे गरीब का घर हो, एक पंक्ति में आये हुए घरों को नहीं टालकर मौन पूर्वक भिक्षा ग्रहण करते हैं।

भावार्थ—मुनियों को चाहिए कि वे जो अभिग्रहादि करें उसका स्पष्ट ज्ञान गृहस्थो को न हो सके। तथा जिस घर मे मुनि आहार को जावें उसमे पहले अपने संघ का ब्रह्मचारी आदि जाकर सब अनुकूल व्यवस्था न करे। जहा पर संघ का कोई व्यक्ति गृहस्थ के घर जाकर पहले भोजनादि का प्रबन्ध करले और उसी घर मे साधु का आहार हो तो इसमें उद्दिष्ट दोष ही नहीं अधः कर्म दोष उत्पन्न होता है, जो मुनि के मुनित्व का नाशक माना गया है। तथा साधु चर्या के लिए निकले तब पक्तिबद्ध घरों में जहा पर भी विधि मिल जावे वहां पर आहार के सम्पूर्ण दोषों को टालकर आहार ग्रहण करले। ऐसा न करे कि विधि मिलने पर किसी घर को बीच में छोड़ कर अपनी इच्छानुसार कहीं पर भोजन ग्रहण करे। इससे ममत्व और आहार की लालसा या अन्य किसी प्रकार का मोह प्रकट होता है। इसलिए गरीब, धनवान, साधारण घर के भेद भाव को ध्यान में न रखकर प्रासुक शुद्ध विधि सहित जहा पर भी योग्य सरस या नीरस आहार मिले उसको स्वीकार करले। भोजन ठंडा हो या गर्म हो, स्निग्ध हो या रूखा हो, लौना हो अलौना हो,स्वादु हो या बेस्वाद हो अपने मनके अनुकूल हो या प्रतिकूल हो, इन बातों का खयाल न कर प्रासुक शुद्ध आहार जहां पर मिल जावे वहा ही ग्रहण करले।

आजकल अत्यन्त शीत (ठंड) है यदि गर्म भोजनादि मिले तो अच्छा हो, आजकल गर्मी के दिन हैं इस समय शरीर में शीतलता करनेवाला पदार्थ मिले तो अच्छा हो, आज उपवास का पारणा है स्निग्ध सरस भोजन मिले तो शरीर क लिए हितकर होगा-इत्यादि बातों का कभी चिन्तन न करे। जैसा भी प्रासुक शुद्ध आहार मिले साधु को शान्ति पूर्वक इस प्रकार ग्रहण करलेना चाहिए-जैसा कि कोई व्यापारी अपनी मालसे भरी गाडी को इष्टस्थान पर ले जाने के लिए पहियों के मध्यभाग में तैल या घी का ओंगन देता है। यदि ओंगन न दिया जावे तो धुरे से अग्नि उत्पन्न हो जाती है और वह धुरा नष्ट भ्रष्ट होजाता है, गाड़ी इष्टस्थान पर पहुचने मे असमर्थ हो जाती है। उसे अभीष्ट स्थान पर पहुंचने के लिए घृत या तैल का ओगन आवश्यक होता है। उसी प्रकार साधु का शरीर रत्न-त्रयादि अमूल्य रत्नो से भरी हुई गाडी है। यदि इसका उचित समय मे प्रासुक शुद्ध आहार रूपी ओगन न दिया जावे तो वह अपने अभीष्ट स्थान (मोक्ष) मे पहुचने के पहले मार्ग में ही नष्ट हो जावेगी तथा उसका सयम तपश्चरण ध्यानादि के विषय मे किया गया समस्त श्रम व्यर्थ हो जावेगा। साधु शरीर को मोक्ष मार्ग पर चलाने के लिए आहार रूपी ओगन देना आवश्यक समझते हैं। राग बुद्धि मे शरीर को पुष्ट करने के लिए साधु आहार नहीं करते हैं।

मुनि उक्त दृष्टि से गृहस्थ के घर चर्या के लिए जाते हैं। यदि दैवयोग से विधि न मिलने पर या अन्तराय आदि के हो जाने पर आहार न मिले तो उदास नहीं होते, चित्त मे विपाद नहीं करते। उसको कर्म की निर्जरा का कारण समझकर शान्ति से स्वाध्यायादि आत्म-हितकर कार्यों मे लग जाते हैं।

वे विचारते हैं कि आहार प्राण-धारण के लिए किया जाता है और प्राणो का धारण धर्म के आराधन के लिए है। अतः जितने काल शरीर प्राण मे है उतने समय तक उसे धर्म के आराधन मे ही लगाना चाहिए। ऐसे विचारों से वे धर्म कृत्यों में एक समय भी प्रमाद नहीं करते हैं।

भोजन की प्राप्ति के लिए वे किसी की प्रशसा स्तुति नहीं करते हैं। न किसी वस्तु की याचना करते हैं। क्योंकि याचना करने वाले के दीनवृत्ति होती है। जिसके हृदय मे दीनता होती है वह गृहस्थो का दास बन जाता है तो उसका श्रोताओ के चित्तपर कुछ भी असर नहीं पडता है। द्रव्यादि की याचना करनेवाला साधु नहीं होता वह साधु भेप को लजाने वाला है। इसलिए साधु किसी वस्तु की याचना करना तो दूर रहा, उसकी इच्छा तक नहीं करते। क्योकि उसको भी वे संयम का नाशक समझते हैं। आहार के लिए भी जब मौन धारण करके बस्ती मे जाते हैं तब आहार कर चुकने तक किसी प्रकार का सकेत तक नहीं करते। तब अन्य वस्तु को मुख से कैसे माग सकते हैं। देहि (दो) यह शब्द दीनता और करुणा का प्रकट करने वाला है। इसे कदापि अपने मुख से नहीं निकालते। पाच सात दिन आहार न मिलने से भूख के मारे मुनि का शरीर शिथिल व अशक्त हो गया हो, आखो के सामने अधेरा आने लगा हो, मस्तक शून्य हो गया हो, चक्कर आने लगे हों, हाथ पॉव हिलाने का सामर्थ्य भी नहीं रहा हो तथापि धीर वीर मुनि एक ग्रास तक नहीं मागते हैं। ऐसे स्वाभिमानी (मुनि धर्म का मान रखने वाले) मुनीश्वर अपने मुख से क्या कोई अन्य वस्तु माग सकते हैं?

मुनि भोजन न मिलने पर अपने हाथ से भोजन नहीं बनाते, न उपदेश देकर दूसरे से बनवाते हैं। न अपने लिए भोजन वाले की अनुमोदना करते हैं। क्योकि उन्होने भोजन बनाने का नवकोटि से त्याग किया है। भिक्षा के समय जो अन्न मिल जाता है उसीमे सतुष्ट रहते हैं। भिक्षा मे भात रोटी आदि अशन मिले, अथवा दुग्धजलादि पेय पदार्थ मिले, या लड्डू आदि पकवान मिले, अथवा रावडी आदि मिले या जलमात्र मिले, जो शुद्ध व प्रासुक हो, पाणिपात्र मे उसका प्रतिलेखन कर-देखशोधकर भक्षण करते हैं। जो भोजन विवर्ण (भद्दा) न हो, प्रासुक (सम्मूर्छनादि जन्तुरहित), मनोहर तथा एषणा के दोष से रहित हो, ऐसा भोजन भिक्षा में मिले तो ग्रहण करते हैं। किन्तु बासा (दो तीन दिन का बना) भोजन नहीं करते। विवर्ण (भद्दा) तथा चींटी आदि जिसमें चल रही हों उसे अप्रासुक समझ कर उस भिक्षा-भोजन का त्याग करते हैं।

जिस भोजन के पदार्थ मे काली पीली नीली लाल श्वेत पाच रंग की फूलन में से कोई फूलन आगई हो, जो चलित रस हो,

जिसमे दुर्गंध आती हो, साधु उसको अप्रासुक समझ कर त्याग करते हैं। क्योंकि फूलन में साधारण वनस्पतिकाय के अनन्त निगोदिया जीव होते हैं। इसलिए साधु ऐसे पदार्थ का भोजन करते हैं जो सर्वथा प्रासुक हो, शुद्ध हो और मनोज्ञ हो। जो आहार देखने में भी भद्दा मालूम होता हो उसका भी ग्रहण नहीं करते हैं।

फलादि जब तक अग्नि से पकाये नहीं गये हो साधु उन्हें नहीं लेते हैं। क्योंकि बिना अग्नि के पकाये फलादि के टुकड़े प्रासुक नहीं होते हैं।

जिसमे बीज न हो ऐसा फलो का गूदा या रस प्रासुक किया हुआ ग्रहण करते हैं। जिसमें बीज हों ऐसा फल का गूदा रस आदि कभी नहीं लेते। तथा बिना बीजवाला रस वगैरह भी यदि प्रासुक न किया गया हो तो उसका ग्रहण नहीं करते हैं।

शुद्ध प्रासुक भिक्षा-भोजन करने पर भी प्रमादादिकृत दोषों का निवारण करने के लिए मुनि प्रतिक्रमणादि करते हैं। दिन में भोजन की दो वेला होती हैं, किन्तु मुनि एक दिन में एक बार ही भोजन करते हैं।

५ ज्ञान शुद्धि

ते लद्धणाणचक्खू णाणुज्जोएण दिट्ठपरमट्ठा।
णिस्संकिद णिव्विदिगिछादबलपरक्कमा साधू ॥ ६२ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ—जिन महात्माओं ने ज्ञान-चक्षु प्राप्त कर लिया है, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यज्ञान के उज्ज्वल प्रकाश से सम्पूर्ण लोक के सार पदार्थों को जान लिया है उनको आगम निरूपित पदार्थों में शंका नहीं होती है तथा संसार की किसी बीभत्स (घृणास्पद) वस्तु पर जिन्हें घृणा नहीं है तथा कठिन से कठिन तपस्या करने पर भी आत्मग्लानि उत्पन्न नहीं होती है, आत्मबल के अनुकूल पराक्रम द्वारा निरन्तर उत्साह सहित कार्य में लगे रहते हैं।

जिस साधु को स्वसिद्धान्त का तथा परमत के सिद्धान्तों का रहस्य ज्ञान होता है वह साधु अपने आचरण से नहीं गिरता है। ज्ञान रूप उज्ज्वल दीपक उसके आगे प्रकाश करता चलता है। वह संसार के सब पदार्थों का असली स्वरूप उघाडकर उसके सामने रख देता है। यह पदार्थ तेरे लिए अमृत के समान ग्राह्य है और यह पदार्थ तेरे लिए विष के समान अहितकर होने के कारण त्याज्य है। यह अनुकूल क्रिया तेरे आत्मा को पवित्र और बलवान बनाने वाली है और यह विपरीत क्रिया तेरी आत्मा को मलीन व निर्बल बनाने वाली है, इत्यादि बातों को सूचित कर श्रेयोमार्ग को प्रकाशित करने वाला एक सम्यग्ज्ञान ही है। यदि विपरीत कारणों के संयोग से

चारित्र के आरम्भ मे साधु उत्साह हीन होने लगता है, कठिन परीषहों के प्राप्त होने पर चारित्र से उदासीनता होने लगती है, तब यह ज्ञान
उसका हाथ पकड़कर गिरने से बचाता है और उदासीनता दूर कर उत्साह को बढ़ाता है। उन्मार्गगामी मन को थाम कर मार्ग में लाता है।
साधु को यथासमय भले बुरे की सूचना देनेवाला एक ज्ञान ही है।

ज्ञान बल से साधु तपस्यादि कार्यों मे निरन्तर दृढ़-चित्त रहता है उसका धैर्य बढ़ानेवाला ज्ञान ही है। आत्मा मे गम्भीरता
तथा अन्य गुणों की प्राप्ति ज्ञान मे ही होती है। ज्ञान रूपी लगाम से ही इन्द्रिय रूपी बलवान घोड़े वश में रहते हैं। मन-मातङ्ग को आत्मा
के वश मे रखने के लिए ज्ञान अंकुश के समान है।

तपस्या से जिन साधुओं के कपोल सूखकर पिचकगये हैं, भृकुटि (भौंहें) ऊपर उठ आई हैं, आखें अन्दर घुस गई हैं, शरीर
अस्थि पंजर मात्र हो गया है, वे साधु भी ज्ञान के बल से निरन्तर तपश्चरण में उत्साहित रहते हैं और उनका वास्तविक स्वरूप जानते
हैं। वही कहा है।

सुदरयणपुण्णकण्णा हेउणयविसारदा विउलबुद्धी।
णिउणत्थसत्थकुसला परमपयवियाणया समणा ॥ ६७ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ—जिन मुनि पुंगवों के कर्ण श्रुतज्ञान रूपी रत्न से भूषित हैं, जो हेतुवाद में पारङ्गत हैं, जिनकी बुद्धि विशाल है, जो
व्याकरणशास्त्र, तर्कशास्त्र, साहित्य, छन्द, अलंकार आदि शास्त्रों मे निपुण हैं, वे महामति साधु परमपद (मोक्षमार्ग) के वास्तविक
ज्ञाता होते हैं।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन पूर्वक ज्ञान व चारित्र मोक्ष का मार्ग माना गया है। नय व प्रमाण से जीवादि पदार्थों के स्वरूप को
जानकर उनपर श्रद्धान करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं। उस सम्यग्दर्शन सहित जितना भी ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान तथा जितना भी चारित्र है
वह सम्यक् चारित्र होता है। सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के लिये पदार्थों का यथार्थ ज्ञान आवश्यक है और पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्रमाण और
नय के द्वारा होता है इसलिए सबसे प्रथम प्रमाण व नयों के स्वरूप का ज्ञान होना चाहिए। नय और प्रमाण के ज्ञान बिना वस्तु का यथार्थ
ज्ञान होना असंभव है।

श्रुतज्ञान से निरूपित अर्थ के एक देश (अंश-धर्म) का निश्चय करनेवाले ज्ञान को नय कहते हैं। नैगम, संग्रह आदि
उसके सात भेद हैं। उनका स्वरूप ज्ञानाचार मे दिखा आये हैं। अथवा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से नय के दो भेद हैं। नैगम,
संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार नय द्रव्यार्थिक हैं, क्योंकि ये द्रव्य का ग्रहण करते हैं। और शेष तीन (शब्द, समभिरूढ और एवंभूत)

पर्यायार्थिक हैं। ये पर्याय का ग्रहण करते हैं। अथवा व्यवहार और निश्चय इस प्रकार नय के दो भेद हैं। वस्तु की शुद्ध अवस्था के ग्रहण करनेवाले नय को निश्चय नय कहते हैं। तथा अन्य वस्तु के सयोग से उत्पन्न हुई वस्तु की जो वर्तमान अवस्था है उसके ग्रहण करनेवाले नय को व्यवहार नय कहते हैं। अनन्त धर्मात्मक वस्तु को समस्त स्वरूप के ग्रहण करनेवाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। उसके प्रत्यक्ष व परोक्ष ये दो भेद है। इसका विशद विवेचन ज्ञानाचार मे किया गया है वहा जान लेना चाहिए।

जिसको आगम का ज्ञान है उस मुनि का चारित्र उज्ज्वल होता है। तथा वही अपना तथा दूसरे का कल्याण करने में समर्थ हो सकता है। श्रुतज्ञान विना मनुष्य अन्धे के समान होता है। जैसे अन्धा मार्ग-स्थित कण्टक, पत्थर, खड्डे आदि अनिष्ट वस्तु से बचकर ठीक मार्ग पर चलने मे असमर्थ होता है वैसे ही ज्ञान हीन मनुष्य आत्मा के अहितकर मार्ग (चारित्र) से बचकर उत्तम निर्दोष मोक्षमार्ग पर चलने मे असमर्थ होता है। इसलिए आचार्य महाराज ने साधु के श्रुतज्ञान (आगमज्ञान) की आवश्यकता दिखाई है।

मुनि को व्यवहार ज्ञान भी होना चाहिए। जो द्रव्य क्षेत्र काल व भाव के अनुसार उपदेश नहीं देता है, उसके उपदेश से जनता को कुछ भी लाभ नहीं होता है, प्रत्युत कभी कभी उससे भयंकर हानि हो जाती है। द्रव्यक्षेत्रकालादि का विचार न करनेवाला मुनि अपने चारित्र को भी निर्मल नहीं रख सकता, इसलिए साधु को मतिमान होना चाहिए।

जो साधु व्याकरण, न्याय, छन्द, साहित्यादि शास्त्रों का वेत्ता होता है उसके द्वारा मुनिपद सूर्य के समान देदीप्यमान हो जाता है। वह विद्वानों के हृदय में स्थान पाता है। उसीसे जैन धर्म का उद्योत (प्रकाश) होता है। सच्ची धर्म की प्रभावना विद्वान् मुनि ही कर सकता है। उसकी ज्ञानमय आत्मा के मुख से निकले ओजस्वी वचनों से विरोधी विद्वान् भी नत मस्तक हो जाते हैं। शास्त्र निपुण विद्वान् आचार्यों ने ही सम्पूर्ण जीवों को सन्मार्ग दिखानेवाले शास्त्रों की रचना की है। उन शास्त्रों के आधार पर ही इस समय जैन धर्म टिका हुआ है और भव्य जीवों को मोक्ष मार्ग प्राप्त हो रहा है। इसलिए यह स्पष्ट है कि मोक्ष मार्ग के ज्ञाता व प्रणेता (उपदेशक) विद्वान् मुनिराज ही हो सकते हैं।

अनेक शास्त्रों के पारगामी विद्वान् साधु कैसे होते हैं, इसके लिए कहते हैं—

अवगद माणत्थमा अणुस्सिदा अगव्विदा अचंडा य।
दंता मद्दवजुत्ता समयविदण्हू विणीदा य ॥ ६८ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ— शास्त्र पारगत मुनियों के लेश मात्र भी ज्ञान का गर्व नहीं है, ज्ञान के गर्व से उच्छृंखल (उद्दण्ड) होकर आगम विरुद्ध एक शब्द

भी उच्चारण नहीं करते है, उत्तम जाति, उच्च कुलादि का अभिमान उनके हृदय को स्पर्श तक नहीं करता है, क्रोध के कारण उपस्थित होने पर भी उनके अन्त करण मे क्रोध का आविर्भाव नहीं होता है, इन्द्रियों का दमन उनने कर लिया है, वे मृदुता गुण से भूषित है। स्वसिद्धान्त पर सिद्धान्त के विद्वान् हैं तथापि वे अत्यन्त विनयवान होते हैं।

भावार्थ—प्रकाण्ड विद्वान मुनि के सामने जगत् के उद्भट विद्वान् खद्योत के समान प्रतीत होते है । उनकी ज्ञान-तेजस्विता से विख्यात-कीर्ति पंडित भी कापते है। तथापि वे मुनिराज अपने ज्ञान का गर्व नहीं करते हैं। क्योंकि उन्हे वस्तु के यथार्थ स्वरूप का बोध होगया है। पुण्य और पाप के कारणों का स्वरूप उनके हृदय मे अंकित होगया है। वे समझते हैं कि अभिमान पाप का बीज है। अभिमान से आत्मा का पतन होता है। केवलज्ञान के सामने मेरा ज्ञान खद्योत के समान है। मैं जिसका अभिमान करूँ, वह क्षायोपशमिक ज्ञान कर्माधीन है। तीव्र असाता कर्म तथा वीर्यान्तराय कर्म के उदय होने पर यह क्षायोपशिम ज्ञान नष्ट हो जाता है। इस पराधीन और नश्वर ज्ञान का अभिमान करना अज्ञानता है। मेरा स्वरूप तो केवलज्ञान है। उसकी प्राप्ति के लिए मैंने यह उत्कृष्ट मुनिपद धारण किया है। यदि मैं अभिमान करूँगा तो इष्ट मार्ग से गिर जाऊँगा और मेरा सर्वस्व लुट जावेगा—ऐसा विचार कर साधु अभिमान को निकट तक नहीं आने देते है। किन्तु इसके विपरीत विनीत भाव धारण करते हैं। अपने ज्ञान की अल्पता की ओर ध्यान रखते हैं। अभिमान वश किसी का निरादर नहीं करते। उनके वचन मे, क्रिया मे नम्रता झलकती है। निरन्तर ज्ञानोपयोग मे तल्लीन रहद हैं। अपने चारित्र को उज्ज्वल करने मे तत्पर रहते है। इन्द्रिय व मन पर विजय प्राप्त कर धर्मध्यान मे उपयुक्त रहते हैं।

(९) उज्झनशुद्धि

ते छिण्णणेहबंधा णिण्णेहा अप्पणो सरीरम्मि ।
ण करंति किंचि साहू परिसंठप्पं सरीरम्मि ॥ ७० ॥ (मूला. अ.)

अर्थ—जिसने पुत्र स्त्री आदि के प्रेम सम्बन्ध को छिन्न भिन्न कर दिया है और अपने शरीर से भी स्नेह सम्बन्ध तोड़ दिया है वे साधु अपने शरीर का किंचिन्मात्र भी संस्कार नहीं करते हैं।

भावार्थ—उज्झन शुद्धि चार प्रकार की होती है। १ शरीर के संस्कार का त्याग, २ स्त्री पुत्रादि बन्धुवर्ग का सर्वथा त्याग, ३ सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग और ४ रागादि भाव का त्याग।

उज्झन शुद्धि के चार भेदों का स्वरूप

१ जिन महात्माओं ने अपने शरीर के ममत्व (मोह) का त्याग कर दिया है वे शरीर को आत्मा का शत्रु समझते हैं। क्योंकि जितने पापकर्म होते हैं उसका कारण यह शरीर ही है। इसलिए वे उसका किसी प्रकार का संस्कार नहीं करते। न वे मुँह धोते हैं, न नेत्रों पर जल छिड़कते हैं न दन्तधावन करते हैं। अर्थात् मंजन या दतौन लेकर या अंगुलि से रगड़कर दांत स्वच्छ नहीं करते हैं। सुगन्धित द्रव्यों का उबटना नहीं करते हैं। न पाँवों पर केशर आदि द्रव्यों को लगाकर उन्हें स्वच्छ करते हैं, न शरीर का मर्दन करवाते हैं, न मुक्के आदि से शरीर कुटवाते हैं, न किसी काष्ठादि यंत्र से शरीर को दबवाते हैं न शरीर के अङ्गोपांग को धूपादि से सुगन्धित करते हैं। अपने कंठ की शुद्धि के लिए अथवा स्वर को ठीक करने के लिए वमन नहीं करते हैं। अपने नेत्रों मे सुरमा कज्जलादि का अ जन नहीं करते। न पेट की शुद्धि के लिए या उदर पीड़ा का परिहार करने के लिए विरेचन लेते हैं। सुगन्धित तैलादि का शरीर पर मालिश नहीं करते हैं। चन्दन अगर कपूरादि का लेप नहीं करते हैं। कभी नेति धौती नहीं करते हैं। नासिका में और उदर मे वस्त्र डालकर नाशिका और उदर को स्वच्छ करने की क्रिया को नेति धौती कहते हैं, साधु उसे कभी नहीं करते हैं। न सिंगी आदि लगवाकर अपने शरीर का रुधिर निकलवाते हैं। इत्यादि शरीर सम्बन्धी कोई संस्कार नहीं करते हैं।

प्रश्न—मुनिराजों ने अपने शरीर के समस्त संस्कारों का त्याग कर दिया है, तो व्याधि आदि के उत्पन्न होने पर वे क्या करते हैं ?

उप्पण्णम्मि वाही सिरवेयण कुक्खि-वेयणं चेव ।
अधियासिंति सुधिदिया कायतिगिंछं ण इच्छन्ति ॥ ७३ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ—ज्वर, जुकाम, खासी आदि रोगो के उत्पन्न होने पर, सिर की पीड़ा, उदर शूल, पेट मे दर्द अथवा इसी प्रकार अन्य असह्य पीड़ा के उत्पन्न होने पर वे परमधैर्य धारण करनेवाले मुनिराज चारित्र मे दृढता रखते हुए आत्मा को बेचैनी पैदा करने वाली वेदना की प्रतीकार की इच्छा भी नहीं करते हैं, किन्तु चित्त को ज्ञान दर्शन की भावना मे लवलीन करते हैं।

भावार्थ—मर्मान्तक पीडा करनेवाले असह्य रोग-वेदना के उपस्थित हो जाने पर धैर्यधुरन्धर मुनिराज शरीर की ओर से ध्यान को हटाकर ज्ञान दर्शन भावना मे चित्त को लगा देते हैं। वे विचारते हैं कि हे आत्मन। तेरे जो असाता वेदनीय कर्म का उदय आया है, वह अपना फल दिये बिना न रहेगा। तू व्यर्थ व्याकुलित हो रहा है। इस समय तुझे शान्ति धारण करना चाहिए। इसका उपार्जन तूने किया है, अब इसका फल भोगते समय क्यो कायर होता है ? यह कर्म का ऋण तूने किया है। ऋण को चुकाना सत्पुरुषो का कर्त्तव्य है। यदि तू इस समय धैर्य धारण कर इसे शान्ति से सहलेगा तो तू ऋण-मुक्त हो जावेगा। और यदि तू धैर्यहीन होकर हाय विलाप करेगा। आत्मा मे आर्त-

ध्यान उत्पन्न करेगा तो भी यह कर्म तुझे नहीं छोड़ेगा, अपना फल अवश्य देगा। बल्कि धीरज का त्याग करने से तुझे कई गुना अधिक कष्ट प्रतीत होगा और नये कर्म का बन्ध भी होगा। वह फिर तुझे भविष्य मे इससे भी अधिक दु:ख देगा। सोच! यह अवसर तेरे लिए बड़ा शुभ उपस्थित हुआ है, जो सचेत और ज्ञानोपयोग दशा में यह कर्म उदय मे आया है। सब सुन्दर सयोग इस समय तुझे प्राप्त हैं। इस समय भी तू अज्ञान वश शोक स्ताप करेगा तो तेरे समान मूर्ख और कौन होगा ? जरा सोचो! तुमने नरकों में कैसे २ दु.ख सहे। जहाँ निरन्तर ताडन छेदन, भेदन, भाड मे भर्जन, शूल्यारोहण, अग्नि-पाचन आदि घोर क्लेश सहे हैं, जिनका स्मरण मात्र हृदय को कम्पित कर देता है, उसके समक्ष यह आगत दु ख तो कुछ भी नहीं है। देखो! सुकुमाल मुनिराज के शरीर को नोच नोच दोनों बच्चो सहित स्यालनी ने भक्षण किया, तथापि लेशमात्र भी उनके मन में विकार नहीं हुआ। कहाँ वह सुकुमाल मुनीश्वर जिनके शरीर को सरसो भी काँटे समान दु.ख देती थी, उसको स्यालनी द्वारा आधा भक्षण कर लेने पर रचमात्र दु.ख नहीं हुआ। पाचों पाडव मुनिराजो के गले मे अग्नि से तप्तायमान लोहे के जगमगाते हुए गहने डाले गये तथापि उन्होने रच मात्र दु.ख नहीं किया। उनके शरीर के अवयव दग्ध होगये, किन्तु उनके वाल मे विकार नहीं हुआ। गजकुमार मुनि के मस्तक पर अगीठो बनाकर अग्नि जलाई गई, किन्तु मुनिराज का मन-सुमेरु तनिक भी चंचल न हुआ। तुमको कष्ट है ही कहाँ ? क्या यह शरीर तुम्हारा है ? यह तो विनश्वर पुद्गल का पिण्ड है। तुमतो शुद्ध बुद्ध चैतन्य सुख स्वरूप आत्मा हो। ऐसे शरीर तो तुमने अनन्त वार पाये हैं। जैसे पुराने वस्त्र को उतार कर नये वस्त्र पहननेवाला मनुष्य अप्रसन्न नहीं होता है। उसी प्रकार इस जीर्ण और दुर्गन्ध शरीर को छोड़कर दिव्य अनुपम देवादि के शरीर को प्राप्त करनेवाले को क्या दुःख ? संयमी इसकाल मे भी स्वर्ग का अधिकारी है। इस पंचमकाल मे मोक्ष नहीं होता तो भी देवगति के सिवा संयमी दूसरी गतिमे नहीं जाता। यदि तुम आर्त्तध्यान करोगे तो तुम्हारे संयम रत्न को कषाय चौर लूटलेंगे और तुम्हें नरकादि गति मे जाना पडेगा। इत्यादि ज्ञान द्वारा मुनिराज अपने शारीरक रोगादि के प्राप्त होने पर शरीर का सस्कार नहीं करते हैं। न वेदना से मन को विकृत करते हैं—व्याकुल चित्त नहीं होते हैं। किंकर्त्तव्य विमूढ नहीं होते और मन मे कायरता नहीं धारण करते, किन्तु महान् धैर्य का अवलम्बन लेकर व्याधि, रोग, वेदनादि से न घबराकर उससे मुकाबला करते हैं। विवेक-ज्ञान से शरीर को अन्य समझ कर उसकी चिकित्सा आदि की इच्छा तक नहीं करते हैं।

शंका—क्या मुनिराज विरेचनादि सब औषधियों का त्याग करते हैं ?

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं है।

शका—तो किस की इच्छा करते हैं ?

समाधान—मुनिराज जिनेन्द्र भगवान के वचन रूपी औषध का निरन्तर सेवन करते हैं। इन्द्रियों के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले विषय-सुख का विरेचन लेते हैं। अर्थात् विषय-सुख का त्याग करते हैं। ज्ञानामृत का पान करते और आत्मा के ध्यान मे सन्तुष्ट रहते हैं।

आत्म-ध्यान जन्म जरा मरण रूप व्याधि के क्षय करने का कारण है। शारीरिक मानसिकादि समस्त दुःखों के क्षय का कारण है, तथा सम्पूर्ण कर्मों के नाश करने मे समर्थ है।

जिनागम के तत्त्वो मे सम्यक्श्रद्धान रखने वाले चारित्रपरायण साधु जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का उल्लंघन करके कोई क्रिया नहीं करते। जिनागम मे व्याधि-प्रतीकार करने के लिए औषधादि का सेवन करना साधु के लिए निषिद्ध है। अतः प्राणों का नाश होते हुए भी साधु किसी प्रकार की औषधादि का सेवन नहीं करते हैं।

आत्महित-परायण मुनिराज शरीर को रोगादि-ग्रस्त हुआ जानकर विचारते हैं कि यह शरीर रोगों का मन्दिर है। इसमें सैंकड़ों व्याधियां उत्पन्न होती हैं। यह तो रोगों का प्रसूतिगृह है। एक रोग का प्रतीकार करने पर दूसरा उत्पन्न हो जाता है और उसका उप-शमन होते ही तीसरा रोग प्रकट हो जाता है। इसकी असली चिकित्सा असाता वेदनीय कर्म का क्षय करने से हो सकती है। यह शरीर जब तक रहेगा तब तक रोग का अस्तित्व मिट नहीं सकता, अतएव इसकी उत्पत्ति कभी न हो ऐसा उद्योग करना ही श्रेयस्कर है।

इस शरीर के साथ रोग व्याधि आदि का सम्बन्ध है। ये इसीको हानि पहुंचा सकते हैं। इसमें मेरी क्या हानि है? यह शरीर तो अशुचि है, महा अशुभ है, शुभ लेश्या से रहित है, नसों और आतड़ियों से वेष्टित है, चमड़ी से ढका हुआ है, हड्डियों की ठिठरी है जो मास चर्बी से लिपी हुई हैं, भीतर रुधिर शुक्र कलेजे आदि से भरा हुआ और मलमूत्र कफ आदि का स्थान है।

यह शरीर सडे हुए फोड़े के समान घिनौना है। संसार के सब अपवित्र और घृणित पदार्थों से यह शरीर बना है। शरीर का सबसे उत्तम अवयव मुख है, वह कफ और लार युक्त है। आंखों मे से कीचड, नासिका से कफ, कानों से कर्णमल निकलता रहता है। अधो-द्वार से मल मूत्र समय समय निकलते रहते हैं। सम्पूर्ण शरीर से स्वेद जल बहता रहता है। कहाँ तक कहा जावे यह शरीर मलगृह है, श्मशान के समान बीभत्स है। और इस पर भी इसके टिकने का कुछ भरोसा नहीं। कितने ही रक्षा के उपाय किये जावें तो भी अनियत काल मे नष्ट हो जाता है। इसकी क्षण भर रक्षा करने को भी त्रिलोकी मे कोई भी समर्थ नहीं है।

जिस शरीर की रक्षा करने के लिए यह प्राणी निरन्तर दत्तचित्त रहता है-जिसको सुन्दर पवित्र, सुगन्धित, दुग्ध पक्वा-न्नादि पदार्थों का भोजन देता है उनको यह शरीर मल मूत्र रूप कर डालता है। यदि वह अन्नादि दांतों मे लगा रह जावे तो रोग उत्पन्न कर देता है। इस शरीर के संसर्ग से सुन्दर भोजन जलादि मनोज्ञ पदार्थ कफ-लार-स्वेद-मल-मूत्रादि दुर्गन्ध पदार्थ बन जाते हैं, जिसका स्पर्श तो दूर रहा नेत्रों से देखना भी कोई नहीं चाहते।

प्रश्न—ऐसे शरीर को मुनि क्यो धारण करते है ? और आहारादि से उसका पोषण क्यों करते हैं ?

उत्तर—इस अत्यन्त अशुचि और निनश्वर शरीर से पवित्र और अविनाशी सुख देने वाले धर्म का आराधन करने के लिए
इसकी आहारादि से रक्षा करते हैं, क्योकि मनुष्य शरीर से ही चारित्र धर्म का पालन होता है, स्वाध्याय-ध्यान की सिद्धि होती है। जब तक
यह स्वाध्यायादि मे साधक होता है, तब तक इसका पोषण करते हैं और इससे अपना खूब काम लेते हैं। और जब यह रोगादि से पीडित
होता है, स्वाध्यायादि कार्मो मे उपयोगी सिद्ध नहीं होता है तब इससे अपना सम्बन्ध तोड देते हैं और अपने परिणामों मे किसी प्रकार का
विकार उत्पन्न नहीं होने देते ।इसीको उज्झन शुद्धि कहते हैं ।

७ वाक्य शुद्धि

भासं विणयविहूणं धम्मविरोही विवज्जए वयणं ।
पुच्छिदमपुच्छिदं वा ण वि ते भासंति सप्पुरिसा ॥ ८७॥ (मूला. अ.)

अर्थ—सत्पुरुष मुनिराज धर्मविरोधी वचन का उच्चारण नहीं करते, धर्म से अविरुद्ध भाषा भी विनय रहित नहीं बोलते।
पूछने पर या विना पूछे कटु कठोर तथा व्यवहार-विरुद्ध या आगम-विरुद्ध कोई वचन मुख से नहीं निकालते।

भावार्थ—पाप से भयभीत महापुरुष इस बात का पूर्ण ध्यान रखते हैं कि मेरे मुख से प्रमादवश ऐसा वचन न निकलने पावे जो
लोगों को धर्म से विपरीत मार्ग पर चलाने वाला हो। प्रियवचन भी धर्म के अनुकूल ही होना चाहिए। अविनीत वचन भी जनता को सन्मार्ग पर लाने मे
समर्थ नहीं होता। भाषा के वेत्ता विद्वान् मुनि आर्यभाषा का उच्चारण करते हैं, जिससे श्रोताओं के अन्तः करणमे आर्यभाषा के प्रति श्रद्धा उत्पन्न
होने लगे। यदि समझाने के लिए किसी अन्य देश भाषा का प्रयोग करना पडे तो भी ऐसी सरल और व्यवहार-मान्य भाषा का उच्चारण
करते हैं, जो हृदय ग्राह्य होती है। नीचजाति के उच्चारण करने योग्य रे ! तू ! आदि तुच्छ वचन कभी नहीं बोलते। बडों से तो क्या
बालक के प्रति भी रे तू आदि हलके शब्दो का प्रयोग नहीं करते। उत्तम पुरुषों के उच्चारण करने योग्य तुम, आप, सज्जन, आदि वचनों का
प्रयोग करते है। विनय पूर्वक बोलागया वचन श्रोताओ के हृदय को आकर्षित करता है। तथा वक्ता के प्रति आदर व पूज्य भाव उत्पन्न
करता है। धर्मोपदेश के समय मुनि आगम के सिद्धान्तों का घात करनेवाली भाषा नहीं बोलते। जिस विषय का ज्ञान न हो, उसका अपनी
मति से कल्पित विवेचन नहीं करते, किसी के प्रश्न करने पर आगम के अनुकूल सरल चित्त से उत्तर देते हैं। यदि उस प्रश्न का उत्तर देने की
शक्ति नहीं होती है, तो ऊटपटाग उत्तर न देकर अपनी अशक्ति प्रकट करते हैं। वे समझते हैं कि मेरे मुख से निकला हुआ वचन लोग सत्य
मानते है। यदि मैंने अभिमान वश कुछ भी असत्य भाषण कर दिया तो इस मुनिवेष को लज्जित कर दिया। मुझे असत्य-भाषण करते हुए

देखकर लोगो की मुनिवेष से घृणा होने लगेगी। लोगों की सत्यभाषी मुनिराजों के प्रति भी अश्रद्धा होने लगेगी। मुनियों की सर्वोत्कृष्टता का नाश करके उनके प्रति अरुचि और अपूज्यता का और निन्दा का कारण हो जाऊँगा तो मेरे समान और कौन पापी होगा ? मुझसे यह गृहस्थ ही अच्छे हैं जो जैन धर्म की व मुनि वेष की प्रभावना व पूजा करते हैं। और मैं ऐसा पापी हुआ जो उनको निन्दा का कारण हुआ। इस सत्य महाव्रत के कारण ही सम्पूर्ण ससार मेरा विश्वास करता है। मेरे चरण पूजता है और मेरा दर्शन पूजन कर अपने जन्म को सफल व धन्य समझता है। मेरा कर्त्तव्य है कि मैं प्राण जाने पर भी अज्ञानवश व अभिमानवश या मोहवश असत्य वचन न निकालू।

मुनिगण शास्त्रों के पठन, पाठन, मनन-चिन्तन में अपना समय व्यतीत करते हैं। बिना प्रयोजन किसी गृहस्थ स्त्री व पुरुष से संभाषण नहीं करते। वे गृहस्थों के लौकिक झगडों मे नहीं बोलते। कहा भी है—

अच्छीहिं य पेच्छंता कण्णेहिं य बहुविहाइं सुणमाणा।
अत्थंति मूयभूया ण ते करंति हु लोइय कहाओ ॥ ८८ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ—मुनिराज भले बुरे रूप को, योग्य-अयोग्य वस्तु को आँखों से देखते हुए ऐसे रहते हैं, मानों वे नेत्रविकल हैं। कानों से सुनने योग्य व न सुनने योग्य अनेक प्रकार के वाक्यो को सुनते है, तथापि वे गूगे व बहरे बन जाते हैं। मानो उन्होंने सुना ही नहीं हो, कहने के लिए उनके जीभ ही न हो। किसी भी समय लौकिकी कथा, गृहस्थों के झगडे टटे की बात को न सुनते हैं और न बोलते हैं।

सासारिक झगडों से, लोगो के घरेलू बखेडो से मुनिराज को क्या मतलब है ? उन्होंने लौकिक सब सम्बन्ध का त्याग कर मुनि दीक्षा धारण की है। उस त्यागे हुए व्यवहार का ग्रहण करना उच्छिष्ट का ग्रहण करना है। अत. किसी लौकिक झगडे मे पडनेवाले अपने आत्मा का घात तो करते ही हैं साथ मे नि स्पृह मुनिपद को भी कलकित करते हैं।

हे मुनियो ! तुमने लौकिक कथाओं का वचन से ही नहीं, मन से भी त्याग किया है। अत· उनको मन मे भी स्थान देना तुम्हारे लिए लज्जा की बात है। तुम्हे स्त्री-सम्बन्धी कोई कथा नही करनी चाहिए। यह स्त्री सुरूप है, यह कुरूप है, यह सौभाग्यवती है, यह मधुर भाषणी है, यह कलहकारिणी है, यह अल्प-वयस्क है, यह प्रौढा है इत्यादि स्त्री सम्बन्धी कथा तुम्हारे लिए अत्यन्त अहितकारक है। ऐसे ही तुम्हें अर्थकथा भी नहीं करनी चाहिए। धन के उपाजन करने के उपायों का वर्णन करना अर्थकथा है। राजादि को सेवा के द्वारा प्रसन्न करने से, अमुक वस्तु का वाणिज्य व्यवहार करने से, अमुक उपायों का अवलम्बन कर खेती आदि करने से, धातुओं के शोधन खननादि के साधनों को काम मे लाने से, मन्त्र तन्त्रादि का प्रयोग करने से, धन की उपलब्धि होती है। इस प्रकार की कथा को अर्थ कहते हैं। भोजन से सम्बन्ध

रखने वाली कथा को भोजन कथा कहते हैं। उनके यहाँ सुन्दर अशन-पान-खाद्य आहार मे मिलते हैं। अमुक घर मे भोजन-सामग्री की
सुव्यवस्था है। वे आहार मे बडे स्वादिष्ट पदार्थ रुक्मी को देते हैं। वह स्त्री बड़ा स्वादिष्ट और मनोहर भोजन बनाती है। उस के हाथ के बने हुए
भोजन मे बडा सुन्दर स्वाद आता है। अमुक घर मे रूखा सूखा भोजन मिलता है। उसके घर दुर्गन्धियुक्त बेस्वाद भोजन होता है। इत्यादि
प्रकार से भोजन की कथा तुम्हें कभी नहीं करनी चाहिए। देश-नगर-ग्राम, खेटक, कर्वटादि की कथा को देश कथा कहते हैं। (नदी पर्वत से
घिरे हुए प्रदेश को खेट कहते हैं। सब तरफ से पर्वतों द्वारा घिरे हुए प्रदेश को कर्वट कहते हैं) अमुक खेट व कर्वट के निवासी बड़े युद्ध कुशल
हैं। अमुक ग्राम (कांटो की की बाड से घिरे हुए प्रदेश) मे धन धान्य की समृद्धि है। वहाँ के लोग बहुत धनिक हैं। वहाँ पर परचक्र का
भय नहीं है। वह नगर धनधान्य से परिपूर्ण है, उसमे किसी शत्रु का प्रवेश करना असभव है। अमुक देश उत्तम यन्त्र चालित सेनाओं से
सुरक्षित है। उस पर शत्रु का प्रभाव नहीं हो सकता। इत्यादि नगर ग्राम द्रोणमुख देशादि की कथा कर्मबन्ध करने वाली है। अत साधुओं की लिए सर्वथा
त्याज्य हैं तथा राजाओं की कथा करना राजकथा कही जाती है उसके मन्त्री चाणिक्यादि नीति मे प्रवीण हैं, योग और क्षेम में वह राजा उद्योगशील है।
(अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति को योग और प्राप्त वस्तु के रक्षण को क्षेम कहते हैं) उसके पास चतुरग सेना है, उसने अनेक घोर सग्रामों मे विजयलक्ष्मी पाई है,
उसने सम्पूर्ण शत्रु-समूह को निर्मूलन कर निष्कटक राज्य किया है। उस राजा के प्रताप के सामने किसी की तेजस्विता नहीं टिकती। उसकी सेना
रण कुशल है। उसके पास शस्त्रास्त्रों के श्र ष्ठता है, इत्यादि राज-कथा करने से रौद्र परिणामों का प्रादुर्भाव होता है। इसलिए मुनियों को कदापि
ऐसी कथाएं नहीं करनी चाहिए। साधुओं को चोरी की कथा भी नहीं करनी चाहिए। अमुक नगर का निवासी चोर बड़ा निपुण है। वह
वीरता से मार्ग मे लूटता है। घात लगाने मे उसकी बराबरी कोई नहीं कर सकता है। वह ऐसा गठकठा है कि देखते देखते वस्तु को चुरा लेता
है। आखों म से कज्जल तक निकाल लेता है और पता नहीं चलने देता, वह ऐसा पश्यतोहर है। वह डाकू इतना शूर है कि उसको सेनाने
चारों ओर से घेर लिया तथापि वह अकेला ही उसमे लडकर भाग निकला। इत्यादि चोर, डाकू, गठकठे, लुटेरे आदि की कथा चोरी का महत्व
प्रकट करती है, आत्मा के परिणामो मे विकार भाव उत्पन्न करता है, इसलिए मुनियों को ऐसी कथाएं कभी नहीं करनी चाहिए। अमुक देश
मे हीरा उत्पन्न होता है। अमुक जगह पन्ना की खाने हैं। अमुक खाडी मे मोती बहुतायत से पाये जाते हैं और बहुत सस्ते मिलते हैं। अमुक
स्थान पर जाकर अमुक रत्नादि लाये जावें और अमुक स्थान मे बेचे जावें तो बड़ा लाभ होता है। वहाँ पर केसर आदि उत्तम और अल्पमूल्य
मे मिलती हैं। अमुक नगर मे बहुत महगी मिलती हैं और बहुत बिकती है। वह देश रमणीय है। वहाँ पर अन्न पान साधु को सुलभ है।
वहाँ के लोगों का खान-पान, पहनाव, रहन-सहन बडा श्रेष्ठ और मनोहर है। अमुक नगर के लोग इत्र तैलादि सुगन्धित द्रव्यों का अधिक
उपभोग करते हैं। इसी प्रकार अन्य भी कर्मबन्ध की कारणभूत कथाओं को साधु कदापि न करे और न उनके सुनने मे प्रीति करे।

मुनिराज नाटक के पात्रों (नटो) की, युद्ध मे कुशल सहस्रभट कोटिभटादि योद्धाओ की, कुश्ती करने मे प्रवीण पहलवानो
की, मुष्टि आदि युद्ध में कुशल मल्लो की, इन्द्रजालादि माया प्रपञ्च करने मे प्रवीण इन्द्र जालियों (बाजीगरो) की, मत्स्यवध करने वाले

स प्र

मनुष्यों की चतुराई की, उडते पक्षियो पर निशाना लगाने वाले लक्ष्यवेधी मनुष्यो की, जुआ खेलने में चातुर्य (चालाकी) करने वाले जुवारियों की, हस्त पाद सिर आदि शरीर के अवयवो का भेदन करने मे कुशल तथा जीव हिंसा मे रति (प्रेम) रखने वाले मनुष्यो की, रस्सी व बांस पर चढकर खेल करने वाले नटो की कथा मे कभी अनुराग नहीं करते है। वैराग्य परायण मुनीश्वर इन कथाओ का उच्चारण तो क्या, मनमें चिन्तन तक नहीं करते है। उक्त कथाओ को क्षण मात्र भी हृदय मे स्थान नहीं देते हैं। जिन परम वीतराग भावना मे रत हुए मुनियों का चित्त निरन्तर धर्म भावना मे रगा रहता है वे उक्त कथाओ का मन वचन काय से त्याग करते हैं। अर्थात् उक्त कथाओ के अर्थ को सूचित करने वाली काय द्वारा कोई चेष्टा नहीं करते हैं। हस्तादि से संकेत नहीं करते हैं। उनका वचन से उच्चारण तथा कर्ण से श्रवण नहीं करते हैं। और तो क्या, उनका मनमे चिन्तन तक नहीं करते हैं।

वैराग्य की मूर्ति साधु लोग हस्तादि द्वारा काम-क्रिया का सूचक सङ्केतादि नहीं करते,काम उत्पन्न करने वाले वचन नहीं बोलते, प्रहास-मिश्रित अशिष्ट वचन मुख से कभी नहीं निकालते, कभी खिलखिलाकर अट्टहास नहीं करते और न दूसरो को हसाते हैं, शृंगार रस के पाडित्य द्योतक रमणीय वचनो का उच्चारण नहीं करते, अपने हाथ स दूसरे के हाथ का ताडन नहीं करते और न पीठ आदि ठोकते हैं। क्योकि ये सब क्रियाए विकारी मनुष्यों के योग्य हैं। निर्विकार-मन वचन काय के विकार से विमुख, परम विरक्त मुनिराजों की सब चेष्टाएं उद्धतता से रहित होती हैं। वे समुद्र के समान गम्भीर होते हैं। उनका चित्त क्षोभ रहित स्थिर होता है। उनका अन्त.करण षट्-आवश्यक क्रियाओ-स्वाध्याय ध्यानादि मे-लवलीन रहता है। परभव के सुधार की भावना निरन्तर उनके चित्त में जागृत रहती है और इस लोक के अनिष्ट से भयभीत रहते हैं। अपने सर्वोत्कृष्ट जगत्पूज्य पद का उन्हें सदा ध्यान रहता है। इसलिए वे कभी शरीर से, वचन से और मन से ऐसा कोई कार्य (विकथादि) नहीं करते, जिससे मुनि भेष का अपवाद हो, धर्म की निन्दा हो और अपने आत्मा का अहित हो।

प्रश्न—यदि मुनिराज उक्त विकथाए नहीं करते तो कैसी कथाए करते हैं।

उत्तर—मुनिराज ऐसी कथाए करते हैं जिनसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्र रूप रत्नत्रय की प्राप्ति होती है या वृद्धि होती है। रत्नत्रय का स्वरूप प्रकट करनेवाली तथा उसमे दृढता उत्पन करनेवाली, शरीर भोगादि से वैराग्य उत्पन्न करनेवाली, परलोक मे विश्वास पैदा करनेवाली, धर्म मे अभिरुचि करने वाली, स्व-पर का हित करने वाली धर्म कथाओ का वे उच्चारण करते हैं। आत्मा के कर्म बन्ध के कारणो तथा बन्ध का क्षय करने के उपायो का विवेचन करने वाली कथाओं को वे करते हैं। सर्व प्रथम तो वे मुनिराज अपने आत्महित के कार्य-षट् आवश्यक क्रियाओ का आचरण तथा ध्यानाध्यन-करते हैं। उससे जो समय बचता है उस समय को वे आत्महित साधक, जीवादि तत्त्वो का निरूपण करनेवाली, भेद विज्ञान प्रकट करनेवाली, पापकार्यों से अरुचि और पुण्यकार्यों मे रुचि उत्पन्न करनेवाली, चारित्र मे प्रेम बढानेवाली तथा वैराग्य भावना को पुष्ट करनेवाली पुण्यकथाओ में लगाते हैं। वे मुनिराज एक उत्तम

वैद्य के समान होते हैं। क्योंकि वे विषय भोग रूपी अपथ्य सेवन करने वाले संसारी जीव रूपी रोगी को रत्नत्रय रूपी पथ्य औषध का दान देते हैं और स्वयं भी पथ्य और हितकर वैराग्य का सेवन करके स्व-पर का कल्याण करते हैं।

८ तपशुद्धि

णिच्चं च अप्पमत्ता, संजमसमिदीसु झाणजोगेसु
तवचरण-करण-जुत्ता, हवंति समणा समिदपावा ॥ ६६ ॥ (मूला. अ)

अर्थ—तपस्या मे तत्पर मुनिराज सर्वदा पन्द्रह प्रकार के प्रमाद से रहित हुए प्राणीसंयम व इन्द्रिय संयम (छहकाय के जीवों के रक्षण और इन्द्रियों के दमन) मे, पच समितियो के पालन मे, धर्म्यध्यान व शुक्लध्यान के चिन्तन मे, नानाप्रकार के अवग्रह (आखडी) के ग्रहण करने मे, बारह प्रकार के तपश्चरण के आचरण करने मे, तेरह प्रकार के चारित्र के पालन मे और तेरह प्रकार के करण मे उद्यत हुए सम्पूर्ण पापों का नाश करते हैं।

कर्मों का क्षय करने के लिए मुनिराज बाह्य और अभ्यन्तर तप को तपते हैं। उनमें कायक्लेश तप अति दुष्कर है। उस तपश्चरण का आचरण करने के लिए अभ्रावकाश योग, आतापन और वृक्षमूल योग का साधन करते हैं। इन योगो का वे ही महापुरुष साधन कर सकते हैं जिनकी आत्मा मे परम वीर्य-पराक्रम का उत्कर्ष है तथा शरीर मे बल का प्राबल्य है। वे ही अपनी आत्मा से शरीर को सर्वथा भिन्न अनुभव करके तदनुकूल प्रवृत्ति करते हैं। वे ही महापराक्रमी वीरधुरन्धर परम विरक्त मुनिराज उस शरीर को सदा के लिए आत्मा से पृथक् कर देने के लिए अभ्रावकाशादि योगो की साधना करने में कटिबद्ध होते हैं।

अभ्रावकाश-योग

जिस शीत से समस्त अटवी के वृक्ष जल गये हैं, सरोवरों के पानी पत्थर-से जम गये हैं, कमलों के सम्पूर्ण वन जलकर नष्ट हो गये हैं, पक्षी वृक्षों के घोसलो को छोडकर पर्वतों की गुफाओं और दरारों मे बसेरा लेने लगे हैं, सिंह और हिरन एक दूसरे के समीप वर्ती स्थित होने पर भी शीत के कारण शरीर की चेष्टाओं से शून्य होकर एक दूसरे को बाधा देने मे असमर्थ हो रहे हैं, कई पशु और पक्षी शीत के कारण अपने प्राणों से रहित हो गये हैं, रात दिन निरन्तर हिम (पाला) गिर रहा है, मनुष्यो के शरीर थरथर कॉपते हैं, कोई भी अपने घर के बाहर नहीं निकलता, उसी शीत के समय मे वे धीर वीर महामुनि अटवी मे नदी के तट या किसी जलाशय के निकट कायोत्सर्ग

धारण कर पत्थर के स्तम्भ की भाति खडे हुए ध्यान लगाते हैं। उस समय चरण से लेकर मस्तक पर्यन्त सम्पूर्ण शरीर हिम से ढक जाता है तो भी वे महामुनी शरीर से सब प्रकार का सम्बन्ध तोडकर आत्म-ध्यान मे मग्न रहते हैं। उनके रोम मात्र मे भी विकार प्रतीत नहीं होता है। और वे कर्मों की प्रतिसमय असख्यात गुणी निर्जरा करते हुए आत्मा की शुद्धि करते हैं।

आतपन–योग

ज्येष्ठ मास के सूर्य की प्रखर किरणो से तप कर समस्त भूतल अग्नि के समान होगया है । अग्नि ज्वाला के समान अत्यन्त उष्ण वायु से वन के सब वृक्ष व लताए सूखकर पत्र पुष्पादि से रहित हो गये हैं। नदियों और सरोवरों का जल सूख गया है । प्यास से व्याकुल हुए प्राणियों के कण्ठ सूख गये हैं। गर्म लू से दग्ध होकर पक्षियो के कलेवर प्राण–शून्य होगये हैं। मार्ग पथिक-विहीन हो गये हैं। मनुष्य अपने निवास स्थान से बाहर पॉव तक नहीं रखते। वन के पशु पर्वत की गुफाओं मे बेहोश पडे हुए हैं। मनुष्य अपने घरों में भी गर्मी के सन्ताप से व्याकुल होकर अनेक प्रकार के शीतोपचार करने पर भी शान्ति नहीं पा रहे हैं। उस समय मे धीरधुरीण महा मुनिराज पर्वत के शिखर पर जाकर सूर्य के सम्मुख हुए कायोत्सर्ग धारण कर खडे रहते हैं। शरीर को झुलसानेवाली कडी धूप उनके शरीर पर अठखेलियाँ करती है। पर्वत और भूमितल को अग्नि समान तपाने वाली उष्ण–वायु उनके शरीर के साथ रग रेलियाँ करती हैं। तीक्ष्ण गर्मी से मुनिराज के कण्ठ ओष्ठ सूख गये हैं। तथापि वे महामुनि अनुभव रुपी अमृत का पान करने मे आशक्त हुए उस गर्मी की बाधा की कुछ भी परवाह न करके आत्म ध्यान से च्युत नहीं होते हैं।

वृक्षमूल–योग

वर्षा के समय जब निरन्तर मूसलधार वृष्टि होनेसे सम्पूर्ण मार्ग जल से पूरित होजाते हैं । मेघ की घनघोर गर्जना और बिजली की कडकडाहट से दिशाएँ गूंज उठती है, मेघ समूह के कारण भयानक अन्धकार मे भूतल का मार्ग–ज्ञान लुप्त होजाता है। बीच बीच मे बिजली के चमत्कार स वन की भयानकता और भी बढ़ जाती है अत्यन्त वायु के कारण प्राणियों के शरीर व्याकुल होते हैं । उस समय ध्यान के रसिया वे वीर वीर महा मुनीश्वर वृक्षके तल मे कायोत्सर्ग मे खडे रहते हैं। जिस वृक्ष के मूल में अनेक सर्पों ने अपना मुख्य स्थान बना रखा है, उस वृक्षके नीचे घोर अन्धकार मे खडे होकर ध्यान मे निश्चल बने रहते हैं। रंच मात्र चित्त मे भय और क्षोभ नहीं करते। मानों निश्चेष्टपाषाण प्रतिमा है अथवा पत्र शाखा रहित वृक्ष का स्कन्ध है।

इस प्रकार त्रिकाल योग के धारक महामुनीश्वर बडे बडे वृक्षों को जड से उखाड फेकनेवाले भयानक आधी के झोकों को

सहते हैं। बडी बडी नदी, तडाग, सरोवर आदि के जल को सुखा देने वाली भयंकर उग्र गर्मी की बाधा को सहते हैं। सम्पूर्ण शरीर के अवयवों को सताप देनेवाले तीव्र पिपासा (प्यास) के असह्य दुःख को सहन करते हैं। शरीर के रुधिरादि को शोषण करने वाली, प्रलय काल की अग्नि के समान अतुम बुभुक्षा के क्लेश को कुछ नहीं गिनते हैं। बीहड वन मे अनगिनत दंश मशक आदि जन्तुओ के काटने से शरीर मे उत्पन्न असह्य वेदना पर विजय प्राप्त करते हैं। तथा बिच्छू, सर्प,वराहादि के द्वारा किये गये घोर उपद्रव को सहते हैं। अधिक कहाँ तक कहा जावे अधम देवकृत, तिर्यंचादिकृत सब उपसर्गों को केवल कर्मों का क्षय करने के निमित्त सहते हैं। इस लोक सम्बन्धी किसी भोगों की आकांक्षा नहीं करते।

इस प्रकार कायक्लेश तप का निरूपण कर अब वचन-जन्य क्लेश-तप का निरूपण करते हैं—

चट चटायमान उचटती हुई लोहे की चिनगारियों के समान सम्पूर्ण शरीर मे सताप पैदा करने वाले, मर्मभेदी दुर्जनों के अपवाद-जनक वचन सुनकर मुनिराज लेशमात्र भी चित्त मे क्षोभ नहीं करते। अविद्यमान दोषों के प्रकाश करनेवाले परुष-कठोर-तीक्ष्ण वचनों को सुनकर चित्त मे खेद नहीं करते। जाती और कुल को लाञ्छित करनेवाले तथा तू पशुवत् है, तू शास्त्र-ज्ञान रहित तिर्यंच है इत्यादि अपमान-जनक वचन अथवा भर्त्सना करने वाले दुर्वचनो को सुन कर मुनि मन मे विचारते हैं कि यह अज्ञानी भोले जीव इस हड्डी और मासादि के कलेवर को दुर्वचन कहते हैं। क्योंकि इन्होंने आखों से इसी को देखा है और सुना है यह शरीर तो मेरा नहीं है। मैं इसके निमित्त से अपने परिणामों को कलुषित कर अपने आत्मा को कर्म बन्धन मे क्यों डालूं ? पशुआदि के अनेक शरीर मैंने धारण भी किये हैं। उनका नामोच्चारण कर यह उपकारी मित्र मुझे उनका स्मरण दिला रहा है। यदि मे क्रोधादि कषाय करूँगा तो वे नीच शरीर मुझे फिर मिलेंगे, अतः मुझे इन वचनों मे आनन्द मानना चाहिए। इस प्रकार विचार कर मुनि मन मे प्रफुल्लित होते हैं कि यह कर्म-निर्जरा करने का अवसर मिला है। शान्ति धारण करने से नवीन कर्म-बन्ध नहीं होगा और सचित कर्मों की निर्जरा होगी। यह तो मेरे लाभ का कारण हुआ।

वचन-जन्य क्लेश के सहन करने के स्वभाव का निरूपण करके अब शस्त्र प्रहारादि के उपद्रव सहने की क्षमता का निरूपण करते हैं—

यदि कोई मिथ्यादृष्टि किसी मुनिराज को क्रोध से अन्धा होकर लकड़ी से पीटने लगे, उनपर कङ्कर पत्थर की वर्षा करने लगे, रेत मिट्टी फेंकने लगे, चाबुक बेंत का प्रहार करने लगे, खड्ग (तलवार) छुरी आदि से आक्रमण करने लगे अथवा छुरी आदि शस्त्रों का प्रहार भी करे तो भी वे परमशान्त गम्भीर मुनिराज प्रहार व चोट करने वाले मनुष्य पर टेढी निगाह से भी नहीं देखते हैं। वे विचारते हैं कि मेरे पूर्वकृत कर्म का उदय आया है। यह बेचारा क्या करसकता है, यह तो निमित्त मात्र है। इसमें इसका क्या अपराध है ? यह निमित्त नहीं होता तो कोई दूसरा निमित्त मिलता। तीव्रकर्म उदय मे आया है, वह तो अवश्य फल देगा। मेरा शत्रु तो पूर्वोपार्जित कर्म है।

मैंने उसको उत्पन्न किया है। अब वह उदय को प्राप्त हुआ है। मेरी भूल मुझे दुःख दे रही है। इस शस्त्रादि के प्रहार करनेवाले का कोई अपराध नहीं है। मैं पागल कुत्ते के समान मूर्ख तो हूं नहीं जो असली शत्रु को न समझकर बाह्य निमित्त को शत्रु मान बैठूं। मैंने जिनागम का अभ्यास किया है। आत्म-अनात्म का भेद-विज्ञान प्राप्त किया है। सब संसार से सम्बन्ध तोड़ कर कल्याण करनेवाली जिनदीक्षा ली है। क्या मैं अज्ञानवश इन निरपराध मनुष्यादि पर द्वेष करूं? यह मेरा काम नहीं है। ऐसा तो मिथ्यादृष्टि करते हैं, जिनको विवेक-ज्ञान नहीं हुआ है और जिनको अर्हंतदेव और जिनवाणी का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है। मुझे तो महापुण्य योग से यह सब कुछ मिला है। ऐसे अवसरों के उपस्थित होने पर यदि मैंने विवेकज्ञान का उपयोग नहीं किया तो मेरा मनुष्यजन्म पाकर ऐसे सुयोग का पाना व्यर्थ हो जावेगा इसलिए मुझे सावधान होना चाहिए। मेरे क्षमादि धर्म तथा रत्नत्रय रूप धर्म का घात न होना चाहिए। उसका घात ये मनुष्यादि नहीं कर सकते। ये शरीर का घात कर सकते हैं, जो कि मेरी वस्तु नहीं है। अतः यह रोष करने का अवसर नहीं है। इस प्रकार जो ज्ञान रूपी जल से आत्मा को अशान्त करने वाली अज्ञान-मोहनीय रूपी अग्नि को शान्त करते हैं वे मुनिराज शस्त्रादि के प्रहार से कभी आत्मा में क्षोभ उत्पन्न नहीं करते। सामान्य मनुष्य भी जो कि पाचों इन्द्रियों का निग्रह (दमन) करने में तत्पर रहता है वह भी, क्रोध नहीं करता है। जिनागम के वेत्ता मुनिराज उपद्रव करने वाले मनुष्य पर किस प्रकार क्रोध कर सकते हैं? अतः हे महात्माओ! क्षमा के गुण को भलीभांति जाननेवाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को अंगीकार करनेवाले क्षमामूर्ति आपको शत्रु पर क्षणमात्र रोष न करना चाहिए और अपने तपश्चर्यादि मार्ग में दृढता से सलग्न रहना चाहिए।

(१०) ध्यान शुद्धि

ध्यान की शुद्धि इन्द्रियों पर विजय प्राप्त किये बिना नहीं होती अतः प्रथम इन्द्रियजय का निरूपण करते हैं।

विसएसु पधावंता चवला चंडा तिदंडगुत्तेहिं।
इंदियचोरा घोरा वसम्मि ठविदा ववसिदेहिं ॥ १७ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ—मन को लुभाने वाले रूप में, मधुर रसीले रस में, मनोमोहक सुगन्ध में, शरीर को सुहावने स्पर्श में तथा चित्ताकर्षक पंचम धैवतादि स्वरों और मनोज्ञ गानों में, दौडती हुई अति चपल तथा क्षुब्ध चक्षु आदि इन्द्रियाँ भयानक चोर हैं। इनको वश में रखना यद्यपि अति कठिन है तथापि मनवचनकाय पर काबू करनेवाले विषय-विरक्त एवं चारित्राचरण में लीन मुनीश्वर उन्हें वश में कर लेते हैं।

भावार्थ—जैसे अश्वारोही (सवार) लगाम को हाथ में सावधानी से थामकर दुर्दान्त अश्व को भी अपने काबू में कर लेता है, वैसे ही लगाम स्वरूप मन को अपने वश में रखता हुआ साधु इन्द्रियरूपी अश्वों को विषयरूप उन्मार्ग में जाने से रोक देता है।

ध्यानी मुनि मदोन्मत्त मन रूपी हस्ती को ध्यान व वैराग्य रूपी दृढ रस्सी से आत्मा रूपी आलान-स्तम्भ के इतना दृढ बाध देते कि जिससे वह उन्मत्त-मनो-हस्ती विषयादि रूप वन या राजमार्ग मे दौडने के लिए असमर्थ हो जाता है।

इन्द्रियाँ बन्दर के समान चपल हैं। उनको तत्त्वज्ञान रूपी पाश मे बाँधकर वैराग्य रूपी पींजरे मे बन्द किया जावे तभी उनकी उछल कूद बन्द होती है और शनै शनै अनुपम दिव्य सुख का आविर्भाव होने लगता है-विषयों से उदासीनता होती है।

तपरूपी दुर्ग (किले) मे निवास करनेवाले साधु का राग, द्वेष, मोह और इन्द्रिय रूपी डाकुओं का गिरोह कुछ भी बिगाड करने मे समर्थ नहीं होता है। उस दुर्ग के धैर्ययुक्त मति का कोट होता है। चारित्र का बहुत ऊचा दर्वाजा है, और उसके क्षमा और सुकृत कम के दो किवाड लगे होते हैं। तथा सयम दुर्गरक्षक कोतवाल होता है। इस प्रकार सुरक्षित तपरूपी दुर्ग का आश्रय लेने वाले मुनी के रत्नत्रयरूप धन भडार को राग द्वेष-मोह इन्द्रिय चोर लूट नहीं सकते हैं।

इन्द्रिय को वश मे करने से ही ध्यानसिद्धि होती है:--

दंतेंदिया महरिसी राग दोस च ते खवेदूणं।
झाणोवजोगजुत्ता खवेंति कम्मं खविदमोहा ॥ ११५ ॥ (मूला. अ.)

अर्थ—इन्द्रियों का दमन करनेवाले समीचीन ध्यान मे रत हुए महर्षि राग व द्वेष रूप आत्मा के वैभाविक भावों का क्षय करके, मोह रहित होकर सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करते हैं। क्योंकि सम्पूर्ण कर्मों का मूल कारण राग द्वेष हैं। उनका नाश होने पर सब कर्म सहज मे नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—हे मुनीश्वरो। राग द्वेष से प्रेरित हुए इन्द्रियरूपी अश्व विषयरूप बीहड वन के उन्मार्ग (ऊबड खाबड मार्ग) मे आत्मा को लेजाते हैं। जबतक ये इन्द्रिय-अश्व उन्मार्ग मे गमन करते रहते हैं, तब तक आत्मा को शुभध्यान रूपी उत्तम मार्ग प्राप्त नहीं होता है। इसलिए उत्तम-ध्यान रूप सुमार्ग मे आत्मा को लेजाने के लिए मन रूपी घोडों की लगाम को दृढता से थाभलो तथा मन को विषयों से हटाने के लिए उसको शुभध्यान मे स्थिर करने के लिए सबसे प्रथम विषयों मे उत्पन्न होनेवाले राग द्वेष को क्षीण करो और व्रत उपवासादि का आचरण करके उद्धत हुई इन्द्रियों का दमन करो। उनको उपवासादि से निर्बल बनाओ। निर्बलता को प्राप्त हुई इन्द्रियाँ रूपी अश्व को वैराग्य भावना द्वारा स्थिर हुए मन रूपी लगाम के थाभ लेने से विषयों से उदासीनता और सुध्यान मे रति उत्पन्न होती है। आर्त्तरौद्रध्यान का विनाश होकर शुभध्यान की जागृति होती है। अत धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान मे परायण हुए मुनिराज के क्षमादि

दशधर्म तथा रत्नत्रय रूप आत्मीय धर्म प्रकट होते हैं और अष्टकर्मों का क्षय सहज में होने लगता है। जिस वृक्ष का मूल (जड) नष्ट हो जाता है वह वृक्ष कितने कालतक खडा रह सकता है ? अथवा कितने समय तक वह हरा भरा रह सकता है ? अर्थात् उसका शीघ्र भूमि पर पतन होता है और वह अल्प समय मे ही सूखजाता है और वह पुन भूमि मे नही जमता है। इसी प्रकार अष्ट कर्मों के मूल कारण कषाय राग द्वेष है। उनका ध्वस होने पर सब कर्मों का सहज मे ध्वस होजाता है और फिर वह आत्म-भूमि मे कभी नहीं उत्पन्न होते हैं। अतएव हे मुनिराजो ! इष्ट वियोगादि से उत्पन्न होने वाले आर्त्तध्यान को तथा क्रोधादि कषायो की उग्रता से उत्पन्न होने वाले रौद्रध्यान को आत्मा के निकट मत आने दो। और धर्म्यध्यान व शुक्लध्यान का निरन्तर चिन्तन करो। इन शुभ ध्यानों को स्थिर करने के लिए शुक्ल लेश्या को प्रकट करो। यदि तुम इस प्रकार आचरण करने मे दत्तचित रहोगे तो तुम्हारी आत्मा मे क्रोधादि कषाय किसी प्रकार के विकार भाव उत्पन्न करने मे समर्थ न होगी।

निश्चल चित्तवाले मुनियों को कषायें दबा नहीं सकती है और न उनके मन को चंचल कर सकती है। जैसे कल्पान्त काल की उत्तर दक्षिण पूर्व व पश्चिम की प्रचण्ड वायु सुमेरु को कम्पित नहीं कर सकती है।

हे मुनियो ! यदि तुम यथावत छह आवश्यकों का पालन व आगमोक्त चारित्र का सम्यक् प्रकार आचरण करो तो प्रतिकूल परिस्थिति भी तुम्हारा कुछ भी बुरा नहीं कर सकती और तुम कर्मों की निर्जरा करने मे समर्थ हो सकते हो।

जो मुनि ससार से भयभीत, विषयों से उदासीन व शरीर से विरक्त है, जिसके हृदय मे अभिमान की मात्रा नहीं है, वह मन्द कषायी शास्त्रों का अधिक ज्ञान न होने पर भी भेदविज्ञान के जागृत होने से कर्मों का क्षय कर लेता है। लेकिन उस मुनि के २८ मूलगुण तो अवश्य होने चाहिए। यदि मूलगुण रहित होकर मुनिपद धारण करता है तो वह दृढ कर्मों का बन्धन कर नरक या निगोद मे जाता है।

हे मुने ! यदि तुम निर्दोष चारित्र का पालन करना चाहते हो तो प्रासुक निर्दोष आगमानुकूल भिक्षा भोजन करो। वन मे या एकान्त स्थान मे रहो। अल्प आहार करो। बहुत भाषण मत करो। दु.ख आने पर चित्त मे विकार मत उत्पन्न होने दो। निद्रा को जीतो। सब जीवों के साथ मैत्री भाव रक्खो उत्तरोत्तर वैराग्य की वृद्धि करो। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मेरा स्वरूप है, इनके सिवाय कर्मजन्य भाव शरीरादि मेरे नहीं है। ऐसा सतत चिन्तन करो। श्रद्धान पूर्वक सम्यग्ज्ञान सहित जो तपस्या करते हैं उनके पूर्व कर्मों का क्षय व नवीन कर्मों का सवर होता है। सरागसयम, शुभ लेश्या तथा सामायिकादि का आचरण करते हुए यदि मृत्यु हो तो वह जीव स्वर्गों मे जाता है-जैसा कि निम्न विवेचन से स्पष्ट होगा —

मुनियों के पुलाकादि भेद और उनका वर्णन

श्री भगवान् भट्टाकलकदेव ने राजवार्तिक मे नवें अध्याय (सूत्र ४७) मे कहा है —

"पुलाकादय सयमादिभि साध्या. ॥४॥ एते पुलाकादय पंच निर्ग्रन्थविशेषा. सयमादिभिरष्टभिरनुयोगै व्याख्येया इत्यर्थ"

पुलाक, वकुश, कुशील" निर्ग्रंथ और स्नातक ये पाचों प्रकार के मुनि निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) होते है। उनका संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिङ्ग, लेश्या, उपपाद और स्थान इन आठ अनुयोगों मे व्याख्यान किया जाता है। "तद्यथा-क. कस्मिन् संयमे भवति ?" जैसे कि कौन किस संयम के आराधक होते हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर समाधान करते हैं—

"पुलाकवकुश प्रतिसेवनाकुशीला द्वयो सयमयो. सामायिकच्छेदोपस्थापनयोर्भवति । कषायकुशीला द्वयो परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसाम्परायो पूर्वयोश्च । निर्ग्रन्थस्नातका एकस्मिन्नेव यथाख्यातसंयमे ।"

अर्थ—पुलाक, वकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनि सामायिक तथा छेदोपस्थापना सयम के आराधक होते हैं। कषायकुशील मुनि पूर्वोक्त दो संयमों के तथा परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसाम्पराय सयम के आराधक होते है । निर्ग्रन्थ और स्नातक एक यथाख्यात सयम के ही आराधक होते है।

"श्रुत—पुलाक-वकुश-प्रतिसेवनाकुशीला उत्कर्षेणाभिन्नाक्षरदशपूर्वधरा । कषायकुशीला निर्ग्रन्थाश्चतुर्दशपूर्वधरा । जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु । वकुशकुशीलनिर्ग्रन्थाना श्रुतमष्टौ प्रवचनमातर । स्नातका अपगतश्रुता. केवलिन ।"

अर्थ—पुलाक, वकुश और प्रतिसेवना कुशील ये तीन प्रकार के मुनि अधिक से अधिक अभिन्नाक्षर दशपूर्व के धारक होते है। अर्थात् उनके नवपूर्वों का पूर्ण ज्ञान तथा दशवे पूर्व का अपूर्णज्ञान होता है। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ चौदह पूर्व तक के धारक होते हैं। पुलाकमुनि के जघन्य मे जघन्य श्रुतज्ञान आचार वस्तु का होता है। वकुश, कुशील, प्रतिसेवना कुशील के कम से कम आठ प्रवचन माता (पाचसमिति व तीन गुप्ति) का ज्ञान होता है। स्नातक मुनि केवली होते हैं। उनके श्रुतज्ञान नहीं होता है।

"प्रतिसेवना—पचाना मूलगुणाना रात्रिभोजनवर्जनस्य च पराभियोगात् बलादन्यतम प्रतिसेवमानः पुलाको भवति। वकुशोद्विविध, उपकरणवकुश शरीरवकुशश्चेति। तत्र उपकरणाभिष्वक्तचित्तो विविधविचित्रपरिग्रहयुक्तो बहुविशेषयुक्तोपकरणकाक्षी तत्सस्कारप्रतीकारसेवी भिक्षुरूपकरणवकुशो भवति। शरीरसस्कारसेवी शरीरवकुशः। प्रतिसेवनाकुशीलो मूलगुणानविराधयन् उत्तर-गुणेषु काचिद्विराधना प्रतिसेवते। कषायकुशील निर्ग्रन्थस्नातकाना प्रतिसेवना नास्ति ।"

अर्थ—दूसरे किसी मनुष्यादि के बलात्कार से पुलाक जाति का मुनि पाच मूल गुण (अहिंसादि पच महाव्रत) और रात्रि-भोजन त्याग इनम से किसी एक के विपरीत सेवन (विरुद्ध आचरण) कर लेता है। वकुशमुनि के दो भेद है—१उपकरण वकुश और २

शरीर वकुश । उनमें से उपकरण वकुश उसे कहते है जो उपकरण (कमण्डलु पुस्तकादि) मे विशेष आसक्ति रखता है, विविध और विचित्र परिग्रह (पुस्तकादि) मे युक्त होता है, विशिष्ट उपकरण की आकाक्षा करता है, तथा उनके सस्कारादि को करता है। शरीर के सस्कार को करने वाला शरीरवकुश होता है। प्रतिसेवनाकुशील उसे कहते हैं जो मूल गुणो की विराधना नहीं करता है किन्तु कभी २ उत्तरगुणो की विराधना कर बैठता है। कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक के किसी प्रकार की प्रतिसेवना (विरुद्धाचरण) नहीं होती है।

"तीर्थमिति—सर्वेषा तीर्थकराणा तीर्थेषु सर्वे भवन्ति ।"

अर्थ—सम्पूर्ण तीर्थंकरों के तीर्थ मे पुलाकादि सब प्रकार के मुनि होते हैं।

"लिङ्ग—द्विविध, द्रव्यलिंग, भावलिग च । भावलिंग प्रतीत्य सर्वे पञ्चनिर्ग्रन्था लिङ्गिनो भवन्ति इति । द्रव्यलिंगं प्रतीय भाज्या. ।"

अर्थ—लिङ्ग दो प्रकार का है—१ द्रव्यलिङ्ग और २ भावलिङ्ग । भावलिंग की अपेक्षा से सब पाचों निर्ग्रन्थ लिंगी होते हैं। द्रव्यलिंग की अपेक्षा विविध विकल्प होते हैं।

"लेश्या—पुलाकस्योत्तरास्तिस्रो लेश्या भवन्ति। वकुशप्रतिसेवनाकुशीलयो षडपि। कषायकुशीलस्य परिहारविशुद्धेश्चतस्र उत्तरा । सूक्ष्मसाम्परायस्य निर्ग्रन्थस्नातकयोश्च शुक्लैव केवला भवति। अयोगशैल प्रतिपन्ना अलेश्या. ।"

अर्थ—पुलाक मुनि के पीत, पद्म और शुक्ल ये तीनो शुभ लेश्याएँ होती है। वकुश और प्रतिसेवना कुशील के छहो लेश्या होती है। कषाय कुशील और परिहारविशुद्धि सयमवाले के कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये चारो लेश्या होती हैं। सूक्ष्मसाम्पराय तथा निर्ग्रन्थ और स्नातक (सयोग केवली) के केवल एक शुक्ल ही होती है। अयोगकेवली के कोई भी लेश्या नहीं होती है।

"उपपाद—पुलाकस्य उत्कृष्ट उपपाद, उत्कृष्टस्थितिषु देवेषु सहस्रारे । वकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोर्द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिष्वारणाच्युतकल्पयो । कषायकुशीलनिर्ग्रन्थयोस्त्रायस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिषु सर्वार्थसिद्धौ । सर्वेषामपि जघन्य सौधर्मकल्पे द्विसागरोपमस्थितिषु। स्नातकस्य निर्वाणमिति ।"

अर्थ—पुलाक मुनि मरकर अधिक से अधिक सहस्रार स्वर्ग मे उत्कृष्ट स्थितिवाले देवो मे जन्म लेते हैं। वकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनि आरण व अच्युतस्वर्ग मे बाईस सागर की स्थिति वाले देवो तक मे जन्म लेते है। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ मुनि तेतीस सागर की स्थिति वाले सर्वार्थसिद्धि तक के देवो मे उत्पन्न होते हैं। उक्त सब (चारो प्रकार के) मुनि कम से कम सौधर्म कल्प मे दो सागर की स्थिति वाले देव होते हैं। तथा स्नातक महामुनि नियम से मोक्ष प्राप्त करते हैं।

'स्थान—असख्येयानि सयमस्थानानि कषायनिमित्तानि भवन्ति। तत्र सर्वे जघन्यानि लब्धिस्थानानि पुलाककषायकुशीलयो तौ युगपदसख्येयस्थानानि गच्छत । तत पुलाको व्युच्छिद्यते। कषायकुशीलप्रतिसेवनाकुशीलबकुशा युगपदसख्येयानि स्थानानि गच्छन्ति । ततो बकुशो व्युच्छिद्यते। ततोऽप्यसख्येयानि स्थानानि गत्वा प्रतिसेवनाकुशीलो व्युच्छिद्यते । ततोऽप्यसख्येयानि स्थानानि गत्वा कषाय कुशीलो व्युच्छिद्यते। अतऊर्ध्वं अकषायस्थानानि निर्ग्रन्थः प्रतिपद्यते। सोऽप्यसख्येयस्थानानि गत्वा व्युच्छिद्यते। अत ऊर्ध्वमेकं स्थान गत्वा स्नातको निर्वाणं प्राप्नोति—एतेषा संयमलब्धिरनन्तगुणा भवति इति।"

अथ—कषाय के निमित्त से सयम के असख्यात स्थान होते है। उनमे सबसे जघन्य स्थान पुलाक व कषायकुशील के होते है। वे दो असख्यात स्थानो तक तो एक साथ जाते हैं। पुलाक वहीं रहा जाता है। वहा से से आगे कषायकुशील, प्रतिसेवनाकुशील और बकुश असख्यात सयम स्थानो तक तो तीनो साथ जाते हैं पश्चात बकुश उनसे अलग होकर वहीं रह जाता है । उसके आगे असख्यात सयमस्थान आगे जाकर प्रतिसेवना कुशील अलग हो जाता है और उससे असख्यात सयमस्थान आगे चलकर कषायकुशील भी रहजाता है। उसके ऊपर अकषाय स्थानो म निर्ग्रन्थ पहुँचता है। वह असख्यात स्थान आगे जाकर ठहर जाता है । उसके ऊपर एक स्थान जाकर स्नातक निर्वाण को प्राप्त करता है। इस प्रकार इन सयमियो की सयम की लब्धि (प्राप्ति) अनन्त गुणीअनन्तगुणी होती है।

भावार्थ—मुनि चारित्र, तप और ध्यान के प्रभाव स कम से कम सौधर्म स्वर्ग मे और पुलाक उत्कृष्ट सहस्रार स्वर्ग तक जाते है। बकुश और प्रतिसेवना कुशील अच्युत स्वर्ग मे बाईससागर की आयु वाले देवों तक होते हैं। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ उत्कृष्ट सर्वार्थसिद्धि तक जाते है। तथा स्नातक मोक्ष जाते हैं। मिथ्यादृष्टि भी मुनि-चारित्र व तप का आचरण कर नव ग्रैवेयक तक जाता है और वहाँ पर अपूर्व दिव्य सुख का अनुभव करता है। यदि सम्यग्दृष्टि चारित्र व तपस्या का आचरण करता है तो वह उत्तरोत्तर दिव्य-सुखों का उपभोग करता हुआ निर्वाण पद को पाता है। इसलिए हे मुने ! सम्यग्ज्ञान पूर्वक चारित्र और तपश्चरण तथा ध्यान का आराधन करो । क्योकि येही ससार के सम्पूर्ण सुखो के देने वाले हैं। इष्ट पदार्थों का सयोग और अनिष्ट पदार्थों का असयोग करानेवाले हैं । मनोऽनुकूल सुख सामग्री जो कुछ इस लोक मे मिलती है उस के ये मूल कारण हैं। चक्रवर्ती की अनुपम विभूति और देवेन्द्र के दिव्य भोगोपभोग इनके सेवन करने मे ही मिलतेहै। इसी प्रकार के सुन्दर और अत्यन्त प्रिय स्वर्गादि के भोग प्राप्त कर निर्वाण की प्राप्ति इन्हीं से होती है। अत ऐसा सुअवसर पाकर इनके आचरण करने मे दत्त चित्त हो जाओ। किंचिन्मात्र प्रमाद न करो। इसीमें मनुष्य-जन्म की सफलता है।

वही भाव पाहुड मे कहा है—

धम्मम्मि णिप्पवासो दोसावासो य इच्छुफुल्लसमो ।
णिप्फलणिग्गुणयारो णडसवणो णग्गरूवेण ॥ ७१ ॥

अर्थ—जिस साधु का निजस्वभाव रूप धर्म मे तथा उत्तम क्षमादि दश लक्षण धर्म मे वास नहीं है, वह दोषों का आवास है। तथा इक्षु के फूल के समान है। जैसे इक्षु का फूल फल रहित होता है, और गन्धादि गुण से भी शून्य होता है, वैसे उस साधु का मुनिभेष भी धर्म हीन होने से निष्फल है और क्षमादि गुण रहित है। वह साधु तो नग्न रूप धारण कर नाचनेवाले नट के समान है। अर्थात् नग्न साधु का स्वाग धारण करने वाला बहरूपिया है।

भावार्थ—जो साधु के गुणों से हीन मुनि मनुष्यों को सम्यक्त्व व सयम-विरुद्ध उपदेश देकर उनको प्रभ्रम करता है, तथा अपनी कषाय के पोषण करने मे आगम के विरुद्ध लोगों की प्रवृत्ति करता है वह स्वयं नष्ट होता है दूसरो का नाश करता है एव धर्म के मार्ग को मलीन करता है। जो साधु के गुणों से शोभित है उसीसे निम्नोक्त लिंग कल्प शोभित होता है।

लिंगकल्प के चार भेद

अच्चेलक्क लोचो वोसट्टसरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हु लिंगकप्पो चदुव्विधो होदि णायव्वो ॥ १७ ॥ (मू० स०)

अर्थ—१ सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग, २ केशलोच करना, ३ शरीर-सस्कार का त्याग, ४ तथा प्रतिलेखन लिंग कल्प है।

भावार्थ—यहाँपर आचेलक्य शब्द से सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग लिया गया है। यद्यपि आचेलक्य शब्द का अर्थ तो केवल वस्त्र का त्याग करना है तथापि यहाँ पर उपलक्षण से वस्त्रादि समस्त परिग्रह के त्याग का ग्रहण है। आचेलक्य और केशलोच के बारे मे मूलगुणाधिकार मे विशेष लिखा जा चुका है।

शरीर के सस्कार-त्याग । वर्णन भी वहीं अस्नान (स्नानत्याग) नाम मूलगुण में कर आये हैं, इसलिए यहाँ उनका निवेचन न करके प्रतिलेखन के बारे म कुछ विशेष लिखते हैं।

प्रतिलेखन (मयूरपिच्छी) का स्वरूप

रजसेदाणमगहणं मद्दव सुकुमालदा लहुत्तं च।
जत्थेदे पंचगुणा तं पडिलिहणं पसंसंति ॥ १८ ॥ (मूला० सम०)

अर्थ—जो रज (धूल) और पसीने का ग्रहण न करे, अत्यन्त मृदु (मुलायम--कोमल) हो, जो देखने मे सुन्दर प्रतीत हो, नो हलका हो–ऐसे पाच गुण जिसमे पाये जावे वह प्रतिलेखन प्रशंसनीय माना गया है।

भावार्थ— हे मुने ! तुम्हारे सयम की रक्षा करनेवाला सयम का उपकरण प्रतिलेखन है। जो तुम्हारे पास प्रतिसमय रहना चाहिए ? जिसमे निम्नोक्त पाच गुण पाये जाने वही प्रतिलेखन प्रशसनीय माना गया है।

(१) रजोऽग्रहण—२ स्वेद का अग्रहण, ३ मृदुता, ४ सुकुमारता, और लघुता।

(१) साधु प्रतिदिन अपने उपयोग मे आने वाले शास्त्रो का प्रमार्जन करता है। निवास करने की बसतिका प्रदेश का पट्ट आदि का प्रमार्जन करता है। उस रजोहरण (प्रतिलेखन) मे ऐसा गुण होना चाहिए कि धूल आदि का सम्पर्क होने पर भी वह मलान न हो ऐसा स्वाभाविक गुण जिसमे पाया जावे वही रजोहरण प्रशसनीय है और साधु के हाथ मे धारण करने योग्य है।

(२) स्वेदका अग्रहण मुनि के शरीर पर यदि पसीना आ रहा है तो उसको प्रतिलेखन से पोंछना पड़ता है। पसीने से जो नहीं भीगे वही मुनि के ग्रहण करमे योग्य माना गया है।

शङ्का—क्या मुनि शरीर के स्वेद (पसीने) को पिच्छी से पोछते हैं ?

समाधान—मुनि अपने शरीर को किसी वस्त्र से कभी नहीं पोछते, किन्तु जब मुनि धूप से छाया में या छाया से धूप में आते हैं, उस समय पिच्छी से अपने शरीर को पोछ कर ही जाते है। यदि ऐसा न करे तो छाया के जन्तु धूप के ससर्ग से और धूप से जीवन प्राप्त करने वाले छाया मे पहुचने से मरण को प्राप्त हो जावेंगे। अत मुनि को उचित है कि वह अपने शरीर को कोमल पिच्छी से पोछ कर छाया से धूप मे और धूप से छाया मे जावे।

(३) मृदुत्व—नेत्र मे फिराने पर भी जो पीडा न पहुचावे ऐसा कोमल प्रतिलेखन उपादेय माना गया है। श्वेताम्बर साधु भेड की ऊन का प्रतिलेखन रखते है। उसमे यह गुण नहीं पाया जाता है। यदि भूल से वह आंख मे लग जावे तो आख मे भारी बाधा पहुचाता है। अत सूक्ष्म (छोटे-बारीक) जन्तुओ के अति कोमल शरीर को वह प्रति लेखन अवश्य बाधा पहुचावेगा है। इसलिए वह साधुओ के लिए उपादय नही बताया है। दूसरी बात यह है कि उनमे असख्य जीव उत्पन्न होजाते हैं। तीसरा दोष यह है कि उसका मूल्य (कीमत) अधिक होता है। अत वह सर्वथा अग्राह्य माना गया है।

(४) सुकुमारता—जिसमे अपूर्व सुकुमारता पाई जावे। अर्थात उक्त गुणो के साथ जिसका रूप भी दर्शनीय हो। नेत्रेन्द्रिय व

मन को प्यारा लगनेवाला रूप जिसमें विद्यमान हो वही प्रतिलेखन मुनि के ग्रहण करने योग्य होता है।

(५) लघुता—वह इतना हल्का हो कि जिससे सूक्ष्म जन्तु के शरीर को भी किसी प्रकार की बाधा न पहुंचे। तथा उठाने रखने आदि में सुविधाजनक हो। अत्यन्त वृद्ध तथा अशक्त मुनि को भी उससे मार्जन करने में किसी प्रकार का कष्ट न हो।

उक्त सब प्रकार के गुण मयूरपिच्छी मे ही पाये जाते हैं। ऊन आदि के बनाये गये रजोहरण में उपर्युक्त गुण नहीं होते। उनमें मयूरपिच्छ के समान कोमलता नहीं होती, अपने शरीर को भी कठोर प्रतीत होती है। तब अति कोमल सूक्ष्म प्राणियों को तो वह शस्त्रसा प्रतीत होती है। वह धूल-स्वेद आदि से मलीन होजाती है। उसमे दर्शनीय गुण भी नहीं होता। उसमें जीवों की उत्पत्ति होती है। चोरी होजाने का भय लगा रहता है। उसे बाजार में बेचकर-द्रव्य वसूल किया जा सकता है। ऐसे ही और भी अनेक कारण हैं जिनसे उनका प्रतिलेखन मुनियों के सयम की रक्षा करने मे समर्थ नहीं होता, बल्कि बाधक सिद्ध होता है। मयूरपिच्छ में गुण ही गुण हैं। इसके चोरी जाने का भी भय नहीं रहता है। इसके समान अन्य कोई ऐसा द्रव्य नहीं है जिसमें उक्त पांचों गुण हों और जो सयम का उपकारक हो।

शङ्का—ऊन तो ऐसा पदार्थ है जिसे भेडोके स्वामी साल मे दो बार भेड़के शरीर परसे कतरनी द्वारा कतरकर उतार लेते हैं। उस के उतारने से भेड़ को कष्ट नहीं होता है और मयूर के पिच्छ उतारने से तो मयूर को दुःख होता है, इसलिए ऊन मयूर पिच्छ की अपेक्षा उत्तम है।

समाधान—भेड़ के शरीर से कतरनी द्वारा ऊन उतारते समय भेड को थोडा बहुत कष्ट अवश्य होता है और मयूरपिच्छ को तो मयूर अपने आप वर्ष मे एक बार कार्तिक मास मे अवश्य छोड़ता है। पुराने पिच्छ उसके स्वयं गिरते हैं और नये आते हैं। ऐसा प्राकृतिक नियम है। जो स्वत. गिरे हुए पंख होते हैं उनसे ही मुनि की पिच्छी बनाई जाती है। अतएव मयूरपिच्छी मे कोई दोष नहीं होता। उसके निमित्त मयूर को पीडा नहीं दी जाती है। वह तो स्वय उसे छोडकर अपने को लघु बनाता है और उसमे आनन्द मानता है। क्योंकि बिना पुराने पिच्छ का त्याग किये नवीन पिच्छ उत्पन्न नहीं होते हैं।

उक्त प्रकार सब दोषो से निर्मुक्त और पाच गुणो से युक्त प्रतिलेखन मयूरपिच्छ के सिवा अन्य कोई नहीं है। इसलिए परम दयालु संयमनिष्ठ निर्ग्रन्थ आचार्यों ने सर्वगुण-सम्पन्न मयूरपिच्छ का ही सर्वश्रेष्ठ संयम का रक्षक प्रतिलेखन स्वीकार किया है।

शङ्का—नेत्र द्वारा जीवों को देखकर उनकी रक्षा कर सकते हैं तो फिर जीवरक्षा के निमित्त मयूरपिच्छ (प्रतिलेखन) की क्या आवश्यकता है?

समाधान—नेत्र इन्द्रिय द्वारा देख कर चलने फिरने आदि क्रियाओं के करने से जीवों की रक्षा होती है, किन्तु चक्षु इन्द्रिय छोटे छोटे सब जीवो को देखने मे असमर्थ है। उनकी रक्षा के लिए मयूरपिच्छ की अत्यन्त आवश्यकता है। वही कहा है—

सुहुमा हु संति पाणा दुप्पेक्खा अक्खिणो अगेज्झा हु।
तम्हा जीवदयाए पडिलिहणं धारए भिक्खू ॥ २० ॥ (मूला० स०)

अर्थ—ससार मे द्वीन्द्रियादि त्रसजीव व एकेन्द्रिय वनस्पति कायादि स्थावर जीव इतने छोटे२ होते हैं कि जिनका दिखाई देना अत्यन्त दुष्कर है। उनको चर्म-चक्षु देख नहीं सकती हैं। इसलिए उन जीवो की रक्षा के निमित्त साधु को मयूरपिच्छिका अवश्य धारण करनी चाहिए।

भावार्थ—साधु ने सम्पूर्ण जीवो के साथ मैत्रीभाव धारण किया है। उनको किसी प्रकार का कष्ट न देने की प्रतिज्ञा की है। वह उनके दु ख को अपना दु ख समझता है। दूसरे मनुष्यो को भी जीवो की रक्षा का उपदेश देता है। वह साधु जीवों के भेद, स्थान, योनि आदि आदि का ज्ञाता होता है। जो नेत्रेन्द्रिय के गोचर स्थूल जीव होते है उनको बचाकर गमनागमनादि क्रिया करता है। किन्तु कितने ही जीव ऐसे छोटे होते हैं जो इन चर्म-चक्षुओ से दिखाई नहीं देते हैं। उनकी रक्षा का उपाय एक मयूरपिच्छिका है। वह इतना कोमल व हल्का उपकरण है कि छोटेसे छोटे जन्तु को भी उससे बाधा नहीं होती है। उस सर्वोत्तम प्रतिलेखन से भी साधु बडी सावधानी से धीरे धीरे हल्के हाथ से प्रमार्जन करता है।

हे मुने! तुम प्रात काल नित्यप्रति अपने ज्ञान के उपकरण पुस्तकादि का तथा सयम के उपकरण कमडलु आदि का तथा अपने निवास स्थान वसतिका प्रदेश का मयूरपिच्छिका से प्रमार्जन करो। तुम्हें मलमूत्र की बाधा दूर करना हो, थूकना हो तो पहले उस स्थान को नेत्र से भले प्रकार देखकर तथा रात्रि मे उठना बैठना, मलमूत्रादि का त्याग करना अथवा थूकना, हो तो मयूर पिच्छिका से प्रमार्जन करके उस स्थान को निर्जन्तु करके करो। तुम उठना चाहते हो तो उठने के पहले पाँव रखने की भूमि को, बैठना चाहते हो तो बैठने की भूमि आदि को, सोना चाहते हो तो शयन करने के स्थान को, आगे पाव रखना चाहते हो तो पाव रखने के स्थान को पहले मयूरपिच्छिका स प्रमार्जन करलो। यदि करवट लेना आवश्यक हो, हाथ पाव फैलाना, सुकोडना हो तो मयूरपिच्छिकासे उस स्थान का अवश्य प्रमार्जन करो। कमण्डलु आदि उठाना हो तो कमण्डलु आदिको तथा उनको नीचे रखना होतो उस स्थानको पहले प्रमार्जन करके पश्चात् नीचे रक्खो। कारणवश यदि वसतिका आदि के किवाड या खिडकी आदि खोलने या ढकने पडें तो बड़ी सावधानी रखो। कभी कभी किवाडों की चोखटो की सधियो मे छिपकलिया, मकडिया व कसारिया पाई जाती हैं। इनके अतिरिक्त और भी छोटे २ जन्तु रहा करते है इसलिए उनको देखकर तथा पिच्छी से

प्रमार्जन कर खोलना व बन्द करना चाहिए। इसी प्रकार तुम्हारे शरीर पर खुजली चले या किसी जन्तु के काटने आदि की बाधा प्रतीत हो और यदि तुम उसको न सह सको तो सहसा न खुजलाओ, किन्तु पिच्छी से शनै. शनै. उसे प्रमार्जन करो। तात्पर्य यह है कि मयूरपिच्छी का प्रत्येक क्रिया के पूर्व, जहा उसकी आवश्यकता हो, अवश्य उपयोग करो। इस पिच्छी को आहार करते समय कुछ काल के लिए दूर रखो। शेष सब कामो मे उसको सदा निकट रखो। एक क्षण के लिए भी उसे अपने पास से अलग मत करो। सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित स्थान मे एक ।र भी याद तुम को चलना पडे तो पिच्छी को छोड़ कर मत चलो। उठो तब पिच्छी को हाथ मे तथा बगल मे दबा कर चलो व उठो।

शंका—मयूर की पिच्छी से जीव जन्तुओं को हटाने पर उन जीवों को बाधा होती है, इसलिए उसके धारण करने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—मयूर की पिच्छी के अग्र भाग इतने कोमल होते हैं कि आँखों के अन्दर फिराने पर भी पीड़ा नहीं होती है। आखों को भी सुहावने लगते हैं। तब उनसे जीवों को बाधा कैसे हो सकती है ? जीव जन्तुओं की रक्षा करनेवाला यह अद्वितीय उपकरण है। उसका धारण करना साधु के लिए अत्यन्त आवश्यक है। प्रतिलेखन जीवो के हृदय मे विश्वास उत्पन्न करनेवाला है। अतएव यह साधु के लिए सबमे अधिक आवश्यक उपकरण है। इस प्रकार इसका ग्रहण करना साधुके लिए युक्ति और आगम से परमावश्यक सिद्ध होता है। जिस प्रकार आहार की शुद्धि पर ध्यान रखना संयमी का परम कर्त्तव्य है, उसी प्रकार उपकरणों की शुद्धि पर ध्यान रखना भी परम कर्त्तव्य माना गया है। अत, सयम की रक्षा के लिए मयूरपिच्छिका होना आवश्यक है—इसमे कोई सन्देह नहीं।

मुनि इन चार लिङ्गों को धारण करके चारित्र का अनुष्ठान (आचरण) करते हैं। इनको धारण किये विना मुनि पूर्णरूप से चारित्र का आराधन करने मे समर्थ नहीं हो सकता, इसलिए इनका धारण करना मुनिमात्र के लिए परमावश्यक है। आचेलक्य (नग्नपना) तो स्वाभाविक चिह्न है। माता के पेट से बालक नग्न निकलता है, उस समय उस शरीर पर बाल के अग्रभाग मात्र भी कोई वस्त्रादि परिग्रह नहीं होता है। केशलोच सद्भावना प्रकट करने वाला चिह्न है। तथा शरीर के संस्कार का त्याग करने से वैराग्य भाव प्रकट होता है। जिसको शरीर से राग नहीं होता है वही उसको मैला कुचैला धूल से धूसरित देखकर भी उसको स्वच्छ नहीं करता है। तथा जीवों की रक्षा करने के लिए मयूरपख की पिच्छी का उपयोग है ही। इस प्रकार मुनिलिंग के चार भेद बताये गये हैं।

सिद्धान्तों म दश प्रकार का श्रमण कल्प वर्णन किया गया है—

अच्चेलक्कुद्देसिय सेज्जाहर रायपिंड किदियम्मं।
वद जेट्ठ पडिक्कमणं मासं पज्जो समणकप्पो ॥ (मूला० स०)

अर्थ—१ आचेलक्य अर्थात् सम्पूर्ण वस्त्रादि परिग्रह का त्याग, २ औद्देशिक (उद्दिष्ट) भोजनादि का त्याग, ३ शय्याधर वस-

तिथि के स्वामी के घर के आहार का त्याग, ४ राजपिण्डत्याग, ५ कृति कर्म, ६ व्रतारोपण, ७ ज्येष्ठपने (बड़प्पन) का विचार, ८ प्रतिक्रमण, ९ स्थितिकल्प (एक मास ठहरना) और १० पर्या अर्थात् मुनि की निषद्यका जहाँ हो या पंच कल्याणक जिन स्थानों पर हुए हो उन स्थानों की यात्रा करने को पर्या स्थिति कल्प कहते हैं। अथवा वर्षाकाल में चार मास पर्यन्त एक जगह ठहरने को पर्या कहते हैं। इस प्रकार मुनिकल्प (मुनि व्यवहार) दश प्रकार का है।

उक्त भेदो का विशेष वर्णन पहले मूलगुणाधिकार के आचेलक्यादि प्रकरण में तथा समाचाराधिकार मे आचार्य के ६३ गुणों के अवसर पर कर आये हैं।

भाव श्रमण बनो

निक्षेप की अपेक्षा श्रमणों के चार भेद किये जा सकते हैं—(१) नाम श्रमण, (२) स्थापना श्रमण, ३ द्रव्य श्रमण और ४ भाव श्रमण। इन चार निक्षेपो मे से आदि के तीन निक्षेप हेय हैं। शेष भावनिक्षेप ही उपादेय है। क्योंकि नामादि तीन निक्षेपों से जीव की इष्ट-सिद्धि नहीं हो सकती। उसमे वास्तविक पूज्यतादि लानेवाला भाव निक्षेप है। किसी का मुनि या साधु नाम रख लेने से वह मुनि का गौरव नहीं पा सकता। किसी विषयासक्त या परिग्रह धारक व्यक्ति मे मुनि की स्थापना करलेने से भी कोई लाभ नहीं। द्रव्य मुनि का भी वह महत्व नहीं। यदि स्व-पर का कोई लाभ है तो वह भाव मुनि बनने से ही है।

शका—आधुनिक दिगम्बर मुनियों मे पुरातन मुनियों की स्थापना हो सकती है या नहीं ? यदि हो सकती है तो जीव में दूसरे जीव की स्थापना हो गई और आपने इसका पहले निषेध किया है सो कैसे ?

समाधान—पुरातन मुनियों की आधुनिक मुनियों में स्थापना करके उनके समान उनको समझ कर व्यवहार करना सर्वथा अनुचित है। मुनि की पूज्यता उसके गुण के आश्रित है। यदि उसमें अठाईस मूलगुण हैं तो वह पूज्य है और यदि उन मे से एक भी कम है तो वह पूज्य नहीं है। केवल नग्नरूप मे पूज्यता की कल्पना करने पर नग्न रूप धारण करने वाला बहुरूपिया भी पूज्यता का अधिकारी बन जावेगा। अत. पुरातन मुनियों की आधुनिक साधुओ मे कल्पना करके गुण न होने पर भी उनको पूज्य समझना मिथ्यात्व को बढ़ाना है। क्या किसी अल्पज्ञ ससारी जीव मे भगवान् महावीरादि की कल्पना हो सकती है ? जैसे तीर्थंकरादि की स्थापना किसी व्यक्तिविशेष मे नहीं हो सकती, वैसे ही प्राचीन काल के मुनीश्वरों की स्थापना आधुनिक-साधुओं में भी नहीं हो सकती है।

हे मुनियो ! तुम भावश्रमण बनो। अठाईस मूलगुणों का भंग मत होने दो। भिक्षाशुद्धि पर पूर्ण ध्यान दो। क्योंकि यह व्रत, शील व तप का आधार है। भिक्षाशुद्धि का विचार किस रीति से किया जाय इस विषय मे निम्न उल्लेख पर ध्यान देना चाहिए।

भिक्षा शुद्धि कब होती है ?

भिक्खं सरीरजोग्गं सुभत्तिजुत्तेण फासुयं दिण्णं।
दव्वपमाणं खेत्तं कालं भावं च णादूण ॥ ५२ ॥
णवकोडीपडिसुद्धं फासुय सत्थं च एसणासुद्धं।
दसदोसविप्पमुक्कं चोद्दसमलवज्जियं भुंजे ॥ ५३ ॥ (मूला. स.)

अर्थ—जो प्रासुक भिक्षा-भोजन नवधा भक्ति युक्त दातार के द्वारा दिया गया हो, उसमें साधु नवकोटि से शुद्धि की गवेषणा करे। यह भिक्षा-अन्न मन-वचन-काय द्वारा कृत, कारित व अनुमोदित तो नहीं है ? तथा उसकी प्रासुकता का विचार करे। इसमे किसी अप्रासुक द्रव्य का सम्मेलन या सयोग तो नहीं हुआ है, तथा कृत्सादि दोषोंवाला तो नहीं है। इसमे दुर्गन्धादि दोष तो नहीं है। इसकी तथा एषणा शुद्धि की, उद्दिष्टादि दश दोष, चौदह मलदोषों के अभाव का तथा क्षेत्र काल भाव और द्रव्य प्रमाण की जांच करके सम्यग्दर्शनादि की रक्षा और क्षुधा के उपशमन करने के लिए उस आहार का ग्रहण करे।

भावार्थ—वीतरागी साधु उस आहार का ग्रहण करते हैं, जो दाता के द्वारा नवधा भक्ति पूर्वक दिया गया हो, प्रासुक हो। शरीर की रक्षा करनेवाला हो, जो नवकोटि से शुद्ध हो, जो साधु के निमित्त बनाया गया हो, छियालीस दोषो से विमुक्त हो, सड़ा गला दुर्गन्धमय न हो, जिसके द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की परीक्षा करली गई हो। अर्थात् जिस भोजन का द्रव्य शुद्ध हो, पवित्र क्षेत्र मे तैयार किया गया हो, योग्य काल मे बनाया गया हो, जिसके गुणो मे व स्वरूप मे विकृति उत्पन्न न हुई हो, जो एषणा समिति से शुद्ध हो, देखने मे भी सुन्दर हो, उसकी सर्व प्रकार से शुद्धि का ज्ञान होने पर मुनि रत्नत्रय की सिद्धि के निमित्त क्षुधा का उपशामन करने के लिए प्रमाण सहित आहार का ग्रहण करे।

हे मुने! रत्नत्रय को निर्मल बनाने के लिए शंकादि दोषों का परिहार करो और अहिंसादि व्रतों का पूर्णतया पालन कर चारित्र को शुद्ध बनाओ। तथा द्रव्य क्षेत्र काल व भाव के आश्रय से दोष लगे हों तो उनका निवारण करने के लिए गुरु महाराज के निकट जाकर विनयपूर्वक आलोचना करो और उनके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त का आचरण कर लौकिक-शुद्धि का पालन करो। लौकिक और लोकोत्तर दोनों शुद्धियों से आत्मा को निर्मल करो।

हे मुने! जिस क्षेत्र में क्रोधादि कषाय जाग उठती हों, जहां भक्ति और आदर की हीनता प्रतीत हो, जहां पर धृष्टता व मूर्खता

की प्रबलता हो, जहा चक्षुआदि इन्द्रियों को ललचाने वाले-राग बढानेवाले विषयों की प्रचुरता हो, चित्ताकर्षक श्रृंगार रस की रसिक स्त्रियों का जमघट हो अर्थात् जिस क्षेत्र मे स्त्रिया श्रृंगार रसप्रिय हों, उनके आकार तथा अगविकार विषय के पोषक हों, उनमें हाव भाव नृत्य गीतादि एव हास उपहास करने की आदत सी हो गई हो, जिस क्षेत्र मे साधुओ को पद पद क्लेशों को सहने के लिए बाध्य होना पड़ता हो, तथा जो क्षेत्र उपसर्गों से भरा हो, ऐसे स्थानों से साधु सम्यग्दर्शनादि को शुद्ध रखने के लिए दूर रहे–उस जगह न ठहरे।

शका—क्या मुनि आदर के भूखे होते हैं? यदि नहीं होते तो आदर-सम्मान रहित क्षेत्र के परित्याग का उपदेश क्यों दिया गया है?

समाधान—मुनि आदर-अनादर को समान समझते हैं, किन्तु जिस स्थान मे इतर जनों द्वारा दिगम्बर मुद्रा की अवहेलना होती है, धर्म पर प्रीति का अभाव होता है वहाँ पर मुनि को नठहरना चाहिए। यदि कोई मुनि हठ करके ठहरता है तो वह मुनिधर्म का तिरस्कार करानेवाला है तथा जिनाज्ञा को उल्लंघन करने के कारण मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्न—तो मुनि को कैसे स्थान मे ठहरना चाहिए?

उत्तर—जो मुनि धीर वीर है उनको पर्वतों की गुफाओ में या श्मसान मे या सूने घर व मठादि मे अथवा वृक्षों की कोटर (पोल) मे ठहरना चाहिए, क्योंकि ये स्थान वैराग्य की वृद्धि करने वाले और चारित्र का पोषण करने वाले हैं। किन्तु निम्नोक्त देश नगरादि मे अथवा उससे सम्बन्ध रखने वाले पर्वतादि मे भी साधु निवास न करे। जैसा कि कहा है—

णिवदिविहीणं खेत्तं णिवदी वा जत्थ दुट्ठओ होज्ज।
पव्वज्जा च ण लब्भइ संजमघादो य तं वज्जे ॥ ६० ॥
णो कप्पदि विरदाणं विरदीणमुवासयम्हि चेट्ठेदुं।
तत्थ णिसेज्ज उव्वट्टण सज्झायाहार वोसरणे ॥ ६१ ॥ (मूल० स०)

अर्थ—जिस क्षेत्र का कोई राजा न हो। अर्थात जिस देश, नगर, गाँव या घर का कोई स्वामी न हो, वहाँ के रहने वाले सब मनुष्य स्वच्छन्दता से अपनी मनमानी प्रवृत्ति करते हैं। तथा जिस देश नगर गाँव या गृह का स्वामी दुष्ट स्वभाव का हो, दूसरों को सताने और धर्म की विराधना करने मे जिसको सतोष उत्पन्न होता हो, जिस देश मे शिष्यमण्डली न हो, धर्मोपदेश को सुनने वाले न हों, शास्त्रों का अध्ययन करने वाले न हों, व्रतों के रक्षण करने मे तत्पर न हों तथा जिन के मन मे मुनिधर्म की तथा श्रावकधर्म की दीक्षा

ग्रहण करने की भावना भी न हो, जहाँ संयम मे अतिचार अधिक लगने की संभावना हो, आत्म-हित का अभिलाषी साधु ऐसे सब स्थानों का परिहार करे।

निर्ग्रन्थ चारित्र के आराधक मुनियों और आर्यिकाओं को ऐसी वसतिका में कभी नहीं रहना चाहिए-जिसमें शयन करने की आगमोक्त योग्यता न हो, बैठने की योग्यता न हो, जहाँ से भिक्षा के लिए जाने मे बाधा उपस्थित होती हो। स्वाध्याय करने में विघ्न उपस्थित होता हो, तथा अन्य शरीर सम्बन्धी बाधा दूर करने मे अनेक प्रकार आपत्ति प्रतीत होती हो, जहाँ रहने से लोकापवाद होता हो अथवा व्रतभंग होने का सन्देह हो, अपने चारित्र को उज्ज्वल रखनेवाले साधु व आर्यिका ऐसे स्थान का यत्नपूर्वक परित्याग करदे।

क्योंकि उत्तम वस्तु के संसर्ग से सम्यग्दर्शनादि की शुद्धि होती है और निन्दनीय वस्तु के सम्पर्क से सम्यग्दर्शनादि में मलीनता उत्पन्न हो जाती है। कभी २ उनका सर्वनाश भी हो जाता है। जैसे कमल के संसर्ग से जल का कुंभ सुगन्धमय और शीतल हो जाता है और अग्नि आदि द्रव्य के संयोग से शीतल सुगन्धित जल-कुंभ उष्ण और बेस्वाद हो जाता है एवं पत्थर आदि के संयोग से उसका सर्व नाश हो जाता है। इसलिए साधुओं को कुत्सित संसर्गों का त्याग करना चाहिए। उन कुत्सित (निन्दनीय) संसर्ग का वर्णन करते हैं।

चंडो चवलो मंदो तह साहू पुट्ठिमंस पडिसेवी।
गारव कसायबहुलो दुरासओ होदि सो समणो ॥ ६४ ॥ (मूला० स०)

अर्थ—जो चण्ड स्वभाव का हो, विष वृक्ष के समान जिस मे दूसरों के प्राण हरण करने वाली रुद्र प्रकृति हो, जो अत्यन्त चंचल स्वभाव वाला हो, जिसके चित्त मे स्थिरता न हो। जिसके पेट में कोई बात टिक नहीं सकती हो, जो चारित्र के पालन मे आलसी हो, तथा जो पीठ पीछे निन्दा करनेवाला हो, चुगलखोर हो, अभिमान से भरा हो, अपने को सब से महान् समझ कर दूसरे की अवहेलना करता हो, जिसकी प्रकृति क्रोध मय हो, जो बात बात पर क्रोधित हो जाता हो, जो दुराशय हो—ऐसे साधु या अन्यजन का संसर्ग त्याग करने योग्य है।

हे मुने! जो साधु रोगी, दुर्बल, व्याधि-पीडित आदि साधुओं का वैयावृत्यादि द्वारा उपकार नहीं करता है, जो पाच प्रकार के विनय से विमुख है, अर्थात् अविनीत—उद्दण्ड है, जो कठोर वाणी का प्रयोग करता करता है, जिसका आचरण निन्दनीय है, दिगम्बर मुद्रादि का धारक होने पर जिसमे वैराग्य नहीं है, राग भाव का उत्कर्ष है—ऐसे साधु का सम्पर्क सर्वथा त्याग करने योग्य है।

जो कुटिल स्वभाव का है, दूसरे को संताप देने वाला है, पर दोष का प्रकाश करने में, आनन्द मानता है, मारण उच्चाटन

वशीकरण मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र का प्रयोग करनेवाला है, दूसरे को धोखा देने वाले इन्द्र जाल कोकशास्त्र, वात्सयनादि शास्त्रों में प्रीति रखता है इन दुर्गुणों से युक्त चिरदीक्षित साधु भी सर्प के समान त्याग देने योग्य है। हे मुने। ये दुर्गुण पाप-श्रमण में पाये जाते हैं। क्योंकि वह गुरु के अंकुश रहित अकेला रहकर अनेक दुर्गुणों का निवास स्थान बन जाता है और पाप-श्रमण की संज्ञा पाता है।

पाप-श्रमण का लक्षण

आयरियकुलं मुचा विहरदि समणो य जादुएगागी।
ण य गेण्हदि उवदेशं पावर मणोत्ति वुच्चदि दु ॥ ६८ ॥ (मूला. स.)

अर्थ—जो मुनि आचार्य संघ को छोड़कर अपनी इच्छानुसार भ्रमण करता है, मनमाना उपदेश देता है या स्वच्छन्दता पूर्ण वचनालाप करता है, भला बुरा सोचा करता है, किसी के हितकर उपदेश को नहीं सुनता है, किसी की शिक्षा की परवाह नहीं करता है। ऐसा बिना नकेल के बैल के समान अथवा बिना अंकुश के मदोन्मत्त हस्ती के समान स्वच्छन्द प्रवृत्ति करनेवाला संघभ्रष्ट एकलविहारी साधु पाप-श्रमण माना गया है।

जो दुर्वृत्ति साधु अपने गुरु की आज्ञा की अवहेलना कर, अपनी उद्दण्डता से उनके अंकुश की परवाह न कर आचार्य बनने की लालसा से मदमस्त हाथी के समान इधर उधर विचरने लगता है, तथा एक दो अपने समान साथियों को इकट्ठा कर आचार्य बन बैठता है-वह विवेक हीन साधु पाप-श्रमण है। वह पापमय प्रवृत्ति करके अपना नाश तो करता ही है और उनकी संगति करनेवाले संयमियों तथा श्रावकों को भी उन्मार्ग मे लगाता है। जैसे आम का वृक्ष नीम के सम्पर्क मे आकर कडुवे फल देता है। उसी प्रकार संवेद भाव (ससार से भीति) रहित, धर्मानुरागहीन, शिथिलाचारी, साधु के कर्त्तव्यों से विमुख, दुराशय साधु का संसर्ग मत करो। उसकी सगति आत्मा को श्रद्धा और चारित्र से च्युत कर देती है।

नगर के मध्यभाग से निकले हुए नाले समान दुर्जनसाधु के वचन कूडे कर्कट के समान निकला करते हैं। जैसे नाले में बहकर आया हुआ मलमूत्र कूडा कर्कट दुर्गन्ध को फैलाता है वैसे ही दुर्जन साधु आगम विरुद्ध वचनों का उच्चारण कर समाज मे अधर्म और दुराचार का विस्तार करता है। ऐसे साधु से सदा डरते रहना चाहिए। क्योंकि उसके वचन-भुजङ्ग आत्मा को डसते हैं। उसके विष की प्रभाव अनन्त भव तक बना रहता है, अतः वह भुजग (सर्प) से भी महा भयानक है। यद्यपि उसके वचन घोड़े की लीद समान ऊपर से चिकने चुपड़े होते हैं, बगुले के समान सुन्दर प्रतीत होते हैं, भुजङ्ग के भोग (शरीर) के समान कोमल मालूम होते हैं, किम्पाक फल के समान

आपात-रमणीय और मीठे होते हैं, किन्तु अन्त मे आत्मा के घातक होते हैं। आत्मा को अनाचार रूप दुर्गन्ध से मलीन करनेवाले होते हैं। विष के समान आत्मा के घातक हैं।

हे मुने ! कोई चिरकाल का दीक्षित होने से श्रेष्ठ नहीं माना गया है। साधु की श्रेष्ठता सच्चे वैराग्य से होती है। बहुत से साधु चिरदीक्षित होने पर भी मोक्षमार्ग से वञ्चित देखे जाते हैं। वैराग्यपरायण तीन दिन का दीक्षित अथवा अन्तर्मुहूर्त्त का दीक्षित भी मोक्ष का अधिकारी होता देखा गया है। अत आत्मा मे वैराग्य भावना को दृढ बनानेवाले परम विरक्त साधुओं का सत्सग करो। कई साधु ऐसे देखे जाते है जिनके उपदेश परम वैराग्य का निरूपण करते हैं परन्तु उनके अत करण लोभ और मान से गन्दे और मोक्षमार्ग से विमुख होते हैं। इसलिए सहसा किसी साधु को आत्मा के लिए हितकर मत समझो। उसके निकट सम्पर्क मे कुछ काल रहो। उसके विचारों और कार्यों का सूक्ष्मदृष्टि से निरीक्षण करो। तब तुम्हें प्रतीत होने लगेगा कि उसका बाह्यरूप घोड़े की लीद के समान सुहावना है और उनका अन्तरग कितना गन्दा और तुच्छ है। वे ऊपर से बगुले के समान सुन्दर दिखाई देंगे और उनके काम अति निन्दनीय और घृणा के योग्य प्रतीत होंगे। इसलिए जिन के ससर्ग मे तुमको अपने जीवन को सफल बनाना है अपने वैराग्य भाव को दृढ़ करना है–चारित्र को उन्नत बनाना है–तो उनकी जाँच मे असावधानी मत करो।

हे मुने ! देखो कर्मबन्ध के कारण आत्मा के परिणाम हैं। इसलिए अपने आत्मपरिणामों को उज्ज्वल बनाये रखो। जो साधु दिखावे के लिए-अपने को उत्तम प्रकट करने के लिए-दूसरों के सामने तो अपने मन वचन काय की उत्तमता से प्रवृत्ति करता है, और जनता से पृथक् होते ही–एकान्त मे–उनकी कुप्रवृत्ति करता है। मन मे निन्दनीय और तुच्छ विचारों को जन्म देता है। संकल्प और विकल्प रूपी जल तरंगों मे उसकी मनरूप नौका गोते खाने लगती है। अभिमान, लोभ और माया भरे महान असत्य वचनों का उच्चारण करता है और काय से जीवरक्षा रहित अज्ञानमय क्रियाएँ करता है वह साधु अपना भी विनाश करता है और उसके सम्पर्क मे रहने वाले सयमियों और श्रावक श्राविकाओं की भी मिथ्यामार्ग मे प्रवृत्ति होने लगती है। इसका कारण भावों की मलीनता ही है। इसलिए प्रतिसमय तुमको अपनी आत्मा का निरीक्षण करते रहना चाहिए। जो साधु विवेक-ज्ञान (भेद ज्ञान) रूपी दीपक लेकर अपने अन्त करण मे सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्ररूपी मार्जनी (बुहारी) से मिथ्यात्व, असंयम व कषाय रूपी कूडे कर्कट को साफ करता रहता है उसकी आत्मा अल्पकाल मे परम पवित्र बन जाती है और उसके द्वारा ही संसार के जीवों का कल्याण होता है। वह शीघ्र मुक्ति-पद का अधिकारी होता है और उसके ससर्ग से अन्य जन भी मुक्तिपथ के पथिक बनते हैं। इसलिए तुमको मिथ्यात्व असयम और कषाय का सर्वथा त्याग कर अपनी आत्मा का प्रतिक्षण निरक्षण करते रहना चाहिए।

क्योंकि आत्मा के परिणामों के निमित्त को पाकर योग द्वारा प्राप्त हुए कार्माण वर्गणा के पुद्गल, कर्मरूप परिणमन करते हैं।

जो आत्मा ज्ञानरूप परिणत होता है। जिसको भेद-विज्ञान जागृत हो गया है, वह आत्मा निरन्तर आत्मा का निरीक्षण करता रहता है, इस लिए वह कर्म के बन्धन से बद्ध नहीं होता है। अर्थात् उसके कर्मों का बन्धन नहीं होता है। अतः चारित्र को ज्ञान दर्शन पूर्वक कहा है।

हे मुने! जो साधु मिथ्यात्व, असयम व कषाय को हृदय मे स्थान नहीं देता है, उसके ज्ञान व चारित्र की वृद्धि होती है। उसका चित्त एकाग्रता को प्राप्त होता है और चित्त की एकाग्रता को ही ध्यान कहते हैं। उसका शान्त-चित्त स्वाध्याय की ओर प्रवृत्त होता है। वह आगम का वाचन, पृच्छन, चिन्तन, स्मरण करता है। तथा वाचन-चिन्तनादि से उपलब्ध हुए तत्त्व को, आगम के रहस्य को, उपदेश द्वारा जनता मे प्रकट करता है। इस प्रकार प्रवृत्ति करनेवाला महात्मा ससार समुद्र से शीघ्र पार होता है और उसके सम्पर्क मे रहने वाले पुण्यवान पुरुष भी ससार सागर से निकलने का साधन सन्माग रूपी नौका प्राप्त करलेते हैं।

हे मुने! ज्ञान सन्मार्ग का प्रदर्शक है और तपश्चरण आत्मा को शुद्ध करनेवाला है। तपश्चरण में भी स्वाध्याय सब से मुख्य है। क्योंकि आत्मा को तपश्चरण सरीखे कठोर कार्य मे स्थिर रखने वाला विवेकज्ञान है और वह ज्ञान स्वाध्याय से, सूत्र (आगम) का अभ्यास, मनन चिन्तन से उपलब्ध होता है। कहा भी है—

सूई जहा ससुत्ता ण णस्सदि दु पमाददोसेण।
एवं ससुत्तपुरिसो ण णस्सदि जहा पमाददोसेण॥ ८० ॥ (मूला० स०)

अर्थ—डोरे में पिरोई हुई सूई प्रमाद से गिर जाने पर भी जैसे गुम नहीं सकती—अर्थात् कूडे कचरे मे गिरी हुई सूक्ष्म सूई सूत्र (डोरे) के साथ होने से पुन. मिल जाती है—वैसे ही आत्मा के प्रतिकूल अनेक कारणों के उपस्थित होने पर, तपश्चरणादि कठोर क्लेशजनक आचरण से आत्मा मे चचलता आजाने पर उसको सन्मार्ग मे स्थिर करने वाला सूत्र (आगम) का स्वाध्याय है। जो कोमल प्रकृतिवाला मनुष्य दुष्कर वृक्षमूलादि योग अथवा मासोपवास कायक्लेशादि तप करने मे असमर्थ है, वह यदि शुद्ध-चित्त से कपायादि का त्याग करके निरन्तर आगम के स्वाध्याय मे तल्लीन रहता है तो कर्मों का बहुत शीघ्र क्षय करलेता है।

हे मुने! शास्त्रस्वाध्याय और ध्यान की सिद्धि करने के लिए तुमको निद्रापर विजय प्राप्त करना चाहिए। क्योंकि निद्रा मनुष्य को अचेत (विवेकहीन) बना देती है। निद्रा मे साधु विवेक-शून्य होकर अनेक दोषों का सेवन करता है। निद्रा और आहार बढाने से बढते और घटाने से घटते हैं। जो निद्रा के वश रहता है—उसको प्रमाद व आलस्य घेरे रहता है उसका मन न तो स्वाध्याय मे लगता है और न ध्यान मे लगता है। इसलिए शास्त्रज्ञान प्राप्त करने के लिए और चित्त को एकाग्र करने के लिए निद्रा-विजयी बनो। निद्रा-विजयी साधु जीवाजीवादि तत्त्वों का नयप्रमाण से सूक्ष्मज्ञान प्राप्त करता है। कर्मों के बन्धन और मोचन के कारणों को जानकर ध्यान द्वारा कर्म-बन्धन

की गुत्थियो को सुलझाता है। जैसे लक्ष्यवेधी मनुष्य धनुष पर सीधा बाण रखकर अपने दोनों नेत्रो को अर्धनिमीलित (आखें मूदकर) बाण को लक्ष्य से मिलाता है, इसी प्रकार प्रमाद रहित साधु शुभध्यान के लिए अर्धनिमीलित नेत्र होकर अपने चित्त को एकाग्र करके आत्मा में लगाता है।

हे मुने ! संसार और भोगों से विरक्त होकर तुम ज्ञानावरणादि कर्मों का आत्मा के प्रदेशों के साथ सम्बन्ध का, आत्मा के साथ सम्बद्ध कर्मों के विश्लेषण के उपायो का तथा जीव और पुद्गलादि अजीव पदार्थों तथा उन पर्यायों के भेद प्रभेदों का चिन्तन करो।

हे साधो ! इस जीव ने अनादिकाल से ससार में परिभ्रमण करते हुए द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन, भव परिवर्तन और भावपरिवर्तन अनेक वार किये हैं। किन्तु श्रीजिनेन्द्रदेव कथित धर्म का आश्रय इस को नहीं मिला है। यदि एक बार भी धर्म का अंकुर आत्मा मे उदित हो जाता तो उसको इतने असह्य दुःख न भोगने पड़ते। अब काललब्धि आदि के योग से यह सुअवसर उपलब्ध हुआ है। यदि इसको तपश्चरण और ध्यान के विना खो दिया तो फिर पछताने के सिवा कुछ भी हाथ मे न रहेगा। इत्यादि प्रकार से नित्य प्रतिसमय चिन्तन करो।

देखो, ये संसारी अज्ञानवश मोहाग्नि से झुलस रहे है, अत्यन्त असह्यदुःख का अनुभव करते हुए भी विषय भोगसे अधिकाधिक सम्बन्ध करते हैं। और अनन्त ससार से निकलने के द्वार को मोहान्ध होकर खो रहे हैं। संसार मे धीर वीर साधु ही हैं जो अनेक उपसर्ग परिषहो को सहकर इस असार ससार से विरक्त होकर आत्म-कल्याण के मार्ग मे दत्तचित्त है। हे मुने ! यह शुभ-सयोग तुमको बडे सौभाग्य से मिला है, अत, तुम शुभध्यान मे सदा रत रहकर कर्मों के जाल को तोड़कर अपनी निजनिधि को प्राप्त करो।

हे मुने ! यदि तुम ध्यान मे रत होना चाहते हो तो आरंभ और लोभादि कषाय का परित्याग करो। जैसे नेत्र सूक्ष्मतम कचरे को भी नहीं सह सकता, उसको वाहर निकलने पर ही उसे चैन मिलता है। जैसे समुद्र अपने भीतर तृणादि कचरे को स्थान नहीं देता है, ऊपर निकाल फैंकता है। इसी प्रकार ध्यान भी आरम्भ और लोभादि कषाय को अपने निकट नहीं आने देता है। अर्थात् आरम्भ और कषाय के सद्भाव मे ध्यान की सिद्धि असम्भव है। जब आत्मा निष्कपाय होता है, उसके अंतःकरण मे कषाय की मलीनता नहीं रहती है-तब ही ध्यान की सिद्धि होती है।

हे मुने ! यदि तुम ससार के दुःखो से छुडाने वाले चारित्र का आराधन करना है तो आत्मा मे कषाय को उत्पन्न मत होने दो। क्योकि कषाय के अभाव को ही चारित्र कहते हैं। जो कषाय के वशीभूत हो, वह असयमी है। जिस समय कषाय उपशान्त रहती है-अर्थात कषाय का उदय नहीं हो। है उस समय आत्मा-सयमी होता है।

हे साधो ! शिष्यादि में मोह उत्पन्न करना दुर्गति का कारण है। क्योकि उससे मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, रागद्वेषादि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। कारणो से दोष पैदा होते हैं और कारणो के अभाव से दोषो का अभाव होता है।

पच्चयभूदा दोसा पच्चय भावेण णत्थि उप्पत्ती।
पच्चभावे दोसा णस्संति निरासया जहा वीयं ॥ ९३ ॥ (मूला० म०)

अर्थ—कर्म-बन्ध के कारणभूत शिष्यादि सम्बन्धी मोह से रागद्वेषादि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। रागद्वेषादि के कारणभूत मोह के अभाव से उन दोषो का प्रादुर्भा वहीं होता है। इसलिये कारणभूत शिष्यादि सम्बन्धी मोह के अभाव से मिथ्यात्व, असयम, कषाय रागद्वेषादि दोष स्वय नष्ट हो जाते हैं। क्योकि आश्रय के अभाव से दोष निर्मूल होकर नष्ट हो जाते हैं। जैसे बीज में अकुर की उत्पत्ति पृथ्वी-जल-पवन सूर्यकिरणो के सयोग से होती है। यदि पृथ्वी-जल-पवनादि का सयोग न मिले तो बीज अकुर को उत्पन्न करने मे समर्थ नहीं होता है। जिन कारणो के सद्भाव से जो दोष होते हैं उन कारणो का अभाव होने पर उनके फल (कार्य) स्वरूप उन दोषों की उत्पत्ति नहीं होती है।

अतएव हे साधुओ ! परिग्रह के कारणभूत क्रोध मान माया लोभ हैं। क्योकि लोभादि के होने पर ही परिग्रहादि होते हैं और लोभादि का विनाश होजाने पर परिग्रहादि नहीं होते हैं। इसलिए सब साधुओ को लोभादि छोड़ना चाहिए जिससे परिग्रह की इच्छा उत्पन्न ही न हो।

हे साधो ! इस संसार मे जीव जो नरकादि पर्यायो को प्राप्त करते हैं, उसका मूलकारण राग द्वेष और मोह है। राग द्वेष व मोह के वशीभूत होकर ही जीव नरकादि कुयोनियो मे भटकता है। ससार मे रागद्वेष मोह ही महाशत्रु हैं। इसलिए वैराग्य ज्ञान द्वारा पदार्थों से मोह को हटाओ। परमविरक्ति धारण करो। वही शिव सुख को देने वाली है।

अत्थस्स जीवियस्स य जिब्भे अत्थाणकारणं जीवो।
मरदि य मारावेदि य अणंतसो सव्वकालं तु ॥ ९६ ॥
जिब्भो वत्थणिमित्तं जीवो दुक्खं अणादि संसारे।
भत्तो अणंतसो तो जिब्भो वत्थे जयह दाणिं ॥ ९७ ॥

अर्थ—यह जीव इस ससार मे अर्थ के निमित्त-धन घर भूमि आदि के लिये, अपने जीवन के लिए-आत्म रक्षा के लिए, जिह्वा इन्द्रिय के विषय की प्राप्ति के लिए तथा उपस्थ इन्द्रिय के विषय के लिए-काम सेवन के लिए अपने प्राणो का बलिदान करता है, स्वयं अन्य प्राणियों के प्राणो का हरण करता है तथा दूसरो से हरण करवाता है।

इन चारो मे भी रसनेन्द्रिय और मैथुन इन्द्रिय अति बलवान हैं। इनके निमित्त इस जीव ने अनन्त बार इस संसार मे घोर दुःख सहे हैं। इसलिए इन दोनो इन्द्रियो पर पूर्ण विजय प्राप्त करो।

भावार्थ—यह अज्ञानी जीव सासारिक विषयों मे सुख समझकर उनकी रक्षा के लिए अपने प्राणो की भी परवाह नहीं करता है। कभी धन घर गाय भैंस क्षेत्रादि भूमि की प्राप्ति व रक्षा के लिए चौर शत्रु आदि से लड़ता है। रणचण्डी के चरणों मे अपने प्राणों की बलि चढ़ाता है। कभी अनेक निरपराध व दीन क्षीण प्राणियो के प्राण लेता है। अपने जीवन की रक्षा के लिए अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण करता है। अन्यायमार्ग का अनुसरण करता है। असहाय दीन जीवों पर अत्याचार करता है। जीवो के आहार संज्ञा इतनी तीव्र होती है कि जिसके वशीभूत हुआ प्रत्येक जीव रात दिन आहार की खोज मे लगा रहता है। छोटे जन्तु से लेकर बड़े से बड़ा प्राणी पेट की ज्वाला शान्त करने के लिए क्या २ अनर्थ नहीं करता? एक जन्तु दूसरे जन्तु का भक्षण करता है। मनुष्य भी भोजन की लालसा के वशीभूत होकर भक्ष्य अभक्ष्य का विचार नहीं करता है। मैथुनइन्द्रिय के वश जीव अन्धा सा हो जाता है। विवेकी मनुष्य भी कामातुर होकर कुल, जाति, व सयमादि को भूल जाता है।

हे मुने! तुम स्पर्शनेन्द्रिय को जीतने के लिए पूर्ण सावधान रहो। काठ की या मिट्टी की स्त्री (पुतली), चित्राम की स्त्री, व स्त्री की (तस्वीर) से भी भयभीत रहो। यह पुतली और स्त्री की तस्वीर भी तुम्हें ब्रह्मचर्य से पतित कर सकती है। क्योंकि इनको देखने से भी चित्त मे क्षोभ सभव है। वही कहा है—

> चीहेदव्वं णिच्चं कट्ठत्थस्सवि तहित्थिरूवस्स।
> हवदिय चित्तक्खोभो पच्चयभावेण जीवस्स ॥ ९९ ॥
> घिदभरिदघडसरित्थो पुरिसो इत्थी बलंत अग्गिसमा।
> तो महिलेयं दुक्का णट्ठ पुरिसा सिवं गया इयरे ॥ १०० ॥ मूला०

अर्थ—ब्रह्मचर्यव्रत को सुरक्षित रखने का अभिलाषी सयमी काठ व मिट्टी की बनी हुई स्त्री तथा चित्र लिखित स्त्री से भी डरता

रहे। क्योकि वह भी साधु के चित्त मे चंचलता व उद्वेग-विकार उत्पन्न कर देती है। चित्त मे विकार उत्पन्न होने पर ब्रह्मचर्य का रहना असंभव है। क्योंकि घी से भरे हुए घडे के समान पुरुष है और जाज्वल्यमान अग्नि के समान स्त्री का रूप है। अग्नि के समीप मे रहने वाले घट की जैसी अवस्था होती है, वही हालत स्त्री के साथ संसर्ग करने वाले सयमी की होती है।

स्त्री के फोटो और चित्राम मे भी जब पुरुष के मन को क्षोभित करने की शक्ति है तब साक्षात् स्त्री का क्या कहना ? इसलिए हे साधो ! यदि तुम अपनी रक्षा चाहते हो, सयम को स्थिर और ब्रह्मचर्यव्रत को निर्दोष रखना चाहते हो तो स्त्री को सर्प के समान समझो। जो संयमी स्त्री के सम्पर्क मे आये हैं-उनके साथ वार्तालाप हास्यादि किया है-उनका संयम-जीवन नष्ट होगया है। और जो इनका दूर से ही त्याग करते हैं, उनके साथ बात चीत तो दूर रही, पूर्ण-दृष्टि से भी जो उनको नहीं देखते हैं। वे ही पुरुष मोक्ष मार्ग पर स्थिर रहे हैं और शिवसुख के अधिकारी बने हैं। इसलिए

मायाए बहिणीए धूआए मूइ बुड्ढ इत्थीए।
पीहेदव्वं णिच्चं इत्थीरूवं णिरावेक्खं ॥ १०१ ॥ मूला.

अर्थ—चाहे वह स्त्री माता हो, बहिन हो, पुत्री हो, गूगी हो या बाला वृद्धा क्यों न हो-स्त्री के शरीर से सदा डरना चाहिए। क्योंकि अग्नि कसी ही क्यों न हो वह अपना स्वभाव नहीं छोडती। जैसे चन्दन की अग्नि भी शरीर को तत्काल भस्मसात् करने मे समर्थ होतो है, वैसे ही स्त्री मात्र का सम्पर्क ब्रह्मचर्य का घात करनेवाला है।

हे मुने ! तुम ब्रह्मचर्य मे दृढ हो, तुम्हारा अन्त.करण पवित्र है। तुम्हारे चित्त में वैराग्य भावना लहरा रही है। तुमने विषयों को भुजग के भोग (शरीर) के समान समझकर निर्विकार अवस्था धारण की है। लेकिन संसार मे निमित्त बड़ा बलवान होता है। देखो ! आखों मे जल भरने का कोई स्थान नहीं है तथापि अत्यन्त शोक व दु ख के प्राप्त होते ही आखों से आसुओं की धारा बहने लगती है। ग्राम्यशूकरी (शूरडी) के स्तनों मे दूध नहीं रहता है, किन्तु उसके बच्चों के मुंह लगाते ही उनके प्रेम से शूरडी के स्तनों में दूध उत्पन्न हो जाता है। सयोग पाकर शरीर के परमाणु जल और दूध रूप परिणात हो जाते हैं। बाह्यनिमित्त मे अचिन्त्य शक्ति है, बाह्यनिमित्त को पाकर चित्त मे विकार भाव उत्पन्न हो सकता है। अतएव स्त्री के अवयवों को कभी मत देखो। जिस स्त्री के हाथ पाँव भी छिन्न भिन्न हो गये हों, कानो से बहरी और नाक से नकटी हो, कोढ से जिसका शरीर झरता हो, अत्यन्त विड्रूप हो, यदि वह भी वस्त्रादि रहित नंगी हो तो उस की तरफ मत झाको। सत्ता मे बैठे हुए कर्म-शत्रु निमित्त पाते ही उदय मे आकर तुम पर विजय प्राप्त करलेंगे। क्योंकि स्त्री आत्मा के धैर्यादि गुण का नाश करके नरकादि दुर्गति मे लेजानेवाली है।

"परिभवफलवल्लीं दुःखदावानलालीं,
विपमजलधिवेला श्वभ्रसौधप्रतोलीम् ।
मदनभुजंगदंष्ट्रां मोहतन्द्रासवित्रीं,
परिहर परिणामैर्धैर्यमालम्ब्य नारीम् ॥"

अर्थ—हे मुने ! तू धैरज का अवलम्वन लेकर स्त्री के सम्पर्क को चित्त से भी निकाल दे । अर्थात् स्त्री के आकार का चित्त म भी चिन्तन मत कर । क्योंकि यह स्त्री तिरस्कार रूपी फल को उत्पन्न करने वाली वेल (लता) है । दु ख रूप दावानल की परम्परा को बढ़ाने वाली है । विपय रूप समुद्र की लहर हैं । नरक रूपी महल का बड़ा द्वार है । काल रूपी सर्प की दाढ़ है । मोह रूपी नींद की जन्मदात्री है । ऐमा जानकर ब्रह्मचर्य का पालन करने मे पूर्ण सावधान रहने की आवश्यकता है । ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध मे आचार्यों ने विभिन्न दृष्टियो से विचार किया है ।

ब्रह्मचर्य के भेद

मणबंभचेर वचिबंभचर तह काय बंभचेरं च ।
अहवा हु बंभचेरं दव्वं भाव ति दुवियप्पं ॥ १०३ ॥मूला०

अर्थ—ब्रह्मचर्य तीन प्रकार का है । १ मानसिक ब्रह्मचर्य, २ वाचनिक ब्रह्मचर्य और कायिक ब्रह्मचर्य । अथवा द्रव्य ब्रह्मचर्य और भाव ब्रह्मचर्य इस प्रकार ब्रह्मचर्य के दो भेद हैं ।

भावार्थ—मन मे स्त्री आदि के सम्बन्ध से विकार भाव के न रहने से तथा स्त्री के रूप का, उसके अवयवों का, श्रृंगार रस पूर्ण शास्त्रो का चिन्तन या मनन न करने मे चित्त मे क्षोभ नहीं होता है । मास, मज्जा रुधिर, दात, पित्त, कफ, लार. विष्टा, मूत्रादि के पात्र, अत्यन्त घृणित स्त्री के अङ्गोपाङ्गों पर दृष्टि पड़ जानेपर उनके असली स्वभाव का विचार करने से मानसिक ब्रह्मचर्य की पालना होती है । काम विकार उत्पन्न करने वाले श्रृंगार रस के पोषक नाटक, काव्य आदि के न पढने से, कामाग्नि प्रज्वलित करने वाली कथा कहानी न करने तथा वैराग्य व विपय-विरक्ति उत्पन्न करने वाले शान्तरस पोषक वचनों के उच्चारण करने से वाचनिक ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है । कामोद्दीपन करनेवाले गरिष्ठ आहार का त्याग करने से, शरीर के संस्कार का त्याग करने से, परम वैराग्य की मूर्त्ति गुरु आदि महात्माओं के निकट

रहने से, एकाकी भ्रमण न करने से, एकान्त में माता व बहिन तथा परम विरक्त वृद्धा आर्यिका आदि से भी वार्तालापादि का सर्वथा त्याग करने से कायिक ब्रह्मचर्य सुरक्षित रहता है।

वचन से व काय से ब्रह्मचर्य का पालन करना द्रव्य ब्रह्मचर्य है। मन से भावब्रह्मचर्य का धारण करना भावब्रह्मचर्य है। भावब्रह्मचर्य से रहित केवल द्रव्य-ब्रह्मचर्य से आत्मा की सद्गति नहीं होती। अत: विषय रूपी वन में रमण करनेवाले मन रूपी मत्त हाथी को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। जब तक मनरूपी मस्त हस्ती विषय वाटिका में क्रीडा करता फिरता है तब तक संयमभाव उत्पन्न नहीं होता। इसलिए उसे वैराग्य रूपी सांकल से विवेक-ज्ञान रूपी आलान (बन्धन स्तम्भ) के साथ बांधो। अन्यथा संयम की आशा करना व्यर्थ है।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए साधु को निम्नोक्त दोषों से बचना आवश्यक है—

पढमं विउलाहारं विदियं कायसोहणं।
तदियं गंधमल्लाइं चउत्थं गीयवाइयं ॥ १०५ ॥
तह सयणसोधणं पि य इत्थिसंसग्गं पि अत्थसंगहणं।
पुव्वरदि सरणमिंदिय विसयरदी पणिदरससेवा ॥ १०६ ॥
दसविहमव्वंभमिणं संसार महादुहाणमवाहं।
परिहरइ जो महप्पा सो दढ बंभव्वदो होदि ॥ १०७ ॥ (मूला. स.)

अर्थ—ब्रह्मचर्य की रक्षा करने के लिए निम्नोक्त विषय का परित्याग करो। १-प्रचुरमात्रा में भोजन मत करो। २-जलस्नान, तैलमर्दन, उबटन, आदि रागवधक कारणो से शरीर का संस्कार मत करो। ३-इत्र लवण्डर सेंट आदि सुगन्धित द्रव्यो का शरीर से संयोग मत होने दो। ४-गीतवादित्रादि के सुनने का तथा सुरीले गान का परित्याग करो। ५-रुई आदि के गद्दे पलंग आदि आराम देनेवाली शय्या पर शयन मत करो तथा काम को उत्तेजित करनेवाले क्रीडागृह-चित्रशालादि को मत देखो। ६-रागरंग में निपुण कटाक्षनिरीक्षण एव शृंगार रसप्रिय स्त्रियों के सम्पर्क का त्याग करो। ७-रुपये पैसे का तथा वस्त्राभरणादि का ग्रहण मत करो और न उनको छूओ। ८-पूर्व संयम में भोगे हुए भोगो का स्मरण-चिन्तन मत करो। ९-काम के निमित्त कारण इन्द्रियों के व सुन्दर व मनोहर रूप रसादि विषयो की अभिलाषा मत करो। १०-पौष्टिक व काम को उत्तेजित करनेवाले पदार्थों के सेवन का त्याग करो। ये दश कारण ब्रह्मचर्य के घातक हैं, तथा संसार में तीव्र दुःख के प्रधान कारण हैं। जो महात्मा इनका भले प्रकार त्याग करता है उसीके ब्रह्मचर्य सुरक्षित रहता है। जो इनका त्याग किये विना ब्रह्मचर्य का

पालन करने की इच्छा करता है। वह आकाश के कुसुम से सुगन्ध चाहता है। उसका ब्रह्मचर्य बालू की भीत के समान है। ब्रह्मचर्यव्रत को दृढ बनाने के लिए उक्त दश त्याग आवश्यक हैं। भाव-ब्रह्मचर्य का धारण व रक्षण उतना ही आवश्यक है जितना कि आयु की रक्षा के लिए शरीर का रक्षण आवश्यक है, अथवा शरीर रक्षा के लिए आहार-ग्रहण आवश्यक है। जिस महात्मा ने द्रव्य-ब्रह्मचर्य को सुरक्षित बना रखने के लिए उक्त दश प्रतिकूल कारणों का त्याग किया है, उसी ने भाव-ब्रह्मचर्य की रक्षा कर आत्मा को कर्म-बन्धन से मुक्त किया है। क्योंकि ब्रह्मचय के होने पर ही चारित्र होता है। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से शरीर मे चारित्र के पालन करने की तथा आत्मा में ध्यान मे स्थिर रहने की सामर्थ्य प्रकट होती है। ब्रह्मचर्य के प्रताप से ज्ञानबल के साथ आत्मा की सोई हुई सब शक्तियां जाग उठती हैं और वह आत्मा सहज ही में कर्म-शत्रुओं को परास्त कर अपने निज (शिव) पद को प्राप्त कर लेता है। सिद्धि प्राप्त करने के लिए दो प्रकार के त्याग आवश्यक हैं। कहा भी है—

चाओ य होइ दुविहो संगच्चाओ कलत्तचाओ य।
उभयच्चायं किच्चा साहू सिद्धिं लहू लहदि ॥ ११५ ॥ (मूला)

अर्थ—यति के दो प्रकार का त्याग होता है। १ परिग्रह का त्याग और २ कलत्र (स्त्री) का त्याग। इन दोनों त्यागों को करके साधु शीघ्र ही सिद्धि को पा लेता है।

भावार्थ—परिग्रह-त्यागी और समस्त स्त्री का त्यागी शील व्रती मुक्ति का अधिकारी होता है। परिग्रहत्याग का ब्रह्मचर्य से भी सम्बन्ध है। जिसके दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग होता है उसके ही ब्रह्मचर्य की उत्कृष्टता होती है। भाव-ब्रह्मचर्य की पूर्ण प्राप्ति के लिए परिग्रह का त्याग अत्यन्त आवश्यक है।

कोहमदमायलोहेहिं परिग्गहे लयइ संसजइ जीवो।
तेणुभयसंगचाओ कायव्वो सव्वसाहूहिं ॥ १०८ ॥ (मूला.)

अर्थ—जीव क्रोध से, मद से, माया से, व लोभ से परिग्रह मे आसक्त होता है। इसलिए साधुओं को क्रोधादि कषायों का तथा बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का और दोनों प्रकार के अब्रह्मचर्य का त्याग करना चाहिए।

भावार्थ—जिसको आत्मा ग्रहण करता है उसे परिग्रह कहते हैं। वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। किन्तु कषाय के वशीभूत हुआ आत्मा अपने स्वरूप से तो पृथक् होता है और आत्म-स्वरूप से भिन्न पदार्थों मे आसक्त होता है। क्रोध के आवेश में होकर क्रोध की शान्ति के लिए बाह्यपदार्थों का आश्रय लेता है। जिसपर क्रोधित हुआ हो उससे वैर निर्यातन करने के लिए शस्त्रादि का ग्रहण करता है। अभिमान

के वश होकर अपने को महान् दिखाने के लिए अनेक प्रकार के परिग्रह का संचय करता है। मायाचार को सफल बनाने के लिए अथवा कपटाचार को छिपाने के लिए बाह्य आडम्बर दिखाता है। अथवा मायाचारसे दूसरों को ठगकर परिग्रह का संचय करता है। लोभवश अनेक वस्तुओं का अर्जन करता है। तात्पर्य यह है कि परिग्रह के अर्जन व रक्षण में कषाय ही कारण होती हैं। परिग्रह के त्याग करनेवाले को प्रथम कषायों का त्याग करना अत्यावश्यक है। जबतक आत्मा में कषाय जीवित है तबतक परिग्रह का त्याग होना असंभव है। अतः कषाय-त्याग पूर्वक दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करना चाहिए। परिग्रह का त्याग करने पर ब्रह्मचर्य का आराधन अति सुगम है। इसलिए हे साधो! तुमको सबसे प्रथम कषाय कृश करनी चाहिए। कषाय के मंद होने पर परिग्रह से अरुचि उत्पन्न होती है और परिग्रह से अरुचि आत्मा को ब्रह्मचर्य की ओर प्रवृत्त कराती है। इसलिए परिग्रह त्याग और ब्रह्मचर्य को दृढ करने के लिए तुमको कषाय का त्याग करना उचित है। जिस के अन्तःकरण में लोभादि कषाय धधक रही है उसकी आत्मा में ब्रह्मचर्यादि व्रत व दोनों प्रकार के संयम का अंकुर नहीं जमता है। जाज्वल्यमान कषाय व्रत व संयम के बीज को क्षणभर में दग्ध कर देती है। अतः कषाय का त्याग ही परिग्रह का त्याग और ब्रह्मचर्य का साधक है।

ब्रह्मचर्य में स्थिरता और परिग्रह के त्याग से साधु का अन्तःकरण सब पदार्थों से विरक्त और मोह रहित हो जाता है, शान्त तथा शुभ ध्यान में तत्पर रहता है, उसकी सब क्रियाएँ निर्दोष होती हैं। उसकी भिक्षाचर्या में शुद्ध परिणति होती है, ध्यान स्वाध्याय में उसको अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है और वह पापक्रियाओं से निवृत्त रहता है।

व्रतों की रक्षा के लिए शील का होना नितान्त आवश्यक है इसलिए यहाँ शील के भेदों को भी समझा देते हैं।

शील-निरूपण

जोए करणे सण्णा इंदियभोम्मादि समणधम्मे य।
अण्णोण्णेहिं अभत्था अट्ठारह सीलसहस्साइं ॥ २ ॥ (मूला० शी०)

अर्थ—तीन योग, तीन करण, चारसंज्ञा, पाँच इन्द्रिय, दश पृथ्वीकायादि जीव और दश प्रकार मुनिधर्म इन को परस्पर गुणा करने से अठारह हजार शील के भेद होते हैं।

भावार्थ—योग और वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम होने पर औदारिकादि सात प्रकार की कायवर्गणाओं में से किसी एक अवलम्बन से जो आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द (कम्पन) होता है उसे काययोग कहते हैं। शरीर नामकर्म के उदय से प्राप्त हुई र्गणा के आश्रय तथा वीर्यान्तराय और अक्षरात्मक मतिज्ञानावरण के क्षयोपशमादि आभ्यन्तर वचनलब्धि के होने पर

उच्चारण करने मे प्रवृत्ति करनेवाले के जो आत्म-प्रदेशों का परिस्पद होता है उसे वचनयोग कहते हैं। तथा आभ्यन्तर वीर्यान्तराय व न्द्रियावरण के क्षयोपशम रूप मनोलब्धि के होने पर तथा बाह्य मे मनोवर्गणा के आलम्बन से जो आत्मा के प्रदेशों का कम्पन होता है से मनोयोग कहते हैं। इस प्रकार तीन योग हैं। यहाँ पर योग से मन वचन काय की शुभ प्रवृत्ति का ग्रहण है।

करण—कृत, कारित और अनुमोदना ये तीन करण हैं अथवा मन वचन और काय की अशुभ क्रिया को करण कहते हैं।

संज्ञा—सज्ञानाम अभिलाषा का है। वे चार है–१आहारसंज्ञा, २ भयसंज्ञा, ३ मैथुनसंज्ञा और ४ परिग्रहसंज्ञा।

इन्द्रिय—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाच इन्द्रियाँ हैं।

जीवराशि—१ पृथ्वीकायिक, २ जलकायिक, ३ तैजसकायिक, ४ वायुकायिक, ५ प्रत्येक वनस्पति कायिक, ६ साधारण वनस्पति कायिक, ७ दो इन्द्रिय, ८ तीन इन्द्रिय, ९ चार इन्द्रिय और १० पचेन्द्रिय जीव।

दश मुनिधर्म—१ उत्तम क्षमा, २ मार्दव, ३ आर्जव, ४ सत्य ५ शौच, ६ संयम ७ तप, ८ त्याग ९ आकिंचन्य, और १० ब्रह्मचर्य ये दश मुनि धर्म हैं।

इन सब को परस्पर गुणा करने से नीचे लिखे अनुसार भेद होते हैं।

$$\underset{९}{\underline{३ \times ३}} \quad \underset{३६}{\underline{\times ४ \times}} \quad \underset{१८०}{\underline{५}} \times \underset{१८००}{\underline{१० \times १०}} = १८०००$$

इस प्रकार अठारह हजार शील के भेद होते हैं।

भावार्थ—जो श्रेष्ठ मुनीश्वर मन वचन काय से कृत कारित अनुमोदना रूप अशुभ परिणामों से रहित, आहारादि संज्ञा से रहित, स्पर्शनादि इन्द्रियों से सवृत, पृथिवी कायादि जीवों के रक्षक तथा उत्तम क्षमादि दशधर्मों के पालक होते है उनके अठारह हजार शील के भेदों का पालन होता है।

अब सयम के भेद रूप चौरासीलाख उत्तर गुणो का खुलासा करते हैं—

पाणिवहमुसावादं अदत्तमेहुणपरिग्गहं चेव।
कोहमदमायलोहा भयअरदिरदिदुगुंछा य ॥ ९ ॥

मणवयणकायमंगुल मिच्छादंसणपमादो य।
पिसुणत्तणमण्णाणं णिग्गहो इंदियाणं च ॥ १० ॥
अदिकमणं वदिकमणं आदिचारो तहेव अणाचारो।
एदेहिं चदुहि पुणो सावज्जो होइ गुणियव्वो ॥ ११ ॥ (मूला. शी)

अर्थ—१ हिंसा, २ असत्य, ३ चोरी, ४ अब्रह्म, ५ परिग्रह, ६ क्रोध, ७ मान, ८ माया, ९ लोभ, १० भय, ११ अरति, १२ रति, १३ जुगुप्सा, १४ मन, १५ वचन, १६ काय, १७ मिथ्यादर्शन, १८ प्रमाद, १९ पैशून्य, २० अज्ञान और २१ इन्द्रियो का अनिग्रह—ये इक्कीस भेद हुए। इनको अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार इनचार भेदो से गुणा करने पर चौरासी भेद होते हैं।

भावार्थ—विषय की अभिलाषा को अतिक्रम कहते हैं। अर्थात् विषयों के त्यागी सयमी के जो विषय-सेवन की मन मे इच्छा उत्पन्न होती है वह अतिक्रम दोष कहलाता है। जो सयमी मुनि सघ को छोड़कर विषय के उपकरणों (साधनों) का सचय करने लगता है उसके व्यतिक्रम दोष उत्पन्न होता है। जो व्रत मे शिथिलता (ढीलापन) होती है, व्रत का कुछ अंश मे भंग होता है उसे अतिचार कहते हैं। और व्रत के भग को, सर्वथा स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने को, व्रत का मूल नाश करने को अनाचार कहते हैं। इन चार दोषों से हिंसादि इक्कीस भेदो को गुणा करने मे चौरासी भेद होते हैं।

१ पृथिवीकाय, २ अप्काय ३ तेजकाय, ४ वायुकाय, ५ प्रत्येकवनस्पतिकाय ६ साधारण वनस्पति काय, ७ द्वीन्द्रिय, ८ त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और १० पचेन्द्रिय इन दश भेदों को परस्पर मे गुणा करने से १०×१०=१०० सौ भेद जीवो के होते हैं।

इन सौ भेदो को पूर्वोक्त चौरासी भेदो से गुणा करने पर ८४×१००=८४०० चौरासी सौ भेद होते हैं।

शीलविराधनाके दशभेद हैं१ स्त्रियोंके साथ हास्य वार्तालापादि करना,२ पौष्टिक(इन्द्रिय विकार जनक)आहार करना,३ सुगन्धित तैल इत्र आदि से तथा गुलाब चम्पा आदि के पुष्पों से शरीर का सस्कार करना, ४ कोमल सुखद शय्या पर सोना, कोमल आसनो पर बैठना ५ कटकादि आभूषण धारण करना, शरीर को सजाना, ६ सुन्दर सुललित रागवर्धक राग रागनियाँ गाना व सारंगी हारमोनियमादि बाजे बजाना व सुनना तथा नृत्य देखना या इन की अभिलाषा रखना, ७ रुपये पैसे सोना आदि द्रव्यों से सपर्क रखना, ८ कुशील (दुश्चरित्र) मनुष्यों की संगति करना, ९ विषयों के पोषण करने के लिए राजादि की सेवा करना, १० विना प्रयोजन रात्रि में घूमना। ये दश कारण शील के घातक आगम मे निरूपण किये गये हैं। इन दश भेदो से पूर्वोक्त चौरासी सौ को गुणा करने पर ८४००×१०=८४००० चौरासी हजार भेद होते हैं।

१ आकम्पित, २ अनुमानित, ३ दृष्ट, ४ वादर, ५ सूक्ष्म, ६ प्रच्छन्न, ७ शब्दाकुलित, ७ बहुजन, ६ अव्यक्त और १० तत्सेवी ये आलोचना के दशदोष हैं। इनका विशेष वर्णन तप आचार मे कर आये हैं।

पूर्वोक्त चौरासी हजार भेदों का इन दश भेदों से गुणा करने पर ८४०००×१०=८४०००० आठ लाख चालीस हजार भेद होते हैं।

प्रायश्चित्त के दश भेद

१ आलोचन, २ प्रतिक्रमण, ३ उभय, ४ विवेक, ५ व्युत्सर्ग ६ तप ७ छेद, ८ मूल, ६ परिहार, और १० श्रद्धान। इनका विशेष वर्णन भी पहले आचुका है। इन प्रायश्चित्त के दश भेदों को पूर्वोक्त आठ लाख चालीस हजार भेदो से गुणा करने पर ८४००००×१०=८४०००००० दोषो के चौरासी लाख भेद होते हैं। इन दोषो के विपरीत चौरासी लाख उत्तरगुण हैं।

जैसे—धीर वीर मुनि, हिंसा के त्यागी, अतिक्रम दोष रहित, पृथिवी के आरम्भ से विमुख, स्त्री सम्पर्क से दूर, आकंपित दोष रहित, आलोचना शुद्धिवाले होते हैं। मृषावाद से विरक्त (सत्यमहाव्रती), अति क्रम दोष हीन, पृथिवी के आरम्भ से विरक्त, स्त्री सम्पर्क से पृथक्, आकम्पितदोषरहित आलोचनशुद्धि वाले होते हैं। इसी प्रकार अदत्तादान विरत आदि मे भी अतिक्रमदोषरहित आदि लगालेना चाहिए। अतिक्रमदोष रहित का जब हिंसादि पाचो पापों के त्यागी के साथ सम्बन्ध हो जावे तब अतिक्रम के स्थान मे व्यतिक्रम को लगाकर पूर्ववत् सब पाठ को ज्यों का त्यो पढना चाहिए। जब व्यक्रिम का सम्बन्ध पाचो हिंसादि विरतों के साथ पूर्ण हो जावे तब व्यतिक्रम को हटाकर उसके स्थान म अतिचार पद को जोडकर पूर्व की तरह सब पाठ ज्यो का त्यों रखना चाहिए। जब अतिचार का भी सम्बन्ध उक्त पाचो हिंसादि विरतो के साथ पूर्ण हो जावे तब अतिचार को निकालकर उसके स्थान 'अनाचार' पद जोड देना चाहिए। जब अनाचार का सम्बन्ध भी पाचो हिंसादि विरतो के साथ सम्पूर्ण हो जावे तब उसके आगे के भग सम्बन्धी 'पृथिवीकाय आरम्भ-त्यागी' को हटाकर उसके स्थान मे 'जलकायारभ-त्यागी' इस पद का सम्बन्ध कर लेना चाहिए। उक्त प्रकार पूर्व भग का सम्बन्ध अन्तिम भंग तक हो जाने पर उसको निकाल कर उसके आगे के भंग का सम्बन्ध करते चले जाना चाहिए। यह क्रम तब तक करते रहना चाहिए जब तक अन्तिम भग समाप्त न हो जावे।

अब शील और उत्तर गुणों का विशद ज्ञान होने के लिए निम्नोक्त पाँच विकल्पों का प्रतिपादन करते हैं —

सीलगुणाणं संखा पत्थारो अक्खसंकमो चेव।
णट्ठं तह उद्दिट्ठं पंचवि वत्थूणि णेयाणि ॥ १६ ॥ (मू० शी०)

अर्थ—शील तथा गुणों के भेदों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सख्या, प्रस्तार, अक्ष–संक्रम (अक्षों का परिवर्तन) नष्ट और उद्दिष्ट ये पाँच प्रकार है।

भेदों की गणना को संख्या कहते हैं। भेदों की सख्या निकालने अथवा रखने के क्रम को प्रस्तार कहते हैं। प्रथम भेद से दूसरे भेद पर पहुँचने के क्रम को अक्षसंक्रम कहते हैं। सख्या का ज्ञान होने पर भेदों के निकालने को नष्ट कहते हैं। भेदों को जानकर सख्या निकालने को उद्दिष्ट कहते हैं।

शील व गुणों की संख्या निकालने का नियम

सव्वे वि पुव्वभंगा उवरिमभंगेसु एकमेक्केसु ।
मेलंतेत्तिय कमसो गुणिदे उप्पजदे संख्या ॥ २० ॥ (मूला० शी०)

अर्थ—शील व गुणों के सब पूर्व भंग ऊपर के प्रत्येक भग मे मिलते हैं। अतएव उनको क्रमसे गुणा करलेने पर सख्या निकलती है। जैसे—प्रथम भग 'योग' के प्रमाण तीन को ऊपर के भग 'करण' के प्रमाण तीन से गुणा करना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक योग का सम्बन्ध प्रत्येक करण के साथ पाया जाता है। इसलिए तीन करण से गुणा करने पर नव सख्या उत्पन्न हुई। इसको ऊपर के 'भंग' सज्ञा के प्रमाण चार से गुणा करना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक योग और प्रत्येक करण का सम्बन्ध प्रत्येक सज्ञा के साथ पाया जाता है। अत नव का चार से गुणा करने पर छत्तीस (३६) सख्या हुई। इसको ऊपर के भग 'इन्द्रिय' के प्रमाण पाच से गुणा करना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक योग, करण और सज्ञा का सम्बन्ध प्रत्येक इन्द्रिय के साथ है। अत. छत्तीस को पाच से गुणा करने पर एकसौ अस्सी (१८०) सख्या हुई। इसको ऊपर के भंग पृथिवीकायादि जीवों के प्रमाण दश से गुणा करना चाहिए, क्योंकि योग, करण, सज्ञा और इन्द्रियों के प्रत्येक भेद का सम्बन्ध प्रत्येक पृथिवीकायादि जीव के साथ है। अतः एकसौ अस्सी को दश से गुणा करने पर अठारह सौ (१८००) हुए। इनको आगे के भग उत्तम क्षमादि मुनिधर्म के प्रमाण दश से गुणा करने पर कुल शीलों की सख्या अठारह हजार होती है। क्योंकि पूर्व के प्रत्येक भंग के भेदों का सम्बन्ध प्रत्येक उत्तम क्षमादि मुनिधर्म के साथ है। अत· सम्पूर्ण शील व्रत के भेदों की सख्या १८००० होती है।

प्रस्तार का उत्पत्ति-क्रम

पढमं सीलपमाणं कमेण णिक्खिविय उवरिमाणं च ।
पिंडं पडि एक्केक्कं णिक्खित्ते होइ पत्थारो ॥ २१ ॥ (मूला० शी०)

अर्थ—प्रथम शील के प्रमाण का क्रमसे (विरलनरूप) निक्षेपण करके उसके विरलनरूप के प्रति अर्थात् एक एक रूप के प्रति ऊपर के पिंडरूप शील प्रमाण का निक्षेपण करना चाहिए। इस क्रम से निक्षेपण करने पर प्रस्तार उत्पन्न होता है।

जैसे—प्रथम शील 'योग' का प्रमाण तीन है। उसका विरलन कर के अर्थात् बिखेर करके क्रमसे १ १ १ इस प्रकार निक्षेपण करके इसके ऊपर आगे के शील 'करण' के प्रमाण चार के पिंड को प्रत्येक एक के अंक ऊपर $\frac{३}{१}$ $\frac{३}{१}$ $\frac{३}{१}$ इस प्रकार निक्षेपण करना चाहिए। इसके अनन्तर 'करण' के प्रमाण को परस्पर जोड ने पर नव (९) होते हैं। इन ९ को प्रथम समझकर इनका विरलन कर (बिखेरकर) एक एक अंक को नव वार १ १ १ १ १ १ १ १ १ इस प्रकार लिख कर आगे शील संज्ञा के प्रमाण चार के पिंड को प्रत्येक एक अंक के ऊपर $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ निक्षेपण करना चाहिए। पश्चात् प्रत्येक संज्ञा के पिण्ड को जोडने पर छत्तीस (३६) होते हैं। छत्तीस को प्रथम समझकर विरलनकर एक एक अंक को छत्तीस जगह रखना चाहिए। और उन प्रत्येक छत्तीस एकों पर आगे के शील 'इन्द्रिय' के प्रमाण पॉच का निक्षेपण कर उनको जोडना चाहिए। जोडने पर एक सौ अस्सी सख्या होती है उनको भी पूर्व की भाति विरलनकर एक एक अंक को एक सौ अस्सी जगह रखना चाहिए। तथा उनके ऊपर आगे के शील जीव राशि प्रमाण दश के पिंड को प्रत्येक एक के ऊपर स्थापन करना चाहिए। तत्पश्चात् पहले की तरह उनको जोडने से अठारह सौ सख्या होती है। उस संख्या का विरलन कर एक एक अलग रखकर, आगे के शील मुनिधर्म के प्रमाण दश के पिंड को प्रत्येक एक के ऊपर रखना चाहिए। पूर्व की तरह उनको जोडने से अठारह हजार सख्या प्रणाम शील के भेद होते हैं। इस प्रकार भेद निकालने के क्रम को प्रस्तार कहते हैं। इस क्रम से यह ज्ञात हो जाता है कि पूर्व पूर्व के शील के प्रत्येक भेद उत्तर के समस्त शील के भेदों के साथ सम्बन्ध रखते हैं।

इस प्रकार सम प्रस्तार का निरूपण करके अब विषम प्रस्तार का निरूपण करते हैं—

णिक्खित्तु विदियमेत्तं पढमं तस्सुवरि विदियमेक्केक्कं ।
पिंडं पडि णिक्खित्ते तहेव सेसावि कादव्वा ॥ २२ ॥ (मूला० शी०)

अर्थ—द्वितीय शील का जितना प्रमाण उतनी बार प्रथम शील के प्रमाण के पिंड को रख कर उसके ऊपर एक एक पिंड के प्रति द्वितीय शील के प्रमाण को एक एक करके रखना चाहिए। और आगे के भगों के लिए इसी क्रम से स्थापन करना चाहिए।

जैसे—द्वितीयशील 'करण' का प्रमाण तीन है। इसलिए तीन जगह प्रथम शील योग के प्रमाण तीन के पिंड को

३ ३ ३ इस प्रकार रखकर उस प्रत्येक पिंड के ऊपर द्वितीय शील 'करण' के प्रमाण को एक एक करके $\frac{1}{3}$ $\frac{1}{3}$ $\frac{1}{3}$ इस प्रकार रखना चाहिए। इनको जोडने से नव (९) होते हैं। इन ९ को प्रथम समझकर आगे के संज्ञा-शील का प्रमाण चार है अतः नौ के पिण्ड को चार जगह रखकर उस प्रत्येक पिण्ड के ऊपर सञ्ज्ञा के प्रमाण को एक एक करके $\frac{1}{9}$ $\frac{1}{9}$ $\frac{1}{9}$ $\frac{1}{9}$ रखना चाहिए पश्चात् इनको जोडने पर छत्तीस होते हैं। इन छत्तीस को प्रथम मानकर इसके आगे के 'इन्द्रिय' शील का प्रमाण पाच है, इसलिए छत्तीस के पिंड को पाच जगह रखकर उस प्रत्येक पिंड के ऊपर इन्द्रिय प्रमाण पांच को एक एक करके स्थापन कर उनको जोड लेने पर एकसौ अस्सी (१८०) होते हैं। इन को प्रथम समझ कर इसके आगे का शील 'जीवराशि' का प्रमाण दश है इसलिए दश बार एकसौअस्सो को रखना चाहिए और प्रत्येक एकसौ अस्सी के पिंड पर दश प्रमाण को एक एक करके स्थापन करना चाहिए। पश्चात् प्रत्येकपिंड को जोडने से अठारह सौ होते हैं। इनको भी प्रथम मानने से इसके आगे का शील 'मुनिधर्म' है, उसका प्रमाण दश है। इसलिए दश जगह अठारह सौ के पिंड को रखकर प्रत्येक पिड के ऊपर दश के प्रमाण को एक एक करके रखना चाहिए। तत्पश्चात् प्रत्येक पिंड को जोडने से अठारह हजार शील के भेद होते हैं। इस प्रकार द्वितीय विषम प्रस्तार का क्रम समझना चाहिए। प्रथम समप्रस्तार एक एक के प्रति पिंड का निक्षेपण करने से होता है और पिंड के प्रति एक का निक्षेपण करने से द्वितीय विषम प्रस्तार होता है।

अक्षसंक्रमण (अक्षपरिवर्तन) का नियम

पढमक्खे अंतगदे आदिगदे संकमेदि विदियक्खो।
दोण्णि वि गंतूणंतं आदिगदे संकमेदि तदियक्खो॥ २३ ॥ (मूला० शी०)

अर्थ—योग की गुप्ति रूप प्रथम अक्ष क्रम से घूमते हुए जब अत तक पहुच कर फिर मनोगुप्तिरूप आदि स्थान पर आजाता है तब द्वितीय करण का स्थान मनकरण को छोड़कर वचनकरण पर आता है। इसी प्रकार जब द्वितीय करण स्थान भी क्रम से घूमता हुआ अन्त तक पहुच कर जब आदि मनकरण स्थान पर आता है तब तीसरा सञ्ज्ञास्थान बदलता है। अर्थात् आहार संज्ञा को छोड़कर भय सञ्ज्ञा पर आता है। जब सञ्ज्ञा स्थान भी पूर्व की भाँति क्रमशः भ्रमण करता हुआ अत तक जाकर वापिस आदिस्थान (आहार संज्ञा) पर आता है तब चौथा इन्द्रिय स्थान बदलता है। अर्थात् स्पर्शन को छोड़कर रसना पर आता है। इसी प्रकार इन्द्रिय स्थान भी जब क्रमशः घूमता हुआ अन्त तक पहुँचकर आदि स्थान (स्पर्शन) पर आता है तब पाचवाँ जीवराशिस्थान बदलता है। अर्थात पृथिवीकाय स्थान को छोड़कर जलकाय स्थान पर आता है। इसी प्रकार जब जीवराशि स्थान पर भी अन्त तक पहुच कर आदि स्थान स्पर्शन पर आता है तब छठा स्थान मुनिधर्म बदलता है। इस प्रकार अक्ष के परिवर्तन होने का क्रम समझना चाहिए।

नष्ट निकालने की विधि

सगमाणेहि विभत्ते सेसं लक्खितु संखिवे रूवं ।
लक्खिज्जंतं सुद्धे एवं सव्वत्थ कायव्वं ॥ २४ ॥ (मू. शी.)

अर्थ—जिस संख्यावाला शील का भग जानना हो उतनी सख्या रखकर उसमें क्रम से शील के प्रमाण का भाग देना चाहिए। भाग देने पर जो रूप अर्थात शेष रहे, उतनी सख्या का अक्षस्थान समझना चाहिए। यदि शेष कुछ भी न रहे अर्थात् शेष शून्य आवे तो अन्त का अक्षस्थान समझना चाहिए और लब्ध मे एक नहीं मिलाना चाहिए। जो संख्या लब्ध आवे, उसमें रूप (एक) मिलाकर आगे वाले शील के प्रमाण का भाग देना चाहिए। इसी प्रकार अन्त तक करते जाना चाहिए।

जैसे—दोहजार अस्सी संख्या का कौनसा भंग है? इस प्रकार पूछने पर बताई हुई २०८० संख्या को रखकर उसमें प्रथम शील योग के प्रमाण तीन का भाग देने से लब्ध छहसौ तिरानवे ६९३ आये और शेष एक आया, इसलिए योग अक्षका प्रथम स्थान मनोयोग हुआ। लब्ध ६९३ मे एक मिलाकर आगे के शील करण के प्रमाण तीन का भाग देने पर दोसौ इकतीस लब्ध आये और शेष एक रहा। इसलिए करण अक्ष का प्रथम स्थान 'मनकरण' हुआ और लब्ध मे एक मिलाना चाहिए। अत. दोसौ बतीस में आगेके शील संज्ञा के प्रमाण चार का भाग देने पर लब्ध अठावन आये और शेष शून्य रहा, इसलिए लब्ध मे एक नहीं मिलाना और संज्ञा का अन्त स्थान परिग्रह संज्ञा समझना चाहिए। उक्त अठावन संख्या मे आगे के शील 'इन्द्रिय' के प्रमाण पाच का भाग देने पर ग्यारह लब्ध आये और शेष तीन रहे। इसलिए इन्द्रिय का तीसरा स्थान घ्राण समझना चाहिए। ग्यारह मे एक मिलाकर ऊपर के शील जीवराशि के प्रमाण दश का भाग देने पर लब्ध एक आया, उसमे एक मिलाना चाहिए। शेष दो रहे, इसलिए जीवराशि का दूसरा अपकाय स्थान समझना चाहिए। तथा दो मे आगे के शील मुनिधर्म के प्रमाण दश का भाग नहीं जाता है। अत. मुनिधर्म का दूसरा स्थान मार्दव समझना चाहिए।

दो हजार संख्या वाला भंग मनो गुप्ति पालक, मन करण का त्यागी, परिग्रह सज्ञा रहित, घ्राणइन्द्रिय-विरक्त, अपकाय सयमी, और मार्दव धर्म पालक हुआ है।

उद्दिष्ट का विधान

मंठाविदूण रूव उवरीदो संगुणित्तु सगमाणे ।
अवणिज्ज अणंकिदयं कुज्जा पढमंति जावेव ॥ २५ ॥ (मूला० शी)

अर्थ—रूप (एक) का स्थापन करके उसको ऊपर के शील का जितना प्रमाण है उससे गुणा करना चाहिए तथा उसमे जो अनंकित हो उसका परित्याग करना चाहिए। इसी प्रकार अन्त तक करने से उद्दिष्ट का प्रमाण निकलता है।

भावार्थ—शील के भङ्ग को स्थापन कर संख्या निकालने को उद्दिष्ट कहते हैं। उसकी रीति निम्नोक्त प्रकार है।

जैसे—मनोगुप्ति पालक, मनकरण का त्यागी, घ्राणेन्द्रिय विरक्त, परिग्रह संज्ञा रहित, अप्कायारम्भत्यागी और मार्दव धर्म का पालक यह शील का भंग कितनी संख्या वाला है? इस प्रकार किसी के प्रश्न करने पर प्रथम एक का अङ्क स्थापन करके ऊपर के शील मुनिधर्म के प्रमाण दश से उस एकको गुणा करना चाहिए। गुणनफल दश हुए। उनमे से अनङ्कित आर्जव शौच सत्य संयमादि आठ धर्म हैं, क्योंकि पूछेगये भंग मे मार्दव धर्मका ग्रहण है अत: शेष आर्जवादि धर्म आठ हैं उनको दशमे से घटाने से दो रहे। उनको ऊपर के शील जीवराशि के प्रमाण दश से गुणा करने पर बीस होते हैं। उनमे अनङ्कित तेज कायादि आठ हैं उनको बीस मे से घटाने पर शेष बारह रहे। उनको आगे के शील स्पर्शनादि पाच इन्द्रियों के साथ गुणा करने पर साठ होते हैं। उनमे से अनङ्कित चक्षु इन्द्रिय और श्रोत्र इन्द्रिय दो घटाने से अठावन रहे। उनको आगे के शील संज्ञा प्रमाण चार से गुणा करने पर दोसौ बत्तीस होते हैं। संज्ञा मे अनङ्कित कोई नहीं हैं, क्योकि प्रश्न मे परिग्रह संज्ञा का ग्रहण किया गया है। अत. दोसौ बत्तीस को आगे के शील 'करण' प्रमाण तीन से गुणा करने पर छहसौ छ्यानवे होते हैं। उनमें से अनङ्कित वचनकरण और कायकरण (दो) को घटाने से शेष छहसौ चौरानवे रहे। उनको आगे के शील योग गुप्ति प्रमाण तीन से गुणा करने पर दो हजार त्रियासी होते हैं। उनमें अनङ्कित वचन योगऔर काययोग को घटाने से शेष दो हजार अस्सी प्रमाण रहता है। यह दो हजार अस्सी शील की संख्या उक्त प्रश्न का उत्तर है। इसी प्रकार सर्वत्र भंगों से संख्या निकाल लेना चाहिए।

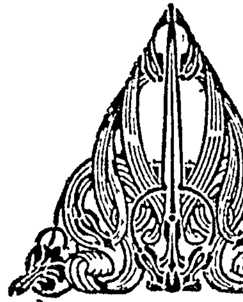
इस प्रकार शील व व्रतों के भेदों को जान कर उनके पालन का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए और साथ ही मूलगुणों के पालन मे भी पूर्ण सावधानी रखनी चाहिए। यह मुनि-मार्ग बड़ा कठिन है। कहीं जरा भी चूका और गिरा। चाहे कोई कितना ही तपस्वी हो, यदि वह मूलगुणों की विराधना करता है तो सच्चा साधु नहीं। मूलाचार मे स्पष्ट लिखा है—

मूलं छित्ता समणो जो गिएहादी य बाहिरं जोगं।
बाहिरजोगा सव्वे मूलविहूणस्स किं करिस्संति ॥

जो साधु अहिंसा, सत्य आदि मूलगुणों का विनाश करके मासोपवास, वृक्षमूल, आतपन योग आदि उत्तरगुणों का आचरण करता है उसके वे दुर्धर कायक्लेशादि सब योग-जिसकी जड़ कट गई ऐसे वृक्ष के पत्र पुष्पादि के समान-निरर्थक हैं। अर्थात् जैसे वृक्ष की जड़

कट जाने पर उसके पत्ते फूल आदि किसी काम के नहीं रहते, सब सूख कर बेकार हो जाते हैं उसी प्रकार जिस साधु के अहिंसा, सत्य आदि अठाईस मूलगुण ही नहीं हैं, उनमे भी अनाचार दोष आता है उसके दुर्धर तप आदि सब बाह्य योग बेकार हैं। मूलगुणों के बिना उनका कोई फल नहीं मिल सकता। इसलिए संयमी को अपने प्रत्येक कर्तव्य पर पूरा ध्यान रखना चाहिए। आहारशुद्धि, उपकरणशुद्धि शय्याशुद्धि, वसतिका शुद्धि आदि शुद्धियों में किसी की भी उपेक्षा करने पर साधु गृहस्थ से भी बुरा बन जाता है। इसलिए अपने सम्पूर्ण कर्तव्य को अच्छी तरह समझकर उसका यथोचित पालन करना चाहिए।

यहाँ तक श्री आचार्य सूर्यसागरजी महाराज विरचित
संयम-प्रकाश नामक ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध में द्वादशानु
प्रेक्षा, अनगार भावना आदि अनेक
विषयों का प्रकाश करने वाली
चतुर्थ किरण समाप्त
हुई



प्रकाशकीय

संयम प्रकाश की यह पांचवीं किरण काफी विलम्ब से निकल रही है। यह विलम्ब पाठकों को असह्य हो उठा और स्वयं हमें भी। इसका हमें दु:ख है, पर हम विवश थे। श्री. पं० भंवरलालजी व पं० श्रीप्रकाशजी की अस्वस्थता, प्रेस-कर्मचारियों की अनुपस्थिति, प्रेस को बिजली न मिलना अथवा सीमित मिलना और कागज का अभाव आदि विविध कठिनाइयों के कारण यह विलम्ब होगया। हमने बार २ इन कठिनाइयों पर विजय पाना चाहा पर असफल रहे। इन कठिनाइयों के अतिरिक्त इस विलम्ब का एक यह भी कारण है कि यह किरण पीछे की सारी किरणों से बड़ी है। यह अकेली ही करीब दो किरणों के बराबर है। इसलिए प्रकाशित अन्य किरणों की अपेक्षा इसमें अधिक समय लगना उचित ही था। इसलिए अवश्य ही पाठक हमें इस विलम्ब के लिए क्षमा करेंगे।

इस बार टाइप पुराना हो जाने से इस किरण में गलतियें रह गई और छपाई भी संतोष जनक न हो सकी। प्रेस के भूतों की असावधानी से कुछ और भी गल्तियां रह गई हैं। जैसे पृष्ठ नं० ६२८ के पश्चात् ६३३ लग गया है और इस तरह बीच के चार नम्बर रह गये हैं। पाठक इन्हें ठीक करलें।

एक बात पाठकों से हमें और कहना है। वह यह है कि इस पाँचवीं किरण को मिला कर अब तक की सब किरणों के एक हजार से भी अधिक पृष्ठ होगये हैं। विषय सूची इनसे अलग है। अनुमान होता है कि सारी दशों किरणों के लगभग सतरह सौ पत्र हो जावेंगे। हमने पहले पूरे ग्रंथ का मूल्य पन्द्रह रुपये घोषित किया था वह केवल लागत मूल्य की संभावना मात्र से निर्धारित किया था। तब से अब तक कागज और छपाई आदि सभी का मूल्य काफी बढ़ गया है। इसके सिवाय उस समय यह ख्याल भी नहीं था कि ग्रंथ का परिमाण इतना अधिक बढ़ जायगा। उस समय दशों किरणों के पत्रों के परिमाण का हमने लगभग तेरह सौ के अंदाजा लगाया था। पर वह अंदाजा गलत होता दिखता है। ऐसी अवस्था में अभी नहीं तो संभव है एक दो किरण और प्रकाशित होजाने के बाद हमें ग्रंथमाला के स्थायी ग्राहकों को मूल्य बढ़ाने की प्रार्थना करने के लिए विवश होना पड़े। आशा है ग्राहक महोदय हमारे इस उचित निवेदन पर ध्यान देकर कोई ऐसी व्यवस्था सुझावेंगे जिससे ग्रंथमाला को हानि न उठानी पड़े।

चैनसुखदास जैन न्यायतीर्थ,
मन्त्री—
श्री आचार्य सूर्य सागर दि० जैन ग्रन्थमाला समिति.
मनिहारों का रास्ता, जयपुर सिटी।

❀ विषय-सूची ❀

विषय	पृष्ठ संख्या
बृहत्समाधि अधिकार वर्णन	७३७
मंगलाचरण	"
समाधिमरण का अर्थ	"
समाधि की प्राप्ति	"
आयुबन्ध का नियम	७३८
समाधियुक्त मरण का स्वरूप	७३९
मरण के १७ भेद	७४०
१—आवीचिमरण	"
आवीचिमरण के भेद	७४१
१ प्रकृति आवीचिमरण	"
२ स्थिति " "	"
३ अनुभव " "	"
४ प्रदेश " "	"
२ तद्भव मरण	७४२
३ अवधि मरण	७४२
१ सर्वावधिमरण	"
२ देशावधि मरण	"
४ आद्यंत मरण	"
५ बालमरण	७४३
१ अव्यक्त बाल	"
२ व्यवहार बाल	"
३ दर्शन बाल	"
४ ज्ञानबाल	"
५ चारित्रबाल	"
६ दर्शन बाल के दो भेद	"
(१) इच्छा प्रवृत्तबालमरण	"
(२) अनिच्छा प्रवृत्तबालमरण	७४४
६ पण्डित मरण	७४४
१ व्यवहार पण्डित मरण	"
२ दर्शन "	"
३ ज्ञान "	"

प्रकाशकीय

संयम प्रकाश की यह पांचवीं किरण काफी विलम्ब से निकल रही है। यह विलम्ब पाठकों को असह्य हो उठा और स्वयं हमें भी। इसका हमें दुःख है; पर हम विवश थे। श्री. पं० भंवरलालजी व पं० श्रीप्रकाशजी की अस्वस्थता, प्रेस-कर्मचारियों की अनुपस्थिति, प्रेस का बिजली न मिलना अथवा सीमित मिलना और कागज का अभाव आदि विविध कठिनाइयों के कारण यह विलम्ब होगया। हमने बार २ इन कठिनाइयों पर विजय पाना चाहा पर असफल रहे। इन कठिनाइयों के अतिरिक्त इस विलम्ब का एक यह भी कारण है कि यह किरण पीछे की सारी किरणों से बड़ी है। यह अकेली ही करीब दो किरणों के बराबर है। इसलिए प्रकाशित अन्य किरणों की अपेक्षा इसमें अधिक समय लगना उचित ही था। इसलिए अवश्य ही पाठक हमें इस विलम्ब के लिए क्षमा करेंगे।

इस बार टाइप पुराना हो जाने से इस किरण में गलतियें रह गईं और छपाई भी संतोष जनक न हो सकी। प्रेस के भूतों की असावधानी से कुछ और भी गलतियां रह गई हैं। जैसे पृष्ठ नं० ६९८ के पश्चात् ६३३ लग गया है और इस तरह बीच के चार नम्बर रह गये हैं। पाठक इन्हें ठीक करलें।

एक बात पाठकों से हमें और कहना है। वह यह है कि इस पाँचवीं किरण को मिला कर अब तक की सब किरणों के एक हजार से भी अधिक पृष्ठ होगये हैं। विषय सूची इनसे अलग है। अनुमान होता है कि सारी दशों किरणों के लगभग सत्तरह सौ पत्र हो जावेंगे। हमने पहले पूरे ग्रंथ का मूल्य पन्द्रह रुपये घोषित किया था वह केवल लागत मूल्य की संभावना मात्र से निर्धारित किया था। तब से अब तक कागज और छपाई आदि सभी का मूल्य काफी बढ गया है। इसके सिवाय उस समय यह खयाल भी नहीं था कि ग्रंथ का परिमाण इतना अधिक बढ़ जायगा। उस समय दशों किरणों के पत्रों के परिमाण का हमने लगभग तेरह सौ के अन्दाजा लगाया था। पर वह अन्दाजा गलत होता दिखता है। ऐसी अवस्था में अभी नहीं तो संभव है एक दो किरण और प्रकाशित होजाने के बाद हमें ग्रंथमाला के स्थायी ग्राहकों को मूल्य बढाने की प्रार्थना करने के लिए विवश होना पड़े। आशा है ग्राहक महोदय हमारे इस उचित निवेदन पर ध्यान देकर कोई ऐसी व्यवस्था सुझावेंगे जिससे ग्रंथमाला को हानि न उठानी पड़े।

चैनसुखदास जैन न्यायतीर्थ,

मन्त्री—

श्री आचार्य सूर्य सागर दि० जैन ग्रन्थमाला समिति,

मनिहारों का रास्ता, जयपुर सिटी।

❀ विषय-सूची ❀

विषय	पृष्ठ संख्या
वृहत्समाधि अधिकार वर्णन	७३७
मंगलाचरण	”
समाधिमरण का अर्थ	”
समाधि की प्राप्ति	”
आयुबन्ध का नियम	७३८
समाधियुक्त मरण का स्वरूप	७३९
मरण के १७ भेद	७४०
१—आवीचिमरण	”
आवीचिमरण के भेद	७४१
१ प्रकात आवीचिमरण	”
२ स्थिति ” ”	”
३ अनुभव ” ”	”
४ प्रदेश ” ”	”
२ तद्भव मरण	७४२

विषय	पृष्ठ संख्या
३ अवधि मरण	७४२
१ सर्वाविधिमरण	”
२ देशाविधि मरण	”
४ आद्यंत मरण	”
५ बालमरण	७४३
१ अव्यक्त बाल	”
२ व्यवहार बाल	”
३ दर्शन बाल	”
४ ज्ञानबाल	”
५ चारित्रबाल	”
६ दर्शन बाल के दो भेद	”
(१) इच्छा प्रवृत्तबालमरण	”
(२) अनिच्छा प्रवृत्तबालमरण	७४४
६ पण्डित मरण	७४४
१ व्यवहार पण्डित मरण	”
२ दर्शन ”	”
३ ज्ञान ”	”

विषय	पृष्ठ संख्या
४ चारित्र पण्डित मरण	७४४
७—अवसन्नमरण	७४५
८—बालपंडित मरण	"
९—सशल्य मरण	७४६
द्रव्य और भावशल्य	"
मायाशल्य	"
मिथ्याशल्य	"
निदानशल्य	"
१ प्रशस्तनिदान	"
२ अप्रशस्तनिदान	"
३ भोग निदान	"
१० पलायमरण	७४७
११ वशार्त्त (आर्त्तवश) मरण	"
१ इन्द्रिय वशार्त्त मरण	"
२ वेदना वशार्त्त मरण	७४८
३ कषाय वशार्त्त मरण	"
१ क्रोध वशार्त्त मरण	"
२ कुलादि आठ मान वशार्त्त मरण	"
३ निकृति आदि पांच माया वशार्त्त मरण	७४९
४ लोभ वशार्त्त मरण	"
४ नोकषाय वशार्त्त मरण	"
१२—विप्पाणस (विप्राण) मरण	"
१३—गृध्रपृष्ठ मरण	७५०

विषय	पृष्ठ संख्या
१४—भक्त प्रत्याख्यान मरण	७५०
१५—इंगिनी मरण	"
१६—प्रायोपगमन मरण	"
१७—केवली मरण	"
पंडितपंडितादि पांच मरणका विशेष वर्णन	७५०
मरण पांच ही क्यों ?	७५१
पंडितपंडितादि पांचों मरण का स्वरूप	"
पंडित मरण के तीन भेद	७५२
प्रायोपगमन मरण	७५३
इंगिनी मरण	"
भक्त-प्रतिज्ञा (भक्त प्रत्याख्यान) मरण	७५५
भक्त प्रत्याख्यान के दो भेद	७५५
सविचार भक्त प्रत्याख्यान	"
अविचार "	"
सविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण के अर्ह, लिंगादि चालीस भेद और उनका संक्षिप्त स्वरूप	७५५
उक्त अर्ह लिंगादि के अधिकार द्वारा विशेष वर्णन	७५६
अर्हाधिकार	"
आराधना योग्य साधु का वर्णन	"
भक्त प्रत्याख्यान करने वाले के कौनसा लिंग होना चाहिए	"
भक्त प्रत्याख्यान के समय आर्यिका के लिए नग्न भेष	७६१
उत्सर्ग लिंग के चार भेद	७६४

विषय	पृष्ठ संख्या
स्वाध्याय के सात गुण	७६५
१ आत्महित ज्ञान	७६६
२ भावसंवर	"
३ नवीन २ संवेगभाव	"
४ मोक्ष मार्ग मे स्थिरता	७६७
५ तप वृद्धि	७६७
६ गुप्ति पालन मे तत्परता	"
७ परोपदेश सामर्थ्य	"
बुराइयो का कारण अज्ञान	७६८
अज्ञानी के जो कार्य कर्म बन्ध करते हैं वे ही ज्ञानी के कर्म क्षय करते हैं	"
विनय की महिमा	७७१
विनय के भेद	७७२
१ दर्शन विनय	"
२ ज्ञान विनय	"
३ चारित्र विनय	७७३
४ तप विनय	"
५ उपचार विनय	"
मन को वश मे करने की आवश्यकता	७७३
निरंतर विहार की उपयोगिता	७७४
समाधिमरण के लिए तत्परता	७७५
समाधिमरण में शुद्धियों की आवश्यकता और उनके भेद	७७७
१ आलोचना शुद्धि	७७८
२ शय्यासस्तर शुद्धि	"

विषय	पृष्ठ संख्या
३ उपकरण शुद्धि	७७८
४ भक्तपान शुद्धि	"
५ वैयावृत्यकरण शुद्धि	"
शुद्धियों के अन्य प्रकार से भेद	"
१ दर्शन शुद्धि	७७९
२ ज्ञान शुद्धि	"
३ चारित्र शुद्धि	"
४ विनय शुद्धि	"
५ आवश्यक शुद्धि	"
विवेक के भेद	७७९
१ इन्द्रिय विवेक	७८०
२ कषाय विवेक	"
३ उपधि विवेक	"
४ भक्त-पान विवेक	७८१
५ देह विवेक	"
विवेक के अन्य प्रकार से भेद	"
सल्लेखना के लिए उद्यत आचार्य का आचार्यपद त्याग	७८२
त्यागने योग्य ५ कुभावनाएं	७८३
पांच शुभ भावनाएं	"
१ तप भावना	"
तप भावना से रहित साधु मे दोष	७८४
२ श्रुत भावना	७८५
३ सत्त्व (अभीरुत्व) भावना	७८६

॥

विषय	पृष्ठ संख्या
[illegible] का [illegible] कर	
आत्मा को [illegible]	७८७
४ [illegible] भावना	७९१
५ धृतिबल भावना	७९२
सल्लेखना के भेद	७९३
अनशन तप के दो भेद	७९४
अवमौदर्य तप	७९५
रसपरित्याग तप	७९६
वृत्ति परिसंख्यान तप	७९७
कायक्लेश तप	७९८
विविक्तशयासन तप	७९९
वसतिका सम्बन्धी आधाकर्म दोष	८००
१ उद्गम दोष के सोलह भेद और उनका स्वरूप	"
२ उत्पादन दोष के १६ भेद और उनका स्वरूप	८०२
३ एषणा दोष के दश भेद और उनका स्वरूप	८०४
वसतिका के अंगारादि चार दोष और उनका स्वरूप	८०५
वसतिका के योग्य स्थान	८०६
बाह्यतप के गुण	८०८
सल्लेखना का आराधन अन्य २ प्रयोगों से	८१२
प्रतिमा योग	८१३
भिक्षु प्रतिमा और उसके सात भेद	"

विषय	पृष्ठ संख्या
आचाम्ल तप	८१४
भक्तप्रत्याख्यान का काल	"
भक्तप्रत्याख्यान काल की यापन विधि	८१५
कषाय से बचने के उपाय	८१७
सल्लेखना के आराधक आचार्य का कर्त्तव्य	८१८
शिष्य समूह आचार्य के लिए परिग्रह स्वरूप है	८१९
संघ का परित्याग करते समय आचार्य का उपदेश	"
ज्ञान के अतिचार	८२०
दर्शन के "	"
चारित्र के "	८२१
आचार्य के लिए ध्यान देने योग्य विषय	८२१
आचार्यों के लिए आवश्यक विनय और उसके भेद	८२४
दर्शन विनय	"
ज्ञान विनय	"
चारित्र विनय	"
तपोविनय	८२५
उपचार विनय	"
मुनि के लिए निद्रा हास्य क्रीडादि के त्याग का वर्णन	८२५
मुनि संघ की वैयावृत्य भक्ति पूर्वक करने का विधान	८२७
जनापवाद मार्ग पर जाने का मुनि को निषेध	८२९

विषय	पृष्ठ संख्या
पार्श्वस्थादि साध्वाभासों की संगति से साधु का पतन है	८३१
साधु को परोपकारी होना आवश्यक है	८३३
साधु आत्म-प्रशंसक न बने	८३४
साधु पर निन्दा न करे	८३५
पूर्व आचार्य के उपदेश का नवीन आचार्य व मुनिसंघ द्वारा उत्तर	८३६
सन्यास के लिए आचार्य का दूसरे संघ में गमन	८३७
अपने ही संघ में रहने में दोष	८३८
निर्यापकाचार्य (नवीन संघ के आचार्य) का कर्तव्य	८३६
निर्यापकाचार्य के अन्वेषण का क्रम	८३६
निर्यापकाचार्य के अन्वेषण का काल	८४०
निर्यापकाचार्यके अन्वेषण के लिए विहार की पांच प्रकार की विधि	,,
	,,
१ एक रात्रि प्रतिमा कुशल	८४१
२ स्वाध्याय कुशल	,,
३ प्रश्न कुशल	,,
४ स्थंडिल शायी	,,
५ आसक्ति रहित	
यदि विहार काल में वाणी बन्द हो जावे या मृत्यु को प्राप्त हो जावे तो क्या वह आराधक है	८४१
निर्यापकाचार्य का आगत साधु के प्रति कर्तव्य	८४२
संघ के साधु व आगत साधु का परस्पर में परीक्षण	८४३
	८४५
प्रति लेखन परीक्षा	,,
वचन परीक्षा	,,
स्वाध्याय परीक्षा	,,
मलमूत्र-क्षेपण परीक्षा	८५४
भिक्षा परीक्षा	८४५
आचार हीन साधु को आश्रय देने में हानि	८४६
निर्यापकाचार्य के गुण	,,
१ आचारवान	८४७
आचारवान का अन्य प्रकार से विवेचन	८४८
स्थित कल्प के दस भेद	,,
१ नग्नत्व स्थिति कल्प	८५०
२ उद्दिष्ट भोजनादि त्याग कल्प	,,
३ शय्याधर के पिंड का त्याग	८५१
४ राजपिंड त्याग	८५२
५ कृतिकर्म	,,
६ मूलोत्तर गुण परिपालन	८५३
७ ज्येष्ठत्व	८५४
८ प्रतिक्रमण	८५५
६ एकमास निवास	,,
१० पज्ज	

॥

विषय	पृष्ठ संख्या
आचारवान् आचार्य से क्षपक को लाभ	८५६
२ आचार्य का आधारत्व गुण	८५७
संयम की सफलता	८८५
क्षपक को सिद्धान्त के वेत्ता आचार्य की आवश्यकता	,,
क्षपक को परीषहो की बाधा से कैसे दूर किया जाय	८५६
३ आचार्य का व्यवहार ज्ञत्वगुण	८६३
व्यवहार के ५ भेद और उनका स्वरूप	,,
प्रायश्चित शास्त्र का सर्व साधारण को सुनने का अधिकार क्यों नहीं	,,
समान अपराध होने पर सबको प्रायश्चित समान रूप से देते हैं या उसमे भिन्नता होती है	८६४
आचार्य मे व्यवहारज्ञत्व (प्रायश्चित शास्त्र ज्ञान) आवश्यक है	८६६
४ आचार्य का प्रकारत्व गुण	८६७
५ आचार्य का आयोपायदर्शित्व गुण	८६८
६ आचार्य का अवपीडकत्व गुण	८७०
क्षपक के प्रति आचार्य का उपदेश	,,
अवपीडक आचार्य का स्वरूप	८७३
७ आचार्य की विशिष्टता	८७५
(यहा अपरिस्रावी बना छपने से रह गया है, शुद्ध करलें)	
८ आचार्य का सुखकारी (निर्यापक) गुण	८७६
सगुण आचार्य की प्राप्ति कैसे हो	८७८
क्षपक गुरुकुल को आत्म-समर्पण कैसे करे ?	,,

विषय	पृष्ठ संख्या
प्रथम सामायिकादि षट् आवश्यक का विधान	८७८
वन्दना के पश्चात् संघ में रहने की आज्ञा प्राप्ति	८७६
आचार्य में संघ मे रखने की आज्ञा देना एव आगत क्षपक की परीक्षा	८८०
क्षपक के लिए संघस्थ परिचारक साधुओं की सम्मति	८८०
एक आचार्य के पास कितने क्षपक समाधिमरण करते हैं	८८२
आचार्य का क्षपक के प्रति समस्त संघ के मध्य उपदेश	८८
आचार्य के ३६ गुण	८७७
प्रायश्चितादि का ज्ञाता अपराधों को दूसरों को क्यों कहे	८७
आलोचना का स्वरूप और भेद	८८६
सामान्य आलोचना	८८६
विशेष आलोचना	,,
शल्य के भेद	,,
अतिचार शोधन बिना मृत्यु होने से हानि	८८८
क्षपक कायोत्सर्ग कैसे करे	८८६
आलोचना के लिए काल स्थान आदि का विधान	
(यहा आदि के स्थान मे 'वादि' छप गया है शुद्ध करलें)	८६०
आलोचना के आकम्पितादि दस दोष और उनका स्वरूप	८६२
साधु किन २ दोषों की कैसे आलोचना करे	८६६
दर्पादि बीस अतिचार और उनका स्वरूप	८६६
आलोचना के पश्चात् आचार्य का कर्त्तव्य	६०२

विषय	पृष्ठ संख्या
निष्कपट और सकपट आलोचना और उनका प्रायश्चित	”
आचारत्वादि विशिष्ट निर्यापक आचार्य के न मिलने पर समाधिमरण कौन करावे ?	६०४
प्रायश्चित्ताचरण के पश्चात् देह त्याग काल न होने पर क्षपक क्या करे ?	६०४
समाधिमरण करने वाले क्षपक के लिए वसतिका कैसी हो	”
क्षपक का संस्तर कैसा हो	६०७
संस्तर के चार भेद	६०८
१ पृथ्वी संस्तर	”
२ शिलामय ”	”
३ काष्ठमय ”	”
४ तृण ”	”
संस्तर के आवश्यक गुण	६१०
वैयावृत्य-कुशल सहायक मुनि कैसे होने चाहिए	
क्षपक की क्या परिचर्या की जाती है और कौनसी	६११
परिचर्या के लिए कितने मुनि नियुक्त किये जाते हैं	६१२
क्षपक के सम्मुख न करने योग्य विकथाएं	”
क्षपक को किस प्रकार धर्मोपदेश किया जाय	६१३
क्षपक के लिए कौनसी कथा उपयुक्त है	”
कथाओं के चार भेद	”
आक्षेपणी और विक्षेपणी कथा	६१४
संवेजनी और निर्वेजनी कथा	
क्षपक के लिए विक्षेपणी कथा का निषेध	”
क्षपक की आहार विषयक योजना के लिए चार मुनि नियुक्त	६१५
चार मुनि पीने योग्य पदार्थ के लिए नियुक्त किए जाते हैं	६१८
चार मुनि भोजन पान के पदार्थों की रक्षा करते हैं	”
चार मुनि मलमूत्रादि की प्रतिष्ठापना एवं शय्यादि का प्रमार्जन करते हैं	६२०
चार मुनि द्वार पाल का काम करते हैं	”
चार मुनि रात्रि में जागते हैं	६२१
चार मुनि आगत श्रोताओं को उपदेश देते हैं	”
वाद विवाद के लिए चार वाग्मी मुनि नियुक्त	६२२
समाधिमरण के लिए ४८ परिचारक मुनि ही चाहिए या अधिक कम	”
सल्लेखना से प्राण त्याग करने वाला जीव संसार में कितने भव धारण करता है	६२५
समाधिमरण के काल का विभाजन	”
क्षपक के लिए तैल प्रयोग का विधान	६२६
क्षपक के समक्ष भोजनादि कथाएं नहीं करना चाहिए	”
क्षपक का तीन प्रकार के आहार का त्याग करना	”
पानक पदार्थ के ६ भेद और उनका स्वरूप	६३५
क्षपक के उदरस्थमल का निवारण	६३६

(नोट—पृष्ठ नं० ६२८ के पश्चात् पृष्ठ० नं० ६३३ छपगया है, बीच के चार नम्बर छूट गये हैं। पाठक ठीक करलें।)

विषय	पृष्ठ संख्या
क्षपक द्वारा क्षमायाचना	९३७
क्षपक को कर्ण जाप	९३८
मिथ्यात्व का त्याग	९४०
सम्यक्त्व का स्वरूप व गुण समझाना	९४१
मृत्यु समय श्रवण गोचर हुए णमोकार मंत्र का प्रभाव	९४४
भिन्न २ रीति द्वारा निर्यापकाचार्य उपदेश देकर क्षपक को सम्यक्त्व में दृढ करते हैं	९४५
क्षपक के रोग का औषधादि द्वारा प्रतीकार	"
वाह्य उपचार को छोडकर अंतरग शुद्धि के लिए प्रयत्न व उपदेश	९४६
उपसर्गों से विचलित न होने वाले महा मुनियों के कुछ उदाहरण	९४९
नरकादि गतियो में भोगे हुए दुःखों का दिग्दर्शन कराते हुए क्षपक को सम्बोधन	९५४
नरक गति के दु ख	"
तिर्यंच गति के दु.ख	९५७
मनुष्य गति में प्राप्त दु ख	९५८
देवगति के दु खों का वर्णन	९६०
आत्मचिंतन व आराधना द्वारा प्राप्त शुभ फल को	९६३
आर्त रौद्रादि भावों से कुगति की प्राप्ति	९६६
समाधिमरण द्वारा प्राण छोडने पर शरीर की व्यवस्था	९६७

विषय	पृष्ठ संख्या
क्षपक की निषीधिका (निषद्या)	९६८
निषीधिका किस दिशा में होनी चाहिए	"
क्षपक के मृत्यु समय की क्रियाएं	९६९
रात्रि मे मरण होने पर जागरण बन्धन, और छेदन क्रियाए	९७०
शव की बन्धनादि क्रिया क्यों ?	"
व्यन्तर देवो का वर्णन	९७१
व्यन्तरों के भेद प्रभेद	९७२
मुनि के शव का क्या करना चाहिए	९७३
आर्यिका का समाधिमरण मुनि की भाति ही होता है या भिन्न प्रकार से	९७४
श्रावक कि स-निधि से शव ले जावें	९७५
सस्तर कैसा हो	"
क्षपक के मरण का समय निमित्त ज्ञान से शुभाशुभ फल का सूचक	९७६
मध्यम या उत्कृष्ट नक्षत्र में मरण होने पर उत्पात का निवारण	९७७
संघस्थ मुनि का मरण होने पर सङ्घ के मुनियों का कर्तव्य	९७८
मृत क्षपक की गति का ज्ञान	९७९
क्षपक की महानता	९८०
निर्यापक मुनि की महानता	"
क्षपक के दर्शन करने वाले धर्मात्माओं की पुण्य शालिता	९८१

विपय	पृष्ठ सख्या
चपक के वासस्थान तीर्थ हैं	,,
अविचारभक्त प्रत्याख्यान का स्वरूप	६८२
अविचार भक्त प्रत्याख्यान के ३ भेद	६८३
१ निरुद्ध नामक अविचार भक्त प्रत्याख्यान	,,
निरुद्ध के भेद	६८४
२ निरुद्धतर अविचार भक्त प्रत्याख्यान	,,
३ परम निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान	६८५
अविचार भक्त प्रत्याख्यान के अल्प काल में मुक्ति-प्राप्ति कैसे ?	६८५
इंगिनी मरण	६८७
पंडित मरण का तृतीय भेद प्रायोयगमन	६६१
तीन भेदों के अतिरिक्त भी पंडित मरण	६६३

विपय	पृष्ठ सख्या
उपसर्गादि आने पर आत्म ध्यानस्थ मुनियों के कुछ उदाहरण	६६३
जीवन्मुक्ति की उत्पत्ति का क्रम	६६४
ध्यान के बाह्य निमित्त	६६४
धर्म ध्यानस्थ मुनि द्वारा कर्म प्रकृतियों का विसंयोजन	६६५
केवली अवस्था	६६७
समुद्‌घात वर्णन	,,
योगनिरोध ,,	६६६
योग निरोध के बाद कौनसी कर्म प्रकृतियां रहती हैं ?	,,
शुद्धजीवकी गति कैसे होती है ?	१०००
सिद्धशिला कहां है ?	,,
सिद्धावस्था का सुख	१००१
पंचम किरण समाप्त	१००२

संयम-प्रकाश

का

उत्तरार्द्ध छप रहा है ।

शीघ्र ही पाठकों की सेवा में भेजा जावेगा ।

संयम—प्रकाश

पूर्वार्द्ध—पचम किरण

वृहद्–समाधि–अधिकार

❀ मंगलाचरण ❀

सन्मति प्रणिपत्याहं समाधिमरणाश्रय—
मधिकारमिमं वक्ष्ये मोक्षश्रीप्राप्तिकारणम् ॥

इस अध्याय मे समाधिमरण का विस्तृत वर्णन किया जायगा। समाधि का अर्थ है अपने आपमे लवलीन होना। समाधि, ध्यान और योग ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। मृत्यु के समय शरीर, कुटुम्ब, धन, गृहादि पर पदार्थों से हटकर आत्मस्थ होना एव वीरता और शांति के साथ मृत्यु का आलिंगन करना समाधिमरण कहलाता है। समाधिमरण का प्राप्त होना सचमुच ही बहुत दुर्लभ है।

जिस आत्मा मे अशुभ परिमाणो की सतति बनी रहती है, उसको समाधि की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? इसलिए समाधि प्राप्त करने के लिए सर्व प्रथम अशुभ भाव उत्पन्न करने वाले बाह्य निमित्तों को त्याग कर शुभ भाव या शुद्ध भाव उत्पन्न करने का प्रयत्न करना आवश्यक है। जब तक मानसिक विकार आत्मा को मलीन करते रहें, तब तक समाधि (चित्त-शान्ति) की आशा करना व्यर्थ है। इसलिए चित्त मे अशान्ति उत्पन्न करने वाले कारणो का त्याग कर शुभ और शुद्ध परिणामो की जागृति करने वाले उपायों का आश्रय लेना उचित है। यदि एक वार भी सम्यक्त्व सहित समाधिमरण हो जावे तो वह आत्मा अवश्य ही कभी न कभी मुक्ति पद का अधिकारी होता है। वज्रवृषभनाराच सहनन आदि सकल साधन सयुक्त कोई जीव तो समाधि मरण के प्रभाव से उसी भव मे मोक्ष को प्राप्त होता है और कोई दो, तीन या सात, आठ भव वाद मोक्ष की प्राप्ति करता है। इसलिए सयमियो को समाधि के अनुकूल साधनो की ओर अग्रसर होते हुए सदा समाधिमरण के लिए तत्पर रहना चाहिए, क्योकि मृत्यु के आनेका कोई निश्चित समय नहीं है।

आयुबंध का नियम

कर्मभूमि में जन्मा हुआ मनुष्य व तिर्यंच परभव की आयु का बन्ध भुज्यमान आयु के आठ अपकर्ष काल में करता है। अर्थात् वर्तमान आयु के बराबर तीन हिस्सों में से दो हिस्से बीत जाने पर तीसरे भाग के पहले समय से लेकर अन्तमुहूर्त्त तक पहला अपकर्ष काल है। इस अपकर्ष काल में परभव सम्बन्धी आयु का बंध हो सकता है। यदि इस समय न हो तो फिर उस बचे हुए एक हिस्से के फिर तीन भाग करना चाहिए, उन तीन भागों में पहले के दो भाग बीत जाने पर तीसरे भाग के प्रथम समय से लेकर अन्तमुहूर्त्त तक दूसरा अपकर्ष काल कहलाता है, इस काल में भी परभव सम्बन्धी आयु का बंध हो सकता है। यदि इसमें भी नहीं हुआ तो इसी तरह तीसरा, चौथा, पाँचवाँ, छटा, सातवाँ, और आठवाँ अपकर्ष काल होता है इनमें से किसी में आयु का बंध हो सकता है। यदि इनमें भी न हुआ तो आयु के अन्तिम अन्त-मुहूर्त्त में होगा। उदाहरणतया किसी कर्मभूमि के मनुष्य की भुज्यमान आयु छह हजार पाँच सौ इकसठ वर्ष की है। उनके तीन भागों में से दो भाग (तियालीस सौ चौहत्तर वर्ष) बीत जाने पर जब शेष एक भाग (इक्कीस सौ सत्तासी वर्ष) रह जाता है तब उस एक भाग के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त्त तक का काल प्रथम अपकर्ष काल कहलाता है। इस अपकर्ष काल में परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। यदि इस काल में आयु का बन्ध न हो तो उस एक तृतीय भाग (इक्कीस सौ सत्तासी वर्ष) में से दो भाग (चौदह सौ अठावन वर्ष) बीत जाने पर जो शेष एक तृतीय भाग (सात सौ उन्तीस वर्ष) रहता है, उसके प्रारंभ के अन्तमुहूर्त्त तक का काल दूसरा अपकर्ष काल कहा जाता है। उस काल में परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। यदि उस काल में भी आयु का बन्ध न हो तो उस अवशिष्ट एक तृतीय भाग (सात सौ उन्तीस वर्ष) में से दो भाग बीत जाने पर जो एक भाग (दो सौ तियालीस वर्ष) शेष रहता है उसके प्रथम समय से लेकर अन्त-मुहूर्त्त पर्यन्त का काल अपकर्ष काल कहलाता है। यह तीसरा अपकर्ष काल हुआ। उसमें परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। यदि इसमें भी आयु का बन्ध न हो तो शेष भाग (दो सौ तियालीस वर्ष) के प्रथम अन्तर्मुहूर्त्त में आयु का बन्ध करने वाला चौथा अपकर्ष काल है, उसमें परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। यदि इसमें भी आयु का बन्ध न हो तो पांचवें, छटे, सातवें अथवा आठवें अपकर्ष काल में आयु का बन्ध होता है। यदि आठों में से किसी भी अपकर्ष काल में आयु का बन्ध न हुआ हो तो भुज्यमान आयु के अन्तिम अन्त-मुहूर्त्त (आयु की अन्तिम आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल से पूर्व के अन्तर्मुहूर्त) में आयु का अवश्य बंध होता है।

इस प्रकार कर्मभूमिज मनुष्य व तिर्यंचों के परभव सम्बन्धी आयु के बन्ध होने का नियम कहा गया है। किन्तु भोगभूमि में जन्मे हुए के लिए तथा देव, नारकियों के परभव सम्बन्धी आयु-बन्ध के विषय में कुछ विशेषता है। वह निम्न प्रकार है—

भोग-भूमिज मनुष्य व तिर्यंचों के परभव आयु का बन्ध भुज्यमान आयु के अन्तिम नौ महिनों में होने वाले आठ अपकर्षों के काल में

तव पूर्व की भाति आठ अपकर्ष होते हैं। नौ महिने में से दो भाग वीत जाने
होता है। अर्थात उनकी आयु के जव नौ महीने शेप रहते हैं तव पूर्व की भाति आठ अपकर्ष होते हैं। नौ महिने में से दो भाग वीत जाने होता है। उसमें
पर जव तृतीय भाग (तीन महीने) शेप रहता है, तव उसके प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त का प्रथम अपकर्ष काल होता है। उसमें
परभव सम्वन्धी आयु का वन्ध होता है। जव उसमे आयु का वन्ध नहीं होता है, तव शेप एक तृतीय भाग (तीन महिने) मे से दो भाग
(दो महिने) वीत जाने पर अवशिष्ट तृतीय भाग (एक मास) रहजाने पर उसको प्रथम अन्तर्मुहूर्त्त का दूसरा अपकर्ष काल होता है। उसमे
आयु का वन्ध होता है। यदि उसमे भी आयु का वन्ध न हुआ तो तीसरे, चौथे, पाचवे, छटे, सातवें, या आठवें मे आयु का वन्ध होता है।
यदि इनमे भी न हुआ हो तो पूर्व की भांति भुज्यमान आयु के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त्त मे तो अवश्य ही होता है।

देव तथा नारकियों के परभव सम्वन्धी आयु का वन्ध भुज्यमान आयु के अन्तिम छह महिने शेप रहने पर होता है। अर्थात्
शेप छह महिनों मे पूर्व की भाति आठ अपकर्पण होते हैं। उनमे परभव सम्वन्धी आयु का वन्ध होता है। और यदि उन आठ अपकर्षों के
काल मे भी आयु का वन्ध न हो तो पूर्व की तरह आयु के शेप अन्तर्मुहूर्त्त मे तो अवश्य ही आयु का वन्ध होता है। यहा यह भी याद रखना
चाहिए कि यदि पहले के किसी अपकर्ष काल मे आयु का वन्ध हो गया हो तो उस के आगे के अपकर्ष कालों मे वंध होता रहेगा। आयु वंध
के इस उपयुक्त नियम से यह फलितार्थ निकलता है कि कोई भी यह नहीं कहसकता कि उसकी परभव की आयुका वध कव होगा ? इसलिए
प्रत्येक समय मनुष्य को अपने भाव ठीक रखना चाहिये।

समाधि युक्त मरण का स्वरूप

मरण के वेत्ताओ ने इसके अनेक भेद वतलाये हैं। मरण का सामान्य अर्थ पर्याय का छोडना है। यह अर्थ सम्पूर्ण जीवों के
साथ सम्वन्धित होता है। केवली भगवान हो या छद्मस्थ जीव हो, सव प्राप्त शरीर को छोडते हैं, इसलिए उन सवका मरण कहा जाता है।
किन्तु केवली और छद्मस्थ के मरण मे इतनी विशेषता है कि केवली पूर्व शरीर का त्याग कर पुन. नूतन शरीर का ग्रहण नहीं करते हैं। अत
उनका फिर मरण नहीं होता है। वे अजर अमर कहे जाते हैं। और छद्मस्थ जीव पहले के शरीर को छोडकर नवीन शरीर धारण करता है और
पुन मरण करता है। इसलिए मरण, पुन पुन. जन्म-मरण का निमित्त होता है। ससार मे जितने भी दु ख हैं, उनमे सव से अधिक दु ख
मरण का है। अनेक रोगों से पीडित व भयानक उपसर्गों से व्यथित छोटे से छोटा जन्तु भी मरण के नाम से कॉपता है, मरण के दु ख से
घवराता है। इसलिए इस महान दु.ख से उद्धार पाने का एक मात्र उपाय समाधिमरण ही है। यही इस दु ख को समूल नाश करने वाली
परमोपधि है।

पू कि. ५

स प्र.

जिन महापुरुषो ने अपने जीवन मे विषय वासनाओ से मुख मोडा है, कषाय को मन्द करने का अभ्यास किया है, तथा उन का शुभ रूप परिणमन किया है—वे महात्मा महाव्रत का पूर्णतया पालन कर अन्त में कषायों पर विजय करते हैं। उसका दिव्य फल समाधि मरण उनको ही मिलता है। ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है। यहाँ प्रसंगानुसार मरण के भेदों का वर्णन करते हैं। मरण के भगवती आराधना मे १७ भेद बतलाये हैं:—

मरण के भेद

मरणाणि सत्तरस देसिदाणितित्थंकरेहिं जिणवयणे।
तत्थ वि पंच इह संगहेण मरणाणि वोच्छामि ॥ २५ ॥ (भग० आ)

अर्थः—उत्पन्न हुई पर्याय के नाश को मरण कहते हैं। अर्थात् देव, नारक, तिर्यंच और मनुष्य पर्याय का ध्वंस होना ही मरण शब्द का अर्थ है। अथवा प्राणो के त्याग करने को मरण कहते हैं। क्योंकि 'मृङ्' धातु का अर्थ प्राण त्याग करना है। प्राण धारण करते रहने को जीवन और प्राण त्याग को मरण कहते हैं। प्राण दो प्रकार के हैं–भावप्राण और द्रव्यप्राण। ज्ञान दर्शन चारित्र भावप्राण हैं। यह सिद्धों के भी पाया जाता है। इसलिए इसकी अपेक्षा से यहा मरण नहीं लिया गया है। द्रव्यप्राणों (इन्द्रिय, बल, आयु और उच्छ्वास) के विनाश को मरण कहा है। आयु के उदय होने पर जीव जीता है और भुज्यमान आयु का विनाश होने पर मरता है।

यह मरण १७प्रकार का है—(१) आवीचि-मरण, (२) तद्भव मरण, (३) अवधि मरण, (४) आद्यंतमरण (५) बालमरण, (६) पडितमरण, (७) आसन्नमरण, (८) बालपडितमरण, (९) सशल्यमरण, (१०) पलायमरण, (११) वशार्त्तमरण, (आर्त्तवशमरण,) (१२) विप्राणमरण, (१३) गृध्रपृष्ठमरण, (१४) भक्तप्रत्याख्यान मरण, (१५) प्रायोपगमन मरण, (१६) इगिनी मरण, (१७) केवलिमरण।

इन सत्रह प्रकार के मरणों मे से पांच प्रकार के मरण ही विशेष उल्लेखनीय हैं। अतः आगम मे उन्हीं का विशेष वर्णन है। शेष बारह प्रकार के मरणो का वर्णन तो गौण रूप से है।

यहा इन सत्रह प्रकार के मरणो का सक्षेप से स्वरूप दिखाते हैं।

आवीचिमरण

(१) आवीचिमरण—जीवके प्रतिक्षण होने वाले मरण को आवीचि मरण कहते हैं। आवीचि का अर्थ है तरग-लहर। जिस

तरह लहर एक दूसरे के बाद आती है और (प्रतिसमय) उनकी परंपरा समाप्त नहीं होती, इसी तरह यह जीव भी प्रतिक्षण मरता रहता है। प्रतिसमय आयुकर्म का निषेक उदय मे आकर झडता रहता है, कभी यह प्रकिया समाप्त नहीं होती। इस आवीचिमरण का समूह ही महामरण है। भव्य जीवो की अपेक्षा यह आवीचिमरण अनादि सान्त है। क्योंकि भव्य जीव को जब मोक्ष प्राप्त हो जाता है, तब यह मरण नष्ट हो जाता है। इसलिए इसको सान्त कहते हैं। मोक्ष के होने के पूर्व अनादि काल से भव्यजीव के प्रतिसमय यह मरण होता रहता है इसलिये इसको अनादि भी कहते हैं। अत यह मरण भव्य की अपेक्षा से अनादि सान्त होता है। अभव्यो की अपेक्षा तो यह आवीचिमरण अनादि अनन्त है। क्योकि उनके यह मरण अनादि से है और सदा रहेगा, इसलिए अनादि अनन्त है। भव की अपेक्षा से अथवा क्षेत्र की अपेक्षा से यह (आवीचिमरण) सादि कहा जाता है।

(१) आवीचि मरण के भेद

आवीचि-मरण प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश की अपेक्षा से चार प्रकार का होता है।

(१) प्रकृति-आवीचिमरण—एक आत्मा के एक भव में एक ही आयुकर्म की प्रकृति का उदय आता है। इसलिए एक आयु की प्रकृति के क्षय होने से आत्मा का मरण होता है। इसको प्रकृति आवीचिमरण कहते हैं।

(२) स्थिति-आवीचिमरण—आत्मा के कषायरूप परिमाणो से बन्ध को प्राप्त हुए आयु के पुद्गलों मे स्निग्धता उत्पन्न होती है, इसलिये वे पुद्गल आत्मा के प्रदेशो के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं। स्निग्धता के उपादान कारण तो पुद्गल कर्म ही हैं, किन्तु आत्मा के कषायभाव से पुद्गल कर्म मे स्निग्धता प्रकट होती है, अतः कषाय भाव स्निग्धता के निमित्त कारण होते हैं। जितने समय तक पुद्गलकर्म आत्मा के साथ सम्बद्ध रहते हैं, उसको स्थिति कहते हैं। यह आयुनामक पुद्गल कर्म की स्थिति एक से लेकर बढती हुई देशोन तेतीस सागर के जितने समय होते हैं, उतने भेदवाली होती है। उत्कृष्टस्थिति तेतीस सागर की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त परिमाण वाली होती है। इन आयुकर्म की स्थितियों की तरगों के समान क्रम रचना है। इनका क्रमसे क्षय होने के कारण आत्मा के मरण को स्थिति-आवीचिमरण कहते हैं।

(३) अनुभव-आवीचिमरण—कर्मपुद्गलो का जो रस (फल) अनुभव गोचर होता है, उसको अनुभव कहते हैं। यह अनुभव पुद्गल कर्मों मे षड्गुणी हानि वृद्धि रूप समुद्र की तरगो के क्रम से स्थित रहता है, उसके क्षय होने को अनुभव आवीचिमरण कहते हैं।

(४) प्रदेश-आवीचिमरण—अयुकर्म के पुद्गल प्रदेश जघन्य निषेक से लेकर एक, दो, तीन आदि वृद्धि क्रमेण तरग के समान स्थित हैं उनके विनाश होने को प्रदेश आवीचिमरण कहते हैं। इस प्रकार आवीचिमरण नामक प्रथम भेद का वर्णन किया।

(२) तद्भवमरण

तद्भवमरण—भुज्यमान आयु का अंतिम समय मे नाश होने को तद्भवमरण कहते हैं। अर्थात् वर्त्तमान पर्याय का नाश होकर उत्तर पर्याय की प्राप्ति को तद्भवमरण कहते हैं। यह मरण इस जीव ने अनन्त वार किया है, और जब तक रत्नत्रय की आराधना कर सिद्ध अवस्था प्राप्त न कर लेगा तब तक यह मरण होता रहेगा।

(३) अवधि मरण

अवधिमरण—का वर्त्तमान पर्याय के समान ही भविष्य पर्याय मे भी मरण का होना अवधिमरण है। इस अवधिमरण के दो भेद हैं-सर्वावधिमरण और देशावधिमरण।

(१) सर्वावधिमरण—जैसा आयुकर्म प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशो मे वर्त्तमान काल मे उदय आरहा है वैसा ही प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशवाला आयुकर्म फिर बध को प्राप्त होकर उदय मे आवे, उसको सर्वावधि मरण कहते है।

(२) देशावधिमरण—जैसा आयुकर्म वर्त्तमान काल मे उदय को प्राप्त हो रहा है, उसकी कुछ सदृशता को लिए हुए आयु कर्म फिर बन्ध को प्राप्त होकर उदय मे आवे उसे देशावधिमरण कहते है।

इसका आशय यह है कि वर्त्तमान आयु का कुछ अश अथवा सर्वा श मे सादृश्य जिसमे पाया जाता है, उस अवधि (मर्यादा) से युक्त मरण को अवधिमरण कहते है। वर्त्तमान आयु का सम्पूर्ण सादृश्य जिस भावी आयु मे पाया जाता है उस मर्यादित मरण को सर्वावधि मरण और जिस भावी आयु मे वर्त्तमान आयु का एक अश सादृश्य रहता हो उस मर्यादित मरण को देशावधि मरण कहते हैं।

(४) आद्यंत मरण

आद्यत मरण—वर्त्तमान काल के मरण का सादृश्य जिस भावी मरण मे नहीं पाया जाता है उसको आद्यंत मरण कहते हैं। यहा पर आदि शब्द से प्रथम मरण लेना चाहिए। उसका अन्त (नाश-अभाव) जिस मरण मे पाया जाता है अर्थात् जो सर्वथा विसदृश मरण होता है उसको आद्यंत मरण कहते हैं।

स. प्र.

(५) बाल मरण

बालमरण—बाल नाम अज्ञानी जीव का है। अज्ञानी जीव का जो मरण होता है, उसे बाल मरण कहते हैं। बाल (अज्ञानी) जीव पाच प्रकार के होते हैं-(१) अव्यक्तबाल, (२) व्यवहारबाल, (३) ज्ञानबाल, (४) दर्शनबाल, (५) चारित्रबाल।

१ अव्यक्तबाल—यहा अव्यक्त शब्द का अर्थ छोटा बच्चा है। जो धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थ सम्बन्धी कार्यों को न समझता है और न उनका आचरण करने की शारीरिक शक्ति रखता है, उसको अव्यक्त बाल कहते हैं।

२ व्यवहार बाल—जिसको लौकिकव्यवहार तथा शास्त्रीय ज्ञान नहीं है, अथवा जो बालक है, उसको व्यवहार बाल कहते हैं।

३ दर्शन बाल—जो तत्त्वार्थ के श्रद्धान से रहित मिथ्यादृष्टि है उसे दर्शन बाल कहते हैं।

४ ज्ञान बाल—जिसे वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं है, उसको ज्ञान बाल कहते हैं।

५ चारित्र बाल—जो चारित्र के आचरण से रहित है, उसे चारित्र बाल कहते हैं।

इन पाच प्रकार के मरण को बाल मरण कहते हैं। ऐसा बाल मरण इस जीव ने भूतकाल मे अनन्तबार किया है, और अनन्त जीव इस मरण को करते रहते हैं।

यहाँ प्रकरण मे दर्शन बाल का ही ग्रहण है। अन्य बालों का यहाँ ग्रहण करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन सहित अन्य चार प्रकार के बाल दर्शन पंडित कहे जाते हैं। अत उनका मरण सम्यग्दर्शन सहित होने से उस मरण को पण्डितमरण माना है। अर्थात् सम्यग्दर्शन युक्त मरण सद्गति का कारण होता है और सम्यग्दर्शन रहित मरण दुर्गति के दुःखो का जनक होता है।

दर्शन बाल मरण के संक्षेप से दो भेद हैं— १ इच्छाप्रवृत्तमरण और २ अनिच्छा प्रवृत्तमरण।

१ इच्छाप्रवृत्तमरण—जो प्राणी अग्नि मे जलकर, धूएँ से श्वास का निरोधकर, विषभक्षण कर, जल मे डूब कर, पर्वत से गिरकर, गले मे फाँसी लगाकर अथवा शस्त्राघात से, अत्यन्त शीत व उष्ण के पडने से, भूख से, प्यास से, जिह्वा के छेदन-उत्पाटन (उखाडने) से, प्रकृति विरुद्ध आहार करने से इत्यादि कारणो से इच्छा पूर्वक मृत्यु को प्राप्त होते हैं उस मरण को इच्छाप्रवृत्त बालमरण कहते हैं।

२ अनिच्छाप्रवृत्तवालमरण—जीने की इच्छा रखते हुए मिथ्यादृष्टि का जो काल में या अकाल मे मरण होता है, उसको अनिच्छाप्रवृत्तकालमरण कहते हैं। जो दुर्गति मे गमन करने वाले हैं, इसलिए जो विपयों मे आसक्त रहते हैं, जिनका अन्तःकरण अज्ञान अधकार से आछन्न है, जो ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त हैं, उनके उक्त वालमरण होता है। इस मरण से जीव तीव्र पाप का उपार्जन कर दुर्गति में दु खो का अनुभव करते हैं और जन्म जरा मरण के क्लेशो को वहुत काल तक सहते हैं।

पण्डित मरण—

पण्डित मरण के चार भेद हैं— १ व्यवहारपण्डित, २ सम्यक्त्वपण्डित, ३ ज्ञान पण्डित और ४ चारित्र पण्डित।

१ व्यवहार पण्डित—जो केवल लोक व्यवहार, वेदज्ञान तथा शास्त्रज्ञान मे निष्णात होता है, उसको व्यवहार पण्डित कहते हैं। अथवा—

जो अनेक लौकिक शास्त्रो मे निपुण हो तथा शुश्रूपा, श्रवण, मनन, धारणादि बुद्धि के गुणो मे दक्ष हो उसको व्यवहार पंडित कहते है।

२ दर्शन पण्डित—जिसको क्षायिक, क्षायोपशमिक अथवा औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त हो गया है, उसको दर्शन पण्डित कहते हैं।

३ ज्ञान पण्डित—मतिज्ञानादि पाच प्रकार के सम्यग्ज्ञानो में से यथासभव किसी ज्ञान से युक्त जीव को ज्ञान पण्डित कहते हैं।

४ चारित्र पण्डित—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात इन पाच चारित्रों मे से किसी भी चारित्र मे प्रवृत्ति करने वाले सयमी को चारित्र पण्डित कहते हैं। इन चार प्रकार के पण्डितों में से यहाँ ज्ञान पण्डित, दर्शन पण्डित और चारित्र पण्डित का ही ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि व्यवहार पण्डित मिथ्यादृष्टि होता है। इसलिए उसका मरण वालमरण माना गया है। केवल सम्यग्दृष्टि का मरण ही पण्डित मरण कहा गया है।

नरक मे, भवनवासी देवो के स्थानो में तथा स्वर्गवासी और ज्योतिपी देवो के विमानों मे, व्यन्तर देवो के निवास स्थानो मे एव द्वीप व समुद्रो मे दर्शन पण्डित मरण होता है, तथा ज्ञानपण्डित मरण उपर्युक्त स्थानों में तथा मनुष्य लोक मे होता है, किन्तु मनः-पर्ययज्ञानी तथा केवल ज्ञानी का ज्ञान पण्डित मरण मनुष्य लोक मे ही होता है। चारित्रपण्डित मरण भी मनुष्य लोक मे ही होता है।

(७) अवसन्न मरण

मोक्षमार्ग (रत्नत्रय) का पालन करनेवाले संयमियो के संघ का परित्याग करनेवाले संघभ्रष्ट साधु को अवसन्न कहते हैं। उसका जो मरण है वह अवसन्न मरण कहलाता है।

यहा पर अवसन्न शब्द का ग्रहण करने से पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील और ससक्त इन चार प्रकार के भ्रष्ट साधुओं का भी ग्रहण होता है।

"पासत्थो सच्छंदो कुसील संसत्त होंति ओसण्णा।
जं सिद्धिपच्छिदादो ओहीणा साहु सत्थादो" ॥ १ ॥ (भग० टीका गाथा २५)

अर्थ—पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील, ससक्त और अवसन्न ये पाच प्रकार के भ्रष्ट (पतित) साधु हैं। ये रत्नत्रय से हीन हैं और साधुओ के संघ से बहिष्कृत होते हैं।

ये साधु धनादि ऐश्वर्य मे प्रेम रखते हैं। रस (जिह्वा की लम्पटता) मे आसक्त होते हैं। सदा सुखो की अभिलाषा रखते एवं दुःख से डरते हैं। लोभादि कषाय के वशीभूत होते हैं। उनके आहारादि की तीव्र सज्ञा होती है। वे पाप जनक मन्त्रतन्त्रादि शास्त्रों का अभ्यास करते हैं। तेरह प्रकार की क्रियाओं के आचरण मे प्रमादी होते हैं। गृहस्थ की वैयावृत्य (सेवा) करते हैं। मूलगुणों से हीन होते हैं। समिति और गुप्ति के पालन करने का उद्योग नहीं करते अर्थात् उनके समिति व गुप्ति नहीं होती है। वैराग्य भावना व ससार से भीरुता भी नहीं होती है। वे उत्तम क्षमादि दशधर्म मे बुद्धि नहीं लगाते। उनका चारित्र सदोष होता है। इस प्रकार के साधु को अवसन्न कहते हैं।

ऐसे साधु सहस्रों भवों मे भ्रमण करते रहते हैं। बारबार दुखो को भोगते हैं।

(८) बाल पण्डित मरण

सम्यग्दर्शन के धारक सयतासयत (अणुव्रती) श्रावक को बालपण्डित कहते हैं। उसके मरण को बालपण्डितमरण कहा है। क्योंकि श्रावक बाल और पण्डित इन दोनों धर्मों से युक्त होता है। बाल तो इसलिए कहा जाता है कि इसके केवल एक देश से ही हिंसादि पापों का त्याग होता है, सम्पूर्णरूप से हिंसादि का त्याग नहीं होता है। अतः चारित्र की अपेक्षा तो बाल है और पण्डित इसलिए है कि उसके सम्यग्दर्शन का सद्भाव है। अतएव इसको बाल पण्डित कहते हैं। यह बालपण्डितमरण, गर्भज पर्याप्त तियच व मनुष्यो के होता है। देव तथा

नारकियों के नहीं होता, क्योंकि उनके सम्यग्दर्शन तो होता है, लेकिन देशसंयम नहीं होता। इसलिए उनके दर्शन पण्डित मरण हो सकता है।

(६) सशल्यमरण

शल्य दो प्रकार का है—१ द्रव्यशल्य और २ भावशल्य। मिथ्यादर्शन, माया और निदान रूप भावों को भावशल्य कहते हैं और इन भावों की उत्पत्ति के कारण द्रव्यकर्म को द्रव्यशल्य कहते हैं। इस प्रकार शल्य के दो भेद होते हैं, अतः सशल्य मरण के भी दो भेद हैं। द्रव्यशल्यसहित मरण और भावशल्यसहित मरण। पृथ्वी, जल, अग्नि वायु और वनस्पतिकाय इन पाच स्थावर जीवों के मरण को तथा द्वीन्द्रियादि असज्ञी पर्यन्त त्रस जीवों के मरण को द्रव्यशल्यसहित मरण कहते है। सज्ञी पचेन्द्रिय जीव के ही भावशल्य सहित मरण होता है।

शङ्का—क्या असज्ञी पर्यन्त (सज्ञी को छोड़कर शेप) सब जीवों के भाव शल्य (माया, मिथ्यात्व और निदान) नहीं होता है ?

समाधान—माया, मिथ्यात्व और निदान ये तीन सम्यक्त्व के अतीचार माने गये हैं। सम्यक्त्व संज्ञी के अतिरिक्त स्थावरादि असज्ञीपर्यन्त जीवों के नहीं होता है। यह कथन व्यवहार सम्यग्दर्शन की अपेक्षा है।

छल-कपट करके सन्मार्ग को छिपाना, व असन्मार्ग को सन्मार्ग प्रकट करने के लिए दंभ करना मायाशल्य है।

मोक्ष मार्ग को दूषण लगाना या उसका विनाश करना, सन्मार्ग का निरूपण न कर उन्मार्ग (विपरीतमार्ग) की प्ररूपणा करना मोक्षमार्ग पर स्थित जीवों को सन्मार्ग से चिगाना-यह सब मिथ्यादर्शन शल्य है।

आगामी काल में मुझे अमुक् भोगादि सामग्री प्राप्त हो, इस प्रकार मन में चिन्तन करनें को निदानशल्य कहते हैं। यह निदान, तीन प्रकार का है १ प्रशस्तनिदान, २ अप्रशस्तनिदान और ३ भोगनिदान।

१ प्रशस्त निदान—पूर्ण सयम का पालन करने के लिए दूसरे जन्म मे पुरुष आदि होने की वाछा करना प्रशस्त निदान है।

२ अप्रशस्तनिदान—मान कपाय के वश होकर आगामी भव में उत्तम कुल, सुन्दर रूपादि की आकांक्षा करना अप्रशस्त निदान है।

३ इस व्रत, सयम व शील के पालन करने से मुझे इस भव में अमुक् भोग सामग्री प्राप्त हो, इस प्रकार की अभिलाषा करने को भोग निदान कहते हैं।

असयतसम्यग्दृष्टि के तथा सयतासयत (अणुव्रती श्रावक) के निदानशल्य मरण होता है। पार्श्वस्थादि भ्रष्ट साधु चिरकाल विहार करके बिना आलोचन किये ही उसी अवस्था मे जो मरण करता है, उसके माया शल्य मरण होता है। यह मरण संयमी, अणुव्रती श्रावक तथा अविरतसम्यग्दृष्टि के भी होता है।

(१०) बलाय (पलाय) मरण

विनय, वैयावृत्त्य तथा देववन्दनादि नित्य नैमित्तिक क्रिया करने मे आलस्य (प्रमाद) करने वाला, इनमे आदर भाव न रखने वाला, व्रतो के आचरण करने मे प्रमादी, समिति और गुप्ति के पालन करने मे अपनी शक्ति को छिपाने वाला, धर्म के स्वरूप का विचार करते समय निद्रा वश हो जाने वाला, ध्यान नमस्कारादि कार्यों से दूर भगने वाले अर्थात् उसमे उपयोग न देने वाले का जो मरण है, उसे बलाय (पलाय) मरण कहते है। सम्यक्त्वपडित, ज्ञानपडित और चारित्रपडित के यह बलाय मरण भी सभव हो सकता है।

जो पहले सशल्य मरण और अवसन्न मरण कह आये हैं वे दोनो प्रकार के मरण करने वालों के नियम से वलाय मरण है। तथा इनके अतिरिक्त जीवों का भी वलाय मरण होता है। क्योंकि जो जीव नि शल्य (शल्यरहित) है और सवेगभाव से युक्त है, किन्तु सस्तर (शय्या) पर पडे हुए अर्थात मरणोन्मुख हुए उसके शुभ भावों का पलायन हो रहा है, उसके शुभ भाव नहीं ठहरते हैं। अतः सशल्य और अवसन्न मरण करने वालो से भिन्न जीवो के भी वलाय (पलाय) मरण होता है।

(११) वशार्त्त मरण (आर्त्तवश मरण)

आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान मे प्रवृत्त हुए जीव के वशार्त्तमरण होता है। इसके चार भेद होते हैं—१ इन्द्रियवशार्त्त-मरण २ वेदनावशार्त्त-मरण, ३ कपाय-वशार्त्त-मरण, ४ नोकपायवशार्त्त-मरण।

१ इन्द्रियवशार्त्त-मरण—स्पर्श रस गन्धादि पाच इद्रिय विपयों के भेद से इस मरण के भी पाच भेद हो जाते हैं। स्पर्शनेन्द्रिय-वशार्त्तमरण, रसनेन्द्रिय-वशार्त्तमरण आदि।

तत वितत घन और सुपिर (मृदग वीणादि) वाद्य जनित मनोज्ञ शब्दों मे राग और अमनोज्ञ (अप्रिय) शब्दों मे द्वेषयुक्त होकर मरण करने को श्रोत्रेन्द्रिय वशार्त्तमरण कहते हैं। खाद्य, स्वाद्य, लेह्य व पेय ऐसे चार प्रकार के आहार मे यदि वह इष्ट हो तो उसमें आसक्ति सहित और यदि वह अनिष्ट हो तो द्वेप सहित होकर मरण करने को रसनेन्द्रिय-वशार्त्तमरण कहते हैं। चन्दन पुष्पादि पदार्थों के

लुभाव, गंध में प्रेम और अरुचिकर असुहावने में द्वेष युक्त होकर मरण करने को घ्राणेन्द्रिय-वशार्त्तमरण कहते हैं। तथा सुन्दर रूप व आकार मे रागभाव और असुन्दर रूप व आकार मे द्वेषभाव युक्त होकर मरण करने को नेत्रेन्द्रिय वशार्त्तमरण और स्पर्शवाले पदार्थों के सुन्दर सुहावने स्पर्श मे प्रीति और असुहावने स्पर्श में अप्रीति करने को स्पर्शनेन्द्रिय वशार्त्तमरण कहते हैं। इसी तरह मन के लिए भी समझना चाहिए। इन सबको इन्द्रियानिन्द्रियवशार्त्त मरण के नाम से कहते हैं।

२ वेदनावशार्त्त मरण—इस मरण के दो भेद हैं—सातवेदनावशार्त्त मरण और असातवेदनावशार्त्त मरण।

जो जीव शरीर और मन सम्बन्धी सुख में उपयोग सहित मरता है, उसके सातवेदनावशार्त्त मरण होता है और जो शारीरिक तथा मानसिक दुःख मे उपयोग रखते हुए मरता हैं, उसके असातवशार्त्त मरण होता है।

३ कषायवशार्त्त मरण—कषाय के चार भेद हैं, अतः कषाय की अपेक्षा इस मरण के भी चार भेद होते हैं। अपने ऊपर, दूसरे पर अथवा स्व पर दोनो पर उत्पन्न हुए क्रोध से जो मरण करता है, उसे क्रोध वशार्त्त मरण कहते हैं। मानवशार्त्त मरण के आठ भेद होते हैं कुल, रूप, बल, शास्त्रज्ञान, प्रभुत्व, लाभ, प्रज्ञा और तपस्या से अपने को उत्कृष्ट समझते हुए प्राणी का अभिमानवश जो मरण होता है, उसको मानवशार्त्त मरण कहते हैं। उक्त आठ मदों से युक्त मरण को पृथक् २ कहते हैं।

मैं जगत् प्रसिद्ध विशाल व उच्चकुल मे उत्पन्न हुआ हूँ, ऐसे मानते हुए प्राणी का जो मरण होता है, वह कुलमानवशार्त्त मरण है। मेरे पाचों इन्द्रिया सुन्दर हैं तथा सम्पूर्ण शरीर के अवयव सुडौल और मनोज्ञ हैं, मैं तेजस्वी हूँ, नवयुवक हूँ, मेरा रूप सम्पूर्ण मनुष्यो के मन को मोहने वाला है, इस प्रकार के भाव रखते हुए जीव का जो मरण होता है, उसे रूपमानवशार्त्तमरण कहते हैं। मैं वृक्ष पर्वतादि को उखाड़ फैंकने मे समर्थ हूँ, मैं युद्ध शूर हूँ, तथा मेरे पास मित्रों का बल है, इस प्रकार बल का अभिमान करते हुए जीव का जो मरण होता है, उसे बलमानवशार्त्त मरण कहते हैं। मेरा परिवार बहुत है, मेरी आज्ञा को सब मानते हैं इस प्रकार अपनी प्रभुता (ऐश्वर्य) मे उन्मत्त पुरुष का जो मरण होता है उसको प्रभुता (ऐश्वर्य) मानवशार्त्त मरण कहते हैं। मैं लौकिकशास्त्र, व्यवहार, वेद, सिद्धान्तशास्त्रादि का ज्ञाता हूँ, इस प्रकार शास्त्र ज्ञान के अभिमानी के मरण को शास्त्रज्ञानाभिमानवशार्त्त मरण कहते हैं। मेरी अतिनिर्मल व तीक्ष्ण बुद्धि सब शास्त्रों मे प्रवेश करती है, मेरे तर्कज्ञान के आगे दूसरे की तर्क बुद्धि नहीं चलती है—इत्यादि प्रकार से अपनी बुद्धि के अभिमानी के मरण को प्रज्ञामानवशार्त्त मरण कहते हैं। मैं जिस व्यापार मे हाथ डालता हूँ, सबमे मुझे लाभ ही लाभ होता है, ऐसे लाभ सम्बन्धी मान का विचार करते हुए मनुष्य के मरण को लाभमानवशार्त्त मरण कहते हैं। मैं दुर्धर तपश्चर करने वाला हूँ, तपस्या मे मेरे समान अन्य कोई नहीं है, इस प्रकार चिन्तन करते हुए जीव का जो मरण होता है, वह तपमानवशार्त्त मरण कहलाता है।

माया के पांच भेद हैं—१ निकृति, २ उपधि, ३ सातिप्रयोग, ४ प्रणिधि और ५ प्रतिकुंचन। १ धन की तथा अन्य किसी विषय की अभिलाषा करने वाले मनुष्य द्वारा जाल फँसाने को निकृति नाम की माया कहते हैं। २ अपने असली भाव को छिपाकर धर्म के बहाने से चोरी आदि दुष्कृत्य मे प्रवृत्ति करने को उपधि नामक माया कहते हैं। ३ धन के विषय में झूठा झगड़ा करना, किसी की धरोहर रखी हो उसको कम देना या सब का सब हजम कर जाना, किसी को झूठा दूषण लगाना या झूठी प्रशंसा के पुल बांधना, यह सातिप्रयोगमाया है। ४ कम मूल्य की सदृश वस्तु को बहुमूल्यवाली वस्तु में मिलाना, हीनाधिक नाप व तोल के उपकरण रखना, असली में नकली चीज की मिलावट करना अथवा असली कहकर नकली चीज देना यह प्रणिधि नाम की माया है। गुरु के सम्मुख आलोचना करते हुए दोषों को भले प्रकार प्रकट करना, उनको छिपाना, यह प्रतिकुंचन नाम की माया है।

लोभवशार्त्तमरण—पिच्छी, पुस्तक, कमण्डलु आदि उपकरणों मे, भोजन पान में, क्षेत्र में, शरीर मे और निवासस्थान में इच्छा या मूर्च्छा (ममत्व) रखने वाले का जो मरण होता है, उसको लोभवशार्त्त मरण कहते हैं।

नो कषायवशार्त्त मरण—हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्री वेद पुरुष वेद तथा नपुंसक वेद से आक्रांत मनुष्य का जो मरण होता है, उसे नोकषायवशार्त्त मरण कहते हैं।

नोकषाय के वश आर्त्तमरण करनेवाला जीव मनुष्य और तिर्यंच योनि मे उत्पन्न होता है। असुरजाति के देवों में (कंदर्प और किल्विषिक नीचदेवों मे) जन्म लेता है। मिथ्यादृष्टि के यही बालमरण होता है। दर्शनपण्डित, अविरतसम्यग्दृष्टि तथा संयतासंयत (अनुव्रती श्रावक) भी वशार्त्तमरण करते हैं, उनका यह मरण बालपण्डितमरण या दर्शनपण्डित मरण समझना चाहिए।

(१२) विप्पाणस (विप्राण) मरण

विप्पाणस (विप्राण) मरण और गृध्रपृष्ठमरण इन दोनों मरणों की शास्त्रों में न तो अनुज्ञा (अनुमति) मिलती है और न निषेध ही मिलता है।

जिस समय दुष्काल (दुर्भिक्ष) पड़ा हो, जिसको पार करना कठिन है ऐसे भयानक बीहड़ जंगल में पहुंच गये हों, पूर्वकाल के प्राणघातक शत्रु से भय उपस्थित हुआ हो, दुष्ट राजा से भय प्राप्त हुआ हो, या चोर का भय उपस्थित होगया हो अथवा सिंहादि प्राण संहारक तिर्यंचकृत उपसर्ग उपस्थित होगया हो, और इनके द्वारा उत्पन्न हुए क्लेशों को सहन का सामर्थ्य न हो, अथवा ब्रह्मचर्य व्रत के नाश अथवा अन्य चारित्र के घात के पुष्ट कारण प्राप्त हो गये हों, ऐसे समय में संसार से संविग्न पाप से भयभीत संयमी कर्म के

तीव्र उदय को उपस्थित हुआ जान कर जब वह उससे बचने का उपाय नहीं देखता है, और उन क्लेशादि को सहन करने की क्षमता अपने मे नही पाता है, पापमय कोई प्रतिक्रिया नहीं करना चाहता है, तथा आत्मा के घातक मरण से डरता है तब वह उपयुक्त कारणो के उपस्थित होने पर क्या मेरा कुशल होगा ? ऐसा विचार करता है–यदि मैं उपसर्ग भय से त्रास को प्राप्त होकर सयम से भ्रष्ट हो जाऊंगा तथा उपसर्ग वेदना को सहन न कर सकने से सम्यग्दर्शन से भी पतित हो जाऊगा तो मेरा आराधन किया हुआ रत्नत्रय हाथ से निकल जावेगा। जब उसको चारित्र व सम्यग्दर्शन के विनाश की संभावना का दृढ निश्चय हो जाता है तब वह मायाचार रहित हुआ दर्शन व चारित्र मे विशुद्धि धारण कर धैर्य का अवलम्बन करता है, ज्ञान का आश्रय लेता है, निदान रहित हुआ अर्हन्त भगवान् की साक्षी से अपने दोषों की आलोचना करके आत्मशुद्धि करता है, शुभलेश्या से अपने श्वासोच्छ्वास का निरोध करता है—उस मरण को विप्पणास (विप्राण) मरण कहते हैं।

(१३) गृध्रपृष्ठ मरण

ऊपर लिखे हुए कारणो के उपस्थित होने पर शस्त्र ग्रहण करके जो प्राणों का विसर्जन करता है, उसे गृध्रपृष्ठमरण कहते हैं।

(१४) भक्तप्रत्याख्यान, (१५) इंगिनी और (१६) प्रायोपगमनमरण

भक्तप्रत्याख्यान मरण (१५) इगिनीमरण और (१६) प्रायोपगमनमरण ये तीन उत्तम मरण हैं। ये महात्माओ के ही सभव है। इनका स्वरूप आगे कहेंगे।

केवलीमरण

केवलीमरण—ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और रागादि भावकर्म का विनाश पूर्वक जो सदा के लिए औदारिकादिशरीरो के सम्बन्ध का त्यागकर अनन्तचतुष्टय की प्राप्तिकर नित्यनिरजन अक्षय अनन्त शिव पद को प्राप्त करते हैं उन केवली भगवान के शरीर त्याग करने को केवली मरण कहते हैं।

इस प्रकार सक्षेप से सत्रह प्रकार के मरणों का विवेचन किया। उन सत्रह मरणो को भी सक्षिप्त करने से पाच मरण होते हैं। पाच मरणो के विशेष विवेचन करने की शास्त्रकार ने प्रतिज्ञा की थी, अत: उनका निरूपण करते हैं।

पंडितपंडितादि पंच मरण का विशेष वर्णन

श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना मे उक्त पाच मरणो का वर्णन करते हुए लिखते हैं —

पंडिदपंडिदमरणं पंडिदय बालपंडिदं चेव।
बालमरण चउत्थं पंचमयं बालबालं च ॥ २६ ॥ (भग आ,)

अर्थ—१ पडितपडितमरण, २ पंडितमरण, ३ बालपडित मरण, ४ बालमरण, और ५ बालबालमरण ये पाच मरण हैं।

शका—यहा पर आपने मरणों के पाच भेद ही कहे हैं। वे किस अपेक्षा से कहे गये हैं। यदि भव (मनुष्यादि) पर्याय, के विनाश होने को मरण माना जाय तो पर्याये अनेक हैं, तो मरण भी अनेक हुए।

यदि प्राणियों के प्राणो का जो वियोग होता है, उसे मरण मानें तो भी मरण के पाच भेद सिद्ध नहीं हो सकते। क्योंकि सामान्य रूप से प्राण-वियोग की अपेक्षा मे तो एक भेद ही होता है और विशेष की अपेक्षा लीजावे तो प्राण दश हैं, उनके वियोग रूप मरण के भी दश भेद सिद्ध होते हैं।

यदि उदय मे आये हुए कर्मों के खिरने को मरण कहा जावे तो कर्म प्रत्येक समय में खिरते हैं, उनको पांच तरह के कैसे कहते हैं ?

सामाधान—गुण भेद की अपेक्षा से जीवों को भी पाच प्रकार के मानकर तत्सम्बन्धी मरण के भी पाच भेद कहे गये हैं।

उक्त पाच प्रकार के मरणों को कई आचार्यों ने यथाक्रम से प्रशस्ततम, प्रशस्ततर, ईषत्प्रशस्त, अविशिष्ट और अविशिष्टतर इन नामो से भी कहा है।

(१) पण्डितपडितमरण—जिनका ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप मे अतिशय सहित पाडित्य है, अर्थात् जो केवल ज्ञान के धारक हैं, क्षायिक सम्यग्दृष्टि व यथाख्यात चारित्र और उत्कृष्ट तपश्चरण के आराधक हैं, उन केवली भगवान् के शरीर त्याग करने को पण्डित पण्डितमरण कहते हैं।

(२) पण्डितमरण—जिनका ज्ञान चारित्रादि परम प्रकर्षता को प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसे प्रमत्तसयतादि छठे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थानवर्ती साधुओ का जो मरण होता है, उसे पण्डितमरण कहा है।

* (१) पण्डित शब्द उत्तम तप, उत्तम सम्यक्त्व, उत्तम ज्ञान और उत्तम चारित्र इन चार अर्थों में व्यवहृत होता है।

(३) बाल पण्डित—सयतासयत (पंचम गुणस्थान वर्त्ती श्रावक) को बालपण्डित कहते हैं। रत्नत्रय में परिणत होने वाली पडा (बुद्धि) जिसको प्राप्त होगई है उसे यहां पण्डित माना है। इसलिए श्रावक बालपण्डित कहा गया है। क्योंकि इसमें एक देश रत्नत्रय का आराधन करने और महाव्रत रूप सर्वदेश रत्नत्रय का पालन न करने के कारण बालपना और पण्डितपना दोनो धर्म पाये जाते हैं, अत यह बाल और पण्डित उभय रूप है। इस का मरण बालपण्डितमरण माना गया है।

(४) बालमरण—असयत सम्यग्दृष्टि बालमरण करता है। क्योंकि इसके सम्यग्दर्शन और ज्ञान होने पर भी चारित्र नहीं पाया जाता है।

(५) बालबालमरण—मिथ्यादृष्टि को बालबाल कहते हैं। क्योकि इसके सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-चारित्रादि कुछ भी नहीं होता है। इसलिए यह अतिशय बाल है। इसके मरण को बालबाल मरण कहते हैं।

इन पाच प्रकार के मरणों मे से आदि के तीन मरण सद्गति देने वाले हैं, अतः जिनेन्द्रदेव ने इनकी प्रशसा की है। वही कहा है:—

पंडिदपंडिदमरणं च पंडिदं बालपंडिदं चेव।
एदाणि तिण्णि मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसंति॥ १ ॥ (भग० आ० टीका गाथा २६)

अर्थ—पडितपडितमरण, पण्डितमरण और बालपडितमरण इन तीनों की जिनेन्द्रदेव नित्य प्रशंसा करते हैं।

पडितपडितमरण के स्वामी केवली भगवान् हैं।

अब पंडित मरण किसके होता है ? ऐसी उत्पन्न हुई शंका का समाधान करते हैं—

पायोपगमणमरणं भत्तपइण्णा य इंगिणी चेव।
तिविहं पंडियमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस्स ॥ २९ ॥ (भग० अ०)

अर्थ—१ प्रायोपगमनमरण, २ इंगिनीमरण और ३ भक्तप्रतिज्ञामरण ये तीन भेद पडितमरण के हैं। ये तीनों आगमोक्त चारित्र का पालन करनेवाले मुनीश्वर के होते हैं।

(१) प्रायोपगमन मरण—जो साधु रोगादि से पीडित होने पर भी अपना वैयावृत्य दूसरे से नहीं करवाता है, और न आप भी करता है, जीवन पर्यन्त आहारादि का त्याग करके एक स्थान मे सूखे काठ की तरह व मृतककाय समान स्थित रहता है, तथा मन-वचन-काय की क्रिया रहित हुआ परम विशुद्धि से पर्याय का त्याग करता है, उसके प्रायोपगमन मरण होता है। यह मरण ससार का उच्छेद करने मे समर्थ सस्थान और सहननवाले के होता है। इस मरण को प्रयोग्यगमन मरण तथा पादोपगमन मरण भी कहते हैं।

(२) इगिनी मरण—निज अभिप्राय को इगित कहते हैं। जो अपने अभिप्राय के अनुकूल अपना वैयावृत्य आप ही करते हैं, दूसरे से अपना वैयावृत्य नहीं करवाते हैं, रोगादि अवस्था मे भी उठने, बैठने, शयन करने आदि क्रियाओ मे दूसरे की सहायता नहीं लेते हैं, सम्पूर्ण आहारादि का त्याग कर एकाकी बन म शरीर का त्याग करते हैं, उनके मरण को इगिनी मरण कहते हैं।

(३) भक्त-प्रतिज्ञा (प्रत्याख्यान) मरण—जो साधु अपनी शुश्रूषा आप भी करते है और दूसरों से भी करवाते हैं, आगमोक्त चारित्र का पालन करते हुए अनुक्रम से आहार का त्याग करते हैं, तथा कषाय को कृश करते हैं उनके भक्तप्रतिज्ञा अर्थात् भक्त-प्रत्याख्यान मरण होता है। बाल पडित का वर्णन पहले करही चुके हैं। इस तरह प्रारभ के तीन मरण ही श्रेष्ठ हैं। बालमरण चारित्रहीन सम्यग्दृष्टि के होता है। यद्यपि यह उक्त तीन मरणो की अपेक्षा हीन है, किन्तु इसके स्वामी के तत्त्वश्रद्धान होता है, इसलिए यह बालबाल मरण की अपेक्षा श्रेष्ठ है। किन्तु सयम का सर्वथा अभाव होने से इसे प्रशसनीय नहीं कहा है। मिथ्यादृष्टि के मरण को बालबाल मरण कहा है। यह मरण ससार के सब एकेन्द्रिय से लेकर मिथ्यादृष्टि समस्त पचेन्द्रियो का होता रहता है। इस जीवने अनन्त बार यह मरण किया है। आचार्य शिवकोटि कहते हैं—

सुविहियमिमं पवयणं असद्दहन्तेणि मेण जीवेण।
बालमरणाणि तीदे मदाणि काले अणंताणि ॥ ४२ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—वस्तु का यथार्थ स्वरूप प्रतिपादन करने वाले पूर्वापर विरोध रहित तथा प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रामाणो से अबाधित जिनेन्द्रदेव कथित आगम का श्रद्धान न करके इस जीवने पहले अनन्त वार बालबालमरण किये हैं। पर पडितमरण का एकबार भी सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ। यदि एक बार भी पडितमरण हो जाता तो अधिक से अधिक सात आठ भव धारण करने के पश्चात् यह आत्मा इस जन्म मरण के दु ख से सदा के लिए छूट जाता। अतः ऐसा अवसर प्राप्त होने पर अपने आपको या दूसरों को यो समझाना चाहिए की हे आत्मन्! बड़ी कठिनता से महान पुण्य कर्म उदय से यह अनुपम स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ है। इसलिए परमागम की श्रद्धा मे दृढ़ रहो और अपने चारित्र को निर्मल बनाओ। जिन अतिचारों का पूर्व वर्णन कर आये हैं, उनमे से एक भी अतिचार अन्त समय मे मत लगने दो। क्योकि

मनुष्य जन्म का पाना और अनुकूल साधनों का योग पाकर संयम का आराधन करना उत्तम कार्यों में शिरोमणि है। इस संयम के लिए उत्कृष्ट सांसारिक सुख के स्वामी सर्वार्थसिद्धि के देव भी तरसते हैं। यह संयमरत्न तुमने प्राप्त कर लिया है। क्या इसे साधारण पुण्य वाले पुरुष प्राप्त कर सकते हैं? सुन्दर शरीर, विपुल धन सम्पत्ति, देवदुर्लभ ऐश्वर्य, मनोनुकूल उपभोग-विलासता या आहारादि सामग्री तो तुमने इस अपार संसार में न जाने कितनी बार उपलब्ध करली हैं, उससे क्या शान्ति मिली है? मोहवश यह आत्मा आहार भोगादि से मिथ्या सुख शान्ति मान लेता है। सुख शान्ति प्राप्त करने का मार्ग तो सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्र हैं। इसलिए हे मुने! मरण समय में इन सुख दाता सम्यक्त्वादि का त्याग मत करो। यदि तुमने उनका त्याग किया तो अनन्त काल पर्यन्त संसार में भ्रमण करना पड़ेगा। अतएव इस समय सम्यक्त्व की रक्षा करते हुए संयम का निरतिचार पालन कर आत्मा को इस संसार के रोमांचकारी दुःखों से मुक्त करने के लिए पंडितमरण से शरीर का त्याग करो।

पंडितमरण का फल केवल ज्ञान प्राप्त करना है। यदि संसार की अवधि अभी कुछ शेष रही तो पंडितमरण करनेवाला संयमी कल्पवासी देवों में जन्म लेता है और वहां पर दिव्य स्वर्गीय सुख सामग्री को अनुभव कर निकट भविष्य में निर्वाण पद का अधिकारी होता है। इसलिए इस समय काय और कषाय को कृश करना ही तुम्हारा परम कर्त्तव्य है।

ऊपर जो पांच प्रकार के मरण बताये हैं, उनमें से पंडितपंडितमरण, बालपंडितमरण, बालमरण और बालबालमरण को छोड़कर केवल पंडितमरण का यहां ग्रहण होता है, क्योंकि इस पंचम काल के साधुओं के पंडितपंडितमरण नहीं होसकता है। केवली भगवान् औदारिक शरीर का त्यागकर निर्वाण के लिए गमन करते हैं, उनके यह मरण माना गया है और शेष तीन संयमहीन मनुष्यों के होते हैं। अतः वर्तमान संयमियों के एक पंडित मरण ही उपादेय माना गया है। इसलिए उसीका निरूपण यहां करना है।

पंडित मरण के तीन भेद

इसके तीन भेद पहले बतलाये गये हैं। उनमें से प्रायोपगमन मरण और इंगिनीमरण का विवेचन आगे करेंगे। यहां पर केवल भक्त-प्रतिज्ञा (भक्तप्रत्याख्यान) मरण का निरूपण करना है। क्योंकि प्रायः मुनि इसीका आश्रय लेते हैं। यही कहा है

पुव्वं ता वण्णेमि भत्तपइण्णं हमत्थमरणेसु।
उम्सण्णा सा चेव हु सेसाणं वण्णणा पच्छा ।' ६४ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—पंडितमरण के प्रायोपगमन, इंगिनी व भक्तप्रत्याख्यान ये तीन भेद हैं। उनमें से प्रथम भक्तप्रत्याख्यान मरण का वर्णन

करते हैं, क्योंकि साधुओं के बहुलता से यही मरण पाया जाता है। इसके पश्चात् शेष दो मरणों का वर्णन करेंगे। भक्तप्रत्याख्यान का स्वरूप संक्षेप से पहले वर्णन कर आये हैं। अब उसका विशेष विवेचन करने के लिए उसके भेद दिखाते हैं।

भक्त प्रत्याख्यान नामक पंडित मरण के भेद और उनका स्वरूप

दुविहं तु भत्तपच्चक्खाणं सविचारमध अविचारं।
सविचारमणागाढे मरणे सपरक्कमस्स हवे ॥ ६५ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—भक्तप्रत्याख्यान-मरण के दो भेद हैं-(१) सविचार भक्तप्रत्याख्यान मरण और (२) अविचार भक्तप्रत्याख्यान मरण।

(१) सविचारभक्तप्रत्याख्यान—जो साधु उत्साह बल से युक्त है, तथा जिसका मृत्यु काल सहसा (अकस्मात्) उपस्थित नहीं हुआ है, जो विधिपूर्वक अन्य संघ में जाने की इच्छा रखता है, उसके मरण को सविचारभक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हैं।

(२) अविचारभक्तप्रत्याख्यान मरण—जो सामर्थ्य से हीन है और जिसका मृत्यु समय अचानक उपस्थित होगया है, उस पराक्रम रहित साधु के मरण को अविचारभक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हैं।

सविचार भक्त प्रत्याख्यान के ४० प्रकरणों के नाम स्वरूप

उक्त दो भेदों में से प्रथम भेद सविचार भक्तप्रत्याख्यानमरण का विवेचन निम्नोक्त चालीस अधिकारों में किया गया है। उनके नाम ये हैं।

(१) अर्ह, (२) लिंग, (३) शिक्षा, (४) विनय, (५) समाधि, (६) अनियतविहार, (७) परिणाम, (८) उपधित्याग, (९) श्रिति (१०) भावना, (११) सल्लेखना (१२) दिशा, (१३) क्षामणा, (१४) अनुशिष्टि, (१५) परगणचर्या, (१६) मार्गणा, (१७) सुस्थित, (१८) उपसम्पदा, (१९) परीक्षा, (२०) प्रतिलेख, (२१) आपृच्छा, (२२) प्रतीच्छन, (२३) आलोचना, (२४) गुणदोष, (२५) शय्या, (२६) संस्तर, (२७) निर्यापक, (२८) प्रकाशन, (२९) हानि, (३०) प्रत्याख्यान, (३१) क्षामण, (३२) क्षमण, (३३) अनुशिष्टि, (३४) सारणा, (३५) कवच, (३६) समता, (३७) ध्यान, (३८) लेश्या, (३९) फल और ४० शरीरत्याग। इनका प्रथम सामान्य अर्थ लिखते हैं।

(१) अर्ह—अमुक पुरुष भक्तप्रत्याख्यान के योग्य और अमुक योग्य नहीं है। इस प्रकार पुरुष की योग्यता के वर्णन करने अधिकार को अर्हाधिकार कहते हैं।

(२) लिंगाधिकार—शिक्षा विनय समाधि आदि क्रियाएँ भक्तप्रत्याख्यान की सामग्री हैं, उसका साधन लिंग है। अमुक लिंग (चिह्न) का धारण करने वाला भक्तप्रत्याख्यान कर सकता है और अमुक का नहीं-उसका वर्णन करनेवाला लिंगाधिकार है।

(३) शिक्षा—बिना ज्ञान के विनयादि का पालन नहीं होता है, इसलिए ज्ञानोपार्जन (श्रुताभ्यास) करना आवश्यक है। इसका विवेचन करने वाला शिक्षा अधिकार है।

(४) विनय—ज्ञानादि की वासना विनय से प्राप्त होती है, इसका वर्णन इस अधिकार में किया गया है।

(५) समाधि— मन को एकाग्र करने को समाधि कहते हैं। अशुभोपयोग से हटाकर मन को शुभोपयोग अथवा शुद्धोपयोग में लगाना समाधि है। इसका वर्णन इस अधिकार में किया गया है।

(६) अनियत विहार—पूर्व में नियत नहीं किये गये ऐसे अनेक नगर ग्रामादि में विहार का वर्णन करनेवाला यह अधिकार है।

(७) परिणाम—साधु के कर्त्तव्य कर्मों का वर्णन करनेवाले अधिकार को परिणाम (कर्त्तव्य विचार) अधिकार कहते हैं।

(८) उपधित्याग—परिग्रह के त्याग का वर्णन करने वाला यह उपधित्याग अधिकार है।

(९) श्रिति—शुभपरिणामों की उत्तरोत्तर वृद्धि करना, इसका निरूपक श्रिति अधिकार है।

(१०) भावना—उत्तरोत्तर भावना को उत्कृष्ट बनाने का अभ्यास करने का विवेचक भावनाधिकार है।

(११) सल्लेखना—शरीर और कषायों को कृश करना सल्लेखना है इसका वर्णन इस अधिकार में किया गया है।

(१२) दिशा—दिशा नाम एलाचार्य का है। संघ के नायक आचार्य ने यावज्जीव आचार्य पद का त्याग करके उस पद पर अपने समान गुणवाले जिस शिष्य को स्थापित किया है, उसे एलाचार्य कहते हैं। उसके स्वरूप व उपदेश का वर्णन करने वाले अधिकार को दिशा अधिकार कहते हैं।

(१३) क्षमणा—परस्पर क्षमा याचना का वर्णन करने वाला क्षमापणा अधिकार है।

(१४) अनुशिष्टि—आचार्य संघस्थित मुनियो के प्रति तथा आचार्य पद पर स्थापित अपने शिष्य के प्रति दिये हुए उपदेश का वर्णन करने वाला अनुशिष्टि अधिकार है।

(१५) परगणचर्या—अपने संघ को छोडकर अन्य संघ मे गमन का वर्णन करनेवाला परगणचर्या अधिकार है।

(१६) मार्गण—रत्नत्रय की शुद्धि तथा समाधिमरण करवाने मे समर्थ आचार्य का अन्वेषण (तलाश) करने का वर्णन इस अधिकार मे किया गया है।

(१७) सुस्थित –परोपकार करने मे तथा आत्म-प्रयोजन (आचार्यपद के योग्य कार्य) साधन करने मे प्रवीण आचार्य का वर्णन इसमे किया गया है।

(१८) उपसम्पदा—आचार्य के पादमूल मे गमन करने का वर्णन उपसम्पदा अधिकार मे है।

(१९) परीक्षा—वैयावृत्त्य करनेवाले मुनि की आहारादि सम्बन्धी लालसा की तथा उसके उत्साह की परीक्षा करने का वर्णन इसमे किया गया है।

(२०) प्रतिलेख—आराधना की निर्विघ्न साधना करने के लिए उसके अनुकूल राज्य, देश, नगर, ग्रामादि का तथा उनके अधिकारी आदि के शोधन का निरूपण करनेवाला यह अधिकार है।

(२१) आपृच्छा—यह साधु हमारे संघ मे ग्रहण करने योग्य है या नहीं है ? इस प्रकार संघ से प्रश्न करने का वर्णन इसमे किया गया है।

(२२) प्रतीच्छन— प्रतिचारक मुनियो की सम्मति लेकर आराधना करने के लिए आये हुए मुनि का ग्रहण करने का वर्णन इसमे होता है।

(२३) आलोचना—गुरू के निकट अपने दोषोंका निवेदन करने का विवेचन इसमें है।

(२४) गुणदोष –आलोचना के गुण व दोषों का निरूपण करने वाले अधिकार को गुणदोष अधिकार कहा है।

(२५) शय्या—आराधक के योग्य वसतिका का निरूपण करनेवाला यह शय्या नाम का अधिकार है।

(२६) सस्तर—मुनि के योग्य संस्तर का वर्णन इसमे किया गया है।

(२७) निर्यापक—आराधक के समाधिमरण मे सहायता करनेवाले आचार्यादि को निर्यापक कहते हैं। इसका वर्णन इस अधिकार मे किया गया है।

(२८) प्रकाशन—चरम (अन्तिम) आहार को दिखाना, इसका वर्णन करनेवाला यह प्रकाशन अधिकार है।

(२९) हानि—क्रम मे आहार का त्याग करने का विधान करने वाला हानि नाम का अधिकार है।

(३०) प्रत्याख्यान—जलादि पेय पदार्थों के अतिरिक्त तीनो प्रकार के आहार का त्याग करने का वर्णन करने वाला प्रत्याख्यान अधिकार है।

(३१) क्षामण—आचार्यादि निर्यापको से आराधक की क्षमायाचना का वर्णन इसमें किया गया है।

(३२) क्षमण—अन्य सब साधु आदि के अपराधो को क्षमा करने का वर्णन करनेवाला क्षमणाधिकार है।

(३३) अनुशिष्टि—सस्तर मे स्थित साधु के प्रति निर्यापकाचार्य की शिक्षा देने का निरूपण इस अधिकार मे किया गया है। न० १४ पर भी अनुशिष्टि नामक भेद ऊपर लिख आये हैं। भगवती आराधना मे भी दोनो स्थानों पर यही नाम आया है। न० १४ पर लिखा है—अणुसिट्ठि—सूत्रानुसारेण शासनम्। और यहा न० ३३ पर है-अणुसट्ठी-अनुशासन शिक्षणं निर्यापकस्याचार्यस्य।

(३४) सारणा—दु:ख की वेदना से मोह को प्राप्त हुए अथवा अचेत हुए साधु को सचेत करने का निरूपण सारणाधिकार मे किया है।

(३५) कवच—जैसे सैकडों बाणो का निवारण कवच (बख्तर) से होता है, वैसे ही निर्यापकाचार्य के धर्मोपदेश से सस्तर स्थित साधु के प्राप्त दु:ख का निवारण होता है, इसका विवेचन करनेवाला यह कवचाधिकार है।

(३६) समता—जीवन मरण लाभ अलाभ सयोग वियोग सुख दु:खादि मे राग द्वेष न करना समताधिकार मे वर्णित है।

(३७) ध्यान—एकाग्रचित्त का निरोध करना ध्यान है। इसमें ध्यान का वर्णन है।

(३८) लेश्या—कषाय से मिश्रित योग की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। लेश्याधिकार में लेश्या का स्वरूप प्रतिपादन किया है।

(३९) फल—आराधना से सिद्ध होने वाले कार्य को फल कहते हैं। इसमे आराधनाजनित प्रयोजन का वर्णन किया गया है।

(४०) देहत्याग—आराधक के शरीर का त्याग इसमे वर्णित है।

इस प्रकार भक्तप्रत्याख्यान मरण मे चालीस अधिकार है, उनके सामान्य स्वरूप का वर्णन किया गया है। अब उनका विशेष वर्णन करते है।

अर्हाधिकार

कैसा साधु आराधना करने योग्य है यह दिखलाते हैं:—

वाहिव्व दुप्पसज्झा जरा य सामण्णजोगहाणिकरी ।
उवसग्गा वा देवियमाणुसतेरिच्छिया जस्स ॥ ७१ ॥
आणुलोमा वा सत्तू चारित्तविणासया हवे जस्स ।
दुब्भिक्खे वा गाढे अडवीए विप्पणट्ठो वा ॥ ७२ ॥
चक्खुं व दुब्बलं जस्स होज्ज सोदं व दुब्बलं जस्स ।
जघाबलपरिहीणो जो ण समत्थो विहरिदुं वा ॥ ७३ ॥
अण्णम्मि चावि एदारिसंमि आगाढकारणे जादे ।
अरिहो भत्तपइण्णाए होदि विरदो अविरदो वा ॥ ७४ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—सयम का विनाश करनेवाला दु साध्य रोग जिसके शरीर मे उत्पन्न होगया हो ऐसा साधु या गृहस्थ भक्त प्रत्याख्यान करने योग्य है। अर्थात् जिस सयमी या अणुव्रती श्रावक के शरीर मे ऐसी व्याधि उत्पन्न हो जाये जिसको मिटाने के लिए उसे संयम का त्याग करना पडे और जिस व्याधि की शान्ति दुष्कर प्रतीत हो, ऐसी व्याधि से पीडित सयमी या देश सयमी या अव्रतसम्यग्दृष्टि को भक्त प्रत्याख्यान के योग्य माना है। जीवो के रूप, शरीरादि, बल, अवस्था आदि का नाश करनेवाली वृद्धावस्था इतनी वढ जावे कि मुनि तप आदि क्रिया मे असमर्थ हो जावे। तब वह भक्तप्रत्याख्यान के योग्य माना गया है। क्योकि वृद्धावस्था मे शरीर बल घट जाता है तब साधक कायक्लेशादि तपश्चरण मे प्रवृत्ति नहीं कर सकता है। जो अत्यन्त वृद्धावस्था से युक्त हो जाता है, उसका ध्यान स्थिर नहीं रहता है। अर्थात् उसका यथार्थ वस्तु ज्ञान निश्चल नहीं होता है। इसलिए ध्यान योग का विनाश करनेवाली वृद्धावस्था जिसको प्राप्त हो जाती है, वह भक्त प्रत्याख्यान मरण के योग्य मानागया है। जब देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यंचकृत अथवा अचेतनकृत ऐसा भयानक उपद्रव उपस्थित हो जावे जिस को

निवारण करना अशक्य हो और उस उपद्रव से उत्पन्न हुई पीड़ा का प्रतीकार असभव प्रतीत हो, तब मुनि भक्त प्रत्याख्यान को अंगी-कार करते है।

जब अनुकूल बन्धुगण स्नेहवश या अपने भरणपोषण के लोभ से प्रेरित हुए संयमी के संयम-धन का विनाश करने मे तत्पर हों अथवा जब देव, मनुष्य व तिर्यंचों में से कोई उसके सयम को छुडाने के लिए उद्यत हो, तब वह सयमी भक्तप्रत्याख्यान के लिए योग्य कहा गया है।

उल्कापात के समान समस्त देशनिवासियों को अनुभव होनेवाले महा भयानक दुर्भिक्ष पडने पर साधक भक्तप्रत्याख्यान करते हैं। क्योकि दुष्काल मे निर्दोष आहार का मिलना असभव हो जाता है। उसमे चारित्र का नाश होना सभव है। अतः अपने चारित्र की रक्षा के लिए साधक भक्तप्रत्याख्यान कर सल्लेखना करते हैं।

जब मुनि मार्गभ्रष्ट हो कर ऐसे महाभयानक बीहड वन मे पहुँच जाते हैं जिसमे क्रूर हिंसक जन्तु भरे पड़े रहते हैं, तथा जिस से उद्धार पाने का कोई भी साधन नहीं देखते हैं, तब वे दिग्मूढ हुए आपने जीवन को विनाशोन्मुख पाते हैं, उस समय वे भक्तप्रत्याख्यान करने के योग्य होते हैं।

जब साधक के नेत्र सूक्ष्म जन्तुओ के अवलोकन करने का बल खो देते हैं एव कानों में शब्द ग्रहण करने का सामर्थ्य नहीं रहता है, अथवा पाँवो मे विहार करने की (जाने आने की) शक्ति नष्ट हो जाती है तब वह भक्तप्रत्याख्यान करने के योग्य होते हैं।

इसी प्रकार के अन्य प्रतिकार रहित स्थिती के उपस्थित होने पर मुनि अथवा गृहस्थ भक्तप्रत्याख्यान के योग्य माने जाते हैं। अर्थात् उनके सयम या देशसयम के रक्षण का उपाय जब कोई दिखाई नहीं देता है, सब तरह से हताश हो जाते हैं, तब अन्ततो गत्वा इस भक्त-प्रत्याख्यान का आश्रय लेते हैं।

भक्तप्रत्याख्यान के लिए योग्य कौन हो सकता है? इस प्रश्न का समाधान कर अब भक्तप्रत्याख्यान के लिए कौन अयोग्य है? इस प्रश्न का समाधान करते हैं।

उस्सरइ जस्स चिरमवि सुहेण सामण्णणदिचारं वा।
णिज्जावया य सुलहा दुब्भिक्खभयं च जदि णत्थि ॥ ७५ ॥
तस्स ण कप्पदि भत्तपइण्णं अणुवट्ठिदे भये पुरदो।
सो मरणं पच्छितो होति हु सामण्णणिव्विण्णो ॥ ७६ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—जिसके सुख पूर्वक (निर्बाध) चारित्र का पालन हो रहा है तथा व्रतादि मे भी अतिचार लगने की कोई सभावना नहीं, वह भक्तप्रत्याख्यान के लिए अयोग्य माना गया है। समाधिमरण-सहायक निर्यापक आचार्य जब सुलभ हों और दुर्भिक्षादि का भय भी उपस्थित न हो ऐसे समय मे साधु को भक्तप्रत्याख्यान कर समाधिमरण नहीं करना चाहिए।

इसका आशय यह है कि सयम के विरोधी ऊपर की गाथा मे निर्दिष्ट दुर्भिक्षादि कारणों मे से कोई भी कारण उपस्थित न हुआ हो तो साधु भक्तप्रत्याख्यान के अयोग्य माना गया है।

जिसका चारित्र निर्विघ्न पल रहा है, तथा निर्यापकाचार्य जिसे सुलभ है, जिसको दुर्भिक्षादि का भय भी उपस्थित नहीं है, यदि वह साधु मरण की अभिलाषा करता है तो समझना चाहिए कि वह सयम से उदासीन होगया है, उसको चारित्र से अरुचि उत्पन्न होगई है, अन्यथा वह बिना आपत्तिजनक कारणों के प्राप्त हुए मरने के लिए क्यो प्रयत्न करता है?

यदि कोई साधु यह विचारे कि इस समय मुझे समाधिमरण करवानेवाले निर्यापक आचार्य सुलभ हैं और आगे दुर्भिक्षादि के भय की पूर्ण संभावना है, उस समय निर्यापकादि समाधिमरण के सहायक साधु मुझे न मिलेंगे, यदि मैं इस समय समाधि मरण न करूंगा तो मेरा सयम रत्न लुट जावेगा और भविष्य मे पंडितसमाधिमरण न कर सकूंगा—ऐसा जिसको भय हो वह मुनि भक्तप्रत्याख्यान के योग्य है, ऐसा समझना चाहिए।

इस भक्तप्रत्याख्यान समाधिमरण को अव्रतसम्यग्दृष्टि, अणुव्रती श्रावक व मुनि तीनो कर सकते हैं।

भावार्थ—हे आत्मन्? तुमने अनन्तवार जन्ममरण किये हैं। जो जन्म धारण करता है वह मृत्यु की ओर गमन करता है। जन्म और मरण का अविनाभाव सम्बन्ध है। तुमको ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे जन्म-मृत्यु के जाल से बच जाओ। वह प्रयत्न समाधि मरण है। आयु का क्षय होने पर समस्त प्राणियों का मरण निश्चित है। किन्तु सम्यग्ज्ञानी के मरण मे और अज्ञानी के मरण मे इतना ही अन्तर है कि सम्यग्ज्ञानी मरण करता हुआ मरण-सन्तान का उच्छेद करता है और अज्ञानी मरण-सन्तान की वृद्धि करता है। क्योंकि काय से मोह और कषाय की तीव्रता के कारण जन्म मरण रूप ससार की वृद्धि होती है और कायसे निर्मोहिता धारण करने मे और कषाय के अभाव से उक्त ससार का क्षय होता है। काय से ममत्व का अभाव तथा कषाय कृश करने का नाम ही समाधि है। इस समाधि को प्राप्त करने के लिए भक्तप्रत्याख्यान करना आवश्यक है।

अब यहां पर यह दिखाते हैं कि भक्तप्रत्याख्यान (आहार त्याग) करने वाले के कौनसा लिंग (भेष) होना चाहिये?

उस्सग्गियलिंगकदस्स लिंगमुस्सग्गियं तयं चेव।
अपवादियलिंगस्स वि पसत्थमुवसग्गियं लिंगं ॥ ७७ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—जिसके उत्कृष्ट लिंग (दिगम्बर भेष) है, अर्थात् जिसने दिगम्बर-मुनि-दीक्षा धारण की है, उसके तो भक्त-प्रत्याख्यान के समय भी दिगम्बर भेष रहता है, किन्तु जिसने क्षुल्लकादि गृहस्थ भेष धारण कर रखा है, वह भी अन्तिम समय मे नग्न भेष धारण कर सकता है।

भावार्थ—समाधिमरण के अवसर मे भक्तप्रत्याख्यान (आहार क त्याग) कर समाधि युक्त मरण का इच्छुक जब सस्तर में स्थित होता है तब मुनि तो उस समय भी पूर्व की भाति नग्न लिंग ही रखता है, परन्तु जिसने पूर्व मे मुनि अवस्था नहीं धारण की है किन्तु गृहस्थ अवस्था को ही धारण किये हुये है—ऐसे क्षुल्लक, ऐलक व इसके नीचे की अवस्था के जो धारक हैं वे जब भक्तप्रत्याख्यान करते हैं तब नग्नभेष धारण कर लेते हैं।

प्रश्न—क्या प्रत्येक पुरुष भक्तप्रत्याख्यान के समय नग्नभेष धारण कर सकता है ?

उत्तर—नहीं, प्रत्येक पुरुष नग्नभेष धारण करने के योग्य नहीं होता है। जिसमे नग्नता की योग्यता है वही पुरुष इस भेष को धारण कर सकता है। जो ससार-भोगो से विरक्त होगया है और अपने मनुष्य भव को सयम पालन करते हुए सफल बनाना चाहता है, वही परम विरक्त मन्दकषायी नग्नता के योग्य कहागया है।

प्रश्न—जो ससार से उदासीन है जिसकी भावना वैराग्यपूर्ण है, जो ससार के दुःखो से उद्विग्न है—वह मन्दकषायी तो चाहे कोई भी दिगम्बर भेष को क्या धारण कर सकता है ?

उत्तर—हॉ, जो उक्त गुणो से भूषित है, वह पुरुष नग्नभेष धारण कर सकता है। परन्तु उसके पुरुष चिह्न मे निम्नोक्त दोष न हो तभी वह नग्न भेष का अधिकारी माना गया है। जिसके पुरुषचिह्न का अग्रभाग चर्म रहित (उघाडा) न हो, पुरुषचिह्न अतिदीर्घ (लम्बा) न हो। बार बार चैतन्य न होता हो, ऊपर उठता न हो, तथा अडकोश बड़े न हो। वही दिगम्बर भेष को धारण कर सकता है। जिसमे इन दोषो मे से एक भी दोष हो वह मुनिभेष धारण नहीं कर सकता है। फिर भी वह समाधि मरण के समय भक्तप्रत्याख्यान कर जब सस्तर मे स्थित होता है, तब नग्नता जरूर धारण कर सकता है, अन्य समय मे नग्नता धारण करने का आगम मे सर्वथा निषेध है। आगम से विरुद्ध प्रवृत्ति करने वाले को मिथ्यादृष्टि कहा है—

सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंत जदा ण सद्दहदि ।
सो चेव हवइ मिच्छादिट्ठी जीवो तदोपहुदि ॥ ३३ ॥ (भग०)

अर्थ —किसी मनुष्य ने अज्ञान से अथवा किसी के उपदेश से उल्टा श्रद्धान कर लिया हो और जब कोई आगम प्रमाण देकर उसे सम्यक् प्रकार वस्तु-स्वरूप दिखावे और वह उसकी अवहेलना कर सत्य तत्त्व का श्रद्धान न करे, अपनी अवस्तुतत्त्व की श्रद्धा को न छोडे और पूर्व की भाति मिथ्या-प्रवृत्ति ही करता रहे तो वह मनुष्य मिथ्यादृष्टि माना जाता है। इसलिए प्रत्येक को उक्त प्रमाण भूत आगम की आज्ञा का पालन करना चाहिए। जो आगम के विपरीत अपनी मन-कल्पित प्ररूपणा करता है, आगम से अमान्य मुनिभेष को धारण करता है, उसके सम्पर्क मे भी रहना उचित नहीं है, मिथ्यादृष्टि के सम्पर्क मे रहने वाला, उसकी प्रशंसा करने वाला, उसकी कुप्रवृत्ति म सहायता देनेवाला भी मिथ्यादृष्टि होता है।

प्रश्न—भक्तप्रत्याख्यान के समय जब गृहस्थ भी दिगम्बर भेष धारण कर सकता है तो फिर आर्यिका के लिए क्या विधान है? क्या वह सवस्त्र ही समाधिमरण करती है? या वह भी सब परिग्रह का त्यागकर दिगम्बर मुद्रा धारण कर सकती है?

उत्तर—आर्यिका समस्त परिग्रह का त्यागकर एक साडी मात्र परिग्रह रखती है। उसमे उसको ममत्व नहीं होता, अत उसके उपचार से महाव्रत माना गया है। क्योंकि आगम मे उसके लिए साडी धारण करने की आज्ञा है। किन्तु जब उसका मृत्युकाल आगया हो, और वह भक्तप्रत्याख्यान करके संस्तर मे स्थित हो तो योग्य स्थान मे उस समय सब अनुकूलता होने पर वस्त्र का भी त्याग कर देती है। वह वसतिका के अन्दर ही रहती है और अपना समाधिमरण (पंडितमरण) करती है।

अन्य क्षुल्लिकादि श्राविकाएँ भी मृत्यु समय योग्य स्थान के सब अनुकूल साधनो के होने पर घर के भीतर दिगम्बर भेष धारण कर सकती है। इनके लिए दोनो मार्ग हैं। जो श्राविका महान ऐश्वर्यवाली तथा लज्जावती है और जिसके कुटुम्बीजन मिथ्यादृष्टि हैं उसके लिए दिगम्बर भेष मे समाधिमरण करने का निषेध है। यथा—

इत्थीवि य जं लिंगं दिट्ठं उस्सग्गियं व इदरं वा ।
तं तह होदि हु लिंगं परित्तमुवधिं करेंतीए ॥ ८१ ॥ (भग०)

अर्थ—स्त्री के भी समाधिमरण के समय उत्सर्ग लिंग (मुनिसमानभेष) तथा सवस्त्र लिंग दोनों ही आगम में वर्णन किये गये

पू कि ५

हैं। आर्यिका मृत्युकाल उपस्थित होने पर योग्यस्थान में वसतिका के अन्दर रहकर मुनिवत् दिगम्बर भेष धारण करती हैं और श्राविकाएँ अपने परिग्रह को अलग करती हुई अन्त समय मे योग्यस्थान मिलने पर घर म ही नम्नता धारण कर सन्न्यास मरण कर सकती है। तथा अनुकूलस्थानादि न मिलने पर अन्य सब परिग्रह का त्यागकर वस्त्रमात्र धारण किये हुए उसमे ममता का त्याग कर भक्तप्रत्याख्यान पूर्वक पडित मरण करती है।

प्रश्न—जिनागम मे उत्सर्गलिंग और अपवादलिंग ये दो लिंग माने हैं। दिगम्बर मुद्रा धारण करना उत्सर्गलिंग है तथा सवस्त्र आर्यिकादि के भेष को अपवादलिंग कहते है। क्या भयानक विघ्न बाधा उपस्थित होने पर या दुर्भिक्षादि के उपस्थित होने पर मुनि वस्त्र धारण कर सकते है ?

उत्तर—मुनि के उत्सर्ग लिंग ही माना गया है और यह दिगम्बर मुद्रा धारण करने पर ही हो सकता है। जो अपवादलिंग है, वह मुनि के लिए नहीं है। आर्यिका तथा क्षुल्लकादि श्रावक के भेष को अपवादलिंग कहा है। मुनित्व का अपवाद (निन्दा) करनेवाले लिंग को अपवादलिंग कहते हैं। मुनि किसी भी परिस्थिति मे वस्त्र धारण नहीं कर सकता। जो वस्त्र धारण कर लेता है वह मुनिपद मे नहीं माना गया है। क्योंकि साधु के २७ मूलगुण माने गये है। उसमे नम्नता मुख्य गुण है। इसके बिना अन्य सब महाव्रतादि गुण निरर्थक माने हैं। मुनि के उत्सर्गलिंग ही होता है और उसकी चार विशेषताये है उनमे नम्नता को प्रथम स्थान दिया गया है। यथा.—

अच्चेलक्कं लोचो वोसट्टसरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हु लिंग कप्पो चदुव्विहो होदि उस्सग्गे ॥ ८० ॥ (भग०)

अर्थ—मुनित्व का उद्योतक जो चिह्न है, उसे उत्सर्ग लिंग कहते हैं। उसके चार प्रकार हैं—१ अचेलता (वस्त्र का अभाव-नम्नता) २ केश-लोच, ३ शरीर के सस्कार का त्याग और ४ प्रतिलेखन।

भावार्थ—जो मुनित्व को प्रकट करनेवाली उक्त चार बातें हैं जिनको कि देखकर व्यवहार मे मुनि को पहचाना जाता है, उनमे सबसे प्रधान नम्नता है। जिस व्यक्ति मे नम्नता नहीं है और शेष तीन बाते विद्यमान हैं तो वह साधु नहीं माना गया है। इसलिए साधुपद के लिए नम्नता अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना आत्म-शुद्धि नहीं होती और वह शिवमार्ग (रत्नत्रय) का पूर्णरूप से आराधक नहीं समझा जाता। नम्नत्व मे महान् गुण निहित हैं। उनका वर्णन मूलगुणो के निरूपण मे कर आये है। जिसके पास कोपीन (लंगोटी) मात्र परिग्रह

है और इसके अतिरिक्त जिसने सब परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर दिया है, उसकी भी आत्म-शुद्धि तब ही होती है जब कि वह उस मोह के कारणभूत कोपीन को भी त्याग देता है। यथा —

अववादियलिंगकदो विसयासत्तिं अगूहमाणो य।
णिंदणगरहणजुत्तो सुज्झदिउवधिं परिहरंतो ॥८७॥ (भग०)

अर्थ—कोपीन (लगोटी) आदि वस्त्र का धारण करनेवाले ऐलक आदि अपनी शक्ति को न छिपाकर अन्य सब परिग्रह का त्याग कर देते हैं और वे सोचते हैं कि समस्त परिग्रह का त्याग करना ही मोक्ष का मार्ग है। इसके त्याग विना पूर्ण आत्म-शुद्धि नहीं होती है। परन्तु क्या करें ? हमारी आत्मा में इतना बल उत्पन्न नहीं हुआ है कि सब परिग्रह का त्याग कर यथाजात रूप धारण करलें। इस प्रकार मन में पश्चात्ताप करते हुए अपनी निंदा करते हैं और गुरुजनों के निकट अपनी अशक्ति प्रकट करते हैं। आत्मगर्हा व निन्दा करने वाले वे मुमुक्षु अपने कर्मों की निर्जरा करते हुए क्रमसे सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर आत्मशुद्धि करलेते हैं।

प्रश्न—जो अव्रतसम्यग्दृष्टि और अणुव्रती श्रावक भक्तप्रत्याख्यान विधि से समाधि मरण करना चाहता है क्या उसको नग्नावस्था धारण करना आवश्यक है ?

उत्तर—हाँ, जिसका मृत्युसमय निकट आगया हो, अपनी आत्मा के उद्धार के लिए जो पंडितमरण करना चाहता हो तो उसको संसार के सब पदार्थों का त्याग कर एवं विधिपूर्वक भक्तप्रत्याख्यान (आहार-त्याग) कर अन्त समय में वस्त्र-त्यागपूर्वक दिगम्बर-मुद्रा धारण करना चाहिए। किन्तु यदि वह अत्यन्त लज्जाशील हो या परम वैभवशाली हो या जिसके कुटुम्ब परिवार में मिथ्यादृष्टियों का प्राबल्य हो तो उसे नग्नता धारण न करना चाहिए। उसको कम से कम वस्त्र धारण कर उसमें भी ममत्व का त्याग कर शान्ति से धर्म्यध्यान पूर्वक देह का त्याग करना चाहिए। आचार्यों ने उस मरण को भी पंडित मरण माना है।

स्वाध्याय के सातगुण

पंडितमरण के अभिलाषी मनुष्य को शास्त्र का निरन्तर स्वाध्याय करना चाहिए। क्योंकि जिनागम का स्वाध्याय करने वाले के आत्महित व परहित करने की बुद्धि आदि सात गुण प्रकट होते हैं। वे आत्महितादि गुण ये हैं —

आदहिदपइएया भावसवरो णवणवो न संवेगो।
णिक्कंपदा तवो भावणा य परदेसिगत्तं च ॥१००॥(भग०)

अर्थ—१ जिनागम का अभ्यास करने वाले के आत्महित का ज्ञान होता है। २ पापकर्मों का सवर होता है। ३ नवीन नवीन सवेगभाव उत्पन्न होता है। ४ मोक्ष मार्ग मे स्थिरता आती है। ५ तपस्या की वृद्धि होती है। ६ गुप्तिपालन मे तत्परता आती है। और ७ इतर भव्यजीवो को उपदेश करने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है। ये सात गुण जिनागम के स्वाध्याय करने वाले की आत्मा मे प्रकट होते हैं। इन सातों का सक्षेप स्वरूप यह है —

१ आत्महितज्ञान—ससार के सब अज्ञ प्राणी इन्द्रियजन्य विषय सुख को ही अपना उद्देश्य समझते हैं। वे यह नहीं समझते कि इन्द्रिय सुख सुखाभास है। यदि यह वास्तव मे सुख होता तो इसके सेवन करने से आत्मा को अशान्ति और ग्लानि का अनुभव क्यो होता ? सुख तो उसे कहते हैं जिसका अनुभव करने से आत्मा को आह्लाद और शान्ति की प्राप्ति हो। किन्तु इन्द्रियजन्य विषयसुख मे यह बात नहीं पाई जाती है। यह सुख आत्मा मे रागान्धता उत्पन्न कर कर्मबन्ध करता है। तथा इसकी प्राप्ति के लिए आत्मा को अनेक प्रकार के कुकृत्य करने पडते हैं। इससे व्याकुलता की वृद्धि होती है। यह पराधीन है। जिनागम के अभ्यास से विषयो से उदासीनता उत्पन्न होती है और सच्चे सुख के साधनभूत रत्नत्रय के आराधन मे रुचि पैदा होती है। अत जिनागम का स्वाध्याय करने से आत्महित-बुद्धि नाम का गुण प्रादुर्भूत होता है।

२ भावसवर—पापजनक विचारो का त्याग करने को भावसंवर कहते हैं। आगम का अध्ययन करने से पाप व पुण्य के कारणो का ज्ञान होता है। ज्ञानी जीव पापजनक अशुभ भावो को छोड़ता है और शुभ व शुद्ध भावो मे परिणति करता है। अर्थात् मन वचन काय मे ऐसी क्रियाएँ करता है, जिनसे पुण्य बन्ध होता है या कर्मों का संवर और निर्जरा होती है। बिना जाने अज्ञानी जीव जिन क्रियाओं से पाप कर्मों का बन्ध करता रहता है, ज्ञानी जीव परिणाम की विशुद्धि से उन्हीं क्रियाओं से कर्म की निर्जरा करता है। यह भावों की विशुद्धि जिनागम के अभ्यास से ही होती है।

३ नवीन-नवीन-संवेगभाव—जिनागम मे ससार का सत्य स्वरूप का वर्णन किया है। इस आत्मा ने इस संसार में कैसे२ दुख किस २ गति मे भोगे हैं उनका बोध होने से आत्मा ससार से भयभीत होता रहता है, इसलिए जिनागमन का अभ्यास संवेग-भाव को उत्पन्न करके श्रद्धा को दृढ बनाता है। जो सयमी नित्य स्वाध्याय नहीं करता है उस पर किसी प्रकार संकट आने पर वह श्रद्धा से च्युत हो

स म

जाता है। जो नित्य जिनवाणी का मनन करता है उसके चित्त मे दृढता रहती है और वह आपत्ति आने पर ज्ञानबल से उसको सह लेता है। उसका आत्मा श्रद्धान से भ्रष्ट नहीं होता है।

मोक्षमार्ग मे स्थिरता—जिनवाणी मोक्ष का तथा मोक्ष के मार्ग (सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र) का स्वरूप और महत्त्व का निरूपण करती है। रत्नत्रय आत्मा का स्वरूप है और जिसका जो स्वरूप है वही उसके कल्याण का करनेवाला होता है। श्रीवृषभादि तीर्थंकरों ने तथा अन्य महापुरुषो ने रत्नत्रय का आराधन कर शिव सुख प्राप्त किया है। अनेक भयानक उपसर्गों के आने पर भी उन महात्माओ ने मोक्षमार्ग के आराधन म थोडा भी शिथिलता नहीं की है। वे मेरु के समान अडोल निष्कम्प रह कर सदा के लिए सुखी हुए हैं। इसलिए सुख की अभिलाषा करनेवाले को मोक्षमार्ग पर स्थिर रहना चाहिये ऐसा ज्ञान जिनागम के अभ्यास मे होता है।

५ तपवृद्धि—जिनागम के वेत्ता ही जीवादि पदार्थों के स्वरूप को भले प्रकार जानकर भेदज्ञान प्राप्त करते हैं। शरीर और आत्मा को भिन्न समझकर उसको शरीर से पृथक् करने के लिए कर्मों का क्षय करनेवाले बाह्य और आभ्यन्तर तप का आचरण करते हैं। तत्त्वज्ञान के प्रभाव से तपस्या मे आत्मा की प्रवृत्ति बढती जाती है, स्वाध्याय स्वय अन्तरग तप है। अत जिनागम के स्वाध्याय से तप मे प्रवृत्ति होती है और निरन्तर उसकी वृद्धि होती रहती है।

६ गुप्ति के पालन मे तत्परता—मन, वचन और काय को शुद्धोपयोग मे लगाने को गुप्ति कहते हैं। इसके पालन करने मे तत्पर रहने के लिए सुगम उपाय स्वाध्याय है। स्वाध्याय करनेवाले के अनायास मन, वचन, काय का निरोध होता है। मन, वचन, काय के निरोध करने का इससे सरल कोई दूसरा उपाय नहीं है। स्वाध्याय करनेवाले का चित्त जब जीवादि तत्त्वों के स्वरूप का विचार व मनन करने मे लगता है तब उसके मन, वचन और काय तीनों विषय-कषायादि से निवृत्त होकर शुद्ध स्वरूप मे प्रवृत्त होते हैं। उस समय आत्मा अशुभोपयोग से निवृत्त होकर शुद्धोपयोग मे प्रवृत्त होता है। अत: स्वाध्याय से गुप्ति के पालन मे तत्परता होती है। गुप्ति के पालन से कर्मों का सवर और निर्जरा होता रहता है।

(७) परोपदेश सामर्थ्य—जिसने जिनागम का अभ्यास किया है वही इतर भव्य प्राणियों को उपदेश दे सकता है। ससार को कल्याण का मार्ग दिखाना साधारण पुण्यकर्म नहीं है। संसार के उद्धार करने की उत्कट इच्छा होने से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है। तीर्थंकर उन्हे सच्चे सुख का मार्ग दिखाता है। वह प्रमाण और नय से जीवादि तत्त्वो का स्वरूप समझाकर उनको कल्याणमार्ग मे लगाता है। इसलिए जो जीवों को उपदेश देना चाहता है उसको निरन्तर आगम का मनन चिन्तन करते रहना चाहिए। जो आत्महित और परहित की इच्छा रखता है, उसे रात दिन जिनागम का अभ्यास करना आवश्यक है। जिसको जिनागम का रहस्य-ज्ञान नहीं है उसे आत्महित का ज्ञान

नहीं होता है। किसको हित कहते हैं ? और उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है ? इसको वह नहीं जान पाता है। ज्ञान बिना उसके सब कृत्य कर्मबन्ध के कारण होते हैं। वह अनेक प्रकार के कठिन दुर्धर तप करता है वह भी उसके कर्मबन्ध को बढाने वाले होते हैं। इसका कारण यह है कि उसके ज्ञाननेत्र नहीं है। वह विपरीत मार्ग द्वारा पापकर्म रूप भयानक वन की ओर बढता जाता है और वहां वह अनेक आपदाओ मे फॅस जाता है। इन सब बुराइयो का कारण अज्ञान है। यथा.—

आदहिदमयाणंतो मुज्झदि मूढो समादियदि कम्मं।
कम्मणिमित्तं जीवो परीदि भवसायरमणंतं ॥ १०२ ॥ (भग०)

अर्थ—आत्मा का हित क्या है ? इसको न जानने वाला अज्ञानी जीव बाह्य पदार्थों मे मोहित होजाता है और मोह के कारण कर्मों का बन्ध करता है। इन कर्मों के कारण वह अनन्त ससार सागर मे भ्रमण करता है।

ज्ञानी जीव आत्मा के हित को समझता है। वह ज्ञान नेत्र से देखता है कि यह मार्ग आत्मा का हितकर है और यह अहितकर है। हितकर मार्ग मे प्रवृत्ति करता है और अहितकर कुमार्ग से निवृत्त होता है। इसलिए प्रत्येक आत्मा को हितकारी मार्ग जानने के लिए निरन्तर जिनागम का अभ्यास करना चाहिए।

ज्यों ज्यो जिनागम मे अधिक प्रवेश होता है, त्यो त्यो तत्त्वज्ञानामृत का रसास्वादन विशेप होता जाता है। जैसे आम्रफल मे रस भरा रहता है वैसे ही जिनागम के शब्दो मे तत्त्वामृत भरा हुआ है, उसका मनन चिन्तन करने से उसका रसास्वादन होता है। उस रस का आस्वादन करने से आत्मा को परम आह्लाद का अनुभव होता है और उसकी धर्म मे विशेप प्रवृत्ति होती है।

आगम का वेत्ता मुनि निश्चय और व्यवहार धर्म को यथावत् समझता है। आत्मा का उत्थान करने वाले और अधः पतन करने वाले कार्यों को भलीभाति जानता है। वह कोई काम ऐसा नही करता, जिसके द्वारा मुनि धर्म को अपवाद का सामना करना पडे। आगम के अभ्यासी सयमी का प्रत्येक कृत्य ज्ञानपूर्वक होता है। उसकी प्रवृत्तिरूपक्रिया भी निर्जरा का कारण होती है। अज्ञानी जिन कार्यों से महान् कर्मबन्ध करता है उन्हीं कार्यों को करता हुआ ज्ञानी कर्मों का क्षय करता है कहा है:—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसय सहस्स कोडीहिं।
तं णाणी तिहि गुत्तो खवेदि अंतोमुहुत्तेण ॥ १०८ ॥

छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं अण्णाणियस्स जा सोही।
तत्तो वहुगुणदरिया होज्ज हु जिमिदस्स णाणिस्स ॥ १०९ ॥ (भग०)

अर्थ—अज्ञानी (जिनागम के ज्ञान से शून्य) लाखो करोड़ो भवो मे जिन कर्मों का क्षय करने मे समर्थ नहीं होता है, उन कर्मों को जिनागम का वेत्ता तीन गुप्तियो का पालन करता हुआ मुनि अन्तर्मुहूर्त्त मे नष्ट करदेता है। तथा अज्ञानी मनुष्य वेला, तेला, चोला, पचोला, पाक्षिक, मासिकादि अनेक उपवासों का आचरण करके आत्मा मे जो विशुद्धि उत्पन्न करता है, ज्ञानी पुरुष भोजन को ग्रहण करता हुआ भी उससे वहुत अधिक आत्मा की विशुद्धि कर लेता है।

इसका आशय यह है कि अज्ञानी जितना भी कार्य करता है वह वस्तु के स्वरूप को न समझ कर करता है। जैसे हाथी स्नान करने के पश्चात् अपने शरीर पर धूल डालकर उसे मलीन वना लेता है वैसे ही अज्ञानी जीव व्रत उपवासादि कायक्लेश तप करता है अथवा अन्य धार्मिक क्रियाओं का आचरण करता है, पर वह विवेकहीन उनका यथार्थ स्वरूप न समझने के कारण विपरीत श्रद्धान व प्रतिकूल आचरण करता है, अत मिथ्या-श्रद्धान और विपरीत-चारित्र के कारण उसके सव कृत्य पाप-वन्ध के हेतु होते हैं। तत्त्वज्ञान के विना उसका मन रूपी मस्त हाथी विषय और कषाय के उपवन मे दौड लगाता है। सकल्प-विकल्प के जाल मे फसा हुआ उसका अन्तः करण संसार के वन्धन को दृढ करता है।

अज्ञानी जीव दुख से डरकर सुख की प्राप्ति के लिए दौड-धूप तो करता है, किन्तु वह अविनाशी आत्मीय सहजानन्द को न समझने के कारण, उस पर विश्वास नहीं करता है। इन्द्रिय-जन्य सुख को आत्मा का हितकर मानता है और उसकी प्राप्ति के लिए लौकिक अथवा पुण्य रूप प्रयत्न करता है। वह यह नहीं समझता है कि पुण्य और पाप आत्मा को वन्धन मे डालने वाले हैं। वेडी सोने की हो या लोहे की दोनो मनुष्य को पराधीन वनाने वाली हैं। पुण्योपार्जन करने से स्वर्गादि की सम्पत्ति अथवा यहाँ पर चक्रवर्ती आदि विभूति भी मिल जावे तथापि आत्मा को जन्म मरण के दु.ख से छुटकारा नहीं मिलता है। वह पुण्योपार्जित सुख की सामग्री अज्ञानी आत्मा को अधिक अधिक मोहान्ध वना देती है और परम्परा दु.ख जनक रागादि भावो को वढा देती है, जिससे यह आत्मा अपने स्वरूप को न पाकर अनगिनत भवो मे दु ख को भोगता है।

अज्ञानी आत्मा दुष्कर तपश्चरण का आचरण कर इस लोक मे चमत्कार उत्पन्न करनेवाली ऋद्धियो और विभूतियो की आकांक्षा करता है। वह चारित्र के चिन्तामणि समान फल को कोडियो मे वेचता है। वह यह नहीं समझता कि चॉवल की खेती करने वाले को तुष (भूषा) की कामना नहीं होती है। कृषक धान्य के लिए खेती का परिश्रम उठाता है भूसे के लिए नहीं। वह तो अनायास ही मिल जाता है।

इसी प्रकार ज्ञानी धर्म का पालन आत्मीय सुख की प्राप्ति के लिए करता है। उसे स्वर्गादि के सुख भी आनुषंगिक रूप से मिलजाते हैं। उनका अनुभव करता हुआ भी उन सुखों को उपादेय नहीं समझता है और उसका लक्ष्य मोक्षपद-प्राप्ति का बना रहता है। वह दिव्य भोगों को भोगता है, देवांगनाओं के मध्य मनोहर क्रीडाएँ करता है, मन को लुभाने वाले अप्सराओं के लावण्य व सौन्दर्य का नेत्र-पात्र से पान करता है, उनके कोकिलसम कण्ठ से निकले मंजुल मधुर गान का रसास्वादन करता है, नन्दनवन में अप्सराओं के साथ रमण करता है फिर भी उन सुखों में उसकी आसक्ति नहीं है। वह अपने परतन्त्र आत्मा के असामर्थ्य का अनुभव कर सोने के पींजरे में पड़े हुए तोते के समान दुःखी रहता है। मिष्ट फल का आस्वादन करता हुआ भी परतन्त्रता से दुःखित हो बाहर निकल भागने का इधर उधर मार्ग ढूंढा करता है, वह संसार से निकलने के लिए छटपटाता रहता है।

अज्ञानी जीव धन सम्पत्ति स्त्री पुत्र भवन उपवन आदि सामग्री को सुख देनेवाली समझकर उनकी प्राप्ति के लिए तथा प्राप्त होने पर उनकी रक्षा करने में ही लगा रहता है। दैववशात् उनका वियोग हो जाने पर अत्यन्त दुःखित होजाता है। किन्तु ज्ञानी जीव धन सम्पत्ति स्त्री पुत्रादि की प्राप्ति को कर्म की देन मानता है। इन पदार्थों को कर्म की दी हुई धरोहर समझता है। जब उनका वियोग हो जाता है, तब दुःख नहीं होता, वह सच्चे साहूकार की तरह कर्म की रखी हुई धरोहर को उसे सहर्ष सौंपना ही अपना कर्त्तव्य समझता है। वह विचारता है कि कर्म ने ही इतने समय के लिए मुझे सौंपी थी और अब उसने उसकी वस्तु वापस लेली। इसमें विषाद क्या? दूसरे की चीज़ पर अपना अधिकार कर लेना महान् अन्याय है। अन्याय करने वाला नरक निगोदादि बन्दीगृह में डाला जाता है—ऐसा विचार कर ज्ञानी सदा सुखी रहता है। उसको अज्ञानी के समान वस्तु के संयोग से सुख तथा वस्तु के वियोग से दुःख नहीं होता है।

इस प्रकार के तत्त्वज्ञान से ज्ञानी संसार के कार्यों को करता हुआ भी कमल-पत्र के समान निर्लेप रहता है। अतएव ज्ञानी के भोग भी निर्जरा के कारण होते हैं और अज्ञानी की धार्मिक क्रिया भी अविवेक पूर्ण होने से बन्ध की कारण होती हैं।

इसलिए हे आत्मन् यदि संसार के दुःखों से, मानसिक संतापों से, इष्ट वियोग तथा अनिष्ट संयोग-जन्य क्लेशों से बचना चाहते हो तथा सदा आनन्दामृत का रसास्वादन करना चाहते हो तो तत्त्वज्ञान सम्पादन करो। वह तत्त्वज्ञान जिनागम का सतत अभ्यास करने से उपलब्ध होता है।

शंका—जिनागम का अभ्यास करने से ही तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है, तो ग्यारह अंग और अभिन्नदश पूर्व के पाठी मुनि को तो जरूर ही तत्त्व ज्ञान हो जाना चाहिए था। लेकिन उतने अधिक आगम के अभ्यास से भी तत्त्वज्ञान नहीं होता है और तुषमाष भिन्न ज्ञान

रखने वाले शिवभूति मुनि के समान अल्पज्ञ भी तत्त्वज्ञान (भेदविज्ञान) प्राप्त कर अपना कल्याण करलेते हैं, इसलिए आगम के अभ्यास से तत्वज्ञान उत्पन्न होता है-यह कैसे सिद्ध हुआ ?

समाधान—किसी समय एक शिवभूति नाम के मुनि थे। उन्हें शास्त्र के एकाक्षर का भी ज्ञान नहीं था। किसी को उन्होंने उडद की दाल से उसके तुषों को अलग करते हुए देखा। इसीसे उनने यह जानलिया कि जैसे दाल तुष से भिन्न है इसी तरह शरीरादि जड़ पदार्थों से आत्मा भिन्न है। किसी काल मे किसी निकट भव्य को जिनागम के अभ्यास के विना तत्त्वज्ञान हो जावे और वह उस पर स्थिर रहकर अपने आत्मा का कल्याण करले तो वह सब के लिए राज मार्ग नहीं हो सकता है। जैसे किसी नगर के राजा का स्वर्गवास होगया, और वहा के निवासियों या राजवर्ग के मनुष्यो ने निश्चय किया कि जो पुरुष सबसे प्रथम नगर मे प्रवेश करेगा उसीको इस नगर का अधिपति पद दिया जावेगा। धन की अभिलाषा से इधर उधर भटकता हुआ कोई दरिद्र उस नगर मे अचानक प्रविष्ट हुआ, और उसे राज्य प्राप्त होगया, तो क्या राज्य-प्राप्ति का वह मार्ग राजमार्ग माना जा सकता है ? राज्य के अभिलाषी क्या उसके मार्ग का अनुसरण कर अपने अभीष्ट की सिद्धि कर सकेंगे ? कभी नहीं कर सकते। अथवा किसी मनुष्य को जगल मे भ्रमण करते हुए दैववश वहा स्वर्ण-निधि प्राप्त होगई तो सबको उसी प्रकार स्वर्ण का खजाना प्राप्त हो जावेगा ? उसको प्राप्त करने का तो वाणिज्य व्यवसाय कृषि आदि ही मार्ग हो सकता है। उसी प्रकार तत्त्वज्ञान प्राप्ति का साधन जिनागम का अभ्यास ही हो सकता है। जो सयमी या श्रावक शिवभूति मुनि के दृष्टान्त को सम्मुख रखकर जिनागम का अभ्यास न कर पशु समान तत्त्वज्ञान रहित होकर अपना काल विकथा आलस्यादि प्रमाद मे विताते हैं वे अपना तो अहित करते ही हैं और अपने सम्पर्क मे रहने वाले अन्य भोले प्राणियो का भी महान् अहित करते है, अतएव प्रत्येक मनुष्य को अपना तथा परका हित सम्पादन करने के लिए निरन्तर स्वाध्याय करना उचित है। स्वाध्याय करने से आत्मा को शान्ति मिलती है, विषय भोग से उदासीनता आती है, धर्म मे अनुराग बढता है। ससार से भय और शरीर से वैराग्य होता है, तत्त्वज्ञान जागृत होता है, कषाय मन्द होती है और चित्त की एकाग्रता होती है। चित्त की एकाग्रता के कारण ध्यान की सिद्धि होती है। और ध्यान से कर्म का क्षय होकर मोक्षपद प्राप्त होता है।

इस प्रकार जिनागम के स्वाध्याय करने से तत्त्वज्ञान की जागृति का वर्णन करके अब विनय का वर्णन करते है, क्योंकि ज्ञान का फल विनय है। जिस ज्ञानवान् को विनय गुण नहीं प्राप्त हुआ उसका तत्त्वज्ञान फलशून्य वृक्ष के समान अनादरणीय होता है।

विनय की महिमा

'विद्या ददाति विनय विनयाद्याति पात्रताम् ।'

ज्ञान की प्राप्ति विनय को जन्म देती है और विनयवान् आत्मा गुणो का पात्र (आधार) वनता है। तत्त्वज्ञान की सफलता

विनीत भाव धारण करने में ही होती है। जिसका आत्मा अविनीत है, उसका सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र, तप और व्यवहार शुद्ध नहीं होता है। क्योंकि अविनय उनमें मलीनता उत्पन्न करता है। अविनय नाम कठोरता का है। कठोर-दृढ़ पाषाण के समान मानागया है। जैसे पाषाण पर डाला हुआ उत्तम बीज भी बेकार हो जाता है, उसमें समय पर सिंचन किया हुआ जल बह जाता है, उसको आर्द्र व कोमल नहीं बना सकता है, अत उसमें अङ्कुर का उदय नहीं होता। इसी प्रकार विनय हीन मनुष्य में गुरु के उपदेश सत्संगति आदि के निमित्त से सदाचारादि गुण उत्पन्न नहीं होते हैं। सचता यह है कि विनय रहित मनुष्य को ज्ञान की प्राप्ति ही नहीं होती है, क्योंकि अविनीत शिष्य पर गुरु का प्रेम नहीं होता विनयवान शिष्य को गुरु अपने से अधिक विद्वान बनाने का उद्योग करता है। हृदय खोलकर शास्त्रों के रहस्य का उद्घाटन करता है। और अविनीत शिष्य को अपने निकट भी नहीं बैठने देता है। इसलिए विनयशील शिष्य ही ज्ञानादि गुणों का भंडार होता है और वह सब का प्रिय होता है। उसके सहज में सब मित्र बन जाते हैं और उसको सुखी बनाने में प्रयत्नशील होते हैं। अविनीत के बिना कारण सब शत्रु हो जाते हैं। और उसके ऊपर को कोई नहीं चाहते हैं।

विनय के भेद और उनका स्वरूप

विनय पाच प्रकार का है— १ दर्शनविनय, २ ज्ञानविनय, ३ चारित्रविनय, ४ तपविनय और ५ उपचारविनय।

१ दर्शनविनय—सम्यक्त्व के शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा और स्तुति इन पांच अतिचारों का त्याग करना, सम्यग्दर्शन के निःशङ्कितादि आठ गुणों को धारण करना, सम्यग्दर्शन का विनय कहलाता है।

(२) ज्ञानविनय-सम्यग्ज्ञान को धारण करना ज्ञान विनय है। ज्ञान विनय के ८ भेद हैं उनका क्रमशः यह स्वरूप है:— १ योग्यकाल में आगम (सूत्रों) का अध्ययन करना कालविनय है। २ आगम व आगम के कर्ता की महिमा का वर्णन करना भक्ति विनय है। ३ जबतक यह ग्रन्थ पूर्ण नहीं होगा तब तक अमुक वस्तु का भोजन नहीं करूंगा अथवा इतने उपवास करूगा इत्यादि नियम करने को उपधानविनय कहते हैं। इसमें कर्म का क्षय होता है और ज्ञान की जागृति होती है। ४ पवित्र होकर हाथजोड़ एकाग्रचित्त से अध्ययन करने को बहुमान विनय कहते हैं। ५ किसी गुरु से शास्त्रों का अध्ययन करके भी उसको गुरु न बताना अथवा उसके स्थान में किसी अन्य व्यक्ति को गुरू प्रकट करना निह्नव कहलाता है। ऐसे निह्नव का न होना ही अनिह्नव नाम का विनय है। ६ गणधरादि द्वारा निर्मित आगम का शुद्ध उच्चारण करना व्यंजन (शब्द) शुद्धि नाम का विनय है। ७ आगम का यथार्थ शास्त्रों के अर्थ का इस प्रकार प्रतिपादन करना जिससे श्रोताओं के ठीक ठीक समझ में आजावे उसे अर्थशुद्धि नामका विनय कहते हैं। ८ आगम के शब्दरूप पाठ का तथा अर्थ का शुद्ध निरूपण

करने को तदुभय (व्यजन व अर्थ) शुद्धि नाम का विनय कहते हैं। इन आठ प्रकार के ज्ञान के साधनों से आठ कर्मों का व्यपनयन (निराकरण) होता है। इसलिए इनको विनय नामसे कहा है। इस प्रकार ज्ञानविनय के आठ भेदो का वर्णन हुआ।

(३) चारित्रविनय—चारित्र धारण करना चारित्रविनय है। पाचव्रतो की जो पच्चीस भावनाएँ हैं ('तत्स्थैर्यार्थं भावना पञ्च २- जो इस तत्वार्थ सूत्र से निरूपण की गई हैं) उनके चिन्तन करनेका चारित्र विनय कहते हैं। अथवा इष्ट अनिष्ट शब्द रूपादि विषयों में रागद्वेष न करने तथा क्रोधादि चार कषाय, इष्ट अनिष्ट हास्यरति अरति आदि नव कषायो का निग्रह करना चारित्र विनय कहलाता है।

(४) तपविनय—सयमपालन मे उद्यमशील होना, दीनता रहित होकर क्षुधादि परिषहों का सहना, तपस्या मे अनुराग रखना, सामायिक, प्रतिक्रमण, चतुर्विंशतिस्तव, वेदना, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यक का हीनाधिकता रहित पालन करना तपविनय कहलाता है।

(५) उपचारविनय—गुरू आदि पूज्य पुरुषों का मन वचन काय से प्रत्यक्ष व परोक्ष आदर सत्कार भक्ति करने को उपचार विनय कहते हैं।

इस प्रकार सक्षेप से विनय का वर्णन किया है। इसका विशेष विशद वर्णन 'विनयाचार' मे कर आये हैं। वहा से जान लेना चाहिए।

मनको वश में करने की आवश्यकता

जिनलिंग के धारक समाधिमरण के इच्छुक ने ज्ञानाभ्यास से विनय गुण उत्पन्न कर लिया है उसको अपना मन भी वश में करना चाहिए। क्योकि जिसका मन चचल है, वह अपने प्रयोजन की सिद्धि नहीं कर सकता है। उसका चारित्र तप आदि का आराधन निरर्थक होता है।

चालणिगयं व उदयं सामण्णं गलइ अणिहुदमणस्स।
कायेण य वायाए जदि वि जधुत्तं चरदि भिक्खू ॥१२३॥ (भग०)

अर्थ—जो सयमी शरीर से शास्त्रोक्त क्रियाओ को करता है, तथा वचन से आगमोक्तप्ररूपणा करता है, तथापि यदि उसका

चित्त काय और वचन के द्वारा किये गये सम्यक् आचरण मे स्थिर नहीं है एव विषयों मे भ्रमण करता रहता है उस साधुका साधुत्व (सयम) चालनी मे गिराये गये पानी के समान निकल जाता है। अर्थात उसके आत्मा मे चारित्र चलनी के पानी के समान नहीं टिकता है।

जब तक मनमे चपलता है। बाहर विषयों की तरफ भटकने की आदत नहीं छूटती है तबतक वह अन्धे बहरे व गूगे के समान है। जैसे अन्धा बहिरा व गूगा वस्तुके सन्मुख रहते हुए भी उसको देखता सुनता नहीं है तथा वचन द्वारा कह नहीं सकता, वैसे ही अन्य विषयों मे लगा हुआ मन सन्मुख स्थित रूपादि का ज्ञान नहीं करता है। मन मदोन्मत्त हस्ती के समान है। उसको रोकने के लिए स्वाध्याय-रूप शृखला ही एक मुख्य उपाय है। जिसने स्वाध्याय से मन को स्थिर करने का अभ्यास किया है उसीका चित्त स्थिरता को प्राप्त होता है। तथा वही उसे अपने आत्मा मे लगा सकता है।

शका—मनको रोकने का उपाय करने पर भी वह अतिशीघ्र इधर उधर क्यो दौड जाया करता है? विषयों से हटाने का विचार करते हैं तो भी इन वस्तुओ मे पुनः पुनः चला जाता है, इसका क्या कारण है?

समाधान—जिन पदार्थों मे अधिक अनुराग होता है, उनमे मन की प्रवृत्ति होती है। जैसे जैसे बाह्य पदार्थों से अनुराग घटता है वैसे वैसे उनसे मन निवृत्त होकर आत्मा मे स्थिर होने लगता है। मनको स्थिर रखने के निमित्त ही मन परिग्रह के त्यागी साधुओं को भी सावधान रहने का उपदेश दिया है और यहा तक कहा है कि उनको गृहस्थों के सपर्क से बचना चाहिए। इसीलिए निरतर विहार करने का भी उनको आदेश है। निरन्तर विहार का वर्णन हम पहले कर आये हैं। इसलिए यहा विशेष वर्णन न करके उससे होने वाले लाभ का संक्षेप मे निरूपण करते हैं।

निरंतर विहार की उपयोगिता

सतत विहार करनेवाले मुनि के, तीर्थंकरों के गर्भ जन्म कल्याण के क्षेत्रों के अवलोकन करने से, उनकी तपस्या करने की पवित्र भूमि के स्पर्श करने से, केवल और मोक्ष कल्याण के परम पवित्र तीर्थों की यात्रा करने से सम्यग्दर्शन मे विशुद्धि उत्पन्न होती है।

अनियत विहारी मुनि उज्ज्वल चारित्र के आराधक होते हैं, उनको देखकर दूसरे शिथिल चारित्र वाले साधु भी अपने चारित्र को निर्मल बनाते हैं। उनकी ससारभीरुता व उत्कट तपस्या को देखकर अन्य मुनि भी ससार से उद्विग्न हो तपश्चरण मे लीन हो जाते हैं। उत्तम लेश्या के धारक मुनीश्वरों के निर्मल शान्त स्वभाव को देखकर इतर मुनि भी अपने परिणामों को निर्मल बनाते हैं। तात्पर्य यह है कि सतत विहार करने से साधुओं का परस्पर सहयोग होता है और उनमे जो कमी होती है, उसे एक दूसरे को देखकर वे निकालने का प्रयत्न

करते हैं। नियतस्थान पर निवास करने से मुनियों का परस्पर सम्मेलन नहीं होसकता और वे एक दूसरे से कुछ भी लाभ नहीं उठा सकते हैं। तथा अनेक देश नगर ग्रामादि के धर्म-प्रिय मनुष्य धर्म के मार्ग से वंचित रहते हैं। सतत विहार करनेवाले मुनि नाना देश के लोगों को धर्म का स्वरूप दिखाकर उन्हें धर्म के मार्ग पर लगाते हैं और धर्मात्माओं को धर्ममार्ग पर दृढ़ करते हैं।

नानादेशों में विहार करने से मुनि मे क्षुधा तृषा चर्या शीत उष्णादि परिषदों के सहन करने की शक्ति बढ़ती है। अनेक देशों का परिज्ञान होता है। वहा के धर्माचरणादि की परिस्थिति का परिचय होता है। भिन्न २ प्रकृति के मनुष्यों के साथ धर्मचर्चा करने से तत्त्वज्ञान मे प्रौढता आती है और तत्त्वविवेचन करने का वाक्चातुर्य प्राप्त होता है। अनेक देशों की भिन्न २ भाषाओं का परिज्ञान होता है।

अनियत विहारी के वसतिका मे, पुस्तकादि उपकरण मे, ग्राम नगर देशादि में, तथा श्रावकों मे मोह उत्पन्न नहीं होता है। इसलिए निरन्तर विहार साधु के आचरण व ज्ञानादि को निर्मल करने वाला है।

यह याद रखने की बात है कि देशान्तर मे भ्रमण करने मात्र से अनियतविहारी नहीं होता है, किन्तु श्रावक लोगों में ममत्व रहित होने से ही अनियतविहार की सफलता मानी गई है। जो साधु 'यह श्रावक मेरे भक्त हैं, मैं इनका स्वामी हूँ,' इस प्रकार मोह भाव रखता है वह आगमानुकूल देशान्तर मे पर्यटन करता हुआ भी अपने आत्मा को भक्त-प्रत्याख्यान समाधिमरण करने के योग्य नहीं बना सकता है।

उक्त प्रकार निरन्तर विहार करता हुआ साधु व आचार्य समाधि मरण के अवसर का आगमन समझकर भक्तप्रत्याख्यान करने मे तत्पर होता है।

समाधिमरण के लिए तत्परता

आचार्य जब अपनी आयु को अल्प शेष रही जान लेते हैं, तब अथवा ऊपर बताये हुए प्राणघातक व्याधि दुर्भिक्षादि कारण उपस्थित होने पर समाधिमरण के लिए तत्पर होते हुए समस्त सघ का परित्याग करने के लिए उद्यत होते हैं उस समय वे विचारते हैं कि

अणुपालिदो य दीहो परियाओ वायणा य मे दिण्णा।
णिप्पादिदा य सिस्सा सेयं खलु अप्पणो कादुं ॥ १५४ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—मैंने आगमोक्त विधि से चिरकाल पर्यन्त दर्शन, ज्ञान, चारित्र एवं तपरूप पर्याय की रक्षा की। मैंने शिष्यों को अध्य-

यन भी कराया। अनेक शिष्यो को भगवती दीक्षा भी दी। अब शिष्य भी योग्य व समर्थ होगये हैं। अत अब मुझे अपना हित करना चाहिए। इस प्रकार आचार्य के परिणाम उत्पन्न होते हैं और यह श्रेष्ठ भी है। क्योंकि.—

आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं।
आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुठ्ठु कादव्वं ॥ (भग० टीका १५४)

अर्थात्—जिसमे आत्मा का हित होता है, वही कार्य करना चाहिए यदि आत्महित करते हुए परहित करने का सामर्थ्य हो तो परहित भी अवश्य करना योग्य है। किन्तु जब परहित में लगे रहने पर आत्मा का अहित होता हो, उस समय परहित की उपेक्षा करके आत्मा का हित करना ही उचित है। इस प्रकार भगवान कुन्दकुन्दाचार्य की आज्ञा है। अत. सब के नायक आचार्य अन्त समय अपने आत्मा मे परम निराकुलता उत्पन्न करने के लिए शिष्यों के शासन कार्य का परित्याग कर देते हैं।

तथा सामान्यसाधु भी प्राणघातकव्याधि दुर्भिक्षादि के उपस्थित होने अथवा आयु के अन्तिम समय का निश्चय होने पर अपने आत्महित मे तत्पर होता है। आगम में कहा है.—

एवं विचारयित्ता सदि माहप्पे य आउगे अमदि।
अणिगूहिदबलविरियो कुणदि मदिं भत्तवोसरणे ॥ १५८ ॥ (भग०)

अर्थ—अपने आत्महित का विचार कर स्मरण शक्ति के रहते हुए आयु के अन्तिम समय मे अपने बल व वीर्य को न छिपाकर साधु भक्तप्रत्याख्यान (समाधि मरण) करने का विचार करता है।

वह सोचता है कि जब तक मेरी स्मरण शक्ति बनी हुई है, शारीरिक शक्ति क्षीण नहीं हुई है, वचन उच्चारण करने मे भी कुछ त्रुटि नहीं उत्पन्न हुई है और आत्महित का विचार करने का बल जब तक नष्ट नहीं हुआ है, चक्षु श्रोत्र आदि इन्द्रियों की शक्ति भी जब तक नहीं घटी है तब तक ही मुझे अपना आत्महित कर लेना चाहिए। क्योकि स्मृति भ्रष्ट होजाने पर रत्नत्रय का आचारण कैसे हो सकेगा? तथा शारीरिक शक्ति का क्षय होने पर आतपनादि योगो का अनशनादि तपश्चरण का और ईर्यासमिति आदि चारित्र का पालन कैसे कर सकूंगा? शक्ति के अभाव मे चारित्र के पालन मे अरुचि उत्पन्न हो जाने पर मेरा संयम रत्न लुट जावेगा, चक्षु व श्रोत्र के आश्रित संयम का पालन होता है और जब ये उत्तर देदेंगे, तब मेरा जीवन का सार संयम नष्ट हो जावेगा। अतः इन सब के अनुकूल रहते मुझे आत्म

कल्याण के लिए भक्तप्रत्याख्यान समाधिमरण का आचरण करलेना उचित है। वह यह भी सोचता है कि इस समय मेरे शुभोदय से समाधिमरण के सहायक निर्यापक आचार्य तथा निर्यापक (वैयावृत्त्य करने वाले) साधु आदि भी सुलभ हैं। निर्यापकाचार्य ऋद्धिगारव रसगारव और सात गारव रहित होना चाहिए सो मुझे इस समय सुप्राप्य है। ऋद्धि-प्रिय आचार्य असयमी को भी निर्यापक पद पर स्थापित कर देते हैं। ये तीनों ही दोष निर्यापक मे नहीं होना चाहिए, क्योंकि असयमी निर्यापक साधु को समाधि मरण में क्या मदद दे सकता है ? जो स्वयं असयम से नहीं डरता है वह असयम के कारणो का और असंयमाचार का परिहार कैसे कर सकता है ? और इसी तरह जो रस (आहारादि) तथा सात (सुख) गारव युक्त होता है, उससे क्लेशों का सहन कैसे हो सकता है ? जो अपने शरीरादि के कष्ट का सहन करने की शक्ति नहीं रखता वह आराधक के वैयावृत्त्य के क्लेश को कैसे सह सकता है ? किन्तु इस समय तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र का सुन्दर आचरण करने वाले निर्यापक का सयोग मिलरहा है। अतएव मुझे विद्वानो से मान्य भक्तप्रत्याख्यान का आचरण करके शरीर का त्याग करना आवश्यक है।

इस प्रकार के विचारों से मुनि के शान्ति पूर्वक शरीर त्याग करने की दृढ़ता हो जाती है, यदि आसातावेदनीय कर्म के तीव्र उदय से उसके शरीर मे तीव्र वेदना भी उपस्थित हो जाय तो उक्त प्रकार से परिणामों मे दृढता आजाने से उसको दु ख नहीं होता है, क्योकि जीने की आशा उसके चित्त मे लेशमात्र भी नहीं है, वह तो शान्ति धारणकर मरण करने में उद्यमी हो रहा है, अत. उसके परिणामो मे निर्मलता बनी रहती है।

समाधिमरण करने मे तत्पर हुआ साधु पिच्छी और कमण्डलु के सिवा सब का परित्याग कर ता है। ज्ञान की साधनभूत पुस्तक भी उस समय परिग्रह मानी गई है। वह उसका भी त्याग कर देता है।

समाधिमरण में शुद्धियों की आवश्यकता और उनके भेद

समाधि मरण मे अग्रसर होने के लिए शुद्धियों की नितान्त आवश्यकता है और वे शुद्धियाँ पांच होती हैं। यथा —

आलोयणाए सेज्जासंथारुवहीण भत्तपाणस्स।
वेज्जावच्चकराण य सुद्धी खलु पंचहा होइ ॥ १६६ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—आलोचना शुद्धि, शय्या संस्तर शुद्धि, उपकरण शुद्धि, भोजनपान शुद्धि और वैयावृत्त्य शुद्धि इस प्रकार शुद्धियो के पांच

भेद हैं। जिस साधु ने पडितमरण करने का दृढ निश्चय कर लिया है उसको उक्त पांच प्रकार की शुद्धियो को धारण कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। इन पाँचों शुद्धियों का सक्षिप्त स्वरूप यह है।

(१) आलोचनाशुद्धि—मायाचार रहित और असत्यभाषण रहित गुरु के निकट अपने अपराधो को प्रकट करना आलोचना शुद्धि कहलाती है। जो साधु अपने व्रताचरण मे लगे हुए दोषों को निष्कपट भाव से प्रकट नहीं करता उसका आत्मा मलीन रहता है, उस मलीनता को दूर करने के लिए गुरु के समीप अपने दोषों को ज्यों के त्यो प्रकट कर देना चाहिए। दोषों को प्रकट कर देने पर आत्मा स्वच्छ हो जाता है।

(२) शय्या-सस्तर शुद्धि—शय्या (वसतिका) और संस्तर मे उद्गम उत्पादनादि दोषों को नहीं लगाना तथा 'यह शय्या व सस्तर मेरा है' ऐसा ममत्व न रखना शय्या-सस्तर-शुद्धि है। उद्गम उत्पादनादि दोषों का स्वरूप एपणाशुद्धि के प्रकरण में कह आये हैं, वहा से जान लेना चाहिए। जो शय्या-संस्तर मे ममता रखता है, वह परिग्रही माना जाता है, उसमे ममत्व का त्याग करने से ही परिग्रह का अभाव होता है जो कि आत्मा को शुद्ध बनाने मे मुख्य कारण होता है।

(३) उपकरणशुद्धि—पिच्छी कमंडलु भी उद्गमादि दोप रहित तथा 'ममेदं' इस ममत्व संकल्प से रहित होना चाहिए। जो उपकरण उद्गम उत्पादनादि दोप से युक्त होते हैं, वे हिंसादि पापों के जनक होते हैं तथा उनमे ममत्व रहने से वे परिग्रह माने गये हैं, इसलिए निर्दोप उपकरण मे भी मोह का त्याग करना आवश्यक है नहीं तो आत्मा मे विशुद्धि नहीं आती।

(४) भक्तपानशुद्धि—अध:कर्म, उद्गम, उत्पादना, उद्दिष्टादि दोप सहित भोजन और पान का ग्रहण न करने से भोजन पान शुद्धि होती है। निर्दोप भोजनपान मे भी मोह रहने से वह भी परिग्रह रूप होजाते हैं, इसलिए निर्दोप और मोहरहित शास्त्र विधि के अनुकूल आहारजलादि वा ग्रहण करने से भक्तपान शुद्धि होती है।

(५) वैयावृत्त्यकरणशुद्धि—सयमी की सेवा (वैयावृत्त्य) जिस रीति से की जाती है, उस पद्धति का ज्ञान वैयावृत्त्य शुद्धि मानी गई है। जिसको मुनि के योग्य वैयावृत्त्य का ज्ञान नहीं है उसके वैयावृत्त्य शुद्धि का अभाव है।

दूसरी तरह से शुद्धियों के भेद।

दर्शनशुद्धि, ज्ञानशुद्धि, चारित्रशुद्धि, विनयशुद्धि, और आवासशुद्धि इस तरह भी शुद्धियों के पाच भेद माने गये हैं। इन शुद्धियों के धारण करने मे अशुभ योगादि भावदोपो का निरास होता है। इन भावदोपो के निवारण करने से परिग्रह का परिहार होता

है। इन शुद्धियो का सक्षेप स्वरूप यह है।

(१) दर्शनशुद्धि—निश्शङ्कित आदि गुणों का आत्मा मे प्रकट होना ही दर्शनशुद्धि है। इस के प्रकट हो जाने से शंका, कांक्षादि अशुभ परिणाम का नाश हो जाता है।

(२) ज्ञानशुद्धि—आगम का योग्य काल में अध्ययन करना, जिससे विद्या का अध्ययन किया है, उस गुरु का व शास्त्र का नाम न छिपाना इत्यादि आठ पकार की ज्ञान शुद्धि है। इस शुद्धि के उत्पन्न होने पर सूत्रों का अकाल मे अध्ययनादि क्रियाओं से जो ज्ञानावरण कर्म का आस्रव होता था उसका अभाव हो जाता है।

(३) चारित्रशुद्धि—अहिंसादि पाच व्रतों की पच्चीस भावनाओं का उत्तम रीति से पालन करने से चारित्र शुद्धि होती है। इन भावनाओं का परित्याग करने से अन्त करण में मलिनता आती है और इससे अशुभपरिणाम उत्पन्न होते हैं। ये अशुभ परिणाम ही आभ्यन्तर परिग्रह हैं, इसलिए उन अशुभ परिणामो का परित्याग करना ही चारित्रशुद्धि मानी गई है।

(४) विनयशुद्धि—यश, सन्मान आदि लौकिक फल की अभिलाषा का त्याग कर पूजनीयों का विनय करना विनयशुद्धि है। इस विन शुद्धि का आचरण करने से मानादिकषाय का अभाव हो जाता है।

(५) आवश्यकशुद्धि—पापजनक मन, वचन, काय की प्रवृत्ति का त्याग करना, जिनेन्द्र के गुणों मे भक्ति रखना, वंद्यमान आचार्यादि के गुणों का अनुसरण करना, किये हुए अपराधो की निन्दा करना, मन से अपराधों का त्याग करना, काय की नि सारता आदि का चिन्तन करना, ये सब आवश्यक शुद्धि है। इस शुद्धि के होने पर अशुभ (पापजनक) मन वचन काय की प्रवृत्ति का, जिनेद्र गुण में अप्रीति का, आगम के महत्व मे अनादर का, आचार्यादि पूज्य पुरुषो के गुणों मे अरुचि का, अपराधो की अग्लानि का, त्याग रहित परिणाम का, ससार की सारता और शरीर की ममता का त्याग होता है। शुद्धियो की तरह सन्यासमरण धारण करनेवाले को पाच प्रकार का विवेक भी धारण करना चाहिए। इस, लिए प्रसगानुसार यहा विवेकों का वर्णन भी कर देते हैं।

पांच प्रकार का विवेक

इन्दियकसायउवधीण भत्तपाणस्स चावि देहस्स।
एस विवेगो भणिदो पंचविधो दव्वभावगदो ॥ १६८ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—१ इन्द्रियविवेक, २ कषायविवेक, ३ उपधिविवेक, ४ भक्तपानविवेक, ५ देहविवेक, इस प्रकार विवेक के पाच भेद हैं।

(१) इन्द्रियविवेक—रूपादि विषयों में चक्षुआदि इन्द्रियों की जो राग द्वेष रूप प्रवृत्ति होती है, उसको रोकना इन्द्रिय-विवेक है। इसके दो भेद हैं —द्रव्य-इन्द्रिय-विवेक और भाव-इन्द्रिय-विवेक। मैं उसके कठोर कुचों को देखता हूँ, मैं उसके नितम्ब या रोमपंक्ति का अवलोकन करता हूँ, उसके अत्यन्त पुष्ट जघन का स्पर्श करता हूँ, उसके मधुर गान को सुनता हूँ, उसके मुखकमल की सुगन्ध को सूंघता हूँ, उसके बिम्ब समान ओष्ठ का रसास्वादन करता हूँ–इस प्रकार के विषयों मे अनुराग उत्पन्न करने वाले वचनों का उच्चारण न करना द्रव्य-इन्द्रिय-विवेक है। अचानक चक्षु आदि इन्द्रियो की रूपादि विषयो मे प्रवृत्ति हो जाने पर जो ज्ञान होता है उसमे रागद्वेष का मिश्रण न करना अर्थात् चक्षु आदि के द्वारा जाने हुए भले बुरे रूपादि विषयों मे राग व द्वेषरूप परिणाम उत्पन्न न करना भाव-इन्द्रिय-विवेक है।

(२) कषायविवेक—क्रोधादि के विषयभूत पदार्थ में क्रोधादि न करने को कषाय-विवेक कहते हैं। कषाय विवेक दो प्रकार का है। १ काय जनित और २ वचनजनित। भौंहें सुकोड़ना, लालनेत्र करना, होठ डसना, शस्त्र हाथ मे लेना, इत्यादि काय द्वारा कषाय न करना कायजनित क्रोधकषायविवेक कहलाता है। मैं तुझे जान से मारडालूंगा, पीटूंगा, तुझे सूली पर चढा दूंगा इत्यादि कषाय युक्त वचन न बोलना यह वचन-जनित क्रोधकषायविवेक होता है। दूसरे के तिरस्कारादि करने पर भी अपने मन में क्रोध रूप परिणाम न होना भाव से क्रोध कषाय-विवेक होता है। इसी तरह मानकषाय-विवेक भी काय से और वचन से होता है। शरीर के अवयवों का अकड़ाना, सिर को ऊँचा उठाकर चलना, ऊँचे आसन पर बैठना इत्यादि अभिमान प्रकट करने वाला क्रियाओं को न करना कायजनित मानकषायविवेक होता है। मुझसे अधिक कौन आगम का वेत्ता है, कौन सचरित्र है ? मुझ से उत्कृष्ट तपस्वो कौन है ? इत्यादि अभिमान भरेवचन उच्चारण न करने को वचनजनित मानकषाय-विवेक कहते हैं। मैं ज्ञान, चारित्र व तप मे सबसे महान् हूँ, इस प्रकार का मन में विचार न करने को भाव से मानकषाय विवेक कहते हैं। मायाविवेक भी दो प्रकार का है–किसी व्यक्तिविशेष के सम्बन्ध मे बोलता हुआ भी मानो किसी अन्य व्यक्ति के लिए बोल रहा है–इस तरह के वचन का त्याग करना, अथवा मायाचार के उपदेश का त्याग करना, या मैं माया न करूंगा, न करवाऊंगा और न माया करते हुए की अनुमोदना करूंगा, यह सब वचनजनित माया कषाय-विवेक कहलाता है। शरीर से करना कुछ, और लोगों को दिखाना कुछ इसका त्याग करने को काय जनित मायाकषायविवेक कहाजाता है। लोभविवेक–द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। जिस पदार्थ का लोभ है, उसको लेने के लिए हाथ फैलाना, द्रव्य के स्थान को सुरक्षित रखना, उस वस्तु को लेने की इच्छा रखने वाले मनुष्य को हाथ के इशारे या सिर हिलाकर मना करना, इत्यादि लोभ विषयक क्रियाओं के त्यागने से कायसे लोभकषाय का विवेक होता है। यह वस्तु मेरी है, इस धन ग्रामादि का मैं स्वामी हूँ–इत्यादि वचन न बोलने को वचनजनित लोभकषाय का विवेक कहते हैं। किसी वस्तु में ममत्वरूप परिणाम न करने को मनोजनित लोभ-कषाय-विवेक कहते हैं।

(३) उपधि विवेक—शरीर से पुस्तकादि उपकरणों का ग्रहण न करना, न अन्य जगह उनको स्थापन करना और न कहीं पर

रख कर उनकी रक्षा करना यह कायजनित उपधिविवेक होता है। इन ज्ञानोपकरणों का मैंने त्याग किया इस प्रकार वचनों का उच्चारण करना यह वचन जनित उपधि विवेक होता है।

(४) भक्तपान-विवेक—भोजन और पान करने की वस्तुओं के खाने पीने का त्याग करना कायद्वारा होने वाला भक्त-पान का विवेक होता है। अमुक भोजन व पान का मैं त्याग करताहू, ऐसे वचन को वचन द्वारा होनेवाला भक्त पान का विवेक कहा जाता है।

(५) देह-विवेक—यह देह विवेक भी शरीर और वचन के द्वारा होता है।

शका—संसारी जीवो के शरीर से विवेक (पृथक् होना) कैसे हो सकता है?

समाधान—अपने शरीर से अपने शरीर सम्बन्धी उपद्रव का निवारण न करना अर्थात् अपने किसी शरीर के हस्त पादादि अवयव मे जहरीला फोडा उत्पन्न हो जाने पर उसका निवारण अपने शरीर से न करना यह शरीर द्वारा होने वाला अपने शरीर का विवेक कहलाता है। अथवा अपने शरीर पर उपद्रव करने वाले मनुष्य, तिर्यंच या देव को 'तुम उपद्रव मत करो' इस प्रकार के हस्त सकेत से अर्थात् हाथ हिलाकर जो मना नहीं करता है, शरीर को सताने वाले डास मच्छर बिच्छू सर्पादि को जो अपने हाथ से नहीं हटाता है, पिच्छी आदि उपकरण से या लकडी आदि से दूर नहीं करता है तथा छत्र पिच्छिका चटाई आवरण आदि से शरीर की रक्षा नहीं करता है, उसके शरीर द्वारा होने वाला देह का विवेक होता है।

मेरे शरीर को पीडा मत दो, मेरी रक्षा करो-ऐसे वचनों का उच्चारण न करना, यह शरीर अचेतन है, मुझ से भिन्न है ऐसे वचन बोलना, वचन द्वारा होने वाला देह का विवेक होता है।

विवेक के दूसरे प्रकार से छह भेद

अहवा सरीरसेज्जा संथारुवहीण भत्तपाणस्स।
वेज्जावच्चकराण य होइ विवेगो तहा चेव ॥ १६६ ॥ (भग०)

अर्थ—शरीरविवेक, शय्याविवेक, सस्तारविवेक, उपधिविवेक, भक्तपानविवेक और वैयावृत्य करने वालों का विवेक इस प्रकार भी विवेक का वर्णन किया गया है।

विवेक के उक्त छह भेदों मे से शरीरविवेक, उपधिविवेक और भक्तपानविवेक का वर्णन तो ऊपर हो ही चुका है। शेष शय्याविवेक, सस्तरविवेक और वैयावृत्त्य विवेक इन तीनों का स्वरूप दिखलाते हैं।

शय्याविवेक—पहले जिस वसतिका में रहते थे, उसमें नहीं ठहरना-यह शय्या का विवेक कायजनित होता है। मैं इस वसतिका का त्याग करता हूँ, ऐसे वचनों से वसतिका के त्याग करने को वचनजनित शय्या का विवेक कहते हैं।

सस्तरविवेक—पहले जिस सस्तर पर बैठते या सोते थे, उस पर न सोना व न बैठना इसको कायजनित सस्तर विवेक कहते हैं। मैं इस संस्तर का त्याग करता हूँ ऐसे वचन बोलकर सस्तर का त्याग करना वचनजनित संस्तरविवेक कहलाता है।

वैयावृत्त्यविवेक—जो शिष्यादि वैयावृत्त्य करने वाले हैं उनको शरीर से अलग कर देना, उनके साथ न रहना, यह कायजनित वैयावृत्त्यविवेक कहलाता है। तुम लोग मेरा वैयावृत्त्य मत करो, मैंने तुमम्हारा त्याग कर दिया है, इस प्रकार वचन बोलकर वैयावृत्य करने वालो का त्याग करना वह वचन जनित वैयावृत्य विवेक कहा जाता है। किन्तु यह सब विवेक भाव जनित ही होना चाहिए नहीं तो सब कुछ निष्फल है। सम्पूर्ण शरीरादि पदार्थों मे अनुराग का त्याग करना अथवा उनके साथ ममत्व भाव न रखना ही भावविवेक होता है। भावविवेक ही सल्लेखना की जान है। सल्लेखना के लिए उद्यमी साधु सदा आत्मा के स्वरूप को पुद्गलादि से भिन्न अनुभव करता हुआ पुद्गल की पर्यायों से मोह का त्याग करता है, तथा उनके साथ शरीर का सम्पर्क भी नहीं रखता है। तथा शरीर मे आहारादि से भी राग सम्बन्ध का त्याग करता है और समता भाव को स्वीकार करता है। सब परपदार्थों से अपने को भिन्न अनुभव करता हुआ वह अपने रत्नत्रय की वृद्धि में ही दत्तचित रहता है। उसको अपने शरीर से भी नितान्व उपेक्षा होजाती है। वह विचारता है कि यह शरीर नि सार है, महान् अशुचि पदार्थों का घर है, यह आत्मा के परिणामो को मलीन कर उसको कर्मबन्धन में डालता है, यह जरामरण से युक्त है, नित्य दुःख देने वाला है। इस प्रकार चिन्तन कर शरीर से नि:स्पृह होता है और आत्मा को सुखी बनाने वाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र रूप आत्मा के भावों को उत्तरोत्तर अति उज्ज्वल करता है।

आचार्य पद का त्याग

जब संघ का नायक आचार्य सल्लेखना करने के लिए उद्युक्त होता है तब अपना आचार्यपद त्याग देता है और आचार्य पद के भार का वहन करने मे समर्थ जो साधु होता है उसे मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका चतुर्विध संघ के मध्य बिठलाकर सब संघ को सूचित करता है कि इतने समयतक मैंने संघ की सेवाकी है, अब मैं आत्मा-कल्याण करने लिए संघ से अपना सम्बन्ध छोड़ता हूँ और इस पद पर चारित्र-क्रम के ज्ञाता, उत्तमशील स्वभाव वाले, व्यवहार निपुण, आगम के रहस्य के वेत्ता, इस साधु को स्थापित करता हूँ। आज से यह तुम्हारे

आचार्य हैं। यह अपना व तुम्हारा उद्धार करने में तत्पर रहेंगे। अत आप लोगो को इनकी आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करना चाहिए। इस प्रकार कहकर सघ का भार उस आचार्य पर रखकर परमशुभ परिणामों से सघ से पृथक् हो जाते हैं और अपने आत्मा को निर्मल करने मे दत्तचित्त हो जाते है। ये अपने आत्मा को शुभ भावनाओं से सस्कृत करते और कुभावनाओ का सर्वथा परिहार करते हैं। वे कुभावनाएँ विद्वानों ने पाच प्रकार की वतलाई हैं। यथा,—

कांदर्पी कैल्विषी प्राज्ञैराभियोग्यासुरी तथा
सामोही पंचमी हेया संक्लिष्टा भावना ध्रुवम् ॥ (भग० आ० सस्कृत १८१)

अर्थ—विद्वानो ने कादर्पी, कैल्विषी, आभियोग्या, आसुरी और सामोही ये पाच भावनाएँ सदा त्याज्य मानी हैं। अर्थात इनका आत्मा मे एक क्षण भर के लिए भी रहना दृढ़ कर्म-बन्ध का कारण है। इन भावनाओं का स्वरूप पहले लिख आये हैं, इसलिए यहा नहीं लिखा गया है।

साधु को उक्त पाच कुभावनाओं का परित्याग कर पाच शुभ भावनाओं मे प्रवृत्ति करना चाहिए।

पांच शुभ भावनाएं

तवभावणा य सुदसत्तभावणेगत्तभावणे चेव ।
धिदिबलविभावणाविय असंकिलिट्ठावि पंचविहा ॥ १८७ ॥ (भग०)

अर्थ— १ तपभावना, २ श्रुतभावना, ३ सत्त्व (अभीरुत्व) भावना, ४ एकत्वभावना और ५ धृतिबल भावना ये पाच प्रकार की उत्कृष्ट भावनाएँ आत्मा को सद्गति मे लेजाने वाली हैं। इनका सक्षिप्त स्वरूप यह है·—

(१) तपभावना—छह प्रकार के बाह्य और छह प्रकार के अन्तरग तपो का अभ्यास करना तपभावना है। बार बार अनशनादि तप करने से पाचों इन्द्रिया वश में होती हैं। इन्द्रियों का निग्रह होने से समाधिमरण के अभिलाषी आचार्य के समाधि के कारणभूत रत्नत्रय का आराधन होता है।

आशय यह है कि तपस्या से इन्द्रियों का दमन होता है और दमन को प्राप्त हुई इन्द्रियाँ मन में काम विकार उत्पन्न करने में

समर्थ नहीं होती है। जब शरीर कृश होजाता है और इंद्रिया प्रशान्त हो जाती हैं तब स्त्री के साथ कामक्रीडा आलिंगनादि क्रियाओं में आदर भाव नहीं होता है यह सुप्रसिद्ध है।

शंका—अनशन (उपवास) आदि तपश्चरण मे प्रवृत्त हुए पुरुष को आहार के दर्शन से उसका विचार करने से, सुनने से भोजन करने की इच्छा उत्पन्न होती है, अत तपोभावना से इन्द्रिया विषय से विरक्त होती हैं यह कहना अयोग्य है।

समाधान— आत्मा जब तक वस्तु का त्याग नहीं करता है, तब तक उसका चित्त उस वस्तु की ओर दौडता है और जब उसका त्याग करता है अर्थात् उस से अनुराग हटा लेता है, तब चित्त की प्रवृत्ति उतने समय के लिए उस वस्तु से छूट जाती है। क्योंकि पदार्थ को ग्रहण करने की इच्छा अनुराग से होती है, अनुराग के अभाव मे उपेक्षाभाव उत्पन्न होता है और उपेक्षा के कारण आत्मा उपेक्षित पदार्थ से विरक्त होता है, अत तपोभावना से आत्मा में राग द्वेष का अभाव होता है और रागद्वेष के अभाव मे कर्म का बन्ध नहीं होता किन्तु संवर और निर्जरा होती है।

जो तपो भावना से रहित है, उसमें क्या दोष उत्पन्न होता है इसे दिखाते हैं।

पुव्वमकारिदजोग्गो समाधिकामो तहा मरणकाले।
ण भवदि परीसहसहो विसयसुहपरम्मुहो जीवो ॥ १६१ ॥
जोग्गमकारिज्जंतो अस्सो दुहभाविदो चिरंकालं।
रणभूमीए वाहिज्जमाणओ कुणदि जह कज्जं ॥ १६२ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—समाधिमरण करने के अभिलाषी जिस मनुष्य ने पहले क्षुधा तृषादि परीषह सहन करने का अभ्यास नहीं किया है वह आहारादि का लम्पटी मरण समय में क्षुधादि की परिषहों को सहन करने में असमर्थ होता है। उसका चित्त विषयों से पराङ्मुख (विरक्त) नहीं हो सकता है। जिस घोडे को पहले शब्दों का संकेत नहीं सिखाया गया है, उछलने, कूदने, घूमने आदि चालों की शिक्षा नहीं दी गई है, जो चिरकाल तक सुख से पाला गया है, जिसने शीत घाम आदि की बाधा को नहीं सहा है, वह घोडा रणांगण में किसी भी प्रकार उपयुक्त नहीं होता। वह युद्धस्थल से या तो भाग जाता है, या अपने और अपने स्वामी (अश्वारोही) योद्धा के भी प्राण खोदेता है। वैसे ही जिस साधु ने अनशनादि तप करके इन्द्रियों को वश मे करने की शक्ति नहीं प्राप्त की है वह मरण समय में क्षुधादि परीषह को सहने

मे समता नही रखता है। उसका मन आहारादि विषयों मे आसक्त रहता है, अत वह समाधि (रागद्वेष के अभाव) को प्राप्त नहीं कर सकता है। अत मुनि को चाहिए कि वह चारित्र का सार जो समाधिमरण है उसको प्राप्त करने के लिए तपस्या का अभ्यास करता रहे। वह अभ्यास उसको अन्त समय मे महान सहायक सिद्ध होगा।

(२) श्रुतभावना—आगम का अभ्यास करने से वस्तु के स्वरूप का प्रतिभास होता है, जीव और अजीव का भेद-विज्ञान होता है। भेद-विज्ञान होने से सम्यग्दर्शन (शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभव) होता है। आगम के अभ्यास से चारित्र का महत्त्व प्रतीत होता है और उसमे प्रवृत्ति होती है, साम्यभाव की प्राप्ति होती है, कर्म की निर्जरा के साधनभूत तपश्चरण मे अनुराग उत्पन्न होता है और सयम की ओर आत्मा का परिणमन होता है।

शका—आगम क अभ्यास से तो आत्मा मे ज्ञान की वृद्धि होती है, उससे सम्यग्दर्शन, चारित्र, तप, सयम की प्राप्ति कैसे हो सकती है? जैसे क्रोध का सेवन करने वाला क्रोधी बन जाता है, मायावी नहीं बनता। इसी प्रकार ज्ञान का सेवन करने वाला ज्ञानी हो सकता है किन्तु सम्यग्दृष्टि, तपस्वी और सयमी नहीं हो सकता है। आपने आगम के अभ्यास से सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति होती है, ऐसा कैसे कहा है?

समाधान—जो वस्तु जिसके बिना नहीं होती है और उसके होने पर ही होती है वह उससे उत्पन्न हुई कही जाती है। जैसे जो कृतक (किसी से उत्पन्न हुआ) होता है वह अनित्य होता है। ऐसी व्याप्ति है। उसी प्रकार जिसको आगम का ज्ञान है उसी के सम्यग्दर्शन, तप और सयम होते हैं। जिसको आगम का ज्ञान नहीं है उसके सम्यग्दर्शन, तप और संयम नहीं हो सकते हैं। ऐसा कहने मे कोई दोष नहीं आता है।

शका—आगम के ज्ञान से सम्यग्दर्शन तो उत्पन्न हो सकता है किन्तु तप, सयम उत्पन्न नहीं हो सकता है। यदि हो तो असयत सम्यग्दृष्टि के भी सयम, तप आदि मानने पड़ेंगे और यदि उसके सयम तथा तप आदि मान लिया जाय तो उसको असयत कैसे कहा जावेगा? इसलिए मानना पडेगा कि असयत सम्यग्दृष्टि के सयम व तप नहीं हैं। तो फिर आगमज्ञान के अभ्यास से तप सयम की उत्पत्ति का उपयुक्त कथन असत्य सिद्ध हुआ।

समाधान—जिनागम के अभ्यास से तप सयमादि उत्पन्न होते हैं इस कथन का आशय यह है कि यदि तप और सयम होगे तो आगम के ज्ञाता के ही हो सकते हैं। आगम के ज्ञान बिना तप सयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। ऐसी व्याप्ति समझनी चाहिए। आगम के ज्ञाता के अवश्य तप सयम होते हैं, ऐसी व्याप्ति नहीं बताई है।

आशय यह है कि जिसको सम्यग्दर्शन की तथा तप और सयम की प्राप्ति करना है, उसे आगम का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। आगम के ज्ञान से काललब्धि आदि का योग मिलने पर सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है और निरन्तर आगम का अनुशीलन करने से तप व सयम मे आदर भाव उत्पन्न होता है उससे कर्मों की निर्जरा होती है। चारित्र मोहनीय के तीव्र कर्म (अप्रत्याख्यानादि) की निर्जरा होने पर तप व सयम की प्राप्ति होती है, अर्थात् चारित्र मोहनीय के क्षयोपशम सहित आगम ज्ञान से ही तप संयम होते हैं।

जो ज्ञानी है, आगम का मर्म समझने वाला है, उसका नित्य अभ्यास करने वाला है, वह क्षुधादि पीडाओं के उपस्थित होने पर भी मार्ग से विचलित नहीं होता है। आगम के निरन्तर अभ्यास से उसकी बुद्धि निर्मल रहती है। उस का ज्ञान ऊहापोह के सामर्थ्य से युक्त होता है। ऊहापोह के अभ्यास से उसका जिनागम के विषय मे सस्कार एव स्मृति-ज्ञान दृढ होता है, और वह सकट के समय भी बना रहता है। जितनी मनुष्य की प्रवृत्तिया होती हैं वे सब संस्कार के आश्रित होती हैं, अत तप सयम की प्रवृत्ति से भी आगम का सस्कार उपयोगी होता है। इस प्रकार ज्ञान के सामर्थ्य का वर्णन किया।

(३) सत्व (अभीरुता) भावना—जिस मनुष्य में आत्मबल है, वह भयानक उपद्रवों के उपस्थित होने पर भी भयभीत नहीं होता है। उसको चलायमान करने का सामर्थ्य देवों मे भी नहीं होता, औरो की कौन कहे ? आगम में कहा है.—

देवेहिं भेसिदो विहु कयावराधो भीमरूवेहिं।
तो सत्तभावणाए वहइ भरं णिब्भओ सयलं ॥ १९६ ॥
बहुसो वि जुद्धभावणाए ण भडो हु मुज्झदि रणम्मि।
तह सत्तभावणाए ण मुज्झदि मुणी वि वोसग्गे ॥ १९७ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—सत्वभावना (निर्भयता) का अभ्यास जिस साधुने किया है वह व्याघ्र, सिंह, सर्पादि रूपो को धारण करने वाले देवों से सताया गया, भयभीत किया गया भी सामने आये हुए सब कष्टो का आलिंगन करता हुआ संयम के समस्त भार को धारण करता रहता है। वह समझता है कि यह उपसर्ग मेरा प्राण-हरण कर सकते हैं, किन्तु उन प्राणों से मेरे आत्मा का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, मैं तो अजर अमर हूँ, शरीर ही का तो नाश होता है और यह तो कर्म जन्य है। मेरा धन तो रत्नत्रय है। यदि मैंने इन उपद्रवों से भयभीत होकर सयम का परित्याग कर दिया तो फिर कर्म-शत्रुओ का नाश करना अशक्य हो जावेगा। कर्मों का विनाश न होने से आत्मा को समय २ पर महती पीडाएँ भोगनी पडेंगी। अत भय सब अनर्थों का मूल कारण है। ऐसा निश्चय कर भय से विचलित नहीं होता है। जिस वीर योद्धा ने अनेक

संग्रामों का अनुभव किया है वह रणभूमि में जाकर भयभीत नहीं होता, किन्तु उत्साह पूर्वक अपनी रणकुशलता को दिखाने के लिए उद्यत होता है। वैसे ही जिस साधु ने निर्भीकता का अभ्यास किया है वह भयानक उपद्रवों के उपस्थित होने पर भी अपने संयम से विचलित नहीं होता है, बल्कि अपने को सबोधित करते हुए यों कहता है कि हे आत्मन्! तुमने ससार के दु खो से भयभीत होकर उन दु.खों का समूलनाश करने के लिए यह वीर-भेष धारण किया है। अनादि काल से दुःख देने वाले मोहादि शत्रुओं को तुमने पहचान लिया है और उनका मूलोच्छेद करने के लिए सयम-शस्त्र हाथ मे लिया है। वे मोहादि शत्रु तुमको अनेक प्रकार से धोखा देकर तुम्हारे हाथ से सयम-शस्त्र छीनना चाहते हैं। रणकुशल योद्धा शत्रु की चालबाजियों मे नहीं आता है। वह सदा सावधान रहता है। इसी प्रकार तुमको भी सदा चौकन्ना रहना चाहिए। ये अनेक प्रकार के भय सयम को लूटने वाले मोहनीय कर्म के सुभट हैं। इनसे सचेत रहो। यह तुम्हारा कुछ भी बिगाड करने मे समर्थ नहीं हैं। तुम चिदानन्द चैतन्य स्वरूप हो। तुम्हारा धन रत्नत्रय है। उसका नाश करने की शक्ति किसी मे भी नहीं है। सिंह, व्याघ्र, सर्पादि जितने भी भयानक पदार्थ हैं, वे इस पुद्गलमय शरी का विनाश कर सकते हैं। पर यह शरीर तुम्हारा नहीं है। अत: इन आगन्तुक भयानक उपद्रवों से यदि भयभीत होकर विचलित होगये तो तुम्हारा रत्नत्रय धर्म नष्ट हो जावेगा। फिर इसका पाना अति दुष्कर है।

हे आत्मन्! थोड़ा विचार कर। तूने पृथिवी शरीर धारण किया उस समय खोदन, जलाने, हल के द्वारा विदीर्ण करने, कूटने, फोडने, पीसने, चूर्ण करने आदि की भयकर बाधाएँ तूने सही हैं।

जब तूने जल-पर्याय धारण की तब प्रखर सूर्य की किरणों से तथा दहकती हुई अग्नि की ज्वालाओ से तेरा शरीर अत्यन्त जलता रहा। पर्वत के दरारों, गुफाओ और शिखरों से अतिवेग से नीचे शिलाओ पर गिरने से महा दु:ख का अनुभव तुझे हुआ था। लवण, क्षार और खट्टे पदार्थों के साथ तेरा सयोग किया गया था उस समय भयानक वेदना तैंने सही थी। धगधगायमान अग्नि के ऊपर डालने से तुझे अतिशय दु.ख भोगना पडा था। वृक्षो पर गिरकर नीचे कठिन भूमि पर गिरने से, तैरते हुए मनुष्य आदि प्राणियों के पावों और हाथो के आघातों से, विशाल वक्षस्थल की चोट से, विशालकाय हाथी मगर मच्छादि जीवों के उछलने कूदने तैरने, सूड से जलको मथने आदि क्रियाओ से तेरे शरीर का मर्दन व विनाश किया गया उस समय के दु खो का वर्णन वचनागोचर है। ऐसे दुख भी तूने अनेक बार सहे हैं।

जल पर्याय को छोड कर जब तूने वायुरूप शरीर धारण किया तब पहाडो, वृक्षो, कटीली झाड़ियों मे टकराकर तथा अग्नि के सयोग से जल कर पखे आदि के आघात से प्राणियो के कठिन शरीर के आघात से, शरीर की गर्मी के स्पर्श से, जलते हुए वन की ऊची ज्वालाओ तथा सदा काल-समान अग्नि को उगलने वाले ज्वाली मुखी पर्वतों मे गिरने से तूने रोमाचकारी दु.खों को अनन्त बार सहन किया है।

जब वायु के शरीर को छोडकर तू अग्नि के शरीर मे गया अर्थात् अग्नि रूप शरीर धारण किया तब अनेक प्रकार की धूल से,

भस्म से, वालूरेत से तेरा शरीर नष्ट किया गया। जूतो से रौंदा गया। मूसल समान जलधारा डालकर तेरा नाश किया। काष्ट पत्थर आदि से ठोककर तेरा चूर्ण किया गया। मिट्टी के ढेलो और पत्थरो के नीचे दबाकर तेरा कचूमर निकाला गया। वायु के प्रबल धक्के खाकर तू दु:ख से विह्वल होकर प्राणरहित हुआ।

जब अग्नि के शरीर को छोडकर तूने वनस्पति का शरीर धारण किया तब तू कभी फल हुआ, कभी पुष्प हुआ, कभी पत्र या कोमल अंकुर रूप शरीर धारण किया। उस समय तुझे मनुष्यो ने एव पशु-पक्षियो ने तोडा, छिन्नभिन्न किया, खाया, मर्दन किया, दातो से कुतर कर तेरे टुकडे २ किये गये। चाकू दातली आदि से छेदन भेदन किया। शिलाओं पर नमक मिर्च मसाला मिलाकर तुझे पीसा। अग्निपर भूजा। कडाही मे घी तैल मे तला गया। छोटे पौधे बेल लतादि अवस्था मे जड से उखाडा गया। मध्य भाग छेदन कर अन्यत्र रोपा गया। पशुओं और मनुष्यो के पावो मे रौंदा गया। अग्नि से जलाया गया। जल के प्रवाह मे वह गया या बहाया गया। वनदाह से भस्म हुआ। अतिशीत मे जल गया। इत्यादि वचनातीत दु:खो का सहन कर अनन्त बार मरण किया।

जब तू स्थावर पर्याय से दो इन्द्रिय आदि त्रस पर्याय मे आया, तब तूने कुथुआ, केचुआ, दीमक, कीडे, मकोडे आदि विकलत्रय का शरीर धारण किया। तब अति वेग से चलने वाले रथ गाडी आदि वाहनो के नीचे दबकर तथा गधे घोडे बैल आदि पशुओं के कठिन खुरो की चोट से, जल के वेगवान प्रवाह से, वन की अग्नि से, वृक्ष पत्थर आदि के शरीर पर गिरने से, मनुष्यो के पैरो द्वारा कुचलने से, विरोधी प्राणियों के द्वारा खाये जाने से अत्यन्त दु:ख पूर्वक प्राणों का विसर्जन किया।

जब विकलत्रय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चोइन्द्रिय) शरीर को छोड़कर गधा, घोडा, ऊट, बैल, आदि पचेन्द्रिय पशु का जन्म धारण किया तब मनुष्यों ने तुझ पर शक्ति से अधिक बोझ लादा और स्वय सवार होकर तुझे भारी क्लेश दिया। जब भार से दबा हुआ तू चल न सका अथवा धीरे २ चलने लगा तब मारे डडो के तुझे बेहाल कर दिया। चाबुको की चोट से तथा लकडी मे लगी हुई लोहे की तीखी कीलों से तेरे शरीर को लोहू लुहान कर दिया। तुझ को समय पर घास पानी नहीं दिया। तेरी नाक को छेदकर नाक मे नकेल डाल दी गई। गर्दन मे रस्सी बाध कर खूटे पर बाध दिया। या मकान मे बन्द कर दिया। शीत की और घाम की अत्यन्त शीतल वायु और ज्येष्ट मास की अग्नि समान गर्म लू की भयानक वेदना के साथ भूख और प्यास की पीडा मे तुझे बहुत दुःख हुआ। नाक कान छेदना, शरीर को गर्म लोहे से दागना, विदारण करना, कसाई आदि मांस भक्षी नर पिशाचो के द्वारा कुल्हाडी तलवार आदि तीक्ष्ण शस्त्रों से काटे जाना, जीते जी यत्र पर चढाकर चमडा उखेडना आदि रोमाचकारी क्रियाओं से तूने महान् यातनाएँ सही हैं।

गाडी रथ आदि से जुतकर जब तू चाबुक आदि की मार के भय से बडे जोर से दौड रहा था तब अचानक खड्डे आदि में गिरकर पॉव टूट गया, या बीमारी के कारण तेरा शरीर चीण हो गया अथवा हल गाड़ी आदि मे अधिक जोतने और खाने को पूरा न देने से काम करने लायक न रहा, लाठो चाबुक आरा आदि की चोट से पीठ आदि में जख्म होकर कीडे पड़ गये और तेरे स्वामियों ने तुझे घर से निकाल कर जगल मे छोड दिया, वहा चारा, घास, पानी न मिलने के कारण अशक्त होगया और कौवे, चील, गिद्ध आदि पक्षी तुझे नोच नोच कर खाने लगे। जगली क्रूर प्राणी कुत्ते स्याल आदि तेरा शरीर कुतर २ कर भक्षण करने लगे, उस समय उस दु:खको निवारण करने का कोई उपाय नही था। तू भागकर एक कदम भी चल नहीं सकता था। उस असह्य दु.ख से तेरी आँखों से आसुओं की अखड धारा बहती थी, पर कोई दयादिखलाने वाला न था। वह कितना भीषण अवसर था।

फिर जब दुष्कर्मों का उपशम हुआ तब तुझे दुलभ मनुष्य जन्म मिला। उसमे भी इन्द्रिय विकल, दारिद्रय के दु ख से पीडित अथवा असाध्य रोग से रुग्ण हुआ। उस समय भी महा दु खी रहा। उस समय जिसको तू प्रिय समझता था और जिसकी प्राप्ति के लिए छटपटाता था उस पदार्थ की प्राप्ति नहीं हुई, किन्तु उससे विपरीत अप्रिय दु.ख देने वाले अनिष्ट पदार्थों का संयोग मिला। दूसरों की सेवावृत्ति करनी पडी। रात दिन सेवा मे लगे रहना पडा तो भी खाने पीने को भी पूरा न मिल सका। शरीर ढंकने को उचितवस्त्र भी न मिला। शत्रुओं के तिरस्कार को सहना पडा। रातदिन परिश्रम करने पर भी जीविका की चिन्ता लगी रही। जीविका के लिए महा पाप किये, नहीं करने योग्य काम किये, किन्तु कहीं पर सफलता नही मिली। रातदिन पशु समान दुष्कर कार्यों मे जुटा रहा। लेकिन वहा पर सुख के स्थान मे भयानक दु खों का सामना करना पडा।

इसके बाद कुछ शुभकर्म के उदय से तूने देवों म जन्म लिया, किन्तु नीच जाति का देव हुआ। तब "यहा से अलग हो, दूर हटो, यहा से शीघ्र चले आओ, प्रभु के आने का समय होगया है, उनके प्रस्थान की सूचना करने वाला नगारा बजाओ, अरे! यह ध्वज हाथ में लेकर सीधा खडा हो, अरेदीन इन देवियो की सेवा टहल कर, यहा ठहर, स्वामी की इच्छा के अनुकूल वाहन बनकर उनकी सेवाकर। क्या तू भूल गया कि तू विपुलपुण्यधन के स्वामी इन्द्रमहाराज का दास है जो इस तरह चुपचाप खडा है, आगे आगे क्यो नहीं दौडता है?" इस प्रकार अधिकारी देवों के कठोर असुहावने वचन सुनकर तू अनेक वार खेद खिन्न हुआ है। इन्द्र की अप्सराओ के अनुपम रूप लावण्य हाव भाव देखकर हाय ऐसी देवांगनाएँ मुझे कब मिलेगी? ऐसी अभिलाषा तेरे मनमे उत्पन्न होकर दरिद्र के मनोरथ के समान सब निष्फल होने के कारण जो दु:ख तुझे हुआ है, वह शब्द से नहीं कहा जा सकता। मृत्युकाल के छहमासपूर्व माला के मुर्झाने से मृत्युकाल निकट आया हुआ जानकर तूने स्वर्ग के दिव्य वैभव के वियोग जन्य महान दु:ख को सहा है।

जब तू कर्मयोग से नारकी हुआ उस समय जो क्षेत्रादि जन्य दु ख तूने भोगे हैं, उनका स्मरण मात्र ही आत्मा को विह्वल

बना देता है। वहा की पृथ्वी का रूप महाभयानक है, जिसको देखने से मनमें घबराहट उत्पन्न होती है। उसका रस हलाहलविष से भी अतिकटु है। जिसकी दुर्गन्ध इतनी बुरी है कि सातवीं पृथ्वी की मिट्टी का परमाणु यदि यहा कोई देव ले आये तो उसकी दुर्गन्ध से उनचास मील के दूर तक के पचेन्द्रिय जीव मरण को प्राप्त हो जावें। वहा की पृथ्वी के स्पर्श करने से उत्पन्न हुआ दु:ख हजारों विच्छुओ के एक साथ डक मारने से होने वाले दु:ख से कहीं अधिक होता है।

वहा पर नारकी परस्पर तलवार छुरी आदि शस्त्रो से एक दूसरे पर वार करते हैं, छेदते हैं। करोत से चीरते हैं। भाड मे भूजते और उबलते हुए कडाही के तेल मे तलते हैं। शूलोपर चढाते हैं। घनो से कूटकर कचूमर निकालते हैं। घाणी में पेलते हैं। चक्की मे पीस डालते हैं। अग्नि मे झोंक देते हैं। शरीर के अणु प्रमाण टुकडे कर देते हैं। गिद्ध, व्याघ्र, सिंहा स्यालादि विक्रिया के धारक नारक नोच २ शरीर को खाते हैं। इत्यादि अनेक वचनातीत दु:ख नरक मे सागरो पर्यन्त तूने भोगे हैं।

इन पहले भोगे हुए दु:खों के सामने यह क्षुधा तृषा रोग व्याधि जन्य पीडा तथा उपसर्ग जन्य दुःख कुछ भी नहीं हैं। उपर्युक्त दु:ख अनन्त वार तू भोग चुका है। अब इस लेशमात्र दु:ख के सहने मे क्यों कायरता धारण करता है। यदि तू कायरता धारण करेगा तो भी उपसर्ग रोगादि जन्य दु:ख तो तुझको भोगना ही पड़ेगा और आर्त व रौद्र परिणामों के कारण महान् अशुभ कर्मों का बन्ध करेगा। और जब उनका उदय आवेगा तब नरकादि मे असह्य दु:ख भोगना पडेगा। इसलिए कायरता का परित्याग कर तूने वीर भेष धारण किया है, इसलिए वीरता पूर्वक आगत दु:खो को सहले। रणागण मे प्रविष्ट हुआ वीर शत्रु के आघातों से नहीं डरता है। तू ने भी कर्म-शत्रुओं से युद्ध करने के लिए इस वीर भेष को धारण किया है। यदि तू वीरता पूर्वक इन कर्म-शत्रु के द्वारा दिये गये उपद्रवों का सामना करता रहेगा तो ये स्वयं परास्त हो जावेंगे और सदा के लिए तेरे दास बन जावेंगे। फिर ये कभी तेरी तरफ झाक भी न सकेंगे। यह सब उपद्रव इस शरीर का विगाड़ कर सकते हैं। शरीर तो तेरा शत्रु है। तुझे शिव सुख से वंचित रखने वाला है। अब अच्छा अवसर आया है, तू शान्ति धारण कर। यदि तूने शान्ति धारण करली, रागद्वेषादि भाव उत्पन्न न किये तो यह शत्रुभूतशरीर समूल नष्ट हो जायेगा और फिर कभी तेरे साथ इसका सयोग न होगा। अत एव निर्भय होकर उपसर्गादि का शान्ति से सहन करने के लिए मनको सुदृढ़ बनाले। मन को उपसर्गों आदि से विचलित मत होने दे। अपने मनको मेरु के समान अडोल और अकम्प बनाले।

इस प्रकार सत्व भावना का आश्रय लेने वाला साधु मोह युक्त नहीं होता। जैसे बहुत वार युद्ध का अभ्यासी वीर पुरुष युद्ध में कायरता धारण नहीं करता है। इसी भाव को दृढ़ करने के लिए चौथी एकत्व भावना को कहते हैं।

एकत्वभावना

एयत्त भावणाए ण कामभोगे गणे सरीरे वा ।
सज्जइ वेरग्गमणो फासेदि अणुत्तरं धम्मं ॥ २०० ॥ (भग० आ०)

अर्थ—मैं अकेला हूं । मेरा कोई नहीं है, न मैं किसी का हूँ-इस प्रकार शरीरादिक अन्य द्रव्यों का चिन्तन करना एकत्व भावना है । इसका अभ्यास करने से आत्मा इन्द्रिय-सुखो के भोगने मे आसक्त नहीं होता है । शिष्यादि वर्ग में तथा शरीर मे प्रीति नहीं करता है । एकत्व भावना का पुन पुनः मनन चिन्तन करते रहने से सब पदार्थों से राग भाव की निवृत्ति और वैराग्य भाव की परिणति होती है तथा चारित्र धर्म की आराधना होती है । एकत्व भावना के लिए इस प्रकार विचार करना चाहिएः-हे आत्मन् ! तू अनन्त काल से जन्म-जरा-मरण के दु खो का अनुभव कर रहा है । क्या तेरे दु.खो को किसी ने बाटा है ? अकेले ही तूने जन्म मरणादि के दु ख भोगे हैं । जो दुःखो को दूर करने मे सहायक होता है उसे लोग स्वजन समझते हैं और जो दु.ख के समय सहायता नहीं करता है उसे परजन मानते हैं । स्वजन मे प्रीति और परजन मे अप्रीति करने लगते हैं । लेकिन यह कल्पना मिथ्या है । वास्तव मे सुख की उत्पत्ति और दुःख का निवारण सातावेदनीय कर्म के उदय से होती है और दु.खका उत्पन्न करने वाला असाता वेदनीय कर्म का उदय है । यदि तेरे असातावेदनीय कर्म का उदय है और सातावेदनीयकर्म का उदय नहीं है तो ससार मे तुझे सुखी बनाने मे कोई समर्थ नहीं हो सकता है । जिन्हें तू स्वजन समझ रहा है, वे दु.ख के निमित्त बन जाते हैं । और जब सातावेदनीय कर्म का उदय अथवा असातावेदनीय का उदय नहीं होता है उस समय जिनको तू परजन समझ रहा है, वे भी दु.ख उत्पन्न करने मे समर्थ न होकर कभी २ सुख उत्पन्न करने वाले बन जाते हैं । इसलिए थोडा ज्ञान-दृष्टि से विचार कर देख । जिनको तू स्वजन समझ कर राग करता है और परजन समझकर द्वेप करता है यह तेरा भ्रान्त-ज्ञान है (मिथ्या ज्ञान) है । और इसी मिथ्या-ज्ञान द्वारा यह जीव अनन्तकाल से दु.खी हो रहा है । अत. अब तुझको सम्यग्ज्ञान धारण कर विचारना चाहिए कि मैं अकेला ही जन्म मरण के दु खो का कर्त्ता और भोक्ता हू । मैंने शरीरादि को अपना समझकर मोह भाव से कर्मों का बन्ध किया है और उनका उदय होने पर दु खादि मैंने अकेले ही भोगे हैं । वास्तव मे शरीरादि से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है । ऐसा चिन्तन करते रहना ही एकत्व भावना है ।

इस एकत्व भावना के अभ्यास करने से मनुष्य कामभोग मे, शिष्यादिसमुदाय मे, शरीर मे और सुख मे आसक्त नहीं होता । स्वेच्छा से जिन पदार्थों का उपभोग किया जाता है, उनको कामभोग कहते हैं । लोग स्त्री आदि पदार्थों को सुख के साधन मान लेते हैं । परन्तु एकत्व भावना का अभ्यासी इनमे राग नहीं करता है । अज्ञानी मनुष्य बाह्य पदार्थों का सयोग होने पर मन मे सुख की कल्पना करता है । परन्तु बाह्य पदार्थों से उत्तरोत्तर लोभ की वृद्धि होती है, असतोप बढता जाता है, मन मे व्याकुलता उत्पन्न होती है, इसलिए इनका परित्याग करने से ही निराकुलता व सन्तोष सुख बढता है ।

यह शरीर भी तेरा कुछ नहीं कर सकता। क्योंकि यह कर्म से उत्पन्न हुआ है और शुभाशुभ कर्म के उदय के अनुसार सुख दुःख में निमित्त होता है। यह तो बेचारा अकिंचित्कर है। अज्ञानी आत्मा बाह्य जीव व अजीव पदार्थों में 'यह मेरा उपकार करने वाला अथवा यह अनुपकार करने वाला है' ऐसा मिथ्या सङ्कल्प करके उनमें राग द्वेष करता है और रागद्वेष के कारण कर्मों के जाल में फंसकर घोर संसार-भ्रमण के दुःखों को भोगता है। इसलिए हे आत्मन्! इन बाह्य पदार्थों में जो राग द्वेष बुद्धि हो रही है, उसे दूर हटाओ। तुम्हारे साथ इनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। तुम्हारी आत्मा चैतन्य है और ये अचेतन स्वरूप हैं। जो शिष्यादि चेतन पदार्थ हैं, उनका सम्बन्ध उस शरीर से है। तुम शुद्ध आत्म-स्वरूप हो, इसलिए इन शरीर धारक अशुद्ध आत्माओं से तुम्हारा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकार विचार करो। इनसे वैराग्य भाव उत्पन्न करने के लिए तथा उसकी वृद्धि करने के लिए इस (एकत्व) भावना का निरन्तर अभ्यास करो। इसका अभ्यास करने से बाह्य पदार्थों से विरक्ति और आत्म-गुणों से अनुरक्ति होती है। इससे आत्मा में स्थिरता उत्पन्न होती है और आत्मा में स्थिर रहने को ही चारित्र कहते हैं। यह चारित्र ही सम्पूर्ण कर्मों का मूलोच्छेद करनेवाला है। अतः यदि तुमको मोक्ष महल के प्रधान सोपान पर चढ़ता से पाव रखना है तो उसका मुख्य कारण एकत्व भावना है। यह अज्ञान व मोह का त्याग करवाकर शिव सुख को देनेवाली है और कल्याण के इच्छुक मुनियों को परमप्यारी है। अतः इसका निरन्तर अभ्यास करते रहो।

पाँचवीं धृतिबल भावना—

> धिदिधणिदबद्धकच्छो जोधेइ अणाइलो तमव्वहिओ।
> धिदिभावणाए सूरो संपुण्णमणोरहो होइ ॥ २०३ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—जिसने धैर्य से कमर बांधली है, उस साधु के चित्त में क्षोभ उत्पन्न नहीं होता है और वह परीषह और उपसर्गों की सेना से निर्भीक हुआ उसके साथ युद्ध करता है और धृति भावना के बल से उसका घात करता है।

भावार्थ—जो साधु साहस बल से युक्त है, जिसके हृदय में वीरता है वह कठिन से कठिन परीषह और देव, मनुष्य, तिर्यंचादि कृत उपसर्गों से चंचलचित्त नहीं होता है। उनके मन-सुमेरु को उग्र से उग्र क्षुधादि परीषह, दुष्ट देवों द्वारा दीगई विभीषिका मनुष्यों के शस्त्र-प्रहार तथा सिंहादि हिंसक प्राणियों के द्वारा दीगई बाधायें चलायमान नहीं करसकती हैं। चित्त में क्षोभ उत्पन्न करने वाले कारणों के उपस्थित होने पर जिसका चित्त निर्विकार एवं क्षोभ रहित होता है उसे ही धैर्यशाली माना है। कहा है कि—

"विकार हेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।"

अर्थात् विकार का कारण उपस्थित होने पर भी जिसके मन मे विकार उत्पन्न नहीं होता वही धीर वीर कहलाता है। धीरता ही सर्व सिद्धियों की जननी है।

हे आत्मन् ! इस धैर्यबल के प्रभाव से ही अत्यन्त कोमलाङ्ग सरसों भी जिनको कॉटे समान चुभती थी, ऐसे सुकुमाल मुनिराज बच्चों सहित स्यालनी द्वारा नोच नोंचकर खाये जाने पर भी टस से मस नहीं हुए, उनके रोम तक मे विकार नहीं हुआ। पांचो पाडवो को अग्नि से सतप्त लोहे के आभूषण पहनाये गये, गज कुमार मुनि के मस्तक पर अगीठी जलाई गई, परन्तु उनके चित्त मे रचमात्र क्षोभ नहीं हुआ। वे अपने आत्महित मे लगे रहे। यह सब धैर्य का माहात्म्य है। इसलिए तुम भी यदि आत्मकल्याण को कामना रखते हो, अपने कार्य की निर्विघ्न सिद्धि चाहते हो तथा परम्परा सुख की अभिलाषा रखते हो तो धैर्य धारण करो। धीर वीर पुरुष के सामने शस्त्र पुष्पहार के समान, और विष अमृत समान हो जाता है। असातावेदनीय कर्म से उत्पन्न हुई रोगादि वेदना भी उनके चित को दुखी नहीं बना सकती है। अज्ञानी व मोही जीव धैर्यहीन होकर अल्प कष्ट को महान् कष्ट और न्यूनतम रोगादि पीडा को महती पीडा समझकर रोता और विलाप करता है और धैर्यका धारक वीर पुरुष उसकी परवाह न कर अधीरता का परित्याग कर शान्ति का अनुभव करता है। वह सोचता है कि मैंने नरकादि दुर्गतियों मे असहाय होकर महान् हृदय विदारक दुःखो को सहा है। यह दुःख क्या है ? इस समय तो मेरे आचार्य परिचारक साधु आदि अनेक सहायक हैं। मुझे सन्मार्ग का उपदेश देने वाले हैं। मेरे कल्याण की कामना रखकर मुझे कुमार्ग से निवृत्त कर रहे हैं। यदि इस समय भी धर्य हीन हुआ तो मेरे समान अज्ञानी और कायर कौन होगा। अत इस सुयोग्य अवसर पर मुझे धैर्य का अवलम्बन लेकर शरीर से ममता हटाकर आत्महित के कार्य से विचलित नहीं होना चाहिए।

इस प्रकार पाच भावनाओं का सक्षेप से वर्णन किया है। इन भावनाओं का सस्कार जिसके अन्त करण मे अङ्कित होगया है, वह साधु सल्लेखना का आराधन सुगमता से करता है। भावना का अभ्यासी साधु बारह प्रकार के तपश्चरण द्वारा सल्लेखन का प्रारम्भ करता है।

सल्लेखना के भेद

सल्लेखना य दुविहा अब्भंतरिया य बाहिरा चेव।
अब्भंतरा कसायेसु बाहिरा होदि हु सरीरे ॥ २०६ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—सल्लेखना के दो भेद हैं। १ आभ्यन्तर सल्लेखना और २ बाह्यसल्लेखना। क्रोधादि कषायों को कृश करने (घटाने) को आभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं और तपस्या द्वारा काय के कृश करने को बाह्यसल्लेखना कहते हैं।

भावार्थ—क्रोधादिभावों को मन्द करने के लिए दृढ प्रयत्न करना तथा अनशनादि तपश्चरण द्वारा शरीर व इन्द्रियो के दर्प को क्षीण करना सल्लेखना है। सल्लेखना आभ्यन्तर और बाह्य के भेद से दो प्रकार की होती है। आत्मा के कर्मजन्य वैभाविक भावों को क्षीण करना, अर्थात् क्रोधादि कषाय के तीव्र उदय होते हुए भी ज्ञान व भावना के बल से आत्मा मे रागद्वेषादि रूप अथवा क्रोधादि रूप परिणति को न होने देना आभ्यन्तर सल्लेखना है।

इसका आशय यह है कि तीव्र कषाय के उदय होने पर आत्मा क्रोधादि के वश हो जाता है, उसकी ज्ञान-शक्ति उस समय अनुपयोगी सिद्ध होती है, किन्तु जिस साधु ने ऊपर लिखे अनुसार अपने आत्मा को धैर्यादि गुणों से अलकृत एव श्रुत भावना तथा एकत्वादि भावना से सस्कृत कर लिया है, वह विपरीत सयोगो के मिलने पर भी क्रोधादि कषायों का दमन करने का पूर्ण प्रयत्न करता है और वह ज्ञान तथा भावना के बल से कषायों को कम करने मे कृतकार्य होता है। इसी को आभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं। ज्यो २ कषाय निग्रह करने का बल आत्मा म वृद्धिगत होता जाता है त्यो २ उसके आत्मा मे क्रोधादि भावो की मदता होती चली जाती है। क्रोधादि को मद करने का जो उद्योग है उसीको आभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं।

कषाय की मन्दता करने मे प्रवृत्त हुआ आत्मा तब तक पूर्णरूप से सफल नहीं होता है, जब तक इन्द्रिय और शरीर को अपने वश मे नहीं कर लेता है। अतः इनपर अपना पूरी तरह काबू करने के लिए उनके बल को क्षीण करना आवश्यक होता है। क्योकि क्रोधादि कषायो का प्रादुर्भाव शरीर और विषयों के मोह से उत्पन्न होता है। अतः आभ्यन्तर सल्लेखना की प्राप्ति करने के लिए शरीर और इन्द्रिय से मोह का त्यागकर इनको कृश करना उचित है। नियमानुसार शरीर इन्द्रिय के बल को क्षीण करने के प्रयत्न को सल्लेखना कहते हैं। शास्त्र में कहा है.—

सव्वे रसे पणीदे णिज्जूहित्ता दुपत्तलुक्खेण।
अणुणदरेणुवधाणेण सल्लिहइ य अप्पयं कमसो ॥ २०७ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—इन्द्रियो के बल की वृद्धि करनेवाले पौष्टिक आहार का परित्याग कर अवग्रह (आखडी नियम) द्वारा रुक्ष आहार ग्रहण करता हुआ साधक अपने शरीर को कृश करता है।

भावार्थ—सल्लेखना का आराधक साधु सब पदार्थों का त्यागकरके अपने शरीर से भी मोहरहित हुआ इन्द्रिय और शरीर के दर्प को दूर करने के लिए पुष्टिकारक जितने भी आहार हैं, उनका त्याग करता है। रुक्ष आहार मे भी अवग्रह करता है। अर्थात् अनशन अवमौदर्यादि तपश्चरण का आचरण करता हुआ रुक्ष आहार का भी नियमपूर्वक परित्याग करता है।

अनशन तप साधु कभी अनशन (उपवास) करता है। उस दिन चारो प्रकार के आहार का त्याग कर अनशन व्रत ग्रहण करता है। इसको चतुर्थ कहते हैं। चतुर्थ चार बार भोजन त्याग को कहते हैं। एक बार धारणा के दिन का, एक बार पारणा के दिन का, दोबार उपवास के दिन का भोजन का त्याग इसमे होता है, अतः इसे चतुर्थ कहते हैं। षष्ठ बेले (दोदिन का उपवास) को, अष्टम तेले और दशम चौले को कहते हैं। इसी प्रकार आगे के उपवास में भी समझ लेना चाहिए।

अनशन तप के दो भेद हैं—१ काल की अवधि वाला अनशन तप औरयावज्जीव अनशन तप। शास्त्र मे कहा है.—

अद्धासणं सव्वासणं दुविहं तु अणसणं भणियं।
विहरंतस्स य अद्धासणं इदरं य चरिमंते ॥ २०९ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—अनशन तप के दो भेद हैं—१ अद्धानशन और २ सर्वानशन। दीक्षा ग्रहण करके साधु जब तक सन्यास ग्रहण नहीं करता है तबतक काल की मर्यादा से जो अनशन व्रत ग्रहण करता है अथवा व्रतो मे लगे हुए दोषो के प्रतीकार के लिए जो अनशन किया जाता है उसे अद्धानशन कहते हैं। सन्यास के समय (समाधिमरण के अन्तिम अवसर मे) जो यावज्जीव चारो प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है उसे सर्वानशन कहते हैं।

भावार्थ—अद्धा शब्द का अर्थ काल है, यहा पर चतुर्थ, षष्ठ आदि से लेकर छह मास पर्यन्त का काल अद्धा शब्द से लिया गया है। अर्थात् चतुर्थ (एक उपवास) से लेकर छह मास तक के उपवास को अद्धानशन कहते हैं। अद्धानशन को मुनि दीक्षाधारण करने के समय से लेकर जब तक सन्यास ग्रहण नहीं करता है तब तक अपनी इच्छा एव आवश्यकतानुसार व्रतादि मे उत्पन्न हुए दोषो की निवृत्ति के प्रायश्चित रूप धारण करता है। इस प्रकार काल की मर्यादा पूर्वक धारण किये जाने वाले उपवास को अद्धानशन कहते हैं। सन्यास के समय चारो प्रकार के आहार का त्याग करना सर्वानशन तप कहलाता है।

अवमौदर्यतप—किसी समय मुनि अवमौदर्य तप करते हैं। जिसकी जितनी खुराक हो उस खुराक से कम भोजन करने को अवमौदर्य कहते हैं। पुरुषों का अधिक से अधिक भोजन (खुराक) बत्तीस ग्रास माना गया है और महिलाओं का भोजन अठाईस ग्रास कहा गया है। एक ग्रास एक हजार चॉवलों का माना गया है। अर्थात् एक हजार चॉवलों का जितना बडा पिंड होता है उतना बडा एक ग्रास का परिणाम होता है। उससे कम एक चॉवल के दाने तक के आहार को अवमौदर्य कहते हैं। यथाः—

"ग्रासोऽग्रावि सहस्रतंदुलमितो द्वात्रिंशदेतेऽशनम् ।
पुंसो वैस्रसिकं स्त्रिया विचतुरम्लद्वानिरौचित्यतः ॥
ग्रासं यावदयैकसिक्थमवमौदर्यं तास्तचरे—
दर्मावश्यकयोगधातुममता,निद्राजयाद्याप्तये ॥" (भग० आ० टीका २११)

अर्थात्—प्राचीन शास्त्रों में ग्रास एक हजार चाँवल प्रमाण कहा गया है। पुरुषों के उक्त प्रमाण वाले ग्रास बत्तीस होसकते हैं और स्त्रियों के अठाईस अर्थात् पुरुष के लिए अधिक से अधिक बत्तीस ग्रास प्रमाण भोजन और स्त्रियों के अठाईस ग्रास प्रमाण भोजन होता है। इससे अधिक भोजन नहीं करना चाहिए। साधु का यह अधिक से अधिक आहार है। इसका आशय यह है कि अपने आहार में से एक ग्रास दो ग्रास आदि की कमी करते हुए एक ग्रास या एक चावल के आहार तक घटाते जाना अवमौदर्य तप होता है। आवश्यक क्रियाओं में प्रमादाभाव अर्थात् उत्साह उत्पन्न होने के लिए योग साधन के लिए, स्वाध्याय सिद्धि के लिए वात पित्त कफ की विषमता को दूर करने के लिए और निद्रापर विजय प्राप्त करने के लिए साधु इस तप का आचरण करते हैं। यथा—

निद्राजयः समाधानं स्वाध्यायः संयमः परः ।
हृषीकनिर्जयः साधोरवमौदर्यतो गुणाः ॥ २ १ ॥ (संस्कृत० भग०)

रसपरित्याग—सल्लेखना का आराधक रसपरित्याग नाम का तप भी करता है। दूध दही घृत तैल गुड इन सब रसों का अथवा इन में से कभी किसी रस का और कभी किसी रस का त्याग करता है। अथवा पुष्प पत्र शाक नमक दाल आदि के त्याग करने को भी रस-त्याग माना गया है।

सल्लेखना का आराधक साधु भोजन में स्वाद की अपेक्षा नहीं रखता अपितु रूखा सूखा जैसा भोजन मिलजाता है वैसा ही करलेता है। शास्त्रों में कहा है—

अशनं नीरसं शुद्धं शुष्कमस्वादु शीतलम् ।
भुंजते समभावेन साधवो निर्जितेन्द्रियाः ॥ २१५ ॥ (संस्कृ० भग० आ०)

अर्थ—जिन्होने इन्द्रियो को वश मे कर लिया है ऐसे सयमी नीरस, रूखा, सूखा, स्वादहीन, ठंढा, लवण घृत दुग्धादि से रहित शुद्ध भात चना रोटी आदि अन्न का भोजन करते हैं।

वृत्तिपरिसख्यान तप—किसी समय सल्लेखना का आराधक वृत्तिपरिसख्यान तप का आचरण करता है। अनेक प्रकारके अभिग्रह (आखडी नियम व प्रतिज्ञा) करने को वृत्तिपरिसंख्यान कहते हैं। वृत्तिपरिसंख्यान तप का सेवन करने वाला संयमी नियमो करता है कि आज मैं एक या दो मुहल्ला में भोजन के लिए जाऊगा और वहा आहार मिलगया तो ग्रहण करूगा, अन्यथा आज मेरे भोजन का त्याग है। आज मैं एक पोल या गुवाडो मे ही जाऊगा और वहा आहार की विधि मिलेगी तो ठीक है अन्यथा आहार का त्याग है। आज मैं अमुक मुहल्ले मे जाऊगा और उसके प्रारभ के घर मे आहार की योग्य विधि मिलेगी तो आहार ग्रहण करूगा, अन्यथा आज आहार का त्याग है। एक बार भोजन जो परोसा जायगा वही लूंगा दुबारा परोसा हुआ भोजन ग्रहण न करूगा। आज पडिगाहने मे एक आदमी होगा या दो होंगे तो आहार करूगा। आज मैं इतने ग्रास ही भोजन करूगा। आज पिंडरूप (ग्रास रूप) जो भोजन होगा, उसीका ग्रहण करूगा, खडी दूध आदि द्रव पदार्थ का सेवन न करूगा। आज द्रवरूप पदार्थ का ही ग्रहण करूगा। आज उसी पदार्थ का योग मिलेगा तो भोजन लूगा जो न तो केवल द्रवरूप होगा और न केवल पिंडरूप जैसे कढी आदि। आज चना चवला मसूर मूग आदि धान्य अन्न का ही आहार लूंगा। आज मैं केवल जलमात्र पीऊगा। अमुक वस्तु हाथ मे लिए हुए पडिगाहेंगे तो आहार लूगा अन्यथा आज मेरे आहार ग्रहण करने का त्याग है। आज शाक के साथ मूग या कुलथ मोठ भात आदि मिश्रित होगे तो मैं आहार लूगा अन्यथा आहार का त्याग है। थालाके मध्य में भात रख कर उसके चारों ओर शाक रखी होगी तो आहार लूगा। आज मध्य मे अन्न रखा हो और उसके एक तरफ दाल शाक आदि रखे गये होंगे तो आहार लूगा। चटनी आदि से सयुक्त भात रोटी आदि होगी तो आज आहार ग्रहण करूगा। केवल शुद्ध जल से युक्त भात होगा तो आज ग्रहण करूगा। हाथ मे चिपकने वाला कोई अन्न मिलेगा तो लूगा। आज हाथ मे नहीं चिपकने वाला अन्न मिलेगा तो लूगा। आज घुले चांवल आदि का आहार लूगा। आज बिना घुले खडे चॉवल होगे तो आहार ग्रहण करूगा। इत्यादि अनेक प्रकार की प्रतिज्ञा लेकर साधु गोचरी को निकलते है। की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार विधिपूर्वक यदि आहार मिलता है तो ग्रहण करते हैं अन्यथा उस दिन अनशन करते हैं। इसको वृत्तिपरिसख्यान तप कहते हैं।

पत्तस्स दायगस्स य अवग्गहो बहुविहो ससत्तीए।
इच्चेवमादिविधिणा णादव्वा वुत्तिपरिसंखा ॥ २२१॥ (भग० आ०)

अर्थ—सुवर्ण के पात्र मे, चादी के भाजन में, कांसे के वर्त्तन मे या मिट्टी के पात्र मे परोसागया भोजन ही आज ग्रहण करूंगा।

आज मैं स्त्री के हाथ से ही आहार लूगा। वह स्त्री बाल्यावस्था वाली होगी या वृद्धा होगी या अलकार रहित होगी या ब्राह्मणी होगी या वैश्य वर्ण की होगी या राजपुत्री होगी तो उसके हाथ से आहार लूगा अन्यथा नहीं। इत्यादि पात्र, दाता, भोज्यवस्तु, गृहादि के विचार से अपनी शारीरिक, मानसिक शक्ति की पूरी २ जाच कर जो प्रतिज्ञा की जाती है उसे वृत्तिपरिसख्यान तप कहते हैं।

कायक्लेशतप—कभी मुनि अपनी आत्मीयशक्ति को विकसित करने लिए शरीर से ममत्व त्याग कर अनेक प्रकार के कायक्लेश कारी तपों का आचरण करते हैं। कायक्लेशतप करने वाला संयमी अपनी शक्ति को लक्ष्य मे रखकर तपश्चरण करता है। जिस तप के आचरण करने से उत्तरोत्तर तप में अनुराग और उत्साह की वृद्धि होती रहे उतना तप कर्मों की निर्जरा करनेवाला माना गया है। कायक्लेश तप कई प्रकार का होता है।

कोई कायक्लेश गमन से होता है। जिस समय ज्येष्ठ वैशाख मास की कड़ी धूप हो उससमय पूर्वदिशासे (सूर्य के सम्मुख) पश्चिम दिशा मे गमन करना, मध्याह्न के समय प्रचण्ड सूर्य की प्रखर किरणों से संतप्त भूतल पर गमग करना, पश्चिमदिशा से (सूर्य के सम्मुख) पूर्व दिशा मे गमन करना, सूर्य को पसवाड़े मे करके गमन करना, एक ग्राम मे पहुच कर बिना विश्राम लिए दूसरे ग्राम की ओर गमन करना, एक ग्राम को जाकर वहा स विना विश्राम लिए वापिस लौट आना यह सब गमन निमित्तक कायक्लेश तप है।

कोई कायक्लेश तप स्थान (खडे रहने) के विषयक होता है—प्रमार्जित स्तम्भ या भीत के सहारे खडे रहना, पहले के स्थान से दूसरे स्थान मे जाकर वहा पर एक पहर एक दिन आदि काल का नियम लेकर खड़े रहना, अपने स्थान पर ही निश्चल होकर खडे रहना, कायोत्सर्ग करना, अर्थात् समान अन्तर मे पाँव रखकर भूमि पर खडे रहना, एक पाव से खडे रहना, आकाश मे उडते समय गृध्र पक्षी के जैसे पख फैलते हैं, वैसे दोनों बाहु फैलाकर खडे रहना, पाँव के अग्रभाग के बल खडे रहना, पाँव के अगूठे के बल खडे रहना, इत्यादि अनेक प्रकार से काल की मर्यादा पूर्वक खड़े रहना स्थान-कायक्लेश तप कहा जाता है।

अनेक आसन माँडकर तपश्चरण करने को आसन कायक्लेश तप कहते हैं। एक पहर, दोपहर आदि का प्रमाण कर पालथी माडकर बैठे रहना पर्यंकासन कायक्लेश तप है। नितम्ब भाग (चूतड़) के पाँव लगाकर बैठना समपदासन कायक्लेश तप है। गाय के दोहते समय एड़ियों को उठाकर पाँवो के अग्रभाग (फात्रो) के बल जैसा बैठते हैं, वैसा बैठना गोदोहासन कायक्लेश तप है। भूमि को नहीं छूते हुए दोनों पाँवो को मिलाकर और शरीर के ऊपर के भाग को सिकोड़कर बैठना उत्कुटिकासन कायक्लेश तप है। मगर के मुख समान दोनों पाँवों की आकृति बनाकर बैठना मगर-मुखासन कायक्लेश तप है। जैसे हाथी सूड को फैलाता है, वैसे एक पाँव को फैलाकर बैठना अथवा एक हाथ को फैलाकर बैठना हस्तिशुण्डासन कायक्लेशतप है। दोनो जघाओ को सिकोड कर गौ जिस प्रकार बैठती है वैसे बैठने

को गवासन कायक्लेश तप कहते हैं। दोनो जाघो पर दोनो पाँव रखकर बैठना अथवा दोनो पिंडलियों को दूर अन्तर पर स्थापन करना वीरासन कायक्लेश तप कहा जाता है। इस प्रकार अनेक आसन लगाकर ध्यान करने को आसननिमित्तक कायक्लेश तप कहते हैं।

अब शयन से जो कायक्लेश तप होता है, उसे कहते हैं। दड समान शरीर को लम्बा करके सोना दडायतशयन कायक्लेशतप है। खडे खडे सोना उद्धीभूशयन कायक्लेशतप है। अवयवोंको सुकोड़ कर सोना लगुडशयन कायक्लेश तप कहते हैं। मुखको ऊँचा रखकर चित सोने को उत्तानशयन कायक्लेशतप कहते हैं। मुखको नीचे रखकर औंधा सोने को अवमस्तकशयन कायक्लेश तप कहते हैं। बाईं या दाहिनी करवटो मे से किसी करवट से सोना पार्श्वशयम कायक्लेश तप माना गया है। मृतक के समान बिना हिलेचले चेष्टा रहित सोने को मृतकशयन कायक्लेश तप कहा जाता है। बाहर निरावरण प्रदेश मे (खुले मैदान में) सोने को अभ्रावकाशशयन कायक्लेश तप कहते हैं। इस प्रकार अनेक प्रकार के शयन हैं, उनमे से अपनी शक्ति व सुविधा के अनुसार जिस प्रकार सोये हो वैसे ही नियत समय तक सोते रहना, शयन का परिवर्त्तन (बदला बदली) न करने से शयन निमित्तक कायक्लेश तप होता है। अब अन्य कायक्लेशों को कहते हैं।

थूकने की आवश्यकता होने पर भी नहीं थूंकना, शरीर मे खुजली की बाधा उपस्थित होने पर भी शरीर को नहीं खुजलाना, सूखे तृण के ऊपर, काठ के पट्टे पर, पत्थर की शिला पर, तथा भूमि पर शयन करना, केशों का लोच करना, (उखाडना) रात्रि मे न सोना जागरण करना, स्नान नहीं करना, दातो को नहीं माजना, अतिशीत गर्मी तथा जलवृष्टि आदि की बाधा सहना, शरीर को क्लेश पहुचाने वाले अनेक साधनो को जुटाकर शरीर सम्बन्धी कष्टो को शान्ति से सहन करना कायक्लेश तप कहा गया है।

विविक्त शय्यासन तप—जो प्रासुक हो, जिस वसतिका मे राग तथा द्वेष भाव को उत्पादन करने वाले मनोज्ञ व अमनोज्ञरूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द न पाये जावें तथा जहा पर स्वाध्याय और ध्यान मे विघ्न उपस्थित न होता हो, उस वसतिका को विविक्त कहते हैं। वही वसतिका मुनि के योग्य मानी गई है। ऐसी वसतिका मे सोने या रहने को विविक्त शय्यासन तप कहते हैं।

इस विविक्त शय्यासन मे स्त्रियों, नपुन्सकों, असमियों और पशुओं का सचार नहीं होना चाहिए। इनसे उनके ध्यानाध्ययन मे बाधा उपस्थित होती है और अपने कर्तव्य कर्म को निर्विघ्न रूप से नहीं कर सकते। आत्मगवेषियो के लिए एकान्त और पवित्र स्थान की अनिवार्य आवश्यकता है। इसीलिए विविक्त शय्यासन को एक तप का स्थान दिया गया है।

वसतिका के बारे मे यह खयाल रखना भी नितान्त आवश्यक है कि वह उद्गम, उत्पादना व एषणा दोषों से रहित हो अन्यथा वह सोने अथवा रहने योग्य नहीं है। उद्गम, उत्पादन, और एषणा दोषो से भयकर एक दोष और है जिसका नाम अध कर्म है। अध कर्म अर्थात सब से नीचा कर्म (कार्य)।

(१) आधाकर्म दोष—यह सब दोषों से महान् दोष है। इस दोष से मुनि के महाव्रतों का नाश होता है। वृक्षों को काट कर लाना, ईंटों को पकाना, पृथ्वी खोदना, नींव आदि को पत्थर मिट्टी आदि से भरना, पृथ्वी को कूटना, कीचड़ करना, खंभे तैयार करना, अग्नि से लोहे को तपाना व घनों से कूटना, करौत से काठ चीरना, वसौले से छीलना, फरसे से छेदन करना इत्यादि नाना प्रकार की क्रियाओं से छह काय के जीवों को पीड़ा देकर वसतिका स्वयं बनाई हो या दूसरे से बनवाई हो, अथवा बनाने वाले का अनुमोदन किया गया हो तो वह आधाकर्म दोष है। यह महादोष है। इसका सेवन करने से मुनिपना नष्ट होता है।

उद्गम दोष

(१) उद्देशदोष—जितने भी दीन अनाथ कंगाल या भेषधारी हैं उन सब के लिए बनाई गई धर्मशाला आदि हो या पाखंडी साधुओं के लिए बनवाये गये मठ वगैरह अथवा बौद्ध साधुओं के लिए या निर्ग्रन्थ साधुओं के लिए बनवाये गये आवासादि हों वे सब उद्देशिक वसति कहलाते हैं। अर्थात् किसी पाखंडी आदि के उद्देश से बनवाई गई वसति में रहने से उद्देश दोष होता है।

(२) अध्यधि दोष—गृहस्थ अपने उपभोग के लिए मकान बनवाता हो तब पत्थर ईंट चूना आदि अधिक मंगवाकर साधुओं के लिए भी एक दो कमरे बनवाले और उसमें मुनि ठहरें तो अध्यधि दोष होता है।

(३) पूतिदोष—गृहस्थ ने अपने लिए मकान बनवाने के निमित्त बहुत से पत्थर ईंट काष्ठ आदि एकत्र कर रखे हों, उनमें थोड़े से पत्थर ईंट काष्ठादि मुनि की वसतिका के निमित्त मिलावे तो पूति दोष होता है।

(४) मिश्रदोष—पाखंडियों या गृहस्थों के ठहरने के लिए मकान बनवाते हुए गृहस्थ के मनमें विचार उत्पन्न हो जावे कि संयमीजनों के ठहरने के लिए भी इसमें वसतिका बनवालें, इस उद्देश से पहले इकट्ठी की गई पत्थर चूना आदि सामग्री में थोड़ा पत्थर चूना काठ आदि सामग्री और मिला दे तो मिश्र दोष होता है।

(५) स्थापित दोष—अपने लिए कोई गृह भवनादि बनवाया और पश्चात् विचार किया कि यह संयमियों के लिए ही नियत है ऐसा संकल्प करने से स्थापित दोष होता है।

(६) प्राभृतकदोष—जिस दिन साधु आवेंगे, उस दिन उस वसतिका की सफेदी पुताई वगैरह करवावेंगे, ऐसा विचार करके मुनिके आने पर वसतिका का संस्कार (धुलाई पुताई आदि) करवाने से प्राभृतदोष होता है। अथवा साधु के आने के काल को लक्ष्य में रखकर वसतिका सँवारने में विलम्ब करना इसको भी प्राभृतक दोष कहते हैं।

(७) प्रादुष्कार दोष—जिस मकान मे अन्धकार बहुत है उसमे प्रकाश लाने के लिए (मुनियों के निमित्त) भीत फोड़कर खिड़की या जाली निकालना, ऊपर के काठ के तख्ते आदि हटाना, दीपक जलाना-यह सब प्रादुष्कार दोष है।

(८) क्रीतदोष—गाय भैंस बैल आदि सचित्त (सजीव) द्रव्य देकर अथवा गुड़, शक्कर, घृतादि अचित्त द्रव्य देकर संयमी के लिए वसतिका खरीदना क्रीतदोष है।

(९) भावक्रीतदोष—विद्या, मन्त्रादि देकर मुनि के लिए वसतिका खरीदना भावक्रीत दोष है।

(१०) पामिच्छ (प्रामिश्र) दोष—भाडा या व्याज देकर मुनि के लिए वसतिका लेना, वह पामिच्छ (प्रामिश्र) दोष है।

(११) परिवर्त्त दोष—'आपका मकान मुनियों के ठहरने के लिए दो और मेरे मकान मे आप रहो,' इस प्रकार विनिमय (बदला) करके मुनियो के निवास के लिए मकान लेने से परिवर्त्त दोष होता है।

(१२) अभिघट दोष-अपने मकान की दीवाल आदि के लिए जो छप्पर, स्तभ, चटाई आदि सामग्री बनवाई थी, वह मुनियों की वसतिका के लिए लाना अभिघट दोष है। इस दोष के दो भेद हैं—१ आचरित अभिघट और १ अनाचरित अभिघट दोष - जो सामग्री दूर देश से अथवा दूसरे गाव से लाई गई हो तो अनाचरित अभिघट दोष होता है अन्यथा आचरित अभिघट दोष। कहलाता है।

(१३) उद्भिन्न दोष—जो मकान ईंटो से, मिट्टी के पिंड से, कांटों की बाड से या किवाडों से ढका हो, उस पर से उनको हटाकर वह मकान मुनियो को देदेना उद्भिन्न दोष होता है।

(१४) मालारोह दोष—निसैनी आदि से चढकर 'आप यहा पधारिये, आपको विश्राम करने लिए यह स्थान दिया जाता है', ऐसा कहकर सयमियों को दुमजिला या तीन मजिल पर मकान देना मालारोह दोष है।

(१५) आछेद्य दोष—राजा, मत्री या अन्य किन्हीं प्रधान पुरुषो का भय दिखला कर दूसरे के स्थान को मुनि के ठहरने के लिए दिलाना वह आछेद्य दोष है।

(१६) अनिसृष्ट दोष—दानकार्य मे अनियुक्त वसतिका के स्वामी से अथवा बालक से या परवश हुए स्वामी से जो वसतिका दी जाती है वह अनिसृष्ट दोष से युक्त होता है।

इस प्रकार सोलह उद्गम दोष हैं। ये दोष गृहस्थ के आश्रित हैं। मुनि को इन दोषो मे से किसी एक दोष का भी भान हो जावे तो उस वसतिका मे मुनि को नहीं ठहरना चाहिए। मालूम हो जाने पर यदि साधु उस दूषित वसतिका मे ठहरता है तो वह दोष का भागी होता है।

उत्पादन दोष

अब उत्पादन दोष को कहते हैं। यह दोष साधु के आश्रित है। इस के भी सोलह भेद हैं। इन भेदों का सक्षेप स्वरूप यह है।

(१) धात्री दोष—ससार मे धात्री कर्म पाच हैं, उनमे से किसी एक के निमित्त से वसतिका की प्राप्ति करना धात्री दोष है। (१)कोई धात्री (धाय) बालक को स्नान कराती है। (२) कोई बालक को क्रीडा कराती है। (३) कोई बालक को वस्त्र अलङ्कारादि से सजाती है। (४) कोई बालक को खिलाती पिलाती है। (५ कोई बालक को सुलाती है। ऐसी पाच धात्रिया (धायें) होती हैं। जब कोई गृहस्थ अपने बालक को मुनि के निकट लावे, तब मुनि बालक के माता पिता को कहे कि बालक को इस प्रकार स्नान कराना चाहिए, इस तरह क्रीडा करवाने से बालक प्रफुल्लित रहता है, इस तरह के वस्त्र व अलङ्कारादि से अलकृत करने से बालक सुन्दर लगता है, बालक को अमुक् २ पदार्थ का सेवन करवाने से उसकी शारीरिक व मानसिक शक्ति का विकास होता है तथा अमुक् रीति से बालक को सुलाना चाहिए—इस प्रकार धात्री कर्म का उपदेश देकर साधु गृहस्थ को अपने ऊपर अनुरक्त करके यदि वसतिका प्राप्त करता है तो उसके धात्री दोष उत्पन्न होता है।

(२) दूतकर्म दोष—अन्य ग्राम नगर या देश मे रहने वाले गृहस्थ के पुत्र, पुत्री, दामाद या अन्य सम्बन्धियो के सन्देश-समाचारआदि कहकर वसतिका प्राप्त करने से दूतकर्म दोष होता है।

(३) निमित्त दोष—अङ्ग, व्यजन, लक्षण, छिन्न, भूमि, स्वप्न, अन्तरीक्ष और शब्द के भेद से आठ प्रकार का निमित्त ज्ञान होता है। इस निमित्त ज्ञान द्वारा वसतिका प्राप्त करना निमित्त दोष है। अर्थात् शरीर के अङ्ग उपाग का आकार एवं स्वरूप देखकर तिल मसे आदि व्यजन का अवलोकन कर, शरीर मे रहने वाले स्वस्ति, भृ गार, कलश, दर्पण, भौंरी आदि लक्षणो को जानकर, वस्त्र, छत्र, आसनादि को चूहे, काटे आदि से अथवा शस्त्र अग्नि आदि से छिन्न भिन्न देख कर या सुनकर तथा भूमि की रुखाई, चिकनाई, रङ्ग रूपादि देखकर, शुभ या अशुभ स्वप्न को देखकर या सुनकर, आकाश मे ग्रह नक्षत्रादि की आकृति उल्कापात, दिशा का रूपादि देखकर एवं चेतन अचेतन के स्वर (शब्द) का श्रवण कर जो भूत भविष्यत वर्तमान मे घटित होने वाले शुभ अशुभ, सुख दु.ख, जय पराजय, सुभिक्ष दुर्भिक्षादि को उक्त अष्ट निमित्त ज्ञान से जानकर गृहस्थ को कहना कि पहले ऐसा हुआ था, इस समय ऐसा होने वाला है और भविष्य मे ऐसा होगा—इस प्रकार निमित्त ज्ञान द्वारा वसतिका प्राप्त करना निमित्त दोष है।

स प्र

(४) आजीव दोष—अपना जाति, कुल, ऐश्वर्य आदि द्वारा अपनी महिमा (बडप्पन) प्रकट करके वसतिका की प्राप्ति करना आजीव दोष है।

(५) वनीपक दोष—कोई गृहस्थ साधु से पूछे कि 'हे भगवन्! दीन, अनाथ या पाखडी, भेष धारी आदि सबको आहार दान करने से या ठहरने को स्थान देने से पुण्य होता है या नहीं? इस प्रकार पूछने पर साधु विचारे कि यदि पुण्य नहीं होता है, ऐसा कहूंगा तो यह गृहस्थ अप्रसन्न हो जावेगा और वसतिका न देगा, ऐसा सोचकर गृहस्थ के अनुकूल उत्तर देकर वसतिका की प्राप्ति करने वाले साधु के वनीपक दोष होता है।

(६) चिकित्सा दोष—आठ प्रकार की चिकित्सा (वैद्य * विद्या) से वसतिका प्राप्त करना वह चिकित्सा दोष है।

(७) क्रोध दोष—क्रोध दिखाकर वसतिका प्राप्त करना क्रोध दोष है।

(८) मान दोष—मैं इतना बड़ा तपस्वी हू, मैं बडा विद्वान् हू, मेरी आत्मा मे शापानुग्रह शक्ति है-इत्यादि अभिमान दिखाकर वसतिका प्राप्त कर मान दोष है।

(९) माया दोष—छल कपट का प्रयोग करके वसतिका प्राप्त करना माया दोष है।

(१०) लोभ दोष—किसी प्रकार का लोभ दिखाकर वसतिका प्राप्त करना लोभ दोष है।

(११) पूर्वस्तुति दोष—मुनियों के लिए आपका घर ही आश्रय है, ऐसी बात हमने दूर दूर देशों मे सुनी है इस प्रकार पहले गृहस्थ की स्तुति करके वसतिका प्राप्त करना पूर्व स्तुति दोष है।

(१२) पश्चात् स्तुति दोष—कुछ काल वसतिका मे रह कर जाते समय गृहस्थ की प्रशसा इस अभिप्राय से करना कि भविष्य मे जब कभी यहा आवेंगे तो वसतिका की प्राप्ति होगी तो वह पश्चात् स्तुतिदोष मानागया है।

(१३) विद्यादोष—विद्या के प्रयोग से अथवा विद्या का लालच देकर गृहस्थ को वश मे कर वसतिका की प्राप्ति करना विद्यादोष है।

---

* शल्य, शालाक्य, काय-चिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगदतन्त्र, रसायन और वाजीकरण यह आठ प्रकार की आयुर्वेद चिकित्सा है।

(१४) मन्त्रदोष—मन्त्र का प्रयोग करके या मन्त्र का लोभ देकर वसतिका प्राप्त करना मन्त्र दोष है।

(१५) चूर्ण दोष—नेत्रांजन, शरीरसंस्कार चूर्ण, वशीकरणादि चूर्ण का लोभ देकर वसतिका प्राप्त करना चूर्ण दोष है।

(१६) मूलकर्म दोष—विरक्तो को अनुरक्त करने का प्रयोग दिखाकर वसतिका प्राप्त करना मूल कर्म दोष है।

ये सोलह दोष पात्र (मुनि) के आश्रित हैं, इसलिए साधुओं को इन सब दोषो से रहित वसतिका का सेवन करना चाहिये।

एषणा दोष

अब एषणा दोष को कहते हैं। इसके दश भेद निम्न प्रकार हैं.—

(१) शकित दोष—यह वसतिका साधु के ठहरने योग्य है या नहीं ? इस प्रकार शका जिस वसतिका मे उत्पन्न हो जावे वह शक्ति दोष से दूपित मानी गई है।

(२) म्रक्षित दोष—जो वसतिका तत्काल लीपी, पोती गई अथवा सींची गई हो, जलका पात्र लुढकाकर उसी समय धोई गई हो, वह वसतिका म्रक्षित दोष युक्त होती है।

(३) निक्षिप्त दोष—सचित्त पृथ्वी, जल, हरितकाय, बीज या त्रसजीवों के ऊपर पट्टा (तख्ता आदि) फलक (काठका पट्टा) रखकर 'यहा आप शय्या कीजिए' ऐसा कहकर जो वसतिका दी गई हो, वह निक्षिप्त दोषसे दूपित होती है।

(४) पिहित दोष—हरितकाय, काटे, सचित्त मिट्टी आदि के आवरण को हटाकर जो वसतिका दीजावे वह पिहित दोष वाली मानी गई है।

(५) साधारण दोष—काष्ठ, वस्त्र, काटे आदि को घसीटते हुए अग्रगामी मनुष्य के द्वारा दी जानेवाली वसतिका साधारण दोष वाली कही गई है।

(६) दायकदोष—जो मनुष्य सूतक या पातक (जन्म या मरण की अशुचि) से अशुद्ध हो अथवा पागल हो, या नपुंसक हो, भूतप्रेतादि की बाधावाला हो या नग्न हो, ऐसे पुरुप से दीगई वसतिका दायक दोष से युक्त मानी गई है।

(७) उन्मिश्रदोप—जो पृथिवी जलादि स्थावरजीवो और चींटी, खटमल आदि त्रसजीवो से युक्त वसतिका हो, वह उन्मिश्र दोप से दूपित कही गई है।

(८) अपरिणत दोप—जो स्थान किसी के गमनागमन से मर्दित नहीं हुआ है, वह घर, मकान आदि वसतिका का स्थान अपरिणत दोप युक्त होता है। -

(९) लिप्तदोप—जिस मकान मे गुड़ शक्कर घृत तैलादि लिप्त हो, जिसमे चींटी आदि जीव चिपक जावें–उस वसतिका को लिप्तदोप से संयुक्त समझना चाहिए।

(१०) परित्यजनदोप—जिस वसतिका के अल्प भाग का शय्या व आसन (सोने बैठने) के कार्यों में उपयोग हो और फिर भी उसका बहुत भाग रोकना पडे तो उसे परित्यजन दोप कहते हैं।

ये दश दोप एपणा के हैं, ये जिस वसतिका मे पाये जावें उस वसतिका मे संयमी को नहीं ठहरना चाहिए।

अगारादि चार दोप

इन उक्तदोपो के अतिरिक्त १ अंगार, २ धूम, ३ संयोजना और प्रमाणातिरेक ये चार दोप और हैं।

(१) अंगारदोप—यह वसतिका सर्दी गर्मी, वायु आदि उपद्रवो से रहित है। यह न तो अति उष्ण है और न अतिशीत है; तथा वायु के उपद्रव से रहित बड़ी सुहावनी और विशाल है–इस प्रकार आसक्ति पूर्वक वसतिका में निवास करने वाले साधु के अंगार दोप होता है।

(२) धूमदोप—यह वसतिका सर्दी गर्मी तथा वायु आदि के उपद्रवो से युक्त है, इस प्रकार निंदा करता हुआ वसतिका में नरहने वाले साधु के धूम दोप होता है।

(३) संयोजनादोप—जो सयमी के काम मे आने वाली वसतिका असंयमी पुरुपो के बाग बगीचे या रहने के निवास स्थान से मिली हुई हो तो वह सयोजना दोप से युक्त कही गई है।

(४) प्रमाणातिरेक—जो वसतिका साधु के शयनासन (सोने बैठने) आदि कार्यों के उपयोग मे तो अल्प आवे और बहुत सी भूमि ग्रहण करे तो उस साधु को प्रमाणातिरेक दोष प्राप्त होता है।

ऊपर विवेचन किये गये छियालीस दोषो से रहित वसतिका मे निवास करने वाले मुनि के विविक्त शय्यासन तप होता है। विविक्त शयनासन करने वाले मुनि को उस वसतिका मे भी नहीं ठहरना चाहिए जिसके प्रमार्जन मे विवेक से काम नहीं लियागया है, जो अन्धाधुन्ध बिना देखे भाले झाड़ी बुहारी यालीपी पोती गई हो, तथा जिसमे जीवो की उत्पत्ति और कीडे मकोडे आदि जन्तुओं की अत्यधिकता हो। तथा जिस मे राग द्वेष युक्त भेषधारी या असयमियो का शय्या आसन हो– ऐसी वसतिका सयामियों के योग्य नहीं मानी गई है। आगे उक्त प्रकार विविक्त स्थान मे शय्यासन करने वाले सयमी के निवास करने के लिए योग्य वसतिकाएँ कौनसी हैं, इसे दिखाते हैं—

सुण्णघरगिरिगुहारुक्खमूलआगंतुगारदेवकुले।
अकदप्पब्भारारामघरादीणि य विवित्ताइं ॥ २३१ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—सूनाघर, पर्वतों की गुफाएँ, वृक्षो मूलभाग, देशदेशान्तर से आने वाले व्यापारी वर्गादि के मनुष्यो के लिए ठहरने के मकान, देवकुल (देवले–देव देवी के मन्दिर) स्वतः बना हुआ शिलागृह—अर्थात् किसी मनुष्य के द्वारा जिसका निर्माण नहीं हुआ हो ऐसा पत्थर की शिलाओ का बना हुआ घर, क्रीडा करने के लिए आने वाले मनुष्यो के लिए बनाये गये उपवन गृह (बाग बगीचों के घर) मठ आदि ये सब स्थान सयमियों के ठहरने योग्य विविक्त वसतिकाएँ हैं।

इन स्थानों मे विश्राम करने वाले साधुओ को किसी प्रकार का दोष नहीं लगता। वे 'तूतू, मैं मैं'से तथा 'यह वसतिका मेरी है, यह तेरी है' इत्यादि कलह से दूर रहते हैं। ऐसी एकान्त वसतिकाओं मे रहने से मन को क्षोभित करने वाले मनुष्यों के रोले नहीं सुनाई देते हैं, परिणामों मे सक्लेशता नहीं होती, चितमे व्यग्रता नहीं होती। असयमी मनुष्यों का अनुचित ससर्ग नहीं होने से ध्यान और अध्ययन मे व्याघात नहीं होता।

शका—ध्यान और अध्ययन मे क्या अन्तर है? क्योंकि बाह्य विषयो से चित्त की निवृत्ति तो दोनो में समान है।

समाधान—एक विषय मे ज्ञान की सन्तान को स्थिर करना ध्यान कहलाता है। पर स्वाध्याय में ऐसा नहीं होता। स्वाध्याय में ज्ञान का अनेक विषयों मे सचार होता है। अर्थात् जब ज्ञान परम्परा एक विषय मे कुछ समय तक स्थिर हो जाती है तब तो ध्यान होता है और जब ज्ञान धारा विषय से विषयान्तर एक प्रमेयमे दूसरे प्रमेय में शीघ्र बदलती रहती है तब स्वाध्याय होता है।

शका—कहीं शास्त्रो मे स्वाध्याय को शुभ ध्यान कहा है, सोकैसे ?

समाधान—स्वाध्याय ध्यान का कारण है इसलिए कारण मे कार्य का उपचार करके स्वाध्याय को भी ध्यान कह दिया गया है।

एकान्त वसतिका मे निवास करने वाला मुनि विना क्लेश के सुख पूर्वक अनशनादि वाह्य तप तथा स्वाध्याय ध्यानादि अभ्यन्तर तप मे प्रवृत्त हुआ आत्म स्वरूप मे लवलीन रहता है। उसके चित्त को तथा इद्रियों को आकर्षित करने वाले प्रतिकूल संयोगों का सम्पर्क न होने से चित्त मे शान्ति और इन्द्रियो का दमन सुलभता से होता है। एकान्त मे रहने के कारण उसके पाच समितियो का पालन सहज म होजाता है। वह मन, वचन और काय की अशुभ प्रवृत्ति रुकजाने से आत्महित के कृत्यों में लवलीन रहता है। उसके स्वाध्याय ध्यानादि मे विघ्न करने वाले रागद्वेषादि भाव उत्पन्न नहीं होते है। परिणामों मे सक्लेश नहीं होने से चित्त में परम विशुद्धि होती है। आत्म-स्वभाव मे स्थिर रहने से कर्मों के आस्रव का अभाव होकर संवर और निर्जरा होती है। शास्त्र मे कहा है—

जो णिज्जरेदि कम्मं असंवुडो सुमहदावि कालेण।
तं संवुडो तवस्सी खवेदि अंतोमुहुत्तेण ॥ २३४ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—जो साधु वाह्य विपयो मे दौडते हुए मन वचन काय को न रोककर मासोपवासादि कायक्लेशकारी उग्रोग्र वाह्य तपस्या के द्वारा वहुत काल में जितने कर्मों की निर्जरा करता है, गुप्ति समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा तथा परिपहजय मे तत्पर रहने वाला साधु उतने कर्मों की निर्जरा अन्तर्मुहूर्त्त मे करता है। क्योंकि गुप्ति आदि से जो कर्मों की निर्जरा होती है वह संवर पूर्वक होती है और समिति गुप्ति आदि रहित केवल वाह्य तपसे जो निर्जरा होती है वह संवर रहित होती है। सवर रहित निर्जरा मोक्ष मे उपयोगी नहीं होती है। क्योकि संवररहित वाह्य तप से निर्जरा करने वाला साधु जेसी- पुराने कर्मों की निर्जरा करता है, वैसे ही नवीन कर्मों का वन्ध भी करता है। और सवर पूर्वक निर्जरा करने वाला साधु पुरान कर्मों की निर्जरा भी करता है और नवीन कर्मों के आस्रव को भी रोकता है। अत: आगम मे सवर पूर्वक निर्जरा को ही महत्त्व दिया गया है। निर्जरा को सवर पूर्वक वनाने के लिए साधु को ऐसे तपश्चरण का आचरण करना चाहिए जिससे मन दुष्कृत्यों की ओर प्रवृत्त न हो। जैसे इन्द्रियों के विपयो का सेवन करना दुष्कर्म है, वैसा ही अथवा उससे अधिक दुष्कर्म क्रोधादि कपायो के वश मे होना है। इन्द्रियो और मन को वश मे रखकर प्रायश्चित्त स्वाध्यायादि तप की निर्वाध सिद्धि करने के लिए अनशनादि तप कियाजाता है। क्रोधादि का आवेश वढ जाने पर आत्मा प्रायश्चित स्वाध्यायादि तपस्या को करने मे असमर्थ हो जाता है, इसलिए तप की वृद्धि के साथ क्रोधादि कपायो का उपशम भी होना परमावश्यक है। जिस तपस्वी के क्रोध मान माया या लोभ का आवेश होता है, वह

तपस्या को कलंकित और निष्फल करदेता है। यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि तपस्या वही श्रेष्ठ मानीगई है, जिससे चारित्र के पालन मे, सयम के आराधन मे उत्साह व उमग उत्तरोत्तर बढती रहे तथा पूर्व के धारण किये व्रत और नियमो का दृढ़ता से पालन होता रहे।

बाह्यतप के गुण

इसके लिए बाह्यतप भी बहुत जरूरी है। बाह्यतप आत्मा को सन्मार्ग मे तत्पर करने का अपूर्व साधन है। इस तप से जीवका आलस्य नष्ट होता है तथा सुखिया स्वभाव दूर होता है। कष्ट सहिष्णुता बढती है और परिषह सहन करने की प्रकृति बनती है। शरीर से सम्बन्ध छूटकर वैराग्य भाव मे दृढता आती है और ससार से चित्त उद्विग्न होकर आत्म-धर्म मे प्रवृत्त होता है।

यद्यपि ससार से भयभीत हुए विना तपश्चरण मे तत्परता नहीं होती है तथापि बाह्यतप के आचरण करने वाले का आगम के पठन पाठन मनन में सलग्न होजाना है और निरन्तर ज्ञानामृत का पान करते रहने से आत्मा मे पात्रता आजाती है। तब ससार से उद्विग्न होता है और उस ससार की असारता निश्चय होजाती है, इसलिए वह तपस्वी ससार के दु:खों से घबराकर आत्महितकर धर्म मे लग जाता है।

इन बाह्य तपों का उपयोग यही है कि अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान और रसपरित्याग इन चार तपों के द्वारा जिह्वा इन्द्रिय का दमन होता है। विविक्त शयनासन और काय क्लेश तपके द्वारा स्पर्शन, घ्राण, चक्षु और कर्णेन्द्रिय का दमन होता है। मनका दमन तो सभी से होता है। एकान्त वसतिका मे स्पर्शनादि इन्द्रियो को लुभाने वाले विषयों का अभाव होता है अत. विविक्त वसतिका मे निवास करने से स्पर्शनादि इन्द्रिया आत्मा के वश मे रहती हैं।

आहारादि का त्याग करने से विषय-प्रेम घटता है और रत्नत्रय मे स्थिरता बढ़ती है। क्योंकि विषयो मे व्याकुल हुआ चित्त रत्नत्रय मे स्थिर नहीं रहकर विषय सम्बन्धी अशुभ विचारो-संकल्प-विकल्पो के जाल मे गोता लगाता रहता है। बाह्य तप के कारण विषयों से उदासीनता बढती है और उत्तम कार्यों (स्वाध्यादि) मे प्रेम बढता है।

बाह्यतप के आचरण से शरीर में कृशता आती है और आत्मशक्ति विकसित होती है। इससे मुनि की जीवित रहने की आशा व तृष्णा का क्षय होता है। विनश्वर शरीर से मोह हटकर आत्मीय गुणो (क्षमादि) मे अनुराग उत्पन्न होता है। जो शरीर से मोह रखता है, वह मनुष्य बाह्य तप का अनुष्ठान करने से भय खाता है। उसकी आहारादि सम्बन्धी लम्पटता नहीं छूटती है। तथा वह असयमादि का आचरण करके भी शरीर को सुखी रखने तथा प्राण धारण किये रहने की इच्छा रखता है। और वह रत्नत्रय के आराधन मे उपेक्षा धारण

करता है। अत शरीर से मोह का सम्बन्ध शिथिल करने के लिए वाह्यतप का आचरण करना चाहिए। शरीर विषयक मोह के घटने पर आत्म-गुणों मे प्रेम की वृद्धि होती है, सयम पर स्थिर रहने की भावना दृढ होती है तथा विनश्वर शरीर का उत्तम कार्यो मे उपयोग करने की सच्ची लगन उसके मन मे पैदा होती है।

मरण काल में जो सम्पूर्ण आहार का परित्याग करना पडता है, उसका अभ्यास वाह्यतप के आचरण करने से ही होता है। जिसने पहले अनशनादि व्रत का अभ्यास किया है, वह समाधि मरण के अवसर पर सुगमता से आहार का त्याग कर सकता है और जिसने अनशनादि वाह्य तप का आराधन नहीं किया है, वह सहसा आहार का त्याग करने में कृतकार्य नहीं होता है, उसे आहार का त्याग करने से भय उत्पन्न होता है। क्षुधा-तृषा की वाधा सहन करने का अभ्यास न होने से वह एकदम आहार का त्याग करने से व्याकुल चित्त हो जाता है। उसकी आखो के सामने अँधेरा सा आ जाता है, सिर चक्कर खाने लगता है और उसका मन अशान्त हो जाता है। अतः मरण को सुधारने के लिए अनशनादि तप का आचरण वरावर करते रहना चाहिए।

वाह्यतप के आचरण से निम्नलिखित गुण व्यक्त होते हैं :—

निद्रागृद्धिमदस्नेहलोभमोहपराजयः
ध्यानस्वाध्याययोर्वृद्धिः सुखदुःखसमानता ॥ २४२ ॥ (स. भग. आ.)

अर्थ—निद्रा आत्मा को ज्ञानोपयोग से रहित जड वना देती है। निद्रा के वशीभूत हुआ मुनि सामायिक, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, ध्यान से पराङ्मुख होता है। निद्रा मनुष्य को मृतक समान वना देती है और दर्शनावरणादि कर्मों का वन्ध करती है। उस पर विजय प्राप्त करने का मुख्य साधन अनशन अवमौदर्यादि वाह्य तप हैं। निद्राविजयी वनने के लिए यथाशक्ति तपस्या करना परमावश्यक है। जो नित्य भरपेट भोजन करता है, सरस आहार करता है वह मृदुस्पर्शयुक्त निरुपद्रव सुखप्रद स्थान मे निद्रा राक्षसी का ग्रास वनता है। उसको सामायिक स्वाध्याय व ध्यान करते समय निद्रा घेरलेती है। भरसक प्रयत्न करने पर भी वह अपने चित्त को सामायिक स्वाध्यायादि मे नहीं लगा सकता है। नींद पर नींद आने लगती है और वह चेतना शून्य होकर अशुभ विचारों के प्रवाह मे वहने लगता है अतएव निद्रा का त्याग करने के लिए वाह्यतप का नित्य यथाशक्ति अवश्य आचरण करना चाहिए।

गृद्धि (आहारादि की आसक्ति) सयमी को संयम से ढकेलती है। जिस साधु के मन मे आहार की लम्पटता होती है, वह भक्ष्य अभक्ष्य का, प्रासुक अप्रासुक का, सदोप-निर्दोप का विचार नहीं करता है। वह तो अपनी लालसा को शान्त करना चाहता है जो वह

जिह्वा इन्द्रिय के वशगत होकर अपने सयम रत्न को खो देता है। जो तप का अभ्यासी है, अनशनादि तप का अनुष्ठान करने वाला है, उसके आहारादि की लालसा नहीं होती है। वह जब शरीर से भी मोह नहीं रखता है, तब आहारादि मे आसक्ति कैसे कर सकता है ? अतः बाह्य-तप के आचरण करने वाले के आहारादि की लालसा भी नहीं होती है।

बाह्य तप के द्वारा ही मदजय अर्थात् इन्द्रियो का दमन होता है। उपवास, ऊनोदर, रसत्याग आदि यथायोग्य तपस्या को जो सयमी करता रहता है, उसकी इन्द्रियाँ दर्पहीन हो जाती हैं। उनमे विषय सेवन की जो उत्सुकता होती है, वह उपशान्त हो जाती है। इन्द्रियो की प्रकृति है कि जब उनको बल देने वाले अनुकूल विषयो का सम्पर्क मिलता है, तो उनके दर्प (मद) की वृद्धि होती है और उनका वश मे करना कष्ट-साध्य होता है। किन्तु उपवासादि तप के कारण अनुकूल सामग्री न मिलने से वे शक्तिहीन हो जाती हैं, तब उनका मद नष्ट होजाता है और वे मन्त्र-कीलित सर्प की भाँति मदहीन होकर सयमी के अधीन रहती हैं। इन्द्रियो के दमन करने का निर्दोष व प्रधान साधन तप के अतिरिक्त कोई नहीं है।

स्नेह, लोभ और मोह का पराजय करने के लिए अमोघ शस्त्र एक बाह्यतप है। तपस्या करने वाला अपने शरीर से भी स्नेह नहीं करता। उसको जब अपने जीवन का भी लोभ नहीं होता तब शरीर से मोह क्यों करेगा ? और ऐसी दशा मे उसके स्त्री पुत्र व अन्य वस्तुओं से स्नेह, लोभ या मोह कैसे हो सकता है? क्योकि जितनी भी बाह्य वस्तुएँ हैं, उनका साक्षात् सम्बन्ध शरीर के साथ है। शरीर द्वारा ही उनका परम्परा सम्बन्ध आत्मा के साथ है। जिसने शरीर से स्नेहादि सम्बन्ध तोड दिया है उसके स्त्री पुत्र धन या शिष्यादि वर्ग के साथ स्नेहादि सम्बन्ध स्वतः ही टूट गया। अतः जो आत्म-हितैषी मनुष्य अति कठिन मोहादि शत्रुओं से अपना पिण्ड छुड़ाना चाहते हैं उनको अनशनादि तप का आचरण अवश्य ही करना चाहिए।

ध्यान की सिद्धि व वृद्धि चित्त की एकाग्रता से होती है। चित्त की एकाग्रता सम्पन्न करने के लिए अनशन अवमौदर्यादि बाह्य तप का आचरण परमोपयोगी माना गया है। कारण कि उपवास या ऊनोदर आदि तपस्या के द्वारा अशक्त हुई इन्द्रियाँ अपने विषयों से उदासीन होती हैं। और इन्द्रियों को उदासीन होने से मन भी मुर्झा जाता है। वह विषयो से उदासीन हुआ आत्मीय ध्यानादि कार्यों में लवलीन होता है। इन्द्रियाँ जिधर प्रवृत्त होती हैं, मन भी उधर खिंच जाता है। जब इन्द्रियाँ चञ्चलता का परित्याग कर स्थिरता धारण कर लेती हैं तब असहाय हुआ मन भी स्वतः स्थिर होने लगता है। और चित्त की स्थिरता को ही ध्यान कहते हैं। अत ध्यान की सिद्धि व उसको उत्तरोत्तर वृद्धिगत करने के लिए अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग व विविक्तशयनासन का आचरण करना नितान्त आवश्यक है।

स्वाध्याय वृद्धि के लिए भी बाह्य तप नितान्त आवश्यक है। जो बहुत भोजन करने वाला है या पुष्ट और गरिष्ठ रसीले आहार

का सेवन करता है, उसे आलस्य घेर लेता है, निद्रा आने लगती है और स्वाध्याय से चित्त ऊब जाता है। जिसने उपवास अवमौदर्यादि तप से आलस्य और निद्रा को दूर कर दिया है, वह निर्बाध होकर स्वाध्याय में रम सकता है। अतः स्वाध्याय की सिद्धि व वृद्धि के लिए बाह्य तप अपूर्व साधन है।

बाह्य तप का आचरण करने वाले मुनि के सुख दुःख में समभाव होता है। अर्थात् उसके इन्द्रिय-जन्य सुख में राग और क्षुधादि वेदना से उत्पन्न हुए दुःख में द्वेष भाव नहीं होता है। अतः वह सुख दुख में समभाव धारण करने वाला होता है।

तात्पर्य यह है कि बाह्यतप मुनि को बाह्य विषयों से पृथक् करता है और आत्मा के गुणों के विकास करने में प्रवृत्त करता है। क्योंकि संयम का तो निष्कलङ्क अलङ्कार तप है। मुक्ति अङ्गना उसी के गले में वर माला डालती है जो तप रूप भूषण से भूषित होता है। संसार के मूल कारण कर्मों का समूल नाश तपश्चरण से ही होता है।

दूसरे मुनि का तपस्या को देखकर नये कोमलाङ्ग मुनियों को भी तपस्या में अनुराग उत्पन्न होता है। उनके वैराग्य की वृद्धि होती है, शरीर से प्रेम नष्ट होता है, संसार में आसक्त हुए रोगीजन भी तपस्वी मुनि के तपश्चरण का अवलोकन कर संसार से भयभीत होते हैं। वे विचारने लगते हैं, देखो! यह मुनिराज संसार से भयभीत होकर अपने शरीर से भी कितने विरक्त हैं, धन्य है इनको, जो ऐसे दुर्धर तपश्चरण का आचरण करते हैं। धिक्कार है हमको, जो संसार से निडर होकर शरीर के दास बने हुए हैं, हमको अपने कल्याण के अर्थ अवश्य तपश्चरण करना योग्य है। ऐसा चिन्तन कर तपस्या करने में प्रवृत्त होते हैं। जिन धर्म से विमुख प्राणी भी तपस्वी साधुओं के दर्शन कर उनके दुर्धर तप से प्रभावित होते हैं और धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न कर अपना कल्याण करने में तत्पर हो जाते हैं।

अनशनादि तप के अनुष्ठान से आत्मीय गुणों के विकास के साथ शरीर भी स्वस्थ होता है, शरीर का भारीपन मिटता है, मेदा (चर्बी) की वृद्धि रुकती है, वात और कफ की विषमता दूर होती है, अपच की बीमारी का नाश होता है, आलस्य दूर होकर स्फूर्ति बढ़ती है, कार्य करने की क्षमता प्राप्त होती है, बुद्धि का विकास होता है।

मुनि को यदि सर्वोपरि ज्ञान प्राप्त करना है, अपनी बुद्धि और मेधा शक्ति की वृद्धि करना है, विश्व को आश्चर्य चकित करने वाले शास्त्रीय ज्ञान तथा दिव्य ज्ञान को उपलब्ध करना है तो तपस्या रूप औषधि का सेवन करो। इस तप रूप रसायन का सेवन कर जड-बुद्धि साधु अलौकिक दिव्य ज्ञान के धारक होगये हैं। द्वादशाङ्ग वाणी का पूर्ण ज्ञान तथा अवधि, मनः पर्याय और केवलज्ञान तपश्चरण से ही प्रकट होते हैं। ये ज्ञान शास्त्रों के अभ्यास से नहीं उत्पन्न होते हैं, इनका उत्पादक तपश्चरण ही है।

पूर्ण श्रुतज्ञानादि तो तपस्या से होते ही हैं, किन्तु जड-बुद्धि मनुष्य के ज्ञान का विशेष प्रादुर्भाव भी तपस्या के आचरण से हो सकता है। बहुत से अल्प बुद्धि मनुष्यो के ज्ञानावरण का चमत्कारी क्षयोपशम तपश्चरण से हुआ है। यह निःसन्देह है कि तपस्या से अवश्य ही ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम, उपशम या क्षय होता है। अतः यदि ज्ञानवान्, मेधावान्, विद्यावान् आदि बनना हो तो तप का अभ्यास करना चाहिए। इसीसे तेजस्विता, वाग्मिता और विद्वत्ता उत्पन्न होती है।

सल्लेखना के आराधन का फल यह है कि काय और कषाय को कृश करने मे उद्यत हुआ सयमी अनशनादि तप की क्रमशः वृद्धि करता है। अर्थात् एक उपवास के बाद दो उपवास (बेला) करता है। तत्पश्चात् तीन उपवास (तेला) चोला आदि अनशन तप को बढाता है। मुनियो के अधिक मे अधिक आहार का प्रमाण बत्तीसग्रास कहा है। उसमे एकग्रास, दोग्रास, तीनग्रास आदि की न्यूनता (कमी) करते हुए अवमौदर्य तप की वृद्धि करता है। एक रसका, दो रसों, तीन रसो आदि का त्याग क्रमसे करते हुए रसपरित्याग तप को बढाता है। "आज मैं एक मुहल्ले मे ही आहार के लिए भ्रमण करूगा, अथवा सात घरों मे या तीन घरो मे ही आहार के लिए प्रवेश करूंगा। आज एकग्रास या दो चार दस बीस या इकतीस ग्रास ही ग्रहण करूगा।" इस प्रकार ग्रास के प्रमाण का नियम कर वृत्तिपरिसंख्यान तप की वृद्धि करता है। दिनमे आतपन योग करके रात्रि मे प्रतिमायोग धारण करने का नियम करता हुआ कायक्लेश तप की उन्नति करता है। सूने घर, पर्वत की गुफा, बनादि, एक वसतिका मे आश्रय लेकर विविक्तशय्यासन तपको वृद्धिगत करता है। इस प्रकार तपों की वृद्धि करते हुए संयमी के थकावट मालूम होती है, तब वह उक्त अनशनादि तप को क्रम से न्यून (कम) करता है। बढी हुई तपस्या को शनैः शनैः घटाने को तप की हानि कहते हैं। अथवा सर्व प्रकार बढते हुए तपश्चरण से रूक्ष व रसहीन आहार को अल्प करते हुए शरीर को कृश करता है।

अथवा सल्लेखना का दूसरा प्रकार यह है कि कषाय और काय कृश करने को उद्यमी सयमी एकदिन अनशन (उपवास) ग्रहण करता है, दूसरे दिन वृत्तिपरिसख्यान तप धारण करता है, तीसरे दिन अवमौदर्य तप अगीकार करता है। अथवा प्रतिदिन आहार मे कमी करता हुआ अपने शरीर को और कषाय को घटाता जाता है।

सल्लेखना का आराधन अन्य २ प्रयोगों से

जब सल्लेखना करने वाले सयमी के आयुष्य शेष हो तथा शरीर मे योग्य सामर्थ्य विद्यमान हो तब वह अनगार के शास्त्रोक्त बारह प्रतिमायोगो को अगीकार करता है। उस शक्तिशाली साधु के उन प्रतिमाओं के स्वीकार करने से शरीर व मन मे पीडा नहीं होती है। यह प्रसन्नता पूर्वक अपने शरीर व कषाय को कृश करने के लिए प्रतिमायोग अङ्गीकार करता है। जो साधु अपने बल की तुलना किये बिना प्रतिमायोग धारण करता है उसके योग का भग होता है और चित्त मे संक्लेश परिणाम उत्पन्न होते हैं।

प्रतिमायोग

प्रतिमायोग का धारण साधारण शक्तिशाली मुनि नहीं कर सकता है। उनका धारण करने वाला मुनि उत्तम संहनन का धारक होना चाहिए। जो धैर्य और शरीर बल से बलिष्ठ होता है तथा आत्मीय शक्ति से सम्पन्न होता है और परिषह पर विजय करने मे शूरता रखता है, जो धर्म्यध्यान और शुक्ल ध्यान को परिपूर्ण करने वाला है, जिस देश म वह स्थित है, वहा पर बडी कठिनता से प्राप्त होने वाले आहार ग्रहण करने का नियम लेता है कि यदि एक मास के भीतर अमुक दुर्लभ आहार मिलेगा तो उसका आहार लूगा उसके अतिरिक्त एक महीने तक अन्य भोजन का त्याग है। इस प्रकार एक मास का प्रतिज्ञा करता है और उस मास के अन्तिम दिन मे वह प्रतिमा योग धारण करता है। यह एक प्रतिमा है।

भिक्षु प्रतिमा और उसके ७ भेद

वह सयमी फिर पूर्वोक्त आहार से सौगुने उत्कृष्ट और दुलर्भ भिन्न प्रकार के आहार की दो मास की प्रतिज्ञा लेकर दो मास के अन्तिम दिन मे प्रतिमा योग धारण करता है। वह दूसरी भिक्षुप्रतिमा होती है।

पूर्व कथित आहार से सौगुने उत्कृष्ट और दुर्लभ आहार की तीन मास पयन्त प्रतिज्ञा धारण करता है। यदि तीन माह के भीतर अमुक भोजन मिलेगा तो ग्रहण करूगा, अन्यथा सब भोजन का तीन माहतक त्याग है। उस तीन माह के अन्तिम दिन मे प्रतिमा योग धारण करता है। उसे तीसरी भिक्षु प्रतिमा कहते हैं। इसी प्रकार उत्तरोत्तर सौ सौगुने उत्कृष्ट और दुर्लभ (कठिनता से मिलने वाले) भोजन की प्रतिज्ञा चार पाच छह व सात माह तक की क्रम से अगीकार करता है और चार माह, पाच माह तथा छह माह और सात माह के अन्तिम दिवसों में प्रतिमा योग स्वीकार करता हैं,यह क्रमश. चौथी, पाचवी छटी और सातवीं भिक्षु प्रतिमा होती है। तत् तत्सम्बन्धी योग को तत् तत्प्रतिमा योग कहते है। इस प्रकार सात प्रतिमाओ के सम्पन्न होने पर पूर्वोक्त आहार से उत्कृष्ट और दुर्लभ भोजन की सात सात दिन तक की प्रतिज्ञा तीन बार अगीकार करता है। प्रतिज्ञा के अनुसार भोजन की प्राप्ति होने पर यथाक्रम तीन ग्रास, दो ग्रास और एक ग्रास ग्रहण करता है। ये आठवीं, नवीं और दशवीं तीन भिक्षु प्रतिमाएं हैं। इसके अनन्तर रात और दिन प्रतिमा योग से खडा रहता है, यह ग्यारहवीं और उसके बाद रात्रि मे ध्यान स्थित रहता है, यह बारहवीं–प्रतिमा तत्पश्चात् प्रथम अवधिज्ञान और मन पर्यय ज्ञान प्रादुर्भूत होता है। और पश्चात् सूर्य का उदय होने पर केवल ज्ञान प्रकट होता है। यही कहा है :—

"मासिय दुय दिय चउ पंचमास छम्मास सत्तमासीय।
तिण्णे व सत्तराइं राइदिय राइपडिमाओ ॥ १ ॥"

आचाम्ल तप

प्रश्न—सल्लेखना के कारण भूत उक्त जितने तप वर्णन किये गये हैं, उनमे सबसे श्रेष्ठ कौन है ?

उत्तर—शरीर को कृश करने के निमित्त भूत जो तप है, वे अनेक हैं, किन्तु उनमे 'आचाम्ल' तप सर्व श्रेष्ठ है।

प्रश्न—आचाम्ल तप की विधि क्या है ?

उत्तर—बेला, तेला, चोला और पचोला तक के उपवास के अनन्तर पारणे के दिन परिमित और शीघ्र पचने वाला काजी का आहार प्राय: साधु किया करते हैं। अर्थात् आत्मा मे सक्लेश उत्पन्न न हो इस प्रकार अपनी शक्ति के अनुसार बेला (दो दिन का उपवास), तेला (तीन दिन का उपवास), चोला (चार दिन का उपवास) और अधिक से अधिक पंचोला (पाच दिन का उपवास) करे। जिस दिन पारणा करना हो उस दिन परिमित और लघु (शीघ्र पचने वाला) काजी भोजन करे। इसे आचाम्ल भोजन कहते हैं। कहा भी है:—

"समोऽथषष्ठाष्टमकैस्तपोऽधिकैस्ततो विप्रकृष्टैर्दशमैः शमात्मकः।
तथा लघुद्वादशकैश्च सेवते मितमुदाऽऽचाम्लमनाविलोलघुः ॥"

अर्थात्—आचाम्ल तपस्या का इच्छुक सयमी प्रथम दो दिन का उपवास करे और अपने चित्त मे संक्लेश न हो, शान्ति का अनुभव होवे तब तीन दिन का उपवास करे। उतने उपवास से भी आत्मा मे सक्लेश भाव न हो तो चार दिन का उपवास करे। पश्चात् पांच दिन के उपवास की प्रतिज्ञा करे। प्रत्येक पारणे के दिन परिमित और लघु काजी का भोजन करे।

प्रश्न—इतना विवेचन आपने समाधिमरण के समय जो भक्तप्रत्याख्यान के विषय मे किया है उस भक्तप्रत्याख्यान का काल अधिक से अधिक कितना होता है ?

भक्त प्रत्याख्यान का काल

उत्तर—जब आयु बहुत बाकी हो तब भक्तप्रत्याख्यान का काल अधिक से अधिक बारह वर्ष का बताया गया है। अर्थात् आयु के अधिक होते हुए भी किसी ने पहले बतलाये गये समाधिमरण के कारणों मे से किसी कारण के उपस्थित होने पर भक्तप्रत्याख्यान प्रारम्भ कर दिया हो तो उसके भक्तप्रत्याक्यान का काल बारह वर्ष तक हो सकता है, इससे अधिक नहीं।

भक्तप्रत्याख्यान काल की यापन विधि

प्रश्न—भक्तप्रत्याख्यान के उक्त बारह वर्ष के काल को सयमी किस प्रकार बितावे ?

उत्तर—बारह वर्ष के काल मे से प्रथम चार वर्ष सयमी अनेक प्रकार के तपश्चरण मे वितावे। उन चार वर्षों मे अपने परिणामों को उज्ज्वल रखते हुए नाना प्रकार के कायक्लेश तप का आचरण करे। चार वर्षों के बीत जाने पर अगले चार वर्षों में संयमी दूध दही घृत गुड आदि सम्पूर्ण रसो का त्याग कर रूखा सूखा व स्वल्प भोजन पान स्वीकार करता हुआ अपने शरीर को कृश करता रहे। इस प्रकार करने से उसका शरीर तो कृश होता है, किन्तु परिणामों मे निर्मलता की वृद्धि होती है। इस तरह आठ वर्ष व्यतीत करता है।

अवशिष्ट चार वर्षों मे से पहले दो वर्षों को आचाम्ल (काजी) भोजन तथा चटनी शाकादि स्वादिष्ट रस व्यंजनादि से रहित भोजन से व्यतीत करता है। उन दो वर्षों के अनन्तर एक वर्ष केवल आचाम्ल भोजन से विताता है। अन्तिम एक वर्ष प्रथम छह मास मे मध्यम तपस्या का अनुष्ठान कर शरीर को कृश करता है और अन्तिम छह मास मे उत्कृष्टोत्कृष्ट कायक्लेश तपश्चर्या का आचरण कर शरीर को क्षीण करता है। इस तरह वह सयमी अपनी आयु के अन्तिम बारह वर्षों मे सल्लेखना का आराधन करता है।

प्रश्न—क्या सल्लेखना करने वाले संयमी को अपने आयु के अन्तिम वर्ष उक्त विधि के अनुसार ही विताने योग्य हैं अथवा और कोई दूसरा भी प्रकार है ?

उत्तर—उक्त विधि से ही तपश्चरण करने का नियम नहीं है, किन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अनुकूलता और प्रतिकूलता से तपस्या का अनुष्ठान तथा आहारादि का ग्रहण व त्याग करना चाहिए। शास्त्रों में कहा है :—

भत्तं खेत्तं कालं धादु च पडुच तह तवं कुज्जा।
वादो पित्तो सिंभो व जहा खोभरण उवयति ॥ २५५ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—भोजन अनेक तरह का होता है। कोई भोजन ऐसा होता है, जिसमे शाक अधिक होती है, किसी मे दूध या दही या घृतादि अधिक मात्रा मे होते हैं। किसी मे जौ चना मूंग मोठ कुलथी आदि धान्य का भाग अधिक होता है। कोई भोजन शाक दाल आदि रहित होता है। इत्यादि अनेक प्रकार के भोजन होते हैं। क्षेत्र भी अनेक प्रकार के होते हैं—कोई अनूप देश होता है (जिस देश में जल बहुत होता है—जलाशय अधिक होते हैं उसे अनूप देश कहते हैं) कोई देश जागल होता है (जिसमे वृष्टि कम होती है और नदी आदि नहरों

से कृषि होती है, उसे जांगल देश कहते हैं), कोई देश साधारण होता है (जिसमें उक्त दोनों लक्षण पाये जाते हैं, उसे साधारण देश कहते हैं)।

काल के शीतकाल ग्रीष्मकाल और वर्षाकाल ये भेद होते हैं।

अपने शरीर की प्रकृति को धातु कहते हैं। किसी की शरीर-प्रकृति वात पधान होती है, किसी की कफ प्रधान और किसी की पित्त प्रधान होती है। अपनी प्रकृति को लक्ष्य में रखकर वात, पित्त और कफ की समता रखते हुए योग्य भोजन का सेवन करना चाहिए अनूप देश में वात और कफ वर्धक आहार का सेवन करना ठीक नहीं। जागल देश में पित्त प्रकुपित करने वाले आहार का ग्रहण अहितकर है। इसी प्रकार शीतकाल, ग्रीष्मकाल, वर्षाकाल के योग्य भोजन का ग्रहण और इनके अयोग्य भोजन का त्याग करना संयमी का कर्तव्य है।

इस प्रकार द्रव्य (भोजन) क्षेत्र और काल के अनुकूल तपश्चरण और भोजन का ग्रहण करने वाला सयमी अपने भावों की उत्तरोत्तर विशुद्धि करता हुआ सल्लेखना की सिद्धि करने में कृतकार्य होता है।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि यह सब प्रयास तभी सफल है जबकि भावों में उज्ज्वलता वृद्धिगत होती रहे। चाहे सल्लेखना की विधि का किसी भी प्रकार आचरण किया जाय यह अपनी इच्छा पर निर्भर है। परन्तु अपने भावों में मलीनता उदासीनता और संक्लेश न आवे इसी का ध्यान रखना चाहिए। जितनी भी सल्लेखना की विधियां हैं वे परिणामों में उज्ज्वलता उत्पन्न करने के लिए हैं। इसलिए सयमी को उचित है कि वह एक क्षणमात्र भी आत्मा की विशुद्धि का त्याग न करे। आत्मा की विशुद्धि के बिना जितना भी तप किया जाता है वह सब निरर्थक है, क्योंकि उससे आत्मा का हित नहीं होता। जो आत्म-हित के उद्देश्य के बिना तप करता है, उसे चाहे लोक में आदर सम्मान व पूजा प्रतिष्ठा की प्राप्ति हो जाय पर तुष खण्डनवत् है उसकी यह आकाक्षा उसको अधोगति में ले जाने वाली है। भाव रहित कायक्लेश तप से उसको कदाचित् देवगति भी प्राप्त हो जावे तो भी उसका अंतिम परिणाम कुगति है। इसलिए आत्मा का (अपना) हित करने की इच्छा रखने वाले को सासारिक विषयों की अभिलाषाओं के लात मार कर कर्मों की निर्जरा और आत्म-गुणों को प्रकाशमान करने के लिए तपस्या करना चाहिए, क्योंकि कर्मों के क्षय होने से आत्म-सुख की प्राप्ति अवश्य होती है। वृक्ष के मूल में जल सिंचन करने वाला मनुष्य वृक्ष के हरे भरे पत्तों की शीतल छाया और उसके पुष्पों की मकरन्द का अनुभव करता हुआ उसके मृदु, स्निग्ध और दिव्य फलों का अनुभव करता है। वैसे ही कर्मों की सवर पूर्वक निर्जरा करने वाला मोक्षमार्ग का पथिक महात्मा आनुषंगिक रूप से प्राप्त होने वाले नर लोक और देवलोक के सुखों का अनुभव करता हुआ शाश्वत दिव्य अनुपम सुखों को प्राप्त होता है।

कषाय से बचने के उपाय

उक्त प्रकार काय को कृश करने का उपाय दिखाकर अब कषाय को कृश करने के उपायों का वर्णन करते हैं। साधक को विचार करना चाहिए कि काय को कृश करना तभी कार्यकारी होता है, जबकि काय के साथ कषाय भी कृश हो जावे। क्योंकि कषाय को कृश (भेद) किये बिना केवल काय को कृश करना निष्फल है। ऐसी निष्फलता तिर्यंचादि गति में अनेक बार इस जीव ने की है। उससे क्या लाभ हुआ? अत क्रोधादि कषायों को उपशम करने का भरसक प्रयत्न करना ही आवश्यक है, क्योंकि सब दुःखों की जनक कषाय ही हैं। ससार में जीव का शत्रु अन्य कोई नहीं, यह क्रोधादि कषाय ही सबके शत्रु हैं।

अत क्रोधाग्नि को क्षमा जल से शान्त करो। मान रूपी पर्वत का मार्दव (विनय) रूपी वज्र से पतन करो। माया की कठोर ग्रन्थि (गाठ का आर्जव (सरलता) रूपी सूचिका (सूई) से भेदन करो। लोभ-समुद्र के प्रवाह को सतोष-सूर्य की प्रखर किरणों से सुखा दो।

प्रज्वलित हुई कषाय रूप अग्नि जीवन का सार तत्त्व जो चारित्र है, उसे क्षण भर मे भस्म कर देती है। इतना ही नहीं, वृद्धि को प्राप्त हुई यह कषाय-अग्नि, दुर्लभ सम्यक्त्व-पीयूष को भी सुखा कर आत्मा को अनन्त ससारी बना देती है। इसलिए इस कषाय को हृदय मे थोडा सा भी स्थान नहीं देना चाहिए। क्योंकि थोडी सी कषाय अग्नि प्रतिकूल वचन का सयोग रूपी ईंधन और असहनशीलता रूपी अनुकूल वायु का ससर्ग पाकर उग्ररूप धारण करलेती है, इसलिए कषाय को उत्तेजित करने वाले बाह्य सयोगो से भी सदा दूर रहना चाहिए। यदि कषाय को उत्तेजना देने वाले बाह्य निमित्त प्राप्त होजावें तो इनसे बचने की चेष्टा करना ही श्रेयस्कर है।

जिस समय क्रोधादि कषायाग्नि अन्त करण मे प्रादुर्भूत हो उसी समय 'हे भगवन् मैं आपकी शिक्षा को शिरोधार्य करता हूँ, मेरा यह (कषाय जन्य) पातक मिथ्या (निष्फल) हो, मैं आपको नमस्कार करता हूँ,' इत्यादि वचन रूप जल से उसको शान्त करने की आवश्यकता है। इस कषाय रूप भयानक विषधर के विष को दूर करने का यह गारुडी मन्त्र है। जिस आत्मा मे इस गारुडी मन्त्र का सद्भाव रहता है, उस आत्मा पर कषाय रूपी विष का कुछ भी असर नहीं होता है। अत जहा तक बन सके कषाय के उत्पादक कारणों के सम्पर्क से दूर रहना चाहिए। यदि उनका सयोग बलात्कार से उपस्थित हो जावे तो क्षमा, मार्दव, आर्जव और सतोष आदि से उनका शमन करना उचित है।

ऊपर लिखे कषाय रोग नाशक नुस्खे (प्रयोग) के सेवन करने वाले को निम्नोक्त अपथ्य से सर्वथा बचना चाहिये।

हास्य, रति, अरति, शोक, भयादि नव नोकषाय और चार सज्ञाएँ (आहार,भय, मैथुन और परिग्रह की वाछा) हैं। इनसे सदा

दूर रहना चाहिए। क्योंकि हास्य (अट्टहास, हसी, मजाक,) क्रोधादि के विकार को उत्तेजित करता है। रति (विषय प्रेम) और अरति (सत्कार्यों से चित्त की उद्विग्नता) तथा शोक,भय, ग्लानि, और कामक्रीडा के भाव रागद्वेष के जनक हैं। तथा आहारादि सज्ञा भी आत्मा मे लोभादि कषायो को अकुरित करती है।

इनके अतिरिक्त ऋद्धि, रस और सात इन तीन गारवों का भी त्याग करना आवश्यक है। ऋद्धि मे तीव्र अभिलाषा ऋद्धि गारव, रसों मे तीव्र अभिलाषा रस गारव और सुख की तीव्र अभिलाषा सात गारव है। इनसे भी क्रोधमानादि कषाय रूप विकार भाव उत्पन्न होते हैं। साधुओ को कषाय की शान्ति के लिए इनका भी त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है।

कषाय को कृश करने मे तत्पर हुए सयमी को अशुभ लेश्याओ का भी परित्याग करना चाहिए। कृष्ण, नील और कापोत ये तीन अशुभ लेश्यायें हैं। जिस आत्मा मे यह उत्पन्न होती है,उसके चारित्र का विघात कर उस चारित्रहीन असंयमी बना देती है। उनके द्वारा तीव्र अशुभ कर्मों का बन्ध होता है, अत. उनको आत्मा से समूल उच्छेद कर देना चाहिए।

इस प्रकार जिस सयमी ने बाह्य सल्लेखना (शरीर को कृश करना) और आभ्यन्तर सल्लेखना (कषाय को कृश करना) इन दोनों सल्लेखनाओ की सिद्धि के लिए पूर्वोक्त बाह्य तप आदि का आचरण किया है, ससार का त्याग करने मे जिसने अपनी बुद्धि को लगाया है, वह सयमी सम्पूर्ण तपो मे उत्कृष्ट तप जो धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान हैं, उनकी प्राप्ति करने मे तत्पर रहता है। अर्थात् ऊपर की सब क्रियाओ का पालन धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान की सिद्धि के लिए ही किया जाता है। क्योंकि उक्त क्रियाए साधन हैं और धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान साध्य हैं। इस प्रकार सल्लेखना का निरूपण किया।

सल्लेखना के आराधक आचार्य का कर्त्तव्य

सल्लेखना के आराधक (यदि वह स्वय आचार्य है तो) का क्या कर्तव्य होता है, उसका प्रतिपादन करते हैं।

सल्लेखना करने मे उद्युक्त हुए आचार्य को गण की हित कामना का पूर्ण ध्यान रखना पड़ता है। अपना आत्म-हित करने के लिए सल्लेखना का आराधन जैसा मुख्य कृत्य है, वैसा ही आगे के लिए सघ का सुप्रबन्ध करना भी उनका प्रधान कर्तव्य होता है। धर्मतीर्थ का विच्छेद न हो, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की अविच्छिन्न परिपाटी चलती रहे, इसके लिए वह आचार्य अपनी आयु का विचार कर अपने शिष्य समूह को तथा अपने स्थान मे जिन बालाचार्य को स्थापित किया था, उन्हें बुलाकर सौम्य तिथि, करण, नक्षत्र और शुभ लग्न मुहूर्त्त देखकर शुभ प्रदेश मे सङ्घ का सर्वथा त्याग करते हैं। तथा अपने समान आचार्य गुण से भूषित,सम्पूर्ण सङ्घ की रक्षा शिक्षादि

कार्य-सञ्चालन करने में समर्थ वालाचार्य को अपना भार सौंपते हैं। उस समय उनको परिमित शब्दो में छोटा सा उपदेश देते हैं। उसके बाद वह बालाचार्य सम्पूर्ण सङ्घ का आचार्य माना जाता है। उस समय वे पूर्वाचार्य उस बालाचाय के सामने अपने समस्त सङ्घ को भी सूचित करते हैं -हे मोक्षमार्ग के यात्रियो,तुम्हारा सम्यग्दर्शन,ज्ञान और चारित्र रूप रत्नत्रय निर्विघ्न चल रहा है उसपर सतत आगे बढते रहो, अत. तुम्हारे मार्ग में विघ्न बाधाओंको दूर करने के लिए, इस रत्नत्रय धर्म की परिपाटी अविच्छिन्न चलती रहे इसके निमित्त इस बालाचार्य को सार्थवाह-सघपति-आचार्य , नियत करता हूँ। आज से यह तुम्हारा आचार्य है। इसकी आज्ञा के अनुकूल चलना तुम्हारा परम कर्त्तव्य है। इसप्रकार समस्त सघ के समक्ष बालाचार्य को आचार्य पद पर नियुक्त करते हैं और आप सम्पूर्ण सङ्घ से अपना सम्बन्ध विच्छेद करते हैं।

तदनन्तर सम्पूर्ण सङ्घ और उस नवीन आचार्य तथा बालमुनि से लेकर वृद्ध मुनि पर्यन्त सम्पूर्ण साधुओं से मन वचन काय द्वारा क्षमा मागते है। मेरा तुम्हारे साथ दीर्घकाल तक सहवास हुआ है, मैंने तुम्हारी इच्छा के अनुकूल प्रतिकूल हितकामना से जो शासन किया उसमे तुम्हारे चित्त को दु खित किया हो तो उस अपराध को अब क्षमा करो। इस तरह पूर्वाचार्य के क्षमा याचना करने के पश्चात् सम्पूर्ण सङ्घ के साधु व नवीन आचार्य, ससार के दु खो से रक्षण करने वाले, सबपर प्रेमामृत की वर्षा करने वाले, उत्तम क्षमादि दश धर्मों का तथा रत्नत्रय धर्म का स्वय पालन करने वाले और समस्त सङ्घ को पालन कराने वाले अपने पूर्वाचार्य की प्रथम वन्दना करते हैं पश्चात् पञ्चागो द्वारा मन वचन और काय से नमस्कार करते हैं। और मन वचन काय से पूर्वाचार्य को क्षमा प्रदान करते हैं तथा आप भी अपने पूर्व कृत अपराधों की क्षमा याचना करते हैं।

शिष्य समूह आचार्य के लिए परिग्रह स्वरूप है

जिस प्रकार स्त्री पुत्रादि परिग्रह है, वैसे ही सल्लेखना के आराधक आचार्य के शिष्य समूह भी उनके लिए परिग्रह है। जब तक उनका त्याग नहीं किया जाता है, आत्मा पर उनकी रक्षा शिक्षादि के प्रबन्ध का बोझ बना पर रहता है। अतः सब जीवादि तत्त्वो के रहस्य के वेत्ता, तथा प्रायश्चित्तादि शास्त्रो के अनुभवी आचार्य अपनी आत्मा के कल्याण करने में तत्पर हुए पूर्वाचार्य, उस भार को उतार कर अपनी आत्मा को तत्सम्बन्धी रागद्वेषसे मुक्त कर परम आनन्द का अनुभव करते हैं और योग्य प्रायश्चित लेकर अपनी आत्मा को शुद्ध बनाने में प्रवृत्त होते हैं। कारण कि आचार्य को सङ्घ के शिष्यों के हित के लिए अनेक प्रकार से शासन करना पडता है, उनको कटु कठोर किन्तु परिणाम में हितकारी वचन भी कहने पडते हैं इत्यादि बातों से आचार्य को जो दोष उत्पन्न होता है, उसकी निवृत्ति करने के लिए वे उचित प्रायश्चित का भी आचरण करते हैं।

सङ्घ का परित्याग करते समय आचार्य का उपदेश

गच्छ (सङ्घ) का परित्याग करते समय आचार्य सङ्घ को जो उपदेश देते हैं वह निम्न प्रकार है :—

हे कल्याण के इच्छुक मुनीश्वरो ! तुमने शान्ति सुख की प्राप्ति के लिए धन, धान्य गृह, पुत्र, कलत्रादि का परित्याग कर जिनेन्द्र सदृश जगत्पूज्य मुनिपद धारण किया है। इसकी शोभा रत्नत्रय रूप भूषण से है। अत. इसकी उत्तरोत्तर निर्मलता प्राप्त करना तुम्हारा मुख्य कर्त्तव्य है। दर्शनाराधना, ज्ञानाराधना और चारित्राराधना को उन्नत बनाने वाली प्रवृत्ति करने मे तुम्हारा सच्चा हित है।

हे सङ्घ नायक ! महानदी जहा से निकलती है, वहा पर तो अल्पविस्तारवाली होती है, किन्तु आगे बढते ही विस्तृत होती हुई महान् रूप धारण कर समुद्र मे मिलती है। वैसे ही तुम भी प्रारम्भ मे गुण व शील को अल्प प्रमाण मे धारण कर उत्तरोत्तर क्रमशः वृद्धि करते हुए गुण और शीलो को विशाल रूप देने का पूर्ण प्रयत्न करो–इसी मे तुम्हारा कल्याण है।

तुम मार्जार के शब्द के समान चारित्र तप को मत आचरण करो। जैसे मार्जार (बिल्ली) का शब्द प्रारम्भ मे महान् और पश्चात् मद होता जाता है, वैसे ही प्रारम्भ मे अति दुर्धर चारित्र और तप की भावना (अनुष्ठान) मे प्रवृत्त होकर पश्चात् उसमे क्रमश. मन्दता (क्षीण पना) धारण करना तुम्हे उचित नहीं है। यदि तुमने ऐसा किया तो तुम अपना और सङ्घ का विनाश करोगे। क्योकि जो आलसी अग्नि से जलते हुए अपने घर को भी नहीं बुझा सकता, वह दूसरे के घर की रक्षा करने मे कैसे समर्थ हो सकता है ? तुमको चारित्र और तप से गिरते हुए देखकर दूसरे उत्कृष्ट तपस्वी और दृढ सयमी भी शिथिल होने लगेंगे। अत हे गणाधिप ! द्रव्य क्षेत्र कालादि को ध्यान मे रखते हुए तुम क्रमशः चारित्र और तपश्चरण को वृद्धि की ओर ले जाओ। हे सङ्घ की उन्नति के इच्छुक ! तुम ज्ञान, दर्शन और चारित्र मे अतिचार मत आने दो। अतिचारो का स्वरूप निम्नोक्त प्रकार है।

ज्ञान के ८ अतिचार

अस्वाध्याय के काल मे गणधरादि कथित सूत्र (आगम) का स्वाध्याय करना, क्षेत्र शुद्धि, द्रव्य शुद्धि और भाव शुद्धि के बिना स्वाध्याय करना, अपने गुरु के नाम को छिपाना, आगम के मूल पाठ मे तथा उसके अर्थ मे अथवा दोनो मे अशुद्धि करना, अर्थात् अशुद्ध पाठ उच्चारण करना तथा आगम के यथोचित्त अर्थ का प्रकाशन कर उसे हीनाधिक या विपरीत अर्थ समझना या दूसरो को समझाना, आगम का आगम के वेत्ताओं का बहुमान न करना–आदर सत्कार न करना–ये ज्ञान के आठ अतिचार हैं।

दर्शन के ५ अतिचार

शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा अन्य-दृष्टि प्रशसा और सस्तवन ये पाच सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं। इनका विवेचन दर्शनविनय मे हो चुका है।

स प्र

चारित्र के अतिचार

समिति का व भावनाओ का अभाव होना आदि चारित्र के अतिचार हैं। चारित्र के अतिचारों का वर्णन चारित्राचार के विवेचन के अवसर पर कर आये हैं, उन सब अतिचारो का तुम त्याग करो। देखो, स्वपक्षीय जैन धर्म पर आरूढ मुनिगण से तथा परपक्षीय इतर धर्माम्नायी प्राणियों से कदापि वैर विरोध मत करो। अन्त.करण की शान्ति का भङ्ग करने वाले वाद-विवाद का भी परित्याग करो। क्योंकि वाद-विवाद मे प्रवृत्त हुआ पुरुष अपने जय के उपायो और पर के पराजय के उपायो को ही ढूढता है, किन्तु वस्तु के तथ्य स्वरूप को प्रकट कर समाधान करना नहीं चाहता है। इससे क्रोधादि कषायों की जागृति होती है, जो कि आत्मा का परम शत्रु है। अतः इनसे सदा बचना चाहिए। हा, तत्त्वजिज्ञासा से कोई प्रश्न करे तो शान्ति से उसका समाधान करना आवश्यक है।

आचार्य के लिए ध्यान देने योग्य विषय

हे गणधर! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र मे जो अपने को और गण-सङ्घ को स्थापित करे, रत्नत्रय को आप धारण करे और गण को धारण करावे वह गणधर कहलाता है। जो इसके अनुकूल प्रवृत्ति न करे वह गणधर पद के योग्य नहीं माना गया है। अत. तुम अपने कर्त्तव्य पर आरूढ रहो। बहुत मुनिगण मेरे अधीन हैं, इसलिए मैं गणधर (आचार्य) हूँ, ऐसा अभिमान तुम्हारे हृदय में कभी नहीं होना चाहिए। किन्तु तुम्हें यह विचार निरन्तर करते रहना चाहिये 'कि मुझे सङ्घ की सेवा का सौभाग्य मिला है, अत. मैं इस सेवा के कर्त्तव्य का पूर्ण रूप से पालन करूं।' कर्त्तव्य पालन मे तुम्हारा थोडा सा प्रमाद अनेक पवित्रात्माओं की महती हानि का कारण होगा, इसलिए तुमको प्रतिक्षण सावधान रहना चाहिए।

जो साधु आहार, पिच्छी, कमण्डलु और वसतिका का शोधन न कर ग्रहण करता है, वह मूलस्थान को प्राप्त होता है अर्थात् वह मुनिपद से पतित हो जाता है उसको पुन मुनि दीक्षा लेनी पड़ती है। लेकिन जो साधु उद्गम, उत्पादन, एषणादि दोषों से रहित आहार, पिच्छी, कमण्डलु और वसतिका को चारित्र की रक्षा के लिए स्वीकार करता है वह उत्तम चारित्र का धारक माना जाता है।

ज्ञानाचारादि पञ्चाचार मे स्थिर रहने वाले तथा उनका निरतिचार स्वय पालन करने वाले और अन्य मुनियो को पालन कराने वाले आचार्यों की जिनागम मे उक्त मर्यादा वर्णन की गई है। परन्तु जो लोकानुवर्ती तथा सुखेच्छु हैं, उनका आचारण आगम-मर्यादा का उल्लघन करने वाला होता है। आगम मे असयमी जनो के साथ सम्पर्क रखने, मिष्ट तथा रसीले भोजन करने, कोमल शय्या मे शयनासन करने, सब ऋतुओ मे रमणी स्थानों मे निवास करने आदि मे आसक्त रहने वाले साधुओ की यथेच्छप्रवृत्ति का निषेध किया है। उनमें रत

रहने वाले मुनि आचार्य पद के सर्वथा अयोग्य हैं। वे अपने मुनि पद को दूषित करते हैं।

हे आचार्य ! जो साधु आगम निषिद्ध उद्गमादि दोषों से दूषित आहार वसतिकादि का उपभोग करता है, उसके इन्द्रिय संयम व प्राणी सयम नष्ट हो जाता है। वह दुर्बुद्धि साधु मूलस्थान को प्राप्त होता है। वह केवल नग्न द्रव्यलिंगी है। वह वास्तविक मुनि नहीं है तो फिर वह आचार्य कैसे हो सकता है ?

जो साधु कुल, ग्राम, नगर और राज्य से अपना सम्बन्ध त्याग चुका है और फिर भी इनसे ममत्व रखता है—यह मेरा कुल है, यह मेरा ग्राम, नगर और राज्य है, इस प्रकार का सङ्कल्प करता है—वह सयम से शून्य नग्न पुरुष मात्र है। क्योंकि जिस पदार्थ मे जो ममत्व रखता है, वह उसके सयोग मे हर्षित और वियोग मे दु:खित होता है, अतः जो रागद्वेष और लोभ मे तत्पर रहता है वह असयमी होता है ऐसा ध्रुव सत्य मानना चाहिए।

हे मुनिनायक! किसी साधु के अपराधों को किसी दूसरे पर प्रकट मत करना। उसने अपने संयम जीवन की बागडोर तुम्हें सौंप रखी है, अत वह तुम पर विश्वास रखकर अपने गुप्त से गुप्त दोषो को प्रकाशित कर देता है। तुम्हारा परम कर्त्तव्य है कि तुम उनको कभी प्रकाशित न करो। तुम सब कार्यों मे सबके प्रति समदर्शी रहो तथा बाल मुनि से लेकर वृद्धि मुनि तक 'समस्त सङ्घस्थित मुनियों का अपने नेत्र के बाल के समान सरक्षण करो।

हे सङ्घाधिपते। जिस देश मे कोई राजा न हो, अथवा राज विसव हो रहा हो या दुष्ट राजा का शासन हो, वहा पर कदापि मत रहो। जहा पर धर्मपरायण श्रावक जन न हों या तुम्हारे संयम का विघात होता हो, उस देश मे विहार मत करो। इस प्रकार सक्षेप से तुम्हे शिक्षा दी गई है। अत अपना तथा सङ्घ का योग क्षेम साधन करते हुए, धार्मिक जनता को धर्म मे स्थिर करना और धर्म के पात्र सरल चित्त मनुष्यों को धर्म पर लगाना अपना कर्त्तव्य समझो। आर्य प्रदेश मे आगमोक्त विधि का पालन करते हुए इस प्रकार निरन्तर विहार करना ही मङ्गलकारी है।

हे मुनियो। तुमने मुनि पद को धारण किया है। उसके आवश्यक कर्त्तव्यों का पालन और सामायिकादि षडावश्यक क्रियाओं का पालन करना तुम्हारा आवश्यक कर्त्तव्य है। क्योकि ये आवश्यक क्रियाए तप और सयम की आधारभूत होती हैं। जब मुनि सामायिकादि आवश्यक क्रियाओ मे तत्पर रहता है, उस समय उसके इन्द्रिय सयम और प्राणी-सयम दोनो सयमों का पालन होता है और असयम का परिहार होता है। तथा सम्पूर्ण सावद्य क्रियाओ से निवृत्त होने के कारण कर्मों का संवर और आत्मीय कार्यों मे लवलीन रहने से कर्मों की निर्जरा होती है, इसलिए तप की भी सिद्धि होती है क्योकि जो कर्मों को तपता है, नष्ट करता है, उसे तप कहते हैं। ऐसे तप का

स्वरूप आवश्यक क्रियाओं मे पाया जाता है। 'तपसा निर्जरा च' तपस्या मे कर्मों का सवर और निर्जरा होती है। यह तप का कार्य आवश्यक क्रियाओ के सद्भाव मे पाया जाता है, अत' आवश्यक क्रियाओं के पालन करने में कभी प्रमाद मत करो।

देखो। यह मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ है, किन्तु विनाश के उन्मुख है और निस्सार है। तुमने मनुष्य जन्म को सफल बनाने के लिए अति दुर्लभ जिन दीक्षा ग्रहण की है, यह बडे पुण्य के उदय से सुन्दर अनुपम अवसर मिला है। जिन दीक्षा धारण करना संसार में अपूर्व दिव्य लाभ है, अत. इसको सार्थक बनाने के लिए आवश्यक क्रियाओ में सदा सावधान रहो।

हे महात्माओ! जिस समय तुम आवश्यक क्रियाओं से निवृत्त होकर अवकाश पाओ, उस समय तुमको अपने संयम चारित्र की रक्षार्थ गोचरी के लिए श्रावको के गृहों मे चर्या करनी पडे, धर्म के पिपासुओं को धर्मोपदेश देना, अथवा उनके साथ धर्म सम्बन्धी वार्तालाप करना पडे उस समय तुमको ईर्या भाषा एषणा आदि पाच समितियों का पालन करना आवश्यक है। ऋद्धि मे रसों, में और सुख मे तीव्र अनुराग व अभिलाषा नहीं रखना चाहिए। तीन गुप्ति का पालन करने मे निरन्तर दत्तचित्त रहना चाहिए। जिनाज्ञा के विरुद्ध अपनी बुद्धि का उपयोग कदापि न करना चाहिए।

हे आत्मा का साधन करने वाले साधुओ! आहारादि चार सज्ञाओं और चार कषायों तथा आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का परिहार करो। ये आत्मा को गिराने वाले हैं। सयम और तप के विराधक हैं। इनमे से किसी एक के वशीभूत हुआ आत्मा सयम व चारित्र को खो देता है। तथा पाचो इन्द्रियों की दुष्ट प्रवृत्ति को रोको। ये लुटेरे के समान तुम्हारे सयम व व्रत को लूटने वाले हैं, अत इनको जीतो अर्थात् अपने अधीन रखो। वे पुरुष पुगव धन्य हैं, जो शब्दरसादि इन्द्रियो के विषयों से व्याप्त इस लोक मे आसक्ति रहित हैं। स्पर्शादि विषय जिनके अन्त करण को आकुलित नहीं कर सकते हैं, वे ही सच्चे आत्म-गवेषी हैं। ज्ञान और चारित्र मे लवलीन रहने वाले ऐसे ही महात्मा सङ्घ के आदर के पात्र होते हैं।

हे साधुओ! जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र मे बडे हैं, वे गुरु कहलाते हैं। अत. आचार्य, उपाध्याय और साधु ये गुरु हैं। आप लोग उनकी सेवा शुश्रूषा करो। सेवा शुश्रूषा करके लाभ, कीर्ति और आदर-सत्कार की इच्छा मत रखो। केवल गुणोमे भक्ति श्रद्धा रखकर सेवा शुश्रूषा करो। जो जिसकी भक्ति करता है, उसके गुणों का प्रभाव भक्त श्रद्धालु की आत्मा पर अवश्य अंकित होता है। वह भक्त भी कुछ समय के अनन्तर वैसा ही गुणी हो जाता है। तथा गुरुओं की शुश्रूषा करने से उनके रत्नत्रय के प्रति अनुमोदना होती है। और अनुमोदना से विना परिश्रम के पुण्य की उत्पत्ति होती है, जिससे सब सुयोग्य साधनों की प्राप्ति हो जाती है।

हे मुनियो। यद्यपि तुम्हारा कर्त्तव्य आवश्यक क्रियाओं का आचरण, स्वाध्याय, ध्यानादि है, अर्हन्त और सिद्ध की प्रतिमा का दर्शन तुम्हारे लिए आवश्यक नहीं है, जैसा कि गृहस्थ (श्रावक) को आवश्यक है, किन्तु उनका सुयोग मिलने पर प्रयत्न से अथवा परोक्ष में कृत्रिम और अकृत्रिम अर्हन्त व सिद्ध-प्रतिमा की भक्ति अवश्य करनी चाहिए। जैसे मित्र तथा शत्रु का चित्र या मूर्ति आत्मा मे शीघ्र रागद्वेप भावना को जन्म देती है, और जैसे मित्र या शत्रु का चित्र या मूर्ति ने तो तुम्हारा उस समय कोई उपकार या अपकार नहीं किया है, तो भी उनका गुण स्मरण हो जाने से प्रेम व वैरभाव उदित हो आता है, वैसे ही अर्हन्त और सिद्ध की प्रतिमा के दर्शन व भक्ति करने से, उनके गुणो का स्मरण होने पर आत्मा के वीतराग भाव की उत्पत्ति या पुष्टि होती है, रत्नत्रय के पालने मे तत्परता होती है। उनकी भक्ति संवर और पूर्व बन्धे हुए कर्मों की अपूर्व निर्जरा की करने वाली है। इसलिए चैत्यभक्ति अत्यन्त उपयोगी है, उसको नित्य करो।

आचार्यों के लिए आवश्यक विनय और उसके भेद

दर्शन ज्ञान चारित्र तप का और उनके पालक साधु महात्माओं का विनय करो। 'विलय नयति कर्ममलमिति विनयः' जो कर्म मल का नाशक है, उसे विनय कहते हैं।

दर्शनविनय—शङ्का, काक्षा, विचिकित्सा आदि आठ मलदोप, देव मूढतादि तीन मूढता, छह अनायतन और आठ मद इन पचीस दोपों का परित्याग कर सम्यग्दर्शन को निर्मल करो। इन पचीस दोपो मे से जिस शङ्कादि दोप की उत्पत्ति की सम्भावना तुम्हारी आत्मा मे हो, उसको दूर करो इससे तुम्हारा सम्यग्दर्शन अत्यन्त निर्मल होकर तुम्हें मोक्ष के अतिनिकट पहुचावेगा।

ज्ञानविनय—आगम मे सूत्रों के वाचनादि का जो काल कहा गया, उसका विवेचन ज्ञानविनयाचार के प्रकरण में कर आये हैं, उसके अनुसार योग्य काल मे स्वाध्याय करो। श्रुत का अध्ययन कराने वाले गुरु का नाम मत छिपाओ, उनकी भक्ति करो। कुछ तपस्या ग्रहण कर श्रुत का आदर पूर्वक अध्ययन करो। श्रुतज्ञान का शब्दशुद्धि, अर्थशुद्धि और उभयशुद्धि के साथ अध्ययन करो। इस तरह विनय पूर्वक अध्ययन किया गया श्रुतज्ञान कर्मों का संवर और निर्जरा करता है। किन्तु विनय रहित अध्ययन किया गया श्रुतज्ञान ज्ञानावरण कर्म का बन्ध करता है।

चारित्रविनय—अनन्त काल से जीव का इन्द्रियों के प्रिय व अप्रिय स्पर्शादि विपयों में रागद्वेप करने का अभ्यास हो रहा है। क्रोधादि कपायों का भी सब जीवों के उदय है, बाह्य निमित्त को पाकर वे प्रकट आ जाती है, उनके उदय से चारित्र का घात होता है। मन वचन और काय की अशुभ प्रवृत्ति से तथा रागद्वेप के आविर्भाव से कर्म आते हैं और चिपटते हैं। पृथ्वी जल, अग्नि, वायु और वनस्पति

कायिक ये पांच स्थावर जीव और द्वीन्द्रियादि त्रसजीव इन छह काय के जीवों को बाधा पहुंचाने वाला गमनागमन करना, मिथ्यात्व या असंयम में प्रवृत्ति करने वाले वचन बोलना, साक्षात् या परम्परा जीवों को पीडा पहुंचाने वाले भोजन का ग्रहण करना, किसी वस्तु को बिना देखे और बिना पिच्छी से पोंछे भूमि पर धरना या उठाना, भूमि को बिना देखे मल मूत्रादि किया करना, ये सब क्रियाएं पाप जनक हैं, इनका त्याग करने से चारित्र विनय होता है। ऊपर कही गई अशुभ क्रियाओं के त्याग के बिना चारित्र नहीं होता है। उक्त क्रियाएं आरम्भ-जनक हैं। और आरम्भ करने वाले के चारित्र का अभाव होता है। इसलिए यत्नपूर्वक उन सब क्रियाओं का त्याग करके अपने चारित्र को उज्ज्वल बनाओ।

तपोविनय—अनशन (उपवास), अवमौदर्य (ऊनोदर) आदि तप के करने से उत्पन्न शारीरिक व मानसिक कष्ट को सहन कर लेना तपोविनय है। यदि तप के द्वारा आत्मा में संक्लेश भाव उत्पन्न हों तो उससे महान् कर्म बन्ध होता है और अल्प निर्जरा होती है। इसलिए उतनी ही तपस्या करना योग्य है, जिससे तपश्चरण का उत्साह वृद्धिगत होता रहे।

उपचार विनय—गुरु आदि पूज्य पुरुषों का प्रत्यक्ष व परोक्ष आदर सत्कार, नमन, वंदनादि करना उपचार विनय है। जो गुरु आदि का यथायोग्य विनय करता है, उसकी सब प्रशंसा करते हैं और उसको उत्तम समझकर बुद्धिमान पूजते हैं और जो विनय नहीं करते हैं उसकी सब लोग निन्दा व अवहेलना करते हैं। जो साधु अपने गुरु आदि पूज्य पुरुषों की मन वचन काय से विनय नहीं करता है अर्थात् जो गुरु आदि की मन से अवज्ञा करता है, उनके आसन से उठने पर या बाहर से आने पर नहीं उठता है, जाते हुए के पीछे कुछ दूर तक नहीं जाता है, उनको हाथ जोडकर नमस्कार नहीं करता है, उनकी स्तुति नहीं करता है, उनसे आज्ञा नहीं लेता है, उनके सामने आसन पर बैठा रहता है, आते हुए सम्मुख नहीं जाता है, उनके आगे आगे चलता है, उनकी निन्दा करता है, कठोर वचन कहता है, गाली आदि अपमान जनक वचन बोलता है, वह साधु नीच गोत्र कर्म का बन्ध करता है। उसके फलस्वरूप वह संसार में निन्दनीय कुल में जन्म लेता है। अथवा कूकर शूकरादि योनि में उत्पन्न होता है। अविनीत शिष्य को गुरु से रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती है। विनीत शिष्य को गुरु प्रेम से शिक्षा देते हैं, उसका सम्मान करते हैं, इसलिए तुमको विनय में तत्पर रहना चाहिए। अविनय में महान् दोष हैं और विनय में महान् गुण हैं, ऐसा समझकर विनय में तत्परता धारण करो। और नित्य स्वाध्याय में अर्थात् जीवादि तत्त्वों के मनन में उनके प्ररूपक शास्त्रों के अध्ययन में तल्लीन रहो। निद्रा, हास्य, क्रीडा, आलस्य और लौकिक वार्तालाप का त्याग करो। शास्त्र में कहा है—

"णिद्दं ण बहु मण्णेज्ज हासं खेडं विवज्जए।
जोग्गं समणधम्मस्स जुंजे अणलसो सदा॥ १॥"

अर्थ—निद्रा को बहुमान मत दो अर्थात् अल्प निद्रा लो, कारण कि निद्रा आत्मा को चेतना (उपयोग) हीन अज्ञानमय बना देती है, और शुभ क्रियाओ से वंचित कर प्रमादी करती है। उतनी नींद लो, जिससे दिन भर का स्वाध्यायादि से जन्य श्रम दूर हो जाये। हंसी मखौल मत करो। पूज्य पुरुषों (साधुओं) को असयमी जन के समान हंसना शोभा नहीं देता है। किसी प्रकार की क्रीडा न करो। अर्थात् वालक के समान व्यर्थ के कामो मे मन को मत बहलाओ। तुम्हें तो आगम मे ही क्रीड़ा करनी चाहिए। तुम आलस्यहीन होकर मुनि-धर्म के योग्य कार्यों मे अपने चित को लगाते रहो।

हे धर्म धुरन्धरो। तुम धर्म के प्रवर्त्तक हो, अत क्षुधा पिपासा आदि परीषह के प्राप्त होने पर तथा अशिष्ट ग्रामीण पुरुषों के अनुचित भाषण से या दुर्जनो के कटु कठोर गाली आदि सुनकर आत्मा में ग्लानि उत्पन्न कर धर्म का कदापि त्याग न कर देना। कभी २ दुर्जन व क्रूर प्राणी ऐसे मर्मभेदी दुर्वचनों का प्रहार करते हैं, जिनका सहन करना अति कठिन हो जाता है, परन्तु वस्तुस्वरूप का चिन्तन कर मनको समझाना चाहिये।

हे मुनिवृन्द। देखो, जो देवेन्द्रों से पूजनीय हैं, चार ज्ञान के धारक हैं, जिनको उसी पर्याय में मोक्ष की प्राप्ति का पूर्ण निश्चय है, ऐसे तीर्थंकर भी अपने बल वीर्य को न छिपाकर तप मे पूर्ण उद्योग करते हैं, छह २ मास तक के उपवास और आतपन योगादि कायक्लेश तप के करने मे सदा तत्पर रहते हैं, तो अन्य साधुओं का क्या कहना? उनको तो अपने महान् कर्मों का क्षय करना है। अतः उनको तो इसमे अधिक तत्पर रहना चाहिए।

हे आत्म-हित-चिन्तको। तुम्हारी आयु, शरीर, बल और आरोग्य का विनाश न जाने कब हो जावेगा। इसका काल नियत तो है नहीं। क्योकि मृत्यु दावानल के समान है, न जाने किस समय इस जगत् रूपी वन को भस्म करदे। हमको इसका ज्ञान नहीं कि मृत्यु कब आयगी? काल की गति अति तीव्र है, एक क्षण भर मे इस शरीर का विध्वंस कर सकती है। जब तक काल का आगमन नहीं हुआ तब तक इस शरीर से तपस्या करलो। काल के निवास करने का कोई क्षेत्र नियत नहीं है। जैसे गाड़ी रथादि भूतल पर ही गमन कर सकते हैं, सूर्य चन्द्र ग्रहादि आकाश मे ही भ्रमण करते हैं, मगर मच्छादि जल में ही गति करते हैं, वैसे मृत्यु के गमन प्रदेश निश्चित नहीं है। वह तो जल, स्थल और आकाश सर्वत्र अप्रतिहत गति है। ऐसे स्थान भी हैं, जहा अग्नि चन्द्र व सूर्य की किरण, शीत उष्ण वात और बर्फ का प्रवेश नहीं हो सकता है, किन्तु ऐसा कोई स्थान (क्षेत्र) नहीं हैं। जहा काल का प्रवेश नहीं है, वात पित्त कफ शीत वर्षा घाम आदि का प्रतीकार किया जा सकता है, किन्तु ससार मे काल (मृत्यु) का प्रतीकार करना अशक्य है। रोगों की उत्पत्ति के कारण वात पित्त कफ की विषमता तथा प्रकृति विरुद्ध आहार विहारादि हैं। परन्तु अकाल मृत्यु के तो कारण संसार के सब पदार्थ हैं। अर्थात् किसी भी बाह्य पदार्थ के निमित्त से प्राणियो का मरण हो सकता है।

हे संसार भीरुओ ! काल का कोई समय भी नियत नहीं है। वर्षा, शीत और गर्मी का समय नियत है, वैसा मृत्यु का कोई समय निश्चित नहीं है। जैसे जनशून्य महा अरण्य मे सिंह के मुख में प्रविष्ट खरगोश की रक्षा करने मे कोई समर्थ नहीं है, वैसे ही काल के मुख मे प्रविष्ट हुए इस प्राणी की रक्षा करने वाला इस ससार मे कोई नहीं है। मृत्यु के विना भी अन्य वस्तुओं से भी उसे भय लगा ही रहता है। कभी रोग का भय होता है, तो कभी वज्रपातादि से भीति बनी रहती है। जैसे वज्र अचानक आकाश से गिर पडता है, अचानक व्याधि उत्पन्न होकर शरीर को त्रस्त कर देती है, वैसे ही मृत्यु अकस्मात् आकर प्राणी को दबोच लेती है।

हे मुनिवृन्द ! बाल और वृद्ध मुनियों से परिपूर्ण इस मुनि सघ का वैयावृत्त्य भक्ति पूर्वक करो। इस महान् कार्य मे अपनी शक्ति को न छिपाओ। क्योकि वैयावृत्य करना मुनि का परम कर्त्तव्य है। यह अनेक सद्गुणों को उत्पन्न करने वाला है, ऐसी जिनेन्द्र देव की आज्ञा है। यह वैयावृत्य स्व पर के रत्नत्रय को उद्दीप्त करने वाला है तथा कर्म की निर्जरा करने वाला परम तप है। इसलिए वैयावृत्य करने मे उदासीनता मत धारण करो। प्रतिदिन उत्साह और उमङ्ग से वैयावृत्य करने मे तत्पर रहो।

यदि मुनि रोगादि से अशक्त हो या वृद्ध हों, उनके शयन स्थान, बैठने का स्थान, उपकरण-पिच्छी, कमण्डलु, पुस्तकादि का प्रतिलेखन (मार्जन शोधन) करो। निर्दोष शास्त्रोक्त विधि सहित आहार व औषध की योजना करो। उनके आत्मा के भावों को निर्मल बनाने के लिए योग्य शास्त्र का स्वाध्याय या उपदेश (व्याख्यान) करो। शक्ति हीन या रोग ग्रस्त मुनियो के मलमूत्र को उठा कर स्वच्छ करो। उन शक्ति हीन साधुओं को उठाकर करवट बदलाओ, सुलावो, बैठे करो।

जो मुनि मार्ग के श्रम से थक गये हो, उनकी पगचम्पी करो, हस्तादि का मर्दन करो। जिनपर चारों प्रकारों मे से किसी प्रकार का उपद्रव हुआ हो, दुष्ट पशुओ से पीडा हुई हो, जो अनीतिपरायण दुष्ट राजाओं से सताये गये हो, नदी के द्वारा या बंदी करने वाले अन्यायी पुरुषो के द्वारा कष्ट पा रहे हों, जो हैजा प्लेग आदि महामारी के शिकार हो गये हो, उन मुनियों का कष्ट अपनी विद्यादि के बल से दूर करो। यदि कोई मुनि दुर्भिक्ष के कारण पीड़ा पा रहे हो तो उनको सुभिक्ष देश मे लेजा कर उनकी पीडा का निवारण करो। अधीर मुनियो को धैर्य बधाओ कि 'हे महात्माओ ! आप किसी बात का भय न करो,हम आपकी हर तरह सेवा टहल करेंगे,आपको किसी प्रकार का क्लेश न होने देंगे।' ऐसे कोमल व सान्त्वना के वचन कहकर उनको धीरज बधाओ। इस प्रकार वैयावृत्त्य करने से मुनि धर्म की रक्षा होती है, धर्म मे उत्साह बढता है, और मुनियो का सरक्षण होता है। जिस सङ्घ मे वैयावृत्त्य करने मे परायण और सेवा चतुर साधु होते हैं, उस सङ्घ के मुनियों की संसार मे ख्याति होती है, जनता की उनपर स्वाभाविक भक्ति होती है एवं मुनि-धर्म के प्रति रुचि बढती है।

किन्तु, हे साधुओ! वैयावृत्त्य वही प्रशस्त और कल्याण का करने वाला है, जो आगम के अनुकूल है। मुनियों को वैयावृत्त्य की जिनेश्वर देव ने जैसी आज्ञा दी है, उसके अनुसार किया गया वैयावृत्त्य धर्म की वृद्धि करने वाला होता है। जो साधु अपनी शक्ति को न छिपाकर पूर्ण श्रम से वैयावृत्त्य करता है, लेकिन वह भगवान् की आज्ञा के प्रतिकूल करता है, तो उसको धर्म का घातक धर्महीन माना है।

जो साधु अपने मुनिपद की अवहेलना कर असयमी जनों की पदचम्पी करता है, उनके हस्त मस्तकादि अंगों और उपांगों का मर्दन करता है या उनकी औषधि आदि का सदोष प्रयत्न करता है, वह जिनेन्द्र के शासन का तिरस्कार करने वाला तथा मुनिधर्म की महिमा का विनाश करने वाला है। साधुओं का भी वैयावृत्त्य करते समय आगम विधि पर ध्यान रखना चाहिए। दोष पूर्ण वैयावृत्त्य करने वाला सयमी अपना तथा दूसरे का (जिसकी वैयावृत्त्य कर रहा है उसका) अकल्याण करता है। इसलिए हे साधुओ! वैयावृत्त्य अवश्य करो, यह तुम्हारा प्रधान कर्त्तव्य है, किन्तु उचित व जिनेन्द्र देव की आज्ञा के अनुकूल करो।

हे जिनाज्ञापालक मुनियो! तुमने तो साक्षात् जिनेन्द्र समान लिंग (भेष) धारण कर लिया है, अतः यदि तुमने जिनेन्द्र की आज्ञा का पालन न किया तो तुम महा अपराधी सिद्ध होओगे। क्योंकि तुम धर्म के ध्वज हो, जिनेन्द्र देव के पश्चात् तुम ही धर्म की धुरा के धारक हो। वैयावृत्त्य करने से मुनिधर्म की रक्षा होती है। श्रुत धर्म की आराधना होती है। जो साधु वैयावृत्त्य करने मे उदासीनता दिखाता है, वह जिनाज्ञा का लोपक है। असंयम का विराधक है। वह मुनि के आचार का नाशक है। वैयावृत्त्य तप मे उद्योग हीन साधु इतर मुनियों का सहयोग नहीं पाता है। उसको वैयावृत्त्य करने से विमुख हुआ देखकर इतर साधु भी मुनि संघ से पराङ्मुख होजाते हैं। इससे संघ का भङ्ग होता है। सङ्कट मे सहायता न करने वाले मुनि का सब लोग त्याग करते हैं। उसपर सङ्कट आने पर इतर साधुजन भी उसकी उपेक्षा करने लगते हैं। उसका महत्त्व गिर जाता है। सब लोग उसका अनादर करने लगते हैं। धर्म की अवहेलना होती है। वह इस उत्तम कर्त्तव्य से वंचित रहने के कारण अपनी आत्मा का भी शत्रु सिद्ध होता है।

हे साधुओ! स्वाध्याय करना परमोत्तम कार्य है, तथापि वैयावृत्त्य करना उससे भी महान् कार्य है। क्योंकि स्वाध्याय करने वाला साधु केवल अपनी आत्मा की उन्नति कर सकता है, किन्तु वैयावृत्त्य करने वाला संयमी अपनी व दूसरे की उन्नति करता है। गुण-परिणामादि जिनका कि तृतीय किरण में वर्णन कर आये हैं वैयावृत्त्य करने वाले के आत्मा में स्वतः आकर निवास करते हैं। स्वाध्याय करने वाले पर आई हुई विपत्ति का निवारण वैयावृत्त्य करने वाला ही करता है। स्वाध्यायी भी वैयावृत्त्य करने वाले के मुँह की ओर ताकता है, उसकी सहायता की अपेक्षा रखता है। अतएव स्वाध्याय करने वाले से भी श्रेष्ठ वैयावृत्त्य करने वाला महात्मा है।

हे मुनियो ! तुम ब्रह्मचर्यरत्न की रक्षा करने में दत्तचित्त रहो। यद्यपि तुम्हारा आत्मा संवेग वैराग्य से परिपूर्ण है, तथा तुम्हारी दिनचर्या भी ऐसी है, जिसका पूर्णतया पालन करते रहने से उसका पोषण होता है, तथापि बाह्य सम्पर्क बड़ा बलवान् होता है। वह बलात्कार इस कर्म परतन्त्र आत्मा को अपने उत्तम कर्त्तव्य से विमुख कर देता है। इसलिए तुमको ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिए तथा रत्नत्रय भावना में तल्लीन रहने के लिए आर्यिकाओं का सम्पर्क न होने देना चाहिए। क्योंकि आर्यिका का संसर्ग अग्नि के समान चित्त में सन्ताप उत्पन्न करने वाला है तथा विष के समान संयम जीवन का विघात करने वाला है। वह अपकीर्ति की कालिमा लगाने वाली कज्जल की कोठरी है। आर्यिका के संसर्ग से संभव होने वाले चित्त-सक्लेश और संयम-जीवन का रक्षण तो दुर्धर तपस्वी कर भी सकते हैं, किन्तु जनापवाद से उत्पन्न होने वाली अपकीर्ति से बचना असम्भव है।

मुनियों को जनापवाद के मार्ग पर ही न जाना चाहिए। शास्त्रों में कहा है :—

"काये पातिनि का रक्षा यशो रक्ष्यमपाति यत्।
नरः पतितकायोऽपि यशःकायेन धार्यते ॥४१॥"

अर्थात्— यह विनश्वर शरीर तो अवश्य गिरने वाला है, नष्ट होने वाला है, इसकी रक्षा कैसे हो सकती है ? इसकी रक्षा का प्रयत्न करना निष्फल है। इसके द्वारा तो स्थायी रहने वाला यश उपार्जन करना चाहिए। क्योंकि भौतिक शरीर का नाश होने पर भी यश शरीर स्थिर रहता है। इसलिए अपने यश का सदा ध्यान रखना चाहिए। जिसको अपने आत्मीय गुणों की उच्चता का विचार नहीं है, वह कभी आत्मोन्नति करने में कटिबद्ध नहीं रह सकता। वह अपने आत्मा को पतन से नहीं बचा सकता है। अतः अपने ब्रह्मचर्य गुण की महत्ता का रक्षण करने के लिए कभी आर्यिका आदि स्त्रियों का सम्पर्क नहीं करना चाहिए।

हे संसार भीरुओ ! तुमने संसार से डर कर एकान्त निवास किया है। अतः इस एकान्त में भी भय का कारण आर्यिका का सम्पर्क है। इसमें स्थविर (वृद्ध) अनशनादि तपस्या में निरन्तर उद्यत रहने वाले तपस्वी, बहुश्रुत (अनेक शास्त्रों के वेत्ता) और जगत् में माननीय प्रभावशाली साधु भी निन्दा के पात्र होते हैं तो शास्त्र के तत्त्व ज्ञान से शून्य, साधारण चारित्र का पालक तरुण (जवान) साधु इस अपवाद (निन्दा) से अपने को किस तरह बचा सकता है ? उसकी निन्दा होना अनिवार्य है। यदि कोई साधु अपने आत्मा को बलवान् व पूर्ण जितेन्द्रिय समझ कर निर्गल आर्यिकाओं से सम्पर्क बढ़ाता रहे तो उसे अपनी आत्मा का घातक ही समझना चाहिए। क्योंकि कितना भी कठिन जमा हुआ घृत क्यों न हो, वह अग्नि का सम्बन्ध पाकर अवश्य पिघल जाता है। आर्यिका का संसर्ग आत्मा को बांधने वाला दृढ बन्धन बन सकता है।

हे सयमियो । परम वैराग्य की मूर्ति, तपस्या मे रत, शृंगार हीन,सयम परायण आर्यिकाओं का ससर्ग भी साधु के ब्रह्मचर्य व्रत मे विघ्न उपस्थित करने वाला माना है, तो सयम हीन, शृंगार रस मे रची हुई ससार के भोग विलास मे रत रहने वाली स्त्रियों का ससर्ग साधुओं के लिए कितना घातक हो सकता है ? इसमे प्रमाण व युक्ति की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती ।

इसलिए हे व्रतियो ! यदि तुमको अपने पुनीत व्रतों की रक्षा करनी है, ससार के दुःख से उद्धार करने वाले इस मुनिधर्म का पालन करना है, अपने आत्मा को पाप कालिमा से बचाना है तो तुम किसी भी स्त्री के साथ वार्त्तालाप तक मत करो, उसकी तरफ मत देखो । भुजङ्गनी से भी स्त्री को महा भयानक समझो । भुजगनी का विष तो स्पर्श करने (डंसने) से शरीर में असर करता है; किन्तु स्त्री तो देखने मात्र से ही शरीर और अन्तःकरण को तत्काल विषाक्त कर देती है, और क्षण भर में सयम से रहित करके अनेक भवों मे दुःख का अनुभव कराती है । इसलिए भूलकर भी स्त्री का सम्बन्ध न होने दो । यदि वह तुम्हारे निकट धर्म भावना से भी आकर बैठे तो तुम उस स्थान से अलग हो जाओ । निमित्त कारण बड़ा बलवान् होता है, वह अपना असर किये बिना नहीं रहता है । बहुत दूर पड़े हुए नीबू में इतनी शक्ति होती है कि वह देखने वाले मनुष्य के मुख मे पानी उत्पन्न कर देता है । तीव्र शोक अथवा उत्कट सुख के कारणों का समागम होते ही आंखों मे अश्रुधारा बहने लगती है । ठीक ही है बाह्य निमित्त के सयोग से वस्तु मे परिवर्तन हो जाता है । इसी प्रकार स्त्री का सम्पर्क भी मानसिक विचारों मे तत्काल परिवर्तन कर देता है । इसलिए जो तुम अपना हित चाहते हो तो स्त्री का सम्पर्क न होने दो, इसी में तुम्हारा कल्याण है । जो सयमी स्त्री का सम्पर्क करके भी अपने व्रत को अक्षुण्ण बनाये रखने की सम्भावना करता है, वह सर्प के मुख में हाथ देकर जीने की इच्छा रखता है ।

हे व्रतियो ! इसके अतिरिक्त रुपये पैसा आदि पदार्थ जो तुम्हारे व्रत संयम के नाशक हैं, उनका भी अवश्य दूर से परिहार करो । उनका स्पर्श तक न करो । व्रतों की रक्षा उसी सयमी के होती है, जो उनमे विघ्न बाधा पहुंचाने वाले कारणों से सम्पर्क नहीं रखता है । व्रत बाधक पदार्थों का सयोग रखने वाला सयमी अपने सयम व्रत से अवश्य गिर जाता है । इसलिए तुम्हें उन सब विपरीत कारणों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए ।

हे पवित्र चारित्र के पालको ! सङ्घ मे चारित्रहीन साधुओं का सम्पर्क मत होने दो । पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त और मृग चारित्र ये पाच प्रकार के भ्रष्ट साधु हैं । इन पतित साधुओं का दूर से ही परित्याग करो । 'संसर्गजा दोष गुणा भवन्ति' जिसका संसर्ग होता है, उस व्यक्ति के गुण व दोष संसर्ग करने वाले मे अवश्य आते हैं । जैसे कस्तूरी के संसर्ग से वस्त्र मे सुगन्ध और लहसन के संगम से दुर्गन्ध स्वतः आती है, इसमे अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती है । इसी प्रकार हीनाचारी पुरुषों के समागम से आचार में

हीनता स्वतः आजाती है। इसलिए अपने चारित्र को निर्मल व उन्नत बनाने वाले साधुओं को मलीन व भ्रष्ट चारित्र वाले साधुओं का समागम न करना चाहिए। पार्श्वस्थादि साध्वाभासो का स्वरूप पहले वर्णन कर दिया गया है। वहा से उनका स्वरूप जान कर उनकी सङ्गति का परित्याग करना चाहिए।

पार्श्वस्थादि साधुओं की सङ्गति करने वाले साधु का किस तरह पतन होता है—इसके विषय में भगवती आराधन में निम्न प्रकार कहा है—

लज्जं तदो विहिंसं पारंभं णिव्विसङ्कदं चेव।
पियधम्मो वि कमेणारुहंतओ तम्मओ होइ ॥ ३४० ॥

अर्थ—पार्श्वस्थादि साध्वाभासों की सङ्गति करने वाले मुनि को पहले पहल तो लज्जा आती है। उसके यह विचार उत्पन्न होता है कि मुझे इन पातत साधुओं के साथ मे देखकर अन्य लोग क्या कहेंगे? पश्चात् मनमे ग्लानि भी होती है कि मैं आत्मा के पतन कराने वाले इस व्रत भङ्ग कारक कुकृत्य को कैसे करू, इससे मेरा महान पतन होगा। तदनन्तर चारित्र मोह के उदय से व्रत भङ्ग कारक कार्य का प्रारम्भ करता है। व्रत भङ्ग करने के बाद वह साधु निःशङ्क होकर आरम्भ परिग्रहादि पाप कृत्यों मे प्रवृत्ति करता है। जो साधु पार्श्वस्थादि के ससर्ग होने के पहले धर्म प्रिय था। धम को प्राणो से भी प्यारा मानता था, वही साधु चारित्र हीन साधुओ के सम्पर्क से क्रमशः लज्जा ग्लानि पाप कार्यों मे प्रवृत्ति तथा उसमे शङ्का रहित होकर पार्श्वस्थादि साध्वाभासों के समान चारित्र हीन बन जाता है।

यद्यपि कोई ससार से भय भीत साधु पार्श्वस्थादि के ससर्ग से वचन और कार्य द्वारा आगम विपरीत कोई कार्य नहीं करता है; तथापि पार्श्वस्थादि का समागम उनके प्रति प्रेम की वृद्धि करता है। कारण कि अनादिकाल से इस जीव ने ससार मे पतन करने वाले इन्द्रिय सुख को अच्छा मान रखा है और उसी का सतत अनुभव करता रहा है। चारित्र मोहनीय कर्म का मन्द उदय होने पर सद्गुरु के सयोग से उसने सयम ग्रहण किया है, किन्तु स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने वाले इन्द्रियो के दास पार्श्वस्थादि का ससर्ग पाकर पुनः वह सासारिक सुख मे झुक जाता है और उनसे स्नेह बढ जाता है। स्नेह के बढने मे उनमें विश्वास होने लगता है। पश्चात् वह साधु स्वय पार्श्वस्थादि बन जाता है। जैसे नूतन मिट्टी के पात्र में सुगन्धित पदार्थ रखने से वह सुगन्ध मय हो जाता है एवं मिट्टी का तैल भरने पर उसमें वैसी ही दुर्गन्ध आने लगती है। वैसे ही पार्श्वस्थादि के ससर्ग से उस साधु मे पार्श्वस्थादि के गुणों का सक्रमण उत्पन्न हो जाता है। यह उचित ही है जो वस्तु जिसका ससर्ग करती है, वह कुछ समय मे तन्मय हो जाती है। जैसे कसैला आवला शक्कर के रस का ससर्ग पाकर अपने कसैले स्वभाव को छोड़कर मीठा हो जाता है। और अग्नि के सयोग से शीतल जल अपने स्वभाव का त्याग कर उष्ण हो जाता है। वैसे दुर्जन मनुष्यों के ससर्ग से सज्जन

प्रकृति का मनुष्य भी दुर्जन बन जाता है। अतएव हे साधुओ! रत्नत्रय से पतित, आरम्भ, परिग्रहादि मे आसक्त, चारित्र हीन पार्श्वस्थादि की सङ्गति न करो। तुम ऐसा न समझो कि हम शुद्ध हैं तो उन (पार्श्वस्थादि) का संसर्ग हमारा क्या कर सकता है क्योंकि निमित्तो की प्रबलता कम नहीं होती।

हे संयमियो! तुममे से कई साधु ऐसा भी प्रश्न कर सकते हैं कि जो मुनीश्वर अति दृढ संयमी हैं, जिनका चित्त मेरु समान अचल है। यदि वे पार्श्वस्थादि के साथ सम्पर्क रखें तो उनको क्या हानि हो सकती है?

इसका उत्तर यह है कि निमित्त में अचिन्त्य शक्ति है। प्राचीन काल के अनेक धीर वीर महर्षि भी विपरीत निमित्त को पाकर चारित्र से पतित होगये हैं। श्री माघनन्दी समान महामुनि भी प्रतिकूल निमित्त को पाकर संयम से हाथ धो बैठे थे, तो आधुनिक अल्पशक्ति के धारक साधुओ की कहा चली। मान भी लें कि अब भी किसी महा मनस्वी तीव्र तपस्वी पर पार्श्वस्थादि का संसर्ग कुछ भी असर नहीं कर सकता तथापि उनका लोकापवाद तो अवश्यभावी है। साधारण लोग समझने लगते हैं कि पार्श्वस्थादि संयम भ्रष्ट साधुओ का सङ्ग करने वाला यह साधु भी संयमहीन प्रतीत होता है, अन्यथा यह पार्श्वस्थादि के साथ सम्पर्क क्यों रखता।

कुत्सित आचरण वाले व्यक्ति का संसर्ग, उग्र तपस्वी निर्मल चारित्र के पालक मुनि को भी दोषी प्रसिद्ध करता है और दुर्जन के दोष का फल सज्जन को भोगना पडता है। जैसे किसी चोर के साथ सम्बन्ध रखने वाला साहूकार भी चोर के अपराध से दोषी माना जाता है। पुलिस चोरी के अभियोग मे साहूकार को गिरफ्तार कर लेती है। तथा असंयमी (भ्रष्ट संयमी) के साथ रहने से संयमी का भी चारित्र लुट जाता है। जैसे-किसी धनिक के साथ लुटेरो के द्वारा निर्धन मनुष्य भी लुट जाता है। जब मनुष्य दुश्चरित्र मनुष्यों के साथ रम जाता है, तब उसे सज्जन पुरुषों का साथ नहीं सुहाता है, जैसे पित्तज्वर के रोगी को मिश्री मिला दूध भी कडुवा लगता है। इसलिए दुर्जनों का सङ्ग कदापि मत करो। सदा सत्पुरुषो के सङ्ग मे ही रहो। देखो सत्पुरुषों के सङ्ग में रहने वाला दुर्जन भी पूजा जाता है, प्रतिष्ठा पाता है। जैसे कि पुष्प माला मे पिरोया हुआ सूत का डोरा भी बड़े २ राजा महाराजाओं और देवी देवताओं के गले मे शोभा आदर पाता है।

यद्यपि तुम संसार के दुःखों से भयभीत हो और संयम के पालन मे रत हो, तथापि तुम को अपने संवेग व संयम गुण की वृद्धि करने के लिए संविग्न और संयमी मुनिराजो के साथ ही रहना चाहिए। देखो, सङ्घ की शोभा साधु संख्या से नहीं होती, किन्तु सच्चारित्र से होती है। इसलिए लाखो पासत्थादि (पार्श्वस्थादि) चारित्र शून्य साधुओ की अपेक्षा एक सुशील मुनि अति श्रेष्ठ है। क्योंकि कुशील, संयम-हीन, शिथिलाचारी साधुओ के आश्रय से दर्शन शीलादि का ह्रास होता है और सुशील साधु के निमित्त से सङ्घ मे शील, दर्शन, ज्ञान और चारित्र की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। अतः उत्तम शील व संयम के धारक मुनि का ही आश्रय करो। देखो, कडुवी तूम्बी मे रखा हुआ मिश्री

मिश्रित दुग्ध भी कडुवा हो जाता है । और इक्षुकी जड़ में सींचा गया खारा जल भी मिष्ट हो जाता है,क्योंकि वस्तु को जैसा आश्रय मिलता है वह वैसी ही परिणत होती है । अत. तुम भी सत्पुरुषों की ही सङ्गति करो ।

तुमको सदा हित, मित व प्रिय वचन ही बोलना उचित है । कभी किसी के प्रति अप्रिय तथा अहितकर वचन उच्चारण मत करो । किन्तु ऐसा प्रिय वचन भी न कहो जिससे दूसरे की अवनति या दुर्गुणों की वृद्धि की सम्भावना हो । यदि किसी के हित के लिए अप्रिय वचन बोलना आवश्यक हो तो उसकी उपेक्षा न करो । जीर्ण ज्वर से पीडित रोगी के लिए कटुक औषधि ही पथ्य (हितकर) होती है वैसे ही तुम्हारा कटु भाषण भी उसके दुर्गुण का नाश करने वाला होगा । अतः दूसरे के उपकार की ओर भी तुम्हारा ध्यान रहना चाहिए ।

परम भट्टारक देवाधिदेव तीर्थंकर भी भव्य प्राणियो के कल्याण के लिए धर्मविहार करते हैं। उन्होने दूसरों के दुःखोद्धार करने की उत्कट भावना से ही तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया है। स्वपर के आध्यात्मिकोत्थान के लिए कमर कसे रहना महान् पुरुषो का परम कर्त्तव्य है और परोपकार ही महत्ता का लक्षण है । किसी ने कहा है—

"क्षुद्राःसन्ति सहस्रशः स्वभरणव्यापारमात्रोद्यताः ।
स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणीः ॥
दुष्पूरोदरपूरणाय पिबति स्रोतःपतिं वाड़वो ।
जीमूतस्तु निदाघसंभृतजगत्संतापविच्छित्तये ॥ १ ॥"

अर्थ—ऐसे क्षुद्र प्राणी इस ससार मे हजारों हैं, जो अपने भरण पोषणादि (स्वार्थ सिद्धि) करने मात्र मे तत्पर हैं । किन्तु जो परार्थ को ही स्वार्थ मानते हैं, ऐसे सत्पुरुषों मे अग्रणी (अग्रेसर) पुरुष पुगव एक आध ही होते हैं । वे ही धन्य हैं । वड़वानल अपने विशाल उदर को भरने के लिए सर्वदा समुद्र का जल पीता है । वह क्षुद्र मानव के समान स्वार्थ परायण है । परन्तु मेघ ग्रीष्म काल के सताप से पीडित समस्त ससार के प्राणियों के सताप को मिटाने के लिए ही समुद्र के जल को पीता है । वह जगत् मे महान् माना जाता है और उसकी ओर समस्त ससार की आशा भरी दृष्टि लगी रहती है, तथा उसके दर्शन मात्र से जगत के जन्तु आनन्द का अनुभव करते हैं । इसलिए हे मुनियो ! तुम्हें सदा स्वपर कल्याण की ओर ध्यान देना चाहिए ।

तुम्हारा सब आचरण व कर्त्तव्य ही ऐसा होना चाहिए जिसका निर्दोष पालन करने से जगत् के प्राणियो का स्वतः उपकार हो

जाता हो। तुम्हारे परम वीतरागता का उद्योत करने वाले दिगम्बर भेप के दर्शन मात्र से जीवो के अन्तःकरण मे धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। तुम्हारे इन्द्रिय सयम की पराकाष्ठा लोगो को सयम का पाठ सिखाती है। तथा तुम्हारा प्राणी संयम (छह कायके जीवो की रक्षा का व्रत) अखिल विश्व के छोटे वडे सब जीवो को अभयदान देता है तथा तुम पर अटूट श्रद्धा और भक्ति का सञ्चार कराता है। तुम्हारा दिगम्बर शुद्ध स्वरूप ही सब प्राणियों के प्रतीति का कारण है। तुमने जो अहिंसादि व्रत धारण कर रक्खे हैं उनके कारण तुम्हारे आत्मा मे निरन्तर अति निर्मल विचार धारा बहा करती है। दया क्षमा निर्लोभता की पराकाष्ठा तुम मे ही नजर आती है। इसलिए तुम अपनी पदमर्यादा को कभी मत भूलो।

यदि तुम मे भी सयोगवश कोई शैथिल्य आजावे या तुम्हारे व्रतादि मे कोई त्रुटि दिखाई दे और गुरु आदि तुमको कटु कठोर शब्दो से सन्मार्ग मे प्रवृत्त करने के लिए उद्यत हों तो तुम्हें उनका उपकार मानकर कृतज्ञ होना चाहिए। गुरु आदि ने अपने कल्याण के कार्य स्वाध्याय ध्यानादि मे विघ्न करके जो मेरे हित की कामना से यह शिक्षा दी है, यह उनका महान् अनुग्रह है, बडा भारी उपकार है शिक्षा को शिरोधार्य करना मेरा परम कर्त्तव्य है-इत्यादि सोचकर तुम्हे परिणाम मे हितकर कटु कठोर भाषण का उत्तम औषधि के समान आदर करना उचित है।

हे साधुवर्ग! तुम आत्म-प्रशसा कभी मत करो। जो अपने मुँह से अपनी प्रशसा करता है, वह अपने यश का नाश करता है। वह सत्पुरुषों की गोष्ठी मे तृण के समान लघु (हल्का) माना जाता है। उसका यश नष्ट होता है। जैसे खटाई से दूध फट जाता है, वैसे ही आत्म-प्रशंसा से यश, अपयश का स्थान ग्रहण कर लेता है।

जो अपनी आप प्रशसा करता है उसके गुणों मे लोगो को सन्देह होने लगता है। कस्तूरी की सुगन्ध वचन से प्रकट नहीं की जाती है। वह तो स्वय फैलकर अपना स्वरूप व गुण प्रकट कर देती है। यदि कस्तूरी का व्यापारी अपनी कस्तूरी की सुगन्ध की प्रशसा का पुल बाधने लगता है तो लोगो को उसकी कस्तूरी मे सन्देह पैदा हो जाता है कि इसकी कस्तूरी नकली मालूम देती है। कोई नपुसक जैसे स्त्री का भेप धारण कर स्त्री के समान हाव भाव करता है, किन्तु वह स्त्री नहीं हो पाता है।

गुणवान् सत्पुरुष का स्वभाव होता है कि कोई गुणग्राही सज्जन उसके गुण की प्रशंसा करने लगता है तो उसका मुख नीचे झुक जाता है। वह अपने गुणो का वर्णन अपने मुख से कैसे कर सकता है? जो अपने गुण की स्वय प्रशसा नहीं करता है और अपने कार्य द्वारा गुण प्रकाशित करता है वह ससार मे भूरि भूरि प्रशसा का पात्र होता है। विद्वानो ने कहा है :—

"यदि संति गुणास्तस्य निकषे सन्ति ते स्वयम् ।
न हि कस्तूरिकागन्धः शपथेन विभाव्यते ॥ १ ॥"

अर्थ—किसी व्यक्ति मे यदि गुण विद्यमान हैं तो गुणग्राही मनुष्यो के परीक्षा रूपी कसौटी पर कसे जाने से वे स्वयं ही प्रगट हो जाते हैं। क्योकि कस्तूरी की गन्ध सौगन्ध खाने से नहीं मानी जाती, किन्तु वह स्वय प्रकाश मे आजाती है।

अपने गुणो का वचन द्वारा कथन करना तो उनका नाश करना है और गुणो के अनुकूल प्रवृत्ति करना ही उनको प्रकाशित करना है। इसलिए हे मुनियो ! तुम कभी अपने मुह से अपने गुणों का कीर्तन न करो। तुम्हारा सदाचार मे प्रवर्त्तन ही तुम्हारे गुणो को प्रकाशित करने वाली दुन्दुभि है। यदि गुणहीन पुरुष तुम्हारे गुण को न समझ पावें तो कोई हानि नहीं है। उनके सामने तुम अपने गुणों का कीर्तन करने पर भी महत्ता नहीं पा सकते, क्योकि वे तुम्हारे गुणो का महत्त्व ही नहीं समझते हैं। और गुणवानो व गुणज्ञो के मध्य मे तुम्हारे गुण विना कहे ही प्रगट हो जावेंगे। अत. किसी भी जगह अपने गुण वचन द्वारा कभी प्रगट मत करो। वचन से अपने गुण प्रगट करने वाला महत्त्व न पाकर लघुता ही पाता है। कहा है :—

निर्गुणो गुणिनां मध्ये ब्रुवाणः स्वगुणं नरः ।
सगुणोऽप्यस्ति वाक्येन निर्गुणानामिव ब्रुवन् ॥ १ ॥

अर्थ—गुणवान मनुष्य भी जैसे गुणहीन मनुष्यो में वचन द्वारा अपने गुणो का वर्णन करता हुआ अनादर पाता है, वैसे ही गुणहीन मनुष्य गुणवानो मे अपने गुण का बखान करके अपमान पाता है।

इसका आशय यह है कि गुणवान मनुष्य को अपनी प्रशसा अपने आप कभी नहीं करना चाहिए। अपने मुह से अपनी प्रशसा करने वाले की महिमा घटती है और निरादर होता है।

हे मुनियो ! तुम अपने सङ्घ के अथवा पर सङ्घ के किसी मुनि की निन्दा मत करो। क्योंकि परनिन्दा संसार वृक्ष को विस्तृत करने मे जल के समान है। इस प्रकार परनिन्दा परभव में दुःख उत्पन्न करने वाली है। तथा परनिन्दा से इस भव मे अनेक प्रकार के शारीरिक कष्ट भोगने पडते हैं। वैर उत्पन्न होता है। दुःख व शोक होता है। परनिन्दा करने वाले को सदा भय बना रहता है उसकी लोक मे लघुता (हलकापन) प्रगट होती है, तथा सज्जन पुरुषो का अप्रिय बन जाता है।

प्राय' मनुष्य अपने को अच्छा प्रगट करने के लिए दूसरों की निन्दा करता है। किन्तु उसकी यह निन्द्य प्रवृत्ति निवान्त मूर्खता को प्र॰ट करती है। क्या कोई रोगी दूसरे को कड़ुवी औषधि पिलाकर उस रोग से मुक्त हो सकता है। जो पर निन्दा करके अपने गुण का प्रकाश करने की चेष्टा करता है, वह मनुष्य अपने को उज्ज्वल बनाने की इच्छा से अपने शरीर के चारों तरफ कज्जल की वृष्टि करता है। अर्थात् जैसे कज्जल को चारो ओर उडाने वाला स्वय अछूता नहीं बचता है, उसी प्रकार दूसरो की निन्दा करने वाला स्वय निन्दा का पात्र होता है। तुम सत्पुरुप हो। सत्पुरुप उसे कहते हैं, जो सत्पुरुप का लक्षण धारण करे। शास्त्र कारो ने बताया है कि :—

"अप्पो वि परस्स गुणो सप्पुरिसं पप्प बहुदरो होदि।
उदए व तेल्लविंदू किह सो जंपिहिदि परदोसं ॥"

अर्थ—परकीय स्वल्प गुण भी सत्पुरुप को पाकर विशाल रूप धारण कर लेता है। जैसे जल मे गिरी हुई तैल की बूद विशाल काय हो जाती है। अर्थात् जैसे जल के सम्बन्ध को प्राप्त हुई तैल की बूद को जल चारो ओर विस्तृत कर देता है वैसे ही सत्पुरुष छोटे से परकीय गुण की प्रशंसा करके उसे महान् बना देता है।

अतएव हे मुनियो! तुम सदा ऐसा प्रयत्न करो, जिसके कारण ससार के समस्त विवेकी मनुष्य तुम्हें धन्य धन्य कहें और मुक्त कण्ठ से कहने लगें कि ये मुनि अखण्ड ब्रह्मचर्य के धारक हैं। ये प्रकाण्ड विद्वान् अनेक शास्त्रो के वेत्ता हैं, स्वमत और पर मतों के रहस्य के ज्ञाता हैं। ये किसी भी प्राणी को लेशमात्र दु,ख नहीं देते हैं। इनका अनुपम चारित्र गङ्गा नदी के जल के समान निर्मल है। ये अपने गुणों का पूर्ण पालन करते हैं। धन्य है, इन महात्माओ को जो ससारी प्राणियो को अपना आदर्श स्वरूप दिखाकर धर्म मे जागृति उत्पन्न कर रहे हैं। इस प्रकार का तुम्हारा धवलयश ससार मे फैल कर धर्म प्राण जनता को सन्मार्ग मे प्रवृत्ति कराने वाला सिद्ध होता है। यही जैन धर्म की उत्तम से उत्तम प्रभावना है। तथा तुम्हारे आत्म कल्याण का मुख्य उपाय है।

इस प्रकार पूर्व आचार्य ने सङ्घ के नवीन आचार्य और सम्पूर्ण मुनिराजों को उपदेश दिया।

इस उपदेश को सुनकर सम्पूर्ण सङ्घ के मुनि समूह ने एक स्वर से कहा—हे स्वामिन् आपके इस मङ्गलमय उपदेश का हम सब हृदय से स्वागत करते हैं। यह अमृतमय कल्याण करने वाली शिक्षा हृदय पटल पर जीवन भर अङ्कित रहेगी तथा मोक्ष मार्ग की यात्रा मे दीपक का काम करेगी। इस प्रकार कहकर आत्म हित करने के लिए समस्त सङ्घ से पृथक् होने वाले गुरुदेव के गुणों का स्मरण करके भक्ति से आर्द्रचित्त होकर सम्पूर्ण साधुओ के नेत्रो से आनन्दाश्रु की धारा बहने लगती है और हाथ जोड़कर गुरुदेव के सम्मुख खड़े होकर प्रार्थना

करते हैं—

हे भगवन् ! आपके उपकार का वर्णन करने के लिए हमारे शब्द कोश मे कोई शब्द नहीं है। हम इसे कभी नहीं भूल सकते। अमुक कार्य करो, अमुक कार्य मत करो, ऐसी शिक्षा देकर आपने हमको सत्पथ पर लगाया है। ऐसी शिक्षा भाग्यवान् पुरुष ही पाता है। जिसने पूर्व भव मे तपस्या की है, उसे ही आप समान गुरुदेव का शरण मिलती है। हम जगत् मे परम धन्य है जिन्हें ऐसा लोह पारस का सा सम्बन्ध उपलब्ध हुआ है। लोह समान अधम हमारे आत्मा ने पारस मणि समान आपके सयोग को पाकर सुवर्णवत् उत्तम बनने की योग्यता प्राप्त की है। आपने ससार सागर के अगाध पापमय जल मे डूबते हुए हमको हस्तावलम्बन देकर उबारा है।

हे प्रभो ! हमने अज्ञान से, प्रमाद से अथवा राग द्वेषादि विकारों के आवेश मे आकर जो आपकी आज्ञा का लोप किया हो, परिणाम मे हितावह आपके आदेश की अवहेलना कर जो प्रतिकूल प्रवृत्ति की हो, उन सब अपराधो की हम हाथ जोड़ कर क्षमा याचना करते हैं।

हे स्वामिन् ! आपने हम हृदय हीनो को सहृदय बनाया है। आपके सदुपदेश ने हमारे अन्त.करण मे विवेक सूर्य का उदय किया है। जिससे हम आत्म-हित व अहित को समझने लगे हैं। आपने हमको शास्त्रो का अध्ययन करवाकर सकर्ण और सनेत्र बनाया है। अर्थात् शास्त्रों को पढाकर ज्ञान सूर्य का प्रकाश कर कर्ण और नेत्रो को सफल बनाया है। तथा मोक्ष मार्ग मे चलाकर और जीव रक्षा की निमित्त भूत प्रतिलेखादि क्रियाओ मे प्रवृत्ति करवाकर हमारे चरण और हस्त को कृतार्थ किया है। इस प्रकार मनुष्य जीवन को सफल करने वाले सन्मार्ग (मोक्षमार्ग) मे लगाकर आपने हमको कृतार्थ किया है।

हे भगवन् ! आप सम्पूर्ण विश्व के प्राणियो के हित कर्त्ता हैं। आप ज्ञान और तप मे महान है। आप समस्त जगत् के जीवो के स्वामी है। आप अब प्रवास करने वाले हैं, अथवा सन्यास मरण को अङ्गीकार करने वाले हैं। अत. हमको सब देश शून्य दिखाई दे रहे हैं तथा सब क्षेत्र अन्धकार मय प्रतीत हो रहे हैं। हे स्वामिन् ! आप शील से मण्डित और गुणो से भूषित है और ज्ञान के भण्डार हैं। आप सब जीवो को दु ख से छुड़ाकर सुख प्रदान करने वाले हैं। अब आप प्रवास करने वाले अथवा समाधिमरण धारण करने वाले हैं। ऐसे समय मे हमको सब देश शरण हीन प्रतीत हो रहे हैं।

इस प्रकार वियोग पीडित साधुओं के हृदय द्रावक करुणार्द्र वचन को सुनकर वस्तु स्वरूप के ज्ञाता आचार्य समस्त को सान्त्वना देकर आत्महित कारक रत्नत्रय मे अतिशय प्रवृत्ति करने मे उद्युत हुए आराधना के लिए परसङ्घ मे गमन करने की अभिलाषा करते हैं।

शङ्का—सङ्घ के आचार्य सन्यास ग्रहण करने के लिए पर सङ्घ मे क्यो जाते हैं, अपने सङ्घ मे ही क्यो नहीं रहते है ?

समाधान—यदि आचार्य अपने सङ्घ मे रहकर ही सन्यास ग्रहण करें तो आज्ञा-भङ्ग, कठोर भाषण, कलह, विषाद, खेद, निर्भयता, स्नेह, करुणा, और ध्यान-विघ्न आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। वह इस तरह है :—

यदि आचार्य सङ्घ मे रहें और वृद्ध साधु अयश जनक कार्य कर बैठें तथा गृहस्थ की ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक क्षुल्लक कलह करने मे प्रवृत्त हो जाय तथा समाधि मरण की विधि के अज्ञाता शिष्य मुनि तीक्ष्ण स्वभाव वाले हो और आचार्य की आज्ञा का उल्लघन करने लग जावें तो आचार्य के चित मे अत्यन्त क्षोभ उत्पन्न हो सकता है।

शङ्का—परसङ्घ मे भी शिथिलाचारी वृद्ध मुनि, कलहकारी क्षुल्लक गृहस्थ तथा सन्यास विधि के अज्ञाता शिष्य साधु हो सकते हैं। वहा पर भी आचार्य के चित में क्षोभ उत्पन्न होने की सम्भावना बनी रह सकती है।

समाधान—परसङ्घ मे जाकर सन्यास मरण विधि का आचरण करने वाले आचार्य वहा के साधुओं को आज्ञा नहीं देते हैं। उन साधुओं को आज्ञा देने का कर्त्तव्य उस सङ्घ के आचार्य का है। इसलिए वहा आज्ञा-भङ्ग की सम्भावना नहीं है। यदि किसी समय आज्ञा करने का प्रसङ्ग उपस्थित होजावे और साधु या क्षुल्लक आज्ञा न माने तो आचार्य के चित मे क्षोभ नहीं होता है। आचार्य को उसी समय विचार होने लगता है कि मैंने इनपर कोई उपकार तो किया नहीं मेरे आदेश का पालन ये क्यो करने लगे? इस प्रकार चित मे समाधान हो जाता है।

स्थविर मुनि, कलह मे तत्पर क्षुल्लक गृहस्थ तथा मार्गानभिज्ञ शिष्य मुनि को संयम विरुद्ध आचरण करते हुए देखकर आचार्य, उनके प्रति कठोर शब्दो का प्रयोग करेंगे। और बहुत काल का परिचय होने से वे वृद्ध मुनि, क्षुल्लक व शिष्य साधु भी आचार्य के प्रति कठोर वचन उच्चारण करने लग जावें तो आचार्य के चित मे अत्यन्त अशान्ति उत्पन्न होने की पूर्ण सम्भावना रहती है। इसी प्रकार-वृद्ध साधु, क्षुल्लक गृहस्थ या छोटे२ साधुओं को परस्पर कलह शोक संतापादि उत्पन्न करते हुए देखकर आचार्य के चित में अशान्ति उत्पन्न हो सकती है। अथवा क्षुद्र या महान रोग या भयानक व्याधि से पीड़ित सङ्घ के शिष्यो को देखकर आचार्य के मन में मोह जन्य संताप उत्पन्न हो सकता है तथा उनपर स्नेह का प्रादुर्भाव होने से महान् दुःख उत्पन्न होने की सम्भावना बनी रहती है।

समाधिमरण मे तत्पर हुए आचार्य को क्षुधा पिपासा आदि की बाधा को शान्ति से सहन करना चाहिए। किन्तु वे अपने सङ्घ मे निर्भय हुए आहार जलादि की याचना करने लगेंगे। अथवा स्वत.आहारादि का सेवन करने लगेंगे। तथा परित्यक्त भोजन पान के पदार्थों का भी सेवन करने लगेंगे उस समय उनको निवारण करने मे कौन समर्थ होगा? अपने सङ्घ मे रहने से ऐसे अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। इसलिए आचार्य का अपने सङ्घ मे रहकर समाधि मरण का साधन करना आगम में निषेध किया गया है।

जिनका आचार्य ने बाल्यावस्था से पालन किया है ऐसे बाल मुनियों को, वृद्ध मुनियो को और अनाथ आर्यिकाओं को देखकर अब इनसे मेरा अत्यन्त वियोग होगा, ऐसा विचार होने से आचार्य के मनमे स्नेह का आविर्भाव हो सकता है। तथा समाधि मरण के लिए उद्यमशील आचार्य को देखकर छोटे २ बाल मुनि, ब्रह्मचारी, क्षुल्लक, आर्यिका आदि वियोग जन्य दुःख से आर्त्तनाद करने लगते हैं। उनकी दुःख भरी रोने की ध्वनि को सुनकर और नेत्रो से बहती हुई अविरल अश्रुधारा को देखकर आचार्य के अन्तःकरण में कारुण्य का उदय हो आता है और उससे उनके धर्म्यध्यान या शुक्लध्यान के स्थान में आर्त्तध्यान उत्पन्न हो सकता है।

उपर्युक्त सब दोष अपने सघ मे रहकर समाधिमरण की साधना करनेवाले आचार्य को ही नहीं होते हैं,बल्कि जो आचार्य समान उपाध्याय और प्रवर्त्तक मुनि होते हैं, उनके आत्मा मे भी इन दोषो की सम्भावना रहती है। अतएव इन दोषो से बचने के लिए आचार्यादि समाधि मरण का साधन करने के लिए परसघ मे प्रवेश करते हैं।

समाधि मरण की साधना के लिए आये हुए आचार्यादि को देखकर परसघ के आचार्य व अन्य साधुवर्ग के मनमें उत्कट आल्हाद उत्पन्न होता है। हमारा अहोभाग्य है जो हम पर प्रेम व अनुग्रह करके अपने सघ का परित्याग कर ये महाभाग हमारे सघ में पधारे हैं, ऐसे प्रेम से पूरित चित्त परसघ स्थित मुनिराज आगन्तुक की सेवा करने के लिए तत्परता दिखाते हैं और दत्तचित्त होकर आगन्तुक की परिचर्या करते हैं।

जो आगन्तुक आचार्यादि साधु के समाधिमरण की व्यवस्था करने वाला निर्यापकाचार्य होता है वह शास्त्र का वेत्ता और शुद्ध चारित्र का पालन करने वाला होना चाहिए। तथा उसका प्रधान कर्त्तव्य होता है कि वह आगन्तुक क्षपक (साधु) का पूर्ण आदर-सत्कार करे।

निर्यापकाचार्य आगम का वेत्ता, ससार से भयभीत, पाप कर्मों से डरने वाला, चारित्र का सुचारुता से पालन करने वाला और सन्यास विधि की व्यवस्था करने में निपुण होता है। ऐसे आचार्य के पाद मूल मे समाधि मरण का साधक साधु रहकर अपनी आराधना की सिद्धि करता है। जिसमे उक्त गुण नहीं हैं,वह निर्यापकाचार्य होने योग्य नहीं माना गया है इसलिए समाधिमरण की सिद्धि के अभिलाषी को अपनी अपूर्व आराधना को सफल करने के लिए निर्यापकाचार्य के स्वभाव गुण आदि की परीक्षा करके उसकी शरण ग्रहण करना उचित है।

निर्यापकाचार्य के अन्वेषण का क्रम

प्रश्न—समाधिमरण का अभिलाषी यति निर्यापकाचार्य का अन्वेषण करता है, उसका समय प्रमाण क्या है ? तथा जिस विधि से अन्वेषण करता है, वह विधिक्रम क्या है ?

उत्तर—समाधिमरण का आकांक्षी आचार्य अथवा अन्य साधु समाधिमरण की साधना के लिए निर्यापकाचार्य का अन्वेपण (तलाश) एक वर्ष, दो वर्ष, तीन वर्ष, अधिक से अधिक बारह वर्ष तक करता है। आगम मे उसका क्रम विधान निरूपण किया गया है। भगवती आराधना मे कहा है—

एकं व दो व तिण्णि य बारसवरिसाणि व अयरिसंतो।
जिणवयणमणुण्णादं गवेसदि समाधिकामो दु ॥ ४०२ ॥ भग. आ.

अर्थ—समाधिमरण की कामना करने वाला साधु या आचार्य जिनागम के रहस्य के वेत्ता निर्यापकाचार्य की गवेषणा (तलाश) करता है। उसका काल एक वर्ष दो वर्ष तीन वर्ष उत्कृष्ट बारह वर्ष पर्यन्त कहा गया है। अर्थात् निर्यापकाचार्य की तलाश करने मे साधु खेद रहित होकर बारह वर्ष तक भ्रमण कर सकता है।

भावार्थ—आचारवान आदि गुणों से मण्डित आचार्य ही निर्यापकाचार्य समाधिमरण की साधना करवाने मे समर्थ हो सकते हैं। उनको ढूढने के लिए साधु सातसौ योजन पर्यन्त अथवा इससे भी अधिक दूर क्षेत्र मे विहार करता है। इस विहार काल का परिमाण बारह वर्ष तक का हो सकता है। निर्यापकाचार्य को ढूढने मे साधु बारह वर्ष तक व्यतीत कर सकता है।

प्रश्न—निर्यापकाचार्य की गवेषणा करने के लिये विहार करने वाले साधु का क्रम विधान क्या है? किस विधि से वह साधु निर्यापकाचार्य का अन्वेपण करता है?

उत्तर—निर्यापकाचार्य के अन्वेपण करने के लिए विहार करने वाले की विधि पांच प्रकार की है। १ एक रात्रि प्रतिमा कुशल, २ स्वाध्याय कुशल, ३ प्रश्न कुशल ४ स्थंडिलशायी और ५ आसक्ति रहित ये पाच विधिया हैं।

प्रश्न—एक रात्रि प्रतिमा कुशल किसे कहते हैं?

उत्तर—निर्यापकाचार्य की तलाश मे निकलने वाला साधु तीन उपवास करता है और चतुर्थ रात्रि मे ग्राम या नगरादि के बाहर प्रदेश मे अथवा श्मशान मे पूर्व दिशा या उत्तर दिशा मे अथवा जिधर जिन प्रतिमा हो उधर मुह करके दोनो पावो के मध्य चार अगुल का अन्तर रखकर खडा हुआ नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि को निश्चल करके शरीर से ममत्व का परित्याग करता है। अर्थात् चित्त को स्थिर कर कायोत्सर्ग करता है। मनुष्य तिर्यंच देव तथा अचेतन द्वारा किये गये उपसर्ग का शान्ति से सहन करता है। सूर्योदय तक वह मुनि भय से उस स्थान को छोड कर न तो आगे पीछे होता है और न नीचे गिरता है। यह एक रात्रि की प्रतिमा है। इसमे जो कुशल होता है उसे

उसको एक रात्रि प्रतिमा कुशल कहते हैं।

प्रश्न—स्वाध्याय-कुशल किसे कहते है ?

उत्तर—जो साधु स्वाध्याय करके दो कोश चलकर जिस क्षेत्र में आहार मिलने की योग्यता हो ऐसे क्षेत्र की वसतिका में जाकर ठहरता है अथवा यदि मार्ग अधिक हो तो सूत्र पौरुपी या अर्थ पौरुपी के समय मङ्गल करके आगे भोजन के लिए विहार करता है उस साधु को स्वाध्याय कुशल कहते हैं।

प्रश्न—प्रश्न-कुशल किसे कहते हैं ?

उत्तर—माग मे पडने वाले स्थानो मे विहार करते हुए मुनियों, आर्यिकाओ, बाल वृद्ध युवक श्रावकों को पूछता हुआ साधु निर्यापकाचार्य का अन्वेपण करता है। उसे प्रश्न कुशल- कहते हैं।

प्रश्न—स्थडिलशायी किसे कहते हैं-?

उत्तर—जहा भिक्षा भोजन उपलब्ध हुआ वहा काय शोधन के लिए (मलादि का त्याग करने के लिए) स्थंडिलभूमि (प्रासुक स्थान) का अन्वेपण करता है, रात्रि को स्थडिल भूमि पर सोता है उसे स्थडिलशायी कहते हैं।

प्रश्न—आसक्ति रहित किसको कहते हैं।

उत्तर—जो साधु निर्यापकाचार्य का अन्वेपण करने को निकला है, वह किसी देश, नगर, मनुष्य या भोजनादि मे आसक्ति रहित होकर विहार करता हुआ अपने सभोग के योग्य साधुओं के साथ मे मिलकर विहार करता है। अथवा एक दो साधु को अपने साथ मिलाकर विहार करता है उमे आसक्ति रहित कहते हैं।

प्रश्न—समाधिमरण करने की अभिलापा से कोई साधु या आचार्य विहार कर रहा है और अकस्मात् वाणीभङ्ग हो जावे, अर्थात् मूकावस्था प्राप्त होजावे या मृत्यु को प्राप्त होजावे तो क्या वह आराधक माना जाता है ?

उत्तर—उसका उद्देश यह था कि गुरु या आचार्य के निकट जाकर अपने सम्पूर्ण दोपो की आलोचना करूगा, इस अभिप्राय से निकले हुए साधु विहार करते हुए गूगे होजावें या मृत्यु को प्राप्त होजावे तो वे आराधक ही माने गये हैं।

स. प्र.

पू. कि ५

शङ्का—जिन्होंने गुरु के समीप आलोचना नहीं की है तथा गुरु प्रदत्त प्रायश्चित का भी आचरण नही किया है वे साधु या आचार्य आराधक कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—अपराध करके जो साधु आलोचना नहीं करता है, वह मायावी होता है और जिसके हृदय में माया शल्य रहती है, उसके रत्नत्रय की निर्मलता नहीं होती है। ऐसा सोचकर जिन्होंने अपने अन्त. करण मे शल्य का उद्धार करने का निश्चय किया है, जिनके चित्त मे दु.ख से परिपूर्ण ससार से भय उत्पन्न हुआ है, यह शरीर अपवित्र विनश्वर नि.सार और सदा दुःख देने वाला है, तथा इन्द्रिय सुख आपात (प्रारम्भ मे) रमणीय अतृप्ति जनक और तृष्णा को बढाने वाला है ऐसा विचार कर जो शरीर और इन्द्रिय सुख से विरक्त हुए हैं; जिनके मनमे सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र मे अतिउत्कृष्ट श्रद्धा उत्पन्न हुई है तथा जो अपराध निवेदन करने के लिए गुरु के निकट जा रहे हैं ऐसे साधु या आचार्य के, वचन शक्ति का विनाश मार्ग मे ही होजावे या मरण को प्राप्त होजावे तो वे आलोचना किये बिना भी, आलोचना करने के निर्मल भाव होने के कारण रत्नत्रय के आराधक माने गये हैं।

गुरु का अन्वेपण करने के लिए आये हुए साधु या आचार्य को देखकर निर्यापकाचार्य सघ के साधु आदि का क्या कर्त्तव्य कर्म होता है, इसे दिखाते हैं।

आएसं एज्जंतं अब्भुट्ठिंति सहसा हु दट्ठूणं।
आणा संगह वच्छलदाए चरणे य णादुं च ॥ ४१० ॥ भग. आ)

अर्थ—निर्यापकाचार्य सघ के साधु, अतिथि साधु को आते हुए देखकर शीघ्र खड़े होजाते हैं। खडे होजाने से जिनाज्ञा का पालन होता है। आगत अतिथि का स्वागत व सग्रह होता है। वात्सल्य प्रदर्शन होता है। और आगत अतिथि के आचार व्यवहार का ज्ञान होता है।

सघ स्थित मुनि और आगन्तुक मुनि एक दूसरे की प्रतिलेखनादि क्रियाओं की परीक्षा करते हैं। कारण कि आचार्यों के आम्नाय व उपदेश भिन्न भिन्न होते हैं। इसलिए उनके आचार मे भेद पाया जाता है। अतएव एक दूसरे की प्रतिलेखनादि आवश्यक क्रियाओ का आचरण देखते हैं। गुप्ति और समिति का पालन सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करते हैं।

आशय यह है कि अपने सघ को छोड़कर जो साधु अपने चारित्र को उज्ज्वल करने आया है, वह भी सघ के मुनियो के स्वभाव, उनके सयम पालन व आवश्यक क्रियाओ के आचरणादि की परीक्षा करता है। तथा सघ के साधु भी आगन्तुक के स्वभाव उसके इन्द्रिय विजय रूप संयम और प्राणियों की रक्षा रूप सयम का निरीक्षण करते हैं। यह साधु प्रतिलेखनादि क्रियाओं मे किस प्रकार जीव रक्षा

पर ध्यान देता है तथा इसने इन्द्रियो के विषयो पर कितना विजय प्राप्त किया है तथा यह सामायिकादि आवश्यक क्रियाओ का यथा समय प्रमाद रहित होकर आचरण करता है या नहीं ? मन वचन काय की चचलता को रोकने की इसकी। शक्ति कैसो है ? इसका गमन, भाषण, भोजनादि आगम के अनुकूल है या नहीं ? इत्यादि बातों की परीक्षा करते हैं। शास्त्रों में कहा है :—

वास्तव्यागन्तुकाः सम्यग्विविधैः प्रतिलेखनैः ।
क्रियाचारित्रबोधाय परीक्षन्ते परस्परम् ॥ ४२२ ॥
आवासयठागादिसु पडिलेहणवयणगहणणिक्खेवे ।
सज्झाए य विहारे भिक्खग्गहणे परिच्छंति ॥ ४१२ ॥ (भग. आ)

अर्थात्—उस संघ मे निवास करने वाले व आगन्तुक मुनि परस्पर आचरण मे आने वाली क्रिया व चारित्र का पालन कैसा है इसकी परीक्षा करते हैं। एव आवास, स्थान, प्रतिलेखन, वचन, ग्रहण, निक्षेप, स्वाध्याय, विहार और भिक्षा ग्रहण की भी जाच करती है।

अवश्य कर्त्तव्य को आवश्यक कहते हैं। अर्थात सवर और निर्जरा के अभिलाषी साधु सामायिक प्रतिक्रमणादि क्रियाओ का अवश्य आचरण करते हैं। अत. उनको आवश्यक कहते हैं। उसका पालन समय पर और विधिपूर्वक करते हैं या नहीं करते ? इसका परस्पर परीक्षण करते हैं। मन वचन काय की शुद्धि पूर्वक दो नमस्कार बारह आवर्त्त तथा प्रत्येक दिशा की ओर एक एक नमस्कार करने से ४ नमस्कार करना इत्यादि क्रियाओ का पालन ठीक २ रीति से करते हैं, या नहीं ? इसका सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करते हैं। नेत्रों से उपकरणों का शोधन कर पिच्छी से मार्जन करना, देख शोध कर व पिच्छिका से मार्जन कर उपकरणादि को उठाना व रखना, हितमित प्रिय वचन बोलना, नेत्रो से चार हाथ भूमि देखकर गमन करना, निर्दोष भिक्षा का ग्रहण करना इत्यादि क्रियाओं मे संघ मे रहने वाले मुनि और आगन्तुक मुनि परस्पर परीक्षा करते हैं। योग्य काल मे और विधि पूर्वक सामायिकादि कर्त्तव्यो का पालन करते हैं या नहीं ? केवल द्रव्य सामायिक मे ही प्रवृत्ति करते हैं या भाव सामायिकादि मे भी प्रवृत्त होते हैं ? मुख से केवल सामायिकादि आवश्यक का पाठ (उच्चारण) करना तथा काय द्वारा सामायिकादि क्रिया करना, यह द्रव्य सामायिकादि कहे जाते हैं ? अशुभ मन वचन काय-योग का त्याग करना, तीर्थंकरो के गुणो तथा आचार्य उपाध्यायादि पूज्य पुरुषो के गुणो का स्मरण चिन्तन करना, अपने व्रत मे लगे हुए दोषों की गर्हा व निन्दा करना, त्याग करने योग्य पदार्थों का त्याग करना, शरीर से ममत्व का त्याग करना इत्यादि आवश्यको के पालन मे जो तल्लीनता दिखाई देती है उसे आवश्यक परिणति कहते हैं। इस आवश्यक परिणति की जाच परस्पर वास्तव्य और आगन्तुक साधु ध्यान पूर्वक करते हैं।

प्रतिलेखन परीक्षा

यह साधु, प्रतिलेखन क्रिया करने के पूर्व "यह प्रतिलेखन (पिच्छिका) योग्य है या नहीं ?" इस प्रकार देख भाल करता है या नहीं ? मृदु, लघु और सुकुमार प्रतिलेखन (पिच्छिका) से यत्नपूर्वक प्रमार्जन करता है या नहीं ? शीघ्र २ मार्जन करता हुआ दूर के जीवो को नीचे तो नहीं गिरा देता, उनको पीडा तो नहीं पहुँचाता या परस्पर विरोधी जीवों का सम्मिश्रण तो नहीं (सम्बन्ध) करता ? आहार करते हुए, आहार करने मे प्रवृत्ति करते हुए, अडो को लेकर निकलते हुए, अपने निवास स्थान मे बैठे हुए या मूर्छा को प्राप्त हुए जीवों का तो प्रमार्जन नहीं करता है ? अर्थात् पिच्छिका से उन्हें तितर वितर करके पीडा तो नहीं देता है ? इसकी जाच करते हैं।

वचन परीक्षा

यह साधु कठोर वचन, परनिन्दा और आत्म प्रशसा कारक वचन, आरम्भ व परिग्रह मे प्रवृत्ति कराने वाले वचन, मिथ्यात्व के पोषक वचन, मिथ्याज्ञान के उत्पादक वचन, असत्य वचन या गृहस्थों के उच्चारण करने योग्य वचन तो नहीं बोलता है ? जिसको उठाना या रखना हो उस वस्तु का तथा उनके आधार भूत स्थान का (दोनो का) प्रमार्जन करके उठाता या रखता है ? या बिना प्रमार्जन किये ही उठाता धरता है ? इन बातों का परीक्षण करते हैं।

स्वाध्याय परीक्षा

यह कालादि की अशुद्धि का परिहार करके स्वाध्याय काल मे ही सूत्र ग्रन्थों का स्वाध्याय करता है या अस्वाध्याय कालादि मे भी सूत्र ग्रन्थो का स्वाध्याय करता है ? अथवा ग्रन्थ का उच्चारण व अर्थ का व्याख्यान किस प्रकार करता है ? इत्यादि स्वाध्याय की जाच करते हैं।

मलमूत्र क्षपण परीक्षा

मल मूत्रादि के त्याग करने की जाच इस प्रकार करते है कि मुनि अपने निवास स्थान से दूर प्रदेश मे एक हाथ या इससे अधिक परिमाण युक्त जीव जन्तु रहित, जीवों के विलादि स वर्जित, समतल स्थडिल भूमि (जिसमे किसी का निषेध नहीं हो तथा जो मार्ग मे चलते हुए मनुष्यों की दृष्टि के अगोचर हो ऐसे,) पर मलमूत्र का त्याग करता है या इसके विपरीत स्थान मे करता है ? इस प्रकार सघ के मुनि आगन्तुक साधु की व आगन्तुक मुनि सघ के साधुओ की परस्पर परीक्षा करते हैं–जाच करते हैं।

सं प्र

भिक्षा परीक्षा

भिक्षा की परीक्षा इस प्रकार करते हैं-भ्रामरी करते समय अर्थात् गोचरी में निकला हुआ यह मुनि बिना परीक्षा किये शुद्ध अशुद्ध सब का ग्रहण करता है या नवकोटि से शुद्ध आगमोक्त भिक्षा करता है ?

प्रश्न—समाधिमरण की साधना के लिए आये हुए अतिथि मुनि को सघ के आचार्य अपने सघ में शामिल करते हैं या नहीं ?

उत्तर—आगन्तुक मुनि विनय पूर्वक सघ के आचार्य की वन्दना करके अपने उद्देश्य को प्रकट कर उनसे सघ में सम्मिलित करने की प्रार्थना करता है। तब आचार्य योग्य आचरण वाले उस साधु को तीन दिन तक ठहरने को स्थान देते हैं तथा चटाई आदि देकर सहायता करते हैं। किन्तु उसके साथ सभोग (साधु योग्य आचरण) का सम्बन्ध नहीं रखते हैं। तीन दिन पर्यन्त उसकी पूर्व कथित रीति से परीक्षा करने के लिए योग्य मुनियों को नियत करते हैं। वे मुनि आगत साधु की तीन दिन में आचरणादि की जाच करके आचार्य महाराज से निवेदन करते हैं। उनका वचन सुनकर यदि मुनि आश्रय देने योग्य नहीं होता है तो उसको सघाटक दान (सघ में सम्मिलित) नहीं करते हैं और वसतिका (ठहरने के लिए स्थान) और चटाई आदि की सहायता भी नहीं करते हैं।

आचारहीन साधु को आश्रय देने में हानि

प्रश्न— अयुक्त आचरणवाले आगत साधु को आश्रय देने में क्या हानि होती है ?

उत्तर—जो मुनि उद्गम, उत्पादना एव एषणा के दोषों को नहीं बचाता है, तथा अपने लगे हुए दोषों की आलोचना नहीं करता है ऐसे मुनि के साथ जो आचार्य रहता है अथवा अन्य मुनियों को उसके साथ रहने की आज्ञा व अनुमति प्रदान करता है, वह भी आगत मुनि के समान दोषी माना जाता है। अत· उस अयुक्त आचरण वाले आगन्तुक को सघ में स्थानादि नहीं देकर सघ से सर्वथा पृथक् कर देना ही उचित है। क्योंकि उसके ससर्ग से सघ के मुनियों में भी आचार हीनता अथवा आचार में शिथिलता आने की सम्भावना रहती है।

प्रश्न—योग्य आचार का पालक आगत साधु आचार्य की बिना परीक्षा किये ही सघ में सम्मिलित होता है कि वह भी आचार्य की परीक्षा करता है। यदि परीक्षा किये बिना ही सङ्घ में मिल जाता है तो उसके उत्तम कार्य (समाधिमरण) में विघ्न उपस्थित होने की भी पूर्ण सम्भावना बनी रहती है। यदि आचार्य की परीक्षा करके सङ्घ में सम्मिलित होता है तो उसे निर्यापकाचार्य के किन २ गुणों की परीक्षा करनी चाहिए, जिससे उसको इष्ट कार्य में सफलता मिले।

उत्तर—समाधिमरण को निर्विघ्न सम्पन्न करने के इच्छुक आगन्तुक मुनि को आचार्य के गुणो की परीक्षा अवश्य करनी चाहिए जिसमे निम्नोक्त आठ गुण विद्यमान हो वह निर्यापकाचार्य समाधिमरण कार्य का भले प्रकार सम्पादन करने मे शक्तिमान् हो सकता है। इन गुणों का वर्णन आचार्य के गुणों का वर्णन करते समय द्वितीय किरण मे कर आये है फिर भी प्रसङ्गवश यहां भी थोडा सा वर्णन किया जाता है।

निर्यापकाचार्य के गुण

१. आचारवान्, २. आधारवान्, ३. व्यवहारवान्, ४. प्रकारक, ५. आयापायदर्शनोद्यत, ६. उत्पीड़क, ७. अपरिस्रावी, ८. निर्वापक (सुखकारी) इन आठो गुणो से युक्त प्रसिद्ध कीर्ति आचार्य आगत अतिथि के मनोरथ को पूर्ण कर सकता है। भगवती आराधना मे यही कहा है :—

आयारवं च आधारवं च ववहारवं पकुव्वीय।
आयावायविदंसी तहेव उप्पीलगो चेव ॥ ४१७ ॥
अप्परिस्साई णिव्वावओ णिज्जावओ पहिदकित्ती।
णिज्जवणगुणोवेदो एरिसओ होदि आयरिओ ॥ ४१८ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—जो महात्मा आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान, प्रकर्त्ता, आयापायदर्शनोद्यत, उत्पीडक, अपरिस्रावी, निर्वापक इन आठ गुणो से भूषित होता है वह प्रख्यातकीर्त्ति आचार्य निर्यापक होता है। अर्थात् आचार्य के यह प्रधान आठ गुण हैं। वे जिसमे पूर्ण रूप से पाये जाते हैं, वह निर्यापकाचार्य आगन्तुक मुनि के समाधिमरण का निर्वाह करने मे समर्थ होता है।

आचारवान आचार्य का स्वरूप

प्रश्न—१ आचारवान् किसे कहते हैं ? उसका विशद विवेचन करके स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर—आचार्य का प्रथम गुण आचारवान् है, दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपआचार और वीर्याचार इन पाच प्रकार के आचार का जो स्वय पालन करते हैं तथा अन्य शिष्यो को पालन करवाते हैं, उन्हें आचारवान् कहते हैं।

इसका आशय यह है कि जो आचाराग ग्रन्थ के तथा उसके रहस्य के वेत्ता हैं और पाच प्रकार के आचार के पालन में स्वय

प्रवृत्ति करते हैं और दूसरे मुनियों को भी प्रवृत्ति कराते हैं, उन्हें आचारवान कहते हैं।

जीव अजीवादि तत्त्वो का निर्मल श्रद्धान रूप जो परिणाम है, उसे दर्शनाचार कहते हैं। पांच प्रकार के स्वाध्याय में दोष वर्जित प्रवृत्ति करने को ज्ञानाचार कहते हैं। हिंसादि से निवृत्ति रूप आत्म-परिणाम को चारित्राचार कहते हैं। चार प्रकार के आहार का त्याग करना, भूख से कम भोजन करना, दाता, गृह, आहार, वर्त्तन आदि की अटपटी प्रतिज्ञा लेना, रसों का त्याग करना, कायको कष्ट देना, एकान्त स्थान मे निवास करना इत्यादि तपस्या करने को तपआचार कहते हैं। तपश्चरण करने मे आत्मा की शक्ति को न छिपाना वीर्याचार कहलाता है। ये पाच प्रकार के आचार हैं।

शङ्का—विनय और आचार मे क्या भेद है? क्योकि सम्यग्दर्शनादि को निर्मल करना विनय है और उसी को आचार नाम से आपने कह दिया है।

समाधान—सम्यग्दर्शन ज्ञानादि को निर्मल करने के लिए जो यत्न किया जाता है वह तो विनय है और निर्मल किये गये सम्यग्दर्शनादि मे यथाशक्ति प्रवृत्ति करना आचार है। इस प्रकार विनय और आचार मे भेद है। शास्त्र मे कहा है :—

"दृग्धीवृत्ततपसां मुमुक्षोर्निर्मलीकृतौ।
यत्नो विनय आचारो वीर्याच्छुद्धेषु तेषु तु॥"

इसका तात्पर्य ऊपर आ गया है।

आचारवान् का अन्य प्रकार से विवेचन

दूसरी तरह भी आचारवत्व गुण का विवेचन निम्नोक्त प्रकार है—

दसविह ठिदिकप्पे वा हवेज्ज जो सुदिट्ठो सयायरिओ।
आयारवं खु एसो पवयणमादासु आउत्तो॥ ४२०॥ (भग. आ)

अर्थ—अचेलकतादि दश प्रकार का स्थिति कल्प है, उसमे जो उत्तमता से स्थिर है। तथा पाच समिति और तीन गुप्ति रूप अष्ट प्रवचन माता का पालक है, वह आचार्य आचारवान् गुण युक्त होता है।

स्थिति कल्प के दस भेद

प्रश्न—दश प्रकार के स्थिति कल्प में स्थिर रहने वाले आचार्य को आचारवान् कहा है। वह स्थिति कल्प कौन सा है ?

उत्तर—१ वस्त्रादि परिग्रह का त्याग करना अर्थात् नग्नपना धारण करना, २. उद्दिष्ट भोजनादि का त्याग, ३. शय्याघर के पिण्डका त्याग, ४. राजपिंड त्याग, ५. कृतिकर्म, ६. मूलोत्तर गुण परिपालन, ७ ज्येष्ठत्व ८. प्रतिक्रमण, ९ एक निवास और १०. पज्ज पर्या अर्थात् वर्षा काल मे चातुर्मासिक निवास। इस प्रकार स्थिति कल्प के दश भेद आगम मे कहे गये हैं। इनका वर्णन निम्न प्रकार जानना चाहिए।

नग्नत्व स्थिति कल्प

(१) सम्पूर्ण वस्त्रादि परिग्रह के त्याग करने को अथवा नग्नतामात्र को प्रथम स्थिति कल्प कहा है। इसके विना मुनिपना सम्पन्न नहीं होता है। समस्त वस्त्रादि का परिहार करने स या नग्नता धारण करने से सयम मे विशुद्धता आती है। कारण कि वस्त्रादि धारण करने से उनको धोने से जलादि के जीवो का घात होता है। इससे सयम का विनाश अवश्यभावी है। नग्नता धारण करने से इन्द्रियो पर विजय होता है। वस्त्रादि का परित्याग करने से लोभादि कपाय का अभाव सिद्ध होता है तथा ध्यान और स्वाध्याय की निर्विघ्न सिद्धि होती है। परिग्रह का अभाव होने से निर्ग्रन्थता और वीतरागता का पोषण होता है। शरीर मे अनादर भाव (अप्रीति) तथा स्वातन्त्र्य प्राप्त होता है। चित्त मे विशुद्धि विशेष उत्पन्न होती है तथा मनोमालिन्य का अभाव तथा अन्तःकरण की निर्विकारता प्रकट होती है। सदा निर्भीकता रहती है। परिग्रह का त्याग करने से सब जीवों को विश्वास उत्पन्न होता है। प्रक्षालनादि आरम्भ जन्य पाप से निवृत्ति उत्पन्न होती है। शरीर की विभूषा और मूर्छा का अभाव होता है। परिग्रह रूप भार के उतर जाने से आत्मा मे लघुता (हल्कापन) आती है। तीर्थंकर भगवान् के समान आचरण का सद्भाव सिद्ध होता है। शारीरिक शक्ति और आत्मीय पराक्रम का प्रकाश होता है। ऐसे ही और भी अपरिमित गुणो की उपलब्धि होती है। इसलिए इसे स्थिति कल्प रूप से भगवान् ने निरूपण किया है।

भगवती आराधना की सस्कृत टीकानुसार इसका वर्णन यह है—वस्त्र पहनने या ओढने से पसीने से जीवो की उत्पत्ति होती है और उनको धोने से उन जीवों की हिंसा होती है, अतः वस्त्र का त्याग करने पर उक्त दोप का अभाव होने से संयम मे विशुद्धि उत्पन्न होती है। लज्जाजनक शरीर के विकार को रोकने से इन्द्रिय विजय सिद्ध होता है। चौरादि पर क्रोधादि उत्पन्न करने का कारण वस्त्रादि परिग्रह है। उसको सर्वथा अभाव होने से कपाय का अभाव सम्पन्न होता है। वस्त्र फटजाने पर उसको सीने के लिए सूई धागा कपडा आदि प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना पडता है, उससे ध्यान और स्वाध्याय मे विघ्न बाधा उपस्थित होती है। वस्त्र के त्यागी के ध्यान व स्वाध्याय की निर्विघ्न

होती है। वस्त्रादि मे ममत्व होने पर ही मनुष्य उसे पहनता व ओढता है। वायु के कारण शरीर से वस्त्र हट जाने पर पुनः उसे हाथ से ले कर यथास्थान पर करते हैं। इन बातो से वस्त्र धारक के मूर्छा भाव सिद्ध होता है। दिगम्बर (नग्न) मुनि इस महा दूषण से सदा रहित रहते हैं। मनोज्ञ व अमनोज्ञ सब प्रकार के वाह्य परिग्रह का त्याग करने से रागद्वेष का अभाव (वीतराग भाव) सिद्ध होता है। नग्न मुनि शीत,वात और आतापादि की बाधाओ का सहन करते हैं,अत.उनके शरीर से निस्पृहता सिद्ध होती है। निर्ग्रन्थो को देशान्तर मे गमन करते समय दूसरे की सहायता की अपेक्षा नहीं होती है, इसलिए उनके स्वतन्त्रपना सिद्ध होता है। विकार भाव को छिपाने के लिए लगोटी आदि पहनी जाती है। जिसने लगोटी आदि का परित्याग कर दिया है, उसके चित्त की निर्विकारता प्रकट होती है। वस्त्रादि परिग्रह रखने वालो को चौरादि से मारण ताडनादि सम्बन्धी भय लगा रहता है। दिगम्बर (नग्न) मुनि इस भय से सदा विमुक्त रहते हैं। वे सर्वदा निर्भय होकर विचरते हैं। नग्न मुनि को किसी द्रव्य से प्रयोजन नहीं होता है। जब कि वे शरीर पर लेशमात्र वस्त्र भी नहीं रखते हैं तब वे अन्य वस्तु का ग्रहण कैसे करेंगे, ऐसा समझ कर ससार के सब प्राणी उन पर विश्वास करते हैं। चौदह प्रकार के करण रूप परिग्रह के धारक श्वेताम्बर साधुओ के समान दिगम्बर मुनियो को बहुत प्रति लेखन नहीं करना पडता है तथा वस्त्रो का प्रक्षालन और बहुत भार का वहन आदि नहीं करना पडता है। वही कहा है—

"म्लाने चालनतः कुतः कृतजलाद्यारंभतः संयमः।
नष्टे व्याकुलचित्तताथ महतामप्यन्यतः प्रार्थनम् ॥ १ ॥
कौपीनेऽपि हृते परैश्च झगिति क्रोधः समुत्पद्यते।
तन्नित्य शुचि रागहृच्छमवतां वस्त्र ककुम्मण्डलम् ॥ २ ॥
विकारे विदुषां द्वेषो नाविकारानुवर्त्तने।
तन्नग्नत्वे निसर्गोत्थे को नाम द्वेषकल्मषः ॥
नैष्किञ्चन्यमहिंसा च कुतः संयमिना भवेत्।
ये सगाय यदीहन्ते वल्कलाजिनवाससाम् ॥"

भावार्थ—शरीर के स्वेद से तथा धूलि आदि के सयोग से वस्त्र मैला हो जाता है। यदि उसे न धोया जावे तो उसमे सम्मूर्छन उत्पत्ति होती है। और जल से धोने पर जलादि के जीवो की हिंसा अवश्यभावी होने से सयम की रक्षा कैसे हो सकती है? तथा

वस्त्र के खोजाने या नष्ट हो जाने पर चित्त में व्याकुलता उत्पन्न होती है। महान पुरुषों को भी अन्य से वस्त्र की याचना करनी पड़ती है। यदि चोर लुटेरे डाकू एक कौपीन (लंगोटी) को चुरालें या छीनने लगें तो उन पर जल्दी से क्रोध उत्पन्न होता है। वस्त्र के निमित्त से अनेक दोष पैदा होते हैं, इसलिए परम शान्त रागद्वेष के विजेता मुनीश्वरों ने दिग्मण्डल को ही स्थायी और पवित्र वस्त्र माना है।

विद्वानों ने इन्द्रिय विकार का सद्भाव होने पर ही नग्नता धारण करना निन्दनीय माना है। किन्तु जिनकी बालक के समान स्वाभाविक निर्विकार वृत्ति है, उनकी नग्नता आदरणीय होती है। विवेकी मनुष्य निर्विकार नग्न स्वभाव पर रोष नहीं करते हैं।

जो मनुष्य वृक्षों की छाल तथा चर्मादि के वस्त्र की इच्छा रखते हैं। अर्थात् किसी प्रकार के वस्त्र से शरीर ढकते हैं; उन संयमियों के आकिंचन्य और अहिंसा का सद्भाव कैसे हो सकता है? क्योंकि वस्त्र के कारण हिंसा और परिग्रह (मूर्छा) उत्पन्न होती है।

उद्दिष्ट भोजनादि त्याग कल्प

(२) उद्दिष्ट भोजनादि का त्याग—आधा कर्म तथा उद्दिष्ट भोजन वसतिका और उपकरण का त्याग करने पर उद्दिष्ट त्याग नामक द्वितीय स्थिति कल्प होता है। भिक्षादि में आधा कर्म महान दोष है। इसका स्वरूप पिंड शुद्धि अधिकार में कह आये हैं। साधुओं को उद्देश्य करके बनाया गया आहार, जल तथा वसतिका और कमण्डलु आदि उपकरण मुनियों के लिए अप्रमाण माने गये हैं। इसलिए मुनि उद्दिष्ट भोजन उपकरणादि का त्याग करते हैं और अनुद्दिष्ट निर्दोष आहार, जल, वसतिका और उपकरणों का ग्रहण करते हैं।

शय्याधर के पिंड का त्याग

(३) शय्याधर गृह-पिंड त्याग—वसतिका का बनवाने वाला, तथा उसका संस्कार (लिपाने पोताने तथा मरम्मत) करवाने वाला और 'आप यहां ठहरिये' इस प्रकार वसतिका में ठहरने की आज्ञा देने वाला ये तीनों शय्याधर माने गये हैं। साधु इनके घर का आहार ग्रहण नहीं करते हैं। यदि मुनि इनका आहार ग्रहण करने लगें तो लोक में निन्दा होने की सम्भावना रहती है। लोग कहने लगते हैं कि मुनि इनकी वसतिका में रहते हैं, इसलिए ये धर्म के लोभ से चुपचाप गुप्त रूप से इनके लिए आहार की योजना कर देते हैं। तथा दूसरा दोष यह उत्पन्न होता है कि यदि मुनि शय्याधर का आहार लेने लगें तो जो आहार देने में असमर्थ हैं, दारिद्रय से पीड़ित हैं—वह लोकापवाद के भय से मुनियों को निवास करने के लिए वसतिका नहीं देंगे। कारण कि लोग कहने लगते हैं देखो मुनि इनकी वसतिका में रहते हैं और ये भाग्यहीन उनको आहार नहीं देते हैं। इत्यादि लोक निन्दा का भय उन्हें वसतिका प्रदान करने से वंचित रखेगा।

शय्याधर का भोजन पान ग्रहण करने से तीसरा दोष यह उत्पन्न होता है कि वसतिका और आहार देने वाले, बहुत उपकार के कर्त्ता दाता के लिए मुनि के चित्त मे स्नेह का आविर्भाव होने लगेगा। ये तीन दोष शय्याघर का आहार ग्रहण करने से उत्पन्न होते हैं,इसलिए वीतरागी साधु उक्त दोषो से मुक्त रहने के लिए शय्याघर के घर का भोजन ग्रहण नहीं करते हैं।

अन्य कोई आचार्य शय्याधर पिंडत्याग के स्थान मे शय्या-गृह-पिंडत्याग ऐसा पाठ मान कर उसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि मार्ग मे गमन करते हुए मुनि रात्रि के समय जिस घर मे शयन करते हैं, उसी घर मे दूसरे दिन आहार का परिहार करते हैं। उस घर का भोजन ग्रहण नहीं करते हैं।

कोई आचार्य इसका 'वसतिका सम्बन्धी द्रव्य के निमित्त से उत्पन्न हुए भोजन का त्याग' ऐसा अर्थ करते हैं। अर्थात् वसतिका से सम्बन्ध रखने वाले द्रव्य के निमित्त से जो आहार बना हो उसका ग्रहण मुनि नहीं करते हैं। इस प्रकार व्याख्या करते हैं।

राज पिंड त्याग

(४) राजपिंड त्याग—इक्ष्वाकु आदि राजवश मे उत्पन्न हुए राजा महाराजा के घर का तथा राजा लोगो के समान महर्द्धिक आमात्यादि के घर का आहार मुनि लोगों के लिए वर्जित माना है। इसका कारण निम्नोक्त प्रकार है। राजा महाराजाओं के या उनके समान महान् वैभव सम्पन्न आमात्यादि के घर मे आहार के निमित्त मुनि जावें तो वहा पर स्वच्छन्द विचरने वाले कुत्ते आदि दुष्ट जीवों के द्वारा तथा मुनि के रूप को देखकर बन्धन तुडाकर इधर उधर भागते हुए घोडे आदि के द्वारा मुनि पर उपद्रव होने की सभावना रहती है। तथा राज भवन मे निवास करने वाले गर्विष्ट दास दासी आदि मुनि का परिहास करने लगते हैं। और रोक रखी हुई मैथुन सज्ञा से पीडित भोग पत्निया (पासवान) तथा पुत्र की कामना रखने वाली वहा की स्त्रिया बलात्कार मुनि को उपभोग की कामना से घर मे प्रवेश करवा लेती हैं। इससे मुनि के अनिष्ट की सभावना बनी रहती है। राज भवन मे रत्न सुवर्णादि द्रव्य इधर उधर बिखरे पडे रहते हैं, उनको दूसरा कोई चुरा ले तो भी सयमी पर लाछन आता है। लोग कहने लगते हैं कि यहा अमुक मुनि के सिवा अन्य कोई नहीं आया है, वे ही चुरा ले गये होंगे। इस प्रकार चोरी का अपवाद होता है। राजा इस मुनि का विश्वास करके राज्य का विध्वस कर देगा, इस प्रकार क्रुद्ध हुए आमात्यादि मुनि का वध या बधन करने मे उद्यत होते देखे गये हैं। राजादि के घर मे चीर आदि की विकृति का सेवन होता है। तथा दरिद्र कुलोत्पन्न साधु क मन मे राज भवन के बहु मूल्य रत्नादि को देख कर लोभ कषाय की उदय होने पर उनका अपहरण करने की इच्छा का प्रादुर्भाव हो सकता है। सुन्दर देवागना समान उत्तम स्त्रियो का अवलोकन होने से मुनि के चित्त मे राग का उद्रेक हो सकता है। इन्द्र तुल्य राज भवन की विभूति को देखकर मोह के वशीभूत हुआ मुनि 'भविष्य म मुझे ऐसी विभूति मिले' ऐसा निदान करने मे प्रवृत्त हो जाता है। इन दोषों की

सभावना जहा बनी रहती है, उनके घर का आहार मुनि के लिए निषिद्ध माना गया है। और जहां उक्त दोषों में से किसी दोष की संभावना न हो और अन्य स्थान मे आहार की योग्यता न मिले तो स्वाध्यायादि के विच्छेद का निवारण करने के लिए अर्थात् स्वाध्याय व ध्यान सम्पादन करने के लिए राजा के महलों का भोजन भी निषिद्ध नहीं माना गया है।

कृति कर्म

(५) कृतिकर्म—पांच नमस्कार, छह आवश्यक, आसिका और निषेधिका इन तेरह प्रकार के कर्त्तव्य कर्म का परिपालन करना कृतिकर्म कहलाता है।

अथवा गुरु का विनय करना तथा महान् पूज्य पुरुषो की शुश्रुषा करना कृतिकर्म है।

मूलोत्तर गुण परिपालन

(६) मूलगुणो और उत्तरगुणों का सुचारु रूप से पालन करना छठा स्थिति कल्प है। इसी को व्रतारोपणयोग्यता नाम का छठा स्थिति कल्प माना है।

जिस सयमी को जीवों का यथार्थ स्वरूप ज्ञात होगया हो उसीको नियम से मुनियों के व्रत देना, यह व्रतारोपण योग्यता नामक स्थिति कल्प है।

जिसने पूर्ण निर्ग्रन्थावस्था धारण की है, तथा उद्दिष्ट आहारादि का तथा राजपिंडग्रहण करने का त्याग किया है और जो गुरु-भक्त एवं विनय शील है, उसको मुनि-व्रत के योग्य माना है।

व्रत प्रदान करने का क्रम निम्न प्रकार है—जिस समय गुरु आसन पर विराजमान हो उस समय आर्यिकाएं सम्मुख बैठी हों उनको तथा श्रावक और श्राविकाओ को व्रत दिये जाते हैं। आसन पर बैठे हुए गुरु के वाम भाग मे बैठे हुए मुनि को व्रत देते हैं। अर्थात् दीक्षा ग्रहण करते समय साधु को आचार्य के बांये हाथ की ओर बैठना चाहिए।

अहिंसादि का स्वरूप समझ कर हिंसादि पापो से विरक्त होने को व्रत कहते हैं।

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरदेव ने रात्रि भोजन त्याग और पच महाव्रतों का उपदेश दिया है। प्रमत्त योग से अर्थात् कषाय

युक्त परिणाम से प्राणियो के प्राणों को पीड़ा पहुँचाने को हिंसा कहते हैं। इसके त्याग करने को प्रथम अहिंसा महाव्रत कहा है। असत्य भाषण से प्राणियो को दुःख होता है तथा अपनी आत्मा के सत्य परिणाम का घात होता है, ऐसा समझकर स्व पर की दया करने वाले दयालु मुनि असत्य भाषण का त्याग करते हैं। यह उनका द्वितीय सत्य महाव्रत है। यह मेरी है, ऐसा सङ्कल्प जिस वस्तु पर जिसने कर रखा है, उस वस्तु के स्वामी की बिना आज्ञा ग्रहण करने से उसे क्लेश होता है, उसके वियोग से वह दारुण दुःख का अनुभव करता है। तथा ग्रहण करने वाले के परिणामो मे मालिन्य उत्पन्न होता है, इसलिए स्वपर के कल्याण की कामना करने वाले मुनि चोरी का परित्याग करते हैं। यह उनके तृतीय अचौर्य महाव्रत होता है। जैसे सरसो से भरी हुई नाली मे अग्नि से तपी हुई लोहे की शलाका (सलाई) डालने से सम्पूर्ण सरसो झुलस जाती हैं, इसी प्रकार योनि मे पुरुषेन्द्रिय का प्रवेश होने पर उसमे के सब सम्मूर्च्छन सूक्ष्म जीव नष्ट हो जाते हैं। इस मैथुन से तीव्रराग उत्पन्न होता है। जो कर्म बन्धन का प्रबल कारण है। ऐसा विचार कर दयालु मुनि उसका पूर्ण रूप से त्याग करते हैं। यह उनका चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत है। परिग्रह के निमित्त से षट्काय के जीवो की विराधना होती है। तथा यह ममत्व भाव उत्पन्न करने मे मुख्य कारण है, इसलिए सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करना परिग्रह त्याग नाम का पाचवा महाव्रत होता है।

इन महाव्रतो की पालना करने के लिए रात्रि भोजन का त्याग करना छठा व्रत है।

अहिंसा महाव्रत सब जीव मात्र को विषय करता है। अर्थात् सम्पूर्ण जीवों की हिंसा का त्याग करने अथवा उनकी रक्षा करने से अहिंसा महाव्रत सम्पन्न होता है। अचौर्य महाव्रत और परिग्रह त्याग महाव्रत सम्पूर्ण पदार्थों से सम्बन्ध रखता है। अर्थात वस्तु के स्वामी की आज्ञा बिना किसी भी पर पदार्थ का ग्रहण न करने से अचौर्य महाव्रत तथा सम्पूर्ण भूमि महल मकान धन धान्य वस्त्रादि का त्याग करने से परिग्रह त्याग महाव्रत सिद्ध होता है। तथा शेष सत्य महाव्रत और ब्रह्मचर्य महाव्रत द्रव्यो के एक देश को विषय करते हैं। कारण कि सत्य महाव्रत मे सत्य वचन का उच्चारण और असत्य वचन का त्याग किया जाता है और ब्रह्मचर्य व्रत मे समस्त स्त्री वर्ग सम्बन्धी विषय सेवन का त्याग मन वचन काय से किया जाता है। अत. ये दोनो समस्त जगत् के पदार्थों के एक भाग से सम्बन्ध रखते हैं।

ज्येष्ठत्व

(७) ज्येष्ठत्व—सयमी मुनि, माता-पिता, गृहस्थ उपाध्याय, तथा आर्यिकाओ से महान् होता है। यद्यपि गृहस्थ अवस्था मे माता पिता और गृहस्थ-गुरु पूज्य होते हैं, तथापि सयम धारण करने के पश्चात् पुत्र भी माता पिता तथा गृहस्थ-गुरु के पूजनीय हो जाता है। क्योकि चारित्र मे पूज्यता मानी गई है।

एक दिन का दीक्षित मुनि चिरकाल की दीक्षित आर्यिका से महान् होता है, पूज्य स्तुत्य और वन्दनीय, होता है। इस प्रकार मुनि की श्रेष्ठता द्योतन करने वाला यह सातवा स्थिति कल्प है।

अर्थात् स्त्रिया पुरुषो से लघु मानी गई हैं। इसका हेतु यह है कि वे परमुखापेक्षी होतीं हैं। वे अपना रक्षण आप नहीं कर सकतीं। आत्म-रक्षा मे पुरुष का साहाय्य चाहती हैं। पुरुष द्वारा कामना किये जाने पर वे उसका प्रतीकार करने मे असमर्थ होती हैं। वे स्वभाव से भीरु होती हैं। उनका हृदय कमजोर होता है। पुरुष मे ये बाते प्रायः नहीं होती हैं। इसलिए पुरुष महिलाओ से श्रेष्ठ माना गया है।

प्रतिक्रमण

(८) प्रतिक्रमण—नग्नत्व आदि कल्प में स्थित मुनि के व्रतो मे जो अतिचार लगते हैं, उन दोषो का निवारण करने के लिए मुनि प्रतिक्रमण करते हैं। यह आठवा स्थिति कल्प है।

अर्थात् धारण किये गये व्रतादि में अज्ञान प्रमादादि से जन्य अपराध का निराकरण करने के लिए साधु ऐर्यापथिक, रात्रिक, दैवसिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सावत्सरिक और उत्तमार्थ ये सात प्रकार के प्रतिक्रमण करते हैं। इनका सम्यक् प्रकार आचरण करने को प्रतिक्रमण नामक आठवा स्थिति कल्प माना गया है।

आदि तीर्थंकर श्री ऋषभ देव भगवान् और अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी ने अपराध हो या न हो मुनियो को प्रतिदिन यथासमय प्रतिक्रमण करने का आदेश दिया है। और मध्य के बाईस तीर्थंकरों ने अपराध होने पर ही मुनियो को प्रतिक्रमण करने की आज्ञा दी है। अर्थात् प्रथम तीर्थंकर के तीर्थ के मुनि भोले और महावीर स्वामी के तीर्थ के मुनि वक्र होते हैं। इसलिए इन दोनो तीर्थंकरो ने अपने तीर्थ के मुनियो को ईर्यापथिक रात्रिक दैवसिकादि प्रतिक्रमण अपराध होने पर या न होने पर यथासमय अवश्य करने का विधान किया है। और अजितनाथ आदि मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरो ने अपने तीर्थ के मुनियो को अपराध लगने पर प्रतिक्रमण करने का उपदेश दिया है। कारण कि उनके तीर्थ वर्ती मुनि विचक्षण और स्मरण शील होते हैं। वे अपराध को स्मरण रखकर किसी समय अपने अपराध का शोधन कर लेते है, इसलिए उन्हें ईर्यापथ से गमन करते हुए अपराध लगने पर उसका निवारण करने के लिए ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण ही कर लेने का आदेश दिया है। रात्रि मे अतिचार लगने पर रात्रिक प्रतिक्रमण और दिन मे दोष लगने पर दैवसिक प्रतिक्रमण करने का उपदेश दिया है। उनको सब प्रतिक्रमण करना आवश्यक नहीं बतलाया है।

एक मास निवास

(९) एक मास निवास—वसन्तादि छहं ऋतुओं में एक एक ऋतु मे मुनि एक स्थान पर एक मास तक रह सकते हैं, इससे अधिक एक स्थान मे निवास करना वर्जित है। क्योंकि एक ही स्थान पर चिरकाल पर्यन्त निवास करने से भोजनादि मे उद्गमादि दोषों का परिहार करना अवश्य हो जाता है। वसतिका से मोह हो जाता है। सुखिया स्वभाव हो जाता है। कष्ट सहिष्णुता दूर हो जाती है। आलस्य घर कर लेता है। सुकुमारता की भावना उत्पन्न होती है। बहुत दिन एक जगह रहने से जिन श्रावकों के घर पहले आहार कर चुके हैं, फिर भी उन्हीं के घर आहार लेना पड़ता है। इत्यादि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। इसलिए मुनीश्वर चिरकाल पर्यन्त एक ही स्थान पर नहीं ठहरते हैं।

पज्ज

(१०) पज्ज—वर्षाकाल मे भ्रमण का त्याग कर चार मास पर्यन्त एक ही स्थान मे निवास करने को पर्या नामक दशवा स्थिति कल्प कहा है। वर्षाकाल मे चार मास तक मुनि विहार का त्याग करते हैं। तथा एक मील या दो मील आदि क्षेत्र का परिमाण कर उस क्षेत्र के भीतर गोचरी आदि आवश्यक कार्य के लिए गमनागमन करते हैं।

वर्षाकाल मे भूमि त्रस और स्थावर जीवों से आकुल (व्याप्त) हो जाती है। उस समय यदि एक स्थान न ठहर कर विहार करे तो छह काय के जीवो की विराधना होने से महान् असयम होता है। जल की वृष्टि तथा शीत वायु के चलने से शरीर को अत्यन्त बाधा पहुचती है। निमोनिया आदि अनेक रोगो की उत्पत्ति होना सभव है। माग जलमग्न रहने से मार्ग स्थित कुए बावडी मे गिर जाने की सभावना रहती है। जल या कीचड मे छिपे हुए काटे पत्थर स्थाणु आदि की बाधा होता है। इसलिए मुनीश्वर एक सौ बीस दिन तक एक स्थान में ही निवास करते हैं। यह उत्सर्ग (सामान्य) नियम है। कारण वश इसे हीन या अधिक काल भी माना गया है। आषाढ़ शुक्ला दशमी से लेकर कार्तिक की पूर्णिमा के आगे तीस दिन तक और मुनि एक स्थान पर ठहर सकते हैं। अध्ययन करने के लिए,वृष्टि की बहुलता से, विहार करने की शक्ति के न होने से,किसी साधु की वैयावृत्त्य करने के निमित्त इत्यादि प्रयोजन वश मुनि अधिक समय अर्थात् कार्त्तिक की पूर्णिमा के बाद तीस दिन अधिक ठहर सकते हैं। उक्त कारणो के बिना अधिक दिन निवास करना आगम विरुद्ध है।

प्लेग हैजा आदि सक्रामक रोगो का प्रकोप होने पर, दुर्भिक्ष हो जाने पर, देश या गाव पर महान् सङ्कट आजाने पर, सङ्घ पर विपत्ति की सभावना होने पर, मुनि वर्षाकाल मे भी अन्यत्र जा सकते हैं। यदि उक्त परिस्थिति मे भी मुनि वहा से विहार न करे तो रत्नत्रय की विराधना हो सकती है, अतः आषाढ शुक्ला पूर्णिमा के व्यतीत होने पर श्रावण कृष्णा प्रतिपदा आदि तिथि मे मुनि अन्य स्थान मे चले

जाते हैं। इसलिए एक सौ वीस दिनो में बीम दिन कम किये गये है। यह वर्षाकाल मे निवास करने का हीन काल है। इस सबको दशवा स्थिति कल्प कहते हैं।

जो आचार्य इन उपर्युक्त दश प्रकार के आचरणो मे सदा तत्पर रहते हैं, जो सदा पाप कृत्यो से भयभीत रहते हैं, वे आचार्य आगमोक्त आचरण का साधुओ से पालन करवाते हैं-साधुओं के आचरण मे दोप दिखा कर उनको शुद्धाचरणी बनाते हैं।

आचारवान् आचार्य से क्षपक को लाभ

प्रश्न—आपने आचार्य का आचारवत्व गुण वर्णन किया है। आचार्य के आचारवान् होने से क्षपक साधु को क्या लाभ होता है?

उत्तर—जो आचार्य दर्शनाचारादि पचाचार मे स्वय तत्पर रहते हैं समस्त गमनादि क्रियाओ मे सम्यक् प्रवृत्ति करते हैं वे क्षपक को भी पचाचार मे सम्यक् प्रवृत्ति करवाते हैं।

प्रश्न—यदि आचार्य स्वय आचारवान् न हो तो उससे क्या हानि होती है?

उत्तर—जो आचार्य दर्शनादि पचाचार के पालन करने मे शिथिल होता है, जिसका आचरण भ्रष्ट होता है वह आचार्य क्षपक को उद्गमादि दोप युक्त आहार वसतिका और पिच्छिका पुस्तकादि उपकरण की योजना करेगा। अथवा क्षपक की परिचर्या मे वैराग्य रहित मुनियो को नियुक्त करेगा। जो स्वय सदोप होता है वह साधुओं के दोषो को दूर करने में सफल मनोरथ नहीं होता है। समाधिमरण के काय मे उद्यमशील मुनि का हित ससार से भयभीत और वैराग्य भाव से भरे हुए साधुओ के ससर्ग से ही होता है। इसका खयाल आचार हीन आचार्य को नहीं होता है। इसका परिणाम यह होता है कि क्षपक की शुश्रूषा करने की योग्य व्यवस्था न कर सकने के कारण क्षपक का समाधिमरण बिगड़ जाता है। उसका यह महान् अनिष्ट आचार हीन आचार्य द्वारा होता है। वह आचार्य क्षपक की सन्यास विधि को लोक मे प्रकट कर देगा, सयम विरोधी गन्ध पुष्प मालादि क्षपक के लिए लाने के लिए साधुओ का अनुमति प्रदान करेगा, क्षपक के परिणामो मे विकार उत्पन्न करने वाली कथा करेगा, क्षपक के हिताहित का विचार न कर मन चाहे जैसा बकने लगेगा। पतित आचरण वाला आचाय रत्नत्रय मे प्रवृत्ति कराने वाला उपदेश नहीं देगा, रत्नत्रय से गिरते हुए मुनि को न रोकेगा, जिन क्रियाओं मे महान् आरम्भ होता है, ऐसी पूजा रथयात्रादि करवाने की लोगो को प्रेरणा करेगा। तात्पर्य यह है कि शिथिलाचारी आचार्य के सहवास से क्षपक का अनिष्ट होता है। वह अपने उद्देश्य से गिर जाता है। इसलिए आचारहीन आचार्य के सहवास का आत्म-हित के इच्छुक क्षपक को त्याग करना ही श्रेयस्कर है।

आचार गुण से भूषित आचार्य का आश्रय करने वाला क्षपक अपने समाधिमरण रूप उत्तम कार्य को भले प्रकार साधन कर सद्गति का पात्र बनता है, अतः आचार्य के आचारवत्व गुण का वर्णन किया गया है। अब आचार्य के दूसरे आधारवत्व गुण का विवेचन करते हैं।

आचार्य का आधारवत्वगुण

चोद्दस-दस-णव-पुव्वी महामदी सायरोव्व गंभीरो।
कप्पववहारधारी होदि हु आधारवं णाम॥ ४२८॥ (भग. आ.)

अर्थ—जो चौदहपूर्व या दशपूर्व अथवा नवपूर्व का वेत्ता होता है, जो दूरदर्शी-समुद्र के समान गम्भीर हृदयवाला है, प्रायश्चित शास्त्रो का सम्यक् प्रकार ज्ञान प्राप्त कर उसके अनुकूल प्रयोगो का अनुसरण करता है वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप की उत्पत्ति स्थिति वृद्धि और रक्षा का आश्रय होता है। वह आधारवत्व गुण युक्त आचार्य नित्य प्रति साधुवर्ग को आगम का उपदेश देकर पापास्रव के कारण अशुभ परिणामों से हटाकर पुण्यास्रव के कारण शुभोपयोग मे तथा सवर निर्जरा के कारण शुद्धोपयोग मे प्रवृत्त करता है। अतः आचार्य को आगम का ज्ञान अवश्य होना चाहिए।

प्रश्न—चारित्र का आराधन आत्म-कल्याण का साधन माना गया है। वह जिसमें पाया जावे वह आचार्य सघ के साधुओ का, आर्यिकाओ का व उनके सम्पर्क मे रहने वाले श्रावक श्राविकाओ का उद्धार करने मे समर्थ हो सकता है? अर्थात् आगम का ज्ञान न होने से भी आचार्य स्व पर का हित करने मे कुशल हो सकता है। अतः आधारवत्व गुण चारित्र से सम्बन्ध रखता है, न कि ज्ञान से। आपने आगम का ज्ञान होने पर ही आधारवत्व गुण का होना बताया है-इसका क्या कारण है?

उत्तर—जिसको आगम का ज्ञान नहीं है, वह आचार्य मोक्ष मार्ग के अङ्गभूत दर्शन ज्ञान चारित्र और तप के स्वरूप को तथा उनके भेद प्रभेदो को और उनमे उत्पन्न होने वाले दोषो को कैसे जान सकेगा? सघ मे स्थित मुनीश्वरो को उक्त दर्शनादि के स्वरूप को समझा कर उनमे लगने वाले अतीचारों से कैसे निवृत्त कर सकेगा? व्रतादि मे लगे हुए अतिचारो की निवृत्ति (शुद्धि) के लिए प्रायश्चित का विधान कैसे करेगा? समाधिमरण के लिए उद्यत हुए क्षपक को समय समय पर जीवादि तत्त्वों का यथार्थ उपदेश देकर आत्मा मे वैराग्य भाव किस प्रकार उत्पन्न कर सकेगा? ससार मे भ्रमण कराने वाले मिथ्यात्व असयम दुर्ध्यानादि का स्वरूप दिखा कर सम्यक्त्व, सयम व धर्म्यध्यान शुक्लध्यान की महत्ता समझाकर उनका पालन करवाने मे कैसे सफल होगा?

संयम की सफलता

अनन्त दु ख रूप जल से परिपूर्ण इस संसार सागर मे चक्कर लगाते हुए इस जीव ने अनन्त काल बिताया है। भयानक शारीरिक मानसिक क्लेशो को भोगते हुए इस जीव ने बडी कठिनाई से मनुष्य जन्म को प्राप्त किया है। जैसे साधु पुरुष के मुख से कठोर वचन के समान, सूर्य मण्डल मे अन्धकार के समान, अत्यन्त क्रोधी मनुष्य के मन मे दया भाव के समान, अति लोभी मनुष्य के मुख में सत्य वचन के समान, महाभिमानी के मुख से परगुण की प्रशंसा के समान, स्त्री वर्ग मे सरल चित्तता के समान, दुष्ट मनुष्य मे कृतज्ञता के समान, आप्ताभास द्वारा निरूपित मत मे तत्त्वज्ञान के समान इस पचपरावर्त्तन रूप संसार मे मनुष्य जन्म की प्राप्ति अति दुर्लभ है। आगम मे अति दुर्लभता के विषय मे उक्त दश दृष्टान्त मिलते हैं। उनसे भी मनुष्य जन्म पाना अति दुर्लभ है। महान् पुण्य के उदय से किसी तरह मनुष्य जन्म पा लिया तो तपस्या के योग्य उत्तम धर्म-प्रधान देश का मिलना अति दुर्लभ है। उत्तम देश का योग होने पर उत्तम कुल व उत्तम जाति का मिलना अति दुष्प्राप्य है। माता के वश को जाति और पिता के वश को कुल कहते हैं। उसके पश्चात् उत्तम शरीर की आकृति (इन्द्रियों की परिपूर्णता) व शरीर में उत्तम संहनन का प्राप्त होना अति दुर्लभ है। शरीर की नीरोगता, दीर्घायु, उत्तम बुद्धि, हितोपदेश का श्रवण, सद्गुरु कथित तत्त्व का ज्ञान तथा उसमे श्रद्धा की उत्पत्ति उत्तरोत्तर अति दुर्लभ है। उन सबमे दुर्लभ सयम का प्राप्त करना है। समस्त दुर्लभ पदार्थों से दुर्लभतम सयम है, उसकी सफलता समाधिमरण के आराधन से होती है।

चपक को सिद्धान्त के वेत्ता आचार्य की आवश्यकता

उस अत्यन्त दुर्लभ समाधिमरण के साधन के लिए चपक ने रागद्वेप को जीतने की यद्यपि प्रतिज्ञा की है, तथापि शरीर की सल्लेखना करने वाले उस चपक के क्षुधादि परीषह के प्राप्त होने पर अल्प पराक्रम के कारण रागद्वेप की उत्पत्ति व क्रोधादि कषाय का प्रादुर्भाव हो सकता है, उसकी निवृत्ति अर्थात् कषाय का उपशम, रागद्वेप की अनुत्पत्ति, चारित्र की सम्यक् आराधना अल्पज्ञ-सिद्धान्त के अज्ञाता-आचार्य के समर्ग से नहीं हो सकती है। क्योंकि कर्म-परवश हुआ यह प्राणी अन्न के आश्रय से अपना जीवन यापन कर रहा है। उस अन्न का त्याग करने से यह अन्नाश्रित जीव तिलमिला जाता है। उसकी आखों के सामने अंधेरा छा जाता है। सिर चक्कर खाने लगता है। तात्पर्य यह है कि अन्न बिना यह प्राणी आर्त्त रौद्रध्यान से आकुलित हो जाता है। उस समय उसके दर्शन, ज्ञान चारित्र व तप की आराधना कैसे हो सकती है, यदि उसमे स्थिर करने के लिए सिद्धान्त वेत्ता आचार्य न हो ? यही कहा है :—

"अयमन्नमयो जीवस्त्याज्यमानोऽधसा कदा
अतिरौद्राकुली भूतश्चतुरगे प्रवर्त्तते ॥" पू. कि. ५

अर्थात्—यह जीव अन्नमय है। भोजन के आधार इसकी सब शारीरिक मानसिक प्रवृत्ति होती है। अन्न के अभाव मे आर्त्त व रौद्रध्यान से आकुलित हुए इस जीव का दर्शन ज्ञान चारित्र व तप रूप चतुरग मे प्रवृत्ति करना अति कठिन हो जाता है।

ऐसे अवसर मे बहु श्रुत पारगामी आचार्य अनेक आगम निरूपित उपदेश को सुनाकर मृदु मनोहर व अनेक शिक्षा पूर्ण वचनों का उच्चारण कर, ससार के भयानक स्वरूप का वर्णन कर तथा शरीर की अनित्यता को समझाकर क्षपक के सवेग और वैराग्य की वृद्धि करता है और क्षुधा तृषा से उत्पन्न हुई भोजन पान की कामना को शान्तकर आत्मध्यान मे व धर्म्यध्यान मे तत्पर करता है।

आगम ज्ञान से शून्य आचार्य क्षुधा तृषादि की पीड़ा से व्याकुल-चित्त क्षपक को आत्म-अनात्म का, जड़-चेतन का भेद विज्ञान करवाकर आगम के अनुकूल हित शिक्षा नहीं दे सकता है, ससार से भय और शरीर से विरक्तता उत्पन्न नहीं कर सकता है। अतःक्षुधा और तृषा की पीडा से क्षपक की भोजन पान की अभिलाषा बढकर आर्त्त व रौद्रध्यान की वृद्धि करती है। उससे क्षपक का समाधिमरण विगड जाता है। क्षुधा और पिपासा से पीड़ित मनुष्य के हृदय से विवेक बुद्धि निकल जाती है।

जिस क्षपक ने अपने शरीर को अत्यन्त कृश कर दिया है, शक्ति हीन कर दिया है उसको जिस समय क्षुधादि की बाधा सताती है,और वह बाधा इतनी बढ जाती है कि वह असह्य हो जाती है,उस समय विवेकहीन हुआ जीव करुणाजनक आक्रन्दन करने लगता है। भोजन की याचना करता है और दीनता प्रदर्शित करता है। तथा बैठकर अयोग्य काल मे अपने हाथों से भोजन पान करने लगता है। अर्थात् क्षुधा तृषा से पीडित होकर आगम विरुद्ध आहार पान ग्रहण करता है।

क्षुधादि के कष्ट को सहने न करके वह क्षपक धर्म से विमुख होता है। मिथ्यात्व भाव को प्राप्त होकर असमाधि युक्त मरण को प्राप्त होता है।

क्षुधादि से पीडित साधु के रोदन को सुनकर यदि आगमहीन आचार्य उसकी निन्दा करने लगेगा तो वह सङ्घ का परित्याग कर भाग जावेगा। इससे धर्म का अपवाद होगा। अथवा उसको योग्य उपदेश न मिलने पर उसका आर्त्तनाद बढकर जन साधारण के चित्त मे करुणा और क्षोभ उत्पन्न कर देगा। समाधिमरण के स्वरूप को न समझने वाले मनुष्य साधुओं को करुणा हीन व आत्मघाती कहने लगेंगे। यह सब दोष ज्ञान हीन आचार्य के योग से होते हैं।

क्षपक को परीषहों की बाधा से कैसे दूर किया जाय ?

प्रश्न—भूख व प्यास से पीडित क्षपक की बाधा को आगम के ज्ञाता आचार्य किस प्रकार दूर करते हैं ?

उत्तर—आगम के ज्ञाता आचार्य क्षपक को समाधिमरण के समय के अनुकूल आगमोक्त क्रियाओं का आचरण करवाते हैं। यथावसर उसे हितकर प्रिय मधुर वचनो से शिक्षा देकर उसके परिणामों को उज्ज्वल करते रहते हैं। धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यान मे लगाये रखने का सतत प्रयत्न करते रहते हैं। शुभ व शुद्ध ध्यान रूपी अग्नि को सदुपदेश रूपी आहुतियो द्वारा निरन्तर वृद्धिगत करते रहते हैं। जिस समय क्षपक को क्षुधादि पीडा असह्य होने लगती है तब गीतार्थ आचार्य उसकी इच्छा के अनुकूल ऐसे मजुल और विश्राम जनक वचनो का उच्चारण करते हैं, जिनको सुनकर उसको भोजन व पान करने से जैसी तृप्ति होती है, वैसी तृप्ति व सन्तोष उत्पन्न हो जाता है। प्राचीन मुनीश्वरों के उपसर्ग परीषह विजय की कथाओं को सुनाकर उसके अन्तकरण में धैर्य व साहस को उत्पन्न करते हैं। तिर्यंच गति व नरक गति मे इस जीव ने कैसी २ क्षुधा और तृषा की पीडा का सहन किया है। इस समय की पीडा तो उसके सामने कुछ भी नहीं है। वह बाधा तुमको परवश होकर सहन करनी पडी थी और यह तुम अपने आत्म हित के लिए सहन कर रहे हो। यदि तुम अपने चित्त मे संक्लेश भाव उत्पन्न करोगे तो तुम्हें पुन पुन वे तिर्यंच व नरक गति के घोर दु.ख सहने करने पडेंगे। फिर ऐसा क्लेश निवारण करने का, सदा के लिए उन दारुण दु:खो से पीछा छुडाने का अवसर न मिलेगा। इसलिए हे सद्बुद्धे क्षपक! तुमको इस पीडा से दु:खित न होना चाहिए। इत्यादि उपदेश द्वारा गीतार्थ आचार्य क्षपक को धर्म भावना द्वारा धर्मध्यान में लवलीन करते हैं।

क्षपक की क्रोधमय प्रकृति से ऊब कर परिचारक मुनि क्षपक को छोडकर अलग हो जाते हैं। वे क्षपक के निकट जाना भी पसन्द नहीं करते हैं। उस समय आचार्य अपने बुद्धि कौशल से क्षपक की कोपमय प्रकृति को शिक्षा पूर्ण वाक्यों द्वारा शान्त करते हैं। उसको सब प्रकार का आश्वासन देते हैं। उसके साहस हीन व अधीर स्वभाव को दूर कर उसकी आत्मा मे अपूर्व साहस और धैर्य का सचार करते हैं। वैयावृत्य करने से विमुख हुए परिचारक साधुओ को वैयावृत्य के स्वरूप और महत्त्व को समझाकर उनको पुन. वैयावृत्य के कार्य मे सलग्न करते हैं।

हे मुनियो! यह क्षपक महापुरुष है। क्षुधादि की पीडा से व्याकुल होकर यदि इसने तुमको कदाचित अयुक्त वचन कह दिये हों तो तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम इसे मृदु वचनो से शान्त करो। वैयावृत्य (सेवा धर्म) का यथोचित पालन करने वाले के तीर्थंकर प्रकृति का बध होता है। सच्चे वैयावृत्य करने वाले को कटु वचन अमृतमय और शस्त्रप्रहार पुष्पमाला समान भासते हैं। वैयावृत्य करने का सौभाग्य महापुण्यवान् को ही मिलता है। क्योकि वैयावृत्य करने वाला अपने और जिसकी वैयावृत्य करता है उसके रत्नत्रय की रक्षा और वृद्धि करता है। इसलिए हे साधुओ! तुम्हें इस उत्तम कर्त्तव्य से विमुख न होकर तन और मन से इस सुकृत्य में तत्पर रहना चाहिए। देखो, शरीर और आहार ये दो पदार्थ ससार मे दुस्त्याज्य हैं। इनका त्याग साधारण मनुष्य नहीं कर सकता। इसका इसने त्याग किया है। इसलिए यह महात्मा सेवा करने योग्य है। ऐसा कहकर साधुओ को क्षपक की सेवा करने मे उत्साहित करते हैं।

हे क्षपक ! तुम विचार तो करो । तुमने किस महान् सुकृत्य का प्रारंभ किया है । तुमने कषाय और काय को कृश करने की दृढ प्रतिज्ञा ली है । और उसका पालन करने के लिए तुमने आगे कदम बढाया है । क्या इस समय तुमको कषाय करना उचित है । क्या तुम्हें इस कार्य मे सहायता देने वाले महात्माओ को कटु कठोर वचन उच्चारण करना चाहिए । तुमको तो उनका कृतज्ञ होना चाहिए । क्योकि वे तुम्हारे निज धन रत्नत्रय की रक्षा करने का उद्योग कर रहे है । तुमको किसी प्रकार की चिन्ता न कर शान्ति धारण करना उचित है । हम तुम्हारी सेवा मे सदा तत्पर है । तुम अपने कर्त्तव्य पर आरूढ रहो और तुम्हारा वैयावृत्त्य करने वाले साधुओ का उपकार मानकर उनका विनय करो । इस प्रकार शिक्षा-वचनो द्वारा क्षपक को कर्त्तव्य मार्ग पर दृढ करते हैं ।

आगम वेत्ता आचार्य साधु के लिए उपादेय प्रासुक वस्तु कौनसी है ? इसका ध्यान रखते हैं ।

क्षुधादि की दारुण वेदना से व्यथित मुनि को आगम का उपदेश रूप पेय पदार्थ और शिक्षा वचन रूपी आहार देकर उसकी बुभुक्षा और पिपासा को शान्त करते है । इस उपदेश और शिक्षा रूपी भोज्य और पान का आस्वादन कर क्षपक संतुष्ट हुआ आत्मध्यान मे दत्तचित्त हो जाता है ।

गीतार्थ आचार्य अवसर पाकर क्षपक को ससार अर्थात् पच परावर्त्तन का स्वरूप प्रतिपादन करते हैं । द्रव्यपरिवर्त्तन, क्षेत्र-परिवर्त्तन, कालपरिवर्त्तन, भवपरिवर्त्तन और भावपरिवर्त्तन का विशद विवेचन कर उसको ससार से भयभीत करते हैं । इसका विशद विवेचन पहले किया जा चुका है ।

हे क्षपक ! यह शरीर आत्मा का बन्दीगृह है । आयुकर्म या कार्माण कर्म ने इस आत्मा को शरीर मे कैद कर रखा है । आत्मा का असली निवास स्थान मोक्ष है । उससे वचित रखने वाला यह शरीर रूपी कारागृह है । यह शरीर अपवित्र अशुचि पदार्थों का निधान है । इसके मुख नासिका आदि अवयव अशुचि दुर्गन्धमय पदार्थों से ही निर्मित है। इसमे एक भी पदार्थ सारयुक्त नहीं है । यह अनेक क्लेश और आपत्तियों का निवास स्थान है । यह रोगरूपी धान्य की उत्पत्ति का क्षेत्र (खेत) है । अथवा रोग रूपी शत्रुओं का निवास स्थान है । वृद्धावस्था रूपी पिशाचिनी का यह श्मशान गृह है । जगद्वन्द्य कुल मे उत्पन्न हुआ धवल व विशाल कीर्त्तिवाला, अनेक महनीय गुणो से भूषित मनुष्य भी दारिद्रय से पीडित होकर इस शरीर का पोषण करने के लिए अत्यन्त नीचकर्म का आचरण करता है । धनवानो की अपमान दूषित सेवा करता है । अपने मान-अपमान को भूलकर नहीं करने योग्य कृत्यों को करता है । इस शरीर की रक्षा के लिए उच्छिष्ट भोजन को खाकर अपने धर्म कर्म से विमुख होता है । आचार्यों ने कहा है—

"नान्तर्गतोऽथनवहिर्न च तस्य मध्ये, सारोस्ति येन मनसा परिगम्यमानः ।
तस्मिन्नसारजनकांचित-कामसारैः कोऽन्यः करिष्यति मनः प्रतिबद्धसारः ॥"

अर्थ—इस नश्वर शरीर के भीतर बाहर और मध्य मे ऐसा कोई सारभूत पदार्थ नहीं है, जिसे अन्तरात्मा स्वीकार करसके। इसलिए सार तत्त्व के ज्ञाता विवेकी जन तुच्छ अविवेकी जनो के द्वारा कामपूर्ति के निमित्त अङ्गीकार किये गये इस तुच्छ शरीर पर प्रेम नहीं करते हैं।

"वायु प्रकोप जनितैः कफपित्तजैश्च, रोगैः सदा दुरितजैः प्रतिभज्यमानः ।
देहोऽयमेवमतिदुःखनिमित्तभूतो नाशं प्रयाति बहुधेति कुरुष्व धर्मम् ॥"

अर्थ—असाता वेदनीय कर्म का उदय होने पर किसी समय वायु के प्रकोप से कोई वातजन्य रोग उत्पन्न होता है तो कभी कफ की वृद्धि से और कभी पित्त के प्रकोप से किसी रोग का आविर्भाव होता है। उनसे यह शरीर पीडित होता रहता है। यह शरीर दुःखों का कारण है। इसलिए हे क्षपक! तू इस नश्वर और दुःख जनक शरीर से धर्म का आचरण कर।

"सघातजं प्रशिथिलास्थितरुप्रगाढं स्नायुप्रवद्धमशुभं प्रगतं शिराभिः ।
लिप्तं च मांसरुधिरोदककर्दमेन रोगाहितं स्पृशति देहविशीर्णगेहम् ॥"

अर्थ—हे क्षपक! जिस घर में निवास कर रहा है, वह शरीर-गृह रज व वीर्य के सयोग से बना है। हड्डी रूपी खम्भों से इसकी रचना हुई है। चारों तरफ से छोटी और बडी नसों से जकड़ा हुआ है। मास और रुधिर के कीचड़ से लीपा पोता गया है। और इसको रोगों ने अपना आश्रय बना रखा है। ऐसे अशुभ, अपवित्र व दुःखद शरीर को अज्ञानी मोही आत्मा के सिवा अन्य कौन स्पर्श करना चाहेगा ? हे क्षपक! तुमसे विवेकी पुरुषों को इस शरीर पर क्या अनुराग करना उचित है? इत्यादि अनेक वैराग्य जनक उपदेश द्वारा गीतार्थ आचार्य क्षपक को शरीर मे विरक्ति उत्पन्न कर क्षुधादि वेदना जन्य कष्ट का निवारण करते हैं और आत्म-भावना मे प्रवृत्त करते हैं।

आगम के ज्ञाता आचार्य के पाद मूल मे निवास करने वाले क्षपक के चित्त में उक्त उपदेश द्वारा संक्लेश परिणामो की निवृत्ति होती है और रत्नत्रय के आराधन मे किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती है। इसलिए उक्त आधार गुण विशिष्ट अर्थात् आगमज्ञ आचार्य का शरण प्राप्त करना ही क्षपक के लिए कल्याणकारी है।

आचार्य का व्यवहारज्ञत्व गुण

प्रश्न—व्यवहारज्ञता नामक आचार्य के तीसरे गुण का स्वरूप क्या है ?

उत्तर—जो पाच प्रकार के व्यवहार (प्रायश्चित) का स्वरूप विस्तार पूर्वक भले प्रकार जानते हैं, जिन्होने प्रायश्चित देते हुए आचार्यों को देखा है और स्वयं अन्य साधुओ को प्रायश्चित दिया है, ऐसे प्रायश्चित शास्त्र के वेत्ता अनुभवी आचार्य को व्यवहारवत्त्व गुण वाला कहते हैं।

व्यवहार के भेद

प्रश्न—पाच प्रकार के व्यवहार (प्रायश्चित) कौन से हैं ?

उत्तर—व्यवहार (प्रायश्चित) के आगम, श्रुत, आज्ञा, जीद और धारणा ये पांच भेद हैं। यथा :—

व्यवहारास्ते मतो जीदश्रुताज्ञागम धारणा।
एतेषा सूत्रनिर्दिष्टा ज्ञेया विस्तारवर्णना ॥ ४६१ ॥

अर्थ—१ आगम, २ श्रुत, ३ आज्ञा, ४ जीद और ५ धारणा ये पाच प्रकार का व्यवहार (प्रायश्चित) माना गया है। इसका विस्तार सहित वर्णन सूत्रों मे किया गया है। इसलिए वहा से जान लेना चाहिए।

भावार्थ—ग्यारह अगो मे प्रतिपादन किये गये प्रायश्चित को आगम व्यवहार कहते हैं। चौदह पूर्व ग्रन्थों मे कथित प्रायश्चित को श्रुत व्यवहार कहते हैं। अन्यत्र विचरने वाले आचार्य द्वारा अपने महान् दोष की आलोचना करके अपने ज्येष्ठ शिष्य के हाथ अन्य आचार्य के पास भेजे हुए प्रायश्चित को आज्ञा प्रायश्चित कहते हैं। एकाकी (एकल विहारी) साधु चलकर आचार्य के निकट जाने की शक्ति न होने से वहां ही अपने स्थान पर रहता हुआ पूर्व धारणा के अनुसार अपने दोषों का प्रायश्चित लेता है उसे धारणा व्यवहार कहते हैं। बहुतर प्रकार के पुरुषो के स्वरूप को जानकर उनकी अपेक्षा से आधुनिक आचार्यों ने जो शास्त्रो मे प्रायश्चित का वर्णन किया है, उसे जीद व्यवहार कहते हैं। इनका विशेष विवेचन शास्त्रान्तर मे किया है। उस विवेचन करने व सुनने का अधिकार सर्व साधारण को नहीं बताया है। इसलिए यहा उनका विशेष वर्णन नहीं किया जाता है।

प्रश्न—प्रायश्चित का विवेचन सर्व साधारण के सम्मुख नहीं करना चाहिए। इसमे क्या प्रमाण है ?

उत्तर—अनुभवी आगम वेत्ता आचार्य द्रव्य क्षेत्र प्रकृति और दोष के स्वरूप को तथा अन्य सब परिस्थिति को लक्ष्य में रखकर शास्त्रोक्त प्रायश्चित दिया करते हैं। यदि वह प्रायश्चित सर्व साधारण को प्रकट कर दिया जावे तो सयमी दोषों का आचरण करने से भयभीत न होंगे। अमुक प्रायश्चित लेकर दोष से निवृत्त होजावेंगे, ऐसा विचार करके वे उच्छृंखल होकर दोषो का आचरण करलेंगे। इसलिए प्रायश्चित विधान का श्रवण करना सर्व साधारण के लिए निषिद्ध है। यथा :—

"सव्वेण वि जिणवयणं सोदव्वं सद्दिदेण पुरिसेण।
छेदसुदस्स हु अत्थो ण होदि सव्वेण सो दव्वो ॥ १ ॥"

अर्थ—सब श्रद्धालु पुरुष जिनेन्द्र वचन का श्रवण कर सकते हैं, किन्तु प्रायश्चित शास्त्र का अर्थ सब लोगो को सुनने का अधिकार नहीं है।

प्रश्न—व्यवहारवान् (प्रायश्चित शास्त्र वेत्ता) आचार्य पर प्रकाशित दोषो का प्रायश्चित किन २ बातो पर लक्ष्य रखकर देते हैं अर्थात् समान अपराध होने पर सबको एकसा प्रायश्चित देते हैं, अथवा उसमे कुछ अन्तर भी रहता है ?

उत्तर—द्रव्य क्षेत्र काल भाव तथा सयमी के उत्साह शारीरिक शक्ति, दीक्षा काल, आगमज्ञान वैराग्यादि का विचार करके प्रायश्चित देते हैं। यथा —

दव्वं खेत्तं कालं भावं करणपरिणाममुच्छाहं।
संघदणं परियायआगमपुरिसं च विण्णाय ॥ ४५० ॥
मोत्तूण रागदोसे ववहारं पट्ठवेइ सो तस्स।
ववहारकरण कुसलो जिणवयणविसारदो धीरा ॥ ४५१ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—जिनागम में निपुण प्रायश्चित देने मे कुशल धैर्यवान् आचार्य द्रव्य क्षेत्र काल भाव, प्रायश्चित आचरण करने का परिणाम (नतीजा) प्रायश्चित लेने वाले का उत्साह उसका शरीर बल, दीक्षा की अवधि, आगम का परिज्ञान इतनी बातो को लक्ष्य मे रखकर रागद्वेष का परित्याग कर प्रायश्चित देता है।

भावार्थ—आचार्य प्रथम सयमी के द्वारा किये गये अपराध के निदान (कारण) का अन्वेषण करते हैं। यह अपराध यदि

द्रव्य की प्रतिसेवना से उत्पन्न हुआ है, तो वह पृथिवीकाय, अप्काय, तेजकाय, वायुकाय, प्रत्येक वनस्पतिकाय, अनन्तकाय तथा त्रसकाय रूप सचित्त द्रव्य की प्रतिसेवना से हुआ है, अथवा तृण फलक (काठ के पट्टे) चटाई आदि उचित द्रव्य की प्रतिसेवना से हुआ है, या जीव युक्त काष्ट फलक तृणादि की प्रतिसेवना से उत्पन्न हुआ है, उसका विचार करते हैं।

यदि क्षेत्र के निमित्त से यह अपराध हुआ हो तो उसपर निम्न प्रकार विचार करते हैं। मुनि वर्षाकाल मे आधाकोश, कोश या दो कोश पर्यन्त गमन कर सकते हैं। यदि वे उससे अधिक क्षेत्र मे गमन करें तो क्षेत्र प्रतिसेवना होती है। उक्त प्रतिसेवना करने वाला प्रायश्चित के योग्य होता है। जहा पर गमन करना निषिद्ध है, ऐसे क्षेत्र मे गमन करने से, राज्यविरुद्ध क्षेत्र (स्थान) मे गमन करने से, उन्मार्ग द्वारा गमन करने से, जहा पर मार्ग टूट गया है उस स्थान मे गमन करने से, अन्तःपुर मे प्रवेश करने से, जहां जाने की अनुमति नहीं है या मनाई है वहा जाने से क्षेत्रप्रतिसेवना होती है।

आवश्यको का जो काल नियत है उसका उल्लघन करके सामायिक प्रतिक्रमण आदि आवश्यक का आचरण करने से, वर्षायोग काल का उल्लंघन करने से तथा इसी प्रकार उचित काल मे की जाने वाली क्रियाओ का कालातिक्रम करने से काल प्रतिसेवना होती है।

दर्प, प्रमाद (असावधानता), उन्माद, सहसा भय इत्यादि परिणामों से प्रवृत्ति करने से भाव प्रतिसेवना होती है अर्थात् भाव के निमित्त से अपराध उत्पन्न होता है।

इस प्रकार द्रव्य क्षेत्रादि के द्वारा जन्य अपराध को भली भाति जानकर प्रायश्चित के रहस्य के ज्ञाता आचार्य प्रायश्चित दिया करते हैं।

प्रायश्चित देने वाले आचार्य को आहार द्रव्य का ज्ञान होना आवश्यक है। कोई आहार द्रव्य रस प्रचुर होता है, कोई धान्य प्रचुर या शाक बहुल होता है। तथा किसी में लपसी तथा शाक की मुख्यता होती है। कोई पदार्थ पेय (पीने योग्य पतला) होता है। इत्यादि आहार के पदार्थों के स्वरूप और प्रकृति का ज्ञान प्रायश्चित दाता को होना आवश्यक है।

प्रायश्चित लेने वाले और देने वाले को क्षेत्र (देश) का भी ज्ञान रखना चाहिए। यह देश अनूप (जल बहुल प्रदेश) है, या जागल (अल्प जलवाल) है अथवा साधारण है।

प्रायश्चित देते समय आचार्य को वर्षाकाल, ग्रीष्मकाल और शीतकाल का ध्यान रखकर प्रायश्चित देना चाहिए। तथा प्रायश्चित ग्रहण करने वाले के क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोषादि भावो का तथा प्रायश्चित देने के परिणाम का भी विचार कर लेना चाहिए।

प्रायश्चित आचार करने मे तत्पर हुआ यह साधु क्या सङ्घ मे सहवास करने के उद्देश से अथवा यश के लोभ से अथवा कर्मों की निर्जरा करने के लिए प्रवृत्ति करता है, इसका ध्यान भी आचार्य को रखना आवश्यक है।

आचाय को प्रायश्चित का निर्णय करते समय प्रायश्चित लेने वाले के उत्साह और शारीरिक बल की ओर भी दृष्टि रखना परमावश्यक है। जिस प्रायश्चित से अपराध शुद्धि के साथ उत्साह की वृद्धि होती रहे तथा उसका शरीर उस प्रायश्चित का सहन करले वैसा ही योग्य प्रायश्चित विद्वान् आचार्य दिया करते हैं।

जो चिरकाल का दीक्षित है तथा जो नवीन दीक्षित है, उनके समान अपराध होने पर भी प्रायश्चित मे अन्तर होता है। चिरकाल के दीक्षित की सहिष्णुता और नवीन दीक्षित की सहनशीलता एकसी नहीं होती है, अत. आचार्य उनके प्रायश्चित मे भी अन्तर रखते हैं।

आगम के ज्ञाता व आगमज्ञान हीन के प्रायश्चित मे भी विशेषता होती है। कोई भय से प्रायश्चित का ग्रहण करता है और कोई आदर बुद्धि से अपना कर्त्तव्य समझकर प्रायश्चित का ग्रहण करता है। इत्यादि सब बातों को लक्ष्य मे रखकर गम्भीरता व दूरदर्शिता से विचार कर आचार्य प्रायश्चित देते हैं और मुनिवर्ग को शुद्ध करते हैं।

प्रश्न—प्रायश्चित शास्त्रो के ज्ञान से शून्य जो आचार्य अपने सङ्घ स्थित साधुवर्ग को तथा श्रावक आर्यिका आदि को शुद्ध करने के हेतु प्रायश्चित देते हैं, उसमे क्या हानि होती है ?

उत्तर—जिसको प्रायश्चित शास्त्रो का ज्ञान नहीं है, तथा जिसने आचार्यों के प्रायश्चित देने के क्रम को नहीं जाना है, वह आचार्य पद के योग्य नहीं है। क्योंकि आचार्य के गुणो मे व्यवहारवत्व नाम का तीसरा गुण माना गया है। वह गुण उसमे अवश्य होना चाहिए, उसके बिना कोई आचार्य नहीं बन सकता है। जो साधु आचार्य योग्य गुण के न होने पर भी आचार्य बन बैठता है, वह अनन्त ससार का भोगी होता है, यथा :—

ववहारमयाणंतो ववहरणिज्जं च ववहरतो खु।
उस्सीयदि भवपंके अयसं कम्मं च आदि यदि ॥ ४५२ ॥ (भग आ)
व्यवहारापरिच्छेदी व्यवहार ददाति यः।
अवाप्यैपोऽयशो घोरं संसारमवगाहते ॥ ४६४ ॥ (सं भग आ)

अर्थ—जिसको प्रायश्चित का निरूपण करने वाले ग्रन्थों का, उनके अर्थ का तथा प्रायश्चित कर्म का ज्ञान नहीं है और जो आलोचनादि नव प्रकार के प्रायश्चित का आचरण अपनी मन कल्पना से करवाता है, वह तुण्डाचार्य (मन कल्पित मुख से प्रायश्चित देने वाला) दूसरे को शुद्ध नहीं करता है। स्वय ससार रूपी गहन पक मे फंसता है। संसार से भयभीत यतीश्वरों को व्यथ क्लेश देता है। कारण कि किस अपराध का कौनसा प्रायश्चित होता है, ऐसा ज्ञान उसको नहीं होता है और साधु वर्ग को अनुचित दण्ड देकर वृथा सताता है। आगमविपरीत उन्मार्ग का उपदेश व सन्मार्ग का विनाश करने के कारण वह आचार्य दर्शन मोहनीय कर्म का वन्ध करके अनन्त ससार की वृद्धि करता है। उसका लोक मे घोर अयश होता है। इसलिए ससार से डरने वाले को प्रायश्चित शास्त्रो का ज्ञान न होने पर अपने को झूठे आचार्य पद से कलकित न करना चाहिए। 'हम आचार्य हैं हमने जिस प्रायश्चित का आचरण करने का आदेश दिया है, उसे तुमको पालन करना होगा' ऐसा स्वेच्छा से कभी न वोलना चाहिए।

हे क्षपक! जो मूर्ख व नवीन शिष्य मण्डली को वनाकर अज्ञ मनुष्यो से आदर पाकर अहंकार को प्राप्त होगया है। उसके निकट आत्म शुद्धि की आशा से मत जाओ। उसका वाक् जाल व ऊपर के दिखावे मे आकर अपनी आत्मा का विनाश न करो। जो वैद्य रोग का स्वरूप नहीं समझता है, वह अज्ञ वैद्य रोग की चिकित्सा करने मे समर्थ नहीं हो सकता है। वैसे ही जो आचार्य प्रायश्चित शास्त्रों के ज्ञान से शून्य है, वह रत्नत्रय को निर्मल करने की अभिलाषा रखते हुए भी उसको निर्मल करने मे कृतकार्य नहीं होता है। इसलिए हे क्षपक! तुम्हें प्रायश्चित शास्त्रो के रहस्य के ज्ञाता आचार्य के पादमूल मे ही निवास करना उचित है। उनके सम्पर्क में रहने से ही तुम्हारे दर्शन की विशुद्धि, ज्ञान की प्राप्ति व वृद्धि और चारित्र की उन्नति हो सकती है। धर्म्यध्यान व शुक्लध्यान की सिद्धि और आत्मा की विशुद्धि भी उनकी शरण लेने से ही हो सकती है।

आचार्य का प्रकारत्व गुण

जब क्षपक साधु वसतिका मे प्रवेश करता है, उस समय आचार्य उसे उचित स्थान देता है। जब वाहर जाना चाहता है, तब उसके अनुकूल परिस्थिति की योजना करता है। शय्या सस्तर और उपकरण की आवश्यकता की पूर्ति करता है, तथा वसतिका शय्या उपकरणादि के शोधन करने मे तथा रुग्णावस्था मे अथवा उठने वैठने की सामर्थ्य न रहने पर साधु को हस्तावलवन देकर या अन्य साधुओं को वैयावृत्त्य के लिए नियत करके अशक्त साधु को उठाने, वैठाने, शय्या पर सुलाने, पाद चम्पन, शरीर के मलमूत्रादि की शुद्धि करने मे अनुग्रह करता है। तथा आहार पानादि की अनुकूलता सम्पादन करके समस्त सङ्घ का उपकार करता है। ऐसे उचित और आवश्यक साधनो द्वारा क्षपक का उपकार करने वाले आचार्य को प्रकारक (प्रकुर्वी) कहते हैं।

प्रकारत्व गुण के धारक आचार्य अवसर आने पर छोटे से छोटे और बडे से बड़े विद्वान् या अल्पज्ञ समस्त साधुओं की सब प्रकार की सेवा करने मे स्वय तत्पर रहते हैं, सेवा शुश्रूषा करने मे अत्यधिक परिश्रम होने पर खिन्न चित नहीं होते हैं, सदा प्रसन्नचित होकर सेवा मे संलग्न रहते हैं। वह आचार्य उक्त गुण से अलंकृत होते हैं। इसलिए क्षपक को प्रकारक गुरु की छत्रछाया मे ही निवास करना चाहिए।

आचार्य का आयोपायदर्शित्व गुण

जो क्षपक (समाधिमरण का इच्छुक साधु) आत्म-विशुद्धि करने मे प्रयत्नशील हो रहा है, आहार का त्याग करके काय को कृश कर रहा है, सद्भावना और सुध्यान का आश्रय लेकर कषाय को भी मन्द करने मे तत्पर है, जो मोक्ष प्राप्ति के निकट पहुच रहा है, अथवा मनुष्य पर्याय के अन्त के सन्निकट प्राप्त हो गया है उस क्षपक के भी क्षुधादि की असह्य वेदना के उपस्थित होने पर रागद्वेष उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। क्योकि जब वह क्षुधा तृषा की दारुण वेदना से पीड़ित हो जाता है उस समय मोहनीय कर्म के उदय से उसकी परिणति मलीन हो जाती है। तथा समाधिमरण का कार्य प्रारम्भ करते समय उसने प्रतिज्ञा की थी कि मुनि दीक्षा ग्रहण करने के काल से लेकर अब तक रत्नत्रय मे जो अतिचार उत्पन्न हुए हैं, उन सबको गुरु महाराज के निकट प्रकट करूगा। किन्तु पश्चात उसके लज्जा तथा मान का उदय होने पर वह दोषो की स्पष्ट आलोचना करने मे हिचकिचाने लगता है। वह अभिमान वश सोचता है कि यदि मेरे अपराध आचार्य को विदित हो जावेंगे तो वे मेरी अवहेलना करेंगे। या अन्य मुनि जो मेरी वन्दना करते हैं, आदर सत्कार करते हैं, मेरे दोष प्रकट हो जाने पर ये मेरी वन्दना व आदर सत्कार न करेंगे। मुझे घृणा की दृष्टि से देखने लगेंगे इत्यादि कल्पना करके अपने को निर्दोष और उच्च सिद्ध करने के अभिप्राय से गुरुदेव के समीप अपने दोषो की आलोचना करने के लिए पीछे हटता है। उसे यह भय लगा रहता है कि यदि मैं अपने सब अपराध कह दूगा तो कदाचित आचार्य मुझे सघ से बहिष्कृत कर देंगे। इत्यादि अनेक आशकाए उस क्षपक के अन्तःकरण मे घर बनाये रहती हैं। इसलिए वह उन्नत विचार वाला पवित्रात्मा शरीर का उत्सर्ग करने के लिए उद्यत हुआ भी क्षपक अपने दोष गुरु से निवेदन नहीं करता है। उसको आयोपायदर्शन गुण के धारक आचार्य दोषों की आलोचना करने से होने वाले लाभ को और आलोचना न करने से उत्पन्न होने वाली हानि को भलीभांति दिखाते हैं। क्षपक को मधुर और हितकर शब्दों मे समझाते हैं।

हे महात्मन्! यदि तुम अपने अपराधों को प्रकाशित न करोगे तो तुम्हारा यह दुर्लभ रत्नत्रय नष्ट हो जायगा। जैसे किसी के गुह्य अङ्ग मे विपाक्त (जहरीला) फोडा हो जावे और वह चिकित्सक से लज्जादि के वश न कहे तो वह विनाश का कारण होता है। उसी प्रकार जो क्षपक अपने रत्नत्रय को मलीन करने वाले अतिचारो (अपराधो) को रत्नत्रय के विशोधक आचार्य के समीप नहीं कहता है तो वह रत्नत्रय रूप अपने दुर्लभ जीवन की हत्या करता है। और जो निष्कपट भाव से अपने दोषो का ज्यो का त्यो वर्णन कर देता है, वह

रत्नत्रय जीवन को विशुद्ध और अमर बनाता है। इसलिए हे पवित्र-हृदय महापुरुष! तुमको अपने कल्याण के निमित्त, रत्नत्रय रूप चिन्तामणि रत्न को उज्ज्वल बनाने के लिए लज्जा, मान व भय का परित्याग कर दीक्षा काल से लेकर आज तक के सब अपराधों का यथार्थ प्रकाशन करो।

हे साधो! तुमने अपार और अनन्त ससार का उच्छेद करने के लिए सयम का आराधन किया है। अनन्त काल से यह जीव चतुर्गति रूप ससार मे भ्रमण कर रहा है। ससार मे भ्रमण करते हुए जीवो मे विरले ही भाग्यशाली जीव हैं, जिनको यह दुर्लभ सयमरत्न मिलता है। दैवयोग स तुमको यह सयमरत्न प्राप्त होगया है। कौन ऐसा मूर्ख मनुष्य होगा जो शल्य सहित मरण कर इसे प्राप्त हुए सयमरत्न का नष्ट करेगा। क्योकि जिस आत्मा मे शल्य का निवास होता है, उसमें रत्नत्रय नहीं रहता है। जैसे जहा अन्धकार का साम्राज्य है वहा प्रकाश नहीं रहता है। वैसे ही जिसकी आत्मा मे शल्य रहता है उसमे रत्नत्रय नहीं रहता है। इसलिए रत्नत्रय के शत्रु मायाशल्य का सर्वथा परित्याग कर देना ही तुम्हारे लिए हितावह है।

हे क्षपक! काटा बाण आदि द्रव्य शल्य जैसे शरीर के पाव आदि मे प्रवेश करके प्रथम छिद्र करता है, मास और नाड़ी मे घुस कर पीड़ा देता है, पश्चात् शरीर के अवयव को सडा कर उसे निकम्मा बना देता है। उसी प्रकार मायादि भावशल्य भी आत्मा को दुःखित करता है। तथा व्रत शीलादि गुणों का विनाश करता है। लज्जा, भय और अभिमान उत्पन्न होने पर माया शल्य उत्पन्न होता है। और मायाशल्य के उत्पन्न होने पर साधु अपराध छिपाने का प्रयत्न करता है।

हे महात्मन्! यदि तुमने मायाशल्य धारण कर दुर्लभ बोधि रत्न को गुमा दिया तो याद रखो जन्ममरण रूपी भवर से अति गम्भीर महा भयानक, चौरासी लाख योनि से आकुल, इस अनन्त संसार मे भ्रमण करते हुए कुयोनियो मे पचते हुए तुमको अनगिनत काल तक हृदय विदारक दुःख व सताप भोगने पड़ेंगे।

इस प्रकार आचार्य क्षपक को अपराध प्रकट करने से उत्पन्न होने वाले गुण को और छिपाने से अनन्त ससार (अर्धपुद्गल परावर्तन काल तक) भ्रमण रूप महान् दुःख को अनेक युक्तियों से समझाते हैं, जिससे क्षपक मायाशल्य का त्याग कर अपने दोषों की आलोचना द्वारा रत्नत्रय की विशुद्धि करता हुआ भव भ्रमण के दुःख से मुक्त होता है। इसलिए जिसमे आयोपायदर्शकता नामक गुण पाया जावे, उस आचार्य के पादमूल का आश्रय लेकर रत्नत्रय की आराधना को परिपूर्ण करना चाहिए।

आचार्य में अवपीडकत्व गुण

प्रश्न—यदि कोई क्षपक आलोचना के गुण व दोष का भली भांति निरूपण करने एवं अनेक शिक्षा देने पर भी आचार्य के समीप मान लज्जा भय तथा क्लेश सहन करने की सामर्थ्य का अभाव इत्यादि कारणों से अपने दोषों को व्यक्त करने में प्रवृत्त न हो तो निर्यापक आचार्य क्या करें ?

उत्तर—आचार्य मे अवपीड़कत्व नाम का गुण होता है। उसके बल से आचार्य साधु के हृदय मे छिपे हुए गुप्त अपराधों को प्रकट करवा लेते हैं। जैसे सिंह के सामने शृगाल (सियार) उदरस्थित मास को वमन कर देता है, उसी प्रकार आचार्य की तेजस्विता और प्रभाव से प्रभावित हुआ साधु अपने सब अपराधों को व्यक्त कर देता है।

प्रश्न—आचार्य क्षपक के अपराध व्यक्त करवाने के लिए प्रथम ही इस प्रभाव जनक अवपीड़कत्व गुण का उपयोग क्यो नहीं करते ?

उत्तर—राजा की नीति के समान आचार्य की नीति होती है। राजा अपनी प्रजा के सुख व शान्ति के लिए जैसे अनेक प्रकार की नीति का अवलवन करता है, वैसे ही सङ्घ के कल्याण के लिए आचार्य को भी विविध साधनो का प्रयोग करना पड़ता है। आवश्यकता अनुसार ही उनके अवपीडकत्व गुण का प्रयोग होता है।

प्रश्न—आचार्य प्रथमतः क्षपक को अपराध प्रकट करने के लिए किस प्रकार सान्त्वना देकर उत्साहित करते हैं ?

उत्तर—जब आचाय क्षपक को अपराध के अभिव्यक्त करने से लाभ और अभिव्यक्त न करने से हानि दिखाकर अपने को सफल मनोरथ नहीं पाते हैं अर्थात् हानि लाभ दिखाने पर भी क्षपक जब लज्जा भय मानादि को छोड कर अपने अपराधों की आलोचना नहीं करता है, तब निर्यापक आचार्य क्षपक के प्रति स्नेहपूर्ण आत्मीयता प्रकट करने वाले कर्ण मधुर हृदयस्पर्शी मनोज्ञ भाषण करते हैं। क्षपक के अन्त.करण को सुखी बनाने वाला उपदेश आचार्य जिस प्रकार देते हैं, उसका दिग्दर्शन निम्न प्रकार किया जाता है।

हे आयुष्मन्! तुमने सन्मार्ग को अङ्गीकार किया है। और तुम अन्तःकरण से रत्नत्रय को निर्मल करने के लिए सदा दत्तचित्त रहतो हो। इसलिए हे महात्मन्! तुम लज्जा, भय और गौरव को तिलाजलि देकर अपने दोपो का ज्यों का त्यो प्रकाशन करो। गुरुजन तो माता पिता के तुल्य होते है। उनके सामने अपराध प्रकट करने मे लज्जा कौनसी? गुरुजन सदा शिष्य की उन्नति और गौरव की कामना करते है। वे शिष्य के अपराध को अपना समझते हैं। वे किस तरह तुम्हारे दोपो को दूसरो पर प्रकट कर सकते हैं। जैसे पुत्र अपने

भयङ्कर अपराध को माता पिता के समक्ष करने मे नहीं हिचकता, वह समझता है कि माता पिता मेरे हितचिन्तक हैं तथा मेरे कल्याण करने में प्रयत्नशील रहते हैं। इसलिए वह लज्जा को ताक मे रखकर गुप्त अपराध निवेदन कर देता है। वैसे ही उत्तम शिष्य अपने गुरु को संसार में सबसे अधिक हितकर्त्ता समझता है। क्योंकि वे सवदा अपने आत्म कल्याण के कार्य की उपेक्षा कर शिष्यों के कल्याण की साधना मे अहर्निश लगे रहते हैं। माता पिता तो स्वार्थवश पुत्र के रक्षण शिक्षणादि कार्य मे प्रवृत्ति करते हैं। किन्तु गुरुदेव शिष्य के परलोक सम्बन्धी सुख की प्राप्ति के लिए निस्वार्थ हितचिन्तन मे उद्यत रहते हैं। उनके समक्ष लज्जा करना उचित नहीं है।

लज्जा भी सब जगह श्लाघनीय नहीं मानी गई है यथा :—

"धनधान्यप्रयोगेषु विद्यासंग्रहणेषु च।
आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्ज सुखी भवेत्॥"

अर्थ—धन और धान्य का उचित प्रयोग करने मे, विद्या का ग्रहण (अध्ययन) करने मे तथा आहार और व्यवहार मे जो लज्जा नहीं करता है वह सुखी होता है।

हे क्षपक। तुम्हें कदाचित् यह भय हो कि मेरे द्वारा आलोचना किया गया दोप ये (आचार्य) प्रकाशित कर देंगे तो ऐसा भय मुझसे तुम्हें न करना चाहिए। क्योंकि धर्माचार्य संसार मे धर्म के प्रवर्त्तक होते हैं। वे सदा मुनियो की और मुनि धर्म की निन्दा व अपमान को दूर करने मे कटिबद्ध रहते हैं। वे समाधि की सिद्धि के लिए उपस्थित हुए आप सरीखे महात्माओ द्वारा निवेदन किये गये दोषों को किस प्रकार प्रकट करेंगे? सहधर्मी बन्धु का दोप प्रकाशित करना सम्यग्दर्शन का दूषण माना गया है और परनिन्दा करने से नीच गोत्र का बन्ध होता है। तथा परनिन्दा करने वाला जगत् मे निन्दनीय होता है और वह दूसरे के चित मे असह्य सताप उत्पन्न करने के कारण दारुणदुःख का जनक असातावेदनीय कर्म का बन्ध करता है। सब के साधु तथा अन्य साधु जन ऐसे आचार्य की अवहेलना करते हैं। क्या मैं अपने धर्म रूपी उज्ज्वलरत्न को इस प्रकार पापपङ्क से मलीन करूगा? क्या पूर्णिमा के चन्द्र के समान धवलयश पर अपयश रूपी कज्जल की कालिमा पोतूंगा? कौन सुबुद्धि इस महान् अनर्थ के मूल परदोप प्रकाशन को करके अपने उन्नत मस्तक पर कालिमा का टीका लगावेगा। इसलिए हे मुमुक्षु! दैवयोग से अथवा प्रमाद या अज्ञान से जो सम्यक्त्वादि मे अतिचार हो गये हो वे छिपाने योग्य नहीं है। निर्मल हुआ रत्नत्रय महा महिमा को प्राप्त होता है। और वह शाश्वत लोकोत्तर (मोक्ष) पद देता है। इसलिए अपने सब दोपो को निर्भय होकर मुझपर प्रकट करो। पूर्ण विश्वास रखो, वे दोप किसी के सामने कभी प्रकट न किये जावेगे।

पू. कि ५

स. प्र.

॥

इस प्रकार आचार्य के विश्वसनीय सुमधुर भाषण की भी अवहेलना करके जब क्षपक अपने कृत अपराधो को सम्यक् प्रकार प्रकट नहीं करता है तब आचार्य क्षपक की कल्याण कामना से प्रेरित हुए अवपीडक गुण द्वारा उसके अन्तःस्थल मे छिपे हुए दोषो को अपनी तेजस्विता के बल मे बाहर निकाल लेते है। जैसे सिंह श्रृगाल के उदरस्थित मास को बाहर वमन करवा लेता है। वे क्षपक को इस प्रकार कहते हैं।

हे साधो ! अपराध शरीर के मल के समान या सडे हुए फोडे के समान है। उनको बाहर निकाल फैंकने से ही हित साधन होता है। भीतर छिपा रखने से दुर्गन्धि फैलती है और उससे अनेक हानिया होती हैं। तुम उनको छिपा रहे हो, इसलिए हमारे यहा से हट जाओ। क्योंकि वैद्य के निकट वही रोगी जाता है, जिसे अपनी व्याधि मिटाने की इच्छा होती है। तथा निर्मल जलाशय के समीप वही गमन करता है जिसको जलकी आवश्यकता होती। ऐसे ही रत्नत्रय मे लगे हुए दोषो का निराकरण करने के लिए गुरुओं का आश्रय लिया-जाता है। और तुम रत्नत्रय की विशुद्धि करने मे लापरवाह हो तो फिर तुमने इस समाधिमरण का आडम्बर क्यो रचा है ? सल्लेखना (समाधिमरण) की सिद्धि चतुर्विध आहार का त्याग करने मात्र से नहीं होती है। किन्तु उसकी सिद्धि के लिए कषायो का त्याग करना भी परमावश्यक है। कषाय का त्याग करने वाले के सवर और निर्जरा होती है। कषायो से नवीन कर्मों का रसबध और स्थिति बन्ध होता है। अत मुमुक्षु उनका निग्रह करते हैं। क्रोधादि कषायो मे माया कषाय अति निन्दनीय है। क्योंकि माया से तिर्यंच योनि का बन्ध होता है। उस माया को छोडने मे तुम असमर्थ हो। तुमने तो तिर्यंच योनि मे प्रवेश करने का साधन जुटा रखा है। ससार से निवृत्त होने का तुम्हारा उद्योग कैसे सार्थक होगा ? ससार रूप महापङ्क से उद्धार होना अति दुष्कर है। वस्त्र फैंक देने मात्र से निर्ग्रन्थपने का अभिमान करना न्याय संगत नहीं है। यदि नग्न होने से ही निर्ग्रन्थता प्राप्त हो जाती है, ऐसा मान लिया जावे तो तिर्यंच भी निर्ग्रन्थ माने जावेंगे। परम भट्टारक तीर्थंकर देवने दश प्रकार के बाह्य और चौदह प्रकार के अन्तरङ्ग परिग्रह की गाठ को उतार फैंकने पर मुनिपना बताया है। और वही मोक्ष का अमोघ उपाय है। यद्यपि क्षेत्र वस्तु आदि दश प्रकार परिग्रह का त्याग किये बिना भाव मुनि पना नहीं होता है, तथापि भाव मुनित्व की सिद्धि के लिए बाह्य परिग्रह के त्याग के साथ २ कषायादि का भी त्याग करना आवश्यक है।

हे मुमुक्षो ! जो कर्मों का बन्ध होता है वह जीव और पुद्गल द्रव्य के सम्बन्ध मात्र से नहीं होता है, किन्तु जीव के कषायादि परिणाम से होता है। वह कषाय भाव (माया कषाय) तुम्हारी आत्मा मे जाज्वल्यमान हो रहा है, अत. कर्म बन्ध से निवृत्त होने का तुम्हारा प्रयास विडम्बना मात्र है।

हे रत्नत्रय के पालक ! अतिचार से दूषित सम्यक्त्वादि मुक्ति के कारण नहीं हो सकते हैं। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' यह आगम वचन तुम्हारे कर्णगोचर नहीं हुआ है ? उसमे निरतिचार दर्शनादि को ही मुक्ति का मार्ग (उपाय) बताया है।

अतिचार सहित दर्शनादि को सम्यग्दर्शनादि नहीं बताया है। और वह सम्यग्दर्शनादि की निरतिचारता गुरु द्वारा बताये गये प्रायश्चित का आचरण करने से ही प्राप्त होती है। गुरु उसी को प्रायश्चित देते हैं जो उनके समक्ष अपने अपराधों की आलोचना करता है। तुमतो अपराधों की आलोचना नहीं कर रहे हो इसलिए तुम दूरभव्य या अभव्य प्रतीत होते हो। अन्यथा ऐसी महान् मायाशल्य को हृदय मे स्थान कैसे देते और मुनियों के वन्दना के पात्र भी कैसे होते ? अर्थात् मायाचार से दूषित होने के कारण मुनि द्वारा अवदनीय होकर भी तुमने मुनियो से वन्दना करवाई है, अत. तुम दूरभव्य या अभव्य ज्ञात होते हो।

'समणं वंदिज्ज मेधावी संजदं सुसमाहिदं।'

अर्थात्—विचारवान् साधु को उचित है कि वह उसी साधु की वन्दना करे जो समचित्तता का धारक हो।

जो साधु जीवन और मरण मे, प्रशंसा और निन्दा मे, लाभ और अलाभ मे समान बुद्धि रखता है, उसे समचित कहते हैं। मैं अतिचार की आलोचना करूंगा तो मेरी सब मुनि निन्दा करेंगे, प्रशसा न करेंगे–ऐसा तुम मन मे विचार कर रहे हो, तुम सम–बुद्धि नहीं हो, अतः वंदना योग्य कैसे हो सकते हो ? तुम शायद यह समझकर आलोचना नहीं कर रहे हो कि मेरे दोषों को ससार मे कोई नहीं जानता है। यह तुम्हारी भूल है। तुम्हारे अपराधो को मैं जानता हूँ और अन्य मुनीश्वर भी जानते हैं। इस प्रकार युक्ति सङ्गत ओजस्वी भाषण द्वारा उसके अन्त.करण मे अपना वर्चस्व स्थापित करके उसके अन्त.करण के प्रच्छन्न अपराधों को प्रकाशित करवा लेते हैं, जैसे सिंह के समक्ष शृगाल अपने उदरस्थित मासादि को बाहर निकाल देता है। ऐसे गुण के धारक आचार्य को अवपीडक गुण विशिष्ट कहते हैं।

अवपीड़क आचार्य का लक्षण

उज्जस्सी तेजस्सी वचस्सी पहिदकित्तियायरिओ।
सीहाणुओ य भणियो जिणेहिं उप्पीलगो णाम ॥ ४८७ ॥
कंठीरव इवौर्जस्वी तेजस्वी भानुमानिव।
चक्रवर्तीव वचस्वी सूरिरुत्पीड़कोऽकथि ॥ ४६२ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—उत्पीड़क गुण के धारक आचार्य सिंह के समान ओजस्वी (प्रभावशाली बलवान्) होते हैं। सूर्य के समान तेजस्वी (प्रतापी) होते हैं। जिनके आगे सब कापते हैं और जो किसी के प्रभाव (रोब) मे नहीं आते हैं उन्हें तेजस्वी कहते हैं। अर्थात् सब यतीश्वरों

पर उनका प्रभाव होता है। जो चक्रवर्ती के समान अप्रतिहत शासन होते हैं, स्वकीय सङ्घ के और अन्य सङ्घ के मुनि जिनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते हैं उन्हें वर्चस्वी कहते हैं। वे प्रश्न का उत्तर देने मे निपुण होते हैं। उनका धवल यश ससार मे विस्तृत होता है। और वे सिंह के समान अधृष्य (क्षोभरहित) होते हैं।

अवपीडक गुण के आधार आचार्य हितचाहने वाली उस माता के समान होते हैं जो रोते हुए बालक के मुह को बलात्कार से खोलकर उसे दूध पिलाती है। आचार्य भी माया शल्य सहित अपने दोषो की आलोचना न करने वाले साधु को बलात्कार से दोषों की आलोचना करने के लिए बाध्य करते हैं। यद्यपि कडुवी औषधि रोगी को बुरी लगती है, तथापि परिणाम मे सुखप्रद होती है। वैसे ही दोषो का प्रकाशन क्षपक को बुरा लगता है, किन्तु भविष्य मे कल्याण का कर्ता होता है। अर्थात् दोषो की आलोचना करने पर गुरु द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित का आचरण कर क्षपक भविष्य मे ससार परिभ्रमण के दुःख से मुक्त होता है।

जो गुरु शिष्यों के प्रति मृदु भाषणादि सद्व्यवहार तो रखते हैं, लेकिन उनके दोषों का निराकरण नहीं करते हैं, उनकी अपेक्षा वे गुरु दुर्लभ हैं, जो शिष्यों की हितकामना से पादप्रहार करके भी उनके दोषो का निवारण करते हैं। कारण कि इस लोक मे अपने हितकर कार्य मे तत्पर रहने वाले तथा परहित कार्य मे उपेक्षा करने वाले ही मनुष्य बहुत पाये जाते हैं। अपने हित के समान परहित का चिन्तन करने वाले बहुत कम दिखाई देते हैं। अर्थात् जो आत्महित करते हुए परहित मे निरत रहते हैं, वे ही नरपुगव कटुकठोर अप्रियवचन बोलकर भी शिष्य का कल्याण करते हैं। ऐसे जगद्गुरु इस लोक मे अतिशय दुर्लभ हैं।

शङ्का—यदि कोई शिष्य अपने पूर्व दोषो की आलोचना न करे तो वह भविष्य मे निर्दोष सयम का पालन करने मे कटिबद्ध रह सकता है या नहीं ?

समाधान—जो साधु अपने दोषो से निवृत्त नहीं होता है, वह भविष्य मे निर्दोष आचरण करने मे समर्थ नहीं हो सकता है। जैसे किसी मनुष्य के व्रण (घाव) सड गया है, उस सडे भाग का आपरेशन या इजेक्शन आदि के प्रयोग से जब तक शोधन नहीं किया जाता है, तब तक उसकी प्रवृत्ति (चेष्टा) सुखमय नहीं होती है। उसी प्रकार जब तक पूर्व अपराधों (दोषो) का शोधन नहीं किया जाता है, तब तक उसके अन्तःकरण मे दोषो की वासना बनी रहने के कारण गुणो मे अप्रतिहत प्रवृत्ति नहीं होती है।

जब तक आत्मा मे दोषो का सद्भाव रहता है तब तक रत्नत्रय की शुद्धि नहीं होती है और रत्नत्रय की शुद्धि के बिना ससार-चक्र से निकलकर मोक्ष के निकट पहुचना असभव है, इसलिए अवपीडक गुण के धारक आचार्य जैसे बने वैसे क्षपक (समाधि के आराधक) के हृदय से दोषो का वमन करवाकर उसका कल्याण करते हैं।

स प्र

आचार्य की विशिष्टता

प्रश्न—साधु को अपने दोष गुरु महाराज के निकट मायारहित होकर स्पष्ट निवेदन करना आवश्यक है। तथा उसके निवेदनन करने पर आचार्य प्रथम मधुर स्नेह युक्त वचन से और पश्चात् कटु कठोर प्रभावशाली वचन से क्षपक को अपने दोष प्रकट करने के लिए वाध्य करते हैं। लेकिन आचार्य साधु के गुप्त दोषों को यदि प्रकरण पाकर या द्वेषवश मुनि समाज मे प्रकट करदें तो क्षपक की महती हानि होने की सभावना रहती है। अतएव आचार्य का उस समय क्या कर्त्तव्य-धर्म होना चाहिए ?

उत्तर—आचार्य वही हो सकता है, जिसका हृदय गभीर होता है। जैसे अग्नि से तपा हुआ लोहे का गोला पानी का शोषण करता है, शोषण किया हुआ पानी उससे कभी बाहर नहीं निकलता है, वैसे ही आचार्य के अन्त करण मे रखा हुआ साधु का दोष जीवन पयन्त कभी बाहर प्रकट नहीं होता है। उसकी हवा भी किसी निकटवर्ती मुनि को नहीं मिलती है। आचार्य के मुख से तो क्या उनके इगिताकार से (चेष्टा से) भी कोई इगितज्ञ पता नहीं चला सकता है। ऐसे गभीर हृदय वाले आचार्य को अपरिस्रावी गुण का धारक कहा है। जिसमे यह गुण नहीं है, वह आचार्य पद के योग्य नहीं होता है। आचार्य पर विश्वास करके साधु अपने भयानक दोषो को भी स्पष्ट प्रकट कर देता है। यदि वह साधु के दोषो को प्रकट करदे तो उसे आगम मे धर्म से पतित माना है वही कहा है।

आयरियाण वीसत्थदाय भिक्खू कहेदि सगदोसे।
कोई पुण णिद्धम्मो अण्णेसिं कहेदि ते दोसे ॥ ४८८ ॥

अर्थ—साधु आचार्य पर विश्वास कर अपने दोषों का प्रकाशन करते हैं और यदि वह आचार्य उन दोषो को अन्य साधुओं पर प्रकट करदे तो वह आचार्य जिनोक्त धर्म से वहिर्मुख हुआ समझा जाता है। अर्थात् जिनागम मे आचार्य के लिए साधु के आलोचना किये गये दोषो को किसी भी प्रकार से प्रकट नहीं करने की आज्ञा है। यदि वह इसके विपरीत आचरण करता है तो वह जिनाज्ञा का उल्लघन करनेवाला धर्म-भ्रष्ट माना गया है, तथा विश्वासघात के महापाप से दूषित कहा गया है।

प्रश्न—कोई आचार्य यदि साधु का अपराध अन्य के समक्ष व्यक्त करदे तो उससे साधु की क्या हानि होती है ?

उत्तर—जिस साधु के दोष आचार्य ने अन्य साधु आदि पर प्रकट किये हैं वह लज्जा या मान के वश क्रुद्ध होकर आचार्य का ही नहीं, कभी २ रत्नत्रय का भी त्याग कर देता है। और यदि वह साधु यशस्वी और जगन्मान्य हो तो कभी २ आत्महत्या तक कर बैठता है वह कलंकित जीवन से मृत्यु को श्रेष्ठ समझकर क्रोध से अन्धा हुआ महापाप जनक आत्मघात करने मे भी प्रवृत्त हो जाता है।

साधु के आलोचित दोष प्रकट करने वाले आचार्य का वह साधु तथा अन्य सङ्घ के साधु परित्याग कर उसके शासन की उपेक्षा करने लगते हैं। सङ्घ में खलबली मच जाती है। जिस साधु का आलोचित दोष आचार्य ने प्रकट किया है, वह मुनि सब साधुओं को 'आज इसने मेरे दोष सबके सम्मुख प्रकट किये हैं, कल तुम्हारे भी करेगा' ऐसा कहकर आचार्य के प्रति विरुद्ध और श्रद्धाहीन कर देता है। आचार्य के प्रति विपरीत हुए साधु उस आचार्य से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेते हैं।

इतना ही नहीं मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका यह चतुर्विध सङ्घ भी उस आचार्य का परित्याग करता है।

परदोष का प्रकाशक आचार्य अपना और साधुओं का तथा सङ्घ का ही अनिष्ट नहीं करता, बल्कि पवित्र जैन धर्म का और साधु धर्म का अपवाद करने वाला होता है। लोग कहने लगते हैं कि—

'आचार्यो यत्र शिष्यस्य विदधाति विडम्बनाम्।
धिक् धिक् निर्धर्मा साधूनिति वक्ति जनोखिलः॥ ५०९॥
विश्वासघातका एव दुष्टाः सन्ति दिगम्बराः।
ईदृशीं कुर्वते निन्दां मिथ्यात्वाकुलिता जना॥ ५१०॥ (सं भग. आ.)

अर्थात्—जिस सम्प्रदाय मे आचार्य शिष्य की विडम्बना करते हैं, शिष्य का दूषण प्रकट करते हैं, उस सम्प्रदाय के साधुओं को सम्पूर्ण जनता धिक्कार देती है। दिगम्बर साधु विश्वास घातक और दुष्ट होते हैं, ऐसी निन्दा मिथ्यात्व दूषित मनुष्य करने लगते हैं।

अपरिस्रावी गुण के धारक आचार्य दोष प्रकट करने से उत्पन्न होने वाले इस प्रकार के सब दूषणों को भली भांति जानते हैं। बिना पूछे वे दोष का प्रकाशन कैसे कर सकते हैं। किसी के पूछने पर भी अपने मुख से कभी दोष प्रकाशित नहीं करते हैं। इसलिए हे क्षपक साधुओ। दोष का निगूहन करने वाले रहस्य का भेदन न करने वाले आचार्य का आश्रय करो।

आचार्य का सुखकारी गुण

प्रश्न—आचार्य में एक सुखकारी गुण माना गया है, उसका स्वरूप क्या है। क्षपक के लिए आचार्य किस प्रकार के सुखों का साधन करते हैं?

उत्तर—क्षपक के योग्य भोजन पान की योग्यता को मिलाकर आचार्य उसे शान्ति पहुँचाते हैं। उचित परिचारको को वैयावृत्त्य मे नियुक्त करके तृण के सस्तर आसनादि की अनुकूल व्यवस्था करके उसे आराम देते हैं। क्षपक के चित्त मे क्षुधादि के कारण क्षोभ उत्पन्न होने पर या परिचारकों के प्रमाद से अथवा शीतादि की परीषह से या रोग की तीव्र वेदना से अति सक्लेश उत्पन्न होजाने पर उसके चित्त मे मर्यादा भङ्ग करने की परिणति होने लगती है। ऐसे समय शान्तचित्त क्षमाशील धैर्य धारण कर निर्यापकाचार्य क्षोभ रहित होकर स्नेह युक्त मधुर चित्त प्रसन्न करने वाली कर्ण-प्रिय कथाओ को कहकर क्षपक के चित्त मे शान्ति और सुख का सञ्चार करते हैं। और उसको सयम मे दृढ करते हैं। यथा :—

सुखकारी दधात्येनं मज्जन्तं दुस्तरे भवे।
पूतरत्नभृतं पोतं कर्णधार इवार्णवे ॥ ५१९ ॥
शीलसंयमरत्नाढय यतिनाव भवार्णवे।
निम्मज्जन्तीं महाप्राज्ञो बिभर्ति सूरिर्नाविकः ॥ ५२० ॥ (स. भग. आ)

अर्थ—जैसे समुद्र की गहराई उतराई का ज्ञाता कुशल कर्णधार रत्नों से भरे हुए जहाज को समुद्र के भीतर भँवर चट्टान आदि से बचाकर सायात्रिकों (जहाजी व्यापारियो) को मधुर और प्रिय वाक्यों से धैर्य बंधाता हुआ अभीष्ट स्थान पर सुख से ले जाता है, वैसे ही सघ का नायक आचार्य ससार समुद्र मे डूबती हुई शील सयमादि गुण रत्नों से परिपूर्ण यति नौका को अपनी बुद्धि की पटुता से मोक्ष नगर के निकट पहुँचाता है।

भावार्थ—रत्नादि बहु मूल्य से भरे हुए जहाज का खेवटिया वही हो सकता है, जिसने अथाह समुद्र मे ऊँची उछलती हुई तरंगों मे जहाज को निरन्तराय पार करने का पूर्ण अभ्यास किया हो तथा जिसको प्राप्त होने वाली विघ्न बाधाओं का तथा उनके निवारण करने के उपायो का पूर्ण अनुभव ज्ञान प्राप्त हो। उसी प्रकार निर्यापकाचार्य भी वे ही हो सकते है जिन्होंने जिनागम के रहस्य का पूर्ण अनुभव किया है। संयम से परिपूर्ण यति पोत (मुनि रूप जहाज) क्षुधा पिपासादि तरङ्गों के आघात से जब उछलने लगता है, संसार समुद्र मे डूबने के उन्मुख हो जाता है ऐसे समय मे वह आचार्य बुद्धि कौशल से हृदयग्राही मधुर वचन से उसको बचाकर लक्ष्य स्थान पर ले जाते हैं। उनकी वाणी मे ओज होता है। धैर्य और साहस उसमे उत्पन्न करने की शक्ति होती है। दुखित हृदय मे आनन्द का सोत बहाती है। नीरस जीवन मे सरसता उत्पन्न करती है। उसकी मधुरता कर्ण और अन्तःकरण मे मधुरिमा की वृष्टि कर देती है। शरीर से परम वैराग्य उत्पन्न कर मुक्ति अङ्गना के अनुपम और अविनश्वर सहजानन्द की झलक का अनुभव कराती है। ऐसी वाणी के धारक, आत्मानुभव रस के

आस्वादन करने वाले, ज्ञानामृत के अवगाहक, चारित्र नन्दनवन मे रमण करने वाले महात्मा ही आचार्य पद को सुशोभित कर शरणागत शिष्य जनो को उक्त गुणो का अपने आचरण और मधुर भाषण से आस्वादन कराकर उन्हे दु:खी से सुखी बनाते हैं।

उक्त आचारवान् से लेकर सुखकारी पर्यन्त आठ गुणों का सद्भाव जिसमे पाया जाता है, उस आचार्य का अन्वेषण कर शरण लेने से ही साधक के उद्देश्य की पूर्ति होगी और वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगा।

सगुण आचार्य की प्राप्ति कैसे हो

प्रश्न—मुमुक्षु साधु को उक्त गुण रत्नों से अलकृत आचार्य की शरण प्राप्त करने के लिए क्या करना चाहिए।

उत्तर—परहित-निरत, आगमामृत भोजी, चारित्र पीयूष पान से सतृप्त आचार्य की प्राप्ति गुरुकुल (मुनि सघ) को आत्म-समर्पण करने से अर्थात् आचार्य के शासन को शिरोधार्य कर उनके पाद मूल में निवास करने से होती है।

गुरुकुल (मुनि सघ) को आत्म-समर्पण करने का समाचार-क्रम निम्न प्रकार है—

क्षपक गुरुकुल को आत्म समर्पण कैसे करे ?

जब साधु आचार्य के चरणों की शरण मे जावे तब प्रथमतः मन वचन और काय से सामायिकादि छह आवश्यक को पूर्ण करके दोनो हाथ जोड कर मस्तक नवाकर वन्दना करे।

सामायिक, प्रतिक्रमण, चतुर्विंशति संस्तव, वन्दना,प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग-इन छह आवश्यक क्रियाओं को मन वचन और काय से करना चाहिए। अर्थात प्रत्येक आवश्यक मनोयोग, वचनयोग और काययोग के भेद से तीन तीन प्रकार का हो जाता है। मन द्वारा सर्व सावद्य योगों का त्याग करना मनोयोग सामायिक, 'मैं सम्पूर्ण सावद्य योगों का त्याग करता हूँ' ऐसा वचन उच्चारण करना वचन योग सामायिक काय से सर्व सावद्य योग क्रिया का त्याग करना काय योग सामायिक, इस प्रकार सामायिक के तीन भेद होते हैं। इसी प्रकार प्रतिक्रमणादि के भी तीन २ भेद होते हैं। पूर्वकृत अतिचारों का मन से त्याग करना, हाय हाय मैंने अमुक२ पाप कार्य किया है, ऐसा चिन्तन कर मनमे पश्चाताप करना मन प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण के सूत्रो का उच्चारण करना वचन प्रतिक्रमण और काय द्वारा उन अतिचारो का आचरण न करना काय प्रतिक्रमण है।

मनसे चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का स्मरण करना, वचन से 'लोगस्सोज्जोयगरे' इत्यादि पाठ पढकर तीर्थंकरो की स्तुति करना, मस्तक पर हाथ जोड कर जिनेन्द्र देव को नमस्कार करना ये चतुर्विंशति सस्तव के तीन भेद हैं।

वदना करने योग्य गुरुओ के गुणो का स्मरण करना मनो वन्दना, वचन द्वारा उनके गुणो की महिमा वर्णन करना वचन वन्दना और प्रदक्षिणा देना, मस्तक झुका कर नमस्कार करना यह काय वन्दना है।

भविष्य मे 'मैं मनसे अतिचार न करूगा' ऐसा चिन्तन करना यह मन.प्रत्याख्यान है, वचन से'मैं भविष्य मे अतिचार न करूगा' यह वचन प्रत्याख्यान और काय से भविष्य काल मे अतिचार का आचरण करना काय प्रत्याख्यान है।

'यह शरीर मेरा नहीं है' ऐसा मन मे विचार कर मन से शरीर प्रेम को दूर करना मन.कायोत्सर्ग, 'मैं शरीर से प्रेम का त्याग करता हूँ' ऐसा वचनोच्चारण करना वचन कायोत्सग तथा हाथों को नीचे लटकाकर दोनों पैरो मे चार अगुल का अन्तर रखकर नासाग्रदृष्टि किये हुए शरीर सम्बन्धी अनेक उपसर्गादि द्वारा विघ्न बाधा उपस्थित होने पर भी निश्चल खडे रहना काय द्वारा कायोत्सर्ग है।

प्रसन्न चित्त गुरु जब एकान्त मे विराजमान हों उस समय शनै शनै (विनय पूर्वक) आकर शरीर और भूमि का प्रतिलेखन कर (पिन्छी द्वारा प्रमार्जन कर) आचार्य के न तो अधिक निकट और न बहुत दूर बैठकर हाथ जोड कर 'हे भगवन् मैं कृतिकर्म वन्दना करना चाहता हूँ' ऐसी आलोचना करे। गुरु महाराज मे अनुज्ञा प्राप्त होने पर धीरे से उठकर मस्तक पर हाथ जोड़ कर न तो अधिक शीघ्र और न बहुत धीरे मध्यम वृत्ति से सामायिक पाठ का उच्चारण करे।

सूत्र के अनुसार निश्चल विकार रहित खडा हो कायोत्सर्ग करे। पश्चात् चतुर्विंशति स्तव (चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति) पढकर आचार्य पर अनुराग धारण करता हुआ गुरु की स्तुति पढे। इसे कृतिकर्म वन्दना कहते है। वन्दना करने के बाद आचार्यवर्य से हाथ जोड कर निवेदन करे।

तुज्झेत्थ बारसंगसदपारया सवणसंघणिज्जवया ।
तुज्झं खु पादमूले सामण्णं उज्जवेज्जामि ॥ ५१० ॥
पव्वज्जादी सव्वं कादूणालोयणं सुपरिसद्धं ।
दसणणाणचरित्ते णिसल्लो विहरिदुं इच्छे ॥ ५११ ॥ (भग आ)

अर्थ—हे गुरुदेव ! आप द्वादशांग श्रुतज्ञानरूपी सागर के पारगामी हैं । तपस्वी मुनिश्वरों को सुख पूर्वक समाधिमरण कराने मे कुशल हैं । मैं आपके पादपद्म का शरण प्राप्त कर अपने मुनि धर्म को उज्ज्वल करना चाहता हू । दीक्षा धारण करने से लेकर आज तक जो अपराध हुए हैं, उनकी आकम्पित अनुमानितादि दश दोष रहित आलोचना करके दर्शन, ज्ञान और चारित्र मे निःशल्य प्रवृत्ति करना चाहता हूँ।

इस प्रकार क्षपक जब अपना अभिप्राय आचार्य के निकट प्रकट करता है, तब आचार्य कहते है—हे मुमुक्षो ! तुमने बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग किया है, अतएव अब तुम निर्विघ्न उत्तम प्रयोजन रत्नत्रय को सिद्ध करो ।

हे महाभाग ! तुम जगत् मे धन्य हो, जो नारकादि चतुर्गति में भ्रमण कराने वाले दुष्कर्मों का तथा संसार मे उत्पन्न होने वाले जन्म जरा मरण आधि व्याधि जन्य असह्य दुःखो का सहार करने वाली रत्नत्रय की साधना रूप समाधिमरण–आराधना के ग्रहण करने का निश्चय किया है । इससे कर्मों का क्षय होता है । और कर्मों के क्षय होने पर उससे उत्पन्न होने वाले दुःखों का निवारण होता है ।

हे महात्मन् ! तुम निशङ्क होकर हमारे सघ मे निवास करो । अपने मन से सम्पूर्ण व्याकुलता को दूर करो । हम तुम्हारे प्रयोजन के विषय मे परिचारकों के साथ विमर्श करके निश्चय करेंगे ।

इस प्रकार आचार्य आगन्तुक समाधिमरण के अभिलाषी मुनि को कहकर उसे गुरुकुल मे निवास करने की अनुमति देते हैं । तत्पश्चात् आचार्य क्षपक के समाधिमरण की निर्विघ्न साधना के लिए राज्य, क्षेत्र, देश, गाव, नगर, तथा उसके अधिपति सघ और स्वय अपनी योग्यता की परीक्षा (जाच) करते हैं । क्योंकि इनके अनुकूल होने पर सम्यक्त्वादि की वृद्धि होती है । और प्रतिकूल होने पर प्रयोजन की सिद्धि नही होती है । तथा कभी २ विपरीत परिणाम भी हो जाता है ।

सबसे प्रथम आचार्य आगन्तुक क्षपक की परीक्षा करते हैं–उसकी आहार मे लम्पटता है या नहीं ? इसकी जाच करते हैं । यदि क्षपक आहार का लम्पटी हुआ तो वह अहर्निश आहार का चिन्तन करता रहेगा वह आराधना को सफल कैसे बना सकेगा ? उसकी क्षुधा तृषादि के सहन करने की सामर्थ्य की भी परीक्षा करते हैं । यदि उसमे सहन शक्ति न हुई तो क्षुधादि से पीडित होकर चिल्लाने लगेगा और धर्म को दूषित करेगा ? क्षपक की आराधना मे विघ्न उपस्थित होगा, या न नहीं होगा ? आचार्य इसका विचार किये बिना यदि क्षपक को ग्रहण कर लेगा तो विघ्न उपस्थित होने पर बीच मे ही उसे त्याग करना पड़ेगा, इससे क्षपक का भी प्रयोजन सिद्ध न होगा और आचार्य की भी लोक मे निन्दा होगी ।

इसका विचार करने के अनन्तर आचार्य राज्य क्षेत्र देश नगर गांव आदि की परीक्षा करके निर्णय करते हैं कि यह राज्यादि

इस क्षपक के कार्य के साधक नहीं हैं तो अन्यत्र राज्य क्षेत्र देशादि का आश्रय लेते हैं। वहा पर क्षपक की कार्यसिद्धि,गण (सघ) की शान्ति (उपद्रवादि का अभाव) तथा स्वयं अपने सब कार्यों मे सुलभता पाते हैं तब क्षपक के समाधिमरण कार्य का प्रारम्भ करते हैं। जो आचार्य इन सब साधन सामग्री का परीक्षण न करके कार्य प्रारम्भ करते हैं, वह क्षपक का उपकार करने मे तथा अपने हित साधन मे विफल होकर क्लेश के भाजन होते हैं।

क्षपक के लिए संघस्थ परिचारक साधुओं की सम्मति

प्रश्न—राज्य देश नगरादि के शुभ अशुभ की परीक्षा करलेने के बाद आचार्य क्या करते हैं ?

उत्तर—आचार्य क्षपक की प्रकृति तथा क्षपक के उत्तम प्रयोजन के अनुकूल देशादि की परीक्षा (जाच) करलेने के अनन्तर परिचारक साधुओं से पूछताछ करते हैं। उनकी इस कार्य मे क्या सम्मति है ? और वे इसमे उत्साह पूर्वक सहयोग दे सकेंगे या नहीं ? यह सब जानने के लिए उनसे पूछते हैं—

हे वैयावृत्त्य परायण महात्माओ ! यह आगन्तुक साधु समाधिमरण का आराधन करने के लिए हमारी सहायता चाहता है। 'साधु समाधि और वैयावृत्त्य करना' तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कारण है, इसका आपको भली भाति निश्चय है। इसलिए आप सोच विचार कर उत्तर दें ? क्या इस साधु पर अनुग्रह किया जाय या नहीं ? लोक व्यवहारी मनुष्य भी प्रायः परहित साधन मे कटिबद्ध रहते हैं, तो यति महात्माओ के लिए क्या कहना है ? वे तो समस्त निकट भव्य जनो का ससार समुद्र से उद्धार करने में उद्यत रहते हैं। 'आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं' ऐसा आचार्यों का वचन है। इसलिए हमको इस शरणागत साधु पर अवश्य अनुग्रह करना चाहिए। इस प्रकार परिचारक साधुओं को पूछने पर उनकी स्वीकारता मिलने पर आचार्य आगन्तुक साधु को अङ्गीकार करते हैं। परिचारको से पूछे बिना यदि आचार्य आगन्तुक साधु का कार्य प्रारम्भ करदें तो आचार्य, क्षपक तथा समस्त सघ को संक्लेश उत्पन्न होने की सभावना रहती है। 'मैंने इस क्षपक का कार्य प्रारम्भ कर दिया है, और ये साधु परिचर्या द्वारा सहायता नहीं करते हैं, इस प्रकार आचार्य को सक्लेश उत्पन्न हो सकता है। 'हम लोगों से आचार्य ने इस कार्य में सम्मति नहीं ली है, ऐसा विचार कर क्षपक की परिचर्या (वैयावृत्त्य) मे तत्परता न रखने के कारण क्षपक के मन मे 'मेरी ये साधु उचित परिचर्या व भक्ति नहीं करते हैं' ऐसा संक्लेश भाव उत्पन्न होता है। 'इस कार्य मे बहुत जनों की आवश्यकता होती है, अकेला कोई इसे नहीं कर सकता है' गुरु महाराज ने इसमे हमारी अनुमति नहीं ली, न हमारे बल अबल की परीक्षा की और इस कार्य को प्रारम्भ कर दिया इस प्रकार परिचारकों के अन्तःकरण में संक्लेशभाव उत्पन्न हो सकता है।

इसलिए स्व परहित मे निपुण आचार्य क्षपक का कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व परिचारक साधुओ की सम्मति प्राप्त कर लेते हैं। उसके पश्चात् समाधिमरण के कार्य का प्रारम्भ करते हैं।

एक आचार्य के पास कितने क्षपक समाधिकरण करते हैं?

प्रश्न—एक आचार्य के सरक्षण मे कितने क्षपक समाधिमरण कार्य का प्रारम्भ कर सकते हैं?

उत्तर—जिनेन्द्र देव के उपदेशानुसार एक निर्यापकाचार्य की शरण मे एक क्षपक संस्तर पर आरूढ़ हुआ तपरूपी अग्नि मे अपने शरीर का हवन करता है और एक साधु उग्र अनशनादि तप द्वारा अपने शरीर का शोषण करता है।

अर्थात्—सघ की अनुमति मिलने पर भी आचार्य एक साधु को ही समाधिमरण कार्य के लिए दो साधुओं पर अनुग्रह कर सकता है। उनमे से एक तो सस्तर पर आरूढ हुआ जिनेन्द्र देव के आदेशानुसार तपश्चरणाग्नि मे अपने शरीर की आहुति देता है और दूसरा उग्र उग्र अनशनादि तपश्चरण का आचरण कर अपने शरीर को कृश करता है। इन दो साधुओ के अतिरिक्त एक आचार्य के रक्षण मे तीसरे साधु को समाधिमरण कार्य प्रारम्भ करने की जिन शासन मे आज्ञा नहीं है। क्योकि दो या तीन साधु समाधिमरण के लिए संस्तर पर आरूढ हो जावें तो उनके अन्त करण को धर्म मे स्थिर रखने के लिए विनय वैयावृत्त्यादि कार्य यथायोग्य नहीं हो सकने के कारण उनके चित्त मे सक्लेश होना अवश्यभावी है, इसलिए एक क्षपक संस्तरारूढ हो सकता है और एक उग्र तपस्या कर सकता है।

इस प्रकार आचार्य सघ की सम्मति से उक्त प्रकार क्षपक साधु को स्वीकार कर संघ के मध्य उसको उपदेश देते हैं।

आचार्य का क्षपक के प्रति उपदेश

प्रश्न—क्षपक को एकान्त मे उपदेश न देकर आचार्य समस्त संघ के मध्य उपदेश क्यो देते हैं? इसमे क्या रहस्य है?

उत्तर—सम्पूर्ण सघ के बीच क्षपक को उपदेश देने का कारण यह है कि सघ को भी समाधि का स्वरूप विदित हो जावे, तथा आगन्तुक क्षपक का भी सबको परिचय हो जावे और इस उत्तम कार्य में सबकी साक्षी भी हो जावे।

प्रश्न—आचार्य क्षपक को क्या उपदेश देते हैं, उसका अभिप्राय प्रकट करने की कृपा करें।

उत्तर—निर्यापकाचार्य समाधिमरण का कार्य प्रारम्भ करने वाले साधु को इस प्रकार शिक्षा देते हैं—हे क्षपक! तुम सुस्थिया

स्वभाव का परित्याग कर चारित्र का पालन करो। सुख स्वभाव से चारित्र म शिथिलता आती है। सुखिया प्रकृति का मुनि आहार उपकरण और वसतिका की शुद्धि के विषय मे उदासीन रहता है। क्योकि मनोज्ञ आहार का लम्पटी भिक्षा शुद्धि की ओर ध्यान नहीं देता है। जिह्वा की लोलुपता उसे उद्दिष्टादि दूषित आहार का ग्रहण करने मे भी प्रेरित करती है। सुन्दर उपकरण का अभिलाषी उद्गमादि दोषो का निवारण नहीं करता है और कष्टासहिष्णु जिस किसी की सजी सजाई वसति में ठहर जाता है। इसलिए सुखिया स्वभाव का परित्याग करो अर धैर्य व साहस का आश्रय लेकर सम्पूर्ण परीषह सेना पर विजय प्राप्त कर चारित्र का संरक्षण करो।

हे क्षपक! यह अज्ञानी जीव मोह के वश इन्द्रियों के अधीन हुआ स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द इन विषयो मे प्रेम उत्पन्न करता है। तुमने ज्ञान और वैराग्य प्राप्त किया है, इसलिए ज्ञान और वैराग्य के वल से इन पर विजय प्राप्त करो। तथा क्षमा मार्दव आर्जव और शौच भावना के वल से क्रोध मान माया और लोभ का निग्रह करो।

हे इन्द्रिय विजयी साधो! जो जिसके वश मे नहीं होता है, वह उसका विजेता कहलाता है। जैसे जो स्त्री पुरुष के वश मे नहीं रहती है, वह पुरुष विजयिनी कही जाती है,ऐसा लोक मे प्रसिद्ध है। इसी प्रकार जो शब्दादि विषयो के तथा क्रोधादि कषायों के अधीन नहीं होता है, वह शब्दादि का तथा कषायो का विजेता कहा जाता है। अतएव हे साधो! तुम इन्द्रियो के तथा कषाय के अधीन न होकर इन्द्रिय विजेता और क्षमादि धर्म के आराधक वनोगे।

प्रश्न—गुरु का उपदेश सुनकर क्षपक प्रश्न करता है, हे भगवन् इन्द्रिय विजय और कषाय निग्रह करने के अनन्तर मेरा क्या कर्त्तव्य है?

उत्तर—हे क्षपक! इन्द्रिय पर विजय और कषाय का निग्रह करके तुम ऋद्धिगारव, रसगारव, और सातगारव को जीतो। उसके पश्चात् राग द्वेप का मर्दन कर आलोचना शुद्धि करो। राग द्वेप असत्य वचन के जनक है, इसलिए उनका त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। तथा राग भाव से मनुष्य के दोष दृष्टि गोचर नहीं होते है। और द्वेप वश वह सद्गुणो का ग्रहण नहीं करता है। जिसको अपने अपराधों (दोषो) का त्याग और सद्गुणो का ग्रहण करने की अभिलाषा, है जो अपने आत्मा से कषाय मल धोना चाहता है, उसे राग द्वेप को तिलाजलि देकर अपना कार्य साधन करना चाहिए।

प्रश्न—यहा क्षपक गुरु महाराज के प्रति कहता है कि हे गुरुदेव! मेरे व्रतों मे अतिचार उत्पन्न नहीं हुए, अत. मैं अपने अपराधो की आलोचना कैसे करू?

उत्तर—हे क्षपक! प्रायश्चित शास्त्रो के वेत्ता छत्तीस गुणके धारक आचार्य को भी आत्म शुद्धि के लिए अन्य आचार्यों के निकट

अपराधो की आलोचना करनी पड़ती है। विना आलोचना के रत्नत्रय मे लगे दोप शुद्ध नहीं होते हैं।

प्रश्न—आचार्यों के छत्तीस गुण कौन २ से हैं ?

उत्तर—आचार्य के छत्तीस गुण के विषय मे भगवती आराधना मे संस्कृत विजयोदया टीका आठ ज्ञानाचार, आठ दर्शनाचार, वारह प्रकार के तप, पाच समिति और तीन गुप्ति इस प्रकार छत्तीस गुण वर्णन करती है। तथा प्राकृत टीका मे साधु के अठाईस मूल गुण और आचारवान् आधारवान् आदि आठ गुण इस प्रकार छत्तीस गुण प्रतिपादन किये गये हैं। दूसरी जगह दश आलोचना गुण, दश प्रायश्चित गुण, दश स्थिति कल्प और छह जीत गुण इस प्रकार छत्तीस गुण बताये हैं।

आचार्य के छत्तीस गुणो का निरूपण करने वाली भगवती आराधना मे एक गाथा दो है वह निम्न प्रकार है—

आयारवमोदीया अट्ठगुणा दसविधो य ठिदिकप्पो।
वारस तव छावासय छत्तीसगुणा मुणेयव्वा ॥ ५२६ ॥ भग. आ

अर्थ—आचारवान् आदि आठ गुण, दश प्रकार का स्थित कल्प, वारह प्रकार का तपश्चरण और छह आवश्यक ये आचार्य के छत्तीस गुण हैं।

इस गाथा को श्री पडित प्रवर आशाधरजी ने प्रक्षिप्त बताया है।

समस्त तीर्थंकर, अनन्त केवली तथा मिथ्यात्व, अनन्तानुवन्धी आदि वारह कषायो पर विजय पाने वाले आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधुओं की आज्ञा भी यही है कि आचार्य के समीप अपने अपराधो का निवेदन कर उनके द्वारा दिये गये प्रायश्चित से शुद्धि होती है। इसलिए छद्मस्थ मुनियो को आचार्य के निकट आलोचना कर प्रायश्चित का आचरण करना उचित है।

प्रायश्चित्तादि का ज्ञाता अपराधों को दूसरों को क्यों कहे ?

प्रश्न—जो साधु अतिचारो के निवारण का क्रम नहीं जानता है, उसे तो दूसरो को अपने अतिचार निवेदन करना चाहिए, किन्तु जो अपराधों के प्रायश्चित का स्वय ज्ञाता है, वह अपने अपराध दूसरों को क्यो कहे और उनके द्वारा दिये हुए प्रायश्चित का आचरण क्यो करे ?

उत्तर—जैसे उत्तम वैद्य या चिकित्सक भी अपने रोग या व्याधि की उत्पत्ति के कारण, चिह्न व चिकित्सा तथा पुनरुत्पत्ति के निरोध करने मे प्रवीण होने पर भी उसकी चिकित्सादि दूसरो से ही करवाता है, उसको अपने रोग या व्याधि का हाल कहकर उससे चिकित्सा करने की प्रार्थना करता है, वैसे ही प्रायश्चित के ज्ञाता मुनीश्वर को भी अपनी उत्तम विशुद्धि करने के लिए आत्मसाक्षी और परसाक्षी से प्रायश्चित लेना चाहिए। इसी को उत्कृष्ट विशुद्धि माना है।

"प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत्।
तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमितीरितम् ॥"

अर्थ—प्रायः शब्द का अर्थ लोक (लोग) है, और उसके मनको चित्त कहा है। लोगो के चित्त को निर्मल करने वाले कर्म को प्रायश्चित कहते हैं। अर्थात् परसाक्षी से अपराध का दण्ड लेने पर लोग समझते हैं कि इसने आत्म-विशुद्धि की है। अर्थात आचार्यादि विज्ञ मुनीश्वरो के द्वारा दिये गये दड रूप प्रायश्चित से ही आत्म-शुद्धि होती है।

यदि प्रायश्चित शास्त्रों के रहस्य वेत्ता किसी मुनिश्रेष्ठ या आचार्य को अपने आप प्रायश्चित लेते हुए देखेंगे तो दूसरे मुनि भी अपने आप प्रायश्चित लेने लगेंगे क्योंकि प्राय लोग गतानुगतिक होते है। इस प्रकार प्रवृत्ति होजाने पर मार्ग मलीन हो जायगा, आत्म-विशुद्धि का मार्ग लुप्त हो जायगा। इसलिए परसाक्षी से प्रायश्चित करने का आगमानुमोदित (जिनोक्त) मार्ग है। कहा है '—

तम्हा पव्वज्जादी दंसणणाणचरणादिचारो जो।
त सव्व आलोचेहिं णिरवसेसं पणिहिदप्पा ॥ ५३० ॥ भग. आ

अर्थ—हे क्षपक! आत्म-विशुद्धि परसाक्षी से प्रायश्चित का आचरण करने से ही होती है, इसलिए सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र मे दीक्षा काल से लेकर आज तक जो अपराध हुए हों, उन सब दोषो की एकाग्रचित्त होकर गुरु के निकट परिपूर्ण आलोचना करो।

आलोचना का स्वरूप और भेद

प्रश्न—परिपूर्ण आलोचना किसे कहते हैं?

उत्तर—मन से, वचन से और काय से अमुक देश मे, अमुक काल मे, अमुक भाव से जो दोष जिस प्रकार हुए हों, उनका गुरु के

निकट सरल चित्त होकर ज्यों के त्यों निवेदन करने को परिपूर्ण आलोचना कहते हैं।

आलोचना दो प्रकार की होती है। एक सामान्यालोचना और दूसरी विशेषालोचना।

सामान्य आलोचना—जिसको मूल प्रायश्चित आता है। अर्थात् व्रतभंगादि महा अपराध करने पर दीक्षा का छेदन कर जिसको नवीन मुनि दीक्षा दी जाती है, वह मुनि दोषों की सामान्य आलोचना करता है। हे भगवन्! मुझसे अमुक व्रत का भंग या मिथ्यात्व का सेवन हुआ है। इस प्रकार सामान्य रूप से अपराध का निवेदन करता है। यथा :—

ओघेन भाषतेऽनल्पदोषो वा सर्वघातकः।
इतः प्रभृति वांछामि त्वत्तोऽहं संयमं गुरो ॥ ५५४ ॥ (भग. आ. सं.)

अर्थ—हे गुरुदेव! मुनि धर्म का घातक व्रत भंग या मिथ्यात्व सेवन रूप महान् अपराध मुझ से होगया है। हे स्वामिन्! मैं आपसे नवीन दीक्षा ग्रहण करना चाहता हूँ। इसलिए आज से मुझे नव दीक्षित कीजिए।

प्रश्न—विशेष आलोचना किसे कहते हैं?

उत्तर—जिस काल मे जिस देश मे जिस परिणाम से जिस प्रकार अपराध हुआ हो, उसका उसी प्रकार निःशल्य रूप से निवेदन करना विशेष आलोचना है।

तात्पर्य यह है कि मन वचन काय से जिस समय जिस जगह, जाने अनजाने, स्ववश या परवश होकर जो अपराध हुआ हो उसको शल्य निकालकर निवेदन करने से ही आलोचना शुद्ध मानी गई है। शल्य रखकर जो आलोचना की जाती है वह आत्म-शुद्धि का कारण नहीं होती है। जैसे जिसके हस्तपाद आदि मे कांटा लगा है वह दुःख से पीडित रहता है, उसके सम्पूर्ण शरीर में वेदना होती है। वैसे ही जिसके अन्तःकरण मे मायाशल्य है, वह सम्यक्त्वादि में लगे हुए दोषो का प्रकाशन भली भांति न करने के कारण छिपाये हुए दोष से मलीन चित्त रहता है। वह दोष रूपी दुःख उसकी आत्मा को सदा दुःखी रखता है। जब वह अपने दोष को साफ साफ गुरु के निकट निवेदन कर देता है, उसका चित्त निर्दोष हो जाने से आनन्द का अनुभव करने लगता है।

शल्य के भेद

प्रश्न—शल्य के कितने भेद हैं? इसका भी निरूपण यदि स्पष्टतः कर दिया जावे तो ठीक हो।

उत्तर—शल्य के दो भेद हैं-भावशल्य और द्रव्यशल्य।

प्रश्न—भावशल्य किसे कहते हैं ?

उत्तर—आत्मा को दुःख देने वाले भाव को भावशल्य कहते हैं।

प्रश्न—भावशल्य कितने हैं ?

उत्तर—भावशल्य तीन हैं-१ मायाशल्य, २ मिथ्यात्वशल्य और ३ निदानशल्य। तथा दर्शन, ज्ञान और चारित्र और तप को मलिन करने वाले भावों को भावशल्य कहते हैं।

दर्शनशल्य—शङ्काकांक्षादि सम्यग्दर्शन के दोषो को दर्शन शल्य कहते हैं।

ज्ञानशल्य—अकाल मे सूत्रों का अध्ययन व अविनयादि को ज्ञानशल्य कहते हैं।

चारित्रशल्य—समिति और गुप्ति के आचरण मे अनादर करने को चारित्रशल्य कहते हैं।

तपःशल्य—अनशनादि तप मे अतिचार लगाने को तप शल्य कहते हैं। तप का चारित्र मे अन्तर्भाव होता है; इसलिए दर्शन-शल्य, ज्ञानशल्य और चारित्रशल्य इस प्रकार शल्य के तीन भेद ही होते हैं।

प्रश्न—द्रव्यशल्य कितने प्रकार का है ?

उत्तर—द्रव्यशल्य भी तीन प्रकार का है। १ सचित्त द्रव्यशल्य, २ अचित्त द्रव्यशल्य और ३ मिश्र द्रव्यशल्य।

सचित्तद्रव्यशल्य—दासादि सचित्त द्रव्य शल्य हैं।

अचित्तद्रव्यशल्य—सुवर्ण रजतादि पदार्थ अचित्त द्रव्यशल्य हैं।

मिश्रद्रव्यशल्य—ग्रामादि मिश्रद्रव्यशल्य हैं।

ये सब द्रव्यशल्य चारित्राचार सम्बन्धी भाव शल्य के कारण हैं। क्योकि इनके निमित्त से चारित्र मे दोष उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न—भावशल्य का उद्धार न करने से अर्थात् भावशल्य का त्याग न करने से क्या हानि होती है ?

उत्तर—जैसे कांटा, वाण की नोक आदि द्रव्यशल्य शरीर के भीतर जब तक रहते हैं तब तक सुख की सामग्री के उपस्थित रहते हुए भी प्राणी को सुख नहीं होता है, वैसे ही भय, लज्जा व प्रमाद का जनक भावशल्य (माया मिथ्या निदान) आत्मा से जब तक पृथक् नहीं होता है तब तक उसे मलीन करता रहता है और सम्यग्दर्शनादि की आराधना मे बाधक होता है, द्रव्यशल्य एक जन्म मे ही दुख देता है परन्तु भावशल्य जन्म-जन्मान्तर मे दारुण दु.ख का जनक होता है।

इसलिए आचार्यों ने आराधना की सिद्धि के लिए अतिचारो का तत्काल शोधन करने का उपदेश दिया है। आज अपराध उत्पन्न हुआ है, उसका शोधन करने के लिए उसी क्षण गुरु के निकट निवेदन करना चाहिए। कल परसों या परले दिन गुरु के चरणों मे जाकर निवेदन करेंगे, ऐसा विचार करना उचित नहीं है। आयुष्य कितना शेष रहा है, इसका किसको ज्ञान है ? न जाने आयु का अन्तिम क्षण अति निकट आ लगा हो और दोषो की आलोचना किये बिना यदि मरण हो गया और दोष सहित अवस्था मे आयु का बन्ध हुआ तो मायाशल्य के कारण तिर्यंच आयु का बन्ध होगा। अतः दोष के होते ही उसकी गुरु के निकट आलोचना कर गुरु प्रदत्त प्रायश्चित्त का आचरण कर शुद्ध हो जाना चाहिए। क्योंकि रोग शत्रु और दोषो की उपेक्षा करने से वे दृढमूल हो जाते हैं। जब उनकी जड़ जम जाती है तब उनका उच्छेद करना जड़ से उखाड़ फेंकना अति कठिन हो जाता है। अथवा बहुत दिन बीत जाने पर अतिचार का विस्मरण हो जाता है। तथा उसके काल (सध्या रात्रि या दिनादि) का ठीक स्मरण नहीं रहता है। वैसे ही क्षेत्र भाव और अतिचार के कारण का भी यथार्थ ज्ञान नहीं रहता है। अर्थात् बहुत समय बीत जाने पर आचार्य के पूछने पर शिष्य अतिचार का द्रव्य क्षेत्र काल भाव और कारण यथार्थ निवेदन नहीं कर सकते हैं। इसलिए अतिचार के होते ही अवसर पाकर गुरु के निकट दोषो की आलोचना कर लेना चाहिए। काल बीतने पर मायाशल्य अन्त.करण मे प्रविष्ट होकर आत्मा को उसकी आलोचना से विमुख कर देती है।

प्रश्न—अतिचार का शोधन किये बिना मरजाने से क्या हानि है।

उत्तर—जो क्षपक राग या द्वेष के वश होकर दोषो की आलोचना किये बिना मरण करते हैं। वे दु.ख रूपी शल्यों से परिपूर्ण इस ससार कान्तार (बन) मे परिभ्रमण करते हैं। कहा है :—

रागद्वेषादिभिर्भग्ना ये म्रियन्ते सशल्यकाः ।
दुःखशल्याकुले भीमे भवारण्ये भ्रमन्ति ते ॥ ५६४ ॥ (स. भग. आ.)

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र सम्बन्धी दोष दुःख के उत्पन्न करने वाले हैं। इसलिए ऋद्धि गौरव, रस गौरव और सात गौरव से रहित होकर सम्यग्दर्शनादि का निरतिचार पालन करना ही दुःखों के विनाश का कारण है।

जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुअं भणइ ।
तह आलोचेदव्वं मायामोसं च मोत्तूणं ॥ ५४७ ॥ भग. आ.

अर्थ—जिस प्रकार भय, मान, असत्य और माया रहित हुआ बालक सरल हृदय से अपने पिता के सामने अपने भले बुरे कार्य का स्पष्ट रूप से निवेदन करता है, उसी प्रकार साधु को भी भय-मान-लज्जा और असत्य का परित्याग कर सरल स्वभाव होकर अपने कृत्यों अकृत्यों की स्पष्ट आलोचना गुरु के समीप ज्यों की त्यों करनी चाहिए।

इस प्रकार आलोचना सम्बन्धी उपदेश को सुनकर समाधिमरण का अभिलाषी भिक्षु हर्षातिरेक से रोमांचित हो जाता है।

क्षपक कायोत्सर्ग कैसे करे ?

पाचीणोदीचिमुहो चेदियहुत्तो व कुणदि एगते ।
आलोयणपत्तीयं काउस्सग्गं अणाबाधे ॥ ५५० ॥ भग आ

अर्थ—क्षपक आलोचना की निर्विघ्न प्राप्ति के लिए पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करके अथवा जिन-प्रतिमा के सम्मुख खड़ा होकर कायोत्सर्ग करता है। कायोत्सर्ग मे अपने-पूर्व उत्पन्न हुए दोषों को याद करता है। यह कायोत्सर्ग बाधारहित एकान्त मे तथा मार्ग छोड़ कर करता है। क्योंकि जन समूह मे तथा अपने आने के मार्ग मे कायोत्सर्ग करने से चित्त एकाग्र न होने के कारण दोषों का स्मरण करने मे बाधा उपस्थित होती है। प्राकृत टीका मे कायोत्सर्ग का 'सामायिक दंडक स्तुति पूर्वक वृहत् सिद्ध भक्ति करके बैठकर सिद्ध-भक्ति करना' ऐसा अर्थ किया है। गुरु आम्नाय भेद से समाचार विधि मे कहीं २ भेद हो जाता है।

आलोचना के लिए कालवादि का विधान-

प्रश्न—कायोत्सर्ग कर दोषो का स्मरण करने के पश्चात् क्षपक क्या करता है ?

उत्तर—उक्त प्रकार सरल स्वभाव को प्राप्त हुआ क्षपक तीन बार दोषो का स्मरण कर विशुद्ध लेश्या धारण करता हुआ अतिचारो का उद्धार करने के निमित्त आचार्य महाराज के निकट गमन करता है।

उज्ज्वल परिणाम वाले इस क्षपक की आलोचना प्रतिक्रमणादि क्रियाए दिन मे और शुद्ध स्थान मे होती हैं। दिन के पूर्वभाग (प्रथम पहर) मे या अपराह्न (दिन के तीसरे पहर) मे सौम्य तिथि, सौम्य नक्षत्र और शुभ काल मे होती है। आशय यह है कि आलोचना के लिए परिणामों की शुद्धि के साथ क्षेत्र (स्थान) कालादि की शुद्धि का भी ध्यान रखा जाता है।

प्रश्न—आलोचना के लिए प्रशस्त स्थान होना आवश्यक माना गया है तो कौन स्थान प्रशस्त है और कौन अप्रशस्त है ? उनका विवेचन करना चाहिए। प्रथम अप्रशस्त स्थानो का विवेचन कीजिए ?

उत्तर – जो स्थान पत्रयुक्त वृक्षों से हीन हो, कटकाकीर्ण हो, बिजली गिरने से जो फट गया हो, जहां सूखे वृक्ष हों, जो कटु रस वाला तथा जला हुआ हो, शून्य घर या रुद्र का मन्दिर हो, जहा ईंटों या पत्थरो के ढेर हो। जिसमे तृण सूखे पत्ते और काठ के पुज हो, जहा राख पड़ी हो, अपवित्र वस्तुओं से युक्त भूमि तथा श्मशान भूमि हो, जहा पर टूटे फूटे वर्तन तथा गिरे पडे मकान हो, चण्डिका भवानी आदि क्षुद्र देवताओं के स्थान हो वे सब वर्जनीय माने गये हैं। इनके अतिरिक्त ऐसे ही अन्य अशुभ स्थान आलोचना के अयोग्य अप्रशस्त कहे गये हैं। क्योकि ये स्थान आलोचना करने वाले साधु और सुनने वाले आचार्य के असमाधान के कारण हैं। इन स्थानो मे आलोचना करने से क्षपक के कार्य की सिद्धि नहीं होती है। इसलिए आचार्य ऐसे स्थानो में क्षपक की आलोचना नहीं सुनते हैं।

प्रश्न—आलोचना के लिए कौन से स्थान प्रशस्त माने गये है, जहां पर आचार्य क्षपक की आलोचना सुनते हैं।

उत्तर—अरहन्त और सिद्ध चैत्यालय, समुद्र तथा तालाब आदि जलाशय के समीपवर्ती स्थान, जहां वट वृक्ष अशोकादि के वृक्ष तथा पुष्पो या फलों से भरे हुए वृक्ष हो ऐसे स्थान, उद्यान व अन्य सुखकर स्थान क्षपक की आलोचना सुनने के योग्य प्रशस्त माने गये हैं।

प्रश्न—आचार्य किस प्रकार बैठकर क्षपक की आलोचना सुनते हैं ?

उत्तर—पूर्व दिशा तथा उत्तर दिशा की ओर मुख करके तथा चैत्य (जिन प्रतिमा) अथवा जिनालय के सम्मुख एकान्त में बैठकर आचार्य एक क्षपक की आलोचना सुनते हैं।

प्रश्न—अन्धकार को दूर कर जगत् मे प्रकाश करने वाले सूर्य का उदय पूर्व दिशा मे होता है, अतः वह दिशा उदय दिशा कही जाती है। कार्य की उन्नति का अभिलाषी मनुष्य पूर्व दिशा की ओर मुख करके कार्य करता है। स्वयप्रभादि तीर्थंकर विदेह क्षेत्र मे विराजमान है, ऐसा चित्त मे विचार करके उनकी तरफ मुख करने से मेरे कार्य की सिद्धि होगी, इस अभिप्राय से उत्तराभिमुख होकर कार्य प्रारम्भ करता है तथा जिन प्रतिमा के सामने मुख करके स्थित होने से परिणामो मे निर्मलता आती है और वह निर्मलता पुण्य की वृद्धि करके प्रारब्ध कार्य की सिद्धि मे कारण होती है। किन्तु आचार्य को कौनसा कार्य सिद्ध करना है जो पूर्व दिशा उत्तर दिशा, या जिन प्रतिमा की तरफ मुख करके बैठते है ?

उत्तर—आचार्य क्षपक की आलोचना सुनकर भविष्य मे दिये जाने वाले प्रायश्चित रूप कार्य की निर्विघ्न समाप्ति हो, ऐसी क्षपक के लिए शुभ कामना धारण कर उत्तर या पूर्व दिशा के सम्मुख अथवा जिन प्रतिमा के सामने मुख करके बैठते हैं।

प्रश्न—जब आचार्य आलोचना सुनने के लिए निर्व्याकुल चित हो कर बैठते हैं, उस समय गुरु वा पूज्य पुरुष रहें तो क्या हानि होती है ?

उत्तर—अन्य व्यक्तियो के उस समय वहां उपस्थित रहने से आचार्य का चित्त एकाग्र नहीं रहने से क्षपक के प्रति अनादर भाव प्रकट होता है। दूसरी बात यह है कि अनेक पुरुष सुनने वाले होगे तो क्षपक के अन्तःकरण मे लज्जा उत्पन्न होगी जिससे वह अपने दोषों को स्पष्ट निवेदन करने का इच्छुक होता हुआ भी मन मे खेदखिन्न होगा और सब अपराध को स्पष्ट न कह सकेगा। इसलिए आलोचना के समय एकाकी आचार्य ही श्रोता होना चाहिए। आगम मे भी यही बताया है कि आलोचना सुनने के लिए आचार्य के सिवा अन्य न रहें। आलोचना को गुप्त रखने की आज्ञा है। यदि अनेक सुनने वाले होंगे तो वह गुप्त नहीं रह सकती। कहा है—

'षट्कर्णोभिद्यते मन्त्रः' छह कर्णों मे गई हुई गुप्त बात अवश्य प्रकट हुए बिना नहीं रहती है। इसलिए आगम में एकाकी आचार्य को एकान्त मे एक क्षपक की आलोचना सुनने के लिए कहा है।

प्रश्न—क्षपक जब गुरु के निकट आलोचना करने के लिए उपस्थित हो, उस समय उसको क्या करना चाहिए। वह किस विधि से आलोचना प्रारम्भ करे ? उस विधि पर प्रकाश डालने की कृपा करें ?

उत्तर—आलोचना करने वाला क्षपक प्रथम गुरु आचार्य की वन्दना करे। वह वन्दना सिद्ध भक्ति और योग भक्ति पढ़कर करे ऐसा वृद्धाचार्यों का मत है। श्री चन्द्राचार्य तो सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति पढ़कर वन्दना करना कहते हैं। वन्दना कर चुकने के बाद दक्षिण पार्श्व (दाहिनी बगल) मे पिच्छी लेकर भाल प्रदेश मे दोनो हाथ जोड़कर मन वचन और काय से शुद्ध हुआ आगमोक्त दोषों से रहित आलोचना करे।

आलोचना के दस दोष

प्रश्न—आलोचना के दश दोष कौन से हैं ?

उत्तर—आकंपिय अणुमाणिय ज दिट्ठ बादरं च सुहुम च। छण्ण सद्दाउलयं बहुजण अव्वत्त तत्सेवी ॥ ५६२ ॥ [भग. आ.]

१. आकम्पित २. अनुमानित ३. दृष्ट ४ बादर ५. सूक्ष्म ६ छन्न ७. शब्दाकुलित ८. बहुजन ९. अव्यक्त और १०. तत्सेवी ये आलोचना के दश दोष हैं। इनका संक्षिप्त सा वर्णन तो पहले कर आये हैं फिर भी थोड़ा सा खुलासा कर दिया जाता है।

(१) आकम्पित दोष—शिक्षा प्राप्त होने के कारण स्वय प्रवर्त्तक बनकर आचार्य महाराज की उद्गमादि समस्त दोष रहित आहार जल से वैयावृत्त्य करके तथा उनको निर्दोष पिच्छी कमण्डलु पुस्तकादि उपकरण देकर विशेष विनयादि पूर्वक वन्दनादि कृतिकर्म करके, गुरु के अन्त.करण मे अपने विषय मे करुणा उत्पन्न करने के पश्चात् अपने दोषों की आलोचना करना यह आकम्पित दोष है।

आलोचक शिष्य का गुरु के चित मे अनुकम्पा उत्पन्न करने का अभिप्राय यह है कि गुरु आहारादि द्वारा उचित वैयावृत्त्य से सन्तुष्ट होकर मुझे गुरुतर प्रायश्चित न देंगे, लघु प्रायश्चित देंगे, इसलिए मैं सूक्ष्म और स्थूल सब अपराधो का निवेदन कर सकूगा। मेरी सम्पूर्ण दोषों की आलोचना भी हो जावेगी और महान प्रायश्चित से बच जाऊँगा। इस प्रकार शिष्य गुरु को आहारादि लोभ का असद्दोषारोपण कर मानसिक अविनय का आचरण करता है। तथा अपने अन्तःकरण मे मायाचार की उत्पत्ति करता है। अतः यह सदोष आलोचना मानी गई है।

(२) अनुमानित दोष—शिथिलाचार का पालक सुखिया साधु गुरु से प्रार्थना करता है :—हे भगवन् ! धीर पुरुषों से आचरण किये गये सब प्रकार के तप जो मुनि करते हैं वे भाग्यवान हैं धन्य हैं और महात्मा हैं। इस प्रकार अपनी धार्मिकता प्रकट करता हुआ कहता है :—हे दयालो ! मुझ मे जितना शारीरिक बल है,वह आप से छिपा नहीं है। मेरी जठराग्नि अति दुर्बल है। मैं सदा किसी न किसी रोग से ग्रस्त रहता हूँ,इसलिए मैं उत्कृष्ट तप का आचरण करने मे असमर्थ हूँ,यदि आप मुझ पर अनुग्रह कर अल्प प्रायश्चित देंगे तो मैं अपने समस्त

अपराधों को निवेदन करूंगा और आपकी महती कृपा से सब दोषों से रहित होकर शुद्ध हो जाऊंगा।

ऐसा कहकर और गुरु मुझे अल्प प्रायश्चित देंगे ऐसा अनुमान ज्ञान से जानकर पश्चात् जो मुनि अपने अपराधों की आलोचना करता है उसके अनुमानित दोष होता है।

यह आलोचना परिणाम मे उस प्रकार दु:ख देने वाली है जैसे सुखाभिलाषी दुःख देने वाले अपथ्य आहार का सेवन कर उसे सुख देने वाला समझता है, किन्तु वह परिणाम मे दु ख प्रद होता है। अर्थात् उक्त आलोचना से रत्नत्रय की शुद्धि कदापि नहीं होती है। जैसे अपथ्य आहार से सुख की प्राप्ति नहीं होती।

(३) दृष्ट दोष—किसीने देखे हो या न देखे हों, सम्पूर्ण दोषों को निष्कपट भाव से गुरु के समीप निवेदन करना चाहिए। किन्तु ऐसा न कर जो मुनि उन्ही दोषों को गुरु के निकट प्रकाशित करता है, जिनको दूसरो ने देख लिया है, उसे दृष्ट दोष कहते हैं।

जैसे—बालु रेत के मैदान में किसी मनुष्य ने खड्डा खोदने का प्रयास किया। किन्तु वह खड्डा खोदते खोदते ही बालु रेत से भर गया। खोदने वाले का परिश्रम व्यर्थ हुआ। उसी प्रकार जो पुरुष प्रथम मायाशल्य से रहित होकर आलोचना करने के लिए उद्यत हुआ और पश्चात् माया का आश्रय लेकर अदृष्ट दोषों को छिपा कर केवल दृष्ट दोषो का प्रकाशन करने लगा, उसके अन्तःकरण में मायाशल्य ज्यों का त्यों बना रहने के कारण वह रत्नत्रय की शुद्धि से वंचित रहता है।

(४) बादर दोष—जो साधु स्थूल (बडे) दोषों का तो गुरु के निकट प्रकाशन करता है और सूक्ष्म दोषों को छिपाता है, वह जिनेन्द्र भगवान् के वचनो की अवहेलना करता है, इसलिए वह दोषी होता है। क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश स्थूल और सूक्ष्म दोषो को गुरु के पादपद्म मे निवेदन करने का है। उसका पालन न कर केवल बादर दोषों का प्रकाश करने वाला बादर दोष नामक दोष से दूषित माना गया है।

जैसे कासे का कलश ऊपर से स्वच्छ होने पर भी भीतर से नीला होने से मलीन होता है. वैसे ही इस आलोचना करने वाले के अन्तरङ्ग मे माया दोष विद्यमान होने से उसकी आलोचना सदोष होती है।

(५) सूक्ष्म दोष—जो साधु भय गर्व और माया से सूक्ष्म दोषों को छिपा कर स्थूल दोषों का निवेदन करता है, वह आलोचना के सूक्ष्म नामक दोष से दूषित माना गया है।

प्रश्न—सूक्ष्म दोष कौन से हैं ?

उत्तर—उठने बैठने सोने सस्तर बिछाने गमनादि से उत्पन्न हुए दोष सूक्ष्म दोष हैं। इन दोषों को गुरु के निकट प्रकट करते समय शिष्य कहता है। हे भगवन्! जिस भूमि में ओस आदि बहुत थी, उस भूमि पर ईर्या समिति मे चित्त सावधान करके न चला सका था। पिच्छिका से भूमि का मार्जन(शोधन) किये बिना बैठ गया था,सोया था,करवट बदली थी,और खड़ा हो गया था। उचित काल मे मैंने सामायिकादि आवश्यक का पालन नहीं किया था। जल से शरीरादि का स्पर्श किया था। मैं सचित्त रज पर बैठा था, खड़ा हुआ था,सो गया था। धूलि से भरे हुए पावो से जल मे प्रवेश किया था। जल से गीले पावों से मैंने धूलि मे प्रवेश किया था। आठ या नव मास की गर्भवती स्त्री से मैंने आहार लिया था। रोते हुए या स्तन पान करते हुए बालक को छोड़ कर आई हुई स्त्री ने मुझे आहार दिया था। इत्यादि सूक्ष्म दोषो का निवेदन करता है।

इस प्रकार छोटे २ दोषो को प्रकट कर स्थूल (बड़े २) दोषों को छिपाता है। बड़े दोष यदि प्रकट कर दूंगा तो आचार्य मुझे महान् प्रायश्चित देंगे इस भय से अथवा मेरा परित्याग कर बैठेंगे इस भय से स्थूल दोषों को प्रकट नहीं करता है। सूक्ष्म दोषों को प्रकाशित करने और स्थूल दोषों को छिपाने के कारण उसका कपट स्वभाव स्पष्ट होता है। मैं सङ्घ के सब मुनियों से निर्दोष चारित्र का पालन करने वाला हूँ, इस अभिमान से स्थूल दोषो को व्यक्त नहीं करता है, वह सूक्ष्म दोष का भागी माना गया है।

(६) प्रच्छन्न दोष—मुझे अमुक अतिचार या अनाचारजन्य अपराध हुआ है,ऐसा स्पष्ट न कहकर आचार्य से पूछता है। अहो गुरु महाराज! यदि किसी मुनि के अठाईस मूलगुणों मे या अनशनादि तप उत्तर गुणो मे एवं अहिंसादि महाव्रत मे अतिचार लग जावे तो उसको कौनसा प्रायश्चित दिया जाता है ? वह किस उपाय से शुद्ध हो सकता है ? इस प्रकार प्रच्छन्न रूप से पूछता है। गुरु महाराज से गुप्त रूप से पूछकर अपनी शुद्धि कर लेना चाहता है। यह प्रच्छन्न नामक आलोचना का छठा दोष है।

शङ्का—अपराध की शुद्धि उचित प्रायश्चित के आचरण से होती है। किसी प्रकार गुरु महाराज से अपने दोष की शुद्धि करने वाले प्रायश्चित को जानकर यदि वह उस प्रायश्चित को ठीक तरह आचरण करता है, तो उसकी शुद्धि कैसे नहीं मानी जा सकती है ?

समाधान—दोष की शुद्धि करने के लिए निष्कपट भाव से गुरु महाराज के सामने अपने दोषों की यथार्थ आलोचना करना अत्यन्त आवश्यक है। पछन्न रूप स मायाचार द्वारा गुरु महाराज से अपराध का प्रायश्चित पूछकर उसका आचरण किया है। उसके हृदय से माया भाव नहीं निकला है। अतः उसकी शुद्धि होना असम्भव है, अतः इसे दोष ही माना गया है।

(७) शब्दाकुल दोष—सम्पूर्ण मुनि मिलकर पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक या वार्षिक दोषों की आलोचना कर रहे हों, उस समय महान् कोलाहल होता है। ऐसे अवसर को पाकर अपनी इच्छानुसार दोषों की आलोचना करना वह शब्दाकुल दोष है।

क्योंकि कोलाहल में जब गुरु उसके अपराध को स्पष्ट नहीं सुन पाते हैं, उस समय अपराध कह सुनाने से गुरु उसको यथार्थ प्रायश्चित देने मे समर्थ नहीं हो सकते हैं, इसलिए यह शब्दाकुल नामक दोष माना गया है।

(८) बहुजन दोष—जिसने प्रत्याख्यान नामक नवमे अङ्ग का अध्ययन किया है, तथा अङ्ग बाह्य मे कल्प नामक प्रकरण है उसका और शेष अङ्गों मे तथा प्रकीर्णकों म जहां जहां प्रायश्चित का निरूपण आया है उन सबका मनन किया है, उस आचार्य के द्वारा अर्थात् उपलब्ध सब प्रायश्चित ग्रन्थो के ज्ञाता आचार्य के द्वारा दिये गये प्रायश्चित पर विश्वास न करके यदि कोई मुनि अन्य आचार्यों से उस प्रायश्चित के औचित्य या अनौचित्य के विषय मे पूछे तो वह बहुजन दोष माना गया है।

(९) अव्यक्त दोष—जो मुनि आगमज्ञान से शून्य है, वह आगम बाल है, तथा जो चारित्र से हीन है, वह चारित्र-बाल है। उस ज्ञान-चारित्र हीन मुनि के सम्मुख अपने अपराधों की आलोचना करने वाले को आलोचना का अव्यक्त नामक दोष होता है। यद्यपि आलोचक ने मन वचन काय से कृत कारित और अनुमोदना जन्य सब अपराधो को आलोचना की है तथापि उसकी आलोचना निष्फल है क्योंकि आगम बाल या चारित्र बाल आचार्य से उचित प्रायश्चित द्वारा अपराधों की शुद्धि नहीं हो सकती है। अतः इसे अव्यक्त दोष कहा है।

(१०) तत्सेवी दोष—यह पार्श्वस्थ (भ्रष्ट मुनि) मेरे सुखिया स्वभाव को तथा मेरे सब दोषों को जानता है। यह भी मेरे समान दोषी है, इसलिए मुझे यह महान् प्रायश्चित न देगा ऐसा विचार कर जो पार्श्वस्थ (भ्रष्ट मुनि) के निकट जाकर अपने सब अपराधो की आलोचना करता है, उसको तत्सेवी नाम का दोष होता है।

जैसे रुधिर से भीगा वस्त्र रुधिर मे धोने पर शुद्ध नहीं होता है, वैसे ही दोष सहित पतित मुनि के पास आलोचना करके कोई मुनि अपने अपराध से मुक्त नहीं होता है। क्योंकि रुधिर वस्त्र स्वच्छ जल से धोने पर ही शुद्ध होता है। वैसे ही दोषो का निवारण निर्मल चारित्र के धारक आचार्य के पाद मूल मे आलोचना करके उनके द्वारा दिये गये प्रायश्चित का आचरण करने से ही हो सकता है। अन्यथा नहीं होता। इसलिए हे क्षपक! जो मुनि जिनप्रणीत आगम के वचनो का लोप करते हैं और दुष्कर पाप का आचरण करते हैं, उनका मोक्ष अनन्त काल मे भी जैसे नहीं होता है, वैसे ही जो मुनि अन्तःकरण मे मायाशल्य रखकर अपने दोषों की आलोचना करते हैं, उनको भी मोक्ष की प्राप्ति अत्यन्त दूर है।

अतएव मुनियो का कर्तव्य है कि भय, माया, मृषा, मान और लज्जा का परित्याग कर उक्त दश दोषों से रहित आलोचना करे। क्योकि दूषित आलोचना आत्मा को निर्दोष बनाने मे समर्थ नहीं होती है।

साधु किन २ दोषों की कैसे आलोचना करें ?

प्रश्न—साधु किन २ दोषों की किस प्रकार आलोचना करे ?

उत्तर—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चोइन्द्रिय और पचेन्द्रिय इन जीवों मे से जिसकी विराधना हुई हो, उनकी आलोचना करे।

पृथिवी काय जीव अनेक प्रकार के हैं—जैसे मिट्टी, पाषाण, शर्करा (ककर) बालुरेत, नमक, अभ्रक आदि अनेक भेद हैं। उनको खोदने, हलादि से विदारण करने, जलाने फोड़ने मोडने पटकने फेंकने आदि मे से मैंने अमुक पाप किया है।

जल कायिक जीवो के भी पानी बर्फ ओस ओले आदि अनेक भेद हैं। उनका पान करने, उसमे स्नान करने, कूदने, तैरने, हाथ पैरो से या शरीर से मर्दन करने वगैरह मे मैंने उनका अमुक प्रकार से घात किया है।

अग्निकायिक जीवो के ज्वाला दीपक जलती हुई लकडी आदि कई भेद हैं। उनके ऊपर मैंने पत्थर मिट्टी जल डालकर इनका विनाश किया है। अथवा पाषाण या लकडी आदि से पीटा है, मर्दन किया है। इनके अतिरिक्त भी अनेक तरह के आरम्भ मे से मैंने अमुक प्रकार से अग्नि कायिक जीवो को बाधा पहुचाई है।

वायु कायिक जीवों के झझावात मडलिक आधी आदि भेद हैं। जल वृष्टि सहित जो वायु बहती है, उसे झझावात कहते हैं। जो वायु गोलाकार भ्रमण करती हुई बहती है,उसे मडलिक वायु कहते हैं। तेज वायु को आंधी कहते हैं। इत्यादि प्रकार से बहने वाली वायु को मैंने पखे से, वस्त्र से सूप से प्रतिघात किया है, वायु को किवाड छत्रादि से रोका है। पखे आदि से उसे सताया है, बाधा पहुचाई है। वायु के सम्मुख गमन किया है। इत्यादि प्रकारो मे से जिस प्रकार से वायुकाय के जीवो को बाधा पहुचाई हो, उसका निवेदन करे।

वनस्पति कायिक जव—साधारण (अनन्त कायिक नीलन फूलन काय आदि वनस्पति, प्रत्येक वनस्पति वृक्षादि बीज, वल्ली लता छोटे पौधे के समूह, पुष्प फुल तृणादि वनस्पति कायिक जीवो के अनेक भेद हैं। उनमे से अमुक को मैंने जलाया है, या तोड़ा है। या उनका छेदन भेदन किया है ? अथवा मर्दन मोटन (मरोड़ना) बंधन, रौंदन आदि अनेक क्रियाओ मे से अमुक द्वारा उनका घात किया

है। उनको बाधा पहुंचाई है।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रि और पचेन्द्रिय जीवों में से अमुक् का अज्ञान व प्रमाद से जाने या विना जाने विघात किया है। या उनका छेदन भेदन ताड़न बन्धन किये है। उनकी गति का निरोध कर सताया है। या गमनागमन करके उन्हें पीड़ा या बाधा पहुचाई है।

आहार, उपकरण, वसतिका का अङ्गीकार करते समय मुझ से उद्गम उत्पादन एषणा आदि अमुक् २ दोप हुए हैं।

गृहस्थियों के कुंभ कलश सकोरा आदि भाजनों मे से किसी भाजन मे कोई वस्तु रखी या उन भाजनों में से किसी से कोई वस्तु ग्रहण की हो तो ये सब चारित्रातिचार हैं। क्योकि इन पात्रो का भीतर मे प्रतिलेखन (मार्जन) करना अत्यन्त कठिन है।

छोटी चौकी वेत्रासन खाट पलग इन पर बैठने से अपराध हुआ हो। क्योकि इनमे अनेक छिद्र होते हैं। उनमे जो प्राणी निवास करते हैं, वे नेत्रों से दिखाई नहीं देते। यदि वे दिखाई दें तो उन्हें निकालना अशक्य होता है। इसलिए ऐसे छोटे चौकी वगैरह आसनो पर बैठने से अहिंसा व्रत मे अतिचार उत्पन्न होता है। अथवा आहार के लिए श्रावक के घर जाकर वहा पर बैठना भी निषिद्ध है। क्योकि श्रावक के घर बैठने से ब्रह्मचर्य व्रत का विनाश हो सकता है। भोजनार्थी मनुष्यो के भोजन मे विघ्न उपस्थित होता है। वे लोग मुनियों के समक्ष भोजन करने मे सङ्कोच करते है। क्षुधादि से पीड़ित होने के कारण उनके मनमे सक्लेश उत्पन्न होता है। लोग कहने लगते हैं कि ये मुनि महिलाओ के बीच किस लिए बैठे हैं? आहार सम्पन्न हो जाने के अनन्तर यहा बैठे रहने की क्या आवश्यकता है? इनको यहां से अब तो चला जाना चाहिए? इत्यादि उनके अन्त.करण मे कोपावेश से दुर्विचार उत्पन्न होने लगते हैं।

स्नान करना, उबटन लगाना, मस्तकादि शरीर के अवयवों का प्रक्षालन करना इन क्रियाओ को 'वाकुस' कहते हैं। ठडे जल से या गर्म जल से स्नान करने पर आखों मे अजन शरीर पर उबटन करने से शरीर पर स्थित प्राणी नष्ट होते हैं। तथा बिलो में रहने वाले प्राणी और भूमि के छोटे २ छेदों में निवास करने वाले कीड़े मकोडे आदि जन्तु मृत्यु के मुख मे प्रविष्ट होते हैं। इसलिए आगम मे मुनियों के लिए स्नान का निषेध है। मुनियों को आजीवन यह घोर व्रत पालन करना परमावश्यक होता है। लोध्र आदि सुगधित पदार्थों का उबटन भी मुनियो के लिए वर्जित है।

विना दिये हुए पदार्थ का तथा रात्रि भोजन का त्याग मुनियो को रहता ही है। विना आज्ञा के किसी वस्तु का ग्रहण करना क्या है, मानो उस वस्तु के स्वामी के प्राणो का हरण करना है। क्योकि धन प्राणियो का बाह्य प्राण है। जो दूसरो की वस्तु का हरण करता है, उसको राजा दण्ड देते हैं।

रात्रि भोजन अनेक असयम का मूल कारण है। रात्रि मे भोजन करने से त्रस और स्थावर जीवो का वध होता है। तथा जिसका त्याग किया उसका और अयोग्य वस्तु का भक्षण हो जाता है। रात्रि में दाता की परीक्षा नहीं हो सकती है। अपने हाथ मे रखे हुए भोजन की, हाथ से उच्छिष्ट भोजन जिस जगह गिरता है उस भूमि प्रदेश की तथा दाता के गमनागमन मार्ग की, दाता के खड़े रहने तथा अपने खडे रहने के प्रदेश की भली भाति देख भाल (यह जीव रहित है या जीव सहित है ऐसी जाचे) नहीं कर सकते हैं। ऐसे अनेक दोष रात्रि भोजन करने से उत्पन्न होते हैं। इसलिए रात्रि में आहार ग्रहण करना सर्वथा निषिद्ध है। मैथुन सेवन, परिग्रह धारण और असत्य भाषण आदि महा पापो के तो मुनि सर्वथा त्यागी होते ही हैं।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्याचार मे मन वचन काय द्वारा कृत कारित अनुमोदना से जो अतिचार उत्पन्न हुए हो, उनकी मैं आलोचना करता हूँ।

शङ्का कांक्षा आदि दोष सम्यग्दर्शन के अतीचार हैं। सम्यग्ज्ञान की क्या आवश्यकता है। तपश्चरण और चारित्र ही फल देने वाला है इसलिए उन्हीं का आचरण करना चाहिए। इस प्रकार मन से सम्यग्ज्ञान की अवज्ञा करना अथवा सम्यग्ज्ञान को मिथ्याज्ञान समझना व वचन से प्रकट करना मन से वचन से व काय से सम्यग्ज्ञान मे अरुचि प्रकट करना, मुह बिगाड कर मुह मोड कर अथवा सिर हिला कर यह सम्यग्ज्ञान नही है ऐसा प्रकाशित करना। आदि ज्ञान के अतिचार हैं।

तपस्या करते समय असयम मे प्रवृत्ति करना तप का अतिचार है। अपनी शक्ति को छिपाना वीर्याचार का अतिचार है। ये सब अतिचार कृत कारित और अनुमोदना के भेद से तीन २ प्रकार के होते हैं। स्वयं करना, स्वय कराना और करते हुए की स्वय अनुमोदना करना। दूसरे को प्रेरित करना, प्रेरित कराना और प्रेरित करते हुए की अनुमोदना करना। इस तरह प्रत्येक अतिचार के तीन २ भेद होते हैं।

दूसरे देश के राजा का आक्रमण होने पर जब देश के सम्पूर्ण गमनागमन के मार्ग रुक जाते है, उस समय वहा से निकलना कठिन हो जाता है। ऐसे अवसर पर भिक्षा दुलभ होने से अन्तःकरण मे सक्लेश होता है। कदाचित् उस काल मे अयोग्य पदार्थ का सेवन कर लिया हो तो क्षपक को आलोचना करते समय ऐसे सब दोषों का खुलासा करना चाहिए। अमुक अतिचार रात्रि के समय या अमुक अतिचार दिन के समय हुआ है, उन सब का स्पष्ट निवेदन करना आवश्यक है।

जिस समय संघ हैजा प्लेग आदि भयानक रोगो से या अन्य दारुण विपत्तियो से आक्रान्त हो गया हो, उस समय उनका प्रतिकार करने के लिए विद्या मन्त्रादि का उपयोग करना पड़ा हो, उसमे जो अतिचार हुआ हो उसकी भी स्पष्ट आलोचना करनी चाहिए।

अति दुर्भिक्ष के समय अवमौदर्य तप मे जो दोष लगे हो या अयोग्य पदार्थ का सेवन हुआ हो, अथवा अन्य मुनियों ने अनुचित भिक्षा ग्रहण जिस प्रकार की हो, उन सबका निवेदन करना चाहिए। अभिमान या प्रमाद आदि से जो जो दोष लगे हों उन सबको गुरु के निकट प्रकट कर देना मुनि का कर्तव्य है।

दर्पादि बीस अतिचार

दर्पादि के निमित्त से बीस अतिचार होते हैं। आगम के अनुसार उनका नीचे स्पष्टीकरण करते हैं।

(१) दर्प (गर्व) अनेक प्रकार का है—जैसे क्रीड़ा मे स्पर्द्धा करना, व्यायाम करना, छल-कपट करना, रसायन सेवन, हास्य करना, गीत मे शृंगार के वचन बोलना, उछलना कूदना, ये दर्प के प्रकार हैं।

(२) प्रमाद के पाच भेद हैं—विकथा, कपाय, इन्द्रियो के विषयों मे आसक्ति, निद्रा और प्रेम। अथवा सक्लिष्ट हस्तकर्म, कुशीलानुवृत्ति, बाह्यशास्त्र, काव्य रचना करना, और समिति मे उपयोग न रखना इस प्रकार भी प्रमाद के पाच भेद होते हैं।

छेदन करना भेदन करना, पीसना, टकराना, चुभाना, खोदना, बांधना, फाड़ना धोना, रङ्गना, लपेटना, गूँथना, भरना, राशि ना (इकट्ठा करना), लेपन करना, फेंकना, चित्र बनाना, इत्यादि काम करने को सक्लिष्ट हस्तकर्म कहते हैं।

ज्योतिःशास्त्र, छन्दःशास्त्र, अर्थशास्त्र, वैद्यकशास्त्र, लौकिकशास्त्र और मन्त्रशास्त्र इत्यादि शास्त्रों को बाह्यशास्त्र कहते हैं।

(३) अनाभोगकृत—उपयोग रखने पर भी जिन अतिचारो का ज्ञान नहीं होता है, उन्हें अथवा चित्त की प्रवृत्ति दूसरी ओर र जो अतिचार होते हैं, अनाभोगकृत अतिचार कहते हैं।

(४) आपात कृत—नदी का पूर आने पर, अग्नि काण्ड के उपस्थित होने पर भयानक आंधी का तूफान आने पर, वृष्टि के ने पर, शत्रु की सेना से घिर जाने पर तथा ऐसे ही और कारणों के प्राप्त होने पर जो अतिचार, होते हैं उन्हें आपात अतिचार कहते हैं।

(५) आर्तताकृत—रोग जन्य पीड़ा, शोक जन्य क्लेश, और वेदना व व्यथा से होने वाले अतिचारों को आर्तताकृत अतिचार कहते हैं।

(६) तितिणदाकृत रसों मे आसक्ति होने से तथा अधिक बकवाद करने से जो अतिचार होते हैं। उन्हें तित्तिणदाकृत

अतिचार कहते हैं।

(७) शकित—पिच्छिका आदि उपयोगी द्रव्यो मे सचित्त या अचित्त का सन्देह रहते हुए भी उनको मोड़ना, पटकना तोड़ना, फोडना, छीलना एवं आहार उपकरण और वसतिका में 'उद्गमादि दोष हैं या नहीं' ऐसा सन्देह होने पर भी उनका सेवन करना ये शकित अतिचार हैं।

(८) सहसातिचार—अशुभ मानसिक विचारों में अथवा अशुभ वचनों मे बिना विचारे शीघ्र प्रवृत्त होना, उसको सहसा अतिचार कहते हैं।

(९) भयातिचार—एकान्त प्रदेश मे वसतिका होने पर इसमें चोर सर्प दुष्ट–हिंसक–पशु, व्याघ्र सिंहादि अन्दर घुस आवेंगे, इस भय से वसतिका के द्वार बन्द करने से होने वाले अतिचार को भयातिचार कहते है।

(१०) प्रदोप—तीव्र सज्वलन कपाय के उदय से होने वाले जल के ऊपर की रेखा के समान क्रोधादि चार कपाय के निमित्त से होने वाले अतिचारो को प्रदोप जन्य अतिचार कहते हैं।

(११) मीमासा—अपने और दूसरे के बल के तरतम भाव की परीक्षा करने से उत्पन्न होने वाले अतिचार को मीमांसा अतिचार कहते हैं।

अथवा सीधे हाथ को मोडना, मुड़े हुए हाथ को सीधा करना, धनुष आदि को चढाना, वजन दार पत्थर को ऊपर उठाना, उसे दूर फेंकना, दौड लगाना, काटे की बाड आदि को लांघना, पशु सर्पादि को मंत्रो की परीक्षा करने के लिए पकडना, औषधियो के सामर्थ्य की परीक्षा करने के लिए अजन और चूर्ण का प्रयोग करना, अनेक द्रव्यो को मिलाकर 'त्रस और एकेन्द्रिय प्राणियो की उत्पत्ति होती है या नहीं' उसकी परीक्षा करना, ऐसे कृत्य करने को परीक्षा कहते हैं। इन कामो से व्रतों में दोप उत्पन्न होते हैं।

(१२) अज्ञानातिचार—अज्ञानी मनुष्यो का आचरण देखकर उसमें दोप न समझ कर स्वयं भी वैसा ही आचरण करने अथवा अज्ञानी से प्राप्त हुए उद्गमादि दोप वाले उपकरणादि का सेवन करने से जो अतिचार उत्पन्न होते हैं, उन्हें अज्ञानातिचार कहते हैं।

(१३) स्नेहातिचार—शरीर, उपकरण, वसतिका, कुल, ग्राम, नगर, देश, वन्ध तथा पार्श्वस्थमुनि आदि मे ममत्व भाव रखने से जो अतिचार होते है, उन्हें स्नेहातिचार कहते हैं। यह मेरा शरीर है, ऐसा ममत्व रखने से यह शीत पवन मेरे शरीर को बाधा देती है, ऐसा विचार कर शरीर को चटाई से ढकता है, अग्नि का सेवन करता है, ग्रीष्मकाल की लू आदि से बचने के लिए वस्त्र ग्रहण करता है, शरीर पर

उबटन लगाता है, उसे स्वच्छ करता है, तैलादि मर्दन करता है, यह सब ठीक नहीं है। इससे अतिचार होते हैं।

मेरा उपकरण विनष्ट हो जायगा, इस भय से पिच्छिका द्वारा प्रमाजन न करना, तैलादि से कमण्डलु का संस्कार कर स्वच्छ रखना, इसे उपकरणातिचार कहते हैं।

वसतिका के तृणादि का भक्षण करते हुए पशु आदि का निवारण करना, वसतिका का भङ्ग होता हो तो उसका निवारण करना बहुत से यति मेरी वसति मे निवास नहीं कर सकेंगे ऐसा कहना, आजाने पर उन पर क्रोध करना, बहुत साधुओं को वसतिका मत दो-ऐसा निषेध करना, अपने कुल के मुनियो की ही सेवा वैयावृत्त्य करना, निमित्त ज्ञानादि का उपदेश देना, ममत्व भाव से ग्राम नगर या देश में रहने का निषेध न करना, अपने से सम्बन्ध रखने वाले मुनियो के सुख में सुखी और दु.ख मे दुःखी होना, पार्श्वस्थादि मुनियों की वन्दना करना, उनको उपकरणादि का प्रदान करना, उनके वचनादि का उल्लघन करने की सामर्थ्य न रखना, इत्यादि कार्यों से जो अतिचार होते हैं उन सबकी आलोचना करना चाहिए।

(१४) गारव अतिचार—ऋद्धि, रस और साता मे आसक्ति रखना। ऋद्धि मे आसक्ति रखने से परिवार में आदर भाव होता है। प्रिय भाषण करके उपकरण देकर दूसरे की वस्तु अपने अधीन करता है। रस मे आसक्ति के कारण प्रिय रस का त्याग नहीं करता है और अप्रिय रस मे अनादर भाव होता है। साता गारव से प्रिय मधुर सुहावने भोजन करता है और शरीर को सुख देने वाले शयनासनादि मे प्रवृति करता है। इससे जो अतिचार होते हैं, उन्हें गारव अतिचार कहते हैं।

(१५) परतन्त्रता जन्य अतिचार—उन्माद से, पित्त के प्रकोप से,भूत पिशाच के शरीर मे प्रवेश करने से परतन्त्रता होती है। ज्ञाति के लोगो के परवश होकर इत्र गन्ध पुष्प माला आदि का सेवन करना, रात्रि भोजन करना, छोडे हुए पदार्थों का सेवन करना, स्त्रियों के या नपुसको के साथ बलात्कार से मैथुन सेवन में प्रवृत्ति करना भी परतन्त्रता के कार्य हैं। इनसे जो अतिचार होते हैं वे परतन्त्रता-जन्य अतिचार कहलाते हैं।

(१६) आलस्य-अतिचार—आलस्य के वश वाचना पृच्छनादि स्वाध्याय मे प्रवृत्ति न करना, आवश्यक कृत्यो मे उत्साह नहीं रखना, इससे जो अतिचार होते हैं, उन्हें आलस्य-जन्य अतिचार कहते हैं।

(१७) उपधि-अतिचार—मायाचार को उपधि कहते हैं। छिपकर अनाचार मे प्रवृत्ति करना, दाता के घर का पता चलाकर अन्य मुनियों के पहुँचने के पहले वहा आहार के लिए प्रवेश करना। अथवा किसी कार्य के बहाने से दाता के घर मे इस प्रकार प्रवेश करना

जिसे दूसरे न जान सके। सुन्दर स्वादिष्ट भोजन करने के पश्चात् 'विरस भोजन किया' ऐसा कहना, रोग ग्रस्त-मुनि की या आचार्य की वैयावृत्य के निमित्त श्रावको से कुछ चीज माग कर स्वयं उसका सेवन करना आदि से अतिचार लगते हैं ये सब उपधि (माया) जन्य अतिचार कहे जाते हैं।

(१८) स्वप्नातिचार—निद्रा मे सोये हुए के स्वप्न मे अयोग्य पदार्थ का सेवन करने से जो दोष होता है, उसे स्वप्नातिचार कहते हैं।

(१९) पलिकुचन—द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव के आश्रय से जो अतिचार होते हैं, उनका अन्यथा वर्णन करने को पलिकुचन अतिचार कहते हैं। जैसे-सचित्त पदार्थ का सेवन करके अचित्त पदार्थ का सेवन प्रकट करना। स्वकीय आवास के स्थान मे जो दोष हुआ हो, उसे मार्ग मे हुआ कहना, दिन मे जो दोष किया है उसे रात्रि में किया हुआ निवेदन करना, तीव्र क्रोधादि भावो से किये गये अपराध को मन्द क्रोधादि किया गया कहना। ऐसे विपरीत वर्णन करने को पलिकुचन कहते हैं।

(२०) स्वय शुद्धि—आचार्य के समीप यथार्थ आलोचना करने पर आचार्य के प्रायश्चित देने मे पहले ही स्वय ही यह प्रायश्चित मैंने लिया है, ऐसा कहकर जो स्वय प्रायश्चित लेता है, उसे स्वयं शोधक कहते हैं। मैने स्वय ऐसी शुद्धि की है ऐसा स्वय कहना। इस प्रकार दर्प आदि के निमित्त से जो २ अतिचार होते हैं, उनका स्पष्टता पूर्वक निवेदन करना चाहिए। अतिचार के क्रम का उल्लंघन करना कदापि ठीक नहीं है।

आचार्य का कर्तव्य

प्रश्न—जब मुनि आलोचना कर चुके तब आचार्य महाराज को क्या करना चाहिए ?

उत्तर—क्षपक द्वारा की गई सम्पूर्ण आलोचना को सुनकर आचार्य क्षपक से तीन बार पूछते हैं कि "हे क्षपक। तुमने क्या २ अपराध किये हैं, वे भली भांति ध्यान मे नहीं आये हैं, उन्हें फिर से कहो", क्षपक के वचन से और व्यवहार से जब गुरु देव को उसकी सरलता-निष्कपटता-प्रतीत होती है तब तो वे (आचार्य) क्षपक को प्रायश्चित देते हैं और जब उसके अन्तःकरण मे कपट मालूम होता है तब उसे प्रायश्चित नहीं देते हैं। क्योकि भाव शुद्धि के बिना पाप का निवारण नहीं होता है और न रत्नत्रय की शुद्धि होती है।

प्रश्न—निष्कपट आलोचना कौनसी है ? जिसको सुनकर आचार्य प्रायश्चित देते हैं और सकपट आलोचना कौनसी है? आचार्य जिसका प्रायश्चित नहीं देते हैं।

उत्तर—वैद्य रोगी को तीन बार पूछा करते हैं-तुमने क्या भोजन किया ? क्या आचरण किया, तुम्हारे रोग का क्या हाल है? शरीर काटा फास आदि लग जाने पर भी तुम्हारे काटा या फास आदि कहा लगा, कैसे लगा ? अब घाव अच्छा हुआ या नहीं-ऐसे तीन बार पूछते हैं। तीन बार पूछने पर यदि तीनों बार एकसी आलोचना करता है,तब उसकी वह निष्कपट आलोचना मानी जाती है और जो भिन्न भिन्न प्रकार से आलोचना की गई हो, उसे वक्रा (कपटयुक्त) आलोचना कहते हैं। उस आलोचना मे मायाचार रहता है।

द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के आश्रित उत्पन्न हुए दोपो को प्रति सेवना कहते हैं। अर्थात् सेवना के द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के विकल्प से चार भेद होते हैं। द्रव्य सेवना के तीन भेद हैं-सचित्त द्रव्य सेवना, अचित्त द्रव्य सेवना और मिश्र द्रव्य सेवना। जिस पुद्गल शरीर मे जीव रहता है, उस शरीर को सचित्त द्रव्य कहते हैं। जीव रहित पुद्गल को अचित्त द्रव्य कहते हैं। तथा सचित्त और अचित्त पुद्गल के समुदाय को मिश्र द्रव्य कहते हैं। जीव से ग्रहण किये हुए पृथ्वी जल अग्नि वायु और वनस्पति को सचित्त कहते हैं। जिस पुद्गल को जीव ने छोड दिया है, उस पुद्गल को अचित्त कहते हैं।

क्षेत्रादि के आश्रित होने वाले स्थूल व सूक्ष्म दोपो का यदि क्षपक ज्यों का त्यों वर्णन नहीं करता है तो प्रायश्चित शास्त्र के ज्ञाता आचार्य उसे प्रायश्चित नहीं देते हैं। आगम मे भी यही कहा है—

पडिसेवणादि चारे जदि आजपदि जहाकमं सव्वे।
कुव्वंति तहा सोधिं आगमववहारिणो तस्स ॥ ६२१ ॥ (भग आ)

अर्थ—जब क्षपक द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के आश्रय से उत्पन्न हुए दोपों का प्रतिपादन यथाक्रम से करता है, तब उसको प्रायश्चित देने मे कुशल आचार्य प्रायश्चित देकर शुद्ध करते हैं।

प्रश्न—जब मुनिराज निर्दोष आलोचना करते हैं, तब आचार्य का क्या कर्त्तव्य होता है ?

उत्तर—जब आचार्य को निश्चय हो जाता है कि इस क्षपक की आलोचना निर्दोष है, तब प्रायश्चित्त आगम के वेत्ता आचार्य आगम से अपराधों की परीक्षा करते हैं। अर्थात् इस प्रायश्चित का विधान करने वाला यह सूत्र है, और इसका यह अर्थ है। इस अपराध का यह प्रायश्चित बतलाया है, इत्यादि रूप से आचार्य प्रथम प्रायश्चित्त का विचार करते हैं।

प्रश्न—दोप के अनुरूप प्रायश्चित का विचार करने वाले आचार्य को अतिचार सेवन करने के पश्चात् क्षपक के भावो का परि

एमन कैसा है, उस पर भी ध्यान देना चाहिए या नहीं ?

उत्तर—प्रतिसेवना के आचरण से क्षपक के भावी परिणामों में हानि या वृद्धि कैसी हुई है ? अर्थात् प्रति सेवना (विरुद्ध चरण) करने से जो उसके पाप हुआ है, उसके बाद इस क्षपक के संक्लेश भाव हुए हैं या संवेग भाव उत्पन्न हुए हैं। यदि उसके संक्लेश-परिणाम हुए हैं, तब तो इसका पूर्वोपार्जित पापकर्म की वृद्धि हुई है और यदि उसके संवेग पूर्ण भाव हुए हैं तब उसके पूर्व दुष्कर्म की हानि हुई है। तथा जो पाप कर्म की हानि या वृद्धि हुई है, वह भी मन्द हुई या तीव्र हुई है ? इसका भी आचार्य विचार करते हैं।

जैसे—किसी क्षपक ने पहले असंयम का आचरण किया, पश्चात् उसका अन्तःकरण "हाय, यह मैंने बहुत बुरा किया" इत्यादि पश्चाताप से दग्ध हुआ। और बाद में संयमाचरण में प्रवृत्त हुआ। इस पश्चाताप पूर्वक संयमाचरण के प्रभाव से नवीन और संचित कर्म का एक देश निर्जरा अथवा सम्पूर्ण निर्जरा होती है। अर्थात् मध्यम या मंद परिणाम से एक देश निर्जरा होती है और तीव्र परिणाम से सम्पूर्ण कर्म की निर्जरा होती है।

इन सब बातों का विचार करके प्रायश्चित्त शास्त्र के ज्ञाता आचार्य, क्षपक के परिणामों को जानकर जितने प्रायश्चित्त से वह शुद्ध हो सकता है, उसे उतनाही प्रायश्चित्त देते हैं। जैसे स्वर्णकार अग्नि की शक्ति की न्यूनाधिकता को जान कर उसके अनुसार ही अग्नि को धमता है, वैसे ही प्रायश्चित्त का जिसे पूर्ण अनुभव है ऐसा आचार्य भी यह अपराध अल्प है यह महान् है, इसके क्रोधादि परिणाम तीव्र थे या मन्द थे–इत्यादि का विचार करके उसके अनुरूप ही प्रायश्चित्त देते हैं।

प्रश्न—दूसरे के परिणामों का ज्ञान आचार्य कैसे करते हैं ?

उत्तर—साधु के साथ रहने से उसके नित्य के कार्यों को देखकर आचार्य उसके परिणामों का पता चला लेते हैं, अथवा आचार्य साधु से पूछ लेते हैं कि जब तुमने प्रतिसेवना की थी, उस समय तुम्हारे परिणाम कैसे थे ? इत्यादि उपायों से साधुके परिणामों का ज्ञान आचार्य करते हैं।

आचार्य आयुर्वेद विशारद वैद्य के समान होते हैं। जैसे विद्वान् वैद्य रोगों का भली भांति परीक्षा कर साध्य, कष्ट-साध्य अथवा असाध्य व्याधि के अनुरूप औषध देकर उनकी चिकित्सा करता है, वैसे ही आचार्य भी अल्प प्रायश्चित्त मध्यम प्रायश्चित या महान् प्रायश्चित देकर साधु को दोष से मुक्त (विशुद्ध) करने का प्रयत्न करता है।

प्रश्न—आचार्य के आपने पहले आचारत्व आधारवत्वादि गुण बताये हैं, उनके धारण करने वाले आचार्य ही निर्यापक हो सकते

हैं। यदि कालादि दोष से उक्त गुण धारक आचार्य न मिलें तो अन्य मुनि भी क्षपक का समाधि मरण कर सकते हैं? या नहीं?

उत्तर—उक्त गुणो का धारक आचार्य अथवा उन गुणो से शोभित उपाध्याय भी न हो तो प्रवर्तक मुनि या स्थविर (वृद्ध) अनुभवी मुनीश्वर अथवा बालाचार्य यत्न पूर्वक व्रतो मे प्रवृत्ति करते हुए क्षपक का समाधिमरण साधन करने के लिए निर्यापकाचार्य हो सकते हैं।

प्रश्न—प्रवर्तक किसे कहते हैं?

उत्तर—जो अल्पश्रुत का ज्ञाता होने पर भी संघ की सम्पूर्ण मर्यादा और चारित्र का ज्ञाता होता है, वह प्रवर्तक होता है।

प्रश्न—स्थविर किसे कहते हैं?

उत्तर—जो चिरकाल के दीक्षित तथा मुनि-मार्ग के अनुभवी मुनिवर होते हैं वे स्थविर मुनि हैं।

प्रश्न—आचार्य द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त का आचरण कर लेने के पश्चात् और देहत्याग करने का उचित काल प्राप्त नहीं होने के पूर्व क्षपक क्या करता है?

उत्तर—जिसने अपने चरित्र को निर्दोष बना लिया है तथा शास्त्रोक्त विधि से गुरु के समीप रहकर अपने चरित्र को उत्तरोत्तर उज्ज्वल किया है वह क्षपक समाधिमरण के लिए धारण किये हुए विशेष चरित्र मे उन्नति करने की कामना करता हुआ वर्षाकाल मे नाना प्रकार के तपश्चरण कर हेमन्त मे सस्तर का आश्रय लेता है। क्योकि ग्रीष्मादि ऋतु की तरह हेमंत ऋतु में अनशनादि तप करने पर भी शरीर को विशेष कष्ट का अनुभव नहीं होता है।

प्रश्न—जिसने समाधि के सब साधनो का अभ्यास कर लिया है। अर्थात् अनेक कष्ट-प्रद तप का आचरण कर कष्ट सहन करने का जिसने सामर्थ्य उत्पन्न कर लिया है उसके लिए वसतिका का कुछ नियम है या नहीं? अर्थात् उसे विघ्न बाधा रहित वसतिका मे ही रहना चाहिए या सबाध सविघ्न वसतिका मे भी वह रह सकता है? यदि विशेष नियम है तो उसके लिए कौनसी वसतिका तो अयोग्य मानी गई है और कौनसी योग्य?

उत्तर—अनेक दुर्धर तपश्चरणो का पालन कर जिसने कष्ट सहिष्णुता प्राप्त करली है, समाधि मरण के लिए संस्तर पर आरूढ हुए उस क्षपक के लिए भी निर्विघ्न और निर्बाध वसतिका ही योग्य मानी गई है। क्योकि क्षुधा प्यास आदि के सताने पर यदि शान्ति को देने वाली वसतिका नहीं होगी तो उसके परिणामो मे सक्लेश उत्पन्न हो सकता है? अत उसे योग्य वसतिका मे ही ठहरना उचित है।

प्रश्न—उसके लिए अयोग्य वसतिका कौनसी होती है ?

उत्तर—संगीतशाला, नृत्यशाला, गजशाला, अश्वशाला, तेली का घर, कुम्हार का घर, धोबी का घर, बाजे बजाने वालों का घर, डोमका घर, बास के ऊपर चढकर खेल करने वालो का घर, रस्सी पर चढकर नाच करने वाले का घर इन सबके समीप की वसतिका मुनि के लिए योग्य नहीं होती है। तथा राज मार्ग (सड़क) के समीपवर्ती वसतिका भी मुनि के निवास के योग्य नहीं है।

लोहार, सुनार (बढ़ई), चमार, कोली, छीपे, ठठेरे, कलाल, भाड, व बन्दीगण (स्तुतपाठक) सिलावट, तथा करोत से काठ को चीरने वाले जहा रहते हों उस के निकट तथा वाटिका और कूए बावडी आदि जलाशय के समीप एवं जूआरी व्यभिचारी लोग तथा ऐसे ही अन्य दुष्कर्म करने वाले शराबी धीवर आदि अधम पुरुष जहा रहते हैं ऐसे स्थानो के निकट की वसतिका मे समाधि की इच्छा रखने वाले मुनीश्वरो को कदापि नहीं ठहरना चाहिए। क्योंकि उक्त स्थानो के समीप रहने वाले क्षपक के भावों मे उद्विग्नता तथा शान्ति का भग होने की पूर्ण सभावना बनी रहती है, इसलिए रत्नत्रय की उज्वलता बढाने वाले क्षपक को उक्त अयोग्य वसतिका में कदापि नहीं ठहरना चाहिए।

प्रश्न—क्षपक साधु को कहा और किस प्रकार रहना चाहिए ?

उत्तर—क्षपक मुनि को ऐसे स्थान मे ठहरना चाहिए जहां उसकी पाचों इन्द्रिय शान्त रहें, जहां पर इन्द्रियो के विषयों को उत्तेजित करने वाले साधन न हों, जहा पर मन मे उद्वेग और विकार भाव उत्पन्न न हों, ऐसे शान्त वातावरण वाले, ध्यान में एकाग्रता के साधक स्थान मे त्रिगुप्ति के धारक मुनीश्वर रहते हैं।

प्रश्न—जहा पर मन मे क्षोभ उत्पन्न करने वाले इन्द्रियो के विषयों का प्रचार नहीं है ऐसी प्रत्येक वसतिका मुनि के निवास करने योग्य मानी गई है या नहीं ?

उत्तर—ऐसी वसतिका मुनि के निवास के लिए योग्य मानी है जो उक्त गुणो से युक्त होती हुई उद्गम उत्पादन और एषणा दोषों से रहित है। तथा जिसमें मुनि के उद्देश्य से लीपना पोतना सफेदी करना या अन्य सस्कार क्रिया नहीं की गई है। जिसमे जन्तुओं का निवास नहीं है तथा बाहर से आकर प्राणी वास नहीं करते हैं ऐसी वसतिका में मुनि ठहरा करते हैं।

प्रश्न—क्षपकादि मुनियो को कैसी वसतिका में प्रवेश करना चाहिए ?

उत्तर—जिस वसतिका मे बाल वृद्ध मुनि सुख पूर्वक प्रवेश कर सकते हैं और निकल सकते हैं, जिसका द्वार बन्द होता है,

जिसमें प्रकाश भी विपुल हो ऐसी वसतिका होनी चाहिए। इसमें कम से कम दो शालाएं या कमरे होने चाहिए। उनमें से एक में तो क्षपक के लिये। और दूसरी अन्य मुनि तथा धर्म श्रवणार्थ आए हुए श्रावकों के लिए। यदि तीन कमरे हों तो एक में क्षपक मुनि का संस्तर दूसरे में अन्य मुनियों का वास और तीसरे में धर्मोपदेश श्रवण करने के लिए आए हुए लोगों का ठहरना होता है।

वसतिका का द्वार यदि बन्द न होता है तो शीतवायु आदि का प्रवेश होने से जिस क्षपक के अस्थि व चर्म मात्र शेष रह गये हैं ऐसे क्षपक को अतिशय क्लेश उत्पन्न होगा। जिसका द्वार बन्द न होता हो अर्थात् खुला ही रहता हो ऐसी वसतिका में क्षपक शरीर के मल का त्याग कैसे कर सकेंगे? इसलिए वसतिका बन्द होने वाले द्वार की ही होनी चाहिए।

यदि वसतिका में अन्धकार होगा तो वहां पर रहने से जीव जन्तु का अवलोकन न हो सकने के कारण असंयम होगा। जिस वसतिका में अन्दर घुसने या बाहर निकलने में कठिनाई होती हो उसमें सिर मस्तक या घुटने आदि में चोट लगने की सम्भावना रहती है तथा संयम की भी विराधना होती है।

प्रश्न—क्षपक का संस्तर कैसे स्थान में होना चाहिए?

उत्तर—क्षपक का संस्तर ऐसे स्थान में होना चाहिए, जहां बालक वृद्ध तथा चार प्रकार का संघ सुगमता से आ जा सके। वसतिका के किवाड़ और दीवाल मजबूत होना चाहिए। उद्यान-गृह, गुफा या शून्य-गृह भी वसतिका के योग्य माने गये हैं। ऐसे निर्दोष स्थान में क्षपक का संस्तर करना चाहिए। दूसरे ग्राम या नगर के आगत व्यापारियों के ठहरने के लिए जो निवास बनाये गए हों, उनमें भी तथा ऐसे ही अन्य निर्दोष और निर्बाध स्थानों में क्षपक के संस्तर की योजना की जा सकती है।

प्रश्न—जहां उद्यान-गृह, शून्य-गृह, सराय, धर्मशाला, गुफा आदि क्षपक के संस्तर के योग्य स्थान (वसतिका) न मिले, वहां क्या करना चाहिए?

उत्तर—जहां पर क्षपक के योग्य उक्त प्रकार की वसतिका न मिले, वहां के श्रावकों का कर्तव्य होता है, कि वे बांस के बने टट्टी आदि से क्षपक के तथा वैयावृत्त्य करने वाले साधु आदि के सुन्दर वास के लिए कुटिया बना दें तथा धर्म-श्रवण के लिए आगत चतुर्विध संघ के बैठने आदि के लिए मंजुल मण्डप की रचना करदें। परन्तु ध्यान रहे, इस कार्य में बहुत अल्प आरम्भ होना चाहिए। कहा भी है—

आगंतुघरादीसु वि कडएहिं य चिलिमिलाहिं कायव्वो।
खवयस्सोच्छागारो धम्मसवणमंडवादी य ॥ ६३८ ॥ (भग आ)

अर्थ—आगतुक अतिथियों के लिए बने हुए घर तथा शून्य-घर, उद्यान-गृहादि मे क्षपक का संस्तर करना योग्य है। यदि उक्त प्रकार के योग्य स्थान उपलब्ध न हो तो श्रावकों का कर्त्तव्य है कि वे क्षपक के ठहरने के योग्य वास के टट्टे चटाई आदि से क्षपक व अन्य वैयावृत्त्य करने वाले साधुओं तथा आचार्य के वास के योग्य आवास स्थान करवा दे तथा धर्म श्रवण के लिए आने वाले चतुर्विध संघ के बैठने के लिए सुविधा जनक मडपादि भी करवाना उचित है।

प्रश्न—उक्त प्रकार की वसतिका मे क्षपक का सस्तर कैसा होना चाहिए ?

उत्तर—समाधिमरण करने वाले क्षपक के सस्तर चार प्रकार माने गये हैं। १. पृथ्वी सस्तर, २. शिला रूप सस्तर, ३. काष्ठमय संस्तर, और ४. तृणमय संस्तर। क्षपक की समाधि (सुख शान्ति) के लिए संस्तर का मस्तक पूर्व दिशा या उत्तर दिशा मे रखना आवश्यक है। क्योंकि अभ्युदय के कार्यों मे पूर्व दिशा प्रशस्त मानी गई है। तथा स्वयं प्रभादि उत्तर दिशा सम्बन्धी तीर्थंकरो की भक्ति के उद्देश्य से उत्तर दिशा भी शुभ कार्य मे प्रशस्त मानी है। क्षपक के समाधिमरण की साधना रूप कार्य भी अत्यन्त शुभ है, इसलिए उसकी सिद्धि के निमित्त पूर्व दिशा और उत्तर दिशा मे ही संस्तर का मस्तक भाग रखने के लिए आगम मे उपदेश दिया गया है।

(१) पृथ्वी-सस्तर—भूमि रूप सस्तर वही हो सकता है जिस पृथ्वी मे निम्नोक्त विशेषताएँ पाई जावें :—

"निर्जंतुका घना गुप्ता समाऽमृद्वि सुनिर्मला।
अनार्द्रा स्वप्रमाणा च सोद्योता संस्तरोधरा ॥ १ ॥"

जिस भूमि मे उद्देही आदि जन्तु न हो, दृढ़ हो, अप्रकट हो, सम हो, मृदु न हो, निर्मल हो, भीगी न हो, क्षपक के शरीर के प्रमाण हो, प्रकाश सहित हो ऐसी भूमि सस्तर के लिए उपयोगी होती है। भूमि मे यदि उद्देही आदि जन्तुओं की उत्पत्ति की योग्यता होगी तो सन्यास के समय उद्देही आदि निकलने लगेंगी तब क्षपक को काटेंगे, इससे उसको असमाधि उत्पन्न होगी, सुख शान्ति का भंग होगा, तथा उन जन्तुओ की विराधना होने से असंयम होगा, अतः सस्तर के योग्य भूमि निर्जंतुक होनी चाहिए। जो भूमि घन (दृढ़) न होगी, वह शरीर के भार से दबेगी, तब भूमि के भीतर के जीवो को बाधा होगी। तथा वह ऊँची नीची होजाने के कारण क्षपक के शरीर को कष्ट होगा। इसलिए भूमि घन (दृढ) होना आवश्यक है। यदि भूमि गुप्त (अप्रकट) न होगी, अर्थात् प्रकट होगी तो मिथ्यादृष्टि मनुष्यो का संसर्ग होता रहने से क्षपक के भावो मे अविशुद्धि की सम्भावना रहेगी; इसलिए क्षपक के सस्तर योग्य भूमि गुप्त (अप्रकट) होनी चाहिए। जो सम नहीं होगी, ऊँची नीची होगी तो क्षपक के शरीर को बाधा पहुँचेगी। मृदु भूमि क्षपक के शरीर हाथ पाव आदि से बाधित होगी।

जो भूमि निर्मल न होगी अर्थात छेद छिद्र और प्राणियों के बिलों सहित होगी तो छिद्रो में प्रविष्ट हुए तथा उनसे निकले हुए जीव जन्तुओं को बाधा पहुचने से प्राणि सयम की विराधना होगी। भूमि यदि जल से भीगी होगी तो जल काय के जीवो को पीड़ा होगी, इसलिए भूमि सूखी होनी चाहिए। भूमि क्षपक के शरीर के बराबर होनी चाहिए। यदि शरीर प्रमाण से अधिक होगी तो प्रति लेखनादि का व्यासंग अधिक करना पड़ेगा। प्रमाण से न्यून होगी तो शरीर को सुकोड़ना पड़ेगा। प्रकाश रहित या अल्प प्रकाश वाली भूमि मे जीव जन्तु दिखाई न देने पर प्राणि सयम की रक्षा कैसे हो सकेगी। इसलिए उक्त गुण वाली भूमि ही क्षपक के सस्तर योग्य होती है।

(२) शिलामय सस्तर—जो पत्थर की शिला, अग्नि से तप कर प्रासुक होगई हो, या टाकी से चारों ओर से उकेरी गई हो अथवा घिसी गई हो वह प्रासुक शिला सस्तर के योग्य होती है। वह शिला टूटी फूटी न होनी चाहिए। निश्चल तथा चारों ओर से पापाण मत्कुण (खटमल) आदि के सम्पर्क से रहित और समतल एवं प्रकाश युक्त होनी चाहिए।

(३) काष्ठमय सस्तर—जो काष्ठ का फलक (तख्ता) अखंड एक है, आदमी के लेटने योग्य चौडा तथा हलका है-अर्थात् जिसको उठाने लाने रखने मे अधिक परिश्रम न करना पड़े ऐसा है, भूमि पर चारो तरफ से लगा हुआ है, अच्छा चिकना और छेद-दरारो से रहित है, जिस पर शयन करने या बैठने पर चूचा आदि शब्द नहीं होता है-ऐसा पुरुष प्रमाण निर्जन्तुक स्वच्छ काठ का तख्ता साधु के सस्तर के योग्य माना गया है।

(४) तृण संस्तर—क्षपक के लिए तृण का संस्तर वही प्रशस्त होता है, जो गाठ रहित तृण से बनाया गया हो, अन्तर रहित एक से लम्बे तृणो से जिसकी रचना की गई है। जिन तृणों से सस्तर बनाया जावे वे पोले न हो किन्तु ठोस हों। मृदु स्पर्श सहित तथा निर्जन्तुक हो जिस पर सोने से क्षपक को सुख मिले और शरीर मे खुजली आदि का क्लेश न हो। ऐसे तृण का सस्तर क्षपक के लिए योग्य माना गया है।

उक्त चारो प्रकार के सस्तरों मे निम्नोक्त गुण अवश्य होने चाहिए।

किसी भी प्रकार का सस्तर हो, वह यथोचित प्रमाण वाला हो। न तो अधिक छोटा हो और न अधिक बड़ा हो। सूर्योदय के समय व सूर्यास्त के समय दोनो वेला मे प्रति लेखन से शुद्ध किया जाता हो। अर्थात देख शोध कर जिसका भली भांति प्रमार्जन किया जाता है। शास्त्र कथित विधि से जिसकी रचना की गई हो। ऐसा गुण विशिष्ट सस्तर क्षपक के योग्य होता है।

क्षपक अपना आत्मा निर्यापकाचार्य को सौंप कर-उसका शरण मानकर-उक्त प्रकार के शास्त्र सम्मत संस्तर पर आरोहण करता है और विधि पूर्वक सल्लेखना का आचरण करना प्रारम्भ करता है।

सल्लेखना दो प्रकार की होती है। बाह्य सल्लेखना और आभ्यन्तर सल्लेखना। अथवा द्रव्य सल्लेखना और भाव सल्लेखना।

बाह्य सल्लेखना अथवा द्रव्य सल्लेखना—आहार का विधि पूर्वक त्याग करके शरीर कृश करने को बाह्य या द्रव्य सल्लेखना कहते हैं।

आभ्यन्तर या भाव सल्लेखना—सम्यक्त्व तथा क्षमादि भावना से मिथ्यात्व तथा क्रोधादि कषायों के कृश करने को आभ्यन्तर या भाव सल्लेखना कहते हैं।

इस प्रकार वसतिका और संस्तर का विवेचन पूर्ण हुआ।

वैयावृत्य–कुशल सहायक मुनि कैसे होने चाहिए ?

जिस समाधि के आराधक क्षपक ने समाधि के साधनों का भली भांति अभ्यास कर लिया है तथा जो आगमोक्त वसतिका में विधि पूर्वक संस्तर पर आरूढ़ होगया है, उसकी समाधि विधि को सफल बनाने के लिए निर्यापकाचार्य अड़तालीस सहायक (वैयावृत्त्य करने वाले) मुनियों की योजना करते हैं। वे वैयावृत्त्य कुशल सहायक मुनि कैसे होने चाहिए। उनका स्वरूप दिखाते हैं—

पियधम्मा दढधम्मा संवेगावज्जभीरुणो धीरा।
छंदण्हू पच्चइया पच्चक्खाणम्मि य विदण्हू ॥ ६४७ ॥
कप्पाकप्पे कुसला समाधिकरणुज्जदा सुदरहस्सा।
गीदत्था भयवंता अडदालीसं तु णिज्जवया ॥ ६४८ ॥ भग. आ.

अर्थ—जिनके साथ क्षपक को अहर्निश घनिष्ठ सम्पर्क में रहना है, क्षपक के जीवन का बनना व बिगड़ना जिनके आश्रित है वे साधु कैसे होने चाहिए—उसके विषय में बतलाते हैं कि वे धर्म–प्रिय होने चाहिए। क्योंकि जिनको स्वयं चारित्र–धर्म प्यारा नहीं होगा वे क्षपक को अशक्त अवस्था में चारित्र में प्रवृत्ति करने के लिए उत्साहित कैसे कर सकेंगे? इसलिए आचार्य चारित्र प्रेमी साधुओं को क्षपक की सेवा के लिए चुनते हैं। सम्यग्दृष्टि होने के कारण साधु चारित्र प्रेमी तो हैं लेकिन चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से जो स्थिर चारित्र वाले नहीं हैं, वे क्षपक को चारित्र में सुस्थिर कैसे कर सकते हैं, इसलिए आचार्य धर्म प्रेमी साधुओं में से भी दृढ चारित्र वाले मुनियों को क्षपक की सेवा में नियुक्त करते हैं। जो पाप से नहीं डरते हैं, वे असंयम का त्याग नहीं कर सकते हैं, इसलिए जिनके हृदय में चतुर्गति में भ्रमण करने का तथा पापाचरण का भय सदा विद्यमान रहता है, वे ही चारित्र को दृढता से धारण करने में दत्तचित्त रहते हैं। धैर्य धारक मुनि परिषह के

आने पर अपने धर्म से कभी विचलित न होते हैं। अतः धीर मुनि सेवा के कार्य में निपुण होते हैं। वैयावृत्त्य करने वाले मुनि क्षपक के अभिप्राय को उसकी चेष्टादि से जान सकने वाले होने चाहिए। जो शरीर की चेष्टादि से क्षपक के अभिप्राय का ज्ञान करने में कुशल नहीं होते हैं, वे उसका भला नहीं कर सकते। इसलिए अभिप्राय के ज्ञाता साधु सेवा कार्य में नियुक्त किये जाते हैं। तथा जिन्होंने पहले भी वैयावृत्य कार्य में निपुणता प्राप्त की है तथा जो साकार और निराकार प्रत्याख्यान के क्रम के ज्ञाता होते हैं वे परिचारक होते हैं। तथा जो अनुभवी साधु क्षपक के योग्य तथा अयोग्य आहार पान के ज्ञाता होते हैं वे ही क्षपक को उचित आहार पान में प्रवृत्त कर सकते और अनुचित भोजन पान से निवृत्त कर सकते हैं। परिचारक प्रायश्चित शास्त्र के सन्यासी आगम रहस्य के वेत्ता तथा स्व और पर का उद्धार करने में दक्ष होने चाहिए। उक्त गुणों से अलकृत परिचारक साधु एक क्षपक की वैयावृत्य के लिए अडतालीस होते हैं।

प्रश्न—परिचारक मुनि क्षपक की क्या २ सेवा करते हैं। किस २ परिचर्या के लिए कितने २ मुनि नियुक्त किये जाते हैं? इसका विवेचन कर स्पष्ट खुलासा करने की कृपा करें?

आमासणपरिमासणचंकमणासयण णिसीदणे ठाणे।
उव्वत्तणपरियत्तणपसारणा उटणादीसु ॥ ६४९ ॥
संजदकमेण खवगस्स देहकिरियासु णिच्चमाउत्ता।
चदुरो समाधिकामा आलग्गता पडिचरंति ॥ ६५० ॥ (भग. आ)

अर्थ—शरीर के एक देश के स्पर्श करने को आमर्श कहते हैं। सम्पूर्ण शरीर के स्पर्श करने को परिमर्शन कहते हैं। क्षपक की सेवा के लिए इधर उधर गमन करने को चक्रमण कहते हैं। क्षपक को संस्तर पर सुलाना, आवश्यकता पडने पर उसे हस्तादि की सहायता देकर बैठाना उठाना, एक करवट से दूसरी करवट लेटाना, उसके हाथ पाव सकोचना, पसारना इत्यादि सेवा करते समय परिचारक मुनि मन वचन काय द्वारा सावधानी से मुनि मार्ग की रक्षा करते हुए क्षपक के शरीर और अन्त करण की समाधि (सुख शान्ति) का पूरा २ ध्यान रखते हैं।

भावार्थ—परिचारक मुनियो की मनोवृत्ति क्षपक के अन्त.करण के समाधान मे लगी रहती है। जब क्षपक के हस्त पादादि किसी अवयव में पीड़ा का अनुभव होता है, तत्काल उस अवयव का कोमल स्पर्श द्वारा उसको दबाने सुलसुलाने लगते हैं। जब सम्पूर्ण शरीर में वेदना होने लगती है तब यथायोग्य रीति से उसके सुख का पूरा ध्यान रखते हुए शरीर का शनै. शनै. मर्दनादि करने मे तत्पर

रहते हैं। जब क्षपक को बैठे रहने की इच्छा होती है, तब उसे सावधानी से उठाकर बैठाते हैं। उसके इंगित (इशारे) से सोने की अभिलाषा जानकर आराम से सुलाते हैं। खडे होने का अभिप्राय जानकर शीघ्रता से खडा करते हैं। इधर उधर थोडा चलने की इच्छा होने पर उसे हस्तावलम्बन देकर घुमाते हैं। उसकी सेवा के लिए परिचारक साधुओ को इधर उधर जाना पडता है तो तत्काल निरलस होकर गमन करते हैं तात्पर्य यह है कि जिस समय (रात्रि मे या दिन मे) जिस परिचर्या की आवश्यकता प्रतीत होती है, उसी समय परिचर्या करने मे वे परिचारक साधु क्षण भर का भी विलम्ब नहीं करते हैं। अपने मन वचन और काय को क्षपक की परिचर्या मे सावधानी से लगाये रहते हैं। सब परिचर्या को करते हुए क्षपक के और अपने सयम की रक्षा का पूर्ण ध्यान रखते हैं। इस प्रकार चार परिचारक मुनि क्षपक की शरीर सम्बन्धी परिचर्या मे तन्मय रहते हैं।

चार मुनीश्वर विकथाओं का त्याग कर धर्म कथा कहकर क्षपक के अन्त करण को धर्म भावना मे दत्तचित्त रखते हैं।

प्रश्न—क्षपक के सम्मुख कौन २ सी विकथाएँ नहीं की जाती हैं ?

उत्तर—जिन कथाओ को सुनकर क्षपक के चित्त मे धर्म भावना नष्ट होकर आर्तरौद्रध्यान उत्पन्न होते हैं; उनको विकथा कहते हैं। जैसे-चार प्रकार के आहार का वर्णन करना आहार कथा है। स्त्रियों के सौन्दर्यादि का निरूपण करने वाली कथा स्त्री कथा है। राजाओ के वैभवादि का वर्णन करना राज कथा है। नाना प्रकार के देशो का वर्णन करने वाली वार्ता को देश कथा कहते हैं। काम विकार से उन्मत्त होकर हास्य मिश्रित असभ्य भण्ड वचन उच्चारण करने को कदर्प कथा कहते हैं। बांस के ऊपर रस्सी के ऊपर चढकर खेल करने नृत्य करने वाले गान वादित्रादि शृंगार रसादि का विवेचन करनेवाली सब कुकथाएँ हैं। वे स। आत्मा के स्वरूप चिन्तन मे बाधा पहुँचाने वाली होती हैं। इसलिए इनका त्याग कर चार मुनीश्वर क्षपक को उचित समय पर सर्वदा धर्म कथाओ का उपदेश देते रहते हैं।

प्रश्न—धर्म कथाओ का श्रवण कराने वाले मुनीश्वर क्षपक को किस प्रकार धर्मोपदेश देते हैं ?

उत्तर—जिस समय जैसे धर्मोपदेश की आवश्यकता प्रतीत करते हैं, वे धर्मोपदेशक मुनिराज उस समय वैसा ही मधुर स्निग्ध और हृदयगम हितकारक धर्मोपदेश विचित्र २ कथाओ द्वारा देते हैं जिससे क्षपक का अन्तःकरण उस उपदेश को शीघ्र ग्रहण कर लेता है।

जिनमे वाक्पटुता होती है तथा जिनका वचनोच्चारण अत्यन्त स्पष्ट और गम्भीरता पूर्ण होता है, ऐसे ही वाग्मी चार मुनि धर्म कथाओ द्वारा क्षपक को धर्मोपदेश देते हैं।

स. प्र.

वे मुनि जब धर्मोपदेश देते हैं, उस समये जिस अभिप्राय का विवेचन करना चाहते हैं उसी अभिप्राय को स्पष्ट करने वाले उनके शब्द निकलते हैं। उन शब्दों से कभी विपरीत अर्थ का भास नहीं होता है। एक ही शब्द का वे दो तीन बार उच्चारण नहीं करते हैं। उनके सब वचन असदिग्ध और प्रत्यक्षादि प्रमाण से अविरुद्ध निकलते हैं। उनका भाषण न तो अतिमन्द स्वर मे होता है और न अति उच्च स्वर मे ही होता है, किन्तु वे मध्यम स्वर मे ही भाषण करते हैं। वे अति शीघ्र नहीं बोलते और न रुक रुक कर ही उच्चारण करते हैं। अपितु मध्यम पद्धति से इस प्रकार शब्दो का शृंखलाबद्ध क्रम से उच्चारण करते हैं जिनको सुनकर श्रोताओं को अर्थ का स्पष्ट भास होता जाता है। उनका भाषण कर्ण-मधुर, मिथ्यात्व से हीन (सम्यक्त्व का पोषक) तथा सार्थक होता है। उनके भाषण मे पुनरुक्ति दोष नहीं होता है।

प्रश्न—संस्तरारूढ क्षपक को कौनसी कथा धर्मोपदेशक मुनि श्रवण कराते हैं। कौनसी कथा उसके लिए हितकारिणी हो सकती है?

उत्तर—जो कथा क्षपक के अन्तःकरण मे उत्पन्न हुए अशुभ परिणामों का निवारण कर सवेग और वैराग्य को दृढ़ करने वाली हो वही कथा क्षपक के लिए हितकारिणी हो सकती है। वही कहा है—

आक्खेवणी य संवेगणी य णिव्वेयणी य खवयस्स।
पाओग्गा होंति कहा ण कहा विक्खेवणी जोग्गा ॥ ६५५ ॥ [भग. आ]

अर्थात्—कथाएँ चार प्रकार की होती हैं। १ आक्षेपणी, २. विक्षेपणी, ३. सवेजनी और ४. निर्वेजनी। उनमें से विक्षेपणी को छोडकर शेष तीन कथाएँ क्षपक के योग्य होती हैं।

प्रश्न—आक्षेपणी कथा किसे कहते हैं? उसका स्वरूप सप्रमाण समझाने का अनुग्रह कीजिए।

उत्तर—आक्षेपणी व विक्षेपणी कथा का स्वरूप निम्न प्रकार है—

आक्खेवणी कहा सा विज्जाचरणमुवदिस्सदे जत्थ।
ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेवणी णाम ॥ ६५६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—जिसमे विद्या (सम्यग्ज्ञान) और चरण (सम्यक् चारित्र) का विवेचन किया जाता है उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं। तथा स्व सिद्धान्त और पर सिद्धान्त का निरूपण करने वाली कथा को विक्षेपणी कथा कहते हैं।

भावार्थ—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान के स्वरूप, लक्षण और भेदों का वर्णन जिस कथा में किया गया हो तथा सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्म-साम्पराय और यथाख्यात इन पाच प्रकार के चारित्र का अथवा अहिंसादि पांच महाव्रत, ईर्या भाषादि पाच समिति और मनोगुप्ति आदि तीन गुप्ति इस प्रकार तेरह प्रकार के चारित्र का स्वरूप विवेचन जिसमें होता है उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं।

जीवादि पदार्थ सर्वथा नित्य ही है, या सर्वथा क्षणिक ही है। सन्मात्र तत्त्व है, या विज्ञान मात्र तत्त्व है, या सर्व शून्य ही तत्त्व है इत्यादि पर(अन्य मत के) सिद्धान्तों को पूर्व पक्ष मे लेकर इन तत्त्वो मे प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण से विरोध दिखाकर कथचित नित्य, कथचित् अनित्य, कथचित् एक और कथचिद् अनेक तत्त्व रूप अपने सिद्धान्तों का समर्थन जिसमे किया जाता है उसे विक्षेपणी कथा कहते हैं।

प्रश्न—सवेजनी और निर्वेजनी कथा किसे कहते हैं? उनका स्वरूप दिखाने की कृपा करें।

उत्तर—उनका स्वरूप वर्णन करने के लिए निम्न गाथा उद्धृत करते हैं।

सवेयणी पुण कहा णाणचरित्ततववीरिय इढिढ्गदा।
णिव्वेयणी पुण कहा सरीरभोगे भवोघे य ॥ ६५७ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—ज्ञान का अभ्यास, चारित्र का पालन और तपश्चरण का आराधन करने से आत्मा मे जो जो दिव्य शक्तियां प्रकट होती हैं उनका स्पष्टता से विवेचन करने वाली कथा को सवेजनी कथा कहते हैं। शरीर भोग और जन्म परम्परा से वैराग्य उत्पन्न करने वाली कथा को निर्वेजनी कथा कहते हैं। यह शरीर अशुचि है, क्योंकि यह रस रक्त मास चर्बी हड्डी मज्जा और शुक्र इन सप्त धातुओं से पूरित है। यह शरीर और भोग सामग्री सर्वदा आत्मा को क्लेश का कारण होती है। देव पर्याय व मनुष्य पर्याय ये दोनों उत्तम मानी गई हैं। उन दोनों में भी मनुष्य जन्म अति दुर्लभ व श्रेष्ठ कहा गया है, क्योंकि इससे ही संयम और तप की आराधना हो सकती है। इस प्रकार का निरूपण जिस कथा मे होता है उसे निर्वेजनी कथा कहते हैं।

प्रश्न—क्षपक के लिए विक्षेपणी कथा का निषेध क्यों किया गया है? स्व मत का समर्थन और पर मत का निरूपण (खंडन) सुनने से तो धर्म मे श्रद्धा दृढ होती है और जिन-कथित चारित्र पालन करने मे उत्साह की वृद्धि होती है। क्षपक के लिए उसका श्रवण क्यो मना किया गया है?

उत्तर—संस्तरारूढ क्षपक का जीवन किनारे आ लगा है। उस समय उसकी आत्मा मे राग द्वेप का अभाव होना आवश्यक है। क्रोधादि का त्याग और क्षमादि धर्म मे परिणाम तन्मय होना ही परम हितकर है। यदि ऐसे समय में उसके सामने स्वसिद्धान्त की सिद्धि और परमत मे प्रत्यक्षादि विरोध दिखाकर खडन मंडन का प्रसङ्ग छेड़ा गया और उसका चित्त उसमे तन्मय होगया और इतने मे ही कदाचित् उसकी आयु का अन्त हो गया तो उसके अन्त:करणमे क्रोधादि कषाय का प्रादुर्भाव और रागद्वेप की जागृति हो जाने से उसका सामधिरमण बिगड जावेगा। और यह भी हो सकता है कि वह खडन मंडन मे व्यामुग्ध होकर पूर्व पक्ष को ही सत्य मान बैठे, क्योंकि उस समय बुद्धि अस्थिर होती है।

शङ्का—मन्द बुद्धि क्षपक के लिए विक्षेपणी कथा अनुपयोगिनी है, किन्तु तीव्र बुद्धि बहुश्रुत क्षपक के लिए तो उपयोगिनी हो सकती है ?

समाधान—विक्षेपणी कथा से आत्मा में राग द्वेप की उत्पत्ति होने से संस्तरारूढ़ क्षपक के लिए उसका (विक्षेपणी) आचार्यों ने सर्वथा निषेध किया है क्योंकि यह कथा समाधिमरण की बाधक होती है। इसलिए जो कथा समाधिमरण की साधक होती है उनका उपदेश क्षपक के रत्नत्रय आराधना का साधक होता है। शास्त्र मे कहा है।

अब्भुज्जदंमि मरणे संथारत्थस्स चरमवेलाए।
तिविहं पि कहंति कहं तिदंडपरिमोडया तम्हा ॥ ६६० ॥ [भग आ.]

अर्थ—अशुभ मन वचन काय का निवारण करने में लगे हुए आचार्य क्षपक की मृत्यु के सन्निकट समय में आक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेजनी इन तीन कथाओं का ही उपदेश देते हैं। विक्षेपणी कथा का कथन ऐसे समय में अनुचित मानते हैं। अतएव धर्मोपदेश के कार्य मे नियुक्त किये गये मुनीश्वर उक्त तीन कथाओं का मनोज्ञ एव हृदयस्पर्शी इस प्रकार निरूपण करते हैं जिनको सुनकर क्षुधा रोगादि की पीड़ा को भूल कर क्षपक का चित्त रत्नत्रय की आराधना मे तत्पर रहता है।

चार मुनीश्वर क्षपक की आहार विषयक योजना करने मे नियुक्त किये जाते हैं। यथा :—

चत्तारि जणा भत्तं उवकप्पेंति अगिलाए पाओग्गं।
छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ॥ ६६२ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—लब्धि सम्पन्न तथा मायाचार रहित और जिन्होंने ग्लानि पर विजय प्राप्त कर लिया है ऐसे चार मुनीश्वर क्षपक के योग्य उद्गमादि दोष रहित भोजन की उप कल्पना करते हैं।

भगवती आराधना की अपराजित सूरिकृत विजयोदया सस्कृत टीका तथा श्री प. आशाधरजी कृत मूलाराधना सस्कृत टीका इन दोनों मे 'उवकप्पेंति' गाथा निर्दिष्ट पद का अर्थ 'आनयन्ति' किया है। इन दो टीकाओ के अतिरिक्त एक प्राचीन प्राकृत टीका और भी प्रतीत होती है। उक्त टीकाओं मे कई जगह इस प्राकृत टीका का मत उद्धरणो सहित दिया गया है। वह टीका हमको उपलब्ध नहीं हुई है। उसमे इसका क्या अर्थ किया गया है यह अनिश्चय की गोद मे है। किन्तु भगवती आराधना मूल मे भी क्षपक के लिए भोजन लाने का कई गाथाओ मे उल्लेख है। वह आगे दिया गया है।

भगवती आराधना के अतिरिक्त समाधिमरण का सविस्तर वर्णन करने वाला कोई संस्कृत या प्राकृत का प्राचीन ग्रन्थ हमको उपलब्ध नहीं हुआ है। इसलिए इसके विषय मे अन्य आचार्यों का क्या अभिमत है इस विषय मे लिखने के लिए हम असमर्थ हैं। आचार्य परम्परा का क्या सम्प्रदाय है? यह सन्देहापन्न है।

दिगम्बर साधु सस्था की अयाचक-वृत्ति होती है। वे आहारादि वस्तु अपने या दूसरे के लिए कभी नहीं मागते हैं। दूसरी बात यह है कि उनके पास पिच्छी कमण्डलु और ज्ञानोपकरण पुस्तकादि के अतिरिक्त कोई पात्रादि नहीं रहते हैं। वे मुनीश्वर क्षपक के लिए आहार पान के पदार्थ किस पात्र में लाते होगे। यदि गृहस्थ के यहा से पात्र भी माग कर लाते हैं तो ताबे पीतल आदि पात्र का ग्रहण करना उनके पद के अनुकूल नहीं है। इसमे सपरिग्रहता का दूषण आता है। पात्र मे भोजन लाकर क्षपक को मुनि आहार कराते हैं। उस आहार का ग्रहण करने वाले क्षपक के उद्दिष्टादि दोष युक्त आहार होता है। मुनि का आहार गृहस्थ के घर नवधा भक्ति से युक्त दाता के द्वारा दिया हुआ होना चाहिए। यह सामान्य नियम सब मुनियों के लिए आवश्यक विधान है। उसका पालन नहीं होता है। परिचारक मुनीश्वरो के द्वारा लाया हुआ आहार आधाकर्मादि से दूषित है या उद्गम उत्पादना एषणादि दोषों से दूषित है इसका संस्तरारूढ़ क्षपक को क्या ज्ञान हो सकता है? परिचारक मुनि उद्दिष्ट उद्गमादि दोष रहित आहार लेकर क्षपक के पास लेजावेंगे; किन्तु क्षपक के लिए उद्दिष्ट उद्गमादि दोषों का निवारण कैसे हो सकेगा? इत्यादि अनेक शकाएँ एक के बाद एक उठती रहती हैं। उनका समाधान करने वाला कोई ऋषि प्रणीत ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है। इसलिए हमने भगवती आराधना मूल और उसकी उपलब्ध दोनों सस्कृत टीकाओं का आधार लेकर इस विषय का प्रतिपादन किया है। इस विषय के विशेषज्ञ विद्वान् त्रुटि का सशोधन कर पढ़ने की कृपा करें।

सं प्र.

भगवती आराधना की टीकाओं का उद्धरण

विजयोदयाटीका—चत्तारि जणा चत्वारो यतय. । भत्त अशन । पाउग्ग प्रायोग्य उद्गमादि दोषानुपहतं । उवकप्पेंति आनयन्ति । अगिलाए ग्लानिमन्तरेण, कियन्त कालमानयाम इति सक्लेश विना । छदियं क्षपकेण इष्ट अशन पान वा क्षुत्पिपासापरीषहप्रशान्तिकरण- क्षममित्येतावता तेनेष्ट न तु लौल्यात् । अवगददोसं वातपित्तश्लेष्मणामजनकं । क आनयन्ति ? अमाइणो मायारहिता. अयोग्यमिति ये नानयन्ति । लद्धिसपण्णा मोहान्तरायक्षयोपशमाद्भिलाषलब्धिसमन्विताः । अलब्धिमान्क्षपकं क्लेशयति । मायावी अयोग्य योग्यमिति कथयेत् ।

प. आशाधरजी कृत मूलाराधना संस्कृत टीका—

चत्वारस्तदर्थं समुचितमशनं उपनयन्तीत्यनुशास्ति—

उवकप्पेंति आनयन्ति । अगिलाए ग्लानिं विना कियन्त कालमानयामइति सक्लेश विना । छदियं भक्तपान क्षुत्पिपासादु खमसमाधिकर निराकरोतीत्येतावतैव क्षपकेणेष्ट । अवगददोष वातपित्तश्लेष्मणामजनक प्रशमकं च उद्गमादि दोषरहित वा । अमाइणो अयोग्य योग्यमिदमिति प्रतारणरहिता लाभान्तरायक्षयोपशमाद्भिलाषलब्धिसमन्विताः । तयैव क्षपकस्यासक्लेशनात् ॥

इनका अर्थ निम्न प्रकार है—

परिचर्या के लिए नियत किये गये चार मुनीश्वर 'कितने काल तक हम आहार लाया करेंगे' इस प्रकार की ग्लानि (संक्लेश) से रहित होकर उद्गमादि दोष रहित भोजन के वे पदार्थ क्षपक के लिए लाते हैं, जिनको क्षपक चाहता है । क्षपक भी आहार की लोलुपता नहीं रखता है । किन्तु वह भी उन्हीं पदार्थों की इच्छा करता है, जो पदार्थ उसकी भूख प्यास परिषह को शांत करने मे समर्थ होते हैं । परिचारक मुनियो के अन्त.करण मायाचार रहित होते हैं । वे अयोग्य को योग्य कहकर क्षपक के प्रति कभी छल कपट का व्यवहार नहीं करते हैं । वे जो पदार्थ लाते हैं वे पदार्थ क्षपक के वात पित्त और कफ की वृद्धि नहीं करते, किन्तु उनको शान्ति करने वाले होते हैं। तथा वे उद्गमादि दोष से रहित होते हैं । आचार्य उन्हीं मुनिराजो को आहार के लिए नियुक्त करते हैं जिनको मोहनीय कर्म और अन्तराय कर्म के क्षयोपशम विशेष रूप लब्धि प्राप्त होती है । क्योंकि जिनके उक्त भोजन लब्धि प्राप्त नहीं हुई है उन परिचारकों से क्षपक को सक्लेश उत्पन्न होता है ।

आचार्य अमितगति ने भगवती आराधना की प्रत्येक गाथा का अर्थ प्रतिपादन करने वाले संस्कृत पद्य तथा गद्य दिये हैं । उनने भी उक्त गाथा का अर्थ प्रतिपादन करने वाला निम्न लिखित श्लोक दिया है ।

तस्यानयन्ति चत्वारो योग्यमाहारमश्रमाः ।
निर्माना लब्धिसम्पन्नास्तदिष्टं गतदूषणम् ॥ ६८८ ॥ [स. भग. आ.]

अर्थ—परिचारक चार मुनिराज क्षपक के योग्य आहार लाते हैं। वे आहार के लाने में श्रम की परवा नहीं करते हैं। वे निरभिमान और भोजन लब्धि से सम्पन्न होते हैं। आहार भी वही लाते हैं जो क्षपक को अभीष्ट होता है और सब दूषणों से रहित होताहै।

चार मुनिराज पीने योग्य पदार्थ के लिए नियुक्त किये जाते हैं।

चत्तारि जणा पाणयमुवकप्पंति अगिलाए पाओग्गं ।
छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ६६३ ॥ [भग आ]

अर्थ—मायाचार रहित और भोजन पान लब्धि से सम्पन्न चार मुनिराज श्रम रहित होकर क्षपक के इष्ट उद्गमादि दोष रहित तथा क्षपक की प्रकृति के योग्य पीने योग्य पदार्थों की उपकल्पना करते हैं अर्थात् लाते हैं।

इसकी दोनो की सस्कृत टीकाए नीचे उद्धृत करते हैं—

विजयोदया—चत्तारि जणा इति स्पष्टार्था गाथा—सूरिणा अनुज्ञातौ निवेदितात्मानौ द्वौ द्वौ पृथग्भक्तं पृथक् पानं चानयतः॥
(अपराजित सूरिः)

मूलाराधना—चत्वारःक्षपकाय पानमानयन्तीत्याह—

मूलाराधना—स्पष्टम् ।

टीकार्थ—आचार्य के आदेश से क्षपक के लिए पृथक् दो साधु भोजन और दो साधु पृथक् पीने योग्य पदार्थ लाते हैं।

चार मुनि लाये हुए भोजन पान के पदार्थों की रक्षा करते हैं

चत्तारि जणा रक्खंति दवियमुवकप्पियं तयं तेहिं ।
अगिलाए अप्पमत्ता खवयस्स समाधिमिच्छंति ॥ ६६४ ॥ [भग. आ.]

पानं नयन्ति चत्वारो द्रव्य तदुपकल्पितम् ।
अप्रमत्ताः समाधानमिच्छन्तस्तस्य विश्रमाः ॥ ६८६ ॥ [अमितगति]

अर्थ—क्षपक के लिए लाये हुए भोजन पान के पदार्थों की चार मुनि प्रमाद रहित हुए रक्षा करते हैं। वे बड़ी सावधानी से इस का ध्यान रखते हैं कि उनमें ऊपर से त्रस जीव न गिर जावें तथा दूसरे उन पदार्थों को गिरा न सकें।

विजयोदया—तैरानीत भक्त पान वा चत्वारो रक्षन्ति प्रमाद रहिताः त्रसा यथा न प्रविशन्ति। यथा वापरे न पातयन्ति ॥

मूलाराधना—चत्वारस्तद्भक्तपान तरा रक्षन्तीत्याह। रखति यथा त्रसादयो न पतन्ति परे वा न पातयन्तीत्यर्थः। दविय द्रव्य। उवकप्पिय आनीत। तय भक्तपान वा ॥

इनका अर्थ स्पष्ट है। मूल अर्थ से विशेष अर्थ न होने से इनका भिन्न अर्थ नहीं लिखा गया है।

नोट—शास्त्रो मे नियम दो प्रकार का बताया गया है। एक उत्सर्ग और दूसरा अपवाद। साधुओं के लिए आगम मे उक्त दो प्रकार के नियम का वर्णन स्थान २ पर मिलता है। साधु के २८ मूल गुण का पालन करना साधु के लिए परमावश्यक माना गया है। यह उत्सर्ग मार्ग है। इन गुणो का अस्तित्व जिसमे नहीं पाया जाता है वह मुनि नहीं कहा जा सकता है। किन्तु २८ मूल गुणो के धारक तथा आगम के अनुकूल चारित्रादि के पालन करने वाले साधु को भी समाधिमरण करने वाले साधु का वैयावृत्त्य करने के लिए भगवती आराधना मूल तथा उसकी सस्कृत टीकाओ मे क्षपक के लिए भोजन पानादि उचित पदार्थों के लाने के लिए जो विशेष विधान किया गया है वह अपवादमार्ग है। उत्सर्ग मार्ग का सर्वदा और सर्वत्र पालन करने की आज्ञा है। अपवाद मार्ग का अमुक अवसर पर अमुक प्रकार आचरण करने को कहा गया है। यहा समाधिमरण का प्रकरण है। इस प्रकरण मे भगवती आराधना मे जो साधुओं को क्षपक के लिए भोजन पान सामग्री लाने का, तथा उसकी रक्षा करने का एव क्षपक को बहुत समझाने बुझाने पर आहार दिखलाकर उसको सतोष प्राप्त कराने के अनेक उपाय करने पर भी जब उसके चित्त मे व्याकुलता की शान्ति नहीं होती हुई देखते हैं तब आचार्य की आज्ञा से उसे चित्त शान्ति के लिए भोजन पान का सेवन भी करने का जो यह निरूपण शिव कोटि आचार्य ने किया है वह सब अपवादमार्ग है। साधु लोग वैयावृत्त्य के लिए गृहस्थ के यहा से उचित पदार्थ ला सकते हैं। भगवती आराधना मे तो समाधिमरण प्रकरण मे स्थान २ पर क्षपक के वैयावृत्त्य के लिए उचित वस्तु लाने के लिए स्पष्ट शब्दो मे कहा है। यद्यपि गाथा न. ६६२ व ६६३ में 'उवकप्पेंति' शब्द दिया है। तथापि उसका अर्थ टीकाओं में भोजन पान का लाना ही किया है। उस प्रकरण मे उक्त अर्थ ही सगत होता है। गाथा न. ६८८ मे क्षपक को कुरले करवाने के लिए तैल

और कसायले पदार्थ गृहस्थ के यहां से 'घेतव्वा' ग्रहण करने चाहिए अर्थात् लाने चाहिए–ऐसा स्पष्ट शब्द दिया है।

मूलाचार की टीका मे भी वैयावृत्त्य के निमित्त आहारादि की योजना करने मे निर्दोषता दिखाई दे है। इन सबका आशय यह है कि समाधिमरण के अवसर पर क्षपक की वैयावृत्त्य के लिए उचित भोजन पान व तैलादि औषध साधु गृहथ के घर से लाते हैं। यह अपवाद मार्ग है। वैयावृत्त्य के समय अपवाद मार्ग का आचरण करने के कारण परिचारक मुनियो को प्रायश्चित्त का आचरण करना पड़ता है।

चार मुनि क्षपक के मलमूत्रादि की प्रतिष्ठापना करते हैं तथा शय्यादि की प्रतिलेखना (प्रमार्जन) करते हैं।

काइयमादी सव्वं चत्तारि पडिट्ठवन्ति खवयस्स।
पडिलेहंति य उवधोकाले सेज्जुवधि संथारं ॥ ६६५ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—चार मुनीश्वर क्षपक की विष्टा मूत्र कफ आदि का निर्जन्तु भूमि देखकर एकान्त मे क्षेपण करते हैं। तथा प्रात.काल और सायकाल दोनो समय मे क्षपक की शय्या पिच्छी कमण्डलु पुस्तकादि उपकरण का शोधन और प्रमार्जन करते हैं।

चार मुनि द्वारपाल का कार्य करते हैं तथा चार मुनि धर्म श्रवण मडप के द्वार पर रहते हैं।

खवगस्स घरदुवारं सारक्खंति जणा चत्तारि।
चत्तारि समोसरणदुवारं रक्खन्ति जदणाए॥ ६६६ ॥ [भग.आ.]

अर्थ—चार मुनिराज क्षपक की वसतिका के द्वार की यत्न पूर्वक रक्षा करते हैं। अर्थात् क्षपक के समीप असयत मनुष्यों को जाने से रोकते है। चार मुनि धर्मोपदेश देने के सभा मण्डप के द्वार का रक्षण सावधानी से करते है।

भावार्थ—क्षपक पवित्रात्मा है। उसके दर्शन के निमित्त कई ग्राम व नगरों से नरनारी जन आते रहते हैं। यदि उनको रोकने वाला न हो तो वे क्षपक के समीप जाकर क्षपक के अन्त.करण मे क्षोभ उत्पन्न कर देते है, इसलिए द्वार पर चार मुनिराजों को निर्यापकाचार्य नियुक्त करते हैं। वे उनको मधुर और शान्त वचन बोल कर आगे जाने से रोकते हैं। तथा किसी प्रकार का क्षोभ जनक वातावरण उत्पन्न न होने देते है। सदा क्षपक की समाधि का ध्यान रखते हुए वसतिका के द्वार पर बैठे हुए अपने कर्त्तव्य का भली भाति पालन करते रहते हैं।

आचार्य की आज्ञा बिना अतिरिक्त साधुओं के प्रवेश को भी रोकते हैं। न जाने वे अनुचित वार्तालाप करके या क्षपक के असुहाते वातावरण को उत्पन्न कर क्षपक के समाधान का भंग कर बैठें; इसलिए उन्हें भी भीतर जाने का निषेध करते हैं।

जो चार मुनिराज सभा मंडप के द्वार का रक्षण करते हैं, उनका कर्त्तव्य होता है कि वे आगन्तुक मनुष्यों के आकार, वाणी, वेषभूषादि से उनके स्वभाव को जानकर सभा मण्डप में प्रवेश करने दें। जिनसे सभा में क्षोभ उत्पन्न होने की सम्भावना होती प्रतीत होती है, उनको वे वहीं रोक देते हैं, सभा में भीतर नहीं जाने देते। यह सब कार्य वे प्रिय व मधुर वचनों द्वारा करते हैं।

चार मुनिराज रात्रि में जागते हैं और देशादि की वार्त्ता जानने के लिए नियुक्त किये जाते हैं।

जिदणिद्दा तल्लिच्छा रादौ जग्गति तह य चत्तारि ॥
चत्तारि गवेसंति खु खेत्ते देसप्पवत्तीओ ॥ ६६७ ॥ [भग आ.]

अर्थ—निद्रा पर विजय पाने की इच्छा रखने वाले क्षपक की सेवा में तत्पर चार मुनीश्वर क्षपक के निकट जागते रहते हैं। जहां क्षपक व संघ का वास है, उस देश राज्यादि की क्षेम कुशलतादि (शुभाशुभ) वार्ता का निरीक्षण करने के लिए चार मुनीश्वर आचार्य द्वारा नियुक्त किये जाते हैं।

चार मुनिराज आगत श्रोताओं को उपदेश देते हैं—

वाहिं असद्दवडियं कहंति चउरो चदुव्विधकहाओ ।
ससमयपरसमयविदू परिसाए सा समोसदाए खु ॥ ६६८ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—क्षपक के आवास स्थान से कुछ दूर पर जहां से शब्द क्षपक के कानों में न पड़ सकें वहां पर बैठकर स्वमत व परमत के रहस्य के वेत्ता चार मुनिराज सभामण्डप में आये हुए श्रोताओं को आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेजनी इन चार धर्मकथाओं का यथोचित व्याख्यान करते हैं।

भावार्थ—धर्म पिपासा से आगत धर्म-प्रिय जनता को धर्म श्रवण कराने के लिए आचार्य चार ऐसे मुनिराजों को नियुक्त करते हैं जिन्होंने अपने सिद्धान्त ग्रन्थों का तथा अन्य धर्म ग्रन्थों का भली भांति अनुशीलन किया है और जो अपने सिद्धान्तों का पोषण युक्ति

और अनेक शास्त्रों के प्रमाणों से कर सकते हैं। ऐसे वाग्मी चार साधु एक के पश्चात् एक सुललित और ओजस्विनी भाषा में धर्म का रहस्य समझाते हैं। जिसे सुनकर प्राणियों के हृदय मे धर्म वासना जाग उठती है और श्रद्धालुओं के अन्तःकरण धर्म पर अत्यन्त दृढ हो जाते हैं एवं अनेक उच्च भावनाओं से पूरित हुए सन्तुष्ट होकर घर लौटते हैं।

उनकी स्वमत और परमत की विवेचनात्मक धर्म कथा को सुनकर जैनेतर धर्मवासित अन्तःकरण वाले मनुष्यों के हृदय भी सुसंस्कारित होकर कुसंस्कारो का त्याग करते हैं।

प्रश्न—यदि कोई मिथ्या अभिमान से उन्मत्त होकर सभा मे वाद विवाद करने के लिए उद्यत हो जावे तो वे धर्मोपदेशक मुनिराज अपना धर्मोपदेश रोक कर उसके साथ वाद विवाद करने मे प्रवृत्त होते हैं या धर्मोपदेश पूर्ण होने के पश्चात् उसको वाद विवाद करने का अवसर देते हैं?

उत्तर—धर्मोपदेश के समय वाद विवाद करने का अवसर नहीं देते हैं, क्योंकि उस समय श्रोताओं के धर्म-श्रवण में बाधा होती है। धर्मोपदेश समाप्त होने के बाद उसे वाद विवाद का अवसर दिया जाता है।

वाद विवाद के लिए चार वाग्मी मुनियों को आचार्य नियुक्त करते हैं, उनका केवल प्रतिवादी से वाद करना ही मुख्य कार्य होता है।

वादी चत्तारि जणा सीहाणुग तह अणेयसत्थविदू।
धम्मकहयाण रक्खाहेदुं विहरंति परिसाए ॥ ६६६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—सिंह के समान निर्भीक अनेक शास्त्रों के मर्मज्ञ चार वाग्मी मुनिराज धर्मोपदेशक मुनिराजों की धर्मकथा का रक्षण करने के लिए सभा स्थान मे इधर उधर विचरण करते हैं।

उक्त प्रकार महाप्रभावशाली अड़तालीस निर्यापक मुनीश्वर जी तोड़ प्रयत्न करके समाधिमरण करने मे तत्पर हुए क्षपक की समाधि (सुख शान्ति) के अर्थ सेवा करने में एकाग्रचित्त रहते हैं।

प्रश्न - समाधिमरण कार्य का सम्पादन करने के लिए क्या समस्त काल में अड़तालीस परिचारक मुनियों का होना आवश्यक माना गया है। या भिन्न २ काल मे परिस्थिति के अनुसार हीनाधिक परिचारक मुनिराजो के लिए भी आगम मे विधान है?

उत्तर—परिचारक मुनियों की सख्या में काल के अनुसार हीनाधिकता हुआ करती है। भरत और ऐरावत क्षेत्र में काल का परिवर्त्तन होता रहता है। और काल के प्रभाव से मनुष्यो के गुणो में भी जघन्यता, मध्यमता और उत्कृष्टता होती है। जब उत्कृष्ट काल का वर्त्तन होता है, उस समय मे अड़तालीस निर्यापक मुनिराज क्षपक का समाधिमरण सम्पन्न कराने मे सहायता करते हैं। क्योंकि उस समय परिचारक मुनि भद्र परिणाम वाले अधिक होते है वे हर्ष पूर्वक क्षपक की सेवा मे सलग्न रहकर अपने को कृतार्थ समझते हैं। मध्यम काल के प्रारम्भ मे चवालीस मुनिराज क्षपक की सेवा मे नियुक्त रहते हैं। पश्चात् ज्यो ज्यो काल में हीनता आती है, त्यों त्यों परिचारक मुनियों की सख्या अल्प होती जाती है। अर्थात् काल के अनुसार क्रम से चार २ मुनिराज कम किये जाते हैं। अन्त मे सक्लेश परिणाम युक्त काल मे चार मुनीश्वर के लिए भी क्षपक के समाधिमरण कार्य को सुसम्पन्न कराने की आज्ञा है। अतिशय सक्लेश परिमाण युक्त काल मे दो मुनिराज भी क्षपक की समाधि मृत्यु का साधन कर सकते हैं। किन्तु एक निर्यापक साधु समाधिमरण काय की साधना नहीं कर सकता है। आगम मे एक निर्यापक मुनि का कहीं पर उल्लेख नहीं मिलता है। कहा है—

जो जारिसओ कालो भरदेरवदेसु होइ वासेसु।
ते तारिसया तदिया चोद्दालीसं पि णिज्जवया॥ ६७१ ॥

एवं चदुरो चदुरो परिहावेदव्वगा य जदणाए।
कालंमि सकिलिट्ठंमि जाव चत्तारि साधेंति॥ ६७२ ॥

णिज्जावयाया दोण्णि वि होंति जहण्णेण कालसंसयणा।
एक्को णिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते॥ ६७३ ॥[भग आ.]

अर्थ—भरत और ऐरावत क्षेत्र में जिस समय जैसा काल चक्र का वर्त्तन होता है, उस समय काल के अनुरूप निर्यापक मुनिराज होते हैं। उत्कृष्ट अडतालीस निर्यापक मुनियो की सख्या जो बताई गई है वह उत्कृष्ट है। उत्तम काल मे निर्यापक मुनियो की जघन्य सख्या चवालीस तक होती है। सक्लेश भाव की वृद्धि के अनुक्रम से चार चार निर्यापक मुनियो की सख्या हीन होती जाती है। और वह अन्त मे चार तक पहुंचती है। जब उत्कृष्ट सक्लेश परिणाम सहित काल का वर्त्तन होता है, उस समय दो निर्यापक मुनिराज भी क्षपक का समाधिमरण कार्य सिद्ध करते हैं। किन्तु किसी काल मे एक निर्यापक मुनि का उल्लेख जैनागम मे कहीं पर नहीं है।

प्रश्न—आगम जैसे जघन्य दो निर्यापक मुनि की आज्ञा देता है, वैसे ही एक निर्यापक मुनि के लिए आज्ञा क्यों नहीं देता ? उसमे क्या दोष दिखाई देता है ?

उत्तर—एक निर्यापक मुनि क्षपक का समाधिमरण करवाने मे सर्वथा असमर्थ होता है। इसलिए आगम मे एक निर्यापक का निषेध किया गया है। यदि अकेला निर्यापक मुनि साधु का समाधिमरण रूप अतिदुष्कर कार्य का भार ग्रहण करता है, तो वह निर्यापक अपना और क्षपक दोनों का विनाश करता है।

जब निर्यापक मुनि आहारादि काय के निमित्त क्षपक को अकेला छोडकर बाहर जावेगा उस समय क्षपक को क्षुधादि वेदना के कारण जो कष्ट होगा अथवा अन्य मिथ्यादृष्टियो या असयमीजनो के सम्पर्क से जो रत्नत्रय मे बाधा और चित्त में अशान्ति उत्पन्न होगी उसका प्रतीकार कौन करेगा ? यदि उस समय मरणकाल आ पहुचे तो उसके अशुभ ध्यान के कारण रत्नत्रय का विनाश होकर वह असद् गति का भाजन होगा।

अथवा अकेला क्षपक तीव्र क्षुधादि वेदना मे पीडित होकर अयोग्य सेवन करने लगेगा अर्थात पास मे किसी मुनिराज के न होने से बैठकर भोजन करने लगेगा, मिथ्यादृष्टि लोगों के समीप जाकर याचना करने लगेगा "मैं क्षुधा से मरा जाता हूँ, प्यास के मारे मेरा दम घुट रहा है, मुझे खाने को भोजन और पीने को पानी दो" इत्यादि याचना करने लगेगा। इस तरह अनेक दोष ऐसे उत्पन्न होते हैं, जिससे क्षपक के सयम का विनाश और दुर्ध्यान के प्रादुर्भाव से समाधिमरण का विनाश होता है, जिससे क्षपक दुर्गति का पात्र होता है।

अकेला निर्यापक अपना भी विनाश करता है। वह यदि सेवा को परम कर्तव्य समझकर क्षपक की परिचर्या मे तल्लीन रहेगा तो उसको आहार ग्रहण करने का, शयन करने का तथा शरीर-मल का त्याग करने का अवसर न मिलने से स्वय उसे असह्य क्लेश होगा। इससे उसका शरीर गिरने लगेगा। शरीर के क्षीण होने अथवा स्वयं रोगग्रस्त हो जाने पर वह क्षपक की परिचर्या भी न कर सकेगा और अपने धर्म का भी भलीभाति पालन न कर सकेगा—सामायिकादि छह आवश्यको का पालन न कर सकेगा। क्षपक को अकेला छोडकर यदि वह अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है तो क्षपक की समाधि भग होती है। और यदि क्षपक को अकेला न छोडकर उसी के समाधान (सुख शान्ति) के लिए तत्पर रहता है तो अपने आवश्यक कर्त्तव्यो का आचरण न करने से कर्त्तव्य-विमुख होता है।

इस प्रकार एकाकी निर्यापक आत्म-विनाश, क्षपक का विनाश और आगम का विघात करने वाला होता है। आगम मे अकेले निर्यापक का निषेध किया गया है, उसकी अवहेलना करने के कारण वह आगमाज्ञा का विघातक भी होता है।

प्रश्न—समाधिमरण (सल्लेखना) से प्राण त्याग करने वाला जीव संसार में अधिक से अधिक कितने भव धारण करता है ?

उत्तर—जो जीव एक बार विधि पूर्वक सल्लेखना (समाधिमरण) से शरीर का त्याग करता है, वह जीव अधिक से अधिक सात या आठ भव ही धारण करता है। नवमा भव धारण नहीं करता है। आठवें भव में तो वह मोक्ष का पूर्ण अधिकारी हो जाता है। वही कहा है—

एगम्मि भवग्गहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो।
ण हु सो हिंडदि बहुसो सत्तट्ठभवे पमोत्तूणं ॥ ६८२ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—जो प्राणी एक भव मे समाधिमरण से युक्त मरण करता है, वह बहुत काल तक संसार में भ्रमण नहीं करता है। उसको सात आठ भवों मे अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है।

यह हम पूर्व विवेचन कर आये हैं कि समाधिमरण का प्रारम्भ से लेकर समाप्ति तक का उत्कृष्ट काल १२ वर्ष का है। उस काल के प्रारम्भ के चार वर्ष नाना प्रकार के उग्र काय क्लेशादि तप तीनो योगों द्वारा करता है। तत्पश्चात् मध्य के चार वर्षों में रसों का त्याग कर काय को तपश्चरण द्वारा कृश करता है। तदनन्तर आचाम्ल तप तथा नीरसाहार द्वारा दो वर्ष व्यतीत करता है। तथा एक वर्ष स्वल्प आहार द्वारा पूर्ण करता है और छह माह मध्यम तपश्चरण का आचरण करते हुए बिताता है। इस प्रकार साढे ग्यारह वर्ष स्वाध्याय ध्यान करते हुए, आवश्यक कार्य के लिए चलते फिरते हुए एवं तपश्चरण द्वारा काय कृश करते हुए समाप्त करता है।

जब भक्त प्रत्याख्यान की मर्यादा का काल छह महिने अवशिष्ट रह जाता है उस समय अनेक प्रकार के उग्रोग्र तपस्या करने के कारण क्षपक का शरीर अत्यन्त कृश हो जाता है। तब वह संस्तरारूढ़ होता है। अर्थात् शय्या का शरण ग्रहण करता है। तब वह गुरु के निकट आलोचना करता है। उसके पश्चात् निर्यापक आचार्य द्वारा अधिक से अधिक ४८ मुनि और काल की अतिनिकृष्टता प्राप्त होने पर कम से कम दो मुनि परिचर्या में नियुक्त किये जाते हैं। इन सब बातो का स्पष्ट विवेचन पूर्व मे कर आये हैं। यहां सिंहावलोकन मात्र किया गया है।

क्षपक का शरीर और कषाय तपश्चरण द्वारा कृश हो जाते है। कृश शरीर को भी वे अत्यन्त कृश करते हैं। उसकी विधि का उल्लेख आगे करते हैं।

क्षपक का कर्तव्य है कि शास्त्र के ज्ञाता अनेक आचार्यों के विद्यमान होते हुए भी सन्यास विधि प्रारम्भ करते समय जिस आचार्य के निकट प्रथम आलोचना की हो, उसी आचार्य के चरणों के समीप प्रत्याख्यान-प्रतिक्रमण आदि आवश्यक कर्तव्यों का आचरण

करे। उन्हीं की आज्ञा का ग्रहण करे। उपदेश श्रवण, जल के अतिरिक्त तीन प्रकार के आहार का त्याग तथा प्रायश्चित्त का ग्रहण और सदिग्ध विषयो का समाधान करने के लिए प्रश्न करना इत्यादि सब कार्यों मे उसके लिए प्रथमाचार्य ही प्रमाण होते हैं। यदि प्रथमाचार्य उपदेश देने आदि कार्यों मे सामर्थ्यहीन हो तो उनकी आज्ञा के अनुसार दूसरे आचार्य के निकट प्रतिक्रमणादि कर्त्तव्य कर्मों का आचरण कर सकता है।

श्रीमत् शिवकोटि आचाय ने क्षपक की वचन सुनने की शक्ति का विकास और मुख तथा जिह्वा की मलीनता दूर करने के लिए तैल का प्रयोग और कषायले द्रव्यों से मिश्रित जल के कुरले करने को भी लिखा है। वह निम्न प्रकार है।

तेल्लकसायादीहिं य बहुसो गंडूसया दु घेत्तव्वा।
जिब्भाकण्णाण बलं होहिदि तुंडं च से विसद ॥ ६८८ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—क्षपक को तैल और कषायले द्रव्यो के बहुत बार कुरले करने चाहिए। क्योंकि कान में तैल डालने से कानों में शब्द-श्रवण शक्ति बढती है। तथा जीभ पर जब मैल जम जाता है मुख मे मल का संचय बढ़ जाने से दुर्गन्ध आने लगती है। वचनोच्चारण मे क्षीणता बढ़ने लगती है। उन दोषों का निवारण करने के लिए कषायले द्रव्यों के कुरले कराये जाते हैं।

इसी का समर्थन अमितिगति आचार्य ने भी निम्न प्रकार किया है।

तेन तैलादिना कार्या गण्डूषाः सन्त्यनेकशः।
जिह्वावदनकर्णादेर्नैर्मल्य जायते ततः ॥ ७१५ ॥ [सं भग. आ]

उक्त गाथा का और इस श्लोक का अर्थ एकसा है। यह श्लोक ऊपर की गाथा का अनुवाद मात्र है।

तात्पर्य यह है कि क्षपक का यह अन्तिम व अतिप्रशस्त समय है। इस समय इसको योग्य उपदेश द्वारा समाधि में स्थिर करना उसके अन्त.करण मे उत्पन्न हुए उद्गारो को जानकर उनके अनुकूल व्यवस्था करके उसको सन्तोप उत्पन्न करना निर्यापकाचार्य तथा निर्यापक मुनियों का परम कर्तव्य होता है। वह तभी हो सकता है कि क्षपक के कर्णों मे उपदेश सुनने की शक्ति तथा मन के उद्गारों को प्रकट करने के लिए क्षपक की वचन शक्ति बनी रहे, इसीलिए इस कार्य की सफलता के लिए क्षपक को तैलादि के कुरले करवाये जाते हैं।

क्षपक के विचारों पर बुरा प्रभाव न पड़े, इसलिए आगम के मर्मज्ञ मुनियो को भी क्षपक के समक्ष भोजनादि कथाओं का

वर्णन कदापि नहीं करना चाहिए। वही कहा है—

भत्तादीण भत्ती गीदत्थेहिं वि ण तत्थ कायव्वा।
आलोयणा वि हु पसत्थमेव कादव्विया तत्थ ॥ ६८७ ॥ भग. आ.

अर्थ—गीतार्थ (विशेषज्ञ) मुनियो को भी क्षपक के निकट भोजनादि की कथाओ को नहीं करना चाहिए। क्षपक के निकटवर्ती आचार्य के समीप अप्रशस्त आलोचना भी किसी मुनीश्वर को करना उचित नहीं है।

इस कथन का तात्पर्य यह है कि क्षपक के लिए उस समय उच्च आदर्शों की आवश्यकता है। उस समय छोटा सा प्रतिकूल वातावरण उसके हृदय मे क्षोभ उत्पन्न कर सकता है। जैसे स्वच्छ व निष्कम्प जल मे स्वल्प वायु भी कम्पन और थोड़ा मैल मलीनता उत्पन्न कर देती है, वैसे ही क्षपक के स्वच्छ व निष्कम्प हृदय को विपरीत संयोग विकृत व उथल पुथल कर सकता है। इसलिए निर्यापक मुनियों को उसकी समाधि बनाये रखने के लिए प्रतिकूल संयोगों का निवारण और अनुकूल साधनों की योजना करने मे सावधान रहना पड़ता है।

प्रश्न—भक्त प्रत्याख्यान मर्यादा के छह महीने शेष रहने पर क्षपक को तीन प्रकार के आहार का त्याग करवाते हैं। तो क्या प्रत्येक क्षपक के लिए एकसा विधान है या क्षपक की प्रकृति की जाच करके उचित क्रम से भोजन का त्याग करवाते हैं? शास्त्रोक्त रीति से निरूपण करने की कृपा करें।

उत्तर—जब आचार्य क्षपक को जल के सिवा तीन प्रकार के आहार का त्याग करवाने के लिए प्रवृत्त होते हैं तो उसके पहले आचार्य क्षपक को सब प्रकार के आहार को दिखाते हैं। आहार दिखाने पर उसकी भोजन की लालसा का परिचय प्राप्त करते हैं। तत्पश्चात् त्याग करवाते हैं।

इस विषय मे शिवकोटि आचार्य ने भगवती आराधना मे निम्न प्रकार वर्णन किया है।

दव्वपयासमकिच्चा जइ कीरइ तस्स तिविहवोसरणं।
कम्हिवि भत्तविसेसंमि उस्सुगो होज्ज सो खवओ ॥ ६८६ ॥
तम्हा तिविहं वोसरिहिदित्ति उक्करसयाणि दव्वाणि।
सोसित्ता संविरलिय चरिमाहारं पयासेज्ज ॥ ६९० ॥

पासित्तु कोइ तादी तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥ ६९१ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—यद्यपि क्षपक तीन प्रकार के आहार का त्याग करने के लिए उत्सुक हो रहा है, तथापि उसकी किसी प्रकार के आहार में अभिलाषा बनी न रहे, इसलिए क्षपक को विचित्र विचित्र आहार दिखलाते हैं। यदि क्षपक को आहार दिखाये बिना ही उससे तीन प्रकार के आहार का त्याग करवा दिया जावे तो उसके चित्त में किसी आहार विशेष की अभिलाषा बनी रही तो वह उसके अन्तःकरण को व्याकुल करती रहेगी। इसलिए उसका त्याग करवाने के पूर्व तीनों प्रकार के उत्तम उत्तम आहार के पदार्थ बर्तन में पृथक् पृथक रखकर क्षपक के समीप लाकर आचार्य दिखाते हैं। उन उत्तमोत्तम भोजन के पदार्थों को देखकर कोई क्षपक मुनिराज अपने अन्तःकरण में विचार करते हैं कि "मैंने अनन्त काल तक इनसे भी उत्तम पदार्थों का भोजन किया, किन्तु मुझे इनसे कुछ भी तृप्ति नहीं हुई। अबतो इस भव के अन्तिम किनारे पर आ लगा हूँ। अब इनसे मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है,?" ऐसा सोचकर इनसे विरक्त होकर संसार से भयभीत हुए आहार का त्याग करने में दृढ संकल्प होते हैं।

आसादित्ता कोई तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुपत्तो संवेगपरायणो होदि ॥ ६९२ ॥
देसं भोच्चा हा हा तीरं पत्तस्समेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुपत्तो संवेगपरायणो होदि ॥ ६९३ ॥
सव्वं भोच्चा धिद्धि पतस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥ ६९४ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—कोई क्षपक सम्मुख स्थित पदार्थों में से थोडा चखकर विचार करते हैं कि इस थोडे से क्षण मात्र के जिह्वा के सुख से क्या सुख मात्रा प्राप्त होगी। मैं जीवन की अन्तिम सीमा पर पहुच चुका हूँ। मेरा भला इनका ग्रहण करने से नहीं, बल्कि त्याग करने से ही सिद्ध होगा-ऐसा विचार कर उनसे चित्त को हटाता है और संसार से भयभीत हुआ आहार के त्याग करने में ही कटिवद्ध होता है।

कोई क्षपक उन नेत्र और मन को तृप्त करने वाले पदार्थों का कुछ भाग ग्रहण करके उनसे सहसा विरक्त होता है। विषय के स्वरूप का चिन्तन कर उद्विग्न होकर विषयों को धिक्कार देता है और सोचता है कि मेरी बुद्धि को धिक्कार है, जो इनकी ओर आकर्षित होती

(आगे पृष्ठ नं० ६३३ पढ़िए)

है। इस अन्तिम जीवन को सफल करने के लिए इनका त्याग ही श्रेयस्कर है-ऐसा सोचकर संसार भोग से विरक्त हुआ तीनों प्रकार के आहार का त्याग करने मे दृढ चित्त होता है।

कोई क्षपक मुनि चारित्र मोहनीय कर्म के उदय विशेष से उन मन लुभाने वाले उत्कृष्ट आहार के द्रव्यों को देखकर मोहित हुआ उन सब पदार्थों का भक्षण करता है। भक्षण करने के पश्चात् अन्तरङ्ग मे विवेक बुद्धि का प्रकाश होते ही उसका अन्त'करण उद्विग्न हो उठता है। वह सहसा चौंक पडता है और विचारने लगता है कि हे आत्मन्! तेरी इस विषय मुग्धता को धिक्कार है। वर्षों तक के विवेक ज्ञान का अभ्यासी तू जिह्वा इन्द्रिय के विषय मे कैसे प्रवृत्त हो गया? इस कर्म की बलवत्ता को धिक्कार है। अब तेरा यही कर्तव्य है कि भुजङ्ग के भोग (शरीर) के समान इन भोगों से पृथक होकर अपना हित साधन कर। इस प्रकार ससार भोग से वैराग्य को प्राप्त हुआ वह क्षपक इन्द्रिय विषय भोग से विरक्त हुआ आहार का त्याग करने मे उत्सुकता धारण कर शीघ्र तीनों प्रकार के आहार का त्याग करने मे तत्पर होता है।

उक्त अर्थ का विवेचन अमितिगति आचार्य ने भी निम्न प्रकार किया है—

अप्रकाश्य त्रिधाहारं त्याज्यते क्षपको यदि।
तदोत्सुकः स कुत्रापि विशिष्टे जायतेऽशने ॥ ७१७ ॥
ततः कृत्वा मनोज्ञानामाहाराणा प्रकाशना।
सर्वथा कारयिष्यामि त्रिविधाहारमोचनम् ॥ ७१८ ॥
कश्चिद्दृष्ट्वा तदेतेन तीरं प्राप्तस्य किं मम ॥
इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७१९ ॥
आस्वाद्य कश्चिदेतेन तीरं प्राप्तस्य किं मम।
इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७२० ॥
अशित्वा कश्चिदंशेन तीर प्राप्तस्य किं मम।
इती वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७२१ ॥
वल्भित्वा सर्वमेतेन तीरं प्राप्तस्य किं मम।
इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७२२ ॥ (सं भग. आ.)

इनका आशय ऊपर लिख चुके हैं। क्योंकि ये श्लोक भगवती आराधना की उक्त गाथाओं का अर्थानुवाद मात्र हैं। इनको यहां उद्धृत करने का अभिप्राय अमितिगति आचार्य का मत भी शिवकोटि आचार्य के अनुकूल है—ऐसा दिखलाना मात्र है।

प्रश्न—आहार दिखलाने से आचार्य को चार प्रकार के अभिप्राय वाले क्षपक का ज्ञान हुआ। एक तो विचित्र प्रकार के आहार को देखकर उससे विरक्त होने वाला उत्कृष्ट वैराग्यवान क्षपक है। दूसरा दिखलाये गये आहार मे से किंचित् मात्र चखकर आहार से विरक्त होने वाला मध्यम वैराग्यवान् क्षपक है। तीसरा दिखलाई भोजन सामग्री के एक अश का भक्षण कर समस्त भोजन से विरक्त होकर त्याग मे प्रवृत्त होने वाला जघन्य वैराग्यवान् क्षपक है। तथा चौथा जघन्यतर वैराग्यवान् वह क्षपक है जो सम्पूर्ण आहार का सेवन कर पश्चात् उससे विरक्त होकर तीनों प्रकार के आहार का त्याग करने मे उत्सुक हुआ है।

इनके अतिरिक्त एक ऐसे क्षपक की सम्भावना होती है, जो चारित्र मोहनीय कर्म के तीव्र उदय के वशीभूत होकर दिखलाए गये आहार का सेवन कर उसके स्वाद मे आसक्त हुआ भोजन का त्याग न करे तो उसके उद्धार के लिए आचार्य क्या करते हैं ?

उत्तर—आपने उक्त प्रश्न मे प्रथम क्षपकों को जो चार भागों मे विभक्त किया है वह विभाग आहार दिखलाने से लेकर जब तक वे आहार का त्याग करने मे प्रवृत नहीं हुए हैं, तब तक के लिए ही हो सकते हैं। क्षपक सर्व उत्कृष्ट वैराग्य परायण होते हैं। तभी तो वे संन्यास मरण विधि मे तत्पर हुए हैं।

उक्त चार प्रकार के अतिरिक्त आहार मे आसक्त हुए क्षपक के विषय मे जो प्रश्न किया है। उसका खुलासा निम्न प्रकार है—

कोई तमादयित्ता मणुण्णरसवेदणाए संविद्धो।
तं चेवणुबंधेज्ज हु सव्वं देसं च गिद्धीए ॥ ६६५ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—यदि कोई क्षपक दिखलाए आहार का भक्षण कर मनोरम रस के स्वाद मे मूर्छित हुआ उस भक्षण किये गये सम्पूर्ण आहार को बारम्बार सेवन करने की लालसा करने लगे। अथवा उस दर्शित आहार सामग्री में से किसी एक पदार्थ को पुनः पुनः सेवन करने की उत्कण्ठा करने लगे, तो

तत्थ अवायोपायं दंसेदि विसेसदो उवदिसंतो।
उद्धरिदुं मणोसल्लं सुहुमं सण्णिव्ववेमाणो ॥ ६६६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—तब आचार्य मनोज्ञ आहार के भक्षण करने की आसक्ति से होने वाली हानि और लाभ को समझाते हैं। "हे क्षपक ! देखो ! तुम अपने मन को वश में न रखोगे तो तुम अनन्त काल में भी अति दुर्लभ इस इन्द्रिय संयम का विनाश करडालोगे और जिस मनुष्य ने इन्द्रियों पर अधिकार नहीं किया है। जो आत्मा इन्द्रियों का गुलाम हो जाता है, उसकी आत्म शक्ति विलीन हो जाती है। वह अपने कार्य की सिद्धि कभी नहीं कर सकता है।"

इस प्रकार गुरु के उपदेश को सुनकर घोर दु.ख का संहार करने मे समर्थ समाधि मरण को सफल बनाने के लिए वह विवेकी क्षपक तीन प्रकार के आहार का त्याग करने के लिए आतुर होता है।

यदि कोई क्षपक तीव्र मोहनीय कर्म के चक्र में फंसा हुआ आहार को छोड़ने में अपने को असमर्थ पाता है, तब भी आचार्य उस क्षपक पर दया करते हैं। उसको मधुर और प्रिय वचनों से समझा बुझा कर अनेक प्रकार के आहार पदार्थों मे से एक एक पदार्थ को क्रम से घटाते हैं। इसके विषय निम्न प्रमाण है—

अणुपुव्वेण य ठविदो संवड्ढेदूण सव्वमाहारं।
पाणयपरिक्कमेण दु पच्छा भावेदि अप्पाणं ॥ ६९९ ॥ [भग. आ.]

अर्थात्—क्षपक का आयुष्य जब अल्प रह जाता है, तब निर्यापकाचार्य उसे उत्तमोत्तम विविध आहार वर्त्तन मे धरकर क्षपक को आहार त्याग की पुष्टि करने के लिए उसे दिखाते हैं। उन चित्ताकर्षक विचित्र आहार को देखकर क्षपक उसमे अत्यंत आसक्त हो जाता है और उन आहार के पदार्थों का पुनः पुनः सेवन करने का अत्यंत लोलुपी हो जाता है। आचार्य के अनेक उपदेशामृत का पान कराने पर भी उसकी आहार सम्बन्धी आसक्ति कम नहीं होती है। तब आचार्य उन समस्त आहार के सुन्दर २ पदार्थों मे से क्षपक को क्रम से एक एक आहार पदार्थ का त्याग कराते कराते सादे भोजन पर ले आते हैं। अर्थात् मिष्टान्नादि विशिष्ट आहार से विरक्त करके भात दाल आदि साधारण आहार पर नियत करते हैं। पश्चात् वह क्षपक साधारण भात दाल पूए आदि तीन प्रकार के आहार पदार्थों का क्रम क्रम से त्याग करता हुआ पानक आहार पर अपने को स्थिर करता है। अर्थात् जलादि पेय पदार्थ के अतिरिक्त सब प्रकार आहार का त्याग कर देता है। अपने शरीर को जलादि के आधार पर रखता है।

प्रश्न—पानक कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर—पानक पदार्थ आगम मे छह प्रकार के माने गये हैं।

सच्छं बहलं लेवडमलेवडं च ससित्थयमसित्थं ।
छव्विह पाणयमेयं पाणयपरिकम्मपाओग्गं ॥ ७०० ॥ [भग. आ.]

अर्थ—१ स्वच्छ, २ बहल, ३ लेवड, ४ अलेवड, ५ ससिक्थ और ६ असिक्थ इस प्रकार पानक के छह भेद हैं।

(१) स्वच्छ पानक—गर्म जलादि को 'स्वच्छ' पानक कहते हैं।

(२) बहल—कांजी, द्राक्षारस इमली का पानी तथा ऐसे ही अन्य फलादि के रस को बहल पानक कहते हैं।

(३) लेवड—हाथ पर लिपट जाने वाले दही के घोल वगैरह गाढे पानक को लेवड कहते हैं।

(४) अलेवड—जो हाथ पर नहीं लिपटता है, ऐसा चांवल का माड, तक्र आदि पतले पानक को अलेवड पानक कहते हैं।

(५) ससिक्थ पानक—जिसमे चावल आदि के सिक्थ पाये जावें ऐसे, माड आदि पानक को ससिक्थ पानक कहते हैं।

(६) असिक्थ पानक—जिसमें भात आदि के सिक्थ (कण) न पाये जावें ऐसे पानक को असिक्थ पानक कहते हैं।

इस प्रकार पानक छह प्रकार का माना गया है।

इन छह प्रकार के पानको मे भी आचार्य को क्षपक के स्वास्थ्य का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। अनुभवी अनेक शास्त्रो के ज्ञाता निर्यापकाचार्य आसन्न मरण वाले क्षपक की शारीरिक स्थिति के अनुकूल आयुर्वेद के सिद्धान्त के अनुसार वात, पित्त और कफ का शमन करने वाला उचित पानक क्षपक को देते हैं।

पानक पदार्थ का सेवन करवाने के पश्चात् उदर के मलकी शुद्धि करने के लिए क्षपक को माड के समान मधुर विरेचन पदार्थ देना चाहिए।

क्षपक के उदर स्थित मल का शोधन करने के लिए काजी से भीगे हुए विल्व पत्रादि से उदर का सेक करना चाहिए तथा सैंधा-नमक आदि की वत्ती बनाकर गुदा मे प्रवेश कर उदर का शोधन करना चाहिए।

प्रश्न—इतना महान् परिश्रम करके उदरस्थ मलका निवारण क्यो किया जाता है ?

उत्तर—क्षपक के उदर में संचित हुआ मल यदि नहीं निकाला जावेगा तो वह महती वेदना उत्पन्न करेगा इसलिए उसे निकालने का प्रयास करते हैं।

प्रश्न—उक्त प्रकार उदर का शोधन करने के पश्चात् क्षपक के योग्य किस कार्य का आचार्य सम्पादन करते हैं।

उत्तर—क्षपक की उदर शुद्धि होने के बाद आचार्य को 'क्षपक अशन, स्वाद्य और खाद्य इन तीन प्रकार के आहार का यावज्जीव त्याग करेगा' इस प्रकार समस्त सघ से निवेदन करते हैं। तथा क्षपक तुम से क्षमायाचना करता है, इस प्रकार कहते हुए आचार्य ब्रह्मचारी आदि के हाथ मे क्षपक की पिच्छी देकर उसे दिखाते हुए सम्पूर्ण संघ के मुनियो की वसतिकाओं मे घुमाते हैं।

प्रश्न—क्षपक की पिच्छी दिखलाकर आचार्य क्षपक की ओर से सबस्थित मुनियो से याचना करते हैं यह ठीक, पर चलने फिरने की शक्ति से हीन क्षपके का अभिप्राय जानकर सम्पूर्ण सघ का उस समय क्या कर्त्तव्य होता है ?

उत्तर—समस्त सघ क्षपक को क्षमा प्रदान करते हैं। तथा क्षपक की रत्नत्रय आराधना निर्विघ्न सिद्ध होवे, इस हेतु से सम्पूर्ण सघ कायोत्सर्ग करता है।

प्रश्न—इसके अनन्तर क्षपक के प्रति निर्यापकाचार्य का क्या कर्त्तव्य होता है ?

उत्तर—निर्यापकाचार्य क्षपक को सकल सघ के मध्य चार प्रकार के आहार का अथवा तीन प्रकार का आहार का विकल्प सहित त्याग करवाते हैं। आचार्य जब क्षपक को क्षुधादि परिषह के सहन करने मे भली भांति समर्थ पाते हैं, तब चारो प्रकार के आहार का कालादि के विकल्प पूर्वक त्याग करवाते हैं। यदि क्षपक को उतना सहनशील नहीं देखते हैं तो उसे तीन प्रकार के आहार का ही त्याग कर वाते हैं। और उस की चित्त शान्ति के लिए छह प्रकार के पानक आहारों का ही सेवन करवाते हैं। इसके अनन्तर ज्यों२ क्षपक की शक्ति का ह्रास होता जाता है त्यों त्यो पानक पदार्थों मे परिवर्तन करते २ अन्तमे सब का त्याग करवा देते हैं।

प्रश्न—इसके बाद क्षपक क्या करता है ?

उत्तर—भक्त प्रत्याख्यान करने के बाद क्षपक के हृदय मे आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मी मुनि, कुल मुनि (दीक्षागुरुशिष्य परम्परा) गण मुनि (स्थविर मुनि शिष्य सन्तान) इन सब के विषय मे जो क्रोध मान माया और लोभ होगा उन सब को निकाल फेंकता हैं। तथा 'मुमुक्षु का जो कर्त्तव्य होता है, उस सब का मैंने आचरण किया है' ऐसा विचार कर उसका चित्त आनन्द से उछलने लगता है।

प्रसन्नचित्त हुआ वह मस्तक पर दोनों हाथ जोड़ कर सकल सघ को नमस्कार करता है। सब से उचित शब्दों मे बोलने की शक्ति न होने के कारण हाथ जोड़ कर 'आप सब मुझे क्षमा करो' इस प्रकार क्षमा मांगने का अभिप्राय प्रकट करता है।

क्षपक अपने अन्तः करण मे अव्यक्त भाषा में कहता है कि हे सघ के मुनिराजो आप मेरे माता पिता से अधिक पूज्य व हितकारक हो, आप निष्कारण जगत् के बन्धु हो, सब के उद्धार करने मे कटिबद्ध हो, आप का मन वचन काय से कृत कारित और अनुमोदना द्वारा जो अपराध अज्ञात भाव से किया हो, उन सब की मैं क्षमा चाहता हूं, मैं भी सब को क्षमा करता हूँ।

इस प्रकार क्षपक और सम्पूर्ण सघ की परस्पर क्षमा क्षमापणा हो जाने के बाद आचार्य सस्तरारूढ़ क्षपक को श्रुत ज्ञान के अनुसार शिक्षा देते हैं और सवेग व वैराग्य का उत्पादक कर्णजाप देते हैं।

प्रश्न—वह कर्णजाप क्या है, जिसे निर्यापकाचार्य क्षपक को देते हैं ?

उत्तर—सस्तरारूढ़ क्षपक को उस समय के योग्य जो क्षपक के कर्ण के समीप शिक्षा देते हैं, उसे कर्णजाप कहते हैं। वह निम्न प्रकार है—

निस्सल्लो कदसुद्धी विज्जावच्चकर वसधिसंथारं।
उवधिं च सोधइत्ता सल्लेहण भो कुण इदाणिं ॥ ७२१ ॥ (भ. ग. आ.)

अर्थ—हे क्षपक राज! इस समय तुम वैयावृत्य करने वालो की तथा नि.शल्य होकर रत्नत्रय की शुद्धि करने मे तत्पर रहो।

व्याधि (रोग) उपसर्ग परीषह असंयम मिथ्याज्ञान यह विपत्ति हैं। इस विपत्ति का प्रतीकार करने को वैयावृत्य कहते हैं। ऐसी वैयावृत्य करने वालों को, वैयावृत्यकर अर्थात् परिचारक कहते हैं। वैयावृत्य करने वाले मुनि असंयम के ज्ञाता हैं या नहीं-इसका ध्यान रखो। यदि वे असयम के ज्ञाता नहीं प्रतीत हों तो उन्हें पृथक् कर दो। और मन वचन तथा काय से जो असयम का निवारण करते हों, ऐसे मुनिराजों को परिचर्या करने की आज्ञा दो।

प्रात.काल सायंकाल दोनों समय वसतिका, संस्तर और उपकरणो की प्रतिदिन शुद्धि करो। अर्थात् तुम क्षीण शक्ति हो, इसलिए परिचारकों को वसतिका, संस्तर और उपकरणों की मार्जना करने की प्रति दिन आज्ञा दो। आज्ञा देना ही तुम्हारा प्रतिलेखन (शुद्धि) करना सिद्ध होता है।

माया, मिथ्या और निदान ये तीन आत्मा को अनादि से क्लेश देते आये हैं इसलिए तत्त्व श्रद्धान पर दृढ़ रहकर मिथ्यात्व का नाश करो। सरलता, निष्कपट भाव धारण कर माया को हृदय से निकाल फेंको और भावी भोगों की निरपृहता से निदान शल्य का नाश करो। इससे तुम्हारा रत्नत्रय शुद्धि को प्राप्त होगा।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की आराधना करने को रत्नत्रय की प्राप्ति कहते हैं। हे क्षपकोत्तम! मिथ्यात्व का वमन करने से सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। मिथ्यात्व संसार का मूल कारण है, और यह सब कर्मों से प्रधान है। इसलिए हे क्षपक! तू मन वचन और काय से इस मिथ्यात्व शत्रु का त्याग कर।

शंका—मिथ्यात्व को सब कर्मों से प्रधान कैसे कहा है? ज्ञानावरण, दर्शनावरण, आदि के अनुक्रम से आचार्यों ने इसे प्रधान नहीं कहा है? आत्मा के साथ अनादि काल से आठों कर्मों का सम्बन्ध हो रहा है। इसलिए उत्पत्ति की अपेक्षा भी मिथ्यात्व मोहनीय दर्शनावरणादि में पहले पीछे का सद्भाव नहीं है। अतः आपने मिथ्यात्व को प्रधान कैसे कहा है?

समाधान—मिथ्यात्व को सब कर्मों से प्रधान इसलिए कहा है कि यह आत्मा के ज्ञानादि गुण को विपरीत करता है। अन्यकर्म तो ज्ञानादि गुणों की शक्ति का ह्रास मात्र करते हैं, उनको विपरीत नहीं बनाते हैं। और मिथ्यात्व उन्हें सर्वथा उल्टा कर देता है। अर्थात् शुश्रूषा (सुनने की इच्छा), शास्त्र श्रवण करना, श्रवण कर हृदय मे धारण करना और धारण किया हुआ नहीं भूलना ये सब बुद्धि के गुण हैं। मिथ्यात्व इन को भी विपरीत करता है। तथा चारित्र, तपश्चरण भावना आदि सब मे विपरीतता उत्पन्न करता है, इसलिए मिथ्यात्व को सम्पूर्ण कर्मों में प्रधान व महान् कर्म कहा गया है। अतएव हे क्षपक!

परिहर तं मिच्छत्तं सम्मात्ताराहणाए दढचित्तो।
होदि णमोकारम्मि य णाणे वद भावणासु धिया॥ ७२५॥
मयतण्हियाओ उदयत्ति मया मण्णंति वह सतण्हयगा।
सब्भूदंति असब्भूदं तध मण्णंति मोहेण॥ ७२६॥ [भग. आ.]

अर्थ—तू इस मिथ्यात्व का परित्याग कर और सम्यक्त्व की आराधना मे चित्तको स्थिर कर। तथा परम भक्ति से अरिहंत आदि परमेष्ठी के भाव नमस्कार में रत हो। हाथ जोड़कर मस्तक झुका कर 'पंच परमेष्ठी को नमस्कार हो' ऐसा वचन उच्चारण करते हुए नमस्कार करने को द्रव्य नमस्कार कहते हैं। श्री अरहतादि पूज्य व्यक्तियों के गुणों मे अनुराग करना भाव नमस्कार है। तू निरन्तर भाव-

नमस्कार मे तथा ज्ञान की आराधना और व्रतों की भावना मे बुद्धि को लगा।

दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से यह जीव अविद्यमान वस्तु मे विद्यमान और विद्यमान वस्तु मे अविद्यमान प्रतीति करता है तथा अतत्त्व को तत्त्व समझता है, जैसे जल से व्याकुल हुआ मृग मरुस्थल की बालु रेत मे पडी हुई सूर्य की किरणों को लहराता हुआ जल समझ कर पानी पीने की आशा से दौडता है। वैसे ही मिथ्यात्व से आकुलित बुद्धि मनुष्य विवेकज्ञान रहित हुआ पर पदार्थ को अपना समझ कर दुःखी होता है। धतूरे का सेवन करने से उत्पन्न हुआ उन्मत्तपना (पागलपन कुछ दिन तक जीव को मोहित (मूर्छित) रखता है, वह एक भव मे भी कुछ काल पर्यन्त ही रहता है। किन्तु मिथ्यात्वमोह का सेवन करने से आत्मा अपरिमित काल तक पागल बना रहता है और वह अनेक कुयोनियो मे जन्म मरण परम्परा को उत्पन्न करता है। इसलिए मिथ्यादर्शन मोह सम्पूर्ण मोहो से अति निकृष्ट है। इसका त्याग करने से ही जीव सुखी होता है। अत हे क्षपक! तुम इस अपरिमित असह्य घोर दुःख के कारण मिथ्यात्व का परित्याग करो।

शङ्का—क्षपक ने तो इस मिथ्यात्व का पहले से ही त्याग किया है। इस समय तो सयम की रक्षा के लिए प्रयत्नशील हो रहा है। अतः सयम की दृढता का ही इस समय उपदेश देना चाहिए। मिथ्यात्व के त्याग करने का उसको उपदेश क्यों दिया गया है?

समाधान—जीवो अणादिकालं पयत्तमिच्छत्तभाविनो संतो।
ण रमिज्ज हु सम्मत्ते एत्थ पयत्तं खु कादव्वं ॥ ७२८ ॥ (भग. आ)

अर्थ—यह जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व के सस्कार से सस्कारित रहा है मिथ्यात्व के साथ जीव का अत्यन्त परिचय रहा है। अतः सम्यग्दर्शन मे यह रमता नहीं है। किंचिन्मात्र विपरीत निमित्त का सयोग मिलते ही इसका अन्तःकरण मिथ्यात्व की ओर झुक जाता है। इसलिए आचार्य क्षपक को सम्यक्त्व मे आसक्त रखने के लिए बारम्बार मिथ्यात्व के दुर्गुण बताकर उससे विमुख रखने के लिए उपदेश देते हैं। जिसका चिरकाल से जीव को अभ्यास हो रहा है, उसका त्याग बड़ी ही कठिनाई से होता है। जैसे सर्प अपने चिर परिचित बिल मे निवारण करने पर भी प्रवेश करता है, उसे नहीं छोडता है, वैसे ही इस जीव को मिथ्यात्व से अनन्त काल का परिचय हो रहा है, इसलिए आचार्य बार बार मिथ्यात्व का परित्याग करने और सम्यक्त्व मे दृढ रहने का उपदेश देते हैं। जैसे-प्रतीकार रहित विष से बुझे हुए बाण से बींधा गया मनुष्य बीहड जङ्गल मे पडा हुआ भयानक वेदना को सहकर मृत्यु को प्राप्त होता है, वैसे ही मिथ्यात्व शल्य से पीड़ित हुआ यह जीव भव भव मे नरकादि योनि के असह्य दुःखो को अनन्त काल तक सहता है।

हे क्षपक! सघश्री नाम के प्रधान मन्त्री के चक्षु महान् मिथ्यात्व के प्रभाव से नष्ट हुए। वह उसी भव मे दुःख से मरकर दीर्घ

ससारी हुआ।

इस मिथ्यात्व के दोष से आत्मा के सुन्दर और सुखद ज्ञानादि गुण निकम्मे हो जाते हैं, जैसे कडुवी तुम्बी में रखे हुए दुग्धादि मिष्ठ पदार्थ भी कडुवे हो जाते हैं। कहा है :—

कडुगम्मि अणिव्वलिदम्मि दुद्धिए कडुगमेव जह खीरं।
होदि णिहिदं तु णिव्वलियम्मि य मधुरं सुगंधं च ॥ ७३३ ॥
तह मिच्छत्तकडुगिदे जीवे तवणाण चरणविरियाणि।
णासंति वतमिच्छत्तम्मि य सफलाणि जायंति ॥ ७३४ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—मूंदे सहित कडुवी तुम्बी में भरा हुआ दूध जैसे कडुवा हो जाता है और शुद्ध तुम्बी में रखा हुआ दुग्ध मधुर और सुगंधित रहता है, वैसे ही मिथ्यात्व से कटुता (विपरीतता) को प्राप्त हुए जीव के ज्ञान चारित्र तप और वीर्य नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् ज्ञान चारित्रादि मोक्ष के कारण नहीं होते हैं। तथा जब यह जीव मिथ्यात्व का वमन कर देता है, तब वे ही ज्ञानादि गुण स्वर्गादि के सुख एव मोक्ष के कारण होते हैं।

इसलिए हे क्षपक! मिथ्यात्व की आत्मा में छाया तक मत पड़ने दो और सम्यक्त्व के आराधन में सदा सावधान रहो।

हे साधु श्रेष्ठ! तुमने अनेक परीषह उपसर्गादि सहकर इतने काल तक जो ज्ञान चारित्र तप आदि की साधना की है, उसकी सफलता इस सम्यग्दर्शन से ही हो सकती है, इसके बिना उसका कुछ भी महत्व नहीं है। ये सम्यक्त्व बिना केवल आत्मा के भारभूत हैं। आत्मानुशासन मे कहा है :—

शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुसाम्।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तम् ॥

अर्थ—क्रोधादि का उपशम ज्ञान चारित्र और तप का आचरण ये सब सम्यक्त्व के बिना आत्मा को पाषाण के समान भार भूत हैं। जब आत्मा मे सम्यक्त्व गुण उत्पन्न हो जाता है तब वे ही महामणि के समान पूज्य (प्रशस्त) हो जाते हैं।

णागरस्स जह दुवारं मुहस्स चक्खू तरुस्स जह मूलं ।
तह जाण सुसम्मत्तं णाणा चरण वीरिय तवाणं ॥ ७३६ ॥

अर्थ—जैसे नगर का दर्वाजा नगर में प्रवेश करने का उपाय है। वैसे ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र तप और वीर्यादि गुणों के प्रवेश करने का उपाय है। क्योंकि सम्यक्त्व के बिना सातिशय अवधिज्ञान तथा उत्कृष्ट निर्जरा का कारण यथाख्यात चारित्र सातिशय तपश्चरण और विशेष वीर्य का प्रादुर्भाव नहीं होता है। जैसे-चक्षु मुख की शोभा बढ़ाने वाली होती है। वैसे ज्ञानादि की शोभा सम्यक्त्व से होती है। बिना सम्यक्त्व के ज्ञानादि गुण मिथ्यापन से दूषित रहते हैं। सम्यक्त्व के उत्पन्न होते ही वे सब उक्त गुण से भूषित होकर पूज्यता को प्राप्त होते हैं। जैसे वृक्ष की स्थिति का कारण मूल (जड़) होती है। वैसे ज्ञानादि गुणों की स्थिति का कारण सम्यक्त्व होता है। अर्थात् बिना सम्यक्त्व के सम्यक ज्ञानादि गुण आत्मा से निकल जाते हैं और आत्मा में मिथ्या ज्ञानादि का निवास हो जाता है। अतएव हे क्षपक तू नित्य सम्यक्त्व की आराधना में रत रह, क्योंकि—

दंसण भट्ठो भट्ठो दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झन्ति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झन्ति ॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है, वही भ्रष्ट समझा गया है। क्योंकि दर्शन भ्रष्ट जीव का निर्वाण नहीं होता है। चारित्र भ्रष्ट मोक्ष सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु दर्शन भ्रष्ट मुक्ति से वंचित रहते हैं।

सुद्धे सम्मत्ते अविरदो वि अज्जेदि तित्थयरणामं ॥
जादो दु सेणिगो आगमेसि अरुहो अविरदो वि ॥ ७४० ॥
श्रेणिको व्रतहीनोऽपि निर्मलीकृतदर्शनः ।
आर्हन्त्यपदमासाद्य सिद्धिसौधं गमिष्यति ॥ ७६६ ॥

अर्थ—शुद्ध सम्यक्त्व के प्रभाव से व्रत रहित जीव भी तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करता है। संयम हीन श्रेणिक महाराज सम्यग्दर्शन की निर्मलता के कारण भविष्य काल में त्रिलोक चूडामणि अर्हन्त पद पाकर सिद्धि सौध (महल) में गमन करेंगे।

कल्याण परंपरयं लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्ता ।
सम्मद्'सणरयणं णग्वदि ससुरासुरो लोओ ॥ ७४९ ॥

अर्थ—इस सम्यग्दर्शन को निर्मल करने से यह जीव देवेन्द्र पद, चक्रवर्तीय पद अहमिन्द्र पद और तीर्थंकर पद ऐसी उत्तरोत्तर कल्याण परम्परा को प्राप्त करता है। यह सम्यग्दर्शन इतना अमोघ अमूल्य रत्न है कि सुर और असुर सहित यह लोक भी इसके मोल की तुलना नहीं कर सकता है।

हे क्षपक! तुम समाधि मरण (रत्नत्रय पूर्वक मरण) के सम्पादन करने में प्रयत्नशील हो। इसलिए सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र और तप की आराधना में संलग्न रहो। इस आराधना की सिद्धि के लिए आराधना के नायक अर्हन्त सिद्ध परमेष्ठी तथा उनके चैत्य और प्रवचन में परम भक्ति धारण करो। यह भक्ति ही आराधना का मूल कारण है शास्त्र में कहा है :—

विधिणा कदस्स सस्सस्स जहा णिप्पादयं हवदि वासं ।
तह अरहादिग भत्ती णाणचरणदंसण तवाणं ॥ ७५१ ॥

अर्थ—विधि पूर्वक बोये हुए धान्य का उत्पादक जैसे वृष्टि या जल सिंचन है वैसे ही दर्शन ज्ञान चारित्र और तप की आराधना का निष्पादक कारण अर्हंतादि की भक्ति है।

वीएण विणा सस्सं इच्छदि सो वासमब्भएण विणा ।
आराधणमिच्छन्तो आराधनभत्तिमकरंतो ॥ ७५० ॥

अर्थ—आराधना व आराधक की भक्ति न करता हुआ जो मनुष्य दर्शन ज्ञान चारित्र तप की आराधना चाहता है वह बीज के बिना धान्य और मेघ के बिना वृष्टि की इच्छा करता है।

तात्पर्य यह है कि जिस मनुष्य के हृदय में अर्हंतादि में भक्ति नहीं है, उस का हृदय ऊसर भूमि के समान है। उस में बोया हुआ आराधना रूप बीज दर्शन ज्ञान चारित्रादि रूप सस्य (धान्य) को कभी उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता है।

जिस को चित्त भूमि मे भक्ति का स्रोत बहता है, उसको अनेक विद्याएँ सिद्ध होती हैं।

विज्जा वि भत्तिवंतस्स सिद्धिमुवयादि होदि सफला य ।
किह पुण णिव्वुदिबीजं सिज्झहिदि अभत्तिमं तस्स ॥ ७४८ ॥

अर्थ—भक्ति परायण पुरुष के विद्या सिद्धि होती है। उसकी विद्या फलवती होती है। और तो क्या उसकी रत्नत्रय आराधना भी सफल होती है। जो भक्ति हीन है उस के मोक्ष के बीज भूत रत्नत्रय को क्या सिद्धि हो सकती है? अर्थात् भक्ति शून्य हृदय मे रत्नत्रय की आराधना कभी नहीं हो सकती है।

तात्पर्य यह है कि रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने वाले पुरुष को अर्हतादि की भक्तिमे तन्मय रहना चाहिए। भक्ति के बिना सम्यग्दर्शनादि की आराधना आकाश पुष्प के समान असंभव है। इसलिए हे क्षपक! तुम निरन्तर अर्हतादि परमेष्ठी की भक्ति मे तल्लीन रहो।

जो पुरुष अर्हतादि की भक्ति मे तत्पर रहता है उसकी प्रवृत्ति णमोकार (पचपरमेष्ठी के नमस्कार) मे अवश्य होती है। णमोकार से भक्तिका पोपण होता है। इसलिए—

आराधणा पुरस्सर मणण्णहिदओ विसुद्ध लेस्साओ ।
संसारस्स खयकर मा मोचीओ णमोक्कारं ॥ ७५२ ॥

अर्थ—मुनिसत्तम! विषय कपायादि सब विकार भाव को हृदय से निकाल कर एकाग्रचित्त होओ। तथा कपाय की मंदता कर लेश्या को उज्ज्वल बनाकर ससार का क्षय करने वाले आराधना के अग्रेसर णमोकार मत्र को मत छोड़ो। इसका निरन्तर चिन्तन करो।

मरण के अवसर मे श्रवण गोचर हुआ णमोकार मंत्र सद्गति का कारण होता है। देखो, मरणोन्मुख हुए कुत्ते ने जीवन्धर स्वामी द्वारा कान मे सुनाये गये णमोकार मन्त्र को सुनकर देव गति प्राप्त की। और अन्तर्मुहूर्त मे पूर्ण यौवनावस्था को प्राप्त हो तत्काल आकर उसी जगह मृत कुत्ते के शव के समीप बैठे हुए श्री जीवन्धर स्वामी की पूजा की।

दृढ़ सूर्य नामक चोर मरण समय णमोकार मन्त्र का स्मरण कर महर्धिक देव हुआ, यथा :—

दढसुप्पो सूलहदो पंचणमोक्कारमेत्त सुदणाणो ।
उवजुत्तो कालगदो देवो जाओ महड्ढीओ ॥ ७७३ ॥

अर्थ—सूली पर लटकाया गया दृढ़शूर्प नाम का चोर पंच नमस्कार मात्र श्रुत ज्ञान में उपयोग रखता हुआ उस पंच नमस्कार मंत्र के प्रभाव से इस शरीर का त्याग कर महर्द्धिक देव हुआ। इसलिए हे साधो! पंच परमेष्ठी का नमस्कार स्वर्गादि की दिव्य सुख सामग्री देता है और परम्परा मोक्ष सुख को देने वाला है। इसलिए हे भाई! इस अपूर्व समाधिमरण के समय इसे किसी प्रकार मत भूलो। अन्य विषयों के स्मरण करने का यह समय नहीं है, अतएव सावधान होकर अर्हंतादि के नाम का स्मरण और उनके स्वरूप का चिन्तन करो।

निर्यापकाचार्य उक्त रीति से अनेक प्रकार उपदेश देकर उसको सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्र और तपश्चरण मे सावधान करते हैं

संथारत्थो खवओ जइया खीणो हवेज्ज तो तइया।
वोसरिदव्वो पुव्वविधिणेव सो पाणगाहारो ॥ १४६२ ॥

अर्थ—सस्तर पर सोये हुए क्षपक का शरीर जब क्षीण हो जावे तब पहले वर्णन की गई जो तीन प्रकार के आहार करने की विधि उसके अनुसार पानक आहार का त्याग भी क्रम से करना चाहिए। अर्थात् पानक आहार द्रव्य के छह भेद पहले बताये गये हैं, क्षपक के बलाबल को देखकर आयुर्वेद के नियमो को ध्यान मे रखते हुए क्रम से उनका त्याग करवाने मे निर्यापकाचार्य को सावधान रहना योग्य है।

प्रश्न—वैयावृत्य करने वाले यति और निर्यापकाचार्य को क्षपक के शारीरिक पीड़ा उत्पन्न होने पर उसका प्रतिकार करने के लिए वैद्य की सम्मति लेकर औषधि की योजना करने का शास्त्रीय मत क्या है ?

उत्तर—वैद्य के आदेशानुसार क्षपक के रोग का प्रतीकार प्रासुक द्रव्यो से अवश्य करना चाहिए। इसके लिए भगवती आराधना में निम्नोक्त आज्ञा है।

तो तस्स तिगिंछा जाणएण खवयस्स सव्वसत्तीए।
विज्जादेसेण वसे पडिकम्मं होइ कायव्वं ॥ १४६७ ॥
णाऊण विकारं वेदणाए तिस्से करेज्ज पडियारं।
फासुगदव्वेहिं करेज्ज वायकफपित्तपडियारं ॥ १४६८ ॥

अर्थ—प्रतिचारक यति व निर्यापकाचार्य (जो रोग की चिकित्सा, रोग का निदान व उसकी निवृत्ति का उपाय जानता है) को स्वयं अथवा वैद्य के उपदेश के अनुसार क्षपक के रोग का प्रतीकार प्रासुक औषध द्रव्यों के द्वारा अवश्य करना चाहिए। क्षपक के वात पित्त व

कफ का प्रतीकार साधु के योग्य निर्दोष द्रव्य से करना निर्यापकाचार्य व परिचारक मुनियों का परम कर्त्तव्य है।

प्रश्न—क्षपक के रोग का प्रतीकार करने के लिए निर्यापकाचार्य व परिचारक किन २ उपायों का आश्रय ले सकते हैं ?

वत्थीहिं अवदवणतावणेहिं आलेवसीदकिरियाहिं।
अब्भंगणपरिमद्दण आदीहिं तिगिंछदे खवयं ॥ १४६६ ॥

अर्थ—वस्ति कर्म (मल मूत्राशय में बत्ती करना-इनीमा करना) गर्म करने के लिए तपाना, औषधि का लेप करना, प्रासुक शीत जलादि का सेवन कराना, अंग दबाना, शरीर मर्दन करना इत्यादि वैयावृत्त्य प्रासुक द्रव्यों द्वारा निर्यापक मुनि व धर्म परायण श्रावक क्षपक की वेदना निवारण करने के लिए करते हैं।

भावार्थ—जितने भी उचित उपाय रोग जन्य पीड़ा शमन करने के आयुर्वेद में बताये गये हैं, उन सब का प्रयोग कर क्षपक की शारीरिक वेदना का शमन करने में परिचारक प्रमाद नहीं करते हैं। किन्तु वे सब प्रासुक व मुनि के सेवनीय पदार्थों का ही सेवन कराते हैं अप्रासुक द्रव्यों का परित्याग और प्रासुक उचित द्रव्यों का ही उपयोग करते हैं।

प्रश्न—यथाशक्ति भरसक उपाय करने पर भी तीव्र वेदनीय कर्म के उदय से बाह्य उपचार कृतकार्य नहीं होते हैं। अर्थात् अनेक उपचार करने पर भी किसी के रोग की शान्ति नहीं होती है। और किसी के बाह्य उपायों से वेदना का प्रतीकार हो जाता है। इससे कर्मोदय की विचित्रता प्रकट सिद्ध होती है। कहा भी है :—

कस्यचित् क्रियमाणेऽपि बहुधा परिकर्मणे।
पापकर्मोदये तीव्रे न प्रशाम्यति वेदना ॥ १५६० ॥

उस समय में अथवा-भूख प्यास आदि परिषहों से पीड़ित होकर क्षपक व्याकुल चित्त या चेष्टाहीन (मूर्छित) हो जाता है। कभी कभी तीव्र वेदना से अति पीड़ित परीषहों से घबराकर आपे से बाहर हो जाता है। ऊटपटांग बकने लगता है। कभी रात्रि भोजन-पानादि सयम विरुद्ध क्रिया करने के लिए भी उतारू हो जाता है उस समय निर्यापकाचार्य किस उपाय से उसको शान्त करते हैं ?

उत्तर—उस समय आचार्य बाह्य उपायों की ओर से उपेक्षा दृष्टि न रखते हुए भी उनसे अपनी मनोवृत्ति को हटाकर अन्तरंग

औषध उपदेशामृत का पान कराते हैं। उसके स्वरूप का भान कराते हैं। उसके निज की महत्ता का स्मरण दिला कर उसके हृदय में आत्म-सम्मान का भाव जाग्रत करते हैं। तथा उसको अनेक प्रकार से धैर्य बंधाते हैं।

कोसि तुमं किं णामो कत्थ वससि को व मंपही कालो।
किं कुणसि तुमं कहवा अत्थसि किं णामगो वाहं ॥ १५०५ ॥

हे क्षपकोत्तम! हे आत्म-कल्याण के इच्छुक! स्मरण करो। तुम कौन हो? तुम्हारा नाम क्या है? तुम कहां वसते हो? इस समय कौन सा काल है? अर्थात् अभी रात है या दिन? तुम क्या काम कर रहे हो? तुम क्या चाहते हो? मेरा नाम क्या है? इस प्रकार निर्यापकाचार्य क्षपक से बार बार पूछते हैं।

भावार्थ—दयालु आचार्य क्षपक की सावधानता या असावधानता की परीक्षा करने के लिए उससे अति प्रेम से भरे अनेक प्रश्न करते हैं। कोई क्षपक आचार्य महाराज के इस प्रकार पूछने पर सचेत हो जाता है और अपनी अवस्था पर विचार करता है कि मैंने संन्यास मरण प्रारम्भ किया है, मेरा इस समय क्या कर्त्तव्य है। ये परम दयालु आचार्य महाराज मेरे हित के लिए कितना कष्ट सहन कर रहे हैं। धन्य है इन दयालु महापुरुषों को, जो इतना काय क्लेश उठाकर मेरे कल्याण के अर्थ उद्योग कर रहे हैं। ऐसा चिन्तन कर शुभ ध्यान मे लीन होता है। कोई क्षपक आचार्य द्वारा अनेक बार सचेत करने पर चैतन्य को प्राप्त होकर तीव्र वेदना व क्षुधादि की दुस्सह परिषह उपसर्ग के सहन न कर सकने के कारण तीव्र अशुभ कर्म के वश पुनः अचेत (वेहोश) हो जाता है, तथापि परोपकार में तत्पर आचार्य महाराज उदासीनता धारण नहीं करते हैं। उसको पुनः कोमल शब्दों से प्रेम पूर्ण वाक्यों से पुन. सावधान करने का पूर्ण उचित उपाय करते हैं। उसे आराधना का स्मरण दिलाते हैं। तथा चार प्रकार के आहार की याद दिलाते है।

कोई सचेत हुआ भी, होश में आया हुआ भी, कर्म के उदय से परिषहों के क्लेश से संतप्त हुआ अयोग्य वचन बोलने लगता है। प्रतिज्ञा भंग करने पर उतारू हो जाता है, रुदन करने लगता है। तथापि आचार्य उसका तिरस्कार नहीं करते हैं। उसके प्रति कटु वचन का प्रयोग नहीं करते हैं। उसके प्रति आचार्य के हृदय मे पूर्ण सहानुभूति का वेग हो आता है और उसके कल्याण के लिए अधिक तत्परता दिखाते हैं।

विचक्षण बुद्धि, शक्ति शाली, धैर्य धुरन्धर आचार्य महाराज क्षपक को प्रेम पूर्ण कर्ण-प्रिय शिष्ट और मिष्ट आनद बढ़ाने वाले वचन उच्चारण करते हैं। जिनका श्रवण करते ही क्षपक का सर्व दुःख निवारण हो जाता है। आचार्य धीरे २ समझाकर वचन बोलते हैं। शीघ्रता नहीं करते हैं।

हे चारित्र धारक मुने। सचेत होवो। ख्याल करो, तुमने चार प्रकार के सघ के समक्ष महा प्रतिज्ञा धारण की है कि मैं मरण पर्यन्त आराधना का सेवन करूंगा, रत्नत्रय का निर्दोष पालन करूंगा, इस प्रतिज्ञा का स्मरण करो। अब क्या तुम भूल गये हो ?

हे धीर वीर ! 'मैं अवश्य शत्रु का पराजय करूंगा' ऐसी जनता के समक्ष जिसने दृढ प्रतिज्ञा की है, ऐसा कौन स्वाभिमानी वीर पुरुष शत्रु के निकट आने पर डर कर पलायमान होगा। कुलीन, शूर-वीर, पुरुष-सिंह, शत्रु को पीठ दिखाने की अपेक्षा समरांगण मे प्राणो का त्याग करना ही सर्व श्रेष्ठ समझता है। वैसे ही हे धीर मुने ! तुमने सम्पूर्ण सघ के समक्ष प्रतिज्ञा की है कि कठिन परीषह व घोर उपसर्ग के आने पर भी परित्यक्त आहारादि पदार्थों को अङ्गीकार नहीं करूंगा। मरणान्त विपत्ति आने पर भी प्रतिज्ञात व्रत नियमो का यथावत् पालन करूंगा। हे मुने ! क्या ऐसी प्रतिज्ञा लेकर स्वाभिमानी साधु कष्टों से घबराकर कायरता धारण करेगा। अपनी प्रतिज्ञा का भग करेगा ? हे सयमिन ! वह कदापि अपने स्वाभिमान व वचन का भग न करेगा। वह मरण को तुच्छ समझ अपने यश का विनाश न होने देगा। लज्जास्पद जीवन को अधम मनुष्य ही अच्छा समझता है। गौरव शाली मानव-पुंगव लज्जा युक्त जीवन से मृत्यु को ही उत्तम मानकर प्राणपण से अपना प्रतिज्ञा का पालन करता है।

हे मुने ! तुमतो महान् शूर वीर हो। क्या कायरता धारण करना शूर वीर पुरुषो को शोभा देता है ? शूर वीर पुरुषो के तो युद्धस्थल मे शत्रु की ललकार सुनकर पाव उठते हैं। वे प्रसन्न चित्त होकर अपनी वीरता दिखाने के लिए बड़ी उत्सुकता से सम्मुख गमन करते हैं। तथा शरीर मे जीवन ज्योति की किरण के प्रकाश मान न होते हुए कदापि रणांगण से पश्चात्पद नहीं होते हैं। हे शूर वीर मुने ! तुम तो महान् वीर और धीर हो। तुमको इन आगत परीषह व उपसर्ग का वीरता के साथ सामना करना चाहिए। तुम अनन्त शक्ति के धारक त्रैलोक्य साम्राज्य के अधिपति चैतन्य हो। ये जड़ तुम्हारे सामने कैसे ठहर सकते हैं। ये तो तुम्हे अपने कर्त्तव्य से च्युत करने के लिए तुमको त्रिजगत्पति बनने के कृत्य मे बाधा डालने के लिए शत्रुता कार्य कर रहे हैं। इसलिए यदि इस समय तुमने कायरपना धारण कर लिया तो तुम इन लुटेरों से लूट लिये जावोगे। ये तुम्हारे रत्नत्रय के भडार को छीन लेंगे। और अपरिमित काल के लिए तुम्हें शक्ति हीन दरिद्री बना देंगे अतः यह तुम्हारे सावधान रहने का समय है।

हे मुने ! अपने कुल के, अपने गण के, तथा सघ के यश को उज्ज्वल बनाने वाले का जीवन मनुष्य समाज मे ही नहीं, देवों से भी पूज्य होता है। इसलिए तुम कुल, गण और संघ की लज्जा का ख्याल रखो। उस को मलिन कर जीवन धारण करना क्या उचित प्रतीत होता है ? तुम्हारे सरीखे महात्मा क्या ऐसे निन्दनीय कार्य कर सकते हैं ? अतएव हे मुनिश्रेष्ठ अब साधधान होकर अपने प्रतिज्ञात कर्त्तव्य का स्मरण करो।

सं. प्र.

कितने ही महापुरुष समस्त परिग्रहो का परित्याग कर अपने आत्मा के स्वरूप मे आपा धारण कर उपसर्गादि की परवाह न कर आपत्तियों को निमन्त्रण देने के लिए, अनेक विपत्तियो का आह्वान करने के लिए, सिंह-व्याघ्र-सर्प-दुष्ट हिंस्र तिर्यंच, मनुष्य और देवकृत तथा अचेतन कृत उपसर्गों से व्याप्त भयानक कानन मे, पर्वत की गुफाओ मे व शिखरो पर और श्मशानो मे जाकर निवास करते हैं। वहा पर ध्यान वरते हैं। वहा पर एकाकी रहकर उत्तमार्थ (रत्नत्रय) की आराधना मे कटिबद्ध रहते हैं। वे महात्मा अतिशीघ्र रत्नत्रय की पूर्णता कर परम सद्गति को प्राप्त करते हैं।

हे मुने! तुम्हारे समीप तो अनेक परिचारक मुनिराज वैयावृत्त्य करने मे सदा तत्पर रहते हैं। तुम को क्या इस समय धैर्य धारण करना उचित नही है? अन्य मुनि अनेक घोर उपसर्ग सहकर जो वस्तु प्राप्त करते हैं वह वस्तु तुम्हें थोड़े से धैर्य धारण करने से, आत्मा मे सावधानी रखने से प्राप्त हो सकती है। इसलिए इस समय गाफिल मत रहो। पूर्ण सावधान होकर अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने मे दत्तचित्त हो जाओ।

हे चपकोत्तम! जिन्होने अलौकिक धैर्य धारण किया है, जिनके चारित्र मे लेशमात्र भी दूषण का सम्पर्क नहीं हुआ है, तथा जिन्होने श्रुतज्ञान का अवलम्बन लिया है ऐसे महामुनीश्वर जगली हिंसक पशुओ की तीक्ष्ण दाढ़ मे पहुचकर भी उत्तमार्थ जो रत्नत्रय है उसकी सिद्धि करलेते हैं। वे प्रातः स्मरणीय महात्मा निम्नोक्त प्रकार हैं—

उपसर्गों से विचलित न होने वाले महामुनियों के कुछ उदाहरण

भल्लकिए तिरत्तं खज्जंतो घोरवेदणट्टो वि।
आराधणं पवण्णो ज्झाणेणावंतिसुकुमालो ॥ १५३६ ॥ [भग आ.]

भावार्थ—जिन अपूर्व पुण्यशाली पुरुष पुगव ने महलों मे भी मखमली गलीचो को छोडकर भूमिपर पाव नहीं रखा था, दिव्य रत्नों के दीपको की ज्योति के सिवा किसी दीपक के प्रकाश को नेत्रों से नहीं देखा था, सदा शीतल छाया मे ही अपना जीवन विताया था, कभी सूर्य तक का अवलोकन नहीं किया था, रात भर कमल के मध्य मे वासित उत्तम चॉवलों के अतिरिक्त कठोर पदार्थ का भोजन नहीं किया था, सरसो के दाने जिनके कमल सम कोमल शरीर मे शूल समान गड़ते थे, वे अवन्ति सुकुमाल मुनिराज देवोपम सब सुखों पर लात मारकर सब ऐश्वर्य का परित्याग कर वन मे कायोत्सर्ग कर आत्म-ध्यान मे आरूढ़ थे। उनके शरीर को तीन रात लगातार नोच २ कर शृगाली भक्षण करती रही। उनके अग प्रत्यग मे भयानक वेदना हो रही थी तथापि वे धीर वीर अवन्ति सुकुमाल महामुनि रत्नत्रय की

आराधना मे संलग्न रहे। शुभ ध्यान से रंचमात्र विचलित नहीं हुए। अन्ततक अपने शुभ ध्यान मे मग्न रहे और उन्होने उत्तमार्थ की सिद्धि की।

मोग्गिलगिरिम्मि य सुकोसलो सिद्धत्थदइय भयवंतो ।
वग्घीए वि खज्जंतो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५४० ॥ [भग आ]

अर्थ—मुद्गलनाम के पर्वतपर ध्यानारूढ सिद्धार्थ नृपतिके पुत्र सुकोशल महामुनिराज को उनके पूर्वभव की माता के जीव व्याघ्री ने भक्षण किया, तो भी उन महामुनीश्वर ने अपने शुभ ध्यान का त्याग न कर उत्तमार्थ (रत्नत्रय) की सिद्धि की। परम धैर्य के धारक मुनिपुंगव ने तिर्यंचकृत घोर उपसर्ग पर विवेकज्ञान बल से विजय प्राप्तकर अपने स्वार्थ की (आत्मकार्य रत्नत्रय की) प्राप्ति करली।

भूमीए समं कीलाकोट्टिददेहो वि अल्लचम्म व ।
भयवं पि गयकुमारो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५४१ ॥ [भग आ.]

'अर्थ—भगवान् गजकुमार मुनिराज को भूमिपर गिराकर उनके शरीर मे कीलें ठोककर गीले चर्म के समान भूमिपर बिछा दिया था, भूमि और शरीर को एक कर दिया था। ऐसे भयकर दुष्ट मनुष्यो से किये गये रोमाचकारी उपसर्ग को शान्ति से सहकर उन धीर वीर आत्म ध्यानी मुनिराज ने उत्तमार्थ (रत्नत्रय) की प्राप्ति की थी। वे शुक्ल ध्यानाग्नि से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर मुक्ति साम्राज्य के अधिकारी बने।

हे मुने! जो गृहस्थावस्था मे चक्रवर्ती थे, वे सनत्कुमार नामा महामुनि सौ वर्ष पर्यन्त खाज, ज्वर, खासी, आमरोग, भस्मक-व्याधि, नेत्ररोग, उदरपीडा आदि उग्र रोग जनित तीव्र वेदना का सहन करते रहे। रंचमात्र सक्लेश परिणाम न कर ध्यान मे मग्न रहे। धैर्यावलम्बन लेकर अपने उत्तमार्थ की सिद्धि मे लगे रहे।

हे साधो! गङ्गा नदी के मध्य नाव मे डूबते हुए एणिक पुत्र मुनिराज ने शरीर के मोह का परित्याग कर आर्तध्यान के अवसर मे भी शुभ ध्यान धारण कर चार आराधनाओं को प्राप्त करते हुए मरण किया।

घोर अवमौदर्य तपश्चरण करते हुए भद्रबाहु मुनिराज तीव्र क्षुधा की पीडा से पीडित होने पर भी लेशमात्र सक्लेश परिणाम के वशीभूत नहीं हुए। शान्तभाव से शुभ ध्यान मे मग्न रहकर रत्नत्रय की प्राप्ति की।

कोसंबीललियघडा वूढा णइपूरएण जलमज्झे ।
आराधणं पवण्णा पाग्रोवगदा अमूढमदी ॥ १५४५ ॥ [भग आ]

अर्थ—कौशाम्बी नगरी में ललितघट नाम से प्रसिद्ध इन्द्रदत्तादि बत्तीस महासम्पत्तिशाली श्रावक यमुना नदी के प्रवाह में डूब कर भी सक्लेश परिणाम रहित प्रायोपगमन संन्यास धारण कर उत्तमार्थ को प्राप्त हुए।

चम्पानगरी के बाहर गङ्गा के तट पर धर्म घोष नामा महामुनि एक मास के उपवास धारण कर भयानक तृषा की वेदना से पीड़ित होने पर भी सक्लेश भाव रहित होकर उत्तमार्थ (आराधना सहित) मरण को प्राप्त हुए।

हे क्षपक ! श्री दत्त नामक मुनिराज के पूर्वभव के वैरी किसी देव ने विक्रिया द्वारा शीतल जल की वृष्टि व शीतल वायु उत्पन्न करके उन महामुनि को घोर क्लेश दिया। किन्तु वे महामुनि सक्लेश भाव रहित हुए उत्तमार्थ की साधना में ही रत रहे।

श्री वृषभसेन महामुनि ने अत्युष्ण वायु तथा अत्यन्त उष्ण शिलातल और सूर्य के प्रखर किरण सताप से उत्पन्न हुई उष्ण परीषह का सहन कर सक्लेश परिणाम न करते हुए उत्तमार्थ की साधना की।

रोहेडयम्मि सत्तीए हग्रो कोंचेण अग्गिदइदो वि ।
तं वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५४६ ॥ [भग आ]

अर्थ—रोहेडग नगर में क्रौंच नाम के राजा ने अग्निराजा के पुत्र कार्तिकेय मुनिराज को शक्ति नाम के शस्त्र विशेष से मारा था। उस समय मुनिराज ने लेश मात्र भी परिणामो मे विकार भाव उत्पन्न नहीं किया। शान्त परिणाम से उस उपसग को सहकर उत्तमार्थ का साधन किया।

हे मुने ! काकदी नाम की नगरी मे चंडवेग नाम के एक दुष्ट राजपुत्र ने अभयघोष मुनिराज के समस्त अगो को काट डाला। तथापि उन महामुनि ने रचमात्र रोष नहीं किया। किन्तु साम्य-भावना से उस रोमाचकारी दु:ख को सहन कर रत्नत्रय की आराधना मे तन्मय रहे।

विद्युच्चर नामा चोर डास और मच्छरो से भक्षण किया गया किन्तु वह उनकी तीव्र वेदना को सक्लेश भाव रहित साम्य भावना से सहकर उत्तमार्थ (आत्म कल्याण मार्ग) को प्राप्त हुआ।

हस्तिनापुर के स्वामी गुरुदत्त नाम के मुनिराज द्रोणमति पर्वत पर तपस्या कर रहे थे। किसी दुष्ट नरपिशाच ने सबलि-स्थाली के समान उनके मस्तक पर अग्नि जलाई थी। मिट्टी के पात्र मे हरे नाज की बालें भर कर उस पात्र के मुख पर आक के पत्ते भर देते हैं। पश्चात् उस पात्र को ओधा भूमि पर रख कर उसके चारो तरफ अग्नि जला कर बालें भुनते हैं। उसे सबलिस्थाली कहते हैं। इस प्रकार उन मुनिराज के मस्तक पर अग्नि जला कर घोर उपसर्ग किया गया था। किन्तु वे मुनिराज तीव्र वेदना से सक्लेश भाव को प्राप्त न होकर साम्य भावना भाते हुए आराधना के फल को प्राप्त हुए।

किसी पूर्वभव के वैरी ने चिलातपुत्र नामक मुनिराज पर शस्त्र प्रहार किया। इसमे उनके शरीर पर अनेक घाव हो गये। पश्चात् उनके शरीर को स्थूल मस्तक वाली काली चींटियो ने खाकर चलनी के समान छिद्रमय कर दिया था। किन्तु उन धीर वीर महामुनि-राज ने सुनने मात्र से रोमाच उत्पन्न करने वाली घोर वेदना को शान्ति से सहा और आराधना का निर्विघ्न साधन किया। अर्थात् रत्नत्रय की आराधना से रचमात्र भी नही टले।

दण्डनाम के मुनिराज पर यमुनावक्र नाम के किसी पापी पुरुष ने वाणो की वृष्टि करके उनका सम्पूर्ण शरीर वाणो से वींध दिया, तथापि उन मुनिराज ने रत्नत्रय की आराधना की, अपने समाधि मरण को नहीं बिगाडा।

अभिणंदणादिया पंचसया णयरम्मि कुंभकारकडे।
आराधणं पवण्णा पीलिज्जंता वि यंतेण ॥ १५५५ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—कुभकारकट नाम के नगर मे अभिनदनादि पाच सौ मुनिराजों को घानी (कोल्हू) में डालकर पील दिया। लेकिन वे मुनिराज रत्नत्रय आराधना से विचलित न हुए।

गोठान (गायो के गृह) मे चाणक्य मुनि ने प्रायोपगमन सन्यास धारण कर रखा था। सुबधु नामा मत्री उनका शत्रु था। वहा कडों की राशि थी। उसमे आग लगा कर उसमे चाणिक्य मुनि को डालकर जलाया। किन्तु वे मुनिराज अपने सन्यास मरण से चलायमान नहीं हुए। साम्यभाव धारण कर रत्नत्रय को निर्मल बनाये रखा।

इसी प्रकार कुणाल नामक नगर के वहिर्भाग में अनेक शिष्य वर्ग के साथ वृषभसेन नामा मुनिराज ठहरे हुए थे। रिष्ट नामक राजमत्री ने आग लगाकर उनको दग्ध किया, किन्तु उन सब मुनिराजो ने उस उपसर्ग का सहन किया। रत्नत्रय आराधना मे बाधा न आने दी अर्थात् रत्नत्रय का त्याग नहीं किया।

जदिदा एव एदे अणगारा तिव्ववेदणट्ठा वि।
एयागीऽपडियम्मा पडिवण्णा उत्तमं अट्ठं ॥ १५५८ ॥ [भग आ]

अर्थ—आगम प्रसिद्ध जगद्विख्यात पूर्वोक्त मुनीश्वरों ने अति घोर वेदनाओ से पीड़ित होकर भी उनका प्रतीकार नहीं किया। उनका कोई सहायक नही था। उनका वैयावृत्त्य करने वाला एक भी मुनि पास मे नहीं था। कोई वैद्य उनकी चिकित्सा करने वाला नही था। उनपर दुष्ट वैरियो ने रोमाचकारी उपसर्ग किये। जिनको सुनकर आत्मा काप उठता है। उन्हे अग्नि से दग्ध किया, शस्त्र से छिन्न भिन्न किया, कोल्हू मे पीला, कई पर्वतों से गिराये गये। दुष्ट तिर्यचो ने उनके शरीर का शनैः शनैः नोच नोच कर भक्षण किया-प्राण रहित किया तथापि उन्होने साम्य भाव का त्याग नहीं किया। आराधना के पालने मे वे शिथिल नहीं हुए। अपने आत्म-कल्याण के मार्ग से तनिक भी नहीं हटे।

हे क्षपकोत्तम! तुम्हारे तो अनेक सहायक हैं। वैयावृत्त्य परायण परम दयालु धैर्य के धारक तुम्हारे कल्याण के अभिलाषी हितोपदेश के देने मे उद्यमी समस्त आचार्यादि वैयावृत्त्य करने मे औषधि आदि का उपचार मे तन मन से लगे हुए हैं। समस्त सघ सम्पूर्ण उचित उपायो द्वारा तुम्हारे सुख व शान्ति की प्राप्ति मे लगा हुआ है। तुम्हारे ऊपर तो कोई तीव्र उपसर्गादि भी नहीं आया है। ऐसे सर्वानुकूल सामग्री के रहते हुए सुवर्णसम अवसर मे तुम आराधना ग्रहण करने मे क्यो शिथिल हो रहे हो? भो मुने! अब तुम को सम्भलना चाहिए। इसी अवसर के लिए तुमने कठिन मुनिव्रत धारण किया था। अनेक प्रकार के क्लेशो का सहा था। अब समय पर तुम क्यो कायरता धारण कर रहे हो? यह कायरता का समय नही है। धैर्य धारण करने और थोडा सा साहस रखने से तुम अपने इष्ट कल्याण को प्राप्त कर सकते हो। अत. अब सावधान होकर इस नश्वर शरीर के मोह का त्याग कर अपने आत्मा की सुध लो। आराधना देवी की भक्ति करो। इसमे ही तुम्हारा कल्याण है।

जिणवयणममिदभूदं महुर कण्णाहुदिं सुणंतेण।
सक्का हु संघमज्झे साहेदुं उत्तमं अट्ठं ॥ १५६० ॥ [भग. आ]

अर्थ—हे मुने! अमृत स्वरूप तथा मधुर कर्ण को तृप्त करने वाले जिनेन्द्र देव के वचनो का श्रवण समस्त संघ के मध्य तुम्हें प्रतिदिन मिलता रहा है। इसलिए इस सघ मे तुम को उत्तमार्थ (रत्नत्रय का आराधन) की सिद्धि कोई कठिन नहीं है।

हे क्षपक! यहा तुमको क्या दु.ख है जो तुम इतने शिथिल हो रहे हो?

नरकादि गतियों में भोगे हुए दुखों का दिग्दर्शन कराते हुऐ क्षपक का सम्बोधन

णिरयतिरिक्खगदीसु य माणुसदेवत्तणे य संतेण
जं पत्तं इह दुक्खं तं अणुचिंतेहि तच्चित्तो ॥ १५६१ ॥ [भग आ.]

अर्थ—हे साधो ! संसार में भ्रमण करते हुए तुमने नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति में जो दुःख भोगे हैं उनको चित्त लगाकर सुनो। ऐसा कोई दुःख बाकी नहीं रहा है, जिसको तुमने पहले संसार में नहीं सहा है। निरन्तर जलने वाली दवाग्नि में अनन्त वार दग्ध होकर तुम भस्म होते रहे। अनन्त वार जल में डूब डूब कर मरे। अनन्त वार पर्वत से गिर गिर कर तुम्हारे शरीर का चूर्ण हुआ। अनन्त वार कूपादि में गिर गिर कर मृत्यु को प्राप्त हुए। तथा तालाब में, समुद्र में और अनन्त वार नदी के प्रवाह में बह बहकर मरे। अनन्त वार शस्त्रों से विदारण किये गये। अनन्त वार कोल्हू में पीले गये। अनन्त वार दुष्ट तिर्यंच पशुओं से खाये गये। अनन्त वार पक्षियों से नोच नोच कर भक्षण किये गये। अनन्त वार चक्की में पीसे गये। सेंके गये। भुने गये। रांधे गये। कढ़ाही में तले गये। इसी प्रकार तुम अनन्त वार भूख की तीव्र वेदना सहकर भूख के मारे बिलबिला कर मरे हो। अनन्त वार प्यास के मारे तड़फ २ कर मरे हो। अनन्त वार शीत की वेदना से सुकड़ २ कर तुमने प्राण गंवाये हैं। अनन्त वार उष्ण (गर्मी) की वेदना से छटपटाकर बुरी तरह मृत्यु पाई है। अनन्त वार वर्षा की बाधा से सड़ सड़ कर मरे हो। अनन्त वार पवन की पीड़ा से प्राणों का त्याग कर चुके हो। अनन्त वार विष भक्षण से शरीर और प्राणों का नाश हुआ है। अनन्त वार निरुपाय व्याधि की कठोर वेदना से मरे हो। अनन्त वार भय से व्याकुल होकर मरे हो। अनन्त वार शोक से झुर झुर कर मरे हो। अनन्त वार सिंह व्याघ्रादि तथा सर्पादि द्वारा मारे गये हो तथा दुष्ट जीवों से विदारण किये गये हो। अनन्त वार चोरों के द्वारा किये गये उपद्रव से, अनन्त वार भीलादि जगली जाति के मनुष्यों से तथा कोतवालादि एवं धर्म हीन दुष्ट राजाओं से, म्लेच्छ मनुष्यों से तुम अनन्त वार मारे गये हो। यह शरीर आयु पूर्ण होने पर किसी न किसी निमित्त से अवश्य नष्ट होता रहा है और अब भी अवश्य नष्ट होगा। अब इस अवसर पर मरण के भय से या वेदना के भय से संक्लेश भाव धारण कर रत्नत्रय की विराधना करना किसी प्रकार भी उचित नहीं है। अति भयानक दुःखों को सहते सहते तो अनन्त काल बिताया और अब संसार पार करने का अवसर मिला है, उसमें किंचिन्मात्र वेदना के प्राप्त होने पर संसार सागर से उद्धार करने वाले परम धर्म का आश्रय छोड़ देना कहां की बुद्धिमानी है ?

जदि कोइ मेरुमेत्तं लोहुण्डं पक्खविज्ज णिरयम्मि ।
उण्हे भूमिमपत्तो णिमिसेण विलेज्ज सो तत्थ ॥ १५६३ ॥ [भग आ]

अर्थ—हे क्षपक ! कोई देव या दानव उष्ण नरक मे मेरु समान लोहे का पिण्ड ऊपर से गिरा दे तो वह नरक भूमि पर गिरने के पूर्व ही नरक बिलों की उष्णता से क्षण मात्र मे पिघल कर बह जाता है।

तह चेव य तदे हो पज्जलिदो सीयणिरय पक्खित्तो।
सीदे भूमिमपत्तो खिमिसेण सडिज्ज लोहखंडं ॥ १५६४ ॥ [भग आ]

अर्थ—यदि वही नरक की उष्णता से पिघला हुआ लोहे का पिंड कोई देव या दानव इकट्ठा करके शीत नरक मे फेंक दे तो वह शीत नरक के बिलो की भूमि को प्राप्त करने के पहले ही मार्ग म बिलो के शीत से टुकडे टुकडे होकर बिखर जाता है।

हे क्षपकोत्तम ! वहा नरक भूमि मे लोहे से निर्मित मण्डप मे अतितप्त हुई अग्नि समान लाल वर्ण की लोहे की पुतलियां रहती है। तुमको उनके साथ बलात्कार से आलिंगन करवाया गया है। उस समय जो तुम्हें दु सह दु:ख हुआ था, उसका स्मरण करो। तथा तुमको अनेक बार अत्यन्त क्षारत्वयुक्त अग्नि से तप्तायमान कडुवारस पिलाया गया था, उसका तो ध्यान करो।

हे साधो ! वहा पर तुमको यत्र द्वारा मुख फाडकर बलात्कार से लोहे के जलते हुए अगारे खिलाये गये थे, तुमको कडाही मे पूरी कचोरी के समान तला था–उसका तो ख्याल करो।

नरक मे सब नारकी एक दूसरे के शत्रु होते हैं। वे परस्पर दु:ख देने मे तत्पर रहते हैं। वे बाण, चक्र, तलवार, छुरी, करौंत, भाला, शूली, गदा आदि शस्त्र रूप बन जाते हैं। तथा कुत्ता बिल्ली भेडिया सिंह व्याघ्र सर्पादि दुष्ट तिर्यंच बन जाते हैं। कोई नारकी पर्वत बनकर दूसरे नारकी पर गिर पड़ता है। कोई नारकी करौत बनता है और दो न रकी करौत उठाकर दूसरे नारकी के शरीर को कतरते हैं। इसी प्रकार एक दूसरे को दुःख देने मे सहायक होते है। वहा पर ऐसे क्लेश तुमने अनन्त बार सहे हैं।

हे साधो ! नरक मे तुम्हारी आँखें निकाल ली गईं थीं तथा तुम्हारी जीभ खींचकर बाहर निकाल ली गई थी। उस समय जितना घोर दुःख तुम्हें हुआ था, उसको सोचो।

हे क्षपक ! नरक मे तुम्हें अनेक प्रकार कुभीपाक मे पकाया गया था। तथा शूली मे पिरोकर अग्नि मे सेका था। भाड मे डालकर तुम्हें चने के समान भुना था। तुमको भात के समान बटलोई मे उबाला था। मास के टुकड़े के समान तेरे टुकडे २ किये गये थे। और आटे के समान तुम्हें घानी में पीसा था।

हे मुने ! तुम नरक में चक्र से छेदन किये गये थे । करौत से कई बार चीरे गये थे । कुल्हाड़ी से काटे गये थे और तुम्हारे तुम्हारा चूरचूर निकाला था-उनको तो याद करो ।

नरक में तुमे पाश में बांधकर ऊपर से नीचे पर पटके गये थे । और जगह पति लोग तुम्हें खोल में ढाला था । वहां पर तुमे घसीटा था । तेरे शरीर को नमाकर तोल दिया था । एक दाग को पार से उतार कर तुम्हें चीर डाला था । तेरा शरीर खंडित किया गया था । लोहे के तिकोने तीक्ष्ण शूलों पर तू उछाला गया था । नारकी तेरे चूर्ण का जल सींच कर ऊपर से छला करते थे । उनके आकार शक्ति नामक शस्त्र से तथा तिनके अग्र भाग से शरीर पर हुए थे ऐसी लाठियों से लोट पोट किये थे, पुकार करते थे । उनसे तेरे शरीर से रुधिर की धारा बह रही थी । शरीर का गया था । पेट फूट गया था । अन्दर की आतड़ियां बाहर निकल आई थीं । तेरा अन्दर सतत रो रहा था । आंखें निकल आई थीं । तेरे शरीर का चूर्ण हो गया था । ऐसे भयानक दुःख तू नरक में अनेक बार भोग आया है । उसका विचार कर । उन दुःख के मारे तेरे शरीर का अवयव कांपता था । तू दुःख से डर गया था । उन दुःखों के सामने हे धपर ! यह दुःख कुछ भी नहीं है ।

हे श्रमणोत्तम ! तुमने अपूर्व पुण्य के उदय से मनुष्य जन्म पाया और ऐसे दुर्लभ महोत्तम धर्म को भी अंगीकार किया उसमें भी उत्तम संयम का पालन किया और अन्त में सर्वश्रेष्ठ समाधिमरण को भी अंगीकार किया । इस समय तुम्हारे पूर्व संचित कर्म के उदय से किंचित वेदना आगई । जिससे तुम अपने परम पुनीत धर्म से चलायमान हो रहे हो । यह क्या तुम्हारे समान वर्यशाली शूर वीर पुरुष पुंगवों को शोभा देने वाला कार्य है ? यह कायरता तुम्हारे यश को मलीन करने वाली है । इस आत्मा के विनाशकारी कायरपन का त्याग कर सावधान होओ और स्वाभिमान की रक्षा करो, तथा धर्म को सम्भालो ।

देखो, तुमने अनन्त काल तक इस संसार के भ्रमण में भ्रमण किया उसमें अनन्त बार तिर्यंच गति भी पाई । उनके दुःखों का किंचिन्मात्र वर्णन करते हैं, उसे तुम सावधान होकर सुनो । इन दुःखों को तुम अपनी आत्मा से अनुभव कर रहे हो ।

तिरियगदिं अणुपत्तो भीममहावेदणाउलमपारं ।

जम्मणमरणरहट्टं अणंतखुत्तो परिगदो जं ॥ १५८१ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—भयानक तीव्र वेदनाओं से व्याकुल, जिसका पार पाना अति कठिन है ऐसी तिर्यंच गति को प्राप्त हुआ तू अरहट्ट की

घड़ियों के समान लगातार जन्म मरण को प्राप्त होता रहा। उसके दु:खो का भी तू विचार कर, स्मरण कर, चिन्तन कर। अपने दोषों का स्मरण करने से गुणों की वृद्धि व प्राप्ति होती है। इसलिए अपने दोषो का स्मरण कर। देखो तिर्यंचगति प्राप्त करके तूने पृथिवीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, और वनस्पतिकाय एवं त्रसकाय मे जन्म धारण किया है।

हे क्षपक! मनुष्य शीत की बाधा होने पर निर्वात स्थान का आश्रय लेते हैं। गर्मी से पीड़ित होने पर उसका निवारण करने के लिए शीत जल मे स्नान करते हैं, ठडा पानी पीते हैं। भय उत्पन्न होने पर भय रहित स्थान का सहारा लेते हैं। द्वीन्द्रियादि त्रस जीव भी उक्त बाधाओ से बचने का यथोचित उपाय करने मे समर्थ होते हैं। परन्तु एकेन्द्रिय जीवों मे ऐसा सामर्थ्य नहीं होता है।

जैसे वैराग्य परायण मुनीश्वर सब प्रकार के उपसर्ग बाधाए स्वतत्र होकर सहते हैं, वैसे एकेन्द्रिय जीव परकृत व प्रकृति जन्य उपसर्ग बाधाओं को परतन्त्र हुए सह लेते हैं।

द्वीन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय जीव गाय बैल भैंस घोडे हाथी आदि पशुओं के पैर तले दब कर तथा गाड़ी रथ मोटर आदि वाहनो के नीचे कुचले जाकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

पचेन्द्रिय पशु पक्षी भी भूख प्यास शीत उष्ण का असह्य दुःख भोगते हैं। एक प्राणी का दूसरा प्राणी भक्षण कर लेता है। कई अधम मनुष्य प्राणी भी इनका घात करते हैं। इन दीन हीन प्राणियो का सहार कर कई अपने उदर-दानव की बलि चढ़ाते हैं। कई शरीर बल से तथा कई अन्य राज्यादि के ऐश्वर्य में उन्मत्त होकर इन दीन अशरण निहत्थे जीवो के प्राणो से क्रीडा कर प्रसन्न होते हैं, अपने निशाने के लक्ष्य बनाकर आनन्दित होते हैं। इन जीवो पर विपत्ति आने पर इनके माता पिता बान्धव मित्रादि सब दूर भाग जाते हैं। इनके शरीर मे रोग व्याधि आदि उत्पन्न होने पर कोई उनके दुःख का प्रतीकार नहीं करता है। उनको एकाकी असहाय होकर सब क्लेश स्वय भोगना पड़ता है। उनको छेदन भेदन ताडन बन्धन मोचन शीत उष्ण वृष्टि पवनादि जन्य जो २ दुःख सहन करने पड़ते हैं, वे वचनातीत हैं। उनको केवली भगवान के सिवा अन्य जानने मे असमर्थ हैं।

हे क्षपक! ऐसे दु:खों को अनन्त काल तक तूने भोगे हैं। निगोद में तू अनन्त काल तक निवास कर चुका है। निगोद ही तेरा सदा का निवास है। त्रस पर्याय तो प्रवास के समान है। जैसे कोई मनुष्य किसी निमित्त से विदेश मे प्रवास करता है और महीने दो महीने भ्रमण कर अपने घर पर वापिस लौट जाता है, वैसे ही यह अपने निगोद निवास से निकलकर किसी पुण्य कर्म के योग से त्रस पर्याय मे प्रवास करने के लिए आता है और कुछ (पूर्व कोटि पृथक्त्व) अधिक दो हजार सागर तक त्रस पर्याय मे भ्रमण कर पुनः

अपने निगोद रूप घर मे वापिस लौट जाता है। फिर वहां से अनन्त काल तक निकलना नहीं होता है। वहा पर वह एक श्वास मे अठारह बार जन्म मरण करता रहता है। वहा जो दु:ख होता है वह नरक के दु:खों से अनन्त गुणा दु:ख है। उस दु ख को इस जीव ने अनन्त काल पर्यन्त सहा है। हे क्षपक! वहा पर तुम्हारा कोई भी सहायक नहीं था। अब तुम इस अल्प कालीन किंचिन्मात्र दु:ख से इतने अधीर हो रहे हो। हे तत्त्वज्ञ मुने! अब सावधान होकर थोड़ा विचार करो और अपने कल्याण के मार्ग से मत गिरो।

मनुष्य गति में प्राप्त दुःख

दीणत्तरोसचिंतासोगामरिसग्गिपउलिदमणो जं।
पत्तो घोरं दुक्खं माणुसजोणीए संतेण ॥ १५६१ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—मनुष्य पर्याय मे अपने प्राणो से अधिक प्यारे पुत्रादि का, धन वैभव का वियोग जन्य दु.ख भोगा है। जिसका स्मरण मात्र करने से हृदय के टुकडे २ हो जाते हैं ऐसा दुःख अनन्त बार भोगा है। जिनका नाम मात्र सुनने से मस्तक मे शूल के समान वेदना होने लगती है, ऐसे अप्रिय महान् दुष्ट प्राणियों के सयोग से तुझे अनन्त बार घोर दुःख व सन्ताप हुआ है। अभीष्ट (वाछित) पदार्थ की प्राप्ति न हो सकने के कारण मनमें जो सन्ताप होता था उसके दु:ख का सहन भी तुमने किया है। सेवकपने मे पराधीन होकर, स्वाभिमान के नाशक अपमान जनक दुर्वचन सुनकर जो तुमको अन्त.करण मे दु ख हुआ है उसका हे मुने! तुम स्मरण करो। मनुष्य जन्म पाकर कभी तुम दीन हुए तब दीनता व दरिद्रता का मर्मभेदी दु ख तुमने पाया। कभी रोष उत्पन्न हुआ, कभी चिन्ता-ज्वाला मे तुम जलते रहे। कभी शोकाग्नि से झुलसते रहे। कभी असहनशीलता के कारण दुःख दावानल मे दग्ध होते रहे। ऐसे ही अनेक मानसिक वेदना से तुम रात दिन व्याकुल होकर दु.खो को सहन करते रहे हो, उनका चिन्तन करो। अब हे मुने! इस साधारण शारीरिक वेदना से क्या घबरा रहे हो? यह साहस धारण करने का समय है। इसलिए सावधान होकर अपने धर्म व कर्त्तव्य को सम्भालो।

मनुष्य गति मे इस जीव ने चारित्र मोहनीय कर्म से प्रेरित होकर किसी प्रकार का अपराध किया तब राजा ने तथा राजमंत्री ने या राज्याधिकारी कोतवाल आदि ने तीव्र दण्ड दिया। बैंतों से तथा चाबुको से पीटा। इस जीवका मुण्डन कर अपमानित किया। अनेक प्रकार के लाछन लगा कर अपमानित किया। राजा ने सर्वस्व अपहरण किया। चोर डाकुओं ने धन का अपहरण किया। कोई आततायी दुष्ट मनुष्य भार्यादि का अपहरण करते हैं। अग्नि दाह से धनादि का विनाश हो जाता है। कभी प्रकृति के प्रकोप से भूकम्प, जल की अथाह वृष्टि आदि

से गृह धनादि का विध्वस होता है तब जीव को जो मानसिक व्यथा उत्पन्न होती है, उस दु.ख का भी तुमने अनेक बार अनुभव किया है। जिसका श्रवण करने से रोमाच उत्पन्न हो जाते है, उन दुःखो के सामने तुम्हारा यह स्वल्प दु.ख क्या चीज है। हे क्षपक! उनपर विचार तो करो।

मनुष्य गति मे भी विरोधी मनुष्य लाठियों से मार मार कर शरीर का कचूमर निकाल देते हैं। तलवार से सिर काट देते हैं। छुरा भोंक कर आतड़िया निकाल लेते हैं। अग्नि मे जला देते हैं। पानी मे डुबोते हैं। पर्वतादि से पटक कर शरीर के टुकडे २ कर देते हैं। मस्तक पर अग्नि जलाते है। अग्नि से तपे हुए लोहे के लाल सुर्ख गहने पहना कर दग्ध करते हैं। बदूक और तोपो से उड़ा देते हैं। बम गिराकर प्राणो का सहार करते हैं। धन सम्पत्ति गृह द्वारादि सब वस्तुओं का देखते देखते विनाश कर देते है। जहा स्वर्ग तुल्य दिव्य नगर था, उसे श्मशान तुल्य बना देते है। जो पूर्व क्षण मे सुन्दर लहलहाता हुआ हरा भरा पुष्प फलों से परिपूर्ण नन्दन वन सा उपवन था, उसे दूसरे क्षण मे भयानक जगल बना देते हैं। जो राजा था, उसका सर्वस्व नाशकर भिखारी बना देते हैं। असहाय और पुत्रादि से पृथक् कर बन्दीगृह की नरक समान यातना भोगने के लिए विवश करते हैं। वहा पर वह भूख प्यास ताडन बध बन्धनादि के असह्य दुःखो को भोगते भोगते मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। हे मुने! ऐसे दुःख यह सदा भोगता रहा है। उनको ध्यान मे लावो और सावधान होकर आत्मा का चिन्तन करो।

कण्णोट्ठसीसणासाछेदणदंताण भंजणं चेव।
अप्पाडणं च अच्छीण तहा जिब्भायणीहरणं ॥ १५६५ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—हे क्षपक! इस मनुष्य गति मे तुम्हारे कान काट लिये गये थे। होठों का छेदन किया गया था। छुरे से नाक उतारली गई थी। मस्तक तोड दिया गया था। दात तोडे गये थे। आखें निकाल ली गई थीं, फोडदी गई थीं। जीभ खींची गई थी। उनसे जो तुम्हें दुःख उत्पन्न हुआ था, उसके सामने यह दु.ख कितना सा है? हे क्षपक! तुम उनका चिन्तन करो।

हे मुने! तुम अनेक विष के प्रयोग से मरे हो। अग्नि काण्ड से जलकर मरण को प्राप्त हुए हो। अनेक शत्रु के द्वारा हनन किये गये हो। अनेक बार सर्प के द्वारा डसे गये हो। अनन्त बार सिंह व्याघ्र स्याल रीछ आदि दुष्ट हिसक जन्तुओं के द्वारा भक्षण किये गये हो और नाना प्रकार के शस्त्रो के अ घात से तुम मारे गये हो। उन दु खो को तुमने कई बार सहा है। हे क्षपक! अब इस थोडे से दुःख को सहने मे कायरता क्यों दिखा रहे हो? तुम समान शूरवीर आत्मज्ञानी महापुरुषों को ऐसी कायरता दिखाना क्या योग्य है? अब धैर्य और साहस का आश्रय लो और सावधान होकर इस परम उत्कृष्ट समाधिमरण को सुधारो। तुमने पूर्वकाल मे परवश होकर तो पूर्वोक्त भारी २ दुःख सहे हैं। उनस तुम्हें सिवा क्लेश के और नवीन कर्म बन्ध के कुछ हाथ नहीं लगा। इस समय तुम स्वतन्त्रता से इन आगत दु.खों को

शान्ति से सह लोगे तो तुम्हें इस समय भी क्लेश न होगा और पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होगी तथा नवीन कर्मों का संवर होगा। इसके फल स्वरूप तुम्हारा आत्मा सदा के लिए सुखी हो जावेगा। सम्पूर्ण कष्टों का संहार होगा और अनन्त काल तक शान्ति और नित्य आनन्द का अनुभव करोगे।

देवगति के दुःखों का वर्णन

हे क्षपक! देवगति मे तुमने शारीरिक दु:खों की अपेक्षा आत्मा को दु:खाग्नि मे सतत जलाने वाले मानसिक संताप का बार बार अनुभव किया है।

सरीरादो दुक्खादो होइ देवेसु माणस तिव्वं।
दुक्खं दुस्सहमवसस्स परेण अभिजुज्जमाणस्स ॥ १५६८ ॥
देवो माणी संतो पासिय देवे महड्ढिए अण्णे।
जं दुक्खं संपत्तो घोरं भग्गेण माणेण ॥ १५६९ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—जब अल्प पुण्य के धारक आभियोग्य जाति के देव को महर्धिक-अधिक पुण्यशाली-देव वाहन बनाता है—उसे अश्व हस्थी बनाकर जब उसपर सवार होता है तब उस देव को जो मानसिक संताप होता है, वह असह्य होता है। वह दु:ख तथा अन्य मनुष्यगति के दुःखो से—शारीरिक दु:खो से—बहुत अधिक होता है। एक स्वाभिमानी देव के जब दूसरे देव को अधिक ऋद्धिशाली, अनेक सुन्दर २ अप्सराओ के साथ, नाना प्रकार के वैभव के साथ क्रीड़ा करते देखकर जो मानसिक पीड़ा होती है, वह मरण के दुःख से भी अत्यधिक होती है। अणिमा गरिमादि अनेक ऋद्धियों और नाना प्रकार के विभूतिशाली देव के सम्मुख हीनशक्ति के धारक देव का गर्व जब चूर चूर हो जाता है, उस समय उसके अन्तःकरण के भी टुकड़े २ हो जाते हैं। देवगति मे वह दु:ख बड़ा संताप उत्पन्न करने वाला होता है।

देवगति मे जब तुम्हारे गले मे यमराज (मृत्यु) का पाश आ गिरता है तो छह महीने पहले माला मुर्झाने लगती है। स्वर्ग के दिव्य कल्प वृक्षो से प्राप्त सुख सामग्री का, परम सुन्दरी देवांगनाओं के संयोग का जब त्याग करना पड़ा है, उस समय तुमको जो हृदय-विदारक दुःख हुआ है, हे मुने! उसका विचार करो।

उस देवगति मे जब तुम्हारी आयुष्य समाप्त होने वाली थी उस समय वहा से चय कर जब तुम को गर्भ मे जन्म लेने का आभास हुआ था, तब तुमको कितना दुःख हुआ था? उस समय तुमने संताप किया था कि मुझे महा दुर्गन्धमय गर्भ मे निवास करना

पडेगा और गर्भावस्था में अति दुर्गंध युक्त पदार्थ का आहार करना पडेगा। क्षुधा तृषादि की मुझे असह्य पीडा होगी। नवमास पर्यन्त माता के उदर में निरन्तर अग्नि की ज्वाला में पचता रहूगा। माता खारा व चरपरा पदार्थ भक्षण करेगी, वह मेरे कोमल शरीर में भयानक वेदना उत्पन्न करेंगे। हाय! मैं देव पर्याय में अत्यन्त सुखी और पवित्र रहा हूं। अब मुझे अति दु खी और महा अपवित्र विष्टाघर के समान उदर में एक दो दिन नहीं, नव मास पर्यन्त औंधे लटके रहना पडेगा। हाय! अब मैं क्या करू? यह आगामी निकट समय में आने वाली विपत्ति कैसे टल सकती है? ऐसा विचार करते समय जो तुम्हें दु ख प्राप्त हुआ, उसका हे क्षपक! तुम विचार तो करो।

इस प्रकार हे मुने! चतुर्गति के दु.खो को तुमने सहा है, उनका अनन्तवा भाग भी यह दु ख नहीं है। हे आत्म ज्ञानिन्! इस समय तुम विवेक ज्ञान को जागृत करो। उसका उपयोग करो। यह दु ख उन दु खो के सामने कुछ नहीं सा है। इससे घबराकर अपने कल्याणकारी मार्ग से च्युत होना तुम सरीखे समझदार महात्माओ को योग्य नहीं है। विपरीत समय आने पर अपने आत्मा को सन्मार्ग पर स्थित रखने वाला ही महापुरुष होता है। इस समय के लिए ही व्रतों का धारण, समिति का पालन और गुप्ति का साधन और अनेक तपश्चरण का आचरण किया जाता है। यदि इस समय तुम सावधान न रहे तो तुम्हारे व्रत नियम तपश्चरणादि उत्तम कृत्य निष्फल हो जावेंगे। इसलिए हे महात्मन्! अब सचेत हो जाओ और अपनी गति को सुधारो। तुम वीरात्मा हो, परम धैर्य के धारक हो, इस थोडे से कष्ट से क्या घबरा गये हो?

हे मुने! जब सख्यात काल तथा असंख्यात काल पर्यन्त लगातार अति घोर दु ख नरकादि गतियो मे परतन्त्रता से तुमने सह लिये है। तो अब स्वाधीनता से यह अत्यल्प कष्ट थोड़े समय के लिए भी तुम से सहन नहीं होते हैं क्या? उन दु खों का तो निराकरण करने के लिए तुम्हारे पास कोई साधन नहीं था। इस समय तो दु ख घटाने का असली साधन तुमको प्राप्त है। उस साधन का उपयोग कर शान्ति का अनुभव करो।

प्रश्न—वह साधन कौनसा है। जिससे क्षुधा तृषादि की वेदना भी शान्त हो जावे?

क्षुधादि वेदनाओं को शान्त करने के साधन

सुइपाणएण अणुसट्ठिभोयणेण य सदोवगहिएणु।
उज्झाणोसहेण तिव्वा वि वेदणा तीरदे सहिदुं ॥ १६०८ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—सवेग निर्वेद उत्पन्न करने वाली, आत्म अनात्म पदार्थ का भेद विज्ञान कराने वाली धर्मकथा-श्रुतज्ञान रूप अमृत-का पान करने से तथा निर्यापकाचार्य की शिक्षा-उपदेश रूप भोजन का भक्षण करने से हे क्षपक! तुम्हारे आत्मा मे बल का सचार होगा। शुभ

ध्यान रूप औषधि का सेवन करने से तुमपर इस वेदना का कुछ भी असर न होगा। और तुम उसका नाश करने में समर्थ हो सकोगे।

हे श्रमणोत्तम। जब वेदनीय कर्म का तीव्र उदय होता है, उस समय उसका प्रतीकार करने में देवादि कोई भी समर्थ नहीं होते हैं। उस समय जो वेदना होती है उसका प्रतीकार साहस और धैर्य है। साहसी और धैर्यवान् आत्मा ज्ञान रूपी शीतल जल से उस दुःख को शान्त करता है।

हे महात्मन्। जब वेदनीय कर्म का तीव्र उदय होता है उस समय किसी का बल काम नहीं देता है। राजा महाराजाओं के पास सेवा शुश्रूषा करने वाले तथा विद्वान् अनुभवी बड़े २ वैद्य डाक्टरों के रहते हुए, असंयम का आचरण करने पर भी वे दुःख से मुक्त नहीं हुए। तीव्र वेदनीय कर्म का उदय आने पर सब जीव दुःख दूर करने मे असमर्थ होते हैं। इसलिए ऐसे समय श्रुतज्ञानामृत का पान करने से ही दुःख की निवृत्ति होती है। अतएव हे क्षपक। तुमको उसीका पान करने मे सावधान होना चाहिए।

मोक्खाभिलासिणो संजदस्स णिधणगमणं पि होदि वरं।
ण य वेदणाणिमित्तं अप्पासुगसेवणं कादुं ॥ १६१३ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—हे मुने। मोक्ष के अभिलाषी सयमी जनों का मरण को प्राप्त होना तो श्रेष्ठ है, किन्तु वेदना का उपशम करने के लिए अप्रासुक द्रव्यो का सेवन करना सर्वथा अयोग्य है। सयम धन के रक्षक साधुओं को प्रासुक औषधादि मिल सके तो वे उनका सेवन करते हैं, अन्यथा प्राण जाने पर भी सयम का त्याग नहीं करते। क्योंकि अप्रासुक औषधि का सेवन करने से संयम का नाश होता है। संयम का रक्षण भव भव मे सुख का अकुर उत्पन्न करता है। मृत्यु केवल उसी भव का घात करती है। और असयम का आचरण अनेक भवों मे सैंकडो व हजारो पर्यायो मे दुःख के अकुरों का उत्पादक होता है।

इस प्रकार परम दयालु निर्यापकाचार्य के शिक्षोपदेश को पाकर क्षपक अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर साहस व धैर्य का अवलम्बन लेकर अपने आत्मा के कल्याण के निमित्त शीघ्र सचेत होता है और पूर्ण शान्ति की पताका को फहराने लगता है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य इन चार भावनाओ के चिन्तन मे तत्पर होता है। जब क्षपक का शरीर अत्यन्त क्षीण हो जाता है तब वह संस्तर का भी त्याग कर देता है। किसी से वैयावृत्त्य नहीं करवाता है। अपने शरीर का भी त्याग कर देता है और आत्म-भावना मे तल्लीन रहता है।

एवं सुभाविदप्पाज्झाणोवगओ पसत्थलेस्साओ।
आराधणापडाय हरइ अविग्घेण सो खवओ ॥ १६२४ ॥ (भग आ.)

अर्थ—उक्त प्रकार जिसने आत्मा को शुभ ध्यान मे लीन किया है जो शुक्ल ध्यान और शुक्ल लेश्या को प्राप्त हुआ है, वह क्षपक निर्विघ्न पूर्वक आराधना पताका को हस्त मे ग्रहण करता है। अर्थात् वह चारों आराधनाओ के फल को प्राप्त करता है।

अह सावसेसकम्मा मलियकसाया पणट्ठमिच्छत्ता।
हासरइअरइभयसोगदुगुंछावेयत्तियम्महणा ॥ १६३० ॥
पचसमिदा तिगुत्ता सुसंवुडा सव्वसंगउम्मुक्का।
धीरा अदीणमणसा समसुहदुक्खा असमूढा ॥ १६३१ ॥
सव्वसमाधाणेण य चरित्तजोगे अधिट्ठिदा सम्म।
धम्मे वा उवजुत्ता ज्झाणे तह पढमसुक्के वा ॥ १६३२ ॥
इय मज्झिममाराधणमणुपालित्ता सरीरयं हिच्चा।
हुंति अणुत्तरवासी देवा सुविसुद्धलेस्सा य ॥ १६३३ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—हे क्षपक ! जिनके कर्म बाकी रह गये है, जिन्होने अनन्तानुबन्धी आदि कषायों का मथन कर दिया है, तथा मिथ्यात्व का सहार किया है और हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा पुरुषवेद, स्त्रीवेद एव नपुसकवेद का उच्छेद किया है, जिन्होने पांच समिति का पालन और तीन गुप्ति का धारण किया है, आगामी कर्मों का निराधकर सवर किया है अर्थात् सवर का कारण जो तपश्चरण और ध्यान है उसका सेवन किया है, जो मिथ्यात्व कषायादि चौदह प्रकार के अन्तरङ्ग परिग्रह और क्षेत्रादि दश प्रकार के बाह्य परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर भावनिर्ग्रन्थावस्था को प्राप्त हुए हैं, जो अनेक कष्टो के आने पर धीरज धारण करते हैं, जिनके मन मे दीनता का भाव लेशमात्र भी नहीं है, जो सुख और दुःख मे समबुद्धि रखते हैं, जो शरीर मे भी मोह नहीं रखते हैं, जो मनोयोग, वचन योग और काययोग से आत्म स्वरूप मे स्थिर रहते हैं, अर्थात जो निरन्तर चारित्राचरण मे तत्पर रहते हैं, तथा जो धर्म्यध्यान मे तथा प्रथम शुक्ल ध्यान मे और द्वितीय शुक्ल ध्यान मे रत रहते हैं, इस प्रकार मध्यम आराधना का पालन करते हुए शरीर का त्याग करने वाले मुनिराज विशुद्ध लेश्या के स्वामी बनकर अनुत्तर विमान वासी देवों में उत्पन्न होते हैं।

हे क्षपक ! कल्पवासी देवों मे जन्म देनेवाले रत्नत्रय से उत्कृष्ट—रत्नत्रय का पालन करने में जो समर्थ होते हैं अर्थात् उत्तम

ध्यान और उत्कृष्ट तप का आचरण करने में जो संयमी सदा तत्पर रहते हैं, जिनके भावों में विशेष निर्मलता रहती है, कल्पातीत देवों में जन्म देने वाले विशेष पुण्यास्रव की प्राप्ति जिन्होंने की है वे नवग्रैवेयक और नव अनुदिश विमानों में अहमिन्द्र होते हैं। जिस सुख का अनुभव सौधर्मादि कल्पवासी देव दिव्य देवांगनाओं के साथ भोग भोगकर नित्य नन्दन वनादि के सुन्दर ललित कुंजों में विहार व क्रीड़ा करके प्राप्त करते हैं उससे भी अनन्त गुणा सुख अहमिन्द्र देवों को प्रतिसमय निरन्तर प्राप्त होता है।

हे मुनिश्रेष्ठ ! जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और यथाख्यात चारित्र में सदा तत्पर रहते हैं तथा तपश्चरण में उत्तरोत्तर जिनके परिणाम वृद्धिंगत होते रहते हैं तथा जिन की लेश्या सतत विशुद्धता धारण करती है ऐसे क्षपक इस औदारिक शरीर का त्याग कर अणिमादि गुणों से सब से बढे चढे देवेन्द्र के अन्तिम पद को पाते हैं।

हे श्रमणोत्तम ! जिनका अन्तःकरण श्रुत की आराधना से अति निर्मल हुआ है जिन्होंने उग्रोग्रतप और उत्तमोत्तम नियम आतपनादियोग और ध्यान से अपनी आत्मा को विशेष निर्मल बनाया व वे धैर्यगुण के धारक आराधक लौकान्तिक देव होते हैं।

तात्पर्य यह है कि इस जगत् में जितनी ऋद्धियाँ और इन्द्रियजन्य सुख और ऐश्वर्य सम्पदाएँ हैं वे सब निर्मल भाव के धारक क्षपक को स्वतः आकर प्राप्त होती हैं।

तेजोलेश्या के धारक क्षपक की आराधना को जघन्य आराधना कहते हैं। इस आराधना का सेवन करने वाले क्षपक सौधर्मादि स्वर्गों में जन्म लेते हैं। सौधर्मादि स्वर्गों के देवों से हीन देवों में वे कभी जन्म नहीं लेते हैं।

किं जंपिएण बहुणा जो सारो केवलस्स लोगस्स।
तं अचिरेण लहंते फासित्ता आराहणं णिखिलं ॥ १६४१ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—अधिक कहा तक कहा जावे। तीनों आराधनाओं में से किसी भी आराधना का सेवन करने वाला महात्मा सम्पूर्ण लोक के सार भूत पदार्थों को शीघ्र प्राप्त करता है।

तात्पर्य यह है कि उत्कृष्ट आराधना का आराधक तो उसी भव में मोक्ष के दिव्य सुख का सदा के लिए भोग करता है। मध्यम आराधना का आराधक अहमिंद्रादि महर्द्धिक देव होकर स्वर्ग के दिव्य इन्द्रिय जन्य सुखों का अनुभव कर दूसरे या तीसरे आदि भव में मुक्ति अगना का पति होता है। जघन्य आराधना का आराधक भी कम से कम सौधर्मादि स्वर्गों में उत्तम देव होता है और वहा पर दिव्य

देवागनाओं के साथ अनेक प्रकार ऐन्द्रियक (इद्रियजन्य) सुख भोगकर अधिक से अधिक सात आठ भवों के अनन्तर अवश्य मुक्ति को प्राप्त होता है।

हे क्षपक! जघन्य आराधना का सेवन करने वाले भी महा पुण्यशाली होते हैं। वे सौधर्मादि स्वर्गों में उत्तम देवो में जन्म लेते हैं। वहा से शुभध्यान पूर्वक चयकर मनुष्य जन्म धारण करते हैं। मनुष्य भव में भी उन्हें सम्पूर्ण विभूतियाँ व ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं। विश्व की सुख सामग्री सदा उनके चरणों मे पडी रहती है। उस विश्व-विभूति का भी त्याग कर मुनि धर्म का आचरण करते हैं और तपस्वाध्याय में मग्न रहते हैं। परिग्रह और उपसर्ग आने पर उनसे विचलित नहीं होते, किन्तु उनका धैर्य के साथ हृदय से स्वागत करते हैं। वे कभी श्रद्धा, सवेग और वैराग्य से नहीं डिगते हैं।

उनमें से कई क्षपक तो उसी मनुष्य भव मे यथाख्यात चारित्र और शुक्लध्यान से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर चतुर्गति के भ्रमण जाल से निकलकर मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

कई क्षपक मनुष्य भव मे अनेक दुर्धर तपश्चरण का आराधन कर स्वर्गलोक में महर्द्धिक देव होते हैं और वहा पर चित्त रंजन करने वाले दिव्य भोगो को भोगते हैं। मनोविनोद की अपूर्व सामग्री के अनुभव करने मे तल्लीन रहते हैं। वहा से आयुष्य को सुख पूर्वक बिताकर शान्ति से देव पर्याय छोड़कर पुनः मनुष्य जन्म पाते हैं। वहा पर चक्रवर्ती उत्तम विभूति के धारक होते हैं। अनेक मनोवांछित सुखों का अनुभव कर उसको नि.सार समझ मुनिदीक्षा ग्रहण करते है। तथा अनेक दुष्कर तप का आचरण कर शुक्ल ध्यानाग्नि से घाति व अघाति कर्मों को दग्ध कर शिवरमणी के रसिक होते हैं।

एवं संथारगदो विसोधइत्ता वि दंसणचरित्तं।
परिवडदि पुणो कोई झायंतो अट्टरुद्दाणि ॥ १६४६ ॥
ज्झायंतो अणगारो अट्टं रुद्दं चरिमकालम्मि।
जो जहइ सयं देहं सो ण लहइ सुग्गदिं खवओ ॥ १६४७ ॥ (भग. आ)

अर्थ—कई साधु संसार के सब विषयभोग का परित्याग कर निर्ग्रन्थावस्था धारण कर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का निर्विघ्न आराधन करने के लिए सस्तार का आश्रय लेते हैं और सम्यग्दर्शन व चारित्र की विशुद्धि करने पर भी पूर्व कर्म के भार से अन्त समय आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान में प्रवृत्त होकर अपने शुद्ध स्वरूप से भ्रष्ट होते हैं।

ध्यान और उत्कृष्ट तप का आचरण करने मे जो संयमी सदा तत्पर रहते हैं, जिनके भावो मे विशेष निर्मलता रहती है, कल्पातीत देवो मे जन्म देने वाले विशेष पुण्यास्रव की प्राप्ति जिन्होने की है वे नवग्रैवेयक और नव अनुदिश विमानों मे अहमिन्द्र होते हैं। जिस सुख का अनुभव सौधर्मादि कल्पवासी देव दिव्य देवागनाओ के साथ भोग भोगकर नित्य नन्दन वनादि के सुन्दर ललित कुजो मे विहार व क्रीडा करके प्राप्त करते हैं उससे भी अनन्त गुणा सुख अहमिन्द्र देवो को प्रतिसमय निरन्तर प्राप्त होता है।

हे मुनिश्रेष्ठ ! जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और यथाख्यात चारित्र मे सदा तत्पर रहते हैं तथा तपश्चरण मे उत्तरोत्तर जिनके परिणाम वृद्धिगत होते रहते हैं तथा जिन की लेश्या सतत विशुद्धता धारण करती है ऐसे क्षपक इस औदारिक शरीर का त्याग कर अणिमादि गुणों से सब से बढे चढे देवेन्द्र के अन्तिम पद को पाते हैं।

हे श्रमणोत्तम ! जिनका अन्तःकरण श्रुत की आराधना से अति निर्मल हुआ है जिन्होंने उग्रोग्रतप और उत्तमोत्तम नियम आतपनादियोग और ध्यान से अपनी आत्मा को विशेष निमल बनाया है वे धैर्यगुण के धारक आराधक लौकान्तिक देव होते हैं।

तात्पर्य यह है कि इस जगत् मे जितनी ऋद्धियाँ और इन्द्रियजन्य सुख और ऐश्वर्य सम्पदाएँ हैं वे सब निर्मल भाव के धारक क्षपक को स्वतः आकर प्राप्त होती हैं।

तेजोलेश्या के धारक क्षपक की आराधना को जघन्य आराधना कहते हैं। इस आराधना का सेवन करने वाले क्षपक सौधर्मादि स्वर्गों मे जन्म लेते हैं। सौधर्मादि स्वर्गों के देवों से हीन देवों मे वे कभी जन्म नहीं लेते हैं।

किं जंपिएण बहुणा जो सारो केवलस्स लोगस्स।
तं अचिरेण लहंते फासित्ता आराहणं णिखिलं ॥ १६४१ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—अधिक कहा तक कहा जावे। तीनों आराधनाओ मे से किसी भी आराधना का सेवन करने वाला महात्मा सम्पूर्ण लोक के सार भूत पदार्थों को शीघ्र प्राप्त करता है।

तात्पर्य यह है कि उत्कृष्ट आराधना का आराधक तो उसी भव मे मोक्ष के दिव्य सुख का सदा के लिए भोग करता है। मध्यम आराधना का आराधक अहमिंद्रादि महर्द्धिक देव होकर स्वर्ग के दिव्य इन्द्रिय जन्य सुखों का अनुभव कर दूसरे या तीसरे आदि भव मे मुक्ति अगना का पति होता है। जघन्य आराधना का आराधक भी कम से कम सौधर्मादि स्वर्गों मे उत्तम देव होता है और वहा पर दिव्य

देवागनाओ के साथ अनेक प्रकार ऐन्द्रियक (इद्रियजन्य) सुख भोगकर अधिक से अधिक सात आठ भवों के अनन्तर अवश्य मुक्ति को प्राप्त होता है।

हे क्षपक! जघन्य आराधना का सेवन करने वाले भी महा पुण्यशाली होते हैं। वे सौधर्मादि स्वर्गों में उत्तम देवो मे जन्म लेते हैं। वहा से शुभध्यान पूर्वक चयकर मनुष्य जन्म धारण करते हैं। मनुष्य भव में भी उन्हें सम्पूर्ण विभूतियाँ व ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं। विश्व की सुख सामग्री सदा उनके चरणों में पडी रहती है। उस विश्व-विभूति का भी त्याग कर मुनि धर्म का आचारण करते हैं और तपस्वाध्याय मे मग्न रहते हैं। परिषह और उपसर्ग आने पर उनसे विचलित नहीं होते, किन्तु उनका धैर्य के साथ हृदय से स्वागत करते हैं। वे कभी श्रद्धा, सवेग और वैराग्य से नहीं डिगते हैं।

उनमें से कई क्षपक तो उसी मनुष्य भव में यथाख्यात चारित्र और शुक्लध्यान से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर चतुर्गति के भ्रमण जाल से निकलकर मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

कई क्षपक मनुष्य भव मे अनेक दुर्धर तपश्चरण का आराधन कर स्वर्गलोक में महर्द्धिक देव होते हैं और वहा पर चित्त रंजन करने वाले दिव्य भोगो को भोगते हैं। मनोविनोद की अपूर्व सामग्री के अनुभव करने मे तल्लीन रहते हैं। वहा से आयुष्य को सुख पूर्वक विताकर शान्ति से देव पर्याय छोडकर पुनः मनुष्य जन्म पाते हैं। वहां पर चक्रवर्ती उत्तम विभूति के धारक होते हैं। अनेक मनोवांछित सुखों का अनुभव कर उसको नि सार समझ मुनिदीक्षा ग्रहण करते है। तथा अनेक दुष्कर तप का आचरण कर शुक्ल ध्यानाग्नि से घाति व अघाति कर्मों को दग्ध कर शिवरमणी के रसिक होते हैं।

एवं संथारगदो विसोधइत्ता वि दंसणचरित्तं।
परिवडदि पुणो कोई झायंतो अट्टरुद्दाणि ॥ १६४६ ॥
ज्झायंतो अणगारो अट्टंरुद्दं चरिमकालम्मि।
जो जहइ सयं देहं सो ण लहइ सुग्गदिं खवओ ॥ १६४७ ॥ (भग. आ)

अर्थ—कई साधु ससार के सब विपयभोग का परित्याग कर निर्ग्रन्थावस्था धारण कर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का निर्विघ्न आराधन करने के लिए सस्तार का आश्रय लेते हैं और सम्यग्दर्शन व चारित्र की विशुद्धि करने पर भी पूर्व कर्म के भार से अन्त समय आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान मे प्रवृत्त होकर अपने शुद्ध स्वरूप से भ्रष्ट होते हैं।

हे क्षपक ! जो मरण काल मे आर्त रौद्रध्यान मे प्रवृत्ति करते हैं वे क्षपक आयुष्य के पूर्ण होने पर उत्तम गति नहीं पाते हैं।

हे मुने ! जिस साधु ने पहले अपने आत्मा को आराधना से सुसंस्कृत किया था, वह भी संस्तर पर आरूढ होकर मरण समय मे सक्लेश परिणामो के उत्पन्न होने से उत्तम मार्ग से गिर जाता है तो क्या जो पार्श्वस्थ, कुशील, ससक्त, अवसन्न और स्वच्छ हैं वे पतित साधु सन्मार्ग से भ्रष्ट नहीं होते हैं ? अवश्य होते हैं।

जो मूढबुद्धि पूर्वोक्त दोषों का वमन नहीं करते हैं, दोषो को धारण किये हुए मृत्यु को प्राप्त हुए हैं वे मायाचार तथा असत्य वचन के कारण देव दुर्भगता को अर्थात् नीच देव पने को प्राप्त होते हैं।

प्रश्न—जो मुनि सघ सेवा नहीं करते हैं समय आने पर दूसरे मुनीश्वरों की वैयावृत्त्य नहीं करते हैं वे किस गति मे जाते हैं ?

किं मज्झ णिरुच्छाहा हवंति जे सव्वसंघकज्जेसु।
ते देवसमिदिवज्झा कप्पंति हुंति सुरमेच्छा ॥ १९५८ ॥ [भग. आ]

अर्थ—मेरा इसमें क्या प्रयोजन है ? क्या मैं ही हूं ? मुझसे तो अपना भी कार्य नहीं होता है ? मैं किस किस का काम करूं ? इस प्रकार विचार कर जो साधु सम्पूर्ण संघ का कार्य करने मे उत्साह रहित होता है, किसी रोगी वृद्ध तथा अशक्त मुनि की वैयावृत्त्य करने मे उदासीनता दिखाता है वह स्वार्थी साधु देवसभा से बहिष्कृत होता है अर्थात् वह सभा के मध्य बैठने का अधिकारी नहीं होता है। सौधर्मादि स्वर्गों के अन्त भाग मे चाण्डालादि जाति का म्लेच्छ देव होता है।

हे मुने ! जो कन्दर्प भावना के वश होकर मरण करते हैं, वे कन्दर्प जाति के नीच देव होते हैं। असत्य निन्द्य बोलने बुलवाने मे तथा काम रति मे लीन रहने को कन्दर्प भावना कहते हैं। जो तीर्थंकरो की आज्ञा से प्रतिकूल होकर संघ का चैत्य (प्रतिमा) का और जिनागम का अविनय अनादर करते हैं मायाचार करते हैं, उनके किल्विप भावना होती है, उस भावना में जो मरण करते हैं, वे किल्विप जाति के देव होते हैं।

हे साधो ! जो मुनि तत्र मत्रादि तथा हसी मजाक तथा व्यर्थ वकवाद एव वाग्जालादि का उपयोग करते हैं उनके आभियोग्य भावना होती है। इस भावना से जो प्राण त्याग करते हैं वे आभियोग्य जाति के वाहन बनने वाले देव होते हैं।

हे क्षपक ! जो क्रोधी, मानी और मायावी होते हैं, तथा तपश्चरण मे और चारित्राचरण मे संक्लेश परिणाम रखते हैं, एवं दृढ़ वैर मे जिनकी रुचि होती है उनके आसुरी भावना होती है। उस भावना से युक्त होकर जो मरण करते हैं, वे असुर जाति के देवो में जन्म ग्रहण करते हैं।

हे मुने ! जो उन्माग का उपदेश देकर सन्मार्ग का उच्छेद करते हैं, तथा सच्चे वीतराग मार्ग को बिगाड़ कर राग वर्द्धक मार्ग की तथा नवीन माग की स्थापना करते हैं, मिथ्यात्व का उपदेश देकर संसार के जीवों को मोह उत्पन्न कर विपरीत मार्ग मे प्रेरित करते हैं, उनके सम्मोह भावना होती है। उस भावना से युक्त होकर जो मरण करते हैं वे सम्मोह जाति के देवो मे जन्म धारण करते हैं।

जे सम्मत्तं खवया विराधयित्ता पुणो मरेज्जएह ।
ते भवणवासिजोदिसभोमेज्जा वा सुरा होंति ॥ १९६३ ॥ भग. आ.

अर्थ—हे मुने ! जो क्षपक सम्यक्त्व की विराधना करके मरण करते हैं वे भवनवासी व्यन्तर अथवा ज्योतिष देव होते हैं। वे इन भवनत्रिक देवो मे ही जन्म लेते हैं और वहा से आयुष्य पूर्ण कर वहा से चयकर सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान से हीन हुए दुःख वेदना की लहरें जिसमें सतत उठा करती है ऐसे ससार सागर मे भ्रमण करते हैं।

हे क्षपक ! जो साधु मिथ्यात्व को प्राप्त होकर जिस लेश्या मे मरण करते हैं परभव मे उसी लेश्या के धारक होते हैं।

प्रश्न—जो साधु समाधिमरण से प्राण छोडता है उसके शरीर की क्या व्यवस्था होती है।

एव कालगदस्स दु सरीर मंतोवहिज्ज वाहिं वा ।
विज्जावच्चकरा तं सयं विकिंचति जदणाए ॥ १९६६ ॥ भग आ

अर्थ—जब क्षपक पूर्वोक्त सन्यास विधि से मरण करता है तब वैयावृत्त्य करने वाले साधु उसके शरीर को जो गाव मे अथवा बाहर की वसतिका मे पड़ा रहता है, यत्न पूर्वक ले जाते हैं।

भावार्थ—जो क्षपक गुरु के निकट आलोचना से लेकर निस्तरण पर्यन्त सम्यक् प्रकार सम्यक्त्वादि चार आराधनाओं का सेवन कर पवित्र हुआ है उसका शरीर नगर के भीतर किसी वसतिका मे हो अथवा बाहर किसी जगह वसतिका मे पडा हो उसे वैयावृत्त्य करने

वाले मुनीश्वर आगे कही जाने वाली विधि से यत्न पूर्वक ले जाते हैं।

क्षपक की निषीधिका

जहा क्षपक का मृत शरीर स्थापना करते हैं उसको निषीधिका (निषद्या) कहते हैं।

प्रश्न—साधु की निषीधिका कैसी होती है? उसके लिए जिन २ बातों पर अवश्य ध्यान रखा जाना चाहिए उन सबको संक्षेप से समझाने का अनुग्रह कीजिए।

उत्तर—जहा पर साधु के मृत शरीर को रखते हैं, वह (निषीधिका) स्थान उद्दे ही (चींटी आदि) से रहित निश्छिद्रतादि गुणो सहित होना चाहिए। उसके लिए कहा है—

अभिसुआ असुसिरा अघसा उज्जोवा बहुसमा य असिणिद्धा।
णिज्जंतुगा अहरिदा अविला य तहा अणाबाधा ॥ १९६९ ॥
जा अवर दक्खिणाए व दक्खिणाए व अथ व अवराए।
वसधीदो वणिज्जदि णिसीधिया सा पसत्थत्ति ॥ १९७० ॥ भग आ.

अर्थ—क्षपक की निषीधिका उद्देहियो से रहित होनी चाहिए। प्रकाश सहित तथा समतल धरा पर होनी चाहिए। भीगी तथा जन्तु सहित न होनी चाहिए। भूमि में नीचे छेद या बिल न होने चाहिए। धसी हुई न होनी चाहिए। हरताकुर रहित, तिरछे बिल रहित और बाधा रहित होनी चाहिए।

निषीधिका किस दिशा में होनी चाहिए

वह नैऋत्य दिशा मे, दक्षिण दिशा मे या पश्चिम दिशा मे प्रशस्त मानी गई है। पूर्वाचार्यों ने उक्त दिशाओ में ही क्षपक को निषीधिका योग्य बताई है।

प्रश्न—नैऋत्यादि दिशा मे ही क्षपक की निषीधिका प्रशस्त और पूर्वादि दिशाओ मे क्यों अपशस्त मानी गई है। उनका (प्रत्येक दिशा सम्बन्धी निषीधिका का) शुभाशुभ फल क्या है?

सव्वसमाधी पढमाए दक्खिणाए दु भत्तगं सुलभं ।
अवराए सुहविहारो होदि य उवधिम्स लाभो य ॥ १९७१ ॥
जदि तेसिं वाधादो दठव्वा पुव्वदक्खिणा होइ ।
अवरुत्तरा य पुव्वा उदीचि पुव्वुत्तरा कमसो ॥ १९७२ ॥
एदासु फलं कमसो जाणोज्ज तुमंतुमा य कलहो य ।
भेदो य गिलाणं पि य चरिमा पुण कड्ढदे अण्णं ॥ १९७३ ॥ भग. आ.

अर्थ—नैऋत्य दिशा की निपीधिका सम्पूर्ण संघ की समाधि (शान्ति) की सूचक होती है। दक्षिण दिशा की निपीधिका से सर्व सघ के लिए आहार की सुलभता का सूचन होता है। पश्चिम दिशा सम्बन्धी निपीधिका संघ का सुख पूर्वक विहार और पुस्तकादि उपकरणों की प्राप्ति को प्रकट करती है।

इन दिशाओ मे निषद्या बनवाने मे यदि कोई बाधा उपस्थित होती हो तो आग्नेय, वायव्य, ऐशान पूर्व व उत्तर इन पाच दिशाओं मे से जिसमे भी सुविधा हो उसमे बनाना चाहिए।

परन्तु इन आग्नेयादि पाच दिशाओं मे निषद्या करने का फल अच्छा नहीं है। आग्नेयदिशा की निषद्या से सघ मे तू तू, मैं मैं होती है। अर्थात् तू ऐसा है, मैं ऐसा हूं, ऐसी स्पर्द्धा होती है। वायव्य दिशा की निषद्या से सघ में कलह उत्पन्न होता है। पूर्व दिशा की निषद्या से सघ मे फूट पड़ती है। उत्तर दिशा की निपीधिका से व्याधि उत्पन्न होती है। और ऐशान दिशा की निषद्या से सघ में खेंचातानी होती है या किसी मुनि का मरण होता है। अर्थात् आग्नेयादि पाच दिशाओं का फल उत्तरोत्तर अधिक २ अशुभ है। इसलिए इन दिशाओ मे जहा तक बन सके क्षपक की निपीधिका न करनी चाहिए। पूर्वोक्त नैऋत्य, दक्षिण या पश्चिम इन दिशाओं मे ही करनी चाहिए।

क्षपक के मृत्यु समय की क्रियाएँ

प्रश्न—क्षपक के मरण समय मे कोई विशेष कर्त्तव्य होता है क्या ?

उत्तर—हा, क्षपक का मरण होने पर निम्नप्रकार क्रिया की जाती है।

जं वेलं कालगदो भिक्खू तं वेलमेव णीहरणं ।
जग्गणबंधणछेदणविधी अवेलाए कादव्वा ॥ १९७४ ॥ भग आ.

जिस समय क्षपक का मरण हुआ हो, उसी समय उसका शव लेजाना उचित है। यदि साधु का मरण रात्रि आदि अवेला (असमय) मे हुआ तो उस समय जागरण बन्धन और छेदन ये तीन विधि करना चाहिए।

प्रश्न—इन तीन विधियों को कौन करते हैं?

उत्तर—जो धीर वीर मुनि सघ मे होते हैं, वे ही इन विधियो को करते हैं। कहा है—

बाले वुड्ढे सीसे तवस्सिभीरुगिलाणय दुहिदे । भग. आ
आयरिए य विकिंचिय धीरा जग्गंति जिदणिद्दा ॥ १९७५ ॥

अर्थ—सघ मे जो बालक मुनि, वृद्ध मुनि, शिष्य मुनि (शैक्ष) तपस्वी, भीरु (भय युक्त) रोगी, दुःख पीडित और आचार्य इनको छोड कर जो धैर्य धारक मुनि होते हैं और जिन्होने निद्रा पर विजय पाया है वे मुनि ही जागरण करते हैं। अर्थात् रात्रि आदि असमय मे क्षपक का मरण हो जावे तब धीरता के धारक तथा निद्रा को जीतने वाले आत्मबली मुनि ही शव के समीप रहकर जागरण करते हैं।

प्रश्न—कौन मुनि किस अवयव का बन्धन व छेदन करते हैं।

उत्तर—जिन मुनियों ने आगम के रहस्य को भलीभाति जान लिया है तथा अनेक बार क्षपक के कृत्यों (वैयावृत्य सम्बन्धी कार्यों) का निर्वाह किया है और जो शारीरिक बल, आत्म बल एव धैर्य के धारक हैं ऐसे साधु श्रेष्ठ क्षपक के हाथ तथा पाव और अगूठे के कुछ भाग को बाधते हैं अथवा छेदन करते हैं।

प्रश्न—यदि क्षपक के शव की उक्त बन्धनादि क्रिया नहीं की जावे तो क्या हानि होती है?

जदि वा एस न कीरेज्ज विधी तो तत्थ देवदा कोई ।
आदाय तं कलेवरमुट्ठिज्ज रमिज्ज बाधेज्ज ॥ १९७७ ॥ भग आ.

अर्थ—यदि क्षपक के शरीर की बन्धनादि क्रिया न की जावे तो उस स्थान का तथा आसपास मे निवास करने वाला कोई क्रीड़ाप्रिय भूत या पिशाच (व्यन्तर देव) उस शरीर मे प्रवेश कर जावे तथा उसको लेकर वह उठ खड़ा हो जावे, इधर उधर दौड़ धूप करने लगे, एवं अनेक प्रकार की ऐसी ही क्रीड़ा करने लगे तो इसको देखकर बाल मुनि अथवा भय प्रकृति वाले अन्य मुनि भयभीत होजावेंगे या अति भयातुर होकर मृत्यु को भी प्राप्त होजावें। कई अधीर मुनियो के श्रद्धान व चारित्र में शिथिलता आजावे अनेक उपद्रव उत्पन्न होजावे। अतः उक्त क्रिया करना अत्यन्त आवश्यक बताया गया है। हाथ पांव आदि छेदन या बन्धन कर देने पर उक्त दोष निवृत्त हो जाता है।

प्रश्न—मुनियों के पास चाकू आदि शस्त्र तो रहता नहीं और वस्त्र भी नहीं रहता है वे क्षपक के हस्त पाद या अगूठे के किसी भाग का किससे छेदन या बन्धन करेंगे ?

उत्तर—मुनि लोग सघ मे रहते हैं तब उनको चाहिए कि वे अपने दश अगुलियों के नखो मे से एक अगुलि के नख को सदा बढा हुआ रखे। काम पडने पर वे उससे अगुलि का चमडा विदारण कर सकें। तथा तृण का जो सस्तर (सथारा) होता है, उसमे से तृण लेकर उससे अगूठे आदि के भाग को बाध सकते हैं। इस उक्त कार्य के लिए एक नख रखने की सिद्धान्त मे आज्ञा है।

प्रश्न—जिन व्यन्तरदेवकृत उपद्रव का निवारण करने के लिए साधुओं को भी क्षपक के मृतक शरीर के निमित्त जागरण तथा बन्धन छेदन करना पड़ता है उन क्रीड़ाप्रिय व्यन्तर देवों का विशेष स्वरूप और उनके भेदों का भी विवेचन कीजिए।

व्यन्तर देवों का वर्णन

उत्तर—व्यन्तर जाति के देव कौतुक प्रिय होते हैं। वे केवल क्रीड़ा के लिऐ सब कौतुक करते हैं। अन्य मत वाले भूत पिशाचादि देवों को मासभक्षी रुधिर पान करने वाले कहते हैं। वह सर्वथा मिथ्या है। सब देव मात्र अमृत भोजी होते हैं। उनके आहार की इच्छा होते ही कण्ठ मे अमृत झरता है। उससे उनको तृप्ति होती है। मास भक्षण और रुधिर पान तो उत्तम जाति व कुल के मनुष्य भी नहीं करते हैं। तथा कई धर्म के ज्ञाता नीच जाति व कुल के लोग भी उन से दूर रहते हैं तो जिनके वैक्रियिक शरीर है जिस मे रुधिर मासादि कोई भी धातु नहीं है ऐसे उत्तम शरीर के धारक देव इस घृणित दुर्गन्धमय मॉस रुधिर का सेवन कैसे कर सकते हैं।

हॉ कई नीचकुल जाति से आये हुए नीच जाति के देव अपने पूर्व जन्म के सस्कार वश क्रीडा के निमित्त अशुचि पदार्थों का स्पर्श कर लेते हैं। मृतक शरीर से क्रीड़ा करने के निमित्त उसमे प्रवेश कर लेते हैं। इधर उधर दौडने लगते हैं इत्यादि क्रियाएँ करते हैं। उन

व्यन्तरो के मूल आठ भेद हैं—

व्यन्तरों के भेद प्रभेद

व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्ष राक्षस, भूत पिशाचा (तत्त्वार्थ सूत्र)

१ किन्नर, २ किम्पुरुष, ३ महोरग, ४ गन्धर्व, ५ यक्ष, ६ राक्षस, ७ भूत और ८ पिशाच ये व्यन्तरो के मूल आठ भेद हैं। इन के आवान्तर भेद निम्न प्रकार हैं:—

१ किन्नरों के दश भेद हैं। वे सब हरित वर्णीय सुन्दर सौम्य दर्शनीय मुकुट हार आदि भूषणो के धारक और अशोक वृक्ष ध्वजा वाले होते हैं।

(१) किन्नर, (२) किम्पुरुषा, (३) किम्पुरुषोत्तम, (४) किन्नरोत्तम, (५) हृदयगम, (६) रूपशालिन (७) अतिनन्दित, (८) मनोरम, (९) रतिप्रिय और (१०) रतिश्रेष्ठ ये दश भेद होते हैं।

(२) किम्पुरुष—इनकी जघा और भुजा अधिक शोभित होती है और मुख अति सुन्दर होता है। नाना प्रकार के अलकारो से तथा लेपनादि से भूषित होते है। और इनके चम्प वृक्ष की ध्वजा होती है। इन के भी दश भेद होते हैं। वे निम्नोक्त प्रकार हैं—

(१) पुरुष, (२) सत्पुरुष, (३) महापुरुष, (४) पुरुषवृषभ, (५) पुरुषोत्तम, (६) अतिपुरुष, (७) गुरुदेव, (८) मरुत, (९) मेरुप्रभ और (१०) यशस्वत।

(३) महोरगो के शरीर का वर्ण कृष्ण होता है। महावेगवान्, सौम्यदर्शनीय, स्थूलकाय, मोटीगर्दन और स्थूलकन्धोंवाले होते हैं। नाना अलंकारो के धारक और नागवृक्ष की ध्वजा वाले होते हैं। इनके दश भेद होते हैं। वे निम्नोक्त प्रकार हैं—

(१) भुजग, (२) भोगशालिन, (३) महाकाय, (४) अतिकाय, (५) स्कन्धशालिन्, (६) मनोरम (७) महावेग, (८) महेष्वक्ष, (९) मेरुकान्त और (१०) भास्वत्।

(४) गन्धर्व—इनके शरीर का वर्ण रक्त होता है। ये गभीर, प्रियदर्शनीय, पुरुप, सुन्दर मुखाकृति, सुस्वर, व मालाधारी होते होते हैं। इनकी ध्वजा वाद्यों के आकार की होती है। इन के भेद बारह होते हैं। वे निम्नप्रकार हैं—

(१) हाहा, (२) हूहू (३) तुम्बुरव, (४) नारद, (५) ऋषिवादी, (६) भूतवादी, (७) कादम्ब, (८) महाकादम्ब, (९) रैवत, (१०) विश्वावसु, (११) गतिरति और (१२) गतियश।

५) यक्ष—ये काले वर्ण वाले, गम्भीर, तोदवाले, प्रिय-दर्शन, प्रमाणयुक्त रक्त हस्तपादादि अवयव वाले, चमकीले मुकुट तथा नाना भूषणों के धारक तथा वटवृक्ष की ध्वजावाले होते हैं। इन के तेरह भेद हैं। वे ये हैं—

(१) पूर्णभद्र, (२) मणिभद्र, (३) श्वेतभद्र, (४) हरिभद्र, (५) सुमनोभद्र, (६) व्यतिपातिकभद्र, (७) सुभद्र, (८) सर्वतोभद्र, (९) मनुष्ययक्ष, (१०) वनाधिपति, (११) वनाहार, (१२) रूपयक्ष और (१३) यक्षोत्तम।

(६) राक्षस—भयंकर दर्शन वाले, भयानक मस्तक मुखादि अंगो वाले, अनेक आभूषणों के धारक तथा खट्वा (खटिया) रूप ध्वजा के धारी होते हैं। इनकी ध्वजा वर्तुलाकार (गोल) होती है। इनके सात भेद हैं। वे ये हैं—

(१) भीम, (२) महाभीम, (३) विघ्न, (४) विनायक, (५) जलराक्षस, (६) राक्षसराक्षस और (७) ब्रह्मराक्षस।

(७) भूत—ये कृष्ण वर्ण वाले, सुन्दर रूपवान, सौम्य, दुबले, नाना भक्ति युक्त और सुलस काले रङ्ग की ध्वजा के धारी होते हैं इनके ९ नव भेद हैं। वे निम्न प्रकार हैं :—

(१) सुरूप, (२) प्रतिरूप, (३) अतिरूप, (४) भूतोत्तम, (५) स्कन्दिक, (६) महास्कन्दिक, (७) महावेग, (८) प्रतिछिन्न, और (९) आकाशग।

(८) पिशाच—ये सुरूप, सौम्य, दर्शनीय, हाथों और गले मे मणि आदि रत्नालकारों के धारक तथा कदम्बवृक्ष की ध्वजा वाले होते हैं। इनके १५ पन्द्रह भेद हैं। वे निम्न प्रकार हैं—

(१) कुष्माण्ड, (२) पटका, (३) जोषा, (४) आह्नका, (५) काल, (६) महाकाल, (७) चौक्ष, (८) अचौक्ष, (९) तालपिशाच, (१०) मुखर पिशाच, (११) अधस्तारका, (१२) विदेह, (१३) महाविदेह, (१४) तूष्णीक और (१५) वनपिशाच।

मुनि के शव का क्या करना चाहिए ?

प्रश्न—मुनि के मृतक शरीर का सघ के मुनि क्या करते हैं ?

उत्तर— नगर के समीप या मनुष्यों के गमनागमनादि के मार्ग मे किसी वसतिका में मुनि का मरण हो जावे तो मुनि उसे एकान्त जंगल मे डालते हैं। मुनीश्वर शरीर के अनुरागी नहीं होते हैं। वे तो शरीर मे जब तक आत्मा रहता है तब तक ही उसका वैयावृत्य करते हैं। शरीर से आत्मा निकल जाने पर शव के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। वे उसे स्वय दग्ध नहीं करते और न किसी श्रावकादि को उसके दग्ध करने का उपदेश ही देते हैं। वे केवल उस शरीर को एकान्त वन मे जहा मनुष्यो आदि को बाधा न हो वहा रख देते हैं। जहा पर वह स्वयं धूप आदि से सूख जाता है अथवा वन के पशु पक्षी उसका भक्षण कर लेते हैं।

साधु लोग वनविहारी होते हैं। यदि उनका मरण किसी वन में, पर्वत की गुफा मे पर्वत के शिखर या कन्दरा मे, पुलो मे, वृक्षो की कोटर मे, श्मशान में एव नदियो के तट इत्यादि जन शून्य एकान्त स्थान पर हो जावे तो वहा उसे कौन उठावे ? वह मुनि शव वहा ही पड़ा रहता है।

प्रश्न—किसी विख्यात स्थान पर किसी मुनि का मरण हो जावे तब गृहस्थो को क्या करना चाहिए ?

उत्तर—मुनि का मरण ज्ञात होने पर उनका कर्त्तव्य होता है कि वे मुनि के शव का विधि-पूर्वक दाह कर्म करें। शास्त्रों मे कहा है :—

जदि विक्खादा भत्तपइण्णा अज्जा व होज्ज कालगदो।
देउलसागारित्ति व सिविकाकरणं पि तो होज्ज ॥ १९७९ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—जब जन समुदाय मे मुनि का भक्तप्रत्याख्यान नामक समाधिमरण प्रसिद्ध हो जावे तब वसतिका के स्वामी का एवं सम्पूर्ण गृहस्थों का परम कर्त्तव्य होता है कि वे मुनीश्वर आर्यिका अथवा क्षुल्लकादि त्यागी के शव का दाह कर्म करें। शिविका (पालकी) बनाकर उसमें शव को स्थापित करके उसे दग्ध किया करने के लिए प्रभावना सहित ले जावें।

प्रश्न—यदि आर्यिका समाधिमरण करें तब मुनीश्वरों की भाति ही करें या उनके लिए कोई विशेष विधान है ?

उत्तर—आर्यिकाओ की समाधिमरण विधि मुनीश्वरों के समान ही होती है। परन्तु उसमें थोड़ा सा अन्तर है। वह यह है कि आर्यिकादि स्त्रियों की वसतिका ग्राम के अति सन्निकट या ग्राम मे ही होनी चाहिए। तथा समाधिमरण करने वाली आर्यिकादि की वसतिका का प्रदेश अत्यन्त गूढ होना चाहिए। जहा पर पुरुषों का दृष्टि प्रवेश भी न हो सके। आर्यिकाओं के नग्न होने का निषेध है। यदि कोई परम विरक्त आर्यिका समाधिमरण के लिए नग्न वेश धारण करे तो उसको वसतिका के गूढ प्रदेश से बाहर निकलने का सर्वथा निषेध किया गया

है। उसे दिगम्बर रूप को धारण कर उसी गुप्त स्थान में निवास करना चाहिए। वहा पर मनुष्यो का गमनागमन कभी भी न होना चाहिए। आर्यिका का समाधिमरण हो जाने पर कोई भी आर्यिका शव को लेजाने या दग्ध करने आदि के सम्बन्ध मे गृहस्थों को नहीं कह सकतीं। क्योंकि वे भी उपचार से महाव्रत की धारण करने वाली हैं। वे कभी मोह वश रुदनादि नहीं कर सकतीं। उक्त वातों के सिवा सब विधि मुनियो के समान ही होती है।

आर्यिकाएँ तो सदा गृहस्थों के समीपवर्ती स्थान मे ही रहती हैं, इसलिए उनके मुनि के समान शव को उठाकर एकान्तादि ान में रखने की आवश्यकता है।

प्रश्न—श्रावक लोग मुनीश्वर अथवा आर्यिकादि के शव को किस विधि से लेजावें ?

तेण परं संठाविय संथारगदं च तत्थ बंधित्ता।
उड्ढेंतरक्खणट्ठं गामं तत्तो सिरं किच्चा ॥ १९८० ॥
कुसमुट्ठिं घेत्तूण य पुरदो एगेण होइ गंतव्वं।
अट्ठिदअणियत्तं तेण पिट्ठदो लोयणं मुच्चा ॥ १९८२ ॥
तेण कुसमुट्ठिधाराए अव्वोच्छिण्णाए समणिपादाए।
संथारो कादव्वो सव्वत्थ समो सगिं तत्थ ॥ १९८३ ॥ [भग. आ]

अर्थ—पहले गृहस्थ शिविका (पालकी) बनावे। उसके पश्चात् मुनि आदि के शव को शिविका मे स्थापत करे और संस्तर ा उसको रस्सी से बांध दे। जिससे उठाने मे वह सुरक्षित रहे। तथा बिना बाधे कभी २ मुर्दा शरीर ऐंठ कर उठ भी जाता है। बाधने ; उठ नहीं सकता है। शव का सिर गाव की तरफ करे। एक मनुष्य कुश का पूला हाथ से लिए हुए आगे २ चले। मार्ग मे बिना ठहरे २ चले जाना चाहिए। पीछे मुडकर नहीं देखना चाहिए।

पहले ही देखे हुए स्थान पर जाकर वह जानकार मनुष्य उस कुश (डाभ) के पूले को बराबर बिखेर कर सम संस्तर करे।

प्रश्न—जहा पर कुश (दर्भ) न मिले वहा क्या करे ?

जत्थ ण होज्ज तणाइं चुण्णेहिं वि तत्थ केसरेहिं वा । [भग आ.]
संथरिदव्वा लेहा सव्वत्थ समा अवोच्छिण्णा ॥ १९८४ ॥

अर्थ—जहा पर भूमि सम करने के लिए कुश तृण न मिले तो प्रासुक चावल मसूर आदि के आटे से अथवा ईंटों के चूर्ण से अथवा प्रासुक कमलादि के केसर से या सूखे पत्तो आदि से मस्तक से लेकर पाव तक की भूमि को समान करे। उसमे ऊँचा नीचा प्रदेश न रखे।

सस्तर भूमि के सम न होने से निमित्त ज्ञान मे हानि बतलाई गई है।

जो सस्तर ऊपर से विषम होगा तो उससे आचार्य का मरण एव शरीर मे व्याधि सूचित होती है। मध्य मे विषम होने से सघ मे प्रधान मुनि (ऐलाचार्य की मृत्यु या शारीरिक विशेष व्याधि सूचित होती है और यदि पाव के समीप मे नीचे का सस्तर विषम होगा तो सघ के अन्य मुनीश्वरो का मरण या उनमे भयानक रोग उत्पन्न होने की सूचना होती है। इसलिए सस्तर भूमि को सम बनाने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। उसमे किसी स्थान मे विषमता ऊँचा-नीचापन न रहे इस विषय मे पूरी सावधानी रखनी चाहिए।

साधु के मृत शरीर को गाँव की ओर मस्तक करके उस सम किये हुए स्थान पर रखना चाहिए और शरीर के पास पिच्छिका रख देनी चाहिए। कहीं २ मृत साधु के दाहिने हाथ मे पिच्छी स्थापित करने के लिए कहते हैं।

प्रश्न—ग्राम की तरफ सिर करने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—यदि वह शव व्यन्तर देव के निमित्त से उठ खड़ा हो और उसका मुख ग्राम की तरफ हो तो वह ग्राम मे प्रवेश करेगा इससे ग्राम के भीरु लोग भयभीत हो जावेंगे और जो अति भीरु होगे वे प्राण भी छोड देंगे, इत्यादि अनेक उपद्रव होंगे इसलिए शव का मस्तक ग्राम की तरफ करने से उक्त उपद्रवों का निवारण होता है।

प्रश्न—क्षपक के मरण का समय निमित्त ज्ञान से किन २ शुभाशुभ का सूचक होता है ?

णत्ता भाए रिक्खे जदि कालगदो सिवं तु सव्वेसिं।
एक्को दु समे खेत्ते दिवड्ढखेत्ते मरंति दुवे ॥ १९८८ ॥ [भग आ]

अर्थ—यदि अल्प नक्षत्र मे क्षपक का मरण हो तो समस्त सघ मे सुख शान्ति रहती है। मध्यम नक्षत्र मे मरण होने पर एक

और साधु का मरण सूचित होता है। और यदि महान् नक्षत्र में मरण हो जावे तो दो अन्य साधुओं के मरण की सूचना होती है।

भावार्थ—शतभिषज, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा और ज्येष्ठा ये छह पन्द्रह मुहूर्त्त वाले नक्षत्र जघन्य नक्षत्र कहलाते हैं। इनमें से किसी नक्षत्र में या इनके अंश में क्षपक की मृत्यु हो जावे तो संघका क्षेम कुशल प्रतीत होता है। अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, पूर्वा फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल, पूर्वाषाढ़ा, श्रवण, धनिष्ठा, पूर्वभाद्रपदा और रेवती इन नक्षत्रों को मध्यम नक्षत्र कहते हैं। इनका काल तीस मुहूर्त्त प्रमाण होता है। इनमें से किसी नक्षत्र में या इनके अंश में यदि क्षपक का मरण हो जावे तो एक दूसरे मुनि की मृत्यु होती है। तथा उत्तरा फाल्गुणी, उत्तराषाढा, उत्तरभद्रा, पुनर्वसु, रोहिणी और विशाखा ये उत्कृष्ट नक्षत्र कहे जाते हैं। इनका काल पैंतालीस मुहूर्त्त प्रमाण है। इन नक्षत्रों में से किसी नक्षत्र में अथवा इनके अंश में किसी क्षपक की मृत्यु हो जावे तो दो मुनि और मरण करते हैं। ऐसा निमित्त ज्ञान से सूचित होता है।

प्रश्न—क्षपक का मरण आयु कर्म के आधीन है। यदि मध्यम या उत्कृष्ट नक्षत्र में क्षपक का मरण हो जावे तो उक्त उत्पात का निवारण करने का कोई उपाय है या नहीं ?

उत्तर—हां, उपाय है। और वह निम्न प्रकार है—

गणरक्खत्थं तम्हा तणमयपडिबिंबयं खु कादूण।
एक्कं तु समे खेत्ते दिवड्ढखेत्ते दुवे देज्ज ॥ १९९० ॥
तट्ठाणसावणं चिय तिक्खुत्तो ठविय मडयपासम्मि।
विदियवियप्पिय भिक्खु कुज्जा तह विदियतदियाणं ॥ १९९१ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—सघ की रक्षा के निमित्त मध्यम नक्षत्र में मरे हुए क्षपक के शव के समीप एक तृणमय प्रतिबिम्ब की स्थापना करे। अर्थात एक घास के पूले में प्रतिबिम्ब की कल्पना करके उस पूले की स्थापना करे और 'उस मुनि के स्थान में मैंने यह दूसरा (मुनि) स्थापित किया है, यह चिरकाल तक यहां रहे और तपस्या करे' ऐसा तीन बार उच्च स्वर से उच्चारण करे। उत्कृष्ट नक्षत्र में मृत्यु को प्राप्त हुए मुनि के निकट दो तृणमय प्रतिबिम्ब की स्थापना करे। अर्थात् दो घास के पूलों में प्रतिबिम्ब की कल्पना करके उन्हें स्थापित करे। तथा दोनों पूलों को स्थापन करके 'उन दोनों (मुनियों) के स्थान में मैंने ये दो स्थापन किये हैं, ये चिरकाल तक यहां रहें और तप करें' ऐसा तीन बार उच्च-स्वर से उच्चारण करे।

प्रश्न—यदि घास का पूला न मिले तो शान्ति के निमित्त क्या करना चाहिए।

असदि तणे चुण्णेहिं च केसरच्छारिट्टियादिचुण्णेहिं।
कादव्वोथ ककारो उवरिंहिट्ठा यकारो से ॥ १९९२ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—तृण न मिलने पर चावल आदि के आटे से अथवा पुष्प की सूखी प्रासुक केसर या भस्म या ईंट अथवा पत्थर के चूर्ण से 'काय' ऐसा लिखे।

अथवा 'क' ऐसा लिखकर उसके ऊपर क्षपक के शव को स्थापन करे। तथा अर्हत्पूजा आदि से शान्ति करना भी इष्ट है ऐसा मूलाराधना नामक टीका मे कहा है—

महन्मध्यमनक्षत्रमृते शान्तिर्विधीयते ।
यत्नतो गणरक्षार्थं जिनार्चाकरणादिभिः ॥

अर्थ—उत्कृष्ट और मध्यमनक्षत्र में क्षपक का मरण होने पर गण की रक्षा के अर्थ यत्नपूर्वक जिन पूजादि क्रियाओ से शान्ति की जाती है।

आशय यह है कि संघ मे शान्ति बनी रखने का महान प्रयोजन है। वह जैसा साधुओ का कर्त्तव्य है वैसा श्रावकों का भी है। दोनो अपने२ पद के अनुसार अपना कर्त्तव्य करते हैं। साधुलोग तपश्चरण ध्यानादि द्वारा आगत विघ्न की शान्ति का उपाय करते हैं और श्रावक जिन पूजा दानादि द्वारा शान्ति, कर्म करते है। अतः श्रावको को जिन पूजादि कार्य करना उचित है और मुनियों को अनशनादि तपश्चरण व ध्यानादि का आचरण करना योग्य है। अथवा जिनेन्द्र देव की भाव पूजा मुनि भी कर सकते हैं, किन्तु द्रव्य पूजा श्रावक ही करते हैं।

क्षपक के शव के साथ पिच्छी व कमण्डलु भी स्थापित कर दे। यदि शिविका (पालकी) बनाई हो और उसमे उपकरण लगाये हों तो उनमे से जो उपकरण जिससे मागकर लाये हों वे उनको वापिस दे दें और जो नहीं देने योग्य हों उनको वहीं स्थापित करदें।

प्रश्न—आराधक की वसतिका मे जाकर समस्त सघ क्या करे ?

उत्तर—उसके पश्चात् हमको चारों आराधना को प्राप्ति हो इस हेतु से समस्त सघ को कायोत्सर्ग करना चाहिए। और क्षपक

की जहा आराधना हुई है उस वसतिका के अधिष्ठात् देवता से सम्पूर्ण मुनि इच्छाकार करें अर्थात् हम सब सघ के मुनि यहा पर तुम्हारी अनुमति से रहना चाहते हैं-ऐसा कहना चाहिए।

अपने सघ के मुनि का मरण हो जावे तो उस दिन सम्पूर्ण सघ के मुनियो को उपवास करना चाहिए। यदि मुनियो की गोचरी हो जाने के बाद कोई मुनि मरण को प्राप्त हो जावे तो दूसरे दिन उपवास न करे। मरण के दिन स्वाध्याय करना वर्जित है। यदि दूसरे सघ मे मुनि का मरण हो जावे तो उपवास करे या न करे अपनी इच्छा पर निर्भर है। किन्तु उस दिन स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

प्रश्न—साधु की मृत्यु होने के तीसरे दिन का क्या कृत्य है ?

उत्तर—सघ के सुख सहित विहार के लिए तथा क्षपक की गति जानने के लिए तीसरे दिन क्षपक के शरीर का अवलोकन करना चाहिए। जितने दिन तक क्षपक के शरीर को वृक (भेडिया आदि पशु और गृध्रादि पक्षी स्पर्श न करेंगे उसका शरीर अक्षत रहेगा उतने वर्ष पर्यन्त उस राज्य भर मे क्षेम कुशल रहेगा। ऐसा सूचित होता है।

उस मृतक शरीर को या उसके अवयव को पशु पक्षी जिस दिशा में ले गये हो उस दिशा में यदि सघ विहार करे तो संघ में क्षेम कुशल तथा कल्याण होता है। ऐसा निमित्त शास्त्र मे कहा गया है।

प्रश्न—मृत क्षपक की गति का ज्ञान कैसे होता है ?

जदि तस्स उत्तमंगं दिस्सदि दंता च उवरिगिरिसिहरे।
कम्ममलविप्पमुक्को सिद्धिं पत्तोत्ति णायव्वो ॥ १९९९ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—यदि मृत क्षपक शरीर का उत्तमाग (सिर) या दात पर्वत के शिखर पर पड़े हुए दिखाई दें तो समझना चाहिए कि वह क्षपक कर्म मल से रहित होकर सिद्धावस्था को प्राप्त हुआ है।

जयनदी के टिप्पण मे कर्ममल का अर्थ मिथ्यात्वादि अल्प कर्म और सिद्धि का अर्थ सर्वार्थसिद्धि किया गया है। अर्थात् जिसके दांत अथवा सिर गिरि के शिखर पर पड़े हुए दिखाई दें तो उस क्षपक साधु के मिथ्यात्वादि का क्षय होगया है और वह सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त हुआ है ऐसा प्रतीत होता है। तथा प्राकृत टीका मे एवं विजयोदया टीका मे कर्ममल से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त हुआ है-ऐसा अर्थ किया गया है। उक्त दो मतो मे जयनन्दी का मत बुद्धिग्राह्य प्रतीत होता है किन्तु दूसरे मत को बुद्धि स्वीकार नहीं करती; कारण कि प्राप्ति

अन्तकृत केवली भी होते तो देवों द्वारा उनका मोक्ष कल्याणक होना है। लेकिन देवो का आगमन न होने के कारण अन्य साधुओं के मोक्ष का निश्चय नहीं हो सकता है।

यदि क्षपक के मृतक शरीर का मस्तक उच्च प्रदेश मे दिखाई दे तो उसका जन्म वैमानिक देवों मे हुआ प्रतीत होता है। यदि वह समभूमि मे दीख पडे तो उसकी उत्पत्ति ज्योतिष देवों मे एव व्यन्तरों मे निश्चित होती है। कोई कोई आचार्य समभूमि मे मस्तक देखकर वानव्यन्तर जाति के व्यन्तर देवों मे ही जन्म मानते हैं और यदि गड्ढे मे मस्तक दिखाई दे तो भवनवासी देवों मे जन्म निर्धारित होता है।

क्षपक की गति के ज्ञान कराने वाले जो ऊपर निमित्त बताये हैं वे सूचना मात्र हैं। उनसे क्षपक की गति का यथार्थ निश्चय नहीं हो सकता है। यह तो केवलीगम्य है या अवधीज्ञान के गोचर है। इसलिए हम इसका पूर्ण निश्चय नहीं कर सकते हैं।

ते सूरा भयवंता आहचइदूण संघमज्झम्मि।
आराधणापडायं चउप्पयारा हिदा जेहि ॥ २००१ ॥ [भग आ]

अर्थ—वे मुनिराज क्षपक शूरवीर और पूज्य हैं जिन्होने सघ के मध्य प्रतिज्ञा लेकर आराधना ग्रहण की है।

भावार्थ—जिन महापुरुषों ने सासारिक सुख से मुह मोड कर इन्द्रियो के विषय और स्वच्छन्द प्रवृत्ति का निरोधकर खड्ग धार पर चलने के समान मुनिव्रत को अङ्गीकार किया है वे धन्य हैं, जगत् के पूज्य हैं। किन्तु जिन्होंने अपने शरीर को नि.सार समझ रत्नत्रय की आराधना के लिए समाधिमरण सरीखे दिव्य कर्त्तव्य को प्रतिज्ञा लेकर अन्तरग और बाह्य घोर तपश्चरण का आचरण कर शरीर और कषायो का शोषण करके समाधि पूर्वक मरण किया है अर्थात मरण पर्यन्त रत्नत्रय की आराधना का निर्वाह किया है वे जगत्पूज्य महामुनि धन्य हैं। वे महा भाग्यशाली व ज्ञानी हैं। जिन्होने अभीष्ट फल (मोक्ष) देने वाली आराधना को प्राप्त किया है। उन्होंने किस दुर्लभ पदार्थ को प्राप्त नहीं किया है ? अर्थात् उन्होंने तीनों लोक मे जो दिव्य पदार्थ हैं उन सबकी प्राप्ति करली है। जो महाभाग एक बार जघन्य आराधना का सेवन कर चुके हैं वे सात आठ भवो के अनन्तर अवश्य मोक्ष के अधिकारी होते हैं। ऐसे भाग्यशाली महात्मा की महिमा का वर्णन कहा तक किया जावे ? उनकी जितनी स्तुति की जावे वह थोडी है।

वे निर्यापक मुनि भी धन्य हैं, वे अपूर्व भाग्यशाली हैं, जिन्होने जगत्पूज्य क्षपक की आराधना को सफल बनाने मे पूर्ण यत्न पूर्वक सहायता की है। आदर भक्ति से अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर अनेक क्लेशों को सहकर रात दिन क्षपक का वैयावृत्य किया है। वे

परिचारक महाभागो का जन्म भी धन्य है। उन्हें ने क्षपक की आराधना को निर्विघ्न क्या किया है, अपनी भविष्य मे होने वाली आराधना को निर्विघ्न बनाया है। जो साधु दूसरे की आराधना को निर्विघ्न बनाते हैं वे निकट भविष्य मे सुख पूर्वक अपनी आराधना की पूर्ति करते हैं। शास्त्र में कहा गया है।

ते वि य महाणुभावा धण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स।
सव्वादरसत्तीए उवविहिदाराधणा सयला ॥ २००४ ॥
जो उवविधेदि सव्वादरेण आराधणं खु अण्णस्स।
संपज्जदि णिव्विग्घा सयला आराधणा तस्स ॥ २००५ ॥ [भग' आ]

इनका आशय ऊपर आगया है।

जो धर्मात्मा क्षपक के दर्शन के लिए यात्रा करते हैं वे भी पुण्यशाली होते हैं।

ते वि कदत्था धण्णा य हुंति पावकम्ममलहरणे।
ण्हायंति खवयतित्थे सव्वादरभत्तिसंजुत्ता ॥ २००६ ॥ [भग आ.]

अर्थ—उन मनुष्यो का भी जन्म कृतार्थ है जो अनादिकाल से आत्मा के साथ चिपके हुए पापकर्ममल को धोने के लिए क्षपक रूप तीर्थ मे श्रद्धा व भक्ति सहित स्नान करने के लिए जाते हैं।

भावार्थ—भक्त प्रत्याख्यान करके संन्यास मरण करने वाला क्षपक महान् पवित्रात्मा है। ऐसे पवित्रात्माओं के स्पर्श से क्षेत्र भी तीर्थ बन जाते हैं। उन तीर्थों मे जाकर लोग स्नान करके अपने को पवित्र हुआ मानते हैं। जिसके चरण स्पर्श मात्र से भूमि तीर्थ बनती है उसके दर्शन करने से पाप कर्म का क्षय हो तो इसमें आश्चर्य क्या है। इसलिए जिन भाग्यशाली पुरुषो को ऐसे क्षपक मुनीश्वर का दर्शन लाभ होता है वे धन्य है। ऐसा सुयोग पाकर प्रत्येक धार्मिक पुरुष को दर्शन स्पर्शन सेवादि सुकृत्य करके अपने जन्म को सफल बनाना चाहिए।

गिरिणदियादिपदेसा तित्थाणि तवाधणेहिं जदि उसिदा।
तित्थं कधं ण हुज्जा तवगुणरासी सयं खवओ ॥ २००७ ॥ [भग, आ.]

अथ—जहा पर तपोधनों ने निवास किया है वे पर्वत नदी वनादि क्षेत्र यदि तीर्थ हो जाते हैं तो फिर सतत उग्रोग्र तपस्या करने वाले गुणो के पुंज क्षपक के तीर्थ होने मे क्या सन्देह हो सकता है ?

पुव्वरिसीणं पडिमाओ वंदमाणस्स होइ यदि पुण्णं ।
खवयस्स वंदओ किह विउलं णिउलं ण पावेज्ज ॥ २००८ ॥ [भग. आ]

अर्थ—प्राचीनकाल के ऋषि महर्षियों की प्रतिमाओ की वन्दना करने वालों को यदि पुण्य होता है तो साक्षात् क्षपक महर्षि की वन्दना करने वाला क्या विपुल पुण्य का अधिकारी न होगा ? अवश्य होगा । इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है ।

भावार्थ—आगम में पच परमेष्ठी की प्रतिमाएँ वन्दनीय और पूज्य मानी गई हैं । पच परमेष्ठी मे अठाईस मूल गुण के धारक मुनिराज भी एक परमेष्ठी हैं । कई क्षेत्रों मे साधु परमेष्ठी की प्रतिमाएँ इस समय भी नित्य प्रति पूजी जाती हैं । इतना अवश्य है कि जिनके भाव से मुनिपने का पूर्ण रूप से निश्चय हो जाता है उनकी ही प्रतिमाएँ हो सकती हैं और ऐसे निश्चित भाव-मुनियो की ही प्राचीन प्रतिमाएँ देखी जाती हैं । जैसे मन्दिरो मे सर्प के फण सहित पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा है वे सब मुनि अवस्था की प्रतिमाए हैं । लता वेल आदि से वेष्टित बाहुबलि की प्रतिमा भी मुनि अवस्था की ही है इत्यादि । उनके वन्दन पूजन करने से महान् पुण्य का बन्ध होता है । जब कि मुनि प्रतिमा के दर्शन वन्दन पूजनादि से पुण्य उत्पन्न होता है तो क्या परम तपस्वी अठाईस मूल गुण के धारक रत्नत्रय की निर्विघ्न आराधना करने के लिए शरीर का उत्सर्ग करने वाले कषायो का दमन कर उन्हें अत्यन्त कृश करने वाले वीतरागी क्षपक की वन्दना स्तुति करने वाला पुण्य का भागी न होगा ? अवश्य होगा । और तो क्या, जो क्षपक की यथाशक्ति उपासना करता है, जिसके अन्तःकरण मे भक्ति का स्रोत बहता रहता है, वह महापुरुष भी निकट भविष्य मे सम्पूर्ण आराधना को प्राप्त करता है ।

इस प्रकार यहा तक सविचार भक्त प्रत्याख्यान का वर्णन हुआ ।

अविचार भक्त प्रत्याख्यान

तत्थ अविचारभत्तपइण्णा मरणम्मि होइ आगाढे ।
अपरक्कम्मस्स मुणिणो कालम्मि असंपुहुत्तम्मि ॥ २०११ ॥

अर्थ—अकस्मात् मृत्युकाल उपस्थित हो जाने पर हीन शक्ति के धारक मुनि के उपरोक्त सविचार भक्त प्रत्याख्यान नहीं होता है। उस समय अविचार भक्त प्रत्याख्यान होता है। अर्थात् जिसमें अल्प शक्ति है और जिसकी आयु का काल अधिक नहीं बचा है, मरण शीघ्र होने वाला है, ऐसे मुनि के अविचार भक्त प्रत्याख्यान होता है।

अविचार भक्त प्रत्याख्यान तीन प्रकार का है—(१) निरुद्ध (२) निरुद्धतर (३) और परमनिरुद्ध।

प्रश्न—निरुद्ध नामक अविचार भक्त प्रत्याख्यान किसे कहते हैं।

तस्स णिरुद्धं भणिदं रोगादंकेहिं जो समभिभूदो।
जंघाबलपरिहीणो परगणगमणम्मि ण समत्थो ॥ २०१३ ॥ [भगः आ.]

अर्थ—जो मुनि साधारण रोग अथवा भयानक रोग से निरन्तर पीडित रहता है और जिसकी जाघो मे गमन करने की शक्ति नहीं है अतएव जो दूसरे सघ मे नहीं जा सकता है उस मुनि के निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान होता है। इसकी शेष सब विधि सविचार भक्त प्रत्याख्यान के समान होती है।

भावार्थ—जब तक मुनि के पावों मे चलने फिरने की शक्ति रहती है तब तक वह अपने कार्यों को स्वयं करता है और जब शक्ति का अत्यन्त ह्रास हो जाता है तब सघ के मुनियो की सेवा स्वीकार करता है। अर्थात् सतत रोग से पीडित रहने के कारण अथवा अचानक भयानक बीमारी के आजाने पर जिसमे गमनागमन की शक्ति नहीं रहती है, जो अन्य सघ मे जाने के लिए असमर्थ हो जाता है, ऐसे मुनि के मरण को निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं। वह मुनि अपने सघ मे ही आचार्य के निकट रहता है। सविचार भक्त प्रत्याख्यान वाला मुनि अनियत विहार कर अन्य आचार्य संघ मे जाता है और यह अनियत विहार न करके अपने सघ मे ही रहता है; इसलिए इसको अविचार नाम से कहा है। यह अपने आचार्य के पादमूल मे रहकर मुनि दीक्षा से लेकर अब तक के जितने दोष हुए हैं उनकी आलोचना करता है। उनकी निन्दा गर्हा करता है। गुरु महाराज से दिये हुए प्रायश्चित्त का आचरण कर दोषों से निवृत्त होकर आत्म-शुद्धि करता है। तथा जब तक शक्ति रहती है तब तक दूसरों की सहायता के बिना रत्नत्रय की आराधना मे तत्पर रहता है। और जब चलने फिरने मे अशक्त हो जाता है तब अन्य मुनीश्वरो की सहायता लेकर रत्नत्रय की साधना करता है।

इसकी शेष सब विधि सविचार भक्त प्रत्याख्यान के समान ही जाननी चाहिए। वही मूलाराधना टीका मे कहा है—

मन्निरुद्धमवीचारं स्वगणग्न्यमितीरितम् ।
अपरः प्रक्रमः सर्वः पूर्वोक्तोऽत्रापि जायते ॥

अर्थ—अपने गण (संघ) में ही रहकर समाधिमरण सम्पन्न करने वाले मुनि के अविचार निरुद्ध भक्त प्रत्याख्यान होता है। इसके अतिरिक्त भक्त प्रत्याख्यान की सब प्रक्रिया पूर्वोक्त सविचार भक्त प्रत्याख्यान के समान होती है।

इस निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान के प्रकाश, और अप्रकाश ये दो भेद होते हैं।

जो भक्त प्रत्याख्यान (समाधिमरण) प्रकट रूप में किया जाता है उसे प्रकाश भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं और जो भक्त प्रत्याख्यान क्षपक के मनोबल (धैर्य) की हीनता तथा क्षेत्र की अयोग्यता आदि से प्रकट नहीं किया जाता है उसे अप्रकाश भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं।

यदि क्षपक धैर्य का धारण करने वाला न हो और क्षुधादि परीषहों के प्राप्त हो जाने पर पीड़ित होने लगे अथवा वसतिका एकान्त स्थान में न हो, या काल अतिरुक्ष हो, या क्षपक के पुत्र मित्रादि बन्धुगण सन्यास (भोजनादि के त्याग) में विघ्न बाधा उपस्थित करने वाले हों तो क्षपक का भक्त प्रत्याख्यान मरण गुप्त रखना चाहिए, क्योंकि प्रकाशित होने पर सन्यास कार्य में विघ्न बाधाओं की पूरी सभावना रहती है।

प्रश्न—निरुद्धतर भक्त प्रत्याख्यान किसे कहते है ?

उत्तर—अग्नि आदि अचेतन कृत तथा सर्प व्याघ्रादि चेतन कृत उपसर्गों के प्राप्त होने पर या हैजा प्लेग आदि मारक रोगों की अचानक उत्पत्ति होने पर आयु के शीघ्र क्षय होने का निश्चय हो जावे उस समय सब प्रकार के आहारादि का त्याग करके आचार्य के निकट दीक्षा से लेकर अब तक के सब अपराधों की आलोचना गर्हा निन्दा करके आचार्य द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त का आचरण कर शुद्ध हो रत्नत्रय की आराधना मे जब तक सुध बुध रहे तब तक लगे रहने को निरुद्धतर अविचार भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं। शास्त्रों में कहा है—

वालग्गिवग्घमहिसगयरिच्छ पडिणीयतेणमेच्छेहिं ।
मुच्छा विसूचियादीहिं होज्ज सज्जो हु वावत्ती ॥ २०१८ ॥ [भग. आ.]
जाव ण वाया खिप्पदि बलं च विरियं च जाव कायम्मि ।

तिव्वाए वेदणाए जाव य चित्तं ण विक्खत्तं ॥ २०१६ ॥
णच्चा सवहिज्जं तमाउगं सिग्घमेव तो भिक्खू ।
गणियादीणं सणिणहिदाण आलोचए सम्म ॥ २०२० ॥ [भग आ]

अर्थ—सर्प, अग्नि, सिंह, व्याघ्र, भैंसा, हाथी, रीछ, शत्रु, चोर, तथा म्लेच्छ और मूर्छा हैजा आदि प्राण-घातक रोग के निमित्त से मृत्यु की कारण भूत वेदना या मरण के उपस्थित होने पर जब तक बोलने की शक्ति बनी रहे तथा जब तक शरीर मे बल व वीर्य विद्यमान रहे तथा तीव्र वेदना से जब तक सावधानता का नाश न हो तब तक आयु को शीघ्र नष्ट होते हुए जानकर आचार्य के चरणों की शरण ग्रहण करे और उनके समीप अपने सम्पूर्ण दोषो की आलोचना करे एव सम्यक प्रकार, रत्नत्रय की आराधना मे तत्पर हुआ अपने शरीर का, उपकरणों का, तथा आहार संस्तर व वसतिका का और परिचारकों का त्याग करदे अर्थात इनपर से ममत्व भाव को हटाले।

आशय यह है कि विपत्ति आने पर बल वीर्य का ह्रास हो जाने से अन्य संघ मे जाने के लिए असमर्थ हुए साधु को निरुद्ध कहते हैं। और जब साधु उससे अधिक आकस्मिक विपत्ति आने पर अति असमर्थ होता है उस समय आचार्य का संयोग न मिले तो अन्य साधु के निकट आलोचना कर रत्नत्रय की आराधना मे सावधान रहने को निरुद्धतर कहते है और उसके मरण को निरुद्धतर अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं।

प्रश्न—परमनिरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर—सर्प, व्याघ्र, अग्नि आदि के उपद्रव के कारण जिन मुनीश्वरों की बोलने की शक्ति भी नष्ट हो गई हो जब वे मुनीश्वर अपने मन ही मन मे अरिहन्त सिद्ध आचार्यादि परमेष्ठी का स्मरण व ध्यान कर अपने दोषो की आलोचना कर अपने आत्म ध्यान मे अर्थात् रत्नत्रय की आराधना में दत्तचित हो जावें तब उनके मरण को परम निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं। जैसा कि कहा है—

वालादिएहिं जइया अक्खित्ता होज्ज भिक्खुणो वाया।
तइया परमणिरुद्धं भणिदं मरणं अविचारं ॥ २०२२ ॥ [भग आ]

अर्थ—जब साधु के शरीर मे सर्पादि के विष का सचार हो जावे या किसी अग्नि आदि के उपद्रव से अत्यन्त पीड़ित हो जावे और उसकी वचन प्रवृत्ति का भी भग हो जावे, बोलने की शक्ति भी नष्ट हो जावे उस समय परमनिरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण

होता है अर्थात् वचन उच्चारण करने की शक्ति न रहने पर परमनिरुद्ध मरण होता है। उस समय उस साधु को चाहिए कि अपने अन्तःकरण मे अर्हन्त सिद्ध साधु को धारण कर शीघ्र आलोचना करले और शान्तचित्त से अपनी आत्मा के सिवा शरीरादि सब पदार्थों से ममता हटाकर आत्म ध्यान मे लवलीन रहे। उस साधु के मरण को परमनिरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं।

जैसी आराधना की विधि पूर्व सविस्तर वर्णन की गई है वैसी ही शेष विधि इस अविचार भक्त प्रत्याख्यान मे भी समझना चाहिए।

पूर्वोक्त विधि से चार प्रकार की आराधना का प्रारम्भ करके यदि पूर्वोक्त सर्प विष अग्नि आदि आयु की शीघ्र उदीरणा (क्षय) करने वाले कारणों के उपस्थित हो जाने पर कोई आराधक शीघ्र प्राण त्याग करने का अवसर प्राप्त हो जावे तो कोई साधु इस पंडित मरण से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके मोक्ष की प्राप्ति कर लेते हैं और कोई २ मुनीश्वर उक्त आराधना के फल स्वरूप वैमानिक देवो मे उत्पन्न होते हैं। तथा अपने २ भावो के अनुसार उत्तम मध्यमादि देवो में जन्म धारण करते हैं।

शङ्का—इतने अल्पकाल मे मोक्ष की प्राप्ति कैसे होगी ?

समाधान- बहुत लम्बे काल तक आराधना का सेवन करके ही मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है ऐसा नहीं समझना चाहिए। कोई २ लघुकर्मा मुनिराज अन्तर्मुहूर्त्त काल मे ही रत्नत्रय की आराधना करके ससार समुद्र को पार कर लेते हैं।

वधन नाम नृपति अनादि मिथ्यादृष्टि था। वह श्री देवाधिदेव ऋषभ तीर्थंकर के पादमूल मे आत्म स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर स्वपर का भेद-विज्ञानी होकर क्षणमात्र में निर्वाण पद का अधिकारी हुआ। जैसा कि कहा है :—

सिद्धो विवर्धनो राजा चिरं मिथ्यात्व भावितः।
वृषभस्वामिनो मूले क्षणेन धुतकल्मपः ॥ २१०० ॥

इसका अर्थ ऊपर आगया है।

सोलसतित्थयराणं तित्थुप्पण्णस्स पढमदिवसम्मि।
सामण्णणाणसिद्धी भिण्णमुहुत्तेण संपण्णा ॥ २०२८ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—श्री ऋषभ नाथ तीर्थंकर से लेकर शातिनाथ तीर्थंकर पर्यन्त सोलह तीर्थंकरो के जिस दिन दिव्य-ध्वनि की उत्पत्ति हुई थी उसी दिन कई महापुरुषों के मुनिदीक्षा केवलज्ञान और निर्वाण ये तीनो कार्य अन्तर्मुहूर्त्त काल मे निष्पन्न हुए।

इंगिणी मरण

पव्वज्जाए सुद्धो उवसंपज्जितु लिंग कप्पं च।
पवयणमोगाहित्ता विणयसमाधीए विहरित्ता ॥ २०३१ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—जो महानुभाव निर्ग्रन्थलिंग धारण करने योग्य है, अर्थात् दिगम्बर भेष धारण करने के लिए जो अयोग्यता पहले वता आये हैं उससे रहित है, वह मुनिदीक्षा धारण कर आगम का अवगाहन करता है। आचारागादि चारित्र-धर्म के निरूपण करने वाले तथा अन्य आगम ग्रन्थो का मनन करता है। विनय और समाधि में परिणमन करता है।

भावार्थ—पण्डितमरण का द्वितीय कल्प इगिणी मरण है। इगिणी म^ण करने वाला साधु अपना वैयावृत्त्य आप खुद करता है। दूसरे से अपना वैयावृत्त्य नहीं करवाता है। जिसने आगम में वर्णन किये हुए मुनि पद धारण करने की योग्यता होने पर जिन लिंग (दिगम्बर भेष) को धारण किया है, तथा आचारागादि आगम अथवा आचार के प्रतिपादक अन्य शास्त्रों मे भले प्रकार अवगाहन किया है, उनके रहस्य को सम्यक प्रकार से जान लिया है, अपने आत्मा को विनय और समाधि मे प्रवृत्त किया है, ऐसा साधु इंगिणी मरण के लिए उद्यत होता है। यदि आचार्य इस पंडित मरण मे प्रवृत्ति करना चाहे तो उसे उचित है कि वह अपने सघ को इंगिणी मरण की विधि के साधन करने योग्य वनावे, पश्चात् वह एलाचार्य की स्थापना करके उसे संघ संचालन करने के योग्य उचित उपदेश (जैसा भक्त प्रत्याख्यान मरण मे कह आये हैं वैसा उपदेश) देकर सम्पूर्ण सघ से अपना सम्बन्ध छोड़कर उससे पृथक हो जावे और संघ के वृद्ध वाल आदि सव मुनियों से क्षमा याचना करे। रत्नत्रय के पालन मे जो अतिचार लगे हों उनकी आलोचना करे। सघ मे आचार्य की स्थापना करने के अनन्तर सम्पूर्ण सघ को भी पूर्व की भाति उपदेश देवे। मैं जीवन पर्यन्त तुम से पृथक होता हूँ ऐसा कहकर अपने को कृतार्थ मानता हुआ आनन्द से प्रफुल्लचित्त होकर वहा से प्रयाण करे।

प्रश्न—अपने सघ से निकलकर आचार्य अथवा अन्य मुनि क्या करे ?

एवं च णिक्कमित्ता अंतो वाहिं च थंडिले जोगे।
पुढवी सिलामए वा अप्पाणं णिज्जवे एक्को ॥ २०३५ ॥ [भग. आ]

पुव्वुत्ताणि तणाणि य जाचित्ता थंडिलम्मि पुव्वुत्ते ।
जदणाए संथरित्ता उत्तरसिर मधव पुव्वसिरं ॥ २०३६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—निज संघ से निकलकर योग्यमुनि वा आचार्य ऐसे स्थंडिल प्रदेश (कठिन भूमि प्रदेश) का आश्रय ले जो समतल हो और ऊचा हो,जिसमें छिद्र व बिल न हो, तथा जीव जन्तु रहित हो। अथवा पाषाण शिला हो उसपर सस्तर की रचना करे। संस्तर बनाने के लिए बिना सधि (जोड़) वाले, छेद रहित, निर्जन्तुक व कोमल तृण पास के गाव या नगर मे जाकर, गृहस्थो से याचना कर ले आवे। तृण उतने ही लावे जिनपर उसका शरीर स्थिरता को प्राप्त हो सके और उनकी प्रतिलेखना भी अच्छी तरह कर सके। उन लाये हुए तृणों (घास) को स्थडिल भूमि या शिला पर बडे यत्न से बिछावे अर्थात् तृणों को पृथक २ कर देख शोधकर तथा सस्तर भूमि को पिच्छी से प्रमाजन करके सस्तर की रचना करे। अलग २ बिखेर कर शय्या रूप बिछावे। उत्तर दिशा मे या पूर्व दिशा मे सस्तर का शिर करे अर्थात् पूर्व या उत्तर दिशा मे मस्तक रखने योग्य तृण का उपधान (तकिया) बनावे । सस्तर की रचना करने के पश्चात् अपने मस्तक हाथ पाव आदि समस्त शरीर के अवयवों का पिच्छी से प्रमार्जन करे। तत्पश्चात् इगिणी मरण करने मे प्रवृत्त हुआ वह साधु उस सस्तर पर पूर्व दिशा या उत्तर दिशा की ओर मुख करके खड़ा हो जाता है और मस्तक व हाथ जोडकर अन्त.करण मे परिणामो को उज्ज्वल करता है। अरिहत, सिद्धादि को हृदय मे विराजमान कर उनके समीप अपने पूर्व कृत अपराधो की आलोचना करता है। निन्दा गर्हा करता है। उससे आत्मा को निर्मल करता हुआ रत्नत्रय को पवित्र बनाता है। अपनी लेश्या को विशुद्ध करता है। यावज्जीव चारो प्रकार के आहार का त्याग करता है तथा समस्त बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहो का त्याग करता है अर्थात उपकरणों से तथा शरीर से भी ममत्व हटा लेता है। अतः वह आगत परीषह और उपसर्गों का धैर्य से सहन करता है। अपने अन्तःकरण को निर्विकार रखता हुआ धर्मध्यान का आश्रय लेता है।

वह क्षपक महात्मा उक्त सस्तर पर कायोत्सर्ग में खड़ा रहकर या पर्यंक (पालथी) आदि आसनों से बैठकर या एक पार्श्व (पसवाडे) बाजू से लेटकर धर्मध्यान मे तत्पर रहता है। वह मुनिराज अपनी शरीर सम्बन्धी तथा प्रतिलेखनादि सब क्रियाए अपने आप करता है।

उपसर्ग रहित अवस्था मे प्रतिलेखन, प्रतिष्ठापना समिति, शौच क्रिया के पालन करने मे वह सदा सावधान रहता है। किसी कार्य मे वह दूसरों की सहायता नहीं लेता है।

यदि पूर्व के शत्रु किसी देव के द्वारा अथवा प्रतिपक्षी किसी मनुष्य के द्वारा अथवा दुष्ट तिर्यंच द्वारा किसी प्रकार का उपसर्ग उपस्थित हो जावे तो वह धीर वीर महामना मुनीश्वर उसका प्रतीकार नहीं करता है। उसके धैर्य रूपी दृढ़ कवच को घोर उपसर्ग रूपी तीक्ष्ण

शस्त्र भेदन नहीं कर सकते हैं। उसके अन्त:करण में लेशमात्र भी क्षोभ नहीं होता है। क्योंकि उनमे पूर्ण कष्ट-सहिष्णुता होती है। इस इंगिणी मरण की आराधना करने वाले महामुनि होते हैं। इनके आदिम तीन उत्तम सहनन होते हैं। हीन सहनन का धारक इस पंडित मरण का अधिकारी नहीं हो सकता। उनका संस्थान (शरीर का आकार) भी उत्तम होता है। वे निद्रा-विजयी होते हैं। उनका शारीरिक बल एवं आत्म-पराक्रम भी अपूर्व होता है।

वे आत्मध्यान में लवलीन रहते हैं। उनके तपश्चरण के प्रभाव से वैक्रियिक ऋद्धि, आहारक ऋद्धि, चारण ऋद्धि, आदि अनेक ऋद्धिया उत्पन्न हो जाती हैं फिर भी वे उनका उपयोग नहीं करते।

वे सदा मौनव्रत धारण करते हैं। रोगादि की तीव्र वेदना होने पर भी उसका इलाज नहीं करते हैं। तथा शीत उष्ण भूख प्यास आदि का प्रतीकार करने की इच्छा तक नहीं करते हैं।

वीभत्स और भयानक रूप धारण करने वाले भूत वेताल राक्षस शाकिनी पिशाचिनी आदि क्षोभ उत्पन्न करने के लिए आये हुए दुष्ट देवी देवताओं के अनेक प्रयत्न करने पर भी जिनको लेश मात्र भीति उत्पन्न नहीं होती है।

अनेक सुन्दर रूपवाली किन्नर किम्पुरुषादि की देवकन्याएं उनको लुभाने का प्रयत्न करती हैं तो भी उनका मन-सुमेरु चलित नहीं होता है।

यदि सम्पूर्ण जगत् का पुद्गल समूह दु:ख जनक पर्याय धारण कर उन धैर्य-धुरन्धर को पीड़ा देने के लिए उपस्थित हो जावे तो भी उनका चित्त ध्यान से च्युत नहीं होता है।

अथवा समस्त पुद्गल सुख जनक पर्यायो को धारण कर सम्मिलित हुआ उन परम ध्यानी को सुख देने के लिए चरणों में लौटा करे तो भी उन्हें विचलित करने के लिए समर्थ नहीं हो सकता है।

प्रश्न—व्याघ्र सिंहादि के द्वारा प्राणियों से व्याप्त भूमि पर गिरा देने पर वह साधु क्या करते हैं?

सचित्ते साहरिदो तत्थोवेक्खदि वियत्तसव्वंगो।
उवसग्गे य पसंते जदणाए थंडिलमुवेदि ॥ २०४६ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—हरी घास या अन्य जीवो से व्याप्त भूमि मे इगिणी मरण करने वाले साधु को यदि व्याघ्रादि लेजाकर फेंक दें तो भी वह मुनीश्वर उपसर्ग काल पर्यन्त शरीर से मोह ममत्व रहित हुए परम शान्ति का आश्रय लेकर वहां पर ही ध्यान मे लीन रहते हैं और उपसर्ग दूर हो जाने पर स्वयंमेव यत्न से स्थंडिल भूमि की ओर चले आते हैं।

इस प्रकार वे मुनिराज उपसर्ग और कषायो को जीतते हैं। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति द्वारा मन वचन काय की क्रियाओ को रोककर आत्म-ध्यान मे अपने को लगाते हैं। आध्यात्मिक तत्त्वो का चिन्तन करते हैं। इसके अतिरिक्त किसी विषय मे उनकी चित्त-प्रवृत्ति नहीं ठहरती है। वचन का उच्चारण नहीं करते, क्योंकि उन्होने मौन व्रत धारण किया है। काय से भी तो यदि कोई क्रिया करनी पडती हो तो वही क्रिया करते हैं जो आत्मध्यान की साधक होती है।

इस लोक और परलोक के पदार्थों मे, जीवित रहने और मृत्यु की प्राप्ति मे, सांसारिक सुख में और दुःख मे न राग करते हैं और न द्वेप करते हैं। विपत्ति मे धैर्य धारण कर दु.ख से कभी नहीं घवराते हैं। केवल आत्म स्मरण मनन चिन्तन और ध्यान मे लवलीन रहते हैं।

वे महामुनि वाचना, पृच्छना, परिवर्तन (पाठ) और धर्मोपदेश इन चार प्रकार के स्वाध्याय को छोडकर केवल अनुप्रेक्षा (चिन्तन) स्वाध्याय को ही करते हैं। दिन का पूर्व भाग, मध्याह्न (दिन का मध्य भाग), दिन का अन्त भाग और अर्धरात्रि इन चार कालों मे तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि होती है। ये स्वाध्याय के काल नहीं माने गये हैं। इनमे भी वे अनुप्रेक्षा (चिन्तन) रूप स्वाध्याय करते हैं।

तात्पर्य यह है कि रात्रि दिवस आठों पहर तत्त्व-चिन्तन मे रत रहते हैं। निद्रा नहीं लेते हैं। यदि लेना ही पडे तो अल्प निद्रा लेकर प्रमाद रहित हो पुन तत्त्व-चिन्तना करने लगते हैं।

प्रश्न—इगिणी मरण विधि का आचरण करने वाले मुनियो को स्वाध्याय काल का ध्यान (खयाल) रखना पडता है, उससे उनके चित्त में विक्षेप होता है तथा क्षेत्र अशुद्ध होने पर ध्यान मे प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, अतएव आपने उनके आठों पहर चौवीस घण्टे आत्मध्यान कैसे कहा ?

उत्तर—उन मुनिराज के स्वाध्याय के काल की गवेपणा और क्षेत्र की शुद्धि नहीं होती है। उनको तो श्मशान मे भी ध्यान करने का निपेध नहीं किया गया है।

प्रश्न—क्या वे मुनि के छह आवश्यक (सामयिकादि) कर्म भी नहीं करते हैं ? तथा उपकरणादि का प्रतिलेखन भी नहीं

करते हैं ?

उत्तर—वे यथासमय छह आवश्यक कर्त्तव्य कर्मों का आचरण अवश्य करते हैं। उपकरणो का प्रतिलेखन भी प्रयत्न पूर्वक प्रातः और साय दोनो समय बराबर करते हैं। किन्तु यदि आवश्यक क्रम मे स्खलन होजावे 'मिथ्या मया कृत' मैने मिथ्या किया ऐसा बोलते हैं और वन्दनादि क्रिया के लिए जाते समय 'आसिका' शब्द और वहा से निकलते समय 'निपीधिका' शब्द का उच्चारण करते हैं।

प्रश्न—उन महामुनीश्वरो के यदि पाव मे काटा लग जावे या नेत्र मे कुछ गिर पड़े तो वे उन्हें (कटकादि को) अपने हाथ से निकालते हैं या नहीं ?

उत्तर—उनके पादादि में कटकादि लग जावे या आखों में रज कूडा आदि गिर जावे तो उसको वे अपने हाथ से नहीं निकालते हैं। न किसी को निकालने के लिए कहते हैं। यदि स्वय दूसरा कोई मनुष्य निकालने लगे तो वे मौन धारण करते हैं। रोगादि का प्रतीकार भी नहीं करते हैं। तपश्चरण के प्रभाव से उत्पन्न हुई विक्रिया, चारण, क्षीरस्राविल्व आदि ऋद्धियो का उपयोग भी नहीं करते हैं।

प्रश्न—इगिणी मरण विधि का पालन करने वाले मौन व्रती मुनीश्वर किसी के प्रश्न करने पर उत्तर देते हैं या नहीं ?

उत्तर—देव या मनुष्य के धर्म विषयक प्रश्न करने पर थोडा धर्मोपदेश भी देते हैं ऐसा दूसरे आचार्यों का मत है।

इस प्रकार इगिणी मरण विधि का साधन कर कई कर्म-क्लेश का नाश कर निर्वाण पद प्राप्त करते हैं और कई वैमानिक देव होते हैं।

इस प्रकार इगिणी मरण का वर्णन समाप्त हुआ।

पंडितमरण का तृतीय भेद प्रायोपगमन

णवरिं तणसंथारो पाओवगदस्स होदि पडिसिद्धो।
आदपरपओगेण य पडिसिद्धं सव्वपरियम्मं ॥ २०६४ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—भक्त प्रत्याख्यान विधि का आचरण करने वाला मुनि अपना वैयावृत्त्य आप भी करता है तथा दूसरे से भी करवाता है। इगिणी मरण विधि का पालक अपना वैयावृत्त्य दूसरे से नहीं करवाता, वह अपना वैयावृत्त्य स्वय करता है। किन्तु प्रायोपगमन नामक पडित मरण का आचरण करने वाला महामुनीश्वर अपना वैयावृत्य आप भी नहीं करता है और दूसरो से भी नहीं करवाता है। उसके तृणो का सथारा

भी नहीं होता। उसके लिए सर्व प्रकार की शरीर-शुश्रूषा वर्जित है।

प्रश्न—रोगादि से पीड़ित होने पर औषधादि का सेवन, तथा परीषह उपसर्ग का निवारण, कटकादि का उद्धरण (निकालना) आदि क्रियाएँ वे स्वयं नहीं करते हैं, न दूसरे से करवाते हैं और कोई करना चाहे तो न करने देते हैं। किन्तु मलमूत्रादि का निराकरण तो वे अवश्य करते ही होंगे ?

उत्तर—वे महामुनीश्वर प्रयोग से अर्थात् स्व या परके प्रयत्न से मलमूत्रादि का निराकरण भी नहीं करते हैं। कहा है :—

सो सल्लेहिद देहो जम्हा पाओवगमणमुवजादि ।
उच्चरादिविकिंचणमवि णत्थि पओगदो तम्हा ॥ २०६५ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—प्रायोपगमन मरण विधि का प्रारम्भ करने वाला महामुनीश्वर पहले से अपने शरीर को सम्यक् प्रकार से इतना कृश कर लेता है कि उसके शरीर में केवल अस्थि और चर्म ही शेष रह जाता है। पश्चात् प्रायोपगमन संन्यास विधि का प्रारम्भ करता है। अतएव उसके मलमूत्र की किसी प्रकार की बाधा नहीं होती है। बाधा के अभाव मे स्व तथा परके प्रयत्न से मलमूत्र का निराकरण करने की आवश्यकता ही नहीं होती है।

प्रश्न—प्रायोपगमन सन्यास विधि का सेवन करने वाले महामुनीश्वर को यदि व्याघ्रादि किसी दुष्ट तिर्यंच ने अथवा किसी पूर्व जन्म के वैरी मनुष्य या देव ने जीव जन्तुओ से संकुल भूमि भाग मे लेजाकर फेंक दिया हो तो वे क्या करेंगे ? वहा ही रहेंगे या वहा से उठकर अन्य जीव जन्तु रहित स्थान में चले जावेंगे ?

उत्तर—वे महामुनीश्वर परम धैर्य के धारक व एकाग्रचित्त होते हैं। वे वहा से नहीं उठते। उसी जगह आत्मध्यान में लीन रहते हैं। शास्त्र मे कहा है :—

पुढवीआऊतेऊवणप्फदितसेसु जदि वि साहरिदा ।
वोसट्ठचत्तदेहो अधाउग पालए तत्थ ॥ २०६६ ॥ [भग. आ]

अर्थ—प्रायोपगमन विधि का सेवन करने वाले परम तपोधन को यदि कोई विरोधी मनुष्य या देव सचित्त पृथ्वी पर नदी समुद्रादि जलाशय मे, दहकती हुई अग्नि के पुंज मे, लहराती हुई सस्य आदि वनस्पति सहित बीहड़ वन में, या जीव जन्तु से व्याप्त किसी

भयानक प्रदेश मे लेजाकर पटक दे तो वे परम धीर वीर मुनीश्वर वहा मे नहीं उठते हैं। आयु पर्यंत उसी स्थान मे ज्यों के त्यो निश्चल रहकर आत्मध्यान में लीन रहते हैं।

मुनिमात्र जल स्नान के त्यागी होते हैं। यदि कोई अज्ञानी जीव भक्ति के वश उनका जलसे अभिषेक करने लगे या गध पुष्पादि से पूजा करने लगे तो वे उस पर प्रेम नहीं करते हैं। तथा कोई विरोधी जीव उनपर शस्त्रादि का प्रहार करने लगे तो वे उस पर क्रोध नहीं करते हैं। कहीं भी वे उठा कर गिरा दिये जावें तो ज्यों के त्यों पड़े रहेंगे। एकाग्रचित्त हो आत्म-स्वरूप मे मग्न रहना ही वे अपना कर्तव्य समझते हैं।

उपसर्ग से हरण किये हुए महामुनि का अन्य स्थान मे मरण होजाने पर वह नीहार मरण कहलाता है और उपसर्ग के अभाव मे मुनिराज का जो स्वकीय स्थान मे मरण होता है वह अनीहार मरण कहलाता है। इस प्रकार प्रायोपगमन सन्यास का वर्णन हुआ।

प्रश्न—उक्त तीन पडित मरण के भेदों के अतिरिक्त भी पडित मरण होता है या नहीं ?

आगाढे उवसग्गे दुब्भिक्खे सव्वदो वि दुत्तारे।
कदजोगिसमाधियासिय कारणजादेहिं वि मरंति॥ २०७२ ॥ [भग आ]

अर्थ—बलवान् (प्राणघातक) उपसर्ग के प्राप्त होने तथा दुर्निवार दुष्काल पड़ जाने पर तथा अन्य आयु नाशक कारणो के उपस्थित होने पर परीषह उपसर्ग का सहन करने म समर्थ धीर वीर मुनीश्वर रत्नत्रय की साधना के लिए आत्मध्यान मे लीन हुए प्राण त्याग करने में उत्साही होते हैं।

प्रश्न—इस प्रकार उपसर्गादि आने पर आत्म ध्यान मे लीन होकर प्राणो का उत्सर्ग करने वाले परम ध्यानी मुनि कौन २ हुए हैं ? उनका उदाहरण दीजिए।

उत्तर—धर्मसिंह वृषभसेनादि अनेक पुरुषपुगव हुए हैं। जिन्होने भयानक उपसर्गों के आने पर रत्नत्रय की आराधना करते हुए शान्ति से प्राणो का त्याग किया है।

कोसलय धम्मसीहो अट्ठं साधेदि गिद्धपुच्छेण।
णयरम्मि य कोल्लगिरे चंदसिरिं विप्पजहिदूण ॥ २०७३ ॥ [भग आ.]

अर्थ—अयोध्या के राजा धर्मसिंह ने चन्द्रश्री नाम की अपनी पत्नी का त्यागकर कोल्लगिरि नामक पर्वत पर गृद्धपिच्छ से युक्त होकर अपने आत्मीय अर्थ (रत्नत्रय) की साधना की।

पाटलीपुत्र (पटना) नगर में अपनी सुता के निमित्त मामा का उपसर्ग सहकर वृपभसेन नाम के पुरुषोत्तम ने आत्मीय अर्थ (रत्नत्रय) का साधन करते हुए वैखानस मरण किया अर्थात् श्वास रोध कर आराधना की।

इस प्रकार अनेक उदाहरण आगम मे विद्यमान हैं। जिन्होंने प्राण घातक सकट के आ जाने पर शान्ति से पडित मरण कर आत्मा के कल्याणकारी सम्यग्दर्शनादि की साधना मे वाधा न आने दी।

साराश यह है कि यह शरीर किसी न किसी निमित्त को पाकर अवश्य नष्ट होने वाला है। इस मनुष्य शरीर को रत्नत्रय धम के आचरण मे लगाने से ही इस की सफलता है। इस लिए प्राणो का घात करने वाले भयानक सकट के उपस्थित होने पर भी भेद विज्ञान रूपी सजीवनी औपधि का सेवन करते हुए सब पदार्थों से ममत्व हटाकर आत्म ध्यान मे-आत्मा के स्वरूप चिन्तन मे—ही चित्त को एकाग्र करना उचित है।

अब पण्डित पण्डित मरण का निरूपण करते हुए प्रथम जीवन्मुक्ति की उत्पत्ति का क्रम दिखलाते है।

साहू जहुत्तचारी वट्टंतो अप्पमत्तकालम्मि।
झाणं उवेदि धम्मं पविट्ठिकामो खवगसेढिं ॥ २०८८ ॥ [भग. आ.]

अर्थ--आचार शास्त्रो (आचारागादि) के अनुसार आचरण करने वाला अप्रमत्तगुण स्थान में वर्त्तमान साधु क्षपक श्रेणि मे प्रवेश करने का इच्छुक हुआ उत्कृष्ट विशुद्धि को प्राप्त होकर धर्मध्यान का आश्रय लेता है।

धर्म ध्यान का अन्तरङ्ग कारण आत्म-विशुद्धि है,उसकी निरन्तर प्राप्ति होती रहे इसके लिए वाह्य निमित्त की आवश्यकता होती है। अत. ध्यान के वाह्य निमित्त का निरूपण करते हैं—

सुचिए समे विचित्ते देसे णिज्जंतुए अणुण्णाए।
उज्जुअआयददेहो अचलं बंधेत्तु पलिअंकं ॥ २०८८ ॥ (भग. आ.)

अर्थ-जिस स्थान पर मुनि ध्यान करे वह उसके स्वामी की आज्ञा से प्राप्त हो अर्थात् क्षेत्र के स्वामी मनुष्य देवादि से आज्ञा लेली गई हो। तथा वह स्थान पवित्र हो, समतल और जीव जन्तुओं से रहित हो। उस स्थान में ध्याता निश्चल चार अगुल अन्तर वाले दोनों पाँवो पर खड़ा रह कर अथवा पद्मासन, वीरासन, पर्यंकासनादि मे से जो आसन सुखकर प्रतीत हो उस आसन से बैठकर या उत्तानशयनादि से सोते हुए ध्यान कर सकते हैं। ध्यान की विधि पहले ध्यान के वर्णन में विशद रूप से कह आये हैं। उसको लक्ष्य मे रखकर जिस प्रकार प्रमाद रहित हुआ चित्त की एकाग्रता कर सके वैसे ध्यान का परिकर ग्रहण करे। ध्याता की लेश्या अतिविशुद्ध होनी चाहिए और जिनागम में वर्णित जीवादि तत्वो की तरफ अपना उपयोग केन्द्रित करे और निरन्तर आत्म परिणामों की धारा को उत्तरोत्तर निर्मल करता हुआ धर्म ध्यान मय उपयोग करे।

धर्म ध्यान मे लीन हुआ वह मुनि सप्तम गुण स्थान में अनन्तानुवन्धी क्रोध माना माया लोभ इन चार प्रकृतियों का विसंयोजन (अप्रत्याख्यानादि उत्तर प्रकृति रूप) करता है तथा मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति का क्रम से क्षय करता है। इन सात प्रकृतियों का क्षयकर क्षायिक सम्यक् दृष्टि होकर क्षपक श्रेणि के सम्मुख होता है और सप्तम गुण स्थान के सातिशय भाग में अधःप्रवृत्तकरण को प्राप्त करता है।

साराश यह है कि सम्यक्त्व की घातक उक्त सात प्रकृतियों का क्षय चौथे गुण स्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक चार गुण स्थानों मे कहीं भी होता है। जिस मुनि ने पहले के चतुर्थादि तीन गुण स्थानो मे उक्त सात प्रकृतियों का क्षयकर क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं प्राप्त किया है वह सातवें गुणस्थान मे उनका क्षयकर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर क्षपक श्रेणी का आरोहण करता है और वहा पर अधःप्रवृत्तकरण को प्राप्त करता है।

इसके पश्चात् वह क्षपक मुनि क्षपक श्रेणि की पहली सीढी जो अपूर्वकरण है उस पर आरूढ़ होता है। ये परिणाम कभी पहले प्राप्त नहीं हुए हैं इसलिए इनको अपूर्वकरण कहते हैं। क्योंकि अनादि काल से इस जीव ने धर्म्यध्यान का आराधन कर शुक्लध्यान का प्रथम भेद कभी प्राप्त नहीं किया है। अतः यह अपूर्व (पूर्व काल मे अप्राप्त) करण (परिणाम) कहलाते हैं।

जब वह मुनि उक्त प्रकार अपूर्वकरण गुणस्थान मे पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक शुक्ल ध्यान को प्राप्त कर लेते हैं तब उसके अनन्तर अनिवृत्ति करण नवमे गुणस्थान मे प्रविष्ट होकर १ निद्रा निद्रा, २ प्रचला प्रचला, ३ स्त्यानगृद्धि इन तीन निद्राओ का क्षय करते हैं। तथा ४ नरकगति, ५ नरकगत्यानुपूर्वी, ६ स्थावर, ७ सूक्ष्म, ८ साधारण, ९ आतप, १० उद्योत, ११ तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, १२ एकेन्द्रिय, १३ द्वीन्द्रिय, १४ त्रीन्द्रिय, १५ चतुरिन्द्रिय, १६ तिर्यंचगति इस प्रकार इन सोलह प्रकृतियो का क्षय अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के प्रथम भाग में करते हैं।

तत्पश्चात् अप्रत्याख्यान १७ क्रोध, १८ मान, १९ माया, २० लोभ तथा प्रत्याख्यान २१ क्रोध, २२ मान, २३ माया, २४ लोभ ये आठ मध्यम कषाय हैं, इनका अनिवृत्ति करण के दूसरे भाग मे क्षय करते हैं।

२५ नपुंसक वेद का अनिवृत्तिकरण के तीसरे भाग मे क्षय करते हैं।

२६ स्त्री वेद का विनाश इसके चतुर्थ भाग मे करते हैं।

२७ हास्य, २८ रति, २९ अरति, ३० शोक, ३१ भय, और ३२ जुगुप्सा इन छह प्रकृतियो का घात इसके पाँचवें भाग मे करते हैं।

छठे भाग में ३३ पुरुष वेद का निपातन करते हैं।

सातवें भाग मे ३४ सज्वलन क्रोध का विघात करते हैं।

आठवें भाग मे ३५ सज्वलन माने का विलय करते हैं।

नवमे भाग मे ३६ संज्वलन माया का क्षय करते है। और बादर-कृष्टि विभाग से लोभ को कृश करते हैं।

इस प्रकार उक्त छत्तीस प्रकृतियो का सहार वे क्षपक अनिवृत्तिकरण के नव भागो मे पृथक्त्व वितर्क वीचार शुक्लध्यान के द्वारा करके सूक्ष्मसाम्परायगुण स्थान मे पहुँचते हैं। वहा पर वे सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्त होकर संज्वलन सूक्ष्म लोभ का अनुभव करते हुए सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवर्त्ती होकर पृथक्त्व शुक्लध्यान के प्रकर्ष से सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के अन्त समय मे सूक्ष्मसंज्वलन लोभ का भी क्षय करते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण मोहनीय कर्म का क्षय होने पर क्षीणकषाय गुणस्थान को प्राप्त होते हैं। वहा पर वे क्षपक एकत्व वितर्क अवीचार शुक्लध्यान का आराधन करते हैं। अर्थात् क्षीणकषाय गुणस्थान के प्रथम समय मे शुक्लध्यान के द्वितीय भेद एकत्ववितर्क अवीचार की प्राप्ति करते हैं।

इस शुक्लध्यान के द्वितीय भेद के प्रभाव से यथाख्यात चारित्र होता। इस चारित्र के बल से जीव ज्ञानादि गुणो को अन्यथा करने वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिकर्मों का एक समय मे नाश करते हैं।

जैसे तालवृक्ष की मस्तक सूची का छेदन होने पर सम्पूर्ण ताल या वृक्ष सूख जाता है, उसमे नये पत्र पुष्प फलादि नहीं आसकते हैं। वैसे ही मोहनीय कर्म का नाश होने पर ज्ञानावरणादि घातिकर्मों का भी विनाश हो जाता है।

मोहनीय कर्म की सहायता पाकर ही वे ज्ञानावरणादि कर्म मे अज्ञानादि भावो को उत्पन्न करते थे। मोहनीयकर्म का विनाश

होने पर उनमे अज्ञानादि भाव उत्पन्न करने की शक्ति का ह्रास हो जाता है।

क्षीणकषाय के द्विचरम समय (उपान्त समय) मे निन्द्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों का नाश होता है और उसके अन्त समय में चौदह प्रकृतियो (५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण, ५ अन्तराय) का क्षय हो जाता है।

तत्तो णंतरसमए उप्पज्जदि सव्वपज्जयणिवंधं।
केवलणाण सुद्धं तध केवलदंसणं चेव ॥ २१०३ ॥ [भग. आ]

अथ—उसके अनन्तर ही सम्पूर्ण द्रव्यो की त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों की युगपत् हस्तरेखा समान स्पष्ट प्रत्यक्ष जानने वाला सम्पूर्ण दोष रहित निर्मल केवलज्ञान व केवलदर्शन प्रादुर्भूत होता है। यह किसी पदार्थ में काल मे व किसी क्षेत्र में रुकता नहीं है, इसलिए अव्याघात है। यह निश्चयात्मक है इसलिए असदिग्ध है। समस्त गुणों मे उत्कृष्ट है, इसलिए उत्तम है। मतिज्ञानादि की तरह सकुचित नहीं है; इसलिए असकुचित है। यह नाश से रहित है इसलिए अनिवृत्त है। यह अधूरा नहीं है इसलिए सकल है। इसमें इन्द्रिय और मन की सहायता नहीं है अतएव यह केवल कहलाता है। जैसे भूत, भावी, वर्त्तमान पदार्थों के अनेक चित्र जिसमे लिखे हुए हैं ऐसे चित्रपट को वर्त्तमान मे हम स्पष्ट देख सकते हैं, वैसे ही त्रिकालवर्त्ती समस्त गुण पर्यायो सहित समस्त लोक अलोक का युगपत् एक समय मे चित्रपट की तरह वे केवल ज्ञान के धारक भगवान् केवली क्षपक अवलोकन करते हैं।

वह क्षपक भुज्यमान आयुकर्म के शेष भाग पर्यन्त केवली अवस्था मे विहार करते हैं। अर्थात् अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त्त सहित आठ वर्ष हीन एक पूर्व कोटी वर्ष पर्यन्त सयोग केवलज्ञान अवस्था मे अघाति कर्मों को भोगते हुए इस मनुष्य पर्याय मे रहकर आर्य-क्षेत्र मे विहार करते हैं और यथाख्यात चारित्र को वृद्धिंगत करते हैं।

उसके अनन्तर वे केवली भगवान् अघाति कर्मों का नाश करने के लिए अवशिष्ट जो सात प्रकार का योग है उसका निरोध करते हैं। वह योग निरोध विना इच्छा के ही होता है। अर्थात् सत्य वचन योग, अनुभय वचन योग, सत्यमनोयोग, अनुभयमनोयोग, औदारिक काययोग, औदारिक मिश्रकाययोग, और कार्मणयोग इन सातो योगो के व्यापार को रोकते हैं।

समुद्‌घात का वर्णन

उक्कस्सएण छम्मासाउगसेसम्मि केवली जादा।
वच्चंति समुग्घादं सेसा भज्जा समुग्घादे ॥ २१०६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—उत्कृष्ट रूप से आयु के छह मास बाकी रहने पर जिनको केवल ज्ञान उत्पन्न होता है वे अवश्य समुद्घात करते हैं। शेष केवलियों के लिए समुद्घात विकल्पनीय है।

भावार्थ—मूल शरीर को न छोड़कर आत्म-प्रदेशों का दण्ड कपाटादि रूप होकर शरीर के बाहर निकलना समुद्घात कहलाता है। जिनको उत्कृष्ट छह मास की आयु शेष रहने पर केवल ज्ञान उत्पन्न हो जावे वे तो नियम से समुद्घात करते हैं। जिनके नाम, गोत्र और वेदनीय की स्थिति आयु कर्म के समान होती है वे केवली समुद्घात नहीं करते हैं। जिनके नाम गोत्र और वेदनीय कर्म की स्थिति आयु कर्म से अधिक होती है वे केवली समुद्घात करते हैं।

प्रश्न—आयु का कितना काल शेष रहने पर केवली भगवान् समुद्घात करते हैं?

उत्तर—भुज्यमान आयु का अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाता है, उस समय उक्त तीनों कर्मों की स्थिति आयु कर्म के समान करने के लिए केवली भगवान् समुद्घात करते हैं।

प्रश्न—समुद्घात करने से नामादि कर्मों की अधिक स्थिति कम कैसे हो जाती है?

उत्तर—जैसे सिमटा हुआ गीला वस्त्र अधिक काल मे सूखता है पर वही कपड़ा फैला देने पर शीघ्र सूख जाता है वैसे ही समुद्घात के द्वारा कर्म की स्थिति का कारण जो स्नेह (चिकनाई) है वह सूख जाती है और वह शीघ्र निर्जरा के योग्य हो जाता है। अर्थात् कर्मों की स्थिति कम हो जाती है।

प्रश्न—केवली भगवान् नामादि कर्मों को समान करने के लिए किस तरह समुद्घात करते हैं? और उसमे कितना काल लगता है?

उत्तर—केवली भगवान आत्म-प्रदेशों को प्रथम समय मे दण्डाकार निकालते हैं। दूसरे समय मे वे कपाट रूप होते हैं। तीसरे समय मे प्रतराकार होते हैं अर्थात् वातवलय को छोड़कर सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होते हैं। चौथे समय मे वातवलय सहित समस्त लोक मे व्याप्त हो जाते हैं। पाचवें समय में उनको सकोच कर प्रतराकार करते हैं। छठे समय मे कपाटाकार करते हैं। सातवें समय मे दण्डाकार करते हैं और आठवें समय मे वे आत्म शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। ये चार समय संकोच करने के हैं। इस प्रकार समुद्घात मे आठ समय लगते हैं।

इस प्रकार समुद्घात के द्वारा तीनो कर्मों को स्थिती आयु कर्म के समान करके मुक्ति की प्राप्ति के लिए योग का निरोध करते हैं

योगनिरोध

प्रश्न—योगो का निरोध किस क्रम से करते हैं ?

उत्तर—वे केवली भगवान् बादर वचनयोग और बादर मनोयोग का बादर काययोग मे स्थिर निरोध करते हैं। तथा बादर काययोग का सूक्ष्म काययोग मे स्थिर होकर निरोध करते हैं। तथा सूक्ष्म वचनयोग, सूक्ष्म मनोयोग को भी सूक्ष्म काययोग मे स्थिर होकर रोकते हैं।

उत्कृष्ट लेश्या के धारक वे केवली भगवान् सूक्ष्म काययोग से सातावेदनीय कर्म बन्ध करते हैं। तब उनके सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नाम का शुक्लध्यान होता है। उस ध्यान द्वारा वे सूक्ष्म काय योग का निरोध करते हैं। अब कोई योग नहीं रहता है, इसलिए उनके आत्म प्रदेश निश्चल हो जाते हैं। - व उनके सातावेदनीय कर्म का भी बन्ध नहीं होता है। क्योकि उनके बन्ध का कारण केवल योग था उसका भी नाश हो जाने पर उनके समस्त बन्ध का अभाव हो जाता है।

योगनिरोध के बाद कौनसी कर्म प्रकृतियां रहती हैं ?

उस समय उनके १ मनुष्यगति, २ पचेन्द्रिय जाति, ३ पर्याप्ति, ४ आदेय ५ सुभग, ६ यशकीर्त्ति, ७ सातावेदनीय, या असातावेदनीय इन दोनों मे से एक, ८ त्रस, ९,बादर, १० उच्चगोत्र और ११ मनुष्यायु इन ग्यारह कर्मों का वे अनुभव करते हैं। जो तीर्थंकर केवली हैं, उनके एक तीर्थंकर प्रकृति अधिक होने से उनके १२ कर्मों का अनुभव होता है। जो मूक केवली हैं, उनके उक्त ग्यारह कर्मों का ही उदय रहता है।

औदारिक शरीर, तैजस शरीर तथा कार्मण शरीर इन तीन शरीर का बन्ध नष्ट करने के लिए वे अयोग केवली भगवान् समुच्छिन्न क्रियाप्रतिपाती (व्युपरतक्रियानिवर्त्ती) नामक शुक्ल ध्यान के अर्थ भेद को ध्याते हैं।

अयोग केवली गुणस्थान का काल 'अ इ उ ऋ लृ,' इन पाच ह्रस्वस्वर के उच्चारण काल के समान काल है। अर्थात जितना समय इन पाच स्वरों के उच्चारण करने मे लगता है, उतने समय तक वह इस शरीर मे रहते हैं।

इस गुणस्थान के उपान्त्य (द्विचरम) समय मे उदय मे नहीं आई हुई सब प्रकृतियों का क्षय करते हैं। अर्थात् तिहत्तर प्रकृतियो का क्षय करते हैं। और इसके अन्त समय मे वह अयोग केवली भगवान् यदि तीर्थंकर हो तो बारह प्रकृतियो का और सामान्य केवली हों तो ग्यारह प्रकृतियों का क्षय करते हैं।

नाम कर्म के क्षय से तैजस बन्ध का नाश होता है और आयु कर्म के नाश से औदारिक बन्ध का क्षय होता है। इस प्रकार बन्धन से मुक्त हुए वे केवली भगवान बन्धन मुक्त एरण्ड बीज के समान उत्कृष्ट वेग से ऊपर गति करके सिद्धालय में जाकर विराजमान होते हैं

शुद्ध जीव की गति कैसे होती है ?

जैसे मिट्टी आदि के लेप से युक्त तूम्बी जल में डूबी रहती है, लेप रहित होते ही जल के ऊपर आजाती है, वैसे ही जीव कर्म लेप से युक्त हुए संसार में पड़े रहते हैं और कर्म लेप से रहित होकर प्रयोगवश से स्वभावतः ऊर्ध्व गमन कर लोक के शिखर में जाकर विराजमान होते हैं। वे एक समय में सात राजू क्षेत्र को पार कर वातवलय के अन्त भाग में जाकर निश्चल हुए आत्म-स्वरूप में लीन रहते हैं।

जैसे वायु के झोंके के अभाव में अग्नि की लौ सदा ऊर्ध्व गमन करती है वैसे कर्मोदय के झोंके से रहित हुए मुक्त परमात्मा स्वभाव से ऊर्ध्व गमन करते हैं। आगे गति में कारण भूत धर्म द्रव्य के न होने से लोक के अन्तिम सिरे पर जाकर वे स्थिर हो जाते हैं। अलोक में उनका गमन इसलिए नहीं होता है कि वहां धर्म द्रव्य नहीं है। धर्म द्रव्य ही गति करते हुए जीव पुद्गलों का गमन कर्म में सहायक होता है। जैसे रेल के गमन करने के लिए पटरी तथा मछली की गति के लिए जल सहायक होता है वैसे ही जीव और पुद्गलों की गमन क्रिया में धर्म द्रव्य सहकारी होता है। वह आगे नहीं है, अतः मुक्त जीव लोक की अन्तिम सीमा पर जो सिद्धालय है, वहां विराजमान हो जाते हैं। सो ही कहा है :—

सिद्धशिला कहां है ?

ईसप्पब्भाराए उवरिं अच्छदि सो जोयणम्मि सीदाए।
धुवमचलमजरठाणं लोगसिहरमस्सिदो सिद्धो ॥ २१३३ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—ईषत्प्राग्भारा नाम की आठवीं पृथ्वी है। उसके ऊपर किंचित् ऊन (कुछ कम) एक योजन प्रमाण वातवलय का क्षेत्र है। उसके अन्त में जो लोक का शिखर है उसमें सिद्ध भगवान विराजमान हैं। वे शाश्वत और अचल हैं। तथा जरा जन्म मरणादि दोषों से रहित अनन्त चतुष्टय में मग्न हैं।

सारांश यह है कि लोक के अग्रभाग में ईषत्प्राग्भार नाम की एक पृथ्वी है। जो मध्य में आठ योजन मोटी (जाडी) है और फिर क्रमशः हीन (पतली) होती हुई अन्त में सिरे पर अंगुल के असंख्यातवें भाग पतली हो गई है। उसका विस्तार (लम्बाई-चौडाई) स. प्र.

पैंतालीस लाख योजन प्रमाण है। वह उत्तानित श्वेत छत्र के समान आकार वाली है। उसकी परिधि (गोलाई) १४२३०२४९ एक करोड़ वियालीस लाख तीस हजार दोसौ उनचास योजन प्रमाण है। उसके ऊपर कुछ कम एक योजन प्रमाण वातवलय है। उसके अन्तिम भाग में अपनी अपनी अन्तिम शरीर प्रमाण अवगाहना से सिद्ध भगवान् विराजमान हैं। वे शाश्वत हैं, अचल हैं और जरा मरणादि सब दूषणों से पृथक् हैं तथा अनन्त दर्शन-ज्ञान सुख और वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय से शोभित हैं।

सिद्ध भगवान् की अवगाहना (आत्मप्रदेशों का आकार) जिस शरीर से योग निरोध कर मुक्त हुए हैं, उस चरम शरीर से किंचित् न्यून होती है। अर्थात् नख केशादि जिन अवयवों में आत्म प्रदेश नहीं होता हैं, उतनी कम अवगाहना के धारक होते हैं।

सिद्धावस्था का सुख

प्रश्न—सिद्ध भगवान् को किस प्रकार का सुख होता है ?

देविंदचक्कवट्टी इंदियसोक्खं च जं अणुहवंति।
सद्दरसरूवगंधप्फरिसप्पयमुत्तमं लोए ॥ २१४८॥
अव्वाबाधं च सुहं सिद्धा जं अणुहवंति लोगग्गे।
तस्स हु अणंतभागो इंदियसोक्खं तयं होज्ज ॥ २१४९ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—लोक में उत्कृष्ट सुख का अनुभव करने वाले देवेन्द्र तथा चक्रवर्ती उत्तमोत्तम स्पर्श रस गन्ध रूप व शब्द इत्यादि का सेवन कर जो सुख भोगते हैं वह सुख इस लोक मे सर्वोत्कृष्ट माना गया है। वह लोक का एकत्र किया हुआ सम्पूर्ण सुख सिद्ध भगवान् के सुख का अनन्तवाँ भाग है और यह कहना भी केवल समझाने के लिए है, क्योंकि संसार सुख और मुक्ति सुख की जाति भिन्न है।

भावार्थ—सिद्धों का सुख अतीन्द्रिय व आत्मजन्य है। संसार के सुख पराधीन इन्द्रियजन्य होने से तुच्छ हैं। सिद्धों का सुख अव्याबाध (बाधा रहित) है और सांसारिक सुख बाधा सहित है। अतः आत्मजन्य और पुद्गलजन्य सुख में समानता किसी प्रकार नहीं हो सकती है। संसार का सुख सुख नहीं, किन्तु दुःख की किंचित् निवृत्ति रूप कल्पना मात्र है। इसलिए वास्तव में सुख नहीं है और सिद्ध भगवान् के कर्मों का सर्वथा अभाव होने से लेश मात्र दुःख का अस्तित्व नहीं रहा है। वहाँ केवल निरन्तर अनुपम सुख का स्रोत बहता रहता है। अतः उनको अनन्त सुखी कहा जाता है। ऊपर दृष्टान्त द्वारा जो सिद्ध भगवान् के सुख की तुलना की गई है वह केवल मूढ बुद्धि संसारी

जीवों के समझाने मात्र के लिए है उनका अनिन्द्रिय सुख का निम्न प्रकार वर्णन किया गया है।

अणुवममेयमक्खयममलमजरमरुजमभयमभवं च।
एयंतियमच्चवंतियमव्वाबाधं सुहमजेयं ॥ २१५३ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—हे भव्योत्तमों! इस जगत् मे सिद्धों के सुख के समान या उससे अधिक सुख दूसरा कोई सुख नहीं है जिसकी उपमा सिद्ध सुख को दी जा सके। इसलिए सिद्धों का सुख अनुपम (उपमा रहति) है। छद्मस्थ जीव सिद्धों के सुख को जानने में तथा उसका परिमाण प्रतीत करने मे असमर्थ हैं, अत वह अतुल (अमेय) है। इसमें प्रतिपक्षी दुःख का सर्वथा अभाव है, इसलिए यह अक्षय है। इसमे राग द्वेषादि का सम्पर्क नहीं है, अत यह अमल है। जरा (वृद्धावस्था) से रहित होने से यह अजर है। इसमे रोग का संसर्ग तक नहीं है; इस लिए यह अरुज है। भय रहित होने से यह अभय है। संसार भ्रमण से मुक्त है अतः येह अभव है। यह सिद्ध सुख आत्मा से ही उत्पन्न होता है, इसलिए इसको एकान्तिक असहाय कहते हैं। इस प्रकार यह अनिन्द्रिय सिद्धो का सुख सब बाधाओं से रहित होने के कारण अव्याबाध सुख है।

इस भगवती (समस्त ऐश्वर्य प्राप्त कराने वाली) सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपश्चरण की आराधना का आराधन (सेवन) करने से यह आत्मा तत्काल या सात आठ भव के भीतर परमानन्द पद को प्राप्त करलेती है। अतएव हे भव्य जीवो! इस भगवता का सेवन कर स्वय भगवान बनो।

इस प्रकार श्री १०८ दिगम्बर जैनाचार्य श्री सूर्यसागरजी महाराज द्वारा विरचित
संयम-प्रकाश नामक ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध की वृहत्समाधि अधिकार
नामक पञ्चम किरण समाप्त हुई।

❀ प्रकाशकीय ❀

संयम-प्रकाश की तृतीय किरण पाठकों के हाथ में काफी विलम्ब के साथ पहुच रही है। यह विलम्ब पाठको को तो असह्य हुआ ही है पर स्वयं हमे भी असह्य होगया है। पर यह अकारण नहीं है, इसके कई कारण हैं। सब से बडा कारण तो प्रेस की अव्यवस्था है। किन्तु इस अव्यवस्था के लिए प्रेस स्वयं भी पूर्ण उत्तरदायी नहीं ठहराया जासकता। आजकल कर्मचारियो का मिलना बहुत मुश्किल होरहा है। यथोचित वेतन देने पर भी आदमी नहीं मिलते। इसके अतिरिक्त कागज आदि के सम्बन्ध मे समय २ पर कई ऐसी बातें होगई है जिनके कारण भी कुछ विलम्ब हुआ। आशा है इस विवशता का खयाल कर पाठक इस विलम्ब के लिए हमे क्षमा करेंगे। भविष्य मे ऐसा विलम्ब न हो इसके लिए हम अभी से काफी सतर्क हैं और यह आशा करते हैं कि इसकी "अनगार-भावना अधिकार" नामक चतुर्थ किरण पाठको के हाथो मे अप्रेल के अन्तिम सप्ताह तक पहुच जावेगी। प्रूफ सशोधन मे कई गलतिया रहगई हैं—प्रेस कर्मचारियो की असावधानी से पृष्ठ नं० ५२० उल्टा छप गया है-इसके लिए भी हम क्षमा-प्रार्थी हैं।

चैनसुखदास जैन न्यायतीर्थ,

मन्त्री—

श्री आचार्य सूर्यसागर दि० जैन ग्रन्थमाला समिति,

मनिहारों का रास्ता, जयपुर सिटी।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ संख्या
पचाचाराधिकार	
मङ्गलाचरण	३१३
आचार के भेद	"
दर्शनाचार	"
सम्यग्दर्शन की महिमा	३१४
सम्यग्दृष्टि के भोग भी निर्जरा के कारण कैसे हैं ?	३१५
अन्य कार्य करते हुए भी भेद-प्रतीति कैसे रहती है ?	३१६
सम्यग्दर्शन के भेद वर्णन में विवक्षा भेद	३१६
सराग और वीतराग सम्यक्त्व	३१७
प्रशमादि का स्वरूप	"
सम्यक्त्व होने का ज्ञान कैसे होता है ?	३१७
निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शन	३१८
क्षायिक सम्यग्दर्शन का स्वरूप	"
अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व का घात करती है या चारित्र का	३१९
क्षायिक सम्यग्दर्शन की महत्ता	३२०
क्षायिक सम्यग्दर्शन की स्थिति	३२१
" " किसके होता है ?	३२२
क्षायिक सम्यग्दर्शन होने पर भी जीव ससार को क्यों नहीं छोड़ता	३२३
क्षायिक सम्यक्त्व कौन से गुणस्थानों में उत्पन्न होता है	३२४
औपशमिक सम्यक्त्व का स्वरूप	"
क्षायिक और औपशमिक मे भेद	३२५
उपशम सम्यक्त्व के भेद	"
प्रथमोपशम सम्यक्त्व	"
द्वितीयोपशम सम्यक्त्व	३२६
क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का स्वरूप	३२७
क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का लक्षण	"
क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति और उसके गुणस्थान	३२८
सम्यक्त्व के नौ भेद	"
क्षायोपशमिक के तीन भेद	"
वेदक सम्यक्त्व के चार भेद	"
सम्यक्त्व के आज्ञादि दश भेद	३२९
आज्ञा सम्यक्त्व	"
मार्ग "	"
उपदेश "	३३०
सूत्र "	"
बीजज "	"
सक्षेप "	३३२
विस्तार "	"
अर्थ "	"

विषय	पृष्ठ संख्या
अवगाढ ,,	३३३
परमावगाढ ,,	,,
सम्यग्दृष्टि के संवेग आदि आठ गुण	,,
आठ अङ्गो से आठ गुणो का भेद	३३४
पचीस मल दोष	३३४
सम्यग्ज्ञानाचार	३३५
ज्ञान के भेद	३३६
मिथ्याज्ञानो का स्वरूप	,,
कुमति ज्ञान	३३७
कुश्रुत ,,	,,
कुअवधि ,,	,,
मतिज्ञान के अवग्रहादि चार भेद	३३८
अवग्रहादि के विषय भूत बारह प्रकार के पदार्थों का वर्णन	३३६
परोक्ष ज्ञान और उसके भेद	३४१
स्मृति	,,
प्रत्यभिज्ञान	,,
तर्क	,,
अनुमान	३४२
हेत्वाभास के भेद	,,
अनुमान के अङ्ग	३४४
हेतु के भेद	३४५
आगम	३४६
श्रुतज्ञान	,,

विषय	पृष्ठ संख्या
श्रुतज्ञान के दो भेद	३४७
श्रुतज्ञान के बीस भेद	३४८
पर्याय	,,
पर्याय समास	,,
अक्षर	३४६
अक्षर समास	३५०
पद	,,
संघात	३५१
पदसमास	,,
प्रतिपत्तिक	,,
संघात समास	,,
अनुयोग	,,
प्रतिपत्तिकसमास	३५२
प्राभृतप्राभृत	३५२
अनुयोगसमास	,,
प्राभृत	,,
प्राभृतप्राभृतसमास	,,
वस्तु	३५३
प्राभृतसमास	,,
पूर्व	,,
चौदह पूर्वों के नाम	,,
वस्तुसमास	३५४
पूर्वसमास	,,
चौदह पूर्वों मे वस्तु एवं प्राभृत अधिकार की संख्या	,,
श्रुतज्ञान के भेदों का उपसंहार	,,

विषय	पृष्ठ संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
द्वादशांग के पदों की संख्या	३५५	बारहवें दृष्टिवाद अङ्ग के भेद	३६३
अङ्ग बाह्य के अक्षरों की संख्या	,,	१ परिकर्म	,,
अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य के अपुनरुक्त अक्षर	३५६	चन्द्र प्रज्ञप्ति	३६३
अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य के अक्षरों का विभाग	३५७	सूर्य ,,	,,
अङ्गों और पूर्वों के पदों की संख्या	,,	जम्बूद्वीप ,,	,,
अङ्गों के भेद	३५८	द्वीपसागर ,,	,,
आचाराङ्ग	३५८	व्याख्या ,,	३६४
सूत्रकृताङ्ग	,,	२ सूत्र	,,
स्थानाङ्ग	,,	३ प्रथमानुयोग	,,
समवायाङ्ग	,,	४ पूर्वगत	,,
व्याख्या प्रज्ञप्ति	३५९	५ चूलिका	३६४
नाथ धर्मकथा (ज्ञातृ धर्मकथा)	३५९	जलगता चूलिका	,,
उपासकाध्ययन	३६०	स्थलगता ,,	,,
अन्तकृद्दशाङ्ग	,,	मायागता ,,	,,
अनुत्तरौपपादिक दशाङ्ग	,,	रूपगता ,,	,,
प्रश्न व्याकरण	,,	आकाशगता ,,	३६५
आक्षेपिणी कथा	३६१	परिकर्मादि एवं उनके भेदादि के पदों का प्रमाण	,,
विक्षेपिणी कथा	,,	चौदह पूर्व और उनके पदों की संख्या	३६५
संवेजनी कथा	,,	उत्पाद पूर्व	३६६
निर्वेजनी कथा	,,	आग्रायणीय पूर्व	,,
विपाक सूत्र	,,	वीर्यानुवाद ,,	,,
ग्यारह अङ्गों में से प्रत्येक अङ्ग के मध्यम पदों की संख्या	,,	अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व	,,
ग्यारह अङ्गों के सम्पूर्ण पदों का जोड़	३६२	ज्ञान प्रवाद पूर्व	३६७
दृष्टिवाद अङ्ग	३६२	सत्यप्रवाद ,,	,,

विषय	पृष्ठ संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
वचन गुप्ति	३६७	निषिद्धिका ,,	३७४
वचन संस्कार के कारण	,,	श्रुतज्ञान की महिमा	,,
वचन प्रयोग	,,	अवधिज्ञान का स्वरूप और उसके भेद	३७५
१२ प्रकार की भाषा और उनका स्वरूप	३६८	भवप्रत्यय अवधि	३७५
आत्म-प्रवाद पूर्व	३६६	गुणप्रत्यय ,,	,,
कर्म प्रवादपूर्व	३७१	अनुगामी व इसके भेद	३७६
प्रत्याख्यान ,,	,,	क्षेत्रानुगामी	,,
विद्यानुवाद ,,	,,	भवानुगामी	,,
कल्याणवाद ,,	,,	उभयानुगामी	,,
प्राणवाद ,,	,,	अननुगामी व उसके भेद	,,
क्रिया विशाल पूर्व	३७१	क्षेत्राननुगामी	,,
त्रिलोक बिन्दुसार पूर्व	,,	भवाननुगामी	,,
अङ्गबाह्य श्रुत के भेद	३७२	उभयाननुगामी	,,
सामायिक	,,	अवस्थित	३७७
चतुर्विंशति स्तव	,,	अनवस्थित	,,
वन्दना प्रकीर्णक	,,	वर्द्धमान	,,
प्रतिक्रमण ,,	३७३	हीयमान	,,
वैनयिक ,,	,,	अवधिज्ञान के देशावधि, परमावधि व सर्वावधि नामक ३ भेद	,,
कृतिकर्म ,,	,,	देशावधि के जघन्य द्रव्य का प्रमाण	,,
दशवैकालिक ,,	,,	देशावधि के जघन्य क्षेत्र, काल व भाव का प्रमाण	३६८
उत्तराध्ययन ,,	,,	देशावधि के उत्कृष्ट द्रव्य व क्षेत्र का प्रमाण	,,
कल्पव्यवहार ,,	,,	,, ,, काल व भाव का प्रमाण	३७६
कल्पाकल्प ,,	,,	परमावधि के विषयभूत द्रव्य का प्रमाण	३७६
महाकल्प ,,	३७४	,, ,, उत्कृष्ट द्रव्य ,,	,,
पुण्डरीक ,,	,,	,, ,, क्षेत्र व काल ,,	३८०
महापुण्डरीक ,,	,,		

विषय	पृष्ठ संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
असंख्यात गुणित क्रम का विधान	३८०	**चारित्राचार**	३९५
परमावधि के विषयभूत भाव	३८१	महाव्रत का स्वरूप	"
सर्वावधि को विषयभूत द्रव्य	३८१	तीन गुप्तियों का स्वरूप	"
" क्षेत्र, काल व भाव	३८२	संयम का स्वरूप	३९७
मनःपर्यय ज्ञान का स्वरूप	३८२	संयम की उत्पत्ति का कारण	"
ऋजुमति मन पर्यय का स्वरूप, भेद और विषय	"	सामायिक संयम का स्वरूप	३९८
विपुलमति मन पर्यय का लक्षण व भेद	३८४	छेदोपस्थापना संयम का स्वरूप	"
विपुलमति के विषय आदि की मर्यादा	३८५	परिहार विशुद्धि संयम का स्वरूप	३९९
ऋजुमति और विपुलमति में अन्तर	३८६	सूक्ष्म-साम्पराय संयम का स्वरूप	४००
अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में अन्तर	३८७	यथाख्यात संयम का स्वरूप	४०१
केवलज्ञान का स्वरूप	३८८	**तप आचार**	४०२
ज्ञानाचार के आठ अङ्ग	"	तप के भेद	४०३
कालाचार	३८९	बाह्य तप के भेद	"
स्वाध्याय का काल	"	अनशन तप	४०४
दिशाओं की शुद्धि	३९०	अवमौदर्य तप	"
अस्वाध्याय काल	"	रस परित्याग "	४०५
द्रव्य-क्षेत्र और भाव शुद्धि	३९१	वृत्तिपरिसंख्यान "	"
अकालादि में किन शास्त्रों का स्वाध्याय वर्जनीय है	३९१	काय-क्लेश "	४०७
अकाल में भी किनका स्वाध्याय वर्जनीय नहीं है	३९२	विविक्त-शय्यासन "	४०८
विनय शुद्धि	"	विविक्त-वसति किसे कहते हैं	"
बहुमान का स्वरूप	३९३	आभ्यन्तर तप के भेद	४०९
उपधान शुद्धि	३९३	प्रायश्चित का लक्षण और उसके भेद	"
अनिह्नव का स्वरूप	"	आलोचना का स्वरूप	४१०
शब्द, अर्थ और उभय शुद्धि	३९४	" के दोष	"
विनय का महात्म्य	"	विनय तप	४१२

विषय	पृष्ठ संख्या
दर्शन विनय	४१३
ज्ञान विनय	”
चारित्र विनय	”
इन्द्रिय-कषाय-प्रणिधान क्या है	४१४
गुप्ति और उसके भेद	”
समिति और उसके भेद	”
तप विनय	४१५
उपचार विनय	४१६
उपचार विनय के भेद	”
प्रत्यक्ष कायिक विनय	४१७
वाचनिक विनय	४१८
मानसिक विनय	४१९
परोक्ष विनय	”
गुरु के अतिरिक्त अन्य का विनय	४२०
विनय के अभाव मे दोषो की उत्पत्ति	”
वैयावृत्य तप	४२१
साधु किसकी वैयावृत्य करे	”
दश प्रकार के साधु और उनका स्वरूप	४२२
वैयावृत्य की विधि	४२३
वैयावृत्य नहीं करने वालो के प्रति	”
वैयावृत्य करने से १६ गुण होते हैं उनका वर्णन	४२४
नोट—पृष्ठ ४२४ में सयम और सहायता को अलग २ गिना कर गल्ती से १७ बता दिये हैं सो ठीक करके पढ़ें।	
१ गुण परिणति	”
२ श्रद्धा	”
३ वात्सल्य	४२५

विषय	पृष्ठ संख्या
४ भक्ति	४२५
५ पात्रलाभ	”
६ सधान	”
७ तप	४२५
८ पूजा	”
९ तीर्थ की अव्युच्छित्ति	४२६
१० समाधि	”
११ आज्ञा पालन	”
१२ सयम सहायता	”
१३ दान	”
१४ निर्विचिकित्सा	”
१५ प्रभावना	४२७
१६ कार्यनिर्वाह	”
स्वाध्याय तप के भेद	”
१ वाचना	”
२ पृच्छना	४२८
३ अनुप्रेक्षा	”
४ परिवर्त्तन	”
५ धर्मकथा स्तुतिमगल	”
स्वाध्याय का महत्व	४२९
धर्मोपदेश (धर्मकथा) के भेद	४३०
ध्यान तप	
ध्यान का लक्षण	४३२
ध्यान के भेद	४३३
१ प्रशस्त ध्यान	”
२ अप्रशस्त ध्यान	”

विषय	पृष्ठ संख्या
प्रशस्त ध्यान का कारण	४३३
अप्रशस्त ध्यान का कारण	”
प्रशस्त व अप्रशस्त ध्यान के ४ भेद	४३४
चारो ध्यान किस गति का कारण है	४३४
आर्त्त और रौद्रध्यान मे किसका चिन्तन होता है	”
धर्म्यध्यान और शुक्ल ध्यान मे किसका चिन्तन होता है	४३५
आर्त्त ध्यान के चार भेद	”
१ अनिष्टसयोगज आर्त्तध्यान	”
२ इष्ट वियोगज ”	४३६
३ रोगी-पीडा-चिन्तन,,	”
४ निदान ”	”
आर्त्तध्यान की हेयता	४३७
आर्त्तध्यानी के कौनसा गुणस्थान होता है	४३८
छठे गुणस्थानवर्ती मुनि के आर्त्त ध्यान कैसे ?	”
आर्त्त ध्यानी के बाह्य चिह्न	४३६
रौद्रध्यान	४४०
रौद्रध्यान के चार भेद	”
हिंसानन्द नामा रौद्रध्यान	४४१
” ” रौद्रध्यानी के विचार	४४२
रौद्रध्यान का काल और गुणस्थान	४४३
पांचवें गुणस्थान मे रौद्रध्यान कैसे ?	”
सम्यग्दृष्टि क्या रौद्रध्यान से नरक मे गमन करेगा ?	”
ानन्द नामा रौद्रध्यान	४४४
ौर्यानन्द नामा रौद्रध्यान	”
ानन्द नामा रौद्रध्यान	४४५
के बाह्यचिह्न	४४६
रौद्रध्यान का कारण और फल	४४६
धर्म्यध्यान का स्वरूप	४४७
धर्म्यध्यान का ध्याता कौन है	४४८
धर्म्यध्यान की चार भावनाएँ	”
१ मैत्री भावना	”
२ कारुण्य भावना	४४६
३ प्रमोद भावना	४५०
४ माध्यस्थ्य भावना	४५१
उक्त चारो भावनाओं का फल	४५२
ध्यान के अयोग्यस्थान	”
ध्यान के योग्य स्थान	४५४
ध्यान के उपयोगी आसन	४५६
स्थान और आसन ध्यान सिद्धि के उपाय हैं	४५८
ध्यान करने का पात्र	”
ध्यान के समय दिशा का विधान	४५६
धर्म्यध्यान के अधिकारी	”
धर्म्यध्यान के ध्याता के भेद	४६०
धर्म्यध्यान के ध्याता की मुद्रा	”
प्राणायाम की उपयोगिता	४६१
प्राणायाम के भेद	४६२
१ पूरक	”
२ कुम्भक	”
३ रेचक	४६३
परमेश्वर वायु	४६३
मण्डल चतुष्टय का स्वरूप	४६४
१ पृथ्वी मण्डल	४६५

विषय	पृष्ठ सख्या
२ जल मण्डल	४६५
३ वायु मण्डल	"
४ अग्नि मण्डल	४६६
पृथ्वीमण्डल वायु के चिह्न	"
जलमण्डल वायु के चिह्न	"
पवनमण्डल वायु के चिह्न	४६७
अग्नि मण्डल	"
वायुओ का उपयोग	"
वायु का शुभाशुभ फल	४६८
स्वरोदय का विशेष स्वरूप	"
धर्म्यध्यान के भेद	४६९
१ आज्ञाविचय धर्म्यध्यान	४७०
२ अपायविचय "	४७२
ध्यान मे किस प्रकार चिन्तन करें	४७३
३ विपाकविचय धर्म्यध्यान	४७४
कर्मों की दश अवस्थायें और उनका स्वरूप	४७५
गुणस्थान कम से कर्म प्रकृतियो का बन्ध	४७५
" उदय	४७७
" की उदीरणा	४७८
" सत्ता	"
कर्म की आठ मूल प्रकृतिया और उनका स्वरूप	४७९
४ संस्थान विचय धर्म्यध्यान	४८१
लोक का स्वरूप	"
लोक के तीन भाग	४८२
अधोलोक का स्वरूप	"
नरक और वहा के निवासी नारकियो का वर्णन	४८२
मध्यलोक का वर्णन	४८६
ऊर्ध्वलोक का वर्णन	४८७
स्वर्गों का वर्णन	४८८
संस्थान विचय धर्म्यध्यान के भेद	४९३
१ पिण्डस्थ ध्यान और उसकी धारणाएँ	"
१ पार्थिवी धारणा	"
२ आग्नेयी धारणा	४९४
३ श्वसना (वायवीय) धारणा	४९५
४ वारुणी धारणा	"
५ तत्त्वरूपवती धारणा	"
पिण्डस्थ ध्यान का उपसहार	४९६
पिण्डस्थ ध्यान का प्रत्यक्ष फल	"
२ पदस्थ ध्यान	४९७
वर्णमातृका का ध्यान	४९८
वर्णमातृका के ध्यान से बाह्य लाभ	"
मन्त्रराज का ध्यान	४९९
मन्त्रराज के ध्यान की विधि	"
प्रणवमन्त्र (ॐ कार) के ध्यान का वर्णन	५०१
पञ्चपरमेष्ठी के नमस्कारात्मक मन्त्रों का ध्यान	"
पैंतीस अक्षरो का मन्त्र	५०२
सोलह "	"
छह अक्षरो के मन्त्र	"
पाच "	"
चार "	"

विषय	पृष्ठ संख्या
दो "	५०२
एकाक्षर मन्त्र	५०३
सब अक्षरो के मन्त्रो का वर्णन	५०३
नमस्कार मन्त्र का प्रभाव और फल	५०४
सोलह आदि अक्षरो के नमस्कार मन्त्रों की महिमा	"
तेरह अक्षरो का मन्त्र	५०६
पञ्चाक्षर मन्त्र	"
क्लेश नाशक मन्त्र	"
अष्टाक्षर मन्त्राराधन की विधि	५०७
'ह्रीं' इस मन्त्रराज के ध्यान की विधि	"
उक्त मन्त्र का माहात्म्य	५०८
ह्रींकार के ध्यान से सर्वज्ञ का दर्शन	५०९
" " मुक्ति-प्राप्ति	५१०
'भ्वीं' कार का महात्म्य	"
सप्ताक्षर मन्त्र	५११
तीन अक्षरो का महात्म्य	"
भिन्न भिन्न मन्त्रो की आराधन विधि और महात्म्य	५१२
सिद्ध-चक्र मन्त्र का स्वरूप	५१४
क्या वीतराग के लिए भी मन्त्राराधन का नियम है	"
३ रूपस्थ ध्यान	५१५
अर्हन्त देव के सहस्र नामों मे से कुछ नाम	५१६
४ रूपातीत ध्यान	५१७
आत्मातिरिक्त परमात्मा का चिन्तन चित्त मे अनैक्य पैदा करेगा यह शका और उसका उत्तर	५१७
रूपातीत ध्यान मे कर्म रहित परमात्मा का चिन्तन	५१८

विषय	पृष्ठ संख्या
अमूर्त्त परमात्मा का पुरुषाकार कैसे सम्भव है	५१८
ध्यान की आवश्यकता और प्रभाव	५१९
धर्म्यध्यान का फल	५२०
धर्म्यध्यान के चिह्न	"
धर्म्यध्यानी मरकर कहा जन्म लेते हैं	"
शुक्ल ध्यान	५२२
शुक्ल ध्यान के भेद	"
शुक्ल ध्यान किस गुण स्थान मे होता है	५२३
पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्लध्यान	"
एकत्ववितर्क अविचार शुक्लध्यान	५२४
सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान	५२५
समुच्छिन्न क्रियानिवर्ती शुक्लध्यान	५२६
कर्ममुक्त भगवान् लोकाग्र तक कैसे गमन करते हैं	५२७
मन द्वारा चिन्तन रहित केवली के ध्यान का सद्भाव कैसे	५२८
व्युत्सर्ग तप और उसके भेद	"
अन्तरग परिग्रह के १४ भेद	५२९
बाह्य परिग्रह के १० भेद	५३०
वीर्याचार	"
अनुमति के तीन भेद	"
सयम के १७ भेद और उनका स्वरूप	५३२
परीषह के चार भेद	५३३
उपसर्ग और परीषह मे अन्तर	५३४
परीषहो के २२ भेद	"

विषय	पृष्ठ संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
१ क्षुधापरीषहजय	५३४	१२ मल परीषहजय	५३७
२ तृषा ,,	,,	१३ तृणस्पर्श ,,	,,
३ शीत ,,	५३५	१४ अज्ञान ,,	,,
४ उष्ण ,,	,,	१५ अदर्शन ,,	,,
५ नग्न ,,	,,	१६ प्रज्ञा ,,	५३८
६ याच्ञा ,,	,,	१७ सत्कार पुरस्कार ,,	,,
७ अरति ,,	५३६	१८ शय्या ,,	,,
८ अलाभ ,,	,,	१९ चर्या ,,	,,
९ दंशमशक ,,	,,	२० वधबन्धन ,,	,,
१० आक्रोश ,,	,,	२१ निषद्या ,,	,,
११ रोग ,,	,,	२२ स्त्री ,,	५३९

॥ समाप्त ॥

❋ अथ पंचाचाराधिकारः ❋

संयम—प्रकाश

पूर्वार्द्ध—तृतीय किरण

अथ पंचाचाराधिकार

❀ मंगलाचरण ❀

अथ नत्वा जिनं पार्श्वं, पंचाचार-प्रकाशकम् ।
अधिकारं समासेन, वच्मि भव्य-हिताप्तये ॥

इस अध्याय मे मुनियो के पचाचार का वर्णन किया जायगा । आचार का मतलब आचरण करना है । मुनियों के लिए जो आचरण अनिवार्य हैं वे ही आचार कहलाते हैं । उनके मुख्य रूप से ५ भेद हैं—सम्यगदर्शनाचार, सम्यगज्ञानाचार, सम्यकचारित्राचार, सम्यकृतपआचार और सम्यग्वीर्याचार ।

दर्शनाचार

अच्छी तरह से सम्यग्दर्शन का आचरण करना अर्थात् अपने जीवन मे उतारना ही सम्यग्दर्शनाचार कहलाता है । सारे आचारों का मूल सम्यग्दर्शनाचार है । जब तक जीवन मे सम्यग्दर्शनाचार नहीं उतरता तब तक बाकी के चारों आचार मिथ्याचार कहलाते हैं । इसी लिए सबसे पहिले सम्यग्दर्शनाचार को कहा है । सम्यग्दर्शन की बहुत बडी महिमा है । बड़े २ आचार्योंने इसकी महिमा के वर्णन मे बहुत कुछ लिखा है । सम्यक्दर्शन आत्मा की अनुभूति है । इसी अनुभूति के बल पर आत्मा में कर्मों के क्षय करने की योग्यता उत्पन्न हो जाती है । यह अनुभूति एक ऐसी दृष्टि है जिससे यह प्राणी, संसार, देह और भोगो को यथार्थ रूप मे जानने की क्षमता पा लेता है ।

"एको मे शासदो आदा णाणदंसणलक्खणो ।
शेषा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥"

अर्थात् मेरा अकेला आत्मा ही शास्वत (नित्य) है । वह ज्ञान दर्शन-लक्षण है । इसके अतिरिक्त जगत के सभी पदार्थ मुझ से बाह्य हैं, और सब जड़-पदार्थ के सयोग से प्राप्त होने वाले हैं । वे कोई भी मेरे नहीं हैं । इत्यादि विचार सम्यग्दर्शन के बिना

उत्पन्न नहीं हो सकते। सम्यग्दर्शन की ऐसी महिमा है कि यदि वह नरको में भी उत्पन्न होजाय–जहाँ कि ताड़न, मारन, छेदन, भेदन इत्यादि नानाप्रकार के भयकर दुःखों से यह प्राणी प्रतिक्षण सतप्त होता रहता है–वहाँ भी अपने आप को सुखी अनुभव कर सकता है। यही सम्यग्दर्शन स्वर्गों के अपार वैभव में भी मनुष्य को विह्वल नहीं होने देता। इसीलिए प० दौलतरामजी ने अपने एक भजन मे कहा है कि "बाहरि नारकि कृत दुख भुगते अंतर सुख रस गटागटी। रमत अनेक सुरनिसग पै तिस परणतिते नित हटाहटी॥" अर्थात् बाहर मे नारकियो के द्वारा किए हुए अनेक दुखो को भोगता हुआ भी आत्मा भीतर में गटागट शांति-रस पीता रहता है। इसी तरह स्वर्गों का अपार वैभव भी सम्यग्दर्शन के कारण मनुष्य में किसी भी प्रकार का उन्माद उत्पन्न नहीं करता। जैसे सूर्य उदय होने और अस्त होने की दोनों हालतों में एकसा रहता है अर्थात उदय की अवस्था में भी सूर्य लाल रहता है और अस्त की अवस्था में भी लाल ही रहता है इसी तरह सम्यग्दृष्टि भी सपत्ति और विपत्ति दोनों में एकसा रहता है। न वह विपत्ति में घबड़ाता है और न संपत्ति मे उन्माद उत्पन्न होने देता है। यही कारण है कि सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाने के बाद इस आत्मा मे ऐसी विशेषता उत्पन्न हो जाती है कि इस के कारण वह ससार में अर्द्ध–पुद्गल–परावर्तन काल से अधिक नहीं रह सकता। इसके बीच मे वह अवश्य ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

सम्यग्दर्शन की महिमा

सम्यग्दर्शन के बिना यह आत्मा घोरातिघोर तपश्चरण करके भी मुक्ति को नहीं पा सकता। अधिक हुआ तो नवग्रीवक पहुँच गया। इसके बाद तो इसे वापस लौट कर आना ही होगा। अगर ११ अंग तक शास्त्रो का ज्ञान भी होजाय और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न हो तो उसका सारा ज्ञान व्यर्थ है। इसी तरह बिना सम्यग्दर्शन के तेरह प्रकार का चारित्र भी मनुष्य के लिए कोई फल प्रदान नहीं कर सकता। इस सम्यग्दर्शन के पालने मे ही शिवभूति मुनि को शास्त्र का एकाक्षर-ज्ञान नहीं होने पर भी केवल ज्ञान उत्पन्न होगया था। उसने किसी को उड़द की दाल धोते हुए देख कर यह ज्ञान पा लिया कि जिस तरह दाल का तुष दाल से भिन्न है उसी तरह आत्मा भी जड़ से भिन्न है। यह सम्यग्दर्शन की ही महीमा है कि चक्रवर्ति भरत अपार वैभव के बीच भी निर्लिप्त होकर रह सका। और इसी लिए कपड़े उतारने के अन्तर्मुहूर्त बाद ही उसको केवल ज्ञान उत्पन्न होगया। जैसे कमल जल मे रहता हुआ भी उससे निर्लिप्त होकर रहता है उसी तरह सम्यग्दृष्टि भोग भोगता हुआ भी उन में निर्लिप्त रहता है। और यही कारण है कि उसके भोग भी निर्जरा के हेतु कहलाते हैं।

प्रश्न—चाहे सम्यग्दर्शन की कितनी ही महिमा क्यो न हो पर यह कैसे हो सकता है कि उसके होने पर भोग भी निर्जरा के कारण हों। क्या सम्यग्दृष्टि जब भोगो में प्रवृत्त रहता है या अन्य किसी विचार मे लगा रहता है तब उसके बध नहीं होता? और असख्यात गुणी कर्म-निर्जरा होती रहती है?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि चाहे कुछ भी करता रहे या किसी भी विचार मे लगा रहे—उसका आपा-पर का भेद-विज्ञान-रूप श्रद्धान बना ही रहता है। और उसी श्रद्धान के प्रभाव से वह जो कुछ काम करता है या सोचता विचारता है वह सब ठीक ही होता है। वह व्यापार करेगा आवश्यकता पड़ने पर युद्ध करेगा, स्त्री पुत्रादिको से प्रेम करेगा, इन्द्रियो के विषयो का उपभोग करेगा, हँसेगा, रोवेगा, पर उसकी ये सब क्रियायें उसके सम्यग्दर्शन का नाश न कर सकेंगी। क्योकि इन सबको करता हुआ भी वह इन्हें हेय समझता है। ये सब काम मिथ्यादृष्टि भी करता है, पर भेद-विज्ञान न होने के कारण ये सब उसके तीव्रबंध के ही कारण हैं। सम्यग्दृष्टि तो इन्हें करता हुआ भी कर्मों की असख्यातगुणी निर्जरा ही करता है। इसीलिए तो शास्त्रो मे कहा है कि सम्यग्दृष्टि के भोग भी निर्जरा के कारण हैं। यह सब श्रद्धान की महिमा है।

जैसे नाटक का पात्र (Actor) नाटक की रगभूमि मे राजा, रक, स्वामी, सेवक, स्त्री, पुरुषादि अनेक वेषो को धारण करता हुआ भी अपने को उन सब से भिन्न अनुभव करता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि-दुनियॉ के सब कामो को करता हुआ भी अपने आपको इन सब से भिन्न अनुभव करता है और जल मे कमल की तरह इनसे अलिप्त रहता है। शास्त्रो मे जो दुनियॉ के पदार्थों से सम्यग्दृष्टि के प्रेम की तुलना नगरनारी(वेश्या)के प्रेम, धाय के दूसरे बच्चे से प्रेम आदि के दृष्टात दिए हैं वे सब इसी आशय को प्रकट करते हैं।

प्रश्न—यह सब आपका कहना ठीक है पर यह कैसे हो सकता है कि सम्यग्दृष्टि के भोग भी निर्जरा के कारण हैं?

उत्तर—शास्त्रो मे यह बात सम्यग्दृष्टि की महत्ता को प्रकट करने के लिए कही गई है। वास्तव में भोग तो बंध के ही कारण हैं फिर भी सम्यक्त्व के साथ मे भोगो का विष नष्ट होजाता है जो तीव्र बंध का कारण है। आसक्ति न रहने के कारण सम्यक्त्वी के भोगों मे मिथ्यात्वी के भोगो की अपेक्षा पाप-बीजता बहुत कम रहती है। इसी बात को ध्यान मे रखकर आचार्यों ने उपचार से सम्यक्त्वी के भोगो को निर्जरा का कारण कह दिया है। पर इसका मतलब यह नहीं है कि भोग उपादेय हैं। बुराई, बुराई ही है, वह कभी भलाई नहीं हो सकती। हॉ यह हो सकता है कि वह भलाई की मोजूदगी मे उतना असर न कर सके। एक बलवान आदमी अपथ्य सेवन (बदपरहेजी) करे तो वह, शक्ति के कारण उतना असर नहीं करता। फिर भी बदपरहेजी तो बुरी चीज ही कहलावेगी और वह निर्बल व्यक्ति को एक ही बार मे दिखला देगी कि वह कितनी बुरी चीज है। यह बात नहीं है कि बलवान आदमी को बदपरहेजी हानि नहीं पहुँचाती, पर उसका असर निर्बलो पर जितना जल्दी और ज्यादा होता है उतना बलवानो पर नहीं होता। इसी तरह भोग सम्यग्दृष्टि को हानि ही पहुचाते हैं और यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि उन्हे छोडने को लालायित रहता है।

प्रश्न—अच्छा एक बात और बतलाइये। एक जीव (छद्मस्थ) के एक समय मे एक ही उपयोग होता है, ऐसी जैन सिद्धांत की मान्यता है। तब एक ही आत्मा (सम्यग्दृष्टि) एक ही समय मे विषय भोगो और आत्म-चिन्तन के विचार में कैसे रख सकता है? इसलिये

यह मानना चाहिये कि जब सम्यक्त्वी युद्धादि सांसारिक कार्यों मे प्रवृत्त होता है तब उसके आत्म-चिन्तन के विचार बिलकुल नहीं रहते, क्योकि एक समय में दो तरह के विचार कैसे रह सकते हैं ? इसलिये यह क्यो न मान लिया जावे कि सासारिक विपयो मे प्रवृत्ति होने के समय सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है।

उत्तर—जिस समय सम्यग्दृष्टि जीव युद्धादि सांसारिक विपयों में प्रवृत्ति करता है उस समय आत्म-विपयक अथवा भेद-विज्ञान विपयक विचार नहीं करता यह ठीक है। किन्तु भेद-विज्ञान विपयेक प्रतीति अवश्य बनी रहती है। एक ही समय मे दो चिन्तन अथवा दो उपयोग नहीं होते यह ठीक है। और इसी तरह यह भी ठीक है कि एक ही समय एक ही आत्मा मे परस्पर विरुद्ध दो प्रतीतियाँ नहीं ठहर सकतीं, किन्तु भिन्न विपयक प्रतीति और भिन्न विपयक चिन्तन तो ठहर ही सकते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि चिन्तन और प्रतीति का विपय सदा एक सा ही हो। जैसे एक मनुष्य खाते, पीते, चलते, फिरते, पढते, लिखते या किसी भी अन्य विपय का विचार करते समय अपनी इस प्रतीति को कभी नहीं भूलता कि वह नीरोग है। इसी तरह जब सम्यग्दृष्टि जीव आत्मातिरिक्त अन्य विपयो मे प्रवृत्ति करता है तब भी उसके यह प्रतीति बनी ही रहती है कि उसका आत्मा सब पर-पदार्थों से भिन्न है। सम्यग्दर्शन की लब्धि-अवस्था सदा बनी ही रहती है चाहे उपयोगात्मक ज्ञान किसी भी विपय का क्यो न हो। जब सम्यक्त्वी आत्म-चिन्तन पर आता है तब लब्धि और उपयोग का एक ही विपय हो जाता है। और जब यह चारित्र मोहनीय के उदय से पर-चिन्तन मे प्रवृत्त होता है तब दोनो का विपय भिन्न २ हो जाता है। इसलिये यह आवश्यक नही है कि आत्मातिरिक्त विपयक विचारो व तदनुकूल कार्यों के समय सम्यग्दर्शन की लब्धि भी नष्ट हो जाय।

सम्यग्दर्शन के भेद

अब सम्यग्दर्शन के भेदो का वर्णन करते है :—सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं—सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन। सम्यक्त्व के तीन भेद भी हैं—वेदक, क्षायिक और औपशमिक। आज्ञा, मार्ग आदि के भेद से इसके दश भेद भी हैं। एवं निसर्गज और अधिगमज की अपेक्षा भी दो भेद हैं।

इस प्रकार शास्त्रो मे सम्यक्त्व के भेदों का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। इनमे सम्यक्त्व के पहिले दो भेद स्वामित्व की अपेक्षा किये गये हैं। अर्थात् सम्यग्दर्शन के स्वामी सराग और वीतराग जीव दो तरह के होते हैं। तीन भेद कर्मों की क्षयादि अवस्थाओ की अपेक्षा किये गये हैं, और यही भेद प्रधान हैं। दश भेद उत्पत्ति के भिन्न २ कारणो की अपेक्षा किये हैं। और अन्त के दो भेद कारणत्व और अकारणत्व की अपेक्षा से हैं। क्रम से उक्त सभी भेदो का वर्णन करते हैं—

सराग और वीतराग सम्यग्दर्शन का स्वरूप

प्रशम, सवेग, अनुकम्पा, और आस्तिक्य जिसके होने पर प्रकट हो जावे वह सराग सम्यग्दर्शन है। यह सम्यक्त्व सरागी अर्थात् रागाशवाले चौथे गुणस्थान से दशवें सूक्ष्मसापराय गुणस्थान तक के जीवो के होता है। राग चारित्र-मोहनीय का एक भेद है और इसका उदय दशवें गुणस्थान तक होता है। इसलिये वहाँ तक के सम्यक्त्व को सराग सम्यक्त्व कहा है। इसके बाद वीतराग सम्यक्त्व होता है।

वीतराग सम्यक्त्व आत्म विशुद्धि मात्र ही है। क्योकि एकादशादि गुणस्थानो मे प्रशम संवेगादि का विकल्प नहीं होता। यह विकल्प तो दशवें तक ही रह जाता है जब तक कि राग भाव का उदय है।

प्रशमादि का स्वरूप

आत्मा पर रागादि वृत्तियो का प्रभाव न होना शम या 'प्रशम' कहलाता है और ससार के कारण पापो से डरना 'सवेग' है। सत्य तत्वो के विषय मे आस्तिक्य बुद्धि रखना-नास्तिक्य से उलटे-'आस्तिक्य' का लक्षण है। किसी भी जीव पर द्रोह बुद्धि न रखना 'अनुकम्पा' या 'दया' कहलाता है। इन चारो का आत्मा मे प्रकट होना सराग सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व होने का ज्ञान

आगे यह बताते हैं कि किस गुणस्थान तक सम्यग्दर्शन के हो जाने का पता जीवो को कैसे लगता है—

सूक्ष्म-लोभात अर्थात् सूक्ष्मसापराय नामक दशवें गुणस्थान तक के जीव चरणानुयोग की अपेक्षा से वर्णित अपने सम्यग्दर्शन को अपने आत्मा में उत्पन्न प्रशमादि चारो के द्वारा जान लेते हैं। और प्रमत्तविरत नामक छठे गुणस्थान तक के जीवो के सम्यग्दर्शन को दूसरे सम्यग्दृष्टि विद्वान् लोग भी उन जीवो के मन वचन और काय की चेष्टा से अनुमान के द्वारा जान लेते हैं।

प्रश्न—जैन शास्त्रो मे यह भी देखने मे आया है कि अपने सम्यग्दर्शन का पता अपने आप को भी नहीं लगता। शुक्ल लेश्या को धारण करने वाला द्रव्य-लिंगी मुनि जो नौ-पूर्व तक का जानने वाला होता है उसे भी अपने मिथ्यात्व का पता नहीं लगता। तब यहाँ अपने व दूसरे के सम्यक्त्व को जानने की बात कैसे कही गई ?

उत्तर—जैन शास्त्रो मे सम्यक्त्व का वर्णन विभिन्न अनुयोगो मे वर्णित है। चरणानुयोग के अनुसार जो सम्यक्त्व का वर्णन

है वह बाह्य चारित्र की अपेक्षा से है। पात्रो के उत्तम मध्यम और जघन्य जो तीन भेद किये है वे चरणानुयोग की अपेक्षा से ही हैं। अगर इन भेदो को करणानुयोग की अपेक्षा से माने तब तो जो मनुष्य थोड़ी देर पहिले ग्यारहवें गुणस्थान मे है वही अन्तर्मुहूर्त मे पहिले गुणस्थान मे आजाता है। और इस बात का पता दातार को लग नहीं सकता। तब पात्रापात्र की व्यवस्था कैसे बन सकती है? इसलिये इसे चरणानुयोग की अपेक्षा ही मानना चाहिये। इसी तरह छठे गुणस्थान तक सम्यक्त्व भी दो अनुयोगों द्वारा माना जाता है। चरणानुयोग मे सब व्यवस्था बाह्य चारित्र की अपेक्षा मे है। इसलिये सम्यक्त्व का लक्षण भी बाह्य चारित्र की अपेक्षा से ही निर्धारित किया गया है। छठे गुणस्थान तक के जीवो के सम्यक्त्व को जो दूसरे लोग अनुमान मे जान लेते हैं, वह चरणानुयोग का सम्यक्त्व है, करणानुयोग का नहीं। करणानुयोग के अनुसार तो सम्यक्त्व घातक कर्मों के क्षय,क्षयोपशम और उपशम की अपेक्षा से है। वहाँ बाह्य चारित्र की इतनी प्रधानता नहीं। बाह्य चारित्र म कुछ गडबडी नहीं होने पर भी गुणस्थान उतर जाता है।

छठे गुणस्थान के ऊपर गुणस्थानो की व्यवस्था करणानुयोग के अनुसार ही है। यह कहना गलत है कि किसी को भी अपने सम्यक्त्व का पता अपने आप नहीं लगता। मिथ्यात्व का पता चाहे स्वय को न लगे पर सम्यक्त्व तो मालूम हो ही जाता है। अगर सप्तमादि गुणस्थान वाले जीवो को भी अपने सम्यक्त्व का पता न चलेगा तो फिर उन्हें आत्मानुभव ही क्या हुआ? पर चौथे, पॉचवें और छठे गुणस्थान तक के जावो के सम्बन्ध मे तो यह बात फिर भी किसी अश मे सही हो सक्ती है।

निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शन का स्वरूप

सम्यग्दर्शन के दो भेद निसर्गज और अधिगमज के भेद से भी है। जो दूसरे के उपदेश की अपेक्षा के बिना अपने आप ही उत्पन्न हो जाता है वह नैसर्ग अथवा 'निसर्गज' सम्यग्दर्शन है। और जो दूसरे के उपदेश की सहायता से उत्पन्न होता है वह'अधिगमज' है।

गुरु के उपदेश से, विद्वानो की सङ्गति से, तत्वचर्चा से शास्त्र स्वाध्याय आदि से आत्म स्वरूप की प्रतीति होना अधिगमज सम्यग्दर्शन है। पर इन ज्ञान के निमित्तो के बिना जो आत्म श्रद्धान होता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन है। बादलो की क्षणिकता, मनुष्यादि प्राणियो की आकस्मिक मृत्यु एवं अन्य पदार्थों की क्षण भगुरता देख कर जो स्वय आत्म-प्रतीति होती है वह निसर्गज सम्यक्त्व के उदाहरण है।

आगे सम्यक्त्व के क्षायिकादि तीन भेदो का वर्णन करते हैं।

क्षायिक-सम्यग्दर्शन का स्वरूप

'अनन्तानुबन्धी क्रोध,मान,माया, लोभ और मिथ्यात्व,सम्यग्-मिथ्यात्व एवं सम्यक्-प्रकृति-ये सात कर्म प्रकृतियाँ सम्यक्त्व का

नाश करने वाली हैं। इनके क्षय से क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। और क्षायिक सम्यक्त्व हो जाने पर वह जीव तीसरे या चौथे भव में अवश्य संसार से मुक्त हो जाता है।

प्रश्न—अनन्तानुबन्धी तो चारित्र मोहनीय की प्रकृति है इसलिये वह चारित्र का ही घात करेगी, उसे सम्यक्त्व की घातक क्यों कहा ? अगर वह सम्यक्त्व की ही घातक है तो फिर उसे दर्शन मोहनीय में ही गिनाना था।

उत्तर—अनन्तानुबन्धी के उदय से क्रोधादिरूप परिणाम उत्पन्न होते हैं, अतत्व श्रद्धान नहीं होता। इसलिये यह चारित्र को ही घातती है, सम्यक्त्व को नहीं। वास्तव में बात तो यही है, किन्तु अनन्तानुबन्धी के उदय से जिस तरह के क्रोधादिक भाव होते हैं उस तरह के क्रोधादिक परिणाम सम्यक्त्व के रहते हुए नहीं होते। इस तरह सम्यक्त्व और अनन्तानुबन्धी के अभाव के निमित्त और नैमित्तिक भाव है। जैसे त्रसपने की घातक तो स्थावर प्रकृति ही है किन्तु त्रस होते हुए एकेन्द्रिय जाति प्रकृति का उदय नहीं होता इसलिये उपचार से एकेन्द्रिय जाति प्रकृति को त्रसपने की घातक कह सकते हैं। वैसे ही यद्यपि सम्यक्त्व का घातक तो दर्शन मोहनीय है तो भी सम्यक्त्व के रहते हुए अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय नहीं होता। इसलिये उपचार से अनन्तानुबन्धी को भी सम्यक्त्व का घातक कह सकते हैं। अथवा अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व और चारित्र दोनों को घातने का स्वभाव रखती है। इसलिये सम्यक्त्व की उत्पत्ति में उसका अनुदय भी उतना ही आवश्यक है जितना कि दर्शन मोहनीय की प्रकृतियों का।

प्रश्न—अगर ऐसा है तो उसे चारित्र मोहनीय की प्रकृतियों में क्यों गिनाया ?

उत्तर—प्रधानतया यह क्रोधादिकों को उत्पन्न करने वाली है। इसलिये जितनी उसमें चारित्र-घातकता रहती है उतनी दर्शन घातकता नहीं रहती।

प्रश्न—अगर ऐसा है तब तो उसका उदय न रहने पर कुछ चारित्र उत्पन्न होना चाहिये। किन्तु ऐसा तो नहीं होता, क्योंकि तीसरे और चौथे गुणस्थान में उसका उदय न रहने पर भी चारित्र पैदा नहीं होता।

उत्तर—कषायों के अनन्तानुबन्धी आदि भेद तीव्रता मन्दता की अपेक्षा से नहीं है। अर्थात् यह बात नहीं है कि जो कषाय तीव्र हो उसे अनन्तानुबन्धी और मन्द मन्दतर, मन्दतम को अप्रत्याख्यानादि कहते हैं। क्योंकि मिथ्यादृष्टि के चाहे तीव्र कषाय हो चाहे मन्द कषाय हो-अनन्तानुबन्धी आदि चारों का उदय युगपत् माना जाता है। मिथ्यादृष्टि के चारों कषायों के उत्कृष्ट स्पर्द्धक समान हैं। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि अनन्तानुबन्धी कषाय के साथ जैसा तीव्र उदय अप्रत्याख्यानादि का होता है वैसा उसके न रहने पर नहीं होता। वैसे ही अप्रत्याख्यान के साथ प्रत्याख्यान और संज्वलन का जैसा उदय होता है वैसा अप्रत्याख्यान के चले जाने पर नहीं होता। इसी तरह प्रत्याख्यान के

साथ जैसा सज्वलन का उदय होता है वैसा केवल सज्वलन का नहीं होता। इसलिये अनन्तानुबन्धी के चले जाने पर यद्यपि कषायो की मदता तो होती है, पर ऐसी मदता नहीं होती जिसे चारित्र कहा जा सके। क्योंकि आचार्यों ने असख्यात लोक प्रमाण कषायों के स्थानों के तीन भेद कर दिये हैं। जिनमें आदि के बहुत से स्थान तो असयम रूप हैं। इसके बाद कुछ देश सयम रूप है और फिर कुछ सकल संयम रूप हैं। पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान तक जो कषायो के स्थान है वे सब असयम रूप ही हैं। इसलिये कषायों की मदता होते हुए भी वे चारित्र नहीं कहलाते। यद्यपि वास्तव मे कषाय घटना चारित्र का अश है तथापि वह कषाय का घटना चारित्र कहलाता है जिससे यह जीव एक देश सयम या सकल सयम धारण कर सके। असयम मे ऐसी कषाय घटती नहीं इसलिये अनन्तानुबन्धी के उदय का अभाव होने पर भी चारित्र नहीं कहला सकता।

प्रश्न—आपने ऊपर कहा है कि अनन्तानुबन्धी वास्तव मे सम्यक्त्व को नहीं घातती, क्योकि वह चारित्र मोहनीय की प्रकृति है, तो फिर प्रश्न यह होता है कि इसके उदय होने पर जीव सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर सासादन गुणस्थान को कैसे प्राप्त हो जाता है ?

उत्तर—अनन्तानुबन्धी के उदय से सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता,किन्तु उसके उदय होजाने के एक समय या अधिक से अधिक छह आवली के बाद सम्यक्त्व का नष्ट होना अवश्यभावी है। इसी अपेक्षा से अनन्तानुबन्धी को सम्यक्त्व का विराधक कह दिया गया है। वास्तव में तो सम्यक्त्व का नाश तभी होगा जब मिथ्यात्व का उदय हो जायगा। सासादन गुणस्थान तो सम्यक्त्व ही का काल है। क्योकि सम्यक्त्व के नष्ट होने मे अधिक से अधिक छह आवली और कम से कम एक समय बाकी रहता है तभी सासादन गुणस्थान होता है। इसलिये जब तक मिथ्यात्व का उदय नहीं हो तब तक सम्यक्त्व का उदय ही मानना चाहिये। फिर भी—मनुष्य पर्याय के नाश का कारण भयङ्कर रोग उत्पन्न हो जाने पर जैसे हम किसी मनुष्य को मनुष्य पर्याय छोडने वाला कह देते हैं वैसे ही—सम्यक्त्व के नाश का कारण अनन्तानुबन्धी का उदय होने पर सासादन कह दिया जाता है। वस्तुतः तो सम्यक्त्व का नाश तभी होगा जब मिथ्यात्व का उदय हो जायगा। जैसे कि वास्तव में तो मनुष्य पर्याय का नाश तभी माना जायगा जब उसे छोड़ कर दूसरी पर्याय को जीव प्राप्त हो जायगा। इस तरह अनन्तानुबन्धी को भविष्यत की अपेक्षा उपचार से सम्यक्त्व का घातक कहा गया है।

अब यह बताते हैं कि क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाने पर उसका क्या महत्व है :—

क्षायिक सम्यग्दर्शन की महत्ता

क्षायिक सम्यग्दर्शन होजाने पर जीव कभी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता, और न कभी तत्वो मे सदेह को उत्पन्न करता है। इस सम्यक्त्व को धारण करने वाला जीव मिथ्यात्व से उत्पन्न होने वाले अतिशयो को देख कर भी आश्चर्य-चकित नहीं होता।

क्षायिक-सम्यग्दृष्टि-जीव के मिथ्यात्व कर्म के निषेकों का सर्वथा अभाव हो जाता है। इसलिये वापस मिथ्यात्व में लौटने का उसके कोई कारण नहीं है। और इसीलिये उसके प्रयोजनभूत जीवादि तत्वों में कभी संदेह नहीं होता, क्योंकि संदेह का कारण मिथ्यात्व कर्म तो नष्ट होगया। इस सम्यक्त्व का धारण करने वाला जीव देवी, देव, भूत, प्रेतादि की उपासना से अथवा मन्त्र, तन्त्र, यन्त्रादि के प्रयोजन से होने वाले अतिशय को देखकर भी कभी आश्चर्य नहीं करता। सच बात तो यह है कि यह जीव अतिशयों का महत्व बिलकुल नहीं मानता। क्योंकि अतिशय आत्मा की महत्ता के सूचक नहीं हैं। अधिकांश अतिशय तो झूंठे और पाखण्ड पूर्ण होते हैं। देवता की महत्ता भी इस बात से नहीं है कि वह अतिशय वाला है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने उनकी निःसारता प्रकट की है। उनने अपने 'देवागम स्तोत्र' में सर्व प्रथम लिखा है कि—

देवागमनभोयानचामरादि-विभूतयः । मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥ १ ॥
अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः । दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥ २ ॥

हे भगवन्! आपके लिये देवता आते हैं, आप आकाश मे चलते हैं, आप पर चौसठ चमर ढुरते हैं, देवता, पुष्प-वृष्टि करते हैं। लेकिन इन बातों से आप हमारे पूज्य नहीं हो सकते, क्योकि ये सब बाते तो मायावियो-इन्द्रजालियों मे भी देखी जाती हैं। यदि इन्हीं बातो से कोई पूज्य बन-जाता है तब तो आप मे और इन्द्रजालियो मे कोई भेद न रह जायगा और इन्द्रजाली भी पूज्य बन जावेंगे।

तब भगवान कहते हैं कि तुम्हारा यह कहना तो ठीक है लेकिन कई अतिशय ऐसे हैं जो इन्द्र जालियों मे नहीं होते। अतः उनके कारण तो मुझे महान-पूज्य मानलो। इस पर स्वामी समन्त-भद्र उत्तर देते हैं कि—नहीं। माना कि पसीना, मल-मूत्र आदि का कभी न आना आप के अन्तरङ्ग विभूति और गंधोदक की वर्षा होना वगैरह बहिरङ्ग विभूतियाँ सत्य हैं अर्थात् मायावियो के नहीं होतीं और दिव्य हैं अर्थात मनुष्य तथा चक्रवर्ती वगैरह के नहीं होतीं, लेकिन अक्षीण कषायवाले देवो के तो होती हैं और वे हैं रागादियुक्त। अत आप इन की वजह से भी पूज्य नहीं हैं।

इस तरह समन्तभद्र स्वामी ने इस बात का खण्डन किया है कि 'कोई अतिशय विशिष्ट होने से ही पूज्य बन सकता है'। क्षायिक सम्यग्दृष्टि कभी अतिशयो को महत्व नहीं देता।

क्षायिक सम्यक्त्व की स्थिति

संसार की अपेक्षा से क्षायिक सम्यग्दर्शन की स्थिति कम से कम (जघन्य) अन्तर्मुहूर्त की और अधिक से अधिक (उत्कृष्ट) कुछ ज्यादह तेतीस सागर की है। और मुक्ति की अपेक्षा सादि अनन्त है। यह सम्यग्दर्शन हमेशा प्रकाशमान और अचल रहने वाला है।

संसार की अपेक्षा जो क्षायिक सम्यक्त्व की स्थिति उपर्युक्त प्रकार से बतलाई है उसका मतलब यह है कि यह सम्यक्त्व उत्पन्न होने के बाद जीव एक अन्तर्मुहूर्त में भी मुक्ति को प्राप्त हो सकता है और अधिक से अधिक संसार में रहे तो तेतीस सागर से कुछ ज्यादा अर्थात् सांतर्मुहूर्त आठ वर्ष कम दो करोड़ पूर्व-सहित तेतीस सागर ठहर सकता है। इस से अधिक नहीं। यह स्थिति इस प्रकार समझनी चाहिये कि किसी एक करोड़ पूर्व का आयु वाले मनुष्य के आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त के बाद क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ। इसके पश्चात् वह सारी मनुष्य आयु पूर्ण कर तेतीस सागर आयु का धारक सर्वार्थ-सिद्धि नामक अनुत्तर विमान का देव होगया। फिर वहाँ से चय कर एक करोड़ पूर्व की आयु का धारक मनुष्य होगया और फिर मुक्ति चला गया। इस तरह तेतीस सागर और अन्तर्मुहूर्त सहित आठ वर्ष कम दो करोड पूर्व तक क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव संसार में रह सकता है।

प्रश्न—दो करोड पूर्व मे आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम करने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—किसी भी मनुष्य के आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त की आयु के पहले सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता।

प्रश्न—जब मनुष्य की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य की है तो फिर यहाँ एक पूर्व की क्यो बतलाई ?

उत्तर—यद्यपि मनुष्य की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य की है किन्तु भोगभूमि के मनुष्य के क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं हो सकता। क्षायिक सम्यग्दर्शन तो कर्म भूमि के मनुष्य के ही होता है और कर्म भूमि के मनुष्य की उत्कृष्ट आयु एक करोड़ पूर्व की ही होती है।

प्रश्न—अगर क्षायिक सम्यग्दर्शन कर्म भूमि के मनुष्य के ही होता है तो भोग भूमि के मनुष्य के उसका सद्भाव कैसे पाया जाता है।

उत्तर—क्षायिक सम्यक्त्व का सद्भाव तो चारो ही गतियों मे पाया जा सकता है किन्तु होता कर्म भूमि के मनुष्य के ही है।

प्रश्न—भोग भूमि के मनुष्य के वह कैसे पाया जाता है ?

उत्तर—क्षायिक सम्यक्त्व का सद्भाव तो चारों ही गतियो मे पाया जा सकता है, किन्तु कर्म भूमि के मनुष्य के अतिरिक्त किसी गति के जीव के भी उसकी उत्पत्ति नहीं होती। अन्यत्र तो वह पहले जन्म से आया हुआ ही विद्यमान रहता है। जिस जीव के मनुष्यायु का बन्ध पहले हो जाता है और फिर क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है तो वह मरकर भोगभूमि का ही मनुष्य होता है, कर्मभूमि का नहीं। इसलिये भोगभूमि के मनुष्य के पहले भव से आया हुआ क्षायिक सम्यक्त्व है, वहाँ पैदा नहीं होता। इसी तरह तिर्यञ्च गति मे भी भोगभूमि के तिर्यञ्च के भी उसका सद्भाव पाया जाता है क्योकि तिर्यंगायु के बन्ध करने के बाद अगर किसी मनुष्य के सम्यक्त्व हो जाय, तो वह भोगभूमि का ही तिर्यञ्च होगा।

किसी भी सम्यक्त्व के लिये साधारणतया यह नियम है कि अगर सम्यक्त्व की उत्पत्ति के बाद आयु का बन्ध होगा तो देव आयु का ही होगा और वह जीव कल्पवासी देव मे ही उत्पन्न होगा। किन्तु सम्यक्त्व की उत्पत्ति के पहले अगर नरक आयु का बन्ध हुआ तो वह जीव प्रथम नरक से आगे न जायगा। मनुष्य आयु का बन्ध हुआ तो भोगभूमि का मनुष्य होगा। तिर्यंगायु का हुआ तो भोगभूमि का तिर्यञ्च होगा। और देवायु का बन्ध हुआ तो भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवो मे उत्पन्न न होकर कल्पवासियो मे ही पैदा होगा।

इस तरह ससार की अपेक्षा इस क्षायिक सम्यक्त्व की स्थिति बतलाई। मुक्ति की अपेक्षा तो इस की स्थिति सादि और अनन्त है। क्योकि मुक्ति की आदि तो है पर उसका अन्त नहीं है।

यह सम्यग्दर्शन आत्मा में सदा प्रकाशमान और अचल है अर्थात् एक बार उत्पन्न होने के पश्चात् कभी नष्ट न होनेवाला है। इसकी महिमा अपार है।

प्रश्न—क्या सम्यग्दृष्टि जिस समय सासारिक विषयो मे प्रवृत्त होता है उस समय भी क्षायिक सम्यग्दर्शन रहता है?

उत्तर—हाँ! अवश्य रहता है।

प्रश्न—तब फिर उसकी क्या उपयोगिता है जब कि उसके रहते हुए भी विषय भोगो मे प्रवृत्ति होती है?

उत्तर—सम्यग्दर्शन की यह उपयोगिता है कि उसके रहते ससार और शरीर की हेयता का श्रद्धान, आपापर का भेद-विज्ञान एवं जीवादि प्रयोजन-भूत तत्वों का श्रद्धान होजाता है।

प्रश्न—अगर ऐसा है तो यह जीव ससार को छोड क्यो नहीं देता?

उत्तर—संसार की हेयता का श्रद्धान होने पर भी जब तक चारित्र मोहनीय कर्म का उदय रहता है तब तक यह जीव ससार अथवा विषय भोगों को छोड़ नहीं सकता। इच्छा न रहने पर भी उन्हें ग्रहण करना ही पड़ता है। जैसे रोग होजाने पर कटु औषधि लेने की इच्छा न रहते हुए भी उसे औषधि लेनी ही पडती है। वैसे ही क्षुधा, तृषा, काम आदि वेदनाओ के आधीन होकर भोजन पान, स्त्री पुरुष आदि पदार्थों को सम्यग्दृष्टि जीव ग्रहण करता है पर मिथ्यादृष्टि की तरह इन पदार्थों को आसक्ति से ग्रहण नहीं करता और अन्तरङ्ग में समुचित अवसर आते ही उन्हें छोड़ देने का विचार रखता है। पर मिथ्यादृष्टि ऐसा नहीं होता। उसे विषयो मे बिलकुल घृणा नहीं होती। वह अत्यन्त आसक्ति के साथ उनका उपभोग करता है और उनके संयोग वियोग मे आनन्द और शोक मानता है।

गुणस्थानों में क्षायिक सम्यक्त्व

अब आगे बताते हैं कि किस गुणस्थान से किस गुणस्थान तक क्षायिक सम्यक्त्व होता है :—

क्षायिक सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान से सिद्धो तक पाया जाता है। यह केवली अथवा श्रुत केवली की समीपता के विना नहीं प्राप्त होता।

चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक क्षायोयशमिक सम्यग्दृष्टि के ही यह क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होसकता है। ऐसा शास्त्र के पारगामी विद्वानो ने कहा है।

केवली अथवा श्रुत केवली के विना आत्म-परिणामो में उतनी स्वच्छता नहीं आती। इसलिये क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति मे इनकी समीपता अनिवार्य है। भावों की उत्पत्ति में निमित्तो की कारणता सर्वाभिमत और निर्विवाद है। इस सम्यक्त्व की उत्पत्ति चौथे से सातवें गुणस्थान तक कहीं भी क्षायोयशमिक सम्यग्दृष्टि के ही हो सकती है और उसका क्रम इस प्रकार है—

पहले अध.करण, अपूर्व करण और अनिवृत्ति करण इन तीन प्रकार के परिणामो द्वारा मिथ्यात्व के निषेको को सम्यङ्-मिथ्यात्वरूप परिणमन करे अथवा सम्यक्प्रकृतिरूप परिणमावे या निर्जरा करे-इस प्रकार मिथ्यात्व की सत्ता का नाश करे। फिर सम्यङ्-मिथ्यात्व के निषेको को सम्यक्प्रकृतिरूप परिणमन करे अथवा उनकी निर्जरा करे-इस तरह सम्यङ्-मिथ्यात्व प्रकृति का भी नाश करे। तथा सम्यक्त्वप्रकृति के निषेक उदय आकर अपने आपही खिर जावें अथवा उनकी स्थिति ज्यादा हो तो स्थिति कांडादि द्वारा उसे घटावे। जब घटते घटते उसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र रह जाती है तब वह जीव कृतकृत्य वेदक-सम्यग्दृष्टि कहलाता है और क्रम से इसके निषेकों का नाश करता है। तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ के निषेको का विसयोजन कर उसकी सत्ता का नाश करता है तब क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है। अनन्तानुबन्धी का विसयोजन यद्यपि द्वितीयोपशम एवं किसी २ क्षायोयशमिक सम्यग्दृष्टि के भी होता है किन्तु ये तो जब मिथ्यात्व मे वापिस आते हैं तब फिर इनके अनन्तानुबन्धी की सत्ता का सद्भाव होजाता है, किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि कभी मिथ्यात्व मे नहीं आता, इसलिये उसके इसकी सत्ता का कभी सद्भाव नहीं होता।

औपशमिक सम्यक्त्व का स्वरूप

पहले बताई गई सात प्रकृतियो अर्थात् अनन्तानुबन्धी चतुष्टय, मिथ्यात्व, सम्यङ्-मिथ्यात्व और सम्यक्त्व—के दबजाने से उपशम सम्यक्त्व होता है। जिस प्रकार कीचड़ के बिलकुल दबजाने से (पैंदे मे बैठ जाने से) पानी निर्मल होजाता है उसके रहते हुए भी पानी में कोई विकार नहीं होता उसी तरह उक्त सातों प्रकृतियों के दबजाने से आत्मा के सम्यग्दर्शन नामक शुद्धि उत्पन्न होजाती है। ये दबी

हुई प्रकृतियाँ सम्यक्त्व को रोकने मे असमर्थ हैं।

क्षायिक और औपशमिक में भेद

आत्मविशुद्धि की अपेक्षा क्षायिक और औपशमिक सम्यक्त्व में कोई भेद नहीं होता। इन दोनों में अगर कोई भेद है तो यही है कि—एक (औपशमिक) क्षणस्थायी है और दूसरा (क्षायिक) अविनश्वर एवं नित्य है।

उपशम सम्यग्दृष्टि निमित्त मिलने से पुन प्रथम गुणस्थान मिथ्यात्व को प्राप्त होजाता है अथवा सासादन नामक दूसरे गुणस्थान मे चला जाता है या तीसरे मिश्र गुणस्थान मे गिरजाता है नहीं तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी बन जाता है। यह सम्यक्त्व पतनशील है।

उपशम का समय पूरा होने पर अगर मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आजाता है तो यह जीव पहले गुणस्थान मे चला जाता है। इस उपशम सम्यक्त्व के काल मे कम से कम एक समय तथा ज्यादा से ज्यादा छह आवली बाकी रहने पर अनन्तानुबन्धी चतुष्टय में से किसी एक का उदय आजाने पर जीव के सासादन गुणस्थान होजाता है। और मिश्र मोहनीय प्रकृति का उदय यदि होजावे तो तीसरा गुणस्थान होजाता है। यदि सिर्फ सम्यक्प्रकृति उदय मे आजावे तो वह क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि बन जाता है।

उपशम सम्यक्त्व के भेद

जैन सिद्धान्त मे उपशम सम्यक्त्व के दो भेद कहे गये हैं। एक प्रथमोपशम सम्यक्त्व और दूसरा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व। यहाँ संक्षेप से दोनो का ही स्वरूप बतलाया जाता है।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व

अनादि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व गुणस्थान में तीन करणो (अध. करण, अपूर्व करण और अनिवृत्ति करण) के द्वारा दर्शन मोह के उपशम करने से (अनन्तानुबन्धी चतुष्टय के अप्रशस्त और मिथ्यात्व के प्रशस्त उपशम करने से) जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहलाता है। इस प्रथमोपशम सम्यक्त्व मे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ का अप्रशस्त उपशम होता है।

प्रश्न—अप्रशस्त उपशम किसे कहते हैं?

उत्तर—उपशम के दो भेद हैं—प्रशस्त और अप्रशस्त। करणो के द्वारा उपशम विधान से जो उपशम होता है वह प्रशस्त

उपशाम कहलाता है और उदय के अभाव को अप्रशस्त उपशम कहते हैं। अनन्तानुबन्धी का प्रशस्त उपशम नहीं होता, अप्रशस्त ही होता है। मोह की अन्य प्रकृतियों का प्रशस्त उपशम होता है।

अनादि मिथ्यादृष्टि के अनन्तानुबन्धी चतुष्टय और मिथ्यात्व के दबजाने से जो उपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति बतलाई—उसका मतलब यह है कि उसके सम्यक्त्व-रोधक इन पाँच प्रकृतियों की ही सत्ता है। लेकिन एक बार सम्यक्त्व होजाने के बाद पुन मिथ्यात्व में आजाने पर जब फिर सम्यक्त्व होता है तब किसी के सात प्रकृतियों (अनन्तानुबन्धी चतुष्टय, मिथ्यात्व, सम्यङ्-मिथ्यात्व और सम्यक्) की सत्ता होने के कारण उसे सात प्रकृतियों को दबाना पड़ता है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व के समय मिथ्यात्व के जो तीन टुकड़े (मिथ्यात्व, सम्यङ्-मिथ्यात्व और सम्यक्-प्रकृति) हुए थे उनकी जिनके उद्वेलना नहीं हुई—उनके सात प्रकृतियों की सत्ता बनी हुई है। इसलिये इन सातों के दबनेसे ही उपशम सम्यक्त्व होगा। और जिनके उद्वेलना होकर तीनों प्रकृतियों की फिर एक प्रकृति होगई है उन सादि मिथ्यादृष्टियों के पाँच प्रकृतियों के उपशम से ही उपशम सम्यक्त्व होगा।

इस सब का सारांश यह है कि अनादि मिथ्यादृष्टि के तो उक्त पाँच प्रकृतियों के दबने से ही उपशम सम्यक्त्व होता है और सादि मिथ्यात्वी के किसी के पाँच के दबने से और किसी के सात प्रकृतियों के दबने से यह सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

अब सादि मिथ्यादृष्टि—जिसके सात प्रकृतियों के दबने से उपशम सम्यक्त्व होता है—की अपेक्षा उपशम सम्यक्त्व का लक्षण तथा उपशम सम्यक्त्व की स्थिति आदि का वर्णन करते हैं—

मिथ्यात्व गुणस्थान में करण त्रय (अधः करण, अपूर्व करण और अनि वृत्तिकरण) से जो सात कर्मों के दबाने से (अनन्तानुबन्धी के अप्रशस्तोपशम और दर्शन मोहनीय के प्रशस्तोपशम से) जो सम्यक्त्व होता है वह प्रथमोपशम सम्यक्त्व है। यह प्रथमोपशम सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक रहता है। उपशम सम्यक्त्व की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र है।

द्वितीयोपशम सम्यक्त्व

सातवें अप्रमत्त गुणस्थान मे जब जीव उपशम श्रेणी चढने के सन्मुख होता है तब क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से यह द्वितीयोपशम सम्यक्त्व होता है। इस द्वितीयोपशम सम्यक्त्व में अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन (अप्रत्याख्यानादि कषाय रूप परिणमन करना) होता है। यहाँ भी करण त्रय द्वारा तीन ही प्रकृतियों (मिथ्यात्व, सम्यङ्-मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति) का उपशम किया जाता है, क्योंकि यहाँ तीन ही प्रकृतियों की सत्ता पाई जाती है।

प्रश्न—उपशम किसे कहते हैं ?

उत्तर—अनिवृत्तिकरण मे किये गये अन्तरकरण विधान से जो सम्यक्त्व के समय उदय आने योग्य निषेक थे उनको अन्य समय उदय आने योग्य बना देना और अनिवृत्तिकरण में ही किये गये उपशम विधान द्वारा जो उस समय आने योग्य नहीं थे वे उदीरणा रू। होकर उस समय उदय न आसकें–ऐसे घना देना ही उपशम कहलाता है। उपशम में सत्ता तो पाई जाती है पर उदय नहीं होता।

यह क्षित योपशम सम्यक्त्व सातवें अप्रमत्तविरत गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें उपशांत मोह गुणस्थान तक पाया जाता है। और गिरते समय किसी जीव के छठे, पाँचवे, और चौथे गुणस्थान मे भी होता है।

क्षयोपशम सम्यक्त्व का स्वरूप

उपशम सम्यक्त्व का काल समाप्त होने पर सम्यक्प्रकृति उदय आजाने से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। यह सम्यक्त्व सादि मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्यात्व गुणस्थान से अथवा मिश्र गुणस्थान से भी हो सकता है। इस सम्यक्त्व का धारण करने वाला वेदक सम्यग्दृष्टि जीव वृद्ध पुरुष की लकड़ी के समान शिथिल श्रद्धानी होता है और इसी लिये खोटे हेतु और उदाहरणो के द्वारा शीघ्र ही इस जीव का सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है।

यह सम्यक्त्वे चल, मल, और अगाढ दोषो सहित है। अरहंत देवादि मे 'यह मेरा है', यह अन्य का है–इस–प्रकार समझना कहना चलपना है। शङ्कादि मलो का लगाना 'मलिन पना है'। शातिनाथ शाति कर्ता हैं–इत्यादि भाव रहना 'अगाढ पना' है। किन्तु यह इन दोषो के उदाहरण मात्र हैं। वास्तव मे इस सम्यक्त्व मे जो दोष लगता है उसे केवली ही जानते हैं।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का लक्षण

अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ और मिथ्यात्व तथा सम्यङ्-मिथ्यात्व के वर्तमान मे उदय आने वाले सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदयाभावी क्षय (बिना फल दिये झड जाना) और आगामी उदय आने वाले इन्हीं स्पर्द्धकों का सदवस्थारूप उपशम तथा देश घाती सम्यक्प्रकृति के उदय से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। इस सम्यक्त्व के शास्त्रो मे दो नाम मिलते हैं। एक वेदक और दूसरा क्षायोपशमिक। सम्यक्प्रकृति के उदय की प्रधानता से तो इसका नाम 'वेदक' है और अवशिष्ट छह प्रकृतियो के उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम की प्रधानता से 'क्षायोपशमिक' सम्यक्त्व कहलाता है।

शास्त्रों में उसका नाम 'कृतकृत्य सम्यग्दृष्टि' भी मिलता है। क्षायिक-सम्यग्दर्शन होते समय जब स्थिति कांडादि द्वारा सम्यक्प्रकृति की स्थिति घटते २ अन्तर्मुहूर्त मात्र रह जाती है तब यह जीव 'कृतकृत्य सम्यग्दृष्टि' कहलाता है।

क्षयोपशम सम्यक्त्व की स्थिति और उसका गुणस्थान

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति कम से कम अन्तर्मुहूर्त और ज्यादा से ज्यादा छियासठ सागर की है। यह सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक पाया जाता है।

सम्यक्त्व के नौ भेद

सम्यक्त्व के नौ भेद भी होते हैं और वे इस प्रकार हैं—क्षायिक का एक भेद, उपशम का एक भेद, क्षायोपशमिक के तीन भेद और वेदक सम्यक्त्व के चार भेद। क्षायिक और औपशमिक सम्यक्त्व का वर्णन तो पहिले किया जा चुका है। अब क्षायोपशमिक के जो तीन भेद बतलाये हैं उनका वर्णन किया जाता है।

क्षयोपशम के तीन भेद

दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों के उपशम से तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ के क्षय से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का पहला भेद होता है। और अनन्तानुबन्धी चतुष्टय और मिथ्यात्व, इन पांचों के क्षय तथा मिश्र (सम्यक्-मिथ्यात्व) और सम्यक्प्रकृति के उपशम से क्षायोपशमिक का दूसरा भेद होता है। अनन्तानुबन्धी चतुष्टय, मिथ्यात्व और मिश्र—इन छह के क्षय से और सम्यक्प्रकृति के उपशम से क्षायोपशमिक का तीसरा भेद बताया गया है।

वेदक सम्यक्त्व के चार भेद

अनन्तानुबन्धी चतुष्टय के क्षय से, मिथ्यात्व और सम्यक्-मिथ्यात्व के उपशम से तथा सम्यक्प्रकृति के उदय से वेदक सम्यक्त्व का पहला भेद होता है।

अनन्तानुबन्धी चतुष्टय और मिथ्यात्व के क्षय से, मिश्र मोहनीय (सम्यक्-मिथ्यात्व) के उपशम से तथा सम्यक्प्रकृति के उदय से वेदक सम्यक्त्व का दूसरा भेद होता है।

छह प्रकृतियों के क्षय और सम्यक्प्रकृति के उदय से वेदक सम्यक्त्व का तीसरा भेद होता है।

छह प्रकृतियो के उपशम से तथा सम्यक्प्रकृति के उदय से वेदक सम्यकत्व का चौथा भेद होता है।

इस प्रकार सम्यक्त्व के नव भेद समझने चाहिये। अब आज्ञादि भेद से सम्यक्त्व के दश भेदो का वर्णन करते हैं—

सम्यक्त्व के आज्ञादि दश भेद

आज्ञा, मार्ग, उपदेश, बीज, सूत्र, सक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ और परमावगाढ इस तरह सम्यक्त्व के दश भेद भी होते हैं। इनमे प्रारम्भ के आज्ञादि आठ भेद तो हेतु की अपेक्षा से और अन्त के दो भेद अवगाढ और परमावगाढ ज्ञान की अपेक्षा से हैं।

आज्ञा–सम्यक्त्व

वीतराग सर्वज्ञ कभी अन्यथावादी नहीं होते। उन्होने जो कुछ कहा है वह ठीक है। ऐसे दृढ निश्चय से जो सम्यक्त्व होता है उसे 'आज्ञा सम्यक्त्व' कहते हैं।

जिनेन्द्र भगवान ने दो तरह के तत्वो का वर्णन किया है–प्रत्यक्ष और परोक्ष। ये दोनो भी प्रयोजन-भूत और अप्रयोजन-भूत के भेद से दो प्रकार के हैं। इन मे जो जीवादि सातों तत्व प्रयोजन भूत हैं उनके सम्बन्ध मे तो मनुष्य को परीक्षा प्रधानी ही होना चाहिये। क्योकि परीक्षा प्रधानी हुए विना श्रद्धा मे दृढता नहीं आती। अप्रयोजन भूत तत्वो की परीक्षा न हो तो भी आत्मा की कोई हानि नहीं होती। इसलिये ऐसे प्रत्यक्ष व परोक्ष पदार्थों के सम्बन्ध मे आज्ञा प्रधानी होना ही अधिक अच्छा है। भगवान के आगम मे जो कुछ कहा है वह ठीक है–इस तरह उनकी आज्ञा को प्रमाण करने से जो श्रद्धा उत्पन्न होती है वह आज्ञा–सम्यक्त्व कहलाता है। पर आज्ञा सम्यक्त्व का मतलब भगवान की आज्ञा मानना ही नहीं है, किन्तु उस आज्ञा से जो तत्व प्रतीति होती है वह सम्यक्त्व है।

मार्ग-सम्यक्त्व

चौदह प्रकार के अन्तरङ्ग (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद, नपुंसकवेद, मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया और लोभ) और दश प्रकार के बहिरङ्ग (क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य, और भाण्ड) परिग्रहों से रहित महर्षियो को निर्ग्रन्थ कहते हैं। उनका आचरण ही निर्ग्रन्थ–मार्ग कहलाता है। वे पवित्रता की मूर्ति हैं। वे साक्षात् सम्यक्त्व हैं। उन्हें भक्ति पूर्वक अवलोकन करने से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह 'मार्ग–सम्यक्त्व' है।

अन्तरङ्ग और वहिरङ्ग दोनो ही तरह के परिग्रह आत्मा का पतन करने वाले हैं। इनके रहते हुए कोई आत्मा ऊँचा नहीं उठ सकता। इसलिये स्वपर के उत्थान मे परिग्रही जीवो के जीवन से कोई मदद नहीं मिल सकती। किन्तु जिन्होने इन दोनो परिग्रहो को छोड़ दिया है, उनके दर्शन मात्र से ही जीवो का कल्याण होना सम्भव है। इसी लिये निर्ग्रन्थ मार्ग के अवलोकन को सम्यक्त्व उत्पन्न होने का कारण बतलाया है।

उपदेश सम्यक्त्व

तीर्थंकर आदि महापुरुषो के पवित्र चरित्र सुनने से जो सम्यक्त्व होता है वह 'उपदेश दृष्टि' या उपदेश-सम्यक्त्व है।

महापुरुषो के जीवन चरित्रो का मनुष्य पर विलक्षण प्रभाव पड़ता है। वह पतन की ओर से हट कर उत्थान की ओर अग्रसर हो जाता है। वह अपने जीवन मे उनके जीवन को उतारना चाहता है। इसीलिये प्रथमानुयोग के पुराण चरित्र आदि ग्रन्थों के अध्ययन करने का आचार्यों ने उपदेश दिया है और उनके निर्माण का भी यही उद्देश्य है कि यह मनुष्य बुराइयो को छोड़ कर भलाइयो की ओर ऋजु हो। अमुक महापुरुष ने किस तरह आत्मत्व प्राप्त कर अपने जीवन को सफल बनाया यह जान कर कोई भी मुमुक्षु भेद विज्ञानी बन सकता है। इस तरह तीर्थंकरादि महापुरुषो के चरित्रोपदेश से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है-उसे 'उपदेश-सम्यक्त्व' कहते हैं।

सूत्र सम्यक्त्व

मुनियो के आचरण का सागोपाग वर्णन करने वाले आचाराग सूत्र को अथवा मूलाचारादि आचार-प्रतिपादक ग्रन्थो को सुनने या अध्ययन करने से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है आचार्यों ने उसे 'सूत्र सम्यक्त्व' कहा है।

किस प्रकार चलना चाहिये ? किस प्रकार खडे रहना चाहिये ? किस प्रकार बैठना चाहिये ? किस प्रकार शयन करना चाहिये ? किस प्रकार भोजन करना चाहिये ? किस प्रकार भाषण करना चाहिये और किस प्रकार आचरण करने से पाप कर्म नहीं बन्धता है ? ऐसे प्रश्न होने पर उनके अनुसार यह कहा जाय कि यत्न से चलना चाहिये, यत्न मे खड़े रहना चाहिये, यत्न से बैठना चाहिये, यत्न से शयन करना चाहिये, यत्न से भोजन करना चाहिये, यत्न से भाषण करना चाहिये, इस प्रकार आचरण करने से पाप कर्म का बन्ध नहीं होता। इत्यादि रूप से आचाराग सूत्र मे मुनियो के आचरण का वर्णन है। इसके सुनने से मुनि-जीवन की महत्ता हृदय पर अकित होती है। मुनि भेद-विज्ञान के मूर्तिमान आकार हैं। अत.इनके महान जीवन-क्रम को सुनकर भेद विज्ञान हो जाना सम्भव है। यही आपा पर भेद विज्ञान 'सूत्र-सम्यक्त्व' है।

बीजज सम्यक्त्व

सम्पूर्ण सिद्धान्तो के विभिन्न सारांशो को 'बीज' कहते हैं। बीज सिद्धात के सूचक होते हैं। जैसे मन्त्रो मे बीजाक्षर होते हैं

और वे ही सम्पूर्ण मन्त्रो की सूचना कर देते हैं वैसे ही सिद्धान्तों के भी विभिन्न सूचक होते हैं। उदाहरणार्थ जैन सिद्धान्त का सूचक 'स्याद्वाद' है, साख्य सिद्धान्त का सूचक 'सत्कार्यवाद' है। ये सूचक ही इन दो सिद्धान्तो के बीज हैं। इसीलिये 'पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय' मे श्री अमृतचन्द्राचार्य ने स्याद्वाद को 'परमागम का बीज' कहा है। ऐसे बीज ज्ञान के निमित्त से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह 'बीजज-सम्यक्त्व' कहलाता है।

अथवा बीज का मतलब है गणितज्ञान का कारण। प्रखर गणित ज्ञान से जो मोहनीय कर्म का उपशमादि होता है उसे बीजज-सम्यक्त्व कहते है।

रेखा, अङ्क और बीज के भेद से तीन प्रकार का गणित है। यहाँ बीज शब्द उपलक्षण है। उससे तीनो ही प्रकार के गणित लेने चाहिये। गणित के अध्ययन से मन एकाग्र हो जाता है, मन मे एकस्थ होने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इसी लिये गणितज्ञ अच्छे विचारक होते है। मन को एकाग्र करने के जो साधन हैं वे ही सम्यक्त्व के साधन भी हो सकते हैं। जब गणित के द्वारा होने वाली मन की एकाग्रता से सम्यक्त्व उत्पन्न होजाय तब उसे 'बीजज सम्यक्त्व' कहते हैं।

जैनाचार्यों ने द्रव्यो को छोटा और बडापन, उनके गुणो की तीव्रता और मन्दता एव काल द्रव्य के परिमाण वगैरह का वर्णन गणित के द्वारा ही किया है। पर यह गणित लौकिक गणित नहीं, किन्तु अलौकिक गणित है। गणित का ऐसा वर्णन संसार के किसी भी साहित्य मे नहीं मिलता। इस अलौकिक गणित का स्वरूप लौकिक-गणित से बहुत कुछ विलक्षण है। लौकिक गणित से स्थूल पदार्थों का नाप किया जाता है, पर अलौकिक-गणित से सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अनन्त पदार्थों की हीनाधिकता का ज्ञान होता है।

इस अलौकिक-गणित के मुख्य भेद दो हैं-संख्यामान और उपमानमान। सख्यामान के मुख्य भेद तीन हैं। सख्यात, असख्यात और अनन्त। असख्यात के तीन भेद हैं-परीतासंख्यात, युक्तासख्यात और असंख्यातासख्यात। अनन्त के भी इसी तरह तीन भेद हैं-परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त और संख्यात का एक भेद, इस तरह सब मिलाकर सात भेद हुए। इन सातो के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से २१ भेद सख्यामान के होते हैं।

उपमानमान आठ प्रकार का होता है-१ पल्य, २ सागर, ३ सूच्यगुल, ४ प्रतरागुल ५ घनागुल ६ जगत् श्रेणी ७ जगत्प्रतर और ८ लोक।

हमने यहाँ केवल सूचनार्थ अलौकिक-गणित के भेदो के नाम मात्र गिनाये हैं। इनका स्वरूप गोमट्टसार की टीकाओ मे पूर्ण विस्तार के साथ लिखा है, वहाँ से देखना चाहिये। ऐसा आश्चर्य कारक गणित का वर्णन केवल यहाँ ही मिलता है। इसके पठन पाठन विचार आदि से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह बीजज-सम्यक्त्व है।

संक्षेप–सम्यक्त्व

देवशास्त्रगुरु और पदार्थों के संक्षेप ज्ञान से जो श्रद्धान होता है उसे 'संक्षेप–सम्यक्त्व' कहते हैं।

पदार्थों का ज्ञान सक्षेप और विस्तार दोनो ही प्रकार से होता है। कई जीव संक्षेप–ज्ञान से ही उतना प्रयोजन निकाल लेते हैं जितना विस्तार–ज्ञान से निकलता है। ऐसी बात नहीं है कि केवल विस्तृत ज्ञान ही वास्तविक प्रयोजन को सिद्ध करता है। योग्य व्यक्ति सक्षेप–ज्ञान से भी अन्तिम निष्कर्ष निकाल लेता है। "तुसमास घोसन्तो सिवभूदी केवली जादो"—अर्थात् जिस प्रकार उड़द अपने छिलके से अलग है उसी प्रकार शरीर आत्मा से भिन्न है, इस तरह विचार करता हुआ शिवभूति केवली होगया। द्वादशाग के विस्तृत ज्ञान का फल जो आत्म–विवेक है वह शिवभूति को कितने सक्षिप्त ज्ञान के द्वारा मिलगया। वास्तव मे यथार्थ अर्थात् प्रयोजन भूत ज्ञान ही उपयोगी है फिर चाहे वह संक्षिप्त हो या विस्तृत। दोनो ज्ञानो का उपयोग तो एक है। अगर वास्तविक फल का साधक न हो तब तो विस्तृत ज्ञान भी व्यर्थ ही है।

विस्तार–सम्यक्त्व

द्वादशांग–चौदह पूर्व और प्रकीर्णकों के सुनने से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है उसे आचार्य 'विस्तार–सम्यग्दर्शन' कहते हैं।

प्रश्न—द्वादशाग के जानने वाले का सम्यक्त्व तो 'अवगाढ–सम्यक्त्व' कहलाता है। फिर यहाँ उसे विस्तार–सम्यक्त्व कैसे कहा?

उत्तर—जिसको द्वादशाग का ज्ञान है वह तो सम्यग्दृष्टि है ही। क्योंकि सम्यक्त्व के विना द्वादशाग का ज्ञान नहीं होता। इसलिये द्वादशाग के ज्ञाता का सम्यक्त्व विस्तार–सम्यक्त्व नहीं है क्योंकि उसे तो आगे अवगाढ सम्यक्त्व कहने वाले हैं। विस्तार सम्यक्त्व तो उसे कहते हैं जो द्वादशाग के ज्ञाता से द्वादशाग सुनने से होता है। द्वादशाग का सुनने वाला द्वादशांग का ज्ञाता हो, ऐसी बात नहीं।

अर्थ–सम्यक्त्व

आगम–वाक्य के विना किसी भी पदार्थ का निमित्त पाकर जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है उसे आचार्य 'अर्थ सम्यक्त्व' कहते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि शिवभूति मुनि 'तुपमाप' को घोखते हुए केवली हो गये। यद्यपि 'तुपमाप' कोई आगम–वाक्य नहीं है फिर भी इसके द्वारा उन्हें आत्म–ज्ञान होगया। उड़द की दाल एक प्रकार का पदार्थ है। उसे देख कर जो उन्हें जो आत्म–विवेक हुआ उसे 'अर्थ सम्यक्त्व' कह सकते हैं। बादल वगैरह क्षण भंगुर पदार्थों को देख कर भी आत्म–ज्ञान बहुतो को हुआ है। वास्तव में संसार का प्रत्येक

पदार्थ हमारे गहरे विचार का विषय बनकर सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण बन सकता है। इसका मतलब यह है कि सम्यक्त्व उत्पन्न होने के लिये आगम वाक्य ही अपेक्षित नहीं है। किसी भी पदार्थ के वास्तविक-ज्ञान से वह उत्पन्न हो सकता है। इसी लिये विद्वानों ने कहा है कि एक भी पदार्थ को जिसने पूरा जान लिया उसने सब कुछ जान लिया।

प्रश्न—अगर कोई भी पदार्थ सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण हो सकता है तब तो पत्थर वगैरह को भी उसकी उत्पत्ति का कारण मान लेना चाहिये।

उत्तर—अगर पत्थर का निमित्त पाकर किसी को भेद-विज्ञान, आत्म-विवेक होजाय तो उसे भी सम्यक्त्व का कारण माना जा सकता है। कहने का मतलब यह नहीं है कि प्रत्येक पदार्थ सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण होता ही है। अगर कोई पदार्थ-कारण होसके तो वह सम्यक्त्व 'अर्थ-सम्यक्त्व' कहलावेगा।

अवगाढ और परमावगाढ सम्यक्त्व

श्रुतकेवलियो के जो सम्यक्त्व होता है उसे 'अवगाढ-सम्यक्त्व' और केवलियो के सम्यग्दर्शन को 'परमावगाढ-सम्यक्त्व' कहते हैं।

प्रश्न—क्या श्रुतकेवली और केवलियो के सम्यक्त्व मे कोई वास्तविक भेद है?

उत्तर—उनके सम्यक्त्व मे कोई भेद नहीं है। दोनो ही क्षायिक-सम्यग्दृष्टि हैं। क्षायिक-सम्यक्त्व मे कोई भेद नहीं होता। सम्यक्त्व की अपेक्षा से तो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती क्षायिक-सम्यग्दृष्टि और केवली समान ही हैं। और तो क्या ससारी और सिद्धो के क्षायिक-सम्यक्त्व मे भी कोई भेद नहीं है। अवगाढ और परमावगाढ का भेद तो केवल ज्ञान की अपेक्षा से है-यह पहले ही कहा जा चुका है।

सम्यग्दृष्टि के आठ गुण

संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, भक्ति, उपशम, वात्सल्य और जीव-दया ये सम्यक्त्व के आठ गुण हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टि-जीव मे ये गुण अवश्य होते हैं।

संसार अथवा ससार के कारण पाप से डरने को 'सवेग' कहते हैं। संसार देह और भोगो से विरक्त होना 'निर्वेद' कहलाता पापो की अपने मनमें स्वय ही निन्दा करना 'निन्दा' है। अपने पापों की प्रकटरूप से निन्दा करना 'गर्हा' है। कषायो के दबने को

'उपशम' कहते हैं। अरहतादि पूज्य व्यक्तियो में अनुराग रखना 'भक्ति' है। धर्मात्माओ में निष्कपट प्रेम रखना 'वात्सल्य' है। प्राणीमात्र की दया पालन करना 'जीवदया' है।

प्रश्न—निःशङ्कित आदि सम्यक्त्व के आठ गुणों और इन गुणो में क्या भेद है ?

उत्तर—वे सम्यक्त्व के गुण नहीं किन्तु अङ्ग हैं। सम्यक्त्व के उत्पन्न होजाने के बाद आत्मा में ये गुण प्रकट होजाते हैं और ये आत्मा को चारित्र की ओर लेजाने वाले हैं। इन गुणों का सम्यक्त्व के साथ वैसा अविनाभाव नहीं है जैसा अङ्गो का होता है।

प्रश्न—निन्दा और गर्हा मे श्रेष्ठ कौन है।

उत्तर—निन्दा की अपेक्षा गर्हा का दर्जा ऊँचा है, क्योंकि दूसरो के सामने अपने पापों को प्रकट करने में अधिक आत्मबल की आवश्यकता है।

पच्चीस मलदोष

पच्चीस मल दोष रहित सम्यक्त्व ही पूजा करने योग्य बतलाया गया है। क्योंकि जब तक इसमे एक भी दोष रहता है तब तक सम्यक्त्व मे पूरी निर्मलता नहीं आती। इसलिये इन दोषों को नष्ट करने की कोशिश करते रहना चाहिये। पच्चीस दोषों के नाम ये हैं—

कुल, जाति, रूप, ज्ञान, धन, बल, तप और प्रभुता ये आठ मद, शङ्कादि आठ मल, तीन मूढताएँ और कुगुरु, कुदेव, कुधर्म तथा इन तीनों के सेवक, इस तरह छह अनायतन–कुल मिलाकर ये सम्यक्त्व के पच्चीस दोष होते हैं।

किसी वस्तु का घमड करना मद कहलाता है। जिस कुल में मनुष्य उत्पन्न हुआ है उस कुल (पितापक्ष) का गर्व करना कि मेरा कुल सबसे अच्छा है, मैं उच्च कुल मे पैदा हुआ हूँ, कोई मेरी बराबरी नहीं कर सकता आदि विचार 'कुल मद' के द्योतक हैं। इसी तरह जिस जाति (मातृपक्ष) में उत्पन्न हुआ हो उस जाति का गर्व करना, अपने को उच्च जाति का मान कर औरों को घृणित दृष्टि से देखना, 'जाति मद' कहलाता है। इसी तरह रूप, ज्ञान, धन, शक्ति, तपस्या, और प्रभुता का मद भी होता है। परन्तु सम्यग्दृष्टि के ये मद तनिक भी नजदीक नहीं फटकते। वह अपने कुल आदि का घमंड नहीं करता।

सम्यग्दर्शन के आठ अङ्गों जिनका आगे वर्णन (करेंगे) ठीक उलटे शङ्कादि आठ दोष समझने चाहिये। देव–मूढता, गुरु

मूढता और लोक मूढता इन तीनों मूढताओ का स्वरूप पहले वर्णन किया जा चुका है। कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र तथा इन तीनों के मानने वाले छह अनायतन कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टि न इनको मानता है और न इनकी प्रशंसा करता है।

इस तरह उक्त पच्चीस दोष सम्यग्दृष्टि के नहीं होते।

आत्मा मे धर्म का अंकुर सम्यक्त्व से ही उगता है। इस कारण सम्यग्दर्शन सबसे अधिक महत्वशाली भाव है। सम्यक्त्व के बिना ज्ञान, चारित्र आत्मा का कल्याण नहीं कर पाते। इसी कारण आत्मा का सबसे अधिक हितकर सम्यग्दर्शन है और सबसे बड़ा शत्रु मिथ्यात्व है।

इस तरह यहां संक्षेप मे सम्यक्त्व का वर्णन किया गया है। इसका स्वयं आचरण करना व दूसरे से आचरण करवाना ही सम्यग्दर्शनाचार कहलाता है। सम्यग्दर्शन का उक्त वर्णन भावना-विवेक नामक ग्रन्थ से लिया गया है। इसका विशेष विवेचन आगे सागार प्रकरण में किया जावेगा।

सम्यग्ज्ञानाचार

सम्यग्दर्शनाचार का वर्णन करने के बाद अब सम्यग्ज्ञानाचार का वर्णन करते हैं। सम्यग्दर्शन ही ज्ञान में सचाई लाता है इसलिए सम्यग्दर्शनाचार का वर्णन पहले किया गया है और अब इसके बाद मे ही सम्यग्ज्ञानाचार का वर्णन करना उचित है।

प्रश्न—ज्ञान पहले होता है और श्रद्धान इसके बाद। इसलिए पहले ज्ञानाचार और फिर दर्शनाचार का वर्णन होना चाहिए, क्योंकि जाने बिना श्रद्धान कैसे हो सकेगा ?

उत्तर—यह ठीक है कि ज्ञान पहले होता है पर उसमें सचाई पहले नहीं आती—ज्ञान में सचाई तो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होजाने के कारण ही आती है। इसलिए पहले सम्यग्दर्शन का वर्णन करना ही न्याय-प्राप्त है।

सम्यग्ज्ञान की अपार महिमा है। ज्ञान के समान कोई पवित्र वस्तु जगत में नहीं है। ज्ञान ही कर्मों के नाश का कारण है। सम्यग्ज्ञान बिना सम्यक् चारित्र कभी नहीं हो सकता। इसलिए सम्यग्दर्शन की तरह सम्यग्ज्ञान भी आराधना करने योग्य है।

ज्ञान स्वय ही अपना फल है। वह किसी और फल की अपेक्षा नहीं करता। जो मनुष्य ज्ञान की आराधना में अपना जीवन खपाता है वह धन्य है। यथार्थ ज्ञान की परीभाषा करते हुए मूलाचार में श्री वट्टकेर स्वामी ने कहा है :—

जेण तच्चं विवुज्झेज्ज, जेण चित्तं णिरूज्झदि ।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज तं णाणं जिणसासणे ॥ ७० ॥ मू० ॥ पंचा ॥

अर्थ—जिससे वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाना जा सकें, जिससे मन विषयो में जाता हुआ रुक जाय, जिससे अपनी आत्मा-शुद्ध होजाय, जिन शासन में वही ज्ञान माना गया है।

ज्ञान के भेद

ज्ञान के ५ भेद माने गये हैं—मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल। इनमे आदि के तीन ज्ञान मिथ्यात्व के निमित्त से मिथ्या ज्ञान होजाने के कारण कुज्ञान कहलाने लगते हैं। इस तरह इन पाचों ज्ञानो मे कुमति, कुश्रुत और कुअवधि इन तीन मिथ्याज्ञानो के मिला देने के कारण ज्ञान के आठ भेद भी होजाते हैं। अवशिष्ट दो ज्ञान मन.पर्यय और केवल मिथ्यात्वी के नहीं होसकते। इस लिए कुज्ञान तीन ही हैं।

प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से यह पांचों ज्ञान दो प्रकार के हैं। पदार्थ को स्पष्ट जानने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष और अस्पष्ट जानने वाले को परोक्ष कहते हैं। आदि के दो ज्ञान परोक्ष और शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं, विकल और सकल। जो मूर्त पदार्थों की कुछ पर्यायो को स्पष्ट जाने उसे विकल प्रत्यक्ष कहते हैं, और जो सम्पूर्ण पदार्थों की समस्त पर्यायों को एक साथ स्पष्ट जाने, उसे सकल प्रत्यक्ष कहते हैं। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान विकल प्रत्यक्ष और केवल ज्ञान सकल प्रत्यक्ष है।

सामान्य रूप से ज्ञान एक ही प्रकार का है, किन्तु उसके पर्याय की अपेक्षा ये भेद किये गये हैं। इनमें से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान ये चार क्षायोपशमिक ज्ञान हैं। क्योंकि ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के उदयागत सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदयाभाव क्षय, (बिना रस दिये ही खिर जाना) तथा आगामी उदय आने वाले सर्वघाती स्पर्द्धकों का सदवस्था रूप उपशम एवं देशघाती स्पर्द्धकों का उदय होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे क्षायोपशमिक ज्ञान कहते हैं। ये चारों ज्ञान उक्त प्रकार से सर्वघाती स्पर्द्धकों के क्षय तथा उपशम से होते हैं, अत इन्हें क्षायोपशमिक ज्ञान कहते हैं।

इन चारो ज्ञानों मे जिस ज्ञान के आवरण कर्म के सर्वघाती स्पर्द्धकों का क्षयोपशम होजाय, वही ज्ञान प्रकट होजाता है। अत ये चारो ज्ञान क्षायोपशमिक हैं। और ज्ञानावरण कर्म का अत्यन्त क्षय होजाने पर केवल ज्ञान प्रकट होता है, इसलिये यह ज्ञान क्षायिक है।

मिथ्याज्ञानों का स्वरूप

अब मिथ्याज्ञान की उत्पत्ति, कारण, स्वरूप, स्वामी और भेदों का वर्णन करते हैं। जैसा कि पहले कह आये हैं मतिज्ञान,

श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान ये तीनो ज्ञान मिथ्याज्ञान हैं, क्योंकि ये मिथ्यात्व के उदय सहित होते हैं। जैसे कडुवी तूम्बी में भरा हुआ दूध भी कडुवा होजाता है, वैसे ही ये तीनो ज्ञान मिथ्यात्वोदय के सम्बन्ध से दूषित होजाते हैं। इसलिये कुज्ञान कहलाते हैं। इनका स्वरूप निम्न प्रकार है।

कुमति-ज्ञान

परके उपदेश विना, तेल कर्पूर आदि के सयोग से जन्तु-मारण-शक्ति उत्पन्न करना अर्थात् विष बनाना, व्याघ्र-सिंह आदि हिंसक जीवों को पकडने के लिये काठ का ऐसा यत्र बनाना, जिसके भीतर बकरे आदि प्राणी बाध दिये जावें और उनको खाने के लिये सिंहादि के अन्दर घुसते ही किवाड़ लग जावें। इसी तरह मच्छ, कछुवा, चूहा इत्यादि को पकड़ने के लिये काठ आदि का कूट बनाना, तीतर, हिरण आदि को पकड़ने के लिये जाल पींजरा बनाना, ऊट और हाथी को पकड़ने के लिये धोखे के खड्डे (कपट गर्त) बनाना, पक्षियो के पकडने के लिये बडे वांसो का ल्हासा बनाना, एवं दूसरो को ठगने, पर द्रव्य तथा परस्त्री को हरने, पराये जीवो को मारने धन को चोरने, अन्य भोले जीवो की आजीविका,जमीन, मकान को लेने, अन्य का अपमान करने, न्यायालय मे सत्यवादी को झूठा और झूठे को सचा करने, पर के दूषण लगाने, धर्मात्मा के चोरी लगाने, अन्याय से धर्मात्माओ को दूषण लगाने, कुदेव में देव-बुद्धि करने, पाखण्डियों को पुजवाने, स्वय पापी पाखण्डी होकर स्वय की प्रशसा कराने, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह बढाने आदि पापो के लिये दु प्रवृत्ति करना। कुमति ज्ञान है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति, तथा त्रस इन छह काय के जीवों का घात करना, नगर ग्राम आदि को दग्ध करना, देश, ग्राम, गृहवालो मे विरोध या कलह करना या कराना, तथा शत्रु की सेना को विध्वंस करने के लिये शस्त्र, अग्नि, विष-फोटक बम गैस आदि पदार्थों का बनाना, पाखण्ड तथा मायाचारी करना आदि सभी कुमति ज्ञान है।

कुश्रुत ज्ञान

परके उपदेश से ऐसी कुबुद्धि उत्पन्न होना, जैसे चोरी, व्यभिचार मे प्रवृत्ति कराने वाले, राग बढाने वाले, विक्षेप-कलह उत्पन्न करने वाले, संग्राम-चातुर्य-वर्द्धक, खड्ग-राग-पोषक, पर जीवो की हिंसा मे प्रवृत्ति कराने वाले शास्त्रों की रचना या इसी तरह मन्त्र शास्त्रो का निर्माण करना, मिथ्या दर्शन से दूषित एव सर्वथा एकान्तवाद की पुष्टि करने वाले मनःकल्पित शास्त्रो की रचना करना, हिंसा-वर्द्धक व्याख्यान देना, हिंसामय तप की प्रशसा करना आदि कुश्रुत ज्ञान है। भगवान की भुजा से क्षत्रिय, मुख से ब्राह्मण, हृदय से वैश्य, तथा जंघा से शूद्र की उत्पत्ति हुई है-इस प्रकार असंभव को सभव तथा सभव को असभव बताने वाले ग्रन्थो का निर्माण करना भी कुश्रुत ज्ञान ही है।

कुअवधि ज्ञान

यह अवधि ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा को लिये

हुए रूपी द्रव्य को विषय करता है। मिथ्या दर्शन के उ.य के साथ रहने के कारण यह ज्ञान कुवधि कहलाता है। आप्त आगम और पदार्थ को विपरीत ग्रहण करने वाला यह कुअवधिज्ञान चारो गतियो मे पाया जाता है। मनुष्य और तिर्यंचगति में तीव्र काय क्लेश तप एव द्रव्य संयम का पालन करने से उत्पन्न होता है। अतः इसे गुणप्रत्यय कहते हैं।

देव और नारकियो के जन्म के साथ उत्पन्न होता है इसलिये यह भवप्रत्यय होता है। जो जीव देव और नारकियों का भव धारण करेगा, उसके अवधिज्ञान अवश्य होगा। लेकिन मिथ्यादृष्टि जीव का अवधिज्ञान मिथ्यात्व के प्रभाव से कुअवधि कहलाता है। यह ज्ञान मिथ्यात्वादिक कर्मों के बन्ध का कारण है। सम्यग्दृष्टि के यही ज्ञान सम्यक् अवधिज्ञान कहलाता है। जब किसी जीव को नरकादि गति मे पूर्व जन्म के पाप कर्म के फल से तीव्र दुःख की वेदना होती है तो उसके ऐसा विचार होता है कि मैंने पूर्व जन्म मे हिंसादि पाप कर्मों का आचरण किया, तथा सप्त व्यसन का सेवन किया, उनके फल से नरक के दुख भोगने पडे। इस प्रकार अपने पाप की आलोचना करने वाले जीव के सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान का सद्भाव समझना चाहिये।

मतिज्ञान के चार भेद और उनका स्वरूप

मतिज्ञान के मूल चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणा। पदार्थ और इन्द्रियो के ग्रहण करने योग्य स्थान पर अवस्थित होने के बाद जो पदार्थ की सत्तामात्र का प्रतिभास होता है, उसे दर्शन कहते हैं। इसमें पदार्थ का संस्थान (आकार) वर्ण आदि प्रतिभास नहीं होता; इसलिए इसे निर्विकल्प उपयोग कहते हैं। यह चक्षु से होता है तब इसे चक्षुदर्शन कहते हैं, और जब स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रोत्र और मन से होता है तब इसे अचक्षुदर्शन कहते हैं।

दर्शन के अनन्तर ही वस्तु के संस्थान (आकार) वर्ण आदि का जो विशेष ज्ञान होता है, उसे अवग्रह कहते हैं। जैसे—यह श्वेत है, यह मनुष्य है, यह वृक्ष है इत्यादि।

अवग्रह से जाने हुए पदार्थ को विशेष जानने की इच्छा को ईहा ज्ञान कहते हैं। जैसे—श्वेत पदार्थ ध्वजा होना चाहिए, वक पंक्ति होना चाहिए, यह मनुष्य दक्षिण देश का होना चाहिए, यह वृक्ष बड़ होना चाहिए, इस प्रकार निश्चय की ओर झुकता हुआ ज्ञान ईहा ज्ञान कहलाता है।

शङ्का—ईहा ज्ञान में पदार्थ का निश्चय नहीं होता, अतः यह ज्ञान संशयात्मक होने से मिथ्याज्ञान है; क्योंकि संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय ये तीनो मिथ्याज्ञान माने गये हैं।

समाधान—ईहा ज्ञान-संशयात्मक नहीं है; क्योंकि यह अनेक पक्षों का अनिश्चयात्मक ज्ञान नहीं है। जो अनेक पक्षों का स्पर्श करने वाला ज्ञान है वह संशयज्ञान है; जैसे यह मनुष्य है या पेड़ है इत्यादि। ईहा ज्ञान एक ही पदार्थ को विषय करता है और निश्चय की ओर झुकता हुआ है। यह ज्ञान संशय को दूर करने वाला है, और जिसका आगे पूर्ण निश्चय होने वाला है, उसी को विषय करता है। जैसे श्वेत पदार्थ यदि ध्वजा है तो उसे ध्वजा होना चाहिए, और यदि बक पंक्ति है तो उसे बक पंक्ति होना चाहिए-इस प्रकार विषय करता है। अनेक पक्षों मे झूलता हुआ ज्ञान न होने से यह संशय नहीं है।

ईहा से जाने हुए पदार्थ का निश्चय रूप जो ज्ञान होता है, उसे अवाय कहते हैं। जैसे यह ध्वजा ही है। यह बक पंक्ति ही है। यह दाक्षिणात्य ही है। यह बड़ का वृक्ष ही है इत्यादि। यह निर्णयात्मक ज्ञान होता है।

अवाय से जाने हुए पदार्थ को कालान्तर में नहीं भूलने की जो योग्यता उत्पन्न होती है, उसे धारणा कहते हैं। इसके न होने पर और पूर्व के तीनो अवग्रह ईहा अवाय ज्ञान के होने पर भी वस्तु का स्मरण नहीं होता है। इसके होने पर आत्मा में ऐसा संस्कार जम जाता है, जिससे स्मरण ज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिए वह स्मृति ज्ञान का कारण है।

इसका खुलासा यह है कि जब विषय और इन्द्रिय ये दोनों ठीक २ स्थान पर होते हैं, तब सत्तामात्र का निर्विकल्प प्रतिभास होता है, इसे दर्शन कहते हैं और इसके बाद ही पहले पहल जो वस्तु का विशेष ज्ञान होता है, वह अवग्रह ज्ञान है। अवग्रह से जाने हुए पदार्थ मे विशेष जानने की जो इच्छा होती है, वह संशय को दूर करते हुए निश्चय की ओर झुकती हुई होती है, उसे ईहा ज्ञान कहते हैं। अवग्रह से वृक्ष का ज्ञान हुआ था और ईहा ने उसे यह वृक्ष बड़ का होना चाहिए, ऐसा जानकर संशय को दूर करते हुए निर्णय के सम्मुख किया है। अवाय ने उसके पत्ते आदि को देख कर 'यह बड़ ही है' ऐसा निश्चय रूप दिया तथा धारणा ने आत्मा में ऐसा संस्कार उत्पन्न किया जिससे आत्मा भविष्य मे उस (बड़) का स्मरण कर सके। उक्त चारों ज्ञानों के बारह २ भेद हैं, वे निम्न प्रकार हैं—

अवग्रहादि ज्ञानों के भेद

बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम्। तत्त्वार्थ सूत्र ।१। १६ ॥

बहु, अल्प या एक-दो, बहुविध, एकविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, अनिःसृत, निःसृत, अनुक्त, उक्त, ध्रुव और अध्रुव-इस प्रकार पदार्थ के बारह भेद होते हैं। इनका अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ज्ञान होता है।

बहु—बहुत पदार्थों का अवग्रहादि होना। जैसे बहुत सी गायो में कोई काली, कोई पीली, कोई [illegible], कोई मुंडी, कोई सावली आदि सब का ज्ञान होना।

अल्प या एक दो—थोडेसे चावलादि, अथवा एक गाय या दो गाय आदि का ज्ञान होना।

बहु विध—कई प्रकार के पदार्थों का ज्ञान होना। जैसे-सेना से-हाथी घोड़े ऊंट रथ आदि अनेक जाति के पदार्थों का ज्ञान होता है।

एक विध—एक प्रकार के पदार्थों का ज्ञान होना। जैसे-घोड़े या हाथी आदि एक जाति के पदार्थों का ज्ञान।

क्षिप्र—शीघ्र गामी पदार्थ का ज्ञान होना। जैसे-जल प्रपात, दौड़ती हुई रेल गाड़ी, मोटर, वायुयान, आदि शीघ्रगति वाले पदार्थों का अवग्रहादि ज्ञान।

अक्षिप्र—मन्दगति वाले पदार्थों का ज्ञान होना। जैसे बैलगाडी आदि का ज्ञान।

अनिःसृत—पूर्ण पदार्थ के प्रकट न होने पर भी उसके एक देश (अवयव) को देख कर पूरे पदार्थ का ज्ञान करना। जैसे जल मे डूबे हुए हाथी की बाहर निकली हुई सूंड को देख कर हाथी का ज्ञान करना।

निःसृत—पूर्ण निकले हुए पदार्थ का अर्थात् प्रकट पदार्थ का ज्ञान करना। जल से बाहर निकले हुए हाथी को देख कर हाथी का ज्ञान होना।

अनुक्त—बिना वचन सुने अभिप्राय से पदार्थ को जान लेना। आकार आदि देख कर अभिप्राय को जान लेना।

उक्त—वचन द्वारा कहे हुए पदार्थ का बोध होना।

ध्रुव—स्थिर पदार्थ का ज्ञान होना—जैसे पर्वत आदि।

अध्रुव—अस्थिर पदार्थ का ज्ञान होना—जैसे बिजली आदि।

परोक्ष ज्ञान और उसके भेद

जो ज्ञान दूसरे की सहायता से पदार्थ को जानता है, उसे परोक्ष कहते हैं। उसके पाच भेद हैं-स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।

स्मृति

स्मृति—धारणा ज्ञान से उत्पन्न हुए संस्कार के जागृत होने पर 'वह' इस आकार से उत्पन्न होने वाला जो ज्ञान है, उसे स्मृति कहते हैं। अर्थात् पहले अनुभव किये हुए पदार्थ की याद हो जाना स्मृति ज्ञान है। जैसे हमने अमुक् दिन मुनि-दर्शन किया था, इत्यादि।

प्रत्यभिज्ञान

प्रत्यभिज्ञान—प्रत्यक्ष और स्मरण के विषय भूत पदार्थों मे जो जोड रूप ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे यह वही मुनीश्वर हैं, जिनका दर्शन अमुक् दिन किया था। इसके अनेक भेद हैं-एकत्वप्रत्यभिज्ञान, सादृश्यप्रत्यभिज्ञान, वैसादृश्य और तत्प्रतियोगी आदि।

एकत्व प्रत्यभिज्ञान-प्रत्यक्ष और स्मरण के विषय भूत पदार्थों मे एकपना दर्शाते हुए जो जोड़ रूप ज्ञान होता है, उसे एकत्वप्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे-ये वे ही मुनीश्वर हैं, जिनका कल दर्शन किया था।

सादृश्यप्रत्यभिज्ञान—प्रत्यक्ष और स्मरण के विषय भूत पदार्थों मे सादृश्य दिखाते हुए जो जोड़ रूप ज्ञान होता है, उसे सादृश्य प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे-यह गवय (रोझ) गाय के समान है।

वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञान—प्रत्यक्ष और स्मरण के विषय भूत पदार्थों मे विलक्षणता दर्शाते हुए जो जोड़ रूप ज्ञान होता है, उसे वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे-यह भैंस गाय से विलक्षण है।

तत्प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान—प्रत्यक्ष और स्मरण के विषय भूत पदार्थों में विशेषता दिखाते हुए जो जोड रूप ज्ञान होता है, उसे तत्प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे-यह स्थान उससे दूर है इत्यादि।

तर्क

तर्क—व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं।

व्याप्ति—अविनाभाव सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं।

अविनाभाव सम्बन्ध—जहाँ जहाँ साधन (हेतु) होता है, वहाँ वहाँ साध्य होता है और जहाँ जहाँ साध्य नहीं होता है, वहाँ वहाँ साधन भी नहीं होता है, इस प्रकार के सम्बन्ध को अविनाभाव सम्बन्ध कहते हैं। जैसे—जहाँ जहाँ धुआँ होता है, वहाँ वहाँ अग्नि होती है और जहाँ जहाँ अग्नि नहीं होती है, वहाँ वहाँ धुआँ भी नहीं होता है।

अनुमान

अनुमान—साधन से जो साध्य का ज्ञान होता है, उसे अनुमान कहते हैं। जैसे—धुएँ को देख कर अग्नि का ज्ञान करना।

साधन—साध्य के विना जो न हो सके, उसे साधन कहते हैं। जैसे—धुआँ अग्नि के विना नहीं हो सकता, इसलिए अग्नि का साधन (हेतु) धुआँ है।

साध्य—इष्ट, अवाधित और असिद्ध को साध्य कहते हैं।

इष्ट—वादी जिसको सिद्ध करना चाहे, उसको इष्ट कहते हैं।

अवाधित—जो दूसरे प्रमाणों से वाधित न हो उसे अवाधित कहते हैं। जैसे अग्नि-की शीतलता (ठंढापन) प्रत्यक्ष प्रमाण से वाधित है; क्योंकि अग्नि छूने से उष्ण मालूम होती है, इसलिए अग्नि की शीतलता साध्य नहीं हो सकती।

असिद्ध—जो दूसरे प्रमाण से सिद्ध न हो, उसे असिद्ध कहते हैं। अथवा जिसका निश्चय न हो, उसे असिद्ध कहते हैं।

उक्त अनुमान ज्ञान साधन (हेतु) से होता है और साधनाभास से (हेत्वाभास से) जो ज्ञान होता है, उसे अनुमानाभास कहते हैं।

हेत्वाभास

हेत्वाभास—जो हेतु के समान मालूम देता हो, किन्तु उसमें हेतु के गुण न हो, अर्थात् दोप विशिष्ट हेतु को हेत्वाभास कहते हैं। यह चार प्रकार का होता है। असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक (व्यभिचारी) और अकिंचित्कर।

जिस हेतु की सत्ता (मौजूदगी) का निश्चय न हो; किन्तु उसके असत्त्व (अभाव) का निश्चय हो, अथवा उसके सद्भाव (अस्तित्व-मौजूदगी) मे सन्देह हो, उसे असिद्ध कहते हैं। जैसे-शब्द नित्य है, क्योंकि वह चक्षु इन्द्रिय का विषय है। यहां जो चक्षु इन्द्रिय का विषय, यह हेतु दिया है, वह असिद्ध है; कारण कि शब्द श्रोत्र इन्द्रिय का विषय है। इसलिए उक्त हेतु असिद्ध हेत्वाभास है।

विरुद्ध हेत्वाभास-जिस हेतु की अपने साध्य से विपरीत के साथ व्याप्ति हो, उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं। जैसे-शब्द नित्य है, क्योंकि वह परिणामी है। यहा पर जो परिणामी हेतु है, वह नित्य साध्य से विपरीत अनित्य के साथ व्याप्त है; इसलिए यह विरुद्ध हेत्वाभास माना जाता है।

अनैकान्तिक (व्यभिचारी) हेत्वाभास-जिस हेतु की पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीनों के साथ व्याप्ति हो, उसे अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं। जैसे-इस रसोई घर मे धुआ है, क्योंकि इसमे अग्नि है। यहां पर अग्नि हेतु पक्ष (रसोई घर) सपक्ष-धुआ वाला दूसरा घर तथा विपक्ष धुएँ रहित जलते हुए कोयले वाली अँगीठी में भी पाया जाता है, इसलिए यह 'धुआ' हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास कहा जाता है।

प्रश्न—यहाँ पर पक्ष सपक्ष आदि का नाम उच्चारण किया है। उनका लक्षण-स्वरूप क्या है?

उत्तर—जहा साध्य के रहने का सन्देह हो, उसे पक्ष कहते हैं। जैसे यह पर्वत अग्निवाला है (पक्ष)। क्योंकि यहा पर धुआं है (साधन)। जहा जहा धुआँ होता है, वहां वहा अग्नि होती है, जैसे रसोई घर (अन्वयदृष्टान्त)। जहां २ अग्नि नहीं होती है, वहा २ धुआं भी नहीं होता है, जैसे तालाव (व्यतिरेक दृष्टान्त)। वैसा ही धुए वाला यह पर्वत है; (उपनय)। इसलिए यह अग्नि वाला है (निगमन) यह पञ्चावयव वाक्य है। इस वाक्य मे पर्वत पक्ष है, क्योंकि यहा की अग्नि सिद्ध की जा रही है। जब तक यह अग्नि सिद्ध नहीं हो जाती, तब तक उसका निश्चय नहीं हुआ है, किन्तु उसमें सन्देह है।

सपक्ष—जहां साध्य के रहने का निश्चय हो, उसे सपक्ष कहते हैं। जैसे ऊपर के पञ्चावयव वाक्य मे 'रसोई घर' सपक्ष है, क्योंकि वहां पर अग्नि के रहने का निश्चय है।

विपक्ष—जहा साध्य के अभाव का (न रहने का) निश्चय हो। जैसे-ऊपर के वाक्य मे तालाव विपक्ष कहा गया है, क्योंकि वहा अग्नि का अभाव निश्चित है।

प्रश्न—चौथा अकिंचित्कर हेत्वाभास किसे कहते हैं?

उत्तर—अकिंचित्कर हेत्वाभास उसे कहते हैं—जो हेतु अपने साध्य की किंचिन्मात्र भी सिद्धि न कर सके। इसके दो भेद हैं—सिद्धसाधन और बाधितविषय।

सिद्धसाधन हेत्वाभास—जिस हेतु का साध्य सिद्ध न हो उसे सिद्ध साधन कहते हैं। जैसे—अग्नि उष्ण है, क्योंकि वह छूने से गर्म मालूम होती है। यहां पर अग्नि का उष्णपना प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है। हेतु ने अपना कार्य कुछ भी नहीं किया, इसलिए यह अकिंचित्कर माना जाता है।

बाधित विषय हेत्वाभास—जिस हेतु का साध्य प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित हो, उसे बाधित विषय कहते हैं। इसके अनेक भेद हैं—प्रत्यक्ष-बाधित, अनुमान-बाधित, आगम-बाधित और स्ववचन-बाधित आदि।

प्रत्यक्ष बाधित—जिस हेतु का साध्य प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित हो। जैसे—अग्नि ठंडी है, क्योंकि यह द्रव्य है। यहा पर जो द्रव्य हेतु दिया गया है, उसका साध्य अग्नि का ठंडापन है, वह प्रत्यक्ष से बाधित है, क्योंकि प्रत्यक्ष से अग्नि गर्म सिद्ध है।

अनुमान बाधित—जिस हेतु के साध्य मे अनुमान से बाधा आवे, उसे अनुमान बाधित कहते हैं। जैसे—'पर्वत नदी घास आदि कर्त्ता के बनाये हुए हैं, क्योंकि ये कार्य हैं।' किन्तु इस 'कार्य' हेतु मे इस अनुमान से बाधा आती है—पर्वत नदी घास आदि किसी ईश्वरादि की बनाई हुई नहीं हैं, क्योंकि इनका बनाने वाला शरीरधारी नहीं है। जो २ शरीर धारी की बनाई हुई नहीं हैं, वे वे वस्तुए किसी ईश्वरादि कर्त्ता की बनाई हुई नहीं हैं, जैसे आकाश। आकाश किसी शरीरधारी का बनाया हुआ नहीं है, इसलिए वह किसी ईश्वरादि कर्त्ता का बनाया हुआ भी नहीं है। वैसे ही पर्वतादि को भी समझना चाहिए।

आगमबाधित—जिस हेतु का साध्य शास्त्र से बाधित हो, उसे आगम बाधित कहते हैं। जैसे—पाप सुख का देने वाला है, क्योकि वह कर्म है। जो जो कर्म होता है, वह २ सुख का देने वाला होता है, जैसे पुण्य कर्म। इस मे आगम प्रमाण से बाधा आती है, क्योकि शास्त्रो मे पापकर्म को दु.ख देने वाला बताया है।

स्ववचनबाधित—जिस हेतु के साध्य मे अपने वचन से ही बाधा आवे। जैसे—कोई कहे कि मेरी माता वन्ध्या है, क्योंकि पुरुष का सयोग होने पर भी उसके गर्भ नहीं रहता है। इस अनुमान मे वन्ध्यापन स्ववचन से बाधित है।

अनुमान के अंग

अनुमान के पाच अग होते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन।

प्रतिज्ञा—पक्ष के कहने को प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे—"यह पर्वत अग्निवाला है।"

हेतु—साधन के कहने को हेतु कहते हैं। जैसे—क्योकि "यह धुए वाला है"।

उदाहरण—व्याप्ति दिखाते हुए दृष्टान्त के कहने को उदाहरण कहते हैं। जैसे—जहा जहां धुआ होता है, वहा २ अग्नि होती है, जैसे—रसोईघर। और जहा २ अग्नि नहीं होती है, वहा २ धुआ भी नहीं होता है। जैसे—तालाव।

दृष्टान्त—जहा पर साध्य और साधन का सद्भाव अथवा अभाव दिखाया जावे उसे दृष्टान्त कहते हैं, जैसे—रसोई का घर अथवा तालाव।

दृष्टान्त के दो भेद हैं—अन्वय दृष्टान्त और व्यतिरेक दृष्टान्त।

अन्वय—जहाँ पर साधन के सद्भाव में साध्य का सद्भाव दिखाया जावे। जैसे—रसोई के घर मे धुएं का सद्भाव होने पर अग्नि का सद्भाव दिखाया गया है।

व्यतिरेक दृष्टान्त—जहा साध्य के अभाव मे साधन का भी अभाव दिखाया जावे, उसे व्यतिरेक दृष्टान्त कहते हैं। जैसे—सरोवर मे अग्नि के अभाव मे धुए का अभाव दिखाया गया है।

उपनय—पक्ष में दृष्टान्त की सदृशता दिखाते हुए हेतु के दोहराने को उपनय कहते हैं। जैसे—यह पर्वत भी वैसा ही धुए वाला है। पहले पंचावयव वाक्य, पक्ष के स्वरूप मे कह आये हैं, वहा देखलें।

निगमन—नतीजा निकालकर प्रतिज्ञा के दोहराने को निगमन कहते हैं। जैसे—इसलिए यह पर्वत भी अग्निवाला है।

हेतु के भेद

हेतु के तीन भेद हैं—केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वय व्यतिरेकी।

केवलान्वयी—जिस हेतु मे केवल अन्वय दृष्टान्त हो। जैसे—जीव अनेकान्त स्वरूप होता है; क्योकि वह सत्स्वरूप है। जो २ सत्स्वरूप होता है, वह वह अनेकान्तस्वरूप होता है। जैसे पुद्गलादि।

केवलव्यतिरेकी—जिस हेतु मे केवल व्यतिरेक दृष्टान्त हो। जैसे—जीवित शरीर मे आत्मा है, क्योकि इसमे श्वासोच्छ्वास

है। जहां २ आत्मा नहीं होता है, वहा २ श्वासोच्छ्वास भी नहीं होता है। जैसे—ईंट, चौकी इत्यादि।

अन्वय व्यतिरेकी—जिस हेतु मे अन्वय दृष्टान्त और व्यतिरेक दृष्टान्त दोनो ही पाये जावें, उसे अन्वय व्यतिरेकी हेतु कहते हैं। जैसे--यह पर्वत अग्निवाला है, क्योकि यह धुए वाला है। जहा २ धुआं होता है, वहा २ अग्नि होती है। जैसे—रसोईघर। जहां जहां अग्नि नहीं होती है, वहा २ धुआ भी नहीं होता है। जैसे—सरोवर।

आगम

आगम—आप्त के वचन, सकेत आदि से जो पदार्थ का ज्ञान होता है, उसे आगम कहते हैं।

आप्त—सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशक को आप्त कहते हैं।

इस प्रकार मतिज्ञान का सक्षेप से वर्णन किया गया। विशेष ग्रन्थान्तर से जानना चाहिए।

श्रुतज्ञान

मतिज्ञान से निश्चय किये गये पदार्थ का अवलम्बन लेकर उससे सम्बन्ध रखने वाले अन्य पदार्थ को जानने वाला जो ज्ञान है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। अर्थात् प्रथम मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से मतिज्ञान उत्पन्न होता है, तत्पश्चात् मतिज्ञान से निर्णीत अर्थ को लेकर उस अर्थ के वल से अर्थान्तर (भिन्न भिन्न पदार्थों) को श्रुत ज्ञान जानता है। मतिज्ञान की प्रवृत्ति न होने पर श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति का भी अभाव होता है। इसका आशय यह है कि प्रथमतः मतिज्ञान अवश्य होना चाहिए, मतिज्ञान की प्रवृत्ति होने के वाद श्रुतज्ञान होता है।

यहा पर यह शंका होती है कि घट शब्द को सुनकर उत्पन्न हुआ जो 'घट' इस शब्द का श्रावण-प्रत्यक्ष ज्ञान, अथवा घट को देखकर उत्पन्न हुआ जो कम्बुग्रीवादिमान् घट पदार्थ का चक्षुजन्य ज्ञान, अथवा पहले पहल मन द्वारा उत्पन्न हुआ घट पदार्थ का ज्ञान—ये तीनो मतिज्ञान हैं। इसके पश्चात् 'यह घट जल भरने के काम मे आता है' यह पहला श्रुतज्ञान हुआ, इसके बाद "इसमे जल ठंढा रहता है" यह द्वितीय श्रुतज्ञान, इसके अनन्तर 'यह अमुक २ उपायो से वनाया जाता है'—तीसरा श्रुतज्ञान, आदि उत्तरोत्तर जितने ज्ञान होते हैं वे द्वितीय तृतीयादि सव श्रुतज्ञान, श्रुतज्ञान पूर्वक हुए हैं।

शंका—प्रथम श्रुतज्ञान ही मतिज्ञान पूर्वक हुआ तो फिर सव श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होते हैं, यह कैसे सिद्ध हुआ ?

समाधान—मतिपूर्वक श्रुतज्ञान होता है, इसका आशय यह है कि पहले पहल मतिज्ञान का सद्भाव होने पर ही श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। मतिज्ञान के अभाव मे श्रुतज्ञान नहीं होता। और जो द्वितीयादि श्रुतज्ञान श्रुतपूर्वक हुए वे भी प्रथम श्रुतज्ञान पूर्वक हुए हैं और उस के पहले मतिज्ञान अवश्य है, इसलिए उपचार से उन द्वितीयादि श्रुतज्ञान को भी मतिपूर्वक ही माना गया है। क्योंकि प्रथमतः यदि मतिज्ञान नहीं उत्पन्न होता, तो पहला श्रुतज्ञान नहीं होता और पहले श्रुतज्ञान के न होने पर द्वितीयादि श्रुतज्ञान भी उत्पन्न नहीं होते। अतः सिद्ध हुआ कि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक ही उत्पन्न होता है।

श्रुतज्ञान के दो भेद

श्रुत के २ भेद हैं—१ अक्षर रूप २ अनक्षर रूप अथवा १ शब्द जन्य २ लिङ्गजन्य। वर्ण, पद, वाक्य को सुनकर उत्पन्न हुआ पदार्थ-ज्ञान अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। और लिंग-हेतु जन्य ज्ञान अनक्षर श्रुतज्ञान है। अकारादि सत्ताईस स्वर, ककारादि तेतीस व्यजन और ४ योगवाह (अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय उपध्मानीय) ये सब मिलकर ६४ वर्ण हैं। विभक्त्यंत पद होता है। परस्पर अपेक्षा सहित निरपेक्ष समुदाय वाक्य कहलाता है। वर्ण पद-वाक्य जन्य ज्ञान को अक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं। अक्षरात्मक श्रुतज्ञान मुख्य-प्रधान है, क्योंकि इसीसे देना, लेना, शास्त्र-अध्ययन, शिक्षाग्रहण आदि सब व्यवहार होते हैं। यद्यपि अनक्षर रूप श्रुतज्ञान एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के होता है, तथापि यह व्यवहार मे उपयोगी न होने से अप्रधान माना जाता है। जैसे 'जीव विद्यमान है' ऐसा शब्द ज्ञान तो मतिज्ञान है, क्योंकि यह कर्णेन्द्रिय से होता है। इस कर्णेन्द्रिय-जन्य मतिज्ञान के पश्चात् 'जीव विद्यमान है' इस शब्द से वाच्य (कहा गया) जो आत्मा का अस्तित्व उसका ज्ञान होता है। वह श्रुतज्ञान है, क्योकि यह वाच्य वाचक सम्वन्ध के सकेत ज्ञान पूर्वक होता है। जीव शब्द वाचक और जीव पदार्थ वाच्य है। इस-प्रकार के सम्वन्ध का सकेत हो जाने के वाद जीव शब्द का उच्चारण करने पर जीव पदार्थ का ज्ञान होता है। इसलिए यह अक्षरात्मक श्रुत ज्ञान माना गया है। इस ज्ञान मे अक्षर (शब्द) कारण है और पदार्थ ज्ञान कार्य है, अतः कारण मे कार्य का उपचार करके अक्षर को ही ज्ञान कह दिया है।

शरीर के साथ वायु का स्पर्श होने पर वायु का शीत स्पर्श अनुभव किया गया, यह स्पर्शनेन्द्रिय मतिज्ञान है। इसके पश्चात् पवन का शीतस्पर्श वात प्रकृति वाले को "यह अमनोज्ञ है" "यह विकारी है" ऐसा जो प्रतीत होता है यह अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। अतः श्रुतज्ञान के अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक दो भेद कहे गये हैं। आगे श्रुतज्ञान के २० भेद कहेंगे, उनमे से पर्याय ज्ञान और पर्यायसमास ज्ञान अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। इनके असख्यात लोक प्रमाण भेद हैं, और वे असख्यात लोकमात्र वार षट्स्थान वृद्धि से वर्धित हैं।

अक्षरात्मक श्रुतज्ञान एक घाट एकट्ठी प्रमाण अपुनरुक्त अक्षरों की अपेक्षा से संख्यात भेद रूप हैं। एक घाट एकट्ठी प्रमाण अक्षरों की सख्या १८ ४४ ६७ ४४० ७३७० ६५५१६ १५ है।

श्रुतज्ञान के बीस भेद

१ पर्याय २ पर्यायसमास, ३ अक्षर, ४ अक्षरसमास, ५ पद, ६ पदसमास, ७ संघात, ८ संघातसमास, ९ प्रतिपत्तिक, १० प्रतिपत्तिकसमास, ११ अनुयोग, १२ अनुयोगसमास, १३ प्राभृत प्राभृत, १४ प्राभृत प्राभृत समास, १५ प्राभृत, १६ प्राभृतसमास, १७ वस्तु, १८ वस्तु समास १९ पूर्व, २० पूर्वसमास। ये श्रुतज्ञान के बीस भेद हैं।

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के जन्म होने के प्रथम समय मे सब से जघन्य शक्तिरूप पर्याय नामक ज्ञान होता है। यह ज्ञान निरावरण है, इसे ढकने वाला कोई कर्म नहीं है, इसलिए इसे नित्योद्‌घाट कहा है। अर्थात् इतना सदा उघडा रहता है, यदि यह सबसे लघुज्ञान भी ढक जाय तो आत्मा ज्ञान-शून्य होने से जड़ हो जायगा; अतः आत्मा का सद्भाव भी न रहेगा। इसलिए जो पर्याय ज्ञानावरण कर्म है वह ज्ञान के दूसरे भेद-पर्याय समास को आवृत करता है, पहले भेद पर्याय ज्ञान को नहीं।

इस सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के जन्म के पहले समय में होने वाले स्पर्शनेन्द्रियजनित मतिज्ञान पूर्वक इस सर्व जघन्य शक्तिरूप पर्याय ज्ञान को लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान कहते हैं। लब्धि नाम श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम का है। अथवा अर्थग्रहण करने की शक्ति को लब्धि कहते हैं। अक्षर का निरुक्त अर्थ 'नक्षरति इति अक्षरः' अर्थात् अविनश्वर है। इतने ज्ञान (अक्षर ज्ञान) का क्षयोपशम जीव के सर्वदा रहता है। सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के पर्याय नामक ज्ञान होता है, उस ज्ञान मे पदार्थ को जानने की शक्ति रूप अविभाग प्रतिच्छेद कितने हैं, वही कहते हैं।

द्विरूप वर्ग धारा २ का वर्ग ४ यह वर्ग का पहला स्थान, दूसरा वर्गस्थान, १६, तीसरा वर्ग स्थान २५६, चौथा वर्ग स्थान पणट्ठी ६५५३६, पाचवाँ वर्गस्थान बादाल ४२९४९६७२९६, छठा वर्गस्थान एकट्ठी १८४४६७४४०७३७०९५५१६१६। ऐसे परस्पर गुणनरूप अनन्तानन्त वर्ग स्थान गये जीवराशि का प्रमाण उत्पन्न होता है। उसके ऊपर अनन्तानन्त वर्ग स्थान गये काल के समय की राशि उत्पन्न होती है। उसके ऊपर अनन्तानन्त वर्ग स्थान गये आकाश के प्रदेशो की श्रेणी का प्रमाण उत्पन्न होता है। उसके ऊपर अनन्तानन्त वर्गस्थान गये धर्म अधर्म द्रव्य के अगुरुलघुनामक गुण के अविभागी प्रतिच्छेद उत्पन्न होते है। उसके ऊपर अनन्तानन्त वर्ग स्थान गये एक जीव सम्बन्धी अगुरुलघुगुण के अविभागी प्रतिच्छेद उत्पन्न होते हैं। उसके ऊपर अनन्तानन्त वर्ग स्थान गये सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक का जघन्य ज्ञान जो पर्याय ज्ञान उसके अविभागी प्रतिच्छेद उत्पन्न होते हैं। इसलिए सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के सब से जघन्य ज्ञान के जानने की शक्तिरूप अविभागी प्रतिच्छेद अनन्तानन्त है। उसके ऊपर का द्वितीयादि स्थान भेद षड्‌गुणी वृद्धि से वर्धित है। षड्‌वृद्धियाँ ये हैं-१ अनन्तभागवृद्धि, २ असख्यात भाग वृद्धि, ३ सख्यात भाग वृद्धि, ४ सख्यात गुण वृद्धि, ५ असख्यात गुण वृद्धि, ६ अनन्त गुण वृद्धि। ऐसे असख्यात लोक प्रमाण षट्‌स्थान वृद्धि

रूप सख्यात लोक प्रमाण पर्याय समास ज्ञान के भेद होते हैं।

अनन्तानन्त वर्ग स्थान जाने पर सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के पर्याय ज्ञान के जानने की शक्ति के अंशरूप जो अविभागी प्रतिच्छेद अनन्तानन्त कहे गये हैं उनमे जीवराशि प्रमाण अनन्त का भाग देने से जो लब्ध आवे, उसको पर्याय ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद में मिला देने पर जितने अविभाग प्रतिच्छेद हुए वह पर्याय समास ज्ञान के प्रथम भेद के अविभाग प्रतिच्छेद का प्रमाण होता है। इसी प्रकार इसमें फिर जीवराशि प्रमाण अनन्त का भाग देकर लब्ध को पूर्व पूर्व ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद मे मिलाते जाना चाहिए। ऐसा करने से उत्तरोत्तर ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं। इस तरह पर्याय समास ज्ञान का दूसरा तीसरा आदि भेद निकलता है।

जो अनन्त का भाग देकर उसे वढाया जावे वह अनन्त भाग वृद्धि है, ऐसी अनन्त भाग वृद्धियाँ सूच्यंगुल के असख्यात भाग प्रमाण हो जाने पर एक वार असख्यात भाग वृद्धि होती है। फिर सूच्यगुल के असख्यात भाग प्रमाण अनन्तभाग वृद्धियाँ हो जाती हैं, तव एक वार असंख्यात भाग वृद्धि होती है, ऐसे ही सूच्यगुल के असख्यात, भाग वार अनन्त भाग वृद्धियाँ होने पर फिर एक वार असख्यात भाग वृद्धि होने पर एक वार असख्यात भाग वृद्धि होती है। इस क्रम से असख्यात भाग वृद्धि भी सूच्यंगुल के असख्यात भाग वार होजाने पर एक वार सख्यात भाग वृद्धि होती है। ऐसे करते करते सूच्यगुल के असंख्यातवें भाग वार संख्यातभागवृद्धि होजावे तव फिर सूच्यगुल के असंख्यातवें भाग वार अनन्त भाग वृद्धि होजावे, तव तो एक वार असख्यात भाग वृद्धि होती है और ऐसे सूच्यगुल के असख्यातवें भाग वार [illegible]ख्यात भाग वृद्धि होजाने पर एक वार सख्यात भाग वृद्धि होती है। ऐसे ही सूच्यगुल के असख्यातवें भाग वार सख्यात भाग वृद्धि होजाने [illegible] सख्यात गुण वृद्धि होती है। उक्त प्रकार जितने पलटे लगकर एक वार सख्यात गुण वृद्धि हुई है, वैसे ही सूच्यगुल के असख्यातवें [illegible]ात गुण वृद्धि होजाने पर पिछले सब पलटे लगकर एक वार असख्यात गुण वृद्धि होती है। ऐसे सूच्यगुल के असख्यातवें भाग [illegible] गुण वृद्धि होजाने पर पिछले सब पलटे लगकर एक वार अनन्त गुण वृद्धि होती है। जो यह अनन्त गुण वृद्धि रूप स्थान है [illegible]का स्थान जानना चाहिए।

वर्णों की वृद्धि होते २ [illegible] के ऊपर सूच्यगुल के असंख्यातवें भाग वार अनन्त भाग वृद्धि होजाने पर एक वार असख्यात भाग वृद्धि होती मध्य के जितने ज्ञान के वि[illegible] [illegible]न्त पट्स्थान वृद्धि होती है। ये सव भेद अनक्षरात्मक पर्याय समास ज्ञान के हैं। ज्ञान नरकादि चारो गति[illegible]

[illegible]ुत ज्ञान—असख्यात लोक प्रमाण पट्स्थानो मे से अन्त के पट्स्थान मे जितने अविभागी प्रतिच्छेद हैं, उतने [illegible]त्कृष्ट भेद हैं और पर्याय समास ज्ञान से अनन्त गुणा अर्थाक्षर ज्ञान है।

सं० [illegible]र तीन प्रकार के होते हैं। १. लब्ध्यक्षर २. निर्वृत्यक्षर और ३. स्थापनाक्षर। उनमें पर्याय ज्ञानावरण से लेकर श्रुत

पू० कि० ३

१ पर्याय ... पत्तिकसमास, ११ अनुयो... समास १९ पूर्व, २० पूर्वसमा...

...न क्षयोपशम से उत्पन्न हुई जो आत्मा की अर्थ ग्रहण करने की शक्ति है, वह लब्धि है, उसे ही भावेन्द्रिय कहते हैं। लब्ध्यक्षर है। इसलिए लब्ध्यक्षर को अक्षर ज्ञान की उत्पत्ति मे हेतुपना है। कण्ठ, ओष्ठ ताल्वादिक स्थान और ...गलो से निवृत्तिमान (उत्पन्न) हुए अकारादि स्वर तथा ककारादि व्यजन मूलवर्ण हैं और मूलवर्णों के संयोग से ...क्षर हैं। पुस्तको मे अनेक देशो की अनुकूलता को लक्ष्य मे रखकर लिखे गये आकार को स्थापना अक्षर कहते हैं। सूक्ष्म निरीक्षण करने से उत्पन्न होने वाले अर्थ ज्ञान को एकाक्षर श्रुतज्ञान कहते हैं।

ज्ञान निरावरण है. लघुज्ञान भी ढक है वह ज्ञान है

पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं।
पेण्णवणिज्जाणं पुण अणंत भागो दु सुदणिबद्धो ॥ ३३४ ॥ गो० जी०।

अर्थ—अनभिलप्य (वचनागोचर), केवलज्ञान के गोचर जो जीवादि पदार्थ हैं, वे प्रज्ञापनीय हैं-तीर्थंकरो की सातिशय ...दिव्यध्वनि से कहे जाते हैं। इनके अनन्तवें भाग मात्र द्वादशाग श्रुत में व्याख्यान किये गये हैं। इसका आशय यह है कि जो पदार्थ केवल केवलज्ञान द्वारा जाने जाते हैं; किन्तु जिनका वचन द्वारा निरूपण नहीं कर सकते, ऐसे पदार्थ अनन्तानन्त हैं। ऐसे पदार्थों के अनन्तवें भाग प्रमाण वे पदार्थ हैं, जिनका वचन के द्वारा निरूपण कर सकते हैं, उन्हें प्रज्ञापनीय कहते हैं। जितने प्रज्ञापनीय पदार्थ हैं, उनके भी अनन्तवें भाग प्रमाण पदार्थ-श्रुत मे निरूपण किया गया है।

अक्षर समास

एयक्खरादु उवरिं एगेगेणक्खरेण वड्ढंतो।
संखेज्जे खलु उड्ढे पदणाम होदि सुदणाणं ॥ ३३५ ॥ गो० जी०

अर्थ—अक्षर ज्ञान के ऊपर क्रम से एक २ अक्षर की वृद्धि होते २ जब संख्यात अक्षरों की वृद्धि होजाती है, तब पदनामक श्रुत ज्ञान होता है। एक अक्षर के ऊपर और एक अक्षर क्रम पद ज्ञान पर्यन्त जितने ज्ञान के विकल्प हैं वे सब अक्षर समास नामक श्रुतज्ञान के विकल्प हैं। वे सब अक्षर समास ज्ञान के भेद हैं।

पद तीन प्रकार का होता है-१ अर्थपद, २. प्रमाणपद, ३. मध्यमपद। इनका खुलासा निम्न प्रकार है।

१ —अर्थपद-जितने अक्षर समूह से विवक्षित अर्थ जाना जाता है, उसे अर्थपद कहते हैं। जैसे किसी ने कहा कि-"गामस्याज शुक्ला दण्डेन" सफेद गाय को लकड़ी से घेरो। तथा 'अग्निं आनय' अग्नि लाओ। इत्यादि अर्थ के लिए एक दो आदि पदो का जो प्रयोग

किया जाता है, उनको अर्थपद कहते हैं।

२—प्रमाणपद—श्लोक के चौथे भाग को एक पद कहते हैं। जैसे "नमः श्रीवर्धमानाय" ।—यह प्रमाण पद है।

३—मध्यमपद-अक्षर समूह को मध्यम पद कहते हैं। अर्थपद और प्रमाणपद तो हीनाधिक अक्षर वाले लोक व्यवहार से ग्रहण किये जाते हैं, किन्तु मध्यमपद का उक्त प्रमाण निश्चित है। और यहां लोकोत्तर परमागम मे इसी का ग्रहण किया गया है।

संघात श्रुतज्ञान

एय पदादो उवरिं एगेगेणक्खरेण वड्ढंतो।
संखेज्जसहस्स पदे उड्ढे संघादणाम सुदं॥ ३३७॥ गो० जी०

अर्थ—एक पद के ऊपर क्रमसे एक एक अक्षर बढते २ उक्त प्रमाण अक्षर समूह बढ़ते जाने पर पदज्ञान दूना हो जाता है। इसी प्रकार बढते २ जब सख्यात हजार पद बढ़ जाते हैं, तब संघात नामक श्रुतज्ञान का भेद होता है। पदज्ञान पर एक अक्षर अधिक से लेकर इस (सघातज्ञान) से एक अक्षर कम तक जितने बीच के भेद होते हैं, वे सब पद समास ज्ञान के भेद हैं।

प्रतिपत्तिक श्रुतज्ञान

एक्कदरगदिणिरूवय संघादसुदादु उवरि पुव्वंवा।
वण्णे संखेज्जे संघाते उड्ढम्हि पडिवत्ती॥ ३३८॥ गो० जी०

अर्थ—चार गतियो मे से एक गति के स्वरूप का निरूपण करने वाला जो सघात श्रुतज्ञान है; उसके ऊपर क्रम से पूर्व की भाति वर्णो की वृद्धि होते २ जब सख्यात हजार सघात की वृद्धि हो जाती है, तब प्रतिपत्ति नामक श्रुतज्ञान होता है। संघात और प्रतिपत्ति श्रुतज्ञान के मध्य के जितने ज्ञान के विकल्प हैं, उतने ही सघात समास श्रुतज्ञान के भेद हैं। इस पर एक अक्षर बढ़ा देने पर प्रतिपत्ति ज्ञान होता है यह ज्ञान नरकादि चारो गतियो का विस्तृत स्वरूप जानने वाला है।

अनुयोग श्रुतज्ञान

चउगइ सरूवरूवय पडिवत्तीदो दु उवरि पुव्वं वा।

वएणे संखिज्जे पडिवत्ती उड्ढम्हि अणियोगं ॥ ३३६ ॥ गो० जी०

अर्थ—चारो गति के स्वरूप का निरूपण करने वाले प्रतिपत्ति ज्ञान के ऊपर पूर्व की तरह क्रम से एक एक अक्षर बढ़ते २ जब सख्यात हजार प्रतिपत्ति बढ जावें तब एक अनुयोग श्रुतज्ञान होता है। प्रतिपत्ति के ऊपर एक अक्षर वृद्धि से लेकर एक अक्षर कम अनुयोग ज्ञान के पूर्व जितने विकल्प होते हैं, उतने सब प्रतिपत्ति समास ज्ञान के भेद हैं। इसमे एक अक्षर जोड़ने पर अनुयोग ज्ञान होता है। इस ज्ञान के द्वारा चौदह मार्गणाओं का विस्तृत स्वरूप जाना जाता है।

प्राभृतप्राभृतश्रुतज्ञान

चोद्दसमग्गणसंजुद अणियोगादुवरि वड्ढिदे वएणे।
चउरादी अणियोगे दुगवारं पाहुडं होदि ॥ ३४० ॥ गो० जी०

अर्थ—चौदह मार्गणाओं का निरूपण करने वाले अनुयोग ज्ञान के ऊपर पूर्वोक्त क्रम के अनुसार एक एक अक्षर की वृद्धि होते होते जब चार आदि अनुयोगों की वृद्धि हो जाती है, तब प्राभृत प्राभृत श्रुतज्ञान होता है। अनुयोग ज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि से लेकर एक अक्षर हीन प्राभृत प्राभृत ज्ञान तक मध्य के जितने विकल्प होते हैं उतने सब अनुयोगसमास, समास ज्ञान के भेद हैं।

आगे वस्तु नामक श्रुतज्ञान का भेद कहेंगे, उसका जो एक अधिकार है, उसे प्राभृत कहते हैं, और प्राभृत के एक अधिकार को प्राभृतप्राभृत कहते हैं।

प्राभृत श्रुतज्ञान

दुगवारपाहुडादो उवरिं वएणे कमेण चउवीसे।
दुगवारपाहुडे संउड्ढे खलु होदि पाहुडयं ॥ ३४२ ॥ गो० जी०

अर्थ—प्राभृतप्राभृत ज्ञान के ऊपर पूर्व की भाति क्रम से एक २ वर्ण बढते २ जब चौवीस प्राभृतप्राभृत बढ जावें, तब एक प्राभृत नामक श्रुतज्ञान होता है। प्राभृतप्राभृत के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि से लेकर एक अक्षर हीन प्राभृत तक जितने विकल्प होते हैं, उतने सब प्राभृतप्राभृतसमास ज्ञान के भेद हैं। इस पर एक अक्षर बढने पर प्राभृत ज्ञान होता है।

वस्तु श्रुतज्ञान

वीसं वीसं पाहुडअहियारे एकवत्थुअहियारो।
एक्केक्कवण्णउड्ढी कमेण सव्वत्थ णायव्वा ॥३४३॥ गो० जी०

अर्थ—उस प्राभृतक ज्ञान के ऊपर पूर्व की भांति क्रम से एक २ अक्षर की वृद्धि होते २ जब बीस प्राभृत की वृद्धि होजावे तब एक वस्तु नामक श्रुतज्ञान होता है। प्राभृतक ज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि से लेकर एक अक्षर हीन वस्तु ज्ञान तक जितने विकल्प होते हैं, उतने सब प्राभृत समास ज्ञान के भेद हैं। इस पर एक अक्षर बढ़ा देने पर वस्तु नामा अधिकार श्रुतज्ञान होता है।

पूर्व श्रुतज्ञान

दस चोदसट्ठ अट्ठारसयं बारं च बार सोलं च।
वीसं तीसं पण्णारसं च दस चदुसु वत्थूणं ॥ ३४४ ॥ गो० जी०

अर्थ—पूर्व ज्ञान के चौदह भेद हैं। उनमे क्रम से दश, चौदह, आठ, अठारह, बारह, बारह, सोलह, बीस, तीस, पन्द्रह, दश, दश, दश, दश वस्तु नामक अधिकार हैं।

चौदह पूर्व

उप्पायपुव्वगाणियविरियपवादत्थिणत्थियपवादे।
णाणासच्चपवादे आदाकम्मप्पवादे य ॥ ३४५ ॥
पच्चक्खाणे विज्जाणुवादकल्लाणपाणवादे य।
किरियाविसालपुव्वे कमसोथ तिलोयविंदुसारे य ॥ ३४६ ॥ गो० जी०

अर्थ—१. उत्पादपूर्व, २. आग्रायणीयपूर्व, ३. वीर्यप्रवाद, ४. अस्तिनास्तिप्रवाद, ५. ज्ञानप्रवाद, ६. सत्यप्रवाद ७. आत्मप्रवाद, ८ कर्मप्रवाद, ९. प्रत्याख्यान, १०. वीर्यानुवाद, ११. कल्याणवाद, १२. प्राणवाद, १३. क्रियाविशाल १४. त्रिलोकविंदुसार। इस प्रकार ये क्रम से पूर्वज्ञान के चौदह भेद हैं। इनके लक्षण आगे कहेंगे।

तात्पर्य—वस्तुज्ञान के ऊपर क्रम से एक एक अक्षर की वृद्धि लिए पदादि की वृद्धि होते २ दश वस्तु श्रुतज्ञान के ऊपर बढने पर उत्पादपूर्व नामक श्रुतज्ञान होता है। वस्तु नामक श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि से लेकर एक अक्षर हीन उत्पादपूर्व तक जितने विकल्प होते हैं, उतने वस्तु समास ज्ञान के भेद हैं। इसमें एक अक्षर मिलाने पर उत्पादपूर्व नामक श्रुतज्ञान का भेद होता है। इसके ऊपर क्रम से एक एक अक्षर की वृद्धि होकर पदादि की वृद्धि होते २ जब चौदह वस्तु की वृद्धि होजावे, तब आग्रायणीय पूर्व ज्ञान उत्पन्न होता है। उत्पादपूर्व के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि से लेकर एक अक्षर हीन आग्रायणीय पूर्व तक मध्य के सब विकल्प उत्पादपूर्व समास के भेद होते हैं। इसके ऊपर एक अक्षर बढा देने पर आग्रायणीय पूर्व नामा ज्ञान होता है। इसी क्रम से आगे २ आठ आदि वस्तु की वृद्धि होते २ वीर्यप्रवाद आदि पूर्व नामक ज्ञान होते हैं। और उनमे एक एक अक्षर हीन पर्यन्त पहले के ज्ञान का समास नामक ज्ञान होता है। अन्तिम त्रिलोक बिन्दुसार नामा पूर्व के आगे उसके समास ज्ञान का भेद नहीं होता है।

अब चौदह पूर्वों मे वस्तु नामक अधिकार की तथा प्राभृत नामा अधिकार की संख्या बताते हैं।

पणणउदिसया वत्थु पाहुडया तियसहस्सणवयसया।
एदेसु चोद्दसेसु वि पुव्वेसु हवंति मिलिदाणि ॥ ३४७॥ गो. जी

अर्थ—उत्पादपूर्व आदि चौदह पूर्वों मे जो वस्तु नामक अधिकार मिलाये गये, उनकी संख्या एकसौ पिच्यानवे १९५ है। तथा एक एक वस्तु मे बीस बीस जो प्राभृत कहे गये हैं उन कुल प्राभृतक अधिकारो की कुल संख्या तीन हजार नौ सौ ३९०० है।

अब पूर्वोक्त श्रुतज्ञान के बीस भेदो का उपसहार करते हैं—

अत्थक्खरं च पदसंघातं पडिवत्तियाणिजोगं च।
दुगवारपाहुडं च य पाहुडयं वस्तु पुव्वं च ॥ ३४८॥
कमवण्णुत्तरवड्ढिय ताण समासा य अक्खरगदाणि।
णाणवियप्पे वीसं गंथे वारस य चोद्दसयं ॥ ३४९ ॥ गो० जी०

अर्थ—अर्थाक्षर, पद, सघात, प्रतिपत्तिक, अनुयोग, प्राभृतप्राभृत, प्राभृत, वस्तु, पूर्व ये नौ भेद तथा क्रम से एक २ अक्षर की वृद्धि के द्वारा उत्पन्न होने वाले अक्षर समास, पद समास आदि नौ भेद, इस प्रकार अठारह भेद अक्षरात्मक द्रव्य श्रुत के होते हैं। इन द्रव्यश्रुत

के सुनने से उत्पन्न हुए ज्ञान के भी अठारह भेद हो जाते हैं। अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान के पर्याय और पर्याय समास ये दो भेद मिला देने पर सब श्रुतज्ञान के बीस भेद होजाते हैं। यदि ग्रन्थ (शास्त्र) रूप श्रुत की विवक्षा की जाय तो आचारांग आदि बारह अङ्ग और उत्पाद पूर्व आदि चौदह पूर्व और सामायिक आदि चौदह प्रकीर्णक रूप द्रव्य श्रुत ज्ञान होता है। और उनके सुनने से जो ज्ञान होता है उसे भाव श्रुतज्ञान समझना चाहिए। पुद्गलद्रव्यस्वरूप अक्षर पदादि मय तो द्रव्यश्रुत है, और उसके सुनने से जो श्रुतज्ञान की पर्यायरूप ज्ञान होता है, वह भाव श्रुत है।

इस प्रकार पूर्व चौदह,वस्तु एकसौ पिचानवे १९५,प्राभृतक तीन हजार नौसौ ३९००,प्राभृतक प्राभृतक ९३६००,अनुयोग ३७४४००, प्रतिपत्तिक, सङ्घात और पद ये क्रम से सख्यात गुणे हैं। और एक पद के अक्षर सोलह से चोंतीस करोड़, तियासी लाख,सात हजार, आठ सौ अठयासी हैं तथा समस्त श्रुत के अक्षर एक कम एकट्ठी प्रमाण है, इसमे पद के अक्षरो का भाग देने पर जो लब्ध आवे, वह द्वादशाग के पदों का प्रमाण है। और भाग देने पर जो शेष अक्षर रहें, वे अङ्गबाह्यश्रुत के अक्षर हैं।

द्वादशांग के पदों की संख्या

बारुत्तरसयकोडी तेसीदी तह य होंति लक्खाणं।
अट्ठावण्णसहस्सा पंचेव पदाणि अङ्गाणं ॥ ३५० ॥ गो० जी०

अर्थ—११२, ८३, ५८,००५ एकसौ बारह करोड़ तिरासी लाख अठावन हजार पाच पद सम्पूर्ण द्वादशाग के होते हैं। अम्यते अर्थात् मध्य पदों से जो जाने जावें उन्हे अङ्ग कहते हैं। अथवा सम्पूर्ण श्रुत का आचारागादि एक एक अङ्ग अर्थात् अवयव है, अत: वे अङ्ग कहे जाते हैं।

अङ्ग बाह्य के अक्षरों की संख्या

अडकोडिएयलक्खा अट्ठसहस्सा य एयसदिगं च।
पण्णत्तरि वण्णाओ पइण्णयाणं पमाणं तु ॥ ३५१ ॥ (गो० जी०)

अर्थ—सामायिक आदि प्रकीर्णक (अगबाह्य) श्रुत के आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर (८०१०८१७५) अक्षर होते हैं। चार गाथाओं से इस अर्थ को समझने की प्रक्रिया बताते हैं—

तेत्तीसवेंजणाइं सत्तावीसा सरा तहा भणिया ।
चत्तारि य जोगवहा चउसट्ठी मूलवण्णाओ ॥ ३५२ ॥ गो० जी०

अर्थ—तेतीस व्यंजन, सत्ताईस स्वर, चार योगवाह इस प्रकार कुल चौंसठ मूल वर्ण होते हैं।

जिनका स्वर के विना उच्चारण न हो सके, ऐसे अर्धमात्रिक वर्णों को व्यंजन कहते हैं। जैसे—क् ख् ग् घ् ङ् च् छ् ज् झ् ञ् ट् ठ् ड् ढ् ण् त् थ् द् ध् न् प् फ् ब् भ् म् य् र् ल् व् श् ष् स् ह् ये तेतीस हैं। अ इ उ ऋ ऌ ए ऐ ओ औ ये नौ स्वर हैं। इन के ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत की अपेक्षा सत्ताईस भेद होते हैं। अनुस्वार अं, विसर्ग अः, जिह्वामूलीय क और उपध्मानीय प ये चार योगवाह हैं। सब मिलकर ६४ अनादिनिधन मूल वर्ण हैं। यद्यपि ऌ वर्ण संस्कृत भाषा मे दीर्घ नहीं होता है, तथापि अनुकरण मे तथा अन्य देश भाषा मे यह दीर्घ भी होता है। अत. वर्णों मे इनका भी पाठ है। ए ऐ ओ औ ये चारों संस्कृत मे ह्रस्व नहीं माने गये हैं, तथापि प्राकृत भाषा मे तथा अन्य देश भाषा मे ह्रस्व भी माने गये हैं।

चउसट्ठिपदं विरलिय दुगं च दाऊण संगुणं किच्चा ।
रूऊणं च कए पुण सुदणाणस्सक्खरा होंति ॥ ३५३ ॥ गो० जी०

अर्थ—पूर्वोक्त मूल अक्षर प्रमाण चौसठ स्थानों का विरलन करके वरावर पंक्तिरूप एक एक अंक अलग २चौसठ जगह लिखकर प्रत्येक के ऊपर दो दो का अंक देकर उन सम्पूर्ण दो के अंको का परस्पर गुणा करने से जो एकट्ठी प्रमाण आवे, उसमे से एक घटाने पर सर्व द्रव्यश्रुत के अक्षरों का प्रमाण आता है।

वे अक्षर कितने हैं, उनका प्रमाण बताते हैं :—

एकट्ठ च च य छस्सत्तयं च च य सुण्णसत्ततियसत्ता ।
सुण्णं णव पण पंच य एक्कं छक्केक्कगो य पणगं च ॥ ३५४ ॥ गो० जी०

अर्थ—उक्त दो २ के अंको का परस्पर गुणा करने से उत्पन्न हुए अक्षरों का प्रमाण यह है–एक आठ चार चार छह सात चार चार शून्य सात तीन सात शून्य नव पाच पाच एक छह एक पाच १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५। इतने अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य सम्पूर्ण श्रुत के अपुनरुक्त अक्षर हैं। यह सख्या एक अक्षर-एकसयोगी, द्विसयोगी, त्रिसयोगी आदि चौंसठ सयोगी पर्यन्त अक्षरों की जाननी चाहिए। इनकी

स० प्र०

उत्पत्ति का क्रम गोम्मटसारजी की बड़ी टीका से जानना चाहिए।

इन अक्षरों मे से अंगप्रविष्ट और अगवाह्य श्रुत के अक्षरों का विभाग इस प्रकार जानना चाहिए।

मज्झिमपदक्खरवहिदवण्णा ते अंगपुव्वगपदाणि।
सेसक्खरसंखा ओ पइण्णयाणं पमाणं तु ॥ ३५४ ॥ गो० जी०

अर्थ—एक कम एकट्ठी प्रमाण जो सम्पूर्ण श्रुत के अक्षर हैं, उनमें परमागम में प्रसिद्ध मध्यमपद के अक्षरो के प्रमाण का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतना अंग और पूर्व सम्बन्धी मध्यम पदों का प्रमाण निकलता है।

तात्पर्य—सोलह सौ चौतीस करोड, तिरासी लाख, सात हजार, आठ सौ अठासी अक्षरो का एक मध्यम पद होता है, तब एक कम एकट्ठी प्रमाण सम्पूर्ण श्रुत के अक्षरो के कितने पद होते हैं ? इस प्रकार त्रैराशिक करने से अर्थात् सम्पूर्ण अक्षरो में मध्यमपद के अक्षरों का भाग देने पर जो लब्ध राशि आवे उसे समस्त मध्यम पदों का प्रमाण समझना चाहिए। इन समस्त मध्यम पदो के जितने अक्षर हैं, वे अङ्गप्रविष्ट श्रुत के अक्षर हैं, और जो शेष अक्षर रहते हैं वे अगवाह्य श्रुत के अक्षर हैं।

अगो और पूर्वों के पदो की सख्या आदि दिखाते हैं—

आयारे सद्दयडे ठाणे समवायणामगे अंगे।
तत्तो विक्खापण्णत्तीए णाहस्स धम्मकहा ॥ ३५५ ॥
तोवासयअज्झयणे अंतयडे णुत्तरोववाददसे।
पण्हाणं वायरणे विवाहसुत्ते य पदसंखा ॥ ३५६ ॥ गो० जी०

अर्थ—आचार, सूत्रकृत्, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, धर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्त. कृत्, अनुत्तरौपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण और विपाक सूत्र ये ११ अङ्ग हैं।

द्वादश अङ्गो में प्रथम आचाराग को कहा है, कारण कि यह मोक्ष के कारण भूत सवर निर्जरा के कारण पचाचार आदि समस्त चारित्र का प्रतिपादक है। मुमुक्षु (मोक्षाभिलाषी) इसका आदर करते हैं, इसलिए इसे सबके प्रथम कहना युक्ति सगत है।

चार ज्ञान सम्पन्न सप्तऋद्धि के धारक गणधर देवों ने तीर्थंकरो के मुख-कमल से उत्पन्न सर्व भाषामय दिव्यध्वनि को सुनकर और समस्त पदार्थों का अवधारण करके शिष्यो प्रशिष्यो के अनुग्रहार्थ द्वादशाग वाणी की रचना की,उसमे सब से प्रथम आचाराग का निर्माण किया है। आचरन्ति अर्थात् जिससे मोक्ष मार्ग का आचारण करते हैं-आराधन करते हैं, उसे आचाराग कहते हैं।

१–आचाराङ्ग—साधु कैसे चले ? कैसे खडा रहे ? कैसे बैठे ? कैसे सोवे ? कैसे बोले ? कैसे खावे? कैसे पाप न बंधे ? इत्यादि गणधर के प्रश्न करने पर आचाराग मे उत्तर दिया गया है कि यत्न से चले, यत्न पूर्वक खडा रहे, यत्न से बैठे, यत्न से सोवे,यत्न से बोले, यत्न से खावे, इत्यादि यत्न पूर्वक क्रिया करने से पाप कर्म का वन्ध नहीं होता है। इस प्रकार मुनीश्वरो के सम्पूर्ण आचरण का इस आचाराग मे निरूपण किया गया है।

२–सूत्रकृताङ्ग—सूत्रयति अर्थात् संक्षेप से अर्थ सूचक जो परमागम-वह सूत्र है। उस परमागम के लिए कारण भूत विनयादि निर्विघ्न क्रिया-विशेष जिसमें वर्णित हैं अथवा व्यवहार-धर्म-क्रिया का तथा स्वमत परमत का वर्णन जिसमे किया गया है, वह सूत्रकृत नामा दूसरा अग है।

३–स्थानाङ्ग—एक एक बढता हुआ स्थान जिस मे पाया जाता है, वह स्थान नामा तीसरा अंग है। उसमे ऐसा वर्णन है कि संग्रह नय से आत्मा एक है।व्यवहार नय से ससारी और मुक्त ऐसे दो भेद सयुक्त है।उत्पाद,व्यय और ध्रुव रूप से आत्मा तीन प्रकार का है। कर्म के निमित्त से जीव चारो गति मे भ्रमण करता है; इसलिए आत्मा चार प्रकार का भी है। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक भेद से आत्मा पाच प्रकार का है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधः, इस प्रकार छह दिशा मे गमन करता है,अतः छह का भी है। ससारी जीव आकाश प्रदेशकी पंक्ति के अनुसार दिशा मे ही गमन करता है। विदिशा आदि में नहीं करता। स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्ति अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य, स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य। इस प्रकार जीव सात प्रकार का है। आठ कर्मों के आस्रव से युक्त है, इसलिए आठ प्रकार का भी है। जीव,अजीव,आस्रव, बध, संवर, निर्जरा, मोक्ष,पुण्य, पाप इन नौ पदार्थों को जीव विषय करता है, जानता है, इसलिए नौ प्रकार का भी है। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, प्रत्येक वनस्पति, साधारण वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय इस तरह दश प्रकार का है।इत्यादि भेद द्वारा जीव का प्ररूपण स्थानाङ्ग मे किया गया है। पुनश्च पुद्गल सामान्य रूप से एक प्रकार, विशेष अपेक्षा से अणु व स्कन्ध के भेद से दो प्रकार, इस तरह कई भेदो से पुद्गल का वर्णन किया गया है। इस प्रकार एक से आदि लेकर एक एक बढता हुआ स्थान इस अग मे वर्णित है।

४–समवायाङ्ग—जिससे जीवादि तत्त्वो का ज्ञान होता है, वह चौथा समवायाग है। इसमे द्रव्य, क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा

समानता वर्णन की गई है। द्रव्य की अपेक्षा धर्मास्तिकाय से अधर्मास्तिकाय समान है। ससारी जीवो से ससारी जीव समान हैं। मुक्त जीवो मे मुक्त जीव समान हैं। इत्यादि द्रव्य की अपेक्षा समवाय है। क्षेत्र की अपेक्षा प्रथम नरक पृथ्वी के प्रथम प्रस्तार का सीमन्त नामक इन्द्रबिल, ढाई द्वीप (मनुष्यक्षेत्र) और प्रथम स्वर्ग का प्रथम पटल का ऋजुनामा इन्द्रक विमान, सिद्धशिला, सिद्धक्षेत्र, ये सब समान हैं। तथा सातवें नरक का अवधिस्थान नामा इन्द्रक बिल, जम्बूद्वीप, सर्वार्थसिद्धि विमान ये सब समान हैं। इत्यादि क्षेत्र समवाय हैं। काल की अपेक्षा एक समय से एक समय समान है। आवली से आवली समान है। प्रथम पृथ्वी के नारकी, भवनवासी देव, और व्यन्तर देवो की आयु समान है। सातवीं पृथ्वी के नारकी और सर्वार्थसिद्धि के देवो की उत्कृष्ट आयु समान है, इत्यादि काल की अपेक्षा समवाय है। भाव की अपेक्षा केवलज्ञान और केवलदर्शन समान हैं इत्यादि भाव समवाय है। इस अग मे समानता दिखलाई गई है।

५–व्याख्याप्रज्ञप्ति—विविध प्रकार के आख्यानो गणधर देव कृत प्रश्नो की प्रज्ञप्ति-विवेचन जिसमें किया गया है, उसे व्याख्याप्रज्ञप्ति कहते हैं। अर्थात् इस अग मे भगवान तीर्थंकर के समीप गणधर देव कृत साठ हजार प्रश्नो के उत्तर का निरूपण किया गया है।

६–नाथ धर्मकथा (ज्ञातृधर्म कथा)—तीन लोक के स्वामी तीर्थंकर, परम भट्टारक के धर्म की कथा का जिसमें वर्णन किया गया है, वह नाथ धम कथा नामक छठा अंग है। इसमे जीवादि पदार्थों का स्वभाव वर्णन किया गया है। घातिया कर्म के नाश के अनन्तर केवलज्ञान के साथ उत्पन्न तीर्थंकर नामक पुण्य-प्रकृति के उदय से जिनके महिमा प्रकट हुई है ऐसे तीर्थंकर के—

"पूर्वाह्णे मज्झह्णे अवरह्णे मज्झिमाए रत्तीए।
छच्छग्घडियाणिग्गय दिव्वज्झुणी कहइ सुत्तत्थे ॥१॥"

पूर्वाह्, मध्याह्न अपराह्न और अर्धरात्रि–इन चारों काल मे छह छह घड़ी पर्यन्त बारह सभा के मध्य स्वाभाविक दिव्यध्वनि होती है। इनके सिवा दूसरे समय मे भी गणधर देव, देवेन्द्र और चक्रवर्त्ती के प्रश्न के अनन्तर दिव्यध्वनि होती है। और समस्त श्रोताओ को उद्देश करके उत्तम क्षमादि दश प्रकार तथा रत्नत्रय रूप धर्म को कहती है।

अथवा इस छठे अग का नाम ज्ञातृ धर्म कथा है। इसका अर्थ यह है कि जिज्ञासा पूर्वक गणधर देव के द्वारा किये गये प्रश्नो के अनुसार उत्तर स्वरूप धर्म कथा का वर्णन इस में किया गया है। जो अस्ति नास्ति इत्यादि रूप प्रश्न गणधर देव ने किये हैं उनका उत्तर इस अग मे वर्णित है। अथवा ज्ञाता जो तीर्थंकर, गणधर, इन्द्र, चक्रवर्त्ती इत्यादि उनकी धर्म सम्बन्धी कथाएं इसमे पायी जाती हैं, इसलिए इसे ज्ञातृधर्मकथा नाम का अङ्ग कहा है।

७–उपासकाध्ययन—आहारादि दान देकर तथा नित्यपूजनादि द्वारा सङ्घ की आराधना–सेवना करने वाले श्रावक को उपासक कहते हैं। उनका अध्ययन-कथन इसमे किया गया है; इसलिए इसे उपासकाध्ययन कहते हैं। इसमे दार्शनिक, व्रतिक, सामायिक, प्रोपधोपवास सचित्तविरति, रात्रिभुक्तिविरति, ब्रह्मचर्य, आरम्भनिवृति, परिग्रहनिवृत्ति, अनुमतिविरति, उद्दिष्टविरति, इन गृहस्थ की ग्यारह प्रतिमाओं का अथवा व्रत, शील, आचार, क्रिया, मन्त्रादि का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है।

८–अन्तकृद्दशांग—एक एक तीर्थंकर के तीर्थकाल मे मनुष्यकृत, देवकृत, अचेतन तथा पशुकृत–चार प्रकार के घोर उपसर्ग सहकर इन्द्रादि कृत पूजा-प्रातिहार्य आदि प्रभावना को प्राप्त होकर पाप कर्म का क्षय कर ससार का जो अन्त करते हैं, उन्हें अन्तकृत् कहते हैं, उनका कथन जिस अङ्ग मे किया गया है, उसे अन्तकृद्दशाग कहते हैं। उसमें भट्टारक वर्धमान स्वामी के तीर्थ मे नमि, मतङ्ग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यम वाल्मीक, वलीक, निष्कविल, पालवष्टपुत्र ये दश अन्तकृत केवली हुए हैं। ऐसे ही वृषभादिक प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ मे दश दश अंतकृत् केवली होते हैं, उनका वर्णन इस अङ्ग मे किया गया है।

९–अनुत्तरौपपादिकदशांग—उपपाद है प्रयोजन जिनका, उनको औपपादिक कहते हैं। प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ में दश दश महामुनीश्वर दारुण महा उपसर्ग को सहकर प्रातिहार्य (पूजा) प्राप्त करके समाधिपूर्वक प्राण छोड़कर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन अनुत्तर विमानो मे उत्पन्न हुए हैं, उनका वर्णन इस अङ्ग में किया गया है, इसलिए इसे अनुत्तरौपपादिक दशांग कहते हैं। परम भट्टारक श्री वर्धमान स्वामी के तीर्थ मे ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिक, नन्द, नन्दन, शालिभद्र, अभय, वारिषेण और, चिलातपुत्र ये दश महामुनीश्वर घोर उपसर्गों को सहकर इन्द्रादि द्वारा पूजा प्राप्त कर अनुत्तर विमान मे उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार श्री परम भट्टारक वृषभादिक तीर्थंकरों के तीर्थ मे दश दश महामुनीश्वरो ने भयङ्कर उपसर्ग सहकर अनुत्तर विमानों में जन्म धारण किया है, उनका परिचय अन्य आगम से जानना चाहिए।

१०–प्रश्न व्याकरण—पूछने वाले पुरुष के प्रश्न का व्याकरण अर्थात् शुभाशुभादि फल रूप व्याख्यान–जिसमें किया गया है, उसे प्रश्न व्याकरण अङ्ग कहते हैं। जिस अङ्ग मे प्रश्न कर्त्ता के द्वारा पूछी गई वस्तु, मुट्ठी मे रखी वस्तु, धन, धान्य, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, जीवन, मरण, जय, पराजय इत्यादि के विषय में, अतीत अनागत वर्त्तमान सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर का उपायरूप व्याख्यान किया गया है, उसे प्रश्न व्याकरण नाम का दशवां अङ्ग कहते हैं।

अथवा शिष्य के प्रश्नानुसार १. आक्षेपिणी, २. विक्षेपिणी, ३. सवेजनी, ४. निर्वेजनी ये चार कथाएँ भी इस प्रश्न

व्याकरण अङ्ग मे प्रकट की गई हैं। तीर्थंकरादि का चरित्र वर्णन करने वाला प्रथमानुयोग, लोक का स्वरूप प्रतिपादक करणानुयोग, श्रावक-मुनि धर्म का वर्णन करने वाला चरणानुयोग तथा पञ्चास्तिकाय आदि तत्त्वो का निरूपण करने वाला द्रव्यानुयोग इन चारों अनुयोगों का कथन और परमत की शङ्का का निराकरण **आक्षेपिणी कथा** है। प्रमाण और नय रूप युक्ति के बल से सर्वथा एकान्तवादी परमतावलम्बियों से प्रतिपादित अर्थ का खंड करना **विक्षेपिणी कथा** है। रत्नत्रय धर्म के अनुष्ठान के फलस्वरूप तीर्थंकरादि का ऐश्वर्य, प्रभाव, तेज, वीर्य, ज्ञान सुखादि का प्रतिपादन करने वाली **संवेजनी कथा** है। तथा ससार देह भोग राग से उत्पन्न हुए दुष्कर्मों के फल नरकादि के दु.ख, दुष्कुल में उत्पत्ति, दरिद्रता, अपमानादि के दु.खादि के वर्णन द्वारा वैराग्य उत्पादक कथा को **निर्वेजनी कथा** कहते हैं। इस प्रकार की कथाओं का व्याख्यान जिसमें किया गया है, उसे प्रश्न व्याकरण नामा अङ्ग कहते हैं।

११—**विपाकसूत्र**—कर्म के उदय रूप विपाक के सूत्रण-वर्णन करने वाले अङ्ग को विपाकसूत्र अङ्ग कहते हैं। इसमें द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के निमित्त से शुभाशुभ कर्मों के तीव्र मध्यम जघन्य अनुभाग का फलदानरूप परिणमन जो उदय है, उसका वर्णन किया गया है। इसलिए इसका नाम विपाक सूत्र कहा है।

अब इन ग्यारह अङ्गो में से प्रत्येक अङ्ग में जितने मध्यम पद हैं, उनकी संख्या बताते हैं:—

अट्ठारस छत्तीसं बादालं अडकडी अडवि छप्पण्णं।
सत्तरि अट्ठावीसं चोदालं सोलससहस्सा ॥ ३५७ ॥
इगिदुगपंचेयारं तिवीसदुतिणउदिलक्ख तुरियादी।
चुलसीदिलक्खमेया कोडी य विवागसुत्तम्हि ॥ ३५८ ॥ गो० जी०

अर्थ—पहले आचाराग मे १८००० पद हैं। दूसरे सूत्रकृतांग मे ३६००० हजार, तीसरे स्थानाग मे ४२०००, चौथे समवायांग मे १६४०००, पांचवें व्याख्याप्रज्ञप्ति में २२८०००, छठे ज्ञातृ धर्म कथा में ५५६०००, ७वें उपासकाध्ययनाग मे ११७००००, ८वें अंतकृद्दशाग में २३२८०००, ९वें अनुत्तरौपपादिक में ९२४४०००, १०वें प्रश्न व्याकरण मे ९३१६०००, ११वें विपाकसूत्र में १८४००००० इस प्रकार ग्यारह अङ्गों मे पदो की संख्या जाननी चाहिए।

ग्यारह अंगों के सम्पूर्ण पदों का जोड़

वापणनरनोनाणं एयारंगे जुदी हु वादम्हि ।
कनजतजमताननमं जनकनजयसीम बाहिर वण्णा ॥ ३५६ ॥ गो० जी०

अर्थ—इस गाथा मे तथा आगे भी अक्षरो की सञ्ज्ञा से अङ्को के पदो की संख्या कही गई है।

"कटपय पुरस्थवर्णैर्नवनवपंचाष्टाक्षरैः क्रमशः ।
स्वरञन शून्यं संख्या मात्रोपरिमाक्षरं त्याज्यम् ॥ १ ॥

अर्थात्—इस सूत्र द्वारा ककार से लेकर झकार तक नौ अक्षरो की क्रम से एक दो तीन आदि नव पर्यन्त सख्या होती है। जैसे—ककार का १ अङ्क, खकार का २ अङ्क, गकार का ३ अङ्क, घकार का ४ अङ्क, ङकार का ५ अङ्क, चकार का ६ अङ्क, छकार का ७ अङ्क, जकार का ८ अङ्क, और झकार का ६ अङ्क लेना चाहिए। इसी प्रकार टकार से लेकर धकार तक नौ अक्षरो की क्रम से एक दो तीन आदि नौ तक अङ्क सख्या ली जाती है। तथा पकार से लेकर मकार पर्यन्त पाच अक्षरो से क्रमशः एक दो आदि पांच पर्यन्त अङ्को की संख्या ग्रहण की जाती है। और यकार से हकार पर्यन्त आठ अक्षरो से क्रमशः एक दो आदि लेकर आठ पर्यन्त अङ्को की सख्या मानी जाती है। ञ स्वर, न वर्ण नवर्ण की शून्य (विन्दु) संख्या ली जाती है। और मात्रा तथा सयुक्ताक्षर में ऊपर का अक्षर छोड़ दिया जाता है, अर्थात् इनका कुछ भी अङ्क नहीं लिया जाता है। अतः यहां पर "वापणनरनोनान" इन अक्षरों से चार, एक, पाच, शून्य दो, शून्य, शून्य, शून्य ये अङ्क होते हैं। इनके चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार ४१५०२००० पद ग्यारह अङ्गो के जोड देने पर होते हैं।

१२—दृष्टिवाद—नाम वारहवें अङ्ग मे "कनजत जमताननम" एक, शून्य, आठ, छह, आठ, पाच, छह, शून्य, शून्य, पांच इन अङ्को से एक सौ आठ करोड,अड सठ लाख,छप्पन हजार, १०८,६८,५६,००५ पद हैं। दृष्टि नाम ३६३ मिथ्यादर्शनो का वाद—अनुवाद और निराकरण जिस अङ्ग मे किया गया है, उसको दृष्टिवाद नामा अङ्ग कहते हैं। तीनसौ तिरेसठ मिथ्यादृष्टियो मे एकसौ अस्सी क्रियावादी, चौरासी अक्रियावादी,सरसठ अज्ञान मिथ्यादृष्टि और वत्तीस वैनयिक दृष्टि हैं। इन मे क्रिया काड को मोक्ष का साधन मानने वाले कौत्कल,काठे-विद्धि, कौशिक, हरिश्मश्रु, मांधयिक, रोमश, हारीत, मुड, आश्वलायन आदि १८० क्रियावादी कुदृष्टि है। मरीचि, कपिल, उलूक, गार्ग्य व्याघ्रभूति, वाड्वलि, माठर, मौद्गलायन आदि ज्ञान को मोक्ष का प्रधान अङ्ग मानने वाले ८४ अक्रियावादी हैं। शाकल्य, वाल्कलि, कुथुमि, सात्यमुग्री, नारायण, कठ, माध्यदिन, मौद, पैप्पलाद, वादरायण, स्विष्ठिक्य, दैत्यकायन, वसु, जैमिनि आदि अज्ञानमिथ्यादृष्टि के ६७ भेद हैं। वशिष्ठ,

पाराशर, जतुकर्ण, वाल्मीकि, रोमहर्षि, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, उपमन्यु, ऐन्द्रदत्त, अगस्ति, इत्यादि विनय को ही मुख्य धर्म मानने वाले विनयवादियो के ३२ भेद हैं। सब मिलकर ३६३ कुवादी मिथ्यादृष्टियो के भेद होते हैं।

अङ्गबाह्य जो सामायिकादि शास्त्र हैं, उनमे "जनकनजयसीम" आठ, शून्य, एक, शून्य, आठ, एक, सात, पांच, ये अङ्क हैं, उनके आठ करोड़, एक लाख, आठ हजार, एक सौ पिचहत्तर सख्याप्रमाण अक्षर जानना चाहिए।

बारहवें अङ्ग के भेद

चंदरविजंबूदवीयदीवसमुद्दयविवाहपण्णत्ती।
परियम्मं पंचविहं सुत्तं पढमाणिजोगमदो ॥ ३६० ॥
पुव्वं जलथलमाया आगासयरूवगयमिमा पंच।
भेदा हु चूलियाए तेसु पमाणं इणं कमसो ॥ ३६१ ॥ गो० जी०

अर्थ—दृष्टिवाद नामक बारहवें अङ्ग मे पाच अधिकार हैं। १. परिकर्म, २. सूत्र, ३. प्रथमानुयोग, ४. पूर्वगत, और ५. चूलिका। जिसमे जोड बाकी गुणाकार, भागाकारादि गणित के करणसूत्रों का प्रतिपादन किया गया है, उसे परिकर्म सूत्र कहते हैं। परिकर्म पाच प्रकार का है। १. चन्द्रप्रज्ञप्ति, २. सूर्यप्रज्ञप्ति, ३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ४. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति।

चन्द्रप्रज्ञप्ति मे चन्द्रमा के विमान, आयु, परिवार, ऋद्धि, गमन हीन, वृद्धि, सकलग्रहण, अर्धग्रहण, चतुर्थांशग्रहण इत्यादि का निरूपण किया गया है।

सूर्य प्रज्ञप्ति मे सूर्य की आयु, मण्डल, परिवार, ऋद्धि, गमनप्रमाण ग्रहण आदि का वर्णन है।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे जम्बू द्वीप सम्बन्धी मेरुपर्वत कुलाचल, ह्रद, क्षेत्र, वेदिका, वनखड व्यन्तरो के आवासस्थान, महानदी आदि है।

द्वीपसागर प्रज्ञप्ति मे असख्यात द्वीप समुद्रो का स्वरूप और वहाँ रहने वाले ज्योतिषी देव, व्यन्तर और भवनवासी देवो के

आवासस्थान, और वहां पर जो अकृत्रिम जिनमन्दिर हैं, उनका निरूपण है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति में रूपी, अरूपी, जीव, अजीव आदि पदार्थों का तथा भव्य, अभव्य के भेद तथा प्रमाण के लक्षण आदि का तथा अनन्तर सिद्ध, परम्परासिद्धो का और अन्य वस्तुओं का वर्णन है। इस प्रकार परिकर्म के पांच भेद कहे गये हैं।

सूत्र—सूत्रयति अर्थात् मिथ्यादृष्टियों के भेदो को सूचित करने वाले आगम को सूत्र कहते हैं। इसमें जीव अबन्धक हैं, अकर्ता है, निर्गुण है, अभोक्ता है, स्व और परपदार्थ का प्रकाश करने वाला है, जीव अस्ति रूप ही है, नास्तिरूप ही है इत्यादि का तथा क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद, विनयवाद, कुदृष्टियो का और तीन सौ तिरेसठ मिथ्यादृष्टियो का पूर्व पक्ष लेकर निरूपण किया गया है।

प्रथमानुयोग—प्रथम अर्थात् मिथ्यादृष्टि अव्रती अथवा अव्युत्पन्न (ज्ञानरहित) को उपदेश देने के निमित्त प्रवृत्ति करने वाले अनुयोग अधिकार को प्रथमानुयोग कहते हैं। इसमे चौवीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलदेव, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण इन तिरेसठ शलाका के पुरुषो का पुराण वर्णन किया है।

पूर्वगत के चौदह भेद आगे विस्तार पूर्वक कहेंगे।

चूलिका के पाच भेद—१ जलगता, २. स्थलगता, ३. मायागता, ४. रूपगता, और ५. आकाशगता।

१ जलगता चूलिका में जल का स्तंभन करना, जल में गमन करना, अग्नि का स्तंभन करना, अग्नि का भक्षण करना, अग्नि मे प्रवेश करना इत्यादि क्रियाओ के कारण भूत मन्त्र तन्त्र तपश्चरणादि का वर्णन किया गया है।

२ स्थलगता चूलिका में मेरुपर्वत, भूमि आदि में प्रवेश करना, शीघ्र गमन करना, इत्यादि क्रिया के कारण भूत मन्त्र तन्त्र तपश्चरणादि का विवेचन किया गया है।

३ मायागता चूलिका में मायामयी इन्द्रजाल, विक्रिया के कारण भूत मन्त्र तन्त्र तपश्चरणादि का प्रतिपादन किया गया है।

४ रूपगता चूलिका में सिंह, हाथी, घोड़ा वृषभ, हरिण, मनुष्य, व्याघ्र इत्यादि नाना प्रकार के रूप परिवर्तन कर अनेक रूप धारण करने के कारण भूत मन्त्र तन्त्र तपश्चरण आदि का निरूपण किया गया है। अथवा चित्र, काठ, लेप्यादि का लक्षण, अथवा धातु रसायन खनिज पदार्थों आदि का स्वरूप निरूपण किया गया है।

५ आकाशगता चूलिका मे आकाश मे गमन करने के कारण भूत मन्त्र तन्त्र तपश्चरणादि का वर्णन किया गया है।

अब इनके पदो का प्रमाण दिखाते हैं।

गतनम मनगं गोरम मरगत जवगातनोननं जजलक्खा।
मननन धममननोननमां रनधजधराननजलादी ॥ ३६३ ॥
याजकनामेनाननमेदाणि पदाणि होति परिकम्मे।
कानवधिवाचनानननेसो पुण चूलियाजोगो ॥ ३६४ ॥ गो० जी०

अर्थ—पूर्वोक्त विधान से अक्षर सज्ञा द्वारा अङ्क कहे गये हैं, इसलिए एक एक अक्षर से एक एक अङ्क पूर्व की भाति समझ लेना चाहिए। चन्द्रप्रज्ञप्ति मे 'गतनमनोनन' छत्तीस लाख पाच हजार ३६०५००० पद हैं। सूर्य प्रज्ञप्ति मे 'मनगनोनन' पाच लाख तीन हजार ५०३००० पद हैं। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे 'गोरमनोननं' तीन लाख पचीस हजार ३२५००० पद हैं। द्वीपसागर प्रज्ञप्ति मे 'मरगतनोनन' बावन लाख छत्तीस हजार ५२३६००० पद हैं। व्याख्याप्रज्ञप्ति मे 'जवगातनोनन' चोरासी लाख छत्तीस हजार ८४३६००० पद हैं। सूत्र मे 'जजलक्खा' अठ्यासी लाख ८८००००० पद हैं। प्रथमानुयोग मे 'मननन' पाच हजार ५००० पद हैं। सम्पूर्ण चौदह पूर्वों मे 'धममननोननननाम' पिच्यानवे करोड, पचास लाख, पाच ९५५०००००५ पद हैं। जलगतादि पाचो चूलिकाओ मे प्रत्येक के 'रनधजधरानन' दो करोड, नौ लाख, नवासी हजार, दो सौ २०९८९२०० पद हैं। चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि पाच प्रकार के परिकर्म के पदों का जोड 'याजकनामेनान' एक करोड इक्यासी लाख पाच हजार १८१०५००० पद हैं। पाचो चूलिकाओ का जोड 'कानवधिवाचनानन' दस करोड, उनचास लाख, छियालीस हजार १०४९४६००० पद हैं।

चोदह पूर्वों मे प्रत्येक पूर्व के पदो की सख्या बताते हैं—

पणङ्कदाल पणतीस तीस पण्णास पण्ण तेरसदं।
णउदी दुदाल पुव्वे पणवण्णा तेरसमयाइं ॥ ३६५ ॥
छस्सय पण्णासाइं चउसयपण्णास छसयणुवीसा।
बिहि लक्खेहि दु गुणिया पंचम रूऊण छज्जुदा छट्ठे ॥ ३६६ ॥ गो० जी०

१ उत्पादपूर्व—द्रव्य के उत्पाद व्यय ध्रौव्य आदि धर्मों का पूरक उत्पाद पूर्व है, उसमें जीवादि द्रव्यों के नाना नयों की अपेक्षा क्रम और युगपत् होने वाले उत्पाद व्यय व ध्रौव्य ये तीन धर्म त्रिकाल सम्बन्धी नौ धर्म होते हैं। उन धर्मों से युक्त द्रव्य भी नौ प्रकार का होता है।

१. उत्पन्न हुआ, २ उत्पन्न हो रहा है, ३. उत्पन्न होगा, ४. नष्ट हुआ, ५. नष्ट हो रहा है, ६. नष्ट होगा, ७. स्थिर हुआ, ८ स्थिर है, ९ स्थिर रहेगा। इस प्रकार द्रव्य नौ प्रकार का है। इन उत्पन्न आदि मे से प्रत्येक ध.ं के नौ नौ भेद होते हैं, इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य के इक्यासी भेद होते हैं। इनका वर्णन करने वाला उत्पाद पूर्व है, इसमे एक करोड पद होते हैं।

२ आग्रायणीयपूर्व—द्वादशांग मे अग्र-प्रधान भूत वस्तु का अयन-ज्ञान है प्रयोजन जिसका, उसको आग्रायणीय पूर्व कहते है। उसमे सात सौ नय और दुर्नय, पञ्चास्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ आदि का वर्णन है। इसमे ९६००००० पद हैं।

३ वीर्यानुवादपूर्व—जिसमे जीवादिको के वीर्य (सामर्थ्य) का वर्णन है, उसे वीर्यानुवाद पूर्व कहते हैं। उसमे आत्मा का वीर्य, पर का वीर्य, उभय का वीर्य, क्षेत्र का वीर्य, काल का वीर्य, भाव का वीर्य, तप का वीर्य, इत्यादि समस्त द्रव्य गुण और पर्याय के सामर्थ्य का वर्णन है। इसमे सत्तर लाख पद हैं।

४ अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व—जिसमे अस्ति नास्ति आदि धर्मों की प्ररूपणा की गई है, उसे अस्तिनास्तिप्रवाद कहते हैं। इसमे जीवादि वस्तु स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा स्यात् अस्तिरूप है, तथा परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा स्यात् नास्तिरूप है। स्व-द्रव्य क्षेत्र काल भाव और पर-द्रव्य क्षेत्र काल भाव दोनो की क्रम से विवक्षा करने पर जीवादि वस्तु स्यात् अस्ति और नास्ति रूप है। स्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की तथा एक साथ स्वद्रव्यादि और परद्रव्यादि चतुष्टय की विवक्षा करने पर जीवादि वस्तु स्यात् अस्ति और अवक्तव्य है। परद्रव्यादि चतुष्टय की तथा एक साथ स्वद्रव्यादि चतुष्टय व परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से जीवादि वस्तु स्यात् नास्ति और अवक्तव्य है। तथा स्वद्रव्यादि चतुष्टय और परद्रव्यादि चतुष्टय इन दोनो की क्रमशः विवक्षा से जीवादि वस्तु स्यात् अस्ति नास्ति तथा स्वद्रव्यादि चतुष्टय और पर-द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से अवक्तव्य होने से वस्तु स्यात् अस्तिनास्ति और अवक्तव्य रूप होती है। जैसे अस्ति नास्ति धर्म की अपेक्षा सात भेद कहे गये हैं, वैसे ही एकानेक धर्म की अपेक्षा भी सात भङ्ग होते हैं। अभेद विवक्षा से जीवादि वस्तु एक है, और भेद विवक्षा से वही वस्तु अनेक रूप होती है। क्रमश भेद अभेद की विवक्षा से वस्तु एकानेक रूप है। युगपत् भेद अभेद की विवक्षा से वस्तु कही नहीं जाती, इसलिए अवक्तव्य है। अभेद की विवक्षा तथा युगपत भेदाभेद की विवक्षा से एक अवक्तव्य रूप है। भेद विवक्षा तथा युगपत् भेदाभेद की विवक्षा से वस्तु अनेक अवक्तव्य रूप है। क्रमश भेदाभेद की विवक्षा तथा युगपत् भेदाभेद की विवक्षा से वस्तु एकानेक

अवक्तव्य रूप है। इसी प्रकार नित्यानित्यादि अनन्त धर्मों के सात सात भङ्ग होते हैं। इन सप्त भङ्गो मे एक एक धर्म के तीन तीन भङ्ग-अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य है। द्विसयोगी तीन भङ्ग-अस्तिनास्ति, अस्तिअवक्तव्य और नास्तिअवक्तव्य हैं। त्रिसयोगी अस्तिनास्तिअवक्तव्य यह एक भङ्ग है। इन सप्त भङ्गो के समुदाय को सप्त भङ्गी कहते हैं।

प्रश्न के वश एक ही वस्तु मे प्रयोजन के अनुसार अविरोध से सम्भव होने वाले नाना प्रकार के नय की मुख्यता और गौणता से वस्तु का निरूपण किया जाता है। स्याद् पद का अर्थ कथचित् है, यह सर्वथा नियमरूप एकान्त का निषेध करके अनेकान्त धर्म का प्रकट करने वाला है। इस अस्तिनास्तिप्रवाद नामक अङ्ग मे साठ लाख ६०००००० पद हैं।

५—ज्ञानप्रवादपूर्व—इसमे ज्ञान का निरूपण किया गया है। मति श्रुत अवधि मनःपर्यय और केवल इन पांच सम्यग्ज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत व विभग (कुवधि) इन तीन मिथ्या ज्ञान के स्वरूप, सख्या, विषय और फल की अपेक्षा से ज्ञान की प्रमाणता (सत्यता) और अप्रमाणता (असत्यता) का भिन्न २ वर्णन किया गया है। इसके एक कम एक करोड़ ९९९९९९९ पद हैं।

६—सत्यप्रवाद—इसमे सत्य का निरूपण किया गया है। वचनगुप्ति, वचन संस्कार के कारण, वचन के प्रयोग, बारह प्रकार की भाषा, वक्ताओ के भेद, अनेक प्रकार के मृषा (मिथ्या) वचन और दश प्रकार के सत्यवचन का वर्णन है।

वचनगुप्ति—असत्य न बोलना अथवा मौनधारण करना वचनगुप्ति है।

वचन सकार के कारण—वचन की उत्पत्ति के कारण दो हैं। स्थान और प्रयत्न। जिन मुख के अवयवों से शब्दों का उच्चारण होता है, उसे स्थान कहते हैं। वे आठ है—उर (हृदय) कंठ, मूर्धा, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, तालु और ओष्ठ। जैसे—अकार, कवर्ग, हकार और विसर्ग का स्थान कण्ठ है, इत्यादि अन्य स्थान भी व्याकरण शास्त्र से जानना चाहिए। जिन क्रियाओ से शब्द उच्चारण होता है, उन्हें प्रयत्न कहते हैं, वे पाच हैं—स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, ईषद्विवृत, विवृत और सवृत। जैसे—ककार से लेकर मकार पर्यन्त २५ वर्णों का स्पृष्ट प्रयत्न है। य र ल व इन चार वर्णों का प्रयत्न ईषत्स्पृष्ट है। श ष स ह इन वर्णों का ईषद्विवृत प्रयत्न है। स्वरो का विवृत प्रयत्न है। ह्रस्व अकार का प्रयोग करते सवृत प्रयत्न माना गया है। उच्चारण करते समय मुख के अवयवो का दूसरे मुख के अवयवो के साथ स्पर्श होना स्पृष्ट प्रयत्न है। थोड़ा ... न होना ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न। मुख के भागो का थोड़ा खुलना ईषद्विवृत प्रयत्न है। मुख के अवयवो का खुलना विवृत प्रयत्न है और इन का ... खुलना अर्थात् मुख के अवयवो का सवरण होना सवृत प्रयत्न है।

वचन प्रयोग—शिष्ट वचन (उत्तम वचन) और दुष्ट वचन (बुरावचन) इस तरह वचन प्रयोग दो प्रकार का है। अथवा संस्कृत प्राकृतादि का व्याकरण शास्त्र, वचन प्रयोग है। वचन के बारह भेद निम्न प्रकार हैं।

१–अभ्याख्यान—इसने ऐसा किया, इस प्रकार अनिष्ट कथन करना अभ्याख्यान है।

२–कलह वचन—आपस मे विरोध उत्पन्न करने वाले वचन को कलह वचन कहते हैं।

३–पैशुन्य—पर के दोष प्रकट करने को (चुगली खाने को) पैशुन्य वचन कहते हैं।

४–अबद्ध-प्रलापवचन—धर्म अर्थ काम और मोक्ष से सम्बन्ध न रखने वाले वचन को अबद्धप्रलाप वचन कहते हैं।

५–रतिवचन—इन्द्रिय के विषयो मे प्रेम उत्पन्न करने वाले वचन को रतिवचन कहते हैं।

६–अरतिवचन—विषयो मे अरति उत्पन्न करने वाले वचन को अरतिवचन कहते हैं।

७–उपधिवचन—परिग्रह के उपार्जन और संरक्षण मे आसक्ति उत्पन्न करने वाले वचन को उपधि वचन कहते हैं।

८–निकृतिवचन—व्यवहार मे ठगने के वचन को निकृतिवचन कहते हैं।

९–अप्रणतिवचन—तप ज्ञानादि मे अविनय उत्पन्न करने वाले वचन को अप्रणतिवचन कहते हैं।

१०–मोषवचन—चोरी के कारण रूप वचन को मोष वचन कहते हैं।

११–सम्यग्दर्शनवचन—सत्यमार्ग का उपदेश करने वाले वचन को सम्यग्दर्शन वचन कहते हैं।

१२–मिथ्यादर्शन वचन—मिथ्या मार्ग का उपदेश करने वाले वचन को मिथ्यादर्शन वचन कहते हैं।

उक्त प्रकार की १२ भाषाओ के बोलने वाले द्वीन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीव हैं। अर्थात् इन बारह प्रकार की भाषाओ को व्यक्त रूप या अव्यक्त रूप से बोलने के कारण उनके वक्ता भी बारह प्रकार के हैं।

असत्यवचन द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा अनेक प्रकार का है। जनपद सत्य, स्थापना सत्य, आदि दश प्रकार के सत्य का विवेचन

पहले कर दिया गया है, इसलिए यहां नहीं किया गया है। इस सत्य प्रवाद पूर्व के एक करोड छह १०००००६ पद हैं।

७–आत्म–प्रवाद पूर्व—जिस मे आत्मा का निरूपण किया गया है, उसे आत्मप्रवाद कहते हैं।

"जीवो य कत्ता य वत्ता य पाणी भोत्ता य पुग्गलो।
वेदो विण्हू सयंभू य सरीरी तह माणवो॥ १॥
सत्ता जंतू य माणी य माणी जोगी य संकुडो।
असंकुडो य खेत्तण्हू अन्तरप्पा तहेव य॥ २॥"

जीव—व्यवहार नय से इन्द्रिय आदि दश बाह्य प्राणो का तथा निश्चय नय से केवल दर्शन, केवल ज्ञान, सम्यक्त्वरूप चेतना प्राणो का वर्त्तमान मे धारण करने वाला है, भविष्य मे प्राणो को धारण करेगा, तथा पहले भी प्राणो को धारण किया है,उसे जीव कहते हैं।

कर्त्ता—व्यवहार नय से शुभाशुभ कर्म का करने वाला है और निश्चय नय से चैतन्य पर्याय का करने वाला है, इसलिए आत्मा कर्त्ता है।

वक्ता—व्यवहार नय से सत्य व असत्यवचन बोलता है, इसलिए आत्मा वक्ता है। निश्चय नय से अवक्ता है।

प्राणी—व्यवहार नय से इन्द्रियादि दश प्राण और निश्चय नय से ज्ञान–दर्शन–सम्यक्त्व–रूप चेतना–प्राण आत्मा के पाये जाते हैं, इसलिए यह प्राणी है।

भोक्ता—व्यवहार नय से शुभ अशुभ कर्म–फल का भोगने वाला और निश्चय नय से अपने स्वरूप का भोगने वाला है, अतः यह भोक्ता है।

पुद्गल—व्यवहार नय से कर्मों (आठ कर्मों) और शरीरादि नो कर्मों का पूरण व गालन करने वाला है। अर्थात् कर्म नो कर्म पुद्गलों को ग्रहण करता है और छोड़ता है, इसलिए पुद्गल है। निश्चय नय से अपुद्गल है।

वेद—व्यवहार व निश्चय नय से लोक अलोक सम्बन्धी त्रिकाल गोचर सब पदार्थों का वेत्ता (ज्ञाता) है, इसलिए यह वेद है।

विष्णु—व्यवहार नय से आत्मा नाम कर्म के उदय से प्राप्त हुए शरीर मे व्याप्त होकर रहता है और समुद्घात करते समय सम्पूर्ण लोक को तथा निश्चय से ज्ञान द्वारा सब लोक को व्याप्त करता है; इसलिए यह विष्णु है।

स्वयंभू—व्यवहार नय से जीव कर्मवश भव (पर्याय) मे परिणमता है, तथापि निश्चय नय से स्वय अपनी आत्मा मे ही ज्ञान दर्शन रूप परिणमता है, इसलिए स्वयंभू है।

शरीरी—व्यवहार नय से आत्मा औदारिकादि शरीर वाला है और निश्चय से अशरीरी है, शरीर रहित है।

मानव—व्यवहार नय से मानवादि पर्याय रूप मे परिणत होता है, और निश्चय नय से मनु (ज्ञान) मे परिणत होता है,इसलिए यह मानव है।

सक्ता—व्यवहार नय से स्वजन मित्रादि परिग्रह मे आसक्त रहता है, इसलिए आत्मा सक्ता है। निश्चय से अनासक्त होने से (असक्त) है।

जन्तु—व्यवहार नय से चतुर्गति सम्बन्धी नाना योनियो मे जन्म लेता है, इसलिए जन्तु है। निश्चय से अजन्तु है।

मानी—व्यवहार नय से कर्म के वश से मान (अहकार) करने वाला है, इसलिए मानी है, निश्चय से अमानी है।

मायी—व्यवहार नय से कर्म के वशी भूत हुआ आत्मा माया (छल-कपट) करने वाला है और निश्चय से अमायी है। छलकपट रहित है।

योगी—व्यवहार नय से मन वचन काय की क्रिया से आत्मा के प्रदेशो मे किंचित् कम्पन होता है; इसलिए इसे योगी कहते हैं। निश्चयनय से योग रहित होने से अयोगी है।

सकुट—व्यवहार नय से सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना से आत्म प्रदेशो का सङ्कोच होता है, इसलिए आत्मा सकुट है। समुद्घात मे सम्पूर्ण लोक को व्याप्त करता है, इसलिए असकुट है। निश्चयनय से प्रदेशो का सङ्कोच विस्तार का अभाव होने से अनुभय रूप है, किंचित् ऊन चरम शरीर प्रमाण है, इसलिए सकुट और असकुट दोनो से रहित है।

क्षेत्रज्ञ—दोनो नय से आत्मा लोकालोक को तथा अपने स्वरूप को जानता है, इसलिए क्षेत्रज्ञ है।

अन्तरात्मा—व्यवहार नय से अष्ट कर्मों के अभ्यन्तर प्रवृत्ति करता है और निश्चय नय से चैतन्य के अभ्यन्तर प्रवृत्ति करता है, इसलिए अन्तरात्मा है।

उक्त गाथा मे दो च शब्द दिये गये हैं, उनसे उक्त और अनुक्त आत्म-धर्मों का समुच्चय (ग्रहण) होता है, अत आत्मा व्यवहारनय से कर्म नो कर्म पुद्गल-द्रव्यादि के सम्बन्ध से मूर्त्त है। निश्चयनय की अपेक्षा अमूर्त्त है। इत्यादि आत्मा के अन्य धर्मों का ग्रहण होता है। इसमे छब्बीस करोड २६०००००० पद हैं।
स० प्र०

(८) **कर्मप्रवादपूर्व**—इसमे कर्म का वर्णन किया गया है। मूलप्रकृति, उत्तरप्रकृति और उत्तरोत्तर प्रकृति के अनेक भेद युक्त बन्ध,उदय, उदीरणा, सत्ता रूप अवस्था को धारण करने वाले ज्ञानावरणादिक कर्मों के स्वरूप का तथा समवधान, ईर्यापथ,तपस्या, अधाकर्मादि का वर्णन किया गया है। इसमे एक करोड़ अस्सी लाख १८०००००० पद है।

(९) **प्रत्याख्यानपूर्व**—इसमे सावद्य कर्म का निषेध किया गया है। नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा जीवों का सहनन बल इत्यादि के अनुसार काल की मर्यादा रखकर अथवा जीवन पर्यन्त सावद्य (पापजनक) वस्तु का त्याग, उपवास की विधि, उसकी भावना, पञ्च समिति तीन गुप्ति आदि का प्रतिपादन किया गया है। इसके चौरासी लाख ८४००००० पद हैं।

(१०) **विद्यानुवादपूर्व**—इसमें विद्याओं का वर्णन है। अगुष्ठ प्रसेनादि सात सौ लघुविद्या, रोहिणी आदि पाच सौ महाविद्या का तथा उनके स्वरूप, सामर्थ्य, साधन मन्त्र, तत्र, पूजा, विधान और विद्याओंके सिद्ध होने पर उनके फल विशेष का और अन्तरीक्ष, भौम अङ्ग,स्वर,स्वप्न,लक्षण,व्यंजन, छिन्न नामक अष्टमहा निमित्त ज्ञान का वर्णन किया गया है। इसके एक करोड दश लाख ११००००००पद हैं।

(११) **कल्याणवाद पूर्व**—इसमे तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण, प्रति-नारायण आदि के गर्भ जन्मादि कल्याण महोत्सवो और उनके कारणभूत तीर्थंकरादि पुण्य प्रकृति और उनके हेतुभूत षोडश भावना तपश्चरण विशेषादि का तथा सूर्य,चन्द्रमा ग्रह नक्षत्र का गमन, ग्रहण, शकुनादि के फल वगैरह का वर्णन किया गया है। इसके छब्बीस करोड २६०००००००० पद हैं।

(१२) **प्राणावादपूर्व**—शरीर चिकित्सा आदि वैद्यक के अष्टागो का,भूतपिशाचादि व्याधि दूर करने के कारण मन्त्रादि का, विष दूर करने वाले जागलिक कर्म का, इला, पिंगला, सुषुम्ना इत्यादि स्वरोदय तथा बहुविध श्वासोच्छ्वास के भेदो का एव दश प्राणो के उपकारक और अनुपकारक वस्तुओ का गत्यादि के अनुसार वर्णन किया गया है। इसके तेरह करोड़ १३०००००००० पद हैं।

(१३) **क्रियाविशालपूर्व**—यह नृत्यादि क्रियाओ से विशाल-विस्तीर्ण अथवा शोभमान है इसमे सङ्गीतशास्त्र,छन्द,अलङ्कारादि पुरुष की बहत्तर कलाओ तथा स्त्रियो के चौसठ गुणो का, शिल्पादि के विज्ञान का गर्भाधानादि चौरासी क्रियाओं का, सम्यग्दर्शनादि एक सौ आठ, देववन्दनादि पच्चीस तथा नित्य नैमित्तिक क्रियाओ का निरूपण किया गया है। इसमे नौ करोड़ ९००००००० पद हैं।

(१४) **त्रिलोकविन्दुसारपूर्व**— जिसमे तीन लोक के विन्दुओ (अवयवो) का और साररूप वस्तु का वर्णन किया गया है, उसे त्रिलोक विन्दुसार पूर्व कहते हैं। इसमे तीन लोक का स्वरूप, छब्बीस परिकर्म, आठ व्यवहार, चार बीज इत्यादि गणित का तथा मोक्ष के

स्वरूप और उसमें गमन का कारण भूत क्रियाओं का और मोक्ष सुख के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया, है इसमें बारह करोड़ पचास लाख १२५०००००० पद हैं।

अङ्ग बाह्य श्रुत के भेद

सामाइयचउवीसत्थयं तदो वंदना पडिक्कमणं।
वेणइयं किदिकम्मं दसवेयालं च उत्तरज्झयणं ॥ ३६७ ॥
कप्पववहारकप्पाकप्पियमहकप्पियं च पुंडरियं।
महपुंडरीयणिसिहियमिदि चोद्दसमंगबाहिरयं ॥ ३६८ ॥ गो० जी०

अर्थ—१ सामायिक, २ चतुर्विंशतिस्तव, ३ वन्दना, ४ प्रतिक्रमण, ५ वैनयिक, ६ कृतिकर्म, ७ दशवैकालिक, ८ उत्तराध्ययन, ९ कल्पव्यवहार, १० कल्पाकल्प्य, ११ महाकल्प, १२ पुंडरीक, १३ महा पुंडरीक, १४ निषिद्धिका इस प्रकार ये १४ भेद अंगबाह्य श्रुत (प्रकीर्णक) के हैं। इनका पृथक् पृथक् विवेचन करते हैं।

१—सामायिक—पर द्रव्य से निवृत्त होकर आत्मा मे उपयोग की प्रवृत्ति करना सामायिक है। जैसे—मैं ज्ञाता दृष्टा हूं अन्य सब मुझ से सर्वथा भिन्न हैं। इस प्रकार आत्मा मे उपयोग रखना चाहिए। क्योकि एक ही आत्मा जानने योग्य—ज्ञान का विषय होने से ज्ञेय है और जानने वाला है, इसलिए ज्ञाता है। अत अपने आपको ही ज्ञाता और दृष्टा अनुभव करता है। अथवा रागद्वेषरहित मध्यस्थ आत्मा को सम कहते हैं, उसमे उपयोग की प्रवृत्ति करने को आय कहते हैं, उस समाय (सम+आय) प्रयोजन वाली क्रिया को सामायिक कहते हैं। नित्य नैमित्तिक क्रिया-विशेष के अनुष्ठान (आचरण) को और उस सामायिक को प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को भी सामायिक कहते हैं। वह सामायिक नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र काल व भाव के भेद से छह प्रकार का है। इनका स्वरूप पूर्वार्द्ध की प्रथम किरण मे (पृष्ठ न० १२७) कह आये हैं।

२—चतुर्विंशति स्तव—जिस काल मे जिन २ तीर्थंकरो का प्रवर्त्तन हो उस काल में उन २ चौबीस तीर्थंकरो का नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का आश्रय कर ५च महाकल्याणक, चौतीस अतिशय, अष्ट प्रातिहार्य, परम औदारिक दिव्य शरीर, समवसरण सभा, धर्मोपदेशनादि, तीर्थंकरो की महिमा का स्तवन करना चतुर्विंशतिस्तव है। उनका प्रतिपादक शास्त्र चतुर्विंशतिस्तवनामा प्रकीर्णक है।

३—वन्दना प्रकीर्णक—एक तीर्थंकर का आलम्बन लेकर चैत्य चैत्यालय की स्तुति करना वन्दना है। उसका प्रतिपादन करने

वाला शास्त्र वन्दना प्रकीर्णक है।

४–प्रतिक्रमण प्रकीर्णक—दिन रात आदि मे प्रमाद से किये गये दोपो का जिससे निराकरण किया जाता है, उसे प्रतिक्रमण कहते हैं। वह प्रतिक्रमण सात प्रकार का है। १ दैवसिक, २ रात्रिक, ३ पाक्षिक, ४ चातुर्मासिक, ५ सांवत्सरिक, ६ ऐर्यापथिक, ७ औत्तमार्थिक। इनका स्वरुप प्रथम किरण (पृ० न. १४०) मे कह आये हैं।

भरतादि क्षेत्र, दु:षमादिकाल, छह सहननों से युक्त स्थिर व अस्थिर आदि पुरुपो के भेदो का आश्रय लेकर उस प्रतिक्रमण के निरूपण करने वाले शास्त्र को प्रतिक्रमण नामा प्रकीर्णक कहते हैं।

५–वैनयिक प्रकीर्णक—इस में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और उपचार इन पांच विनयो का प्रतिपादन किया गया है।

६–कृतिकर्म प्रकीर्णक—कृति (क्रिया) के कर्म (विधान) का जिस मे वर्णन किया जाता है, उसे कृतिकर्म कहते हैं। इस मे अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, बहुश्रुत (उपाध्याय), साधु, जिनधर्म, जिनमन्दिर, जिनप्रतिमा और जिनवाणी इन नव देवताओ की वन्दना के निमित्त आधीन होना आत्माधीनता है। तथा गृद्ध भ्रमण रुप तीन प्रदक्षिणा, भूमि पर अंग लगाकर तीन नमस्कार और सिर झुकाकर चार नमस्कार करना तथा हाथ जोड अंजलि को चारों ओर घुमाना रूप वारह आवर्त्तन आदि क्रियाओ के विधान का निरूपण किया गया है।

७–दशवैकालीक प्रकीर्णक—विशिष्ट काल मे होने वाली क्रियाओ को वैकाल कहते हैं, और दश वैकाल का जिसमे वर्णन है उसे दश वैकालिक कहते हैं। इस मे मुनियों का आचार और आहार की शुद्धि और उस के स्वरुप का वर्णन किया गया है।

८–उत्तराध्ययन प्रकीर्णक—इस मे चार प्रकार के उपसर्गों का,बाईस परीषहों को सहने की विधि का तथा उस से जन्य फल का और इस प्रश्न का ऐसा उत्तर होता है इस प्रकार उत्तर का विधान वर्णन किया गया है।

९–कल्प्य व्यवहारप्रकीर्णक—कल्प्य (योग्य) व्यवहार (अनुष्ठान-आचरण) का जिस मे वर्णन है, उसे कल्प्य व्यवहार कहते हैं। इस मे साधुओ के योग्य आचरण का विधान है, तथा अयोग्य आचरण होने पर प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

१०–कल्प्याकल्प्यप्रकीर्णक—कल्प्य (योग्य) और अकल्प्य (अयोग्य) का जिस में वर्णन है उसे कल्प्याकल्प्य कहते हैं। इस मे द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा मुनीश्वरो के लिए यह योग्य और यह अयोग्य है इस का विभाग किया गया है।

११–महाकल्प्य प्रकीर्णक—महापुरुषों के योग्य आचरण का वर्णन जिसमे किया गया है, उसे महाकल्प्य कहते हैं। इसमें जिन-कल्पी महामुनीश्वरो के उत्कृष्ट संहननादि के योग्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में होने वाले प्रतिमायोग वा आतपनयोग, अभ्रावकाशयोग, वृक्षतलरूप त्रिकालयोग इत्यादिक आचरण का प्ररूपण किया गया है। तथा स्थविरकल्पी साधुओ की दीक्षा, शिक्षा, संघ का पोषण, यथा योग्य शरीर समाधान रूप आत्म सस्कार, सल्लेखना, उत्तमार्थ स्थान को प्राप्त उत्कृष्ट आराधना, आदि का विशेष निरूपण किया गया है।

१२–पुण्डरीक प्रकीर्णक—इसमे भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष, कल्पवासी विमानो मे उत्पत्ति के कारण, दान, पूजा, तपश्चरण अकामनिर्जरा, सम्यक्त्व, संयमादि के विधान का तथा वहां के उत्पाद, स्थान, वैभवादि का वर्णन किया गया है।

१३–महापुण्डरीक प्रकीर्णक—इसमें महर्द्धिक इन्द्र, प्रतीन्द्रादि मे उत्पत्ति के कारण, तपविशेषादि का आचरण निरूपण किया गया है।

१४–निषिद्धिका प्रकीर्णक—प्रमाद जन्य दोषों का निराकरण निषिद्धिका है। यह प्रायश्चित्त शास्त्र है। इसमें प्रमाद जन्य दोषो की शुद्धि के लिए अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त का वर्णन है। इस प्रकार चौदह प्रकार के अंगबाह्य श्रुत ज्ञान का निरूपण किया है।

श्रुतज्ञान की महिमा

सुदकेवलं च णाणं दोण्णिवि सरिसाणि होंति बोहादो।
सुदणाणं तु परोक्खं पच्चक्खं केवलं णाणं ॥ ३६९ ॥ गो० जी०

अर्थ—श्रुतज्ञान और केवल ज्ञान दोनों समस्त वस्तु के द्रव्य, गुण और पर्यायो को जानने के कारण समान हैं। अन्तर यह है कि श्रुतज्ञान परोक्ष है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है।

भावार्थ—परम उत्कृष्टता को प्राप्त हुआ भी श्रुतज्ञान अमूर्त्त पदार्थों में, अर्थ पर्यायों मे तथा अन्य सूक्ष्म अंशों मे स्पष्टरूप से प्रवृत्ति नहीं करता है, अर्थात् उन्हें स्पष्ट नहीं जानता है। तथा मूर्त्त पदार्थों को, व्यञ्जन पर्यायो को तथा स्थूल अंशो को जो कि इस ज्ञान का विषय है, उनको अवधिज्ञानादि की तरह प्रत्यक्ष नहीं जानता है। समस्त आवरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न हुआ केवलज्ञान मूर्त अमूर्त द्रव्यों को, अर्थ व्यञ्जन पर्यायो को तथा सूक्ष्म स्थूल सब अंशो को विषय करता है और प्रत्यक्ष (स्पष्ट) जानता है। आत्मा के ही द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं और जो इन्द्रियादि परपदार्थ की सहायता से उत्पन्न होता है, उसे परोक्ष कहते हैं। इस निरुक्ति

से सिद्ध हुए प्रत्यक्ष व परोक्ष के लक्षण के भेद से इन दोनो मे भेद है।

श्रीमत्समन्तभद्रस्वामी ने भी कहा है—

स्याद्वादकेवलज्ञानेसर्वतत्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥ देवागम०॥

अर्थ—स्याद्वाद (श्रुतज्ञान) और केवल ज्ञान ये दोनो सर्वतत्व के प्रकाशक हैं। परन्तु प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से इन में भेद प्रतीत होता है। इन दोनो प्रमाणो मे से किसी एक को ही मानने से अवस्तुपना प्राप्त होता है। अर्थात् दोनो मे से किसी एक का अभाव मानने पर दोनो का अभाव सिद्ध होता है।

अवधिज्ञान का स्वरूप और उसके भेदः

द्रव्य क्षेत्र काल भाव की मर्यादा लिये हुए पुद्गल द्रव्य को प्रत्यक्ष जानने वाले ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान मति, श्रुत और केवलज्ञान की तरह अपरिमित विषय वाला नहीं है, किन्तु परिमित पदार्थ को विषय करने वाला है। इस के दो भेद हैं। भव प्रत्यय और गुण प्रत्यय। (१) जो ज्ञान भव (देवादि पर्याय) के निमित्त से उत्पन्न होता है, उसे भव प्रत्यय कहते हैं। (२) जो सम्यग्दर्शनादि गुण से उत्पन्न होता है उसे गुण प्रत्यय कहते हैं।

भवप्रत्यय अवधि—यह देव नारकी और किन्हीं तीर्थंकरो के होता है। जो देव और नारक भव धारण करता है उस के भव धारण के साथ २ अवधि ज्ञान होता है। तथा जिन तीर्थंकरो के अवधिज्ञान पूर्वभव से साथ आता है, उन तीर्थंकरो के अवधिज्ञान को भी भवप्रत्यय अवधि कहते हैं। भवप्रत्यय अवधि ज्ञान मे दर्शन विशुद्धि आदि गुण का सद्भाव होने पर भी भव की ही मुख्यता होने के कारण भव प्रत्यय ही माना गया है। यह सर्वांग से उत्पन्न होता है। क्योकि सम्पूर्ण आत्मा के प्रदेशो पर स्थित अवधि ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है, अतः सर्वांग मे क्षयोपशम होने से यह सर्वांग से उत्पन्न होता है।

गुणप्रत्यय अवधि—सम्यग्दर्शनादिगुण तथा तपश्चरणादि निमित्त से जो अवधि ज्ञान उत्पन्न होता है, वह गुण प्रत्यय अवधि-ज्ञान है। इसका क्षयोपशम नाभि के ऊपर शख, पद्म, स्वस्तिक, मत्स्य, कलशादि शुभ चिह्न युक्त आत्मा के प्रदेश मे रहने वाले अवधिज्ञान और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। यह पर्याप्त मनुष्यों तथा सज्ञी पन्चेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंचो के होता है।

"क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्" ।तत्वार्थ सूत्र १।२२

अर्थ—क्षयोपशम के निमित्त से होने वाला अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यंचो के होता है। वह छह प्रकार का है। १ अनुगामी, २ अननुगामी, ३ अवस्थित, ४ अनवस्थित, ५ वर्द्धमान और ६ हीयमान।

१—अनुगामी—जो अवधिज्ञान अपने उत्पन्न करने वाले स्वामी जीव के साथ गमन करे, उसे अनुगामी अवधिज्ञान कहते हैं। इसके तीन भेद हैं। १ क्षेत्रानुगामी, २ भवानुगामी और ३ उभयानुगामी।

१-क्षेत्रानुगामी—जो ज्ञान भरतादि क्षेत्र मे उत्पन्न हुआ और विदेहादि अन्य क्षेत्र मे विहार करने वाले जीव के साथ गमन करता है, परन्तु मर कर अन्य भव मे जाने वाले जीव के साथ नही जाता है, उसे क्षेत्रानुगामी अवधिज्ञान कहते हैं।

२-भवानुगामी—जो ज्ञान जिस भव मे उत्पन्न हुआ उससे अन्य भव मे गमन करने वाले अपने स्वामी जीव के साथ गमन करता है, उसे भवानुगामी अवधिज्ञान कहते हैं।

३-उभयानुगामी—जो ज्ञान जिस भव और जिस क्षेत्र मे उत्पन्न हुआ, उससे अन्य देवादि भव और विदेहादि क्षेत्र मे गमन करने वाले अपने स्वामी जीव के साथ गमन करता है, वह उभयानुगामी अवधिज्ञान कहलाता है।

२—अननुगामी—जो अवधिज्ञान अपने उत्पन्न करने वाले स्वामी जीव के साथ नहीं जाता है, उसे अननुगामी अवधिज्ञान कहते हैं। उसके भी तीन भेद हैं। १ क्षेत्राननुगामी, २ भवाननुगामी, ३ उभयाननुगामी।

१-क्षेत्राननुगामी—जो अवधिज्ञान जिस क्षेत्र मे उत्पन्न हुआ, उसी क्षेत्र मे नष्ट हो जाता है, दूसरे क्षेत्र मे विहार करने वाले अपने स्वामी जीव के साथ नहीं जाता है। अन्य मे जावे या न जावे, उसे क्षेत्राननुगामी कहते हैं।

२-भवाननुगामी—जो अवधिज्ञान अन्य भव में साथ नहीं जाता है। जिस भव में उत्पन्न हुआ, उसी भव मे विनष्ट हो जाता है। अन्य भव मे जावे या न जावे, उसे भवाननुगामी अवधिज्ञान कहते हैं।

३-उभयाननुगामी—जो अवधिज्ञान अन्य क्षेत्र मे और अन्य भव मे साथ नहीं जाता, वहीं रह जाता है। उसे उभयाननुगामी अवधिज्ञान कहते हैं।

३–अवस्थित—जो अवधिज्ञान सूर्य मंडल की भाति हानि वृद्धि से रहित होता है–एकसा बना रहता है, उसे अवस्थित अवधिज्ञान कहते हैं।

(४) अनवस्थित—जो अवधिज्ञान किसी समय बढ जाता है, किसी समय घट जाता है और किसी समय उतना ही बना रहता है, उसे अनवस्थित कहते हैं।

(५) वर्द्धमान—जो अवधिज्ञान शुक्लपत्त के चन्द्र–मण्डल के समान अपनी उत्कृष्टता पर्यन्त बढता जाता है, उसे वर्द्धमान अवधिज्ञान कहते हैं।

(६) हीयमान—जो अवधिज्ञान कृष्ण पत्त के मण्डल की तरह घटता हुआ अपने अन्तिम स्थान तक घटता चला जाता है, उसे हीयमान अवधिज्ञान कहते हैं।

अवधिज्ञान के सामान्य रूप से तीन भेद हैं। १ देशावधि, २ परमावधि ३ सर्वावधि।

उनमे पहले कहा गया जो भवप्रत्यय अवधिज्ञान वह नियम से देशावधि ही होता है। क्योकि देव व नारकियो के तथा गृहस्थ व तीर्थंकरो के परमावधि और सर्वावधि सम्भव नहीं है। परमावधि और सर्वावधि नियम से गुण प्रत्यय ही होता है। तथा महाव्रती, चरम शरीरी, तद्भव मोत्तगामी, वज्र वृषभनाराच संहनन के धारक मनुष्यो के ही परमावधि व सर्वावधिज्ञान होता है। देशावधिज्ञान देव, नारकी, मनुष्य, तिर्यंच तथा सयमी वा असयमी चारो गति के जीवो के होता है। परन्तु देशावधि का उत्कृष्ट भेद महाव्रती मनुष्य के ही होता है। अन्य तीन गतियो के जीवो के तथा असयमी मनुष्यो के नहीं होता है। प्रतिपाती अप्रतिपाती ये दो भेद देशावधि के ही होते हैं। परमावधि और सर्वावधि कभी नहीं छूटता, इसका धारक नियम से तद्भव निर्वाण पद प्राप्त करता है, इसलिए ये अप्रतिपाती ही हैं।

देशावधि और परमावधि मे अपने २ जघन्य द्रव्य चेत्र काल भाव मे लेकर अपने २ उत्कृष्ट पर्यन्त असख्यात लोक प्रमाण विकल्प हैं। ये दोनो ज्ञान द्रव्य, चेत्र, काल और भाव की मर्यादा से रूपी पुद्गल–द्रव्य तथा पुद्गल–कर्म सहित ससारी जीव–द्रव्य को प्रत्यत्त जानते हैं।

देशावधि के द्रव्यादि की अपेत्ता जघन्य उत्कृष्ट विषय को दिखाते है। पहले मत्र से जघन्य द्रव्य का प्रमाण दिखाते हैं।

णोकम्मुरालसंचं मज्झिमजोगज्जियं सविस्सचयं।
लोयविभत्तं जाणदि अवरोही दव्वदो णियमा ॥ ३७६ ॥ गो० जी०

अर्थ—मध्यम योग के द्वारा सचित विस्रसोपचयसहित नो कर्म औदारिक वर्गणा सचय मे लोक के असख्यात प्रदेशो का भाग देने से जितना द्रव्य लब्ध आता है, उतने द्रव्य को जघन्य अवधिज्ञान नियम से जानता है।

देशावधि-जघन्यज्ञान के विपयभूत जघन्य क्षेत्र का प्रमाण कहते हैं।

सुहुमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयम्हि।
अवरोग्गाहणमाणं जहण्णयं ओहिखेत्तं तु ॥ ३७८ गो० जी०

अर्थ— सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक की उत्पन्न होने से तीसरे समय मे जघन्य अवगाहना होती है, उसका जितना प्रमाण है, उतना ही अवधिज्ञान के जघन्य क्षेत्र का प्रमाण है।

भावार्थ—सूक्ष्म निगोदिया जीव की जन्म के प्रथम समय में आयताकार (लम्बाई अधिक व चौडाई कमवाली) अवगाहना होती है। जन्म के दूसरे समय मे समचतुर्भुज (समान लम्बी चौडी) अवगाहना होती है। तथा जन्म के तीसरे समय में वृत्ताकार (गोल) अवगाहना होती है। यह तीसरे समय की अवगाहना उक्त दोनो समय की अवगाहना से जघन्य होती है। उस अवगाहना प्रमाण क्षेत्र मे जितना उक्त जघन्य द्रव्य होगा, उसको जघन्य देशावधिज्ञान जानता है। इससे बाहर के द्रव्य को नहीं जानता है। उन द्रव्य की अवगाहना उत्सेधागुल के असख्यातवें भाग के घनप्रतररूप होती है।

देशावधि जघन्य ज्ञान के विपयभूत जघन्य काल और भाव का प्रमाण कहते हैं।

आवलिअसंखभागं तीदभविस्सं च कालदो अवरं।
ओही जाणदि भावे कालअसंखेज्जभागं तु ॥ ३८३ ॥ गो० जी०

अर्थ—काल की अपेक्षा से जघन्य अवधिज्ञान आवली के असख्यातव भाग प्रमाण द्रव्य की पर्यायो को जानता है। तथा काल की अपपेक्षा से जितनी पर्यायो को जानता है, उसके असख्यातवें भाग प्रमाण वर्त्तमान काल की पर्यायो को भाव की अपेक्षा से जानता है।

देशावधिज्ञान के उत्कृष्ट द्रव्य ओर क्षेत्र का प्रमाण कहते हैं।

कम्मइयवग्गणं धुवहारेणिगिवारभाजिदे दव्वं।
उक्कस्सं खेत्तं पुण लोगो संपुण्णओ होदि ॥ ४१० ॥ गो० जी०

सं० प्र०

पू० कि० ३

अर्थ—कार्माण वर्गणा मे एक बार ध्रुवहार का भाग देने से जो लब्ध आता है, उतना देशावधि का विषयभूत उत्कृष्ट द्रव्य है। तथा सम्पूर्ण लोक उत्कृष्ट क्षेत्र का प्रमाण है।

देशावधि के उत्कृष्ट काल और भाव को दिखाते हैं।

पल्लसमऊन काले भावेण असंखलोगमेत्ता हु।
दव्वस्स य पज्जाया वरदेसोहिस्स विसया हु॥ ४११। गो० जी०

अर्थ—देशावधिज्ञान का विषयभूत उत्कृष्ट काल एक समय कम एक पल्य प्रमाण है। तथा सख्यात लोक प्रमाण द्रव्य की पर्यायें उत्कृष्ट भाव का प्रमाण है।

परमावधिज्ञान के विषयभूत द्रव्य को कहते हैं।

देसावहि वरदव्वं धुवहारेणवहिदे हवे णियमा।
परमावहिस्स अवरं दव्वपमाणं तु जिनदिट्ठम्॥ ४१३॥ गो० जी०

अर्थ—देशावधि के उत्कृष्ट द्रव्य मे सिद्धो के अनन्तवें भाग प्रमाणरूप ध्रुवहार का भाग देने पर जो लब्ध आता है, वह परमावधि के विषयभूत जघन्य द्रव्य का प्रमाण निकलता है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

परमावधिज्ञान के विषयभूत उत्कृष्ट द्रव्य बताते हैं।

परमावहिस्स भेदा सगउग्गाहणवियप्पहदतेऊ।
चरमे हारपमाणं जेट्ठस्स य होदि दव्वं तु॥ ४१४॥ गो० जी०

अर्थ—निज (तेजस्कायिक जीवराशि) अवगाहना के विकल्प (भेदो) का जो प्रमाण है, उसका तेजस्कायिक जीवराशि के साथ गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न होती है, उतने ही परमावधि के भेद हैं। इन मे से सर्वोत्कृष्ट अन्तिम भेद में द्रव्य ध्रुवहार प्रमाण होता है। अर्थात् उत्कृष्ट परमावधि के विषयभूत द्रव्य का प्रमाण ध्रुवहार मात्र है, और ध्रुवहार का प्रमाण सिद्धो के अनन्तवें भाग मात्र है।

परमावधि के विषयभूत क्षेत्र व काल का प्रमाण कहते हैं।

परमोहिदव्वभेदा जेत्तियमेत्ता हु तेत्तिया होंति ।
तस्सेव खेत्तकालवियप्पा विसया असंखगुणिदकमा ॥ ४१६ ॥ गो० जी०

अर्थ—परमावधि के द्रव्य की अपेक्षा से जितने विकल्प (भेद) होते हैं, उतने ही विकल्प (भेद) क्षेत्र और काल की अपेक्षा से होते हैं। परन्तु उनका (क्षेत्र व काल का) विषय असंख्यातगुणितक्रम है।

असंख्यातगुणितक्रम किस प्रकार से होता है, इसे दिखाते हैं।

आवलिअसंखभागा इच्छिदगच्छधणमाणमेत्ताओ ।
देसावहिस्स खेत्ते काले वि य होंति संवग्गे ॥ ४१७ ॥ गो० जी०

अर्थ—किसी भी परमावधि के विवक्षित क्षेत्र के विकल्प मे अथवा विवक्षित काल के विकल्प में सङ्कलित धन का जितना प्रमाण हो, उतनी जगह आवलिके असंख्यातवें भागो को रखकर परस्पर गुणा करने मे जो राशि उत्पन्न हो वही देशावधि के उत्कृष्ट क्षेत्र मे और उत्कृष्ट काल मे गुणकार का प्रमाण होता है।

भावार्थ—जो भेद विवक्षित हो वहा तक एक से लेकर एक एक अधिक अङ्क माडकर उन सब अङ्को को जोडने पर जो प्रमाण आवे वह सङ्कलितधन होता है। जैसे प्रथम भेद मे एक ही अङ्क है, इसके पहले कोई अङ्क नहीं, इसलिए प्रथम भेद मे सङ्कलितधन एक ही समझना चाहिए। दूसरे भेद मे एक और दो को जोडने पर सङ्कलित धन तीन हुआ। तीसरे भेद मे एक दो और तीन अङ्को को जोडने पर छह होते हैं, यह तीसरे विकल्प का सङ्कलित धन हुआ। चौथे भेद मे चार और जोड़ने पर सङ्कलित धन दस हुआ। पाचवें भेद मे पाच और जोडने पर सङ्कलित धन पन्द्रह हुआ। छठे भेद में छह और जोडने से सङ्कलित धन इक्कीस हुआ। ऐसे ही अन्तिम भेद तक सङ्कलित धन निकाल लेना चाहिए। उदाहरणार्थ यहा विवक्षित परमावधिज्ञान छठा विकल्प (भेद) का सङ्कलित इक्कीस हुआ। इक्कीस जगह आवली के असंख्यात भागों को माडकर परस्पर गुणा करने पर जो प्रमाण आवे उतना परमावधि के छठे विकल्प के विषयभूत क्षेत्र निकालने के लिए गुणाकार जानना चाहिए। इस गुणाकार से देशावधि का विषयभूत उत्कृष्ट क्षेत्र जो लोकाकाश प्रमाण है उसको गुणन करने पर जो प्रमाण आवे उतना परमावधि के छठे विकल्प का क्षेत्र जानना चाहिए। इसी प्रकार परमावधि के अन्तिम विकल्प के सङ्कलित धन प्रमाण आवलि के असंख्यातवें

भाग मांडकर परस्पर गुणा करने पर जो राशि आती है, वह परमावधि के उत्कृष्ट क्षेत्र व काल को निकालने के लिए गुणाकार है। उससे देशावधि के उत्कृष्ट क्षेत्र लोक प्रमाण को गुणा करने पर परमावधि का विषयभूत उत्कृष्ट क्षेत्र निकलता है। तथा उक्त गुणाकार से उत्कृष्ट देशावधि का विषयभूत उत्कृष्ट काल जो एक समय कम एक पल्य है उसको गुणा करने पर परमावधि का उत्कृष्ट काल का प्रमाण निकलता है।

परमावधि के विषयभूत भाव को दिखाते हैं।

सव्वोहित्ति य कमसो आवलिअसंखभागगुणिदकमा।
दव्वाणं भावाणं पदसंखा सरिसगा होंति ॥ ४२३ ॥ गो० जी०

अर्थ—उत्कृष्ट देशावधि से लेकर सर्वावधि पर्यन्त अवधिज्ञान के विषयभूत भाव (पर्याय) निकालने के लिए आवलि का असख्यात भाग गुणित क्रम है। अर्थात्-जघन्य देशावधि का विषयभूत भाव जो आवलि के असख्यातवें भाग प्रमाण है, उसे आवलि के असख्यातवें भाग से एक बार गुणा करने पर देशावधि के दूसरे विकल्प का भाव निकलता है। दो बार गुणा करने पर तीसरे विकल्प के भाव का प्रमाण निकलता है। इसी प्रकार सर्वावधि पर्यन्त गुणा करने का क्रम समझना चाहिए। द्रव्यों के और भाव के पदो (विकल्प के स्थानो) की सख्या समान होती है। अर्थात्-जहां देशावधि के जघन्य द्रव्य की अपेक्षा प्रथम भेद होता हैं, वहा भाव की अपेक्षा भी आवली के असख्यातवे भाग प्रमाण प्रथम भेद होता है। और जहा पर द्रव्य की अपेक्षा दूसरा भेद होता है, वहा भाव की अपेक्षा भी प्रथम भेद से आवलि के असख्यातवे भाग गुणा दूसरा भेद होता है। जहा पर द्रव्य की अपेक्षा तीसरा भेद होता है, वहा पर भाव की अपेक्षा दूसरे भेद से आवली के असख्यातवे भाग गुणा तीसरा भेद होता है। यही क्रम सर्वावधि पर्यन्त समझ लेना चाहिए। द्रव्य की अपेक्षा से अवधिज्ञान के जितने भेद हैं, भाव की अपेक्षा से उतने ही भेद हैं। इसलिए द्रव्य तथा भाव की पद संख्या समान है।

अब सर्वावधि का विषयभूत द्रव्य दिखाते हैं।

सव्वावहिस्स एक्को परमाणू होदि णिव्वियप्पो सो।
गङ्गामहानइस्स पवाहोव्व धुवो हवे हारो ॥ ४१५ ॥ गो० जी०

अर्थ—उत्कृष्ट परमावधि का विषयभूत द्रव्य ध्रुवहार प्रमाण कह आये हैं, उसमे ध्रुवहार का भाग देने से लब्ध एक परमाणु आता है, वह निर्विकल्प (भेद रहित) परमाणु मात्र सर्वावधि का विषय होता है। भागहार गङ्गा महानदी के प्रवाह समान ध्रुव है।

भावार्थ—जिस प्रकार गङ्गा महानदी का प्रवाह हिमवान पर्वत से निकलकर निरन्तर अविच्छिन्न रूप से बहता हुआ पूर्व समुद्र में जाकर मिला है, उसी प्रकार यह भागहार भी जघन्य देशावधिज्ञान के द्रव्य प्रमाण से लेकर परमावधि के उत्कृष्ट भेद पर्यन्त अवधिज्ञान के सब भेदो में होता हुआ सर्वावधि के विषयभूत परमाणु पर्यन्त जाकर अवस्थित होता है। सर्वावधिज्ञान भी निर्विकल्प (भेद रहित) है और उसका विषयभूत परमाणु भी निर्विकल्प है।

सर्वावधि के क्षेत्र काल व भाव का प्रमाण यह है :—

असख्यात लोक के प्रमाण को पाच वार लोक के प्रमाण से गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न हो उतना सर्वावधिज्ञान के उत्कृष्ट क्षेत्र का प्रमाण है।

असंख्यात लोक को परमावधि के उत्कृष्ट काल प्रमाण के साथ गुणा करने से सर्वावधि के काल का प्रमाण निकलता है।

परमावधि के उत्कृष्ट ज्ञान के विषयभूत भाव प्रमाण को आवलि के असंख्यातवें भाग से गुणा करने पर सर्वावधिज्ञान का विषयभूत भाव का प्रमाण निकलता है।

मनः पर्यय ज्ञान का स्वरूप

वीर्यान्तराय और मनः पर्यय ज्ञानावरण का क्षयोपशम तथा अङ्गोपाग नामकर्म के लाभ के बल से जो पर के मन में स्थित रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है, उसे मन. पर्यय कहते हैं।

भावार्थ—भूत काल मे जिसका चिन्तन किया हो, अथवा भविष्यत् काल मे जिसका चिन्तन किया जायगा, अथवा वर्त्तमान में जिसका अर्धचिन्तन किया है, इत्यादि अनेक भेद रूप दूसरे के मन में स्थित पदार्थ, जिसके द्वारा जाना जाता है, उसको मनः पर्यय ज्ञान कहते हैं। इसके दो भेद हैं-ऋजुमति मन. पर्यय और विपुलमति मनः पर्यय।

ऋजु मति मनः पर्यय

ऋजुमति मनः पर्यय—सरल मन, सरल वचन और सरल काय के द्वारा ग्रहण किया गया पदार्थ जो दूसरे के मन में स्थित हो, उसको विषय करने वाले ज्ञान को ऋजुमति मनः पर्यय ज्ञान कहते हैं।

इसके तीन भेद हैं—१ ऋजुमनः कृतार्थ-विषय, २ ऋजुवचन कृतार्थ-विषय, ३ ऋजुकाय कृतार्थ-विषय।

ऋजुमनः कृतार्थ विषय—मन के द्वारा स्पष्ट अर्थ का चिन्तन किया, इस के कुछ समय बाद उसी अर्थ का उसने चिन्तन किया हो, ऐसे परके मन में स्थित अर्थ को जानने वाला ऋजुमनः कृतार्थविषय मनः पर्ययज्ञान होता है।

ऋजुवचनकृतार्थ विषय—धर्मादि युक्त वचन का स्पष्ट उच्चारण किया और कालान्तर में स्पष्ट उच्चारण किये हुए उस पदार्थ का कोई चिन्तन कर रहा है; ऐसे दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को जानने वाला ऋजुवचनकृतार्थविषय मन. पर्यय ज्ञान है।

ऋजुकायकृतार्थ विषय—उभय लोक सम्बन्धी फल की उत्पत्ति के अर्थ अङ्ग और उपाग का निपातन किया, सकोचन किया, खेंचा, प्रसारण किया इत्यादिक अनेक काय सम्बन्धी क्रियाएँ कीं, उनका कालान्तर मे दूसरा अपने मनमें चिन्तन कर रहा है,उसके मनमें स्थित उक्त कायिक व्यापार को जानने वाला ऋजुकायकृतार्थ विषय मनः पर्ययज्ञान है।

अथवा उक्त सरल मन वचन काय द्वारा किये हुए पदार्थ को भूलजाने के कारण वह उस का मन में चिन्तन करने में असमर्थ हो रहा है ऐसे पदार्थ को भी विषय करने वाला ऋजुमति मन. पर्यय ज्ञान होता है।

मन. पर्यय ज्ञानी से कोई प्रश्न करे तब वे मनः पर्यय ज्ञान के उपयोग को लगाकर उसके अन्तः करण में स्थित अर्थ को जानकर उत्तर देते हैं कि इस प्रकार तुमने पहले अमुक पदार्थ को काय द्वारा किया था, वचन द्वारा उच्चारण किया था अथवा मन द्वारा चिन्तन किया था। तथा बिना पूछे भी ईहामति ज्ञान द्वारा "इसमे मन मे अमुक विचार है" ऐसा जानकर मनः पर्यय ज्ञान द्वारा सरल मन वचन और काय कृत पदार्थ को ऋजुमति मनः पर्यय ज्ञान स्पष्ट जान लेता है।

अपने और पर के चिन्तन, जीवित, मरण, सुख, दुःख, लाभ, अलाभ इत्यादि को मनःपर्ययज्ञानी जानता है। व्यक्त चित्त वाले मनुष्यों के चित्तमे स्थित पदार्थों को तथा उससे सम्बन्ध रखने वाले जीवन मरण लाभ अलाभादि को ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी जानता है। अव्यक्त (अस्पष्ट) चित्तवाले के मनमे स्थित पदार्थों को ऋजुमति मनः पर्यय ज्ञानी नहीं जानता है। कायादि कृत स्पष्ट अर्थ के चिन्तन करने वाले को व्यक्त चित्त वाला कहते हैं।

ऋजुमति मनः पर्यय ज्ञानी काल की अपेक्षा जघन्य अपने तथा दूसरे जीवों के दो तीन भव विषय करता है। और उत्कृष्ट सात आठ भव गत्यागति से जानता है।

क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य तो सात आठ कोश और उत्कृष्ट सात आठ योजन के अन्दर की बात जानता है,बाहर की नहीं जानता।

द्रव्य की अपेक्षा ऋजुमति का जघन्य विषय औदारिक शरीर का निर्जरा को प्राप्त हुआ समय-प्रबद्धप्रमाण द्रव्य है। और

उत्कृष्ट विषय चक्षु इन्द्रिय का निर्जरा को प्राप्त हुआ द्रव्य प्रमाण है।

भाव की अपेक्षा ऋजुमति का जघन्य और उत्कृष्ट विषय आवली के असंख्यात मात्र पर्यायें हैं। जघन्य और उत्कृष्ट दोनों विषय आवली के असख्यात भाग मात्र होने पर भी जघन्य से उत्कृष्ट का प्रमाण असख्यात गुणा है।

यह ऋजुमति मन. पर्यय ज्ञान त्रिकाल सम्बन्धी पुद्गल द्रव्य का वर्त्तमान काल मे कोई जीव चिन्तन कर रहा है, उसे ही जानता है, भूत मे चिन्तन किया अथवा भविष्यत् मे चिन्तन करेगा उसे यह ज्ञान नही जानता। विपुलमति ज्ञान ही उसे जान सकता है।

विपुलमति मनः पर्यय

त्रिकाल सम्बन्धी पुद्गल द्रव्य का भूत काल मे किसी जीव ने चिन्तन किया था,भविष्य मे चिन्तन करेगा और वर्त्तमान मे चिन्तन कर रहा है उन सब को विपुलमति मनः पर्यय ज्ञान विषय करता है।

इसके छह भेद हैं—१ ऋजुमनोगतार्थ विषय, २ ऋजुवचनगतार्थ विषय, ३ ऋजुकायगतार्थ विषय, ४ वक्रमनोगतार्थ विषय, ५ वक्रवचनगतार्थ विषय, ६ वक्रकायगतार्थ विषय।

अर्थात्—सरल मन युक्त होकर किसी जीव ने त्रिकालसम्बन्धी पदार्थों का चिन्तन किया,सरलवचन युक्त होकर त्रिकालसम्बन्धी पदार्थों का उच्चारण किया, तथा ऋजुकाय से युक्त होकर उक्त पदार्थों को काय द्वारा किया, पश्चात् विस्मरण होजाने के कारण उनका स्मरण करने में असमर्थ हुआ, मनः पर्यय ज्ञानी मुनीश्वर के सम्मुख आकर पूछता है अथवा चुपचाप बैठ जाता है, तब ऋजुमति ज्ञानी उसके मन मे स्थित उक्त पदार्थों को जान लेते है। तथा किसी ने सरल और वक्र मन वचन काय से युक्त होकर मन से विचारा था, विचार करेगा तथा विचार कर रहा है, वचन से उच्चारण किया था, उच्चारण करेगा, उच्चारण कर रहा है तथा काय से किया था, करेगा और कर रहा है, भूतकाल के पदार्थों का तो विस्मरण हो गया तब विपुलमतिमनः पर्यय ज्ञानी के सम्मुख आकर पूछता है, अथवा चुपचाप बैठ जाता है, तब वे मुनीश्वर उक्त सब पदार्थों को जिस ज्ञान से जान लेते हैं, वह विपुलमतिमन. पर्यय ज्ञान है।

इसके द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से जघन्य उत्कृष्ट विषय का निर्णय करते हैं। उनमें से प्रथम द्रव्य की अपेक्षा इसका जघन्य विषय कितना है? यह बताते हैं।

मणदव्ववग्गणाणमणंतिमभागेण उजुगउक्कस्सं।
खंडिदमेत्तं होदि हु विउलमदिस्सावरं दव्वं ॥ ४५२ ॥ गो० जी०

अर्थ—तेईस जाति की पुद्गल वर्गणा मे एक मनोवर्गणा है, इसके जघन्य से लेकर उत्कृष्ट पर्यन्त जितने भेद हैं, उनमें अनन्त का भाग देने पर जो एक भाग लब्ध आता है, वह मनः पर्यय ज्ञान के कथन में ध्रुवहार का परिमाण है। इसका ऋजुमति के उत्कृष्ट विषय भूत द्रव्यप्रमाण (चक्षु इन्द्रिय का निर्जीर्ण द्रव्य)में भाग देने से जो परिणाम आवे उतने परमाणुओ के स्कन्ध को जघन्य विपुलमतिज्ञान जानता है।

अब इसका उत्कृष्ट विषय दिखाते हैं।

अट्ठण्हं कम्माणं समयपबद्धं विविस्ससोवचयं।
धुवहारेधिणिवारं भजिदे विदियं हवे दव्वं ॥ ४५३ ॥ गो० जी०

अर्थ—विस्रसोपचय रहित आठ कर्मों का जो समय प्रबद्ध प्रमाण है, उस में एक बार उक्त ध्रुवहार का भाग देने से जो लब्ध आता है, वह विपुलमति मन. पर्यय ज्ञान के द्वितीय द्रव्य का प्रमाण है।

तव्विदियं कप्पाणमसंखेज्जाणं च समयसंखसमं।
धुवहारेणवहरिदे होदि हु उक्कस्सयं दव्वं ॥ ४५४ ॥ गो० जी०

अर्थ—विपुलमतिमन. पर्यय के दूसरे भेद सम्बन्धी उक्त द्रव्य मे असंख्यात कल्प काल के जितने समय होते हैं, उतनी बार ध्रुवहार का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतने परमाणुओं के स्कन्ध को उत्कृष्ट विपुलमतिमनः पर्यय ज्ञान जानता है।

विपुलमतिमन· पर्यय ज्ञान के जघन्य और उत्कृष्ट क्षेत्र को कहते हैं।

गाउयपुधत्तमवरं उक्कस्सं होदि जोयणपुधत्तं।
विउलमदिस्स य अवरं तस्स पुधत्तं वरं खु णरलोयं॥ ४५५ ॥ गो० जी०

अर्थ—ऋजुमतिमनः पर्यय ज्ञान का जघन्य क्षेत्र गव्यूति पृथक्त्व अर्थात् दो तीन कोश मात्र है और उत्कृष्ट क्षेत्र सात आठ योजन है। तथा विपुलमतिमनःपर्यय का जघन्य क्षेत्र आठ नौ योजन और उत्कृष्ट क्षेत्र मनुष्य लोक प्रमाण है। यद्यपि मनुष्य गोलाकार पैंतालीस लाख योजन का है, किन्तु विपुलमतिमनः पर्यय ज्ञान का विषय मनुष्य लोक समचतुरस (चौकोर) पैंतालीस लाख योजन घनप्रतर लेना चाहिए। अर्थात् पैंतालीस लाख योजन चौड़ा और इतना ही लम्बा जानना। यहा ऊचाई कम है;इसलिए घनप्रतर कहा है। क्योंकि मानु-

पोत्तर पर्वत के बाहर के चारों कोनों में स्थित देव और तिर्यंचों के मन से चिंतित पदार्थों को भी उत्कृष्ट विपुलमतिमनः पर्ययज्ञान जानता है।

विपुलमतिमनः पर्यय ज्ञान का काल और भाव दिखाते हैं।

दुगतिगभवा हु अवरं सत्तट्ठभवा हवंति उक्कस्सं।
अडनवभवा हु अवरमसंखेज्जं विउलउक्कस्सं ॥ ४५७ ॥ गो० जी०

अर्थ—ऋजुमति मनः पर्यय ज्ञान का जघन्य विषय काल की अपेक्षा अतीत अनागतरूप दो तीन भव है और उत्कृष्ट विषय सात आठ भव है। विपुलमति मनः पर्यय ज्ञान का जघन्य विषय आठ नौ भव है और उत्कृष्ट पल्य का असंख्यातवा भाग मात्र है।

आवलि असंखभागं अवरं च वरं च वरमसंखगुणं.
तत्तो असंखगुणिदं असंखलोगं तु विउलमदी ॥ ४५८ ॥ गो० जी०

अर्थ—ऋजुमति का विषयभूत भाव जघन्य रूपसे आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण है और उत्कृष्ट भी आवली के असंख्यातवें भाग मात्र ही है, तथापि जघन्य से उत्कृष्ट असंख्यात गुणा है। विपुलमति का विषय भूत जघन्य भाव ऋजुमति के उत्कृष्ट से असंख्यात गुणा है, और उत्कृष्ट भाव असंख्यात लोक प्रमाण है।

अब ऋजुमति और विपुललतिमनः पर्यय मे अन्तर दिखाते हैं।

इंदियणोइंदियजोगादिं पेक्खित्तु उजुमदी होदि।
णिरवेक्खिय विउलमदी ओहिं वा होदि णियमेण ॥ ४४६ ॥ गो० जी०

अर्थ—ऋजुमतिमनः पर्ययज्ञान अपने अथवा पर जीव का स्पर्शनादि इन्द्रिय, मन तथा मन वचन काय योग की अपेक्षा से उत्पन्न होता है। तथा विपुलमतिमनः पर्ययज्ञान तो नियम से उक्त इन्द्रियादि की विना अपेक्षा किये ही अवधिज्ञान की तरह निरपेक्ष उत्पन्न होता है।

पडिवादी पुण पढमा अप्पडिवादी हु होदि विदिया हु।
सुद्धो पढमो वोहो सुद्धतरो विदियवोहो दु ॥ ४४७ ॥ गो० जी०

अर्थ—ऋजुमति मनः पर्यय प्रतिपाती है और विपुलमतिमन पर्यय अप्रतिपाती है। विशुद्ध परिणामों की हानि होने से प्रतिपाती है, क्योकि उपशान्तकपाय वाले के चारित्रमोहनीय का उदय होने से ऋजुमति ज्ञान छूट जाता है। तथा विपुलमतिमन.पर्यय ज्ञान विशुद्ध परिणामो की वृद्धि से होता है, क्योकि यह क्षपक श्रेणी आरोहण करने वाले मुनीश्वरो के ही होता है। एव ऋजुमति तो विशुद्ध है, क्योकि यह प्रतिपक्षी कर्म के क्षयोपशम से निर्मल हुआ है विपुलमतिमनः पर्यय विशुद्धतर है, क्योकि यह प्रतिपक्षी कर्मों के विशेष क्षयोपशम से उत्पन्न होने के कारण अतिशय निर्मल हुआ है। द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से ऋजुमतिमन.पर्यय और विपुलमतिमनःपर्यय मे जो अन्तर है,वह पहले कह चुके हैं।

अव अवधिज्ञान और मन पर्यय ज्ञान मे अन्तर दिखाते हैं।

सव्वंगअङ्गसंभवचिण्हादुप्पज्जदे जहा ओही।
मणपज्जवं च दव्वमणादो उप्पज्जदे णियमा ॥ ४४२ ॥ गो० जी०

अर्थ—भव प्रत्यय अवधिज्ञान सर्वांग से उत्पन्न होता है और गुण प्रत्यय अवधिज्ञान शख पद्मादि अनेक चिह्नो से उत्पन्न होता है। और मनः पर्यय ज्ञान विकसित अष्टदलाकार (खिले हुए आठ पाखुड़ी वाले) कमल के समान द्रव्य मन से ही उत्पन्न होता है। कारण कि मनः पर्यय ज्ञान का क्षयोपशम द्रव्यमन के प्रदेशो मे ही होता है। अन्यत्र नहीं होता है।

मणपज्जवं च णाणं सत्तसु विरदेसु सत्तइड्ढीणं।
एगादिजुदेसु हवे वड्ढंतविसिट्ठचरणेसु ॥ ४४५ ॥ गो० जी०

अर्थ—मन. पर्ययज्ञान प्रमत्तसयत (छठे गुणस्थान) से लेकर क्षीण कपाय (वारहवें) गुणस्थान पर्यन्त सात गुण स्थानो मे होता है। तथा बुद्धि, तप, वैक्रियिक औपध, रस, वल और अक्षीण इन सात ऋद्धियों मे से एक दो आदि ऋद्धि से सयुक्त तथा वर्द्धमान विशिष्ट चारित्र के धारक महामुनियो के मन, पर्यय होता है।

अवधिज्ञान चारो गति के प्राणियो के होता है। असयमी और सयमी दोनो के होता है। मनःपर्ययज्ञान सयमी ही के होता है।

अवधिज्ञान से मनः पर्ययज्ञान विशुद्ध है, क्योकि क्षयोपशम की विशेष शुद्धि से उत्पन्न होता है। इसका विपय सूक्ष्म है। अवधिज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र असंख्यात लोक प्रमाण है और मनः पर्ययज्ञान पैतालीस लाख योजन चौकोर घनप्रतर प्रमाण है। अर्थात्

पैंतालीस लाख योजन प्रमाण लम्बा चौड़ा क्षेत्र इसका विषय है।

केवल ज्ञान का स्वरूप कहते हैं।

केवलज्ञान भूत भविष्यत् और वर्त्तमान त्रिकाल वर्त्ती सम्पूर्ण मूर्त्त अमूर्त्त द्रव्यों और उनके समस्त गुणों और पर्यायों को युगपत् हस्त की रेखा के समान स्पष्ट जानता है। ऐसी कोई वस्तु अथवा उसकी परिणति बाकी नहीं रहती, जो उस ज्ञान मे नहीं झलकती है। इसलिए इसे सम्पूर्ण, समग्र, केवल और असपत्नादि कहा है।

सम्पुण्णं तु समग्गं केवलमसवत्त सव्वभावगयं ,
लोयालोयवितिमिरं केवलणाणं मुणेयव्वं ४६० गो०जी०

अर्थ—जीव द्रव्य के जो शक्ति रूप सर्वज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद थे वे सब व्यक्त (प्रकट) रूप होगये हैं, इसलिए यह सम्पूर्ण है। तथा ज्ञानावरण और वीर्यान्तिराय नामक कर्म के सर्वथा क्षय से जिसकी शक्ति किसी से रुकती नहीं है अथवा निश्चल है, इसलिए यह समग्र है। तथा इन्द्रियादि की सहायता से रहित है, इसलिए यह केवल है। और उसके प्रतिपक्षी चार घातिया कर्म्मों के नाश से अनुक्रमरहित सकल पदार्थों को प्राप्त करता है, इसलिए यह असपत्न है। एवं लोकालोक में अज्ञान-अन्धकार रहित प्रकाशमान यह विभाग रहित केवल ज्ञान है।

उक्त केवल ज्ञान से समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानकर भव्य जीवों के हितार्थ दिव्य ध्वनि से वस्तु स्वरूप का उपदेश किया गया है। उसका बुद्धि ऋद्धि के धारक गणधर महाराज ने बुद्धि के अतिशय से ग्रहण कर द्वादशांग की रचना की। तदनुसार गुरु परम्परा से शास्त्र रचना चली आरही है, उसीके प्रभाव से भव्य प्राणी शास्त्र स्वाध्याय करके तत्त्वज्ञान प्राप्त कर आत्म कल्याण करते हैं। इस पञ्चम काल में शास्त्र स्वाध्याय से अधिक हितकर आत्म कल्याण का मार्ग अन्य नहीं दिखाई देता है, इसलिए शास्त्रों का स्वाध्याय करना आत्म हितैषी जीव के लिए परमावश्यक है। और ज्ञान के आठों अङ्गों का पालन करना भी अत्यन्त आवश्यक है; इसलिए उनका दिग्दर्शन कराते हैं।

ज्ञानाचार के अष्टांगों का स्वरूप

काले विणए उवहाणे बहुमाणे तहेव णिन्हवणे।
वंजण अत्थ तदुभए णाणाचारो दु अट्ठविहो ॥ ७२ ॥

अर्थ—काल, विनय, उपधान, वहुमान, अनिह्नव, व्यजन (शब्द), अर्थ और उभय, इस प्रकार ज्ञानाचार के आठ अङ्ग हैं।

भावार्थ—शास्त्र स्वाध्याय ही आत्म-कल्याण का अप्रतिहत मार्ग है। क्योकि शास्त्रो के अध्ययन-पठन, पाठन, मनन, चिन्तनादि से हेयोपादेय का ज्ञान होता है, वस्तु के यथार्थ स्वरूप की प्रतिपत्ति होती है। अनन्त काल से अध्यात्म-रोगो से पीडित आत्मा के रोगो का मूलकारण क्या है ? किन २ अपथ्य पदार्थों (विषय कषायो) का सेवन करके अध्यात्म रोगो (राग द्वेषादि) की वृद्धि हुई है ? उनकी उत्पत्ति के कारणो के नाश करने वाली औषधि क्या है ? इत्यादि उक्त रोगो की चिकित्सा जिनागम मे ही वताई गई है, क्योकि आगमोक्त चिकित्सा करके सर्वज्ञ वीतराग तीर्थंकरों ने स्वकीय आत्मा को उक्त रोगो से मुक्त करके भव्य प्राणियों के हितार्थ आगम का निरूपण किया है, जिसका ज्ञान प्राप्त कर तथा उसके अनुकूल आचरण कर आत्म-हितेच्छु नरपु गव आध्यात्मिक रोगो से छूट कर सदा के लिए सुखी वने है, वन रहे है और भविष्य मे भी सुखी वनेंगे। ऐसे परमोत्कृष्ट आगम का ज्ञान निर्विघ्न रूप से किस तरह प्राप्त हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर उक्त गाथा मे दिया गया है। जो भव्य जीव आगम ज्ञान को यथोचित प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें उक्त (काल विनयादि) आठ अङ्गो का पूर्ण पालन कर आगम का स्वाध्याय करना चाहिए। उन आठ अङ्गो का विवेचन किया जाता है।

कालाचार

काल—अस्वाध्याय काल को टाल कर योग्य समय में आगम का स्वाध्याय करना-पठन, पाठन, परिवर्त्तन (पाठ करना) व्याख्यानादि करना कालाचार है।

स्वाध्याय का काल

पादोसिय वेरत्तिय गोसग्गिय कालमेव गेण्हित्ता।
उभये कालम्हि पुणो सज्झाओ होदि कायव्वो ॥ ७३ ॥ मू० पञ्चा०

अर्थ—रात्रि का पूर्व भाग, दिन का अन्तिम भाग, दो घड़ी सहित अर्धरात्रि के वाद का काल तथा गोसर्गकाल अर्थात् सूर्योदय के पश्चात् और दो घडी सहित मध्याह्न के पूर्व, ये चार समय तथा निरन्तर पठन, पाठन, परिवर्त्तन (पाठ करना) व्याख्यानादि स्वाध्याय का काल माना गया है।

सूर्योदय होने के पश्चात् जघा की छाया जब सात विलश्त (वेत) प्रमाण होती है तव स्वाध्याय का प्रारम्भ होता है और सूर्य के अस्त होने के उन्मुख होते समय जघा की छाया जव सात विलश्त (वेंत) प्रमाण होती है तव स्वाध्याय समाप्त करली जाती है।

इसका आशय यह है कि आगम का स्वाध्याय (पठन पाठनादि) सूर्योदय के वाद सात विलश्त प्रमाण जघा (पादतल से लेकर

अकालादि उक्त अस्वाध्याय के समय मे स्वाध्याय न करना चाहिए। क्योंकि गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्नदशपूर्व के ज्ञाताओ से निर्मित आगम को सूत्र कहते है।

तं पढिदुमसज्झाए णो कप्पदि विरदइत्थिवग्गस्स।
एत्तो अण्णो गंथो कप्पदि पढिदुं असज्झाए॥ ८१॥ (मू० पचा०)

अर्थ—उक्त सूत्रग्रन्थो को सयमियो और आर्यिकाओ को अस्वाध्याय कालादि मे नहीं पढ़ना चाहिए। इनके अतिरिक्त ग्रन्थो को अस्वाध्याय (काल शुद्धि आदि के अभाव) मे भी पढ सकते है।

वे अन्य ग्रन्थ कौन से है, जिनका अस्वाध्याय कालादि मे पठन-पाठन वर्जनीय नहीं है? इसे कहते हैं—

आराहणा णिज्जुत्ती मरणविभत्ती य संगहत्थुदिओ।
पचक्खाणावासय धम्मकहाओ य एरिसओ॥ ८२॥ (मू० पचा०)

अर्थ—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपरूप आराधनाओ के उद्योतन, उद्यवन, निर्वाहण, साधन आदि के निर्युक्ति ग्रन्थ, सत्रह प्रकार के मरण का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ, पचसग्रहादि सग्रहरूपग्रन्थ, देवागमादि स्तोत्र ग्रन्थ, तीन प्रकार के तथा चार प्रकार के आहार के त्याग का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ अथवा सावद्य द्रव्य-क्षेत्रादि के त्याग के प्रतिपादक ग्रन्थ, तिरेसठ शलाका के पुरुषो के चरित्र प्रतिपादक पुराण ग्रन्थ, तथा बारह भावना और भी इसी प्रकार के ग्रन्थ अस्वाध्याय कालादि मे पढे जासकते है। अर्थात् काल शुद्धि आदि न होने पर भी उक्त ग्रन्थो का स्वाध्याय वर्जनीय नहीं है। अकालादि मे भी इनका पठन पाठन कर सकते हैं।

विनय शुद्धि

पलियंकनिसेज्जगदो, पडिलेहिय अंजलीकदपणामो।
सुत्तत्थजोगजुत्तो पढिदव्वो आदसत्तीए॥ ८४॥ (मू० पंचा०)

आखो से देखकर, पिच्छी से भूमि पुस्तकादि का मार्जन कर तथा शुद्ध प्रासुक जल से हाथ पाँव का प्रक्षालन कर अत्यन्त विनय सहित हाथ जोडकर पर्यंक (पालथी) आदि आसन से बैठे और अपनी शक्ति के अनुसार शुद्धोपयोग पूर्वक अर्थ सहित सूत्र का अध्ययन करे। इसी को विनय शुद्धि कहते हैं।

वहुमान का स्वरूप

सुत्तत्थं जप्पंतो वायंतो चावि णिज्जराहेदुं ।
आसादणं ण कुज्जा तेण किदं होदि वहुमाणं ॥ ८६ ॥ (मू० पचा०)

अर्थ—यथायोग्य सूत्रार्थ का उच्चारण करता हुआ तथा कर्म निर्जरा के निमित्त अन्य को पढाता हुआ आचार्य उपाध्याय आदि का तथा शास्त्र का और अन्य व्यक्तियो का तिरस्कार-अनादर नहीं करना, गर्व न करना ही वहुमान है। अर्थात् शास्त्रो का तथा आचार्यादि का तिरस्कार न करना, उनकी भक्ति करना ही उनका वहुमान करना कहलाता है।

उपधान शुद्धि

आयंविलणिव्वियडी अण्णं वा होदि जस्स कादव्वं ।
तं तस्स करेमाणो उपहाणजुदो हवदि एसो ॥ ८५ ॥ (मू० पचा०)

अर्थ—आचाम्ल तप, घी दूध दही तथा मिष्टान्न आदि का त्याग करके नीरस अन्न का आहार करना अथवा जिस शास्त्र के योग्य जो तप हो उस का आचरण कर शास्त्र का पठन-पाठन करना उपधान शुद्धि है। इसका तात्पर्य यह है कि साधु अवग्रह (आखडी) तथा रसादि का त्याग कर या उपवास, आचाम्ल आदि तपस्या कर के शास्त्र का पठन-पाठन प्रारम्भ करे। इस प्रकार वाह्यतप का आचरण कर शास्त्र का अध्ययन अध्यापन आरभ करने को उपधान शुद्धि कहते हैं।

अनिह्नव का स्वरूप

कुलवयसीलाविहूणे सुत्तत्थं सम्मगागमित्ताणं ।
कुलवयसीलमहल्ले णिण्हव दोसो दु जप्पंतो ॥ ८७ ॥ (मू० पचा०)

अर्थ—कुल व्रत और शील से हीन गुरु से सूत्रार्थ का ज्ञान सम्यक् प्रकार प्राप्त करके भी अपनी महत्ता वतलाने के लिए उनको गुरु न वताना और जो कुल व्रत और शील से महान् हो उन को अपना गुरु वताना निह्नव दोष है। गुरु सन्तति-गुरुपरम्परा को कुल कहते हैं।

अहिंसा आदि पालन को व्रत कहते हैं। व्रतो की रक्षा करने के आचरण को शील कहते हैं।

अथवा तीर्थंकर, गणधर, सप्त ऋद्धियो के धारक मुनीश्वरो के अतिरिक्त सब यतीश्वर कुल, व्रत शील से हीन हैं, उनसे सम्यक् प्रकार शास्त्र पढ़कर जो कुल, व्रत और शील मे महान हैं, उन्हें कहे कि कुल, व्रत, शील मे जो महान हैं उनसे मैंने शास्त्र-ज्ञान प्राप्त किया है। ऐसा कहने वाले को निह्नव दोष होता है। कारण कि उसने अपना गर्व प्रकट किया है,अतःउसके शास्त्र-निह्नव और गुरु-निह्नव दोष होता है और इस दोष से उसके महान कर्मबन्ध होता है।

जिनागम को पढकर तथा सुनकर किसी ने ज्ञान प्राप्त किया है, और वह दूसरो से कहता है कि मुझे जैन शास्त्रो से ज्ञान नहीं हुआ है, किन्तु नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक, धर्मकीर्ति के ग्रन्थ आदि से मुझे बोध हुआ है। अथवा जैनमुनियो से सम्यक्तया शास्त्र-ज्ञान प्राप्त करके अपनी पूजा प्रतिष्ठा के लिए ब्राह्मणादि को गुरु बताता है, उसको निह्नव दोष प्राप्त होता है। और वह इस दोष से तब तक मिथ्या दृष्टि माना गया है। इसका आशय यह यह है कि ज्ञान-दाता गुरु के नाम का अपलाप करना-छिपाना निह्नव नाम का दोष है।

शब्द, अर्थ और उभय शुद्धि

विंजणसुद्धं सुत्तं अत्थविसुद्धं च तदुभयपरिसुद्धं च ।
पयदेण य जप्पंतो णाणविसुद्धो हवइ एसो ॥ ८८ ॥ (मू० पचा०)

अर्थ—व्याकरण के अनुसार शुद्ध शब्द का गुरु के उपदेशानुसार शुद्ध अर्थ का तथा शुद्ध शब्द और अर्थ दोनो का उच्चारण करने वाला अथवा दूसरो को उपदेश देने वाला विशुद्ध ज्ञानी होता है।

अर्थात् व्याकरण के नियमानुसार ह्रस्व दीर्घादि को जानकर जो सूत्र का पठन-पाठन करता है, तथा गुरु के उपदेशानुसार आम्नाय को समझ कर अर्थ का प्रतिपादन करता है—शब्द और अर्थ में हीनाधिकता अथवा उल्टापलटा नहीं करता है, उसका ज्ञान विशुद्ध होता है। उसीके शब्द अर्थ और उभय (शब्दार्थ) की विशुद्धि होती है और उसीका ज्ञान निर्मल होता है।

विनय का माहात्म्य (महिमा)

विणएण सुदमधीदं जदिवि पमादेण होदि विस्सरिदं ।
तमुवट्ठादिपरभवे केवलणाणं च आवहदि ॥ ८९ ॥ (मू० पञ्चा०)

अर्थ—जिसने विनय पूर्वक सूत्र का अध्ययन किया, और यदि वह प्रमाद दोष से विस्मृत होगया—स्मरण न रहा तो भी वह परभव मे उपस्थित होता है—स्मरण हो आता है, और केवलज्ञान को प्राप्त कराता है। अर्थात् विनय पूर्वक किया गया आगम का अध्ययन परम्परा से केवलज्ञान की उत्पत्ति करता है।

चारित्राचार

महाव्रत-स्वरूप

चारित्र आत्मा मे तल्लीन होने को कहते हैं। आत्मा मे तल्लीन होने के बाह्य साधन जो महाव्रतादि हैं उन्हें भी चारित्र कह देते हैं। महाव्रतादि से मुख्य चारित्र प्राप्त हो सकता है इसलिए आचार ग्रन्थो मे व्रत समित्यादि रूप चारित्र का मुख्य रूप से वर्णन किया गया है। इस चारित्र के तेरह भेद हैं। पञ्च महाव्रत, पञ्च समिति और तीन गुप्ति। इनमे पञ्च महाव्रत और पञ्च समितियो का प्रथम मूल गुणाधिकार मे विशद वर्णन किया जा चुका है। इसलिए यहा उनके वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। यहां तो अवशिष्ट तीन गुप्तियो का वर्णन किया जायगा। गुप्तियो के स्वरूप का वर्णन करते हुए आचार्य वट्टकेर ने कहा है —

मणवचकायपउत्ती भिक्खू सावज्जकज्जसंजुत्ता।
खिप्पं णिवारयंतो तीहिं दु गुत्तो हवदि एसो ॥ १३४ ॥ मू० पञ्चा०

अर्थ—हिंसादि कार्यों से मिली हुई मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को शीघ्र ही दूर करता हुआ साधु तीन गुप्ति का धारक होता है।

जा रायादि णियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणो गुत्ति।
अलि यादि णियत्ती वा मोणं होदि वचिगुत्ती ॥ १३५ ॥
काय किरि याणि यत्ती काउ सग्गो सरीरगे गुत्ती।
हिंसादि णियत्ती वा सरीर गुत्ती हवदि एसा ॥ १३६ ॥ (मू० पर्याप्त)

अर्थ—राग द्वेपादि से मन की निवृत्ति होजाना मनोगुप्ति है। तथा अलीक (सूत्र विरुद्ध) तथा अप्रिय वचनो से निवृत्त होना वचन गुप्ति है। अथवा असत्य वचनो की निवृत्ति भी वचन गुप्ति कहलाती है। मौन धारण करना, ध्यान, अध्ययन या चिन्तन मे लगे रहना भी वचन गुप्ति है।

काय (शरीर) की प्रवृत्ति को रोकना, कायोत्सर्ग करना, शरीर से ममत्व छोड़ना, आसन लगाकर ध्यान करना काय गुप्ति है।

जैसे खेत में अनाज की रक्षा के लिये खेत के चारों ओर कांटों की बाड़ खड़ी कर देते हैं, ताकि उसमें कोई पशु आदि घुस न सके एवं नगर की रक्षार्थ उसके चारों तरफ कोट, खाई आदि बना देते हैं जिससे कि शत्रु प्रवेश न करसके। वैसे ही आत्मा इन पाप रूपी प्रवृत्तियों में न फंस जावे, अतः इसकी रक्षार्थ मन, वचन, काय की गुप्ति रूपी खाई, कोट, तथा बाड़ की व्यवस्था की जाती है। अर्थात् जब आत्मा मन, वचन, काय पर विजय प्राप्त कर लेता है तब वह कभी पाप रूपी मल से लिप्त नहीं होता है। यही इन गुप्तियों के कथन का आशय है। ये गुप्तियां दश प्रकार के चारित्र की रक्षा करने वाली हैं। सूत्रकार ने गुप्तियों का लक्षण बताते हुए कहा है—

सम्यग्योग निग्रहो गुप्तिः ॥ अ० ॥ ६ ॥ सू० ॥ ४ ॥

टीका—सम्यक्प्रकारेण—लोकसत्कारख्यातिपूजालाभआकांक्षारहितप्रकारेण, योगस्य—कायवाङ्मनःकर्मलक्षणस्य, निरोधः—सम्यग्योगनिग्रहो विषयसुखाभिलाषार्थप्रवृत्तिर्निषेधः। यः सम्यग्योगनिग्रहो—मनोवाक्कायव्यापारनिषेधन सा गुप्तिरित्युच्यते। योगनिग्रहे सति आर्त्तरौद्रध्यानलक्षणसंक्लेश प्रादुर्भावो न भवति। तस्मिंश्च सति कर्म नास्रवति, तेन गुप्तिः संवरप्रसिद्ध्यर्थं वेदितव्या ॥ श्रुतसागरी टीका ॥

अर्थ—सत्कार, ख्याति, (प्रसिद्धि) पूजा, धनादि के लाभ की आकांक्षा रहित होकर मन, वचन और काय की क्रियाओं को रोकना ही सम्यक् प्रकार योग का निग्रह है। इसी को गुप्ति कहते हैं। अर्थात् विषय सुख की अभिलाषा के लिये जो मन-वचन-काय की प्रवृत्ति होती है उसका निरोध करना गुप्ति है। योग का निग्रह होने से आर्त्त रौद्र ध्यानात्मक संक्लेश परिणामों की उत्पत्ति नहीं होती है। और फिर अशुभ कर्मों का आस्रव भी नहीं होता है। इसलिये गुप्ति संवर की प्राप्ति का कारण होती है। मुनि का कर्त्तव्य है कि इन मन, वचन, काय की प्रवृत्ति रूप योगों को भले प्रकार रोके-चलायमान न होने दे। कृत, कारित एवं अनुमोदना द्वारा सावधान रहे। इसके लिए हमेशा ध्यान स्वाध्याय में संलग्न रहे जिससे आत्म-स्वरूप से च्युत होने का कभी अवसर न आवे और कर्मों का आस्रव रुककर संवर हो।

ये पांच समिति और तीन गुप्ति रूप जो अष्ट प्रवचन माता है वह मुनि के ज्ञान, दर्शन, चारित्र की सदा रक्षा करती है। जैसे माता पुत्र की सावधान होकर रक्षा करती है वैसे ही चरण (समिति) और करण (गुप्ति) ये ही मुनि धर्म के रक्षण में जननी तुल्य हैं। अतः इनका सेवन बड़ी सावधानी से करना योग्य है। यह अष्ट प्रवचन मातृ का मुनि धर्म का आधार है। इसके बिना मुनि धर्म की स्थिति नहीं रह सकती इसी लिए इनको माता के समान आदरणीय पद दिया गया है।

संयम का स्वरूप

वदसमिदिकसायाणं दंडाण तहिंदियाण पंचण्हं ।
धारणपालणणिग्गहचागजओ संजमो भणिओ ॥ ४६५ ॥ गो० जीव०

अर्थ—जिससे आत्मा को सम्यक् प्रकार वश मे किया जाता है, उस आचरण को सयम कहते हैं। जैसे उन्मार्ग मे दौड़ने वाले घोडे को लगाम सुमार्ग मे स्थापित करती है। वैसे ही विषय कषाय मे दौड़ते हुए आत्मा को रोककर सुमार्ग मे (आत्महित कारक कृत्य में) लगाने वाला सयम है। वह पांच प्रकार का है—व्रतो का धारण, समितियो का पालन, कषायो का निग्रह, मन, वचन तथा काय की प्रवृत्ति का त्याग और इन्द्रियो का विजय।

हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, और परिग्रह रूप पापो का त्याग कर अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह रूप व्रतो का आचरण करना व्रत धारण है। गमनागमन करने मे प्रमाद पूर्वक प्रवृति को रोक कर जीव जन्तुओ की रक्षा करते हुए उपयोग पूर्वक प्रवृत्ति करना, असयत भाषा का त्याग कर हित-मित-प्रिय-वचन बोलना, रसादि विषय मे गृद्धि न करके केवल उदर पूर्ति के लिये आगमोक्त विधि से प्रासुक, संयम-वर्द्धक, निर्दोष आहार लेना, मल मूत्रादि की बाधा निवारण करने के लिये जीव-जन्तु रहित एकान्त स्थण्डिल भूमि मे शौचादि क्रिया करना ही समिति का पालन है। आत्मा को कर्म बन्ध रूप दण्ड के देने वाले मन वचन और काय हैं, इनकी दुष्प्रवृत्ति का निग्रह करना गुप्ति है-तथा उत्कृष्ट विद्वान एव दुर्धर तपस्वियों को उन्मार्ग मे घसीट लेजाने वाली पाच इन्द्रियॉ हैं, इन पर विजय प्राप्त कर अपने को ध्यान, अध्ययनादि कार्य मे लगाना चाहिये। इस प्रकार प्रवृत्ति करने वाले मुनीश्वरों के सयम की आराधना होती है। आत्मा बाह्य पुद्गलादि अन्य द्रव्यों में निवृत्त होकर आत्मीय कार्यो मे प्रवृत्ति करता है। इसलिये प्रतिक्षण अन्तरात्मा को सुमार्ग मे चलाने के लिये उक्त सयम रूप-अकुश की आवश्यकता है, क्योंकि मनुष्य का चित्त अत्यन्त चपल है, इसकी चपलता को रोकने वाला एक संयम ही अमोघ उपाय है। इसलिये इसका निरन्तर आराधन करना चाहिए।

संयम की उत्पत्ति का कारण

बादरसंजलणुदये सुहुमुदये समखये य मोहस्स ।
सयमभावो णियमा होदित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ ४६६ ॥ गो० जीव०

अर्थ—बादर सज्वलन कषाय का उदय, सूक्ष्म लोभ का उदय, एवं चारित्र मोहनीय का उपशम तथा क्षय होने पर नियम से

संयम भाव होता है—ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

तात्पर्य—प्रमत्त और अप्रमत्त इन दो गुण स्थानो मे–संज्वलन कषाय चतुष्क (क्रोध, मान, माया और लोभ) के सर्वघाती स्पर्द्धको का उदयाभाव (विना फल दिये झड जाना) रूप क्षय, देश घाती स्पर्द्धको का उदय और इन्हीं का सदवस्था रूप उपशम होने पर सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि सयम होते हैं। जिनमे परिहार विशुद्धि सयम तो छठे और सातवें गुणस्थान मे होता है। सामायिक और छेदोपस्थापना सयम छठे से अनिवृत्तिकरण ९वें गुणस्थान पर्यंत होता है। क्योकि वादर सज्वलन चतुष्क का इस नौवे गुणस्थान तक उदय रहता है। सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्त सज्वलन लोभ (सूक्ष्म लोभ) का उदय होने पर सूक्ष्म-सापराय–सयम होता है। सम्पूर्ण चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम से ग्यारहवे उपशान्त कषाय गुणस्थान मे एव इसके क्षय होने से क्षीण कषाय (बारहवे), सयोग केवली (तेरहवें) और अयोग केवली (चौदहवें) मे यथाख्यात सयम होता है।

सामायिक संयम का स्वरूप

संगहिय सयलसंजममेयजममणुत्तरं दुरवगम्मं ।
जीवो समुव्वहंतो सामाइयसंजमो होदि ॥ ४७०

अर्थ—व्रतधारण, समितिपालन आदि पाच प्रकार के
त्यागी हूँ' इस प्रकार संग्रहनय से सब का सग्रह करने
है। इसकी तुलना दूसरे सयम नहीं
धारण करने वाला

अर्थ—प्रथम सामायिक संयम को धारण कर फिर उससे गिर जाने पर पुनः अपने आत्मा को व्रत धारणादि पांच प्रकार के संयम धर्म मे स्थापित करना छेदोपस्थापना सयम है। छेद करके अर्थात् प्रायश्चित का आचरण करके जिसका उपस्थापन होता है उसे छेदोपस्थापना संयम कहते है,यह इसका शब्दार्थ है। अथवा अपने द्वारा किये गये दोप का प्रायश्चित (निवारण) करने के लिये पहले जो तप किया था, उसका उस दोप के अनुकूल छेदन करके पुन. निर्दोप सयम मे स्थापित करना छेदोपस्थापना सयम कहलाता है।

परिहार विशुद्धि संयम का स्वरूप

पंचसमिदो तिगुत्तो परिहरइ सदावि जो हु सावज्जं।
पंचेक्कजमो पुरिसो परिहारयसंजदो सो हु ॥ ४७२ ॥
तीसं वासो जम्मे वासपुधत्तं खु तित्थयरमूले।
पंचक्खाणं पढिदो संभूणदुगाउय विहारो ॥ ४७३ ॥ गो० जीव०

अर्थ—जो पांच समिति और तीन गुप्ति से सयुक्त होता हुआ सदैव हिंसा रूप सावद्य का परिहार (निवारण) करता है वह पुरुष सामायिकादि पाच सयमो मे परिहार विशुद्धि नामक विशिष्ट सयम का धारक होता है।

जिसने जन्मसे तीस वर्ष की आयु पर्यंत गृहस्थावस्था मे खान पान आदि के सुख का अनुभव किया हो, फिर दीक्षा लेकर पृथक्त्व (आठ) वर्ष तक तीर्थंकर केवली के पाद मूल मे प्रत्याख्यान नाम का नौवा अङ्ग पढा हो वह परिहार विशुद्धि सयम को अङ्गीकार करता है। वह तीन सन्ध्या काल को छोडकर सर्वदा दो कोश विहार करता है। रात्रि मे विहार नहीं करता है। वर्षाकाल मे उसके ठहरने का नियम नहीं है और विहार का भी कोई नियम नहीं है। कभी विहार करता है और कभी नहीं भी करता है।

प्राणियो के वध से निवृत्त होने का नाम परिहार है, इस परिहार सहित शुद्धि (निर्मलता) जिस सयम मे होती है उसे परिहार–विशुद्धि–सयम कहते है। इसका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है। कम से कम इतने काल तक परिहार विशुद्धि सयम मे रहकर आत्मा अन्य गुणस्थान को प्राप्त करता है। इसका उत्कृष्ट काल अडतीस वर्ष हीन एक पूर्व कोटि है। क्योकि एक करोड पूर्व की आयु वाला पुरुप तीस वर्ष गृहस्थावस्था मे सुख पूर्वक रहकर फिर दीक्षा ग्रहण कर आठ वर्ष पर्यन्त श्री तीर्थंकर केवली के पाद मूल मे प्रत्याख्यान नामक नौवे पूर्व का अध्ययन करता है और इसके बाद परिहार विशुद्धि सयम अङ्गीकार करता है। इसलिये ३८ वर्ष हीन एक करोड पूर्व इसका उत्कृष्ट काल होता है।

परिहारर्धिसमेतः जीवःषट्कायसंकुले विहरन् ।
पयसेव पद्मपत्रं न लिप्यते पापनिवहेन ॥ टीका—गो० जीव०

अर्थ—परिहार विशुद्धि नामक ऋद्धि से सयुक्त मुनीश्वर षट् काय के जीवो से भरे हुए स्थान मे विहार करते हुए भी जल से कमल पत्र की तरह पाप से लिप्त नहीं होते है।

इसका आशय यह है कि जिसने पूर्व जन्म मे सातिशय पुण्य का वन्ध किया है उसके फल स्वरूप वर्तमान भव मे जिसे पूर्ण सुख सामग्री उपलब्ध हुई है, तथा जो महावीर्य का धारक है और अति दुष्कर चर्या का आचरण करने वाला है, तथा तीर्थंकर के पाद मूल मे ८ वर्ष तक रहकर—प्रत्याख्यान पूर्व का अध्ययन करने से जिसकी आत्मा मे विशेष निर्मलता उत्पन्न हुई है, तथा जिसे जीवो की उत्पत्ति, मरण, योनि, जन्म एव द्रव्य के स्वभाव आदि का विशेष ज्ञान हो गया है—ऐसे महात्मा को परिहार विशुद्धि संयम होता है।

सूक्ष्मसाम्पराय संयम का स्वरूप

अणुलोहं वेदंतो जीवो उवसामगो व खवगो वा।
सो सुहुमसांपराओ जहखादेणूणओ किंचि ॥ ४७४ ॥ गो० जीव०

अर्थ—सूक्ष्म कृष्टि को प्राप्त हुए लोभ कषाय के अनुभागोदय का अनुभव करने वाला, उपशामक वा क्षपक जीव जिसके साम्पराय (कषाय) सूक्ष्म हो गया है, सूक्ष्मसाम्परायसयमी होता है। यह यथाख्यात सयमी महामुनि से चारित्र मे कुछ कम होता है।

भावार्थ—आठवें गुणस्थान से दो श्रेणिया प्रारम्भ होती है। एक उपशम श्रेणी और दूसरी क्षपक श्रेणी। उपशम श्रेणी मे चारित्र मोहनीय की इकईस प्रकृतियो का उपशम और क्षपक श्रेणी मे उनका क्षय करने का उद्यम होता है। ये दोनो श्रेणिया सूक्ष्मसाम्पराय दशवें गुणस्थान तक रहती हैं। इस गुणस्थान मे केवल सज्वलन कषाय का सूक्ष्म लोभ रह जाता है। इसके अन्त समय मे इस लोभ का उपशामक श्रेणी वाले तो उपशम (उदयाभाव) करते है। लेकिन वह सत्ता मे बना रहता है। तथा क्षपक श्रेणी वाले उस (लोभ) का सर्वथा नाश करते हैं, इसलिये उपशम करने वाले तो उपशान्त कषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थान को प्राप्त होते है और क्षय करने वाले क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान का आश्रय लेते हैं। उपशान्त कषाय वाले नियम से नीचे गिरते है। क्योकि यहां पर जो चारित्र मोहनीय की प्रकृतिया सत्ता मे थीं उनका उसने उपशम किया था अब वही प्रकृतिया उदय को प्राप्त होतीं हैं। तथा क्षीण-कषाय-गुणस्थानवर्त्ती के चारित्र

मोहनीय की समस्त प्रकृतियो का समूल नाश हो जाता है इसलिये उसका पतन नहीं होता है।

यथाख्यात संयम का स्वरूप

उवसंते खीणे वा असुहे कम्मम्मि मोहणीयम्मि।
छदुमट्ठो जिणो वा जहखादो संजदो सो दु ॥ ४७५ ॥ गो० जीव०

अर्थ—अशुभ रूप मोहनीय का उपशम अथवा क्षय होने पर उपशान्त कषाय गुणस्थान वर्त्ती और क्षीण कषाय गुणस्थान वर्त्ती छद्मस्थ एवं तेरहवे गुणस्थान वर्त्ती सयोगीजिन और चौदहवे गुणस्थान वर्त्ती अयोगीजिन के जो सयम होता है उसे यथाख्यात कहते हैं।

भावार्थ—यहा मोहनीय कर्म के लिए अशुभ विशेषण दिया गया है। यद्यपि सभी कर्म अशुभ हैं तथापि मोहनीय कर्म को ही अशुभ कहने का हेतु यह है कि ज्ञानावरणादि कर्म तो आत्मा के ज्ञानादि गुणो को केवल ढकते ही हैं उनका विपरीत परिणमन नहीं करते, किन्तु मोहनीय कर्म आत्मा के गुणो को विपरीत परिणमन कर देता है। ज्ञान को कुज्ञान, सम्यक्त्व को मिथ्यात्व और चारित्र को कुचारित्र बनाने वाला मोहनीय कर्म ही है। इसीलिये इसे अशुभ कर्म कहा है। सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के उपशम अथवा क्षय होने पर यथाख्यात चारित्र होता है। इसका अर्थ यह है कि कषाय के उदयाभाव में ही यथाख्यात चारित्र प्रकट हो सकता है। कषाय के उदय का अभाव जैसे बारहवें गुणस्थान, तेरहवें गुणस्थान और चौदहवें गुणस्थान मे है वैसे ग्यारहवें गुणस्थान मे भी है। इसलिये इन चारो गुणस्थानो मे यथाख्यात चारित्र माना गया है। आत्मा की स्वाभाविक अवस्था प्रकट होने से यथाख्यात चारित्र प्राप्त होता है।

जैसा आत्मा का स्वभाव है वैसा ही यह प्रकट होता है (यथा—जैसा, आख्यात—कहा जाना) इसलिये इसे यथाख्यात कहते हैं, अथवा इसे अथाख्यात भी कहते हैं। क्योकि पूर्व चारित्र धारक मुनियो ने मोहनीय कर्म के उपशम अथवा क्षय होने के पहले इसको प्राप्त नहीं किया इसलिये इसको अथाख्यात चारित्र भी कहते हैं।

उक्त चार गुणस्थानवर्ती मुनीश्वरो के यथाख्यात चारित्र होता है। उनमे से उपशान्त कषाय गुणस्थानवर्ती के चारित्र मोहनीय का उदय होने से यथाख्यात चारित्र छूट जाता है और शेष तीन गुणस्थानवर्ती मुनीश्वरो के सदा काल बना रहता है। अर्थात् इनका मोक्ष अवश्यभावी है वह यथाख्यात चारित्र—जो आत्मा के स्वभाव से जन्य है इसीलिए—मोक्ष मे भी विद्यमान रहता है। इसे ही क्षायिक चारित्र भी कहते हैं।

तपआचार का वर्णन

संसार के सब प्राणी इच्छा के वशवर्ती होकर ही अनेक प्रकार के पाप जनक कुकृत्य करते हैं। इच्छा का स्वभाव है कि उसे ज्यों ज्यों पूर्ति का साधन मिलता जाता है त्यों त्यों वह बढ़ती जाती है। इच्छा की पूर्ति बाह्य पदार्थों से कभी नहीं होती, बल्कि बढ़ती जाती है और इतनी बढ़ती है कि समस्त संसार की विभूति प्राप्त होने पर भी वह शान्त नहीं होती। कहा भी है—

आशागर्त्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ॥ ३६ ॥ (आत्मा०)

"अर्थात्—इच्छा रूप खड्डा इतना गहरा है कि उसमें सम्पूर्ण विश्व का साम्राज्य भी अणु के समान है। यह इच्छा प्रत्येक प्राणी की चित्त में मौजूद है। विश्व तो एक है और उसके चाहने वाले प्राणी अनन्त हैं वह किस २ को मिल सकता है। किसके हिस्से में कितना आवे, पदार्थों की प्राप्ति होने पर इच्छाओं की उससे शान्ति नहीं होती, इसलिए संसार के विषय धनादि की इच्छा करना व्यर्थ है। इससे आत्मा को शान्ति नहीं मिलती इसलिए आचार्य कहते हैं कि धन-सम्पत्ति-पुत्र-कलत्रादि की बात ही क्या? यह शरीर भी अपना नहीं है। यह भी आयु के पूर्ण होने पर आत्मा को छोड़ देता है। किन्तु मोहान्ध प्राणी इसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए भी लालसा के वशीभूत होकर अनेक पाप जनक कुकृत्यों को करता रहता है और उसके फल स्वरूप स्वय नरक निगोदादि के दुःखों को अनन्त काल तक भोगता है। इसलिए आचार्य अपने तपस्यादि के शुद्ध भाव रूप सुकृत्यों को छोड़कर जीवों के हितार्थ शास्त्र निर्माण करते हैं और अपने उपदेशामृत से जीवों की फैलती विषयाभिलाषा रूपी दावाग्नि को शान्त करते हैं कि तपस्या ही आत्मा को शान्ति सुख देने वाली है। और वह इच्छाओं के निरोध से होती है। वही कहा है—

'इच्छा निरोधस्तपः'

अर्थात्—अनात्म पदार्थों (पौद्गलिक विषयों) में जो इच्छाएं दौड़ लगा रही हैं, उन्हें रोककर स्वाध्याय ध्यानादि आत्महितकर कार्यों में लगाना ही तप है। यह तप रूप अग्नि अनादि काल से आत्मा के साथ लगे हुए कर्म रूप ईंधन-राशि को क्षण भर में भस्मसात् करने वाली है। अतः क्षण भर भी अर्थात् काल का सूक्ष्म भाग भी तप से खाली नहीं जाने देना चाहिए। क्योंकि एक तपश्चरण ही तुम्हारे आत्मीय रोग की अमोघ औषधि है। अतः उसका आचरण करो।

वह तप दो प्रकार का है :-

दुविहो तवाचारो बाहिरअब्भंतर मुणेयव्वो।
एक्केक्को वि य छद्धा जधाकमं तं परूवेमो ॥ १४७ ॥ मू० पचा०

अर्थ—तपश्चरण दो प्रकार का है-१ बाह्य और २ आभ्यन्तर इन दोनों में प्रत्येक के छह छह भेद हैं। यथाक्रम से उसका वर्णन करते हैं।

भावार्थ—कर्म मल को दग्ध करने लिए जो तपा जाता है, उसे तप कहते हैं। उसके दो भेद हैं—एक बाह्य तप और दूसरा अन्तरङ्ग तप। जिसका शरीर द्वारा आत्मा के साथ सम्बन्ध हो उसे बाह्य तप कहते हैं। और जिसका साक्षात् आत्मा के साथ सम्बन्ध हो, उसे अन्तरङ्ग या आभ्यंतर तप कहते हैं।

बाह्य तप के भेद

अणसणअवमोदरियं रसपरिचाओ य वुत्तिपरिसंखा।
कायस्स वि परितावो विवित्तसयणासणं छट्ठं ॥ १४८ ॥ मू० पचा०

अर्थ—अनशन, अवमोदर्य, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, कायपरिताप और विविक्तशयनासन ये छह प्रकार का बाह्य है।

(१) अनशन—खाद्य स्वाद्य लेह्य और पेय इन चार प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन तप है।

(२) अवमौदर्य—भूख से कम खाना अवमौदर्य तप है।

(३) रसपरित्याग—अपनी इच्छानुसार स्निग्ध (घृत तैलादि), मिष्ट, खट्टा, कडुआ इत्यादि रस का त्याग करना, रसपरित्याग-तप है।

(४) वृत्तिपरिसंख्यान—घर, दाता, बर्त्तन, तथा भोजनादि की अटपटी आखडी लेना, वृत्तिपरिसंख्यान तप है।

(५) कायपरिताप (कायक्लेश)—गर्मी में आतापन, शीतकाल में अभ्रावकाश (खुले मैदान में ठहरना), वर्षा में वृक्ष के मूल में ठहरना आदि क्रियाओं से कर्म का क्षय करने के लिए बुद्धि पूर्वक शरीर का शोषण करना कायक्लेश तप है।

(६) विविक्तशयनासन—स्त्री, पशु, नपुंसक आदि से शून्य स्थान में सोना, बैठना विविक्तशयनासन तप है।

अनशन तप के भेद

अद्धाणसणं सव्वाणसणं दुविहं तु अणसणं भणियं।
विहरंतस्स य अद्धाणसणं इदरं च चरिमंते ॥ २१४ ॥ भग०

अर्थ—अनशन तप के दो भेद हैं—अद्धानशन और सर्वानशन। अन्यत्र अद्धाशब्द का अर्थ काल है, किन्तु यहां पर चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम आदि से लेकर छह मास पर्यन्त जितने तप के भेद हैं, उन सब का ग्रहण अद्धानशन में होता है। धारणा पारणासहित उपवास को चतुर्थ कहते हैं। अथवा चार वेला के भोजन के त्याग को चतुर्थ कहते हैं। जैसे—अष्टमी के उपवास के पहले दिन सप्तमी की एक वेला (समय), अष्टमी की दो वेला तथा ६ नवमी की एक वेला। इस प्रकार ४ वेला के भोजन के त्याग करने को चतुर्थ कहते हैं। चतुर्थ एक उपवास का नाम है। दो उपवास को षष्ठ और तीन उपवास को अष्टम कहते हैं। ऐसे ही आगे भी समझ लेना चाहिए। सन्यास धारण करने पर यावज्जीव चारों प्रकार के आहार का त्याग करना सर्वानशन है। ग्रहण और प्रति सेवना काल में मुनि अद्धानशन तप करते हैं। दीक्षा लेकर जब तक सन्यास ग्रहण नहीं किया जाता तब तक के काल को ग्रहण काल कहते हैं। तथा व्रतादिक में अतिचार लगने पर जो प्रायश्चित्त से उनकी शुद्धि के लिए कुछ दिन अनशन (उपवास) किया जाता है, उसे प्रतिसेवना काल कहते हैं।

अवमौदर्य (ऊनोदर) तप का स्वरूप

एगुत्तरसेढीए जावय कवलो वि होदि परिहीणो।
ऊमोदरियतवो सो अद्धकवलमेव सित्थं च ॥ २१७ ॥ भग०

अर्थ—स्त्री के भोजन के ग्रास का परिमाण अठाईस तथा पुरुष के भोजन के ग्रास का परिमाण बत्तीस कहा है। उसमें से एक दो आदि ग्रास कम करते करते एक ग्रास मात्र का आहार करना अवमौदर्य तप है। उस एक ग्रास में भी कम करते करते आधा चौथाई आदि से लेकर एक चावल मात्र का आहार करना अवमौदर्य तप है।

शंका—न्यून आहार का ग्रहण करना तप कैसे माना जावे?

उत्तर—अधिक भोजन करने की अभिलाषा को रोककर थोड़ा भोजन करने से इच्छा का निरोध होता है, इसलिए यह तप कहा

रसपरित्याग तप

खीरदधिसप्पितेल्लं गुडाण पत्तेयदो व सव्वेसिं।
णिज्जूहणमोगाहिम पणकुसणलोणमादीणं ॥ २२० ॥ भग०

अर्थ—दूध, दही, घृत, तेल, गुड, नमक आदि रसों का तथा इनमें से एक दो आदि रस का परित्याग करना रसपरित्याग तप है।

भावार्थ—रसपरित्याग तप दो प्रकार का है—यावज्जीवन रसों का त्याग तथा परिमित काल तक रसों का त्याग। सन्यास काल में सब रसों का त्याग यावज्जीवन पर्यन्त होता है तथा सन्यास के समय के सिवाय रसो का त्याग परिमित काल के लिए एवं यावज्जीवन पर्यन्त भी होता है।

रसपरित्याग तप का आचरण करना सयमी जनो का कर्त्तव्य है। रसपरित्याग तप स्वयं धारण किया जाता है। अन्य को वचनादि द्वारा प्रकट नहीं किया जाता। सयमी को ध्यान मे रखना चाहिए कि दातार के घर पर गर्म भोजन मिले या ठंडा मिले, दूसरी वेला का बनाया हुआ मिले या ताजा मिले, रूखा, सूखा, नि.स्वादु, मिर्च मसाले रहित, उष्ण जल से मिला हुआ, घृत रहित रूखा सूखा भात आदि अथवा ज्वार, बाजरा, मक्का आदि की रोटी या दलिया आदि शुद्ध पदार्थ मिले उसे प्रेम पूर्वक ग्रहण करना चाहिए। रसपरित्याग करने से भोजन की लालसा नष्ट होती है।

वृत्तिपरिसंख्यान तप का स्वरूप

गत्तापच्चागदं उज्जुवीहि गोमुत्तियं च पेलवियं।
संबूकावट्टंपि य पदंगवीथी य गोयरिया ॥ २२३ ॥ भग०

अर्थ—जिस मार्ग से आहार के लिए गमन करे उसी मार्ग से लौटते समय यदि आहार मिलेगा तो मैं आहार का ग्रहण करूंगा अन्यथा नहीं—ऐसी प्रतिज्ञा करना गतप्रत्यागत है। सीधे रास्ते मे गमन करते हुए यदि आहार मिलेगा तो आहार लूंगा, अन्यथा नहीं लूंगा—ऐसी प्रतिज्ञा करना ऋजुवीथी है। मूतते हुए गमन करने वाले बैल के मूत्र का आकार जैसा होता है, वैसे आकार से मोड़े खाने वाले मार्ग मे यदि भोजन मिलेगा तो आहार ग्रहण करूंगा—ऐसी प्रतिज्ञा करने को गोमूत्रिक कहते हैं। वास की सीकों लकड़ी आदि से बने हुए चोकोर

वस्त्रालङ्कार रखने के ढक्कन सहित सन्दूक–पेटी के आकार चतुष्कोण भ्रमण करते हुए यदि मुझे आहार मिलेगा तो आहार ग्रहण करूंगा–ऐसी प्रतिज्ञा करने को पेलविग कहते हैं। शङ्ख के आवर्त्त के समान शहर के मुहल्ले में भ्रमण करके बाहर निकलते हुए यदि भिक्षा मिलेगी तो लूंगा–ऐसी प्रतिज्ञा करना शंबुकावर्त्त है। पक्षियों की पंक्ति जैसे भ्रमण करती है वैसे भ्रमण करते मुझे आहार मिलेगा तो लूंगा–ऐसी प्रतिज्ञा करना पतङ्गवीथी है। अथवा जिस श्रावक के घर लेने का विचार किया है कि यदि अमुक श्रावक के यहां विधिपूर्वक भिक्षा मिलेगी तो आहार लूंगा अन्यथा आज आहार का त्याग है–ऐसी प्रतिज्ञा करने को पतङ्गवीथी कहते हैं। इस प्रकार आहार के लिए विविध नियम का ग्रहण करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है।

भावार्थ—वृत्ति परिसंख्यान तप करने वाला अनेक प्रकार की प्रतिज्ञाएँ लेकर भिक्षा के लिए गमन करता है। यदि आज मुझे अमुक प्रकार भिक्षा के लिए पडगाहन करेगा तो आहार ग्रहण करूंगा, अन्य प्रकार नहीं लूंगा। ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार आहार न मिलने पर प्रतिज्ञा की अवधि तक प्रतिज्ञा बदलनी नहीं चाहिए। प्रतिज्ञा एक दिन की ली हो या दो दिन अथवा दस दिन की हो, तब तक उसका पूरी तरह निर्वाह करना चाहिए। प्रतिज्ञा की अवधि बढाना साधु की इच्छा पर निर्भर है, किन्तु उसकी अवधि को घटाना उसके अधीन नहीं। जितने काल की अवधि से ली हुई प्रतिज्ञा हो, उसका उतने काल तक तो बराबर पालन करना आवश्यक है। जैसे–आज मैं अमुक मुहल्ले में भिक्षा के लिए जाऊंगा, अमुक घर में जाऊंगा, अमुक प्रकार से दातार पडगाहेगा, या अमुक घर में दातार अमुक वस्तु हाथ में लिए मिलेगा, कलश हाथ में लिए मिलेगा, या माला, नारियल, छलना, दर्पण, पुस्तक पत्र हाथ में लिए हुए मिलेगा तो घर में आहार के लिए प्रवेश करूंगा नहीं तो नहीं। आज अमुक प्रकार के वर्तन से दातार भोजन देगा, (मिट्टी स्वर्ण चांदी तांबे पीतल कांसे पात्र से) तो आहार ग्रहण करूंगा, अन्यथा भोजन का त्याग करूंगा। तथा स्त्री पुरुष, दो पुरुष या दो स्त्री होंगे या एक पुरुष होगा, तो भोजन ग्रहण करूंगा अन्यथा नहीं। आज केवल मूंग, मसूर, चना, गेहूं, चावल, मक्का, ज्वार, बाजरा, जौ या कुलथी का ही आहार लूंगा। आदि अनेकानेक प्रकार से यह तप होता है।

प्रतिज्ञा चाहे कैसी भी हो और कितने ही दिन की हो किसी पर प्रकट नहीं करना चाहिए। तभी प्रतिज्ञा का ग्रहण सार्थक है, और उसी को वृत्तिपरिसंख्यान तप कहा है। यदि प्रतिज्ञा किसी तरह प्रकट करदी जावे तो वह तप नहीं होता, प्रत्युत ढोंग कहा जाता है। आत्मबल बढाने के लिए अथवा बहुत काल पर्यन्त साधन किये आत्मबल की परीक्षा के लिए एवं कर्म की निर्जरा के लिए उक्त प्रकार की प्रतिज्ञा साधु किया करते हैं। इसका अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि जिस प्रतिज्ञा से जीवों की विराधना होती हो अथवा जो व्यवहार से विरुद्ध मालूम पडती हो, वैसी प्रतिज्ञा कदापि न लेनी चाहिए। द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव एवं व्यवहार को देखकर प्रतिज्ञा लेनी चाहिए। प्रतिज्ञा लेते समय अपनी शक्ति का ध्यान रखना परम आवश्यक है। पूर्व काल के साधुओं ने अमुक प्रकार की प्रतिज्ञा ली थी अत. हमें भी ले लेना

चाहिए, यह अनुकरण सर्वथा अनुचित है। प्राचीन काल के महामुनि उत्तम सहनन के धारक थे, महावीर्यवान् और परम धैर्यशाली थे। उनकी समानता की विडम्बना करना उचित नहीं है, अत शक्ति को देखकर प्रतिज्ञा ग्रहण करना चाहिए।

कायक्लेश तप

अणुसूरी पडिसूरी य उड्ढसूरीय तिरियसूरी य।
उब्भागेण य गमणं पडिआगमणं च गंतूणं ॥ २२७ ॥ (भग०)

अर्थ—जिस दिन कडी धूप पड रही हो, उस दिन पूर्व दिशा से पश्चिम दिशा की ओर जाना–अनुसूरी गमन, तथा पश्चिम दिशा से पूर्व दिशा की ओर गमन करना अर्थात् सूर्य के सन्मुख जाना पडिसूरी, सूर्य जब मस्तक पर आ जावे उस समय मध्याह्न मे गमन करना उड्ढसूरी, सूर्य को तिर्यक् रखकर गमन करना–तिरियसूरी एक गांव से दूसरे गांव मे बिना विश्राम किए आहार के लिए गमन करना तथा जाकर वापिस लौट आना उब्भागमेण गमण है। यह सब गमनरूप कायक्लेश है।

अप्रमार्जित स्तम्भ, भीत इत्यादि का सहारा लेकर खडा रहना यह साधारण कायक्लेश तप है। पहले स्थान से इस स्थान मे जाकर वहा एक पहर दिन आदि का प्रमाण लेकर खडे रहना, अथवा स्वस्थान मे ही निश्चल होकर खडे रहना, कायोत्सर्ग करना, पैरो को बराबर रख कर खडे रहना, एक पैर से खडे रहना,दोनो पक्ष फैलाकर उड़ते गिद्ध पक्षी की तरह दोनो भुजाएँ फैलाकर खड़े रहना। यह खड़े रहना रूप कायक्लेश है।

उत्तम पर्यकासन लगाकर (पालथीमाडकर) बैठना, उसकी पलटापलटी न करना, दोनो पैरो को नितम्ब के नीचे देकर बैठना, गौ को दुहते समय जिस प्रकार बैठते हैं, वैसा आसन लगाकर बैठना,भूमि को न छूते हुए पैरो को समान रखकर पैर के अग्रभाग से बैठना, मगर के मुख की भाति पैरो की आकृति बनाकर बैठना, नीचा सिर और ऊँचे पैर करके शीर्षासन लगाना, हाथी की सूड के समान एक पैर पसार कर या एक हाथ पसार कर बैठना, गवासन से बैठना, तथा अर्धपर्यकासन से बैठना, वीरासन से बैठना–दोनो पावो को दोनो जाघो पर रखकर बैठना, इत्यादि अनेक प्रकार के आसन लगाकर ध्यान करना कायक्लेश तप है। जिस आसन से ध्यान मे बाधा न आवे वही आसन लगाकर साधु को ध्यान करना चाहिए।

दडाकार शयन करना, खडे खडे सोना, शरीर को सुकोड कर शयन करना, चित शयन करना, नीचे मुख कर के शयन करना, एक पार्श्व से शयन करना, मृतक समान निश्चेष्ट होकर शयन करना, निरावरण (छाया रहित) प्रदेश मे शयन करना, नहीं थूकना, नहीं

खुजालना, तृण की शय्या अथवा काष्ठ के तख्ते पर, शिला एव भूमि पर शयन करना, इधर उधर करवटें न लेना यह शयनकायक्लेश तप है। तथा मस्तक आदि के केशों का लुञ्चन करना अर्थात् अपने हाथ से केशों को उखाड़ना, आवश्यकता होने पर दूसरे से भी अपने केश उखड़वाना केशलोच नामक कायक्लेश तप कहलाता है। जिस आचरण से शरीर को कष्ट पहुचे ऐसे अस्नान (स्नान नहीं करना) दांत नहीं माजना, रात्रि जागरण शीत उष्ण वृष्टि आदि जन्य क्लेश सब कायक्लेश तप हैं।

विविक्त शय्यासन तप

जत्थ ण सोत्तिग अत्थि दु सद्दरसरूपगंधफासेहिं।
सज्झायज्झाणवाघादो वा वसधी विवित्ता सा ॥ २२८ ॥ (भग०)

अथ—जिस वसतिका मे मनोज्ञ व अमनोज्ञ स्पर्श रूप रस गन्ध और शब्दों से अशुभ परिणाम नहीं होते तथा जिसमे स्वाध्याय व ध्यान मे विघ्न वाधा नहीं आती है वह वसति मुनियों के रहने योग्य होती है। यह खुले द्वार वाली हो या ढके द्वार वाली हो, समभूमि वाली, या विषम–(ऊँची नीची) भूमि वाली हो, अन्दर के भाग में हो या बाहर के भाग में हो, गाव के निकट हो या दूर हो, शीत या उष्ण हो, जीव जन्तुओ की वाधा से रहित हो, या सहित हो वह वसति योग्य मानी गई है, जिसमे स्त्री नपुसक और पशु का गमना गमनादि का सम्पर्क न हो। ग्राम के निकट की वसतिका में एक रात्रि, ग्राम के बाहर की वसतिका मे पाच रात्रि पर्यन्त साधु को निवास करना चाहिए, अधिक नहीं करना चाहिए। वर्षा ऋतु के सिवा अन्य काल मे वीमारी आदि किसी विशेष कारण के विना कदापि नहीं रहना चाहिए।

कौनसी वसति विविक्त वसति कही जाती है ? इसे कहते हैं

सुण्णघरगिरिगुहारुक्खमूलआगंतुगारदेवकुले।
अकदप्पभारारामघरादीणि य विवित्ताइं ॥ २३६ ॥ (भग०)

अथ—सूना घर, पर्वत की गुफा, वृक्ष का मूल, यात्रियो के ठहरने के लिये बनी हुई धर्मशाला, देवमन्दिर, शिलाओं से स्वयं बना हुआ घर–अकृत्रिम घर, बाग बगीचों में क्रीड़ार्थ आने वालों के लिए बनाये गये घर इत्यादि ऐसे ही अन्य निर्दोष एकान्त स्थानों को विविक्त वसति कहते हैं।

जिन—चैत्यालय भी साधुओ के ठहरने योग्य बताया है, किन्तु उसमें यदि ठहरना ही पड़े तो विनय पूर्वक एक तरफ अपना शय्यासन करना चाहिए। जब दूसरा स्थान न मिले तब ही उसमें ठहरना चाहिए। दूसरे के द्वारा छोड़े हुए या छुड़ाये हुए स्थान में जिसमें ठहरने का निषेध न हो ऐसे विमोचित स्थान में साधु ठहर सकता है।

जहा पर 'यह वसति मेरी है, यह तेरी है इत्यादि विसवाद न होता हो, चित्त को व्यग्र करने वाला शोर गुल न हो, असंयमी जनो का सञ्चार व प्रसार न हो, मन को सक्लेश उत्पन्न करने वाले निमित्त न हो, विविक्त वसतिका के ऊपर ममत्व नहीं उत्पन्न होता हो, जहां आत्मचिन्तन और शास्त्र अध्ययनादि कार्यों में बाधा नहीं आती हो—ऐसी विविक्त वसति मे साधु—जन निवास करते हैं।

जहा पर गाय भैंस आदि तिर्यंचनियो का, वेश्या, व्यभिचारिणी स्त्रियों का भवनवासी व व्यन्तर देवियों का सम्पर्क हो उनका प्रचार हो—ऐसे स्थानों मे साधु शय्या आसन आदि नहीं करते।

आभ्यन्तर तप

पायच्छित्तं विणयं वेयावच्चं तहेव सज्झायं।
झाणं च विउस्सग्गो अब्भंतरओ तव एसो ॥ १६३ ॥ मू० पञ्चा०

अर्थ—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान, और व्युत्सर्ग ये आभ्यन्तर तप के छह भेद हैं।

प्रायश्चित—जिस तप से पूर्व कृत दोषों से—पापों से विशुद्धि होती है, व्रतो में लगे हुए दोषों की शुद्धि होती है, उसे प्रायश्चित कहते हैं।

प्रायश्चित्त के भेद

आलोयण पडिक्कमणं उभय विवेगो तहा विउस्सग्गो।
तव छेदो मूलं वि य परिहारो चेव सद्दहणा ॥ १६५ ॥ मू० पञ्चा०

अर्थ—आलोचना, प्रतिक्रमण उभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान ये प्रायश्चित के दश भेद हैं।

(१) आलोचना—आचार्य के सम्मुख जाकर अथवा आचार्य के अभाव में चारित्राचार पूर्वक उत्पन्न हुए दोषो का निवेदन करना आलोचना है।

(२) प्रतिक्रमण—रात्रि भोजन के साथ पाच महाव्रतो मे लगे हुए दोषो की निन्दा-गर्हा करते हुए उन दोषों का शोधन करना प्रतिक्रमण है।

(३) उभय (आलोचना-प्रतिक्रमण) आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनों के आचरण करने मे जो दोष दूर होता है, उसकी शुद्धि के लिए दोनो (आलोचना-प्रतिक्रमण) का आचरण करना उभय है।

(४) विवेक—काल की मर्यादा पूर्वक गण से तथा स्थान से साधु को पृथक् करना, विवेक है।

(५) व्युत्सर्ग—व्युत्सर्ग नाम कायोत्सर्ग का है। परिमित काल (एक आवलि मे लेकर एक मुहूर्त्त, दो दिन, तीन दिन, पक्ष, मास, छह मास पर्यन्त) शरीर से ममत्व त्याग कर एक स्थान पर स्थिरता से खड़े रहना कायोत्सर्ग है।

(६) तप—कर्म क्षय करने के लिए अनशनादि तप का अनुष्ठान करना, तप है।

(७) छेद—अपराध के अनुसार दीक्षा मे से पक्ष मासादि कम करना, अर्थात् दीक्षा को घटाना, छेद है।

(८) मूल—भयकर व्रत नाशक अपराध होने पर दीक्षा का छेदन कर नई दीक्षा देना, मूल प्रायश्चित है। राजवार्तिक आदि ग्रन्थो मे इसे उपस्थापना नाम से कहा है।

(९) कुछ काल के लिए उसे बहिष्कृत करना, परिहार नामा प्रायश्चित है, इस के दो भेद हैं—गणप्रतिबद्ध, गणाप्रतिबद्ध।

गण प्रतिबद्ध—जहा पर अन्य साधु लघुशकादि निवारण करते है, ऐसे स्थान मे अपराधी साधु को ठहराना। अपराधी पिच्छी को आगे करके अन्य साधुओ की वन्दना करता है, उसको कोई भी साधु वन्दना नहीं करता है, इस प्रकार गण में रहकर जो क्रिया की जाती है, उसे गण प्रतिबद्ध परिहार कहते हैं।

गणाप्रतिबद्ध—जिस देश मे लोग धर्म को नहीं समझते है उस देश मे मौन पूर्वक परिमित काल तक तपश्चरण करने का दण्ड देना गणाप्रतिबद्ध परिहार प्रायश्चित्त है।

(१०) श्रद्धान—तत्त्वों में रुचि रूप परिणाम को अथवा क्रोधादि के त्याग को श्रद्धान कहते हैं। अर्थात् मिथ्यात्व रूप तत्त्वो मे जिसे रुचि नहीं है, ऐसे साधु को तत्त्व में रुचि उत्पन्न करके पुनः दीक्षा की प्रार्थना करने पर दीक्षा देना श्रद्धान नामक प्रायश्चित है।

भावार्थ—कोई दोप तो ऐसा है जो आलोचना मात्र से शुद्ध होता है। कोई ऐसा होता है, जो प्रतिक्रमण से शुद्ध होता है। कोई दोप आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनो से शुद्ध होता है। कोई दोप विवेक से, कोई दोप कायोत्सर्ग से, कोई तप से, कोई छेद से, कोई मूल से तथा कोई परिहार से और कोई दोप श्रद्धान मात्र से शुद्ध होता है।

आलोचना का स्वरूप

कृत्वा त्रिशुद्धिं प्रतिलिख्य सूरिं प्रणम्य मूर्धस्थितपाणिपद्मः।
आलोचनामेप करोति मुक्त्वा दोपानशेपानपशल्यदोपः ॥ ५८६ ॥ (स० भग०)

अर्थ—मन वचन काय की शुद्धि करके पिच्छी से भूमि का प्रमार्जन करे तथा हाथ जोड मस्तक पर लगाकर आचार्य को सविनय प्रणाम करे। तीनो शल्यो से रहित होकर आलोचना के आगमोक्त दोपो को टालकर सब दोपो को आचार्य महाराज के पास प्रकट करना चाहिए। सिद्ध भक्ति व योग भक्ति पढकर वन्दना करनी चाहिये, ऐसा वृद्ध आचार्य कहते हैं। परन्तु श्री चन्द्राचार्य सिद्ध भक्ति, चारित्र भक्ति तथा शांति भक्ति पढकर वंदना करनी चाहिए—ऐसा कहते हैं।

आलोचना के दोप

आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं वादरं च सुहुमं च।
छण्णं सद्दाउलयं वहुजण अव्वत्त तस्सेवी ॥ ५६८ ॥ (भग०)

अर्थ—आकम्पित, अनुमानित, दृष्ट, वादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, वहुजन, अव्यक्त और तत्सेवी ये दश आलोचना के दोप हैं। इनका खुलासा निम्न प्रकार है।

(१) आकम्पित—गुरु के मन में अपने विषय मे अनुकम्पा (दया) उत्पन्न कर आलोचना करना, आकम्पित दोप है।

(२) अनुमानित—किसी उपाय से गुरु के अभिप्राय को जानकर स्वकीय दोषों को कहना, अनुमानित दोष है।

(३) दृष्ट—जो दोष दूसरों ने देखे हैं, उन्हीं दोषो को प्रकट करना, नहीं देखे हुए दोषो को छिपाना दृष्ट दोष है।

(४) बादर—स्थूल-मोटे दोषों का कथन करना और सूक्ष्म दोष प्रकट नहीं करना बादर दोष है।

(५) सूक्ष्म—उत्पन्न हुए सूक्ष्म दोषों को प्रकट करना और स्थूल दोषों को छिपाना सूक्ष्म दोष है।

(६) छन्न—कोई साधु अमुक दोष करे तो उसका प्रायश्चित्त दिया जाता है, इस प्रकार पूछकर जो अपनी शुद्धि करता है, प्रकट रूप से अपने दोष को नहीं कहता है, उसके छन्न दोष होता है।

(७) शब्दाकुलित—पाक्षिक,चातुर्मासिक, सांवत्सरिक आलोचना के समय बहुत मुनिजन मिलकर आलोचना कर रहे हों, उस कोलाहल में, उनकी ध्वनि में अपनी ध्वनि मिलाकर अपने दोषो की आलोचना करना, शब्दाकुलित दोष है।

(८) बहुजन—बहुत से साधुजनों के साथ २ आप भी खड़ा होकर अपने दोषों की आलोचना करना बहुजन दोष है। अथवा एक आचार्य को अपना अपराध निवेदन कर उस प्रायश्चित्त पर श्रद्धान न करके दूसरे आचार्य के पास पुन.अपने अपराध निवेदन कर प्रायश्चित चाहना बहुजन दोष है।

(९) अव्यक्तदोष—अज्ञानी साधु के समीप अपने दोषो की आलोचना करना अव्यक्त दोष है।

(१०) तत्सेवी—अपने लगे हुए दोषो के समान दोषों के सेवन करने वाले पार्श्वस्थादि साधुओं के समक्ष अपने दोषों की आलोचना करना तत्सेवी नाम का दोष है।

पुराने कर्मों का क्षय, क्षेपण, निर्जरा, शोधन, धावन, पुंछन, निराकरण, उत्क्षेपण, छेदन, द्वैधीकरण ये प्रायश्चित्त के नाम हैं।

विनय तप

दंसणणाणे विणओ चरित्ततवओवचारिओ विणओ।
पंचविहो खलु विणओ पंचमीगइणायगो भणिओ ॥ १६७ ॥ (मू० पंचा)

अर्थ—दर्शन विनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय, तपविनय और उपचारविनय इस प्रकार विनय के पांच भेद हैं। यह विनय पचमी गति (मोक्ष) की प्राप्ति कराने वाला है, ऐसा आचार्यों ने कहा है। अब इनकी विशद व्याख्या करते हैं।

दर्शनविनय

उवगूहणादिआ पुव्वुत्ता तह भत्ति आदिआ य गुणा।
संकादिवज्जणं पि य दंसणविणओ समासेण ॥ १६८ ॥ (मू० पचा०)

अर्थ—परका दोप ढकना, अपनी प्रशंसा न करना, उपगूहन गुण है। निज की आत्मा को या पर को धर्म मे दृढ़ करना स्थिति करण गुण है। रत्नत्रय धर्म मे तथा उनके धारकों मे गोवत्स समान प्रीति करना वात्सल्य गुण है, इत्यादि इन सम्यक्त्व के आठ गुणों का पहले व्याख्यान कर आये हैं। इसलिए यहा नहीं किया गया है। अर्हन्तादि पचपरमेष्ठी में भक्ति, उनकी पूजा, और गुणों का कीर्तन करना, गुणानुकीर्त्तन नामक गुण है। किसी निमित्त से धार्मिक पुरुषो के अवर्णवाद का प्रसग आता हो तो, उस को तन मन और धन लगाकर दूर करना आसादना परिहार गुण है। शङ्का, आकाङ्क्षा, निर्विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि प्रशसा, तथा मिथ्यादृष्टि की स्तुति करना ये सम्यग्दर्शन के पाच अतिचार हैं। इनका स्वरूप का वर्णन पहले कर आये हैं, उनका निवारण करना दर्शन विनय है।

ज्ञान विनय

ग्रन्थार्थतद्वयैःपूर्णं सोपधानमनिह्नवम्।
विनयं बहुमानं च तन्वन् कालो श्रुतं भवेत् ॥ ११४ ॥ (अन० अ० ३)

अर्थ—सध्या, ग्रहण आदि अस्वाध्याय काल को टाल कर योग्य काल मे आगमोक्त विधि से आचाम्ल अनशनादि तपश्चरण धारण कर, सत्कार पुरस्कारादि बहुमान पूर्वक, अपने गुरु का नाम न छिपाते हुए, शब्द अर्थ तथा उभय (शब्दार्थ) रूप सूत्र का (महत्व प्रकट करते हुए) विनय पूर्वक अध्ययन करना ज्ञान विनय है।

चारित्र-विनय

इंदियकसायपणिधाणं पि य गुत्तीओ चेव समिदीओ।
एसो चरित्तविणओ समासदो होई णायव्वो ॥ ११७ ॥ (भग०)

अर्थ—इन्द्रियो के विषय एवं कषायो में मन की प्रवृति न होने देना, मन-वचन-काय गुप्ति का धारण, पांच समिति का पालन करना चारित्र का विनय है।

इन्द्रिय-कषाय-प्रणिधान—इन्द्र नाम आत्मा का है, उसका जो लिङ्ग-सूचक-ज्ञापक है, उसे इन्द्रिय कहते हैं। अथवा इन्द्र नाम नामकर्म का है, उससे जो निर्माण की जाती है, उसे इन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रिय के दो भेद हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय, इत्यादि। इसका विशेष विवेचन पहले कर चुके हैं। वे इन्द्रिया पाच है-स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु और श्रोत्र। यहा इन्द्रिय शब्द से इन्द्रियो के निमित्त से मनोज्ञामनोज्ञ रूप रसादि मे राग क्रोधादि रूप प्रतीति का ग्रहण है। अर्थात इन्द्रियो के विषयो मे राग द्वेष न करना चाहिए। कषन्ति-हिंसन्ति आत्म क्षेत्र इति कषायाः' अर्थात् जो आत्मा के शुद्ध ज्ञानादि परिणामो का घात करते हैं, उन्हें कषाय कहते हैं। अथवा कषाय (वृक्ष की त्वचा (छाल) मे निकलने वाला चिकना रस) के समान जो कर्मरज के चिपकाने मे कारण है, उसे कषाय कहते हैं। वे चार है—क्रोध मान माया और लोभ।

गुप्ति—द्रव्य,क्षेत्र,काल, भव और भाव परिवर्तन को संसार कहते हैं, ससार के कारण ज्ञानावरणादि कर्म मे आत्मा की गोधन-रक्षण करना गुप्ति है। अर्थात मन वचन और काय की यथेच्छ प्रवृत्ति को रोकने को गुप्ति कहते हैं।

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः' (तत्त्वा०) यहां जो सम्यक् विशेषण दिया है, उससे सूचित होता है, कि सत्कार पूजादि की अपेक्षा रहित मन वचन काय को वशमे करना ही गुप्ति है। यही गुप्ति मोक्ष का साधन होती है। गुप्ति के तीन भेद हैं—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति। मनमें रागादि की निवृत्ति होना ही—"जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणीहि त मणोगुत्ती"—मनोगुप्ति है।

असत्य, परुष, कठोर,मिथ्यात्व, असयमादि के निमित्त भूत वचन न बोलना वचनगुप्ति है। प्रमाद रहित होकर विना देखे और विना प्रमार्जन किये हुए भूमि भाग मे नहीं चलना, अथवा पदार्थों के उठाने,रखने,सोने, बैठने आदि क्रियाओं को न करना,अथवा कायोत्सर्ग करना काय गुप्ति है।

समिति—प्राणियों की पीडा का परिहार करते हुए देख शोध कर प्रवृत्ति करने को समिति कहते हैं। वह पांच-प्रकार की है—ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और व्युत्सर्ग।

शका—ईर्या भाषादि समिति और वचन काय गुप्ति मे क्या अन्तर है? क्योंकि प्राणियो को पीडा देने वाली जो कायादि की क्रिया है उस की निवृत्ति करना, कायादि गुप्ति है और समिति भी प्राणी पीडा का परिहार करके कायादि की प्रवृत्ति करना है।

समाधान—निवृत्तिरूप तो गुप्ति है और प्रवृत्तिरूप समिति है। इस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति के भेद से उक्त दोनो भिन्न २ हैं।

शंका—इन्द्रिय और कषाय मे अप्रणिधान (चित्त न लगाना) और मनोगुप्ति ये दोनो एक ही हैं। इन को पृथक्-२ कहने का क्या कारण है ?

समाधान—राग द्वेष मिथ्यात्वादि अशुभ परिणामो के अभाव को मनोगुप्ति कहते हैं,यह तो सामान्य कथन है। तथा इन्द्रिय व कषाय से मन की निवृत्ति को जो मनोगुप्ति कहा है, वह विशेष कथन है। सामान्य और विशेष का कथचिद् भेद है, इसलिए पुनरुक्ति दोष नहीं है। मनोगुप्ति मे इन्द्रिय व कषाय अप्रणिधान आ जाता है, तथापि इनका भेद रूप से कथन करना चरित्रार्थी के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अथवा इन्द्रिय के विषय और कषाय को त्याज्य बताने के लिए इनका भिन्न २ कथन किया है। चारित्र शब्द से यहा पञ्च महाव्रत ही इष्ट हैं। तथा गुप्तिया व समितिया तो इसके परिकर रूप हैं।

कुछ आचार्यों ने पचीस भावनाओ को भी चारित्र विनय कहा है। "तत्स्थैर्यार्थं भावना पञ्च पञ्च" (तत्वा० अ० ७ सू० ३) अर्थात् अहिंसादि व्रतो की स्थिरता के लिए प्रत्येक व्रत की पांच २ भावनाएँ मानी गई हैं। उन भावनाओ का स्वरूप प्रथम किरण मे कह आये हैं।

तपविनय

उत्तरगुणउज्जमणे सम्मं अधिआसणं च सद्धाय।
आवसयाणमुचिदाणमपरिहाणी अणुस्सेओ ॥ १२१ ॥ (भग०)

अर्थ—उत्तरगुणो के आचरण करने मे उद्यम करना, सम्यक् प्रकार सक्लेश परिणाम से व दीनता से रहित होकर क्षुधादि परिषहो को सहना, तपश्चरण मे श्रद्धा करना, उचित समय मे षट् आवश्यको का भली भाति पालन करना, उनमे कमी बेशी न करना ही तप का विनय है।

भावार्थ—यहा उत्तर गुण शब्द से सयम का ग्रहण किया है, क्योकि सयम, सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के उत्तर काल मे होता है। विना श्रद्धान व ज्ञान के सयम मे प्रवृत्ति नहीं होती। कारण कि ज्ञान व श्रद्धाहीन पुरुष असयम का परिहार नहीं कर सकता।

इसका आशय यह है कि सयम के होने पर ससम का उद्योत करने वाला तपश्चरण निर्जरा का कारण होता है। विना सयम के तप निर्जरा का कारण नहीं होता, इसलिए सयम तप का परिकर है। कहा भी है :—

'संजमहीणं च तवं जो कुणइ णिरत्थयं कुणइ'

अर्थात्—सयम हीन व्यक्ति का तपश्चरण निरर्थक है।

संक्लेश परिणाम व दैन्य भाव रहित होकर क्षुधादि परिपहो का सहना ही परीपह-सहिष्णुता है। परीपह बाईस हैं। वे इस प्रकार है—क्षुधा, पिपासा (प्यास) शीत-उष्ण, दशमशक, नग्नत्व, अरति, स्त्री, चर्या, निपद्या (बैठना), शय्या (शयन), आक्रोश,वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन। इनका विशेष विवेचन आगे वीर्याचार में किया जावेगा।

उपचार विनय

भत्ती तवोधिगंमि य अहीलणा य सेसाणं।
एसो तवम्मि विणओ जहुत्तचारित्त साधुस्स ॥ १२२ ॥ (भग०)

अर्थ—अपने से (तपश्चरण में) अधिक मुनियों का दर्शन होने पर मुख पर प्रफुल्लता, हृदय मे उल्लास आदि उत्पन्न कर हार्दिक अनुराग प्रकट करना भक्ति है। तथा सम्यक् तपस्या मे अनुराग का प्रादुर्भाव होना भक्ति है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र पूर्वक जो तपस्या की जाती है, वही सम्यक् तपस्या है। इसके विपरीत मिथ्या दर्शनादि पूर्वक तपस्या संसार भ्रमण की कारण है, इसलिए उसे कुतपस्या कहते हैं। जो साधु अपने से तपस्या मे हीन हो, किन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान और सयम से विभूपित हों, उनका तिरस्कार नहीं करना चाहिए, क्योकि उनका तिरस्कार करना सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र का तिरस्कार करना है। इसलिए उनका बहुमान (आदर सत्कारादि) न करना ज्ञानातिचार है। उनमे वात्सल्य भाव का अभाव दर्शनातिचार है। जिसका ज्ञान और दर्शन सातिचार (सदोप) होता है, उसका चारित्र भी अशुद्ध होता है। आशय यह है कि तपश्चरण या तपस्वी का अविनय महा अनर्थ का कारण है। अतः उत्तरगुण में उद्यमादि उक्त गुणों का पालन करने वाले साधु के तपोविनय सिद्ध होता है।

उपचार विनय के भेद

काइयवाइयमाणसिओत्ति तिविधो हु पंचमो विणओ।
सो पुण सव्वो दुविहो पच्चक्खो चेव पारोक्खो ॥ १२३ ॥ (भग०)

अर्थ—उपचार विनय के कायिक विनय, वाचनिक विनय, मानसिक विनय इस तरह तीन भेद हैं। काय से जो विनय होता है, उसे कायिक, वचन से जो विनय प्रकट किया जाता है, उसे वाचनिक विनय तथा मन में जो विनीत भाव उत्पन्न होता है, उसे मानसिक विनय कहते हैं। इन तीनो के प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो दो भेद होते हैं। प्रत्यक्ष-कायिक-विनय और परोक्ष-कायिक-विनय। प्रत्यक्ष-वाचनिक-विनय और परोक्ष-वार्चानक-विनय। प्रत्यक्ष-मानसिक-विनय और परोक्ष-मानसिक-विनय।

प्रत्यक्ष कायिक विनय

अब्भुट्ठानं किदियम्मं णावंसणं अंजली य मुंडाणं।
पच्चुग्गच्छणमेंते पत्थिदस्स अणुसाधणं चेव॥ १२४॥ (भग०)

अर्थ—गुरु आदि पूज्य महामुनियो के आने पर या प्रयाण करते समय आदर पूर्वक खड़े होना, तथा उनके सम्मुख गमन करना चाहिए। कृतिकर्मभक्ति वदना का पाठ पढ़कर शरीर झुकाकर उन्हे वन्दना करना चाहिए। मस्तक पर दोनो हाथ जोड़ कर मस्तक झुकाना चाहिए। गुरु आदि वैठ जायें या खड़े होजावें तव उनके समीप जाना चाहिए, उनका स्वागत करना चाहिए। जव गुरु आदि जाने लगें तव उनके पीछे पीछे आदर पूर्वक थोडे अन्तर से हाथ पॉव का शब्द न करते हुए शान्ति पूर्वक गमन करना चाहिए। यदि साथ गमन करना पड़े तो अपने शरीर प्रमाण भूमि के अन्तर से गमन करना चाहिए।

गुरु आदि के प्रतिष्ठित स्थान पर वैठ जाने या खडे हो जाने पर शिष्य को उनसे नीचे स्थान पर अथवा पीछे इस प्रकार वैठना चाहिए, जिससे उनको अपने हाथ पाँव श्वास आदि से कष्ट न पहुँचे। अथवा सम्मुख वैठना ही पड़े तो गुरु आदि वाम भाग मे (वाएँ हाथ की तरफ) उद्धत्ततारहित अपने मस्तक को थोडा सा झुकाकर वैठे। गुरु आदि के तृण या काष्ठादि के आसन पर वैठ जाने के पश्चात् स्वय भूमि पर वैठे। गुरु आदिके तृण काष्ठ शिलादि के गुरु की नाभि प्रमाण अन्तर वाले प्रदेश मे अपना सिर रहे इतने दूर उन्नत आसन पर शयन करने पर आप निम्न स्थान पर शयन करे। जिससे अपने हाथ पाँव मस्तकादि की चोट गुरु के न आ जावे। अव वे वैठना चाहते हैं, ऐसा जानकर काष्ठादि के आसन को अथवा भूमि प्रदेश को नेत्रो से भली भाति देखकर तथा कोमल पिच्छी से शीघ्रता पूर्वक धीरे धीरे प्रमार्जन करके आसन देना चाहिए। जव गुरु को ज्ञान और संयम के उपकारक पुस्तक कमण्डलु आदि के ग्रहण करने की अभिलाषा प्रतीत होजावे तो उन्हे चीजें देना चाहिए। अथवा उद्गम उत्पादन एषणादि दोषो से रहित प्राप्त हुआ प्रति लेखन (पिच्छी) गुरुजी को देना चाहिए। शीत से पीड़ित गुरु आदि को निर्वात उष्ण स्थान और गर्मी से पीड़ित को शीतल हवावाला स्थान देना चाहिए। अथवा ग्राम नगर आदि मे जहा आप निवास करता हो, वह स्थान देना चाहिए।

गुरु आदि मुनिजनों के [illegible] मर्दन करना चाहिए। इसकी यह पद्धति है कि गुरु आदि के [illegible] समीप में खड़ा होकर [illegible] [illegible] शरीर [illegible]। आगन्तुक जीवों को इस प्रकार से हटावे कि जिससे उन्हें बाधा न होने पावे। उनके शरीर को [illegible] सुर्गादि का इस प्रकार कोमल स्पर्श करे, जिससे उनको शैत्य (शीतलता) का अनुभव होने लगे। [illegible] में [illegible] के [illegible] में गर्मी उत्पन्न करने वाला मर्दन करे।

[illegible], [illegible] आदि [illegible] होती है, इसलिए उनकी अवस्था के अनुकूल वैयावृत्त्य कर उन्हें [illegible] देना चाहिए। गुरु जो आज्ञा दे [illegible] पालन करना चाहिए। उनके सोने के लिए तृण का बिछौना (सस्तरक) कर देना चाहिए, [illegible] [illegible] [illegible] आदि के पट्ट [illegible] देना चाहिए। गुरु आदि के ज्ञान के उपकरण पुस्तकादि तथा संयम के उपकरण पिच्छी कमण्डलु आदि [illegible] के समय तथा [illegible] होने के समय पिच्छी से [illegible] प्रमार्जन करना चाहिए। इत्यादि यथावसर गुरुजनों की योग्यता के [illegible] में [illegible] है। इसको कायिक विनय कहते हैं।

वाचनिक विनय

पूयावयणं हिदभासणं च मिदभासणं च महुरं च।
सुत्ताणुवीचिवयणं अणिट्ठुरमकक्कसं वयणं ॥ १२८ ॥ (भग०)

अर्थ—गुरु आदि पूज्य पुरुषों से वार्तालाप करते समय पूजा-सत्कार सूचक वचन का उच्चारण करना चाहिए। जैसे—हे पूज्य [illegible] यह [illegible] हूँ। हे भगवन्! आपकी आज्ञा लेकर मैं यह करना चाहता हूँ। हे स्वामिन्! आपके पादपद्म के प्रताप से यह ज्ञान [illegible] हो रही है, इत्यादि हित मित और मधुर वचन बोलना चाहिए। गुरु आदि के लिए दोनों लोक में हितकर वचनों का [illegible] है। [illegible] ही बोलना चाहिए जिससे अपने अभिप्राय को गुरु आदि समझ जायें, उसे मित भाषण कहते हैं। सुनने में [illegible] उसे मधुर कहते हैं। शास्त्रानुकूल वचनोच्चारण को अनुवीचि भाषण कहते हैं। दूसरे के अन्तःकरण को पीड़ा न करने वाले [illegible] को अनिष्ठुर कहते हैं तथा दूसरों के चित्त में क्रोध उत्पन्न करने वाले वचन को कर्कश कहते हैं।

[illegible] —पूज्य [illegible] के सूचक, लोकव्यवहारक, परिमित, कर्णप्रिय, शास्त्रानुकूल तथा पर चित्त में पीड़ा के उत्पादक और [illegible] कर्कश [illegible] करने वाले वचनों का [illegible] करना चाहिए। इसे वाचनिक विनय कहते हैं।

[illegible] और [illegible] पुरुषों के [illegible] को [illegible] करते हैं, वैसे [illegible] साधुओं के समान [illegible] चाहिए।

[illegible] पृ० [illegible]

अयोग्य वचन बोलने वाले, मिथ्या दृष्टि व असयमी गृहस्थो के समान वचनालाप नही करना चाहिए। असि, मषि, कृषि आदि षट् कर्मों मे प्रवृत्ति कराने वाला वचन मुख से नहीं निकालना चाहिये, क्योकि इससे जीवो को बाधा होती है, इसलिए ऐसा वचन न बोलकर जीवों की रक्षा करने वाला भाषण करना उचित है। दूसरो की अवहेलना करने वाला वचन कदापि उच्चारण उचित नहीं है। इसे वाचनिक विनय कहते हैं।

मानसिक विनय

पापविसोत्तियपरिणामवज्जणं पियहिदे य परिणामो।
णायव्वो संखेवेण एसो माणसिओ विणओ ॥ १३० ॥ भग०

अर्थ—जिनसे जल प्रवाह के समान पाप कर्म समूह का अविच्छिन्न रूप से आगमन होता है, ऐसे अशुभ परिणामो को अपने हृदय मे स्थान देना ठीक नहीं है। यहां गुरु विनय का प्रकरण है, इसलिए गुरु के विषय मे अशुभ परिणाम अपने हृदय मे उत्पन्न न होने देना चाहिए।

जब गुरु शिष्य की स्वच्छन्द प्रवृत्ति का निवारण करते हैं, तब शिष्य यदि क्रोध उत्पन्न करता है, तो उसके अशुभ कर्म का आस्रव होने लगता है। शिष्य की उद्दण्ड प्रवृत्ति देख कर गुरु का शिष्य पर पूर्ववत् अनुराग नही रहता, तब शिष्य के मन मे अनेक विकल्प पैदा होते हैं-गुरुजी पूर्व की भांति मुझे नहीं पढाते, मेरे साथ सम्भाषण भी नहीं करते हैं। इससे शिष्य के अन्तःकरण मे रोष उत्पन्न होता है, और वह द्वेष के वशीभूत हुआ गुरु का विनय करने मे आलस्य करने लगता है और गुरु की अवज्ञा करता है। निन्दा और अनादर के भाव उसके मनमे उत्पन्न होने लगते हैं और उनके विपरीत चलने लगता है। इत्यादि सब पाप मय विचार हैं इनका त्याग करना चाहिए। जो प्रवृत्ति गुरु को प्रिय लगे और जिससे अपना भी हित हो वह प्रवृत्ति करना शिष्य का कर्तव्य है। यह सब मानसिक विनय है।

परोक्ष विनय

इय एसो पच्चक्खो विणओ पारोक्खिओ वि जं गुरुणो।
विरहम्मि विवट्टिज्जइ आणाणिद्देसचरियाए ॥ १३१ ॥ (भग०)

अर्थ—इस प्रकार कायिकादि तीन प्रकार के प्रत्यक्ष विनय का स्वरूप कहने के पश्चात् अब परोक्ष विनय का स्वरूप कहते हैं।

गुरु के निकट वर्त्ती होने पर गुरु का विनय करना प्रत्यक्ष-विनय है। गुरु के विद्यमान न होने पर गुरु की आज्ञा के अनुकूल सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय मे उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रवृत्ति करना ही उनका परोक्ष विनय है।

केवल गुरु का ही विनय नहीं, किन्तु अन्य का भी विनय शिष्य को यथायोग्य करना चाहिए, यही दिखाते हैं·

राइणिय अराइणीएसु अज्जासु चेव गिहिलगे।
विणओ जहारिहो सो कायव्वो अप्पमत्तेण ॥ १३२ ॥ (भग०)

जैसे-रत्न दुर्लभ होते हैं, किन्तु मिलजाने पर उनसे ही अभिलषित वस्तु की प्राप्ति होती है, वैसे ही सम्यग्दर्शन,सम्यग्ज्ञान,और सम्यक् चारित्र भी अत्यन्त दुर्लभ हैं किन्तु अभिलषित वस्तु जो मोक्ष है, उसकी इनमे ही उपलब्धि होती है,इसलिए ये रत्नत्रय कहे जाते हैं। यह रत्नत्रयरूप परिणाम जिनके अधिक उत्कृष्ट अथवा समान हो ऐसे मुनि को 'राइणिय' कहते हैं। जो रत्नत्रय मे अपने से हीन हैं ऐसी आर्यिकाएँ तथा गृहस्थ इनका भी प्रमाद रहित होकर यथायोग्य विनय सत्कार करना चाहिए।

विनय के अभाव में दोषो की उत्पत्ति

विणएण विप्पहूणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा।
विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्लाणं ॥ १३३ ॥ (भग०)

अर्थ—विनय हीन यति की सब शिक्षा निरर्थक होती है, क्योंकि शिक्षा का फल पाच प्रकार का विनय बताया है। और विनय का फल पञ्च कल्याणको की प्राप्ति है। एवं आनुषंगिक रूप से ससार के सुखो का पाना भी है।

इसका आशय यह है कि जिस शिक्षा से आत्मा मे विनीतता-नम्रभाव उत्पन्न होता है, वही शिक्षा सफल है। जिसने वर्षों तक घोर परिश्रम करके विविध शास्त्रो का अध्ययन किया, उनका स्मरण मनन चिन्तनादि किया और यदि आत्मा मे विनय धर्म की उत्पत्ति नहीं हुई तो उसका विद्याभ्यास का सब श्रम निष्फल है। कारण कि विद्याभ्यास का मुख्य फल विनय है। विनय के अभाव मे विविध शास्त्रो का अध्ययन गधे पर लदे हुए मिष्टान्नादि के समान केवल भार मात्र है। विनीत शिष्य पर ही गुरु आदि का अनुग्रह रहता है। और उसके हृदय मे विद्या का प्रवेश शीघ्र होता है, और वह अनायास ही सब गुणो का निवास स्थान बन जाता है।

विनय समस्त कर्मों के निर्मूलन करने मे कारण होने से मोक्ष का द्वार माना गया है। पांचों प्रकार के विनय मे तत्पर रहने वाले के सम्पूर्ण असयम का परिहार होता है, इसलिए विनय सयम का जनक है। ज्ञानादि के विनय मे प्रवृत्ति नहीं करने वाले अविनीत व्यक्ति की अनशनादि तपश्चरण मे प्रवृत्ति नहीं होती, अत विनय तपस्या का भी कारण सिद्ध होता है। ज्ञान तो विनय से ही प्राप्त होता है, इसलिए ज्ञान का हेतु विनय है। विनय से आचार्य प्रसन्न होते हैं और सम्पूर्ण सङ्घ विनयवान् मुनि का पक्षपाती व अनुरागी बन जाता है।

मानसिक, वाचिक और कायिक विनय का आराधक साधु आचाराग मे निरूपित सब आचरण का पालक होता है। दण्ड विधान करने वाले कल्पशास्त्र म अविनय करने वाले के लिए दण्ड-प्रयोग की व्यवस्था बताई गई है। विनीत सारे दण्डो से मुक्त रहता है। विनीत यति ही आचार-क्रम का व कल्पनीय-योग्य गुणो का प्रकाशन करता है। क्योकि उसके श्रुतज्ञान की आराधना होती है। विनय गुण से आत्म-शुद्धि होती है, इसलिए विनय ज्ञान, दर्शन और वीतरागता रूप आत्म शुद्धि का जनक है। विनय से वैमनस्य नष्ट होता है। विनय हीन पर गुरु आदि का अनुग्रह नहीं होता, इसलिए उसके चित मे व्यग्रता (आकुलता) बनी रहती है। विनय से सरलता आती है। अथवा जो विनय करता है वह आगम निर्दिष्ट आचरण का आराधन करने वाला होता है। विनय अभिमान का नाश करता है और उससे लाघव गुण प्रकट होता है। विनयवान की सब भक्ति करते हैं। विनय स दूसरे मनुष्यों के हृदय प्रफुल्लित होते हैं। अविनयी मनुष्य का मन सदा कुण्ठित रहता है और वह निन्दा व भर्त्सना का पात्र होता है, अत वह सदा दुःखी रहता है। विनयवान् इन सब दुर्गुणो से दूर रहता है, इसलिए वह सर्वदा सुख का अनुभव करता है। सुख के अभिलाषियो को सबसे प्रथम विनय का पालन करना चाहिए।

वैयावृत्य तप

सत्तीए भत्तीए विज्जावच्चुजदा सदा होह।
आणाए णिज्जरेत्ति य सबालउड्ढाउले गच्छे ॥ ३०६ ॥ (भग०)

अर्थ—हे मुने ! तुम बालमुनि और वृद्धमुनि से व्याप्त मुनि-सङ्घ की अपनी शक्ति के अनुसार भक्ति पूर्वक वैयावृत्य करने मे उद्यत रहो। वैयावृत्य करना मुनियो का कर्त्तव्य है, ऐसी सर्वज्ञ देव की आज्ञा है। यह वैयावृत्य तप है और निर्जरा का कारण है। ऐसा समझ कर इसके करने मे सदा उद्यत रहो। साधु किस २ की व्यावृत्ति करे-उसके लिए सूत्रकार उमास्वामी कहते हैं।

आचार्योपाध्यायतपस्वीशैक्षग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम् ॥ तत्वा० अ० ६ सू २४ ॥

अर्थ—आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, सङ्घ साधु और मनोज्ञ इन दश प्रकार के साधुओ की वैयावृत्य (कष्टो को दूर करना) सेवा टहल करना वैयावृत्य तप है।

आचार्य—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र गुण से सम्पन्न जिस महात्मा से भव्य जीव आत्म-हित के लिए व्रत धारण करते हैं, जो स्वय पचाचार का आचरण करता है और दूसरो से करवाता है उसे आचार्य कहते हैं।

उपाध्याय—जिस व्रत-शील-गुण के आधार भूत श्रुत के ज्ञाता मुनि से शिष्य विनय पूर्वक आगम का अध्ययन करते हैं, उसे उपाध्याय कहते हैं।

तपस्वी—अतिकठिन महान् तप का आचरण करने वाले साधु को तपस्वी कहते हैं।

शैक्ष्य—जो साधु व्रतादि गुण का पालन करता हुआ श्रुत का अध्ययन करने मे तत्पर रहता है, उसे शैक्ष्य कहते हैं।

ग्लान—जो साधु रोगादि से पीड़ित है, उसे ग्लान कहते हैं।

गण—स्थविर साधुओ की सन्तति को गण कहते हैं। अर्थात्—वृद्ध साधुओ की जो शिष्य परम्परा चली आरही हो, उसे गण नाम से कहते है।

कुल—दीक्षा देने वाले आचार्य की जो शिष्य परम्परा है, उसे कुल कहते है।

सघ—ऋषि, यति, मुनि, अनगार इन चारो प्रकार के मुनिसमूह को सघ कहते हैं।

साधु—चिरकाल के दीक्षित मुनि को साधु नाम से कहते हैं।

मनोज्ञ—जो विद्वान्, वाग्मी, (श्रेष्ठ वक्ता) महाकुलोत्पन्न तथा लोक मे मान्य हो उसे मनोज्ञ कहते है।

इन दश प्रकार के साधुओ के लिए निरवद्य (निर्दोष) औषध भोजनपानादि का सभव न होने पर अपने हस्तादि द्वारा उनके मुखादि से कफ नाक इत्यादि का मल निकाल कर उनके अनुकूल वैयावृत्य-सेवा टहल करना, उनके चित्त मे सावधानता की प्राप्ति कराना, धैर्य बंधाना इत्यादि अनेक प्रकार से वैयावृत्य करना चाहिए।

वैयावृत्य की विधि

सेज्जागासणिसेज्जा उवधी-पडिलेहणाउवग्गहि दे ।
आहारोसहवायणविकिंचणुव्वत्तणादीसु ॥ ३०५ ॥ (भग०)

अर्थ—शयन का स्थान, बैठने का स्थान, पिच्छी कमण्डलु पुस्तकादि सयम और ज्ञान के उपकरण, इन सबका कोमल पिच्छी मे प्रमार्जन करना, उनके योग्य निर्दोष आहार, औषध देकर उपकार करना, उपदेश-प्रद व्याख्यान देना, शक्ति-हीन मुनि के मल मूत्रादि को दूर करना-धोना, उठाकर एक करवट से दूसरी करवट मे लेटाना इत्यादि क्रियाओं द्वारा वैयावृत्त्य-सेवा टहल करना चाहिए।

मार्ग के श्रम से थके हुए साधु की हस्तपादादिक के मर्दनादि द्वारा सेवा करना चाहिए। जो साधु चोर आदि से सताये गये हों, दुष्ट पशुओं से पीड़ित हो, अन्याय परायण राजा से उपद्रव को प्राप्त हुए हों तो उनके उपद्रवादि को दूर करना चाहिए। नदी से रुके हुए साधु को नदी पार करना, किसी ने साधु को रोक लिया तो उन्हें छुडाना, मारी रोग से पीडित साधु के रोग को चिकित्सादि से दूर करना तथा कोई मुनि दुर्भिक्ष से पीड़ित हो रहें तो सुभिक्ष देश मे लाकर उन की पीड़ा को दूर करना चाहिए। किसी भय से व्याकुल हुए साधु को 'आप मत डरो, इत्यादि कह कर धैर्य बँधाना उनका सब प्रकार से रक्षण करना चाहिए। ये सब वैयावृत्त्य के प्रकार हैं।

वैयावृत्य नहीं करने वालों के प्रति

अणिगूहिदबलविरिओ वेज्जावच्चं जिणोवदेसेण ।
जदि ण करेदि समत्थो संतो सो होदि णिद्धम्मा ॥ ३११ ॥ (भग०)

अर्थ—जो अपनी शक्ति के अनुसार जिनेन्द्र के द्वारा उपदिष्ट वैयावृत्त्य को नहीं करता है, वह धर्म हीन होता है। उसके हृदय मे धर्म की वासना नहीं रहती है, जो वैयावृत्त्व करने से जी चुराता है। वैयावृत्त्य के बिना साधु का मार्ग भ्रष्ट हो जाता है, धर्म की प्रवृत्ति रुक जाती है। अत्युत्तम आचारवाले ज्ञानी मुनि भी रोगादि उपद्रव के आने पर वैयावृत्त्य के अभाव मे रत्नत्रय के पवित्र मार्ग से पतित होते देखे गये हैं। वह धर्मात्मा नहीं हो सकता, उसके हृदय में रत्नत्रय की सस्थिति भी नहीं होती—जो वैयावृत्य करने के भय से मुनि सघ का सहयोग छोड़ देता है। वैयावृत्य महान आत्मा ही करता है। स्वार्थी-हृदय-हीन व्यक्ति इससे दूर भागता है। पुण्यात्मा ही इसके महत्व को समझता है। पापी इसके गुण को नहीं समझ सकता। वैयावृत्य के प्रभाव से सर्वोत्कृष्ट तीर्थंकर पद मिलता है। इसलिए अपने कल्याण की

इच्छा रखने वालो की ही क्या सम्पूर्ण ससार के जीवो को वैयावृत्य अपने पद के अनुकूल करना चाहिए। इस लोक मे सच्चे वैयावृत्य के माहात्म्य से मनुष्य को दिव्य आनन्द का अनुभव होने लगता है। समस्त संसार मुक्त-कण्ठ से उसका यशोगान करने लगता है। इससे आत्मा मे सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र की निर्मलता होती और सनातन सुख का अनुभव होने लगता है। अत. वैयावृत्य के अनुपम अवसर को कभी नहीं चूकना चाहिए और वैयावृत्य करने मे अपना सर्वोत्तम सौभाग्य समझना चाहिए। यह मनोवाञ्छित वस्तु देने वाला कल्पवृक्ष और चिन्तामणि, कामधेनु और कामघट से भी बढ कर है। ऐसा समझ कर इस वैयावृत्य तप का सतत आचरण करना उचित है।

वैयावृत्य करने से क्या २ गुण उत्पन्न होते हैं, उसे दिखाते हैं।

गुणपरिणामो सड्ढा वच्छल्लं भत्तिपत्तलंभो य।
संधाणं तवपूया अव्वोच्छित्ती समाधी य ॥ ३०९ ॥

आणा संजमसाखिल्लदा य दाणं च अविदिगिंछा य।
वेज्जावच्चस्स गुणा पभावणा कज्जपुरणाणि ॥ ३१० ॥ (भग०)

अर्थ—वैयावृत्य करने वाले मे निम्नोक्त १७ गुण प्रकट होते हैं। १ गुणपरिणति, २ श्रद्धा, ३ भक्ति ४ वात्सल्य, ५ पात्रलाभ, ६ सधान, ७ तप, ८ पूजा, ९ तीर्थ की अव्युच्छित्ति, १० समाधि, ११ आज्ञापालन, १२ सयम, १३ सहायता, १४ दान, १५ निर्विचिकित्सा, १६ प्रभावना, १७ कायनिर्वाह।

(१) गुणपरिणति—ससार के सारे प्राणी धधगती हुई मोहरूपी अग्नि से जल रहा एव घोर दु.ख पारहा है, किन्तु इन मुनीश्वर ने विवेक रूपी शीतल जल मे अवगाहन कर उस मोह रूपी अग्नि के प्रभाव को नष्ट कर दिया है। इन्होने मनोज्ञ और अमनोज्ञ इन्द्रियो के विषयो मे राग द्वेष रूप परिणति का सहार कर दिया है। रत्नत्रय ही इनका धन है। शारीरिक, वाचनिक और कायिक चेष्टाओं पर इनका पूर्ण नियत्रण है। ये लौकिक आदर-सत्कार की अपेक्षा नहीं करते। तेजोमय तपस्या के प्रभाव से ये कर्मरज का नाश कर रहे हैं, इस प्रकार यति के गुणो मे वास्तविक अनुराग रखते हुए वैयावृत्य करने वाले के गुणपरिणति नामा गुण होता है।

(२) श्रद्धा—रत्नत्रय मे श्रद्धा होने पर ही रत्नत्रय के आराधक साधु की वैयावृत्य सभव है। अथवा रत्नत्रय की मूर्ति स्वरूप साधु की वैयावृत्य करने से मोक्ष मार्ग (रत्नत्रय) मे श्रद्धा विशेष उत्पन्न होती है।

(३) वात्सल्य—जिसके हृदय मे धर्मात्मा और धर्म पर सच्चा अनुराग होता है,वही मुनि की सेवा टहल करता है। वैयावृत्य करने वाले का चित्त सहानुभूति से ओत-प्रोत होता है इसीलिए वह नव कोटि पूर्वक (मन,वचन,काय,कृत,कारित,अनुमोदना)मुनि का वैयावृत्य करता है, अतः वैयावृत्य वात्सल्य का सूचक है अर्थात् वात्सल्य गुण का प्रकाश वैयावृत्य के आचरण से होता है।

(४) भक्ति—गुणानुराग को भक्ति कहते हैं। यह भक्ति अर्हन्त,सिद्ध,आचार्य,उपाध्याय और साधु आदि पूजनीयों के गुणो में प्रीति उत्पन्न होने से होती है। साधु आदि का वैयावृत्य करने वाले के हृदय मे उनके गुणो मे प्रीति स्वत· उत्पन्न होती है, अतः साधु की वैयावृत्य भक्ति को प्रकट करता है।

(५) पात्रलाभ—उत्तम मध्यम और जघन्य तीन प्रकार के पात्र माने गये हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र, पचमगुणस्थानवर्ती श्रावक मध्यम पात्र तथा अठाईस मूलगुण के धारक निर्ग्रन्थ मुनि उत्तम पात्र हैं। जो मुनि का वैयावृत्य करता है, उसको उत्तम पात्रलाभ होता है जो कि आत्मा की सद्गति का कारण है, क्योकि उत्तम पात्रो की सेवा ही स्वर्गादि की प्राप्ति और निश्रेयस (मोक्ष) की साधक होता है।

(६) संधान—मूर्तिमान् रत्नत्रय साधु ही होते हैं, क्योकि उनके शरीर से रत्नत्रय साक्षात् प्रकट होता है। उसकी सेवा शुश्रूषा करने से छूटे हुए रत्नत्रय का आत्मा मे पुन. सधान (सम्बन्ध) होता है, अत वैयावृत्य रत्नत्रय के संधान (फिर मिलाना) को करने वाला है।

(७) तप—वैयावृत्य करने वाला साधु सतत मुनि की परिचर्या मे लगा रहता है, वह अपनी सब इच्छाओ का निरोध कर अपने मन और इन्द्रियों को मुनि की सेवा मे लगाता है, अत उसके इच्छा का निरोध होने से आभ्यन्तर तपश्चरण का साधन होता है।

(८) पूजा—आगम में पचपरमेष्ठी की पूजा करना बताया है और वह (पूजा) अभ्युदय–स्वर्गादि की सम्पत्ति-तथा परम्परा मुक्ति का कारण बताई है। पचपरमेष्ठी मे अर्हन्त और सिद्ध को छोडकर शेष आचार्य,उपाध्याय और साधु ये तीनों मुनि हैं। यद्यपि अर्हन्त भी मुनि ही हैं, तथापि वैयावृत्य मे उनका ग्रहण नहीं है, क्योकि उनके वेदनीय कर्म का उदय होते हुए भी मोहनीय कर्म के नाश हो जाने से वह वेदनीय कर्म कुछ भी कार्य करने मे समर्थ नही रहा है, अत. उनके रोगादि जन्य शरीर मे पीड़ा नहीं होती है, इसलिए वे सब प्रकार के उपद्रवो से परे हैं। अतः आचार्य, उपाध्याय और साधुओ का जो मन वचन और काय से वैयावृत्य करता है, उनके शरीर की बाधा और मानसिक पीडा को दूर करना अपना कर्तव्य समझता है उसके उत्कृष्ट पूजा की प्राप्ति होती है। अत· वैयावृत्य करने से पूजा का फल उपलब्ध होता है।

(९) तीर्थ की अव्युच्छित्ति—धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति धार्मिक पुरुषों के अधीन है; क्योंकि 'न धर्मो धार्मिकैर्विना' धर्म का अस्तित्व धार्मिक व्यक्ति के बिना नहीं रह सकता, इसलिए यह सिद्ध हुआ कि जो पुण्यात्मा रत्नत्रय के आराधक मुनिगण की रक्षा करता है, उसकी सेवा शुश्रूषा करता है, वह धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति को अविच्छिन्न बनाता है।

(१०) समाधि—शरीर सम्बन्धी रोगादि बाधा को दूर करके जो पीड़ित साधु को शान्ति पहुँचाता है वह साधु के चित्त मे शान्ति स्थापित करने का कारण बनता है। पीड़ादि से जो अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प भाव राग द्वेष रूप परिणाम होते हैं, उनका नाश हो जाने से साधु के समाधि उत्पन्न होती है। तथा वैयावृत्य करने वाले के भी चित्त में शान्ति उत्पन्न होती है। वैयावृत्य करते समय उसका अन्तःकरण राग द्वेषादि परिणति मे रहित होता है। वह केवल पीड़ित साधु की सेवा मे लगा रहता है, इसलिए उसको भी समाधि प्राप्त होती है।

(११) आज्ञा पालन—दश प्रकार के साधुओ का वैयावृत्य करने की भगवदाज्ञा है। वैयावृत्य करने वाला उक्त आज्ञा के अनुसार आचरण करता है। इसलिए उसके भगवदाज्ञा का पालन होता है।

(१२) संयम सहायता—संयमी का वैयावृत्य करने वाला साधु उसके संयम मे आये हुए विघ्नों का परिहार करके सयम को निर्विघ्न बनाता है। यही उसकी सयम मे सहायता पहुचाना है।

(१३) दान—रोग-पीड़ित साधु के रत्नत्रय के साधन में बाधा आती है; क्योकि वह रोगादि उपद्रव से बाध्य हुआ साधु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का अनतिचार आराधन नहीं कर सकता, इसलिए रोगादि उपद्रवों का निराकरण करने वाला व्यक्ति रत्नत्रय के निर्दोष आचरण का साधक होने से रत्नत्रय का दान करने वाला सिद्ध होता है।

(१४) निर्विचिकित्सा—अनेक प्रकार की व्याधियो से पीड़ित साधुओ के शरीर मे ग्लानि पैदा करने वाले व्रण, घाव से पीप व खून बहता हो, मलमूत्र कफादि से शरीर मे दुर्गन्ध आ रही हो तो उससे ग्लानि न करके उनके व्रण, घाव, मलमूत्रादि को शुद्ध प्रासुक जल से धोना, औषधि का योग मिलाना आदि सब सेवा में ग्लानि न करने से बन सकती है। ग्लानि करना पाप है। ग्लानि करने वाला रोगी की सेवा शुश्रूषा कदापि नहीं कर सकता। सेवा शुश्रूषा तो दूर रही उनके समीप भी नहीं जा सकता। उन व्याधि-पीड़ित साधुओं की औषध तथा मलादि का शोधन कैसे कर सकता है ? इसलिए ग्लानि को पाप समझकर पीड़ित साधुओं का सब प्रकार से वैयावृत्य करना चाहिए। इस वैयावृत्य के करने से निर्विचिकित्सा गुण प्रकट होता है।

(१५) प्रभावना—धर्म प्रभावना अनेक उपायो से होती है। धन व्यय कर, जिनेन्द्र की पूजा प्रतिष्ठा आदि करवाकर, दु:खित, बुभुक्षित जीवो को भोजनादि देकर, चैत्यालयादि बनवाकर, तथा विद्वत्तापूर्ण धर्म का उद्योत करने वाले ललित तात्विक-व्याख्यान देकर और अनेक उपायो से धर्म प्रभावना की जाती है, वे सब प्रभावना के उपाय धनवान व विद्वान कोई भी कर सकते हैं। परन्तु धर्ममूर्त्ति रत्नत्रय-शरीर के धारक साधुओं की रोगादि पीड़ित अवस्था में अपने शरीर द्वारा सेवा टहल सब नहीं कर सकते। इसको तो अत्यन्त धर्मानुरागी व्यक्ति ही कर सकता है। इसलिए साधुजन की रोगादि अवस्था में वैयावृत्य करना उत्कृष्ट प्रभावना है।

(१६) कार्यनिर्वाह—साधु कर्मक्षय करने के लिए अनेक तप करते हैं। एक दो, चार, पाच, आठ दिन एक मास आदि के उपवास धारण करते हैं तथा अनेक प्रकार के कायक्लेश आदि तप करने को अपना मुख्य कर्तव्य समझते हैं। उनमे साधुओ का मुख्य कर्तव्य वैयावृत्य भी है। जिस मुनि ने वैयावृत्य तप का भली भाति पालन किया उसने अपने कार्य का पूर्ण प्रकार से निर्वाह किया समझना चाहिए। क्योंकि इसका आचरण करने वाला स्व और पर का उपकार करता है। वैयावृत्य तप का पालन करके वह अपने कर्म की निर्जरा करता है तथा पीड़ित साधु के रत्नत्रय की वृद्धि करता है, अत वह अपने उद्देश्य की सिद्धि करने के कारण स्वकार्य का निर्वाह करने वाला माना जाता है। क्योकि इस वैयावृत्य के प्रभाव मे वह त्रिलोक मे उत्कृष्ट तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृति का बन्ध करता है, जिसके कारण वह त्रिलोकाधिपति 'तीर्थंकर' पद प्राप्त करता है।

कहा तक कहा जाय वैयावृत्य करने वाले के ऐसे अनेक गुण प्रकट होते हैं। वे इस लोक में भी इसकी यशस्विता, महत्ता प्रकट करते हैं। वह सम्पूर्ण सङ्घ के नेत्रो मे ही नहीं हृदय मे बस जाता है। उसकी आत्मा उन्नति पथ पर अग्रसर होती जाती है और वह इस लोक मे भी सुख का अनुभव करता है तथा परलोक मे अनेक विभूतियों को पाकर परम पद को प्राप्त होता है।

स्वाध्यायतप

परियट्टणा य वायणा पडिच्छणाणुपेहा य धम्मकहा।
थुदिमंगलसंजुत्तोपंचविहो होइ सज्झाओ ॥ १९६ ॥ (मूला० पञ्चा०)

अर्थ—वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, परिवर्त्तन (आम्नाय) और धर्मकथा स्तुतिमङ्गल ये पाच स्वाध्याय तप के भेद हैं।

(१) वाचना—बाह्य धनादि की अपेक्षा रहित तत्व का ज्ञाता मुमुक्षु पर के पति जो ग्रन्थ, अर्थ और उभय (ग्रन्थ और उसका

अर्थ) का प्रतिपादन करता है, उसे वाचना कहते हैं।

(२) पृच्छना—दूसरो को ज्ञान कराने के लिए या सशय दूर करने के लिए अथवा निश्चित–तत्व को स्थिर करने के लिए उपहास, सवर्ष, हास्य आदि नहीं करते हुए ग्रन्थ (शब्द), अर्थ अथवा उभय के विषय मे दूसरे से पूछना पृच्छना है।

मूलाचार की टीका मे पृच्छना का अर्थ शास्त्र–श्रवण किया है। क्योंकि प्रश्न कर्ता के पूछने पर वक्ता द्वारा तत्व का विवेचन करने पर सब श्रोता उसे श्रवण करते है, अतः पृच्छना का परम्परागत अर्थ शास्त्र–श्रवण भी सगत होता है।

(३) अनुप्रेक्षा—चित्त को एकाग्र करके किसी विषय का बार २ चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।

मूलाचार की टीका मे अनित्यत्व, अशरणत्व आदि बारह भावना के चिन्तन को अनुप्रेक्षा नामा स्वाध्याय कहा है।

(४) परिवर्त्तन (आम्नाय)—इस लोक व परलोक सम्बन्धी फल की अपेक्षा न करने वाले व्रती का द्रुतविलम्बित, पदच्युत, अक्षरच्युतादि उच्चारण दोष रहित शुद्ध ग्रन्थ का परिवर्त्तन (आवृत्ति) करना, वह परिवर्तन नामक स्वाध्याय है।

(५) धर्म कथा स्तुति मङ्गलादि—धर्मोपदेश करने के प्रत्यक्ष प्रयोजन का त्याग कर उन्मार्ग का निराकरण, सन्देह का निवारण तथा अपूर्व पदार्थ का प्रकाशन करने के लिए धर्मोपदेश देना धर्मकथा है।

मूलाचार की टीका मे तिरेसठ शलाका के पुण्य पुरुषो के चरित्र को धर्मकथा कहा है। देववन्दना को स्तुति और नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक और शान्ति आदि रूप वचन वगैरह को मङ्गल कहते हैं।

भावार्थ—श्री परम भट्टारक तीर्थंकर देवाधिदेव ने अपनी दिव्य–ध्वनि द्वारा तथा अतिशय बुद्धि–ऋद्धि धारक गणधर महाराज ने उपदेश द्वारा कहा है कि अनादि काल से चिपटे हुए कर्मों का क्षय बारह प्रकार के तप से होता है। उनमे स्वाध्याय नामक तप के समान आत्मा का हित करने वाला दूसरा तप न है, न हुआ है और न होगा। क्योंकि स्वाध्याय से वस्तु–तत्त्व का ज्ञान होता है। आत्मा और कर्मों का भेद ज्ञान होता है। भेद विज्ञान से आत्मा मे श्रद्धा और उपादेयता आती है और पुद्गलादि पदार्थों से विरक्तता और उपेक्षा होती है। इससे आत्मा मे वीतरागता शान्ति और परमउज्वलता आती है। आत्मा को ज्ञान द्वारा कर्मबन्धन की गाठें और उसके खोलने के कारण प्रत्यक्ष से दीखने लगते हैं। तब वह उन गाठो को सुलझाने के उपाय मे तत्पर होता है। ये रागद्वेषादि भावकर्म बन्ध के कारण हैं, और पुद्गल कर्मों के निमित्त से आत्मा मे उत्पन्न होते हैं। ये मेरे नहीं हैं। ज्ञानदर्शनादि मेरा स्वरूप है। शान्ति और सुख मेरा निजधन है। मैंने अज्ञान वश बाह्य

शरीरादि पदार्थों को सुख का साधन जानकर उन्हे तो अपनाया है और अपने वास्तविक सुख का साधन वैराग्य निर्मोह और निराकुलता आदि की उपेक्षा और अवहेलना की जिसके कारण मुझे असह्य जन्म-जरा-मरण के दुःख भोगने पडे हैं। इस प्रकार के विचार ज्ञान प्राप्त होने पर ही होते है। इन विचारो से आत्मा की सम्यक्चारित्र मे प्रवृत्ति होती है, जिससे पूर्व सञ्चित कर्मों की निर्जरा होती है और आगन्तुक कर्मों का निरोध होने से सवर होता है। इसलिए स्वाध्याय के समान त्रिलोक मे आत्मा का हितकारी अन्य पदार्थ नहीं है। यह सब पदार्थों मे सर्वोत्तम और मान्य है।

अज्ञानी जीव घोर तपश्चरण कर जिन कर्मों का करोडो वर्षों मे क्षय करता है, उनसे असख्यातगुणा कर्मों का क्षय ज्ञानी जीव क्षण भर मे कर डालता है।

"अज्ञानी क्षपयेत् कर्म यज्जन्मशतकोटिभिः।
तज्ज्ञानी तु त्रिगुप्तात्मा निहन्त्यन्तर्मुहूर्त्ततः॥"

अर्थ—अज्ञानी आत्मा जितने कर्म करोडो भवों मे तप आदि द्वारा क्षय करता है, उन्हीं कर्मों को ज्ञानी पुरुष तीन गुप्ति धारण करके अन्तर्मुहूर्त्त मे ही समूल नष्ट कर देता है।

अज्ञानी व्रत, उपवास, यम, नियम, कायक्लेश आदि अनेक तप करके भी कर्मबन्ध करता है और ज्ञानी भोग भोगते हुए भी कर्मों की निर्जरा करता है।

जिसके आत्मा मे जड़ चेतन का भेद विज्ञान हुआ, वह अपने आत्मा को कर्मजाल मे मुक्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करता रहता है। चारित्र मोहनीय कर्म का प्रवल उदय होने से उसका कुछ वश नहीं चलता है, परन्तु प्रतिक्षण वह अवसर ढूढा करता है कि इस जाल से किस तरह छूटू। जब चारित्र मोहनीय कर्म का उदय मन्द होता है, उसी समय वह अति शीघ्र उस कर्मजाल को तोडने मे तत्पर होता है और तपस्या का आचरण कर उसे शीघ्र तोडने मे सफल होता जाता है। किन्तु अज्ञानी जो तप करता है, वह केवल इस लोक सम्बन्धी सुख की आकाक्षा से प्रेरित होकर अनेक भयानक कायक्लेश तप करता है, इसलिए उसका वह तप नवीन कर्मबन्ध का कारण होता है। उसकी सब क्रियाएँ गजस्नान के समान होती है। जो कार्य अन्य प्राणियो के बन्ध के कारण होते है, वे ही आत्मज्ञानी के निर्जरा के कारण बन जाते है। यह सब एक ज्ञान का माहात्म्य है। अत. आत्म हितैषी मनुष्य को सदा स्वाध्याय द्वारा ज्ञान को निर्मल बनाना चाहिए।

सज्झाय भावणाय य भाविदा होंति सव्वगुत्तीओ।
गुत्तीहिं भाविदाहिं मरणे आराधओ होइ॥ ११२॥ (भग०)

अर्थ—स्वाध्याय मे तत्पर हुए व्यक्ति के कर्मबन्ध की कारण भूत मन वचन और काय की प्रवृत्तियां रुक जाती हैं। इनके रुक जाने से मनोगुप्ति, वचन गुप्ति और कायगुप्ति सहज ही मे पलती है। शरीरादि के द्वारा स्वय कार्य करना, दूसरे मे कार्य करवाना और स्वय कार्य करने वालो को अनुमति प्रदान करना अर्थात उनकी सराहना करना—इन तीनों योगो का निरोध रत्नत्रय की प्राप्ति से हो जाता है और यह रत्नत्रय स्वाध्याय से मुनि के स्वत: प्रकट होता है।

इसका आशय यह है कि अनन्त काल से अशुभ मन वचन काय-योगो का आत्मा को अभ्यास हो रहा है और उसका सहायक अशुभ कर्म का उदय है। इन सब का नाश अत्यन्त दुष्कर है। किन्तु स्वाध्याय के बल से ही इनका नाश किया जासकता है। स्वाध्याय से मन, वचन, काय की अशुभ प्रवृति नष्ट होती है और शुभ तथा शुद्ध प्रवृति उत्पन्न होती है,तथा गुप्ति का पालन होता है,इससे नवीन कर्म का बन्ध न होने के कारण सवर होता है और स्वाध्याय के समय सब इच्छाओ का निरोध होता है। अत:इस तप के प्रभाव से पूर्व सञ्चित कर्मों का क्षय होता है, इसलिए संवर और निर्जरा के कारण इस स्वाध्याय का सदा आराधन करना चाहिए। इसके समान दूसरा कोई उपाय नहीं, इसका आचरण कर मनुष्य सुगमता से सवर और निर्जरा करने मे समर्थ हो सकता है। बाल, वृद्ध, युवक धनवान्, निर्धन, सबल और निर्बल सब अवस्था और सब परिस्थिति वाले स्त्री पुरुष इस स्वाध्याय द्वारा अनुपम लाभ उठा सकते हैं।

धर्मकथा नाम धर्मोपदेश का है। धर्मोपदेश के निम्नलिखित चार प्रकार हैं :—

आक्षेपणीं स्वमतसंग्रहणीं समेक्षी,
विक्षेपणीं कुमतनिग्रहणीं यथार्हम्।
संवेजनीं प्रथयितुं सुकृतानुभावं,
निर्वेदनीं वदतु धर्मकथां विरक्तयै ॥ ८८ ॥ (अन० अ० ७)

अर्थ—समदर्शी-उपेक्षा बुद्धी का धारक मनुष्य, १ आक्षेपणी, २ विक्षेपणी, ३ सवेजनी, और निर्वेदनी इन चार प्रकार की धर्म कथा का उपदेश करे।

(१) आक्षेपणी—स्वमत का सग्रह करने वाली अर्थात् अनेकान्त मत का समर्थन करने वाली कथा को आक्षेपणी कहते हैं।

(२) विक्षेपणी—कुमत अर्थात क्षणिकादि एकान्त मत का निराकरण करने वाली कथा को विक्षेपणी कहते हैं।

(३) संवेजनी— पुण्य के फल को प्रकट करने वाली कथा संवेजनी है।

(४) निर्वेदनी—इन्द्रिय के विषय भोग और शरीर से विरक्ति (वैराग्य) उत्पन्न करने वाली कथा को निर्वेदनी कहते हैं।

भावार्थ—धर्मकथा करने वाले वक्ता मे सबसे पहले ससार के सब जीवो पर समभाव होना परमावश्यक है। जिसके हृदय मे दूसरे जीवो को सुख पहुचाने की उत्कण्ठा होगी, वही स्व और पर के कल्याण करने वाले उपदेश को देने मे समर्थ हो सकता है। इसलिए उसे वस्तुतत्त्व का ज्ञाता होना चाहिए। तत्त्वज्ञान के बिना उपदेश करने वाला निज पर का उपकार न कर अपकार कर बैठता है। वह उस यमराज के तुल्य कु्वैद्य के समान है, जिसे रोग का निदान तथा चिकित्सा का सम्यक परिज्ञान नहीं है। वह रोगी की विपरीत चिकित्सा कर उसको मृत्यु-मुख मे ढकेल देता है। ऐसे ही तत्वज्ञान हीन उपदेशक-धर्म कथा करने वाला-जनता को सम्यक् प्रकार वस्तु का स्वरूप न समझा सकने के कारण भयानक अनर्थ कर डालता है। इसलिए धर्मकथा करने वाले को जिस विषय का उपदेश करना हो, उसका गुरुमुख से वाचना (अध्ययन) पृच्छना (उसमे तर्क वितर्क करना) अनुप्रेक्षा(बार बार चिन्तन)और आम्नाय(घोष-शुद्ध उच्चारण)इन चार प्रकार के स्वाध्याय का अभ्यास करने के पश्चात पूर्ण योग्यता होने पर उपदेश करना चाहिए।

उपदेश करने वाले को अनेकान्त मत का उत्तम ज्ञान और उसके विवेचन करने की प्रवीणता और वाक्-चातुर्य अत्यन्त आवश्यक है। स्वमत का इतना अनुभव होना आवश्यक है कि उसका पूरी तरह दूसरो के समक्ष समर्थन कर सके। इसके साथ साथ परमतों का ज्ञान होना भी आवश्यक है, क्योंकि उनका ज्ञान हुए बिना उनका निराकरण कैसे कर सकेगा ? यदि किसी परमत के विद्वान् ने स्वमत की पुष्टि और अनेकान्तमत मे दूषण दिखाने की चेष्टा की तो बिना उस मत का ज्ञान प्राप्त किये उसका निराकरण और स्वमत स्थापन कैसे हो सकता है? इसलिए स्वमत एवं दूसरे मतो का ज्ञान भी होना अत्यन्त आवश्यक है।

शङ्का—जैनेन्द्र मत वीतरागता का पोषक है,उसमे संवेजनी और निर्वेदनी ये दो कथाएँ ही होनी चाहिए। वे ही आत्मा के हित की करने वाली हैं। इनसे ही वीतरागता उत्पन्न होती है। आक्षेपणी और विक्षेपणी कथा से तो राग द्वेष की उत्पत्ति होती है और राग द्वेष ही आत्मा का घातक है, अतः धर्मकथा मे इन दो कथाओ का समावेश कैसे किया गया ?

समाधान—वास्तव मे राग द्वेष आत्मा के अहितकर हैं, इनके निवारण करने के लिए ही धर्मकथा की जाती है। किन्तु धर्मकथा करने का अधिकारी वही शान्त-चित्त मन्द कषाय वाला पुरुष है, जिसके अन्तःकरण मे मनुष्य मात्र के कल्याण की सच्ची भावना है। वह स्वमत के अनुयायी पर रागबुद्धि और परमतानुयायी पर द्वेषबुद्धि नहीं रखता है। वह तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र व वीतरागता को स्वमत और इनके विपरीत, मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्या चारित्र व राग द्वेष आदि पुद्गलकर्मजन्य विभाव परिणति को परमत मानता है।

इसलिए किसी व्यक्ति पर वह द्वेष बुद्धि नहीं करता है। वह तो वस्तुस्वरूप को दिखलाने का प्रयत्न करता है। वस्तु का स्वरूप अनेकान्तमय है। उसका समर्थन करता है; एकान्त वस्तु का स्वरूप नहीं है, क्योंकि वह प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित है। वस्तु-स्वरूप का वर्णन राग द्वेष का कारण नहीं, प्रत्युत वीतरागता का कारण है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आक्षेपणी और विक्षेपणी कथा राग द्वेष की जनक नहीं बल्कि उसका नाश करने वाली है।

इस प्रकार स्वाध्याय का वर्णन कर अब ध्यानतप का वर्णन न करते हैं।

ध्यान का स्वरूप

उत्कृष्टकायबन्धस्य माधोरन्तर्मुहूर्त्ततः।
ध्यानमाहुरथैकाग्रचिन्तारोधो बुधोत्तमाः ॥ १५ ॥
एकचिन्तानिरोधो यस्तद्ध्यानं भावनो परा।
अनुप्रेक्षार्थचिन्ता वा तज्ज्ञैरभ्युपगम्यते ॥ १६ ॥ (ज्ञाना० प्र० २५)

अर्थ—मन की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं। अनिश्चल ज्ञान का नाम ध्यान है। ध्यान में अन्य सब पदार्थों की चिन्ता को रोक कर केवल एक पदार्थ का विचार किया जाता है। अनुप्रेक्षा अथवा भावना का ध्यान से यही भेद है कि अनुप्रेक्षा अभ्यास रूप है और ध्यान उसका फल है। ध्यान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्तमात्र है और वह उत्कृष्ट सहनन वाले मुनीश्वरों के ही होता है।

भावार्थ—मन वायु से भी चञ्चल है। यह एक समय में ही तीनों लोकों तक को नाप लेता है और भ्रमण कर आता है। इसको गमनागमनाहारादि विषयकषायादि अनेक विभाव परिणामों से हटाकर एक पदार्थ में स्थिर करना ध्यान है। अतिशय बलवान् चित्त की चञ्चलता को रोककर एक विषय पर स्थिर कर देना साधारण शक्ति वाले पुरुष के सामर्थ्य से बाहर है। ध्यान के ध्याता उत्तम सहनन वाले ही होते हैं, इसलिए ध्यान करने का सामर्थ्य वज्रवृषभनाराच संहनन, वज्रनाराचसहनन और नाराचसंहननवाले महापुरुषों के ही माना गया है, शेष तीन सहननवालों के ध्यान की सिद्धि नहीं होती है। तीन उत्तम संहननवाले भी अधिक से अधिक अन्तमुहूर्त्त तक ही ध्यान कर सकते हैं। आवली के ऊपर एक समय होजाने पर अन्तर्मुहूर्त्त का प्रारम्भ होता है और मुहूर्त्त (२ घड़ी-४८ मिनिट) में एक समय कम रहने तक उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त का प्रमाण माना गया है। उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ध्यान वज्रवृषभनाराचसहननवाले महामुनि के ही होता है। वज्रनाराच

और नाराच सहननवाले के उत्कृष्ट काल तक ध्यान नहीं हो सकता। इतने काल पर्यन्त चित्तवृत्ति को रोकने की शक्ति उनमे भी नहीं है। जघन्य व मध्यम काल तक वे दोनों ध्यान कर सकते हैं। इसलिए इन दो सहननो से मोक्ष नहीं होता। केवल वज्रवृषभनाराच संहनन से ही मोक्ष होता है। और इस सहननवाले की ही उत्कृष्ट रौद्र ध्यान मे प्रवृत्ति होती है, इसलिए वही सातवें नरक की आयु का बन्ध कर सकता है।

अर्धनाराच, कीलक और असम्प्राप्तसृपाटिका सहनन इन तीनो सहनन वालो की चित्तवृत्ति एक पदार्थ मे नहीं रुक सकती है, इसलिए उनके ध्यान नहीं होता, एक अर्थ से दूसरे अर्थ के चिन्तन मे चित्त की वृत्ति भ्रमण करती रहती है, अत उनके अर्थ-चिन्तन होता है। उसको भावना व अनुप्रेक्षा भी कहते हैं। कई आचार्यों ने इसे ध्यानपरम्परा के नाम से कहा है। यद्यपि यह ध्यानपरम्परा मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं है, तथापि कर्मक्षय करने मे अवश्य सामर्थ्य रखती है।

ध्यान के मूल दो भेद हैं-एक प्रशस्तध्यान और दूसरा अप्रशस्तध्यान।

प्रशस्तध्यान—जिस ध्यान से आत्मा मे साम्यभाव, निर्मलता और शान्ति आदि आत्मीय गुणो का विकास होता है, वह प्रशस्तध्यान है। उससे ही कर्मों का क्षय होता है और आत्मा की असली हालत प्रकट होती है।

अप्रशस्तध्यान—जिस ध्यान से आत्मा मे स्व और पर के अकल्याण-दु ख, क्लेश, सताप, हिंसादि पाप और क्रोधादि कषायो का आविर्भाव हो, उसे अप्रशस्त ध्यान कहते हैं। यह ध्यान आत्मा का पतन करने वाला है और नरकादि के दुःखो का कारण है।

शङ्का—प्रशस्तध्यान की प्राप्ति का कारण क्या है?

समाधान—एक साम्यभाव ही प्रशस्तध्यान का कारण है। वही कहा है—

यदैव संयमी साक्षात्समत्वमवलम्बते।
स्यात्तदैव परं ध्यानं तस्य कर्मौघघातकम् ॥ ४ ॥ (ज्ञाना० अ० २५)

अर्थ—जिस समय सयमी साक्षात् समभाव का अनुभव करता है, उसी समय उसके कर्मपुंज का नाश करने वाला प्रशस्त ध्यान होता है।

शङ्का—अप्रशस्त ध्यान का कारण क्या है?

समाधान—आत्मा मे अनादिकाल से लगी हुई पापवासना ही अप्रशस्त ध्यान की कारण है। वही कहा है—

अपास्य खण्डविज्ञानरसिकां पापवासनाम् ।
असद्ध्यानानि चादेयं ध्यानं मुक्तिप्रसाधकम् ॥ ८ ॥ (ज्ञाना० अ० २५)

अर्थ—क्षायोपशमिक रागादि सहित ज्ञान मे जो आसक्ति होती है वही पापवासना है, यही अप्रशस्त ध्यान का कारण है अर्थात् पापवासना ही अप्रशस्त ध्यान को जन्म देती है, इसलिए इस पापवासना को हृदय से निकाल कर मुक्ति के साधक प्रशस्तध्यान का ग्रहण करना चाहिए।

प्रशस्त और अप्रशस्त ध्यान के भेद

अट्टं च रुद्दसहियं दोण्णि वि झाणाणि अप्पसत्थाणि ।
धम्मं सुक्कं च दुवे पसत्थझाणाणि णेयाणि ॥ १९७ ॥ (मूला० पञ्चा०)

अर्थ—आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान, ये दो अप्रशस्त ध्यान हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये दो प्रशस्त ध्यान हैं। अप्रशस्त ध्यान तिर्यंच और नरकगति का कारण है और प्रशस्तध्यान देवगति और मोक्ष का कारण है। वही कहा है :—

तिरियगई अट्टेण णरयगई तह रउद्दझाणेण ।
देवगई धम्मेण सिवगइ तह सुक्कझाणेण ॥ १३ ॥ (ज्ञानसार)

अर्थ—आर्तध्यान तिर्यंचगति और रौद्रध्यान नरकगति का कारण है। तथा इसी तरह धर्मध्यान से देवगति और शुक्लध्यान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आर्तध्यान और रौद्रध्यान में किस का चिन्तन होता है इसे दिखाते है :—

तंबोलकुसुमलेवणभूसणपियपुत्तचिंतणं अट्टं ।
वंधणडहणवियारणमारणचिंता रउद्दंमि ॥ ११ ॥

अर्थ—ताम्बूल, पुष्प, चन्दनादि लेपन, सुवर्ण रत्नादि के आभूषण तथा पुत्रादि की प्राप्ति का वार बार चिन्तन करने से आर्त ध्यान होता है। किसी को बन्धन मे डालने, जलाने, विदारण करने, प्राण हरण करने के लिए जो आत्मा मे विचार धारा उत्पन्न होती है तथा

किसी के धन सम्पत्ति आदि के हरण करने के लिए असत्य वचन मे चतुराई प्रकट करने के लिए जो विचार परम्परा उत्पन्न होती है वह सब रौद्रध्यान है।

धर्मध्यान और शुक्लध्यान मे किन का चिन्तन होता है, इसे दिखाते हैं —

सुत्तत्थमग्गणाणं महव्वयाणं च भावणा धम्मं ।
गयसंकप्पवियप्पं सुक्कज्झाणं मुणेयव्वं ॥ १२ ॥ (ज्ञानसार)

अर्थ—सूत्रो के अर्थ का चिन्तन, मार्गणा, गुणस्थानादि तत्त्वो का मनन और महाव्रतो की भावनाओ का सतत अनुभव करते रहने से धर्मध्यान होता है। शुक्लध्यान मे सकल्प और विकल्प का अभाव है। अर्थात उसमे शब्द अथवा द्रव्य या पर्याय का चिन्तन होता है।

भावार्थ—राग द्वेष रहित होकर आत्मा जब जीवादि पदार्थों का तथा धर्म के स्वरूप का, मार्गणा, व्रत, गुप्ति, समिति और बारह भावना आदि का चिन्तन करता है, उसे धर्म ध्यान कहते हैं।

अब उक्त चारो ध्यानो मे से प्रत्येक ध्यान के चार चार भेद होते हैं। उनमे से, पहले आर्त्तध्यान के चार भेद दिखलाते हैं।

आर्त्तध्यान के चार भेद

अनिष्टयोगजन्माद्यं तथेष्टार्थात्ययात्परम् ।
रुक्प्रकोपात्तृतीयं स्यान्निदानातुर्यमङ्गिनाम् ॥ २४ ॥ ज्ञाना०

अर्थ—अनिष्ट पदार्थों के सयोग से उत्पन्न हुए आर्त्तध्यान को अनिष्ट सयोगज नामक आर्त्तध्यान कहते हैं। इष्ट पदार्थ के वियोग से उत्पन्न हुए आर्त्तध्यान को इष्टवियोगज नामा आर्त्तध्यान कहते हैं। शारीरिक रोग की पीड़ा से जो आत्मा मे अशान्ति उत्पन्न होती है, उसे रोग-पीडा-चिन्तन आर्त्तध्यान कहते हैं। आगामी काल मे भोगों की आकांक्षा करना निदान नामक आर्त्तध्यान होता है।

—इस ससार मे अपने प्रिय पदार्थ-पुत्र स्त्री आदि कुटुम्बी जन एवं धन-सम्पत्ति आदि इष्ट वस्तुओ के नाश करने वाले अग्नि, जल, विष, शस्त्रादि अचेतन पदार्थ,तथा सिंह सर्पादि तिर्यंच जीव और दुष्ट व्यन्तरादि देव एव दुष्ट राजादि का सयोग होने से आत्मा मे जो सक्लेश परिणामो की धारा बहती रहती है वही आर्त्तध्यान कहलाता है। इसका आशय यह है कि अनिष्ट पदार्थ के सयोग होने पर उसे दूर करने के लिए जो बार बार विचार किया जाता है वह पहला अनिष्टसयोगज नाम का आर्त्तध्यान है।

राज्य, ऐश्वर्य, स्त्री कुटुम्ब, मित्र, सौभाग्य, भोगादि के विनाश होने पर तथा अन्तःकरण मे आह्लाद उत्पन्न करने वाले मनोज्ञ इन्द्रिय-विषयो का ध्वस होने पर सत्रास, पीडा, भ्रम, शोक, मोह के कारण निरन्तर खेद उत्पन्न होना और उनकी पुनः प्राप्ति का वार वार विचार करना दूसरा इष्टवियोगजन्य आर्तध्यान है।

आशय यह है कि जिन पदार्थों से अपने अभीष्ट इन्द्रियो के सुख सम्पन्न होते है तथा मन को आनन्द मिलता है, ऐसे पदार्थों का वियोग हो जाने से आत्मा मे शोक खेद, आदि सक्लेश भावो की सन्तति उत्पन्न होती है अत. उन पदार्थों की पुनः प्राप्ति के लिए जो वार वार विचार होता है वही आर्त्तध्यान का दूसरा भेद इष्टवियोगज नाम का आर्तध्यान है।

रोग, पीडा, चिन्तन, वातपित्त और कफ की विषमता से प्रकट हुए श्वास, खासी, भगदर, जलोदर, कोढ, संग्रहणी, विषमज्वर, क्षय आदि के उत्पन्न होने पर शारीरिक पीडा और मानसिक व्याकुलता व उद्विग्नता उत्पन्न होती है। उसे दूर करने के लिए जो वार २ विचार होता है उसे रोग पीडा चिन्तन नामक आर्त्तध्यान कहते हैं।

कासश्वासभगन्दरोदरजराकुष्टातिसारज्वरैः,
पित्तश्लेष्मसरुत्प्रकोपजनितैः रोगैः शरीरान्तकैः।
स्यात्सत्वप्रबलैः प्रतिक्षणभवैर्यद्व्याकुलत्वं नृणां,
तद्रोगार्त्तमनिन्दितैः प्रकटितं दुर्वारदुःखाकरम् ॥ ३२ ॥ ज्ञाना० अ० २५

इसका अर्थ ऊपर बता चुके हैं।

निदानज—भोगा भोगीन्द्रसेव्यास्त्रिभुवनजयिनी रूपसाम्राज्यलक्ष्मी
राज्यं क्षीणारिचक्रं विजितसुरवधूलास्यलीलायुवत्यः।
अन्यच्चानन्दभूतं कथमिह भवतीत्यादिचिन्तासुभाजाम्,
यत्तद्भोगार्थमुक्तं परमगुणधरैर्जन्मसन्तानमूलम् ॥ ३४ ॥ (ज्ञाना० अ० २५)

अर्थ—धरणीन्द्र के सेवन करने योग्य—सर्वोत्कृष्ट भोग मुझे किस प्रकार उपलब्ध हो? त्रिभुवन पर विजय प्राप्त करने वाली

रूप साम्राज्य की लक्ष्मी—सर्वातिशायी शरीर का सौन्दर्य—मुझ को कैसे मिले ? जिसमें शत्रुओं के समुदाय का क्षय होगया है ऐसा साम्राज्य तथा देवांगनाओं के नृत्य की सुन्दरता को जीतने वाली स्त्रियाँ और इसी प्रकार की अन्य आनन्दवर्द्धक सामग्री कैसे पाऊँ—इत्यादि सुखभोग की वस्तुओं की प्राप्ति के लिए चिन्तन करने वाले मनुष्यों के जन्मसन्तान को उत्पन्न करने वाला निदान नामक आर्त्तध्यान होता है।

भावार्थ—पुण्योत्पादक जिनेन्द्र पूजन करके परमशान्त, महातपस्वी, पर हित में सतत निरत रहने वाले, सुपात्र मुनीश्वरों को आहार, औषध, वसतिका आदि का योग्य प्रासुक दान करके तीर्थंकरों के पद की वांछा करना तथा विविध तपस्या आदि धर्मानुष्ठानों का पालन कर देवों की विभूति की आकांक्षा करना, इन्द्रियों को तृप्त करने वाली रूप, लावण्य सम्पत्ति, युवतियों एवं यान वाहनादि भोग उपभोग की वस्तुओं की अभिलाषा करना तथा इन्हीं धर्माचरणों द्वारा शत्रु-समूह के विनाश की कामना करना और अपनी पूजा, प्रतिष्ठा, लाभ आदि की इच्छा करना, इत्यादि किसी भी भौतिक पदार्थ की धर्म सेवन से वांछा करना निदान नामा आर्त्तध्यान है सो ही कहा है —

"इष्टभोगादिसिद्ध्यर्थं रिपुघातार्थमेव वा ।
यन्निदानं मनुष्याणां स्यादार्त्तं तत्तुरीयकम् ॥"

अर्थ—मनुष्यों के मन को लुभाने वाले विषय भोगों की सिद्धि के लिए तथा शत्रु के विनाश के लिए जो चिन्तना होती है, उसे निदान नाम का आर्त्तध्यान कहते हैं।

यह चार प्रकार का आर्त्तध्यान आत्मा का अत्यन्त अहित करने वाला है। आर्त्तध्यानी के तिर्यंच गति और तिर्यंच आयु का बंध होता है। जीव निगोद का पात्र इसी आर्त्तध्यान के कारण होता है। जीव की सब से निकृष्ट अवस्था यही है। एक श्वास में अठारह बार जन्म मरण होता है और वहां अक्षर के अनन्तवें भाग ज्ञान रहता है। वहां का दुःख वचनागोचर है, उस दुःख का पूर्ण वर्णन करने की सामर्थ्य किसी में भी नहीं है। उस दुःख का यथार्थ ज्ञान केवलज्ञानी को ही होता है। नरकों का दुःख भी भयानक होता है, किन्तु वह दुःख निगोद के दुःख के अनन्तवें भाग मात्र है। ऐसी अत्यन्त निकृष्ट पर्याय आर्त्तध्यान करने वाला पाता है। इसकी अवधि अनन्त काल है। पुनः वहां से निकलना अतिदुष्कर है। आर्त्तध्यान का ऐसा भयानक परिणाम इस अज्ञानी जीव को भोगना पड़ता है इसलिए यदि पूर्वकृत पापकर्म के उदय से आर्त्तध्यान के कारण इष्ट वस्तु, धन, सम्पत्ति, पुत्र, कलत्रादि का वियोग तथा अनिष्ट पदार्थ का संयोग एवं रोग जन्य भयंकर पीड़ा प्राप्त हो जावे तो उस समय अपनी आत्मा में ज्ञानामृत का सिंचन करो, शान्ति सुधा का पान करो, विचारो कि यह सब दुःख मेरे किये हुए दुष्कर्मों का फल है। इसको मैं शान्ति से साम्यभाव धारण कर भोग लूंगा तो इस समय भी मेरे हृदय में अधिक संताप न होगा और अशुभ कर्मों का बन्ध न होगा। और यदि अधीर होकर सहूंगा तो भी ये दुष्कर्म अपना फल तो अवश्य देंगे, इनको मुझे सहना तो अवश्य पड़ेगा, किन्तु

आर्त्तध्यान होजाने से तिर्यंच गति का बन्ध होगा, जहां पर दुःख ही दुःख है। उसमें मुझे भव भव में महादुःख भोगने पड़ेंगे। और इस समय भी अधैर्यभाव रखने से दुःख उग्ररूप धारण करेगा तब तीव्र आर्त्तध्यान उत्पन्न होगा। अतः दुःख से बचने के लिए आर्त्तध्यान करना विवेक हीन मनुष्यों का काम है। उस समय वस्तु स्वरूप का चिन्तन तथा सत्पुरुषों का समागम ही सुख देने वाला होता है।

यह आर्त्तध्यान इतना बलवान है कि मुनियों तक को नहीं छोड़ता है। इसकी दौड़ छठे गुणस्थान तक है। आदि के चार अविरत गुणस्थान, पांचवां-संयमासंयम गुणस्थान और छठा अप्रमत्त गुणस्थान इसका क्षेत्र है।

शङ्का—आपने आर्त्तध्यान आदि को छह गुणस्थानों में बता दिया है, सो कैसे? आर्त्तध्यानी के तिर्यंच गति का बन्ध होता है, लेकिन छठे, पांचवें और चौथे गुणस्थान में तिर्यंच गति का बन्ध सम्भव ही नहीं होता है। क्योंकि पांचवें गुणस्थान में अणुव्रत और छठे गुणस्थान में महाव्रत होता है। और यह नियम है कि व्रत उसी जीव के होता है, जिसने देवगति व देवायु का बन्ध किया हो या करने वाला हो। शेष तीन गति का बन्ध करने वाले के व्रत का धारण नहीं होता है। तथा चौथे गुणस्थानवर्त्ती सम्यग्दृष्टि जीव देवायु का ही बन्ध करता है। इसलिए चौथे, पांचवें और छठे गुणस्थानवर्त्ती जीव के तिर्यंच गति का बन्ध कैसे सम्भव होगा?

समाधान—आपकी शङ्का ठीक है। वास्तव में चौथे, पांचवें और छठे गुणस्थान में तिर्यंच गति का बन्ध नहीं होता है। जो आर्त्तध्यानी का तिर्यंच गति में गमन करना बताया है, वह मिथ्यात्व की अपेक्षा से है। अर्थात् आर्त्तध्यानी मिथ्यादृष्टि जीव तिर्यंच गति का बन्ध करता है। सम्यग्दृष्टि जीव देवगति के सिवाय अन्य गति का बन्ध नहीं करता है यह नियम है।

यही राजवार्तिक में रौद्रध्यान के प्रकरण में श्री भट्टाकलङ्क देव ने भी कहा है:—

'तत्पुनर्नारकादीनामकारणं सम्यग्दर्शनसामर्थ्यात्'

अर्थात्—जिसके सम्यग्दर्शन होता है, उसके सामर्थ्य से रौद्रध्यान नारक, तिर्यंचादि गति का कारण नहीं होता है। इसी प्रकार आर्त्तध्यानी भी सम्यग्दर्शन के सामर्थ्य से तिर्यंच गति का बन्ध नहीं करता है।

शङ्का—छठे गुणस्थानवर्त्ती साधुओं के आर्त्तध्यान का सम्भव कैसे हो सकता है?

समाधान—छठे गुणस्थान में सञ्ज्वलन कषाय का उदय रहता है, उसके तथा असातावेदनीय के तीव्र उदय से भयानक असह्य व्याधि के उत्पन्न होजाने पर पीड़ा उत्पन्न होती है उस समय आर्त्तध्यान उत्पन्न होजाता है तथा अत्यन्त प्रिय शिष्यादि का वियोग होजाने पर

उनके आर्त्तध्यान सम्भव होता है।

शङ्का—तब तो छठे गुणस्थानवर्त्ती संयमी के चारो प्रकार का आर्त्तध्यान बन सकता है?

समाधान—छठे गुणस्थान मे निदान नाम का आर्त्तध्यान नहीं होता। शेष तीन आर्त्तध्यान के भेद हो सकते हैं। वही राजवार्तिक मे कहा है:—

"कदाचित्प्राग्यमार्त्तध्यानत्रयं प्रमत्तानां ॥ १ ॥ निदानं वर्जयित्वा अन्यदार्त्तत्रयं प्रमादोदयोद्रेकात्कदाचित्प्रमत्त-संयतानां भवति"॥

अर्थात्—निदान नाम के आर्त्तध्यान को छोडकर शेष आदि के तीन आर्त्तध्यान कदाचित् प्रमाद के तीव्र उदय होने से प्रमत्त-सयत मुनि के हो सकते हैं।

यह आर्त्तध्यान कृष्ण लेश्या, नील लेश्या और कापोत लेश्या के बल से तथा अनादिकाल की अशुभ वासना-सस्कार के कारण उत्पन्न होता है और महापाप का कारण है। यह आर्त्तध्यान क्षायोपशमिक भाव है। इसका काल अन्तर्मुहूर्त्त मात्र है। एक ज्ञेय पदार्थ पर अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक नहीं टिक सकता, तत्पश्चात् दूसरे ज्ञेय पर चला जाता है।

आर्त्तध्यानी के बाह्यचिह्न

शङ्काशोकभयप्रमादकलहश्चित्तभ्रमोद्भ्रान्तयः।
उन्मादो विषयोत्सुकत्वमसकृन्निद्राङ्गजाड्यश्रमाः।
मूर्छादीनि शरीरिणामविरतं लिङ्गानि बाह्यान्यल—
मार्त्ताधिष्ठितचेतसां श्रुतधरैर्व्यावर्णितानि स्फुटम् ॥ ४२ ॥ (ज्ञाना० अ० २५)

अर्थ—आगम के रहस्य के ज्ञाता विद्वानो ने आर्त्तध्यान वालो के बाह्यचिह्न इस प्रकार वर्णन किये हैं कि उसे प्रथम तो हर एक बात में सन्देह पैदा होता है, पश्चात् शोक होता है, भय होता है, प्रमाद होता है—किसी काम में सावधानी नहीं होती, कलह करता है, चित्त-

भ्रम होजाता है, चित्त एक जगह नहीं ठहरता, बहकने लगता है, विषय सेवन करने में उत्सुकता होती है; बारम्बार नींद आती है, शरीर में जड़ता–शिथिलता होती है, थकावट प्रतीत होती है, मूर्छा उत्पन्न होती है, चित्त में उद्वेग इत्यादि अनेक चिह्न आर्त्तध्यानी के प्रकट होते हैं।

इस प्रकार का यह आर्त्तध्यान स्वयमेव विना उपदेश के उत्पन्न होता है, आत्मा का अत्यन्त अहित करने वाला है, इसलिए इसका त्याग करना चाहिए।

रौद्रध्यान

रुद्रः क्रूराशयः प्राणी प्रणीतस्तत्वदर्शिभिः।
रुद्रस्य कर्म भावो वा रौद्रमित्यभिधीयते ॥ २ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ—क्रूर आशय–परिणाम–वाले प्राणी को तत्त्व के वेत्ता विद्वानों ने रुद्र कहा है। और रुद्र का जो भाव अथवा कर्म होता है उसे रौद्र कहते हैं। इसका आशय यह है कि क्रूर परिणाम वाले जीव के जो हिंसादि पाप रूप कार्यों का मनन चिन्तन होता है, उसे रौद्रध्यान कहते हैं।

रौद्रध्यान के चार भेद

तेणिक्कमोससारक्खणेसु तध चेव छव्विहारंभे।
रुद्दं कसायसहिदं झाणं भणियं समासेण ॥ १६६ ॥ (मूला० पञ्चा०)

अर्थ—(१) पर द्रव्य के हरण करने का अभिप्राय (चोरी) (२) प्राणियों को पीड़ा करने वाले असत्य वचन बोलने में तत्परता (३) यदि कोई मेरा द्रव्य चुरावेगा तो मैं उसको मारूंगा, ऐसे विचार से हाथ में शस्त्र लेकर चोरादि को मारने का अभिप्राय तथा (४) छह काय के जीवों की हिंसा जनक आरम्भ में अभिप्राय रखना, ये चार रौद्रध्यान के भेद हैं।

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन पांच स्थावरकाय के तथा त्रसकाय के जीवों की हिंसा करने उनके छेदन, भेदन, ताड़न, वध, बंधन, दहन आदि कार्यों में उद्यम करने में आनन्द मानना हिंसानन्द नाम का रौद्रध्यान है। प्राणियों को पीड़ा देने वाले असत्य वचन बोलने में आनन्द मानना मृषानन्द नाम का दूसरा रौद्रध्यान है। अपने धनादि अभीष्ट पदार्थों को चुराने वाले तथा धर्मायतनों को लूटने वाले, माता, बहिन, स्त्री आदि का सतीत्व नष्ट करने वाले, जबर्दस्ती उनका अपहरण करने वाले का शस्त्र हाथ में लेकर वीरता पूर्वक सामना करना, अन्याय करने वाले आततायी को दण्ड देना, रौद्रध्यान नहीं है, क्योंकि इसमें धर्म रक्षा के भाव अन्तर्हित हैं, धर्म की भावना

छिपी हुई रहती है तथा न्याय की रक्षा और अन्याय का परिहार करने का सङ्कल्प रहता है, इसलिए इसे रौद्रध्यान नहीं समझना चाहिए। रौद्रध्यान तो वह है कि किसी की अभीष्ट वस्तु चुराने, लूटने, आदि के विषय मे सतत ध्यान बना रहे एवं ऐसा करने में आनन्द माने। यही चौर्यानन्द नाम का तीसरा रौद्रध्यान होता है। तथा धन, सम्पत्ति, गाय, भैंस, वगैरह परिग्रह के अर्जनादि मे आनन्द मानना परिग्रहानन्द नामा चौथा रौद्रध्यान है।

हिंसानन्दनामा रौद्रध्यान

हते निष्पीडिते ध्वस्ते जन्तुजाते कदर्थिते।
स्वेन चान्येन यो हर्षस्तद्धिंसारौद्रमुच्यते ॥ ४ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ—अपने अथवा अन्य के द्वारा जीव समूह के मारे जाने पर, अत्यन्त पीड़ित किये जाने पर एवं प्रबल संताप पहुचाये जाने पर हर्ष मानना हिंसानन्द नाम का रौद्रध्यान है। और भी कहा है.—

हिंसाकर्मणि कौशलं निपुणता पापोपदेशे भृशम्।
दाक्ष्यं नास्तिकशासने प्रतिदिनं प्राणातिपाते रतिः।
सवासः सह निर्दयैरविरतं नैसर्गिकी क्रूरता।
यत्स्याद्देहभृतां तदत्र गदितं रौद्रं प्रशान्ताशयैः ॥ ६ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ—मनुष्य मे जीव हिंसा के कार्य शिकार करने आदि में कुशलता, पाप जनक उपदेश देने में प्रवीणता, नास्तिक मत के निरूपण करने मे दक्षता, प्रतिदिन प्राणियो के घात करने मे अनुराग तथा निर्दयी पुरुषो की निरन्तर सङ्गति और स्वाभाविक क्रूरता आदि होना रौद्रध्यान है।

केनोपायेन घातो भवति तनुमतां कः प्रवीणोऽत्र हन्ता।
हन्तुं कस्यानुरागः कतिभिरिह दिनैर्हन्यते जन्तुजातम् ॥

हत्वा पूजां करिष्ये द्विजगुरुमरुतां कीर्तिशान्त्यर्थमित्थम् ।
यत्स्याद्धिंसाभिनन्दो जगति तनुभृतां तद्धिरौद्रं प्रणीतम् ॥ ७ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ–इन जीवो का घात किस उपाय से किया जाय, यहा पर जीव वध करने मे कौन प्रवीण है, जीव घात करने में किस का अनुराग है, यह जीवों का झुण्ड कितने दिनो मे मारा जायगा, इन जीवो को मारकर ब्राह्मण गुरु और देवो को बलि देकर पूजा करूंगा– इत्यादि प्रकार से ससार मे जीव हिंसा करने मे जो आनन्द होता है, उसे हिंसानन्द नामक रौद्रध्यान कहते हैं ।

जो जीव गगनतल मे स्वच्छन्द गमन करने वाले निरपराध दीन पक्षियो की शिकार करके उसमे वीरता समझते हैं एव एकान्त जन-शून्य घने जंगलो मे निवास करने वाले अनाथ, निहत्थे, मृग, सिंह, व्याघ्र, शूकर, नीलगाय, गवय आदि असहाय निरपराध प्राणियो की शस्त्रास्त्रादि अनेक उपायो से हिंसा करते हैं और उसमे बडी शूरता प्रकट करते हैं, ऐसी ही जलचर मत्स्य (मच्छ), मगर, घडियाल आदि जीवो का घात कर अपनी बहादुरी बघारते हैं, तथा उक्त नभचर, थलचर और जलचर जीवों को बन्धन मे डालकर उनके आवास के क्षेत्र मे अग्निदाह करके, छेदन भेदन करके तथा उनका चर्म नेत्र निकालकर, दात उखाडकर बडा कौतुक व आनन्द मानते हैं, उनके हिंसानन्द रौद्रध्यान होता है ।

युद्ध मे किसी का घात चिन्तन करना और किसी की विजय देखकर प्रसन्न होना भी हिंसानन्द नामा रौद्रध्यान है ।

जो मनुष्य जीवों के वध, बन्धन, दहनादि जनित तीव्र दुःख वा भयानक पराभव सुनकर, देखकर अथवा स्मरण कर अपने मन मे आह्लादित होता है, उसके भी हिंसानन्द नामका रौद्रध्यान होता है ।

मैं इस शत्रु से अपने वैर का बदला लेने के लिए क्या उपाय करू ? अभी मुझ मे शक्ति नहीं है; इसलिए यह जीवित है शक्ति होती तो अभी मारडालता । इस समय शक्ति नहीं है तो न सही इसका परलोक मे तो अवश्य बदला लूगा, इस प्रकार सकल्प करना भी हिंसानन्द नामका रौद्रध्यान है ।

हिंसानन्दनामा रौद्रध्यानी के विचार

अभिलपति नितान्तं यत्परस्यापकारं, व्यसनविशिखभिन्नं वीक्ष्य यत्तोपमेति ।
यदिह गुणगरिष्ठं द्वेष्टि दृष्ट्वाऽन्यभूतिं, भवति हृदसशान्यस्तद्धि रौद्रस्यलिङ्गम् ॥ १२ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ—जो निरन्तर दूसरो का अपकार करने की अभिलापा करता है, दूसरो को दुखी देखकर हृदय मे सतुष्ट होता है, दूसरो के वैभव एव उन्नति की बातें सुनकर दुखी होता है वह निश्चय से ही रौद्रध्यानी है।

हिंसा के उपकरणो का सचय करना, क्रूर दुष्ट परिणाम वाले जीवो का पालन पोषण करना, उनकी सहायता करना, हृदय मे निर्दयभाव का धारण करना और इन सभी बातो से प्रसन्न होना रौद्रध्यान है।

यह रौद्रध्यान चारो गति के जीवो के होता है। इसका उत्कृष्ट काल भी अन्तर्मुहूर्त्त मात्र है। इसके बाद एक पदार्थ को छोड़कर दूसरे पदार्थ को विषय करने लगता है। यह रौद्रध्यान पाँचवें गुणस्थान तक होता है। अर्थात् आदि के पाच गुणस्थान वर्त्ती जीवो के पाया जाता है। यह ध्यान नरकगति का कारण है। रौद्रध्यान के समय यदि वन्ध हो तो नरकगति का वन्ध होता है।

शका—आपने पॉचवे गुणस्थान वाले के रौद्रध्यान बताया है, सो कैसे? पॉचवें गुणस्थान मे हिंसा झूठ आदि पाच का त्याग होता है। वह जीव हिंसा मे आनन्द कैसे मानेगा। चोथे गुणस्थान वाला भी हिंसा का त्यागी न होने पर भी हिंसादि को बुरा समझता है, वह भी हिंसादि मे हर्ष नहीं मानता, फिर इनके रौद्रध्यान कैसे होगा?

समाधान—धन, धान्यादि परिग्रह की रक्षा के लिए, तथा धर्मायतन चैत्यालय व किसी सयमी जन पर अन्यायी दुष्ट मनुष्यो का वलात् आक्रमण होने पर उनकी रक्षा के लिए, तथा स्वराष्ट्र पर किसी अन्यायी राजाका आक्रमण होने पर उसे विफल करने के लिए युद्ध करते समय चौथे व पाचवें गुणस्थानवर्त्ती सम्यग्दृष्टि व अणुव्रती श्रावक के चित्त मे भी रौद्रध्यान का होना सभव है क्योकि अणुव्रती श्रावक के भी केवल सकल्पी त्रस हिंसा का त्याग होता है, विरोधी आदि हिंसा का त्याग नहीं होता है, इसलिए आत्मरक्षा धर्म रक्षा व न्यायरक्षादि के निमित्त वह युद्ध कर सकता है।

शका—जब सम्यग्दृष्टि के तथा अणुव्रती श्रावक के रौद्रध्यान होता है, और रौद्रध्यानी का नरक मे गमन होना बताया है तो क्या वह नरक मे भी गमन करेगा?

समाधान—रौद्रध्यान के निमित्त से जो नरक गमन बताया है वह मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा स कहा गया है, क्योकि सम्यग्दृष्टि और श्रावक तो देवगति का ही बन्ध करता है। सम्यक्त्व देवायु के अतिरिक्त किसी अन्य आयु के बन्ध का कारण कैसे हो सकता है? पहले आर्त्तध्यान के प्रकरण मे भी इस विषय का विवेचन कर आये है।

मृषानन्दनामा रौद्रध्यान

असत्यकल्पनाजालकश्मलीकृतमानसः ।
चेष्टते यज्जनस्तद्धि मृषारौद्रं प्रकीर्तितम् ॥ १६ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ—जो मनुष्य झूठे कल्पनाजाल से मलिन चित्त होकर पाप पूर्ण चेष्टायें करता रहता है, उसे निश्चय से मृषानन्द रौद्रध्यान कहते हैं। और भी कहा है।

विधाय वञ्चकं शास्त्रं मार्गमुद्दिश्य निर्दयम् ।
प्रपात्य व्यसने लोकं भोक्ष्येऽहं वांछितं सुखम् ॥ १७ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ—रौद्रध्यानी मनुष्य सन्मार्ग का उल्लंघन कर पाप मार्ग का इस प्रकार चिन्तन करता है कि मैं ठगाई के शास्त्र बनाकर, असत्य निर्दयता के पोषक मार्ग को चलाकर, लोगो को अनेक आपत्ति और कष्टो मे डालकर अपने अभीष्ट सुखका अनुभव करूंगा।

मैं अपनी बुद्धि के कौशल से ऐसे शास्त्र की रचना करूंगा, जिससे सब मनुष्य मेरे जाल मे आजावें, मैं अपने वाक् चातुर्य से इनको अपने वश मे करलूंगा, और इन से रुपया पैसा आदि ऐंठ लूगा। मैं ऐसी युक्तियो का उपयोग करूंगा जिससे मनुष्यो को सन्मार्ग से हटाकर असन्मार्ग मे लगा दूंगा इत्यादि प्रकार से भोले जीवो को ठगना और ऐसा करके प्रसन्न होना मृषानन्द नामा रौद्रध्यान है।

चौर्यानन्दनामा रौद्रध्यान

चौर्योपदेशबाहुल्यं चातुर्यं चौरकर्मणि ।
यच्चौर्यैकपरं चेतस्तच्चौर्यानन्द इष्यते ॥ २४ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ– जिसकी चोरी के उपदेश देने मे अधिक प्रवृत्ति होती है जो चोरी के कार्यों में चातुर्य प्रकट करता है तथा जो चोरी करने मे तत्पर रहता है, उसके चौर्यानन्द नामा तीसरा रौद्रध्यान होता है। और भी कहा है—

यच्चौर्याय शरीरिणामहरहश्चिन्ता समुत्पद्यते,
कृत्वा चार्यमपि प्रमोदमतुलं कुर्वन्ति यत्संततम् ।
चौर्येणापि हृते परैः परधने यज्जायते संभ्रम-
स्तच्चौर्यप्रभवं वदन्ति निपुणा रौद्रं सुनिन्दास्पदम् ॥ २५ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ—जिन प्राणियो के चित्त मे हमेशा चोरी के लिए तत्परतापनी रहे तथा चोरी करके जो हर्ष मानता रहे, जो परधन का हरण करने वाले दूसरे चोर के कार्य मे प्रसन्नता प्रकट करे, इत्यादि चोरी सम्बन्धी कामो मे आनन्द मानने वाले के चौर्यानन्द नामा रौद्रध्यान होता है।

मैं सेना बनाकर अमुक जगह मे बहुकाल से संचित किये हुए धन को, विपुल रत्नराशि को अनेक उपायो से अतिशीघ्र हरण कर लाऊगा तथा डाका डोलकर सम्पूर्ण मनुष्यो को भयभीत कर सम्पूर्ण धन लूट लाऊगा, ऐसा मुझमे सामर्थ्य है, इस प्रकार विचार करने वाले के चौर्यानन्दनामा तीसरा रौद्रध्यान होता है।

परिग्रहानन्द रौद्रध्यान

बह्वारम्भपरिग्रहेषु नियतं रक्षार्थमभ्युद्यते,
यत्संकल्पपरम्परां वितनुते प्राणीह रौद्राशयः ।
यच्चालम्ब्य महत्त्वमुन्नतमना राजेत्यहं मन्यते,
तत्तु यं प्रवदन्ति निर्मलधियो रौद्रं भवाशंसिनाम् ॥ २६ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ—इस ससार मे यह प्राणी बहुत आरम्भ और परिग्रह की रक्षा के लिये उद्यम करता है और रुद्र परिणाम धारण करके अनेक प्रकार के सकल्प विकल्प उत्पन्न करता रहता है। तथा अपने चित्त मे अपने को महान् समझकर मैं राजा हूं, अर्थात् मैं सब कुछ कर सकता हूं, यह सारी सम्पत्ति मेरी है इस प्रकार के विचार करना और इनसे प्रसन्न होना परिग्रहानन्द रौद्रध्यान है।

इस ससार में जितनी भी उत्तम वस्तुएं हैं—रत्न भण्डार, देवागनाओं को तिरस्कृत करनेवाली रमणिया, सुन्दर उपवन, वाटिका, प्रासाद आदि हैं—वे सब वीर पुरुषो के उपभोग करने योग्य होती हैं, इसलिए मैं उनका स्वामी हू, क्योकि मेरे समान इस ससार में कौन वीर हैं, इस प्रकार विचार करना परिग्रहानन्द नामा रौद्रध्यान है।

मैं अमुक व्यापार करूंगा, उसमें इतना धन आवेगा, उससे अमुक घोड़े, हाथी, मोटर, वायुयान आदि खरीदूंगा, सुन्दर बाग लगवाऊंगा। सुन्दर भवन का निर्माण करवाऊंगा, जिसमें सब प्रकार की विषय सेवन की सामग्री रखूंगा, उनकी रक्षा के लिए अमुक २ उपाय करूंगा, किसकी ऐसी शक्ति है जो मेरी सम्पत्ति की तरफ दृष्टि भी डाल सके, इत्यादि आरम्भ और परिग्रह में रुद्र आशय धारण करने वाले के परिग्रहानन्द नामक रौद्रध्यान होता है।

रौद्रध्यान के बाह्य चिह्न

क्रूरता दण्डपारुष्यं वञ्चकत्वं कठोरता।
निस्त्रिंशत्वं च लिङ्गानि रौद्रस्योक्तानि सूरिभिः ॥ ३७ ॥
विस्फुलिङ्गनिभे नेत्रे भ्रूवक्रा भीषणाकृतिः।
कम्पः स्वेदादिलिङ्गानि रौद्रे बाह्यानि देहिनाम् ॥ ३८ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ—क्रूरता, दण्ड देने में कठोरता, वंचकता (ठगना), कठोरता, निर्दयता, इस प्रकार के दूसरों को पीड़ा पहुंचाने वाले विचार तथा उनसे होने वाले कार्य जिसके होते हैं, उसके रौद्रध्यान समझना चाहिए।

जिसके नेत्र अग्नि के समान लाल हो, भौंहें टेढ़ी हो, जिसकी मुख की आकृति डरावनी हो, जिसका शरीर क्रोध से कांप रहा हो, शरीर पर पसीना हो इत्यादि शरीर में क्रोधादि कषाय के विकृत लक्षण दिखाई दें तो उन्हें रौद्रध्यान के चिह्न समझना चाहिए।

रौद्रध्यान का कारण और फल

रौद्रध्यान कृष्ण लेश्या के बल से उत्पन्न होता है। नरक में जाना इसका फल है। और यह पांचवें गुणस्थान तक रहता है। अर्थात् आदि के पांच गुणस्थानवर्ती जीवों के पाया जाता है। और इसका काल अन्तर्मुहूर्त्त मात्र है। यह क्षायोपशमिक भाव है।

यद्यपि रौद्रध्यानी का नरक में गमन बताया है, तथापि यह कथन सम्यग्दृष्टि और संयतासंयत की अपेक्षा से नहीं समझना चाहिए। क्योंकि सम्यग्दृष्टि के देवायु का ही बन्ध होता है। और अणुव्रती भी देवआयु के सिवा अन्य आयु का बंध नहीं करता है। इसलिए रौद्रध्यानी को नरकगति में गमन मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से ही कहा गया है। इसका हम आर्त्तध्यान और हिंसानन्द नामक रौद्रध्यान में विशेष विवेचन कर आये हैं सो वहां से जान लेना चाहिए।

इस प्रकार आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान इन दो अप्रशस्तध्यान का वर्णन हुआ। अब धर्मध्यान का वर्णन करते हैं।

धर्मध्यान का स्वरूप

अथ प्रशममालम्ब्य विधाय स्ववशं मनः ।
विरज्य कामभोगेषु धर्मध्यानं निरूपय ॥ १ ॥ (ज्ञाना० अ० २७)

अर्थ—हे आत्मन् ! सबसे पहले तू प्रशम (मन्द कषाय से उत्पन्न अपूर्व शान्ति) का आलम्बन कर, मन को अपने वश में कर तथा काम और भोगो से–पांच इन्द्रियों के विषयो के सेवन से-विरक्त होकर धर्मध्यान मे प्रवृत्त हो ।

आत्मा के हितकर दो ध्यान हैं, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। उनमे से धर्मध्यान मे प्रवृत्ति करने वाले आत्मा को सबसे प्रथम कषाय मन्द करना चाहिए। जब तक कषाय की मन्दता नहीं होती, तब तक आत्मा मे शान्ति नहीं आसकती। जिस आत्मा के अन्दर कषाय रूप अग्नि की भट्टी दहकती रहती है, वहा शान्ति रूप शीतल जल का निवास नहीं हो सकता। इन दोनों का परस्पर मे विरोध है। जहा पर शान्ति-जल का निवास रहता है, उसी आत्मा मे धर्मवासना रूप कल्पवृक्ष का अकुर जमता है। इसलिए हे आत्मन्! अनादि काल से इस कषाय रूप भट्टी मे से दहकती हुई क्रोधादि ज्वालाओ से अनन्त काल तक तूने घोर सताप ज्वर का अनुभव कर अचिन्त्य दु:ख भोगे हैं जिनका वर्णन करना भी अशक्य है। अब उन दु:खो से बचकर शान्ति-सुधा का पान करने की यदि तेरा इच्छा है तो उन कषायों को मन्द करता चला जा। उस शान्ति-सुधा के प्राप्त होने पर धर्मध्यान रूप कल्पवृक्ष, तेरी आत्मा मे अकुरित हो उठेगा और ज्यो २ शान्ति-रस का उसमे सिंचन होता रहेगा त्यो त्यो वह धर्मध्यान-कल्पवृक्ष पनपता रहेगा और वह स्वर्गादि सुख रूप पुष्प देकर मोक्ष रूप फल को फलेगा, जिसका रसास्वादन कर तू सदा के लिए सुखी हो जावेगा।

शान्ति-सुधा रस का पान करने मे बाधक, मन मे अशान्ति उत्पन्न करने वाले काम-भोग हैं। स्पर्शनेन्द्रिय व रसनेन्द्रिय के विषय को काम और घ्राणेन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय के विषय को भोग कहा है। इन पाचो इन्द्रियो के विषय से मनमे व्याकुलता उत्पन्न होती है। और जब तक व्याकुलता रहती है, मन मे शान्ति नहीं आती इसलिए विषय-सेवन से विरक्त होना परमावश्यक है। जिसके अन्तःकरण में अशुभ कषाय का प्रादुर्भाव न होकर शुभ कषाय तथा मन्द कषाय होजाती है और कामभोगो से उदासीनता होकर जिसका मन अपने वश मे हो जाता है, वह महात्मा धर्मध्यान का पात्र बन जाता है।

धर्मध्यान का ध्याता कौन है ?

ज्ञानवैराग्यसंपन्नः संवृतात्मा स्थिराशयः ।
मुमुक्षुरुद्यमी शान्तो ध्याता धीरः प्रशस्यते ॥ २ ॥ (ज्ञाना० प्र० २७)

अर्थ—जो आत्मा यथार्थ वस्तु-तत्त्व का ज्ञाता और विषय भोगो से विरक्त है, जिसका मन और इन्द्रियां स्ववश मे हैं, जिसका चित्त चञ्चलता से रहित-स्थिर है, जिसे मोक्ष की अभिलाषा है, तथा आलस्य हीन-उद्यम शील है, जिसके हृदय को क्रोधादि कषायें अशान्त नहीं कर रही हैं-परमशान्त है तथा विकार उत्पन्न करने वाले कारण जिसकी आत्मा मे क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सकते हैं, ऐसा धैर्यवान् मनुष्य ही धर्मध्यान के लिए प्रशंसनीय माना गया है। उपर्युक्त गुणो का धारक उत्तम मनुष्य ही धर्मध्यान का आराधक होता है।

धर्मध्यान की सिद्धि के लिए चार भावनाएँ निरन्तर चित्त मे धारण करनी चाहिए। उनका चिन्तन करना परम-हितकारी है। मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य ये चार भावनाएँ हैं।

मैत्री भावना

जीवन्तु जन्तवः सर्वे क्लेशव्यसनवर्जिताः ।
प्राप्नुवन्तु सुखं त्यक्त्वा वैरं पापं पराभवम् ॥ ७ ॥ (ज्ञाना० अ० २७)

अर्थ—संसार के सब जीव क्लेश व आपदाओं से वर्जित रहकर जीवें, तथा आपस के वैर, पाप और अपमान को छोड़ कर सदा सुख पावें, इस प्रकार की भावना को मैत्री भावना कहते हैं।

अखिल विश्व के जितने भी सूक्ष्म, बादर, त्रस और स्थावर जीव हैं, वे सब मेरे बन्धु हैं, उनके साथ मेरा अनेक बार कौटुम्बिक सम्बन्ध रहा है। उनको सुख पहुचाना मेरा परम कर्त्तव्य है। जिस प्रकार किसी आत्मीय बन्धु को कष्ट मे पड़ा हुआ देखकर मनुष्य उसके कष्ट दूर करने की शक्ति न होने पर भी उसको सुखी देखना चाहता है, वैसे ही मैत्री भावना का चिन्तन करने वाला सब जीवो को क्लेशादि से रहित सदा सुखी रहने की भावना करता है। उसके परिणामों की विशुद्धि होती है, और धर्मध्यान में प्रवृत्ति होती है। इस मैत्री [भाव]ना से आत्मा मे सब जीव से वैरभाव का नाश होता है और अद्भुत शान्ति का प्रादुर्भाव होता है, जिसके बल से आत्मा अपूर्व पुण्य [उ]पार्जन कर सद्गति का पात्र होता है।

कारुण्य भावना

दैन्यशोकसमुत्त्रासे रोगपीड़ार्दितात्मसु ।
वधबन्धनरुद्धेषु याचमानेषु जीवितम् ॥ ८ ॥
क्षुत्तृट्श्रमाभिभूतेषु शीताद्यैर्व्यथितेषु च ।
अविरुद्धेषु निस्त्रिंशैर्यात्यमानेषु निर्दयम् ॥ ९ ॥
मरणार्त्तेषु जीवेषु यत्प्रतीकारवांछया ।
अनुग्रहमतिः सेयं करुणेति प्रकीर्तिता ॥ १० ॥ (ज्ञाना० अ० २७)

अर्थ—जो प्राणी दीनता, शोक, त्रास तथा रोग पीड़ा आदि से पीडित हो, जिनका घात होता हो, बन्धन में बंधे हो, कारावास में रुके हुए हो, अथवा हमे कोई बचाओ इस प्रकार जीवन की याचना करते हों, तथा भूख प्यास परिश्रमादि से कष्ट पा रहे हो, शीत उष्णादि की बाधा से पीड़ित हों, दुष्ट लोगो से निर्दयता पूर्वक सताये जाते हुए मरण के दु.ख को प्राप्त हो रहे हो उन सब दुःखी जीवों को देखकर, उनकी यह अवस्था सुनकर उनके दु.ख दूर करने के उपाय करने की जो बुद्धि होती है, उसे कारुण्य भावना कहते हैं।

आत्महितैषी मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य है कि किसी मनुष्य को भूख प्यास आदि दुःख से पीडित देखकर उसको अन्न जलादि योग्य वस्तु देकर उसके कष्ट को दूर करे। यदि कोई कुलीन सद्गृहस्थ आर्थिक परिस्थिति ठीक न होने के कारण अपने कुटुम्ब का पालन पोषण करने मे अत्यन्त कष्ट का अनुभव कर रहा हो, लज्जावश अन्य से याचना करने की अपेक्षा मृत्यु का आलिंगन करना श्रेष्ठ समझता हो, ऐसे मनुष्यो को गुप्त धनादि सहायता देकर उनके कष्ट को मिटाना धार्मिक महानुभावो का कर्त्तव्य है। उनकी आजीविका का प्रबन्ध करना, उनकी सन्तान के लिए शिक्षा दीक्षादि का प्रबन्ध कर धर्म मे प्रवृत्त करवाना पुण्य बन्ध का कारण है। किसी का हृदय इष्ट-वियोग के कारण शोक दावानल से जला रहा हो, उसके शोक को उपदेश द्वारा दूर करने का उपाय करना चाहिए तथा उचित उपायो से उसके चित्त में शान्ति पहुचाना चाहिए। कोई अपनी दुष्टता से शारीरिक शक्ति और धनादि के मद मे उन्मत्त होकर असहाय जीवो को त्रास दे रहे हों, वध करते हों, बन्धन मे डाल रहे हों, तो उनसे उद्धार करने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करना दयावान धर्म-प्रिय पुरुषो का परम धर्म है। कई लोग धूर्त वञ्चक पुरुषों के द्वारा पथभ्रष्ट होकर धर्म के निमित्त, बलिदानादि के निमित्त, यज्ञादि के निमित्त मूक-दीन-जीवो का वध करते हैं, उन्हें धर्म का स्वरूप समझाकर हिंसा के पाप से बचाना चाहिए। वे मूक जीव अपनी बोली मे धार्मिक और समर्थ पुरुषो से अपने जीवन की भिक्षा मांगते हैं।

शक्तिशाली मनुष्यों के कर्त्तव्य हैं कि उचित उपायो द्वारा उनकी रक्षा करें। कई लोग अपनी क्रूरता के कारण एकान्त सुनसान भयानक जङ्गल में छिप कर रहने वाले मृगादि पशुओ की शिकार करते हैं। यह उनकी वीरता नहीं किन्तु कायरता है, जो आप शस्त्र-अस्त्र से सुसज्जित हो शस्त्र-अस्त्र हीन गरीब अनाथ पशुओ को छिपकर मारते हैं। उन निरपराधी जीवो को मारकर अपनी वीरता प्रकट करने वाले लोगो को समझकर या अन्य उचित उपायों का अवलम्बन लेकर उनकी रक्षा करना महान् पुण्य वन्ध का कारण है। यदि कोई रोग से पीड़ित हो तो उसके लिए औषधि का प्रबन्ध करना, उसकी परिचर्या करना, उसके पास मे बैठ कर उसे सान्त्वना देना, उसको शिक्षादि देकर उसके दुःख मे समवेदना प्रकट करना, यदि उसे किसी आवश्यक वस्तु की आवश्यकता हो तो उसको सहायता देना परम धर्म का कारण होता है। इसी प्रकार किसी अन्य दुःख से पीड़ित जीवों को दुःख से छुड़ाने का प्रयत्न करना कारुण्य भावना है। अपने निमित्त से किसी जीव को कष्ट न पहुचाना तथा उनको दुःख से उद्धार करने का सामर्थ्य न होने पर उनके दुःख विनाश की भावना करना भी कारुण्य भावना है। इस भावना से जीव तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध करता है। यदि तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं भी हुआ तो भी उसके सातिशय पुण्य का बन्ध होता है, जिससे परम्परा उसका अभ्युदय होते हुए मोक्ष का भागी बनता है। इसलिए कारुण्य भावना आत्मा का हित करने मे माता के समान है ऐसा समझकर इसका सदा अभ्यास करना चाहिए।

प्रमोद भावना

तपः श्रुतयमोद्युक्तचेतसां ज्ञानचक्षुषाम्।
विजिताक्षकषायाणां स्वतत्वाभ्यासशालिनाम् ॥ ११ ॥
जगत्त्रयचमत्कारिचरणाधिष्ठितात्मनाम्।
तद्गुणेषु प्रमोदो यः सद्भिः सा मुदिता मता ॥ १२ ॥ (ज्ञाना० अ० २७)

अर्थ—जिनके ज्ञान-चक्षु प्रकट हुआ है, अर्थात् जो समस्त पदार्थों को चर्म-चक्षु से नहीं देखते, किन्तु ज्ञान से उनकी वास्तविक अवस्था को जानते हैं, जो तपश्चरण, श्रुताभ्यास और यम पालन मे उद्यमशील रहते हैं, जिन्होंने इन्द्रियों और कषायो को अपने वश मे कर लिया है तथा आत्मा के अभ्यास मे तल्लीन हैं, संसार को चमत्कृत करने वाले तपश्चरण मे जिनका आत्मा तन्मय हो रहा है, ऐसे पुरुष पुंगवो के गुणो मे प्रमोद उत्पन्न होना प्रमोद भावना है।

यह निश्चित सिद्धान्त है कि जो मनुष्य जैसी भावना करता है, वह कालान्तर मे अभ्यास द्वारा उसी प्रकार का बन जाता है। सब प्राणी अपने आप को उन्नत और गुणवान् बनाना चाहते हैं। इसलिए उन्हें अपने अनुकूल आदर्शों की ही खोज करना चाहिए। जो अपने

जीवन को पवित्र बनाना चाहता है एवं जो परोपकारी अपूर्व विद्वान तथा श्रुत का पारगामी बनना चाहता है, उसका कर्त्तव्य होजाता है कि वह विशिष्ट ज्ञानशाली सत्पुरुषो की सङ्गति करे। उनका समागम होने पर अपने को धन्य माने और आनन्द मे ऐसा विभोर और उन्मत्त हो जावे, जैसा कि मयूर बादलो को देखकर आनन्द मे मग्न होकर नाचने लगता है।। ज्ञानवान् और सरल प्रकृति वाले सत्पुरुष की सङ्गति आत्मा को विवेक शील और मजुल स्वभाव बनाती है। आगमाभ्यासी तथा सच्चरित्र के आराधक संयमी जनो का समागम आत्मा में विशुद्धि उत्पन्न कर आगम रहस्य के ज्ञाता और संयम पालन मे क्षम बनाता है। कषाय और इन्द्रिय को अपने काबू में रखने वाले महात्मा का योग सौभाग्य से मिलता है, उनका सङ्गम होने पर अपना अहोभाग्य समझना चाहिए। उनके संसर्ग से विषय और कषाय से विरक्तता का संस्कार आत्मा में उत्पन्न होता है। तपश्चरण का अनुष्ठान करने वालो की महिमा अनुपम है। आत्मा के साथ अनादि काल से लगा हुआ कर्म-मल का प्रक्षालन तपस्या से ही हो सकता है।। इसलिए तपस्वी, विवेकशील-विद्वान-सयमी आदि महापुरुषो का सम्मेलन होने पर आनन्द का अनुभव करना प्रमोद भावना है।।

माध्यस्थ्य भावना

क्रोधविद्धेषु सत्वेषु निस्त्रिंशक्रूरकर्मसु ।
मधुमांससुरान्यस्त्रीलुब्धेष्वत्यन्तपापिषु ॥ १३ ॥
देवागमयतिव्रातनिन्दकेष्वात्मशंसिषु ।
नास्तिकेषु च माध्यस्थ्यं यत्सोपेक्षा प्रकीर्त्तिता ॥ १४ ॥ (ज्ञाना० अ० २७)

अर्थ—जो प्राणी क्रोध स्वभाव वाले हो, निर्दय और क्रूर कर्म करनें वाले हों। मधु, मांस, मदिरा और पर स्त्री के लम्पटी हो व्यसनी हो, अत्यन्त पापी हो तथा देव शास्त्र गुरु के निन्दक हो, अपने आत्मा की प्रशंसा करने वाले हों, तथा नास्तिक हो, ऐसे जीवों पर माध्यस्थ्य धारण करना उपेक्षा (माध्यस्थ्य) भावना है।

जिनके विचार हमारे विचारो से मेल न खाते हो, जिनका आचरण हमारे आचरण के प्रतिकूल हो, जो अकारण ही हम से विरोध रखते हों, क्रोध और मान के वशीभूत होकर हमारा अनिष्ट करने के लिए उद्यत हो, धर्म के विरोधी हों, देव और गुरुओं के निन्दा करने वाले हो, जिनका आचरण निन्दनीय हो, निर्दयी और कुत्सित घृणित कार्यों के करने वाले हो, मद्य पीने में आसक्त हों, मास भक्षी हो, परस्त्री गामी हो, अभक्ष्य-निन्दनीय पदार्थों का भक्षण करने वाले हो, व्यसनी हो, इत्यादि विपरीत व्यवहार वाले मनुष्यो से राग द्वेष न कर मध्यस्थ भाव धारण करना ही उचित है। क्योंकि ऐसे व्यक्तियो से राग द्वेष करने से आत्मा का बहुत अहित होता है। राग और द्वेष के

अभाव का नाम उपेक्षा है। यह उपेक्षा आत्मा में परम शान्ति उत्पन्न करती है। राग द्वेष से उत्पन्न हुई आकुलता की अग्नि उपेक्षा रूप शीतल जल की वृष्टि से शान्त हो जाती है और आत्मा मे अनुपम शान्ति, सुख का सञ्चार करती है, अतः इस उपेक्षा (माध्यस्थ्य) भावना का सतत चिन्तन व आचरण करना चाहिए।

अब इन भावनाओं का फल दिखाते हैं:—

एताभिरनिशं योगी क्रीडन्नत्यन्त निर्भरम्।
सुखमात्मोत्थमत्यक्षमिहै वास्कन्दति ध्रुवम् ॥ १६ ॥
भावनास्वासु संलीनः करोत्यध्यात्मनिश्चयम्।
अवगम्य जगद्वृत्तं विषयेषु न मुह्यति ॥ १७ ॥ (ज्ञाना० अ० २७)

अर्थ—इन ऊपर कही गई चार भावनाओ में सतत रमण करने वाला योगी इसी लोक मे आत्मा से उत्पन्न हुए अनुपम सुख का आस्वादन करता है। तथा इन भावनाओ मे तल्लीन रहने वाला सयमी ससार के वृत्तान्त को भलीभाति समझ कर अध्यात्म तत्त्व का निश्चय करता है और विषयो में मुग्ध नहीं होता है।

यह भावनायें मनुष्य को आत्मीय शान्ति देने वाली हैं। इनसे आत्मा के विभाव भावो के नाश होने में सहायता मिलती है रागद्वेष के निमित्त से आत्मा मे अनेक प्रकार के सङ्कल्प विकल्प होते हैं। इन भावनाओ के बलसे उनका शमन होकर आत्मा मे निष्कम्पता आती है। योगी की मोह-निन्द्रा शान्त होती है और योग-निद्रा उत्पन्न होती है।

अब ध्यान की सिद्धि के लिए योग्य और अयोग्य स्थानो का निरूपण करने के लिए प्रवृत्ति करते हुए प्रथम ध्यान के अयोग्य स्थानो का स्वरूप दिखाते हैं—

यत्रायमिन्द्रियग्रामो व्या सङ्गस्तेन विप्लवम्।
नाश्नुवीत तमुद्देशं भजेताध्यात्मसिद्धये ॥ (यशस्तिलक आ० ८)

अर्थ—ध्यान की सिद्धि के इच्छुक को उचित है कि जिस स्थान पर इन्द्रिय-समूह और चित्तवृत्ति उच्छृंखलता का अनुभव न करे, ऐसे स्थान को वह आत्मध्यान की सफलता के लिए स्वीकार करे।

ध्यान के अयोग्यस्थान

म्लेच्छाधमजनैर्जुष्टं दुष्टभूपालपालितम् ।
पाखण्डिमण्डलाक्रान्तं महामिथ्यात्ववासितम् ॥ २३ ॥
कौलिकापालिकावासं रुद्रक्षुद्रादिमन्दिरम् ।
उद्भ्रान्तभूतवेतालं चण्डिकाभवनाजिरम् ॥ २४ ॥
पण्यस्त्रीकृतसंकेतं मन्दचारित्रमन्दिरम् ।
क्रूरकर्माभिचाराढ्यं कुशास्त्राभ्यासवञ्चितम् ॥ २५ ॥
क्षेत्रजातिकुलोत्पन्नशक्तिस्वीकारदर्पितम् ।
मिलितानेकदुःशीलकल्पिताचिन्त्यसाहसम् ॥ २६ ॥
द्यूतकारसुरापानविटवन्दिव्रजान्वितम् ।
पापिसत्त्वसमाक्रान्तं नास्तिकासारसेवितम् ॥ २७ ॥
क्रव्यादकामुकाकीर्णं व्याधविध्वस्तश्वापदम् ।
शिल्पिकारुकविक्षिप्तमग्निजीविजनाश्रितम् ॥ २८ ॥ (ज्ञाना० अ० २७)

अर्थ — जिस स्थान मे म्लेच्छ व पापीजन रहते हो, जो स्थान दुष्ट राजा (जमींदार) के अधिकार मे हो, पाखण्डी लोगों से घिरा हुआ हो, जहा महामिथ्यात्व की वासना हो, कुल देवता व योगिनी का स्थान हो, रुद्र या क्षुद्र देवता का मन्दिर हो, जिस स्थान पर उद्धत होकर भूत वेताल नाचते हो, चण्डिका के मन्दिर का आंगन हो, व्यभिचारिणी स्त्रियो का जार पुरुषो से मिलने का जो सकेत किया स्थान हो, शिथिल चारित्र वाले पाखण्डियो का मन्दिर हो, तथा जहा क्रूर एवं हिंसक कर्म होता हो, जहां कुशास्त्रो का अभ्यास होता हो, यह हमारा स्थान है–यहा पर अन्य का प्रवेश सर्वथा वर्जित है ऐसा अभिमान का अभिप्राय जहा पर हो, जहा पर अनेक दुःशील कुत्सित पुरुषो ने मिलकर कोई दुःसाहस का कार्य किया हो, जो स्थान द्यूत क्रीडा करने वाले जुआरी, मद्यपायी, व्यभिचारी और बन्दीजन इत्यादि के समूह से युक्त हो, पापी जीवो से घिरा हुआ हो, तथा नास्तिक मनुष्यो से सेवित हो, मासभक्षी और कामी लोगों से व्याप्त हो, व्याधों–शिकारियो

ने जहा जीववध किया हो, तथा शिल्पी (सिलावट कारीगर) कारुक आदि (छीपे मोची आदि) के कार्य से जहां चित्त को विक्षेप होता हो, जो स्थान श्रमिजीवी मनुष्यों (लोहार, सुनार, ठठेरे आदि) से युक्त हो–ऐसे चित्त मे विकार या खेद उत्पन्न करने वाले स्थानो को ध्यान के अयोग्य समझना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि ध्यान के लिए वे स्थान अयोग्य माने गये हैं जहा पर चित्त मे अशान्ति उत्पन्न हो, इन्द्रिया विषयो मे प्रवृत्त होने लगें, कषाय का प्रादुर्भाव हो तथा विकार उत्पन्न करने वाले कारण जहा पर उपस्थित हो, हिंसा आदि पाप कार्यों मे जहां पर प्रवृत्ति होती हो, मिथ्याज्ञान और दुराचरण की वासना वाले मनुष्यो का प्रचार हो, स्त्री, नपुंसक और पशुओ का गमनागमन जहां होता हो–इत्यादि बुरी वासना और इन्द्रिय तथा मन को विकृत करने के साधन जहा हो, वे स्थान ध्यान के अयोग्य बताये गये हैं।

जिस स्थान पर दंशमशकादि क्षुद्र जन्तुओ का आधिक्य हो, जहां असह्य शीत वा उष्ण हो, ऐसे स्थान भी ध्यानाभ्यास के लिए वर्जित बतलाये गये हैं।

जिस स्थान मे तृण,कंटक तथा सर्प की वावी, चींटी आदि के बिल हो, जहां ऊँचे नीचे पत्थर तथा कीचड हो,जहा पर राख तथा उच्छिष्ट (जूठन) पड़ी हो, जो हड्डी, रक्त, मलमूत्रादि से दूषित हो ऐसे स्थान भी ध्यान करने वाले को त्याग देना चाहिए।

जहा कौवे, उल्लू, मार्जार, (बिल्ली) गीदड़, गधे आदि का शब्द होता हो, ऐसा स्थान ध्यानाभिलाषी के ध्यान मे विघ्न करने वाला होता है। ऐसे ही अन्य भी स्थान जो ध्यान मे विघ्न करने वाले हों, उन्हें भी त्याग देना चाहिए।

इस प्रकार ध्यान के अयोग्य स्थान का निरूपण करने के बाद अब ध्यान के योग्य स्थान का वर्णन करते हैं—

ध्यान के योग्यस्थान

सिद्धक्षेत्रे महातीर्थे पुराणपुरुषाश्रिते।
कल्याणकलिते पुण्ये ध्यानसिद्धिः प्रजायते ॥ १ ॥ (ज्ञाना० अ० २८)

अर्थ—जिस स्थान से तीर्थंकरादि महापुरुष सिद्ध हुए हैं, वह सिद्ध क्षेत्र, तथा पुराण पुरुष अर्थात् तीर्थंकरादि पुण्यवान् पुरुषों ने जहा आश्रय लिया हो, वह महातीर्थ, जो तीर्थंकर महाप्रभुओ की पवित्र पञ्चकल्याणक भूमि हो, ऐसे स्थान ध्यानसिद्धि के कारण माने गये हैं।

ध्यान की सिद्धि के लिए परिणामों की पवित्रता कारण है। परिणामों की पवित्रता के लिए अन्यान्य कारणों के साथ क्षेत्र की शुद्धि भी आवश्यक है। अयोग्य क्षेत्र भावों को बिगाड़ देता है। यही कारण है कि ध्यान के लिए योग्यायोग्य स्थान का बहुत विचार किया जाता है। योग्य स्थान पर चित्त मे निर्मलता और स्थिरता आजाती है; अत वहा पर ध्यान की सिद्धि सहज में हो जाती है। ध्यान के अभ्यास तथा उसकी पूर्णता के लिए सिद्धक्षेत्र सर्वोत्तम स्थान माना गया है। जहा पर देवाधिदेव तीर्थंकरदेव ने तथा अन्य महापुण्यवान् पुरुष-पुंगवो ने निवास किया है, उस महातीर्थ भूमि की पवित्र रज चित्त को निर्मल बनाने मे अद्वितीय कारण है। वहा चित्त की एकाग्रता व स्वच्छता होना स्वाभाविक है। जिन स्थानो पर तीर्थंकर महाप्रभु के कल्याणक हुए हैं, वह कल्याण-भूमि ध्यान की सिद्धि मे सहायक हो तो इसमे क्या आश्चर्य की बात है? पाचो कल्याणको की पावन भूमि आत्मा मे शुद्धि का सचार करती है इसी लिए यह तीर्थ कहलाते हैं। ध्यान के योग्य और भी स्थान हैं जैसे—

सागरान्ते वनान्ते वा शैलशृङ्गान्तरेऽथवा।
पुलिने पद्मखण्डान्ते प्राकारे शालसङ्कटे ॥ २ ॥
सरितां सङ्गमे द्वीपे प्रशस्ते तरुकोटरे।
जीर्णोद्याने श्मशाने वा गुहागर्भे विजन्तुके ॥ ३ ॥
सिद्ध कूटे जिनागारे कृत्रिमेऽकृत्रिमेऽपि वा।
महर्धिकमहाधीरयोगी संसिद्धिवांछिते ॥ ४ ॥
मनः प्रीतिप्रदे शस्ते शङ्काकोलाहलच्युते।
सर्वर्त्तु सुखदे रम्ये सर्वोपद्रववर्जिते ॥ ५ ॥
शून्यवेश्मन्यथग्रामे भूगर्भे कंदलीगृहे।
पुरोपवनवेद्यन्ते मन्डपे चैत्यपादपे ॥ ६ ॥
वर्षातपतुषारादिपवनासारवर्जिते।
स्थाने जागर्त्यविश्रान्तं यमी जन्मार्त्तिशान्तये ॥ ७ ॥ (ज्ञाना. अ. २८)

अर्थ—संयमी ध्यान द्वारा जन्म मरण रूप संसार की पीड़ा को शान्त करने के लिए निम्नलिखित स्थानो में निरन्तर सावधान

चित्तवाला होकर रहता है, अर्थात्–निम्नाङ्कित स्थान ध्यान की सिद्धि मे प्रशस्त माने गये हैं।

समुद्र का तट, वन की मध्य भूमि, पर्वत का शिखर, नदी का तट, कमल वन का मध्य भाग, कोट का ऊर्ध्व भाग, वृत्तों के समूह से व्याप्त भूमि, नदियो का सङ्गम स्थान, द्वीप (टापू), प्रशस्त (शरीर बाधा रहित सुन्दर) वृक्ष की कोटर, पुराना बगीचा, स्मशान का एकान्त भाग, जन्तु रहित पर्वत की गुफा, सिद्ध कूट, कृत्रिम अथवा अकृत्रिम जिन चैत्यालय (मन्दिर), जहां महाऋद्धि के धारक महाधीर, वीर योगीश्वर सिद्धि की वांछा करते हैं-ऐसे स्थान, मन को प्रसन्न करने वाले स्थान, शङ्का और कोलाहल से वर्जित स्थान, छहो ऋतु में सुख देने वाला स्थान, रमणीय तथा सब उपद्रवो से रहित स्थान, शून्य गृह तथा शून्य ग्राम, भूमि के भीतर का गृह (तलघर) केलो के वृक्षो का मध्य वर्त्तीस्थान तथा नगर के उपवन की वेदी (पाली) का मध्य का भाग, वर्षा, आतप (घाम), हिम, शीतादि तथा प्रचंड पवनादि से वर्जित–ऐसे स्थान ध्यान की सिद्धि के लिए उपयुक्त माने गये हैं।

साराश यह है कि जिस स्थान पर चित्त मे उत्साह और शान्ति प्रकट हो, चित्त मे निर्मलता और स्थिरता की वृद्धि हो, इन्द्रियाँ अपने वश मे रहें, शरीर को बाधा पहुचाने वाले शीत उष्ण वर्षा तथा प्रचण्ड आधी की बाधा से वर्जित हो, ऊँचा नीचा स्थल न हो, किन्तु समतल भूभाग हो, बीहड जङ्गल का प्रदेश, समुद्र का तट, नदी का किनारा हो, इत्यादि एकान्त क्षोभ रहित, इन्द्रिय और मन की एकाग्रता का साधक स्थान ध्यान के लिए प्रशस्त माना गया है।

जहा रागादि दोषो का निरन्तर ह्रास हो, कषाय का प्रादुर्भाव न हो, इन्द्रिय–विषयो का ससर्ग न हो, वह स्थान ध्यान के लिए उचित माना गया है।

ध्यान के उपयोगी आसन

दारुपट्टे शिलापट्टे भूमौ वा सिकतास्थले।
समाधिसिद्धये धीरो विदध्यात्सुस्थिरासनम् ॥ ९ ॥
पर्यङ्कमर्धपर्यङ्कं वज्रं वीरासनं तथा।
सुखारविन्दपूर्वे च कायोत्सर्गश्च सम्मतः ॥ १० ॥ (ज्ञाना. अ. २८)

अर्थ—समाधि (ध्यान) की सिद्धि के लिए धीर पुरुष काठ के तख्ते पर, शिला पर, समतल भूमि पर, बालू रेत के स्थान मे सम्यक् प्रकार स्थिर आसन लगावे। पर्यंकआसन, अर्धपर्यंकआसन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, पद्मासन और कायोत्सर्ग (खड्गासन)

ये आसन ध्यान के योग्य माने गये हैं।

तात्पर्य यह है कि जिस आसन से सुख पूर्वक बैठे हुए मुनि अपने मन को निश्चल रख सकें और शरीर को कष्ट न हो, ऐसा ही आसन ध्यान करते समय स्वीकार करना चाहिए। यही कहा है —

कायोत्सर्गश्च पर्यङ्कः प्रशस्तं कैश्चिदीरितम्।
देहिनां वीर्यवैकल्यात्कालदोषेण सम्प्रति ॥ १२ ॥ (ज्ञाना. अ. २८)

अर्थ—कई आचार्यों ने इस समय काल दोष से प्राणियों के वीर्य की विकलता होने से अर्थात् स्वाभाविक शारीरिक शक्ति की हीनता होने के कारण कायोत्सर्ग (खड्गासन) और पर्यंकासन (पालथी) ये दोनो आसन ध्यान के लिए प्रशस्त माने हैं।

प्राचीन काल मे योगीश्वर वज्रकाय अर्थात् उत्तम संहनन वाले थे। वे महापराक्रमी, सब अवस्थाओं मे अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थिति मे निश्चल रहते थे। उन्होने सब प्रकार के कठिन आसनो द्वारा ध्यान लगाकर शाश्वत सुख को पाया था। उनके चित्त को सुर, असुर, शत्रु तथा क्रूर सिंहादि तिर्यंचो के भयानक उपसर्ग भी चञ्चल करने मे कभी समर्थ नहीं हुए। सोही कहा है।

केचिज्ज्वालावलीढा हरिशरभगजव्यालविध्वस्तदेहाः।
केचित्क्रूरारिदैत्यैरदयमतिहताश्चक्रशूलासिदण्डैः॥
भूकम्पोत्पातवातप्रनलपनिघनव्रातरुद्धास्तथाऽन्ये।
कृत्वा स्थैर्यं समाधौ मपदि शिवपदं निःप्रपञ्चं प्रपन्नाः ॥ १६ ॥ (ज्ञाना. अ. २८)

अर्थ—पुरातन कालवर्त्ती कई महामुनि अग्नि की ज्वालाओं से दग्ध होकर ध्यान मे दृढ रहने के कारण तत्काल मोक्ष को प्राप्त हुए। कई मुनीश्वर सिंह, अष्टापद, हस्ती, सर्पादि से विध्वस्तशरीर शीघ्र मोक्षपथ के अनुयायी बने। कितने ही योगीश्वर क्रूरशत्रु दैत्यादि से निर्दयतापूर्वक चक्र,त्रिशूल,तलवार,दण्डादि शस्त्रास्त्रो द्वारा प्रतिहत हुए समाधि मे स्थिर रहकर तुरन्त शिव स्थान के पथिक बने। कई ऋषीश्वरों ने भूकम्पन, प्रवल पवन, वज्रपात मेघसमूहादि के उपसर्ग को शान्ति से सहकर सिद्धिपथ का अनुसरण किया। अन्य अनेक परमर्षियो ने नाना प्रकार के उपसर्गों को सहकर समाधि मे स्थिरता धारण कर अति शीघ्र शाश्वत शिवपद की उपलब्धि की। इस प्रकार के महामुनीश्वरो (उत्तम संहनन वालो) के लिए आसन का नियम नही है। पूर्वकाल के यतीश्वरो के बल वीर्य की तुलना वर्त्तमान काल के साधु कदापि नहीं

कर सकते, इसलिए पुरातन मुनियों की स्थिरता की समानता का दंभ करना उचित नहीं है। उन्हें तो अपनी शक्ति के अनुसार ही ध्यान के उपायों का अवलम्बन लेना चाहिए। क्योंकि—

स्थानासनविधानानि ध्यानसिद्धे र्निबन्धनम् ।
नैकं मुक्त्वा मुनेः साक्षाद्विक्षेपरहितं मनः ॥ २० ॥ (ज्ञाना. अ. २८)

अर्थ—स्थान और आसन ये दो ध्यान सिद्धि के उपाय हैं। इनमें से एक भी छोड़ दिया जावे तो मुनि का मन विक्षेप रहित नहीं होता है।

सारांश यह है कि काल दोष से इस समय संहनन (शक्ति) की कमी के कारण प्रतिकूल कारण का सम्पर्क होने से चित्त मे शीघ्र क्षोभ उत्पन्न हो जाता है, इसलिए चित्त की स्थिरता के लिए अनुकूल बाधा रहित स्थान तथा प्रमाद निवारणार्थ सुखदेनेवाला आसन ग्रहण करना चाहिए। तभी तो ध्यान की सिद्धि हो सकती अन्यथा नहीं।

ध्यान करने का पात्र

संविग्नः संवृतो धीरः स्थिरात्मा निर्मलाशयः ।
सर्वावस्थासु सर्वत्र सर्वदा ध्यातुमर्हति ॥ २१ ॥ (ज्ञाना. अ. २८)

अर्थ—जो मुनि संसार के दुःखो से भयभीत हैं तथा ससार को बढाने वाली क्रियाओ से निवृत्त होने से संवर को प्राप्त हुए हैं, विकार के कारणो का सयोग मिलने पर जिनके चित्त मे विकार नहीं होता है, अत. जो धीर हैं, जिनकी आत्मा मे स्थिरता है, जिनका निर्मल आशय है, अर्थात् जिनके भाव उज्ज्वल हैं, ऐसे मुमुक्षु सब अवस्थाओ, सब स्थानो मे और सर्वदा ध्यान करने के योग्य हैं।

सारांश यह है कि पहले जो ध्यान के योग्य स्थान और आसन का निरूपण किया है, उनके सिवा अन्य आसन तथा अन्य स्थानो मे भी यदि मुनि का चित्त स्थिरता का अनुभव करने लगे तो फिर स्थानों और आसनो के नियम को मानने की आवश्यकता नहीं है।

ध्यान के समय दिशा का विधान

पूर्वाशाभिमुखः साक्षादुत्तराभिमुखोऽपि वा ।
प्रसन्नवदनो ध्याता ध्यानकाले प्रशस्यते ॥ २३ ॥ (ज्ञाना. अ. २८)

अर्थ—ध्यान के समय में ध्यान करनेवाला मुनि प्रसन्न मुख होकर साक्षात् पूर्व दिशा अथवा उत्तर दिशा में मुख करके ध्यान करे, यह प्रशंसनीय कहा है। किन्तु फिर भी

चरणज्ञानसम्पन्ना जिताक्षा वीतमत्सराः ।
प्रागनेकास्ववस्थासु सम्प्राप्ता यमिनः शिवम् ॥ २४ ॥ (ज्ञाना. अ. २८)

अर्थ—पूर्व समय में चारित्र और ज्ञान से सम्पन्न, जितेन्द्रिय तथा मात्सर्य भाव रहित मुनीश्वर अनेक अवस्थाओं से मोक्ष को प्राप्त हुए ऐसे मुमुक्षुओं के लिए पूर्व तथा उत्तर दिशा के सन्मुखता का कुछ भी नियम नहीं है।

धर्म्यध्यान के अधिकारी

मुख्योपचारभेदेन द्वौ मुनी स्वामिनौ मतौ ।
अप्रमत्तप्रमत्ताख्यौ धर्मस्येती यथायथम् ॥ २५ ॥ (ज्ञाना. अ. २८)

अर्थ—धर्म्यध्यान के अधिकारी मुख्य और उपचार के भेद से छठे और सातवें गुणस्थान के मुनीश्वर माने गये हैं। मुख्याधिकारी तो सातवें अप्रमत्तगुणस्थान वर्त्ती मुनीश्वर होते हैं और उपचार से छठे प्रमत्त गुणस्थानवर्त्ती मुनीश्वर होते हैं।

जिनमें सब प्रकार के कष्टों की सहिष्णुता है जो कठोर परीषहों को सहन करने का सामर्थ्य रखते हों, देवदानवादि के भयङ्कर उपसर्ग जिनकी आत्मा में विकार उत्पन्न नहीं कर सकते हों, जो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर सकते हों, कर्मागमन के द्वारों को बन्द करने में तत्पर हों, पूर्व ज्ञान के धारक हों, वह यतीश्वर इस धर्म्यध्यान के धारक होते हैं; क्योंकि ऐसे मुनिराज ही सातिशयअप्रमत्त होकर श्रेणी चढ़ना प्रारम्भ करते हैं।

जो विकल श्रुत अर्थात् पूर्वज्ञान रहित है, भावश्रुत के धारक हैं, जो श्रेणी के नीचे ही प्रवृत्ति करते रहते हैं। ऐसे प्रमत्तसंयमी मुनि भी सूत्र मे धर्म ध्यान के ध्याता मान गये हैं। किन्तु इन्हें उपचार से धर्म्यध्यान के अधिकारी कहा गया है।

धर्म्यध्यान के ध्याता के चार भेद

किं च कैश्चिच धर्मस्य चत्वारः स्वामिनः स्मृताः।
सद्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्ता यथायोग्येन हेतुना ॥ २८ ॥ (ज्ञाना. अ. २८)

अर्थ—कई आचार्यों ने धर्म्यध्यान के स्वामी चार भी माने हैं सम्यग्दृष्टि, अणुव्रती श्रावक, प्रमत्त मुनि और अप्रमत्त मुनि।

इसका तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन के बिना धर्म्यध्यान नहीं हो सकता यद्यपि सम्यग्दृष्टि के अन्य ध्यान भी होते हैं। कहीं तीसरे गुणस्थान मे धर्म्य ध्यान का होना बतलाया गया है।

ध्यातारस्त्रिविधा ज्ञेयास्तेषां ध्यानान्यपित्रिधा।
लेश्याविशुद्धियोगेन फलसिद्धिरुदाहृता ॥ २९ ॥ (ज्ञाना. अ. २८)

अर्थ—धर्म्यध्यान के ध्याता के दूसरे प्रकार से तीन भेद भी होते हैं अर्थात् जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट। इस ध्यान के भी इसी तरह तीन भेद होजावेंगे। लेश्याविशुद्धि के योग से फलसिद्धि मानी गई है।

जघन्य धर्म्यध्याता चौथे गुणस्थानवर्त्ती और पञ्चमगुणस्थानवर्त्ती संयतासंयत (अणुव्रती श्रावक) है। मध्यम धर्म्यध्यान का ध्याता छठे गुणस्थानवर्त्ती मुनि है तथा उत्तम धर्म्यध्यान का ध्याता अप्रमत्त गुणस्थानवर्त्ती मुनि है। इस प्रकार धर्म्य ध्याता के समान धर्म्यध्यान के भी तीन भेद होते हैं। जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट। धर्म्यध्यान के फल की प्राप्ति लेश्या की विशुद्धि के अनुसार होती है। ज्यों ज्यो लेश्या की विशुद्धि होती जाती है त्यो त्यो धर्म्यध्यान मे उत्कृष्टता आती जाती है।

धर्म्यध्यान के ध्याता की मुद्रा

पर्यंकदेशमध्यस्थे प्रोत्ताने करकुड्मले।
करोत्युत्फुल्लराजीव सन्निभे च्युतचापले ॥ ३४ ॥

नासाग्रदेशविन्यस्ते धत्ते नेत्रेऽतिनिश्चले ।
प्रसन्ने सौम्यतापन्ने निष्पन्दे मन्दतारके ॥ ३५ ॥ ज्ञाना. अ. २८

अर्थ—ध्यान करने वाला पर्यंकदेश के मध्य भाग मे दोनो हाथो की हथेली ऊपर नीचे रखे और उसके नेत्र चपलता रहित खिले हुए कमल पुष्प के समान खुले रहें। उन स्थिर नेत्रो को नासा के अग्रभाग मे लगावे। वे नेत्र सौम्य गुण से पूरित तथा प्रसन्न हो और मन्द तारावाले उन नेत्रो मे निष्पन्दता हो।

तात्पर्य यह है कि ध्यान के लिए सबसे सुगम पर्यंकासन है। अतः पर्यंकासन (लगाकर) अर्थात् पालथी माडकर अपने दोनो हाथो को उलटे (हथेली पर हथेली) रखे। बायें हाथ की हथेली को नीचे और दाहिने हाथ की हथेली को उसके ऊपर स्थापित करे। शरीर को तना हुआ रखे। अपने सौम्य और प्रसन्न दोनो नेत्रो को नासिका के अग्रभाग मे प्रवृत्त करे। नेत्र की ताराएँ निश्चल हो। दोनों भौहें विकार रहित हो–टेढी न होकर सीधी हो। दोनो ओष्ठ मिले हुए हो और मुख कमल उस सरोवर के समान विकार–चञ्चलता रहित हो, जिस (सरोवर) मे सब मत्स्य मछलियॉ सो रही हो। हृदय मे करुणा स्रोत बह रहा हो, मन मे सवेग और वैराग्य भाव उछलता हो, तथा शरीर की आकृति चित्राम की मूर्त्तिवत् निश्चल हो। जिसका अन्त'करण विवेक रूप समुद्र की लहरों से निर्मल हो रहा हो। जिसके हृदय से रागादि पिशाच विज्ञान–मन्त्र से निकाल दिये गये हो। जो सागर के समान गम्भीर, मेरु के सदृश अचल हो। जिसके मन के सब विकार और शरीर सम्बन्धी सब क्रिया नष्ट हो गई हो। ऐसा निष्कम्प हो कि समीपवर्त्ती चतुर मनुष्य को भी ऐसा भ्रम होने लगे कि यह पाषाण की प्रतिमा है अथवा चित्राम की मूर्त्ति है। इस प्रकार ध्यान करने वाले की मुद्रा समझना चाहिए।

ध्यान की सिद्धि के बाह्य कारणो मे प्राणायाम भी अत्यन्त उपकारक माना गया है, इसलिए इसका भी यहा सक्षेप से वर्णन करते है।

प्राणायाम की उपयोगिता

प्राणवायु की साधना करने को प्राणायाम कहते हैं। जैनेतरमतों मे प्राणायाम के साधन का विस्तृत वर्णन मिलता है। परन्तु उनके प्रयोजन तथा स्वरूप मे भेद है। उन्होने समाधि के आठ अङ्गो मे प्राणायाम को भी एक अङ्ग माना है किन्तु उनका उद्देश्य प्राणायाम द्वारा लौकिक सिद्धिया प्राप्त करना भी है। किन्तु जैन शास्त्रो ने लौकिक सिद्धियो को हेय माना है। यहां तो प्राणायाम का केवल इतना ही उपयोग है कि इसके द्वारा मन निश्चल हो जाय जिससे कि वह आत्म–सिद्धि मे समर्थ होसके। आत्मा का अंतिम ध्येय परम पुरुषार्थ(मोक्ष) है। उसके पाने मे यदि प्राणायाम का उपयोग होसके तो अवश्य करना चाहिये, नहीं तो उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। तात्पर्य यह है कि

ध्यान की सिद्धि और मन की स्थिरता के लिए ही प्राणायाम उपयोगी है सो ही कहा है :—

सुनिर्णीतसुसिद्धान्तैः प्राणायामः प्रशस्यते ।
मुनिभिर्ध्यानसिद्ध्यर्थं स्थैर्यार्थं चान्तरात्मनः ॥ १ ॥ (ज्ञाना. प्र. २६)

अर्थ—ध्यान की सिद्धि के लिए तथा चित्तवृत्ति की स्थिरता के लिए सुनिर्णीत उत्तम सिद्धान्तों से मुनीश्वरों ने प्राणायाम को प्रशसनीय बताया है ।

प्राणायाम के भेद

त्रिधा लक्षणभेदेन संस्मृतः पूर्वसूरिभिः ।
पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम् ॥ ३ ॥ ज्ञाना. अ. २६

अर्थ—पूर्वाचार्यों ने पूरक, कुंभक और रेचक के भेद से प्राणायाम के तीन भेद माने हैं ।

पूरक का स्वरूप

द्वादशान्तात्समाकृष्य यः समीरः प्रपूर्यते ।
स पूरक इति ज्ञेयो वायुविज्ञानकोविदैः ॥ ४ ॥ ज्ञाना. अ. २६

अर्थ—तालु के छिद्र से अथवा बारह अंगुल पर्यंत से वायु को खींचकर यथाशक्ति अपने शरीर में पूरण करने को (भरने को) पूरक कहते हैं । ऐसा वायुविज्ञान वेत्ताओं का मत है ।

कुम्भक का स्वरूप

निरुणद्धि स्थिरीकृत्य श्वसनं नाभिपंकजे ।
कुम्भवन्निर्भरः सोऽयं कुम्भकः प्रकीर्त्तितः ॥ ५ ॥ ज्ञाना. अ. २६

अर्थ—उस पूरक वायु को नाभि कमल में स्थिर करके भरे हुए घड़े की तरह रोके रहने को कुम्भक कहते हैं। अर्थात् जो वायु खेंचकर भरी गई है, उसे नाभि कमल मे थांभे रहना—दूसरी जगह जाने न देना कुम्भक कहलाता है।

रेचक का स्वरूप

निःसार्यतेऽतियत्नेन यत्कोष्ठाच्छ्वसनं शनैः ।
स रेचक इति प्राज्ञैः प्रणीतः पवनागमे ॥ ६ ॥ ज्ञाना. अ. २६

अर्थ--जो कोष्ठ मे भरी हुई वायु है, जिसको नाभि कमल मे रोक रखा है, उसको धीरे धीरे नाक से निकालना रेचक है ऐसा प्राणायाम शास्त्र के ज्ञाता विद्वान् कहते हैं।

प्राणायाम करने वाले को बडा सावधान रहना आवश्यक है। अज्ञानतावश इससे बड़ी २ हानियाँ होती देखी गई हैं। प्राणायाम करते समय मुख द्वारा श्वासोच्छ्वास लेना बन्द रखना चाहिए। वायु को एक तरफ के नथुने (नाक के छिद्र) से तालुवे के छेद तक अथवा बारह अगुल दूर तक की वायु को शनैः शनैः खींचना चाहिए। इस वायु को तब तक खींचते रहना चाहिए जब तक अपनी शक्ति कार्य कर सके। इसके अनन्तर दोनो नाक के छिद्रो को बन्द कर देना चाहिए। उस खींची हुई वायु को नाभि कमल में स्थिर करके थांभे रहना चाहिए। अपनी शक्ति के अनुसार ही थाभना उचित है। शक्ति से अधिक देर तक थाभे रहने से हानि की सम्भावना रहती है।

इसलिए रोकने की शक्ति का ध्यान रखकर उतने समय तक ही कुम्भक करना चाहिए। पश्चात् एक तरफ के नाक के छेद को बन्द कर अर्थात् जिस ओर के नाक के छेद से वायु खींची है उधर के नाक के छेद को बन्द कर दूसरी ओर के नाक के छेद से वायु धीरे धीरे निकालना चाहिए। इस प्राणायाम का अभ्यास करने वाले को ब्रह्मचर्य पालन करने के साथ साथ खान पान आदि में सयम रखना चाहिए। बहुत लघु-पाचन-पदार्थ का भोजन करना ही प्राणायाम मे योग्य है। प्राणायाम के ज्ञाता के समक्ष ही प्राणायाम का अभ्यास करना ठीक माना गया है। इस प्राणायाम से शरीर के आरोग्य के साथ बुद्धि की निर्मलता और मन की एकाग्रता होती है, तथा आत्मा की शक्ति का विकास होता है।

परमेश्वर वायु

नाभिस्कन्धाद्विनिष्क्रान्तं हृत्पद्मोदरमध्यगम् ।
द्वादशान्ते सुविश्रान्तं तज्ज्ञेयं परमेश्वरम् ॥ ७ ॥ ज्ञाना. अ. २६

अर्थ—नाभि स्कन्ध से निकला हुआ हृदय कमल के मध्य भाग से होकर द्वादशान्त (तालुरन्ध्र) में विश्रान्त (ठहरा) हुआ जो पवन है, उसे परमेश्वर जानना चाहिए, क्योंकि वह वायु सब वायु का स्वामी है।

नभि से निकल कर हृदय कमल में होता हुआ जो वायु तालु रन्ध्र मे जाकर ठहरता है, उस वायु की परमेश्वर सज्ञा बताई है। उसकी चाल, गति, तथा देह मे स्थिति को जानकर आत्मा का काल, आयु तथा शुभ अशुभ फल के उदय का ज्ञान होता है। इस वायु का यत्न पूर्वक प्रमाद रहित होकर निरन्तर अभ्यास करने से योगी जीव की सब चेष्टाओ को जानता है।

प्राचीन आचार्यों ने भी तालुरन्ध्र से प्राणवायु को खींचकर उसका धारण करना पूरक तथा उस पूरक की हुई वायु को नाभि के मध्य रोक रखना कुम्भक और उस रुकी हुई वायु को धीरे धीरे बाहर निकालना रेचक है, इस प्रकार माना है।

उक्त प्रकार प्राणवायु का अभ्यास करने वाला योगी सावधान होकर प्राणवायु के साथ मन को धीरे धीरे हृदय कमल की कर्णिका मे प्रविष्ट करके नियन्त्रण करे। इस प्रकार सतत अभ्यास करते रहने पर चित्त स्थिर होता है। चित्त के स्थिर होने पर अन्तः करण से विषय वासना नष्ट हो जाती है। मन मे विकल्पो का प्रादुर्भाव नहीं होता है। तथा आत्मा में विशेष ज्ञान का प्रकाश होता है।

इस प्रकार भावना करते रहने पर अन्तः करण मे अज्ञानान्धकार क्षण भर मे विलीन होता है। इन्द्रियाँ मद हीन हो जाती हैं और कषाय शत्रु का क्षय होने लगता है।

इस पवन साधन के अभ्यास से ऐसा ज्ञान होता है कि इस श्वास रूप वायु का विश्राम तो कहा है, नाड़ियाँ कितनी और कौन कौन है, उन नाड़ियो की पलटना कैसे होती है, इसकी मण्डलगति कौनसी है, तथा इसकी प्रवृत्ति क्या है? इसके अभ्यास की प्रबलता से सम्पूर्ण जगत् का वृत्तान्त प्रत्यक्षसा प्रतीत होने लगता है।

जो योगी प्राणायाम का साधन करते है, उन्हे पृथ्वीमण्डल, जलमण्डल, तेजोमण्डल और वायुमण्डल का निश्चय करना चाहिए, क्योंकि इनका निश्चय होने पर ध्यान की समीचीन सिद्धि होती है।

मंडल चतुष्टय का स्वरूप

घोणाविवरमध्यास्य स्थितं पुरचतुष्टयम्।
पृथक् पवनमंवीतं लक्ष्यलक्षणभेदतः ॥ १६ ॥ ज्ञाना. अ. २९

अर्थ—नासिका के छिद्र को आश्रित करके उक्त चार मण्डल (पृथिवी मण्डल,जल मण्डल,तेजो मण्डल व वायु मण्डल) स्थित हैं। वे लक्ष्य और लक्षण के भेद से भिन्न २ हैं। अर्थात् इनका लक्षण पृथक् पृथक् है।

आशय यह है कि उक्त चार मण्डल अचिन्त्य हैं। अर्थात् इनका चिन्तन करना दुष्कर है। तथा इनका प्रत्यक्ष होना अति कठिन है। किन्तु महान् अभ्यास के बल से इनका बड़े कष्ट से स्वसंवेदन होता है। अर्थात् सतत अभ्यास करने से इनका स्वानुभव होने लगता है। इनका क्रम भी इसी प्रकार है। सबसे प्रथम पृथ्वीमण्डल को, तदन्तर जलमण्डल को जानना चाहिए। इसके पश्चात् वायुमण्डल और सबके अन्त मे वृद्धिगत अग्निमण्डल को जानने का क्रम है।

पृथ्वी मण्डल का स्वरूप

क्षितिबीजसमाक्रान्तं द्रुतहेमसमप्रभम्।
स्याद्वज्रलांछनोपेतं चतुरस्रं धरापुरम्॥ १९ ॥ ज्ञाना. अ. २९

अर्थ—जो पृथ्वी-बीजाक्षर से संयुक्त है, पिघले हुए सोने के समान पीत कान्ति वाली है, तथा वज्रचिह्न से उपलक्षित और चौकोर है वह पृथ्वी मण्डल है।

जल मण्डल का स्वरूप

अर्धचन्द्रसमाकारं वारुणाक्षरलक्षितम्।
स्फुरत्सुधाम्बुसंसिक्तं चन्द्राभं वारुणं पुरम्॥ २० ॥ ज्ञाना. अ. २९

अर्थ—जिस का आकार अर्धचन्द्र के समान है, जो जल बीजाक्षर से संयुक्त है, स्फुरायमान अमृतजल से सींचा हुआ है, तथा चन्द्र समान कान्ति का धारक है, वह जल मण्डल होता है।

वायु मंडल का स्वरूप

सुवृत्तं बिन्दुसंकीर्णं नीलाञ्जनघनप्रभम्।
चञ्चलं पवनोपेतं दुर्लक्ष्यं वायुमंडलम्॥ २१ ॥ ज्ञाना. अ. २९

अर्थ—जो गोलाकार है, विन्दुओ से व्याप्त है, नीलाञ्जन घन के समान नील वर्ण है, चञ्चल है और वायु बीजाक्षर सहित है तथा दुर्लक्ष्य है, जिसका दर्शन अति दुष्कर है वह वायुमण्डल होता है।

अग्निमडल का स्वरूप

स्फुलिंगपिंगलं भीममूर्ध्वज्वालाशतार्चितम् ।
त्रिकोणं स्वस्तिकोपेतं तद्बीजं वह्निमंडलम् ॥ २२ ॥ ज्ञाना अ. २६

अर्थ—जिसका अग्नि के स्फुलिंग (अग्नि के उछलते हुए कण) के समान चमकीला पीतवर्ण है, जो भीमरूप–रौद्ररूप है, ऊँची उडती हुई अग्नि की सैंकड़ो ज्वालाओ से जो युक्त है, जो त्रिकोण आकार वाला तथा स्वस्ति (साथिया) सहित और अग्नि बीजाक्षर से मण्डित है वह अग्नि मण्डल होता है।

पृथ्वी मंडल पवन को पहचानने के चिह्न

घोणाविवरमापूर्य किञ्चिदुष्णं पुरन्दरः
वहत्यष्टाङ्गुलः स्वस्थः पीतवर्णः शनैः शनैः ॥ २४ ॥ ज्ञाना. अ. २६

अर्थ—नासिका के छेद को भले प्रकार वायु से भरकर कुछ उष्णता लिए आठ अंगुल बाहर निकलता हुआ स्वस्थ अर्थात् चाचल्य रहित, मन्द मन्द बहता हुआ जो पवन हो उसे पृथ्वी मण्डल वायु कहते हैं। इसका स्वामी इन्द्र है।

साराश यह है कि प्रथम नासिका के छेद से वायु को भरले, तदन्तर उसको शनैः छोडे। यदि वह निकलती हुई वायु कुछ गर्म हो, आठ अगुल बाहर निकलती हुई प्रतीत हो, जिसमे चपलता न हो और जो मन्द गति से बहती हो, वह पृथ्वी मण्डल वायु है ऐसा समझना चाहिए।

जल मंडल वायु के चिह्न

त्वरितः शीतलोऽधस्तात्सितरुग् द्वादशाङ्गुलः ।
वरुणः पवनस्तज्ज्ञैर्वहनेनावसीयते ॥ २५ ॥ ज्ञाना अ. २६

अथ—जो शीघ्र गति वाला हो, शीतल हो, कुछ नीचे की ओर बहता हो, जिसकी कान्ति श्वेत हो, बारह अंगुल तक बहता हो इस प्रकार बहने वाले पवन को पवन शास्त्र के ज्ञाता विद्वानो ने जलमण्डल वायु कहा है। तात्पर्य यह है कि नासिका के रन्ध्र से निकलते हुए जिस पवन मे शीघ्र गति हो, शीतलता हो, जो नीचे की ओर बहता हो, जिसकी प्रभा (दीप्ति) श्वेत हो, नाक के छेद से लेकर बारह अंगुल प्रमाण दूर प्रदेश तक जिसकी गति हो ऐसे वायु को जल मण्डल वायु कहते हैं।

पवन मण्डल वायु के चिह्न

तिर्यग्वहत्यविशान्तः पवनाख्यः षडङ्गुलः।
पवनः कृष्णवर्णोऽसौ उष्णः शीतश्च लक्ष्यते ॥ २६ ॥ ज्ञाना. अ. २६

अर्थ—जो वायु निरन्तर तिरछा बहता रहे, जो छह अंगुल पर्यन्त बहे, जिसका वर्ण कृष्ण (श्याम) हो, तथा जो शीत और उष्ण रूप हो, ऐसे वायु को वायुमण्डल कहते हैं।

अग्निमण्डल वायु का स्वरूप

बालार्कसन्निभश्चोर्ध्वं सावर्त्तश्चतुरंगुलः।
अत्युष्णो ज्वलनाभिख्यः पवनः कीर्त्तितो बुधैः ॥ २७ ॥ ज्ञाना. अ २६

अर्थ—जो वायु उदय होते हुए सूर्य के सदृश (रक्त) वर्ण वाला हो, कुछ ऊँचे की ओर जिसकी गति हो, जो आवर्त्त (चक्र) सहित हो अर्थात् जो गोल चक्कर लगाता हुआ बहे, जो नासिका के छेद से चार अगुल दूर तक बहे, जो अत्यन्त उष्णता लिए हुए हो, उसे विद्वानो ने अग्निनामक वायु कहा है।

इन वायुओं का उपयोग

मनुष्य को स्तम्भनादि कार्य करने हों तो पृथ्वी मण्डल की वायु शुभ रूप है। समस्त प्रकार के उत्तम कार्य करने हो तो जल मण्डल की वायु उत्तम मानी गई है। चल कार्य अथवा मलिन कार्यों के करने मे पवन मण्डल की वायु श्रेष्ठ मानी गई है और वशीकरणादि कार्यों मे अग्नि मण्डल की वायु श्रेयस्कर होती है।

वायु का शुभाशुभ फल

जिस समय पृथ्वी मण्डल पवन चलता हो, उस समय मनमें जो कार्य करना विचारा हो उसकी सिद्धि की सूचना करता है। यदि उसने धन, राज्य, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, राज्यादि की प्राप्ति का विचार किया हो तो उसकी सफलता ही होती है।

यदि जल मण्डल वायु नाक से बह रहा हो तो वह विभूति सहित अभीष्ट फल विद्या वीर्यादि की प्राप्ति कराता है। पुत्र, स्त्री आदि इष्ट वस्तुओं का संयोग करता है।

यदि अग्नि मण्डल का वायु नाक से निकल रहा हो तो यह दाह स्वभाव वाला वायु जीवों के भय, शोक, दुःख, पीड़ा, विघ्न-परम्परा और विनाश की सूचना करता है।

यदि पवन मण्डल का वायु चल रहा हो तो वह कृषि सेवा वाणिज्यादि से होने वाले सब सिद्ध फलों का नाश प्रकट करता है। यह वायु मृत्यु, भय, कलह, वैर तथा त्रास चिन्ता आदि को सूचित करता है।

स्वरोदय का विशेष स्वरूप

सूर्योदय के समय जो स्वर चलता हो, उससे ही शुभ अशुभ का ज्ञान होता है। शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा द्वितीया और तृतीया को प्रातः काल सूर्योदय के समय वाम (बायाँ) स्वर चलता हो तो श्रेष्ठ माना गया है। इसके पश्चात् तीन दिन (चतुर्थी पञ्चमी और षष्ठी) तक दक्षिण स्वर (दाहिना स्वर), फिर तीन दिन तक वामस्वर पुनः तीन दिन दक्षिण इस प्रकार तीन तीन दिन बदल बदल कर पूर्णिमा पर्यन्त स्वर का चलना शुभ माना गया है। तथा कृष्णपक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया व तृतीया को दक्षिण स्वर, फिर तीन दिन वामस्वर, पुनः तीन दक्षिण स्वर इस प्रकार तीन२ दिन स्वर का बदल २ कर अमावस्या तक चलना अच्छा माना गया है। इसके विपरीत चले तो अशुभ समझना चाहिए।

सूर्योदय के समय यदि चन्द्रस्वर (वामस्वर) प्रारम्भ हुआ हो तो सूर्यास्त के समय सूर्यस्वर (दक्षिणस्वर) होना श्रेष्ठ बताया है। यदि सूर्योदय के समय सूर्यस्वर (दक्षिणस्वर) चलता हो तो अस्त समय चन्द्रस्वर (वामस्वर) अच्छा माना गया है।

समझदार को चाहिए कि शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के दिन सूर्योदय के समय नाडी (स्वर) के द्वारा शुभाशुभ को यत्नपूर्वक देखे।

उसको किस प्रकार विचारे यह आगे बताते हैं।

प्रथम दिवस मे यदि पवन विपरीत चले, अथवा स्वर उलटा चले तो चित्त में उद्वेग उत्पन्न होता है। दूसरे दिन विरुद्ध चले तो धन की हानि की सूचना करता है। तीसरे दिन विपरीत बहे तो परदेश गमन को बतलाता है। और पाच दिन विपरीत बहे तो क्रम से इष्ट प्रयोजन का विनाश, विभ्रम, अपने पद से भ्रष्टता, महायुद्ध और दु ख ये पाच फल होते हैं। तथा इसी प्रकार आगे के पाच पांच दिन का फल अशुभ समझना चाहिए।

इस प्राणायाम का अभ्यासी मनुष्य घोड़े हस्ती आदि के शरीर में स्वेच्छा से प्रवेश कर सकता और निकल सकता है। जिसके शरीर मे प्रवेश करता है, उसके शरीर से निर्लेप रहता है। किन्तु आचार्य कहते हैं कि दूसरे शरीर में प्रवेश करना निकलना आदि क्रिया कौतुक मात्र है और अत्यन्त कठिनता से साध्य है। वही कहा है।

कौतुकमात्रफलोऽयं परपुरप्रवेशो महाप्रयासेन।
सिद्ध्यति न वा कथंचिन्महतामपि कालयोगेन ॥ १०० ॥
स्मरगरलमनोविजयं समस्तरोगक्षयं वपुःस्थैर्यम्।
पवनप्रचारचतुरः करोति योगी न सन्देहः ॥ १०१ ॥ ज्ञाना. अ. २६

अर्थ—पवन साधन करते करते ऐसा सामर्थ्य उत्पन्न होता हे कि जिसके बल से पर पुर प्रवेश (दूसरे के शरीर मे प्रवेश) आदि हो सकता है। यह सब कौतुक मात्र हे। इससे कोई आत्महित नहीं होता इसका सिद्ध होना भी बहुत कठिन है। किन्तु वायु का प्रचार करने में चतुर इसके अभ्यासी योगीजन काम विष से युक्त मन पर विजय प्राप्त करते हैं, इससे समस्त शारीरिक रोगो का क्षय करते हैं और शरीर मे स्थिरता की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार ध्यान के उपकारक साधनों का निरूपण करके अब धर्म्यध्यान का वर्णन करते हैं।—

धर्म्यध्यान का स्वरूप

एयग्गेण मणं णिरुंभिऊण धम्मं चउव्विहं झाहि।
आणापायविवायविचओ य संठाणविचयं च ॥ २०१ ॥ मूला. पञ्चा.

अर्थ—पाचों इन्द्रियो के व्यापार को रोक कर, मानसिक सकल्प विकल्पादि अनेक विचारो मे भ्रमण करते हुए मन को थाम

कर, सत्य-असत्य वचन की प्रवृत्ति का निरोध करके तथा शरीर की गमनागमनादि क्रियाओं का त्याग कर अपने मन को जगदपाय आदि मे लगा देना धर्म्यध्यान है। इसके चार भेद हैं—१ आज्ञाविचय, २ अपायविचय, ३ विपाकविचय और ४ संस्थानविचय।

आज्ञाविचय धर्म्यध्यान

वस्तुतत्वं स्वसिद्धान्तं प्रसिद्धं यत्र चिन्तयेत् ।
सर्वज्ञाज्ञाभियोगेन तदाज्ञाविचयो मतः ॥ ६ ॥ (ज्ञाना अ ३३)

अर्थ—सर्वज्ञ देव की आज्ञानुसार अपने सिद्धान्त आगम मे प्रसिद्ध वस्तु के स्वरूप का चिन्तन करना आज्ञाविचय नामक ध्यान होता है।

आज्ञाविचय नामक धर्म्य ध्यान में विश्वतत्त्व के हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष-ज्ञाता सर्वज्ञ देव की आज्ञा-उपदेश का विचय-विचार-चिन्तन किया जाता है। सर्वज्ञदेव द्वारा प्रतिपादित तत्त्व अतिसूक्ष्म है, वह छद्मस्थ-अल्पज्ञ के प्रत्यक्ष ज्ञान गोचर नहीं होता है। उसमें हेतुओ से कोई बाधा नहीं आती है। हेतुओ के द्वारा उसके खण्डन करने की चेष्टा करना किसी तरह उचित नहीं है। उसे तो आज्ञा मानकर ही स्वीकार करना चाहिये। कहा भी है—

"सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्व हेतुभिर्यन्न हन्यते ।
आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथा वादिनो जिनाः ॥"

अर्थ—श्री जिनेन्द्र सर्वज्ञ देव द्वारा प्रतिपादित तत्त्व हेतुओ से बाधित नहीं होता वह तो आज्ञा सिद्ध होने के कारण ही ग्राह्य है। सर्वज्ञ की आज्ञा को प्रमाण मानकर ही उसे स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि सर्वज्ञ देव के केवलज्ञान में वस्तु जैसी झलकती है वे उसको वैसा ही प्रतिपादन करते हैं, उनके राग द्वेष का सर्वथा अभाव होगया है, इसलिए वे अन्यथावादी नहीं हैं, वस्तु का अयथार्थ कथन करने वाले नहीं हैं। वस्तु के अयथार्थ कथन करने के दो कारण हैं-अज्ञान और कषाय (राग द्वेष)। वस्तु का पूर्ण ज्ञान न होने से वस्तु का यथार्थ कथन नहीं होसकता तथा वस्तु का यथार्थ ज्ञान होने पर भी राग या द्वेष के वश विपरीत कथन होता है। जिसके ये दोनों कमियां नष्ट होगई हों वही यथार्थ उपदेश दे सकता है। जिनेन्द्र देव मे ये दोनों ही बातें नहीं पाई जाती, इसलिए वे यथार्थ वक्ता हैं। उनके उपदिष्ट तत्वों का चिन्तन करना धर्म्यध्यान माना गया है। प्रमाण, नय और निक्षेप आदि से निर्णय किया हुआ वस्तुस्वरूप ही वास्तविक तत्त्व है। वह उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से संयुक्त है। ऐसा तत्त्व सर्वज्ञ कथित स्याद्वादनय से सिद्ध है।

तात्पर्य यह है कि धर्म्यध्यान मे श्रुत निरूपित शब्द और अर्थ का चिन्तन करना चाहिए। श्रुतज्ञान सर्वज्ञ देव की दिव्यध्वनि से प्रतिपादित तत्त्वो को विषय करने वाला है। इसमें विश्व विद्याओ का समावेश है। इसमें संसार के समस्त पदार्थों का प्रकाश है। यह ग्यारह अग, चौदह पूर्व और अग बाह्य, प्रकीर्णक द्वारा समस्त विद्या और कला कौशल आदि का विशद व्याख्यान करने वाला है। यह श्रुतज्ञान अपार और अत्यन्त गम्भीर है; क्योंकि इसके अर्थ का अवगाहन सामान्य मनुष्य नहीं कर सकता है। चार ज्ञान के धारक गणधर भगवान ही इसमे प्रवेश कर सके हैं। यह पूर्वापरविरोध रहित है, महा पुण्यतीर्थ है, जो इसमे प्रवेश करता है वह अति पवित्र होजाता है। इसलिए इसका ध्यान करने से आत्मा मे पवित्र भाव उत्पन्न होते हैं।

मिथ्या मत के मद से उद्धत एकान्तमतानुयायी लोगो के मिथ्यात्व विष का नाश करने वाला एक श्रुतज्ञान ही है। जो मनुष्य इस श्रुतज्ञान का अवगाहन करलेता है वही मिथ्यात्व विष का वमन करने मे समर्थ होता है। इसके चार भेद हैं-प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। इस श्रुतज्ञान की महिमा का वर्णन करते हुए आचाय कहते हैं—

> वाग्देव्याः कुलमन्दिरं बुधजनानन्दैकचन्द्रोदयं
> मुक्तेर्मङ्गलमग्रिमं शिवपथप्रस्थानदिव्यानकम्।
> तत्वाभासकुरङ्गपञ्चवदनं भव्यान्विनेतुं क्षमं
> तच्छ्रोत्राञ्जलिभिः पिबन्तु गुणिनः सिद्धान्तवार्द्धेः पयः॥ २० ॥ (ज्ञाना अ. ३३)

अर्थ—जो सरस्वती देवी के रहने का कुलगृह है, विद्वज्जनो के आनन्द को उत्पन्न करने के लिए अद्वितीय चन्द्रमा का उदय है, मुक्ति का मुख्य मङ्गल है, मोक्ष मार्ग में प्रयाण करने का दिव्य पटह (नगाड़े) का नाद है, तत्त्वाभास (मिथ्यातत्त्व-एकान्तमार्ग) रूप मृग का हनन करने के लिए सिंह के समान है, भव्यो को सुमार्ग की शिक्षा देने मे समर्थ है-ऐसे सिद्धान्तरूपी समुद्र के जल को हे गुणीजनो! कर्णरूपी अजलियो से पान करो।

ऐसे अनुपम श्रुतज्ञान द्वारा निरूपित शब्दार्थ का एकाग्रचित्त से चिन्तन करना आज्ञाविचय नाम का धर्म्यध्यान है।

अथवा जिनेन्द्र देव की आज्ञा का प्रकाश करने के लिए उपाय का चिन्तन करना भी आज्ञाविचय नाम का धर्म्यध्यान है।

जिसका अन्तःकरण सम्यग्दर्शन से विशुद्ध है तथा जो स्वसिद्धान्त व अन्यसिद्धान्त के रहस्य का ज्ञाता है, जिसने सर्वज्ञ प्रणीत धर्मास्तिकायादि सूक्ष्म पदार्थों का नय और प्रमाण से निश्चय कर लिया है तथा जो अन्य भव्य जीवो को अपने श्रुतज्ञान के सामर्थ्य

से नय प्रमाण और निक्षेप द्वारा यथार्थ वस्तु–स्वरूप समझाने मे तत्पर है उसके आज्ञाविचय नाम का धर्म्यध्यान होता है।

अपायविचय धर्म्यध्यान

अपायविचयं ध्यानं तद्वदन्ति मनीषिणः।
अपायः कर्मणा यत्र सोऽपायः स्मर्यते बुधैः ॥ १ ॥ ज्ञाना. अ. ३४

अर्थ— जिसमे कर्मों के नाश का उपाय चिन्तन किया जाता है उसे अपायविचय नामक धर्म्यध्यान कहते हैं।

मिथ्यात्व, अज्ञान और असच्चारित्र के निमित्त से यह जीव अनादि काल से ससार समुद्र मे गोते लगा रहा है और वचनातीत दुःखो को भोगता हुआ अत्यन्त दुःखी होगया है। उस दुःख का विनाश करने वाला एक रत्नत्रय ही है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय ही मिथ्यात्व, अज्ञानादि अन्य कर्मों का क्षय कर शान्ति सुख का देनेवाला है।

अनादि काल से भयानक दुःख रूप दावानल से प्रज्वलित भव कानन मे भ्रमण करते हुए मैंने अब सम्यग्ज्ञान रूप तट पाया है, यदि अब भी वैराग्य और विवेक ज्ञान (भेद ज्ञान) रुप पर्वत के शिखर से गिरूगा तो संसार रूप अन्ध कूप मे अवश्य पड़ जाऊंगा। और कर्मबन्ध का कारण मिथ्यात्व और अविरति रूप नाग मुझे डस लेंगे, जिनसे छुटकारा पाना बड़ा अशक्य होगा। इसलिए मुझे सावधान हो जाना चाहिए। एक तरफ तो कर्मों की सेना है, और दूसरी ओर विपक्ष मे मैं अकेला हूं। यदि मैं असावधान रहा तो इसका फल अनन्त दुःख होगा। इसलिए मेरा कर्त्तव्य है कि मैं रत्नत्रयरूप शस्त्र को धारण किये रहूं। इस प्रकार चिन्तन करना अपायविचय धर्म्यध्यान है।

अथवा ऐसा चिन्तन करे कि इन जीवों के ज्ञान नेत्र मिथ्यादर्शन रूपी अन्धकार से ढक गये हैं, इसलिए अज्ञानवश ये कुचारित्र का आचरण कर रहे हैं। आत्मा को वन्धन मे डालने वाली अनेक कुक्रियाएँ कर रहे हैं और ससार परम्परा की वृद्धि कर रहे हैं। ये भोले जीव किस उपाय से इस कुमार्ग से निवृत्त हो सकेंगे इस प्रकार चिन्तन करने को राजवार्तिक में 'सन्मार्गापायचिन्तनमपायविचय:' सन्मार्गापाय (सन्मार्ग के त्याग से होने वाली हानि) का चिन्तन करना अपायविचय नामक धर्म्यध्यान कहा गया है।

अथवा मिथ्यादर्शन से जिनकी बुद्धि विक्षिप्त होती है, ऐसे मिथ्यादृष्टियो के द्वारा बताये हुए कुमार्ग से ये भोले जीव कैसे हटाये जावें। इस उन्मार्ग पर चलकर ये जीव घोर कर्मों का बन्ध कर रहे हैं। किस उपाय से उन्मार्ग से इनको अलग किया जावे–ऐसे विचार करने को राजवार्तिक में 'असन्मार्गापायचिन्तमपायविचय.' अर्थात् असत्यमार्ग से निवृत्त करने के लिए चिन्तन करना अपायविचय धर्म्यध्यान कहा है।

स० प्र०

अथवा ये जीव राग द्वेष से मलीन चित्त वाले कुदेव, विषयाभिलाषी तथा परिग्रह धारक कुगुरु और हिंसादि पापो एव रागादिकों का समर्थन करने वाले एकान्तमत के पोषक कुशास्त्रो का तथा इन तीनों के अनुयायियों का सेवन करके महापाप वन्ध कर रहे है। वेचारे ये भोले जीव इससे किस प्रकार छूटे ऐसा चिन्तन करना भी अपाय विचय धर्म्यध्यान है।

अथवा इन ससारी जीवो की पाप जनक शारीरिक क्रियायें, स्व पर के अहितकारी–पापोत्पादक वचन और अशुभ मानसिक भावना किस प्रकार छूटे इस प्रकार चिन्तन करने को भी अपायविचय धर्म्यध्यान कहते हैं।

ध्यान मे किस प्रकार चिन्तन करे :—

कोऽहं ममास्रवः कस्मात्कथं वन्धः क्व निर्जरा ।
का मुक्तिः किं विमुक्तस्य स्वरूप च निगद्यते ॥ ११ ॥ ज्ञाना.अ. ३४

अर्थात्—मैं कौन हूं ? मेरे कर्मों का आस्रव किस कारण से होता है ? कर्मों का वन्ध कैसे होता है ? निर्जरा का कारण क्या है ? मुक्ति क्या वस्तु है ? तथा मुक्त जीव का स्वरूप क्या है ?

इन प्रश्नो का उत्तर मनुष्य अपने अन्त.करण मे विचारे। इनका चिन्तन कर उपादेय तत्त्व को ग्रहण करे और हेय तत्त्व को छोडदे। हेय तत्त्व (आस्रव वन्ध) का स्वरूप क्या है, उनके कारण कोन २ है, तथा उनका फल जीव को किस प्रकार भोगना पडता है इत्यादि विचार करे। सवर और निर्जरा उपादेय तत्त्व है। इनका स्वरूप,कारण और फलादि का भी इसी तरह चिन्तन करना चाहिए। इसी तरह मुक्ति के विषय मे भी नाना प्रकार के प्रश्नो को उठा कर विचार करना चाहिए। ऐसे विचारों से आत्मा का अशुभोपयोग नष्ट होता है। अशुभोपयोग आत्मा के लिए वडा अहितकर है।

अशुभोपयोग ससार का कारण है। यद्यपि शुभोपयोग भी वन्ध का कारण है फिर भी वह परम्परा मोक्ष का कारण वन सकता है, इसलिए जब तक शुद्धोपयोग की प्राप्ति न होती, तब तक वह उपादेय है। शुद्धोपयोग के प्राप्त होने पर तो वह भी हेय ही माना गया है। इसलिए धर्म्यध्यान मे चिन्तन किया जाता है कि मेरा आत्मा कर्म मल से मलिन होने के कारण अनेक दु.खो का अनुभव कर रहा है,लेकिन ये दु ख मेरा स्वरूप नहीं है,कर्मयोग जन्य पीडा हैं। मोक्ष मेरा स्वरूप है। यदि मैंने अपने आत्मा को जान लिया तो ससार भर को जान लिया मै ही सर्वज्ञ हूं, मैं सवदर्शी हूँ, मैं निरञ्जन हूं। समस्त ससार के अनन्त पदार्थ मेरे विशाल ज्ञान मे झलकते हैं। इसलिए मुझे एक निजात्मा का अवलोकन और मनन चिन्तन करना चाहिए। इसका अवलोकन होने पर समस्त ससार का अवलोकन और इसका प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर सम्पूर्ण ससार भर का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। कहा भी है—

"एको भावः सर्वभावस्वभावः सर्वे भावाः एकभावस्वभावः ।
एको भावस्तत्वतो येन बुद्धः सर्वे भावास्तत्वतस्तेन बुद्धाः ॥"

अर्थ—एक पदार्थ सम्पूर्ण पदार्थों के स्वभाव रूप है और सम्पूर्ण पदार्थ एक पदार्थ का स्वभावरूप है। जिसने एक पदार्थ का पूर्ण ज्ञान कर लिया, उसने सम्पूर्ण पदार्थों को भी जान लिया है।

जिसने आत्मा को स्पष्ट जान लिया है, उसने संसार के समस्त पदार्थ का ज्ञान प्राप्त कर लिया समझना चाहिए। आत्मा को जब अपने सब गुणो का स्पष्ट अनुभव हो जाता है तब वह संसार के समस्त द्रव्य और गुण पर्यायों को भी स्पष्ट जान लेता है। क्योंकि आत्मा मे एक ज्ञान गुण ऐसा है, जिसमे समस्त लोक के पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं। आत्मा अपने ज्ञान गुण को स्पष्ट जानता है,तब उसमे प्रतिबिम्बित हुए सम्पूर्ण लोक के पदार्थों को भी वह स्पष्ट जानता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो एक आत्मा को जानता है, वह सब पदार्थों को जानता है।

जब तक मेरा बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध रहेगा, तब तक मेरा अपने आत्म-स्वरूप मे स्थित रहना स्वप्न मे भी सम्भव नहीं है; इसलिए मुझे अपने आत्मस्वरूप मे ही स्थित रहना चाहिए, इस प्रकार मोक्ष मार्ग मे स्थिर रहने का उपाय चिन्तन करना तथा कर्म के क्षय का चिन्तन करना और आत्म-सिद्धि (मोक्ष) के लिए उपायो का चिन्तन करना अपाय विचय नामक धर्म्यध्यान माना गया है।

इस प्रकार अपायविचय धर्म्यध्यान का वर्णन करके अब विपाकविचय नामक धर्म्यध्यान के तीसरे भेद का निरूपण करते हैं।

विपाक विचय का स्वरूप

स विपाक इति ज्ञेयो यः स्वकर्मफलोदयः ।
प्रतिक्षणसमुद्भूतश्चित्ररूपः शरीरिणाम् ॥ १ ॥ (ज्ञाना अ. ३५)

अर्थ—ससार के समस्त प्राणियों के पूर्वोपार्जित अपने शुभाशुभ कर्मों का जो सुख दुःखादिरूप फल उदय मे आता है, उसे विपाक कहते हैं। यह सम्पूर्ण जीवों के क्षण क्षण मे उदय मे आता है। और उसके ज्ञानावरणादि अनेक भेद हैं।

यह जीव अनादि काल से कर्मबन्धन से बद्ध है इसके प्रत्येक समय मे ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का उदय रहता है और द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के निमित्त को पाकर अपने स्वभाव के अनुसार नियम से सुख दुःखादि फल को देता है।

कर्मों का फल अनेक रूप मे इस प्राणी को प्राप्त होता है। वह विभिन्न गतियो मे नाना प्रकार के सुख दुःख भोगता रहता है। वह अपने आपको भूला हुआ कभी शाति को प्राप्त नहीं होता। कर्म अनेक तरह से हमे सताते हैं। नरक के महादुःख, तिर्यंचगति की वध बंधनादि पीडा, देवगति के मानसिक सताप और मनुष्य जन्म की इष्ट वियोगादि वेदनाएँ सभी कर्म विपाक के वैचित्र्य हैं। धनी-दरिद्र, विद्वान्-मूर्ख, सुन्दर-असुन्दर आदि सभी पर्यायें कर्मों का ही फल है। ससार में जो साताजनित थोड़ा बहुत सुख प्राप्त हो जाता है वह भी कर्म कृत ही है

कर्मों की दश अवस्थायें हैं-बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण उपशम, निधत्त, और निकांचित।

बन्ध—जीव और कर्मों के मिलने को बन्ध कहते हैं। उदय-अपनी स्थिति को पूरी करके कर्मों के फल देने को उदय कहते हैं। उदीरणा- तप आदि निमित्तों से स्थिति पूरी किये बिना ही कर्मों के फल देने को उदीरणा कहते हैं। सत्त—जब तक कर्म आत्मा के साथ सम्बन्ध रखते हैं तब तक उनकी सत्ता कहलाती है। उत्कर्षण-जिस कर्म की जितनी स्थिति बाधी हो, उतनी से अधिक हो जाने को उत्कर्षण कहते हैं। अपकर्षण-कर्मों की बन्धी हुई स्थिति के घट जाने को अपकर्षण कहते हैं। सक्रमण-किसी कर्म के सजातीय एक भेद से दूसरे भेद रूप हो जाने को सक्रमण कहते हैं। उपशम-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से कर्म की शक्ति के प्रकट न होने को उपशम कहते हैं, अर्थात् जब कर्मों की उदीरणा नहीं होती है तब उदय भी नहीं होता है, तब उपशम होता है। निधत्त-संक्रमण और उदीरणा न होने को अर्थात् जो कर्म प्रकृति बाधी हो वह न दूसरे रूप हो और न उसकी, उदीरणा हो उसे निधत्त कहते हैं। निकाचित-बाधी हुई कर्म प्रकृतियो की स्थिति का घटना, बढना, पररूप होना और उदीर्ण होना ये चारो बातें न हो उसे निकाचित कहते हैं।

विपाक विचय शुक्ल ध्यान मे कर्मों की विभिन्न प्रकृतियो के विभिन्न गुणस्थानो मे उदय, बंध और सत्ता आदि का भी विचार किया जा सकता है, इसलिए यहा भी इनका विचार करना आवश्यक है। सर्व प्रथम यहा यह बतलाया जाता है कि किस गुणस्थान में कितनी२ कर्म प्रकृतियो का बन्ध होता है।

पहले मिथ्यात्व गुण स्थान मे ११७ प्रकृतियो का बन्ध होता है। कर्मों की सब मिला कर १४८ प्रकृतिया हैं। इनमे से स्पर्शादिक २० प्रकृतियो का स्पर्शादिक ४ मे और ५ बन्धन एव ५ संघातो का पांच शरीरो मे अन्तर्भाव हो जाता है। इस कारण भेद विवक्षा से सब १४८ और अभेद विवक्षा से १२२ प्रकृतिया हैं। इनमे से अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति इन दोनों का बन्ध नहीं होता है। क्योकि इन दोनो की सत्ता सम्यक्त्व परिणामो से मिथ्यात्व प्रकृति के तीन खण्ड करने पर होती है। इसलिये अनादि मिथ्यादृष्टि की बन्ध योग्य प्रकृतिया कुल १२० हैं। इनमे से मिथ्यात्व-गुणस्थान मे तीर्थंकर प्रकृति, आहारक शरीर और आहारक अङ्गोपांग इन तीन प्रकृतियो का बन्ध नहीं होता है। क्योकि इन तीनो का बन्ध सम्यग्दृष्टियों के ही होता है। इस तरह पहले गुणस्थान में ११७ प्रकृतियो का बन्ध होता है।

स० प्र०

दूसरे सासादन गुण स्थान में [illegible] १०१ [illegible] ऊपर कही हुई ११७ प्रकृतियों में से मिथ्यात्व, [illegible], नपुंसक वेद, नरक गति, नरकानुपूर्वी, नरकायु, [illegible], [illegible], [illegible] स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण इन सोलह प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है।

तीसरे मिश्रगुण स्थान में [illegible] प्रकृतियों का [illegible] है। [illegible] १०१ प्रकृतियों का बन्ध होता है, उसमें से अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], मध्यम संस्थान, [illegible] [illegible] [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], नीच गोत्र [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] प्रकृतियों के [illegible] [illegible] [illegible] मनुष्यायु और देवायु के भी [illegible] [illegible] [illegible] इस गुणस्थान में [illegible] [illegible] [illegible] होता है। [illegible] ७४ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

चौथे गुणस्थान में ७७ प्रकृतियों का [illegible] [illegible] ७४ और मनुष्यायु देवायु तथा तीर्थंकर ये तीन हुए ७७।

पांचवें गुणस्थान में ६७ प्रकृतियों का [illegible] [illegible] [illegible] ७७ प्रकृतियों में से अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, मनुष्य गति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, [illegible], औदारिक अंगोपांग और वज्रऋषभनाराच संहनन, ये दस प्रकृतियां घटा देने से ६७ रह जाती हैं।

छठे गुणस्थान में ६३ प्रकृतियों का [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ, इन चार को घटा देने से ६३ रहती हैं।

सातवें गुणस्थान में ५९ प्रकृतियों [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ६३ [illegible] प्रकृतियों में से अस्थिर, अशुभ, असाता [illegible], [illegible] और शोक [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] मिलाने से ५९ होती हैं।

आठवें गुणस्थान में ५८ प्रकृतियों का [illegible] [illegible] [illegible] ५९ में से [illegible] [illegible] घटाने से ५८ प्रकृतियों का बन्ध रहता है।

नवमें गुणस्थान में २२ प्रकृतियों का बन्ध होता है। ऊपर की ५८ में से नीचे लिखी ३६ प्रकृतियों को घटाने से २२ रहती हैं। निद्रा, प्रचला, तीर्थंकर, निर्माण, प्रशस्त विहायोगति, पंचेन्द्रिय जाति, तैजस शरीर, कार्माण शरीर, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, समचतुरस्र संस्थान, वैक्रियक शरीर, वैक्रियक अंगोपांग, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, अगुरु लघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, हास्य, रति, जुगुप्सा, और भय।

दशवें गुणस्थान मे १७ प्रकृतियो का बन्ध होता है। ऊपर की २२ मे से पुरुष वेद, और संज्वलन क्रोध, मान, माया लोभ को घटाने मे १७ रहती है।

ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान मे केवल एक सातावेदनीय प्रकृति का बन्ध होता है। दशवें मे जिन १७ प्रकृतियों का बन्ध होता है, उनमे से ज्ञानावरणीय की ५ दर्शनावरणीय की ४, अन्तराय की ५, यश'कीर्ति और उच्चगोत्र इन १६ को घटाने से एक सातावेदनीय रह जाती है। अन्त के चौदहवें गुणस्थान मे किसी भी प्रकृति का बन्ध नहीं होता है। वह बध रहित अवस्था है। इस तरह सब गुणस्थानो की बन्ध प्रकृतिया बतलाई। निश्चयनय से आत्मा को कर्म बन्ध से रहित जानना चाहिये।

अब आगे यह बतलाते हैं कि किस गुणस्थान मे कितनी कितनी प्रकृतियो का उदय होता है .—

मिथ्यात्व गुणस्थान मे ११७ प्रकृतियो का उदय होता है। १२२ मे से सम्यक्प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व, आहारक शरीर, आहारक अङ्गोपाग और तीर्थंकर प्रकृति इन पाच प्रकृतियो का उदय इस गुणस्थान मे नहीं होता। दूसरे गुणस्थान मे १११ प्रकृतियो का उदय होता है। पहले गुणस्थान की ११७ मे से मिथ्यात्व, आताप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण और नरकगत्यानुपूर्वी इन ६ प्रकृतियों का उदय नहीं होता है। तीसरे गुणस्थान मे १०० प्रकृतियो का उदय होता है। दूसरे गुणस्थान की १११ प्रकृतियो मे से अनन्तानुबन्धी ४ एकेन्द्रियादिक ४ और स्थावर १ इन ६ व्युच्छिन्न प्रकृतियो के घटाने से शेष रही १०२, उनमे से नरकगत्यानुपूर्वी के बिना (क्योकि यह दूसरे गुणस्थान मे घटाई जा चुकी है) शेष की तीन आनुपूर्वी घटाने से (क्योकि तीसरे गुणस्थान मे मरण न होने मे किसी भी आनुपूर्वी का उदय नहीं है) शेष रही ६६ और एक सम्यग्मिथ्यात्व का उदय यहा मिला—इस तरह इस गुणस्थान में १०० प्रकृतियो का उदय होता है। चौथे गुणस्थान मे 'सौ चौ' अर्थात् १०४ प्रकृतियो का उदय होता है। ऊपर की १०० प्रकृतियों मे से व्युच्छिन्न प्रकृति सम्यग्मिथ्यात्व के घटाने पर रही ६६, इनमे चार आनुपूर्वी और १ सम्यक्प्रकृति इन पाच के मिलाने से १०४ हुई। पाचवे गुणस्थान मे ८७ प्रकृतियो का उदय होता है। पूर्व की १०४ प्रकृतियो मे से अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, देवायु, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकायु, वैक्रियक शरीर, वैक्रियक अङ्गोपाग, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, तिर्यंगत्यानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय, और अयश'कीर्ति इन सत्तरह व्युच्छिन्न प्रकृतियो के घटाने से ८७ रहती हैं। छठे गुणस्थान में ८१ प्रकृतियो का उदय होता है। पिछली ८७ मे से प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, तिर्यंगति, तियगायु, उद्योत और नीच गोत्र इन आठ व्युच्छिन्न प्रकृतियो के घटाने से शेष रही ७६, इनमे आहारक शरीर, और आहारक अङ्गोपाग मिलाने से ८१ प्रकृतिया होती हैं। सातवे मे ७६ प्रकृतियो का उदय होता है। पिछली ८१ मे से आहारकशरीर, आहारकअङ्गोपाग, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचला, और स्त्यानगृद्धि के घटाने से ७६ प्रकृतिया रहती हैं। आठवे मे ७२ प्रकृतियो का उदय होता है। पिछली ७६ मे से सम्यक्त्व प्रकृति, अर्द्धनाराच, कीलक और असम्प्राप्तासृपाटिका इन चार का उदय नहीं होता है। नवमे गुणस्थान मे ६६ का उदय होता है। पिछली ७२ मे

कि छींका के तो आधार है और यह निराधार है। इस लोक के चारों ओर घनोदधि नामक वातवलय है। उसके आधार पर यह लोक स्थित है। घनोदधि वातवलय के चारो ओर घनवातवलय वायु है, उसके आधार पर घनोदधिवातवलय है। तथा घनवातवलय के चारो ओर तनुवातवलय है, उसके आधार पर घनवातवलय है। और तनुवातवलय आकाश के आधार पर है और आकाश स्वप्रतिष्ठित है। इसका आधार भूत कोई दूसरा द्रव्य नहीं है। क्योंकि आकाश सर्वतो अनन्त है, इससे अधिक परिमाणवाला दूसरा कोई नहीं है।

यह लोक तीन भागो मे विभक्त है। ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। अधोलोक का आकार वेत्रासन (मोढ़े) के आकार समान है। मध्यलोक झालर के आकार समान और ऊर्ध्वलोक मृदंग के आकार समान है।

यह सम्पूर्ण लोक पाव फैलाकर तथा कटि (कमर) पर हाथ रखकर खड़े हुए पुरुष के आकार समान है। नीचे पाव से लेकर कटि पर्यन्त के भाग के समान आकार वाला अधोलोक है। इसकी ऊँचाई सात राजू प्रमाण है। अधोलोक नीचे सात राजू चौडा है, पश्चात् क्रम से घटता हुआ कटि पर्यन्त भाग मे अर्थात अधोलोक के अन्तिम भाग मे एक राजू चौडा रह गया है। उसके नीचे एक राजू प्रमाण क्षेत्र मे केवल निगोद जीव राशि है, और ऊपर के शेष छह राजू प्रमाण क्षेत्र मे सात नरक पृथिविया है। जिनमे नारकी जीव निवास करते हैं। इस प्रकार अधोलोक सात राजू प्रमाण क्षेत्रवाला है। इसके ऊपर मध्यलोक है। इसकी चौडाई तो एक राजू प्रमाण है। जिसमे असख्यात द्वीप समुद्रो का समावेश है। इसकी ऊँचाई मेरु प्रमाण–एक लाख योजन प्रमाण है। इसके ऊपर मेरु की चूलिका के अग्रभाग मे एक बालाग्रभाग के अन्तर पर सौधर्म स्वर्ग का ऋजु विमान है। यहा से ऊर्ध्वलोक का प्रारम्भ होकर तनुवातवलय के अन्तिम भाग मे ऊर्ध्वलोक का अन्त होता है। इसकी ऊँचाई भी सात राजू प्रमाण है। और चौडाई मध्यलोक के अन्तिम भाग में एक राजू है, उससे क्रमश बढता हुआ ब्रह्म स्वर्ग मे पाच राजू प्रमाण चौड़ा होगया है। फिर वहा से क्रमश घटता हुआ अन्त मे एक राजू प्रमाण चौडा रह जाता है। इस प्रकार यह मध्यलोक चौदह राजू प्रमाण ऊँचा है। इसके मध्यभाग मे एक राजू प्रमाण चौड़ी और चौदह राजू प्रमाण ऊँची त्रसनाली है। इस त्रसनाली मे ही त्रस जीव निवास करते है इसके बाहर मारणान्तिक समुद्घात, उपपाद समुद्घात और केवली समुद्घात को छोडकर त्रसजीव नहीं रहते हैं।

अधोलोक मे छह राजू के अन्दर जो सात भूमियां है उनमे नारको का निवास है और वे निवासस्थान (बिल) अत्यन्त भयानक होते है। रत्नप्रभा नामक प्रथम पृथिवी से लेकर चार पृथिवियो के तथा धूम प्रभा नामक पाचवीं पृथ्वी के ऊपर के एकलाख बिल (नारकियो के निवास स्थान) वज्राग्नि के समान स्वाभाविक रूप से अत्यन्त उष्ण हैं। उनकी उष्णता इतनी उग्र है कि मेरुसमान एक लाख योजन प्रमाण लोहे का गोला यदि वहा डाला जावे तो वह तत्काल पिघल सकता है।

पाचवीं नरक भूमि के नीचे भाग के दो लाख और छठी तथा सातवीं भूमि के एक लाख बिल अत्यन्त शीत युक्त है। वे भी इतने ठडे हैं कि उनमे भी मेरुप्रमाण एक लाख योजन प्रमाण लोहे का गोला डाला जावे तो अति शीघ्र विशीर्ण होजाता है अर्थात् प्र

खंड २ होकर बिखर जाता है। उनमे इतना भयङ्कर शीत है।

हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और बहुत आरम्भादि उग्र पाप करने वाले महापातकी तथा मिथ्यात्व, अविरति, क्रोधादि तथा रौद्र ध्यान रूप अत्यन्त उग्र परिणाम के धारक, कृष्ण लेश्या के वशीभूत क्रूर जीव उन नरको मे जन्म लेते हैं।

उन नरको मे तलवार की धार के समान अत्यन्त तीखे पत्रोवाले वृक्ष जगह जगह पर हैं। अत्यन्त उग्र घाम की पीड़ा से बचने के लिए नारकी जीव उन वृक्षो की छाया का आश्रय लेने जाते हैं तो वृक्षों मे तलवार की धार से भी तीखे पत्ते उन पर गिरते हैं और उनके शरीर के खड २ होजाते हैं।

वहा पर सडे, गले वसा (चर्बी) रुधिर पीप आदि का कीचड हो रहा है तथा पीप, सड़े हुए रुधिर, चर्बी आदि से भरी नदी सी बहती है, जिसमे वज्र के समान मुखवाले कीडे रहते हैं, उनमे नारकी गिराये जाते हैं। उन वज्रमुख कीडो के काटने से उनके शरीर मे असह्य वेदना होती है। उससे दुःखित होकर बाहर भागते हैं तब उन्हें गीदड, सिंह, व्याघ्र जन्तु नोच नोच कर खाते हैं। तथा ऊपर से गिद्ध उल्लू, काकादि तीक्ष्ण वज्रसमान चोच के धारक पक्षी उन्हें तीक्ष्ण चोचो मे चीथ डालते हैं।

वहा पर अतितीक्ष्ण वज्रसमान काटे वाले शाल्मलि आदि वृक्ष हैं। उनपर नारकी जीव औंधे मुख ऊपर पाव कर लटकाये जाते हैं। और उन काटो पर रगड कर खैंचे जाते हैं। जब वे असह्य वेदना से पीड़ित होकर चिल्लाते विलाप करते हुए नीचे गिरते हैं, तब वज्र समान दहकती हुई अग्नि वाली विशाल भट्टियो मे गिरते हैं। जिनमे लोहे के वज्रसमान काटे बिछे रहते हैं और जिनमे लोहा पिघलाया जाता है। उनमे वे बारम्बार उछलते गिरते रहते हैं। उनका अणु समान खड २ होकर बिखर जाता है और पुन मिल जाता है। वे अनपवर्त्य आयुष्य वाले हैं, इसलिए आयु पूर्ण किये बिना उनका मरण नहीं होता है।

तीसरी पृथ्वी पर्यन्त अम्बावरीषादि असुर कुमार जाति के देव जाते हैं, और उन्हें पूर्वविरोध स्मरण दिलाकर परस्पर नारकियो से लडाते हैं। तब नारकी अति क्रुद्ध होकर एक दूसरे को मारने को दौडते हैं। कोई सिंहादि का रूप बनाकर दूसरे को खाने लगता है। कोई गिद्धादि पक्षी बनकर नोचने लगता है। कोई करौत बन जाता है और दूसरे नारकी उस करौत को थाम कर तीसरे अपने विरोधी नारकी को कतरने लगता है। कोई तलवार बरछी आदि शस्त्र बनकर अपने शत्रु नारकी को छिन्न भिन्न कराने मे कारण बनता है।

वहा की अत्युग्र गर्मी से भयङ्कर प्यास लगती है कि समुद्रो के पानी से भी प्यास शान्त न हो सके, किन्तु वहा एक बूद भी पानी नहीं मिलता। इसके विपरीत उन्हें पूर्वपाप का स्मरण दिलाकर वे असुर कुमार जाति के देव उन्हें पिघलाया हुआ लोहा और सीसा

तथापि वहा एक दाना भी नहीं मिलता।
पिलाते हैं। वहा क्षुधा इतनी होती है कि संसार भर के अन्न भक्षण कर जाने पर भी शान्त न हो, नारकी विक्रिया से तिर्यंच और शस्त्रादि का रूप धारण कर लेते हैं।

यह स्मरण रहे कि नारक भूमि में तिर्यंच प्राणी नहीं होते हैं। हिंसक सिंह शूकर गिद्धादि तिर्यंच जीव रूप तथा शस्त्रादि रूप विक्रिया कर सकते हैं। वे नारकी शुभ विक्रिया करना चाहें तो भी नहीं कर सकते। अर्थात् एक शरीर से नारकी एक विक्रिया कर सकता है। नारकी अपने एक शरीर से दो या अधिक विक्रिया नहीं कर सकता है। उनके अपृथक् विक्रिया होती है। वहा पर तिर्यंचादि जन्तु न होने से वास्तविक मास रुधिरादि भी नहीं होते, किन्तु वहा की भूमि के पुद्गल वैसे ही दुर्गन्धादि के धारक होते हैं।

वहा की भूमि का स्वाभाविक स्पर्श इतना कठोर होता है कि तीक्ष्णातितीक्ष्ण शस्त्र से भी अधिक दु:खप्रद होता है। सहस्रो विच्छुओ के एक साथ डक मारने से जितना दु ख होता है, उससे भी सहस्र गुणित दु ख वहा की भूमि के स्पर्श से होता है।

वहां की भूमि का रस इतना कटु (कडुवा) व घिनौना होता है कि हालाहल विष भी उसकी उपमा धारण नहीं कर सकता।

वहा का गन्ध इतना भयानक होता है कि असख्य सडे हुए पचेन्द्रिय शरीरो से निकलने वाला दुर्गन्ध भी उसकी समानता नहीं कर सकता।

वहा का वर्ण (रूप) भी महाभयानक होता है। जिस पक्षी के पख नोच लिये गये हो और इसलिए जिसका विड् रूप आकार होगया हो, उससे भी असख्यगुणित असुन्दर वहा की भूमि का वर्ण (रूप) है।

वहा पर असह्य, प्रतीकार रहित सम्पूर्ण रोग एक साथ नारकियो के शरीर मे उत्पन्न होते हैं। जिनकी पीड़ा का वर्णन करना वचन शक्ति से वाहर है।

वहा के नारकियों के हुडक सस्थान है। अर्थात् उनका प्रत्येक अङ्ग उपाग वेडोल और वीभत्स (भयानक) है। उनके नेत्र अग्नि की चिनगारी के समान हैं। जिससे वे अत्यन्त क्रूर मालुम होते है तथा उनके सदा आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान ही रहता है।

वहा नित्य आर्त्तनाद-रोने चिल्लाने की कठोर ध्वनि सुनाई देती है और गीदड शार्दूल आदि क्रूर प्राणी के आकार दिखाई देते रहते हैं।

वहा पर जन्म लेते ही नारकी अन्तर्मुहूर्तमे परिपूर्णावयव होजाता है और उस रुद्र-भयङ्कर स्थान को देखकर अत्यन्त शङ्काकुल होकर मनमें सोचने लगते हैं कि यह भूमि कैसी है। मैं कौन हूं ?, मैं किन कर्मों के कारण यहा लाकर गिराया गया इत्यादि। इसके पश्चात्

'विभङ्गावधि (कुअवधि) ज्ञान से वे जानते हैं कि हिंसादि पाप कर्मों के करने से उत्पन्न हुए रौद्रध्यान से मैं इस नरक समुद्र मे पड़ा हू, । ऐसा जानकर उन्हे अत्यन्त दु सह पश्चाताप होता है।

वह नारकी जीव विचारता है कि मैंने मनुष्य जन्म भी पाया था, किन्तु उसको विषयाशा मे व्यतीत करदिया, कषायो मे और रौद्रध्यान के कार्यों मे लगा रहा, जिससे आज मुझे यह घोर भयानक दु ख भोगने के लिए बाध्य होना पड़ा है। वे महापुरुष धन्य हैं; जिन्होने मनुष्य जन्म को पाकर सम्यक्त्व रत्न को अपनाया है, तथा ससार के भोग-भुजगो से उद्विग्न होकर विषयवासना से चित्त को हटाया और कामाग्नि को ब्रह्मचर्य-जल से बुझाकर जन्ममरणादि की पीड़ा को शान्त करने के लिए तपस्या का आचरण किया है। अपने शरीर पर-धैर्य धारण कर भयानक उपसर्गरूप अग्नि की वृष्टि की परवाह न कर उन्नत कर्म किये हैं। धर्म्य ध्यान व शुक्लध्यान द्वारा कर्मेंधन को भस्म कर जिनने अनुपम शान्ति सुख की प्राप्ति की है, वे महात्मा धन्य है, उनका जीवन धन्य है।

उन महापुरुषो के द्वारा दिये गये उपदेशो की मैंने अवज्ञा की तथा परुष (कठोर) और कटु शब्दो से उनकी निन्दा की।

अविद्या और विषय लालसा से शून्य हृदय हुए मैंने निर्दोष, निरपराध त्रस और स्थावर जीवो का घात किया। परधन की लालसा के वशीभूत हुए तथा परस्त्री सगम की लम्पटता और रौद्रध्यान में तत्पर हुए मैंने चिरकाल तक दुष्कर्म किये, जिसके फलस्वरूप इस अनन्त यातना के कारण दुरन्त नरक सागर मे आकर पड़ा हूँ।

हाय ! मैं जब स्वतन्त्र था, तब भी मैंने आत्महित के कार्य नहीं किये। अब मैं सर्वथा परतन्त्र हूँ। शुभकर्म तथा पुरुषार्थ से वर्जित हू, अब मै क्या कर सकता हू।

मैंने अपने शारीरिक बल के गर्व से उद्धत होकर अनेक दीन प्राणियो को सताया, धनिको का धन लूटा, अनेक अनीतिपूर्ण कार्यों मे प्रवृत्ति की। पुर नगरादि मे अग्नि लगाई, जल,स्थल और गगनचारी जीव जन्तुओ का वध किया। धन के मद मे उन्मत्त होकर अनेक दुर्व्यसनो का सेवन किया। मुनि, श्रावक और सधर्मी बन्धुओं को आहारादि दान न देकर, खोटे पाप कर्मों में अभिमान वश धन का व्यय किया। छल कपट तथा अन्याय से गरीबो का धन ग्रहण किया। उन दुष्कर्मों का स्मरण भी करौत के समान मेरे चित्त को भेदन करता है।

स्त्री, पुत्र, बन्धुगण, भृत्यादि अब कहा गये, जिनके लिए मैंने अपनी आत्मा का घात करनेवाले अनेक पापकृत्य किये। वे मेरे साथ एक कदम भी नहीं आये, मैं अकेला ही उन दुष्कर्मों का फल भोग रहा हूँ।

इस प्रकार वह नारकी जीव विचारता है और अपने चित्त मे अत्यन्त व्याकुल होकर दु.ख का अनुभव करता है।

मध्यलोक का वर्णन

मध्यलोक झालर के समान आकारवाला है। इसका विस्तार एक राजू प्रमाण है। इसमें असख्यात द्वीप समुद्र है। उन द्वीप और समुद्रो के मध्य जम्बू द्वीप है। वह वलय (चूडी) के समान गोल है। उसका विस्तार एक लाख योजन प्रमाण है। उसके मध्यभाग मे एक लाख योजन ऊँचा मेरु पर्वत है। जम्बू द्वीप मे भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं। उन क्षेत्रों को विभक्त करने वाले हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी ये छह कुलाचल हैं।

जम्बूद्वीप को चारो ओर से घेरे हुए (वेढे हुए) लवण समुद्र है। उसका विस्तार दो लाख योजन का है। उसको चारो ओर से घेरे हुए धातकी द्वीप है। उसका विस्तार चार लाख योजन का है। उसमे जम्बूद्वीप से दूनी रचना है। अर्थात् चौदह क्षेत्र और बारह कुलाचल हैं। उसको चारो ओर से घेरे हुए कालोदधि है। उसका विस्तार आठ लाख योजन का है। उसको चारो ओर से वेढे हुए पुष्कर द्वीप है। इस प्रकार एक दूसरे को वेढे हुए दूने २ विस्तारवाले असख्यात द्वीप समुद्र हैं।

पुष्करद्वीप के ठीक मध्यभाग मे चारों ओर गोलाकार मानुषोत्तर पर्वत है। उस मानुषोत्तर पर्वत के पूर्व अढाई द्वीप हैं–जम्बू द्वीप, धातकीखण्डद्वीप और पुष्करार्ध। इन ढाई द्वीपो मे और दो समुद्रो मे मनुष्य पाये जाते हैं। मानुषोत्तर पर्वत के आगे मनुष्यो का गमन नहीं है। केवल तिर्यंच निवास करते हैं, वहा मनुष्य नहीं रहते हैं। अढाईद्वीप और दो समुद्र नरक्षेत्र कहलाता है। वह क्षेत्र अतिसुन्दर है तथा नदी, क्षेत्र पर्वतादि से शोभित है। उस मनुष्यक्षेत्र मे आर्य और म्लेच्छ दो प्रकार के मनुष्य है। क्षेत्र–जनित गुणो के कारण आर्य क्षेत्र के निवासी आर्य कहे जाते हैं और म्लेच्छक्षेत्र के निवासी मनुष्य म्लेच्छ कहलाते हैं।

अढाई द्वीप मे पन्द्रह कर्मभूमिया और भोगभूमिया है तथा लवण समुद्र व कालोदधि में अन्तर्द्वीप हैं, वे म्लेच्छ भूमियां है।

लवण समुद्र के आठ दिशाओं मे आठ, तथा उनके मध्य मे आठ और हिमवान् तथा शिखरी पर्वत इन दोनो पर्वतो के किनारो पर चार तथा दोनो विजयार्ध पर्वतो के किनारो पर चार, इस प्रकार कुल चोबीस अन्तर्द्वीप हैं। इसी प्रकार चोबीस अन्तर्द्वीप लवणोदधि के बाह्य पार्श्वभाग मे भी होते हैं। इतने ही ४८ अन्तर्द्वीप कालोदधि मे भी होते हैं। दोनो समुद्रो के अन्तर्द्वीप कुल मिला कर ९६ होते हैं। ये सब कुभोग भूमिया है। इनमे रहने वाले मनुष्यो की म्लेच्छ सज्ञा होती है। अर्थात् ये अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ कहे जाते है।

इस मध्यलोक मे व्यन्तरदेव भी निवास करते है। पर्वत की गुफाओ में, वृक्षो पर, शून्यगृहो मे, कूप, बावडी, सरोवर आदि

अनेक स्थानों मे व्यन्तर रहते हैं।

इस मध्यलोक मे तीर्थंकरादि पुण्यवान् महापुरुष जन्म लेते हैं। क्षायिक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति भी यहा ही होती है। क्योंकि कर्मभूमि मे उत्पन्न हुआ मनुष्य ही केवली तथा श्रुतकेवली के पादमूल मे दर्शनमोहनीय कर्म का क्षपण (नाश) प्रारम्भ करता है। क्षपण करते समय यदि मरजावे तो पहले चारो आयु मे से जिस आयु का बन्ध कर लिया हो, वहा जाकर निष्ठापन (समाप्ति) करता है। अर्थात् चारों गतियो मे जाकर दर्शनमोहनीयकर्म का क्षपण समाप्त कर क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है। चारित्र का धारण भी कर्मभूमिज मनुष्य ही कर सकता है। अन्य कोई नहीं कर सकता। चारित्र साक्षात् मोक्ष का साधन है, इसके बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान निष्फल हैं, पगु हैं। उस सर्वोत्तम चारित्र की प्राप्ति भी मनुष्य के ही होती है। सर्वाभ्युदय (स्वर्गादि प्राप्ति) और मोक्ष के कारणभूत संयम का आराधन भी कर्मभूमि का मनुष्य ही करता है। जिन महात्माओं ने मनुष्य जन्म पाकर रत्नत्रय की आराधना की है, उन्होने ही अपने मनुष्य जन्म को सफल किया है।

आकाश मे जो ज्योतिषी देवों के विमान हैं, वे सब एकसौ दस योजन के मोटे क्षेत्र मे आजाते हैं। जम्बूद्वीप के समतल भूमि भाग से सातसौ निव्वे योजन ऊँचे से ज्योतिश्चक्र प्रारम्भ होता है। और नौसौ योजन ऊँचे पर समाप्त होजाता है। इस एकसौ दस योजन परिमाण क्षेत्र मे ज्योतिषी देवो के विमान हैं, उनमे से अढाई द्वीप और दो समुद्र के अन्दर के क्षेत्रवर्ती जो विमान हैं, वे नित्यगतिमान हैं और इसके बाहर के विमान स्थिर हैं, वे गति नहीं करते हैं। इस सम्पूर्ण ज्योतिश्चक्र का मध्यलोक मे निवास है। इस प्रकार मध्य लोक के स्वरूप का चिंतवन करना सस्थान विचय धर्म्यध्यान कहलाता है।

उर्ध्वलोक का वर्णन

इनके ऊपर मेरु पर्वत की चूलिका के बालमात्र के अन्तर पर सौधर्म ऐशान स्वर्ग युगल का प्रारम्भ होता है। इन उर्ध्वलोक निवासी देवो को वैमानिक देव कहते हैं। वैमानिक देव दो प्रकार के है, कल्पोपपन्न और कल्पातीत। जिनमे इन्द्रादि भेदो की कल्पना होती है उन्हे कल्पोपपन्न कहते है और जहा इन्द्रादि भेदो की कल्पना नहीं है उन्हें कल्पातीत कहते है। इनमे सौधर्म ऐशान आदि से लेकर अच्युत स्वर्ग तक सोलह स्वर्ग हैं। वे कल्पोपपन्न हैं। इनके ऊपर देव कल्पातीत हैं। उनमे दो दो स्वर्गो के आठ युगल हैं। और वे युगल एक के ऊपर एक हैं। अर्थात् सौधर्म ऐशान कल्पयुगल के ऊपर सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्पयुगल है। इसके ऊपर ब्रह्म ब्रह्मोत्तर कल्पयुगल है। पुन इसके ऊपर लान्तव, कापिष्ट है। इसके ऊपर शुक्र और महाशुक्र कल्पयुगल है। इस प्रकार शतार, सहस्रार तथा आनत, प्राणत और आरण, अच्युत स्वर्गों के कल्प युगल एक के ऊपर एक हैं। इन सोलह स्वर्गों के आठ युगलो के ऊपर नवग्रैवेयक हैं। इन नौ ग्रैवेयकों के तीन २ के समुदाय रूप

अधोग्रैवेयक, मध्यमग्रैवेयक और उपरिमग्रैवेयक हैं। इनके ऊपर नव अनुदिश विमान हैं। आठ दिशाओ मे आठ और एक मध्य में स्थित है। इनके ऊपर पञ्च अनुत्तर विमान हैं। चार दिशाओं मे चार (विजय वैजयन्त जयन्त और अपराजित) विमान तथा इन चारो के मध्य मे सर्वार्थसिद्धि नाम का विमान है। उसके ऊपर पैतालीस लाख योजन प्रमाण वाली सिद्धशिला है। इस सिद्धशिला का आकार उलटे छत्र के समान है। इसकी मध्य मे आठ योजन की मोटाई है और फिर क्रमशः हीन होती हुई अन्त मे अगुल के असख्यात भाग प्रमाण अर्थात् मक्खी के पख के समान पतली है।

उन देवो के निवासस्थान विमानो मे रात दिन का विभाग नहीं होता है। क्योकि वहा सूर्य चन्द्रमा नहीं हैं, किन्तु वहा पर नेत्रो को आह्लाद देनेवाले रत्नों का उत्कृष्ट प्रकाश निरन्तर रहता है। उन स्वर्गों मे वर्षा, शीत और गर्मी आदि ऋतुओं के परिवर्त्तन से समय का परिवर्त्तन नहीं होता है, किन्तु सदा अतिशय सुख देने वाला वसन्तऋतुसा ही काल बना रहता है।

वहा पर उत्पात, भय, सन्ताप, शत्रु-चौरादि-जन्य त्रास, क्षुद्र जीव तथा दुर्जन स्वप्न मे भी नहीं दिखाई देते, निरन्तर सुख-सुधा रस का पान होता रहता है।

उन स्वर्ग के विमानो की भूमि कहीं २ तो चन्द्रकान्तमणि से निर्मित है, तथा कहीं २ मू गे के पत्र समान रत्नो से रची हुई है और कहीं २ नीलमणि आदि नाना प्रकार के सुन्दर उज्ज्वल रत्नो से निर्माण की गई है। स्वर्गों की बावडियां माणिक्य की किरणो के समूह से दसो दिशाओ को रञ्जित कर रही हैं। तथा सुवर्ण कमलों से आच्छादित तथा रत्नो के सोपान-सीढ़ियों से सुशोभित हैं।

वहा के सरोवर निर्मल स्फटिक मणि समान स्वच्छ जल से भरे हैं, जिनमे हस सारस आदि सुन्दर पक्षी मधुर ध्वनि कर रहे हैं, तथा मनोरम दिव्य रूपवती देवागनाएँ उनके घाटो को अतिरजित कर रही हैं।

स्वर्गों की देवागनाएँ छत्र, चँवर, ध्वजादि से अलकृत विमानो मे बैठ कर अपने नियोगी देवो के साथ यत्रतत्र विचरती हैं तथा नन्दन वनादि मे, मन्दार वृक्षो की वीथियो मे (गलियों मे) विहार क्रीड़ा करती हैं। वहा यक्ष और किन्नर जाति के देव देवाङ्गनाएँ आनन्द मे मग्न होकर मधुर गान कर रहे हैं।

उन स्वर्गों के देव क्रीड़ा-पर्वत के कुञ्जों मे, क्रीडा-वन मे, मन्दार-चम्पक-अशोक-मालती आदि के उपवनो मे मन्द सुगन्ध पवन से आमोदित हुए पुष्पो के चुनने का कौतुक करते हैं तथा जल-क्रीड़ा मे अतिचतुर देवागनाओ के साथ जलक्रीड़ा विहार करते हैं। कोई २ देवाङ्गनाएँ वीणा लेकर सुन्दर स्वर से गीत गाने लगती हैं और कोई मुरज लेकर मधुर ध्वनि से आलापती हैं।

उन स्वर्गों में कल्पवृक्ष पर बैठी हुई कोकिलाएँ और चैत्य-मन्दिरो मे सुरसुन्दरियां सललित सुस्वर गान करती हैं, उनको सुनकर देवो के अन्त:करण मे आनन्दोल्लास होता है।

स्वर्गों मे पञ्चवर्णों के महारत्नों से निर्माण किये सात २ खन के अत्यन्त मनोज्ञ, सम्पूर्ण सुख-सामग्री-परिपूर्ण प्रासाद हैं-महल हैं, वापिका है तथा सङ्गीतादि से सम्पन्न अट्टालिकाएँ हैं।

स्वर्गों की पुरियां सुन्दर कोट, खाई, बड़े २ दर्वाजे और ऊँचे २ तोरण तथा चैत्यवृक्ष और देवो के सुन्दर २ भवनों से अति शोभित हैं। वे नगरिया देवो के महल के अग्रभाग मे लगे हुए रत्नो के पुञ्जों से अतिरञ्जित हो रही हैं इसलिए वे आकाश में सर्वदा इन्द्र धनुष की शोभा को धारण किये रहती हैं।

वहा पर देवो की हस्ती, अश्व, रथ, प्यादे, वृषभ (बैल), गन्धर्व, नर्तकी ये सात प्रकार की सेना है। आभियोग्य जाति के देव हस्ती अश्वादि वाहनरूप वैक्रियिक शरीर बना कर देवेन्द्र की सेवा करते हैं। वहा पर सेना युद्ध के काम मे नहीं आती, क्योंकि देवेन्द्र से युद्ध करने का सामर्थ्य किसी देव का नहीं है। अत. वहा पर सेना केवल प्रभुत्व तथा ऐश्वर्य का प्रदर्शन करने के लिए होती है।

स्वर्गों की देवागनाएँ विनय गुण सहित तथा अपनी इच्छानुकूलरूप बनाने मे प्रवीण हैं, महाऋद्धि की महिमा से परिपूर्ण हैं, हाव भाव विलास मे चतुर हैं। मानो वे शृ गार रस को एकत्र करके निर्माण की गई हैं। ऐसी अप्सराएँ स्वर्ग को आनन्द मय बना रही हैं। गीत, नृत्य और वादित्र में उनकी नैसर्गिक दक्षता है। नूपुर की झनकार और कोकिल समान कण्ठ-ध्वनि से देवो के मन को आनन्दित करती रहती हैं।

स्वर्गों के देव हार, केयूर, अङ्गद, कुण्डल, मुकुट आदि सुन्दर दिव्य अलंकार से विभूषित, अपनी महामनोहर ललित आकृति से देवागना के मन को प्रफुल्लित करते हैं और सदा मनोविनोद की सामग्री से परिपूर्ण उपवन वाटिका आदि मे नित्य विहार करते हुए सागरों पर्यन्त काल को सुख पूर्वक बिताते हैं।

वहा पर (स्वर्गों मे) कोई दु:खित, दीन, वृद्ध, रोगी, गुणहीन, विकलाङ्गी, निर्धन नहीं दिखाई देता है। सब सदा कल्पवृक्षों से मनोवाछित भोगसामग्री को पाकर सुख में मग्न रहते हैं।

स्वर्गों मे देवों का जन्म उपपाद शय्या मे होता है, जो कि अत्यन्त भव्य, कुन्द-पुष्प समान कोमल है, तथा सुन्दर महारत्नो से निर्मित विमान के एक भाग मे सपुटाकार एक मनोरम प्रदेश है, जो समस्त इन्द्रियो के सुख सामग्री से सुसज्जित है, जहा नित्य उत्सव होता

रहता है, गीत, नृत्य, वादित्रो की लीलाओ से परिपूर्ण हैं, तथा 'जय जय' जीव जीव अर्थात् तुम्हारी जय हो, तुम सदा जीवित रहो, इस प्रकार के शब्दो से व्याप्त रहता है। ऐसे स्थान मे उत्पन्न होने वाले देवो का सस्थान (आकार) अति सुन्दर होता है। उनका शरीर सप्तधातु से वर्जित होता है। उनके शरीर की प्रभा से दशो दिशाएँ जगमगा उठती हैं। उनका शरीर शिरीष कुसुम के समान अति कोमल तथा सुलक्षणो से लक्षित होता है। अणिमा महिमा आदि गुणो से विभूषित होता है। वे अवधिज्ञान आदि ज्ञान और अनेक चतुराइयो के धारक होते हैं। तथा चन्द्रमा के समान अन्य जन को शान्ति और आह्लाद देने वाले होते हैं। उनका चित्त शुभ है तथा अचिन्त्य महिमा से सहित है तथा भय क्लेश पीडा और चिन्ता से रहित है। उनके उत्सव प्रतिदिन वृद्धिगत होते रहते हैं। उनके शरीर वज्र समान दृढ़ हैं व पराक्रमशील हैं। देव अपने पूर्वभव सञ्चित पुण्य के योग से स्वर्ग मे उपपाद शय्या मे इस प्रकार जन्म लेते हैं, जैसे कोई सुख समुद्र के मध्यभाग से निकला ही हो। वे अन्तर्मुहूर्त्त मात्र मे नवयौवन युक्त शरीर की सम्पत्ति से विभूषित होते हैं।

उनके जन्म की सूचना फल फल से भरे हुए तथा कोमल पत्तो से परिपूर्ण और कोकिल के सुमधुर आलाप से ध्वनित वृक्षो से होती है। वे देव उपपाद शय्या मे ऐसे उत्पन्न होते हैं जैसे कोई सोता हुआ उठे।

जन्म लेते ही वे देव सावधान होकर चारो ओर दृष्टिपात करते हैं और ऐसा विचार करते हैं कि अहो! यह क्या इन्द्रजाल है? अथवा मुझे क्या स्वप्न आ रहा है? यह कोई मायानिर्मित भ्रम है? यह दिखाई देने वाला दृश्य तो वडा आश्चर्यजनक है? चित्त मे सन्देह होता है, लेकिन निश्चय नहीं होता है कि यह वास्तव मे क्या है?

यह वस्तु अतिरमणीय है, सेवन करने योग्य है, यह सराहने के योग्य है, यह हितकर है, यह प्रिय व भव्य (सुन्दर) है, चित्त को प्रसन्न करने वाली है। यह आनन्द को अंकुरित करने वाला और सुख का आगार है। यह स्थान सब महाऋद्धियो की महिमा से परिपूर्ण, महर्द्धिक देवो से पूजनीय, सात प्रकार की सेना से सुसज्जित, देवेन्द्र के सभामण्डप के समान शोभित हो रहा है।

फिर वह देव सोचता है कि जो ये लोग सम्मुख खडे हैं, वे मुझे देखकर ही आनन्द मय क्रियाएँ कर रहे हैं। ये अति पवित्र और उज्ज्वलाकार हैं। अत्यन्त विनीत सराहने योग्य और अत्यन्त प्रेम मे मग्न हैं, अत्यन्त प्रीति दिखा रहे हैं।

यह कौनसा देश (स्थान) है जो सुख की खानि है, विशाल महिमा का आश्रय है, तथा सम्पूर्ण लोगो से अभिनन्दित है?

यह नगर अत्यन्त विशाल है और वन, उपवन, सरोवर, वापिकादि से सुशोभित है। तथा अपनी विभूति से विश्वभर को तिरस्कृत करके ध्वजा के हिलते हुए वस्त्रो से मानो नाच ही रहा है।

इस प्रकार उपपाद शय्या मे तत्काल उत्पन्न हुए देवेन्द्र के अभिप्राय को उसस्थान के मन्त्री देव अवधिज्ञान रूपी दिव्य नेत्रो से जानकर बडे विनय से झुककर नमस्कार करके कहते हैं कि 'हे' देव ! हम सेवको पर प्रसन्न हूजिये, हम पर प्रसाद पूर्ण दृष्टिपात कीजिए, तथा हमारे पूर्वापर परिपाटि के प्रकाश करनेवाले वचनो को सुनिए।

हे नाथ ! आपने यहा उत्पन्न होकर हम को धन्य बनाया है। हमारा जन्म आज सफल हुआ है। आपके जन्म लेने से यह स्वर्ग पवित्र होगया है। हे पुण्य के भण्डार ! आपकी जय हो, आप चिरकाल तक जीवित रहो। आपका यहा जन्म धारण करना पुण्यरूप है। आप अब इस सम्पूर्ण स्वर्ग के स्वामी हूजिए।

यह आपका छत्र है। यह पूजनीय आप का सिंहासन है। यह चमरो का समूह है। ये विजय पताकाएँ हैं। और ये आपकी अग्र महिषी (पट्ट देवियाँ) हैं। इनकी उत्तम देवाङ्गनाएं सेवा करती हैं।

हे नाथ ! यह आपका महा मनोहर ऐरावत देव हस्ती है। जो अणिमा, लघिमा, गरिमा आदि अष्ट गुणो के ऐश्वर्य से विश्व का तिरस्कार करने वाली शोभा ो धारण करता है।

हे स्वामिन् ! यह आपकी सात प्रकार की देवसेना है। उसमे यह मदोन्मत्त हाथियो की सेना है। इधर मनके समान वेगवाले अश्वो की सेना है। ये स्वर्ण-निर्मित ऊँचे ऊँचे रथो की सेना है। ये प्यादो की सेना इधर उधर चल फिर रही है। ये ऊँचे स्कन्धो से सुन्दर वृषभो की सेना है। इधर ये गन्धर्वों और नर्त्तकियो की सेना चित्त को प्रफुल्लित कर रही हैं। ये सात प्रकार की देवसेना पूर्ववर्ती देवेन्द्रो से पालन की गई हैं, आपके चरण युगल को नमस्कार करती हैं और आपकी विनीत भाव से स्तुति कर रही हैं, दिव्य-सेवक समूह से शोभित यह सम्पूर्ण स्वर्ग का साम्राज्य आप के पवित्र पुण्य से सम्मुख स्थित है और ये सब देव आपको नमस्कार कर रहे हैं।"

इस प्रकार अत्यन्त स्नेहयुक्त अतिप्रिय बोलने वाले मत्री के पूर्वापर का वर्णन करन के पश्चात् वह सौधर्मस्वर्ग का इन्द्र उसी समय अवधिज्ञान का उपयोग कर समस्त पूर्वापर परिपाटी को जान लेता है। अर्थात् अवधिज्ञान रूपी नेत्र से सब वृत्तान्त को प्रत्यक्ष जान लेता है। और जानकर मन ही मन सोचता है कि अहो ! मैंने पूर्वकाल मे महा दुष्कर तपश्चरण किया था, तथा जीवित रहने की इच्छा रखने वाले प्राणियो को अभय दान दिया था, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप का धन किया था, देवाधिदेव सर्वज्ञ जिनेश्वर देव की आराधना की थी। इन्द्रियो के विषय वन का दहन किया था। ब्रह्मचर्य का सेवन कर काम-शत्रु का निपात किया था। क्षमा-मार्दवादि धर्म रूप परशु द्वारा कषाय रूपी वृक्षो का छेदन किया था। राग शत्रु का नियन्त्रण किया था। ये सब उन्हीं का प्रभाव है।

इसके अनन्तर वह देवेन्द्र पुनरपि विचारता है कि सम्यक्चारित्र रूपी शीतलजल का सिंचन किये बिना यह प्राणियो की रागादि रूप अग्नि ज्वाला सैंकडो जन्मो मे भी शान्त नहीं हो सकती। उस सम्यक्चारित्र की प्राप्ति तो यहा असंभव है। इसलिए अब मुझे क्या करना चाहिए? इस देवो के निवास क्षेत्र स्वर्गलोक में सम्यग्दर्शन की योग्यता है, अतः मेरे स्वार्थ की सिद्धि करने के लिए तत्त्वार्थ की श्रद्धा रखना ही श्रेयस्कर है, तथा अर्हत देव के चरणयुगल की निश्चल भक्ति ही मेरे कल्याण को करनेवाली है। इसलिए यहां स्वर्गलोक के विमानो मे चैत्य वृक्षो पर अथवा अन्य मेरु आदि के उपवनो मे जो जिनेन्द्र भगवान के प्रतिबिम्ब है, उनका प्रथम ही इस स्वग मे उत्पन्न हुए जल-गन्धाक्षत कल्पवृक्ष के पुष्प-नैवेद्य-दीप-धूप-फलादि अष्ट द्रव्य समूह से श्रद्धा भक्तिपूर्वक पूजन करके देवो से वन्दनीय इस स्वर्ग के वैभव को ग्रहण करना चाहिए। ऐसा मन मे विचार कर वह देवेन्द्र त्रैलोक्येश्वर सर्वज्ञ अर्हत देव की भक्ति पूर्वक पूजा करके महोत्सव पूर्वक स्वर्ग के साम्राज्य का स्वामी बनता है।

तत्पश्चात् वह देवेन्द्र तथा अन्य देव अपनी देवागनाओ को साथ मे लेकर मन के समान द्रुतगति वाले विमानो द्वारा स्वेच्छानुसार सुन्दर २ वन उपवन पर्वत तथा सागरान्त तटो पर क्रीडा करते फिरते हैं। तथा सात प्रकार की देव सेनाओ से सेवित और मानसिक सकल्प मात्र से समुत्पन्न इन्द्रिय और मन को तृप्ति देनेवाले दिव्य भोगों को भोगते हुए सुख से निवास करते है। तथा सुखसागर मे मग्न होकर बीते हुए सागरो पर्यन्त काल को भी नही जानते हैं।

स्वर्गो मे देव मद्याग, तूर्याग, गृहाग, ज्योतिरङ्ग, भूषाङ्ग, भोजनाङ्ग, मालाङ्ग, दीपाङ्ग, वस्त्राङ्ग, और पात्राङ्ग, जाति के दश कल्प वृक्षो से उत्पन्न भोग सामग्री द्वारा निरन्तर सुख का आस्वादन करते है, तथा कल्पनातीत वैभव के विनोद मे मग्न रहते हैं।

देवो को जो सुख स्वर्ग मे मिलता है, उसका वर्णन करने का सामर्थ्य किसी मे भी नहीं है। क्योकि वह सुख बिना खेद के उपलब्ध होता है, उसमे रोग, भय, त्रासादि नहीं है और वह सुख सम्पूर्ण इन्द्रियो को तृप्ति देने वाला है।

सौधर्म स्वर्ग से लेकर अच्युत स्वर्ग पर्यन्त सोलह स्वर्गों की कल्प संज्ञा है। क्योंकि इनमे दश प्रकार के देव भेदो की कल्पना होती है। ये सप्रविचार अर्थात् मैथुन सहित होते हैं इनके ऊपर के जो नव ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पाच अनुत्तर विमान हैं, उन्हें कल्पातीत (दश प्रकार की कल्पना रहित) कहते है। इनमे रहने वाले प्रत्येक देव अहमिन्द्र होते हैं। ये प्रवीचार (मैथुन) वर्जित हैं, इसीलिए वहा देवांगनाएँ नही होती हैं। उन देवो मे उत्तरोत्तर शुभ ध्यान बढता चला गया है। और सब शुक्ल लेश्या वाले हैं, परन्तु उत्तरोत्तर बढ़ती हुई शुक्लतर और शुक्लतम लेश्या है।

विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित इन चार अनुत्तर विमानवासी अहमिन्द्र देव दो भव मनुष्य के धारण कर निश्चय से

निर्वाण पद पाते हैं, तथा सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र एक मनुष्य भव पाकर अविनश्वर निःश्रेयसपद पाते हैं।

सौधर्म से लेकर अच्युत स्वर्ग पर्यन्त इन सोलह कल्पस्वर्गों के देव शुभलेश्या, आयु, इन्द्रियो के विषय तथा अवधिज्ञान और प्रभावादि मे उत्तरोत्तर अधिक २ बढ़ते हुए हैं।

अनुत्तर विमानो के ऊपर सिद्धशिला है, उसके आगे तीन वातवलय (घनोदधिवातवलय, घनवातवलय, और तनुवातवलय) हैं। तनुवातवलय का जो पाचसौ पच्चीस धनुप प्रमाण अन्तिम लोक का क्षेत्र है, उसमे सम्पूर्ण कर्म रहित सिद्ध परमेष्ठी का आधार–क्षेत्र है।

इस प्रकार संक्षेप से लोक का वर्णन किया है, उसका विशेप विवेचन लोकभावना मे करेंगे। धर्म्यध्यान मे प्रवृत्त करनेवाले यतीश्वर को ऊपर बताये गये लोक के स्वरूप का चिन्तवन करना चाहिए। इसको सस्थानविचय नामक धर्म्यध्यान कहते है। इस सस्थान विचय नामक धर्म्यध्यान मे पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ये ध्यान के चार भेद माने गये हैं। अब इनका निरूपण करते हैं।

पिण्डस्थ ध्यान

पिण्डस्थं पञ्च विज्ञेया धारणा वीरवर्णिताः।
संयमी यास्वसंमूढो जन्मपाशान्निकृन्तति ॥ २ ॥
पार्थिवी स्यात्तथाग्नेयी श्वसना वाथ वारुणी।
तत्वरूपवती चेति विज्ञेयास्ता यथायथम् ॥ ३ ॥ (ज्ञाना० अ० ३६)

अर्थ—श्रीवर्द्धमानस्वामी ने पिण्डस्थ ध्यान में पार्थिवी, आग्नेयी (अग्निधारणा) श्वसना (वायु धारणा) वारुणी (जल धारणा) तत्त्वरूपवती ये पाच धारणाएँ कही हैं। सयमी मुनी इन पाँचो मे अनासक्त होकर ससार रूपी पाश का छेदन करता है।

पार्थिवी धारणा का स्वरूप

इन्द्रिय और मनवचनकाय को रोककर तथा योग्य आसन लगाकर ध्यान का इच्छुक सयमी प्रथम मध्यलोक के समान क्षीर सागर का चिन्तन करे। जो नि. शब्द है, कल्लोल रहित है, तथा जो निर्मल बर्फ समान धवल जल से भरा हुआ है। उस क्षीर समुद्र के मध्यभाग मे सुन्दराकार देदीप्यमान दीप्तिवाले, तपाये हुए स्वर्ण कीसी प्रभावाले एक सहस्र दल के कमल का चिन्तन करे। जो कमल मध्यवर्ती

केसर समूह से रंजित है तथा चित्तरूपी भ्रमर को लुभानेवाला अतिसुन्दर एकलाख योजन के विस्तारवाला है, उस कमल के बीचो बीच मेरु के समान दिव्य कर्णिका का चिन्तन करे। जो कर्णिका अपनी अग्नि के कण समान प्रभा के पुंज से सब दिशाओ को पीतवर्णमय कर रही है।

उस कमल–कर्णिका के मध्य में शरदृऋतु के चन्द्रमा के समान श्वेतवर्ण के एक ऊँचे सिंहासन का चिन्तन करे। उस सिंहासन पर शान्तरूप क्षोभ रहित सुखपूर्वक अपने आपको बैठा हुआ चिन्तन करे। अर्थात ऐसा विचार करे कि मैं उस सिंहासन पर शान्त-क्षोभादि रहित, रागद्वेषादि भाव कर्म, भवभव मे उत्पन्न हुए ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और नोकर्म के क्षय करने में समर्थ, आसन लगाकर बैठा हुआ शान्त भावरूपी निर्मल जल मे कर्मरज को धोरहा हूँ। यह पार्थिवी धारणा का स्वरूप है।

आग्नेयी धारणा का स्वरूप

जब उक्त प्रकार के ध्यान मे चित्त स्थिर होने लगे, तब उसी सिंहासन पर बैठा हुआ अपने शरीर के भीतर नाभि मडल पर मनोहर, ऊपर की ओर उठे हुए सोलह दल (पत्र) के कमल का चिन्तन करे। और कमल के सोलहो पत्रो पर क्रम से अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः इन सोलह अक्षरो का चिन्तन करे। तथा उस कमल के मध्य जो कर्णिका है, उसमे चन्द्र के समान दीप्ति से सब दिशाओ को देदीप्यमान करने वाले महामन्त्र "र्हं" स्थापना कर ऐसा चिन्तन करे कि—

पूर्वोक्त षोडशदल के कमल के ऊपर हृदयस्थित अधोमुख (नीचे मुख किये हुए औंधे) अष्ट दल के कमल की रचना करे, और उस कमल के आठ पत्तों पर क्रम से ज्ञानावरण दर्शनावरणादि आठ कर्मों की स्थापना करे। तत्पश्चात् चिन्तना करे कि नाभिमंडल पर षोडश दल के कमल की कर्णिका पर जो महामन्त्र 'र्हं' स्थापित किया है उसके रेफ से निकलती धूमशिखा का चिन्तन करे। फिर अग्नि के कण की पंक्ति निकल रही है ऐसा स्मरण करे। तत्पश्चात् निकलती हुई अग्नि की ज्वालाओ का चिन्तन करे। उस के बाद उन अग्निज्वालाओ से ज्ञानावरणादि कर्मों से अंकित उस कमल को जलता हुआ चिन्तन करे। ऐसा ध्यान करने से अष्ट कर्मों का दहन होता है, यह चैतन्य परिणामो का सामर्थ्य है, क्योकि पदार्थों की शक्ति अचिन्त्य है। आत्मा भावो के बल से ही बन्धता है और बन्ध से विपरीत भावना के बल से ही कर्मों का क्षय करता है।

उस हृदयस्थित औंधे आठ पाखुडीवाले कमल के जल जाने के पश्चात् शरीर के बाह्य भाग मे त्रिकोण (तीन कोने वाला) अग्निमडल का चिन्तन करे। वह अग्नि निरन्तर उठती हुई ज्वालाओ से सतत जलती हुई बडवानल के समान है, तथा अग्नि के बीजाक्षर 'र' से व्याप्त है, और उसके अन्त के तीनों कोने 'स्वस्ति' से अङ्कित है, ऐसा विचार करे। इसके पश्चात् सोचे कि भीतर की अग्नि तो आठ कर्मों को भस्म कर रही है, तथा धक् धक् लपटें उठाती हुई बाहर की अग्नि शरीर को दग्ध कर रही है। इस प्रकार सम्पूर्ण कर्म और समस्त

शरीर भस्मीभूत हुआ–बिचारे। तत्पश्चात् शनैः शनैः उस अग्नि की ज्वालाओं की शान्ति का चिन्तन करे। इसे आग्नेयी धारणा कहते हैं।

श्वसना (वायवीय) धारणा का स्वरूप

ध्यान परायण योगी एक ऐसे महाप्रबल वायुमण्डल का चिन्तन करे जो सम्पूर्ण आकाश को व्याप्त कर सचरण कर रहा है। जो अपने तीव्र वेग से देवों की सेना को विचलित कर रहा है। जो सम्पूर्ण स्वर्ग भूमि तथा मेरु पर्वत को कम्पित कर रहा है, मेघ समूह को बिखेरता हुआ समुद्र को चोभित कर रहा है, समस्त लोक के मध्यभाग में गति करता हुआ, सम्पूर्ण दिशाओं में सचरण करता हुआ, जगत् रूप भवन मे प्रवेश करके, उसकी सम्पूर्ण धूलि को तथा शरीरादि की जो भस्म हुई थी, उसको तत्काल इस प्रबल वायु मडलने उडा दिया है–ऐसा चिन्तन करे। तत्पश्चात् ध्यानाभ्यास के बल से उस वायु को शनैः शनैः स्थिर चिन्तन करता हुआ पूर्णशान्त हुआ कल्पना करे।

वारुणी धारणा का स्वरूप

फिर ध्यानी मुनि इन्द्रधनुप की रचना, बिजलियों की चमचमाहट सहित घन घोर गर्जना करते हुए मेघ मण्डल से भरे हुए आकाश का ध्यान करे। उस मेघसमूह से उत्पन्न हुए अमृत समान जल की स्थूल मोतियों कीसी बूदों से निरन्तर धारा–सपात वृष्टि करते हुए आकाश मण्डल का चिन्तन करे।

तदनन्तर अर्ध चन्द्राकार, अतिमनोहर, अमृत मय जलके प्रवाह से आकाश को प्लावित (जलमग्न) करते हुए वरुण (जल) मण्डल का चिन्तन करे। अचिन्त्य प्रभाव वाले दिव्य ध्यान से उत्पन्न हुए उस जल प्रवाह से शरीर के दग्ध होने से उत्पन्न हुए सम्पूर्ण भस्म को मैं धोरहा हूँ, ऐसा चिन्तन करे।

तत्त्वरूपवती धारणा का स्वरूप

तत्पश्चात् ध्यानी संयमी सप्तधातुवर्जित, पूर्णचन्द्र समान निर्मल कान्तिका धारक, सर्वज्ञ समान अपने आत्मा का ध्यान करे। इसके पश्चात् चिन्तन करे कि मैं गर्भादि कल्याण की महिमा से विशिष्ट हूँ। तथा देवेन्द्र, नागेद्र व असुरेन्द्र मेरी पूजा कर रहे हैं, ऐसा स्मरण करे। इसके अनन्तर चिन्तन करे कि मेरे अष्ट कर्मों का सर्वथा क्षय होगया है तथा मेरा आत्मा अति निर्मल स्फुरायमान हुआ पुरुषाकार को धारण किये हुए मेरे शरीर के अन्दर विराज रहा है। ऐसे ध्यान को तत्त्वरूपवती धारणा कहते हैं।

इस प्रकार पिण्डस्थ ध्यान करने मे जिस का चित्त अभ्यस्त होगया है, वह ध्याननिरत ध्याता संयमी दूसरों से असाध्य, अमृत रूप शिव (मोक्ष) सुख को अत्यल्पकाल मे ही प्राप्त कर लेता है।

पिण्डस्थध्यान का उपसंहार

उक्त कथनानुसार पिंडस्थ ध्यान मे अपने आत्मा को सर्वदोषो से रहित, नूतन अमृत पुञ्ज तथा घनीभूत चन्द्रकिरण तुल्य गौर वर्ण और श्रीमत्सर्वज्ञदेव समान चिन्तन करे। तथा सोचे कि मैं सुवर्ण गिरि (मेरु) के शिखर पर सिंहासन पर विराजमान हूँ। ससार के सब प्रपञ्चो से मै सर्वथा अलग हूं। सुरेन्द्र, असुरेन्द्र और नागेन्द्र से भी मेरा प्रभाव अचिन्तनीय है। समस्त ज्ञेय पदार्थ मेरे ज्ञान मे प्रतिविम्बित होने से मैं विश्वरूप हू। सब कल्याणक की प्रसूति की आधार भूमि हू। तथा अष्टकर्म मल और रागद्वेषादि कलङ्क धो डालने मे पुरुषाकार सिद्ध स्वरूप हूं। इस प्रकार ध्यान करने को श्रुतज्ञान-समुद्र के पारंगत मुनीश्वरो ने पिण्डस्थ ध्यान कहा है।

पिण्डस्थ ध्यान का प्रत्यक्ष फल

विद्यामण्डलमन्त्रयन्त्रकुहककूराभिचाराः क्रियाः।
सिंहाशीविषदैत्यदन्तिशरभा यान्त्येव निःसारताम् ॥
शाकिन्यो ग्रहराक्षसप्रभृतयो मुञ्चन्त्यसद्वासना,
एतद्ध्यानधनस्य सन्निधिवशाद्भानोर्यथा कौशिकाः ॥ ३३ ॥ (ज्ञाना अ ३७)

अर्थ—जैसे-सूर्य का उदय होने पर उल्लू हतवीर्य होकर भाग जाते है, वैसे ही इस पिण्डस्थ ध्यान रूप धन के समीपस्थ होने पर सब विद्यामण्डल, मन्त्र, यन्त्र, इन्द्रजाल, छल-कपट, क्रूर अभिचार (मारणादि क्रिया, मूठ आदि) क्रियाएँ तथा सिंह, सर्प, दैत्य, दन्ती मदोन्मत्त हाथी, अष्टापद आदि नि सारता को प्राप्त होते है। अर्थात् उनका बल क्षीण हो जाता है। तथा शाकिनी, भूत, राक्षस, पिशाचादि अपनी बुरी वासनाओ को छोड देते है। अर्थात् वे कुछ भी उपद्रव करने मे समर्थ नही होते है।

शङ्का—ध्यान मे शुद्ध, बुद्ध, चैतन्य, चमत्कार, अनन्त ज्ञानादि गुण-मण्डित आत्मा का ही चिन्तन करना चाहिए। इन पृथिवी जल या अग्नि आदि की धारणा का चिन्तन करने से आत्मा को क्या लाभ होता है ?

समाधान—यह आत्मा अनादि काल से ज्ञानावरणादि अष्टद्रव्यकर्म, रागद्वेषादि भावकर्म तथा औदारिकादि नोकर्म के वशीभूत होने से पराधीन हो रहा है। तथा ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय से आत्मा मे रागद्वेषादि भाव उत्पन्न होते है और उनके कारण मनमे सङ्कल्प विकल्प उत्पन्न होते हैं, इसलिए आत्मा शुद्ध आत्मा के ध्यान मे स्थिर नहीं रहता। उसको स्थिर करने के लिए बाह्य, अनुभूत, साकार

पदार्थ के आलम्बन की आवश्यकता प्रतीत होती है। उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए पार्थिवी आदि धारणाओ की कल्पना की गई है। ध्याता प्रथम पार्थिवी धारणा से मन को थामने का अभ्यास करे। जब मन की चञ्चलता कुछ २ रुकने लगे तब ध्यानाभ्यासी आग्नेयी धारणा से कर्मो को और शरीर को भस्म करने की कल्पना द्वारा मनको रोके। तदनन्तर वायवीय धारणा से प्रबल वायु वेग से उस कर्म और शरीर सम्बन्धी भस्म को उडाने की कल्पना का चिन्तन करे। तत्पश्चात् जलीयधारणा से कर्म और शरीर की अवशिष्ट भस्म को धो डालने के विचार मे मन का स्तभन करे। तत्पश्चात् तत्त्वरूपवती धारणा मे औदारिकादि शरीर रहित तथा अष्ट कर्मो से शून्य शुद्ध चिदानन्दरूप आत्मा का ध्यान करे। इस प्रकार चित्त की चञ्चलता का स्तभन कर स्थिरता का अभ्यास करते २ जब आत्मा अपने अन्त करण को निश्चल कर लेता है, तब शुक्ल ध्यान मे प्रवृत्ति करता है। शुक्लध्यान मे पृथक्त्ववितर्कविचार, एकत्ववितर्क अविचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवर्ती इन चारो भेदो को क्रम से प्राप्त होकर घातिया कर्म तथा अघातिया कर्म का नाश करके सदा सुखमय मोक्ष को प्राप्त होता है। अन्यमत मे भी पार्थिवी आदि धारणा के आराधन का वर्णन है तथा उसके अनुसार वे ध्यान करते हैं, किन्तु आत्मसिद्धि का अभाव होने से वे हेय हैं। कभी कभी उनसे लौकिक चमत्कार की सिद्धि होती है। परन्तु उससे आत्मा का कुछ भी हित नही होता, मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। मोक्ष की प्राप्ति तो तत्त्वश्रद्धा, तत्त्वज्ञान और तत्त्वज्ञानपूर्वक आचरण करने से होती है। इनका उनमे अभाव है, इसलिए वे आत्महित के मार्ग मे न लगकर ससार की क्रियाओ मे ही लगे रहते हैं, अत आचार्य महाराज ने इन पाच धारणाओ द्वारा सम्यक् प्रकार मनको रोकने के अभ्यास का उपदेश दिया है।

इस प्रकार पिण्डस्थ ध्यान मे पाचो धारणाओ का वर्णन समाप्त हुआ।

पदस्थ ध्यान

पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते।
तत्पदस्थं मतं ध्यानं विचित्रनयपारगैः॥ १ ॥ (ज्ञाना. अ ३८)

अर्थ—जिसमे योगीश्वर पवित्र मन्त्र पदो का आलम्बन लेकर चिन्तन करते हैं, उसे विविध नयशास्त्र के पारगामी योगीश्वरों ने पदस्थ नाम का ध्यान माना है। पदस्थध्यान मे मन्त्र पदो का ध्यान होता है। जिनका स्मरण मात्र भी पुण्य की वृद्धि करता है—ऐसे पवित्र मन्त्राक्षरो का चिन्तन करना, उनमे अपनी चित्तवृत्ति को रोकने का अभ्यास करना, पदस्थ नामा धर्मध्यान कहलाता है।

वर्णमातृका का ध्यान

अनादि सिद्धान्त मे प्रसिद्ध, सम्पूर्ण वाङ्मय रचना की जन्मभूमि तथा जगत् मे वन्दनीय वर्णमातृका है, उसका चिन्तन करना चाहिए ।

साराश यह है कि समस्त आगम की रचना की कारणभूत 'वर्णमातृका अर्थात् स्वर और व्यञ्जन है, उनका चिन्तन करना पदस्थ नामा धर्म्यध्यान है ।

ध्यान करनेवाला नाभिमण्डल के ऊपर षोडश दल (सोलह पाखुडी) के कमल की कल्पना करके उस कमल के प्रत्येक पत्र पर क्रम से फिरती हुई ' अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः' इस स्वरावली का चिन्तन करे ।

इसके पश्चात् ध्यान का अभ्यासी मनुष्य अपने हृदय स्थान पर कर्णिका सहित चौवीस पत्रो का कमल चिन्तन करे । उसकी कर्णिका तथा पत्रो मे क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म इन पच्चीस व्यञ्जनाक्षरो का चिन्तन करे ।

इसके बाद आठ पत्रो से विभूषित मुखस्थ कमल मे प्रत्येक पत्र पर भ्रमण करते हुए क्रम से य र ल व श ष स ह इन आठ व्यञ्जनाक्षरो का ध्यान करे ।

इस प्रकार अनादि प्रसिद्ध वर्ण-मातृका का निरन्तर ध्यान करता हुआ योगी भ्रान्ति रहित श्रुतज्ञान रूपी समुद्र का पारगामी होता है । अर्थात् उक्त प्रकार से वर्णमातृका का निरन्तर ध्यान करनेवाले मुनि के ज्ञानावरणादि कर्मों का विशेष क्षयोपशम होता है और निरन्तर उसका ध्यान करते रहने पर श्रुतज्ञानावरण का उत्कृष्ट क्षयोपशम होकर पूर्ण श्रुतज्ञान प्राप्त हो जाता है ।

उक्त ४९ वर्णमातृका के अक्षरो का ध्यान करनेवाला योगी कितने ही काल मे नष्ट तथा भावी (उत्पन्न होने वाले) पदार्थों का भी ज्ञान प्राप्त कर लेता है ।

वर्णमातृका के ध्यान से बाह्यलाभ

वर्णमातृका के ध्यान से बाह्यलाभ क्या होता है ? इसे ज्ञानार्णव मे 'उक्त च देकर उद्धृत किया है—

जाप्याज्जयेत् क्षयमरोचकमग्निमान्द्य ।
कुष्टोदरामकसनश्वसनादिरोगान् ॥

प्राप्नोति चाप्रतिमवाङ्महती महद्भ्यः ।
पूजा परत्र च गतिं पुरुपोतमाप्ताम् ॥ २ ॥ (ज्ञाना अ० ३८)

अर्थ— उक्त वर्णमातृका का जाप करने से ध्यानी मनुष्य क्षयरोग, भोजन मे अरुचि, जठराग्नि की मन्दता, कुष्टरोग, उदररोग कास श्वास आदि रोगो को जीतता है। तथा वचन सिद्धि, महान् प्रभावशाली पुरुपो से पूजा सत्कार और उत्तमोत्तम पुरुपो से प्राप्त की गई शुभगति को प्राप्त करता है।

मन्त्रराज का ध्यान

सब मन्त्रपदो का अधीश्वर समस्त तत्त्वो का नायक 'ह्रँ' बीजाक्षर है। यह मन्त्रराज सुरासुरो से वन्दनीय है, भयानक अज्ञान रूप अन्धकार का नाश करने लिए सूर्य समान है। तथा जिसने मस्तक पर स्थित जो अर्धचन्द्र है, उस की किरणो के आकार से सब दिशाओ के मध्य भाग को व्याप्त कर दिया है ऐसे 'ह्रँ' इस मन्त्रराज को कमल के मध्य भाग मे जो कर्णिका (गोल कुछ उठा हुआ भाग) है उस पर विराजमान करे। फिर उसका इस प्रकार चिन्तन करे कि वह मल और कलङ्क से रहित है, घनीभूत चन्द्रकिरणो के सदृश गौरवर्ण का धारक है। आकाश मे गति कर रहा है तथा दिशाओ मे सचार कर रहा है। जिनेन्द्र देव के तुल्य है, ऐसा समझ करके इसका ध्यान करे।

कई लोग इस 'ह्रँ' मन्त्रराज को बुद्ध, कई लोग हरि, कितने ही ब्रह्मा, कई महेश्वर, कितने ही शिव, कितने ही सार्व और कई ईशान स्वरूप मानते है। वास्तव मे तो यह है कि इस 'ह्रँ' मन्त्रराज की शकल मे शान्तमूर्त्ति परम वीतराग सर्वज्ञ देवाधिदेव श्री जिनेन्द्रदेव ही स्वय विराजमान हैं। अर्थात् यह मन्त्रराज साक्षात् जिनेन्द्र देव का स्वरूप है।

यह मन्त्रराज ज्ञान का बीज है, जगत मे वन्दनीय, जन्म सताप को शान्त करने के लिए मेघधारा के समान है तथा अत्यन्त पवित्र है ऐसे मन्त्रसम्राट् का ध्यान करो। जिसने इसका एक बार भी उच्चारण किया है, उसने मोक्ष के लिए पाथेय (कलेवा, सबल) ग्रहण किया है तथा जो इसको हृदय म स्थित करता है, उसके कर्म का क्षय होता है और शीघ्र मोक्ष की प्राप्ति होती है।

मन्त्रराज के ध्यान की विधि

धैर्य का धारण करने वाला ध्याता कुम्भक प्राणायाम करके अर्थात् खैंचे हुए प्राण वायु को रोक कर इस मन्त्रराज को अपनी दोनो भौहो के बीच मे स्फुरायमान होता हुआ चिन्तन करे। पश्चात् अपने मुख कमल मे प्रवेश करता हुआ विचारे। इसके बाद तालु के छेद से गमन करता हुआ तथा अमृत जल से झरता हुआ चिन्तन करे। तत्पश्चात् नेत्र के पलको में स्फुरायमान होता हुआ तथा मस्तक के बालो मे

ठहरता करता हुआ चिन्तन करे। पश्चात् ज्योतिश्चक्र मे भ्रमण करता हुआ विचारे। तदनन्तर सोचे कि यह मन्त्रराज शान्ति,प्रकाश, आह्लाद देने वाले चन्द्रमा से स्पर्द्ध (बराबरी) कर रहा है और दिशाओ के मध्य संचार करता हुआ आकाश मे उछल रहा है। तथा कलङ्क समूह को छेदन करता हुआ,ससार की भ्रान्ति का संहार कर रहा है। तथा मोक्ष स्थान को प्राप्त करता हुआ मोक्ष लक्ष्मी का मिलाप कर रहा है–ऐसा ध्यान करे।

ध्यान कर्त्ता को चाहिए कि अनन्य शरण होकर अर्थात् ससार मे इस मन्त्रराज के सिवा मुझे कोई शरण देने वाला नहीं है ऐसा विचार कर उसमे तल्लीन हो जावे, तथा निश्चल होकर सब अवस्थाओ मे दोनो भ्रूलताओ (भौहो) के बीच मे अथवा नासिका के अग्र भाग मे उस मन्त्रराज का ध्यान करे। इसे अनाहत देव कहते हैं।

कई आचार्यो ने इस मन्त्रराज को नासिका के अग्रभाग मे तथा भ्रूलता (दोनो भौहो) के मध्य भाग मे निश्चल धारण करने के समय मे वर्णादि का भेद करके भिन्न २ स्वरूप कल्पित किया है। तथा मन्त्र मण्डल और मुद्रा आदि साधनो के भेद से इष्टसिद्धि का देने वाला माना है।

अर्थात् कई आचार्य कहते हैं कि 'अर्हं' यह परमतत्त्व है, जो इसे जानता है वही तत्त्ववेत्ता है। प्रथम तो इस 'अर्हं' पूर्ण बीजाक्षर का चिन्तन करना चाहिए। तत्पश्चात् 'अ' अवयवरहित तथा 'ह्' अवयवरहित इसका चिन्तन करे। पश्चात् चन्द्र की कान्ति के समान विन्दुमात्र का चिन्तन करे। इसके बाद मन्त्रराज को अनुस्वार रहित चिन्तन करे। अर्धचन्द्राकार हीन ध्यान करे। दोनो रेफ (र) रहित चिन्तन करे। इसके बाद अक्षर हीन तथा उच्चारण करने योग्य न रहे ऐसा चिन्तन करे।

ध्यान को प्रबल बनाने के लिए चित्तस्थिर करके उसी अनाहत स्वरूप मन्त्रराज को क्रमसे सूक्ष्म चिन्तन करे। इस प्रकार सूक्ष्म, सूक्ष्मतर चिन्तन करता हुआ उसे बाल के अग्रभाग समान सूक्ष्मतम चिन्तन करे। इस प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म चिन्तन करता हुआ योगी अशेष विषयो से चित्तवृत्ति का निरोध करके क्षणभर मे सम्पूर्ण ज्योतिर्मय जगत् को साक्षात् प्रत्यक्ष अवलोकन करता है।

इस अनाहत मन्त्र का ध्यान करने वाले योगी के अणिमा,महिमा आदि सब सिद्धियां सिद्ध होती हैं तथा देव दानव आकर सेवा करते हैं और आज्ञा ऐश्वर्य प्राप्त होता है, इस मे रचमात्र भी सन्देह नही है।

इस प्रकार ध्यान का स्थिर अभ्यास हो जाने के पश्चात् 'लक्ष्य वस्तु' साकार पदार्थ से ध्यान को हटाकर अलक्ष्य जो लिखने मे न आवे ऐसे अमूर्त्त पदार्थ मे मन को स्थिर करनेवाले ध्यानी मुनि के इन्द्रिय के अगोचर, अक्षय, अन्तर्ज्योति ज्ञान प्रकट होता है।

इस अनाहततत्त्व का तथा शिव नामक तत्त्व का अवलम्बन करके प्रशस्तमन के धारक योगीश्वरो ने क्लेश और त्रास से भरे हुए इस अनन्त ससार रूपी अटवी को पार किया है।

अथ प्रणव मन्त्र (ॐकार) के ध्यान का निरूपण करते हैं—

स्मर दुःखानलज्वाला प्रशान्तेर्नवनीरदम् ।
प्रणवं वाङ्मयज्ञानप्रदीपं पुण्यशासनम् ॥ ३१ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—हे योगिन् ! दुःख दावानल को शान्त करने के लिए नूतन मेघ के समान यह प्रणव नामा (ॐ) अक्षर है । यह समस्त वाङ्मय (सम्पूर्णश्रुत) का प्रकाश करने वाला दीपक तथा पुण्य का शासक है ।

इस प्रणव से शब्द स्वरूप अति निर्मल ज्योति की उत्पत्ति हुई है । अर्थात् प्रणव समस्त वाङ्मय की उत्पत्ति का कारण है । तथा इसके साथ परमेष्ठी का वाच्य वाचक सम्बन्ध है । अर्थात् परमेष्ठी का वाचक तो प्रणव है और परमेष्ठी प्रणव का वाच्य है ।

ध्यान करनेवाला संयमी स्वर और व्यञ्जन से वेष्टित (अकारादि स्वर और मकार जन्य अनुस्वार रूप व्यञ्जन संयुक्त) इस प्रणव (ॐ) को हृदय कमल की कर्णिका के मध्य मे विराजमान करे । जो प्रणव अत्यन्त बुद्धिमान अति दुर्धर्ष तथा देवेन्द्र और सुरेन्द्र (धरणेन्द्र) से पूज्य है, झरते हुए मस्तक मे चन्द्ररेखा के अमृत से आर्द्रित महाप्रभाव विशिष्ट है, कर्मरूप वन को दग्ध करने के लिए अग्नि के समान है—ऐसे इस महातत्व, महावीज, महामन्त्र, उच्चपद स्वरूप तथा शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान गौरवर्ण इस ॐ को ध्यानी योगी कुंभक प्राणायाम से चिन्तन करे ।

यदि इस प्रणव (ॐ) मन्त्र को गहरे सिन्दूर के वर्ण समान अथवा मूंगे की कांति के तुल्य चिन्तन किया जावे तो ध्याता संपूर्ण जगत् को क्षोभित कर सकता है । स्तंभन के कर्म मे स्वर्ण के समान पीत वर्ण चिन्तन करे और द्वेष के कर्म मे कज्जल के समान कृष्ण वर्ण तथा वशीकरण प्रयोग म रक्त (लाल) वर्ण और कर्मों का क्षय करने के लिये चन्द्रकान्ति के समान श्वेत वर्ण ध्यान करे ।

इस प्रकार प्रणव अर्थात् ॐकार मन्त्र के ध्यान का विधान किया । अब पंच परमेष्ठी के नमस्कारात्मक मन्त्रों के ध्यान का विधान करते हैं ।

पणतीससोलछप्पनचदुगमेगंच जवहज्झाएह ।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरुवएसेण ॥ ४९ ॥ (द्रव्य स०)

अर्थ—परमेष्ठी के वाचक पैंतीस, सोलह, छह, पांच, चार, दो और एक अक्षर रूप मन्त्र हैं, उनका जाप करो तथा ध्यान

करो। इनके सिवा अन्य भी मन्त्र पद हैं, उनका भी गुरु के उपदेशानुशार जाप करो।

पैंतीस अक्षरो का मन्त्र—णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं। यह पैंतीस अक्षर का मंत्र है। यह अनादि निधन महामन्त्र है। तथा पंच परमेष्ठी को नमस्कार रूप है, और सब पापकर्म का विनाश करने वाला है और अन्य मन्त्रो के प्रभाव को दलित करने वाला है। अर्थात् इसका जाप और चिन्तन करने वाले पर दूसरे मारणोच्चाटन वशीकरण आदि मन्त्रो का कुछ भी असर नहीं होता है। यह मंत्र सब मांगलिक कार्यों की प्रसूति (उत्पत्ति) का हेतु है। इसलिए जो भव्यजीव संसारिक सुख और मोक्ष की प्राप्ति का अभिलाषी है, उसको चाहिए कि वह इस महामंत्र का प्रतिदिन जाप व ध्यान करे और अपनी अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त करे।

सोलह अक्षरो का पंच परमेष्ठी मन्त्र द्रव्य संग्रह टीका मे इस प्रकार वर्णित है।

'अरिहंत सिद्ध आयरिय उवज्झाय साहू' इस प्रकार सोलह अक्षरो वाले पंच परमेष्ठी मन्त्र का जाप व ध्यान करे।

छह अक्षरों के मन्त्र—

१ अरिहंत सिद्ध। २ अरिहंत साहू। ३ ॐ नमः सिद्धेभ्य। ४ ॐ णमो सिद्धाणं। ये छह अक्षरो के मंत्र ध्यान करने योग्य हैं

पांच अक्षरों के मन्त्र—

१ अ सि आ उ सा। २ णमो सिद्धाणं।

चार अक्षरों के मन्त्र—

१ अरिहंत। २ अ सि साहू।

दो अक्षरों के मन्त्र—

सिद्ध। अ सि। ॐ ह्रीं।

एकाक्षर मन्त्र—

प्रकार है अ अथवा ॐ। अकार अरिहंत का आदि अक्षर ग्रहण किया गया है तथा ॐ कार पंच परमेष्ठी का वाचक है। वह इस

अरिहंता असरीरा आयरिया तह उवज्झाया मुणिणो।
पढमक्खरणिप्पण्णो ॐकारो पंचपरमेट्ठी ॥ १ ॥ द्रव्यसं टी.

अर्थ—अरिहंत असरीर (शरीररहित-सिद्ध भगवान्) आयरिय, उवज्झाय और मुनि इन पंच परमेष्ठी के वाचक पाच पदों के आदि अक्षर अ अ आ उ म् हैं, इनकी सन्धि होकर ॐ शब्द सिद्ध होता है। अर्थात् अ+अ और + आ इन तीनों वर्णों की सवर्ण दीर्घ सन्धि होकर 'आ' वर्ण होताहै। तथा आ+उ मिलकर 'ओ' रूप सिद्ध होता है तथा 'म्' का कातन्त्र व्याकरण के नियम से अनुस्वार होता है। इस प्रकार ओ, ॐ ऐसा बीजाक्षर रूप बनता है। और यह ॐकार पच परमेष्ठी का वाचक सिद्ध होता है। इसीको प्रणव नाम से कहते हैं। इस का महात्म्य पहले निरूपण कर आये हैं।

सब अक्षरों के मंत्र का वर्णन

स्फुरद्विमलचन्द्राभे दलाष्टकविभूषिते ।
कञ्जे तत्कर्णिकासीनं मन्त्रं सप्ताक्षरं स्मरेत् ॥ ३९ ॥
दिग्दलेषु ततोऽन्येषु विदिक्पत्रेष्वनुक्रमात् ।
सिद्धादिकं चतुष्कं च दृष्टिबोधादिकं तथा ॥ ४० ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—चमकते हुए निर्मल चन्द्र की ज्योत्स्ना के समान आठ पत्रो से सुशोभित कमल मे जो कर्णिका है, उस पर विराजमान 'णमो अरिहंताणं' इस सप्ताक्षर मन्त्र का चिन्तन करे। उस कर्णिका के चारो ओर आठ पत्रो मे से चार दिशाओ के चार पत्रो पर क्रमसे णमो सिद्धाण, णमो आइरियाण, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्वसाहूण, इन चार मन्त्र पदो का तथा शेष चार विदिशाओ के जो चार दल हैं, उन पर क्रमशः सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नम., सम्यक् चारित्राय नमः, सम्यक् तपसे नमः इन चार मंन्त्र पदो का ध्यान करे। इस प्रकार कमल के अष्ट दल और एक कर्णिका मे उक्त नौ मन्त्रो का चिन्तन करे।

नमस्कार मन्त्र का प्रभाव और फल

जगत के जितने भी योगीश्वरो ने आत्यन्तिकी लक्ष्मी (मोक्ष लक्ष्मी) प्राप्त की है, उन सबने एक मात्र इस महामन्त्र की आराधना कर के ही प्राप्त की है। इस महामन्त्र का पूर्ण प्रभाव योगीश्वरो के ही ज्ञान गोचर है। इसका पूरी तरह वर्णन तो वे भी नहीं कर सकते। इतने पर भी अनभिज्ञ, (अल्पज्ञ) मनुष्य इस महामन्त्र के प्रभाव का वर्णन करता है, वह सन्निपात रोग से ग्रसित प्रतीत होता है।

पापपङ्क से लिप्त हुए प्राणी इसी मन्त्र के आराधन से विशुद्ध होते हैं। इसी मन्त्र के महात्म्य से विचारशील मनुष्य संसार के क्लेश से मुक्त हुए है। यही एक ऐसा मन्त्र है जो इस संसारमे भव्यजीवो के संकट के समय बन्धु है। अर्थात् दुःख से उद्धार करने वाला सच्चा मित्र है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी पदार्थ जीवो पर समान दृष्टि से अनुग्रह करने वाला नहीं है। क्योकि इसी महामन्त्र ने महान् संकट रूप पाताल वाले इस संसार समुद्र मे डूबे हुए जगत् के जीवो को निकाल कर सुखमय मोक्ष मे स्थापित किया है।

इस महामन्त्र की महिमा कहा तक कहे। पूर्व समय मे हजारो पाप करके, अज्ञानवश सैकडो जंतुओ का वधकर तिर्यञ्च भी इस महामन्त्र की शुद्ध भावो से आराधना करके स्वर्ग लक्ष्मी के स्वामी बने हैं।

जो मुनीश्वर अथवो पापभीरु श्रावक मन वचन और काय को शुद्ध करके इस महामन्त्र का एक सौ आठ बार आराधन करे तो वह आहार भोजन ग्रहण करता हुआ भी एक उपवास के पूर्ण फल को प्राप्त करता है।

सोलह अक्षर का नमस्कार मन्त्र तथा उसकी महिमा

स्मर पञ्चपदोद्भूतां महाविद्या जगन्नुताम्।
गुरुपञ्चकनामोथ्यां षोडशाक्षरराजिताम् ॥ ४८ ॥
अस्याः शतद्वयं ध्यानी जपन्नेकाग्रमानसः।
अनिच्छन्नप्यवाप्नोति चतुर्थतपसः फलम् ॥ ४९ ॥ (ज्ञा० अ० ३८)

अर्थ—त्रिजगत् के जीव जिसको नमस्कार करते हैं, जो पाच पदो से उत्पन्न हुई है, जो इन सोलह अक्षरो से विभूपित है, पंच गुरुओ के नाम से अङ्कित है ऐसी "अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्वसाधुभ्यो नमः" से विभूपित, उस महाविद्या का स्मरण करो। जो ध्यानी इस को दोसौ बार एकाग्र चित्त होकर जाप करता है वह बिना इच्छा के ही एक उपवास का फल प्राप्त करता है।

'अरिहंत सिद्ध' इस प्रकार छह अक्षरो के मन्त्र (विद्या) का तीन सौ चार जाप करने पर एक उपवास का फल मिलता है। इस मंत्र को अजेय बतलाया है। अर्थात इस मंत्र पर दूसरे का प्रभाव नही होता है। इस की शक्ति अचिन्त्य है।

'अरिहंत' इन चार अक्षरो का यह मंत्र धर्म अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुपार्थ के फल का देने वाला है। इसके चार सौ बार जाप करने पर एक उपवास का फल मिलता है।

'सिद्ध' यह दो अक्षरो का मन्त्र द्वादशाङ्ग वाणी का सार है। ससार जन्य समस्त क्लेशो का क्षय करने मे समर्थ यह मन्त्र मोक्ष का देने वाला है। सिद्धपद की आकाक्षा रखने वाला योगी इस का अवश्य ध्यान करे।

जो ध्यानी आनन्द से प्रफुल्लित चित्त हुआ एकाग्रचित्त होकर 'अ' इस एकाक्षर मन्त्र का पंचशत वार जाप करता है, वह एक उपवास से होने वाली कर्मों की निर्जरा करता है।

यहा पर इन मत्रो का एक उपवास रूप जो फल बताया है वह केवल मत्र जपने मे रुचि उत्पन्न करने के लिए ही है। वस्तुतः इसका फल तो स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति है।

ॐ ह्रॉ ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्र. अ सि आ उ सा नमः' यह मत्र पच तत्त्वोपलक्षित है। इस पञ्चाक्षरमयी विद्या को मुनीश्वरो ने बीज बुद्धि द्वारा द्वादशाग वाणी से उद्धृत किया है। इस विद्या के विषय मे निरन्तर अभ्यास करने मे अपने मनको वशीभूत करता हुआ योगी निश्शङ्क होकर जाप करता हुआ अतिदृढ ससार बन्धन को शीघ्र उच्छिन्न करता है।

मङ्गलशरणोत्तमपदनिकुरम्बं यस्तु संयमी स्मरति ।
अविकलमेकाग्रधिया स चापवर्गश्रियं श्रयति ॥ ५७ ॥ (ज्ञाना०अ० ३८)

अर्थ—चत्तारि मंगल-अरिहतमंगलं, सिद्धमगल,साहूमगलं,केवलिपण्णत्तो धम्मो मगल । चत्तारि लोगुत्तमा-अरिहतलोगुत्तमा, सिद्धलोगुत्तमा, साहूलोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा । चत्तारि सरणं पव्वज्जामि-अरिहतसरणं पव्वज्जामि, सिद्धसरणं पव्वज्जामि, साहूसरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्त, धम्म सरणं पव्वज्जामि । इस प्रकार मंगल, उत्तम शरण भूत इन पदो को जो सयमी एकाग्रचित से स्मरण करता है वह मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त होता है।

सिद्धेः सौधं समारुढुमियं सोपानमालिका ।
त्रयोदशाक्षरोत्पन्ना विद्या विश्वातिशायिनी ॥ ५८ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

सिद्धि (मोक्ष) महल पर चढने के लिए सोपान (सीढ़ी) की पंक्ति स्वरूप तथा विश्व में महिमा उत्पन्न करने वाली तेरह अक्षरों वाली विद्या है। वह विद्या 'ॐ अर्हत् सिद्धसयोगकेवली स्वाहा' इस प्रकार है। मुनीश्वरों ने इस विद्या को मुक्ति कान्ता को मिलाने वाली दूती माना है, इसलिए जो मुक्ति स्त्री को प्राप्त करना चाहता है, उसे इस तेरह अक्षरों के मन्त्र का जाप व ध्यान करना चाहिए।

सकलज्ञानसाम्राज्यदानदक्षं विचिन्तय ।
मन्त्रं जगत्त्रयी–नाथ–चूडारत्नं कृपास्पदम् ॥ ६०॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—यह मंत्र त्रलोकेश्वर मुकुट के रत्न समान है तथा सकल ज्ञान के साम्राज्य को देने में प्रवीण है तथा कृपा का स्थान है, इसलिए 'ॐ ह्रीँ श्रीँ नमः' इस मन्त्र का चिन्तन करो।

नचास्य भुवने कश्चित्प्रभावं गदितुं क्षमः ।
श्रीमत्सर्वज्ञदेवेन यः साम्यमवलम्बते ॥ ६१ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—तीनों लोक में कोई भी विद्वान् इसके प्रभाव को कहने में समर्थ नहीं है। क्योंकि यह मन्त्र श्रीमत्सर्वज्ञ देव के साथ समानता रखता है।

स्मर कर्मकलङ्कौघध्वान्तविध्वंसभास्करम् ।
पञ्चवर्णमयं मन्त्रं पवित्रं पुण्यशासनम् ॥ ६२ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—हे भव्य! तुम कर्मकलंक के समूह रूप अन्धकार का नाश करने के लिए सूर्य के समान, पुण्य का शासन, पंचवर्ण रूप 'णमो सिद्धाणं' इस पवित्र मन्त्र का चिन्तन करो।

सर्वसत्त्वाभयस्थानं वर्णमालाविराजितम् ।
स्मर मन्त्रं जगज्जन्तुक्लेशसन्ततिघातकम् ॥ ६३ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—हे सयमिन्! लोक के सवजीवो के क्लेश परम्परा का नाश करने वाला, सम्पूर्ण जीवो का अभयस्थान, वर्णमाला के अक्षरो से विराजमान इस 'ॐ नमोऽर्हते केवलिने परमयोगिनेऽनन्तशुद्धिपरिणामविस्फुरदुरुशुक्लध्यानाग्निनिर्दग्धकर्मबीजाय प्राप्तानन्तचतुष्टयाय सौम्याय शान्ताय मङ्गलाय वरदाय अष्टादशदोषरहिताय स्वाहा' का स्मरण करे।

स्मरेन्दुमण्डलाकारं पुण्डरीकं मुखोदरे।
दलाष्टकसमासीनं वर्णाष्टकविराजितम् ॥६४॥
ॐ णमो अरिहंताणमिति वर्णानपि क्रमात्।
एकशः प्रतिपत्रं तु तस्मिन्नेव निवेशयेत् ॥६५॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ-हे सयमिन्! चन्द्रमण्डल के आकार आठ पत्रोवाले एक श्वेतकमल को अपने मुख मे चिन्तन करो। उसमे 'ॐ णमो, अरिहंताण' इस आठ वर्ण वाले मन्त्र के एक एक अक्षर को क्रमशः कमल के एक एक पत्र पर स्थापित करो।

स्वर्णगौरी स्वरोद्भूता केशराली ततः स्मरेत्।
कर्णिका च सुधास्यन्दविन्दुव्रजविभूषिताम् ॥६६॥ (ज्ञा० अ० ३८)

अर्थ-इसके बाद स्वर्ण के समान गौर वर्णवाली, स्वरसे उत्पन्न हुई केशर की पक्ति का स्मरण करो तथा अमृतमय प्रवाह के विन्दुओ से अलकृत कर्णिका का चिन्तन करो।

प्रोद्यत्संपूर्णचन्द्राभं चन्द्रबिम्बाच्छनैः शनैः।
समागच्छत्सुधाबीजं मायावर्णं तु चिन्तयेत् ॥६७॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ-तत्पश्चात् उदय होते हुए पूर्णचन्द्र के समान कान्तिवाले, चन्द्रमण्डल से शनैः शनैः आते हुए सुधा (अमृत) के बीज मायावर्ण 'ह्रीं' इस बीजाक्षर का ध्यान करे।

मन्त्रराज के ध्यान कीविधि

इस मायावर्ण ह्रीं का किस प्रकार चिन्तन करे, इसे दिखाते हैं—

विस्फुरन्तमतिस्फीतं प्रभामण्डलमध्यगम् ।
सञ्चरन्तं मुखाम्भोजे तिष्ठन्तं कर्णिकोपरि ॥६८॥
भ्रमन्तं प्रतिपत्रेषु चरन्तं वियति क्षणे ।
छेदयन्तं मनोध्वान्तं स्रवन्तममृताम्बुभिः ॥६९॥

व्रजन्तं तालुरन्ध्रेण स्फुरन्तं भ्रूलतान्तरे ।
ज्योतिर्मयमिवाचिन्त्यप्रभावं भावयेन्मुनिः ॥७०॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ–इस ह्रीँ कार मन्त्र को देदीप्यमान अत्यन्तविशाल कान्ति मण्डल के मध्यमे विराजमान चिन्तन करे। इसके बाद मुखकमल मे सचार करता हुआ चिन्तन करे। पश्चात् कमल की कर्णिका के ऊपर स्थित हुआ विचारे, इसके बाद कमल के प्रत्येक पत्र पर भ्रमण करता हुआ चिन्तन करे। तदनतर क्षण मे गगनतल मे गमन करता हुआ ध्यान करे। तत्पश्चात् मानसिक अन्धकार का छेदन करता हुआ तथा अमृत जल को चुवाता हुआ स्मरण करे। इसके अनन्तर तालु के छिद्र से होकर गमन करता हुआ सोचे। पश्चात् भ्रूलता के मध्य (दोनो भौंहों के बीच) स्फुरायमान होता हुआ–चमचमाता हुआ चिन्तन करे। तथा ज्योतिस्वरूप (केवलीभगवान्) की तरह अचिन्त्य प्रभाव वाला यह ह्रीँ कार मन्त्र है, ऐसा ध्यान करे।

अब इस मन्त्र का महात्म्य (महिमा) दिखाते हैं—

वाक्पथातीतमाहात्म्यं देवदैत्योरगार्चितम् ।
विद्यार्णवमहापोतं विश्वतत्त्वप्रदीपकम् ॥७१॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ–इस मन्त्र का महात्म्य वाणी के अगोचर है। इसकी देवेन्द्र, असुरेन्द्र और नागेन्द्र पूजा करते हैं। तथा यह मन्त्र विद्या रूपी समुद्र मे अवगाहन करने के लिए जगी जहाज के समान है और विश्वभर के तत्त्व अथवा सम्पूर्ण तत्त्वो का प्रकाश करनेवाला विशाल दीपक है।

इतिध्यायन्नसौ ध्यानी तत्संलीनैकमानसः ।
वाङ्मनोमलमुत्सृज्य श्रुताम्भोधिं निगाहते ॥७२॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—पूर्वोक्त प्रकार इस ह्रीँकार मन्त्र का तल्लीन मन से ध्यान करनेवाला संयमी वाणी और मन के दोष का सहार कर श्रुत समुद्र म प्रवेश करता है।

ततो निरन्तराभ्यासान्मासैः षड्भिः स्थिराशयः।
मुखरन्ध्राद्विनिर्यान्तीं धूमवर्त्तिं प्रपश्यति ॥७४॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—उक्त प्रकार स्थिरचित्त होकर छह मास पर्यन्त ह्रीँकार मन्त्र का निरन्तर अभ्यास करने पर मुख में से धुएँ की बत्ती निकलती हुई दिखाई देने लगती है।

ततः संवत्सरं यावत्तथैवाभ्यस्यते यदि।
प्रपश्यति महाज्वाला निःसरन्तीं मुखोदरात् ॥ ७५ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—इसके पश्चात यदि एक वर्ष पर्यन्त इस ह्रीँकार मंत्र का पूर्वोक्त प्रकार अभ्यास किया जावे तो ध्यान करने वाला मुख से निकलती हुई अग्नि की महाज्वाला का दर्शन करता है।

ततोऽतिजातसंवेगो निर्वेदालम्बितो वशी।
ध्यायन् पश्यत्यविश्रान्तं सर्वज्ञमुखपङ्कजम् ॥ ७६ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—इसके पश्चात् लगातार इस मंत्र का ध्यान करता हुआ ध्यानी मुनि जन अपनी इन्द्रियो और मन को वशमें करता हुआ सवेग (ससार से उद्विग्न) और निर्वेद (वैराग्य) परायण होता है, तब उसे सर्वज्ञदेव के मुख कमल का दर्शन होता है।

अथाप्रतिहतानन्दप्रीणितात्मा जितश्रमः।
श्रीमत्सर्वज्ञदेवेशं प्रत्यक्षमिव वीक्षते ॥ ७७ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—इसके अनन्तर वही ध्यान का करने वाला सयमी जन श्रम पर विजय प्राप्त करलेता है तथा निरन्तर आनन्द के अनुभव से आत्मा को तृप्त करता रहा है, तो श्रीमत्सर्वज्ञ देव का प्रत्यक्षमा दर्शन करता है।

भावार्थ—तीर्थंकर देवाधि देव सम्पूर्ण अतिशयो से परिपूर्ण हैं, दिव्यरूपवाले हैं, पंच कल्याणक की महिमा से सहित हैं, विश्व

के जीवो को अभयदान देरहे हैं, उनके चारो ओर प्रभा (कान्ति) का मडल बना हुआ है, उसके मध्य मे देवाधिदेव विराजमान है। वे भव्यजीवो के हृदय कमल को प्रफुल्लित कररहे हैं तथा ज्ञान मे क्रीडा कररहे है,केवलज्ञानादि लक्ष्मी को धारण कररहे हैं। ऐसे देवाधिदेव का यह ध्यानी प्रत्यक्ष की तरह दर्शन करता है।

इसके अनन्तर ध्यानी मुनि इस मत्र के ध्यान मे प्रमाद रहित होकर इसके द्वारा सर्वज्ञ के स्वरूप का निश्चय हो जाने पर ससार के भ्रम को दूर करके लोक के अग्रभाग सिद्धक्षेत्र को निवास स्थान बना लेता है, जहा से पुनरागमन नहीं होता है।

इस प्रकार मुख मे अष्टदल कमल के आठ दलो में आठ अक्षरो की स्थापना करके कर्णिका के चारो ओर की केसर मे सोलह स्वर वर्णों की तथा कर्णिका के मध्य मे ह्रीँ वर्ण की स्थापना करके पूर्वोक्त रीति से ध्यान करनेवाले को जो फल तथा महिमा उपलब्ध होती है, उस महिमा का वर्णन किया। अब आगे अन्य विद्या का निरूपण करते है—

'क्ष्वीँ'कार का महात्म्य

स्मर सकलसिद्धविद्यां प्रधानभूता प्रसन्नगम्भीराम् ।
विधुबिम्बनिर्गतामिव क्षरत्सुधार्द्रां महाविद्याम्॥८१॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ-हे सयमिन् ! तुम, जिससे सम्पूर्ण विद्या सिद्ध होती है, जो सर्वप्रधान है, प्रसन्न तथा गम्भीर है, चन्द्र के बिम्ब से निकली हुई की तरह झरते हुए अमृत से आर्द्र है ऐसी-'क्ष्वीँ' इस महाविद्या का ध्यान करो।

अविचलमनसा ध्यायँल्ललाटदेशे स्थितामिमां देवीम् ।
प्राप्नोति मुनिरजस्रं समस्तकल्याणनिकुरम्बम् ॥८२॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ-जो मुनि निश्चलचित्त होकर ललाट (भाल) प्रदेश पर इस 'क्ष्वीँ' विद्यादेवी का ध्यान करता है,वह सम्पूर्ण कल्याण समूह को निरन्तर प्राप्त करता है।

अमृतजलधिगर्भान्निःसरतीं सुदीप्ता-
मलकतलनिषण्णा चन्द्रलेखा स्मर त्वम् ॥

अमृतकणविकीर्णां प्लावयन्तीं सुधाभिः
परमपदरिण्यां धारयन्तीं प्रभावम् ॥८३॥
एतां विचिन्तयन्नेव स्तिमितेनान्तरात्मना ।
जन्मज्वरक्षयं कृत्वा याति योगी शिवास्पदम् ॥८४॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—हे मुनीश्वर ! अमृत समुद्र से निकलती हुई देदीप्यमान, अमृत कणों मे विखरती हुई, अमृत से प्लावित (अमृत मे डूबी हुई) मोक्ष की धरा मे अपने प्रभाव को धारण करने वाली इस चन्द्र लेखा को तू अपने ललाट प्रदेश पर विराजमान करके ध्यान कर । जो योगी इस विद्या का स्थिर चित्त होकर चिन्तन करता है, वह जन्म रूपी ज्वर का क्षय करके मोक्ष स्थान को प्राप्त होता है ।

सप्ताक्षर मंत्र

यदि साक्षात् समुद्विग्नो जन्मदावोग्रसंक्रमात् ।
तदा स्मरादिमन्त्रस्य प्राचीनं वर्णसप्तकम् ॥ ८५ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—हे मुने ! यदि तुम संसार रूपी दावानल मे भयंकर भ्रमण करने से अत्यन्त उद्विग्न हो तो आदि मन्त्र (पंच नमस्कार मन्त्र) के पहले के 'णमो अरिहंताणं' इस सात अक्षर के मन्त्र का स्मरण करो ।

तीन अक्षरों का महात्म्य

वदन प्रणवं शून्यमनाहतमिति त्रयम् ।
एतदेव विदुः प्राज्ञास्त्रैलोक्यतिलकोत्तमम् ॥ ८६ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—इस ध्यान के प्रकरण मे अथवा इस लोक मे प्रणव (ॐकार), शून्य (बिन्दु) और अनाहत (चन्द्र की रेखा समान) इन तीनों ही को बुद्धिमान मनुष्य तीनो लोक मे तिलक के समान श्रेष्ठ समझें । अर्थात ये तीनो इस जगत मे श्रेष्ठ हैं ।

नासाग्रदेशसंलीनं कुर्वन्नत्यन्तनिर्मलम् ।
ध्याता ज्ञानमवाप्नोति प्राप्य पूर्वं गुणाष्टकम् ॥ ८७ ॥

शंखेंदुकुंदधवला ध्याता देवास्त्रयो विधानेन ।
जनयंति सर्वविषयं बोधं कालेन तद्ध्यानात् ॥ ८८ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—जो ध्यान करने वाला उक्त तीन मन्त्रो को नासिका के अग्रभाग मे स्थापित करके ध्यान करता है, वह पहले अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा आदि आठ दिव्य गुणो को प्राप्त करके पश्चात् अत्यन्त निर्मल ज्ञान (केवल ज्ञान) को प्राप्त करता है। तथा इन तीनों (प्रणव, शून्य और अनाहत) देवो को शख के समान, कुन्द पुष्प के समान तथा चन्द्र की रेखा समान भिन्न २ ध्यान करता है, वह ध्यानी उनके ध्यान करने के सामर्थ्य से कुछ काल मे सब पदार्थों को विषय करने वाले ज्ञान (केवल ज्ञान) को प्राप्त करता है।

भिन्न २ मंत्र

प्रणवयुगलस्य युग्मं पार्श्वे मायायुगं विचिन्तयति ।
मूर्द्धस्थं हंसपदं कृत्वा व्यस्तं वितन्द्रात्मा ॥ ८९ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ -ॐकार का युगल, पार्श्व भाग मे माया अक्षर (ह्रीं) का युगल तथा इनके ऊपर भाग मे हस पद रखकर ध्यानी प्रमाद रहित हुआ भिन्न २ रूप चिन्तन करे। अर्थात् 'ह्रीं ॐ ॐ ह्रीं हस' इस मंत्र का ध्यान करे।

ततो ध्यायेन्महाबीजं स्त्रीकार छिन्नमस्तकम् ।
अनाहतयुतं दिव्यं विस्फुरन्तं मुखोदरे ॥ ९० ॥

अर्थ-तदनन्तर छिन्नमस्तक, महाबीज, अनाहत सयुक्त स्त्री इस दिव्य मन्त्र को मुख के मध्य मे स्फुरायमान हुआ चिन्तन करे। अर्थात् 'स्त्रीं' इस दिव्य महाबीजाक्षर मत्र को मुख मे दे दीप्यमान–चमकता हुआ चिन्तन करे।

श्रीवीर वदनोद्गीर्णां विद्यां चाचिन्त्यविक्रमाम् ।
कल्पवल्लीमिवाचिन्त्यफलसम्पादनक्षमाम् ॥९१॥
विद्यां जपति य इमा निरन्तरं शान्तनिश्चविस्पन्दः ।
अणिमादिगुणॉल्लब्ध्वा ध्यानी शास्त्रार्णवं तरति ॥९२॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—श्रीमत महावीर स्वामी के मुख कमल से उद्गत अचिन्तनीय पराक्रमवाली कल्पलता के समान अचिन्त्य फल प्रदान करने मे सामर्थ्य वाली ऐसी "ॐ जोग्गे मग्गे तच्चे भूदे भव्वे भविस्से अक्खे पक्खे जिण पारिस्से स्वाहा" विद्या का अथवा "ॐ ह्रीं स्वर्हं नमो नमोऽर्हताणं ह्रीं नमः" इस विद्या का सब चञ्चलता को रोककर जो निरन्तर जाप करता है वह ध्यानी अणिमा आदि गुणो को प्राप्त करके शास्त्रसमुद्र का पारगामी होता है अर्थात् द्वादशांग वाणी का ज्ञाता—श्रुतकेवली होता है।

इस विद्या का सतत ध्यान करने से ध्याता को भूत भविष्यत् उत्पन्न वर्त्तमान—त्रिकाल का तथा विश्वतत्वो का ज्ञान होता है।

जिस मन्त्र के ध्यान के प्रभाव से ध्यान करनेवाले के उपसर्ग कर्त्ता सिंह सर्पादि क्रूरजन्तु तथा ध्यानमे विघ्न करनेवाले व्यन्तरादि देव उपशान्त हो जाते है। उस ध्यान का विस्तार पूर्वक वर्णन करते है।

'ॐ णमो अरहताणं' का ध्यान निम्न प्रकार करे।

आठो दिशाओं मे रहने वाले आठ दल जिसके हैं, ऐसे कमल पर ग्रीष्मऋतु के सूर्यसमान प्रखर किरणों से देदीप्यमान अपने आपको विराजमान चिन्तन करे। अर्थात् उस कमल म मैं बैठा हुआ हूं ऐसा चिन्तन करे। तथा उस कमल के आठ दलो पर क्रम से उपर्युक्त मन्त्र के एक एक अक्षर को पूर्वादि दिशा के क्रम से स्थापित करे। इसके पश्चात् पूर्व दिशा मे प्रारम्भ करके प्रदक्षिणा करता हुआ प्रत्येक पत्र पर अङ्कित मन्त्राक्षर का चिन्तन करे। इस प्रकार कमल के प्रत्यक पत्र के सम्मुख स्थित होकर प्रदक्षिणा करता हुआ उक्त अष्टाक्षर के मन्त्र का ग्यारहसौ वार चिन्तन करे। इस प्रकार प्रतिदिन ध्यान करता हुआ आठ रात्रि पर्यन्त प्रसन्न चित्त होकर जाप करे। इसके अचिन्त्य दिव्य प्रभाव से हिंसादि क्रूर भाववाले सिंह सर्प व्याघ्रादि जन्तु अपने क्रूर आशय को इस प्रकार छोड देते हैं, जैसे कि सिंह से भयभीत हुए हाथी अपने गर्व को छोड देते हैं।

उक्त प्रकार आठ रात्रियो के बीत जाने के बाद इस अष्टदल कमल को मुख पर स्थापित करके उसके पत्रों पर स्थित वर्णों का अनुक्रम मे निरूपण करके अवलोकन करे। इस प्रक्रिया को प्रथम विघ्न की शान्ति के लिए सेवन करके पश्चात् प्रणव (ॐ) वर्जित सात अक्षर के 'णमो अरिहताणं' इस मन्त्र का ध्यान करे। प्रणवसहित मन्त्र का ध्यान तो सम्पूर्ण इष्ट–सिद्धि का देनेवाला होता है और प्रणवरहित मन्त्र का ध्यान मोक्ष का देने वाला होता है।

स्मर मंत्रपदं वाऽन्यज्जन्मसंघातघातकम्।
रागाद्युग्रतमस्तोमप्रध्वंसरविमण्डलम् ॥ १०३ ॥ (ज्ञाना. अ ३८)

अर्थ—हे मुने ! तुम रागादि भयानक अन्धकार के पुंज का नाश करने के लिए सूर्यमण्डल समान जन्म सन्तान का घात करने वाला एक दूसरा "श्रीमद्वृषभादि वर्धमानान्तेभ्यो नमः" यह मन्त्र है, इसका ध्यान करो।

अब सिद्धचक्र नामक मन्त्र का स्वरूप व प्रभाव दिखाते हैं–

मनः कृत्वा सुनिष्कम्पं तां विद्या पापभक्षिणीम् ।
स्मर सत्त्वोपकाराय या जिनेन्द्रैः प्रकीर्तिता ॥ १०४ ॥
चेतः प्रसत्तिमाधत्ते पापपङ्कः प्रलीयते ।
आविर्भवति विज्ञानं मुनेरस्याः प्रभावतः ॥१०५॥
मुनिभिः संजयन्ताद्यैर्विद्यानादात्समुद्धृतम् ।
मुक्तिमुक्तेः परं धाम सिद्धचक्राभिधं स्मरेत् ॥१०६॥
तस्य प्रयोजकं शास्त्रं तदाश्रित्योपदेशतः ।
ध्येयं मुनीश्वरैर्जन्ममहाव्यसनशान्तये ॥१०७॥ (ज्ञा० प्र० ३८)

अर्थ–ध्यान का कर्त्ता मनको निष्कम्प करके 'ॐ अर्हन्मुखकमलवासिनि पापात्मक्षयंकरि श्रुतज्ञानज्वालासहस्रप्रज्वलिते सरस्वति मत्पाप हन हन दह दह क्षां क्षीं क्षूं क्षौं क्षः क्षीरवरधवले अमृतसंभवे वं वं हूं हूं स्वाहा, इस पाप-भक्षिणी विद्या का पाप का नाश करने के लिए ध्यान करे। इससे चित्त में प्रसन्नता प्राप्त होती है, पापरूप कीचड़ नष्ट होता है, तथा मुनीश्वरों के विशिष्टज्ञान प्रकट होता है। इस सिद्ध चक्र नामक मन्त्र को संजयन्त आदि मुनियों ने विद्यानुवाद नामक दशमपूर्व से निकाला है। यह मन्त्र स्वर्गादि के सुख और मुक्ति का देनेवाला है। इस सिद्धचक्र का प्रयोजक जो शास्त्र है, उस का आश्रय लेकर उसके उपदेशानुसार मुनीश्वर महान् दुःख की शान्ति के निमित्त इसका ध्यान करें।

यह सब मन्त्र तब तक ही आराध्य होते हैं जब तक आत्मा में कुछ भी शुभरागांश रहता है। वीतराग के लिए किसी वस्तु विशेष के ध्यान का नियम नहीं है। यही कहते हैं –

वीतरागो भवेद्योगी यत्किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।
तदेव ध्यानमाम्नातमतोऽन्यद् ग्रन्थविस्तरः ॥ २ ॥ (उक्तं च-ज्ञाना अ ३८ ११३ में)

अर्थ-वीतरागी मुनि जिस वस्तु का चिन्तन करता है, वह सब ध्यान माना गया है। इसके अतिरिक्त जितना वर्णन किया गया है, वह सब ग्रन्थ का विस्तार मात्र समझना चाहिए।

उक्त ध्यान का तथा ध्यान के योग्य मन्त्रो का जो विस्तार किया गया है; उसका प्रधान हेतु चित्त की एकाग्रता मात्र है। ध्यान करने वाला इन बताये गये मन्त्रो मे अपने मन को स्थिर करने का अभ्यास करे। अभ्यास करते २ जब अन्त:करण में स्थिरता आजावे तब ध्यानी मुनि अपने आत्मा का ही ध्यान करे। बिना आत्मध्यान के मोक्षपद की प्राप्ति असभव है।

इस प्रकार पदस्थानामक धर्म्य ध्यान का वर्णन किया।

रूपस्थधर्म्यध्यान

आर्हन्त्यमहिमोपेतं सर्वज्ञं परमेश्वरम्।
ध्यायेद्देवेन्द्रचन्द्रार्कसभान्तस्थं स्वयम्भुवम् ॥ १ ॥ (ज्ञाना० अ० ३९)

अर्थ—जो सर्वज्ञ देवाधिदेव, परमात्मा, देवेन्द्र, ज्योतिष देवो के इन्द्र एवं चन्द्र सूर्यादि की सभा के मध्य मे विराजमान हैं, तथा जो समवसरणादि बाह्यमहिमा से विभूषित हैं, ऐसे परमभट्टारक (सयोगकेवली) भगवान् का ध्यान करे।

भावार्थ—इस रूपस्थध्यान में सवसरणादि विभूति सहित परमभट्टारक अर्हन्त देव का ध्यान किया जाता है। ये सयोगकेवली भगवान् राग द्वेष मोह (अज्ञान) आदि अठारह दोषो से रहित, अनन्तज्ञान (केवलज्ञान) मण्डित तथा सम्पूर्ण अतिशयो से अलकृत एक हजार आठ व्यञ्जन तथा लक्षणो से विभूषित हैं। (तिल मसा आदि शरीर के चिह्न को व्यञ्जन कहते हैं। वे ९००, तथा श्रीवत्सादि १०८ शुभ लक्षण, इस प्रकार १००८ शुभव्यञ्जन व लक्षण से सुशोभित होते हैं।) देव, मनुष्य, तिर्यंचादि की बारह सभाओ के मध्य गन्धकुटी पर विराजमान हैं। जिन का परमौदारिक शरीर है। जिन का शरीर की कान्ति के मण्डल से सूर्य चन्द्रादिका प्रकाश छिपगया है। तयाकोटि सूर्य के प्रकाश को जिसने तिरस्कृत कर दिया है, उन प्रभा मण्डल मे भव्यजीव अपने सात भवो का अवलोकन करते हैं। जिन परमशान्त वीतराग अर्हन्त देव के सर्वाङ्ग से दिव्यध्वनि होरही है उस दिव्यध्वनि को प्रत्येक जीव अपनी २ भाषा मे कर्णगोचर कर रहे हैं और वस्तु तत्त्व को समझकर अत्यन्त आनन्द से प्रफुल्लित हुए अपना आत्मकल्याण कर रहे हैं। ऐसे देवाधि देव सर्वज्ञ वीतराग अर्हन्त परम भट्टारक का ध्यान करना चाहिए।

उनका मुनिजन सहस्त्र नाम से स्मरण करते हैं, उनमें से कुछ नाम यहा अङ्कित करते हैं–१ अव्यक्त, २ कामनाशक ३ अजन्मा ४ अनन्त, ५ अतीन्द्रिय, ६ जगद्वन्द्य, ७ योगिगम्य ८ महेश्वर, ९ ज्योतिर्मय, १० अनाद्यनन्त, ११ सर्वरक्षक, १२ योगीश्वर, १३ जगद्गुरु, १४ अच्युत, १५ शान्त, १६ तेजस्वी, १७ सन्मति, १८ सुगत. १९ सिद्ध, २० जगत् श्रेष्ठ, २१ पितामह, २२ महावीर, २३ मुनिश्रेष्ठ २४ पवित्र, २५ परमाक्षर, २६ सर्वज्ञ, २७ परमदाता, २८ सर्वहितैषी, २९ वर्धमान, ३० निरामय, ३१ नित्य, ३२ अव्यय, ३३ परिपूर्ण, ३४ पुरातन, ३५ स्वयम्भू, ३६ हितोपदेशी, ३७ वीतराग, ३८ निरञ्जन ३९ निर्मल, ४० परमगम्भीर, ४१ परमेश्वर, ४२ परमतृप्त, ४३ अव्याबाध, ४४ निष्कलङ्क, ४५ निजानन्दी, ४६ निराकुल, ४७ नि.स्पृह, ४८ देवाधिदेव, ४९ महाशाकर, ५० परमब्रह्म, ५१ परमात्मा ५२ पुरुषोत्तम, ५३ अमर, ५४ परमबुद्ध, ५५ अशरणशरण्य, ५६ गुणसमुद्र, ५७ सकलतत्वज्ञ, ५८ आत्मज्ञ, ५९ शुक्लध्यानी, ६० परमसम्यग्दृष्टि, ६१ तीर्थङ्कर, ६२ अनुपम, ६३ विश्वतत्वज्ञ, ६४ परमपुरुषार्थी, ६५ कमशीलवक्त्र, ६६ विश्वविद्याविशारद, ६७ निरावरण, ६८ स्वरूपासक्त, ६९ कृतकृत्य, ७० परमसयमी, ७१ सकलक्षेत्रज्ञ, ७२ स्नातकनिग्रन्थ, ७३ सयोगिजिन, ७४ परमनिर्जराकारक, ७५ गणनायक, ७६ परमशुद्ध, ७७ मुनिगणश्रेष्ठ, ७८ परमसवरपति, ७९ तत्ववेत्ता, ८० आत्मरमण, ८१ मुक्तिस्त्रीवर, ८२ परमविरक्त, ८३ परमानन्द, ८४ परमतपस्वी, ८५ परमक्षमावान्, ८६ परमशान्त, ८७ परमशुचि, ८८ परमत्यागी, ८९ अखण्डब्रह्मचारी, ९० शुद्धोपयोगी, ९१ निरालम्ब, ९२ परमस्वतन्त्र, ९३ अशत्रु, ९४ निर्विकार, ९५ आत्मदर्शी, ९६ महर्षि, ९७ परमाकिञ्चन, ९८ जगदीश, ९९ विष्णु १०० ब्रह्मा, १०१ महेश, १०२ ईश्वर, १०३ जिनेन्द्र, इत्यादि नामो का उच्चारण कर उनके गुणो का चिन्तन करना चाहिए।

इस प्रकार श्रीमत अर्हन्त देव के गुण मे जिसका अन्त.करण तन्मय हो जाता है, वह ध्यानी अभ्यास के वश अर्हन्त देव के ध्यान मे तल्लीन हुआ अपनी आत्मा और अर्हन्तपरमात्मा के भेदभाव रहित हो जाता है, तब वह ज्ञानी अहर्निश आत्मा को सर्वज्ञ स्वरूप देखता है। उस समय वह ऐसा विचार करता है कि यह सर्वज्ञ देव है और मैं उनके स्वरूप मे लीन हू, अत. मैं भी उनके समान विश्वद्रष्टा (सर्वज्ञ) हू, अन्य नहीं हू।

आत्मा मे अनन्त शक्ति छिपी हुई है। जब यह आत्मा उसको प्रकट करने का ध्यान रूप सदुद्योग करता है, तब उसकी सब शक्तियाँ विकसित हो जाती हैं। उस समय वह चौदह भुवन को क्षोभित करने की सामर्थ्य रखता है।

इस प्रकार रूपस्थ ध्यान का वर्णन हुआ। अब रूपातीत ध्यान का निरूपण करते हैं।

रूपातीत ध्यान

अथ रूपे स्थिरीभूतचित्तः प्रक्षीणविभ्रमः।
अमूर्त्तमजमव्यक्तं ध्यातुं प्रक्रमते ततः ॥१५॥
चिदानन्दमयं शुद्धममूर्त्तं परमाक्षरम्।
स्मरेद्यत्रात्मनात्मानं तद्रूपातीतमिष्यते ॥१६॥ (ज्ञा० अ० ४०)

अर्थ–जब ध्यानी मुनि का रूपस्थ धर्म्यध्यान में चित्त स्थिर हो जाता है, चित्त की सब भ्रान्ति नष्ट हो जाती है, तब ध्यानी अमूर्त, अजन्मा, अव्यक्त (इन्द्रियों के अगोचर) परमात्म तत्त्व का ध्यान करना प्रारम्भ करता है। जो परमात्मा चिदानन्द स्वरूप है, शुद्ध–द्रव्यकर्म और भावकर्म व नोकर्म से रहित है, शरीर रहित होने से अमूर्त है, परम अविनश्वर है, उस शुद्धात्मा का जो ध्यान किया जाता है, उसे रूपातीत ध्यान कहते हैं।

शंका–चित्तवृत्ति के क्षोभरहित हो जाने को योगी जन ध्यान कहते हैं। तब मोक्षप्राप्त परमात्मा का चिन्तन कैसे किया जावे? क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त अन्य तत्त्व का ध्यान चित्त में अनैक्य अवश्य उत्पन्न करता है। द्रव्यसंग्रह में भी कहा है–

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिन्तह किंवि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे झाणं ॥५६॥

अर्थ–हे मुने! तुम कुछ भी शारीरिक चेष्टा न करो, अन्तर्जल्प तथा बाह्यजल्परूप कुछ भी वचन उच्चारण न करो, किसी दूसरे पदार्थ का चिन्तन न करो, ऐसा करने से तुम्हारी आत्मा अपने स्वरूप में स्थिर हो जावेगी। इसे ही उत्कृष्ट ध्यान कहते हैं।

सामाधान–आत्मा का अपने स्वरूप में स्थिर करने के लिए रूपातीत ध्यान का आश्रय लिया जाता है। क्योंकि जब तक आत्मा को अपने गुणों में स्थिर होने का अभ्यास नहीं हुआ है, तब तक इस ध्यान का अवलम्बन आवश्यक माना गया है। प्रथम परमात्मा के गुणों का पृथक् २ चिन्तन करे और उन गुणों के समूह से विशिष्ट परमात्मा का ध्यान करे, और अनन्य शरण होकर परमात्मा के स्वरूप में तल्लीन हो जावे। जब आत्मा परमात्मा के स्वरूप में एक रूप हो कर मिल जाता है, तब ध्यानी के चित्त में कुछ भी क्षोभ नहीं रहता है।

इस प्रकार शुद्धात्मा के गुणों द्वारा अमूर्त, शुद्धस्वरूप, परमात्मा का ध्यान करता हुआ ध्यानी मुनि अपनी आत्मा और परमात्मा

में अभेद भाव समझकर ऐसा विचार करे कि मैं और परमात्मा एक ही हूँ। मेरी आत्मा के और परमात्मा के स्वरूप में शक्ति की अपेक्षा से किंचिन्मात्र भी भेद नहीं है। केवल व्यक्ति की अपेक्षा से भेद है। परमात्मा कर्मरहित होगये हैं; इसलिए उनके सब गुण व्यक्त (प्रकट) होगये हैं और मेरी आत्मा कर्मविशिष्ट है, अत: वे गुण अव्यक्त (अप्रकट) हैं। लेकिन शक्ति रूपसे उनमें और मुझमें लेश मात्र अन्तर नहीं है।

कर्मरहित परमात्मा का स्वरूप यह है, जो रूपातीत ध्यान में चिन्तन किया जाता है—

व्योमाकारमनाकारं निष्पन्नं शान्तमच्युतम् ।
चरमाङ्गात्किञ्चिन्न्यूनं स्वप्रदेशैर्घनैः स्थितम् ॥ २२ ॥
लोकाग्रशिखरासीनं शिवीभूतमनामयम् ।
पुरुषाकारमापन्नमप्यमूर्त्तं च चिन्तयेत् ॥ २३ ॥ (ज्ञाना० अ० ४०)

अर्थ—आकाश के आकार अर्थात् निराकार, पुद्गल के आकार से रहित, कृतकृत्य, शान्तस्वरूप, अपने स्वरूप में अच्युत (स्थिर) चरम शरीर से किंचित् न्यून, अपने आत्माके निविड़ प्रदेशो में स्थित, लोक के अग्रभाग में जो तनुवातलय है उसके अन्तिम भाग में विराज मान, शिवस्वरूप अर्थात् पूर्व के अकल्याण रूप को छोड़कर कल्याण रूप हुए, आमय (शारीरिक व आत्मीय रोग) से वर्जित, पुरुषाकार को धारण करने वाले होते हुए भी अमूर्त्त अर्थात् पुद्गल के रूप रस गन्ध और स्पर्श रूप मूर्तधर्म रहित, ऐसे परमात्मा के स्वरूप का ध्यान करना चाहिए।

शंका–जिस परमात्मा के शरीर नहीं है, जो द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म रहित है, कृतकृत्य है, चैतन्यस्वरूप और आनन्दमय है तथा महान् और जगत् में सबसे श्रेष्ठ है, ऐसे अमूर्त्त परमात्मा के पुरुषाकार कैसे सम्भव हो सकता है ?

समाधान–जैसे-पीतल आदि धातु की मूर्ति बनाने के लिए मोम भर कर साचा बनाया जाता है, उसको अग्नि में पकाने पर मध्यवर्ती जो मोम होता है वह गल जाता है और उसके मध्य के आकाश का आकारमात्र रह जाता है। वैसे ही आत्मा जिस शरीर से अष्ट कर्मों का क्षय करके मोक्ष-प्राप्त करता है, उस चरम (अन्तिम) शरीर से कुछ कम अर्थात् नासिका कर्ण आदि छिद्र और त्वचा नखादि से न्यून शरीर का आकार रहता है।

अथवा—समस्त अवयवो से परिपूर्ण और सब लक्षणो से परिपूर्ण निर्मल दर्पण में पड़े हुए प्रतिबिम्ब के समान कान्तिवाले परमात्मा का ध्यान करे।

इसका आशय यह है कि जैसे स्वच्छ दर्पण में पुरुष के सम्पूर्ण अवयव और लक्षणों से विशिष्ट पुरुष का आकार दिखाई देता है, वैसे ही परमात्मा के प्रदेश अवयव रूप परिणत हो रहे हैं और लक्षणों की तरह आत्मा के सम्पूर्ण गुण विद्यमान रहते हैं।

इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करते रहने से ध्यानी की आत्मा में ऐसा दृढ संस्कार हो जाता है कि वह स्वप्नादि में भी परमात्मा को ही प्रत्यक्ष सा देखता है। उस समय ध्यानी को ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि मैं ही परमात्मा हूँ, मैं ही सर्वज्ञ हूँ, । ज्ञानद्वारा सर्व व्यापक मैं ही हूँ, सिद्ध भी मैं ही हूँ और साध्य (सिद्ध करने योग्य) भी मैं ही हूँ, संसार से पृथक् हूँ परमात्मा, परमज्योतिस्वरूप सम्पूर्णविश्व का दर्शक, और निरञ्जन (कर्मरूप अञ्जन रहित) मैं ही हूँ। जब ऐसे परमात्मा का ध्यान करने लगता है, उस समय वह निश्चल, अमूर्त, (अशरीरी) कलङ्क रहित जगद् का गुरु, ध्यान व ध्याता से रहित, महान् चैतन्य मात्र स्फुरायमान होता है। इस प्रकार ध्यानी भेद भाव का त्याग करके परमात्मा और अपने आत्मा में ऐक्य भाव को इस तरह प्राप्त होता है कि उसे पृथक् भाव प्रतीत ही नहीं होता है।

इसी प्रकार रूपातीत ध्यान का वर्णन किया। अब संक्षेप से ध्यान की आवश्यकता और प्रभाव दिखाते हैं:—

हे आत्मन्! यदि तू संसार के शरीर जन्य रोगादि तथा इष्टवियोग, अनिष्ट-संयोग से उत्पन्न एवं मानसिक सकल्प और विकल्प के निमित्त से निष्पन्न व्याकुलता और जन्म मरण आदि भयानक दुःखों से सर्वथा दूर रहने वाले श्री अरहंत परमेष्ठी व सिद्धपरमेष्ठी के दिव्य आनन्द का रसानुभव करना चाहता है तो तू प्रत्येक अवस्था में अर्थात् अनुकूल तथा प्रतिकूल सब अवस्थाओं में सर्वदा प्रसन्नचित्त हैं, सदा शान्ति को धारण कर और सांसारिक विषयों मे दौडते हुए मन को रोक।

शंका—जिसका मन ध्यान में समर्थ न हो। अर्थात् अभ्यास न होने के कारण मन को एकाग्र करने की क्षमता न हुई हो तो उसे क्या करना चाहिए, जिससे ध्यान की सिद्धि हो जाय?

समाधान—सबसे पहले उसे पर पदार्थ मे जो ममत्व हो रहा है, उस को घटाने का प्रयत्न करना चाहिए। ज्यों ज्यों उस का परपदार्थ से ममत्वभाव कम होता जावेगा, त्यों त्यों उसके मन मे क्षोभ उत्पन्न करने वाले सकल्प और विकल्प का ह्रास होता चला जायगा, और मन की स्थिरता होने लगेगी।

जब तक उसका मन स्थिरता को प्राप्त न हो, तब तक उसे अनित्य, अशरण आदि बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करना चाहिए। अर्थात् संसार तथा शरीर विषयादि की क्षणभंगुरता का विचार करना चाहिए, आत्मा की अशरणता का विचार करना चाहिए। इस प्रकार अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन भी धर्म्यध्यान माना गया है। इनके चिन्तन मे मन की स्थिरता का अभ्यास करके पश्चात् अपने स्वरूप का निरूपण करे। अपने आत्मा मे अपने को स्थिर करने के लिए पूर्वोक्त पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान का अवलम्बन ले।

धर्म्यध्यान का फल

असंख्येयमसंख्येयं सद्दृष्ट्यादिगुणेऽपि च ।
क्षीयते क्षपकस्यैव कर्मजातमनुक्रमात् ॥१२॥
शमकस्य क्रमात् कर्म शान्तिमायाति पूर्ववत् ।
प्राप्नोति निर्गतातङ्कः स सौख्यं शमलक्षणम् ॥१३॥ (ज्ञाना० अ० ४१)

इस धर्म्य ध्यान के प्रभाव से दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय करने वाले सम्यग्दृष्टि नामक चौथेगुणस्थान से लेकर अप्रमत्त नामक गुणस्थान तक इन चार गुणस्थानो मे असख्यात असख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती है तथा दर्शन मोहनीय का उपशम करने वाले जीव के भी असख्यात असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। अत उक्त प्रकार धर्म्यध्यान करनेवाला, ससार के आतंक-त्रास से रहित हुआ शान्ति सुख का अनुभव करता है।

धर्म्यध्यान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है तथा इसमें क्षायोपशमिक भाव रहता है और लेश्या सदा शुक्ल ही रहती है।

धर्म्यध्यान के चिह्न

अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वं गन्धःशुभो मूत्रपुरीषमल्पम् ।
कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च योगप्रवृत्तेः प्रथमं हि चिह्नम् ॥ (उक्तच-ज्ञाना० अ० ४१श्लो १५)

अर्थ—धर्म्यध्यान परायण महात्मा के चित्त में इन्द्रियो के विषयो की लम्पटता नहीं रहती है। उसके शरीर मे रोग नहीं रहता, अर्थात् शरीर नीरोग होता है। उसमे निष्ठुरता नहीं होती है। शरीर मे शुभगन्ध होता है। उसके मल व मूत्र स्वल्प होता है। शरीर कान्ति सहित होता है। वह सदा प्रसन्नचित्त रहता है। उसकी वोली मे मिठास होता है। वह योगप्रवृत्ति के प्रथम चिह्न माने गये हैं।

धर्म्यध्यानी मरकर कहा जन्म लेते है, यह बताते है—

अथावसाने स्वतनुं विहाय, ध्यानेन संन्यस्तसमस्तसङ्गाः ।
ग्रैवेयकानुत्तरपुण्यवासे सर्वार्थसिद्धौ च भवन्ति भव्याः ॥ १६ ॥

देवराज्यं समासाद्य यत्सुखं कल्पवासिनाम् ।
निर्विशन्ति ततोऽनन्तं सौख्यं कल्पातिवर्तिनः ॥ १६ ॥
संभवन्त्यथ कल्पेषु तेष्वचिन्त्यविभूतिदम् ।
प्राप्नुवंति परं सौख्यं सुराः स्त्रीभोगलाञ्छितम् ॥ २० ॥ (ज्ञाना अ० ४१)

अर्थ—धर्म्यध्यान का आराधक भव्य पुरुष आयु के अन्त समय मे शुभध्यान से समस्त परिग्रहों का त्यागकर अपने शरीर को छोडता है। वह महानुभाव नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पॉच अनुत्तर विमानो मे जन्म लेता है। वहा पर जन्म लेनेवाले वे कल्पातीत विमानवासी देव सब अहमिन्द्र होते हैं। कल्पनामी देवों के इन्द्रो को जो सुख उपलब्ध होता है, उससे अनन्त गुणा सुख अहमिन्द्र देवों को प्राप्त होता है।

यदि धर्म्यध्यानी, कल्पातीत विमानो मे कदाचित् जन्म न ले तो धर्म्यध्यान के प्रभाव मे कल्पवासी देवो मे तो अवश्य जन्म लेता ही है, अन्यत्र कदापि जन्म नहीं लेता। वहा पर कल्प स्वर्गों मे भी देवागनाओ सहित नित्योत्सव, दिव्य सुख का निरन्तर सागरो पर्यन्त भोग करता है।

तत्पश्चात वह देव दिव्य भोगो का अनुभव कर स्वर्ग से च्युत होकर मनुष्यो से वन्दनीय पवित्र उच्चकुल मे जन्म धारण करता है।

तत्पश्चात् वह शरीर और आत्मा को भिन्न अनुभव कर, उन दिव्य भोगो से विरक्त होकर, जिनदीक्षा लेकर सम्यक् रत्नत्रय की शुद्धि के लिए अत्यन्त दुष्कर तपस्या तथा धर्म्य ध्यान और शुक्लध्यान को अपनी शक्ति के अनुसार स्वीकार करके कृत्स्न कर्मों का क्षयकर परम पद निर्वाण को पाता है।

इस प्रकार धर्म्यध्यान को इस लोक सम्बन्धी सुख का देनेवाला और दुःखो का क्षय करने वाला तथा परलोक मे स्वर्गादि की सम्पत्ति और अनेक अनुपम ऐश्वर्य व सुख का देने वाला समझकर इसका आराधन करना चाहिए। इसके आराधन से चित्त की मलिनता मिट कर चित्त मे आल्हाद उत्पन्न होता है। अनागत कर्मों का सवर और पूर्व बन्धे हुए कर्मों की निर्जरा होती है। इसलिए निरन्तर अपने चित्त को धर्म्यध्यान मे निरत रखना उचित है। धर्म्यध्यान के जो साधन पूर्व मे लिखे गये हैं, उनकी सहायता लेकर अपने चित्त को स्थिर करने का अभ्यास करे। कर्मों का क्षय करनेवाला एक ध्यान ही अमोघ साधन है। ध्यान का आराधन किये बिना कर्म का क्षय होना असभव है। जिन्होने मुक्ति को प्राप्त किया है उन महानुभावो ने ध्यान के धन का ही सचय किया था, ऐसा दृढ निश्चय कर शुभ ध्यान मे तत्पर रहना ही

मनुष्य का कर्तव्य है, यही साक्षात आत्मा का कल्याण करनेवाला है।

शुक्ल-ध्यान का स्वरूप

निष्क्रियं करणातीतं ध्यानधारणवर्जितम् ।
अन्तर्मुखं च यच्चित्तं तच्छुक्लमिति पठ्यते ॥ ४ ॥ (ज्ञाना. अ ४२)

अर्थ—जो ध्यान निष्क्रिय है अर्थात कायादि की समस्त क्रियाओं से रहित है, इन्द्रियों से अतिक्रान्त है, ध्यान की धारणा से वर्जित है, अर्थात् मैं अमुक का ध्यान करूं ऐसी धारणा–इच्छा से रहित है, जिसमे चित्त अपनी आत्मा मे ही रत रहता है; बाह्य पदार्थ मे नहीं दौडता, उसे शुक्लध्यान कहते हैं।

चारो ध्यानो मे शुक्लध्यान ही सर्वोत्कृष्ट है, क्योकि वही कर्म–क्षय का साधकतम कारण है। शुक्ल का अर्थ श्वेत–स्वच्छ है। कर्मों का नाश होने से आत्मा स्वच्छ होजाता है। वह स्वच्छता शुक्लध्यान का कारण है, इसलिए इस ध्यान को भी स्वच्छ कहा गया है। शुक्ल ध्यान शुद्धोपयोग का अविनाभावी है। शुद्धोपयोग का यह कार्य भी है और कारण भी। इस लिए भी यह शुक्ल है।

यह शुक्लध्यान आदि के तीन संहनन वाले मनुष्यों के ही होसकता है, उत्तर के तीनो संहनन वालों के नहीं। ध्यान की परिभाषा है एक पदार्थ को मुख्य कर (उसे विषय बनाकर) अन्य चिन्तनाओ से मनको हटा लेना। यह ध्यान अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक ही ठहर सकता है। इसके बाद जो ध्यान होगा वह दूसरा ध्यान कहलावेगा और इस प्रकार ध्यान की परम्परा चलेगी। ध्यान की परम्परा भी ध्यान ही कहलाती है।

इस ध्यान के चार भेद हैं–पृथक्त्ववितर्कवीचार, एकत्ववितर्कविचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, व्युपरतक्रियानिवर्ति। पहले दो ध्यानों मे जो वितर्क शब्द आया है उसका अर्थ श्रुत ज्ञान है। अर्थात् ये दोनो ध्यान श्रुत ज्ञानियो के ही होते हैं, केवल ज्ञानियों के नहीं। श्रुतज्ञान की उत्कृष्ट मर्यादा चौदह पूर्व और जघन्य मर्यादा अष्ट प्रवचन मातृका(पांच समिति और तीन गुप्तियो का ज्ञान) है। श्रुत ज्ञान की जघन्य मर्यादा से लेकर उत्कृष्ट मर्यादा तक यही दोनो शुक्लध्यान होसकते हैं। पर इसका मतलब यह कभी नहीं है कि यह दोनो ध्यान पूर्ण श्रुत केवली के ही हो। सूत्रकार के 'शुक्ले चाद्ये पूर्वविद.' सूत्र मे पहले के दोनो ध्यानो मे श्रुतज्ञान की उत्कृष्ट मर्यादा बतलाई गई है। उनका आशय यह नहीं है कि पूर्ण श्रुतज्ञानियो के बिना ये दोनो ध्यान नहीं होसकते। अगर यह नहीं माना जाय तो फिर दशवे और ग्यारहवें गुण स्थानवाले निर्ग्रन्थ मुनियो के जघन्य श्रुतज्ञान अष्ट प्रवचन मातृका क्यो माना ?

चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक धर्म्यध्यान होता है यह पहले कह चुके हैं। धर्म्यध्यान श्रेणी चढने के पहले होता है।
धर्म्यध्यान से श्रेणी का प्रारम्भ नहीं होसकता। इसलिए श्रेणी चढने के पहले धर्म्यध्यान और इसके बाद शुक्लध्यान होता है। इस तरह आदि
के दोनो शुक्लध्यान श्रुतज्ञानियो और अन्त के दोनो ध्यान केवलज्ञानियो के होते हैं।

जिसमे चारित्र मोहनीय की इक्कीस प्रकृतियो के दबाने का कार्य किया जाता है वह उपशम श्रेणी और जिसमे उक्त प्रकृतियों
को क्षय किया जाता है वह क्षपक श्रेणी कहलाती है। इन दोनो ही श्रेणियो मे क्रमश प्रथम और द्वितीय शुक्ल होता है। अब इन ध्यानों का
पृथक् २ वर्णन करते हैं —

पृथक्त्व वितर्क वीचार

जिस ध्यान मे पृथक् पृथक् भिन्न २ रूप से श्रुतज्ञान निरूपित अर्थ (द्रव्य व पर्याय) तथा व्यञ्जन (शब्द) मे योग (मन, बचन
और काय योग) का सक्रमण-परिवर्त्तन होता है, उसे पृथक्त्ववितर्क वीचार नामक शुक्लध्यान कहते हैं।

इस ध्यान का आराधक-द्रव्य को छोडकर पर्याय मे आजाता है, तथा पर्याय का ध्यान करते २ द्रव्य मे आजाता है, अर्थात
द्रव्य का ध्यान करने लगता है। इसे अर्थ-सक्रमण अर्थात् अर्थ का परिवर्त्तन कहते हैं। एक श्रुतवचन को ग्रहण कर पश्चात् उसे छोडकर दूसरे
श्रुतवचन का ध्यान करने लगता है। उसको भी छोडकर दूसरे श्रुतवचन का विचार करने लगता है। इसे व्यञ्जन सक्रान्ति कहते हैं। काययोग
का अवलम्बन भी त्याग कर मनोयोग का आश्रय लेता है। पुन इसे भी छोडकर अन्ययोग का अवलम्बन लेता है। इस प्रकार के परिवर्त्तन
(बदलने को) वीचार कहते हैं।

इस ध्यान का धारक वही होता है-जो आदि के उत्तम सहननो मे से किसी एक का धारण करने वाला हो, उत्तम (वज्रवृषभना-
राच) सहनन होने के कारण परिषहो की बाधा को सहन करने मे समर्थ हो। वही सहिष्णु मुनि पर्वत की गुफा, शिखर, वृक्षकी कोटर, (खोह)
नदीतट, श्मसान, पुराना वन, शून्य गृह उपवनादि मे से किसी एक ऐसे स्थान मे जहां पर पशु, पक्षी, स्त्री, नपुंसक, मनुष्यादि का गमनागमन न
हो, जहा पर क्षुद्र जीव जन्तु न हो, और दूसरे स्थानो से वहा पर उनके आने की सम्भावना भी न हो, वह स्थान अत्यन्त उष्ण न हो और
अत्यन्त शीत भी न हो, वहा पर अत्यधिक वायु का भी सचार न हो, वर्षा और आतप (गर्मी) की बाधा से वर्जित हो, बाह्य और अन्तरङ्ग के
चित्तविक्षेप के कारण न हो, ऐसे पवित्र तथा अनुकूल स्पर्शवाले भूमि भाग पर सुखकर आसन लगाकर बैठे। पर्यङ्कासन (पालथी) पद्मासन आदि
लगा कर अपने शरीर को तना हुआ रखे। अपनी गोद मे वाम (बाएँ) हाथ की हथेली रखे। दातो के अग्रभागो को परस्पर अत्यन्त न जोडे
और न अधिक खुले रखे। मुख को थोड़ा सा झुका हुआ रखे। शरीर के मध्य भाग को सीधा और तना हुआ रखे, मुख की छवि प्रसन्न और नेत्र

दृष्टि सौम्य और निर्निमेष (पलक–टिमकार रहित) हो। निद्रा, आलस्य, काम, राग, रति, अरति, शोक, भय, हास्य, द्वेष, विचिकित्सा आदि का सर्वथा त्याग करे। तथा श्वासोच्छ्वास का मन्द मन्द प्रचार करे। इत्यादि क्रमपरिकर्मा साधु अर्थात् उक्त ध्यान के साधनों से सुसज्जित ध्याता नाभि के ऊपर हृदय, मस्तक अथवा भ्रूलता के मध्य, ललाट प्रदेशादि और भी अनेक स्थानों में से अतिपरिचय किया हो वहां मनोवृत्ति को रोककर इस ध्यान का अभ्यास प्रारम्भ करे। परिचित–अभ्यस्त किसी स्थान पर मन को स्थापन करके राग द्वेष और मोह को शान्त करता हुआ निपुणता से शारीरिक क्रिया का निग्रह करे, श्वासोच्छ्वास की गति मन्द मन्द करे, चित्त को निश्चल करके और क्षमा का धारण करे, बाह्य और आभ्यन्तर द्रव्य पर्याय का ध्यान करने से श्रुत ज्ञान के सामर्थ्य को प्राप्त हुआ मुनि का मन अर्थ (द्रव्य पर्याय) और व्यंजन (वचन) तथा काय योग और वचन योग में पृथक् पृथक् रूप से संक्रमण करता है अर्थात् द्रव्य से पर्याय में पर्याय से द्रव्य में तथा काय योग से वचन योग में और वचन योग से काययोग में भ्रमण करता है। उस समय वह ध्यानी मुनि चारित्र मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का शनैः शनैः अति मन्द गति से उपशमन अथवा क्षपण करना प्रारम्भ करता है। जैसे अति उत्साही बालक कुंठित कुल्हाड़ी से चिरकाल में तरु (वृक्ष) का छेदन करने में समर्थ होता है, क्योंकि उसके द्वारा चलाई गई वह कुंठित कुल्हाड़ी कभी किनार गिरती है और कभी स्थिर ठीक लक्ष्य पर अवस्थित नहीं रहती। उसी प्रकार इस ध्यान के धारक का चित्त अर्थ पर्याय और काय योग तथा वचन योग में भ्रमण करता है, इसलिए मन्दगति से मोह की प्रकृतियों को उपशमन अथवा क्षपण करता है।

यह ध्यान मनोयोग, वचनयोग और काययोग इन तीनों योगों के धारक मुनियों के होता है। चतुर्दश पूर्व के ज्ञाता श्रुत केवली ही इस को ध्या सकते हैं।

एकत्ववितर्क अवीचार नामा शुक्ल ध्यान—

> ज्ञेयं प्रक्षीणमोहस्य पूर्वज्ञस्यामितद्युतेः।
>
> सवितर्कमिदं ध्यानमेकत्वमतिनिश्चलम् ॥ २५ ॥ (ज्ञाना० अ० ४२)

अर्थ—जिसके चारित्र मोह का क्षय हो गया है, तथा जो पूर्व का ज्ञाता है, जिसकी तेजस्विता लोकोत्तर है, उसके अतिनिश्चल अर्थात् परिवर्तन रहित, अवीचार रूप एकत्ववितर्क नाम का शुक्लध्यान होता है।

भावार्थ-क्षीण मोही मुनि ही एकत्ववितर्क अवीचार नामक ध्यान का धारक होता है। उसका ध्यान निश्चल होता है। जिस द्रव्य, जिस अणु का, अथवा जिस पर्याय का वह चिन्तन करता है उसमें मनोवृत्ति निश्चल रहती है, योग का परिवर्तन नहीं होता है। उस निर्मल ध्यान रूपी अग्नि के प्रज्वलित होने पर ध्याता अनन्त गुणी विशुद्धि को प्राप्त हुए योग विशेष का आश्रय लेकर ज्ञानावरण की सहायक हुतसी

प्रकृतियो का बन्ध रोकता है तथा उनकी स्थिति का ह्रास और क्षय करता है। श्रुतज्ञान में उसका उपयोग निश्चल रहता है। द्रव्य अथवा पर्याय मे अथवा श्रुत वचन मे उसका चित्त स्थिर रहता है। अर्थ (द्रव्य पर्याय) और व्यञ्जन (श्रुत वचन) और काय योग तथा वचन योग मे मन का सक्रमण (परिवर्तन) नहीं होता है। सुमेरु की भाति अडोल अकम्प रहता है तथा सम्पूर्ण कषायों का क्षय हो जाने से वैडूर्य मणि के समान स्वच्छ होता है। जिस पदार्थ पर ध्यान होता है, उसको फिर नहीं बदलता है। इस प्रकार के ध्यान को एकत्व वितर्क अवीचार नाम का शुक्लध्यान कहते हैं। अन्त में इस एकत्ववितर्क अवीचार नामक शुक्लध्यान रूपी जाज्वल्यमान अग्नि से मुनि केवलज्ञान और केवल दर्शन के अवरोधक ज्ञानावरण, और दर्शनावरण, मोहनीय और अनन्त अभयदानादि मे विघ्न करनेवाले अन्तराय कर्म इन चार घाति कर्मों को सर्वथा भस्म करते हैं।

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान

सर्वज्ञः क्षीणकर्मासौ केवलज्ञानभास्करः।
अन्तर्मुहूर्त शेषायुस्तृतीयं ध्यानमर्हति ॥ ४१ ॥ (ज्ञाना० अ० ४२)

अर्थ—जिनके चार घाति कर्म नष्ट होगये हैं, जिन्होने केवलज्ञान रूपी सूर्य से सम्पूर्ण लोकालोक को प्रकाशित कर दिया है, ऐसे सर्वज्ञ सयोगकेवली की जब अन्तर्मुहूर्त्त मात्र आयु शेष रहती है, तब वे इस सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक ध्यान का आराधन करते हैं।

भावार्थ—जब क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनीश्वर एकत्ववितर्कअवीचार नामक शुक्ल ध्यान से चार घाति कर्म का नाश करके सयोगकेवली भगवान् होजाते हैं, तब वे उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त सहित अष्ट वर्ष हीन पूर्व कोटि पर्यन्त लोक में विहार करते हैं। जब उनकी आयु अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहजाती है और नाम, गोत्र, तथा वेदनीय कर्म इन तीनों की भी उतनी (अन्तर्मुहूर्त्त मात्र) स्थिति रह जाती है, तब वे केवली भगवान् सब वचनयोग, मनोयोग तथा बादर काययोग का सर्वथा परित्याग करके सूक्ष्मकाययोग का आश्रय लेकर सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान का आराधन करते हैं, जब अन्तर्मुहूर्त्त मात्र शेष आयु रही हो और अन्य तीन कर्मों की स्थिति अधिक हो उस समय वे योगीश्वर सामायिक की सहायता सहित विशिष्टकरणरूप महासवर के कर्त्ता अति शीघ्र कर्म का परिपाचन करने के स्वाभाव वाले तथा सम्पूर्ण कर्म रज का विध्वस करने की स्वाभाविक शक्तिवाले आत्मा के उपयोगातिशय से दण्ड, कपाट, प्रतर और लोक पूरण रूप आत्मा के प्रदेशो को चार समय मे फैलाकर फिर चार ही समयो मे प्रतर कपाट दण्ड और आत्म-प्रवेश रूप आत्मा के प्रदेशो को सकोच करके सब कर्मों की स्थिति समान करलेते हैं और पूर्व शरीर प्रमाण होकर सूक्ष्मकाय योग से सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक शुक्ल ध्यान का आराधन करते हैं।

समुच्छिन्नक्रियानिवर्त्ती नामक ध्यान

द्वासप्ततिर्विलीयन्तेकर्मप्रकृतयो द्रुतम्
उपान्त्ये देवदेवस्य मुक्तिश्रीप्रतिबन्धकाः ॥ ५२ ॥
तस्मिन्नेव क्षणे साक्षादाविर्भवति निर्मलम् ।
समुच्छिन्नक्रियं ध्यानमयोगिपरमेष्ठिनः ॥ ५३ ॥ (ज्ञाना० अ० ४२)

अर्थ—श्रीमत् देवाधिदेव अर्हन्तदेव के अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान के उपान्त्य (अन्त समय के पहले) समय में मुक्तिलक्ष्मी की प्रतिबन्धक (बाधक) बहत्तर कर्म प्रकृतिया अतिशीघ्र क्षीण हो जाती हैं। उसी समय अर्थात् अयोगकेवली गुणस्थान के उपान्त्य समय मे अयोगकेवली भगवान् के निर्मल समुच्छिन्नक्रिया नामक शुक्लध्यान प्रकट होता है और अन्तिम समय तक रहता है।

भावार्थ–जिस ध्यान मे श्वासोच्छ्वास का प्रचार नष्ट हो जाता है, सम्पूर्ण शरीर,वचन व मन के योग नष्ट होजाने से आत्मा के सब प्रदेशो के परिस्पदन का अभाव हो-जाता है, उसका समुच्छिन्न क्रिय ध्यान कहते हैं। यह ध्यान अयोगकेवली के उपान्त्य (अन्त के पहले समय) मे होता है। उसी उपान्त्य समय मे [अयोगकेवली के साता असाता वेदनीय प्रकृति मे से एक प्रकृति, देवगति, औदारिक, वैक्रियिक आहारक, तैजसकार्माण [शरीर बंधन, पाच सघात, छह सस्थान, औदारिक वैक्रियिक आहारक के अगोपाग, छहसहनन, पाच प्रशस्त और पांच वर्ण, दो गंध, पाच प्रशस्त रस, और पाच अप्रशस्त रस, स्पर्श आठ, देवगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, गति, अपर्याप्तक, प्रत्येक शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ,अशुभ, दुर्भग, सुस्वर, दु:स्वर,अनादेय,अयश:कीर्त्ति, निर्माणनाम, नीचगोत्र] का क्षय होता है। तथा अन्तिम समय मे–साता असाता वेदनीय मे मे एक प्रकृति, मनुष्यायु मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रियजाति, नुपूर्वी, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यश कीर्त्ति, तीर्थंकर नाम, उच्चगोत्र इन तेरह प्रकृतियो का विनाश होता है।

इस ध्यान के प्रभाव से वे अयोगकेवली भगवान् सम्पूर्ण कर्ममल से विमुक्त, अत्यन्त स्फटिक मणिवत् निर्मल, परमशान्त, निष्कलङ्क, निरायम और जन्म-मरण रूप ससार के दुर्निवार बन्ध के क्लेशो से रहित होजाते हैं। जिनका आत्मा सिद्ध और निष्पन्न अर्थात् ता को प्राप्त हो गया है, जो निरञ्जन–कर्मअञ्जन से रहित, क्रिया रहित है, शरीर रहित है, शुद्ध है, विकल्परहित है, और अत्यन्त जिनके यथाख्यात चारित्र पूर्ण हो गया है। अनन्तवीर्य प्रकट हो गया है। जिनके दर्शन और ज्ञान परमोत्कृष्टशुद्धि को प्राप्त हो योगों का अभाव होने से अयोगी हैं और केवल ज्ञान के उत्पन्न होने से केवली हैं, जिन्होने अपनी आत्मा को साध लिया है,

अपने (आत्मा के) स्वभाव को सिद्ध कर लिया है, अतः सिद्ध स्वभाव हैं, परमस्थान पर स्थित हैं, इसलिए परमेष्ठी हैं-ऐसे अयोगकेवली परमात्मा वन्धन से मुक्तहुए स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करते हैं, और लोक के अग्रभाग में अर्थात् लोक के अन्त में जो तनुवातवलय है, उसके अन्तिम भाग मे जाकर विराजमान होते हैं।

शंका—कर्ममुक्त भगवान् के गमन के कोई कारण नहीं है, क्योंकि जीव का गमन विहायोगति नाम कर्म के उदय से होता है। वह जिन भगवान के सर्वथा नष्ट हो गया है। फिर उनके गमन मे क्या कारण है, जिससे वे गमन करके लोक के अन्तभाग मे जाकर विराजमान होते हैं ?

समाधान—यद्यपि भगवान के गति कराने वाला विहायोगतिनामा नामकर्म नहीं है. तथापि निम्नोक्त पाँच कारणों से उनका गमन होता है। वही मोक्षशास्त्र, तत्त्वार्थसूत्र मे कहा है—

"पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च।"

अर्थात् जैसे कुम्हार के हाथ व दण्ड के संयोग से चाक का भ्रमण होता है किन्तु चाक के हाथ व दंडे का संयोग न रहने पर भी वह कुम्हार का चाक पूर्व सस्कार के वश कुछ देरतक घूमता रहता है। वैसे ही ससार अवस्था मे जीव ने मोक्ष की प्राप्ति के लिए बहुत वार प्रयत्न किया था उस प्रयत्न का अब अभाव होने पर भी पूर्व प्रयोग के कारण मुक्त जीव का गमन होता है। यह एक हेतु है। दूसरा हेतु है 'असंग' अर्थात्-जैसे मिट्टी से लिपटी हुई तुम्बी जल के ससर्ग स मिट्टी के दूर हो जाने पर निसग होने से पानी के ऊपर आजाती है, वैसे ही कर्म भार से दवा हुआ आत्मा कर्मवश नियम रहित ससार मे ऊँचा नीचा व तिरछा गमन किया करता था, अब कर्म सम्बन्ध न रहने से जीव ऊपर गमन करता है। तथा तीसरा हेतु है-बन्धन का छेदन।

जैसे-एरण्ड के वीज का कोश (ऊपर का छिलका) जव फट जाता है, तब उसका वीज ऊपर को उछलता है। वैसे ही मनुष्यादि पर्याय मे लेजाने वाले गति, जाति, शरीरादि सम्पूर्ण कर्मों का छेदन होने से जीव का ऊर्ध्व गमन होता है। चौथा हेतु यह है.-

जैसे-वायु के सम्बन्ध से रहित दीपक की शिखा स्वभाव से ऊपर को जाती है, वैसे ही कर्म सम्बन्ध से रहित मुक्तजीव भी स्वभाव से ऊपर की ओर गमन करते हैं। ऊर्ध्वगमन करने का उनका स्वभाव है। और स्वभाव मे तर्क नहीं होता है। जैसे अग्नि का स्वभाव उष्ण है, इसमें यह तर्क नहीं किया जाता कि अग्नि उष्ण क्यो है ? जल के समान शीतल क्यो नहीं 'स्वभावोऽतर्क गोचर' अर्थात् वस्तु के स्वभाव मे तर्क नहीं हो सकता।

शंका—मुक्तात्मा का ऊर्ध्वगमन करने का स्वभाव है, तो निरन्तर उसे ऊर्ध्वगमन करते रहना चाहिए। आपने तो उस की लोक के अग्रभाग म स्थिति मानी है सो कैसे?

समाधान—प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिये दो कारणों की आवश्यकता होती है, एक अन्तरङ्ग और दूसरा बहिरंग। मुक्तात्मा के गमन रूप कार्य मे अन्तरङ्ग कारण तो जीव का ऊर्ध्वगमन करने का स्वभाव है। और बहिरङ्ग कारण धर्म द्रव्य है, क्योंकि धर्म द्रव्य के निमित्त मे जीव और पुद्गल गमन करते हैं। धर्म द्रव्य के अभाव मे जीव गमन नही कर सकता। धर्म द्रव्य लोकान्त तक ही है, उस के आगे नहीं। तनुवातवलय के परे धर्म द्रव्य का अभाव होने से मुक्त जीव आगे गमन नहीं कर सकते, क्योंकि गति का बहिरङ्ग कारण नहीं है इसलिए मुक्तात्मा लोक के अग्रभाग मे विराजमान रहते हैं।

इस प्रकार समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति नामा शुक्लध्यान का वर्णन किया।

यहां पर एक शंका उपस्थित होती है कि चित्त की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं। किन्तु जिसके मन द्वारा चिन्तन नहीं होता है, ऐसे केवली भगवान के ध्यान का सद्भाव कैसे कहा?

समाधान—यद्यपि केवली भगवान के ध्यान नहीं होता है, तथापि उपचार से उनके ध्यान माना गया है। उपचार से ध्यान मानने का कारण यह है कि ध्यानकर्म-क्षय का साधक कारण है और कर्मक्षय तो केवली भगवान के भी होता है। इसलिए उनके उपचार से ध्यान माना गया है। तथा उनके द्रव्यमन विद्यमान है, इसलिए कर्म-क्षय रूप कार्य को देख कर उपचार से केवलियों के भी ध्यान मान लिया गया है।

व्युत्सर्ग तप

व्युत्सर्ग नाम त्याग का है। बाह्य और आभ्यन्तर उपधि के त्याग करने को व्युत्सर्ग कहते हैं यथा—

दुविहो य विउस्सग्गो अब्भंतरबाहिरो मुणेयव्वो।
अब्भंतरकोहादी बाहिरं खेत्तादियं दव्वं ॥२०९॥ मूला० पंचा०

अर्थ—परिग्रह के त्याग को व्युत्सर्ग कहते हैं। उसके दो भेद हैं—अभ्यन्तरपरिग्रहव्युत्सर्ग और बाह्यपरिग्रह व्युत्सर्ग क्रोधादि के त्याग को आभ्यन्तरपरिग्रहव्युत्सर्ग तथा क्षेत्रादि द्रव्य के त्याग को बाह्यपरिग्रहव्युत्सर्ग कहते हैं। इनका नाम अभ्यन्तरोपधित्याग और बाह्योपधिपरिग्रहत्याग भी है। उपधिका अर्थ परिग्रह है।

स० प्र०

'अनुपात्तवस्तुत्यागो वाह्योपधिव्युत्सर्ग.' अर्थात् जो वस्तु आत्मा के एकत्व (अभेदपने) को प्राप्त नहीं है, आत्मा से भिन्न है, उसे वाह्य उपधि कहते हैं, उसके त्याग करने को वाह्योपधि व्युत्सर्ग कहते हैं।

"क्रोधादिभावनिवृत्तिरभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्ग" अर्थात् क्रोध मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, हास्य, रति, अरति, शोक, भय आदि दोषो की निवृत्ति (त्याग) को अभ्यन्तरउपधिव्युत्सर्ग कहते हैं। अथवा

"कायत्यागश्च नियतकालो यावज्जीवं वा" अर्थात् अभ्यन्तरउपधिव्युत्सर्ग नियतकाल (कालके परिमाण सहित) अथवा जीवन पर्यन्त शरीर का त्याग करना भी अभ्यन्तर उपधिव्युत्सर्ग है।

इसका आशय यह है कि शरीर का आत्मा से सन्निकट सम्बन्ध है,इसलिए इसे भी अभ्यन्तर उपधि कहा है। इसका अन्तर्मुहूर्त, एक पहर एक दिन, दोदिन, एक सप्ताह, एक पक्ष, एक मास, छह मास, बारह मास तक काल की अवधि लेकर शरीर से सर्वथा ममत्व के त्याग करने को नियतकाल (परिमित काल पर्यन्त) काय का त्याग नामक अभ्यन्तर उपधि व्युसर्ग कहा जाता है। तथा जीवन पर्यन्त शरीर से ममत्व के त्याग करने को यावज्जीवकाय त्याग नामक अभ्यन्तर व्युत्सर्ग माना गया है।

यह व्युत्सर्गतप नि सङ्गता (परवस्तु मे अनासक्ति) निर्भयता-जीवित रहने की आशा की निवृत्ति, दोषो का निराकरण, तथा मोक्ष मार्ग की भावना मे तत्पर रहने के लिए सेवन किया जाता है।

मूलाचार मे अन्तरङ्ग परिग्रह के चौदह भेद और वाह्य परिग्रह के दस भेद निम्नप्रकार कहे हैं —

चौदह प्रकार का अन्तरङ्ग परिग्रह—

मिच्छत्तवेदरागा तहेव हस्सादिया य छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया चोद्दस अब्भंतरा गंथा॥२१०॥ (मूला पञ्चा)

अर्थ-मिथ्यात्व, राग, द्वेष, वेद (स्त्रीवेद पुरुषवेद, नपुसकवेद) हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा तथा क्रोध, मान, माया और लोभ-ये चौदह आभ्यंतर परिग्रह हैं। इनका त्याग करना आभ्यन्तरव्युत्सर्ग कहलाता है।

दश प्रकार का बाह्य परिग्रह—

खेत्तं वत्थु धणधण्णगदं दुपदचदुप्पदगदं च।
जाणसयणासणाणि य कुप्पे भंडेसु दस होंति॥२११॥ (मूला. पञ्चा)

अर्थ—धान्यादि के उत्पत्ति स्थान को 'क्षेत्र' कहते हैं। रहने के निवासस्थान घर हवेली महल बंगले आदि को 'वास्तु' कहते हैं। स्वर्ण चांदी, हीरा, मोती, माणिक आदि को 'धन' कहते हैं। शालि जौ, गेहूं, ज्वार, मक्का, बाजरा, आदि को 'धान्य' कहते हैं। दासी, दास, नौकर, चाकर, आदि स्त्री पुरुष को द्विपद कहते हैं। गाय, भैंस, घोड़ा, हाथी, बैल आदि पशुओं को चतुष्पद (चौपाये) कहते हैं। रथ, गाड़ी, तांगे, मोटर, वायुयान आदि सवारी को यान कहते हैं। पलंग, शय्या, खाट, आदि सोने के साधन को शयन कहते हैं। कुरसी, कोच आदि बैठने के साधन को आसन कहते हैं। सूत के कपड़े ऊनी, वस्त्र, चन्दन आदि को कुप्य कहते हैं। सोने व चांदी के अतिरिक्त द्रव्य को भी कुप्य माना है। तथा लाटी संहिता में घृतादि पदार्थ को कुप्य कहा है। और राजवार्तिक में क्षौम (सूक्ष्म वस्त्र) कार्पास (सूती वस्त्र) कौशेय (रेशमी वस्त्र) तथा चन्दनादि को 'कुप्य' माना है, वस्तुत इन अर्थों में कुछ भी अन्तर नहीं प्रतीत होता है; क्योंकि सोने व चांदी से अतिरिक्त सब द्रव्य 'कुप्य' शब्द के अर्थ होते हैं। इसी प्रकार भाण्ड शब्द के अर्थ में भी भिन्न २ मत हैं। मूलाचार की टीका में 'भाण्ड' शब्द का अर्थ 'हींग मिरच आदि' किया है। ऐसा ही अर्थ भगवतीआराधना की संस्कृत टीकाओं में किया है लाटी संहिता में 'भाण्ड' शब्द का अर्थ भाजन (बर्त्तन) किया है। वह इस प्रकार है।

कुप्यशब्दो घृताद्यर्थस्तद्भाण्डं भाजनानि वा। (सर्ग ६ श्लो० १०७)

अर्थात्—घृतादि पदार्थ को कुप्य कहते हैं और भाण्ड का अर्थ भाजन (पात्र) है।

इस प्रकार चौदह प्रकार के अन्तरङ्ग और दश प्रकार के बाह्य परिग्रह के त्याग को व्युत्सर्ग तप मूलाचार में माना है। और राजवार्तिक में परिमित काल तक तथा जीवन पर्यन्त शरीर के साथ ममत्व त्याग को भी व्युत्सर्ग माना है। इस का आशय यह है कि परिग्रह का त्याग तो महाव्रत में ही हो गया है, इसलिए व्युत्सर्ग तप में कायादि के ममत्व का त्याग करना ही श्रेष्ठ है।

वीर्याचार का स्वरूप

अणुगूहियबलवीरिओ परक्कमदि जो जहुत्तमाउत्तो।
जुंजदि य जहाथाणं विरियाचारोत्ति णादव्वो॥२१५॥ (मूला० पंचा०)

अर्थ—अपने बल और वीर्य को न छिपाते हुए जो मुनि आगमानुसार तपस्या और चारित्र मे उद्यमशील होकर उत्साह करते हैं तथा अपनी शारीरिक स्थिति के अनुसार आत्मा को तपस्या मे लगाते हैं, उसे वीर्याचार कहते हैं।

भावार्थ—आहार औषधि आदि से उत्पन्न हुई शारीरिक शक्ति को बल कहते हैं। वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से जन्य तथा सहनन की अपेक्षा रखने वाली स्थिरता और शरीर के अवयव हाथ पाव जघा कटि (कमर) स्कन्ध (कन्धे) आदि सुदृढ बन्धन की अपेक्षा करने वाले सामर्थ्य को वीर्य कहते हैं। उक्त बल और वीर्य को न छिपाकर जो मुनीश्वर शास्त्र विहित विधि के अनुसार, उत्साह पूर्वक, तीन प्रकार की अनुमति रहित, सत्रह प्रकार के सयम म अपनी शारीरिक स्थिति को ध्यान मे रखकर अपनी आत्मा को लगाता है, उसके वीर्याचार होता है।

इसका आशय यह है कि अपने बल और वीर्य के अनुसार तथा बाह्य परिस्थिति को ध्यान में रखकर सयम का अवश्य आचरण करना चाहिए। जो मुनि यथोक्त शारीरिक अन्तरग और बहिरग शक्ति के अनुसार सयम पालन में प्रमाद करता है, वह अमूल्य चिन्तामणि समान अवसर को हाथ से खोता है, तथा अपने आत्माके प्रति विश्वास घात करता है। इसलिए मुनीश्वरो को उचित है कि वे अपनी योग्यता के अनुसार तपस्या आदि को बढाते रहें, किन्तु शक्ति से अधिक तपस्या आदि को ग्रहण करने का दु:साहस भी न करें। जिस आचरण से आत्मा मे उत्साह बढता जावे वैसा ही आचरण करना चाहिए।

ऊपर तीन प्रकार की अनुमति का परिहार तथा सत्रह प्रकार के समय के पालन करने की बात कही है, उसे यथाक्रम से वर्णन करते हुए प्रथम तीन प्रकार की अनुमति का निरूपण करते हैं—

अनुमति के तीन भेद

पडिसेवा पडिसुणणं संवासो चेव अणुमदी तिविहा।
उद्दिट्ठं जदि भुंजदि भोगादि य होदि पडिसेवा ॥२१७॥ (मूला० पंचा०)

अर्थ—प्रति सेवा, प्रतिश्रवण और सवास इस प्रकार अनुमति के तीन भेद हैं। दाता ने पात्र का उद्देश करके आहारादिक बनाया अथवा वसतिका वा पिच्छी पुस्तक आदि उपकरण तैयार करवाया या मगवाया हो, और ऐसे आहारादि कोमुनि ग्रहण करे तथा उस उपकरणादि को स्वीकार करे तो उसके प्रतिसेवा नामक अनुमति दोष होता है।

उद्दिट्ठं जदि विचरदि पुव्वं पच्छाव होदि पडिसुणणा ।
सावज्जसंकिलिट्ठो ममत्तिभावो दु संवासो ॥ २१८ ॥ (मूला० पंचा०)

अर्थ—दाता पात्र को पहले ही कहदे कि मैंने आपके निमित्त प्रासुक आहारादि बनाया है, अथवा उपकरणादि तय्यार किया या करवाया है, उसे ग्रहण कीजिए। इस प्रकार सुनकर यदि साधु उस आहारादि का ग्रहण करले तो उससाधु के प्रतिश्रवण नामक अनुमति दोष होता है। अथवा पात्र को आहारादि अथवा उपकरणादि देकर दाता कहे कि यह आहारादि आपके निमित्त बनाया था, उसे आपने ग्रहण करलिया, अत. अब मुझे सन्तोष हुआ, ऐसा सुनकर चुप रहे अथवा सतोष धारण करले तो उसके प्रतिश्रवण नामक दूसरा अनुमति दोष होता है। जो साधु आहारादि तथा उपकरण के निमित्त सदा संक्लेश परिणाम करता हुआ गृहस्थो के साथ निवास करता है और उनमे ममेद 'भाव' (ममत्व भाव) करता है, उस के संवास नामक तीसरा अनुमति दोष होता है।

इस प्रकार अनुमति करने वाले साधु के यथोक्त वलवीर्य का आचरण नहीं होता है। उसने तो बलवीर्य को छिपाया है, इसलिए उसके वीर्याचार का सेवन नही होता है। अत वीर्याचार के आराधन करने वाले को उक्त तीन प्रकार की अनुमति का परिहार करना चाहिए।

सत्रह प्रकार का संयम

पुढविदगतेउवाऊवणप्फदी संजमो य बोधव्वो ।
विगतिगचदुपंचेंदिय अजीवकायेसु संजमणं ॥ २२० ॥
अप्पडिलेहं दुप्पडिलेहमुवेखवहट्टु संजमो चेव ।
मणवयणकायसंजमसत्तरसविधो दु णादव्वो ॥ २२१ ॥ (मूला० पचा०)

अर्थ—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, और वनस्पतिकायिक इन पाँच स्थावरजीवो की रक्षा करना पांच प्रकार का सयम है तथा दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चोइन्द्रिय और पाचइन्द्रय इन चार प्रकार के त्रसजीवो की रक्षा करना चार प्रकार का सयम है। सूखे तृणआदि का छेदन न करना यह अजीवकायरक्षा नामक सयम है। ये दश प्रकार का सयम हुआ। शेष सात प्रकार का सयम निम्न प्रकार है—१ अप्रतिलेखसयम, २ दुष्प्रतिलेखसयम, ३ उपेक्षा सयम, ४ अपहरणसयम, ५ मनःसयम, ६ वचनसयम और ७ काय-सयम।

(१) अप्रतिलेख-सयम—नेत्र से अथवा पिच्छी से किसी पदार्थ तथा पदार्थ के आधार भूत स्थान का देखना व शोधन करना, अप्रतिलेख-सयम है।

(२) दुःप्रतिलेख-सयम—यत्नपूर्वक प्रमादरहित होकर जीव रक्षा करते हुए वस्तु का प्रमार्जन करना दुःप्रतिलेख सयम है।

(३) उपेक्षा-सयम—प्रतिदिन उपकरण (पुस्तकादि) का निरीक्षण करना, पिच्छी से प्रमार्जन करना उपेक्षा-सयम है।

(४) अपहरण-सयम—उपकरणो से पचेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि जीवो को अन्य स्थान मे निक्षेपण न करना अपहरण-सयम है।

इसका आशय यह है कि कमण्डलु आदि मे कोई जीव आकर गिर पडे अथवा अन्दर घुसजावे तो उसकी रक्षा के निमित्त उसे यत्नपूर्वक अन्यत्र स्थापन करना दोषजनक नहीं है, किन्तु प्रमादवश या सहसा किसी जीव ने आकर अपना निवास स्थान बना लिया हो, उसको दूर करने से जीवबाधा प्रतीत होती हो तो उसे उस स्थान से पृथक् न करना चाहिए।

चारित्रसार मे अपहृत (अपहरण) सयम के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य तीन भेद बताये हैं। प्रासुक वसतिका और आहार मात्र बाह्य साधन की अपेक्षा रखने वाले, जिनके ज्ञान और चारित्र की क्रिया परतन्त्र है, अर्थात जो पुस्तक, कमण्डलु, पिच्छी, वसतिका आदि सयम के उपकरण की अपेक्षा रखने-वाले हैं, वो मुनीश्वर बाह्यजन्तु के आकर गिर जाने पर उन उपकरणादि को छोडकर जीवरक्षा के निमित्त आप स्वय अलग होजाते हैं, उनके उत्तम अपहृत सयम होता है। मृदु (अत्यन्त कोमल) उपकरण से मार्जन करके उन आगत जीवों को दूर करने वाले मुनि के मध्यम अपहृत सयम होता है। तथा दूसरे उपकरण की इच्छा मे पूर्व के उपकरणो को छोडनेवाले मुनि के जघन्य अपहृत सयम होता है।

उदर (पेट) मे उत्पन्न हुए कृमि आदि जन्तु का घात करने वाली औषधि का भी सेवन न करना अपहरण-सयम है। यदि किसी समय मुनीश्वर के उदर मे कृमि आदि उत्पन्न हो जावे तो मुनीश्वर किसी से कहते नहीं है। बिना कहे भोजन के समय विरेचन की औषधि यदि श्रावक दे देता है, और उससे कृमिविनाश की सभावना प्रतीत नहीं होती है, तो मुनीश्वर उदररोग के लिए उस विरेचक औषधि का ग्रहण कर सकते हैं।

(५) मन सयम—मन की कुप्रवृत्ति को-आत्मा के अहित कारक विचारो को रोकना मन. सयम है।

(६) वचन सयम—स्व व पर के अहित कारक तथा कटु, कठोरादि वचन का उच्चारण न करना वचन संयम है।

(७) कायसयम—हिंसादि दोष जनक कायजन्य क्रिया का परिहार करना कायसयम है।

इस प्रकार मुनीश्वरों को वीर्याचार का पालन करने के लिए उक्त १७ प्रकार के संयम का पालन करना चाहिए।

वीर्याचार के पालक मुनिराज उससर्ग और परीपहो से भी कभी विचलित नहीं होते। उपसर्ग मनुष्यकृत, देवकृत तिर्यचकृत और अचेतनकृत इस तरह चार प्रकार के होते हैं। इन उपसगो के उदाहरण प्रथमानुयोग के शास्त्रो मे पर्याप्त रूपसे मिलते हैं।

प्रश्न—उपसर्ग और परीपह मे क्या भेद है?

उत्तर—उपसर्ग आगन्तुक होते हैं और परीपह प्राकृतिक। भूख प्यास आदि की वाधा प्राकृतिकहै, इसलिए येपरीपह कहलाती हैं। किन्तु कौरवो के भानजों ने पाडवो को तपस्या के समय जो लोहे के गर्म वख्तर पहनाये वह उपसर्ग था, यह मनुष्यकृत उपसर्ग का उदाहरण है।

परीपहो के वाईस भेद :—

(१) क्षुधा (२) तृपा (३) शीत (४) उष्ण (५) नग्नता (६) याचना (७) अरति (८) अलाभ (९) मच्छर आदि का काटना (१०) कुवचन सहन (११) रोग का दुःख (१२) शरीर का मल (१३) तृणादि का स्पर्श (१४) अज्ञान (१५) अदर्शन (१६) प्रज्ञा (१७) सत्कार पुरस्कार (१८) शय्या (१९) चर्या (२०) वध (२१) निपद्या (२२) स्त्री। इन २२ परिपहो को सहन करना चाहिये।

(१) क्षुधापरीपह जय—भूख की वेदना होने पर उसके वशवर्त्ती न होकर उसे सह लेना। जब मुनि को क्षुधा की वेदना होवे, इस प्रकार विचारना चाहिये कि—

हे जीव! तूने अनादि काल से ससार परिभ्रमण करके अनत पुद्गलो का भक्षमण किया तोभी तेरी भूख नहीं गई। तूने नरक गति मे ऐसी तीव्र क्षुधा-वेदना सही कि जिसकी कोई उपमा नही है। अर्थात् तुझे वहा इतनी क्षुधा थी कि सुमेरु के पर्वत के वरावर अन्न राशि को खा जाय परन्तु फिर भी एक दाना भी नहीं मिल सकता था। मनुष्य, तिर्यंच गति मे, वदीगृह आदि मे पडे पडे वहुत वार क्षुधा सहन की। फिर अव मुनिव्रत को धारण करके क्यो इस अल्प वेदना से कायर वनता है? तुझे क्यों ऐसा दुखी होना चाहिये? अव तुझे अनत वार किये हुए भोजन की लालसा को त्याग कर ज्ञानामृत-आस्वादन-रूप भोजन करना चाहिये। इस प्रकार विचार कर क्षुधा जनित दु:ख को सह लेना ही क्षुधा-परीपह-जय है।

(२) तृपा-परीपहजय—प्यास की असह्य वेदना के होने पर उसके वशीभूत न होकर उसे सह लेना ही तृपापरीपह-जय है। अतीव असह्य ग्रीष्म ऋतु मे गिरि के शिखर पर आरूढ मुनि के उपवास और ऋतु जन्य गर्मी की तीव्र उष्णता से घोर तृपा की वेदना होती है फिर भी वे धीर वीर होकर इस प्रकार विचारते हैं कि—

हे जीव ! तू ने ससार मे अनेक बार जन्म धारण कर अनेक गति मे अत्यन्त दु सह तृषा की वेदना जनित महान दु ख सहन किये हैं, नरक मे जब तू गया तब वहा पर ३३ सागर तक पीने के लिये एक पानी की बूद तक नहीं मिली है , फिर इस थोडी सी वेदना से कायर क्यो होता है ? इस प्रकार के विचारो से मुनि शान्ति रस का पानकर भूख की परीषह पर विजय प्राप्त करता है ।

३ शीतपरीषहजय--शीतऋतु मे सर्दी के कष्ट को सहना ही शीतपरिषहजय है । जिस समय शरीर मे सर्दी की वेदना होवे उस समय ऐसा विचारना चाहिए कि —

"हे जीव ! तूने उस छठे, सातवें नरक की भूमि का स्पर्श किया है, वहा पर सागरो पर्यन्त उस अत्यन्त भयकर शीत वेदना को सहा है , जिसकी तुलना मे यह वर्त्तमान शीत वेदना सुमेरु के सामने अणु के समान है । यदि तू उस महान उत्कृष्ट मुनिव्रत को धारण कर इसे जीतलेगा तो सदा के लिये तेरा इससे छुटकारा हो जायगा। यदि इसके सहने मे कायरता की तो फिर इससे भी महान दु:सह शीत वेदना इस ससार मे अनेक बार फिर सहना पडेगा, इस प्रकार शीत की वेदना को सहना ही शीतपरिषहजय है ।

४ उष्णपरीषहजय--गर्मी की भयकर वेदना को शान्त भाव से सहन करना ही उष्णपरीषहजय है । जिस समय समस्त ससार तप्त तवे के समान गर्म हो जाता है , समस्त जीव-जतु व्याकुल होकर घबरा जाते हैं, जगल के महा हिंसक जीव सिंह, व्याघ्र आदि तथा हिरण वगैरह पशु व्याकुलता के कारण वैर भावछोड कर एक स्थान म पडे रहते हैं, जलाशयो का जल सूख जाता है, तप्त लूओं के चलने से वृक्ष कुम्हला जाते हैं, ऐसे प्रचड ग्रीष्म काल मे मुनिजन वीरवीर होकर पर्वतो की उन्च शिखर की शिलाओं पर मेरु समान अचल स्थिर रहते हैं, और स्वसवेदन रूप ज्ञानामृत की धारा से उस उष्ण काल की वेदना का शमन करते हैं ।

५ नग्नपरिषहजय—जो समस्त परिग्रह का त्याग कर नग्न हो, तन्तुमात्र भी परिग्रह की चाह नहीं करते, सदा स्त्री पर्याय एवं अपने शरीर को मल मूत्र से भरे घट के समान समझ कर उनसे परम विरक्त रहते हुए अपने आत्म-स्वभाव मे लीन रहते हैं , जिन्होने ब्रह्मचर्य को ही अपना सर्वस्व समझा है , जो रेशम, ऊन, घास, वृक्ष, चर्मादि किसी भी प्रकार के वस्त्र न रख कर दशो दिशाओ को ही वस्त्र रूप समझ कर, सर्वत्र बालक के समान निर्विकार होकर गमन करते हैं , जिन के मन मे किसी प्रकार की कालिमा नहीं है , ऐसे मुनिराज ही नग्नपरिषहविजयी कहाते है ।

६ याच्या (याचना) परीषह-जय—किसी भी मनुष्य से किसी भी पदार्थ की याचना नहीं करना याच्या परीषह है । क्योकि याचना से ही सब ससारी जीव दीन बन रहे हैं । महा वैभव, ऋद्धि सम्पन्न,इन्द्र तथा चक्रवर्ती भी अभिलाषा वश रक हो रहे हैं । जैसे तीव्र गर्मी की ताप से वृक्ष का अत: सार नष्ट होकर वह सार रहित सूखा हुआ प्रतीत होता है । उसी प्रकार तपस्या द्वारा जिन्होने अपने शरीर

को शुष्क एव अत्यत कृश कर दिया है, तथा इन्द्रिय और मन को पूर्ण वश कर लिया है, अत जो आहार न मिलने पर चाहे प्राणो को त्यागना भी पडे तो भी दीन भाव से कभी किसी श्रावक से याचना नहीं करते, परन्तु बिजली के समान अपने शरीर को दिखा मात्र देते हैं, सदैव सिंहवृत्ति को धारण करते हैं वे ही मुनि याचना परीषह पर विजय पाते हैं।

७ अरति-परीषह-जय—ससार के समस्त इष्ट और अनिष्ट पदार्थों मे ससारी जीव राग-द्वेष मान रहे हैं। किन्तु मुनिजनो ने सब प्रकार की सासारिक इच्छाओ को त्याग दिया है, अत मन्दिर, स्मसान, शहर-जगल, शत्रु-मित्र, कनक-पत्थर, सुख-दुःख आदि सभी पदार्थों मे समता भाव धारण किये रहते हैं सदा ध्यान, स्वाध्याय मे लीन रहते हैं, उन्हे कभी भी अनिष्ट पदार्थ का सयोग होने पर खेद नहीं होता। यही अरति-परीषह को जीतना कहलाता है।

८ अलाभ-परीषहजय—धीर वीर मुनिराज अनेक उपवास करते हैं, फिर पारणा के निमित्त दातारो के घरो मे जाते है, परन्तु अन्तराय कर्म का तीव्र उदय होने से उन्हें आहार का सयोग नही मिलता फिर भी वे रचमात्र भी खेदखिन्न नहीं होते, किन्तु लाभालाभ मे समान बुद्धि रखते हैं, मन, वचन और काय की गुप्तियों को पालते हुए सदा ज्ञानामृत भोजन मे तृप्त रहते हैं उसी को अपना आहार समझते हैं, भिक्षा नहीं-मिलने पर रच मात्र भी हताश नहीं होते, वे ही अलाभ को जीतने वाले कहलाते हैं।

९ दशमशक परीषहजय—डास और मच्छर आदि जानवरो द्वारा सताये जाने पर भी विचलित नहीं होना। इनकी बाधा को शान्त भावसे सहलेना। यहा दस, मसक से केवल डास और मच्छर ही न लेना किन्तु इसी तरह सताने वाले सर्प, बिच्छू, चीटी आदि से भी रीर मे बाधा होने पर किसी तरह विचलित न होना दस, मशक, परीषह का जीतना कहलाता है।

१० आक्रोश परीषहजय—मुनि की महादुर्धर नग्न दिगम्बर अवस्था को देख कर दुष्टजन उन्हें गालियाँ देते हैं, पत्थर तथा कडो की भयंकर चोट करते है, चोर, ठग, पाखडी, निर्लज्ज आदि कठोर शब्दो का प्रयोग कर हर प्रकार से निन्दा करते हैं, पर वे धीर निराज क्षमा रूपी ढाल को लेकर, किंचित् मात्र भी उनके दुर्वचन एवं शस्त्र प्रहार की चिंता नहीं करते, प्रत्युत अपने मन को आत्म-मनन लगाते हैं। कदाचित् कर्म निमित्त से उपयोग उस तरफ चला भी जावे तो उनका भला ही विचारते हैं, अरे! ये विचारे, गरीब, मेरे इस ड मास के पुतले शरीर को देख कर गाली देते हैं, अत ये मेरे निमित्त से व्यर्थ ही पाप बंध कर रहे हैं, ये इस पाप से किस प्रकार , यह विचार मन मे रखकर उनको धर्म की ओर लगाने की चेष्टा करते हैं परन्तु उनका अनिष्ट कभी नहीं विचारते, उन मुनीश्वरो के कोश परीषहजय होता है।

११ रोग-परीषह-जय—यह शरीर मल मूत्र का पिटारा है, ऐसा समझ कर इसमे विरक्त हुए, मुनिश्वर ससार की अन्य

वस्तुओ के समान इसको भी अनित्य समझते है। उन्हें सिर्फ आत्मिक गुणों की ही परवाह है। अतः उनकी वृद्धि की ही उन्हें चिंता है। ऐसी अवस्था मे विरुद्ध आहार पान आदि की तीव्र शीतोष्णता से शरीर मे अनेक प्रकार की व्याधियाँ जैसे ज्वर-प्रकोप, वात विकार, चर्म-विकार, पित्त-कफ-विकार, उदर-रोग आदि हो जावे तो उनके दूर करने की रचमात्र भी फिकर नहीं,करते। जल्लोषधि आदि ऋद्धियों के प्राप्त हो जाने पर उन रोगो का प्रतीकार करने की सामर्थ रखने पर भी उन्हें सहते हैं, ऐसे मुनिराज ही व्याधि परीषह को जीतते हैं।

१२ मल-परीषहजय—पृथ्वी कायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक, और वनस्पतिकायिक, तथा त्रसकायिक, इन षट् काय के जीवो की विराधना से मुनि दूर रहते हैं अत वे स्नान क्रिया नहीं करते कारण कि स्नान करने से जीवों की विराधना होती है,और साधु होते हैं अहिंसा महाव्रती, छहकाय के जीवो की दया के पालक, अत. ऐसे दयालु ऋषि शरीर में पसीना आने से रज (धूल) बैठ जाय तो रचमात्र भी खेद नहीं करते, स्नान करने की इच्छा भी वो नहीं करते हैं. न विलेपन आदि करते हैं। इस परीषह के जय करने के लिये निम्न विचार करना चाहिए कि "हे जीव ! यह शरीर इतना मलिन है कि सारे समुद्र के जल से भी धोया जावे तो भी पवित्र नहीं होता। और तू महा निर्मल, अमूर्त्तिक शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, तेरे साथ इन मूर्तिक पदार्थों का ससर्ग नहीं हो सकता, अत. इस पौद्गलिक देह से स्नेह छोड़ अपनी आत्मा में रमण कर।

१३ तृणस्पर्शपरीषह—जगत के जीव जरासी फास के लग जाने पर अपने मन में दुखी होते हैं, और उसके मिटाने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु मुनिराज इस प्रकार न करके तृण, कंटक, काच, फास, ककर आदि के शरीर या आखों में लग जाने पर भी खेदखिन्न नहीं होते, न उनके निकालने का प्रयत्न करते हैं, न अन्य से निकालने के लिये कहते हैं। ऐसे ही साधु इस परीषह को जीतते हैं।

१४ अज्ञान परीषहजय—ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से चिरकाल तक तपश्चर्या करने पर भी विशेष ज्ञान नहीं हो पाता। इस कारण यदि अन्य जन कहे कि तू मूर्ख है, अज्ञानी है, तब भी अपने चित्त मे मुनिराज रचमात्र भी खेद नहीं करते, प्रत्युत विचारते हैं कि "मेरे कर्म का तीव्र उदय है उससे ज्ञान नहीं होता", इस तरह वे सकल्प विकल्प नहीं करते हैं। यहीं अज्ञान परीषह जीतना कहलाता है।

१५ अदर्शन परीषह जय—समस्त ससारी जीव अपने प्रयोजन वश ही कार्य करते हैं। और प्रयोजन मे गडबडी होने पर मन मे दुख मानते हैं। परन्तु मैं रात दिन तप मे लीन रहता हूं, परम वैरागी हू, स्वाध्याय मे मन लगाता हूं, कषायो पर विजय पा चुका हूं, समस्त पदार्थो के स्वरूप का मुझे परिज्ञान है, अर्हत सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, इन पाचो परमेष्ठियो मे तथा धर्म में दृढ़ विश्वास है, और चिर काल तक तपस्या की है तो भी मुझे अवधि-ज्ञान, मनः पर्यय ज्ञान व ऋद्धिया आदि प्राप्त नहीं हुई। क्या जैन दीक्षा या समय पालने का कोई फल नहीं होता ? क्या मेरा तप पालन सब व्यर्थ ही जा रहा है ? इस प्रकार के विचार दर्शन विशुद्धि के योग से उत्पन्न न होना ही अदर्शन परीषहजय कहा जाता है।

१६ प्रज्ञापरीषहजय—"मैंने अंग, पूर्व, प्रकीर्णक ज्ञान प्राप्त कर लिया, मेरे सामने प्रतिवादी ऐसे भागते है, जैसे सूर्य के प्रताप से अंधकार भाग जाता है। मै न्याय, व्याकरण तर्क, छंद, कला आगम, सिद्धान्त आदि शास्त्रो मे पारगत हू" इत्यादि अहकार पूर्ण भाव का न होना प्रज्ञापरीषह जय है।

१७ सत्कार पुरस्कार परीषहजय–देव, मनुष्य, तिर्यंच आदि सब ही जीव अपना आदर–सत्कार चाहते है, आदर करने वालो के प्रति मित्रभाव और नहीं करने वालो प्रति शत्रु के भाव रखते हैं। परन्तु मुनीश्वर सुरेन्द्रादिक महर्द्धिक देवो से सत्कार पाने पर भी अपने मन मे हर्ष नहीं करते। तथा ऐसा विचार नहीं करते हैं कि ये अविवेकी मूर्ख लोग क्यो नहीं मुझे नमस्कार करते है? मेरी पूजा क्यो नहीं करते? ढोगियो को तो पूजते फिरते है, व्यन्तर आदि मिथ्यादृष्टियो की भी पूजा करते है, ये मेरे लिये उठते भी नहीं है। मेरे प्रति भक्ति के परिणाम भी नही रखते है। इस प्रकार सत्कार पुरस्कार की भावना मे रहित जो मुनिराज होते हैं उनके सत्कार पुरस्कार परीषहजय होता है।

१८ शय्यापरीषहजय–स्वाध्याय, ध्यान एवं मार्गश्रम से जो खेद-खिन्न हो चुके हैं, फिर भी जो बहुत कम सोते है, और वह भी एक करवट ही। विषम, ककरीले कठोर, गर्म या ठडे स्थान का जिनको कोई विचार नहीं है। किसी लकडी या पत्थर की तरह, व्यन्तरादिकृत उपसर्ग आदि बाधाओ के उपस्थित होने पर भी शरीर को नहीं हिलाते, डुलाते, ऐसे सहनशील मुनियो के शय्या परीषहजय होती है।

१६ चर्या परीषहजय—अनशन, ऊनोदर आदि बाह्य प्रायश्चित आदि एवं आभ्यन्तर तपो को धारण करने वाले निष्परिग्रही मुनीश्वर ककड, पत्थर, बालु, काच आदि से व्याप्त पृथ्वी पर जीवो की बाधा का परिहार करते हुए नगे चरणो से गमन करते हैं। और मार्ग चलने से जो खेद होता है उसे शान्त परिणामों से सहन करते है। यही चर्या परीषहजय कहा जाता है।

२० वधबधनपरीषहजय— दुष्टो के द्वारा यदि वीतराग मुद्रा धारी तपस्वियो के शरीर मे तीक्ष्ण बाण, तलवार, मुद्गर, परशु, बन्दूक आदि से बाधा पहुँचाई जाय तो भी वे मुनि किन्चित् भी क्रोध नहीं करते, केवल अपने द्वारा पूर्व सचित किये हुए असाता वेदनीय कर्म का उदय समझ कर शरीर से ममत्व बुद्धि हटाकर अपनी आत्म-रक्षा (रत्नत्रय-रक्षा) मे तत्पर रहते हैं। ऐसे शान्त कषाय मुनिराज ही बन्धन परीषह को जीतने वाले कहलाते हैं।

२१ निषद्यापरीषह जय—निर्जन बनो में, (जहा सिंह, व्याघ्र, सार्दूल, भालू आदिहिंसक जीव है) व्यन्तर देवो के स्थानो मे, अंधकार युक्त पर्वतो की गुफा मे, सूने घर, स्मशान भूमि मे, वन मे, एक जगह बैठकर वीरासन, गोदूहन, पद्मासन, अर्द्ध पद्मासन, खड्गासन, मुर्दासन, मयूरासन, कुक्कटासन आदि आसनो से नियत काल तक स्थित रहकर जो ध्यान लगाते है। सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि भयानक जन्तुओ की गर्जना को सुन कर भी जिनका चित्त विचलित नहीं होता, कोई कितना भी उपसर्ग क्यो न करें परन्तु अपने आसन

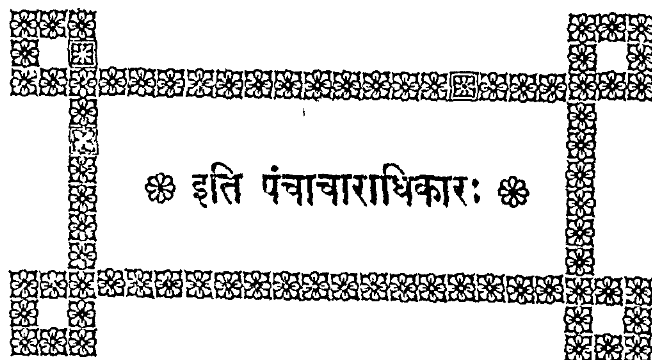
से चलायमान नहीं होते है,-अडिग रहते हैं। ऐसे मुनि निषद्यापरीषहजय होते हैं।

२२ स्त्री परीषह जय—जो महामनोहर रूपवाली देवागनाओं के समान स्त्रियो को देखकर भी विचलित नहीं होते, जिनके हृदय मे लेश मात्र भी विकार पैदा नहीं होता–ऐसे ही ब्रह्मचर्य के धारक धीर वीर मुनिराज स्त्री परीषह के जीतने वाले कहलाते हैं।

इन बाईस परीषहो को सहना मुनि के वीरत्व को प्रकट करता है। इस प्रकार वीर्याचार का वर्णन समाप्त हुआ।

उक्त प्रकार से सयम-प्रकाश के पूर्वार्द्ध की तृतीय किरण मे दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार तप-आचार और वीर्याचार नामक आचारो का वर्णन करते हुए पचाचार नामक अ




❀ इति पंचाचाराधिकारः ❀



मुद्रकः—

पं० श्रीप्रकाश शास्त्री,

श्री वीर प्रेस, मनिहारों का रास्ता, जयपुर।



—श्री १०८ दिगम्बर जैनाचार्य—

श्री सूर्यसागरजी महाराज विरचित

संयम-प्रकाश

पूर्वार्द्ध—चतुर्थ किरण

सम्पादक—
श्री पं० श्रीप्रकाश शास्त्री,
न्याय-काव्य-तीर्थ

सम्पादक—
श्री पं० भँवरलाल जैन,
न्यायतीर्थ

प्रकाशिका—
श्री आचार्य सूर्यसागर दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति,
जयपुर ।

प्रथम सस्करण
६५०

वीर सवत्
२४७२

मूल्य—
पूरे ग्रन्थ का १५) रुपया ।
चतुर्थ किरण का २।।) रुपया ।

इस ग्रन्थ के
पूर्वार्द्ध की पञ्चम किरण
"बृहत्समाधि अधिकार"
शीघ्र ही प्रकाशित
हो रही है।



पुस्तक प्राप्ति—स्थान—
पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ,
मंत्री—श्री आचार्य सूर्यसागर दि० जैन ग्रन्थमाला समिति,
मनिहारों का रास्ता, जयपुर सिटी।

❁ विषय-सूची ❁

विषय	पृष्ठ सख्या
मङ्गलाचरण	५४१
भावना का महत्व	"
भावना शब्द का अर्थ और उसके भेद	५४२
बारह भावनाओ के नाम	५४३
अनित्य भावना	"
धन की अनित्यता	५४३
जीवन की अनित्यता	५४४
यौवन की अनित्यता	५४५
सब पदार्थों की अनित्यता	"
अशरण भावना	५४६
कर्मोदय की प्रबलता	५५०
शरण के भेद-प्रभेद	५५१
एकत्व भावना	५५२
एकत्व के भेद	"
प्रकारान्तर से एकत्व-भावना का स्वरूप	५५५
बन्धु आदि जीव के उपकारक नही	५५५
धर्म की प्रशंसा	५५६
ज्ञानवान को शरीर और धनादि में अनुराग क्यों नही होता ?	५५७
अन्यत्व भावना	५५८
अन्यत्व के ४ भेद	"
जीव से भिन्न अन्य वस्तु का स्वरूप	५५९
ससार में कौन किसका हुआ है ?	५६०
स्वजन व परजन का भेद	५६१
शत्रु व मित्र कौन है ?	५६२
संसारानुप्रेक्षा	५६३
संसार का स्वरूप	"
जीवो की अवस्था के भेद	"
(१) संसार	५६४
(२) असंसार	"
(३) नो ससार	"
(४) तत्त्रितय व्यपाय	"

विषय	पृष्ठ संख्या
चारों प्रकार के संसार का स्वरूप और उनका काल	५६४
पांच प्रकार का परिवर्तन	५६५
द्रव्य-परिवर्तन	५६५
क्षेत्र-परिवर्तन	५६७
काल-परिवर्तन	"
भाव का तात्पर्य	५६९
भाव-परिवर्तन का विस्तार पूर्वक वर्णन	"
भव-परिवर्तन	५७१
ससार मे जीव को सर्वत्र भय	५७२
जीव का चौरासी लाख योनियो में जन्म	५७३
संसार के छह भेद	५७४
संसार में दुःख ही दुःख	५७५
सांसारिक सुख के साथ दुःख	५७७
लोकानुप्रेक्षा	५७७
लोक के भेद	५७७
लोक का स्वरूप	५७८
लोक का आकार	"
वातवलयों के आधार पर लोक की स्थिति	५७९
अन्यमतों की अपेक्षा लोक का स्वरूप	५७९
सांख्य मत की अपेक्षा लोक का स्वरूप	५८०
सांख्यादि अन्यमतों का निराकरण	५८०

विषय	पृष्ठ संख्या
लोक के विभाग—	५५५
अधोलोक का वर्णन	"
निगोदिया जीवो का निवास	"
नरक पृथ्वियों का वर्णन	५८३
प्रथम पृथ्वी और उसके ३ विभाग	"
खर भाग की १६ पृथ्वियाँ	"
पंक भाग	"
अब्बहुल भाग	"
सातो नरको की मोटाई व रूढि नाम	"
नारकियो के शरीर की ऊचाई	५८४
नरक मे ठंड और गर्मी	"
नारकियों के बिलों की स्थिति का प्रकार	५८५
नरक मे जन्म कौन लेता है ?	५८६
नारकों के उपपाद स्थानो का आकार व उनमे जन्म की दशा	५८७
नारकियो के दुःख	"
नारकियों की आयु व शरीर की ऊंचाई	"
नारक जीवो के अवधिज्ञान का क्षेत्र	५९१
नरक से निकले हुए जीवों का उत्पत्ति-क्रम	"
नरक मे गमन करने वाले जीवो का विभाग	"
नरक पृथ्वी मे जीवोत्पत्ति का अन्तर	"
भवनवासियों के आवास—	"
भवनवासी देवो के भेद	५९३
इन्द्रो मे परस्पर ईर्ष्या	"
भवनवासी देवो के चिह्न	"
भवनवासी देवो के भवनो की विशेषताएँ	"

विषय	पृष्ठ संख्या
व्यन्तरादि देवो के आवास-स्थान	५६४
देवो मे इन्द्र व प्रतीन्द्र का क्रम	"
इन्द्रो की सभा, सेना व देवागनाएँ	"
असुरादि देवो के श्वासोच्छ्वास तथा आहार का क्रम	५६५
देवो के शरीर का उत्सेध	"
व्यन्तर देव	५६६
व्यन्तरो के शरीर का वर्णन	"
व्यन्तरो के चैत्य वृक्ष	"
व्यन्तरो मे इन्द्र प्रतीन्द्र देवागना व सेना	"
व्यन्तरो के इन्द्रो के नगर	५६७
वाण व्यन्तरो के भेद, आवास स्थान और उनकी आयु	"
व्यन्तरो के निलय	५६८
व्यन्तरो के रहने के क्षेत्र	"
मध्यलोक	५६६
तिर्यक् लोक का वर्णन	"
जम्बूद्वीप का वर्णन	"
कुलाचलो का विस्तार और वर्णन	६००
कुलाचलो पर सरोवर	"
सरोवरों के मध्य कमल और उनपर सपरिवार देवियाँ	"
ह्रदो से नदियो का उद्गम	६०२
गङ्गा नदी के निकास व गमनादि	"
सिधु " "	६०३
शेष नदियों का वर्णन	६०४
नदियों का विस्तार	६०५
भरतादि क्षेत्रो का विस्तार	"
विदेह क्षेत्र के मध्य मे स्थित मेरु का स्वरूप	६०६
अन्य चार मेरु पर्वत	"
सुमेरु पर्वत की चोडाई का क्रम	६०७
मेरु पर स्थित शिलाओं का वर्णन	६०८
जम्बू वृक्ष का वर्णन	"
विदेह क्षेत्र	६१०
वृषभाचल पर्वतों का वर्णन	६११
राजधानियों का वर्णन	६१२
नाभिगिरि का वर्णन	"
कूटों का वर्णन	"
कालचक्र का परिवर्तन	६१३
उत्सर्पिणी, अवसर्पिणीकाल और उनके ६ भेद	"
काल की अपेक्षा जीवो की आयु	"
कल्पवृक्षों के भेद	६१४
भोगभूमि का स्वरूप	६१५
कर्मभूमि के प्रवेश का अनुक्रम और कुलकरो की उत्पत्ति	"
कुलकरो का कार्य	६१६
तिरेसठशलाका के पुरुष	६१७
तीर्थंकरों के शरीरो की ऊँचाई व आयु का प्रमाण	"
तीर्थंकरों के अन्तराल	६१८
जिनधर्म का उच्छेदकाल	"
शक और कल्की की उत्पत्ति	६१६
नियत भोगभूमियाँ	"
कुभोग भूमि कहा कहा हैं ?	६२०
कुभोग भूमियो मे जन्म लेनेवाले जीव	"
धातकीखंड और पुष्करार्ध की रचना	६२१

विषय	पृष्ठ संख्या
लवण समुद्र के पाताल	६२१
अन्य द्वीप व समुद्र	६२२
समुद्रो के जल का रसास्वाद	६२३
ज्योतिष देवो का वर्णन	"
ज्योतिष देवों के विमाने	६२४
विमानो के आकार व वर्ण	"
ज्योतिष विमानो की गति	६२६
सूर्य व चन्द्रमा की संख्या	"
चन्द्रमा का विचरण क्षेत्र और वीथियाँ	६२७
ज्योतिषियो की आयु	६२८
ज्योतिष देवो की देवागनाएँ	"
ज्योतिष देवों मे उपपाद	"
उर्ध्वलोक	
उर्ध्वलोक का विस्तार	"
स्वर्गों मे इन्द्र-क्रम	६२९
नवग्रैवेयकादि वर्णन	"
प्रतर संख्या	"
विमानो की स्थिति	६३०
प्रकीर्णक विमानो की सख्या, विस्तार और वाहुल्य	६३१
विमानों का रग	६३२
इन्द्र के निवास करने का विमान और उसका नाम	"
इन्द्रो के नगर	६३३
महादेवियाँ व विक्रिया परिवारादि का वर्णन	"
इन्द्र के आस्थान-मण्डप का स्वरूप	६३४
मानस्तम्भ और करण्डक	"
इन्द्र का उत्पत्ति गृह	६३५
कल्पवासिनी देवागनाओं के उत्पत्ति स्थान	"
देवो का प्रवीचार (काम सेवन)	"
वैमानिक देवो की विक्रिया, गमन-शक्ति और अवधिज्ञान	६३६
सौधर्मादि देवो के जन्म व मरण का विरह काल	"
इन्द्रादि का उत्कृष्ट विरहकाल	६३७
आभियोग्यादि अधम देव कैसी क्रिया व भावना से पर्याय पाते हैं	६३७
घातायुष्क की आयु	"
भवनत्रिक देवो मे घातायुष्क सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की आयु	६३८
लौकांतिक देवो का स्वरूप, अवस्थान आयु आदि का वर्णन	"
कल्पवासिनी देवियो की आयु का प्रमाण	६३९
गुणस्थान की अपेक्षा देवगति मे जन्म	"
देवो के जन्म का वृत्तान्त	६४०
देवादि की विभूति किनको प्राप्त होती है ?	६४१
ईषत्प्राग्भार नामक अष्टम पृथ्वी	"
अशुचि अनुप्रेक्षा	
शरीरादि की अपवित्रता	६४२
शरीर का उपादान भी अशुचि है	६४२
शरीर की उत्पत्ति का क्रम	६४३
शुद्धि के भेद	"
लौकिक शुद्धि के ८ भेद और उनका स्वरूप	"
लोकोत्तर शुद्धि के ८ भेद और उनका स्वरूप	६४५
आस्रवानुप्रेक्षा	
आस्रव का स्वरूप	६४६
	६४८
	"

विषय	पृष्ठ संख्या
मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग का स्वरूप	६४६
अनुकम्पा के तीन भेद और उनका स्वरूप	"
शुद्धोपयोग के भेद	६५१
मुनि का शुद्धोपयोग	६५१
गृहस्थ का शुद्धोपयोग	"
संवर भावना	६५२
संवर का स्वरूप	"
बंध का संक्षिप्त स्वरूप	"
१५ प्रमादों का कथन	६५३
इन्द्रिय के विषयों से विरक्ति	"
निर्जरानुप्रेक्षा	६५४
निर्जरा के २ भेद व उनका स्वरूप	६५५
धर्मानुप्रेक्षा	६५६
धर्म का स्वरूप	"
दशलक्षण धर्म	"
उत्तम क्षमा	६५७
उत्तम मार्दव	६६०
उत्तम आर्जव	६६३
उत्तम शौच	६६४
लोभ के भेद और उनका स्वरूप	"

विषय	पृष्ठ संख्या
उत्तम सत्य	६६६
सत्य के दश भेद	६६७
उत्तम सयम	६६८
सयम के भेद और उनका स्वरूप	"
संयमी का निवास	"
उत्तम तप	६६६
उत्तम आकिञ्चन्य	"
उत्तम ब्रह्मचर्य	"
बोधिदुर्लभ भावना	६७०
मनुष्य-जन्म कितना दुर्लभ है	"
अनगार-भावना अधिकार	६७२
१ लिङ्ग शुद्धि	६७२
दीक्षा योग्य पात्र	६७३
पात्र के सम्बन्ध मे विभिन्न शास्त्रो का उद्धरण	६७४
शूद्रो के पात्र की अपेक्षा भेद	६७५
दीक्षा लेकर कैसी अवस्था धारण करे	६७७
लिङ्गशुद्धि आयतन है	"
लिङ्गशुद्धि को प्रतिमा रूप से वर्णन	६७८
लिङ्गशुद्धि से लाभ	"
२ व्रत शुद्धि	६७६
३ वसतिका शुद्धि	६८०

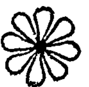
विषय	पृष्ठ संख्या
भयानक वन मे मुनि का निवास	६८१
४ विहार शुद्धि	६८२
मुनि की पापभीरुता	"
५ भिक्षा शुद्धि	६८४
भिक्षार्थ पर्यटन विधि	६८४
६ ज्ञान-शुद्धि	६८७
विद्वान् साधु कैसे होते हैं	६८९
७ उज्झन शुद्धि	६९०
उज्झन शुद्धि के ४ भेद और उनका स्वरूप	६९१
व्याधि उत्पन्न होने पर मुनि क्या करते हैं	"
८ वाक्य शुद्धि	६९४
वचन प्रयोग	"
लौकिक कथा निषेध	६९५
९ तप शुद्धि	६९८
कायक्लेश तप	"
अभ्रावकाश योग	"
आतपन-योग	६९९
वृक्षमूल-योग	"
वचन-जन्य क्लेशतप	७००
शस्त्रादि प्रहार को सहने की क्षमता	"

विषय	पृष्ठ संख्या
१० ध्यान शुद्धि	७०१
इन्द्रिय विजय	"
इन्द्रिय-विजय से ही ध्यान सिद्धि होती है	७०२
मुनियों के पुलाकादि भेद और उनका सयमादि आठ अनुयोगों द्वारा वर्णन	७०३
लिंगकल्प के चार भेद	७०५
प्रतिलेखन (मयूरपिच्छिका) का स्वरूप	"
प्रतिलेखन मे आवश्यक पाँच गुण	७०८
मयूरपिच्छि का ही प्रतिलेखन क्यों ?	७०९
दश प्रकार का श्रमण-कल्प	७११
भाव श्रमण बनने का उपदेश	७१२
भिक्षा शुद्धि कब होती है ?	७१३
क्या मुनि आदर के भूखे हैं ?	७१४
मुनि के ठहरने योग्य स्थान	"
दुर्जन-ससर्ग त्याग	७१५
पापश्रमण का लक्षण	७१६
शास्त्र स्वाध्याय का महत्त्व	७१७
भेद चिन्तन	७१९
राग द्वेषादि का त्याग	७२०
पदार्थों से विरक्ति	"
इन्द्रियों पर विजय	७२१
मैथुनेन्द्रिय विजय	"
स्पर्शनेन्द्रिय विजय	"
स्त्री-स्वरूप चिन्तन-त्याग	"
ब्रह्मचर्य के भेद	७२३

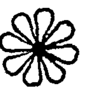
विषय	पृष्ठ सख्या
ब्रह्मचर्य रक्षार्थ दश दोपो से बचना	७२४
यति के दो प्रकार का त्याग	७२५
शील निरूपण	७२६
शील के १८००० भेदों का वर्णन	७२७
चौरासी लाख उत्तर गुण	,,
हिंसादि २१ भेद	७२८
शील विराधना के १० भेद	,,
आकम्पित आदि १० आलोचना के दोष	७२९
प्रायश्चित्त के दश भेद	,,

विषय	पृष्ठ संख्या
शील और उत्तर गुणों के विशद ज्ञान के लि ५ प्रकार	७२९
शील व गुणो की सख्या निकालने का नियम	७३०
प्रस्तार का उत्पत्ति क्रम	,,
सम प्रस्तार	७३१
विषम प्रस्तार	,,
अक्षसंक्रमण का नियम	७३२
नष्ट निकालने की विधि	७३३
उद्दिष्ट का विधान	,,
पूर्वार्द्ध चतुर्थ किरण की समाप्ति	७३५


आगे बृहत्समाधि अधिकार देखो

अथ भावनाधिकारः



संयम—प्रकाश

पूर्वार्द्ध—चतुर्थ किरण

भावनाधिकार

❀ मङ्गलाचरण ❀

श्रीपतिं बोधिदं नत्वा, नाभेयादिजिनेश्वरम् ।
यतेर्भावं प्रवक्ष्यामि, प्रशमामृतवर्षिणम् ॥१॥

भावना का महत्व

प्रत्येक प्राणी का उत्थान और पतन उसकी भावनाओ पर निर्भर है। सद्भावनाओ से वह ऊँचा उठता है और असद्भावनाओं से वह नीचे गिरता है। भावना का उत्थान ही मनुष्य का उत्थान है और सद्भावना से गिरना ही मनुष्यत्व का पतन है। वास्तव मे देखा जाय तो भाव के अतिरिक्त मनुष्य और है भी क्या? मनुष्य भावनामय ही तो है। जीवन-निर्माण मे भावना का कम महत्व नहीं है। तीर्थकर-प्रकृति ऐसे महान पुण्य का वन्ध भावना से ही होता है इसी से हम उसकी उपयोगिता और महत्व अच्छी तरह समझ सकते हैं।

भावना से पदार्थ की वास्तविक स्थिति मनुष्य के सामने आ जाती है। जब विवेकी मनुष्य अनित्य, अशरण आदि की भावना-अभ्यास—करता है तब उसे ससार, शरीर, भोग आदि की अस्थिरता एव हेयता स्पष्ट प्रतीत होने लगती है। इसीलिए कहा गया है कि अपने आत्मा का हित चाहने वाले भव्यो को अनित्य आदि द्वादश भावनाओ को अपने जीवन मे उतारना चाहिए।

सच्चे मनुष्यत्व का निर्माण करना है तो भावनाओ को जीवन मे उतारो। अक्षय सुख की प्राप्ति चाहते हो तो भावनाओ का अवलम्बन लो।

'भावना भव-नाशिनी ।'

भावना भव का नाश करने वाली है । यदि भव (ससार) को नष्ट करना चाहते हो तो भावनामय बनो । भावनामय बनने-भावनाओ मे घुल-मिल जाने—मे ही मनुष्य का कल्याण है । ज्यो ज्यो भावनाएँ दृढ़ होती जाती है त्यो-त्यो वह आगे बढ़ता जाता है और आत्मिक अक्षय सुख के निकट पहुँच जाता है ।

कोई योगी-जीवन यदि भावना-हीन व्यतीत हो तो उसे योगी-जीवन कहना सङ्गत नहीं । योगी-पद पर प्रतिष्ठित होने के लिए जो भी कुछ विशेपता या महत्ता आनी चाहिए वह भावना के बिना आ ही नहीं सकती । योगी ने ससार, शरीर आदि को अनित्य और अशरण समझ कर ही तो छोडा है। यदि वह उन भावनाओ को जीवन मे दृढ़ न करे, तो उसकी फिर ससार और शरीर मे आसक्ति हो सकती है । और यदि ऐसा हुआ तब तो उसका घोर पतन हो जायगा । इसलिए उसे बहुत ही संभल कर रहना होगा। योग और क्षेम दोनों को साथ लेकर चलना होगा । जो अनिश्चलता अप्राप्त है उसे पाना और पाई हुई अनिश्चलता की रक्षा करना यही मुनि का योग-क्षेम है । भावनाओ से ही वह इन दोनो चीजों को पाता है । भावनाएँ न हो तो न पाया हुआ कुछ भी शुभ कभी भी प्राप्त न हो सकेगा और तब प्राप्त की रक्षा भी असभव ही रहेगी ।

मुनि, यदि वस्तुतः वह मुनि है तो उत्तरोत्तर बढता ही जाता है । वह धर्म्य से आर्त्त-रौद्र मे नही आता । उसका प्रयत्न धर्म्य से शुक्ल मे जाने का होता है । वह पूरे आदर्श को पाना चाहता है । अपूर्ण मनुष्यत्व को नष्ट कर पूर्ण मनुष्यत्व को पा लेना ही उसका ध्येय होता है और वह भावनाओ के द्वारा अपने इस ध्येय की पूर्ति मे सफल होता है । यह भावनाएँ धर्म्य-ध्यान रूप तो है ही, किन्तु आगे जाकर यही शुक्ल-ध्यान का आकार भी ग्रहण करती हैं । शुक्ल-ध्यान मे जो कर्मों के क्षय करने की शक्ति मानी गई है वह भावनाओ के बिना कैसे प्राप्त हो सकती है ? अत यह सिद्ध है कि योगी की सफलता का मुख्य कारण उसकी भावनाएँ ही होती है। अतएव योगियो के आचार-शास्त्र मे भावनाओ का वर्णन बहुत ही आवश्यक समझ कर वैराग्य की जननी बारह भावनाओ का वर्णन यहाँ किया जाता है ।

भावना शब्द का अर्थ और उसके भेद ।

भावना का अर्थ है एक प्रकार का अभ्यास । वैराग्य की स्थिरता और प्रशम-सुख की वृद्धि के लिए बारह प्रकार के अभ्यास उपयोगी बताये गये है । मूलाचार मे लिखा है :—

बारह भावनाओ के नाम

अद्ध्रुवमसरणमेगत्तमण्णमंसारलोगमसुचित्तं ।
आसव-संवर-णिज्जर-धम्मं बोधिं च चिंतिज्जो ॥ २ ॥

अर्थात्—(१) अनित्य, (२) अशरण, (३) एकत्व, (४) अन्यत्व, (५) ससार, (६) लोक, (७) अशुचि, (८) आस्रव, (६) सवर, (१०) निर्जरा, (११) धम और (१२) बोधि-दुर्लभ—यह बारह भावनाएँ हैं। इनका निरन्तर चिन्तन-अभ्यास-करना चाहिए।

अनित्य-भावना ।

नित्य का अर्थ है हमेशा रहने वाली वस्तु। और अनित्य का अर्थ है विनाशमान। प्रत्येक वस्तु द्रव्य-दृष्टि से नित्य होते हुए भी पर्यायापेक्षया अनित्य है। साधारण रूप से दुनियाँ की दृष्टि वस्तु के जिस रूप पर पडती है वह उसकी पर्याय है और वह अनित्य है। दिखने वाली कोई पर्याय—वस्तु की कोई स्थिति, कोई रूप—नित्य नहीं। प्रतिक्षण वस्तु की कोई दूसरी ही स्थिति, कोई दूसरा ही रूप होता है। फिर भी यह मूर्ख प्राणी उसे नित्य समझ कर प्रेम करता है और स्वभाववश उसका विनाश होते देख दु खी होता है। उसके वियोग मे छटपटाता है। जब नाश होना वस्तु का स्वभाव है, धर्म है, तब उसके लिए खिन्न क्यो होना ? किन्तु देखा यही जाता है कि प्रत्येक ससारी प्राणी, जिसे सम्यग्ज्ञान नहीं हुआ है, अपनी इष्ट वस्तु का वियोग देखकर दु.खी होता है, सुनहरी जवानी पूरी होकर बुढापा आ जाता है तो रोता है, अपने जीवन की अन्तिम घडियाँ समीप आ जाती हैं तो विलाप करता है, पुत्र आदि किसी निकट सम्बन्धी की मृत्यु हो जाती है तो करुण-क्रन्दन मचाता है। इस दु.ख से बचने का और कोई उपाय नहीं। एक अनित्यता की भावना ही ऐसी है जो वियोग के दु.ख को सहने की क्षमता प्रदान करती है और अनन्त दु.खमय ससार मे भी अव्याकुल होकर सुख और शान्ति के साथ जीवन बिताने की कला सिखलाती है।

अज्ञानी मनुष्य दुनियाँ के मोह मे पडकर अपने आपको भूलता है। क्षणिक वस्तुओ से नाता जोडकर उनकी प्राप्ति का अभिमान करता है और उनके वियोग मे क्लेश उठाता है। किन्तु ज्ञानी-मनुष्य वस्तु-स्थिति का अनुभव कर दुनियाँ से मोह तोडता है और आत्मा से प्रेम जोडता है। अनित्य-भावना इस अभ्यास को दृढ बनाती है और बढाती है। यही इसकी उपयोगिता है और इसी से यह योगी-जीवन का मूल मानी जाती है।

धन की अनित्यता का विचार

अज्ञानी प्राणी थोडा-सा धन पा लेता है तो अभिमान से फूला नहीं समाता। वह अपने आपकी स्थिति को भूल जाता है।

मदिरा को पीने पर नशा चढा करता है किन्तु धन को पा लेने मात्र से ही उसमे उससे भी हजार गुणा पागलपन आ जाता है। उसे एक ऐसा
रोग उत्पन्न हो जाता है जिससे आँख होते हुए भी वह देखता नहीं,कान होते हुए भी सुनता नहीं और मुँह होते हुए भी बोलता नहीं। वह धर्म-
कर्म छोड देता है, व्यसनी बन जाता है। पर यह कभी नहीं सोचता कि यह लक्ष्मी कितने समय टिकने वाली है? यह तो चञ्चला है,आज तक
किसी के पास नहीं टिकी। पुण्योदय से यदि इसका समागम हुआ है तो मै इसे शुभ कार्यों मे खर्च करके इससे पुण्य की नवीन ज्योति
प्रकाशित करूँ। वह उसे पाप के कार्यों मे खर्च कर अपने आगे के मार्ग मे काटे बोता है या यह मुझे बाद मे काम आवेगी -इस विश्वास से
ठगाया जाकर गुलाम की तरह उसकी रक्षा मे लगा रहता है। अन्त मे उसे अपना या लक्ष्मी का वियोग होते देख दुःखी होना पडता है और
रोना पडता है। आर्त्त-ध्यान से प्राण गँवाने पड़ते हैं। किन्तु ज्ञानी को, लक्ष्मी की अनित्यता का अनुभव करने वाले को, इस प्रकार का दुःख
नहीं होता। न उसे लोभ सताता है, न तृष्णा। न वह मद से उद्धत होता है और न इसके लिए दूसरो को सताता ही है। वह अस्थायी सम्पत्ति
से स्थायी स्वार्थ सिद्ध करता है। सत्कार्यों मे उसका उपयोग कर स्व-पर हित साधन करता है।

जीवन की अनित्यता

इस जगत् मे किसी का जीवन स्थिर नहीं। कोई राजा हो चाहे रङ्क, धनी हो चाहे निधन, मूर्ख हो चाहे विद्वान्, सबल हो
चाहे निर्बल, जिसने भी यहाँ जन्म लिया है उसे एक न एक दिन मरना होगा। भरत आदि अतुल बल और वैभवशाली चक्रवर्ती हुए, पर
आज उनका कहीं पता नहीं। अभिमानी रावण मारा गया, उसे मारने वाले रामचन्द्र भी न रहे। कौरव-पाण्डवो की कितनी प्रसिद्धि थी, पर
आज उनके अस्तित्व का कहीं पता नहीं। जब बडो-बडो की ही यह दशा है तब बेचारे साधारण मनुष्यो का तो यहाँ टिकाव हो ही कैसे
सकता है? ससार मे मृत्यु जैसा कोई निश्चित पदार्थ नहीं। वह हर एक के लिए अनिवार्य है। वह कब आवेगी यह कोई नहीं जानता, पर यह
सबको मानना ही होगा कि वह अवश्य आएगी। आज आवे, कल आवे १०-२० वर्ष मे आवे, या अभी आ जाय, उसे कोई रोक नहीं
सकता। अनन्त भूतकाल से अब तक मनुष्य ने उसको रोकने के लिए बहुत-बहुत प्रयत्न किये हैं, लेकिन उसने सभी को पछाडा है। ऐसा
ज्ञात होता है कि वह कभी न हारेगी। क्योकि वह वस्तु का स्वभाव है। जन्म के साथ मृत्यु लगी हुई है। जन्म लेने के दूसरे क्षण से ही मृत्यु
प्रारम्भ हो जाती है। आयु के क्षण पूरे होते जाते है, मृत्यु नजदीक आती जाती है। जिसे हम 'मृत्यु' कहते हैं वह तो उसका स्थूल रूप है।
आवीचिमरण सदा ही होता रहता है। जैसे छेद वाले घडे मे से थोडा-थोडा पानी हमेशा निकलता रहता है और इसी से थोडे समय मे वह
बिल्कुल रीता दिखाई देने लगता है वैसा ही हाल हमारे जीवन का है। प्रतिक्षण खिरने वाले आयु के निषेक जब पूरे हो जाते हैं तब हम
समझते हैं कि हमारी मृत्यु आ गई। पर यह भ्रम है। हमारा जीवन तो फूटे घडे के जल की तरह प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है, वह स्थिर है ही
कहाँ? उसका व्यर्थ व्यय यदि विचारणीय है तो उस पर प्रारम्भ से ही विचार करना चाहिए। अन्त मे उसका उपयोग करने के लिए कोई

चाहे कितना ही प्रयत्न करे कोई लाभ नहीं हो सकता। बीता हुआ जीवन वापिस नहीं आ सकता। अत. अनित्य जीवन से नित्य (हमेशा रहने वाले) धर्म का सञ्चय करना है तो प्रारम्भ से ही करना चाहिए। यही बुद्धिमानी है। ऊपर हम समझा आए हैं कि जीवन हमेशा किसी का भी स्थिर नहीं रहता और थोड़े समय स्थिर रहने का भी कुछ भरोसा नहीं। क्या पता अभी आगे का श्वास भी आवे या न आवे। पर्वत की चोटी पर, जहाँ चारो ओर से जोर की हवा के झोके आया करते हैं, तेल के बल से जलने वाले तुच्छ दीपक का थोडी भी देर तक जलते रहना आश्चर्य है। बुझ जाना आश्चर्य नहीं। उसी प्रकार रोगादि की अनेक बाधा-ग्रस्त इस जीवन का थोड़े भी समय टिका रहना आश्चर्य है। विनाश आश्चर्य की चीज नहीं है। हमारा यह जीवन-मनुष्यादि पर्याय-पौद्गलिक शरीर के सहारे टिका हुआ है और वह प्रतिक्षण नश्वर है। तब यह जीवन नित्य कैसे हो सकता है?

यौवन की अनित्यता

जब जीवन का ही यह हाल है तब उसी के बीच मे प्राप्त होने वाले यौवन को स्थिर मानना नितान्त भ्रम और मूर्खता ही है। सूर्य प्रात काल उगता है, अपनी सहस्र किरणो को विकसित कर मध्याह्न मे तेजी दिखाता है पर थोडी ही देर में सायकाल आ पहुँचता है। न उसकी वह तेजी रहती है और न स्वय उसका ही यहाँ अस्तित्व रहता है। जीवन मे यही हाल यौवन का है। वह तो चार दिन की चाँदनी है। बाद मे अँधेरा ही अँधेरा। पर्वत मे गिरने वाले नाले के पानी की तरह यौवन मे स्थिरता है ही कहाँ? आया और गया। यौवन के भोग चिरकाल तक नहीं टिक सकते। उनके साथ अनेक विपत्तियाँ लगी हुई हैं। 'भोगे रोग-भयम्।' भोगो की ओर झुको, रोग आ सतावेंगे। अत यौवन के मद मे अपने आपको भूलने वाला मनुष्य यह देखे कि मेरा यह अभिमान कितने दिन चल सकेगा? सामने व्याघ्री की तरह ताक लगाये मौत की छोटी बहन जरा खडी है, इससे मेरा छुटकारा कैसे होगा? आज जिन बुड्ढो का मैं उपहास करता हूँ क्या शीघ्र वही दशा मेरी होने वाली नहीं है? ओह! वह झुकी हुई कमर, झुर्रियाँ पडा हुआ शिथिल शरीर, पोपला मुँह, बहरे कान, गीड भरी हुई पानी झरने वाली आँखें, लड़खडाते हुए पैर, वेग-शून्य गति, आदर रहित व्यक्तित्व मेरे से कितने कम दूर है? यदि दीवानी जवानी के वशीभूत हो मैंने अपने कर्तव्य को छोड दिया, दूर पर उसे खडे रहने का उचित प्रबन्ध न किया तो वह और भी शीघ्रता से मेरे नजदीक आ जावेगी और तब सारा दीवानापन अपने आप दूर हो जायगा। वास्तव मे यौवन के नशे मे अपने आपको—अपने आत्मा को और अपने कर्तव्य को—भूलने वाला मनुष्य ज्ञानी नहीं। ज्ञानी वही है जो इसे अनित्य अनुभव कर परमार्थ साधन करता है और आगे के लिए जन्म-मरण को जीत लेता है।

सब की अनित्यता

ऊपर धन. जीवन और यौवन की अनित्यता मुख्य रूप से बताई गई है, क्योकि बहुधा इन्हीं के मोह मे फँस कर प्राणी अपने

आपका बहुत कुछ अहित करता है। किन्तु वस्तु-स्थिति पर विचार करने से तो यहाँ कोई भी वस्तु नित्य नहीं,जैसा कि पहले कहा जा चुका है। यह सारा ससार-ससार की सभी वस्तुएँ अनित्य हैं। ससार का अर्थ ही यही है, जो अनित्य हो, सदा एक-सा न रहे। यदि कहीं परिवर्तन नहीं तब तो वह ससार ही नहीं। सब वस्तुओ की अनित्यता का विचार कर श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना मे कहते हैं :—

लोगो विलीयदि इमो फेणोव्व स-देव-माणुस-तिरिक्खो।
रिद्धीओ सव्वाओ सिविणय-संदंसण-समाओ ॥ १७१६ ॥ (भग. आ.)

जैसे पानी के भाग या बुद्बुदे की स्थिति टिकाऊ नहीं, क्षणिक है-वह देखते-देखते नष्ट हो जाती है वैसे ही देव, मनुष्य और ति॰चो से भरे हुए इस लोक की स्थिति भी विनाशमान है। यहाँ मनुष्य और तिर्यंचो का ही नहीं, देवो का शरीर भी अनित्य है। हाथी, घोडे, रथ, पयादे, राज-भवन, छत्र, सिंहासनादि सब विभूतियाँ भी स्वप्न-दर्शनोपम हैं। स्वप्न की तरह जीवन के कुछ क्षणो मे तो दिखती हैं और फिर सर्वदा के लिए लुप्त हो जाती हैं।

विज्जूव चञ्चलाइं दिट्ठपणट्ठाइं सव्व-सोक्खाइं।
जल-बुब्बुदोव्व अधुवाणि हुंति सव्वाणि ठाणाणि ॥ १७१७ ॥ (भग आ)

ससार के समस्त सुख-पचेन्द्रिय जनित सुख बिजली के समान चञ्चल हैं-एक बार दिखे और नष्ट हुए। कोमल स्पर्शवाली शय्या, सुस्वादु भोजन-पान, सुगन्धित इत्र, सुन्दर दृश्य, मनोहर गायन आदि भोग क्या स्थायी है? क्या जीव को ससार मे सर्वदा मिल सकते हैं? पूर्व पुण्य से कोई सुख-सामग्री मिलती है तो वह सदा कहाँ रहती है? इस जीवन की सामग्री आगे के जीवन मे तो कभी साथ जाती ही नहीं। उसमे यहाँ भी आसक्ति उत्पन्न हुई तो वियोग का दुःख और आगे सुख के स्थान मे महा दुःख। इसलिए सासारिक सभी सुख सामग्रियो की अनित्यता पर ध्यान दो। यह ग्राम, नगर, महल, मकान कोई भी सदा तुम्हारे रहने वाले नहीं। यह घर मेरा है, मैं यहाँ रहता हूँ, हमेशा रहूँगा- ऐसा कभी मत सोचो। इनमे स्थायिता का अभिमान तुम्हें इनके वियोग मे मर्मवेधी पीडा देगा। इसलिए जल-बुद्बुदोपम यह अनित्य हैं तो इनको अनित्य ही समझो।

णावागदाव बहुगइ-पधाविदा हुंति सव्व-संबंधी।
सव्वेसिमासया वि अणिच्चा जह अब्भसंघाया ॥ १७१८ ॥ (भग. आ.)

दुनियाँ का कोई सम्बन्ध सदा रहने वाला नहीं। नदी को पार करते समय जिस प्रकार नाव मे अनेक देशो के अनेक यात्री आ बैठते है, थोडी देर एक साथ रहते हैं और किनारा आते ही उतर कर अपने अपने मार्ग की सुध लेते हैं वैसे ही कुटुम्ब की दशा है। एक कुल रूपी नाव मे अनेक यात्रियो की तरह कुटुम्ब के अनेक लोग जन्म लेकर आ बैठते हैं और किनारो की तरह आयु का अन्त होते ही विदा होते हैं। इसी प्रकार स्वामी, सेवक, भ्राता, पुत्र, मित्र, स्त्री आदि किसी आश्रय को नित्य नहीं समझना, क्योंकि इन सब की स्थिति बादलो के समूह की तरह देखते-देखते बिछुडने वाली है। इसलिए यह समझना इनके सहारे से मैं जीता रहूंगा ठीक नहीं।

मंवासो वि अणिचो पहियाण पिण्डणं व छाहीए।

पीदी वि अच्छिरागोव्व अणिचा सव्वजीवाणं ॥ १७१६ ॥ (भग. आ.)

जैसे—अनियत नाना देशो से आये हुए पथिक (मुसाफिर) एक सराय या धर्मशाला मे निवास करते हैं, अथवा किसी घनी छाया वाले वट आदि वृक्ष के नीचे अनेक स्थानो के मनुष्य आकर मिलते है और दूसरे दिन अथवा कुछ काल के अन्तर अपना अपना मार्ग लेते हैं वैसे ही पूर्व कर्म के फल स्वरूप पुत्र, मित्र, स्त्री आदि पदार्थों का सयोग होता है। कर्म फल भोगने के पश्चात् वे भी कर्म से प्रेरित हुए वियुक्त हो जाते है। फिर कभी आकर नहीं मिलते। उनकी प्रीति भी स्थिर नहीं। निमित्त विशेष से जन्य नेत्रो की लालिमा के समान वह भी क्षणभगुर है। अर्थात् ससार के लोगो का प्रेम स्वार्थ का है। क्षणमात्र मे बदल जाता है। किसी का स्वार्थ न सधे तब देखो वह प्रेम रखता है या नहीं? इससे अनित्यता स्पष्ट होगी।

रत्तिं एगम्मि दुमे सउणाणं पिण्डणं व संजोगो।

परिवेसोव्व अणिचो इस्सरियाणायणारोग्गं ॥ १७२० ॥ (भग आ)

अर्थ—सायकाल होने पर रात्रि के समय नाना देश व दिशाओं से आकर पक्षी एक वृक्ष पर निवास करते है उनका पहले से सकेत नहीं होता। पहले के सकेत के विना ही वे आ मिलते हैं और प्रात.काल पुन नाना दिग्देशो मे चले जाते हैं। उसी प्रकार सकेत विना ही अनेक गतियो से आये हुए कुटुम्बियो का सयोग होता है और वे मर कर पुनः त्रस, स्थावर आदि अनेक योनियो मे चले जाते हैं। तथा चन्द्रमा का परिवेप (उसके बिम्ब के आस पास कभी कभी होने वाला मण्डल) जिस प्रकार क्षणभगुर है, उसी प्रकार संसार का ऐश्वर्य-प्रभुत्व, आज्ञा, धन-सम्पत्ति, आरोग्य आदि सब अस्थिर है।

इंदियसामग्गी वि अणिचा संभाव होइ जीवाणं ।
मज्झण्हं व णराणं जोव्वणमणवट्ठिदं लोए ॥ १७२१ ॥
चंदो हीणो व पुणो विड्ढदि एदि य उदू अदीदो वि ।
णदु जोव्वणं णियत्तइ णदीजलमदिच्छिदं चेव ॥ १७२२ ॥ [भग आ]

अर्थ—इन्द्रिय-सामग्री भी अनित्य है। प्रथम तो इन्द्रियो की पूर्णता का होना ही कठिन है और कदाचित् क्षयोपशम विशेष से इन्द्रियो की अविकल प्राप्ति होती है और उनमे विषय ग्रहण करने की शक्ति भी विद्यमान होती है तो भयानक व्याधि के उपस्थित होने पर अथवा वीर्यान्तराय का तीव्रोदय होने पर अथवा अवस्था के ढलने पर उनकी वह विषय-ग्रहण की सामर्थ्य विलीन हो जाती है, अत. उसे संध्या की लालिमा के समान कुछ काल के लिए ही टिकाऊ समझना। मनुष्यो की यौवनावस्था भी मध्याह्न काल के सदृश अस्थिर है। अर्थात् जैसे दिवस का मध्याह्न काल सायकाल के आगमन पर अदृश्य होजाता है, उसी प्रकार जरा अवस्था के आने की सूचना मिलते ही यौवन भी अपना रास्ता लेलेता है।

चन्द्रमा कृष्णपक्ष मे क्षीण होता है और शुक्ल पक्ष में वृद्धिगत होता है। वसतादि ऋतुएँ बीत जाने पर पुनरपि आती हैं। किन्तु मनुष्य की यौवनावस्था बीत जाने पर फिर लौट कर नही आती, जैसे नदी का बहकर आगे गया हुआ जल फिर वापिस लौटकर नहीं आता है।

धावदि गिरिणदिसोदं व आउगं सव्वजीवलोगम्मि ।
सुकुमालदा वि हीयदि लोगे पुव्वण्हछाही व ॥ १७२३ ॥ [भग आ]

अर्थ—सम्पूर्ण जगत् के जीवो की आयु पर्वत से गिरने वाली नदी के प्रवाह के समान तीव्रगति से निरन्तर दौड रही है। और समस्त प्राणियो की सुकुमारता (कोमलपन) प्रात.काल की छाया के समान क्षण-क्षण मे क्षीण होती रहती है। सार यह है कि इस ससार मे जितने पदार्थ दिखाई देते हैं वे सब नष्ट होने वाले हैं यह स्पष्ट है। शरीर रोगो का घर है, उसके एक-एक रोम-कूप मे पौने दो दो रोगो की सत्ता है। यौवन के साथ बुढापा लगा हुआ है। बुढापे से बल और ज्ञान भी साथ छोड देते हैं। ऐश्वर्य विनाश से व्याप्त है—चक्रवर्ति,बलभद्र, नारायण सरीखो का भी वैभव नहीं रहा। स्त्री, पुत्र, मित्र आदि के जितने भी सयोग होते हैं उनका भी वियोग होता ही है। जीवन मरण का अविनाभाव है। अति बलवान भी मृत्यु से नहीं बचे। अनेक प्रकार के भोजन आदि से पुष्ट करते करते भी आयु के पूर्ण होते ही शरीर साथ छोड देता है। उसे तीर्थंकर ऐसे भी विनाश से नहीं बचा सके। इसलिए ससार,शरीर,भोग आदि सब को अनित्य समझ कर किसी से मोह मत

करो। दुनियाँ की किसी विभूति को देख कर मत लुभाओ। यह विनाशी है, तुम्हें धोखा देगी। अस्थिर को स्थिर समझ लेने से पद पद पर दुःख उठाना पड़ता है। तुम अपने अविनाशी आत्मा से प्रेम करो। शरीर के शीर्ण होने से पहले ही धर्म की सिद्धि करो। धोखे में मत रहो। धन, यौवन आदि के उन्माद मे या कुटुम्बियो के मोह मे पड़ कर अपने हित-साधन को न भूलो। अन्यथा 'देह खेह हो जायगी, फिर का करि है धर्म ?, ज्ञान का उपार्जन करना है तो शीघ्र करो, तप की वृद्धि करनी है तो शीघ्र करो, दान देना है तो शीघ्र देओ। दूसरों की सेवा शुश्रूषा, उपकार आदि जो भी कुछ करना है उसमे विलम्ब मत करो। आगे के भरोसे मत रहो। यह अनित्यता का अभ्यास तुम्हें अपूर्व सुख-शान्ति देगा।

अशरण-भावना

अपने को अशरण अनुभव करने का अभ्यास करना अशरण भावना है। कर्मोदय से प्राप्त होने वाले जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदि दुखो मे जीव को शरण देने वाला, इनसे बचाने वाला कोई नहीं अत. यह जीव अशरण है। कहा भी है :—

हयगयरहणरबलवाहणाणि मंतोसधाणि विज्जाओ।
मच्चुभयस्स ण सरणं णिगडी णीदी य णीया य ॥ ५ ॥
जम्मजरामरणसमाहिदम्हि सरणं ण विज्जदे लोए।
जरमरणमहारिउवारणं तु जिणसासणं मुच्चा ॥ ६ ॥ (मूला द्वा. अ.)

अर्थ—हाथी, घोडे, रथ, मनुष्य, सेना, वाहन, मन्त्र, औषधियाँ प्रज्ञप्ति आदि विद्याएँ जीव को मृत्यु से बचाने में असमर्थ हैं। मनुष्य दूसरो से अपनी रक्षा करने के लिए अनेक प्रकार रचना करते हैं और उसमे कभी सफल भी हो जाते हैं—साम, दान, दण्ड और भेद यह चार प्रकार की नीति अन्यत्र तो कृतकार्य हो भी जाती है, किन्तु मृत्यु के सामने ये सब हतवीर्य हैं, जैसे गरुड के सम्मुख काले नाग। मृत्यु का भय उपस्थित होने पर भाई बन्धु आदि कोई शरण नहीं होता है।

मरणभयम्हि उवगदे देवा वि सइंदया ण तारंति।
धम्मो ताणं सरणं गदित्ति चिंतेहि सरणत्तं ॥ ७ ॥ (मूला द्वा.अ.)

अर्थ—मरण का भय प्राप्त होने पर इन्द्र सहित सब देव मिल कर भी जीव की रक्षा नहीं कर सकते। एक जिनेन्द्र निरूपित धर्म

ही रक्षक है, इसलिए उसे ही शरण रूप चिन्तन करो।

णासदि मदी उदिण्णे कम्मे ण य तस्स दीसदि उवाओ।
अमदं पि विसं सच्छं तणं पि णीयं वि हुंति अरी ॥ १७२६ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—कर्म का उदय होने पर जीवो की बुद्धि नष्ट हो जाती है। कुछ उपाय नहीं सूझता। अमृत विष हो जाता है। तृण शत्रु
रूप बनकर मृत्यु का कारण होजाते है। बन्धुजन शत्रु हो जाते हैं।

भावार्थ—अनादि काल से अज्ञान के वशीभूत हुआ यह आत्मा अपनी भूल से निरन्तर ज्ञानावरणादि कर्मों का ग्रहण करता है
और बँधता है। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के संयोग से जब उसका अप्रिय एव कटु फल मिलता है तब उससे बचाने के लिए कोई समर्थ नहीं
होता है। इसलिए प्रत्येक आत्मा अपने आपको अशरण अनुभव करे। संसार मे दूसरा कोई कर्म-फल-भोग से बचाने वाला नहीं है।

प्रतीकार रहित कर्म का जब उदय आता है तब उसके फल स्वरूप दुःख को भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता। अर्थात् जन्म,जरा,
मरण, रोग, चिन्ता, भय, वेदना आदि के उपस्थित होने पर तज्जन्य कष्टो का भोग अवश्य करना पडता है। इस जगत् मे जीवो का रक्षक व
आश्रय दाता कोई नहीं होता है, यदि कोई जीव अपने कर्म के उदय से बचने के लिए किसी देव का सहायता से पाताल लोक मे भी चला
जावे तो भी उसका छूटना असम्भव है।

गिरि की कन्दरा, अटवी, पर्वत व समुद्र मे तो क्या, लोकान्त मे भी जीव निवास करने चला जावे तो भी यह अशरण जीव
उदयागत कर्म से कदापि छूटने क लिए समर्थ नहीं हो सकता है। अर्थात् लोक के अन्त मे जाना असम्भव है,यह असम्भव कार्य भी कदाचित्
सम्भव हो जावे तो हो जाओ, किन्तु निकाञ्चित (प्रतीकार रहित) कर्म का फल भोगे बिना छूटना सर्वथा अशक्य है।

द्विपद, चतुष्पद तथा पेट के बल चलने वाले जीवो का गमन भूमि पर ही होता है, मच्छर आदि जलचर जन्तुओ की गति जल
मे ही होती है, पक्षियो की गति आकाश मे ही होती है, किन्तु काल का गमन सर्वत्र अप्रतिहत है। इसकी गति को रोकने वाला संसार में
कोई भी नहीं है।

सूर्य, चन्द्र, पवन, और देव इनसे अगम्य प्रदेश हैं-अर्थात् सूर्य और चन्द्र का प्रताप व प्रकाश संसार के कोने कोने में पहुँचता
है, वायु प्राय. सर्वत्र बहती है और देवो का प्राय सर्वत्र गमन है, तथापि लोक मे ऐसे भी कई स्थान हैं जहाँ उक्त चारो का गमन नहीं होता,

किन्तु काल की सर्वत्र गति है। ऐसा कोई स्थान ससार में नहीं जहाँ काल का गमन न होता हो।

विद्या बल, मन्त्र बल, औपधि बल, शरीर का बल, आत्मा का बल और हाथी घोडे रथ योद्धा आदि सेना बल, साम दान दण्ड भेद यह नीति बल, कर्म जन्य फल को मिटाने के लिए समथ नहीं है। जैसे उदयाचल के शिखर पर प्रयाण करने वाले सूर्य को रोकने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है, वैसे ही दु.ख देने मे प्रवृत्त हुए कर्म के उदय का प्रतिरोध करने की किसी मे भी शक्ति नहीं है।

भयानक तथा सघातक रोगो व महामारियो से बचने के उपाय हैं, किन्तु कमलिनी के वन का विध्वस करने वाले मदोन्मत्त हस्ती के समान ससार के जीवो का मर्दन करने वाले इस कर्म के उदय से बचने का कोई उपाय नहीं है। रोगो का भी प्रतीकार तभी हो सकता है जब कि कर्मों का मन्द उदय हो या उपशम हो। जिस समय कर्मों की उदीरणा या तीव्र उदय होता है उस समय उनका प्रतीकार करना सर्वथा अशक्य ही नहीं, असम्भव है।

निकाञ्चित कर्मोदय को विद्याधर, वासुदेव, बलदेव और चक्रवर्ती तो क्या साक्षात् त्रिजगदीश्वर तीर्थंकर भी मिटा नहीं सकते तब साधारण अल्पशक्ति वाले मनुष्य की तो सामर्थ्य ही कहाँ ?

दिव्य शक्ति का धारक कोई महाबली पैदल चलकर पृथ्वी के दूसरे छोर तक भी पहुँच जावे, या भुजाओं से महासमुद्र को तैरकर उसको पार भी कर जावे, तो भी उदीर्ण कर्म के फल को उल्लघन करने के लिए कोई समर्थ नहीं है। उसे तो भोगना ही पड़ता है।

सिंह की डाढ मे पहुँचे हुए मृग को तथा महामत्स्य के उदर में पहुँचे हुए छोटे मत्स्य को बचाने वाला कोई नहीं, उसका मरण अवश्यभावी है, इसी प्रकार आयु कर्म के अन्त में काल के मुख मे पहुँचे हुए इस जीव का कोई शरण नहीं है।

ससार मे शरण (आश्रय) दो प्रकार का है। एक तो लौकिक शरण और दूसरा लोकोत्तर शरण। इन दोनो के तीन २ भेद हैं। अर्थात् लौकिक शरण तीन प्रकार का है- १ लौकिक जीव शरण, २ लौकिक अजीव शरण और ३ लौकिक जीवाजीव शरण। इसी प्रकार लोकोत्तर शरण भी तीन प्रकार का है-१ लोकोत्तर जीव शरण, २ लोकोत्तर अजीव शरण और ३ लोकोत्तर जीवाजीव शरण।

१ राजा, देवता आदि लौकिक जीव-शरण है।

२ कोट, खाई आदि लौकिक अजीव-शरण है।

३ कोट, खाई आदि सहित ग्राम, नगर, पर्वत आदि लौकिक मिश्र-शरण हैं।

१ लोकोत्तर जीव शरण—पञ्च परमेष्ठी-अरिहतादि लोकोत्तर (अलौकिक) जीव शरण हैं।

२ लोकोत्तर-अजीव शरण—पञ्च परमेष्ठी के प्रतिविम्बादि अलौकिक अजीव शरण हैं।

३ लोकोत्तर मिश्रशरण -धर्मोपकरणसहित साधुवर्ग अलौकिक जीवाजीव शरण हैं।

इस लोक सम्बन्धी भय से बचाने वालो को लौकिक शरण कहते हैं और परलोक सम्बन्धी भय से बचाने वालो को लोकोत्तर शरण कहते हैं। जैसे-बलवान् क्षुधातुर और मास के लम्पटी व्याघ्र के द्वारा एकान्त मे दबाए हुए मृग-बालक को उस व्याघ्र से छुडाने के लिए इस लोक मे कोई समर्थ नहीं है, उसी प्रकार जन्म, मरण,व्याधि, प्रिय वियोग अप्रिय संयोग,इष्ट पदार्थ की अप्राप्ति,दारिद्रय आदि शारीरिक एव मानसिक दु खो से घिरे हुए इस जीव को कोई शरण देने वाला नहीं है। अनेक सुखो से उपलालित यह पुष्ट शरीर भी भोजन करनेमे ही आत्मा का सहायक होता है, कष्टो के आने पर आत्मा की सहायता करने मे समर्थ नहीं होता है। घोर परिश्रम से उपार्जन किया हुआ विपुल धन भी मृत्यु से रक्षा नहीं करता, और न आत्मा के साथ परभव मे साथ ही जाता है। सुख दु.ख के सहयोगी मित्र भी मरण का समय आने पर इस जीव का सरक्षण नहीं कर सकते। चारो तरफ सदा घिरे रहने वाले बन्धुजन भी इसको अन्त मे छोड कर अलग हो जाते हैं। परभव मे भी इसकी रक्षा करने वाला और प्रतिक्षण सहायता करने वाला यदि इस लोक मे कोई है तो वह एक धर्म ही है,दूसरा कोई रक्षक नहीं है। अतएव हे आत्मन् ! जिस समय तुम्हें मृत्यु आकर घेर लेगी, उस समय इन्द्र भी उससे बचाने मे समर्थ नहीं होगा, न बन्धु होगे न मित्र-पुत्र-धन-बलादि। यदि सहायक होगा तो उत्तमता से आचरण किया हुआ एक धर्म ही होगा। इसलिए अपने को अशरण अनुभव करने का अभ्यास करो और धर्माराधन मे चित्त लगाओ।

एकत्व-भावना

इस जीव का कोई साथी नहीं। यह सदा अकेला ही है। अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है। जन्म, जरा, मरण, रोगादि की प्राप्ति मे कोई इसका हाथ नहीं बटाता। कर्मों के फल स्वरूप अनन्त दुख, अपार वेदनाएँ,अकेले को ही सहनी पडती हैं। इस प्रकार अभ्यास करना एकत्व भावना है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से एकत्व चार प्रकार का होता है।

जीवादि छह द्रव्यो मे से किसी एक द्रव्य के द्रव्य एकत्व है। परमाणु जितने क्षेत्र में ठहरता है उतने क्षेत्र (प्रदेश) को क्षेत्र एकत्व कहते हैं। कालका जो एक समय है उसे काल एकत्व कहते हैं। मोक्ष मार्ग को भाव एकत्व कहते हैं।

संसार मे जो अनेकपन दिखाई देता है वह एकपने को लिए हुए है।

जिसने बाह्य व आभ्यन्तर परिग्रह त्याग करके सम्यग्ज्ञान से अपने एकपने का निश्चय कर लिया है,जिसकी एक यथाख्यात चारित्र रूप प्रवृत्ति हो रही है, उस आत्मा के मोक्ष मार्ग रूप से एकपना होता है। उस एकपने की प्राप्ति के लिए ऐसी भावना करना चाहिए कि मैं इस ससार मे अकेला ही हूँ। मेरा दूसरा कोई स्व अथवा पर नहीं है। मैं अकेला ही जन्म लेता हूँ और अकेला ही मरता हूं। कोई दूसरा स्वजन या परजन मेरे व्याधि, जन्म-मरणादि के दु खो को दूर नहीं कर सकता। मेरे बन्धुजन व मित्रादि श्मशान तक ही रहते हैं, आगे साथ नहीं रहते। एक धर्म ही मेरा साथी है। जैसा कि कहा भी है —

वित्तं गेहाद्‌ हश्रितायां व्यावर्त्तन्त बान्धवाः श्मशानात्‌ ।
एकं नानाजन्मवल्लीनिदानं याति शुभाशुभं कर्म जीवेन सार्धम्‌ ।

अर्थ—जब आत्मा इस शरीर को छोड़कर परलोक मे जाता है तब उसका साथ कोई नहीं देते। बड़े कष्ट से उपार्जन किया हुआ धन, घर से ही साथ छोड देता है-वह तो घर मे ही रह जाता है। खूब लालन-पालन किया हुआ शरीर चिता में ही छूट जाता है। आगे साथ नहीं जाता। पुत्र, मित्र, भ्रातादि भी श्मशान से ही लौट जाते हैं। यदि कोई परभव मे साथ जाने वाला है तो वह शुभाशुभ (पुण्य-पाप) कर्म ही है। उसके अतिरिक्त जीव का कोई साथी नहीं है।

इस प्रकार एकत्व का अभ्यास करने वाले के अपने आत्मीय (कुटम्बी) जनो मे प्रेम-बन्ध और परकीय (शत्रु आदि) जनो मे द्वेष-सम्बन्ध नहीं होता। एकत्व भावना से उसके निःसगपना उत्पन्न होता है और परिग्रह का बोझा उतर जाने पर वह-ऊर्ध्वगमन करता है। अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है।

सयणस्स परियणस्स य मज्झे एक्को रुयत्तओ दुहिदो।
वज्जदि मच्चुवसगदो ण जणो कोइ समं एदि ॥ ८ ॥
एक्को करेइ कम्मं एक्को हिंडदि य दीह संसारे।
एक्को जायदि मरदि य एवं चिंतेहि एयत्तं ॥ ६ ॥ [मूला. द्वा. अ.]

अर्थ—यह प्राणी भाई भतीजा पुत्रादि स्वजन और दास मित्र आदि परिजन के मध्य अकेला ही व्याधि से पीड़ित होकर दुःख भोगता हुआ काल का ग्रास बनता है। साथ मे न स्वजन जाते हैं और न परिजन जाते हैं।

अकेला ही शुभाशुभ कर्म करता है और अकेला ही अपार संसार मे भ्रमण करता है। अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है। इस प्रकार एकत्व भावना का चिन्तन करना चाहिए।

पावं करेदि जीवो बंधवहेदुं सरीरहेदुं च।
णिरयादिसु तस्स फलं एक्को सो चेव वेदेदि ॥ १७४७ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—यह आत्मा बन्धुओं के लिए-उनकी शरीर-रक्षा तथा उनके मनोरंजनादि के लिए, और स्वयं अपने शरीर आदि के पोषण के लिए अनेक पाप करता है, किन्तु उन पापो का नरक निगोदादि मे फल अकेले को ही भोगना पड़ता है। उसमे हिस्सा बँटाने वाला कोई नहीं होता।

रोगादिवेदणाओ वेदयमाणस्स णिययकम्मफलं।
पेच्छंता वि समक्खं किंचि वि ण करंति से णियया ॥ १७४८ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—पूर्वोपार्जित असातावेदनीय कर्म के उदय से उत्पन्न हुई रोग की वेदना का अनुभव करते हुए प्रत्यक्ष देखकर भी ये बन्धु लोग उसका प्रतीकार नहीं करते हैं।

भावार्थ—जब आत्मा पूर्वकाल मे संचित कर्मों के फल स्वरूप शरीर-विकार-वेदना-जन्य दुःख प्राप्त करता है उस समय उसे प्राण-समान प्रिय मानने वाले बन्धु क्या उन दुःखो का निवारण कर सकते है? उनको तो उसे अकेले ही भोगना पडता है। तब हे आत्मन्! तुझे क्या करना चाहिए और तू क्या कर रहा है। जरा सोच। इस जन्म मे और परजन्म मे तेरा हित करने वाला, तुझे दुःख से छुटकारा दिलाने वाला धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। जो हर हालत मे सुख देता रहे वह धर्म ही है। इसे मत भूल। दूसरो के लिए अनर्थ करके व्यर्थ दुःखी मत बन।

तह मरइ एक्कओ चेव तस्स ण विदिज्जगो हवइ कोई।
भोगे भोत्तुं णियया विदिजया ण पुण कम्मफलं ॥ १७४९ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—स्वकीय आयु का क्षय होने पर यह अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होता है। इसका सहायक दूसरा कोई भी नहीं होता है। ये स्वजन बन्धु लोग सुख-भोग भोगने के लिए हैं, परन्तु कर्म फल भोगने के लिए ये बन्धु सहायक नहीं होते।

हे आत्मन्! इन बन्धुओ के प्रेम जाल मे फँसकर जो तू अपने स्वरूप को ही भूल रहा है उनका स्वरूप तो समझ ले। अनेक सुख-भोग की सामग्री का जो तू सञ्चय करता है उसका सुखानुभव करने के निमित्त तो ये बन्धु आदि तेरे घनिष्ट सम्बन्धी बन जाते हैं, परन्तु जब तेरा मरण होने वाला होता है, तब उस मरण को अपने मे बाँटकर क्या तेरी सहायता करते हैं? कभी नहीं करते। यदि मरण में विभाग करते तो तू अकेला ही कैसे मृत्यु का ग्रास होता? अनेको का मरण एक साथ क्यो नहीं होता? इससे यह स्पष्ट है कि ये स्वार्थ के सगे और विपत्ति में दगा देने वाले वञ्चक (ठग) हैं।

प्रकारान्तर से एकत्व-भावना का स्वरूप

णीया अत्था देहादिया य संगा ण कस्स इह होंति।
परलोगं अण्णेत्ता जदिवि दइज्जंति ते सुट्ठु ॥ १७५० ॥ [भग. आ.]

अर्थ—परलोक मे गमन करते हुए जीव के साथ उसके प्रिय बन्धु, धन, शरीरादि, जिनको कि परलोक में साथ ले जाने की उसकी बहुत उत्कण्ठा होती है, कोई भी नहीं जाते। इस जन्म मे भी विपत्ति आने पर जब उक्त बन्धु आदि साथ छोड़कर अलग हो जाते हैं तो उनसे परलोक मे साथ रहने की तो आशा ही क्या की जा सकती है? अतः यह जीव सदा अकेला ही है-यह स्पष्ट है।

इह लोग बंधवा ते णियया ण परस्स होंति लोगस्स।
तह चेव धणं देहो संगा सयणासणादीयं ॥ १७५१ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—इस लोक मे जो बन्धु लोग हैं, उनका सम्बन्ध इस जन्म के साथ ही है, अर्थात् परजन्म के साथ नहीं है। धन, शरीर, शयन, आसन आदि परिग्रह का सम्बन्ध भी पूर्वोक्त प्रकार का ही है। बल्कि बन्धु, धन, शयनासन आदि परिग्रह कभी कभी इस जन्म में भी जीव की सहायता नहीं करते प्रत्युत उसका अपकार करने मे तत्पर हो जाते हैं, या इससे सर्वथा सम्बन्ध तोड देते हैं, तो वे इस जीव का उपकार परभव मे भी करेंगे-यह बात विश्वास करने योग्य कैसे हो सकती है?

बन्धु आदि जीव के उपकारक नहीं, बल्कि बन्धन के कारण हैं।

शरणमशरणं बन्धवो बन्धमूलं,
चिरपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणाम्।

विपरिमृशत पुत्राः शत्रवः सर्वमेतत् ।
त्यजत भजत धर्मं निर्मलं शर्मकामाः ॥ ६० ॥ [आत्मानु.]

अर्थ—शरण (घर) तेरा वास्तविक शरण (रक्षक) नहीं है। क्योंकि काल घर मे भी आकर जीव को दबोच लेता है। बन्धु लोग पाप कर्म का बन्ध कराने मे कारण होते हैं। क्योकि यह जीव उनके मोह जाल में फँसकर उनके भरण-पोषण आदि के लिए अनेक पाप कर्म करता है। चिरकाल की परिचित (अनुभूत) पत्नी को सुख देने वाली समझना भी भ्रम है। वह भी पुरुष के अनेक आपत्ति रूप घर में प्रवेश करने का द्वार ही है। क्योकि स्त्री के मोह से ही परमार्थ छोडकर गृह-जाल मे फँसकर अनेक कष्ट उठाने पडते हैं। पुत्र भी शत्रु के समान होते हैं, क्योंकि जन्मते ही माता का यौवन और सौन्दर्य नष्ट करते हैं। बाल्यावस्था मे माता पिता के सुख में विघ्न करते हैं। उनके पालन-पोषण आदि सुख साधनो के लिए माता-पिता को अनेक दुष्कर्म करके धन का अर्जन करना पडता है। इस पर भी यदि वह कुपथगामी निकल जावे तो माता पिता को जन्म भर का सताप उत्पन्न हो जाता है। अत. उसके सब कर्म शत्रु के समान दु.ख दायक हैं। इसलिए हे आत्मन् ! यदि तू दु ख और सताप से बचना चाहता है और सुख की लालसा रखता है तो इन सब से अपना सम्बन्ध तोड़ दे और धर्म से प्रेम सम्बन्ध जोड ले। यही तेरा सच्चा साथी या मित्र है। कहा भी है—

जो पुण धम्मो जीवेण कदो सम्मत्तचरणसुदमइओ ।
सो परलोए जीवस्स होइ गुणकारकसहाओ ॥ १७५२ ॥ [भग. आ]

अर्थ—इस भव मे जीव जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र रूप धर्म का पालन करता है, वही परलोक में इस जीव का गुणकारक (सुखदायक) व सहायक होता है। अर्थात् धर्म, स्वर्गादि की प्राप्ति रूप अभ्युदय और निश्रेयस (मोक्ष) को देनेवाला व परलोक में उपकारी होता है।

धर्म की प्रशसा में और भी कहा है—

दत्वा द्यावापृथिव्योर्वरविषयरतिं वीतभीशुग्विषादां
कृत्वा लोकत्रयीशं सुरनरपतिभिः प्राप्य पूजां विशिष्टाम् ।
मृत्युव्याधिप्रसूतिप्रियविगमजरारोगशोकप्रहीणे,
मोक्षे नित्योरुसौख्ये क्षिपति निरुपमे यः सःनोऽव्यात् सुधर्मः ॥ [भग. आ. संस्कृत टीका १७५२]

अर्थ—यह धर्म भय, शोक और विषाद (दुःख) का विनाश कर स्वर्गसम्बन्धी एवं भूतलसम्बन्धी समस्त विषय-सुख को देता है। इसका पालन करने वाला जीव त्रिलोक का अधिपति होकर नरेन्द्रो और सुरेन्द्रो से विशेष पूजित होता है। इस धर्म के प्रसाद से जीव को, जन्म, जरा-मरण, रोग, शोक, प्रिय-वियोग से रहित नित्य और सर्व श्रेष्ठ सुख से परिपूर्ण निरुपम मोक्ष प्राप्त होता है। इस प्रकार अपूर्व हितकारक रत्नत्रयरूप धर्म नित्य हमारी रक्षा करे।

शंका—एकत्व भावना अर्थात् असहायत्व की भावना के प्रकरण मे सहाय का निरूपण करना क्या उचित है ?

समाधान—यहाँ पर धर्म को सहायक बताकर अन्य वस्तु आदि को असहायक सिद्ध किया है। अतः इनमें उपकारकपने की बुद्धि का त्याग करने का उपदेश दिया गया है। क्योकि ससार मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप धर्म ही आत्मा का असली उपकारक है। क्योकि वह आत्मा का स्वभाव है। जो जिसका स्वभाव होता है, वही उसका उपकार कर्त्ता हो सकता है। कर्म के निमित्त से सयोग को प्राप्त हुए बन्धु धनादि बाह्य-पदार्थ आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, किन्तु आत्मा की विकार अवस्था (कर्म विशिष्ट अवस्था) के निमित्त से ये (बन्धु आदि) पदार्थ उपलब्ध हुए हैं। जैसे जल का स्वभाव शीतल है, वह शान्ति का कर्त्ता है, किन्तु अग्नि के सयोग से उत्पन्न हुआ उष्णपना जल का विकृत भाव है। वह शान्ति का कर्त्ता नहीं होता, प्रत्युत शान्ति का नाशक होता है। वैसे ही धर्म आत्मा का स्वभाव होने से आत्मा को शान्ति देने वाला है और बन्धु धन आदि आत्मा के कर्म-जन्य विभाव भाव-रागद्वेषादि भाव-कर्म से प्राप्त हुए हैं, इसलिए ये आत्मा की शान्ति के नाशक होते हैं। अतः ये आत्मा के उपकारक नहीं हैं।

सम्यक्त्वादि आत्मा के शुभपरिणाम-प्रशस्तगति, प्रशस्तजाति, उच्चगोत्र, प्रशस्त-सघात, सहनन; आयु, सातावेदनीय आदि शुभ कर्मों को आत्मा मे उत्पन्न करके नष्ट हो जाते हैं। और इनके कारण यह आत्मा देव या मनुष्य पर्याय प्राप्त करता है, पचेन्द्रिय, पर्याप्त, कुलीन, शुभ-नीरोग-शरीर का धारक, दीर्घकाल तक जीने वाला होता है और सुख का अनुभव करने वाला होता है। यह सब धर्मानुबन्धी पुण्य के उदय से उपलब्ध होते हैं। इस पुण्यानुबन्धी पुण्य के उदय से भविष्य मे दीक्षा-ग्रहण करने के परिणाम और निरतिचार रत्नत्रय की प्राप्ति होती है। अतएव धर्म उपकार करने वाला मुख्य साधन है। इसलिए ज्ञानी धर्म मे अनुराग करता है।

ज्ञानवान को शरीर और धनादि मे अनुराग क्यो नहीं होता, इसको कहते हैं—

बद्धस्स बंधणे व ण रागो देहम्मि होइ णाणिस्स ।
विससरिसेसु ण रागो अत्थेसु महाभयेसु तहा ॥ १७५२ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—जैसे रस्सी सांकल आदि बन्धन से बधा हुआ मनुष्य बन्धन क्रिया के कारणभूत रस्सी आदि दुःख के देने वाले पदार्थों से प्रीति नहीं करता है, वैसे ही सुख दुःख के साधनो का जिसे पृथक् २ ज्ञान है; वह ज्ञानी मनुष्य दुःख के कारण, सारहीन, अस्थिर (नश्वर) और महा अपवित्र शरीर मे राग नहीं करता है। क्योंकि बुद्धिमान पुरुष गुण के पक्षपाती हुआ करते हैं।

जैसे विष दुःख का देने वाला है और प्राणो का विनाशक होता है, वैसे ही धन भी उसके उपार्जन, रक्षण आदि मे लगे हुए मनुष्य को दुःख उत्पन्न करता है तथा प्राणो के विनाश मे भी वह निमित्त होता है। क्योंकि संसार मे प्रायः जितने नरसंहारक संग्राम होते हैं, वे धन के लिए ही होते हैं। इसलिए धन-सम्पत्ति महान भय के उत्पन्न करने वाले होने से महाभयानक हैं।

जो पदार्थ जिसका अनुपकार करने वाला होता है, उस पदार्थ मे विवेकी पुरुष की सहाय बुद्धि नहीं होती है, जैसे कि विष कटक आदि मे नहीं होती है। शरीर धनादि भी आत्मा के अनुपकारी हैं, इसलिए विवेक-शील पुरुष को इसमे बारम्बार असहायता की भावना करनी चाहिए। अर्थात् ये कभी किसी के उपकारक नहीं हुए है। अतः मेरे ये उपकारक कैसे हो सकते हैं, इस प्रकार पुनः पुनः अभ्यास करना चाहिए।

अन्यत्व–भावना

अन्यत्व नाम भेद का है। संसार के समस्त पदार्थों से मेरा आत्मा सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार अभ्यास करने को अन्यत्व भावना कहते हैं।

अन्यत्व-नाम स्थापना, द्रव्य और भाव के आश्रय से चार प्रकार का है। आत्मा, जीव, प्राणी, यह भेद नाम की अपेक्षा से है। काष्ठ की प्रतिमा, प्रस्तर-प्रतिमा इत्यादि स्थापना से भेद हैं। जीव द्रव्य व अजीव द्रव्य यह द्रव्य से भेद है। एक ही जीव द्रव्य मे बालक, युवा, मनुष्य, देव इत्यादि भेद भाव की अपेक्षा से होता है।

जीव और कर्म का परस्पर बन्ध होकर दोनों का एकीभाव हो रहा है, तथापि लक्षण भेद से इनकी भिन्नता प्रतीत होती है। क्योंकि जीव का लक्षण ज्ञान-दर्शन है और पुद्गल का लक्षण रूप, रस, गन्ध और स्पर्श है। इस प्रकार यह लक्षण कृत भेद होता है।

प्रत्येक समय मे अनन्तानन्त कर्म परमाणु योग के निमित्त से आकर कषाय के कारण से जीव के प्रदेशो में एकमेक होकर ठहरते हैं और प्रति समय अनन्तानन्त कर्मपुद्गल जीव से पृथक् होते हैं, इस प्रकार बन्ध की अपेक्षा से भेद (अन्यत्व) होता है। औदारिकादि शरीर के कारण नोकर्मवर्गणा के नवीन पुद्गल आकर क्षीर-नीर के समान जीव के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं और पुराने

प्र तद्दाण निर्जरा को प्राप्त होते हैं।

जीव स्वय औदारिकादि शरीरनामकर्म के उदय से औदारिकादि शरीर का निर्माण करके शरीर में स्थिति करता हुआ भी जैसे नख, रोम, दन्त अस्थि आदि मे नहीं रहता है, वैसे ही रस, रुधिर, चर्बी, शुक्र,वीर्य, कफ,पित्त,मल,मूत्र, मस्तिष्क आदि प्रदेशों में भी नहीं रहता है। इस प्रकार कर्म तथा शरीर के अवयवों से जीव का भेद होता है। अतएव परम ध्यानी पुरुष तपस्या व ध्यान द्वारा शरीर से पृथक् होकर अनन्त ज्ञानादि गुणों से विशिष्ट हुआ मोक्ष मे अवस्थित होता है। उस मोक्षावस्था की प्राप्ति के लिए यह 'शरीर है। यह शरीर इन्द्रियगम्य है, मैं अतीन्द्रिय हूँ, अर्थात् इन्द्रियो के अगोचर हूँ। यह शरीर अज्ञ (ज्ञान हीन) है और मैं ज्ञाता हूँ, ज्ञानस्वभाव वाला हूँ। यह शरीर अनित्य है। मैं नित्य हूँ। इस शरीर का आदि और अन्त है। मैं आदि और अन्त से रहित हूँ। अनन्त काल संसार मे भ्रमण करते हुए मैंने अनन्त शरीर ग्रहण कर छोड़ दिये हैं, मैं उनसे भिन्न रहने वाला हूँ। इस प्रकार शरीर से जब मेरा सर्वथा भेद है तब बाह्य परिग्रहो से भेद के विषय मे कहना ही क्या है ? इस प्रकार की भावना करनी चाहिए। मूलाचार मे कहा है—

मादुपिदुसयणसंबंधिणो य सव्वे वि अत्तणो अण्णे।
इह लोग बंधवा ते ण य परलोगं समं णेंति ॥ १० ॥
अण्णो अण्णं सोयदि मदोत्ति मम णाहोत्ति मण्णंतो।
अत्ताणं ण दु सोयदि संसारमहण्णवे बुड्डं ॥ ११ ॥

अर्थ—माता, पिता, कुटुम्ब और परिवार के लोग व सगे सम्बन्धी सबही मुझ से अन्य हैं। इस भव के जो बन्धु लोग हैं, वे परभव मे साथ नहीं जाते हैं, न इनका किया हुआ कृत्य मेरे साथ जाने वाला है।

यह मूढ आत्मा, हाय मेरा नाथ मर गया, मेरा बन्धु मरगया इत्यादि अन्य जन का तो सोच-चिन्ता करता है, और संसार रूप महासागर मे गोते लगाते हुए, महा दुःख ज्वालाओं का आलिंगन करते हुए अपने आपका सोच नहीं करता है ?

भावार्थ—मोहनीय कर्म ने आत्मा के असली स्वरूप को भुलाकर पर पदार्थ मे उसे इतना रत कर दिया है कि यह अज्ञानवश पर पदार्थों को ही आत्मा मान बैठा है, तथा उनको ही सुख दुःख का मुख्य साधन समझ रहा है। तबही तो अपना प्रिय बन्धु या मित्र जब काल के गाल मे चला जाता है, तब अत्यन्त शोक सताप करने लगता है, किन्तु अपना आत्मा अनन्त काल से इस संसार समुद्र में डुबकियाँ लगा रहा है, कभी कभी गोता लगाकर नीचे जाता है तब नरक निगोद मे जाकर जन्म धारण करता और वहाँ पर वचनागोचर एक श्वास

मे १८ वार जन्म मरण के दुःख को तथा छेदन-भेदन मरण आदि के वचनातीत दुःखो का अनुभव करता है, और डुबकी लगाकर ऊपर आता है तब तिर्यंच और मनुष्य भव के असह्य दुःखो को भोगता है। इन अपनी ही दुःख पूर्ण अवस्थाओ का सोच नहीं करता है। इसलिए हे आत्मन्! अब उस भ्रम को छोड़ दे, और माता, पिता, पुत्र, मित्र, कलत्रादि को आत्मा से सर्वथा भिन्न समझ। उनको दुःखित व मरणोन्मुख देखकर दु.ख और शोक करना अज्ञानियो का कम है। कहा भी है.—

प्रीतिपूर्वं कृतं कर्म मनोवाक्कायकर्मभिः।
न निवारयितुं शक्यं संहृतैस्त्रिदशैरपि ॥ [भग आ. टीका १७५४]

अर्थ—जिस जीव ने मन वचन काय के द्वारा प्रीतिपूर्वक जो कर्म किया है, सब देव मिलकर भी उसका निवारण नहीं कर सकते, तब अन्य का क्या सामर्थ्य है जो उस कर्म का निराकरण कर सके।

शङ्का—पर-दु:ख का निवारण करने के लिए जब कोई समर्थ नहीं हो सकता, तब किसी दुःखित जीव के दुःख के प्रतीकार का प्रयत्न करना व्यर्थ हुआ। किसी व्याधि-पीडित मनुष्य को औषधि देने एवं उसकी वैयावृत्य आदि दुःख दूर करने के जो उपाय किये जाते हैं, उनका भी निराकरण हुआ। किसी के दु.ख के नाश के उपाय करने का भी निषेध हुआ। इस प्रकार आचरण करने से परस्पर में सहानुभूति व अनुकम्पा भाव का भी नाश हो जावेगा और कठोरता तथा निर्दयता का प्रचार होने लगेगा, जो कि धर्म भावना से विरुद्ध है।

समाधान—परदु:ख के निवारण करने के लिए जो उचित प्रयत्न व उपाय किये जाते हैं, उनका निषेध नहीं किया गया है। निषेध तो इसका किया गया है कि यह मोही जीव परके दु:ख व मरण आदि के निमित्त से आत्मा मे शोक, दुःख और सताप करता है, यह उसकी मूर्खता है। उचित उपाय करते हुए जब दु:खादि दूर नहीं होते हैं, तो समझना चाहिए कि यह उनके पूर्वोपार्जित निकाचित बन्ध का परिणाम है। उनके निमित्त से अपनी आत्मा मे दुःख और शोक करके शोक व दुःख के दाता मोहनीय कर्म का बन्ध करना मूर्खता के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? दु:खादि के निवारण का प्रयत्न करना दूसरी बात है और उनमे ममत्व परिणाम करके दु.ख शोक का अनुभव करना दूसरी बात है।

ससार मे कौन किसका हुआ है? कोई किसी का सम्बन्धी नहीं है। कहा है—

संसारम्मि अणंते सगेण कम्मेण हरिमाणाणं।
को कस्स होइ सयणो सज्जइ मोहा जणम्मि जणो ॥ १७५५ ॥ [भग. आ]

अर्थ—यह ससार पाँच प्रकार के परिवर्त्तनो से युक्त है और अनन्त है। इसमे अनादि काल से मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद आदि आत्मा के परिणामो से उपार्जित कर्म पुद्गलो से बन्धे हुए जीव अनेक प्रकार की गतियो में भ्रमण करते रहते हैं—ऐसी हालत में कौन किसका नियत कुटुम्बी हो सकता है? यदि कोई निश्चित सम्बन्ध होता तो, 'यह स्वजन है और यह परजन है' ऐसा विभाग हो सकता था, किन्तु ऐसा नहीं है। क्योकि कर्म से परतन्त्र हुए जीव के जो आज स्वजन है वे परभव मे परजन हो जाते हैं। इसलिए इस संसार में न तो कोई स्वजन है और न कोई परजन है, यह सब जीव राशि भिन्न-भिन्न मिथ्यात्वादि परिणामो के द्वारा अनेक अवस्थाओ का अनुभव करती हुई एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। ऐसा चिन्तन करने वाले ज्ञानी जीव के किसी पर दया व प्रेम नहीं होता है और न किसी पर निर्दयता व द्वेप उत्पन्न होता है। अर्थात् इस विपम भाव के न होने पर साम्यभाव प्रकट होता है। राग द्वेप के अभाव से आत्मा में निर्विकल्पक ध्यान प्रादुर्भूत होता है। क्योकि मोह से यह जीव मेरा यह भाई, है यह पिता है, पुत्र है, भानजा है, यह मेरा दास है, यह मेरा स्वामी है, इस प्रकार अन्यजनो पर आसक्ति करता है। भेद ज्ञान न होने से मैं इनसे भिन्न हूं और ये मुझ से पृथक् हैं ऐसा विचार उत्पन्न नहीं होता है।

इस प्रकार तत्त्व का चिन्तन करने वाले भेदज्ञानी-आत्मा के स्वपर का विवेक ज्ञान होने से किसी पर रागद्वेप नहीं होता है और सहज ही मे निर्विकल्प समाधि उत्पन्न होती है।

प्रकारान्तर से स्वजन और परजन के भेदभाव को दिखाते हैं—

सव्वोवि जणो सयणो सव्वस्स वि आसि तीदकालम्मि ।
पते य तहाकाले होहिदि सजणो जणस्स जणो ॥ १७५६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—भूतकाल मे सब जीव सब जीवो के स्वजन (कुटुम्बी) बन चुके होगे और भविष्य काल में सब जीव सबके स्वजन बनेंगे। ऐसी अवस्था मे किसी एक दो को स्वजन मान लेना मिथ्या सकल्प है। वे सब जीव मुझ से अन्य (भिन्न) हैं और मैं भी उनसे अन्य (भिन्न) हूँ, ऐसा समझना ही वास्तविकता है।

इस जगत् के सब प्राणी वालुका के कणो के समान परस्पर भिन्न २ हैं। जैसे वालुका के कणो का सयोग जलादि द्रव पदार्थ के मिलने से होता है, जब उस द्रव पदार्थ का रस सूख जाता है, तब वे भी अलग २ होकर बिखर जाते हैं, उसी प्रकार बन्धु लोग कार्य-सिद्धि के उद्देश्य से ही सम्बन्ध को प्राप्त हुए हैं, कार्य-सिद्धि के पश्चात् सब पृथक् पृथक् हो जाते हैं।

आशय यह है कि जगत् मे कार्य के उद्देश्य से स्वजन व परिजन का विभाग होता है। उपकार से मित्रता और अपकार से

शत्रुता है।

यहाँ कोई किसी का स्वाभाविक मित्र व शत्रु नहीं होता। प्रतिकूल व्यवहार से शत्रु बन गया है, उसके साथ उपकार का वर्त्ताव करने से वह पुनः मित्र बन जाता है। जो प्राणों का घातक बन बैठा था, उपकार रूपी मंत्र से उसका स्वभाव बदल जाता है और वही प्राणों की रक्षा करता हुआ देखा जाता है। तथा जो स्वभावतः प्रिय होता है, ऐसे पुत्र पर भी अपकार रूपी विष का प्रयोग होने पर वही प्राण संहारक शत्रु बन बैठता है। उपकार और अपकार क्रियाएँ हमेशा एकसी नहीं रहती हैं। अतः उनके निमित्त से होने वाला बन्धु-भाव और शत्रु-भाव भी एकसा नहीं रहता है। इसलिए किसी पर राग-द्वेष कभी नहीं करना चाहिए। बल्कि शत्रु, मित्र, स्वजन, परिजन आदि का वास्तव मे अपने से कोई सम्बन्ध न समझ कर उनसे मोह हटा लेना चाहिए और संसार के सब सम्बन्धों को स्वार्थ-मूलक समझ कर अन्यत्व-भावना दृढ करनी चाहिए। अन्यथा शत्रु, मित्र आदि की कल्पना कर प्राणी अपने आपको भूलेगा तो कभी अपना हित-साधन न कर सकेगा। क्योंकि अज्ञानी प्राणी को अपने सच्चे शत्रु और मित्रों की भी तो परख नहीं। कहा है :—

शत्रु व मित्र कौन है ?

जो जस्स वट्टदि हिदे पुरिसो सो तस्स बन्धवो होदि।
जो जस्स कुणदि अहिदं सो तस्स रिवुत्ति णायव्वो ॥ १७६३ ॥ [भग आ.]

अर्थ—जो मनुष्य जिसके हितकार्य मे प्रवृत्ति करता है वह उसका बन्धु व मित्र माना जाता है और जो मनुष्य जिसके अहितकार्य मे प्रवृत्ति करता है वह उसका शत्रु कहा जाता है। अर्थात् हित करने वाले को बन्धु और अहित करने वाले को शत्रु कहते हैं। इसलिए हे आत्मन्! जिनको तूने अपना बन्धु समझ रखा है, वे वास्तव मे तेरे शत्रु हैं, क्योंकि वे अभ्युदय (स्वर्गादि की प्राप्ति) और निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति के कारण धर्म मे विघ्न करने वाले हैं। और तीव्र दुःख के कारण हिंसा असत्यादि असंयम को भी तुझ से वे ही करवाते हैं।

तात्पर्य यह है कि जिसकी आराधना करने से अष्ट कर्मों का नाश होकर सुख शान्ति के देने वाले मोक्ष की प्राप्ति होती है और सांसारिक उत्कृष्ट सुख के कारण अहमिन्द्रादि पद की उपलब्धि होती है, उस सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र (रत्नत्रय) रूप धर्म के धारण करने मे बन्धुगण विघ्न बाधाएँ उपस्थित करते हैं। अर्थात् अनुपम सुख के कारणभूत धर्म का पालन करने मे बाधक ही नहीं होते; अपितु आत्मा को नरक और निगोद के असीम दुःखो के कारण हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापों को भी वे ही करवाते हैं और नरकादि के घोर दुःखो से उद्धार करने वाले धर्म मे ये बन्धु विघ्न करते हैं। इसलिए ये बन्धु तेरे मित्र नहीं, भयानक शत्रु हैं। क्योंकि हित मे बाधा करने वाले और अहित मे सहायता करने वाले शत्रु ही होते हैं।

स. प्र.

तम्हा णीया पुरिसस्स होंति साहू अणेयसुहहेदू ।
संसारमदीणंता णीया य णरस्स होंति अरी ॥ १७६७ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—सत्पुरुष प्राणियो को हित मार्ग मे लगाते हैं, तथा स्वर्गादि मे इन्द्रिय-सुख व मोक्ष सम्बन्धी, अतीन्द्रिय-सुख की प्राप्ति कराने मे कारण होते हैं; इसलिए वे ही असली बन्धु है। परन्तु जो पुत्र, मित्र, भ्रातादि बन्धु हैं,वे अनेक दु खो से व्याप्त अपार ससार समुद्र मे डुबोते है, इसलिए वे बन्धु बन्धु नहीं किन्तु शत्रु ही हैं।

इस गाथा मे अपने से भिन्न जो सत्पुरुष हैं, उन्हें सच्चे बन्धु और अपने से भिन्न जो पुत्र, भ्राता आदि बान्धव हैं, उन्हें असली शत्रु बतलाया है। इससे सत्पुरुषो के धर्मोपदेश मे अनुराग और आदर भाव उत्पन्न होता है और बन्धुओ मे अप्रीति व अनादरभाव पैदा होता है। क्योकि सत्पुरुष इस लोक के सम्पूर्ण उत्तम से उत्तम इन्द्रिय-जन्य सुख को देने वाले और अतीन्द्रिय अनुपम निराबाध मोक्ष के नित्य सुख को देने वाले हैं एव धर्म के मार्ग पर लगाते हैं और ये बन्धु लोग मनोवाछित सुख को देने वाले, रत्नत्रय रूप धर्म का पालन करने मे बाधा उपस्थित करते हैं। ससार-वर्धक हिंसादि जनक आरम्भादि क्रियाओ मे जीवो को प्रवृत्त करते हैं। अत सत्पुरुषो को उपकारी समझ कर उनमे आदर बुद्धि करना और स्वजन आदि के सम्बन्ध को अहित रूप समझ कर उनमें अनादर बुद्धि करना यही अन्यत्वानुप्रेक्षा का फल है।

ससारानपेक्षा

अब ससारानुप्रेक्षा का वर्णन करते हुए ससार का स्वरूप वर्णन करते है।

संसार का स्वरूप

मिच्छत्तेण छण्णो मग्गं जिणदेसिदं अपेक्खंतो ।
भमिहदि भमिकुडिले जीवो संसारकंतारे ॥ १३ ॥ [मूला. द्वा. अ]

अर्थ—मिथ्यात्व रूप अन्धकार से आच्छन्न (ढका हुआ) यह आत्मा जिनेन्द्र भगवान् द्वारा दिखलाये गये मोक्ष मार्ग को नहीं देखता हुआ अज्ञानवश भयानक तथा मोहलतादि से अत्यन्त गहन ससार रूप बीहड वन मे निरन्तर भ्रमण करता है।

भावार्थ—जीवो की अवस्था चार प्रकार की हैं-१ ससार २ असंसार, ३ नो ससार, ४ तत्त्रितय व्यपाय (उक्त तीनो अवस्थाओं की निवृत्ति रूप अवस्था विशेष)

[१] ससार—चौरासी लाख योनियों के भेदवाली नरकादि चारो गतियों मे परिभ्रमण करने को संसार कहते हैं।

[२] असंसार—मोक्षपद मे परम अमृत रूप दिव्य-सुख मे प्रतिष्ठित होजाने को असंसार (संसार का अभाव) कहते हैं।

[३] नो संसार (ईषत् संसार)—तेरहवें गुणस्थान मे विराजमान सयोगकेवली (अरिहंत) भगवान् के चतुर्गति रूप, संसार
में परिभ्रमण का अभाव है अत. उनके संसार नहीं है। तथा संसार के अन्त (मुक्ति) की प्राप्ति नहीं हुई है, अतः असंसार भी नहीं इसलिए
उनके ईषत् संसार को नो संसार कहते हैं।

[४] तत्त्रितयव्यपाय-उक्त तीनो अवस्थाओं की निवृत्ति रूप अवस्था विशेष—अयोगकेवली की अवस्था-को तत्त्रियव्यपायरूप
अवस्था कहते हैं। इस अवस्था मे उक्त तीनों अवस्थाओं का अभाव पाया जाता है, क्योंकि अयोगकेवली के भव भ्रमण का अभाव होने से
संसार अवस्था नहीं है। सयोगकेवली के समान इनके आत्म-प्रदेशो का परिस्पन्द (चञ्चलपना) नहीं होने से ईषत्संसार रूप नोसंसार भी
नहीं है। तथा संसार का अन्त (मोक्ष) प्राप्त नहीं होने से उनके असंसार भी नहीं है। इन तीनो अवस्थाओं से अतिरिक्त यह एक चौथी ही
अवस्था है।

शरीर का परिस्पन्द (हिलन-चलन) न होने पर भी समस्त प्राणियो के निरन्तर आत्मा के प्रदेशो का परिस्पन्द (कम्पन)
होता है, इसलिए उनके सदा संसार माना गया है, किन्तु सिद्धो के व अयोग केवलियो के आत्म-प्रदेशो का परिस्पन्द नहीं होता है। क्योंकि
उनके आत्म-प्रदेशो के परिस्पन्द की कारणभूत कर्म-सामग्री का अभाव है। इन दोनो के अतिरिक्त जीवो के तीन अवस्थाएँ होती हैं, जिनका
निरूपण ऊपर कर आये हैं।

वह संसार अभव्य जीवो की अपेक्षा अनादि और अनन्त है। भव्य-सामान्य की अपेक्षा अनादि और सान्त है। भव्य विशेष
(सम्यग्दृष्टि) की अपेक्षा से संसार सादि-सान्त है। क्योंकि अनादिकाल से जो मिथ्यात्वसहित संसार था, उसका सम्यक्त्व के उत्पन्न होने पर
नाश हो जाने से सम्यक्त्व सहित संसार की आदि हुई है, और इसका अन्त होने वाला है। इसलिए इसे सादि सान्त कहा है।

असंसार सादि और सान्त है। अर्थात् मोक्ष अवस्था आदि सहित और अन्त रहित है।

तत्त्रितयव्यपाय (अयोगकेवली की अवस्था) का काल अन्तर्मुहूर्त्त मात्र है। अर्थात् अ इ उ ऋ लृ इन पांच ह्रस्व-स्वरो के
उच्चारण करने मे जितना काल लगता है उतने काल पर्यन्त अयोगकेवली अवस्था रहती है। उसके अनन्तर मोक्ष हो जाता है।

नो संसार (ईषत् संसार) का काल अन्तर्मुहूर्त्त सहित आठ वर्ष कम पूर्वकोटि मात्र है। अर्थात् पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाला

चतुर्थ काल का जीव आठ वर्ष के अनन्तर तपस्या ग्रहण करके केवलज्ञान उत्पन्न कर सकता है। इसलिए अन्तर्मुहूर्त्त सहित आठ वर्ष हीन पूर्व-कोटिवर्ष पर्यन्त सयोगकेवली अवस्था रह सकती है। अत नोससार सादि सान्त है।

सादि-सान्त—ससार का काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त है और उत्कृष्टकाल अर्धपुद्गलपरावर्त्तन मात्र है। जो जीव अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि था उसने काललब्धि आदि के योग से सम्यक्त्व का ग्रहण किया, तब उसके सम्यक्त्व सहित संसार का आदि हुआ। वह संयम धारण कर अन्तर्मुहूर्त्त मे मोक्ष प्राप्त करले तो उसके ससार का काल अन्तर्मुहूर्त्तमात्र हुआ और वह सम्यक्त्व से च्युत होजावे और ससार मे अधिक से अधिक रहे तो अर्धपुद्गलपरावर्त्तनकाल तक रह सक्ता है, उसके अनन्तर उसका मोक्ष अवश्यभावी है।

वह ससार, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भव की अपेक्षा से पाच प्रकार का होता है।

मूलाचार की मूलगाथा मे चार प्रकार के (द्रव्य क्षेत्र काल भाव) परिवर्त्तन का निरूपण है; परन्तु सस्कृत टीकाकार ने पाचो परिवर्त्तनो का ग्रहण किया है। इसी प्रकार भगवतीआराधना मे भी मूलाचार के समान चार परिवर्त्तनो का ही विधान है। परन्तु सस्कृत टीकाकारो ने अन्य शास्त्रो के उद्धरण देकर भव-परिवर्त्तन को भी ग्रहण किया है। क्रमशः उक्त ग्रन्थो की गाथाओं को नीचे दिखाते हैं।

दव्वे खेत्ते काले भावे य चदुव्विहो य संसारो।
चदुगदिगमणणिवद्धो बहुप्पयोरहिं णादव्वो ॥ १४ ॥ [मूला.]

अर्थ—नरकादि चारगतियो मे गमन कराने का कारणभूत ससार (परिवर्त्तन) द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इस तरह चार प्रकार का तथा आगे कहे गये छह सात आदि प्रकार का जानना चाहिए।

द्रव्य-परिवर्त्तन

अण्णं गिण्हदि देहं तं पुण मुत्तूण गिण्हदे अण्णं।
घडिजंत व य जीवो भमदि इमो दव्वसंसारे ॥ १७७३ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—जिस प्रकार कूए मे लगा हुआ घटीयत्र (अरघट) भ्रमण करता हुआ पहले ग्रहण किये हुए जल का त्याग करता है और अन्य जल का ग्रहण करता है उसी प्रकार ससार कूप मे पडा हुआ यह प्राणी पूर्व ग्रहण किये हुए शरीर को छोड़ता और दूसरे शरीर

को धारण करता है, इस प्रकार भिन्न २ शरीरो का ग्रहण और त्याग करता हुआ यह जीव अनादिकाल से इस ससार मे भ्रमण कर रहा है। अनेक प्रकार के शरीरो के ग्रहण करने को ही द्रव्य-परिवर्त्तन कहते है।

भावार्थ—एक शरीर का ग्रहण कर, आयु पूर्ण करके उसे छोड दूसरे शरीर का ग्रहण करना और उसे भी छोड तीसरे शरीर का ग्रहण करना-इसी प्रकार निरन्तर शरीर के ग्रहण और त्याग करने को द्रव्य-परिवर्त्तन कहते है।

द्रव्य परिवर्त्तन दो प्रकार का है-१ नोकर्मद्रव्य-परिवर्त्तन और कर्म-द्रव्य-परिवर्त्तन।

१ नोकर्मद्रव्य परिवर्त्तन—तीन शरीर (औदारिक, वैक्रियिक, आहारक) तथा छह पर्याप्ति (आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा, मन) के योग्य जो पुद्गल है वे तीव्र मन्द-मध्यम भावों से युक्त स्पर्श (स्निग्ध रूक्ष) वर्ण, गन्ध आदि रूप जैसे थे वैसे ग्रहण किये और दूसरे तीसरे आदि समय मे वे निर्जरा को प्राप्त हुए। जिनका ग्रहण पहले नहीं किया था, ऐसे पूर्वोक्त पुद्गलों का अनन्त वार ग्रहण किया और त्याग किया तथा मिश्र (गृहीत और अगृहीत मिले हुए) पुद्गलो का अनन्तवार ग्रहण और त्याग किया। बीच बीच मे गृहीत पुद्गलो का भी ग्रहण व त्याग किया। काल पाकर पूर्व समय में जिन पुद्गलों को ग्रहण किया था उन्हीं को उसी प्रकार (तीव्र-मन्द-मध्यम भावो द्वारा स्निग्ध, रूक्ष वर्णादि रूप) वही जीव जितने काल मे नोकर्म रूप से ग्रहण करता है, उतने काल को नोकर्मद्रव्यपरिवर्त्तन कहते हैं।

कर्म-द्रव्य-परिवर्त्तन—किसी जीव ने एक समय मे ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप पुद्गल तीव्रादि भाव से युक्त स्निग्धरूक्षादि स्वरूप ग्रहण किये। एक समय अधिक एक आवली के अनन्तर द्वितीय आदि समय मे उनकी निर्जरा हुई। अनन्तवार अगृहीत कर्म पुद्गलो का ग्रहण कर निर्जरा की। मिश्र (गृहीत व अगृहीत मिले हुए) कर्म-पुद्गलों का ग्रहण कर निर्जरा की। मध्य मे गृहीत कर्म-पुद्गलों का ग्रहण कर निर्जरा की। इस प्रकार काल पाकर उन्हीं कर्म-पुद्गलपरमाणुओं का, जिनका पहले समय मे जिस प्रकार ग्रहण किया था-ग्रहण जितने काल मे हो जावे उतने काल को कर्मद्रव्य-परिवर्त्तन कहते हैं। कहा है—

सव्वे वि पुग्गला खलु कमसो भुत्तुज्झिया य जीवेण।
असइं अणंतखुत्तो पुग्गलपरियट्टसंसारे। (टीका. भग. आ १७७१)

इसका आशय ऊपर आगया है।

जैसे—रङ्ग-भूमि (नाटकघर) मे आकर नट नाना प्रकार की आकृति रग व स्वभाव को धारण करता और छोड देता है, वैसे ही द्रव्य ससार मे भ्रमण करनेवाला यह जीव नाना प्रकार की आकृति, वर्ण और स्वभाव को वार वार धारण करता और छोडता रहता है।

स प्र

क्षेत्र संसार

जत्थ ण जादो ण मदो हवेज्ज जीवो अणंतसो चेव ।
काले तीदम्मि इमो ण सो पदेसो जए अत्थि ॥ १७७५ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—इस लोक-क्षेत्र में ऐसा कोई प्रदेश नहीं बचा है, जहां पर यह जीव भूत काल में अनन्त बार नहीं जन्मा हो और न मरा हो ।

सव्वम्मि लोयखित्ते कमसो तं णत्थि जम्म उप्पण्णं ।
ओगाहणा य बहुसो परिभमिदो खित्तसंसारे ॥ १७७६ ॥ (भग. आ.)

भावार्थ—सबसे जघन्य शरीरवाला लब्ध्यपर्याप्तक सूक्ष्मनिगोदिया जीव लोक के आठ मध्य-प्रदेशों को अपने शरीर के प्रदेशों के मध्य में करके उत्पन्न हुआ, और क्षुद्र भव ग्रहण से जीकर मर गया, उसी क्षेत्र में वह जीव अंगुल के असख्यातवें भाग प्रमाण आकाश के जितने प्रदेश हैं उतनी बार जन्म लेकर मरण करता रहा है । उसके पश्चात् एक एक अधिक बढाते हुए उस जीवने सम्पूर्ण लोक-क्षेत्र को अपना जन्मक्षेत्र बना लिया । इसमें जितना काल लगता है उतने काल को क्षेत्र-परिवर्त्तन कहते हैं ।

ऐसे क्षेत्र—परिवर्त्तन इस जीव ने अनन्त किये हैं । सम्पूर्ण लोक-क्षेत्र में ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहां यह जीव अनेक अवगाहना धारण करके नहीं उत्पन्न हुआ हो । अर्थात् अनन्त वार प्रत्येक क्षेत्र में जन्म मरण कर चुका है ।

काल परिवर्त्तन

उवसप्पिणिअवसप्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसासु ।
जादो मदो य सव्वेसु इमो तीदम्मि कालम्मि ॥ १७७७ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के जितने समय हैं उन प्रत्येक में यह जीव अनन्त वार भूतकाल में जन्म मरण कर चुका है।

उवसप्पि-अवसप्पिणि-समयावलिगासु णिरवसेसासु ।
जादो मदो य बहुगो भमणेण दु कालसंसारे ॥ १७७८ ॥ (भग आ.)

अर्थ—यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के सम्पूर्ण समय की पंक्तियों मे अनेक भव धारण करके बहुत बार जन्म मरण कर चुका है। उसे काल संसार कहते हैं।

भावार्थ—किसी जीव ने उत्सर्पिणी के प्रथम समय मे जन्म लिया और अपनी आयु के क्षय होने पर मरण किया। फिर उसी जीव ने उत्सर्पिणी के दूसरे समय मे जन्म लिया और स्वकीय आयु के समाप्त होने पर मरण किया। वही जीव पुन तृतीय उत्सर्पिणी के तीसरे समय मे उत्पन्न हुआ और अपनी आयु के क्षय होने पर मृत्यु को प्राप्त हुआ। इसी क्रम से उस जीव ने सम्पूर्ण उत्सर्पिणी के समस्त जीवो मे यथाक्रम जन्म धारण किये और आयु की समाप्ति होने पर मरता रहा। इसी प्रकार अवसर्पिणी के प्रथम समय से लेकर अवसर्पिणी के अन्तिम समय पर्यन्त जन्म धारण करके स्व आयु के समाप्त होने पर मरण करता रहा। इस प्रकार निरन्तर जन्म कहे गये हैं। मध्य मे क्रम भग करके जन्म धारण किये, उनकी गिन्ती इनमे नहीं होती है। जिस प्रकार जन्म का क्रम दिखलाया गया, मरण का क्रम भी उसी प्रकार निरन्तर (अन्तर रहित) समझना चाहिए। इन जन्म और मरणो मे जितना काल लगता है, उसे काल परिवर्त्तन कहते हैं।

क्षेत्र–परिवर्तन

आत्मा के प्रदेशरूपक्षेत्र मे आत्मा के प्रदेशो का संसरण क्षेत्रपरिवर्त्तन है।

अट्ठपदेसे मुत्तूण इमो सेसेसु सगपदेसेसु ।
तत्तं पि व अद्दरणं उव्वत्तपरत्तणं कुणदि ॥ १७७९ ॥ (भग आ)

प्रदेशाष्टकमत्यस्य शेषेषु कुरुते भवी ।
उद्वर्त्तनपरावर्त्त संततप्तस्विव तंदुलाः ॥ १८४८ ॥ (टीका. भग. आ)

अर्थ—रुचकाकार जो आत्मा के मध्य के आठ प्रदेश हैं, उनको छोड़कर शेष सब प्रदेशो मे यह जीव उद्वर्त्तन और परावर्त्तन करता रहता है। आँधण मे (उकलते हुए जल मे) जिस प्रकार चावल ऊँचे-नीचे होते रहते हैं उसी प्रकार गोरतनाकार आठ

सं प्र.

प्रदेशो के अतिरिक्त आत्मा के सब प्रदेश ऊपर नीचे, ऊपर नीचे हुआ करते हैं अर्थात् उनमें स्पन्दन (चलनात्मक) क्रिया होती रहती है।

भाव संसार

लोगागास-पएसा असंखगुणिदा हवंति जावदिया।
तावदियाणि हु अज्झवसाणाणि इमस्स जीवस्स ॥ १७८० ॥ (भग आ.)

अर्थ—लोक के असख्यात प्रदेशो को असख्यात से गुणित करने पर जितनी सख्या होती है, उतने एक जीव के अध्यवसाय स्थान होते है।

भावस्थानान्तराण्येवं देहवान् स प्रपद्यते।
कर्कंटुको यथानित्यं वर्णान् स्वीकुरुते बहून् ॥
अज्झवसाणठाणंतराणि जीवो विकुव्वइ इमो हु।
णिच्चं पि जहा सरडो गिण्हदि णाणाविहे वण्णे ॥ १७८१ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—शरट (गिर्गट कर्गेटिया) जैसे अनेक रग बदलता रहता है, वैसे ही इस ससारी जीव के अध्यवसायों (भावो) मे नित्यप्रति परिवर्त्तन (परिणमन) होता रहता है। इसको भाव परिवर्त्तन कहते हैं।

भाव परिवर्त्तन का विस्तार पूर्वक निरूपण

पचेन्द्रिय सज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि किसी जीव ने अपने योग्य ज्ञानावरण कर्म-प्रकृति की सबसे जघन्य अन्त कोडा-कोडी (अन्त कोटि कोटि) सागर की स्थिति बाधी। उस जीव के उस स्थिति के योग्य कषाय-अध्यवसायस्थान (आत्म परिणाम विशेष) षट्स्थानपतित (अनन्त भागादि वृद्धि व हानिरूप) असख्यातलोक प्रमाण होते हैं। उन कषायाध्यवसाय स्थानो मे जो सर्व जघन्य कषायाध्यवसाय स्थान है, उसके निमित्तभूत अनुभागाध्यवसायस्थान भी असख्यातलोक प्रमाण होते हैं। इस प्रकार सर्वजघन्य स्थिति तथा सर्वजघन्य कषायाध्यवसायस्थान और सर्वजघन्य ही अनुभागाध्यवसायस्थान को प्राप्त हुए जीव के उनके योग्य सर्वजघन्य एक योगस्थान होता है। उसी स्थिति, उसी कषायाध्यवसाय व उसी अनुभागाध्यवसायस्थान के लिए असख्यातवृद्धियुक्त दूसरा योगस्थान होता है। तथा तृतीय चतुर्थ

आदि चारस्थान पतित हानि वृद्धिरूप असख्यातभागवृद्धि, सख्यातभागवृद्धि,सख्यातगुणवृद्धि,असख्यातगुणवृद्धि तथा असख्यातभागहानि, सख्यात भागहानि, सख्यातगुणहानि, असख्यातगुणहानिरूप) श्रेणी के असख्यात भाग प्रमाण योगस्थान होते हैं। जब श्रेणी के असख्यात भाग प्रमाण सब योगस्थान एक बार होजाते हैं, तब वही पूर्वोक्त स्थिति और वही पूर्वोक्त कषायाध्यवसायस्थान होता है, और अनुभागाध्यवसाय स्थान का प्रथमस्थान बदलकर द्वितीयस्थान हो जाता है। इस तरह एक २ बार श्रेणी के असख्यातभाग प्रमाण योग-स्थान होजाने पर अनुभागाध्यवसायस्थान का एक २ स्थान बदलते बदलते जब असंख्यात लोक प्रमित अनुभागाध्यवसायस्थान बदल जाते हैं तब स्थिति तो वही पूर्वोक्त रहती है और कषायाध्यवसाय का प्रथम स्थान बदलकर द्वितीय स्थान हो जाता है। इस द्वितीय स्थान के लिए पूर्वोक्त असख्यात लोक प्रमाण अनुभागाध्यवसाय स्थान होते हैं। अर्थात् एक एक अनुभागाध्यवसाय स्थान के निमित्त श्रेणी के असंख्यातभाग असख्यातभाग प्रमाण योगस्थान होते हैं। और एक एक कषायाध्यवसायस्थान के निमित्त असख्यातलोकप्रमाण असख्यातलोकप्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थान होते हैं।

इस प्रकार पूर्व की भांति एक एक बार सम्पूर्ण असख्यातलोकप्रमाण अनुभागाध्यवसाय स्थानो के होने पर कषायाध्यवसाय स्थान का एक एक स्थान बदलते बदलते जब वे असख्यातलोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थान एक बार हो जाते हैं तब पूर्वोक्त सर्वजघन्य स्थिति मे एक समय की वृद्धि होती है। इसी क्रम से स्थिति मे एक एक समय की वृद्धि होते २ ज्ञानावरण की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस कोडाकोडी सागर की पूर्ण होती है। कषायाध्यवसायादि स्थानो का परिवर्त्तन पूर्व की तरह समझलेना चाहिए।

इस प्रकार सम्पूर्ण कर्मों की मूलप्रकृतियो व उत्तर प्रकृतियो के परिवर्त्तन का क्रम जान लेना चाहिए। उक्त सम्पूर्ण मूलोत्तर कर्म-प्रकृतियो की जघन्यस्थिति से लेकर उत्कृष्टस्थिति तक परिवर्त्तन क्रम मे जितना काल लगता है, उतने काल को भाव परिवर्त्तन कहते हैं। वही कहा है :—

सव्वा पयडिठिदीओ अणुभागप्पदेसबंधठाणाणि।
मिच्छत्तसंसिदेण य भमिदा पुण भावसंसारे ॥ (भग. आ. टीका १७८१)

अर्थ—मिथ्यात्व के वशीभूत हुए इस जीव ने सम्पूर्ण कर्मों के प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, अनुभागबन्ध और स्थितिबन्ध के योग्य आत्मा के अध्यवसायो को धारण करके ससार मे परिभ्रमण किया है, इसे भाव ससार कहते हैं। ऐसे भाव ससार भी इस जीव ने अनन्त बार धारण किये हैं।

भवसंसार

एगविगतिगचउपंचिंदियाण जाओ हवंति जोणीओ।
सव्वाउ ताउ पत्तो अणँतखुत्तो इमो जीवो ॥ १७७२ ॥ भग आ

अर्थ—नाम कर्म के गति, जाति आदि अनेक भेद माने हैं। उसमे जाति कर्म के पाच भेद हैं। जाति कर्म के उदय से एकेन्द्रिय आदि जीवो के जो आश्रय हैं, यहा उनको योनि माना है। सचित्त अचित्तादि चौरासी लाख भेद जो आगम मे अन्यत्र वर्णन किये गये है, उनका यहा ग्रहण नहीं किया है। यहा पर एकेन्द्रियादि के आश्रयभूत जो बत्तीस पर्यायें हैं उनका योनि शब्द से ग्रहण किया गया है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु कायिक जीवो मे से प्रत्येक के बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे चार चार भेद होते हैं। वनस्पतिकायिक जीवो के दो भेद है-साधारण और प्रत्येक। इनमे से साधारण वनस्पति कायिक के बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे चार भेद होते हैं। प्रत्येक वनस्पतिकायिकजीव बादर ही होते हैं, और उनके पर्याप्त और अपर्याप्त दो भेद होते हैं। इस प्रकार एकेन्द्रिय स्थावर जीवो के ˉईस भेद हुए। तथा त्रसकाय के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय सज्ञी और पचेन्द्रिय असज्ञी ये पाच भेद होते हैं और इनमें प्रत्येक पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे दो दो भेद होने से दस भेद हुए। इस प्रकार सब मिल कर बत्तीस भेद हुए। इनमे जन्म धारण करते रहने को भव परिवर्त्तन कहते हैं।

दूसरे आचार्यों के मत से भव-परिवर्त्तन का स्वरूप निम्न प्रकार है.—

णिरयादिजहण्णादिसु जावदु उवरिल्लियादु गेवेज्जा।
मिच्छत्तसंसिदेण दु भवट्ठिदी भजिदा बहुसो॥ (टीका भग.)

अर्थात्—नरकगति मे जघन्य आयु दश हजार वर्ष की है, उस आयु को धारण करके किसी ने वहाँ जन्म लिया और आयु पूर्ण होने पर ससार मे परिभ्रमण कर पुन पूर्वोक्त आयु धारण कर वही जीव उसी नरक मे जन्मा और आयु की समाप्ति के अनन्तर ससार में अन्य २ पर्यायें धारण करता रहा। पुन उसी आयु से उसी नरक मे दशहजार वर्ष के जितने समय होते हैं, उतनी वार जन्म धारण करके मरण करता रहा। उसके पश्चात् एक समय अधिक दशहजार वर्ष की आयु धारण कर उसी नरक मे उत्पन्न हुआ और मरा। इसी प्रकार एक एक समय अधिक की आयु धारण करते और मरते हुए उस जीवने नरक मे तेतीस सागर की उत्कृष्ट आयुस्थिति समाप्त की। उसमे असंख्यात वार जन्म मरण हुए।

तत्पश्चात् वह जीव सातवें नरक से निकलकर तिर्यंचगति मे उत्पन्न होकर सर्वजघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की आयु का धारक हुवा और अन्तर्मुहूर्त्त के जितने समय होते हैं, उतनी वार उसी पर्याय मे पूर्व की भाँति जन्म मरण करता रहा। इसके बाद एक एक समय अधिक की आयु धारण करते हुए पूर्वोक्त क्रमसे उत्कृष्ट तीन पल्य की आयु समाप्त की।

तदनन्तर वहाँ से निकलकर वह जीव मनुष्यगति मे आया और वहाँ भी तिर्यंचगति के समान सर्वजघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की आयु का धारक मनुष्य हुआ। अन्तर्मुहूर्त्त के जितने समय होते हैं, उतनी बार उतनी आयु की मनुष्य पर्याय धारण करके मरता रहा। तत्पश्चात् एक समय अधिक के क्रमसे उत्कृष्ट तीन पल्य की आयु समाप्त की।

तत्पश्चात् वहाँ से निकलकर देवगति मे उत्पन्न हुआ। वहाँ पर भी नरक के समान सर्वजघन्य आयु दश हजार वर्ष की धारण करके दशहजार वर्ष के जितने समय होते हैं उतनी वार उसी पर्याय में जन्म मरण करता रहा। उसके अनन्तर एक समय अधिक के क्रम से इकतीस सागर तक की आयु समाप्त की। क्योंकि नवग्रैवेयक तक ही मिथ्यादृष्टि का गमन है। आगे अहमिन्द्र सब नियम से सम्यग्दृष्टि होते हैं।

इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व के योग से नरक गति की जघन्य आयु से लेकर उत्कृष्ट आयु तथा इसी प्रकार तिर्यंच गति, मनुष्यगति और देवगति के उपरिम नवें ग्रैवेयक तक बहुत वार पर्याय धारण करते भवपरिवर्त्तन करता रहा है। अर्थात् इस जीव ने मिथ्यात्व के वश मे होकर उक्त भव-परिवर्त्तन अनन्त वार किये हैं।

इस ससार मे इस जीव को सब से भय लगा रहता है, किसी जगह भी सुख-शान्ति नहीं मिलती।

आगासम्मि वि पक्खी जले वि मच्छा थले वि थलचारी।
हिंसंति एक्कमेक्कं सव्वत्थ भयं खु संसारे ॥ १७८२ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—जब यह जीव कर्म-योग से पक्षी की पर्याय मे जन्म लेता है, और आकाश मे स्वच्छन्दवृत्ति से विहार करता है, तब श्येन (बाज) आदि विरोधी पक्षी उसे सताते हैं। जब जलचर जीवों मे जन्म धारण करता है तब छोटे मच्छो को महामत्स्य भक्षण करते हैं। जब थलचर मृगादि पशु होता है, तब सिंह, व्याघ्रादि हिंसक पशुओ से भक्षण किया जाता है, अर्थात् ससार मे एक दूसरे की हिंसा करने मे जीव तत्पर रहते हैं। ससार मे सर्वत्र भय लगा हुआ है। कहीं पर भी सुख व शान्ति नहीं दिखाई देती है।

ससउ वाहपरद्धो विलत्ति णाऊण अजगरस्स मुहं।
सरणत्ति मण्णमाणो मच्चुस्स मुवं जह अदीदि ॥ १७८३ ॥ (भग. आ)

अर्थ—व्याध (शिकारी) के भय से भगा हुआ शशक (खरगोश) अजगर के मुख को बिल समझकर उसको शरण (रक्षा का उपाय) मानकर उसमे जैसे प्रवेश करता है, वैसे ही यह जीव काल के मुँह मे प्रविष्ट होता है।

तात्पर्य यह है कि यह जीव इस ससार मे जिसको शरण समझता है, वही इसका घातक होता है। प्रत्येक जीव काल के मुख के निकट निवास करता है। अवसर पाते ही उसके मुख मे पहुच जाता है। अत धर्म ही इस जीव का शरण है, इस भव और परभव मे सुख और शान्ति का देनेवाला है। किन्तु अज्ञानी प्राणी मोहनीयकर्म के उदय से धर्म से विमुख होकर क्षुधा-तृषादि रूपी व्याधो से पीडित हुआ उनसे बचने के लिए भयानक दुख के देनेवाले ससार-रूप भुजग (कालेनाग) के मुख मे प्रवेश करता है।

ससार मे जितनी भी—चौरासी लाख-योनियाँ है, उनमे यह जीव अनन्तवार जन्म ले चुका है।

इस ससार म यह जीव तीर्थंकर, गणधर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण, पंचानुत्तर विमानवासी देव, लौकान्तिक देव, लोकपाल, शक्रादि दक्षिणेन्द्र तथा शक्र की पट्ट-महिषा नहीं हुआ। इनके अतिरिक्त सब पर्यायें यह जीव अनन्तवार धारण कर चुका है।

अच्चंधबहिरमूओ छादो तिसिओ वणे व एयाई।
भमइ सुचिरंपि जीवो जम्मवणे णट्ठसिद्धिपहो ॥ १७८८ ॥ (भग. आ)

अर्थ—इस ससार मे यह जीव कभी जन्म से अन्धा, बहरा व गूगा होकर जन्मा था। अनन्तवार भूख व प्यास से पीडित हुआ था। जैसे कोई सिद्धिनगर—मोक्षनगर—का पथभ्रष्ट (मार्गभूला) पथिक अकेला घने जगल मे इधर उधर भ्रमण करता है वैसे ही जीव अनादिकाल से ही मोक्षमार्ग से भ्रष्ट होकर इस भववन मे असहाय भ्रमण कर रहा है। और भी कहा है—

"कलुषचरितैर्नष्टज्ञानः सुसचितकर्मभिः
करणनिकरः कर्मोद्भूतो भवार्णवपाततः।
दुर्निवारवशो दुःखार्तोयं निमीलितलोचनो—
ऽभवति कृपणो नष्टत्राणः शुभेतरकर्मकृत ॥"

अर्थ—यह अज्ञानी जीव मिथ्यादि पापाचरण म बहुत कर्मो का सचय करके उनके फल स्वरूप कभी नेत्रहीन हुआ, कभी कानो की श्रवण-शक्ति से रहित हुआ, कभी वचन उच्चारण करने की शक्ति से विकल हुआ, कभी बौना, लूला, लगडा, टूचा हुआ, कभी वचन बोलने की शक्ति पाई तो दु खर मिला-जिससे जीवो के कानों को अप्रिय हुआ। कभी इन्द्रियो की पूर्णता पाई तो मूर्ख-विवेकरहित हुआ।

व्याधि से पीड़ित होकर आर्त्तध्यानी बना रहा। कभी व्यसनों में फँसकर अनेक पापक्रियाओं में मग्न रहा। कभी इष्ट पदार्थों के वियोग से आतुर होकर शोक में दिन बिताये। कभी अपने से अधिक विभूतिवाले मनुष्यों को देखकर मात्सर्य भाव धारण कर भयानक कर्मों का सचय किया। कभी अभिमानवश अधिक गुणवानों से विद्वेष कर ज्ञानावरणादि कर्मों का सचय करता रहा। कभी ससार के भोग विलास की लालसा के वशीभूत हुआ अन्य जीवों की धनादि प्रियवस्तुओं के ठगने में निपुण रहा। इस प्रकार चिरकाल तक इन्द्रियों के विषय में परतन्त्र हुआ यह जीव अशुभ कार्य करके इस ससार में अशरण, दुःख पीड़ित और दीन होकर इसकी भ्रमण करता है।

विसयामिमारगाढं कुजोणिणेमि सुहदुक्खदढखीलं।
अण्णाणतुंबघरिदं कसायदढपट्टयाबधं ॥ १७६१ ॥
बहुजम्मसहस्सविसालवत्तणिं मोहवेगमहिचवलं।
संसारचक्कमारुहिय भमदि जीवो अणप्पवसो ॥ १७६२ ॥ (भग आ.)

अर्थ—कर्म के परतन्त्र हुआ यह जीव ससार रूपी चक्र पर चढा हुआ सतत भ्रमण करता रहता है। इस संसार चक्र के विषयाभिलाषा रूपी मजबूत आरे हैं। नरकादि कुयोनि जिसके नेमि (पूठि) है। सुख दुःख रूप जिसके दृढ कील लगी है। अज्ञानावस्था रूप तुंबे से जो धारण किया गया है। जिस ससार-चक्र पर कषायरूप लोहे की पट्टी चढी हुई है। अनेक जन्म रूप विशाल मार्ग पर भ्रमण करता है। मोहरूपी वेग से यह अत्यन्त चचल दिखाई देता है। ऐसे ससाररूपी चक्र पर चढे हुए इस जीव का निकल भागना अत्यन्त कठिन है। सत्संगति के प्रभाव से जब इस आत्मा के सत्यज्ञान का उदय होकर मोहान्धकार दूर होता है, तब इस ससार रूप चक्र का वेग मन्द हो जाता है और जीव उससे पृथक् होजाने की शक्ति प्राप्त करलेता है। ऐसे अवसर पर रत्नत्रय का आराधन यदि वह करले तो सदा के लिए उससे पृथक् होकर मोक्ष के अविनश्वर पद को प्राप्त कर लेता है।

संसार के छह भेद.

किं केण कस्स कत्थ व केवचिरं कदिविधो य भावो य।
छहिं अणिओगदारे हिं सव्वे भावाणुगंतव्वा ॥ १५ ॥ (मूला. द्वा. अ.)

अर्थ—१ ससार किसे कहते हैं? २ यह किन भावों से होता है? ३ किसके होता है? ४ कहां है? ५ कितने काल की स्थिति वाला है? और कितने प्रकार का है? इन छह अनुयोगद्वारों की अपेक्षा ससार के छह भेद होजाते हैं। केवल ससार का स्वरूप वर्णन करने

के लिए ही ये छह अनुयोग द्वार नहीं, किन्तु सम्पूर्ण पदार्थों का विवेचन करने के लिए छह अनुयोगद्वार समझने चाहिए। पदार्थों की व्याख्या करने के उपायों को अनुयोगद्वार कहते हैं। इन अनुयोगद्वारो द्वारा व्याख्या करने से पदार्थों का विशद विवेचन हो जाता है।

१ प्रश्न—ससार किसे कहते हैं ?

उत्तर—नरक तिर्यंच देव और मनुष्य इन चारो गतियो में जीव के भ्रमण करने को संसार कहते हैं।

२ प्रश्न—किन भावो से ससार होता है ?

उत्तर—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक भावो से संसार होता है। अर्थात् ससारी जीव के ये पाचों भाव पाये जाते हैं।

३—प्रश्न ससार किसके होता है।

उत्तर—अष्ट कर्मों से घिरे हुए नारक, तिर्यंच, देव और मनुष्य के होता है।

४ प्रश्न—यह ससार कहा रहता है ?

उत्तर—मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग में ससार पाया जाता है। अर्थात् संसार के आधार मिथ्यात्वादि परिणाम हैं। जहा ये होते हैं वहा ससार होता है। अथवा संसार का आधार तिर्यक् लोक है।

५ प्रश्न—ससार का काल कितना है ?

उत्तर—इसका काल अनादि-अनन्त और अनादि-सान्त है। अभव्य की अपेक्षा संसार अनादि-अनन्त है तथा भव्य की अपेक्षा अनादि सान्त है।

६ प्रश्न—संसार कितने प्रकार का है ?

उत्तर—सामान्य रूप से चतुर्गति मे भ्रमण रूप ससार एक प्रकार का है। भव्यजीव और अभव्यजीव की अपेक्षा से दो प्रकार का है। अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त इस प्रकार ससार के तीन भेद होते हैं। क्षेत्र, द्रव्य, काल और भाव की अपेक्षा से ससार के चार भेद हैं। तथा उक्त भेदो में 'भव' भेद मिला देने पर ससार पाच प्रकार का है और उक्त गाथा मे वर्णित छह अनुयोग द्वारो की अपेक्षा से ससार के छह भेद हैं।

संसार में दुःख ही दुःख

तत्थ जरामरणभयं दुक्खं पियविप्पओगबीहणयं।
अप्पिय संजोगं पि य रोगमहावेदणाओ य ॥ १६ ॥ (मूला.द्वा. अ.)

अर्थ—उक्त प्रकार से संसार में जन्म से उत्पन्न होने वाला कायिक (काय-जन्य) वाचनिक (वचन-जन्य) मानसिक (मन से उत्पन्न) दुःख तथा प्रिय वस्तु के वियोग होने पर उत्पन्न होने वाला दुःख महा भयानक होता है। तथा अप्रिय-अनिष्ट वस्तु के संयोग-जन्य महादुःख होता है। इन को तथा ... रोगों और खांसी, श्वास, वमन, कुष्ठ, राजयक्ष्मा आदि व्याधियों से उत्पन्न हुई वेदनाओं को यह जीव निरन्तर अनुभव करता रहता है। तथा

जायंतो य मरंतो जलथलखयरेसु तिरियणिरयेसु।
माणुसे देवत्ते दुक्खसहस्साणि पप्पोदि ॥ १७ ॥ (मूला. द्वा. अ.)

अर्थ—यह जीव संसार में निरन्तर जन्म मरण करता हुआ तिर्यंचगति में जलचर, थलचर और नभचर (पक्षी) बनकर अनेक दुःख भोगता है। तथा नरकगति में नरक के अगोचर भीषण दुःखों को भोगता है। यदि किसी पुण्य के योग से मनुष्यगति पा लेता है तो वहां पर दुर्भाग्यवश मिथ्यात्व के निमित्त से अनेक संताप और इष्ट-वियोग, अनिष्ट संयोग आदि से उत्पन्न अनेक दुःखों का अनुभव करता है। यदि पुण्य के निमित्त से कभी देवगति में जन्म लिया तो वहां पर भी इसे सुख नहीं। उस महर्द्धिक देवों को देखकर नित्य झूरता है। मिथ्यात्व ... से ... मन्दा-विषयासक्ती वहां पर भी इसका पीछा नहीं छोड़ती। मोहकर्म की प्रबलता से उसी को सुख का साधन समझता है और ... माला के मुर्झाने पर अपने को स्वर्ग से च्युत हुआ समझ कर महान मानसिक पीड़ा को भोगता है। वहां पर आयु को ... निकाला है और पुनः एकेन्द्रियादि जीवों में जन्म लेकर अनन्त दुःख का अनुभव करता है।

इस जीव ने संसार में भ्रमण करते हुए सच्चे सुख का कभी अनुभव नहीं किया। जब कभी कुछ जिस सुख का अनुभव किया है वह इन्द्रियजन्य सुख है। सच्चा सुख नहीं, सुखाभास-सुख की कल्पनामात्र। और यह काल्पनिक सुख भी यहां मिलनेवाले अनन्त दुःख के ... नहीं के बराबर है। यही कहा भी है:—

जं णाणा,सादु णेई देवा माणुसिया य अणुभूदा।
दुक्खं अणंतगुणं णिरए तिरिएसु जाणीसु ॥ १८ ॥ (मूला. द्वा. अ.)

अर्थ—... ... ... सातावेदनीय आदि, पुण्य प्रकृति के योग से देवगति और मनुष्य पर्याय में सुख नाम की सामग्री भी मिली; किन्तु नरक और तिर्यंच योनि में अनन्त बार घोर दुःख प्राप्त किया। उस दुःख के आगे यह सुख समुद्र में ... के समान भी नहीं।

सासारिक सुख के साथ दुःख

संजोगविप्पजोगा लाहालाहं सुहं च दुक्खं च।
संसारे अणुभूदा माणं च तहावमाणं च ॥ १९ ॥ (मूला. द्वा. अ.

अर्थ-- ससार मे इस जीव को पुण्य योग से इष्ट वस्तुओ का समागम प्राप्त हुआ तो साथ ही मे पाप प्रकृति के उदय से उन्हीं इष्ट पदार्थों के वियोग से महादु ख का अनुभव भी करना पडा। जहा लाभान्तरायकर्म के क्षयोपशम से मनोवाछित वस्तुओ का लाभ हुआ तो उसके साथ ही लाभान्तरायकर्म के उदय से उनका अलाभ भी हुआ अर्थात् उन अभीष्ट पदार्थों का असहयोग हुआ। सातवेदनीय कर्म के उदय से सुख प्राप्त हुआ तो वीर्यान्तराय कर्म के उदय से उनका सुखानुभव न कर सका अथवा तत्काल असातवेदनीय कर्म का उदय होने पर दु ख के साधनो का सम्बन्ध हुआ और दु ख का अनुभव करने के लिए बाध्य होना पडा। यश कीर्ति कर्म के उदय से व अन्य पुण्य प्रकृति के सहयोग से ससार मे आदर सम्मानादि की वृद्धि हुई तो लगातार अयशःकीर्ति व अन्य पाप प्रकृति के उदय से अपमानादि के प्राण-घातक कष्टो को भोगना पडा। तात्पर्य यह है कि संसार मे यह जीव कर्म रूप मदारी के हाथ का मर्कट बना हुआ सदा परतन्त्रता के असीम दु खो का अनुभव कर रहा है। इसे कहीं सच्चा सुख नहीं मिलता। इस तत्त्व का अनुभव कर भव्यो को संसार-भ्रमण से उन्मुक्त होने का उपाय करना चाहिए और ससार मे कहीं सुख मिलने की लालसा छोड़ देनी चाहिए।

लोकानुप्रेक्षा

एगविहो खलु लोओ दुविहो तिविहो तहा बहुविहो वा।
दव्वेहिं पज्जएहिं य चिंतिज्जो लोयसब्भाव ॥ २१ ॥ (मूला० द्वा० अ०)

अर्थ—(१) सामान्य रूप से लोक एक प्रकार है—जिसमें जीवादि पदार्थ दिखाई दे उसे लोक कहते हैं। (२) ऊर्ध्व लोक और अधोलोक के भेद से लोक दो प्रकार का है। (३) ऊर्ध्वलोक अधोलोक और तिर्यक् लोक के भेद से लोक तीन प्रकार का है अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के भेद से लोक तीन प्रकार का है। (४) चारगति के भेद से लोक चार प्रकार का है। (५) जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, और आकाशास्तिकाय के भेद से लोक पॉच प्रकार का है। (६) उक्त पॉच अस्तिकाय और एक काल इन छह द्रव्यो के भेद से लोक छह प्रकार का है। (७) जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वो की अपेक्षा से लोक सात प्रकार का है। (८) ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की अपेक्षा लोक आठ प्रकार का है।

इस प्रकार लोक की रचना के द्रव्यों और पर्यायों का विचार करने से लोक अनेक प्रकार का सिद्ध होता है। उसके स्वरूप के अभ्यास करने को लोकानुप्रेक्षा कहते हैं।

लोक का स्वरूप

लोओ अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिप्पण्णो।
जीवाजीवेहिं भुडो णिच्चो तालरुक्खसंठाणो ॥ २२ ॥ (मू० द्वा० अ०)

अर्थ—यह लोक अकृत्रिम है। अर्थात् ईश्वर आदि किसी का बनाया हुआ नहीं है। अनादि (आदिरहित) और अनिधन (अन्तरहित) है। न तो इसकी किसी ने सृष्टि (रचना) की है और न इसका कोई प्रलय (नाश) ही कर सकता है। यह स्वभाव से निष्पन्न है। अर्थात् घटादि की तरह इसकी परमाणुओं के संयोग से उत्पत्ति नहीं हुई है। तथा यह जीव द्रव्यों और अजीव द्रव्यों से भरा हुआ है। अर्थात् यह मायामयी असत्यभूत कल्पनामात्र नहीं जैसाकि वेदान्ती इसे माया रूप (मिथ्या) मानते हैं, यह नित्य है। जैसा कि बौद्ध मत वाले सब पदार्थों को क्षणिक (क्षण विनश्वर) मानते हैं; वैसा नहीं है, किन्तु शाश्वत है। और इस प्रकार के इस लोक का आकार ताड के वृक्ष समान है। अर्थात् जैसे ताडका वृक्ष जड़ में चौडा, मध्य में सकडा और ऊपर में चौड़ा होता है, उसी प्रकार यह लोक अधोभाग में सात राजू प्रमाण चौडा है, मध्य में सकडा होकर एक राजू मात्र चौडा रह गया है और फिर ऊपर ऊर्ध्व लोक में ब्रह्म स्वर्ग के पास जाकर पांच राजूप्रमाण चौड़ा और फिर और ऊँचा जाकर अन्तमें एक राजू प्रमाण मात्र रहगया है।

त्रिलोकसार में इस लोक का आकार डेढ खडी मृदंग के समान कहा है।

उब्भियदलेक्कदमुखद्धयसंचयसण्णिहो हवेलोगो।
अध्दुदयो मुखसमो चोद्दसरज्जूदओ सव्वो ॥६॥ (त्रिलोकसार)

अर्थ—खडी रखी हुई डेढ मृदंग (आधो मृदंग के ऊपर एक मृदग) समान आकृति वाला यह लोक है। मृदंग बीच में पोली होती है, किन्तु यह लोक उस की तरह पोला (खाली) नहीं है, मध्य मे भरा हुआ है। खड़ी की हुई अर्धमृदंग के समान अधोलोक और खड़ी हुई एकमृदग के आकार समान ऊर्ध्वलोक है। दोनो मिलाकर सब लोक चौदह राजू ऊँचा जानना।

भावार्थ— आकाश के बहुमध्य भाग मे ३४३ तीनसौ तेतालीस घनाकार राजू प्रमाण यह लोक स्थित है। यह किसी के आधार पर नहीं है। घर के मध्यभाग मे जैसे छींका होता है, उसी प्रकार आकाश के मध्य भाग में लोक अवस्थित है। छीकें के तो ऊपर

के क्षेत्र का आश्रय होता है, किन्तु यह लोक आश्रय रहित है। इसके चारो ओर तीन वातवलय-घनोदधिवातवलय घनवातवलय, तनुवातवलय हैं। इन तीनो वातवलय (वायुमण्डल) से यह लोक वेष्ठित है। इस लोक के अधोभाग में तथालोक के नीचे दोनो पार्श्व भागो में एक राजू पर्यन्त तीनो वातवलयो की मोटाई बीस बीस हजार योजन है। यहा से (नीचे से एक राजू के) ऊपर सातवीं नरक पृथ्वी के निकट घनोदधि की सात, घन वातवलय की पॉच और तनुवातवलय की चार योजन मोटाई रह गई है। अर्थात् बीस हजार योजन से घट कर क्रमसे सात, पाच और चार योजन की मोटाई रह गई है। यहॉ मे वातवलय की मोटाई घटते २ तिर्यक्लोक तक क्रमसे पांच, चार और तीन योजन की मोटाई रह गई है। फिर यहॉ से क्रमसे बढते बढते ब्रह्मलोक के निकट तीनो वातवलयो का परिमाण क्रमशः सात पांच और चार योजन का होगया है। तथा यहा से क्रम से घटते घटते उर्ध्वलोक मे तिर्यक् लोक के समान पॉच, चार और तीन योजन मोटाई रह गई है। लोक के उपरिम भाग मे तीनो वातवलय का प्रमाण दो कोश, एक कोश, और एक कोश मे चारसो पच्चीस धनुष कम मोटाई का प्रमाण है। अर्थात् घनोदधिवातवलय दो कोश प्रमाण, घनवातवलय एक कोश प्रमाण और तनुवातवलय पन्द्रहसो पचहत्तर धनुष प्रमाण मोटे हैं।

इस प्रकार के तीन वातवलय के आधार पर लोक स्थित है। लोक को चार ओरों से घनोदधिवातवलय (जल मिश्रित मोटी वायु) वेष्ठित किये हुए है। यह वायु इस लोक के चारो ओर समशक्ति अवस्थित हैं। अत इसी वायु के आश्रय पर लोक अवलम्बित है-ऐसा जानना। जैसे किसी पदार्थ को चारो ओर से समान शक्ति से धक्का लगता रहे तो वह पदार्थ बीच मे ही स्थिर रहता है, इसी प्रकार लोक के चारो तरफ समान शक्ति वाली वायु धक्का दे रही है, अत यह मध्य मे जहॉ का तहॉं अवस्थित होरहा है। घनोदधि वायु के आधार पर लोक है। यह घनोदधिवातवलय घनवातवलय के आश्रय पर है। यह वायु भी मोटी है, लेकिन उस मे जलका भाग नहीं है। और यह घनवातवलय तनुवातवलय के आश्रित है। सूक्ष्म वायु को तनुवात कहते हैं। तनुवातवलय आकाश के आश्रित है। और आकाश अमूर्त होने से किसी के आधार पर नहीं है। यह स्वप्रतिष्ठ है अपने आपके आधार है।

घनोदधिवात का रग गोमूत्र के वर्ण समान है, घनवात का रग मूग नाम के अन्न के समान हरा है और तनुवात का रग अनेक प्रकार का माना गया है।

अन्य मतो मे इस लोक के विषय मे भिन्न भिन्न अनेक मान्यताएँ है। कोई तो कहते हैं कि इस ससार मे सर्वत्र जल ही जल था। ईश्वर को सृष्टि करने की इच्छा उत्पन्न हुई। उस इच्छा मे एक अण्डा जल मे उत्पन्न हुआ और वह बहुत बड़ा हो गया। उसके दो विभाग (खड) हुए। एक नीचे के विभाग से पृथ्वी बनी और ऊपर के खड से आकाश की रचना हुई। उन दोनो के मध्य मे मनुष्य लोक, स्वर्ग लोक, औरपाताल लोक का निर्माण हुआ।

कोई मानते है कि विष्णु इस जगत् की रचना करता है, ब्रह्मा इस का पालन करता है और रुद्र (महादेव) इसका प्रलय (सहार-नाश) करता है। इस प्रकार इसकी उत्पत्ति रक्षण और प्रलय होता रहता है।

यौग ईश्वर की इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और प्रयत्नशक्ति इन तीनो शक्तियो से जगत् की उत्पत्ति मानते है। वे कहते है की जीवो के शुभाशुभ कर्म के अनुसार ईश्वर जगत् की रचना करता है।

सांख्य मानते है कि सत्त्व रज और तम ये तीन धर्म प्रकृति मे रहते है। इन तीनो की जब तक समअवस्था रहती है, तब तक प्रकृति अपने स्वरूप मे ही रहती है और जब इन धर्मों मे विषमता होने लगती है, तब जगत् का निर्माण आरम्भ होता है। उनका सृष्टिक्रम निम्न प्रकार करते है।

प्रकृतेर्महास्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥ (सांख्यतत्त्व कौमुदी)

भावार्थ—प्रकृति और पुरुष ये दो मूल तत्त्व है। सत्त्व, रज और तम इनकी साम्यावस्था को प्रकृति या प्रधान कहते हैं। और जो चेतन है उसे पुरुष कहते है। यह चेतन केवल अपने स्वरूप का अनुभव मात्र करता है। बाह्य पदार्थों का ज्ञान बुद्धि से होता है और वह बुद्धि प्रकृति का धर्म है। क्योंकि प्रकृति के सत्त्वादि गुणो मे जब विषमता उत्पन्न होती है; तब प्रकृति से महान (बुद्धि) की उत्पत्ति होती है। बुद्धि से अहङ्कार उत्पन्न होता है। अहङ्कार से सोलह तत्त्व उत्पन्न होते है-पॉच ज्ञानेन्द्रियॉ (स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र) पॉच कर्मेन्द्रियॉ (हाथ, पॉव सिर, गुदा और उपस्थ (जननेन्द्रिय) पॉच तन्मात्र अर्थात इद्रियो के विषय (स्पर्श रस, गन्ध, वर्ण और शब्द और एक मन) तथा पॉच तन्मात्र (इन्द्रियो के विषय से पाच भूत (पृथ्वी जल अग्नि, वायु और आकाश) उत्पन्न होते है। यह सृष्टी-प्रक्रिया है।

इन पचीस तत्त्वो मे प्रकृति और पुरुष ये दो तत्त्व नित्य है। और शेष तेईस तत्त्व प्रकृति से जन्म लेते हैं। और प्रलय काल मे प्रकृति से जिस क्रमसे उत्पन्न हुए है, उसी क्रम से लीन हो जाते हैं। अर्थात् पचभूत तो पचतन्मात्र मे लीन हो जाते है। पचतन्मात्र पाँच ज्ञानेन्द्रियॉ व पॉच कर्मेन्द्रियॉ और मन ये सोलह तत्त्व अहङ्कार मे लीन हो जाते है और अहङ्कार महान् (बुद्धि) मे लीन होजाता है, और बुद्धि प्रकृति मे लीन हो जाती है। इस प्रकार प्रलय काल मे प्रकृति और पुरुष ये दो ही तत्त्व शेष रह जाते हैं।

उक्त रीति के अनेक मत प्रचलित हैं। उन सबका वर्णन करने से ग्रन्थ के विस्तृत होने का भय है, अतः विशेष नहीं लिखते हैं। किन्तु यह ध्यान रखना कि उक्त जैनेतर सब कल्पनाएँ युक्ति से असगत और बुद्धि से अग्राह्य हैं।

स प्र

इस संसार में पहले केवल जल ही जल था-ऐसा जो मानते हैं उनको सोचना चाहिए कि सबसे पहले जल ही जल था, और कुछ भी नहीं था, पृथ्वी आकाश भी नहीं थे, तो जल किस पर ठहरा हुआ था ? क्योंकि जल बिना आधार के ठहरने में असमर्थ है। उसके लिए कोई पृथ्वी या अन्य कोई आश्रय मानना ही पड़ेगा।

दूसरी बात यह है कि ईश्वर (ब्रह्मा) की इच्छा से जल में एक अंडा उत्पन्न हुआ और इसी कारण इस जगत् को लोग ब्रह्माण्ड कहने लगे। इसमें यह शंका उत्पन्न होती है कि उस अण्डे का उपादान (जिस द्रव्य या पदार्थ ने वह उत्पन्न हुआ है वह) क्या है, और वह कहाँ पर स्थित था ? तथा उस अण्डे को बनानेवाला ईश्वर किस स्थान पर निवास करता था ? उसके शरीर था या नहीं ?

शरीर धारण किये विना तो मूर्त्तद्रव्य उत्पन्न नहीं किये जा सकते ? क्योंकि मूर्त्तद्रव्य की उत्पत्ति मूर्त्तद्रव्य से ही होती है। अमूर्त्त से मूर्त्तद्रव्य की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती।

प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति में उपादान कारण और निमित्त कारण की आवश्यकता होती है। जो कारण कार्यरूप परिणमन करता है उसे उपादान कारण कहते हैं। जैसे घड़े का उपादान कारण मिट्टी है, क्योंकि मिट्टी घड़े के रूप में परिणत हुई है। जो कार्य की उत्पत्ति में प्रयत्न करता है या सहायक होता है उसे निमित्त कारण कहते हैं। जैसे कुम्हार घड़े के बनाने में प्रयत्न करता है, अतःवह घड़े का निमित्त कारण माना जाता है। इसी प्रकार यदि ईश्वर उत्पादक-निमित्त कारण है तो जगत् का उपादान कारण अन्य होना चाहिए। जगत् का उपादान कारण ईश्वर तो हो नहीं सकता, क्योंकि वह अमूर्त्त है, तथा अचेतन व चेतन रूप जगत् का उपादान कारण भी वैसाही चेतन व अचेतन रूप होना चाहिए।

प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में ज्ञान, इच्छा, और प्रयत्न की आवश्यकता होती है। ईश्वर में ज्ञान तो माना जा सकता है, किन्तु उसमें इच्छा और प्रयत्न का सद्भाव मानना किसी भी तरह युक्ति-सगत नहीं है। ईश्वर के यदि इच्छा का सद्भाव माना जाय तो प्रश्न उपस्थित होता है कि वह ईश्वर की इच्छा नित्य है या अनित्य ? यदि वह नित्य है तो उसके साथ कभी कार्यों का अन्वय-व्यतिरेक नहीं बन सकता। यदि उसे अनित्य माना जाय तो बतलाना होगा कि उस इच्छा की उत्पत्ति का कारण क्या है ?

जगत् में कोई भी इच्छा बिना कर्म के नहीं होती। यदि ईश्वर के इच्छा मानें तो उसे सकर्मा मानना होगा। पर ईश्वर को सकर्मा मानना तो बिल्कुल युक्ति-विरुद्ध है। क्योंकि तब हममें और ईश्वर में कोई भेद ही न रहेगा इस तरह जब ईश्वर के किसी भी युक्ति से इच्छा सिद्ध नहीं हो सकती तब उसके प्रयत्न भी कैसे माना जा सकता है ?

जो लोग (सांख्य) प्रकृति (प्रधान) से जगत् की रचना मानते हैं उनसे हम पूछते हैं कि प्रकृति जब जड़ है तो उससे बुद्धि (ज्ञान) कैसे उत्पन्न हो सकती है? क्योंकि बुद्धि (ज्ञान) तो चेतन आत्मा का धर्म है।

सत्त्व, रज और तम की समानावस्था को प्रकृति कहते हैं। इन सत्त्वादि गुणों मे विपमता उत्पन्न करने वाला कौन है? पुरुप तत्त्व को तो उक्त कार्य करने मे असमर्थ माना गया है। वह तो अपने स्वरूप का अनुभव करता है, बाहर के कार्य मे वह अकिंचित्कर है। जगत् की उत्पत्ति और प्रलय को सांख्यों ने प्रकृति के कार्य स्वीकार किये हैं, किन्तु उनका कारण प्रकृति नहीं हो सकती। क्योंकि प्रकृति का ठीक स्वरूप साम्यावस्था है। उसमे जब विपमावस्था उत्पन्न होती है तभी जगत् का निर्माण स्वीकार किया गया है। हम पूछते हैं कि उस वैपम्य (विपम अवस्था) को उत्पन्न करने वाला कौन है?

इस प्रकार जगत की सृष्टि माननेवाले जितने भी जैनेतर मत हैं वे सब युक्तियो से निराकृत होते हैं इसलिए अमान्य हैं।

लोक की रचना के समान लोक के आश्रय के विपय मे भी अनेक मत हैं वे भी युक्ति-सगत नहीं। जैसे—

कुछ लोग इस पृथ्वी को गाय के सींग पर टिकी हुई मानते हैं। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि गाय के सींग पर नहीं किन्तु कछुवे की पीठ पर यह पृथ्वी ठहरी हुई है। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो यह कहते हैं कि यह सारी पृथ्वी शेपनाग के माथे पर ठहरी हुई है। पर इन मे से किसी का भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह गाय, कछुवा और शेप नाग कहाँ पर ठहरे हुए हैं? यदि इन का भी कोई आधार स्वीकार किया जाय तो फिर उस आधार के विपय में भी प्रश्न उपस्थित होंगे और इस तरह अनवस्था आजायगी। अत: जैनाचार्यों ने जो इस सारे लोक को तीन प्रकार की वायु के आधार पर माना है वही बुद्धि-ग्राह्य और युक्ति-सगत है।

लोक के विभाग

इस लोक के तीन विभाग हैं—अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक।

अधोलोक सात राजू प्रमाण ऊँचा है। इसके अधोभाग मे चौडाई सात राजू प्रमाण है। पुनः घटते २ अधोलोक के ऊपर के अन्तिमभाग-नरक की प्रथम पृथ्वी-मे जाकर इसकी चोडाई एकराजू प्रमाण रहगई है। इसका क्षेत्रफल (लम्बाई चोडाई) अठाईस राजू प्रमाण है।

इस अधोलोक के (नरक की सातवीं पृथ्वी के) नीचे एकराजू प्रमाण क्षेत्र में केवल निगोदिया जीवो का निवास है। उस एक राजू प्रमाण स्थान मे ठसाठस निगोदिया जीव भरे पडे हैं। इस अधोलोक के शेप छह राजू प्रमाण क्षेत्र मे सात नरक पृथ्वियाँ हैं।

नरक की पृथ्वियों का वर्णन

प्रथम पृथ्वी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है। इसके तीन भाग हैं–१ खरभाग, २ पंकभाग। ३ अब्बहुलभाग। उनमे से खरभाग सोलह हजार योजन मोटा है। उसमे एक एक हजार योजन की मोटी सोलह भूमियाँ हैं। उनके नाम ये हैं—

१ चित्रा, २ वज्रा, ३ वैडूर्या, ४ लोहिता, ५ कामसार कल्पा, ६ गोमेदा, ७ प्रवाला, ८ ज्योतिरसा, ९ अंजना, १० अंजनमूलिका, ११ अङ्का, १२ स्फटिका, १३ चन्दना, १४ सर्वर्थका, १५ वकुला, १६ शैला।

इन सोलह भूमियो मे से आदि की चित्रा और अन्त की शैला नाम की भूमि को छोड कर बाकी की चौदह भूमियो मे राक्षस और असुरकुमार देवो के अतिरिक्त सब व्यन्तर देवो और भवनवासी देवो के आवास स्थान बने हुए हैं। उनमे ये देव निवास करते हैं। जबूद्वीप से असख्यात द्वीप समुद्रों को छोडकर शेष द्वीप समुद्रो के नीचे के भूभाग मे भवनवासी और व्यन्तर देवो के उक्त निवास स्थान बने हुए हैं। अर्थात् जम्बूद्वीप और लवणसमुद्रादि असख्यात द्वीप समुद्रो के नीचे के भाग मे उक्त देवो के निवास स्थान नहीं बने हैं, किन्तु उक्त असख्यात द्वीप समुद्रो के आगे के अधोभाग मे उक्त निवासस्थान बने हैं।

दूसरा पंक भाग चौरासी हजार योजन का मोटा है। उसमे राक्षस नाम के व्यन्तर देवो के और असुरकुमार नामक भवनवासी देवो के निवासस्थान बने हुए हैं।

तीसरा अब्बहुल भाग है, उसमे प्रथम नरक है। उक्त तीनो भाग रत्नप्रभा नामक पृथ्वी के हैं। इन तीनों भागो के मध्य कोई पोल (रिक्त आकाश का अन्तराल) नहीं है। जैसे किसी पर्वत के किसी अपेक्षा से विभाग किये जाते हैं वैसे रत्नप्रभा पृथ्वी के ये तीन खण्ड हैं।

दूसरी शर्कराप्रभा पृथ्वी बत्तीसहजार योजन, तीसरी वालुकाप्रभा अठाईस हजार योजन, चौथी पंकप्रभा चौबीस हजार योजन, पाँचवी धूमप्रभा बीस हजार योजन, छठी तम प्रभा सोलह हजार योजन और सातवीं महातम प्रभा आठ हजार योजन मोटी है।

नरक की सात पृथिवियो के उक्त रत्नप्रभा आदि नाम भूमि के वर्ण (प्रभा) के साहचर्य के कारण निष्पन्न हुए हैं। इनके रूढ नाम तो ये हैं—१ घर्मा, २ वशा, ३ मेघा, ४ अजना, ५ अरिष्टा, ६ मघवी और ७ माघवी।

ये सातो पृथ्वियाँ लोक के अत (दोनो छोर) तक चली गई हैं। लोक मे कुल ८ धरा (पृथ्वियाँ) हैं। सात तो ये नरक धरा,

और आठवीं सिद्धधरा (सिद्धशिला) है। धरा उसीको कहते हैं जो पूर्व पश्चिम लोक के अन्त को प्राप्त हो। स्वर्ग-विमानो को धरा इसीलिए नहीं कहा है कि वे लोकान्त तक अखड रूप नहीं हैं।

ये सातो भूमियाँ एक दूसरी से असख्यात योजन के अन्तर पर हैं। इन भूमियो के चारों ओर उक्त तीनो प्रकार की वायु का वेष्टन है अर्थात् इन भूमियो को घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय चारो तरफ से वेढ़े हुए हैं। इन भूमियो मे प्रथम पृथ्वी के अब्बहुल भाग और द्वितीयादि पाच पृथ्वीयो में एक एक हजार योजन ऊपर नीचे का भूभाग छोडकर सातवीं पृथ्वी के ऊपर और नीचे बहुत भूभाग छोडकर मध्य भाग मे पटलो के अनुक्रम से नरक बिल हैं। शेष भूमिभाग में एकेन्द्रिय जीवो का ही निवास है।

नारकियों के शरीर की उँचाई

प्रथम नरक के नारकी का शरीर सात धनुष, तीन हाथ और छह अगुल ऊँचा है। दूसरे आदि नरक मे दूना २ ऊँचा होता चला गया है। अर्थात् दूसरे नरक के नारकी का शरीर साढ़े पन्द्रह धनुष, बारह अगुल (आधा हाथ) ऊँचा है। तीसरे नरक के नारकी का शरीर सवा इकतीस धनुष ऊँचा है। चौथे नरक के नारकी का शरीर साढ़े बासठ धनुष ऊँचा है। पाँचवें नरक के नारकी का शरीर एक सौ पचीस धनुष ऊँचा, छठे नरक के नारकी का ढाईसौ धनुष ऊँचा और सातवें नरक के नारकी का शरीर पाँचसौ धनुष ऊँचा है।

इन सात पृथिवियो मे कुल उनचास पटल (प्रस्तार-खन) हैं। जैसे हवेली या महल मे खन होते हैं, वैसे ही इन पृथ्वियो मे पटल हैं। पहली पृथ्वी (अब्बहुल भाग) मे तेरह, और द्वितीयादि पृथिवी मे क्रमसे ग्यारह, नव, सात, पाँच, तीन और एक पटल हैं।

उक्त सात पृथिवियो के उनचास पटलो मे कुल नारकियों के चौरासी लाख बिल हैं। अर्थात् पहली भूमि में तीस लाख, दूसरी मे पच्चीस लाख, तीसरी मे पन्द्रह लाख, चौथी मे दश लाख, पाँचवीं मे तीन लाख, छठी मे पाँच कम एक लाख और सातवीं में केवल पाँच बिल हैं।

नरक में ठंढ और गर्मी

नरक की प्रथम भूमि रत्नप्रभा से लेकर चार भूमियो के और पाँचवी पृथ्वी के चार भागो मे से तीन भाग (ऊपर के दोलाख) तक के सब बिल अग्नि से भी अधिक उष्ण हैं। इन पृथ्वियो मे इतनी उष्णता है कि मेरु पर्वत के समान लोहे या ताबे का गोला ऊपर से गिराया जावे तो मार्ग मे ही पिघल कर पानी-सा होकर बह जावे तथा पाँचवीं पृथ्वी के चतुर्थ भाग से लेकर अन्त तक (सातवीं भूमि तक) उसी प्रकार शीत की पराकाष्ठा है।

नारकियों के बिलों की स्थिति का प्रकार

नरक की पृथ्वियों के पटलों में तीन प्रकार के बिल हैं—इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक। जैसे एक हवेली में कई खन (मंजिल) होते हैं वैसे ही नरक भूमियों में कई पटल हैं। प्रत्येक खन में जैसे बीचमें कोठा हो वैसे प्रत्येक पटल के बीच में इन्द्रक नामका बिल है और उसकी चारों दिशाओं व विदिशाओं में कोठों की पंक्तियाँ हों वैसे प्रत्येक पटल में दिशाओं व विदिशाओं में श्रेणीबद्ध बिल हैं, एवं प्रत्येक खन में जैसे इधर-उधर दिशा-विदिशा के बीच-बीच में कोठे हों वैसे दिशा विदिशा के बीच २ में क्रमरहित बिल हैं, उन्हें प्रकीर्णक बिल कहते हैं। हवेली के खन पृथ्वी के ऊपर भाग में रहते हैं वैसे नरक रचना नहीं है किन्तु एक के नीचे एक पटल होते हैं और उन पटलों के अधोभाग में जैसे यहाँ भूमि-गृह होते हैं वैसे नरक बिल हैं। महल में चढने के लिए सीढियाँ और दरवाजे आदि होते हैं वैसे नरक के बिलो में नहीं होते हैं।

प्रथम नरक के प्रथम पटल के मध्य भाग में एक इन्द्रक बिल है। ऐसे ही सम्पूर्ण पटलो में एक एक इन्द्रक बिल होता है। प्रथम पटल की चारों दिशाओं में चार पंक्तियाँ हैं, उन हर एक पंक्तियों में उनचास २, और ऐसे ही चारों विदिशाओं में चार पंक्तियाँ हैं, उन प्रत्येक पंक्तियों में अड़तालीस अड़तालीस बिल हैं, उन्हें श्रेणीबद्ध बिल कहते हैं। ये बिल प्रतिपटल एक एक कम होते चले गये हैं। इसलिए सब के अन्तिम सातवीं भूमि के उनचासवें पटल की विदिशा में श्रेणीबद्ध बिल का सर्वथा अभाव है। चारों दिशाओं में भी एक एक ही बिल है। और मध्य में एक इन्द्रक बिल है। इस प्रकार सातवें नरक में केवल पाँच ही बिल हैं।

श्रेणीबद्ध और इन्द्रक बिलो की संख्या को सम्पूर्ण बिलो की संख्या में घटाने पर जितनी संख्या आती है उतने प्रकीर्णक बिल हैं। जैसे प्रथम पृथ्वी में चारहजार चारसो बीस श्रेणीबद्ध बिल और तेरह इन्द्रक बिल इन दोनों को तीस लाख में घटाने पर उनतीस लाख पिच्यानवे हजार पाँचसो सरसठ प्रकीर्णक बिलो की संख्या आती है।

जहाँ समान हानि या वृद्धि होती है उनका जोड़ लाने के लिए त्रिलोकसार में करण सूत्र इस प्रकार है—'मुहभूमिजोगदले पदगुणिदे पदधणं होदि' अर्थात् मुख और भूमि का योग (जोड़) करके आधा करे और उसे पद (गच्छ) से गुणा करे तब सब स्थानो का जोड़ होता है।

भावार्थ—जितने स्थानो का जोड़ देना हो उन स्थानो को पद या गच्छ कहते हैं। स्थान स्थान प्रति जितने प्रमाण से हानि या वृद्धि होती है उसे चय कहते हैं। और आदि या अन्त के इन दो स्थानो में से जो अधिक प्रमाणवाला स्थान है उसे भूमि कहते हैं और जो अल्प प्रमाणवाला स्थान है उसे मुख कहते हैं। जैसे प्रथम नरक के तेरह पटल के बिलो की संख्या का प्रमाण निकालना है तो यहाँ

पद की संख्या तेरह है और प्रति-पटल के श्रेणिबद्ध विमानो मे दिशा और विदिशा के बिलो मे एक एक घटता गया है। 'जैसे-प्रथम पटल की दिशा की प्रत्येक पंक्ति मे उनचास-उनचास और विदिशा की प्रत्येक पंक्ति मे अडतालीस अडतालीस-बिल हैं। नीचे के दूसरे पटल मे दिशा की प्रतिपंक्ति में अडतालीस-अडतालीस और विदिशा की प्रत्येक पंक्ति मे सैंतालीस-सैंतालीस बिल है। इसी प्रकार प्रति पटल की दिशा व विदिशा की पंक्ति मे एक एक घटता हुआ चला गया है।' अत: प्रथम पटल के दिशा की पंक्ति मे उनचास और विदिशा की पंक्ति मे अडतालीस श्रेणिबद्ध बिलो को जोडने पर सत्यानवे होते है, दिशा व विदिशा का प्रमाण चार है, अतः सत्यानवे को चौगुना करने पर प्रथम पटल के सम्पूर्ण श्रेणिबद्ध बिलो का प्रमाण तीनसौ अठासी होता है। यह यहॉ पर भूमि है। अन्त के तेरहवे पटल मे दिशा मे सैंतीस और विदिशा मे छत्तीस श्रेणिबद्ध बिल हैं, इनको जोडने पर तिहत्तर हुए। इनको चार दिशा व विदिशा के प्रमाण से गुना करने पर दोसौ बानवे हुए। इतने अंतपटल मे श्रेणिबद्ध बिल हैं। यह यहॉ पर मुख है। प्रति पटल आठ-आठ श्रेणिबद्ध घटते जाते हैं, अत चय का प्रमाण यहॉ आठ है। 'मुहभूमिजोगदले' के अनुसार मुख तो दो सौ बानवे और भूमि तीन सौ अठासी का योग (जोड़) छहसौ अस्सी का दल (आधा) करने पर तीन सौ चालीस हुए। इन को पद तेरह से गुणा करने पर चार हजार चारसौ बीस प्रथम नरक के तेरह पटलो के सम्पूर्ण श्रेणिबद्ध बिलो का प्रमाण होता है। इनमे तेरह इन्द्रक बिलो का प्रमाण जोडने पर चार हजार चारसौ तेतीस होते हैं। इसी प्रकार द्वितीयादि नरक भूमि के श्रेणिबद्ध बिलो का प्रमाण निकाल लेना चाहिए।

समस्त भूमियो के श्रेणिबद्ध बिलो का प्रमाण भी उक्त प्रकार से निकाल लेना चाहिए। यहॉ पर मुख तो सप्तम भूमि सम्बन्धी श्रेणिबद्ध बिल 'चार' हैं। तथा भूमि प्रथम भूमि के प्रथम पटल के श्रेणिबद्ध बिल तीनसौ अठासी है। इनका योग तीनसौ बानवे के आधे एक सौ छियानवे को चय प्रमाण उनचास से गुणा करने पर नौ हजार छह सौ बावन सम्पूर्ण नरक भूमियो के श्रेणिबद्ध बिल होते हैं।

नरक भूमियों के इन्द्रक बिल का विस्तार संख्यात-संख्यात योजन, श्रेणिबद्ध बिल का विस्तार असंख्यात योजन और प्रकीर्णक बिलका विस्तार संख्यात या असंख्यात योजन है। अर्थात् कोई प्रकीर्णक बिल संख्यात योजन का है और कोई असंख्यात योजन का है।

प्रथम पटल का इन्द्रक बिल मनुष्य क्षेत्र (पैंतालीस लाख योजन) प्रमाण और पटल का इन्द्रक सातवें नरक का उनचासवें बिल जम्बू-द्वीप (एकलाखयोजन) प्रमाण है। मध्य के पटलो के बिल नीचे नीचे क्रमश: हीन प्रमाण वाले है। इसका विशेष वर्णन त्रिलोकसार से जानना।

नरक में जन्म कौन लेता है ?

नरक के बिल कुत्ते, बिल्ली, शूकर आदि के अत्यन्त सडे हुए कलेवर से भी अत्यधिक दुर्गन्धमय हैं। उनमे वे जीव उत्पन्न होते है जिन्होने बहुत आरंभ व परिग्रह के उपार्जनादि मे रौद्र परिणाम करके नरकायु का संचय किया है।

नारकों के उपपाद स्थानों का आकार व जन्म की दशा

जैसे महल की छत मे कोई स्थान बना हो वैसे उन नरक के बिलो मे ऊपर की ओर ऊट आदि के मुख समान आकार वाले (भीतर से पोले सकड़े मुखवाले) उपपाद स्थान हैं, उनमे नारकी जन्म लेते हैं। अन्तर्मुहूर्त्त मे उनकी पर्याप्ति पूर्ण हो जाती है। उसके पश्चात् वे उन उपपाद स्थानो से छूटकर नीचे नरक बिलो के भूमितल पर जो तीक्ष्ण शस्त्र रहते हैं उन पर गिरते हैं और वहाँ से उछल कर फिर उनहीं पर गिरते हैं। घर्मा पृथ्वी के नारकी एकसौ पच्चीस मे सोलह का भाग देने पर जितनी सख्या आवे उतने योजन (सात योजन सवाकोश) ऊपर उछलते हैं। वशादि भूमि मे इनसे क्रमश दूने २ उछलते हैं अर्थात् जिस भूमि में नारकियों की जितने धनुष ऊँचाई है उतने ही योजन प्रमाण वे ऊपर उछलते हैं।

नारकियो के दुःख

पुराने नारकी नवीन नारकियो को देखकर अत्यन्त कठोर वचन उच्चारण करते हुए आते हैं और उन्हें मारते हैं। शस्त्र पर गिरने से उनके शरीर पर जो घाव होजाते हैं उनपर अत्यन्त खारा जल सींचते हैं।

नवीन नारकी जीवो के पर्याप्ति पूर्ण होने पर कुअवधिज्ञान उत्पन्न होता है, उससे वे अपना पूर्व जन्म का वैर-सम्बन्ध जानकर तथा अपृथक् विक्रिया द्वारा हिंसक जन्तु या शस्त्रादि का आकार धारण कर पुराने नारकियो को मारते हैं तथा पुराने नारकी उन्हें मारते हैं। नारकियो के अपृथक् विक्रिया ही होती है। अत वे अपने शरीर को हिसक-सिंह, व्याघ्र, शूकर घूक, काक, गिद्ध आदि मे किसी एक प्राणीरूप अथवा खड्ग, भाला, शूली, मुद्गर, अग्नि आदि शस्त्रादि रूप बनाकर दूसरो के हनन करने मे प्रवृत्त होते हैं।

वहाँ पर वेताल कीसी आकृति वाले भयानक पर्वत हैं, तथा दुःख देने वाले सकड़ा यत्र के समान गुफाएँ हैं। अग्नि से तपी हुई लोहे की मूर्त्ति के समान वहाँ स्त्री आदि की प्रतिमा हैं। तथा वहाँ असि-पत्र वन है, जो छुरी, असि, फरसा आदि के समान अति तीक्ष्ण पत्रो (पत्तो) से सयुक्त है।

वहाँ अतिक्षार जल वाली वैतरणी नामक नदी है और अति दुर्गन्ध घृणास्पद रुधिर मे सयुक्त महावीभत्स ह्रद है जो करोडो कीड़ो से भरे हुए हैं। नारकी जीव अग्नि के भय से दौडते हुए शान्ति के लिए उस वैतरणी नदी मे कूद पडते है तो उसके खारे जल से उनके क्षत-विक्षत हुए शरीर दग्ध हो जाते हैं। वहाँ से वे शान्ति के अर्थ असि-पत्र वन की छाया मे बड़े वेगसे दौडकर जाते है तो वहाँ पवन से गिरे हुए असि, छुरी, भाले आदि सरीखे तीक्ष्ण पत्तो से उनके शरीरो के खंड-खंड हो जाते हैं और वे घोर दुःख पाते हैं।

तप्त लोहे के समान जल से भरी हुई कुंभी मे नारकियो को डालकर, जैसे हांडी मे अन्न पकाते हैं वैसे, पकाते हैं। जैसे कढ़ाहो में तपे हुए तैल मे अन्नादि तलते हैं वैसे नारकियो को कडाहो मे डालकर तलते हैं। इत्यादि अनेकप्रकार के दुःखो की सामग्री वहाँ पाई जाती है।

वहां की भूमि का स्पर्श तपेहुए लोहे के समान है। वह भूमि सूई सरीखी पैनी हरी घास से व्याप्त है। हजारो विच्छुओं के काटने से जैसी वेदना यहाँ होती है उससे भी अधिक वेदना नरक की भूमि के स्पर्श मात्र से होती है। उन नारकियों के उदर, नेत्र और मस्तक आदि के रोगों से तथा क्षुधा, तृषा, भयादि से तीव्रवेदना निरन्तर हुआ करती है।

कुक्कुर (कुत्ता) विलाव आदि निकृष्टजीवो की दुर्गन्धमय विष्टा से भी अत्यन्त दुर्गन्धमय प्रथम नरक की मिट्टी है। अत्यन्त भूखे नारकिया को वह मिट्टी बहुत थोडी खाने को मिलती है। दूसरे तीसरे आदि नरको की मिट्टी और भी अधिक २ दुर्गन्धमय है।

पहले नरक के प्रथम पटल की मृत्तिका (मिट्टी), जिसका भक्षण वहाँ के नारकी करते हैं, वह यदि इस मनुष्य लोक में डाल दी जाय तो वह मृत्तिका अपनी दुर्गन्ध से आध २ कोश के जीवों को मारने मे समर्थ होसकती है। ऐसे नीचे नीचे के प्रत्येक पटल की अनुक्रम से उस मिट्टी मे आधे आधे कोश अधिक पृथ्वी मे स्थितजीवो को मारने की शक्ति होती है। अर्थात् दूसरे पटल की मिट्टी में दुर्गन्ध से एककोशतक के जीवो को मारने की शक्ति है। तीसरे पटल की मृत्तिका मे डेढ़ कोशतक के और चोथे पटल की मृत्तिका मे दो कोशतक के जीवो का घात करने का सामर्थ्य है। इस प्रकार सातवें नरक की मृत्तिका मे साढ़े चोवास कोश तक की पृथ्वी पर के जीवो का संहार करने की शक्ति होती है।

शस्त्रादि से उन नारकियो के शरीर के टुकड़े २ होजाते हैं, किन्तु वे अकाल (आयु पूर्ण हुए विना) मृत्यु को प्राप्त नहीं होते हैं। उनके शरीर के हजारो खंड होने पर भी वे पारे (धातु) के समान तत्काल मिल जाते हैं।

जिनके तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता होती है। अर्थात् जो नरक से निकलकर तीर्थंकर होने वाले हैं उन जीवो के नरकायु के छह मास शेष रहने पर नरकमे देव उनके उपसर्ग का निवारण करते हैं। (इसी प्रकार जो जीव स्वर्ग से चय कर तीर्थंकर होने वाले होते हैं उन के छह मास पूर्व अन्य देवों की भाँति माला नहीं मुरझाती है।)

नारकियो की आयु अनपवर्त्य (अकाल मृत्युरहित) होती है। उनकी भुज्यमान आयु किसी निमित्त से नहीं घटती है। जितनी आयु है उसको पूर्ण भोगे विना मृत्यु नहीं होती है। पवन से जैसे मेघ-पटल नष्ट होकर आकाश मे विलीन हो जाते हैं वैसे ही नारकी जीवो के शरीर भी आयु के पूर्ण होने पर विलय को प्राप्त हो जाते हैं। मनुष्य व तिर्यंचो के मृतक शरीर के समान भूमिपर पड़े नहीं रहते हैं।

नारक जीवों को चार प्रकार के दु ख होते हैं–क्षेत्रजन्य–२ शरीरजन्य–३ मनोजन्य, व ४ असुरदेवजन्य।

१ क्षेत्रजन्य—नरक भूमि के अतितीक्ष्ण शस्त्र, कठोरस्पर्श, विष से अति कटु रस, सड़े हुए कुत्ते बिल्ली आदि के मृतक कलेवर से अत्यधिक दुर्गन्ध, जिसके पंख नोचलिये गये हैं ऐसे पक्षी के समान महावीभत्स रूप, कूटशालमली, वैतरणी नदी, वेताल सम भयानक पर्वत गुफा आदि से वचनातीत क्षेत्रजन्य दु ख नारक जीवो के होता है।

२ शरीरजन्य—शरीर मे अनेक प्रकार के भयानक उदरशूलरोग, मस्तक मे तीव्र पीडा, शरीर के व्रण (घाव) आदि की तीव्र वेदना होती है। यह शरीर-जन्य दु ख है।

३ मनोजन्य—चारो ओर के भय से निरन्तर आकुल परिणामो के कारण जो सतत आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान से उत्पन्न होने वाला अतिशय दु:ख नारक जीवो को होता रहता है, वह मनोजन्य दु:ख है।

४ असुरकुमारदेव जन्य—तीसरे नरक तक अम्बावरीषादि जाति के असुरकुमारदेव नारक जीवो को परस्पर लड़ाते हैं। उनको पूर्व वैर का स्मरण दिलाते हुए एक दूसरे को मारने का उपाय बतला कर दु ख देते हैं।

नारकियों की आयु

अब नारक जीवों की पटल-पटल प्रति जघन्य व उत्कृष्ट आयु को दिखाते हैं—

प्रथम पृथ्वी के प्रथम पटल मे नारक जीवों की जघन्य आयु दश हजारवर्ष और उत्कृष्ट आयु नब्बे हजार वर्ष की होती है। दूसरे पटल मे जघन्य आयु समयाधिक निब्बे हजार वर्ष और उत्कृष्ट आयु निब्बे लाख वर्ष की है। तीसरे पटल मे जघन्य आयु समयाधिक निब्बे लाख वर्ष और उत्कृष्ट आयु असख्यात कोटि वर्ष पूर्व है। (सत्तर लाख छप्पन हजार कोटि को पूर्व कहते हैं।) चौथे पटल मे जघन्य आयु तीसरे पटल की उत्कृष्ट आयु से समयाधिक प्रमाण है और उत्कृष्ट आयु एक सागर का दशवाँ भाग प्रमाण है। इस प्रकार सर्वत्र ऊपर की उत्कृष्ट आयु नीचे पटलकी जघन्य आयु समझनी चाहिए। पाँचवें छठे आदि पटल मे अनुक्रम से दो सागर के दशवें भाग, तीन सागर के दशवें भाग, चारसागर के दशवें भाग, पाँच सागर के दशवें भाग, छह सागर के दशवें भाग, सात सागर के दशवें भाग, आठ सागर के दशवें भाग, नौ सागर के दश भाग प्रमाण और एक सागर प्रमाण आयु समझना चाहिए।

अर्थात् प्रथम नरक पृथ्वी के नारको की उत्कृष्ट आयु एक सागर प्रमाण है। दूसरी पृथ्वी मे तीन सागर, तीसरी मे सात सागर, चौथी में दशसागर, पाँचवीं मे सत्रह सागर, छठी मे बाईस सागर और सातवीं मे तेतीस सागर की उत्कृष्ट आयु है। पूर्व पूर्व

पृथ्वी की जो उत्कृष्ट आयु है वह समयाधिक उत्तर उत्तर पृथ्वी की जघन्य आयु जाननी चाहिए।

प्रथम नरक भूमि के अन्तिम पटल मे नारक जीवों की ऊँचाई सात धनुष, तीन हाथ और छह अंगुल प्रमाण है तथा द्वितीयादि भूमि में नारको के शरीरकी ऊँचाई दूनी दूनी होती गई है। सातवें नरक मे पाँचसौ धनुष की ऊँचाई है।

प्रथम नरक पृथ्वी के प्रथम पटल मे नारक जीवो के शरीर की ऊँचाई तीन हाथ प्रमाण है। प्रत्येक पटल के नारकियो की शरीर की ऊँचाई आयु आदि निकालने के लिए करण सूत्र कहते हैं —

"आदीअ्ंतविसेसे रूऊणद्धाहिदम्हि हाणिचयं"

अर्थ—आदि के प्रमाण मे से अन्त प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे उसमे एक कम गच्छ का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना नीचे के पटल पटल प्रति बढने का प्रमाण होता है। यहाँ प्रकृत मे प्रथम नरक के प्रथम पटल मे तीन हाथ का उत्सेध (ऊंचाई) है सो तो आदि जानना और प्रथम नरक के अन्तिम पटल का उत्सेध सात धनुष, तीन हाथ और छह अगुल प्रमाण है, सो अन्त जानना। इस अत मे से आदि तीन हाथ घटाने से सात धनुष और छह अगुल रहे। यहाँ तेरह पटल हैं सो गच्छ का प्रमाण तेरह मे से एक घटाने पर बारह रहे, उसका भाग सात धनुष के अठाईस हाथ में देने पर दो तो हाथ हुए और शेष चार हाथ रहे। उनके छियानवे अगुल हुए और पूर्व छह अंगुल थे उनको इनमे मिलाने पर एक सौ दो अगुल मे बारह का भाग देने पर आठ लब्ध आये सो ८ अगुल हुए। शेष छह रहे, उनमें बारह का भाग देने पर आधा अगुल और हुआ। इस प्रकार प्रति पटल दो हाथ, साढ़े आठ अगुल बढ़ने का प्रमाण जानना चाहिए। इस प्रमाण को प्रथम पटल के उत्सेध तीन हाथ प्रमाण मे जोड़ने पर दूसरे पटल के नारक जीवो के शरीर का पाच हाथ, साढ़े आठ अंगुल प्रमाण उत्सेध होता है। (चार हाथ का एक धनुष और चौबीस अगुल का एक हाथ होता है।) उक्त प्रकार चय (दो हाथ साढे आठ अगुल) पूर्व पूर्व पटल के उत्सेध में मिलाने से उत्तर उत्तर पटल के उत्सेध का प्रमाण होता है। उक्त क्रमसे तीसरे पटल के नारको के शरीर का उत्सेध एक धनुष तीन हाथ सत्रह अगुल होता है। इसी प्रकार प्रथम नरक के सब पटलो में समझ लेना चाहिए।

द्वितीयादि पृथ्वी के विषय में भी पूर्व पृथ्वी के अन्त पटल का जो उत्सेध है वह तो आदि और विवक्षित पृथ्वी के अन्त पटल का जो उत्सेध है उसे अन्त स्थापन कर आदि को अन्त मे से घटाना चाहिए। यहा पर पूर्व पृथ्वी के अन्त पटल को आदि कहा है, इसलिए विवक्षित पृथ्वी मे जितने पटल का प्रमाण है उससे एक अधिक गच्छ कर उसमे से एक को घटाने पर जो प्रमाण हुआ उसका भाग देने पर जो लब्ध आता है वह चय होता है। जैसे द्वितीयादि पृथ्वी के विषय मे आदि तो सात धनुष, तीन हाथ, छह अगुल और अन्त पन्द्रह धनुष, दो हाथ,

बारह अंगुल है। यहाँ आदि को अन्त म मे घटाने पर सात धनुप, तीन हाथ, छह अंगुल रहे। उन मे द्वितीय पृथ्वी के पटल प्रमाण ग्यारह का भाग देने व धनुप आदि के हस्तादि करलेने पर दो हाथ, बीस अंगुल और दो अंगुल का ग्यारहवा भाग प्रमाण चय आया। इसी प्रकार तृतीयादि पृथ्वी मे भी चय का प्रमाण साधन करना चाहिए।

यहाँ प्रथम पृथ्वी के अन्त पटल के सात धनुप, तीन हाथ, छह अंगुल उत्सेध में चय का प्रमाण दो हाथ, बीस अंगुल और दो अंगुल के ग्यारहवें भाग को मिलाने पर द्वितीय पृथ्वी के प्रथम पटल का आठ धनुप, दो हाथ, दो अंगुल और दो अंगुल का ग्यारहवा भाग प्रमाण उत्सेध होता है। इसी प्रकार द्वितीयादि पटल का उत्सेध लाने के लिए पूर्व पटल के प्रमाण मे चय का प्रमाण जोडते जाना चाहिए। द्वितीय पृथ्वी के उत्सेध प्रमाण के अनुक्रम से तृतीयादि पृथ्वी के उत्सेध का प्रमाण साधन करना चाहिए।

नारक जीवों का अवधिज्ञान का क्षेत्र

रत्नप्रभा पृथ्वी के नारको का अवधिज्ञान का क्षेत्र चारकोश प्रमाण है। शर्करादि शेष छह पृथ्वी के नारको के अवधिज्ञान का क्षेत्र क्रमसे प्रति पृथ्वी आधा आधा कोश हीन होता गया है। अर्थात साढे तीन, तीन, ढाई, दो, डेढ और एक कोश क्षेत्र प्रमाण अवधिज्ञान क्रमसे द्वितीयादि पृथ्वी के नारकों का होता है।

नरक से निकले हुए जीवों के उत्पत्ति का नियम

नरक से निकले हुए जीव मनुष्य व तिर्यंच गति मे ही उत्पन्न होते हैं। देव और नरक गति मे जन्म नहीं लेते है। मनुष्य और तिर्यंचो मे भी कर्मभूमि के सञ्ज्ञी पर्याप्तक गर्भजो मे ही उत्पन्न होते हैं। सप्तम पृथ्वी के निकले हुए जीव कर्मभूमिज सञ्ज्ञी पर्याप्त गर्भज तिर्यंच ही होते हैं, मनुष्य नहीं होते। तिर्यंचो मे भी हिंसक सिंहादि क्रूर पशु ही होते हैं।

नरक से निकले हुए जीव नारायण, बलभद्र, चक्रवर्ती नहीं होते हैं। चतुर्थादि पृथ्वी से निकले हुए जीव तीर्थंकर नहीं होते हैं। पाँचवीं आदि पृथ्वी से निकले हुए चरमशरीरी नहीं होते। छठी आदि पृथ्वी से निकले हुए सकल-संयमी नहीं होते। तथा सातवीं पृथ्वी से निकले हुए सासादन, मिश्र (तीसरे गुणस्थान वर्ती), असंयत व देशसंयत नहीं होते हैं।

नरक में गमन करने वाले जीवों का नियम

असञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय और सरीसृप (गिर्गट छिपकली आदि) प्राणी और भेरुण्ड आदि पक्षी, सर्प, सिंह, मानुषी स्त्री, मत्स्य और

मनुष्य इनकी प्रथमादि पृथ्वी मे निरन्तर उत्पत्ति आठ बार से लेकर दो बार तक जाननी चाहिए। अर्थात् असञ्ज्ञी मर कर प्रथम नरक में जाकर वहाँ से निकल संज्ञी हो मरकर फिर यहा हो असञ्ज्ञी हो, मरकर फिर प्रथम नरक जावे तब एक बार होता है। ऐसे असञ्ज्ञी अधिक से अधिक आठ बार प्रथम नरक में जाता है। नरक से निकला हुआ असञ्ज्ञी नहीं होता है, अतः मध्य मे एक सञ्ज्ञी पर्याय का अन्तर होना है। सरीसृपादि में एक अन्तर न ग्रहण करना। सरीसृप दूसरे नरक जाकर वहाँ से सरीसृप हो फिर दूसरे नरक मे जावे। ऐसे निरन्तर सात बार जा सकता है। ऐसे ही पक्षी निरन्तर तीसरे नरक मे छह बार जा सकता है। सर्प चौथे नरक मे पाँच बार जा सकता है। सिंह पाँचवें नरक मे चार बार जा सकता है। स्त्री छठे नरक में तीन बार निरन्तर जन्म ले सकती है। तथा मत्स्य व मनुष्य एक अन्तर देकर सातवें नरक मे निरन्तर दोबार उत्पन्न हो सकते हैं। उनमे से मत्स्य सातवे नरक जाकर वहाँ से निकल कर गर्भज तिर्यंच होता है। मरकर फिर मत्स्य होकर सातवें नरक मे-जाता है। क्योकि यहाँ नरक से निकला हुआ सम्मूर्छन नहीं होता है और मत्स्य सम्मूर्छन है, इसलिए यहाँ एक अन्तर कहागया है। इसी प्रकार मनुष्य मे भी एक अन्तर जानना चाहिए। क्योकि सातवें नरक से निकला जीव मनुष्य नही होता है, इसलिए बीच में एक अन्तर कहा है। इस प्रकार दोबार उत्पत्ति का नियम कहा है।

यहाँ जीवो के उत्पन्न होने का भी नियम जान लेना चाहिए। असञ्ज्ञी जीव प्रथम पृथ्वी में ही उत्पन्न हो सकता है, द्वितीयादि पृथ्वी मे उत्पन्न नहीं हो सकता। सरीसृप दूसरी पृथ्वी पर्यन्त जन्म ले सकता है, तृतीयादि पृथ्वी मे जन्म धारण नहीं कर सकता। पक्षी तृतीय पृथ्वी तक उत्पन्न हो सक्ता है, आगे जन्म नहीं लेता। सर्प चतुर्थ पृथ्वी पर्यन्त जन्म ले सकता है आगे नहीं जा सकता। सिंह पाचवीं तक, स्त्री छठी तक और पुरुष एव मत्स्य सातवीं पृथ्वी पर्यन्त उत्पन्न हो सकते है।

नरक पृथ्वी मे जीवोत्पत्ति का अन्तर

प्रथम पृथ्वी मे कोई जीव उत्पन्न न हो तो उत्कृष्ट चौबीस मुहूर्त्त पयन्त उत्पन्न नही होता है और न मरता है। चौबीस मुहूर्त्त के पश्चात् कोई न कोई अवश्य जन्म लेता है अथवा कोई अवश्य मरता है। ऐसे ही द्वितीय पृथ्वी मे सात दिन का, तृतीय पृथ्वी में एक पक्ष का, चतुर्थ पृथ्वी मे एक मास का, पाँचवीं मे दो मास का, छठी मे चार मास का और सातवीं पृथ्वी मे छह मास का जन्म मरण का अन्तर है।

भवनवासियों के आवास

रत्नप्रभा पृथ्वी के खर भाग व पङ्क भाग मे भवनवासी व व्यन्तर देवो के भवन बने हुए है। उनमे से भवनवासी देवो का संक्षेप से वर्णन करते हैं—

असंख्यात द्वीप समुद्रो के बीतने के बाद शेष असख्यात द्वीप समुद्रो के नीचे भवनवासी और व्यन्तर देवो के भवन बने हुए हैं।

भवनवासी देवो के सात करोड़ बहत्तर लाख भवन हैं, तथा एक-एक भवन मे एक एक चैत्यालय है, इसलिए जितने भवन हैं, उतने ही चैत्यालय हैं।

भवनवासी देवों के भेद

भवनवासी देवो के दश भेद हैं—१—असुर कुमार, २ नागकुमार, ३ विद्युत्कुमार, ४ सुपर्णकुमार, ५ अग्निकुमार, ६ वातकुमार, ७ स्तनितकुमार, ८ उदधिकुमार, ९ द्वीपकुमार और दिक्कुमार। उक्त प्रत्येक भेद मे दो दो इन्द्र हैं।

असुर कुमार मे चमर और वैरोचन, नागकुमार मे भूतानन्द और धरणानन्द, विद्युत्कुमार में घोप और महाघोप, सुपर्णकुमार मे वेणु और वेणुधारी, अग्निकुमार मे अग्निशिखी और अग्निवाहन, वातकुमार मे वेलम्ब और प्रभजन, स्तनितकुमार में हरिषेण और हरिकान्त उदधिकुमार मे जलप्रभ और जलकान्त, द्वीपकुमार मे पूर्ण और वशिष्ट, दिक्कुमार मे अमितगति और अमितवाहन इस प्रकार प्रत्येक भेद में दो दो इन्द्र कहे गये है।

इन्द्रो में परस्पर ईर्ष्या

चमरेन्द्र तो सौधर्म इन्द्र (शक्र) के साथ और भूतानन्दइन्द्र वेणुइन्द्र के साथ तथा वैरोचन ईशानइन्द्र के साथ और धरणानन्द वेणुधारीइन्द्र के साथ स्वाभाविक ईर्ष्या करते है। अर्थात् दो दो इन्द्रो मे से प्रथम प्रथम इन्द्र सौधर्मादि युगलो के प्रथम इन्द्र के साथ, तथा द्वितीय, द्वितीयस्वर्ग के इन्द्र के साथ स्वभावत. ईर्ष्याभाव रखते हैं।

भवनवासी देवों के चिह्न

असुरादि देवो के मुकुट मे क्रमसे चूडामणि, सर्प, स्वस्तिक, गरुड, कलश, घोडा, वज्र, मगर (मच्छ), हस्ती और सिंह के चिह्न पाये जाते है। तथा चैत्यवृक्ष और ध्वजा भी इनके चिह्न हैं। अश्वत्थ, सप्तपर्ण आदि दश प्रकार के चत्यवृक्ष भी इनके चिह्न हैं। इन वृक्षो के मूल मे प्रतिदिशा मे (हरएक दिशा) मे पाँच पाँच प्रतिमाएँ है, जिनकी देव पूजा करते हैं। इन प्रतिमाओ (चैत्य) के सम्बन्ध से इनको चैत्यवृक्ष कहते हैं।

भवनवासी देवों के भवनों की विशेषताएँ

भवनवासी देवो के भवन सुगंधित एव पुष्पो से वासित रत्नमय भूमि से भूषित हैं, उनकी दीवारें भी रत्नो की होती हैं और नित्य

पकाश युक्त है। वे सम्पूर्ण इन्द्रियो को सुख देनेवाले चन्दनादि पदार्थों से व्याप्त होते हैं और उनमे निवास करनेवाले असुरकुमारादि देव अणिमा, महिमा आदि अष्ट ऋद्धि के धारक होते हैं, तथा वे नाना प्रकार के मणिनिर्मित झिलमिलाते हुए मुकुट, कटक, अंगद, हार आदि अलंकारो से देदीप्यमान व अलंकृत होते हैं। वे अपनी पूर्व-सचित तपस्या के फल का भोग करते हैं। उनके भवन भूमिगृह (तहखाने) के समान हैं। वे रत्नप्रभा पृथ्वी के खरभाग और पकभाग मे है। उन भवनो की चौडाई व लम्बाई जघन्य तो संख्यात कोटि योजन और उत्कृष्ट असख्यात कोटि योजन प्रमाण है। ये भवन चौकोर होते हैं। उनकी ऊंचाई तीन सौ योजन प्रमाण है। प्रत्येक भवन के मध्य भाग मे सौ योजन ऊँचा एक २ पर्वत है। उसके ऊपर चैत्यालय बने हुए हैं।

व्यंतरादि देवों के आवास स्थान

चित्रा भूमि के नीचे एक हजार योजन जाकर व्यन्तर देवो के आवास बने हुए हैं। दो हजार योजन जाकर अल्प ऋद्धि धारक भवनवासियो के भवन हैं। तथा बियालीस हजार योजन जाकर महर्द्धि धारक भवनवासियो के भवन हैं और एक लक्षयोजन पर मध्यम ऋद्धि के धारक भवनवासियो के भवन हैं। भवनवासियो मे असुर कुमारो के और व्यन्तरो मे राक्षसो के भवन पङ्कभाग मे हैं।

देवों मे इन्द्र व प्रतीन्द्र का क्रम

ज्योतिष व व्यन्तर देवो मे त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं होते हैं। अर्थात् भवनवासी और सोलह स्वर्गों के विमानवासियो में तो १ इन्द्र, २ सामानिक, ३ त्रायस्त्रिंश, ४ पारिषद्, ५ आत्मरक्ष, ६ लोकपाल, ७ अनीक ८ प्रकीर्णक, ९ आभियोग्य और १० किल्विषिक ये दश प्रकार के भेद प्रत्येक इन्द्र के साथ होते हैं। किन्तु ज्योतिष और व्यन्तरो मे त्रायस्त्रिंश और लोकपाल ये दो भेद नहीं होते। शेष आठ भेद ही होते हैं। सोलह स्वर्गों के ऊपर नवग्रैवेयक, नव अनुदिश और पचानुत्तर विमानो मे इन्द्रादि भेद नहीं होते। वे सब अहमिन्द्र होते हैं। अपने २ भेद मे उनमे हीनाधिकपना नहीं होता है। इन्द्र के साथ एक प्रतीन्द्र होता है, वह युवराज के समान माना गया है। भवनवासियो के प्रत्येक भेद मे दो दो इन्द्र और दो दो प्रतीन्द्र होते हैं। अर्थात भवनवासियो के बीस इन्द्र और बीस प्रतीन्द्र तथा व्यन्तरो मे सोलह इन्द्र और सोलह प्रतीन्द्र होते हैं। शेष ज्योतिष देवो मे एक इन्द्र और एक प्रतीन्द्र तथा वैमानिक सोलह स्वर्गों मे बारह इन्द्र व बारह ही प्रतीन्द्र होते हैं।

इन्द्रों की सभा, सेना व देवांगनाएँ

प्रत्येक इन्द्र के तीन तीन परिषद् (सभा) होती है—अन्त, मध्य और बाह्य परिषद्। अन्त परिषद् को समित कहते हैं, मध्य परिषद् को चन्द्रा और बाह्य परिषद् को जतु इस नाम से कहते हैं। ऐसे ही सम्पूर्ण देवो की सभाओ के नाम हैं।

स प्र

प्रत्येक इन्द्र के सात सात अनीक (सेनाएँ) होती हैं। असुर कुमार के १ महिष (भैंसा) २ घोटक (घोड़ा) ३ रथ ४ हाथी, ५ प्यादे, ६ गन्धर्व और ७ नर्तकी ये सात प्रकार की सेना है। उक्त सात प्रकार की सेना एक से दूसरे इन्द्र के दूनी दूनी होती चली गई है। असुर कुमार के अनीक के प्रथम भेद मे भैंसा था। नागकुमार के प्रथम भेद मे नाव या सर्प, सुपर्ण कुमार के गरुड़, द्वीप कुमार के हाथी, उदधिकुमार के मगर, विद्युत्कुमार के ऊट या गैंडा, स्तनित कुमार के सूर, दिक्कुमार के सिंह, अग्निकुमार के शिविका (पालकी) और वातकुमार के अश्व ये प्रथम भेद में है। शेष छह भेद असुर कुमार देवो के समान हैं।

असुर कुमार के इन्द्र के छप्पन हजार देवाङ्गनाएँ हैं, उनमें से सोलह हजार वल्लभिका (अतिप्रिय देवागना), पांच महादेवियाँ, और पाच कम चालीस हजार परिवार देवियाँ हैं। नागकुमार इन्द्र के पचास हजार देवियाँ हैं। सुपर्ण कुमार इन्द्र के चवालीस हजार देवियाँ हैं। शेष द्वीप कुमारादि सात भेदो में बत्तीस बत्तीस हजार देवियाँ हैं। उनमें दो दो हजार तो वल्लभिका हैं, पाच पाच महादेवी हैं और शेष सामान्य देवागना हैं।

असुरकुमार, नागकुमार व सुपर्णकुमार इन तीन भेदों के इन्द्रो के महादेवियाँ यदि विक्रिया करे तो एक एक महादेवी आठ आठ हजार मूल शरीर सहित विक्रिया कर सकती है, और शेष सात भेदो के इन्द्रो की महादेवियाँ छह छह हजार मूलशरीर सहित विक्रिया करती हैं। अर्थात देवियो के इतने रूप धारण कर सकती हैं।

चमरेन्द्र की देवाङ्गनाओ की आयु ढाई पल्य प्रमाण, वैरोचनेन्द्र की देवाङ्गनाओं की आयु तीन पल्य प्रमाण, तथा नागेन्द्र की देवियो की आयु पल्य के आठवे भाग प्रमाण, गरुडेन्द्र की देवाङ्गनाओं की आयु तीन कोटि पूर्व प्रमाण और शेष इन्द्रो के देवियो की आयु तीन कोटि प्रमाण है।

असुरादि देवों के श्वासोच्छ्वास तथा आहार का क्रम

असुर कुमार जाति के देवो के एक पक्ष बीतने पर एक बार श्वासोच्छ्वास होता है व एक हजार वर्ष बीतने पर एक बार आहार होता है। नागकुमार, सुपर्णकुमार व द्वीपकुमार के साढे बारह मुहूर्त्त बीतने पर श्वासोच्छ्वास और साढ़े बारह दिन बीतने पर आहार होता है। उदधिकुमार, विद्युत्कुमार के बारह मुहूर्त्त बीतने पर श्वासोच्छ्वास और बारह दिन बीतने पर आहार होता है। अवशेष दिक् कुमार, अग्निकुमार और वातकुमार के साढे सात मुहूर्त बीतने पर श्वासोच्छ्वास और साढे सात दिन बीतने पर आहार होता है।

देवो के शरीर का उत्सेध

असुर कुमार देवो के शरीर का उत्सेध (ऊँचाई) पच्चीस धनुष प्रमाण और शेष कुमारों का शरीरोत्सेध दश धनुष प्रमाण है। व्यन्तर देवो के शरीर का उत्सेध दश धनुष और ज्योतिष देवो का सात धनुष प्रमाण है।

व्यन्तर देव

व्यन्तर देवों के किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच ये आठ भेद हैं। राक्षस के अतिरिक्त सब व्यन्तर देवो के आवास खर पृथ्वी भाग के एक हजार योजन नीचे जाकर बने हुए हैं।

व्यन्तरों के शरीर का वर्ण

किन्नरों का प्रियंगुफल समान वर्ण है। किम्पुरुषों का धवल वर्ण है। महोरगो का काला (श्याम) वर्ण है। गन्धर्वों का स्वर्ण समान वर्ण है। यक्ष, राक्षस और भूत इन तीनों का श्याम वर्ण है। पिशाचों का काला वर्ण है। इन देवों के शरीर अगर, चन्दनादि के लेप व आभूषणों से भूषित हैं।

व्यन्तरों के चैत्यवृक्ष

उन व्यन्तरों के अनुक्रम से अशोक, चम्पक, नागकेसर, तुंबरु, वट, कंटतरु, तुलसी और कदम्ब ये चैत्यवृक्ष हैं। उनके मूल मे पल्यकासनवाली प्रतिमाएँ एक एक दिशा मे चार चार विराजमान हैं। वे प्रतिमाएँ चार तोरण द्वारों से सयुक्त हैं और जो भवन में चैत्यवृक्ष हैं उनका जम्बूद्वीप के वर्णन में जम्बू वृक्ष के परिकर का जो प्रमाण कहेंगे, उससे अर्ध प्रमाण समझना चाहिए।

व्यन्तरो में इन्द्र, प्रतीन्द्र, देवांगना व सेना

उक्त आठ प्रकार के व्यन्तरों के प्रत्येक भेद मे दो दो इन्द्र और दो दो प्रतीन्द्र होते हैं। इनमें प्रत्येक इन्द्र के दो दो वल्लभिका (अतिप्रिय) देविया होती है। ये प्रत्येक देवी एक एक हजार देवागना से संयुक्त होती है। एक एक इन्द्र सम्बन्धी दो दो गणिका महत्तरी होती हैं। जिस प्रकार यहाँ पर वेश्या होती हैं, उसी प्रकार वहाँ पर जो देवागना होती हैं, उन्हें गणिका कहते हैं और उन में जो प्रधान होती है उन्हें महत्तरी कहते हैं।

व्यन्तरो मे हर एक इन्द्र के सात सात प्रकार की सेनाएँ और प्रत्येक सेना के सात सात कक्ष (सेना) और होते हैं। सात प्रकार सेना के नाम हाथी, घोड़े, प्यादे, रथ, गन्धर्व, नर्तकी और वृषभ ये हैं। इन सेनाओं मे एक महत्तर (प्रधान) होता है। उनके अनुक्रम से १ सुज्येष्ठ, २ सुग्रीव, ३ विमल, ४ मरुदेव, ५ श्रीदामा, ६ दामश्री, और विशाल ये सात नाम हैं।

व्यन्तरों के इन्द्रों के नगर

अजनक, वज्रधातुक, सुवर्ण, मनःशिलक, वज्र, रजत, हिंगलुक और हरिताल-इन आठ द्वीपो मे क्रमसे किन्नरादि इन्द्रो के नगर बने हुए है। प्रथम इन्द्र के उत्तर मे और द्वितीय इन्द्र के दक्षिण मे नगर हैं। प्रत्येक इन्द्र के पाच पाच नगर हैं। एक मध्य मे और चार चारों दिशाओ मे होते हैं। मध्य मे जो नगर है, वह इन्द्र के नाम पर हैं और पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एव उत्तर मे जो नगर हैं उनके नाम इन्द्र के नाम के आगे क्रम से प्रभ, कान्त, आवर्त्त और मध्य ये लगादेने पर हो जाते है। जैसे किन्नरेन्द्र के पाच नगर उत्तर दिशा मे हैं। उनमे जो बीच मे है, उसका नाम किन्नरपुर है। उसकी पूर्व दिशा मे किन्नरप्रभ नगर है, दक्षिण दिशा मे किन्नरकान्त नगर है, पश्चिम दिशा मे किन्नरावर्त्त नामक नगर और उत्तर दिशा मे किन्नरमध्य नामक नगर है। इसी प्रकार सब नगर इन्द्रो के नाम से होते हैं। इन्द्रों के ये सब नगर एक लक्ष योजन विस्तार वाले है और समतल भूमि पर हैं। न तो पर्वतादि ऊँचे प्रदेश पर हैं और न भूमि के नीचे हैं। उन नगरों चारो ओर प्राकार (कोट) हैं। उनकी ऊँचाई साढे सैंतीस योजन, चौडाई साढे बारह योजन और मोटाई ढाई योजन है। इन कोटो के द्वार (दर्वाजे) हैं, उनकी ऊँचाई साढे बासठ योजन और चौडाई सवा इकतीस योजन है। दर्वाजे पर पचहत्तर योजन प्रमाण ऊंचा दूर प्रासाद है। उस प्रासाद के अभ्यन्तरभाग मे सुधर्मा नामकी सभा है। वह साढे बारह योजन लम्बी, सवा छह योजन चौडी और नव योजन ऊची है। उसका अवगाह (मूल-नींव) एक कोण प्रमाण है। इसी प्रकार सब इन्द्रो के नगर प्राकारादि की रचना व प्रमाण जानना चाहिए।

रत्नप्रभा पृथ्वी के खर भाग मे भूतों के चोदह हजार भवन हैं और पकप्रभा मे राक्षसों के सोलह हजार भवन हैं। व्यन्तर देवों की जो गणिका महत्तरी है, उसके नगर अपने २ इन्द्र सम्बन्धी द्वीपो मे हैं और अपने २ इन्द्रपुरों के दोनो पार्श्व भागों मे हैं। उनकी लबाई व चोडाई चौरासी लाख योजन प्रमाण है। शेष जो व्यन्तर हैं उनके नगर अनेक द्वीप व समुद्रों मे पाये जाते हैं।

वाणव्यन्तरो के भेद, आवासस्थान और उनकी आयु

उक्त भेदो के अतिरिक्त व्यन्तर देवो मे जो वाणव्यन्तर हैं, उनके स्थान पृथ्वी के ऊपर है। १ नीचोपपाद, २ दिग्वासी, ३ अन्तरनिवासी, ४ कूष्माण्ड, ५ उत्पन्न, ६ अनुत्पन्न, ७ प्रमाणक, ८ गन्ध, ९ महागन्ध, १० भुजंग, ११ प्रीतिक, और १२ आकाशोत्पन्न ये उनके नाम हैं। पृथ्वी से एक हाथ ऊपर क्षेत्र मे नीचोपपाद वाणव्यन्तर है। उनके ऊपर दशहजार हाथ ऊचे क्षेत्र मे दिग्वासी वाणव्यन्तर देव हैं। उनके ऊपर दशहजार हाथ ऊचे क्षेत्र मे अन्तरनिवासी देव हैं। उनके ऊपर दशहजार हाथ उंचे क्षेत्र मे कूष्माण्ड हैं। उनके ऊपर वीस हजार हाथ ऊचे क्षेत्र मे उत्पन्न वाणव्यतर हैं। इसी प्रकार अनुत्पन्नादि मे वीस वीस हजार हाथ का अन्तराल समझना चाहिए।

नीचोपपाद देवों की आयु दशहजार वर्ष, दिग्वासी देवों की बीसहजार, अन्तरनिवासी की तीस हजार, कूष्माण्ड देवों की चालीस हजार, उत्पन्न देवों की पचास हजार, अनुत्पन्न देवों की साठ हजार, प्रमाणक देवों की सत्तर हजार, गन्ध देवों की अस्सी हजार, महागन्ध देवों की चौरासी हजार, भुजग देवों की पल्य के आठवें भाग प्रमाण, प्रीतिक देवों की पल्य के चौथे भाग प्रमाण और आकाशोत्पन्न देवों की आधे पल्य प्रमाण आयु है।

व्यन्तरों के निलय

व्यन्तरों के निवास स्थानों के तीन नाम हैं—भवनपुर, आवास और भवन। उनमें से द्वीप समुद्रों में भवनपुर पाये जाते हैं, जलाशय (सरोवर आदि) वृक्ष, पर्वत आदि में आवास और चित्रा पृथ्वी के नीचे भवन पाये जाते हैं। जो पृथ्वी से ऊंचे स्थान में निवास स्थान हैं—उन्हें आवास कहते हैं, जो पृथ्वी के नीचे हैं—उन्हें भवन और जो पृथ्वी के समतल प्रदेश पर हैं—उन्हें भवनपुर कहते हैं। ऐसे तीन प्रकार के निलय हैं।

व्यंतरों के रहने के क्षेत्र

चित्रा और वज्रा पृथ्वी के मध्य सन्धि से लेकर जितनी मेरुपर्वत की ऊंचाई है वहां तक, और तिर्यक्लोक का जितना विस्तार है वहाँ तक, विस्तृत क्षेत्र में व्यन्तरों के यथायोग्य भवनपुर या भवन या आवास हैं और उनमें वे निवास करते हैं।

कितने ही व्यन्तरों के तो भवन ही हैं, तथा कितने ही के भवन और भवनपुर हैं। कई एक के भवन, पुर और आवास तीनों ही हैं।

असुरकुमार के सिवा अन्य कई एक भवनवासी देवों के भवन, भवनपुर या आवास तीन निलय पाये जाते हैं। इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि पृथ्वी के नीचे खरभाग और पंकभाग में तथा पृथ्वी से ऊपर पर्वतादि पर और समतल भूमि पर व्यन्तरों और भवनवासियों के स्थान पाये जाते हैं। जो उत्कृष्ट भवन हैं वे तो बारह हजार तीन सौ योजन ऊंचे हैं। तथा जितनी भवनों की ऊंचाई है, उसके तीसरे भाग प्रमाण ऊंचे कूट पाये जाते हैं और इन कूटों पर जिन मन्दिर हैं। उत्कृष्ट भवनों के चारों ओर आठ योजन ऊंची वेदी पाई जाती है तथा जघन्य भवनों के पच्चीस धनुष ऊंची वेदी होती है। जैसे बाग बगीचे के चारों ओर दीवार होती है उसी प्रकार वेदी होती है।

गोल आदि आकारवाले जो पुर हैं, उनका क्रमसे उत्कृष्ट विस्तार लक्ष योजन प्रमाण है और जघन्य विस्तार एक योजन

प्रमाण है। तथा गोल आदि आकार वाले जो आवास हैं उनका उत्कृष्ट विस्तार बारह हजार दोसौ योजन है और जघन्य विस्तार पौन योजन है। भवन भावासादि के कोट, द्वार, नृत्यशाला इत्यादि पाये जाते हैं।

व्यन्तरों के आहार कुछ अधिक पाँच दिन बीतने पर होता है और उच्छ्‌वास कुछ अधिक पाँच मुहूर्त्त जाने पर होता है।

मध्यलोक

इस चित्रा पृथ्वी के एक हजार योजन नीचे से लेकर मेरु पर्वत की चूलिका तक मध्यलोक माना गया है। मध्यलोक की ऊंचाई मेरु प्रमाण है। इसका आशय यह है कि एक हजार योजन का उसका अवगाह है और एक हजार योजन कम एक लक्ष योजन प्रमाण यह चित्रा पृथ्वी के समतल से ऊंचा है, तथा चालीस योजन प्रमाण उसकी चूलिका है।

इस मध्यलोक मे ही ज्योतिष देवों के विमान हैं। इस चित्रापृथ्वी के समतल भूभाग से सातसौ निब्बे योजन से ज्योतिष देवों का निवास क्षेत्र प्रारंभ होता है और नवसौ योजन पर उनका क्षेत्र समाप्त होता है। अर्थात् एकसौ दस योजन प्रमाण ऊंचे (मोटे) आकाश क्षेत्र मे ज्योतिष देवों के निवास (विमान) हैं। इसलिए इनका वर्णन भी इसी मध्यलोक में आगे करेंगे।

यहाँ पर तिर्यक्लोक का संक्षिप्त निरूपण करते हैं।

जंबूद्वीप का वर्णन

इस लोक मे तिर्यक् असंख्यात द्वीप व समुद्र हैं। उन सब के मध्य मे एक लक्ष योजन के विस्तार (लम्बाई चौडाई) वाला जम्बूद्वीप है। उसके ठीक मध्य भाग मे मेरुगिरि है। उसकी दक्षिण दिशा से लेकर १ भरत, २ हैमवत, ३ हरि, ४ विदेह, ५ रम्यक ६ हैरण्यवत और ७ ऐरावत ये सात वर्ष (क्षेत्र) हैं। इन क्षेत्रों (देशों) की सन्धि पर अर्थात् एक २ क्षेत्र के अनन्तर एक एक पर्वत है, जिन्हें कुलाचल कहते हैं। ऐसे कुलाचल छह हैं—१ हिमवान्, २ महाहिमवान्, ३ निषध, ४ नील, ५ रुक्मी और ६ शिखरी। भरत और हैमवत क्षेत्र के मध्य मे (सन्धि पर) हिमवान् कुलाचल है। हैमवत और हरिक्षेत्र के बीच मे महाहिमवान् कुलाचल है। हरिक्षेत्र और विदेहक्षेत्र की सन्धिपर निषधाचल है। इसी प्रकार सात क्षेत्रों की सन्धिपर छह कुलाचल हैं। क्षेत्रों का विभाग करने से इनको वर्षधर पर्वत भी कहते हैं।

कुलाचलों का विस्तार और वर्ण

हिमवान् आदि छहों कुलाचल मूल से लेकर ऊपर तक समान चौडाई वाले हैं। जैसे महल भवनादि की दीवार नीचे से लेकर ऊपर तक समान चौडी होती है, वैसे ही ये छहों पर्वत नीचे, मध्य मे और ऊपर समान चौड़े हैं। अन्य पर्वतो की तरह हीनाधिक विस्तार वाले नहीं है। उनके पार्श्व भाग (पसवाडे) विविध मणियो से विचित्र है। उनके दोनों तरफ के सिरे समुद्र को स्पर्श करते हैं। अर्थात् जम्बूद्वीप के कुलाचलो के दोनो तरफ के तट लवण समुद्र को छूते है, तथा धातकीखंड के कुलाचलों के एक ओर के तट लवण समुद्र को और दूसरी ओर के तट कालोदधि को छूते है और पुष्करार्ध के कुलाचलो के एक ओर के तट तो कालोदधि को और दूसरी ओर के मानुषोत्तर पर्वत को छूते है।

इन पर्वतो के वर्ण क्रमश हेम (सुवर्ण), अर्जुन (चांदी), तपनीय (तपाहुआ सोना), वैडूर्य (नीलमणि), रजत (चादी) और सुवर्ण के समान हैं। अर्थात हिमवान् सोने के समान, महाहिमवान् चॉदी के समान, निषध तपेहुए सोने के समान, नील वैडूर्यमणि के समान, रुक्मी चॉदी के समान और शिखरी सोने के समान पीतवर्ण हैं। हिमवान् एकसौ योजन ऊंचा, महाहिमवान् दोसौयोजन, निषध चारसौ योजन, नील चारसौ योजन, रुक्मी दौसो योजन और शिखरी एकसो योजन ऊचा है। इन पर्वतो की जितनी ऊचाई है उसके चतुर्थ भाग (चौथाई) अवगाह (भूमि के अन्दर) है।

कुलाचलों पर सरोवर

उक्त छह कुलाचलो के ऊपर कम से पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ये ह्रद (सरोवर) हैं। इनका व्यास (चौडाई), आयाम (लम्बाई) और अवगाह (गहराई) अपने पर्वत की ऊँचाई से क्रमश: पॉचगुणा, दशगुणा और दशवेंभाग प्रमाण है। अर्थात् पद्महृद का व्यास (चौडाई) पॉचसौयोजन, आयाम (लम्बाई) एक हजार योजन और अवगाह (गहराई) दश योजन प्रमाण है। महापद्म ह्रद की चौडाई एक हजार योजन, लम्बाई दो हजार योजन व गहराई बीसयोजन प्रमाण है। तिगिंछ ह्रद की चौड़ाई दोहजार योजन, लम्बाई चारहजार योजन और गहराई चालीस योजन प्रमाण है। इसी प्रकार अपने २ पर्वत की ऊँचाई से ह्रद की चौड़ाई पाचगुनी, लम्बाई दशगुनी और गहराई दशवें भाग प्रमाण समझना चाहिए।

सरोवरो के मध्य कमल और उन पर सपरिवार देवियॉ

उन ह्रदो के मध्य मे कमल है, ह्रदों की गहराई के दशवें भाग प्रमाण उनके कमलों की ऊचाई व चौडाई है। वे कमल पृथ्वीमय है। वनस्पति काय नहीं हैं। अर्थात् पद्मह्रद के कमल की ऊंचाई व चोडाई एक योजन, महापद्म के कमल की दो योजन, तिगिंछ ह्रद

के कमल की चारयोजन। इसी प्रकार आगे के ह्रदों के कमलों की ऊचाई व चौडाई क्रमश. चार, दो और एक योजन प्रमाण है। ये कमल अपनी सुगन्ध से दशों दिशाओं को सुगन्धित करते हैं। इनकी नाल वैडूर्यमणि की बनी हुई है। उसकी ऊचाई बियालीस कोश प्रमाण है। जिसमें से चालीस कोश प्रमाण नाल तो जल के भीतर रहती है और जलतल से ऊपर दोकोश ऊची है। तथा एक कोशमोटी है। इसके अन्दरका मृणाल तीनकोश का मोटा रूप्यमय श्वेतवर्ण है। कमलके ग्यारह हजार दल (पॉखुडियॉ) हैं। कमल की जितनी ऊंचाई व चौडाई है उसके अर्द्ध भाग प्रमाण नाल जल के ऊपर निकली हुई है। कमल की कर्णिका की चौडाई कमल की ऊचाई व चौडाई से आधी है और प्रत्येक दल की चौडाई उसके चतुर्थ भाग प्रमाण है। जैसे पद्महद के कमल की ऊचाई व चौडाई एक योजन प्रमाण, अत. उसकी नाल उससे अर्ध (दोकोश) प्रमाण जल से ऊपर निकली है। उस कर्णिका की चौडाई दो कोश प्रमाण और उसका प्रत्येक पत्र एक २ कोश प्रमाण चौडा है। ऐसे ही अन्य ह्रदों मे समझलेना चाहिए।

पद्महद के कमल की कर्णिका पर श्रीदेवी का रत्नमय प्रासाद है, जो शरद्-पूर्णिमा के चन्द्रमा की द्युति को लजाने वाला है। उसकी लम्बाई एक कोश, चौडाई आधे कोश और ऊचाई पौन कोश प्रमाण है। जिस प्रकार पद्महद का वर्णन किया वैसाही महापद्मादि का है उनका प्रमाण यथासंभव समझ लेना चाहिए।

पद्महद के कमल की कर्णिका पर जसे श्रीदेवी निवास करती है, ऐसे शेप ह्रदों के कमल की कर्णिकाओं पर क्रमश ह्री, धृति, कीर्त्ति, बुद्धि और लक्ष्मी देवी निवास करती हैं। इनकी आयु एक पल्य प्रमाण है। तथा एक एक कमल के परिवार रूप एक लाख चालीस हजार एकसौ पन्द्रह कमल उसी ह्रद मे स्थित हैं।

पद्महद सम्बन्धी कमलों पर श्रीदेवी का परिवार स्थित है उसे दिखाते हैं।

मूल कमल के अग्निकोण, दक्षिण, और नैऋत्य दिशा मे जो कमल हैं उनपर श्रीदेवी के आदित्य, चन्द्र और जतु परिषद् के पारिषद्देव निवास करते हैं। आदित्य (आभ्यन्तर) परिषद् के पारिषद् देव बत्तीस हजार हैं। चन्द्र (मध्य) परिषद् के पारिषद्देव चालीस हजार और जतु (बाह्य) परिषद् के पारिषद्देव अडतालीस हजार हैं। एक एक पारिषद् देव के निवास के लिए एक एक कमल पर प्रसाद बने हैं। सात प्रकार की सेना के देवो के निवास करने के लिए मूल कमल से पश्चिमदिशा मे सात कमलो पर प्रासाद हैं तथा सामानिक देवो के कमल उत्तर दिशा के दोनो कोनों मे चारहजार हैं। और इन कमलो के अभ्यन्तर मूल कमल की तरफ एक एक दिशा में चार-चार हजार अगरक्षको के कमलो पर मन्दिर (प्रासाद) हैं। प्रतीहार महत्तरो के एक सौ आठ कमल, उन अगरक्षको के कमलो के अभ्यन्तर मूल कमल के निकट दिशा व विदिशा में स्थित हैं।

ये सब परिवार-कमल भी मणिमय हैं। जलतल से ऊंचे नहीं हैं। तथा परिवार-कमल की ऊँचाई, चौडाई आदि मूल कमल से अर्घप्रमाण जाननी चाहिए। अर्थात् श्रीदेवी के प्रासाद की जितनी ऊँचाई-चौडाई आदि बतलाई गई है उससे आधी परिवार-कमलो की है।

श्री, ह्री व धृति ये तीन तो सौधर्म इन्द्र की देवियाँ हैं। और कीर्ति, बुद्धि व लक्ष्मी ये तीन ईशान इन्द्र की देवियाँ हैं।

ह्रदों से नदियों का उद्‌गम

उन ह्रदो से गंगा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्या हरित, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा ये चौदह महानदियाँ निकली हैं। इनमें से दो दो नदियो के सात युगलो में पूर्व की (गंगा, रोहित, हरित, सीता, नारी, सुवर्णकुला, रक्ता) ये सात नदियाँ पूर्वदिशा की ओर मुख करके तथा शेष नदियाँ पश्चिम दिशा की ओर मुख करके क्षेत्रों के बीच में स्थित पर्वतों की प्रदक्षिणा देकर समुद्र में मिली हैं।

उक्तनदियो के दोनो तट पुन्नाग, नागकेसर, सुपारी, अशोक, तमाल, कदली (केला), ताम्बूली, बडी इलायची, लवंग, मालती आदि के वृक्ष और लताओ से सुशोभित हैं।

आदि के पद्म ह्रद से गंगा, सिन्धु और रोहितास्या ये तीन नदियाँ और अन्त के पुण्डरीक ह्रद से रक्ता, रक्तोदा और सुवर्णकूला ये तीन नदियाँ निकली हैं। शेष चार ह्रदो से दो दो नदियाँ निकली हैं। भरत व ऐरावत में नाभिगिरि नहीं हैं, इसलिए इन क्षेत्रो में बहने वाली गंगा, सिन्धु और रक्ता, रक्तोदा इन चारो नदियो को छोडकर शेष नदियाँ क्षेत्र के मध्य में स्थित नाभिगिरि को आधायोजन छोडकर समुद्र में मिली हैं। विदेह क्षेत्र में मेरुपर्वत है, उसे यहाँ नाभिगिरि कहा है। हैमवत, हरिरम्यक और हैरण्यवत में नाभिगिरि विद्यमान ही हैं। नदियाँ ह्रद से निकल कर नाभिगिरि के सम्मुख सीधी आकर, आधे योजन दूर से मुडकर नाभिगिरि की अर्ध प्रदक्षिणा करके समुद्र में जा मिली हैं।

गंगा नदी के निकास और गमनादि

पद्म-ह्रद के पूर्वदिशा में वज्र द्वार है, उससे गंगानदी निकलकर हिमवान् पर्वत के ऊपर पूर्वदिशा की ओर पाँचसौ योजन जाकर हिमवान् पर्वत पर स्थित जो गंगा कूट है उससे आधा योजन पहले मुडगई है। वहाँ से दक्षिण दिशा की तरफ पाँचसौ तेईस योजन और कुछ अधिक आधे कोश जाकर पर्वत के तट पर पहुँची है। पर्वत पर गंगा नदी का व्यास सवा छह योजन प्रमाण है। जिस तट से गंगा नदी नीचे गिरती है, उस तटपर मणिनिर्मित दो कोश लम्बी व ऊँची प्रणाली है। उस प्रणाली के मुख, कान, जीभ और नेत्र के आकार तो सिंह के समान हैं तथा भौंहे मस्तक आदि का आकार गौके समान है, इसलिए मुख्यरूप से प्रणाली को वृषभाकार कहते हैं। उसमे गंगा

नदी हिमवान् पर्वत से पच्चीस योजन की दूरी पर काहला के आकार होकर (क्रमशः चौडाई बढती हुई) दशयोजन की चौडाई को लिये हुए भरत क्षेत्र मे हिमवान् पर्वत के मूल मे दश योजन गहरे और साठ योजन चौड़े गोल कुण्ड मे गिरी है।

उस कुण्ड के बीच मे जल से ऊपर आधा योजन ऊँचा और आठ योजन चौडा गोल द्वीप है। उस द्वीप के मध्य मे वज्रमय दशयोजन ऊँचा एक पर्वत है। उसका व्यास (चौडाई) पृथ्वी पर चार योजन, मध्य मे दो योजन और अग्रभाग मे एक योजन प्रमाण है। उस पर्वत पर श्री देवी का मन्दिर है। जो नीचे तीन हजार धनुष, मध्य मे दो हजार धनुष और ऊपर मे एक हजार धनुष प्रमाण चौडा है और दो हजार धनुष ऊँचा है। उसका अभ्यन्तर का व्यास साढे सात सौ धनुष प्रमाण है। उस मन्दिर के द्वार की चौडाई चालीस धनुष और ऊँचाई अस्सी धनुष है। उस द्वार के वज्रमय दो कपाट हैं।

उक्त मन्दिर के मस्तक पर एक पार्थिव कमल है। उसकी कर्णिका पर सिंहासन है। उस पर जटा सहित जिनबिम्ब है। उस को अभिषेक करने के लिए ही मानों उसके मस्तक पर गंगा का अवतरण हुआ है। अर्थात् जिनबिम्ब के मस्तक पर गंगा नदी गिरती है।

कुंड से निकल कर गंगा नदी सीधी दक्षिण दिशा मे जाकर विजयार्ध पर्वत की खंडप्रपात नामा गुफा मे प्रवेश करती है। वहाँ यह आठ योजन चौडी होगई है और गुफा के उत्तर द्वार से बाहर निकली है। उक्त गुफा के पूर्व पश्चिम दिशा की दीवार के निकट दो कुण्ड हैं, उनमे दो योजन चौडी उन्मग्नजला और निमग्नजला नाम की दो नदियाँ निकली हैं और दोनों सीधी चलकर गंगा नदी मे जा मिली हैं। गुफा की व गुफा के द्वार की ऊँचाई तो आठ आठ योजन की है, चौडाई बारह योजन की है और लम्बाई पचास योजन (विजयार्ध समान) है।

उक्त गुफा से निकल कर गंगा नदी दक्षिण भरत के अर्धभाग पर्यन्त सीधी दक्षिण की तरफ गई है और वहाँ से मुडकर पूर्व दिशा की ओर बहकर मागध नामक द्वार मे होकर लवण समुद्र मे मिली है।

सिन्धु नदी का निकाम और गमनादि

गंगा का जिस प्रकार वर्णन किया है उसी के समान सिन्धु नदी का वर्णन समझना चाहिए। केवल इतना अन्तर है कि सिन्धु नदी पद्महद के पश्चिम द्वार से निकल कर पश्चिम की ओर बहकर सिन्धुकूट के पहले मुडकर पर्वत के निकट आकर कुंड मे गिरी है। वहाँ से निकल कर विजयार्ध पर्वत की तमिस्रा नामक गुफा मे प्रवेशकर वहाँ से निकल जम्बूद्वीप के कोट के प्रभास नामक द्वार से पश्चिम समुद्र मे मिलती है।

सं. प्र

पृ, कि. ४

शेष नदियों का वर्णन

रोहित नदी महापद्महद के दक्षिण द्वार से निकल कर सीधी महाहिमवान् पर्वत के तट पर्यन्त सोलह सौ पाँच योजन, उन्नीसवें भाग तक जाकर हैमवत क्षेत्र के कुंड मे पडी है। वहाँ से निकलकर सीधी नाभिगिरि के आध योजन पहले से मुडकर पूर्व दिशा के सम्मुख होकर पूर्व समुद्र मे गिरी है। रोहितास्या नदी पद्महद के उत्तर द्वार से निकलकर सीधी हिमवान् के तट तक दोसौ छहत्तर योजन और छह उन्नीसवें भाग (२७६–६/१६) तक आकर हैमवत क्षेत्र मे कुंड मे पडी है। और वहाँ से निकल कर सीधी नाभिगिरी के निकट आधे योजन की दूरी से मुडकर पश्चिम की ओर वहती हुई पश्चिम समुद्र में प्रवेश करती है। हरित नदी तिगिंछहद के दक्षिण द्वार से निकल कर सीधी निषध पर्वत क तट तक चवहत्तर सौ इकीस योजन, एक उन्नीसवें भाग तक जाकर हरि क्षेत्र के कुण्ड में गिरी है। वहाँ से निकल पूर्व की भाँति नाभिगिरी के समीपतक जाकर वहाँ से मुडकर पूर्व दिशा की ओर वहकर पूर्व समुद्र मे जामिली है। हरिकान्ता नदी महापद्म हद क उत्तर द्वार से निकल सीधी महाहिमवान् के तटतक सोलह सौ पाचयोजन और पॉच उन्नीसवें भाग (१६०५–५/१६) पर्यन्त जाकर हरिक्षेत्र के कुण्ड में गिरी है, वहाँ से निकल कर सीधी पूर्ववत् नाभिगिरि के निकट जाकर और वहाँ से पश्चिम दिशा की ओर वहती हुई पश्चिम समुद्र में प्रवेशकर गई है। सीता नदी केसरी हद के दक्षिण द्वार से निकलकर सीधी नील पर्वत के तट पर्यन्त चोहत्तर सौ इकीस योजन और एक के उन्नीसवें भाग तक जाकर विदेह क्षेत्र के कुड मे गिरी है। और वहाँ से निकल कर सीधी मेरु गिरि के निकट तक जाकर उससे आधे योजन की दूरी से मुडकर पूर्वदिशा के सम्मुख होकर वहती हुई पूर्व समुद्र में जाकर मिली है। सीतोदा नदी तिगिंछ हद के उत्तरद्वार से निकल कर सीधी निषधाचल के तट पर्यन्त चवहत्तर सौ इक्कीस योजन और एक के उन्नीसवें भाग तक जाकर विदेह क्षेत्र के कुड मे गिरी है। और वहाँ से निकल कर सीधी पूर्ववत् मेरुगिरि के निकट तक जाकर और उससे आधे योजन दूर से मुडकर पश्चिम की ओर वहकर पश्चिम समुद्र मे मिली है। नारी नदी महापुडरीक हद के दक्षिण द्वार से निकल कर सीधी रुक्मी पर्वत के तट तक सोलह सौ पचास योजन पॉच उन्नीसवे भाग (१६०५–५/१६) पर्यन्त जाकर रम्यक क्षेत्र के कुड मे गिरी है और वहाँ से निकल कर सीधी नाभिगिरि के निकट उरली तरफ से मुडकर पूर्व की ओर वहती हुई पूर्व समुद्र मे प्रवेश कर गई है। नरकान्ता नदी केसरीहद के उत्तर द्वार से निकल सीधी नील पर्वत के तट तक चवहत्तर सौ इक्कीस योजन और एक के उन्नीसवें भाग पर्यन्त जाकर रम्यक क्षेत्र के कुण्ड मे गिरी है। और वहाँ से निकल सीधी नाभिगिरि के निकट उरली तरफ से मुडकर पश्चिम दिशा की तरफ वहती हुई पश्चिम मे जामिली है। स्वर्णकूला नदी पुण्डरीक हद के दक्षिण द्वार से निकल सीधी शिखर पर्वत के तट तक दोसो त्रिहत्तर योजन, छह उन्नीसवें भाग (२७६–६/१६) पर्यन्त जाकर हैरण्यवत क्षेत्र के कुड मे गिरी है। और वहा से निकल सीधी नाभिगिरि के उरली ओर तक जाकर और वहाँ से पर्वत के सम्मुख मुडकर वहती हुई पूर्व समुद्र मे प्रवेश कर गई है। रूप्यकूला नदी महापुण्डरीक हद के उत्तर द्वार से निकलकर रुक्मी पर्वत के तट तक सौलहसौ पॉच योजन एवं उन्नीसवें भाग पर्यन्त जाकर हैरण्यवत क्षेत्र के कुड मे गिरी है। तथा वहाँ स निकल सीधी नाभिगिरि के निकट जाकर उसके उरली तरफ से मुडकर

पश्चिम दिशा में बहती हुई पश्चिम समुद्र में मिली है। यहाँ पर्वत के ऊपर नदी के गमन करने का प्रमाण जम्बूद्वीप की अपेक्षा से कहा है। अन्यत्र घातकीखण्ड व पुष्करार्ध में उनकी अपेक्षा से यथासंभव प्रमाण जानना चाहिए।

गंगा तथा सिन्धु का जैसा वर्णन कर आये हैं, वैसा ही वर्णन रक्ता व रक्तोदा का भी समझना चाहिए। केवल इतना विशेष है कि यहाँ पुण्डरीक ह्रद और शिखरी पर्वत समझना। प्रणाली आदि का सब वर्णन समान जानना। शेष नदियों, प्रणाली, कुंडादि के व्यासादि का प्रमाण भरत ऐरावत सम्बन्धी नदियों से अनुक्रम से विदेह सम्बन्धी नदियों तक दूना दूना समझना।

नदियों का विस्तार

गंगा सिन्धु और रक्ता रक्तोदा इनकी चौडाई का प्रमाण ह्रद से निकलते समय सवाछह योजन है और समुद्र में प्रवेश करते समय दशगुना होगया है। अन्य सब विदेह पर्यंत नदियों का क्रम से दूना दूना प्रमाण होता चलागया है। जैसे गंगा नदी का समुद्र में प्रवेश करते समय विस्तार (चौडाई) साढे बासठ योजन है। समस्त नदियों की गहराई अपने २ चौडाई के प्रमाण से पचासवें भाग है। जैसे गंगा नदी की गहराई आधे कोश प्रमाण है इसी प्रकार अन्य नदियों का समझना चाहिए।

नदियों के निकलने के ह्रद-द्वार, समुद्र में प्रवेश करने के जम्बूद्वीपादि के कोट के द्वार, कुंड से निकलने के द्वार तथा अन्यत्र इन पर तोरण हैं, और उनपर जिनबिम्ब सहित दिक्कुमारियों के मन्दिर (प्रासाद) हैं।

उन तोरणों का विस्तार (चौडाई) अपनी २ नदियों के विस्तार प्रमाण है। तथा व्यास से डेढी ऊँचाई है। जैसे गंगानदी के निर्गम द्वार के तोरण की चौडाई का प्रमाण सवाछह योजन और ऊँचाई का प्रमाण नवयोजन तथा तीन के आठवें भाग प्रमाण है, और सर्वत्र तोरण का अवगाह (भूमि में गहराई-नींव) आधे योजन प्रमाण है।

गंगा और सिन्धु दोनों नदियाँ चौदह-चौदह हजार नदियों के परिवारवाली हैं। इनके आगे की नदियाँ प्रतिक्षेत्र में अनुक्रम से विदेह क्षेत्र पर्यन्त दूनी दूनी होती चली गई हैं। विदेह क्षेत्र के उत्तर में प्रतिक्षेत्र में आधी-आधी हीन होती गई हैं।

भरतादि क्षेत्रों का विस्तार

जम्बूद्वीप के एकसौ नब्वे भाग प्रमाण अर्थात् पाँचसौ छब्बीस योजन और छह के उन्नीसवें भाग प्रमाण भरत क्षेत्र के विस्तार का प्रमाण है। क्रमसे इससे दुगुने दुगुने पर्वत क्षेत्रादि विदेह पर्यन्त हैं।

भावार्थ—भरत क्षेत्र से दूना हिमवान् पर्वत, हिमवान् से दूना हेमवत क्षेत्र, उससे दूना महाहिमवान् पर्वत, महाहिमवान् से दूना हरिक्षेत्र, हरिक्षेत्र से दूना निषध पर्वत, तथा निषध से दूना विदेह क्षेत्र है। विदेह क्षेत्र के विस्तार (चोड़ाई) का प्रमाण तेतीस हजार छहसौ चौरासी योजन और एक योजन की उन्नीस कला मे से चार कला प्रमाण है। इसके बीच मे सीता व सीतोदा नदी का प्रवाह है। इसलिए विदेह की चौडाई मे से नदी की चौडाई को घटाने पर शेष का जो आधा प्रमाण रहता है वही बत्तीस विदेह क्षेत्र, सोलह वक्षार गिरी, बारह विभंगा नदी, देवारण्यादि वन इनकी लम्बाई प्रमाण है। विदेह का विष्कंभ (चौडाई) प्रमाण ३३६८४-४/१६ में से पाँचसौ योजन नदी का व्यास घटाने पर ३३१८४-४/१६ योजन रहे। इस को आधा करने पर सोलह हजार पाचसौ बानवे योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से दो भाग प्रमाण लम्बाई का प्रमाण होता है।

विदेह क्षेत्र के मध्य में स्थित मेरु का स्वरूप

मेरु पर्वत गोलाकार है और वह विदेह क्षेत्र के मध्य मे स्थित है। उसकी ऊँचाई निन्यानवे हजार योजन प्रमाण है। मूलमें भूमिपर दशहजार योजन चौड़ा और ऊपर एक हजार योजन चौडा है। और उसकी ऊपर ऊपर कटनियाँ हैं, उन पर चार वन सुशोभित हैं।

भूमि पर भद्रशालवन है जो मेरु के मूल में भूमि पर चारों तरफ है। उससे पांचसौ योजन ऊपर जाकर एक कटनी मेरु के चहुँ ओर है, उस पर नन्दनवन है। वहाँ मे साढे बासठ हजार योजन ऊपर जाकर कटनी है और उसपर सौमनसवन है। वहाँ से छत्तीस हजार योजन ऊपर जाकर एक कटनी है और उस पर पाण्डुक वन है। इनमें मन्दार, आम्र, चम्पा, चन्दन, घनसार, कदली, नारियल, सुपारी इत्यादि के सुन्दर वृक्ष सुशोभित हैं। इन से वे अत्यन्त रमणीय होरहे हैं। इस प्रकार जम्बूद्वीप सम्बन्धी मेरु की ऊँचाई आदि का वर्णन किया।

अन्य चार मेरु पर्वत

धातकीखण्ड और पुष्करार्ध सम्बन्धी विजय, अचल, मन्दर और विद्युन्माली इन चारों मेरु पर्वतों के पृथ्वी पर भद्रशाल वन हैं। वहाँ से पाचसौ योजन ऊपर जाकर नन्दनवन है। वहाँ से पचपन हजार पाचसौ योजन ऊपर सौमनसवन है। तथा वहाँ से अठाईस हजार योजन ऊपर जाकर पाण्डुकवन है। इस प्रकार ये चारों मेरु चौरासी हजार योजन ऊँचे हैं। उक्त पाँचों मेरु की नींव एक हजार योजन प्रमाण है।

प्रत्येक मेरु के प्रत्येक वन की प्रत्येक दिशा में एक एक चैत्यालय है। इस तरह एक एक मेरु के प्रति सोलह चैत्यालय सुशोभित हैं। इन चैत्यालयों का वर्णन नदीश्वरद्वीप का वर्णन करते समय करेंगे।

सुदर्शन मेरु के चारों गजदन्तों के मध्य चारों दिशाओं में भद्रशाल वन है, जो पूर्व पश्चिम दिशा में तो बाईस हजार योजन चौड़ा है और दक्षिण उत्तर में ढाईसौ योजन चौड़ा है। भद्रशालादि वन के बाह्य और आभ्यन्तर दोनों पार्श्व में वेदी है। जैसे बाग के चारों ओर कंगूरे रहित दीवार होती है वैसी ही वेदी है। वह वेदी, एक योजन ऊँची, आधे योजन चौड़ी और पाव योजन नींव में है और सुवर्ण-मय है। तथा बड़े २ घंटे और छोटी २ घंटिकाओं से अलंकृत सुन्दर २ तोरणों से संयुक्त बहुत द्वार वाली है।

सुमेरु पर्वत की चौड़ाई का क्रम

मेरु की भूमि तल से लेकर नंदनवन तक क्रमशः चौड़ाई घटती गई है। यहाँ पर सर्वत्र चारों तरफ पाँचसौ योजन चौड़ी कटनी छूटी है, उस में नन्दनवन है। यहाँ दोनों तरफ की कटनी का एक हजार योजन प्रमाण मेरु की चौड़ाई घटी है इसलिए ग्यारह हजार योजन की ऊँचाई तक मेरु समान चौड़ा चलागया है। वहा तक चौड़ाई में कमी नहीं हुई है। उसके बाद पुनः क्रमशः घटता हुआ चलागया है। इसका गणित त्रैलोक्यसार ग्रन्थ से जानना।

मेरु नीचे से लेकर इकसठ हजार योजन की ऊँचाई पर्यन्त तो अनेक वर्णवाले नाना प्रकार के रत्नों से सुशोभित है और उसके ऊपर केवल सुवर्ण सदृशवर्ण से युक्त है।

नन्दनवन, सौमनसवन और पाण्डुकवन इन तीनों मे चार चार भवन है, उनके अधिपति सौधर्म इन्द्र के सोम, यम, वरुण और कुबेर नामक चार लोकपाल हैं। ये पूर्वादि दिशा मे रहते हैं और प्रत्येक लोकपाल के साढे तीन करोड साढे तीन करोड गिरिकन्या (व्यन्तरी) देवांगनाएँ पाई जाती हैं। इनमें से सोम और यम की आयु ढाई पल्य प्रमाण है तथा वरुण और कुबेर की आयु कुछ कम तीनपल्य प्रमाण है। सोमका लालवर्ण, यम का श्यामवर्ण, वरुण का काचनवर्ण और कुबेर का श्वेतवर्ण है। और ये अनेक प्रकार के आभूषणों से भूषित रहते हैं। इन लोकपालों के स्वर्ग में निवास करने के विमान हैं और यहाँ मेरु के ऊपर भी उनके भवन पाये जाते हैं।

नन्दन वन के उक्त चारों भवनों के दोनों पार्श्वो मे दो दो कूट बने हैं। सब कूट आठ हैं। प्रत्येक दिशा व विदिशा मे चार चार सुन्दर वापिकाएँ हैं जो मणिमय तोरण और रत्नमय सोपान (सीढियों) से सुशोभित हैं। तथा हंस मयूर आदि यंत्रों से युक्त हैं। ये पचास योजन लम्बी, पच्चीस योजन चौडी और दश योजन गहरी हैं। इनके मध्य मे सौधर्म और ऐशान के प्रासाद बने हुए हैं। स्वर्ग में सुधर्मा सभा मे जैसे इन्द्र अपने परिवार सहित बैठता है, वैसे ही यहाँ पर जब आता है तब यहाँ भी सभा लगाकर बैठता है।

मेरु पर स्थित शिलाओं का वर्णन

मेरु पर पाण्डुक वन में ईशानदिशा से लेकर चारों विदिशाओं में क्रम से १ सुवर्ण समान वर्णवाली पाण्डुकशिला, २ रूप्य (चाँदी) समान वर्णवाली पाण्डुकम्बला शिला, ३ तपेहुए सुवर्ण समान वर्णवाली रक्ता शिला और ४ लोहित वर्णवाली रक्तकम्बला शिला-ये चार शिलाएँ हैं।

ये पाण्डुकादि शिलाएँ क्रमसे भरतक्षेत्र, पश्चिमविदेह, ऐरावत और पूर्वविदेह क्षेत्र में उत्पन्न हुए तीर्थंकरों के जन्माभिषेक से सम्बन्ध रखती हैं। भरत क्षेत्र के तीर्थंकरों का पाण्डुकशिला पर, पश्चिमविदेह के तीर्थंकरों का पाण्डुकम्बला पर, ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकरों का रक्ताशिला पर और पूर्वविदेह क्षेत्र के तीर्थंकरों का रक्तकम्बला पर जन्माभिषेक किया जाता है। ये शिलाएँ क्रमशः पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशा तक लम्बी हैं। ये सब अर्धचन्द्राकार हैं। सौ योजन लम्बी हैं। बीच में पचास योजन चौडी व आठ योजन मोटी हैं। इन शिलाओं के ऊपर तीन २ गोल सिंहासन हैं—बीच में श्रीमद् वाधिदेव जिनेन्द्रदेव का सिंहासन है, उसकी दक्षिण दिशा में सौधर्म इन्द्र का भद्रासन है और उत्तर दिशा में ऐशान इन्द्र का भद्रासन है। उन आसनों की ऊँचाई पाँचसौ धनुष, नीचे चौडाई पाँचसौ धनुष, ऊपर चौड़ाई ढाईसौ धनुष प्रमाण है। और वे आसन पूर्वदिशा के सम्मुख हैं।

पाण्डुकवन के मध्य मेरु की चूलिका है जो वैडूर्यमणिमयी है। उसकी ऊँचाई चालीस योजन है। नीचे चौड़ाई बारह योजन और ऊपर चौड़ाई चार योजन प्रमाण है।

पर्वत, वापिका, कूट पाण्डुकादि शिला ये सब नाना प्रकार की मणियों से निर्मित वन, वेदी और तोरण से संयुक्त हैं अर्थात् पर्वतादि के चहुँ ओर वन हैं उनके वेदिका है और वेदी के तोरण से अलङ्कृत द्वार पाये जाते हैं।

जम्बूवृक्ष का वर्णन

मेरु के उत्तर (नील पर्वत के पास दक्षिण की ओर जाती हुई सीता नदी के पूर्व तट व मेरु पर्वत से ईशान विदिशा में) में उत्तर कुरुनाम की भोग भूमि है उसमें जम्बू वृक्ष की स्थली है। जैसे यहाँ वृक्ष के थावला होता है वैसे ही जम्बूवृक्ष के चारों ओर गोलाकार स्थली समझना। यह मूल में पाँचसौ योजन चौड़ी है अन्त में दो कोश प्रमाण मोटी है। मध्य में आठ योजन ऊँची है, गोलाकार और सुवर्णमयी है। उस स्थली के बीच में एक पीठ है। उसकी ऊँचाई आठ योजन है। चौड़ाई बारह योजन और ऊपर चार योजन है। उसस्थली के ऊपर के भाग में बाहर की ओर बेढकर सुवर्ण के वलय समान आधे योजन ऊँची, एक योजन के सोलहवें भाग प्रमाण चौड़ी नानारत्नों से व्याप्त

बारह अम्बुजवेदिका हैं। अर्थात् स्थली के ऊपर पहली बेदी को वेढेहुए दूसरी बेदी है और दूसरी को वेढे हुए तीसरी है और तीसरी को वेढे हुए चौथी। इस प्रकार एक दूसरी को वेष्टित किये हुए बारह वेदियाँ हैं। बारह वेदियाँ चार चार द्वारों से संयुक्त हैं। बाह्य और आभ्यन्तर वेदी के बीच में अन्तराल है। अतः बारह वेदियों के बीच में ग्यारह अन्तराल समझने। उनमें से चौथे अन्तराल में एक मूल जम्बू वृक्ष है और चार जम्बू वृक्ष अन्य हैं। तथा अन्य अन्तरालों में यथा संभव जम्बू वृक्ष हैं। सब मिलकर एक लाख चालीस हजार एकसौ बीस जम्बू वृक्ष हैं।

भावार्थ—उत्तरकुरु क्षेत्र के मध्य जम्बूवृक्ष की स्थली (थांवला) है जो तलभाग में पांचसौ योजन लम्बी चौड़ी है, जिसकी परिधि गोलाई चौडाई से कुछ अधिक तिगुनी है, और क्रमशः बाहर की तरफ से घटती २ मध्य में बारह योजन मोटी और अन्त में दो कोश मोटी है और वह एक सुवर्ण की पद्मवर वेदी से वेष्टित है, उसके मध्य भाग में नानारत्नों से निर्मापित एक पीठ (पीढ़ा चौकी) है, जो आठ योजन लम्बा और चार योजन चौड़ा और चार योजन ही लम्बा है। उसको चारों ओर से बारह पद्मवेदिएँ वेढे हुए हैं। वह वेदिका एक दूसरी को वेढेहुए है। मुख पीठ के ऊपर एक दूसरा मणिमय उपपीठ है, जो एक योजन लम्बा चौड़ा और दो कोश ऊँचा है। उस उपपीठ के मध्यभाग में सुदर्शन नाम का जम्बूवृक्ष है।

जिसकी जड़ आधे योजन भूमि में है, पीठ की भूमि से ऊपर उसका स्कन्ध दो योजन ऊँचा है और वह मरकतमणि निर्मित है, उस स्कन्ध के ऊपर वज्रमय आठ २ योजन लम्बी और आध २ योजन चौड़ी चार शाखाएँ (डालियाँ) हैं। अनेक प्रकार के रत्नों से निर्मित उसके उपशाखाएँ (छोटी २ डालियाँ) हैं। प्रवाल (मूंगे) के समान वर्ण वाले उसके फूल हैं। तथा मृदंग के समान उसके फल पाये जाते हैं। यह जम्बू वृक्ष पृथ्वीकाय है, वनस्पतिकाय नहीं है। जामुन के वृक्ष का सा आकार है। इसलिए इसे जम्बू वृक्ष कहते हैं। यह जम्बू वृक्ष दश योजन ऊँचा है, मध्य में छह योजन और ऊपर में चार योजन चौड़ा है। यह मण्डलाकार है।

इस सुदर्शन नामक मूल वृक्ष की उत्तर दिशा वाली (नील पर्वत की ओर) शाखा पर श्री जिनचैत्यालय है। और बाकी तीन शाखाओं पर आदर व अनादर यक्षों (व्यन्तर देवों) के भवन हैं। इस मूल वृक्ष के अतिरिक्त जितने परिवार वृक्ष हैं उनपर आदर व अनादर के परिवार देवों के आवास स्थान हैं।

मेरु पर्वत के दक्षिण में देवकुरु नाम की भोग भूमि है, उसमें मनोज्ञ रजतमय शाल्मली वृक्षों की स्थली है। उसमें शाल्मली वृक्ष सपरिवार अवस्थित हैं। इसका समस्त वर्णन जम्बूवृक्ष के समान समझना चाहिए। इतना विशेष है कि इसके दक्षिण दिशा की शाखा पर जिनचैत्यालय है। शेष तीन शाखाओं पर गरुड कुमार के स्वामी वेणु और वेणुधारी देव के मन्दिर (भवन) हैं। और शाल्मली के परिवार वृक्षों पर इन्हीं देवों के परिवार-देवों के आवास स्थान हैं।

विदेह क्षेत्र

मेरु पर्वत के पूर्व दिशा और पश्चिम दिशा मे विदेह क्षेत्र है। पूर्व दिशा के विदेह क्षेत्र को पूर्व विदेह और पश्चिम दिशा के विदेह क्षेत्र को पश्चिम विदेह कहते हैं। पूर्व विदेह क्षेत्र के मध्य भाग मे सीता नदी और पश्चिम विदेह क्षेत्र के मध्य भाग मे सीतोदा नदी बहती है। इस प्रकार इन दोनो नदियों के दक्षिण व उत्तर तट से चार विभाग होगये हैं। एक एक विभाग मे आठ आठ विदेह देश हैं। क्योंकि पूर्व और पश्चिम मे भद्रशाल की वेदी है। उसके आगे वक्षार पर्वत है, उसके आगे विभङ्गा नदी–इस प्रकार चार वक्षार पर्वत और तीन विभङ्गा नदी हैं और अन्त मे देवारण्य व भूतारण्य की वेदिका है। इस तरह भद्रशाल की वेदी, चार वक्षार, तीन विभङ्गा नदी, एक भूतारण्य या देवारण्य की वेदी–ऐसे नव हुए। इन नवों के बीच आठ देश एक विभाग के हुए। इसी प्रकार अन्य तीन विभागों मे भी आठ आठ देश हैं। चारों विभागों के मिलकर विदेह सम्बन्धी बत्तीस देश होते हैं।

विदेह क्षेत्र मे सात प्रकार के काले वर्ण के मेघ हैं और बारह प्रकार के श्वेत वर्ण के द्रोण नामक मेघ हैं। ऐसे ये उन्नीस प्रकार के मेघ वर्षाकाल में सात सात दिन तक वर्षा करते हैं। अर्थात् वहां पर वर्षाकाल मे एक सौ तेतीस दिन तक वृष्टि होती है।

विदेह मे दुर्भिक्ष नहीं होता। १ अतिवृष्टि, २ अनावृष्टि, ३ मूषक, ४ टिड्डी, ५ सूआ, ६ स्वराष्ट्र और ७ परराष्ट्र इस प्रकार की ईति नहीं होती है। महामारी आदि प्राणि–समूह के नाशक रोग सर्वदा नहीं होते। जिनेन्द्र देव के सिवा अन्य देव कुदेव और जिन लिङ्ग के सिवा अन्य लिंगी (कुलिंगी) और जिनोक्त मत के अतिरिक्त अन्य मत (कुमत) वहां नहीं होता है। तथा वह देश सर्वदा केवली, तीर्थंकरादि, शलाका पुरुष और ऋद्धि धारक मुनियो के विहार से पवित्र रहते हैं।

विदेह के बत्तीस देशों मे से प्रत्येक देश मे तीर्थंकर, चक्रवर्ती, अर्धचक्री, नारायण और प्रतिनारायण एक एक हों तब उत्कृष्ट रूपसे पाच मेरु सम्बन्धी विदेह देशों में एकसौ साठ होते हैं। और जघन्य रूप से सीता व सीतोदा नदी के दक्षिण और उत्तर तट में एक एक होते हैं। इस तरह एक मेरु की अपेक्षा चार और पाँच मेरु पर्वतों की अपेक्षा बीस होते हैं। अर्थात् बीस तीर्थंकर, बीस चक्री आदि तो सदा बने रहते हैं। तथा उत्कृष्ट रूप से पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्र के दश और एकसौ साठ विदेह देश के मिलाकर कुल एकसौ सत्तर तीर्थंकरादि होते हैं।

विदेह क्षेत्र सम्बन्धी बत्तीस देशों के मध्य पूर्व-पश्चिम तक लम्बा विजयार्द्ध पर्वत है। चक्रवर्ती द्वारा विजय योग्य देश को अर्ध (आधे) करने वाले पर्वत को यहाँ विजयार्द्ध नाम से कहा है। भरत क्षेत्र मे जैसे गंगा, सिन्धु और ऐरावत क्षेत्र में जैसे रक्ता, रक्तोदा नदियाँ

विजयार्ध की गुफा मे से होकर निकली है वैसे ही प्रत्येक देश के दक्षिण विभाग मे गंगा, सिन्धु और उत्तर विभाग मे रक्ता, रक्तोदा नदी
है। इस प्रकार प्रत्येक विदेह देश के छह खंड होगये हैं। भूमितल से लेकर दश योजन की ऊँचाई

विजयार्ध शैल रजत (चाँदी) मय है। उस की ऊँचाई पच्चीस योजन प्रमाण है। अतः मध्य मे तीस
तक उसकी चौड़ाई बराबर पचास योजन की है। वहाँ पर दश दश योजन की उत्तर व दक्षिण मे दो कटनियाँ छूटी हैं। तथा वहाँ पर दश-दश योजन की
योजन की चौड़ाई रह गई है और उतनी चौड़ाई समान रूप से दश योजन की ऊँचाई तक चली गई है और उतनी चौड़ाई पाँच योजन
उत्तर दक्षिण मे दो कटनियाँ और छूटी हैं, इसलिए मध्य भाग मे उसकी चौड़ाई दश योजन प्रमाण रह गई है:—उत्तर श्रेणी व दक्षिण श्रेणी। उन
तक बराबर चली गई है। जो प्रथम कटनी उत्तर दक्षिण मे छूटी है, उस पर दो विद्याधर श्रेणियाँ हैं, उनके विजयार्ध सम्बन्धी
दोनों श्रेणियो मे विद्याधरो के पचपन पचपन नगर हैं। जम्बूद्वीप के दोनो छोर पर जो भरत तथा ऐरावत क्षेत्र हैं,
दक्षिण श्रेणी तथा उत्तर श्रेणी मे क्रमसे पचास व साठ नगर हैं।

विजयार्ध की दूसरी कटनी (श्रेणी) पर सौधर्म सम्बन्धी आभियोग्य जाति के देवो के मणि-निर्मित विचित्र नगर हैं और
विजयार्ध के शिखर पर सिद्धायतनादि नवकूट हैं। उनमें जो पूर्ण भद्रनामक कूट है, उसपर विजयार्धकुमारपति देव का निवास है।

विजयार्ध पर्वत पर उत्तर व दक्षिण दोनो श्रेणियो मे एक सौ दश रत्नमय नगर हैं। उनमे (१) साधित (२) कुल और (३) जाति
इन तीन विद्याओ से युक्त विद्याधर निवास करते हैं। जिसकी स्वयं साधना करते हैं, उस विद्या को साधित विद्या कहते हैं। जो पितृ कुल क्रम से
चली आई है उसे कुल विद्या कहते हैं और जो मातृपक्ष (जाति) मे चली आई है उसे जाति विद्या कहते हैं। विद्याधर इज्या, वार्त्ता, दत्ति,
स्वाध्याय, संयम और तप इन षट्कर्म का आचरण करने वाले होते हैं। पूज्यपुरुषों की पूजा करने को इज्या कहते हैं। असिमषि कृषि आदि
छह जीवन के उपायों को वार्त्ता कहते हैं। दान देने को दत्ति, शास्त्रों के पठन पाठनादि को स्वाध्याय, अविरति के त्याग करने को संयम और
अनशनादि को तपश्चरण कहते हैं। वे विद्या की साधना विशेष करते हैं, इसलिए उन्हें विद्याधर कहते हैं। उनकी अन्य सब क्रियाएँ भरतादि
के मनुष्यवत् हैं।

वृषभाचल पर्वतों का वर्णन

विजयार्ध पर्वत के द्वारा किये गये छह खंडो मे कुलाचल, विजयार्ध और दोनो नदियो के मध्य वर्ती म्लेच्छ खण्ड के बहुमध्य
भाग में एक एक देश में एक एक वृषभाचल है। अर्थात विजयार्ध और दो दो नदियों के द्वारा प्रत्येक विदेह देश के छह छह खण्ड हुए।
है। उन में पाँच म्लेच्छ खण्ड हैं और एक आर्य खण्ड है। पाँच म्लेच्छ खण्डों में से उत्तर के दो नदियों के मध्य वर्ती खण्ड में वृषभाचल है

वह प्रत्येक देश में एक एक है। इस प्रकार पाँच मेरु सम्बन्धी पाँच विदेहों में एकसौसाठ और पाँच भरत और पाँच ऐरावत सम्बन्धी दश ऐसे सब मिलाकर एकसौ सत्तर वृषभाचल हैं। वे सब सुवर्ण वर्ण के हैं और मणिमय हैं। सब सौ योजन ऊँचे, पृथ्वी पर सौ योजन चौड़े और ऊपर पचास योजन चौडे हैं। उन पर भूतकाल सम्बन्धी चक्रवर्तियों के नाम हैं। जितने चक्रवर्ती उस उस क्षेत्र के होते हैं वे सब अपना नाम उस पर अङ्कित करदेते हैं।

राजधानियों का वर्णन

उपसमुद्र (खाडी) के निकट आर्यखण्ड (दक्षिण भाग में) है। उसमें क्षेमा, क्षेमपुरी आदि नाम की एक एक राजधानी नगरी है। उसमें चक्रवर्ती निवास करता है। वह बारह योजन लम्बी और नव योजन चौडी है। अढाई द्वीप सम्बन्धी सब मिलकर एकसौ सत्तर राजधानियाँ हैं। उनके द्वारो पर रत्नमय कपाट हैं। प्रत्येक नगरी के एक एक हजार बड़े द्वार और पाँचसो २ छोटे द्वार हैं। स्वर्णमय कोट हैं। नगर के अन्दर बारह हजार वीथियाँ (गलियाँ) हैं और एक एक हजार चौरहे बाजार हैं। नगर के बाहर तीनसौ साठ बाग-बगीचे हैं। नगर के मध्य श्री मज्जिनेन्द्रदेव के मन्दिर हैं और चक्रवर्ती के महल व अन्य समृद्ध जनों के प्रासाद हैं। वे सब रत्नमय सुशोभित हो रहे हैं।

नाभिगिरि का वर्णन

स्थिर भोगभूमि हैमवत, हरि, रम्यक और हैरण्यवत हैं। उनके मध्य में गोलाकार नाभिगिरि हैं। वे एक-एक हजार योजन ऊँचे और उतने ही नीचे से लेकर ऊपर तक चौड़े हैं। खड़े किये गये ढोल के समान उनका आकार है। इस प्रकार पाँच मेरु सम्बन्धी कुल बीस नाभिगिरि हैं। वे श्वेतवर्ण के हैं और उनके शिखर पर सौधर्म और ऐशान इन्द्र के अनुचर देव निवास करते हैं।

कूटों का वर्णन

हिमवान् कुलाचल पर ग्यारह, महाहिमवान् के ऊपर आठ, निषध पर नव, नील पर नव, रुक्मी पर आठ, शिखरी पर ग्यारह तथा विजयार्ध पर नव नव कूट हैं। वे सब नीचे में अधिक चौड़े और ऊपर क्रमशः थोड़े थोड़े चौडे हैं। इनमें से जो पूर्व दिशा में कूट है उन पर जिन मन्दिर हैं और शेष कूटो पर देव और देवियाँ निवास करती हैं। ये गोल और रत्नमय हैं और अपने २ पर्वत की ऊँचाई के चौथे भाग प्रमाण ऊँचे हैं। इनकी भूमिपर चौड़ाई ऊँचाई के समान है और ऊपर में चौड़ाई नीचे से आधी रहगई है। सम्पूर्ण पर्वतों के मूल में, नीचे तथा ऊपर शिखरपर, और द्रहों के चारों ओर वन-खंड हैं। उनकी लम्बाई पर्वतों के समान है और चौड़ाई आधे योजन प्रमाण है। उनके चारों तरफ वेदी (कंगुरेरहित कोट) की चोडाई पाचसौ धनुष और ऊँचाई दो कोश है।

कालचक्र का परिवर्तन

विदेह क्षेत्र मे सर्वदा चतुर्थकाल की प्रवृत्ति रहती है। हैमवत, हरि, रम्यक, हैरण्यवत, उत्तरकुरु और देवकुरु-ये भोग भूमियाँ है। केवल भरत और ऐरावत में कालचक्र का परिवर्तन होता है। अतः उसके अनुक्रम का प्रतिपादन करते हैं —

उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी काल और उनके छह २ भेद

अढाई द्वीप सम्बन्धी पॉच भरत और पॉच ऐरावत क्षेत्रों में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ये दो काल-चक्र परिवर्तन करते हैं। अढाई द्वीप सम्बन्धी ... आदि की क्रम से वृद्धि होती है, उसे उत्सर्पिणी काल कहते हैं और जिसमें इनकी
जिसकाल मे जीवों की शरीर की ऊँचाई, आयु, शरीरबल आदि की क्रम से वृद्धि होती है, उसे उत्सर्पिणी काल कहते हैं और जिसमें इनकी क्रम से हानि होती है उसे अवसर्पिणी काल कहते हैं। इन दोनो के छह २ भेद हैं। १ सुषमासुषमा, २ सुषमा, ३ सुषमादुःषमा, ४ दुःषमासुषमा, ५ दुःषमा और ६ दुःषमा दुःषमा (अति दुःषमा) ये अवसर्पिणी काल के भेद हैं। इसके विपरीत क्रम को लिये हुए उत्सर्पिणी काल है। उसमे १ दुःषमादुःषमा, २ दुःषमा, ३ दुःषमासुषमा, ४ सुषमादुःषमा, ५ सुषमा और ६ सुषमासुषमा ऐसा क्रम होता है।

बीसकोडाकोडी (बीसकोटि-कोटि) सागर का एक कल्पकाल होता है। उसमे से दशकोटि-कोटि सागर का अवसर्पिणी काल और दशकोटि-कोटि सागर का एक उत्सर्पिणी काल होता है। इनके जो छह २ भेद कहे गये हैं उनमे सुषमासुषमा काल चार कोटि कोटि सागर का, सुषमा तीन कोटि-कोटि सागर का सुषमा दुःषमा दो कोटि-कोटि सागर का दुःषमा सुषमा बियालीस हजार वर्ष कम एक कोटि-कोटि सागर का तथा दुःषमा इक्कीस हजार वर्ष का और दुःषमादुःषमा भी इक्कीस हजार वर्ष का होता है।

काल की अपेक्षा जीवों की आयु

उन मे से सुषमा सुषम नामक प्रथम काल सम्बन्धी जीवो की आयु प्रारंभ मे तीन पल्य की होती है और अन्त मे दो पल्य की होती है। शरीर की ऊंचाई प्रारम्भ मे छह हजार धनुष की और अन्त मे चार हजार धनुष की होती है। प्रारंभ मे अष्टमभक्ताहार (तीन दिन बीतने पर एक बार भोजन) करने वाले तथा अन्त मे षष्ठ भक्ताहार (दो दिन बीतने पर एक बार भोजन) करने वाले होते हैं। और उदय होते हुए सूर्य व सोने के समान वर्णवाले होते हैं।

सुषम नामक द्वितीय काल सम्बन्धी जीवो की आयु आरंभ मे दो पल्य और अन्त मे एक पल्य की होती है। शरीर की ऊँचाई प्रारंभ मे चार हजार धनुष और अन्त मे दो हजार धनुष की होती है। तथा प्रारंभ मे षष्ठ भक्ताहार (दो दिन मे बीतने पर एक बार

भोजन) करने वाले और अन्त मे चतुर्थ भक्ताहार एक दिन वीतने पर एक वार (भोजन) करने वाले होते हैं। चन्द्र व शंख के समान उनका वर्ण होता है।

सुपम दुःपम नामक तृतीय काल मे जीवों की आयु आदि मे एक पल्य की और अन्त में एक पूर्व कोटि की होती है। शरीर की ऊँचाई प्रारभ मे दो हजार धनुप की और अन्त मे पॉचसौ धनुप की होती है। प्रारंभ मे एक दिन वीतने पर (दूसरे दिन) आहार करते हैं और अन्त में नित्य आहार करने वाले होते हैं। ये जीव हरित नील कमल के समान वर्ण वाले होते हैं।

दुःपम सुपम नाम चतुर्थ काल के आदि मे पूर्व कोटि की आयु और अन्त मे एकसौ वीस वर्प की होती है। प्रारंभ मे नित्य आहार करने वाले और अंत मे दो वार भोजन आदि करने वाले होते हैं। शरीर की ऊँचाई प्रारभ में पॉचसौ धनुप और अन्त में सात हाथ प्रमाण होती है तथा पॉचों वर्ण के शरीर वाले होते हैं।

दुःपम नामक पचम काल मे जीवो की आयु प्रारभ में एकसौ वीस वर्प और अन्त मे वीस वर्प की होती है। प्रारभ में शरीर की ऊँचाई सात हाथ और अन्त में दो हाथ प्रमाण होती है। कान्ति हीन रुखे पॉचोंवर्ण के मिश्रित वर्ण वाले होते हैं।

दुःपम दुःपम नामक छठे काल के आदि में वीस वर्प की आयु और अन्त में पन्द्रह वर्प की आयु होती है। प्रारंभ में दो हाथ प्रमाण शरीर की ऊँचाई होती है और अन्त में एक हाथ रह जाती है। वे जीव धुएँ के समान श्याम वर्ण युक्त होते हैं। और वे वारवार आहार करने वाले होते हैं।

प्रथम काल के जीव वदरी फल (छोटे वेर) वरावर, दूसरे काल के जीव अक्षफल वरावर, तीसरे काल के जीव ऑवले वरावर कल्प वृक्षों से प्राप्त दिव्य आहार करते हैं। वे मन्द कपायी होते हैं और मलमूत्रादि नीहार से रहित होते हैं। अर्थात् उनके मलमूत्रादि नहीं होते हैं।

कल्प वृक्षों के भेद

भोगभूमि मे दश प्रकार के कल्प वृक्ष होते हैं। १ तूर्याङ्ग कल्पवृक्ष से सव प्रकार के वादित्र (वाजे) प्राप्त होते हैं। २ पात्रांग से सव प्रकार के पात्र (भाजन–वर्त्तन) मिलते हैं। ३ भूपणांग से अनेक प्रकार के भूपण उपलब्ध होते हैं। ४ पानांग से पीने की सब वस्तुऍ, ५ आहारांग से सव प्रकार के आहार, ६ पुष्पांग से सव प्रकार के पुष्प, ७ ज्योतिरंग से प्रकाश, ८ गृहांग से सव प्रकार के मकान-महल, ९ वस्त्रांग से वस्त्र और १० दीपांग मे दीपक प्राप्त होते हैं। इस प्रकार कल्प वृक्षों के दश भेद हैं।

भोगभूमि का स्वरूप

दर्पण के समान मणिमय भोगभूमि है। वह चार अंगुल प्रमाण ऊँचे उत्तम रस और गंध युक्त कोमल तृणो से सुशोभित है और दुग्ध या इक्षुरस या जल अथवा मधु समान रस या घृत से परिपूर्ण वावडी और द्रह (सरोवर) से व्याप्त है।

वहाँ पर माता के गर्भ से एक साथ स्त्री पुरुष का युगल (जोडा) उत्पन्न होता है। वे युगल बालक जन्म दिन से लेकर सातदिन तक अपना अंगूठा चूसते हैं। फिर सात दिन में भूमि पर रेंगते हैं—पेट के बल चलते हैं। फिर सात दिन में लडखडाते चलने लगते हैं। तदन्तर सात दिन में स्थिरगति से चलने लगते हैं। उसके बाद सातदिन में कला गुण का ग्रहण करते हैं। पुन सातदिन में यौवन अवस्था प्राप्त कर लेते हैं। पश्चात सातदिन में परस्पर का दर्शन व ग्रहण करते हैं। इस प्रकार उनचास दिनो में परिपूर्णता प्राप्त करलेते हैं।

ये युगल दम्पति होते है। इनके वज्रवृषभनाराच संहनन होता है, और समचतुरस्रसंस्थान होता है। वे मन्द कषाय वाले होते हैं अत. आर्य नाम के धारक होते हैं। इनको पचेन्द्रियो के विषयों से अरुचि नहीं होती है। इनकी अनपवर्त्य आयु होती है। अर्थात् इनकी अकाल मृत्यु नही होती है। आयु के पूर्ण होने पर पुरुष तो छींक से और स्त्री जभाई से मृत्यु को प्राप्त होती हैं। इनका मृतक शरीर शरद् काल के मेघ समान विलीन होजाता है, इनके शरीर का अंश मात्र भी पडा नहीं रहता। ये मरकर देव पर्याय प्राप्त करते हैं। इनमे जो मिथ्या दृष्टि होते हैं वे तो भवनवासी, व्यन्तर या ज्योतिष देव होते हैं और जो सम्यग्दृष्टि होते हैं, वे सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में जन्म लेते हैं, अन्यत्र जन्म नही लेते हैं। इस प्रकार प्रथम काल की आदि में उत्कृष्ट भोग भूमि होती हैं। क्रम से घटते घटते द्वितीय काल के प्रारंभ में मध्यम भोग भूमि होती है। और उससे भी क्रमश घटते घटते तृतीय काल के प्रारंभ में जघन्य भोग भूमि होती है। इस प्रकार घटने का क्रम चलते हुए तृतीय काल के अन्त में कुलकर उत्पन्न होते हैं और फिर कर्म-भूमि का समय आता है।

कर्म-भूमि के प्रवेश का अनुक्रम और कुलकरों की उत्पत्ति

जब तृतीय काल पल्य के आठवें भाग प्रमाण शेष रहजाता है, तब कुलकर उत्पन्न होते हैं। वे चौदह होते हैं—१ प्रतिश्रुति, २ सम्मति, ३ क्षेमंकर, ४ क्षेमंधर, ५ सीमंकर, ६ सीमंधर, ७ विमलवाहन, ८ चक्षुष्मान, ९ यशस्वी १० अभिचन्द्र, ११ चन्द्राभ, १२ मरुदेव, १३ प्रसेनजित और १४ नाभि। इन्हीं चौदहवें नाभि कुलकर के पुत्र प्रथम तीर्थंकर श्री आदिदेव हुए। जो पहले पात्र दान के पुण्य से मनुष्य आयु का बन्ध करते हैं और पश्चात् क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं, वे ही जीव आकर कुलकर होते हैं। वे क्षत्रिय कुल में उत्पन्न होते हैं। यद्यपि प्रकट रूप मे क्षत्रियादि कुल की प्रवृत्ति तब तक नहीं होती तथापि भावी का भूत मे उपचार करके इन्हे क्षत्रिय कुल मे उत्पन्नका हुए कहा

जाता है। अथवा भाव में क्षत्रियत्व उनमे विद्यमान था अत. क्षत्रिय कुलोत्पन्न कहा है। उन कुलकरो में से कई तो जातिस्मरण ज्ञानवाले होते हैं और कई को अवधिज्ञान प्राप्त होता है।

प्रथम कुलकर की आयु पल्य के दशवें भाग प्रमाण होती है और आगे आगे के कुलकरों की आयु दश दश गुणी हीन है। अर्थात् प्रथम कुलकर की पल्य के दशवें भाग, दूसरे की पल्य के सौवें भाग, तीसरे की पल्य के हजारवे भाग इस क्रमसे घटते २ अन्तिम कुलकर नाभि महाराज की आयु पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण रह गई है।

एक कुलकर के मरने के पश्चात् जितना काल बीतने पर दूसरा कुलकर उत्पन्न होता है, उसको कुलकरो का अन्तराल कहते हैं। चौदह कुलकरो के तेरह अन्तराल होते हैं। उनमे से प्रथम अन्तराल पल्य के अस्सीवें भाग प्रमाण है। प्रथम कुलकर की मृत्यु होने के बाद पल्य के अस्सीवें भाग बीतने पर दूसरा कुलकर हुआ है। इसी प्रकार बारह अन्तराल दश दश गुणे भागहार से भाजित पल्य प्रमाण जानने चाहिए।

आदि के पाच कुलकर अपराधियो को 'हा' ऐसा वचन बोल कर दण्ड देते हैं। 'हा' का अर्थ है—हाय यह बुरा किया। उनके बाद के पॉच कुलकर 'हामा' बोलकर दण्ड देते हैं। अर्थात्—'हाय बुरा किया, मत करो। वे अपराधियो को ऐसा कहते हैं। इनके पश्चात् वृषभदेव सहित पॉच कुलकरों ने 'हामाधिक्' का दण्ड विधान नियत किया। इस का अर्थ है—हाय बुरा किया, मत करो, धिक्कार है तुम्हे।

चक्षुष्मान और यशस्वी के शरीर का वर्ण श्याम था, तथा प्रसेनजित और चन्द्राभ कुलकर के शरीर का वर्ण धवल और शेष कुलकरों के वर्ण सुवर्ण समान थे।

कुलकरो का कार्य

ज्योतिरग जाति के कल्पवृक्षो के मन्द होजाने से सूर्य और चन्द्रमा दिखाई देने लगे। उनको देखकर प्रजा भयभीत हुई। प्रथम कुलकर ने प्रजा को समझा कर उसका भय दूर किया। दूसरे कुलकर ने ताराओ के दर्शन से उत्पन्न हुए प्रजा के भय को दूर किया। सिंह आदि जन्तुओ मे क्रूरता आने लगी। तब तीसरे कुलकर ने उनसे बचने का उपाय बतलाकर जनता को निर्भय किया। सिंहादि प्राणी अति क्रूर स्वभाव वाले होगये तब चौथे कुलकर ने उनको दण्ड देने का उपाय दिखलाकर लोगो को भयरहित किया। कल्पवृक्ष अल्पफल देने लगे तब प्रजा में परस्पर कलह होने लगा। पॉच कुलकर ने सीमा बाधने कर उनके झगडे दूर किये। जब कल्पवृक्ष अत्यन्त मन्द होने लगे तब प्रजा में उस मर्यादा मे भी झगडा होने लगा तो छठे कुलकर ने विशेष चिह्नादि द्वारा सीमा को दृढ़ करके झगडा मिटाया। सातवें कुलकर ने घोडे आदि की सवारी नियत की। आठवें ने बालक का जन्म होने के पश्चात् भी कुछ कालतक जब उसके माता-पिता जीवित रहने लगे और बालक का

मुख.देखकर भय करने लगे तब उनके भय का निवारण किया। बालक के उत्पन्न होने के बहुत समय पश्चात् तक जब माता पिता जीवित रहने लगे तो उन्हे नवमे कुलकर ने बालक को आशीर्वादादि देना सिखलाया। बालक की उत्पत्ति होने के पश्चात् और भी अधिक काल तक माता-पिता जीने लगे तब दशवें कुलकर ने उनको बालक को चन्द्रमा दिखाना आदि केलि-क्रीडाएँ सिखलाई। बालक के जन्म के बाद माता-पिता बहुत अधिक काल तक जीवित रहने लगे तब प्रजा को भय उत्पन्न हुआ उसका निवारण ग्यारहवें कुलकर ने किया। बारहवें कुलकर ने जब जलवृष्टि से नदी जलाशय आदि हुए तो उनमें तिरने के उपाय व नाव आदि का विधान बतलाया। जब जरायु सहित बालक उत्पन्न होने लगे तब तेरहवें कुलकर ने जरायु का छेदन करना सिखलाया। अब नाल सहित बालक उत्पन्न होने लगे तो चौदहवें कुलकर ने नाल छेदन करना सिखलाया और इन्द्र धनुप, विद्युत् (बिजली) आदि होने लगे तब उनके देखने से उत्पन्न हुए प्रजा के भय को मिटाया, तथा फलों के आकारादि का ज्ञान और भोजन-विधि का ज्ञान कराया। इसके पश्चात् कर्मभूमि की प्रवृत्ति हुई।

तिरेसठशलाका पुरुष

श्री आदि ब्रह्मा/ऋषभ देव तीर्थंकर ने नगर, ग्राम, पत्तनादि की रचना का ज्ञान; लौकिक कार्यों से सम्बन्ध रखने वाले शास्त्र, और असि मसि कृषि आदि जीवन के उपाय, और दयामूल धर्म की स्थापना की।

चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नव नारायण, नव प्रतिनारायण और नव बलभद्र ऐसे तिरेशठ शलाका पुरुष चौथेकाल में उत्पन्न होते हैं।

तीर्थंकर के शरीरो की ऊँचाई व आयु का प्रमाण

आदि तीर्थंकर के शरीर की ऊँचाई पाँचसौ धनुष की होती है। द्वितीय तीर्थंकर से लेकर आठ तीर्थंकरों के शरीर की ऊँचाई पचास-पचास धनुप कम होती गई है। तथा दशमे तीर्थंकर से लेकर पॉच तीर्थंकरों की दश दश धनुप कम और पन्द्रहवें से लेकर आठ तीर्थंकरों की पाँच पॉच धनुप कम शरीर की ऊॅचाई है। पार्श्वनाथ के नव हाथ और वर्धमान के सात हाथ शरीर की ऊॅचाई है।

प्रथम तीर्थंकर की आयु चौरासी लाख पूर्व, दूसरे की बहत्तर लाख पूर्व, तीसरे की साठ लाख पूर्व, चौथे तीर्थंकर से लेकर पाँच तीथकरो की दशदश लाख पूर्व कम, नवें की दोलाख पूर्व, दशवें की एक लाख पूर्व वर्ष की आयु है। ग्यारहवें से लेकर क्रम से चौरासीलाख बहत्तरलाख, साठलाख, तीसलाख, दसलाख, एकलाख, पिच्यानवे हजार, चौरासी हजार पचपनहजार, तीसहजार, दसहजार, एकहजार, एकसौ, और अन्तिम तीर्थंकर की बहत्तर वर्ष की आयु होती है।

तीर्थंकरों के अन्तराल

प्रथम तीर्थंकर के पश्चात् अगले तीर्थंकर जितने काल के बाद होते हैं उसे अन्तराल कहते हैं। ऐसे अन्तराल चौबीस तीर्थंकरों के तेईस होते हैं। प्रथम अन्तराल पचास कोटि सागर, तीन वर्ष, आठ महीने और एक पक्ष प्रमाण है। इतने काल के बीतने पर ऋषभदेव तीर्थंकर के पश्चात् अजितनाथ तीर्थंकर हुए। इसके बाद दूसरे से लेकर चौथे अन्तराल का काल क्रम से तीस लाख कोटि सागर, दशलाख कोटि सागर, नवलाख कोटि सागर है। इस के बाद पाँचवे अन्तर से लेकर पाँच अन्तरालो मे क्रम से प्रत्येक अन्तराल दशवें-दशवें भाग प्रमाण है। अर्थात् क्रमसे निब्बे हजार कोटि, नवहजार कोटि, नवसौ कोटि, निब्बैकोटि और नव कोटि सागर प्रमाण अन्तराल है। इसके अनन्तर दशवाँ अन्तराल एकसौ सागर और छियासठ लाख छब्बीस हजार वर्ष हीन एक कोटि सागर प्रमाण है। इसके बाद ग्यारहवें आदि अन्तराल क्रमश चौवन सागर, तीस सागर, नव सागर, चार सागर प्रमाण है। पन्द्रहवाँ अन्तराल पौन पल्य हीन तीन सागर प्रमाण है। सोलहवाँ अन्तराल आधे पल्य का है। सत्रहवाँ हजार कोटि वर्ष हीन चौथाई पल्य प्रमाण है। इसके बाद अठारहवें आदि अन्तराल हजार कोटि वर्ष, चौवन लाख वर्ष, छह लाख वर्ष, पाँचलाख वर्ष, तियासी हजार सातसो पचास वर्ष प्रमाण है। और अन्तिम तेईसवाँ अन्तराल तीन वर्ष आठ महीने व एक पक्ष हीन दौसौ पचास वर्ष का है। अर्थात् दोसौ छियालीस वर्ष, तीन मास और एक पक्ष प्रमाण अन्तराल है। ये सब अन्तराल एक के मोक्ष काल से लेकर दूसरे के मोक्ष काल तकके हैं, जन्मादि की अपेक्षा से नहीं है। अर्थात् ऋषभ देव के मोक्ष गमन से अजित नाथ के मोक्षगमन तक मध्य काल प्रथम अन्तराल है। इसी प्रकार सब अन्तरालो मे समझ लेना चाहिए।

इन अन्तरालों मे अपनी अपनी आयु के काल को घटाने पर पूर्व तीर्थंकर से आगे के तीर्थंकर का अन्तराल होता है। जैसे प्रथम अन्तराल मे से अजित नाथ की आयु को घटा देने से प्रथम जिनेन्द्र के मोक्ष जाने और द्वितीय तीर्थंकर के जन्म-लेने के बीच का अन्तरकाल निकलता है। ऐसे ही अन्य का भी जान लेना चाहिए।

श्री महावीर जिनेन्द्र का तीर्थकाल इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण दुषम और इतना ही दुःषम दु षम है। यह सब मिलाकर बियालीस हजार वर्ष प्रमाण है।

तीसरे काल के तीन वर्ष आठ महीने और एक पक्ष शेष रहने पर प्रथम तीर्थंकर मोक्ष गये और चौथे काल के उतने ही (तीन वर्ष आठ मास और एक पक्ष) बाकी रहने पर श्रीमहावीर भगवान सिद्ध हुए।

जिनधर्म का उच्छेद-काल

पुष्पदन्त और शीतलनाथ के अन्तराल मे पाव पल्य, शीतल नाथ और श्रेयोनाथ के अन्तराल मे आधा पल्य, श्रेयोनाथ और

वासुपूज्य के अन्तराल मे पौन पल्य, वासु पूज्य और विमलनाथ के अन्तराल मे एक पल्य, विमलनाथ और अनन्तनाथ के अन्तराल मे पौन पल्य, अनन्तनाथ और धर्मनाथ के अन्तराल मे आधा पल्य, धर्मनाथ और शान्तिनाथ के अन्तराल मे पाव पल्य तक धर्म का उच्छेद (अभाव) चतुर्थ काल मे रहा । उक्त समय मे जिन धर्म के वक्ता, श्रोता, आचरण कर्त्ता के अभाव से समीचीन जिनधर्म का अस्तित्व नही रहता है।

शक और कल्की की उत्पत्ति ।

श्री वर्धमान जिनेन्द्र के मोक्षजाने के पश्चात् छहसौ पॉच वर्ष और पॉच महीने बीतने पर शक (विक्रम) राजा उत्पन्न होता है। और उसके अनन्तर तीनसौ चौरानवे वर्ष और सात महीने बीतने पर कल्की का जन्म होता है।

नियत भोग भूमियॉ

भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्र के अतिरिक्त सब भोग भूमियॉ है। उनमे देवकुरु और उत्तरकुरु ये दो उत्कृष्ट भोग भूमियॉ हैं। ये मेरु के निकट दक्षिण और उत्तर मे हैं। इनकी परिस्थिति-जीवो की आयु, शरीरादि सब रचना प्रथम काल के आदि के समान सदा रहती है। हरिक्षेत्र और रम्यकक्षेत्र मे दूसरे काल के समान सब रचना प्रवृर्त्त होती है। ये मध्यम भोग भूमियाँ हैं। इनमे सर्वदा दूसरा काल (सुषम) रहता है। हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्र मे सदा तीसरा काल (सुषमदु षम) रहता है। और विदेह क्षेत्र मे सदा चतुर्थ काल अवस्थित है।

भरत और ऐरावत सम्बन्धी पॉच-पॉच म्लेच्छ खण्डो मे और विजयार्ध पर्वत पर विद्याधरो की श्रेणियों मे दु.षम सुषम काल की आदि से लेकर उसी के अन्ततक जैसी हानि वृद्धि होती है वैसी हानि वृद्धि होती रहती है। अत. अवसर्पिणीकाल मे तो चतुर्थ काल की आदि से लेकर अन्त पर्यन्त आय खड के अनुक्रम से आयु आदि की हानि होती है। वहॉ पर पचमकाल व छठा काल नहीं वर्त्तता है। तथा प्रथमादिकाल की भी प्रवृत्ति नहीं होती है। भाव यह है कि आर्यखण्ड मे प्रथमादि काल की प्रवृत्ति जिस समय होती है उस समय में भी उक्त म्लेच्छखडादि मे प्रथमादिकाल की प्रवृत्ति नहीं होती है, किन्तु अवसर्पिणी काल मे उस के चतुर्थ काल की आदि से अन्ततक और उत्सर्पिणी काल मे उसके तृतीय काल की आदि से लेकर अन्त पर्यन्त आर्य खड मे हानि वृद्धि जैसी होती है उसी के अनुसार वहॉ पर आर्य खण्ड मे अ ासर्पिणी व उत्सर्पिणी मे हानि वृद्धि होती है। अर्थात् वहा पर एक रूप वर्त्तना है।

देवगति मे सुषम-सुषम काल के समान सदा सुख की प्रवृत्ति होती है और नरकगति मे दु.षम दुःषम काल के समान सदा दु खमय प्रवृत्ति रहती है। मनुष्यगति और तिर्यंचगति मे छहो काल की प्रवृत्ति होती है।

स्वयंभूरमण नामक द्वीप के मध्य में चारो ओर मानुषोत्तर पर्वत के समान स्वयंप्रभ पर्वत है इससे उसके दो भाग होगये हैं। उन मे से स्वयभूरमण द्वीप के अग्रिमभाग मे तथा स्वयंभूरमण समुद्र मे दु पमकाल की सी मदा प्रवृत्ति रहती है।

'कुमनुष्य भोग भूमि जो समुद्र में है वहाँ तीसरे काल के समान प्रवृत्ति है।

कुभोग भूमि कहाँ कहाँ हैं?

लवण समुद्र के अभ्यन्तर आठ दिशाओ मे आठ, और उनके मध्य मे आठ, तथा हिमवान् और शिखरी एवं भरत और ऐरावत के दोनों विजयार्ध के अन्तिम तटों पर आठ, इस प्रकार चौबीस द्वीपस्थ कुभोग भूमियॉ हैं। तथा लवण समुद्र के वाह्यतट पर उक्त प्रकार चौबीस कुभोग भूमियॉ लवण समुद्र सम्बन्धी है। और कालोदधि मे भी लवण समुद्र समान अडतालीस कुभोग भूमियाँ हैं। ये कुभोग भूमियॉ द्वीपों पर हैं।

जो दिशा सम्बन्धी द्वीप हैं, वे जम्बूद्वीप की वेदिका से पॉचसौ योजन दूरपर समुद्र मे स्थित हैं। विदिशाओं और अन्तर (मध्य) के जो द्वीप हैं वे वेदिका से साढे पाचसो योजन दूर पर अवस्थित हैं। और जो पर्वतों के अन्तिम तट पर अवस्थित हैं वे छहसौ योजन दूर पर हैं। दिशाओं के द्वीप सो योजन चोडे, विदिशाओं के पचास योजन और शैलान्त द्वीप पच्चीस योजन चौडे हैं। पूर्व दिशा सम्बन्धी द्वीपवर्त्ती कुभोग भूमि मे मनुष्य एक टागवाले, पश्चिम मे पूछवाले, उत्तर मे गूगे और दक्षिण मे सींगवाले हैं। विदिशाओं मे खरगोश के समान कान, पूडी के समान कान, ओढने के वस्त्र समान कान और लम्बे कान वाले हैं। अन्तराल (दिशाविदिशा के मध्य) वर्त्ती द्वीपों मे अश्व, सिंह, कुत्ते, भैंसे, शूकर, व्याघ्र, काक, घूक (उल्लू) और कपि के समान मुखवाले मनुष्य हैं। शिखरी पर्वत के दोनों तटों पर मेघ और बिजली के समान मुखवाले मनुष्य हैं। हिमवान् पर्वत के दोनों अन्तिम तटोपर मत्स्य (मच्छ) मुख और काल मुख हैं। उत्तर विजयार्ध के दोनों अन्त तटों पर हस्ति समान और आदर्श (दर्पण) समान मुखवाले हैं। और दक्षिण विजयार्ध के आखिरी तटों पर गोमुख मेघमुखवाले मनुष्य हैं। उनमे जो एक टागवाले हैं वे गुफाओं मे निवास करते हैं और अतिमिष्ट मृत्तिका का आहार करते हैं। शेष सब पुष्प व फल का आहार करते हैं और वृक्षो पर निवास करते हैं। सब कुभोग भूमि के मनुष्यों की आयु एकपल्य प्रमाण होती है।

कुभोगभूमियों में जन्म लेने वाले जीव

जो जीव जिन लिंग (मुनि भेष) धारण करके मायाचार करते हैं। ज्योतिष, मन्त्र वैद्यक आदि से आहारादि रूप आजीविका करते हैं, रुपया पैसा आदि धन चाहते हैं, ऋद्धि, यश, सातारूप गौरव से सयुक्त हैं, आहार, भय मैथुन और परिग्रह सम्बन्धी संज्ञा (वाछा)

रखते हैं, गृहस्थो के परस्पर विवाह सम्बन्ध का मेल मिलाते हैं, सम्यग्दर्शन की विराधना करते हैं, अपने व्रतादि मे लगे हुए दोषों की गुरु के निकट आलोचना नहीं करते हैं, अन्य जीवो को दोष लगाते हैं, या जो मिथ्यादृष्टि पंचाग्नि आदि तप करते हैं, मौन रहित भोजन करते हैं वे कुभोग भूमि मे जन्म लेते हैं। इसी प्रकार जो गृहस्थ दान देने के अयोग्य अवस्था (सूतकादि अवस्था) मे दान देते हैं तथा कुपात्रों को दान देते हैं वे भी उक्त कुभोग भूमि मे जन्म लेते हैं।

धातकी खंड और पुष्करार्ध द्वीपों की रचना

जम्बूद्वीप से चतुर्गुण विस्तार वाला (चारलाख योजन) धातकी खंड है। उसमे जम्बूद्वीप से दूनी रचना है। और उतनी ही रचना पुष्करार्घ द्वीप मे है। उन दोनों द्वीपो के मध्य मे उत्तर दक्षिण तक लम्बे दो दो इष्वाकार पर्वत हैं जो सुवर्णमय हैं। पूर्व पश्चिम मे एक हजार योजन चौडे हैं और चारसौ योजन ऊँचे हैं और उत्तर दक्षिण मे अपने अपने द्वीपसमान क्रमसे चार लाख और सोलह लाख योजन प्रमाण लम्बे हैं। एक एक क्षेत्रादि की रचनारूप वसती के धारक हैं।

धातकी खड और पुष्करार्ध मे दो दो मेरु हैं। बारह २ कुलाचल और चौदह २ क्षेत्र आदि हैं। अर्थात् पर्वत व क्षेत्रादि संख्या मे जम्बूद्वीप से दुगने २ हैं। विस्तार मे क्रमसे दुगने २ और अठगुने २ हैं। और ऊँचाई और गहराई आदि मे जम्बूद्वीप के कुलाचल ह्रदादि के समान ही हैं। धातकी खड और पुष्करार्ध के क्षेत्र और कुलाचलो का आकार पहिये के अरछिद्र और अरकाष्ट के आकार के समान हैं। अरछिद्र के आकार के समान क्षेत्र है और अरकाष्ठ के आकार के समान कुलाचल हैं। धातकी खड मे पृथिवी कायिक रत्नमय धातकी वृक्ष हैं और पुष्कर हैं। उनका वर्णन जम्बूद्वीप स्थित जम्बूवृक्ष के समान जानना चाहिए।

लवण समुद्र के पाताल

जम्बूद्वीप की चारों ओर की वेदिका से पिच्यानवे हजार योजन दूरे लवण समुद्र मे जाकर चारों दिशाओं मे चार महापाताल हैं। उनके तल व पार्श्व भाग वज्रमय है। प्रत्येक एक लाख योजन के गहरे हैं और मध्य भाग मे उतने ही (एक लाख योजन प्रमाण) चौड़े तथा मूल मे मुख भाग मे दशहजार योजन चौडे हैं। पूर्व दिशा मे पाताल, पश्चिम मे वडवामुख, उत्तर मे यूपकेसर और दक्षिण मे कलबुक नामक महापाताल हैं। इनमे से प्रत्येक के नीचे के तृतीय भाग मे वायु भरा है। मध्य के तृतीय भाग मे वायु और जल है और ऊपर के तृतीय भाग मे केवल जल है। रत्नप्रभा पृथ्वी के खरभाग म भवनवासी देवो के भवन हैं। वहाँ पर वातकुमार देव और उनकी देवागनाएँ क्रीडा करती हैं। उससे वायु मे क्षोभ उत्पन्न होता है। उस क्षुब्ध वायु के निमित्त से पातालों के वायु और जलका निष्कासन व प्रवेश होता है।

उसके निमित्त से जल वृद्धि होती है। तथा पाताल में वायु के वेग का शमन होजाने पर जल हानि होती है। अर्थात् जल समान स्थिति में आजाता है। चारों पातालों में एक दूसरे का अन्तर दो लाख सत्ताईस हजार सात सौ योजन और कुछ अधिक तीन कोश प्रमाण है।

उन महापातालों के मध्य में चारों विदिशाओं में चार क्षुद्रपाताल हैं। उनकी गहराई दश २ हजार योजन है तथा मध्य में इतने ही चौड़े हैं। और मूल और ऊपर मुख में एक एक हजार योजन चौड़े हैं। महापातालों की तरह उनके नीचे के तृतीय भाग में वायु है, मध्य के त्रिभाग में वायु और जल है तथा ऊपर के त्रिभाग में जल है।

उक्त आठों दिशा व विदिशा में स्थित पातालों के अन्तरालों में एक हजार क्षुद्रपाताल हैं। वे प्रत्येक एक एक हजार योजन के गहरे और मध्य में उतने ही चौड़े हैं तथा मूलतल में व ऊपर मुख में पांच पाँच सौ योजन चौड़े हैं। उनके भी पूर्व की तरह तीन भाग हैं। पहले (नीचे) के त्रिभाग में वायु, मध्य के त्रिभाग में वायु और जल तथा ऊपर के त्रिभाग में जल है।

भावार्थ—लवण समुद्र का जल समभूमि से ग्यारह हजार योजन ऊंचा है और पूर्णिमा को वह सोलह हजार योजन ऊँचा हो जाता है। कारण यह कि पातालों के मध्य त्रिभाग में नीचे पवन और ऊपर जल है। सो कृष्णपक्ष में प्रतिदिन पवन की जगह जल होता जाता है और शुक्ल पक्ष में जल की जगह पवन होजाता है। इसलिए शुक्लपक्ष में जल अधिक ऊँचा होता २ पूर्णिमा के दिन सोलह हजार योजन ऊँचा हो जाता है। और कृष्णपक्ष में घटता घटता अमावस्या के दिन अपनी समान स्थिति में आजाता है। अर्थात् समतल भूमि से ग्यारह हजार योजन ऊँचा रहता है। यह इसकी स्वाभाविक स्थिति है। इसका विशेष वर्णन त्रिलोकसार आदि ग्रन्थों से जानना।

अन्य द्वीप व समुद्र

इस मध्य लोक में असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। उनकी संख्या अढाई उद्धार सागर प्रमाण है। (दश उद्धार पल्य का एक उद्धार सागर होता है)। उन अढाई उद्धार सागर प्रमित द्वीप समुद्रों में १ जम्बूद्वीप, २ घातकी खंड, ३ पुष्करद्वीप, ४ वारुणिवर, ५ क्षीरवर, ६ घृतवर, ७ क्षौद्रवर (मधुवर) ८ नन्दीश्वर, ९ अरुणवर, १० अरुणाभास, ११ कुंडलवर, १२ शंखवर, १३ रुचकवर, १४ भुजगवर १५ कुशागवर, १६ क्रौंचवर आदि असंख्यात द्वीप हैं।

जम्बूद्वीप को चारों तरफ से लवण समुद्र वेढे हुए है, घातकी खंड को कालोद समुद्र वेढे हुए है, पुष्कर द्वीप को पुष्कर समुद्र वेढे हुए है। इस प्रकार उत्तरोत्तर द्वीप व समुद्र एक दूसरे को वेढे हुए हैं। आगे के सब समुद्रों के नाम पूर्व-पूर्ववर्ती द्वीपों के समान हैं। जैसे पुष्कर द्वीप-पुष्कर समुद्र, वारुणि द्वीप-वारुणि समुद्र इत्यादि।

जम्बूद्वीप एकलाख योजन प्रमाण चौड़ा है और गोल है। उससे आगे द्वीप व समुद्र दूने २ चौड़े और पूर्व-पूर्व को घेरे हुए तथा गोल आकार के धारक हैं।

समुद्रों के जल का रसास्वाद

लवण समुद्र, वारुणि, क्षीरसागर, घृतवर, ये चार समुद्र अपने नामके अनुरूप स्वाद वाले हैं। लवण समुद्र में जल लवणसा खारे स्वाद वाला है, वारुणिसमुद्र मे मदिरा के समान स्वाद वाला जल है, क्षीरसागर में दुग्धसमान रसवाला जल है और घृतवर मे घृतसमान रस का धारक जल है। कालोद, पुष्कर और स्वयंभूरमण इन तीन समुद्रों मे जल के समान स्वादवाला जल है। इनके अतिरिक्त सम्पूर्ण समुद्रों के जल का स्वाद इक्षु (ईख-साठे) के रस के समान है।

लवणसमुद्र, कालोदसमुद्र तथा अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र में जलचर मत्स्यादि जीव पाये जाते हैं। क्योंकि ये तीनों समुद्र कर्म भूमि सम्बधी हैं। शेष समस्त समुद्रों मे जलचर जीव नहीं हैं, क्योंकि वे भोगभूमि सम्बन्धी हैं और भोगभूमि में जलचर जीव नहीं होते हैं।

पुष्कर द्वीप के मध्य (बीचोबीच) वलयाकार गोल मानुषोत्तर पर्वत है। उसके भीतर-भीतर अर्थात् ढाई द्वीप और दो समुद्रों मे ही मनुष्य पाये जाते हैं। मानुषोत्तर पर्वत को लांघकर बाहर जाने की मनुष्य मे सामर्थ्य नहीं है।

मानुषोत्तर पर्वत के परे और स्वयंभूरमण द्वीप के मध्य मे स्थित स्वयप्रभ पर्वत के भीतर अर्थात् आधे स्वयभूरमण द्वीप तक भोगभूमिया तिर्यंच हैं। जैसे पुष्कर द्वीप के मध्य मे मानुषोत्तर पर्वत है, तथा कुण्डलवर द्वीप के बीचो बीच कुण्डलगिरि और रुचकवर द्वीप के मध्य मे रुचकगिरि है वैसे ही स्वयंभूरमणद्वीप के बीचोंबीच वलयाकार स्वयप्रभगिरि है। उससे स्वयंभूरमणद्वीप के दो विभाग होगये हैं। उसके परले विभाग मे तथा स्वयभूरमण समुद्र मे कर्मभूमि है। इतना विशेष जानना।

ज्योतिष देवों का वर्णन

चित्रा पृथ्वी के प्रारम्भ से मेरु की चूलिका के अन्तिम भाग तक मध्यलोक माना गया है। मेरुपर्वत की अवगाहना (भूमि के अन्दर-नींव) एक हजार योजन है। वहीं से चित्रा पृथ्वी का प्रारभ माना है और उसकी मोटाई एक हजार योजन (मेरु पर्वत की नींव प्रमाण) है। चित्रा पृथ्वी के ऊपर के सम भूमि भाग से सातसो निब्बे योजन ऊंचे से ज्योतिष देवों का निवास क्षेत्र प्रारभ होता है और नौसौ योजन की ऊँचाई पर समाप्त होता है। अर्थात एकसौ दश योजन मोटे क्षेत्र मे ज्योतिष देवो का निवास है। जैसा कि राजवार्त्तिक मे कहा है—

ज्योतिष् देवों के विमान

णवदुत्तर सत्तसया दससीदी चदुतिगंच दुगचदुक्कं ।
ताराविंससिरिक्खा बुहभग्गवगुरुअंगिरारसणी ॥ १ ॥

अर्थ—इस सम भूमिभाग से सातसौ नब्बे योजन ऊपर जाकर ताराओं का संचार है। उसके ऊपर दश योजन जाकर सूर्य का संचार है। उससे अस्सी योजन ऊपर जाकर चन्द्रमा का भ्रमण क्षेत्र है। उसके ऊपर तीन योजन जाकर नक्षत्र है। उसके तीन योजन ऊपर जाकर बुध विचरण करता है। उसके ऊपर तीन योजन जाकर शुक्र का सचार होता है। उसके ऊपर तीन योजन जाकर बृहस्पति भ्रमण करता है। उसके चार योजन ऊपर मगल का सचार क्षेत्र है। उसके ऊपर चार योजन जाकर शनैश्चर भ्रमण करता है।

त्रिलोकसार मे उक्त कथन से भिन्नता प्रतीत होती है, वह निम्न प्रकार है—

णवदुत्तरसत्तसए दससीदी चदुदुगे च तियचउक्के ।
तारिणससिरिक्खबुहा सुक्कगुरुंगारमंदगदी ॥ ३३२ ॥

अर्थ—समतल भूमिभाग मे सातसौ निब्वे योजन ऊपर जाकर तारा है। उससे दश योजन ऊपर जाकर सूर्य का भ्रमण है। उससे अस्सी योजन ऊपर जाकर चन्द्रमा का सचार है। उससे चार योजन ऊपर जाकर नक्षत्र हैं। उससे चार योजन ऊपर जाकर बुध है। उससे तीन योजन ऊपर जाकर शुक्र है। उससे तीन योजन ऊपर जाकर बृहस्पति है। उससे तीन योजन ऊपर जाकर मगल है तथा उससे तीन योजन ऊपर जाकर मन्दगति (शनैश्चर) है।

राजवार्तिक मे नक्षत्रादि चार को तीन तीन योजन के अन्तर और मगल शनि को चार २ योजन के अन्तर पर कहा है। और त्रिलोक सार मे नक्षत्र तथा बुध को चार चार योजन के अन्तर पर और शुक्र, गुरु, मंगल और शनि को तीन २ योजन के अन्तर पर दिखलाया है।

अठासी ग्रहों मे से उक्त कथन से अवशिष्ट ग्रहों के विमान बुध और शनैश्चर के बीच अन्तराल मे है।

विमानो के आकार और वर्ण

सम्पूर्ण ज्योतिष देवों के विमान आधे गोले के आकार है। अर्थात् गोले के बीच मे से बराबर दो टुकड़े करने पर एक आधे

गोले का चौडा भाग ऊपर और सकडा भाग नीचे रखने पर जैसा आकार होता है ऐसा आकार ज्योतिष विमानों का है। उनमे देवों के नगर और जिन मन्दिर बने हुए हैं।

ज्योतिष देवों में चन्द्रमा तो इन्द्र है और सूर्य प्रतीन्द्र है। चन्द्रमा का विमान ५६/६१ योजन अर्थात् एक योजन के इकसठ भागों मे से छप्पन भाग प्रमाण लम्बा चौडा है। तथा २८/६१ योजन मोटा है। अर्थात् एक योजन के इकसठ भागों मे से अठाईस भाग प्रमाण उसकी मोटाई है। विमान का आधे गोले के समान आकार है। और उसको वहन करने (उठाने) वाले सोलह हजार देव हैं। निर्मल मृणाल के समान अकमणि से वह निर्मित हैं।

सूर्य का विमान तपे हुए सुवर्ण के समान कान्तिवाली लोहिताक्ष मणि से निर्मित है। उसकी चौडाई लम्बाई ४८/६१ योजन है। अर्थात् एक योजन के इकसठ भाग मे से अडतालीस भाग प्रमाण सूर्य-विमान लम्बा-चौड़ा है। और २४/६१ योजन प्रमाण उसकी मोटाई है। अर्थात् एक योजन के इकसठ भागो मे से चोवीस भाग प्रमाण मोटा है। उसके वाहक (उठानेवाले) देव सोलह हजार हैं।

राहु का विमान अंजन समान कृष्णवर्ण की अरिष्ट मणि से निर्मित है। उसकी लम्बाई चौडाई एक योजन प्रमाण है। और मोटाई ढाईसौ धनुष प्रमाण है। उसके वाहक देव चार हजार हैं।

शुक्र का विमान रजतमय है। एक कोशलम्बा चौडा है। इसके तथा आगे के सब विमानो के वाहक देव चार चार हजार हैं।

मुक्ता के समान श्वेतवर्ण अंक नामक मणि से बना हुआ वृहस्पति का विमान है। वह कुछ कम एक कोश लम्बा चौडा है।

सुवर्णमय पीतवर्ण बुध का विमान है और आधकोश लम्बा चौडा है।

मगल का विमान तपे हुए सोने के समान लोहितमणि का बना हुआ है तथा शनैश्चर का तप्त सुवर्ण मय है। इन दोनो की लम्बाई चौडाई आधा कोश प्रमाण है।

केतु का विमान श्यामवर्ण की मणि से निर्मित है तथा कुछ कम एक योजन प्रमाण लम्बा चौडा है।

तारा आदि के विमान कम से कम पाव कोश लम्बे चौडे हैं।

छह मास बीतने पर चन्द्रमा के नीचे राहु और सूर्य के नीचे केतु आता है। उनसे चन्द्रमा और सूर्य के विमान ढक जाते हैं। इसलिए चन्द्र और सूर्य हमको दिखाई नहीं देते। इसीको ग्रहण कहते है। चन्द्र-विमान और राहु-विमान का तथा सूर्य और केतु-विमान का परस्पर स्पर्श कभी नहीं होता।

राहु का विमान चन्द्र-विमान से और केतु का विमान सूर्य-विमान से चार प्रमाणागुल (दो हजार व्यवहारागुल अर्थात् पौने चौरासी हाथ) नीचे रहता है।

जो ज्योतिष विमान (ताराआदि) समान क्षेत्र मे परिभ्रमण करते है वे भी परस्पर कभी नहीं मिलते। उनमे कमसे कम एक कोश के सातवें भाग प्रमाण (सदा दो फर्लांग से कुछ अधिक) अन्तर अवश्य रहता है। उनका संयोग कभी होता ही नहीं है।

ज्योतिष विमानों की गति

अढाई द्वीप और दो समुद्र सम्बन्धी ज्योतिष देवों के विमान निरन्तर भ्रमण करते है। मानुषोत्तर पर्वत के बाहर रहने वाले असंख्यात द्वीप समुद्र सम्बन्धी ज्योतिष देवो के विमान स्थिर हैं। वे गमन नहीं करते हैं, अपने २ स्थान पर अवस्थित रहते है।

मानुषोत्तर पर्वत के आभ्यन्तर भाग मे ६५५३४ (पिच्यानवे हजार पाचसौ चौतीस) तारे ध्रुव स्थिर हैं। वे अपने स्थान को नहीं छोडते है। वे इस प्रकार हैं--जम्बूद्वीप म ३६, लवण समुद्र मे १३६, धातकी खंड मे १०१०, कालोद मे ४११२०, और पुष्करार्ध में ५३२३० हैं।

मानुषोत्तर शैल के आभ्यन्तर भाग के ज्योतिषदेवों के विमान मेरुपर्वत से ग्यारहसो इक्कीस योजन दूर पर मेरु की प्रदक्षिणा करते हैं। मेरु से ग्यारहसौ इक्कीस योजन तक कोई ज्योतिष-देव-विमान नहीं पाये जाते है। तथा सूर्य, चन्द्र और ग्रहण के सिवा सब ज्योतिष विमान एक मार्ग पर गमन करते हैं। और नक्षत्र एवं तारे अपनी २ एक परिधि मे भ्रमण करते है, भिन्न भिन्न मार्ग पर भ्रमण नहीं करते।

सूर्य व चन्द्रमा की संख्या

जम्बूद्वीप मे सूर्य और चन्द्रमा दो दो हैं लवण समुद्र मे चार चार हैं। धातकी खण्ड मे बारह, २ कालोद मे बियालीस २ और पुष्करार्व द्वीप मे बहत्तर २ है। उत्तर पुष्करार्ध मे भी बहत्तर २ हैं। सब मिलाकर पुष्कर द्वीप मे एक सौ चवालीस हैं। इसके आगे के द्वीप समुद्रो मे दूने दूने होते चले गये है। जैसे पुष्कर द्वीप से दूने २८८ सूर्य चन्द्र पुष्कर समुद्र मे हैं और पुष्कर समुद्र से दूने ५७६ सूर्य चन्द्र वारुणि द्वीप मे है और इससे दूने ११५२ वारुणि समुद्र मे हैं। इसी प्रकार दूने दूने द्वीप समुद्रों मे सूर्य और चन्द्रमा समझ लेने चाहिए।

चन्द्रमा की सोलह कला (भाग) हैं। उनमे से कृष्णपक्ष की प्रत्येक तिथि में एक एक कला श्याम होती है। इसी को लोग 'घटना' कहते हैं। और शुक्ल पक्ष मे पुनः एक एक दिन मे एक एक कला श्वेतवर्ण होती जाती है। इसीलिए अमावस्या मे सम्पूर्ण श्याम होजाने से चन्द्रमा नहीं दिखाई देता और पूर्णिमा के दिन पूर्ण चन्द्रमा दिखाई देता है।

इसका आशय यह है कि चन्द्रविमान के नीचे राहु का विमान गमन करता है। उस राहु का भ्रमण सदा ऐसा ही होता है कि जिससे चन्द्रमा की एक एक कला (भाग) कृष्ण पक्ष मे तो आच्छादित होती जाती है और शुक्ल पक्ष मे एक एक कला प्रतिदिन प्रकट होती जाती है।

एक एक चन्द्रमा के साथ सम्बन्ध रखने वाले ग्रह अठासी नक्षत्र अठाईस और तारे छियासठ हजार नवसौ पिचहत्तर कोटि कोटि (६६९७५००००००००००००००) हैं। राहु, केतु, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनैश्चर आदि ग्रहों के नाम हैं। अश्विनी, भरणी, कृत्तिका रोहिणी आदि अठाईस नक्षत्र हैं।

प्रत्येक द्वीप या समुद्र सम्बन्धी जो ज्योतिष-विमान हैं उनमे से आधे एक पार्श्व (पसवाडे) भाग मे हैं और आधे दूसरे पार्श्व भाग मे हैं।

चन्द्रमा का विचरण क्षेत्र और वीथिया

दो दो सूर्य या दो दो चन्द्रमा का चार क्षेत्र (गमन करने का आकाश प्रदेश) एक है। उसका परिमाण ५१० व ४८/६१ योजन है। इतने क्षेत्र में गलियाँ निर्धारित है उनका प्रमाण आगे कहेंगे। उनमे एक सूर्य और एक चन्द्रमा गमन करता है। उसीमे दूसरा सूर्य भी गमन करता है। इसलिए दो २ सूर्य और दो २ चन्द्रमा का एक चार-क्षेत्र है।

उक्त चारक्षेत्र मे चन्द्रमा की गलियाँ १५ और सूर्य की १८४ है। उनमें से एक एक गली मे एक एक दिन दो सूर्य और दो चन्द्रमा गमन करते है।

जो ५१० व ४८/६१ योजन चार क्षेत्र कहा गया है उसमे से जम्बूद्वीप सम्बन्धी सूर्य-चन्द्र का एक सौ अस्सी योजन प्रमाण चारक्षेत्र तो जम्बूद्वीप के भीतर आगया है और शेष चार-क्षेत्र लवण समुद्र मे है। जम्बूद्वीप के सिवा समस्त द्वीप समुद्र सम्बन्धी ज्योतिषों का चार क्षेत्र अपने २ द्वीप समुद्र मे ही है।

सब से मदगति से गमन करने वाला चन्द्रमा है। उससे शीघ्रगामी सूर्य है। सूर्य से शीघ्रगामी ग्रह, ग्रह से नक्षत्र और नक्षत्र से तारे अति शीघ्र गमन करते है।

ज्योतिषियों की आयु

चन्द्रमा की आयु एक लाख वर्ष अधिक एक पल्य प्रमाण है। सूर्य की आयु एक हजार वर्ष अधिक एक पल्य की है। शुक्र की आयु एक सौ वर्ष अधिक एक पल्य और वृहस्पति की आयु एक पल्य प्रमाण है। बुध, मंगल और शनैश्चर की आयु आधे पल्य प्रमाण है। तारा और नक्षत्र की उत्कृष्ट आयु पाव पल्य और जघन्य पल्य के आठवें भाग प्रमाण है।

ज्योतिष देवों की देवांगनाएँ

सूर्य और चन्द्रमा दोनों के चार २ पट्ट देवांगनाएँ हैं। और यह प्रत्येक पट्ट देवांगना विक्रिया द्वारा चार चार हजार शरीर धारण करने वाली होती है। प्रत्येक पट्ट देवांगना के चार चार हजार परिवार देवियाँ होती हैं।

ज्योतिष देवांगनाओं की आयु अपने पति देव से आधी होती है। इनमें सबसे हीन-पुण्य देव के भी कमसे कम बत्तीस देवांगनाएँ होती हैं।

ज्योतिष देवों में उपपाद

भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष देवों में वे जीव जन्म लेते हैं-जिन्होंने जिनमार्ग से विपरीत धर्म का आचरण किया हो, या निदान किया हो, या अग्नि में जल कर मरे हों, पानी में डूब कर मरे हों, वृक्ष पर्वत मकान आदि के से नीचे गिरकर मरे हों अथवा परवशता से बंधनादि के निमित्त से परिषह उपसर्ग सहन द्वारा निर्जरा कर मृत्यु प्राप्त की हो, अथवा पचाग्नि आदि द्वारा कुतपस्या की हो, या सदोष चारित्र का आराधन किया हो।

इस प्रकार मध्य लोक का वर्णन सम्पूर्ण हुआ अब ऊर्ध्व लोक का स्वरूप कहते हैं।

ऊर्ध्वलोक

ऊर्ध्वलोक का विस्तार

सुदर्शन मेरु की चूलिका से ऊपर सिद्ध-क्षेत्र पर्यन्त ऊर्ध्वलोक है। उसकी ऊँचाई सात राजू प्रमाण है। उसमें से डेढ़ राजू प्रमाण क्षेत्र में सौधर्म-ऐशान युगल के विमान हैं। उसके ऊपर डेढ़ राजू पर्यन्त सानत्कुमार-माहेन्द्र युगल के विमान हैं। उसके ऊपर आधे

आधे राजू के अन्तर पर छह युगल हैं। इस प्रकार छह राजू प्रमाण आकाश मे सोलह स्वर्ग है। उनके ऊपर सिद्ध क्षेत्र के बारह योजन नीचे तक क्रमसे नवग्रैवेयक, नव अनुदिश और पंच अनुत्तरविमान है।

स्वर्गों मे इन्द्र-क्रम

सौधर्म-ऐशान और सानत्कुमार-माहेन्द्र इन दो युगलों मे चार इन्द्र हैं। ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ट, शुक्र-महाशुक्र और शतार-सहस्रार इन चार युगलों मे चार इन्द्र है। तथा आनत-प्राणत और आरण-अच्युत इन दो युगलों मे चार इन्द्र हैं। इस प्रकार सोलह स्वर्गों मे बारह इन्द्र है।

इन सोलह स्वर्गों को कल्प कहते हैं। क्योंकि इनमे इन्द्र, सामानिक आदि भेदो की कल्पना होती है। इनके ऊपर नवग्रैवेयक आदि को कल्पातीत कहते हैं। क्योंकि उनमे रहने वाले [illegible] होते है। वहा इन्द्रादि भेद की कल्पना नहीं है।

नवग्रैवेयकादि का वर्णन

उक्त आठ स्वर्ग-युगलों के ऊपर नवग्रैवेयक हैं। उनमे अधोग्रैवेयक, मध्यग्रैवेयक और उपरिमग्रैवेयक ऐसे तीन भाग हैं और उन तीनों भागों मे तीन तीन ग्रैवेयक पटल है। उनके ऊपर नव अनुदिश विमान है। १ अर्चि, २ अर्चिमालिनी, ३ वैर, ४ वैरोचन, ये चार अनुदिश विमान पूर्वादि चारो दिशा मे तथा १ सोम, २ सोमरूप, ३ अंक और ४ स्फटिक ये चार विमान आग्नेयादि विदिशा मे स्थित हैं और इनके मध्य में ६ आदित्य इन्द्रक विमान है।

इनके ऊपर १ विजय, २ वैजयन्त, ३ जयन्त और ४ अपराजित ये चार अनुत्तर विमान पूर्वादि चारों दिशाओं में हैं और ५ वा सर्वार्थसिद्धि नामक इन्द्रक विमान उनके मध्य मे है।

प्रतर सख्या

सौधर्मादि स्वर्गों मे तिरेसठ प्रतर है। जैसे महल प्रासाद आदि मे खण्ड (मंजिल) होते हैं वैसे ही स्वर्गों मे प्रतर (खण्ड-पटल) है। एक प्रतर मे एक इन्द्रक-विमान मध्य मे होता है। सौधर्मयुगल मे इकतीस प्रतर है। सानत्कुमार युगल मे सात, ब्रह्मयुगल मे चार, लान्तवयुगल मे दो, शुक्रयुगल मे एक, शतार युगल मे एक, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत इन चार स्वर्गों मे छह प्रतर हैं। ग्रैवेयक मे नव प्रतर तथा अनुदिश मे एक और पंचानुत्तर मे एक प्रतर है। इस प्रकार सब तिरेसठ प्रतर है।

विमानों की स्थिति

मेरु की चूलिका से ऊपर एक बालाग्र के अन्तर पर सौधर्म युगल का ऋतु नामक पहला इन्द्रक विमान है। जो इन्द्रक का नाम है, प्रतर का भी वही नाम समझना चाहिए। इसी ऋतु विमान की सीध में ऊपर आगे के सब इन्द्रक विमान हैं। सौधर्म युगल के ऋतु नामक इन्द्रक विमान से विमल नामक दूसरा प्रतर (पटल) असंख्यात योजन के अन्तराल पर है। इसी प्रकार प्रत्येक पटल के असंख्यात २ योजन का अन्तराल है। अर्थात एक पटल के बाद असंख्यात योजन प्रमाण जगह खाली पडी है, उसके बाद दूसरा पटल है।

प्रथम इन्द्रक के चारों दिशाओं मे चार विमान श्रेणिया है। और विदिशा मे पुष्पप्रकीर्णक (बिखरे हुए फूलों के समान क्रमरहित) विमान हैं। एक एक श्रेणि (पंक्ति) मे बासठ बासठ विमान हैं। उन्हें श्रेणिबद्ध विमान कहते हैं। प्रति पटल एक एक विमान घटता गया है, इसलिए सौधर्म युगल के अन्तिम 'प्रभ' नामक पटल मे बत्तीस श्रेणिबद्ध विमान हैं। डेढ राजू मे सौधर्म युगल सम्बन्धी इकतीस पटल हैं। प्रत्येक पटल सम्बन्धी उत्तर दिशा के श्रेणिबद्ध विमान तथा वायव्य ईशान विदिशा सम्बन्धी प्रकीर्णक विमानों में तो उत्तर-इन्द्र ईशान की आज्ञा चलती है और तीन दिशा सम्बन्धी श्रेणिबद्ध विमानों मे (इन्द्र विमानों मे) तथा आग्नेय नैऋत्य विदिशा सम्बन्धी प्रकीर्णक विमानों मे दक्षिण इन्द्र सौधर्म का शासन है। जिन विमानों मे सौधर्म इन्द्र की आज्ञा चलती है उनके समूह को सौधर्म स्वर्ग कहते हैं और जिन विमानों मे ऐशान इन्द्र का शासन है उन के समूह को ऐशान स्वर्ग कहते है।

उसके पश्चात असंख्यात योजन का अन्तराल है। उसके बाद सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्ग युगल का प्रथम पटल है। वहाँ से असंख्यात योजन का अन्तराल छोडकर दूसरा पटल है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए। उन पटलों के मध्य मे इन्द्रक आदि विमान पूर्वोक्त प्रकार हैं। उत्तर श्रेणिबद्ध विमान और ऐशान कोण व आग्नेय कोण (विदिशा) के प्रकीर्णक विमानों मे उत्तर इन्द्र माहेन्द्र का आधिपत्य है तथा बाकी के सब विमानों पर दक्षिणेन्द्र सानत्कुमार का अनुशासन है। इसी अपेक्षा से उसके द्वारा शासित विमानों के समूह को सानत्कुमार का स्वर्ग कहते हैं। इसी प्रकार ऊपर के सब स्वर्ग पटलों मे भी समझ लेना चाहिए।

ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार इन आठ स्वर्गों मे चार इन्द्र हैं। वहाँ इन्द्र की अपेक्षा से नाम भेद नहीं है, किन्तु वसती की अपेक्षा से भेद है। जैसे यहाँ पर भी देश का एक अधिपति होता है, किन्तु नगरों के भिन्न २ नाम होते हैं इसी प्रकार वहाँ पर जानना चाहिए।

आनत-प्राणत, आरण-अच्युत इन चार स्वर्गों में चार इन्द्र हैं, उनमे से आनत और आरण तो दक्षिण इन्द्र हैं और प्राणत और अच्युत उत्तर इन्द्र है। वहाँ पूर्वोक्त प्रकार इन्द्र के भेद से स्वर्गों का भेद जानना चाहिए।

म प्र

प्रत्येक पटल में एक एक श्रेणिबद्ध विमान घटता गया है, इसलिए अन्तिम ग्रैवेयक के सब से ऊपर के पटल में प्रत्येक दिशा में दो दो विमान है। उनके ऊपर असंख्यात योजन का अन्तराल छोडकर अनुदिश विमान का पटल है। उसके मध्य में एक इन्द्र विमान है और चारों दिशाओं मे चार और विदिशाओंमे चार इस प्रकार नव विमान हैं। उनके ऊपर असंख्यात योजन का अन्तराल छोडकर पंचअनुत्तर विमान है।

पॉच अनुत्तर विमानों के ऊपर बारह योजन का अवकाश छोड़कर सिद्ध-क्षेत्र है। इस प्रकार ऊर्ध्वलोक रचना है। जिस प्रकार प्रत्येक पटल के उर्ध्व व अधोभाग मे अन्तराल है, उसी प्रकार प्रत्येक विमान के उर्ध्वभाग व अधोभाग और तिर्यग्भाग मे अन्तराल है। एक विमान दूसरे विमान से सर्वथा जुदा है। समान भाग मे एक इन्द्र की सीध मे रहने वाले विमानों का एक पटल माना गया है। नरक भूमियों के समान विमान एक दूसरे से जुडे हुए नहीं है, इसलिए उनको पृथ्वी नहीं कहा है। लोकान्त तक पहुचने वाले भूभाग को पृथ्वी कहते है। इसलिए सात नरक भूमियॉ और एक ईषत् प्राग्भार नामक सिद्धशिला ये आठ पृथ्वियॉ मानी गई हैं।

प्रकीर्णक विमानों की संख्या, विस्तार और बाहुल्य

सौधर्म स्वर्ग मे बत्तीसलाख, ऐशान मे अठाईस लाख, सानत्कुमार में बारहलाख, माहेन्द्र मे आठलाख, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर युगल मे चार लाख, लान्तव-कापिष्ट युगल मे पचास हजार, शुक्र-महाशुक्र युगल मे चालीस हजार, शतार-सहस्रार मे छह हजार विमान है। तथा आनतादि चार स्वर्गों मे समुदाय रूप सात सौ विमान है। अधोग्रैवेयक के तीन पटलों मे एक सौ ग्यारह विमान, मध्यम ग्रैवेयक के तीन पटलों मे एकसौ सात तथा उपरिम ग्रैवेयक के तीन पटलों मे इक्यानवे विमान है। एवं अनुदिश मे नव और अनुत्तर मे पॉच विमान है। इनमे से अपने २ स्वर्गों के इन्द्रक और पंक्तिबद्ध विमानों की संख्या को घटाने पर प्रकीर्णक विमानों की संख्या निकल आती है।

प्रथम ऋतु इन्द्रक विमान का विस्तार मनुष्य लोक समान पैंतालीस लाख योजन प्रमाण है और सब से अन्तिम सर्वार्थ सिद्धि विमान का विस्तार जम्बूद्वीप समान एक लाख योजन प्रमाण है। शेष मध्यवर्त्ती द्वितीयादि इन्द्रक विमानों का विस्तार क्रमशः अल्प २ प्रमाण है।

श्रेणिबद्ध विमानों का विस्तार (लम्बाई चौडाई) असंख्यात योजन प्रमाण है और प्रकीर्णक विमानों का विस्तार संख्यात योजन और असंख्यात योजन है। कई एक प्रकीर्णक संख्यात योजन विस्तार वाले है और कई एक असंख्यात योजन विस्तार वाले है। समस्त कल्प विमानो के पॉचवें भाग प्रमाण विमान तो संख्यात योजन विस्तारवाले हैं और शेष विमान असंख्यात योजन विस्तार वाले है। तथा अधोग्रैवेयकों मे तीन विमान, मध्य ग्रैवेयक मे अठारह और उपरिम ग्रैवेयकों मे सत्रह विमान एवं पंच अनुत्तरों मे एक विमान संख्यात योजन

विस्तार वाला है। शेष सब असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं। अर्थात् संख्यात योजन विस्तार वाले विमानों से चोगुने असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं।

सौधर्मादि छह युगलों के छह स्थान, आनतादि चार स्वर्गों का एक स्थान, तथा तीन तीन अधोग्रैवेयकादि का एक एक स्थान, और अनुदिश व अनुत्तर का एक स्थान-ऐसे ग्यारह स्थान हुए। उनमे से आदि के स्थान (सौधर्म-ऐशान युगल) मे ग्यारह सौ इक्कीस योजन बाहुल्य (मोटाई) के धारक विमान हैं और शेष दश स्थानों मे निन्यानवे निन्यानवे योजन प्रमाण बाहुल्य प्रतिस्थान कम होता चला गया है। प्रथम स्थान मे ११२१, दूसरे से लेकर अन्ततक क्रमसे १०२२, ६२३, ८२४, ७२५, ६२६, ५२७, ४२८, ३२६, २३०, १३१ इस प्रकार विमानों का बाहुल्य (मोटाई) है।

विमानों का रंग

सौधर्म-ऐशान के विमान पाँच वर्णों के हैं। सानत्कुमार-माहेन्द्र कृष्ण वर्ण रहित चार वर्ण के हैं। ब्रह्मादि चारस्वर्गों में नीलवर्ण के भी विमान नहीं है, शेषतीन वर्ण के हैं। शुक्रादि चार स्वर्गों मे लाल रंग के भी नहीं हैं, शेष दो वर्ण के ही विमान पाये जाते हैं। आनत से लेकर अनुत्तर तक केवल शुक्लवर्ण के ही विमान हैं।

इन्द्र के निवास करने का विमान और उसका नाम

सौधर्म युगल के अन्तिम इकतीसवें पटल मे इन्द्रक विमान से दक्षिण दिशा सम्बन्धी अठारहवें श्रेणिबद्ध विमान मे तो सौधर्म इन्द्र निवास करता है और उत्तर दिशा के श्रेणिबद्ध के विमानो के अठारहवें विमान मे ईशान इन्द्र निवास करता है। सानत्कुमार युगल के अन्तिम पटल के दक्षिण दिशा सम्बन्धी सोलहवें श्रेणिबद्ध विमान मे सानत्कुमार इन्द्र और उत्तर दिशा सम्बन्धी सोलहवें विमान मे माहेन्द्र इन्द्र निवास करता है। ब्रह्म युगल के अन्तिम पटल के दक्षिण दिशा सम्बन्धी चौदहवें श्रेणिबद्ध विमान मे ब्रह्म इन्द्र निवास करता है। लान्तवयुगल के उत्तर दिशा सम्बन्धी बारहवें श्रेणिबद्ध विमान में लान्तव इन्द्रका निवास है। शुक्रयुगल के अन्तिम पटल के दक्षिण दिशा सम्बन्धी दशवें श्रेणिबद्ध विमान मे शुक्र इन्द्र का निवास है। शतार युगल के अन्तिम पटल के उत्तर दिशा सम्बन्धी आठवें श्रेणिबद्ध विमान मे शतार इन्द्र का निवास है। आनत युगल के अन्तिम पटल के दक्षिण दिशा सम्बन्धी छठे श्रेणिबद्ध विमान मे आनत इन्द्र का निवास है और उत्तर दिशा के विमान मे अच्युत इन्द्र का निवास है।

जिस विमान मे इन्द्र का निवास है, उस विमान का नाम स्वर्ग के नाम पर है। जैसे सौधर्म इन्द्र जिस विमान मे निवास करता है उसका नाम सौधर्म है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए।

इन्द्रों के नगर

सौधर्मादि चार स्वर्गों के चार स्थान, ब्रह्म युगलादि चार युगलों के चार स्थान, आनतादि चारस्वर्गों का एक स्थान-इन नवस्थानो मे अपनी २ देवागनाओं सहित इन्द्रों के नगर हैं। उनमे से सौधर्म मे चौरासी हजार योजन प्रमाण, ऐशान मे अस्सी हजार, सानत्कुमार में बहत्तर हजार, माहेन्द्र म सत्तर हजार, ब्रह्मयुगल मे साठ हजार, लान्तव युगल म पचास हजार, शुक्र युगल में चालीस हजार, शतार युगल में तीस हजार, आनतादि चार स्वर्गों मे बीस बीस हजार योजन प्रमाण विस्तार के धारक चौकोर रमणीय नगर हैं। इन नगरों के चारों ओर, बहुत ऊँचे २ सुन्दर प्राकार (कोट) हैं, और उनके चारों दिशाओं मे चार चार गोपुर (दर्वाजे) हैं।

ऐसे पॉच पॉच कोट प्रत्येक नगर के है। एककोट से दूसरे कोट के बीच का अन्तराल तेरह लाख योजन मे लेकर चौरासी लाख योजन तकका है। पाँच कोटों के चार अन्तराल होते हैं। उनमें से पहले अन्तराल मे सेना के अध्यक्ष और अगरक्षक देव रहते हैं। दूसरे मे तीन जाति के पारिषद देव रहते हैं। तीसरे में सामानिक देव निवास करते हैं। तथा चौथे अन्तराल मे अश्वादिपर चढने वाले देव, आभियोग्य देव और किल्विषजाति के देव अपने २ योग्य भवनों में रहते हैं। उक्त पॉचवें कोट मे आधेलाख योजन की दूरी पर नन्दनवन है। वहाँ के वन आनन्द देने वाले हैं इसलिए उन्हें सामान्यरूप से नन्दनवन कहते हैं। वैसे तो उनका नाम पृथक् पृथक् है। उन वनो में चम्पक, आम्र, अशोकादि सुन्दर व सुगन्धमय अति सुहावने वृक्ष हैं। पद्म-हद के समान ह्रद (सरोवर) हैं और प्रत्येक वन में एक एक चैत्य वृक्ष है। सौधर्मादि स्वर्गों में चारों वनों में चार चैत्यवृक्ष है। प्रत्येक चैत्यवृक्ष जम्बूवृक्ष के समान प्रमाण वाला है। प्रत्येक चैत्यवृक्ष के चारों पार्श्वभागों में एकएक पल्यंकासन जिन-प्रतिमा विराजमान है।

उन वनखंडो से कई योजन दूर पर पूर्वादि दिशाओं मे लोकपालों के नगर हैं, जो साढे बारह लाख योजन विस्तार वाले हैं। उनके समीप अग्नि कोणादि चारों विदिशाओं में गणिका-महत्तरियों के लाख लाख योजन के लबे चौडे नगर बने हैं। (वेश्याओं के समान जो देवागनाएँ होती हैं, उन्हें गणिका कहते है। और उनमे जो प्रधान देवागनाएँ होती है, उन्हे गणिका-महत्तरी कहते हैं।)

महादेवियाँ और उनकी विक्रिया, परिवारादि का वर्णन—

सम्पूर्ण इन्द्रो के आठ आठ महादेवियाँ होती हैं। सौधर्मादि छह युगलों के छहस्थान और आनतादि चार स्वर्गों का एक स्थान ऐसे सात स्थानों मे एक एक महादेवी की परिवार-देवियाँ महादेवी सहित आधी आधी होती हैं। अर्थात् क्रमसे सोलह हजार, आठ हजार, चार हजार, दोहजार, एक हजार, पाचसौ और ढाईसौ होती हैं। आठ २ महादेवियों में से प्रत्येक महादेवी के मूल शरीर सहित सोलह सोलह

हजार वैक्रियिक शरीर होते हैं। तथा उक्त सातों स्थानों में से शेष छहस्थानो में दूने दूने वैक्रियिक शरीर होते हैं। अर्थात् प्रथम सौधर्म युगल स्थान की महादेवी अपने मूल शरीर सहित सोलह हजार वैक्रियक शरीर बनाती है। सानत्कुमार युगल की महादेवी बत्तीस हजार वैक्रियक शरीर धारण करती है। उसी प्रकार आगे आगे के स्थानों की महादेवियां दूने २ वैक्रियिक शरीर बनाती हैं। इस तरह अन्त के आनतादि-स्थान की महादेवियाँ दसलाख चौबीस हजार वैक्रियिक शरीर बनाती हैं।

देवियों के परिवार मे जो देवियाँ इन्द्र की वल्लभा (प्यारी) होती हैं उन्हें वल्लभिका कहते हैं। उक्त सात स्थानों मे अर्थात् छह युगलों के छह और आनतादि का एक स्थान, इस प्रकार सातस्थानों मे क्रमसे बत्तीस हजार, आठहजार दोहजार पाचसौ, अढाईसौ, सवासौ और अन्त मे तिरेसठ वल्लभिकाएँ होती हैं।

इन्द्र के आस्थान–मण्डप का स्वरूप

अमरावती नामक इन्द्र का पुर है। उसके मध्य इन्द्र के निवास करने के मन्दिर मे ईशान विदिशा मे सुधर्मा नामक आस्थान-मण्डप अर्थात् सभास्थान है। वह सौ योजन लम्बा, पचास योजन चौड़ा और पिचहत्तर योजन ऊँचा है। उसके पूर्व, उत्तर और दक्षिण दिशा मे तीन द्वार हैं। उनमे से प्रत्येक द्वार की चौड़ाई तो आठ योजन और ऊँचाई सोलह योजन है। उस आस्थान के मध्य भाग मे इन्द्र का सिंहासन है। उसके सिंहासन के सामने आठ महादेवियों के आठ आसन हैं। उन महादेवियों के आसन के बाहर पूर्वादि दिशाओं मे १ सोम, २ यम, ३ वरुण और ४ कुबेर इन चार लोकपालों के चार आसन हैं। तथा इन्द्र के आसन से आग्नेय, दक्षिण और नैऋत्य दिशा में तीन प्रकार के परिषदों के क्रमसे बारह हजार, चौदह हजार, सोलह हजार आसन हैं। तथा त्रायस्त्रिंशत् देवों के तेतीस आसन भी नैऋत्य दिशा मे ही हैं। पश्चिम दिशा मे सेनाध्यक्षों के सात आसन हैं। वायव्य और ईशान दिशा मे सामानिक देवों के आसन है। सौधर्म के चौरासी हजार, सामानिक देवों के आसनों मे से बियालीस हजार तो वायव्य दिशा मे और बियालीस हजार ही ईशान दिशा मे हैं। अंगरक्षक देवों के आसन चारों दिशाओं मे हैं। और वे प्रत्येक दिशा में चौरासी हजार हैं। ये आसन सुधर्मा सभा सम्बन्धी हैं।

मानस्तम्भ और करण्डक

उस आस्थान-मण्डप के सामने पीठ सहित एक मानस्तम्भ है जो एक योजन चौड़ा व बत्तीस योजन ऊँचा है। उसके सोलह धाराएँ हैं प्रत्येक धारा एक कोश के विस्तार (लंबाई) की धारक हैं। यहाँ मानस्तंभ बारह कोने वाला गोल है।

उस मानस्तम्भ मे रत्ननिर्मित साकले हैं। उनमे रत्नमय करण्डक (पिटारे) हैं। वे चौथाई कोश प्रमाण चौडे और एक

कोश प्रमाण लम्बे है। उनमे तीर्थंकर देवो के पहनने योग्य आभरण भरे रहते हैं। इन्द्र इनमे से आभरण निकालकर तीर्थंकरों के लिए पहुँचाता है। छत्तीस योजन ऊँचा मानस्तम्भ है। उसमे ऊपर से सवा छह योजन नीचे तक और नीचे पौने छह योजन की ऊँचाई तक करण्ड नहीं पाये जाते है, मध्य मे चौबीस योजन की ऊँचाई मे करण्ड पाये जाते हैं

सौधर्म स्वर्ग मे जो मानस्तम्भ पर करण्ड हैं, उनमे भरत क्षेत्र सम्बन्धी तीर्थंकरों के आभरण हैं। ईशान स्वर्ग में मानस्तम्भ पर जो करण्ड हैं उनम ऐरावत क्षेत्र सम्बन्धी तीर्थंकरों के आभरण हैं। सानत्कुमार स्वर्ग मे मानस्तभ पर जो करण्ड हैं उनमें पूर्वदेह सम्बन्धी तीर्थंकरों के आभरण है। माहेन्द्र स्वर्ग में मानस्तम्भ पर जो करण्ड हैं उनमे पश्चिम विदेह सम्बन्धी तीर्थंकरों के आभरण है। मानस्तम्भो पर तीर्थंकरो के आभरण पाये जाते है, इसलिए वे देवों से पूज्य हैं।

इन्द्र का उत्पत्ति—गृह

उक्त मानस्तम्भ के निकट आठ योजन चौड़ा, लम्बा और उतना ही ऊँचा उपपाद गृह है। उसमें दो रत्नमयी उपपादशय्या बनी हैं। यहाँ इन्द्र का जन्म स्थान है। इसके समीप अनेक शिखरों से अलकृत परमोत्कृष्ट जिन मन्दिर है।

कल्पवासिनी देवांगनाओं के उत्पत्ति-स्थान

स्वर्गों की सब देवागनाएँ सौधर्म और ऐशान इन दो स्वर्गों मे ही जन्म लेती हैं। ऊपर देवियों का जन्म नहीं होता है। दक्षिण दिशा के स्वर्गों से सम्बन्ध रखने वाली देवागनाएँ तो सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न होती हैं और उत्तर दिशा के स्वर्गों से सम्बन्ध रखने वाली देवांगनाएँ ऐशान स्वर्ग में उत्पन्न होती हैं। जिन विमानों मे देव नहीं हैं, केवल देवांगनाएँ ही पाई जाती हैं ऐसे विमान सौधर्म स्वर्ग में चार लाख है। उनमे जब देवियाँ उत्पन्न हो जाती है तब जिस देव की जो नियोगिनी होती है उस देवी को वह देव वहाँ आकर अपने २ स्वर्ग स्थान में ले जाता है। शेष सौधर्म स्वर्ग में छब्बीस लाख और ऐशान मे चौबीस लाख विमान ऐसे हैं जो देवों और देवियों से सम्मिश्र हैं। उनमें देव भी उत्पन्न होते हैं और देवियाँ भी उत्पन्न होती हैं।

देवों का प्रवीचार

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग मे काय से प्रवीचार (काम-सेवन) होता है। उक्त दोनों स्वर्गों के देव देवागना मनुष्य जैसे काम सेवन करते है वैसे काम सेवन करते हैं। ऊपर के दो स्वर्ग (सानत्कुमार-माहेन्द्र) के देव-देवागना परस्पर शरीर का स्पर्श करके काम सेवन

की अभिलाषा का पूर्ण करते हैं। उनको शरीर स्पर्श करने मात्र से तृप्ति होती है। ब्रह्मादि चार स्वर्गों मे देव-देवाङ्गना एक दूसरे का रूप देखकर काम-तृप्ति का अनुभव करते हैं। शुक्रादि चार स्वर्गों के मे देव-देवाङ्गनाएँ एक दूसरे का शब्द सुनकर तृप्त हो जाते हैं। तथा इनके ऊपर आनतादि चार स्वर्गों के देव-देवाङ्गनाएँ मन से संकल्प करके तृप्ति का अनुभव करते हैं। इनके ऊपर ग्रैवेयक आदि मे अहमिंद्र हैं उनके प्रवीचार नहीं होता है। वे काम-सेवन की भावना से रहित हैं।

वैमानिक देवों की विक्रिया, गमन-शक्ति और अवधिज्ञान

अधोदिशा मे (नीचे के क्षेत्र मे) विक्रिया करके देव जितने क्षेत्र तक जा सकते हैं अवधि-ज्ञान द्वारा उतने ही क्षेत्र मे स्थित पदार्थों को जान सकते हैं। देवों के नीचे गमन करने की शक्ति और अवधिज्ञान द्वारा पदार्थ को जानने की शक्ति ये दोनो समान होती है। इसलिए इन दोनो का एक साथ वर्णन करते हैं। सौधर्मादि दो स्वर्गों के देवों की विक्रियाशक्ति व अवधिज्ञानशक्ति प्रथम नरक पृथ्वी पर्यन्त है। सानत्कुमारादि दो स्वर्गों मे दूसरी पृथ्वी पर्यन्त है। ब्रह्मादि चार स्वर्गों मे तीसरी पृथ्वी पर्यन्त है। शुक्रादि चार स्वर्गों मे चौथी पृथ्वी पर्यन्त है। आनतादि चार स्वर्गों मे पाँचवी पर्यन्त है। नवग्रैवेयकों मे छठी पृथ्वी पर्यन्त है। अनुदिश व अनुत्तर निवासियों की सातवीं पृथ्वी पर्यन्त है। सम्पूर्ण देवों का ऊर्ध्व दिशा सम्बन्धी अवधिज्ञान अपने २ स्वर्ग के ध्वजादण्ड पर्यन्त ही होता है। इससे ऊपर के क्षेत्र को अवधि ज्ञान से नहीं जान सकते हैं। नव अनुदिशवासी देव अपने विमान के शिखर से लेकर नीचे के वात्य तनुवातवलय पर्यन्त (कुछ कम चौदह राजु) क्षेत्र को अवधि ज्ञान द्वारा जानते हैं। अनुत्तर विमानवासी सम्पूर्ण लोकनाली को जानते हैं। सम्पूर्ण विमानवासी देव अवधिज्ञान से असंख्यात कोटि कोटि योजन प्रमाण क्षेत्र को जानते हैं। इतना विशेष है कि ऊपर ऊपर के देवों का ज्ञान अधिक २ होता है। और नीचे २ के देवों का हीन होता है। असंख्यात कोटि कोटि योजन क्षेत्र सामान्य रूप से कहागया है।

अवधि ज्ञान के क्षेत्र का प्रमाण यहाँ प्रकरण पाकर संक्षेप मे लिख दिया है। अवधिज्ञान के विषय भूत द्रव्य काल और भाव ा स्वरूप ज्ञानाचार मे अवधिज्ञान के वर्णन मे विशद रूप से लिख आये हैं, इसलिए यहा नहीं लिखा गया है। विशेष जानने की अभिलाषा ो तो वहाँ से जान ले।

सौधर्मादि देवों के जन्म व मरण का विरहकाल।

जितने काल पर्यन्त किसी का वहाँ जन्म न हो उस जन्म का अन्तर और जितने काल पर्यन्त वहाँ पर किसी का मरण न हो मरण का अन्तर कहते हैं। उत्कृष्ट रूप से सौधर्म और ऐशान दोनो स्वर्गों मे सात दिन हैं। आगे के सानत्कुमारादि दो स्वर्गों मे पन्द्रह

दिन, ब्रह्मादि चार स्वर्गों मे एक मास, शुक्रादि चार स्वर्गों मे दो मास, आनतादि चार स्वर्गों मे चार मास, ग्रैवेयक आदि मे उत्कृष्ट जन्म व मरण का अन्तर (विरह) छहमास है।

इन्द्रादि का उत्कृष्ट विरहकाल

इन्द्र और इन्द्र की पट्टदेवी और लोकपाल इनका विरहकाल छहमास है। सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद् और अंगरक्षक इन का उत्कृष्ट विरहकाल चार मास है।

आभियोग्यादि अधम देव कैसी क्रिया व भावना से पर्याय पाते हैं ?

जो मनुष्य विशेष काम-वासना से वासित होकर स्त्रीगमनादि काम-चेष्टाएँ करते हैं, कन्दर्प परिणाम युक्त रहते हैं, वे स्वोपार्जित अन्य शुभ कर्म के अनुसार उत्कृष्ट से उत्कृष्ट ऐशान स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं, वहा पर भी कन्दर्प जाति के ही देव होते है। जो मनुष्य गानादि सगीत से आजीविका करते है, नाटक आदि के परिणाम से जिनका चित्त अनुरजित रहता है वे कैल्विषिक परिणामवाले प्राणी स्वोपार्जित अन्य शुभ कर्म के अनुसार लान्तवस्वर्ग तक जन्म लेते है किन्तु वहाँ पर भी वे किल्विषिक जाति के देवे ही होते हैं। जो मनुष्य पापक्रिया करते हैं तथा सेवक वृत्ति दासत्वादि धारण कर अपने हाथ से नाई आदि की नीच क्रियाएँ करते हैं, आभियोग्य भावना से भावित हैं वे अच्युत स्वर्ग पर्यन्त उत्पन्न होते हैं। और वहाँ पर भी वे आभियोग्य जाति के ही देव होते है। ये सब अपने अपने स्वर्ग सम्बन्धी जघन्य आयु को पाते है।

घातायुष्क की आयु

देवों की आयु हम पहले लिख आये है। केवल यहा पर घातायुष्क की आयु का विवेचन करते हैं।

किसी जीव ने पूर्वभव मे अधिक आयु का बंध किया था वह पश्चात् परिणामो की विशेषता वश उसे घटाकर अल्प करदेता है तो उस जीव को घातायुष्क कहते है। आयु का घात दो प्रकार का होता है, एक अपवर्त्तनघात और दूसरा कदलीघात। वध्यमान आयु का घटना तो अपवर्त्तनघात है और उदीयमान (भुज्यमान) आयु का घात करना कदलीघात है। यहाँ पर कदलीघात की संभावना ही नहीं होसकती क्योंकि अनपवर्त्य आयु है। इसलिए यहाँ पर अपवर्त्तनघात ही का ग्रहण किया है। पूर्वोक्त प्रकार घातायुष्क सम्यग्दृष्टि हो तो उस जीव के सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त पूर्वोत्कृष्ट आयु से आधे सागर अधिक आयु होती है। घातायुष्क की जघन्य आयु आधा सागर है, यह सौधर्म युगल की अपेक्षा से है। आगे आगे की घातायुष्क की जघन्य आयु पूर्व पूर्व की उत्कृष्ट आयु प्रमाण है।

भवनत्रिक देवों में घातायुष्क सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की आयु

घातायुष्क यदि सम्यग्दृष्टि हो तो उसकी आयु भवनवासी में आधा सागर और व्यन्तर ज्योतिष में आधा पल्य आयु अपनी २ उत्कृष्ट आयु से अधिक होती है। यदि घातायुष्क मिथ्यादृष्टि हो तो उसकी सर्वत्र भवनासी, व्यन्तर, ज्योतिष और वैमानिक देवो मे अपनी अपनी उत्कृष्ट आयु के प्रमाण से पल्य के असख्यातवें भाग अधिक आयु होती है।

लौकांतिक देवो का स्वरूप, अवस्थान, आयु आदि का वर्णन

समस्त लौकान्तिक देव परस्पर मे हीनाधिकता से रहित अर्थात् समान वैभव के धारक व विषयो से विरक्त होते है। देवों मे ऋषि समान होते हैं। इसलिए उन्हें देवर्षि कहते है। उनका चित्त निरन्तर अनित्यादि अनुप्रेक्षा (भावना) के चिन्तन मे रत रहता है। वे सम्पूर्ण इन्द्रादि के पूज्य होते है, चौदह पूर्वों के ज्ञाता होते है, तीर्थंकरो के निष्क्रमण कल्याण (तप. कल्याण) के समय प्रतिबोध करने आते हैं। लौकान्तिक देवों की आयु आठसागर प्रमाण होती है। इतना विशेष है कि अरिष्ट जाति के लौकान्तिक देवों की आयु नवसागर प्रमाण होती है। वे सब अतिविशुद्ध सम्यग्दर्शन के धारक होते हैं। एक मनुष्य भव धारण कर मोक्ष प्राप्त करते है।

वे ब्रह्मलोक (पॉचवेस्वर्ग) के अन्त मे निवास करते हैं। इसलिए उन्हें लौकान्तिक कहते है। सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट ये आठ क्रमशः पूर्वोत्तरादि दिशाओं मे निवास करते हैं।

अत्यन्त तीव्र अन्धकार रूप समुद्र समान गोलाकार एक तम.स्कन्ध (अन्धकार का समूह) अरुण समुद्र से उत्पन्न हुआ है। वह मूल मे असख्यात योजन प्रमाण विस्तार (लबाई चौडाई) वाला है और ऊपर मे क्रमसे बढता हुआ मध्य भाग व अन्त भाग मे सख्यात योजन मोटा होकर कुक्कुट कुटी के समान ब्रह्म युगल के अरिष्ट-इन्द्रक-विमान के अधोभाग मे अवस्थित हुआ है। उसकी आठ अन्धकार पक्तियॉ ऊपर की ओर उठकर अरिष्ट विमान के चारों तरफ होगई है। वहॉ पर उनके चारों दिशाओं मे दो दो विभाग हो गये है। और वे तिर्यक् लोक के अन्त तक फैल गई हैं। अर्थात् आठ अन्धकार पक्तियों की सोलह पक्तियॉ होगई हैं। उन सोलह अन्धकार पक्तियों के अन्तरालों मे सारस्वादि देव निवास करते हैं। पूर्वोत्तर कोण (ईशान) दिशा मे सारस्वत विमान, पूर्व दिशा मे आदित्य विमान, पूर्व दक्षिण (आग्नेय) दिशा मे वह्नि विमान, दक्षिण मे अरुण विमान, दक्षिण पश्चिम (नैऋत्य) दिशा मे गर्दतोय विमान, पश्चिम दिशा मे तुषित विमान, पश्चिम-उत्तर (वायव्य) दिशा मे अव्याबाध विमान और उत्तर मे अरिष्ट विमान हैं। इन आठ भेदों के अन्तराल (मध्यप्रदेश) मे अग्न्याभ-सूर्याभ आदि आठ जाति के लौकान्तिक देव हैं। वे इस प्रकार है—

सारस्वत–आदित्य के मध्य में अग्न्याभ-सूर्याभ जाति के देवों के विमान, आदित्य और वह्नि के मध्य में चन्द्राभ-सत्याभ के विमान, वह्नि और अरुण के मध्य मे श्रेयस्कर-क्षेमंकर के विमान, अरुण और गर्दतोय के मध्य मे वृषभेष्ट-कामचर के विमान, गर्दतोय और तुपित के मध्य मे निर्माणरज-दिगन्तरक्षित, तुपित और अव्याबाध के मध्य मे आत्मरक्षित-सर्वरक्षित, अव्याबाध और अरिष्ट के अन्तराल मे मरुत्-वसु, अरिष्ट और सारस्वत के अन्तराल मे अश्व-विश्व जाति के लौकांतिक देवों के विमान हैं।

सारस्वत सातसौ सात, आदित्य सातसौ सात, वह्नि सातहजार सात, अरुण सातहजार सात, गर्दतोय नवहजार नव, तुपित नवहजार नव, अव्याबाध ग्यारहहजार ग्यारह, अरिष्ट ग्यारहहजार ग्यारह है।

अग्न्याभ देव सातहजार सात, सूर्याभ देव नवहजार नव, चन्द्राभदेव ग्यारहहजार ग्यारह, सत्याभ तेरहहजार तेरह, श्रेयस्कर पन्द्रहहजार पन्द्रह, क्षेमंकर सत्रहहजार सत्रह इस प्रकार आगे दो हजार दो प्रत्येक देवों मे बढाते जाना चाहिए।

कल्पवासिनी देवियों की आयु का प्रमाण

सौधर्म–ऐशान युगल में देवागनाओ की जघन्य आयु कुछ अधिक पल्य प्रमाण है। प्रथम स्वर्ग में उत्कृष्ट पाँच पल्य प्रमाण है। ऊपर के प्रत्येक स्वर्ग मे जघन्य आयु पूर्व पूर्व स्वर्गयुगल की उत्कृष्ट आयु के प्रमाण है। तथा उत्कृष्ट आयु ऐशान स्वर्ग से लेकर सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त ग्यारह स्वर्गों मे दो दो पल्य और आनतादि चार स्वर्गों में सात सात पल्य बढती गई है। प्रथम स्वर्ग मे पाँच पल्य दूसरे मे सात पल्य, तीसरे मे नव पल्य, चौथे मे ग्यारह पल्य, पाँचवें मे तेरह पल्य, छठे मे पन्द्रह पल्य, सातवें मे सत्रह पल्य, आठवें मे उन्नीस पल्य, नवें मे इक्कीस पल्य, दशवें मे तेईस, ग्यारहवें मे पच्चीस, बारहवें मे सत्ताईस, तेरहवें मे चौतीस, चौदहवें मे इकतालीस, पन्द्रहवें मे अडतालीस और सोलहवें स्वर्ग मे पचपन पल्य प्रमाण उत्कृष्ट आयु होती है।

देवों के उच्छ्वास और आहार के विषय मे पूर्व लिख आये हैं। जितने सागर की देवों की आयु होती है, उतने पक्ष बीतने पर वे उच्छ्वास लेते हैं। तथा उतने ही सागर बीतने पर उनके आहार की इच्छा होती है। जैसे सौधर्म युगल के देवों की आयु दो सागर की होती है। उन देवों के दो पक्ष के अन्तर पर उच्छ्वास होता है और दो हजार वर्ष के अन्तर पर आहार की इच्छा उत्पन्न होती है। इसी प्रकार सब देवों मे समझ लेना चाहिए।

गुणस्थान की अपेक्षा देवगति में जन्म

असंयत व देशसयत मनुष्य और तिर्यंच अधिक से अधिक अच्युत स्वर्ग पर्यन्त जन्म लेते हैं। द्रव्य से जिन लिंग के धारक

(द्रव्य लिंगी मुनि) और भाव मे पहले, चौथे, या पॉचवें गुण स्थान मे हैं, तथा निरतिचार चरित्र का पालन करते हैं वे मरकर अन्तिम ग्रैवेयक पर्यन्त जन्म लेते हैं, उसके ऊपर नहीं जासकते। सम्यग्दृष्टि भाव-मुनि अर्थात् द्रव्य और भाव से मुनि धर्म का आचरण करनेवाले मुनि सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त जन्म धारण करते हैं। भोगभूमिज सम्यग्दृष्टि सौधर्मद्विक मे उत्पन्न होते हैं। भोगभूमिज मिथ्यादृष्टि जीव भवनत्रिक मे उत्पन्न होते हैं। पचाग्नि आदि तपश्चरण करनेवाले तापसी उत्कृष्ट रूप मे भवनत्रिक मे जन्म धारण करते हैं। चरक, एकदंडी, त्रिदण्डी सन्न्यासी अधिक से अधिक ब्रह्म स्वर्ग तक जन्म लेते हैं। काजी आदि का आहार करनेवाले आजीवक साधु अधिक मे अधिक अच्युत स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं।

अनुदिश व अनुत्तर विमान से चयकर नारायण तथा प्रतिनारायण नही होते हैं।

सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र, उसकी शची नामा महादेवी, उसके सोम आदि चार लोकपाल और सानत्कुमार आदि दक्षिण इन्द्र, सब लौकान्तिक देव और सब सर्वार्थसिद्धि के देव ये सब चयकर मनुष्य भव धारण कर नियम से निर्वाण को प्राप्त होते है।

मनुष्यगति, तिर्यंचगति और भवनत्रिक से निकलकर जीव सीधे तिरेसठ शलाका के पुरुष नहीं होते हैं। (चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नव नारायण, नव प्रतिनारायण और नव बलभद्र इनको शलाका-पुरुष कहते है)।

देवों के जन्म का वृत्तान्त।

जैसे उदयाचल पर सूर्य उदित होता है वैसे उपपाद शय्यापर अन्तर्मुहूर्त्त मे छह पर्याप्ति पूर्ण करके मनोहर सुगन्धमय सुख रूप स्पर्शवाले पवित्र शरीर का धारक देव उत्पन्न होता है। जन्म के समय वहॉ आनंद रूप बाजे बजते है, जय जयकार आदि स्तुति रूप शब्द होता है, उन सबमे अपने को देव पर्याय मिली जानकर तथा वहॉ उपलब्ध हुए वैभव (ऐश्वर्य) व अपने देवांगनादि परिवार को देखकर भवप्रत्यय अवधिज्ञान से पूर्व-जन्म के वृत्तान्त को जानकर वह देव धर्म की प्रशंसा करता है कि धर्म के आचरण से मैं ऐसे दिव्य सुख सामग्री से परिपूर्ण स्वर्ग को प्राप्त हुआ हूँ। इस प्रकार धर्म की स्तुति करके वह निर्मल सुगन्धमय जल से परिपूर्ण ह्रद मे स्नान करता है। उसके बाद अन्य देव उसका पट्टाभिषेक करते हैं और दिव्य वस्त्राभूषण पहनाते हैं। सम्यग्दृष्टि देव तो स्वयमेव देवाधिदेव जिनेन्द्र का अभिषेक और पूजन करता है और मिथ्यादृष्टि देव अन्य देवों से संबोधित हुआ जिनेन्द्र भगवान की पूजन करता है। वहॉ के सब देव सुख रूप समुद्र मे मग्न होते हुए व्यतीत काल को नही जानते हैं। तीर्थंकरों की महापूजा और उनके गर्भादि पच कल्याणको मे कल्पवासी देव आते हैं। और अहमिन्द्र देव अपने स्थानो मे ही सात पैंड तीर्थंकरो की दिशा म चलकर रत्नमये मुकुट के धारक अपने मस्तक पर अंजुलि लगाकर अति विनीत भाव से नमस्कार करते हैं।

देवादि की विभूति किनको प्राप्त होती है ?

जिन जीवों ने अनेकप्रकार के तपश्चरणों से आत्मा को विभूषित किया है, सम्यग्दर्शन से जिनकी आत्मा पवित्र है और सम्यग्ज्ञान से जिन की आत्मा मे उज्ज्वल प्रकाश हो गया है, जो शील से सौम्य हैं उनही को स्वर्ग-मुक्ति-लक्ष्मी की प्राप्ति होती है।

ईषत्प्राग्भार नामक अष्टम पृथ्वी

तीन भुवन के मस्तक पर आरूढ ईषत्-प्राग्भार नामकी आठवीं धरा (पृथ्वी) है। उसकी चौडाई एकराजू, लम्बाई सात राजू और मोटाई आठयोजन प्रमाण है। वह लोक के अन्ततक चली गई है। उस अष्टम धरा के मध्य में रूप्यमय उत्तान (ऊपर से चौडी नीचे से सकडी) श्वेत छत्र के आकार गोल सिद्धशिला है। जिसका व्यास (लम्बाई चोडाई) पैंतालीस लाग्व योजन प्रमाण-मनुष्य लोक के बराबर-है। उसकी मोटाई मध्य मे आठ योजन प्रमाण है और चारों ओर से क्रम क्रमसे घटती चली गई है। उस सिद्धशिला के ऊपर मे जो तनुवात है, उसके अन्त भाग मे सम्यक्त्वादि आठ गुणो से भूषित आनन्द से परिपूर्ण तृप्त सिद्ध परमेष्ठी विराजमान हैं। इस लोक मे जिस पुरुषपुंगव के सत्यज्ञान उत्पन्न होजाता है, वस्तु का यथार्थ स्वरूप जिसके हृदय पटलपर प्रतिविम्बित हो जाता है उसकी आत्मा में अद्वितीय सन्तोषामृतपानजनित अनुपम आह्लाद उत्पन्न होता है तब जो चराचर त्रिलोकवर्त्ती पदार्थो का साक्षात् अवलोकन करते रहते हैं, जो अनन्त सुखादि के स्वामी है उनके आह्लाद का क्या ठिकाना ? चक्रवर्ती के सुख से भोगभूमिज मनुष्य का सुख अनन्त गुणा है। उससे अनन्तगुणा सुख धरणेंद्र के मानागया है। धरणेन्द्र से अनन्तगुणा देवेन्द्र के है। उससे अनन्तगुणा अहमिन्द्र के होता है। अतीत अनागत वर्त्तमान सम्बन्धी उन सब सुखों को एकत्र किया जावे तो उससे भी अनन्त गुणा सुख सिद्धो के क्षणमात्र से उत्पन्न होता है। यह कथन भी विल्कुल ठीक नहीं है। क्योंकि अन्य सब संसारिक सुख आकुलतामय हैं, पराश्रित (इन्द्रियजन्य) है और सिद्धो का सुख निराकुल और आत्मोत्थ है। उस सुख का ठीक ठीक कथन करने का वचन मे शक्ति नहीं है, वह वचनातीत है।

इस प्रकार लोक के आकार का और उसके मध्यवर्त्ती क्षेत्रादि का तथा उनमे निवास करनेवाले जीवो के कर्मानुसार प्राप्त अवस्थाओं का चिन्तन करने से आत्मा मे धर्माचरण की रुचि विशेष जागृत होती है। लोक मे जिन प्राणियों ने धर्मपालन किया व परभव मे स्वर्गादि सम्बन्धी दिव्य सुखों का अनुभव करते हुए निराकुल सिद्धावस्था को प्राप्त करके सदा के लिए सुखी बने। तथा जिन्होने धर्माचरण की उपेक्षा की, मिथ्यात्व का सेवन किया, विषयसेवन मे ही सुख समझा, हिंसादि पापों मे ही मग्न रहे, उनको नरकादि के हृदयविदारक दुःख उठाने पड़े, अनन्त काल के लिए उस निगोद पर्याय की वेदना के पात्र बनना पड़ा जहा से कि निकलकर बादर त्रस पर्याय मे आना भी अति कठिन है। इत्यादि विचारों का लाभ लोक के स्वरूप का चिन्तन करने से होता है। अर्थात् लोक के स्वरूप का विधिवत् अभ्यास करने से लोक

मे कहाँ कहाँ कितना दु.ख है और कहाँ कहाँ कितना सुख है तथा नित्य निराकुल सुख कहाँ है—यह सब समझ में आजाता है, जिससे कि धर्म से प्रेम व पाप से भय उत्पन्न होता है और जीव का सुधार होता है। इसलिए 'लोकानुप्रेक्षा को बार-बार भाओ और अपने को कल्याण मार्ग मे लगा रखो।

अशुचि (अशुभ) अनुप्रेक्षा

णिरिएसु असुहमेयं तमेव तिरिएसु बंधरोहादी।
मणुएसु रोगसोगादियं तु दिवि माणसं असुहं ॥ ३० ॥ (मूला द्वा०)

अर्थ-नरकों मे सर्वदा और सर्वप्रकार दु ख ही होता है। वहाँ पर लेशमात्र भी (सुख) नहीं है। तिर्यंचों मे वध, बन्धन, रोध आदि जन्य दुःख प्राप्त होता है। मनुष्यों में रोग-शोकादि के निमित्ति से निरन्तर संक्लेश उत्पन्न होता है तथा देवों मे मानसिक दु ख सताप आत्मा को नित्य जलाता है।

और भी कहा है—

असुहा अत्था कामा य हुंति देहो य सव्वमणुयाणम्।
एओ चेव सुभो णवरि सव्व सोक्खायरो धम्मो ॥ १८१३ ॥ (भ० आ०)

अर्थ-अर्थ(धन) और काम (विषयाभिलाषा) अशुभ है। मनुष्यों का शरीर अशुभ है। संसार में सब जीवों को सुख देने वाला एक धर्म ही शुभ है। अर्थात् अर्थ कामादि सब आत्मा को अशुचि-अपवित्र करने वाले हैं। आत्मा को पवित्र करने वाला व सदा का अनुभव कराने वाला ससार म यदि कोई है तो वह एक धर्म ही है।

धन के लोभ से यह प्राणी राजदण्डादि भावी दु ख की परवाह न करके चोरी करता है। उत्तम कुल के अयोग्य अन्याय मार्ग पर गमन कर जनता मे निन्दनीय होता है। परलोक मे नरकादि के दुःखों को भोगता है, अतः धन मुक्ति का शत्रु, सब अनर्थों का मूल कारण और महाभय का जनक है।

विपय महाअपवित्र वघृणित शरीर से उत्पन्न होते हैं और वह शरीर रूपी कुटी (झोंपडी) अस्थि (हड्डी) रूपी पत्तों से बनी है। नसाजाल रूपी त्वचा (वक्कल) से बंधी है। मासरूपी मिट्टी से लीपी-पोती गई है, और अपवित्र रक्त, चर्वी मल मूत्रादि से भरी है और ग्लानि उत्पन्न करने वाली है। जिस प्रकार लकडी का कोयला जलादि से धोने पर भी शुद्ध नहीं होता, उसी प्रकार यह देह पवित्र और सुगन्धित जलादि पदार्थों से निरन्तर धोते रहने पर भी कभी पवित्र नहीं होती। बल्कि यह उन पवित्र और सुगन्धित जलादि को अपवित्र और दुर्गन्धमय बना देती है। क्या मल (विष्टा) से भरा हुआ घडा जलादि के द्वारा धोने पर कहीं पवित्र हो सकता है ? यदि नहीं तो क्या महा अपवित्र रुधिरादि से भरा हुआ यह शरीर जलादि से पवित्र हो सकता है ? सर्वथा पवित्र तो एक रत्नत्रय रूप धर्म ही है जिसका भली भाँति आचरण करने से जल्लौषधि, मलौषधि आदि अनेक ऋद्धियाँ मुनि को उत्पन्न होती हैं। जिनसे मुनि के शरीर के स्वेद मल मूत्रादि अपवित्र पदार्थ औषधि रूप हो जाते हैं और उनके स्पर्श को प्राप्त हुई वायु भी जीवों के भयानक और असाध्य रोगो का क्षण भर मे ध्वंस करती है। अत धर्म ही परमपवित्र है, जो अपवित्र पदार्थों मे पवित्रता और अद्भुत शक्ति उत्पन्न करता है।

हे मुने ! धर्म मे पवित्रता इसलिए है कि वह परम पवित्र शुद्ध आत्मा से उत्पन्न होता है और यह शरीर अपवित्र इसलिए है कि इसका उपादान कारण भी अपवित्र है।

वही कहा है—

कणिका शुद्धितः शुद्धः कणिकाघृतपूरकः ।
वर्चोबीजः कथं देहो विशुद्ध्यति कदाचन ॥ १०३४ (सं. भ. आ.)

अर्थ—गेहूँ के आटे से बना हुआ घृतपूरक (घेवर) शुद्ध है, क्योंकि उसका कारण गेहूँ का आटादि शुद्ध है। रक्त और वीर्य से उत्पन्न हुआ शरीर कैसे शुद्ध हो सकता है ? क्योंकि उसका उपादान कारण अशुद्ध है।

शरीर की उत्पत्ति का क्रम —

कललगदं दसरत्तं अच्छदि कलुसीकदं च दसरत्तं ।
थिरभूदं दसरत्तं अच्छदि गब्भम्मि तं बीयं ॥ १००७ ॥

तत्तो मामं वुब्बुदभूदं अच्छदि पुणो वि घणभूदं।
जायदि मासेण तदो मंसप्पेमी य मासेण ॥ १००८ ॥

मासेण पंच पुलगा तत्तो हुंति हु पुणो वि मासेण।
अंगाणि उवंगाणि य णरस्स जायंति गब्भम्मि ॥ १००९ ॥

मासम्मि सत्तमे तस्स होदि चम्मणहरोमणिप्पत्ती।
फंदणमट्ठममासे णवमे दसमे य णिग्गमणं ॥ १०१० ॥ (भ. आ)

अर्थ—माता के उदर के भीतर गर्भाशय (वच्चेदानी) में पहुचा हुआ माता का रज और पिता का वीर्य दश दिन पर्यन्त कलल पर्याय में रहते हैं। अर्थात् अग्नि के संयोग से पिघले हुए तावे और चादी के समान रहते हैं। तथा दशदिन पर्यन्त कलुपित (मिश्रित मलीन) अवस्था मे रहते हैं। पश्चात् दशदिन पर्यन्त दृढ अवस्था मे रहते हैं। इस प्रकार एक मासक मे रजोवीर्य की तीन अवस्थाएँ होती हैं।

इसके अनन्तर दूसरे मास मे उसकी वुलवुले की सी अवस्था होती है। तीसरे मास मे वह कठिन (ठोस) हो जाता है। इसके वाद वह चतुर्थ मास में मास की पेशी (डली) के आकार होता है। पाँचवें मास मे उस मासपेशी से पाँच अंकुर निकलते हैं। नीचे के दो अंकुरों से दो पॉव, वीच के दो अंकुरों से दो हाथ और ऊपर के अंकुर से मस्तक का प्रारभ होता है। उक्त अवयवों की अंकुरावस्था रहती है। तदन्तर छठे मास मे हाथ पॉव नितम्ब (चूतड) छाती, पीठ और मस्तक इन आठ अंगो निर्माण होता है तथा आँख, कान, नाक, कपोल, ओष्ठ अंगुलि आदि उपागों की रचना होती है। सातवें मास मे गर्भ के अवयवों पर चर्म और रोम की उत्पत्ति होती है और हाथ पावों के नख उत्पन्न होते हैं। आठवें मास मे उस गर्भ मे हलन चलन क्रिया होने लगती है। नववें या दसवें मास मे गर्भस्थ वालक उदर मे वाहर निकलता है। अर्थात् कभी नववे या कभी दशवें मास मे जन्म होता है।

जिनमे यह शरीर वना है उन घृणित पदार्थों का नाम मात्र उच्चारण करने से आगम में भोजन अन्तराय वताया है। फिर ऐसे शरीर से प्रेम करना क्या उचित है ? इस शरीर मे सिवाय अशुचि पदार्थों के अन्य कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो पवित्र हो।

शरीर के स्वरूप का वर्णन प्रथम किरण में पृष्ठ ७४ पर कर आये हैं। इस महा अपवित्र पदार्थों से भरे हुए शरीर में जो राग करेगा उसे पुनः गर्भ में निवास करना पड़ेगा। गर्भ में जीव की कैसी दशा होती है ? सुनिए —

असुइ विलविले गब्भे वसमाणो वत्थि पडल पच्छण्णो ।
मादुइ सेभलालाइयं पु तिव्वासुहं पिवदि ॥ ३३ ॥ (मू. आ.)

अर्थ—मूत्र, विष्टा, कफ पित्त रुधिरादि से घृणित माता के उदर में निवास करता हुआ प्राणी जरायु से आवृत (ढका हुआ) रहता है। वहाँ पर माता के द्वारा भक्षणकिये हुए भोजन से बना हुआ जो कफ और लार मिश्रित रस है, जिसमें भयानक दुर्गन्ध होती है, उसे पीता है। गर्भ में यह जीव जब ऐसे महा अपवित्र आहार का ग्रहण करता है तब सोचना चाहिए कि जिस शरीर की उत्पत्ति का मूल कारण ही अशुचि है, जिसके प्रारंभ का आहार भी अपवित्र है, तथा संसार में जितने घृणाकारक पदार्थ हैं वे जिसमें सदा भरे रहते हैं, उसमें अनुराग की कौनसी वस्तु है ? इसमें जो जीव का अनुराग होता है उसका अज्ञान और मोह के सिवा कोई कारण दृष्टि-गोचर नहीं होता। क्या कोई बुद्धिमान् विष्टा रुधिरादि से भरे पात्र को शुचि समझेगा और उससे प्रेम करेगा ? जीव को अन्धा बनाने वाले इस मोह को धिक्कार हो।

शुद्धि के भेद

शुचिपना (शुद्धि) दो प्रकार का मानागया है—१ लौकिक और २ लोकोत्तर। लौकिक शुचिता का श्रावक धर्म में विस्तृत वर्णन किया जावेगा, क्योंकि यहाँ उसका सम्बन्ध नहीं। मुनियों के लोकोत्तर शुचिता मानी गई है। लेकिन नाम निक्षेप मात्र यहाँ भी लौकिक शुद्धि का निरूपण करदेते हैं।

लौकिक शुद्धि के ८ भेद और उसका स्वरूप

लौकिक शुद्धि आठ प्रकार की मानी गई है—१ कालशुद्धि २ अग्निशुद्धि, ३ भस्मशुद्धि, ४ मृत्तिकाशुद्धि, ५ गोमयशुद्धि, ६ जलशुद्धि, ७ पवनशुद्धि और ८ ज्ञानशुद्धि। श्री राजवार्तिक में पवन शुद्धि के बजाय निर्विचिकित्सा शुद्धि मानी है। ये आठों शुद्धियां शरीर को शुद्ध करने में असमर्थ हैं।

१ कालशुद्धि—रजस्वला स्त्री तीन रात्रि बीतने पर शुद्ध होती है। सूतक की शुद्धि दश दिन में और पातक-शुद्धि बारह दिन में मानी गई है। इत्यादि।

२ अग्निशुद्धि—शूद्रादि से स्पर्श किये हुए धातु-निर्मित पात्र अग्नि मे तपाने पर शुद्ध माने गये हैं।

३ भस्मशुद्धि—भोजन के उच्छिष्ट वर्त्तन भस्म से माजने पर शुद्ध होते हैं।

४ मृत्तिकाशुद्धि—मलमूत्रादि के हाथों को तथा उच्छिष्टादि के वर्त्तनों को मृत्तिका से धोने पर पवित्र माने गये हैं।

५ गोमयशुद्धि—भूमि को गोमय (गोवर) से लीपने पर उसकी शुद्धि होती है।

६ जलशुद्धि—वस्त्रादि की शुद्धि जल से धोने पर होती है, तथा कर्दमादि शरीर के लग जाने पर या अस्पृश्य पदार्थों का स्पर्श होने से जलस्नान करने पर शुद्धि मानी गई है।

७ पवनशुद्धि—भूमि, पापान, काष्ट-कपाट आदि की शुद्धि वायु से मानी गई है।

८ ज्ञानशुद्धि—ज्ञान द्वारा शुद्धि को ज्ञान शुद्धि कहते हैं। कालाध्ययनादि ज्ञान को विनय कर ज्ञान की आराधना भी ज्ञान शुद्धि है।

इस प्रकार लौकिक शुद्धि का संक्षेप से वर्णन किया। मुनिमार्ग मे लोकोत्तर शुद्धि कार्य-कारिणी है अत. अब उसका वर्णन करते हैं—

लोकोत्तर शुद्धि के आठ भेद और उनका स्वरूप

श्री भट्टाकलकदेव ने तत्त्वार्थराजवार्त्तिक मे लोकोत्तर शुद्धि आठ प्रकार की कही है-१भावशुद्धि, २ कायशुद्धि, ३ विनयशुद्धि, ४ ईर्यापथशुद्धि, ५ भिक्षाशुद्धि, ६ प्रतिष्ठापनशुद्धि, ७ शयनासन शुद्धि, ८ वाक्यशुद्धि।

१ भावशुद्धि—कर्मों के क्षयोपशम से मोक्षमार्ग मे रुचि उत्पन्न होने से तथा रागादि के अभाव से जो आत्म-विशुद्धि होती है वह भावशुद्धि है।

२ कायशुद्धि—निराभरण, संस्कार रहित, अंगविकार से शून्य, यथाजातरूप को धारण करने वाली, प्रफुल्लित वदन जो शरीर की परम शान्त वृत्ति है वह कायशुद्धि है।

३ विनयशुद्धि—परमभट्टारक श्री अरिहंत देव में, पूज्य गुरुओं मे तथा ज्ञानादि गुणों मे यथायोग्य भक्ति का होना, गुरु के अनुकूल सदा प्रवृत्ति करना, आगम का पठन पाठन करना तथा मनन करने के पश्चात् द्रव्य, क्षेत्र, कालादि के अनुसार आगमानुकूल उपदेश करना, आचार्य की अनुमति के अनुसार प्रवृत्ति करना विनय शुद्धि मानी गई है।

स प्र

४ ईर्यापथशुद्धि—नाना प्रकार के जीवों के स्थानों व उत्पत्ति के स्थानो को जानकर जीवों की पीड़ा का परिहार करने के लिए सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित चार हाथ भूमि को अपने नेत्रों से पूर्ण सावधानतया शोधते हुए चलना, न तो बहुत शीघ्र चलना, न बहुत विलम्ब करते हुए चलना, संभ्रान्तचित्त होकर न चलना, इधर उधर दिशाओं का अवलोकन करते हुए न चलना, किन्तु सम्मुख मार्ग पर दृष्टि रखते हुए-खोये हुए रत्न को ढूढने वाले मनुष्य के समान उपयोग, पूर्ण दृष्टि से मार्गस्थ जीवों को बचाते हुए-गमन करना ईर्यापथशुद्धि कही जाती है।

५ भिक्षाशुद्धि—जिसने लौकिक और लोकोत्तर प्रवृत्ति का ज्ञान प्राप्त करलिया है, पिच्छिका से शरीर के ऊपर के और नीचे के भाग का प्रमार्जन कर लिया है, जो आचार शास्त्रोक्त काल और देश को जान कर उसमें प्रवृत्ति करने मे कुशल (प्रवीण) है, जिसको आहारादि पदार्थों की प्राप्ति मे हर्ष और अप्राप्ति मे विपाद नहीं होता है, जिसका चित्त मान से संतुष्ट और अपमान से कुंठित नहीं होता है, जो लोक-निंद्य कुलों मे गोचरी नहीं करता है, जो दीन व अनाथशाला का तथा विवाह याग सम्बन्धी घरों का भोजन ग्रहण नहीं करता है, भोजन के अलाभ मे जिस के चित्त पर लेश मात्र दीनता प्रकट नहीं होती, आचार शास्त्रोक्त निर्दोष व निरन्तराय प्रासुक आहार से ही वैयावृत्यादि करने के लिए अपने शरीर का रक्षण करता है, सरस नीरस आहार में तथा लाभ व अलाभ में जो समान वृत्ति वाला है, सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित युवति के द्वारा दिये हुए घास को चरने मे ही जैसे गाय लगी रहती है, और उस युवति के सौन्दर्य, वस्त्राभूषण और हाव भाव के अवलोकन करने में निरुत्सुक होती है, उसी प्रकार मुनीश्वर भिक्षा(भोजन)परोसने वाले मनुष्यों के सुन्दर ललित रूप, वेष, भूषा, विलासादि के तथा उनके द्वारा की गई आहार पान की योजना के अवलोकन करने में निरुत्सुक हुआ यथाप्राप्त निरवद्य सरस नीरस आहार को ग्रहण करता है उसे मुनि के भिक्षा शुद्धि मानी गई है।

६ प्रतिष्ठापनशुद्धि—शरीर के मलमूत्र कफ नख रोमादि का ऐसे जन्तु रहित एकान्त स्थान मे निक्षेपण करना जिससे कि किसी जन्तु को बाधा न हो और मनुष्यो को ग्लानि हो इसे प्रतिष्ठापन शुद्धि कहते हैं।

७ शयनासनशुद्धि—जिसस्थान पर स्त्री क्षुद्र-मनुष्य चोर मद्यपायी खटीक जुआरी आदि पापी मनुष्यों का निवास हो, जहा शृङ्गार रस का पोषण होता हो, सुन्दर ललित वेषवती वेश्यादि का तथा नपुंसक गौ महिषी आदि तिर्यंचों का गमनागमन होता हो, तथा गीत नृत्य वादित्रादि का प्रचार हो रहा हो, ऐसे स्थानों का परित्याग कर, जन्तु-बाधा रहित अकृत्रिम पर्वत की गुफा वृक्ष कोटरादि मे तथा सूने घरों में अपने उद्देश से रहित(खाली)किये गये या खाली कराये गये स्थानों मे शयनासन(सोने बैठने,) को शयनासन-शुद्धि कहते हैं।

८ वाक्यशुद्धि—जिनसे पृथिवीकायिकादि जीवों के आरम्भ मे प्रेरणा न हो, जिनमे दूसरे जीवों को पीड़ाजनक कटु

कठोर असुहावने वचनों का प्रयोग न हो, जो व्रत शील के पोषण करने वाले हों, इस प्रकार के हित, मित और प्रिय वाक्यों के उच्चारण करने को वाक्यशुद्धि कहते हैं।

आस्रवानुप्रेक्षा

दुक्खभय-मीण-पउरे संसार-महण्णवे परमघोरे।
जंतु जंतु णिमज्जदि कम्मासवहेदुयं सव्वं ॥ ३७ ॥ (मू० आ०)

अर्थ—दुःखभय रूपी मत्स्य जिनमें भरे हैं-ऐसे महाभयानक संसार-समुद्र मे जो ये सब संसारी प्राणी डूबते हैं उसका मूल कारण आस्रव है।

भावार्थ—जिसकी आत्मा मे राग-द्वेष मोह का निवास है, उसके निरन्तर आस्रव होता रहता है। जिस भाव के द्वारा कर्मों का आगमन होता है उसे भावास्रव कहते हैं, और कर्मों के आगमन को द्रव्यास्रव कहते हैं। आगम मे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद कषायादि को आस्रव कहा है, वे सब राग द्वेष के ही परिणाम हैं। इनके निमित्त से आत्मा मे निरंतर कर्मों का आगम होता रहता है। जैसे समुद्र मे पडे हुए जहाज के पैंदे मे छेद होजाने पर उसमें निरन्तर जल भरता रहता है, उसी प्रकार संसार समुद्र मे पड़े हुए इस आत्मा के अन्दर भी राग द्वेष या मिथ्यात्वादि रूप छेद (आस्रव) हो रहे हैं, उनके द्वारा निरन्तर कर्म आते रहते हैं। उनके निमित्त को पाकर आत्मा के साथ लगे हुए कार्माण-वर्गणा रूपुद्गल कर्म रूप बन जाते हैं।

कर्म बनने की योग्यता रखने वाले सूक्ष्म और बादर पुद्गल-परमाणुओं से यह लोक ठसाठस भरा हुआ है। जो शरीर का हिलना चलना, वचनों का उच्चारण तथा मन मे भले बुरे विचार निरन्तर होते हैं उनसे आत्मा के प्रदेशों मे क्रिया होती है और उससे वे कर्म-परमाणु खिंचते हैं तथा आत्मा से सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं। जैसे अग्नि से तपा हुआ गोला जल के मध्य पडा हुआ चारों ओर से जल को खींचता है, उसी प्रकार मन वचन काय की क्रिया से सतप्त आत्मा चारों ओर से कर्म परमाणुओं को प्रतिक्षण ग्रहण करता रहता है। ये आगत कर्म परमाणु तब तक कुछ भी बिगाड नहीं कर सकते, जब तक कि आत्मा में मिथ्यात्व, अविरति आदि का सद्भाव न हो। जैसे सूखे घडे पर लगी हुई रज चिकनाई के बिना उस पर नहीं ठहरती है-वायु के लगते ही दूर हो जाती है। अतः यह सिद्ध है कि ये मिथ्यात्व, अविरति आदि ही कर्म-शत्रुओं को उत्पन्न करने वाले हैं। ये ही महा शत्रु हैं। आस्रव से बचने के लिए इनको अपनी आत्मा से हटाना चाहिए। इनका स्वरूप सक्षेप मे इस प्रकार है—

वीतराग सर्वज्ञ अर्हंत भगवान् के द्वारा जो द्रव्य, पदार्थ व तत्त्वों का स्वरूप वर्णन किया गया है, उसका संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित श्रद्धान न करना ही मिथ्यात्व है। हिंसा, असत्य, स्तेय (चोरी), अब्रह्म (मैथुन) और परिग्रह इनका त्याग न करना अविरति (असयम) है। प्रशस्त क्रियाओ के आचरण करने मे उदासीनता रखने को प्रमाद कहते हैं। क्रोध मान माया लोभ ये चार कषाय हैं। ये चारों राग द्वेष की सन्तान हैं। द्वेष से क्रोध–मान उत्पन्न होते हैं और राग से माया-लोभ की उत्पत्ति होती है। यह अज्ञानी जीव अपने हित अहित के विचार से पराङ्मुख हुआ अहित करने वाले शरीर, इन्द्रिय-विषय आदि मे तो अनुराग करता है और हितकर अहिंसा, सत्य, क्षमा आदि धर्म के आचरण से विरक्त रहता है–उनसे द्वेष करता है। आत्मा के शत्रु जो विषय कषाय हैं उनको सुख देने वाले समझ अपनाता है। आत्मा के मित्र सम्यक्त्व संयमादि को दुःखद (शत्रु) समझ उनसे दूर भागता है।

दुर्लभ मनुष्य भव पाकर धर्माचरण की तो उपेक्षा करता है और विषयादि की अभिलाषा करता है। यह विवेकहीन कुकृत्य उस अविवेकी मनुष्य के समान है, जो रत्न द्वीप मे जाकर रत्नो का तो त्याग करता है और काष्ठ का भार ग्रहण करता है। अथवा उस पुरुष के समान है जो पूर्व पुण्य के योग से सुन्दर उपवन मे पहुच कर भी अमृत फल को छोडकर विष फल का भक्षण करता है। यह नर भव पूर्व पुण्य के उदय से मिला है। इसे पाकर जीव को चाहिए कि वह इसे अमृतमय धर्म के पान करने मे लगावे। विषयादि रूप विष का पान करके तो पहले ही इसने अनन्त काल पर्यन्त वचनातीत दुःख पाये हैं। इसलिए उनका त्याग करना ही इसके लिए हितकर है। जिस दुष्ट योग पापजनक मन वचन काय की क्रिया से अशुभास्रव होता है वही जीव का शत्रु है, क्योंकि वही कर्म शत्रुओं का जनक है। अत. यहा शुभ अशुभ आस्रव का विशेष स्वरूप समझाते हैं। अनुकम्पा (दया) और शुद्धोपयोग पुण्य-कर्म के आस्रव द्वार हैं तथा इनसे विपरीत परिणाम पापास्रव के द्वार हैं। योग द्वारा आये हुए कर्मों मे पुण्य (शुभ) रूप परिणमन के उत्पन्न होने को पुण्य कहते हैं, और अशुभ रूप परिणमन के उत्पन्न होने को पाप कहते है।

अनुकम्पा के तीन भेद और उनका स्वरूप

अनुकम्पा (कृपा) तीन प्रकार की है—१ धर्मानुकम्पा, २ मिश्रानुकम्पा और ३ सर्वानुकम्पा। उनमे से धर्मानुकम्पा का स्वरूप इस प्रकार है—

धार्मिक पुरुषों पर भक्ति रूप परिणाम होने को धर्मानुकम्पा कहते हैं। उस धर्मानुकम्पा से प्रेरित हुआ विवेकी मनुष्य स्वशक्ति को न छिपाकर सयम मे तत्पर रहने वाले संयमीजनों के योग्य अन्न-पान, औषध, वसती, उपकरणादि संयम के साधक पदार्थों का दान करता है। उनपर आये हुए उपसर्गों का निवारण करता है। 'आज्ञा दीजिए, मै आपकी सेवा म उपस्थित हूं' इत्यादि मधुर वचनों का उच्चारण करता

हुआ उनकी सेवा मे तत्पर रहता है। जिनको मार्ग मे भ्रम उत्पन्न होगया है उन्हें सन्मार्ग का उपदेश देता है। सयमियो का सयोग पाकर आनन्द मे विभोर होजाता है, और भाग्य को सराहता है कि मैं बडा पुण्यवान हूँ जो ऐसे सत्पुरुषों का योग मिला है। सभा मे उनके गुणों की महिमा गाता है। जो उन सत्पुरुषों के गुणों का कीर्तन करते हैं उनकी अनुमोदना करता है। उनका प्रतिक्षण स्मरण करता है, ऐसे महाभाग का सत्समागम मुझे कब मिलेगा, इस प्रकार उनके सम्मिलन की उत्कण्ठा रखता है। इत्यादि प्रकार से महापुरुषों की गुण-राशि मे हर्ष प्रकट करने से महान् पुण्य का आस्रव होता है।

जिन्होने असयम का त्याग किया है, मान-अपमान, लाभ-अलाभ, तृण-कचन मे समानबुद्धि करली है, इन्द्रिय और मन को अपने वश करलिया है, तीव्रकषाय और विषयो का त्याग किया है, शरीर को नश्वर, धन-वैभव को क्षणभगुर और दिव्य भोगो को रोग समझकर वैराग्य भावना मे अपने को रगलिया है, ससार समुद्र से भयभीत होकर जो रात्रि मे अल्पनिद्रा लेते और आत्मा की सुख साधना म सतत सचेत रहते हैं, जो उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों में ऐसे मग्न रहते हैं मानो साक्षात् उत्तम क्षमादि धर्म ही शरीर धारण कर दर्शन दे रहे हो—ऐसे महात्माओ पर उक्त प्रकार से अनुकम्पा करने को धर्मानुकम्पा कहते हैं।

२ मिश्रानुकम्पा—महान् अनर्थ के मूल हिंसा आदि महापातको का एक देश त्याग कर जो अणुव्रती बने है तथा सन्तोषामृत के स्वाद का अनुभव करते हैं तथा वैराग्य भावना से जिनका अन्त-करण ओत-प्रोत है, जो दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डत्याग व्रत इन तीन गुणव्रतों का आचरण कर आत्मा के गुणों का विकास कर रहे हैं, जिनके सेवन से महादोष प्रादुर्भूत होते हैं ऐसे भोग व उपभोग के पदार्थों का जितने त्याग किया है, जो पाप कृत्यों से डरकर नित्यप्रति यथाकाल स्वल्पदेश व किंचित्वस्त्रादि परिग्रह के सिवा अन्य सब पापकृत्यो का तथा परिग्रहादि का त्यागकर सामायिक करते हैं, पर्वदिनों में सब आरभ का त्यागकर जो उपवास कर धर्मध्यान से समय विताते हैं, जो अतिथि के आतिथ्य मे आदर पूर्वक मन की परिणति लगाकर अपने को अहोभाग्य समझते हैं—ऐसे संयतासयत (देशव्रती) पर अनुकम्पा करने को मिश्र-अनुकम्पा कहते हैं।

जो प्राणियों पर दया तो करते हैं, किन्तु दया का यथार्थ स्वरूप नहीं समझते हैं, जिनागम से बहिर्भूत अन्य पाखण्डी गुरुओ की सेवा करते हैं, कोमल और कष्टदायक कायक्लेश करते हैं उन पर अनुकम्पा करना भी मिश्रानुकम्पा है। क्योंकि गृहस्थो की धर्म मे प्रवृत्ति एक देशरूप है। उनको लौकिक व्यवहार और धर्म व्यवहार उभय का आचरण करना पड़ता है। जिस व्यवहार से सम्यक्त्व की हानि न होती हो ऐसी क्रिया करने मे उसे दोष नहीं होता है। इसलिए वह अन्यधर्म के दयालु व दुखी आदि जनों पर और स्वधर्मी गृहस्थादि पर अनुकम्पा करता है। दोनों पर अनुकम्पा करने के कारण उसकी अनुकम्पा को मिश्र-अनुकम्पा कहते हैं।

स प्र

सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि जो स्वभावतः कोमलचित्त होकर, दयासे आर्द्र हृदय होकर, सम्पूर्ण प्राणियो पर दया करते हैं, उस दया को सर्वानुकम्पा कहते हैं। जिससे प्रेरित हुआ वह जीव अन्य प्राणियों के दु.ख को अपने दु.ख समान मानता हुआ उनको सुख पहुचाने के लिए प्रत्युपकार की अपेक्षा न रखकर सतत प्रयत्नशील रहता है, सत्य उपदेश देता है, ऐसी सर्वानुकम्पा भी पुण्यास्रव का कारण होती है।

शुद्धोपयोग के भेद

शुद्धोपयोग अर्थात् शुद्धपरिणाम–दोप्रकार का है। मुनि का शुद्ध परिणाम और गृहस्थ का शुद्धपरिणाम।

मुनि का शुद्धोपयोग–निर्मल व्रतों का धारण, निर्दोषशील का पालन, स्वाध्यायतत्परता और ध्यानादि में लवलीनता ये सब शुद्धोपयोग हैं। उनके आचरण से निज आत्मा का कल्याण और अन्यजीवों का उपकार होता है। इसके विपरीत आचरण करने वाला मुनि अपने धर्म को कलंकित करता है।

सिद्ध, अर्हंत, आचार्य, उपाध्याय, जिन–प्रतिमा, सघ, जिनधर्म-इन पर भक्ति रखना, विषय से वैराग्य, गुणों पर प्रेम, गुरु आदि का विनय, इन्द्रिय व प्राणिसयम, प्रमाद का त्याग कर सत्कृत्यों मे सावधानता, क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष आदि गुणों का धारण, आहारादि चार सज्ञाओं पर विजय, तीन शल्य और तीन गारव का त्याग, उपसर्ग और परिषहों पर विजय, सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की वृद्धि, सराग सयम, धर्म्यध्यान इत्यादि गुणो को धारण कर जिनेन्द्र की भक्ति का उपदेश, नि.शङ्कितादि आठ गुण, तपस्याद्वारा कर्मक्षय करने की उत्कृष्ट भावना, पाचसमिति और तीनगुप्ति आदि मुनियों का शुद्ध उपयोग है। यहाँ पर शुद्धोपयोग से निर्मल परिणाम का ग्रहण है जो शुभोपयोग और शुद्धोपयोग रूप होता है।

गृहस्थ का शुद्धोपयोग–जो व्रत धारण किया है उसका पालन करने की उत्कण्ठा रखना, एक क्षण मात्र भी व्रतभंग को अनिष्ट व अकल्याण-कारक समझना। सदा मुनि-समागम की अभिलाषा रखना, श्रद्धापूर्वक यथाविधि मुनि को आहारादि दान करना, विषय भोगों के सेवन को रोगप्रतीकार का कारण समझते हुए उनका त्याग करने मे सामर्थ्य न होने पर भी उनकी निन्दा करना और गृहवास त्याग करने की भावना करते रहना, धर्म का श्रवण कर अत्यानन्द से उल्लासित होना, भक्ति से गद्गद हो पंचपरमेष्ठी की स्तुति करना, वन्दना प्रणाम करना, पूजा करना, अन्यजनों को भी धर्म मे लगाना, उनको स्थिर करना, उनके अज्ञानवश व प्रमाद कृत दोषों का उपगूहन करना (ढकना), साधर्मिक पुरुषों पर अतिप्रेम–वात्सल्य रखना, जिनेन्द्र के भक्तों का उपकार करना, जिनशास्त्रों का उद्धार प्रकाशन, पठन एव पाठन करना, जिनधर्म की प्रभावना करना आदि गृहस्थों के शुद्ध उपयोग हैं अर्थात निर्मल शुभ परिणाम हैं।

उक्त अनुकम्पा और शुद्धोपयोग के विपरीत परिणामों से अशुभ कर्मों का आस्रव होता है।

संवर–भावना

तम्हा कम्मासवकारणाणि सव्वाणि ताणि रुंधेज्जो ।
इंदिय–कसाय–सण्णा–गारव रागादि आदीणि ॥४८॥ (मूला. द्वा)

अर्थ–इन्द्रिय, कषाय, सञ्ज्ञा गारव और रागादि इनसे कर्मों का आस्रव होता है। इन कारणों से निरन्तर आत्मा में कर्मों का आगमन होता है इसलिए इन सम्पूर्ण कर्मास्रव के कारणों को रोकना चाहिए।

भावार्थ—इन्द्रियाँ दुर्दान्त अश्व के समान हैं, ये आत्मा को विषय रूप उत्पथ (कुमार्ग) में लेजाकर नरकादि कुगति रूपी महागर्त (अगाध खड्डे) मे पटकती हैं। अर्थात् आत्मा पंचेन्द्रियों के विषय भोग मे लम्पट होकर महान् पाप कर्मों का बन्ध करके, उनका फल भोगने के लिए नरक निगोदादि दुर्गति मे जाता है। वहाँ उसे मनसे भी अचिन्त्य दुःख भोगने के लिए बाध्य होना पड़ता है। उनको रोकने के लिए, अपने वश में रखने के लिए ज्ञान और वैराग्य ये दो कारण हैं। जिस प्रकार दुर्दान्त अश्व को अपने वश मे रखने के लिए सवार के हाथ मे लगाम होती है, उसीसे वह अश्व को अनुचित मार्ग से रोक कर उचित सत्पथ पर ले आता है, उसी प्रकार विषय की ओर दौडती हुई इन्द्रियों को सन्मार्ग में लाने वाला विवेक-ज्ञान और विषय-वैराग्य है। क्योंकि विवेक ज्ञान और विषय–वैराग्य से अन्तःकरण की प्रवृत्ति विषयों से हटती है। उसकी चचलता दूर होकर एकाग्रता होती है। उसी मनकी एकाग्रता मे इन्द्रिय रूपी सर्पों का निग्रह होता है। जिस प्रकार विद्या, मन्त्र और औषधि से रहित मनुष्य मे जहरीले सर्पों को वश मे करने का सामर्थ्य नहीं होता उसी प्रकार ज्ञान वैराग्य से जिसका मन वश मे नहीं हुआ–है एकाग्र नहीं हुआ है वह विषय–विष के आस्वादन करने में चपल इन्द्रियों को अपने वश मे नहीं कर सकता है।

कषाय कर्मों के मूल कारण हैं। उन्हीं से स्थिति और अनुभाग (आत्मा को सुख दुःखादि देने की शक्ति) बंध होता है। अतः कषायों को रोकने पर सब कर्म–आस्रव रुक जाते हैं। अर्थात् योग द्वारा आये हुए कर्म भी कषाय के अभाव मे एक समय तक ठहर कर अपने आप निवृत्त हो जाते हैं। अधिक समय तक आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं रखते हैं। तथा एक समय तक भी आत्मा का भला बुरा नहीं कर सकते हैं। अत कषाय ही आस्रव का द्वार है। जिस प्रकार समुद्र मे पडी हुई नाव के छिद्र बन्द करने पर उसमे जल नहीं भरता है, वह जल मे नहीं डूबती है, उसी प्रकार कर्मों के द्वारभूत कषायों के रोक देने पर आत्मा में कर्मों का सम्बन्ध नहीं होता है, और आत्मा ससार समुद्र मे नहीं डूबती है। आशय यह है कि कषायों के रोकदेने पर मूल से सब आस्रव रुक जाते हैं। यद्यपि योगादि के द्वारा आस्रव होता है, तथापि उससे आत्मा की कुछ हानि नहीं होती।

प्रमादकथन

४ विकथा, ४ कषाय ५ इन्द्रियां, १ निद्रा और १ स्नेह इन पन्द्रह प्रमादों से जीवो के निरन्तर कर्मों का आश्रव होता रहता है। इनका निरोध अप्रमाद अवस्था से होता है। जैसे रणागण मे शत्रुओं के शस्त्र प्रहार को शूरवीर पुरुष ढाल से रोकते हैं, वैसे ही कर्मों को पराजित करने के लिए उनसे युद्ध करने वाला शान्त धीर वीर मुनि नवीन कर्म शत्रुओं का आगमन अप्रमाद (स्वाध्याय ध्यानादि) रूपी ढाल के द्वारा रोकता है।

स्वाध्याय और ध्यान मे एकाग्रता रूप अप्रमाद (सावधानी) से विकथा-प्रमाद-जन्य कर्मों का आगमन रुक जाता है। क्योंकि सत्य-भाषा, असत्यमृषाभाषा, स्वाध्याय और ध्यान मे चित्त की एकाग्रता ये विकथा-प्रमाद के प्रतिपक्षी हैं।

क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौच (सन्तोष) कषाय-प्रमाद के शत्रु हैं।

ज्ञान का सर्वदा अभ्यास करना, राग द्वेष उत्पन्न करने वाले इन्द्रियों के विषयों से अलग होकर एकान्त प्रदेश में रहना, ज्ञान बल से मन को निज स्वरूप मे एकाग्र करना, इन्द्रियों के विषयों का स्मरण न करना, विषयों की प्राप्ति होने पर उनमे आदर न करना, ये सब प्रमाद के विनाशक हैं।

इन्द्रिय के विषयों से विरक्ति

प्रश्न—मुनि इन्द्रियों के विषय प्राप्त होने पर उनमें किस प्रकार अनादर करते हैं ?

उत्तर—मुनि राग भाव से सुन्दर स्त्री के अवयवो पर दृष्टि नहीं डालते हैं। अकस्मात् दृष्टि पड जाने पर राग भाव उत्पन्न नहीं करते और दृष्टि को खींच लेते हैं। द्वेष के वश होकर अशुभ रुप को नहीं देखते और अशुभ रूप दिखलाई देने पर उससे द्वेष नहीं करते हैं। इस प्रकार मुनि नेत्रेन्द्रिय को अपने वश मे करते हैं।

उत्तम गायन व कर्णमधुर सगीत की ध्वनि तथा युवती महिलाओ के कोकिल कण्ठ से निकले मधुर मजुल स्वर सुनने की मुनि अभिलाषा नहीं करते हैं और अचानक सुनाई देने पर उनमें आसक्त नहीं होते हैं। तथा अनेक असुहावने कर्कश कठोर शब्दो को सुनकर क्रोधित नहीं होते, इस प्रकार कर्णेन्द्रिय पर अपना काबू रखते हैं।

जो मुनि, चन्दन, कर्पूर, केसर, चम्पक, गुलाब आदि की मनमोहक सुहावनी गन्ध को सूंघने की उत्कण्ठा नहीं करते तथा अचानक

सुगन्ध घ्राणगोचर हो जाने पर चित्त मे अनुराग नहीं करते है तथा अत्यन्त अप्रिय दुर्गंध का सम्बन्ध होने पर ग्लानि व द्वेष नहीं करते हैं वे मुनीश्वर घ्राणेन्द्रिय के विजयी होते हैं।

जो अतिमधुर सुस्वादु भोजन के रसास्वादन मे लोलुप नहीं होते हैं, तथा दैवयोग से विशिष्ट स्वादिष्ट रसीले भोजन के प्राप्त होने पर उसका आसक्त भाव से आस्वादन नहीं करते हैं, तथा असुहावने कटु अस्वादु भोजन के रस मे द्वेश भाव नहीं करते ऐसे मुनि रसनेन्द्रिय को स्वाधीन करते हैं।

सुन्दर कोमल शय्या, रूपवती स्त्री तथा अन्य सुखदस्पर्श मन का आकर्षण करते हैं। किन्तु जो मुनि विरक्त भावना से भावित होकर उनके सेवन की अभिलाषा तो दूर रही, उनका स्मरण तक नहीं करते हैं, तथा स्वाभाविक सुन्दर स्पर्श का सयोग होने पर उसके सेवन मे अनुरक्त नहीं होते हैं, शीतस्पर्श या उष्णस्पर्श वाली भूमि, पर्वतशिला अथवा कठोर तृणादि का स्पर्श होने पर मनमे खेद नहीं करते वे ही स्पर्शनेन्द्रिय के विजयी होते हैं।

जो अनशन, अवमौदर्य रसपरित्याग करते हैं, ससार से भयभीत रहते हैं, रत्नत्रय मे अनुराग रखते और अपने दुष्कृत्यो का स्मरण कर उन पर पश्चात्ताप करते हैं, वे मुनिराज सदा आलस्य का त्याग कर निद्रा को जीतते हैं।

स्नेह का नाश करने के लिये मुनि ऐसा चिन्तन करते हैं कि बन्धुगण आदि सब अस्थिर हैं, स्वार्थ परायण हैं, अपने प्रयोजन की पूर्ति पर्यन्त साथ देने वाले हैं। उनके निमित्त आरंभादि पापकर्म करने की चिन्ता होती है, जो नरकादि कुगति मे लेजाने वाली है। येही बन्धुगण धर्म मे विघ्नबाधा उपस्थित करते हैं, सदा आत्मा को विपरीत मार्ग मे लगाने वाले हैं इत्यादि। इस प्रकार अप्रमाद रूप ढाल हाथ मे लेकर मुनि प्रमाद शत्रु का मुकाबला करता है। जिस प्रकार किले के द्वार बन्द कर देने पर बाहर से शत्रु का प्रवेश रुक जाता है, उसी प्रकार अप्रमाद के किवाड जुड देने से आत्मा मे कर्मशत्रु का प्रवेश रुक जाता है। जैसे-कोट खाई आदि से सुरक्षित नगर मे शत्रु सेना प्रविष्ट नहीं होसकती वैसे ही मनोगुप्ति, वचन गुप्ति और कायगुप्ति से सुरक्षित आत्मा मे कर्म-शत्रुओ का प्रवेश बद हो जाता है।

इसलिए उक्त प्रकार से आस्रव के कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय के विपरीत सम्यक्त्व, सयम, स्वाध्याय, ध्यान और क्षमा मार्दव आर्जव सन्तोष का अभ्यास करके कर्मों के आस्रव का निरोध करने मे सतत उद्यत रहो।

निर्जरानुप्रेक्षा

रुद्धासवस्स एवं तवसा जुत्तस्स णिज्जरा होदि।
दुविहा य सावि भणिया देसादो सव्वदो चेव ॥ ५४ ॥ (मूला द्वा०)

अर्थ—जिसने कर्मागमन द्वार को ढक दिया है, एव जो तपस्या से युक्त है, उसके कर्मों की निर्जरा होती है। वह दो प्रकार की है-१ एकदेशनिर्जरा और २ सर्वनिर्जरा।

भावार्थ—आत्मा के साथ सम्बद्ध कर्म परमाणुओ के आत्मा से पृथक् होजाने को अर्थात् उन कर्म-परमाणुओं में आत्मा को परतन्त्र करने की शक्ति के नष्ट होजाने को निर्जरा कहते हैं।

निर्जरा के भेद और उनका स्वरूप

पुव्वकदकम्मसडणं तु णिज्जरा सा पुणो हवेदुविहा।
पढमा विवागजादा विदिया अविवागजाया य॥ १८४७॥ (भग-अ०)

अर्थ—पूर्वकाल मे किये हुए कर्मों का जीव के प्रदेशो से पृथक् होना निर्जरा है। उसके दो भेद हैं-१ सविपाक निर्जरा और २ अविपाक निर्जरा।

सम्पूर्ण ससारी जीवों के चाहे वह सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि सबके उदय में आये हुए कर्मों की सुख दु:खादि रूप फल देकर जो निर्जरा होती है उसे एकदेश निर्जरा कहते हैं। उसीका नाम सविपाक निर्जरा है। और जो तपस्या द्वारा विना फल दिये हुए कर्मों की निर्जरा होती है, अर्थात् तपश्चरण द्वारा कर्मों की फल देने की शक्ति का नाश करके जो निर्जरा होती है उसको अविपाक निर्जरा कहते हैं। इसका विशेष विवेचन पहले कर आये हैं।

आम्रादि फल दो तरह से पकते हैं। एक तो समय पर पकते हैं और दूसरे कच्चे फल तोडकर पाल में पकाये जाते हैं, इसी प्रकार निर्जरा भी दो तरह की होती है। कर्मों की स्थिति पूर्ण हो जाने पर अपना सुख दु:खादि फल (रस) देकर शुष्क हुए कर्म स्वय झड़जाते हैं—आत्मा से अलग हो जाते हैं वह सविपाक निर्जरा है। उस निर्जरा से आत्माका कुछ भी हित नहीं होता, क्योंकि वह नवीन कर्म को उत्पन्न करके पश्चात् होती है। दूसरी अविपाक निर्जरा है। जो सवर पूर्वक तपस्या से कर्मों का रस सुखाकर स्थिति पूरी हुए विना ही कर्मों की निर्जरा होती है, वही आत्मा का हित करने वाली है। इसीसे शनै: शनै: सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सवर रहित निर्जरा से नवीन कर्मों का बन्ध (सम्बन्ध) होता है, जैसे नौका के जल प्रवेश करने के छेद को न बन्द करने से नौका मे निरन्तर जल आता रहता है, वैसे ही विना कर्मास्रव का निरोध किये निरन्तर कर्मों का सम्बन्ध होता रहता है। और जब तपरूपी

अग्नि मे सुवर्ण रूपी आत्मा को ज्ञानरूपी सुहागा डालकर चारित्र रूपी भस्त्रा (धोकनी) से धमा जाता है तब कपायादि रूप कीट कालिमा नष्ट होती जाती है और सुवर्ण रूपी आत्मा शुद्ध होती जाती है। इस प्रकार होते होते सम्पूर्ण कर्मों की जब निर्जरा हो जाती है, तब यह आत्मा जन्मजरामरणरोगशोकादि बन्धन से विमुक्त होकर अनन्त आनन्द को पाता है। इसलिए इस निर्जरा की निरन्तर आराधना करो जिससे संसार के सब दुःखो से मुक्ति पाकर अविनाशी सुख के अधिकारी बनो।

धर्मानुप्रेक्षा

सव्वजगस्स हिदकरो धम्मो तित्थकरेहिं अक्खादो।
धण्णा तं पडिवण्णा विसुद्धमणसा जगे मणुया ॥ ६० ॥ (मूला० द्वा०)

अर्थ—सम्पूर्ण जगत का हितकारक धर्म है-ऐसा तीर्थंकरो ने कहा है। जिन मनुष्यो ने विशुद्ध अन्तःकरण से उस उत्तमक्षमादि रूप धर्म को धारण किया है-जगत् मे वे महात्मा धन्य हैं, कृतार्थ हैं।

धर्म का स्वरूप

ससार की दु.ख परम्परा से हटाकर जो निराकुल सुख शान्ति देने वाला है उसे धर्म कहते हैं। धर्म नाम वस्तु के स्वभाव का है। जिस वस्तु का जो वास्तविक स्वभाव होता है वही उसके लिए हितकारी है। जब वस्तु मे किसी अन्य पदार्थ का मेल होता है तब वह विकृत और मलीन होजाती है। जैसे पारे के साथ गन्धक का योग होने पर कजली हो जाती है, जो पारे के रङ्ग-रूप आदि गुण की विकृत अवस्था है। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव राग द्वेष रहित निराकुल अवस्था है। उसको कर्म के संयोग ने विकृत बनाकर राग द्वेष रूप बना दिया है। इस विकृतावस्था को दूर करने के उपाय को भी धर्म कहते हैं उस उपाय रूप धर्म का नाम चारित्र है। जैसे पारे के साथ गधक का सयोग होने पर कजली बनती है। पारे की उस विकृत अवस्था को दूर कर पुन. शुद्ध अवस्था मे लाने के लिए रासायनिक विधि से अग्नि मे तपा कर उसको गन्धक से अलग कर दिया जाता है। तब पारा अपनी शुद्ध अवस्था को प्राप्त होजाता है। उसी प्रकार कर्मों के सयोग से उत्पन्न हुई रागद्वेषादि रूप मलीन अवस्था को दूर करने के लिए विवेक ज्ञान रूप रासायनिक विधि से चारित्र रूपी अग्निद्वारा आत्मा को शुद्ध किया जाता है। इसलिए उस शुद्धि के उपाय भूत चारित्र को भी आगम में धर्म कहा है। इस प्रकार वस्तु के स्वभाव को तथा वस्तु को शुद्ध करने वाले-उसके शुद्ध स्वभाव को प्राप्त कराने वाले-उपायों को भी धर्म कहा है। अत. आगम मे धर्म के चार लक्षण बताये हैं :—

"धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
चारित्तं खलु धम्मो जीवाणं रक्खणो धम्मो ॥"

अर्थात्—१ वस्तु का स्वभाव धर्म है। २ उत्तमक्षमादि दशलक्षण धर्म है। ३ महाव्रतादि तेरह प्रकार का मुनि-चारित्र और अणुव्रतादि गृहस्थ चारित्र धर्म है। ४ जीवों की रक्षा करना धर्म है। इनमें से पहला धर्म का मुख्य लक्षण जो वस्तु का स्वभाव है उसी को (आत्मा के स्वभाव को) स्पष्ट करने के लिए क्षमादि को धर्म कहा है। क्योंकि क्षमा मार्दव आर्जव सत्य शौचादि आत्मा के स्वभाव हैं। इसलिए इनका वस्तु-स्वभाव रूप धर्म के मुख्य लक्षण में समावेश होजाता है और जो तीसरा और चौथा धर्म का लक्षण है, दोनों वस्तु के स्वभाव की प्राप्ति के उपाय हैं। क्योंकि चारित्र का पालन करने से तथा स्वदया और परदया का आचरण करने से आत्मा की व्यावहारिक शुद्धि होती है और धीरे २ आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव को प्राप्त करता है।

इसका आशय यह है कि जिन जिन उपायों से आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव की ओर झुकता है, तथा जिनका आचरण-धारण व पालन करने से आत्मा में एकदेश व सर्वदेश निराकुलता की प्राप्ति होती है, उन्हें ही धर्म समझना चाहिए।

दश लक्षण धर्म

उत्तम क्षमा

यह शरीर मल का घड़ा है। आत्मा का शत्रु है। आत्मा में जितने भी क्रोधादि या राग द्वेषादि शत्रु उत्पन्न होते हैं वे इसी के निमित्त से उत्पन्न होते हैं। देखो जब तुम तप की साधना के लिए परगृह में आहार के लिए जाओ, प्रतिष्ठापनासमिति (मल मूत्र त्याग) के लिए जाओ, आगम की आज्ञा के अनुसार ग्रामान्तर के लिए मार्ग में ईर्या समिति का पालन करते हुए चलो, उपदेश देते होओ, ध्यान-निमग्न होओ या अन्य किसी स्थिति में होओ किसी भी समय कोई भी दुष्ट जीव अपने अशुभ कर्म के प्रेरित हुआ तुम्हें दुर्वचन कहे कि यह अज्ञानी पशु है, दम्भी है, पाखण्डी है, धूर्त है इत्यादि मन में क्षोभ उत्पन्न करने वाले मर्म भेदी कठोर निष्ठुर वचन बोले, तुम्हारी जन समाज के सम्मुख हंसी करे, अपमान और अनादर करे, तुम्हें पीटने लगे और प्राणघात का अवसर भी आवे, तो भी उस समय तुमको विचारना चाहिए कि ये दुर्वचनादि क्या पदार्थ हैं और ये दुर्वचन किसे कह रहा है? ये वचन तो पुद्गल हैं, इसने क्रोधादि के वश होकर अपनी आत्मा का घात करके कलुषित परिणामों से तथा अपने तालु ओष्ठ आदि के व्यापार से ये वचन उत्पन्न किये हैं। इनका मेरी आत्मा के साथ क्या सम्बन्ध? कोई सम्बन्ध नहीं है। मेरी आत्मा अमूर्त्त है और ये पुद्गल हैं। जैसे आकाश में जलती हुई अग्नि आकाश का कुछ भी बिगाड़

नहीं करसकती, क्योंकि वह अमूर्त्त है, उसी प्रकार मेरी अमूर्त्त आत्मा का ये कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते। आत्मा तो दूर रहा, ये दुर्वचन मेरे इस शरीर का भी कुछ बिगाड़ नहीं करसकते। फिर रोप करना कितनी मूर्खता है? इसने जो दुर्वचन कहे या गाली दी है वह किम को दी है? इस शरीर को ही तो दी है। मुझे तो इसने देखा ही नहीं। इसकी चर्म-चक्षु मुझे देख नहीं सकती और यदि देख लेती तो यह कभी दुर्वचन नहीं बोलता। इस शरीर को देखकर इसने गाली दी है और यह मेरा नहीं है—इस प्रकार चिन्तन करो।

यदि कोई मारने लगे तो सोचो कि यह किसको मारता है? मुझ को तो नहीं मार रहा है। मैं तो अजर अमर हूँ। उस शरीर को मारता है, इससे मेरा क्या सम्बन्ध? यह शरीर तो कर्म-कृत है, मेरा इसमे क्या है? इस प्रकार विचार करो। यदि तुम उसपर क्रोध करोगे तुम्हारा ही अनिष्ट है। क्रोधी मनुष्य प्रथम अपने आत्मा की हिंसा करता है, अपने शुद्ध स्वभाव का घातकर द्वेष उत्पन्न करता है, अपने ज्ञान गुण का विनाश कर अज्ञानी बनता है। क्रोध आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा तो शान्ति स्वभाव है। यदि तुमने अपने शान्त स्वभाव का नाश कर क्रोध किया तो तुम्हारा जिनलिंग धारण करना व्यर्थ है। कहीं जल मे अग्नि लगते नहीं सुना और नहीं देखा। जिनेन्द्र समान रूप के धारक बनकर यदि तुम क्रोध करोगे तो मुनिपद की अवहेलना होगी। तुम्हारे निमित्त से जिनधर्म कलङ्कित होगा। शूर वीर मुनि की क्षमा ही ढाल है। दुर्वचनादि के प्रहार को क्षमा रूपी ढाल पर झेलने से शत्रु स्वय हार जावेगा, और तुम्हारी विजय होगी। यदि तुम उसे वास्तव मे पराजित करना चाहते हो तो उसका क्रोध शान्त होजाने पर तुम्हारा अपराध न होने पर भी तुम उससे विनीत भाव से क्षमा मागो और कहो कि हे सज्जन! तुम मेरे बड़े उपकारी हो। तुमने मुझे अपराध से सचेत किया। तुम्हारे चित्त को मेरे द्वारा बड़ा दु.ख हुआ। मैं तुमसे इसकी क्षमा चाहता हूँ। यदि तुम्हारे मे उसके प्रति किसी प्रकार के उपकार करने की शक्ति है तो उसका ऐसा उपकार करो कि उस उपकार के भार से वह इतना दब जावे कि जन्म भर तुम्हारे गुण को न भूले। उसका अन्त'करण अन्दर ही अन्दर तुम्हारे लिए धन्य धन्य की ध्वनि करता रहे। इससे तुम्हारी महिमा की महक अदृश्य ससार मे भी महकने लगेगी। जिसके पास क्षमा रूपी शस्त्र है उसका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

जिसने क्रोध शत्रु को जीत लिया है वही वीर पुरुष क्षमा को धारण कर सकता है। कायर मनुष्य इसे धारण नहीं कर सकता। जिसकी आत्मा बाह्य तुच्छ निमित्तों के संयोग से विकारवान् होती है वह क्रोध शत्रु से लोहा नहीं ले सकता है। उसको परास्त करना साधारण व्यक्ति का काम नहीं है, इसीलिए कहा है 'क्षमा वीरस्य भूषणम्' क्षमा वीर पुरुष का भूषण है।

क्षमा तभी मानी जाती है जब कि अपराधी के प्रति मन मे विकार भाव उत्पन्न न हो। किसी बलवान और समर्थ पुरुष के ऊपर बलहीन असमर्थ मनुष्य का वश न चलने पर वह मन ही मन मे क्रोध को दबाये रहता है और ऊपर से क्षमा भाव दिखाता है तो वह क्षमा नहीं है। क्योंकि उसके अन्त करण मे क्रोध की अग्नि दहक रही है। यदि उसके हृदय मे इतनी निर्मलता हो कि उसमे प्रति–

क्रिया (बदला लेने) के भाव न हो और परोक्ष मे भी वह उसकी वचनादि द्वारा निन्दा न कर प्रशंसा करे तो उस असमर्थ व्यक्ति के भी क्षमा कही जा सकती है, किन्तु जो समर्थ है और असमर्थ के ऊपर क्रोध न कर उसके प्रति उदार भाव प्रदर्शित करने के लिए उस अशक्त व्यक्ति पर उपकार करने का अवसर ढूंढता है तथा अवसर मिलते ही उसका उपकार करके प्रसन्न होता है वह क्षमा श्लाघनीय है।

प्रश्न—क्षमादि के साथ जो उत्तम शब्द लगा है उसका क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—ख्याति, सासारिक लाभ, पूजा, सत्कार आदि की अभिलाषा न रखकर क्षमादि का धारण करना धर्म माना गया है। इस बात को सूचित करने के निमित्त उत्तम शब्द का प्रयोग किया गया है।

इस क्षमा के धारण से व्रत और शील की रक्षा होती है। क्षमा धारण करने वाले के कोई शत्रु नहीं होता। उसके स्वतः सब मित्र बन जाते हैं। इस लोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी दु.ख का विनाश होता है। समस्त प्राणी उसका आदर सम्मान करते हैं। उस को अलब्ध वस्तु का लाभ और ससार मे ख्याति होती है। इनके सिवा और भी अनेक गुण उत्पन्न होते हैं। और क्रोध करता है उसके निकट बन्धु भी शत्रु बन जाते है। माता पिता भी क्रोधी पुत्र का सयोग अनिष्ट कारक समझते है, धर्मपत्नी भी क्रोधी पति का अनादर करती है, पुत्र उसकी अवहेलना करता है, मित्र सम्बन्ध तोड लेते हैं, बिना कारण सारा ससार उसका शत्रु बन जाता है। उसके धर्म, अर्थ काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थ नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार क्रोध-जन्य दोषों का विचार कर क्षमा धारण करना चाहिए।

क्रोध के कारण उपस्थित होने पर आत्मा मे विचारना चाहिए कि इसमे मेरा दोष है या नहीं ? यदि मेरा दोष है तो मेरा क्रोध करना निष्कारण है। इसने क्या मिथ्या कहा ? जो मेरे मे दोष हैं, उसका प्रकाशन किया। मैं अपराधी हूं। मुझे अपने अपराध का दण्ड मिलना आवश्यक है। यदि अपना दोष न हो तो ऐसा विचार करे कि कोई मुझे बुरा भला कहे, गाली गलोच दे, या निन्दा करे तो मेरी क्या हानि है ? मैं निर्दोष हू, मुझे क्या डर है ?इससे मेरी आत्मा को कुछ भी हानि नहीं होती। इसलिए मुझे क्षमा धारण करना चाहिए। यह अज्ञानी है और मैं ज्ञानवान्, चारित्रवान् हूं। यदि मैं भी इसके समान क्रोध करूगा तो इसमे और मुझमे क्या अन्तर रहेगा ? मैंने वह जगत् पूज्य वेष धारण कर रखा है, जिसकी चक्रवर्ती औरदेवेन्द्रादि भी पूजा करते हैं। अज्ञानी लोग तो मारने लगजाते हैं। इसने मुझे मारा तो नहीं। दुष्ट जीव मारने भी लग जावें तो सोचे कि इसने मुझे प्राणरहित तो नहीं किया। क्योंकि क्रोधी दुष्ट जीव तो प्राणों का घात तक करते हैं। पुरातन समय मे सुकोशल, पंच पाण्डव आदि मुनियों पर कितना भयानक उपसर्ग किया गया था। यदि प्राणों के घात का अवसर आजावे तो विचारे कि कि मेरा अहो भाग्य है कि सावधान अवस्था मे मेरी मृत्यु का समय उपस्थित हुआ है। यह शरीर तो अवश्य छूटता, अनेक रोगादि पीडित अवस्था मे प्राण छूटते तो दुर्ध्यान से मरना होता। यह तो मुझे बड़ा लाभ हुआ जो सावधान और ज्ञानवैराग्य अवस्था मे प्राणों का वियोग होता है। इसमे इसका कुछ भी अपराध नहीं है। यह तो निमित्त मात्र है। मैंने पूर्व जन्म मे जैसा कर्म उपार्जन

किया उसका फल मुझे अवश्य भोगना पडेगा। यह बेचारा क्या कर सकता है? प्राण-वियोग अवश्य होता, उसमें यह निमित्त मात्र है। यह नहीं तो दूसरा निमित्त अवश्य मिलता। मुझे इस समय क्षमा धारण करना श्रेयस्कर है। सबसे बड़ा लाभ मुझे यह है कि मेरी आत्मा की निधि जो रत्नत्रय है, वह सुरक्षित है। शरीर तो मेरी वस्तु नहीं है। यह तो कर्म ने दिया था और वह अपनी दी हुई वस्तु लेता है। मेरी वस्तु तो मेरे पास है। उसको कोई छीन नहीं सकता। यदि मैंने इस समय अपनी आत्मा में क्रोध शत्रु को बुलाया तो वह दुष्ट मेरी चिर उपार्जित रत्नत्रय निधि को लूट लेगा और मैं दीन हीन होकर अनन्त काल के लिए दरिद्री बन कर न जाने कौनसी गति में भटकता फिरूंगा। अत एव मुझे माता के समान सर्वदा सुख देने वाली क्षमा का ही आराधन करना चाहिए।

उत्तम मार्दव—

मान कषाय के अभाव से आत्मा में जो विनय (नम्र) भाव उत्पन्न होता है उसे मार्दव गुण कहते हैं। मान दो प्रकार का है— १ शुभ रूप २ अशुभ रूप। जिन कार्यों से आत्मा का पतन होता है, समाज और राज्य में अपमान होता है उन नीच कार्यों को प्राणान्त कष्ट आने पर भी नहीं करना, उसे शुभमान कहते हैं। इसी का नाम स्वाभिमान है। कहा भी है:—

> अपमानकरं कर्म येन दूरान्निषिध्यते ।
> स उच्चैश्चेतसां मानः परः स्वपरघातकः ॥ ५६ ॥ (ज्ञाना०)

अर्थ—उन्नत चित्त वाले मनस्वी मानवों का वह मान प्रशस्त मानागया है, जिस मान से अपमान जनक कृत्यों का दूर से ही त्याग किया जाता है। मैंने उत्तम जाति में जन्म लिया है। प्रशंसनीय कुल और सर्व श्रेष्ठ जिन धर्म को पाया है। क्या अधर्म व धर्महीन मनुष्यों के योग्य कार्यों को करूंगा? कदापि नहीं। इस प्रकार के स्वाभिमान को प्रशस्त मान माना है। ऐसा मान तब तक उपादेय है, जब तक शुद्ध उपयोग तथा आत्मध्यान में प्रवृत्ति नहीं हो रही है। उस समय तो यह मान भी सर्वथा त्याज है। भाव यह है कि आत्मा की उन्नति के लिए तथा दूसरों को उन्नत मार्ग में प्रवृत कराने के लिए मान पूर्वावस्था में उपादेय हो सकता है। किन्तु जो जाति, कुल, ज्ञान, शरीर, ऐश्वर्य, तपस्या आदि का अभिमान करना अशुभ मान है—सर्वथा उस मान का त्याग करना चाहिए। श्री स्वामी समन्तभद्राचार्य ने कहा है:—

> ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः ।
> अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥ १ ॥ (रत्न करंड श्रा०)

मेरी जाति श्रेष्ठ है, मैं उत्तम कुल म उत्पन्न हुआ हूँ। तू नीच जाति व नीच कुल का है। मैं तुमसे श्रेष्ठ हूँ। मैंने बहुत ज्ञान प्राप्त किया है-मैं सबमें अधिक ज्ञानवान हूँ, तुम सब मूर्ख हो। मैं बडा भारी ऐश्वर्यवान हूँ। ये रंक मेरी बराबरी क्या करते हैं ? मैं जगत् में पूज्य हूँ। सब मेरा सत्कार करते हैं। मेरे मे इतना सामर्थ्य है कि इन सबको क्षण भर में पीस डालूँ। ये अशक्त मेरी शक्तिको नहीं जानते हैं। इनको मजा चखा दूँगा। मैं बडा भारी तपस्वी हूँ। मेरी तपस्या के प्रभाव को ये रंक क्या समझते हैं ? मेरा शरीर बड़ा सुन्दर है,ये सब कुरूप निन्दा के पात्र हैं, इत्यादि प्रकार से कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त हुए ज्ञान, आदर-सत्कार, कुल,जाति, बल, ऋद्धि (ऐश्वर्य), तप और शरीर का अभिमान करना अशुभमान है। क्योंकि यह अभिमान आत्मा को नीचे गिराने वाला है, इसका सम्बन्ध पुद्गल से है। इसका आश्रय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त तथा क्षणभगुर है। अपनी (आत्मा की) वस्तु नहीं है दूसरे की (कर्म की) थोड़े काल के लिए धरोहर है। दूसरे की सम्पत्ति से अपने को धनवान समझने वाला जैसे हास्य व निन्दा का पात्र होता है,वैसे ही उक्त जाति आदि वस्तुओ के निमित्त से अभिमान करने वाला हास्य व निन्दा का पात्र होता है।

शङ्का—जाति कुल पूजा (आदर सम्मान), शरीरादि के बल, ऐश्वर्य (वैभव) और शरीर सौन्दर्य का अभिमान करना तो अनुचित है, क्योंकि पुद्गल-जन्य है, किन्तु ज्ञान और तपस्या ये दोनो तो आत्मा से उत्पन्न होने के कारण आत्मा के हैं। और आत्म-गुण का अभिमान करना अप्रशस्त पुण्य कैसे हो सकता है ?

समाधान—जाति आदि की तरह ज्ञान और तपस्या भी कर्म के क्षयोपशम से होते हैं, इसलिए कर्मजन्य हैं। ज्ञानावरण के क्षयोपशम से जो क्षायोपशमिक मति श्रुतादि ज्ञान होता है, वही मद (गर्व) को उत्पन्न करता है। कर्म के सर्वथा क्षय (अभाव) से उत्पन्न होने वाला तो सिर्फ केवलज्ञान है। केवलज्ञान से गर्व नहीं होता, क्योंकि वह आत्मजन्य है और सर्वथा मान का नाश होने से उत्पन्न होता है। इसके अति रक्त शेष मत्यादि चारो ज्ञान क्षायोपशमिक हैं। अर्थात् इन ज्ञानो के साथ कर्म का उदय रहता है, इसलिए ये अभिमान उत्पन्न करते हैं।

इसी प्रकार वही अपूर्ण तपस्या अभिमान पैदा करती है, जिसके साथ मोहनीय कर्म का सम्बन्ध है। मोहनीय कर्म के उदय से ही गर्व उत्पन्न होता है इसलिए क्षायोपशमिक और अपूर्ण तपस्या ये आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। इसलिए अभिमान को पैदा करते हैं। किन्तु इनका गर्व न करने पर ही आत्मा उन्नत-मार्ग पर लगा रहता है और अभिमान उत्पन्न होते ही उन्नत-मार्ग से गिर जाता है। जैसे ऊपर उछली हुई गेंद अवश्य नीचे गिरती है।

हे आत्मन ! तू जाति और कुल का क्या अभिमान करता है ? जाति और कुल तेरा स्वरूप नहीं है। अनन्त काल से ससार में

भ्रमण करते हुए तूने अनन्त बार ऐसी जाति और ऐसा कुल पाया है। परन्तु उससे तेरा क्या भला हुआ ? तेरा भला तो इसी में है कि इनका अभिमान त्याग कर मार्दव धर्म को अङ्गीकार करे। इसके बिना उत्तम जाति और उच्च कुल का पाना निष्फल है। मार्दव (विनय) धारण करने वाला मनुष्य सबका आदर-सम्मान पाता है। नम्रता से शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। कोमल आत्मा में ही जिनधर्म फलता और फूलता है। मानी का आत्मा कठोर पाषाण के समान होता है। उसमे जिनेन्द्र धर्म का तथा उत्तम गुणो का अंकुर नहीं जमता। विनयवान शिष्य पर गुरू का, विनीत पुत्र पर पिता का, नम्र भृत्य पर स्वामी का स्वतः अनुराग होता है, और वे गुरू, स्वामी आदि अपने विनीत शिष्यादि की सदा उन्नति चाहते है और उन्हे सदा सुखी रखने मे प्रयत्नशील रहते हैं।

जो तूने थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त किया है वह भी पराश्रित है, तीव्र वेदनीय कर्म के उदय से शरीर के निर्बल होने पर वह लुप्तसा हो जाता है। केवलज्ञानी और पूर्ण श्रुतज्ञानी के ज्ञान सूर्य के सामने तेरा यह अल्पज्ञान जुगनू के समान भी नहीं है। तू इस पर क्या इतराता है ? ज्ञान का फल तो चारित्र का आराधन और मोक्ष की प्राप्ति है। इस ज्ञान रूपी रत्न को तू अभिमान रूपी कीचड़ में क्यो फेंक रहा है। पुण्य-योग से यदि कुछ ज्ञान प्राप्त किया है तो नम्रता धारण कर अपनी आत्मा को सन्मार्ग मे लगाने का प्रयत्न कर। यही तेरे ज्ञान प्राप्त करने का सुफल हो सकता है।

शरीरादि का बल भी क्षण-नश्वर है। शरीर में थोडी सी व्याधि के उत्पन्न होते ही यह विलीन हो जाता है। जो पहले बडे बलवान पहलवान थे वे शारीरिक व्याधि के उत्पन्न होने पर अतिनिर्बल होते देखे गये हैं। यदि तुमने वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से शरीरादि की शक्ति पाई है तो उसको ज्ञानाभ्यास, और तप के आचरण मे लगाओ, जिससे सदा के लिए सुखी बन जाओ।

राज्यादि के वैभव का अभिमान करना भी महा अज्ञानता है। जो आज राज्य का अधिपति है कल वही प्राणों की भिक्षा मागता दिखाई देता है। वह अपने प्राण बचाने मे भी असमर्थ होकर इधर उधर छिपता फिरता है। जिस राज्य वैभव पर इतराता था वही उसके प्राणों का घातक और अतिनिन्दनीय पर्याय मे जन्म लेने का कारण बन जाता है। कहा भी है—

> क्व मानो नाम ससारे जन्तुव्रजविडम्बके।
> यत्र प्राणी नृपो भूत्वा विष्टामध्ये कृमिर्भवेत् ॥ १ ॥ (ज्ञाना०)

अर्थ—सम्पूर्ण जीवो की विडम्बना करनेवाले इस ससार मे मान किस वस्तु का किया जावे ? इस संसार में राजा भी विष्टा का कीडा बन जाता है। अर्थात् जो अभी राजा बना हुआ है वही भविष्य मे मरकर विष्टा मे कीडा उत्पन्न होता देखा जाता है। फिर अभिमान

किस बात का किया जावे ?

जो वैभव इस भव मे भी अनेक उपद्रव और पाप का जनक है और परभव में नीच गति का देने वाला है, उसका अभिमान कौन बुद्धिमान करेगा ?

शरीर का सौन्दर्य इन्द्र-धनुष के समान थोडी देर तक टिकने वाला है। जिसका शरीर बाल्यावस्था में अत्यन्त मनोहर था, चेचक आदि फोडा फुसी के हो जाने से युवावस्था मे वही भयानक दिखाई देने लगता है। यह रूप तो रुधिरादि घृणित पदार्थों से उत्पन्न हुआ है। जो युवती यौवनावस्था मे अपने को अप्सरा के समान समझती थी वह वृद्धावस्था मे अपने को चुडेल के समान देखकर पश्चाताप करती है। अत पूर्व कर्म के उदय से यदि तुमने सुन्दर और निरोग शरीर पाया है तो इससे पुण्योपार्जन करना तथा तपश्चरणादि द्वारा कर्मों की निर्जरा कर उसको सफल बनाना चाहिए। जो उस रूप का अभिमान करता है वह अनेक दुष्कृत्यों में फँस कर अपना नाश करता है। इसलिए रूप का अभिमान आत्मा का अहित करने वाला जानकर उसका त्याग कर मार्दव धर्म धारण करो।

उत्तम आर्जव

माया का त्याग करने से आर्जव गुण उत्पन्न होता है। आर्जव नाम मन, वचन और काय की निष्कपट प्रवृत्ति का है। मायावी-कपटाचारी मन मे कुछ और विचारता है, वचन से कुछ और कहता है और शरीर के द्वारा कुछ और ही करता है। महात्मा और दुरात्मा की पहचान करने के लिए कहा है—

"मनस्यन्यद्वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद्धि पापिनाम्।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥ १ ॥"

जिनकी मन, वचन और काय की एकसी प्रवृत्ति है, अर्थात् जैसा मन में सोचते विचारते हैं वैसा ही मुख से बोलते और वैसा ही शरीर से करते हैं उन्हे महात्मा कहते हैं। और जो मन मे कुछ रखते है, मुख से कुछ और कहते हैं और करते कुछ और ही हैं-उनको दुरात्मा (दुर्जन) कहते हैं।

मायाचार रूई से लपेटी हुई अग्नि के समान है। जो थोडी देर तक ही छिपा रहकर बडी तेजी से बाहर प्रकट होता है। छल-कपट से किया हुआ दुष्कृत्य छिपा नहीं रहता। यह तो पानी में दबाये हुए मल के समान अवश्य सबके समक्ष प्रकट हो जाता है, मायाचारी मनुष्य का कोई विश्वास नहीं करता। उसका पद पद पर अपमान होता है। उसके परिणाम निरन्तर कलुषित रहते हैं और वह सदा

भय और शङ्का से व्याकुल रहता है। उसके हृदय मे अनेक संकल्प उत्पन्न होते रहते हैं। जिससे सतत अशुभ कर्मों का बन्धन होता है। निगोद उसकी भावी निवास भूमि होती है और इस भव मे भी वह सदा दुखी रहता है। जो लोग मायाचार करके थोडे देर तक अपने मनोरथ को सफल हुआ समझ कर हर्ष मानते हैं वे मूर्ख अमूल्य मानव जन्म को पापरूपी दलदल (कीचड) मे फेंकते हैं। माया के विषय मे कहा है:—

जन्मभूमिरविद्यानामकीर्त्तेर्वासमन्दिरम् ।
पापपङ्कमहागर्त्तो निकृतिः कीर्त्तिता बुधैः ॥ १ ॥ ज्ञाना०

अर्थात्—यह माया अनेक अज्ञानो की जन्म भूमि है। अर्थात् मायाचारी मनुष्य मे अनेक खोटी २ बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनसे वह अपना व दूसरे का नाश करता है। वह अपयश का मन्दिर होता है। और पापरूपी कीचड का वह गहरा खड्डा होता है। अर्थात् उस की आत्मा मे पाप ठसाठस भरजाता है। इसीलिए वह निगोद का पात्र होता है।

मायाचार नाम कुटिलता का है। जिसका आत्मा कुटिल है उसके अन्दर अति सरल जैनधर्म कदापि निवास नहीं कर सकता, जैसे टेढे म्यान के भीतर सीधा खड्ग (खाडा) कभी नहीं जा सकता। जिसका मन आर्जव (सरलता) गुण से युक्त है वह प्रत्येक स्थान पर आदर पाता है। उसका आत्मा सदा प्रसन्न रहता है, उसमे अनेक गुण स्वतः आकर निवास करते हैं और वह प्राणी मात्र का विश्वास-पात्र होता है। इसलिए इस भव और पर भव मे दुख देनेवाली माया (छल-कपट) का त्याग कर आर्जव (सरलता) धर्म को अङ्गीकार करो।

उत्तम शौच

लोभ का परित्याग करने से जो सन्तोष उत्पन्न होता है उसे शौच कहते हैं। ससार मे आत्मा का सबसे महान् शत्रु लोभ है। जिसके मन मे निर्लोभता उत्पन्न हो जाती है उसको लोग देवता के समान पूजते हैं, उसपर विश्वास करते हैं, उसकी महिमा संसार मे सूर्य के प्रकाश के समान सर्वत्र फैलती है और वह सब गुणों का आश्रय हो जाता है।

लोभ के भेद और उनका स्वरूप

ससार मे लोभ चार प्रकार का होता है—१ जीवित रहने का लोभ २ आरोग्य का लोभ, ३ इन्द्रिय-विषय का लोभ और ४ भोगोपभोग का लोभ। ये चारों स्व और पर के भेद से दो दो प्रकार के हैं—

स प्र

स्वजीवित लोभ और परजीवित लोभ, स्वआरोग्य लोभ, और परआरोग्य लोभ। स्वइन्द्रियलोभ और परइन्द्रियलोभ। तथा स्व-भोगोपभोग-लोभ और पर-भोगोपभोग-लोभ

१ स्वजीवित व परजीवितलोभ—स्वयं बहुत काल तक जीवित रहने के लिए तथा आत्मीय बन्धु पुत्रादि को जीवित रखने के लिए मनुष्य अनेक प्रकार के अनुचित उपायों का अवलम्बन लेता है। अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण स्वयं करता और करवाता है। मिथ्या दृष्टि कुलिंगी चण्डी-मुण्डी भवानी भैरू आदि की आराधना करता है। पशुबलि समान घोर पातक करने में भी नहीं चूकता। अनेक प्रकार के कूट कपट करता है।

स्व-पर-आरोग्य लोभ—अपने को और पुत्र-स्त्री आदि को नीरोग करने के लिए मास-मदिरा-मिश्रित अशुद्ध औषधियों का स्वयं सेवन करता और पुत्रादि को भी करवाता है। उसका भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों का विवेक-ज्ञान नष्ट हो जाता है। रात्रि-भोजन आदि पापाचार करता है और लोकनिन्दा का तथा पर लोक का भय लुप्त हो जाता है। क्या अधर्मपूर्ण आचरण करने से वह या उसके इष्ट-कुटुम्बी चिर-काल तक जीवित और नीरोग रह जावेंगे ? यह उसके अज्ञान और मोह का माहात्म्य है जो इस नर भव समान कल्पवृक्ष को अनुचित लोभ के वश होकर भस्म के निमित्त जलाता है। जीवन और आरोग्य के लिए उचित धर्मयुक्त उपायों का आश्रय लेना तो आवश्यक है। इसके विपरीत मार्ग का आश्रय लेना इस भव और परभव को बिगाड कर परम्परा नरकादि गति का देने वाला है। ऐसा समझकर इस अनुचित लोभ का त्याग करना चाहिए।

स्व-इन्द्रिय विषय व पर-इन्द्रिय-विषय का लोभ—इन्द्रिय-विषय के वशीभूत हुए प्राणी ससार में दु ख ज्वाला मे निरन्तर जल रहे हैं। विषय-लोभ मे अन्धे होकर अपने प्राणों तक की आहुति दे रहे हैं। स्पर्शन इन्द्रिय के वश हाथी गर्त्त मे गिर कर बधबन्धादि अनेक कष्टों को सहता है। रसना-इन्द्रिय के वश मछली जल मे काटे से अपना गला छिदाती है। घ्राण-इन्द्रिय के वश भ्रमर कमल मे बन्द होकर मृत्यु का शिकार होता है। चक्षुइन्द्रिय के लोभ से पतङ्ग (कीड़ा) दीपक म गिर कर अपनी आहुति देता है। श्रोत्रन्द्रिय के अधीन हुआ हिरन बहेलिया के जाल मे फंसता है। तात्पर्य यह है कि एक एक इन्द्रिय के विषय के लोलुपी प्राणी अपने प्राणों से हाथ धो बैठते हैं। तो फिर यह मानवपशु पाचो इन्द्रियो के विषय की लालसा से ललचाकर किस सुख की इच्छा रखता है ? यह समझ मे नहीं आता। हे आत्मन् ! इन इन्द्रियों की प्राप्ति पूर्वजन्म कृत कठोर तपस्या से हुई है। इसलिए विषय-विष का भक्षण करके इनका विघात मत करो। अन्यथा भवभव मे इनके लिए तरसते रहोगे और निगोद मे या नरक मे सख्यातीत काल तक अचेत अवस्था मे या घोर सतापशील अवस्था मे पड़े हुए अनन्त दु ख सहोगे।

ज्यो ज्यो ये इन्द्रिया मद की उत्कटता को धारण करती हैं त्यों त्यो मनुष्यों के कषाय रूप अग्नि अधिक प्रज्वलित होती जाती है। अत ज्ञान और वैराग्य भावना से कषाय अग्नि का शमन कर इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करो।

इन इन्द्रियों को लुटेरों व डाकुओ की सेना समझो क्योंकि ये तुम्हारे अन्त:करण रूपी किले के भीतर सुरक्षित विवेक रूप रत्न को लूटती है।

इन्द्रिय विषयो से ठगे हुए मनुष्य की विषय-तृष्णा बढ़जाती है, सन्तोष नष्ट हो जाता है और विवेक विलीन हो जाता है।

विषयो को हालाहल विष से भी बहुत अधिक समझो। इनमे मेरु और सरसों का सा अन्तर है। कालकूट (विष) तो एक पर्याय का घातक है, अतः सरसों के सदृश है और विषय अनन्त भवो में आत्मा का विनाश करने वाला है अतः यह मेरु के समान है। इसलिए जो तुम्हे इनसे अपनी आत्मा की रक्षा करना है तो सत्संगति में रहकर विवेक-ज्ञान द्वारा परपदार्थ के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन करो। लोभ को सीमित कर शनैः शनैः इसका अभाव करो। जब तक आत्मा मे पर पदार्थ का लोभ रहता है, सन्तोष नहीं होता और सन्तोष के अभाव से मन बाहर भटकता फिरता है।

संसार मे जितने भी अत्याचार अन्याय आदि महापातक होते हैं उनका मुख्य कारण लोभ है। इसलिए विषयादि के लोभ का त्याग कर ज्ञानोपार्जन का व शीलादि गुणो का लोभ करो जिससे तुम्हारी आत्मा इस मनुष्य जन्म मे भी आनन्द का अनुभव करे और परभव मे कैवल्यादि विभूति का भोगने वाला बने।

उत्तम सत्य

प्राणियो को पीड़ा उत्पन्न करने वाले वचन न बोलना तथा स्व और पर के लिए हितकारक, प्रिय और परिमित वचन का उच्चारण करना ही सत्य है।

असत्पुरुषो के सामने मौन धारण करना ही श्रेष्ठ है। क्योकि आचार्यों ने प्रशस्त (सज्जन) पुरुषों के मध्य साधु (उत्तम) वचन बोलने को सत्य कहा है। इसका आशय यह है कि ध्यानादि कर्त्तव्य मे जब चित्त ऊब जाता है–थक जाता है, उस समय यदि उपदेशादि के लिए वचनोच्चारण करना पड़े तो इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मेरा बोलना इस समय उपयुक्त है या नहीं ? जन समाज कैसी प्रकृति वाला है। शान्तस्वभाव है या उग्रस्वभाव। शान्तस्वभाव जनसमूह मे वचनोच्चारण करना–धर्म का व्याख्यानादि करना स्वपर का कल्याण करने वाला होता है और जो उग्रस्वभाव जन समूह हो तो मौन धारण करलेना अथवा अपने निज कार्य स्वाध्यायादि में लग जाना चाहिए। अन्यथा सदुपदेश का भी दुरुपयोग होजाता है और अशान्ति का वातावरण उत्पन्न हो जाता है।

आचार्यों ने सत्य के दश भेद कहे है–१ नामसत्य, २ रूपसत्य, ३ स्थापनासत्य, ४ प्रतीत्यसत्य, ५ संवृत्तिसत्य, ६ संयोजनासत्य, ७ जनपद सत्य, ८ देशसत्य ६ भावसत्य, १० और समयसत्य। इनका विशेष वर्णन पहले किया जा चुका है।

उक्त सत्य के भेदो को जानकर उनके अनुकूल वचन का उच्चारण करना सत्य है।

सत्य वचन बोलनेवाला मनुष्य ससार मे पूज्य माना जाता है। उसपर शत्रु भी विश्वास करता है। प्राणीमात्र उसका आश्रय लेते है। मनुष्य जीवन की उत्कृष्टता सत्य वचन से ही मानी गई है। इसलिए जो वचन बोलने की शक्ति इस मनुष्य भव में प्राप्त हुई है उसको कटु कठोर तथा अधम पुरुषों के उच्चारण करने योग्य निन्द्य वचन बोलकर मत खोओ। सत्य होने पर भी वचन से दूसरे का चित्त पीडित हो ऐसे वचन को भी आगम मे असत्य माना है। जो मनुष्य लोभादि के वश असत्य बोलता है उससे उसका स्वार्थ भी बिगड जाता है और और वह लोक मे निन्दा का पात्र होता है। उसका वड्प्पन क्षणभर मे मिट्टी मे मिल जाता है। उसकी प्रतिष्ठा चरणोंपर लोटती है। उसकी पूज्यता पैरो से ठुकराई जाती है और वह सब के लिए भयानक जन्तु बन जाता है।

अन्य दुर्गुणों से दूसरे मनुष्यों का उतना अकल्याण नहीं होता, जितना कि असत्य वचन से होता है। इसी असत्य वचन से संसार मे मिथ्या शास्त्रों का प्रचार हुआ है। तीनसौ तिरेसठ पाखण्ड की प्रवृत्ति इस असत्यवचन द्वारा ही हुई है, जिसके कि जाल मे फँसे असंख्य प्राणी हिंसादि घोर पापो का आचरण कर रहे है।

नरसंहार करनेवाले सग्राम इस असत्य वचन से ही प्रारम्भ होते हैं। यदि मनुष्य शान्तचित्त होकर पूर्वापर हिताहित का विचार कर वचन निकाला करे, प्रिय, मधुर और स्वपर-हितकारक वचन बोला करे तो यह मर्त्यलोक स्वर्ग समान बन जावे।

असत्य वचन बोलने मे तो आत्मा के स्वाभाविक भावों को दबाने मे बडी शक्ति लगानी पड़ती है, आत्मा कुंठित होता है, और सत्य वचन उच्चारण करने मे आत्मा को आह्लाद होना है। उसका प्रभाव सब सुननेवाले जीवों पर स्वतः विदित हो जाता है। असत्य भाषी स्व और पर की हिंसा करता है। क्योंकि वह असत्य भाषण कर अपने सच्चे निराकुल भाव की हिंसा करता है और असत्य से सुनने वालो के चित्त मे गहरी चोट लगती है। उनका हृदय विदीर्ण हो जाता है। इसलिए असत्यभाषी आत्मघाती और परघाती मानागया है। इसलिए जब सत्य वचनामृत से अपनी व दूसरे की आत्मा को आनन्द मिलता है और उसके लिए कुछ कष्ट भी नहीं होता तो इस अमूल्य अमृत का आस्वादन क्यों नहीं करते? इस सत्य के आधार पर सब संसार के कार्य होते हैं, इसलिए सत्य के आश्रित सारा ससार ठहरा है, ऐसा कहाजाय तो कोई अत्युक्ति नहीं है। सत्य ही जीवन का आधार है और ससार के सब कर्तव्यों का मुख्य साधन है। इसलिए वचन बोलते समय पूर्ण सावधानी रखना योग्य है।

उत्तम संयम

षट्काय के जीवों का रक्षण और पाँचों इन्द्रिय और मन का निग्रह करना संयम कहलाता है। लोभादि के वश विषय और कषाय में भटकते हुए मन रूपी मातङ्ग (हाथी) को वश में करने के लिए यह संयम अंकुश के समान है। अथवा कुमार्ग में गमन करते हुए इन्द्रिय रूपी घोड़ों के लगाम के समान है—क्योंकि मन और इन्द्रिय को रोकने का नाम संयम है। इसका पालन करने से इन्द्रिय और मन का प्रचार रुककर आत्मा में स्थिरता आती है।

संयम के भेद और उनका स्वरूप

संयम दो प्रकार का है—१ उपेक्षा-संयम और २ अपहृत-संयम।

(१) उपेक्षा-संयम—देश काल-विधि के ज्ञाता उत्कृष्ट शरीर वाले, मनोयोग, वचनयोग एवं काययोग का निग्रह कर तीन गुप्ति के धारण करनेवाले महामुनि के जो राग-द्वेष का अभाव होता है, उसे उपेक्षा-संयम कहते हैं।

(२) अपहृत-संयम—पाँच समिति का आचरण करने से अपहृत संयम होता है। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उत्सर्ग ये पाँच समिति हैं। इनका विवेचन पहले कर आये हैं, वहाँ से जान लेना चाहिये।

इन ईर्यादि पाच समितियों में प्रवृत्ति करने वाले मुनि के प्राणी और इन्द्रियों का परिहार होता है। अर्थात् पृथिवी-कायादि पांच स्थावर और त्रसकाय के जीवों की रक्षा और इन्द्रियो का निग्रह होता है। इसीको अपहृत संयम कहते हैं।

वह अपहृत संयम तीन प्रकार का है—१ उत्कृष्ट, २ मध्यम और ३ जघन्य। जिनके प्रासुक वसतिका और आहार ये दोनों ही बाह्य साधन हैं, तथा ज्ञान और चारित्र क्रिया जिनके पराधीन है, तथा बाहर के जन्तुओं की रक्षा का उपनिपात (संयोग) होने पर वसतिका आदि का त्याग कर जन्तुओं की रक्षा करने वाले मुनि के उत्कृष्ट अपहृत-संयम होता है। अर्थात् वसतिका आदि में जन्तुओं का संसर्ग हो जाने पर उन जन्तुओं को न हटाकर जो मुनि स्वय उस वसतिका आदि का त्याग कर देते हैं, उनके उत्कृष्ट अपहृत-संयम होता है। कोमल पिच्छिका से उन जन्तुओं प्रमार्जन करनेवाले मुनि के मध्यम अपहृत-संयम होता है। अन्य पुस्तकादि उपकरणों की इच्छा रखने वाले मुनि के जघन्य अपहृत-संयम है।

उस अपहृत-संयम का प्रतिपालन करने के लिए भावशुद्धि आदि आठ शुद्धियाँ आवश्यक मानी गई हैं, उनका वर्णन पहले किया जा चुका है।

संयमी का निवास

संयमी का निवास तीन प्रकार का होता है। १ स्थान, २ आसन और ३ शयन।

(१) स्थान—दोनों पाँवों को चार अंगुल के अन्तर पर स्थापन कर ऊपर, नीचा अथवा तिरछा मुख किये हुए जिसमे अपना भाव लगा रहे, अपने बल व वीर्य के अनुसार कर्मक्षय करने के निमित्त सक्लेश परिणाम रहित होकर जो खड़ा रहता है उसे स्थान कहते हैं।

(२) आसन—यदि खड़ा न रह सके और खड़े रहने की प्रतिज्ञा न की हो तो पर्यंक (पालथी माडकर बैठना) आदि आसन लगाकर बैठ जाये उसे आसन कहते हैं।

(३) शयन—यदि बहुत काल तक स्थान-आसन से खेद खिन्न(परिश्रम से थकना) हो जावे तो मुनि अपनी भुजा का तकिया बनाकर एक पसवाडे अंग सुकोड कर अल्पकाल पर्यन्त श्रम दूर करने के निमित्त शयन करे—इसको शयन कहते हैं।

साक्षात् मोक्ष के कारण भूत संयम के पाच भेद हैं–१ सामायिक, २ छेदोपस्थान, ३ परिहारविशुद्धि, ४ सूक्ष्मसाम्पराय, ५ और यथाख्यात चारित्र। इनका स्वरूप पहले कह आये हैं।

उत्तम तप

कर्म का क्षय करने के लिए बाह्य और आभ्यन्तर रूप से जो तपा जाता है उसे तप कहते हैं। उसके दो भेद हैं—१ बाह्य और २ आभ्यन्तर। इन दोनों के छह भेद हैं। उनका विशद विवेचन तप आराधना मे कर आये हैं। अभ्रावकाशयोग वृक्षमूलयोग और वर्षायोग इस प्रकार तीन योग को तप के अन्तर्गत समझना चाहिए। इनका वर्णन भी पूर्व कर आये है।

उत्तम त्याग

चेतन व अचेतन दश प्रकार के परिग्रह के तथा मिथ्यात्वादि चौदह प्रकार के परिग्रह के उत्सर्ग करने (छोडने) को त्याग कहते हैं।

उत्तम आकिञ्चन्य

मेरा संसार मे कोई नहीं है। यह शरीर भी मेरा नहीं है, अन्य पुत्र स्त्री आदि मेरे कैसे हो सकते हैं ? मैं यहा पर अकेला ही आया हूँ और अकेला ही जाऊँगा। आत्मा के सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र मेरे हैं। ये ही मेरे साथ परभव मे जाने वाले हैं। इस प्रकार अकिंचन भाव का चिन्तन करने से आकिञ्चन्य धर्म प्रकट होता है।

उत्तम ब्रह्मचर्य

(१०) ब्रह्म (आत्मा) मे चर्या करने को ब्रह्मचर्य कहते है। वह निश्चय ब्रह्मचर्य है। सम्पूर्ण स्त्रियों का त्याग

करना व्यवहार ब्रह्मचर्य है। स्त्रीमात्र के साथ रागद्वेष सम्बन्ध का त्याग करने से आत्मा अपने स्वरूप में रमण करती है इसलिए मुख्य ब्रह्मचर्य के साधन को भी ब्रह्मचर्य कहा है। इसका विशद विवेचन ब्रह्मचर्य महाव्रत में किया जा चुका है।

बोधि दुर्लभ भावना

हे आत्मन्! बोधि (सम्यक्त्व अथवा दीक्षा धारण करने की बुद्धि) का मिलना अति दुर्लभ है। तुमने अनन्त काल तो निगोद में निवास किया है। क्योंकि सम्पूर्ण संसार निगोद जीवों से भरा हुआ है। जीव का चिर निवासस्थान निगोद है। उससे निकल कर पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय अवस्था प्राप्त करना भी अति कठिन है। उससे निकल कर त्रसपर्याय प्राप्त करना बालू के समुद्र में खोई हुई हीरे की कणी के समान दुष्प्राप्य है। त्रस में विकलेन्द्रिय जीवों में जन्म हुआ तो किस काम का? उसमें निकलकर पंचेन्द्रिय पर्याय मिलना दुष्कर है। पंचेन्द्रिय में पशु पक्षी आदि तिर्यंचों में उत्पन्न हुए तो वहाँ पर हित अहित का विचार न होने से बोधि की प्राप्ति नहीं होती। मनुष्य होकर भी यदि नीच जाति, नीच कुल, म्लेच्छ क्षेत्रादि में जन्म हुआ तो वह मनुष्य जन्म भी निरर्थक है। तुम्हें सब योग मिलगया है। उत्तम कुल, जाति, निरोग शरीर, जैन-धर्म का शरण, सत्संगति आदि आत्म-कल्याण का सब योग प्राप्त हुआ है। यदि अब भी बोधि की प्राप्ति नहीं की तो अधिक से अधिक पूर्व कोटि पृथक्त्व सहित दो हजार सागर तक त्रस पर्याय में रहकर तुमको पुनः निगोद का शरण लेना पडेगा।

यह बोधि संसार में सब से श्रेष्ठ है। देखो! तीर्थंकर प्रकृति का उदय भी बोधि के प्राप्त हुए बिना नहीं होता है। तथा तीर्थंकर जब बोधि दुर्लभ भावना का चिन्तन करते हैं, तब ही लौकान्तिक देव आते हैं, गर्भादिक कल्याण में नहीं आते, इसलिए स्पष्ट है कि बोधि संसार में सर्वोत्कृष्ट है। अतः इसको हाथ से मत जाने दो।

मनुष्य जन्म कितना दुर्लभ है?

संसारम्हि अणंते जीवाणं दुल्लहं मणुस्सत्तम्।
जुगसमिलासंजोगो लवणसमुद्दे जहा चेव ॥ ६५ ॥ (मूला. द्वा.)

अर्थ—लवण समुद्र की पूर्व दिशा में युग (जूला-जूड़ा) डाला, और पश्चिम दिशा में डाली समिला (जूडे की कील)। उस कीला का जूड़े के छेद में आकर प्रविष्ट होना जैसे अति दुर्लभ है, वैसे ही इस अनन्त संसार में चौरासी लाख योनियों के मध्य मनुष्य पर्याय का मिलना अति दुर्लभ है।

भावार्थ—मोहनीय कर्म रूपी पिशाच के वशीभूत हुआ यह जीव सद्गुरुओं के सदुपदेश को कानों से सुनकर भी हृदय में धारण नहीं करता है। जिसके संसार का अन्त सन्निकट है उसी निकट भव्य का मन बोधि की दुर्लभता को समझकर उसका आराधन करता है,

वही मनुष्य पर्याय की दुष्करता को समझता है। उसके चित्त मे देश, कुल, निरोगता आयु तथा, शारीरिक–सामर्थ्य का सदुपयोग करने की उत्कण्ठा जागृत होती है। प्राप्त हुए दिव्य जैन धर्म के असली स्वरूप का रहस्य उसी के अन्तःकरण में झलकता है। सत्पुरुषों के सत्संगरूप कल्पवृक्ष का लाभ वही लेता है। जिनागम के अमृत समान एक एक वचन को कर्णपुट द्वारा पान कर अपूर्व आनन्द का अनुभव करता है। इस नश्वर शरीर मे अविनश्वर पद देने वाली बोधि की प्राप्ति करने में ही अपना कल्याण मानकर इसके पालन में निरत हो जाता है। क्योकि संसार के सब पदार्थ आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं रखते हैं। वे जड स्वरूप है और आत्मा को बन्धन में डालने वाले हैं। आत्मा के बन्धन को खोलने वाली एक 'बोधि' है।

जिसको रत्नत्रय मे अनुराग होता है, सम्यग्दर्शन की जिसको प्राप्ति होगई है, वह जीव अर्धपुद्गल काल के अन्दर मोक्ष–प्राप्ति की योग्यता रखता है। लेकिन जब तक वह चारित्र का अनुष्ठान नहीं करेगा उसको सिद्धस्थान प्राप्त होना दुर्लभ है। अतः चारित्र को पूज्य कहा है। चारित्र का धारक पूजा के योग्य माना है। अत हे आत्मन्! जो तुमको ऐसे सर्वोत्कृष्ट पूज्य पद तो प्राप्त करना है तो इस पूज्यता की कारण भूत चिन्तामणि रत्न के समान 'बोधि' को यदि पाकर तुमने खो दिया तो अनन्त काल के लिए दरिद्री बन जाओगे और दारिद्रय का अनुभव करने के लिए निगोदादि पर्याय मे जा पहुचोगे, इसलिए पूर्ण सावधानी से इसका पालन करो।

तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति रूप बोधि तथा मुनि दीक्षा धारण करने की बुद्धि–रूप बोधि ससार में अति दुर्लभ है। ऐसा समझकर जीवादि तत्त्वो का यथार्थ बोध करके श्रद्धान करो तथा दीक्षा धारण करने के परिणाम को अति दुर्लभ समझो। उसकी प्राप्ति होना सुलभ नहीं है। कर्म के क्षयोपशमादि से यदि वह प्राप्त हो जावे तो चिंतामणिरत्न से अनन्त गुणा श्रेष्ठ समझकर उसे हाथ से मत जाने दो। जिन्होंने अचिन्त्यपद तथा सिद्धपद प्राप्त किया है, वह सब इसी बोधि का माहात्म्य है।

इस प्रकार बारह अनुप्रेक्षाओं का जीवन मे उतारते रहने से आत्मा मे दृढ संस्कार उत्पन्न होता है और उस संस्कार से संस्कृत हुई आत्मा धर्म से कभी नहीं डिगती है। क्रमशः कर्मों का क्षय करके निर्मल बन जाती है—विमल (मोक्ष) पद को प्राप्त करने में समर्थ हो जाती है।

अथ अनगार-भावना अधिकार

द्वादश भावनाओं के वर्णन के बाद अब अनगार भावनाधिकार का प्रारम्भ किया जाता है। यद्यपि इस प्रकरण की बहुत सी बातों का वर्णन यथावसर पहले किया जा चुका है फिर भी उन पर [illegible] प्रकाश डालना बड़ी आवश्यक जान पड़ता है। क्योंकि मुनियों में लिंग-शुद्धि आदि दश शुद्धियों का प्रकरण बड़े महत्व का है। इसे समझे बिना किसी की मुनि [illegible] नहीं हो सकता। इसलिए मुनि-पद को विशुद्ध बनाने के लिए आगे कही जाने वाली शुद्धियों का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए और उनको उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिए। अनगार-भावना के दश अधिकार हैं।

लिंगं वदं च सुद्धी वसदि विहारं च भिक्खणाणं च।
उज्झणसुद्धी य पुणो वक्कं च तवं तधा झाणं ॥ ३ ॥
एदमणयारसुत्तं दसविधपद [illegible] ।
जो पढइ भत्तिजुत्तो तस्स पणस्संति पावाइं ॥ ४ ॥ (मू. भ. आ.)

अर्थ—इन्द्र, चन्द्र, नागेन्द्र, चक्रवर्ती आदि महापुरुष भी जिनके चरणारविन्द का पूजा करके अपना [illegible] मानते हैं—अपने को कृतार्थ समझते हैं—ऐसे गृहत्यागी वैराग्य की मूर्ति अनगार के योग्य कर्तव्यों को दश पदों में विभाजित किया है।

(१) लिंगशुद्धि, (२) व्रतशुद्धि, (३) वसतिशुद्धि, (४) विहारशुद्धि, (५) भिक्षाशुद्धि, (६) ज्ञानशुद्धि, (७) उज्झन शुद्धि, (८) वाक्यशुद्धि, (९) तपःशुद्धि, (१०) ध्यानशुद्धि। ये दश प्रकार के कर्तव्य का निरूपण करने वाले दश अधिकार [illegible] आचार सिद्धान्त के अर्थ का तथा मुनि-शिक्षा का प्रतिपादन करने वाले हैं। जो इनको भक्ति पूर्वक पठन पाठन करता है उसके पापों का प्रक्षालन होता है।

(१) लिंगशुद्धि-अधिकार

[illegible] णाऊण माणुसत्तणमसारं।
[illegible] उवद्विदमदीया ॥ ७ ॥ (मू. भ. आ.)

अर्थ—यह मानव जीवन अस्थिर व बिजली (बिजली) के चमत्कार के समान क्षणभर है। इसमें कुछ भी सार तत्त्व नहीं है।

प्रतिसमय इसका नाश हो रहा है, न जाने किस समय इसका सर्वथा क्षय जावे। अभीष्ट पदार्थ की कामना, स्त्री आदि उपभोग सामग्री आत्मा को व्याकुल करने वाली है, ताम्बूल कुंकुम पुष्पादि के समान एक बार सेवन करने के पश्चात उच्छिष्ट हुई पुनः सेवन करने योग्य नहीं है। इस प्रकार काम भोग से विरक्त होकर निर्ग्रन्थ लिंग धारण करने की बुद्धि करो।

भावार्थ—काम भोग की निःसारता और असेव्यता को समझकर इनसे विरक्त चित्त हुआ विवेकी मनुष्य अपने चञ्चल और विनश्वर जीवन को शीघ्र सफल बनाने को उत्सुक हुआ संसार से भयभीत होकर आचार्य के चरण की शरण ले और गद्गदकण्ठ हो प्रार्थना करे कि भगवन्! इस ससार सागर मे उद्धार करने की कृपा करो। मुझे अपने आत्मा का कल्याण करने के लिए शुद्ध-लिंग–दिगम्बर मुनिवेष–की दीक्षा प्रदान करो।

इस प्रकार प्रार्थना करने पर आचार्य निम्नोक्त बातो का पूर्ण विचार करे। दीक्षा के योग्य जो व्यक्ति हो, उसके गुणादि की परीक्षा करके पश्चात दीक्षा दे।

दीक्षा-योग्य पात्र

(१) जिसने उत्तम देश मे जन्म लिया हो, उसे ही दीक्षा दे, क्योंकि देश के संस्कार आत्मा में स्थायी रहते हैं और देश के अनुकूल शरीर संस्थान आत्मपरिणाम, सहनशीलता आदि होते हैं। इसलिए जन्म व निवास का देश शुद्ध होना चाहिए।

(२) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीन उत्तम वर्ण ही मुनि दीक्षा के योग्य माने गये हैं। श्री जयसेनाचार्य कृत प्रवचनसार की टीका मे कहा है—

वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणंगो तवोसहो वयसा।
सुमुहो कुंछारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो ॥१०॥

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णों मे से ही कोई मुनि-दीक्षा का अधिकारी होता है। इनमें से भी वही योग्य मानागया है जिसका शारीरिक स्वास्थ्य अच्छा हो, तप के योग्य जिनकी वय हो, अर्थात् अतिवृद्ध और बालक न हो। जिसका मुख विकारहीन हो अर्थात् निर्विकार शुद्धचैतन्य परिणाम की शुद्धि को प्रकट करने वाला प्रफुल्लित मुख जिसका हो। अथवा जिसके मुख में वक्रतादि न हो। लोक मे जिसे किसी प्रकार के दुराचार आदि के कारण अपवाद न लगा हो। ऐसा क्रोधादि रहित विनयगुण सहित ही मुनि दीक्षा के योग्य माना गया है।

(३) मुखादि विकार न हो। हीनांग न हो, और अधिकांग भी न हो।

(४) जिसने राज्य विरुद्ध कार्य न किया हो। अन्यथा संघ पर आपत्ति विपत्ति आने की सम्भावना रहती है।

(५) जिसने लोकाचार के विरुद्ध आचरण न किया हो, दुराचारादि के कारण जिसका संसार में अपवाद न हो।

भाव यह है कि यदि कोई दुराचारी, चोर, क्रूर-परिणामी, निर्दयी, पर-उच्छिष्ट का भक्षण करने वाला, अवारा फिरने वाला, व्यसन व्यापार करने वाला, निन्दनीय आजीविका करनेवाला, परधन को हड़पनेवाला, ऋणी, हत्यारा, जातिच्युत, वर्णसंकर, उन्मत्त, अतिक्रोधी, मानी, मायाचारी, राजा देश जाति व कुल का अपराधी या ऐसे ही अन्य दोषों से युक्त हो तो आचार्य उसे दीक्षा न दे।

भगवती आराधना की ७७ वीं गाथा की अपराजित सूरिकृत-विजयोदया और पण्डित आशाधरजी कृत मूलाराधना टीका इन दोनों संस्कृत टीकाओं में बाह्य लिंग-शुद्धि अत्यावश्यक बताई गई है—

जिसका पुरुष चिन्ह मुनि दीक्षा के योग्य हो अर्थात् लिंग (पुरुषचिन्ह) का अग्रभाग चर्म से ढका हो, (यदि चर्म रहित (उघाड़ा) हो तो दीक्षा के अयोग्य है), अतिदीर्घ न स्थूल न हो और जिसमें विकार भाव उत्पन्न न होता हो तथा अण्डकोष बड़े न हों। यदि इन दोषों से युक्त हो तो वह व्यक्ति दिगम्बर दीक्षा के सर्वथा अयोग्य होता है। जो आचार्य इन उक्त लिंग-दोषों की ओर ध्यान न देकर दीक्षा देता है, तथा उक्त दोषों में से किसी भी दोष सहित जो व्यक्ति दीक्षा ग्रहण करता है वे दोनों जिनागम-विरुद्ध आचरण करने वाले हैं और मुनि धर्म की जगत में निन्दा कराने के कारण होते हैं।

प्रवचनसार की टीका पर में आचार्य जयसेन लिखते हैं—"यथायोग्यं सच्छूद्राद्यपि" इसका आशय ऐसा समझना चाहिए कि सत् शूद्रादि मुनि-दीक्षा के योग्य न होने पर भी उनको आगम के अनुकूल क्षुल्लकादि दीक्षा दी जाती है। 'यथायोग्य' पद से उक्त अर्थ ध्वनित होता है।

इसी प्रकार पं. आशाधरजी ने सागारधर्मामृत में कहा—

शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपुःशुद्ध्याऽस्तु तादृशः।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्माऽस्ति धर्मभाक्॥

अर्थ—यहाँ में हीन शूद्र का यदि रहन-सहन शुद्ध है, वह मद्य मांसादि का भक्षण नहीं करता है तथा स्नानादि से शरीर को पवित्र रखता है तो वह भी जिन धर्म के श्रवण करने का अधिकारी है क्योंकि जातिसे हीन जीव भी कालादि लब्धि के आनेपर

श्रावक धर्म का धारण करने वाला होता है।

सत् शूद्र ऐल्लक दीक्षा के योग्य भी नहीं माना गया है क्योंकि जो उत्तम आर्य है वही ऐल्लक हो सकता है। शूद्र उत्तम आर्य न होने से ऐल्लक दीक्षा का अधिकारी नहीं होता है तब उसमें मुनि दीक्षा की योग्यता कैसे हो सकती है? धर्मसंग्रह श्रावकाचार के नवें अधिकार में कहा है—

पशुपाल्यात् कृषेः शिल्पाद्वृत्तन्ते तेषु केचन।
शुश्रूषन्ते त्रिवर्णी ये भाण्डभूषाम्बरादिभिः॥ २३२॥

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णों में कई तो पशुपालन से अपना जीवन निर्वाह करते हैं, कई कृषि से अपनी जीविका करते हैं और कई शिल्पविद्या से अपना भरणपोषण करते हैं। जो उक्त तीनों वर्ण के मनुष्यों की वर्त्तन, भूषण और वस्त्रादि से सेवा करते हैं, वे शूद्र हैं। शूद्रों के भेद इस प्रकार किये गये हैं—

शूद्रों के भेद

ते सच्छूद्रा असच्छूद्रा द्विधा शूद्राः प्रकीर्त्तिताः।
येषां सकृद्विवाहोऽस्ति ते चाद्याः परथा परे॥ २३२॥ धर्म. श्रा

अर्थ—उन शूद्रों के सत् शूद्र और असत् शूद्र इस प्रकार दो भेद हैं। जिन शूद्रों के स्त्रियों का एक बार ही विवाह होता है वे सत् शूद्र हैं और जिनके पुनर्विवाह (विधवा विवाह–धरेजा) होता है उन्हें असत् शूद्र कहते हैं। तथा—

सच्छूद्रा अपि स्वाधीनाः पराधीना अपि द्विधा।
दासीदासाः पराधीनाः स्वाधीनाः स्वोपजीविनः॥ २३४॥ धर्म. श्रा

अर्थ—सत् शूद्रों के भी स्वाधीन और पराधीन के भेद से दो विकल्प हैं। जो दासी व दास हैं वे पराधीन सत् शूद्र हैं और जो दास वृत्ति न करके अन्य प्रकार से स्वतन्त्र आजीविका करके अपना निर्वाह करते हैं वे स्वाधीन सत् शूद्र हैं।

निष्कर्ष यह है कि सत् शूद्र मुनिलिंग नहीं धारण कर सकता। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्ण के पुरुष ही मुनिदीक्षा के अधिकारी माने गये हैं।

उक्त प्रकार मुनि दीक्षा के योग्य व्यक्ति की पूरी छान-बीन करके पश्चात् आचार्य मुनि-दीक्षा देवे। क्योंकि मुनि-लिङ्ग जगत्-पूज्य है। इसलिए विकलाग, अधिकाग, लिंगदोप (पुरुपेन्द्रिय दोप), विकार युक्त मुख इत्यादि शरीर के दोषों से युक्त व्यक्ति को तथा दुराचार दुर्व्यवहार, अन्यायसेवी, क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, राज, समाज व देश विरोधी मनुष्य को भूलकर भी दीक्षा न दे। शान्त, गम्भीर, सुशील अव्यसनी, सौम्याकृति, सरल चित्त, परम वैराग्यवान, कुलीन, मन्दकपायी, विवेकी, विनत इत्यादि गुणों से युक्त मनुष्य को बहुत काल पर्यन्त साथ मे रख कर भलीभांति परीक्षा करके पश्चात् दीक्षा देवे। इसी मे दीक्षा लेने वाले व देने वाले का और जगत् का हित है। अन्यथा सब का अकल्याण और धर्म का अपवाद होने की सभावना रहती है और उसका कारण दीक्षा देने वाला आचार्य बनता है। उसका शिष्यमोह या प्रमाद समाज व धर्म का नाशक सिद्ध होता है। अत दीक्षकाचार्य को इस विपय मे पूर्ण सावधान रहना चाहिए।

(७) दीक्षकाचार्य को यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि दीक्षा का अभिलापी व्यक्ति, स्त्री पुत्र माता पिता आदि कुटुम्बियों स लडाई झगडा करके तथा जाति में किसी से वैर बाँधकर तो दीक्षा नहीं ले रहा है। क्योंकि वह गुरु बनकर अपने पूर्व वैर का बदला लेने मे जगत्पूज्य मुनि भेप का दुरुपयोग करता है। और इस उत्कृष्ट विश्वमनीय परमशान्त मुनि धर्म की निन्दा व हास्य करवाता है। इसलिए सब प्रकार प्रकृति आदि सब बातों की जाचकर दीक्षा देनी चाहिए।

(८) जिसके धर्मपत्नी अल्पवय (छोटी उम्र) की हो या घर में पाच बाल-बच्चे हों और उनके भरण-पोषण शिक्षणादि का प्रबन्ध न हो, या जिसके सर पर धनका ऋण हो, माता पिता वृद्ध हो, और उनकी सेवाशुश्रूपा करने वाला अन्य कोई न हो उसे दीक्षा नहीं देनी चाहिए। आचार्य का कर्तव्य होता है कि जिसको दीक्षा देना हो, उसके माता पिता, स्त्री पुत्रादि की आज्ञा मिलने पर उसे दीक्षा देवे। मुख्य सम्बन्धियों की आज्ञा मिले बिना कदापि दीक्षा न दे। यदि बिना उन की अनुमति के दीक्षा देगा तो बड़ा उपद्रव उपस्थित हो जावेगा और उनकी निराधार पत्नी असहाय माता पिता व अनाथ बाल बच्चों के हाय विलाप करने व उनके करुण रोदन से उसका व समाज के अन्य दयालु मनुष्यों का हृदय फटने लगेगा। सम्पूर्ण विवेकी मनुष्य विरोधी बन जावेंगे। तथा अन्य विधर्मी भी मुनिधर्म की घोर निन्दा करने लगेंगे। वास्तव मे ऐसा अविवेक पूर्ण कृत्य निन्दा के योग्य ही माना गया है। इसलिए दीक्षाकाचार्य के लिए धर्मज्ञान के साथ व्यवहार ज्ञान का होना भी आवश्यक बताया गया है।

मुनि धर्म तो सब का हित चाहने वाला है, उसमे निर्दयता और अपवाद का क्या काम है? लेकिन अज्ञानी जीवों के निमित्त मे अनुचित, धर्म-विरुद्ध कार्यों के कारण धर्म की भी निन्दा होती है और इस जिनेन्द्र के समान मुनि भेष की हँसी होने लगती है। छह काय के जीवों के परम बन्धु और परमदया की मूर्ति होते है उनसे, जो अज्ञानवश अनुचित कार्य होने से सम्पूर्ण मुनियों को निर्दय आदि होने का कलङ्क लगता है वह अदूरदर्शी व अज्ञानी साध्वाभासों से ही लगता है।

सं प्र

किस प्रकार के पुरुष व स्त्री को दीक्षा देना चाहिए ?

(१०) जिसके चित्त मे सासारिक सम्बन्धियों का मोह ममत्व निकल गया हो, जिसका मन विषयों से परम विरक्त हो गया हो, जिसको जैन सिद्धान्त का ज्ञान हो, अपने शरीर से वैराग्य और ससार से भय उत्पन्न हो गया हो, केवल आत्म-कल्याण की भावना ही जिसके हृदय में लहराती हो, जिसे खोटे कार्यों से घृणा और पाप मे भय होता हो, जिसकी प्रत्येक क्रिया मे दया भाव पाया जाता हो, जो शान्त स्वभाववाला और अपने कर्त्तव्य को समझनेवाला हो, वह दीक्षा के योग्य है। किन्तु यदि किसी के सफेद कोढ़ हो, मृगी रोग हो या वह काना हो, बहरा हो, नपुंसक हो, या किसी सक्रामक रोग से पीड़ित हो तो परिस्थिति के विचार से आचार्य दीक्षा न दे।

दोषरहित और गुणसहित दीक्षा के योग्य श्रेष्ठ जाति कुल के व्यक्ति को ही दीक्षा देनी चाहिए।

दीक्षा लेकर कैसी अवस्था धारण करे ?

शरीर के सम्पूर्ण संस्कारो का त्याग कर, बालक के समान निष्कषाय और निर्विकार नग्न-दिगम्बर वेष धारण कर, इन्द्रिय और मन को अपने वश मे रखे। वैराग्य भावना मे तत्पर हुआ अपने डाढ़ी और मूंछ के बालों का लोच करे। जीवरक्षा के निमित्त मयूर की पिच्छी अपने हाथ मे धारण करे। शौच के लिए काष्ठ का कमण्डलु तथा ज्ञानाभ्यास के लिए योग्य पुस्तक ग्रहण करे। इस प्रकार जीव-रक्षा, शरीर-शुद्धि व ज्ञानाभ्यासके उपकरण के अतिरिक्त सम्पूर्ण बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना द्वारा नवकोटि त्याग करे, तथा निरन्तर आत्म-भावना मे अनुरक्त हुआ द्वादशानुप्रेक्षा का मनन चिन्तन करता रहे। एवं मन वचन व काय से लिंग शुद्धि दिगम्बर भेष की (निर्मलता) के लिए सदा सावधान रहे।

भगवान कुंदकुंदाचार्य ने ऐसे परमवीतराग दिगम्बर मुनि भेष को अर्थात् लिंग शुद्धि को आयतन कहा है—

मण-वयण-कायदव्वा आयत्ता जस्स इंदिया विसया।
आयदणं जिणमग्गे णिद्दिट्ठं संजयं रूवं ॥ ५ ॥
मयरायदासमोहो कोहो लाहो य जस्स आयत्ता।
पंचमहव्वयधारा आयदणं महरिसी भणियं ॥ ६ ॥ (बोधपाहुड)

मन वचन काय द्रव्य तथा इन्द्रियो के विषय स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द ये जिसके आधीन हैं वह संयम विशिष्ट मुनि का

रूप जिन मार्ग मे आयतन कहा गया है।

जिस मुनि के आठ प्रकार के मदो मे से एक भी मद नहीं है, जिसके राग परिणति का सर्वथा अभाव है, बाह्य पदार्थ में तथा शरीर में भी जिसके मोह का लेश नहीं है, जिसकी आत्मा मे कोध लोभ और मायाचार का अश ढूढने पर भी नहीं मिलना और जो परम अहिंसा, उत्कृष्ट सत्य, महान अचौर्य, पूर्ण ब्रह्मचर्य और समस्त परिग्रह का त्याग इन पञ्च महाव्रतो के धारण करनेवाला है वह आयतन है। अर्थात दर्शन, स्पर्शन और पूजन के योग्य उसकी उक्त प्रकार की अवस्था को लिंगशुद्धि कहा गया है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने लिंग-शुद्धि को ही प्रतिमा रूप से वर्णन किया है।

सपरा जंगमदेहा दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं।
णिग्गंथवीयराया जिणमग्गे एरिसा पडिमा ॥ १० ॥ (बध पाहुड)

अर्थ—दर्शन और ज्ञान से जिनका चारित्र निर्मलता को प्राप्त होगया है ऐसे मुनि का, आत्मा से भिन्न जो निर्ग्रन्थ, वीतराग शरीर है वह प्रतिमा स्वरूप है। अर्थात् जिसके बाल के अग्र भाग बराबर भी परिग्रह नहीं है, तथा जो वीतराग स्वरूप है, पर पदार्थ मे न राग है, न द्वेष है और न मोह है-इस प्रकार शान्त-मुद्रा का धारक परम वीतराग स्वरूप निर्ग्रन्थ मुनि का दर्शन, ज्ञान, चारित्र सम्पन्न जो जङ्गम शरीर है वह जिन मत मे प्रतिमा मानी गई है। इस प्रकार की अवस्था का नाम लिंग-शुद्धि है।

लिंग-शुद्धि से लाभ

विस्सासकरं रूवं अणादरो विमयदेहसुक्खेसु।
सव्वत्थ अप्पवसदा परिसह अधिवासणा चेव ॥ ८४ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—दिगम्बर मुद्रा सम्पूर्ण जीवा के विश्वास का कारण होती है। जगत् के प्राणी विचारते हैं कि ये अपने पास वस्त्र का खड तक नहीं रखते हैं, तब अन्य वस्तु का ग्रहण कैसे कर सकते हैं? इनसे किसी को भय नहीं होता, क्योकि भय उत्पन्न करने वाले शस्त्र अस्त्रादि इनके पास नहीं होते हैं। गुप्त (छिपे हुए) शस्त्रादि की भी सम्भावना या शङ्का नहीं हो सकती, क्योकि शस्त्रादि छिपाने के लिए इनके पास वस्त्रादि कुछ भी नहीं है। तथा इनकी शान्त मुद्रा देख कर शत्रु भी विश्वास करने लगता है। उनके निर्विकार और कुरूप संस्कार रहित मलीन शरीर को देखकर दर्शक को विरक्ति उत्पन्न होती है। मुनि को भी मलीन संस्कार रहित शरीर के धारण करने से नित्य प्रतिक्षण

वैराग्य भावना की जागृति होती है। विषयों से विरक्ति उत्पन्न होती है। सम्पूर्ण मनुष्य (स्त्री या पुरुष) का उनपर पूज्य भाव पैदा होता है। वे सोचते हैं कि इनको अपने शरीर पर अनुराग नहीं है, अत. दूसरी वस्तुओ पर कैसे अनुराग कर सकते हैं ? इसलिए उनका हृदय उनके प्रति निर्विकार और पवित्र रहता है। जातरूप धारक सयमी का मन भी नग्न वेप के धारण करने से व स्नानादि द्वारा शरीर का सस्कार न करने से विषय सुखों से सदा विरक्त रहता है। वह सदा चिन्तन करते हैं कि "मैं किस पर अनुराग करू ? क्या मास, रुधिर और मल मूत्र की गदी झोपड़ी रूप अत्यन्त घृणित स्त्री आदि का शरीर अनुराग करने योग्य है ? विवेकी पुरुष इस मास रुधिरादि की थैली का छूना तो दूर रहा देखना व स्मरण करना भी नहीं चाहते है। मैंने तो शुद्ध बुद्ध अतिनिर्मल आनन्दमय चैतन्य स्वरूप की प्राप्ति के लिए इस सर्वोत्कृष्ट मुनि धर्म को धारण किया है।" इस प्रकार वे विवेकज्ञान से अपने स्वरूप का चिन्तन करते हैं। इसलिए उनके मनमे विषय सुख के प्रति कभी आदर भाव उत्पन्न नहीं होता है। प्रेताकार समान मलिन मुनि के शरीर को देखकर अविवेकी महिलाजन भी उनसे अनुराग नहीं करती हैं। इसलिए ससार के सब प्राणियों का आदर भाव निर्ग्रन्थ लिंग मे होता है।

वस्त्रादि का सर्वथा त्याग करने से मुनि किसी के परतन्त्र नहीं होते। वस्त्रादि रखने से उनकी प्राप्ति के लिए संयमी की गृहस्थ के अधीन वृत्ति होती है। तथा उसी की रक्षा का सदा भय लगा रहता है। चोरादि के द्वारा चुराये जाने का भय बना रहता है। उनके प्रक्षालनादि के लिए आरम्भादि द्वारा हिंसादि दोष उत्पन्न होते हैं। वस्त्रादि के नाश के भय से उनकी रक्षा के लिए सयम के घातक उद्गमादि दोष सहित स्थान मे शयनासन करना पड़ता है।

दिगम्बर मुद्रा धारण करने से दश मशक शीत घामादि की परीषहों को सहने का सुअवसर प्रतिक्षण मिलता है जो कि कर्मनिर्जरा का मुख्य साधन है। इससे आत्मबल प्रकट होता है और अनेक उपसर्गों के आने पर भी चित्त चञ्चल नहीं होता है। धैर्य और सहिष्णुता की वृद्धि होती है। और सब प्रकार के परिग्रह के बोझ से रहित हुआ मुनि आत्मध्यान मे स्थिरता प्राप्त करता है। परिग्रहधारक के चित्त में निष्कम्पता नहीं आती है। उसके चित्त मे चञ्चलता रहती है। कहा तक इसके गुण वर्णन किये जावें। यह दिगम्बर भेष जिनेन्द्र भगवान् का प्रतिरूप (प्रतिबिंब) है और मुमुक्षु जीवो के लिए मुक्ति का उपाय है। इससे रागादि दोषों का परिहार होता है। और आत्मानुभूति की जागृति होती है। और भी बहुत से गुण इस जिनसदृश लिंग (दिगम्बर भेष) के धारण करने पर स्वत उत्पन्न होने लगते हैं।

(२) व्रतशुद्धिः

ते सव्वगन्थमुक्का अममा अपरिग्गहा जहाजादा।
वोसट्टचत्तदेहा जिणवरधम्मं समं णेंति ॥ १५ ॥ (मूला० अन०)

अर्थ—जिस संयमी ने मिथ्यात्व, वेद, कषाय (क्रोध,मान,माया, लोभ), राग, द्वेष, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन चौदह प्रकार के आभ्यन्तर तथा क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य, भाण्ड इन दश प्रकार के बाह्य परिग्रहों का नवकोटि से जन्म भर के लिए त्याग किया है वही नग्नमुद्रा का धारक मुनि अपने शरीर से भी ममत्व रहित, बालक समान निर्विकार होता हुआ तैलादि मर्दन, उद्वर्त्तन (उबटना) स्नानादि में शरीर के संस्कार का त्यागी होता है और जिनेन्द्र प्रणीत धर्म को पर भव मे भी अपने साथ ले जाता है।

भावार्थ—दिगम्बर मुद्रा धारण करने वाला मुनि चौदह प्रकार के आभ्यन्तर और दश प्रकार के बाह्य परिग्रह का त्याग कर शरीर से भी ममत्व नहीं करता है। शरीर के संस्कार का त्यागी होता है। सम्पूर्ण आरंभ (प्राणी हिंसा के कार्य) से अलग रहता है। हिंसादि सब पापों का त्याग करता है। बाल के अग्रभाग प्रमाण भी परिग्रह को नहीं रखता है। जिस स्थान पर सूर्य अस्त हो जाता है, वहीं निवास करता है। किसी के अधीन नहीं रहता। सब प्रकार स्वतन्त्र होता है, विद्युत् के समान जिसका स्थान नियत नहीं होता है, अर्थात निश्चित रूप से एक स्थान मे निवास नहीं करता है।

(३) वसतिका शुद्धि

गामेयरादिवासी णयरे पंचाहवासिणो धीरा।
सवणा फासुविहारी विवित्तएगंतवासी य ॥ १६ ॥ (मू० आ० आ०)

अर्थ—जिस बस्ती के चारों ओर कांटे आदि बाढ़ हो, उसे गाँव कहते हैं उसमे मुनि एक रात्रि वास करते हैं। जिसमे प्रवेश चार बड़े दर्वाजे हो उसे नगर कहते हैं, उसमे पाच दिन तक निवास करते हैं। इससे अधिक नहीं ठहर सकते, क्योंकि पाच दिनों में तीर्थ यात्रादि सब कार्य सिद्ध हो जाते हैं। इससे अधिक निवास करने से उस स्थान से ममत्व उत्पन्न होता है। स्त्री, नपुंसक, पशु आदि से रहित एकान्त स्थान में निवास करने वाले, निर्दोष आचरण के पालक मुनियों का ग्राम में एक रात और नगर मे पाच दिन ठहरने का विधान है।

एकान्त स्थान का अन्वेषण करनेवाले गन्धहस्ती के समान मुनि विविक्त स्थान में ही सुख का अनुभव करते हैं। पर्वत की कन्दरा, गुफा, वृक्ष-कोटर, शून्य-गृहादि मे रहते हुए भी धैर्य से विचलित नहीं होते हैं। जिनाज्ञा में रमण करते हुए परम आनन्द चित्त होकर आत्मा को ध्यान मे संलग्न करते है।

जिस समय गाँव या नगर मे वास करते हैं, उस समय, वहा पर भी एकान्त मठ शून्य गृहादि निर्दोष स्थान मे वास करते हैं। उस स्थान से ममत्व सम्बन्ध नहीं जोडते। वहां पर कमल पत्र की तरह निर्लेप रहते हैं।

मुनीश्वर पर्वत के शिखर, कंदरा तथा गुफा आदि कायर पुरुषों को भय उत्पन्न करने वाले स्थानों में निवास करते हैं। जहां पर सिंह व्याघ्र आदि हिंसक जन्तुओं का प्रचार रहता है, उन विकट स्थानो मे रहकर वे ध्यान करने के लिए उत्सुक रहते हैं।

सिंह समान निर्भीक मुनि उन भयावह घने जंगल में जाकर ध्यान धरते हैं, जहां पर सिंह व्याघ्र शूकर रीछ आदि के शब्द गूज रहे हो। उनकी त्रास जनक ध्वनि मुनीश्वरों के चित्त को लेशमात्र भी चंचल नहीं करती है। वे धीर वीर मुनि ऐसे भयानक स्थानों में उत्तम ध्यान सिद्धि प्राप्त करते हैं।

ऐसे भयानक वन मे मुनि किस विधि से रहते है ? उसे दिखाते हैं—

सज्झायज्झाणजुत्ता रत्तिं ण सुवंति ते पयामं तु ।
सुत्तत्थ चिंतता णिद्दाए वस ण गच्छंति ॥ २८ ॥ (मूला अ.)

अर्थ—भयंकर वनादि तथा एकान्त शून्य गृहादि मे निवास करनेवाले मुनि स्वाध्याय और ध्यान मे दत्तचित्त हुए रात्रि में नहीं सोते। श्रुत भावना मे और एकाग्रचित्त होकर ध्यान मे मग्न रहते हैं। रात्रि का प्रथम और अन्तिम प्रहर उक्त-प्रकार बिताते हैं। वे सूत्र तथा अर्थ और उभय (सूत्र व अर्थ) का चिन्तन करते रहते हैं, इसलिए वे निद्रा के वश नहीं होते हैं।

भावार्थ—निर्ग्रन्थ मुनि ध्यान स्वाध्यायादि के कारण जब शरीर मे थकान मालूम होती है, तब श्रम का परिहार करने के लिए रात्रि का पहला और पिछला पहर छोड़कर शयन करते हैं। हाथ का तकिया लगाकर एक करवट सोते हैं। बार बार करवट बदलते नहीं हैं। गोदूहन आसन वीरासन, मृतकासन, पद्मासन, पर्यंकासन इत्यादि आसनों मे जो ध्यान मे स्थिरता करनेवाला प्रतीत हो उस आसन से एकाग्रचित्त होकर आत्मा के स्वरूप का चिन्तन करते हैं। श्रुतज्ञान के पद पदार्थ का मनन-चिन्तन करते हैं। आत्मा धर्म्यध्यान या शुक्लध्यान मे रमण करता रहे ऐसे उपायों का अवलम्बन करते हैं। अनेक प्रकार के परीषह और उपसर्गों के आने पर उनके प्रतीकार की इच्छा तक नहीं करते। अपने शरीर से ममत्व का त्याग करने के कारण परीषह व उपसर्ग उनकी आत्मा मे किसी प्रकार विकार उत्पन्न नहीं करते। जैसे किसी दूसरे के सूने घर मे अग्नि काण्ड आदि उपद्रव के उपस्थित होने पर मनुष्य के मन मे दुःख व शोक नहीं होता है उसी प्रकार भेद विज्ञान द्वारा शरीर को अन्य घर समझनेवाले मुनि के दुःख का आविर्भाव नहीं होता है। इस प्रकार की भावना जिनके अन्तःकरण मे निरन्तर निवास करती है वेही धीर वीर पापभीरु मुनीश्वर कर्म का क्षय करने में समर्थ होते हैं।

(४) विहार शुद्धि

मुत्ता णिरावयेक्खा सच्छंदविहारिणो जहावादो ।
हिंडदि णिरुव्विग्गा णयरायरमंडिय वसुहं ॥ ३१ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ—समस्त प्रकार के परिग्रह से सर्वथा निर्लेप, तथा किसी पदार्थ की आकांक्षा नहीं करने वाले मुनि, वायु के समान स्वच्छंद विहारी ग्राम नगर पत्तनादि से मण्डित वसु धरा (पृथ्वी) पर नित्यप्रति भ्रमण करते हैं। किन्तु किंचिन्मात्र भी उद्विग्न नहीं होते।

भावार्थ—नित्य विहार करनेवाले मुनि शुद्ध माने गये हैं। जो मुनि आगमोक्त विहार करने मे प्रमाद करते हैं, अथवा जिन शासन की अवहेलना करके बिना विशेष कारण के महीनों तक एक स्थान मे निवास करते हैं वे मुनि सदोष हैं। मुनि की उत्तमता व निर्मलता तो वायु के समान निरन्तर स्वच्छंद विहार करने मे ही होती है। मुनि पैदल विहार करते हैं। किसी प्रकार की सवारी नहीं करते। क्योंकि चेतन बैल अश्वादि वाहन पर चढकर विहार करने से उन्हें पीडा पहुचती है और मार्गस्थित छोटे जन्तुओं की रक्षा नहीं हो सकती है। अचेतन मोटर वायुयान आदि की सवारी से भी जलकाय, पृथ्वीकाय, अग्निकायादि जन्तुओं की तथा मार्गस्थित त्रस जीवो की भारी हिंसा होती है। तथा वाहन पर सवारी करने से परतन्त्रता तथा दीनता आती है। समस्त परिग्रह के त्यागी मुनि के निकट रुपया पैसा नहीं होता और वे किसी से याचना नहीं करते। अतएव मुनि के सब प्रकार के वाहन का त्याग होता है। वे पदल विहार करते हैं। मुनीश्वर सब जीवों के निष्कारण बन्धु होते हैं। करुणा से उनका हृदय आर्द्र रहता है। वे भूमि पर के जीवों को बचाते हुए इस प्रकार चलते हैं कि मानो खोये हुए रत्न का ही अन्वेषण कर रहे हों। तथा माता जैसे पुत्र पर स्नेह करती और उसकी सर्व प्रकार रक्षा करती है उसी प्रकार मुनि सब जीवों के रक्षक होते हैं। वे जीवादि छह द्रव्य और नवतत्त्व के पूर्ण ज्ञाता होते हैं। उनके स्वरूप को ज्ञान रूपी उज्ज्वल प्रकाश में भले प्रकार जानते हैं, इसलिए पापजनक क्रियाओं का परिहार कर प्रवृत्ति करते हैं।

निर्ग्रन्थ साधु पाप भीरु होते हैं। अत. उनके यावज्जीव मन वचन काय व कृत कारित अनुमोदना द्वारा सम्पूर्ण पाप जनक कर्मों का त्याग होता है। वे प्रयोजन वश भी तृण का छेदन नहीं करते, वृक्ष का पत्ता नहीं तोड़ते। किसी हरितकाय-वनस्पति का छेदन नहीं करते। वृक्ष की त्वचा, शाखा, कोपल, कन्दमूलादि छेदन, भेदन, मोटन (मरोड़ना) आदि नहीं करते। छेदन तो दूर रहा, उनका स्पर्श तक नहीं करते। प्रमाद से अथवा भूल से किसी सचित्त वनस्पति का स्पर्श हो जाने पर प्रायश्चित लेकर उस दोष को दूर करते हैं। वे दूसरे से पत्र फलादि का आरम्भ नहीं करवाते और न उसको अनुमति देते हैं। जो साधु सचित्त वनस्पति के आरम्भ व भक्षणादि की प्रेरणा करता है उसको अहिंसा महाव्रत से च्युत समझना चाहिए।

दयापरायण परम अहिंसक निर्ग्रन्थ मुनि सचित्त मिट्टी आदि पृथ्वी आदि खोदना, पीटना, चूर्ण करना, कूटना आदि न तो स्वय करते और न दूसरे से करवाते हैं। जल का सिंचनादि कदापि नहीं करते। पंखा आदि हिलाकर वायुकाय के जीवो की विराधना कभी नहीं करते। अग्नि को न जलाते और न बुझाते और न अन्य किसी प्रकार उक्त जीवो को पीड़ा पहुंचाते हैं और न दूसरों के द्वारा उक्त जीवो को कष्ट दिलाते हैं। यदि अन्य पुरुष किसी प्रकार का सावद्य कार्य करता है तो उसकी अनुमोदना नहीं करते। बल्कि प्रिय मधुर वचन द्वारा उपदेश देकर पाप कार्य से होनेवाली हानि समझाकर सावद्य कार्यों से उसको बचाते हैं।

साधु सदा निर्भय निहत्थेसिंह समान विचरते है। समस्त प्राणियो पर साम्य भाव रखते हैं, इसलिए किसी प्रकार के शस्त्र अस्त्र धारण नहीं करते। हाथ मे डंडा तक नहीं रखते। उनका कोई शत्रु नहीं है। सब जीवों को मित्रवत् समझते हैं। सम्पूर्ण जीवों को आत्मवत् चिन्तन करते हैं। मेरे द्वारा किसी तरह किसी जीव को पीड़ा न हो जावे। यदि मेरे निमित्त से इन जीवों को दुःख पहुंचा तो वह दुःख मेरी आत्मा को बेचैन करदेगा उनका ऐसा स्वच्छ व दृढ़ सकल्प सम्पूर्ण जीवों की पीडा के परिहार में प्रवृत्ति करता है।

आत्म-साधना मे तत्पर रहने वाले निर्ग्रन्थों का अतिशान्त गम्भीर चित्त क्षुधा तृषा शीत उष्ण इत्यादि परीषहों के तथा देव-तिर्यंचादि कृत उपसर्गों के प्राप्त होने पर दीनता नहीं दिखाता, किन्तु रणांगण मे उत्साहित शूरवीर पुरुष की तरह धैर्य धारण कर वैराग्य भावना रूपी शस्त्र का प्रयोग कर उन पर विजय प्राप्त करता है। साधु शत्रु मित्र पर माध्यस्थ भावना धारण कर रागद्वेष को परास्त करते हैं। कूर्म (कछुए) की तरह अपनी सब इन्द्रियों को सुकोड कर प्रिय व अप्रिय विषयों मे आदर व अनादर बुद्धि नहीं करते हैं। संसार के किसी पदार्थ की आकांक्षा न होने से उनके मन की चपलता दूर होकर स्थिरता उत्पन्न हो जाती है। उनके निर्मल अन्त करण में माया प्रपन्च का लेशमात्र सद्भाव न होने के कारण वे सब जीवों के विश्राम पात्र होते हैं।

जिनेन्द्र शासन रूपी मार्ग पर सदा दृष्टि रखते हैं। उसके उल्लंघन मे आत्मा की महती हानि को समझते हैं। जन्म मरण के तथा सांसारिक इष्ट-वियोगादि जन्य दुखों मे भयभीत हुए गर्भावास के असह्य कष्टों से घबराते हैं।

हे आत्मन्! घोर नरक के कुंभीपाक के समान दुखदेने वाले माता के उदर में बहुत काल तक मल, मूत्र, रुधिरादि से लिपटे हुए रहकर भयानक सताप भोगना पड़ता है। इसलिए उस गर्भ वसती से अतित्रस्त होकर मुनि छुटकारा चाहते हैं।

ज्ञान-दीपक से जगत् के समस्त पदार्थों की असली हालत को देखकर कामभोग से विरक्त होते हैं और ज्ञान-चक्षु से अगर्भ-वास के स्थान को ढूढते हैं और वहा पर पहुचने के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का आश्रय लेकर वैराग्य भावना में लीन होते हैं। शरीर से निरपेक्ष हुए धैर्य रूप लगाम हाथ मे लेकर आत्मा का दमन कर ससार के मूल (मोह राग द्वेष) का छेदन करते हैं।

(५) भिक्षा शुद्धि

छट्ठट्ठमभत्तेहिं पारेंति य परघरम्मि भिक्खाए ।
जमणट्ठं भुंजंति य ण वि य पयामं रसट्ठाए ॥ ४४ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ—मुनीश्वर अपने संयम की साधनाके लिए वेला,तेला,चोला,पंचोला आदिके पारणे निमित्त परघर भिक्षा से भोजन करते हैं । जो भोजन कृत कारित और अनुमोदना से रहित हो तथा उद्दिष्टादि दोषों से वर्जित हो उसे ही ग्रहण करते हैं । जिव्हारस की लोलुपता से अधिक भोजन नहीं करते हैं ।

भावार्थ—साधु जन आहार को उपादेय नहीं समझते । जहाँ तक हो सके उसका त्याग करते हैं । अपनी शक्ति को न छिपाकर बेला तेलाआदि उपवास धारण कर निरन्तर आत्म-ध्यान, स्वाध्याय मे लगे रहते हैं । जब देखते हैं कि आहार के बिना स्वाध्यायादि कार्यों मे बाधा उपस्थित होती है तब भिक्षा के लिए बस्ती मे निकलते हैं । क्षुधा व तृषा से अतिपीडित होने पर भी मुखादि द्वारा दीनता प्रकट नहीं करते । नवधा भक्ति के साथ दिया हुआ कृत कारित अनुमोदना से रहित नवकोटि विशुद्ध, उद्दिष्टादि दोषवर्जित तथा चौदह मल (नख रोमादि) रहित प्रासुक शुद्ध आहार पर-घर मे लेते हैं । जिस घर पर ममत्व हो उसमे आहार ग्रहण नहीं करते हैं । रस की लालसा रहित उतना आहार करते हैं जिससे स्वाध्यायनादि आत्मीय कार्य की सिद्धि हो सके । आधा उदर अन्न से और चौथाई जल से भरते हैं । चौथाई खाली रखते हैं । स्वादिष्ट भोजन की लोलुपता वश रस हीन भोजन का त्याग नहीं करते हैं । गृहस्थ जैसा भी शुद्ध और ग्राह्य भोजन देता है उसे मौन पूर्वक ग्रहण करते हैं और वह भी पाणि-पात्र मे है ।

उद्दिष्टादि छियालीस दोष और बत्तीस अन्तराय रहित साधु का भोजन होता है । उसका विवेचन पिण्ड शुद्धि अधिकार में किया गया है । वहाँ से जान लेना चाहिए ।

मुनि भिक्षा के लिए किस प्रकार भ्रमण करते हैं इसका खुलासा निम्न प्रकार है ।

अण्णादमणुण्णादं भिक्खं णिच्चुच्चमज्झिमकुलेसु ।
घरपंतिहिं हिंडंति य मोणेण मुणी समादिंति ॥ ४७ ॥ (मूला० आ० अ०)

अर्थ—आज मुनीश्वर भिक्षा के लिए यहा पर आवेंगे इस प्रकार गृहस्थों को ज्ञात नहीं हो उसे अज्ञात कहते हैं । अनभिप्रेत

अर्थात् मुनि अमुक अभिग्रहादि धारण करेंगे व अमुक घर जावेंगे इत्यादि अभिप्राय का ज्ञान न हो उसे अनभिप्रेत कहते हैं। ऐसे अज्ञात और अनभिप्रेत घर मे चाहे वह धनिक का घर हो, या मध्यम स्थिति वाले का घर हो चाहे गरीब का घर हो, एक पंक्ति में आये हुए घरों को नहीं टालकर मौन पूर्वक भिक्षा ग्रहण करते हैं।

भावार्थ—मुनियों को चाहिए कि वे जो अभिग्रहादि करें उसका स्पष्ट ज्ञान गृहस्थों को न हो सके। तथा जिस घर मे मुनि आहार को जावें उसमें पहले अपने सघ का ब्रह्मचारी आदि जाकर सब अनुकूल व्यवस्था न करे। जहा पर संघ का कोई व्यक्ति गृहस्थ के घर जाकर पहले भोजनादि का प्रबन्ध करले और उसी घर में साधु का आहार हो तो इसमें उद्दिष्ट दोष ही नहीं अध कर्म दोष उत्पन्न होता है, जो मुनि के मुनित्व का नाशक माना गया है। तथा साधु चर्या के लिए निकले तब पक्तिबद्ध घरों में जहा पर भी विधि मिल जावे वहां पर आहार के सम्पूर्ण दोषो को टालकर आहार ग्रहण करले। ऐसा न करे कि विधि मिलने पर किसी घर को बीच में छोड़ कर अपनी इच्छानुसार कहीं पर भोजन ग्रहण करे। इससे ममत्व और आहार की लालसा या अन्य किसी प्रकार का मोह प्रकट होता है। इसलिए गरीब, धनवान, साधारण नर के भेद भाव को ध्यान में न रखकर प्रासुक शुद्ध विधि सहित जहा पर भी योग्य सरस या नीरस आहार मिले उसको स्वीकार करले। भोजन ठंडा हो या गर्म हो, स्निग्ध हो या रूक्ष हो, लौना हो अलौना हो,स्वादु हो या बेस्वाद हो अपने मनके अनुकूल हो या प्रतिकूल हो, इन बातो का खयाल न कर प्रासुक शुद्ध आहार जहा पर मिल जावे वहा ही ग्रहण करले।

आजकल अत्यन्त शीत (ठंड) है यदि गर्म भोजनादि मिले तो अच्छा हो, आजकल गर्मी के दिन हैं इस समय शरीर में शीतलता करनेवाला पदार्थ मिले तो अच्छा हो, आज उपवास का पारणा है स्निग्ध सरस भोजन मिले तो शरीर क लिए हितकर होगा-इत्यादि बातो का कभी चिन्तन न करे। जैसा भी प्रासुक शुद्ध आहार मिले साधु को शान्ति पूर्वक इस प्रकार ग्रहण करलेना चाहिए-जैसा कि कोई व्यापारी अपनी मालसे भरी गाडी को इष्टस्थान पर ले जाने के लिए पहियो के मध्यभाग में तैल या घी का ओंगन देता है। यदि ओंगन न दिया जावे तो धुरे से अग्नि उत्पन्न हो जाती है और वह धुरा नष्ट भ्रष्ट होजाता है, गाड़ी इष्टस्थान पर पहुचने में असमर्थ हो जाती है। उसे अभीष्ट स्थान पर पहुंचने के लिए घृत या तैल का ओंगन आवश्यक होता है। उसी प्रकार साधु का शरीर रत्न-त्रयादि अमूल्य रत्नों से भरी हुई गाडी है। यदि इसका उचित समय में प्रासुक शुद्ध आहार रूपी ओगन न दिया जावे तो वह अपने अभीष्ट स्थान (मोक्ष) में पहुचने के पहले मार्ग में ही नष्ट हो जावेगी तथा उसका सयम तपश्चरण ध्यानादि के विषय मे किया गया समस्त श्रम व्यर्थ हो जावेगा। साधु शरीर को मोक्ष मार्ग पर चलाने के लिए आहार रूपी ओगन देना आवश्यक समझते हैं। राग बुद्धि से शरीर को पुष्ट करने के लिए साधु आहार नहीं करते हैं।

मुनि उक्त दृष्टि से गृहस्थ के घर चर्या के लिए जाते हैं। यदि दैवयोग से विधि न मिलने पर या अन्तराय आदि के हो जाने पर आहार न मिले तो उदास नहीं होते, चित्त में विषाद नहीं करते। उसको कर्म की निर्जरा का कारण समझकर शान्ति से स्वाध्यायादि आत्म-हितकर कार्यों में लग जाते हैं।

वे विचारते हैं कि आहार प्राण-धारण के लिए किया जाता है और प्राणों का धारण धर्म के आराधन के लिए है। अतः जितने काल शरीर प्राण में है उतने समय तक उसे धर्म के आराधन में ही लगाना चाहिए। ऐसे विचारों से वे धर्म कृत्यों में एक समय भी प्रमाद नहीं करते हैं।

भोजन की प्राप्ति के लिए वे किसी की प्रशंसा स्तुति नहीं करते हैं। न किसी वस्तु की याचना करते हैं। क्योंकि याचना करने वाले के दीनवृत्ति होती है। जिसके हृदय में दीनता होती है वह गृहस्थों का दास बन जाता है तो उसका श्रोताओं के चित्तपर कुछ भी असर नहीं पडता है। द्रव्यादि की याचना करनेवाला साधु नहीं होता वह साधु भेष को लजाने वाला है। इसलिए साधु किसी वस्तु की याचना करना तो दूर रहा, उसकी इच्छा तक नहीं करते। क्योंकि उसको भी वे संयम का नाशक समझते हैं। आहार के लिए भी जब मौन धारण करके बस्ती में जाते हैं तब आहार कर चुकने तक किसी प्रकार का संकेत तक नहीं करते। तब अन्य वस्तु को मुख से कैसे माग सकते है। देहि (दो) यह शब्द दीनता और करुणा का प्रकट करने वाला है। इसे कदापि अपने मुख से नहीं निकालते। पाच सात दिन आहार न मिलने से भूख के मारे मुनि का शरीर शिथिल व अशक्त हो गया हो, आखो के सामने अधेरा आने लगा हो, मस्तक शून्य हो गया हो, चक्कर आने लगे हो, हाथ पॉव हिलाने का सामर्थ्य भी नहीं रहा हो तथापि धीर वीर मुनि एक ग्रास तक नहीं मागते हैं। ऐसे स्वाभिमानी (मुनि धर्म का मान रखने वाले) मुनीश्वर अपने मुख मे क्या कोई अन्य वस्तु माग सकते है?

मुनि भोजन न मिलने पर अपने हाथ से भोजन नहीं बनाते, न उपदेश देकर दूसरे से बनवाते हैं। न अपने लिए भोजन बनाने वाले की अनुमोदना करते हैं। क्योंकि उन्होंने भोजन बनाने का नवकोटि से त्याग किया है। भिक्षा के समय जो अन्न मिल जाता है उसीमें संतुष्ट रहते हैं। भिक्षा में भात रोटी आदि अशन मिले, अथवा दुग्धजलादि पेय पदार्थ मिले, या लड्डू आदि पकवान मिले, अथवा राबडी आदि मिले या जलमात्र मिले, जो शुद्ध व प्रासुक हो, पाणिपात्र में उसका प्रतिलेखन कर-देखशोधकर भक्षण करते हैं। जो भोजन विवर्ण (भद्दा) न हो, प्रासुक (सम्मूर्छनादि जन्तुरहित), मनोहर तथा एषणा के दोष से रहित हो, ऐसा भोजन भिक्षा में मिले तो ग्रहण करते हैं। किन्तु बासा (दो तीन दिन का बना) भोजन नहीं करते। विवर्ण (भद्दा) तथा चींटी आदि जिसमें चल रही हो उसे अप्रासुक समझ कर उस भिक्षा-भोजन का त्याग करते हैं।

जिस भोजन के पदार्थ में काली पीली नीली लाल श्वेत पाच रग की फूलन में से कोई फूलन आगई हो, जो चलित रस हो,

जिसमे दुर्गंध आती हो, साधु उसको अप्रासुक समझ कर त्याग करते है। क्योंकि फूलन में साधारण वनस्पतिकाय के अनन्त निगोदिया जीव होते हैं। इसलिए साधु ऐसे पदार्थ का भोजन करते हैं जो सर्वथा प्रासुक हो, शुद्ध हो और मनोज्ञ हो। जो आहार देखने मे भी भद्दा मालूम होता हो उसका भी ग्रहण नहीं करते हैं।

फलादि जब तक अग्नि से पकाये नहीं गये हो साधु उन्हें नहीं लेते है। क्योकि विना अग्नि के पकाये फलादि के टुकड़े प्रासुक नहीं होते हैं।

जिसमे बीज न हो ऐसा फलों का गूदा या रस पासुक किया हुआ ग्रहण करते हैं। जिसमे बीज हों ऐसा फल का गूदा रस आदि कभी नहीं लेते। तथा बिना बीजवाला रस वगैरह भी यदि प्रासुक न किया गया हो तो उसका ग्रहण नहीं करते हैं।

शुद्ध पासुक भिक्षा-भोजन करने पर भी प्रमादादिकृत दोषों का निवारण करने के लिए मुनि प्रतिक्रमणादि करते हैं। दिन मे भोजन की दो वेला होती है, किन्तु मुनि एक दिन मे एक बार ही भोजन करते हैं।

५ ज्ञान शुद्धि

ते लद्धणाणचक्खू णाणुज्जोएण दिट्ठपरमट्ठा।
णिस्संकिद णिव्विदिगिछादबलपरक्कमा साधू ॥ ६२ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ—जिन महात्माओं ने ज्ञान-चक्षु प्राप्त कर लिया है, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान के उज्ज्वल प्रकाश से सम्पूर्ण लोक के सार पदार्थों को जान लिया है उनको आगम निरूपित पदार्थों मे शका नहीं होती है तथा संसार की किसी वीभत्स (घृणास्पद) वस्तु पर जिन्हे घृणा नहीं है तथा कठिन से कठिन तपस्या करने पर भी आत्मग्लानि उत्पन्न नहीं होती है, आत्मबल के अनुकूल पराक्रम द्वारा निरन्तर उत्साह सहित कार्य मे लगे रहते हैं।

जिस साधु को स्वसिद्धान्त का तथा परमत के सिद्धान्तों का रहस्य ज्ञान होता है वह साधु अपने आचरण से नहीं गिरता। ज्ञान रूप उज्ज्वल दीपक उसके आगे प्रकाश करता चलता है। वह ससार के सब पदार्थों का असली स्वरूप उघाडकर उसके सामने रख देता है। यह पदार्थ तेरे लिए अमृत के समान ग्राह्य है और यह पदार्थ तेरे लिए विष के समान अहितकर होने के कारण त्याज्य है। यह अनुकूल क्रिया तेरे आत्मा को पवित्र और बलवान बनाने वाली है और यह विपरीत क्रिया तेरी आत्मा को मलीन व निर्बल बनाने वाली है, इत्यादि बातों को सूचित कर श्रेयोमार्ग को प्रकाशित करने वाला एक सम्यग्ज्ञान ही है। यदि विपरीत कारणों के संयोग से

चारित्र के आराधन में साधु उत्साह हीन होने लगते हैं, कठिन परीषहों के प्राप्त होने पर चारित्र मे उदासीनता होने लगती है, तब यह ज्ञान उसका हाथ पकड़कर गिरने से बचाता है और उदासीनता दूर कर उत्साह को बढ़ाता है। उन्मार्गगामी मन को थाम कर मार्ग में लाता है। साधु को यथासमय भले बुरे की सूचना देनेवाला एक ज्ञान ही है।

ज्ञान बल से साधु तपस्यादि कार्यों में निरन्तर दृढ़-चित्त रहता है उसका धैर्य बढ़ानेवाला ज्ञान ही है। आत्मा मे गम्भीरता तथा अन्य गुणों की प्राप्ति ज्ञान से ही होती है। ज्ञान रूपी लगाम से ही इन्द्रिय रूपी बलवान घोड़े वश में रहते हैं। मन-मातङ्ग को आत्मा के वश में रखने के लिए ज्ञान अंकुश के समान है।

तपस्या से जिन साधुओं के कपोल सूखकर पिचकगये हैं, भृकुटि (भौंहें) ऊपर उठ आई हैं, आखें अन्दर घुस गई हैं, शरीर अस्थि पंजर मात्र हो गया है, वे साधु भी ज्ञान के बल से निरन्तर तपश्चरण मे उत्साहित रहते हैं और उनका वास्तविक स्वरूप जानते हैं। यही कहा है।

सुदरयणपुण्णकण्णा हेउणयविसारदा विउलबुद्धी।
णिउणत्थसत्थकुसला परमपयवियाणया समणा ॥ ६७ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ—जिन मुनि पुंगवों के कर्ण श्रुतज्ञान रूपी रत्न से भूषित हैं, जो हेतुवाद में पारङ्गत हैं, जिनकी बुद्धि विशाल है, जो व्याकरणशास्त्र, तर्कशास्त्र, साहित्य, छन्द, अलंकार आदि शास्त्रों में निपुण हैं, वे महामति साधु परमपद (मोक्षमार्ग) के वास्तविक ज्ञाता होते हैं।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन पूर्वक ज्ञान व चारित्र मोक्ष का मार्ग माना गया है। नय व प्रमाण से जीवादि पदार्थों के स्वरूप को जानकर उनपर श्रद्धान करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं। उस सम्यग्दर्शन सहित जितना भी ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान तथा जितना भी चारित्र है वह सम्यक् चारित्र होता है। सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के लिए पदार्थों का यथार्थ ज्ञान आवश्यक है और पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्रमाण और नय के द्वारा होता है इसलिए सबसे प्रथम प्रमाण व नयों के स्वरूप का ज्ञान होना चाहिए। नय और प्रमाण के ज्ञान बिना वस्तु का यथार्थ ज्ञान होना असंभव है।

श्रुतज्ञान से निरूपित अर्थ के एक देश (अंश-धर्म) का निश्चय करनेवाले ज्ञान को नय कहते हैं। नैगम, संग्रह आदि उसके सात भेद हैं। उनका स्वरूप ज्ञानाचार मे दिखा आये हैं। अथवा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से नय के दो भेद हैं। नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार नय द्रव्यार्थिक हैं, क्योंकि ये द्रव्य का ग्रहण करते हैं। और शेष तीन (शब्द, समभिरूढ और एवंभूत)

पर्यायार्थिक हैं। ये पर्याय का ग्रहण करते हैं। अथवा व्यवहार और निश्चय इस प्रकार नय के दो भेद हैं। वस्तु की शुद्ध अवस्था के ग्रहण करनेवाले नय को निश्चय नय कहते हैं। तथा अन्य वस्तु के सयोग से उत्पन्न हुई वस्तु की जो वर्तमान अवस्था है उसके ग्रहण करनेवाले नय को व्यवहार नय कहते हैं। अनन्त धर्मात्मक वस्तु को समस्त स्वरूप के ग्रहण करनेवाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। उसके प्रत्यक्ष व परोक्ष ये दो भेद हैं। इसका विशद विवेचन ज्ञानाचार मे किया गया है वहां जान लेना चाहिए।

जिसको आगम का ज्ञान है उस मुनि का चारित्र उज्ज्वल होता है। तथा वही अपना तथा दूसरे का कल्याण करने में समथ हो सकता है। श्रुतज्ञान बिना मनुष्य अन्धे के समान होता है। जैसे अन्धा मार्ग-स्थित कण्टक, पत्थर, खड्ड आदि अनिष्ट वस्तु से बचकर ठीक मार्ग पर चलने म असमर्थ होता है वैसे ही ज्ञान हीन मनुष्य आत्मा के अहितकर मार्ग (चारित्र) से बचकर उत्तम निर्दोष मोक्षमार्ग पर चलने मे असमथ होता है। इसलिए आचार्य महाराज ने साधु के श्रुतज्ञान (आगमज्ञान) की आवश्यकता दिखाई है।

मुनि को व्यवहार ज्ञान भी होना चाहिए। जो द्रव्य क्षेत्र काल व भाव के अनुसार उपदेश नहीं देता है, उसके उपदेश से जनता को कुछ भी लाभ नहीं होता है, प्रत्युत कभी कभी उससे भयंकर हानि हो जाती है। द्रव्यक्षेत्रकालादि का विचार न करनेवाला मुनि अपने चारित्र को भी निर्मल नहीं रख सकता, इसलिए साधु को मतिमान होना चाहिए।

जो साधु व्याकरण, न्याय, छन्द, साहित्यादि शास्त्रों का वेत्ता होता है उसके द्वारा मुनिपद सूर्य के समान देदीप्यमान हो जाता है। वह विद्वानों के हृदय में स्थान पाता है। उसीसे जैन धर्म का उद्योत (प्रकाश) होता है। सच्ची धम की प्रभावना विद्वान् मुनि ही कर सकता है। उसकी ज्ञानमय आत्मा के मुख से निकले ओजस्वी वचनों से विरोधी विद्वान् भी नत मस्तक हो जाते हैं। शास्त्र निपुण विद्वान् आचार्यों ने ही सम्पूर्ण जीवों को सन्मार्ग दिखानेवाले शास्त्रो की रचना की है। उन शास्त्रों के आधार पर ही इस समय जैन धर्म टिका हुआ है और भव्य जीवों को मोक्ष मार्ग प्राप्त हो रहा है। इसलिए यह स्पष्ट है कि मोक्ष मार्ग के ज्ञाता व प्रणेता (उपदेशक) विद्वान् मुनिराज ही हो सकते हैं।

अनेक शास्त्रों के पारगामी विद्वान् साधु कैसे होते हैं, इसके लिए कहते हैं—

अवगद माणत्थंभा अणुस्सिदा अगव्विदा अचंडा य।
दंता मद्दवजुत्ता समयविदण्हू विणीदा य ॥ ६८ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ— शास्त्र पारंगत मुनियों के लेश मात्र भी ज्ञान का गर्व नहीं है, ज्ञान के गर्व से उच्छृंखल (उद्दंड) होकर आगम विरुद्ध एक शब्द

भी उच्चारण नहीं करते है, उत्तम जाति, उच्च कुलादि का अभिमान उनके हृदय को स्पर्श तक नहीं करता है, क्रोध के कारण उपस्थित होने पर भी उनके अन्त करण मे क्रोध का आविर्भाव नहीं होता है, इन्द्रियों का दमन उनने कर लिया है, वे मृदुता गुण से भूषित है। स्वसिद्धान्त पर सिद्धान्त के विद्वान् है तथापि वे अत्यन्त विनयवान होते हैं।

भावार्थ—प्रकाण्ड विद्वान मुनि के सामने जगत् के उद्भट विद्वान् खद्योत के समान प्रतीत होते हैं। उनकी ज्ञान–तेजस्विता से विख्यात-कीर्ति पडित भी कापते हैं। तथापि वे मुनिराज अपने ज्ञान का गर्व नहीं करते हैं। क्योंकि उन्हें वस्तु के यथार्थ स्वरूप का बोध होगया है। पुण्य और पाप के कारणों का स्वरूप उनके हृदय मे अंकित होगया है। वे समझते है कि अभिमान पाप का बीज है। अभिमान से आत्मा का पतन होता है। केवलज्ञान के सामने मेरा ज्ञान खद्योत के समान है। मैं जिसका अभिमान करूँ, वह क्षायोपशमिक ज्ञान कर्माधीन है। तीव्र असाता कर्म तथा वीर्यान्तराय कर्म के उदय होने पर यह क्षायोपशिम ज्ञान नष्ट हो जाता है। इस पराधीन और नश्वर ज्ञान का अभिमान करना अज्ञानता है। मेरा स्वरूप तो केवलज्ञान है। उसकी प्राप्ति के लिए मैंने यह उत्कृष्ट मुनिपद धारण किया है। यदि मैं अभिमान करूँगा तो इष्ट मार्ग से गिर जाऊँगा और मेरा सर्वस्व लुट जावेगा–ऐसा विचार कर साधु अभिमान को निकट तक नहीं आने देते है। किन्तु इसके विपरीत विनीत भाव धारण करते है। अपने ज्ञान की अल्पता की ओर ध्यान रखते हैं। अभिमान वश किसी का निरादर नहीं करते। उनके वचन मे, क्रिया मे नम्रता झलती है। निरन्तर ज्ञानोपयोग मे लवलीन रहते हैं। अपने चारित्र को उज्ज्वल करने मे तत्पर रहते है। इन्द्रिय व मन पर विजय प्राप्त कर धर्मध्यान मे उपयुक्त रहते हैं।

(६) उज्झनशुद्धि

ते छिण्णणेहबंधा णिण्णेहा अप्पणो सरीरम्मि।
ण करति किंचि साहू परिसंठप्पं सरीरम्मि ॥ ७० ॥ (मूला प्र)

अर्थ—जिसने पुत्र स्त्री आदि के प्रेम सम्बन्ध को छिन्न भिन्न कर दिया है और अपने शरीर से भी स्नेह सम्बन्ध तोड़ दिया है वे साधु अपने शरीर का किंचिन्मात्र भी सत्कार नहीं करते है।

भावार्थ—उज्झन शुद्धि चार प्रकार की होती है। १ शरीर के संस्कार का त्याग, २ स्त्री पुत्रादि बन्धुवर्ग का सर्वथा त्याग, ३ सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग और ४ रागादि भाव का त्याग।

उज्झन शुद्धि के चार भेदों का स्वरूप

१ जिन महात्माओं ने अपने शरीर के ममत्व (मोह) का त्याग कर दिया है वे शरीर को आत्मा का शत्रु समझते हैं। क्योंकि जितने पापकर्म होते हैं उसका कारण यह शरीर ही है। इसलिए वे उसका किसी प्रकार का संस्कार नहीं करते। न वे मुँह धोते हैं, न नेत्रों पर जल छिड़कते हैं न दन्तधावन करते हैं। अर्थात् मंजन या दतौन लेकर या अंगुलि से रगड़कर दांत स्वच्छ नहीं करते हैं। सुगन्धित द्रव्यों का उबटना नहीं करते हैं। न पाँवों पर केशर आदि द्रव्यों को लगाकर उन्हें स्वच्छ करते हैं, न शरीर का मर्दन करवाते हैं, न मुक्के आदि से शरीर कुटवाते हैं, न किसी काष्ठादि यंत्र से शरीर को दबवाते हैं न शरीर के अङ्गोपांग को धूपादि से सुगन्धित करते हैं। अपने कंठ की शुद्धि के लिए अथवा स्वर को ठीक करने के लिए वमन नहीं करते हैं। अपने नेत्रों में सुरमा कज्जलादि का अंजन नहीं करते। न पेट की शुद्धि के लिए या उदर पीड़ा का परिहार करने के लिए विरेचन लेते हैं। सुगन्धित तैलादि का शरीर पर मालिश नहीं करते हैं। चन्दन अगर कपूरादि का लेप नहीं करते हैं। कभी नेति धौती नहीं करते हैं। नासिका में और उदर में वस्त्र डालकर नासिका और उदर को स्वच्छ करने की क्रिया को नेति धौती कहते हैं, साधु उसे कभी नहीं करते हैं। न सिंगी आदि लगवाकर अपने शरीर का रुधिर निकलवाते हैं। इत्यादि शरीर सम्बन्धी कोई संस्कार नहीं करते हैं।

प्रश्न—मुनिराजों ने अपने शरीर के समस्त संस्कारों का त्याग कर दिया है, तो व्याधि आदि के उत्पन्न होने पर वे क्या करते हैं?

उप्पण्णम्मि वाही सिरवेयण कुक्खि-वेयणं चेव।
अधियासिंति सुधिदिया कायतिगिंछं ण इच्छन्ति ॥ ७३ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ—ज्वर, जुकाम, खासी आदि रोगों के उत्पन्न होने पर, सिर की पीड़ा, उदर शूल, पेट में दर्द अथवा इसी प्रकार अन्य असह्य पीड़ा के उत्पन्न होने पर वे परमधैर्य धारण करनेवाले मुनिराज चारित्र में दृढ़ता रखते हुए आत्मा को बेचैनी पैदा करने वाली वेदना की प्रतीकार की इच्छा भी नहीं करते हैं, किन्तु चित्त को ज्ञान दर्शन की भावना में तल्लीन करते हैं।

भावार्थ—मर्मान्तक पीड़ा करनेवाले असह्य रोग-वेदना के उपस्थित हो जाने पर धैर्यधुरन्धर मुनिराज शरीर की ओर से ध्यान को हटाकर ज्ञान दर्शन भावना में चित्त को लगा देते हैं। वे विचारते हैं कि हे आत्मन! तेरे जो असाता वेदनीय कर्म का उदय आया है, वह अपना फल दिये बिना न रहेगा। तू व्यर्थ व्याकुलित हो रहा है। इस समय तुझे शान्ति धारण करना चाहिए। इसका उपार्जन तूने किया है, अब इसका फल भोगते समय क्यों कायर होता है? यह कर्म का ऋण तूने किया है। ऋण को चुकाना सत्पुरुषों का कर्त्तव्य है। यदि तू इस समय धैर्य धारण कर इसे शान्ति से सहलेगा तो तू ऋण-मुक्त हो जावेगा। और यदि तू धैर्यहीन होकर हाय विलाप करेगा। आत्मा में आर्त-

ध्यान उत्पन्न करेगा तो भी यह कर्म तुझे नहीं छोड़ेगा, अपना फल अवश्य देगा। बल्कि धैर्य का त्याग करने में तुझे कई गुना अधिक कष्ट प्रतीत होगा और नये कर्म का बन्ध भी होगा। वह फिर तुझे भविष्य में इससे भी अधिक दुःख देगा। सोच! यह अवसर तेरे लिए बड़ा शुभ उपस्थित हुआ है, जो सचेत और ज्ञानोपयोग दशा में यह कर्म उदय में आया है। सब सुन्दर संयोग इस समय तुझे प्राप्त हैं। इस समय भी तू अज्ञान वश शोक संताप करेगा तो तेरे समान मूर्ख और कौन होगा? जरा सोचो! तुमने नरकों में कैसे २ दुःख सहे। जहाँ निरन्तर ताडन छेदन, भेदन, भाड़ में भर्जन, शूल्यारोहण, अग्नि पाचन आदि घोर क्लेश सहे हैं, जिनका स्मरण मात्र हृदय को कम्पित कर देता है, उसके समक्ष यह आगत दुःख तो कुछ भी नहीं है। देखो! सुकुमाल मुनिराज के शरीर को नोच नोच दोनों बच्चों सहित स्यालनी ने भक्षण किया, तथापि लेशमात्र भी उनके मन में विकार नहीं हुआ। कहाँ वह सुकुमाल मुनीश्वर जिनके शरीर को सरसों भी काँटे समान दुःख देती थी, उनको स्यालनी द्वारा आधा भक्षण कर लेने पर रंचमात्र दुःख नहीं हुआ। पाचों पाण्डव मुनिराजों के गले में अग्नि से तप्तायमान लोहे के जगमगाते हुए गहने डाले गये तथापि उन्होंने रंच मात्र दुःख नहीं किया। उनके शरीर के अवयव दग्ध होगये, किन्तु उनके भाव में विकार नहीं हुआ। गजकुमार मुनि के मस्तक पर अंगीठी बनाकर अग्नि जलाई गई, किन्तु मुनिराज का मन-सुमेरु तनिक भी चलित न हुआ। तुमको कष्ट है ही कहाँ? क्या यह शरीर तुम्हारा है? यह तो विनश्वर पुद्गल का पिण्ड है। तुम तो शुद्ध बुद्ध चैतन्य सुख स्वरूप आत्मा हो। ऐसे शरीर तो तुमने अनन्त बार पाये हैं। जैसे पुराने वस्त्र को उतार कर नये वस्त्र पहननेवाला मनुष्य अप्रसन्न नहीं होता है। उसी प्रकार इस जीर्ण और दुर्गन्ध शरीर को छोड़कर दिव्य अनुपम देवादि के शरीर को प्राप्त करनेवाले को क्या दुःख? संयमी इसकाल में भी स्वर्ग का अधिकारी है। इस पंचमकाल में मोक्ष नहीं होता तो भी देवगति के सिवा संयमी दूसरी गतिमें नहीं जाता। यदि तुम आर्त्तध्यान करोगे तो तुम्हारे संयम रत्न को कषाय चोर लूटलेंगे और तुम्हें नरकादि गति में जाना पड़ेगा। इत्यादि ज्ञान द्वारा मुनिराज अपने शारीरिक रोगादि के प्राप्त होने पर शरीर का सत्कार नहीं करते हैं। न वेदना से मन को विकल करते हैं—व्याकुल चित्त नहीं होते हैं। किंकर्तव्य विमूढ़ नहीं होते और मन में कायरता नहीं धारण करते, किन्तु महान धैर्य का अवलम्बन लेकर व्याधि, रोग, वेदनादि से न घबराकर उससे उपेक्षा करते हैं। विवेक-ज्ञान से शरीर को अन्य समझ कर उसकी चिकित्सा आदि की इच्छा तक नहीं करते हैं।

शंका—क्या मुनिराज विरेचनादि सब औषधियों का त्याग करते हैं?

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं है।

शंका—तो किस की इच्छा करते हैं?

समाधान—मुनिराज जिनेन्द्र भगवान के वचन रूपी औषध का निरन्तर सेवन करते हैं। इन्द्रियों के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले विषय-सुख का विरेचन लेते हैं। अर्थात् विषय-सुख का त्याग करते हैं। ज्ञानामृत का पान करते और आत्मा के ध्यान में सन्तुष्ट रहते हैं।

आत्म-ध्यान जन्म जरा मरण रूप व्याधि के क्षय करने का कारण है। शारीरिक मानसिकादि समस्त दुःखों के क्षय का कारण है, तथा सम्पूर्ण कर्मों के नाश करने में समर्थ है।

जिनागम के तत्वो मे सम्यक्‌श्रद्धान रखने वाले चारित्रपरायण साधु जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का उल्लघन करके कोई क्रिया नहीं करते। जिनागम में व्याधि-प्रतीकार करने के लिए औषधादि का सेवन करना साधु के लिए निषिद्ध है। अत प्राणों का नाश होते हुए भी साधु किसी प्रकार की औषधादि का सेवन नहीं करते हैं।

आत्महित-परायण मुनिराज शरीर को रोगादि-ग्रस्त हुआ जानकर विचारते हैं कि यह शरीर रोगों का मन्दिर है। इसमे सैंकडों व्याधिया उत्पन्न होती हैं। यह तो रोगों का प्रसूतिगृह है। एक रोग का प्रतीकार करने पर दूसरा उत्पन्न हो जाता है और उसका उपशमन होते ही तीसरा रोग प्रकट हो जाता है। इसकी असली चिकित्सा असाता वेदनीय कर्म का क्षय करने से हो सकती है। यह शरीर जब तक रहेगा तब तक रोग का अस्तित्व मिट नहीं सकता, अतएव इसकी उत्पत्ति कभी न हो ऐसा उद्योग करना ही श्रेयस्कर है।

इस शरीर के साथ रोग व्याधि आदि का सम्बन्ध है। ये इसीको हानि पहुचा सकते हैं। इसमे मेरी क्या हानि है ? यह शरीर तो अशुचि है, महा अशुभ है, शुभ लेश्या से रहित है, नसों और आतडियों से वेष्टित है, चमडी से ढका हुआ है, हड्डियों की ठिठरी है जो मास चर्बी से लिपी हुई है, भीतर रुधिर शुक्र कलेजे आदि से भरा हुआ और मलमूत्र कफ आदि का स्थान है।

यह शरीर सडे हुए फोडे के समान घिनोना है। ससार के सब अपवित्र और घृणित पदार्थों से यह शरीर बना है। शरीर का सबसे उत्तम अवयव मुख है, वह कफ और लार युक्त है। आखों मे से कीचड, नासिका से कफ, कानों से कर्णमल निकलता रहता है। अधोद्वार से मल मूत्र समय समय निकलते रहते हैं। सम्पूर्ण शरीर से स्वेद जल बहता रहता है। कहाँ तक कहा जावे यह शरीर मलगृह है, श्मशान के समान बीभत्स है। और इस पर भी इसके टिकने का कुछ भरोसा नहीं। कितने ही रक्षा के उपाय किये जावें तो भी अनियत काल मे नष्ट हो जाता है। इसको क्षण भर रक्षा करने को भी त्रिलोकों म कोई भी समर्थ नहीं है।

जिस शरीर की रक्षा करने के लिए यह प्राणी निरन्तर दत्तचित्त रहता है-जिसको सुन्दर पवित्र, सुगन्धित, दुग्ध पक्वान्नादि पदार्थों का भोजन देता है उनको यह शरीर मल मूत्र रूप कर डालता है। यदि वह अन्नादि दांतों मे लगा रह जावे तो रोग उत्पन्न कर देता है। इस शरीर के ससर्ग से सुन्दर भोजन जलादि मनोज्ञ पदार्थ कफ-लार-स्वेद-मल-मूत्रादि दुर्गन्ध पदार्थ बन जाते हैं, जिसका स्पर्श तो दूर रहा नेत्रों से देखना भी कोई नहीं चाहते।

प्रश्न—ऐसे शरीर को मुनि क्यों धारण करते हैं ? और आहारादि से उसका पोषण क्यों करते हैं ?

उत्तर—इस अत्यन्त अशुचि और विनश्वर शरीर से पवित्र और अविनाशी सुख देने वाले धर्म का आराधन करने के लिए इसकी आहारादि से रक्षा करते हैं, क्योंकि मनुष्य शरीर से ही चारित्र धर्म का पालन होता है, स्वाध्याय-ध्यान की सिद्धि होती है। जब तक वह स्वाध्यायादि में साधक होता है, तब तक इसका पोषण करते हैं और इससे अपना खूब काम लेते हैं। और जब यह रोगादि से पीड़ित होता है, स्वाध्यायादि कार्यों में उपयोगी सिद्ध नहीं होता है तब इससे अपना सम्बन्ध तोड़ देते हैं और अपने परिणामों में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होने देते। इसीको उज्झन शुद्धि कहते हैं।

७ वाक्य शुद्धि

भासं विणयविहूणं धम्मविरोही विवज्जए वयणं।

पुच्छिदमपुच्छिदं वा ण वि ते भासंति सप्पुरिसा ॥ ८७ ॥ (मूला. अ.)

अर्थ—सत्पुरुष मुनिराज धर्मविरोधी वचन का उच्चारण नहीं करते, धर्म से अविरुद्ध भाषा भी विनय रहित नहीं बोलते। पूछने पर या बिना पूछे कटु कठोर तथा व्यवहार-विरुद्ध या आगम विरुद्ध कोई वचन मुख से नहीं निकालते।

भावार्थ—पाप से भयभीत महापुरुष इस बात का पूर्ण ध्यान रखते हैं कि मेरे मुख से प्रमादवश ऐसा वचन न निकलने पावे जो लोगों को धर्म से विपरीत मार्ग पर चलाने वाला हो। प्रियवचन भी धर्म के अनुकूल ही होना चाहिए। अविनीत वचन भी जनता को सन्मार्ग पर लाने में समर्थ नहीं होता। भाषा के वेत्ता विद्वान् मुनि आर्यभाषा का उच्चारण करते हैं, जिससे श्रोताओं के अन्तःकरण में आर्यभाषा के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होने लगे। यदि समझाने के लिए किसी अन्य देश भाषा का प्रयोग करना पड़े तो भी ऐसी सरल और व्यवहार-मान्य भाषा का उच्चारण करते हैं, जो हृदय ग्राह्य होती है। नीचजाति के उच्चारण करने योग्य रे! तू! आदि तुच्छ वचन कभी नहीं बोलते। बड़ों से तो क्या बालक के प्रति भी रे तू आदि हलके शब्दों का प्रयोग नहीं करते। उत्तम पुरुषों के उच्चारण करने योग्य तुम, आप, सज्जन, आदि वचनों का प्रयोग करते हैं। विनय पूर्वक बोलागया वचन श्रोताओं के हृदय को आकर्षित करता है। तथा वक्ता के प्रति आदर व पूज्य भाव उत्पन्न करता है। धर्मोपदेश के समय मुनि आगम के सिद्धान्तों का घात करनेवाली भाषा नहीं बोलते। जिस विषय का ज्ञान न हो, उसका अपनी मति से कल्पित विवेचन नहीं करते, किसी के प्रश्न करने पर आगम के अनुकूल सरल चित्त से उत्तर देते हैं। यदि उस प्रश्न का उत्तर देने की शक्ति नहीं होती है, तो उटपटांग उत्तर न देकर अपनी अशक्ति प्रकट करते हैं। वे समझते हैं कि मेरे मुख से निकला हुआ वचन लोग सत्य मानते हैं। यदि मैंने अभिमान वश कुछ भी असत्य भाषण कर दिया तो इस मुनिवेष को लज्जित कर दिया। मुझे असत्य-भाषण करते हुए

देखकर लोगों को मुनिवेष से घृणा होने लगेगी। लोगों की सत्यभाषी मुनिराजों के प्रति भी अश्रद्धा होने लगेगी। मुनियों की सर्वोत्कृष्टता का नाश करके उनके प्रति अरुचि और अपूज्यता का और निन्दा का कारण हो जाऊँगा तो मेरे समान और कौन पापी होगा? मुझसे यह गृहस्थ ही अच्छे हैं जो जैन धर्म की व मुनि वेष की प्रभावना व पूजा करते हैं। और मैं ऐसा पापी हुआ जो उनको निन्दा का कारण हुआ। इस सत्य महाव्रत के कारण ही सम्पूर्ण ससार मेरा विश्वास करता है। मेरे चरण पूजता है और मेरा दर्शन पूजन कर अपने जन्म को सफल व धन्य समझता है। मेरा कर्त्तव्य है कि मैं प्राण जाने पर भी अज्ञानवश व अभिमानवश या मोहवश असत्य वचन न निकालूं।

मुनिगण शास्त्रों के पठन, पाठन, मनन-चिन्तन मे अपना समय व्यतीत करते हैं। बिना प्रयोजन किसी गृहस्थ स्त्री व पुरुष से संभाषण नहीं करते। वे गृहस्थों के लौकिक झगडों मे नहीं बोलते। कहा भी है—

अच्छीहिं य पेच्छंता कण्णेहिं य बहुविहाइं सुणमाणा।
अत्थंति मूयभूया ण ते करंति हु लोइय कहाओ ॥ ८८ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ—मुनिराज भले बुरे रूप को, योग्य-अयोग्य वस्तु को आँखों से देखते हुए ऐसे रहते हैं, मानों वे नेत्रविकल हैं। कानों से सुनने योग्य व न सुनने योग्य अनेक प्रकार के वाक्यों को सुनते हैं, तथापि वे गूंगे व बहरे बन जाते हैं। मानो उन्होंने सुना ही नहीं हो, कहने के लिए उनके जीभ ही न हो। किसी भी समय लौकिकी कथा, गृहस्थों के झगडे टंटे की बात को न सुनते हैं और न बोलते हैं।

सांसारिक झगडों से, लोगों के घरेलू बखेडो से मुनिराज को क्या मतलब है? उन्होंने लौकिक सब सम्बन्ध का त्याग कर मुनि दीक्षा धारण की है। उस त्यागे हुए व्यवहार का ग्रहण करना उच्छिष्ट का ग्रहण करना है। अत किसी लौकिक झगडे में पडनेवाले अपने आत्मा का घात तो करते ही हैं साथ मे निःस्पृह मुनिपद को भी कलंकित करते हैं।

हे मुनियों! तुमने लौकिक कथाओं का वचन से ही नहीं, मन से भी त्याग किया है। अतः उनको मन मे भी स्थान देना तुम्हारे लिए लज्जा की बात है। तुम्हें स्त्री-सम्बन्धी कोई कथा नहीं करनी चाहिए। यह स्त्री सुरूप है, यह कुरूप है, यह सौभाग्यवती है, यह मधुर भाषणी है, यह कलहकारिणी है, यह अल्प-वयस्क है, यह प्रौढा है इत्यादि स्त्री सम्बन्धी कथा तुम्हारे लिए अत्यन्त अहितकारक है। ऐसे ही तुम्हें अर्थकथा भी नहीं करनी चाहिए। धन के उपार्जन करने के उपायों का वर्णन करना अर्थकथा है। राजादि को सेवा के द्वारा प्रसन्न करने से, अमुक वस्तु का वाणिज्य व्यवहार करने से, अमुक उपायों का अवलम्बन कर खेती आदि करने से, धातुओं के शोधन खननादि के साधनों को काम मे लाने से, मंत्र तन्त्रादि का प्रयोग करने से, धन की उपलब्धि होती है। इस प्रकार की कथा को अर्थ कहते हैं। भोजन से सम्बन्ध

रखने वाली कथा को भोजन कथा कहते है। उनके यहाँ सुन्दर अशन-पान-खाद्य आहार मे मिलते हैं। अमुक घर मे भोजन-सामग्री की सुव्यवस्था है। वे आहार मे बड़े स्वादिष्ट पदार्थ संयमी को देते हैं। वह स्त्री बडा स्वादिष्ट और मनोहर भोजन बनाती है। उस के हाथ के बने हुए भोजन मे बडा सुन्दर स्वाद आता है। अमुक घर मे रूखा सूखा भोजन मिलता है। उसके घर दुर्गन्धियुक्त बेस्वाद भोजन होता है। इत्यादि प्रकार से भोजन की कथा तुम्हें कभी नहीं करनी चाहिए। देश-नगर-ग्राम, खेटक, कर्वटादि की कथा को देश कथा कहते हैं। (नदी पर्वत से घिरे हुए प्रदेश को खेट कहते हैं। सब तरफ से पर्वतो द्वारा घिरे हुए प्रदेश को कर्वट कहते हैं) अमुक खेट व कर्वट के निवासी बड़े युद्ध कुशल हैं। अमुक ग्राम (कांटों की की बाड़ से घिरे हुए प्रदेश) में धन धान्य की समृद्धि है। वहाँ के लोग बहुत धनिक हैं। वहाँ पर परचक्र का भय नहीं है। वह नगर धनधान्य से परिपूर्ण है, उसमे किसी शत्रु का प्रवेश करना असभव है। अमुक देश उत्तम यत्र चालित सेनाओं से सुरक्षित है। उस पर शत्रु का प्रभाव नहीं हो सकता। इत्यादि नगर ग्राम द्रोणमुख देशादि की कथा कर्मबन्ध करने वाली है। अत साधुओं को लिए सर्वथा त्याज्य हैं तथा राजाओं की कथा करना राजकथा कही जाती है उसके मन्त्री चाणिक्यादि नीति मे प्रवीण हैं, योग और क्षेम मे वह राजा उद्योगशील है। (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति को योग और प्राप्त वस्तु के रक्षण को क्षेम कहते हैं) उसके पास चतुरंग सेना है. उसने अनेक घोर सग्रामों मे विजयलक्ष्मी पाई है, उसने सम्पूर्ण शत्रु-समूह को निर्मूलन कर निष्कटक राज्य किया है। उस राजा के प्रताप के सामने किसी की तेजस्विता नहीं टिकती। उसकी सेना रण कुशल है। उसके पास शस्त्रास्त्रों के अ छुता है, इत्यादि राज-कथा करने से रौद्र परिणामो का प्रादुर्भाव होता है। इसलिए मुनियों को कदापि ऐसी कथाएँ नहीं करनी चाहिए। साधुओं को चोरी की कथा भी नहीं करनी चाहिए। अमुक नगर का निवासी चोर बड़ा निपुण है। यह वीरता से मार्ग मे लूटता है। घात लगाने मे उसकी बराबरी कोई नहीं कर सकता है। वह ऐसा गंठकटा है कि देखते देखते वस्तु को चुरा लेता है। आंखों म से कज्जल तक निकाल लेता है और पता नहीं चलने देता, वह ऐसा पश्यतोहर है। वह डाकू इतना शूर है कि उसको सेनाने चारों ओर से घेर लिया तथापि वह अकेला ही उससे लडकर भाग निकला। इत्यादि चोर, डाकू, गंठकटे, लुटेरे आदि की कथा चोरी का महत्त्व प्रकट करती है, आत्मा के परिणामो मे विकार भाव उत्पन्न करता है, इसलिए मुनियों को ऐसी कथाएँ कभी नहीं करनी चाहिए। अमुक देश में हीरा उत्पन्न होता है। अमुक जगह पन्ना की खाने हैं। अमुक खाडी मे मोती बहुतायत से पाये जाते हैं और बहुत सस्ते मिलते हैं। अमुक स्थान पर जाकर अमुक रत्नादि लाये जावें और अमुक स्थान मे बेचे जावें तो बडा लाभ होता है। वहाँ पर केसर आदि उत्तम और अल्पमूल्य मे मिलती हैं। अमुक नगर में बहुत महगी मिलती हैं और बहुत बिकती है। वह देश रमणीय है। वहाँ पर अन्न पान साधु को सुलभ है। वहाँ के लोगों का खान-पान, पहनाव, रहन-सहन बडा श्रेष्ठ और मनोहर है। अमुक नगर के लोग इत्र तैलादि सुगन्धित द्रव्यों का अधिक उपभोग करते हैं। इसी प्रकार अन्य भी कर्मबन्ध की कारणभूत कथाओं को साधु कदापि न करे और न उनके सुनने मे प्रीति करे।

मुनिराज नाटक के पात्रो (नटो) की, युद्ध मे कुशल सहस्रभट कोटिभटादि योद्धाओ की, कुश्ती करने मे प्रवीण पहलवानो की, मुष्टि आदि युद्ध मे कुशल मल्लों की, इन्द्रजालादि माया प्रपञ्च करने मे प्रवीण इन्द्र जालियो (बाजीगरो) की, 'मत्स्यवध करने वाले

मनुष्यो की चतुराई की, उडते पक्षियो पर निशाना लगाने वाले लक्ष्यवेधी मनुष्यो की, जुआ खेलने में चातुर्य (चालाकी) करने वाले जुवारियों की, हस्त पाद सिर आदि शरीर के अवयवो का भेदन करने मे कुशल तथा जीव हिंसा मे रति (प्रेम) रखने वाले मनुष्यो की, रस्सी व बास पर चढकर खेल करने वाले नटो की कथा मे कभी अनुराग नहीं करते हैं। वैराग्य परायण मुनीश्वर इन कथाओ का उच्चारण तो क्या, मनमे चिन्तन तक नहीं करते है। उक्त कथाओ को क्षण मात्र भी हृदय मे स्थान नहीं देते हैं। जिन परम वीतराग भावना मे रत हुए मुनियो का चित्त निरन्तर धर्म भावना मे रगा रहता है वे उक्त कथाओ का मन वचन काय से त्याग करते हैं। अर्थात् उक्त कथाओ के अर्थ को सूचित करने वाली काय द्वारा कोई चेष्टा नहीं करते हैं। हस्तादि से सकेत नहीं करते हैं। उनका वचन से उच्चारण तथा कर्ण से श्रवण नहीं करते हैं। और तो क्या, उनका मनसे चिन्तन तक नहीं करते हैं।

वैराग्य की मूर्ति साधु लोग हस्तादि द्वारा काम-क्रिया का सूचक सकेतादि नहीं करते,काम उत्पन्न करने वाले वचन नहीं बोलते, प्रहास-मिश्रित अशिष्ट वचन मुख से कभी नहीं निकालते, कभी खिलखिलाकर अट्टहास नहीं करते और न दूसरो को हसाते हैं, शृंगार रस के पांडित्य द्योतक रमणीय वचनो का उच्चारण नहीं करते, अपने हाथ स दूसरे के हाथ का ताडन नहीं करते और न पीठ आदि ठोकते हैं। क्योकि ये सब क्रियाए विकारी मनुष्यों के योग्य हैं। निर्विकार-मन वचन काय के विकार से विमुख, परम विरक्त मुनिराजों की सब चेष्टाएं उद्धतता से रहित होती हैं। वे समुद्र के समान गम्भीर होते हैं। उनका चित्त क्षोभ रहित स्थिर होता है। उनका अन्त.करण षट्-आवश्यक क्रियाओ-स्वाध्याय ध्यानादि मे-तल्लीन रहता है। परभव के सुधार की भावना निरन्तर उनके चित्त में जागृत रहती है और इस लोक के अनिष्ट से भयभीत रहते हैं। अपने सर्वोत्कृष्ट जगत्पूज्य पद का उन्हें सदा ध्यान रहता है। इसलिए वे कभी शरीर से, वचन से और मन से ऐसा कोई कार्य (विकथादि) नहीं करते, जिसमे मुनि भेष का अपवाद हो, धर्म की निन्दा हो और अपने आत्मा का अहित हो।

प्रश्न—यदि मुनिराज उक्त विकथाए नहीं करते तो कैसी कथाए करते हैं।

उत्तर—मुनिराज ऐसी कथाए करते हैं जिनसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्र रूप रत्नत्रय की प्राप्ति होती है या वृद्धि होती है। रत्नत्रय का स्वरूप प्रकट करनेवाली तथा उसमे दृढता उत्पन करनेवाली, शरीर भोगादि से वैराग्य उत्पन्न करनेवाली, परलोक म विश्वास पैदा करनेवाली, धर्म मे अभिरुचि करने वाली, स्व-पर का हित करने वाली धर्म कथाओ का वे उच्चारण करते हैं। आत्मा के कर्म बन्ध के कारणो तथा बन्ध का क्षय करने के उपायो का विवेचन करने वाली कथाओं को वे करते हैं। सर्व प्रथम तो वे मुनिराज अपने आत्महित के कार्य-षट् आवश्यक क्रियाओं का आचरण तथा ध्यानाध्यन-करते हैं। उससे जो समय बचता है उस समय को वे आत्महित साधक, जीवादि तत्त्वो का निरूपण करनेवाली, भेद विज्ञान प्रकट करनेवाली, पापकार्यों से अरुचि और पुण्यकार्यों में रुचि उत्पन्न करनेवाली, चारित्र में प्रेम बढानेवाली तथा वैराग्य भावना को पुष्ट करनेवाली पुण्यकथाओं मे लगाते हैं। वे मुनिराज एक उत्तम

वैद्य के समान होते हैं। क्योंकि वे विषय भोग रूपी अपथ्य सेवन करने वाले संसारी जीव रूपी रोगी को रत्नत्रय रूपी पथ्य औषध का दान देते हैं और स्वयं भी पथ्य और हितकर वैराग्य का सेवन करके स्व-पर का कल्याण करते हैं।

८ तपशुद्धि

णिच्चं च अप्पमत्ता, संजमसमिदीसु झाणजोगेसु
तवचरण-करण-जुत्ता, हवंति समणा समिदपावा ॥ ६६ ॥ (मूला. अ.)

अर्थ—तपस्या मे तत्पर मुनिराज सर्वदा पन्द्रह प्रकार के प्रमाद से रहित हुए प्राणी संयम व इन्द्रिय संयम (छहकाय के जीवों के रक्षण और इन्द्रियों के दमन) मे, पंच समितियो के पालन मे, धर्म्यध्यान व शुक्लध्यान के चिन्तन मे, नानाप्रकार के अवग्रह (आखडी) के ग्रहण करने मे, बारह प्रकार के तपश्चरण के आचरण करने मे, तेरह प्रकार के चारित्र के पालन मे और तेरह प्रकार के करण मे उद्यत हुए सम्पूर्ण पापों का नाश करते हैं।

कर्मों का क्षय करने के लिए मुनिराज बाह्य और अभ्यन्तर तप को तपते हैं। उनमे कायक्लेश तप अति दुष्कर है। उस तपश्चरण का आचरण करने के लिए अभ्रावकाश योग, आतपन और वृक्षमूल योग का साधन करते हैं। इन योगो का वे ही महापुरुष साधन कर सकते हैं जिनकी आत्मा मे परम वीर्य-पराक्रम का उत्कर्ष है तथा शरीर में बल का प्रावल्य है। वे ही अपनी आत्मा से शरीर को सर्वथा भिन्न अनुभव करके तदनुकूल प्रवृत्ति करते हैं। वे ही महापराक्रमी धीरधुरन्धर परम विरक्त मुनिराज उस शरीर को सदा के लिए आत्मा से पृथक् कर देने के लिए अभ्रावकाशादि योगों की साधना करने मे कटिबद्ध होते हैं।

अभ्रावकाश-योग

जिस शीत से समस्त अटवी के वृक्ष जल गये हैं, सरोवरों के पानी पत्थर-से जम गये हैं, कमलों के सम्पूर्ण वन जलकर नष्ट हो गये है, पक्षी वृक्षों के घोसलों को छोडकर पर्वतों की गुफाओं और दरारों मे बसेरा लेने लगे हैं, सिंह और हिरन एक दूसरे के समीपवर्ती स्थित होने पर भी शीत के कारण शरीर की चेष्टाओं से शून्य होकर एक दूसरे को बाधा देने मे असमर्थ हो रहे हैं, कई पशु और पक्षी शीत के कारण अपने प्राणों से रहित हो गये हैं, रात दिन निरन्तर हिम (पाला) गिर रहा है, मनुष्यो के शरीर थरथर काँपते है, कोई भी अपने घर के बाहर नहीं निकलता, उसी शीत के समय मे वे धीर वीर महामुनि अटवी मे नदी के तट या किसी जलाशय के निकट कायोत्सर्ग

धारण कर पत्थर के स्तम्भ की भांति खडे हुए ध्यान लगाते हैं। उस समय चरण से लेकर मस्तक पर्यन्त सम्पूर्ण शरीर हिम से ढक जाता है तो भी वे महामुनी शरीर से सब प्रकार का सम्बन्ध तोड़कर आत्म-ध्यान मे मग्न रहते हैं। उनके रोम मात्र मे भी विकार प्रतीत नहीं होता है। और वे कर्मों की प्रतिसमय असख्यात गुणी निर्जरा करते हुए आत्मा की शुद्धि करते है।

आतपन—योग

ज्येष्ठ मास के सूर्य की प्रखर किरणो से तप कर समस्त भूतल अग्नि के समान होगया है। अग्नि ज्वाला के समान अत्यन्त उष्ण वायु से वन के सब वृक्ष व लताए सूखकर पत्र पुष्पादि से रहित हो गये हैं। नदियों और सरोवरों का जल सूख गया है। प्यास से व्याकुल हुए प्राणियों के कण्ठ सूख गये है। गर्म लू से दग्ध होकर पक्षियो के कलेवर प्राण-शून्य होगये हैं। मार्ग पथिक-विहीन हो गये हैं। मनुष्य अपने निवास स्थान से बाहर पॉव तक नहीं रखते। वन के पशु पर्वत की गुफाओं मे बेहोश पड़े हुए हैं। मनुष्य अपने घरों मे भी गर्मी के सन्ताप से व्याकुल होकर अनेक प्रकार के शीतोपचार करने पर भी शान्ति नहीं पा रहे हैं। उस समय मे वीरधुरीण महा मुनिराज पर्वत के शिखर पर जाकर सूर्य के सम्मुख हुए कायोत्सर्ग धारण कर खडे रहते हैं। शरीर को झुलसानेवाली कडी धूप उनके शरीर पर अटखेलियाँ करती है। पर्वत और भूमितल को अग्नि समान तपाने वाली उष्ण-वायु उनके शरीर के साथ रग रेलियाँ करती हैं। तीक्ष्ण गर्मी से मुनिराज के कण्ठ ओष्ठ सूख गये हैं। तथापि वे महामुनि अनुभव रूपी अमृत का पान करने मे आशक्त हुए उस गर्मी की बाधा की कुछ भी परवाह न करके आत्म-ध्यान से च्युत नहीं होते हैं।

वृक्षमूल—योग

वर्षा के समय जब निरन्तर मूसलधार वृष्टि होनेसे सम्पूर्ण मार्ग जल मे पूरित होजाते हैं। मेघ की घनघोर गर्जना और बिजली की कडकडाहट से दिशाएँ गूंज उठती हैं, मेघ समूह के कारण भयानक अन्धकार मे भूतल का मार्ग-ज्ञान लुप्त होजाता है। बीच बीच मे बिजली के चमत्कार से वन की भयानकता और भी बढ जाती है अत्यन्त वायु के कारण प्राणियों के शरीर व्याकुल होते हैं। उस समय ध्यान के रसिया वे धीर वीर महा मुनीश्वर वृक्षके तल मे कायोत्सर्ग से खडे रहते हैं। जिस वृक्ष के मूल मे अनेक सर्पों ने अपना मुख्य स्थान बना रखा है, उस वृक्षके नीचे घोर अन्धकार मे खडे होकर ध्यान मे निश्चल बने रहते हैं। रंच मात्र चित्त मे भय और क्षोभ नहीं करते। मानों निश्चेष्टपाषाण प्रतिमा है अथवा पत्र शाखा रहित वृक्ष का स्कन्ध है।

इस प्रकार त्रिकाल योग के धारक महामुनीश्वर बडे बडे वृक्षों को जड से उखाड फेकनेवाले भयानक आंधी के झोकों को

सहते हैं। बडी बडी नदी, तडाग, सरोवर आदि के जल को सुखा देने वाली भयंकर उग्र गर्मी की बाधा को सहते हैं। सम्पूर्ण शरीर के अवयवों को संताप देनेवाले तीव्र पिपासा (प्यास) के असह्य दु:ख को सहन करते हैं। शरीर के रुधिरादि को शोषण करने वाली, प्रलय काल की अग्नि के समान अत्युग्र बुभुक्षा के क्लेश को कुछ नहीं गिनते हैं। बीहड वन मे अनगिनत दंश मशक आदि जन्तुओ के काटने से शरीर मे उत्पन्न असह्य वेदना पर विजय प्राप्त करते हैं। तथा बिच्छू, सर्प,वराहादि के द्वारा किये गये घोर उपद्रव को सहते हैं। अधिक कहाँ तक कहा जावे अथवा देवकृत, तिर्यंचादिकृत सब उपसर्गों को केवल कर्मों का क्षय करने के निमित्त सहते हैं। इस लोक सम्बन्धी किसी भोगों की आकांक्षा नहीं करते।

इस प्रकार कायक्लेश तप का निरूपण कर अब वचन-जन्य क्लेश-तप का निरूपण करते हैं—

चट चटायमान उचटती हुई लौहे की चिनगारियों के समान सम्पूर्ण शरीर मे संताप पैदा करने वाले, मर्मभेदी दुर्जनों के अपवाद-जनक वचन सुनकर मुनिराज लेशमात्र भी चित्त मे क्षोभ नहीं करते। अविद्यमान दोषों के प्रकाश करनेवाले परुष-कठोर-तीक्ष्ण वचनों को सुनकर चित्त मे खेद नहीं करते। जाती और कुल को लाञ्छित करनेवाले तथा तू पशुवत् है, तू शास्त्र-ज्ञान रहित तिर्यंच है इत्यादि अपमान-जनक वचन अथवा भर्त्सना करने वाले दुर्वचनो को सुन कर मुनि मन मे विचारते हैं कि यह अज्ञानी भोले जीव इस हड्डी और मांसादि के कलेवर को दुर्वचन कहते हैं। क्योंकि इन्होंने आखों से इसी को देखा है और सुना है यह शरीर तो मेरा नहीं है। मैं इसके निमित्त से अपने परिणामों को कलुषित कर अपने आत्मा को कर्म बन्धन मे क्यों डालूं ? पशुआदि के अनेक शरीर मैंने धारण भी किये हैं। उनका नामोच्चारण कर यह उपकारी मित्र मुझे उनका स्मरण दिला रहा है। यदि मै क्रोधादि कषाय करूँगा तो वे नीच शरीर मुझे फिर मिलेंगे, अतः मुझे इन वचनों मे आनन्द मानना चाहिए। इस प्रकार विचार कर मुनि मन मे प्रफुल्लित होते हैं कि यह कर्म-निर्जरा करने का अवसर मिला है। शान्ति धारण करने से नवीन कर्म बन्ध नहीं होगा और संचित कर्मों की निर्जरा होगी। यह तो मेरे लाभ का कारण हुआ।

वचन-जन्य क्लेश के सहन करने के स्वभाव का निरूपण करके अब शस्त्र प्रहारादि के उपद्रव सहने की क्षमता का निरूपण करते हैं—

यदि कोई मिथ्यादृष्टि किसी मुनिराज को क्रोध से अन्धा होकर लकड़ी से पीटने लगे, उनपर कङ्कर पत्थर की वर्षा करने लगे, रेत मिट्टी फेंकने लगे, चाबुक बेंत का प्रहार करने लगे, खड्ग (तलवार) छुरी आदि से आक्रमण करने लगे अथवा छुरी आदि शस्त्रो का प्रहार भी करे तो भी वे परमशान्त गम्भीर मुनिराज प्रहार व चोट करने वाले मनुष्य पर टेढ़ी निगाह से भी नहीं देखते हैं। वे विचारते हैं कि मेरे पूर्वकृत कर्म का उदय आया है। यह बेचारा क्या करसकता है, यह तो निमित्त मात्र है। इसमे इसका क्या अपराध है ? यह निमित्त नहीं होता तो कोई दूसरा निमित्त मिलता। तीव्रकर्म उदय मे आया है, वह तो अवश्य फल देगा। मेरा शत्रु तो पूर्वोपार्जित कर्म है।

मैंने उसको उत्पन्न किया है। अब वह उदय को प्राप्त हुआ है। मेरी भूल मुझे दुःख दे रही है। इस शस्त्रादि के प्रहार करनेवाले का कोई अपराध नहीं है। मैं पागल कुत्ते के समान मूर्ख तो हूं नहीं जो असली शत्रु को न समझकर बाह्य निमित्त को शत्रु मान बैठूं। मैंने जिनागम का अभ्यास किया है। आत्म-अनात्म का भेद-विज्ञान प्राप्त किया है। सब संसार से सम्बन्ध तोड़ कर कल्याण करनेवाली जिनदीक्षा ली है। क्या मैं अज्ञानवश इन निरपराध मनुष्यादि पर द्वेष करूं? यह मेरा काम नहीं है। ऐसा तो मिथ्यादृष्टि करते हैं, जिनको विवेक-ज्ञान नहीं हुआ है और जिनको अर्हंतदेव और जिनवाणी का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है। मुझे तो महापुण्य योग से यह सब कुछ मिला है। ऐसे अवसरों के उपस्थित होने पर यदि मैंने विवेकज्ञान का उपयोग नहीं किया तो मेरा मनुष्यजन्म पाकर ऐसे सुयोग का पाना व्यर्थ हो जावेगा इसलिए मुझे सावधान होना चाहिए। मेरे क्षमादि धर्म तथा रत्नत्रय रूप धर्म का घात न होना चाहिए। उसका घात ये मनुष्यादि नहीं कर सकते। ये शरीर का घात कर सकते हैं, जो कि मेरी वस्तु नहीं है। अतः यह रोष करने का अवसर नहीं है। इस प्रकार जो ज्ञान रूपी जल से आत्मा को अशान्त करने वाली अज्ञान-मोहनीय रूपी अग्नि को शान्त करते हैं वे मुनिराज शस्त्रादि के प्रहार से कभी आत्मा में क्षोभ उत्पन्न नहीं करते। सामान्य मनुष्य भी जो कि पांचों इन्द्रियों का निग्रह (दमन) करने में तत्पर रहता है वह भी, क्रोध नहीं करता है। जिनागम के वेत्ता मुनिराज उपद्रव करने वाले मनुष्य पर किस प्रकार क्रोध कर सकते हैं? अतः हे महात्माओ! क्षमा के गुण को भलीभांति जाननेवाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को अंगीकार करनेवाले क्षमामूर्ति आपको शत्रु पर क्षणमात्र रोष न करना चाहिए और अपने तपश्चर्यादि कार्य में दृढ़ता से संलग्न रहना चाहिए।

(१०) ध्यान शुद्धि

ध्यान की शुद्धि इन्द्रियों पर विजय प्राप्त किये बिना नहीं होती अतः प्रथम इन्द्रियजय का निरूपण करते हैं।

विसएसु पधावंता चवला चंडा तिदंडगुत्तेहिं।
इंदियचारा घोरा वसम्मि ठविदा ववसिदेहिं ॥ १७ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ—मन को लुभाने वाले रूप में, मधुर रसीले रस में, मनोमोहक सुगन्ध में, शरीर को सुहावने स्पर्श में तथा चित्ताकर्षक पंचम धैवतादि स्वरों और मनोज्ञ गानों में, दौड़ती हुई अति चपल तथा क्षुब्ध चक्षु आदि इन्द्रियाँ भयानक चोर हैं। इनको वश में रखना यद्यपि अति कठिन है तथापि मनवचनकाय पर काबू करनेवाले विषय-विरक्त एवं चारित्राचरण में लीन मुनीश्वर उन्हें वश में कर लेते हैं।

भावार्थ—जैसे अश्वारोही (सवार) लगाम को हाथ में सावधानी से थामकर दुर्दान्त अश्व को भी अपने काबू में कर लेता है, वैसे ही लगाम स्वरूप मन को अपने वश में रखता हुआ साधु इन्द्रियरूपी अश्वों को विषयरूप उन्मार्ग में जाने से रोक देता है।

ध्यानी मुनि मदोन्मत्त मन रूपी हस्ती को ध्यान व वैराग्य रूपी दृढ रस्सी से आत्मा रूपी आलान-स्तम्भ के इतना दृढ़ बाध देते कि जिससे वह उन्मत्त-मनो-हस्ती विषयादि रूप वन या राजमार्ग मे दोडने के लिए असमर्थ हो जाता है।

इन्द्रियॉ बन्दर के समान चपल हैं। उनको तत्वज्ञान रूपी पाश से बॉधकर वैराग्य रूपी पींजरे मे बन्द किया जावे तभी उनकी उछल कूद बन्द होती है और शनैः शनैः अनुपम दिव्य सुख का आविर्भाव होने लगता है-विषयों से उदासीनता होती है।

तपरूपी दुर्ग (किले) मे निवास करनेवाले साधु का राग, द्वेष, मोह और इन्द्रिय रूपी डाकुओं का गिरोह कुछ भी बिगाड करने मे समर्थ नहीं होता है। उस दुर्ग के धैर्ययुक्त मति का कोट होता है। चारित्र का बहुत ऊंचा दर्वाजा है, और उसके क्षमा और सुकृत कर्म के दो किवाड लगे होते हैं। तथा संयम दुर्गरक्षक कोतवाल होता है। इस प्रकार सुरक्षित तपरूपी दुर्ग का आश्रय लेने वाले मुनी के रत्नत्रयरूप धन भंडार को राग द्वेष-मोह इन्द्रिय चोर लूट नहीं सकते हैं।

इन्द्रिय को वश मे करने से ही ध्यानसिद्धि होती है:--

दतेंदिया महरिसी राग दोस च ते खवेदूणं।

झाणोवजोगजुत्ता खवेंति कम्मं खविदमोहा ॥ ११५ ॥ (मूला. अ.)

अर्थ—इन्द्रियों का दमन करनेवाले समीचीन ध्यान मे रत हुए महर्षि राग व द्वेष रूप आत्मा के वैभाविक भावों का क्षय करके, मोह रहित होकर सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करते हैं। क्योंकि सम्पूर्ण कर्मों का मूल कारण राग द्वेष हैं। उनका नाश होने पर सब कर्म सहज मे नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—हे मुनीश्वरो! राग द्वेष से प्रेरित हुए इन्द्रियरूपी अश्व विषयरूप बीहड वन के उन्मार्ग (ऊबड खाबड मार्ग) मे आत्मा को लेजाते हैं। जबतक ये इन्द्रिय-अश्व उन्मार्ग मे गमन करते रहते हैं, तब तक आत्मा को शुभध्यान रूपी उत्तम मार्ग प्राप्त नहीं होता है। इसलिए उत्तम-ध्यान रूप सुमार्ग मे आत्मा को लेजाने के लिए मन रूपी घोडों की लगाम को दृढता से थामलो तथा मन को विषयों से हटाने के लिए उसको शुभध्यान मे स्थिर करने के लिए सबसे प्रथम विषयों मे उत्पन्न होनेवाले राग द्वेष को क्षीण करो और व्रत उपवासादि का आचरण करके उद्धत हुई इन्द्रियों का दमन करो। उनको उपवासादि से निर्बल बनाओ। निर्बलता को प्राप्त हुई इन्द्रियाँ रूपी अश्व को वैराग्य भावना द्वारा स्थिर हुए मन रूपी लगाम के थाम लेने से विषयों से उदासीनता और सुध्यान मे रति उत्पन्न होती है। आर्त्तरौद्रध्यान का विनाश होकर शुभध्यान की जागृति होती है। अतः धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान मे परायण हुए मुनिराज के क्षमादि

दशधर्म तथा रत्नत्रय रूप आत्मीय धर्म प्रकट होते हैं और अष्टकर्मों का क्षय सहज में होने लगता है। जिस वृक्ष का मूल (जड) नष्ट हो जाता है वह वृक्ष कितने कालतक खडा रह सकता है ? अथवा कितने समय तक वह हरा भरा रह सकता है ? अर्थात् उसका शीघ्र भूमि पर पतन होता है और वह अल्प समय मे ही सूखजाता है और वह पुन: भूमि मे नही जमता है। इसी प्रकार अष्ट कर्मों के मूल कारण कषाय राग द्वेष हैं। उनका ध्वंस होने पर सब कर्मों का सहज मे ध्वंस होजाता है और फिर वह आत्म-भूमि मे कभी नहीं उत्पन्न होते हैं। अतएव हे मुनिराजो ! इष्ट वियोगादि से उत्पन्न होने वाले आर्त्तध्यान को तथा क्रोधादि कषायों की उग्रता से उत्पन्न होने वाले रौद्रध्यान को आत्मा के निकट मत आने दो। और धर्म्यध्यान व शुक्लध्यान का निरन्तर चिन्तन करो। इन शुभ ध्यानों को स्थिर करने के लिए शुक्ल लेश्या को प्रकट करो। यदि तुम इस प्रकार आचरण करने मे दत्तचित रहोगे तो तुम्हारी आत्मा मे क्रोधादि कषाय किसी प्रकार के विकार भाव उत्पन्न करने मे समर्थ न होगी।

निश्चल चित्तवाले मुनियों को कषायें दबा नहीं सकती हैं और न उनके मन को चंचल कर सकती हैं। जैसे कल्पान्त काल की उत्तर दक्षिण पूर्व व पश्चिम की प्रचण्ड वायु सुमेरु को कम्पित नहीं कर सकती है।

हे मुनियो ! यदि तुम यथावत् छह आवश्यकों का पालन व आगमोक्त चारित्र का सम्यक् प्रकार आचरण करो तो प्रतिकूल परिस्थिति भी तुम्हारा कुछ भी बुरा नहीं कर सकती और तुम कर्मों की निर्जरा करने मे समर्थ हो सकते हो।

जो मुनि संसार से भयभीत, विषयों से उदासीन व शरीर से विरक्त है, जिसके हृदय मे अभिमान की मात्रा नहीं है, वह मन्द कषायी शास्त्रों का अधिक ज्ञान न होने पर भी भेदविज्ञान के जागृत होने से कर्मों का क्षय कर लेता है। लेकिन उस मुनि के २८ मूलगुण तो अवश्य होने चाहिए। यदि मूलगुण रहित होकर मुनिपद धारण करता है तो वह दृढ कर्मों का बन्धन कर नरक या निगोद में जाता है।

हे मुने ! यदि तुम निर्दोष चारित्र का पालन करना चाहते हो तो प्रासुक निर्दोष आगमानुकूल भिक्षा भोजन करो। वन मे या एकान्त स्थान मे रहो। अल्प आहार करो। बहुत भाषण मत करो। दु:ख आने पर चित्त मे विकार मत उत्पन्न होने दो। निद्रा को जीतो। सब जीवों के साथ मैत्री भाव रक्खो उत्तरोत्तर वैराग्य की वृद्धि करो। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र मेरा स्वरूप है, इनके सिवाय कर्मजन्य भाव शरीरादि मेरे नहीं हैं। ऐसा सतत चिन्तन करो। श्रद्धान पूर्वक सम्यग्ज्ञान सहित जो तपस्या करते हैं उनके पूर्व कर्मों का क्षय व नवीन कर्मों का संवर होता है। सरागसंयम, शुभ लेश्या तथा सामायिकादि का आचरण करते हुए यदि मृत्यु होतो वह जीव स्वर्गों मे जाता है-जैसा कि निम्न विवेचन से स्पष्ट होगा।—

मुनियों के पुलाकादि भेद और उनका वर्णन

श्री भगवान् भट्टाकलंकदेव ने राजवार्तिक में नवें अध्याय (सूत्र ४७) मे कहा है —

"पुलाकादय सयमादिभि. साध्याः ॥४॥ एते पुलाकादय' पच निर्ग्रन्थविशेषा संयमादिभिरष्टभिरनुयोगैं व्याख्येया इत्यर्थ '

पुलाक, वकुश, कुशील" निर्ग्रंथ और स्नातक ये पांचों प्रकार के मुनि निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) होते हैं। उनका सयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिङ्ग, लेश्या, उपपाद और स्थान इन आठ अनुयोगों से व्याख्यान किया जाता है। "तद्यथा-क कस्मिन् सयमे भवति ?" जैसे कि कौन किस सयम के आराधक होते हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर समाधान करते हैं—

"पुलाकवकुश प्रतिसेवनाकुशीला द्वयो सयमयो सामायिकच्छेदोपस्थापनयोर्भवन्ति । कषायकुशीला द्वयो परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसाम्पराययो पूर्वयोश्च। निर्ग्रन्थस्नातका एकस्मिन्नेव यथाख्यातसंयमे।"

अर्थ—पुलाक, वकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनि सामायिक तथा छेदोपस्थापना सयम के आराधक होते हैं। कषायकुशील मुनि पूर्वोक्त दो सयमों के तथा परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसाम्पराय सयम के आराधक होते हैं । निर्ग्रन्थ और स्नातक एक यथाख्यात सयम के ही आराधक होते हैं।

"श्रुत—पुलाक-वकुश-प्रतिसेवनाकुशीला उत्कर्षेणाभिन्नाक्षरदशपूर्वधरा । कषायकुशीला निर्ग्रन्थाश्चतुर्दशपूर्वधरा । जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु । वकुशकुशीलनिर्ग्रन्थाना श्रुतमष्टौ प्रवचनमातर । स्नातका अपगतश्रुता केवलिन.।"

अर्थ—पुलाक, वकुश और प्रतिसेवना कुशील ये तीन प्रकार के मुनि अधिक से अधिक अभिन्नाक्षर दशपूर्व के धारक होते हैं। अर्थात् उनके नवपूर्वों का पूर्ण ज्ञान तथा दशवें पूर्व का अपूर्णज्ञान होता है। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ चौदह पूर्व तक के धारक होते हैं। पुलाकमुनि के जघन्य से जघन्य श्रुतज्ञान आचार वस्तु का होता है। वकुश, कुशील, प्रतिसेवना कुशील के कम से कम आठ प्रवचन माता (पाचसमिति व तीन गुप्ति) का ज्ञान होता है। स्नातक मुनि केवली होते हैं। उनके श्रुतज्ञान नहीं होता है।

"प्रतिसेवना—पचाना मूलगुणाना रात्रिभोजनवर्जनस्य च पराभियोगात् बलादन्यतम प्रतिसेवमान पुलाको भवति। वकुशो द्विविध, उपकरणवकुश शरीरवकुशश्चेति। तत्र उपकरणाभिष्वक्तचित्तो विविधविचित्रपरिग्रहयुक्तो बहुविशेषयुक्तोपकरणकाक्षी तत्संस्कारप्रतीकारसेवी भिक्षुरूपकरणवकुशो भवति। शरीरसस्कारसेवी शरीरवकुश । प्रतिसेवनाकुशीलो मूलगुणानविराधयन् उत्तर-गुणेषु काचिद्विराधना प्रतिसेवते। कषायकुशील निर्ग्रन्थस्नातकाना प्रतिसेवना नास्ति।"

अर्थ—दूसरे किसी मनुष्यादि के बलात्कार से पुलाक जाति का मुनि पाच मूल गुण (अहिंसादि पच महाव्रत) और रात्रि-भोजन त्याग इनमें से किसी एक के विपरीत सेवन (विरुद्ध आचरण) कर लेता है। वकुशमुनि के दो भेद हैं—१उपकरण वकुश और २

शरीर वकुश। उनमे से उपकरण वकुश उसे कहते हैं जो उपकरण (कमण्डलु पुस्तकादि) मे विशेष आसक्ति रखता है, विविध और विचित्र परिग्रह (पुस्तकादि) मे युक्त होता है, विशिष्ट उपकरण की आकांक्षा करता है, तथा उनके संस्कारादि को करता है। शरीर के संस्कार को करने वाला शरीरवकुश होता है। प्रतिसेवनाकुशील उसे कहते हैं जो मूल गुणो की विराधना नहीं करता है किन्तु कभी २ उत्तरगुणों की विराधना कर बैठता है। कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक के किसी प्रकार की प्रतिसेवना (विरुद्धाचरण) नहीं होती है।

"तीर्थमिति—सर्वेषां तीर्थकराणां तीर्थेषु सर्वे भवन्ति।"

अर्थ—सम्पूर्ण तीर्थंकरो के तीर्थ मे पुलाकादि सब प्रकार के मुनि होते हैं।

"लिङ्ग—द्विविध, द्रव्यलिंग, भावलिंग च। भावलिंग प्रतीत्य सर्वे पञ्चनिर्ग्रन्था लिङ्गिनो भवन्ति इति। द्रव्यलिंगं प्रतीय भाज्याः।"

अर्थ—लिङ्ग दो प्रकार का है—१ द्रव्यलिङ्ग और २ भावलिङ्ग। भावलिंग की अपेक्षा से सब पांचो निर्ग्रन्थ लिंगी होते हैं। द्रव्यलिंग की अपेक्षा विविध विकल्प होते हैं।

"लेश्या—पुलाकस्योत्तरास्तिस्रो लेश्या भवन्ति। वकुशप्रतिसेवनाकुशीलयो षडपि। कषायकुशीलस्य परिहारविशुद्धेश्चतस्र उत्तरा। सूक्ष्मसाम्परायस्य निर्ग्रन्थस्नातकयोश्च शुक्लैव केवला भवति। अयोगशैल प्रतिपन्ना अलेश्या.।"

अर्थ—पुलाक मुनि के पीत, पद्म और शुक्ल ये तीनो शुभ लेश्याएँ होती हैं। वकुश और प्रतिसेवना कुशील के छहो लेश्या होती हैं। कषाय कुशील और परिहारविशुद्धि सयमवाले के कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये चारो लेश्या होती हैं। सूक्ष्मसाम्पराय तथा निर्ग्रन्थ और स्नातक (सयोग केवली) के केवल एक शुक्ल ही होती है। अयोगकेवली के कोई भी लेश्या नहीं होती है।

"उपपाद.—पुलाकस्य उत्कृष्ट उत्पाद, उत्कृष्टस्थितिषु देवेषु सहस्रारे। वकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोर्द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिष्वारणाच्युतकल्पयो। कषायकुशीलनिर्ग्रन्थयोस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिषु सर्वार्थसिद्धौ। सर्वेषामपि जघन्य. सौधर्मकल्पे द्विसारोपमस्थितिषु। स्नातकस्य निर्वाणमिति।"

अर्थ—पुलाक मुनि मरकर अधिक से अधिक सहस्रार स्वर्ग में उत्कृष्ट स्थितिवाले देवो मे जन्म लेते हैं। वकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनि आरण व अच्युतस्वर्ग मे बाईस सागर की स्थिति वाले देवो तक मे जन्म लेते हैं। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ मुनि तेतीस सागर की स्थिति वाले सर्वार्थसिद्धि तक के देवो मे उत्पन्न होते हैं। उक्त सब (चारो प्रकार के) मुनि कम से कम सौधर्म कल्प में दो सागर की स्थिति वाले देव होते हैं। तथा स्नातक महामुनि नियम से मोक्ष प्राप्त करते हैं।

'स्थान—असंख्येयानि संयमस्थानानि कषायनिमित्तानि भवन्ति। तत्र सर्व जघन्यानि लब्धिस्थानानि पुलाककषायकुशीलयो तौ युगपदसंख्येयस्थानानि गच्छत । तत पुलाको व्युच्छिद्यते। कषायकुशीलप्रतिसेवनाकुशीलबकुशा युगपदसंख्येयानि स्थानानि गच्छन्ति । ततो बकुशो व्युच्छिद्यते। ततोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा प्रतिसेवनाकुशीलो व्युच्छिद्यते । ततोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा कषाय कुशीलो व्युच्छिद्यते। अतऊर्ध्वं अकषायस्थानानि निर्ग्रन्थः प्रतिपद्यते। सोऽप्यसंख्येयस्थानानि गत्वा व्युच्छिद्यते। अत ऊर्ध्वमेक स्थान गत्वा स्नातको निर्वाणं प्राप्नोति-इत्येषा संयमलब्धिरनन्तगुणा भवति इति।"

अर्थ—कषाय के निमित्त से संयम के असंख्यात स्थान होते हैं। उनमें सबसे जघन्य स्थान पुलाक व कषायकुशील के होते हैं। वे दो असंख्यात स्थानो तक तो एक साथ जाते हैं। पुलाक वहीं रह जाता है। वहां से से आगे कषायकुशील, प्रतिसेवनाकुशील और बकुश असंख्यात संयम स्थानों तक तो तीनो साथ जाते हैं पश्चात् बकुश उनमे अलग होकर वहीं रह जाता है। उसके आगे असंख्यात संयमस्थान आगे जाकर प्रतिसेवना कुशील अलग हो जाता है और उससे असंख्यात संयमस्थान आगे चलकर कषायकुशील भी रहजाता है। उसके ऊपर अकषाय स्थानो में निर्ग्रन्थ पहुंचता है। वह असंख्यात स्थान आगे जाकर ठहर जाता है। उसके ऊपर एक स्थान जाकर स्नातक निर्वाण को प्राप्त करता है। इस प्रकार इन संयमियों की संयम की लब्धि (प्राप्ति) अनन्त गुणी अनन्तगुणी होती है।

भावार्थ—मुनि चारित्र, तप और ध्यान के प्रभाव से कम से कम सौधर्म स्वर्ग में और पुलाक उत्कृष्ट सहस्रार स्वर्ग तक जाते हैं। बकुश और प्रतिसेवना कुशील अच्युत स्वर्ग में बाईससागर की आयु वाले देवों तक होते हैं। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ उत्कृष्ट सर्वार्थसिद्धि तक जाते हैं। तथा स्नातक मोक्ष जाते हैं। मिथ्यादृष्टि भी मुनि-चारित्र व तप का आचरण कर नव ग्रैवेयक तक जाता है और वहाँ पर अपूर्व दिव्य सुख का अनुभव करता है। यदि सम्यग्दृष्टि चारित्र व तपस्या का आचरण करता है तो वह उत्तरोत्तर दिव्य-सुखों का उपभोग करता हुआ निर्वाण पद को पाता है। इसलिए हे मुने! सम्यग्ज्ञान पूर्वक चारित्र और तपश्चरण तथा ध्यान का आराधन करो। क्योंकि येही संसार के सम्पूर्ण सुखों के देने वाले हैं। इष्ट पदार्थों का संयोग और अनिष्ट पदार्थों का असंयोग करानेवाले हैं। मनोऽनुकूल सुख सामग्री जो कुछ इस लोक में मिलती है उस के ये मूल कारण हैं। चक्रवर्ती की अनुपम विभूति और देवेन्द्र के दिव्य भोगोपभोग इनके सेवन करने से ही मिलतेहैं। इसी प्रकार के सुन्दर और अत्यन्त प्रिय स्वर्गादि के भोग प्राप्त कर निर्वाण की प्राप्ति इन्हीं से होती है। अत ऐसा सुअवसर पाकर इनके आचरण करने मे दत्त चित्त हो जाओ। किंचिन्मात्र प्रमाद न करो। इसीमें मनुष्य-जन्म की सफलता है।

यही भाव पाहुड में कहा है—

धम्मम्मि णिप्पवासा दोसावासो य इच्छुफुल्लसमो।
णिप्फलणिग्गुणयारो णडसवणा णग्गरूवेण ॥ ७१ ॥

अर्थ—जिस साधु का निजस्वभाव रूप धर्म मे तथा उत्तम क्षमादि दश लक्षण धर्म मे वास नहीं है, वह दोषों का आवास है। तथा इक्षु के फूल के समान है। जैसे इक्षुका फूल फल रहित होता है, और गन्धादि गुण से भी शून्य होता है, वैसे उस साधु का मुनिभेष भी धर्म हीन होने से निष्फल है और क्षमादि गुण रहित है। वह साधु तो नग्न रूप धारण कर नाचनेवाले नट के समान है। अर्थात् नग्न साधु का स्वाग धारण करने वाला बहुरूपिया है।

भावार्थ—जो साधु के गुणों से हीन मुनि मनुष्यों को सम्यक्त्व व संयम-विरुद्ध उपदेश देकर उनको प्रसन्न करता है, तथा अपनी कषाय के पोषण करने मे आगम के विरुद्ध लोगों की प्रवृत्ति करता है वह स्वयं नष्ट होता है दूसरों का नाश करता है एवं धर्म के मार्ग को मलीन करता है। जो साधु के गुणों से शोभित है उसीसे निम्नोक्त लिंग कल्प शोभित होता है।

लिंगकल्प के चार भेद

अच्चेलक्कं लोचो वोसट्टसरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हु लिंगकप्पो चदुव्विधो होदि णायव्वो ॥ १७ ॥ (मू० स०)

अर्थ—१ सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग, २ केशलोच करना, ३ शरीर-सस्कार का त्याग, ४ तथा प्रतिलेखन लिंग कल्प है।

भावार्थ—यहाँपर आचेलक्य शब्द से सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग लिया गया है। यद्यपि आचेलक्य शब्द का अर्थ तो केवल वस्त्र का त्याग करना है तथापि यहाँ पर उपलक्षण से वस्त्रादि समस्त परिग्रह के त्याग का ग्रहण है। आचेलक्य और केशलोच के बारे में मूलगुणाधिकार मे विशेष लिखा जा चुका है।

शरीर के सस्कार-त्याग । वर्णन भी वहीं अस्नान (स्नानत्याग) नाम मूलगुण में कर आये हैं, इसलिए यहाँ उनका विवेचन न करके प्रतिलेखन के बारे मे कुछ विशेष लिखते हैं।

प्रतिलेखन (मयूरपिच्छी) का स्वरूप

रजसेदाणमगहणं मद्दव सुकुमालदा लहुत्तं च।
जत्थेदे पंचगुणा तं पडिलिहणं पसंसंति ॥ १८ ॥ (मूला० सम०)

अर्थ—जो रज (धूल) और पसीने का ग्रहण न करे, अत्यन्त मृदु (मुलायम-कोमल) हो, जो देखने में सुन्दर प्रतीत हो, जो हलका हो-ऐसे पांच गुण जिसमे पाये जाने वह प्रतिलेखन प्रशसनीय माना गया है।

भावार्थ— हे मुने ! तुम्हारे सयम की रक्षा करनेवाला सयम का उपकरण प्रतिलेखन है। जो तुम्हारे पास प्रतिसमय रहना चाहिए ? जिसमे निम्नोक्त पाच गुण पाये जावे वही प्रतिलेखन प्रशसनीय माना गया है।

(१) रजोऽग्रहण—२ स्वेद का अग्रहण, ३ मृदुता, ४ सुकुमारता, और लघुता।

(१) साधु प्रतिदिन अपने उपयोग मे आने वाले शास्त्रो का प्रमार्जन करता है। निवास करने की वसतिका प्रदेश का पट्ट आदि का प्रमार्जन करता है। उस रजोहरण (प्रतिलेखन) मे ऐसा गुण होना चाहिए कि धूल आदि का सम्पर्क होने पर भी वह मलीन न हो ऐसा स्वाभाविक गुण जिसमे पाया जावे वही रजोहरण प्रशसनीय है और साधु के हाथ मे धारण करने योग्य है।

(२) स्वेदका अग्रहण - मुनि के शरीर पर यदि पसीना आ रहा है तो उसको प्रतिलेखन से पोंछना पड़ता है। पसीने से जो नही भीगे वही मुनि के ग्रहण करने योग्य माना गया है।

शङ्का—क्या मुनि शरीर के स्वेद (पसीने) को पिच्छी से पोछते हैं ?

समाधान—मुनि अपने शरीर को किसी वस्त्र से कभी नहीं पोंछते, किन्तु जब मुनि धूप से छाया में या छाया से धूप में आते है, उस समय पिच्छी से अपने शरीर को पोछ कर ही जाते हैं। यदि ऐसा न करें तो छाया के जन्तु धूप के ससर्ग से और धूप से जीवन प्राप्त करने वाले छाया मे पहुचने से मरण को प्राप्त हो जावेंगे। अत मुनि को उचित है कि वह अपने शरीर को कोमल पिच्छी से पोछ कर छाया से धूप म और धूप से छाया मे जावे।

(३) मृदुल—नेत्र म फिराने पर भी जो पीड़ा न पहुचावे ऐसा कोमल प्रतिलेखन उपादेय माना गया है। श्वेताम्बर साधु भेड की ऊन का प्रतिलेखन रखते हैं। उसमे यह गुण नहीं पाया जाता है। यदि भूल से वह आंख मे लग जावे तो आख में भारी बाधा पहुचाता है। अत सूक्ष्म (छोटे-बारीक) जन्तुओ के अति कोमल शरीर को वह प्रति लेखन अवश्य बाधा पहुचावेगा है। इसलिए वह साधुओ के लिए उपादेय नही बताया है। दूसरी बात यह है कि उनमे असख्य जीव उत्पन्न होजाते हैं। तीसरा दोष यह है कि उसका मूल्य (कीमत) अधिक होता है। अतः वह सर्वथा अग्राह्य माना गया है।

(४) सुकुमारता—जिसमे अपूर्व सुकुमारता पाई जावे। अर्थात् उक्त गुणों के साथ जिसका रूप भी दर्शनीय हो। नेत्रेन्द्रिय व

मन को प्यारा लगनेवाला रूप जिसमें विद्यमान हो वही प्रतिलेखन मुनि के ग्रहण करने योग्य होता है।

(५) लघुता—वह इतना हल्का हो कि जिससे सूक्ष्म जन्तु के शरीर को भी किसी प्रकार की बाधा न पहुचे। तथा उठाने रखने आदि में सुविधाजनक हो। अत्यन्त वृद्ध तथा अशक्त मुनि को भी उससे मार्जन करने मे किसी प्रकार का कष्ट न हो।

उक्त सब प्रकार के गुण मयूरपिच्छी मे ही पाये जाते हैं। ऊन आदि के बनाये गये रजोहरण में उपर्युक्त गुण नहीं होते। उनमे मयूरपिच्छ के समान कोमलता नहीं होती, अपने शरीर को भी कठोर प्रतीत होती है। तब अति कोमल सूक्ष्म प्राणियों को तो वह शस्त्रसा प्रतीत होती है। वह धूल-स्वेद आदि से मलीन होजाती है। उसमे दर्शनीय गुण भी नहीं होता। उसमें जीवों की उत्पत्ति होती है। चोरी होजाने का भय लगा रहता है। उसे बाजार में बेचकर-द्रव्य वसूल किया जा सकता है। ऐसे ही और भी अनेक कारण हैं जिनसे उनका प्रतिलेखन मुनियो के सयम की रक्षा करने मे समर्थ नहीं होता, बल्कि बाधक सिद्ध होता है। मयूरपिच्छ में गुण ही गुण हैं। इसके समान अन्य कोई ऐसा द्रव्य नहीं है जिसमे उक्त पांचों गुण हो और जो सयम का उपकारक हो। इसके चोरी जाने का भी भय नहीं रहता है।

शङ्का—ऊन तो ऐसा पदार्थ है जिसे भेडोंके स्वामी साल मे दो बार भेड़के शरीर परसे कतरनी द्वारा कतरकर उतार लेते हैं। उस के उतारने से भेड़ को कष्ट नहीं होता है और मयूर के पिच्छ उतारने से तो मयूर को दु:ख होता है; इसलिए ऊन मयूर पिच्छ की अपेक्षा उत्तम है।

समाधान—भेड़ के शरीर से कतरनी द्वारा ऊन उतारते समय भेड को थोडा बहुत कष्ट अवश्य होता है और मयूरपिच्छ को तो मयूर अपने आप वर्ष मे एक बार कार्तिक मास मे अवश्य छोड़ता है। पुराने पिच्छ उसके स्वयं गिरते हैं और नये आते हैं। ऐसा प्राकृतिक नियम है। जो स्वत. गिरे हुए पंख होते हैं उनसे ही मुनि की पिच्छी बनाई जाती है। अतएव मयूरपिच्छी मे कोई दोष नहीं होता। उसके निमित्त मयूर को पीडा नहीं दी जाती है। वह तो स्वयं उसे छोडकर अपने को लघु बनाता है और उसमे आनन्द मानता है। क्योंकि बिना पुराने पिच्छ का त्याग किये नवीन पिच्छ उत्पन्न नहीं होते हैं।

उक्त प्रकार सब दोषो से निर्मुक्त और पाच गुणों से युक्त प्रतिलेखन मयूरपिच्छ के सिवा अन्य कोई नहीं है। इसलिए परम दयालु संयमनिष्ठ निर्ग्रन्थ आचार्यो ने सर्वगुण-सम्पन्न मयूरपिच्छ का ही सर्वश्रेष्ठ सयम का रक्षक प्रतिलेखन स्वीकार किया है।

शङ्का—नेत्र द्वारा जीवों को देखकर उनकी रक्षा कर सकते हैं तो फिर जीवरक्षा के निमित्त मयूरपिच्छ (प्रतिलेखन) की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—नेत्र इन्द्रिय द्वारा देख कर चलने फिरने आदि क्रियाओं के करने से जीवों की रक्षा होती है, किन्तु चक्षु इन्द्रिय छोटे छोटे सब जीवो को देखने मे असमर्थ है। उनकी रक्षा के लिए मयूरपिच्छ की अत्यन्त आवश्यकता है। वही कहा है—

सुहुमा हु संति पाणा दुप्पेक्खा अक्खिणो अगेज्झा हु।
तम्हा जीवदयाए पडिलिहणं धारए भिक्खू ॥ २० ॥ (मूला० स०)

अर्थ—समार मे द्वीन्द्रियादि त्रसजीव व एकेन्द्रिय वनस्पति कायादि स्थावर जीव इतने छोटे २ होते हैं कि जिनका दिखाई देना अत्यन्त दुष्कर है। उनको चर्म-चक्षु देख नहीं सकती हैं। इसलिए उन जीवो की रक्षा के निमित्त साधु को मयूरपिच्छिका अवश्य धारण करनी चाहिए।

भावार्थ—साधु ने सम्पूर्ण जीवों के साथ मैत्रीभाव धारण किया है। उनको किसी प्रकार का कष्ट न देने की प्रतिज्ञा की है। वह उनके दुःख को अपना दुःख समझता है। दूसरे मनुष्यों को भी जीवो की रक्षा का उपदेश देता है। वह साधु जीवो के भेद, स्थान, योनि आदि आदि का ज्ञाता होता है। जो नेत्रेन्द्रिय के गोचर स्थूल जीव होते हैं उनको बचाकर गमनागमनादि क्रिया करता है। किन्तु कितने ही जीव ऐसे छोटे होते हैं जो इन चर्म-चक्षुओ से दिखाई नहीं देते हैं। उनकी रक्षा का उपाय एक मयूरपिच्छिका है। वह इतना कोमल व हल्का उपकरण है कि छोटेसे छोटे जन्तु को भी उससे बाधा नहीं होती है। उस सर्वोत्तम प्रतिलेखन से भी साधु बडी सावधानी से धीरे धीरे हल्के हाथ से प्रमार्जन करता है।

हे मुने! तुम प्रातःकाल नित्यप्रति अपने ज्ञान के उपकरण पुस्तकादि का तथा सयम के उपकरण कमण्डलु आदि का तथा अपने निवास स्थान वसतिका प्रदेश का मयूरपिच्छिका से प्रमार्जन करो। तुम्हें मलमूत्र की बाधा दूर करना हो, थूंकना हो तो पहले उस स्थान को नेत्र से भले प्रकार देखकर तथा रात्रि मे उठना बैठना, मलमूत्रादि का त्याग करना अथवा थूकना, हो तो मयूर पिच्छिका से प्रमार्जन करके उस स्थान को निर्जन्तु करके करो। तुम उठना चाहते हो तो उठने के पहले पॉव रखने की भूमि को, बैठना चाहते हो तो बैठने की भूमि आदि को, सोना चाहते हो तो शयन करने के स्थान को, आगे पांव रखना चाहते हो तो पाव रखने के स्थान को पहले मयूरपिच्छिका से प्रमार्जन करलो। यदि करवट लेना आवश्यक हो, हाथ पाव फैलाना, सुकोडना हो तो मयूरपिच्छिकासे उस स्थान का अवश्य प्रमार्जन करो। कमण्डलु आदि उठाना हो तो कमण्डलु आदिको तथा उनको नीचे रखना हो तो उस स्थानको पहले प्रमार्जन करके पश्चात् नीचे रक्खो। कारणवश यदि वसतिका आदि के किवाड या खिडकी आदि खोलने या ढकने पडें तो बड़ी सावधानी रखो। कभी कभी किवाडों की चोखटों की संधियो मे छिपकलिया, मकड़िया व कसारिया पाई जाती हैं। इनके अतिरिक्त और भी छोटे २ जन्तु रहा करते हैं इसलिए उनको देखकर तथा पिच्छी से

प्रमार्जन कर खोलना व बन्द करना चाहिए। इसी प्रकार तुम्हारे शरीर पर खुजली चले या किसी जन्तु के काटने आदि की बाधा प्रतीत हो और यदि तुम उसको न सह सको तो सहसा न खुजलाओ, किन्तु पिच्छी से शनैः शनैः उसे प्रमार्जन करो। तात्पर्य यह है कि मयूरपिच्छी का प्रत्येक क्रिया के पूर्व, जहा उसकी आवश्यकता हो, अवश्य उपयोग करो। इस पिच्छी को आहार करते समय कुछ काल के लिए दूर रखो। शेष सब कामो मे उसको सदा निकट रखो। एक क्षण के लिए भी उसे अपने पास से अलग मत करो। सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित स्थान मे एक ,र भी यदि तुम को चलना पडे तो पिच्छी को छोड़ कर मत चलो। उठो तब पिच्छी को हाथ मे तथा बगल मे दबा कर चलो व उठो।

शंका—मयूर की पिच्छी से जीव जन्तुओं को हटाने पर उन जीवों को बाधा होती है, इसलिए उसके धारण करने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—मयूर की पिच्छी के अग्र भाग इतने कोमल होते हैं कि आँखों के अन्दर फिराने पर भी पीडा नहीं होती है। आखों को भी सुहावने लगते हैं। तब उनसे जीवों को बाधा कैसे हो सकती है ? जीव जन्तुओं की रक्षा करनेवाला यह अद्वितीय उपकरण है। उसका धारण करना साधु के लिए अत्यन्त आवश्यक है। प्रतिलेखन जीवो के हृदय मे विश्वास उत्पन्न करनेवाला है। अतएव यह साधु के लिए सबसे अधिक आवश्यक उपकरण है। इस प्रकार इसका ग्रहण करना साधुके लिए युक्ति और आगम से परमावश्यक सिद्ध होता है। जिस प्रकार आहार की शुद्धि पर ध्यान रखना संयमी का परम कर्त्तव्य है, उसी प्रकार उपकरणों की शुद्धि पर ध्यान रखना भी परम कर्त्तव्य माना गया है। अत, सयम की रक्षा के लिए मयूरपिच्छिका होना आवश्यक है-इसमे कोई सन्देह नहीं।

मुनि इन चार लिङ्गों को धारण करके चारित्र का अनुष्ठान (आचरण) करते हैं। इनको धारण किये विना मुनि पूर्णरूप से चारित्र का आराधन करने मे समर्थ नहीं हो सकता, इसलिए इनका धारण करना मुनिमात्र के लिए परमावश्यक है। आचेलक्य (नग्नपना) तो स्वाभाविक चिह्न है। माता के पेट से बालक नग्न निकलता है, उस समय उस शरीर पर बाल के अग्रभाग मात्र भी कोई वस्त्रादि परिग्रह नहीं होता है। केशलोच सद्भावना प्रकट करने वाला चिह्न है। तथा शरीर के संस्कार का त्याग करने से वैराग्य भाव प्रकट होता है। जिसको शरीर से राग नहीं होता है वही उसको मैला कुचैला धूल से धूसरित देखकर भी उसको स्वच्छ नहीं करता है। तथा जीवों की रक्षा करने के लिए मयूरपख की पिच्छी का उपयोग है ही। इस प्रकार मुनिलिंग के चार भेद बताये गये हैं।

सिद्धान्तों मे दश प्रकार का श्रमण कल्प वर्णन किया गया है—

अच्चेलक्कुद्देसिय सेज्जाहर रायपिंड किदियम्मं।
वद जेठ पडिक्कमणं मासं पज्जो समणकप्पो ॥ (मूला० स०)

अर्थ—१ आचेलक्य अर्थात् सम्पूर्ण वस्त्रादि परिग्रह का त्याग, २ औद्देशिक (उद्दिष्ट) भोजनादि का त्याग, ३ शय्याधर वस-

तिका के स्वामी के घर के अहार का त्याग, ४ राजपिण्डत्याग, ५ कृति कर्म, ६ व्रतारोपण, ७ ज्येष्ठपने (बड़प्पन) का विचार, ८ प्रतिक्रमण, ९ स्थितिकल्प (एक मास ठहरना) और १० पर्या अर्थात् मुनि की निषद्यका जहाँ हो या पंच कल्याणक जिन स्थानों पर हुए हों उन स्थानों की यात्रा करने को पर्या स्थिति कल्प कहते हैं। अथवा वर्षाकाल में चार मास पर्यन्त एक जगह ठहरने को पर्या कहते हैं। इस प्रकार मुनिकल्प (मुनि-व्यवहार) दश प्रकार का है।

उक्त भेदों का विशेष वर्णन पहले मूलगुणाधिकार के, आचेलक्यादि प्रकरण में तथा समाचाराधिकार में आचार्य के ६३ गुणों के अवसर पर कर आये हैं।

भाव श्रमण बनो

निक्षेप की अपेक्षा श्रमणों के चार भेद किये जा सकते हैं—(१) नाम श्रमण, (२) स्थापना श्रमण, ३ द्रव्य श्रमण और ४ भाव श्रमण। इन चार निक्षेपों में से आदि के तीन निक्षेप हेय हैं। शेष भावनिक्षेप ही उपादेय है। क्योंकि नामादि तीन निक्षेपों से जीव की इष्ट-सिद्धि नहीं हो सकती। उसमें वास्तविक पूज्यतादि लानेवाला भाव निक्षेप है। किसी का मुनि या साधु नाम रख लेने से वह मुनि का गौरव नहीं पा सकता। किसी विषयासक्त या परिग्रह धारक व्यक्ति में मुनि की स्थापना करलेने से भी कोई लाभ नहीं। द्रव्य मुनि का भी वह महत्व नहीं। यदि स्व-पर का कोई लाभ है तो वह भाव मुनि बनने से ही है।

शंका—आधुनिक दिगम्बर मुनियों में पुरातन मुनियों की स्थापना हो सकती है या नहीं ? यदि हो सकती है तो जीव में दूसरे जीव की स्थापना हो गई और आपने इसका पहले निषेध किया है सो कैसे ?

समाधान—पुरातन मुनियों की आधुनिक मुनियों में स्थापना करके उनके समान उनको समझ कर व्यवहार करना सर्वथा अनुचित है। मुनि की पूज्यता उसके गुण के आश्रित है। यदि उसमें अठाईस मूलगुण हैं तो वह पूज्य है और यदि उन में से एक भी कम है तो वह पूज्य नहीं है। केवल नग्नरूप में पूज्यता की कल्पना करने पर नग्न रूप धारण करने वाला बहुरूपिया भी पूज्यता का अधिकारी बन जावेगा। अत पुरातन मुनियों की आधुनिक साधुओं में कल्पना करके गुण न होने पर भी उनको पूज्य समझना मिथ्यात्व को बढ़ाना है। क्या किसी अल्पज्ञ संसारी जीव में भगवान् महावीरादि की कल्पना हो सकती है ? जैसे तीर्थंकरादि की स्थापना किसी व्यक्तिविशेष में नहीं हो सकती, वैसे ही प्राचीन काल के मुनीश्वरों की स्थापना आधुनिक साधुओं में भी नहीं हो सकती है।

हे मुनियो ! तुम भावश्रमण बनो। अठाईस मूलगुणों का भंग मत होने दो। भिक्षाशुद्धि पर पूर्ण ध्यान दो। क्योंकि यह व्रत, शील व तप का आधार है। भिक्षाशुद्धि का विचार किस रीति से किया जाय इस विषय में निम्न उल्लेख पर ध्यान देना चाहिए।

भिक्षा शुद्धि कब होती है ?

भिक्खं सरीरजोग्गं सुभत्तिजुत्तेण फासुयं दिण्णं ।
दव्वपमाणं खेत्तं कालं भावं च णादूण ॥ ५२ ॥
णवकोडीपडिसुद्धं फासुय सत्थं च एसणासुद्धं ।
दसदोसविप्पमुक्कं चोद्दसमलवज्जियं भुंजे ॥ ५३ ॥ (मूला. स..)

अर्थ—जो प्रासुक भिक्षा-भोजन नवधा भक्ति युक्त दातार के द्वारा दिया गया हो, उसमें साधु नवकोटि से शुद्धि की गवेषणा करे। यह भिक्षा-अन्न मन-वचन-काय द्वारा कृत, कारित व अनुमोदित तो नहीं है ? तथा उसकी प्रासुकता का विचार करे। इसमें किसी अप्रासुक द्रव्य का सम्मेलन या सयोग तो नहीं हुआ है, तथा कृत्सादि दोषोंवाला तो नहीं है। इसमे दुर्गन्धादि दोष तो नहीं है। इसकी तथा एषणा शुद्धि की, उद्दिष्टादि दश दोष, चौदह मलदोषो के अभाव का तथा क्षेत्र काल भाव और द्रव्य प्रमाण की जाच करके सम्यग्दर्शनादि की रक्षा और क्षुधा के उपशमन करने के लिए उस आहार का ग्रहण करे।

भावार्थ—वीतरागी साधु उस आहार का ग्रहण करते हैं, जो दाता के द्वारा नवधा भक्ति पूर्वक दिया गया हो, प्रासुक हो। शरीर की रक्षा करनेवाला हो, जो नवकोटि से शुद्ध हो, जो साधु के निमित्त बनाया गया हो, छियालीस दोषों से विमुक्त हो, सड़ा गला दुर्गन्धमय न हो, जिसके द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की परीक्षा करली गई हो। अर्थात् जिस भोजन का द्रव्य शुद्ध हो, पवित्र क्षेत्र मे तैयार किया गया हो, योग्य काल में बनाया गया हो, जिसके गुणो मे व स्वरूप में विकृति उत्पन्न न हुई हो, जो एषणा समिति से शुद्ध हो, देखने मे भी सुन्दर हो, उसकी सर्व प्रकार से शुद्धि का ज्ञान होने पर मुनि रत्नत्रय की सिद्धि के निमित्त क्षुधा का उपशमन करने के लिए प्रमाण सहित आहार का ग्रहण करे।

हे मुने। रत्नत्रय को निर्मल बनाने के लिए शंकादि दोषों का परिहार करो और अहिंसादि व्रतों का पूर्णतया पालन कर चारित्र को शुद्ध बनाओ। तथा द्रव्य क्षेत्र काल व भाव के आश्रय से दोष लगे हों तो उनका निवारण करने के लिए गुरु महाराज के निकट जाकर विनयपूर्वक आलोचना करो और उनके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त का आचरण कर लौकिक-शुद्धि का पालन करो। लौकिक और लोकोत्तर दोनों शुद्धियों से आत्मा को निर्मल करो।

हे मुने ! जिस क्षेत्र में क्रोधादि कषाय जाग उठती हों, जहां भक्ति और आदर की हीनता प्रतीत हो, जहां पर धृष्टता व मूर्खता

की प्रबलता हो, जहां चक्षुआदि इन्द्रियों को ललचाने वाले राग बढ़ानेवाले विषयों की प्रचुरता हो, चित्ताकर्षक शृंगार रस की रसिक स्त्रियों का जमघट हो अर्थात् जिस क्षेत्र में स्त्रियां शृंगार रसप्रिय हों, उनके आकार तथा शृंगारित विषय के पोषक हों, उनमें हास भाव नृत्य गीतादि एवं हास उपहास करने की आदत सी हो गई हो, जिस क्षेत्र में साधुओं को पद पद क्लेशों को सहने के लिए बाध्य होना पड़ता हो, तथा जो क्षेत्र उपसर्गों से भरा हो, ऐसे स्थानों से साधु सम्यग्दर्शनादि को शुद्ध रखने के लिए दूर रहें—उस जगह न ठहरें।

शंका—क्या मुनि आदर के भूखे होते हैं? यदि नहीं होते तो आदर-सम्मान रहित क्षेत्र के परित्याग का उपदेश क्यों दिया गया है?

समाधान—मुनि आदर-अनादर को समान समझते हैं, किन्तु जिस स्थान में इतर जनों द्वारा दिगम्बर मुद्रा की अवहेलना होती है, धर्म पर प्रीति का अभाव होता है वहाँ पर मुनि को नठहरना चाहिए। यदि कोई मुनि हठ करके ठहरता है तो वह मुनिधर्म का तिरस्कार करानेवाला है तथा जिनाज्ञा का उल्लंघन करने के कारण मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्न—तो मुनि को कैसे स्थान में ठहरना चाहिए?

उत्तर—जो मुनि वीर है उसको पर्वतों की गुफाओं में या श्मशान में या सूने घर व मठादि में अथवा वृक्षों की कोटर (पोल) में ठहरना चाहिए, क्योंकि ये स्थान वैराग्य की वृद्धि करने वाले और चारित्र का पोषण करने वाले हैं। किन्तु निम्नोक्त देश नगरादि में अथवा उससे सम्बन्ध रखने वाले पर्वतादि में भी साधु निवास न करे। जैसा कि कहा है—

णिवदिविहीणं खेत्तं णिवदी वा जत्थ दुट्ठओ होज्ज।
पव्वज्जा च ण लब्भइ संजमघादो य तं वज्जे ॥ ६० ॥
णो कप्पदि विरदाणं विरदीणमुवासयम्हि चेट्ठेदुं।
तत्थ णिसेज्ज उवट्टण सज्झायाहार वोसरणे ॥ ६१ ॥ (मूला० स०)

अर्थ—जिस क्षेत्र का कोई राजा न हो। अर्थात् जिस देश, नगर, गाँव या घर का कोई स्वामी न हो, वहाँ के रहने वाले मनुष्य स्वच्छन्दता से अपनी मनमानी प्रवृत्ति करते हैं। तथा जिस देश नगर गाँव या गृह का स्वामी दुष्ट स्वभाव का हो, दूसरों को सताने और धर्म की विराधना करने में जिसको सतोष उत्पन्न होता हो, जिस देश में शिष्यमण्डली न हो, धर्मोपदेश को सुनने वाले न हों, शास्त्रों का अध्ययन करने वाले न हों, व्रतों के रक्षण करने में तत्पर न हों तथा जिन के मन में मुनिधर्म की तथा श्रावकधर्म की दीक्षा

ऐसे सब स्थानों

जहाँ संयम में अतिचार अधिक लगने की सम्भावना हो, आत्म-हित का अभिलाषी साधु

ग्रहण करने की भावना भी न हो, जहाँ संयम मे अतिचार अविक लगने की सम्भावना हो,

का परिहार करे।

निर्दोष चारित्र के आराधक मुनियों और आर्यिकाओं को ऐसी वसतिका मे कभी नहीं रहना चाहिए-जिसमें शयन करने

की आगमोक्त योग्यता न हो, बैठने की योग्यता न हो, जहाँ से भिक्षा के लिए जाने में बाधा उपस्थित होती हो। स्वाध्याय करने मे विघ्न

उपस्थित होता हो, तथा अन्य शरीर सम्बन्धी बाधा दूर करने मे अनेक प्रकार आपत्ति प्रतीत होती हो, जहाँ रहने से लोकापवाद होता हो

अथवा व्रतभंग होने का सन्देह हो, अपने चारित्र को उज्ज्वल रखनेवाले साधु व आर्यिका ऐसे स्थान का यत्नपूर्वक परित्याग करदे।

क्योंकि उत्तम वस्तु के संसर्ग से सम्यग्दर्शनादि की शुद्धि होती है और निन्दनीय वस्तु के सम्पर्क से सम्यग्दर्शनादि में मलीनता

उत्पन्न हो जाती है। कभी २ उनका सर्वनाश भी हो जाता है। जैसे कमल के संसर्ग से जल का कुंभ सुगन्धमय और शीतल हो जाता है

और अग्नि आदि द्रव्य के संयोग से शीतल सुगन्धित जल-कुंभ उष्ण और बेस्वाद हो जाता है एवं पत्थर आदि के संयोग से उसका सर्व

नाश हो जाता है। इसलिए साधुओं को कुत्सित संसर्गों का त्याग करना चाहिए। उन कुत्सित (निन्दनीय) संसर्ग का वर्णन करते हैं।

चंडो चवलो मंदा तह साहू पुट्ठिमंस पडिसेवी।

गारव कसायबहुलो दुरासओ हादि सो समणो ॥ ६४ ॥ (मूला० स०)

अर्थ—जो चण्ड स्वभाव का हो, विष वृक्ष के समान जिस मे दूसरों के प्राण हरण करने वाली रुद्र प्रकृति हो, जो अत्यन्त

चंचल स्वभाव वाला हो, जिसके चित्त मे स्थिरता न हो। जिसके पेट मे कोई बात टिक नहीं सकती हो, जो चारित्र के पालन मे आलसी

हो, तथा जो पीठ पीछे निन्दा करनेवाला हो, चुगलखोर हो, अभिमान से भरा हो, अपने को सब से महान् समझ कर दूसरे की अवहे-

लना करता हो, जिसकी प्रकृति क्रोध मय हो, जो बात बात पर क्रोधित हो जाता हो, जो दुराशय हो-ऐसे साधु या अन्यजन का

संसर्ग त्याग करने योग्य है।

हे मुने। जो साधु रोगी, दुर्बल, व्याधि-पीडित आदि साधुओं का वैयावृत्यादि द्वारा उपकार नहीं करता है, जो पाच प्रकार के

विनय से विमुख है, अर्थात् अविनीत—उद्दण्ड है, जो कठोर वाणी का प्रयोग करता करता है, जिसका आचरण निन्दनीय है, दिगम्बर

मुद्रादि का धारक होने पर जिसमें वैराग्य नहीं है, राग भाव का उत्कर्ष है-ऐसे साधु का सम्पर्क सर्वथा त्याग करने योग्य है।

जो कुटिल स्वभाव का है, दूसरे को सताप देने वाला है, पर दोष का प्रकाश करने मे, आनन्द मानता है, मारण उच्चाटन

वशीकरण मन्त्र, यन्त्र, तंन्त्र का प्रयोग करनेवाला है, दूसरे को धोखा देने वाले इन्द्र जाल कोकशास्त्र, वात्सयनादि शास्त्रों में प्रीति रखता है इन दुर्गुणों से युक्त चिरदीक्षित साधु भी सर्प के समान त्याग देने योग्य है। हे मुने। ये दुर्गुण पाप-श्रमण में पाये जाते हैं। क्योंकि वह गुरु के अंकुश रहित अकेला रहकर अनेक दुर्गुणों का निवास स्थान बन जाता है और पाप-श्रमण की संज्ञा पाता है।

पाप-श्रमण का लक्षण

आयरियकुलं मुच्चा विहरदि समणो य जादुएगागी।
ण य गेण्हदि उवदेसं पावस्समणोत्ति वुच्चदि दु ॥ ६८ ॥ (मूला. स.)

अर्थ—जो मुनि आचार्य संघ को छोड़कर अपनी इच्छानुसार भ्रमण करता है, मनमाना उपदेश देता है या स्वच्छन्दता पूर्ण वचनालाप करता है, भला बुरा सोचा करता है, किसी के हितकर उपदेश को नहीं सुनता है, किसी की शिक्षा की परवाह नहीं करता है। ऐसा बिना नकेल के बैल के समान अथवा बिना अंकुश के मदोन्मत्त हस्ती के समान स्वच्छन्द प्रवृत्ति करनेवाला संघभ्रष्ट एकलविहारी साधु पाप-श्रमण माना गया है।

जो दुर्वृत्ति साधु अपने गुरु की आज्ञा की अवहेलना कर, अपनी उद्दण्डता से उनके अंकुश की परवाह न कर आचार्य बनने की लालसा से मदमस्त हाथी के समान इधर उधर विचरने लगता है, तथा एक दो अपने समान साथियों को इकट्ठा कर आचार्य बन बैठता है-वह विवेक हीन साधु पाप-श्रमण है। वह पापमय प्रवृत्ति करके अपना नाश तो करता ही है और उनकी संगति करनेवाले संयमियों तथा श्रावकों को भी उन्मार्ग में लगाता है। जैसे आम का वृक्ष नीम के सम्पर्क में आकर कड़वे फल देता है। उसी प्रकार संवेग भाव (संसार से भीति) रहित, धर्मानुरागहीन, शिथिलाचारी, साधु के कर्त्तव्यों से विमुख, दुराशय साधु का संसर्ग मत करो। उसकी संगति आत्मा को श्रद्धा और चारित्र से च्युत कर देती है।

नगर के मध्यभाग से निकले हुए नाले समान दुर्जनसाधु के वचन कूड़े कर्कट के समान निकला करते हैं। जैसे नाले में बहकर आया हुआ मलमूत्र कूड़ा कर्कट दुर्गन्ध को फैलाता है वैसे ही दुर्जन साधु आगम विरुद्ध वचनों का उच्चारण कर समाज में अधर्म और दुराचार का विस्तार करता है। ऐसे साधु से सदा डरते रहना चाहिए। क्योंकि उसके वचन-भुजङ्ग आत्मा को डसते हैं। उसके विष की प्रभाव अनन्त भव तक बना रहता है, अतः वह भुजग (सर्प) से भी महा भयानक है। यद्यपि उसके वचन घोड़े की लीद समान ऊपर से चिकने चुपड़े होते हैं, बगुले के समान सुन्दर प्रतीत होते हैं, भुजङ्ग के भोग (शरीर) के समान कोमल मालूम होते हैं, किम्पाक फल के समान

आपात-रमणीय और मीठे होते हैं, किन्तु अन्त में आत्मा के घातक होते हैं। आत्मा को अनाचार रूप दुर्गन्ध से मलीन करनेवाले होते हैं। विष के समान आत्मा के घातक हैं।

हे मुने! कोई चिरकाल का दीक्षित होने से श्रेष्ठ नहीं माना गया है। साधु की श्रेष्ठता सच्चे वैराग्य से होती है। बहुत से साधु चिरदीक्षित होने पर भी मोक्षमार्ग से वञ्चित देखे जाते हैं। वैराग्यपरायण तीन दिन का दीक्षित अथवा अन्तर्मुहूर्त का दीक्षित भी मोक्ष का अधिकारी होता देखा गया है। अत आत्मा मे वैराग्य भावना को दृढ बनानेवाले परम विरक्त साधुओं का सत्सग करो। कई साधु ऐसे देखे जाते हैं जिनके उपदेश परम वैराग्य का निरूपण करते हैं परन्तु उनके अतःकरण लोभ और मान से गन्दे और मोक्षमार्ग से विमुख होते हैं। इसलिए सहसा किसी साधु को आत्मा के लिए हितकर मत समझो। उसके निकट सम्पर्क मे कुछ काल रहो। उसके विचारों और कार्यों का सूक्ष्मदृष्टि से निरीक्षण करो। तब तुम्हें प्रतीत होने लगेगा कि उसका बाह्यरूप घोडे की लीद के समान सुहावना है और उनका अन्तरंग कितना गन्दा और तुच्छ है। वे ऊपर से बगुले के समान सुन्दर दिखाई देंगे और उनके काम अति निन्दनीय और घृणा क योग्य प्रतीत होंगे। इसलिए जिन के ससर्ग मे तुमको अपने जीवन को सफल बनाना है अपने वैराग्य भाव को दृढ करना है–चारित्र को उन्नत बनाना है–तो उनकी जाँच मे असावधानी मत करो।

हे मुने! देखो कर्मबन्ध के कारण आत्मा के परिणाम हैं। इसलिए अपने आत्मपरिणामों को उज्ज्वल बनाये रखो। जो साधु दिखावे के लिए-अपने को उत्तम प्रकट करने के लिए-दूसरों के सामने तो अपने मन वचन काय की उत्तमता से प्रवृत्ति करता है, और जनता से पृथक् होते ही–एकान्त में–उनकी कुप्रवृत्ति करता है। मन मे निन्दनीय और तुच्छ विचारों को जन्म देता है। संकल्प और विकल्प रूपी जल तरंगों मे उसकी मनरूप नौका गोते खाने लगती है। अभिमान, लोभ और माया भरे महान असत्य वचनों का उच्चारण करता है और काय से जीवरक्षा रहित अज्ञानमय क्रियाएँ करता है वह साधु अपना भी विनाश करता है और उसके सम्पर्क मे रहने वाले सयमियों और श्रावक श्राविकाओं की भी मिथ्यामार्ग मे प्रवृत्ति होने लगती है। इसका कारण भावों की मलीनता ही है। इसलिए प्रतिसमय तुमको अपनी आत्मा का निरीक्षण करते रहना चाहिए। जो साधु विवेक-ज्ञान (भेद ज्ञान) रूपी दीपक लेकर अपने अन्तःकरण मे सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्ररूपी मार्जनी (बुहारी) से मिथ्यात्व, असयम व कषाय रूपी कूडे कर्कट को साफ करता रहता है उसकी आत्मा अल्पकाल मे परम पवित्र बन जाती है और उसके द्वारा ही ससार के जीवों का कल्याण होता है। वह शीघ्र मुक्ति-पद का अधिकारी होता है और उसके ससर्ग से अन्य जन भी मुक्तिपथ के पथिक बनते हैं। इसलिए तुमको मिथ्यात्व असयम और कषाय का सर्वथा त्याग कर अपनी आत्मा का प्रतिक्षण निरक्षण करते रहना चाहिए।

क्योकि आत्मा के परिणामों के निमित्त को पाकर योग द्वारा प्राप्त हुए कार्मीण वर्गणा के पुद्गल, कर्मरूप परिणमन करते हैं।

जो आत्मा ज्ञानरूप परिणत होता है। जिसको भेद-विज्ञान जागृत हो गया है, वह आत्मा निरन्तर आत्मा का निरीक्षण करता रहता है, इस लिए वह कर्म के बन्धन से बद्ध नहीं होता है। अर्थात् उसके कर्मों का बन्धन नहीं होता है। अत चारित्र को ज्ञान दर्शन पूर्वक कहा है।

हे मुने। जो साधु मिथ्यात्व, असयम व कषाय को हृदय मे स्थान नही देता है, उसके ज्ञान व चारित्र की वृद्धि होती है। उसका चित्त एकाग्रता को प्राप्त होता है और चित्त की एकाग्रता को ही ध्यान कहते हैं। उसका शान्त-चित्त स्वाध्याय की ओर प्रवृत्त होता है। वह आगम का वाचन, पृच्छन, चिन्तन, स्मरण करता है। तथा वाचन-चिन्तनादि से उपलब्ध हुए तत्त्व को, आगम के रहस्य को, उपदेश द्वारा जनता मे प्रकट करता है। इस प्रकार प्रवृत्ति करनेवाला महात्मा संसार समुद्र से शीघ्र पार होता है और उसके सम्पर्क में रहने वाले पुण्यवान पुरुष भी संसार सागर से निकलने का साधन सन्मार्ग रूपी नौका प्राप्त करलेते हैं।

हे मुने। ज्ञान सन्मार्ग का प्रदर्शक है और तपश्चरण आत्मा को शुद्ध करनेवाला है। तपश्चरण मे भी स्वाध्याय सब से मुख्य है। क्योंकि आत्मा को तपश्चरण सरीखे कठोर कार्य मे स्थिर रखने वाला विवेकज्ञान है और वह ज्ञान स्वाध्याय से, सूत्र (आगम) का अभ्यास, मनन चिन्तन से उपलब्ध होता है। कहा भी है—

सूई जहाससुत्ता ण णस्सदि दु पमाददोसेण।
एवं ससुत्तपुरिसो ण णस्सदि जहा पमाददोसेण॥ ८० ॥ (मूला० स०)

अर्थ—डोरे मे पिरोई हुई सूई प्रमाद से गिर जाने पर भी जैसे गुम नही सकती—अर्थात् कूडे कचरे में गिरी हुई सूक्ष्म सूई सूत्र (डोरे) के साथ होने से पुन. मिल जाती है—वैसे ही आत्मा के प्रतिकूल अनेक कारणों के उपस्थित होने पर, तपश्चरणादि कठोर क्लेशजनक आचरण से आत्मा मे चंचलता आजाने पर उसको सन्मार्ग मे स्थिर करने वाला सूत्र (आगम) का स्वाध्याय है। जो कोमल प्रकृतिवाला मनुष्य दुष्कर वृक्षमूलादि योग अथवा मासोपवास कायक्लेशादि तप करने मे असमर्थ है, वह यदि शुद्ध-चित्त से कषायादि का त्याग करके निरन्तर आगम के स्वाध्याय मे तल्लीन रहता है तो कर्मों का बहुत शीघ्र क्षय करलेता है।

हे मुने। शास्त्रस्वाध्याय और ध्यान की सिद्धि करने के लिए तुमको निद्रापर विजय प्राप्त करना चाहिए। क्योंकि निद्रा मनुष्य को अचेत (विवेकहीन) बना देती है। निद्रा मे साधु विवेक-शून्य होकर अनेक दोषों का सेवन करता है। निद्रा और आहार बढाने से बढते और घटाने से घटते हैं। जो निद्रा के वश रहता है—उसको प्रमाद व आलस्य घेरे रहता है उसका मन न तो स्वाध्याय मे लगता है और न ध्यान मे लगता है। इसलिए शास्त्रज्ञान प्राप्त करने के लिए और चित्त को एकाग्र करने के लिए निद्रा-विजयी बनो। निद्रा-विजयी साधु जीवाजीवादि तत्त्वों का नयप्रमाण से सूक्ष्मज्ञान प्राप्त करता है। कर्मों के बन्धन और मोचन के कारणों को जानकर ध्यान द्वारा कर्म-बन्धन

की गुत्थियो को सुलझाता है। जैसे लक्ष्यबेधी मनुष्य धनुष पर सीधा बाण रखकर अपने दोनों नेत्रो को अर्धनिमीलित (आखें मूदकर) बाण
को लक्ष्य से मिलाता है, इसी प्रकार प्रमाद रहित साधु शुभध्यान के लिए अर्धनिमीलित नेत्र होकर अपने चित्त को एकाग्र करके आत्मा में
लगाता है।

हे मुने । संसार और भोगों से विरक्त होकर तुम ज्ञानावरणादि कर्मों का आत्मा के प्रदेशों के माथ सम्बन्ध का, आत्मा के
माथ सम्बद्ध कर्मों के विश्लेषण के उपायो का तथा जीव और पुद्गलादि अजीव पदार्थों तथा उन पर्यायों के भेद प्रभेदों का चिन्तन करो।

हे साधो । इस जीव ने अनादिकाल से ससार में परिभ्रमण करते हुए द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन, भव
परिवर्तन और भावपरिवर्तन अनेक बार किये हैं। किन्तु श्रीजिनेन्द्रदेव कथित धर्म का आश्रय इस को नहीं मिला है। यदि एक बार भी
धर्म का अ कुर आत्मा म उदित हो जाता तो उसको इतने असह्य दु ख न भोगने पड़ते। अब काललब्धि आदि के योग से यह सुअवसर
उपलब्ध हुआ है। यदि उसको तपश्चरण और ध्यान के बिना खो दिया तो फिर पछताने के सिवा कुछ भी हाथ मे न रहेगा। इत्यादि प्रकार
से नित्य प्रतिसमय चिन्तन करो।

देखो, ये संसारी अज्ञानवश मोहाग्नि से झुलस रहे हैं, अत्यन्त असह्यदु ख का अनुभव करते हुए भी विषय भोगसे अधिका-
धिक सम्बन्ध करते हैं। और अनन्त ससार से निकलने के द्वार को मोहान्ध होकर खो रहे हैं। संसार मे धीर वीर साधु ही हैं जो अनेक
उपसर्ग परिषहों को सहकर उस असार ससार से विरक्त होकर आत्म-कल्याण के मार्ग मे दत्तचित्त है। हे मुने। यह शुभ-संयोग तुमको
बड़े सौभाग्य से मिला है, अत, तुम शुभध्यान मे सदा रत रहकर कर्मों के जाल को तोड़कर अपनी निजनिधि को प्राप्त करो।

हे मुने । यदि तुम ध्यान मे रत होना चाहते हो तो आरभ और लोभादि कषाय का परित्याग करो। जैसे नेत्र सूक्ष्मतम कचरे को
भी नहीं सह सकता, उसको बाहर निकलने पर ही उसे चैन मिलता है। जैसे समुद्र अपने भीतर तृणादि कचरे को स्थान नहीं देता है, ऊपर
निकाल फैंकता है। इसी प्रकार ध्यान भी आरम्भ और लोभादि कषाय को अपने निकट नहीं आने देता है। अर्थात् आरम्भ और कषाय के
सद्भाव मे ध्यान की सिद्धि असम्भव है। जब आत्मा निष्कषाय होता है, उसके अत करण में कषाय की मलीनता नहीं रहती है-तब ही
ध्यान की सिद्धि होती है।

हे मुने । यदि तुम ो ससार के दु खों से छुडाने वाले चारित्र का आराधन करना है तो आत्मा में कषाय को उत्पन्न मत होने
दो। क्योकि कषाय के अभाव को ही चारित्र कहते हैं। जो कषाय के वशीभूत हो, वह असयमी है। जिस समय कषाय उपशान्त रहती
है-अर्थात् कषाय का उदय नहीं होता है उस समय आत्मा-सयमी होता है।

सं प्र

हे साधो ! शिष्यादि मे मोह उत्पन्न करना दुर्गति का कारण है। क्योकि उससे मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, रागद्वेषादि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। कारणों से दोष पैदा होते हैं और कारणो के अभाव से दोषो का अभाव होता है।

पच्चयभूदा दोसा पच्चय भावेण णत्थि उप्पत्ती ।
पच्चभावे दोसा णस्संति निरासया जहा वीयं ॥ ६३ ॥ (मूला० स०)

अर्थ—कर्म-बन्ध के कारणभूत शिष्यादि सम्बन्धी मोह से रागद्वेषादि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। रागद्वेषादि के कारणभूत मोह के अभाव से उन दोषो का प्रादुर्भा नहीं होता है। इसलिये कारणभूत शिष्यादि सम्बन्धी मोह के अभाव से मिथ्यात्व, असंयम, कषाय रागद्वेषादि दोष स्वय नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि आश्रय के अभाव से दोष निर्मूल होकर नष्ट हो जाते हैं। जैसे बीज मे अकुर की उत्पत्ति पृथ्वी-जल-पवन-सूर्यकिरणो के सयोग से होती है। यदि पृथ्वी-जल-पवनादि का सयोग न मिले तो बीज अंकुर को उत्पन्न करने मे समर्थ नहीं होता है। जिन कारणो के सद्भाव मे जो दोष होते हैं उन कारणों का अभाव होने पर उनके फल (कार्य) स्वरूप उन दोषो की उत्पत्ति नहीं होती है।

अतएव हे साधुओ ! परिग्रह के कारणभूत क्रोध मान माया लोभ हैं। क्योंकि लोभादि के होने पर ही परिग्रहादि होते हैं और लोभादि का विनाश होजाने पर परिग्रहादि नहीं होते हैं। इसलिए सब साधुओ को लोभादि छोड़ना चाहिए जिससे परिग्रह की इच्छा उत्पन्न ही न हो।

हे साधो ! इस संसार म जीव जो नरकादि पर्यायो को प्राप्त करते हैं, उनका मूलकारण राग द्वेष और मोह है। राग द्वेष व मोह के वशीभूत होकर ही जीव नरकादि कुयोनियो मे भटकता है। ससार मे रागद्वेष मोह ही महाशत्रु हैं। इसलिए वैराग्य ज्ञान द्वारा पदार्थों से मोह को हटाओ। परमविरक्ति धारण करो। वही शिव सुख को देने वाली है।

अत्थस्स जीवियस्स य जिब्भे अत्थाणकारणं जीवो ।
मरदि य मारावेदि य अणंतमो सव्वकालं तु ॥ ६६ ॥
जिब्भो वत्थणिमित्तं जीवो दुक्खं अणादि संसारे ।
भत्तो अणंतसो तो जिब्भो वत्थे जयह दाणिं ॥ ६७ ॥

अर्थ—यह जीव इस संसार मे अर्थ के निमित्त-धन घर भूमि आदि के लिये, अपने जीवन के लिए-आत्म रक्षा के लिए, जिह्वा इन्द्रिय के विषय की प्राप्ति के लिए तथा उपस्थ इन्द्रिय के विषय के लिए-काम सेवन के लिए अपने प्राणों का बलिदान करता है, स्वय अन्य प्राणियो के प्राणो का हरण करता है तथा दूसरो से हरण करवाता है।

इन चारो मे भी रसनेन्द्रिय और मैथुन इन्द्रिय अति बलवान हैं। इनके निमित्त इस जीव ने अनन्त बार इस संसार में घोर दुःख सहे हैं। इसलिए इन दोनो इन्द्रियो पर पूर्ण विजय प्राप्त करो।

भावार्थ—यह अज्ञानी जीव सासारिक विषयों मे सुख समझकर उनकी रक्षा के लिए अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करता है। कभी धन घर गाय भैंस क्षेत्रादि भूमि की प्राप्ति व रक्षा के लिए चौर शत्रु आदि से लड़ता है। रणचण्डी के चरणो में अपने प्राणों की बलि चढ़ाता है। कभी अनेक निरपराध व दीन क्षीण प्राणियो के प्राण लेता है। अपने जीवन की रक्षा के लिए अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण करता है। अन्यायमार्ग का अनुसरण करता है। असहाय दीन जीवों पर अत्याचार करता है। जीवों के आहार संज्ञा इतनी तीव्र होती है कि जिसके वशीभूत हुआ प्रत्येक जीव रात दिन आहार की खोज मे लगा रहता है। छोटे जन्तु से लेकर बड़े से बड़ा प्राणी पेट की ज्वाला शान्त करने के लिए क्या २ अनर्थ नहीं करता ? एक जन्तु दूसरे जन्तु का भक्षण करता है। मनुष्य भी भोजन की लालसा के वशीभूत होकर भक्ष्य अभक्ष्य का विचार नहीं करता है। मैथुनइन्द्रिय के वश जीव अन्धा सा हो जाता है। विवेकी मनुष्य भी कामातुर होकर कुल, जाति, व सयमादि को भूल जाता है।

हे मुने ! तुम स्पर्शनेन्द्रिय को जीतने के लिए पूर्ण सावधान रहो। काठ की या मिट्टी की स्त्री (पुतली), चित्राम की स्त्री, व स्त्री की (तस्वीर) से भी भयभीत रहो। यह पुतली और स्त्री की तस्वीर भी तुम्हें ब्रह्मचर्य से पतित कर सकती है। क्योंकि इनको देखने से भी चित्त मे क्षोभ सभव है। वही कहा है—

> चीहेदव्वं णिच्चं कट्ठत्थस्सवि तहित्थिरूवस्स।
> हवदिय चित्तक्खोभो पच्चयभावेण जीवस्स ॥ ९९ ॥
> घिदभरिदघडसरित्थो पुरिसो इत्थी बलंत अग्गिसमा।
> तो महिलेयं ढुक्का णट्ठ पुरिसा सिवं गया इयरे ॥ १०० ॥ मूला०

अर्थ—ब्रह्मचर्यव्रत को सुरक्षित रखने का अभिलाषी सयमी काठ व मिट्टी की बनी हुई स्त्री तथा चित्र लिखित स्त्री से भी डरता

रहे। क्योंकि वह भी साधु के चित्त में चंचलता व उद्वेग-विकार उत्पन्न कर देती है। चित्त में विकार उत्पन्न होने पर ब्रह्मचर्य का रहना असंभव है। क्योंकि घी से भरे हुए घडे के समान पुरुष है और जाज्वल्यमान अग्नि के समान स्त्री का रूप है। अग्नि के समीप में रहने वाले घट की जैसी अवस्था होती है, वही हालत स्त्री के साथ संसर्ग करने वाले संयमी की होती है।

स्त्री के फोटो और चित्राम मे भी जब पुरुष के मन को क्षोभित करने की शक्ति है तब साक्षात् स्त्री का क्या कहना ? इसलिए हे साधो। यदि तुम अपनी रक्षा चाहते हो, संयम को स्थिर और ब्रह्मचर्यव्रत को निर्दोष रखना चाहते हो तो स्त्री को सर्प के समान समझो। जो संयमी स्त्री के सम्पर्क में आये हैं-उनके साथ वार्तालाप हास्यादि किया है-उनका संयम-जीवन नष्ट होगया है। और जो इनका दूर से ही त्याग करते हैं, उनके साथ बात चीत तो दूर रही, पूर्ण-दृष्टि मे भी जो उनको नहीं देखते हैं। वे ही पुरुष मोक्ष मार्ग पर स्थिर रहे हैं और शिवसुख के अधिकारी बने हैं। इसलिए

मायाए बहिणीए धूआए मूइ वुड्ढ इत्थीए।
वीहेदव्वं णिच्चं इत्थीरूवं णिरावेक्खं ॥ १०१ ॥ मूला

अर्थ—चाहे वह स्त्री माता हो, बहिन हो, पुत्री हो, गूंगी हो या बाला वृद्धा क्यो न हो-स्त्री के शरीर से सदा डरना चाहिए। क्योंकि अग्नि कैसी ही क्यों न हो वह अपना स्वभाव नहीं छोड़ती। जैसे चन्दन की अग्नि भी शरीर को तत्काल भस्मसात् करने मे समर्थ होता है, वैसे ही स्त्री मात्र का सम्पर्क ब्रह्मचर्य का घात करनेवाला है।

हे मुने। तुम ब्रह्मचर्य मे दृढ़ हो। तुम्हारा अन्त:करण पवित्र है। तुम्हारे चित्त मे वैराग्य भावना लहरा रही है। तुमने विषयों को भुजग के भोग (शरीर) के समान समझकर निर्विकार अवस्था धारण की है। लेकिन संसार मे निमित्त बड़ा बलवान होता है। देखो। आखों मे जल भरने का कोई स्थान नहीं है तथापि अत्यन्त शोक व दु:ख के प्राप्त होते ही आखों मे आसुओं की धारा बहने लगती है। ग्राम्यशूकरी (शूरड़ी) के स्तनों मे दूध नहीं रहता है, किन्तु उसके बच्चों के मुंह लगाते ही उनके प्रेम से शूरडी के स्तनों में दूध उत्पन्न हो जाता है। संयोग पाकर शरीर के परमाणु जल और दूध रूप परिणत हो जाते हैं। बाह्यनिमित्त मे अचिन्त्य शक्ति है, बाह्यनिमित्त को पाकर चित्त मे विकार भाव उत्पन्न हो सकता है। अतएव स्त्री के अवयवों को कभी मत देखो। जिस स्त्री के हाथ पाँव भी छिन्न भिन्न हो गये हो, कानों से बहरी और नाक से नकटी हो, कोढ से जिसका शरीर झरता हो, अत्यन्त विद्रूप हो, यदि वह भी वस्त्रादि रहित नंगी हो तो उस की तरफ मत झाको। सत्ता मे बैठे हुए कर्म-शत्रु निमित्त पाते ही उदय मे आकर तुम पर विजय प्राप्त करलेंगे। क्योंकि स्त्री आत्मा के धैर्यादि गुण का नाश करके नरकादि दुर्गति मे लेजानेवाली है।

"परिभवफलवल्लीं दुःखदावानलाली,
विषमजलधिवेलां श्वभ्रसौधप्रतोलीम् ।
मदनभुजगदंष्ट्रा मोहतन्द्राभवित्री,
परिहर परिणामैर्धैर्यमालम्ब्य नारीम् ॥"

अर्थ—हे मुने ! तू धैर्य का अवलम्बन लेकर स्त्री के सम्पर्क को चित्त से भी निकाल दे । अर्थात् स्त्री के आकार का चित्त मे भी चिन्तन मत कर । क्योंकि यह स्त्री तिरस्कार रूपी फल को उत्पन्न करने वाली वेल (लता) है । दुःख रूप दावानल की परम्परा को बढ़ाने वाली है । विषय रूप समुद्र की लहर है । नरक रूपी महल का बड़ा द्वार है । काल रूपी सर्प की दाढ़ है । मोह रूपी नींद की जन्मदात्री है । ऐसा जानकर ब्रह्मचर्य का पालन करने मे पूर्ण सावधान रहने की आवश्यकता है । ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध मे आचार्यों ने विभिन्न दृष्टियो से विचार किया है ।

ब्रह्मचर्य के भेद

मणबंभचेर वचिबंभचर तह काय बंभचेरं च ।
अहवा हु बंभचेरं दव्वं भावं ति दुवियप्पं ॥ १०३ ॥मूला०

अर्थ—ब्रह्मचर्य तीन प्रकार का है । १ मानसिक ब्रह्मचर्य, २ वाचनिक ब्रह्मचर्य और कायिक ब्रह्मचर्य । अथवा द्रव्य ब्रह्मचर्य और भाव ब्रह्मचर्य इस प्रकार ब्रह्मचर्य के दो भेद हैं ।

भावार्थ—मन मे स्त्री आदि के सम्बन्ध से विकार भाव के न रहने से तथा स्त्री के रूप का, उसके अवयवों का, शृंगार रस पूर्ण शास्त्रो का चिन्तन या मनन न करने से चित्त मे क्षोभ नहीं होता है । मास, मज्जा रुधिर, वात, पित्त, कफ, लार विष्टा, मूत्रादि के पात्र, अत्यन्त घृणित स्त्री के अङ्गोपाङ्गों पर दृष्टि पड जानेपर उनके असली स्वभाव का विचार करने से मानसिक ब्रह्मचर्य की पालना होती है । काम विकार उत्पन्न करने वाले शृंगार रस के पोषक नाटक, काव्य आदि के न पढने से, कामाग्नि प्रज्वलित करने वाली कथा कहानी न करने तथा वैराग्य व विषय-विरक्ति उत्पन्न करने वाले शान्तरस पोषक वचनों के उच्चारण करने से वाचनिक ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है । कामोद्दीपन करनेवाले गरिष्ठ आहार का त्याग करने से, शरीर के संस्कार का त्याग करने से, परम वैराग्य की मूर्त्ति गुरु आदि महात्माओ के निकट

रहने से, एकाकी भ्रमण न करने से, एकान्त में माता व बहिन तथा परम विरक्त वृद्धा आर्यिका आदि से भी वार्तालापादि का सर्वथा त्याग करने से कायिक ब्रह्मचर्य सुरक्षित रहता है।

वचन से व काय से ब्रह्मचर्य का पालन करना द्रव्य ब्रह्मचर्य है। मन से भावब्रह्मचर्य का धारण करना भावब्रह्मचर्य है। भावब्रह्मचर्य से रहित केवल द्रव्य-ब्रह्मचर्य से आत्मा की सद्गति नहीं होती। अत. विषय रूपी वन मे रमण करनेवाले मन रूपी मस्त हाथी को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। जब तक मनरूपी मस्त हस्ती विषय वाटिकामे क्रीडा करता फिरता है तब तक सयमभाव उत्पन्न नहीं होता। इसलिए उसे वैराग्य रूपी साकल से विवेक-ज्ञान रूपी आलान (बन्धन स्तम्भ) के साथ बाधो। अन्यथा सयम की आशा करना व्यर्थ है।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए साधु को निम्नोक्त दोषों से बचना आवश्यक है—

पढम विउलाहारं विदियं कायसोहणं।
तदियं गधमल्लाइं चउत्थं गीयवाइयं ॥ १०५ ॥
तह सयणसोधणं पि य इत्थिसंसग्गं पि अत्थसंगहणं।
पुव्वरदि सरणमिंदिय विसयरदी पणिदरससेवा ॥ १०६ ॥
दसविहमव्वंभमिणं संसार महादुहाणमवाहं।
परिहरइ जो महप्पा सो दढ बंभव्वदो होदि ॥ १०७ ॥ (मूला. स.)

अर्थ—ब्रह्मचर्य की रक्षा करने के लिए निम्नोक्त विषय का परित्याग करो। १-प्रचुरमात्रा मे भोजन मत करो। २-जलस्नान, तैलमर्दन, उबटन, आदि रागवधक कारणों से शरीर का संस्कार मत करो। ३-इत्र लवडर सेंट आदि सुगन्धित द्रव्यो का शरीर से सयोग मत होने दो। ४-गीतवादित्रादि के सुनने का तथा सुरीले गान का परित्याग करो। ५-रुई आदि के गद्दे पलंग आदि आराम देनेवाली शय्या पर शयन मत करो तथा काम को उत्तेजित करनेवाले क्रीडागृह-चित्रशालादि को मत देखो। ६-रागरंग मे निपुण कटाक्षनिरीक्षण एवं शृंगार रमप्रिय स्त्रियो के सपर्क का त्याग करो। ७-रुपये पैसे का तथा वस्त्राभरणादि का ग्रहण मत करो और न उनको छूओ। ८-पूर्व सयम मे भोगे हुए भोगो का स्मरण-चिन्तन मत करो। ९-काम के निमित्त कारण इन्द्रियो के व सुन्दर व मनोहर रूप रसादि विषयो की अभिलाषा मत करो। १०-पौष्टिक व काम को उत्तेजित करनेवाले पदार्थो के सेवन का त्याग करो। ये दश कारण ब्रह्मचर्य के घातक हैं,तथा ससारमे तीव्र दु ख के प्रधान कारण हैं। जो महात्मा इनका भले प्रकार त्याग करता है उसीके ब्रह्मचर्य सुरक्षित रहता है। जो इनका त्याग किये बिना ब्रह्मचर्य का

पालन करने की इच्छा करता है। वह आकाश के कुसुम से सुगन्ध चाहता है। उसका ब्रह्मचर्य बालू की भीत के समान है। ब्रह्मचर्यव्रत को दृढ़ बनाने के लिए उक्त दश त्याग आवश्यक हैं। भाव-ब्रह्मचर्य का धारण व रक्षण उतना ही आवश्यक है जितना कि आयु की रक्षा के लिए शरीर का रक्षण आवश्यक है, अथवा शरीर रक्षा के लिए आहार-ग्रहण आवश्यक है। जिस महात्मा ने द्रव्य-ब्रह्मचर्य को सुरक्षित बना रखने के लिए उक्त दश प्रतिकूल कारणों का त्याग किया है, उसी ने भाव-ब्रह्मचर्य की रक्षा कर आत्मा को कर्म-बन्धन से मुक्त किया है। क्योंकि ब्रह्मचर्य के होने पर ही चारित्र होता है। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से शरीर मे चारित्र के पालन करने की तथा आत्मा में ध्यान में स्थिर रहने की सामर्थ्य प्रकट होती है। ब्रह्मचर्य के प्रताप से ज्ञानबल के साथ आत्मा की सोई हुई सब शक्तियां जाग उठती हैं और वह आत्मा सहज ही में कर्म-शत्रुओं को परास्त कर अपने निज (शिव) पद को प्राप्त कर लेता है। सिद्धि प्राप्त करने के लिए दो प्रकार के त्याग आवश्यक हैं। कहा भी है—

चाओ य होइ दुविहो संगच्चाओ कलत्तचाओ य।
उभयच्चायं किचा साहू सिद्धिं लहू लहदि ॥ ११५ ॥ (मूला.)

अर्थ—यति के दो प्रकार का त्याग होता है। १ परिग्रह का त्याग और २ कलत्र (स्त्री) का त्याग। इन दोनों त्यागों को करके साधु शीघ्र ही सिद्धि को पा लेता है।

भावार्थ—परिग्रह-त्यागी और समस्त स्त्री का त्यागी शील व्रती मुक्ति का अधिकारी होता है। परिग्रहत्याग का ब्रह्मचर्य से भी सम्बन्ध है। जिसके दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग होता है उसके ही ब्रह्मचर्य की उत्कृष्टता होती है। भाव-ब्रह्मचर्य की पूर्ण प्राप्ति के लिए परिग्रह का त्याग अत्यन्त आवश्यक है।

कोहमदमायलोहेहिं परिग्गहे लयइ संसजइ जीवो।
तेणुभयसंगचाओ कायव्वो सव्वसाहूहिं ॥ १०८ ॥ (मूला)

अर्थ—जीव क्रोध से, मद से, माया से, व लोभ से परिग्रह मे आसक्त होता है। इसलिए साधुओं को क्रोधादि कषायों का तथा बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का और दोनों प्रकार के अब्रह्मचर्य का त्याग करना चाहिए।

भावार्थ—जिसको आत्मा ग्रहण करता है उसे परिग्रह कहते हैं। वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। किन्तु कषाय के वशीभूत हुआ आत्मा अपने स्वरूप से तो पृथक् होता है और आत्म-स्वरूप से भिन्न पदार्थों मे आसक्त होता है। क्रोध के आवेश मे होकर क्रोध की शान्ति के लिए बाह्यपदार्थों का आश्रय लेता है। जिसपर क्रोधित हुआ हो उससे वैर निर्यातन करने के लिए शस्त्रादि का ग्रहण करता है। अभिमान

के वश होकर अपने को महान दिखाने के लिए अनेक प्रकार के परिग्रह का संचय करता है। मायाचार को सफल बनाने के लिए अथवा कपटाचार को छिपाने के लिए बाह्य आडम्बर दिखाता है। अथवा मायाचारसे दूसरों को ठगकर परिग्रह का संचय करता है। लोभवश अनेक वस्तुओं का अर्जन करता है। तात्पर्य यह है कि परिग्रह के अर्जन व रक्षण में कषाय ही कारण होती है। परिग्रह के त्याग करनेवाले को प्रथम कषायों का त्याग करना अत्यावश्यक है। जबतक आत्मा में कषाय जीवित है तबतक परिग्रह का त्याग होना असम्भव है। अतः कषाय-त्याग पूर्वक दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करना चाहिए। परिग्रह का त्याग करने पर ब्रह्मचर्य का आराधन अति सुगम है। इसलिए हे साधो! तुमको सबसे प्रथम कषाय कृश करनी चाहिए। कषाय के मंद होने पर परिग्रह से अरुचि उत्पन्न होती है और परिग्रह से अरुचि आत्मा को ब्रह्मचर्य की ओर प्रवृत्त कराती है। इसलिए परिग्रह त्याग और ब्रह्मचर्य को दृढ़ करने के लिए तुमको कषाय का त्याग करना उचित है। जिस के अन्त करण में लोभादि कषाय धधक रही है उसकी आत्मा में ब्रह्मचर्यादि व्रत व दोनों प्रकार के संयम का अंकुर नहीं जमता है। प्रज्वल्यमान कषाय व्रत व संयम के बीज को क्षणभर में दग्ध कर देती है। अतः कषाय का त्याग ही परिग्रह का त्याग और ब्रह्मचर्य का साधक है।

ब्रह्मचर्य में स्थिरता और परिग्रह के त्याग से साधु का अन्त करण सब पदार्थों से विरक्त और मोह रहित हो जाता है, शान्त तथा शुभ ध्यान में तत्पर रहता है, उसकी सब क्रियाएँ निर्दोष होती हैं। उसकी भिक्षाचर्या में शुद्ध परिणति होती है, ध्यान स्वाध्याय में उसको अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है और वह पापक्रियाओं से निवृत्त रहता है।

व्रतों की रक्षा के लिए शील का होना नितान्त आवश्यक है इसलिए यहाँ शील के भेदों को भी समझा देते हैं।

शील-निरूपण

जोए करणे सण्णा इंदियभोम्मादि समणधम्मे य।
अण्णोण्णेहिं अभत्था अट्ठारह सीलसहस्साइं ॥ २ ॥ (मूला० शी०)

अर्थ—तीन योग, तीन करण, चारसंज्ञा, पाँच इन्द्रिय, दश पृथ्वीकायादि जीव और दश प्रकार मुनिधर्म इन को परस्पर गुणा करने से अठारह हजार शील के भेद होते हैं।

भावार्थ—योग और वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम होने पर औदारिकादि सात प्रकार की कायवर्गणाओं में से किसी एक के अवलम्बन से जो आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द (कम्पन) होता है उसे काययोग कहते हैं। शरीर नामकर्म के उदय से प्राप्त हुई वचनवर्गणा के आश्रय तथा वीर्यान्तराय और अक्षरात्मक मतिज्ञानावरण के क्षयोपशमादि आभ्यन्तर वचनलब्धि के होने पर

वचन उच्चारण करने में प्रवृत्ति करनेवाले के जो आत्म-प्रदेशों का परिस्पंद होता है उसे वचनयोग कहते हैं। तथा आभ्यन्तर वीर्यान्तराय व नोइन्द्रियावरण के क्षयोपशम रूप मनोलब्धि के होने पर तथा बाह्य में मनोवर्गणा के आलम्बन से जो आत्मा के प्रदेशों का कम्पन होता है उसे मनोयोग कहते हैं। इस प्रकार तीन योग हैं। यहाँ पर योग से मन वचन काय की शुभ प्रवृत्ति का ग्रहण है।

करण—कृत, कारित और अनुमोदना ये तीन करण हैं अथवा मन वचन और काय की अशुभ क्रिया को करण कहते हैं।

संज्ञा—संज्ञानाम अभिलाषा का है। वे चार हैं-१आहारसंज्ञा, २ भयसंज्ञा, ३ मैथुनसंज्ञा और ४ परिग्रहसंज्ञा।

इन्द्रिय—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाच इन्द्रियाँ हैं।

जीवराशि—१ पृथ्वीकायिक, २ जलकायिक, ३ तैजसकायिक, ४ वायुकायिक, ५ प्रत्येक वनस्पति कायिक, ६ साधारण वनस्पति कायिक, ७ दो इन्द्रिय, ८ तीन इन्द्रिय, ९ चार इन्द्रिय और १० पंचेन्द्रिय जीव।

दश मुनिधर्म—१ उत्तम क्षमा, २ मार्दव, ३ आर्जव, ४ सत्य ५ शौच, ६ संयम ७ तप, ८ त्याग ९ आकिंचन्य, और १० ब्रह्मचर्य ये दश मुनि धर्म हैं।

इन सब को परस्पर गुणा करने से नीचे लिखे अनुसार भेद होते हैं।

$\frac{३ \times ३}{९} \times \frac{४ \times}{३६} \frac{५}{१८०} \times \frac{१० \times}{१८००} १० = १८०००$

इस प्रकार अठारह हजार शील के भेद होते हैं।

भावार्थ—जो श्रेष्ठ मुनीश्वर मन वचन काय से कृत कारित अनुमोदना रूप अशुभ परिणामों से रहित, आहारादि संज्ञा से रहित, स्पर्शनादि इन्द्रियों से संवृत, पृथिवी कायादि जीवों के रक्षक तथा उत्तम क्षमादि दशधर्मों के पालक होते हैं उनके अठारह हजार शील के भेदों का पालन होता है।

अब संयम के भेद रूप चौरासीलाख उत्तर गुणों का खुलासा करते हैं—

पाणिवहमुसावादं अदत्तमेहुणपरिग्गहं चेव।
कोहमदमायलोहा भयअरदिरदिदुगुंछा य ॥ ९ ॥

मणवयणकायमंगुल मिच्छादंसणपमादो य ।
पिसुणत्तणमण्णाणं अणिग्गहो इंदियाणं च ॥ १० ॥
अदिकमणं वदिकमणं आदिचारो तहेव अणाचारो ।
एदेहिं चदुहि पुणो सावज्जो होइ गुणियव्वो ॥ ११ ॥ (मूला. शी)

अर्थ—१ हिंसा, २ असत्य, ३ चोरी, ४ अब्रह्म, ५ परिग्रह, ६ क्रोध, ७ मान, ८ माया, ९ लोभ, १० भय, ११ अरति, १२ रति, १३ जुगुप्सा, १४ मन, १५ वचन, १६ काय, १७ मिथ्यादर्शन, १८ प्रमाद, १९ पैशून्य, २० अज्ञान और २१ इन्द्रियो का अनिग्रह–ये इक्कीस भेद हुए। इनको अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार इनचार भेदो मे गुणा करने पर चौरासी भेद होते हैं।

भावार्थ—विषय की अभिलाषा को अतिक्रम कहते हैं। अर्थात् विषयों के त्यागी सयमी के जो विषय-सेवन की मन मे इच्छा उत्पन्न होती है वह अतिक्रम दोष कहलाता है। जो सयमी मुनि सघ को छोडकर विषय के उपकरणों (साधनों) का संचय करने लगता है उसके व्यतिक्रम दोष उत्पन्न होता है। जो व्रत मे शिथिलता (ढीलापन) होती है, व्रत का कुछ अंश मे भग होता है उसे अतिचार कहते हैं। और व्रत के भग को, सर्वथा स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने को, व्रत का मूल नाश करने को अनाचार कहते हैं। इन चार दोषों से हिंसादि इक्कीस भेदो को गुणा करने से चौरासी भेद होते हैं।

१ पृथिवीकाय, २ अप्काय ३ तेजकाय, ४ वायुकाय, ५ प्रत्येकवनस्पतिकाय ६ साधारण वनस्पति काय, ७ द्वीन्द्रिय, ८ त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और १० पचेन्द्रिय इन दश भेदो का परस्पर मे गुणा करने से १०×१०=१०० सौ भेद जीवों के होते हैं।

इन सौ भेदो को पूर्वोक्त चौरासी भेदो से गुणा करने पर ८४×१००=८४०० चौरासी सौ भेद होते हैं।

शीलविराधनाके दशभेद हैं१ स्त्रियोंके साथ हास्य वार्तालापादि करना,२ पौष्टिक(इन्द्रिय विकार जनक)आहार करना,३ सुगन्धित तैल इत्र आदि से तथा गुलाब चम्पा आदि के पुष्पों से शरीर का सत्कार करना, ४ कोमल सुखद शय्या पर सोना, कोमल आसनो पर बैठना ५ कटकादि आभूषण धारण करना, शरीर को सजाना, ६ सुन्दर सुललित रागवर्धक राग रागनियाँ गाना व सारंगी हारमोनियमादि बाजे बजाना व सुनना तथा नृत्य देखना या इन की अभिलाषा रखना, ७ रुपये पैसे सोना आदि द्रव्यों से सपर्क रखना, ८ कुशील (दुश्चरित्र) मनुष्यों की सगति करना, ९ विषयों के पोषण करने के लिए राजादि की सेवा करना, १० विना प्रयोजन रात्रि में घूमना। ये दश कारण शील के घातक आगम मे निरूपण किये गये हैं। इन दश भेदो से पूर्वोक्त चौरासी सौ को गुणा करने पर ८४००×१०=८४००० चौरासी हजार भेद होते हैं।

सं. प्र

१ आकम्पित, २ अनुमानित, ३ दृष्ट, ४ वादर, ५ सूक्ष्म, ६ प्रच्छन्न, ७ शब्दाकुलित, ७ बहुजन, ६ अव्यक्त और १० तत्सेवी ये आलोचना के दशदोष हैं। इनका विशेष वर्णन तप आचार मे कर आये हैं।

पूर्वोक्त चौरासी हजार भेदों का इन दश भेदों से गुणा करने पर ८४०००×१०=८४०००० आठ लाख चालीस हजार भेद होते हैं।

प्रायश्चित्त के दश भेद

१ आलोचन, २ प्रतिक्रमण, ३ उभय, ४ विवेक, ५ व्युत्सर्ग ६ तप ७ छेद, ८ मूल, ९ परिहार, और १० श्रद्धान। इनका विशेष वर्णन भी पहले आचुका है। इन प्रायश्चित्त के दश भेदो को पूर्वोक्त आठ लाख चालीस हजार भेदों से गुणा करने पर ८४००००×१०=८४००००० दोषो के चौरासी लाख भेद होते हैं। इन दोषो के विपरीत चौरासी लाख उत्तरगुण हैं।

जैसे—धीर वीर मुनि, हिंसा के त्यागी, अतिक्रम दोष रहित, पृथिवी के आरम्भ से विमुख, स्त्री सम्पर्क से दूर, आकंपित दोष रहित, आलोचना शुद्धिवाले होते हैं। मृषावाद से विरक्त (सत्यमहाव्रती), अति क्रम दोष हीन, पृथिवी के आरम्भ से विरक्त, स्त्री सम्पर्क से पृथक्, आकम्पितदोषरहित आलोचनशुद्धि वाले होते हैं। इसी प्रकार अदत्तादान विरत आदि मे भी अतिक्रमदोषरहित आदि लगालेना चाहिए। अतिक्रमदोष रहित का जब हिंसादि पाचो पापों के त्यागी के साथ सम्बन्ध हो जावे तब अतिक्रम के स्थान मे व्यतिक्रम को लगाकर पूर्ववत् सब पाठ को ज्यो का त्यो पढना चाहिए। जब व्यक्रिम का सम्बन्ध पाचो हिंसादि विरतों के साथ पूर्ण हो जावे तब व्यतिक्रम को हटाकर उसके स्थान मे अतिचार पद को जोडकर पूर्व की तरह सब पाठ ज्यो का त्यो रखना चाहिए। अब अतिचार का भी सम्बन्ध उक्त पांचो हिसादि विरतो के साथ पूर्ण हो जावे तब अतिचार को निकालकर उसके स्थान 'अनाचार' पद जोड देना चाहिए। जब अनाचार का सम्बन्ध भी पाचों हिंसादि विरतो के साथ सम्पूर्ण हो जावे तब उसके आगे के भग सम्बन्धी 'पृथिवीकाय आरम्भ-त्यागी' को हटाकर उसके स्थान मे 'जलकायारभ-त्यागी' इस पद का सम्बन्ध कर लेना चाहिए। उक्त प्रकार पूर्व भग का सम्बन्ध अन्तिम भंग तक हो जाने पर उसको निकाल कर उसके आगे के भंग का सम्बन्ध करते चले जाना चाहिए। यह क्रम तब तक करते रहना चाहिए जब तक अन्तिम भग समाप्त न हो जावे।

अब शील और उत्तर गुणों का विशद ज्ञान होने के लिए निम्नोक्त पाँच विकल्पों का प्रतिपादन करते हैं:—

सीलगुणाणं संखा पत्थारो अक्खसंकमो चेव।
णट्ठं तह उद्दिट्ठं पंचवि वत्थूणि णेयाणि ॥ १६ ॥ (मू० शी०)

अर्थ—शील तथा गुणों के भेदों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए संख्या, प्रस्तार, अक्ष-संक्रम (अक्षों का परिवर्तन) नष्ट और उद्दिष्ट ये पाँच प्रकारहैं।

भेदों की गणना को संख्या कहते हैं। भेदों की संख्या निकालने अथवा रखने के क्रम को प्रस्तार कहते हैं। प्रथम भेद से दूसरे भेद पर पहुँचने के क्रम को अक्षसंक्रम कहते हैं। संख्या का ज्ञान होने पर भेदों के निकालने को नष्ट कहते हैं। भेदो को जानकर संख्या निकालने को उद्दिष्ट कहते हैं।

शील व गुणों की संख्या निकालने का नियम

सव्वे वि पुव्वभंगा उवरिमभंगेसु एक्कमेक्केसु ।
मेलंतेत्तिय कमसो गुणिदे उप्पजदे संख्या ॥ २० ॥ (मूला० शी०)

अर्थ—शील व गुणो के सब पूर्व भंग ऊपर के प्रत्येक भग मे मिलते हैं। अतएव उनको क्रमसे गुणा करलेने पर संख्या निकलती है। जैसे—प्रथम भग 'योग' के प्रमाण तीन को ऊपर के भंग 'करण' के प्रमाण तीन से गुणा करना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक योग का सम्बन्ध प्रत्येक करण के साथ पाया जाता है। इसलिए तीन करण से गुणा करने पर नव संख्या उत्पन्न हुई। इसको ऊपर के 'भंग' सज्ञा के प्रमाण चार से गुणा करना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक योग और प्रत्येक करण का सम्बन्ध प्रत्येक सज्ञा के साथ पाया जाता है। अतः नव को चार मे गुणा करने पर छत्तीस (३६) संख्या हुई। इसको ऊपर के भंग 'इन्द्रिय' के प्रमाण पाच से गुणा करना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक याग, करण और सज्ञा का सम्बन्ध प्रत्येक इन्द्रिय के साथ है। अत. छत्तीस को पाच से गुणा करने पर एकसौ अस्सी (१८०) संख्या हुई। इसको ऊपर के भग पृथिवीकायादि जीवों के प्रमाण दश से गुणा करना चाहिए, क्योंकि योग, करण, सज्ञा और इन्द्रियो के प्रत्येक भेद का सम्बन्ध प्रत्येक पृथिवीकायादि जीव के साथ है। अत एकसौ अस्सी को दश से गुणा करने पर अठारह सौ (१८००) हुए। इनको आगे के भग उत्तम क्षमादि मुनिधर्म के प्रमाण दश से गुणा करने पर कुल शीलों की संख्या अठारह हजार होती है। क्योंकि पूर्व के प्रत्येक भंग के भेदों का सम्बन्ध प्रत्येक उत्तम क्षमादि मुनिधर्म के साथ है। अत. सम्पूर्ण शील व्रत के भेदो की संख्या १८००० होती है।

प्रस्तार का उत्पत्ति-क्रम

पढमं सीलपमाणं कमेण णिक्खिविय उवरिमाण च ।
पिंडं पडि एक्केक्कं णिक्खित्ते होइ पत्थारो ॥ २१ ॥ (मूला० शी०)

अर्थ—प्रथम शील के प्रमाण का क्रमसे (विरलनरूप) निक्षेपण करके उसके विरलनरूप के प्रति अर्थात् एक एक रूप के प्रति ऊपर के पिंडरूप शील प्रमाण का निक्षेपण करना चाहिए। इस क्रम से निक्षेपण करने पर प्रस्तार उत्पन्न होता है।

जैसे—प्रथम शील 'योग' का प्रमाण तीन है। उसका विरलन कर के अर्थात् विखेर करके क्रमसे १ १ १ इस प्रकार निक्षेपण करके इसके ऊपर आगे के शील 'करण' के प्रमाण चार के पिंड को प्रत्येक एक के अंक ऊपर $\frac{३}{१}$ $\frac{३}{१}$ $\frac{३}{१}$ इस प्रकार निक्षेपण करना चाहिए। इसके अनन्तर 'करण' के प्रमाण को परस्पर जोड ने पर नव (९) होते हैं। इन ९ को प्रथम समझकर इनका विरलन कर (विखेरकर) एक एक अंक को नव बार १ १ १ १ १ १ १ १ १ इस प्रकार लिख कर आगे शील संज्ञा के प्रमाण चार के पिंड को प्रत्येक एक अंक के ऊपर $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ निक्षेपण करना चाहिए। पश्चात् प्रत्येक संज्ञा के पिण्ड को जोडने पर छत्तीस (३६) होते हैं। छत्तीस को प्रथम समझकर विरलनकर एक एक अंक को छत्तीस जगह रखना चाहिए। और उन प्रत्येक छत्तीस एकों पर आगे के शील 'इन्द्रिय' के प्रमाण पाँच का निक्षेपण कर उनको जोडना चाहिए। जोडने पर एक सौ अस्सी सख्या होती है उनको भी पूर्व की भांति विरलनकर एक एक अंक को एक सौ अस्सी जगह रखना चाहिए। तथा उनके ऊपर आगे के शील जीव राशि प्रमाण दश के पिंड को प्रत्येक एक के ऊपर स्थापन करना चाहिए। तत्पश्चात् पहले की तरह उनको जोडने से अठारह सौ सख्या होती है। उस संख्या का विरलन कर एक एक अलग रखकर, आगे के शील मुनिधर्म के प्रमाण दश के पिंड को प्रत्येक एक के ऊपर रखना चाहिए। पूर्व की तरह उनको जोडने से अठारह हजार संख्या प्रणाम शील के भेद होते हैं। इस प्रकार भेद निकालने के क्रम को प्रस्तार कहते हैं। इस क्रम से यह ज्ञात हो जाता है कि पूर्व पूर्व के शील के प्रत्येक भेद उत्तर के समस्त शील के भेदों के साथ सम्बन्ध रखते हैं।

इस प्रकार सम प्रस्तार का निरूपण करके अब विषम प्रस्तार का निरूपण करते हैं—

णिक्खित्तु विदियमेत्तं पढमं तस्सुवरि विदियमेक्केक्कं।
पिंडं पडि णिक्खित्ते तहेव सेसावि कादव्वा ॥ २२ ॥ (मूला० शी०)

अर्थ—द्वितीय शील का जितना प्रमाण उतनी वार प्रथम शील के प्रमाण के पिंड को रख कर उसके ऊपर एक एक पिंड के प्रति द्वितीय शील के प्रमाण को एक एक करके रखना चाहिए। और आगे के भगों के लिए इसी क्रम से स्थापन करना चाहिए।

जैसे—द्वितीयशील 'करण' का प्रमाण तीन है। इसलिए तीन जगह प्रथम शील योग के प्रमाण तीन के पिंड को

२ ३ ३ इस प्रकार रखकर उस प्रत्येक पिंड के ऊपर द्वितीय शील 'करण' के प्रमाण को एक एक करके $\frac{१}{३}$ $\frac{१}{३}$ $\frac{१}{३}$ इस प्रकार रखना चाहिए। इनको जोड़ने से नव (९) होते हैं। इन ९ को प्रथम समझकर आगे के सञ्ज्ञा-शील का प्रमाण चार है अतः नौ के पिण्ड को चार जगह रखकर उस प्रत्येक पिण्ड के ऊपर सञ्ज्ञा के प्रमाण को एक एक करके $\frac{१}{९}$ $\frac{१}{९}$ $\frac{१}{९}$ $\frac{१}{९}$ रखना चाहिए पश्चात् इनको जोडने पर छत्तीस होते हैं। इन छत्तीस को प्रथम मानकर इसके आगे के 'इन्द्रिय' शील का प्रमाण पाच है, इसलिए छत्तीस के पिंड को पाच जगह रखकर उस प्रत्येक पिंड के ऊपर इन्द्रिय प्रमाण पाच को एक एक करके स्थापन कर उनको जोड लेने पर एकसौ अस्सी (१८०) होते हैं। इन को प्रथम समझ कर इसके आगे का शील 'जीवराशि' का प्रमाण दश है इसलिए दश बार एकसौ अस्सी को रखना चाहिए और प्रत्येक एकसौ अस्सी के पिंड पर दश प्रमाण को एक एक करके स्थापन करना चाहिए। पश्चात् प्रत्येक पिंड को जोडने से अठारह सौ होते हैं। इनको भी प्रथम मानने से इसके आगे का शील 'मुनिधर्म' है, उसका प्रमाण दश है। इसलिए दश जगह अठारह सौ के पिंड को रखकर प्रत्येक पिंड के ऊपर दश के प्रमाण को एक एक करके रखना चाहिए। तत्पश्चात् प्रत्येक पिंड को जोडने से अठारह हजार शील के भेद होते हैं। इस प्रकार द्वितीय विषम प्रस्तार का क्रम समझना चाहिए। प्रथम समप्रस्तार एक एक के प्रति पिंड का निक्षेपण करने से होता है और पिंड के प्रति एक का निक्षेपण करने से द्वितीय विषम प्रस्तार होता है।

अक्षसंक्रमण (अक्षपरिवर्तन) का नियम

पढमक्खे अंतगदे आदिगदे संकमेदि विदियक्खो।
दोण्णि वि गंतूणंतं आदिगदे संकमेदि तदियक्खो ॥ २३ ॥ (मूला० शी०)

अर्थ—योग की गुप्ति रूप प्रथम अक्ष क्रम से घूमते हुए जब अंत तक पहुंच कर फिर मनोगुप्तिरूप आदि स्थान पर आजाता है तब द्वितीय करण का स्थान मनकरण को छोड़कर वचनकरण पर आता है। इसी प्रकार जब द्वितीय करण स्थान भी क्रम से घूमता हुआ अन्त तक पहुंच कर जब आदि मनकरण स्थान पर आता है तब तीसरा सञ्ज्ञास्थान बदलता है। अर्थात् आहार सञ्ज्ञा को छोड़कर भय सञ्ज्ञा पर आता है। जब सञ्ज्ञा स्थान भी पूर्व की भाँति क्रमशः भ्रमण करता हुआ अंत तक जाकर वापिस आदिस्थान (आहार सञ्ज्ञा) पर आता है तब चौथा इन्द्रिय स्थान बदलता है। अर्थात् स्पर्शन को छोड़कर रसना पर आता है। इसी प्रकार इन्द्रिय स्थान भी जब क्रमशः घूमता हुआ अन्त तक पहुँचकर आदि स्थान (स्पर्शन) पर आता है तब पाचवाँ जीवराशिस्थान बदलता है। अर्थात पृथिवीकाय स्थान को छोड़कर जलकाय स्थान पर आता है। इसी प्रकार जब जीवराशि स्थान पर भी अन्त तक पहुंच कर आदि स्थान स्पर्शन पर आता है तब छठा स्थान मुनिधर्म बदलता है। इस प्रकार अक्ष के परिवर्तन होने का क्रम समझना चाहिए।

नष्ट निकालने की विधि

सगमाणेहि विभत्ते सेसं लक्खित्तु संखिवे रूवं ।
लक्खिवज्जंतं सुद्धे एवं सव्वत्थ कायव्वं ॥ २४ ॥ (मू शी.)

अर्थ—जिस संख्यावाला शील का भग जानना हो उतनी सख्या रखकर उसमे क्रम से शील के प्रमाण का भाग देना चाहिए। भाग देने पर जो रूप अर्थात् शेष रहे, उतनी सख्या का अक्षस्थान समझना चाहिए। यदि शेष कुछ भी न रहे अर्थात् शेष शून्य आवे तो अन्त का अक्षस्थान समझना चाहिए और लब्ध मे एक नहीं मिलाना चाहिए। जो संख्या लब्ध आवे, उसमे रूप (एक) मिलाकर आगे वाले शील के प्रमाण का भाग देना चाहिए। इसी प्रकार अन्त तक करते जाना चाहिए।

जैसे—दोहजार अस्सी सख्या का कौनसा भंग है ? इस प्रकार पूछने पर बताई हुई २०८० संख्या को रखकर उसमे प्रथम शील योग के प्रमाण तीन का भाग देने से लब्ध छहसौ तिरानवे ६९३ आये और शेष एक आया, इसलिए योग अक्षका प्रथम स्थान मनोयोग हुआ। लब्ध ६९३ मे एक मिलाकर आगे के शील करण के प्रमाण तीन का भाग देने पर दोसौ इकतीस लब्ध आये और शेष एक रहा। इसलिए करण अक्ष का प्रथम स्थान 'मनकरण' हुआ और लब्ध में एक मिलाना चाहिए। अत. दोसौ बतीस मे आगेके शील संज्ञा के प्रमाण चार का भाग देने पर लब्ध अठावन आये और शेष शून्य रहा, इसलिए लब्ध मे एक नहीं मिलाना और संज्ञा का अन्त स्थान परिग्रह संज्ञा समझना चाहिए। उक्त अठावन सख्या मे आगे के शील 'इन्द्रिय' के प्रमाण पाच का भाग देने पर ग्यारह लब्ध आये और शेष तीन रहे। इसलिए इन्द्रिय का तीसरा स्थान घ्राण समझना चाहिए। ग्यारह मे एक मिलाकर ऊपर के शील जीवराशि के प्रमाण दश का भाग देने पर लब्ध एक आया, उसमे एक मिलाना चाहिए। शेष दो रहे, इसलिए जीवराशि का दूसरा अप्काय स्थान समझना चाहिए। तथा दो मे आगे के शील मुनिधर्म के प्रमाण दश का भाग नहीं जाता है। अतः मुनिधर्म का दूसरा स्थान मार्दव समझना चाहिए।

दो हजार संख्या वाला भंग मनो गुप्ति पालक, मन करण का त्यागी, परिग्रह संज्ञा रहित, घ्राणइन्द्रिय-विरक्त, अप्काय सयमी, और मार्दव धर्म पालक हुआ है।

उद्दिष्ट का विधान

संठाविदूण रूवं उवरीदो संगुणित्तु सगमाणे ।
अवणिज्ज अणंकिदयं कुज्जा पढमंति जावेव ॥ २५ ॥ (मूला० शो)

अर्थ—रूप (एक) का स्थापन करके उसको ऊपर के शील का जितना प्रमाण है उसमें गुणा करना चाहिए तथा उनमें जो अनंकित हो उसका परित्याग करना चाहिए। इसी प्रकार अन्त तक करने से उद्दिष्ट का प्रमाण निकलता है।

भावार्थ—शील के भङ्ग को स्थापन कर संख्या निकालने को उद्दिष्ट कहते हैं। उसकी रीति निम्नोक्त प्रकार है।

जैसे—मनोगुप्ति पालक, मनकरण का त्यागी, घ्राणेन्द्रिय विरक्त, परिग्रह संज्ञा रहित, अप्कायारम्भत्यागी और मार्दव धर्म का पालक यह शील का भंग कितनी संख्या वाला है? इस प्रकार किसी के प्रश्न करने पर प्रथम एक का अङ्क स्थापन करके ऊपर के मुनिधर्म के प्रमाण दश से उस एकको गुणा करना चाहिए। गुणनफल दश हुए। उनमें से अनङ्कित आर्जव शौच सत्य संयमादि आठ धर्म हैं, क्योंकि पूछेगये भग में मार्दव धर्मका ग्रहण है अत- शेष आर्जवादि धर्म आठ हैं उनको दशमें से घटाने से दो रहे। उनको ऊपर के शील जीवराशि के प्रमाण दश से गुणा करने पर बीस होते हैं। उनमें अनङ्कित तेज कायादि आठ हैं उनको बीस में से घटाने पर शेष बारह रहे। उनको आगे के शील स्पर्शनादि पांच इन्द्रियों के साथ गुणा करने पर साठ होते हैं। उनमें से अनङ्कित चक्षु इन्द्रिय और श्रोत्र इन्द्रिय दो घटाने से अठावन रहे। उनको आगे के शील संज्ञा प्रमाण चार से गुणा करने पर दोसौ बत्तीस होते हैं। संज्ञा में अनङ्कित कोई नहीं हैं, क्योंकि प्रश्न में परिग्रह संज्ञा का ग्रहण किया गया है। अत- दोसौ बत्तीस को आगे के शील 'करण' प्रमाण तीन से गुणा करने पर छहसौ छयानवे होते हैं। उनमें से अनङ्कित वचनकरण और कायकरण (दो) को घटाने से शेष छहसौ चौरानवे रहे। उनको आगे के शील योग गुप्ति प्रमाण तीन से गुणा करने पर दो हजार बियासी होते हैं। उनमें अनङ्कित वचन योगऔर काययोग को घटाने से शेष दो हजार अस्सी प्रमाण रहता है। यह दो हजार अस्सी शील की संख्या उक्त प्रश्न का उत्तर है। इसी प्रकार सर्वत्र भंगों से संख्या निकाल लेना चाहिए।

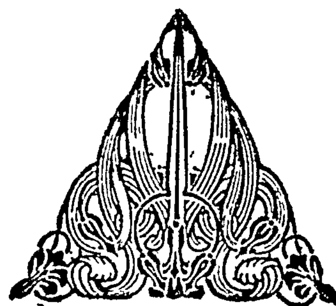
इस प्रकार शील व व्रतों के भेदों को जान कर उनके पालन का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए और साथ ही मूलगुणों के पालन में भी पूर्ण सावधानी रखनी चाहिए। यह मुनि-मार्ग बड़ा कठिन है। कहीं जरा भी चूका और गिरा। चाहे कोई कितना ही तपस्वी हो, यदि वह मूलगुणों की विराधना करता है तो सच्चा साधु नहीं। मूलाचार में स्पष्ट लिखा है—

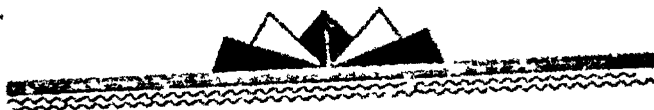
मूलं छित्ता समणो जो गिण्हादी य बाहिरं जोगं।
बाहिरजोगा सव्वे मूलविहूणस्स किं करिस्संति ॥

जो साधु अहिंसा, सत्य आदि मूलगुणों का विनाश करके मासोपवास, वृक्षमूल, आतपन योग आदि उत्तरगुणों का आचरण करता है उसके वे दुर्धर कायक्लेशादि सब योग-जिसकी जड़ कट गई ऐसे वृक्ष के पत्र पुष्पादि के समान-निरर्थक हैं। अर्थात् जैसे वृक्ष की जड़

कट जाने पर उसके पत्ते फूल आदि किसी काम के नहीं रहते, सब सूख कर बेकार हो जाते हैं उसी प्रकार जिस साधु के अहिंसा, सत्य आदि अठाईस मूलगुण ही नहीं हैं, उनमें भी अनाचार दोष आता है उसके दुर्धर तप आदि सब बाह्य योग बेकार हैं। मूलगुणों के बिना उनका कोई फल नहीं मिल सकता। इसलिए सयमी को अपने प्रत्येक कर्तव्य पर पूरा ध्यान रखना चाहिए। आहारशुद्धि, उपकरणशुद्धि शय्याशुद्धि, वसतिका शुद्धि आदि शुद्धियों में किसी की भी उपेक्षा करने पर साधु गृहस्थ से भी बुरा बन जाता है। इसलिए अपने सम्पूर्ण कर्तव्य को अच्छी तरह समझकर उसका यथोचित पालन करना चाहिए।

यहाँ तक श्री आचार्य सूर्यसागरजी महाराज विरचित
संयम-प्रकाश नामक ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध में द्वादशानु
प्रेक्षा, अनगार भावना आदि अनेक
विषयों का प्रकाश करने वाली
चतुर्थ किरण समाप्त
हुई





मुद्रक
पं० भँवरलाल जैन न्यायतीर्थ,
श्री वीर प्रेस, मनिहारों का रास्ता, जयपुर ।



श्री आचार्य सूर्यसागर दि० जैन ग्रन्थमाला

पञ्चम पुष्प ।

श्री १०८ दिगम्बर जैनाचार्य—

श्री सूर्यसागरजी महाराज विरचित

संयम-प्रकाश

पूर्वार्द्ध—पञ्चम किरण

सम्पादक—
श्री पं० श्रीप्रकाश शास्त्री,
न्याय-काव्य तीर्थ

सम्पादक—
श्री पं० भँवरलाल जैन,
न्यायतीर्थ

प्रकाशिका—
श्री आचार्य सूर्यसागर दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति,
जयपुर ।

प्रथम संस्करण
९५०

वीर संवत्
२४७३

मूल्य—
पूरे ग्रन्थ का १५) रुपया ।
पञ्चम किरण का ३॥) रुपया ।

प्रकाशकीय

संयम प्रकाश की यह पांचवीं किरण काफी विलम्ब से निकल रही है। यह विलम्ब पाठकों को असह्य हो उठा और स्वय हमें भी। इसका हम दु:ख है, पर हम विवश थे। श्री प० भंवरलालजी व प० श्रीप्रकाशजी की अस्वस्थता, प्रेस-कर्मचारियों की अनुपस्थिति, प्रेस का बिजली न मिलना अथवा सीमित मिलना और कागज का अभाव आदि विविध कठिनाइयों के कारण यह विलम्ब होगया। हमने बार २ इन कठिनाइयों पर विजय पाना चाहा पर असफल रहे। इन कठिनाइयों के अतिरिक्त इस विलम्ब का एक यह भी कारण है कि यह किरण पीछे की सारी किरणों से बडी है। यह अकेली ही करीब दो किरणों के बराबर है। इसलिए प्रकाशित अन्य किरणों की अपेक्षा इसमें अधिक समय लगना उचित ही था। इसलिए अवश्य ही पाठक हमें इस विलम्ब के लिए क्षमा करेंगे।

इस बार टाइप पुराना हो जाने से इस किरण में गलतियें रह गईं और छपाई भी संतोष जनक न हो सकी। प्रेस के भूतों की असावधानी से कुछ और भी गल्तियां रह गई हैं। जैसे पृष्ठ नं० ६२८ के पश्चात् ६३३ लग गया है और इस तरह बीच के चार नम्बर रह गये हैं। पाठक इन्हें ठीक करलें।

एक बात पाठकों से हमें और कहना है। वह यह है कि इस पाँचवीं किरण को मिला कर अब तक की सब किरणों के एक हजार से भी अधिक पृष्ठ होगये हैं। विषय सूची इनसे अलग है। अनुमान होता है कि सारी दशों किरणों के लगभग सतरह सौ पत्र हो जावेंगे। हमने पहले पूरे ग्रन्थ का मूल्य पन्द्रह रुपये घोषित किया था वह केवल लागत मूल्य की संभावना मात्र से निर्धारित किया था। तब से अब तक कागज और छपाई आदि सभी का मूल्य काफी बढ गया है। इसके सिवाय उस समय यह खयाल भी नहीं था कि ग्रन्थ का परिमाण इतना अधिक बढ़ जायगा। उस समय दशों किरणों के पत्रों के परिमाण का हमने लगभग तेरह सौ के अंदाजा लगाया था। पर वह अंदाजा गलत होता दिखता है। ऐसी अवस्था में अभी नहीं तो संभव है एक दो किरण और प्रकाशित होजाने के बाद हमें ग्रन्थमाला के स्थायी ग्राहकों को मूल्य बढाने को प्रार्थना करने के लिए विवश होना पडे। आशा है ग्राहक महोदय हमारे इस उचित निवेदन पर ध्यान देकर कोई ऐसी व्यवस्था सुझावेंगे जिससे ग्रन्थमाला को हानि न उठानी पड़े।

चैनसुखदास जैन न्यायतीर्थ,
मन्त्री—
श्री आचार्य सूर्य सागर दि० जैन ग्रन्थमाला समिति.
मनिहारों का रास्ता, जयपुर सिटी।

संयम—प्रकाश

पूर्वार्द्ध—पचम किरण

वृहद्–समाधि–अधिकार

❀ मंगलाचरण ❀

सन्मतिं प्रणिपत्याहं समाधिमरणाश्रय—
मधिकारमिमं वक्ष्ये मोक्षश्रीप्राप्तिकारणम् ॥

इस अध्याय मे समाधिमरण का विस्तृत वर्णन किया जायगा। समाधि का अर्थ है अपने आपमे लवलीन होना। समाधि, ध्यान और योग ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। मृत्यु के समय शरीर, कुटुम्ब, धन, गृहादि पर पदार्थों से हटकर आत्मस्थ होना एव वीरता और शाति के साथ मृत्यु का आलिंगन करना समाधिमरण कहलाता है। समाधिमरण का प्राप्त होना सचमुच ही बहुत दुर्लभ है।

जिस आत्मा मे अशुभ परिमाणो की सतति बनी रहती है, उसको समाधि की प्राप्ति कैसे होसकती है ? इसलिए समाधि प्राप्त करने के लिए सर्व प्रथम अशुभ भाव उत्पन्न करने वाले बाह्य निमित्तो को त्याग कर शुभ भाव या शुद्ध भाव उत्पन्न करने का प्रयत्न करना आवश्यक है। जब तक मानसिक विकार आत्मा को मलीन करते रहें, तब तक समाधि (चित्त-शान्ति) की आशा करना व्यर्थ है। इसलिए चित्त मे अशान्ति उत्पन्न करने वाले कारणो का त्याग कर शुभ और शुद्ध परिणामो की जागृति करने वाले उपायों का आश्रय लेना उचित है। यदि एक बार भी सम्यक्त्व सहित समाधिमरण हो जावे तो वह आत्मा अवश्य ही कभी न कभी मुक्ति पद का अधिकारी होता है। वज्रवृषभनाराच सहनन आदि सकल साधन सयुक्त कोई जीव तो समाधि मरण के प्रभाव से उसी भव मे मोक्ष को प्राप्त होता है और कोई दो, तीन या सात, आठ भव बाद मोक्ष की प्राप्ति करता है। इसलिए सयमियो को समाधि के अनुकूल साधनो की ओर अग्रसर होते हुए सदा समाधिमरण के लिए तत्पर रहना चाहिए, क्योकि मृत्यु के आनेका कोई निश्चित समय नहीं है।

आयुर्बंध का नियम

कर्मभूमि मे जन्मा हुआ मनुष्य व तिर्यंच परभव की आयु का बन्ध भुज्यमान आयु के आठ अपकर्ष काल में करता है। अर्थात् वर्तमान आयु के बराबर तीन हिस्सों मे से दो हिस्से बीत जाने पर तीसरे भाग के पहले समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त्त तक पहला अपकर्ष काल है। इस अपकर्ष काल मे परभव सबधी आयु का बंध हो सकता है। यदि इस समय न हो तो फिर उस बचे हुए एक हिस्से के फिर तीन भाग करना चाहिए, उन तीन भागो मे पहले के दो भाग बीत जाने पर तीसरे भाग के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त्त तक दूसरा अपकर्ष काल कहलाता है, इस काल मे भी परभव सबधी आयु का बध हो सकता है। यदि इनमें भी नहीं हुआ तो इसी तरह तीसरा, चौथा, पॉचवॉ, छटा, सातवॉ, और आठवॉ अपकर्ष काल होता है इनमे से किसी मे आयु का बध हो सकता है। यदि इनमे भी न हुआ तो आयु के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त्त मे होगा। उदाहरणतया किसी कर्मभूमि के मनुष्य की भुज्यमान आयु छह हजार पाच सौ इकसठ वर्ष की है। इसके तीन भागो मे से दो भाग (तियालीस सौ चौहत्तर वर्ष) बीत जाने पर जब शेष एक भाग (इक्कीस सौ सत्यासी वर्ष) रह जाता है तब इस एक भाग के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त्त तक का काल प्रथम अपकर्ष काल कहलाता है। इस अपकर्ष काल मे परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। यदि इस काल मे आयु का बन्ध न हो तो उस एक तृतीय भाग (इक्कीस सौ सत्यासी वर्ष) मे से दो भाग (चौदह सौ अठावन वर्ष) बीत जाने पर जो शेष एक तृतीय भाग (सात सौ उन्तीस वर्ष) रहता है, उसके प्रारभ के अन्तर्मुहूर्त्त तक का काल दूसरा अपकर्ष काल कहा जाता है। उस काल मे परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। यदि इस काल मे भी आयु का बन्ध न हो तो उस अवशिष्ट एक तृतीय भाग (सात सौ उन्तीस वर्ष) मे से दो भाग बीत जाने पर जो एक भाग (दो सौ तियालीस वर्ष) शेष रहता है उसके प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त का काल अपकर्ष काल कहलाता है। यह तीसरा अपकर्ष काल हुआ। उसमे परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। यदि इसमे भी आयु का बन्ध न हो तो शेष भाग (दो सौ तियालीस वर्ष) के प्रथम अन्तर्मुहूर्त्त मे आयु का बन्ध करने वाला चौथा अपकर्ष काल है, उसमे परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। यदि इसमे भी आयु का बन्ध न हो तो पाचवें, छटे, सातवें अथवा आठवें अपकर्ष काल मे आयु का बन्ध होता है। यदि आठों मे से किसी भी अपकर्ष काल मे आयु का बन्ध न हुआ हो तो भुज्यमान आयु के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त्त (आयु की अन्तिम आवली के असख्यातवें भाग प्रमाण काल से पूर्व के अन्तर्मुहूर्त) मे आयु का अवश्य बन्ध होता है।

इस प्रकार कर्मभूमिज मनुष्य व तिर्यंचो के परभव सम्बन्धी आयु के बन्ध होने का नियम कहा गया है। किन्तु भोगभूमि मे जन्मे हुए के लिए तथा देव, नारकियों के परभव सम्बन्धी आयु-बन्ध के विषय मे कुछ विशेषता है। वह निम्न प्रकार है—

भोग–भूमिज मनुष्य व तिर्यंचो के परभव आयु का बन्ध भुज्यमान आयु के अन्तिम नौ महिनो मे होने वाले आठ अपकर्षों के काल मे

न प्र

होता है। अर्थात् उनकी आयु के जब नौ महीने शेप रहते हैं तब पूर्व की भाति आठ अपकर्ष होते हैं। नौ महिने मे से दो भाग बीत जाने
पर जब तृतीय भाग (तीन महीने) शेप रहता है, तब उसके प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त का प्रथम अपकर्ष काल होता है। उसमें
परभव सम्बन्धी आयु का वन्ध होता है। जब उसमे आयु का वन्ध नहीं होता है, तब शेप एक तृतीय भाग (तीन महिने) मे से दो भाग
(दो महिने) बीत जाने पर अवशिष्ट तृतीय भाग (एक मास) रहजाने पर उसको प्रथम अन्तर्मुहूर्त्त का दूसरा अपकर्ष काल होता है। उसमे
आयु का वन्ध होता है। यदि उसमे भी आयु का वन्ध न हुआ तो तीसरे, चौथे, पाचवे, छटे, सातवे, या आठवें मे आयु का वन्ध होता है।
यदि इनमे भी न हुआ हो तो पूर्व की भांति भुज्यमान आयु के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त्त मे तो अवश्य ही होता है।

देव तथा नारकियों के परभव सम्बन्धी आयु का वन्ध भुज्यमान आयु के अन्तिम छह महिने शेप रहने पर होता है। अर्थात्
शेप छह महिनों मे पूर्व की भाति आठ अपकर्षण होते हैं। उनमे परभव सम्बन्धी आयु का वन्ध होता है। और यदि उन आठ अपकर्षों के
काल मे भी आयु का वन्ध न हो तो पूर्व की तरह आयु के शेप अन्तर्मुहूर्त्त मे तो अवश्य ही आयु का वन्ध होता है। यहा यह भी याद रखना
चाहिए कि यदि पहले के किसी अपकर्ष काल मे आयु का वन्ध हो गया हो तो उस के आगे के अपकर्ष कालों मे वंध होता रहेगा। आयु वध
के इस उपयुक्त नियम से यह फलितार्थ निकलता है कि कोई भी यह नहीं कहसकता कि उसकी परभव की आयुका वंध कब होगा ? इसलिए
प्रत्येक समय मनुष्य को अपने भाव ठीक रखना चाहिये।

समाधि युक्त मरण का स्वरूप

मरण के वेत्ताओ ने इसके अनेक भेद वतलाये हैं। मरण का सामान्य अर्थ पर्याय का छोडना है। यह अर्थ सम्पूर्ण जीवों के
साथ सम्बन्धित होता है। केवली भगवान हो या छद्मस्थ जीव हो, सब प्राप्त शरीर को छोडते हैं, इसलिए उन सबका मरण कहा जाता है।
किन्तु केवली और छद्मस्थ के मरण मे इतनी विशेपता है कि केवली पूर्व शरीर का त्याग कर पुन नूतन शरीर का ग्रहण नहीं करते हैं। अत.
उनका फिर मरण नहीं होता है। वे अजर अमर कहे जाते हैं। और छद्मस्थ जीव पहले के शरीर को छोडकर नवीन शरीर धारण करता है और
पुन. मरण करता है। इसलिए मरण, पुन' पुन. जन्म-मरण का निमित्त होता है। ससार मे जितने भी दु ख हैं, उनमें सब से अधिक दु ख
मरण का है। अनेक रोगों से पीडित व भयानक उपसर्गों से व्यथित छोटे से छोटा जन्तु भी मरण के नाम से कॉपता है, मरण के दु ख मे
घबराता है। इसलिए इस महान दु.ख से उद्धार पाने का एक मात्र उपाय समाधिमरण ही है। यही इस दु.ख को समूल नाश करने वाली
परमौपधि है।

पू. कि. ५

स. प्र

जिन महापुरुषो ने अपने जीवन मे विषय वासनाओ से मुख मोड़ा है, कपाय को मन्द करने का अभ्यास किया है, तथा उन का शुभ रूप परिणमन किया है—वे महात्मा महाव्रत का पूर्णतया पालन कर अन्त मे कषायो पर विजय करते हैं। उसका दिव्य फल समाधि मरण उनको ही मिलता है। ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है। यहाँ प्रसगानुसार मरण के भेदो का वर्णन करते हैं। मरण के भगवती आराधना मे १७ भेद बतलाये हैं:—

मरण के भेद

मरणाणि सत्तरस देसिदाणितित्थंकरेहिं जिणवयणे।
तत्थ वि पंच इह संगहेण मरणाणि वोच्छामि ॥ २५ ॥ (भग० आ)

अर्थ.—उत्पन्न हुई पर्याय के नाश को मरण कहते है। अर्थात् देव, नारक, तिर्यंच और मनुष्य पर्याय का ध्वंस होना ही मरण शब्द का अर्थ है। अथवा प्राणो के त्याग करने को मरण कहते है। क्योंकि 'मृङ्' धातु का अर्थ प्राण त्याग करना है। प्राण धारण करते रहने को जीवन और प्राण त्याग को मरण कहते है। प्राण दो प्रकार के है—भावप्राण और द्रव्यप्राण। ज्ञान दर्शन चारित्र भावप्राण हैं। यह सिद्धों के भी पाया जाता है। इसलिए इसकी अपेक्षा से यहा मरण नहीं लिया गया है। द्रव्यप्राणों (इन्द्रिय, बल, आयु और उच्छ्वास) के विनाश को मरण कहा है। आयु के उदय होने पर जीव जीता है और भुज्यमान आयु का विनाश होने पर मरता है।

यह मरण १७ प्रकार का है—(१) आवीचि-मरण, (२) तद्भव मरण, (३) अवधि मरण, (४) आद्यतमरण (५) वालमरण, (६) पडितमरण, (७) आसन्नमरण, (८) बालपडितमरण, (९) सशल्यमरण, (१०) पलायमरण, (११) वशार्त्तमरण, (आर्त्तवशमरण,) (१२) विप्राणमरण, (१३) गृध्रपृष्ठमरण, (१४) भक्तप्रत्याख्यान मरण, (१५) प्रायोपगमन मरण, (१६) इगिनी मरण, (१७) केवलिमरण।

इन सत्रह प्रकार के मरणों मे से पाँच प्रकार के मरण ही विशेप उल्लेखनीय हैं। अतः आगम मे उन्हीं का विशेप वर्णन है। शेप बारह प्रकार के मरणो का वर्णन तो गौण रूप से है।

यहा इन सत्रह प्रकार के मरणो का सक्षेप से स्वरूप दिखाते है।

आवीचिमरण

(१) आवीचिमरण—जीवके प्रतिक्षण होने वाले मरण को आवीचि मरण कहते हैं। आवीचि का अर्थ है तरग-लहर। जिस

❋ विषय-सूची ❋

विषय	पृष्ठ संख्या
वृहत्समाधि अधिकार वर्णन	७३७
मंगलाचरण	"
समाधिमरण का अर्थ	"
समाधि की प्राप्ति	"
आयुबन्ध का नियम	७३८
समाधियुक्त मरण का स्वरूप	७३९
मरण के १७ भेद	७४०
१—आवीचिमरण	"
आवीचिमरण के भेद	७४१
१ प्रकृति आवीचिमरण	"
२ स्थिति " "	"
३ अनुभव " "	"
४ प्रदेश " "	"
२ तद्भव मरण	७४२
३ अवधि मरण	७४२
१ सर्वावधिमरण	"
२ देशावधि मरण	,
४ आद्यंत मरण	"
५ बालमरण	७४३
१ अव्यक्त बाल	"
२ व्यवहार बाल	"
३ दर्शन बाल	"
४ ज्ञानबाल	"
५ चारित्रबाल	"
६ दर्शन बाल के दो भेद	"
(१) इच्छा प्रवृत्तबालमरण	"
(२) अनिच्छा प्रवृत्तबालमरण	७४४
६ पण्डित मरण	७४४
१ व्यवहार पण्डित मरण	"
२ दर्शन "	"
३ ज्ञान "	"

विषय	पृष्ठ संख्या
४ चारित्र पण्डित मरण	७४४
७–अवसन्नमरण	७४५
८–बालपंडित मरण	”
९–सशल्य मरण	७४६
द्रव्य और भावशल्य	”
मायाशल्य	”
मिथ्याशल्य	”
निदानशल्य	”
१ प्रशस्तनिदान	”
२ अप्रशस्तनिदान	”
३ भोग निदान	”
१० पलायमरण	७४७
११ वशार्त्त (आर्त्तवश) मरण	”
१ इन्द्रिय वशार्त्त मरण	”
२ वेदना वशार्त्त मरण	७४८
३ कषाय वशार्त्त मरण	”
१ क्रोध वशार्त्त मरण	”
२ कुलादि आठ मान वशार्त्त मरण	”
३ निकृति आदि पाच माया वशार्त्त मरण	७४९
४ लोभ वशार्त्त मरण	”
४ नोकषाय वशार्त्त मरण	”
१२–विप्पाणस (विप्राण) मरण	”
१३–गृध्रपृष्ठ मरण	७५०

विषय	पृष्ठ संख्या
१४–भक्त प्रत्याख्यान मरण	७५०
१५–इंगिनी मरण	”
१६–प्रायोपगमन मरण	”
१७–केवली मरण	”
पंडितपंडितादि पांच मरणका विशेष वर्णन	७५०
मरण पांच ही क्यों ?	७५१
पंडितपंडितादि पांचों मरण का स्वरूप	”
पंडित मरण के तीन भेद	७५२
प्रायोपगमन मरण	७५३
इंगिनी मरण	”
भक्त-प्रतिज्ञा (भक्त प्रत्याख्यान) मरण	७५५
भक्त प्रत्याख्यान के दो भेद	७५५
सविचार भक्त प्रत्याख्यान	”
अविचार ”	”
सविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण के अर्ह, लिंगादि चालीस भेद और उनका संक्षिप्त स्वरूप	७५५
उक्त अर्ह लिंगादि के अधिकार द्वारा विशेष वर्णन	७५६
अर्हाधिकार	”
आराधना योग्य साधु का वर्णन	”
भक्त प्रत्याख्यान करने वाले के कौनसा लिंग होना चाहिए	”
भक्त प्रत्याख्यान के समय आर्यिका के लिए नग्न भेष	७६१
उत्सर्ग लिंग के चार भेद	७६४

विषय	पृष्ठ संख्या
स्वाध्याय के सात गुण	७६५
१ आत्महित ज्ञान	७६६
२ भावसवर	”
३ नवीन २ संवेगभाव	”
४ मोक्ष मार्ग मे स्थिरता	७६७
५ तप वृद्धि	७६७
६ गुप्ति पालन मे तत्परता	”
७ परोपदेश सामर्थ्य	”
बुराइयो का कारण अज्ञान	७६८
अज्ञानी के जो कार्य कर्म बन्ध करते हैं वे ही ज्ञानी के कर्म क्षय करते हैं	”
विनय की महिमा	७७१
विनय के भेद	७७२
१ दर्शन विनय	”
२ ज्ञान विनय	”
३ चारित्र विनय	७७३
४ तप विनय	”
५ उपचार विनय	”
मन को वश मे करने की आवश्यकता	७७३
निरंतर विहार की उपयोगिता	७७४
समाधिमरण के लिए तत्परता	७७५
समाधिमरण में शुद्धियों की आवश्यकता और उनके भेद	७७७
१ आलोचना शुद्धि	७७८
२ शय्यासस्तर शुद्धि	”

विषय	पृष्ठ संख्या
३ उपकरण शुद्धि	७७८
४ भक्तपान शुद्धि	”
५ वैयावृत्यकरण शुद्धि	”
शुद्धियो के अन्य प्रकार से भेद	”
१ दर्शन शुद्धि	७७९
२ ज्ञान शुद्धि	”
३ चारित्र शुद्धि	”
४ विनय शुद्धि	”
५ आवश्यक शुद्धि	”
विवेक के भेद	७७९
१ इन्द्रिय विवेक	७८०
२ कपाय विवेक	”
३ उपधि विवेक	”
४ भक्त-पान विवेक	७८१
५ देह विवेक	”
विवेक के अन्य प्रकार से भेद	”
सल्लेखना के लिए उद्यत आचार्य का आचार्यपद त्याग	७८२
त्यागने योग्य ५ कुभावनाएं	७८३
पांच शुभ भावनाएं	”
१ तप भावना	”
तप भावना से रहित साधु मे दोष	७८४
२ श्रुत भावना	७८५
३ सत्त्व (अभीरुत्व) भावना	७८६

विषय	पृष्ठ सख्या
भिन्न २ पर्यायों में प्राप्त दुखों का स्वरूप दिखा कर आत्मा को निर्भय बनाना	७८७
४ एकत्व भावना	७९१
५ धृतिबल भावना	७९२
सल्लेखना के भेद	७९३
अनशन तप के दो भेद	७९५
अवमौदर्य तप	७९५
रसपरित्याग तप	७९६
वृत्ति परिसख्यान तप	७९७
कायक्लेश तप	७९८
विविक्तशयासन तप	७९९
वसनिका सम्बन्धी आधाकर्म दोष	८००
१ उद्गम दोष के सोलह भेद और उनका स्वरूप	"
२ उत्पादन दोष के १६ भेद और उनका स्वरूप	८०२
३ एषणा दोष के दश भेद और उनका स्वरूप	८०४
वसतिका के अगारादि चार दोष और उनका स्वरूप	८०५
वसतिका के योग्य स्थान	८०६
बाह्यतप के गुण	८०८
सल्लेखना का आराधन अन्य २ प्रयोगों से	८१२
प्रतिमा योग	८१३
भिक्षु प्रतिमा और उसके सात भेद	"

विषय	पृष्ठ सख्या
आचाम्ल तप	८१४
भक्तप्रत्याख्यान का काल	"
भक्तप्रत्याख्यान काल की यापन विधि	८१५
कषाय से बचने के उपाय	८१७
सल्लेखना के आराधक आचार्य का कर्त्तव्य	८१८
शिष्य समूह आचार्य के लिए परिग्रह स्वरूप है	८१९
संघ का परित्याग करते समय आचार्य का उपदेश	"
ज्ञान के अतिचार	८२०
दर्शन के "	"
चारित्र के "	८२१
आचार्य के लिए ध्यान देने योग्य विषय	८२१
आचार्यों के लिए आवश्यक विनय और उसके भेद	८२४
दर्शन विनय	"
ज्ञान विनय	"
चारित्र विनय	"
तपोविनय	८२५
उपचार विनय	"
मुनि के लिए निद्रा हास्य क्रीडादि के त्याग का वर्णन	८२५
मुनि संघ की वैयावृत्य भक्ति पूर्वक करने का विधान	८२७
जनापवाद मार्ग पर जाने का मुनि को निषेध	८२९

विषय	पृष्ठ संख्या
पार्श्वस्थादि साध्वाभासों की संगति से साधु का पतन है	८३१
साधु को परोपकारी होना आवश्यक है	८३३
साधु आत्म-प्रशंसक न बने	८३४
साधु पर निन्दा न करे	८३५
पूर्व आचार्य के उपदेश का नवीन आचार्य व मुनिसंघ द्वारा उत्तर	८३६
संन्यास के लिए आचार्य का दूसरे सघ में गमन	८३७
अपने ही सघ में रहने में दोष	८३८
निर्यापकाचार्य (नवीन सघ के आचार्य) का कर्तव्य	८३९
निर्यापकाचार्य के अन्वेपण का क्रम	८३९
निर्यापकाचार्य के अन्वेपण का काल	८४०
निर्यापकाचार्यके अन्वेपण के लिए विहार की पांच प्रकार की विधि	"
१ एक रात्रि प्रतिमा कुशल	"
२ स्वाध्याय कुशल	८४१
३ प्रश्न कुशल	"
४ स्थंडिल शायी	"
५ आसक्ति रहित	"
यदि विहार काल में वाणी वन्द हो जावे या मृत्यु को प्राप्त हो जावे तो क्या वह आराधक है	८४१
निर्यापकाचार्य का आगत साधु के प्रति कर्तव्य	८४२
सघ के साधु व आगत साधु का परस्पर में परीक्षण	८४३
प्रति लेखन परीक्षा	८४५
वचन परीक्षा	"
स्वाध्याय परीक्षा	"
मलमूत्र-क्षेपण परीक्षा	"
भिक्षा परीक्षा	८४४
आचार हीन साधु को आश्रय देने में हानि	८४५
निर्यापकाचार्य के गुण	८४६
१ आचारवान	"
आचारवान का अन्य प्रकार से विवेचन	८४७
स्थित कल्प के दस भेद	८४८
१ नग्नत्व स्थिति कल्प	"
२ उद्दिष्ट भोजनादि त्याग कल्प	८५०
३ शय्याधर के पिंड का त्याग	"
४ राजपिंड त्याग	८५१
५ कृतिकर्म	८५२
६ मूलोत्तर गुण परिपालन	"
७ ज्येष्ठत्व	८५३
८ प्रतिक्रमण	८५४
९ एकमास निवास	८५५
१० पज्ज	"

विषय	पृष्ठ संख्या
आचारवान् आचार्य से क्षपक को लाभ	८५६
२ आचार्य का आधारत्व गुण	८५७
सयम की सफलता	८५८
क्षपक को सिद्धान्त के वेत्ता आचार्य की आवश्यकता	"
क्षपक को परीषहो की बाधा से कैसे दूर किया जाय	८५९
३ आचार्य का व्यवहार ज्ञत्वगुण	८६३
व्यवहार के ५ भेद और उनका स्वरूप	"
प्रायश्चित शास्त्र का सर्व साधारण को सुनने का अधिकार क्यों नहीं	"
समान अपराध होने पर सबको प्रायश्चित समान रूप से देते हैं या उसमे भिन्नता होती है	८६४
आचार्य मे व्यवहारज्ञत्व (प्रायश्चित शास्त्र ज्ञान) आवश्यक है	८६६
४ आचार्य का प्रकारत्व गुण	८६७
५ आचार्य का आयोपायदर्शित्व गुण	८६८
६ आचार्य का अवपीडकत्व गुण	८७०
क्षपक के प्रति आचार्य का उपदेश-अवपीडक आचार्य का स्वरूप	"
७ आचार्य की विशिष्टता	८७३
(यहा अपरिस्रावी मना छपने से रह गया है, शुद्ध करलें)	८७५
८ आचार्य का सुखकारी (निर्वापक) गुण	८७६
सगुण आचार्य की प्राप्ति कैसे हो	८७८
क्षपक गुरुकुल को आत्म-समर्पण कैसे करे ?	"

विषय	पृष्ठ संख्या
प्रथम सामायिकादि षट् आवश्यक का विधान	८७८
वन्दना के पश्चात् सघ मे रहने की आज्ञा प्राप्ति	८७९
आचार्य में संघ में रखने की आज्ञा देना एवं आगत क्षपक की परीक्षा	८८०
क्षपक के लिए संघस्थ परिचारक साधुओं की सम्मति	८८०
एक आचार्य के पास कितने क्षपक समाधिमरण करते हैं	८८२
आचार्य का क्षपक के प्रति समस्त संघ के मध्य उपदेश	८८
आचार्य के ३६ गुण	८७७
प्रायश्चितादि का ज्ञाता अपराधों को दूसरो को क्यों कहे	८७
आलोचना का स्वरूप और भेद	
सामान्य आलोचना	८८६
विशेष आलोचना	८८६
शल्य के भेद	"
अतिचार शोधन बिना मृत्यु होने से हानि	"
क्षपक कायोत्सर्ग कैसे करे	८८८
आलोचना के लिए काल स्थान आदि का विधान	८८९
(यहा आदि के स्थान मे 'वादि' छप गया है शुद्ध करलें)	८९०
आलोचना के आकम्पितादि दस दोष और उनका स्वरूप	८९२
साधु किन २ दोषों को कैसे आलोचना करे	८९६
दर्पादि बीस अतिचार और उनका स्वरूप	८९९
आलोचना के पश्चात् आचार्य का कर्त्तव्य	९०२

विषय	पृष्ठ संख्या
निष्कपट और सकपट आलोचना और उनका प्रायश्चित	,,
आचारत्वादि विशिष्ट निर्यापक आचार्य के न मिलने पर समाधिमरण कौन करावे ?	९०४
प्रायश्चित्ताचरण के पश्चात् देह त्याग काल न होने पर क्षपक क्या करे ?	९०४
समाधिमरण करने वाले क्षपक के लिए वसतिका कैसी हो	,,
क्षपक का संस्तर कैसा हो	९०७
संस्तर के चार भेद	९०८
१ पृथ्वी संस्तर	,,
२ शिलामय ,,	,,
३ काष्ठमय ,,	,,
४ तृण ,,	,,
संस्तर के आवश्यक गुण	,,
वैयावृत्य-कुशल सहायक मुनि कैसे होने चाहिए	९१०
क्षपक की क्या परिचर्या की जाती है और कौनसी परिचर्या के लिए कितने मुनि नियुक्त किये जाते हैं	९११
क्षपक के सम्मुख न करने योग्य विकथाएं	९१२
क्षपक को किस प्रकार धर्मोपदेश किया जाय	,,
क्षपक के लिए कौनसी कथा उपयुक्त है	९१३
कथाओं के चार भेद	,,
आक्षेपणी और विक्षेपणी कथा	,,
संवेजनी और निर्वेजनी कथा	९१४

विषय	पृष्ठ संख्या
क्षपक के लिए विक्षेपणी कथा का निषेध	,,
क्षपक की आहार विषयक योजना के लिए चार मुनि नियुक्त	९१५
चार मुनि पीने योग्य पदार्थ के लिए नियुक्त किए जाते हैं	९१८
चार मुनि भोजन पान के पदार्थों की रक्षा करते हैं	,,
चार मुनि मलमूत्रादि की प्रतिष्ठापना एवं शय्यादि का प्रमार्जन करते हैं	९२०
चार मुनि द्वार पाल का काम करते हैं	,,
चार मुनि रात्रि मे जागते हैं	९२१
चार मुनि आगत श्रोताओ को उपदेश देते हैं	,,
वाद विवाद के लिए चार वाग्मी मुनि नियुक्त	९२२
समाधिमरण के लिए ४८ परिचारक मुनि ही चाहिए या अधिक कम	,,
सल्लेखना से प्राण त्याग करने वाला जीव संसार में कितने भव धारण करता है	९२५
समाधिमरण के काल का विभाजन	,,
क्षपक के लिए तैल प्रयोग का विधान	९२६
क्षपक के समक्ष भोजनादि कथाएं नहीं करना चाहिए	,,
क्षपक को तीन प्रकार के आहार का त्याग करना	,,

नोट—पृष्ठ न० ९२८ के पश्चात् पृष्ठ० न० ९३३ छपगया है, बीच के चार नम्बर छुट गये हैं। पाठक ठीक करले।)

विषय	पृष्ठ संख्या
पानक पदार्थ के ६ भेद और उनका स्वरूप	९३५
क्षपक के उदरस्थमल का निवारण	९३६

विषय	पृष्ठ संख्या
क्षपक द्वारा क्षमायाचना	९३७
क्षपक को कर्ण जाप	९३८
मिथ्यात्व का त्याग	९४०
सम्यक्त्व का स्वरूप व गुण समझाना	९४१
मृत्यु समय श्रवण गोचर हुए णमोकार मंत्र का प्रभाव	९४४
भिन्न २ रीति द्वारा निर्यापकाचार्य उपदेश देकर क्षपक को सम्यक्त्व में दृढ करते हैं	९४५
क्षपक के रोग का औषधादि द्वारा प्रतीकार	"
बाह्य उपचार को छोडकर अतरग शुद्धि के लिए प्रयत्न व उपदेश	९४६
उपसर्गों से विचलित न होने वाले महा मुनियों के कुछ उदाहरण	९४९
नरकादि गतियों में भोगे हुए दुःखों का दिग्दर्शन कराते हुए क्षपक को सम्बोधन	९५४
नरक गति के दु ख	"
तिर्यंच गति के दु.ख	९५७
मनुष्य गति में प्राप्त दु ख	९५८
देवगति के दु खो का वर्णन	९६०
आत्मचिंतन व आराधना द्वारा प्राप्त शुभ फल का	९६३
आर्त रौद्रादि भावों से कुगति की प्राप्ति	९६६
समाधिमरण द्वारा प्राण छोडने पर शरीर की व्यवस्था	९६७

विषय	पृष्ठ संख्या
क्षपक की निषीधिका (निषद्या)	९६८
निषीधिका किस दिशा में होनी चाहिए	"
क्षपक के मृत्यु समय की क्रियाएं	९६९
रात्रि मे मरण होने पर जागरण वन्धन, और छेदन क्रियाए	९७०
शव की वन्धनादि क्रिया क्यों ?	"
व्यन्तर देवो का वर्णन	९७१
व्यन्तरो के भेद प्रभेद	९७२
मुनि के शव का क्या करना चाहिए	९७३
आर्यिका का समाधिमरण मुनि की भाति ही होता है या भिन्न प्रकार से	९७४
श्रावक कि स ि धि से शव ले जावें	९७५
सस्तर कैसा हो	"
क्षपक के मरण का समय निमित्त ज्ञान से शुभाशुभ फल का सूचक	९७६
मध्यम या उत्कृष्ट नक्षत्र में मरण होने पर उत्पात का निवारण	९७७
संघस्थ मुनि का मरण होने पर सङ्घ के मुनियों का कर्तव्य	९७८
मृत क्षपक की गति का ज्ञान	९७९
क्षपक की महानता	९८०
निर्यापक मुनि की महानता	"
क्षपक के दर्शन करने वाले धर्मात्माओं की पुण्य शालिता	९८१

संयम-प्रकाश

का

उत्तरार्द्ध छप रहा है।

शीघ्र ही पाठकों की सेवा में भेजा जावेगा।

विषय	पृष्ठ संख्या
क्षपक के वासस्थान तीर्थ हैं	”
अविचारभक्त प्रत्याख्यान का स्वरूप	६८२
अविचार भक्त प्रत्याख्यान के ३ भेद	६८३
१ निरुद्ध नामक अविचार भक्त प्रत्याख्यान	”
निरुद्ध के भेद	६८४
२ निरुद्धतर अविचार भक्त प्रत्याख्यान	”
३ परम निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान	६८५
अविचार भक्त प्रत्याख्यान के अल्प काल मे मुक्ति-प्राप्ति कैसे ?	६८५
इंगिनी मरण	६८७
पंडित मरण का तृतीय भेद प्रायोयगमन	६६१
तीन भेदों के अतिरिक्त भी पंडित मरण	६६३
उपसर्गादि आने पर आत्म ध्यानस्थ मुनियों के कुछ उदाहरण	६६३
जीवन्मुक्ति की उत्पत्ति का क्रम	६६४
ध्यान के बाह्य निमित्त	६६४
धर्म ध्यानस्थ मुनि द्वारा कर्म प्रकृतियों का विसंयोजन	६६५
केवली अवस्था	६६७
समुद्घात वर्णन	”
योगनिरोध ”	६६६
योग निरोध के बाद कौनसी कर्म प्रकृतियां रहती हैं ?	”
शुद्धजीवकी गति कैसे होती है ?	१०००
सिद्धशिला कहां है ?	”
सिद्धावस्था का सुख	१००१
पंचम किरण समाप्त	१००२

तरह लहर एक दूसरे के बाद आती है और (प्रतिसमय) उनकी परंपरा समाप्त नहीं होती, इसी तरह यह जीव भी प्रतिक्षण मरता रहता है। प्रतिसमय आयुकर्म का निषेक उदय मे आकर झडता रहता है, कभी यह प्रक्रिया समाप्त नहीं होती। इस आवीचिमरण का समूह ही महामरण है। भव्य जीवो की अपेक्षा यह आवीचिमरण अनादि सान्त है। क्योंकि भव्य जीव को जब मोक्ष प्राप्त हो जाता है, तब यह मरण नष्ट हो जाता है। इसलिए इसको सान्त कहते हैं। मोक्ष के होने के पूर्व अनादि काल से भव्यजीव के प्रतिसमय यह मरण होता रहता है इसलिये इसको अनादि भी कहते हैं। अत. यह मरण भव्य की अपेक्षा से अनादि सान्त होता है। अभव्यों की अपेक्षा तो यह आवीचिमरण अनादि अनन्त है। क्योकि उनके यह मरण अनादि से है और सदा रहेगा, इसलिए अनादि अनन्त है। भव की अपेक्षा से अथवा क्षेत्र की अपेक्षा से यह (आवीचिमरण) सादि कहा जाता है।

(१) आवीचि मरण के भेद

आवीचि-मरण प्रकृति, स्थिति अनुभाग और प्रदेश की अपेक्षा से चार प्रकार का होता है।

(१) प्रकृति-आवीचिमरण—एक आत्मा के एक भव में एक ही आयुकर्म की प्रकृति का उदय आता है। इसलिए एक आयु की प्रकृति के क्षय होने से आत्मा का मरण होता है। इसको प्रकृति आवीचिमरण कहते हैं।

(२) स्थिति-आवीचिमरण—आत्मा के कषायरूप परिमाणो से बन्ध को प्राप्त हुए आयु के पुद्गलों में स्निग्धता उत्पन्न होती है, इसलिये वे पुद्गल आत्मा के प्रदेशो के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं। स्निग्धता के उपादान कारण तो पुद्गल कर्म ही हैं, किन्तु आत्मा के कषायभाव से पुद्गल कर्म मे स्निग्धता प्रकट होती है, अत कषाय भाव स्निग्धता के निमित्त कारण होते हैं। जितने समय तक पुद्गलकर्म आत्मा के साथ सम्बद्ध रहते हैं, उसको स्थिति कहते हैं। यह आयुनामक पुद्गल कर्म की स्थिति एक से लेकर बढती हुई देशोन तेतीस सागर के जितने समय होते हैं, उतने भेदवाली होती है। उत्कृष्टस्थिति तेतीस सागर की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त परिमाण वाली होती है। इन आयुकर्म की स्थितियों की तरंगों के समान क्रम रचना है। इनका क्रमसे क्षय होने के कारण आत्मा के मरण को स्थिति-आवीचिमरण कहते हैं।

(३) अनुभव-आवीचिमरण—कर्मपुद्गलो का जो रस (फल) अनुभव गोचर होता है, उसको अनुभव कहते हैं। यह अनुभव पुद्गल कर्मो मे षड्गुणी हानि वृद्धि रूप समुद्र की तरंगो के क्रम से स्थित रहता है, उसके क्षय होने को अनुभव आवीचिमरण कहते है।

(४) प्रदेश-आवीचिमरण—अयुकर्म के पुद्गल प्रदेश जघन्य निषेक से लेकर एक, दो, तीन आदि वृद्धि क्रमेण तरंग के समान स्थित हैं उनके विनाश होने को प्रदेश आवीचिमरण कहते हैं। इस प्रकार आवीचिमरण नामक प्रथम भेद का वर्णन किया।

(२) तद्भवमरण

तद्भवमरण—भुज्यमान आयु का अंतिम समय मे नाश होने को तद्भवमरण कहते हैं। अर्थात् वर्त्तमान पर्याय का नाश होकर उत्तर पर्याय की प्राप्ति को तद्भवमरण कहते हैं। यह मरण इस जीव ने अनन्त बार किया है, और जब तक रत्नत्रय की आराधना कर सिद्ध अवस्था प्राप्त न कर लेगा तब तक यह मरण होता रहेगा।

(३) अवधि मरण

अवधिमरण—का वर्त्तमान पर्याय के समान ही भविष्य पर्याय मे भी मरण का होना अवधिमरण है। इस अवधिमरण के दो भेद हैं-सर्वावधिमरण और देशावधिमरण।

(१) सर्वावधिमरण—जैसा आयुकर्म प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशो से वर्त्तमान काल मे उदय आरहा है वैसा ही प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशवाला आयुकर्म फिर बंध को प्राप्त होकर उदय मे आवे, उसको सर्वावधि मरण कहते हैं।

(२) देशावधिमरण—जैसा आयुकर्म वर्त्तमान काल मे उदय को प्राप्त हो रहा है, उसकी कुछ सदृशता को लिए हुए आयु कर्म फिर बन्ध को प्राप्त होकर उदय मे आवे उसे देशावधिमरण कहते हैं।

इसका आशय यह है कि वर्त्तमान आयु का कुछ अंश अथवा सर्वांश मे सादृश्य जिसमे पाया जाता है, उस अवधि (मर्यादा) से युक्त मरण को अवधिमरण कहते हैं। वर्त्तमान आयु का सम्पूर्ण सादृश्य जिस भावी आयु मे पाया जाता है उस मर्यादित मरण को सर्वावधि मरण और जिस भावी आयु मे वर्त्तमान आयु का एक अंश सादृश्य रहता हो उस मर्यादित मरण को देशावधि मरण कहते हैं।

(४) आद्यंत मरण

आद्यंत मरण—वर्त्तमान काल के मरण का सादृश्य जिस भावी मरण मे नहीं पाया जाता है उसको आद्यंत मरण कहते हैं। यहा पर आदि शब्द से प्रथम मरण लेना चाहिए। उसका अन्त (नाश–अभाव) जिस मरण मे पाया जाता है अर्थात् जो सर्वथा विसदृश मरण होता है उसको आद्यंत मरण कहते हैं।

(५) बाल मरण

बालमरण—बाल नाम अज्ञानी जीव का है। अज्ञानी जीव का जो मरण होता है, उसे बाल मरण कहते हैं। बाल (अज्ञानी) जीव पाच प्रकार के होते हैं-(१) अव्यक्तबाल, (२) व्यवहारबाल, (३) ज्ञानबाल, (४) दर्शनबाल, (५) चारित्रबाल।

१ अव्यक्तबाल—यहा अव्यक्त शब्द का अर्थ छोटा बच्चा है। जो धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थ सम्बन्धी कार्यों को न समझता है और न उनका आचरण करने की शारीरिक शक्ति रखता है, उसको अव्यक्त बाल कहते हैं।

२ व्यवहार बाल—जिसको लौकिकव्यवहार तथा शास्त्रीय ज्ञान नहीं है, अथवा जो बालक है, उसको व्यवहार बाल कहते है।

३ दर्शन बाल—जो तत्त्वार्थ के श्रद्धान से रहित मिथ्यादृष्टि है उसे दर्शन बाल कहते हैं।

४ ज्ञान बाल—जिसे वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं है, उसको ज्ञान बाल कहते हैं।

५ चारित्र बाल—जो चारित्र के आचरण से रहित है, उसे चारित्र बाल कहते हैं।

इन पाच प्रकार के मरण को बाल मरण कहते हैं। ऐसा बाल मरण इस जीव ने भूतकाल मे अनन्तबार किया है, और अनन्त जीव इस मरण को करते रहते हैं।

यहाँ प्रकरण मे दर्शन बाल का ही ग्रहण है। अन्य बालो का यहाँ ग्रहण करणा आवश्यक नहीं है, क्योकि सम्यग्दर्शन सहित अन्य चार प्रकार के बाल दर्शन पडित कहे जाते हैं। अत उनका मरण सम्यग्दर्शन सहित होने से उस मरण को पण्डितमरण माना है। अर्थात् सम्यग्दर्शन युक्त मरण सद्गति का कारण होता है और सम्यग्दर्शन रहित मरण दुर्गति के दुःखो का जनक होता है।

दर्शन बाल मरण के सक्षेप से दो भेद हैं— १ इच्छाप्रवृत्तमरण और २ अनिच्छा प्रवृत्तमरण।

१ इच्छाप्रवृत्तमरण—जो प्राणी अग्नि मे जलकर, धूएँ से श्वास का निरोधकर, विषभक्षण कर, जल मे डूब कर, पर्वत से गिरकर, गले मे फॉसी लगाकर अथवा शस्त्राघात से, अत्यन्त शीत व उष्ण के पडने से, भूख से, प्यास से, जिह्वा के छेदन-उत्पाटन (उखाडने) से, प्रकृति विरुद्ध आहार करने से इत्यादि कारणो से इच्छा पूर्वक मृत्यु को प्राप्त होते हैं उस मरण को इच्छाप्रवृत्त बालमरण कहते हैं।

२ अनिच्छाप्रवृत्तबालमरण—जीने की इच्छा रखते हुए मिथ्यादृष्टि का जो काल मे या अकाल में मरण होता है, उसको अनिच्छाप्रवृत्तबालमरण कहते हैं। जो दुर्गति मे गमन करने वाले हैं, इसलिए जो विषयों मे आसक्त रहते हैं, जिनका अन्त करण अज्ञान अन्धकार से आछन्न है, जो ऐश्वर्य के मद मे उन्मत्त हैं, उनके उक्त बालमरण होता है। इस मरण से जीव तीव्र पाप का उपार्जन कर दुर्गति में दु खो का अनुभव करते हैं और जन्म जरा मरण के क्लेशो को बहुत काल तक सहते हैं।

पण्डित मरण—

पण्डित मरण के चार भेद हैं— १ व्यवहारपण्डित, २ सम्यक्त्वपण्डित, ३ ज्ञान पण्डित और ४ चारित्र पण्डित।

१ व्यवहार पण्डित—जो केवल लोक व्यवहार, वेदज्ञान तथा शास्त्रज्ञान मे निष्णात होता है, उसको व्यवहार पण्डित कहते हैं। अथवा—

जो अनेक लौकिक शास्त्रो मे निपुण हो तथा शुश्रूषा, श्रवण, मनन, धारणादि बुद्धि के गुणो में दक्ष हो उसको व्यवहार पडित कहते हैं।

२ दर्शन पण्डित—जिसको क्षायिक, क्षायोपशमिक अथवा औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त हो गया है, उसको दर्शन पण्डित कहते हैं।

३ ज्ञान पण्डित—मतिज्ञानादि पाच प्रकार के सम्यग्ज्ञानो मे से यथासभव किसी ज्ञान से युक्त जीव को ज्ञान पण्डित कहते हैं।

४ चारित्र पण्डित—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात इन पाच चारित्रो मे से किसी भी चारित्र मे प्रवृत्ति करने वाले सयमी को चारित्र पण्डित कहते हैं। इन चार प्रकार के पण्डितों में से यहाँ ज्ञान पण्डित, दर्शन पण्डित और चारित्र पण्डित का ही ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि व्यवहार पण्डित मिथ्यादृष्टि होता है। इसलिए उसका मरण बालमरण माना गया है। केवल सम्यग्दृष्टि का मरण ही पण्डित मरण कहा गया है।

नरक मे, भवनवासी देवो के स्थानो मे तथा स्वर्गवासी और ज्योतिषी देवो के विमानों में, व्यन्तर देवो के निवास स्थानो मे एव द्वीप व समुद्रो मे दर्शन पण्डित मरण होता है, तथा ज्ञानपण्डित मरण उपर्युक्त स्थानों मे तथा मनुष्य लोक मे होता है, किन्तु मन - पर्ययज्ञानी तथा केवल ज्ञानी का ज्ञान पण्डित मरण मनुष्य लोक मे ही होता है। चारित्रपण्डित मरण भी मनुष्य लोक मे ही होता है।

(७) अवसन्न मरण

मोक्षमार्ग (रत्नत्रय) का पालन करनेवाले संयमियो के संघ का परित्याग करनेवाले संघभ्रष्ट साधु को अवसन्न कहते हैं। उसका जो मरण है वह अवसन्न मरण कहलाता है।

यहां पर अवसन्न शब्द का ग्रहण करने से पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील और संसक्त इन चार प्रकार के भ्रष्ट साधुओं का भी ग्रहण होता है।

"पासत्थो सच्छंदो कुसील संसत्त होंति ओसण्णा।
जं सिद्धिपच्छिदादो ओहीणा साहु सत्थादो" ॥ १ ॥ (भग० टीका गाथा २५)

अर्थ—पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील, संसक्त और अवसन्न ये पांच प्रकार के भ्रष्ट (पतित) साधु हैं। ये रत्नत्रय से हीन हैं और साधुओ के संघ से बहिष्कृत होते हैं।

ये साधु धनादि ऐश्वर्य मे प्रेम रखते हैं। रस (जिह्वा की लम्पटता) मे आसक्त होते हैं। सदा सुखो की अभिलाषा रखते एवं दुख. से डरते हैं। लोभादि कषाय के वशीभूत होते हैं। उनके आहारादि की तीव्र संज्ञा होती है। वे पाप जनक मन्त्रतन्त्रादि शास्त्रो का अभ्यास करते हैं। तेरह प्रकार की क्रियाओं के आचरण मे प्रमादी होते हैं। गृहस्थ की वैयावृत्य (सेवा) करते हैं। मूलगुणो से हीन होते हैं। समिति और गुप्ति के पालन करने का उद्योग नहीं करते अर्थात उनके समिति व गुप्ति नहीं होती है। वैराग्य भावना व संसार से भीरुता भी नहीं होती है। वे उत्तम क्षमादि दशधर्म मे बुद्धि नहीं लगाते। उनका चारित्र सदोष होता है। इस प्रकार के साधु को अवसन्न कहते हैं।

ऐसे साधु सहस्रों भवो मे भ्रमण करते रहते हैं। बारबार दुखो को भोगते हैं।

(८) बाल पण्डित मरण

सम्यग्दर्शन के धारक संयतासंयत (अणुव्रती) श्रावक को बालपण्डित कहते हैं। उसके मरण को बालपण्डितमरण कहा है। क्योकि श्रावक बाल और पण्डित इन दोनो धर्मों से युक्त होता है। बाल तो इसलिए कहा जाता है कि इसके केवल एक देश से ही हिंसादि पापों का त्याग होता है, सम्पूर्ण रूप से हिंसादि का त्याग नहीं होता है। अतः चारित्र की अपेक्षा तो बाल है और पण्डित इसलिए है कि उसके सम्यग्दर्शन का सद्भाव है। अतएव इसको बाल पण्डित कहते हैं। यह बालपण्डितमरण, गर्भज पर्याप्त तिर्यंच व मनुष्यों के होता है। देव तथा

नारकियों के नहीं होता, क्योंकि उनके सम्यग्दर्शन तो होता है, लेकिन देशसंयम नहीं होता। इसलिए उनके दर्शन पण्डित मरण हो सकता है।

(९) सशल्यमरण

शल्य दो प्रकार का है—१ द्रव्यशल्य और २ भावशल्य। मिथ्यादर्शन, माया और निदान रूप भावों को भावशल्य कहते हैं और इन भावों की उत्पत्ति के कारण द्रव्यकर्म को द्रव्यशल्य कहते हैं। इस प्रकार शल्य के दो भेद होते हैं, अत: सशल्य मरण के भी दो भेद हैं। द्रव्यशल्यसहित मरण और भावशल्यसहित मरण। पृथ्वी, जल, अग्नि वायु और वनस्पतिकाय इन पाच स्थावर जीवों के मरण को तथा द्वीन्द्रियादि असज्ञी पर्यन्त त्रस जीवों के मरण को द्रव्यशल्यसहित मरण कहते हैं। सज्ञी पचेन्द्रिय जीव के ही भावशल्य सहित मरण होता है।

शका—क्या असज्ञी पर्यन्त (सज्ञी को छोडकर शेष) सब जीवों के भाव शल्य (माया, मिथ्यात्व और निदान) नहीं होता है ?

समाधान—माया, मिथ्यात्व और निदान ये तीन सम्यक्त्व के अतीचार माने गये हैं। सम्यक्त्व संज्ञी के अतिरिक्त स्थावरादि असज्ञीपर्यन्त जीवों के नहीं होता है। यह कथन व्यवहार सम्यग्दर्शन की अपेक्षा है।

छल-कपट करके सन्मार्ग को छिपाना, व असन्मार्ग को सन्मार्ग प्रकट करने के लिए दभ करना मायाशल्य है।

मोक्ष मार्ग को दूषण लगाना या उसका विनाश करना, सन्मार्ग का निरूपण न कर उन्मार्ग (विपरीतमार्ग) की प्ररूपणा करना मोक्षमार्ग पर स्थित जीवों को सन्मार्ग से चिगाना-यह सब मिथ्यादर्शन शल्य है।

आगामी काल में मुझे अमुक भोगादि सामग्री प्राप्त हो, इस प्रकार मन में चिन्तन करने को निदानशल्य कहते हैं। यह निदान, तीन प्रकार का है १ प्रशस्तनिदान, २ अप्रशस्तनिदान और ३ भोगनिदान।

१ प्रशस्त निदान—पूर्ण सयम का पालन करने के लिए दूसरे जन्म में पुरुष आदि होने की वाछा करना प्रशस्त निदान है।

२ अप्रशस्तनिदान—मान कषाय के वश होकर आगामी भव में उत्तम कुल, सुन्दर रूपादि की आकाक्षा करना अप्रशस्त निदान है।

३ इस व्रत, संयम व शील के पालन करने से मुझे इस भव में अमुक भोग सामग्री प्राप्त हो, इस प्रकार की अभिलाषा करने को भोग निदान कहते हैं।

असयतसम्यग्दृष्टि के तथा सयतासयत (अणुव्रती श्रावक) के निदानशल्य मरण होता है। पार्श्वस्थादि भ्रष्ट साधु चिरकाल विहार करके विना आलोचन किये ही उसी अवस्था मे जो मरण करता है, उसके माया शल्य मरण होता है। यह मरण सयमी, अणुव्रती श्रावक तथा अविरतसम्यग्दृष्टि के भी होता है।

(१०) वलाय (पलाय) मरण

विनय, वैयावृत्त्य तथा देववन्दनादि नित्य नैमित्तिक क्रिया करने मे आलस्य (प्रमाद) करने वाला, इनमे आदर भाव न रखने वाला, व्रतो के आचरण करने मे प्रमादी, समिति और गुप्ति के पालन करने मे अपनी शक्ति को छिपाने वाला, धर्म के स्वरूप का विचार करते समय निद्रा वश हो जाने वाला, ध्यान नमस्कारादि कार्यों से दूर भगने वाले अर्थात् उसमे उपयोग न देने वाले का जो मरण है, उसे वलाय (पलाय) मरण कहते हैं। सम्यक्त्वपडित, ज्ञानपडित और चारित्रपंडित के यह वलाय मरण भी सभव हो सकता है।

जो पहले सशल्य मरण और अवसन्न मरण कह आये है वे दोनो प्रकार के मरण करने वालों के नियम से वलाय मरण है। तथा इनके अतिरिक्त जीवों का भी वलाय मरण होता है। क्योकि जो जीव नि शल्य (शल्यरहित) है और सवेगभाव से युक्त है, किन्तु सस्तर (शय्या) पर पडे हुए अर्थात मरणोन्मुख हुए उसके शुभ भावों का पलायन हो रहा है, उसके शुभ भाव नहीं ठहरते हैं। अत. सशल्य और अवसन्न मरण करने वालो से भिन्न जीवो के भी वलाय (पलाय) मरण होता है।

(११) वशार्त्त मरण (आर्त्तवश मरण)

आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान मे प्रवृत्त हुए जीव के वशार्त्तमरण होता है। इसके चार भेद होते हैं—१ इन्द्रियवशार्त्त-मरण २ वेदनावशार्त्त-मरण, ३ कषाय-वशार्त्त-मरण, ४ नोकषायवशार्त्त-मरण।

१ इन्द्रियवशार्त्त-मरण—स्पर्श रस गन्धादि पाच इद्रिय विषयों के भेद से इस मरण के भी पाच भेद हो जाते हैं। स्पर्शनेन्द्रिय-वशार्त्तमरण, रसनेन्द्रिय-वशार्त्तमरण आदि।

तत वितत घन और सुषिर (मृदग वीणादि) वाद्य जनित मनोज्ञ शब्दों मे राग और अमनोज्ञ (अप्रिय) शब्दों मे द्वेषयुक्त होकर मरण करने को श्रोत्रेन्द्रिय वशार्त्तमरण कहते हैं। खाद्य, स्वाद्य, लेह्य व पेय ऐसे चार प्रकार के आहार मे यदि वह इष्ट हो तो उसमें आसक्ति सहित और यदि वह अनिष्ट हो तो द्वेष सहित होकर मरण करने को रसनेन्द्रिय-वशार्त्तमरण कहते हैं। चन्दन पुष्पादि पदार्थों के

लुभाव, गंध मे प्रेम और अरुचिकर असुहावने में द्वेष युक्त होकर मरण करने को घ्राणेन्द्रिय-वशार्त्तमरण कहते हैं। तथा सुन्दर रूप व आकार मे रागभाव और असुन्दर रूप व आकार में द्वेषभाव युक्त होकर मरण करने को नेत्रेन्द्रिय वशार्त्तमरण और स्पर्शवाले पदार्थों के सुन्दर सुहावने स्पर्श मे प्रीति और असुहावने स्पर्श मे अप्रीति करने को स्पर्शनेन्द्रिय वशार्त्तमरण कहते हैं। इसी तरह मन के लिए भी समझना चाहिए। इन सबको इन्द्रियानिन्द्रियवशार्त्त मरण के नाम से कहते हैं।

२ वेदनावशार्त्त मरण—इस मरण के दो भेद हैं—सातवेदनावशार्त्त मरण और असातवेदनावशार्त्त मरण।

जो जीव शरीर और मन सम्बन्धी सुख मे उपयोग सहित मरता है, उसके सातवेदनावशार्त्त मरण होता है और जो शारीरिक तथा मानसिक दु:ख मे उपयोग रखते हुए मरता हैं, उसके असातवशार्त्त मरण होता है।

३ कषायवशार्त्त मरण—कषाय के चार भेद हैं, अत: कषाय की अपेक्षा इस मरण के भी चार भेद होते हैं। अपने ऊपर, दूसरे पर अथवा स्व पर दोनो पर उत्पन्न हुए क्रोध से जो मरण करता है, उसे क्रोध वशार्त्त मरण कहते हैं। मानवशार्त्त मरण के आठ भेद होते हैं कुल, रूप, बल, शास्त्रज्ञान, प्रभुत्व, लाभ, प्रज्ञा और तपस्या से अपने को उत्कृष्ट समझते हुए प्राणी का अभिमानवश जो मरण होता है, उसको मानवशार्त्त मरण कहते हैं। उक्त आठ मदों से युक्त मरण को पृथक् २ कहते हैं।

मैं जगत् प्रसिद्ध विशाल व उच्चकुल मे उत्पन्न हुआ हूँ, ऐसे मानते हुए प्राणी का जो मरण होता है, वह कुलमानवशार्त्त मरण है। मेरे पाचों इन्द्रिया सुन्दर हैं तथा सम्पूर्ण शरीर के अवयव सुडौल और मनोज्ञ हैं, मैं तेजस्वी हूँ, नवयुवक हूँ, मेरा रूप सम्पूर्ण मनुष्यो के मन को मोहने वाला है, इस प्रकार के भाव रखते हुए जीव का जो मरण होता है, उसे रूपमानवशार्त्तमरण कहते हैं। मैं वृक्ष पर्वतादि को उखाड़ फेंकने मे समर्थ हूँ, मैं युद्ध शूर हूँ, तथा मेरे पास मित्रो का बल है, इस प्रकार बल का अभिमान करते हुए जीव का जो मरण होता है, उसे बलमानवशार्त्त मरण कहते हैं। मेरा परिवार बहुत है, मेरी आज्ञा को सब मानते हैं इस प्रकार अपनी प्रभुता (ऐश्वर्य) मे उन्मत्त पुरुष का जो मरण होता है उसको प्रभुता (ऐश्वर्य) मानवशार्त्त मरण कहते हैं। मैं लौकिकशास्त्र, व्यवहार, वेद, सिद्धान्तशास्त्रादि का ज्ञाता हूँ, इस प्रकार शास्त्र ज्ञान के अभिमानी के मरण को शास्त्रज्ञानाभिमानवशार्त्त मरण कहते हैं। मेरी अतिनिर्मल व तीक्ष्ण बुद्धि सब शास्त्रों मे प्रवेश करती है, मेरे तर्कज्ञान के आगे दूसरे की तर्क बुद्धि नहीं चलती है—इत्यादि प्रकार से अपनी बुद्धि के अभिमानी के मरण को प्रज्ञामानवशार्त्त मरण कहते हैं। मैं जिस व्यापार मे हाथ डालता हूँ, सबमे मुझे लाभ ही लाभ होता है, ऐसे लाभ सम्बन्धी मान का विचार करते हुए मनुष्य के मरण को लाभमानवशार्त्त मरण कहते हैं। मैं दुर्धर तपश्चर करने वाला हूँ, तपस्या मे मेरे समान अन्य कोई नहीं है, इस प्रकार चिन्तन करते हुए जीव का जो मरण होता है, वह तपमानवशार्त्त मरण कहलाता है।

माया के पाच भेद हैं—१ निकृति, २ उपधि, ३ सातिप्रयोग, ४ प्रणिधि और ५ प्रतिकुंचन। १ धन की तथा अन्य किसी विषय की अभिलाषा करने वाले मनुष्य द्वारा जाल फँसाने को निकृति नाम की माया कहते हैं। २ अपने असली भाव को छिपाकर धर्म के बहाने से चोरी आदि दुष्कृत्य मे प्रवृत्ति करने को उपधि नामक माया कहते हैं। ३ धन के विषय मे झूठा झगडा करना, किसी की धरोहर रखी हो उसको कम देना या सब का सब हजम कर जाना, किसी को झूठा दूषण लगाना या झूठी प्रशसा के पुल बांधना, यह सातिप्रयोगमाया है। ४ कम मूल्य की सदृश वस्तु को बहुमूल्यवाली वस्तु मे मिलाना, हीनाधिक नाप व तोल के उपकरण रखना, असली में नकली चीज की मिलावट करना अथवा असली कहकर नकली चीज देना यह प्रणिधि नाम की माया है। गुरु के सम्मुख आलोचना करते हुए दोषों को भले प्रकार प्रकट करना, उनको छिपाना, यह प्रतिकुंचन नाम की माया है।

लोभवशार्त्तमरण—पिच्छी, पुस्तक, कमडलु आदि उपकरणो मे, भोजन पान मे, क्षेत्र मे, शरीर मे और निवासस्थान में इच्छा या मूर्च्छा (ममत्व) रखने वाले का जो मरण होता है, उसको लोभवशार्त्त मरण कहते हैं।

नो कषायवशार्त्त मरण—हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्री वेद पुरुष, वेद तथा नपुंसक वेद से आक्रांत मनुष्य का जो मरण होता है, उसे नोकषायवशार्त्त मरण कहते हैं।

नोकषाय के वश आर्त्तमरण करनेवाला जीव मनुष्य और तियच योनि मे उत्पन्न होता है। असुरजाति के देवों में (कंदर्प और किल्विषिक नीचदेवों मे) जन्म लेता है। मिथ्यादृष्टि के यही बालमरण होता है। दर्शनखण्डित, अविरतसम्यग्दृष्टि तथा संयतासयत (अनुव्रती श्रावक) भी वशार्त्तमरण करते हैं, उनका यह मरण बालपण्डिमरण या दर्शनखण्डित मरण समझना चाहिए।

(१२) विप्पाणस (विप्राण) मरण

विप्पाणस (विप्राण) मरण और गृध्रपृष्ठमरण इन दोनों मरणों की शास्त्रो मे न तो अनुज्ञा (अनुमति) मिलती है और न निषेध ही मिलता है।

जिस समय दुष्काल (दुर्भिक्ष) पडा हो, जिसको पार करना कठिन है ऐसे भयानक बीहड जंगल मे पहुंच गये हो, पूर्वकाल के प्राणघातक शत्रु से भय उपस्थित हुआ हो, दुष्ट राजा से भय प्राप्त हुआ हो, या चोर का भय उपस्थित होगया हो अथवा सिंहादि प्राण सहारक तिर्यंचकृत उपसर्ग उपस्थित होगया हो, और इनके द्वारा उत्पन्न हुए क्लेशो को सहन का सामर्थ्य न हो, अथवा ब्रह्मचर्य व्रत के नाश अथवा अन्य चारित्र के घात के पुष्ट कारण प्राप्त हो गये हों, ऐसे समय में ससार से संविग्न पाप से भयभीत संयमी कर्म के

तीव्र उदय को उपस्थित हुआ जान कर जब वह उससे बचने का उपाय नहीं देखता है, और उन क्लेशादि को सहन करने की क्षमता अपने मे नहीं पाता है, पापमय कोई प्रतिक्रिया नहीं करना चाहता है, तथा आत्मा के घातक मरण से डरता है तब वह उपर्युक्त कारणों के उपस्थित होने पर क्या मेरा कुशल होगा ? ऐसा विचार करता है–यदि मैं उपसर्ग भय से त्रास को प्राप्त होकर सयम से भ्रष्ट हो जाऊगा तथा उपसर्ग वेदना को सहन न कर सकने से सम्यग्दर्शन से भी पतित हो जाऊगा तो मेरा आराधन किया हुआ रत्नत्रय हाथ से निकल जावेगा। जब उसको चारित्र व सम्यग्दर्शन के विनाश की संभावना का दृढ निश्चय हो जाता है तब वह मायाचार रहित हुआ दर्शन व चारित्र मे विशुद्धि धारण कर धैर्य का अवलम्बन करता है, ज्ञान का आश्रय लेता है, निदान रहित हुआ अर्हन्त भगवान् की साक्षी से अपने दोषों की आलोचना करके आत्मशुद्धि करता है, शुभलेश्या से अपने श्वासोच्छ्वास का निरोध करता है—उस मरण को विप्पणास (विप्राण) मरण कहते हैं।

(१३) गृध्रपृष्ठ मरण

ऊपर लिखे हुए कारणो के उपस्थित होने पर शस्त्र ग्रहण करके जो प्राणों का निसर्जन करता है, उसे गृध्रपृष्ठमरण कहते हैं।

(१४) भक्तप्रत्याख्यान, (१५) इंगिनी और (१६) प्रायोपगमनमरण

भक्तप्रत्याख्यान मरण (१५) इगिनीमरण और (१६) प्रायोपगमनमरण ये तीन उत्तम मरण हैं। ये महात्माओं के ही सभव है। इनका स्वरूप आगे कहेंगे।

केवलीमरण

केवलीमरण—ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और रागादि भावकर्म का विनाश पूर्वक जो सदा के लिए औदारिकादिशरीरो के सम्बन्ध का त्यागकर अनन्तचतुष्टय की प्राप्तिकर नित्यनिरंजन अक्षय अनन्त शिव पद को प्राप्त करते हैं उन केवली भगवान के शरीर त्याग करने को केवली मरण कहते हैं।

इस प्रकार सक्षेप से सत्रह प्रकार के मरणों का विवेचन किया। उन सत्रह मरणों को भी संक्षिप्त करने से पाच मरण होते हैं। पाच मरणों के विशेष विवेचन करने की शास्त्रकार ने प्रतिज्ञा की थी, अत उनका निरूपण करते हैं।

पंडितपंडितादि पंच मरण का विशेष वर्णन

श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना मे उक्त पाच मरणो का वर्णन करते हुए लिखते हैं.—

पंडिदपंडिदमरणं पंडिदयं बालपंडिदं चेव ।
बालमरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च ॥ २६ ॥ (भग. आ,)

अर्थ—१ पडितपडितमरण, २ पडितमरण, ३ बालपडित मरण, ४ बालमरण, और ५ बालबालमरण ये पाच मरण हैं।

शंका—यहा पर आपने मरणों के पाच भेद ही कहे हैं। वे किस अपेक्षा से कहे गये हैं। यदि भव (मनुष्यादि) पर्याय के विनाश होने को मरण माना जाय तो पर्याये अनेक हैं, तो मरण भी अनेक हुए।

यदि प्राणियों के प्राणो का जो वियोग होता है, उसे मरण मानें तो भी मरण के पाच भेद सिद्ध नहीं हो सकते। क्योंकि सामान्य रूप से प्राण-वियोग की अपेक्षा से तो एक भेद ही होता है और विशेष की अपेक्षा लीजावे तो प्राण दश हैं,उनके वियोग रूप मरण के भी दश भेद सिद्ध होते हैं।

यदि उदय मे आये हुए कर्मों के खिरने को मरण कहा जावे तो कर्म प्रत्येक समय में खिरते हैं, उनको पाच तरह के कैसे कहते हैं ?

सामाधान—गुण भेद की अपेक्षा से जीवों को भी पाच प्रकार के मानकर तत्सम्बन्धी मरण के भी पाच भेद कहे गये हैं।

उक्त पाच प्रकार के मरणों को कई आचार्यों ने यथाक्रम से प्रशस्ततम, प्रशस्ततर, ईषत्प्रशस्त, अविशिष्ट और अविशिष्टतर इन नामों से भी कहा है।

* (१) पण्डितपडितमरण—जिनका ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में अतिशय सहित पाडित्य है, अर्थात् जो केवल ज्ञान के धारक हैं, क्षायिक सम्यग्दृष्टि व यथाख्यात चारित्र और उत्कृष्ट तपश्चरण के आराधक हैं, उन केवली भगवान् के शरीर त्याग करने को पण्डित पण्डितमरण कहते हैं।

(२) पण्डितमरण—जिनका ज्ञान चारित्रादि परम प्रकर्षता को प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसे प्रमत्तसंयतादि छठे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थानवर्ती साधुओं का जो मरण होता है, उसे पण्डितमरण कहा है।

* (१) पण्डित शब्द उत्तम तप, उत्तम सम्यक्त्व, उत्तम ज्ञान और उत्तम चारित्र इन चार अर्थों में व्यवहृत होता है।

(३) बाल पण्डित—संयतासंयत (पंचम गुणस्थान वर्ती श्रावक) को बालपण्डित कहते हैं। रत्नत्रय में परिणत होने वाली पडा (बुद्धि) जिसको प्राप्त होगई है उसे यहा पण्डित माना है। इसलिए श्रावक बालपण्डित कहा गया है। क्योंकि इसमें एक देशरत्नत्रय का आराधन करने और महाव्रत रूप सर्वदेश रत्नत्रय का पालन न करने के कारण बालपना और पण्डितपना दोनो धर्म पाये जाते हैं, अत यह बाल और पण्डित उभय रूप है। इस का मरण बालपण्डितमरण माना गया है।

(४) बालमरण—असयत सम्यग्दृष्टि बालमरण करता है। क्योंकि इसके सम्यग्दर्शन और ज्ञान होने पर भी चारित्र नहीं पाया जाता है।

(५) बालबालमरण—मिथ्यादृष्टि को बालबाल कहते हैं। क्योकि इसके सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-चारित्रादि कुछ भी नहीं होता है। इसलिए यह अतिशय बाल है। इसके मरण को बालबाल मरण कहते हैं।

इन पाच प्रकार के मरणों मे से आदि के तीन मरण सद्गति देने वाले हैं, अत· जिनेन्द्रदेव ने इनकी प्रशंसा की है। वही कहा है:—

पंडिदपंडिदमरणं च पंडिदं बालपंडिदं चेव।
एदाणि तिण्णि मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसंति॥ १ ॥ (भग० आ० टीका गाथा २६)

अर्थ—पंडितपंडितमरण, पण्डितमरण और बालपंडितमरण इन तीनों की जिनेन्द्रदेव नित्य प्रशसा करते हैं।

पंडितपंडितमरण के स्वामी केवली भगवान् हैं।

अब पंडित मरण किसके होता है? ऐसी उत्पन्न हुई शंका का समाधान करते हैं—

पायोपगमणमरणं भत्तपइण्णा य इंगिणी चेव।
तिविहं पंडियमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस्स ॥ २९ ॥ (भग०आ०)

अर्थ—१ प्रायोपगमनमरण, २ इंगिनीमरण और ३ भक्तप्रतिज्ञामरण ये तीन भेद पंडितमरण के हैं। ये तीनों आगमोक्त चारित्र का पालन करनेवाले मुनीश्वर के होते हैं।

(१) प्रायोपगमन मरण—जो साधु रोगादि से पीडित होने पर भी अपना वैयावृत्त्य दूसरे से नहीं करवाता है, और न आप भी करता है, जीवन पर्यन्त आहारादि का त्याग करके एक स्थान मे सूखे काठ की तरह व मृतककाय समान स्थित रहता है, तथा मन-वचन-काय की क्रिया रहित हुआ परम विशुद्धि से पर्याय का त्याग करता है, उसके प्रायोपगमन मरण होता है। यह मरण संसार का उच्छेद करने मे समर्थ सस्थान और सहननवाले के होता है। इस मरण को प्रयोग्यगमन मरण तथा पादोपगमन मरण भी कहते हैं।

(२) इगिनी मरण—निज अभिप्राय को इगित कहते है। जो अपने अभिप्राय के अनुकूल अपना वैयावृत्त्य आप ही करते हैं, दूसरे से अपना वैयावृत्त्य नहीं करवाते है, रोगादि अवस्था मे भी उठने, बैठने, शयन करने आदि क्रियाओ मे दूसरे की सहायता नहीं लेते हैं, सम्पूर्ण आहारादि का त्याग कर एकाकी वन मे शरीर का त्याग करते हैं, उनके मरण को इगिनी मरण कहते हैं।

(३) भक्त-प्रतिज्ञा (प्रत्याख्यान) मरण—जो साधु अपनी शुश्रूषा आप भी करते हैं और दूसरों से भी करवाते हैं, आगमोक्त चारित्र का पालन करते हुए अनुक्रम से आहार का त्याग करते हैं, तथा कषाय को कृश करते हैं उनके भक्तप्रतिज्ञा अर्थात् भक्त-प्रत्याख्यान मरण होता है। बाल पडित का वर्णन पहले कर ही चुके हैं। इस तरह प्रारभ के तीन मरण ही श्रेष्ठ हैं। बालमरण चारित्रहीन सम्यग्दृष्टि के होता है। यद्यपि यह उक्त तीन मरणो की अपेक्षा हीन है, किन्तु इसके स्वामी के तत्त्वश्रद्धान होता है, इसलिए यह बालबाल मरण की अपेक्षा श्रेष्ठ है। किन्तु संयम का सर्वथा अभाव होने से इसे प्रशसनीय नहीं कहा है। मिथ्यादृष्टि के मरण को बालबाल मरण कहा है। यह मरण ससार के सब एकेन्द्रिय से लेकर मिथ्यादृष्टि समस्त पचेन्द्रियों का होता रहता है। इस जीवने अनन्त वार यह मरण किया है। आचार्य शिवकोटि कहते हैं—

सुविहियमिमं पवयणं असदहन्तेणिं मेण जीवेण।
वालमरणाणि तीदे मदाणि काले अणताणि ॥ ४२ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—वस्तु का यथार्थ स्वरूप प्रतिपादन करने वाले पूर्वापर विरोध रहित तथा प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रामाणो से अवाधित जिनेन्द्रदेव कथित आगम का श्रद्धान न करके इस जीवने पहले अनन्त वार बालबालमरण किये है। पर पडितमरण का एकवार भी सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ। यदि एक वार भी पडितमरण हो जाता तो अधिक से अधिक सात आठ भव धारण करने के पश्चात् यह आत्मा इस जन्म मरण के दु ख से सदा के लिए छूट जाता। अत. ऐसा अवसर प्राप्त होने पर अपने आपको या दूसरों को यो समझाना चाहिए की हे आत्मन्! वड़ी कठिनता से महान पुण्य कर्म उदय से यह अनुपम स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ है। इसलिए परमागम की श्रद्धा मे दृढ़ रहो और अपने चारित्र को निर्मल बनाओ। जिन अतिचारों का पूर्व वर्णन कर आये हैं, उनमे से एक भी अतिचार अन्त समय मे मत लगने दो। क्योंकि

मनुष्य जन्म का पाना और अनुकूल साधनो का योग पाकर संयम का आराधन करना उत्तम कार्यों मे शिरोमणि है। इस संयम के लिए उत्कृष्ट सासारिक सुख के स्वामी सर्वार्थसिद्धि के देव भी तरसते हैं। वह सयमरत्न तुमने प्राप्त कर लिया है। क्या इसे साधारण पुण्य वाले पुरुष प्राप्त कर सकते हैं ? सुन्दर शरीर, विपुल धन सम्पत्ति, देवदुर्लभ ऐश्वर्य, मनोनुकूल इष्टभोग–विलासत था आहारादि सामग्री तो तुमने इस अपार ससार में न जाने कितनी बार उपलब्ध करली हैं, उससे क्या शान्ति मिली है ? मोहवश यह आत्मा आहार भोगादि से मिथ्या सुख शान्ति मान लेता है। सुख शान्ति प्राप्त करने का मार्ग तो सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्र हैं। इसलिए हे मुने ! मरण समय मे इन सुख दाता सम्यक्त्वादि का त्याग मत करो। यदि तुमने इनका त्याग किया तो अनत काल पर्यन्त ससार मे भ्रमण करना पडेगा। अतएव इस समय सम्यक्त्व की रक्षा करते हुए संयम का निरतिचार पालन कर आत्मा को इस ससार के रोमाचकारी दुःखो से मुक्त करने के लिए पडितमरण से शरीर का त्याग करो।

पडितमरण का फल केवल ज्ञान प्राप्त करना है। यदि ससार की अवधि अभी कुछ शेष रही तो पडितमरण करनेवाला सयमी कल्पवासी देवो मे जन्म लेता है और वहां पर दिव्य स्वर्गीय सुख सामग्री का अनुभव कर निकट भविष्य में निर्वाण पद का अधिकारी होता है। इसलिए इस समय काय और कषाय को कृश करना ही तुम्हारा परम कर्त्तव्य है।

ऊपर जो पाच प्रकार के मरण बताये हैं, उनमे से पंडितपडितमरण, बालपडितमरण, बालमरण और बालमरण को छोड़कर केवल पडितमरण का यहा ग्रहण होता है, क्योकि इस पचम काल के साधुओं के पडितपडितमरण नहीं होसकता है। केवली/ भगवान् औदारिक शरीर का त्यागकर निर्वाण के लिए गमन करते हैं, उनके यह मरण माना गया है और शेष तीन संयमहीन मनुष्यो के होते हैं। अत· वर्त्तमान सयमियो के एक पडित मरण ही उपादेय माना गया है। इसलिए उसीका निरूपण यहा करना है।

पंडित मरण के तीन भेद

इसके तीन भेद पहले वतलाये गये हैं। उनमे से प्रायोपगमन मरण और इंगिनीमरण का विवेचन आगे करेंगे। यहा पर केवल भक्त-प्रतिज्ञा (भक्तप्रत्याख्यान) मरण का निरूपण करना है। क्योंकि प्रायः मुनि इसीका आश्रय लेते हैं। यही कहा है

पुव्व ता वण्णेसिं भत्तपइण्णं हसत्थमरणेसु ।
उस्सण्णं सा चेव हु सेसाणं वण्णणा पच्छा ।' ६४ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—पडितमरण के प्रायोपगमन, इंगिनी व भक्तप्रत्याख्यान ये तीन भेद हैं। उनमे से प्रथम भक्तप्रत्याख्यान मरण का वर्णन

करते हैं, क्योंकि साधुओ के बहुलता से यही मरण पाया जाता है। इसके पश्चात् शेष दो मरणों का वर्णन करेंगे। भक्तप्रत्याख्यान का स्वरूप सक्षेप से पहले वर्णन कर आये हैं। अब उसका विशेष विवेचन करने के लिए उसके भेद दिखाते हैं।

भक्त प्रत्याख्यान नामक पंडित मरण के भेद और उनका स्वरूप

दुविहं तु भत्तपच्चक्खाणं सविचारमध अविचारं।
सविचारमणागाढे मरणे सपरक्कमस्स हवे ॥ ६५ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—भक्तप्रत्याख्यान-मरण के दो भेद हैं-(१) सविचार भक्तप्रत्याख्यान मरण और (२) अविचार भक्तप्रत्याख्यान मरण।

(१) सविचारभक्तप्रत्याख्यान—जो साधु उत्साह बल से युक्त है, तथा जिसका मृत्यु काल सहसा (अकस्मात्) उपस्थित नहीं हुआ है, जो विधिपूर्वक अन्य सघ मे जाने की इच्छा रखता है, उसके मरण को सविचारभक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हैं।

(२) अविचारभक्तप्रत्याख्यान मरण—जो सामर्थ्य से हीन है और जिसका मृत्यु समय अचानक उपस्थित होगया है, उस पराक्रम रहित साधु के मरण को अविचारभक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हैं।

सविचार भक्त प्रत्याख्यान के ४० प्रकरणों के नाम वस्वरूप

उक्त दो भेदो में से प्रथम भेद सविचार भक्तप्रत्याख्यानमरण का विवेचन निम्नोक्त चालीस अधिकारो से किया गया है। उनके नाम ये हैं।

(१) अर्हं, (२) लिंग, (३) शिक्षा, (४) विनय, (५) समाधि, (६) अनियतविहार, (७) परिणाम, (८) उपधित्याग, (९) श्रिति (१०) भावना, (११) सल्लेखना, (१२) दिशा, (१३) क्षामणा, (१४) अनुशिष्टि, (१५) परगणचर्या, (१६) मार्गणा, (१७) सुस्थित, (१८) उपसम्पदा, (१९) परीक्षा, (२०) प्रतिलेख, (२१) आपृच्छा, (२२) प्रतीच्छन, (२३) आलोचना, (२४) गुणदोष, (२५) शय्या, (२६) सस्तर, (२७) निर्यापक, (२८) प्रकाशन, (२९) हानि, (३०) प्रत्याख्यान, (३१) क्षामण, (३२) क्षमण, (३३) अनुशिष्टि, (३४) सारणा, (३५) कवच, (३६) समता, (३७) ध्यान, (३८) लेश्या, (३९) फल और ४० शरीरत्याग। इनका प्रथम सामान्य अर्थ लिखते हैं।

(१) अर्ह—अमुक् पुरुष भक्तप्रत्याख्यान के योग्य और अमुक् योग्य नहीं है। इस प्रकार पुरुष की योग्यता के वर्णन करने अधिकार को अर्हाधिकार कहते हैं।

(२) लिंगाधिकार—शिक्षा विनय समाधि आदि क्रियाएँ भक्तप्रत्याख्यान की सामग्री हैं, उसका साधन लिंग है। अमुक् लिंग (चिह्न) का धारण करने वाला भक्तप्रत्याख्यान कर सकता है और अमुक् का नहीं-इसका वर्णन करनेवाला लिंगाधिकार है।

(३) शिक्षा—बिना ज्ञान के विनयादि का पालन नहीं होता है, इसलिए ज्ञानोपार्जन (श्रुताभ्यास) करना आवश्यक है। इसका विवेचन करने वाला शिक्षा अधिकार है।

(४) विनय—ज्ञानादि की वासना विनय से प्राप्त होती है, इसका वर्णन इस अधिकार मे किया गया है।

(५) समाधि— मन को एकाग्र करने को समाधि कहते हैं। अशुभोपयोग से हटाकर मन को शुभोपयोग अथवा शुद्धोपयोग मे लगाना समाधि है। इसका वर्णन इस अधिकार मे किया गया है।

(६) अनियत विहार—पूर्व मे नियत नहीं किये गये ऐसे अनेक नगर ग्रामादि मे विहार का वर्णन करनेवाला यह अधिकार है।

(७) परिणाम—साधु के कर्त्तव्य कर्मों का वर्णन करनेवाले अधिकार को परिणाम (कर्त्तव्य विचार) अधिकार कहते हैं।

(८) उपधित्याग—परिग्रह के त्याग का वर्णन करने वाला यह उपधित्याग अधिकार है।

(९) श्रिति—शुभपरिणामो की उत्तरोत्तर वृद्धि करना, इसका निरूपक श्रिति अधिकार है।

(१०) भावना—उत्तरोत्तर भावना को उत्कृष्ट लनाने का अभ्यास करने का विवेचक भावनाधिकार है।

(११) सल्लेखना—शरीर और कषायो को कृष करना सल्लेखना है इसका वर्णन इस अधिकार मे किया गया है।

(१२) दिशा—दिशा नाम एलाचार्य का है। सघ के नायक आचार्य ने यावज्जीव आचार्य पद का त्याग करके उस पद पर अपने समान गुणवाले जिस शिष्य को स्थापित किया है, उसे एलाचार्य कहते है। उसके स्वरूप व उपदेश का वर्णन करने वाले अधिकार को दिशा अधिकार कहते हैं।

(१३) क्षमणा—परस्पर क्षमा याचना का वर्णन करने वाला क्षमापणा अधिकार है।

(१४) अनुशिष्टि—आचार्य संघस्थित मुनियो के प्रति तथा आचार्य पद पर स्थापित अपने शिष्य के प्रति दिये हुए उपदेश का वर्णन करने वाला अनुशिष्टि अधिकार है।

(१५) परगणचर्या—अपने संघ को छोड़कर अन्य संघ मे गमन का वर्णन करनेवाला परगणचर्या अधिकार है।

(१६) मार्गण—रत्नत्रय की शुद्धि तथा समाधिमरण करवाने मे समर्थ आचार्य का अन्वेषण (तलाश) करने का वर्णन इस अधिकार मे किया गया है।

(१७) सुस्थित—परोपकार करने मे तथा आत्म-प्रयोजन (आचार्यपद के योग्य कार्य) साधन करने मे प्रवीण आचार्य का वर्णन इसमे किया गया है।

(१८) उपसम्पदा—आचार्य के पादमूल मे गमन करने का वर्णन उपसम्पदा अधिकार मे है।

(१९) परीक्षा—वैयावृत्त्य करनेवाले मुनि की आहारादि सम्बन्धी लालसा की तथा उसके उत्साह की परीक्षा करने का वर्णन इसमे किया गया है।

(२०) प्रतिलेख—आराधना की निर्विघ्न साधना करने के लिए उसके अनुकूल राज्य, देश, नगर, ग्रामादि का तथा उनके अधिकारी आदि के शोधन का निरूपण करनेवाला यह अधिकार है।

(२१) आपृच्छा—यह साधु हमारे संघ मे ग्रहण करने योग्य है या नहीं है ? इस प्रकार संघ से प्रश्न करने का वर्णन इसमे किया गया है।

(२२) प्रतीच्छन— प्रतिचारक मुनियों की सम्मति लेकर आराधना करने के लिए आये हुए मुनि का ग्रहण करने का वर्णन इसमे होता है।

(२३) आलोचना—गुरू के निकट अपने दोषोंका निवेदन करने का विवेचन इसमे है।

(२४) गुणदोष—आलोचना के गुण व दोषों का निरूपण करने वाले अधिकार को गुणदोषअधिकार कहा है।

(२५) शय्या—आराधक के योग्य वसतिका का निरूपण करनेवाला यह शय्या नाम का अधिकार है।

(२६) संस्तर—मुनि के योग्य संस्तर का वर्णन इसमे किया गया है।

(२७) निर्यापक—आराधक के समाधिमरण में सहायता करनेवाले आचार्यादि को निर्यापक कहते हैं। इसका वर्णन इस अधिकार मे किया गया है।

(२८) प्रकाशन—चरम (अन्तिम) आहार को दिखाना, इसका वर्णन करनेवाला यह प्रकाशन अधिकार है।

(२९) हानि—क्रम से आहार का त्याग करने का विधान करने वाला हानि नाम का अधिकार है।

(३०) प्रत्याख्यान—जलादि पेय पदार्थों के अतिरिक्त तीनों प्रकार के आहार का त्याग करने का वर्णन करने वाला प्रत्याख्यान अधिकार है।

(३१) क्षामण—आचार्यादि निर्यापको से आराधक की क्षमायाचना का वर्णन इसमें किया गया है।

(३२) क्षमण—अन्य सब साधु आदि के अपराधो को क्षमा करने का वर्णन करनेवाला क्षमणाधिकार है।

(३३) अनुशिष्टि—संस्तर मे स्थित साधु के प्रति निर्यापकाचार्य को शिक्षा देने का निरूपण इस अधिकार मे किया गया है। नं० १४ पर भी अनुशिष्टि नामक भेद ऊपर लिख आये हैं। भगवती आराधना मे भी दोनों स्थानों पर यही नाम आया है। नं० १४ पर लिखा है—अणुसिट्ठि—सूत्रानुसारेण शासनम्। और यहा न० ३३ पर है-अणुसट्ठी-अनुशासन शिक्षणं निर्यापकस्याचार्यस्य।

(३४) सारणा—दुःख की वेदना से मोह को प्राप्त हुए अथवा अचेत हुए साधु को सचेत करने का निरूपण सारणाधिकार में किया है।

(३५) कवच—जैसे सैंकडो बाणो का निवारण कवच (बख्तर) से होता है, वंसे ही निर्यापकाचार्य के धर्मोपदेश से संस्तर स्थित साधु के प्राप्त दुःख का निवारण होता हैं, इसका विवेचन करनेवाला यह कवचाधिकार है।

(३६) समता—जीवन मरण लाभ अलाभ सयोग वियोग सुख दुःखादि मे राग द्वेष न करना समताधिकार में वर्णित है।

(३७) ध्यान—एकाग्रचित्त का निरोध करना ध्यान है। इसमें ध्यान का वर्णन है।

(३८) लेश्या—कषाय से मिश्रित योग की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। लेश्याधिकार मे लेश्या का स्वरूप प्रतिपादन किया है।

(३९) फल—आराधना से सिद्ध होने वाले कार्य को फल कहते हैं। इसमे आराधनाजनित प्रयोजन का वर्णन किया गया है।

(४०) देहत्याग—आराधक के शरीर का त्याग इसमें वर्णित है।

इस प्रकार भक्तप्रत्याख्यान मरण मे चालीस अधिकार हैं, उनके सामान्य स्वरूप का वर्णन किया गया है। अब उनका विशेष वर्णन करते है।

अर्हाधिकार

कैसा साधु आराधना करने योग्य है यह दिखलाते हैं —

वाहिव्व दुप्पसज्झा जरा य सामण्णजोगहाणिकरी ।
उवसग्गा वा देवियमाणुसतेरिच्छिया जस्स ॥ ७१ ॥
आणुलोमा वा सत्तू चारित्तविणासया हवे जस्स ।
दुब्भिक्खे वा गाढे अडवीए विप्पणट्ठो वा ॥ ७२ ॥
चक्खुं व दुब्बलं जस्स होज्ज सोदं व दुब्बलं जस्स ।
जंघाबलपरिहीणो जो ण समत्थो विहरिदुं वा ॥ ७३ ॥
अण्णम्मि चावि एदारिसंमि आगाढकारणे जादे ।
अरिहो भत्तपइण्णाए होदि विरदो अविरदो वा ॥ ७४ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—सयम का विनाश करनेवाला दु:साध्य रोग जिसके शरीर मे उत्पन्न होगया हो ऐसा साधु या गृहस्थ भक्त प्रत्याख्यान करने योग्य है। अर्थात् जिस सयमी या अणुव्रती श्रावक के शरीर मे ऐसी व्याधि उत्पन्न हो जाये जिसको मिटाने के लिए उसे संयम का त्याग करना पड़े और जिस व्याधि की शान्ति दुष्कर प्रतीत हो, ऐसी व्याधि से पीडित सयमी या देश सयमी या अव्रतसम्यग्दृष्टि को भक्त प्रत्याख्यान के योग्य माना है। जीवो के रूप, शरीरादि, वल, अवस्था आदि का नाश करनेवाली वृद्धावस्था इतनी वढ़ जावे कि मुनि तप आदि क्रिया मे असमर्थ हो जावे। तब वह भक्तप्रत्याख्यान के योग्य माना गया है। क्योंकि वृद्धावस्था मे शरीर वल घट जाता है तब साधक कायक्लेशादि तपश्चरण मे प्रवृत्ति नहीं कर सकता है। जो अत्यन्त वृद्धावस्था से युक्त हो जाता है, उसका ध्यान स्थिर नहीं रहता है। अर्थात् उसका यथार्थ वस्तु ज्ञान निश्चल नहीं होता है। इसलिए ध्यान योग का विनाश करनेवाली वृद्धावस्था जिसको प्राप्त हो जाती है, वह भक्त प्रत्याख्यान मरण के योग्य मानागया है। जब देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यंचकृत अथवा अचेतनकृत ऐसा भयानक उपद्रव उपस्थित हो जावे जिस को

निवारण करना अशक्य हो और उस उपद्रव से उत्पन्न हुई पीड़ा का प्रतीकार असभव प्रतीत हो, तव मुनि भक्त प्रत्याख्यान को अ गीकार करते हैं।

जव अनुकूल वन्धुगण स्नेहवश या अपने भरणपोपण के लोभ से प्रेरित हुए संयमी के सयम-धन का विनाश करने में तत्पर हों अथवा जव देव, मनुष्य व तिर्यंचों में से कोई उसके सयम को छुडाने के लिए उद्यत हो, तव वह सयमी भक्तप्रत्याख्यान के लिए योग्य कहा गया है।

उल्कापात के समान समस्त देशनिवासियों को अनुभव होनेवाले महा भयानक दुर्भिक्ष पड़ने पर साधक भक्तप्रत्याख्यान करते हैं। क्योकि दुष्काल मे निर्दोष आहार का मिलना असभव हो जाता है। उसमे चारित्र का नाश होना सभव है। अत अपने चारित्र की रक्षा के लिए साधक भक्तप्रत्याख्यान कर सल्लेखना करते हैं।

जव मुनि मार्गभ्रष्ट हो कर ऐसे महाभयानक वीहड वन मे पहुँच जाते हैं जिसमे क्रूर हिंसक जन्तु भरे पडे रहते हैं, तथा जिस से उद्धार पाने का कोई भी साधन नहीं देखते हैं, तव वे दिग्मूढ हुए आपने जीवन को विनाशोन्मुख पाते हैं, उस समय वे भक्तप्रत्याख्यान करने के योग्य होते हैं।

जव साधक के नेत्र सूक्ष्म जन्तुओ के अवलोकन करने का वल खो देते हैं एव कानों में शब्द ग्रहण करने का सामर्थ्य नहीं रहता है, अथवा पॉवो मे विहार करने की (जाने आने की) शक्ति नष्ट हो जाती है तव वह भक्तप्रत्याख्यान करने के योग्य होते हैं।

इसी प्रकार के अन्य प्रतिकार रहित स्थिती के उपस्थित होने पर मुनि अथवा गृहस्थ भक्तप्रत्याख्यान के योग्य माने जाते हैं। अर्थात् उनके सयम या देशसंयम के रक्षण का उपाय जव कोई दिखाई नहीं देता है; सव तरह से हताश हो जाते हैं, तव अन्ततो गत्वा इस भक्त-प्रत्याख्यान का आश्रय लेते हैं।

भक्तप्रत्याख्यान के लिए योग्य कौन हो सकता है ? इस प्रश्न का समाधान कर अव भक्तप्रत्याख्यान के लिए कौन अयोग्य है ? इस प्रश्न का समाधान करते हैं।

उस्सरइ जस्स चिरमवि सुहेण सामण्णमादिचारं वा।
णिज्जावया य सुलहा दुब्भिक्खभयं च जदि णत्थि ॥ ७५ ॥
तस्स ण कप्पदि भत्तपइण्णं अणुवट्ठिदे भये पुरदो।
सो मरणं पच्छितो होति हु सामण्णणिव्विण्णो ॥ ७६ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—जिसके सुख पूर्वक (निर्बाध) चारित्र का पालन हो रहा है तथा व्रतादि मे भी अतिचार लगने की कोई संभावना नहीं, वह भक्तप्रत्याख्यान के लिए अयोग्य माना गया है। समाधिमरण-सहायक निर्यापक आचार्य जब सुलभ हो और दुर्भिक्षादि का भय भी उपस्थित न हो ऐसे समय मे साधु को भक्तप्रत्याख्यान कर समाधिमरण नहीं करना चाहिए।

इसका आशय यह है कि सयम के विरोधी ऊपर की गाथा मे निर्दिष्ट दुर्भिक्षादि कारणों मे से कोई भी कारण उपस्थित न हुआ हो तो साधु भक्तप्रत्याख्यान के अयोग्य माना गया है।

जिसका चारित्र निर्विघ्न पल रहा है, तथा निर्यापकाचार्य जिसे सुलभ हैं, जिसको दुर्भिक्षादि का भय भी उपस्थित नहीं है, यदि वह साधु मरण की अभिलाषा करता है तो समझना चाहिए कि वह संयम से उदासीन होगया है, उसको चारित्र से अरुचि उत्पन्न होगई है, अन्यथा वह विना आपत्तिजनक कारणो के प्राप्त हुए मरने के लिए क्यो प्रयत्न करता है?

यदि कोई साधु यह विचारे कि इस समय मुझे समाधिमरण करवानेवाले निर्यापक आचार्य सुलभ हैं और आगे दुर्भिक्षादि के भय की पूर्ण संभावना है, उस समय निर्यापकादि समाधिमरण के सहायक साधु मुझे न मिलेंगे, यदि मैं इस समय समाधि मरण न करूंगा तो मेरा सयम रत्न लुट जावेगा और भविष्य मे पण्डितसमाधिमरण न कर सकूंगा—ऐसा जिसको भय हो वह मुनि भक्तप्रत्याख्यान के योग्य है, ऐसा समझना चाहिए।

इस भक्तप्रत्याख्यान समाधिमरण को अव्रतसम्यग्दृष्टि, अनुव्रती श्रावक व मुनि तीनो कर सकते हैं।

भावार्थ—हे आत्मन्? तुमने अनन्तवार जन्ममरण किये हैं। जो जन्म धारण करता है वह मृत्यु की ओर गमन करता है। जन्म और मरण का अविनाभाव सम्बन्ध है। तुमको ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे जन्म-मृत्यु के जाल से वच जाओ। वह प्रयत्न समाधि मरण है। आयु का क्षय होने पर समस्त प्राणियों का मरण निश्चित है। किन्तु सम्यग्ज्ञानी के मरण मे और अज्ञानी के मरण मे इतना ही अन्तर है कि सम्यग्ज्ञानी मरण करता हुआ मरण सन्तान का उच्छेद करता है और अज्ञानी मरण-सन्तान की वृद्धि करता है। क्योकि काय से मोह और कषाय की तीव्रता के कारण जन्म मरण रूप ससार की वृद्धि होती है और कायसे निर्मोहिता धारण करने से और कषाय के अभाव से उक्त संसार का क्षय होता है। काय से ममत्व का अभाव तथा कषाय कृश करने का नाम ही समाधि है। इस समाधि को प्राप्त करने के लिए भक्तप्रत्याख्यान करना आवश्यक है।

अव यहा पर यह दिखाते हैं कि भक्तप्रत्याख्यान (आहार त्याग) करने वाले के कौनसा लिंग (भेष) होना चाहिये?

उस्सग्गियलिंगकदस्स लिंगमुस्सग्गियं तयं चेव।
अपवादियलिंगस्स वि पसत्थमुवसग्गियं लिंगं ॥ ७७ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—जिसके उत्कृष्ट लिंग (दिगम्बर भेप) है, अर्थात् जिसने दिगम्बर-मुनि-दीक्षा धारण की है, उसके तो भक्त-प्रत्याख्यान के समय भी दिगम्बर भेप रहता है, किन्तु जिसने क्षुल्लकादि गृहस्थ भेप धारण कर रखा है, वह भी अन्तिम समय मे नग्न भेप धारण कर सकता है।

भावार्थ—समाधिमरण के अवसर मे भक्तप्रत्याख्यान (आहार का त्याग) कर समाधि युक्त मरण का इच्छुक जब संस्तर में स्थित होता है तब मुनि तो उस समय भी पूर्व की भाति नग्न लिंग ही रखता है, परन्तु जिसने पूर्व मे मुनि अवस्था नहीं धारण की है किन्तु गृहस्थ अवस्था को ही धारण किये हुये है—ऐसे क्षुल्लक, ऐलक व इसके नीचे की अवस्था के जो धारक हैं वे जब भक्तप्रत्याख्यान करते हैं तब नग्नभेप धारण कर लेते हैं।

प्रश्न—क्या प्रत्येक पुरुप भक्तप्रत्याख्यान के समय नग्नभेप धारण कर सकता है ?

उत्तर—नहीं, प्रत्येक पुरुप नग्नभेप धारण करने के योग्य नहीं होता है। जिसमे नग्नता की योग्यता है वही पुरुप इस भेप को धारण कर सकता है। जो ससार-भोगो से विरक्त होगया है और अपने मनुष्य भव को सयम पालन करते हुए सफल बनाना चाहता है, वही परम विरक्त मन्दकपायी नग्नता के योग्य कहागया है।

प्रश्न—जो ससार से उदासीन है जिसकी भावना वैराग्यपूर्ण है, जो ससार के दुःखो से उद्विग्न है—वह मन्दकपायी तो चाहे कोई भी दिगम्बर भेप को क्या धारण कर सकता है ?

उत्तर—हाँ, जो उक्त गुणो से भूपित है, वह पुरुप नग्नभेप धारण कर सकता है। परन्तु उसके पुरुप चिह्न में निम्नोक्त दोप न हो तभी वह नग्न भेप का अधिकारी माना गया है। जिसके पुरुपचिह्न का अग्रभाग चर्म रहित (उघाड़ा) न हो, पुरुपचिह्न अतिदीर्घ (लम्बा) न हो। वार वार चैतन्य न होता हो, ऊपर उठता न हो, तथा अण्डकोश बड़े न हो। वही दिगम्बर भेप को धारण कर सकता है। जिसमें इन दोपों मे से एक भी दोप हो वह मुनिभेप धारण नहीं कर सकता है। फिर भी वह समाधि मरण के समय भक्तप्रत्याख्यान कर जब संस्तर में स्थित होता है, तब नग्नता जरूर धारण कर सकता है, अन्य समय मे नग्नता धारण करने का आगम में सर्वथा निषेध है। आगम से विरुद्ध प्रवृत्ति करने वाले को मिथ्यादृष्टि कहा है—

सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जतं जदा ण सद्दहदि ।
सो चेव हवइ मिच्छादिट्ठी जीवो तदोपहुदि ॥ ३३ ॥ (भग०)

अर्थ — किसी मनुष्य ने अज्ञान से अथवा किसी के उपदेश से उल्टा श्रद्धान कर लिया हो और जब कोई आगम प्रमाण देकर उसे सम्यक् प्रकार वस्तु-स्वरूप दिखावे और वह उसकी अवहेलना कर सत्य-तत्त्व का श्रद्धान न करे, अपनी अवस्तुतत्त्व की श्रद्धा को न छोड़े और पूर्व की भांति मिथ्या-प्रवृत्ति ही करता रहे तो वह मनुष्य मिथ्यादृष्टि माना जाता है। इसलिए प्रत्येक को उक्त प्रमाण भूत आगम की आज्ञा का पालन करना चाहिए। जो आगम के विपरीत अपनी मन कल्पित प्ररूपणा करता है, आगम से अमान्य मुनिभेष को धारण करता है, उसके सम्पर्क में भी रहना उचित नहीं है, मिथ्यादृष्टि के सम्पर्क में रहने वाला, उसकी प्रशंसा करने वाला, उसकी कुप्रवृत्ति में सहायता देनेवाला भी मिथ्यादृष्टि होता है।

प्रश्न—भक्तप्रत्याख्यान के समय जब गृहस्थ भी दिगम्बर भेष धारण कर सकता है तो फिर आर्यिका के लिए क्या विधान है ? क्या वह सवस्त्र ही समाधिमरण करती है ? या वह भी सब परिग्रह का त्यागकर दिगम्बर मुद्रा धारण कर सकती है ?

उत्तर—आर्यिका समस्त परिग्रह का त्यागकर एक साडी मात्र परिग्रह रखती है। उसमें उसको ममत्व नहीं होता, अतः उसके उपचार से महाव्रत माना गया है। क्योंकि आगम मे उसके लिए साडी धारण करने की आज्ञा है। किन्तु जब उसका मृत्युकाल आगया हो, और वह भक्तप्रत्याख्यान करके सस्तर में स्थित हो तो योग्य स्थान मे उस समय सब अनुकूलता होने पर वस्त्र का भी त्याग कर देती है। वह वसतिका के अन्दर ही रहती है और अपना समाधिमरण (पंडितमरण) करती है।

अन्य क्षुल्लिकादि श्राविकाएँ भी मृत्यु समय योग्य स्थान के सब अनुकूल साधनों के होने पर घर के भीतर दिगम्बर भेष धारण कर सकती हैं। इनके लिए दोनो मार्ग हैं। जो श्राविका महान ऐश्वर्यवाली तथा लज्जावती है और जिसके कुटुम्बीजन मिथ्यादृष्टि हैं उसके लिए दिगम्बर भेष में समाधिमरण करने का निषेध है। यथा—

इत्थीवि य जं लिंगं दिट्ठं उस्सग्गियं व इदरं वा ।
तं तह होदि हु लिंगं परित्तमुवधिं करेंतीए ॥ ८१ ॥ (भग०)

अर्थ—स्त्री के भी समाधिमरण के समय उत्सर्ग लिंग (मुनिसमानभेष) तथा सवस्त्र लिंग दोनों ही आगम में वर्णन किये गये

है। आर्यिका मृत्युकाल उपस्थित होने पर योग्यस्थान में वसतिका के अन्दर रहकर मुनिवत् दिगम्बर भेष धारण करती है और श्राविकाएँ अपने परिग्रह को अल्प करती हुई अन्त समय मे योग्यस्थान मिलने पर घर मे ही नम्रता धारण कर सन्न्यास मरण कर सकती हैं। तथा अनुकूलस्थानादि न मिलने पर अन्य सब परिग्रह का त्यागकर वस्त्रमात्र धारण किये हुए उसमे ममत्व का त्याग कर भक्तप्रत्याख्यान पूर्वक पंडित मरण करती है।

प्रश्न—जिनागम मे उत्सर्गलिंग और अपवादलिंग ये दो लिंग माने हैं। दिगम्बर मुद्रा धारण करना उत्सर्गलिंग है तथा आर्यिकादि के भेप को अपवादलिंग कहते है। क्या भयानक विघ्न बाधा उपस्थित होन पर या दुर्भिक्षादि के उपस्थित होने पर मुनि सवस्त्र धारण कर सकते हैं ?

उत्तर—मुनि के उत्सर्ग लिंग ही माना गया है और यह दिगम्बर मुद्रा धारण करने पर ही हो सकता है। जो अपवादलिंग है, वह मुनि के लिए नहीं है। आर्यिका तथा क्षुल्लकादि श्रावक के भेप को अपवादलिंग कहा है। मुनित्व का अपवाद (निन्दा) करनेवाले लिंग को अपवादलिंग कहते है। मुनि किसी भी परिस्थिति मे वस्त्र धारण नहीं कर सकता। जो वस्त्र धारण कर लेता है वह मुनिपद मे नहीं माना गया है। क्योकि साधु के २७ मूलगुण माने गये है। उसमे नम्रता मुख्य गुण है। इसके बिना अन्य सब महाव्रतादि गुण निरर्थक माने है। मुनि के उत्सर्गलिंग ही होता है और उसकी चार विशेषतायें है उनमे नम्रता को प्रथम स्थान दिया गया है। यथा.—

अच्चेलक्कं लोचो वोसट्टसरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हु लिंग कप्पो चदुव्विहो होदि उस्सग्गे ॥ ८० ॥ (भग०)

अर्थ—मुनित्व का उद्योतक जो चिह्न है, उसे उत्सर्ग लिंग कहते हैं। उसके चार प्रकार है—१ अचेलता (वस्त्र का अभाव–नम्रता) २ केश-लोच, ३ शरीर के सस्कार का त्याग और ४ प्रतिलेखन।

भावार्थ—जो मुनित्व को प्रकट करनेवाली उक्त चार बातें हैं जिनको कि देखकर व्यवहार मे मुनि को पहचाना जाता है, उनमे सबसे प्रधान नम्रता है। जिस व्यक्ति मे नम्रता नहीं है और शेप तीन बातें विद्यमान हैं तो वह साधु नहीं माना गया है। इसलिए साधुपद के लिए नम्रता अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना आत्म-शुद्धि नहीं होती और वह शिवमार्ग (रत्नत्रय) का पूर्णरूप से आराधक नहीं समझा जाता। नम्रत्व मे महान् गुण निहित हैं। उनका वर्णन मूलगुणो के निरूपण मे कर आये हैं। जिसके पास कोपीन (लगोटी) मात्र परिग्रह

है और इसके अतिरिक्त जिसने सब परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर दिया है, उसकी भी आत्म-शुद्धि तब ही होती है जब कि वह उस मोह के कारणभूत कोपीन को भी त्याग देता है। यथाः—

अववादियलिंगकदो विसयासत्तिं अगूहमाणो य।
णिंदणगरहणजुत्तो सुज्झदिउवधिं परिहरंतो ॥८७॥ (भग०)

अर्थ—कोपीन (लंगोटी) आदि वस्त्र का धारण करनेवाले ऐलक आदि अपनी शक्ति को न छिपाकर अन्य सब परिग्रह का त्याग कर देते हैं और वे सोचते हैं कि समस्त परिग्रह का त्याग करना ही मोक्ष का मार्ग है। इसके त्याग बिना पूर्ण आत्म-शुद्धि नहीं होती है। परन्तु क्या करें ? हमारी आत्मा मे इतना बल उत्पन्न नहीं हुआ है कि सब परिग्रह का त्याग कर यथाजात रूप धारण करलें। इस प्रकार मन मे पश्चात्ताप करते हुए अपनी निंदा करते हैं और गुरुजनों के निकट अपनी अशक्ति प्रकट करते हैं। आत्मगर्हा व निन्दा करने वाले वे मुमुक्षु अपने कर्मों की निर्जरा करते हुए क्रमसे सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर आत्मशुद्धि करलेते हैं।

प्रश्न—जो अव्रतसम्यग्दृष्टि और अणुव्रती श्रावक भक्तप्रत्याख्यान विधि से समाधि मरण करना चाहता है क्या उसको नग्नावस्था धारण करना आवश्यक है ?

उत्तर—हाँ, जिसका मृत्युसमय निकट आगया हो, अपनी आत्मा के उद्धार के लिए जो पण्डितमरण करना चाहता हो तो उसको ससार के सब पदार्थों का त्याग कर एवं विधिपूर्वक भक्तप्रत्याख्यान (आहार-त्याग) कर अन्त समय मे वस्त्र-त्यागपूर्वक दिगम्बर-मुद्रा धारण करना चाहिए। किन्तु यदि वह अत्यन्त लज्जाशील हो या परम वैभवशाली हो या जिसके कुटुम्ब परिवार मे मिथ्यादृष्टियो का प्रावल्य हो तो उसे नग्नता धारण न करना चाहिए। उसको कम से कम वस्त्र धारण कर उसमे भी ममत्व का त्याग कर शान्ति से धर्म्यध्यान पूर्वक देह का त्याग करना चाहिए। आचार्यों ने उस मरण को भी पंडित मरण माना है।

स्वाध्याय के सातगुण

पंडितमरण के अभिलाषी मनुष्य को शास्त्र का निरन्तर स्वाध्याय करना चाहिए। क्योकि जिनागम का स्वाध्याय करने वाले के आत्महित व परहित करने की बुद्धि आदि सात गुण प्रकट होते हैं। वे आत्महितादि गुण ये हैं.—

आदहिदपइण्णा भावसंवरो णवणवो न संवेगो ।
णिक्कंपदा तवो भावणा य परदेसिगत्तं च ॥१००॥(भग०)

अर्थ—१ जिनागम का अभ्यास करने वाले के आत्महित का ज्ञान होता है। २ पापकर्मों का सवर होता है। ३ नवीन नवीन सवेगभाव उत्पन्न होता है। ४ मोक्ष मार्ग मे स्थिरता आती है। ५ तपस्या की वृद्धि होती है। ६ गुप्तिपालन में तत्परता आती है। और ७ इतर भव्यजीवों को उपदेश करने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है। ये सात गुण जिनागम के स्वाध्याय करने वाले की आत्मा मे प्रकट होते हैं। इन सातों का संक्षेप स्वरूप यह है.—

१ आत्महितज्ञान—संसार के सब अज्ञ प्राणी इन्द्रियजन्य विषय सुख को ही अपना उद्देश्य समझते हैं। वे यह नहीं समझते कि इन्द्रिय सुख सुखाभास है। यदि यह वास्तव मे सुख होता तो इसके सेवन करने से आत्मा को अशान्ति और ग्लानि का अनुभव क्यों होता ? सुख तो उसे कहते हैं जिसका अनुभव करने से आत्मा को आह्लाद और शान्ति की प्राप्ति हो। किन्तु इन्द्रियजन्य विषयसुख में यह बात नहीं पाई जाती है। यह सुख आत्मा में रागान्धता उत्पन्न कर कर्मबन्ध करता है। तथा इसकी प्राप्ति के लिए आत्मा को अनेक प्रकार के कुकृत्य करने पड़ते हैं। इससे व्याकुलता की वृद्धि होती है। यह पराधीन है। जिनागम के अभ्यास से विषयो से उदासीनता उत्पन्न होती है और सच्चे सुख के साधनभूत रत्नत्रय के आराधन मे रुचि पैदा होती है। अतः जिनागम का स्वाध्याय करने से आत्महित-बुद्धि नाम का गुण प्रादुर्भूत होता है।

२ भावसवर—पापजनक विचारो का त्याग करने को भावसंवर कहते हैं। आगम का अध्ययन करने से पाप व पुण्य के कारणों का ज्ञान होता है। ज्ञानी जीव पापजनक अशुभ भावों को छोड़ता है और शुभ व शुद्ध भावो मे परिणति करता है। अर्थात् मन वचन काय से ऐसी क्रियाएँ करता है, जिनसे पुण्य बन्ध होता है या कर्मों का संवर और निर्जरा होती है। बिना जाने अज्ञानी जीव जिन क्रियाओं से पाप कर्मों का बन्ध करता रहता है, ज्ञानी जीव परिणाम की विशुद्धि से उन्हीं क्रियाओं से कर्म की निर्जरा करता है। यह भावों की विशुद्धि जिनागम के अभ्यास से ही होती है।

३ नवीन-नवीन-सवेंगभाव—जिनागम में संसार का सत्य स्वरूप का वर्णन किया है। इस आत्मा ने इस संसार में कैसे२ दुख किस २ गति मे भोगे हैं उनका बोध होने से आत्मा ससार से भयभीत होता रहता है, इसलिए जिनागमन का अभ्यास संवेग-भाव को उत्पन्न करके श्रद्धा को दृढ़ बनाता है। जो सयमी नित्य स्वाध्याय नहीं करता है उस पर किसी प्रकार सकट आने पर वह श्रद्धा से च्युत हो

जाता है। जो नित्य जिनवाणी का मनन करता है उसके चित्त में दृढ़ता रहती है और वह आपत्ति आने पर ज्ञानबल से उसको सह लेता है। उसका आत्मा श्रद्धान से भ्रष्ट नहीं होता है।

मोक्षमार्ग मे स्थिरता—जिनवाणी मोक्ष का तथा मोक्ष के मार्ग (सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र) का स्वरूप और महत्त्व का निरूपण करती है। रत्नत्रय आत्मा का स्वरूप है और जिसका जो स्वरूप है वही उसके कल्याण का करनेवाला होता है। श्रीवृषभादि तीर्थंकरों ने तथा अन्य महापुरुषो ने रत्नत्रय का आराधन कर शिव सुख प्राप्त किया है। अनेक भयानक उपसर्गों के आने पर भी उन महात्माओं ने मोक्षमार्ग के आराधन मे थोड़ी भी शिथिलता नहीं की है। वे मेरु के समान अडोल निष्कम्प रह कर सदा के लिए सुखी हुए हैं। इसलिए सुख की अभिलाषा करनेवाले को मोक्षमार्ग पर स्थिर रहना चाहिये ऐसा ज्ञान जिनागम के अभ्यास से होता है।

५ तपवृद्धि—जिनागम के वेत्ता ही जीवादि पदार्थों के स्वरूप को भले प्रकार जानकर भेदज्ञान प्राप्त करते हैं। शरीर और आत्मा को भिन्न समझकर उसको शरीर से पृथक् करने के लिए कर्मों का क्षय करनेवाले बाह्य और आभ्यन्तर तप का आचरण करते हैं। तत्त्वज्ञान के प्रभाव से तपस्या मे आत्मा की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है, स्वाध्याय स्वयं अन्तरंग तप है। अतः जिनागम के स्वाध्याय से तप में प्रवृत्ति होती है और निरन्तर उसकी वृद्धि होती रहती है।

६ गुप्ति के पालन मे तत्परता—मन, वचन और काय को शुद्धोपयोग मे लगाने को गुप्ति कहते हैं। इसके पालन करने में तत्पर रहने के लिए सुगम उपाय स्वाध्याय है। स्वाध्याय करनेवाले के अनायास मन, वचन, काय का निरोध होता है। मन, वचन, काय के निरोध करने का इससे सरल कोई दूसरा उपाय नहीं है। स्वाध्याय करनेवाले का चित्त जब जीवादि तत्वो के स्वरूप का विचार व मनन करने मे लगता है तब उसके मन, वचन और काय तीनों विषय-कषायादि से निवृत्त होकर शुद्ध स्वरूप में प्रवृत्त होते हैं। उस समय आत्मा अशुभोपयोग से निवृत्त होकर शुद्धोपयोग में प्रवृत्त होता है। अतः स्वाध्याय से गुप्ति के पालन मे तत्परता होती है। गुप्ति के पालन से कर्मों का सवर और निर्जरण होता रहता है।

(७) परोपदेश सामर्थ्य—जिसने जिनागम का अभ्यास किया है वही इतर भव्य प्राणियों को उपदेश दे सकता है। ससार को कल्याण का मार्ग दिखाना साधारण पुण्यकर्म नहीं है। संसार के उद्धार करने की उत्कट इच्छा होने से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है। तीर्थंकर उन्हें मोक्ष सुख का मार्ग दिखाता है। वह प्रमाण और नय से जीवादि तत्त्वों का स्वरूप समझाकर उनको कल्याणमार्ग में लगाता है। इसलिए जो जीवों को उपदेश देना चाहता है उसको निरन्तर आगम का मनन चिन्तन करते रहना चाहिए। जो आत्महित और परहित की इच्छा रखता है, उसे रात दिन जिनागम का अभ्यास करना आवश्यक है। जिसको जिनागम का रहस्य-ज्ञान नहीं है उसे आत्महित का ज्ञान

नहीं होता है। किसको हित कहते हैं ? और उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है ? इसको वह नहीं जान पाता है। ज्ञान बिना उसके सब कृत्य कर्मबन्ध के कारण होते हैं। वह अनेक प्रकार के कठिन दुर्धर तप करता है वह भी उसके कर्मबन्ध को बढ़ाने वाले होते हैं। इसका कारण यह है कि उसके ज्ञाननेत्र नहीं हैं। वह विपरीत मार्ग द्वारा पापकर्म रूप भयानक वन की ओर बढता जाता है और वहा वह अनेक आपदाओं मे फँस जाता है। इन सब बुराइयो का कारण अज्ञान है। यथा:—

आदहिदमयाणंतो मुज्झदि मूढो समादियदि कम्मं।
कम्मणिमित्तं जीवो परीदि भवमायरमणंतं ॥ १०२ ॥ (भग०)

अर्थ—आत्मा का हित क्या है ? इसको न जानने वाला अज्ञानी जीव वाह्य पदार्थों मे मोहित होजाता है और मोह के कारण कर्मों का वन्ध करता है। इन कर्मों के कारण वह अनन्त ससार सागर मे भ्रमण करता है।

ज्ञानी जीव आत्मा के हित को समझता है। वह ज्ञान नेत्र से देखता है कि यह मार्ग आत्मा का हितकर है और यह अहितकर है। हितकर मार्ग मे प्रवृत्ति करता है और अहितकर कुमार्ग से निवृत्त होता है। इसलिए प्रत्येक आत्मा को हितकारी मार्ग जानने के लिए निरन्तर जिनागम का अभ्यास करना चाहिए।

ज्यों ज्यो जिनागम मे अधिक प्रवेश होता है, त्यो त्यो तत्त्वज्ञानामृत का रसास्वादन विशेष होता जाता है। जैसे आम्रफल मे रस भरा रहता है वैसे ही जिनागम के शोब्दो मे तत्त्वामृत भरा हुआ है, उसकी मनन चिन्तन करने से उसका रसास्वादन होता है। उस रस का आस्वादन करने से आत्मा को परम आह्लाद का अनुभव होता है और उसकी धर्म मे विशेष प्रवृत्ति होती है।

आगम का वेत्ता मुनि निश्चय और व्यवहार धर्म को यथावत्समझता है। आत्मा का उत्थान करने वाले और अधः पतन करने वाले कार्यों को भलोभाति जानता है। वह कोई काम ऐसा नहीं करता, जिसके द्वारा मुनि धर्म को अपवाद का सामना करना पडे। आगम के अभ्यासी सयमी का प्रत्येक कृत्य ज्ञानपूर्वक होता है। उसकी प्रवृत्तिरूपक्रिया भी निर्जरा का कारण होती है। अज्ञानी जिन कार्यों से महान् कर्मबन्ध करता है उन्हीं कार्यों को करता हुआ ज्ञानी कर्मों का क्षय करता है कहा है:—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसय सहस्स कोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खमेदि अंतोमुहुत्तेण ॥ १०८ ॥

छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं अण्णाणियस्स जा सोही।
तत्तो वहुगुणदरिया होज्ज हु जिमिदस्स णाणिस्स ॥ १०६ ॥ (भग०)

अर्थ—अज्ञानी (जिनागम के ज्ञान से शून्य) लाखो करोड़ो भवो मे जिन कर्मों का क्षय करने में समर्थ नहीं होता है, उन कर्मों को जिनागम का वेत्ता तीन गुप्तियों का पालन करता हुआ मुनि अन्तर्मुहूर्त्त मे नष्ट करदेता है। तथा अज्ञानी मनुष्य वेला, तेला, चोला, पचोला, पाक्षिक, मासिकादि अनेक उपवासों का आचरण करके आत्मा मे जो विशुद्धि उत्पन्न करता है, ज्ञानी पुरुष भोजन को ग्रहण करता हुआ भी उससे वहुत अधिक आत्मा की विशुद्धि कर लेता है।

इसका आशय यह है कि अज्ञानी जितना भी कार्य करता है वह वस्तु के स्वरूप को न समझ कर करता है। जैसे हाथी स्नान करने के पश्चात् अपने शरीर पर धूल डालकर उसे मलीन वना लेता है वैसे ही अज्ञानी जीव व्रत उपवासादि कायक्लेश तप करता है अथवा अन्य धार्मिक क्रियाओ का आचरण करता है, पर वह विवेकहीन उनका यथार्थ स्वरूप न समझने के कारण विपरीत श्रद्धान व प्रतिकूल आचरण करता है, अत मिथ्या-श्रद्धान और विपरीत-चारित्र के कारण उसके सब कृत्य पाप-बन्ध के हेतु होते हैं। तत्त्वज्ञान के विना उसका मन रूपी मस्त हाथी विपय और कपाय के उपवन मे दौड लगाता है। सकल्प-विकल्प के जाल मे फसा हुआ उसका अन्तः करण संसार के बन्धन को दृढ करता है।

अज्ञानी जीव दुख से डरकर सुख की प्राप्ति के लिए दोड-धूप तो करता है, किन्तु वह अविनाशी आत्मीय सहजानन्द को न समझने के कारण, उस पर विश्वास नहीं करता है। इन्द्रिय-जन्य सुख को आत्मा का हितकर मानता है और उसकी प्राप्ति के लिए लौकिक अथवा पुण्य रूप प्रयत्न करता है। वह यह नहीं समझता है कि पुण्य और पाप आत्मा को वन्धन मे डालने वाले हैं। बेडी सोने की हो या लोहे की दोनो मनुष्य को पराधीन बनाने वाली हैं। पुण्योपार्जन करने से स्वर्गादि की सम्पत्ति अथवा यहाँ पर चक्रवर्ती आदि विभूति भी मिल जावे तथापि आत्मा को जन्म मरण के दु:ख से छुटकारा नहीं मिलता है। वह पुण्योपार्जित सुख की सामग्री अज्ञानी आत्मा को अधिक अधिक मोहान्ध वना देती है और परम्परा दु:ख जनक रागादि भावो को वढा देती है, जिससे यह आत्मा अपने स्वरूप को न पाकर अनगिनत भवो म दु:ख को भोगता है।

अज्ञानी आत्मा दुष्कर तपश्चरण का आचरण कर इस लोक मे चमत्कार उत्पन्न करनेवाली ऋद्धियो और विभूतियो की आकांक्षा करता है। वह चारित्र के चिन्तामणि समान फल को कोडियो मे वेचता है। वह यह नही समझता कि चॉवल की खेती करने वाले को तुष (भूसा) की कामना नहीं होती है। कृपक धान्य के लिए खेती का परिश्रम उठाता है भूसे के लिए नहीं। वह तो अनायास ही मिल जाता है।

इसी प्रकार ज्ञानी धर्म का पालन आत्मीय सुख की प्राप्ति के लिए करता है। उसे स्वर्गादि के सुख भी आनुषंगिक रूप से मिलजाते हैं। उनका अनुभव करता हुआ भी उन सुखों को उपादेय नहीं समझता है और उसका लक्ष्य मोक्षपद-प्राप्ति का बना रहता है। वह दिव्य भोगों को भोगता है, देवांगनाओं के मध्य मनोहर क्रीडाएँ करता है, मन को लुभाने वाले अप्सराओं के लावण्य व सौन्दर्य का नेत्र-पात्र से पान करता है, उनके कोकिलसम कण्ठ से निकले मजुल मधुर गान का रसास्वादन करता है, नन्दनवन मे अप्सराओं के साथ रमण करता है फिर भी उन सुखो मे उसकी आसक्ति नहीं है। वह अपने परतन्त्र आत्मा के असामर्थ्य का अनुभव कर सोने के पींजरे मे पडे हुए तोते के समान दु:खी रहता है। मिष्ट फल का आस्वादन करता हुआ भी परतन्त्रता से दु:खित हो बाहर निकल भागने का इधर उधर मार्ग ढूढा करता है, वह ससार से निकलने के लिए छटपटाता रहता है।

अज्ञानी जीव धन सम्पत्ति स्त्री पुत्र भवन उपवन आदि सामग्री को सुख देनेवाली समझकर उनकी प्राप्ति के लिए तथा प्राप्त होने पर उनकी रक्षा करने मे ही लगा रहता है। दैववशात् उनका वियोग हो जाने पर अत्यन्त दु:खित होजाता है। किन्तु ज्ञानी जीव धन सम्पत्ति स्त्री पुत्रादि की प्राप्ति को कर्म की देन मानता है। इन पदार्थों को कर्म की दी हुई धरोहर समझता है। जब उनका वियोग हो जाता है, तब दु:ख नहीं होता, वह सच्चे साहूकार की तरह कर्म की रखी हुई धरोहर को उसे सहर्ष सौंपना ही अपना कर्त्तव्य समझता है। वह विचारता है कि कर्म ने ही इतने समय के लिए मुझे सौंपी थी और अब उसने उसकी वस्तु वापस लेली। इसमे विषाद क्या? दूसरे की चीज़ पर अपना अधिकार कर लेना महान् अन्याय है। अन्याय करने वाला नरक निगोदादि बन्दीगृह मे डाला जाता है—ऐसा विचार कर ज्ञानी सदा सुखी रहता है। उसको अज्ञानी के समान वस्तु के सयोग से सुख तथा वस्तु के वियोग से दु:ख नहीं होता है।

इस प्रकार के तत्त्वज्ञान से ज्ञानी ससार के कार्यों को करता हुआ भी कमल-पत्र के समान निर्लेप रहता है। अतएव ज्ञानी के भोग भी निर्जरा के कारण होते हैं और अज्ञानी की धार्मिक क्रिया भी अविवेक पूर्ण होने से बन्ध की कारण होती हैं।

इसलिए हे आत्मन् यदि संसार के दु:खो से, मानसिक सतापों से, इष्ट वियोग तथा अनिष्ट सयोग-जन्य क्लेशों से बचना चाहते हो तथा सदा आनन्दामृत का रसास्वादन करना चाहते हो तो तत्त्वज्ञान सम्पादन करो। वह तत्त्वज्ञान जिनागम का सतत अभ्यास करने मे उपलब्ध होता है।

शका—जिनागम का अभ्यास करने मे ही तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है, तो ग्यारह अग और अभिन्नदश पूर्व के पाठी मुनि को तो जरूर ही तत्त्व ज्ञान हो जाना चाहिए था। लेकिन उतने अधिक आगम के अभ्यास से भी तत्त्वज्ञान नहीं होता है और तुषमाष भिन्न ज्ञान

रखने वाले शिवभूति मुनि के समान अल्पज्ञ भी तत्त्वज्ञान (भेदविज्ञान) प्राप्त कर अपना कल्याण करलेते हैं, इसलिए आगम के अभ्यास से तत्वज्ञान उत्पन्न होता है—यह कैसे सिद्ध हुआ ?

समाधान—किसी समय एक शिवभूति नाम के मुनि थे। उन्हें शास्त्र के एकाक्षर का भी ज्ञान नहीं था। किसी को उन्होंने उडद की दाल से उसके तुषों को अलग करते हुए देखा। इसीसे उनने यह जानलिया कि जैसे दाल तुष से भिन्न है इसी तरह शरीरादि जड पदार्थों से आत्मा भिन्न है। किसी काल मे किसी निकट भव्य को जिनागम के अभ्यास के बिना तत्त्वज्ञान हो जावे और वह उस पर स्थिर रहकर अपने आत्मा का कल्याण करले तो वह सब के लिए राज मार्ग नहीं हो सकता है। जैसे किसी नगर के राजा का स्वर्गवास होगया, और वहां के निवासियों या राजवर्ग के मनुष्यो ने निश्चय किया कि जो पुरुष सबसे प्रथम नगर मे प्रवेश करेगा उसीको इस नगर का अधिपति पद दिया जावेगा। धन की अभिलाषा मे इधर उधर भटकता हुआ कोई दरिद्र उस नगर मे अचानक प्रविष्ट हुआ, और उसे राज्य प्राप्त होगया, तो क्या राज्य-प्राप्ति का वह मार्ग राजमार्ग माना जा सकता है ? राज्य के अभिलाषी क्या उसके मार्ग का अनुसरण कर अपने अभीष्ट की सिद्धि कर सकेंगे ? कभी नहीं कर सकते। अथवा किसी मनुष्य को जंगल मे भ्रमण करते हुए दैववश वहा स्वर्ण-निधि प्राप्त होगई तो सबको उसी प्रकार स्वर्ग का खजाना प्राप्त हो जावेगा ? उसको प्राप्त करने का तो वाणिज्य व्यवसाय कृषि आदि ही मार्ग हो सकता है। उसी प्रकार तत्त्वज्ञान प्राप्ति का साधन जिनागम का अभ्यास ही हो सकता है। जो सयमी या श्रावक शिवभूति मुनि के दृष्टान्त को सम्मुख रखकर जिनागम का अभ्यास न कर पशु समान तत्त्वज्ञान रहित होकर अपना काल विकथा आलस्यादि प्रमाद मे विताते हैं वे अपना तो अहित करते ही हैं और अपने सम्पर्क मे रहने वाले अन्य भोले प्राणियो का भी महान् अहित करते हैं, अतएव प्रत्येक मनुष्य को अपना तथा परका हित सम्पादन करने के लिए निरन्तर स्वाध्याय करना उचित है। स्वाध्याय करने से आत्मा को शान्ति मिलती है, विषय भोग से उदासीनता आती है, धर्म मे अनुराग बढता है। संसार मे भय और शरीर से वैराग्य होता है, तत्त्वज्ञान जागृत होता है, कषाय मन्द होती है और चित्त की एकाग्रता होती है। चित्त की एकाग्रता के कारण ध्यान की सिद्धि होती है। और ध्यान से कर्म का क्षय होकर मोक्षपद प्राप्त होता है।

इस प्रकार जिनागम के स्वाध्याय करने से तत्त्वज्ञान की जागृति का वर्णन करके अब विनय का वर्णन करते हैं, क्योंकि ज्ञान का फल विनय है। जिस ज्ञानवान् को विनय गुण नहीं प्राप्त हुआ उसका तत्त्वज्ञान फलशून्य वृक्ष के समान अनादरणीय होता है।

विनय की महिमा

'विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम् '

ज्ञान की प्राप्ति विनय को जन्म देती है और विनयवान् आत्मा गुणो का पात्र (आधार) बनता है। तत्त्वज्ञान की सफलता

विनीत भाव धारण करने से ही होती है। जिसका आत्मा अविनीत है, उनका सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र, तप और व्यवहार शुद्ध नहीं होता है। क्योंकि अविनय उनमे मलीनता उत्पन्न करता है। अविनय नाम कठोरता का है। कठोर-हृदय पाषाण के समान मानागया है। जैसे पाषाण पर डाला हुआ उत्तम बीज भी बेकार हो जाता है, उसमे समय पर सिंचन किया हुआ जल बह जाता है, उसको आर्द्र व कोमल नहीं बना सकता है, अत उसमे अकुर का उदय नहीं होता। उसी प्रकार विनय हीन मनुष्य मे गुरु के उपदेश सत्सगति आदि के निमित्त से सदाचारादि गुण उत्पन्न नहीं होते हैं। सचतो यह है कि विनय रहित मनुष्य को ज्ञान की प्राप्ति ही नही होती है, क्योकि अविनीत शिष्य पर गुरु का प्रेम नही होता विनयवान् शिष्य को गुरु अपने से अधिक विद्वान् बनाने का उद्योग करता है। हृदय खोलकर शास्त्रो के रहस्य का उद्‌घाटन करता है। और अविनीत शिष्य को अपने निकट भी नहीं बैठने देता है। इसलिए विनयशील शिष्य ही ज्ञानादि गुणों का भडार होना है और वह सब का प्रिय होता है। उसके सहज मे सब मित्र बन जाते हैं और उसको सुखी बनाने मे प्रयत्नशील होते हैं। अविनीत के बिना कारण सब शत्रु हो जाते हैं। और उसके उत्कर्ष को कोई नहीं चाहते हैं।

विनय के भेद और उनका स्वरूप

विनय पाच प्रकार का है— १ दर्शनविनय, २ ज्ञानविनय, ३ चारित्रविनय, ४ तपविनय और ५ उपचारविनय।

१ दर्शनविनय—सम्यक्त्व के शका, काक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि की प्रशसा और स्तुति इन पाच अतिचारों का त्याग करना, सम्यग्दर्शन के निशङ्कितादि आठ गुणों को धारण करना, सम्यग्दर्शन का विनय कहलाता है।

(२) ज्ञानविनय-सम्यग्ज्ञान को धारण करना ज्ञान विनय है। ज्ञान विनय के ८ भेद हैं उनका क्रमशः यह स्वरूप है:— १ योग्यकाल मे आगम (सूत्रो) का अध्ययन करना कालविनय है। २ आगम व आगम के कर्त्ता की महिमा का वर्णन करना भक्ति विनय है। ३ जबतक यह ग्रन्थ पूर्ण नहीं होगा तब तक अमुक वस्तु का भोजन नहीं करूंगा अथवा इतने उपवास करूगा इत्यादि तपस्या करने को उपधानविनय कहते हैं। इससे कर्म का क्षय होता है और ज्ञान की जागृति होती है। ४ पवित्र होकर हाथजोड एकाग्रचित्त से अध्ययन करने को बहुमान विनय कहते हैं। ५ किसी गुरु से शास्त्रो का अध्ययन करके भी उसको गुरु न बताना अथवा उसके स्थान मे किसी अन्य व्यक्ति को गुरू प्रकट करना निह्नव कहलाता है। ऐसे निह्नव का न होना ही अनिह्नव नाम का विनय है। ६ गणधरादि द्वारा निर्मित आगम का शुद्ध उच्चारण करना व्यजन (शब्द) शुद्धि नाम का विनय है। ७ आगम का यथार्थ शास्त्रो के अर्थ का इस प्रकार प्रतिपादन करना जिससे श्रोताओ के ठीक ठीक समझ मे आजावे उसे अर्थशुद्धि नामका विनय कहते हैं। ८ आगम के शब्दरूप पाठ का तथा अर्थ का शुद्ध निरूपण

करते हैं। नियतस्थान पर निवास करने से मुनियों का परस्पर सम्मेलन नहीं होसकता और वे एक दूसरे से कुछ भी लाभ नहीं उठा सकते हैं। तथा अनेक देश नगर ग्रामादि के धर्म-प्रिय मनुष्य धर्म के मार्ग से वंचित रहते हैं। सतत विहार करनेवाले मुनि नाना देश के लोगों को धर्म का स्वरूप दिखाकर उन्हे धर्म के मार्ग पर लगाते हैं और धर्मात्माओ को धर्ममार्ग पर दृढ करते हैं।

नानादेशो मे विहार करने से मुनि मे क्षुधा तृषा चर्या शीत उष्णादि परिषदों के सहन करने की शक्ति बढती है। अनेक देशों का परिज्ञान होता है। वहा के धर्माचरणादि की परिस्थिति का परिचय होता है। भिन्न २ प्रकृति के मनुष्यों के साथ धर्मचर्चा करने से तत्त्वज्ञान मे प्रौढता आती है और तत्त्वविवेचन करने का वाक्चातुर्य प्राप्त होता है। अनेक देशों की भिन्न २ भाषाओं का परिज्ञान होता है।

अनियत विहारी के वसतिका मे, पुस्तकादि उपकरण में, ग्राम नगर देशादि में, तथा श्रावकों मे मोह उत्पन्न नहीं होता है। इसलिए निरन्तर विहार साधु के आचरण व ज्ञानादि को निर्मल करने वाला है।

यह याद रखने की बात है कि देशान्तर मे भ्रमण करने मात्र से अनियतविहारी नहीं होता है, किन्तु श्रावक लोगों मे ममत्व रहित होने से ही अनियतविहार की सफलता मानी गई है। जो साधु 'यह श्रावक मेरे भक्त हैं, मैं इनका स्वामी हूँ,' इस प्रकार मोह भाव रखता है वह आगमानुकूल देशान्तर मे पर्यटन करता हुआ भी अपने आत्मा को भक्त-प्रत्याख्यान-समाधिमरण करने के योग्य नहीं बना सकता है।

उक्त प्रकार निरन्तर विहार करता हुआ साधु व आचार्य समाधि मरण के अवसर का आगमन समझकर भक्तप्रत्याख्यान करने मे तत्पर होता है।

समाधिमरण के लिए तत्परता

आचार्य जब अपनी आयु को अल्प शेष रही जान लेते हैं, तब अथवा ऊपर बताये हुए प्राणघातक व्याधि दुर्भिक्षादि कारण उपस्थित होने पर समाधिमरण के लिए तत्पर होते हुए समस्त संघ का परित्याग करने के लिए उद्यत होते हैं उस समय वे विचारते हैं कि

> अणुपालिदो य दीहो परियाओ वायणा य मे दिण्णा।
> णिप्पादिदा य सिस्सा सेय खलु अप्पणो कादुं ॥ १५४ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—मैंने आगमोक्त विधि से चिरकाल पर्यन्त दर्शन, ज्ञान, चारित्र एवं तपरूप पर्याय की रक्षा की। मैंने शिष्यों को अध्य-

यन भी कराया। अनेक शिष्यो को भगवती दीक्षा भी दी। अब शिष्य भी योग्य व समर्थ होगये हैं। अत अब मुझे अपना हित करना चाहिए। इस प्रकार आचार्य के परिणाम उत्पन्न होते हैं और यह श्रेष्ठ भी है। क्योंकि—

आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं।
आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं ॥ (भग० टीका १५४)

अर्थात्—जिसमे आत्मा का हित होता है, वही कार्य करना चाहिए यदि आत्महित करते हुए परहित करने का सामर्थ्य हो तो परहित भी अवश्य करना योग्य है। किन्तु जब परहित मे लगे रहने पर आत्मा का अहित होता हो, उस समय परहित की उपेक्षा करके आत्मा का हित करना ही उचित है। इस प्रकार भगवान कुन्दकुन्दाचार्य की आज्ञा है। अत. संघ के नायक आचार्य अन्त समय अपने आत्मा मे परम निराकुलता उत्पन्न करने के लिए शिष्यो के शासन कार्य का परित्याग कर देते हैं।

तथा सामान्यसाधु भी प्राणघातकव्याधि दुर्भिक्षादि के उपस्थित होने अथवा आयु के अन्तिम समय का निश्चय होने पर अपने आत्महित मे तत्पर होता है। आगम मे कहा है —

एवं विचारयित्ता सदि माहप्पे य आउगे अमदि।
अणिगूहिदबलविरियो कुणदि मदिं भत्तवोसरणे ॥ १५८ ॥ (भग०)

अर्थ—अपने आत्महित का विचार कर स्मरण शक्ति के रहते हुए आयु के अन्तिम समय मे अपने बल व वीर्य को न छिपाकर साधु भक्तप्रत्याख्यान (समाधि मरण) करने का विचार करता है।

वह सोचता है कि जब तक मेरी स्मरण शक्ति बनी हुई है, शारीरिक शक्ति क्षीण नहीं हुई है, वचन उच्चारण करने मे भी कुछ त्रुटि नहीं उत्पन्न हुई है और आत्महित का विचार करने का बल जब तक नष्ट नहीं हुआ है, चक्षु श्रोत्र आदि इन्द्रियों की शक्ति भी जब तक नहीं घटी है तब तक ही मुझे अपना आत्महित कर लेना चाहिए। क्योंकि स्मृति भ्रष्ट होजाने पर रत्नत्रय का आचरण कैसे हो सकेगा? तथा शारीरिक शक्ति का क्षय होने पर आतपनादि योगो का अनशनादि तपश्चरण का और ईर्यासमिति आदि चारित्र का पालन कैसे कर सकूंगा? शक्ति के अभाव से चारित्र के पालन मे अरुचि उत्पन्न हो जाने पर मेरा सयम रत्न लुट जावेगा, चक्षु व श्रोत्र के आश्रित सयम का पालन होता है और जब ये उत्तर देदेंगे, तब मेरा जीवन का सार सयम नष्ट हो जावेगा। अत इन सब के अनुकूल रहते मुझे आत्म

करने को तदुभय (व्यजन व अर्थ) शुद्धि नाम का विनय कहते हैं। इन आठ प्रकार के ज्ञान के साधनों से आठ कर्मों का व्यपनयन (निराकरण) होता है। इसलिए इनको विनय नामसे कहा है। इस प्रकार ज्ञानविनय के आठ भेदो का वर्णन हुआ।

(३) चारित्रविनय—चारित्र धारण करना चारित्रविनय है। पांचव्रतो की जो पच्चीस भावनाएँ हैं ('तत्स्थैर्यार्थं भावना पञ्च २- जो इस तत्वार्थ सूत्र से निरूपण की गई हैं) उनके चिन्तन करनेका चारित्र विनय कहते हैं। अथवा इष्ट अनिष्ट शब्द रूपादि विषयों मे रागद्वेप न करने तथा क्रोधादि चार कषाय, इष्ट अनिष्ट हास्यरति अरति आदि नव कषायो का निग्रह करना चारित्र विनय कहलाता है।

(४) तपविनय—सयमपालन मे उद्यमशील होना, दीनता रहित होकर क्षुधादि परिषहों का सहना, तपस्या मे अनुराग रखना, सामायिक, प्रतिक्रमण, चतुर्विंशतिस्तव, वेदना, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यक का हीनाधिकता रहित पालन करना तपविनय कहलाता है।

(५) उपचारविनय—गुरु आदि पूज्य पुरुषों का मन वचन काय से प्रत्यक्ष व परोक्ष आदर सत्कार भक्ति करने को उपचार विनय कहते हैं।

इस प्रकार सक्षेप से विनय का वर्णन किया है। इसका विशेप विशद वर्णन 'विनयाचार' मे कर आये हैं। वहा से जान लेना चाहिए।

मनको वश में करने की आवश्यकता

जिनलिंग के धारक समाधिमरण के इच्छुक ने ज्ञानाभ्यास से विनय गुण उत्पन्न कर लिया है उसको अपना मन भी वश में करना चाहिए। क्योकि जिसका मन चचल है, वह अपने प्रयोजन की सिद्धि नहीं कर सकता है। उसका चारित्र तप आदि का आराधन निरर्थक होता है।

चालणिगयं व उदयं सामण्णं गलइ अणिहुदमणस्स।
कायेण य वायाए जदि वि जधुत्तं चरदि भिक्खू ॥१२३॥ (भग०)

अर्थ—जो सयमी शरीर से शास्त्रोक्त क्रियाओं को करता है, तथा वचन से आगमोक्तप्ररूपणा करता है, तथापि यदि उसका

चित्त काय और वचन के द्वारा किये गये सम्यक् आचरण में स्थिर नहीं है एवं विषयों में प्रयत्न करता रहता है उस साधु का साधुत्व (संयम) चालनी में गिराये गये पानी के समान निकल जाता है। अर्थात् उसके आत्मा में चारित्र चलनी के पानी के समान नहीं टिकता है।

जब तक मनमें चंचलता है। बाहर विषयों की तरफ भटकने की आदत नहीं छूटती है तब तक वह अन्धे बहरे व गूंगे के समान है। जैसे अन्धा बहिरा व गूंगा वस्तुके सन्मुख रहते हुए भी उसको देखता सुनता नहीं है तथा वचन द्वारा कह नहीं सकता, वैसे ही अन्य विषयों में लगा हुआ मन सन्मुख स्थित वस्तु आदि का ज्ञान नहीं करता है। मन मदोन्मत्त हाथी के समान है। उसको रोकने के लिए स्वाध्याय-रूप शृंखला ही एक मुख्य उपाय है। जिसने स्वाध्याय से मन को स्थिर करने का अभ्यास किया है उसीका चित्त स्थिरता को प्राप्त होता है। तथा वही उसे अपने आत्मा में लगा सकता है।

शंका—मनको रोकने का उपाय करने पर भी वह अनिरोध इधर उधर क्यों दौड़ जाया करता है? विषयों से हटाने का विचार करते हैं तो भी उन वस्तुओं में पुनः पुनः चला जाता है, इसका क्या कारण है?

समाधान—जिन पदार्थों में अधिक अनुराग होता है, उनमें मन की प्रवृत्ति होती है। जैसे जैसे बाह्य पदार्थों से अनुराग घटता है वैसे वैसे उनमें मन निवृत्त होकर आत्मा में स्थिर होने लगता है। मनको स्थिर रखने के निमित्त ही सब परिग्रह के त्यागी साधुओं को भी सावधान रहने का उपदेश दिया है और यहां तक कहा है कि उनको गृहस्थों के सम्पर्क से बचना चाहिए। इसीलिए निरंतर विहार करने का भी उनको आदेश है। निरन्तर विहार का वर्णन हम पहले कर आये हैं। इसलिए यहां विशेष वर्णन न करके उससे होने वाले लाभ का संक्षेप में निरूपण करते हैं।

निरंतर विहार की उपयोगिता

सतत विहार करनेवाले मुनि के, तीर्थंकरों के गर्भ जन्म कल्याण के क्षेत्रों के अवलोकन करने से, उनकी तपस्या करने की पवित्र भूमि के स्पर्श करने से, केवल और मोक्ष कल्याण के परम पवित्र तीर्थों की यात्रा करने से सम्यग्दर्शन में विशुद्धि उत्पन्न होती है।

अनियत विहारी मुनि उत्कृष्ट चारित्र के आराधक होते हैं, उनको देखकर दूसरे शिथिल चारित्र वाले साधु भी अपने चारित्र को निर्मल बनाते हैं। उनकी समताभीरुता व उत्कृष्ट तपस्या को देखकर अन्य मुनि भी संसार से उद्विग्न हो तपश्चरण में लीन हो जाते हैं। उत्तम लेश्या के धारक मुनीश्वरों के निर्मल शान्त स्वभाव को देखकर इतर मुनि भी अपने परिणामों को निर्मल बनाते हैं। तात्पर्य यह है कि सतत विहार करने से साधुओं का परस्पर सहयोग होता है और उनमें जो कमी होती है, उसे एक दूसरे को देखकर वे निकालने का प्रयत्न

कल्याण के लिए भक्तप्रत्याख्यान समाधिमरण का आचरण करलेना उचित है। वह यह भी सोचता है कि इस समय मेरे शुभोदय से समाधिमरण के सहायक निर्यापक आचार्य तथा निर्यापक (वैयावृत्त्य करने वाले) साधु आदि भी सुलभ हैं। निर्यापकाचार्य ऋद्धिगारव रसगारव और सात गारव रहित होना चाहिए सो मुझे इस समय सुप्राप्य है। ऋद्धि-प्रिय आचार्य असयमी को भी निर्यापक पद पर स्थापित कर देते हैं। ये तीनों ही दोष निर्यापक मे नहीं होना चाहिए, क्योंकि असंयमी निर्यापक साधु को समाधि मरण मे क्या मदद दे सकता है ? जो स्वय असयम से नहीं डरता है वह असयम के कारणो का और असंयमाचार का परिहार कैसे कर सकता है ? और इसी तरह जो रस (आहारादि) तथा सात (सुख) गारव युक्त होता है, उससे क्लेशों का सहन कैसे हो सकता है ? जो अपने शरीरादि के कष्ट का सहन करने की शक्ति नहीं रखता वह आराधक के वैयावृत्त्य के क्लेश को कैसे सह सकता है ? किन्तु इस समय तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र का सुन्दर आचरण करने वाले निर्यापक का सयोग मिलरहा है। अतएव मुझे विद्वानों से मान्य भक्तप्रत्याख्यान का आचरण करके शरीर का त्याग करना आवश्यक है।

इस प्रकार के विचारों से मुनि के शान्ति पूर्वक शरीर त्याग करने की दृढता हो जाती है, यदि आसातावेदनीय कर्म के तीव्र उदय से उसके शरीर मे तीव्र वेदना भी उपस्थित हो जाय तो उक्त प्रकार से परिणामों में दृढता आजाने से उसको दुःख नहीं होता है, क्योंकि जीने की आशा उसके चित्त मे लेशमात्र भी नहीं है, वह तो शान्ति धारणकर मरण करने में उद्यमी हो रहा है, अतः उसके परिणामों मे निर्मलता बनी रहती है।

समाधिमरण करने मे तत्पर हुआ साधु पिच्छी और कमण्डलु के सिवा सब का परित्याग कर देता है। ज्ञान की साधनभूत पुस्तक भी उस समय परिग्रह मानी गई है। वह उसका भी त्याग कर देता है।

समाधिमरण में शुद्धियों की आवश्यकता और उनके भेद

समाधि मरण मे अग्रसर होने के लिए शुद्धियों की नितान्त आवश्यकता है और वे शुद्धियाँ पाच होती हैं। यथाः—

आलोयणाए सेज्जासंथारुवहीण भत्तपाणस्स।
वेज्जावच्चकराण य सुद्धी खलु पंचहा होइ ॥ १६६ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—आलोचना शुद्धि, शय्या सस्तर शुद्धि, उपकरण शुद्धि, भोजनपान शुद्धि और वैयावृत्त्य शुद्धि इस प्रकार शुद्धियों के पाच

भेद हैं। जिस साधु ने पंडितमरण करने का दृढ निश्चय कर लिया है उसको उक्त पांच प्रकार की शुद्धियो को धारण कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। इन पाँचों शुद्धियों का सक्षिप्त स्वरूप यह है।

(१) आलोचनाशुद्धि—मायाचार रहित और असत्यभाषण रहित गुरु के निकट अपने अपराधों को प्रकट करना आलोचना शुद्धि कहलाती है। जो साधु अपने व्रताचरण मे लगे हुए दोषों को निष्कपट भाव से प्रकट नहीं करता उसका आत्मा मलीन रहता है, उस मलीनता को दूर करने के लिए गुरु के समीप अपने दोपो को ज्यों के त्यो प्रकट कर देना चाहिए। दोषों को प्रकट कर देने पर आत्मा स्वच्छ हो जाता है।

(२) शय्या-सस्तर शुद्धि—शय्या (वसतिका) और संस्तर मे उद्गम उत्पादनादि दोपो को नहीं लगाना तथा 'यह शय्या व सस्तर मेरा है' ऐसा ममत्व न रखना शय्या-संस्तर-शुद्धि है। उद्गम उत्पादनादि दोपों का स्वरूप एपणाशुद्धि के प्रकरण में कह आये हैं, वहा से जान लेना चाहिए। जो शय्या-सस्तर मे ममता रखता है, वह परिग्रही माना जाता है, उसमे ममत्व का त्याग करने से ही परिग्रह का अभाव होता है जो कि आत्मा को शुद्ध बनाने मे मुख्य कारण होता है।

(३) उपकरणशुद्धि—पिच्छी कमडलु भी उद्गमादि दोष रहित तथा 'ममेदं' इस ममत्व संकल्प से रहित होना चाहिए। जो उपकरण उद्गम उत्पादनादि दोष से युक्त होते हैं, वे हिंसादि पापों के जनक होते हैं तथा उनमे ममत्व रहने से वे परिग्रह माने गये हैं, इसलिए निर्दोष उपकरण मे भी मोह का त्याग करना आवश्यक है नहीं तो आत्मा मे विशुद्धि नहीं आती।

(४) भक्तपानशुद्धि—अध कर्म, उद्गम, उत्पादना, उद्दिष्टादि दोष सहित भोजन और पान का ग्रहण न करने से भोजन पान शुद्धि होती है। निर्दोष भोजनपान मे भी मोह रहने से वह भी परिग्रह रूप होजाते हैं, इसलिए निर्दोष और मोहरहित शास्त्र विधि के अनुकूल आहारजलादि का ग्रहण करने से भक्तपान शुद्धि होती है।

(५) वैयावृत्त्यकरणशुद्धि—सयमी की सेवा (वैयावृत्त्य) जिस रीति से की जाती है, उस पद्धति का ज्ञान वैयावृत्त्य शुद्धि मानी गई है। जिसको मुनि के योग्य वैयावृत्त्य का ज्ञान नहीं है उसके वैयावृत्त्य शुद्धि का अभाव है।

दूसरी तरह से शुद्धियों के भेद।

दर्शनशुद्धि, ज्ञानशुद्धि, चारित्रशुद्धि, विनयशुद्धि, और आवासशुद्धि इस तरह भी शुद्धियों के पाच भेद माने गये हैं। इन शुद्धियों के धारण करने मे अशुभ योगादि भावदोपो का निरास होता है। इन भावदोपो के निवारण करने से परिग्रह का परिहार होता

स. प्र

है। इन शुद्धियो का सक्षेप स्वरूप यह है।

(१) दर्शनशुद्धि—निश्शङ्कित आदि गुणों का आत्मा मे प्रकट होना ही दर्शनशुद्धि है। इस के प्रकट हो जाने से शंका, काक्षादि अशुभ परिणाम का नाश हो जाता है।

(२) ज्ञानशुद्धि—आगम का योग्य काल में अध्ययन करना, जिससे विद्या का अध्ययन किया है, उस गुरु का व शास्त्र का नाम न छिपाना इत्यादि आठ प्रकार की ज्ञान शुद्धि है। इस शुद्धि के उत्पन्न होने पर सूत्रों का अकाल मे अध्ययनादि क्रियाओं से जो ज्ञानावरण कर्म का आस्रव होता था उसका अभाव हो जाता है।

(३) चारित्रशुद्धि—अहिंसादि पाच व्रतो की पच्चीस भावनाओं का उत्तम रीति से पालन करने से चारित्र शुद्धि होती है। इन भावनाओं का परित्याग करने से अन्त करण मे मलिनता आती है और इससे अशुभपरिणाम उत्पन्न होते हैं। ये अशुभ परिणाम ही आभ्यन्तर परिग्रह हैं, इसलिए उन अशुभ परिणामो का परित्याग करना ही चारित्रशुद्धि मानी गई है।

(४) विनयशुद्धि—यश, मन्मान आदि लौकिक फल की अभिलाषा का त्याग कर पूजनीयों का विनय करना विनयशुद्धि है। इस विन शुद्धि का आचरण करने से मानादिकषाय का अभाव हो जाता है।

(५) आवश्यकशुद्धि—पापजनक मन, वचन, काय की प्रवृत्ति का त्याग करना, जिनेन्द्र के गुणों मे भक्ति रखना, वंद्यमान आचार्यादि के गुणों का अनुसरण करना, किये हुए अपराधो की निन्दा करना, मन से अपराधों का त्याग करना, काय की नि सारता आदि का चिन्तन करना, ये सब आवश्यक शुद्धि है। इस शुद्धि के होने पर अशुभ (पापजनक) मन वचन काय की प्रवृत्ति का, जिनेद्र गुण मे अप्रीति का, आगम के महत्व मे अनादर का, आचार्यादि पूज्य पुरुषों के गुणों मे अरुचि का, अपराधो की अग्लानि का, त्याग रहित परिणाम का, संसार की सारता और शरीर की ममता का त्याग होता है। शुद्धियों की तरह सन्यासमरण धारण करनेवाले को पाच प्रकार का विवेक भी धारण करना चाहिए। इस, लिए प्रसगानुसार यहां विवेकों का वर्णन भी कर देते हैं।

पांच प्रकार का विवेक

इन्दियकसायउवधीण भत्तपाणस्स चावि देहस्स।
एस विवेगो भणिदो पंचविधो दव्वभावगदो ॥ १६८ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—१ इन्द्रियविवेक, २ कषायविवेक, ३ उपधिविवेक, ४ भक्तपानविवेक, ५ देहविवेक, इस प्रकार विवेक के पाच भेद हैं।

(१) इन्द्रियविवेक—रूपादि विषयों में चक्षुआदि इन्द्रियों की जो राग द्वेष रूप प्रवृत्ति होती है, उसको रोकना इन्द्रिय-विवेक है। इसके दो भेद हैं —द्रव्य-इन्द्रिय-विवेक और भाव-इन्द्रिय-विवेक। मैं उसके कठोर कुचो को देखता हूँ, मैं उसके नितम्ब या रोमपंक्ति का अवलोकन करता हूँ, उसके अत्यन्त पुष्ट जघन का स्पर्श करता हूँ, उसके मधुर गान को सुनता हूँ, उसके मुखकमल की सुगन्ध को सूघता हूँ, उसके बिम्ब समान ओष्ठ का रसास्वादन करता हूँ-इस प्रकार के विषयों मे अनुराग उत्पन्न करने वाले वचनों का उच्चारण न करना द्रव्य-इन्द्रिय-विवेक है। अचानक चक्षु आदि इन्द्रियो की रूपादि विषयो मे प्रवृत्ति हो जाने पर जो ज्ञान होता है उसमे रागद्वेष का मिश्रण न करना अर्थात् चक्षु आदि के द्वारा जाने हुए भले बुरे रूपादि विषयों मे राग व द्वेषरूप परिणाम उत्पन्न न करना भाव-इन्द्रिय-विवेक है।

(२) कषायविवेक—क्रोधादि के विषयभूत पदार्थ मे क्रोधादि न करने को कषाय-विवेक कहते हैं। कषाय विवेक दो प्रकार का है। १ काय जनित और २ वचनजनित। भौंहें सुकोड़ना, लालनेत्र करना, होठ डसना, शस्त्र हाथ मे लेना, इत्यादि काय द्वारा कषाय न करना कायजनित क्रोधकषायविवेक कहलाता है। मै तुझे जान से मारडालूंगा, पीटूगा, तुझे सूली पर चढ़ा दू गा इत्यादि कषाय युक्त वचन न बोलना यह वचन-जनित क्रोधकषायविवेक होता है। दूसरे के तिरस्कादि करने पर भी अपने मन मे क्रोध रूप परिणाम न होना भाव से क्रोध कषाय-विवेक होता है। इसी तरह मानकषाय-विवेक भी काय से और वचन से होता है। शरीर के अवयवों का अकड़ाना, सिर को ऊँचा उठाकर चलना, ऊँचे आसन पर वैठना इत्यादि अभिमान प्रकट करने वाला क्रियाओं को न करना कायजनित मानकषायविवेक होता है। मुझसे अधिक कौन आगम का वेत्ता है, कौन सच्चरित्र है? मुझ से उत्कृष्ट तपस्वी कौन है? इत्यादि अभिमान भरेवचन उच्चारण न करने को वचनजनित मानकषाय-विवेक कहते हैं। मैं ज्ञान, चारित्र व तप मे सबसे महान् हूँ, इस प्रकार का मन मे विचार न करने को भाव से मानकषाय विवेक कहते हैं। मायाविवेक भी दो प्रकार का है-किसी व्यक्तिविशेष के सम्बन्ध मे बोलता हुआ भी मानो किसी अन्य व्यक्ति के लिए बोल रहा है-इस तरह के वचन का त्याग करना, अथवा मायाचार के उपदेश का त्याग करना, या मैं माया न करूगा, न करवाऊगा और न माया करते हुए की अनुमोदना करूगा, यह सब वचनजनित मायाकषाय-विवेक कहलाता है। शरीर से करना कुछ, और लोगों को दिखाना कुछ इसका त्याग करने को काय जनित मायाकषायविवेक कहाजाता है। लोभविवेक-द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। जिस पदार्थ का लोभ है, उसको लेने के लिए हाथ फैलाना, द्रव्य के स्थान को सुरक्षित रखना, उस वस्तु को लेने की इच्छा रखने वाले मनुष्य को हाथ के इशारे या सिर हिलाकर मना करना, इत्यादि लोभ विषयक क्रियाओं के त्यागने से कायसे लोभकषाय का विवेक होता है। यह वस्तु मेरी है, इस धन ग्रामादि का मैं स्वामी हूँ-इत्यादि वचन न बोलने को वचनजनित लोभकषाय का विवेक कहते हैं। किसी वस्तु मे ममत्वरूप परिणाम न करने को मनोजनित लोभ-कषाय-विवेक कहते हैं।

(३) उपधि विवेक—शरीर से पुस्तकादि उपकरणों का ग्रहण न करना, न अन्य जगह उनको स्थापन करना और न कहीं पर

रख कर उनकी रक्षा करना यह कायजनित उपधिविवेक होता है। इन ज्ञानोपकरणों का मैंने त्याग किया इस प्रकार वचनों का उच्चारण करना यह वचन जनित उपधि विवेक होता है।

(४) भक्तपान-विवेक—भोजन और पान करने की वस्तुओं के खाने पीने का त्याग करना कायद्वारा होने वाला भक्त-पान का विवेक होता है। अमुक भोजन व पान का मैं त्याग करताहूं, ऐसे वचन को वचन द्वारा होनेवाला भक्त पान का विवेक कहा जाता है।

(५) देह-विवेक—यह देह विवेक भी शरीर और वचन के द्वारा होता है।

शंका—संसारी जीवो के शरीर से विवेक (पृथक् होना) कैसे हो सकता है ?

समाधान—अपने शरीर से अपने शरीर सम्बन्धी उपद्रव का निवारण न करना अर्थात् अपने किसी शरीर के हस्त पादादि अवयव में जहरीला फोडा उत्पन्न हो जाने पर उसका निवारण अपने शरीर से न करना यह शरीर द्वारा होने वाला अपने शरीर का विवेक कहलाता है। अथवा अपने शरीर पर उपद्रव करने वाले मनुष्य, तिर्यंच या देव को 'तुम उपद्रव मत करो' इस प्रकार के हस्त संकेत से अर्थात् हाथ हिलाकर जो मना नहीं करता है, शरीर को सताने वाले डास मच्छर बिच्छू सर्पादि को जो अपने हाथ से नहीं हटाता है, पिच्छी आदि उपकरण से या लकडी आदि से दूर नहीं करता है तथा छत्र पिच्छिका चटाई आवरण आदि से शरीर की रक्षा नहीं करता है, उसके शरीर द्वारा होने वाला देह का विवेक होता है।

मेरे शरीर को पीडा मत दो, मेरी रक्षा करो-ऐसे वचनों का उच्चारण न करना, यह शरीर अचेतन है, मुझ से भिन्न है ऐसे वचन बोलना, वचन द्वारा होने वाला देह का विवेक होता है।

विवेक के दूसरे प्रकार से छह भेद

अहवा सरीरसेज्जा संथारुवहीण भत्तपाणस्स।
वेज्जावच्चकराण य होइ विवेगो तहा चेव ॥ १६६ ॥ (भग०)

अर्थ—शरीरविवेक, शय्याविवेक, सस्तारविवेक, उपधिविवेक, भक्तपानविवेक और वैयावृत्त्य करने वालों का विवेक इस प्रकार भी विवेक का वर्णन किया गया है।

विवेक के उक्त छह भेदों में से शरीरविवेक, उपधिविवेक और भक्तपानविवेक का वर्णन तो ऊपर हो ही चुका है। शेष शय्याविवेक, सस्तरविवेक और वैयावृत्त्य विवेक इन तीनों का स्वरूप दिखलाते हैं।

शय्याविवेक—पहले जिस वसतिका में रहते थे, उसमे नहीं ठहरना-यह शय्या का विवेक कायजनित होता है। मैं इस वसतिका का त्याग करता हूँ, ऐसे वचनों से वसतिका के त्याग करने को वचनजनित शय्या का विवेक कहते हैं।

सस्तरविवेक—पहले जिस सस्तर पर बैठते या सोते थे, उस पर न सोना व न बैठना इसको कायजनित सस्तर विवेक कहते हैं। मैं इस सस्तर का त्याग करता हूँ ऐसे वचन बोलकर सस्तर का त्याग करना वचनजनित सस्तरविवेक कहलाता है।

वैयावृत्त्यविवेक—जो शिष्यादि वैयावृत्त्य करने वाले हैं उनको शरीर से अलग कर देना, उनके साथ न रहना, यह कायजनित वैयावृत्त्यविवेक कहलाता है। तुम लोग मेरा वैयावृत्त्य मत करो, मैंने तुमम्हारा त्याग कर दिया है, इस प्रकार वचन बोलकर वैयावृत्त्य करने वालो का त्याग करना वह वचन जनित वैयावृत्य विवेक कहा जाता है। किन्तु यह सब विवेक भाव जनित ही होना चाहिए नहीं तो सब कुछ निष्फल है। सम्पूर्ण शरीरादि पदार्थो से अनुराग का त्याग करना अथवा उनके साथ ममत्व भाव न रखना ही भावविवेक होता है। भावविवेक ही सल्लेखना की जान है। सल्लेखना के लिए उद्यमी साधु सदा आत्मा के स्वरूप को पुद्गलादि से भिन्न अनुभव करता हुआ पुद्गल की पर्यायों से मोह का त्याग करता है, तथा उनके साथ शरीर का सम्पर्क भी नहीं रखता है। तथा शरीर में आहारादि से भी राग सम्बन्ध का त्याग करता है और समता भाव को स्वीकार करता है। सब परपदार्थों से अपने को भिन्न अनुभव करता हुआ वह अपने रत्नत्रय की वृद्धि में ही दत्तचित रहता है। उसको अपने शरीर से भी नितान्त उपेक्षा होजाती है। वह विचारता है कि यह शरीर नि सार है, महान् अशुचि पदार्थों का घर है, यह आत्मा के परिणामो को मलीन कर उसको कर्मबन्धन मे डालता है, यह जरामरण से युक्त है, नित्य दुःख देने वाला है। इस प्रकार चिन्तन कर शरीर से निःस्पृह होता है और आत्मा को सुखी बनाने वाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप आत्मा के भावो को उत्तरोत्तर अति उज्ज्वल करता है।

आचार्य पद का त्याग

जब संघ का नायक आचार्य सल्लेखना करने के लिए उद्युक्त होता है तब अपना आचार्यपद त्याग देता है और आचार्य पद के भार का वहन करने मे समर्थ जो साधु होता है उसे मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका चतुर्विध संघ के मध्य बिठलाकर सब संघ को सूचित करता है कि इतने समयतक मैंने संघ की सेवा की है, अब मैं आत्मा-कल्याण करने लिए संघ से अपना सम्बन्ध छोड़ता हूँ और इस पद पर चारित्र-क्रम के ज्ञाता, उत्तमशील स्वभाव वाले, व्यवहार निपुण, आगम के रहस्य के वेत्ता, इस साधु को स्थापित करता हूँ। आज से यह तुम्हारे

आचार्य है। यह अपना व तुम्हारा उद्धार करने मे तत्पर रहेंगे। अतः आप लोगों को इनकी आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करना चाहिए। इस प्रकार कहकर संघ का भार उस आचार्य पर रखकर परमशुभ परिणामों से सब से पृथक् हो जाते हैं और अपने आत्मा को निर्मल करने मे दत्तचित्त हो जाते हैं। वे अपने आत्मा को शुभ भावनाओं से सस्कृत करते और कुभावनाओं का सर्वथा परिहार करते हैं। वे कुभावनाएँ विद्वानों ने पाच प्रकार की बतलाई हैं। यथा.—

कांदर्पी कैल्विपी प्राज्ञैराभियोग्यासुरी तथा
सामोही पचमी हेया संक्लिष्टा भावना ध्रुवम् ॥ (भग० आ० सस्कृत १८१)

अर्थ—विद्वानो ने कादर्पी, कैल्विपी, आभियोग्या, आसुरी और सामोही ये पाच भावनाएँ सदा त्याज्य मानी हैं। अर्थात इनका आत्मा मे एक क्षण भर के लिए भी रहना दृढ कर्म-बन्ध का कारण है। इन भावनाओं का स्वरूप पहले लिख आये हैं, इसलिए यहा नहीं लिखा गया है।

साधु को उक्त पाच कुभावनाओं का परित्याग कर पाच शुभ भावनाओं मे प्रवृत्ति करना चाहिए।

पांच शुभ भावनाएं

तवभावणा य सुदसत्तभावणेगत्तभावणे चेव ।
धिदिबलविभावणावि य असंकिलिट्ठावि पंचविहा ॥ १८७ ॥ (भग०)

अर्थ— १ तपभावना, २ श्रुतभावना, ३ सत्त्व (अभीरुत्व) भावना, ४ एकत्वभावना और ५ धृतिबल भावना ये पाच प्रकार की उत्कृष्ट भावनाएँ आत्मा को सद्गति मे लेजाने वाली हैं। इनका सक्षिप्त स्वरूप यह है·—

(१) तपभावना—छह प्रकार के बाह्य और छह प्रकार के अन्तरग तपो का अभ्यास करना तपभावना है। बार बार अनशनादि तप करने से पाचों इन्द्रियां वश मे होती हैं। इन्द्रियों का निग्रह होने से समाधिमरण के अभिलाषी आचार्य के समाधि के कारणभूत रत्नत्रय का आराधन होता है।

आशय यह है कि तपस्या से इन्द्रियों का दमन होता है और दमन को प्राप्त हुई इन्द्रियाँ मन मे काम विकार उत्पन्न करने में

समर्थ नहीं होती हैं। जब शरीर कृश होजाता है और इंद्रिया प्रशान्त हो जाती हैं तब स्त्री के साथ कामक्रीडा आलिंगनादि क्रियाओं में आदर भाव नहीं होता है यह सुप्रसिद्ध है।

शंका—अनशन (उपवास) आदि तपश्चरण मे प्रवृत्त हुए पुरुष को आहार के दर्शन से उसका विचार करने से, सुनने से भोजन करने की इच्छा उत्पन्न होती है, अतः तपोभावना से इन्द्रिया विषय से विरक्त होती हैं यह कहना अयोग्य है।

समाधान— आत्मा जब तक वस्तु का त्याग नहीं करता है, तब तक उसका चित्त उस वस्तु की ओर दौड़ता है और जब उसका त्याग करता है अर्थात् उस से अनुराग हटा लेता है, तब चित्त की प्रवृत्ति उतने समय के लिए उस वस्तु से हट जाती है। क्योंकि पदार्थ को ग्रहण करने की इच्छा अनुराग से होती है, अनुराग के अभाव मे उपेक्षाभाव उत्पन्न होता है और उपेक्षा के कारण आत्मा उपेक्षित पदार्थ से विरक्त होता है, अतः तपोभावना से आत्मा मे राग द्वेष का अभाव होता है और रागद्वेष के अभाव से कर्म का बन्ध नहीं होता किन्तु सवर और निर्जरा होती है।

जो तपो भावना से रहित है, उसमे क्या दोष उत्पन्न होता है इसे दिखाते हैं।

पुव्वमकारिदजोग्गो समाधिकामो तहा मरणकाले।
ण भवदि परीसहसहो विसयसुहपरम्मुहो जीवो ॥ १६१ ॥
जोग्गमकारिज्जतो अस्सो दुहभाविदो चिरंकालं।
रणभूमीए वाहिज्जमाणओ कुणदि जह कज्जं ॥ १६२ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—समाधिमरण करने के अभिलाषी जिस मनुष्य ने पहले क्षुधा तृषादि परीषह सहन करने का अभ्यास नहीं किया है वह आहारादि का लम्पटी मरण समय मे क्षुधादि की परिषहो को सहन करने मे असमर्थ होता है। उसका चित्त विषयो से पराङ्मुख (विरक्त) नहीं होसकता है। जिस घोड़े को पहले शब्दो का सकेत नहीं सिखाया गया है, उछलने, कूदने, घूमने आदि चालो की शिक्षा नहीं दी गई है, जो चिरकाल तक सुख से पाला गया है, जिसने शीत घाम आदि की बाधा को नहीं सहा है, वह घोडा रणाङ्गण मे किसी भी प्रकार उपयुक्त नहीं होता। वह युद्धस्थल से या तो भाग जाता है, या अपने और अपने स्वामी (अश्वारोही) योद्धा के भी प्राण खोदेता है। वैसे ही जिस साधु ने अनशनादि तप करके इन्द्रियों को वश मे करने की शक्ति नहीं प्राप्त की है वह मरण समय मे क्षुधादि परीषह को सहने

मे क्षमता नहीं रखता है। उसका मन आहारादि विषयों मे आसक्त रहता है, अत. वह समाधि (रागद्वेप के अभाव) को प्राप्त नहीं कर सकता है। अत मुनि को चाहिए कि वह चारित्र का सार जो समाधिमरण है उसको प्राप्त करने के लिए तपस्या का अभ्यास करता रहे। वह अभ्यास उसको अन्त समय मे महान सहायक सिद्ध होगा।

(२) श्रुतभावना—आगम का अभ्यास करने से वस्तु के स्वरूप का प्रतिभास होता है, जीव और अजीव का भेद-विज्ञान होता है। भेद-विज्ञान होने से सम्यग्दर्शन (शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभव) होता है। आगम के अभ्यास से चारित्र का महत्त्व प्रतीत होता है और उसमे प्रवृत्ति होती है, साम्यभाव की प्राप्ति होती है, कर्म की निर्जरा के साधनभूत तपश्चरण में अनुराग उत्पन्न होता है और सयम की ओर आत्मा का परिणमन होता है।

शका—आगम क अभ्यास से तो आत्मा मे ज्ञान की वृद्धि होती है, उससे सम्यग्दर्शन, चारित्र, तप, सयम की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? जैसे क्रोध का सेवन करने वाला क्रोधी वन जाता है, मायावी नहीं वनता। इसी प्रकार ज्ञान का सेवन करने वाला ज्ञानी हो सकता है किन्तु सम्यग्दृष्टि, तपस्वी और सयमी नहीं हो सकता है। आपने आगम के अभ्यास से सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति होती है, ऐसा कैसे कहा है ?

समाधान—जो वस्तु जिसके विना नहीं होती है और उसके होने पर ही होती है वह उससे उत्पन्न हुई कही जाती है। जैसे जो कृतक (किसी से उत्पन्न हुआ) होता है वह अनित्य होता है। ऐसी व्याप्ति है। उसी प्रकार जिसको आगम का ज्ञान है उसी के सम्यग्दर्शन, तप और सयम होते है। जिसको आगम का ज्ञान नहीं है उसके सम्यग्दर्शन, तप और सयम नहीं हो सकते हैं। ऐसा कहने मे कोई दोष नहीं आता है।

शका—आगम के ज्ञान मे सम्यग्दर्शन तो उत्पन्न हो सकता है किन्तु तप, सयम उत्पन्न नहीं हो सकता है। यदि हो तो असयत सम्यग्दृष्टि के भी सयम, तप आदि मानने पडेंगे और यदि उसके सयम तथा तप आदि मान लिया जाय तो उसको असयत कैसे कहा जावेगा ? इसलिए मानना पडेगा कि असयत सम्यग्दृष्टि के सयम व तप नहीं हैं। तो फिर आगमज्ञान के अभ्यास से तप सयम की उत्पत्ति का उपर्युक्त कथन असत्य सिद्ध हुआ।

समाधान—जिनागम के अभ्यास से तप सयमादि उत्पन्न होते हैं इस कथन का आशय यह है कि यदि तप और सयम होगे तो आगम के ज्ञाता के ही हो सकते है। आगम के ज्ञान विना तप सयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। ऐसी व्याप्ति समझनी चाहिए। आगम के ज्ञाता के अवश्य तप सयम होते हैं, ऐसी व्याप्ति नहीं वताई है।

आशय यह है कि जिसको सम्यग्दर्शन की तथा तप और सयम की प्राप्ति करना है, उसे आगम का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। आगम के ज्ञान से काललब्धि आदि का योग मिलने पर सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है और निरन्तर आगम का अनुशीलन करने से तप व सयम मे आदर भाव उत्पन्न होता है उससे कर्मों की निर्जरा होती है। चारित्र मोहनीय के तीव्र कर्म (अप्रत्याख्यानादि) की निर्जरा होने पर तप व सयम की प्राप्ति होती है, अर्थात् चारित्र मोहनीय के क्षयोपशम सहित आगम ज्ञान से ही तप संयम होते है।

जो ज्ञानी है, आगम का मर्म समझने वाला है, उसका नित्य अभ्यास करने वाला है, वह क्षुधादि पीडाओं के उपस्थित होने पर भी मार्ग से विचलित नहीं होता है। आगम के निरन्तर अभ्यास से उसकी बुद्धि निर्मल रहती है। उस का ज्ञान ऊहापोह के सामर्थ्य से युक्त होता है। ऊहापोह के अभ्यास से उसका जिनागम के विषय मे संस्कार एव स्मृति-ज्ञान दृढ होता है, और वह संकट के समय भी बना रहता है। जितनी मनुष्य की प्रवृत्तिया होती है वे सब संस्कार के आश्रित होती हैं, अत. तप सयम की प्रवृत्ति मे भी आगम का संस्कार उपयोगी होता है। इस प्रकार ज्ञान के सामर्थ्य का वर्णन किया।

(३) सत्व (अभीरुत्व) भावना—जिस मनुष्य में आत्मबल है, वह भयानक उपद्रवों के उपस्थित होने पर भी भयभीत नहीं होता है। उसको चलायमान करने का सामर्थ्य देवों में भी नहीं होता, औरो की कौन कहे ? आगम में कहा है:—

देवेहिं भेसिदो विहु कयावराधो भीमरूवेहिं ।
तो सत्तभावणाए वहइ भरं णिब्भओ सयलं ॥ १९६ ॥
बहुसो वि जुद्धभावणाए ण भडो हु मुज्झदि रणम्मि ।
तह सत्तभावणाए ण मुज्झदि मुणी वि वोमग्गे ॥ १९७ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—सत्वभावना (निर्भयता) का अभ्यास जिस साधुने किया है वह व्याघ्र, सिंह, सर्पादि रूपों को धारण करने वाले देवों से सताया गया, भयभीत किया गया भी सामने आये हुए सब कष्टो का आलिंगन करता हुआ संयम के समस्त भार को धारण करता रहता है। वह समझता है कि यह उपसर्ग मेरा प्राण-हरण कर सकते हैं, किन्तु उन प्राणो से मेरे आत्मा का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, मैं तो अजर अमर हूँ, शरीर ही का तो नाश होता है और यह तो कर्म जन्य है। मेरा धन तो रत्नत्रय है। यदि मैंने इन उपद्रवों से भयभीत होकर संयम का परित्याग कर दिया तो फिर कर्म-शत्रुओ का नाश करना अशक्य हो जावेगा। कर्मों का विनाश न होने से आत्मा को समय २ पर महती पीडाएँ भोगनी पड़ेंगी। अत भय सब अनर्थों का मूल कारण है। ऐसा निश्चय कर भय से विचलित नहीं होता है। जिस वीर योद्धा ने अनेक

संग्रामो का अनुभव किया है वह रणभूमि में जाकर भयभीत नहीं होता, किन्तु उत्साह पूर्वक अपनी रणकुशलता को दिखाने के लिए उद्यत होता है। वैसे ही जिस साधु ने निर्भीकता का अभ्यास किया है वह भयानक उपद्रवों के उपस्थित होने पर भी अपने संयम से विचलित नहीं होता है, बल्कि अपने को संबोधित करते हुए यों कहता है कि हे आत्मन्! तुमने संसार के दु खो से भयभीत होकर उन दु खों का समूलनाश करने के लिए यह वीर-भेष धारण किया है। अनादि काल से दु.ख देने वाले मोहादि शत्रुओ को तुमने पहचान लिया है और उनका मूलोच्छेद करने के लिए संयम-शस्त्र हाथ मे लिया है। वे मोहादि शत्रु तुमको अनेक प्रकार से धोखा देकर तुम्हारे हाथ से संयम-शस्त्र छीनना चाहते हैं। रणकुशल योद्धा शत्रु की चालबाजियो मे नहीं आता है। वह सदा सावधान रहता है। इसी प्रकार तुमको भी सदा चौकन्ना रहना चाहिए। ये अनेक प्रकार के भय संयम को लूटने वाले मोहनीय कर्म के सुभट हैं। इनसे सचेत रहो। यह तुम्हारा कुछ भी बिगाड करने मे समर्थ नहीं हैं। तुम चिदानन्द चैतन्य स्वरूप हो। तुम्हारा धन रत्नत्रय है। उसका नाश करने की शक्ति किसी मे भी नहीं है। सिंह, व्याघ्र, सर्पादि जितने भी भयानक पदार्थ हैं, वे इस पुद्गलमय शरी का विनाश कर सकते हैं। पर यह शरीर तुम्हारा नहीं है। अत. इन आगन्तुक भयानक उपद्रवों से यदि भयभीत होकर विचलित होगये तो तुम्हारा रत्नत्रय धर्म नष्ट हो जावेगा। फिर इसका पाना अति दुष्कर है।

हे आत्मन्! थोडा विचार कर। तूने पृथिवी शरीर धारण किया. उस समय खोदन, जलाने, हल के द्वारा विदीर्ण करने, कूटने, फोडने, पीसने, चूर्ण करने आदि की भयकर बाधाएँ तूने सही हैं।

जब तूने जल-प-ीय धारण की तब प्रखर सूर्य की किरणो से तथा दहकती हुई अग्नि की ज्वालाओ से तेरा शरीर अत्यन्त जलता रहा। पर्वत के दरारों, गुफाओ और शिखरो से अतिवेग से नीचे शिलाओ पर गिरने से महा दु ख का अनुभव तुझे हुआ था। लवण, क्षार और खट्टे पदार्थों के साथ तेरा संयोग किया गया था, उस समय भयानक वेदना तैने सही थी। धगधगायमान अग्नि के ऊपर डालने से तुझे अतिशय दु.ख भोगना पडा था। वृक्षो पर गिरकर नीचे कठिन भूमि पर गिरने से, तैरते हुए मनुष्य आदि प्राणियो के पांवो और हाथो के आघातों से, विशाल वक्षस्थल की चोट से, विशालकाय हाथी मगर मच्छादि जीवो के उछलने कूदने तैरने, सूड से जलको मथने आदि क्रियाओ से तेरे शरीर का मर्दन व विनाश किया गया उस समय के दु खो का वर्णन वचनागोचर है। ऐसे दुख भी तूने अनक बार सहे हैं।

जल पर्याय को छोड कर जब तूने वायुरूप शरीर-धारण किया तब पहाडों, वृक्षों, कटीली झाडियों से टकराकर तथा अग्नि के संयोग से जल कर पखे आदि के आघात से प्राणियो के कठिन शरीर के आघात से, शरीर की गर्मी के स्पर्श से, जलते हुए वन की ऊंची ज्वालाओ तथा सदा काल-समान अग्नि का उगलने वाले ज्वाली मुखी पर्वतो मे गिरने से तूने रोमाचकारी दु खों को अनन्त वार सहन किया है।

जब वायु के शरीर को छोडकर तू अग्नि के शरीर मे गया अर्थात् अग्नि रूप शरीर धारण किया तब अनेक प्रकार की धूल से,

भस्म से, बालूरेत से तेरा शरीर नष्ट किया गया। जूतो से रौंदा गया। मूसल समान जलधारा डालकर तेरा नाश किया। काष्ट पत्थर आदि से ठोककर तेरा चूर्ण किया गया। मिट्टी के ढेलो और पत्थरो के नीचे दबाकर तेरा कचूमर निकाला गया। वायु के प्रबल धक्के खाकर तू दुःख से विह्वल होकर प्राणरहित हुआ।

जब अग्नि के शरीर को छोडकर तूने वनस्पति का शरीर धारण किया तब तू कभी फल हुआ, कभी पुष्प हुआ, कभी पत्र या कोमल अकुर रूप शरीर धारण किया। उस समय तुझे मनुष्यो ने एव पशु-पक्षियों ने तोडा, छिन्नभिन्न किया, खाया, मर्दन किया, दांतो से कुतर कुतर कर तेरे टुकडे २ किये गये। चाकू दातली आदि से छेदन भेदन किया। शिलाओं पर नमक मिर्च मसाला मिलाकर तुझे पीसा। अग्निपर भूजा। कडाही मे घी तैल मे तला गया। छोटे पौधे बेल लतादि अवस्था मे जड से उखाड़ा गया। मध्य भाग छेदन कर अन्यत्र रोपा गया। पशुओ और मनुष्यो के पावो से रौंदा गया। अग्नि से जलाया गया। जल के प्रवाह में बह गया या बहाया गया। बन दाह से भस्म हुआ। अति-शीत मे जल गया। इत्यादि वचनातीत दु खो का सहन कर अनन्त बार मरण किया।

जब तू स्थावर पर्याय से दो इन्द्रिय आदि त्रस पर्याय मे आया, तब तूने कुंथुआ, केचुआ, दीमक, कीडे, मकोडे आदि विकल-त्रय का शरीर धारण किया। तब अति वेग मे चलने वाले रथ गाडी आदि वाहनो के नीचे दबकर तथा गधे घोडे बैल आदि पशुओं के कठिन खुरो की चोट से, जलके वेगवान प्रवाह से, वन को अग्नि से, वृक्ष पत्थर आदि के शरीर पर गिरने से, मनुष्यो के पैरो द्वारा कुचलने से, विरोधी प्राणियों के द्वारा खाये जाने से अत्यन्त दु ख पूर्वक प्राणों का विसर्जन किया।

जब विकलत्रय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चोइन्द्रिय) शरीर को छोड़कर गधा, घोडा, ऊट, बैल, आदि पंचेन्द्रिय पशु का जन्म धारण किया तब मनुष्यों ने तुझ पर शक्ति से अधिक बोझ लादा और स्वय सवार होकर तुझे भारी क्लेश दिया। जब भार से दबा हुआ तू चल न सका अथवा धीरे २ चलने लगा तब मारे डडो के तुझे बेहाल कर दिया। चाबुकों की चोट से तथा लकड़ी मे लगी हुई लोहे की तीखी कीलों से तेरे शरीर को लोहू लुहान कर दिया। तुझ को समय पर घास पानी नहीं दिया। तेरी नाक को छेदकर नाक मे नकेल डाल दी गई। गर्दन मे रस्सी बाध कर खूटे पर बांध दिया। या मकान मे बन्द कर दिया। शीत की और घाम की अत्यन्त शीतल वायु और ज्येष्ट मास की अग्नि समान गर्म लू की भयानक वेदना के साथ भूख और प्यास की पीड़ा से तुझे बहुत दुःख हुआ। नाक कान छेदना, शरीर को गर्म लोहे से दागना, विदारण करना, कसाई आदि मांस भक्षी नर पिशाचो के द्वारा कुल्हाडी तलवार आदि तीक्ष्ण शस्त्रों से काटे जाना, जीते जी यंत्र पर चढाकर चमड़ा उखेड़ना आदि रोमाचकारी क्रियाओं से तूने महान् यातनाएँ सही हैं।

गाड़ी रथ आदि से जुतकर जब तू चाबुक आदि की मार के भय से बडे जोर से दौड रहा था तब अचानक खड्डे आदि में गिरकर पाँव टूट गया, या बीमारी के कारण तेरा शरीर क्षीण हो गया अथवा हल गाडी आदि में अधिक जोतने और खाने को पूरा न देने स काम करने लायक न रहा, लाठी चाबुक आरा आदि की चोट से पीठ आदि मे जख्म होकर कीडे पड गये और तेरे स्वामियों ने तुझे घर से निकाल कर जगल मे छोड दिया, वहा चारा, घास, पानी न मिलने के कारण अशक्त होगया और कौवे, चील, गिद्ध आदि पत्ती तुझे नोच नोच कर खाने लगे। जगली क्रूर प्राणी कुत्ते स्याल आदि तेरा शरीर कुतर २ कर भक्षण करने लगे, उस समय उस दु.खको निवारण करने का कोई उपाय नहीं था। तू भागकर एक कदम भी चल नहीं सकता था। उस असह्य दु ख से तेरी आँखो से आसुओं की अखंड धारा बहती थी, पर कोई दयादिखलाने वाला न था। वह कितना भीषण अवसर था।

फिर जब दुष्कर्मों का उपशम हुआ तब तुझे दुलभ मनुष्य जन्म मिला। उसमे भी इन्द्रिय विकल, दारिद्रय के दु:ख से पीड़ित अथवा असाध्य रोग स रुग्ण हुआ। उस समय भी महा दुःखी रहा। उस समय जिसको तू प्रिय समझता था और जिसकी प्राप्ति के लिए छटपटाता था उस पदार्थ की प्राप्ति नहीं हुई, किन्तु उससे विपरीत अप्रिय दु ख देने वाले अनिष्ट पदार्थों का संयोग मिला। दूसरों की सेवावृत्ति करनी पडी। रात दिन सेवा मे लगे रहना पड़ा तो भी खाने पीने को भी पूरा न मिल सका। शरीर ढंकने को उचितवस्त्र भी न मिला। शत्रुओं के तिरस्कार को सहना पडा। रातदिन परिश्रम करने पर भी जीविका की चिन्ता लगी रही। जीविका के लिए महा पाप किये, नहीं करने योग्य काम किये, किन्तु कहीं पर सफलता नहीं मिली। रातदिन पशु समान दुष्कर कार्यों मे जुटा रहा। लेकिन वहा पर सुख के स्थान मे भयानक दु.खों का सामना करना पडा।

इसके बाद कुछ शुभकर्म के उदय से तूने देवों मे जन्म लिया, किन्तु नीच जाति का देव हुआ। तब "यहा से अलग हो, दूर हटो, यहा से शीघ्र चले आओ, प्रभु के आने का समय होगया है, उनके प्रस्थान की सूचना करने वाला नगारा बजाओ, अरे! यह ध्वज हाथ में लेकर सीधा खडा हो, अरेदीन इन देवियो की सेवा टहल कर, यहा ठहर, स्वामी की इच्छा के अनुकूल वाहन बनकर उनकी सेवाकर। क्या तू भूल गया कि तू विपुलपुण्यधन के स्वामी इन्द्रमहाराज का दास है जो इस तरह चुपचाप खडा है, आगे आगे क्यो नहीं दौडता है ?" इस प्रकार अधिकारी देवों के कठोर असुहावने वचन सुनकर तू अनेक बार खेद खिन्न हुआ है। इन्द्र की अप्सराओ के अनुपम रूप लावण्य हाव भाव देखकर हाय ऐसी देवागनाएँ मुझे कब मिलेगी ? ऐसी अभिलाषा तेरे मनमे उत्पन्न होकर दरिद्र के मनोरथ के समान सब निष्फल होने के कारण जो दुःख तुझे हुआ है, वह शब्द से नहीं कहा जा सकता। मृत्युकाल के छहमासपूर्व माला के मुर्झाने से मृत्युकाल निकट आया हुआ जानकर तूने स्वर्ग के दिव्य वैभव के वियोग जन्य महान दु.ख को सहा है।

जब तू कर्मयोग से नारकी हुआ उस समय जो क्षेत्रादि जन्य दु ख तूने भोगे हैं, उनका स्मरण मात्र ही आत्मा को विह्वल

वना देता है। वहां की पृथ्वी का रूप महाभयानक है, जिसको देखने से मनमें घबराहट उत्पन्न होती है। उसका रस हलाहलविष से भी अतिकटु है। जिसकी दुर्गन्ध इतनी बुरी है कि सातवीं पृथ्वी की मिट्टी का परमाणु यदि यहा कोई देव ले आवे तो उसकी दुर्गन्ध से उनचास मील के दूर तक के पचेन्द्रिय जीव मरण को प्राप्त हो जावें। वहा की पृथ्वी के स्पर्श करने से उत्पन्न हुआ दुःख हजारों बिच्छुओं के एक साथ डक मारने से होने वाले दुःख से कहीं अधिक होता है।

वहां पर नारकी परस्पर तलवार छुरी आदि शस्त्रों से एक दूसरे पर वार करते हैं, छेदते हैं। करोत से चीरते हैं। भाड में भूजते और उवलते हुए कडाही के तेल मे तलते हैं। शूलोपर चढाते हैं। घनो से कूटकर कचूमर निकालते हैं। घाणी में पेलते हैं। नदी मे पीस डालते हैं। अग्नि मे मोक देते हैं। शरीर के अणु प्रमाण टुकडे कर देते हैं। गिद्ध, व्याघ्र, सिंह स्यालादि विक्रिया के धारक नारक नोच २ शरीर को खाते हैं। इत्यादि अनेक वचनातीत दुःख नरक मे सागरो पर्यन्त तूने भोगे हैं।

इन पहले भोगे हुए दुःखों के सामने यह क्षुधा तृषा रोग व्याधि जन्य पीड़ा तथा उपसर्ग जन्य दुःख तुच्छ भी नहीं हैं। उपर्युक्त दुःख अनन्त बार तू भोग चुका है। अब इस लेशमात्र दुःख के सहने में क्यों कायरता धारण करता है। यदि तू कायरता धारण करेगा तो भी उपसर्ग रोगादि जन्य दुःख तो तुझको भोगना ही पड़ेगा और आर्त्त व रौद्र परिणामों के कारण महान अशुभ कर्मों का बन्ध करेगा। और जब उनका उदय आवेगा तब नरकादि मे असह्य दुःख भोगना पड़ेगा। इसलिए कायरता का परित्याग कर तूने वीर भेष धारण किया है, इसलिए वीरता पूर्वक आगत दुःखों को सहले। रणागण मे प्रविष्ट हुआ वीर शत्रु के आघातों से नहीं डरता है। तू ने भी कर्म-शत्रुओं से युद्ध करने के लिए इस वीर भेष को धारण किया है। यदि तू वीरता पूर्वक इन कर्म-शत्रु के द्वारा दिये गये उपद्रवों का सामना करता रहेगा तो ये स्वयं परास्त हो जावेंगे और सदा के लिए तेरे दास बन जावेंगे। फिर ये कभी तेरी तरफ झांक भी न सकेंगे। यह सब उपद्रव इस शरीर का विगाड़ कर सकते हैं। शरीर तो तेरा शत्रु है। तुझे शिव सुख से वंचित रखने वाला है। अब अच्छा अवसर आया है, तू शान्ति धारण कर। यदि तूने शान्ति धारण करली, रागद्वेषादि भाव उत्पन्न न किये तो यह शत्रुभूतशरीर समूल नष्ट हो जायेगा और फिर कभी तेरे साथ इसका सयोग न होगा। अत एव निर्भय होकर उपसर्गादि का शान्ति से सहन करने के लिए मन को सुदृढ़ बनाले। मन को उपसर्गों आदि से विचलित मत होने दे। अपने मनको मेरु के समान अडोल और अकम्प बनाले।

इस प्रकार सत्व भावना का आश्रय लेने वाला साधु मोह युक्त नहीं होता। जैसे बहुत वार युद्ध का अभ्यासी वीर पुरुष युद्ध में कायरता धारण नहीं करता है। इसी भाव को दृढ़ करने के लिए चौथी एकत्व भावना को कहते हैं।

एकत्वभावना

एयत्त भावणाए ण कामभोगे गणे सरीरे वा ।
सज्जइ वेरग्गमणो फासेदि अणुत्तरं धम्मं ॥ २०० ॥ (भग० आ०)

अर्थ—मैं अकेला हूं। मेरा कोई नहीं है, न मैं किसी का हूँ-इस प्रकार शरीरादिक अन्य द्रव्यों का चिन्तन करना एकत्व भावना है। इसका अभ्यास करने से आत्मा इन्द्रिय-सुखो के भोगने मे आसक्त नहीं होता है। शिष्यादि वर्ग मे तथा शरीर मे प्रीति नहीं करता है। एकत्व भावना का पुन पुन· मनन चिन्तन करते रहने से सब पदार्थों से राग भाव की निवृत्ति और वैराग्य भाव की परिणति होती है तथा चारित्र धर्म की आराधना होती है। एकत्व भावना के लिए इस प्रकार विचार करना चाहिए·-हे आत्मन् ! तू अनन्त काल से जन्म–जरा-मरण के दु खो का अनुभव कर रहा है। क्या तेरे दु खो को किसी ने बाटा है ? अकेले ही तूने जन्म मरणादि के दु ख भोगे हैं। जो दु·खो को दूर करने मे सहायक होता है उसे लोग स्वजन समझते हैं और जो दु ख के समय सहायता नहीं करता है उसे परजन मानते हैं। स्वजन मे प्रीति और परजन मे अप्रीति करने लगते हैं। लेकिन यह कल्पना मिथ्या है। वास्तव मे सुख की उत्पत्ति और दु.ख का निवारण सातावेदनीय कर्म के उदय से होती है और दु.ख का उत्पन्न करने वाला असाता वेदनीय कर्म का उदय है। यदि तेरे असातावेदनीय कर्म का उदय है और सातावेदनीयकर्म का उदय नहीं है तो ससार मे तुझे सुखी बनाने मे कोई समर्थ नहीं हो सकता है। जिन्हे तू स्वजन समझ रहा है, वे दु ख के निमित्त बन जाते हैं। और जब सातावेदनीय कर्म का उदय अथवा असातावेदनीय का उदय नहीं होता है उस समय जिनको तू परजन समझ रहा है, वे भी दु ख उत्पन्न करने मे समर्थ न होकर कभी २ सुख उत्पन्न करने वाले बन जाते हैं। इसलिए थोडा ज्ञान-दृष्टि से विचार कर देख। जिनको तू स्वजन समझ कर राग करता है और परजन समझकर द्वेष करता है यह तेरा भ्रान्त-ज्ञान है (मिथ्या ज्ञान) है। और इसी मिथ्या-ज्ञान द्वारा यह जीव अनन्तकाल से दु.खी हो रहा है। अत. अब तुझको सम्यग्ज्ञान धारण कर विचारना चाहिए कि मैं अकेला ही जन्म मरण के दु खो का कर्त्ता और भोक्ता हूं। मैंने शरीरादि को अपना समझकर मोह भाव से कर्मों का बन्ध किया है और उनका उदय होने पर दु.खादि मैंने अकेले ही भोगे हैं। वास्तव मे शरीरादि से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा चिन्तन करते रहना ही एकत्व भावना है।

इस एकत्व भावना के अभ्यास करने से मनुष्य कामभोग मे, शिष्यादि समुदाय मे, शरीर में और सुख मे आसक्त नहीं होता। स्वेच्छा से जिन पदार्थों का उपभोग किया जाता है, उनको कामभोग कहते हैं। लोग स्त्री आदि पदार्थों को सुख के साधन मान लेते हैं। परन्तु एकत्व भावना का अभ्यासी इनमे राग नहीं करता है। अज्ञानी मनुष्य बाह्य पदार्थों का संयोग होने पर मन मे सुख की कल्पना करता है। परन्तु बाह्य पदार्थों से उत्तरोत्तर लोभ की वृद्धि होती है, असतोष बढता जाता है, मन मे व्याकुलता उत्पन्न होती है, इसलिए इनका परित्याग करने से ही निराकुलता व सन्तोष सुख बढता है।

यह शरीर भी तेरा कुछ नहीं कर सकता। क्योंकि यह कर्म से उत्पन्न हुआ है और शुभाशुभ कर्म के उदय के अनुसार सुख दुःख में निमित्त होता है। यह तो बेचारा अकिंचित्कर है। अज्ञानी आत्मा बाह्य जीव व अजीव पदार्थों में 'यह मेरा उपकार करने वाला अथवा यह अनुपकार करने वाला है' ऐसा मिथ्या संकल्प करके उनमें राग द्वेष करता है और रागद्वेष के कारण कर्मों के जाल में फंसकर घोर संसार-भ्रमण के दुःखों को भोगता है। इसलिए हे आत्मन्! इन बाह्य पदार्थों में जो राग द्वेष बुद्धि हो रही है, उसे दूर हटाओ। तुम्हारे साथ इनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। तुम्हारी जाति चैतन्य है और ये अचेतन स्वरूप हैं। जो शिष्यादि चेतन पदार्थ हैं, उनका सम्बन्ध इस शरीर से है। तुम शुद्ध आत्म-स्वरूप हो, इसलिए इन शरीर धारक अशुद्ध आत्माओं से तुम्हारा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकार विचार करो। इनसे वैराग्य भाव उत्पन्न करने के लिए तथा उसकी वृद्धि करने के लिए इस (एकत्व) भावना का निरन्तर अभ्यास करो। इसका अभ्यास करने से बाह्य पदार्थों से विरक्ति और आत्म-गुणों से अनुरक्ति होती है। इससे आत्मा में स्थिरता उत्पन्न होती है और आत्मा में स्थिर रहने को ही चारित्र कहते हैं। यह चारित्र ही सम्पूर्ण कर्मों का मूलोच्छेद करनेवाला है। अतः यदि तुमको मोक्ष महल के प्रधान सोपान पर दृढता से पाव रखना है तो उसका मुख्य कारण एकत्व भावना है। यह अज्ञान व मोह का त्याग करवाकर शिव सुख को देनेवाली है और कल्याण के इच्छुक मुनियों को परमप्यारी है। अत. इसका निरन्तर अभ्यास करते रहो।

पाँचवी धृतिबल भावना—

धिदिधणिदबद्धकच्छो जोधेइ अणाइलो तमव्वाहिओ।
धिदिभावणाए सूरो संपुण्णमणोरहो होइ ॥ २०३ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—जिसने धैर्य से कमर बाधली है, उस साधु के चित्त में क्षोभ उत्पन्न नहीं होता है और वह परीषह और उपसर्गों की सेना से निर्बाध हुआ उसके साथ युद्ध करता है और धृति भावना के बल से उसका घात करता है।

भावार्थ—जो साधु साहस बल से युक्त है, जिसके हृदय में धीरता है वह कठिन से कठिन परीषह और देव, मनुष्य, तिर्यचादि कृत उपसर्गों से चंचलचित्त नहीं होता है। उनके मन-सुमेरु को उग्र से उग्र क्षुधादि परीषह, दुष्ट देवो द्वारा दीगई विभीषिका मनुष्यो के शस्त्र-प्रहार तथा सिंहादि हिंसक प्राणियों के द्वारा दीगई बाधाएँ चलायमान नहीं करसकती है। चित्त मे क्षोभ उत्पन्न करने वाले कारणों के उपस्थित होने पर जिसका चित्त निर्विकार एव क्षोभ रहित होता है उसे ही धैर्यशाली माना है। कहा है कि—

"विकार हेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।"

अर्थात् विकार का कारण उपस्थित होने पर भी जिसके मन मे विकार उत्पन्न नहीं होता वही धीर वीर कहलाता है। धीरता ही सर्व सिद्धियों की जननी है।

हे आत्मन्! इस धैर्यबल के प्रभाव से ही अत्यन्त कोमलाङ्ग सरसों भी जिनको काँटे समान चुभती थी, ऐसे सुकुमाल मुनिराज बच्चों सहित स्यालनी द्वारा नोच नोंचकर खाये जाने पर भी टस से मस नहीं हुए, उनके रोम तक मे विकार नहीं हुआ। पाचो पाडवो को अग्नि से सन्तप्त लोहे के आभूषण पहनाये गये, गज कुमार मुनि के मस्तक पर अगीठी जलाई गई, परन्तु उनके चित्त मे रचमात्र क्षोभ नहीं हुआ। वे अपने आत्महित मे लगे रहे। यह सब धैर्य का माहात्म्य है। इसलिए तुम भी यदि आत्मकल्याण की कामना रखते हो, अपने कार्य की निर्विघ्न सिद्धि चाहते हो तथा परम्परा सुख की अभिलाषा रखते हो तो धैर्य धारण करो। धीर वीर पुरुष के सामने शस्त्र पुष्पहार के समान, और विष अमृत समान हो जाता है। असातावेदनीय कर्म मे उत्पन्न हुई रोगादि वेदना भी उनके चित्त को दुखी नहीं बना सकती है। अज्ञानी व मोही जीव धैर्यहीन होकर अल्प कष्ट को महान् कष्ट और न्यूनतम रोगादि पीडा को महती पीडा समझकर रोता और विलाप करता है और धैर्य का धारक वीर पुरुष उसकी परवाह न कर अधीरता का परित्याग कर शान्ति का अनुभव करता है। वह सोचता है कि मैंने नरकादि दुर्गतियों मे असहाय होकर महान् हृदय विदारक दुःखो को सहा है। यह दुःख क्या है? इस समय तो मेरे आचार्य परिचारक साधु आदि अनेक सहायक हैं। मुझे सन्मार्ग का उपदेश देने वाले हैं। मेरे कल्याण की कामना रखकर मुझे कुमार्ग से निवृत्त कर रहे हैं। यदि इस समय भी धैर्य हीन हुआ तो मेरे समान अज्ञानी और कायर कौन होगा! अतः इस सुयोग्य अवसर पर मुझे धैर्य का अवलम्बन लेकर शरीर से ममता हटाकर आत्महित के कार्य से विचलित नहीं होना चाहिए।

इस प्रकार पाच भावनाओं का संक्षेप से वर्णन किया है। इन भावनाओ का संस्कार जिसके अन्तःकरण मे अङ्कित होगया है, वह साधु सल्लेखना का आराधन सुगमता से करता है। भावना का अभ्यासी साधु बारह प्रकार के तपश्चरण द्वारा सल्लेखना का प्रारम्भ करता है।

सल्लेखना के भेद

सल्लेखना य दुविहा अब्भतरिया य बाहिरा चेव।
अब्भंतरा कसायेसु बाहिरा होदि हु सरीरे॥ २०६॥ (भग० आ०)

अर्थ—सल्लेखना के दो भेद हैं। १ आभ्यन्तर सल्लेखना और २ बाह्यसल्लेखना। क्रोधादि कषायों को कृश करने (घटाने) को आभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं और तपस्या द्वारा काय के कृश करने को बाह्यसल्लेखना कहते हैं।

भावार्थ—क्रोधादिभावों को मन्द करने के लिए दृढ़ प्रयत्न करना तथा अनशनादि तपश्चरण द्वारा शरीर व इन्द्रियों के दर्प को क्षीण करना सल्लेखना है। सल्लेखना आभ्यन्तर और बाह्य के भेद से दो प्रकार की होती है। आत्मा के कर्मजन्य वैभाविक भावों को क्षीण करना, अर्थात् क्रोधादि कषाय के तीव्र उदय होते हुए भी ज्ञान व भावना के बल से आत्मा में रागद्वेषादि रूप अथवा क्रोधादि रूप परिणति को न होने देना आभ्यन्तर सल्लेखना है।

इसका आशय यह है कि तीव्र कषाय के उदय होने पर आत्मा क्रोधादि के वश हो जाता है, उसकी ज्ञान-शक्ति उस समय अनुपयोगी सिद्ध होती है, किन्तु जिस साधु ने ऊपर लिखे अनुसार अपने आत्मा को वैराग्य गुणों से फलप्रद एवं श्रुत भावना तथा एकत्वादि भावना से संस्कृत कर लिया है, वह विपरीत संयोगों के मिलने पर भी क्रोधादि कषायों का दमन करने का पूर्ण प्रयत्न करता है और वह ज्ञान तथा भावना के बल से कषायों को कम करने में कृतकार्य होता है। इसी को आभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं। ज्यों २ कषाय निग्रह करने का बल आत्मा में वृद्धिगत होता जाता है त्यों २ उसके आत्मा में क्रोधादि भावों की मंदता होती चली जाती है। क्रोधादि को मंद करने का जो उद्योग है उसीको आभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं।

कषाय की मन्दता करने में प्रवृत्त हुआ आत्मा तब तक पूर्णरूप से सफल नहीं होता है, जब तक इन्द्रिय और शरीर को अपने वश में नहीं कर लेता है। अतः उनपर अपना पूरी तरह काबू करने के लिए उनके बल को क्षीण करना आवश्यक होता है। क्योंकि क्रोधादि कषायों का प्रादुर्भाव शरीर और विषयों के मोह से उत्पन्न होता है। अतः आभ्यन्तर सल्लेखना की प्राप्ति करने के लिए शरीर और इन्द्रिय से मोह का त्याग कर इनको कृश करना उचित है। नियमानुसार शरीर इन्द्रिय के बल को क्षीण करने के प्रयत्न को सल्लेखना कहते हैं। शास्त्र में कहा है:—

सव्वे रसे पणीदं णिज्जूहित्ता दुपत्तलुक्खेण।
अप्पाणदरेणुवभागेण सल्लिहइ य अप्पयं कमसो ॥ २०७ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—इन्द्रियों के बल की वृद्धि करनेवाले पौष्टिक आहार का परित्याग कर आग्रह (आखड़ी नियम) द्वारा रूक्ष आहार ग्रहण करता हुआ साधक अपने शरीर को कृश करता है।

भावार्थ—सल्लेखना का आराधक साधु सब पदार्थों का त्यागकरके अपने शरीर से भी मोहरहित हुआ इन्द्रिय और शरीर के दर्प को दूर करने के लिए पुष्टिकारक जितने भी आहार हैं, उनका त्याग करता है। रूक्ष आहार में भी आग्रह करता है। अर्थात् अनशन अवमौदर्यादि तपश्चरण का आचरण करता हुआ रूक्ष आहार का भी नियमपूर्वक परित्याग करता है।

अनशन तप साधु कभी अनशन (उपवास) करता है। उस दिन चारो प्रकार के आहार का त्याग कर अनशन व्रत ग्रहण करता है। इसको चतुर्थ कहते हैं। चतुर्थ चार बार भोजन त्याग को कहते हैं। एक बार धारणा के दिन का, एक बार पारणा के दिन का, दोबार उपवास के दिन का भोजन का त्याग इसमे होता है, अतः इसे चतुर्थ कहते हैं। षष्ठ बेले (दोदिन का उपवास) को, अष्टम तेले और दशम चौले को कहते हैं। इसी प्रकार आगे के उपवास में भी समझ लेना चाहिए।

अनशन तप के दो भेद हैं—१ काल की अवधि वाला अनशन तप औरयावज्जीव अनशन तप। शास्त्र मे कहा है:—

अद्धासणं सव्वासणं दुविहं तु अणसणं भणियं।
विहरंतस्स य अद्धासणं इदरं य चरिमंते ॥ २०६ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—अनशन तप के दो भेद हैं—१ अद्धानशन और २ सर्वानशन। दीक्षा ग्रहण करके साधु जब तक सन्न्यास ग्रहण नहीं करता है तबतक काल की मर्यादा से जो अनशन व्रत ग्रहण करता है अथवा व्रतो मे लगे हुए दोपो के प्रतीकार के लिए जो अनशन किया जाता है उसे अद्धानशन कहते हैं। सन्न्यास के समय (समाधिमरण के अन्तिम अवसर मे) जो यावज्जीव चारो प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है उसे सर्वानशन कहते हैं।

भावार्थ—अद्धा शब्द का अर्थ काल है, यहा पर चतुर्थ, षष्ठ आदि से लेकर छह मास पर्यन्त का काल अद्धा शब्द से लिया गया है। अर्थात् चतुर्थ (एक उपवास) से लेकर छह मास तक के उपवास को अद्धानशन कहते हैं। अद्धानशन को मुनि दीक्षाधारण करने के समय से लेकर जब तक सन्न्यास ग्रहण नहीं करता है तब तक अपनी इच्छा एव आवश्यकतानुसार व्रतादि मे उत्पन्न हुए दोपो की निवृत्ति के प्रायश्चित रूप धारण करता है। इस प्रकार काल की मर्यादा पूर्वक धारण किये जाने वाले उपवास को अद्धानशन कहते हैं। सन्न्यास के समय चारो प्रकार के आहार का त्याग करना सर्वानशन तप कहलाता है।

अवमौदर्यतप—किसी समय मुनि अवमौदर्य तप करते हैं। जिसकी जितनी खुराक हो उस खुराक से कम भोजन करने को अवमौदर्य कहते हैं। पुरुषों का अधिक से अधिक भोजन (खुराक) बत्तीस ग्रास माना गया है और महिलाओं का भोजन अठाईस ग्रास कहा गया है। एक ग्रास एक हजार चॉवलों का माना गया है। अर्थात् एक हजार चॉवलों का जितना बडा पिंड होता है उतना बडा एक ग्रास का परिणाम होता है। उससे कम एक चॉवल के दाने तक के आहार को अवमौदर्य कहते हैं। यथा.—

"ग्रासोऽश्राचि महस्रतंदुलमितो द्वात्रिंशदेतेऽशनम् ।
पुंसो वैस्रसिकं स्त्रिया विचतुरास्तद्धानिरौचित्यतः ॥
ग्रासं यावदथैकमिक्थमवमौदौर्यं तारतचरे—
द्धर्मावश्यकयोगधातुममतानिद्राजयाद्याप्तये ॥" (भग० आ० टीका २११)

अर्थात—प्राचीन शास्त्रों में ग्रास एक हजार चाँवल प्रमाण कहा गया है। पुरुषों के उक्त प्रमाण वाले ग्रास बत्तीस होसकते हैं और स्त्रियों के अठाईस अर्थात् पुरुष के लिए अधिक से अधिक बत्तीस ग्रास प्रमाण भोजन और स्त्रियों के अठाईस ग्रास प्रमाण भोजन होता है। इससे अधिक भोजन नहीं करना चाहिए। साधु का यह अधिक से अधिक आहार है। इसका आशय यह है कि अपने आहार में से एक ग्रास दो ग्रास आदि की कमी करते हुए एक ग्रास या एक चावल के आहार तक पहुंच जाना अवमौदर्य तप होता है। आवश्यक क्रियाओं में स्वाभाव अर्थात उत्साह उत्पन्न होने के लिए, योग साधन के लिए, स्वाध्याय सिद्धि के लिए वात पित्त कफ की विषमता को दूर करने के लिए और निद्रापर विजय प्राप्त करने के लिए साधु इस तप का आचरण करते हैं। यथा—

निद्राजयः समाधानं स्वाध्यायः संयमः परः ।
हृषीकनिर्जयः साधोरवमौदर्यतो गुणाः ॥ २ १ ॥ (संस्कृत० भग०)

रसपरित्याग—सल्लेखना का आराधक रस परित्याग नाम का तप भी करता है। दूध दही घृत तैल गुड इन सब रसों का अथवा इन में से कभी किसी रस का और कभी किसी रस का त्याग करता है। अथवा पुष्प पत्र शाक नमक दाल आदि के त्याग करने को भी रस-त्याग माना गया है।

सल्लेखना का आराधक साधु भोजन में स्वाद की अपेक्षा नहीं रखता अपितु रूखा सूखा जैसा भोजन मिलजाता है वैसा ही करलेता है। शास्त्रों में कहा है.—

अशनं नीरसं शुद्धं शुष्कमस्वादु शीतलम् ।
भुंजते समभावेन साधवो निर्जितेन्द्रियाः ॥ २१५ ॥ (संस्कृत० भग० आ०)

अर्थ—जिन्होने इन्द्रियो को वश मे कर लिया है ऐसे सयमी नीरस, रूखा, सूखा, स्वादहीन, ठंडा, लवण घृत दुग्धादि से रहित शुद्ध भात चना रोटी आदि अन्न का भोजन करते हैं।

वृत्तिपरिसख्यान तप—किसी समय सल्लेखना का आराधक वृत्तिपरिसख्यान तप का आचरण करता है। अनेक प्रकारके अभिग्रह (आखडी नियम व प्रतिज्ञा) करने को वृत्तिपरिसंख्यान कहते हैं। वृत्तिपरिसंख्यान तप का सेवन करने वाला सयमी नियमो करता है कि आज मैं एक या दो मुहल्ला मे भोजन के लिए जाऊगा और वहा आहार मिलगया तो ग्रहण करूगा, अन्यथा आज मेरे भोजन का त्याग है। आज मैं एक पोल या गुवाडी मे ही जाऊगा और वहा आहार की विधि मिलेगी तो ठीक है अन्यथा आहार का त्याग है। आज मैं अमुक मुहल्ले म जाऊगा और उसके प्रारभ के घर म आहार की योग्य विधि मिलेगी तो आहार ग्रहण करूगा, अन्यथा आज आहार का त्याग है। एक बार भोजन जो परोसा जायगा वही लूगा दुबारा परोसा हुआ भोजन ग्रहण न करूगा। आज पडिगाहने मे एक आदमी होगा या दो होंगे तो आहार करूगा। आज में इतने ग्रास ही भोजन करूगा। आज पिंडरूप (ग्रास रूप) जो भोजन होगा, उसीका ग्रहण करूगा; खडी दूध आदि द्रव पदार्थ का सेवन न करूगा। आज द्रवरूप पदार्थ का ही ग्रहण करूगा। आज उसी पदार्थ का योग मिलेगा तो भोजन लूगा जो न तो केवल द्रवरूप होगा और न केवल पिंडरूप जैसे कढी आदि। आज चना चवला मसूर मूग आदि धान्य अन्न का ही आहार लूंगा। आज मैं केवल जलमात्र पाऊंगा। अमुक वस्तु हाथ मे लिए हुए पडिगाहेंगे तो आहार लूगा अन्यथा आज मेरे आहार ग्रहण करने का त्याग है। आज शाक के साथ मूग या कुलथ माठ भात आदि मिश्रित होंगे तो मैं आहार लूगा अन्यथा आहार का त्याग है। थाली के मध्य में भात रख कर उसके चारों ओर शाक रखी होगी तो आहार लूगा। आज मध्य म अन्न रखा हो और उसके एक तरफ दाल शाक आदि रखे गये होंगे तो आहार लूगा। चटनी आदि से संयुक्त भात रोटी आदि होगी तो आज आहार ग्रहण करूगा। केवल शुद्ध जल से युक्त भात होगा तो आज ग्रहण करूगा। हाथ मे चिपकने वाला कोई अन्न मिलेगा तो लूगा। आज हाथ मे नहीं चिपकने वाला अन्न मिलेगा तो लूगा। आज घुले चावल आदि का आहार लूगा। आज बिना घुले पडे चॉवल होगे तो आहार ग्रहण करूगा। इत्यादि अनेक प्रकार की प्रतिज्ञा लेकर साधु गोचरी को निकलते हैं। की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार विधिपूर्वक यदि आहार मिलता है तो ग्रहण करते हैं अन्यथा उस दिन अनशन करते हैं। इसको वृत्तिपरिसख्यान तप कहते हैं।

पत्तस्स दायगस्स य अवग्गहो बहुविहो ससत्तीए।
इच्चेवमादिविधिणा णादव्वा वुत्तिपरिसखा ॥ २२१॥ (भग० आ०)

अर्थ—सुवर्ण के पात्र मे, चादी के भाजन में, कासे के वर्त्तन मे या मिट्टी के पात्र मे परोसागया भोजन ही आज ग्रहण करूंगा।

आज मैं स्त्री के हाथ से ही आहार लूंगा। वह स्त्री बाल्यावस्था वाली होगी या वृद्धा होगी या अलंकार रहित होगी या ब्राह्मणी होगी या वैश्य वर्ण की होगी या राजपुत्री होगी तो उसके हाथ से आहार लूंगा अन्यथा नहीं। इत्यादि पात्र, दाता, भोज्यवस्तु, गृहादि के विचार से अपनी शारीरिक, मानसिक शक्ति की पूरी २ जांच कर जो प्रतिज्ञा की जाती है उसे वृत्तिपरिसंख्यान तप कहते हैं।

कायक्लेशतप—कभी मुनि अपनी आत्मीयशक्ति को विकसित करने लिए शरीर से ममत्व त्याग कर अनेक प्रकार के कायक्लेशकारी तपों का आचरण करते हैं। कायक्लेशतप करने वाला संयमी अपनी शक्ति को लक्ष्य में रखकर तपश्चरण करता है। जिस तप के आचरण करने से उत्तरोत्तर तप में अनुराग और उत्साह की वृद्धि होती रहे उतना तप कर्मों की निर्जरा करनेवाला माना गया है। कायक्लेश तप कई प्रकार का होता है।

कोई कायक्लेश गमन से होता है। जिस समय ज्येष्ठ वैशाख मास की कड़ी धूप हो उससमय पूर्वदिशा से (सूर्य के सन्मुख) पश्चिम दिशा में गमन करना, मध्याह्न के समय प्रचण्ड सूर्य की प्रखर किरणों से संतप्त भूतल पर गमन करना, पश्चिमदिशा से (सूर्य के सन्मुख) पूर्व दिशा में गमन करना, सूर्य को पसवाड़े में करके गमन करना, एक ग्राम में पहुंच कर बिना विश्राम लिए दूसरे ग्राम की ओर गमन करना, एक ग्राम को जाकर वहां से बिना विश्राम लिए वापिस लौट आना यह सब गमन निमित्तक कायक्लेश तप है।

कोई कायक्लेश तप स्थान (खड़े रहने) के विषयक होता है—प्रमार्जित स्तम्भ या भीत के सहारे खड़े रहना, पहले के स्थान से दूसरे स्थान में जाकर वहां पर एक पहर एक दिन आदि काल का नियम लेकर खड़े रहना, अपने स्थान पर ही निश्चल होकर खड़े रहना, कायोत्सर्ग करना, अर्थात् समान अन्तर में पाँव रखकर भूमि पर खड़े रहना, एक पाँव से खड़े रहना, आकाश में उड़ते समय गृध्र पक्षी के जैसे पंख फैलाते हैं, वैसे दोनों बाहु फैलाकर खड़े रहना, पाँव के अग्रभाग के बल खड़े रहना, पाँव के अंगूठे के बल खड़े रहना, इत्यादि अनेक प्रकार से काल की मर्यादा पूर्वक खड़े रहना स्थान-कायक्लेश तप कहा जाता है।

अनेक आसन मॉडकर तपश्चरण करने को आसन कायक्लेश तप कहते हैं। एक पहर, दोपहर आदि का प्रमाण कर पालथी माडकर बैठे रहना पर्यंकासन कायक्लेश तप है। नितम्ब भाग (चूतड) के पाँव लगाकर बैठना समपदासन कायक्लेश तप है। गाय के दोहते समय एड़ियों को उठाकर पाँवों के अग्रभाग (पंजों) के बल जैसा बैठते हैं, वैसा बैठना गोदोहासन कायक्लेश तप है। भूमि को नहीं छूते हुए दोनों पाँवों को मिलाकर और शरीर के ऊपर के भाग को सिकोड़कर बैठना उत्कुटिकासन कायक्लेश तप है। मगर के मुख समान दोनों पाँवों की आकृति बनाकर बैठना मगर-मुखासन कायक्लेश तप है। जैसे हाथी सूंड को फैलाता है, वैसे एक पाँव को फैलाकर बैठना अथवा एक हाथ को फैलाकर बैठना हस्तिशुण्डासन कायक्लेशतप है। दोनों जंघाओं को सिकोड कर गौ जिस प्रकार बैठती है वैसे बैठने

को गवासन कायक्लेश तप कहते हैं। दोनो जाघो पर दोनो पांव रखकर बैठना अथवा दोनों पिंडलियों को दूर अन्तर पर स्थापन करना वीरासन कायक्लेश तप कहा जाता है। इस प्रकार अनेक आसन लगाकर ध्यान करने को आसननिमित्तक कायक्लेश तप कहते हैं।

अब शयन से जो कायक्लेश तप होता है, उसे कहते हैं। दण्ड समान शरीर को लम्बा करके सोना दंडायतशयन कायक्लेशतप है। खडे खडे सोना उद्वीभूशयन कायक्लेशतप है। अवयवोंको सुकोड़ कर सोना लगुडशयन कायक्लेश तप कहते है। मुखको ऊँचा रखकर चित सोने को उत्तानशयन कायक्लेशतप कहते हैं। मुखको नीचे रखकर औंधा सोने को अवमस्तकशयन कायक्लेश तप कहते है। बाईं या दाहिनी करवटो मे से किसी करवट से सोना पार्श्वशयम कायक्लेश तप माना गया है। मृतक के समान बिना हिलेचले चेष्टा रहित सोने को मृतकशयन कायक्लेश तप कहा जाता है। बाहर निरावरण प्रदेश मे (खुले मैदान मे) सोने को अभ्रावकाशशयन कायक्लेश तप कहते हैं। इस प्रकार अनेक प्रकार के शयन हैं, उनमे से अपनी शक्ति व सुविधा के अनुसार जिस प्रकार सोये हो वैसे ही नियत समय तक सोते रहना, शयन का परिवर्त्तन (बदला बदली) न करने से शयन निमित्तक कायक्लेश तप होता है। अब अन्य कायक्लेशो को कहते हैं।

थूकने की आवश्यकता होने पर भी नहीं थूकना, शरीर मे खुजली की बाधा उपस्थित होने पर भी शरीर को नहीं खुजलाना, सूखे तृण के ऊपर, काठ के पट्टे पर, पत्थर की शिला पर, तथा भूमि पर शयन करना, केशो का लोंच करना, (उखाड़ना) रात्रि मे न सोना जागरण करना, स्नान नहीं करना, दातो को नहीं माजना, अतिशीत गर्मी तथा जलवृष्टि आदि की बाधा सहना, शरीर को क्लेश पहुचाने वाले अनेक साधनो को जुटाकर शरीर सम्बन्धी कष्टो को शान्ति मे सहन करना कायक्लेश तप कहा गया है।

विविक्त शय्यासन तप—जो प्रासुक हो, जिस वसतिका मे राग तथा द्वेष भाव को उत्पादन करने वाले मनोज्ञ व अमनोज्ञरूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द न पाये जावें तथा जहा पर स्वाध्याय और ध्यान मे विघ्न उपस्थित न होता हो, उस वसतिका को विविक्त कहते हैं। वही वसतिका मुनि के योग्य मानी गई है। ऐसी वसतिका मे सोने या रहने को विविक्त शय्यासन तप कहते हैं।

इस विविक्त शय्यासन मे स्त्रियों, नपुन्सको, असमियों और पशुओं का सचार नहीं होना चाहिए। इनसे उनके ध्यानाध्ययन मे बाधा उपस्थित होती है और अपने कर्तव्य कर्म को निर्विघ्न रूप से नहीं कर सकते। आत्मगवेषियो के लिए एकान्त और पवित्र स्थान की अनिवार्य आवश्यकता है। इसीलिए विविक्त शय्यासन को एक तप का स्थान दिया गया है।

वसतिका के बारे मे यह खयाल रखना भी नितान्त आवश्यक है कि वह उद्गम, उत्पादना व एषणा दोषों से रहित हो अन्यथा वह सोने अथवा रहने योग्य नहीं है। उद्गम, उत्पादन, और एषणा दोषो से भयकर एक दोष और है जिसका नाम अध. कर्म है। अध कर्म अर्थात् सब से नीचा कर्म (कार्य)।

(१) आधाकर्म दोप—यह सब दोपों से महान् दोप है। इस दोप से मुनि के महाव्रतो का नाश होता है। वृक्षों को काट कर लाना, ईंटो को पकाना, पृथ्वी खोदना, नीव आदि को पत्थर मिट्टी आदि मे भरना, पृथ्वी को कूटना, कीचड करना, खभे तैयार करना, अग्नि से लोहे को तपाना व घनों से कूटना, करौत से काठ चीरना, बसोले से छीलना, फरसे से छेदन करना इत्यादि नाना प्रकार की क्रियाओ से छह काय के जीवों को पीडा देकर वसतिका स्वय बनाई हो या दूसरे से बनवाई हो, अथवा बनाने वाले का अनुमोदन किया गया हो तो वह आधाकर्म दोष है। यह महादोष है। इसका सेवन करने से मुनिपना नष्ट होता है।

उद्गम दोप

(१) उद्देशदोप—जितने भी दीन अनाथ कंगाल या भेष धारी हैं उन सब के लिए बनाई गई धर्मशाला आदि हो या पाखडी साधुओ के लिए बनवाये गये मठ वगैरह अथवा बौद्ध साधुओं के लिए या निर्ग्रन्थ साधुओ के लिए बनवाये गये आश्रमादि हो वे सब उद्देशिक वसति कहलाते हैं। अर्थात् किसी पाखडी आदि के उद्देश से बनवाई गई वसति मे रहने से उद्देश दोप होता है।

(२) अध्यधि दोप—गृहस्थ अपने उपभोग के लिए मकान बनवाता हो तब पत्थर ईंट चूना आदि अधिक मगवाकर साधुओं के लिए भी एक दो कमरे बनवाले और उसमे मुनि ठहरें तो अध्यधि दोप होता है।

(३) पूतिदोप—गृहस्थ ने अपने लिए मकान बनवाने के निमित्त बहुत से पत्थर ईंट काष्ठ आदि एकत्र कर रखे हों, उनमे थोडे से पत्थर ईंट काष्ठादि मुनि की वसतिका के निमित्त मिलावे तो पूति दोप होता है।

(४) मिश्रदोप—पाखडियो या गृहस्थो के ठहरने के लिए मकान बनवाते हुए गृहस्थ के मनमे विचार उत्पन्न हो जावे कि सयमीजनों के ठहरने के लिए भी इसमे वसतिका बनवाऊँ, इस उद्देश से पहले इकट्ठी की गई पत्थर चूना आदि सामग्री मे थोडा पत्थर चूना काठ आदि सामग्री और मिला दे तो मिश्र दोप होता है।

(५) स्थापित दोप—अपने लिए कोई गृह भवनादि बनवाया और पश्चात् विचार किया कि यह सयमियो के लिए ही नियत है ऐसा सकल्प करने से स्थापित दोप होता है।

(६) प्राभृतकदोप—जिस दिन साधु आवेंगे, उस दिन इस वसतिका की सफेदी पुताई वगैरह करवावेंगे, ऐसा विचार करके मुनिके आने पर वसतिका का सस्कार (धुलाई पुताई आदि) करवाने से प्राभृतदोप होता है। अथवा साधु के आने के काल को लक्ष्य मे रखकर वसतिका सँवारने मे विलम्ब करना इसको भी प्राभृतक दोप कहते हैं।

(७) प्रादुष्कार दोष—जिस मकान मे अन्धकार बहुत है उसमे प्रकाश लाने के लिए (मुनियों के निमित्त) भीत फोड़कर खिड़की या जाली निकालना, ऊपर के काठ के तख्ते आदि हटाना, दीपक जलाना—यह सब प्रादुष्कार दोष है।

(८) क्रीतदोष—गाय भैंस बैल आदि सचित्त (सजीव) द्रव्य देकर अथवा गुड, शक्कर, घृतादि अचित्त द्रव्य देकर संयमी के लिए वसतिका खरीदना क्रीतदोष है।

(९) भावक्रीतदोष—विद्या, मन्त्रादि देकर मुनि के लिए वसतिका खरीदना भावक्रीत दोष है।

(१०) पामिच्छ (प्रामिश्र) दोष—भाडा या ब्याज देकर मुनि के लिए वसतिका लेना, वह पामिच्छ (प्रामिश्र) दोष है।

(११) परिवर्त्त दोष—'आपका मकान मुनियों के ठहरने के लिए दो और मेरे मकान मे आप रहो,' इस प्रकार विनिमय (बदला) करके मुनियो के निवास के लिए मकान लेने से परिवर्त्त दोष होता है।

(१२) अभिघट दोष—अपने मकान की दीवाल आदि के लिए जो छप्पर, स्तभ, चटाई आदि सामग्री बनवाई थी, वह मुनियों की वसतिका के लिए लाना अभिघट दोष है। इस दोष के दो भेद है—१ आचरित अभिघट और १ अनाचरित अभिघट दोष जो सामग्री दूर देश से अथवा दूसरे गाव से लाई गई हो तो अनाचरित अभिघट दोष होता है अन्यथा आचरित अभिघट दोष। कहलाता है।

(१३) उद्भिन्न दोष—जो मकान ईंटो से, मिट्टी के पिंड से, कांटों की बाड से या किवाड़ों से ढका हो, उस पर से उनको हटाकर वह मकान मुनियो को देदेना उद्भिन्न दोष होता है।

(१४) मालारोह दोष—निसैनी आदि से चढकर 'आप यहा पधारिये, आपको विश्राम करने लिए यह स्थान दिया जाता हैं, ऐसा कहकर सयमियों को दुमजिला या तीन मजिल पर मकान देना मालारोह दोष है।

(१५) आछेद्य दोष—राजा, मत्री या अन्य किन्हीं प्रधान पुरुषो का भय दिखला कर दूसरे के स्थान को मुनि के ठहरने के लिए दिलाना वह आछेद्य दोष है।

(१६) अनिसृष्ट दोष—दानकार्य मे अनियुक्त वसतिका के स्वामी से अथवा बालक से या परवश हुए स्वामी से जो वसतिका दी जाती है वह अनिसृष्ट दोष से युक्त होता है।

इस प्रकार सोलह उद्गम दोष हैं। ये दोष गृहस्थ के आश्रित हैं। मुनि को इन दोषो मे से किसी एक दोष का भी भान हो जावे तो उस वसतिका मे मुनि को नहीं ठहरना चाहिए। माल्सम होजाने पर यदि साधु उस दूषित वसतिका मे ठहरता है तो वह दोष का भागी होता है।

उत्पादन दोष

अब उत्पादन दोष को कहते हैं। यह दोष साधु के आश्रित है। इस के भी सोलह भेद हैं। इन भेदो का सक्षेप स्वरूप यह है।

(१) धात्री दोष—ससार मे धात्री कर्म पाच हैं, उनमे से किसी एक के निमित्त से वसतिका की प्राप्ति करना धात्री दोष है। (१)कोई धात्री (धाय) वालक को स्नान कराती है। (२) कोई वालक को क्रीडा कराती है। (३) कोई वालक को वस्त्र अलङ्कारादि से सजाती है। (४) कोई वालक को खिलाती पिलाती है। (५ कोई वालक को सुलाती है। ऐसी पाच धात्रिया (धायें) होती हैं। जब कोई गृहस्थ अपने वालक को मुनि के निकट लावे, तव मुनि वालक के माता पिता को कहे कि वालक को इस प्रकार स्नान कराना चाहिए, इस तरह क्रीडा करवाने से वालक प्रफुल्लित रहता है, इस तरह के वस्त्र व अलङ्कारादि से अलकृत करने से वालक सुन्दर लगता है, वालक को अमुक २ पदार्थ का सेवन करवाने से उसको शारीरिक व मानसिक शक्ति का विकास होता है तथा अमुक रीति से वालक को सुलाना चाहिए—इस प्रकार धात्री कर्म का उपदेश देकर साधु गृहस्थ को अपने ऊपर अनुरक्त करके यदि वसतिका प्राप्त करता है तो उसके धात्री दोष उत्पन्न होता है।

(२) दूतकर्म दोष—अन्य ग्राम नगर या देश मे रहने वाले गृहस्थ के पुत्र, पुत्री, दामाद या अन्य सम्बन्धियों के सन्देश-समाचारआदि कहकर वसतिका प्राप्त करने से दूतकर्म दोष होता है।

(३) निमित्त दोष—अङ्ग, व्यजन, लक्षण, छिन्न, भूमि, स्वप्न, अन्तरीक्ष और शब्द के भेद से आठ प्रकार का निमित्त ज्ञान होता है। इस निमित्त ज्ञान द्वारा वसतिका प्राप्त करना निमित्त दोष है। अर्थात् शरीर के अङ्ग उपाग का आकार एवं स्वरूप देखकर तिल मसे आदि व्यजन का अवलोकन कर, शरीर मे रहने वाले स्वस्ति, भृ गार, कलश, दर्पण, भौंरी आदि लक्षणो को जानकर, वस्त्र, छत्र, आसनादि को चूहे, काटे आदि से अथवा शस्त्र अग्नि आदि से छिन्न भिन्न देख कर या सुनकर तथा भूमि की रुखाई, चिकनाई, रङ्ग रूपादि देखकर; शुभ या अशुभ स्वप्न को देखकर या सुनकर, आकाश मे ग्रह नक्षत्रादि की आकृति उल्कापात, दिशा का रूपादि देखकर एव चेतन अचेतन के स्वर (शब्द) का श्रवण कर जो भूत भविष्यत् वर्त्तमान मे घटित होने वाले शुभ अशुभ, सुख दु:ख, जय पराजय, सुभिक्ष दुर्भिक्षादि को उक्त अष्ट निमित्त ज्ञान से जानकर गृहस्थ को कहना कि पहले ऐमा हुआ था, इस समय ऐसा होने वाला है और भविष्य मे ऐसा होगा—इस प्रकार निमित्त ज्ञान द्वारा वसतिका प्राप्त करना निमित्त दोष है।

(४) आजीव दोष—अपना जाति, कुल, ऐश्वर्य आदि द्वारा अपनी महिमा (बडप्पन) प्रकट करके वसतिका की प्राप्ति करना आजीव दोष है।

(५) वनीपक दोष—कोई गृहस्थ साधु से पूछे कि 'हे भगवन्! दीन, अनाथ या पाखडी, भेष धारी आदि सबको आहार दान करने से या ठहरने को स्थान देने से पुण्य होता है या नहीं? इस प्रकार पूछने पर साधु विचारे कि यदि पुण्य नहीं होता है, ऐसा कहूंगा तो यह गृहस्थ अप्रसन्न हो जावेगा और वसतिका न देगा, ऐसा सोचकर गृहस्थ के अनुकूल उत्तर देकर वसतिका की प्राप्ति करने वाले साधु के वनीपक दोष होता है।

(६) चिकित्सा दोष—आठ प्रकार की चिकित्सा (वैद्य * विद्या) से वसतिका प्राप्त करना वह चिकित्सा दोष है।

(७) क्रोध दोष—क्रोध दिखाकर वसतिका प्राप्त करना क्रोध दोष है।

(८) मान दोष—मैं इतना बड़ा तपस्वी हू, मैं बडा विद्वान् हू, मेरी आत्मा मे शापानुग्रह शक्ति है-इत्यादि अभिमान दिखाकर वसतिका प्राप्त कर मान दोष है।

(९) माया दोष—छल कपट का प्रयोग करके वसतिका प्राप्त करना माया दोष है।

(१०) लोभ दोष—किसी प्रकार का लोभ दिखाकर वसतिका प्राप्त करना लोभ दोष है।

(११) पूर्वस्तुति दोष—मुनियों के लिए आपका घर ही आश्रय है, ऐसी बात हमने दूर दूर देशो मे सुनी है इस प्रकार पहले गृहस्थ की स्तुति करके वसतिका प्राप्त करना पूव स्तुति दोष है।

(१२) पश्चात् स्तुति दोष—कुछ काल वसतिका मे रह कर जाते समय गृहस्थ की प्रशसा इस अभिप्राय से करना कि भविष्य मे जब कभी यहा आवेंगे तो वसतिका की प्राप्ति होगी तो वह पश्चात् स्तुतिदोष मानागया है।

(१३) विद्यादोष—विद्या के प्रयोग से अथवा विद्या का लालच देकर गृहस्थ को वश मे कर वसतिका की प्राप्ति करना विद्यादोष है।

* शल्य, शालाक्य, काय चिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगदतत्र, रसायन और वाजीकरण यह आठ प्रकार की आयुर्वेद चिकित्सा है।

(१४) मन्त्रदोष—मन्त्र का प्रयोग करके या मन्त्र का लोभ देकर वसतिका प्राप्त करना मन्त्र दोष है।

(१५) चूर्ण दोष—नेत्रांजन, शरीरसंस्कार चूर्ण, वशीकरणादि चूर्ण का लोभ देकर वसतिका प्राप्त करना चूर्ण दोष है।

(१६) मूलकर्म दोष—विरक्तो को अनुरक्त करने का प्रयोग दिखाकर वसतिका प्राप्त करना मूल कर्म दोष है।

ये सोलह दोष पात्र (मुनि) के आश्रित हैं, इसलिए साधुओं को इन सब दोषों से रहित वसतिका का सेवन करना चाहिये।

एषणा दोष

अब एषणा दोष को कहते हैं। इसके दश भेद निम्न प्रकार हैं:—

(१) शंकित दोष—यह वसतिका साधु के ठहरने योग्य है या नहीं ? इस प्रकार शंका जिस वसतिका मे उत्पन्न हो जावे वह शंकित दोष से दूषित मानी गई है।

(२) म्रक्षित दोष—जो वसतिका तत्काल लीपी, पोती गई अथवा सींची गई हो, जलका पात्र लुढकाकर उसी समय धोई गई हो, वह वसतिका म्रक्षित दोष युक्त होती है।

(३) निक्षिप्त दोष—सचित्त पृथ्वी, जल, हरितकाय, बीज या त्रसजीवों के ऊपर पट्टा (तख्ता आदि) फलक (काठका पट्टा) रखकर 'यहा आप शय्या कीजिए' ऐसा कहकर जो वसतिका दी गई हो, वह निक्षिप्त दोषसे दूषित होती है।

(४) पिहित दोष—हरितकाय, काटे, सचित्त मिट्टी आदि के आवरण को हटाकर जो वसतिका दीजावे वह पिहित दोष वाली मानी गई है।

(५) साधारण दोष—काष्ठ, वस्त्र, काटे आदि को घसीटते हुए अग्रगामी मनुष्य के द्वारा दी जानेवाली वसतिका साधारण दोष वाली कही गई है।

(६) दायकदोष—जो मनुष्य सूतक या पातक (जन्म या मरण की अशुचि) से अशुद्ध हो अथवा पागल हो, या नपुंसक हो, भूतप्रेतादि की बाधावाला हो या नग्न हो, ऐसे पुरुष से दीगई वसतिका दायक दोष से युक्त मानी गई है।

(७) उन्मिश्रदोप—जो पृथिवी जलादि स्थावरजीवो और चींटी, खटमल आदि त्रसजीवो से युक्त वसतिका हो, वह उन्मिश्र दोप से दूपित कही गई है।

(८) अपरिणत दोप—जो स्थान किसी के गमनागमन से मर्दित नहीं हुआ है, वह घर, मकान आदि वसतिका का स्थान अपरिणत दोप युक्त होता है।

(९) लिप्तदोप—जिस मकान मे गुड शक्कर घृत तैलादि लिप्त हो, जिसमे चींटी आदि जीव चिपक जावें—उस वसतिका को लिप्तदोप से सयुक्त समझना चाहिए।

(१०) परित्यजनदोप—जिस वसतिका के अल्प भाग का शय्या व आसन (सोने बैठने) के कार्यों में उपयोग हो और फिर भी उसका बहुत भाग रोकना पडे तो उसे परित्यजन दोप कहते हैं।

ये दश दोप एपणा के हैं, ये जिस वसतिका मे पाये जावें उस वसतिका मे सयमी को नही ठहरना चाहिए।

अगारादि चार दोप

इन उक्तदोपो के अतिरिक्त १ अगार, २ धूम, ३ सयोजना और प्रमाणातिरेक ये चार दोप और हैं।

(१) अंगारदोप—यह वसतिका सर्दी गर्मी, वायु आदि उपद्रवो से रहित है। यह न तो अति उष्ण है और न अतिशीत है, तथा वायु के उपद्रव से रहित वड़ी सुहावनी और विशाल है—इस प्रकार आसक्ति पूर्वक वसतिका मे निवास करने वाले साधु के अंगार दोष होता है।

(२) धूमदोप—यह वसतिका सर्दी गर्मी तथा वायु आदि के उपद्रवो से युक्त है, इस प्रकार निंदा करता हुआ वसतिका में नरहने वाले साधु के धूम दोप होता है।

(३) संयोजनादोप—जो सयमी के काम मे आने वाली वसतिका असंयमी पुरुपो के वाग वगीचे या रहने के निवास स्थान से मिली हुई हो तो वह संयोजना दोप से युक्त कही गई है।

(४) प्रमाणातिरेक—जो वसतिका साधु के शयनासन (सोने बैठने) आदि कार्यों के उपयोग मे तो अल्प आवे और बहुत सी भूमि ग्रहण करे तो उस साधु को प्रमाणातिरेक दोष प्राप्त होता है।

ऊपर विवेचन किये गये छियालीस दोषो से रहित वसतिका मे निवास करने वाले मुनि के विविक्त शय्यासन तप होता है। विविक्त शयनासन करने वाले मुनि को उस वसतिका मे भी नहीं ठहरना चाहिए जिसके प्रमार्जन में विवेक से काम नहीं लियागया है, जो अन्धाधुन्ध विना देखे भाले झाड़ी बुहारी यालीपी पोती गई हो, तथा जिसमे जीवो की उत्पत्ति और कीडे मकोडे आदि जन्तुओं की अत्यधिकता हो । तथा जिस मे राग द्वेप युक्त भेषधारी या असयमियो का शय्या आसन हो– ऐसी वसतिका सयामियों के योग्य नहीं मानी गई है। आगे उक्त प्रकार विविक्त स्थान मे शय्यासन करने वाले सयमी के निवास करने के लिए योग्य वसतिकाएँ कौनसी हैं, इसे दिखाते हैं—

सुण्णघरगिरिगुहारुक्खमूलआगंतुगारदेवकुले ।
अकदप्पब्भारारामघरादीणि य विचित्ताइं ॥ २३१ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—सूनाघर, पर्वतों की गुफाएँ, वृक्षो मूलभाग, देशदेशान्तर से आने वाले व्यापारी वर्गादि के मनुष्यो के लिए ठहरने के मकान, देवकुल (देवले-देव देवी के मन्दिर) स्वतः वना हुआ शिलागृह—अर्थात् किसी मनुष्य के द्वारा जिसका निर्माण नहीं हुआ हो ऐसा पत्थर की शिलाओ का वना हुआ घर, क्रीडा करने के लिए आने वाले मनुष्यो के लिए बनाये गये उपवन गृह (बाग बगीचों के घर) मठ आदि ये सब स्थान सयमियो के ठहरने योग्य विविक्त वसतिकाएँ हैं।

इन स्थानों मे विश्राम करने वाले साधुओ को किसी प्रकार का दोप नहीं लगता। वे 'तूतू, मैं मैं'से तथा 'यह वसतिका मेरी है, यह तेरी है' इत्यादि कलह से दूर रहते हैं। ऐसी एकान्त वसतिकाओं मे रहने से मन को क्षोभित करने वाले मनुष्यों के रोले नहीं सुनाई देते हैं, परिणामो मे सक्लेशता नहीं होती, चितमें व्यग्रता नहीं होती। असयमी मनुष्यों का अनुचित ससर्ग नहीं होने से ध्यान और अध्ययन मे व्याघात नहीं होता।

शका—ध्यान और अध्ययन मे क्या अन्तर है ? क्योंकि बाह्य विपयो से चित्त का निवृत्ति तो दोनो मे समान है।

समाधान—एक विपय मे ज्ञान की सन्तान को स्थिर करना ध्यान कहलाता है। पर स्वाध्याय मे ऐसा नहीं होता। स्वाध्याय में ज्ञान का अनेक विपयों मे सचार होता है। अर्थात् जब ज्ञान परम्परा एक विपय मे कुछ समय तक स्थिर हो जाती है तब तो ध्यान होता है और जब ज्ञान धारा विपय से विपयान्तर एक प्रमेयसे दूसरे प्रमेय मे शीघ्र बदलती रहती है तब स्वाध्याय होता है।

शंका—कहीं शास्त्रो मे स्वाध्याय को शुभ ध्यान कहा है, सोकैसे ?

समाधान—स्वाध्याय ध्यान का कारण है इसलिए कारण मे कार्य का उपचार करके स्वाध्याय को भी ध्यान कह दिया गया है।

एकान्त वसतिका मे निवास करने वाला मुनि बिना क्लेश के सुख पूर्वक अनशनादि वाह्य तप तथा स्वाध्याय ध्यानादि अभ्यन्तर तप मे प्रवृत्त हुआ आत्म स्वरूप मे लवलीन रहता है। उसके चित्त को तथा इंद्रियों को आकर्षित करने वाले प्रतिकूल सयोगों का सम्पर्क न होने से चित्त मे शान्ति और इन्द्रियो का दमन सुलभता से होता है। एकान्त मे रहने के कारण उसके पाच समितियो का पालन सहज मे होजाता है। वह मन, वचन और काय की अशुभ प्रवृत्ति रुकजाने से आत्महित के कृत्यों मे लवलीन रहता है। उसके स्वाध्याय ध्यानादि मे विघ्न करने वाले रागद्वेषादि भाव उत्पन्न नहीं होते हैं। परिणामों मे सक्लेश नहीं होने से चित्त मे परम विशुद्धि होती है। आत्म-स्वभाव मे स्थिर रहने से कर्मों के आस्रव का अभाव होकर सवर और निर्जरा होती है। शास्त्र मे कहा है—

जो णिज्जरेदि कम्मं असवुडो सुमहदावि कालेण।
त संवुडो तवस्सी खवेदि अंतोमुहुत्तेण ॥ २३४ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—जो साधु बाह्य विषयो मे दौडते हुए मन वचन काय को न रोककर मासोपवासादि कायक्लेशकारी उग्रोग्र वाह्य तपस्या के द्वारा बहुत काल मे जितने कर्मों की निर्जरा करता है, गुप्ति समिति, धर्म अनुप्रेक्षा तथा परिषहजय में तत्पर रहने वाला साधु उतने कर्मों की निर्जरा अन्तर्मुहूर्त्त मे करता है। क्योंकि गुप्ति आदि से जो कर्मों की निर्जरा होती है वह संवर पूर्वक होती है और समिति गुप्ति आदि रहित केवल बाह्य तपसे जो निर्जरा होती है वह संवर रहित होती है। सवर रहित निर्जरा मोक्ष मे उपयोगी नहीं होती है। क्योंकि संवररहित बाह्य तप से निर्जरा करने वाला साधु जेसी पुराने कर्मों की निर्जरा करता है, वैसे ही नवीन कर्मों का बन्ध भी करता है। और सवर पूर्वक निर्जरा करने वाला साधु पुरान कर्मों की निर्जरा भी करता है और नवीन कर्मों के आस्रव को भी रोकता है। अतः आगम मे संवर पूर्वक निर्जरा को ही महत्त्व दिया गया है। निर्जरा को सवर पूर्वक बनाने के लिए साधु को ऐसे तपश्चरण का आचरण करना चाहिए जिससे मन दुष्कृत्यों की ओर प्रवृत्त न हो। जैसे इन्द्रियों के विषयो का सेवन करना दुष्कर है, वैसा ही अथवा उससे अधिक दुष्कर क्रोधादि कषायो के वश मे होना है। इन्द्रियों और मन को वश मे रखकर प्रायश्चित्त स्वाध्यायादि तप की निर्बाध सिद्धि करने के लिए अनशनादि तप कियाजाता है। क्रोधादि का आवेश बढ़ जाने पर आत्मा प्रायश्चित स्वाध्यायादि तपस्या को करने में असमर्थ हो जाता है, इसलिए तप की वृद्धि के साथ क्रोधादि कषायो का उपशम भी होना परमावश्यक है। जिस तपस्वी के क्रोध मान माया या लोभ का आवेश होता है, वह

तपस्या को कलंकित और निष्फल करदेता है। यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि तपस्या वही श्रेष्ठ मानीगई है, जिससे चारित्र के पालन मे, सयम के आराधन मे उत्साह व उमग उत्तरोत्तर बढती रहे तथा पूर्व के धारण किये व्रत और नियमो का दृढ़ता से पालन होता रहे।

बाह्यतप के गुण.

इसके लिए बाह्यतप भी बहुत जरूरी है। बाह्यतप आत्मा को सन्मार्ग मे तत्पर करने का अपूर्व साधन है। इस तप से जीवका आलस्य नष्ट होता है तथा सुखिया स्वभाव दूर होता है। कष्ट सहिष्णुता बढ़ती है और परिषह सहन करने की प्रकृति बनती है। शरीर से सम्बन्ध छूटकर वैराग्य भाव मे दृढता आती है और ससार से चित्त उद्विग्न होकर आत्म-धर्म मे प्रवृत्त होता है।

यद्यपि समार से भयभीत हुए विना तपश्चरण मे तत्परता नहीं होती है तथापि बाह्यतप के आचरण करने वाले का आगम के पठन पाठन मनन मे सलग्न होजाता है और निरन्तर ज्ञानामृत का पान करते रहने से आत्मा मे पात्रता आजाती है। तव ससार से उद्विग्न होता है और उस संसार की असारता निश्चय होजाती है, इसलिए वह तपस्वी ससार के दुखों से घवराकर आत्महितकर धर्म मे लग जाता है।

इन बाह्य तपों का उपयोग यही है कि अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान और रसपरित्याग इन चार तपों के द्वारा जिह्वा इन्द्रिय का दमन होता है। विविक्त शयनासन और काय क्लेश तपके द्वारा स्पर्शन, घ्राण, चक्षु और कर्णेंद्रिय का दमन होता है। मनका दमन तो सभी से होता है। एकान्त वसतिका मे स्पर्शनादि इन्द्रियो को लुभाने वाले विषयों का अभाव होता है अत. विविक्त वसतिका मे निवास करने से स्पर्शनादि इन्द्रिया आत्मा के वश मे रहती हैं।

आहारादि का त्याग करने से विषय-प्रेम घटता है और रत्नत्रय मे स्थिरता बढती है। क्योंकि विषयो मे व्याकुल हुआ चित्त रत्नत्रय मे स्थिर नहीं रहकर विषय सम्बन्धी अशुभ विचारो-संकल्प-विकल्पो के जाल मे गोता लगाता रहता है। बाह्य तप के कारण विषयों से उदासीनता बढती है और उत्तम कार्यों (स्वाध्यादि) मे प्रेम बढता है।

बाह्यतप के आचरण से शरीर मे कृशता आती है और आत्मशक्ति विकसित होती है। इससे मुनि की जीवित रहने की आशा व तृष्णा का क्षय होता है। विनश्वर शरीर से मोह हटकर आत्मीय गुणो (क्षमादि) में अनुराग उत्पन्न होता है। जो शरीर से मोह रखता है, वह मनुष्य बाह्य तप का अनुष्ठान करने से भय खाता है। उसकी आहारादि सम्बन्धी लम्पटता नहीं छूटती है। तथा वह असंयमादि का आचरण करके भी शरीर को सुखी रखने तथा प्राण धारण किये रहने की इच्छा रखता है। और वह रत्नत्रय के आराधन मे उपेक्षा धारण

करता है। अत शरीर से मोह का सम्बन्ध शिथिल करने के लिए वाह्यतप का आचरण करना चाहिए। शरीर विषयक मोह के घटने पर आत्म-गुणों मे प्रेम की वृद्धि होती है, सयम पर स्थिर रहने की भावना दृढ़ होती है तथा विनश्वर शरीर का उत्तम कार्यों मे उपयोग करने की सच्ची लगन उसके मन मे पैदा होती है।

मरण काल मे जो सम्पूर्ण आहार का परित्याग करना पड़ता है, उसका अभ्यास वाह्यतप के आचरण करने से ही होता है। जिसने पहले अनशनादि व्रत का अभ्यास किया है, वह समाधि मरण के अवसर पर सुगमता से आहार का त्याग कर सकता है और जिसने अनशनादि वाह्य तप का आराधन नहीं किया है; वह सहसा आहार का त्याग करने मे कृतकार्य नहीं होता है, उसे आहार का त्याग करने से भय उत्पन्न होता है। क्षुधा-तृषा की वाधा सहन करने का अभ्यास न होने से वह एकदम आहार का त्याग करने से व्याकुल चित्त हो जाता है। उसकी आखो के सामने अँधेरा सा आ जाता है, सिर चक्कर खाने लगता है और उसका मन अशान्त हो जाता है। अतः मरण को सुधारने के लिए अनशनादि तप का आचरण वरावर करते रहना चाहिए।

वाह्यतप के आचरण से निम्नलिखित गुण व्यक्त होते हैं :—

निद्रागृद्धिमदस्नेहलोभमोहपराजयः
ध्यानस्वाध्याययोर्वृद्धिः सुखदुःखसमानता ॥ २४२ ॥ (स. भग. आ.)

अर्थ—निद्रा आत्मा को ज्ञानोपयोग से रहित जड़ वना देती है। निद्रा के वशीभूत हुआ मुनि सामायिक, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, ध्यान से पराङमुख होता है। निद्रा मनुष्य को मृतक समान बना देती है और दर्शनावरणादि कर्मों का वन्ध करती है। उस पर विजय प्राप्त करने का मुख्य साधन अनशन अवमौदर्यादि वाह्य तप हैं। निद्राविजयी बनने के लिए यथाशक्ति तपस्या करना परमावश्यक है। जो नित्य भरपेट भोजन करता है, सरस आहार करता है वह मृदुस्पर्शयुक्त निरुपद्रव सुखप्रद स्थान मे निद्रा राक्षसी का ग्रास वनता है। उसको सामायिक स्वाध्याय व ध्यान करते समय निद्रा घेरलेती है। भरसक प्रयत्न करने पर भी वह अपने चित्त को सामायिक स्वाध्यायादि मे नहीं लगा सकता है। नींद पर नींद आने लगती है और वह चेतना शून्य होकर अशुभ विचारों के प्रवाह मे बहने लगता है अतएव निद्रा का त्याग करने के लिए वाह्यतप का नित्य यथाशक्ति अवश्य आचरण करना चाहिए।

गृद्धि (आहारादि की आसक्ति) सयमी को संयम से ढकेलती है। जिस साधु के मन में आहार की लम्पटता होती है, वह भक्ष्य अभक्ष्य का, प्रासुक अप्रासुक का, सदोष-निर्दोष का विचार नहीं करता है। वह तो अपनी लालसा को शान्त करना चाहता है जो वह

जिह्वा इन्द्रिय के वशगत होकर अपने संयम रत्न को खो देता है। जो तप का अभ्यासी है, अनशनादि तप का अनुष्ठान करने वाला है, उसके आहारादि की लालसा नहीं होती है। वह जब शरीर में भी मोह नहीं करता है, तब आहारादि में आसक्ति कैसे कर सकता है? अतः बाह्य तप के आचरण करने वाले के आहारादि की लालसा भी नहीं होती है।

बाह्य तप के द्वारा ही मदजय अर्थात् इन्द्रियों का दमन होता है। उपवास, ऊनोदर, रसत्याग आदि यथायोग्य तपस्या को जो संयमी करता रहता है, उसकी इन्द्रियाँ मदहीन हो जाती हैं। काम विषय सेवन की जो उत्सुकता होती है, वह उपशान्त हो जाती है। इन्द्रियों की प्रकृति है कि जब उनको बल देने वाले अनुकूल विषयों का सम्पर्क मिलता है, तो उनके दर्प (मद) की वृद्धि होती है और उनको वश में रखना कष्ट-साध्य होता है। किन्तु उपवासादि तप के कारण अनुकूल सामग्री न मिलने से वे शक्तिहीन हो जाती हैं, तब उनका मद नष्ट होजाता है और वे मन्त्र-कीलित सर्प की भाँति मदहीन होकर संयमी के आधीन रहती हैं। इन्द्रियों के दमन करने का निर्दोष व प्रधान साधन तप के अतिरिक्त कोई नहीं है।

स्नेह, लोभ और मोह का पराजय करने के लिए शरीर दमन एक साधन है। तपस्या करने वाला अपने शरीर से भी स्नेह नहीं करता। उसको जब अपने जीवन का भी लोभ नहीं होता तब शरीर से मोह क्या करेगा? और ऐसी दशा में उसके स्त्री पुत्र व अन्य वस्तुओं से स्नेह, लोभ या मोह कैसे हो सकता है? क्योंकि जितनी भी बाह्य वस्तुएँ हैं, उनका साक्षात् सम्बन्ध शरीर के साथ है। शरीर द्वारा ही उनका परम्परा सम्बन्ध आत्मा के साथ है। जिसने शरीर से स्नेहादि सम्बन्ध तोड़ दिया है उसका स्त्री पुत्र धन या मित्रादि वर्ग के साथ स्नेहादि सम्बन्ध स्वतः ही टूट गया। अतः जो आत्म हितैषी मनुष्य अति कठिन मोहादि शत्रुओं से अपना पिण्ड छुड़ाना चाहते हैं उनको अनशनादि तप का आचरण अवश्य ही करना चाहिए।

ध्यान की सिद्धि व वृद्धि चित्त की एकाग्रता से होती है। चित्त की एकाग्रता सम्पन्न करने के लिए अनशन अवमौदर्यादि बाह्य तप का आचरण परमोपयोगी माना गया है। कारण कि उपवास या ऊनोदर आदि तपस्या के द्वारा अशक्त हुई इन्द्रियाँ अपने विषयों से उदासीन होती हैं। और इन्द्रियों को उदासीन होने से मन भी मुर्झा जाता है। जब विषयों से उदासीन हुआ आत्मीय ध्यानादि कार्यों में तल्लीन होता है। इन्द्रियाँ जिधर प्रवृत्त होती हैं, मन भी उधर खिंच जाता है। जब इन्द्रियाँ चञ्चलता का परित्याग कर स्थिरता धारण कर लेती हैं तब असहाय हुआ मन भी स्वतः स्थिर होने लगता है। और चित्त की स्थिरता को ही ध्यान कहते हैं। अतः ध्यान की सिद्धि व उसकी उत्तरोत्तर वृद्धिगत करने के लिए अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग व विविक्तशय्यासन का आचरण करना नितान्त आवश्यक है।

स्वाध्याय वृद्धि के लिए भी बाह्य तप नितान्त आवश्यक है। जो बहुल भोजन करने वाला है या पुष्ट और गरिष्ठ रसीले आहार

का सेवन करता है, उसे आलस्य घेर लेता है, निद्रा आने लगती है और स्वाध्याय से चित्त ऊब जाता है। जिसने उपवास अवमौदर्यादि तप से आलस्य और निद्रा को दूर कर दिया है, वह निर्बाध होकर स्वाध्याय मे रम सकता है। अत स्वाध्याय की सिद्धि व वृद्धि के लिए बाह्य तप अपूर्व साधन है।

बाह्य तप का आचरण करने वाले मुनि के सुख दु ख मे समभाव होता है। अर्थात् उसके इन्द्रिय-जन्य सुख मे राग और क्षुधादि वेदना से उत्पन्न हुए दु ख म द्वेप भाव नहीं होता है। अत. वह सुख दुख म समभाव धारण करने वाला होता है।

तात्पर्य यह है कि बाह्यतप मुनि को बाह्य विपयो से पृथक् करता है और आत्मा के गुणों के विकास करने मे प्रवृत्त करता है। सयम का ता निष्कलक अलकार तप है। मुक्ति अङ्गना उसी के गले मे वर माला डालती है जो तप रूप भूपण से भूपित होता है। क्योकि ससार के मूल कारण कर्मों का समूल नाश तपश्चरण से ही होता है।

दूसरे मुनि का तपस्या को देखकर नये कोमलाग मुनियों को भी तपस्या मे अनुराग उत्पन्न होता है। उनके वैराग्य की वृद्धि होती है, शरार से प्रेम नष्ट होता है, ससार मे आसक्त हुए रोगीजन भी तपस्वी मुनि के तपश्चरण का अवलोकन कर ससार से भयभीत होते हैं। वे विचारने लगते हैं, दखो! यह मुनिराज ससार से भयभीत होकर अपने शरीर से भी कितने विरक्त हैं, धन्य है इनको, जो ऐसे दुधर तपश्चरण का आचरण करते हैं। धिक्कार है हमको, जो ससार से निडर होकर शरीर के दास बने हुए हैं, हमको अपने कल्याण के अर्थ अवश्य तपश्चरण करना योग्य है। ऐसा चिन्तन कर तपस्या करने मे प्रवृत्त होते हैं। जिन धम से विमुख प्राणी भी तपस्वी साधुओं के दर्शन कर उनके दुधर तप स प्रभावित होते हैं और धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न कर अपना कल्याण करने मे तत्पर हो जाते हैं।

अनशनादि तप के अनुष्ठान से आत्मीय गुणों के विकास के साथ शरीर भी स्वस्थ होता है, शरीर का भारीपन मिटता है, मेदा (चर्बी) की वृद्धि रुकती है, वात और कफ की विपमता दूर होती है, अपच की बीमारी का नाश होता है, आलस्य दूर होकर स्फूर्ति बढती है, काय करने की चमता प्राप्त होती है, बुद्धि का विकास होता है।

मुनि को यदि सर्वोपरि ज्ञान प्राप्त करना है, अपनी बुद्धि और मेधा शक्ति की वृद्धि करना है, विश्व को आश्चर्य चकित करने वाले शास्त्रीय ज्ञान तथा दिव्य ज्ञान को उपलब्ध करना है तो तपस्या रूप औपधि का सेवन करो। इस तप रूप रसायन का सेवन कर जड-बुद्धि साधु अलौकिक दिव्य ज्ञान के धारक होगये हैं। द्वादशाङ्ग वाणी का पूर्ण ज्ञान तथा अवधि, मन. पर्याय और केवलज्ञान तपश्चरण से ही प्रकट होते हैं। ये ज्ञान शास्त्रो के अभ्यास से नही उत्पन्न होते हैं, इनका उत्पादक तपश्चरण ही है।

पूर्ण श्रुतज्ञानादि तो तपस्या से होते ही हैं, किन्तु जड़-बुद्धि मनुष्य के ज्ञान का विशेष प्रादुर्भाव भी तपस्या के आचरण से हो सकता है। बहुत से अल्प बुद्धि मनुष्यो के ज्ञानावरण का चमत्कारी क्षयोपशम तपश्चरण से हुआ है। यह निःसन्देह है कि तपस्या से अवश्य ही ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम, उपशम या क्षय होता है। अतः यदि ज्ञानवान्, मेधावान्, विद्यावान् आदि बनना हो तो तप का अभ्यास करना चाहिए। इसीसे तेजस्विता, वाग्मिता और विद्वत्ता उत्पन्न होती है।

सल्लेखना के आराधन का फल यह है कि काय और कषाय को कृश करने में उद्यत हुआ संयमी अनशनादि तप की क्रमशः वृद्धि करता है। अर्थात् एक उपवास के बाद दो उपवास (बेला) करता है। तत्पश्चात् तीन उपवास (तेला) चोला आदि अनशन तप को बढाता है। मुनियों के अधिक से अधिक आहार का प्रमाण बत्तीसग्रास कहा है। उसमे एकग्रास, दोग्रास, तीनग्रास आदि की न्यूनत (कमी) करते हुए अवमोदर्य तप की वृद्धि करता है। एक रसका, दो रसों, तीन रसों आदि का त्याग क्रमसे करते हुए रसपरित्याग तप को बढाता है। "आज मैं एक मुहल्ले मे ही आहार के लिए भ्रमण करूगा, अथवा सात घरों में या तीन घरों मे ही आहार के लिए प्रवेश करूंगा। आज एकग्रास या दो चार दस बीस या इकतीस ग्रास ही ग्रहण करूंगा।" इस प्रकार ग्राम के प्रमाण का नियम कर वृत्तिपरिसंख्यान' तप की वृद्धि करता है। दिनमे आतपन योग करके रात्रि में प्रतिमायोग धारण करने का नियम करता हुआ कायक्लेश तप की उन्नति करता है। सूने घर, पर्वत की गुफा, वनादि, एक वसतिका में आश्रय लेकर विविक्तशय्यासन तपको वृद्धिगत करता है। इस प्रकार तपों की वृद्धि करते हुए संयमी के थकावट मालूम होती है, तब वह उक्त 'अनशनादि तप का क्रम से न्यून (कम) करता है। बढी हुई तपस्या को शनैः शनैः घटाने को तप की हानि कहते हैं। अथवा सर्व प्रकार बढते हुए तपश्चरण से रूक्ष व रसहीन आहार को अल्प करते हुए शरीर को कृश करता है।

अथवा सल्लेखना का दूसरा प्रकार यह है कि कषाय और काय कृश करने को उद्यमी संयमी एकदिन अनशन (उपवास) ग्रहण करता है, दूसरे दिन वृत्तिपरिसंख्यान तप धारण करता है, तीसरे दिन अवमौदर्य तप अगीकार करता है। अथवा प्रतिदिन आहार मे कमी करता हुआ अपने शरीर को और कषाय को घटाता जाता है।

सल्लेखना का आराधन अन्य २ प्रयोगों से

जब सल्लेखना करने वाले संयमी के आयुष्य शेष हो तथा शरीर मे योग्य सामर्थ्य विद्यमान हो तब वह अनगार के शास्त्रोक्त बारह प्रतिमायोगों को अगीकार करता है। उस शक्तिशाली साधु के उन प्रतिमाओं के स्वीकार करने से शरीर व मन मे पीडा नहीं होती है। वह प्रसन्नता पूर्वक अपने शरीर व कषाय को कृश करने के लिए प्रतिमायोग अङ्गीकार करता है। जो साधु अपने बल की तुलना किये बिना प्रतिमायोग धारण करता है उसके योग का भंग होता है और चित्त मे संक्लेश परिणाम उत्पन्न होते हैं।

प्रतिमायोग

प्रतिमायोग का धारण साधारण शक्तिशाली मुनि नहीं कर सकता है। उनका धारण करने वाला मुनि उत्तम सहनन का धारक होना चाहिए। जो धैर्य और शरीर वल से वलिष्ठ होता है तथा आत्मीय शक्ति से सम्पन्न होता है और परिषह पर विजय करने में शूरता रखता है, जो धर्म्यध्यान और शुक्ल ध्यान को परिपूर्ण करने वाला है, जिस देश मे वह स्थित है, वहा पर वडी कठिनता से प्राप्त होने वाले आहार ग्रहण करने का नियम लेता है कि यदि एक मास के भीतर अमुक दुर्लभ आहार मिलेगा तो उसका आहार लूगा उसके अतिरिक्त एक महीने तक अन्य भोजन का त्याग है। इस प्रकार एक मास को प्रतिज्ञा करता है और उस मास के अन्तिम दिन में वह प्रतिमा योग धारण करता है। यह एक प्रतिमा है।

भिक्षु प्रतिमा और उसके ७ भेद

वह सयमी फिर पूर्वोक्त आहार से सौगुने उत्कृष्ट और दुलर्भ भिन्न प्रकार के आहार की दो मास की प्रतिज्ञा लेकर दो मास के अन्तिम दिन मे प्रतिमा योग धारण करता है। वह दूसरी भिक्षुप्रतिमा होती है।

पूर्व कथित आहार से सौगुने उत्कृष्ट और दुर्लभ आहार की तीन माम पयन्त प्रतिज्ञा धारण करता है। यदि तीन माह के भीतर अमुक भोजन मिलेगा तो ग्रहण करूगा, अन्यथा सव भोजन का तीन माहतक त्याग है। उस तीन माह के अन्तिम दिन मे प्रतिमा योग धारण करता है। उसे तीसरी भिक्षु प्रतिमा कहते हैं। इसी प्रकार उत्तरोत्तर सौ सौगुने उत्कृष्ट और दुर्लभ (कठिनता से मिलने वाले) भोजन की प्रतिज्ञा चार पाच छह व सात माह तक की क्रम स अगीकार करता है और चार माह, पाच माह तथा छह माह और सात माह के अन्तिम दिवसों मे प्रतिमा योग स्वीकार करता है, यह क्रमशः चौथी, पाचवी छटी और सातवीं भिक्षु प्रतिमा होती है। तत् तत्सम्बन्धी योग को तत् तत्प्रतिमा योग कहते है। इस प्रकार सात प्रतिमाओ के सम्पन्न होने पर पूर्वोक्त आहार से उत्कृष्ट और दुर्लभ भोजन की सात सात दिन तक की प्रतिज्ञा तीन वार अगीकार करता है। प्रतिज्ञा के अनुसार भोजन की प्राप्ति होने पर यथाक्रम तीने ग्रास, दो ग्रास और एक ग्रास ग्रहण करता है। ये आठवीं, नववीं और दशवीं तीन भिक्षु प्रतिमाए हैं। इसके अनन्तर रात और दिन प्रतिमा योग से खडा रहता है, यह ग्यारहवीं और उसके वाद रात्रि मे ध्यान स्थित रहता है, यह वारहवीं–प्रतिमा तत्पश्चात् प्रथम अवधिज्ञान और मन पर्यय ज्ञान प्रादुर्भूत होता है। और पश्चात् सूर्य का उदय होने पर केवल ज्ञान प्रकट होता है। यही कहा है :—

"मासिय दुय दिय चउ पंचमास छम्मास सत्तमासीय।
तिण्णे व सत्तराइं राइदिय राइपडिमाओ ॥ १ ॥"

पू. कि. ५

आचाम्ल तप

प्रश्न—सल्लेखना के कारण भूत उक्त जितने तप वर्णन किये गये हैं, उनमें सबसे श्रेष्ठ कौन है ?

उत्तर—शरीर को कृश करने के निमित्त भूत जो तप हैं, वे अनेक हैं, किन्तु उनमें 'आचाम्ल' तप सर्व श्रेष्ठ है।

प्रश्न—आचाम्ल तप की विधि क्या है ?

उत्तर—वेला, तेला, चोला और पचोला तक के उपवास के अनन्तर पारणे के दिन परिमित और शीघ्र पचने वाला काजी का आहार प्राय साधु किया करते हैं। अर्थात् आत्मा मे सक्लेश उत्पन्न न हो इस प्रकार अपनी शक्ति के अनुसार वेला (दो दिन का उपवास), तेला (तीन दिन का उपवास), चोला (चार दिन का उपवास) और अधिक से अधिक पचोला (पाच दिन का उपवास) करे। जिस दिन पारणा करना हो उस दिन परिमित और लघु (शीघ्र पचने वाला) काजी भोजन करे। इसे आचाम्ल भोजन कहते हैं। कहा भी है:—

"समोऽथषष्ठाष्टमकैस्तपोऽधिकैस्ततो विप्रकृष्टैर्दशमैः शमात्मकः।
तथा लघुद्वादशकैश्च सेवते मितमुदाऽऽचाम्लमनाविलोलघुः ॥"

अर्थात्—आचाम्ल तपस्या का इच्छुक सयमी प्रथम दो दिन का उपवास करे और अपने चित्त मे सक्लेश न हो, शान्ति का अनुभव होवे तब तीन दिन का उपवास करे। उतने उपवास से भी आत्मा मे सक्लेश भाव न हो तो चार दिन का उपवास करे। पश्चात् पाच दिन के उपवास की प्रतिज्ञा करे। प्रत्येक पारणे के दिन परिमित और लघु काजी का भोजन करे।

प्रश्न—इतना विवेचन आपने समाधिमरण के समय जो भक्तप्रत्याख्यान के विषय मे किया है उस भक्तप्रत्याख्यान का काल अधिक से अधिक कितना होता है ?

भक्त प्रत्याख्यान का काल

उत्तर—जब आयु बहुत बाकी हो तब भक्तप्रत्याख्यान का काल अधिक से अधिक बारह वर्ष का बताया गया है। अर्थात् आयु के अधिक होते हुए भी किसी ने पहले बतलाये गये समाधिमरण के कारणो मे से किसी कारण के उपस्थित होने पर भक्तप्रत्याख्यान प्रारम्भ कर दिया हो तो उसके भक्तप्रत्याख्यान का काल बारह वर्ष तक हो सकता है, इससे अधिक नहीं।

भक्तप्रत्याख्यान काल की यापन विधि

प्रश्न—भक्तप्रत्याख्यान के उक्त बारह वर्ष के काल को सयमी किस प्रकार बितावे ?

उत्तर—बारह वर्ष के काल मे से प्रथम चार वर्ष सयमी अनेक प्रकार के तपश्चरण मे बितावे। उन चार वर्षों मे अपने परिणामों को उज्ज्वल रखते हुए नाना प्रकार के कायक्लेश तप का आचरण करे। चार वर्षों के बीत जाने पर अगले चार वर्षों मे संयमी दूध दही घृत गुड आदि सम्पूर्ण रसो का त्याग कर रूखा सूखा व स्वल्प भोजन पान स्वीकार करता हुआ अपने शरीर को कृश करता रहे। इस प्रकार करने से उसका शरीर तो कृश होता है, किन्तु परिणामों मे निर्मलता की वृद्धि होती है। इस तरह आठ वर्ष व्यतीत करता है।

अवशिष्ट चार वर्षों मे से पहले दो वर्षों को आचाम्ल (काजी) भोजन तथा चटनी शाकादि स्वादिष्ट रस व्यजनादि से रहित भोजन से व्यतीत करता है। उन दो वर्षों के अनन्तर एक वर्ष केवल आचाम्ल भोजन से बिताता है। अन्तिम एक वर्ष प्रथम छह मास में मध्यम तपस्या का अनुष्ठान कर शरीर को कृश करता है और अन्तिम छह मास मे उत्कृष्टोत्कृष्ट कायक्लेश तपश्चर्या का आचरण कर शरीर को क्षीण करता है। इस तरह वह सयमी अपनी आयु के अन्तिम बारह वर्षों मे सल्लेखना का आराधन करता है।

प्रश्न—क्या सल्लेखना करने वाले सयमी को अपने आयु के अन्तिम वर्ष उक्त विधि के अनुसार ही बिताने योग्य हैं अथवा और कोई दूसरा भी प्रकार है ?

उत्तर—उक्त विधि से ही तपश्चरण करने का नियम नहीं है, किन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अनुकूलता और प्रतिकूलता से तपश्चर्या का अनुष्ठान तथा आहारादि का ग्रहण व त्याग करना चाहिए। शास्त्रों मे कहा है :—

भत्तं खेत्तं कालं धादु च पडुच्च तह तवं कुज्जा।
वादो पित्तो सिंभो व जहा खोभणा उवयंति ॥ २५५ ॥ (भग आ)

अर्थ—भोजन अनेक तरह का होता है। कोई भोजन ऐसा होता है, जिसमे शाक अधिक होती है, किसी मे दूध या दही या घृतादि अधिक मात्रा मे होते हैं। किसी मे जौ चना मूंग मोठ कुलथी आदि धान्य का भाग अधिक होता है। कोई भोजन शाक दाल आदि रहित होता है। इत्यादि अनेक प्रकार के भोजन होते हैं। क्षेत्र भी अनेक प्रकार के होते हैं—कोई अनूप देश होता है (जिस देश मे जल बहुत होता है—जलाशय अधिक होते हैं उसे अनूप देश कहते हैं) कोई देश जागल होता है (जिसमे वृष्टि कम होती है और नदी आदि नहरो

से कृषि होती है, उसे जांगल देश कहते हैं), कोई देश साधारण होता है (जिसमें उक्त दोनों लक्षण पाये जाते हैं, उसे साधारण देश कहते हैं)।

काल के शीतकाल ग्रीष्मकाल और वर्षाकाल ये भेद होते हैं।

अपने शरीर की प्रकृति को धातु कहते हैं। किसी की शरीर-प्रकृति वात प्रधान होती है, किसी की कफ प्रधान और किसी की पित्त प्रधान होती है। अपनी प्रकृति को लक्ष्य में रखकर वात, पित्त और कफ की समता रखते हुए योग्य भोजन का सेवन करना चाहिए अनूप देश में वात और कफ वर्धक आहार का सेवन करना ठीक नहीं। जांगल देश में पित्त प्रकुपित करने वाले आहार का ग्रहण अहितकर है। इसी प्रकार शीतकाल, ग्रीष्मकाल, वर्षाकाल के योग्य भोजन का ग्रहण और इनके अयोग्य भोजन का त्याग करना संयमी का कर्तव्य है।

इस प्रकार द्रव्य (भोजन) क्षेत्र और काल के अनुकूल तपश्चरण और भोजन का ग्रहण करने वाला संयमी अपने भावों की उत्तरोत्तर विशुद्धि करता हुआ सल्लेखना की सिद्धि करने में कृतकार्य होता है।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि यह सब प्रयास तभी सफल है जबकि भावों में उज्ज्वलता वृद्धिगत होती रहे। चाहे सल्लेखना की विधि का किसी भी प्रकार आचरण किया जाय यह अपनी इच्छा पर निर्भर है। परन्तु अपने भावों में मलीनता उदासीनता और संक्लेश न आवे इसी का ध्यान रखना चाहिए। जितनी भी सल्लेखना की विधियां हैं वे परिणामों में उज्ज्वलता उत्पन्न करने के लिए हैं। इसलिए संयमी को उचित है कि वह एक क्षणमात्र भी आत्मा की विशुद्धि का त्याग न करे। आत्मा की विशुद्धि के बिना जितना भी तप किया जाता है वह सब निरर्थक है, क्योंकि उससे आत्मा का हित नहीं होता। जो आत्म-हित के उद्देश्य के बिना तप करता है, उसे चाहे लोक में आदर सम्मान व पूजा प्रतिष्ठा की प्राप्ति हो जाय पर तुष खण्डनवत है उसकी यह आकांक्षा उसको अधोगति में ले जाने वाली है। भाव रहित कायक्लेश तप से उसको कदाचित् देवगति भी प्राप्त हो जावे तो भी उसका अंतिम परिणाम कुगति है। इसलिए आत्मा का (अपना) हित करने की इच्छा रखने वाले को सांसारिक विषयों की अभिलाषाओं के लात मार कर कर्मों की निर्जरा और आत्म-गुणों को प्रकाशमान करने के लिए तपस्या करना चाहिए, क्योंकि कर्मों के क्षय होने से आत्म-सुख की प्राप्ति अवश्य होती है। वृक्ष के मूल में जल-सिंचन करने वाला मनुष्य वृक्ष के हरे भरे पत्तों की शीतल छाया और उसके पुष्पों की मकरन्द का अनुभव करता हुआ उसके मृदु, स्निग्ध और दिव्य फलों का अनुभव करता है। वैसे ही कर्मों की संवर पूर्वक निर्जरा करने वाला मोक्षमार्ग का पथिक महात्मा आनुषंगिक रूप से प्राप्त होने वाले नर लोक और देवलोक के सुखों का अनुभव करता हुआ शाश्वत दिव्य अनुपम सुखों को प्राप्त होता है।

कषाय से बचने के उपाय

उक्त प्रकार काय को कृश करने का उपाय दिखाकर अब कषाय को कृश करने के उपायों का वर्णन करते हैं। साधक को विचार करना चाहिए कि काय को कृश करना तभी कार्यकारी होता है, जबकि काय के साथ कषाय भी कृश हो जावे। क्योंकि कषाय को कृश (भेद) किये विना केवल काय को कृश करना निष्फल है। ऐसी निष्फलता तिर्यंचादि गति मे अनेक वार इस जीव ने की है। उससे क्या लाभ हुआ? अत क्रोधादि कषायो को उपशम करने का भरसक प्रयत्न करना ही आवश्यक है, क्योकि सब दु.खों की जनक कषाय ही हैं। ससार मे जीव का शत्रु अन्य कोई नहीं, यह क्रोधादि कषाय ही सबके शत्रु हैं।

अत· क्रोधाग्नि को क्षमा जल से शान्त करो। मान रूपी पर्वत का मार्दव (विनय) रूपी वज्र से पतन करो। माया की कठोर ग्रन्थि (गाठ का आर्जव (सरलता) रूपी सूचिका (सूई) से भेदन करो। लोभ-समुद्र के प्रवाह को सतोष-सूर्य की प्रखर किरणों से सुखा दो।

प्रज्वलित हुई कषाय रूप अग्नि जीवन का सार तत्त्व जो चारित्र है, उसे क्षण भर मे भस्म कर देती है। इतना ही नहीं, वृद्धि को प्राप्त हुई यह कषाय-अग्नि, दुर्लभ सम्यक्त्व-पीयूष को भी सुखा कर आत्मा को अनन्त ससारी बना देती है। इसलिए इस कषाय को हृदय मे थोडा सा भी स्थान नहीं देना चाहिए। क्योकि थोडी सी कषाय अग्नि प्रतिकूल वचन का सयोग रूपी ईंधन और असहनशीलता रूपी अनुकूल वायु का ससर्ग पाकर उग्ररूप धारण करलेती है, इसलिए कषाय को उत्तेजित करने वाले बाह्य सयोगो से भी सदा दूर रहना चाहिए। यदि कषाय को उत्तेजना देने वाले बाह्य निमित्त प्राप्त होजावें तो इनसे बचने की चेष्टा करना ही श्रेयस्कर है।

जिस समय क्रोधादि कषायाग्नि अन्त करण मे प्रादुर्भूत हो उसी समय 'हे भगवन् मैं आपकी शिक्षा को शिरोधार्य करता हूँ, मेरा यह (कषाय जन्य) पातक मिथ्या (निष्फल) हो, मैं आपको नमस्कार करता हूँ,' इत्यादि वचन रूप जल से उसको शान्त करने की आवश्यकता है। इस कषाय रूप भयानक विषधर के विष को दूर करने का यह गारुडी मन्त्र है। जिस आत्मा मे इस गारुडी मन्त्र का सद्भाव रहता है, उस आत्मा पर कषाय रूपी विष का कुछ भी असर नहीं होता है। अत. जहा तक बन सके कषाय के उत्पादक कारणों के सम्पर्क से दूर रहना चाहिए। यदि उनका सयोग बलात्कार से उपस्थित हो जावे तो क्षमा, मार्दव, आर्जव और सतोष आदि से उनका शमन करना उचित है।

ऊपर लिखे कषाय रोग नाशक नुस्खे (प्रयोग) के सेवन करने वाले को निम्नोक्त अपथ्य से सर्वथा बचना चाहिये।

हास्य, रति, अरति, शोक, भयादि नव नोकषय और चार सज्ञाएँ (आहार,भय, मैथुन और परिग्रह की वाछा) हैं। इनसे सदा

दूर रहना चाहिए। क्योंकि हास्य (अट्टहास, हसीं, मजाक,) क्रोधादि के विकार को उत्तेजित करता है। रति (विपय प्रेम) और अरति (सत्कार्यों से चित्त की उद्विग्नता) तथा शोक,भय, ग्लानि, और कामक्रीडा के भाव रागद्वेप के जनक हैं। तथा आहारादि सज्ञा भी आत्मा मे लोभादि कपायो को अकुरित करती हैं।

इनके अतिरिक्त ऋद्धि, रस और सात इन तीन गारवों का भी त्याग करना आवश्यक है। ऋद्धि मे तीव्र अभिलाषा ऋद्धि गारव, रसों मे तीव्र अभिलाषा रस गारव और सुख की तीव्र अभिलाषा सात गारव है। इनसे भी क्रोधमानादि कपाय रूप विकार भाव उत्पन्न होते हैं। साधुओ को कपाय की शान्ति के लिए इनका भी त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है।

कपाय को कृश करने मे तत्पर हुए सयमी को अशुभ लेश्याओ का भी परित्याग करना चाहिए। कृष्ण, नील और कापोत ये तीन अशुभ लेश्यायें हैं। जिस आत्मा मे यह उत्पन्न होती हैं,उसके चारित्र का विघात कर उसे चारित्रहीन असंयमी बना देती हैं। उनके द्वारा तीव्र अशुभ कर्मों का वन्ध होता है, अतः उनका आत्मा से समूल उच्छेद कर देना चाहिए।

इस प्रकार जिस सयमी ने बाह्य सल्लेखना (शरीर को कृश करना) और आभ्यन्तर सल्लेखना (कपाय को कृश करना) इन दोनों सल्लेखनाओ की सिद्धि के लिए पूर्वोक्त वाह्य तप आदि का आचरण किया है, ससार का त्याग करने मे जिसने अपनी वुद्धि को लगाया है, वह सयमी सम्पूर्ण तपो में उत्कृष्ट तप जो धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान हैं, उनकी प्राप्ति करने मे तत्पर रहता है। अर्थात् ऊपर की सब क्रियाओ का पालन धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान की सिद्धि के लिए ही किया जाता है। क्योंकि उक्त क्रियाए साधन हैं और धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान साध्य हैं। इस प्रकार सल्लेखना का निरूपण किया।

सल्लेखना के आराधक आचार्य का कर्त्तव्य

सल्लेखना के आराधक (यदि वह स्वय आचार्य है तो) का क्या कर्तव्य होता है, उसका प्रतिपादन करते हैं।

सल्लेखना करने मे उद्युक्त हुए आचार्य को गण की हित कामना का पूर्ण ध्यान रखना पड़ता है। अपना आत्म-हित करने के लिए सल्लेखना का आराधन जैसा मुख्य कृत्य है, वैसा ही आगे के लिए सघ का सुप्रवन्ध करना भी उनका प्रधान कर्तव्य होता है। धर्मतीर्थ का विच्छेद न हो, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की अविच्छिन्न परिपाटी चलती रहे, इसके लिए वह आचार्य अपनी आयु का विचार कर अपने शिष्य समूह को तथा अपने स्थान मे जिन बालाचार्य को स्थापित किया था, उन्हें बुलाकर सौम्य तिथि, करण, नक्षत्र और शुभ लग्न मुहूर्त्त देखकर शुभ प्रदेश मे सङ्घ का सर्वथा त्याग करते हैं। तथा अपने समान आचार्य गुण से भूपित,सम्पूर्ण सङ्घ की रक्षा शिक्षादि

कार्य-सञ्चालन करने मे समर्थ बालाचार्य को अपना भार सौंपते हैं। उस समय उनको परिमित शब्दो मे छोटा सा उपदेश देते हैं। उसके बाद वह बालाचार्य सम्पूर्ण सङ्घ का आचार्य माना जाता है। उस समय वे पूर्वाचार्य उस बालाचार्य के सामने अपने समस्त सङ्घ को भी सूचित करते हैं -हे मोक्षमार्ग के यात्रियो,तुम्हारा सम्यग्दर्शन,ज्ञान और चारित्र रूप रत्नत्रय निर्विघ्न चल रहा है उसपर सतत आगे बढते रहो, अत. तुम्हारे मार्ग मे विघ्न बाधाओंको दूर करने के लिए, इस रत्नत्रय धर्म की परिपाटी अविच्छिन्न चलती रहे इसके निमित्त इस बालाचार्य को सार्थवाह-सघपति-आचार्य नियत करता हूँ। आज से यह तुम्हारा आचार्य है। इसकी आज्ञा के अनुकूल चलना तुम्हारा परम कर्त्तव्य है। इसप्रकार समस्त सघ के समक्ष बालाचार्य को आचार्य पद पर नियुक्त करते हैं और आप सम्पूर्ण सङ्घ से अपना सम्बन्ध विच्छेद करते हैं।

तदनन्तर सम्पूर्ण सङ्घ और उस नवीन आचार्य तथा बालमुनि से लेकर वृद्ध मुनि पर्यन्त सम्पूर्ण साधुओं से मन वचन काय द्वारा क्षमा मांगते हैं। मेरा तुम्हारे साथ दीर्घकाल तक सहवास हुआ है, मैंने तुम्हारी इच्छा के अनुकूल प्रतिकूल हितकामना से जो शासन किया उसमे तुम्हारे चित्त को दु खित किया हो तो उस अपराध को अब क्षमा करो। इस तरह पूर्वाचार्य के क्षमा याचना करने के पश्चात् सम्पूर्ण सङ्घ के साधु व नवीन आचार्य, ससार के दु खो से रक्षण करने वाले, सवपर प्रेमामृत की वर्षा करने वाले, उत्तम क्षमादि दश धर्मों का तथा रत्नत्रय धर्म का स्वय पालन करने वाले और समस्त सङ्घ को पालन कराने वाले अपने पूर्वाचार्य की प्रथम बन्दना करते हैं पश्चात् पञ्चागो द्वारा मन वचन और काय से नमस्कार करते हैं। और मन वचन काय से पूर्वाचार्य को क्षमा प्रदान करते हैं तथा आप भी अपने पूर्व कृत अपराधों की क्षमा याचना करते हैं।

शिष्य समूह आचार्य के लिए परिग्रह स्वरूप है

जिस प्रकार स्त्री पुत्रादि परिग्रह हैं, वैसे ही सल्लेखना के आराधक आचार्य के शिष्य समूह भी उनके लिए परिग्रह है। जब तक उनका त्याग नहीं किया जाता है, आत्मा पर उनकी रक्षा शिक्षादि के प्रबन्ध का बोझ बना पर रहता है। अतः सब जीवादि तत्त्वों के रहस्य के वेत्ता, तथा प्रायश्चित्तादि शास्त्रो के अनुभवी आचार्य अपनी आत्मा के कल्याण करने मे तत्पर हुए पूर्वाचार्य, उस भार को उतार कर अपनी आत्मा को तत्सम्बन्धी रागद्वेषसे मुक्त कर परम आनन्द का अनुभव करते हैं और योग्य प्रायश्चित लेकर अपनी आत्मा को शुद्ध बनाने मे प्रवृत होते हैं। कारण कि आचार्य को सङ्घ के शिष्यों के हित के लिए अनेक प्रकार से शासन करना पडता है, उनको कटु कठोर किन्तु परिणाम मे हितकारी वचन भी कहने पड़ते हैं इत्यादि बातों से आचार्य को जो दोष उत्पन्न होता है, उसकी निवृत्ति करने के लिए वे उचित प्रायश्चित का भी आचरण करते हैं।

सङ्घ का परित्याग करते समय आचार्य का उपदेश

गच्छ (सङ्घ) का परित्याग करते समय आचार्य सङ्घ को जो उपदेश देते हैं वह निम्न प्रकार है :—

हे कल्याण के इच्छुक मुनीश्वरो। तुमने शान्ति सुख की प्राप्ति के लिए धन, धान्य गृह, पुत्र, कलत्रादि का परित्याग कर जिनेन्द्र सदृश जगत्पूज्य मुनिपद धारण किया है। इसकी शोभा रत्नत्रय रूप भूषण से है। अतः इसकी उत्तरोत्तर निर्मलता प्राप्त करना तुम्हारा मुख्य कर्त्तव्य है। दर्शनाराधना, ज्ञानाराधना और चारित्राराधना को उन्नत बनाने वाली प्रवृत्ति करने में तुम्हारा सच्चा हित है।

हे सङ्घ नायक! महानदी जहा से निकलती है, वहा पर तो अल्पविस्तारवाली होती है, किन्तु आगे बढते ही विस्तृत होती हुई महान् रूप धारण कर समुद्र मे मिलती है। वैसे ही तुम भी प्रारम्भ मे गुण व शील को अल्प प्रमाण मे धारण कर उत्तरोत्तर क्रमशः वृद्धि करते हुए गुण और शीलों को विशाल रूप देने का पूर्ण प्रयत्न करो—इसी में तुम्हारा कल्याण है।

तुम मार्जार के शब्द के समान चारित्र तप को मत आचरण करो। जैसे मार्जार (बिल्ली) का शब्द प्रारम्भ मे महान् और पश्चात् मद होता जाता है, वैसे ही प्रारम्भ मे अति दुर्धर चारित्र और तप की भावना (अनुष्ठान) मे प्रवृत्त होकर पश्चात् उसमे क्रमश. मन्दता (क्षीण पना) धारण करना तुम्हें उचित नहीं है। यदि तुमने ऐसा किया तो तुम अपना और सङ्घ का विनाश करोगे। क्योकि जो आलसी अग्नि से जलते हुए अपने घर को भी नहीं बुझा सकता, वह दूसरे के घर की रक्षा करने मे कैसे समर्थ हो सकता है? तुमको चारित्र और तप से गिरते हुए देखकर दूसरे उत्कृष्ट तपस्वी और दृढ सयमी भी शिथिल होने लगेंगे। अतः हे गणाधिप! द्रव्य क्षेत्र कालादि को ध्यान में रखते हुए तुम क्रमश. चारित्र और तपश्चरण को वृद्धि की ओर ले जाओ। हे सङ्घ की उन्नति के इच्छुक! तुम ज्ञान, दर्शन और चारित्र मे अतिचार मत आने दो। अतिचारो का स्वरूप निम्नोक्त प्रकार है।

ज्ञान के ८ अतिचार

अस्वाध्याय के काल मे गणधरादि कथित सूत्र (आगम) का स्वाध्याय करना, क्षेत्र शुद्धि, द्रव्य शुद्धि और भाव शुद्धि के बिना स्वाध्याय करना, अपने गुरु के नाम को छिपाना, आगम के मूल पाठ मे तथा उसके अर्थ में अथवा दोनो मे अशुद्धि करना, अर्थात् अशुद्ध पाठ उच्चारण करना तथा आगम के यथोचित्त अर्थ का प्रकाशन कर उसे हीनाधिक या विपरीत अर्थ समझना या दूसरो को समझाना, आगम का आगम के वेत्ताओं का बहुमान न करना—आदर सत्कार न करना—ये ज्ञान के आठ अतिचार हैं।

दर्शन के ५ अतिचार

शङ्का, काङ्क्षा, विचिकित्सा अन्य-दृष्टि प्रशंसा और संस्तवन ये पाच सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं। इनका विवेचन दर्शनविनय मे हो चुका है।

चारित्र के अतिचार

समिति का व भावनाओ का अभाव होना आदि चारित्र के अतिचार हैं। चारित्र के अतिचारो का वर्णन चारित्राचार के विवेचन के अवसर पर कर आये हैं, उन सब अतिचारो का तुम त्याग करो। देखो, स्वपक्षीय जैन धर्म पर आरूढ मुनिगण से तथा परपक्षीय इतर धर्माम्नायी प्राणियों से कदापि वैर विरोध मत करो। अन्त:करण की शान्ति का भङ्ग करने वाले वाद-विवाद का भी परित्याग करो। क्योंकि वाद-विवाद मे प्रवृत्त हुआ पुरुष अपने जय के उपायो और पर के पराजय के उपायो को ही ढूढता है, किन्तु वस्तु के तथ्य स्वरूप को प्रकट कर समाधान करना नहीं चाहता है। इससे क्रोधादि कषायों की जागृति होती है, जो कि आत्मा का परम शत्रु है। अतः इनसे सदा बचना चाहिए। हा, तत्त्वजिज्ञासा से कोई प्रश्न करे तो शान्ति से उसका समाधान करना आवश्यक है।

आचार्य के लिए ध्यान देने योग्य विषय

हे गणधर! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र मे जो अपने को और गण-सङ्घ को स्थापित करे, रत्नत्रय को आप धारण करे और गण को धारण करावे वह गणधर कहलाता है। जो इसके अनुकूल प्रवृत्ति न करे वह गणधर पद के योग्य नहीं माना गया है। अत: तुम अपने कर्त्तव्य पर आरूढ रहो। बहुत मुनिगण मेरे अधीन हैं, इसलिए मैं गणधर (आचार्य) हूँ, ऐसा अभिमान तुम्हारे हृदय मे कभी नहीं होना चाहिए। किन्तु तुम्हें यह विचार निरन्तर करते रहना चाहिये 'कि मुझे सङ्घ की सेवा का सौभाग्य मिला है, अतः मैं इस सेवा के कर्त्तव्य का पूर्ण रूप से पालन करूं।' कर्त्तव्य पालन मे तुम्हारा थोडा सा प्रमाद अनेक पवित्रात्माओं की महती हानि का कारण होगा, इसलिए तुमको प्रतिक्षण सावधान रहना चाहिए।

जो साधु आहार, पिच्छी, कमडलु और वसतिका का शोधन न कर ग्रहण करता है, वह मूलस्थान को प्राप्त होता है अर्थात् वह मुनिपद से पतित हो जाता है उसको पुन मुनि दीक्षा लेनी पडती है। लेकिन जो साधु उद्गम, उत्पादन, एषणादि दोषों से रहित आहार, पिच्छी, कमडलु और वसतिका को चारित्र की रक्षा के लिए स्वीकार करता है वह उत्तम चारित्र का धारक माना जाता है।

ज्ञानाचारादि पञ्चाचार मे स्थिर रहने वाले तथा उनका निरतिचार स्वय पालन करने वाले और अन्य मुनियो को पालन कराने वाले आचार्यों की जिनागम मे उक्त मर्यादा वर्णन की गई है। परन्तु जो लोकानुवर्ती तथा सुखेच्छु हैं, उनका आचरण आगम-मर्यादा का उल्लघन करने वाला होता है। आगम मे असयमी जनो के साथ सम्पर्क रखने, मिष्ट तथा रसीले भोजन करने, कोमल शय्या में शयनासन करने, सब ऋतुओ मे रमणी स्थानों मे निवास करने आदि मे आसक्त रहने वाले साधुओं की यथेच्छप्रवृत्ति का निषेध किया है। उनमे रत

रहने वाले मुनि आचार्य पद के सर्वथा अयोग्य हैं। वे अपने मुनि पद को दूषित करते हैं।

हे आचार्य। जो साधु आगम निषिद्ध उद्गमादि दोषों से दूषित आहार वसतिकादि का उपभोग करता है, उसके इन्द्रिय संयम व प्राणी संयम नष्ट हो जाता है। वह दुर्बुद्धि साधु मूलस्थान को प्राप्त होता है। वह केवल नग्न द्रव्यलिंगी है। वह वास्तविक मुनि नहीं है तो फिर वह आचार्य कैसे हो सकता है ?

जो साधु कुल, ग्राम, नगर और राज्य से अपना सम्बन्ध त्याग चुका है और फिर भी इनसे ममत्व रखता है—यह मेरा कुल है, यह मेरा ग्राम, नगर और राज्य है, इस प्रकार का सङ्कल्प करता है—वह सयम से शून्य नग्न पुरुष मात्र है। क्योंकि जिस पदार्थ में जो ममत्व रखता है, वह उसके सयोग मे हर्षित और वियोग मे दुःखित होता है, अत जो रागद्वेष और लोभ में तत्पर रहता है वह असयमी होता है ऐसा ध्रुव सत्य मानना चाहिए।

हे मुनिनायक! किसी साधु के अपराधों को किसी दूसरे पर प्रकट मत करना। उसने अपने संयम जीवन की बागडोर तुम्हें सौंप रखी है, अत वह तुम पर विश्वास रखकर अपने गुप्त से गुप्त दोषों को प्रकाशित कर देता है। तुम्हारा परम कर्त्तव्य है कि तुम उनको कभी प्रकाशित न करो। तुम सब कार्यों मे सबके प्रति समदर्शी रहो तथा बाल मुनि से लेकर वृद्धि मुनि तक समस्त सङ्घस्थित मुनियों का अपने नेत्र के बाल के समान सरक्षण करो।

हे सङ्घाधिपते। जिस देश में कोई राजा न हो, अथवा राज विप्लव हो रहा हो या दुष्ट राजा का शासन हो, वहां पर कदापि मत रहो। जहा पर धर्मपरायण श्रावक जन न हों या तुम्हारे संयम का विघात होता हो, उस देश में विहार मत करो। इस प्रकार सक्षेप से तुम्हें शिक्षा दी गई है। अत अपना तथा सङ्घ का योग क्षेम साधन करते हुए, धार्मिक जनता को धर्म मे स्थिर करना और धर्म के पात्र सरल चित्त मनुष्यों को धर्म पर लगाना अपना कर्त्तव्य समझो। आर्य प्रदेश में आगमोक्त विधि का पालन करते हुए इस प्रकार निरन्तर विहार करना ही मङ्गलकारी है।

हे मुनियो। तुमने मुनि पद को धारण किया है। उसके आवश्यक कर्त्तव्यों का पालन और सामायिकादि षडावश्यक क्रियाओं का पालन करना तुम्हारा आवश्यक कर्त्तव्य है। क्योंकि ये आवश्यक क्रियाएं तप और सयम की आधारभूत होती हैं। जब मुनि सामायिकादि आवश्यक क्रियाओ में तत्पर रहता है, उस समय उसके इन्द्रिय सयम और प्राणी-संयम दोनों सयमों का पालन होता है और असयम का परिहार होता है। तथा सम्पूर्ण सावद्य क्रियाओं से निवृत्त होने के कारण कर्मों का सवर और आत्मीय कार्यों में लवलीन रहने से कर्मों की निर्जरा होती है, इसलिए तप की भी सिद्धि होती है क्योंकि जो कर्मों को तपता है, नष्ट करता है, उसे तप कहते हैं। ऐसे तप का

स्वरूप आवश्यक क्रियाओं में पाया जाता है। 'तपसा निर्जरा च' तपस्या से कर्मों का सवर और निर्जरा होती है। यह तप का कार्य आवश्यक क्रियाओं के सद्भाव मे पाया जाता है, अत. आवश्यक क्रियाओं के पालन करने में कभी प्रमाद मत करो।

देखो! यह मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ है, किन्तु विनाश के उन्मुख है और निस्सार है। तुमने मनुष्य जन्म को सफल बनाने के लिए अति दुर्लभ जिन दीक्षा ग्रहण की है, यह बडे पुण्य के उदय से सुन्दर अनुपम अवसर मिला है। जिन दीक्षा धारण करना संसार में अपूर्व दिव्य लाभ है, अत. इसको सार्थक बनाने के लिए आवश्यक क्रियाओं मे सदा सावधान रहो।

हे महात्माओ! जिस समय तुम आवश्यक क्रियाओं से निवृत्त होकर अवकाश पाओ, उस समय तुमको अपने संयम चारित्र की रक्षार्थ गोचरी के लिए श्रावकों के गृहों में चर्या करनी पडे, धर्म के पिपासुओं को धर्मोपदेश देना, अथवा उनके साथ धर्म सम्बन्धी वार्तालाप करना पडे उस समय तुमको ईर्या भाषा एषणा आदि पाच समितियों का पालन करना आवश्यक है। ऋद्धि में रसों, मे और सुख मे तीव्र-अनुराग व अभिलाषा नहीं रखना चाहिए। तीन गुप्ति का पालन करने में निरन्तर दत्तचित्त रहना चाहिए। जिनाज्ञा के विरुद्ध अपनी बुद्धि का उपयोग कदापि न करना चाहिए।

हे आत्मा का साधन करने वाले साधुओ! आहारादि चार सज्ञाओं और चार कषायों तथा आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का परिहार करो। ये आत्मा को गिराने वाले हैं। सयम और तप के विराधक हैं। इनमें से किसी एक के वशीभूत हुआ आत्मा सयम व चारित्र को खो देता है। तथा पाचो इन्द्रियों की दुष्ट प्रवृत्ति को रोको। ये लुटेरे के समान तुम्हारे सयम व व्रत को लूटने वाले हैं, अतः इनको जीतो अर्थात् अपने अधीन रखो। वे पुरुष पुंगव धन्य हैं, जो शब्दरसादि इन्द्रियों के विषयों से व्याप्त इस लोक मे आसक्ति रहित हैं। स्पर्शादि विषय जिनके अन्त.करण को आकुलित नहीं कर सकते हैं, वे ही सच्चे आत्म-गवेषी हैं। ज्ञान और चारित्र में लवलीन रहने वाले ऐसे ही महात्मा सङ्घ के आदर के पात्र होते हैं।

हे साधुओ! जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र मे बड़े हैं, वे गुरु कहलाते हैं। अत. आचार्य, उपाध्याय और साधु ये गुरु हैं। आप लोग उनकी सेवा शुश्रूषा करो। सेवा शुश्रूषा करके लाभ, कीर्ति और आदर-सत्कार की इच्छा मत रखो। केवल गुणोंमें भक्ति श्रद्धा रखकर सेवा शुश्रूषा करो। जो जिसकी भक्ति करता है, उसके गुणों का प्रभाव भक्त श्रद्धालु की आत्मा पर अवश्य अकित होता है। वह भक्त भी कुछ समय के अनन्तर वैसा ही गुणी हो जाता है। तथा गुरुओं की शुश्रूषा करने से उनके रत्नत्रय के प्रति अनुमोदना होती है। और अनुमोदना से विना परिश्रम के पुण्य की उत्पत्ति होती है, जिससे सब सुयोग्य साधनों की प्राप्ति हो जाती है।

हे मुनियो। यद्यपि तुम्हारा कर्त्तव्य आवश्यक क्रियाओं का आचरण, स्वाध्याय, ध्यानादि हैं, अर्हन्त और सिद्ध की प्रतिमा का दर्शन तुम्हारे लिए आवश्यक नहीं है, जैसा कि गृहस्थ (श्रावक) को आवश्यक है, किन्तु उनका सुयोग मिलने पर प्रत्यक्ष मे अथवा परोक्ष मे कृत्रिम और अकृत्रिम अर्हन्त व सिद्ध-प्रतिमा की भक्ति अवश्य करनी चाहिए। जैसे मित्र तथा शत्रु का चित्र या मूर्ति आत्मा म शीघ्र रागद्वेप भावना को जन्म देती है, और जैसे मित्र या शत्रु का चित्र या मूर्ति ने तो तुम्हारा उस समय कोई उपकार या अपकार नहीं किया है, तो भी उनका गुण स्मरण हो जाने से प्रेम व वैरभाव उदित हो आता है, वैसे ही अर्हन्त और सिद्ध की प्रतिमा के दर्शन व भक्ति करने से, उनके गुणो का स्मरण होने पर आत्मा के वीतराग भाव की उत्पत्ति या पुष्टि होती है, रत्नत्रय के पालने मे तत्परता होती है। उनकी भक्ति संवर और पूर्व बन्धे हुए कर्मों की अपूर्व निर्जरा की करने वाली है। इसलिए चैत्यभक्ति अत्यन्त उपयोगी है, उसको नित्य करो।

आचार्यों के लिए आवश्यक विनय और उसके भेद

दर्शन ज्ञान चारित्र तप का और उनके पालक साधु महात्माओ का विनय करो। 'विलय नयति कर्ममलमिति विनयः' जो कर्म मल का नाशक है, उसे विनय कहते हैं।

दर्शनविनय—शङ्का, काक्षा, विचिकित्सा आदि आठ मलदोष, देव मूढतादि तीन मूढता, छह अनायतन और आठ मद इन पच्चीस दोषों का परित्याग कर सम्यग्दर्शन को निर्मल करो। इन पच्चीस दोषो मे से जिस शङ्कादि दोष की उत्पत्ति की सम्भावना तुम्हारी आत्मा मे हो, उसको दूर करो इससे तुम्हारा सम्यग्दर्शन अत्यन्त निर्मल होकर तुम्हें मोक्ष के अतिनिकट पहुचावेगा।

ज्ञानविनय—आगम मे सूत्रों के वाचनादि का जो काल कहा गया, उसका विवेचन ज्ञानविनयाचार के प्रकरण मे कर आये हैं, उसके अनुसार योग्य काल मे स्वाध्याय करो। श्रुत का अध्ययन कराने वाले गुरु का नाम मत छिपाओ, उनकी भक्ति करो। कुछ तपस्या ग्रहण कर श्रुत का आदर पूर्वक अध्ययन करो। श्रुतज्ञान का शब्दशुद्धि, अर्थशुद्धि और उभयशुद्धि के साथ अध्ययन करो। इस तरह विनय पूर्वक अध्ययन किया गया श्रुतज्ञान कर्मों का संवर और निर्जरा करता है। किन्तु विनय रहित अध्ययन किया गया श्रुतज्ञान ज्ञानावरण कर्म का बन्ध करता है।

चारित्रविनय—अनन्त काल से जीव का इन्द्रियों के प्रिय व अप्रिय स्पर्शादि विषयों में रागद्वेप करने का अभ्यास हो रहा है। क्रोधादि कषायों का भी सब जीवों के उदय है, बाह्य निमित्त को पाकर वे प्रकट आ जाती है, उनके उदय से चारित्र का घात होता है। मन वचन और काय की अशुभ प्रवृत्ति से तथा रागद्वेप के आविर्भाव से कर्म आते हैं और चिपटते हैं। पृथ्वी जल, अग्नि, वायु और वनस्पति

कायिक ये पाच स्थावर जीव और द्वीन्द्रियादि त्रसजीव इन छह काय के जीवों को बाधा पहुचाने वाला गमनागमन करना, मिथ्यात्व या असयम मे प्रवृति करने वाले वचन वोलना, साक्षात् या परम्परा जीवों की पीड़ा पहुचाने वाले भोजन का ग्रहण करना, किसी वस्तु को विना देखे और विना पिच्छी स पोंछे भूमि पर धरना या उठाना, भूमि को विना देखे मल मूत्रादि क्रिया करना, ये सव क्रियाएँ पाप जनक हैं, इनका त्याग करने से चारित्र विनय होता है। ऊपर कही गई अशुभ क्रियाओ के त्याग के बिना चारित्र नहीं होता है। उक्त क्रियाए आरम्भ-जनक है। और आरम्भ करने वाले के चारित्र का अभाव होता है। इसलिए यत्नपूर्वक उन सब क्रियाओं का त्याग करके अपने चारित्र को उज्ज्वल बनाओ।

तपोविनय—अनशन (उपवास), अवमौदर्य (ऊनोदर)आदि तप के करने से उत्पन्न शारीरिक व मानसिक कष्ट को सहन कर लेना तपोविनय है। यदि तप के द्वारा आत्मा में सक्लेश भाव उत्पन्न हों तो उससे महान कर्म वन्ध होता है और अल्प निर्जरा होती है। इसलिए उतनी ही तपस्या करना योग्य है, जिससे तपश्चरण का उत्साह वृद्धिंगत होता रहे।

उपचार विनय—गुरु आदि पूज्य पुरुषों का प्रत्यक्ष व परोक्ष आदर सत्कार, नमन, वदनादि करना उपचार विनय है। जो गुरु आदि का यथायोग्य विनय करता है, उसकी सव प्रशसा करते हैं और उसको उत्तम समझकर बुद्धिमान पूजते हैं और जो विनय नहीं करते हैं उसको सब लोग निन्दा व अवहेलना करते हैं। जो साधु अपने गुरु आदि पूज्य पुरुषों की मन वचन काय से विनय नहीं करता है अर्थात् जो गुरु आदि की मन से अवज्ञा करता है, उनके आसन से उठने पर या वाहर से आने पर नहीं उठता है, जाते हुए के पीछे कुछ दूर तक नहीं जाता है, उनको हाथ जोडकर नमस्कार नहीं करता है, उनकी स्तुति नहीं करता है, उनसे आज्ञा नहीं लेता है, उनके सामने आसन पर बैठा रहता है, आते हुए सम्मुख नहीं जाता है, उनके आगे आगे चलता है, उनकी निन्दा करता है, कठोर वचन कहता है, गाली आदि अपमान जनक वचन वोलता है, वह साधु नीच गोत्र कर्म का बन्ध करता है। उसके फलस्वरूप वह ससार मे निन्दनीय कुल मे जन्म लेता है। अथवा कूकर शूकरादि योनि मे उत्पन्न होता है। अविनीत शिष्य को गुरु से रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती है। विनीत शिष्य को गुरु प्रेम से शिक्षा देते हैं, उसका सम्मान करते हैं, इसलिए तुमको विनय मे तत्पर रहना चाहिए। अविनय मे महान् दोष हैं और विनय मे महान् गुण हैं, ऐसा समझकर विनय मे तत्परता धारण करो। और नित्य स्वाध्याय मे अर्थात् जीवादि तत्त्वों के मनन मे उनके प्ररूपक शास्त्रों के अध्ययन मे लवलीन रहो। निद्रा, हास्य, क्रीडा आलस्य और लौकिक वार्तालाप का त्याग करो। शास्त्र मे कहा है —

"णिद्दं ण वहु मण्णेज्ज हासं खेडं विवज्जए।
जोग्गं समणधम्मस्स जुंजे अणलसो सदा ॥ १ ॥"

अर्थ—निद्रा को बहुमान मत दो अर्थात् अल्प निद्रा लो, कारण कि निद्रा आत्मा को चेतना (उपयोग) हीन अज्ञानमय बना देती है, और शुभ क्रियाओ से वंचित कर प्रमादी करती है। उतनी नींद लो, जिससे दिन भर का स्वाध्यायादि से जन्य श्रम दूर हो जाये। हसी मखोल मत करो। पूज्य पुरुषों (साधुओ) को असयमी जन के समान हसना शोभा नहीं देता है। किसी प्रकार की क्रीडा न करो। अर्थात् बालक के समान व्यर्थ के कामो मे मन को मत बहलाओ। तुम्हें तो आगम में ही क्रीडा करनी चाहिए। तुम आलस्यहीन होकर मुनि-धर्म के योग्य कार्यों में अपने चित्त को लगाते रहो।

हे धर्म धुरन्धरो ! तुम धर्म के प्रवर्त्तक हो, अतः क्षुधा पिपासा आदि परीषह के प्राप्त होने पर तथा अशिष्ट ग्रामीण पुरुषों के अनुचित भाषण से या दुर्जनो के कटु कठोर गाली आदि सुनकर आत्मा मे ग्लानि उत्पन्न कर धर्म का कदापि त्याग न कर देना। कभी २ दुर्जन व क्रूर प्राणी ऐसे मर्मभेदी दुर्वचनों का प्रहार करते हैं, जिनका सहन करना अति कठिन हो जाता है; परन्तु वस्तुस्वरूप का चिन्तन कर मनको समझाना चाहिये।

हे मुनिवृन्द ! देखो, जो देवेन्द्रों से पूजनीय हैं, चार ज्ञान के धारक हैं, जिनको उसी पर्याय मे मोक्ष की प्राप्ति का पूर्ण निश्चय है, ऐसे तीर्थंकर भी अपने बल वीर्य को न छिपाकर तप मे पूर्ण उद्योग करते हैं, छह २ मास तक के उपवास और आतपन योगादि कायक्लेश तप के करने में सदा तत्पर रहते हैं, तो अन्य साधुओं का क्या कहना ? उनको तो अपने महान् कर्मों का क्षय करना है। अतः उनको तो इससे अधिक तत्पर रहना चाहिए।

हे आत्म-हित-चिन्तको ! तुम्हारी आयु, शरीर, बल और आरोग्य का विनाश न जाने कब हो जावेगा। इसका काल नियत तो है नहीं। क्योंकि मृत्यु दावानल के समान है, न जाने किस समय इस जगत् रूपी वन को भस्म करदे। हमको इसका ज्ञान नहीं कि मृत्यु कब आयगी ? काल की गति अति तीव्र है, एक क्षण भर मे इस शरीर का विध्वंस कर सकती है। जब तक काल का आगमन नहीं हुआ तब तक इस शरीर से तपस्या करलो। काल के निवास करने का कोई क्षेत्र नियत नहीं है। जैसे गाड़ी रथादि भूतल पर ही गमन कर सकते हैं, सूर्य चन्द्र ग्रहादि आकाश मे ही भ्रमण करते हैं, मगर मच्छादि जल में ही गति करते हैं, वैसे मृत्यु के गमन प्रदेश निश्चित नहीं है। वह तो जल, स्थल और आकाश सर्वत्र अप्रतिहत गति है। ऐसे स्थान भी हैं, जहा अग्नि चन्द्र व सूर्य की किरण, शीत उष्ण वात और बर्फ का प्रवेश नहीं हो सकता है, किन्तु ऐसा कोई स्थान (क्षेत्र) नहीं है। जहा काल का प्रवेश नहीं है, वात पित्त कफ शीत वर्षा घाम आदि का प्रतीकार किया जा सकता है, किन्तु ससार मे काल (मृत्यु) का प्रतीकार करना अशक्य है। रोगों की उत्पत्ति के कारण वात पित्त कफ की विषमता तथा प्रकृति विरुद्ध आहार विहारादि हैं। परन्तु अकाल मृत्यु के तो कारण संसार के सब पदार्थ हैं। अर्थात् किसी भी बाह्य पदार्थ के निमित्त से प्राणियो का मरण हो सकता है।

हे ससार भीरुओ ! काल का कोई समय भी नियत नहीं है । वर्षा, शीत और गर्मी का समय नियत है, वैसा मृत्यु का कोई समय निश्चित नहीं है । जैसे जनशून्य महा अरण्य मे सिंह के मुख में प्रविष्ट खरगोश की रक्षा करने मे कोई समर्थ नहीं है, वैसे ही काल के मुख मे प्रविष्ट हुए इस प्राणी की रक्षा करने वाला इस ससार मे कोई नहीं है । मृत्यु के विना भी अन्य वस्तुओं से भी उसे भय लगा ही रहता है । कभी रोग का भय होता है, तो कभी वज्रपातादि से भीति वनी रही है । जैसे वज्र अचानक आकाश से गिर पड़ता है, अचानक व्याधि उत्पन्न होकर शरीर को त्रस्त कर देती है, वैसे ही मृत्यु अकस्मात् आकर प्राणी को दवोच लेती है ।

हे मुनिवृन्द ! वाल और वृद्ध मुनियों से परिपूर्ण इस मुनि सघ का वैयावृत्त्य भक्ति पूर्वक करो । इस महान् कार्य में अपनी शक्ति को न छिपाओ । क्योकि वैयावृत्त्य करना मुनि का परम कर्त्तव्य है । यह अनेक सद्गुणों को उत्पन्न करने वाला है, ऐसी जिनेन्द्र देव की आज्ञा है । यह वैयावृत्त्य स्व पर के रत्नत्रय को उद्दीप्त करने वाला है तथा कर्म की निर्जरा करने वाला परम तप है । इसलिए वैयावृत्त्य करने मे उदासीनता मत धारण करो । प्रतिदिन उत्साह और उमङ्ग से वैयावृत्त्य करने मे तत्पर रहो ।

यदि मुनि रोगादि से अशक्त हो या वृद्ध हों, उनके शयन स्थान, वैठने का स्थान, उपकरण-पिच्छी, कमण्डलु, पुस्तकादि का प्रतिलेखन (मार्जन शोधन) करो । निर्दोष शास्त्रोक्त विधि सहित आहार व औषध की योजना करो । उनके आत्मा के भावों को निर्मल वनाने के लिए योग्य शास्त्र का स्वाध्याय या उपदेश (व्याख्यान) करो । शक्ति हीन या रोग ग्रस्त मुनियो के मलमूत्र को उठा कर स्वच्छ करो । उन शक्ति हीन साधुओं को उठाकर करवट वदलाओ, सुलावो, वैठे करो ।

जो मुनि मार्ग के श्रम से थक गये हो, उनकी पगचम्पी करो, हस्तादि का मर्दन करो । जिनपर चारो प्रकारों मे से किसी प्रकार का उपद्रव हुआ हो, दुष्ट पशुओं से पीडा हुई हो, जो अनीतिपरायण दुष्ट राजाओं से सताये गये हो, नदी के द्वारा या वदी करने वाले अन्यायी पुरुषो के द्वारा कष्ट पा रहे हों, जो हैजा प्लेग आदि महामारी के शिकार हो गये हो, उन मुनियों का कष्ट अपनी विद्यादि के वल से दूर करो । यदि कोई मुनि दुर्भिक्ष के कारण पीड़ा पा रहे हो तो उनको सुभिक्ष देश मे लेजा कर उनकी पीडा का निवारण करो । अधीर मुनियो को धैर्य वधाओ कि 'हे महात्माओ ! आप किसी वात का भय न करो, हम आपकी हर तरह सेवा टहल करेंगे, आपको किसी प्रकार का क्लेश न होने देंगे ।' ऐसे कोमल व सान्त्वना के वचन कहकर उनको धीरज वधाओ । इस प्रकार वैयावृत्त्य करने से मुनि धर्म की रक्षा होती है, धर्म मे उत्साह वढता है, और मुनियो का सरक्षण होता है । जिस सङ्घ में वैयावृत्त्य करने मे परायण और सेवा चतुर साधु होते हैं, उस सङ्घ के मुनियो की ससार मे ख्याति होती है, जनता की उनपर स्वाभाविक भक्ति होती है एवं मुनि-धर्म के प्रति रुचि वढती है ।

किन्तु, हे साधुओ! [illegible] प्रधान और [illegible] करने वाला है जो [illegible] के [illegible] है। मुनियों की वैयावृत्य की जिनेश्वर देव ने जैसी आज्ञा दी है, उसके अनुसार [illegible] वैयावृत्य [illegible] की वृद्धि करने वाला होता है। जो साधु अपनी शक्ति को न छिपाकर पूर्ण रूप से वैयावृत्य करता है, [illegible] के अनुकूल रहता है, तो उनको [illegible] धर्मदीन [illegible] है।

जो साधु अपने मुनिपद की [illegible] का [illegible] करता है [illegible] और उनको [illegible] करता है या उनकी औषधि आदि का [illegible] करता है, वह जिनेन्द्र के शासन का तिरस्कार करने वाला [illegible] मुनियों की महिमा का विनाश करने वाला है। [illegible] इसलिए हे साधुओ! वैयावृत्य अवश्य [illegible] करो, यह [illegible] प्रधान कर्तव्य है, किन्तु [illegible] की आज्ञा के अनुकूल करो।

हे [illegible] मुनियो! तुमने तो [illegible] जिनेन्द्र [illegible] ([illegible]) [illegible] है, [illegible] यदि तुमने जिनेन्द्र की आज्ञा का पालन न किया तो [illegible] सिद्ध होंगे। क्योंकि तुम [illegible] जिनेन्द्र [illegible] तुम ही [illegible] आज्ञा [illegible] होती है। जो साधु वैयावृत्य करने में [illegible] वैयावृत्य करने से मुनियों की रक्षा होती है। [illegible] धर्म की [illegible] होती है। [illegible] वैयावृत्य [illegible] साधु [illegible] मुनियों [illegible] है। [illegible] वैयावृत्य [illegible] साधु भी [illegible] होता है। [illegible] साधुजन भी उसकी उपेक्षा [illegible] होता है। [illegible] होती है। [illegible] से [illegible] रहने के कारण [illegible] आत्मा [illegible] सिद्ध होता है।

हे साधुओ! स्वाध्याय करना [illegible] है, तथापि वैयावृत्य करना उससे भी महान कार्य है। क्योंकि स्वाध्याय करने वाला साधु केवल अपनी आत्मा की उन्नति कर सकता है, किन्तु वैयावृत्य करने वाला [illegible] अपनी [illegible] दूसरे की उन्नति करता है। गुण-परिणामादि [illegible] में [illegible] वैयावृत्य करने वाले [illegible] आत्मा में [illegible] निवास करते हैं। स्वाध्याय करने वाले पर [illegible] का निवारण वैयावृत्य करने वाला ही करता है। [illegible] भी वैयावृत्य करने वाले के मुँह की ओर ताकता है, उसकी [illegible] की अपेक्षा रखता है। अतएव स्वाध्याय करने वाले से भी [illegible] वैयावृत्य करने वाला महात्मा है।

स. अ. पृ. कि. ५

हे मुनियो ! तुम ब्रह्मचर्यरत्न की रक्षा करने में दत्तचित्त रहो । यद्यपि तुम्हारा आत्मा संवेग वैराग्य से परिपूर्ण है, तथा तुम्हारी दिनचर्या भी ऐसी है,जिसका पूर्णतया पालन करते रहने से उसका पोषण होता है, तथापि बाह्य सम्पर्क बड़ा बलवान् होता है । वह बलात्कार इस कर्म परतन्त्र आत्मा को अपने उत्तम कर्त्तव्य से विमुख कर देता है। इसलिए तुमको ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिए तथा रत्नत्रय भावना में तल्लीन रहने के लिए आर्यिकाओं का सम्पर्क न होने देना चाहिए । क्योंकि आर्यिका का संसर्ग अग्नि के समान चित्त में सन्ताप उत्पन्न करने वाला है तथा विष के समान संयम जीवन का विघात करने वाला है । वह अपकीर्ति की कालिमा लगाने वाली कज्जल की कोठरी है। आर्यिका के संसर्ग से संभव होने वाले चित्त-संक्लेश और संयम-जीवन का रक्षण तो दुर्धर तपस्वी कर भी सकते हैं, किन्तु जनापवाद से उत्पन्न होने वाली अपकीर्ति से बचना असंभव है।

मुनियों को जनापवाद के मार्ग पर ही न जाना चाहिए। शास्त्रों में कहा है :—

"काये पातिनि का रक्षा यशो रक्ष्यमपाति यत् ।
नरः पतितकायोऽपि यशःकायेन धार्यते ॥ १ ॥"

अर्थात्— यह विनश्वर शरीर तो अवश्य गिरने वाला है, नष्ट होने वाला है, इसकी रक्षा कैसे हो सकती है ? इसकी रक्षा का प्रयत्न करना निष्फल है । इसके द्वारा तो स्थायी रहने वाला यश उपार्जन करना चाहिए। क्योंकि भौतिक शरीर का नाश होने पर भी यह शरीर स्थिर रहता है । इसलिए अपने यश का सदा ध्यान रखना चाहिए । जिसको अपने आत्मीय गुणों की उच्चता का विचार नहीं है, वह कभी आत्मोन्नति करने में कटिबद्ध नहीं रह सकता । वह अपने आत्मा को पतन से नहीं बचा सकता है । अत. अपने ब्रह्मचर्य गुण की महत्ता का रक्षण करने के लिए कभी आर्यिका आदि स्त्रियों का सम्पर्क नहीं करना चाहिए ।

हे संसार भीरुओ ! तुमने संसार से डर कर एकान्त निवास किया है । अत: इस एकान्त में भी भय का कारण आर्यिका का सम्पर्क है । इसमें स्थविर (वृद्ध) अनशनादि तपस्या में निरन्तर उद्यत रहने वाले तपस्वी, बहु श्रुत (अनेक शास्त्रों के वेत्ता) और जगत् में माननीय प्रभावशाली साधु भी निन्दा के पात्र होते हैं तो शास्त्र के तत्त्व ज्ञान से शून्य, साधारण चारित्र का पालक तरुण (जवान) साधु इस अपवाद (निन्दा) से अपने को किस तरह बचा सकता है ? उसकी निन्दा होना अनिवार्य है । यदि कोई साधु अपने आत्मा को बलवान् व पूर्ण जितेन्द्रिय समझ कर निरर्गल आर्यिकाओं से सम्पर्क बढ़ाता रहे तो उसे अपनी आत्मा का घातक ही समझना चाहिए । क्योंकि कितना भी कठिन जमा हुआ घृत क्यों न हो, वह अग्नि का सम्बन्ध पाकर अवश्य पिघल जाता है । आर्यिका का संसर्ग आत्मा को बाधने वा ! दृढ बन्धन बन सकता है ।

हे सयमियो ! परम वैराग्य की मूर्ति, तपस्या में रत, शृंगार हीन,सयम परायण आर्यिकाओं का संसर्ग भी साधु के ब्रह्मचर्य व्रत मे विघ्न उपस्थित करने वाला माना है, तो सयम हीन, शृंगार रस मे रङ्गी हुई ससार के भोग विलास में रत रहने वाली स्त्रियों का ससर्ग साधुओं के लिए कितना घातक हो सकता है ? इसमे प्रमाण व युक्ति की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती ।

इसलिए हे व्रतियो ! यदि तुमको अपने पुनीत व्रतों की रक्षा करनी है, ससार के दुःख से उद्धार करने वाले इस मुनिधर्म का पालन करना है, अपने आत्मा को पाप कालिमा से बचाना है तो तुम किसी भी स्त्री के साथ वार्त्तालाप तक मत करो, उसकी तरफ मत देखो। भुजङ्गनी से भी स्त्री को महा भयानक समझो। भुजगनी का विष तो स्पर्श करने (डसने) से शरीर में असर करता है; किन्तु स्त्री तो देखने मात्र से ही शरीर और अन्तःकरण को तत्काल विषाक्त कर देती है, और क्षण भर में सयम से रहित करके अनेक भवों में दुःख का अनुभव कराती है। इसलिए भूलकर भी स्त्री का सम्बन्ध न होने दो। यदि वह तुम्हारे निकट धर्म भावना से भी आकर बैठे तो तुम उस स्थान से अलग हो जाओ। निमित्त कारण बडा बलवान् होता है, वह अपना असर किये बिना नहीं रहता है। बहुत दूर पड़े हुए नीबू में इतनी शक्ति होती है कि वह देखने वाले मनुष्य के मुख मे पानी उत्पन्न कर देता है। तीव्र शोक अथवा उत्कट सुख के कारणो का समागम होते ही आखों से अश्रुधारा बहने लगती है। ठीक ही है बाह्य निमित्त के सयोग से वस्तु में परिवर्त्तन हो जाता है। इसी प्रकार स्त्री का सम्पर्क भी मानसिक विचारों मे तत्काल परिवर्त्तन कर देता है। इसलिए जो तुम अपना हित चाहते हो तो स्त्री का सम्पर्क न होने दो, इसी में तुम्हारा कल्याण है। जो सयमी स्त्री का सम्पर्क करके भी अपने व्रत को अक्षुण्ण बनाये रखने की सम्भावना करता है, वह सर्प के मुख मे हाथ देकर जीने की इच्छा रखता है।

हे व्रतियो ! इनके अतिरिक्त रुपये पैसा आदि पदार्थ जो तुम्हारे व्रत संयम के नाशक हैं, उनका भी अवश्य दूर से परिहार करो। उनका स्पर्श तक न करो। व्रतों की रक्षा उसी सयमी के होती है, जो उनमें विघ्न बाधा पहुचाने वाले कारणो से सम्पर्क नहीं रखता है। व्रत बाधक पदार्थों का सयोग रखने वाला सयमी अपने सयम व्रत से अवश्य गिर जाता है। इसलिए तुम्हें उन सब विपरीत कारणो से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए।

हे पवित्र चारित्र के पालको ! सङ्घ में चारित्रहीन साधुओ का सम्पर्क मत होने दो। पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त और मृग चारित्र ये पाच प्रकार के भ्रष्ट साधु हैं। इन पतित साधुओं का दूर से ही परित्याग करो। 'ससर्गजा दोष गुणा भवन्ति' जिसका संसर्ग होता है, उस व्यक्ति के गुण व दोष ससर्ग करने वाले मे अवश्य आते हैं। जैसे कस्तूरी के ससर्ग से वस्त्र मे सुगन्ध और लहसन के संगम से दुर्गन्ध स्वत. आती है, इसमे अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती है। इसी प्रकार हीनाचारी पुरुषों के समागम से आचार में

हीनता स्वत आजाती है। इसलिए अपने चारित्र को निर्मल व उन्नत बनाने वाले साधुओं को मलीन व भ्रष्ट चारित्र वाले साधुओं का समागम न करना चाहिए। पार्श्वस्थादि साध्वाभासो का स्वरूप पहले वर्णन कर दिया गया है। वहा से उनका स्वरूप जान कर उनकी सङ्गति का परित्याग करना चाहिए।

पार्श्वस्थादि साधुओ की सङ्गति करने वाले साधु का किस तरह पतन होता है—इसके विषय मे भगवती आराधना में निम्न प्रकार कहा है—

लज्जं तदो विहिंसं पारंभं णिव्विसङ्कदं चेव।
पियधम्मो वि कमेणारुहंतओ तम्मओ होइ ॥ ३४० ॥

अर्थ—पार्श्वस्थादि साध्वाभासों की सङ्गति करने वाले मुनि को पहले पहल तो लज्जा आती है। उसके यह विचार उत्पन्न होता है कि मुझे इन पातन साधुओं के साथ मे देखकर अन्य लोग क्या कहेंगे ? पश्चात् मनमे ग्लानि भी होती है कि मैं आत्मा के पतन कराने वाले इस व्रत भङ्ग कारक कुकृत्य को कैसे करू, इमसे मेरा महान पतन होगा। तदनन्तर चारित्र मोह के उदय से व्रत भङ्ग कारक कार्य का प्रारम्भ करता है। व्रत भङ्ग करने के बाद वह साधु नि:शङ्क होकर आरम्भ परिग्रहादि पाप कृत्यों में प्रवृत्ति करता है। जो साधु पार्श्वस्थादि के ससर्ग होने के पहले धर्म प्रिय था। धर्म को प्राणो से भी प्यारा मानता था, वही साधु चारित्र हीन साधुओं के सम्पर्क से क्रमश. लज्जा ग्लानि पाप कार्यों मे प्रवृत्ति तथा उसमे शङ्का रहित होकर पार्श्वस्थादि साध्वाभासो के समान चारित्र हीन बन जाता है।

यद्यपि कोई संसार से भय भीत साधु पार्श्वस्थादि के ससर्ग से वचन और कार्य द्वारा आगम विपरीत कोई कार्य नहीं करता है, तथापि पार्श्वस्थादि का समागम उनके प्रति प्रेम की वृद्धि करता है। कारण कि अनादिकाल से इस जीव ने समार मे पतन करने वाले इन्द्रिय सुख को अच्छा मान रखा है और उसी का सतत अनुभव करता रहा है। चारित्र मोहनीय कर्म का मन्द उदय होने पर सद्गुरु के सयोग से उसने सयम ग्रहण किया है, किन्तु स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने वाले इन्द्रियो के दास पार्श्वस्थादि का ससर्ग पाकर पुन वह सासारिक सुख में झुक जाता है और उनमे स्नेह बढ जाता है। स्नेह के बढने से उनमे विश्वास होने लगता है। पश्चात् वह साधु स्वय पार्श्वस्थादि बन जाता है। जैसे नूतन मिट्टी के पात्र मे सुगन्धित पदार्थ रखने से वह सुगन्ध मय हो जाता है एव मिट्टी का तैल भरने पर उसमें वैसी ही दुर्गन्ध आने लगती है। वैसे ही पार्श्वस्थादि के ससर्ग से उस साधु में पार्श्वस्थादि के गुणों का सक्रमण उत्पन्न हो जाता है। यह उचित ही है जो वस्तु जिसका ससर्ग करती है, वह कुछ समय मे तन्मय हो जाती है। जैसे कसैला आवला शक्कर के रस का ससर्ग पाकर अपने कसैले स्वभाव को छोडकर मीठा हो जाता है। और अग्नि के सयोग से शीतल जल अपने स्वभाव का त्याग कर उष्ण हो जाता है। वैसे दुर्जन मनुष्यो के ससर्ग से सज्जन

प्रकृति का मनुष्य भी दुर्जन बन जाता है। अतएव हे साधुओ! रत्नत्रय से पतित आरम्भ परिग्रहादि मे आसक्त चारित्र हीन पार्श्वस्थादि की सङ्गति न करो। तुम ऐसा न समझो कि हम शुद्ध हैं तो उन (पार्श्वस्थादि) का ससर्ग हमारा क्या कर सक्ता है क्योंकि निमित्तो की प्रबलता कम नहीं होती।

हे सयमियो! तुममे से कई साधु ऐसा भी प्रश्न कर सकते हैं कि जो मुनीश्वर अति दृढ सयमी हैं, जिनका चित्त मेरु समान अचल है। यदि वे पार्श्वस्थादि के साथ सम्पर्क रखें तो उनको क्या हानि हो सकती है?

इसका उत्तर यह है कि निमित्त मे अचिन्त्य शक्ति है। प्राचीन काल के अनेक धीर वीर महर्षि भी विपरीत निमित्त को पाकर चारित्र से पतित होगये हैं। श्री माघनन्दी समान महामुनि भी प्रतिकूल निमित्त को पाकर संयम से हाथ धो बैठे थे, तो आधुनिक अल्पशक्ति के धारक साधुओ की कहा चली। मान भी लें कि अब भी किसी महा मनस्वी तीव्र तपस्वी पर पार्श्वस्थादि का ससर्ग कुछ भी असर नहीं कर सक्ता तथापि उनका लोकापवाद तो अवश्यभावी है। साधारण लोग समझने लगते हैं कि पार्श्वस्थादि सयम भ्रष्ट साधुओ का सङ्ग करने वाला यह साधु भी सयमहीन प्रतीत होता है, अन्यथा यह पार्श्वस्थादि के साथ सम्पर्क क्यों रखता।

कुत्सित आचरण वाले व्यक्ति का ससर्ग उग्र तपस्वी निर्मल चारित्र के पालक मुनि को भी दोषी प्रसिद्ध करता है और दुर्जन के दोष का फल सज्जन को भोगना पड़ता है। जैसे किसी चोर के साथ सम्बन्ध रखने वाला साहूकार भी चोर के अपराध से दोषी माना जाता है। पुलिस चोरी के अभियोग मे साहूकार को गिरफ्तार कर लेती है। तथा असयमी (भ्रष्ट सयमी) के साथ रहने से सयमी का भी चारित्र लुट जाता है। जैसे-किसी धनिक के साथ लुटेरो के द्वारा निर्धन मनुष्य भी लुट जाता है। जब मनुष्य दुश्चरित्र मनुष्यो के साथ रम जाता है, तब उसे सज्जन पुरुषो का साथ नहीं सुहाता है, जैसे पित्तज्वर के रोगी को मिश्री मिला दूध भी कडुवा लगता है। इसलिए दुर्जनों का सङ्ग कदापि मत करो। सदा सत्पुरुषो के सङ्ग मे ही रहो। देखो सत्पुरुषों के सङ्ग मे रहने वाला दुर्जन भी पूजा जाता है, प्रतिष्ठा पाता है। जैसे कि पुष्प माला मे पिरोया हुआ सूत का डोरा भी बडे २ राजा महाराजाओं और देवी देवताओं के गले मे शोभा आदर पाता है।

यद्यपि तुम ससार के दु:खो से भयभीत हो और सयम के पालन मे रत हो, तथापि तुम को अपने सवेग व संयम गुण की वृद्धि करने के लिए सविग्न और सयमी मुनिराजो के साथ ही रहना चाहिए। देखो, सङ्घ की शोभा साधु सख्या से नहीं होती, किन्तु सच्चारित्र से होती है। इसलिए लाखो पासत्थादि (पार्श्वस्थादि) चारित्र शून्य साधुओ की अपेक्षा एक सुशील मुनि अति श्रेष्ठ है। क्योंकि कुशील, सयम-हीन, शिथिलाचारी साधुओ के आश्रय से दर्शन शीलादि का ह्रास होता है और सुशील साधु के निमित्त से सङ्घ मे शील, दर्शन, ज्ञान और चारित्र की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। अत उत्तम शील व सयम के धारक मुनि का ही आश्रय करो। देखो, कडुवी तूम्बी मे रखा हुआ मिश्री

स ग

मिश्रित दुग्ध भी कड़ुवा हो जाता है। और इक्षुकी जड़ मे सींचा गया खारा जल भी मिष्ट हो जाता है,क्योकि वस्तु को जैसा आश्रय मिलता है वह वैसी ही परिणत होती है। अत. तुम भी सत्पुरुषो की ही सङ्गति करो।

तुमको सदा हित, मित व प्रिय वचन ही बोलना उचित है। कभी किसी के प्रति अप्रिय तथा अहितकर वचन उच्चारण मत करो। किन्तु ऐसा प्रिय वचन भी न कहो जिससे दूसरे की अवनति या दुर्गुणो की वृद्धि की सम्भावना हो। यदि किसी के हित के लिए अप्रिय वचन बोलना आवश्यक हो तो उसकी उपेक्षा न करो। जीर्ण ज्वर से पीडित रोगी के लिए कटुक औषधि ही पथ्य (हितकर) होती है वैसे ही तुम्हारा कटु भाषण भी उसके दुर्गुण का नाश करने वाला होगा। अतः दूसरे के उपकार की ओर भी तुम्हारा ध्यान रहना चाहिए।

परम भट्टारक देवाधिदेव तीर्थंकर भी भव्य प्राणियो के कल्याण के लिए धर्मविहार करते हैं। उन्होने दूसरों के दुःखोद्धार करने की उत्कट भावना से ही तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया है। स्वपर के आध्यात्मिकोत्थान के लिए कमर कसे रहना महान् पुरुषों का परम कर्त्तव्य है और परोपकार ही महत्ता का लक्षण है। किसी ने कहा है—

"क्षुद्राःसन्ति सहस्रशः स्वभरणव्यापारमात्रोद्यताः।
स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणीः ॥
दुष्पूरोदरपूरणाय पिबति स्रोतःपतिं वाड़वो।
जीमूतस्तु निदाघसंभृतजगत्संतापविच्छित्तये ॥ १ ॥"

अर्थ—ऐसे क्षुद्र प्राणी इस ससार मे हजारों हैं, जो अपने भरण पोषणादि (स्वार्थ सिद्धि) करने मात्र मे तत्पर हैं। किन्तु जो परार्थ को ही स्वार्थ मानते हैं, ऐसे सत्पुरुषों मे अग्रणी (अग्रेसर) पुरुष पुगव एक आध ही होते हैं। वे ही धन्य हैं। वडवानल अपने विशाल उदर को भरने के लिए सर्वदा समुद्र का जल पीता है। वह क्षुद्र मानव के समान स्वार्थ परायण है। परन्तु मेघ ग्रीष्म काल के सताप से पीडित समस्त ससार के प्राणियों के सताप को मिटाने के लिए ही समुद्र के जल को पीता है। वह जगत् में महान् माना जाता है और उसकी ओर समस्त संसार की आशा भरी दृष्टि लगी रहती है, तथा उसके दर्शन मात्र से जगत के जन्तु आनन्द का अनुभव करते हैं। इसलिए हे मुनियो! तुम्हें सदा स्वपर कल्याण की ओर ध्यान देना चाहिए।

तुम्हारा सब आचरण व कर्त्तव्य ही ऐसा होना चाहिए जिसका निर्दोष पालन करने से जगत् के प्राणियो का स्वतः उपकार हो

जाता हो। तुम्हारे परम वीतरागता का उद्योत करने वाले दिगम्बर भेष के दर्शन मात्र से जीवो के अन्तःकरण मे धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। तुम्हारे इन्द्रिय सयम की पराकाष्ठा लोगों को सयम का पाठ सिखाती है। तथा तुम्हारा प्राणी सयम (छह कायके जीवो की रक्षा का व्रत) अखिल विश्व के छोटे बडे सब जीवो को अभयदान देता है तथा तुम पर अटूट श्रद्धा और भक्ति का सञ्चार कराता है। तुम्हारा दिगम्बर शुद्ध स्वरूप ही सब प्राणियों के प्रतीति का कारण है। तुमने जो अहिंसादि व्रत धारण कर रक्खे हैं उनके कारण तुम्हारे आत्मा मे निरन्तर अति निर्मल विचार धारा बहा करती है। दया क्षमा निर्लोभता की पराकाष्ठा तुम मे ही नजर आती है। इसलिए तुम अपनी पदमर्यादा को कभी मत भूलो।

यदि तुम म भी सयो।वश कोई शैथिल्य आजावे या तुम्हारे व्रतादि मे कोई त्रुटि दिखाई दे और गुरु आदि तुमको कटु कठोर शब्दो से सन्मार्ग मे प्रवृत्त करने के लिए उद्यत हों तो तुम्हें उनका उपकार मानकर कृतज्ञ होना चाहिए। गुरु आदि ने अपने कल्याण के काय स्वाध्याय ध्यानादि मे विघ्न करके जो मेरे हित की कामना स यह शिक्षा दी है, यह उनका महान् अनुग्रह है, बडा भारी उपकार है, शिक्षा को शिरोधार्य करना मेरा परम कर्त्तव्य है-इत्यादि सोचकर तुम्हें परिणाम मे हितकर कटु कठोर भाषण का उत्तम औषधि के समान आदर करना उचित है।

हे साधुवर्ग! तुम आत्म-प्रशसा कभी मत करो। जो अपने मुँह से अपनी प्रशसा करता है, वह अपने यश का नाश करता है। वह सत्पुरुषो की गोष्ठी मे तृण के समान लघु (हल्का) माना जाता है। उसका यश नष्ट होता है। जैसे खटाई से दूध फट जाता है, वैसे ही आत्म-प्रशसा से यश, अपयश का स्थान ग्रहण कर लेता है।

जो अपनी आप प्रशंसा करता है उसके गुणों मे लोगो को सन्देह होने लगता है। कस्तूरी की सुगन्ध वचन से प्रकट नहीं की जाती है। वह तो स्वय फैलकर अपना स्वरूप व गुण प्रकट कर देती है। यदि कस्तूरी का व्यापारी अपनी कस्तूरी की सुगन्ध की प्रशंसा का पुल बांधने लगता है तो लोगो को उसकी कस्तूरी मे सन्देह पैदा हो जाता है कि इसकी कस्तूरी नकली मालूम देती है। कोई नपुसक जैसे स्त्री का भेष धारण कर स्त्री के समान हाव भाव करता है, किन्तु वह स्त्री नहीं हो पाता है।

गुणवान् सत्पुरुष का स्वभाव होता है कि कोई गुणग्राही सज्जन उसके गुण की प्रशसा करने लगता है तो उसका मुख नीचे झुक जाता है। वह अपने गुणों का वर्णन अपने मुख से कैसे कर सकता है? जो अपने गुण की स्वय प्रशसा नहीं करता है और अपने कार्य द्वारा गुण प्रकाशित करता है वह ससार मे भूरि भूरि प्रशसा का पात्र होता है। विद्वानो ने कहा है :—

"यदि संति गुणास्तस्य निकषे सन्ति ते स्वयम् ।
न हि कस्तूरिकागन्धः शपथेन विभाव्यते ॥ १ ॥"

अर्थ—किसी व्यक्ति मे यदि गुण विद्यमान हैं तो गुणग्राही मनुष्यो के परीक्षा रूपी कसौटी पर कसे जाने से वे स्वयं ही प्रगट हो जाते हैं। क्योकि कस्तूरी की गन्ध सौगन्ध खाने से नहीं मानी जाती, किन्तु वह स्वय प्रकाश में आजाती है।

अपने गुणो का वचन द्वारा कथन करना तो उनका नाश करना है और गुणों के अनुकूल प्रवृत्ति करना ही उनको प्रकाशित करना है। इसलिए हे मुनियो। तुम कभी अपने मुह से अपने गुणों का कीर्तन न करो। तुम्हारा सदाचार मे प्रवर्त्तन ही तुम्हारे गुणों को प्रकाशित करने वाली दुन्दुभि है। यदि गुणहीन पुरुष तुम्हारे गुण को न समझ पावें तो कोई हानि नहीं है। उनके सामने तुम अपने गुणों का कीतन करने पर भी महत्ता नहीं पा सकते, क्योंकि वे तुम्हारे गुणो का महत्त्व ही नहीं समझते हैं। और गुणवानों व गुणज्ञो के मध्य मे तुम्हारे गुण बिना कहे ही प्रगट हो जावेंगे। अत. किसी भी जगह अपने गुण वचन द्वारा कभी प्रगट मत करो। वचन से अपने गुण प्रगट करने वाला महत्त्व न पाकर लघुता ही पाता है। कहा है :—

निर्गुणो गुणिनां मध्ये ब्रुवाणः स्वगुणं नरः ।
सगुणोऽप्यस्ति वाक्येन निर्गुणानामिव ब्रुवन् ॥ १ ॥

अर्थ—गुणवान मनुष्य भी जैसे गुणहीन मनुष्यो मे वचन द्वारा अपने गुणो का वर्णन करता हुआ अनादर पाता है, वैसे ही गुणहीन मनुष्य गुणवानो मे अपने गुण का बखान करके अपमान पाता है।

इसका आशय यह है कि गुणवान मनुष्य को अपनी प्रशंसा अपने आप कभी नहीं करना चाहिए। अपने मुह से अपनी प्रशसा करने वाले की महिमा घटती है और निरादर होता है।

हे मुनियो ! तुम अपने सङ्घ के अथवा पर सङ्घ के किसी मुनि की निन्दा मत करो। क्योंकि परनिन्दा संसार वृक्ष को विस्तृत करने मे जल के समान है। इस प्रकार परनिन्दा परभव में दुःख उत्पन्न करने वाली है। तथा परनिन्दा से इस भव मे अनेक प्रकार के शारीरिक कष्ट भोगने पडते हैं। वैर उत्पन्न होता है। दुःख व शोक होता है। परनिन्दा करने वाले को सदा भय बना रहता है उसकी लोक में लघुता (हलकापन) प्रगट होती है, तथा सज्जन पुरुषो का अप्रिय बन जाता है।

प्रायः मनुष्य अपने को अच्छा प्रगट करने के लिए दूसरों की निन्दा करता है। किन्तु उसकी यह निन्द्य प्रवृत्ति नितान्त मूर्खता को प्रगट करती है। क्या कोई रोगी दूसरे को कड़ुवी औषधि पिलाकर उस रोग से मुक्त हो सकता है। जो पर निन्दा करके अपने गुण का प्रकाश करने की चेष्टा करता है, वह मनुष्य अपने को उज्ज्वल बनाने की इच्छा से अपने शरीर के चारों तरफ कज्जल की वृष्टि करता है। अर्थात् जैसे कज्जल को चारो ओर उडाने वाला स्वय अछूता नहीं बचता है, उसी प्रकार दूसरो की निन्दा करने वाला स्वय निन्दा का पात्र होता है। तुम सत्पुरुष हो। सत्पुरुष उसे कहते हैं, जो सत्पुरुष का लक्षण धारण करे। शास्त्र कारो ने बताया है कि :—

"अप्पो वि परस्स गुणो सप्पुरिसं पप्प बहुदरो होदि।
उदए व तेल्लविंदू किह सो जंपिहिदि परदोसं ॥"

अर्थ—परकीय स्वल्प गुण भी सत्पुरुष को पाकर विशाल रूप धारण कर लेता है। जैसे जल में गिरी हुई तैल की बूंद विशाल काय हो जाती है। अर्थात् जैसे जल के सम्बन्ध को प्राप्त हुई तैल की बूंद को जल चारो ओर विस्तृत कर देता है वैसे ही सत्पुरुष छोटे से परकीय गुण की प्रशसा करके उसे महान् बना देता है।

अतएव हे मुनियो! तुम सदा ऐसा प्रयत्न करो, जिसके कारण ससार के समस्त विवेकी मनुष्य तुम्हें धन्य धन्य कहें और मुक्त कण्ठ से कहने लगें कि ये मुनि अखण्ड ब्रह्मचर्य के धारक हैं। ये प्रकाण्ड विद्वान् अनेक शास्त्रो के वेत्ता हैं, स्वमत और पर मतो के रहस्य के ज्ञाता है। ये किसी भी प्राणी को लेशमात्र दुःख नहीं देते हैं। इनका अनुपम चारित्र गङ्गा नदी के जल के समान निर्मल है। ये अपने गुणों का पूर्ण पालन करते हैं। धन्य है, इन महात्माओ को जो ससारी प्राणियों को अपना आदर्श स्वरूप दिखाकर धर्म मे जागृति उत्पन्न कर रहे हैं। इस प्रकार का तुम्हारा धवलयश ससार मे फैल कर धर्म प्राण जनता को सन्मार्ग मे प्रवृत्ति कराने वाला सिद्ध होता है। यही जैन धर्म की उत्तम से उत्तम प्रभावना है। तथा तुम्हारे आत्म कल्याण का मुख्य उपाय है।

इस पकार पूर्व आचार्य ने सङ्घ के नवीन आचार्य और सम्पूर्ण मुनिराजों को उपदेश दिया।

इस उपदेश को सुनकर सम्पूर्ण सङ्घ के मुनि समूह ने एक स्वर से कहा–हे स्वामिन् आपके इस मङ्गलमय उपदेश का हम सब हृदय से स्वागत करते हैं। यह अमृतमय कल्याण करने वाली शिक्षा हृदय पटल पर जीवन भर अङ्कित रहेगी तथा मोक्ष मार्ग की यात्रा मे दीपक का काम करेगी। इस प्रकार कहकर आत्म हित करने के लिए समस्त सङ्घ से पृथक् होने वाले गुरुदेव के गुणों का स्मरण करके भक्ति से आर्द्रचित्त होकर सम्पूर्ण साधुओं के नेत्रो से आनन्दाश्रु की धारा बहने लगती है और हाथ जोड़कर गुरुदेव के सम्मुख खड़े होकर प्रार्थना

करते हैं—

हे भगवन् ! आपके उपकार का वर्णन करने के लिए हमारे शब्द कोश मे कोई शब्द नहीं है। हम इसे कभी नहीं भूल सकते। अमुक कार्य करो, अमुक कार्य मत करो, ऐसी शिक्षा देकर आपने हमको सत्पथ पर लगाया है। ऐसी शिक्षा भाग्यवान् पुरुष ही पाता है। जिसने पूर्व भव मे तपस्या की है, उसे ही आप समान गुरुदेव का शरण मिलता है। हम जगत मे परम धन्य हैं जिन्हें ऐसा लोह पारस का सा सम्बन्ध उपलब्ध हुआ है। लोह समान अधम हमारे आत्मा ने पारस मणि समान आपके सयोग को पाकर सुवर्णवत् उत्तम बनने की योग्यता प्राप्त की है। आपने ससार सागर के अगाध पापमय जल मे डूबते हुए हमको हस्तावलम्बन देकर उबारा है।

हे प्रभो ! हमने अज्ञान से, प्रमाद से अथवा राग द्वेषादि विकारों के आवेश मे आकर जो आपकी आज्ञा का लोप किया हो, परिणाम मे हितावह आपके आदेश की अवहेलना कर जो प्रतिकूल प्रवृत्ति की हो, उन सब अपराधो की हम हाथ जोड कर क्षमा याचना करते हैं।

हे स्वामिन् ! आपने हम हृदय हीनो को सहृदय बनाया है। आपके सदुपदेश ने हमारे अन्त.करण मे विवेक सूर्य का उदय किया है। जिससे हम आत्म-हित व अहित को समझने लगे हैं। आपने हमको शास्त्रो का अध्ययन करवाकर सकर्ण और सनेत्र बनाया है। अर्थात् शास्त्रों को पढाकर ज्ञान सूर्य का प्रकाश कर कर्ण और नेत्रो को सफल बनाया है। तथा मोक्ष मार्ग मे चलाकर और जीव रक्षा की निमित्त भूत प्रतिलेखादि क्रियाओ मे प्रवृत्ति करवाकर हमारे चरण और हस्त को कृतार्थ किया है। इस प्रकार मनुष्य जीवन को सफल करने वाले सन्मार्ग (मोक्षमार्ग) मे लगाकर आपने हमको कृतार्थ किया है।

हे भगवन् ! आप सम्पूर्ण विश्व के प्राणियो के हित कर्त्ता हैं। आप ज्ञान और तप मे महान हैं। आप समस्त जगत् के जीवो के स्वामी है। आप अब प्रवास करने वाले है, अथवा सन्यास मरण को अङ्गीकार करने वाले है। अत हमको सब देश शून्य दिखाई दे रहे हैं तथा सब क्षेत्र अन्धकार मय प्रतीत हो रहे हैं। हे स्वामिन् ! आप शील से मण्डित और गुणो से भूषित है और ज्ञान के भण्डार हैं। आप सब जीवो को दु ख से छुडाकर सुख प्रदान करने वाले है। अब आप प्रवास करने वाले अथवा समाधिमरण धारण करने वाले हैं। ऐसे समय मे हमको सब देश शरण हीन प्रतीत हो रहे हैं।

इस प्रकार वियोग पीडित साधुओ के हृदय द्रावक करुणार्द्र वचन को सुनकर वस्तु स्वरूप के ज्ञाता आचार्य समस्त को सान्त्वना देकर आत्महित कारक रत्नत्रय मे अतिशय प्रवृत्ति करने मे उद्युत हुए आराधना के लिए परसङ्घ मे गमन करने की अभिलाषा करते हैं।

शङ्का—सङ्घ के आचाय सन्यास ग्रहण करने के लिए पर सङ्घ मे क्यो जाते हैं, अपने सङ्घ मे ही क्यो नहीं रहते हैं ?

समाधान-- यदि आचार्य अपने सङ्घ मे रहकर ही सन्यास ग्रहण करें तो आज्ञा-भङ्ग, कठोर भाषण, कलह, विषाद, खेद, निर्भयता, स्नेह, करुणा, और ध्यान-विघ्न आदि अनेक दोष उत्पन्न होते है। वह इस तरह है :—

यदि आचाय सङ्घ मे रहें और वृद्ध साधु अयश जनक कार्य कर बैठें तथा गृहस्थ की ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक क्षुल्लक कलह करने मे प्रवृत्त हो जाय तथा समाधि मरण की विधि के अज्ञाता शिष्य मुनि तीक्ष्ण स्वभाव वाले हो और आचार्य की आज्ञा का उल्लघन करने लग जावे तो आचार्य के चित मे अत्यन्त क्षोभ उत्पन्न हो सकता है।

शङ्का—परसङ्घ मे भी शिथिलाचारी वृद्ध मुनि, कलहकारी क्षुल्लक गृहस्थ तथा सन्यास विधि के अज्ञाता शिष्य साधु हो सकते हैं। वहा पर भी आचार्य के चित मे क्षोभ उत्पन्न होने की सम्भावना बनी रह सकती है।

समाधान—परसङ्घ मे जाकर सन्यास मरण विधि का आचरण करने वाले आचार्य वहा के साधुओं को आज्ञा-नहीं देते हैं। उन साधुओं को आज्ञा देने का कर्तव्य उस सङ्घ के आचार्य का है। इसलिए वहा आज्ञा-भङ्ग की सम्भावना नहीं है। यदि किसी समय आज्ञा करने का प्रसङ्ग उपस्थित होजावे और साधु या क्षुल्लक आज्ञा न माने तो आचार्य के चित मे क्षोभ नहीं होता है। आचार्य को उसी समय विचार होने लगता है कि मैंने इनपर कोई उपकार तो किया नहीं मेरे आदेश का पालन ये क्यो करने लगे? इस प्रकार चित मे समाधान हो जाता है।

स्थविर मुनि, कलह मे तत्पर क्षुल्लक गृहस्थ तथा मार्गानभिज्ञ शिष्य मुनि को सयम विरुद्ध आचरण करते हुए देखकर आचार्य, उनके प्रति कठोर शब्दो का प्रयोग करेंगे। और बहुत काल का परिचय होने से वे वृद्ध मुनि, क्षुल्लक व शिष्य साधु भी आचार्य के प्रति कठोर वचन उच्चारण करने लग जावें तो आचाय के चित मे अत्यन्त अशान्ति उत्पन्न होने की पूर्ण सम्भावना रहती है। इसी प्रकार-वृद्ध साधु, क्षुल्लक गृहस्थ या छोटे२ साधुओ को परस्पर कलह शोक सतापादि उत्पन्न करते हुए देखकर आचार्य के चित मे अशान्ति उत्पन्न हो सकती है। अथवा क्षुद्र या महान रोग या भयानक व्याधि से पीडित सङ्घ के शिष्यो को देखकर आचार्य के मन में मोह जन्य संताप उत्पन्न हो सकता है तथा उनपर स्नेह का प्रादुर्भाव होने से महान दुःख उत्पन्न होन की सम्भावना बनी रहती है।

समाधिमरण मे तत्पर हुए आचाय को क्षुधा पिपासा आदि की बाधा को शान्ति से सहन करना चाहिए। किन्तु वे अपने सङ्घ मे निर्भय हुए आहार जलादि की याचना करने लगेंगे। अथवा त्यक्त आहारादि का सेवन करने लगेंगे। तथा परित्यक्त भोजन पान के पदार्थों का भी सेवन करने लगेंगे उस समय उनको निवारण करने मे कौन समर्थ होगा? अपने सङ्घ मे रहने से ऐसे अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। इसलिए आचार्य का अपने सङ्घ मे रहकर समाधि मरण का साधन करना आगम मे निषेध किया गया है।

जिनका आचार्य ने वाल्यावस्था से पालन किया है ऐसे वाल मुनियो को, वृद्ध मुनियो को और अनाथ आर्यिकाओ को देखकर अब इनसे मेरा अत्यन्त वियोग होगा, ऐसा विचार होने से आचार्य के मनमे स्नेह का आविर्भाव हो सकता है। तथा समाधि मरण के लिए उद्यमशील आचार्य को देखकर छोटे २ वाल मुनि, ब्रह्मचारी, क्षुल्लक, आर्यिका आदि वियोग जन्य दुःख से आर्त्तनाद करने लगते हैं। उनकी दु.ख भरी रोने की ध्वनि को सुनकर और नेत्रो से वहती हुई अविरल अश्रुधारा को देखकर आचार्य के अन्तःकरण मे कारुण्य का उदय हो आता है और उससे उनके धर्म्यध्यान या शुक्लध्यान के स्थान मे आर्त्तध्यान उत्पन्न हो सकता है।

उपर्युक्त सब दोष-अपने सघ मे रहकर समाधिमरण की साधना करनेवाले आचार्य को ही नहीं होतेहैं,वल्कि जो आचार्य समान उपाध्याय और प्रवर्त्तक मुनि होते हैं, उनके आत्मा मे भी इन दोषो की सम्भावना रहती है। अतएव इन दोषो से बचने के लिए आचार्यादि समाधि मरण का साधन करने के लिए परसघ मे प्रवेश करते हैं।

समाधि मरण की साधना के लिए आये हुए आचार्यादि को देखकर परसंघ के आचार्य व अन्य साधुवर्ग के मनमे उत्कट आल्हाद उत्पन्न होता है। हमारा अहोभाग्य है जो हम पर प्रेम व अनुग्रह करके अपने सघ का परित्याग कर ये महाभाग हमारे सघ मे पधारे हैं, ऐसे प्रेम से पूरित चित्त परसघ स्थित मुनिराज आगन्तुक की सेवा करने के लिए तत्परता दिखाते हैं और दत्तचित्त होकर आगन्तुक की परिचर्या करते हैं।

जो आगन्तुक आचार्यादि साधु के समाधिमरण की व्यवस्था करने वाला निर्यापकाचार्य होता है वह शास्त्र का वेत्ता और शुद्ध चारित्र का पालन करने वाला होना चाहिए। तथा उसका प्रधान कर्त्तव्य होता है कि वह आगन्तुक क्षपक (साधु) का पूर्ण आदर-सत्कार करे।

निर्यापकाचार्य आगम का वेत्ता, ससार से भयभीत, पाप कर्मों से डरने वाला, चारित्र का सुचारुता से पालन करने वाला और सन्यास विधि की व्यवस्था करने मे निपुण होता है। ऐसे आचार्य के पाद मूल मे समाधि मरण का साधक साधु रहकर अपनी आराधना की सिद्धि करता है। जिसमे उक्त गुण नहीं है,वह निर्यापकाचार्य होने योग्य नहीं माना गया है इसलिए समाधिमरण की सिद्धि के अभिलाषी को अपनी अपूर्व आराधना को सफल करने के लिए निर्यापकाचार्य के स्वभाव गुण आदि की परीक्षा करके उसकी शरण ग्रहण करना उचित है।

निर्यापकाचार्य के अन्वेषण का क्रम

प्रश्न— समाधिमरण का अभिलाषी यति निर्यापकाचाय का अन्वेषण करता है, उसका समग्र प्रमाण क्या है ? तथा जिस विधि से अन्वेषण करता है, वह विधिक्रम क्या है ?

उत्तर—समाधिमरण का आकांक्षी आचार्य अथवा अन्य साधु समाधिमरण की साधना के लिए निर्यापकाचार्य का अन्वेषण (तलाश) एक वर्ष, दो वर्ष, तीन वर्ष, अधिक से अधिक बारह वर्ष तक करता है। आगम मे उसका क्रम विधान निरूपण किया गया है। भगवती आराधना मे कहा है—

एकं व दो व तिण्णि य बारसवरिसाणि व अयरिसंतो।
णिज्जवयणमणुण्णादं गवेसदि समाधिकामो दु ॥ ४०२ ॥ भग. आ.

अर्थ—समाधिमरण की कामना करने वाला साधु या आचार्य जिनागम के रहस्य के वेत्ता निर्यापकाचार्य की गवेषणा (तलाश) करता है। उसका काल एक वर्ष दो वर्ष तीन वर्ष उत्कृष्ट बारह वर्ष पर्यन्त कहा गया है। अर्थात् निर्यापकाचार्य की तलाश करने मे साधु खेद रहित होकर बारह वर्ष तक भ्रमण कर सकता है।

भावार्थ—आचारवान् आदि गुणों से मण्डित आचार्य ही निर्यापकाचार्य समाधिमरण की साधना करवाने मे समर्थ हो सकते हैं। उनको ढूढने के लिए साधु सातसौ योजन पर्यन्त अथवा इससे भी अधिक दूर क्षेत्र मे विहार करता है। इस विहार काल का परिमाण बारह वर्ष तक का हो सकता है। निर्यापकाचार्य को ढूढने मे साधु बारह वर्ष तक व्यतीत कर सकता है।

प्रश्न—निर्यापकाचार्य की गवेषणा करने के लिये विहार करने वाले साधु का क्रम विधान क्या है? किस विधि से वह साधु निर्यापकाचार्य का अन्वेषण करता है?

उत्तर—निर्यापकाचार्य के अन्वेषण करने के लिए विहार करने वाले की विधि पाच प्रकार की है। १ एक रात्रि प्रतिमा कुशल, २ स्वाध्याय कुशल, ३ प्रश्न कुशल ४ स्थडिलशायी और ५ आसक्ति रहित ये पाच विधिया हैं।

प्रश्न—एक रात्रि प्रतिमा कुशल किसे कहते है?

उत्तर—निर्यापकाचार्य की तलाश मे निकलने वाला साधु तीन उपवास करता है और चतुर्थ रात्रि मे ग्राम या नगरादि के बाहर प्रदेश मे अथवा श्मशान मे पूर्व दिशा या उत्तर दिशा मे अथवा जिधर जिन प्रतिमा हो उधर मुह करके दोनो पावो के मध्य चार अगुल का अन्तर रखकर खडा हुआ नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि को निश्चल करके शरीर से ममत्व का परित्याग करता है। अर्थात् चित्त को स्थिर कर कायोत्सर्ग करता है। मनुष्य तिर्यंच देव तथा अचेतन द्वारा किये गये उपसर्ग का शान्ति से सहन करता है। सूर्योदय तक वह मुनि भय से उस स्थान को छोड कर न तो आगे पीछे होता है और न नीचे गिरता है। यह एक रात्रि की प्रतिमा है। इसमे जो कुशल होता है उसे

उसको एक रात्रि प्रतिमा कुशल कहते हैं।

प्रश्न—स्वाध्याय-कुशल किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो साधु स्वाध्याय करके दो कोश चलकर जिस क्षेत्र में आहार मिलने की योग्यता हो ऐसे क्षेत्र की वसतिका में जाकर ठहरता है अथवा यदि मार्ग अधिक हो तो सूत्र पौरुषी या अर्थ पौरुषी के समय मङ्गल करके आगे भोजन के लिए विहार करता है उस साधु को स्वाध्याय कुशल कहते हैं।

प्रश्न—प्रश्न-कुशल किसे कहते हैं ?

उत्तर—मार्ग मे पड़ने वाले स्थानों में विहार करते हुए मुनियों, आर्यिकाओ, बाल वृद्ध युवक श्रावकों को पूछता हुआ साधु निर्यापकाचार्य का अन्वेषण करता है। उसे प्रश्न कुशल कहते हैं।

प्रश्न—स्थंडिलशायी किसे कहते हैं ?

उत्तर—जहां भिक्षा भोजन उपलब्ध हुआ वहां काय शोधन के लिए (मलादि का त्याग करने के लिए) स्थंडिलभूमि (प्रासुक स्थान) का अन्वेषण करता है, रात्रि को स्थंडिल भूमि पर सोता है उसे स्थंडिलशायी कहते हैं।

प्रश्न—आसक्ति रहित किसको कहते हैं।

उत्तर—जो साधु निर्यापकाचार्य का अन्वेषण करने को निकला है, वह किसी देश, नगर, मनुष्य या भोजनादि मे आसक्ति रहित होकर विहार करता हुआ अपने संभोग के योग्य साधुओं के साथ मे मिलकर विहार करता है। अथवा एक दो साधु को अपने साथ मिलाकर विहार करता है उसे आसक्ति रहित कहते हैं।

प्रश्न—समाधिमरण करने की अभिलाषा से कोई साधु या आचार्य विहार कर रहा है और अकस्मात् वाणीभङ्ग हो जावे, अर्थात् मूकावस्था प्राप्त होजावे या मृत्यु को प्राप्त होजावे तो क्या वह आराधक माना जाता है ?

उत्तर—उसका उद्देश यह था कि गुरु या आचार्य के निकट जाकर अपने सम्पूर्ण दोषों की आलोचना करूंगा, इस अभिप्राय से निकले हुए साधु विहार करते हुए गूंगे होजावें या मृत्यु को प्राप्त होजावें तो वे आराधक ही माने गये हैं।

शङ्का—जिन्होंने गुरु के समीप आलोचना नहीं की है तथा गुरु प्रदत्त प्रायश्चित का भी आचरण नहीं किया है वे साधु या आचार्य आराधक कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—अपराध करके जो साधु आलोचना नहीं करता है, वह मायावी होता है और जिसके हृदय मे माया शल्य रहती है, उसके रत्नत्रय की निर्मलता नहीं होती है। ऐसा सोचकर जिन्होंने अपने अन्तः करण मे शल्य का उद्धार करने का निश्चय किया है; जिनके चित्त मे दुःख से परिपूर्ण ससार से भय उत्पन्न हुआ है, यह शरीर अपवित्र विनश्वर निःसार और सदा दुःख देने वाला है, तथा इन्द्रिय सुख आपात (प्रारम्भ मे) रमणीय अतृप्ति जनक और तृष्णा को बढ़ाने वाला है ऐसा विचार कर जो शरीर और इन्द्रिय सुख से विरक्त हुए हैं, जिनके मनमे सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र मे अतिउत्कृष्ट श्रद्धा उत्पन्न हुई है तथा जो अपराध निवेदन करने के लिए गुरु के निकट जा रहे हैं ऐसे साधु या आचार्य के, वचन शक्ति का विनाश मार्ग मे ही होजावे या मरण को प्राप्त होजावे तो वे आलोचना किये बिना भी, आलोचना करने के निर्मल भाव होने के कारण रत्नत्रय के आराधक माने गये हैं।

गुरु का अन्वेषण करने के लिए आये हुए साधु या आचार्य को देखकर निर्यापकाचार्य सघ के साधु आदि का क्या कर्तव्य कर्म होता है, इसे दिखाते हैं।

आएसं एज्जंतं अब्भुट्ठिंति सहसा हु दट्ठूणं।
आणा संगह वच्छलदाए चरणे य णादुं च ॥ ४१० ॥ भग. आ.)

अर्थ—निर्यापकाचार्य संघ के साधु, अतिथि साधु को आते हुए देखकर शीघ्र खडे होजाते हैं। खडे होजाने से जिनाज्ञा का पालन होता है। आगत अतिथि का स्वागत व सग्रह होता है। वात्सल्य प्रदर्शन होता है। और आगत अतिथि के आचार व्यवहार का ज्ञान होता है।

सघ स्थित मुनि और आगन्तुक मुनि एक दूसरे की प्रतिलेखनादि क्रियाओं की परीक्षा करते हैं। कारण कि आचार्यों के आम्नाय व उपदेश भिन्न भिन्न होते हैं। इसलिए उनके आचार में भेद पाया जाता है। अतएव एक दूसरे की प्रतिलेखनादि आवश्यक क्रियाओं का आचरण देखते हैं। गुप्ति और समिति का पालन सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करते हैं।

आशय यह है कि अपने सघ को छोडकर जो साधु अपने चारित्र को उज्ज्वल करने आया है, वह भी सघ के मुनियो के स्वभाव, उनके सयम पालन व आवश्यक क्रियाओ के आचरणादि की परीक्षा करता है। तथा सघ के साधु भी आगन्तुक के स्वभाव उसके इन्द्रिय विजय रूप सयम और प्राणियों की रक्षा रूप सयम का निरीक्षण करते हैं। यह साधु प्रतिलेखनादि क्रियाओं मे किस प्रकार जीव रक्षा

पर ध्यान देता है तथा इसने इन्द्रियो के विषयो पर कितना विजय प्राप्त किया है तथा यह सामायिकादि आवश्यक क्रियाओ का यथा समय प्रमाद रहित होकर आचरण करता है या नहीं ? मन वचन काय की चचलता को रोकने की इसकी । शक्ति कैसी है ? इसका गमन, भाषण, भोजनादि आगम के अनुकूल है या नहीं ? इत्यादि बातों की परीक्षा करते हैं । शास्त्रों मे कहा है :—

वास्तव्यागन्तुकाः सम्यग्विविधैः प्रतिलेखनैः ।
क्रियाचारित्रबोधाय परीक्षन्ते परस्परम् ॥ ४२२ ॥
आवासयठागादिसु पडिलेहणवयणगहणणिक्खेवे ।
सज्झाए य विहारे भिक्खग्गहणे परिच्छंति ॥ ४१२ ॥ (भग आ)

अर्थात्—उस सघ मे निवास करने वाले व आगन्तुक मुनि परस्पर आचरण मे आने वाली क्रिया व चारित्र का पालन कैसा है इसकी परीक्षा करते हैं । एव आवास, स्थान, प्रतिलेखन, वचन, ग्रहण, निक्षेप, स्वाध्याय, विहार और भिक्षा ग्रहण की भी जाच करती है ।

अवश्य कर्त्तव्य को आवश्यक कहते हैं । अर्थात् सवर और निर्जरा के अभिलाषी साधु सामायिक प्रतिक्रमणादि क्रियाओ का अवश्य आचरण करते हैं । अतः उनको आवश्यक कहते है । उसका पालन समय पर और विधिपूर्वक करते हैं या नहीं करते ? इसका परस्पर परीक्षण करते हैं । मन वचन काय की शुद्धि पूर्वक दो नमस्कार बारह आवर्त्त तथा प्रत्येक दिशा की ओर एक एक नमस्कार करने से ४ नमस्कार करना इत्यादि क्रियाओ का पालन ठीक २ रीति से करते हैं, या नहीं ? इसका सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करते है । नेत्रों से उपकरणों का शोधन कर पिच्छी से मार्जन करना, देख शोध कर व पिच्छिका से मार्जन कर उपकरणादि को उठाना व रखना, हितमित प्रिय वचन बोलना, नेत्रो से चार हाथ भूमि देखकर गमन करना, निर्दोष भिक्षा का ग्रहण करना इत्यादि क्रियाओं मे सघ मे रहने वाले मुनि और आगन्तुक मुनि परस्पर परीक्षा करते हैं । योग्य काल मे और विधि पूर्वक सामायिकादि कर्त्तव्यो का पालन करते हैं या नहीं ? केवल द्रव्य सामायिक मे ही प्रवृत्ति करते हैं या भाव सामायिकादि मे भी प्रवृत्त होते हैं ? मुख से केवल सामायिकादि आवश्यक का पाठ (उच्चारण) करना तथा काय द्वारा सामायिकादि क्रिया करना, यह द्रव्य सामायिकादि कहे जाते हैं ? अशुभ मन वचन काय-योग का त्याग करना, तीर्थंकरो के गुणो तथा आचार्य उपाध्यायादि पूज्य पुरुषो के गुणो का स्मरण चिन्तन करना, अपने व्रत मे लगे हुए दोषों की गर्हा व निन्दा करना, त्याग करने योग्य पदार्थों का त्याग करना, शरीर से ममत्व का त्याग करना इत्यादि आवश्यको के पालन मे जो तल्लीनता दिखाई देती है उसे आवश्यक परिणति कहते हैं । इस आवश्यक परिणति की जाच परस्पर वास्तव्य और आगन्तुक साधु ध्यान पूर्वक करते हैं ।

स. प्र.

प्रतिलेखन परीक्षा

यह साधु, प्रतिलेखन क्रिया करने के पूर्व "यह प्रतिलेखन (पिच्छिका) योग्य है या नहीं ?" इस प्रकार देख भाल करता है या नहीं ? मृदु, लघु और सुकुमार प्रतिलेखन (पिच्छिका) से यत्नपूर्वक प्रमार्जन करता है या नहीं ? शीघ्र २ मार्जन करता हुआ दूर के जीवो को नीचे तो नहीं गिरा देता, उनको पीड़ा तो नहीं पहुँचाता या परस्पर विरोधी जीवों का सम्मिश्रण तो नहीं (सम्बन्ध) करता ? आहार करते हुए, आहार करने मे प्रवृत्ति करते हुए, अंडो को लेकर निकलते हुए, अपने निवास स्थान मे बैठे हुए या मूर्छा को प्राप्त हुए जीवों का तो प्रमार्जन नहीं करता है ? अर्थात् पिच्छिका से उन्हें तितर वितर करके पीड़ा तो नहीं देता है ? इसकी जाच करते हैं।

वचन परीक्षा

यह साधु कठोर वचन, परनिन्दा और आत्म प्रशंसा कारक वचन, आरम्भ व परिग्रह मे प्रवृत्ति कराने वाले वचन, मिथ्यात्व के पोषक वचन, मिथ्याज्ञान के उत्पादक वचन, असत्य वचन या गृहस्थों के उच्चारण करने योग्य वचन तो नहीं बोलता है ? जिसको उठाना या रखना हो उस वस्तु का तथा उनके आधार भूत स्थान का (दोनो का) प्रमार्जन करके उठाता या रखता है ? या विना प्रमार्जन किये ही उठाता धरता है ? इन बातों का परीक्षण करते हैं।

स्वाध्याय परीक्षा

यह कालादि की अशुद्धि का परिहार करके स्वाध्याय काल मे ही सूत्र ग्रन्थों का स्वाध्याय करता है या अस्वाध्याय कालादि मे भी सूत्र ग्रन्थो का स्वाध्याय करता है ? अथवा ग्रन्थ का उच्चारण व अर्थ का व्याख्यान किस प्रकार करता है ? इत्यादि स्वाध्याय की जाच करते हैं।

मलमूत्र क्षपण परीक्षा

मल मूत्रादि के त्याग करने की जाच इस प्रकार करते हैं कि मुनि अपने निवास स्थान से दूर प्रदेश मे एक हाथ या इससे अधिक परिमाण युक्त जीव जन्तु रहित, जीवो के विलादि से वर्जित, समतल स्थंडिल भूमि (जिसमे किसी का निषेध नहीं हो तथा जो मार्ग मे चलते हुए मनुष्यों की दृष्टि के अगोचर हो ऐसे) पर मलमूत्र का त्याग करता है या इसके विपरीत स्थान मे करता है ? इस प्रकार संघ के मुनि आगन्तुक साधु की व आगन्तुक मुनि सघ के साधुओ की परस्पर परीक्षा करते हैं–जाच करते हैं।

भिक्षा परीक्षा

भिक्षा की परीक्षा इस प्रकार करते है-भ्रामरी करते समय अर्थात् गोचरी मे निकला हुआ यह मुनि बिना परीक्षा किये शुद्ध अशुद्ध सब का ग्रहण करता है या नवकोटि से शुद्ध आगमोक्त भिक्षा करता है ?

प्रश्न—समाधिमरण की साधना के लिए आये हुए अतिथि मुनि को सघ के आचार्य अपने सघ मे शामिल करते हैं या नहीं ?

उत्तर—आगन्तुक मुनि विनय पूर्वक सघ के आचार्य की वन्दना करके अपने उद्देश्य को प्रकट कर उनसे सघ मे सम्मिलित करने की प्रार्थना करता है। तब आचार्य योग्य आचरण वाले उस साधु को तीन दिन तक ठहरने को स्थान देते हैं तथा चटाई आदि देकर सहायता करते हैं। किन्तु उसके साथ सभोग (साधु योग्य आचरण) का सम्बन्ध नहीं रखते हैं। तीन दिन पर्यन्त उसकी पूर्व कथित रीति से परीक्षा करने के लिए योग्य मुनियो को नियत करते हैं। वे मुनि आगत साधु की तीन दिन मे आचरणादि की जांच करके आचार्य महाराज से निवेदन करते हैं। उनका वचन सुनकर यदि मुनि आश्रय देने योग्य नहीं होता है तो उसको सवाटक दान (सघ मे सम्मिलित) नहीं करते हैं और वसतिका (ठहरने के लिए स्थान) और चटाई आदि की सहायता भी नहीं करते हैं।

आचारहीन साधु को आश्रय देने मे हानि

प्रश्न—अयुक्त आचरणवाले आगत साधु को आश्रय देने मे क्या हानि होती है ?

उत्तर—जो मुनि उद्गम, उत्पादना एव एषणा के दोषों को नहीं बचाता है, तथा अपने लगे हुए दोषो की आलोचना नहीं करता है ऐसे मुनि के साथ जो आचार्य रहता है अथवा अन्य मुनियो को उसके साथ रहने की आज्ञा व अनुमति प्रदान करता है, वह भी आगत मुनि के समान दोषी माना जाता है। अत. उस अयुक्त आचरण वाले आगन्तुक को सघ मे स्थानादि नहीं देकर सघ से सर्वथा पृथक् कर देना ही उचित है। क्योंकि उसके ससर्ग से सघ के मुनियो मे भी आचार हीनता अथवा आचार मे शिथिलता आने की सम्भावना रहती है।

प्रश्न—योग्य आचार का पालक आगत साधु आचार्य की बिना परीक्षा किये ही सघ मे सम्मिलित होता है कि वह भी आचार्य की परीक्षा करता है। यदि परीक्षा किये बिना ही सङ्घ मे मिल जाता है तो उसके उत्तम कार्य (समाधिमरण) मे विघ्न उपस्थित होने की भी पूर्ण सम्भावना बनी रहती है। यदि आचार्य की परीक्षा करके सङ्घ मे सम्मिलित होता है तो उसे निर्यापकाचार्य के किन २ गुणो की परीक्षा करनी चाहिए, जिससे उसको इष्ट कार्य मे सफलता मिले।

स. प्र

उत्तर—समाधिमरण को निर्विघ्न सम्पन्न करने के इच्छुक आगन्तुक मुनि को आचार्य के गुणों की परीक्षा अवश्य करनी चाहिए जिसमे निम्नोक्त आठ गुण विद्यमान हो वह निर्यापकाचार्य समाधिमरण कार्य का भले प्रकार सम्पादन करने मे शक्तिमान् हो सकता है। इन गुणों का वर्णन आचार्य के गुणों का वर्णन करते समय द्वितीय किरण मे कर आये हैं फिर भी प्रसङ्गवश यहा भी थोडा सा वर्णन किया जाता है।

निर्यापकाचार्य के गुण

१. आचारवान्, २. आधारवान्, ३. व्यवहारवान्, ४. प्रकारक, ५. आयापायदर्शनोद्यत, ६. उत्पीडक, ७ अपरिस्रावी, ८. निर्वापक (सुखकारी) इन आठो गुणों से युक्त प्रसिद्ध कीर्ति आचार्य आगत अतिथि के मनोरथ को पूर्ण कर सकता है। भगवती आराधना मे यही कहा है :—

आयारवं च आधारवं च वाहारवं पकुव्वीय।
आयावायविदंसी तहेव उप्पीलगो चेव ॥ ४१७ ॥
अप्परिस्साई णिव्वावओ णिज्जावओ पहिदकित्ती।
णिज्जवणगुणोवेदो एरिसओ होदि आयरिओ ॥ ४१८ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—जो महात्मा आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, प्रकर्त्ता, आयापायदर्शनोद्यत, उत्पीडक, अपरिस्रावी, निर्वापक इन आठ गुणो से भूषित होता है वह प्रख्यातकीर्त्ति आचार्य निर्यापक होता है। अर्थात् आचार्य के यह प्रधान आठ गुण हैं। वे जिसमे पूर्ण रूप से पाये जाते हैं, वह निर्यापकाचार्य आगन्तुक मुनि के समाधिमरण का निर्वाह करने में समर्थ होता है।

आचारवान आचार्य का स्वरूप

प्रश्न—१ आचारवान् किसे कहते हैं ? उसका विशद विवेचन करके स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर—आचार्य का प्रथम गुण आचारवान् है, दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपआचार और वीर्याचार इन पाच प्रकार के आचार का जो स्वय पालन करते हैं तथा अन्य शिष्यो को पालन करवाते हैं, उन्हें आचारवान् कहते हैं।

इसका आशय यह है कि जो आचाराग ग्रन्थ के तथा उसके रहस्य के वेत्ता हैं और पाच प्रकार के आचार के पालन मे स्वयं

प्रवृत्ति करते हैं और दूसरे मुनियो को भी प्रवृत्ति कराते हैं, उन्हें आचारवान कहते हैं।

जीव अजीवादि तत्त्वो का निर्मल श्रद्धान रूप जो परिणाम है, उसे दर्शनाचार कहते हैं। पाच प्रकार के स्वाध्याय मे दोष वर्जित प्रवृत्ति करने को ज्ञानाचार कहते हैं। हिंसादि से निवृत्ति रूप आत्म-परिणाम को चारित्राचार कहते हैं। चार प्रकार के आहार का त्याग करना, भूख से कम भोजन करना, दाता, गृह, आहार, वर्त्तन आदि की अटपटी प्रतिज्ञा लेना, रसों का त्याग करना, कायको कष्ट देना, एकान्त स्थान मे निवास करना इत्यादि तपस्या करने को तपआचार कहते हैं। तपश्चरण करने मे आत्मा की शक्ति को न छिपाना वीर्याचार कहलाता है। ये पाच प्रकार के आचार हैं।

शङ्का—विनय और आचार मे क्या भेद है ? क्योकि सम्यग्दर्शनादि को निर्मल करना विनय है और उसी को आचार नाम से आपने कह दिया है।

समाधान—सम्यग्दर्शन ज्ञानादि को निर्मल करने के लिए जो यत्न किया जाता है वह तो विनय है और निर्मल किये गये सम्यग्दर्शनादि मे यथाशक्ति प्रवृत्ति करना आचार है। इस प्रकार विनय और आचार मे भेद है। शास्त्र मे कहा है :—

"दृग्धीवृत्ततपसां मुमुक्षोर्निर्मलीकृतौ।
यत्नो विनय आचारो वीर्याच्छुद्धेषु तेषु तु ॥"

इसका तात्पर्य ऊपर आ गया है।

आचारवान् का अन्य प्रकार से विवेचन

दूसरी तरह भी आचारवत्व गुण का विवेचन निम्नोक्त प्रकार है—

दसविह ठिदिकप्पे वा हवेज्ज जो सुदिट्ठो सयायरिओ।
आयारवं खु एसो पवयणमादासु आउत्तो ॥ ४२० ॥ (भग. आ)

अर्थ—अचेलकतादि दश प्रकार का स्थिति कल्प है, उसमे जो उत्तमता से स्थिर है। तथा पाच समिति और तीन गुप्ति रूप अष्ट प्रवचन माता का पालक है, वह आचार्य आचारवान् गुण युक्त होता है।

स्थिति कल्प के दस भेद

प्रश्न—दश प्रकार के स्थिति कल्प मे स्थिर रहने वाले आचार्य को आचारवान् कहा है। वह स्थिति कल्प कौन सा है?

उत्तर—१. वस्त्रादि परिग्रह का त्याग करना अर्थात् नग्नपना धारण करना, २ उद्दिष्ट भोजनादि का त्याग, ३. शय्याघर के पिण्डका त्याग, ४. राजपिंड त्याग, ५. कृतिकर्म, ६. मूलोत्तर गुण परिपालन, ७. ज्येष्ठत्व ८. प्रतिक्रमण, ९ एक निवास और १० पज्ज पर्या अर्थात् वर्षा काल मे चातुर्मासिक निवास। इस प्रकार स्थिति कल्प के दश भेद आगम मे कहे गये हैं। इनका वर्णन निम्न प्रकार जानना चाहिए।

नग्नत्व स्थिति कल्प

(१) सम्पूर्ण वस्त्रादि परिग्रह के त्याग करने को अथवा नग्नत मात्र को प्रथम स्थिति कल्प कहा है। इसके बिना मुनिपना सम्पन्न नहीं होता है। समस्त वस्त्रादि का परिहार करने से या नग्नता धारण करने मे सयम मे विशुद्धता आती है। कारण कि वस्त्रादि धारण करने से उनको धोने से जलादि के जीवो का घात होता है। इससे सयम का विनाश अवश्यभावी है। नग्नता धारण करने से इन्द्रियो पर विजय होता है। वस्त्रादि का परित्याग करने से लोभादि कषाय का अभाव सिद्ध होता है तथा ध्यान और स्वाध्याय की निर्विघ्न सिद्धि होती है। परिग्रह का अभाव होने से निर्ग्रन्थता और वीतरागता का पोषण होता है। शरीर मे अनादर भाव (अप्रीति) तथा स्वातन्त्र्य प्राप्त होता है। चित्त मे विशुद्धि विशेष उत्पन्न होती है तथा मनोमालिन्य का अभाव तथा अन्त करण की निर्विकारता प्रकट होती है। सदा निर्भीकता रहती है। परिग्रह का त्याग करने से सब जीवों को विश्वास उत्पन्न होता है। प्रक्षालनादि आरम्भ जन्य पाप से निवृत्ति उत्पन्न होती है। शरीर की विभूषा और मूर्छा का अभाव होता है। परिग्रह रूप भार के उतर जाने से आत्मा मे लघुता (हल्कापन) आती है। तीर्थंकर भगवान् के समान आचरण का सद्भाव सिद्ध होता है। शारीरिक शक्ति और आत्मीय पराक्रम का प्रकाश होता है। ऐसे ही और भी अपरिमित गुणो की उपलब्धि होती है। इसलिए इसे स्थिति कल्प रूप से भगवान् ने निरूपण किया है।

भगवती आराधना की सस्कृत टीकानुसार इसका वर्णन यह है—वस्त्र पहनने या ओढने से पसीने से जीवो की उत्पत्ति होती है और उनको धोने से उन जीवों की हिंसा होती है, अतःवस्त्र का त्याग करने पर उक्त दोष का अभाव होने से सयम में विशुद्धि उत्पन्न होती है। लज्जाजनक शरीर के विकार को रोकने से इन्द्रिय विजय सिद्ध होता है। चौरादि पर क्रोधादि उत्पन्न करने का कारण वस्त्रादि परिग्रह है। उसको सर्वथा अभाव होने से कषाय का अभाव सम्पन्न होता है। वस्त्र फटजाने पर उसको सीने के लिए सूई धागा कपड़ा आदि प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है, उससे ध्यान और स्वाध्याय मे विघ्न बाधा उपस्थित होती है। वस्त्र के त्यागी के ध्यान व स्वाध्याय की निर्विघ्न

सिद्धि होती है। वस्त्रादि मे ममत्व होने पर ही मनुष्य उसे पहनता व ओढता है। वायु के कारण शरीर से वस्त्र हट जाने पर पुनः उसे हाथ से सभाल कर यथास्थान पर करते हैं। इन वातो से वस्त्र धारक के मूर्छा भाव सिद्ध होता है। दिगम्बर (नग्न) मुनि इस महा दूषण से सदा मुक्त रहते हैं। मनोज्ञ व अमनोज्ञ सब प्रकार के बाह्य परिग्रह का त्याग करने से रागद्वेप का अभाव (वीतराग भाव) सिद्ध होता है। नग्न मुनि शीत,वात और आतापादि की बाधाओ का सहन करते हैं,अत उनके शरीर से निस्पृहता सिद्ध होती है। निर्ग्रन्थों को देशान्तर मे गमन करते समय दूसरे की सहायता की अपेक्षा नहीं होती है, इसलिए उनके स्वतन्त्रपना सिद्ध होता है। विकार भाव को छिपाने के लिए लगोटी आदि पहनी जाती है। जिसने लगोटी आदि का परित्याग कर दिया है, उसके चित्त की निर्विकारता प्रकट होती है। वस्त्रादि परिग्रह रखने वालो को चौरादि से मारण ताडनादि सम्बन्धी भय लगा रहता है। दिगम्बर (नग्न) मुनि इस भय से सदा विमुक्त रहते हैं। वे सर्वदा निर्भय होकर विचरते हैं। नग्न मुनि को किसी द्रव्य से प्रयोजन नहीं होता है। जब कि वे शरीर पर लेशमात्र वस्त्र भी नहीं रखते हैं तब वे अन्य वस्तु का ग्रहण कैसे करेंगे, ऐसा समझ कर ससार के सब प्राणी उन पर विश्वास करते हैं। चौदह प्रकार के करण रूप परिग्रह के धारक श्वेताम्बर साधुओ के समान दिगम्बर मुनियो को बहुत प्रति लेखन नहीं करना पड़ता है तथा वस्त्रो का प्रक्षालन और बहुत भार का वहन आदि नहीं करना पडता है। वही कहा है—

"म्लाने क्षालनतः कुतः कृतजलाद्यारंभतः संयमः।
नष्टे व्याकुलचित्तताथ महतामप्यन्यतः प्रार्थनम् ॥ १ ॥
कौपीनेऽपि हृते परैश्च झगिति क्रोधः समुत्पद्यते।
तन्नित्यं शुचि रागहृच्छमवतां वस्त्रं ककुम्मण्डलम् ॥ २ ॥
विकारे विदुषां द्वेषो नाविकारानुवर्त्तने।
तन्नग्नत्वे निसर्गोत्थे को नाम द्वेषकल्मषः ॥
नैष्किञ्चन्यमहिंसा च कुतः संयमिनां भवेत्।
ये संगाय यदीहन्ते वल्कलाजिनवाससाम् ॥"

भावार्थ—शरीर के स्वेद से तथा धूलि आदि के सयोग से वस्त्र मेला हो जाता है। यदि उसे न धोया जावे तो उसमें सम्मूर्छन जीवों की उत्पत्ति होती है। और जल से धोने पर जलादि के जीवो की हिंसा अवश्यभावी होने से सयम की रक्षा कैसे हो सकती है? तथा

वस्त्र के खोजाने या नष्ट हो जाने पर चित्त मे व्याकुलता उत्पन्न होती है। महान् पुरुषो को भी अन्य से वस्त्र की याचना करनी पडती है। यदि चौर लुटेरे डाकू एक कौपीन (लंगोटी) को चुरालें या छीनने लगें तो उन पर जल्दी से क्रोध उत्पन्न होता है। वस्त्र के निमित्त से अनेक दोष पैदा होते हैं, इसलिए परम शान्त रागद्वेप के विजेता मुनीश्वरों ने दिग्मण्डल को ही स्थायी और पवित्र वस्त्र माना है।

विद्वानो ने इन्द्रिय विकार का सद्भाव होने पर ही नग्नता धारण करना निन्दनीय माना है। किन्तु जिनकी बालक के समान स्वाभाविक निर्विकार वृत्ति है, उनकी नग्नता आदरणीय होती है। विवेकी मनुष्य निर्विकार नग्न स्वभाव पर रोष नहीं करते हैं।

जो मनुष्य वृक्षों की छाल तथा चर्मादि के वस्त्र की इच्छा रखते हैं। अर्थात् किसी प्रकार के वस्त्र से शरीर ढकते हैं, उन संयमियो के आकिंचन्य और अहिंसा का सद्भाव कैसे हो सकता है? क्योकि वस्त्र के कारण हिंसा और परिग्रह (मूर्छा) उत्पन्न होती है।

उद्दिष्ट भोजनादि त्याग कल्प

(२) उद्दिष्ट भोजनादि का त्याग—आधा कर्म तथा उद्दिष्ट भोजन वसतिका और उपकरण का त्याग करने पर उद्दिष्ट त्याग नामक द्वितीय स्थिति कल्प होता है। भिक्षादि मे आधा कर्म महान् दोष है। इसका स्वरूप पिंड शुद्धि अधिकार मे कह आये हैं। साधुओं को उद्देश्य करके बनाया गया आहार, जल तथा वसतिका और कमण्डलु आदि उपकरण मुनियों के लिए अग्राह्य माने गये हैं। इसलिए मुनि उद्दिष्ट भोजन उपकरणादि का त्याग करते हैं और अनुद्दिष्ट निर्दोष आहार, जल, वसतिका और उपकरणो का ग्रहण करते हैं।

शय्याधर के पिंड का त्याग

(३) शय्याधर गृह-पिंड त्याग—वसतिका का बनवाने वाला, तथा उसका संस्कार (लिपाने पोताने तथा मरम्मत) करवाने वाला और 'आप यहा ठहरिये' इस प्रकार वसतिका मे ठहरने की आज्ञा देने वाला ये तीनों शय्याधर माने गये हैं। साधु इनके घर का आहार ग्रहण नहीं करते हैं। यदि मुनि इनका आहार ग्रहण करने लगें तो लोक मे निन्दा होने की सभावना रहती है। लोग कहने लगते हैं कि मुनि इनकी वसतिका मे रहते हैं, इसलिए ये धर्म के लाभ से चुपचाप गुप्त रूप से उनके लिए आहार की योजना कर देते हैं। तथा दूसरा दोष यह उत्पन्न होता है कि यदि मुनि शय्याधर का आहार लेने लगें तो जो आहार देने मे असमर्थ हैं, दारिद्र्य से पीडित हैं—वह लोकापवाद के भय से मुनियो को निवास करने के लिए वसतिका नहीं देंगे। कारण कि लोग कहने लगते हैं देखो मुनि इनकी वसतिका मे रहते हैं और ये भाग्यहीन उनको आहार नहीं देते हैं। इत्यादि लोक निन्दा का भय उन्हें वसतिका प्रदान करने से वचित रखेगा।

शय्याधर का भोजन पान ग्रहण करने से तीसरा दोप यह उत्पन्न होता है कि वसतिका और आहार देने वाले, बहुत उपकार के कर्त्ता दाता के लिए मुनि के चित्त मे स्नेह का आविर्भाव होने लगेगा। ये तीन दोप शय्याधर का आहार ग्रहण करने से उत्पन्न होते हैं, इसलिए वीतरागी साधु उक्त दोपो से मुक्त रहने के लिए शय्याधर के घर का भोजन ग्रहण नहीं करते हैं।

अन्य कोई आचार्य शय्याधर पिंडत्याग के स्थान मे शय्या-गृह-पिंडत्याग ऐसा पाठ मान कर उसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि मार्ग मे गमन करते हुए मुनि रात्रि के समय जिस घर मे शयन करते हैं, उसी घर मे दूसरे दिन आहार का परिहार करते हैं। उस घर का भोजन ग्रहण नहीं करते हैं।

कोई आचार्य इसका 'वसतिका सम्बन्धी द्रव्य के निमित्त से उत्पन्न हुए भोजन का त्याग' ऐसा अर्थ करते हैं। अर्थात् वसतिका से सम्बन्ध रखने वाले द्रव्य के निमित्त से जो आहार बना हो उसका ग्रहण मुनि नहीं करते हैं। इस प्रकार व्याख्या करते हैं।

राज पिंड त्याग

(४) राजपिंड त्याग—इक्ष्वाकु आदि राजवश मे उत्पन्न हुए राजा महाराजा के घर का तथा राजा लोगो के समान महर्द्धिक आमात्यादि के घर का आहार मुनि लोगों के लिए वर्जित माना है। इसका कारण निम्नोक्त प्रकार है। राजा महाराजाओं के या उनके समान महान् वैभव सम्पन्न आमात्यादि के घर मे आहार के निमित्त मुनि जावे तो वहा पर स्वच्छद विचरने वाले कुत्ते आदि दुष्ट जीवों के द्वारा तथा मुनि के रूप को देखकर बन्धन तुडाकर इधर उधर भागते हुए घोडे आदि के द्वारा मुनि पर उपद्रव होने की सभावना रहती है। तथा राज भवन मे निवास करने वाले गर्विष्ट दास दासी आदि मुनि का परिहास करने लगते हैं। और रोक रखी हुई मैथुन सज्ञा से पीडित भोग पत्निया (पासवान) तथा पुत्र की कामना रखने वाली वहा की स्त्रिया बलात्कार मुनि को उपभोग की कामना से घर मे प्रवेश करवा लेती हैं। इससे मुनि के अनिष्ट की सभावना बनी रहती है। राज भवन मे रत्न सुवर्णादि द्रव्य इधर उधर बिखरे पडे रहते हैं, उनको दूसरा कोई चुरा ले तो भी सयमी पर लाछन आता है। लोग कहने लगते हैं कि यहा अमुक मुनि के सिवा अन्य कोई नहीं आया है, वे ही चुरा ले गये होगे। इस प्रकार चोरी का अपवाद होता है। राजा इस मुनि का विश्वास करके राज्य का विध्वस कर देगा, इस प्रकार क्रुद्ध हुए आमात्यादि मुनि का वध या बधन करने मे उद्यत होते देखे गये हैं। राजादि के घर मे क्षीर आदि की विकृति का सेवन होता है। तथा दरिद्र कुलोत्पन्न साधु के मन मे राज भवन के बहु मूल्य रत्नादि को देख कर लोभ कषाय का उदय होने पर उनका अपहरण करने की इच्छा का प्रादुर्भाव हो सकता है। सुन्दर देवागना समान उत्तम स्त्रियो का अवलोकन होने से मुनि के चित्त मे राग का उद्रेक हो सकता है। इन्द्र तुल्य राज भवन की विभूति का देखकर मोह के वशीभूत हुआ मुनि 'भविष्य मे मुझे ऐसी विभूति मिले' ऐसा निदान करने मे प्रवृत्त हो जाता है। इन दोपों की

सम्भावना जहां बनी रहती है, उनके घर का आहार मुनि के लिए निषिद्ध माना गया है। और जहां उक्त दोषों में से किसी दोष की संभावना न हो और अन्य स्थान में आहार की योग्यता न मिले तो स्वाध्यायादि के विच्छेद का निवारण करने के लिए अर्थात् स्वाध्याय व ध्यान सम्पादन करने के लिए राजा के महलों का भोजन भी निषिद्ध नहीं माना गया है।

कृति कर्म

(५) कृतिकर्म—पांच नमस्कार, छह आवश्यक, आसिका और निषेधिका इन तेरह प्रकार के कर्त्तव्य कर्म का परिपालन करना कृतिकर्म कहलाता है।

अथवा गुरु का विनय करना तथा महान् पूज्य पुरुषों की शुश्रुषा करना कृतिकर्म है।

मूलोत्तर गुण परिपालन

(६) मूलगुणों और उत्तरगुणों का सुचारु रूप से पालन करना छठा स्थिति कल्प है। इसी को व्रतारोपणयोग्यता नाम का छठा स्थिति कल्प माना है।

जिस सयमी को जीवों का यथार्थ स्वरूप ज्ञात होगया हो उसीको नियम से मुनियों के व्रत देना, यह व्रतारोपण योग्यता नामक स्थिति कल्प है।

जिसने पूर्ण निर्ग्रन्थावस्था धारण की है, तथा उद्दिष्ट आहारादि का तथा राजपिंडग्रहण करने का त्याग किया है और जो गुरु-भक्त एवं विनय शील है, उसको मुनि-व्रत के योग्य माना है।

व्रत प्रदान करने का क्रम निम्न प्रकार है—जिस समय गुरु आसन पर विराजमान हो उस समय आर्यिकाएँ सम्मुख बैठी हों उनको तथा श्रावक और श्राविकाओं को व्रत दिये जाते हैं। आसन पर बैठे हुए गुरु के वाम भाग में बैठे हुए मुनि को व्रत देते हैं। अर्थात् दीक्षा ग्रहण करते समय साधु को आचार्य के बांये हाथ की ओर बैठना चाहिए।

अहिंसादि का स्वरूप समझ कर हिंसादि पापों से विरक्त होने को व्रत कहते हैं।

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरदेव ने रात्रि भोजन त्याग और पंच महाव्रतों का उपदेश दिया है। प्रमत्त योग से अर्थात् कषाय

युक्त परिणाम से प्राणियो के प्राणो को पीडा पहुँचाने को हिंसा कहते हैं। इसके त्याग करने को प्रथम अहिंसा महाव्रत कहा है। असत्य भाषण से प्राणियो को दु ख होता है तथा अपनी आत्मा के सत्य परिणाम का घात होता है, ऐसा समझकर स्व पर की दया करने वाले दयालु मुनि असत्य भाषण का त्याग करते हैं। यह उनका द्वितीय सत्य महाव्रत है। यह मेरी है, ऐसा सङ्कल्प जिस वस्तु पर जिसने कर रखा है, उस वस्तु के स्वामी की बिना आज्ञा ग्रहण करने से उसे क्लेश होता है, उसके वियोग से वह दारुण दु ख का अनुभव करता है। तथा ग्रहण करने वाले के परिणामो मे मालिन्य उत्पन्न होता है, इसलिए स्वपर के कल्याण की कामना करने वाले मुनि चोरी का परित्याग करते हैं। यह उनके तृतीय अचौर्य महाव्रत होता है। जैसे सरसो से भरी हुई नाली मे अग्नि से तपी हुई लोहे की शलाका (सलाई) डालने से सम्पूर्ण सरसो झुलस जाती है, इसी प्रकार योनि मे पुरुषेन्द्रिय का प्रवेश होने पर उसमे के सब सम्मूर्च्छन सूक्ष्म जीव नष्ट हो जाते हैं। इस मैथुन से तीव्रराग उत्पन्न होता है। जो कर्म बन्धन का प्रबल कारण है। ऐसा विचार कर दयालु मुनि उसका पूर्ण रूप से त्याग करते हैं। यह उनका चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत है। परिग्रह के निमित्त से षट्काय के जीवो की विराधना होती है। तथा यह ममत्व भाव उत्पन्न करने मे मुख्य कारण है, इसलिए सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करना परिग्रह त्याग नाम का पांचवा महाव्रत होता है।

इन महाव्रतो की पालना करने के लिए रात्रि भोजन का त्याग करना छठा व्रत है।

अहिंसा महाव्रत सब जीव मात्र को विषय करता है। अर्थात् सम्पूर्ण जीवों की हिंसा का त्याग करने अथवा उनकी रक्षा करने से अहिंसा महाव्रत सम्पन्न होता है। अचौर्य महाव्रत और परिग्रह त्याग महाव्रत सम्पूर्ण पदार्थों मे सम्बन्ध रखता है। अर्थात वस्तु के स्वामी की आज्ञा बिना किसी भी पर पदार्थ का ग्रहण न करने से अचौर्य महाव्रत तथा सम्पूर्ण भूमि महल मकान धन धान्य वस्त्रादि का त्याग करने मे परिग्रह त्याग महाव्रत सिद्ध होता है। तथा शेष सत्य महाव्रत और ब्रह्मचर्य महाव्रत द्रव्यो के एक देश को विषय करते हैं। कारण कि सत्य महाव्रत मे सत्य वचन का उच्चारण और असत्य वचन का त्याग किया जाता है और ब्रह्मचर्य व्रत मे समस्त स्त्री वर्ग सम्बन्धी विषय सेवन का त्याग मन वचन काय से किया जाता है। अत. ये दोनो समस्त जगत् के पदार्थों के एक भाग से सम्बन्ध रखते हैं।

ज्येष्ठत्व

(७) ज्येष्ठत्व—सयमी मुनि, माता–पिता, गृहस्थ उपाध्याय, तथा आर्यिकाओ से महान् होता है। यद्यपि गृहस्थ अवस्था मे माता पिता और गृहस्थ–गुरु पूज्य होते हैं, तथापि सयम धारण करने के पश्चात् पुत्र भी माता पिता तथा गृहस्थ-गुरु के पूजनीय हो जाता है। क्योकि चारित्र मे पूज्यता मानी गई है।

एक दिन का दीक्षित मुनि चिरकाल की दीक्षित आर्यिका से महान् होता है, पूज्य स्तुत्य और वन्दनीय होता है। इस प्रकार मुनि की श्रेष्ठता द्योतन करने वाला यह सातवा स्थिति कल्प है।

अर्थात् स्त्रिया पुरुषो से लघु मानी गई हैं। इसका हेतु यह है कि वे परमुखापेक्षी होती हैं। वे अपना रक्षण आप नहीं कर सकतीं। आत्म-रक्षा मे पुरुष का साहाय्य चाहती हैं। पुरुष द्वारा कामना किये जाने पर वे उसका प्रतीकार करने मे असमर्थ होती हैं। वे स्वभाव से भीरु होती हैं। उनका हृदय कमजोर होता है। पुरुष मे ये बातें प्राय नहीं होती हैं। इसलिए पुरुष महिलाओ मे श्रेष्ठ माना गया है।

प्रतिक्रमण

(८) प्रतिक्रमण—नम्रत्व आदि कल्प मे स्थित मुनि के व्रतो मे जो अतिचार लगते हैं, उन दोषो का निवारण करने के लिए मुनि प्रतिक्रमण करते हैं। यह आठवा स्थिति कल्प है।

अर्थात् धारण किये गये व्रतादि में अज्ञान प्रमादादि से जन्य अपराध का निराकरण करने के लिए साधु ऐर्यापथिक, रात्रिक, दैवसिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सावत्सरिक और उत्तमार्थ ये सात प्रकार के प्रतिक्रमण करते हैं। इनका सम्यक् प्रकार आचरण करने को प्रतिक्रमण नामक आठवा स्थिति कल्प माना गया है।

आदि तीर्थंकर श्री ऋषभ देव भगवान् और अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी ने अपराध हो या न हो मुनियो को प्रतिदिन यथासमय प्रतिक्रमण करने का आदेश दिया है। और मध्य के बाईस तीर्थंकरों ने अपराध होने पर ही मुनियो को प्रतिक्रमण करने की आज्ञा दी है। अर्थात् प्रथम तीर्थंकर के तीर्थ के मुनि भोले और महावीर स्वामी के तीर्थ के मुनि वक्र होते हैं। इसलिए इन दोनो तीर्थंकरो ने अपने तीर्थ के मुनियो को ईर्यापथिक रात्रिक दैवसिकादि प्रतिक्रमण अपराध होने पर या न होने पर यथासमय अवश्य करने का विधान किया है। और अजितनाथ आदि मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरो ने अपने तीर्थ के मुनियो को अपराध लगने पर प्रतिक्रमण करने का उपदेश दिया है। कारण कि उनके तीर्थ वर्ती मुनि विचक्षण और स्मरण शील होते हैं। वे अपराध को स्मरण रखकर किसी समय अपने अपराध का शोधन कर लेते हैं, इसलिए उन्हें ईर्यापथ से गमन करते हुए अपराध लगने पर उसका निवारण करने के लिए ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण ही कर लेने का आदेश दिया है। रात्रि मे अतिचार लगने पर रात्रिक प्रतिक्रमण और दिन मे दोष लगने पर दैवसिक प्रतिक्रमण करने का उपदेश दिया है। उनको सब प्रतिक्रमण करना आवश्यक नहीं बतलाया है।

एक मास निवास

(६) एक मास निवास—वसन्तादि छह ऋतुओं में एक एक ऋतु मे मुनि एक स्थान पर एक मास तक रह सकते हैं, इससे अधिक एक स्थान मे निवास करना वर्जित है। क्योंकि एक ही स्थान पर चिरकाल पर्यन्त निवास करने से भोजनादि मे उद्गमादि दोषों का परिहार करना अवश्य हो जाता है। वसतिका से मोह हो जाता है। सुखिया स्वभाव हो जाता है। कष्ट सहिष्णुता दूर हो जाती है। आलस्य घर कर लेता है। सुकुमारता की भावना उत्पन्न होती है। बहुत दिन एक जगह रहने से जिन श्रावकों के घर पहले आहार कर चुके हैं, फिर भी उन्हीं के घर आहार लेना पडता है। इत्यादि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। इसलिए मुनीश्वर चिरकाल पर्यन्त एक ही स्थान पर नहीं ठहरते हैं।

पज्ज

(१०) पज्ज—वर्षाकाल मे भ्रमण का त्याग कर चार मास पर्यन्त एक ही स्थान मे निवास करने को पर्या नामक दशवा स्थिति कल्प कहा है। वर्षाकाल मे चार मास तक मुनि विहार का त्याग करते हैं। तथा एक मील या दो मील आदि क्षेत्र का परिमाण कर उस क्षेत्र के भीतर गोचरी आदि आवश्यक कार्य के लिए गमनागमन करते हैं।

वर्षाकाल मे भूमि त्रस और स्थावर जीवो से आकुल (व्याप्त) हो जाती है। उस समय यदि एक स्थान न ठहर कर विहार करे तो छह काय के जीवो की विराधना होने से महान् असयम होता है। जल की वृष्टि तथा शात वायु के चलने से शरीर को अत्यन्त वाधा पहुचती है। निमोनिया आदि अनेक रोगो की उत्पत्ति होना सभव है। मार्ग जलमग्न रहने से मार्ग स्थित कुए बावड़ी मे गिर जाने की सभावना रहती है। जल या कीचड़ मे छिपे हुए काटे पत्थर स्थाणु आदि की वाधा होती है। इसलिए मुनीश्वर एक सौ वीस दिन तक एक स्थान मे ही निवास करते हैं। यह उत्सर्ग (सामान्य) नियम है। कारण वश इसे हीन या अधिक काल भी माना गया है। आषाढ शुक्ला दशमी से लेकर कार्तिक की पूर्णिमा के आगे तीस दिन तक और मुनि एक स्थान पर ठहर सकते हैं। अध्ययन करने के लिए,वृष्टि की बहुलता से, विहार करने की शक्ति के न होने से,किसी साधु की वैयावृत्त्य करने के निमित्त इत्यादि प्रयोजन वश मुनि अधिक समय अर्थात् कार्त्तिक की पूर्णिमा के वाद तीस दिन अधिक ठहर सकते हैं। उक्त कारणो के विना अधिक दिन निवास करना आगम विरुद्ध है।

प्लेग हैजा आदि सक्रामक रोगो का प्रकोप होने पर, दुर्भिक्ष हो जाने पर, देश या गाव पर महान् सङ्कट आजाने पर, सङ्घ पर विपत्ति की सभावना होने पर, मुनि वर्षाकाल मे भी अन्यत्र जा सकते हैं। यदि उक्त परिस्थिति मे भी मुनि वहा से विहार न करे तो रत्नत्रय की विराधना हो सकती है, अतः आषाढ शुक्ला पूर्णिमा के व्यतीत होने पर श्रावण कृष्णा प्रतिपदा आदि तिथि मे मुनि अन्य स्थान मे चले

जाते हैं। इसलिए एक सौ वीस दिनो में वीस दिन कम किये गये हैं। यह वर्षाकाल में निवास करने का हीन काल है। इस सबको दशवां स्थिति कल्प कहते हैं।

जो आचार्य इन उपर्युक्त दश प्रकार के आचरणो मे सदा तत्पर रहते हैं, जो सदा पाप कृत्यो से भयभीत रहते हैं, वे आचार्य आगमोक्त आचरण का साधुओ से पालन करवाते हैं–साधुओं के आचरण में दोष दिखा कर उनको शुद्धाचरणी बनाते है।

आचारवान् आचार्य से क्षपक को लाभ

प्रश्न—आपने आचार्य का आचारवत्व गुण वर्णन किया है। आचार्य के आचारवान् होने से क्षपक साधु को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—जो आचार्य दर्शनाचारादि पचाचार मे स्वय तत्पर रहते हैं समस्त गमनादि क्रियाओ मे सम्यक् प्रवृत्ति करते हैं वे क्षपक को भी पचाचार मे सम्यक् प्रवृत्ति करवाते हैं।

प्रश्न—यदि आचार्य स्वय आचारवान् न हो तो उससे क्या हानि होती है ?

उत्तर—जो आचार्य दर्शनादि पचाचार के पालन करने मे शिथिल होता है, जिसका आचरण भ्रष्ट होता है वह आचार्य क्षपक को उद्गमादि दोष युक्त आहार वसतिका और पिच्छिका पुस्तकादि उपकरण की योजना करेगा। अथवा क्षपक की परिचर्या मे वैराग्य रहित मुनियो को नियुक्त करेगा। जो स्वय सदोष होता है वह साधुओं के दोषो को दूर करने में सफल मनोरथ नहीं होता है। समाधिमरण के काय मे उद्यमशील मुनि का हित ससार से भयभीत और वैराग्य भाव मे भरे हुए साधुओ के ससर्ग से ही होता है। इसका खयाल आचार हीन आचार्य को नहीं होता है। इसका परिणाम यह होता है कि क्षपक की शुश्रूषा करने की योग्य व्यवस्था न कर सकने के कारण क्षपक का समाधिमरण बिगड जाता है। उसका यह महान् अनिष्ट आचार हीन आचार्य द्वारा होता है। वह आचार्य क्षपक की सन्यास विधि को लोक मे प्रकट कर देगा, सयम विरोधी गन्ध पुष्प मालादि क्षपक के लिए लाने के लिए साधुओ को अनुमति प्रदान करेगा, क्षपक के परिणामो मे विकार उत्पन्न करने वाली कथा करेगा, क्षपक के हिताहित का विचार न कर मन चाहे जैसा बकने लगेगा। पतित आचरण वाला आचाय रत्नत्रय मे प्रवृत्ति कराने वाला उपदेश नहीं देगा, रत्नत्रय से गिरते हुए मुनि को न रोकेगा, जिन क्रियाओ मे महान् आरम्भ होता है, ऐसी पूजा रथयात्रादि करवाने की लोगो को प्रेरणा करेगा। तात्पर्य यह है कि शिथिलाचारी आचार्य के सहवास से क्षपक का अनिष्ट होता है। वह अपने उद्देश्य से गिर जाता है। इसलिए आचारहीन आचार्य के सहवास का आत्म-हित के इच्छुक क्षपक को त्याग करना ही श्रेयस्कर है।

आचार गुण से भूषित आचार्य का आश्रय करने वाला क्षपक अपने समाधिमरण रूप उत्तम कार्य को भले प्रकार साधन कर सद्गति का पात्र बनता है, अत आचार्य के आचारवत्व गुण का वर्णन किया गया है। अब आचार्य के दूसरे आधारवत्व गुण का विवेचन करते हैं।

आचार्य का आधारवत्वगुण

चोद्दस-दस-णव-पुव्वी महामदी सायरोव्व गंभीरो।
कप्पववहारधारी होदि हु आधारवं णाम ॥ ४२८ ॥ (भग आ)

अर्थ—जो चौदहपूर्व या दशपूर्व अथवा नवपूर्व का वेत्ता होता है, जो दूरदर्शी-समुद्र के समान गम्भीर हृदयवाला है, प्रायश्चित शास्त्रों का सम्यक् प्रकार ज्ञान प्राप्त कर उसके अनुकूल प्रयोगो का अनुसरण करता है वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप की उत्पत्ति स्थिति वृद्धि और रक्षा का आश्रय होता है। वह आधारवत्व गुण युक्त आचार्य नित्य प्रति साधुवर्ग को आगम का उपदेश देकर पापास्रव के कारण अशुभ परिणामों से हटाकर पुण्यास्रव के कारण शुभोपयोग मे तथा सवर निर्जरा के कारण शुद्धोपयोग में प्रवृत्त करता है। अत. आचार्य को आगम का ज्ञान अवश्य होना चाहिए।

प्रश्न—चारित्र का आराधन आत्म-कल्याण का साधन माना गया है। वह जिसमे पाया जावे वह आचार्य सघ के साधुओ का, आर्यिकाओ का व उनके सम्पर्क मे रहने वाले श्रावक श्राविकाओ का उद्धार करने में समर्थ हो सकता है ? अर्थात् आगम का ज्ञान न होने से भी आचार्य स्व पर का हित करने मे कुशल हो सकता है। अतः आधारवत्व गुण चारित्र से सम्बन्ध रखता है, न कि ज्ञान से। आपने आगम का ज्ञान होने पर ही आधारवत्व गुण का होना बताया है-इसका क्या कारण है ?

उत्तर—जिसको आगम का ज्ञान नहीं है, वह आचार्य मोक्ष मार्ग के अङ्गभूत दर्शन ज्ञान चारित्र और तप के स्वरूप को तथा उनके भेद प्रभेदो को और उनमे उत्पन्न होने वाले दोषो को कैसे जान सकेगा ? सघ मे स्थित मुनीश्वरो को उक्त दर्शनादि के स्वरूप को समझा कर उनमे लगने वाले अतीचारों से कैसे निवृत्त कर सकेगा ? व्रतादि मे लगे हुए अतिचारो की निवृत्ति (शुद्धि) के लिए प्रायश्चित का विधान कैसे करेगा ? समाधिमरण के लिए उद्यत हुए क्षपक को समय समय पर जीवादि तत्त्वों का यथार्थ उपदेश देकर आत्मा मे वैराग्य भाव किस प्रकार उत्पन्न कर सकेगा ? ससार मे भ्रमण कराने वाले मिथ्यात्व असयम दुर्ध्यानादि का स्वरूप दिखा कर सम्यक्त्व, सयम व धर्म्यध्यान शुक्लध्यान की महत्ता समझाकर उनका पालन करवाने मे कैसे सफल होगा ?

संयम की सफलता

अनन्त दु ख रूप जल से परिपूर्ण इस संसार सागर मे चकर लगाते हुए इस जीव ने अनन्त काल विताया है। भयानक शारीरिक मानसिक क्लेशो को भोगते हुए इस जीव ने वडी कठिनाई से मनुष्य जन्म को प्राप्त किया है। जैसे साधु पुरुप के मुख से कठोर वचन के समान, सूर्य मण्डल मे अन्धकार के समान, अत्यन्त क्रोधी मनुष्य के मन मे दया भाव के समान, अति लोभी मनुष्य के मुख मे सत्य वचन के समान, महाभिमानी के मुख से परगुण की प्रशसा के समान, स्त्री वर्ग मे सरल चित्तता के समान, दुष्ट मनुष्य मे कृतज्ञता के समान, आप्ताभास द्वारा निरूपित मत मे तत्त्वज्ञान के समान इस पचपरावर्त्तन रूप ससार मे मनुष्य जन्म की प्राप्ति अति दुर्लभ है। आगम मे अति दुर्लभता के विषय मे उक्त दश दृष्टान्त मिलते है। उनसे भी मनुष्य जन्म पाना अति दुर्लभ है। महान् पुण्य के उदय से किसी तरह मनुष्य जन्म पा लिया तो तपस्या के योग्य उत्तम धर्म-प्रधान देश का मिलना अति दुर्लभ है। उत्तम देश का योग होने पर उत्तम कुल व उत्तम जाति का मिलना अति दुष्प्राप्य है। माता के वश को जाति और पिता के वश को कुल कहते हैं। उसके पश्चात् उत्तम शरीर की आकृति (इन्द्रियों की परिपूर्णता) व शरीर मे उत्तम सहनन का प्राप्त होना अति दुलभ है। शरीर की नीरोगता, दीर्घायु, उत्तम बुद्धि, हितोपदेश का श्रवण, सद्गुरु कथित तत्त्व का ज्ञान तथा उसमे श्रद्धा की उत्पत्ति उत्तरोत्तर अति दुलभ है। उन सबसे दुलभ सयम का प्राप्त करना है। समस्त दुलभ पदार्थों से दुर्लभतम सयम है, उसकी सफलता समाधिमरण के आराधन से होती है।

क्षपक को सिद्धान्त के वेत्ता आचार्य की आवश्यकता

उस अत्यन्त दुर्लभ समाधिमरणके साधन के लिए क्षपक ने रागद्वेप को जीतने की यद्यपि प्रतिज्ञा की है,तथापि शरीर की सल्लेखना करने वाले उस क्षपक के क्षुधादि परीपह के प्राप्त होने पर अल्प पराक्रम के कारण रागद्वेप की उत्पत्ति व क्रोधादि कषाय का प्रादुर्भाव हो सकता है, उसकी निवृत्ति अर्थात् कपाय का उपशम,रागद्वेप की अनुत्पत्ति,चारित्र की सम्यक् आराधना अल्पज्ञ-सिद्धान्त के अज्ञाता-आचार्य के संसर्ग से नहीं हो सकती है। क्योंकि कर्म-परवश हुआ यह प्राणी अन्न के आश्रय से अपना जीवन यापन कर रहा है। उस अन्न का त्याग करने से यह अन्नाश्रित जीव तिलमिला जाता है। उसकी आखो के सामने अधेरा छा जाता है। सिर चक्कर खाने लगता है। तात्पर्य यह है कि अन्न बिना यह प्राणी आर्त्त रौद्रध्यान से आकुलित हो जाता है। उस समय उसके दर्शन, ज्ञान चारित्र व तप की आराधना कैसे हो सकती है, यदि उसमे स्थिर करने के लिए सिद्धान्त वेत्ता आचार्य न हो ? यही कहा है :—

"अयमन्नमयोजीवस्त्याज्यमानोऽधसा कदा
अतिरौद्राकुली भूतश्चतुरगे प्रवर्त्तते ॥"

अर्थात्—यह जीव अन्नमय है। भोजन के आधार इसकी सब शारीरिक मानसिक प्रवृत्ति होती है। अन्न के अभाव में आर्त्त व रौद्रध्यान से आकुलित हुए इस जीव का दर्शन ज्ञान चारित्र व तप रूप चतुरंग मे प्रवृत्ति करना अति कठिन हो जाता है।

ऐसे अवसर मे बहु श्रुत पारगामी आचार्य अनेक आगम निरूपित उपदेश को सुनाकर मृदु मनोहर व अनेक शिक्षा पूर्ण वचनो का उच्चारण कर, ससार के भयानक स्वरूप का वर्णन कर तथा शरीर की अनित्यता को समझाकर क्षपक के सवेग और वैराग्य की वृद्धि करता है और क्षुधा तृषा से उत्पन्न हुई भोजन पान की कामना को शान्तकर आत्मध्यान में व धर्म्यध्यान मे तत्पर करता है।

आगम ज्ञान से शून्य आचार्य क्षुधा तृषादि की पीडा से व्याकुल-चित्त क्षपक को आत्म-अनात्म का, जड़-चेतन का भेद विज्ञान करवाकर आगम के अनुकूल हित शिक्षा नहीं दे सकता है, ससार से भय और शरीर से विरक्तता उत्पन्न नहीं कर सकता है। अत क्षुधा और तृषा की पीडा से क्षपक की भोजन पान की अभिलाषा बढकर आर्त्त व रौद्रध्यान की वृद्धि करती है। उससे क्षपक का समाधिमरण बिगड जाता है। क्षुधा और पिपासा से पीडित मनुष्य के हृदय से विवेक बुद्धि निकल जाती है।

जिस क्षपक ने अपने शरीर को अत्यन्त कृश कर दिया है, शक्ति हीन कर दिया है उसको जिस समय क्षुधादि की बाधा सताती है,और वह बाधा इतनी बढ जाती है कि वह असह्य हो जाती है,उस समय विवेकहीन हुआ जीव करुणाजनक आक्रन्दन करने लगता है। भोजन की याचना करता है और दीनता प्रदर्शित करता है। तथा बैठकर अयोग्य काल मे अपने हाथों से भोजन पान करने लगता है। अर्थात् क्षुधा तृषा से पीड़ित होकर आगम विरुद्ध आहार पान ग्रहण करता है।

क्षुधादि के कष्ट को सहने न करके वह क्षपक धर्म से विमुख होता है। मिथ्यात्व भाव को प्राप्त होकर असमाधि युक्त मरण को प्राप्त होता है।

क्षुधादि से पीडित साधु के रोदन को सुनकर यदि आगमहीन आचार्य उसकी निन्दा करने लगेगा तो वह सङ्घ का परित्याग कर भाग जावेगा। इससे धर्म का अपवाद होगा। अथवा उसको योग्य उपदेश न मिलने पर उसका आर्त्तनाद बढकर जन साधारण के चित्त मे करुणा और क्षोभ उत्पन्न कर देगा। समाधिमरण के स्वरूप को न समझने वाले मनुष्य साधुओं को करुणा हीन व आत्मघाती कहने लगेंगे। यह सब दोष ज्ञान हीन आचार्य के योग से होते हैं।

क्षपक को परीषहों को बाधा से कैसे दूर किया जाय ?

प्रश्न—भूख व प्यास से पीडित क्षपक की बाधा को आगम के ज्ञाता आचार्य किस प्रकार दूर करते हैं ?

उत्तर—आगम के ज्ञाता आचार्य क्षपक को समाधिमरण के समय के अनुकूल आगमोक्त क्रियाओं का आचरण करवाते हैं। यथावसर उसे हितकर प्रिय मधुर वचनो से शिक्षा देकर उसके परिणामो को उज्ज्वल करते रहते हैं। धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यान मे लगाये रखने का सतत प्रयत्न करते रहते हैं। शुभ व शुद्ध ध्यान रूपी अग्नि को सदुपदेश रूपी आहुतियो द्वारा निरन्तर वृद्धिगत करते रहते हैं। जिस समय क्षपक को क्षुधादि पीडा असह्य होने लगती है तब गीतार्थ आचार्य उसकी इच्छा के अनुकूल ऐसे मजुल और विश्राम जनक वचनो का उच्चारण करते हैं, जिनको सुनकर उसको भोजन व पान करने से जैसी तृप्ति होती है, वैसी तृप्ति व सन्तोप उत्पन्न हो जाता है। प्राचीन मुनीश्वरों के उपसर्ग परीषह विजय की कथाओं को सुनाकर उसके अन्तकरण मे धैर्य व साहस को उत्पन्न करते हैं। तिर्यंच गति व नरक गति मे इस जीव ने कैसी २ क्षुधा और तृषा की पीडा का सहन किया है। इस समय की पीडा तो उसके सामने कुछ भी नहीं है। वह बाधा तुमको परवश होकर सहन करनी पडी थी और यह तुम अपने आत्म हित के लिए सहन कर रहे हो। यदि तुम अपने चित्त मे संक्लेश भाव उत्पन्न करोगे तो तुम्हे पुनः पुन वे तिर्यंच व नरक गति के घोर दुःख सहन करने पडेगे। फिर ऐसा क्लेश निवारण करने का, सदा के लिए उन दारुण दुःखो से पीछा छुडाने का अवसर न मिलेगा। इसलिए हे सद्बुद्धे क्षपक! तुमको इस पीडा से दुःखित न होना चाहिए। इत्यादि उपदेश द्वारा गीतार्थ आचार्य क्षपक के धर्म भावना द्वारा धर्मध्यान मे तल्लीन करते हैं।

क्षपक की क्रोधमय प्रकृति से ऊब कर परिचारक मुनि क्षपक को छोडकर अलग हो जाते हैं। वे क्षपक के निकट जाना भी पसन्द नहीं करते हैं। उस समय आचार्य अपने बुद्धि कौशल से क्षपक की कोपमय प्रकृति को शिक्षा पूर्ण वाक्यो द्वारा शान्त करते हैं। उसको सब प्रकार का आश्वासन देते हैं। उसके साहस हीन व अधीर स्वभाव को दूर कर उसकी आत्मा मे अपूर्व साहस और धैर्य का सचार करते हैं। वैयावृत्य करने से विमुख हुए परिचारक साधुओ को वैयावृत्य के स्वरूप और महत्त्व को समझाकर उनको पुनः वैयावृत्य के कार्य मे सलग्न करते हैं।

हे मुनियो! यह क्षपक महापुरुष है। क्षुधादि की पीड़ा से व्याकुल होकर यदि इसने तुमको कदाचित अयुक्त वचन कह दिये हों तो तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम इसे मृदु वचनो से शान्त करो। वैयावृत्य (सेवा धर्म) का यथोचित पालन करने वाले के तीर्थंकर प्रकृति का बध होता है। सच्ची वैयावृत्य करने वाले को कटु वचन अमृतमय और शस्त्रप्रहार पुष्पमाला समान भासते हैं। वैयावृत्य करने का सौभाग्य महापुण्यवान् को ही मिलता है। क्योकि वैयावृत्य करने वाला अपने और जिसकी वैयावृत्य करता है उसके रत्नत्रय की रक्षा और वृद्धि करता है। इसलिए हे साधुओ! तुम्हे इस उत्तम कर्त्तव्य से विमुख न होकर तन और मन से इस सुकृत्य मे तत्पर रहना चाहिए। देखो, शरीर और आहार ये दो पदार्थ ससार मे दुस्त्याज्य है। इनका त्याग साधारण मनुष्य नहीं कर सकता। इसका इसने त्याग किया है। इसलिए यह महात्मा सेवा करने योग्य है। ऐसा कहकर साधुओ को क्षपक की सेवा करने में उत्साहित करते हैं।

स. प्र.

हे क्षपक ! तुम विचार तो करो। तुमने किस महान् सुकृत्य का प्रारंभ किया है। तुमने कषाय और काय को कृश करने की दृढ प्रतिज्ञा ली है। और उसका पालन करने के लिए तुमने आगे कदम बढ़ाया है। क्या इस समय तुमको कषाय करना उचित है। क्या तुम्हें इस कार्य मे सहायता देने वाले महात्माओ को कटु कठोर वचन उच्चारण करना चाहिए। तुमको तो उनका कृतज्ञ होना चाहिए। क्योंकि वे तुम्हारे निज धन रत्नत्रय की रक्षा करने का उद्योग कर रहे हैं। तुमको किसी प्रकार की चिन्ता न कर शान्ति धारण करना उचित है। हम तुम्हारी सेवा मे सदा तत्पर हैं। तुम अपने कर्त्तव्य पर आरूढ रहो और तुम्हारा वैयावृत्त्य करने वाले साधुओ का उपकार मानकर उनका विनय करो। इस प्रकार शिक्षा–वचनो द्वारा क्षपक को कर्त्तव्य मार्ग पर दृढ करते हैं।

आगम वेत्ता आचार्य साधु के लिए उपादेय प्रासुक वस्तु कौनसी है ? इसका ध्यान रखते हैं।

क्षुधादि की दारुण वेदना से व्यथित मुनि को आगम का उपदेश रूप पेय पदार्थ और शिक्षा वचन रूपी आहार देकर उसकी बुभुक्षा और पिपासा को शान्त करते हैं। इस उपदेश और शिक्षा रूपी भोज्य और पान का आस्वादन कर क्षपक सतुष्ट हुआ आत्मध्यान मे दत्तचित्त हो जाता है।

गीतार्थ आचार्य अवसर पाकर क्षपक को ससार अर्थात् पच परावर्त्तन का स्वरूप प्रतिपादन करते हैं। द्रव्यपरिवर्त्तन, क्षेत्र-परिवर्त्तन, कालपरिवर्त्तन, भवपरिवर्त्तन और भावपरिवर्त्तन का विशद विवेचन कर उसको ससार से भयभीत करते हैं। इसका विशद विवेचन पहले किया जा चुका है।

हे क्षपक ! यह शरीर आत्मा का बन्दीगृह है। आयुकर्म या कार्माण कर्म ने इस आत्मा को शरीर मे कैद कर रखा है। आत्मा का असली निवास स्थान मोक्ष है। उससे वचित रखने वाला यह शरीर रूपी कारागृह है। यह शरीर अपवित्र अशुचि पदार्थों का निधान है। इसके मुख नासिका आदि अवयव अशुचि दुर्गन्धमय पदार्थों से ही निर्मित हैं। इसमें एक भी पदार्थ सारयुक्त नहीं है। यह अनेक क्लेश और आपत्तियों का निवास स्थान है। यह रोगरूपी धान्य की उत्पत्ति का क्षेत्र (खेत) है। अथवा रोग रूपी शत्रुओ का निवास स्थान है। वृद्धावस्था रूपी पिशाचिनी का यह श्मशान गृह है। जगद्वन्द्य कुल मे उत्पन्न हुआ धवल व विशाल कीर्तिवाला, अनेक महनीय गुणो से भूषित मनुष्य भी दारिद्रय से पीडित होकर इस शरीर का पोषण करने के लिए अत्यन्त नीचकर्म का आचरण करता है। धनवानो की अपमान दूषित सेवा करता है। अपने मान–अपमान को भूलकर नहीं करने योग्य कृत्यों को करता है। इस शरीर की रक्षा के लिए उच्छिष्ट भोजन को खाकर अपने धर्म कर्म से विमुख होता है। आचार्यों ने कहा है—

"नान्तर्गतोऽथनवहिर्न च तस्य मध्ये, सारोस्ति येन मनसा परिगम्यमानः।
तस्मिन्नसारजनकांक्षित-कामसारैः कोऽन्यः करिष्यति मनः प्रतिवद्धसारः ॥"

अर्थ—इस नश्वर शरीर के भीतर बाहर और मध्य मे ऐसा कोई सारभूत पदार्थ नहीं है, जिसे अन्तरात्मा स्वीकार करसके। इसलिए सार तत्त्व के ज्ञाता विवेकी जन तुच्छ अविवेकी जनो के द्वारा कामपूर्ति के निमित्त अङ्गीकार किये गये इस तुच्छ शरीर पर प्रेम नहीं करते हैं।

"वायु प्रकोप जनितैः कफपित्तजैश्च, रोगैः सदा दुरितजैः प्रविभज्यमानः।
देहोऽयमेवमतिदुःखनिमित्तभूतो नाशं प्रयाति बहुधेति कुरुष्व धर्मम् ॥"

अर्थ—असाता वेदनीय कर्म का उदय होने पर किसी समय वायु के प्रकोप से कोई वातजन्य रोग उत्पन्न होता है तो कभी कफ की वृद्धि से और कभी पित्त के प्रकोप से किसी रोग का आविर्भाव होता है। उनसे यह शरीर पीड़ित होता रहता है। यह शरीर दुःखो का कारण है। इसलिए हे क्षपक! तू इस नश्वर और दु.ख जनक शरीर से धर्म का आचरण कर।

"संघातजं प्रशिथिलास्थितरुप्रगाढं स्नायुप्रवद्धमशुभं प्रगतं शिराभिः।
लिप्तं च गांसरुधिरोदककर्दमेन रोगाहितं स्पृशनि देहविशीर्णगेहम् ॥"

अर्थ—हे क्षपक! जिस घर मे निवास कर रहा है, वह शरीर-गृह रज व वीर्य के सयोग से बना है। हड्डी रूपी खभों से इसकी रचना हुई है। चारो तरफ से छोटी और बडी नसों से जकडा हुआ है। मांस और रुधिर के कीचड़ से लीपा पोता गया है। और इसको रोगो ने अपना आश्रय बना रखा है। ऐसे अशुभ, अपवित्र व दु.खद शरीर को अज्ञानी मोही आत्मा के सिवा अन्य कौन स्पर्श करना चाहेगा? हे क्षपक! तुमसे विवेकी पुरुषों को इस शरीर पर क्या अनुराग करना उचित है? इत्यादि अनेक वैराग्य जनक उपदेश द्वारा गीतार्थ आचार्य क्षपक को शरीर स विरक्ति उत्पन्न कर क्षुधादि वेदना जन्य कष्ट का निवारण करते हैं और आत्म-भावना मे प्रवृत्त करते हैं।

आगम के ज्ञाता आचार्य के पाद मूल मे निवास करने वाले क्षपक के चित्त म उक्त उपदेश द्वारा सक्लेश परिणामो की निवृत्ति होती है और रत्नत्रय के आराधन मे किसी प्रकार की वाधा उपस्थित नहीं होती है। इसलिए उक्त आधार गुण विशिष्ट अर्थात् आगमज्ञ आचार्य का शरण प्राप्त करना ही क्षपक के लिए कल्याणकारी है।

आचार्य का व्यवहारज्ञत्व गुण

प्रश्न—व्यवहारज्ञता नामक आचार्य के तीसरे गुण का स्वरूप क्या है ?

उत्तर—जो पाच प्रकार के व्यवहार (प्रायश्चित) का स्वरूप विस्तार पूर्वक भले प्रकार जानते हैं, जिन्होंने प्रायश्चित देते हुए आचार्यों को देखा है और स्वय अन्य साधुओ को प्रायश्चित दिया है, ऐसे प्रायश्चित शास्त्र के वेत्ता अनुभवी आचार्य को व्यवहारवत्त्व गुण वाला कहते हैं।

व्यवहार के भेद

प्रश्न—पाच प्रकार के व्यवहार (प्रायश्चित) कौन से हैं ?

उत्तर—व्यवहार (प्रायश्चित) के आगम, श्रुत, आज्ञा, जीद और धारणा ये पांच भेद हैं। यथा :—

व्यवहाराम्ते मतो जीदश्रुताज्ञागम धारणा।
एतेषा सूत्रनिर्दिष्टा ज्ञेया विस्तारवर्णना ॥ ४६१ ॥

अर्थ—१ आगम, २ श्रुत, ३ आज्ञा, ४ जीद और ५ धारणा ये पाच प्रकार का व्यवहार (प्रायश्चित) माना गया है। इसका विस्तार सहित वर्णन सूत्रों मे किया गया है। इसलिए वहा से जान लेना चाहिए।

भावार्थ—ग्यारह अगो मे प्रतिपादन किये गये प्रायश्चित को आगम व्यवहार कहते हैं। चौदह पूर्व ग्रन्थो मे कथित प्रायश्चित को श्रुत व्यवहार कहते हैं। अन्यत्र विचरने वाले आचार्य द्वारा अपने महान् दोष की आलोचना करके अपने ज्येष्ठ शिष्य के हाथ अन्य आचार्य के पास भेजे हुए प्रायश्चित को आज्ञा प्रायश्चित कहते हैं। एकाकी (एकल विहारी) साधु चलकर आचार्य के निकट जाने की शक्ति न होने से वहां ही अपने स्थान पर रहता हुआ पूर्व धारणा के अनुसार अपने दोषों का प्रायश्चित लेता है उसे धारणा व्यवहार कहते हैं। बहतर प्रकार के पुरुषो के स्वरूप को जानकर उनकी अपेक्षा से आधुनिक आचार्यों ने जो शास्त्रो मे प्रायश्चित का वर्णन किया है, उसे जीद व्यवहार कहते हैं। इनका विशेष विवेचन शास्त्रान्तर मे किया है। उस विवेचन करने व सुनने का अधिकार सर्व साधारण को नहीं बताया है। इसलिए यहा उनका विशेष वर्णन नहीं किया जाता है।

प्रश्न—प्रायश्चित का विवेचन सर्व साधारण के सम्मुख नहीं करना चाहिए। इसमे क्या प्रमाण है ?

उत्तर—अनुभवी आगम वेत्ता आचार्य द्रव्य क्षेत्र प्रकृति और दोष के स्वरूप को तथा अन्य सब परिस्थिति को लक्ष्य में रखकर शास्त्रोक्त प्रायश्चित दिया करते हैं। यदि वह प्रायश्चित सब साधारण को प्रकट कर दिया जावे तो सयमी दोषों का आचरण करने से भयभीत न होंगे। अमुक प्रायश्चित लेकर दोष से निवृत्त होजावेंगे, ऐसा विचार करके वे उच्छृङ्खल होकर दोषो का आचरण करलेंगे। इसलिए प्रायश्चित विधान का श्रवण करना सर्व साधारण के लिए निषिद्ध है। यथा :—

"सव्वेण वि जिणवयणं सोदव्वं सद्दिदेण पुरिसेण।
छेदसुदस्स हु अत्थो ण होदि सव्वेण सो दव्वो ॥ १ ॥"

अर्थ—सब श्रद्धालु पुरुष जिनेन्द्र वचन का श्रवण कर सकते हैं, किन्तु प्रायश्चित शास्त्र का अर्थ सब लोगो को सुनने का अधिकार नहीं है।

प्रश्न—व्यवहारवान् (प्रायश्चित शास्त्र वेत्ता) आचार्य पर प्रकाशित दोषो का प्रायश्चित किन २ बातो पर लक्ष्य रखकर देते हैं अर्थात् समान अपराध होने पर सबको एकसा प्रायश्चित देते हैं, अथवा उसमे कुछ अन्तर भी रहता है ?

उत्तर—द्रव्य क्षेत्र काल भाव तथा सयमी के उत्साह शारीरिक शक्ति, दीक्षा काल, आगमज्ञान वैराग्यादि का विचार करके प्रायश्चित देते हैं। यथा .—

दव्वं खेत्तं कालं भावं करणपरिणाममुच्छाहं।
संघदणं परियायआगमपुरिसं च विण्णाय ॥ ४५० ॥
मोत्तूण रागदोसे ववहारं पट्ठवेइ सो तस्स।
ववहारकरण कुसलो जिणवयणविसारदो धीरा ॥ ४५१ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—जिनागम मे निपुण पायश्चित देने मे कुशल धैर्यवान् आचार्य द्रव्य क्षेत्र काल भाव, प्रायश्चित आचरण करने का परिणाम (नतीजा) प्रायश्चित लेने वाले का उत्साह उसका शरीर बल, दीक्षा की अवधि, आगम का परिज्ञान इतनी बातो को लक्ष्य मे रखकर रागद्वेप का परित्याग कर प्रायश्चित देता है।

भावार्थ—आचार्य प्रथम सयमी के द्वारा किये गये अपराध के निदान (कारण) का अन्वेपण करते हैं। यह अपराध यदि

द्रव्य की प्रतिसेवना से उत्पन्न हुआ है, तो वह पृथिवीकाय, अप्काय, तेजकाय, वायुकाय, प्रत्येक वनस्पतिकाय, अनन्तकाय तथा त्रसकाय रूप सचित्त द्रव्य की प्रतिसेवना से हुआ है, अथवा तृण फलक (काठ के पट्टे) चटाई आदि उचित द्रव्य की प्रतिसेवना से हुआ है, या जीव युक्त काष्ठ फलक तृणादि की प्रतिसेवना से उत्पन्न हुआ है, उसका विचार करते हैं।

यदि क्षेत्र के निमित्त से यह अपराध हुआ हो तो उसपर निम्न प्रकार विचार करते हैं। मुनि वर्षाकाल में आधाकोश, कोश या दो कोश पर्यन्त गमन कर सकते हैं। यदि वे उससे अधिक क्षेत्र में गमन करें तो क्षेत्र प्रतिसेवना होती है। उक्त प्रतिसेवना करने वाला प्रायश्चित के योग्य होता है। जहा पर गमन करना निषिद्ध है, ऐसे क्षेत्र मे गमन करने से, राज्यविरुद्ध क्षेत्र (स्थान) मे गमन करने से, उन्मार्ग द्वारा गमन करने से, जहा पर मार्ग टूट गया है उस स्थान मे गमन करने से, अन्त पुर मे प्रवेश करने से, जहां जाने की अनुमति नहीं है या मनाई है वहा जाने से क्षेत्रप्रतिसेवना होती है।

आवश्यकों का जो काल नियत है उसका उल्लंघन करके सामायिक प्रतिक्रमण आदि आवश्यक का आचरण करने से, वर्षायोग काल का उल्लंघन करने से तथा इसी प्रकार उचित काल मे की जाने वाली क्रियाओं का कालातिक्रम करने से काल प्रतिसेवना होती है।

दर्प, प्रमाद (असावधानता), उन्माद, सहसा भय इत्यादि परिणामों से प्रवृत्ति करने से भाव प्रतिसेवना होती है अर्थात् भाव के निमित्त से अपराध उत्पन्न होता है।

इस प्रकार द्रव्य क्षेत्रादि के द्वारा जन्य अपराध को भली भांति जानकर प्रायश्चित्त के रहस्य के ज्ञाता आचार्य प्रायश्चित दिया करते हैं।

प्रायश्चित देने वाले आचार्य को आहार द्रव्य का ज्ञान होना आवश्यक है। कोई आहार द्रव्य रस प्रचुर होता है, कोई धान्य प्रचुर या शाक बहुल होता है। तथा किसी मे लपसी तथा शाक की मुख्यता होती है। कोई पदार्थ पेय (पीने योग्य पतला) होता है। इत्यादि आहार के पदार्थों के स्वरूप और प्रकृति का ज्ञान प्रायश्चित दाता को होना आवश्यक है।

प्रायश्चित लेने वाले और देने वाले को क्षेत्र (देश) का भी ज्ञान रखना चाहिए। यह देश अनूप (जल बहुल प्रदेश) है, या जांगल (अल्प जलवाला) है अथवा साधारण है।

प्रायश्चित देते समय आचार्य को वर्षाकाल, ग्रीष्मकाल और शीतकाल का ध्यान रखकर प्रायश्चित देना चाहिए। तथा प्रायश्चित ग्रहण करने वाले के क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोषादि भावों का तथा प्रायश्चित देने के परिणाम का भी विचार कर लेना चाहिए।

प्रायश्चित आचार करने मे तत्पर हुआ यह साधु क्या सङ्घ मे सद्वास करने के उद्देश से अथवा यश के लोभ से अथवा कर्मों की निर्जरा करने के लिए प्रवृत्ति करता है, इसका ध्यान भी आचार्य को रखना आवश्यक है।

आचाय को प्रायश्चित का निर्णय करते समय प्रायश्चित लेने वाले के उत्साह और शारीरिक बल की ओर भी दृष्टि रखना परमावश्यक है। जिस प्रायश्चित मे अपराध शुद्धि के साथ उत्साह की वृद्धि होती रहे तथा उसका शरीर उस प्रायश्चित का सहन करले वैसा ही योग्य प्रायश्चित विद्वान् आचार्य दिया करते हैं।

जो चिरकाल का दीक्षित है तथा जो नवीन दीक्षित है, उनके समान अपराध होने पर भी प्रायश्चित मे अन्तर होता है। चिरकाल के दीक्षित की सहिष्णुता और नवीन दीक्षित की सहनशीलता एकसी नहीं होती है, अत. आचार्य उनके प्रायश्चित मे भी अन्तर रखते हैं।

आगम के ज्ञाता व आगमज्ञान हीन के प्रायश्चित मे भी विशेषता होती है। कोई भय से प्रायश्चित का ग्रहण करता है और कोई आदर बुद्धि से अपना कर्त्तव्य समझकर प्रायश्चित का ग्रहण करता है। इत्यादि सब बातों को लक्ष्य मे रखकर गम्भीरता व दूरदर्शिता से विचार कर आचार्य प्रायश्चित देते हैं और मुनिवर्ग को शुद्ध करते हैं।

प्रश्न—प्रायश्चित शास्त्रों के ज्ञान से शून्य जो आचार्य अपने सङ्घ स्थित साधुवर्ग को तथा श्रावक आर्यिका आदि को शुद्ध करने के हेतु प्रायश्चित देते हैं, उसमे क्या हानि होती है?

उत्तर—जिसको प्रायश्चित शास्त्र का ज्ञान नहीं है, तथा जिसने आचार्यों के प्रायश्चित देने के क्रम को नहीं जाना है, वह आचार्य पद के योग्य नहीं है। क्योंकि आचार्य के गुणो म व्यवहारवत्त्व नाम का तीसरा गुण माना गया है। वह गुण उसमे अवश्य होना चाहिए, उसके बिना कोई आचार्य नहीं बन सकता है। जो साधु आचार्य योग्य गुण के न होने पर भी आचार्य बन बैठता है, वह अनन्त ससार का भोगी होता है, यथा :—

ववहारमयाणंतो ववहरणिज्जं च ववहरतो खु।
उस्सीयदि भवपंके अयसं कम्मं च आदि यदि ॥ ४५२ ॥ (भग आ.)
व्यवहारापरिच्छेदी व्यवहार ददाति यः।
अवाप्यैपोऽयशो घोरं संसारमवगाहते ॥ ४६४ ॥ (सं. भग आ.)

अर्थ—जिसको प्रायश्चित का निरूपण करने वाले ग्रन्थों का, उनके अर्थ का तथा प्रायश्चित कर्म का ज्ञान नहीं है और जो आलोचनादि नव प्रकार के प्रायश्चित का आचरण अपनी मन कल्पना से करवाता है, वह तुण्डाचार्य (मन कल्पित मुख से प्रायश्चित देने वाला) दूसरे को शुद्ध नहीं करता है। स्वय ससार रूपी गहन पक मे फसता है। संसार से भयभीत यतीश्वरों को व्यथ क्लेश देता है। कारण कि किस अपराध का कौनसा प्रायश्चित होता है, ऐसा ज्ञान उसको नहीं होता है और साधु वर्ग को अनुचित दण्ड देकर वृथा सताता है। आगमविपरीत उन्मार्ग का उपदेश व सन्मार्ग का विनाश करने के कारण वह आचार्य दर्शन मोहनीय कर्म का बन्ध करके अनन्त संसार की वृद्धि करता है। उसका लोक मे घोर अयश होता है। इसलिए ससार से डरने वाले को प्रायश्चित शास्त्रो का ज्ञान न होने पर अपने को झूठे आचार्य पद से कलंकित न करना चाहिए। 'हम आचार्य हैं हमने जिस प्रायश्चित का आचरण करने का आदेश दि ा है, उसे तुमको पालने करना होगा' ऐसा स्वेच्छा से कभी न बोलना चाहिए।

हे क्षपक! जो मूर्ख व नवीन शिष्य मण्डली को बनाकर अज्ञ मनुष्यो से आदर पाकर अहकार को प्राप्त होगया है। उसके निकट आत्म शुद्धि की आशा स मत जाओ। उसका वाक् जाल व ऊपर के दिखावे मे आकर अपनी आत्मा का विनाश न करो। जो वैद्य रोग का स्वरूप नहीं समझता है, वह अज्ञ वैद्य रोग की चिकित्सा करने मे समर्थ नहीं हो सकता है। वैसे ही जो आचार्य प्रायश्चित शास्त्रों के ज्ञान से शून्य है, वह रत्नत्रय को निर्मल करने की अभिलाषा रखते हुए भी उसको निर्मल करने मे कृतकार्य नहीं होता है। इसलिए हे क्षपक! तुम्हें प्रायश्चित शास्त्रो के रहस्य के ज्ञाता आचार्य के पादमूल मे ही निवास करना उचित है। उनके सम्पर्क मे रहने से ही तुम्हारे दर्शन की विशुद्धि, ज्ञान की प्राप्ति व वृद्धि और चारित्र की उन्नति हो सकती है। धर्म्यध्यान व शुक्लध्यान की सिद्धि और आत्मा की विशुद्धि भी उनकी शरण लेने से ही हो सकती है।

आचार्य का प्रकारत्व गुण

जब क्षपक साधु वसतिका मे प्रवेश करता है, उस समय आचार्य उसे उचित स्थान देता है। जब बाहर जाना चाहता है, तब उसके अनुकूल परिस्थिति की योजना करता है। शय्या सस्तर और उपकरण की आवश्यकता की पूर्ति करता है, तथा वसतिका शय्या उपकरणादि के शोधन करने मे तथा रुग्णावस्था मे अथवा उठने बैठने की सामर्थ्य न रहने पर साधु को हस्तावलबन देकर या अन्य साधुओं को वैयावृत्त्य के लिए नियत करके अशक्त साधु को उठाने, बैठाने, शय्या पर सुलाने, पाद चम्पन, शरीर के मलमूत्रादि की शुद्धि करने मे अनुग्रह करता है। तथा आहार पानादि की अनुकूलता सम्पादन करके समस्त सङ्घ का उपकार करता है। ऐसे उचित और आवश्यक साधनो द्वारा क्षपक का उपकार करने वाले आचार्य को प्रकारक (प्रकुर्वी) कहते हैं।

पू. कि. ५

सं प्र.

प्रकारत्व गुण के धारक आचार्य अवसर आने पर छोटे से छोटे और बडे से बडे विद्वान् या अल्पज्ञ समस्त साधुओं की सब प्रकार की सेवा करने में स्वयं तत्पर रहते हैं, सेवा शुश्रूषा करने में अत्यधिक परिश्रम होने पर खिन्न चित नहीं होते हैं, सदा प्रसन्नचित होकर सेवा में सलग्न रहते हैं। वह आचार्य उक्त गुण से अलंकृत होते हैं। इसलिए क्षपक को प्रकारक गुरु की छत्रछाया में ही निवास करना चाहिए।

आचार्य का आयोपायदर्शित्व गुण

जो क्षपक (समाधिमरण का इच्छुक साधु) आत्म-विशुद्धि करने में प्रयत्नशील हो रहा है, आहार का त्याग करके काय को कृश कर रहा है, सल्लेखना और सुध्यान का आश्रय लेकर कषाय को भी मन्द करने में तत्पर है, जो मोक्ष प्राप्ति के निकट पहुच रहा है, अथवा मनुष्य पर्याय के अन्त के सन्निकट प्राप्त हो गया है उस क्षपक के भी क्षुधादि की असह्य वेदना के उपस्थित होने पर रागद्वेष उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। क्योंकि जब वह क्षुधा तृषा की दारुण वेदना से पीड़ित हो जाता है उस समय मोहनीय कर्म के उदय से उसकी परिणति मलीन हो जाती है। तथा समाधिमरण का कार्य प्रारम्भ करते समय उसने प्रतिज्ञा की थी कि मुनि दीक्षा ग्रहण करने के काल से लेकर अब तक रत्नत्रय में जो अतिचार उत्पन्न हुए हैं, उन सबको गुरु महाराज के निकट प्रकट करूंगा। किन्तु पश्चात उसके लज्जा तथा मान का उदय होने पर वह दोषों की स्पष्ट आलोचना करने में हिचकिचाने लगता है। वह अभिमान वश सोचता है कि यदि मेरे अपराध आचार्य को विदित हो जावेंगे तो वे मेरी अवहेलना करेंगे। या अन्य मुनि जो मेरी वन्दना करते हैं, आदर सत्कार करते हैं, मेरे दोष प्रकट हो जाने पर ये मेरी वन्दना व आदर सत्कार न करेंगे। मुझे घृणा की दृष्टि से देखने लगेंगे इत्यादि कल्पना करके अपने को निर्दोष और शुद्ध सिद्ध करने के अभिप्राय से गुरुदेव के समीप अपने दोषों की आलोचना करने के लिए पीछे हटता है। उसे यह भय लगा रहता है कि यदि मैं अपने सब अपराध कह दूंगा तो कदाचित आचार्य मुझे संघ से बहिष्कृत कर देंगे। इत्यादि अनेक आशकाएं उस क्षपक के अन्तःकरण में घर बनाये रहती हैं। इसलिए वह उन्नत विचार वाला पवित्रात्मा शरीर का उत्सर्ग करने के लिए उद्यत हुआ भी क्षपक अपने दोष गुरु से निवेदन नहीं करता है। उसको आयोपायदर्शन गुण के धारक आचार्य दोषों की आलोचना करने से होने वाले लाभ को और आलोचना न करने से उत्पन्न होने वाली हानि को भलीभांति दिखाते हैं। क्षपक को मधुर और हितकर शब्दों में समझाते हैं।

हे महात्मन्! यदि तुम अपने अपराधों को प्रकाशित न कराओगे तो तुम्हारा यह दुर्लभ रत्नत्रय नष्ट हो जायगा। जैसे किसी के गुह्य अङ्ग में विपाक्त (जहरीला) फोड़ा हो जावे और वह चिकित्सक से लज्जादि के वश न कहे तो वह विनाश का कारण होता है। उसी प्रकार जो क्षपक अपने रत्नत्रय को मलीन करने वाले अतिचारों (अपराधो) का रत्नत्रय के विशोधक आचार्य के समीप नहीं कहता है तो वह रत्नत्रय रूप अपने दुर्लभ जीवन की हत्या करता है। और जो निष्कपट भाव से अपने दोषों का ज्यों का त्यों वर्णन कर देता है, वह

रत्नत्रय जीवन को विशुद्ध और अमर बनाता है। इसलिए हे पवित्र-हृदय महापुरुष! तुमको अपने कल्याण के निमित्त, रत्नत्रय रूप चिन्तामणि रत्न को उज्ज्वल बनाने के लिए लज्जा, मान व भय का परित्याग कर दीक्षा काल से लेकर आज तक के सब अपराधों का यथार्थ प्रकाशन करो।

हे साधो! तुमने अपार और अनन्त संसार का उच्छेद करने के लिए संयम का आराधन किया है। अनन्त काल से यह जीव चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण कर रहा है। संसार में भ्रमण करते हुए जीवों में विरले ही भाग्यशाली जीव हैं, जिनको यह दुर्लभ संयमरत्न मिलता है। दैवयोग से तुमको यह संयमरत्न प्राप्त होगया है। कौन ऐसा मूर्ख मनुष्य होगा जो शल्य सहित मरण कर उसे प्राप्त हुए संयमरत्न का नष्ट करेगा। क्योंकि जिस आत्मा में शल्य का निवास होता है, उसमें रत्नत्रय नहीं रहता है। जैसे जहां अन्धकार का साम्राज्य है वहां प्रकाश नहीं रहता है। वैसे ही जिसकी आत्मा में शल्य रहता है उसमें रत्नत्रय नहीं रहता है। इसलिए रत्नत्रय के शत्रु मायाशल्य का सर्वथा परित्याग कर देना ही तुम्हारे लिए हितावह है।

हे क्षपक! कांटा बाण आदि द्रव्य शल्य जैसे शरीर के पग आदि में प्रवेश करके प्रथम छिद्र करता है, मांस और नाड़ी में घुस कर पीड़ा देता है, पश्चात् शरीर के आश्रय को सब कर उसे निकम्मा बना देता है। उसी प्रकार मायादि भावशल्य भी आत्मा को दुःखित करता है। तथा व्रत शीलादि गुणों का विनाश करता है। लज्जा, भय और अभिमान उत्पन्न होने पर माया शल्य उत्पन्न होता है। और मायाशल्य के उत्पन्न होने पर साधु अपराध छिपाने का प्रयत्न करता है।

हे महात्मन्! यदि तुमने मायाशल्य धारण कर दुर्लभ बोधि रत्न को गुमा दिया तो याद रखो जन्ममरण रूपी भवर से अति गम्भीर महा भयानक, चौरासी लाख योनि से आकुल, इस अनन्त संसार में भ्रमण करते हुए कुयोनियों में पचते हुए तुमको अनगिनत काल तक हृदय विदारक दुःख व संताप भोगने पड़ेंगे।

इस प्रकार आचार्य क्षपक को अपराध प्रकट करने से उत्पन्न होने वाले गुण को और छिपाने से अनन्त संसार (अर्धपुद्गल परावर्तन काल तक) भ्रमण रूप महान् दुःख को अनेक युक्तियों से समझाते हैं, जिससे क्षपक मायाशल्य का त्याग कर अपने दोषों की आलोचना द्वारा रत्नत्रय की विशुद्धि करता हुआ भव भ्रमण के दुःख से मुक्त होता है। इसलिए जिसमें आयोपायदर्शकता नामक गुण पाया जावे, उस आचार्य के पादमूल का आश्रय लेकर रत्नत्रय की आराधना को परिपूर्ण करना चाहिए।

आचार्य में अवपीडकत्व गुण

प्रश्न—यदि कोई क्षपक आलोचना के गुण व दोष का भली भांति निरूपण करने एवं अनेक शिक्षा देने पर भी आचार्य के समीप मान लज्जा भय तथा क्लेश सहन करने की सामर्थ्य का अभाव इत्यादि कारणों से अपने दोषो को व्यक्त करने मे प्रवृत्त न हो तो निर्यापक आचार्य क्या करें ?

उत्तर—आचार्य मे अवपीडकत्व नाम का गुण होता है। उसके बल से आचार्य साधु के हृदय मे छिपे हुए गुप्त अपराधो को प्रकट करवा लेते हैं। जैसे सिंह के सामने शृगाल (सियार) उदरस्थित मास को वमन कर देता है, उसी प्रकार आचार्य की तेजस्विता और प्रभाव से प्रभावित हुआ साधु अपने सब अपराधों को व्यक्त कर देता है।

प्रश्न—आचार्य क्षपक के अपराध व्यक्त करवाने के लिए प्रथम ही इस प्रभाव जनक अवपीडकत्व गुण का उपयोग क्यों नहीं करते ?

उत्तर—राजा की नीति के समान आचार्य की नीति होती है। राजा अपनी प्रजा के सुख व शान्ति के लिए जैसे अनेक प्रकार की नीति का अवलबन करता है, वैसे ही सङ्घ के कल्याण के लिए आचार्य को भी विविध साधनो का प्रयोग करना पड़ता है। आवश्यकता अनुसार ही उनके अवपीडकत्व गुण का प्रयोग होता है।

प्रश्न—आचार्य प्रथमतः क्षपक को अपराध प्रकट करने के लिए किस प्रकार सान्त्वना देकर उत्साहित करते हैं ?

उत्तर—जब आचार्य क्षपक को अपराध के अभिव्यक्त करने से लाभ और अभिव्यक्त न करने से हानि दिखाकर अपने को सफल मनोरथ नहीं पाते हैं अर्थात् हानि लाभ दिखाने पर भी क्षपक जब लज्जा भय मानादि को छोड़ कर अपने अपराधों की आलोचना नहीं करता है, तब निर्यापक आचार्य क्षपक के प्रति स्नेहपूर्ण आत्मीयता प्रकट करने वाले एवं मधुर हृदयस्पर्शी मनोज्ञ भाषण करते हैं। क्षपक के अन्तःकरण को सुखी बनाने वाला उपदेश आचार्य जिस प्रकार देते हैं, उसका दिग्दर्शन निम्न प्रकार किया जाता है।

हे आयुष्मन्! तुमने सन्मार्ग को अङ्गीकार किया है। और तुम अन्तःकरण से रत्नत्रय को निर्मल करने के लिए सदा दत्तचित्त रहतो हो। इसलिए हे महात्मन्! तुम लज्जा, भय और गौरव को तिलाजलि देकर अपने दोषो का ज्यों का त्यो प्रकाशन करो। गुरुजन तो माता पिता के तुल्य होते हैं। उनके सामने अपराध प्रकट करने मे लज्जा कौनसी ? गुरुजन सदा शिष्य की उन्नति और गौरव की कामना करते हैं। वे शिष्य के अपराध को अपना समझते हैं। वे किस तरह तुम्हारे दोषो को दूसरो पर प्रकट कर सकते हैं। जैसे पुत्र अपने

भयङ्कर अपराध को माता पिता के समक्ष करने मे नहीं झिझकता, वह समझता है कि माता पिता मेरे हितचिन्तक हैं तथा मेरे कल्याण करने मे प्रयत्नशील रहते हैं। इसलिए वह लज्जा को ताक मे रखकर गुप्त अपराध निवेदन कर देता है। वैसे ही उत्तम शिष्य अपने गुरु को ससार मे सबसे अधिक हितकर्त्ता समझता है। क्योंकि वे सर्वदा अपने आत्म कल्याण के कार्य की उपेक्षा कर शिष्यों के कल्याण की साधना मे अहर्निश लगे रहते हैं। माता पिता तो स्वार्थवश पुत्र के रक्षण शिक्षणादि कार्य मे प्रवृति करते हैं। किन्तु गुरुदेव शिष्य के परलोक सम्बन्धी सुख की प्राप्ति के लिए निस्वार्थ हितचिन्तन मे उद्यत रहते हैं। उनके समक्ष लज्जा करना उचित नहीं है।

लज्जा भी सब जगह श्लाघनीय नहीं मानी गई है यथा :—

"धनधान्यप्रयोगेषु विद्यासंग्रहणेषु च।
आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्ज सुखी भवेत् ॥"

अर्थ—धन और धान्य का उचित प्रयोग करने मे, विद्या का ग्रहण (अध्ययन) करने मे तथा आहार और व्यवहार मे जो लज्जा नहीं करता है वह सुखी होता है।

हे क्षपक। तुम्हें कदाचित् यह भय हो कि मेरे द्वारा आलोचना किया गया दोष ये (आचार्य) प्रकाशित कर देंगे तो ऐसा भय मुझसे तुम्हें न करना चाहिए। क्योंकि धर्माचार्य ससार मे धर्म के प्रवर्त्तक होते हैं। वे सदा मुनियो की और मुनि धर्म की निन्दा व अपमान का दूर करने मे कटिबद्ध रहते हैं। वे समाधि की सिद्धि के लिए उपस्थित हुए आप सरीखे महात्माओ द्वारा निवेदन किये गये दोषों को किस प्रकार प्रकट करेगे ? सहधर्मी बन्धु का दोष प्रकाशित करना सम्यग्दर्शन का दूषण माना गया है और परनिन्दा करन से नीच गोत्र का बन्ध होता है। तथा परनिन्दा करने वाला जगत् मे निन्दनीय होता है और वह दूसरे के चित मे असह्य सताप उत्पन्न करने के कारण दारुणदुःख का जनक असातावेदनीय कर्म का बन्ध करता है। सघ के साधु तथा अन्य साधु जन ऐसे आचार्य की अवहेलना करते हैं। क्या मैं अपने धर्म रूपी उज्ज्वलरत्न को इस प्रकार पापपङ्क से मलीन करूगा ? क्या पूर्णिमा के चन्द्र के समान धवलयश पर अपयश रूपी कज्जल की कालिमा पातूगा ? कौन सुबुद्धि इस महान् अनर्थ के मूल परदोष प्रकाशन को करके अपने उन्नत मस्तक पर कालिमा का टीका लगावेगा। इसलिए हे मुमुक्षु। दैवयोग से अथवा प्रमाद या अज्ञान से जो सम्यक्त्वादि मे अतिचार हो गये हो वे छिपाने योग्य नहीं है। निर्मल हुआ रत्नत्रय महा महिमा को प्राप्त होता है। और वह शाश्वत लोकोत्तर (मोक्ष) पद देता है। इसलिए अपने सब दोषो को निर्भय होकर मुझपर प्रकट करो। पूर्ण विश्वास रखो, वे दोष किसी के सामने कभी प्रकट न किये जावेगे।

इस प्रकार आचार्य के विश्वसनीय सुमधुर भाषण की भी अवहेलना करके जब क्षपक अपने कृत अपराधों को सम्यक् प्रकार प्रकट नहीं करता है तब आचार्य क्षपक की कल्याण कामना से प्रेरित हुए अवपीडक गुण द्वारा उसके अन्त:स्थल मे छिपे हुए दोषो को अपनी तेजस्विता के बल से बाहर निकाल लेते हैं। जैसे सिंह शृगाल के उदरस्थित मास को बाहर वमन करवा लेता है। वे क्षपक को इस प्रकार कहते हैं।

हे साधो। अपराध शरीर के मल के समान या सडे हुए फोडे के समान हैं। उनको बाहर निकाल फैंकने से ही हित साधन होता है। भीतर छिपा रखने मे दुर्गन्धि फैलती है और उससे अनेक हानिया होती हैं। तुम उनको छिपा रहे हो, इसलिए हमारे यहा से हट जाओ। क्योंकि वैद्य के निकट वही रोगी जाता है, जिसे अपनी व्याधि मिटाने की इच्छा होती है। तथा निर्मल जलाशय के समीप वही गमन करता है जिसको जलकी आवश्यकता होती। ऐसे ही रत्नत्रय मे लगे हुए दोषो का निराकरण करने के लिए गुरुओं का आश्रय लिया जाता है। और तुम रत्नत्रय की विशुद्धि करने मे लापरवाह हो तो फिर तुमने इस समाधिमरण का आडम्बर क्यो रचा है? सल्लेखना (समाधिमरण) की सिद्धि चतुर्विध आहार का त्याग करने मात्र से नहीं होती है। किन्तु उसकी सिद्धि के लिए कषायो का त्याग करना भी परमावश्यक है। कषाय का त्याग करने वाले के संवर और निर्जरा होती है। कषायो से नवीन कर्मों का रसबध और स्थिति बन्ध होता है। अत मुमुक्षु उनका निग्रह करते हैं। क्रोधादि कषायो मे माया कषाय अति निन्दनीय है। क्योंकि माया से तिर्यंच योनि का बन्ध होता है। उस माया को छोडने मे तुम असमर्थ हो। तुमने तो तिर्यंच योनि मे प्रवेश करने का साधन जुटा रखा है। ससार से निवृत्त होने का तुम्हारा उद्योग कैसे सार्थक होगा? ससार रूप महापङ्क से उद्धार होना अति दुष्कर है। वस्त्र फैंक देने मात्र से निर्ग्रन्थपने का अभिमान करना न्याय संगत नही है। यदि नग्न होने से ही निर्ग्रन्थता प्राप्त हो जाती है, ऐसा मान लिया जावे तो तिर्यंच भी निर्ग्रन्थ माने जावेंगे। परम भट्टारक तीर्थंकर देवने दश प्रकार के बाह्य और चौदह प्रकार के अन्तरङ्ग परिग्रह की गाठ को उतार फैंकने पर मुनिपना बताया है। और वही मोक्ष का अमोघ उपाय है। यद्यपि क्षेत्र वस्तु आदि दश प्रकार परिग्रह का त्याग किये बिना भाव मुनि पना नहीं होता है, तथापि भाव मुनित्व की सिद्धि के लिए बाह्य परिग्रह के त्याग के साथ २ कषायादि का भी त्याग करना आवश्यक है।

हे मुमुक्षो। जो कर्मों का बन्ध होता है वह जीव और पुद्गल द्रव्य के सम्बन्ध मात्र से नहीं होता है, किन्तु जीव के कषायादि परिणाम से होता है। वह कषाय भाव (माया कषाय) तुम्हारी आत्मा मे जाज्वल्यमान हो रहा है, अत. कर्म बन्ध से निवृत्त होने का तुम्हारा प्रयास विडम्बना मात्र है।

हे रत्नत्रय के पालक। अतिचार से दूषित सम्यक्त्वादि मुक्ति के कारण नहीं हो सकते हैं। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:' यह आगम वचन तुम्हारे कर्णगोचर नहीं हुआ है? उसमे निरतिचार दर्शनादि को ही मुक्ति का मार्ग (उपाय) बताया है।

अतिचार सहित दर्शनादि को सम्यग्दर्शनादि नहीं बताया है। और वह सम्यग्दर्शनादि की निरतिचारता गुरु द्वारा बताये गये प्रायश्चित का आचरण करने से ही प्राप्त होती है। गुरु उसी को प्रायश्चित देते हैं जो उनके समक्ष अपने अपराधों की आलोचना करता है। तुमतो अपराधों की आलोचना नहीं कर रहे हो इसलिए तुम दूरभव्य या अभव्य प्रतीत होते हो। अन्यथा ऐसी महान् मायाशल्य को हृदय मे स्थान कैसे देते और मुनियों के वन्दना के पात्र भी कैसे होते ? अर्थात् मायाचार से दूषित होने के कारण मुनि द्वारा अवदनीय होकर भी तुमने मुनियों से वन्दना करवाई है, अत: तुम दूरभव्य या अभव्य ज्ञात होते हो।

'समणं वदिज्ज मेघावी संजदं सुसमाहिदं।'

अर्थात्—विचारवान् साधु को उचित है कि वह उसी साधु की वन्दना करे जो समचित्तता का धारक हो।

जो साधु जीवन और मरण मे, प्रशसा और निन्दा मे, लाभ और अलाभ मे समान बुद्धि रखता है, उसे समचित कहते हैं। मैं अतिचार की आलोचना करूगा तो मेरी सब मुनि निन्दा करेंगे, प्रशसा न करेंगे—ऐसा तुम मन मे विचार कर रहे हो, तुम सम-बुद्धि नहीं हो, अत. वदना योग्य कैसे हो सकते हो ? तुम शायद यह समझकर आलोचना नहीं कर रहे हो कि मेरे दोषो को ससार मे कोई नहीं जानता है। यह तुम्हारी भूल है। तुम्हारे अपराधो को मैं जानता हूँ और अन्य मुनीश्वर भी जानते हैं। इस प्रकार युक्ति सङ्गत ओजस्वी भाषण द्वारा उसके अन्त.करण मे अपना वर्चस्व स्थापित करके उसके अन्तःकरण के प्रच्छन्न अपराधों को प्रकाशित करवा लेते हैं, जैसे सिंह के समक्ष शृगाल अपने उदरस्थित मासादि को बाहर निकाल देता है। ऐसे गुण के धारक आचार्य को अवपीडक गुण विशिष्ट कहते हैं।

अवपीडक आचार्य का लक्षण

उज्जस्सी तेजस्सी वचस्सी पहिदकित्तियायरिओ।
सीहाणुओ य भणियो जिणेहिं उप्पीलगो णाम ॥ ४८७ ॥
कंठीरव इवौर्जस्वी तेजस्वी भानुमानिव।
चक्रवर्त्तीव वचस्वी सूरिरुत्पीडकोऽकथि ॥ ४६२ ॥ (भग आ)

अर्थ—उत्पीडक गुण के धारक आचार्य सिंह के समान ओजस्वी (प्रभावशाली बलवान्) होते हैं। सूर्य के समान तेजस्वी (प्रतापी) होते हैं। जिनके आगे सब कापते हैं और जो किसी के प्रभाव (रोब) मे नहीं आते हैं उन्हें तेजस्वी कहते हैं। अर्थात् सब यतीश्वरों

पर उनका प्रभाव होता है। जो चक्रवर्ती के समान अप्रतिहत शासन होते हैं, स्वकीय सङ्घ के और अन्य सङ्घ के मुनि जिनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते हैं उन्हें वर्चस्वी कहते है। वे प्रश्न का उत्तर देने मे निपुण होते हैं। उनका धवल यश संसार मे विस्तृत होता है। और वे सिंह के समान अधृष्य (क्षोभरहित) होते हैं।

अवपीडक गुण के आधार आचार्य हितचाहने वाली उस माता के समान होते हैं जो रोते हुए बालक के मुह को बलात्कार से खोलकर उसे दूध पिलाती है। आचार्य भी माया शल्य सहित अपने दोषो की आलोचना न करने वाले साधु को बलात्कार से दोषो की आलोचना करने के लिए बाध्य करते हैं। यद्यपि कड़ुवी औषधि रोगी को बुरी लगती है, तथापि परिणाम मे सुखप्रद होती है। वैसे ही दोषो का प्रकाशन क्षपक को बुरा लगता है, किन्तु भविष्य मे कल्याण का कर्त्ता होता है। अर्थात् दोषो की आलोचना करने पर गुरु द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित का आचरण कर क्षपक भविष्य मे ससार परिभ्रमण के दुःख से मुक्त होता है।

जो गुरु शिष्यों के प्रति मृदु भाषणादि सद्व्यवहार तो रखते हैं, लेकिन उनके दोषों का निरावरण नहीं करते हैं, उनकी अपेक्षा वे गुरु दुर्लभ हैं, जो शिष्यों की हितकामना से पादप्रहार करके भी उनके दोषो का निवारण करते हैं। कारण कि इस लोक मे अपने हितकर कार्य मे तत्पर रहने वाले तथा परहित कार्य मे उपेक्षा करने वाले ही मनुष्य बहुत पाये जाते हैं। अपने हित के समान परहित का चिन्तन करने वाले बहुत कम दिखाई देते हैं। अर्थात् जो आत्महित करते हुए परहित मे निरत रहते हैं, वे ही नरपुगव कटुकठोर अप्रियवचन बोलकर भी शिष्य का कल्याण करते हैं। ऐसे जगद्गुरु इस लोक मे अतिशय दुर्लभ हैं।

शङ्का—यदि कोई शिष्य अपने पूर्व दोषो की आलोचना न करे तो वह भविष्य मे निर्दोष सयम का पालन करने मे कटिबद्ध रह सकता है या नहीं ?

समाधान—जो साधु अपने दोषो से निवृत्त नहीं होता है, वह भविष्य मे निर्दोष आचरण करने मे समर्थ नहीं हो सकता है। जैसे किसी मनुष्य के व्रण (घाव) सड गया है, उस सडे भाग का आपरेशन या इजेक्शन आदि के प्रयोग से जब तक शोधन नहीं किया जाता है, तब तक उसकी प्रवृत्ति (चेष्टा) सुखमय नहीं होती है। उसी प्रकार जब तक पूर्व अपराधों (दोषो) का शोधन नहीं किया जाता है, तब तक उसके अन्त.करण मे दोषो की वासना बनी रहने के कारण गुणो मे अप्रतिहत प्रवृत्ति नहीं होती है।

जब तक आत्मा मे दोषो का सद्भाव रहता है तब तक रत्नत्रय की शुद्धि नहीं होती है और रत्नत्रय की शुद्धि के बिना ससार-चक्र से निकलकर मोक्ष के निकट पहुचना असभव है, इसलिए अवपीड़क गुण के धारक आचार्य जैसे बने वैसे क्षपक (समाधि के आराधक) के हृदय से दोषो का वमन करवाकर उसका कल्याण करते हैं।

स. प्र.

आचार्य की विशिष्टता

प्रश्न—साधु को अपने दोष गुरु महाराज के निकट मायारहित होकर स्पष्ट निवेदन करना आवश्यक है। तथा उसके निवेदनन करने पर आचार्य प्रथम मधुर स्नेह युक्त वचन से और पश्चात् कटु कठोर प्रभावशाली वचन से क्षपक को अपने दोष प्रकट करने के लिए बाध्य करते हैं। लेकिन आचार्य साधु के गुप्त दोषों को यदि प्रकरण पाकर या छेपवश मुनि समाज में प्रकट करदें तो क्षपक की महती हानि होने की सभावना रहती है। अतएव आचार्य का उस समय क्या कर्त्तव्य-धर्म होना चाहिए ?

उत्तर—आचार्य वही हो सकता है, जिसका हृदय गभीर होता है। जैसे अग्नि से तपा हुआ लोहे का गोला पानी का शोषण करता है, शोषण किया हुआ पानी उससे कभी बाहर नहीं निकलता है, वैसे ही आचार्य के अन्तःकरण में रखा हुआ साधु का दोष जीवन पर्यन्त कभी बाहर प्रकट नहीं होता है। उसकी हवा भी किसी निकटवर्ती मुनि को नहीं मिलती है। आचार्य के मुख से तो क्या उनके इगिताकार से (चेष्टा से) भी कोई इगितज्ञ पता नहीं चला सकता है। ऐसे गभीर हृदय वाले आचार्य को अपरिस्रावी गुण का धारक कहा है। जिनमें यह गुण नहीं है, वह आचार्य पद के योग्य नहीं होता है। आचार्य पर विश्वास करके साधु अपने भयानक दोषों को भी स्पष्ट प्रकट कर देता है। यदि वह साधु के दोषों को प्रकट करदे तो उसे आगम में धर्म से पतित माना है वही कहा है।

आयरियाणं वीसत्थदाय भिक्खू कहेदि सगदोसे।
कोई पुण णिद्धम्मो अण्णेसिं कहेदि ते दोसे ॥ ४८८ ॥

अर्थ—साधु आचार्य पर विश्वास कर अपने दोषों का प्रकाशन करते हैं और यदि वह आचार्य उन दोषों को अन्य साधुओं पर प्रकट करदे तो वह आचार्य जिनोक्त धर्म से बहिर्मुख हुआ समझा जाता है। अर्थात् जिनागम में आचार्य के लिए साधु के आलोचना किये गये दोषों को किसी भी प्रकार से प्रकट नहीं करने की आज्ञा है। यदि वह इसके विपरीत आचरण करता है तो वह जिनाज्ञा का उल्लघन करनेवाला धर्म-भ्रष्ट माना गया है, तथा विश्वासघात के महापाप से दूषित कहा गया है।

प्रश्न—कोई आचार्य यदि साधु का अपराध अन्य के समक्ष व्यक्त करदे तो उससे साधु की क्या हानि होती है ?

उत्तर—जिस साधु के दोष आचार्य ने अन्य साधु आदि पर प्रकट किये हैं वह लज्जा या मान के वश क्रुद्ध होकर आचार्य का ही नहीं, कभी २ रत्नत्रय का भी त्याग कर देता है। और यदि वह साधु यशस्वी और जगन्मान्य हो तो कभी २ आत्महत्या तक कर बैठता है वह कलकित जीवन से मृत्यु को श्रेष्ठ समझकर क्रोध से अन्धा हुआ महापाप जनक आत्मघात करने में भी प्रवृत्त हो जाता है।

साधु के आलोचित दोष प्रकट करने वाले आचार्य का वह साधु तथा अन्य सङ्घ के साधु परित्याग कर उसके शासन की उपेक्षा करने लगते हैं। सङ्घ मे खलबली मच जाती है। जिस साधु का आलोचित दोष आचार्य ने प्रकट किया है, वह मुनि सब साधुओं को 'आज इसने मेरे दोष सबके सम्मुख प्रकट किये हैं, कल तुम्हारे भी करेगा' ऐसा कहकर आचार्य के प्रति विरुद्ध और श्रद्धाहीन कर देता है। आचार्य के प्रति विपरीत हुए साधु उस आचार्य से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेते हैं।

इतना ही नहीं मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका यह चतुर्विध सङ्घ भी उस आचार्य का परित्याग करता है।

परदोष का प्रकाशक आचार्य अपना और साधुओं का तथा सङ्घ का ही अनिष्ट नहीं करता, बल्कि पवित्र जैन धर्म का और साधु धर्म का अपवाद करने वाला होता है। लोग कहने लगते हैं कि—

आचार्यो यत्र शिष्यस्य विदधाति विडम्बनाम्।
धिक् धिक् निर्धर्मा माधूनिति वक्ति जनोखिलः॥ ५०९॥
विश्वासघातका एव दुष्टाः सन्ति दिगम्बराः।
ईदृशीं कुर्वते निन्दां मिथ्यात्वाकुलिता जना॥ ५१०॥ (स. भग. आ.)

अर्थात्—जिस सम्प्रदाय में आचार्य शिष्य की विडम्बना करते हैं, शिष्य का दूषण प्रकट करते हैं, उस सम्प्रदाय के साधुओं को सम्पूर्ण जनता धिक्कार देती है। दिगम्बर साधु विश्वास घातक और दुष्ट होते हैं, ऐसी निन्दा मिथ्यात्व दूषित मनुष्य करने लगते हैं।

अपरिस्रावी गुण के धारक आचार्य दोष प्रकट करने से उत्पन्न होने वाले इस प्रकार के सब दूषणों को भली भांति जानते हैं। बिना पूछे वे दोष का प्रकाशन कैसे कर सकते हैं। किसी के पूछने पर भी अपने मुख से कभी दोष प्रकाशित नहीं करते हैं। इसलिए हे क्षपक साधुओ। दोष का निगूहन करने वाले रहस्य का भेदन न करने वाले आचार्य का आश्रय करो।

आचार्य का सुखकारी गुण

प्रश्न—आचार्य में एक सुखकारी गुण माना गया है, उसका स्वरूप क्या है। क्षपक के लिए आचार्य किस प्रकार के सुखो का साधन करते हैं?

स. प्र.

उत्तर—क्षपक के योग्य भोजन पान की योग्यता को मिलाकर आचार्य उसे शान्ति पहुँचाते हैं। उचित परिचारकों को वैयावृत्त्य मे नियुक्त करके तृण के सस्तर आसनादि की अनुकूल व्यवस्था करके उसे आराम देते हैं। क्षपक के चित्त मे क्षुधादि के कारण क्षोभ उत्पन्न होने पर या परिचारको के प्रमाद से अथवा शीतादि की परीषह से या रोग की तीव्र वेदना से अति सक्लेश उत्पन्न होजाने पर उसके चित्त मे मर्यादा भङ्ग करने की परिणति होने लगती है। ऐसे समय शान्तचित्त क्षमाशील धैर्य धारण कर निर्यापकाचार्य क्षोभ रहित होकर स्नेह युक्त मधुर चित्त प्रसन्न करने वाली कर्ण-प्रिय कथाओ को कहकर क्षपक के चित्त मे शान्ति और सुख का सञ्चार करते हैं। और उसको संयम मे दृढ करते हैं। यथा :—

सुखकारी दधात्येनं मज्जन्तं दुस्तरे भवे।
पूतरत्नभृतं पोतं कर्णधार इवार्णवे ॥ ५१९ ॥
शीलसंयमरत्नाढ्य यतिनावं भवार्णवे।
निम्मज्जन्ती महाप्राज्ञो विभर्ति सूरिनाविकः ॥ ५२० ॥ (स. भग आ.)

अर्थ—जैसे समुद्र की गहराई उतराई का ज्ञाता कुशल कर्णधार रत्नों से भरे हुए जहाज को समुद्र के भीतर भँवर चट्टान आदि से बचाकर सायात्रिकों (जहाजी व्यापारियो) को मधुर और प्रिय वाक्यों से धैर्य बधाता हुआ अभीष्ट स्थान पर सुख से ले जाता है, वैसे ही सघ का नायक आचार्य ससार समुद्र मे डूबती हुई शील सयमादि गुण रत्नों से परिपूर्ण यति नौका को अपनी बुद्धि की पटुता से मोक्ष नगर के निकट पहुँचाता है।

भावार्थ—रत्नादि बहु मूल्य से भरे हुए जहाज का खेवटिया वही हो सकता है, जिसने अथाह समुद्र मे ऊँची उछलती हुई तरंगों मे जहाज को निरन्तराय पार करने का पूर्ण अभ्यास किया हो तथा जिसको प्राप्त होने वाली विघ्न बाधाओं का तथा उनके निवारण करने के उपायो का पूर्ण अनुभव ज्ञान प्राप्त हो। उसी प्रकार निर्यापकाचार्य भी वे ही हो सकते हैं जिन्होंने जिनागम के रहस्य का पूर्ण अनुभव किया है। सयम से परिपूर्ण यति पोत (मुनि रूप जहाज) क्षुधा पिपासादि तरङ्गों के आघात से जब उछलने लगता है, ससार समुद्र मे डूबने के उन्मुख हो जाता है ऐसे समय मे वह आचार्य बुद्धि कौशल से हृदयग्राही मधुर वचन से उसको बचाकर लक्ष्य स्थान पर ले जाते हैं। उनकी वाणी मे ओज होता है। धैर्य और साहस उसमे उत्पन्न करने की शक्ति होती है। दु खित हृदय मे आनन्द का स्रोत बहाती है। नीरस जीवन मे सरसता उत्पन्न करती है। उसकी मधुरता कर्ण और अन्त करण मे मधुरिमा की वृष्टि कर देती है। शरीर से परम वैराग्य उत्पन्न कर मुक्ति अङ्गना के अनुपम और अविनश्वर सहजानन्द की झलक का अनुभव कराती है। ऐसी वाणी के धारक, आत्मानुभव रस के

आस्वादन करने वाले, ज्ञानामृत के अवगाहक, चारित्र नन्दनवन मे रमण करने वाले महात्मा ही आचार्य पद को सुशोभित कर शरणागत शिष्य जनो को उक्त गुणो का अपने आचरण और मधुर भाषण से आस्वादन कराकर उन्हें दु.खी से सुखी बनाते हैं।

उक्त आचारवान् से लेकर सुखकारी पर्यन्त आठ गुणों का सद्भाव जिसमे पाया जाता है, उस आचार्य का अन्वेषण कर शरण लेने से ही साधक के उद्देश्य की पूर्ति होगी और वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगा।

सगुण आचार्य की प्राप्ति कैसे हो

प्रश्न—मुमुक्षु साधु को उक्त गुण रत्नो से अलकृत आचार्य की शरण प्राप्त करने के लिए क्या करना चाहिए।

उत्तर—परहित-निरत, आगमामृत भोजी, चारित्र पीयूष पान से सतृप्त आचार्य की प्राप्ति गुरुकुल (मुनि सघ) को आत्म-समर्पण करने से अर्थात् आचार्य के शासन को शिरोधार्य कर उनके पाद मूल मे निवास करने से होती है।

गुरुकुल (मुनि सघ) को आत्म-समपण करने का समाचार-क्रम निम्न प्रकार है—

क्षपक गुरुकुल को आत्म समर्पण कैसे करे ?

जब साधु आचार्य के चरणों की शरण मे जावे तब प्रथमतः मन वचन और काय से सामायिकादि छह आवश्यक को पूर्ण करके दोनो हाथ जोड़ कर मस्तक नवाकर वन्दना करे।

सामायिक, प्रतिक्रमण, चतुर्विंशति सस्तव, वन्दना, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग—इन छह आवश्यक क्रियाओ को मन वचन और काय से करना चाहिए। अर्थात प्रत्येक आवश्यक मनोयोग, वचनयोग और काययोग के भेद से तीन तीन प्रकार का हो जाता है। मन द्वारा सर्व सावद्य योगों का त्याग करना मनोयोग सामायिक, 'मैं सम्पूर्ण सावद्य योगों का त्याग करता हूँ' ऐसा वचन उच्चारण करना वचन योग सामायिक काय से सर्व सावद्य योग क्रिया का त्याग करना काय योग सामायिक, इस प्रकार सामायिक के तीन भेद होते हैं। इसी प्रकार प्रतिक्रमणादि के भी तीन २ भेद होते हैं। पूर्वकृत अतिचारों का मन से त्याग करना, हाय हाय मैंने अमुक२ पाप कार्य किया है, ऐसा चिन्तन कर मनमें पश्चाताप करना मन. प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण के सूत्रो का उच्चारण करना वचन प्रतिक्रमण और काय द्वारा उन अतिचारो का आचरण न करना काय प्रतिक्रमण है।

मनसे चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का स्मरण करना, वचन से 'लोगस्सोज्जोयगरे' इत्यादि पाठ पढकर तीर्थंकरो की स्तुति करना, मस्तक पर हाथ जोड कर जिनेन्द्र देव को नमस्कार करना ये चतुर्विंशति संस्तव के तीन भेद हैं।

वंदना करने योग्य गुरुओ के गुणो का स्मरण करना मनो वन्दना, वचन द्वारा उनके गुणो की महिमा वर्णन करना वचन वन्दना और प्रदक्षिणा देना, मस्तक झुका कर नमस्कार करना यह काय वन्दना है।

भविष्य मे 'मैं मनसे अतिचार न करूंगा' ऐसा चिन्तन करना यह मन प्रत्याख्यान है, वचन से 'मैं भविष्य मे अतिचार न करूंगा' यह वचन प्रत्याख्यान और काय से भविष्य काल मे अतिचार का आचरण करना काय प्रत्याख्यान है।

'यह शरीर मेरा नहीं है' ऐसा मन मे विचार कर मन से शरीर प्रेम को दूर करना मनःकायोत्सर्ग, 'मैं शरीर से प्रेम का त्याग करता हूँ' ऐसा वचनोच्चारण करना वचन कायोत्सग तथा हाथों को नीचे लटकाकर दोनों पैरों में चार अगुल का अन्तर रखकर नासाग्रदृष्टि किये हुए शरीर सम्बन्धी अनेक उपसर्गादि द्वारा विघ्न बाधा उपस्थित होने पर भी निश्चल खडे रहना काय द्वारा कायोत्सर्ग है।

प्रसन्न चित्त गुरु जब एकान्त मे विराजमान हों उस समय शनै शनै (विनय पूर्वक) आकर शरीर और भूमि का प्रतिलेखन कर (पिन्छी द्वारा प्रमार्जन कर) आचार्य के न तो अधिक निकट और न बहुत दूर बैठकर हाथ जोड कर 'हे भगवन् मैं कृतिकर्म वन्दना करना चाहता हूँ' ऐसी आलोचना करे। गुरु महाराज से अनुज्ञा प्राप्त होने पर धीरे से उठकर मस्तक पर हाथ जोड कर न तो अधिक शीघ्र और न बहुत धीरे मध्यम वृत्ति से सामायिक पाठ का उच्चारण करे।

सूत्र के अनुसार निश्चल विकार रहित खड़ा हो कायोत्सर्ग करे। पश्चात् चतुर्विंशति स्तव (चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति) पढकर आचार्य पर अनुराग धारण करता हुआ गुरु की स्तुति पढे। इसे कृतिकर्म वन्दना कहते हैं। वन्दना करने के बाद आचार्यवर्य से हाथ जोड कर निवेदन करे।

तुज्झेत्थ वारसंगसदपारया सवणसंघणिज्जवया ।
तुज्झं खु पादमूले सामण्णं उज्जवेज्जामि ॥ ५१० ॥
पव्वज्जादी सव्व कादूणालोयणं सुपरिसद्धं ।
दंसणणाणचरित्ते णिसल्लो विहरिदुं इच्छे ॥ ५११ ॥ (भग आ.)

अर्थ—हे गुरुदेव ! आप द्वादशाग श्रुतज्ञानरूपी सागर के पारगामी हैं। तपस्वी मुनिश्वरो को सुख पूर्वक समाधिमरण कराने मे कुशल हैं। मैं आपके पादपद्म का शरण प्राप्त कर अपने मुनि धर्म को उज्ज्वल करना चाहता हू। दीक्षा धारण करने से लेकर आज तक जो अपराध हुए हैं, उनकी आकम्पित अनुमानितादि दश दोष रहित आलोचना करके दर्शन, ज्ञान और चारित्र मे नि·शल्य प्रवृत्ति करना चाहता हूँ।

इस प्रकार क्षपक जब अपना अभिप्राय आचार्य के निकट प्रकट करता है, तब आचार्य कहते हैं—हे मुमुक्षो ! तुमने बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग किया है, अतएव अब तुम निर्विघ्न उत्तम प्रयोजन रत्नत्रय को सिद्ध करो।

हे महाभाग ! तुम जगत् मे धन्य हो, जो नारकादि चतुर्गति मे भ्रमण कराने वाले दुष्कर्मों का तथा ससार मे उत्पन्न होने वाले जन्म जरा मरण आधि व्याधि जन्य असह्य दु.खो का सहार करने वाली रत्नत्रय की साधना रूप समाधिमरण–आराधना के ग्रहण करने का निश्चय किया है। इससे कर्मों का क्षय होता है। और कर्मों के क्षय होने पर उससे उत्पन्न होने वाले दु खों का निवारण होता है।

हे महात्मन् ! तुम निशङ्क होकर हमारे सघ मे निवास करो। अपने मन से सम्पूर्ण व्याकुलता को दूर करो। हम तुम्हारे प्रयोजन के विषय मे परिचारकों के साथ विमर्श करके निश्चय करेंगे।

इस प्रकार आचार्य आगन्तुक समाधिमरण के अभिलाषी मुनि को कहकर उसे गुरुकुल मे निवास करने की अनुमति देते हैं। तत्पश्चात् आचार्य क्षपक के समाधिमरण की निर्विघ्न साधना के लिए राज्य, क्षेत्र, देश, गाव, नगर, तथा उसके अधिपति सघ और स्वय अपनी योग्यता की परीक्षा (जाच) करते हैं। क्योकि इनके अनुकूल होने पर सम्यक्त्वादि की वृद्धि होती है। और प्रतिकूल होने पर प्रयोजन की सिद्धि नही होती है। तथा कभी २ विपरीत परिणाम भी हो जाता है।

सबसे प्रथम आचार्य आगन्तुक क्षपक की परीक्षा करते हैं–उसकी आहार मे लम्पटता है या नहीं ? इसकी जाच करते हैं। यदि क्षपक आहार का लम्पटी हुआ तो वह अहर्निश आहार का चिन्तन करता रहेगा वह आराधना को सफल कैसे बना सकेगा ? उसकी क्षुधा तृषादि के सहन करने की सामर्थ्य की भी परीक्षा करते हैं। यदि उसमे सहन शक्ति न हुई तो क्षुधादि से पीडित होकर चिल्लाने लगेगा और धर्म को दूषित करेगा ? क्षपक की आराधना मे विघ्न उपस्थित होगा, या न नहीं होगा ? आचार्य इसका विचार किये बिना यदि क्षपक को ग्रहण कर लेगा तो विघ्न उपस्थित होने पर बीच मे ही उसे त्याग करना पडेगा, इससे क्षपक का भी प्रयोजन सिद्ध न होगा और आचार्य की भी लोक मे निन्दा होगी।

इसका विचार करने के अनन्तर आचार्य राज्य क्षेत्र देश नगर गाव आदि की परीक्षा करके निर्णय करते हैं कि यह राज्यादि

इस क्षपक के कार्य के साधक नहीं हैं तो अन्यत्र राज्य क्षेत्र देशादि का आश्रय लेते हैं। वहा पर क्षपक की कार्यसिद्धि,गण (सघ) की शान्ति (उपद्रवादि का अभाव) तथा स्वय अपने सब कार्यों मे सुलभता पाते हैं तब क्षपक के समाधिमरण कार्य का प्रारम्भ करते हैं। जो आचार्य इन सब साधन सामग्री का परीक्षण न करके कार्य प्रारम्भ करते हैं, वह क्षपक का उपकार करने मे तथा अपने हित साधन में विफल होकर क्लेश के भाजन होते हैं।

क्षपक के लिए सघस्थ परिचारक साधुओं की सम्मति

प्रश्न –राज्य देश नगरादि के शुभ अशुभ की परीक्षा करलेने के बाद आचार्य क्या करते हैं ?

उत्तर—आचार्य क्षपक की प्रकृति तथा क्षपक के उत्तम प्रयोजन के अनुकूल देशादि की परीक्षा (जाच) करलेने के अनन्तर परिचारक साधुओं से पूछताछ करते हैं। उनकी इस कार्य मे क्या सम्मति है ? और वे इसमे उत्साह पूर्वक सहयोग दे सकेंगे या नहीं ? यह सब जानने के लिए उनसे पूछते हैं—

हे वैयावृत्त्य परायण महात्माओ ! यह आगन्तुक साधु समाधिमरण का आराधन करने के लिए हमारी सहायता चाहता है। 'साधु समाधि और वैयावृत्त्य करना' तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कारण है, इसका आपको भली भाति निश्चय है। इसलिए आप सोच विचार कर उत्तर दें ? क्या इस साधु पर अनुग्रह किया जाय या नहीं ? लोक व्यवहारी मनुष्य भी प्रायः परहित साधन मे कटिबद्ध रहते हैं, तो यति महात्माओ के लिए क्या कहना है ? वे तो समस्त निकट भव्य जनो का ससार समुद्र से उद्धार करने मे उद्यत रहते हैं। 'आदहिदं कादव्वं जइसक्कइ परहिदं च कादव्वं' ऐसा आचार्यों का वचन है। इसलिए हमको इस शरणागत साधु पर अवश्य अनुग्रह करना चाहिए। इस प्रकार परिचारक साधुओं को पूछने पर उनकी स्वीकारता मिलने पर आचार्य आगन्तुक साधु को अङ्गीकार करते हैं। परिचारको से पूछे विना यदि आचार्य आगन्तुक साधु का कार्य प्रारम्भ करदें तो आचार्य, क्षपक तथा समस्त सघ को सक्लेश उत्पन्न होने की सभावना रहती है। 'मैंने इस क्षपक का कार्य प्रारम्भ कर दिया है, और ये साधु परिचर्या द्वारा सहायता नहीं करते हैं, इस प्रकार आचार्य को सक्लेश उत्पन्न हो सकता है। 'हम लोगो से आचार्य ने इस कार्य में सम्मति नहीं ली है, ऐसा विचार कर क्षपक की परिचर्या (वैयावृत्त्य) मे तत्परता न रखने के कारण क्षपक के मन मे 'मेरी ये साधु उचित परिचर्या व भक्ति नहीं करते हैं' ऐसा सक्लेश भाव उत्पन्न होता है। 'इस कार्य मे बहुत जनों की आवश्यकता होती है, अकेला कोई इसे नहीं कर सकता है' गुरु महाराज ने इसमे हमारी अनुमति नहीं ली, न हमारे बल अबल की परीक्षा की और इस कार्य को प्रारम्भ कर दिया इस प्रकार परिचारको के अन्त.करण में संक्लेशभाव उत्पन्न हो सकता है।

इसलिए स्व परहित में निपुण आचार्य क्षपक का कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व परिचारक साधुओं की सम्मति प्राप्त कर लेते हैं। उसके पश्चात् समाधिमरण के कार्य का प्रारम्भ करते हैं।

एक आचार्य के पास कितने क्षपक समाधिकरण करते हैं ?

प्रश्न—एक आचार्य के संरक्षण में कितने क्षपक समाधिमरण कार्य का प्रारम्भ कर सकते हैं ?

उत्तर—जिनेन्द्र देव के उपदेशानुसार एक निर्यापकाचार्य की शरण में एक क्षपक सस्तर पर आरूढ हुआ तपरूपी अग्नि मे अपने शरीर का हवन करता है और एक साधु उग्र अनशनादि तप द्वारा अपने शरीर का शोषण करता है।

अर्थात्—सघ की अनुमति मिलने पर भी आचार्य एक साधु को ही समाधिमरण कार्य के लिए दो साधुओं पर अनुग्रह कर सकता है। उनमे से एक तो सस्तर पर आरूढ हुआ जिनेन्द्र देव के आदेशानुसार तपश्चरणाग्नि मे अपने शरीर की आहुति देता है और दूसरा उग्र उग्र अनशनादि तपश्चरण का आचरण कर अपने शरीर को कृश करता है। इन दो साधुओं के अतिरिक्त एक आचार्य के रक्षण मे तीसरे साधु को समाधिमरण कार्य प्रारम्भ करने की जिन शासन मे आज्ञा नहीं है। क्योंकि दो या तीन साधु समाधिमरण के लिए संस्तर पर आरूढ हो जावें तो उनके अन्तःकरण को धर्म मे स्थिर रखने के लिए विनय वैयावृत्त्यादि कार्य यथायोग्य नहीं हो सकने के कारण उनके चित्त मे सक्लेश होना अवश्यम्भावी है, इसलिए एक क्षपक सस्तरारूढ हो सकता है और एक उग्र तपस्या कर सकता है।

इस प्रकार आचार्य सघ की सम्मति से उक्त प्रकार क्षपक साधु को स्वीकार कर सघ के मध्य उसको उपदेश देते हैं।

आचार्य का क्षपक के प्रति उपदेश

प्रश्न—क्षपक को एकान्त मे उपदेश न देकर आचार्य समस्त सघ के मध्य उपदेश क्यों देते हैं ? इसमें क्या रहस्य है ?

उत्तर—सम्पूर्ण संघ के बीच क्षपक को उपदेश देने का कारण यह है कि सघ को भी समाधि का स्वरूप विदित हो जावे, तथा आगन्तुक क्षपक का भी सबको परिचय हो जावे और इस उत्तम कार्य में सबकी साक्षी भी हो जावे।

प्रश्न—आचार्य क्षपक को क्या उपदेश देते हैं, उसका अभिप्राय प्रकट करने की कृपा करें।

उत्तर—निर्यापकाचार्य समाधिमरण का कार्य प्रारम्भ करने वाले साधु को इस प्रकार शिक्षा देते हैं—हे क्षपक ! तुम सुस्थिया

स्वभाव का परित्याग कर चारित्र का पालन करो। सुख स्वभाव से चारित्र मे शिथिलता आती है। सुखिया प्रकृति का मुनि आहार उपकरण और वसतिका की शुद्धि के विषय मे उदासीन रहता है। क्योकि मनोज्ञ आहार का लम्पटी भिक्षा शुद्धि की ओर ध्यान नहीं देता है। जिह्वा की लोलुपता उसे उद्दिष्टादि दूषित आहार का ग्रहण करने मे भी प्रेरित करती है। सुन्दर उपकरण का अभिलाषी उद्गमादि दोषो का निवारण नहीं करता है और कष्टासहिष्णु जिस किसी की सजी सजाई वसति मे ठहर जाता है। इसलिए सुखिया स्वभाव का परित्याग करो अर धैर्य व साहस का आश्रय लेकर सम्पूर्ण परीषह सेना पर विजय प्राप्त कर चारित्र का संरक्षण करो।

हे क्षपक ! यह अज्ञानी जीव मोह के वश इन्द्रियों के अधीन हुआ स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द इन विषयो मे प्रेम उत्पन्न करता है। तुमने ज्ञान और वैराग्य प्राप्त किया है, इसलिए ज्ञान और वैराग्य के बल से इन पर विजय प्राप्त करो। तथा क्षमा मार्दव आर्जव और शौच भावना के बल से क्रोध मान माया और लोभ का निग्रह करो।

हे इन्द्रिय विजयी साधो ! जो जिसके वश मे नहीं होता है, वह उसका विजेता कहलाता है। जैसे जो स्त्री पुरुष के वश मे नहीं रहती है, वह पुरुष विजयिनी कही जाती है,ऐसा लोक मे प्रसिद्ध है। इसी प्रकार जो शब्दादि विषयो के तथा क्रोधादि कषायों के अधीन नहीं होता है, वह शब्दादि का तथा कषायो का विजेता कहा जाता है। अतएव हे साधो ! तुम इन्द्रियो के तथा कषाय के अधीन न होकर इन्द्रिय विजेता और क्षमादि धर्म के आराधक बनोगे।

प्रश्न—गुरु का उपदेश सुनकर क्षपक प्रश्न करता है, हे भगवन् इन्द्रिय विजय और कषाय निग्रह करने के अनन्तर मेरा क्या कर्त्तव्य है ?

उत्तर—हे क्षपक ! इन्द्रिय पर विजय और कषाय का निग्रह करके तुम ऋद्धिगारव, रसगारव, और सातगारव को जीतो। उसके पश्चात् राग द्वेष का मर्दन कर आलोचना शुद्धि करो। राग द्वेष असत्य वचन के जनक हैं, इसलिए उनका त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। तथा राग भाव से मनुष्य के दोष दृष्टि गोचर नहीं होते हैं। और द्वेष वश वह सद्गुणो का ग्रहण नहीं करता है। जिसको अपने अपराधों (दोषो) का त्याग और सद्गुणों का ग्रहण करने की अभिलाषा, है जो अपने आत्मा से कषाय मल धोना चाहता है, उसे राग द्वेष को तिलाजलि देकर अपना कार्य साधन करना चाहिए।

प्रश्न—यहा क्षपक गुरु महाराज के प्रति कहता है कि हे गुरुदेव ! मेरे व्रतों मे अतिचार उत्पन्न नहीं हुए, अतः मैं अपने अपराधो की आलोचना कैसे करू ?

उत्तर—हे क्षपक! प्रायश्चित शास्त्रो के वेत्ता छत्तीस गुणके धारक आचार्य को भी आत्म शुद्धि के लिए अन्य आचार्यों के निकट

अपराधो की आलोचना करनी पड़ती है। बिना आलोचना के रत्नत्रय मे लगे दोष शुद्ध नहीं होते हैं।

प्रश्न—आचार्यों के छत्तीस गुण कौन २ से हैं ?

उत्तर—आचार्य के छत्तीस गुण के विषय मे भगवती आराधना मे संस्कृत विजयोदया टीका आठ ज्ञानाचार, आठ दर्शनाचार, बारह प्रकार के तप, पाच समिति और तीन गुप्ति इस प्रकार छत्तीस गुण वर्णन करती है। तथा प्राकृत टीका में साधु के अठाईस मूल गुण और आचारवान् आधारवान् आदि आठ गुण इस प्रकार छत्तीस गुण प्रतिपादन किये गये हैं। दूसरी जगह दश आलोचना गुण, दश प्रायश्चित गुण, दश स्थिति कल्प और छह जीत गुण इस प्रकार छत्तीस गुण बताये हैं।

आचार्य के छत्तीस गुणो का निरूपण करने वाली भगवती आराधना मे एक गाथा दी है वह निम्न प्रकार है—

आयारवमादीया अट्ठगुणा दसविधो य ठिदिकप्पो।
बारस तव छावासय छत्तीसगुणा मुणेयव्वा ॥ ५२६ ॥ भग आ.

अर्थ—आचारवान् आदि आठ गुण, दश प्रकार का स्थित कल्प, बारह प्रकार का तपश्चरण और छह आवश्यक ये आचार्य के छत्तीस गुण हैं।

इस गाथा को श्री पडित प्रवर आशाधरजी ने प्रक्षिप्त बताया है।

समस्त तीर्थंकर,अनन्त केवली तथा मिथ्यात्व,अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषायो पर विजय पाने वाले आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधुओं की आज्ञा भी यही है कि आचार्य के समीप अपने अपराधो का निवेदन कर उनके द्वारा दिये गये प्रायश्चित से शुद्धि होती है। इसलिए छद्मस्थ मुनियो को आचार्य के निकट आलोचना कर प्रायश्चित का आचरण करना उचित है।

प्रायश्चित्तादि का ज्ञाता अपराधों को दूसरों को क्यों कहे ?

प्रश्न—जो साधु अतिचारो के निवारण का क्रम नहीं जानता है, उसे तो दूसरो को अपने अतिचार निवेदन करना चाहिए, किन्तु जो अपराधो के प्रायश्चित का स्वय ज्ञाता है, वह अपने अपराध दूसरों को क्यो कहे और उनके द्वारा दिये हुए प्रायश्चित का आचरण क्यो करे ?

स. प्र.

उत्तर—जैसे उत्तम वैद्य या चिकित्सक भी अपने रोग या व्याधि की उत्पत्ति के कारण, चिह्न व चिकित्सा तथा पुनरुत्पत्ति के निरोध करने मे प्रवीण होने पर भी उसकी चिकित्सादि दूसरो से ही करवाता है, उसको अपने रोग या व्याधि का हाल कहकर उससे चिकित्सा करने की प्रार्थना करता है, वैसे ही प्रायश्चित के ज्ञाता मुनीश्वर को भी अपनी उत्तम विशुद्धि करने के लिए आत्मसाक्षी और पर-साक्षी से प्रायश्चित लेना चाहिए। इसी को उत्कृष्ट विशुद्धि माना है।

"प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत्।
तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमितीरितम् ॥"

अर्थ—प्राय शब्द का अर्थ लोक (लोग) है, और उसके मनको चित्त कहा है। लोगो के चित्त को निर्मल करने वाले कर्म को प्रायश्चित कहते हैं। अर्थात् परसाक्षी से अपराध का दण्ड लेने पर लोग समझते है कि इसने आत्म-विशुद्धि की है। अर्थात आचार्यादि विज्ञ मुनीश्वरो के द्वारा दिये गये दड रूप प्रायश्चित से ही आत्म-शुद्धि होती है।

यदि प्रायश्चित शास्त्रों के रहस्य वेत्ता किसी मुनिश्रेष्ठ या आचार्य को अपने आप प्रायश्चित लेते हुए देखेंगे तो दूसरे मुनि भी अपने आप प्रायश्चित लेने लगेंगे क्योंकि प्राय लोग गतानुगतिक होते हैं। इस प्रकार प्रवृत्ति होजाने पर मार्ग मलीन हो जायगा, आत्म-विशुद्धि का मार्ग लुप्त हो जायगा। इसलिए परसाक्षी से प्रायश्चित करने का आगमानुमोदित (जिनोक्त) मार्ग है। कहा है :—

तम्हा पव्वज्जादी दंसणणाणचरणादिचारो जो।
त सव्व आलोचेहिं णिरवसेसं पणिहिदप्पा ॥ ५३० ॥ भग आ.

अर्थ—हे क्षपक! आत्म-विशुद्धि परसाक्षी से प्रायश्चित का आचरण करने से ही होती है, इसलिए सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र मे दीक्षा काल से लेकर आज तक जो अपराध हुए हों, उन सब दोषो की एकाग्रचित्त होकर गुरु के निकट परिपूर्ण आलोचना करो।

आलोचना का स्वरूप और भेद

प्रश्न—परिपूर्ण आलोचना किसे कहते है?

उत्तर—मन से, वचन से और काय से अमुक देश मे, अमुक काल मे, अमुक भाव से जो दोष जिस प्रकार हुए हों, उनका गुरु के

निकट सरल चित्त होकर ज्यों के त्यों निवेदन करने को परिपूर्ण आलोचना कहते हैं।

आलोचना दो प्रकार की होती है। एक सामान्यालोचना और दूसरी विशेषालोचना।

सामान्य आलोचना—जिसको मूल प्रायश्चित आता है। अर्थात् व्रतभंगादि महा अपराध करने पर दीक्षा का छेदन कर जिसको नवीन मुनि दीक्षा दी जाती है, वह मुनि दोषों की सामान्य आलोचना करता है। हे भगवन्! मुझसे अमुक व्रत का भंग या मिथ्यात्व का सेवन हुआ है। इस प्रकार सामान्य रूप से अपराध का निवेदन करता है। यथा :—

ओघेन भाषतेऽनल्पदोषो वा सर्वघातकः।
इतः प्रभृति वांछामि त्वत्तोऽहं संयमं गुरो ॥ ५५४ ॥ (भग. आ. सं.)

अर्थ—हे गुरुदेव! मुनि धर्म का घातक व्रत भंग या मिथ्यात्व सेवन रूप महान् अपराध मुझ से होगया है। हे स्वामिन्! मैं आपसे नवीन दीक्षा ग्रहण करना चाहता हूँ। इसलिए आज से मुझे नव दीक्षित कीजिए।

प्रश्न—विशेष आलोचना किसे कहते हैं?

उत्तर—जिस काल में जिस देश में जिस परिणाम से जिस प्रकार अपराध हुआ हो, उसका उसी प्रकार निःशल्य रूप से निवेदन करना विशेष आलोचना है।

तात्पर्य यह है कि मन वचन काय से जिस समय जिस जगह, जाने अनजाने, स्ववश या परवश होकर जो अपराध हुआ हो उसको शल्य निकालकर निवेदन करने से ही आलोचना शुद्ध मानी गई है। शल्य रखकर जो आलोचना की जाती है वह आत्म-शुद्धि का कारण नहीं होती है। जैसे जिसके हस्तपाद आदि में कांटा लगा है वह दुःख से पीड़ित रहता है, उसके सम्पूर्ण शरीर में वेदना होती है। वैसे ही जिसके अन्तःकरण में मायाशल्य है, वह सम्यक्त्वादि में लगे हुए दोषों का प्रकाशन भली भांति न करने के कारण छिपाये हुए दोष से मलीन चित्त रहता है। वह दोष रूपी दुःख उसकी आत्मा को सदा दुःखी रखता है। जब वह अपने दोष को साफ साफ गुरु के निकट निवेदन कर देता है, उसका चित्त निर्दोष हो जाने से आनन्द का अनुभव करने लगता है।

शल्य के भेद

प्रश्न—शल्य के कितने भेद हैं? इसका भी निरूपण यदि स्पष्टतः कर दिया जावे तो ठीक हो।

उत्तर—शल्य के दो भेद हैं-भावशल्य और द्रव्यशल्य।

प्रश्न—भावशल्य किसे कहते हैं ?

उत्तर—आत्मा को दु ख देने वाले भाव को भावशल्य कहते हैं।

प्रश्न—भावशल्य कितने हैं ?

उत्तर—भावशल्य तीन हैं-१ मायाशल्य, २ मिथ्यात्वशल्य और ३ निदानशल्य। तथा दर्शन, ज्ञान और चारित्र और तप को मलिन करने वाले भावों को भावशल्य कहते हैं।

दर्शनशल्य—शङ्काकाङ्क्षादि सम्यग्दर्शन के दोषो को दर्शन शल्य कहते हैं।

ज्ञानशल्य—अकाल मे सूत्रों का अध्ययन व अविनयादि को ज्ञानशल्य कहते हैं।

चारित्रशल्य—समिति और गुप्ति के आचरण में अनादर करने को चारित्रशल्य कहते हैं।

तपःशल्य—अनशनादि तप मे अतिचार लगाने को तप शल्य कहते हैं। तप का चारित्र में अन्तर्भाव होता है, इसलिए दर्शन-शल्य, ज्ञानशल्य और चारित्रशल्य इस प्रकार शल्य के तीन भेद ही होते हैं।

प्रश्न—द्रव्यशल्य कितने प्रकार का है ?

उत्तर—द्रव्यशल्य भी तीन प्रकार का है। १ सचित्त द्रव्यशल्य, २ अचित्त द्रव्यशल्य और ३ मिश्र द्रव्यशल्य।

सचित्तद्रव्यशल्य—दासादि सचित्त द्रव्य शल्य हैं।

अचित्तद्रव्यशल्य—सुवर्ण रजतादि पदार्थ अचित्त द्रव्यशल्य हैं।

मिश्रद्रव्यशल्य—ग्रामादि मिश्रद्रव्यशल्य हैं।

ये सब द्रव्यशल्य चारित्राचार सम्बन्धी भाव शल्य के कारण हैं। क्योंकि इनके निमित्त से चारित्र मे दोष उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न—भावशल्य का उद्धार न करने से अर्थात् भावशल्य का त्याग न करने से क्या हानि होती है ?

उत्तर—जैसे काटा, बाण की नोक आदि द्रव्यशल्य शरीर के भीतर जब तक रहते हैं तब तक सुख की सामग्री के उपस्थित रहते हुए भी प्राणी को सुख नहीं होता है, वैसे ही भय, लज्जा व प्रमाद का जनक भावशल्य (माया मिथ्या निदान) आत्मा से जब तक पृथक् नहीं होता है तब तक उसे मलीन करता रहता है और सम्यग्दर्शनादि की आराधना मे बाधक होता है, द्रव्यशल्य एक जन्म मे ही दुख देता है परन्तु भावशल्य जन्म-जन्मान्तर मे दारुण दुःख का जनक होता है।

इसलिए आचार्यों ने आराधना की सिद्धि के लिए अतिचारो का तत्काल शोधन करने का उपदेश दिया है। आज अपराध उत्पन्न हुआ है, उसका शोधन करने के लिए उसी क्षण गुरु के निकट निवेदन करना चाहिए। कल परसों या परले दिन गुरु के चरणों मे जाकर निवेदन करेंगे, ऐसा विचार करना उचित नहीं है। आयुष्य कितना शेष रहा है, इसका किसको ज्ञान है ? न जाने आयु का अन्तिम क्षण अति निकट आ लगा हो और दोषो की आलोचना किये बिना यदि मरण हो गया और दोष सहित अवस्था मे आयु का बन्ध हुआ तो मायाशल्य के कारण तिर्यंच आयु का बन्ध होगा। अत. दोष के होते ही उसकी गुरु के निकट आलोचना कर गुरु प्रदत्त प्रायश्चित्त का आचरण कर शुद्ध हो जाना चाहिए। क्योंकि रोग शत्रु और दोषो की उपेक्षा करने से वे दृढमूल हो जाते हैं। जब उनकी जड जम जाती है तब उनका उच्छेद करना जड से उखाड़ फेंकना अति कठिन हो जाता है। अथवा बहुत दिन बीत जाने पर अतिचार का विस्मरण हो जाता है। तथा उसके काल (सध्या रात्रि या दिनादि) का ठीक स्मरण नहीं रहता है। वैसे ही क्षेत्र भाव और अतिचार के कारण का भी यथार्थ ज्ञान नहीं रहता है। अर्थात् बहुत समय बीत जाने पर आचार्य के पूछने पर शिष्य अतिचार का द्रव्य क्षेत्र काल भाव और कारण यथार्थ निवेदन नहीं कर सकते हैं। इसलिए अतिचार के होते ही अवसर पाकर गुरु के निकट दोषो की आलोचना कर लेना चाहिए। काल बीतने पर मायाशल्य अन्त.करण मे प्रविष्ट होकर आत्मा को उसकी आलोचना से विमुख कर देती है।

प्रश्न—अतिचार का शोधन किये बिना मरजाने से क्या हानि है।

उत्तर—जो क्षपक राग या द्वेष के वश होकर दोषो की आलोचना किये बिना मरण करते हैं। वे दु.ख रूपी शल्यों से परिपूर्ण इस ससार कान्तार (वन) मे परिभ्रमण करते हैं। कहा है .—

रागद्वेपादिभिर्भग्ना ये म्रियन्ते सशल्यकाः ।
दुःखशल्याकुले भीमे भवारण्ये भ्रमन्ति ते ॥ ५६४ ॥ (सं. भग. आ.)

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र सम्बन्धी दोप दुःख के उत्पन्न करने वाले हैं । इसलिए ऋद्धि गौरव, रस गौरव और सात गौरव से रहित होकर सम्यग्दर्शनादि का निरतिचार पालन करना ही दुःखों के विनाश का कारण है ।

जह बालो जंपतो कज्जमकज्जं व उज्जुअ भणइ ।
तह आलोचेदव्वं मायामोसं च मोत्तूणं ॥ ५४७ ॥ भग. आ.

अर्थ—जिस प्रकार भय, मान, असत्य और माया रहित हुआ बालक सरल हृदय से अपने पिता के सामने अपने भले बुरे कार्य का स्पष्ट रूप से निवेदन करता है, उसी प्रकार साधु को भी भय-मान-लज्जा और असत्य का परित्याग कर सरल स्वभाव होकर अपने कृत्यों अकृत्यो की स्पष्ट आलोचना गुरु के समीप ज्यों की त्यों करनी चाहिए ।

इस प्रकार आलोचना सम्बन्धी उपदेश को सुनकर समाधिमरण का अभिलापी भिक्षु हर्पातिरेक से रोमाचित हो जाता है ।

क्षपक कायोत्सर्ग कैसे करे ?

पाचीणोदीचिमुहो चेदियहुत्तो व कुणदि एगंते ।
आलोयणपत्तीयं काउस्सग्गं अणाबाधे ॥ ५५० ॥ भग आ

अर्थ—क्षपक आलोचना की निर्विघ्न प्राप्ति के लिए पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करके अथवा जिन-प्रतिमा के सम्मुख खड़ा होकर कायोत्सर्ग करता है । कायोत्सर्ग मे अपने पूर्व उत्पन्न हुए दोषों को याद करता है । यह कायोत्सर्ग बाधारहित एकान्त मे तथा मार्ग छोड़ कर करता है। क्योंकि जन समूह मे तथा अपने आने के मार्ग में कायोत्सर्ग करने से चित्त एकाग्र न होने के कारण दोषों का स्मरण करने मे बाधा उपस्थित होती है । प्राकृत टीका मे कायोत्सर्ग का 'सामायिक दडक स्तुति पूर्वक, बृहत् सिद्ध भक्ति करके बैठकर सिद्ध-भक्ति करना' ऐसा अर्थ किया है । गुरु आम्नाय भेद से समाचार विधि में कहीं २ भेद हो जाता है ।

आलोचना के लिए कालवादि का विधान

प्रश्न—कायोत्सर्ग कर दोषों का स्मरण करने के पश्चात् क्षपक क्या करता है ?

उत्तर—उक्त प्रकार सरल स्वभाव को प्राप्त हुआ क्षपक तीन बार दोषों का स्मरण कर विशुद्ध लेश्या धारण करता हुआ अविचारों का उद्धार करने के निमित्त आचार्य महाराज के निकट गमन करता है।

उज्ज्वल परिणाम वाले इस क्षपक की आलोचना प्रतिक्रमणादि क्रियाएं दिन में और शुद्ध स्थान में होती हैं। दिन के पूर्वभाग (प्रथम पहर) में या अपराह्न (दिन के तीसरे पहर) में सौम्य तिथि, सौम्य नक्षत्र और शुभ काल में होती है। आशय यह है कि आलोचना के लिए परिणामों की शुद्धि के साथ क्षेत्र (स्थान) कालादि की शुद्धि का भी ध्यान रखा जाता है।

प्रश्न—आलोचना के लिए प्रशस्त स्थान होना आवश्यक माना गया है तो कौन स्थान प्रशस्त है और कौन अप्रशस्त है ? उनका विवेचन करना चाहिए। प्रथम अप्रशस्त स्थानों का विवेचन कीजिए ?

उत्तर—जो स्थान पत्रयुक्त वृक्षों से हीन हो, कंटकाकीर्ण हो, बिजली गिरने से जो फट गया हो, जहां सूखे वृक्ष हों, जो कटु रस वाला तथा जला हुआ हो, शून्य घर या रुद्र का मन्दिर हो, जहां ईंटों या पत्थरों के ढेर हों। जिसमें तृण सूखे पत्ते और काठ के पुंज हों, जहां राख पड़ी हो, अपवित्र वस्तुओं से युक्त भूमि तथा श्मशान भूमि हो, जहां पर टूटे फूटे बर्तन तथा गिरे पड़े मकान हों, चण्डिका भवानी आदि क्षुद्र देवताओं के स्थान हों वे सब वर्जनीय माने गये हैं। इनके अतिरिक्त ऐसे ही अन्य अशुभ स्थान आलोचना के अयोग्य अप्रशस्त कहे गये हैं। क्योंकि ये स्थान आलोचना करने वाले साधु और सुनने वाले आचार्य के असमाधान के कारण हैं। इन स्थानों में आलोचना करने से क्षपक के कार्य की सिद्धि नहीं होती है। इसलिए आचार्य ऐसे स्थानों में क्षपक की आलोचना नहीं सुनते हैं।

प्रश्न—आलोचना के लिए कौन से स्थान प्रशस्त माने गये हैं, जहां पर आचार्य क्षपक की आलोचना सुनते हैं।

उत्तर—अरहन्त और सिद्ध चैत्यालय, समुद्र तथा तालाब आदि जलाशय के समीपवर्ती स्थान, जहां वट वृक्ष अशोकादि के वृक्ष तथा पुष्पों या फलों से भरे हुए वृक्ष हों ऐसे स्थान, उद्यान व अन्य सुन्दर स्थान क्षपक की आलोचना सुनने के योग्य प्रशस्त माने गये हैं।

प्रश्न—आचार्य किस प्रकार बैठकर क्षपक की आलोचना सुनते हैं ?

उत्तर—पूर्व दिशा तथा उत्तर दिशा की ओर मुख करके तथा चैत्य (जिन प्रतिमा) अथवा जिनालय के सम्मुख एकान्त में बैठकर आचार्य एक क्षपक की आलोचना सुनते हैं।

प्रश्न—अन्धकार को दूर कर जगत् मे प्रकाश करने वाले सूर्य का उदय पूर्व दिशा मे होता है, अतः वह दिशा उदय दिशा कही जाती है। कार्य की उन्नति का अभिलाषी मनुष्य पूर्व दिशा की ओर मुख करके कार्य करता है। स्वयंप्रभादि तीर्थंकर विदेह क्षेत्र मे विराजमान हैं, ऐसा चित्त मे विचार करके उनकी तरफ मुख करने से मेरे कार्य की सिद्धि होगी, इस अभिप्राय से उत्तराभिमुख होकर कार्य प्रारम्भ करता है तथा जिन प्रतिमा के सामने मुख करके स्थित होने से परिणामों मे निर्मलता आती है और वह निर्मलता पुण्य की वृद्धि करके प्रारब्ध कार्य की सिद्धि मे कारण होता है। किन्तु आचार्य को कौनसा कार्य सिद्ध करना है जो पूर्व दिशा उत्तर दिशा, या जिन प्रतिमा की तरफ मुख करके बैठते हैं ?

उत्तर—आचार्य क्षपक की आलोचना सुनकर भविष्य मे दिये जाने वाले प्रायश्चित रूप कार्य की निर्विघ्न समाप्ति हो, ऐसी क्षपक के लिए शुभ कामना धारण कर उत्तर या पूर्व दिशा के सम्मुख अथवा जिन प्रतिमा के सामने मुख करके बैठते हैं।

प्रश्न—जब आचार्य आलोचना सुनने के लिए निर्व्याकुल चित हो कर बैठते हैं, उस समय गुरु वा पूज्य पुरुष रहें तो क्या हानि होती है ?

उत्तर—अन्य व्यक्तियो के उस समय वहां उपस्थित रहने से आचार्य का चित्त एकाग्र नहीं रहने से क्षपक के प्रति अनादर भाव प्रकट होता है। दूसरी बात यह है कि अनेक पुरुष सुनने वाले होंगे तो क्षपक के अन्तःकरण मे लज्जा उत्पन्न होगी जिससे वह अपने दोषों को स्पष्ट निवेदन करने का इच्छुक होता हुआ भी मन मे खेदखिन्न होगा और सब अपराध को स्पष्ट न कह सकेगा। इसलिए आलोचना के समय एकाकी आचार्य ही श्रोता होना चाहिए। आगम मे भी यही बताया है कि आलोचना सुनने के लिए आचार्य के सिवा अन्य न रहें। आलोचना को गुप्त रखने की आज्ञा है। यदि अनेक सुनने वाले होंगे तो वह गुप्त नहीं रह सकती। कहा है—

'षट्कर्णोभिद्यते मन्त्र.' छह कर्णों मे गई हुई गुप्त बात अवश्य प्रकट हुए बिना नहीं रहती है। इसलिए आगम में एकाकी आचार्य को एकान्त मे एक क्षपक की आलोचना सुनने के लिए कहा है।

प्रश्न—क्षपक जब गुरु के निकट आलोचना करने के लिए उपस्थित हो, उस समय उसको क्या करना चाहिए। वह किस विधि से आलोचना प्रारम्भ करे ? उस विधि पर प्रकाश डालने की कृपा करें ?

उत्तर—आलोचना करने वाला क्षपक प्रथम गुरु आचार्य की वन्दना करे। वह वन्दना सिद्ध भक्ति और योग भक्ति पढ़कर करे ऐसा वृद्धाचार्यों का मत है। श्री चन्द्राचार्य तो सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति पढ़कर वन्दना करना कहते हैं। वन्दना कर चुकने के बाद दक्षिण पार्श्व (दाहिनी बगल) मे पिच्छी लेकर भाल प्रदेश मे दोनों हाथ जोड़कर मन वचन और काय से शुद्ध हुआ आगमोक्त दोषों से रहित आलोचना करे।

आलोचना के दस दोष

प्रश्न—आलोचना के दश दोष कौन से हैं?

उत्तर—आकंपिय अणुमाणिय ज दिट्ठ बादरं च सुहुम च। छण्णं सद्दाउलयं बहुजण अव्वत्त तत्सेवी ॥ ५६२ ॥ [भग. आ.]

१. आकम्पित २. अनुमानित ३. दृष्ट ४ बादर ५ सूक्ष्म ६ छन्न ७. शब्दाकुलित ८ बहुजन ९. अव्यक्त और १०. तत्सेवी ये आलोचना के दश दोष हैं। इनका सक्षिप्त सा वर्णन तो पहले कर आये हैं फिर भी थोड़ा सा खुलासा कर दिया जाता है।

(१) आकम्पित दोष—शिक्षा प्राप्त होने के कारण स्वय प्रवर्त्तक बनकर आचार्य महाराज की उद्गमादि समस्त दोष रहित आहार जल से वैयावृत्त्य करके तथा उनको निर्दोष पिच्छी कमण्डलु पुस्तकादि उपकरण देकर विशेष विनयादि पूर्वक वन्दनादि कृतिकर्म करके, गुरु के अन्त.करण मे अपने विषय में करुणा उत्पन्न करने के पश्चात अपने दोषों की आलोचना करना यह आकम्पित दोष है।

आलोचक शिष्य का गुरु के चित मे अनुकम्पा उत्पन्न करने का अभिप्राय यह है कि गुरु आहारादि द्वारा उचित वैयावृत्त्य से सन्तुष्ट होकर मुझे गुरुतर प्रायश्चित न देंगे, लघु प्रायश्चित देंगे, इसलिए मैं सूक्ष्म और स्थूल सब अपराधो का निवेदन कर सकूंगा। मेरी संपूर्ण दोषों की आलोचना भी हो जावेगी और महान प्रायश्चित से बच जाऊँगा। इस प्रकार शिष्य गुरु को आहारादि लोभ का असद्दोषारोपण कर मानसिक अविनय का आचरण करता है। तथा अपने अन्तःकरण मे मायाचार की उत्पत्ति करता है। अतः यह सदोष आलोचना मानी गई है।

(२) अनुमानित दोष—शिथिलाचार का पालक सुविधा साधु गुरु से प्रार्थना करता है :—हे भगवन्! धीर-पुरुषों से आचरण किये गये सब प्रकार के तप जो मुनि करते हैं वे भाग्यवान हैं धन्य हैं और महात्मा हैं। इस प्रकार अपनी धार्मिकता प्रकट करता हुआ कहता है :—हे दयालो! मुझ मे जितना शारीरिक बल है, वह आप से छिपा नहीं है। मेरी जठराग्नि अति दुर्बल है। मैं सदा किसी न किसी रोग से ग्रस्त रहता हूँ, इसलिए मैं उत्कृष्ट तप का आचरण करने मे असमर्थ हूँ, यदि आप मुझ पर अनुग्रह कर अल्प प्रायश्चित देंगे तो मैं अपने समस्त

अपराधों को निवेदन करूंगा और आपकी महती कृपा से सब दोपो से रहित होकर शुद्ध हो जाऊगा।

ऐसा कहकर और गुरु मुझे अल्प प्रायश्चित देंगे ऐसा अनुमान ज्ञान से जानकर पश्चात् जो मुनि अपने अपराधों की आलोचना करता है उसके अनुमानित दोप होता है।

यह आलोचना परिणाम मे उस प्रकार दु.ख देने वाली है जैसे सुखाभिलाषी दुःख देने वाले अपथ्य आहार का सेवन कर उसे सुख देने वाला समझता है; किन्तु वह परिणाम मे दु ख प्रद होता है। अर्थात् उक्त आलोचना से रत्नत्रय की शुद्धि कदापि नहीं होती है। जैसे अपथ्य आहार से सुख की प्राप्ति नहीं होती।

(३) दृष्ट दोप—किसीने देखे हो या न देखे हो, सम्पूर्ण दोषों को निष्कपट भाव से गुरु के समीप निवेदन करना चाहिए। किन्तु ऐसा न कर जो मुनि उन्ही दोषों को गुरु के निकट प्रकाशित करता है, जिनको दूसरों ने देख लिया है, उसे दृष्ट दोप कहते हैं।

जैसे—बालु रेत के मैदान में किसी मनुष्य ने खड्डा खोदने का प्रयास किया। किन्तु वह खड्डा खोदते खोदते ही बालु रेत से भर गया। खोदने वाले का परिश्रम व्यर्थ हुआ। उसी प्रकार जो पुरुप प्रथम मायाशल्य से रहित होकर आलोचना करने के लिए उद्यत हुआ और पश्चात माया का आश्रय लेकर अदृष्ट दोषों को छिपा कर केवल दृष्ट दोपो का प्रकाशन करने लगा, उसके अन्तःकरण में मायाशल्य ज्यो का त्यों बना रहने के कारण वह रत्नत्रय की शुद्धि से वंचित रहता है।

(४) बादर दोप—जो साधु स्थूल (बडे) दोपो का तो गुरु के निकट प्रकाशन करता है और सूक्ष्म दोषों को छिपाता है, वह जिनेन्द्र भगवान् के वचनो की अवहेलना करता है, इसलिए वह दोपी होता है। क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश स्थूल और सूक्ष्म दोपो को गुरु के पादपद्म मे निवेदन करने का है। उसका पालन न कर केवल बादर दोषों का प्रकाश करने वाला बादर दोष नामक दोप से दूपित माना गया है।

जैसे कासे का कलश ऊपर से स्वच्छ होने पर भी भीतर से नीला होने से मलीन होता है. वैसे ही इस आलोचना करने वाले के अन्तरङ्ग मे माया दोप विद्यमान होने से उसकी आलोचना सदोप होती है।

(५) सूक्ष्म दोप—जो साधु भय गर्व और माया से सूक्ष्म दोषों को छिपा कर स्थूल दोषों का निवेदन करता है, वह आलोचना के सूक्ष्म नामक दोप से दूपित माना गया है।

प्रश्न—सूक्ष्म दोष कौन से हैं ?

उत्तर—उठने बैठने सोने सस्तर बिछाने गमनादि से उत्पन्न हुए दोष सूक्ष्म दोष हैं। इन दोषों को गुरु के निकट प्रकट करते समय शिष्य कहता है। हे भगवन्! जिस भूमि में ओस आदि बहुत थी, उस भूमि पर ईर्या समिति में चित्त सावधान करके न चला सका था। पिच्छिका से भूमि का मार्जन(शोधन) किये बिना बैठ गया था,सोया था,करवट बदली थी,और खड़ा हो गया था। उचित काल में मैंने सामायिकादि आवश्यक का पालन नहीं किया था। जल से शरीरादि का स्पर्श किया था। मैं सचित्त रज पर बैठा था, खडा हुआ था,सो गया था। धूलि से भरे हुए पावो से जल मे प्रवेश किया था। जल से गीले पावो से मैंने धूलि मे प्रवेश किया था। आठ या नव मास की गर्भवती स्त्री से मैंने आहार लिया था। रोते हुए या स्तन पान करते हुए बालक को छोड़ कर आई हुई स्त्री ने मुझे आहार दिया था। इत्यादि सूक्ष्म दोषो का निवेदन करता है।

इस प्रकार छोटे २ दोषो को प्रकट कर स्थूल (बड़े २) दोषों को छिपाता है। बड़े दोष यदि प्रकट कर दूंगा तो आचार्य मुझे महान् प्रायश्चित देंगे इस भय से अथवा मेरा परित्याग कर बैठेंगे इस भय से स्थूल दोषों को प्रकट नहीं करता है। सूक्ष्म दोषों को प्रकाशित करने और स्थूल दोषों को छिपाने के कारण उसका कपट स्वभाव स्पष्ट होता है। मैं सङ्घ के सब मुनियों से निर्दोष चारित्र का पालन करने वाला हूँ, इस अभिमान से स्थूल दोषो को व्यक्त नहीं करता है, वह सूक्ष्म दोष का भागी माना गया है।

(६) प्रच्छन्न दोष—मुझे अमुक अतिचार या अनाचारजन्य अपराध हुआ है,ऐसा स्पष्ट न कहकर आचार्य से पूछता है। अहो गुरु महाराज! यदि किसी मुनि के अठाईस मूलगुणों मे या अनशनादि तप उत्तर गुणो मे एव अहिंसादि महाव्रत मे अतिचार लग जावे तो उसको कौनसा प्रायश्चित दिया जाता है ? वह किस उपाय से शुद्ध हो सकता है ? इस प्रकार प्रच्छन्न रूप से पूछता है। गुरु महाराज से गुप्त रूप से पूछकर अपनी शुद्धि कर लेना चाहता है। यह प्रच्छन्न नामक आलोचना का छठा दोष है।

शङ्का—अपराध की शुद्धि उचित प्रायश्चित के आचरण से होती है। किसी प्रकार गुरु महाराज से अपने दोष की शुद्धि करने वाले प्रायश्चित को जानकर यदि वह उस प्रायश्चित को ठीक तरह आचरण करता है, तो उसकी शुद्धि कैसे नहीं मानी जा सकती है ?

समाधान—दोष की शुद्धि करने के लिए निष्कपट भाव से गुरु महाराज के सामने अपने दोषों की यथार्थ आलोचना करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रच्छन्न रूप से मायाचार द्वारा गुरु महाराज से अपराध का प्रायश्चित पूछकर उसका आचरण किया है। उसके हृदय से माया भाव नहीं निकला है। अतः उसकी शुद्धि होना असंभव है, अतः इसे दोष ही माना गया है।

सं प्र

(७) शब्दाकुल दोष—सम्पूर्ण मुनि मिलकर पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक या वार्षिक दोषों की आलोचना कर रहे हों, उस समय महान् कोलाहल होता है। ऐसे अवसर को पाकर अपनी इच्छानुसार दोषो की आलोचना करना वह शब्दाकुल दोष है।

क्योकि कोलाहल मे जब गुरु उसके अपराध को स्पष्ट नहीं सुन पाते हैं, उस समय अपराध कह सुनाने से गुरु उसको यथार्थ प्रायश्चित देने मे समर्थ नहीं हो सकते हैं, इसलिए यह शब्दाकुल नामक दोष माना गया है।

(८) बहुजन दोष—जिसने प्रत्याख्यान नामक नवमे अङ्ग का अध्ययन किया है, तथा अङ्ग बाह्य में कल्प नामक प्रकरण है उसका और शेष अङ्गो मे तथा प्रकीर्णकों में जहा जहा प्रायश्चित का निरूपण आया है उन सबका मनन किया है, उस आचार्य के द्वारा अर्थात् उपलब्ध सब प्रायश्चित ग्रन्थो के ज्ञाता आचार्य के द्वारा दिये गये प्रायश्चित पर विश्वास न करके यदि कोई मुनि अन्य आचार्यों से उस प्रायश्चित के औचित्य या अनौचित्य के विषय मे पूछे तो वह बहुजन दोष माना गया है।

(९) अव्यक्त दोष—जो मुनि आगमज्ञान से शून्य है, वह आगम बाल है, तथा जो चारित्र से हीन है, वह चारित्र बाल है। उस ज्ञान चारित्र हीन मुनि के सम्मुख अपने अपराधों की आलोचना करने वाले को आलोचना का अव्यक्त नामक दोष होता है। यद्यपि आलोचक ने मन वचन काय से कृत कारित और अनुमोदना जन्य सब अपराधो की आलोचना की है तथापि उसकी आलोचना निष्फल है क्योकि आगम बाल या चारित्र बाल आचार्य से उचित प्रायश्चित द्वारा अपराधो की शुद्धि नहीं हो सकती है। अत.इसे अव्यक्त दोष कहा है।

(१०) तत्सेवी दोष—यह पार्श्वस्थ (भ्रष्ट मुनि) मेरे सुखिया स्वभाव को तथा मेरे सब दोषों को जानता है। यह भी मेरे समान दोषी है, इसलिए मुझे यह महान् प्रायश्चित न देगा ऐसा विचार कर जो पार्श्वस्थ (भ्रष्ट मुनि) के निकट जाकर अपने सब अपराधों की आलोचना करता है, उसको तत्सेवी नाम का दोष होता है।

जैसे-रुधिर से भीगा वस्त्र रुधिर मे धोने पर शुद्ध नहीं होता है, वैसे ही दोष सहित पतित मुनि के पास आलोचना करके कोई मुनि अपने अपराध से मुक्त नहीं होता है। क्योंकि रुधिर वस्त्र स्वच्छ जल से धोने पर ही शुद्ध होता है। वैसे ही दोषों का निवारण निर्मल चारित्र के धारक आचार्य के पाद मूल मे आलोचना करके उनके द्वारा दिये गये प्रायश्चित का आचरण करने से ही हो सकता है। अन्यथा नहीं होता। इसलिए हे क्षपक ! जो मुनि जिनप्रणीत आगम के वचनों का लोप करते हैं और दुष्कर पाप का आचरण करते हैं, उनका मोक्ष अनन्त काल मे भी जैसे नहीं होता है, वैसे ही जो मुनि अन्त:करण मे मायाशल्य रखकर अपने दोषों की आलोचना करते हैं, उनको भी मोक्ष की प्राप्ति अत्यन्त दूर है।

अतएव मुनियों का कर्तव्य है कि भय, माया, मृषा, मान और लज्जा का परित्याग कर उक्त ऐसा दोषों से रहित आलोचना करे। क्योंकि दूषित आलोचना आत्मा को निर्दोष बनाने में समर्थ नहीं होती है।

साधु किन २ दोषों की कैसे आलोचना करें ?

प्रश्न—साधु किन २ दोषों की किस प्रकार आलोचना करे ?

उत्तर—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चोइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय इन जीवों में से जिनकी विराधना हुई हो, उनकी आलोचना करे।

पृथिवी काय जीव अनेक प्रकार के हैं—जैसे मिट्टी, पाषाण, शर्करा (कंकर) वालुरेत, नमक, अभ्रक आदि अनेक भेद हैं। उनको खोदने, हलादि से विदारण करने, जलाने फोड़ने मोड़ने पटकने फेंकने आदि में से मैंने अमुक पाप किया है।

जल कायिक जीवों के भी पानी वर्फ ओस ओले आदि अनेक भेद हैं। उनका पान करने, उसमें स्नान करने, कूदने, तैरने, हाथ पैरों से या शरीर से मर्दन करने वगैरह में मैंने उनका अमुक प्रकार से घात किया है।

अग्निकायिक जीवों के ज्वाला दीपक जलती हुई लकड़ी आदि कई भेद हैं। उनके ऊपर मैंने पत्थर मिट्टी जल डालकर इनका विनाश किया है। अथवा पाषाण या लकड़ी आदि से पीटा है, मर्दन किया है। इनके अतिरिक्त भी अनेक तरह के आरम्भ में से मैंने अमुक प्रकार से अग्नि कायिक जीवों को बाधा पहुंचाई है।

वायु कायिक जीवों के झंझावात मंडलिक आंधी आदि भेद हैं। जल वृष्टि सहित जो वायु बहती है, उसे झंझावात कहते हैं। जो वायु गोलाकार भ्रमण करती हुई बहती है, उसे मंडलिक वायु कहते हैं। तेज वायु को आंधी कहते हैं। इत्यादि प्रकार से बहने वाली वायु को मैंने पंखे से, वस्त्र से सूप से प्रतिघात किया है, वायु को किवाड़ इत्यादि से रोका है। पंखे आदि से उसे सताया है, बाधा पहुंचाई है। वायु के सम्मुख गमन किया है। इत्यादि प्रकारों में से जिस प्रकार से वायुकाय के जीवों को बाधा पहुंचाई हो, उसका निवेदन करे।

वनस्पति कायिक जीव—साधारण (अनन्त कायिक नीलन फूलन काय आदि वनस्पति, प्रत्येक वनस्पति वृक्षादि बीज, वल्ली लता छोटे पौधे के समूह, पुष्प फल तृणादि वनस्पति कायिक जीवों के अनेक भेद हैं। उनमें से अमुक को मैंने जलाया है, या तोड़ा है। या उनका छेदन भेदन किया है ? अथवा मर्दन मोटन (मरोड़ना) बंधन, रौंदन आदि अनेक क्रियाओं में से अमुक द्वारा उनका घात किया

पू. कि. ४

है। उनको बाधा पहुचाई है।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रि और पचेन्द्रिय जीवों मे से अमुक का अज्ञान व प्रमाद से जाने या बिना जाने विघात किया है। या उनका छेदन भेदन ताड़न वन्धन किया है। उनकी गति का निरोध कर सताया है। या गमनागमन करके उन्हें पीड़ा या बाधा पहुचाई है।

आहार, उपकरण, वसतिका का अङ्गीकार करते समय मुझ से उद्गम उत्पादन एपणा आदि अमुक २ दोष हुए हैं।

गृहस्थियों के कुभ कलश सकोरा आदि भाजनों मे से किसी भाजन मे कोई वस्तु रखी या उन भाजनो मे से किसी से कोई वस्तु ग्रहण की हो तो ये सब चारित्रातिचार हैं। क्योकि इन पात्रो का भीतर से प्रतिलेखन (मार्जन) करना अत्यन्त कठिन है।

छोटी चौकी वेत्रासन खाट पलग इन पर बैठने से अपराध हुआ हो। क्योकि इनमे अनेक छिद्र होते हैं। उनमे जो प्राणी निवास करते हैं, वे नेत्रों से दिखाई नहीं देते। यदि वे दिखाई दें तो उन्हें निकालना अशक्य होता है। इसलिए ऐसे छोटे चौकी वगैरह आसनों पर बैठने से अहिंसा व्रत मे अतिचार उत्पन्न होता है। अथवा आहार के लिए श्रावक के घर जाकर वहा पर बैठना भी निषिद्ध है। क्योकि श्रावक के घर बैठने से ब्रह्मचर्य व्रत का विनाश हो सकता है। भोजनार्थी मनुष्यो के भोजन में विघ्न उपस्थित होता है। वे लोग मुनियों के समक्ष भोजन करने मे सङ्कोच करते हैं। क्षुधादि से पीड़ित होने के कारण उनके मनमें सक्लेश उत्पन्न होता है। लोग कहने लगते हैं कि ये मुनि महिलाओ के बीच किस लिए बैठे हैं? आहार सम्पन्न हो जाने के अनन्तर यहा बैठे रहने की क्या आवश्यकता है? इनको यहा से अब तो चला जाना चाहिए? इत्यादि उनके अन्तःकरण मे कोपावेश से दुर्विचार उत्पन्न होने लगते हैं।

स्नान करना, उबटन लगाना, मस्तकादि शरीर के अवयवों का प्रक्षालन करना इन क्रियाओ को 'वाकुस' कहते हैं। ठडे जल से या गर्म जल से स्नान करने पर आखों मे अजन शरीर पर उबटन करने से शरीर पर स्थित प्राणी नष्ट होते हैं। तथा बिलो में रहने वाले प्राणी और भूमि के छोटे २ छेदों मे निवास करने वाले कीडे मकोडे आदि जन्तु मृत्यु के मुख मे प्रविष्ट होते हैं। इसलिए आगम मे मुनियो के लिए स्नान का निषेध है। मुनियो को आजीवन यह घोर व्रत पालन करना परमावश्यक होता है। लोध्र आदि सुगधित पदार्थों का उबटन भी मुनियो के लिए वर्जित है।

बिना दिये हुए पदार्थ का तथा रात्रि भोजन का त्याग मुनियों को रहता ही है। बिना आज्ञा के किसी वस्तु का ग्रहण करना क्या है, मानो उस वस्तु के स्वामी के प्राणो का हरण करना है। क्योकि धन प्राणियों का बाह्य प्राण है। जो दूसरो की वस्तु का हरण करता है, उसको राजा दण्ड देते हैं।

रात्रि भोजन अनेक असयम का मूल कारण है। रात्रि मे भोजन करने से त्रस और स्थावर जीवो का वध होता है। तथा जिसका त्याग किया उसका और अयोग्य वस्तु का भक्षण हो जाता है। रात्रि मे दाता की परीक्षा नहीं हो सकती है। अपने हाथ मे रखे हुए भोजन की, हाथ से उच्छिष्ट भोजन जिस जगह गिरता है उस भूमि प्रदेश की तथा दाता के गमनागमन मार्ग की, दाता के खड़े रहने तथा अपने खडे रहने के प्रदेश की भली भाति देख भाल (यह जीव रहित है या जीव सहित है ऐसी जाचे) नहीं कर सकते हैं। ऐसे अनेक दोष रात्रि भोजन करने से उत्पन्न होते है। इसलिए रात्रि मे आहार ग्रहण करना सर्वथा निषिद्ध है। मैथुन सेवन, परिग्रह धारण और असत्य भाषण आदि महा पापो के तो मुनि सर्वथा त्यागी होते ही हैं।

"सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्याचार मे मन वचन काय द्वारा कृत कारित अनुमोदना से जो अतिचार उत्पन्न हुए हो, उनकी मैं आलोचना करता हूँ।

शङ्का कांक्षा आदि दोष सम्यग्दर्शन के अतीचार हैं। सम्यग्ज्ञान की क्या आवश्यकता है। तपश्चरण और चारित्र ही फल देने वाला है इसलिए उन्हीं का आचरण करना चाहिए। इस प्रकार मन से सम्यग्ज्ञान की अवज्ञा करना अथवा सम्यग्ज्ञान को मिथ्याज्ञान समझना व वचन से प्रकट करना मन से वचन से व काय से सम्यग्ज्ञान मे अरुचि प्रकट करना, मुह बिगाड कर मुह मोड कर अथवा सिर हिला कर यह सम्यग्ज्ञान नहीं है ऐसा प्रकाशित करना। आदि ज्ञान के अतिचार हैं।

तपस्या करते समय असयम मे प्रवृत्ति करना तप का अतिचार है। अपनी शक्ति को छिपाना वीर्याचार का अतिचार है। ये सब अतिचार कृत कारित और अनुमोदना के भेद से तीन २ प्रकार के होते हैं। स्वयं करना, स्वय कराना और करते हुए की स्वय अनुमोदना करना। दूसरे को प्रेरित करना, प्रेरित कराना और प्रेरित करते हुए की अनुमोदना करना। इस तरह प्रत्येक अतिचार के तीन २ भेद होते हैं।

दूसरे देश के राजा का आक्रमण होने पर जब देश के सम्पूर्ण गमनागमन के मार्ग रुक जाते है, उस समय वहां से निकलना कठिन हो जाता है। ऐसे अवसर पर भिक्षा दुर्लभ होने से अन्त.करण मे सक्लेश होता है। कदाचित् उस काल मे अयोग्य पदार्थ का सेवन कर लिया हो तो क्षपक को आलोचना करते समय ऐसे सब दोषो का खुलासा करना चाहिए। अमुक अतिचार रात्रि के समय या अमुक अतिचार दिन के समय हुआ है, उन सब का स्पष्ट निवेदन करना आवश्यक है।

जिस समय सब हैजा प्लेग आदि भयानक रोगो से या अन्य दारुण विपत्तियो से आक्रान्त हो गया हो, उस समय उनका प्रतिकार करने के लिए विद्या मन्त्रादि का उपयोग करना पड़ा हो, उसमे जो अतिचार हुआ हो उसकी भी स्पष्ट आलोचना करनी चाहिए।

अति दुर्भिक्ष के समय अवमौदर्य तप में जो दोष लगे हों या अयोग्य पदार्थ का सेवन हुआ हो, अथवा अन्य मुनियों ने अनुचित भिक्षा ग्रहण जिस प्रकार की हो, उन सवका निवेदन करना चाहिए। अभिमान या प्रमाद आदि से जो जो दोष लगे हों उन सवको गुरु के निकट प्रकट कर देना मुनि का कर्तव्य है।

दर्पादि बीस अतिचार

दर्पादि के निमित्त से बीस अतिचार होते हैं। आगम के अनुसार उनका नीचे स्पष्टीकरण करते हैं।

(१) दर्प (गर्व) अनेक प्रकार का है—जैसे क्रीड़ा में स्पर्द्धा करना, व्यायाम करना, छल–कपट करना, रसायन सेवन, हास्य करना, गीत में शृंगार के वचन बोलना, उछलना कूदना, ये दर्प के प्रकार हैं।

(२) प्रमाद के पाच भेद हैं—विकथा, कषाय, इन्द्रियो के विषयों मे आसक्ति, निद्रा और प्रेम। अथवा संक्लिष्ट हस्तकर्म, कुशीलानुवृत्ति, बाह्यशास्त्र, काव्य रचना करना, और समिति मे उपयोग न रखना इस प्रकार भी प्रमाद के पाच भेद होते हैं।

छेदन करना भेदन करना, पीसना, टकराना, चुभाना, खोदना, बाधना, फाड़ना धोना, रङ्गना, लपेटना, गूँथना, भरना, राशि करना (इकट्ठा करना), लेपन करना, फेंकना, चित्र बनाना, इत्यादि काम करने को सक्लिष्ट हस्तकर्म कहते हैं।

ज्योतिःशास्त्र, छन्द शास्त्र, अर्थशास्त्र, वैद्यकशास्त्र, लौकिकशास्त्र और मन्त्रशास्त्र इत्यादि शास्त्रों को बाह्यशास्त्र कहते हैं।

(३) अनाभोगकृत—उपयोग रखने पर भी जिन अतिचारो का ज्ञान नहीं होता है, उन्हें अथवा चित्त की प्रवृत्ति दूसरी ओर होने पर जो अतिचार होते हैं, अनाभोगकृत अतिचार कहते हैं।

(४) आपात कृत—नदी का पूर आने पर, अग्नि काण्ड के उपस्थित होने पर भयानक आंधी का तूफान आने पर, वृष्टि के होने पर, शत्रु की सेना से घिर जाने पर तथा ऐसे ही और कारणों के प्राप्त होने पर जो अतिचार, होते हैं उन्हें आपात अतिचार कहते हैं।

(५) आर्तताकृत—रोग जन्य पीड़ा, शोक जन्य क्लेश, और वेदना व व्यथा से होने वाले अतिचारों को आर्तताकृत अतिचार कहते हैं।

(६) तितिणदाकृत रसों मे आसक्ति होने से तथा अधिक बकवाद करने मे जो अतिचार होते हैं। उन्हें तित्तिणदाकृत

...तिचार कहते हैं।

(७) शकित—पिच्छिका आदि उपयोगी द्रव्यों में सचित्त या अचित्त का सन्देह रहते हुए भी उनको मोड़ना, पटकना तोड़ना, फोड़ना, छीलना एव आहार उपकरण और वसतिका में 'उद्गमादि दोष हैं या नहीं' ऐसा सन्देह होने पर भी उनका सेवन करना ये शकित अतिचार हैं।

(८) सहसातिचार—अशुभ मानसिक विचारों में अथवा अशुभ वचनों में बिना विचारे शीघ्र प्रवृत्त होना, उसको सहसा अतिचार कहते हैं।

(९) भयातिचार—एकान्त प्रदेश में वसतिका होने पर इसमें चोर सर्प दुष्ट-हिंसक-पशु, व्याघ्र सिंहादि अन्दर घुस आवेंगे, इस भय से वसतिका के द्वार बन्द करने से होने वाले अतिचार को भयातिचार कहते हैं।

(१०) प्रदोष—तीव्र सज्वलन कषाय के उदय से होने वाले जल के ऊपर की रेखा के समान क्रोधादि चार कषाय के निमित्त से होने वाले अतिचारो को प्रदोष जन्य अतिचार कहते हैं।

(११) मीमासा—अपने और दूसरे के बल के तरतम भाव की परीक्षा करने से उत्पन्न होने वाले अतिचार को मीमांसा अतिचार कहते हैं।

अथवा सीधे हाथ को मोडना, मुड़े हुए हाथ को सीधा करना, धनुष आदि को चढ़ाना, वजन दार पत्थर को ऊपर उठाना, उसे दूर फेंकना, दौड लगाना, काटे की बाड आदि को लांघना, पशु सर्पादि को मंत्रो की परीक्षा करने के लिए पकडना, औषधियो के सामर्थ्य की परीक्षा करने के लिए अजन और चूर्ण का प्रयोग करना, अनेक द्रव्यो को मिलाकर 'त्रस और एकेन्द्रिय प्राणियों की उत्पत्ति होती है या नहीं' उसकी परीक्षा करना, ऐसे कृत्य करने को परीक्षा कहते हैं। इन कामों से व्रतों मे दोष उत्पन्न होते हैं।

(१२) अज्ञानातिचार—अज्ञानी मनुष्यों का आचरण देखकर उसमें दोष न समझ कर स्वय भी वैसा ही आचरण करने से अथवा अज्ञानी से प्राप्त हुए उद्गमादि दोष वाले उपकरणादि का सेवन करने से जो अतिचार उत्पन्न होते हैं, उन्हें अज्ञानातिचार कहते हैं।

(१३) स्नेहातिचार—शरीर, उपकरण, वसतिका, कुल, ग्राम,नगर,देश, बन्ध तथा पार्श्वस्थमुनि आदि मे ममत्व भाव रखने से जो अतिचार होते हैं, उन्हें स्नेहातिचार कहते हैं। यह मेरा शरीर है, ऐसा ममत्व रखने से यह शीत पवन मेरे शरीर को बाधा देती है, ऐसा विचार कर शरीर को चटाई से ढकता है, अग्नि का सेवन करता है, ग्रीष्मकाल की लू आदि से बचने के लिए वस्त्र ग्रहण करता है, शरीर पर

उवटन लगाता है, उसे स्वच्छ करता है, तैलादि मर्दन करता है, यह सब ठीक नहीं है। इससे अतिचार होते हैं।

मेरा उपकरण विनष्ट हो जायगा, इस भय से पिच्छिका द्वारा प्रमार्जन न करना, तैलादि से कमण्डलु का संस्कार कर स्वच्छ रखना, इसे उपकरणातिचार कहते हैं।

वसतिका के तृणादि का भक्षण करते हुए पशु आदि का निवारण करना, वसतिका का भङ्ग होता हो तो उसका निवारण करना बहुत से यति मेरी वसति मे निवास नहीं कर सकेंगे ऐसा कहना, आजाने पर उन पर क्रोध करना, बहुत साधुओं को वसतिका मत दो-ऐसा निषेध करना, अपने कुल के मुनियो की ही सेवा वैयावृत्य करना, निमित्त ज्ञानादि का उपदेश देना, ममत्त्व भाव से ग्राम नगर या देश में रहने का निषेध न करना, अपने से सम्बन्ध रखने वाले मुनियों के सुख में सुखी और दुःख मे दु.खी होना, पार्श्वस्थादि मुनियों की वन्दना करना, उनको उपकरणादि का प्रदान करना, उनके वचनादि का उल्लघन करने की सामर्थ्य न रखना, इत्यादि कार्यों से जो अतिचार होते हैं न सब की आलोचना करना चाहिए।

(१४) गारव अतिचार—ऋद्धि, रस और साता में आसक्ति रखना। ऋद्धि मे आसक्ति रखने से परिवार में आदर भाव होता है। प्रिय भाषण करके उपकरण देकर दूसरे की वस्तु अपने अधीन करता है। रस में आसक्ति के कारण प्रिय रस का त्याग नहीं करता है और अप्रिय रस मे अनादर भाव होता है। साता गारव से प्रिय मधुर सुहावने भोजन करता है और शरीर को सुख देने वाले शयनासनाआदि मे प्रवृति करता है। इससे जो अतिचार होते हैं, उन्हें गारव अतिचार कहते हैं।

(१५) परतन्त्रता जन्य अतिचार—उन्माद से, पित्त के प्रकोप से,भूत पिशाच के शरीर में प्रवेश करने से परतन्त्रता होती है। ज्ञाति के लोगों के परवश होकर इत्र गन्ध पुष्प माला आदि का सेवन करना, रात्रि भोजन करना, छोड़े हुए पदार्थों का सेवन करना, स्त्रियों के या नपुंसकों के साथ बलात्कार से मैथुन सेवन में प्रवृत्ति करना भी परतन्त्रता के कार्य हैं। इनसे जो अति ार होते हैं वे परतन्त्रता-जन्य अतिचार कहलाते हैं।

(१६) आलस्य-अतिचार—आलस्य के वश वाचना पृच्छनादि स्वाध्याय मे प्रवृत्ति न करना, आवश्यक कृत्यो मे उत्साह नहीं रखना, इससे जो अतिचार होते हैं, उन्हें आलस्य-जन्य अतिचार कहते हैं।

(१७) उपधि-अतिचार—मायाचार को उपधि कहते हैं। छिपकर अनाचार मे प्रवृत्ति करना, दाता के घर का पता चलाकर अन्य मुनियो के पहुँचने के पहले वहा आहार के लिए प्रवेश करना। अथवा किसी कार्य के बहाने से द के घर में इस प्रकार प्रवेश करना

जिसे दूसरे न जान सकें। सुन्दर स्वादिष्ट भोजन करने के पश्चात् 'विरस भोजन किया' ऐसा कहना,रोग ग्रस्त-मुनि की या आचार्य की वैयावृत्य के निमित्त श्रावकों से कुछ चीज माग कर स्वय उसका सेवन करना आदि से अतिचार लगते हैं ये सब उपधि (माया) जन्य अतिचार कहे जाते हैं।

(१८) स्वप्नातिचार—निद्रा मे सोये हुए के स्वप्न मे अयोग्य पदार्थ का सेवन करने मे जो दोष होता है, उसे स्वप्नातिचार कहते हैं।

(१९) पलिकुंचन—द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के आश्रय मे जो अतिचार होते हैं, उनका अन्यथा वर्णन करने को पलिकुंचन कहते हैं। जैसे—सचित्त पदार्थ का सेवन करके अचित्त पदार्थ का सेवन प्रकट करना। स्वकीय आवास के स्थान से जो दोष हुआ हो, उसे मार्ग मे हुआ कहना, दिन मे जो दोष किया है उसे रात्रि मे किया हुआ निवेदन करना, तीव्र क्रोधादि भावो से किये गये अपराध को मन्द क्रोधादि किया गया कहना। ऐसे विपरीत वर्णन करने को पलिकुंचन कहते हैं।

(२०) स्वय शुद्धि—आचार्य के समीप यथार्थ आलोचना करने पर आचार्य के प्रायश्चित देने मे पहले ही स्वय ही यह प्रायश्चित मैंने लिया है, ऐसा कहकर जो स्वयं प्रायश्चित लेता है, उसे स्वय शोधक कहते हैं। मैंने स्वय ऐसी शुद्धि की है ऐसा स्वय कहना। इस प्रकार दर्प आदि के निमित्त से जो २ अतिचार होते हैं, उनका स्पष्टता पूर्वक निवेदन करना चाहिए। अतिचार के क्रम का उल्लघन करना कदापि ठीक नहीं है।

आचार्य का कर्तव्य

प्रश्न—जब मुनि आलोचना कर चुके तब आचार्य महाराज को क्या करना चाहिए ?

उत्तर—क्षपक द्वारा की गई सम्पूर्ण आलोचना को सुनकर आचार्य क्षपक से तीन बार पूछते हैं कि "हे क्षपक। तुमने क्या २ अपराध किये हैं, वे भली भांति ध्यान मे नहीं आये हैं, उन्हें फिर से कहो", क्षपक के वचन से और व्यवहार से जब गुरु देव को उसकी सरलता-निष्कपटता-प्रतीत होती है तब तो वे (आचार्य) क्षपक को प्रायश्चित देते हैं और जब उसके अन्त करण मे कपट मालूम होता है तब उसे प्रायश्चित नहीं देते हैं। क्योकि भाव शुद्धि के विना पाप का निवारण नहीं होता है और न रत्नत्रय की शुद्धि होती है।

प्रश्न—निष्कपट आलोचना कौनसी है ? जिसको सुनकर आचार्य प्रायश्चित देते हैं और सकपट आलोचना कौनसी है ? आचार्य जिसका प्रायश्चित नहीं देते हैं।

उत्तर—वैद्य रोगी को तीन बार पूछा करते हैं.-तुमने क्या भोजन किया ? क्या आचरण किया, तुम्हारे रोग का क्या हाल है? शरीर काटा फास आदि लग जाने पर भी तुम्हारे काटा या फास आदि कहा लगा, कैसे लगा ? अब घाव अच्छा हुआ या नहीं-ऐसे तीन बार पूछते हैं। तीन बार पूछने पर यदि तीनों बार एकसी आलोचना करता है,तब उसकी वह निष्कपट आलोचना मानी जाती है और जो भिन्न भिन्न प्रकार से आलोचना की गई हो, उसे वक्रा (कपटयुक्त) आलोचना कहते हैं। उस आलोचना में मायाचार रहता है।

द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के आश्रित उत्पन्न हुए दोषों को प्रति सेवना कहते हैं। अर्थात् सेवना के द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के विकल्प से चार भेद होते हैं। द्रव्य सेवना के तीन भेद हैं—सचित्त द्रव्य सेवना, अचित्त द्रव्य सेवना और मिश्र द्रव्य सेवना। जिस पुद्गल शरीर मे जीव रहता है, उस शरीर को सचित्त द्रव्य कहते हैं। जीव रहित पुद्गल को अचित्त द्रव्य कहते हैं। तथा सचित्त और अचित्त पुद्गल के समुदाय को मिश्र द्रव्य कहते हैं। जीव से ग्रहण किये हुए पृथ्वी जल अग्नि वायु और वनस्पति को सचित्त कहते हैं। जिस पुद्गल को जीव ने छोड दिया है, उस पुद्गल को अचित्त कहते हैं।

क्षेत्रादि के आश्रित होने वाले स्थूल व सूक्ष्म दोषों का यदि क्षपक क्रमों का त्यों वर्णन नहीं करता है तो प्रायश्चित शास्त्र के ज्ञाता आचार्य उसे प्रायश्चित नहीं देते हैं। आगम मे भी यही कहा है—

पडिसेवणादि चारे जदि आजवदि जहाकमं सव्वे।
कुव्वंति तहा सोधिं आगमववहारिणो तस्स ॥ ६२१ ॥ (भग आ.)

अर्थ—जब क्षपक द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के आश्रय से उत्पन्न हुए दोषों का प्रतिपादन यथाक्रम से करता है, तब उसको प्रायश्चित देने मे कुशल आचार्य प्रायश्चित देकर शुद्ध करते हैं।

प्रश्न—जब मुनिराज निर्दोष आलोचना करते हैं, तब आचार्य का क्या कर्तव्य होता है ?

उत्तर—जब आचार्य को निश्चय हो जाता है कि इस क्षपक की आलोचना निर्दोष है, तब प्रायश्चित आगम के वेत्ता आचार्य आगम से अपराधों की परीक्षा करते हैं। अर्थात् इस प्रायश्चित का विधान करने वाला यह सूत्र है, और इसका यह अर्थ है। इस अपराध का यह प्रायश्चित बतलाया है, इत्यादि रूप से आचार्य प्रथम प्रायश्चित्त का विचार करते हैं।

प्रश्न—दोष के अनुरूप प्रायश्चित का विचार करने वाले आचार्य को अतिचार सेवन करने के पश्चात् क्षपक के भावों का परि

णमन कैसा है, उस पर भी ध्यान देना चाहिए या नहीं ?

उत्तर—प्रतिसेवना के आचरण से क्षपक के भावी परिणामों में हानि या वृद्धि कैसी हुई है ? अर्थात् प्रति सेवना (विरुद्धाचरण) करने से जो इसके पाप हुआ है, उसके बाद इस क्षपक के संक्लेश भाव हुए हैं या संवेग भाव उत्पन्न हुए हैं। यदि उसके संक्लेश-परिणाम हुए हैं, तब तो इसका पूर्वोत्पन्न पापकर्म की वृद्धि हुई है और यदि उसके संवेग पूर्ण भाव हुए हैं तब उसके पूर्व दुष्कर्म की हानि हुई है। तथा जो पाप कर्म की हानि या वृद्धि हुई है, वह भी मंद हुई या तीव्र हुई है ? इसका भी आचार्य विचार करते हैं।

जैसे—किसी क्षपक ने पहले असंयम का आचरण किया, पश्चात् उसका अन्तःकरण "हाय, यह मैंने बहुत बुरा किया" इत्यादि पश्चाताप से दग्ध हुआ। और बाद में संयमाचरण मे प्रवृत्त हुआ। इस पश्चाताप पूर्वक संयमाचरण के प्रभाव से नवीन और संचित कर्म का एक देश निर्जरा अथवा सम्पूर्ण निर्जरा होती है। अर्थात् मध्यम या मंद परिणाम से एक देश निर्जरा होती है और तीव्र परिणाम से सम्पूर्ण कर्म की निर्जरा होती है।

इन सब बातो का विचार करके प्रायश्चित शास्त्र के ज्ञाता आचार्य, क्षपक के परिणामो को जानकर जितने प्रायश्चित से वह शुद्ध हो सकता है, उसे उतनाही प्रायश्चित देते हैं। जैसे स्वर्णकार अग्नि की शक्ति की न्यूनाधिकता को जान कर उसके अनुसार ही अग्नि को धमता है, वैसे ही प्रायश्चित का जिसे पूर्ण अनुभव है ऐसा आचार्य भी यह अपराध अल्प है यह महान् है, इसके क्रोधादि परिणाम तीव्र थे या मन्द थे-इत्यादि का विचार करके उसके अनुरूप ही प्रायश्चित देते हैं।

प्रश्न—दूसरे के परिणामों का ज्ञान आचार्य कैसे करते हैं ?

उत्तर—साधु के साथ रहने से उसके नित्य के कार्यों को देखकर आचार्य उनके परिणामो का पता चला लेते हैं, अथवा आचार्य साधु से पूछ लेते हैं कि जब तुमने प्रतिसेवना की थी, उस समय तुम्हारे परिणाम कैसे थे ? इत्यादि उपायों से साधुके परिणामो का ज्ञान आचार्य करते हैं।

आचार्य आयुर्वेद विशारद वैद्य के समान होते हैं। जैसे विद्वान् वैद्य रोगों का भली भांति परीक्षा कर साध्य, कष्ट-साध्य अथवा असाध्य व्याधि के अनुरूप औषध देकर उनकी चिकित्सा करता है, वैसे ही आचार्य भी अल्प प्रायश्चित मध्यम प्रायश्चित या महान् प्रायश्चित देकर साधु को दोष से मुक्त (विशुद्ध) करने का प्रयत्न करता है।

प्रश्न—आचार्य के आपने पहले आचारत्व आधारवत्वादि गुण बताये हैं, उनके धारण करने वाले आचार्य ही निर्यापक हो सकते

हैं। यदि कालादि दोष से उक्त गुण धारक आचार्य न मिले तो अन्य मुनि भी क्षपक का समाधि मरण कर सकते हैं? या नहीं?

उत्तर—उक्त गुणों का धारक आचार्य अथवा उन गुणों से शोभित उपाध्याय भी न हो तो प्रवर्तक मुनि या स्थविर (वृद्ध) अनुभवी मुनीश्वर अथवा बालाचार्य यत्न पूर्वक व्रतों में प्रवृत्ति करते हुए क्षपक का समाधिमरण साधन करने के लिए निर्यापकाचार्य हो सकते हैं।

प्रश्न—प्रवर्त्तक किसे कहते हैं?

उत्तर—जो अल्पश्रुत का ज्ञाता होने पर भी संघ की सम्पूर्ण मर्यादा और चारित्र का ज्ञाता होता है, वह प्रवर्त्तक होता है।

प्रश्न—स्थविर किसे कहते हैं?

उत्तर—जो चिरकाल के दीक्षित तथा मुनि-मार्ग के अनुभवी मुनिवर होते हैं वे स्थविर मुनि हैं।

प्रश्न—आचार्य द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त का आचरण कर लेने के पश्चात् और देहत्याग करने का उचित काल प्राप्त नहीं होने के पूर्व क्षपक क्या करता है?

उत्तर—जिसने अपने चरित्र को निर्दोष बना लिया है तथा शास्त्रोक्त विधि से गुरु के समीप रहकर अपने चरित्र को उत्तरोत्तर उज्ज्वल किया है वह क्षपक समाधिमरण के लिए धारण किये हुए विशेष चरित्र में उन्नति करने की कामना करता हुआ वर्षाकाल में नाना प्रकार के तपश्चरण कर हेमन्त में संस्तर का आश्रय लेता है। क्योंकि ग्रीष्मादि ऋतु की तरह हेमंत ऋतु में अनशनादि तप करने पर भी शरीर को विशेष कष्ट का अनुभव नहीं होता है।

प्रश्न—जिसने समाधि के सब साधनों का अभ्यास कर लिया है। अर्थात् अनेक कष्ट-प्रद तप का आचरण कर कष्ट सहन करने का जिसने सामर्थ्य उत्पन्न कर लिया है उसके लिए वसतिका का कुछ नियम है या नहीं? अर्थात् उसे विघ्न बाधा रहित वसतिका में ही रहना चाहिए या सबाध सविघ्न वसतिका में भी वह रह सकता है? यदि विशेष नियम है तो उसके लिए कौनसी वसतिका तो अयोग्य मानी गई है और कौनसी योग्य?

उत्तर—अनेक दुर्धर तपश्चरणों का पालन कर जिसने कष्ट सहिष्णुता प्राप्त करली है, समाधि मरण के लिए संस्तर पर आरूढ़ हुए उस क्षपक के लिए भी निर्विघ्न और निर्बाध वसतिका ही योग्य मानी गई है। क्योंकि क्षुधा प्यास आदि के सताने पर यदि शान्ति को देने वाली वसतिका नहीं होगी तो उसके परिणामों में सक्लेश उत्पन्न हो सकता है? अत उसे योग्य वसतिका में ही ठहरना उचित है।

प्रश्न—उसके लिए अयोग्य वसतिका कौनसी होती है ?

उत्तर—सगीतशाला, नृत्यशाला, गजशाला, अश्वशाला, तेली का घर, कुम्हार का घर, धोबी का घर, बाजे बजाने वालों का घर, डोमका घर, बास के ऊपर चढ़कर खेल करने वालो का घर, रस्सी पर चढकर नाच करने वाले का घर इन सबके समीप की वसतिका मुनि के लिए योग्य नहीं होती है। तथा राज मार्ग (सडक) के समीपवर्त्ती वसतिका भी मुनि के निवास के योग्य नहीं है।

लोहार, सुनार (बढ़ई), चमार, कोली, छीपे, ठठेरे, कलाल, भाड, व वन्दीगण (स्तुतपाठक) सिलावट, तथा करोत से काठ को चीरने वाले जहा रहते हों उस के निकट तथा वाटिका और कूए बावड़ी आदि जलाशय के समीप एव जूआरी व्यभिचारी लोग तथा ऐसे ही अन्य दुष्कर्म करने वाले शराबी धीवर आदि अधम पुरुष जहा रहते हैं ऐसे स्थानो के निकट की वसतिका मे समाधि की इच्छा रखने वाले मुनीश्वरो को कदापि नहीं ठहरना चाहिए। क्योंकि उक्त स्थानो के समीप रहने वाले क्षपक के भावों में उद्विग्नता तथा शान्ति का भंग होने की पूर्ण सभावना बनी रहती है, इसलिए रत्नत्रय की उज्जवलता बढाने वाले क्षपक को उक्त आयोग्य वसतिका में कदापि नहीं ठहरना चाहिए।

प्रश्न—क्षपक साधु को कहां और किस प्रकार रहना चाहिए ?

उत्तर—क्षपक मुनि को ऐसे स्थान मे ठहरना चाहिए जहां उसकी पाचों इन्द्रिय शान्त रहें, जहां पर इन्द्रियों के विषयों को उत्तेजित करने वाले साधन न हों, जहा पर मन मे उद्वेग और विकार भाव उत्पन्न न हों, ऐसे शान्त वातावरण वाले, ध्यान मे एकाग्रता के साधक स्थान मे त्रिगुप्ति के धारक मुनीश्वर रहते हैं।

प्रश्न- जहा पर मन मे क्षोभ उत्पन्न करने वाले इन्द्रियों के विषयों का प्रचार नहीं है ऐसी प्रत्येक वसतिका मुनि के निवास करने योग्य मानी गई है या नहीं ?

उत्तर—ऐसी वसतिका मुनि के निवास के लिए योग्य मानी है जो उक्त गुणो मे युक्त होती हुई उद्गम उत्पादन और एषणा दोषों से रहित है। तथा जिसमें मुनि के उद्देश्य से लीपना पोतना सफेदी करना या अन्य सस्कार क्रिया नहीं की गई है। जिसमे जन्तुओं का निवास नहीं है तथा बाहर से आकर प्राणी वास नहीं करते हैं ऐसी वसतिका में मुनि ठहरा करते हैं।

प्रश्न—क्षपकादि मुनियो को कैसी वसतिका मे प्रवेश करना चाहिए ?

उत्तर—जिस वसतिका मे बाल वृद्ध मुनि सुख पूर्वक प्रवेश कर सकते हैं और निकल सकते हैं, जिसका द्वार बन्द होता है,

जिसमें प्रकाश भी विपुल हो ऐसी वसतिका होनी चाहिए। इसमे कम से कम दो शालाए या कमरे होने चाहिए। उनमें से एक में तो क्षपक के लिये। और दूसरी अन्य मुनि तथा धर्म श्रवणार्थं आए हुए श्रावकों के लिए। यदि तीन कमरे हों तो एक में क्षपक मुनि का संस्तर दूसरे में अन्य मुनियों का वास और तीसरे मे धर्मोपदेश श्रवण करने के लिए आए हुए लोगों का ठहरना होता है।

वसतिका का द्वार यदि वन्द न होता है तो शीतवायु आदि का प्रवेश होने से जिस क्षपक के अस्थि व चर्म मात्र शेष रह गये हैं ऐसे क्षपक को अतिशय क्लेश उत्पन्न होगा। जिसका द्वार वन्द न होता हो अर्थात् खुला ही रहता हो ऐसी वसतिका में क्षपक शरीर के मल का त्याग कैसे कर सकेंगे ? इसलिए वसतिका बन्द होने वाले द्वार की ही होनी चाहिए।

यदि वसतिका मे अन्धकार होगा तो वहा पर रहने से जीव जन्तु का अवलोकन न हो सकने के कारण असयम होगा। जिस वसतिका मे अन्दर घुसने या बाहर निकलने मे कठिनाई होती हो उसमे सिर मस्तक या घुटने आदि मे चोट लगने की सम्भावना रहती है तथा सयम की भी विराधना होती है।

प्रश्न—क्षपक का संस्तर कैसे स्थान मे होना चाहिए ?

उत्तर—क्षपक का सस्तर ऐसे स्थान मे होना चाहिए, जहा बालक वृद्ध तथा चार प्रकार का सघ सुगमता से आ जा सके। वसतिका के किवाड और दीवाल मजबूत होना चाहिए। उद्यान-गृह,गुफा या शून्य-गृह भी वसतिका के योग्य माने गये हैं। ऐसे निर्बाध स्थान मे क्षपक का सस्तर करना चाहिए। दूसरे ग्राम या नगर के आगत व्यापारियो के ठहरने के लिए जो निवास बनाये गये हों, उनमे भी तथा ऐसे ही अन्य निर्दोष और निर्बाध स्थानो मे क्षपक के सस्तर की योजना की जा सकती है।

प्रश्न—जहा उद्यान-गृह, शून्य-गृह, सराय, धर्मशाला, गुहा आदि क्षपक के सस्तर के योग्य स्थान (वसतिका) न मिले, वहा क्या करना चाहिए ?

उत्तर—जहा पर क्षपक के योग्य उक्त प्रकार की वसतिका न मिले, वहा के श्रावकों का कर्त्तव्य होता है, कि वे वास के बने टट्टी आदि से क्षपक के तथा वैयावृत्य करने वाले साधु आदि के सुखद वास के लिए कुटियां बना दें तथा धर्म-श्रवण के लिए आगत चतुर्विध सघ के बैठने आदि के लिए मजुल मण्डप की रचना करदे। परन्तु ध्यान रहे, इस कार्य में बहुत अल्प आरम्भ होना चाहिए। कहा भी है—

आगंतुघरादीसु वि कडएहिं य चिलिमिलाहिं कायव्वो।
खवयस्सोच्छागारो धम्मसवणमंडवादी य ॥ ६३६ ॥ (भग आ.)

अर्थ—आगन्तुक अतिथियों के लिए बने हुए घर तथा शून्य-घर, उद्यान-गृहादि में क्षपक का संस्तर करना योग्य है। यदि उक्त प्रकार के योग्य स्थान उपलब्ध न हों तो श्रावकों का कर्त्तव्य है कि वे क्षपक के ठहरने के योग्य बांस के टट्टे चटाई आदि से क्षपक व अन्य वैयावृत्त्य करने वाले साधुओं तथा आचार्य के नाम के योग्य आराम स्थान करा दें तथा धर्म श्रवण के लिए आने वाले चतुर्विध संघ के बैठने के लिए सुविधा जनक मंडपादि भी करवाना उचित है।

प्रश्न—उक्त प्रकार की वसतिका में क्षपक का संस्तर कैसा होना चाहिए ?

उत्तर—समाधिमरण करने वाले क्षपक के संस्तर चार प्रकार माने गये हैं। १. पृथ्वी संस्तर, २. शिला रूप संस्तर, ३. काष्ठमय संस्तर, और ४. तृणमय संस्तर। क्षपक की समाधि (सुख शान्ति) के लिए संस्तर का मस्तक पूर्व दिशा या उत्तर दिशा में रखना आवश्यक है। क्योंकि अभ्युदय के कार्यों में पूर्व दिशा प्रशस्त मानी गई है। तथा स्वयं प्रभादि उत्तर दिशा सम्बन्धी तीर्थंकरों की भक्ति के उद्देश्य से उत्तर दिशा भी शुभ कार्य में प्रशस्त मानी है। क्षपक के समाधिमरण की भावना रूप कार्य भी अत्यन्त शुभ है, इसलिए उसकी सिद्धि के निमित्त पूर्व दिशा और उत्तर दिशा में ही संस्तर का मस्तक भाग रखने के लिए आगम में उपदेश दिया गया है।

(१) पृथ्वी-संस्तर—भूमि रूप संस्तर वही हो सकता है जिस पृथ्वी में निम्नोक्त विशेषताएं पाई जावें :—

"निर्जंतुका घना गुप्ता समाऽमृद्वि सुनिर्मला।
अनार्द्रा स्वप्रमाणा च सोद्योता मंस्तरोधरा ॥ १ ॥"

जिस भूमि में उद्देही आदि जन्तु न हों, दृढ़ हो, अप्रकट हो, सम हो, मृदु न हो, निर्मल हो, भीगी न हो, क्षपक के शरीर के प्रमाण हो, प्रकाश सहित हो ऐसी भूमि संस्तर के लिए उपयोगी होती है। भूमि में यदि उद्देही आदि जन्तुओं की उत्पत्ति की योग्यता होगी तो सन्यास के समय उद्देही आदि निकलने लगेंगी तब क्षपक को काटेंगी, उससे उसको असमाधि उत्पन्न होगी, सुख शान्ति का भंग होगा, तथा उन जन्तुओं की विराधना होने से असंयम होगा, अतः संस्तर के योग्य भूमि निर्जंतुक होनी चाहिए। जो भूमि घन (दृढ़) न होगी, वह शरीर के भार से दबेगी, तब भूमि के भीतर के जीवों को बाधा होगी। तथा वह ऊँची नीची हो जाने के कारण क्षपक के शरीर को कष्ट होगा। इसलिए भूमि घन (दृढ़) होना आवश्यक है। यदि भूमि गुप्त (अप्रकट) न होगी, अर्थात् प्रकट होगी तो मिथ्यादृष्टि मनुष्यों का संसर्ग होता रहने से क्षपक के भावों में अविशुद्धि की सम्भावना रहेगी; इसलिए क्षपक के संस्तर योग्य भूमि गुप्त (अप्रकट) होनी चाहिए। जो सम नहीं होगी, ऊँची नीची होगी तो क्षपक के शरीर को बाधा पहुँचेगी। मृदु भूमि क्षपक के शरीर हाथ पांव आदि से बाधित होगी।

जो भूमि निर्मल न होगी अर्थात् छेद छिद्र और प्राणियों के बिलों सहित होगी तो छिद्रो मे प्रविष्ट हुए तथा उनसे निकले हुए जीव जन्तुओं को बाधा पहुचने से प्राणि संयम की विराधना होगी। भूमि यदि जल से भीगी होगी तो जल काय के जीवों को पीड़ा होगी; इसलिए भूमि सूखी होनी चाहिए। भूमि क्षपक के शरीर के बराबर होनी चाहिए। यदि शरीर प्रमाण से अधिक होगी तो प्रति लेखनादि का व्यासंग अधिक करना पड़ेगा। प्रमाण से न्यून होगी तो शरीर को सुकोड़ना पड़ेगा। प्रकाश रहित या अल्प प्रकाश वाली भूमि में जीव जन्तु दिखाई न देने पर प्राणि सयम की रक्षा कैसे हो सकेगी। इसलिए उक्त गुण वाली भूमि ही क्षपक के सस्तर योग्य होती है।

(२) शिलामय सस्तर—जो पत्थर की शिला, अग्नि से तप कर प्रासुक होगई हो, या टाकी से चारो ओर से उकेरी गई हो अथवा घिसी गई हो वह प्रासुक शिला सस्तर के योग्य होती है। वह शिला टूटी फूटी न होनी चाहिए। निश्चल तथा चारों ओर से पाषाण मत्कुण (खटमल) आदि के सम्पर्क से रहित और समतल एवं प्रकाश युक्त होनी चाहिए।

(३) काष्ठमय सस्तर—जो काष्ठ का फलक (तख्ता) अखड एक है, आदमी के लेटने योग्य चौडा तथा हलका है-अर्थात् जिसको उठाने लाने रखने में अधिक परिश्रम न करना पड़े ऐसा है, भूमि पर चारों तरफ से लगा हुआ है, अच्छा चिकना और छेद-दरारो से रहित है, जिस पर शयन करने या बैठने पर चूचा आदि शब्द नहीं होता है-ऐसा पुरुष प्रमाण निर्जन्तुक स्वच्छ काठ का तख्ता साधु के सस्तर के योग्य माना गया है।

(४) तृण संस्तर—क्षपक के लिए तृण का संस्तर वही प्रशस्त होता है, जो गाठ रहित तृण से बनाया गया हो, अन्तर रहित एक से लम्बे तृणो से जिसकी रचना की गई है। जिन तृणों से सस्तर बनाया जावे वे पोले न हो किन्तु ठोस हों। मृदु स्पर्श सहित तथा निर्जन्तुक हों जिस पर सोने से क्षपक को सुख मिले और शरीर मे खुजली आदि का क्लेश न हो। ऐसे तृण का सस्तर क्षपक के लिए योग्य माना गया है।

उक्त चारो प्रकार के सस्तरों मे निम्नोक्त गुण अवश्य होने चाहिए।

किसी भी प्रकार का सस्तर हो, वह यथोचित प्रमाण वाला हो। न तो अधिक छोटा हो और न अधिक बडा हो। सूर्योदय के समय व सूर्यास्त के समय दोनो वेला मे प्रति लेखन से शुद्ध किया जाता हो। अर्थात् देख शोध कर जिसका भली भाति प्रमार्जन किया जाता है। शास्त्र कथित विधि से जिसकी रचना की गई हो। ऐसा गुण विशिष्ट सस्तर क्षपक के योग्य होता है।

क्षपक अपना आतमा निर्यापकाचार्य को सौंप कर—उसका शरण मानकर—उक्त प्रकार के शास्त्र सम्मत संस्तर पर आरोहण करता है और विधि पूर्वक सल्लेखना का आचरण करना प्रारम्भ करता है।

सल्लेखना दो प्रकार की होती है। बाह्य सल्लेखना और आभ्यन्तर सल्लेखना। अथवा द्रव्य सल्लेखना और भाव सल्लेखना।

बाह्य सल्लेखना अथवा द्रव्य सल्लेखना–आहार का विधि पूर्वक त्याग करके शरीर कृश करने को बाह्य या द्रव्य सल्लेखना कहते हैं।

आभ्यन्तर या भाव सल्लेखना—सम्यक्त्व तथा क्षमादि भावना से मिथ्यात्व तथा क्रोधादि कषायों के कृश करने को आभ्यन्तर या भाव सल्लेखना कहते हैं।

इस प्रकार वसतिका और संस्तर का विवेचन पूर्ण हुआ।

वैयावृत्य–कुशल सहायक मुनि कैसे होने चाहिए ?

जिस समाधि के आराधक क्षपक ने समाधि के साधनों का भली भांति अभ्यास कर लिया है तथा जो आगमोक्त वसतिका में विधि पूर्वक संस्तर पर आरूढ़ होगया है, उसकी समाधि विधि को सफल बनाने के लिए निर्यापकाचार्य अड़तालीस सहायक (वैयावृत्य करने वाले) मुनियों की योजना करते हैं। वे वैयावृत्य कुशल सहायक मुनि कैसे होने चाहिए। उनका स्वरूप दिखाते हैं—

पियधम्मा दढ़धम्मा संवेगावज्जभीरुणो धीरा।
छंदण्हू पच्चइया पच्चक्खाणम्मि य विदण्हू ॥ ६४७ ॥
कप्पाकप्पे कुसला समाधिकरणुज्जदा सुदरहस्सा।
गीदत्था भयवंता अडदालीसं तु णिज्जवया ॥ ६४८ ॥ भग. आ.

अर्थ—जिनके साथ क्षपक को अहर्निश घनिष्ठ सम्पर्क में रहना है, क्षपक के जीवन का बनना व बिगड़ना जिनके आश्रित है वे साधु कैसे होने चाहिए–उनके विषय में बतलाते हैं कि वे धर्म-प्रिय होने चाहिए। क्योंकि जिनको स्वयं चारित्र-धर्म प्यारा नहीं होगा वे क्षपक को अशक्त अवस्था में चारित्र में प्रवृत्ति करने के लिए उत्साहित कैसे कर सकेंगे ? इसलिए आचार्य चारित्र प्रेमी साधुओं को क्षपक की सेवा के लिए चुनते हैं। सम्यग्दृष्टि होने के कारण साधु चारित्र प्रेमी तो हैं, लेकिन चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से जो स्थिर चारित्र वाले नहीं हैं, वे क्षपक को चारित्र में सुस्थिर कैसे कर सकते हैं, इसलिए आचार्य धर्म प्रेमी साधुओं में से भी दृढ़ चारित्र वाले मुनियों को क्षपक की सेवा में नियुक्त करते हैं। जो पाप से नहीं डरते हैं, वे असंयम का त्याग नहीं कर सकते हैं, इसलिए जिनके हृदय में चतुर्गति में भ्रमण करने का तथा पापाचरण का भय सदा विद्यमान रहता है, वे ही चारित्र को दृढ़ता से धारण करने में दत्तचित्त रहते हैं। धैर्य धारक मुनि परिषह के

आने पर अपने धर्म से कभी विचलित न होते हैं। अत: धीर मुनि सेवा के कार्य मे निपुण होते हैं। वैयावृत्त्य करने वाले मुनि क्षपक के अभिप्राय को उसकी चेष्टादि से जान सकने वाले होने चाहिए। जो शरीर की चेष्टादि से क्षपक के अभिप्राय का ज्ञान करने मे कुशल नहीं होते हैं, वे उसका भला नहीं कर सकते। इसलिए अभिप्राय के ज्ञाता साधु सेवा कार्य मे नियुक्त किये जाते हैं। तथा जिन्होंने पहले भी वैयावृत्य कार्य मे निपुणता प्राप्त की है तथा जो साकार और निराकार प्रत्याख्यान के क्रम के ज्ञाता होते हैं वे परिचारक होते हैं। तथा जो अनुभवी साधु क्षपक के योग्य तथा अयोग्य आहार पान के ज्ञाता होते हैं वे ही क्षपक को उचित आहार पान मे प्रवृत्त कर सकते और अनुचित भोजन पान से निवृत्त कर सकते हैं। परिचारक प्रायश्चित शास्त्र के सन्यासी आगम रहस्य के वेत्ता तथा स्व और पर का उद्धार करने मे दक्ष होने चाहिए। उक्त गुणों से अलकृत परिचारक साधु एक क्षपक की वैयावृत्त्य के लिए अडतालीस होते हैं।

प्रश्न—परिचारक मुनि क्षपक की क्या २ सेवा करते हैं। किस २ परिचर्या के लिए कितने २ मुनि नियुक्त किये जाते हैं ? इसका विवेचन कर स्पष्ट खुलासा करने की कृपा करें ?

आमासणपरिमासणचंकमणासयण णिसीदणे ठाणे।
उव्वत्तणपरियत्तणपसारणा उटणादीसु ॥ ६४९ ॥
सजदक्रमेण खवयस्स देहकिरियासु णिच्चमाउत्ता।
चदुरो समाधिकामा आलग्गता पडिचरंति ॥ ६५० ॥ (भग आ.)

अर्थ—शरीर के एक देश के स्पर्श करने को आमर्श कहते हैं। सम्पूर्ण शरीर के स्पश करने को परिमर्शन कहते हैं। क्षपक की सेवा के लिए इधर उधर गमन करने को चक्रमण कहते हैं। क्षपक को सस्तर पर सुलाना, आवश्यकता पडने पर उसे हस्तादि की सहायता देकर वैठाना उठाना, एक करवट से दूसरी करवट लेटाना, उसके हाथ पाव सकोचना, पसारना इत्यादि सेवा करते समय परिचारक मुनि मन वचन काय द्वारा सावधानी से मुनि मार्ग की रक्षा करते हुए क्षपक के शरीर और अन्त करण की समाधि (सुख शान्ति) का पूरा २ ध्यान रखते हैं।

भावार्थ—परिचारक मुनियों की मनोवृत्ति क्षपक के अन्त:करण के समाधान मे लगी रहती है। जब क्षपक के हस्त पादादि किसी अवयव मे पीड़ा का अनुभव होता है, तत्काल उस अवयव का कोमल स्पर्श द्वारा उसको दबाने सुलसुलाने लगते हैं। जब सम्पूर्ण शरीर में वेदना होने लगती है तब यथायोग्य रीति से उसके सुख का पूरा ध्यान रखते हुए शरीर का शनैः शनैः मर्दनादि करने मे तत्पर

रहते हैं। जब क्षपक को बैठे रहने की इच्छा होती है, तब उसे सावधानी से उठाकर बैठाते हैं। उसके इंगित (इशारे) से सोने की अभिलाषा जानकर आराम से सुलाते हैं। खडे होने का अभिप्राय जानकर शीघ्रता से खडा करते हैं। इधर उधर थोडा चलने की इच्छा होने पर उसे हस्तावलम्बन देकर घुमाते हैं। उसकी सेवा के लिए परिचारक साधुओ को इधर उधर जाना पडता है तो तत्काल निरलस होकर गमन करते हैं तात्पर्य यह है कि जिस समय (रात्रि मे या दिन मे) जिस परिचर्या की आवश्यकता प्रतीत होती है, उसी समय परिचर्या करने मे वे परिचारक साधु क्षण भर का भी विलम्ब नहीं करते हैं। अपने मन वचन और काय को क्षपक की परिचर्या में सावधानी से लगाये रहते हैं। सब परिचर्या को करते हुए क्षपक के और अपने सयम की रक्षा का पूर्ण ध्यान रखते हैं। इस प्रकार चार परिचारक मुनि क्षपक की शरीर सम्बन्धी परिचर्या मे तन्मय रहते हैं।

चार मुनीश्वर विकथाओं का त्याग कर धर्म कथा कहकर क्षपक के अन्त करण को धर्म भावना में दत्तचित्त रखते हैं।

प्रश्न—क्षपक के सम्मुख कौन २ सी विकथाएँ नहीं की जाती हैं ?

उत्तर—जिन कथाओ को सुनकर क्षपक के चित्त में धर्म भावना नष्ट होकर आर्तरौद्रध्यान उत्पन्न होते हैं, उनको विकथा कहते हैं। जैसे-चार प्रकार के आहार का वर्णन करना आहार कथा है। स्त्रियो के सौन्दर्यादि का निरूपण करने वाली कथा स्त्री कथा है। राजाओ के वैभवादि का वर्णन करना राज कथा है। नाना प्रकार के देशो का वर्णन करने वाली वार्ता को देश कथा कहते हैं। काम विकार से उन्मत्त होकर हास्य मिश्रित असभ्य भण्ड वचन उच्चारण करने को कंदर्प कथा कहते हैं। वांस के ऊपर रस्सी के ऊपर चढ़कर खेल करने नृत्य करने वाले गान वादित्रादि शृंगार रसादि का विवेचन करनेवाली सब कुकथाएँ हैं। वे स । आत्मा के स्वरूप चिन्तन मे बाधा पहुँचाने वाली होती हैं। इसलिए इनका त्याग कर चार मुनीश्वर क्षपक को उचित समय पर सर्वदा धर्म कथाओ का उपदेश देते रहते हैं।

प्रश्न—धर्म कथाओ का श्रवण कराने वाले मुनीश्वर क्षपक को किस प्रकार धर्मोपदेश देते हैं ?

उत्तर—जिस समय जैसे धर्मोपदेश की आवश्यकता प्रतीत करते हैं, वे धर्मोपदेशक मुनिराज उस समय वैसा ही मधुर स्निग्ध और हृदयगम हितकारक धर्मोपदेश विचित्र २ कथाओ द्वारा देते हैं जिससे क्षपक का अन्तःकरण उस उपदेश को शीघ्र ग्रहण कर लेता है।

जिनमे वाक्पटुता होती है तथा जिनका वचनोच्चारण अत्यन्त स्पष्ट और गम्भीरता पूर्ण होता है, ऐसे ही वाग्मी चार मुनि धर्म कथाओ द्वारा क्षपक को धर्मोपदेश देते हैं।

सं. प्र.

वे मुनि जब धर्मोपदेश देते हैं, उस समय जिस अभिप्राय का विवेचन करना चाहते हैं उसी अभिप्राय को स्पष्ट करने वाले उनके शब्द निकलते हैं। उन शब्दो से कभी विपरीत अर्थ का भास नहीं होता है। एक ही शब्द का वे दो तीन बार उच्चारण नहीं करते हैं। उनके सब वचन असदिग्ध और प्रत्यक्षादि प्रमाण से अविरुद्ध निकलते हैं। उनका भाषण न तो अतिमन्द स्वर मे होता है और न अति उच्च स्वर मे ही होता है, किन्तु वे मध्यम स्वर मे ही भाषण करते हैं। वे अति शीघ्र नहीं बोलते और न रुक रुक कर ही उच्चारण करते हैं। अपितु मध्यम पद्धति से इस प्रकार शब्दों का शृ खलाबद्ध क्रम से उच्चारण करते हैं जिनको सुनकर श्रोताओ को अर्थ का स्पष्ट भास होता जाताहै। उनका भाषण कर्ण-मधुर, मिथ्यात्व से हीन (सम्यक्त्व का पोषक) तथा सार्थक होता है। उनके भाषण मे पुनरुक्ति दोष नहीं होता है।

प्रश्न—सस्तरारूढ क्षपक को कौनसी कथा धर्मोपदेशक मुनि श्रवण कराते हैं।कौनसी कथा उसके लिए हितकारिणी हो सकती है?

उत्तर—जो कथा क्षपक के अन्तःकरण मे उत्पन्न हुए अशुभ परिणामों का निवारण कर सवेग और वैराग्य को दृढ़ करने वाली हो वही कथा क्षपक के लिए हितकारिणी हो सकती है। वही कहा है—

आक्खेवणी य संवेगणी य णिव्वेयणी य खवयस्स ।
पाओग्गा होंति कहा ण कहा विक्खेवणी जोग्गा ॥ ६५५ ॥ [भग. आ.]

अर्थात्—कथाएँ चार प्रकार की होती हैं। १. आक्षेपणी, २ विक्षेपणी, ३ सवेजनी और ४. निर्वेजनी। उनमे से विक्षेपणी को छोडकर शेष तीन कथाएँ क्षपक के योग्य होती हैं।

प्रश्न—आक्षेपणी कथा किसे कहते हैं? उसका स्वरूप सप्रमाण समझाने का अनुग्रह कीजिए।

उत्तर—आक्षेपणी व विक्षेपणी कथा का स्वरूप निम्न प्रकार है—

आक्खेवणी कहा सा विज्जाचरणमुवदिस्सदे जत्थ ।
ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेवणी णाम ॥ ६५६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—जिसमे विद्या (सम्यग्ज्ञान) और चरण (सम्यक् चारित्र) का विवेचन किया जाता है उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं। तथा स्व सिद्धान्त और पर सिद्धान्त का निरूपण करने वाली कथा को विक्षेपणी कथा कहते हैं।

भावार्थ—मति,श्रुत, अवधि,मनःपर्यय और, केवल ज्ञान के स्वरूप,लक्षण और भेदों का वर्णन जिस कथा में किया गया हो तथा सामायिक, छेदोपस्थापना,परिहार-विशुद्धि,सूक्ष्म-साम्पराय और यथाख्यात इन पाच प्रकार के चारित्र का अथवा अहिंसादि पांच महाव्रत, ईर्या भाषादि पाच समिति और मनोगुप्ति आदि तीन गुप्ति इस प्रकार तेरह प्रकार के चारित्र का स्वरूप विवेचन जिसमें होता है उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं।

जीवादि पदार्थ सर्वथा नित्य ही है, या सर्वथा क्षणिक ही है। सन्मात्र तत्त्व है,या विज्ञान मात्र तत्त्व है,या सर्व शून्य ही तत्त्व है इत्यादि पर(अन्य मत के) सिद्धान्तों को पूर्व पक्ष मे लेकर इन तत्त्वों मे प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण से विरोध दिखाकर कथचित् नित्य, कथचित् अनित्य,कथचित एक और कथचिद् अनेक तत्त्व रूप अपने सिद्धान्तों का समर्थन जिसमे किया जाता है उसे विक्षेपणी कथा कहते हैं।

प्रश्न—सवेजनी और निर्वेजनी कथा किसे कहते हैं ? उनका स्वरूप दिखाने की कृपा करें।

उत्तर—उनका स्वरूप वर्णन करने के लिए निम्न गाथा उद्धृत करते हैं।

सवेयणी पुण कहा णाणचरित्ततववीरिय इड्ढिगदा।
णिव्वेयणी पुण कहा सरीरभोगे भवोघे य ॥ ६५७ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—ज्ञान का अभ्यास, चारित्र का पालन और तपश्चरण का आराधन करने से आत्मा में जो जो दिव्य शक्तियां प्रकट होती हैं उनका स्पष्टता से विवेचन करने वाली कथा को सवेजनी कथा कहते हैं। शरीर भोग और जन्म परम्परा से वैराग्य उत्पन्न करने वाली कथा को निर्वेजनी कथा कहते हैं। यह शरीर अशुचि है, क्योंकि यह रस रक्त मास चर्बी हड्डी मज्जा और शुक्र इन सप्त धातुओं से पूरित है। यह शरीर और भोग सामग्री सर्वदा आत्मा को क्लेश का कारण होती है। देव पर्याय व मनुष्य पर्याय ये दोनों उत्तम मानी गई हैं। उन दोनों मे भी मनुष्य जन्म अति दुर्लभ व श्रेष्ठ कहा गया है, क्योंकि इनसे ही संयम और तप की आराधना हो सकती है। इस प्रकार का निरूपण जिस कथा मे होता है उसे निर्वेजनी कथा कहते हैं।

प्रश्न—क्षपक के लिए विक्षेपणी कथा का निषेध क्यों किया गया है ? स्व मत का समर्थन और पर मत का निकर्त्तन (खंडन) सुनने से तो धर्म मे श्रद्धा दृढ होती है और जिन-कथित चारित्र पालन करने मे उत्साह की वृद्धि होती है। क्षपक के लिए उसका श्रवण क्यो मना किया गया है ?

उत्तर—संस्तरारूढ क्षपक का जीवन किनारे आ लगा है। उस समय उसकी आत्मा मे राग द्वेष का अभाव होना आवश्यक है। क्रोधादि का त्याग और क्षमादि धर्म मे परिणाम तन्मय होना ही परम हितकर है। यदि ऐसे समय मे उसके सामने स्वसिद्धान्त की सिद्धि और परमत मे प्रत्यक्षादि विरोध दिखाकर खडन मडन का प्रसङ्ग छेड़ा गया और उसका चित्त उसमे तन्मय होगया और इतने मे ही कदाचित् उसकी आयु का अन्त हो गया तो उसके अन्त करणमे क्रोधादि कपाय का प्रादुर्भाव और रागद्वेप की जागृति हो जाने मे उसका सामधिमरण बिगड जावेगा। और यह भी हो सकता है कि वह खडन मंडन में व्यामुग्ध होकर पूर्व पक्ष को ही सत्य मान बैठे; क्योंकि उस समय बुद्धि अस्थिर होती है।

शङ्का—मन्द बुद्धि क्षपक के लिए विक्षेपणी कथा अनुपयोगिनी है, किन्तु तीव्र बुद्धि बहुश्रुत क्षपक के लिए तो उपयोगिनी हो सकती है?

समाधान—विक्षेपणी कथा से आत्मा मे राग द्वेष की उत्पत्ति होने से सस्तरारूढ़ क्षपक के लिए उसका (विक्षेपणी) आचार्यों ने सर्वथा निषेध किया है क्योंकि यह कथा समाधिमरण की बाधक होती है। इसलिए जो कथा समाधिमरण की साधक होती है उनका उपदेश क्षपक के रत्नत्रय आराधना का साधक होता है। शास्त्र मे कहा है।

अब्भुज्जदंमि मरणे संथारत्थस्स चरमवेलाए।
तिविहं पि कहंति कहं तिदंडपरिमोडया तम्हा ॥ ६६० ॥ [भग आ]

अर्थ—अशुभ मन वचन काय का निवारण करने मे लगे हुए आचार्य क्षपक की मृत्यु के सन्निकट समय मे आक्षेपणी, सवेजनी और निर्वेजनी इन तीन कथाओं का ही उपदेश देते हैं। विक्षेपणी कथा का कथन ऐसे समय में अनुचित मानते हैं। अतएव धर्मोपदेश के कार्य मे नियुक्त किये गये मुनीश्वर उक्त तीन कथाओ का मनोज्ञ एव हृदयस्पर्शी इस प्रकार निरूपण करते हैं जिनको सुनकर क्षुधा रोगादि की पीड़ा को भूल कर क्षपक का चित्त रत्नत्रय की आराधना मे तत्पर रहता है।

चार मुनीश्वर क्षपक की आहार विषयक योजना करने मे नियुक्त किये जाते हैं। यथा —

चत्तारि जणा भत्तं उवकप्पेंति अगिलाए पाओग्गं।
छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ॥ ६६२ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—लब्धि सम्पन्न तथा मायाचार रहित और जिन्होंने ग्लानि पर विजय प्राप्त कर लिया है ऐसे चार मुनीश्वर क्षपक के योग्य उद्गमादि दोष रहित भोजन की उप कल्पना करते हैं।

भगवती आराधना की अपराजित सूरिकृत विजयोदया संस्कृत टीका तथा श्री प आशाधरजी कृत मूलाराधना संस्कृत टीका इन दोनों मे 'उवकप्पेंति' गाथा निर्दिष्ट पद का अर्थ 'आनयन्ति' किया है। इन दो टीकाओं के अतिरिक्त एक प्राचीन प्राकृत टीका और भी प्रतीत होती है। उक्त टीकाओं मे कई जगह इस प्राकृत टीका का मत उद्धरणों सहित दिया गया है। वह टीका हमको उपलब्ध नहीं हुई है। उसमें इसका क्या अर्थ किया गया है यह अनिश्चय की गोद मे है। किन्तु भगवती आराधना मूल मे भी क्षपक के लिए भोजन लाने का कई गाथाओं मे उल्लेख है। वह आगे दिया गया है।

भगवती आराधना के अतिरिक्त समाधिमरण का सविस्तर वर्णन करने वाला कोई संस्कृत या प्राकृत का प्राचीन ग्रन्थ हमको उपलब्ध नहीं हुआ है। इसलिए इसके विषय मे अन्य आचार्यों का क्या अभिमत है इस विषय मे लिखने के लिए हम असमर्थ हैं। आचार्य परम्परा का क्या सम्प्रदाय है? यह सन्देहापन्न है।

दिगम्बर साधु संस्था की अयाचक-वृत्ति होती है। वे आहारादि वस्तु अपने या दूसरे के लिए कभी नहीं मागते हैं। दूसरी बात यह है कि उनके पास पिच्छी कमण्डलु और ज्ञानोपकरण पुस्तकादि के अतिरिक्त कोई पात्रादि नहीं रहते हैं। वे मुनीश्वर क्षपक के लिए आहार पान के पदार्थ किस पात्र मे लाते होंगे। यदि गृहस्थ के यहा से पात्र भी माग कर लाते हैं तो तावे पीतल आदि पात्र का ग्रहण करना उनके पद के अनुकूल नहीं है। इसमे सपरिग्रहता का दूषण आता है। पात्र मे भोजन लाकर क्षपक को मुनि आहार कराते हैं। उस आहार का ग्रहण करने वाले क्षपक के उद्दिष्टादि दोष युक्त आहार होता है। मुनि का आहार गृहस्थ के घर नवधा भक्ति से युक्त दाता के द्वारा दिया हुआ होना चाहिए। यह सामान्य नियम सब मुनियो के लिए आवश्यक विधान है। उसका पालन नहीं होता है। परिचारक मुनीश्वरो के द्वारा लाया हुआ आहार आधाकर्मादि से दूषित है या उद्गम उत्पादना एषणादि दोषो से दूषित है इसका संस्तरारूढ क्षपक को क्या ज्ञान हो सकता है? परिचारक मुनि उद्दिष्ट उद्गमादि दोष रहित आहार लेकर क्षपक के पास लेजावेंगे, किन्तु क्षपक के लिए उद्दिष्ट उद्गमादि दोषों का निवारण कैसे हो सकेगा? इत्यादि अनेक शकाएँ एक के बाद एक उठती रहती हैं। उनका समाधान करने वाला कोई ऋषि प्रणीत ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है। इसलिए हमने भगवती आराधना मूल और उसकी उपलब्ध दोनो संस्कृत टीकाओं का आधार लेकर इस विषय का प्रतिपादन किया है। इस विषय के विशेषज्ञ विद्वान् त्रुटि का संशोधन कर पढने की कृपा करें।

सं प्र.

भगवती आराधना की टीकाओं का उद्धरण

विजयोदयाटीका—चत्तारि जणा चत्वारो यतय.। भत्त-अशन। पाउग्ग प्रायोग्य उद्गमादि दोषानुपहतं। उवकप्पेंति आनयन्ति। अगिलाए ग्लानिमन्तरेण, कियन्तं कालमानयाम इति सक्लेश विना। छंदिय क्षपकेण इष्ट अशन पान वा क्षुत्पिपासापरीषहप्रशान्तिकरणक्षममिष्येतावता तेनेष्ट न तु लौल्यात्। अवगददोस वातपित्तश्लेष्मणामजनकं। क आनयन्ति ? अमाइणो मायारहिताः अयोग्यमिति ये नानयन्ति। लद्धिसपण्णा मोहान्तरायक्षयोपशमाद्भिक्षालब्धिसमन्विताः। अलब्धिमान्क्षपकं क्लेशयति। मायावी अयोग्य योग्यमिति कथयेत्।

पं. आशाधरजी कृत मूलाराधना संस्कृत टीका—

चत्वारस्तदर्थं समुचितमशनं उपनयन्तीत्यनुशास्ति—

उवकप्पेंति आनयन्ति। अगिलाए ग्लानिं विना कियन्त कालमानयामइति सक्लेश विना। छंदियं भक्तपान क्षुत्पिपासादुःखमसमाधिकर निराकरोतीत्येतावतैव क्षपकेणेष्टं। अवगददोष वातपित्तश्लेष्मणामजनक प्रशमक च उद्गमादि दोपरहित वा। अमाइणो अयोग्य योग्यमिदमिति प्रतारणरहिताः लाभान्तरायक्षयोपशमाद्भिक्षालब्धिसमन्विता। तयैव क्षपकस्यासक्लेशनात्॥

इनका अर्थ निम्न प्रकार है—

परिचर्या के लिए नियत किये गये चार मुनीश्वर 'कितने काल तक हम आहार लाया करेंगे' इस प्रकार की ग्लानि (संक्लेश) से रहित होकर उद्गमादि दोष रहित भोजन के वे पदार्थ क्षपक के लिए लाते हैं, जिनको क्षपक चाहता है। क्षपक भी आहार की लोलुपता नहीं रखता है। किन्तु वह भी उन्हीं पदार्थों की इच्छा करता है, जो पदार्थ उसकी भूख प्यास परिषह को शात करने मे समर्थ होते हैं। परिचारक मुनियो के अन्त करण मायाचार रहित होते हैं। वे अयोग्य को योग्य कहकर क्षपक के प्रति कभी छल कपट का व्यवहार नहीं करते हैं। वे जो पदार्थ लाते हैं वे पदार्थ क्षपक के वात पित्त और कफ की वृद्धि नही करते, किन्तु उनकी शान्ति करने वाले होते हैं। तथा वे उद्गमादि दोष से रहित होते हैं। आचार्य उन्हीं मुनिराजो को आहार के लिए नियुक्त करते हैं जिनको मोहनीय कर्म और अन्तराय कर्म के क्षयोपशम विशेष रूप लब्धि प्राप्त होती है। क्योकि जिनके उक्त भोजन लब्धि प्राप्त नहीं हुई है उन परिचारकों से क्षपक को सक्लेश उत्पन्न होता है।

आचार्य अमितगति ने भगवती आराधना की प्रत्येक गाथा का अर्थ प्रतिपादन करने वाले संस्कृत पद्य तथा गद्य दिये हैं। उनने भी उक्त गाथा का अर्थ प्रतिपादन करने वाला निम्न लिखित श्लोक दिया है।

तस्यानयन्ति चत्वारो योग्यमाहारमश्रमाः।
निर्माना लब्धिसम्पन्नास्तदिष्टं गतदूषणम् ॥ ६८८ ॥ [स. भग. आ.]

अर्थ—परिचारक चार मुनिराज क्षपक के योग्य आहार लाते हैं। वे आहार के लाने मे श्रम की परवा नहीं करते हैं। वे निरभिमान और भोजन लब्धि से सम्पन्न होते हैं। आहार भी वही लाते हैं जो क्षपक को अभीष्ट होता है और सब दूषणो से रहित होता है।

चार मुनिराज पीने योग्य पदार्थ के लिए नियुक्त किये जाते हैं।

चत्तारि जणा पाणयमुवकप्पंति अगिलाए पाओग्गं।
छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ६६३ ॥ [भग. आ]

अर्थ—मायाचार रहित और भोजन पान लब्धि से सम्पन्न चार मुनिराज श्रम रहित होकर क्षपक के इष्ट उद्गमादि दोष रहित तथा क्षपक की प्रकृति के योग्य पीने योग्य पदार्थों की उपकल्पना करते हैं अर्थात् लाते हैं।

इसकी दोनो की सस्कृत टीकाए नीचे उद्धृत करते हैं—

विजयोदया—चत्तारि जणा इति स्पष्टार्था गाथा–सूरिणा अनुज्ञातौ निवेदितात्मानौ द्वौ द्वौ पृथग्भक्तं पृथक् पानं चानयतः॥

(अपराजित सूरिः)

मूलाराधना—चत्वारः क्षपकाय पानमानयन्तीत्याह—

मूलाराधना—स्पष्टम्।

टीकार्थ—आचार्य के आदेश से क्षपक के लिए पृथक् दो साधु भोजन और दो साधु पृथक् पीने योग्य पदार्थ लाते हैं।

चार मुनि लाये हुए भोजन पान के पदार्थों की रक्षा करते हैं

चत्तारि जणा रक्खंति दवियमुवकप्पियं तयं तेहिं।
अगिलाए अप्पमत्ता खवयस्स समाधिमिच्छंति ॥ ६६४ ॥ [भग. आ.]

..नं नयन्ति चत्वारो द्रव्य तदुपकल्पितम् ।
अप्रमत्ताः समाधानमिच्छन्तस्तस्य विश्रमाः ॥ ६८६ ॥ [अमितगति]

अर्थ—क्षपक के लिए लाये हुए भोजन पान के पदार्थों की चार मुनि प्रमाद रहित हुए रक्षा करते हैं। वे बड़ी सावधानी से इस का ध्यान रखते हैं कि उनमे ऊपर से त्रस जीव न गिर जावें तथा दूसरे उन पदार्थों को गिरा न सकें।

विजयोदया—तैरानीत भक्त पान वा चत्वारो रक्षन्ति प्रमाद रहिता. त्रसा यथा न प्रविशन्ति। यथा वापरे न पातयन्ति ॥

मूलाराधना—चत्वारस्तद्भक्तपान तरा रक्षन्तीत्याह। रक्षति यथा त्रसादयो न पतन्ति परे वा न पातयन्तीत्यर्थः। दविय द्रव्य। उवकप्पिय आनीत। तय भक्तपान वा ॥

इनका अर्थ स्पष्ट है। मूल अर्थ से विशेष अर्थ न होने से इनका भिन्न अर्थ नहीं लिखा गया है।

नोट—शास्त्रो मे नियम दो प्रकार का बताया गया है। एक उत्सर्ग और दूसरा अपवाद। साधुओं के लिए आगम में उक्त दो प्रकार के नियम का वर्णन स्थान २ पर मिलता है। साधु के २८ मूल गुण का पालन करना साधु के लिए परमावश्यक माना गया है। यह उत्सर्ग मार्ग है। इन गुणों का अस्तित्व जिसमे नहीं पाया जाता है वह मुनि नहीं कहा जा सकता है। किन्तु २८ मूल गुणो के धारक तथा आगम के अनुकूल चारित्रादि के पालन करने वाले साधु को भी समाधिमरण करने वाले साधु का वैयावृत्त्य करने के लिए भगवती आराधना मूल तथा उसकी सस्कृत टीकाओ मे क्षपक के लिए भोजन पानादि उचित पदार्थों के लाने के लिए जो विशेष विधान किया गया है वह अपवादमार्ग है। उत्सर्ग मार्ग का सर्वदा और सर्वत्र पालन करने की आज्ञा है। अपवाद मार्ग का अमुक अवसर पर अमुक प्रकार आचरण करने को कहा गया है। यहा समाधिमरण का प्रकरण है। इस प्रकरण मे भगवती आराधना मे जो साधुओं को क्षपक के लिए भोजन पान सामग्री लाने का, तथा उसकी रक्षा करने का, एव क्षपक को बहुत समझाने बुझाने पर आहार दिखलाकर उसको सतोष प्राप्त कराने के अनेक उपाय करने पर भी जब उसके चित्त मे व्याकुलता की शान्ति नहीं होती हुई देखते हैं तब आचार्य की आज्ञा से उसे चित्त शान्ति के लिए भोजन पान का सेवन भी करने का जो यह निरूपण शिव कोटि आचार्य ने किया है वह सब अपवादमार्ग है। साधु लोग वैयावृत्त्य के लिए गृहस्थ के यहा से उचित पदार्थ ला सकते हैं। भगवती आराधना मे तो समाधिमरण प्रकरण मे स्थान २ पर क्षपक के वैयावृत्त्य के लिए उचित वस्तु लाने के लिए स्पष्ट शब्दो मे कहा है। यद्यपि गाथा न. ६६२ व ६६३ मे 'उवकप्पेंति' शब्द दिया है। तथापि उसका अर्थ टीकाओ में भोजन पान का लाना ही किया है। उस प्रकरण मे उक्त अर्थ ही सगत होता है। गाथा न ६८८ मे क्षपक को कुरले करवाने के लिए तैल

और कसायले पदार्थ गृहस्थ के यहा से 'घेतव्वा' ग्रहण करने चाहिए अर्थात् लाने चाहिए-ऐसा स्पष्ट शब्द दिया है।

मूलाचार की टीका में भी वैयावृत्त्य के निमित्त आहारादि की योजना करने मे निर्दोषता दिखाई है। इन सबका आशय यह है कि समाधिमरण के अवसर पर क्षपक की वैयावृत्त्य के लिए उचित भोजन पान व तैलादि औषध साधु गृहस्थ के घर से लाते हैं। यह अपवाद मार्ग है। वैयावृत्त्य के समय अपवाद मार्ग का आचरण करने के कारण परिचारक मुनियो को प्रायश्चित्त का आचरण करना पडता है।

चार मुनि क्षपक के मलमूत्रादि की प्रतिष्ठापना करते हैं तथा शय्यादि की प्रतिलेखना (प्रमार्जन) करते हैं।

काइयमादी सव्वं चत्तारि पडिट्ठवन्ति खवयस्स।
पडिलेहंति य उवधोकाले सेज्जुवधि संथार ॥ ६६५ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—चार मुनीश्वर क्षपक की विष्टा मूत्र कफ आदि का निर्जन्तु भूमि देखकर एकान्त मे क्षेपण करते हैं। तथा प्रातःकाल और सायकाल दोनो समय में क्षपक की शय्या पिच्छी कमण्डलु पुस्तकादि उपकरण का शोधन और प्रमार्जन करते हैं।

चार मुनि द्वारपाल का कार्य करते हैं तथा चार मुनि धर्म श्रवण मडप के द्वार पर रहते हैं।

खवगस्स घरदुवारं सारक्खंति जणा चत्तारि।
चत्तारि समोसरणदुवारं रक्खन्ति जदणाए ॥ ६६६ ॥ [भग.आ]

अर्थ—चार मुनिराज क्षपक की वसतिका के द्वार की यत्न पूर्वक रक्षा करते हैं। अर्थात् क्षपक के समीप असंयत मनुष्यों को जाने से रोकते हैं। चार मुनि धर्मोपदेश देने के सभा मण्डप के द्वार का रक्षण सावधानी से करते हैं।

भावार्थ—क्षपक पवित्रात्मा है। उसके दर्शन के निमित्त कई ग्राम व नगरों से नरनारी जन आते रहते हैं। यदि उनको रोकने वाला न हो तो वे क्षपक के समीप जाकर क्षपक के अन्तःकरण मे क्षोभ उत्पन्न कर देते है, इसलिए द्वार पर चार मुनिराजों को निर्यापकाचार्य नियुक्त करते हैं। वे उनको मधुर और शान्त वचन बोल कर आगे जाने से रोकते है। तथा किसी प्रकार का क्षोभ जनक वातावरण उत्पन्न न होने देते हैं। सदा क्षपक की समाधि का ध्यान रखते हुए वसतिका के द्वार पर बैठे हुए अपने कर्त्तव्य का भली भाति पालन करते रहते हैं।

आचार्य की आज्ञा बिना अतिरिक्त साधुओ के प्रवेश को भी रोकते हैं। न जाने वे अनुचित वार्तालाप करके या क्षपक के असुहाते वातावरण को उत्पन्न कर क्षपक के समाधान का भग कर बैठे, इसलिए उन्हें भी भीतर जाने का निषेध करते हैं।

जो चार मुनिराज सभा मडप के द्वार का रक्षण करते हैं, उनका कर्त्तव्य होता है कि वे आगन्तुक मनुष्यों के आकार, वाणी, वेषभूषादि से उनके स्वभाव को जानकर सभा मण्डप मे प्रवेश करने दें। जिनसे सभा में क्षोभ उत्पन्न होने की सम्भावना होती प्रतीत होती है, उनको वे वहीं रोक देते हैं, सभा मे भीतर नहीं जाने देते। यह सब कार्य वे प्रिय व मधुर वचनों द्वारा करते हैं।

चार मुनिराज रात्रि मे जागते हैं और देशादि की वार्त्ता जानने के लिए नियुक्त किये जाते हैं।

जिदणिद्दा तल्लिच्छा रादी जग्गंति तह य चत्तारि ॥
चत्तारि गवेसंति खु खेत्ते देसप्पवत्तीओ ॥ ६६७ ॥ [भग आ]

अर्थ—निद्रा पर विजय पाने की इच्छा रखने वाले क्षपक की सेवा में तत्पर चार मुनीश्वर क्षपक के निकट जागते रहते हैं। जहा क्षपक व सघ का वास है, उस देश राज्यादि की क्षेम कुशलतादि (शुभाशुभ) वार्ता का निरीक्षण करने के लिए चार मुनीश्वर आचार्य द्वारा नियुक्त किये जाते है।

चार मुनिराज आगत श्रोताओ को उपदेश देते हैं—

बाहिं असद्दवडियं कहंति चउरो चदुव्विधकहाओ।
ससमयपरसमयविदू परिसाए सा समोसदाए खु ॥ ६६८ ॥ [भग आ]

अर्थ—क्षपक के आवास स्थान से कुछ दूर पर जहा से शब्द क्षपक के कानों मे न पड़ सके वहां पर बैठकर स्वमत व परमत के रहस्य के वेत्ता चार मुनिराज सभामण्डप मे आये हुए श्रोताओ को आक्षेपणी, विक्षेपणी, सवेजनी और निर्वेदनी इन चार धर्मकथाओं का यथोचित व्याख्यान करते है।

भावार्थ—धर्म पिपासा से आगत धर्म-प्रिय जनता को धर्म श्रवण कराने के लिए आचार्य चार ऐसे मुनिराजों को नियुक्त करते हैं जिन्होंने अपने सिद्धान्त ग्रन्थों का तथा अन्य धर्म ग्रन्थो का भली भाति अनुशीलन किया है और जो अपने सिद्धान्तों का पोषण युक्ति

और अनेक शास्त्रों के प्रमाणों से कर सकते हैं। ऐसे वाग्मी चार साधु एक के पश्चात् एक सुललित और ओजस्विनी भाषा में धर्म का रहस्य समझाते हैं। जिसे सुनकर प्राणियों के हृदय में धर्म वासना जाग उठती है और श्रद्धालुओं के अन्तःकरण धर्म पर अत्यन्त दृढ़ हो जाते हैं। अनेक शुभ भावनाओं से पूरित हुए सन्तुष्ट होकर घर लौटते हैं।

उनकी स्वमत और परमत की विवेचनात्मक धर्म कथा को सुनकर जैनेतर धर्म वासित अन्तःकरण वाले मनुष्यों के हृदय भी सुसंस्कारित होकर कुसंस्कारों का त्याग करते हैं।

प्रश्न—यदि कोई मिथ्या अभिमान से उन्मत्त होकर सभा में वाद विवाद करने के लिए उद्यत हो जावे तो वे धर्मोपदेशक मुनिराज अपना धर्मोपदेश रोक कर उनके साथ वाद विवाद करने में प्रवृत्त होते हैं या धर्मोपदेश पूर्ण होने के पश्चात् उसको वाद विवाद करने का अवसर देते हैं ?

उत्तर—धर्मोपदेश के समय वाद विवाद करने का अवसर नहीं देते हैं, क्योंकि उस समय श्रोताओं के धर्म-श्रवण में बाधा होती है। धर्मोपदेश समाप्त होने के बाद उसे वाद विवाद का अवसर दिया जाता है।

वाद विवाद के लिए चार वाग्मी मुनियों को आचार्य नियुक्त करते हैं, उनका केवल प्रतिवादी से वाद करना ही मुख्य कार्य होता है।

वादी चत्तारि जणा सीहाणुग तह अणेयसत्थविदू।
धम्मकहयाण रक्खाहेदुं विहरंति परिसाए ॥ ६६६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—सिंह के समान निर्भीक अनेक शास्त्रों के मर्मज्ञ चार वाग्मी मुनिराज धर्मोपदेशक मुनिराजों की धर्मकथा का रक्षण करने के लिए सभा स्थान में इधर उधर विचरण करते हैं।

उक्त प्रकार महाप्रभावशाली अड़तालीस निर्यापक मुनीश्वर जी तोड़ प्रयत्न करके समाधिमरण करने में तत्पर हुए क्षपक की समाधि (सुख शान्ति) के अर्थ सेवा करने में एकाग्रचित्त रहते हैं।

प्रश्न- समाधिमरण कार्य का सम्पादन करने के लिए क्या समस्त काल में अड़तालीस परिचारक मुनियों का होना आवश्यक माना गया है। या भिन्न २ काल में परिस्थिति के अनुसार हीनाधिक परिचारक मुनिराजों के लिए भी आगम में विधान है ?

उत्तर—परिचारक मुनियो की संख्या मे काल के अनुसार हीनाधिकता हुआ करती है। भरत और ऐरावत क्षेत्र मे काल का परिवर्त्तन होता रहता है। और काल के प्रभाव से मनुष्यो के गुणो मे भी जघन्यता, मध्यमता और उत्कृष्टता होती है। जब उत्कृष्ट काल का वर्त्तन होता है, उस समय मे अड़तालीस निर्यापक मुनिराज क्षपक का समाधिमरण सम्पन्न कराने मे सहायता करते हैं। क्योंकि उस समय परिचारक मुनि भद्र परिणाम वाले अधिक होते हैं वे हर्ष पूर्वक क्षपक की सेवा मे सलग्न रहकर अपने को कृतार्थ समझते हैं। मध्यम काल के प्रारम्भ मे चवालीस मुनिराज क्षपक की सेवा मे नियुक्त रहते हैं। पश्चात् ज्यों ज्यो काल मे हीनता आती है, त्यों त्यों परिचारक मुनियों की सख्या अल्प होती जाती है। अर्थात् काल के अनुसार क्रम से चार २ मुनिराज कम किये जाते हैं। अन्त मे सक्लेश परिणाम युक्त काल मे चार मुनीश्वर के लिए भी क्षपक के समाधिमरण कार्य को सुसम्पन्न कराने की आज्ञा है। अतिशय सक्लेश परिमाण युक्त काल मे दो मुनिराज भी क्षपक की समाधि मृत्यु का साधन कर सकते हैं। किन्तु एक निर्यापक साधु समाधिमरण कार्य की साधना नहीं कर सकता है। आगम मे एक निर्यापक मुनि का कहीं पर उल्लेख नहीं मिलता है। वही कहा है—

जो जारिसओ कालो भरदेरवदेसु होइ वासेसु।
ते तारिसया तदिया चादालीसं पि णिज्जवया ॥ ६७१ ॥

एव चदुरो चदुरो परिहावेदव्वगा य जदणाए।
कालंमि सकिलिट्ठंमि जाव चत्तारि साधेंति ॥ ६७२ ॥

णिज्जावयाया दोण्णि वि होंति जहण्णेण कालसंसयणा।
एक्को णिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते ॥ ६७३ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—भरत और ऐरावत क्षेत्र मे जिस समय जैसा काल चक्र का वर्त्तन होता है, उस समय काल के अनुरूप निर्यापक मुनिराज होते हैं। उत्कृष्ट अड़तालीस निर्यापक मुनियो की सख्या जो बताई गई है वह उत्कृष्ट है। उत्तम काल मे निर्यापक मुनियो की जघन्य सख्या चवालीस तक होती है। सक्लेश भाव की वृद्धि के अनुक्रम से चार चार निर्यापक मुनियो की सख्या हीन होती जाती है। और वह अन्त मे चार तक पहुचती है। जब उत्कृष्ट सक्लेश परिणाम सहित काल का वर्त्तन होता है, उस समय दो निर्यापक मुनिराज भी क्षपक का समाधिमरण कार्य सिद्ध करते हैं। किन्तु किसी काल मे एक निर्यापक मुनि का उल्लेख जैनागम मे कहीं पर नहीं है।

प्रश्न—आगम जैसे जघन्य दो निर्यापक मुनि की आज्ञा देता है, वैसे ही एक निर्यापक मुनि के लिए आज्ञा क्यों नहीं देता ? उसमें क्या दोष दिखाई देता है ?

उत्तर—एक निर्यापक मुनि क्षपक का समाधिमरण करवाने में सर्वथा असमर्थ होता है। इसलिए आगम में एक निर्यापक का निषेध किया गया है। यदि अकेला निर्यापक मुनि साधु का समाधिमरण रूप अतिदुष्कर कार्य का भार ग्रहण करता है, तो वह निर्यापक अपना और क्षपक दोनों का विनाश करता है।

जब निर्यापक मुनि आहारादि कार्य के निमित्त क्षपक को अकेला छोड़कर बाहर जावेगा उस समय क्षपक को क्षुधादि वेदना के कारण जो कष्ट होगा अथवा अन्य मिथ्यादृष्टियों या असंयमीजनों के सम्पर्क से जो रत्नत्रय में बाधा और चित्त में अशान्ति उत्पन्न होगी उसका प्रतीकार कौन करेगा ? यदि उस समय मरणकाल आ पहुंचे तो उसके अशुभ ध्यान के कारण रत्नत्रय का विनाश होकर वह असद् गति का भाजन होगा।

अथवा अकेला क्षपक तीव्र क्षुधादि वेदना से पीड़ित होकर अयोग्य सेवन करने लगेगा अर्थात् पात्र में किसी मुनिराज के न होने से बैठकर भोजन करने लगेगा, मिथ्यादृष्टि लोगों के समीप जाकर याचना करने लगेगा "मैं क्षुधा से मरा जाता हूँ, प्यास के मारे मेरा दम घुट रहा है, मुझे खाने को भोजन और पीने को पानी दो" इत्यादि याचना करने लगेगा। इस तरह अनेक दोष उसमें उत्पन्न होते हैं, जिससे क्षपक के संयम का विनाश और दुर्ध्यान के प्रादुर्भाव से समाधिमरण का विनाश होता है, जिससे क्षपक दुर्गति का पात्र होता है।

अकेला निर्यापक अपना भी विनाश करता है। वह यदि सेवा को परम कर्तव्य समझकर क्षपक की परिचर्या में तल्लीन रहेगा तो उसको आहार ग्रहण करने का, शयन करने का तथा शरीर-मल का त्याग करने का अवसर न मिलने से स्वयं उसे श्रमण क्लेश होगा। इससे उसका शरीर गिरने लगेगा। शरीर के क्षीण होने अथवा स्वयं रोगग्रस्त हो जाने पर वह क्षपक की परिचर्या भी न कर सकेगा और अपने धर्म का भी भलीभांति पालन न कर सकेगा—सामायिकादि छह आवश्यकों का पालन न कर सकेगा। क्षपक को अकेला छोड़कर यदि वह अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है तो क्षपक की समाधि भंग होती है। और यदि क्षपक को अकेला न छोड़कर उसी के समाधान (सुख शान्ति) के लिए तत्पर रहता है तो अपने आवश्यक कर्त्तव्यों का आचरण न करने से कर्तव्य-विमुख होता है।

इस प्रकार एकाकी निर्यापक आत्म-विनाश, क्षपक का विनाश और आगम का विघात करने वाला होता है। आगम में अकेले निर्यापक का निषेध किया गया है, उसकी अवहेलना करने के कारण वह आगमाज्ञा का विघातक भी होता है।

प्रश्न—समाधिमरण (सल्लेखना) से प्राण त्याग करने वाला जीव संसार मे अधिक से अधिक कितने भव धारण करता है ?

उत्तर—जो जीव एक बार विधि पूर्वक सल्लेखना (समाधिमरण) से शरीर का त्याग करता है, वह जीव अधिक से अधिक सात या आठ भव ही धारण करता है। नवमा भव धारण नहीं करता है। आठवें भव में तो वह मोक्ष का पूर्ण अधिकारी हो जाता है। वही कहा है—

एगम्मि भवग्गहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो।
ण हु सो हिंडदि वहुसो सत्तट्ठभवे पमोत्तूणं ॥ ६८२ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—जो प्राणी एक भव मे समाधिमरण से युक्त मरण करता है, वह वहुत काल तक संसार मे भ्रमण नहीं करता है। उसको सात आठ भवों मे अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है।

यह हम पूर्व विवेचन कर आये हैं कि समाधिमरण का प्रारम्भ से लेकर समाप्ति तक का उत्कृष्ट काल १२ वर्ष का है। उस काल के प्रारम्भ के चार वर्ष नाना प्रकार के उग्र काय क्लेशादि तप तीनो योगों द्वारा करता है। तत्पश्चात् मध्य के चार वर्षों मे रसो का त्याग कर काय को तपश्चरण द्वारा कृश करता है। तदनन्तर आचाम्ल तप तथा नीरसाहार द्वारा दो वर्ष व्यतीत करता है। तथा एक वर्ष स्वल्प आहार द्वारा पूर्ण करता है और छह माह मध्यम तपश्चरण का आचरण करते हुए विताता है। इस प्रकार साढ़े ग्यारह वर्ष स्वाध्याय ध्यान करते हुए, आवश्यक कार्य के लिए चलते फिरते हुए एव तपश्चरण द्वारा काय कृश करते हुए समाप्त करता है।

जव भक्त प्रत्याख्यान की मर्यादा का काल छह महिने अवशिष्ट रह जाता है उस समय अनेक प्रकार के उग्रोग्र तपस्या करने के कारण क्षपक का शरीर अत्यन्त कृश हो जाता है। तव वह संस्तरारूढ़ होता है। अर्थात् शय्या का शरण ग्रहण करता है। तव वह गुरु के निकट आलोचना करता है। उसके पश्चात् निर्यापक आचार्य द्वारा अधिक से अधिक ४८ मुनि और काल की अतिनिकृष्टता प्राप्त होने पर कम से कम दो मुनि परिचर्या में नियुक्त किये जाते हैं। इन सव वातो का स्पष्ट विवेचन पूर्व मे कर आये हैं। यहा सिंहावलोकन मात्र किया गया है।

क्षपक का शरीर और कषाय तपश्चरण द्वारा कृश हो जाते हैं। कृश शरीर को भी वे अत्यन्त कृश करते हैं। उसकी विधि का उल्लेख आगे करते हैं।

क्षपक का कर्तव्य है कि शास्त्र के ज्ञाता अनेक आचार्यों के विद्यमान होते हुए भी संन्यास विधि प्रारम्भ करते समय जिस आचार्य के निकट प्रथम आलोचना की हो, उसी आचार्य के चरणों के समीप प्रत्याख्यान-प्रतिक्रमण आदि आवश्यक कर्तव्यों का आचरण

करे। उन्हीं की आज्ञा का ग्रहण करे। उपदेश श्रवण, जल के अतिरिक्त तीन प्रकार के आहार का त्याग तथा प्रायश्चित्त का ग्रहण और सदिग्ध विषयो का समाधान करने के लिए प्रश्न करना इत्यादि सब कार्यों में उसके लिए प्रथमाचार्य ही प्रमाण होते हैं। यदि प्रथमाचार्य उपदेश देने आदि कार्यों मे सामर्थ्यहीन हो तो उनकी आज्ञा के अनुसार दूसरे आचार्य के निकट प्रतिक्रमणादि कर्त्तव्य कर्मों का आचरण कर सकता है।

श्रीमत् शिवकोटि आचार्य ने क्षपक की वचन सुनने की शक्ति का विकास और मुख तथा जिह्वा की मलीनता दूर करने के लिए तैल का प्रयोग और कषायले द्रव्यों से मिश्रित जल के कुरले करने को भी लिखा है। वह निम्न प्रकार है।

तेल्लकसायादीहिं य बहुसो गंडूसया दु घेत्तव्वा।
जिब्भाकण्णाण बलं होहिदि तुंडं च से विसदं ॥ ६८८ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—क्षपक को तैल और कषायले द्रव्यों के बहुत बार कुरले करने चाहिए। क्योंकि कान मे तैल डालने से कानों मे शब्द-श्रवण शक्ति बढती है। तथा जीभ पर जब मैल जम जाता है मुख में मल का संचय बढ जाने मे दुर्गन्ध आने लगती है। वचनोच्चारण मे क्षीणता बढने लगती है। इन दोषों का निवारण करने के लिए कषायले द्रव्यों के कुरले कराये जाते हैं।

इसी का समर्थन अमितिगति आचार्य ने भी निम्न प्रकार किया है।

तेन तैलादिना कार्या गण्डूषाः सन्त्यनेकशः।
जिह्वावदनकर्णादिनैर्मल्यं जायते ततः ॥ ७१५ ॥ [सं भग. आ.]

उक्त गाथा का और इस श्लोक का अर्थ एकसा है। यह श्लोक ऊपर की गाथा का अनुवाद मात्र है।

तात्पर्य यह है कि क्षपक का यह अन्तिम व अतिप्रशस्त समय है। इस समय इसको योग्य उपदेश द्वारा समाधि में स्थिर करना उसके अन्तःकरण में उत्पन्न हुए उद्गारो को जानकर उनके अनुकूल व्यवस्था करके उसको सन्तोष उत्पन्न करना निर्यापकाचार्य तथा निर्यापक मुनियों का परम कर्तव्य होता है। वह तभी हो सकता है कि क्षपक के कर्णों में उपदेश सुनने की शक्ति तथा मन के उद्गारों को प्रकट करने के लिए क्षपक की वचन शक्ति बनी रहे, इसीलिए इस कार्य की सफलता के लिए क्षपक को तैलादि के कुरले करवाये जाते हैं।

क्षपक के विचारो पर बुरा प्रभाव न पड़े, इसलिए आगम के मर्मज्ञ मुनियों को भी क्षपक के समक्ष भोजनादि कथाओं का

वर्णन कदापि नहीं करना चाहिए। वही कहा है—

मत्तादीण भत्ती गीदत्थेहिं वि ण तत्थ कायव्वा।
आलोयणा वि हु पसत्थमेव कादव्विया तत्थ ॥ ६८७ ॥ भग. आ.

अर्थ—गीतार्थ (विशेषज्ञ) मुनियो को भी क्षपक के निकट भोजनादि की कथाओं को नहीं करना चाहिए। क्षपक के निकट-वर्ती आचार्य के समीप अप्रशस्त आलोचना भी किसी मुनीश्वर को करना उचित नहीं है।

इस कथन का तात्पर्य यह है कि क्षपक के लिए उस समय उच्च आदर्शों की आवश्यकता है। उस समय छोटा सा प्रतिकूल वातावरण उसके हृदय मे क्षोभ उत्पन्न कर सकता है। जैसे स्वच्छ व निष्कम्प जल मे स्वल्प वायु भी कम्पन और थोड़ा मैल मलीनता उत्पन्न कर देती है, वैसे ही क्षपक के स्वच्छ व निष्कम्प हृदय को विपरीत सयोग विकृत व उथल पुथल कर सकता है। इसलिए निर्यापक मुनियों को उसकी समाधि बनाये रखने के लिए प्रतिकूल सयोगों का निवारण और अनुकूल साधनों की योजना करने मे सावधान रहना पड़ता है।

प्रश्न—भक्त प्रत्याख्यान मर्यादा के छह महीने शेष रहने पर क्षपक को तीन प्रकार के आहार का त्याग करवाते हैं। तो क्या प्रत्येक क्षपक के लिए एकसा विधान है या क्षपक की प्रकृति की जाच करके उचित क्रम से भोजन का त्याग करवाते हैं? शास्त्रोक्त रीति मे निरूपण करने की कृपा करें।

उत्तर—जब आचार्य क्षपक को जल के बिना तीन प्रकार के आहार का त्याग करवाने के लिए प्रवृत्त होते हैं तो उसके पहले आचार्य क्षपक को सब प्रकार के आहार को दिखाते हैं। आहार दिखाने पर उसकी भोजन की लालसा का परिचय प्राप्त करते हैं। तत्पश्चात् त्याग करवाते हैं।

इस विषय मे शिवकोटि आचार्य ने भगवती आराधना में निम्न प्रकार वर्णन किया है।

दव्वपयासमकिच्चा जइ कीरइ तस्स तिविहवोसरणं।
कम्हिवि भत्तविसेसम्मि उस्सुगो होज्ज सो खवओ ॥ ६८६ ॥
तम्हा तिविहं वोसरिहिदित्ति उक्कस्सयाणि दव्वाणि।
सोसित्ता संविरलिय चरिमाहारं पयासेज्ज ॥ ६९० ॥

पासित्तु कोइ तादी तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥ ६३१ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—यद्यपि क्षपक तीन प्रकार के आहार का त्याग करने के लिए उद्युक्त हो रहा है, तथापि उसकी किसी प्रकार के आहार में अभिलाषा बनी न रहे, इसलिए क्षपक को विचित्र विचित्र आहार दिखलाते हैं। यदि क्षपक को आहार दिखाये बिना ही उससे तीन प्रकार के आहार का त्याग करवा दिया जावे तो उसके चित्त में किसी आहार विशेष की अभिलाषा बनी रही तो वह उसके अन्तःकरण को व्याकुल करती रहेगी। इसलिए उसका त्याग करवाने के पूर्व तीनों प्रकार के उत्तम उत्तम आहार के पदार्थ थाल में पृथक पृथक रखकर क्षपक के समीप लाकर आचार्य दिखलाते हैं। उन उत्तमोत्तम भोजन के पदार्थों को देखकर कोई क्षपक मुनिराज अपने अन्तःकरण में विचार करते हैं कि "मैंने अनन्त काल तक इनसे भी उत्तम पदार्थों का भोजन किया, किन्तु मुझे इनसे कुछ भी तृप्ति नहीं हुई। अब तो इस भव के अन्तिम किनारे पर आ लगा हूँ। अब इनसे मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है," ऐसा सोचकर इनसे विरक्त होकर संसार से भयभीत हुए आहार का त्याग करने में दृढ संकल्प होते हैं।

आसादित्ता कोई तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥ ६६२ ॥
देसं भोच्चा हा हा तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥ ६६३ ॥
सव्वं भोच्चा विदिं पत्तहिंमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥ ६६४ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—कोई क्षपक सम्मुख स्थित पदार्थों में से थोड़ा चखकर विचार करते हैं कि इस थोड़े से क्षण मात्र के स्वाद के सुख से क्या सुख मात्रा प्राप्त होगी। मैं जीवन की अन्तिम सीमा पर पहुँच चुका हूँ। मेरा भला इनका ग्रहण करने से नहीं, बल्कि त्याग करने से ही सिद्ध होगा-ऐसा विचार कर उनसे चित्त को हटाता है और संसार से भयभीत हुआ आहार के त्याग करने में ही कटिबद्ध होता है।

कोई क्षपक उन नेत्र और मन को तृप्त करने वाले पदार्थों का कुछ भाग ग्रहण करके उनसे सहसा विरक्त होता है। विरक्त के स्वरूप का चिन्तन कर अधीर होकर विषयों को धिक्कार देता है और सोचता है कि मेरी बुद्धि को धिक्कार है, जो इनको घोर अपकारी होती

है। इस अन्तिम जीवन को सफल करने के लिए इनका त्याग ही श्रेयस्कर है–ऐसा सोचकर ससार भोग से विरक्त हुआ तीनों प्रकार के आहार का त्याग करने मे दृढ़ चित्त होता है।

कोई क्षपक मुनि चारित्र मोहनीय कर्म के उदय विशेष से उन मन लुभाने वाले उत्कृष्ट आहार के द्रव्यो को देखकर मोहित हुआ उन सब पदार्थों का भक्षण करता है। भक्षण करने के पश्चात् अन्तरङ्ग मे विवेक बुद्धि का प्रकाश होते ही उसका अन्तःकरण उद्विग्न हो उठता है। वह सहसा चौंक पडता है और विचारने लगता है कि हे आत्मन्! तेरी इस विषय मुग्धता को धिक्कार है। वर्षों तक के विवेक ज्ञान का अभ्यासी तू जिह्वा इन्द्रिय के विषय मे कैसे प्रवृत्त हो गया ? इस कर्म की बलवत्ता को धिक्कार है। अब तेरा यही कर्तव्य है कि भुजङ्ग के भोग (शरीर) के समान इन भोगों से पृथक् होकर अपना हित साधन कर। इस प्रकार ससार भोग से वैराग्य को प्राप्त हुआ वह क्षपक इन्द्रिय विषय भोग से विरक्त हुआ आहार का त्याग करने मे उत्सुकता धारण कर शीघ्र तीनो प्रकार के आहार का त्याग करने मे तत्पर होता है।

उक्त अथ का विवेचन अमितिगति आचार्य ने भी निम्न प्रकार किया है—

अप्रकाश्य निधाहारं त्याज्यते क्षपको यदि।
तदोत्सुकः स कुत्रापि विशिष्टे जायतेऽशने ॥ ७१७ ॥
ततः कृत्वा मनोज्ञानामाहाराणां प्रकाशना।
सर्वथा कारयिष्यामि त्रिविधाहारमोचनम् ॥ ७१८ ॥
कश्चिद्दृष्ट्वा तदेतेन तीरं प्राप्तस्य किं मम ॥
इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७१९ ॥
आस्वाद्य कश्चिदेतेन तीर प्राप्तस्य किं मम।
इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७२० ॥
अशित्वा कश्चिदंशेन तीर प्राप्तस्य किं मम।
इती वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७२१ ॥
चन्भित्वा सर्वमेतेन तीरं प्राप्तस्य किं मम।
इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७२२ ॥ (सं. भग आ.)

इनका आशय ऊपर लिख चुके हैं। क्योंकि ये श्लोक भगवती आराधना की उक्त गाथाओं का अर्थानुवाद मात्र हैं। इनको यहां उद्धृत करने का अभिप्राय अमितिगति आचार्य का मत भी शिवकोटि आचार्य के अनुकूल है-ऐसा दिखलाना मात्र है।

प्रश्न—आहार दिखलाने से आचार्य को चार प्रकार के अभिप्राय वाले क्षपक का ज्ञान हुआ। एक तो विचित्र प्रकार के आहार को देखकर उससे विरक्त होने वाला उत्कृष्ट वैराग्यवान क्षपक है। दूसरा दिखलाये गये आहार में से किंचित् मात्र चखकर आहार से विरक्त होने वाला मध्यम वैराग्यवान् क्षपक है। तीसरा दिखलाई भोजन सामग्री के एक अंश का भक्षण कर समस्त भोजन से विरक्त होकर त्याग में प्रवृत्त होने वाला जघन्य वैराग्यवान् क्षपक है। तथा चौथा जघन्यतर वैराग्यवान् वह क्षपक है जो सम्पूर्ण आहार का सेवन कर पश्चात् उससे विरक्त होकर तीनों प्रकार के आहार का त्याग करने में उत्सुक हुआ है।

इनके अतिरिक्त एक ऐसे क्षपक की सम्भावना होती है, जो चारित्र मोहनीय कर्म के तीव्र उदय के वशीभूत होकर दिखलाए गये आहार का सेवन कर उसके स्वाद में आसक्त हुआ भोजन का त्याग न करे तो उसके उद्धार के लिए आचार्य क्या करते हैं ?

उत्तर—आपने उक्त प्रश्न में प्रथम क्षपकों को जो चार भागों में विभक्त किया है वह विभाग आहार दिखलाने से लेकर जब तक वे आहार का त्याग करने में प्रवृत्त नहीं हुए हैं, तब तक के लिए ही हो सकते हैं। क्षपक सर्व उत्कृष्ट वैराग्य परायण होते हैं। तभी तो वे सन्यास मरण विधि में तत्पर हुए हैं।

उक्त चार प्रकार के अतिरिक्त आहार में आसक्त हुए क्षपक के विषय में जो प्रश्न किया है। उसका खुलासा निम्न प्रकार है—

कोई तमादयित्ता मणुण्णरसवेदणाए संविद्धो।
तं चेवणुबंधेज्ज हु सव्वं देसं च गिद्धीए ॥ ६९५ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—यदि कोई क्षपक दिखलाए आहार का भक्षण कर मनोरम रस के स्वाद में मूर्छित हुआ उस भक्षण किये गये सम्पूर्ण आहार को वारम्बार सेवन करने की लालसा करने लगे। अथवा उस दर्शित आहार सामग्री में से किसी एक पदार्थ को पुनः पुनः सेवन करने की उत्कण्ठा करने लगे, तो

तत्थ अवायोपायं दंसेदि विसेसदो उवदिसंतो।
उद्धरिदुं मणोसल्लं सुहुमं सणिण्व्वेमाणो ॥ ६९६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—तब आचार्य मनोज्ञ आहार के भक्षण करने की आसक्ति से होने वाली हानि और लाभ को समझाते हैं। "हे क्षपक ! देखो ! तुम अपने मन को वश में न रखोगे तो तुम अनन्त काल मे भी अति दुर्लभ इस इन्द्रिय सयम का विनाश करडालोगे और जिस मनुष्य ने इन्द्रियो पर अधिकार नहीं किया है। जो आत्मा इन्द्रियों का गुलाम हो जाता है, उसकी आत्म शक्ति विलीन हो जाती है। वह अपने कार्य की सिद्धि कभी नहीं कर सकता है।"

इस प्रकार गुरु के उपदेश को सुनकर घोर दुःख का संहार करने मे समर्थ समाधि मरण को सफल बनाने के लिए वह विवेकी क्षपक तीन प्रकार के आहार का त्याग करने के लिए आतुर होता है।

यदि कोई क्षपक तीव्र मोहनीय कर्म के चक्र में फंसा हुआ आहार को छोड़ने में अपने को असमर्थ पाता है, तब भी आचार्य उस क्षपक पर दया करते हैं। उसको मधुर और प्रिय वचनों से समझा बुझा कर अनेक प्रकार के आहार पदार्थों में से एक एक पदार्थ को क्रम से घटाते हैं। इसके विषय निम्न प्रमाण है—

अणुपुव्वेण य ठविदो संवट्टूण सव्वमाहारं।
पाणयपरिक्कमेण दु पच्छा भावेदि अप्पाणं ॥ ६९९ ॥ [भग. आ.]

अर्थात्—क्षपक का आयुष्य जब अल्प रह जाता है, तब निर्यापकाचार्य उसे उत्तमोत्तम विविध आहार वर्त्तन में धरकर क्षपक की आहार त्याग की पुष्टि करने के लिए उसे दिखाते हैं। उन चित्ताकर्षक विचित्र आहार को देखकर क्षपक उसमे अत्यत आसक्त हो जाता है और उन आहार के पदार्थों का पुनः पुनः सेवन करने का अत्यंत लोलुपी हो जाता है। आचार्य के अनेक उपदेशामृत का पान कराने पर भी उसकी आहार सम्बन्धी आसक्ति कम नहीं होती है। तब आचार्य उन समस्त आहार के सुन्दर २ पदार्थों में से क्षपक को क्रम से एक एक आहार पदार्थ का त्याग कराते कराते सादे भोजन पर ले आते हैं। अर्थात् मिष्टान्नादि विशिष्ट आहार से विरक्त करके भात दाल आदि साधारण आहार पर नियत करते हैं। पश्चात् वह क्षपक साधारण भात दाल पूए आदि तीन प्रकार के आहार पदार्थों का क्रम क्रम से त्याग करता हुआ पानक आहार पर अपने को स्थिर करता है। अर्थात् जलादि पेय पदार्थ के अतिरिक्त सब प्रकार आहार का त्याग कर देता है। अपने शरीर को जलादि के आधार पर रखता है।

प्रश्न—पानक कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर—पानक पदार्थ आगम मे छह प्रकार के माने गये हैं।

सच्छं वहलं लेवडमलेवडं च ससित्थयमसित्थं ।
छव्विह पाणयमेयं पाणयपरिकम्मणाओग्गं ॥ ७०० ॥ [भग. आ.]

अर्थ—१ स्वच्छ, २ वहल, ३ लेवड, ४ अलेवड, ५ ससिक्थ और ६ असिक्थ इस प्रकार पानक के छह भेद हैं।

(१) स्वच्छ पानक—गर्म जलादि को 'स्वच्छ' पानक कहते हैं।

(२) वहल—काजी, द्राक्षारस इमली का पानी तथा ऐसे ही अन्य फलादि के रस को वहल पानक कहते हैं।

(३) लेवड—हाथ पर लिपट जाने वाले दही के घोल वगैरह गाढे पानक को लेवड कहते हैं।

(४) अलेवड—जो हाथ पर नहीं लिपटता है, ऐसा चांवल का माड, तक्र आदि पतले पानक को अलेवड पानक कहते हैं।

(५) ससिक्थ पानक—जिसमें चावल आदि के सिक्थ पाये जावें ऐसे, माड आदि पानक को ससिक्थ पानक कहते हैं।

(६) असिक्थ पानक—जिसमे भात आदि के सिक्थ (कण) न पाये जावें ऐसे पानक को असिक्थ पानक कहते हैं।

इस प्रकार पानक छह प्रकार का माना गया है।

इन छह प्रकार के पानको मे भी आचार्य को क्षपक के स्वास्थ्य का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। अनुभवी अनेक शास्त्रो के ज्ञाता निर्यापकाचार्य आसन्न मरण वाले क्षपक की शारीरिक स्थिति के अनुकूल आयुर्वेद के सिद्धान्त के अनुसार वात, पित्त और कफ का शमन करने वाला उचित पानक क्षपक को देते हैं।

पानक पदार्थ का सेवन करवाने के पश्चात् उदर के मलकी शुद्धि करने के लिए क्षपक को माड के समान मधुर विरेचन पदार्थ देना चाहिए।

क्षपक के उदर स्थित मल का शोधन करने के लिए काजी मे भीगे हुए विल्व पत्रादि से उदर का सेक करना चाहिए तथा सैंधा-नमक आदि की वत्ती वनाकर गुदा मे प्रवेश कर उदर का शोधन करना चाहिए।

प्रश्न—इतना महान् परिश्रम करके उदरस्थ मलका निनारण क्यो किया जाता है ?

उत्तर—क्षपक के उदर मे सचित हुआ मल यदि नहीं निकाला जावेगा तो वह महती वेदना उत्पन्न करेगा इसलिए उसे निकालने का प्रयास करते है।

प्रश्न—उक्त प्रकार उदर का शोधन करने के पश्चात क्षपक के योग्य किस कार्य का आचार्य सम्पादन करते हैं।

उत्तर—क्षपक की उदर शुद्धि होने के बाद आचार्य को 'क्षपक अशन, स्वाद्य और खाद्य इन तीन प्रकार के आहार का यावज्जीव त्याग करेगा' इस प्रकार समस्त सघ से निवेदन करते हैं। तथा क्षपक तुम से क्षमायाचना करता है, इस प्रकार कहते हुए आचार्य ब्रह्मचारी आदि के हाथ मे क्षपक की पिच्छी देकर उसे दिखाते हुए सम्पूर्ण सघ के मुनियों की वसतिकाओं मे घुमाते हैं।

प्रश्न—क्षपक की पिच्छी दिखलाकर आचार्य क्षपक की ओर से सघस्थित मुनियो से याचना करते हैं, यह ठीक पर चलने फिरने की शक्ति से हीन क्षपके का अभिप्राय जानकर सम्पूर्ण सघ का उस समय क्या कर्त्तव्य होता है ?

उत्तर—समस्त सघ क्षपक को क्षमा प्रदान करते हैं। तथा क्षपक की रत्नत्रय आराधना निर्विघ्न सिद्ध होवे, इस हेतु से सम्पूर्ण सघ कायोत्सर्ग करता है।

प्रश्न—इसके अनन्तर क्षपक के प्रति निर्यापकाचार्य का क्या कर्त्तव्य होता है ?

उत्तर—निर्यापकाचार्य क्षपक को सकल सघ के मध्य चार प्रकार के आहार का अथवा तीन प्रकार का आहार का विकल्प सहित त्याग करवाते हैं। आचार्य जब क्षपक को क्षुधादि परिषह के सहन करने मे भली भाति समर्थ पाते हैं, तब चारो प्रकार के आहार का कालादि के विकल्प पूर्वक त्याग करवाते हैं। यदि क्षपक को उतना सहनशील नहीं देखते हैं तो उसे तीन प्रकार के आहार का ही त्याग करवाते हैं। और उस की चित्त शान्ति के लिए छह प्रकार के पानक आहारों का ही सवन करवाते हैं। इसके अनन्तर ज्यों२ क्षपक की शक्ति का ह्रास होता जाता है त्यों त्यो पानक पदार्थों में परिवर्तन करते २ अन्तमे सव का त्याग करवा देते हैं।

प्रश्न—इसके बाद क्षपक क्या करता है ?

उत्तर—भक्त प्रत्याख्यान करने के बाद क्षपक के हृदय मे आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मी मुनि, कुल मुनि (दीक्षागुरुशिष्य परम्परा) गण मुनि (स्थविर मुनि शिष्य सन्तान) इन सब के विषय मे जो क्रोध मान माया और लोभ होगा उन सब को निकाल फेंकता हैं। तथा 'मुमुक्षु का जो कर्त्तव्य होता है, उस सब का मैंने आचरण किया है' ऐसा विचार कर उसका चित्त आनन्द से उछलने लगता है।

प्रसन्नचित्त हुआ यह मस्तक पर दोनों हाथ जोड़ कर सकल संघ को नमस्कार करता है। सब से उचित शब्दों मे बोलने की शक्ति न होने कारण हाथ जोड़ कर 'आप सब मुझे क्षमा करो' इस प्रकार क्षमा मांगने का अभिप्राय प्रकट करता है।

क्षपक अपने अन्तः करण मे अव्यक्त भाषा मे कहता है कि हे संघ के मुनिराजो आप मेरे माता पिता से अधिक पूज्य व हितकारक हो, आप निष्कारण जगत् के बन्धु हो, सब के उद्धार करने में कटिबद्ध हो, आप का मन वचन काय से कृत कारित और अनुमोदना द्वारा जो अपराध अज्ञात भाव से किया हो, उन सब की मैं क्षमा चाहता हूँ, मैं भी सब को क्षमा करता हूँ।

इस प्रकार क्षपक और सम्पूर्ण संघ की परस्पर क्षमा क्षमापणा हो जाने के बाद आचार्य संस्तरारूढ़ क्षपक को श्रुत ज्ञान के अनुसार शिक्षा देते हैं और संवेग व वैराग्य का उत्पादक कर्णजाप देते हैं।

प्रश्न—वह कर्णजाप क्या है, जिसे निर्यापकाचार्य क्षपक को देते हैं ?

उत्तर—संस्तरारूढ़ क्षपक को उस समय के योग्य जो क्षपक के कर्ण के समीप शिक्षा देते हैं, उसे कर्णजाप कहते हैं। वह निम्न प्रकार है—

निस्सल्लो कदसुद्धी विज्जावच्चकर वसधिसंथारं।
उवधिं च सोधइत्ता सल्लेहण भो कुण इदाणिं ॥ ७२१ ॥ (भ. ग. आ.)

अर्थ—हे क्षपक राज! इस समय तुम वैयावृत्य करने वालों की तथा निःशल्य होकर रत्नत्रय की शुद्धि करने में तत्पर रहो।

व्याधि (रोग) उपसर्ग परीषह असंयम मिथ्याज्ञान यह विपत्ति हैं। इस विपत्ति का प्रतीकार करने को वैयावृत्त्य कहते हैं। ऐसी वैयावृत्त्य करने वालों को, वैयावृत्त्यकर अर्थात् परिचारक कहते हैं। वैयावृत्त्य करने वाले मुनि असंयम के ज्ञाता हैं या नहीं-इसका ध्यान रखो। यदि वे असंयम के ज्ञाता नहीं प्रतीत हों तो उन्हें पृथक् कर दो। और मन वचन तथा काय से जो असंयम का निवारण करते हों, ऐसे मुनिराजो को परिचर्या करने की आज्ञा दो।

प्रातःकाल सायंकाल दोनों समय वसतिका, संस्तर और उपकरणों की प्रतिदिन शुद्धि करो। अर्थात् तुम क्षीण शक्ति हो, इसलिए परिचारकों को वसतिका, संस्तर और उपकरणों की मार्जना करने की प्रति दिन आज्ञा दो। आज्ञा देना ही तुम्हारा प्रतिलेखन (शुद्धि) करना सिद्ध होता है।

माया, मिथ्या और निदान ये तीन आत्मा को अनादि से क्लेश देते आये हैं इसलिए तत्त्व श्रद्धान पर दृढ़ रहकर मिथ्यात्व का नाश करो। सरलता, निष्कपट भाव धारण कर माया को हृदय से निकाल फेंको और भावी भोगों की निस्पृहता से निदान शल्य का नाश करो। इससे तुम्हारा रत्नत्रय शुद्धि को प्राप्त होगा।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की आराधना करने को रत्नत्रय की प्राप्ति कहते हैं। हे क्षपकोत्तम! मिथ्यात्व का वमन करने से सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। मिथ्यात्व संसार का मूल कारण है। और यह सब कर्मों से प्रधान है। इसलिए हे क्षपक! तू मन वचन और काय से इस मिथ्यात्व शत्रु का त्याग कर।

शंका—मिथ्यात्व को सब कर्मों से प्रधान कैसे कहा है? ज्ञानावरण, दर्शनावरण, आदि के अनुक्रम से आचार्यों ने इसे प्रधान नहीं कहा है? आत्मा के साथ अनादि काल से आठों कर्मों का सम्बन्ध हो रहा है। इसलिए उत्पत्ति की अपेक्षा भी मिथ्यात्व मोहनीय दर्शनावरणादि मे पहले पीछे का सद्भाव नहीं है। अतः आपने मिथ्यात्व को प्रधान कैसे कहा है?

समाधान—मिथ्यात्व को सब कर्मों से प्रधान इसलिए कहा है कि यह आत्मा के ज्ञानादि गुण को विपरीत करता है। अन्यकर्म तो ज्ञानादि गुणो की शक्ति का ह्रास मात्र करते हैं, उनको विपरीत नहीं बनाते हैं। और मिथ्यात्व उन्हें सर्वथा उल्टा कर देता है। अर्थात् शुश्रूषा (सुनने की इच्छा), शास्त्र श्रवण करना, श्रवण कर हृदय मे धारण करना और धारण किया हुआ नहीं भूलना ये सब बुद्धि के गुण हैं। मिथ्यात्व इन को भी विपरीत करता है। तथा चारित्र, तपश्चरण भावना आदि सब में विपरीतता उत्पन्न करता है, इसलिए मिथ्यात्व को सम्पूर्ण कर्मों मे प्रधान व महान् कर्म कहा गया है। अतएव हे क्षपक!

परिहर तं मिच्छत्तं सम्मात्ताराहणाए दढचित्तो।
होदि णमोकारम्मि य णाणे वद भावणासु धिया ॥ ७२५ ॥
मयतण्हियाओ उदयत्ति मया मण्णंति वह सतण्हयगा।
सब्भूदंति असब्भूदं तध मण्णंति मोहेण ॥ ७२६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—तू इस मिथ्यात्व का परित्याग कर और सम्यक्त्व की आराधना मे चित्तको स्थिर कर। तथा परम भक्ति से अरिहत आदि परमेष्ठी के भाव नमस्कार में रत हो। हाथ जोड़कर मस्तक झुका कर 'पंच परमेष्ठी को नमस्कार हो' ऐसा वचन उच्चारण करते हुए नमस्कार करने को द्रव्य नमस्कार कहते हैं। श्री अरहतादि पूज्य व्यक्तियो के गुणों मे अनुराग करना भाव नमस्कार है। तू निरन्तर भाव-

नमस्कार में तथा ज्ञान की आराधना और व्रतों की भावना में बुद्धि को लगा।

दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से यह जीव अविद्यमान वस्तु में विद्यमान और विद्यमान वस्तु मे अविद्यमान प्रतीति करता है तथा अतत्त्व को तत्त्व समझता है, जैसे जल मे व्याकुल हुआ मृग मरुस्थल की बालु रेत मे पड़ी हुई सूर्य की किरणों को लहराता हुआ जल समझ कर पानी पीने की आशा से दौड़ता है। वैसे ही मिथ्यात्व से आकुलित बुद्धि मनुष्य विवेकज्ञान रहित हुआ पर पदार्थ को अपना समझ कर दुखी होता है। धतूरे का सेवन करने से उत्पन्न हुआ उन्मत्तपना (पागलपन) कुछ दिन तक जीव को मोहित (मूर्छित) रखता है, वह एक भव मे भी कुछ काल पर्यन्त ही रहता है। किन्तु मिथ्यात्वमोह का सेवन करने मे आत्मा अपरिमित काल तक पागल बना रहता है और वह अनेक कुयोनियों में जन्म मरण परम्परा को उत्पन्न करता है। इसलिए मिथ्यादर्शन मोह सम्पूर्ण मोहों मे अति निकृष्ट है। इसका त्याग करने से ही जीव सुखी होता है, अत: हे क्षपक! तुम इस अपरिमित असह्य घोर दु ख के कारण मिथ्यात्व का परित्याग करो।

शङ्का—क्षपक ने तो इस मिथ्यात्व का पहले मे ही त्याग किया है। इस समय तो सयम की रक्षा के लिए प्रयत्नशील हो रहा है। अतः सयम की दृढता का ही इस समय उपदेश देना चाहिए। मिथ्यात्व के त्याग करने का उसको उपदेश क्यों दिया गया है?

समाधान—जीवो अणादिकालं पयत्तमिच्छत्तभाविनो सतो।
ण रमिज्ज हु सम्मत्ते एत्थ पयत्तं खु कादव्वं ॥ ७२८ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—यह जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व के सस्कार से सस्कारित रहा है मिथ्यात्व के साथ जीव का अत्यन्त परिचय रहा है। अतः सम्यग्दर्शन मे यह रमता नहीं है। किंचिन्मात्र विपरीत निमित्त का संयोग मिलते ही उसका अन्त करण मिथ्यात्व की ओर झुक जाता है। इसलिए आचार्य क्षपक को सम्यक्त्व मे आसक्त रखने के लिए बारम्बार मिथ्यात्व के दुर्गुण बताकर उससे विमुख रखने के लिए उपदेश देते हैं। जिसका चिरकाल से जीव को अभ्यास हो रहा है, उसका त्याग बड़ी ही कठिनाई से होता है। जैसे सर्प अपने चिर परिचित बिल मे निवारण करने पर भी प्रवेश करता है, उसे नहीं छोड़ता है, वैसे ही इस जीव को मिथ्यात्व से अनन्त काल का परिचय हो रहा है, इसलिए आचार्य बार बार मिथ्यात्व का परित्याग करने और सम्यक्त्व मे दृढ़ रहने का उपदेश देते हैं। जैसे-प्रतीकार रहित विष से बुझे हुए बाण से बींधा गया मनुष्य बीहड जङ्गल मे पड़ा हुआ भयानक वेदना को सहकर मृत्यु को प्राप्त होता है, वैसे ही मिथ्यात्व शल्य से पीड़ित हुआ यह जीव भव भव मे नरकादि योनि के असह्य दु खो को अनन्त काल तक सहता है।

हे क्षपक! सघश्री नाम के प्रधान मन्त्री के चक्षु महान् मिथ्यात्व के प्रभाव से नष्ट हुए। वह उसी भव मे दु:ख से मरकर दीर्घ

ससारी हुआ।

इस मिथ्यात्व के दोष से आत्मा के सुन्दर और सुखद ज्ञानादि गुण निकम्मे हो जाते हैं, जैसे कडुवी तुम्बी मे रखे हुए दुग्धादि मिष्ट पदार्थ भी कडुवे हो जाते हैं। कहा है :—

कडुगम्मि अणिव्वलिदम्मि दुद्धिए कडुगमेव जह खीरं।
होदि णिहिदं तु णिव्वलियम्मि य मधुरं सुगंधं च ॥ ७३३ ॥
तह मिच्छत्तकडुगिदे जीवे तवणाण चरणविरियाणि।
णासंति वतमिच्छत्तम्मि य सफलाणि जायंति ॥ ७३४ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—गूदे सहित कडुवी तुम्बी मे भरा हुआ दूध जैसे कडुवा हो जाता है और शुद्ध तुम्बी मे रखा हुआ दुग्ध मधुर और सुगधित रहता है, वैसे ही मिथ्यात्व से कटुता (विपरीतता) को प्राप्त हुए जीव के ज्ञान चारित्र तप और वीर्य नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् ज्ञान चारित्रादि मोक्ष के कारण नहीं होते हैं। तथा जब यह जीव मिथ्यात्व का वमन कर देता है, तब वे ही ज्ञानादि गुण स्वर्गादि के सुख एवं मोक्ष के कारण होते है।

इसलिए हे क्षपक! मिथ्यात्व की आत्मा मे छाया तक मत पड़ने दो और सम्यक्त्व के आराधन मे सदा सावधान रहो।

हे साधु श्रेष्ठ! तुमने अनेक परीषह उपसर्गादि सहकर इतने काल तक जो ज्ञान चारित्र तप आदि की साधना की है, उसकी सफलता इस सम्यग्दर्शन से ही हो सकती है, इसके बिना उनका कुछ भी महत्त्व नहीं है। वे सम्यक्त्व बिना केवल आत्मा के भारभूत हैं। आत्मानुशासन में कहा है :—

शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसाम्।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसयुक्तम् ॥

अर्थ—क्रोधादि का उपशम ज्ञान चारित्र और तप का आचरण ये सब सम्यक्त्व के बिना आत्मा को पाषाण के समान भारभूत हैं। जब आत्मा में सम्यक्त्व गुण उत्पन्न हो जाता है तब वे ही महामणि के समान पूज्य (प्रशस्त) हो जाते हैं।

णाणस्स जह दुवारं मुहस्स चक्खू तरुस्स जह मूलं ।
तह जाण सुसम्मत्तं णाण चरण वीरिय तवाणं ॥ ७३६ ॥

अर्थ—जैसे नगर का दरवाजा नगर में प्रवेश करने का उपाय है। वैसे ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र तप और वीर्यादि गुणों के प्रवेश करने का उपाय है। क्योंकि सम्यक्त्व के बिना आत्मिक अवधिज्ञान तथा उत्कृष्ट निर्मल ... सम्यक् यथाख्यात चारित्र सामायिक तपश्चरण और विशेष वीर्य का प्रादुर्भाव नहीं होता है। जैसे-नेत्र मुख की शोभा बढ़ाने वाली होती है। वैसे ज्ञानादि की शोभा सम्यक्त्व से होती है। बिना सम्यक्त्व के ज्ञानादि गुण मिथ्यापन से दूषित रहते हैं। सम्यक्त्व के उत्पन्न होते ही वे सब उक्त दूषण से रहित होकर पूज्यता को प्राप्त होते हैं। जैसे वृक्ष की स्थिति का कारण मूल (जड़) होती है। वैसे ज्ञानादि गुणों की स्थिति का कारण सम्यक्त्व होता है। अर्थात् बिना सम्यक्त्व के सम्यक ज्ञानादि गुण आत्मा से निकल जाते हैं और आत्मा में मिथ्या ज्ञानादि का निवास हो जाता है। अतएव हे धारक तू नित्य सम्यक्त्व की आराधना में रत रह, क्योंकि—

दंसण भट्ठो भट्ठो दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झन्ति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झन्ति ॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है, वही भ्रष्ट समझा गया है। क्योंकि दर्शन भ्रष्ट जीव का निर्वाण नहीं होता है। चारित्र भ्रष्ट मोक्ष सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु दर्शन भ्रष्ट मुक्ति से वंचित रहते हैं।

सुद्धे सम्मत्ते अविरदो वि अज्जेदि तित्थयरणामं ॥
जादो दु सेणिगो आगमेसि अरुहो अविरदो वि ॥ ७४० ॥
श्रेणिको व्रतहीनोऽपि निर्मलीकृतदर्शनः ।
आर्हन्त्यपदमासाद्य सिद्धिसौधं गमिष्यति ॥ ७३६ ॥

अर्थ—शुद्ध सम्यक्त्व के प्रभाव से व्रत रहित जीव भी तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करता है। संयम हीन श्रेणिक महाराज सम्यग्दर्शन की निर्मलता के कारण भविष्य काल में त्रिलोक पूज्यनीय अर्हन्त पद पाकर सिद्धि सौध (महल) में गमन करेंगे।

कल्याण परंपरयं लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्ता ।
सम्मदंसणरयणं णग्वदि ससुरासुरो लोओ ॥ ७४१ ॥

अर्थ—इस सम्यग्दर्शन को निर्मल करने से यह जीव देवेन्द्र पद, चक्रवर्तीय पद अहमिन्द्र पद और तीर्थंकर पद ऐसी उत्तरोत्तर कल्याण परम्परा को प्राप्त करता है। यह सम्यग्दर्शन इतना अमोघ अमूल्य रत्न है कि सुर और असुर सहित यह लोक भी इसके मोल की तुलना नहीं कर सकता है।

हे क्षपक! तुम समाधि मरण (रत्नत्रय पूर्वक मरण) के सम्पादन करने मे प्रयत्नशील हो। इसलिए सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र और तप की आराधना मे सलग्न रहो। इस आराधना की सिद्धि के लिए आराधना के नायक अर्हन्त सिद्ध परमेष्ठी तथा उनके चैत्य और प्रवचन मे परम भक्ति धारण करो। यह भक्ति ही आराधना का मूल कारण है शास्त्र मे कहा है —

विधिणा कदस्स सस्सस्स जहा णिप्पादयं हवदि वासं ।
तह अरहादिग भत्ती णाणचरणदंसण तवाणं ॥ ७५१ ॥

अर्थ—विधि पूर्वक बोये हुए धान्य का उत्पादक जैसे वृष्टि या जल सिंचन है वैसे ही दर्शन ज्ञान चारित्र और तप की आराधना का निष्पादक कारण अर्हंतादि की भक्ति है।

वीएण विणा सस्सं इच्छदि सो वासमब्भएण विणा ।
आराधणमिच्छन्तो आराधनभत्तिमकरंतो ॥ ७५० ॥

अर्थ—आराधना व आराधक की भक्ति न करता हुआ जो मनुष्य दर्शन ज्ञान चारित्र तप की आराधना चाहता है वह बीज के बिना धान्य और मेघ के विना वृष्टि की इच्छा करता है।

तात्पर्य यह है कि जिस मनुष्य के हृदय मे अर्हंतादि मे भक्ति नहीं है,उस का हृदय ऊसर भूमि के समान है। उस मे बोया हुआ आराधना रूप बीज दर्शन ज्ञान चारित्रादि रूप सस्य (धान्य) को कभी उत्पन्न करने मे समर्थ नहीं होता है।

जिस को चित्त भूमि मे भक्ति का स्रोत बहता है, उसको अनेक विद्याएँ सिद्ध होती हैं।

विज्जा वि भत्तिवंतस्स सिद्धिमुवयादि होदि सफला य ।
किह पुण णिव्वुदिबीजं सिज्झहिदि अभत्तिमं तस्स ॥ ७४८ ॥

अर्थ—भक्ति परायण पुरुष के विद्या सिद्धि होती है। उसकी विद्या फलवती होती है। और तो क्या उसकी रत्नत्रय आराधना भी सफल होती है। जो भक्ति हीन है उस के मोक्ष के बीज भूत रत्नत्रय को क्या सिद्धि हो सकती है ? अर्थात् भक्ति शून्य हृदय मे रत्नत्रय की आराधना कभी नहीं हो सकती है ।

तात्पर्य यह है कि रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने वाले पुरुष को अर्हंतादि की भक्तिमे तन्मय रहना चाहिए। भक्ति के बिना सम्यग्दर्शनादि की आराधना आकाश पुष्प के समान असंभव है। इसलिए हे क्षपक ! तुम निरन्तर अर्हंतादि परमेष्ठी की भक्ति में तल्लीन रहो ।

जो पुरुष अर्हंतादि की भक्ति में तत्पर रहता है उसकी प्रवृत्ति णमोकार (पचपरमेष्ठी के नमस्कार) मे अवश्य होती है। णमोकार से भक्तिका पोषण होता है। इसलिए:—

आराधणा पुरस्सर मणण्णहिदओ विसुद्ध लेस्साओ ।
संसारस्स खयकरं मा मोचीओ णमोक्कारं ॥ ७५३ ॥

अर्थ—मुनिसत्तम ! विषय कषायादि सब विकार भाव को हृदय से निकाल कर एकाग्रचित्त होओ। तथा कषाय की मंदता कर लेश्या को उज्ज्वल बनाकर ससार का क्षय करने वाले आराधना के अग्रेसर णमोकार मत्र को मत छोडो। इसका निरन्तर चिन्तन करो।

मरण के अवसर मे श्रवण गोचर हुआ णमोकार मंत्र सद्गति का कारण होता है। देखो,मरणोन्मुख हुए कुत्ते ने जीवन्धर स्वामी द्वारा कान मे सुनाये गये णमोकार मन्त्र को सुनकर देव गति प्राप्त की। और अन्तर्मुहूर्त मे पूर्ण यौवनावस्था को प्राप्त हो तत्काल आकर उसी जगह मृत कुत्ते के शव के समीप बैठे हुए श्री जीवन्धर स्वामी की पूजा की।

दृढ सूर्य नामक चोर मरण समय णमोकार मन्त्र का स्मरण कर महर्धिक देव हुआ, यथा :—

दढसुप्पो सूलहदो पंचणमोक्कारमेत्त सुदणाणे ।
उवजुत्तो कालगदो देवो जाओ महड्ढीओ ॥ ७७३ ॥

अर्थ—सूली पर लटकाया गया दृढशूर्प नाम का चोर पंच नमस्कार मात्र श्रुत ज्ञान मे उपयोग रखता हुआ उस पंच नमस्कार मंत्र के प्रभाव से इस शरीर का त्याग कर महर्द्धिक देव हुआ। इसलिए हे साधो! पच परमेष्ठी का नमस्कार स्वर्गादि की दिव्य सुख सामग्री देता है और परम्परा मोक्ष सुख को देने वाला है। इसलिए हे भाई! इस अपूर्व समाधिमरण के समय इसे किसी प्रकार मत भूलो। अन्य विषयों के स्मरण करने का यह समय नहीं है, अतएव सावधान होकर अर्हंतादि के नाम का स्मरण और उनके स्वरूप का चिन्तन करो।

निर्यापकाचार्य उक्त रीति से अनेक प्रकार उपदेश देकर उसको सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्र और तपश्चरण में सावधान करते हैं

संथारत्थो खवओ जइया खीणो हवेज्ज तो तइया।
वोसरिदव्वो पुव्वविधिणेव सो पाणगाहारो ॥ १४९२ ॥

अर्थ—सस्तर पर सोये हुए क्षपक का शरीर जब क्षीण हो जावे तब पहले वर्णन की गई जो तीन प्रकार के आहार करने की विधि उसके अनुसार पानक आहार का त्याग भी क्रम से करना चाहिए। अर्थात् पानक आहार द्रव्य के छह भेद पहले बताये गये हैं, क्षपक के बलाबल को देखकर आयुर्वेद के नियमो को ध्यान मे रखते हुए क्रम से उनका त्याग करवाने मे निर्यापकाचार्य को सावधान रहना योग्य है।

प्रश्न—वैयावृत्त्य करने वाले यति और निर्यापकाचार्य को क्षपक के शारीरिक पीड़ा उत्पन्न होने पर उसका प्रतिकार करने के लिए वैद्य की सम्मति लेकर औषधि की योजना करने का शास्त्रीय मत क्या है?

उत्तर—वैद्य के आदेशानुसार क्षपक के रोग का प्रतीकार प्रासुक द्रव्यों से अवश्य करना चाहिए। इसके लिए भगवती आराधना में निम्नोक्त आज्ञा है।

तो तस्स तिगिंछा जाणएण खवयस्स सव्वसत्तीए।
विज्जादेसेण वसे पडिकम्मं होइ कायव्वं ॥ १४९७ ॥
णाऊण विकारं वेदणाए तिस्से करेज्ज पडियार।
फासुगदव्वेहिं करेज्ज वायकफपित्तपडियारं ॥ १४९८ ॥

अर्थ—प्रतिचारक यति व निर्यापकाचार्य (जो रोग की चिकित्सा, रोग का निदान व उसकी निवृत्ति का उपाय जानता है) को स्वयं अथवा वैद्य के उपदेश के अनुसार क्षपक के रोग का प्रतीकार प्रासुक औषध द्रव्यों के द्वारा अवश्य करना चाहिए। क्षपक के वात पित्त व

कफ का प्रतीकार साधु के योग्य निर्दोष द्रव्य से करना निर्यापकाचार्य व परिचारक मुनियों का परम कर्त्तव्य है।

प्रश्न—क्षपक के रोग का प्रतीकार करने के लिए निर्यापकाचार्य व परिचारक किन २ उपायों का आश्रय ले सकते हैं ?

वत्थीहिं अवदवणतावणेहिं आलेवसीदकिरियाहिं ।
अब्भंगणपरिमद्दण आदीहिं तिगिंछदे खवयं ॥ १४६६ ॥

अर्थ—वस्ति कर्म (मल मूत्राशय मे बत्ती करना–इनीमा करना) गर्म करने के लिए तपाना, औषधि का लेप करना, प्रासुक शीत जलादि का सेवन कराना, अंग दबाना, शरीर मर्दन करना इत्यादि वैयावृत्त्य प्रासुक द्रव्यों द्वारा निर्यापक मुनि व धर्म परायण श्रावक क्षपक की वेदना निवारण करने के लिए करते हैं।

भावार्थ—जितने भी उचित उपाय रोग जन्य पीड़ा शमन करने के आयुर्वेद मे बताये गये हैं, उन सब का प्रयोग कर क्षपक की शारीरिक वेदना का शमन करने मे परिचारक प्रमाद नहीं करते हैं। किन्तु वे सब प्रासुक व मुनि के सेवनीय पदार्थों का ही सेवन कराते हैं अप्रासुक द्रव्यों का परित्याग और प्रासुक उचित द्रव्यों का ही उपयोग करते हैं।

प्रश्न—यथाशक्ति भरसक उपाय करने पर भी तीव्र वेदनीय कर्म के उदय से बाह्य उपचार कृतकार्य नहीं होते हैं। अर्थात् अनेक उपचार करने पर भी किसी के रोग की शान्ति नहीं होती है। और किसी के बाह्य उपायों से वेदना का प्रतीकार हो जाता है। इससे कर्मोदय की विचित्रता प्रकट सिद्ध होती है। कहा भी है :—

कस्यचित् क्रियमाणेऽपि बहुधा परिकर्मणे ।
पापकर्मोदये तीव्रे न प्रशाम्यति वेदना ॥ १५६० ॥

उस समय में अथवा–भूख प्यास आदि परिषहों से पीड़ित होकर क्षपक व्याकुल चित्त या चेष्टाहीन (मूर्छित) हो जाता है। कभी कभी तीव्र वेदना से अति पीड़ित परीषहों से घबराकर आपे से बाहर हो जाता है। ऊटपटाग बकने लगता है। कभी रात्रि, भोजन-पानादि सयम विरुद्ध क्रिया करने के लिए भी उतारू हो जाता है उस समय निर्यापकाचार्य किस उपाय से उसको शान्त करते हैं ?

उत्तर—उस समय आचार्य बाह्य उपायों की ओर से उपेक्षा दृष्टि न रखते हुए भी उनसे अपनी मनोवृत्ति को हटाकर अन्तरंग

औषध उपदेशामृत का पान कराते हैं। उसके स्वरूप का भान कराते हैं। उसके निज की महत्ता का स्मरण दिला कर उसके हृदय में आत्म-सम्मान का भाव जाग्रत करते हैं। तथा उसको अनेक प्रकार से धैर्य बंधाते हैं।

कोसि तुमं किं णामो कत्थ वससि को व संपही कालो।
किं कुणसि तुमं कहवा अत्थसि किं णामगो वाहं ॥ १५०५ ॥

हे क्षपकोत्तम! हे आत्म-कल्याण के इच्छुक! स्मरण करो। तुम कौन हो? तुम्हारा नाम क्या है? तुम कहां बसते हो? इस समय कौन सा काल है? अर्थात् अभी रात है या दिन? तुम क्या काम कर रहे हो? तुम क्या चाहते हो? मेरा नाम क्या है? इस प्रकार निर्यापकाचार्य क्षपक से बार बार पूछते हैं।

भावार्थ—दयालु आचार्य क्षपक की सावधानता या असावधानता की परीक्षा करने के लिए उनसे अति प्रेम से भरे अनेक प्रश्न करते हैं। कोई क्षपक आचार्य महाराज के इस प्रकार पूछने पर सचेत हो जाता है और अपनी अवस्था पर विचार करता है कि मैंने सन्यास मरण प्रारम्भ किया है, मेरा इस समय क्या कर्त्तव्य है। ये परम दयालु आचार्य महाराज मेरे हित के लिए कितना कष्ट सहन कर रहे हैं। धन्य है इन दयालु महापुरुषों को जो इतना काय क्लेश उठाकर मेरे कल्याण के अर्थ उद्योग कर रहे हैं। ऐसा चिन्तन कर शुभ ध्यान में लीन होता है। कोई एक आचार्य द्वारा अनेक बार सचेत करने पर चैतन्य को प्राप्त होकर तीव्र वेदना व क्षुधादि की दुस्सह परिषह उपसर्ग के सहन न कर सकने के कारण तीव्र अशुभ कर्म के वश पुनः अचेत (बेहोश) हो जाता है, तथापि परोपकार में तत्पर आचार्य महाराज उदासीनता धारण नहीं करते हैं। उसको पुनः कोमल शब्दों से प्रेम पूर्ण वाक्यों से पुनः सावधान करने का पूर्ण उचित उपाय करते हैं। उसे आराधना का स्मरण दिलाते हैं। तथा चार प्रकार के आहार को याद दिलाते हैं।

कोई सचेत हुआ भी, होश में आया हुआ भी, कर्म के उदय से परिषहों के क्लेश से संतप्त हुआ अयोग्य वचन बोलने लगता है। प्रतिज्ञा भंग करने पर उतारू हो जाता है, रुदन करने लगता है। तथापि आचार्य उसका तिरस्कार नहीं करते हैं। उसके प्रति कटु वचन का प्रयोग नहीं करते हैं। उसके प्रति आचार्य के हृदय में पूर्ण सहानुभूति का वेग हो आता है और उसके कल्याण के लिए अधिक तत्परता दिखाते हैं।

विचक्षण बुद्धि, शक्तिशाली, धैर्य धुरन्धर आचार्य महाराज क्षपक को प्रेम पूर्ण कर्ण-प्रिय शिष्ट और मिष्ट आनंद बढाने वाले वचन उच्चारण करते हैं। जिनका श्रवण करते ही क्षपक का सर्व दुःख निवारण हो जाता है। आचार्य धीरे २ समझाकर वचन बोलते हैं। शीघ्रता नहीं करते हैं।

हे चारित्र धारक मुने। सचेत होवो। ख्याल करो, तुमने चार प्रकार के सघ के समक्ष महा प्रतिज्ञा धारण की है कि मैं मरण पर्यन्त आराधना का सेवन करूगा, रत्नत्रय का निर्दोष पालन करूगा, इस प्रतिज्ञा का स्मरण करो। अब क्या तुम भूल गये हो?

हे धीर वीर। 'मैं अवश्य शत्रु का पराजय करूंगा' ऐसी जनता के समक्ष जिमने दृढ प्रतिज्ञा की है, ऐसा कौन स्वाभिमानी वीर पुरुष शत्रु के निकट आने पर डर कर पलायमान होगा। कुलीन, शूर-वीर, पुरुष-सिंह, शत्रु को पीठ दिखाने की अपेक्षा समरांगण मे प्राणो का त्याग करना ही सर्व श्रेष्ठ समझता है। वैसे ही हे धीर मुने! तुमने सम्पूर्ण सघ के समक्ष प्रतिज्ञा की है कि कठिन परीषह व घोर उपसर्ग के आने पर भी परित्यक्त आहारादि पदार्थों को अङ्गीकार नहीं करूंगा। मरणान्त विपत्ति आने पर भी प्रतिज्ञात व्रत नियमो का यथावत् पालन करूगा। हे मुने! क्या ऐसी प्रतिज्ञा लेकर स्वाभिमानी साधु कष्टो से घबराकर कायरता धारण करेगा। अपनी प्रतिज्ञा का भग करेगा? हे सर्वामिन! वह कदापि अपने स्वाभिमान व वचन का भंग न करेगा। वह मरण को तुच्छ समझ अपने यश का विनाश न होने देगा। लज्जास्पद जीवन को अधम मनुष्य ही अच्छा समझता है। गौरव शाली मानव-पुंगव लज्जा युक्त जीवन से मृत्यु को ही उत्तम मानकर प्राणपण से अपनी प्रतिज्ञा का पालन करता है।

हे मुने! तुमतो महान् शूर वीर हो। क्या कायरता धारण करना शूर वीर पुरुषो को शोभा देता है? शूर वीर पुरुषों के तो युद्धस्थल मे शत्रु की ललकार सुनकर पाव उठते हैं। वे प्रसन्न चित्त होकर अपनी वीरता दिखाने के लिए बडी उत्सुकता से सम्मुख गमन करते हैं। तथा शरीर मे जीवन ज्योति की किरण के प्रकाश मान न होते हुए कदापि रणागण से पश्चात्पद नहीं होते हैं। हे शूर वीर मुने! तुम तो महान् वीर और धीर हो। तुमको इन आगत परीषह व उपसर्ग का वीरता के साथ सामना करना चाहिए। तुम अनन्त शक्ति के धारक त्रैलोक्य साम्राज्य के अधिपति चैतन्य हो। ये जड़ तुम्हारे सामने कैसे ठहर सकते हैं। ये तो तुम्हें अपने कर्त्तव्य से च्युत करने के लिए तुमको त्रिजगत्पति बनने के कृत्य मे बाधा डालने के लिए शत्रुता कार्य कर रहे हैं। इसलिए यदि इस समय तुमने कायरपना धारण कर लिया तो तुम इन लुटेरों से लूट लिये जावोगे। ये तुम्हारे रत्नत्रय के भडार को छीन लेंगे। और अपरिमित काल के लिए तुम्हें शक्ति हीन दरिद्री बना देंगे अत: यह तुम्हारे सावधान रहने का समय है।

हे मुने! अपने कुल के, अपने गण के, तथा संघ के यश को उज्ज्वल बनाने वाले का जीवन मनुष्य समाज मे ही नहीं, देवों से भी पूज्य होता है। इसलिए तुम कुल, गण और संघ की लज्जा का ख्याल रखो। उस को मलिन कर जीवन धारण करना क्या उचित प्रतीत होता है? तुम्हारे सरीखे महात्मा क्या ऐसे निन्दनीय कार्य कर सकते हैं? अतएव हे मुनिश्रेष्ठ अब साधधान होकर अपने प्रतिज्ञात कर्त्तव्य का स्मरण करो।

सं प्र

कितने ही महापुरुष समस्त परिग्रहों का परित्याग कर अपने आत्मा के स्वरूप मे आपा धारण कर उपसर्गादि की परवाह न कर आपत्तियों को निमन्त्रण देने के लिए, अनेक विपत्तियो का आह्वान करने के लिए, सिंह-व्याघ्र-सर्प-दुष्ट हिंस्र तिर्यंच, मनुष्य और देवकृत तथा अचेतन कृत उपसर्गों से व्याप्त भयानक कानन मे, पर्वत की गुफाओ मे व शिखरो पर और श्मशानो मे जाकर निवास करते हैं। वहा पर ध्यान धरते हैं। वहा पर एकाकी रहकर उत्तमार्थ (रत्नत्रय) की आराधना मे कटिबद्ध रहते हैं। वे महात्मा अतिशीघ्र रत्नत्रय की पूर्णता कर परम सद्गति को प्राप्त करते हैं।

हे मुने! तुम्हारे समीप तो अनेक परिचारक मुनिराज वैयावृत्त्य करने मे सदा तत्पर रहते हैं। तुम को क्या इस समय धैर्य धारण करना उचित नहीं है? अन्य मुनि अनेक घोर उपसर्ग सहकर जो वस्तु प्राप्त करते हैं वह वस्तु तुम्हें थोडे से धैर्य धारण करने से, आत्मा मे सावधानी रखने से प्राप्त हो सकती है। इसलिए इस समय गाफिल मत रहो। पूर्ण सावधान होकर अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने मे दत्तचित्त हो जाओ।

हे क्षपकोत्तम! जिन्होने अलौकिक धैर्य धारण किया है, जिनके चारित्र मे लेशमात्र भी दूषण का सम्पर्क नहीं हुआ है, तथा जिन्होने श्रुतज्ञान का अवलम्बन लिया है ऐसे महामुनीश्वर जगली हिंसक पशुओ की तीक्ष्ण दाढ़ मे पहुचकर भी उत्तमार्थ जो रत्नत्रय है उसकी सिद्धि करलेते है। वे प्रात. स्मरणीय महात्मा निम्नोक्त प्रकार हैं—

उपसर्गों से विचलित न होने वाले महामुनियों के कुछ उदाहरण

भल्लकिए तिरत्तं खज्जंतो घोरवेदणट्टो वि।
आराधणं पवण्णो ज्झाणेणावंतिसुकुमालो ॥ १५३९ ॥ [भग आ.]

भावार्थ—जिन अपूर्व पुण्यशाली पुरुष पुगव ने महलों मे भी मखमली गलीचो को छोड़कर भूमिपर पाव नहीं रखा था, दिव्य रत्नों के दीपको की ज्योति के सिवा किसी दीपक के प्रकाश को नेत्रों से नहीं देखा था, सदा शीतल छाया मे ही अपना जीवन विताया था, कभी सूर्य तक का अवलोकन नहीं किया था, रात भर कमल के मध्य मे वासित उत्तम चाँवलो के अतिरिक्त कठोर पदार्थ का भोजन नहीं किया था, सरसो के दाने जिनके कमल सम कोमल शरीर मे शूल समान गडते थे, वे अवन्ति सुकुमाल मुनिराज देवोपम सब सुखों पर लात मारकर सब ऐश्वर्य का परित्याग कर वन मे कायोत्सर्ग कर आत्म-ध्यान मे आरूढ थे। उनके शरीर को तीन रात लगातार नोच २ कर शृगाली भक्षण करती रही। उनके अग प्रत्यग मे भयानक वेदना हो रही थी तथापि वे धीर वीर अवन्ति सुकुमाल महामुनि रत्नत्रय की

आराधना मे संलग्न रहे। शुभ ध्यान से रंचमात्र विचलित नहीं हुए। अन्ततक अपने शुभ ध्यान मे मग्न रहे और उन्होने उत्तमार्थ की सिद्धि की।

मोग्गिलगिरिम्मि य सुकोसलो सिद्धत्थदइय भयवंतो ।
वग्घीए वि खज्जंतो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५४० ॥ [भग. आ.]

अर्थ—मुद्गलनाम के पर्वतपर ध्यानारूढ सिद्धार्थ नृपतिके पुत्र सुकोशल महामुनिराज को उनके पूर्वभव की माता के जीव व्याघ्री ने भक्षण किया, तो भी उन महामुनीश्वर ने अपने शुभ ध्यान का त्याग न कर उत्तमार्थ (रत्नत्रय) की सिद्धि की। परम धैर्य के धारक मुनिपुगव ने तिर्यंचकृत घोर उपसर्ग पर विवेकज्ञान बल से विजय प्राप्तकर अपने स्वार्थ की (आत्मकार्य रत्नत्रय की) प्राप्ति करली।

भूमीए समं कीलाकोट्टिददेहो वि अल्लचम्मं व ।
भयवं पि गयकुमारो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५४१ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—भगवान गजकुमार मुनिराज को भूमिपर गिराकर उनके शरीर मे कीले ठोककर गीले चर्म के समान भूमिपर बिछादिया था, भूमि और शरीर को एक कर दिया था। ऐसे भयकर दुष्ट मनुष्यो से किये गये रोमांचकारी उपसर्ग को शान्ति से सहकर उन धीर वीर आत्म ध्यानी मुनिराज ने उत्तमार्थ (रत्नत्रय) की प्राप्ति की थी। वे शुक्ल ध्यानाग्नि से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर मुक्ति साम्राज्य के अधिकारी बने।

हे मुने ! जो गृहस्थावस्था मे चक्रवर्ती थे, वे सनत्कुमार नामा महामुनि सौ वर्ष पर्यन्त खाज, ज्वर, खासी, श्वासरोग, भस्मक-व्याधि, नेत्ररोग, उदरपीडा आदि उग्र रोग जनित तीव्र वेदना का सहन करते रहे। रचमात्र सक्लेश परिणाम न कर ध्यान मे मग्न रहे। धैर्यावलम्बन लेकर अपने उत्तमार्थ की सिद्धि मे लगे रहे।

हे साधो ! गङ्गा नदी के मध्य नाव मे डूबते हुए एणिक पुत्र मुनिराज ने शरीर के मोह का परित्याग कर आर्त्तध्यान के अवसर मे भी शुभ ध्यान धारण कर चार आराधनाओं को प्राप्त करते हुए मरण किया।

घोर अवमौदर्य तपश्चरण करते हुए भद्रबाहु मुनिराज तीव्र क्षुधा की पीडा से पीडित होने पर भी लेशमात्र सक्लेश परिणाम के वशीभूत नहीं हुए। शान्तभाव से शुभ ध्यान में मग्न रहकर रत्नत्रय की प्राप्ति की।

कोसबीललियघडा वूढा णइपूरएण जलमज्झे ।
आराधणं पवण्णा पावोवगदा अमूढमदी ॥ १५४५ ॥ [भग आ]

अर्थ—कौशाम्बी नगरी मे ललितघट नाम से प्रसिद्ध इन्द्रदत्तादि बत्तीस महासम्पत्तिशाली श्रावक यमुना नदी के प्रवाह मे डूब कर भी सक्लेश परिणाम रहित प्रायोपगमन सन्यास धारण कर उत्तमार्थ को प्राप्त हुए।

चम्पानगरी के बाहर गङ्गा के तट पर धर्म घोष नामा महामुनि एक मास के उपवास धारण कर भयानक तृषा की वेदना से पीड़ित होने पर भी सक्लेश भाव रहित होकर उत्तमार्थ (आराधना सहित) मरण को प्राप्त हुए।

हे क्षपक ! श्री दत्त नामक मुनिराज के पूर्वभव के वैरी किसी देव ने विक्रिया द्वारा शीतल जल की वृष्टि व शीतल वायु उत्पन्न करके उन महामुनि को घोर क्लेश दिया। किन्तु वे महामुनि सक्लेश भाव रहित हुए उत्तमार्थ की साधना मे ही रत रहे।

श्री वृषभसेन महामुनि ने अत्युष्ण वायु तथा अत्यन्त उष्ण शिलातल और सूर्य के प्रखर किरण सताप से उत्पन्न हुई उष्ण परीषह का सहन कर सक्लेश परिणाम न करते हुए उत्तमार्थ की साधना की।

रोहेडयम्मि सत्तीए हओ कोंचेण अग्गिदइदो वि ।
तं वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५४६ ॥ [भग आ]

अर्थ—रोहेडग नगर मे क्रौच नाम के राजा ने अग्निराजा के पुत्र कार्तिकेय मुनिराज को शक्ति नाम के शस्त्र विशेष से मारा था। उस समय मुनिराज ने लेश मात्र भी परिणामो मे विकार भाव उत्पन्न नहीं किया। शान्त परिणाम से उस उपसर्ग को सहकर उत्तमार्थ का साधन किया।

हे मुने ! काकदी नाम की नगरी मे चडवेग नाम के एक दुष्ट राजपुत्र ने अभयघोष मुनिराज के समस्त अगो को काट डाला। तथापि उन महामुनि ने रचमात्र रोष नहीं किया। किन्तु साम्य-भावना से उस रोमाचकारी दुःख को सहन कर रत्नत्रय की आराधना मे तन्मय रहे।

विद्युच्चर नामा चोर डास और मच्छरो से भक्षण किया गया किन्तु वह उनकी तीव्र वेदना को सक्लेश भाव रहित साम्य भावना से सहकर उत्तमार्थ (आत्म कल्याण मार्ग) को प्राप्त हुआ।

हस्तिनापुर के स्वामी गुरुदत्त नाम के मुनिराज द्रोणमति पर्वत पर तपस्या कर रहे थे। किसी दुष्ट नरपिशाच ने सबलिस्थाली के समान उनके मस्तक पर अग्नि जलाई थी। मिट्टी के पात्र मे हरे नाज की बालें भर कर उस पात्र के मुख पर आक के पत्ते भर देते हैं। पश्चात् उस पात्र को ओंधा भूमि पर रख कर उसके चारों तरफ अग्नि जला कर बालें भुनते हैं। उसे सबलिस्थाली कहते हैं। इस प्रकार उन मुनिराज के मस्तक पर अग्नि जला कर घोर उपसर्ग किया गया था। किन्तु वे मुनिराज तीव्र वेदना से सक्लेश भाव को प्राप्त न होकर साम्य भावना भाते हुए आराधना के फल को प्राप्त हुए।

किसी पूर्वभव के वैरी ने चिलातपुत्र नामक मुनिराज पर शस्त्र प्रहार किया। इससे उनके शरीर पर अनेक घाव हो गये। पश्चात् उनके शरीर को स्थूल मस्तक वाली काली चींटियों ने खाकर चलनी के समान छिद्रमय कर दिया था। किन्तु उन घोर वीर महामुनिराज ने सुनने मात्र से रोमाच उत्पन्न करने वाली घोर वेदना को शान्ति से सहा और आराधना का निर्विघ्न साधन किया। अर्थात् रत्नत्रय की आराधना से रंचमात्र भी नहीं टले।

दण्डनाम के मुनिराज पर यमुनावक नाम के किसी पापी पुरुष ने बाणों की वृष्टि करके उनका सम्पूर्ण शरीर बाणों से बींध दिया; तथापि उन मुनिराज ने रत्नत्रय की आराधना की, अपने समाधि मरण को नहीं बिगाड़ा।

अभिणंदणादिया पंचसया णयरम्मि कुंभकारकडे।
आराधणं पवण्णा पीलिज्जंता वि यंतेण ॥ १५५५ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—कुभकारकट नाम के नगर मे अभिनन्दनादि पाच सौ मुनिराजों को घानी (कोल्हू) मे डालकर पील दिया। लेकिन वे मुनिराज रत्नत्रय आराधना से विचलित न हुए।

गोठान (गायो के गृह) मे चाणक्य मुनि ने प्रायोपगमन सन्यास धारण कर रखा था। सुबंधु नामा मत्री उनका शत्रु था। वहा कडों की राशि थी। उसमें आग लगा कर उसमे चाणिक्य मुनि को डालकर जलाया। किन्तु वे मुनिराज अपने सन्यास मरण से चलायमान नहीं हुए। साम्यभाव धारण कर रत्नत्रय को निर्मल बनाये रखा।

इसी प्रकार कुणाल नामक नगर के बहिर्भाग में अनेक शिष्य वर्ग के साथ वृषभसेन नामा मुनिराज ठहरे हुए थे। रिष्ट नामक राजमत्री ने आग लगाकर उनको दग्ध किया, किन्तु उन सब मुनिराजो ने उस उपसर्ग का सहन किया। रत्नत्रय आराधना मे बाधा न आने दो अर्थात् रत्नत्रय का त्याग नहीं किया।

जदिदा एवं एदे अणगारा तिव्ववेदणट्टा वि।
एयागीऽपडियम्मा पडिवएणा उत्तमं अट्ठं ॥ १५५८ ॥ [भग आ]

अर्थ—आगम प्रसिद्ध जगद्विख्यात पूर्वोक्त मुनीश्वरों ने अति घोर वेदनाओ से पीड़ित होकर भी उनका प्रतीकार नहीं किया। उनका कोई सहायक नहीं था। उनका वैयावृत्त्य करने वाला एक भी मुनि पास मे नहीं था। कोई वैद्य उनकी चिकित्सा करने वाला नहीं था। उनपर दुष्ट वैरियो ने रोमाचकारी उपसर्ग किये। जिनको सुनकर आत्मा कांप उठता है। उन्हें अग्नि से दग्ध दिया, शस्त्रों से छिन्न भिन्न किया, कोल्हू मे पीला, कई पवतो से गिराये गये। दुष्ट तिर्यंचो ने उनके शरीर का शनै. शनैः नोच नोच कर भक्षण क्रिया-प्राण रहित किया तथापि उन्होने साम्य भाव का त्याग नहीं किया। आराधना के पालने मे वे शिथिल नहीं हुए। अपने आत्म-कल्याण के मार्ग से तनिक भी नहीं हटे।

हे क्षपकोत्तम! तुम्हारे तो अनेक सहायक है। वैयावृत्त्य परायण परम दयालु धैर्य के धारक तुम्हारे कल्याण के अभिलाषी हितोपदेश के देने मे उद्यमी समस्त आचार्यादि वैयावृत्त्य करने मे औषधि आदि का उपचार मे तन मन से लगे हुए हैं। समस्त सघ सम्पूर्ण उचित उपायो द्वारा तुम्हारे सुख व शान्ति की प्राप्ति मे लगा हुआ है। तुम्हारे ऊपर तो कोई तीव्र उपसर्गादि भी नही आया है। ऐसे सर्वानुकूल सामग्री के रहते हुए सुवर्णसम अवसर मे तुम आराधना ग्रहण करने मे क्यो शिथिल हो रहे हो? भो मुने! अब तुम को सम्भलना चाहिए। इसी अवसर के लिए तुमने कठिन मुनिव्रत धारण किया था। अनेक प्रकार के क्लेशो का सहा था। अब समय पर तुम क्यो कायरता धारण कर रहे हो? यह कायरता का समय नहीं है। धैर्य धारण करने और थोडा सा साहस रखने से तुम अपने इष्ट कल्याण को प्राप्त कर सकते हो। अतः अब सावधान होकर इस नश्वर शरीर के मोह का त्याग कर अपने आत्मा की सुध लो। आराधना देवी की भक्ति करो। इसमे ही तुम्हारा कल्याण है।

जिणवयणममिदभूदं महुरं कण्णाहुदिं सुणंतेण।
सक्का हु संघमज्झे साहेदुं उत्तमं अट्ठं ॥ १५६० ॥ [भग. आ]

अर्थ—हे मुने! अमृत स्वरूप तथा मधुर कर्ण को तृप्त करने वाले जिनेन्द्र देव के वचनो का श्रवण समस्त सघ के मध्य तुम्हें प्रतिदिन मिलता रहा है। इसलिए इस सघ मे तुम को उत्तमार्थ (रत्नत्रय का आराधन) की सिद्धि कोई कठिन नही है।

हे क्षपक! यहा तुमको क्या दुःख है जो तुम इतने शिथिल हो रहे हो?

नरकादि गतियों में भोगे हुए दुखों का दिग्दर्शन कराते हुये क्षपक का सम्बोधन

णिरयतिरिक्खगदीसु य माणुसदेवत्तणे य संतेण
जं पत्तं इह दुक्खं तं अणुचिंतेहि तच्चित्तो ॥ १५६१ ॥ [भग. आ]

अर्थ—हे साधो ! ससार मे भ्रमण करते हुए तुमने नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति मे जो दुःख भोगे हैं उनको चित्त लगाकर सुनो। ऐसा कोई दु:ख बाकी नहीं रहा है, जिसको तुमने पहले ससार मे नहीं सहा है। निरन्तर जलने वाली वज्राग्नि मे अनन्त वार दग्ध होकर तुम भस्म होते रहे। अनन्त बार जल मे डूब डूब कर मरे। अनन्त बार पर्वत से गिर गिर कर तुम्हारे शरीर का चूर्ण हुआ। अनन्त वार कूपादि मे गिर गिर कर मृत्यु को प्राप्त हुए। तथा तालाब मे, समुद्र मे और अनन्त वार नदी के प्रवाह मे बह बहकर मरे। अनन्त बार शस्त्रो से विदारण किये गये। अनन्त बार कोल्हू मे पीले गये। अनन्त वार दुष्ट तिर्यंच पशुओं से खाये गये। अनन्त बार पक्षियो से नोच नोच कर भक्षण किये गये। अनन्त वार चक्की मे पीसे गये। सेके गये। भुने गये। रांधे गये। कडाही मे तले गये। इसी प्रकार तुम अनन्त बार भूख की तीव्र वेदना सहकर भूख के मारे बिलबिला कर मरे हो। अनन्त बार प्यास के मारे तड़फ २ कर मरे हो। अनन्त बार शीत की वेदना से सुकड २ कर तुमने प्राण गवाये हैं। अनन्त वार उष्ण (गर्मी) की वेदना से छटपटाकर बुरी तरह मृत्यु पाई है। अनन्त वार वर्षा की वाधा से सड सड़ कर मरे हो। अनन्त वार पवन की पीडा मे प्राणो का त्याग कर चुके हो। अनन्त वार विष भक्षण से शरीर और प्राणों का नाश हुआ है। अनन्त वार निरुपाय व्याधि की कठोर वेदना से मरे हो। अनन्त बार भय से व्याकुल होकर मरे हो। अनन्त वार शोक से झुर झुर कर मरे हो। अनन्त वार सिंह व्याघ्रादि तथा सर्पादि द्वारा मारे गये हो तथा दुष्ट जीवों से विदारण किये गये हो। अनन्त बार चोरों के द्वारा किये गये उपद्रव से, अनन्त बार भीलादि जगली जाति के मनुष्यो से तथा कोतवालादि एव धर्म हीन दुष्ट राजाओ से, म्लेच्छ मनुष्यो से तुम अनन्त बार मारे गये हो। यह शरीर आयु पूर्ण होने पर किसी न किसी निमित्त से अवश्य नष्ट होता रहा है और अब भी अवश्य नष्ट होगा। अव इस अवसर पर मरण के भय से या वेदना के भय से संक्लेश भाव धारण कर रत्नत्रय की विराधना करना किसी प्रकार भी उचित नहीं है। अति भयानक दुःखों को सहते सहते तो अनन्त काल बिताया और अब ससार पार करने का अवसर मिला है, उसमे किंचिन्मात्र वेदना के प्राप्त होने पर ससार सागर से उद्धार करने वाले परम धर्म का आश्रय छोड देना कहा की बुद्धिमानी है ?

जदि कोइ मेरुमेत्तं लोहुण्डं पक्खविज्ज णिरयम्मि ।
उण्हे भूमिमपत्तो णिमिसेण विलेज्ज सो तत्थ ॥ १५६३ ॥ [भग आ]

अर्थ—हे क्षपक । कोई देव या दानव उष्ण नरक मे मेरु समान लोहे का पिण्ड ऊपर से गिरादे तो वह नरक भूमि पर गिरने के पूर्व ही नरक बिलों की उष्णता से क्षण मात्र मे पिघल कर बह जाता है ।

तह चेव य तद्दो पज्जलिदो सीयणिरय पक्खित्तो ।
सीदे भूमिमपत्तो खिमिसेण सडिज्ज लोहुएडं ॥ १५६४ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—यदि वही नरक की उष्णता से पिघला हुआ लोहे का पिंड कोई देव या दानव इकट्ठा करके शीत नरक मे फेंक दे तो वह शीत नरक के बिलो की भूमि को प्राप्त करने के पहले ही मार्ग मे बिलो के शीत से टुकडे टुकडे होकर बिखर जाता है ।

हे क्षपकोत्तम । वहा नरक भूमि मे लोहे से निर्मित मण्डप मे अतितप्त हुई अग्नि समान लाल वर्ण की लोहे की पुतलिया रहती हैं । तुमको उनके साथ बलात्कार से आलिंगन करवाया गया है । उस समय जो तुम्हें दु.सह दुःख हुआ था, उसका स्मरण करो । तथा तुमको अनेक बार अत्यन्त क्षारत्वयुक्त अग्नि से तप्तायमान कडुवारस पिलाया गया था, उसका तो ध्यान करो ।

हे साधो । वहा पर तुमको यत्र द्वारा मुख फाडकर बलात्कार से लोहे के जलते हुए अगारे खिलाये गये थे, तुमको कड़ाही मे पूरी कचोरी के समान तला था–उसका तो ख्याल करो ।

नरक मे सब नारकी एक दूसरे के शत्रु होते है । वे परस्पर दुःख देने मे तत्पर रहते हैं । वे बाण, चक्र, तलवार, छुरी, करौंत, भाला, शूली, गदा आदि शस्त्र रूप बन जाते हैं । तथा कुत्ता बिल्ली भेडिया सिंह व्याघ्र सर्पादि दुष्ट तिर्यंच बन जाते हैं । कोई नारकी पर्वत बनकर दूसरे नारकी पर गिर पडता है । कोई नारकी करौत बनता है और दो नारकी करौत उठाकर दूसरे नारकी के शरीर को कतरते हैं । इसी प्रकार एक दूसरे को दु'ख देने मे सहायक होते है । वहा पर ऐसे क्लेश तुमने अनन्त बार सहे है ।

हे साधो । नरक मे तुम्हारी आँखे निकाल ली गईं थीं तथा तुम्हारी जीभ खींचकर बाहर निकाल ली गई थी । उस समय कितना घोर दु'ख तुम्हें हुआ था, उसको सोचो ।

हे क्षपक । नरक मे तुम्हें अनेक प्रकार कुभीपाक मे पकाया गया था । तथा शूली मे पिरोकर अग्नि मे सेका था । भाड़ मे डालकर तुम्हें चने के समान भुना था । तुमको भात के समान बटलोई मे उबाला था । मास के टुकड़े के समान तेरे टुकडे २ किये गये थे । और आटे के समान तुम्हे चक्की मे पीसा था ।

हे मुने। तुम नरक मे चक्र मे छेदन किये गये थे। करौत से कई बार चीरे गये थे। कुल्हाडी फरसे से फाडे गये थे और मुद्गरों से तुम्हारा कचूमर निकाला था-उनको तो याद करो।

नरक में तुझे पाश मे बांधकर ऊपर से मस्तक पर घन पटके गये थे। और पश्चात अति तीक्ष्ण खार के कीचड में तुझे औंधा गाड दिया था। वहा पर तुझे घसीटा था। तेरे शरीर को नमाकर तोड दिया था। एक टाग को पाव से दबाकर दूसरी टाग ऊंची करके तुझे चीर डाला था। तेरा शरीर मर्दित किया गया था। लोहे के तिकोने तीक्ष्ण कांटा पर तू लुढ़काया गया था। तेरे छिन्न भिन्न हुए शरीर पर नारकी खारे चूर्ण का जल सींच कर ऊपर से छुवा करते थे। उसके अनन्तर शक्ति नामक शस्त्र से तथा जिनके अग्र भाग से लोहे के कांटे लगे हुए थे, ऐसी लाठियों से लौट पौट किये थे, घुमाये गये थे। उसमे तेरे शरीर मे रुधिर की धारा बह रही थी। शरीर का चमड़ा नीचे लटक गया था। पेट फूट गया था। अन्दर की आंतड़िया बाहर निकल आई थी। हृदय अत्यन्त सतप्त हो रहा था। आंखे फूट गई थीं। तेरे शरीर का चूर्ण हो गया था। ऐसे भयानक दुःख तू नरक मे अनेक बार भोग आया है। उसका चिन्तन कर। उस दुःख के मारे तेरे शरीर का अवयव कॉपता था। तू दुःख मे थर थर धूज रहा था। उन दुःखो के सामने हे तापक। यह दुःख कुछ भी नहीं है।

हे श्रमणोत्तम। तुमने अपूर्व पुण्य के उदय से मनुष्य जन्म पाया और देव दुर्लभ मर्त्यलोक पूज्य मुनि धर्म भी अङ्गीकार किया उसमें भी उत्तम सयम का पालन किया और अन्त मे सर्व श्रेष्ठ समाधिमरण को भी अङ्गीकार किया। इस परमोत्तम धर्म के पालन करते हुए तुम्हारे पूर्व सचित कर्म के उदय से किंचित वेदना आगई। जिससे तुम अपने परम पुनीत धर्म से पलायमान हो रहे हो। क्या यह तुम्हारे समान धैर्यशाली शूर वीर पुरुष पुगवों को शोभा देने वाला कृत्य है? यह लज्जा जनक क्रिया तुम्हारे यश को मलीन करने वाली है। इस आत्मा के विनाशकारी कायरपन का त्याग कर सावधान होओ और स्वाभिमान की रक्षा करो, तथा पतनोन्मुख होते हुए अपनी आत्मा को सम्भालो।

देखो, तुमने अनन्त काल तक इस धर्म के अभाव से भ्रमण किया उसमे अनन्त बार तिर्यंच गति भी पाई। उसके दुःखो का किंचिन्मात्र वर्णन करते हैं, उसे तुम सावधान होकर सुनो। इन दुःखो को तुम अपनी आखों से प्रत्यक्ष देख रहे हो।

तिरियगदिं अणुपत्तो भीममहावेदणाउलमपारं।
जम्मणमरणरहट्टं अणंतखुत्तो परिगदो जं॥ १५८१ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—भयानक तीव्र वेदनाओं से व्याकुल, जिसका पार पाना अति कठिन है ऐसी तिर्यंच गति को प्राप्त हुआ तू अरहट्ट की

घडियों के समान लगातार जन्म मरण को प्राप्त होता रहा। उसके दु.खो का भी तू विचार कर, स्मरण कर, चिन्तन कर। अपने दोषो का स्मरण करने से गुणों की वृद्धि व प्राप्ति होती है। इसलिए अपने दोषो का स्मरण कर। देखो तिर्यंचगति प्राप्त करके तूने पृथिवीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, और वनस्पतिकाय एव त्रसकाय मे जन्म धारण किया है।

हे क्षपक! मनुष्य शीत की बाधा होने पर निर्वात स्थान का आश्रय लेते हैं। गर्मी से पीड़ित होने पर उसका निवारण करने के लिए शीत जल मे स्नान करते हैं, ठडा पानी पीते हैं। भय उत्पन्न होने पर भय रहित स्थान का सहारा लेते हैं। द्वीन्द्रियादि त्रस जीव भी उक्त बाधाओ से बचने का यथोचित उपाय करने मे समर्थ होते हैं। परन्तु एकेन्द्रिय जीवों मे ऐसा सामर्थ्य नहीं होता है।

जैसे वैराग्य परायण मुनीश्वर सब प्रकार के उपसर्ग बाधाए स्वतत्र होकर सहते हैं, वैसे एकेन्द्रिय जीव परकृत व प्रकृति जन्य उपसर्ग बाधाओं को परतन्त्र हुए सह लेते हैं।

द्वीन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय जीव गाय बैल भैंस घोडे हाथी आदि पशुओं के पैर तले दब कर तथा गाडी रथ मोटर आदि वाहनो के नीचे कुचले जाकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

पचेन्द्रिय पशु पक्षी भी भूख प्यास शीत उष्ण का असह्य दु.ख भोगते हैं। एक प्राणी का दूसरा प्राणी भक्षण कर लेता है। कई अधम मनुष्य प्राणी भी इनका घात करते हैं। इन दीन हीन प्राणियो का सहार कर कई अपने उदर–दानव की बलि चढाते हैं। कई शरीर बल से तथा कई अन्य राज्यादि के ऐश्वर्य में उन्मत्त होकर इन दीन अशरण निहत्थे जीवो के प्राणों से क्रीडा कर प्रसन्न होते हैं, अपने निशाने के लक्ष्य बनाकर आनन्दित होते हैं। इन जीवो पर विपत्ति आने पर इनके माता पिता बान्धव मित्रादि सब दूर भाग जाते हैं। इनके शरीर मे रोग व्याधि आदि उत्पन्न होने पर कोई उनके दु.ख का प्रतीकार नहीं करता है। उनको एकाकी असह्य होकर सब क्लेश स्वय भोगना पडता है। उनको छेदन भेदन ताडन बन्धन मोचन शीत उष्ण वृष्टि पवनादि जन्य जो २ दुःख सहन करने पड़ते हैं, वे वचनातीत हैं। उनको केवली भगवान के सिवा अन्य जानने मे असमर्थ हैं।

हे क्षपक! ऐसे दु खों को अनन्त काल तक तूने भोगे हैं। निगोद मे तू अनन्त काल तक निवास कर चुका है। निगोद ही तेरा सदा का निवास है। त्रस पर्याय तो प्रवास के समान है। जैसे कोई मनुष्य किसी निमित्त से विदेश मे प्रवास करता है और महीने दो महीने भ्रमण कर अपने घर पर वापिस लौट जाता है, वैसे ही यह अपने निगोद निवास से निकलकर किसी पुण्य कर्म के योग से त्रस पर्याय मे प्रवास करने के लिए आता है और कुछ (पूर्व कोटि पृथक्त्व) अधिक दो हजार सागर तक त्रस पर्याय में भ्रमण कर पुनः

अपने निगोद रूप घर मे वापिस लौट जाता है। फिर वहां से अनन्त काल तक निकलना नहीं होता है। वहा पर वह एक श्वासे मे अठारह वार जन्म मरण करता रहता है। वहा जो दु:ख होता है वह नरक के दु खों से अनन्त गुणा दु:ख है। उस दु:ख को इस जीव ने अनन्त काल पर्यन्त सहा है। हे क्षपक ! वहा पर तुम्हारा कोई भी सहायक नहीं था। अब तुम इस अल्प कालीन किंचिन्मात्र दुःख से इतने अधीर हो रहे हो। हे तत्त्वज्ञ मुने। अब सावधान होकर थोड़ा विचार करो और अपने कल्याण के मार्ग से मत गिरो।

मनुष्य गति में प्राप्त दुःख

दीणत्तरोसचिंतासोगामरिसग्गिपउलिदमणो जं।
पत्तो घोरं दुक्खं माणुसजोणीए संतेण ॥ १५६१ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—मनुष्य पर्याय मे अपने प्राणों से अधिक प्यारे पुत्रादि का, धन वैभव का वियोग जन्य दु:ख भोगा है। जिसका स्मरण मात्र करने से हृदय के टुकडे २ हो जाते हैं ऐसा दु:ख अनन्त बार भोगा है। जिनका नाम मात्र सुनने से मस्तक मे शूल के समान वेदना होने लगती है, ऐसे अप्रिय महान् दुष्ट प्राणियों के सयोग से तुझे अनन्त बार घोर दु:ख व सन्ताप हुआ है। अभीष्ट (वाञ्छित) पदार्थ की प्राप्ति न हो सकने के कारण मनमे जो सन्ताप होता था उसके दु:ख का सहन भी तुमने किया है। सेवकपने मे पराधीन होकर, स्वाभिमान के नाशक अपमान जनक दुर्वचन सुनकर जो तुमको अन्त:करण मे दुःख हुआ है उसका हे मुने। तुम स्मरण करो। मनुष्य जन्म पाकर कभी तुम दीन हुए तब दीनता व दरिद्रता का मर्मभेदी दु:ख तुमने पाया। कभी रोष उत्पन्न हुआ, कभी चिन्ता-ज्वाला मे तुम जलते रहे। कभी शोकाग्नि से झुलसते रहे। कभी असहनशीलता के कारण दु:ख दावानल मे दग्ध होते रहे। ऐसे ही अनेक मानसिक वेदना से तुम रात दिन व्याकुल होकर दु:खों को सहन करते रहे हो, उनका चिन्तन करो। अब हे मुने। इस साधारण शारीरिक वेदना से क्या घबरा रहे हो ? यह साहस धारण करने का समय है। इसलिए सावधान होकर अपने धर्म व कर्तव्य को सम्भालो।

मनुष्य गति मे इस जीव ने चारित्र मोहनीय कर्म से प्रेरित होकर किसी प्रकार का अपराध किया तब राजा ने तथा राजमंत्री ने या राज्याधिकारी कोतवाल आदि ने तीव्र दण्ड दिया। बेंतों से तथा चाबुकों से पीटा। इस जीवका मुण्डन कर अपमानित किया। अनेक प्रकार के लाछन लगा कर अपमानित किया। राजा ने सर्वस्व अपहरण किया। चोर डाकुओं ने धन का अपहरण किया। कोई आततायी दुष्ट मनुष्य भार्यादि का अपहरण करते हैं। अग्नि दाह से धनादि का विनाश हो जाता है। कभी प्रकृति के प्रकोप से भूकम्प, जल की अथाह वृष्टि आदि

से, गृह धनादि का विध्वस होता है तब जीव को जो मानसिक व्यथा उत्पन्न होती है, उस दु.ख का भी तुमने अनेक बार अनुभव किया है। जिसका श्रवण करने से रोमाच उत्पन्न हो जाते हैं, उन दुःखो के सामने तुम्हारा यह स्वल्प दु.ख क्या चीज है। हे क्षपक। उनपर विचार तो करो।

मनुष्य गति मे भी विरोधी मनुष्य लाठियों से मार मार कर शरीर का कचूमर निकाल देते हैं। तलवार से सिर काट देते हैं। छुरा भोंक कर आतडिया निकाल लेते हैं। अग्नि में जला देते हैं। पानी मे डुबोते हैं। पर्वतादि से पटक कर शरीर के टुकडे २ कर देते हैं। मस्तक पर अग्नि जलाते हैं। अग्नि से तपे हुए लोहे के लाल सुर्ख गहने पहना कर दग्ध करते हैं। बदूक और तोपों से उड़ा देते हैं। बम गिराकर प्राणो का सहार करते हैं। धन सम्पत्ति गृह द्वारादि सब वस्तुओं का देखते देखते विनाश कर देते हैं। जहा स्वर्ग तुल्य दिव्य नगर था, उसे श्मशान तुल्य बना देते हैं। जो पूर्व क्षण मे सुन्दर लहलहाता हुआ हरा भरा पुष्प फलों से परिपूर्ण नन्दन वन सा उपवन था, उसे दूसरे क्षण मे भयानक जगल बना देते हैं। जो राजा था, उसका सर्वस्व नाशकर भिखारी बना देते हैं। असहाय और पुत्रादि से पृथक् कर बन्दीगृह की नरक समान यातना भोगने के लिए विवश करते हैं। वहा पर वह भूख प्यास ताडन वध बन्धनादि के असह्य दु.खो को भोगते भोगते मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। हे मुने। ऐसे दु.ख यह सदा भोगता रहा है। उनको ध्यान मे लावो और सावधान होकर आत्मा का चिन्तन करो।

कण्णोट्ठसीसणासाछेदणदंताण भजणं चेव।
अप्पाडणं च अच्छीण तहा जिब्भायणीहरणं ॥ १५६५ ॥ (भग. आ)

अर्थ—हे क्षपक। इस मनुष्य गति मे तुम्हारे कान काट लिये गये थे। होठों का छेदन किया गया था। छुरे से नाक उतारली गई थी। मस्तक तोड दिया गया था। दात तोडे गये थे। आखें निकाल ली गई थीं, फोडदी गई थीं। जीभ खींची गई थी। उनसे जो तुम्हें दु.ख उत्पन्न हुआ था, उसके सामने यह दुःख कितना सा है? हे क्षपक। तुम उनका चिन्तन करो।

हे मुने। तुम अनेक विष के प्रयोग से मरे हो। अग्नि काण्ड से जलकर मरण को प्राप्त हुए हो। अनेक शत्रु के द्वारा हनन किये गये हो। अनेक बार सर्प के द्वारा डसे गये हो। अनन्त बार सिंह व्याघ्र स्याल रीछ आदि दुष्ट हिंसक जन्तुओ के द्वारा भक्षण किये गये हो और नाना प्रकार के शस्त्रों के आघात से तुम मारे गये हो। उन दुःखो को तुमने कई बार सहा है। हे क्षपक। अब इस थोडे से दुःख को सहने मे कायरता क्यो दिखा रहे हो? तुम समान शूरवीर आत्मज्ञानी महापुरुषों को ऐसी कायरता दिखाना क्या योग्य है? अब धैर्य और साहस का आश्रय लो और सावधान होकर इस परम उत्कृष्ट समाधिमरण को सुधारो। तुमने पूर्वकाल मे परवश होकर तो पूर्वोक्त भारी २ दुःख सहे हैं। उनसे तुम्हें सिवा क्लेश के और नवीन कर्म बन्ध के कुछ हाथ नहीं लगा। इस समय तुम स्वतन्त्रता से इन आगत दु.खों को

शान्ति से सह लोगे तो तुम्हें उस समय भी क्लेश न होगा और पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होगी तथा नवीन कर्मों का संवर होगा। इसके फल स्वरूप तुम्हारा आत्मा सदा के लिए सुखी हो जावेगा। सम्पूर्ण कष्टों का संहार होगा और अनन्त काल तक शान्ति और नित्य आनन्द का अनुभव करोगे।

देवगति के दुःखों का वर्णन

हे क्षपक! देवगति में तुमने शारीरिक दु खों की अपेक्षा आत्मा को दु खाग्नि में सतत जलाने वाले मानसिक संताप का बार बार अनुभव किया है।

सरीरादो दुक्खादो होइ देवेसु माणसं तिव्वं ।
दुक्खं दुस्सहमवसस्स परेण अभिजुज्जमाणस्स ॥ १५६८ ॥
देवो माणी संतो पासिय देवे महड्ढिए अण्णे ।
जं दुक्खं संपत्तो घोरं भग्गेण माणेण ॥ १५६९ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—जब अल्प पुण्य के धारक आभियोग्य जाति के देव को महर्धिक-अधिक पुण्यशाली-देव वाहन बनाता है—उसे अश्व हस्ती बनाकर जब उसपर सवार होता है तब उस देव को जो मानसिक संताप होता है, वह असह्य होता है। वह दु ख तथा अन्य मनुष्यगति के दु खो से—शारीरिक दु खो से—बहुत अधिक होता है। एक स्वाभिमानी देव के जब दूसरे देव को अधिक ऋद्धिशाली, अनेक सुन्दर २ अप्सराओं के साथ, नाना प्रकार के वैभव के साथ क्रीड़ा करते देखकर जो मानसिक पीड़ा होती है, वह मरण के दु.ख से भी अत्यधिक होती है। अणिमा गरिमादि अनेक ऋद्धियों और नाना प्रकार के विभूतिशाली देव के सम्मुख हीनशक्ति के धारक देव का गर्व जब चूर चूर हो जाता है, उस समय उसके अन्तःकरण के भी टुकड़े २ हो जाते हैं। देवगति में वह दुःख बड़ा संताप उत्पन्न करने वाला होता है।

देवगति में जब तुम्हारे गले में यमराज (मृत्यु) का पाश आ गिरता है तो छह महीने पहले माला मुर्झाने लगती है। स्वर्ग के दिव्य कल्प वृक्षों से प्राप्त सुख सामग्री का, परम सुन्दरी देवांगनाओं के संयोग का जब त्याग करना पड़ा है, उस समय तुमको जो हृदय-विदारक दु.ख हुआ है, हे मुने! उसका विचार करो।

उस देवगति में जब तुम्हारी आयुष्य समाप्त होने वाली थी उस समय वहा से चय कर जब तुम को गर्भ में जन्म लेने का आभास हुआ था, तब तुमको कितना दुःख हुआ था? उस समय तुमने संताप किया था कि मुझे महा दुर्गन्धमय गर्भ में निवास करना

पड़ेगा और गर्भावस्था मे अति दुर्गन्ध युक्त पदार्थ का आहार करना पडेगा। क्षुधा तृषादि की मुझे असह्य पीड़ा होगी। नवमास पर्यन्त माता के उदर मे निरन्तर अग्नि की ज्वाला मे पचता रहूगा। माता खारा व चरपरा पदार्थ भक्षण करेगी, वह मेरे कोमल शरीर मे भयानक वेदना उत्पन्न करेंगे। हाय! मैं देव पर्याय मे अत्यन्त सुखी और पवित्र रहा हूँ। अब मुझे अति दुःखी और महा अपवित्र विष्टाघर के समान उदर मे एक दो दिन नहीं, नव मास पर्यन्त औंधे लटके रहना पडेगा। हाय! अब मैं क्या करू? यह आगामी निकट समय में आने वाली विपत्ति कैसे टल सकती है? ऐसा विचार करते समय जो तुम्हें दु:ख प्राप्त हुआ, उसका हे क्षपक! तुम विचार तो करो।

इस प्रकार हे मुने! चतुर्गति के दु:खो को तुमने सहा है, उनका अनन्तवा भाग भी यह दुःख नहीं है। हे आत्म ज्ञानिन्! इस समय तुम विवेक ज्ञान को जागृत करो। उसका उपयोग करो। यह दुःख उन दु:खो के सामने कुछ नहीं सा है। इससे घबराकर अपने कल्याणकारी मार्ग से च्युत होना तुम सरीखे समझदार महात्माओं को योग्य नहीं है। विपरीत समय आने पर अपने आत्मा को सन्मार्ग पर स्थित रखने वाला ही महापुरुष होता है। इस समय के लिए ही व्रतों का धारण, समिति का पालन और गुप्ति का साधन और अनेक तपश्चरण का आचरण किया जाता है। यदि इस समय तुम सावधान न रहे तो तुम्हारे व्रत नियम तपश्चरणादि उत्तम कृत्य निष्फल हो जावेंगे। इसलिए हे महात्मन्! अब सचेत हो जाओ और अपनी गति को सुधारो। तुम धीरात्मा हो, परम धैर्य के धारक हो, इस थोडे से कष्ट से क्या घबरा गये हो?

हे मुने! जब सख्यात काल तथा असख्यात काल पर्यन्त लगातार अति घोर दु:ख नरकादि गतियो मे परतन्त्रता से, तुमने सह लिये हैं। तो अब स्वाधीनता से यह अत्यल्प कष्ट थोड़े समय के लिए भी तुम से सहन नहीं होते हैं क्या? उन दु:खों का तो निराकरण करने के लिए तुम्हारे पास कोई साधन नहीं था। इस समय तो दु:ख घटाने का असली साधन तुमको प्राप्त है। उस साधन का उपयोग कर शान्ति का अनुभव करो।

प्रश्न—वह साधन कौनसा है। जिससे क्षुधा तृषादि को वेदना भी शान्त हो जावे?,

क्षुधादि वेदनाओं को शान्त करने के साधन

सुइपाणएण अणुसट्ठिभोयणेण य सढोवगहिएणु।
ज्झाणोसहेण तिव्वा वि वेदणा तीरदे सहिदु॑ ॥ १६०८ ॥ [भग आ.]

अर्थ—सवेग निर्वेद उत्पन्न करने वाली, आत्म अनात्म पदार्थ का भेद विज्ञान कराने वाली धर्मकथा-श्रुतज्ञान रूप अमृत-का पान करने से तथा निर्यापकाचार्य की शिक्षा-उपदेश रूप भोजन का भक्षण करने से हे क्षपक! तुम्हारे आत्मा मे बल का सचार होगा। शुभ

ध्यान रूप औषधि का सेवन करने से तुमपर इस वेदना का कुछ भी असर न होगा। और तुम उसका नाश करने मे समर्थ हो सकोगे।

हे श्रमणोत्तम। जब वेदनीय कर्म का तीव्र उदय होता है, उस समय उसका प्रतीकार करने मे देवादि कोई भी समर्थ नहीं होते हैं। उस समय जो वेदना होती है उसका प्रतीकार साहस और धैर्य है। साहसी और धैर्यवान् आत्मा ज्ञान रूपी शीतल जल से उस दु ख को शान्त करता है।

हे महात्मन्। जब वेदनीय कर्म का तीव्र उदय होता है उस समय किसी का बल काम नहीं देता है। राजा महाराजाओं के पास सेवा शुश्रूषा करने वाले तथा विद्वान् अनुभवी बडे २ वैद्य डाक्टरों के रहते हुए, असयम का आचरण करने पर भी वे दु.ख से मुक्त नही हुए। तीव्र वेदनीय कर्म का उदय आने पर सब जीव दु ख दूर करने में असमर्थ होते हैं। इसलिए ऐसे समय श्रुतज्ञान मृत का पान करने से ही दु.ख की निवृत्ति होती है। अतएव हे क्षपक। तुमको उसीका पान करने मे सावधान होना चाहिए।

मोक्खाभिलासिणो संजदस्स णिधणगमणं पि होदि वरं।
ण य वेदणाणिमित्तं अप्पासुगसेवणं कादुं ॥ १६१३ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—हे मुने। मोक्ष के अभिलाषी सयमी जनों का मरण को प्राप्त होना तो श्रेष्ठ है, किन्तु वेदना का उपशम करने के लिए अप्रासुक द्रव्यों का सेवन करना सर्वथा अयोग्य है। सयम धन के रक्षक साधुओं को प्रासुक औषधादि मिल सके तो वे उनका सेवन करते हैं; अन्यथा प्राण जाने पर भी सयम का त्याग नहीं करते। क्योकि अप्रासुक औषधि का सेवन करने से संयम का नाश होता है। सयम का रक्षण भव भव मे सुख का अकुर उत्पन्न करता है। मृत्यु केवल उसी भव का घात करती है। और असयम का आचरण अनेक भवों मे सैंकड़ो व हजारो पर्यायो मे दु ख के अकुरों का उत्पादक होता है।

इस प्रकार परम दयालु निर्यापकाचार्य के शिक्षोपदेश को पाकर क्षपक अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर साहस व धैर्य का अवलम्बन लेकर अपने आत्मा के कल्याण के निमित्त शीघ्र सचेत होता है और पूर्ण शान्ति की पताका को फहराने लगता है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य इन चार भावनाओं के चिन्तन मे तत्पर होता है। जब क्षपक का शरीर अत्यन्त क्षीण हो जाता है तब वह संस्तर का भी त्याग कर देता है। किसी से वैयावृत्त्य नहीं करवाता है। अपने शरीर का भी त्याग कर देता है और आत्म-भावना में तल्लीन रहता है।

एवं सुभाविदप्पा झाणोवगओ पसत्थलेस्साओ।
आराधणापडायं हरइ अविग्घेण सो खवओ ॥ १६२४ ॥ (भग आ)

अर्थ—उक्त प्रकार जिसने आत्मा को शुभ ध्यान मे लीन किया है जो शुक्ल ध्यान और शुक्ल लेश्या को प्राप्त हुआ है, वह क्षपक निर्विघ्न पूर्वक आराधना पताका को हस्त में ग्रहण करता है। अर्थात् वह चारों आराधनाओं के फल को प्राप्त करता है।

अह सावसेसकम्मा मलियकसाया पणठमिच्छत्ता ।
हासरइअरइभयसोगदुगुंछावेयत्तियम्महणा ॥ १९३० ॥
पंचसमिदा तिगुत्ता सुसंवुडा सव्वसंगउम्मुक्का ।
धीरा अदीणमणसा समसुहदुक्खा असमूढा ॥ १९३१ ॥
सव्वसमाधाणेण य चरित्तजोगे अधिठिदा सम्म ।
धम्मे वा उवजुत्ता ज्झाणे तह पढमसुक्के वा ॥ १९३२ ॥
इय मज्झिममाराधणमणुपालित्ता सरीरयं हिच्चा ।
हुंति अणुत्तरवासी देवा सुविसुद्धलेस्सा य ॥ १९३३ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—हे क्षपक ! जिनके कर्म बाकी रह गये है, जिन्होंने अनन्तानुबन्धी आदि कषायों का मथन कर दिया है, तथा मिथ्यात्व का सहार किया है और हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा पुरुषवेद, स्त्रीवेद एवं नपुसकवेद का उच्छेद किया है, जिन्होंने पांच समिति का पालन और तीन गुप्ति का धारण किया है, आगामी कर्मों का निरोधकर सवर किया है अर्थात् सवर का कारण जो तपश्चरण और ध्यान है उसका सेवन किया है, जो मिथ्यात्व कषायादि चौदह प्रकार के अन्तरङ्ग परिग्रह और क्षेत्रादि दश प्रकार के बाह्य परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर भावनिर्ग्रन्थावस्था को प्राप्त हुए हैं, जो अनेक कष्टो के आने पर धीरज धारण करते हैं, जिनके मन मे दीनता का भाव लेशमात्र भी नहीं है, जो सुख और दुःख में समबुद्धि रखते हैं, जो शरीर मे भी मोह नहीं रखते हैं, जो मनोयोग, वचन योग और काययोग से आत्म स्वरूप मे स्थिर रहते हैं, अर्थात जो निरन्तर चारित्राचरण मे तत्पर रहते हैं, तथा जो धर्म्यध्यान में तथा प्रथम शुक्ल ध्यान मे और द्वितीय शुक्ल ध्यान मे रत रहते हैं, इस प्रकार मध्यम आराधना का पालन करते हुए शरीर का त्याग करने वाले मुनिराज विशुद्ध लेश्या के स्वामी बनकर अनुत्तर विमान वासी देवो मे उत्पन्न होते हैं।

हे क्षपक ! कल्पवासी देवो में जन्म देनेवाले रत्नत्रय से उत्कृष्ट—रत्नत्रय का पालन करने में जो समर्थ होते हैं अर्थात् उत्तम

ध्यान और उत्कृष्ट तप का आचरण करने में जो संयमी सदा तत्पर रहते हैं, जिनके भावों में विशेष निर्मलता रहती है, कल्पातीत देवों में जन्म देने वाले विशेष पुण्यास्रव की प्राप्ति जिन्होंने की है वे नवग्रैवेयक और नव अनुदिश विमानों में अहमिन्द्र होते हैं। जिस सुख का अनुभव सौधर्मादि कल्पवासी देव दिव्य देवांगनाओं के साथ भोग भोगकर नित्य नन्दन वनादि के सुन्दर ललित कुंजों में विहार व क्रीड़ा करके प्राप्त करते हैं उससे भी अनन्त गुणा सुख अहमिन्द्र देवों को प्रतिसमय निरन्तर प्राप्त होता है।

हे मुनिश्रेष्ठ। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और यथाख्यात चारित्र में सदा तत्पर रहते हैं तथा तपश्चरण में उत्तरोत्तर जिनके परिणाम वृद्धिगत होते रहते हैं तथा जिन की लेश्या सतत विशुद्धता धारण करती है ऐसे क्षपक इस औदारिक शरीर का त्याग कर अणिमादि गुणों से सब से बढे चढे देवेन्द्र के अन्तिम पद को पाते हैं।

हे श्रमणोत्तम। जिनका अन्तःकरण श्रुत की आराधना से अति निर्मल हुआ है जिन्होंने उग्रोग्रतप और उत्तमोत्तम नियम आतपनादियोग और ध्यान से अपनी आत्मा को विशेष निमल बनाया है वे धैर्यगुण के धारक आराधक लौकान्तिक देव होते हैं।

तात्पर्य यह है कि इस जगत् में जितनी ऋद्धियाँ और इन्द्रियजन्य सुख और ऐश्वर्य सम्पदाएँ हैं वे सब निर्मल भाव के धारक क्षपक को स्वतः आकर प्राप्त होती हैं।

तेजोलेश्या के धारक क्षपक की आराधना को जघन्य आराधना कहते हैं। इस आराधना का सेवन करने वाले क्षपक सौधर्मादि स्वर्गों में जन्म लेते हैं। सौधर्मादि स्वर्गों के देवों से हीन देवों में वे कभी जन्म नहीं लेते हैं।

किं जंपिएण बहुणा जो सारो केवलस्स लोगस्स।
तं अचिरेण लहते फासित्ता आराहणं णिखिलं ॥ १९४१ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—अधिक कहां तक कहा जावे। तीनों आराधनाओं में से किसी भी आराधना का सेवन करने वाला महात्मा सम्पूर्ण लोक के सार भूत पदार्थों को शीघ्र प्राप्त करता है।

तात्पर्य यह है कि उत्कृष्ट आराधना का आराधक तो उसी भव में मोक्ष के दिव्य सुख का सदा के लिए भोग करता है। मध्यम आराधना का आराधक अहमिंद्रादि महर्द्धिक देव होकर स्वर्ग के दिव्य इन्द्रिय जन्य सुखों का अनुभव कर दूसरे या तीसरे आदि भव में मुक्ति अंगना का पति होता है। जघन्य आराधना का आराधक भी कम से कम सौधर्मादि स्वर्गों में उत्तम देव होता है और वहां पर दिव्य

देवागनाओ के साथ अनेक प्रकार ऐन्द्रियक (इद्रियजन्य) सुख भोगकर अधिक से अधिक सात आठ भवो के अनन्तर अवश्य मुक्ति को प्राप्त होता है ।

हे क्षपक ! जघन्य आराधना का सेवन करने वाले भी महा पुण्यशाली होते हैं । वे सौधर्मादि स्वर्गों मे उत्तम देवों में जन्म लेते हैं । वहा से शुभध्यान पूर्वक चयकर मनुष्य जन्म धारण करते हैं । मनुष्य भव में भी उन्हें सम्पूर्ण विभूतियाँ व ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं । विश्व की सुख सामग्री सदा उनके चरणों मे पडी रहती है । उस विश्व-विभूति का भी त्याग कर मुनि धर्म का आचारण करते हैं और तपस्वाध्याय में मग्न रहते हैं । परिषह और उपसर्ग आने पर उनसे विचलित नहीं होते, किन्तु उनका धैर्य के साथ हृदय से स्वागत करते हैं । वे कभी श्रद्धा, सवेग और वैराग्य से नहीं डिगते हैं ।

उनमें से कई क्षपक तो उसी मनुष्य भव मे यथाख्यात चारित्र और शुक्लध्यान से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर चतुर्गति के भ्रमण जाल से निकलकर मोक्ष को प्राप्त होते हैं ।

कई क्षपक मनुष्य भव मे अनेक दुर्धर तपश्चरण का आराधन कर स्वर्गलोक मे महर्द्धिक देव होते हैं और वहा पर चित्त रंजन करने वाले दिव्य भोगो को भोगते हैं । मनोविनोद की अपूर्व सामग्री के अनुभव करने मे तल्लीन रहते हैं । वहा से आयुष्य को सुख पूर्वक विताकर शान्ति से देव पर्याय छोडकर पुनः मनुष्य जन्म पाते हैं । वहा पर चक्रवर्त्ती उत्तम विभूति के धारक होते हैं । अनेक मनोवांछित सुखों का अनुभव कर उसको निःसार समझ मुनिदीक्षा ग्रहण करते है । तथा अनेक दुष्कर तप का आचरण कर शुक्ल ध्यानाग्नि से घाति व अघाति कर्मों को दग्ध कर शिवरमणी के रसिक होते हैं ।

एवं संथारगदो विसोधइत्ता वि दंसणचरित्तं ।
परिवडदि पुणो कोई झायंतो अट्टरुद्दाणि ॥ १९४६ ॥
ज्झायंतो अणगारो अट्टं रुद्दं चरिमकालम्मि ।
जो जहइ सय देहं सो ण लहइ सुग्गदिं खवओ ॥ १९४७ ॥ (भग. आ)

अर्थ—कई साधु ससार के सब विषयभोग का परित्याग कर निर्ग्रन्थावस्था धारण कर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का निर्विघ्न आराधन करने के लिए सस्तार का आश्रय लेते हैं और सम्यग्दर्शन व चारित्र की विशुद्धि करने पर भी पूर्व कर्म के भार से अन्त समय आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान मे प्रवृत्त होकर अपने शुद्ध स्वरूप से भ्रष्ट होते हैं ।

हे क्षपक ! जो मरण काल मे आर्त रौद्रध्यान मे प्रवृत्ति करते हैं वे क्षपक आयुष्य के पूर्ण होने पर उत्तम गति नहीं पाते हैं।

हे मुने ! जिस साधु ने पहले अपने आत्मा को आराधना से सुसंस्कृत किया था, वह भी संस्तर पर आरूढ होकर मरण समय मे सक्लेश परिणामो के उत्पन्न होने से उत्तम मार्ग से गिर जाता है तो क्या जो पार्श्वस्थ, कुशील, ससक्त, अवसन्न और स्वच्छ है वे पतित साधु सन्मार्ग से भ्रष्ट नहीं होते हैं ? अवश्य होते है।

जो मूढबुद्धि पूर्वोक्त दोषों का वमन नहीं करते हैं, दोषो को धारण किये हुए मृत्यु को प्राप्त हुए है वे मायाचार तथा असत्य वचन के कारण देव दुर्भगता को अर्थात् नीच देव पने को प्राप्त होते हैं।

प्रश्न—जो मुनि सघ सेवा नहीं करते है समय आने पर दूसरे मुनीश्वरो की वैयावृत्त्य नहीं करते हैं वे किस गति मे जाते है ?

किं मज्झ णिरुच्छाहा हवंति जे सव्वसंघकज्जेसु।
ते देवसमिदिवज्झा कप्पंति हु ति सुरमेच्छा ॥ १९५८ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—मेरा इसमे क्या प्रयोजन है ? क्या मै ही हू ? मुझसे तो अपना भी कार्य नहीं होता है ? मैं किस किस का काम करू ? इस प्रकार विचार कर जो साधु सम्पूर्ण संघ का कार्य करने मे उत्साह रहित होता है, किसी रोगी वृद्ध तथा अशक्त मुनि की वैयावृत्त्य करने मे उदासीनता दिखाता है वह स्वार्थी साधु देवसभा से बहिष्कृत होता है अर्थात् वह सभा के मध्य बैठने का अधिकारी नहीं होता है। सौधर्मादि स्वर्गों के अन्त भाग मे चाण्डालादि जाति का म्लेच्छ देव होता है।

हे मुने ! जो कदर्प भावना के वश होकर मरण करते है, वे कन्दर्प जाति के नीच देव होते हैं। असत्य निन्द्य बोलने बुलवाने मे तथा काम रति मे लीन रहने को कन्दर्प भावना कहते हैं। जो तीर्थंकरो की आज्ञा से प्रतिकूल होकर संघ का चैत्य (प्रतिमा) का और जिनागम का अविनय अनादर करते हैं मायाचार करते हैं, उनके किल्विप भावना होती है, उस भावना मे जो मरण करते हैं, वे किल्विप जाति के देव होते हैं।

हे साधो ! जो मुनि तंत्र मन्त्रादि तथा हंसी मजाक तथा व्यर्थ बकवाद एव वाग्जालादि का उपयोग करते हैं उनके आभियोग्य भावना होती है। इस भावना से जो प्राण त्याग करते हैं वे आभियोग्य जाति के वाहन बनने वाले देव होते हैं।

हे क्षपक ! जो क्रोधी, मानी और मायावी होते हैं, तथा तपश्चरण मे और चारित्राचरण में संक्लेश परिणाम रखते हैं, एव दृढ वैर मे जिनकी रुचि होती है उनके आसुरी भावना होती है। उस भावना से युक्त होकर जो मरण करते हैं, वे असुर जाति के देवो मे जन्म ग्रहण करते हैं।

हे मुने ! जो उन्मार्ग का उपदेश देकर सन्मार्ग का उच्छेद करते हैं, तथा सच्चे वीतराग मार्ग को बिगाड़ कर राग वर्द्धक मार्ग की तथा नवीन मार्ग की स्थापना करते हैं, मिथ्यात्व का उपदेश देकर संसार के जीवों को मोह उत्पन्न कर विपरीत मार्ग में प्रेरित करते हैं, उनके सम्मोह भावना होती है। उस भावना से युक्त होकर जो मरण करते हैं वे सम्मोह जाति के देवो मे जन्म धारण करते हैं।

जे सम्मत्तं खवया विराधयित्ता पुणो मरेज्जएह ।
ते भवणवासिजोदिसभोमेज्जा वा सुरा होंति ॥ १९९३ ॥ भग. आ.

अर्थ—हे मुने ! जो क्षपक सम्यक्त्व की विराधना करके मरण करते हैं वे भवनवासी व्यन्तर अथवा ज्योतिष देव होते हैं। वे इन भवनत्रिक देवो मे ही जन्म लेते हैं और वहा से आयुष्य पूर्ण कर वहा से चयकर सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान से हीन हुए दुःख वेदना की लहरें जिसमे सतत उठा करती है ऐसे ससार सागर मे भ्रमण करते हैं।

हे क्षपक ! जो साधु मिथ्यात्व को प्राप्त होकर जिस लेश्या मे मरण करते हैं परभव मे उसी लेश्या के धारक होते हैं।

प्रश्न—जो साधु समाधिमरण से प्राण छोडता है उसके शरीर की क्या व्यवस्था होती है।

एवं कालगदस्स दु सरीर मंतावहिज्ज बाहिं वा ।
विज्जावच्चकरा तं सयं विकिंचति जदणाए ॥ १९९६ ॥ भग. आ

अर्थ—जब क्षपक पूर्वोक्त सन्यास विधि से मरण करता है तब वैयावृत्त्य करने वाले साधु उसके शरीर को जो गाम मे अथवा बाहर की वसतिका मे पड़ा रहता है, यत्न पूर्वक ले जाते हैं।

भावार्थ—जो क्षपक गुरु के निकट आलोचना से लेकर निस्तरण पर्यन्त सम्यक् प्रकार सम्यक्त्वादि चार आराधनाओं का सेवन कर पवित्र हुआ है उसका शरीर नगर के भीतर किसी वसतिका मे हो अथवा बाहर किसी जगह वसतिका मे पडा हो उसे वैयावृत्त्य करने

वाले मुनीश्वर आगे कही जाने वाली विधि से यत्न पूर्वक ले जाते हैं।

क्षपक की निषीधिका

जहां क्षपक का मृत शरीर स्थापना करते हैं उसको निषीधिका (निषद्या) कहते हैं।

प्रश्न—साधु की निषीधिका कैसी होती है ? उसके लिए जिन २ बातों पर अवश्य ध्यान रखा जाना चाहिए उन सबको संक्षेप से समझाने का अनुग्रह कीजिए।

उत्तर—जहां पर साधु के मृत शरीर को रखते हैं, वह (निषीधिका) स्थान उद्दे ही (चींटी आदि) से रहित निश्छिद्रतादि गुणों सहित होना चाहिए। उसके लिए कहा है—

अभिसुआ असुसिरा अघसा उज्जोवा बहुसमा य असिणिद्धा।
णिज्जंतुगा अहरिदा अविला य तहा अणाबाधा ॥ १९६९ ॥
जा अवर दक्खिणाए व दक्खिणाए व अध व अवराए।
वसधीदो वणिज्जदि णिसीधिया सा पसत्थत्ति ॥ १९७० ॥ भग आ.

अर्थ—क्षपक की निषीधिका उद्देहियो से रहित होनी चाहिए। भूमि में नीचे छेद या बिल न होने चाहिए। धसी हुई न होनी चाहिए। प्रकाश सहित तथा समतल धरा पर होनी चाहिए। भीगी तथा जन्तु सहित न होनी चाहिए। हरितांकुर रहित, तिरछे बिल रहित और बाधा रहित होनी चाहिए।

निषीधिका किस दिशा में होनी चाहिए

वह नैऋत्य दिशा में, दक्षिण दिशा में या पश्चिम दिशा मे प्रशस्त मानी गई है। पूर्वाचार्यों ने उक्त दिशाओं मे ही क्षपक को निषीधिका योग्य बताई है।

प्रश्न—नैऋत्यादि दिशा मे ही क्षपक की निषीधिका प्रशस्त और पूर्वादि दिशाओ मे क्यों अपशस्त मानी गई है।-उनका (प्रत्येक दिशा सम्बन्धी निषीधिका का) शुभाशुभ फल क्या है ?

सं. प्र.

सव्वसमाधी पढमाए दक्खिणाए दु भत्तगं सुलभं ।
अवराए सुहविहारो होदि य उवधिस्स लाभो य ॥ १९७१ ॥
जदि तेसिं वाघादो दट्ठव्वा पुव्वदक्खिणा होइ ।
अवरुत्तरा य पुव्वा उदीचि पुव्वुत्तरा कमसो ॥ १९७२ ॥
एदासु फलं कमसो जाणेज्ज तुमतुमा य कलहो य ।
भेदो य गिलाणं पि य चरिमा पुण कड्ढदे अण्णं ॥ १९७३ ॥ भग. आ.

अर्थ—नैऋत्य दिशा की निपीधिका सम्पूर्ण संघ की समाधि (शान्ति) की सूचक होती है। दक्षिण दिशा की निपीधिका से सर्व सघ के लिए आहार की सुलभता का सूचन होता है। पश्चिम दिशा सम्बन्धी निपीधिका संघ का सुख पूर्वक विहार और पुस्तकादि उपकरणों की प्राप्ति को प्रकट करती है।

इन दिशाओ मे निपद्या बनवाने मे यदि कोई बाधा उपस्थित होती हो तो आग्नेय, वायव्य, ऐशान पूर्व व उत्तर इन पाच दिशाओं में से जिसमें भी सुविधा हो उसमे बनाना चाहिए।

परन्तु इन आग्नेयादि पाच दिशाओं में निपद्या करने का फल अच्छा नहीं है। आग्नेयदिशा की निपद्या से सघ मे तू तू, मैं मैं होती है। अर्थात् तू ऐसा है, मैं ऐसा हूं, ऐसी स्पर्द्धा होती है। वायव्य दिशा की निपद्या से सघ में कलह उत्पन्न होता है। पूर्व दिशा की निपद्या से सघ मे फूट पड़ती है। उत्तर दिशा की निपीधिका से व्याधि उत्पन्न होती है। और ऐशान दिशा की निपद्या से सघ मे खेंचातानी होती है या किसी मुनि का मरण होता है। अर्थात् आग्नेयादि पाच दिशाओं का फल उत्तरोत्तर अधिक २ अशुभ है। इसलिए इन दिशाओ मे जहा तक बन सके क्षपक की निपीधिका न करनी चाहिए। पूर्वोक्त नैऋत्य, दक्षिण या पश्चिम इन दिशाओ मे ही करनी चाहिए।

क्षपक के मृत्यु समय की क्रियाएँ

प्रश्न—क्षपक के मरण समय मे कोई विशेष कर्त्तव्य होता है क्या ?

उत्तर—हा, क्षपक का मरण होने पर निम्नप्रकार क्रिया की जाती है।

जं वेलं कालगदो भिक्खू तं वेलमेव णीहरणं।
जग्गणबंधणछेदणविधी अवेलाए कादव्वा ॥ १९७४ ॥ भग. आ.

जिस समय चपक का मरण हुआ हो, उसी समय उसका शव लेजाना उचित है। यदि साधु का मरण रात्रि आदि अवेला (असमय) मे हुआ तो उस समय जागरण वन्धन और छेदन ये तीन विधि करना चाहिए।

प्रश्न—इन तीन विधियों को कौन करते हैं?

उत्तर—जो धीर-वीर मुनि सघ मे होते हैं, वे ही इन विधियो को करते हैं। कहा है—

बाले वुड्ढे सीसे तवस्सिभीरुगिलाणय दुहिदे। भग. आ
आयरिए य विकिंचिय धीरा जग्गंति जिदणिद्दा ॥ १९७५ ॥

अर्थ—सघ मे जो वालक मुनि, वृद्ध मुनि, शिष्य मुनि (शैक्ष) तपस्वी, भीरु (भय युक्त) रोगी, दु:ख पीडित और आचार्य इनको छोड कर जो धैर्य धारक मुनि होते हैं और जिन्होंने निद्रा पर विजय पाया है वे मुनि ही जागरण करते हैं। अर्थात् रात्रि आदि असमय मे चपक का मरण हो जावे तव धीरता के धारक तथा निद्रा को जीतने वाले आत्मवली मुनि ही शव के समीप रहकर जागरण करते हैं।

प्रश्न—कौन मुनि किस अवयव का वन्धन व छेदन करते हैं।

उत्तर—जिन मुनियों ने आगम के रहस्य को भलीभाति जान लिया है तथा अनेक बार चपक के कृत्यो (वैयावृत्य सम्बन्धी कार्यों) का निर्वाह किया है और जो शारीरिक वल, आत्म वल एव धैर्य के धारक हैं ऐसे साधु श्रेष्ठ चपक के हाथ तथा पाव और अगूठे के कुछ भाग को वाधते हैं अथवा छेदन करते हैं।

प्रश्न—यदि चपक के शव की उक्त वन्धनादि क्रिया नहीं की जावे तो क्या हानि होती है?

जदि वा एस न कीरेज्ज विधी तो तत्थ देवदा कोई।
आदाय तं कलेवरमुट्ठिज्ज रमिज्ज वाधेज्ज ॥ १९७७ ॥ भग. आ

अर्थ—यदि क्षपक के शरीर की बन्धनादि क्रिया न की जावे तो उस स्थान का तथा आसपास मे निवास करने वाला कोई क्रीड़ाप्रिय भूत या पिशाच (व्यन्तर देव) उस शरीर मे प्रवेश कर जावे तथा उसको लेकर वह उठ खड़ा हो जावे, इधर उधर दौड़ धूप करने लगे, एवं अनेक प्रकार की ऐसी ही क्रीडा करने लगे तो इसको देखकर बाल मुनि अथवा भय प्रकृति वाले अन्य मुनि भयभीत होजावेंगे या अति भयातुर होकर मृत्यु को भी प्राप्त होजावें। कई अधीर मुनियो के श्रद्धान व चारित्र में शिथिलता आजावे अनेक उपद्रव उत्पन्न होजावे। अत: उक्त क्रिया करना अत्यन्त आवश्यक बताया गया है। हाथ पांव आदि छेदन या बन्धन कर देने पर उक्त दोष निवृत्त हो जाता है।

प्रश्न—मुनियों के पास चाकू आदि शस्त्र तो रहता नहीं और वस्त्र भी नहीं रहता है वे क्षपक के हस्त पाद या अंगूठे के किसी भाग का किससे छेदन या बन्धन करेंगे ?

उत्तर—मुनि लोग संघ मे रहते हैं तब उनको चाहिए कि वे अपने दश अगुलियों के नखों में से एक अंगुलि के नख को सदा बढ़ा हुआ रखे। काम पडने पर वे उससे अगुलि का चमडा विदारण कर सकें। तथा तृण का जो संस्तर (सथारा) होता है, उसमें से तृण लेकर उससे अगूठे आदि के भाग को बाध सकते हैं। इस उक्त कार्य के लिए एक नख रखने की सिद्धान्त में आज्ञा है।

प्रश्न—जिन व्यन्तरदेवकृत उपद्रव का निवारण करने के लिए साधुओं को भी क्षपक के मृतक शरीर के निमित्त जागरण तथा बन्धन छेदन करना पडता है उन क्रीडाप्रिय व्यन्तर देवों का विशेष स्वरूप और उनके भेदों का भी विवेचन कीजिए।

व्यन्तर देवों का वर्णन

उत्तर—व्यन्तर जाति के देव कौतुक प्रिय होते हैं। वे केवल क्रीड़ा के लिऐ सब कौतुक करते हैं। अन्य मत वाले भूत पिशाचादि देवों को मासभक्षी रुधिर पान करने वाले कहते हैं। वह सर्वथा मिथ्या है। सब देव मात्र अमृत भोजी होते हैं। उनके आहार की इच्छा होते ही कण्ठ मे अमृत झरता है। उससे उनको तृप्ति होती है। मास भक्षण और रुधिर पान तो उत्तम जाति व कुल के मनुष्य भी नहीं करते हैं। तथा कई धर्म के ज्ञाता नीच जाति व कुल के लोग भी इन से दूर रहते हैं तो जिनके वैक्रियिक शरीर है जिस में रुधिर मांसादि कोई भी धातु नहीं है ऐसे उत्तम शरीर के धारक देव इस घृणित दुर्गन्धमय माँस रुधिर का सेवन कैसे कर सकते हैं।

हाँ कई नीचकुल जाति से आये हुए नीच जाति के देव अपने पूर्व जन्म के सस्कार वश क्रीडा के निमित्त अशुचि पदार्थों का स्पर्श कर लेते हैं। मृतक शरीर से क्रीडा करने के निमित्त उसमें प्रवेश कर लेते हैं। इधर उधर दौड़ने लगते हैं इत्यादि क्रियाएं करते हैं। उन

व्यन्तरों के मूल आठ भेद हैं—

व्यन्तरों के भेद प्रभेद

व्यन्तराः किन्नरकिं पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्ष राक्षस, भूत पिशाचा (तत्त्वार्थ सूत्र)

१ किन्नर, २ किम्पुरुष, ३ महोरग, ४ गन्धर्व, ५ यक्ष, ६ राक्षस, ७ भूत और ८ पिशाच ये व्यन्तरो के मूल आठ भेद हैं। इन के आवान्तर भेद निम्न प्रकार हैं:—

१ किन्नरों के दश भेद हैं। वे सब हरित वर्णीय सुन्दर सौम्य दर्शनीय मुकुट हार आदि भूषणो के धारक और अशोक वृक्ष ध्वजा वाले होते हैं।

(१) किन्नर, (२) किम्पुरुषा, (३) किम्पुरुषोत्तम, (४) किन्नरोत्तम, (५) हृदयंगम, (६) रूपशालिन (७) अतिनन्दित, (८) मनोरम, (९) रतिप्रिय और (१०) रतिश्रेष्ठ ये दश भेद होते हैं।

(२) किम्पुरुष—इनकी जघा और भुजा अधिक शोभित होती है और मुख अति सुन्दर होता है। नाना प्रकार के अलंकारो से तथा लेपनादि से भूषित होते हैं। और इनके चम्प वृक्ष की ध्वजा होती है। इन के भी दश भेद होते हैं। वे निम्नोक्त प्रकार हैं—

(१) पुरुष, (२) सत्पुरुष, (३) महापुरुष, (४) पुरुषवृषभ, (५) पुरुषोत्तम, (६) अतिपुरुष, (७) गुरुदेव, (८) मरुत, (९) मेरुप्रभ और (१०) यशस्वत।

(३) महोरगों के शरीर का वर्ण कृष्ण होता है। महावेगवान्, सौम्यदर्शनीय, स्थूलकाय, मोटीगर्दन और स्थूलकन्धोंवाले होते हैं। नाना अलंकारों के धारक और नागवृक्ष की ध्वजा वाले होते हैं। इनके दश भेद होते हैं। वे निम्नोक्त प्रकार हैं—

(१) भुजग, (२) भोगशालिन, (३) महाकाय, (४) अतिकाय, (५) स्कन्धशालिन, (६) मनोरम (७) महावेग, (८) महेष्वक्ष, (९) मेरुकान्त और (१०) भास्वत्।

(४) गन्धर्व—इनके शरीर का वर्ण रक्त होता है। ये गंभीर, प्रियदर्शनीय, पुरुप, सुन्दर मुखाकृति, सुस्वर, व मालाधारी होते होते हैं। इनकी ध्वजा वाद्यों के आकार की होती है। इन के भेद बारह होते हैं। वे निम्नप्रकार हैं—

(१) हाहा, (२) हूहू (३) तुम्बुरव, (४) नारद, (५) ऋषिवादी, (६) भूतवादी, (७) कादम्ब, (८) महाकादम्ब, (९) रैवत, (१०) विश्वावसु, (११) गतिरति और (१२) गतियश।

५) यक्ष—ये काले वर्ण वाले, गम्भीर, तोंदवाले, प्रिय-दर्शन, प्रमाणयुक्त रक्त हस्तपादादि अवयव वाले, चमकीले मुकुट तथा नाना भूषणों के धारक तथा वटवृक्ष की ध्वजावाले होते हैं। इन के तेरह भेद हैं। वे ये हैं—

(१) पूर्णभद्र, (२) मणिभद्र, (३) श्वेतभद्र, (४) हरिभद्र, (५) सुमनोभद्र, (६) व्यतिपातिकभद्र, (७) सुभद्र, (८) सर्वतोभद्र, (९) मनुष्ययक्ष, (१०) वनाधिपति, (११) वनाहार, (१२) रूपयक्ष और (१३) यक्षोत्तम।

(६) राक्षस—भयंकर दर्शन वाले, भयानक मस्तक मुखादि अंगो वाले, अनेक आभूषणों के धारक तथा खटवा (खटिया) रूप ध्वजा के धारी होते हैं। इनकी ध्वजा वर्तुलाकार (गोल) होती है। इनके सात भेद हैं। वे ये हैं—

(१) भीम, (२) महाभीम, (३) विघ्न, (४) विनायक, (५) जलराक्षस, (६) राक्षसराक्षस और (७) ब्रह्मराक्षस।

(७) भूत—ये कृष्ण वर्ण वाले, सुन्दर रूपवान, सौम्य, दुबले, नाना भक्ति युक्त और सुलस काले रङ्ग की ध्वजा के धारी होते हैं इनके ९ नव भेद हैं। वे निम्न प्रकार हैं :—

(१) सुरूप, (२) प्रतिरूप, (३) अतिरूप, (४) भूतोत्तम, (५) स्कन्दिक, (६) महास्कन्दिक, (७) महावेग, (८) प्रतिछिन्न, और (९) आकाशग।

(८) पिशाच—ये सुरूप, सौम्य, दर्शनीय, हाथो और गले मे मणि आदि रत्नालकारो के धारक तथा कदम्बवृक्ष की ध्वजा वाले होते हैं। इनके १५ पन्द्रह भेद हैं। वे निम्न प्रकार हैं—

(१) कुष्माण्ड, (२) पटका, (३) जोपा, (४) आह्नका, (५) काल, (६) महाकाल, (७) चौक्ष, (८) अचौक्ष, (९) तालपिशाच, (१०) मुखर पिशाच, (११) अधस्तारका, (१२) विदेह, (१३) महाविदेह, (१४) तूष्णीक और (१५) वनपिशाच।

मुनि के शव का क्या करना चाहिए ?

प्रश्न—मुनि के मृतक शरीर का सघ के मुनि क्या करते हैं ?

उत्तर— नगर के समीप या मनुष्यों के गमनागमनादि के मार्ग मे किसी वसतिका मे मुनि का मरण हो जावे तो मुनि उसे एकान्त जगल मे डालते हैं। मुनीश्वर शरीर के अनुरागी नहीं होते हैं। वे तो शरीर मे जब तक आत्मा रहता है तब तक ही उसका वैयावृत्त्य करते हैं। शरीर से आत्मा निकल जाने पर शव के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। वे उसे स्वय दग्ध नहीं करते और न किसी श्रावकादि को उसके दग्ध करने का उपदेश ही देते हैं। वे केवल उस शरीर को एकान्त वन मे जहा मनुष्यो आदि को बाधा न हो वहा रख देते हैं। जहा पर वह स्वय धूप आदि से सूख जाता है अथवा वन के पशु पत्ती उसका भक्षण कर लेते हैं।

साधु लोग वनविहारी होते हैं। यदि उनका मरण किसी वन मे, पर्वत की गुफा मे पर्वत के शिखर या कन्दरा मे, पुलों मे, वृत्तो की कोटर मे, श्मशान में एव नदियो के तट इत्यादि जन शून्य एकान्त स्थान पर हो जावे तो वहा उसे कौन उठावे ? वह मुनि शव वहा ही पड़ा रहता है।

प्रश्न—किसी विख्यात स्थान पर किसी मुनि का मरण हो जावे तब गृहस्थो को क्या करना चाहिए ?

उत्तर—मुनि का मरण ज्ञात होने पर उनका कर्त्तव्य होता है कि वे मुनि के शव का विधि-पूर्वक दाह कर्म करें। शास्त्रों मे कहा है —

जदि विक्खादा भत्तपइरणा अज्जा व होज्ज कालगदो।
देउलसागारित्ति व सिविंयाकरणं पि तो होज्ज ॥ १९७९ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—जब जन समुदाय मे मुनि का भक्तप्रत्याख्यान नामक समाधिमरण प्रसिद्ध हो जावे तब वसतिका के स्वामी का एव सम्पूर्ण गृहस्थो का परम कर्त्तव्य होता है कि वे मुनीश्वर आर्यिका अथवा क्षुल्लकादि त्यागी के शव का दाह कर्म करें। शिविका (पालकी) बनाकर उसमे शव को स्थापित करके उसे दग्ध क्रिया करने के लिए प्रभावना सहित ले जावें।

प्रश्न—यदि आर्यिका समाधिमरण करें तब मुनीश्वरों की भाति ही करें या उनके लिए कोई विशेष विधान है ?

उत्तर—आर्यिकाओं की समाधिमरण विधि मुनीश्वरों के समान ही होती है। परन्तु उसमे थोड़ा सा अन्तर है। वह यह है कि आर्यिकादि स्त्रियों की वसतिका ग्राम के अति सन्निकट या ग्राम मे ही होनी चाहिए। तथा समाधिमरण करने वाली आर्यिकादि की वसतिका का प्रदेश अत्यन्त गूढ होना चाहिए। जहा पर पुरुषों का दृष्टि प्रवेश भी न हो सके। आर्यिकाओं के नग्न होने का निषेध है। यदि कोई परम विरक्त आर्यिका समाधिमरण के लिए नग्न वेश धारण करे तो उसको वसतिका के गूढ प्रदेश से बाहर निकलने का सर्वथा निषेध किया गया,

है। उसे दिगम्बर रूप को धारण कर उसी गुप्त स्थान में निवास करना चाहिए। वहां पर मनुष्यों का गमनागमन कभी भी न होना चाहिए। आर्यिका का समाधिमरण हो जाने पर कोई भी आर्यिका शव को लेजाने या दग्ध करने आदि के सम्बन्ध में गृहस्थों को नहीं कह सकतीं। क्योंकि वे भी उपचार से महाव्रत की धारण करने वाली हैं। वे कभी मोह वश रुदनादि नहीं कर सकतीं। उक्त बातों के सिवा सब विधि मुनियों के समान ही होती है।

आर्यिकाएँ तो सदा गृहस्थों के समीपवर्ती स्थान में ही रहती हैं, इसलिए उनके मुनि के समान शव को उठाकर एकान्तादि स्थान में रखने की आवश्यकता है।

प्रश्न—श्रावक लोग मुनीश्वर अथवा आर्यिकादि के शव को किस विधि से लेजावें ?

तेण परं संठाविय संथारगदं च तत्थ बंधित्ता।
उड्ढंतरक्खणट्ठं गामं तत्तो सिरं किच्चा ॥ १६८० ॥
कुसमुट्ठिं घेत्तूण य पुरदो एगेण होइ गंतव्वं।
अट्ठिदअणियत्त तेण पिट्ठदो लोयणं मुच्चा ॥ १६८२ ॥
तेण कुसमुट्ठिधाराए अव्वोच्छिण्णाए समणिपादाए।
संथारो कादव्वो सव्वत्थ समो सगिं तत्थ ॥ १६८३ ॥ [भग. आ]

अर्थ—पहले गृहस्थ शिविका (पालकी) बनावे। उसके पश्चात् मुनि आदि के शव को शिविका में स्थापित करे और संस्तर सहित उसको रस्सी से बांध दे। जिससे उठाने में वह सुरक्षित रहे। तथा बिना बांधे कभी २ मुर्दा शरीर ऐंठ कर उठ भी जाता है। बांधने से वह उठ नहीं सकता है। शव का सिर गांव की तरफ करे। एक मनुष्य कुश का पूला हाथ में लिए हुए आगे २ चले। मार्ग में बिना ठहरे शीघ्र २ चले जाना चाहिए। पीछे मुड़कर नहीं देखना चाहिए।

पहले ही देखे हुए स्थान पर जाकर वह जानकार मनुष्य उस कुश (डाभ) के पूले को बराबर बिखेर कर सम संस्तर करे।

प्रश्न—जहां पर कुश (दर्भ) न मिले वहां क्या करे ?

जत्थ ण होज्ज तणाइं चुण्णेहिं वि तत्थ केसरेहिं वा । [भग. आ.]
संथरिदव्वा लेहा सव्वत्थ समा अवोच्छिण्णा ॥ १९८४ ॥

अर्थ—जहां पर भूमि सम करने के लिए कुश तृण न मिले तो प्रासुक चावल मसूर आदि के आटे से अथवा ईंटों के चूर्ण से अथवा प्रासुक कमलादि के केसर से या सूखे पत्तो आदि से मस्तक से लेकर पाव तक की भूमि को समान करे। उसमे ऊँचा नीचा प्रदेश न रखे।

सस्तर भूमि के सम न होने से निमित्त ज्ञान मे हानि बतलाई गई है।

जो संस्तर ऊपर से विषम होगा तो उससे आचार्य का मरण एव शरीर मे व्याधि सूचित होती है। मध्य मे विषम होने से संघ मे प्रधान मुनि (ऐलाचार्य की मृत्यु या शारीरिक विशेष व्याधि सूचित होती है और यदि पाव के समीप मे नीचे का संस्तर विषम होगा तो सघ के अन्य मुनीश्वरो का मरण या उनमे भयानक रोग उत्पन्न होने की सूचना होती है। इसलिए सस्तर भूमि को सम बनाने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। उसमे किसी स्थान मे विषमता ऊँचा-नीचापन् न रहे इस विषय मे पूरी सावधानी रखनी चाहिए।

साधु के मृत शरीर को गॉव की ओर मस्तक करके उस सम किये हुए स्थान पर रखना चाहिए और शरीर के पास पिच्छिका रख देनी चाहिए। कहीं २ मृत साधु के दाहिने हाथ मे पिच्छी स्थापित करने के लिए कहते हैं।

प्रश्न—ग्राम की तरफ सिर करने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—यदि वह शव व्यन्तर देव के निमित्त से उठ खड़ा हो और उसका मुख ग्राम की तरफ हो तो वह ग्राम मे प्रवेश करेगा इससे ग्राम के भीरु लोग भयभीत हो जावेंगे और जो अति भीरु होगे वे प्राण भी छोड़ देंगे, इत्यादि अनेक उपद्रव होगे इसलिए शव का मस्तक ग्राम की तरफ करने से उक्त उपद्रवों का निवारण होता है।

प्रश्न—क्षपक के मरण का समय निमित्त ज्ञान से किन २ शुभाशुभ का सूचक होता है ?

णत्ता भाए रिक्खे जदि कालगदो सिवं तु सव्वेसिं।
एक्को दु समे खेत्ते दिवड्ढखेत्ते मरंति दुवे ॥ १९८८ ॥ [भग आ.]

अर्थ—यदि अल्प नक्षत्र में क्षपक का मरण हो तो समस्त सघ मे सुख शान्ति रहती है। मध्यम नक्षत्र मे मरण होने पर एक

और साधु का मरण सूचित होता है। और यदि महान् नक्षत्र मे मरण हो जावे तो दो अन्य साधुओ के मरण की सूचना होती है।

भावार्थ—शतभिषज, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा और ज्येष्ठा ये छह पन्द्रह मुहूर्त्त वाले नक्षत्र जघन्य नक्षत्र कहलाते हैं। इनमें से किसी नक्षत्र मे या इनके अंश मे क्षपक की मृत्यु हो जाने पर सबका क्षेम कुशल प्रतीत होता है। अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, पूर्वा फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल, पूर्वाषाढ़ा, श्रवण, धनिष्ठा, पूर्वभाद्रपदा और रेवती इन नक्षत्रो को मध्यम नक्षत्र कहते हैं। इनका काल तीस मुहूर्त्त प्रमाण होता है। इनमे से किसी नक्षत्र मे या इनके अश मे यदि क्षपक का मरण हो जावे तो एक दूसरे मुनि की मत्यु होती है। तथा उत्तरा फाल्गुणी, उत्तराषाढ़ा, उतरभद्रा, पुनर्वसु, रोहिणी और विशाखा ये उत्कृष्ट नक्षत्र कहे जाते हैं। इनका काल पैंतालीस मुहूर्त्त प्रमाण है। इन नक्षत्रो मे से किसी नक्षत्र मे अथवा इनके अश मे किसी क्षपक की मृत्यु हो जावे तो दो मुनि और मरण करते हैं। ऐसा निमित्त ज्ञान से सूचित होता है।

प्रश्न—क्षपक का मरण आयु कर्म के आधीन है। यदि मध्यम या उत्कृष्ट नक्षत्र मे क्षपक का मरण हो जावे तो उक्त उत्पात का निवारण करने का कोई उपाय है या नहीं ?

उत्तर—हा, उपाय है। और वह निम्न प्रकार है—

गणरक्खत्थं तम्हा तणमयपडिबिंबयं खु कादूण।
एक्कं तु समे खेत्ते दिवड्ढखेत्ते दुवे देज्ज ॥ १९९० ॥
तट्ठाणसावणं चिय तिक्खुत्तो ठविय मडयपासम्मि।
विदियवियप्पिय भिक्खू कुज्जा तह विदियतदियाणं ॥ १९९१ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—सघ की रक्षा के निमित्त मध्यम नक्षत्र मे मरे हुए क्षपक के शव के समीप एक तृणमय प्रतिबिम्ब की स्थापना करे। अर्थात एक घास के पूले मे प्रतिबिम्ब की कल्पना करके उस पूले की स्थापना करे और 'उस मुनि के स्थान मे मैंने यह दूसरा (मुनि) स्थापित किया है, वह चिरकाल तक यहा रहे और तपस्या करे' ऐसा तीन वार उच्च स्वर से उच्चारण करे। उत्कृष्ट नक्षत्र मे मृत्यु को प्राप्त हुए मुनि के निकट दो तृणमय प्रतिबिम्ब की स्थापना करे। अर्थात् दो घास के पूलों मे प्रतिबिम्ब की कल्पना करके उन्हे स्थापित करे। तथा दोनो पूलों को स्थापन करके 'उन दोनों (मुनियों) के स्थान मे मैंने ये दो स्थापन किये हैं, ये चिरकाल तक यहा रहें और तप करें' ऐसा तीन वार उच्च-स्वर से उच्चारण करे।

प्रश्न—यदि घास का पूला न मिले तो शान्ति के निमित्त क्या करना चाहिए।

असदि तणे चुण्णेहिं च केसरच्छारिट्ठियादिचुण्णेहिं।
कादव्वोथ ककारो उवरिंदिट्ठा यकारो से ॥ १९९२ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—तृण न मिलने पर चावल आदि के आटे से अथवा पुष्प की सूखी प्रासुक केसर या भस्म या ईंट अथवा पत्थर के चूर्ण से 'काय' ऐसा लिखे।

अथवा 'क' ऐसा लिखकर उसके ऊपर क्षपक के शव को स्थापन करे। तथा अर्हत्पूजा आदि से शान्ति करना भी इष्ट है ऐसा मूलाराधना नामक टीका में कहा है—

महन्मध्यमनक्षत्रमृते शान्तिर्विधीयते।
यत्नतो गणरक्षार्थं जिनार्चाकरणादिभिः ॥

अर्थ—उत्कृष्ट और मध्यमनक्षत्र मे क्षपक का मरण होने पर गण की रक्षा के अर्थ यत्नपूर्वक जिन पूजादि क्रियाओं से शान्ति की जाती है।

आशय यह है कि सघ मे शान्ति बनी रखने का महान प्रयोजन है। वह जैसा साधुओं का कर्तव्य है वैसा श्रावकों का भी है। दोनो अपनेर पद के अनुसार अपना कर्त्तव्य करते हैं। साधुगोग तपश्चरण ध्यानादि द्वारा आगत विघ्न की शान्ति का उपाय करते हैं और श्रावक जिन पूजा दानादि द्वारा शान्ति, कर्म करते हैं। अतः श्रावकों को जिन पूजादि कार्य करना उचित है और मुनियों को अनशनादि तपश्चरण व ध्यानादि का आचरण करना योग्य है। अथवा जिनेन्द्र देव की भाव पूजा मुनि भी कर सकते हैं, किन्तु द्रव्य पूजा श्रावक ही करते हैं।

क्षपक के शव के साथ पिच्छी व कमण्डलु भी स्थापित कर दे। यदि शिविका (पालकी) बनाई हो और उसमे उपकरण लगाये हो तो उनमें से जो उपकरण जिससे मागकर लाये हों वे उनको वापिस दे दें और जो नहीं देने योग्य हों उनको वहीं स्थापित करदें।

प्रश्न—आराधक की वसतिका में जाकर समस्त संघ क्या करे ?

उत्तर—उसके पश्चात् हमको चारों आराधना की प्राप्ति हो इस हेतु से समस्त संघ को कायोत्सर्ग करना चाहिए। और क्षपक

की जहा आराधना हुई है उस वसतिका के अधिष्ठातृ देवता से सम्पूर्ण मुनि इच्छाकार करें अर्थात् हम सब सघ के मुनि यहा पर तुम्हारी अनुमति से रहना चाहते हैं-ऐसा कहना चाहिए।

अपने सघ के मुनि का मरण हो जावे तो उस दिन सम्पूर्ण सघ के मुनियों को उपवास करना चाहिए। यदि मुनियो की गोचरी हो जाने के बाद कोई मुनि मरण को प्राप्त हो जावे तो दूसरे दिन उपवास न करे। मरण के दिन स्वाध्याय करना वर्जित है। यदि दूसरे सघ मे मुनि का मरण हो जावे तो उपवास करे या न करे अपनी इच्छा पर निर्भर है। किन्तु उस दिन स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

प्रश्न—साधु की मृत्यु होने के तीसरे दिन का क्या कृत्य है ?

उत्तर—सघ के सुख सहित बिहार के लिए तथा क्षपक की गति जानने के लिए तीसरे दिन क्षपक के शरीर का अवलोकन करना चाहिए। जितने दिन तक क्षपक के शरीर को वृक (भेड़िया आदि पशु और गृध्रादि पक्षी स्पर्श न करेंगे उसका शरीर अक्षत रहेगा उतने वर्ष पर्यन्त उस राज्य भर मे क्षेम कुशल रहेगा। ऐसा सूचित होता है।

उस मृतक शरीर को या उसके अवयव को पशु पक्षी जिस दिशा मे ले गये हो उस दिशा मे यदि सघ विहार करे तो संघ में क्षेम कुशल तथा कल्याण होता है। ऐसा निमित्त शास्त्र में कहा गया है।

प्रश्न—मृत क्षपक की गति का ज्ञान कैसे होता है ?

जदि तस्स उत्तमंग दिस्सदि दंता च उवरिगिरिसिहरे।
कम्ममलविप्पमुक्को सिद्धिं पत्तोत्ति णायव्वो ॥ १९९९ ॥ [भग. आ]

अर्थ—यदि मृत क्षपक शरीर का उत्तमाग (सिर) या दात पर्वत के शिखर पर पडे हुए दिखाई दें तो समझना चाहिए कि वह क्षपक कर्म मल से रहित होकर सिद्धावस्था को प्राप्त हुआ है।

जयनदी के टिप्पण मे कर्ममल का अर्थ मिथ्यात्वादि अल्प कर्म और सिद्धि का अर्थ सर्वार्थसिद्धि किया गया है। अर्थात् जिसके दांत अथवा सिर गिरि के शिखर पर पड़े हुए दिखाई दें तो उस क्षपक साधु के मिथ्यात्वादि का क्षय होगया है और वह सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त हुआ है ऐसा प्रतीत होता है। तथा प्राकृत टोका मे एव विजयोदया टीका मे कर्ममल से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त हुआ है-ऐसा अर्थ किया गया है। उक्त दो मता मे जयनन्दी का मत बुद्धिग्राह्य प्रतीत होता है किन्तु दूसरे मत को बुद्धि स्वीकार नहीं करती, कारण कि यदि

अन्तकृत केवली भी होते तो देवों द्वारा उनका मोक्ष कल्याणक होता है। लेकिन देवों का आगमन न होने के कारण अन्य साधुओं के मोक्ष का निश्चय नहीं हो सकता है।

यदि क्षपक के मृतक शरीर का मस्तक उन्नत प्रदेश में दिखाई दे तो उसका जन्म वैमानिक देवों में हुआ प्रतीत होता है। यदि वह समभूमि मे दीख पडे तो उसकी उत्पत्ति ज्योतिष देवों में एवं व्यन्तरों मे निश्चित होती है। कोई कोई आचार्य समभूमि मे मस्तक देखकर वानव्यन्तर जाति के व्यन्तर देवों मे ही जन्म मानते हैं और यदि गड्ढे मे मस्तक दिखाई दे तो भवनवासी देवों में जन्म निर्धारित होता है।

क्षपक की गति के ज्ञान कराने वाले जो ऊपर निमित्त बताये हैं वे सुचना मात्र हैं। उनसे क्षपक की गति का यथार्थ निश्चय नहीं हो सकता है। यह तो केवलीगम्य है या अवधीज्ञान के गोचर हैं। इसलिए हम इसका पूर्ण निश्चय नहीं कर सकते हैं।

ते सूरा भयवंता आहच्चइदूण संघमज्झम्मि।
आराधणापडायं चउप्पयारा हिदा जेहिं ॥ २००१ ॥ [भग आ.]

अर्थ—वे मुनिराज क्षपक शूरवीर और पूज्य हैं जिन्होंने संघ के मध्य प्रतिज्ञा लेकर आराधना ग्रहण की है।

भावार्थ—जिन महापुरुषों ने सासारिक सुख से मुह मोड़ कर इन्द्रियो के विषय और स्वच्छन्द प्रवृत्ति का निरोधकर खड्ग धार पर चलने के समान मुनिव्रत को अङ्गीकार किया है वे धन्य हैं, जगत के पूज्य हैं। किन्तु जिन्होंने अपने शरीर को नि सार समझ रत्नत्रय की आराधना के लिए समाधिमरण सरीखे दिव्य कर्त्तव्य की प्रतिज्ञा लेकर अन्तरंग और बाह्य घोर तपश्चरण का आचरण कर शरीर और कषायो का शोषण करके समाधि पूर्वक मरण किया है अर्थात् मरण पर्यन्त रत्नत्रय की आराधना का निर्वाह किया है वे जगत्पूज्य महामुनि धन्य हैं। वे महा भाग्यशाली व ज्ञानी हैं। जिन्होने अभीष्ट फल (मोक्ष) देने वाली आराधना को प्राप्त किया है। उन्होंने किस दुर्लभ पदार्थ को प्राप्त नहीं किया है? अर्थात् उन्होंने तीनों लोक मे जो दिव्य पदार्थ हैं उन सबकी प्राप्ति करली है। जो महाभाग एक वार जघन्य आराधना का सेवन कर चुके हैं वे सात आठ भवों के अनन्तर अवश्य मोक्ष के अधिकारी होते हैं। ऐसे भाग्यशाली महात्मा की महिमा का वर्णन कहा तक किया जावे? उनकी जितनी स्तुति की जावे वह थोडी है।

वे निर्यापक मुनि भी धन्य हैं, वे अपूर्व भाग्यशाली हैं, जिन्होने जगत्पूज्य क्षपक की आराधना को सफल बनाने मे पूर्ण यत्न पूर्वक सहायता की है। आदर भक्ति से अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर अनेक क्लेशों को सहकर रात दिन क्षपक का वैयावृत्य किया है। वे

परिचारक महाभागो का जन्म भी धन्य है। उन्हंने क्षपक की आराधना को निर्विघ्न क्या किया है, अपनी भविष्य में होने वाली आराधना को निर्विघ्न बनाया है। जो साधु दूसरे की आराधना को निर्विघ्न बनाते हैं वे निकट भविष्य मे सुख पूर्वक अपनी आराधना की पूर्ति करते हैं। शास्त्र मे कहा गया है।

ते वि य महाणुभावा धण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स।
सव्वादरसत्तीए उवविहिदाराधणा सयला ॥ २००४ ॥
जो उवविधेदि सव्वादरेण आराधणं खु अण्णस्स।
संपज्जदि णिव्विग्घा सयला आराधणा तस्स ॥ २००५ ॥ [भग आ.]

इनका आशय ऊपर आगया है।

जो धर्मात्मा क्षपक के दर्शन के लिए यात्रा करते हैं वे भी पुण्यशाली होते हैं।

ते वि कदत्था धण्णा य हुंति पावकम्ममलहरणे।
ण्हायंति खवयतित्थे सव्वादरभत्तिसंजुत्ता ॥ २००६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—उन मनुष्यो का भी जन्म कृतार्थ है जो अनादिकाल से आत्मा के साथ चिपके हुए पापकर्ममल को धोने के लिए क्षपक रूप तीर्थ मे श्रद्धा व भक्ति सहित स्नान करने के लिए जाते हैं।

भावार्थ—भक्त प्रत्याख्यान करके संन्यास मरण करने वाला क्षपक महान् पवित्रात्मा है। ऐसे पवित्रात्माओं के स्पर्श से क्षेत्र भी तीर्थ बन जाते हैं। उन तीर्थों मे जाकर लोग स्नान करके अपने को पवित्र हुआ मानते हैं। जिसके चरण स्पर्श मात्र से भूमि तीर्थ बनती है उसके दर्शन करने से पाप कर्म का क्षय हो तो इसमें आश्चर्य क्या है। इसलिए जिन भाग्यशाली पुरुषो को ऐसे क्षपक मुनीश्वर का दर्शन लाभ होता है वे धन्य है। ऐसा सुयोग पाकर प्रत्येक धार्मिक पुरुष को दर्शन स्पर्शन सेवादि सुकृत्य करके अपने जन्म को सफल बनाना चाहिए।

गिरिणदियादिपदेसा तित्थाणि तवाधणेहिं जदि उसिदा।
तित्थं कधं ण हुज्जा तवगुणरासी सयं खवओ ॥ २००७ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—जहां पर तपोधनों ने निवास किया है वे पर्वत नदी वनादि क्षेत्र यदि तीर्थ हो जाते हैं तो फिर सतत उग्रोग्र तपस्या करने वाले गुणों के पुंज क्षपक के तीर्थ होने मे क्या सन्देह हो सकता है ?

पुव्वरिसीणं पडिमाओ वंदमाणस्स होइ यदि पुण्णं ।
खवयस्स वंदओ किह विउलं विउलं ण पावेज्ज ॥ २००८ ॥ [भग. आ]

अर्थ—प्राचीनकाल के ऋषि महर्षियों की प्रतिमाओ की वन्दना करने वालों को यदि पुण्य होता है तो साक्षात् क्षपक महर्षि की वन्दना करने वाला क्या विपुल पुण्य का अधिकारी न होगा ? अवश्य होगा । इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है ।

भावार्थ—आगम में पंच परमेष्ठी की प्रतिमाएँ वन्दनीय और पूज्य मानी गई हैं । पंच परमेष्ठी मे अठाईस मूल गुण के धारक मुनिराज भी एक परमेष्ठी हैं । कई क्षेत्रों मे साधु परमेष्ठी की प्रतिमाएँ इस समय भी नित्य प्रति पूजी जाती हैं । इतना अवश्य है कि जिनके भाव से मुनिपने का पूर्ण रूप से निश्चय हो जाता है उनकी ही प्रतिमाएँ हो सकती हैं और ऐसे निश्चित भाव-मुनियो की ही प्राचीन प्रतिमाएँ देखी जाती हैं । जैसे मन्दिरों मे सर्प के फण सहित पार्श्वनाथ भगवान् की प्रतिमा हैं वे सब मुनि अवस्था की प्रतिमाए हैं । लता वेल आदि से वेष्टित बाहुबलि की प्रतिमा भी मुनि अवस्था की ही है इत्यादि । उनके वन्दन पूजन करने से महान् पुण्य का वन्ध होता है । जब कि मुनि प्रतिमा के दर्शन वन्दन पूजनादि से पुण्य उत्पन्न होता है तो क्या परम तपस्वी अठाईस मूल गुण के धारक रत्नत्रय की निर्विघ्न आराधना करने के लिए शरीर का उत्सर्ग करने वाले कपायो का दमन कर उन्हें अत्यन्त कृश करने वाले वीतरागी क्षपक की वन्दना स्तुति करने वाला पुण्य का भागी न होगा ? अवश्य होगा । और तो क्या, जो क्षपक की यथाशक्ति उपासना करता है, जिसके अन्तःकरण मे भक्ति का स्रोत बहता रहता है, वह महापुरुष भी निकट भविष्य मे सम्पूर्ण आराधना को प्राप्त करता है ।

इस प्रकार यहा तक सविचार भक्त प्रत्याख्यान का वर्णन हुआ ।

अविचार भक्त प्रत्याख्यान

तत्थ अविचारभत्तपइण्णा मरणम्मि होइ आगाढे ।
अपरक्कम्मस्स मुणिणो कालम्मि असंपुहुत्तम्मि ॥ २०११ ॥

अर्थ—अकस्मात् मृत्युकाल उपस्थित हो जाने पर हीन शक्ति के धारक मुनि के उपरोक्त सविचार भक्त प्रत्याख्यान नहीं होता है। उस समय अविचार भक्त प्रत्याख्यान होता है। अर्थात् जिसमें अल्प शक्ति है और जिसकी आयु का काल अधिक नहीं बचा है, मरण शीघ्र होने वाला है, ऐसे मुनि के अविचार भक्त प्रत्याख्यान होता है।

अविचार भक्त प्रत्याख्यान तीन प्रकार का है—(१) निरुद्ध (२) निरुद्धतर (३) और परमनिरुद्ध।

प्रश्न—निरुद्ध नामक अविचार भक्त प्रत्याख्यान किसे कहते हैं।

तस्स विरुद्धं भणिदं रोगादंकेहिं जो समभिभूदो।
जंघाबलपरिहीणो परगणगमणम्मि ण समत्थो ॥ २०१३ ॥ [भग आ]

अर्थ—जो मुनि साधारण रोग अथवा भयानक रोग से निरन्तर पीडित रहता है और जिसकी जाघो मे गमन करने की शक्ति नहीं है अतएव जो दूसरे सघ में नहीं जा सकता है उस मुनि के निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान होता है। इसकी शेष सब विधि सविचार भक्त प्रत्याख्यान के समान होती है।

भावार्थ—जब तक मुनि के पावों मे चलने फिरने की शक्ति रहती है तब तक वह अपने कार्यों को स्वय करता है और जब शक्ति का अत्यन्त ह्रास हो जाता है तब सघ के मुनियो की सेवा स्वीकार करता है। अर्थात् सतत रोग से पीडित रहने के कारण अथवा अचानक भयानक बीमारी के आजाने पर जिसमे गमनागमन की शक्ति नहीं रहती है, जो अन्य सघ मे जाने के लिए असमर्थ हो जाता है, ऐसे मुनि के मरण को निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं। वह मुनि अपने सघ मे हो आचार्य के निकट रहता है। सविचार भक्त प्रत्याख्यान वाला मुनि अनियत विहार कर अन्य आचार्य सघ मे जाता है और यह अनियत विहार न करके अपने सघ मे ही रहता है, इसलिए इसको अविचार नाम से कहा है। यह अपने आचार्य के पादमूल मे रहकर मुनि दीक्षा से लेकर अब तक के जितने दोष हुए हैं उनकी आलोचना करता है। उनकी निन्दा गर्हा करता है। गुरु महाराज से दिये हुए प्रायश्चित्त का आचरण कर दोषो से निवृत्त होकर आत्म-शुद्धि करता है। तथा जब तक शक्ति रहती है तब तक दूसरों की सहायता के बिना रत्नत्रय की आराधना मे तत्पर रहता है। और जब चलने फिरने मे अशक्त हो जाता है तब अन्य मुनीश्वरो की सहायता लेकर रत्नत्रय की साधना करता है।

इसकी शेष सब विधि सविचार भक्त प्रत्याख्यान के समान ही जाननी चाहिए। यही मूलाराधना टीका मे कहा है—

सन्निरुद्धमवीचारं स्वगणस्थमितीरितम् ।
अपरः प्रक्रमः सर्वः पूर्वोक्तोऽत्रापि जायते ॥

अर्थ—अपने गण (संघ) में ही रहकर समाधिमरण सम्पन्न करने वाले मुनि के अविचार निरुद्ध भक्त प्रत्याख्यान होता है। इसके अतिरिक्त भक्त प्रत्याख्यान की सब प्रक्रिया पूर्वोक्त सविचार भक्त प्रत्याख्यान के समान होती है।

इस निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान के प्रकाश, और अप्रकाश ये दो भेद होते हैं।

जो भक्त प्रत्याख्यान (समाधिमरण) प्रकट रूप मे किया जाता है उसे प्रकाश भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं और जो भक्त प्रत्याख्यान क्षपक के मनोबल (धैर्य) की हीनता तथा क्षेत्र की अयोग्यता आदि से प्रकट नहीं किया जाता है उसे अप्रकाश भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं।

यदि क्षपक धैर्य का धारण करने वाला न हो और क्षुधादि परीषहो के प्राप्त हो जाने पर पीड़ित होने लगे अथवा वसतिका एकान्त स्थान मे न हो, या काल अतिरुद्ध हो, या क्षपक के पुत्र मित्रादि बन्धुगण सन्यास (भोजनादि के त्याग) मे विघ्न वाधा उपस्थित करने वाले हों तो क्षपक का भक्त प्रत्याख्यान मरण गुप्त रखना चाहिए, क्योंकि प्रकाशित होने पर सन्यास कार्य मे विघ्न वाधाओ की पूरी सभावना रहती है।

प्रश्न—निरुद्धतर भक्त प्रत्याख्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर—अग्नि आदि अचेतन कृत तथा सर्प व्याघ्रादि चेतन कृत उपसर्गों के प्राप्त होने पर या हैजा,सेग आदि मारक रोगों की अचानक उत्पत्ति होने पर आयु के शीघ्र क्षय होने का निश्चय हो जावे उस समय सब प्रकार के आहारादि का त्याग करके आचार्य के निकट दीक्षा से लेकर अब तक के सब अपराधों की आलोचना गर्हा निन्दा करके आचार्य द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त का आचरण कर शुद्ध हो रत्नत्रय की आराधना में जब तक सुध बुध रहे तब तक लगे रहने को निरुद्धतर अविचार भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं। शास्त्रो मे कहा है—

वालग्गिवग्घमहिसगयरिच्छ पडिणीयतेणमेच्छेहिं ।
मुच्छा विसूचियादीहिं होज्ज सुज्जो हु वावत्ती ॥ २०१८ ॥ [भग. आ.]
जाव ण वाया खिप्पदि वलं च विरियं च जाव कायम्मि ।

तिव्वाए वेदणाए जाव य चित्तं ण विक्खत्तं ॥ २०१६ ॥
णचा सवद्दिज्जं तमाउगं सिग्घमेव तो भिक्खू ।
गणियादीणं सणिणहिदाण आलोचए सम्म ॥ २०२० ॥ [भग. आ]

अर्थ—सर्प, अग्नि, सिंह, व्याघ्र, भैंसा, हाथी, रीछ, शत्रु, चोर, तथा म्लेच्छ और मूर्छा हैजा आदि प्राण-घातक रोग के निमित्त से मृत्यु की कारण भूत वेदना या मरण के उपस्थित होने पर जब तक बोलने की शक्ति बनी रहे तथा जब तक शरीर में बल व वीर्य विद्यमान रहे तथा तीव्र वेदना से जब तक सावधानता का नाश न हो तब तक आयु को शीघ्र नष्ट होते हुए जानकर आचार्य के चरणों की शरण ग्रहण करे और उनके समीप अपने सम्पूर्ण दोषों की आलोचना करे एवं सम्यक प्रकार, रत्नत्रय की आराधना मे तत्पर हुआ अपने शरीर का, उपकरणों का, तथा आहार संस्तर व वसतिका का और परिचारकों का त्याग करदे अर्थात इनपर से ममत्व भाव को हटाले।

आशय यह है कि विपत्ति आने पर बल वीर्य का ह्रास हो जाने से अन्य संघ में जाने के लिए असमर्थ हुए साधु को निरुद्ध कहते हैं। और जब साधु उससे अधिक आकस्मिक विपत्ति आने पर अति असमर्थ होता है उस समय आचार्य का संयोग न मिले तो अन्य साधु के निकट आलोचना कर रत्नत्रय की आराधना मे सावधान रहने को निरुद्धतर कहते हैं और उसके मरण को निरुद्धतर अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं।

प्रश्न—परमनिरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर—सर्प, व्याघ्र, अग्नि आदि के उपद्रव के कारण जिन मुनीश्वरों की बोलने की शक्ति भी नष्ट हो गई हो जब वे मुनीश्वर अपने मन ही मन मे अरिहन्त सिद्ध आचार्यादि परमेष्ठी का स्मरण व ध्यान कर अपने दोषों की आलोचना कर अपने आत्म ध्यान मे अर्थात् रत्नत्रय की आराधना में दत्तचित हो जावें तब उनके मरण को परम निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं। जैसा कि कहा है—

वालादिएहिं जइया अक्खित्ता होज्ज भिक्खुणो वाया ।
तइया परमणिरुद्धं भणिदं मरणं अविचारं ॥ २०२२ ॥ [भग आ]

अर्थ—जब साधु के शरीर मे सर्पादि के विप का संचार हो जावे या किसी अग्नि आदि के उपद्रव से अत्यन्त पीड़ित हो जावे और उसकी वचन प्रवृत्ति का भी भग हो जावे, बोलने की शक्ति भी नष्ट हो जावे उस समय परमनिरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण

होता है अर्थात् वचन उच्चारण करने की शक्ति न रहने पर परमनिरुद्ध मरण होता है। उस समय उस साधु को चाहिए कि अपने अन्तःकरण मे अर्हन्त सिद्ध साधु को धारण कर शीघ्र आलोचना करले और शान्तचित्त से अपनी आत्मा के सिवा शरीरादि सब पदार्थों से ममता हटाकर आत्म ध्यान मे लवलीन रहे। उस साधु के मरण को परमनिरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं।

जैसी आराधना की विधि पूर्व सविस्तर वर्णन की गई है वैसी ही शेष विधि इस अविचार भक्त प्रत्याख्यान मे भी समझना चाहिए।

पूर्वोक्त विधि से चार प्रकार की आराधना का प्रारम्भ करके यदि पूर्वोक्त सर्प विष अग्नि आदि आयु की शीघ्र उदीरणा (क्षय) करने वाले कारणों के उपस्थित हो जाने पर कोई आराधक शीघ्र प्राण त्याग करने का अवसर प्राप्त हो जावे तो कोई साधु इस पडित मरण से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके मोक्ष की प्राप्ति कर लेते हैं और कोई २ मुनीश्वर उक्त आराधना के फल स्वरूप वैमानिक देवों मे उत्पन्न होते हैं। तथा अपने २ भावों के अनुसार उत्तम मध्यमादि देवों में जन्म धारण करते हैं।

शङ्का—इतने अल्पकाल मे मोक्ष की प्राप्ति कैसे होगी ?

समाधान- बहुत लम्बे काल तक आराधना का सेवन करके ही मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है ऐसा नहीं समझना चाहिए। कोई २ लघुकर्मा मुनिराज अन्तर्मुहूर्त्त काल मे ही रत्नत्रय की आराधना करके ससार समुद्र को पार कर लेते हैं।

वधन नाम नृपति अनादि मिथ्यादृष्टि था। वह श्री देवाधिदेव ऋषभ तीर्थंकर के पादमूल मे आत्म स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर स्वपर का भेद-विज्ञानी होकर क्षणमात्र मे निर्वाण पद का अधिकारी हुआ। जैसा कि कहा है :—

सिद्धो विवर्धनो राजा चिरं मिथ्यात्व भावितः।
वृषभस्वामिनो मूले क्षणेन धुतकल्मषः ॥ २१०० ॥

इसका अर्थ ऊपर आगया है।

सोलसतित्थयराणं तित्थुप्पएणस्स पढमदिवसम्मि।
सामएणणाणसिद्धी भिएणमुहुत्तेण संपएणा ॥ २०२८ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—श्री ऋषभ नाथ तीर्थंकर से लेकर शातिनाथ तीर्थंकर पर्यन्त सोलह तीर्थंकरो के जिस दिन दिव्य-ध्वनि की उत्पत्ति हुई थी उसी दिन कई महापुरुषों के मुनिदीक्षा केवलज्ञान और निर्वाण ये तीनो कार्य अन्तर्मुहूर्त्त काल मे निष्पन्न हुए।

इंगिणी मरण

पव्वज्जाए सुद्धो उवसंपज्जितु लिंग कप्पं च । /
पवयणमोगाहित्ता विणयसमाधीए विहरित्ता ॥ २०३१ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—जो महानुभाव निर्ग्रन्थलिंग धारण करने योग्य है, अर्थात् दिगम्बर भेष धारण करने के लिए जो अयोग्यता पहले बता आये हैं उससे रहित है, वह मुनिदीक्षा धारण कर आगम का अवगाहन करता है। आचारांगादि चारित्र-धर्म के निरूपण करने वाले तथा अन्य आगम ग्रन्थो का मनन करता है। विनय और समाधि में परिणमन करता है।

भावार्थ—पण्डितमरण का द्वितीय कल्प इगिणी मरण है। इगिणी मरण करने वाला साधु अपना वैयावृत्त्य आप खुद करता है। दूसरे से अपना वैयावृत्त्य नहीं करवाता है। जिसने आगम मे वर्णन किये हुए मुनि पद धारण करने की योग्यता होने पर जिन लिंग (दिगम्बर भेष) को धारण किया है, तथा आचारांगादि आगम अथवा आचार के प्रतिपादक अन्य शास्त्रों मे भले प्रकार अवगाहन किया है, उनके रहस्य को सम्यक प्रकार से जान लिया है, अपने आत्मा को विनय और समाधि मे प्रवृत्त किया है, ऐसा साधु इगिणी मरण के लिए उद्यत होता है। यदि आचार्य इस पडित मरण मे प्रवृत्ति करना चाहे तो उसे उचित है कि वह अपने सघ को इंगिणी मरण की विधि के साधन करने योग्य बनावे, पश्चात् वह एलाचार्य की स्थापना करके उसे सघ संचालन करने के योग्य उचित उपदेश (जैसा भक्त प्रत्याख्यान मरण मे कह आये हैं वैसा उपदेश) देकर सम्पूर्ण सघ से अपना सम्बन्ध छोडकर उससे पृथक हो जावे और संघ के वृद्ध बाल आदि सब मुनियों से क्षमा याचना करे। रत्नत्रय के पालन मे जो अतिचार लगे हों उनकी आलोचना करे। सघ मे आचार्य की स्थापना करने के अनन्तर सम्पूर्ण सघ को भी पूर्व की भाति उपदेश देवे। मैं जीवन पर्यन्त तुम से पृथक होता हूँ ऐसा कहकर अपने को कृतार्थ मानता हुआ आनन्द से प्रफुल्लचित्त होकर वहा से प्रयाण करे।

प्रश्न—अपने संघ से निकलकर आचार्य अथवा अन्य मुनि क्या करे ?

एवं च णिक्कमित्ता अंतो बाहिं च थंडिले जोगे।
पुढवी सिलामए वा अप्पाणं णिज्जवे एक्को ॥ २०३५ ॥ [भग. आ.]

पुव्वुत्ताणि तणाणि य जाचित्ता थंडिलम्मि पुव्वुत्ते ।
जदणाए संथरित्ता उत्तरसिर मधव पुव्वसिरं ॥ २०३६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—निज संघ से निकलकर योग्यमुनि वा आचार्य ऐसे स्थंडिल प्रदेश (कठिन भूमि प्रदेश) का आश्रय ले जो समतल हो और ऊचा हो,जिसमे छिद्र व बिल न हो, तथा जीव जन्तु रहित हो। अथवा पाषाण शिला हो उसपर सस्तर की रचना करे। संस्तर बनाने के लिए बिना संधि (जोड) वाले, छेद रहित, निर्जन्तुक व कोमल तृण पास के गाव या नगर मे जाकर गृहस्थो से याचना कर ले आवे। तृण उतने ही लावे जिनपर उसका शरीर स्थिरता को प्राप्त हो सके और उनकी प्रतिलेखना भी अच्छी तरह कर सके। उन लाये हुए तृणों (घास) को स्थडिल भूमि या शिला पर बडे यत्न से बिछावे अर्थात् तृणों को पृथक २ कर देख शोधकर तथा सस्तर भूमि को पिच्छी से प्रमाजन करके सस्तर की रचना करे। अलग २ बिखेर कर शय्या रूप बिछावे। उत्तर दिशा मे या पूर्व दिशा मे सस्तर का शिर करे अर्थात् पूर्व या उत्तर दिशा मे मस्तक रखने योग्य तृण का उपधान (तकिया) बनावे । सस्तर की रचना करने के पश्चात् अपने मस्तक हाथ पाव आदि समस्त शरीर के अवयवों का पिच्छी से प्रमार्जन करे। तत्पश्चात् इगिणी मरण करने मे प्रवृत्त हुआ वह साधु उस सस्तर पर पूर्व दिशा या उत्तर दिशा की ओर मुख करके खडा हो जाता है और मस्तक व हाथ जोड़कर अन्त.करण मे परिणामो को उज्ज्वल करता है। अरिहत, सिद्धादि को हृदय मे विराजमान कर उनके समीप अपने पूर्व कृत अपराधो की आलोचना करता है। निन्दा गर्हा करता है। उससे आत्मा को निर्मल करता हुआ रत्नत्रय को पवित्र बनाता है। अपनी लेश्या को विशुद्ध करता है। यावज्जीव चारो प्रकार के आहार का त्याग करता है तथा समस्त बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहो का त्याग करता है अर्थात उपकरणों से तथा शरीर से भी ममत्व हटा लेता है। अत. वह आगत परीषह और उपसर्गों का धैर्य से सहन करता है। अपने अन्तःकरण को निर्विकार रखता हुआ धर्मध्यान का आश्रय लेता है।

वह क्षपक महात्मा उक्त सस्तर पर कायोत्सर्ग में खड़ा रहकर या पर्यंक (पालथी) आदि आसनो से बैठकर या एक पार्श्व (पसवाडे) बाजू से लेटकर धर्मध्यान में तत्पर रहता है। वह मुनिराज अपनी शरीर सम्बन्धी तथा प्रतिलेखनादि सब क्रियाए अपने आप करता है।

उपसर्ग रहित अवस्था मे प्रतिलेखन, प्रतिष्ठापना समिति, शौच क्रिया के पालन करने मे वह सदा सावधान रहता है। किसी कार्य मे वह दूसरों की सहायता नहीं लेता है।

यदि पूर्व के शत्रु किसी देव के द्वारा अथवा प्रतिपक्षी किसी मनुष्य के द्वारा अथवा दुष्ट तिर्यंच द्वारा किसी प्रकार का उपसर्ग उपस्थित हो जावे तो वह धीर वीर महामना मुनीश्वर उसका प्रतीकार नहीं करता है। उसके धैर्य रूपी दृढ़ कवच को घोर उपसर्ग रूपी तीक्ष्ण

शस्त्र भेदन नहीं कर सकते हैं। उसके अन्तःकरण में लेशमात्र भी क्षोभ नहीं होता है। क्योंकि उनमे पूर्ण कष्ट-सहिष्णुता होती है। इस इंगिणी मरण की आराधना करने वाले महामुनि होते हैं। इनके आदिम तीन उत्तम सहनन होते हैं। हीन सहनन का धारक इस पंडित मरण का अधिकारी नहीं हो सकता। उनका सस्थान (शरीर का आकार) भी उत्तम होता है। वे निद्रा-विजयी होते हैं। उनका शारीरिक बल एवं आत्म-पराक्रम भी अपूर्व होता है।

वे आत्मध्यान में लवलीन रहते हैं। उनके तपश्चरण के प्रभाव से वैक्रियिक ऋद्धि, आहारक ऋद्धि, चारण ऋद्धि, आदि अनेक ऋद्धिया उत्पन्न हो जाती हैं फिर भी वे उनका उपयोग नहीं करते।

वे सदा मौनव्रत धारण करने हैं। रोगादि की तीव्र वेदना होने पर भी उसका इलाज नहीं करते हैं। तथा शीत उष्ण भूख प्यास आदि का प्रतीकार करने की इच्छा तक नहीं करते हैं।

वीभत्स और भयानक रूप धारण करने वाले भूत वेताल राक्षस शाकिनी पिशाचिनी आदि क्षोभ उत्पन्न करने के लिए आये हुए दुष्ट देवी देवताओं के अनेक प्रयत्न करने पर भी जिनको लेश मात्र भीति उत्पन्न नहीं होती है।

अनेक सुन्दर रूपवाली किन्नर किम्पुरुषादि की देवकन्याए उनको लुभाने का प्रयत्न करती हैं तो भी उनका मन-सुमेरु चलित नहीं होता है।

यदि सम्पूर्ण जगत् का पुद्गल समूह दुःख जनक पर्याय धारण कर उन धैर्य-धुरन्धर को पीड़ा देने के लिए उपस्थित हो जावे तो भी उनका चित्त ध्यान से च्युत नहीं होता है।

अथवा समस्त पुद्गल सुख जनक पर्यायों को धारण कर सम्मिलित हुआ उन परम ध्यानी को सुख देने के लिए चरणों मे लौटा करे तो भी उन्हें विचलित करने के लिए समर्थ नहीं हो सकता है।

प्रश्न—व्याघ्र सिंहादि के द्वारा प्राणियों से व्याप्त भूमि पर गिरा देने पर वह साधु क्या करते हैं?

सच्चित्ते साहरिदो तत्थोवेक्खदि वियत्तसव्वंगो।
उवसग्गे य पसंते जदणाए थंडिलमुवेदि ॥ २०४९ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—हरी घास या अन्य जीवों से व्याप्त भूमि में इंगिणी मरण करने वाले साधु को यदि व्याघ्रादि लेजाकर फेंक दें तो भी वह मुनीश्वर उपसर्ग काल पर्यन्त शरीर से मोह ममत्व रहित हुए परम शान्ति का आश्रय लेकर वहां पर ही ध्यान में लीन रहते हैं और उपसर्ग दूर हो जाने पर स्वयंमेव यत्न से स्थंडिल भूमि की ओर चले आते हैं।

इस प्रकार वे मुनिराज उपसर्ग और कषायों को जीतते हैं। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति द्वारा मन वचन काय की क्रियाओं को रोककर आत्म-ध्यान में अपने को लगाते हैं। आध्यात्मिक तत्त्वों का चिन्तन करते हैं। इसके अतिरिक्त किसी विषय में उनकी चित्त-प्रवृत्ति नहीं ठहरती है। वचन का उच्चारण नहीं करते, क्योंकि उन्होंने मौन व्रत धारण किया है। काय से भी तो यदि कोई क्रिया करनी पड़ती हो तो वही क्रिया करते हैं जो आत्मध्यान की साधक होती है।

इस लोक और परलोक के पदार्थों में, जीवित रहने और मृत्यु की प्राप्ति में, सांसारिक सुख में और दुःख में न राग करते हैं और न द्वेष करते हैं। विपत्ति में धैर्य धारण कर दुःख से कभी नहीं घबराते हैं। केवल आत्म-स्मरण मनन चिन्तन और ध्यान में तल्लीन रहते हैं।

वे महामुनि वाचना, पृच्छना, परिवर्तन (पाठ) और धर्मोपदेश इन चार प्रकार के स्वाध्याय को छोड़कर केवल अनुप्रेक्षा (चिन्तन) स्वाध्याय को ही करते हैं। दिन का पूर्व भाग, मध्याह्न (दिन का मध्य भाग), दिन का अन्त भाग और अर्धरात्रि इन चार कालों में तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि होती है। ये स्वाध्याय के काल नहीं माने गये हैं। इनमें भी वे अनुप्रेक्षा (चिन्तन) रूप स्वाध्याय करते हैं।

तात्पर्य यह है कि रात्रि दिवस आठों पहर तत्त्व-चिन्तन में रत रहते हैं। निद्रा नहीं लेते हैं। यदि लेना ही पड़े तो अल्प निद्रा लेकर प्रमाद रहित हो पुनः तत्त्व-चिन्तना करने लगते हैं।

प्रश्न—इंगिणी मरण विधि का आचरण करने वाले मुनियों को स्वाध्याय काल का ध्यान (खयाल) रखना पड़ता है, उससे उनके चित्त में विक्षेप होता है तथा क्षेत्र अशुद्ध होने पर ध्यान में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, अतएव आपने उनके आठों पहर चौबीस घण्टे आत्मध्यान कैसे कहा ?

उत्तर—उन मुनिराज के स्वाध्याय के काल की गवेषणा और क्षेत्र की शुद्धि नहीं होती है। उनको तो श्मशान में भी ध्यान करने का निषेध नहीं किया गया है।

प्रश्न—क्या वे मुनि के छह आवश्यक (सामयिकादि) कर्म भी नहीं करते हैं ? तथा उपकरणादि का प्रतिलेखन भी नहीं

करते हैं ?

उत्तर—वे यथासमय छह आवश्यक कर्त्तव्य कर्मों का आचरण अवश्य करते हैं। उपकरणों का प्रतिलेखन भी प्रयत्न पूर्वक प्रातः और सायं दोनो समय बराबर करते हैं। किन्तु यदि आवश्यक कर्म में स्खलन होजावे 'मिथ्या मया कृत' मैंने मिथ्या किया ऐसा बोलते हैं और वन्दनादि क्रिया के लिए जाते समय 'आसिका' शब्द और वहा से निकलते समय 'निषीधिका' शब्द का उच्चारण करते हैं।

प्रश्न—उन महामुनीश्वरो के यदि पाव मे काटा लग जावे या नेत्र मे कुछ गिर पड़े तो वे उन्हें (कटकादि को) अपने हाथ से निकालते हैं या नहीं ?

उत्तर—उनके पादादि मे कटकादि लग जावे या आखो में रज कूड़ा आदि गिर जावे तो उसको वे अपने हाथ से नहीं निकालते हैं। न किसी को निकालने के लिए कहते हैं। यदि स्वय दूसरा कोई मनुष्य निकालने लगे तो वे मौन धारण करते हैं। रोगादि का प्रतीकार भी नहीं करते हैं। तपश्चरण के प्रभाव से उत्पन्न हुई विक्रिया, चारण, क्षीरस्रावित्व आदि ऋद्धियों का उपयोग भी नहीं करते हैं।

प्रश्न—इगिणी मरण विधि का पालन करने वाले मौन व्रती मुनीश्वर किसी के प्रश्न करने पर उत्तर देते हैं या नहीं ?

उत्तर—देव या मनुष्य के धर्म विषयक प्रश्न करने पर थोड़ा धर्मोपदेश भी देते हैं ऐसा दूसरे आचार्यों का मत है।

इस प्रकार इगिणी मरण विधि का साधन कर कई कर्म-क्लेश का नाश कर निर्वाण पद प्राप्त करते हैं और कई वैमानिक देव होते हैं।

इस प्रकार इगिणी मरण का वर्णन समाप्त हुआ।

पंडितमरण का तृतीय भेद प्रायोपगमन

णवरिं तणसंथारो पाओवगदस्स होदि पडिसिद्धो।
आदपरपओगेण य पडिसिद्धं सव्वपरियम्मं ॥ २०६४ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—भक्त प्रत्याख्यान विधि का आचरण करने वाला मुनि अपना वैयावृत्त्य आप भी करता है तथा दूसरे से भी करवाता है। इगिणी मरण विधि का पालक अपना वैयावृत्त्य दूसरे से नहीं करवाता, वह अपना वैयावृत्य स्वय करता है। किन्तु प्रायोपगमन नामक पडित मरण का आचरण करने वाला महामुनीश्वर अपना वैयावृत्य आप भी नहीं करता है और दूसरों से भी नहीं करवाता है। उसके तृणो का सथारा

भी नहीं होता। उसके लिए सर्व प्रकार की शरीर-शुश्रूषा वर्जित है।

प्रश्न—रोगादि से पीड़ित होने पर औषधादि का सेवन, तथा परीषह उपसर्ग का निवारण, कटकादि का उद्धरण (निकालना) आदि क्रियाएँ वे स्वयं नहीं करते हैं, न दूसरे से करवाते हैं और कोई करना चाहे तो न करने देते हैं। किन्तु मलमूत्रादि का निराकरण तो वे अवश्य करते ही होंगे?

उत्तर—वे महामुनीश्वर प्रयोग से अर्थात् स्व या परके प्रयत्न से मलमूत्रादि का निराकरण भी नहीं करते हैं। कहा है :—

सो सल्लेहिद देहो जम्हा पाओवगमणमुवजादि।
उच्चारादिविकिंचणमवि णत्थि पओगदो तम्हा ॥ २०६५ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—प्रायोपगमन मरण विधि का प्रारम्भ करने वाला महामुनीश्वर पहले से अपने शरीर को सम्यक् प्रकार से इतना कृश कर लेता है कि उसके शरीर मे केवल अस्थि और चर्म ही शेष रह जाता है। पश्चात् प्रायोपगमन सन्यास विधि का प्रारम्भ करता है। अतएव उसके मलमूत्र की किसी प्रकार की बाधा नहीं होती है। बाधा के अभाव मे स्व तथा परके प्रयत्न से मलमूत्र का निराकरण करने की आवश्यकता ही नहीं होती है।

प्रश्न—प्रायोपगमन सन्यास विधि का सेवन करने वाले महामुनीश्वर को यदि व्याघ्रादि किसी दुष्ट तिर्यंच ने अथवा किसी पूर्व जन्म के वैरी मनुष्य या देव ने जीव जन्तुओं से संकुल भूमि भाग मे लेजाकर फेंक दिया हो तो वे क्या करेंगे? वहा ही रहेंगे या वहा से उठकर अन्य जीव जन्तु रहित स्थान मे चले जावेंगे?

उत्तर—वे महामुनीश्वर परम धैर्य के धारक व एकाग्रचित्त होते हैं। वे वहां से नहीं उठते। उसी जगह आत्मध्यान में लीन रहते हैं। शास्त्र मे कहा है :—

पुढवीआऊतेऊवणप्फदितसेसु जदि वि साहरिदो।
वोसट्ठचत्तदेहो अधाउग पालए तत्थ ॥ २०६६ ॥ [भग. आ]

अर्थ—प्रायोपगमन विधि का सेवन करने वाले परम तपोधन को यदि कोई विरोधी मनुष्य या देव सचित्त पृथ्वी पर नदी समुद्रादि जलाशय में, दहकती हुई अग्नि के पुंज मे, लहराती हुई सस्य आदि वनस्पति सहित बीहड वन मे, या जीव जन्तु से व्याप्त किसी

भयानक प्रदेश में लेजाकर पटक दे तो वे परम धीर वीर मुनीश्वर वहा से नहीं उठते हैं। आयु पर्यंत उसी स्थान में ज्यो के त्यो निश्चल रहकर आत्मध्यान में लीन रहते हैं।

मुनिमात्र जल स्नान के त्यागी होते हैं। यदि कोई अज्ञानी जीव भक्ति के वश उनका जलसे अभिषेक करने लगे या गंध पुष्पादि से पूजा करने लगे तो वे उस पर प्रेम नहीं करते हैं। तथा कोई विरोधी जीव उनपर शस्त्रादि का प्रहार करने लगे तो वे उस पर क्रोध नहीं करते हैं। कहीं भी वे उठा कर गिरा दिये जावें तो ज्यों के त्यों पड़े रहेंगे। एकाग्रचित्त हो आत्म-स्वरूप मे मग्न रहना ही वे अपना कर्तव्य समझते हैं।

उपसर्ग से हरण किये हुए महामुनि का अन्य स्थान में मरण होजाने पर वह नीहार मरण कहलाता है और उपसर्ग के अभाव मे मुनिराज का जो स्वकीय स्थान मे मरण होता है वह अनीहार मरण कहलाता है। इस प्रकार प्रायोपगमन सन्यास का वर्णन हुआ।

प्रश्न—उक्त तीन पडित मरण के भेदों के अतिरिक्त भी पडित मरण होता है या नहीं ?

आगाढे उवसग्गे दुब्भिक्खे सव्वदो वि दुत्तारे।
कदजोगिसमाधियासिय कारणजादेहिं वि मरंति॥ २०७२ ॥ [भग आ.]

अर्थ—बलवान् (प्राणघातक) उपसर्ग के प्राप्त होने तथा दुर्निवार दुष्काल पड़ जाने पर तथा अन्य आयु नाशक कारणो के उपस्थित होने पर परीषह उपसर्ग का सहन करने मे समर्थ धीर वीर मुनीश्वर रत्नत्रय की साधना के लिए आत्मध्यान मे लीन हुए प्राण त्याग करने में उत्साही होते हैं।

प्रश्न—इस प्रकार उपसर्गादि आने पर आत्म ध्यान में लीन होकर प्राणो का उत्सर्ग करने वाले परम ध्यानी मुनि कौन २ हुए हैं ? उनका उदाहरण दीजिए।

उत्तर—धर्मसिंह वृषससेनादि अनेक पुरुषपुगव हुए हैं। जिन्होने भयानक उपसर्गों के आने पर रत्नत्रय की आराधना करते हुए शान्ति से प्राणो का त्याग किया है।

कोसलय धम्मसीहो अट्ठं साधेदि गिद्धपुच्छेण।
णयरम्मि य कोल्लगिरे चंदसिरिं विप्पजहिदूण ॥ २०७३ ॥ [भग आ]

अर्थ—अयोध्या के राजा धर्मसिंह ने चन्द्रश्री नाम की अपनी पत्नी का त्यागकर कोल्लगिरि नामक पर्वत पर गृद्धपिच्छ से युक्त होकर अपने आत्मीय अर्थ (रत्नत्रय) की साधना की।

पाटलीपुत्र (पटना) नगर में अपनी सुता के निमित्त मामा का उपसर्ग सहकर वृषभसेन नाम के पुरुषोत्तम ने आत्मीय अर्थ (रत्नत्रय) का साधन करते हुए वैखानस मरण किया अर्थात् श्वास रोध कर आराधना की।

इस प्रकार अनेक उदाहरण आगम में विद्यमान हैं। जिन्होंने प्राण घातक सकट के आ जाने पर शान्ति से पडित मरण कर आत्मा के कल्याणकारी सम्यग्दर्शनादि की साधना में बाधा न आने दी।

साराश यह है कि यह शरीर किसी न किसी निमित्त को पाकर अवश्य नष्ट होने वाला है। इस मनुष्य शरीर को रत्नत्रय धर्म के आचरण मे लगाने से ही इस की सफलता है। इस लिए प्राणों का घात करने वाले भयानक सकट के उपस्थित होने पर भी भेद विज्ञान रूपी सजीवनी औषधि का सेवन करते हुए सब पदार्थों से ममत्व हटाकर आत्म ध्यान में-आत्मा के स्वरूप चिन्तन में—ही चित्त को एकाग्र करना उचित है।

अब पण्डित पण्डित मरण का निरूपण करते हुए प्रथम जीवन्मुक्ति की उत्पत्ति का क्रम दिखलाते है।

साहू जहुत्तचारी वट्टंतो अप्पमत्तकालम्मि।
झाणं उवेदि धम्मं पविट्ठिकामो खवगसेढिं ॥ २०८८ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—आचार शास्त्रो (आचारागादि) के अनुसार आचरण करने वाला अप्रमत्तगुण स्थान मे वर्तमान साधु क्षपक श्रेणि में प्रवेश करने का इच्छुक हुआ उत्कृष्ट विशुद्धि को प्राप्त होकर धर्मध्यान का आश्रय लेता है।

धर्म ध्यान का अन्तरङ्ग कारण आत्म-विशुद्धि है, उसकी निरन्तर प्राप्ति होती रहे इसके लिए वाह्य निमित्त की आवश्यकता होती है। अत ध्यान के वाह्य निमित्त का निरूपण करते हैं—

सुचिए समे विचित्ते देसे णिज्जंतुए अणुण्णाए।
उज्जुअआयददेहो अचलं बंधेत्तु पलिअंकं ॥ २०८९ ॥ (भग आ.)

अर्थ-जिस स्थान पर मुनि ध्यान करे वह उसके स्वामी की आज्ञा से प्राप्त हो अर्थात् क्षेत्र के स्वामी मनुष्य देवादि से आज्ञा लेली गई हो। तथा वह स्थान पवित्र हो, समतल और जीव जन्तुओं से रहित हो। उस स्थान में ध्याता निश्चल चार अगुल अन्तर वाले दोनों पांवो पर खड़ा रह कर अथवा पद्मासन, वीरासन, पर्यंकासनादि मे से जो आसन सुखकर प्रतीत हो उस आसन से बैठकर या उत्तानशयनादि से सोते हुए ध्यान कर सकते हैं। ध्यान की विधि पहले ध्यान के वर्णन मे विशद रूप से कह आये हैं। उसको लक्ष्य मे रखकर जिस प्रकार प्रमाद रहित हुआ चित्त की एकाग्रता कर सके वैसे ध्यान का परिकर ग्रहण करे। ध्याता की लेश्या अतिविशुद्ध होनी चाहिए और जिनागम मे वर्णित जीवादि तत्त्वों की तरफ अपना उपयोग केन्द्रित करे और निरन्तर आत्म परिणामों की धारा को उत्तरोत्तर निर्मल करता हुआ धर्म ध्यान मय उपयोग करे।

धर्म ध्यान मे लीन हुआ वह मुनि सप्तम गुण स्थान में अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ इन चार प्रकृतियों का विसयोजन (अप्रत्याख्यानादि उत्तर प्रकृति रूप) करता है तथा मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति का क्रम से क्षय करता है। इन सात प्रकृतियों का क्षयकर क्षायिक सम्यक् दृष्टि होकर क्षपक श्रेणि के सम्मुख होता है और सप्तम गुण स्थान के सातिशय भाग मे अर्ध:प्रवृत्तकरण को प्राप्त करता है।

सारांश यह है कि सम्यक्त्व की घातक उक्त सात प्रकृतियों का क्षय चौथे गुण स्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक चार गुण स्थानों मे कहीं भी होता है। जिस मुनि ने पहले के चतुर्थादि तीन गुण स्थानों मे उक्त सात प्रकृतियों का क्षयकर क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं प्राप्त किया है वह सातवें गुणस्थान मे उनका क्षयकर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर क्षपक श्रेणी का आरोहण करता है और वहां पर अर्ध:प्रवृत्तकरण को प्राप्त करता है।

इसके पश्चात् वह क्षपक मुनि क्षपक श्रेणि की पहली सीढी जो अपूर्वकरण है उस पर आरूढ़ होता है। ये परिणाम कभी पहले प्राप्त नहीं हुए हैं इसलिए इनको अपूर्वकरण कहते हैं। क्योंकि अनादि काल से इस जीव ने धर्म्यध्यान का आराधन कर शुक्लध्यान का प्रथम भेद कभी प्राप्त नहीं किया है। अतः यह अपूर्व (पूर्व काल मे अप्राप्त) करण (परिणाम) कहलाते हैं।

जब वह मुनि उक्त प्रकार अपूर्वकरण गुणस्थान मे पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक शुक्ल ध्यान को प्राप्त कर लेते हैं तब उसके अनन्तर अनिवृत्ति करण नवमे गुणस्थान मे प्रविष्ट होकर १ निद्रा निद्रा, २ प्रचला प्रचला, ३ स्त्यानगृद्धि इन तीन निद्राओ का क्षय करते हैं। तथा ४ नरकगति, ५ नरकगत्यानुपूर्वी, ६ स्थावर, ७ सूक्ष्म, ८ साधारण, ९ आतप, १० उद्योत, ११ तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, १२ एकेन्द्रिय, १३ द्वीन्द्रियं, १४ त्रीन्द्रिय, १५ चतुरिन्द्रिय, १६ तिर्यंचगति इस प्रकार इन सोलह प्रकृतियो का क्षय अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के प्रथम भाग मे करते हैं।

तत्पश्चात् अप्रत्याख्यान १७ क्रोध, १८ मान, १६ माया, २० लोभ तथा प्रत्याख्यान २१ क्रोध, २२ मान, २३ माया, २४ लोभ ये आठ मध्यम कषाय हैं, इनका अनिवृत्ति करण के दूसरे भाग मे क्षय करते हैं।

२५ नपुंसक वेद का अनिवृत्तिकरण के तीसरे भाग मे क्षय करते हैं।

२६ स्त्री वेद का विनाश इसके चतुर्थ भाग मे करते हैं।

२७ हास्य, २८ रति, २९ अरति, ३० शोक, ३१ भय, और ३२ जुगुप्सा इन छह प्रकृतियो का घात इसके पाँचवें भाग मे करते हैं।

छठे भाग मे ३३ पुरुष वेद का निपातन करते हैं।

सातवें भाग मे ३४ सञ्ज्वलन क्रोध का विघात करते हैं।

आठवें भाग मे ३५ सञ्ज्वलन मान का विलय करते हैं।

नवमे भाग में ३६ संज्वलन माया का क्षय करते है। और बादर-कृष्टि विभाग से लोभ को कृश करते हैं।

इस प्रकार उक्त छत्तीस प्रकृतियो का सहार वे क्षपक अनिवृत्तिकरण के नव भागो मे पृथक्त्व वितर्क वीचार शुक्लध्यान के द्वारा करके सूक्ष्मसाम्परायगुण स्थान मे पहुँचते हैं। वहा पर वे सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्त होकर सञ्ज्वलन सूक्ष्म लोभ का अनुभव करते हुए सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवर्ती होकर पृथक्त्व शुक्लध्यान के प्रकर्ष से सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के अन्त समय मे सूक्ष्मसंज्वलन लोभ का भी क्षय करते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण मोहनीय कर्म का क्षय होने पर क्षीणकषाय गुणस्थान को प्राप्त होते हैं। वहां पर वे क्षपक एकत्व वितर्क अवीचार शुक्लध्यान का आराधन करते हैं। अर्थात् क्षीणकषाय गुणस्थान के प्रथम समय मे शुक्लध्यान के द्वितीय भेद एकत्ववितर्क अवीचार की प्राप्ति करते हैं।

इस शुक्लध्यान के द्वितीय भेद के प्रभाव से यथाख्यात चारित्र होता। इस चारित्र के बल से जीव ज्ञानादि गुणों को अन्यथा करने वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिकर्मों का एक समय मे नाश करते हैं।

जैसे तालवृक्ष की मस्तक सूची का छेदन होने पर सम्पूर्ण ताल का वृक्ष सूख जाता है, उसमे नये पत्र पुष्प फलादि नहीं आसकते हैं। वैसे ही मोहनीय कर्म का नाश होने पर ज्ञानावरणादि घातिकर्मों का भी विनाश हो जाता है।

मोहनीय कर्म की सहायता पाकर ही वे ज्ञानावरणादि कर्म मे अज्ञानादि भावो को उत्पन्न करते थे। मोहनीयकर्म का विनाश

होने पर इनमे अज्ञानादि भाव उत्पन्न करने की शक्ति का ह्रास हो जाता है।

क्षीणकषाय के द्विचरम समय (उपान्त समय) मे निन्द्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों का नाश होता है और उसके अन्त समय में चौदह प्रकृतियो (५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण, ५ अन्तराय) का क्षय हो जाता है।

तत्तो णंतरसमए उप्पज्जदि सव्वपज्जयणिबंधं।
केवलणाणं सुद्धं तध केवलदंसणं चेव ॥ २१०३ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—उसके अनन्तर ही सम्पूर्ण द्रव्यो की त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों की युगपत् हस्तरेखा समान स्पष्ट प्रत्यक्ष जानने वाला सम्पूर्ण दोप रहित निर्मल केवलज्ञान व केवलदर्शन प्रादुर्भूत होता है। यह किसी पदार्थ मे काल मे व किसी क्षेत्र में रुकता नहीं है, इसलिए अव्याघात है। यह निश्चयात्मक है इसलिए असदिग्ध है। समस्त गुणों मे उत्कृष्ट है, इसलिए उत्तम है। मतिज्ञानादि की तरह संकुचित नहीं है, इसलिए असकुचित है। यह नाश से रहित है इसलिए अनिवृत्त है। यह अधूरा नहीं है इसलिए सकल है। इसमें इन्द्रिय और मन की सहायता नहीं है अतएव यह केवल कहलाता है। जैसे भूत, भावी, वर्त्तमान पदार्थों के अनेक चित्र जिसमें लिखे हुए हैं ऐसे चित्रपट को वर्त्तमान मे हम स्पष्ट देख सकते हैं, वैसे ही त्रिकालवर्ती समस्त गुण पर्यायो सहित समस्त लोक अलोक का युगपत् एक समय मे चित्रपट की तरह वे केवल ज्ञान के धारक भगवान् केवली क्षपक अवलोकन करते हैं।

वह क्षपक भुज्यमान आयुकर्म के शेप भाग पर्यन्त केवली अवस्था मे विहार करते हैं। अर्थात् अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त्त सहित आठ वर्ष हीन एक पूर्व कोटी वर्ष पर्यन्त सयोग केवलज्ञान अवस्था मे अघाति कर्मों को भोगते हुए इस मनुष्य पर्याय मे रहकर आर्य-क्षेत्र मे विहार करते हैं और यथाख्यात चारित्र को वृद्धिगत करते हैं।

उसके अनन्तर वे केवली भगवान् अघाति कर्मों का नाश करने के लिए अवशिष्ट जो सात प्रकार का योग है उसका निरोध करते हैं। वह योग निरोध विना इच्छा के ही होता है। अर्थात् सत्य वचन योग, अनुभय वचन योग, सत्यमनोयोग, अनुभयमनोयोग, औदारिक काययोग, औदारिक मिश्रकाययोग, और कार्मणयोग इन सातो योगों के व्यापार को रोकते हैं।

समुद्घात का वर्णन

उक्कस्सएण छम्मासाउगसेसम्मि केवली जादा।
वच्चंति समुग्घादं सेसा भज्जा समुग्घादे ॥ २१०६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—उत्कृष्ट रूप से आयु के छह मास बाकी रहने पर जिनको केवल ज्ञान उत्पन्न होता है वे अवश्य समुद्घात करते हैं। शेष केवलियों के लिए समुद्घात विकल्पनीय है।

भावार्थ—मूल शरीर को न छोड़कर आत्म-प्रदेशो का दण्ड कपाटादि रूप होकर शरीर के बाहर निकलना समुद्घात कहलाता है। जिनको उत्कृष्ट छह मास की आयु शेष रहने पर केवल ज्ञान उत्पन्न हो जावे वे तो नियम से समुद्घात करते हैं। जिनके नाम, गोत्र और वेदनीय की स्थिति आयु कर्म के समान होती है वे केवली समुद्घात नहीं करते हैं। जिनके नाम गोत्र और वेदनीय कर्म की स्थिति आयु कर्म से अधिक होती है वे केवली समुद्घात करते हैं।

प्रश्न—आयु का कितना काल शेप रहने पर केवली भगवान् समुद्घात करते हैं ?

उत्तर—भुज्यमान आयु का अन्तर्मुहूर्त शेप रह जाता है, उस समय उक्त तीनों कर्मों की स्थिति आयु कर्म के समान करने के लिए केवली भगवान् समुद्घात करते हैं।

प्रश्न—समुद्घात करने से नामादि कर्मों की अधिक स्थिति कम कैसे हो जाती है ?

उत्तर—जैसे सिमटा हुआ गीला वस्त्र अधिक काल मे सूखता है पर वही कपड़ा फैला देने पर शीघ्र सूख जाता है वैसे ही समुद्घात के द्वारा कर्म की स्थिति का कारण जो स्नेह (चिकनाई) है वह सूख जाती है और वह शीघ्र निर्जरा के योग्य हो जाता है। अर्थात् कर्मों की स्थिति कम हो जाती है।

प्रश्न—केवली भगवान् नामादि कर्मों को समान करने के लिए किस तरह समुद्घात करते हैं ? और उसमे कितना काल लगता है ?

उत्तर—केवली भगवान आत्म-प्रदेशों को प्रथम समय मे दण्डाकार निकालते हैं। दूसरे समय मे वे कपाट रूप होते हैं। तीसरे समय मे प्रतराकार होते हैं अर्थात् वातवलय को छोडकर सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त होते हैं। चौथे समय मे वातवलय सहित समस्त लोक मे व्याप्त हो जाते हैं। पाचवें समय मे उनको सकोच कर प्रतराकार करते हैं। छठे समय मे कपाटाकार करते हैं। सातवें समय मे दण्डाकार करते हैं और आठवें समय मे वे आत्म शरीर मे प्रविष्ट हो जाते हैं। ये चार समय संकोच करने के हैं। इस प्रकार समुद्घात मे आठ समय लगते हैं।

इस प्रकार समुद्घात के द्वारा तीनो कर्मों की स्थिती आयु कर्म के समान करके मुक्ति की प्राप्ति के लिए योग का निरोध करते हैं

योगनिरोध

प्रश्न—योगो का निरोध किस क्रम से करते हैं ?

उत्तर—वे केवली भगवान् वादर वचनयोग और वादर मनोयोग का वादर काययोग मे स्थिर निरोध करते हैं। तथा वादर काययोग का सूक्ष्म काययोग मे स्थिर होकर निरोध करते हैं। तथा सूक्ष्म वचनयोग, सूक्ष्म मनोयोग को भी सूक्ष्म काययोग मे स्थिर होकर रोकते हैं।

उत्कृष्ट लेश्या के धारक वे केवली भगवान् सूक्ष्म काययोग से सातावेदनीय कर्म बन्ध करते हैं। तब उनके सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नाम का शुक्लध्यान होता है। उस ध्यान द्वारा वे सूक्ष्म काय योग का निरोध करते हैं। अब कोई योग नहीं रहता है; इसलिए उनके आत्म प्रदेश निश्चल हो जाते हैं। व उनके सातावेदनीय कर्म का भी बन्ध नहीं होता है। क्योंकि उनके वन्ध का कारण केवल योग था उसका भी नाश हो जाने पर उनके समस्त वन्ध का अभाव हो जाता है।

योगनिरोध के बाद कौनसी कर्म प्रकृतियां रहती हैं ?

उस समय उनके १ मनुष्यगति, २ पचेन्द्रिय जाति, ३ पर्याप्ति, ४ आदेय ५ सुभग, ६ यशकीर्त्ति, ७ सातावेदनीय, या असातावेदनीय इन दोनों में से एक, ८ त्रस, ९,वादर, १० उच्चगोत्र और ११ मनुष्यायु इन ग्यारह कर्मों का वे अनुभव करते हैं। जो तीर्थंकर केवली हैं, उनके एक तीर्थंकर प्रकृति अधिक होने से उनके १२ कर्मों का अनुभव होता है। जो मूक केवली हैं, उनके उक्त ग्यारह कर्मों का ही उदय रहता है।

औदारिक शरीर, तैजस शरीर तथा कार्मण शरीर इन तीन शरीर का वन्ध नष्ट करने के लिए वे अयोग केवली भगवान् समुच्छिन्न क्रियाप्रतिपाती (व्युपरतक्रियानिवर्त्ती) नामक शुक्ल ध्यान के अथ भेद को ध्याते हैं।

अयोग केवली गुणस्थान का काल 'अ इ उ ऋ लृ,' इन पांच ह्रस्वस्वर के उच्चारण काल के समान काल है। अर्थात जितना समय इन पाच स्वरों के उच्चारण करने मे लगता है, उतने समय तक वह इस शरीर मे रहते हैं।

इस गुणस्थान के उपान्त्य (द्विचरम) समय मे उदय मे नहीं आई हुई सब प्रकृतियों का क्षय करते हैं। अर्थात् तिहत्तर प्रकृतियो का क्षय करते हैं। और इसके अन्त समय मे वह अयोग केवली भगवान् यदि तीर्थंकर हो तो बारह प्रकृतियो का और सामान्य केवली हों तो ग्यारह प्रकृतियों का क्षय करते हैं।

नाम कर्म के क्षय से तैजस बन्ध का नाश होता है और आयु कर्म के नाश से औदारिक बन्ध का क्षय होता है। इस प्रकार बन्धन से मुक्त हुए वे केवली भगवान् बन्धन मुक्त एरण्ड बीज के समान उत्कृष्ट वेग से ऊपर गति करके सिद्धालय मे जाकर विराजमान होते हैं

शुद्ध जीव की गति कैसे होनी है ?

जैसे मिट्टी आदि के लेप से युक्त तूम्बी जल मे डूबी रहती है, लेप रहित होते ही जल के ऊपर आजाती है, वैसे ही जीव कर्म लेप से युक्त हुए ससार मे पडे रहते हैं और कर्म लेप से रहित होकर प्रयोगवश से स्वभावत. ऊर्ध्व गमन कर लोक के शिखर मे जाकर विराजमान होते हैं। वे एक समय मे सात राजू क्षेत्र को पार कर वातवलय के अन्त भाग मे जाकर निश्चल हुए आत्म-स्वरूप मे लीन रहते हैं।

जैसे वायु के झोके के अभाव मे अग्नि की लौ सदा ऊर्ध्व गमन करती है वैसे कर्मोदय के झोके से रहित हुए मुक्त परमात्मा स्वभाव से ऊर्ध्व गमन करते हैं। आगे गति मे कारण भुत धर्म द्रव्य के न होने से लोक के अन्तिम सिरे पर जाकर वे स्थिर हो जाते हैं। अलोक मे उनका गमन इसलिए नहीं होता है कि वहा धर्म द्रव्य नहीं है। धर्म द्रव्य ही गति करते हुए जीव पुद्गलो का गमन कर्म मे सहायक होता है। जैसे रेल के गमन करने के लिए पटरी तथा मछली की गति के लिए जल सहायक होता है वैसे ही जीव और पुद्गलों की गमन क्रिया मे धर्म द्रव्य सहकारी होता है। वह आगे नहीं है, अतः मुक्त जीव लोक की अन्तिम सीमा पर जो सिद्धालय है, वहा विराजमान हो जाते हैं। सो ही कहा है :—

सिद्धशिला कहां हैं ?

ईसप्पब्भाराए उवरिं अत्थदि सो जोयणम्मि सीदाए।
धुवमचलमजरठाणं लोगसिहरमस्सिदो सिद्धो ॥ २१३३ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—ईषत्प्राग्भारा नाम की आठवीं पृथ्वी है। उसके ऊपर किंचित् ऊन (कुछ कम) एक योजन प्रमाण वातवलय का क्षेत्र है। उसके अन्त मे जो लोक का शिखर है उसमे सिद्ध भगवान विराजमान है। वे शाश्वत और अचल हैं। तथा जरा जन्म मरणादि दोषों से रहित अनन्त चतुष्टय मे मग्न हैं।

सारांश यह है कि लोक के अग्रभाग मे ईषत्प्राग्भार नाम की एक पृथ्वी है। जो मध्य में आठ योजन मोटी (जाडी) है और फिर क्रमश हीन (पतली) होती हुई अन्त मे सिरे पर अगुल के असंख्यातवें भाग पतली हो गई है। उसका विस्तार (लम्बाई-चौडाई)

स. प्र.

पैतालीस लाख योजन प्रमाण है। वह उत्तानित श्वेत छत्र के समान आकार वाली है। उसकी परिधि (गोलाई) १४२३०२४६ एक करोड बियालीस लाख तीस हजार दोसौ उनचास योजन प्रमाण है। उसके ऊपर कुछ कम एक योजन पमाण वातवलय है। उसके अन्तिम भाग में अपनी अपनी अन्तिम शरीर प्रमाण अवगाहना से सिद्ध भगवान् विराजमान हैं। वे शाश्वत हैं, अचल हैं और जरा मरणादि सब दूषणो से पृथक् हैं तथा अतन्त दर्शन-ज्ञान सुख और वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय से शोभित हैं।

सिद्ध भगवान् की अवगाहना (आत्मप्रदेशों का आकार) जिस शरीर से योग निरोध कर मुक्त हुए हैं, उस चरम शरीर से किंचित् न्यून होती है। अर्थात् नख केशादि जिन अवयवो में आत्म प्रदेश नहीं होता हैं, उतनी कम अवगाहना के धारक होते हैं।

सिद्धावस्था का सुख

प्रश्न—सिद्ध भगवान् को किस प्रकार का सुख होता है ?

देविंदचक्कवट्टी इंदियसोक्खं च जं अणुहवंति।
सद्दरसरूवगंधप्फरिसप्पयमुत्तमं लोए ॥ २१४८ ॥
अव्वाबाधं च सुहं सिद्धा जं अणुहवंति लोगग्गे।
तस्स हु अणंतभागो इंदियसोक्खं तयं होज्ज ॥ २१४९ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—लोक मे उत्कृष्ट सुख का अनुभव करने वाले देवेन्द्र तथा चक्रवर्त्ती उत्तमोत्तम स्पर्श रस गन्ध रूप व शब्द इत्यादि का सेवन कर जो सुख भोगते हैं वह सुख इस लोक मे सर्वोत्कृष्ट माना गया है। वह लोक का एकत्र किया हुआ सम्पूर्ण सुख सिद्ध भगवान् के सुख का अनन्तवाँ भाग है और यह कहना भी केवल समझाने के लिए है, क्योंकि संसार सुख और मुक्ति सुख की जाति भिन्न है।

भावार्थ—सिद्धो का सुख अतीन्द्रिय व आत्मजन्य है। ससार के सुख पराधीन इन्द्रियजन्य होने से तुच्छ हैं। सिद्धों का सुख अव्यावाध (वाधा रहित) है और सासारिक सुख वाधा सहित है। अतः आत्मजन्य और पुद्गलजन्य सुख में समानता किसी प्रकार नहीं हो सकती है। संसार का सुख सुख नहीं, किन्तु दु.ख की किंचित् निवृत्ति रूप कल्पना मात्र है। इसलिए वास्तव मे सुख नहीं है और सिद्ध भगवान् के कर्मों का सर्वथा अभाव होने से लेश मात्र दुःख का अस्तित्व नहीं रहा है। वहाँ केवल निरन्तर अनुपम सुख का स्रोत वहता रहता है। अतः उनको अनन्त सुखी कहा जाता है। ऊपर दृष्टान्त द्वारा जो सिद्ध भगवान् के सुख की तुलना की गई है वह केवल मूढ बुद्धि ससारी

इसलिए स्व परहित मे निपुण आचार्य क्षपक का कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व परिचारक साधुओ की सम्मति प्राप्त कर लेते हैं। उसके पश्चात् समाधिमरण के कार्य का प्रारम्भ करते हैं।

एक आचार्य के पास कितने क्षपक समाधिकरण करते हैं ?

प्रश्न—एक आचार्य के संरक्षण मे कितने क्षपक समाधिमरण कार्य का प्रारम्भ कर सकते हैं ?

उत्तर—जिनेन्द्र देव के उपदेशानुसार एक निर्यापकाचार्य की शरण मे एक क्षपक संस्तर पर आरूढ़ हुआ तपरूपी अग्नि मे अपने शरीर का हवन करता है और एक साधु उग्र अनशनादि तप द्वारा अपने शरीर का शोषण करता है।

अर्थात्—सघ की अनुमति मिलने पर भी आचार्य एक साधु को ही समाधिमरण कार्य के लिए दो साधुओं पर अनुग्रह कर सकता है। उनमे से एक तो संस्तर पर आरूढ हुआ जिनेन्द्र देव के आदेशानुसार तपश्चरणाग्नि मे अपने शरीर की आहुति देता है और दूसरा उग्र उग्र अनशनादि तपश्चरण का आचरण कर अपने शरीर को कृश करता है। इन दो साधुओ के अतिरिक्त एक आचार्य के रक्षण मे तीसरे साधु को समाधिमरण कार्य प्रारम्भ करने की जिन शासन मे आज्ञा नहीं है। क्योकि दो या तीन साधु समाधिमरण के लिए संस्तर पर आरूढ हो जावें तो उनके अन्तःकरण को धर्म मे स्थिर रखने के लिए विनय वैयावृत्त्यादि कार्य यथायोग्य नहीं हो सकने के कारण उनके चित्त मे सक्लेश होना अवश्यम्भावी है, इसलिए एक क्षपक संस्तरारूढ हो सकता है और एक उग्र तपस्या कर सकता है।

इस प्रकार आचार्य सघ की सम्मति से उक्त प्रकार क्षपक साधु को स्वीकार कर संघ के मध्य उसको उपदेश देते हैं।

आचार्य का क्षपक के प्रति उपदेश

प्रश्न—क्षपक को एकान्त मे उपदेश न देकर आचार्य समस्त संघ के मध्य उपदेश क्यो देते हैं ? इसमे क्या रहस्य है ?

उत्तर—सम्पूर्ण सघ के बीच क्षपक को उपदेश देने का कारण यह है कि सघ को भी समाधि का स्वरूप विदित हो जावे, तथा आगन्तुक क्षपक का भी सबको परिचय हो जावे और इस उत्तम कार्य में सबकी साक्षी भी हो जावे।

प्रश्न—आचार्य क्षपक को क्या उपदेश देते हैं, उसका अभिप्राय प्रकट करने की कृपा करें।

उत्तर—निर्यापकाचार्य समाधिमरण का कार्य प्रारम्भ करने वाले साधु को इस प्रकार शिक्षा देते हैं—हे क्षपक ! तुम सुस्थिया

स्वभाव का परित्याग कर चारित्र का पालन करो। सुख स्वभाव से चारित्र म शिथिलता आती है। सुखिया प्रकृति का मुनि आहार उपकरण और वसतिका की शुद्धि के विषय मे उदासीन रहता है। क्योकि मनोज्ञ आहार का लम्पटी भिक्षा शुद्धि की ओर ध्यान नहीं देता है। जिह्वा की लोलुपता उसे उद्दिष्टादि दूषित आहार का ग्रहण करने मे भी प्रेरित करती है। सुन्दर उपकरण का अभिलाषी उद्गमादि दोषो का निवारण नहीं करता है और कष्टासहिष्णु जिस किसी की सजी सजाई वसति में ठहर जाता है। इसलिए सुखिया स्वभाव का परित्याग करो अर धैर्य व साहस का आश्रय लेकर सम्पूर्ण परीषह सेना पर विजय प्राप्त कर चारित्र का संरक्षण करो।

हे क्षपक! यह अज्ञानी जीव मोह के वश इन्द्रियों के अधीन हुआ स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द इन विषयो मे प्रेम उत्पन्न करता है। तुमने ज्ञान और वैराग्य प्राप्त किया है, इसलिए ज्ञान और वैराग्य के वल से इन पर विजय प्राप्त करो। तथा क्षमा मार्दव आर्जव और शौच भावना के वल से क्रोध मान माया और लोभ का निग्रह करो।

हे इन्द्रिय विजयी साधो! जो जिसके वश मे नहीं होता है, वह उसका विजेता कहलाता है। जैसे जो स्त्री पुरुप के वश मे नहीं रहती है, वह पुरुप विजयिनी कही जाती है,ऐसा लोक मे प्रसिद्ध है। इसी प्रकार जो शब्दादि विषयो के तथा क्रोधादि कषायों के अधीन नहीं होता है, वह शब्दादि का तथा कषायो का विजेता कहा जाता है। अतएव हे साधो! तुम इन्द्रियो के तथा कपाय के अधीन न होकर इन्द्रिय विजेता और क्षमादि धर्म के आराधक वनोगे।

प्रश्न—गुरु का उपदेश सुनकर क्षपक प्रश्न करता है, हे भगवन् इन्द्रिय विजय और कषाय निग्रह करने के अनन्तर मेरा क्या कर्त्तव्य है?

उत्तर—हे क्षपक! इन्द्रिय पर विजय और कपाय का निग्रह करके तुम ऋद्धिगारव, रसगारव, और सातगारव को जीतो। उसके पश्चात् राग द्वेप का मर्दन कर आलोचना शुद्धि करो। राग द्वेप असत्य वचन के जनक हैं, इसलिए उनका त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। तथा राग भाव से मनुष्य के दोप दृष्टि गोचर नहीं होते हैं। और द्वेप वश वह सद्गुणो का ग्रहण नहीं करता है। जिसको अपने अपराधों (दोपो) का त्याग और सद्गुणो का ग्रहण करने की अभिलाषा, है जो अपने आत्मा से कपाय मल धोना चाहता है, उसे राग द्वेप को तिलाजलि देकर अपना कार्य साधन करना चाहिए।

प्रश्न—यहां क्षपक गुरु महाराज के प्रति कहता है कि हे गुरुदेव! मेरे व्रतों मे अतिचार उत्पन्न नहीं हुए, अत. मैं अपने अपराधो की आलोचना कैसे करू?

उत्तर—हे क्षपक! प्रायश्चित शास्त्रो के वेत्ता छत्तीस गुणके धारक आचार्य को भी आत्म शुद्धि के लिए अन्य आचार्यों के निकट

अपराधो की आलोचना करनी पड़ती है। बिना आलोचना के रत्नत्रय मे लगे दोप शुद्ध नहीं होते हैं।

प्रश्न—आचार्यों के छत्तीस गुण कौन २ से हैं ?

उत्तर—आचार्य के छत्तीस गुण के विषय मे भगवती आराधना मे संस्कृत विजयोदया टीका आठ ज्ञानाचार, आठ दर्शनाचार, बारह प्रकार के तप, पाच समिति और तीन गुप्ति इस प्रकार छत्तीस गुण वर्णन करती है। तथा प्राकृत टीका मे साधु के अठाईस मूल गुण और आचारवान् आधारवान् आदि आठ गुण इस प्रकार छत्तीस गुण प्रतिपादन किये गये हैं। दूसरी जगह दश आलोचना गुण, दश प्रायश्चित गुण, दश स्थिति कल्प और छह जीत गुण इस प्रकार छत्तीस गुण बताये हैं।

आचार्य के छत्तीस गुणो का निरूपण करने वाली भगवती आराधना मे एक गाथा दी है वह निम्न प्रकार है—

आयारवमोदीया अट्ठगुणा दसविधो य ठिदिकप्पो।
बारस तव छावासय छत्तीसगुणा मुणेयव्वा ॥ ५२६ ॥ भग. आ

अर्थ—आचारवान् आदि आठ गुण, दश प्रकार का स्थित कल्प, बारह प्रकार का तपश्चरण और छह आवश्यक ये आचार्य के छत्तीस गुण हैं।

इस गाथा को श्री पडित प्रवर आशाधरजी ने प्रक्षिप्त बताया है।

समस्त तीर्थंकर, अनन्त केवली तथा मिथ्यात्व, अनन्तानुवन्धी आदि बारह कषायो पर विजय पाने वाले आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधुओं की आज्ञा भी यही है कि आचार्य के समीप अपने अपराधो का निवेदन कर उनके द्वारा दिये गये प्रायश्चित से शुद्धि होती है। इसलिए छद्मस्थ मुनियो को आचार्य के निकट आलोचना कर प्रायश्चित का आचरण करना उचित है।

प्रायश्चित्तादि का ज्ञाता अपराधों को दूसरों को क्यों कहे ?

प्रश्न—जो साधु अतिचारो के निवारण का क्रम नहीं जानता है, उसे तो दूसरो को अपने अतिचार निवेदन करना चाहिए, किन्तु जो अपराधों के प्रायश्चित का स्वय ज्ञाता है, वह अपने अपराध दूसरों को क्यो कहे और उनके द्वारा दिये हुए प्रायश्चित का आचरण क्यो करे ?

स. प्र.

उत्तर—जैसे उत्तम वैद्य या चिकित्सक भी अपने रोग या व्याधि की उत्पत्ति के कारण, चिह्न व चिकित्सा तथा पुनरुत्पत्ति के निरोध करने मे प्रवीण होने पर भी उसकी चिकित्सादि दूसरो से ही करवाता है, उसको अपने रोग या व्याधि का हाल कहकर उससे चिकित्सा करने की प्रार्थना करता है, वैसे ही प्रायश्चित के ज्ञाता मुनीश्वर को भी अपनी उत्तम विशुद्धि करने के लिए आत्मसाक्षी और पर-साक्षी से प्रायश्चित लेना चाहिए। इसी को उत्कृष्ट विशुद्धि माना है।

"प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत्।
तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमितीरितम् ॥"

अर्थ—प्रायः शब्द का अर्थ लोक (लोग) है, और उसके मनको चित्त कहा है। लोगो के चित्त को निर्मल करने वाले कर्म को प्रायश्चित कहते हैं। अर्थात् परसाक्षी से अपराध का दण्ड लेने पर लोग समझते हैं कि इसने आत्म-विशुद्धि की है। अर्थात आचार्यादि विज्ञ मुनीश्वरो के द्वारा दिये गये दड रूप प्रायश्चित से ही आत्म-शुद्धि होती है।

यदि प्रायश्चित शास्त्रों के रहस्य वेत्ता किसी मुनिश्रेष्ठ या आचार्य को अपने आप प्रायश्चित लेते हुए देखेंगे तो दूसरे मुनि भी अपने आप प्रायश्चित लेने लगेंगे क्योंकि प्राय लोग गतानुगतिक होते है। इस प्रकार प्रवृत्ति होजाने पर मार्ग मलीन हो जायगा, आत्म-विशुद्धि का मार्ग लुप्त हो जायगा। इसलिए परसाक्षी से प्रायश्चित करने का आगमानुमोदित (जिनोक्त) मार्ग है। कहा है—

तम्हा पव्वज्जादी दंसणणाणचरणादिचारो जो।
त सव्व आलोचेहिं णिरवसेमं पणिहिदप्पा ॥ ५३० ॥ भग. आ

अर्थ—हे क्षपक! आत्म-विशुद्धि परसाक्षी से प्रायश्चित का आचरण करने से ही होती है, इसलिए सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र मे दीक्षा काल से लेकर आज तक जो अपराध हुए हों, उन सब दोपो की एकाग्रचित्त होकर गुरु के निकट परिपूर्ण आलोचना करो।

आलोचना का स्वरूप और भेद

प्रश्न—परिपूर्ण आलोचना किसे कहते हैं?

उत्तर—मन से, वचन से और काय से अमुक देश मे, अमुक काल मे, अमुक भाव से जो दोप जिस प्रकार हुए हों, उनका गुरु के

निकट सरल चित्त होकर ज्यों के त्यों निवेदन करने को परिपूर्ण आलोचना कहते हैं।

आलोचना दो प्रकार की होती है। एक सामान्यालोचना और दूसरी विशेपालोचना।

सामान्य आलोचना—जिसको मूल प्रायश्चित आता है। अर्थात् व्रतभगादि महा अपराध करने पर दीक्षा का छेदन कर जिसको नवीन मुनि दीक्षा दी जाती है, वह मुनि दोपो की सामान्य आलोचना करता है। हे भगवन्! मुझसे अमुक व्रत का भंग या मिथ्यात्व का सेवन हुआ है। इस प्रकार सामान्य रूप से अपराध का निवेदन करता है। यथा :—

ओघेन भापतेऽनल्पदोपो वा सर्वघातकः।
इतः प्रभृति वांछामि त्वत्तोऽहं संयमं गुरो ॥ ५५४ ॥ (भग. आ. सं.)

अर्थ—हे गुरुदेव! मुनि धर्म का घातक व्रत भग या मिथ्यात्व सेवन रूप महान् अपराध मुझ से होगया है। हे स्वामिन्! मैं आपसे नवीन दीक्षा ग्रहण करना चाहता हूँ। इसलिए आज से मुझे नव दीक्षित कीजिए।

प्रश्न—विशेप आलोचना किसे कहते हैं?

उत्तर—जिस काल मे जिस देश मे जिस परिणाम से जिस प्रकार अपराध हुआ हो, उसका उसी प्रकार निःशल्य रूप से निवेदन करना विशेप आलोचना है।

तात्पर्य यह है कि मन वचन काय से जिस समय जिस जगह, जाने अनजाने, स्ववश या परवश होकर जो अपराध हुआ हो उसको शल्य निकालकर निवेदन करने से ही आलोचना शुद्ध मानी गई है। शल्य रखकर जो आलोचना की जाती है वह आत्म-शुद्धि का कारण नहीं होती है। जैसे जिसके हस्तपाद आदि मे कांटा लगा है वह दुःख से पीडित रहता है, उसके सम्पूर्ण शरीर में वेदना होती है। वैसे ही जिसके अन्तःकरण मे मायाशल्य है, वह सम्यक्त्वादि में लगे हुए दोपो का प्रकाशन भली भाति न करने के कारण छिपाये हुए दोप से मलीन चित्त रहता है। वह दोप रूपी दुःख उसकी आत्मा को सदा दुःखी रखता है। जब वह अपने दोप को साफ साफ गुरु के निकट निवेदन कर देता है, उसका चित्त निर्दोप हो जाने से आनन्द का अनुभव करने लगता है।

शल्य के भेद

प्रश्न—शल्य के कितने भेद हैं? इसका भी निरूपण यदि स्पष्टतः कर दिया जावे तो ठीक हो।

उत्तर—शल्य के दो भेद हैं-भावशल्य और द्रव्यशल्य।

प्रश्न—भावशल्य किसे कहते हैं ?

उत्तर—आत्मा को दुःख देने वाले भाव को भावशल्य कहते हैं।

प्रश्न—भावशल्य कितने हैं ?

उत्तर—भावशल्य तीन हैं-१ मायाशल्य, २ मिथ्यात्वशल्य और ३ निदानशल्य। तथा दर्शन, ज्ञान और चारित्र और तप को मलिन करने वाले भावों को भावशल्य कहते हैं।

दर्शनशल्य—शङ्काकांक्षादि सम्यग्दर्शन के दोषों को दर्शन शल्य कहते हैं।

ज्ञानशल्य—अकाल मे सूत्रों का अध्ययन व अविनयादि को ज्ञानशल्य कहते हैं।

चारित्रशल्य—समिति और गुप्ति के आचरण मे अनादर करने को चारित्रशल्य कहते हैं।

तपःशल्य—अनशनादि तप मे अतिचार लगाने को तप शल्य कहते हैं। तप का चारित्र मे अन्तर्भाव होता है; इसलिए दर्शनशल्य, ज्ञानशल्य और चारित्रशल्य इस प्रकार शल्य के तीन भेद ही होते हैं।

प्रश्न—द्रव्यशल्य कितने प्रकार का है ?

उत्तर—द्रव्यशल्य भी तीन प्रकार का है। १ सचित्त द्रव्यशल्य, २ अचित्त द्रव्यशल्य और ३ मिश्र द्रव्यशल्य।

सचित्तद्रव्यशल्य—दासादि सचित्त द्रव्य शल्य हैं।

अचित्तद्रव्यशल्य—सुवर्ण रजतादि पदार्थ अचित्त द्रव्यशल्य हैं।

मिश्रद्रव्यशल्य—ग्रामादि मिश्रद्रव्यशल्य हैं।

ये सब द्रव्यशल्य चारित्राचार सम्बन्धी भाव शल्य के कारण हैं। क्योकि इनके निमित्त से चारित्र मे दोष उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न—भावशल्य का उद्धार न करने से अर्थात् भावशल्य का त्याग न करने से क्या हानि होती है ?

उत्तर—जैसे काटा, बाण की नोक आदि द्रव्यशल्य शरीर के भीतर जब तक रहते हैं तब तक सुख की सामग्री के उपस्थित रहते हुए भी प्राणी को सुख नहीं होता है, वैसे ही भय, लज्जा व प्रमाद का जनक भावशल्य (माया मिथ्या निदान) आत्मा से जब तक पृथक् नहीं होता है तब तक उसे मलीन करता रहता है और सम्यग्दर्शनादि की आराधना मे बाधक होता है, द्रव्यशल्य एक जन्म मे ही दुख देता है परन्तु भावशल्य जन्म-जन्मान्तर मे दारुण दु.ख का जनक होता है।

इसलिए आचार्यों ने आराधना की सिद्धि के लिए अतिचारो का तत्काल शोधन करने का उपदेश दिया है। आज अपराध उत्पन्न हुआ है, उसका शोधन करने के लिए उसी क्षण गुरु के निकट निवेदन करना चाहिए। कल परसों या परले दिन गुरु के चरणों मे जाकर निवेदन करेंगे, ऐसा विचार करना उचित नहीं है। आयुष्य कितना शेष रहा है, इसका किसको ज्ञान है ? न जाने आयु का अन्तिम क्षण अति निकट आ लगा हो और दोषो की आलोचना किये विना यदि मरण हो गया और दोष सहित अवस्था मे आयु का बन्ध हुआ तो मायाशल्य के कारण तिर्यंच आयु का बन्ध होगा। अतः दोष के होते ही उसकी गुरु के निकट आलोचना कर गुरु प्रदत्त प्रायश्चित्त का आचरण कर शुद्ध हो जाना चाहिए। क्योंकि रोग शत्रु और दोषो की उपेक्षा करने से वे दृढमूल हो जाते हैं। जब उनकी जड़ जम जाती है तब उनका उच्छेद करना जड़ से उखाड़ फेंकना अति कठिन हो जाता है। अथवा बहुत दिन बीत जाने पर अतिचार का विस्मरण हो जाता है। तथा उसके काल (सध्या रात्रि या दिनादि) का ठीक स्मरण नहीं रहता है। वैसे ही क्षेत्र भाव और अतिचार के कारण का भी यथार्थ ज्ञान नहीं रहता है। अर्थात् बहुत समय बीत जाने पर आचार्य के पूछने पर शिष्य अतिचार का द्रव्य क्षेत्र काल भाव और कारण यथार्थ निवेदन नहीं कर सकते हैं। इसलिए अतिचार के होते ही अवसर पाकर गुरु के निकट दोषो की आलोचना कर लेना चाहिए। काल बीतने पर मायाशल्य अन्त.करण मे प्रविष्ट होकर आत्मा को उसकी आलोचना से विमुख कर देती है।

प्रश्न—अतिचार का शोधन किये विना मरजाने से क्या हानि है।

उत्तर—जो क्षपक राग या द्वेष के वश होकर दोषो की आलोचना किये बिना मरण करते हैं। वे दु.ख रूपी शल्यों से परिपूर्ण इस ससार कान्तार (बन) मे परिभ्रमण करते हैं। कहा है :—

रागद्वेषादिभिर्भग्ना ये म्रियन्ते सशल्यकाः।
दुःखशल्याकुले भीमे भवारण्ये भ्रमन्ति ते ॥ ५६४ ॥ (स. भग. आ.)

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र सम्बन्धी दोष दुःख के उत्पन्न करने वाले हैं। इसलिए ऋद्धि गौरव, रस गौरव और सात गौरव से रहित होकर सम्यग्दर्शनादि का निरतिचार पालन करना ही दुःखों के विनाश का कारण है।

जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं व उज्जुअं भणइ।
तह आलोचेदव्वं मायामोसं च मोत्तूणं ॥ ५४७ ॥ भग. आ.

अर्थ—जिस प्रकार भय, मान, असत्य और माया रहित हुआ बालक सरल हृदय से अपने पिता के सामने अपने भले बुरे कार्य का स्पष्ट रूप से निवेदन करता है, उसी प्रकार साधु को भी भय-मान-लज्जा और असत्य का परित्याग कर सरल स्वभाव होकर अपने कृत्यों अकृत्यों की स्पष्ट आलोचना गुरु के समीप ज्यों की त्यों करनी चाहिए।

इस प्रकार आलोचना सम्बन्धी उपदेश को सुनकर समाधिमरण का अभिलाषी भिक्षु हर्षातिरेक से रोमांचित हो जाता है।

क्षपक कायोत्सर्ग कैसे करे ?

पाचीणोदीचिमुहो चेदियहुत्तो व कुणदि एगते।
आलोयणपत्तीयं काउस्सग्गं अणाबाधे ॥ ५५० ॥ भग आ

अर्थ—क्षपक आलोचना की निर्विघ्न प्राप्ति के लिए पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करके अथवा जिन-प्रतिमा के सम्मुख खड़ा होकर कायोत्सर्ग करता है। कायोत्सर्ग मे अपने-पूर्व उत्पन्न हुए दोषों को याद करता है। यह कायोत्सर्ग बाधारहित एकान्त में तथा मार्ग छोड़ कर करता है। क्योंकि जन समूह मे तथा अपने आने के मार्ग मे कायोत्सर्ग करने से चित्त एकाग्र न होने के कारण दोषों का स्मरण करने मे बाधा उपस्थित होती है। प्राकृत टीका मे कायोत्सर्ग का 'सामायिक दंडक स्तुति पूर्वक वृहत् सिद्ध भक्ति करके बैठकर सिद्ध-भक्ति करना' ऐसा अर्थ किया है। गुरु आम्नाय भेद से समाचार विधि मे कहीं २ भेद हो जाता है।

आलोचना के लिए कालवादि का विधान

प्रश्न—कायोत्सर्ग कर दोषो का स्मरण करने के पश्चात् क्षपक क्या करता है ?

उत्तर—उक्त प्रकार सरल स्वभाव को प्राप्त हुआ क्षपक तीन बार दोषो का स्मरण कर विशुद्ध लेश्या धारण करता हुआ अतिचारो का उद्धार करने के निमित्त आचार्य महाराज के निकट गमन करता है।

उज्ज्वल परिणाम वाले इस क्षपक की आलोचना प्रतिक्रमणादि कियाएं दिन मे और शुद्ध स्थान मे होती हैं। दिन के पूर्वभाग (प्रथम पहर) मे या अपराह्न (दिन के तीसरे पहर) मे सौम्य तिथि, सौम्य नक्षत्र और शुभ काल मे होती है। आशय यह है कि आलोचना के लिए परिणामों की शुद्धि के साथ क्षेत्र (स्थान) कालादि की शुद्धि का भी ध्यान रखा जाता है।

प्रश्न—आलोचना के लिए प्रशस्त स्थान होना आवश्यक माना गया है तो कौन स्थान प्रशस्त है और कौन अप्रशस्त है ? उनका विवेचन करना चाहिए। प्रथम अप्रशस्त स्थानो का विवेचन कीजिए ?

उत्तर – जो स्थान पत्रयुक्त वृक्षों से हीन हो, कटकाकीर्ण हो, बिजली गिरने से जो फट गया हो, जहां सूखे वृक्ष हों, जो कटु रस वाला तथा जला हुआ हो, शून्य घर या रुद्र का मन्दिर हो, जहा ईंटों या पत्थरो के ढेर हो। जिसमे तृण सूखे पत्ते और काठ के पुंज हो, जहा राख पडी हो, अपवित्र वस्तुओं से युक्त भूमि तथा श्मशान भूमि हो, जहा पर टूटे फूटे बर्तन तथा गिरे पडे मकान हो, चण्डिका भवानी आदि क्षुद्र देवताओं के स्थान हो वे सब वर्जनीय माने गये हैं। इनके अतिरिक्त ऐसे ही अन्य अशुभ स्थान आलोचना के अयोग्य अप्रशस्त कहे गये हैं। क्योकि ये स्थान आलोचना करने वाले साधु और सुनने वाले आचार्य के असमाधान के कारण हैं। इन स्थानो मे आलोचना करने से क्षपक के कार्य की सिद्धि नहीं होती है। इसलिए आचार्य ऐसे स्थानो में क्षपक की आलोचना नहीं सुनते हैं।

प्रश्न—आलोचना के लिए कौन से स्थान प्रशस्त माने गये हैं, जहां पर आचार्य क्षपक की आलोचना सुनते हैं।

उत्तर—अरहन्त और सिद्ध चैत्यालय, समुद्र तथा तालाब आदि जलाशय के समीपवर्ती स्थान, जहां वट वृक्ष अशोकादि के वृक्ष तथा पुष्पो या फलों से भरे हुए वृक्ष हो ऐसे स्थान, उद्यान व अन्य सुखकर स्थान क्षपक की आलोचना सुनने के योग्य प्रशस्त माने गये हैं।

प्रश्न—आचार्य किस प्रकार बैठकर क्षपक की आलोचना सुनते हैं ?

उत्तर—पूर्व दिशा तथा उत्तर दिशा की ओर मुख करके तथा चैत्य (जिन प्रतिमा) अथवा जिनालय के सम्मुख एकान्त में बैठकर आचाय एक क्षपक की आलोचना सुनते हैं।

प्रश्न—अन्धकार को दूर कर-जगत् मे प्रकाश करने वाले सूर्य का उदय पूर्व दिशा मे होता है, अतः वह दिशा उदय दिशा कही जाती है। कार्य की उन्नति का अभिलाषी मनुष्य पूर्व दिशा की ओर मुख करके कार्य करता है। स्वयप्रभादि तीर्थंकर विदेह क्षेत्र मे विराजमान है, ऐसा चित्त मे विचार करके उनकी तरफ मुख करने से मेरे कार्य की सिद्धि होगी, इस अभिप्राय से उत्तराभिमुख होकर कार्य प्रारम्भ करता है तथा जिन प्रतिमा के सामने मुख करके स्थित होने से परिणामो मे निर्मलता आती है और वह निर्मलता पुण्य की वृद्धि करके प्रारब्ध कार्य की सिद्धि मे कारण होती है। किन्तु आचार्य को कौनसा कार्य सिद्ध करना है जो पूर्व दिशा उत्तर दिशा, या जिन प्रतिमा की तरफ मुख करके बैठते हैं?

उत्तर—आचार्य क्षपक की आलोचना सुनकर भविष्य मे दिये जाने वाले प्रायश्चित रूप कार्य की निर्विघ्न समाप्ति हो, ऐसी क्षपक के लिए शुभ कामना धारण कर उत्तर या पूर्व दिशा के सम्मुख अथवा जिन प्रतिमा के सामने मुख करके बैठते हैं।

प्रश्न—जब आचार्य आलोचना सुनने के लिए निर्व्याकुल चित हो कर बैठते हैं, उस समय गुरु वा पूज्य पुरुष रहें तो क्या हानि होती है?

उत्तर—अन्य व्यक्तियो के उस समय वहां उपस्थित रहने से आचार्य का चित्त एकाग्र नहीं रहने से क्षपक के प्रति अनादर भाव प्रकट होता है। दूसरी बात यह है कि अनेक पुरुष सुनने वाले होगे तो क्षपक के अन्तःकरण मे लज्जा उत्पन्न होगी जिससे वह अपने दोषों को स्पष्ट निवेदन करने का इच्छुक होता हुआ भी मन मे खेदखिन्न होगा और सब अपराध को स्पष्ट न कह सकेगा। इसलिए आलोचना के समय एकाकी आचार्य ही श्रोता होना चाहिए। आगम मे भी यही बताया है कि आलोचना सुनने के लिए आचार्य के सिवा अन्य न रहें। आलोचना को गुप्त रखने की आज्ञा है। यदि अनेक सुनने वाले होंगे तो वह गुप्त नहीं रह सकती। कहा है—

'षट्कर्णोभिद्यते मन्त्रः' छह कर्णों मे गई हुई गुप्त बात अवश्य प्रकट हुए बिना नहीं रहती है। इसलिए आगम में एकाकी आचार्य को एकान्त मे एक क्षपक की आलोचना सुनने के लिए कहा है।

प्रश्न—क्षपक जब गुरु के निकट आलोचना करने के लिए उपस्थित हो, उस समय उसको क्या करना चाहिए। वह किस विधि से आलोचना प्रारम्भ करे? उस विधि पर प्रकाश डालने की कृपा करें?

उत्तर—आलोचना करने वाला क्षपक प्रथम गुरु आचार्य की वन्दना करे। वह वन्दना सिद्ध भक्ति और योग भक्ति पढ़कर करे ऐसा वृद्धाचार्यों का मत है। श्री चन्द्राचार्य तो सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति पढ़कर वन्दना करना कहते हैं। वन्दना कर चुकने के बाद दक्षिण पार्श्व (दाहिनी बगल) मे पिच्छी लेकर भाल प्रदेश मे दोनो हाथ जोड़कर मन वचन और काय से शुद्ध हुआ आगमोक्त दोषों से रहित आलोचना करे।

आलोचना के दस दोष

प्रश्न—आलोचना के दश दोष कौन से हैं?

उत्तर—आकंपिय अणुमाणिय ज दिट्ठ बादरं च सुहुम च। छण्ण सद्दाउलयं बहुजण अव्वत्त तस्सेवी॥ ५६२॥ [भग. आ.]

१. आकम्पित २. अनुमानित ३. दृष्ट ४ बादर ५. सूक्ष्म ६ छन्न ७. शब्दाकुलित ८. बहुजन ९. अव्यक्त और १०. तत्सेवी ये आलोचना के दश दोष हैं। इनका संक्षिप्त सा वर्णन तो पहले कर आये हैं फिर भी थोड़ा सा खुलासा कर दिया जाता है।

(१) आकम्पित दोष—शिक्षा प्राप्त होने के कारण स्वय प्रवर्त्तक बनकर आचार्य महाराज की उद्गमादि समस्त दोष रहित आहार जल से वैयावृत्त्य करके तथा उनको निर्दोष पिच्छी कमण्डलु पुस्तकादि उपकरण देकर विशेष विनयादि पूर्वक वन्दनादि कृतिकर्म करके, गुरु के अन्तःकरण मे अपने विषय मे करुणा उत्पन्न करने के पश्चात् अपने दोषों की आलोचना करना यह आकम्पित दोष है।

आलोचक शिष्य का गुरु के चित मे अनुकम्पा उत्पन्न करने का अभिप्राय यह है कि गुरु आहारादि द्वारा उचित वैयावृत्त्य से सन्तुष्ट होकर मुझे गुरुतर प्रायश्चित न देंगे, लघु प्रायश्चित देंगे, इसलिए मैं सूक्ष्म और स्थूल सब अपराधो का निवेदन कर सकूंगा। मेरी सम्पूर्ण दोषों की आलोचना भी हो जावेगी और महान प्रायश्चित से बच जाऊँगा। इस प्रकार शिष्य गुरु को आहारादि लोभ का असद्दोषारोपण कर मानसिक अविनय का आचरण करता है। तथा अपने अन्तःकरण मे मायाचार की उत्पत्ति करता है। अतः यह सदोष आलोचना मानी गई है।

(२) अनुमानित दोष—शिथिलाचार का पालक सुखिया साधु गुरु से प्रार्थना करता है :—हे भगवन्! धीर पुरुषों से आचरण किये गये सब प्रकार के तप जो मुनि करते हैं वे भाग्यवान हैं धन्य हैं और महात्मा हैं। इस प्रकार अपनी धार्मिकता प्रकट करता हुआ कहता है :—हे दयालो! मुझ मे जितना शारीरिक बल है, वह आप से छिपा नहीं है। मेरी जठराग्नि अति दुर्बल है। मैं सदा किसी न किसी रोग से ग्रस्त रहता हूँ, इसलिए मैं उत्कृष्ट तप का आचरण करने मे असमर्थ हूँ, यदि आप मुझ पर अनुग्रह कर अल्प प्रायश्चित देंगे तो मैं अपने समस्त

अपराधों को निवेदन करूंगा और आपकी महती कृपा से सब दोषों से रहित होकर शुद्ध हो जाऊंगा।

ऐसा कहकर और गुरु मुझे अल्प प्रायश्चित देंगे ऐसा अनुमान ज्ञान से जानकर पश्चात् जो मुनि अपने अपराधों की आलोचना करता है उसके अनुमानित दोष होता है।

यह आलोचना परिणाम मे उस प्रकार दु:ख देने वाली है जैसे सुखाभिलाषी दुःख देने वाले अपथ्य आहार का सेवन कर उसे सुख देने वाला समझता है, किन्तु वह परिणाम मे दु ख प्रद होता है। अर्थात् उक्त आलोचना से रत्नत्रय की शुद्धि कदापि नहीं होती है। जैसे अपथ्य आहार से सुख की प्राप्ति नहीं होती।

(३) दृष्ट दोष—किसीने देखे हों या न देखे हों, सम्पूर्ण दोषों को निष्कपट भाव से गुरु के समीप निवेदन करना चाहिए। किन्तु ऐसा न कर जो मुनि उन्हीं दोषों को गुरु के निकट प्रकाशित करता है, जिनको दूसरो ने देख लिया है, उसे दृष्ट दोष कहते हैं।

जैसे—बालु रेत के मैदान में किसी मनुष्य ने खड्डा खोदने का प्रयास किया। किन्तु वह खड्डा खोदते खोदते ही बालु रेत से भर गया। खोदने वाले का परिश्रम व्यर्थ हुआ। उसी प्रकार जो पुरुष प्रथम मायाशल्य से रहित होकर आलोचना करने के लिए उद्यत हुआ और पश्चात् माया का आश्रय लेकर अदृष्ट दोषों को छिपा कर केवल दृष्ट दोषो का प्रकाशन करने लगा, उसके अन्तःकरण में मायाशल्य ज्यों का त्यों बना रहने के कारण वह रत्नत्रय की शुद्धि से वचित रहता है।

(४) बादर दोष—जो साधु स्थूल (बडे) दोषों का तो गुरु के निकट प्रकाशन करता है और सूक्ष्म दोषों को छिपाता है, वह जिनेन्द्र भगवान् के वचनो की अवहेलना करता है, इसलिए वह दोषी होता है। क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश स्थूल और सूक्ष्म दोषो को गुरु के पादपद्म मे निवेदन करने का है। उसका पालन न कर केवल बादर दोषों का प्रकाश करने वाला बादर दोष नामक दोष से दूषित माना गया है।

जैसे कासे का कलश ऊपर से स्वच्छ होने पर भी भीतर से नीला होने से मलीन होता है. वैसे ही इस आलोचना करने वाले के अन्तरङ्ग मे माया दोष विद्यमान होने से उसकी आलोचना सदोष होती है।

(५) सूक्ष्म दोष—जो साधु भय गर्व और माया से सूक्ष्म दोषों को छिपा कर स्थूल दोषों का निवेदन करता है, वह आलोचना के सूक्ष्म नामक दोष से दूषित माना गया है।

प्रश्न—सूक्ष्म दोष कौन से हैं ?

उत्तर—उठने बैठने सोने सस्तर बिछाने गमनादि से उत्पन्न हुए दोष सूक्ष्म दोष हैं। इन दोषों को गुरु के निकट प्रकट करते समय शिष्य कहता है। हे भगवन्! जिस भूमि में ओस आदि बहुत थी, उस भूमि पर ईर्या समिति मे चित्त सावधान करके न चला सका था। पिच्छिका से भूमि का मार्जन(शोधन) किये बिना बैठ गया था,सोया था,करवट बदली थी,और खड़ा हो गया था। उचित काल मे मैंने सामायिकादि आवश्यक का पालन नहीं किया था। जल से शरीरादि का स्पर्श किया था। मैं सचित्त रज पर बैठा था, खड़ा हुआ था,सो गया था। धूलि से भरे हुए पावो से जल मे प्रवेश किया था। जल से गीले पावों से मैंने धूलि मे प्रवेश किया था। आठ या नव मास की गर्भवती स्त्री से मैंने आहार लिया था। रोते हुए या स्तन पान करते हुए बालक को छोड़ कर आई हुई स्त्री ने मुझे आहार दिया था। इत्यादि सूक्ष्म दोषो का निवेदन करता है।

इस प्रकार छोटे २ दोषो को प्रकट कर स्थूल (बड़े २) दोषों को छिपाता है। बड़े दोष यदि प्रकट कर दूंगा तो आचार्य मुझे महान् प्रायश्चित देंगे इस भय से अथवा मेरा परित्याग कर बैठेंगे इस भय से स्थूल दोषों को प्रकट नहीं करता है। सूक्ष्म दोषों को प्रकाशित करने और स्थूल दोषों को छिपाने के कारण उसका कपट स्वभाव स्पष्ट होता है। मैं सङ्घ के सब मुनियों से निर्दोष चारित्र का पालन करने वाला हूँ, इस अभिमान से स्थूल दोषो को व्यक्त नहीं करता है, वह सूक्ष्म दोष का भागी माना गया है।

(६) प्रच्छन्न दोष—मुझे अमुक अतिचार या अनाचारजन्य अपराध हुआ है,ऐसा स्पष्ट न कहकर आचार्य से पूछता है। अहो गुरु महाराज! यदि किसी मुनि के अठाईस मूलगुणों मे या अनशनादि तप उत्तर गुणो मे एवं अहिंसादि महाव्रत मे अतिचार लग जावे तो उसको कौनसा प्रायश्चित दिया जाता है ? वह किस उपाय से शुद्ध हो सकता है ? इस प्रकार प्रच्छन्न रूप से पूछता है। गुरु महाराज से गुप्त रूप से पूछकर अपनी शुद्धि कर लेना चाहता है। यह प्रच्छन्न नामक आलोचना का छठा दोष है।

शङ्का—अपराध की शुद्धि उचित प्रायश्चित के आचरण से होती है। किसी प्रकार गुरु महाराज से अपने दोष की शुद्धि करने वाले प्रायश्चित को जानकर यदि वह उस प्रायश्चित को ठीक तरह आचरण करता है, तो उसकी शुद्धि कैसे नहीं मानी जा सकती है ?

समाधान—दोष की शुद्धि करने के लिए निष्कपट भाव से गुरु महाराज के सामने अपने दोषों की यथार्थ आलोचना करना अत्यन्त आवश्यक है। पच्छन्न रूप स मायाचार द्वारा गुरु महाराज से अपराध का प्रायश्चित पूछकर उसका आचरण किया है। उसके हृदय से माया भाव नहीं निकला है। अतः उसकी शुद्धि होना असभव है, अतः इसे दोष ही माना गया है।

(७) शब्दाकुल दोप—सम्पूर्ण मुनि मिलकर पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक या वार्पिक दोपों की आलोचना कर रहे हों, उस समय महान् कोलाहल होता है। ऐसे अवसर को पाकर अपनी इच्छानुसार दोपों की आलोचना करना वह शब्दाकुल दोप है।

क्योंकि कोलाहल में जब गुरु उसके अपराध को स्पष्ट नहीं सुन पाते हैं, उस समय अपराध कह सुनाने से गुरु उसको यथार्थ प्रायश्चित देने मे समर्थ नहीं हो सकते हैं, इसलिए यह शब्दाकुल नामक दोप माना गया है।

(८) बहुजन दोप—जिसने प्रत्याख्यान नामक नवमे अङ्ग का अध्ययन किया है, तथा अङ्ग बाह्य मे कल्प नामक प्रकरण है उसका और शेप अङ्गों मे तथा प्रकीर्णकों मे जहां जहां प्रायश्चित का निरूपण आया है उन सबका मनन किया है, उस आचार्य के द्वारा अर्थात् उपलब्ध सब प्रायश्चित ग्रन्थो के ज्ञाता आचार्य के द्वारा दिये गये प्रायश्चित पर विश्वास न करके यदि कोई मुनि अन्य आचार्यों से उस प्रायश्चित के औचित्य या अनौचित्य के विषय मे पूछे तो वह बहुजन दोप माना गया है।

(९) अव्यक्त दोप—जो मुनि आगमज्ञान से शून्य है, वह आगम बाल है, तथा जो चारित्र से हीन है, वह चारित्र-बाल है। उस ज्ञान-चारित्र हीन मुनि के सम्मुख अपने अपराधों की आलोचना करने वाले को आलोचना का अव्यक्त नामक दोप होता है। यद्यपि आलोचक ने मन वचन काय से कृत कारित और अनुमोदना जन्य सब अपराधो की आलोचना की है तथापि उसकी आलोचना निष्फल है क्योंकि आगम बाल या चारित्र बाल आचार्य से उचित प्रायश्चित द्वारा अपराधों की शुद्धि नहीं हो सकती है। अतः इसे अव्यक्त दोप कहा है।

(१०) तत्सेवी दोप—यह पार्श्वस्थ (भ्रष्ट मुनि) मेरे सुखिया स्वभाव को तथा मेरे सब दोपों को जानता है। यह भी मेरे समान दोपी है, इसलिए मुझे यह महान् प्रायश्चित न देगा ऐसा विचार कर जो पार्श्वस्थ (भ्रष्ट मुनि) के निकट जाकर अपने सब अपराधो की आलोचना करता है, उसको तत्सेवी नाम का दोप होता है।

जैसे रुधिर से भीगा वस्त्र रुधिर मे धोने पर शुद्ध नहीं होता है, वैसे ही दोप सहित पतित मुनि के पास आलोचना करके कोई मुनि अपने अपराध से मुक्त नहीं होता है। क्योंकि रुधिर वस्त्र स्वच्छ जल से धोने पर ही शुद्ध होता है। वैसे ही दोपो का निवारण निर्मल चारित्र के धारक आचार्य के पाद मूल मे आलोचना करके उनके द्वारा दिये गये प्रायश्चित का आचरण करने से ही हो सकता है। अन्यथा नहीं होता। इसलिए हे क्षपक! जो मुनि जिनप्रणीत आगम के वचनो का लोप करते हैं और दुष्कर पाप का आचरण करते हैं, उनका मोक्ष अनन्त काल मे भी जैसे नहीं होता है, वैसे ही जो मुनि अन्तःकरण मे मायाशल्य रखकर अपने दोपों की आलोचना करते हैं, उनको भी मोक्ष की प्राप्ति अत्यन्त दूर है।

अतएव मुनियो का कर्तव्य है कि भय, माया, मृषा, मान और लज्जा का परित्याग कर उक्त दश दोषों से रहित आलोचना करे। क्योकि दूषित आलोचना आत्मा को निर्दोष बनाने मे समर्थ नहीं होती है।

साधु किन २ दोषों की कैसे आलोचना करें?

प्रश्न—साधु किन २ दोषों की किस प्रकार आलोचना करे?

उत्तर—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चोइन्द्रिय और पचेन्द्रिय इन जीवों मे से जिसकी विराधना हुई हो, उनकी आलोचना करे।

पृथिवी काय जीव अनेक प्रकार के हैं—जैसे मिट्टी, पाषाण, शर्करा (ककर) बालुरेत, नमक, अभ्रक आदि अनेक भेद हैं। उनको खोदने, हलादि से विदारण करने, जलाने फोड़ने मोडने पटकने फेंकने आदि मे से मैंने अमुक पाप किया है।

जल कायिक जीवो के भी पानी बर्फ ओस ओले आदि अनेक भेद हैं। उनका पान करने, उसमे स्नान करने, कूदने, तैरने, हाथ पैरो से या शरीर से मर्दन करने वगैरह मे मैंने उनका अमुक प्रकार से घात किया है।

अग्निकायिक जीवो के ज्वाला दीपक जलती हुई लकडी आदि कई भेद हैं। उनके ऊपर मैंने पत्थर मिट्टी जल डालकर इनका विनाश किया है। अथवा पाषाण या लकडी आदि से पीटा है, मर्दन किया है। इनके अतिरिक्त भी अनेक तरह के आरम्भ मे से मैंने अमुक प्रकार से अग्नि कायिक जीवो को बाधा पहुचाई है।

वायु कायिक जीवों के झझावात मडलिक आधी आदि भेद हैं। जल वृष्टि सहित जो वायु बहती है, उसे झझावात कहते हैं। जो वायु गोलाकार भ्रमण करती हुई बहती है, उसे मडलिक वायु कहते हैं। तेज वायु को आंधी कहते हैं। इत्यादि प्रकार से बहने वाली वायु को मैंने पखे से, वस्त्र से सूप से प्रतिघात किया है, वायु को किवाड छत्रादि से रोका है। पखे आदि से उसे सताया है, बाधा पहुचाई है। वायु के सम्मुख गमन किया है। इत्यादि प्रकारो मे से जिस प्रकार से वायुकाय के जीवो को बाधा पहुचाई हो, उसका निवेदन करे।

वनस्पति कायिक जव—साधारण (अनन्त कायिक नीलन फूलन काय आदि वनस्पति, प्रत्येक वनस्पति वृक्षादि बीज, वल्ली लता छोटे पौधे के समूह, पुष्प फुल तृणादि वनस्पति कायिक जीवो के अनेक भेद हैं। उनमे से अमुक को मैंने जलाया है, या तोड़ा है। या उनका छेदन भेदन किया है? अथवा मर्दन मोटन (मरोड़ना) बंधन, रौंदन आदि अनेक क्रियाओ मे से अमुक द्वारा उनका घात किया

है। उनको बाधा पहुंचाई है।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रि और पचेन्द्रिय जीवों में से अमुक का अज्ञान व प्रमाद से जाने या बिना जाने विघात किया है। या उनका छेदन भेदन ताड़न बन्धन किया है। उनकी गति का निरोध कर सताया है। या गमनागमन करके उन्हें पीड़ा या बाधा पहुचाई है।

आहार, उपकरण, वसतिका का अङ्गीकार करते समय मुझ से उद्गम उत्पादन एषणा आदि अमुक २ दोष हुए हैं।

गृहस्थियों के कुंभ कलश सकोरा आदि भाजनों मे से किसी भाजन मे कोई वस्तु रखी या उन भाजनों में से किसी से कोई वस्तु ग्रहण की हो तो ये सब चारित्रातिचार हैं। क्योकि इन पात्रो का भीतर मे प्रतिलेखन (मार्जन) करना अत्यन्त कठिन है।

छोटी चौकी वेत्रासन खाट पलग इन पर वैठने से अपराध हुआ हो। क्योकि इनमे अनेक छिद्र होते हैं। उनमे जो प्राणी निवास करते हैं, वे नेत्रों से दिखाई नहीं देते। यदि वे दिखाई दें तो उन्हे निकालना अशक्य होता है। इसलिए ऐसे छोटे चौकी वगैरह आसनो पर वैठने से अहिंसा व्रत मे अतिचार उत्पन्न होता है। अथवा आहार के लिए श्रावक के घर जाकर वहा पर वैठना भी निषिद्ध है। क्योकि श्रावक के घर वैठने से ब्रह्मचर्य व्रत का विनाश हो सकता है। भोजनार्थी मनुष्यो के भोजन मे विघ्न उपस्थित होता है। वे लोग मुनियों के समक्ष भोजन करने मे सङ्कोच करते है। क्षुधादि से पीड़ित होने के कारण उनके मनमे सक्लेश उत्पन्न होता है। लोग कहने लगते हैं कि ये मुनि महिलाओ के बीच किस लिए वैठे हैं ? आहार सम्पन्न हो जाने के अनन्तर यहा वैठे रहने की क्या आवश्यकता है ? इनको यहां से अब तो चला जाना चाहिए ? इत्यादि उनके अन्त करण मे कोपावेश से दुर्विचार उत्पन्न होने लगते हैं।

स्नान करना, उबटन लगाना, मस्तकादि शरीर के अवयवों का प्रक्षालन करना इन क्रियाओ को 'बाकुस' कहते हैं। ठडे जल से या गर्म जल से स्नान करने पर आखों मे अजन शरीर पर उबटन करने से शरीर पर स्थित प्राणी नष्ट होते हैं। तथा बिलो में रहने वाले प्राणी और भूमि के छोटे २ छेदों में निवास करने वाले कीड़े मकोडे आदि जन्तु मृत्यु के मुख मे प्रविष्ट होते हैं। इसलिए आगम मे मुनियों के लिए स्नान का निषेध है। मुनियों को आजीवन यह घोर व्रत पालन करना परमावश्यक होता है। लोध्र आदि सुगन्धित पदार्थों का उबटन भी मुनियो के लिए वर्जित है।

बिना दिये हुए पदार्थ का तथा रात्रि भोजन का त्याग मुनियो को रहता ही है। बिना आज्ञा के किसी वस्तु का ग्रहण करना क्या है, मानो उस वस्तु के स्वामी के प्राणो का हरण करना है। क्योकि धन प्राणियो का बाह्य प्राण है। जो दूसरो की वस्तु का हरण करता है, उसको राजा दण्ड देते हैं।

रात्रि भोजन अनेक असयम का मूल कारण है। रात्रि मे भोजन करने से त्रस और स्थावर जीवो का वध होता है। तथा जिसका त्याग किया उसका और अयोग्य वस्तु का भक्षण हो जाता है। रात्रि में दाता की परीक्षा नहीं हो सकती है। अपने हाथ मे रखे हुए भोजन की, हाथ से उच्छिष्ट भोजन जिस जगह गिरता है उस भूमि प्रदेश की तथा दाता के गमनागमन मार्ग की, दाता के खड़े रहने तथा अपने खडे रहने के प्रदेश की भली भाति देख भाल (यह जीव रहित है या जीव सहित है ऐसी जाचे) नहीं कर सकते हैं। ऐसे अनेक दोष रात्रि भोजन करने से उत्पन्न होते हैं। इसलिए रात्रि में आहार ग्रहण करना सर्वथा निषिद्ध है। मैथुन सेवन, परिग्रह धारण और असत्य भाषण आदि महा पापो के तो मुनि सर्वथा त्यागी होते ही हैं।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्याचार मे मन वचन काय द्वारा कृत कारित अनुमोदना से जो अतिचार उत्पन्न हुए हो, उनकी मैं आलोचना करता हूँ।

शङ्का कांक्षा आदि दोष सम्यग्दर्शन के अतीचार हैं। सम्यग्ज्ञान की क्या आवश्यकता है। तपश्चरण और चारित्र ही फल देने वाला है इसलिए उन्हीं का आचरण करना चाहिए। इस प्रकार मन से सम्यग्ज्ञान की अवज्ञा करना अथवा सम्यग्ज्ञान को मिथ्याज्ञान समझना व वचन से प्रकट करना मन से वचन से व काय से सम्यग्ज्ञान मे अरुचि प्रकट करना, मुह विगाड कर मुह मोड कर अथवा सिर हिला कर यह सम्यग्ज्ञान नही है ऐसा प्रकाशित करना। आदि ज्ञान के अतिचार हैं।

तपस्या करते समय असयम मे प्रवृत्ति करना तप का अतिचार है। अपनी शक्ति को छिपाना वीर्याचार का अतिचार है। ये सब अतिचार कृत कारित और अनुमोदना के भेद से तीन २ प्रकार के होते हैं। स्वयं करना, स्वय कराना और करते हुए की स्वय अनुमोदना करना। दूसरे को प्रेरित करना, प्रेरित कराना और प्रेरित करते हुए की अनुमोदना करना। इस तरह प्रत्येक अतिचार के तीन २ भेद होते हैं।

दूसरे देश के राजा का आक्रमण होने पर जब देश के सम्पूर्ण गमनागमन के मार्ग रुक जाते है, उस समय वहा से निकलना कठिन हो जाता है। ऐसे अवसर पर भिक्षा दुलभ होने से अन्तःकरण मे सक्लेश होता है। कदाचित् उस काल मे अयोग्य पदार्थ का सेवन कर लिया हो तो क्षपक को आलोचना करते समय ऐसे सब दोषों का खुलासा करना चाहिए। अमुक अतिचार रात्रि के समय या अमुक अतिचार दिन के समय हुआ है, उन सब का स्पष्ट निवेदन करना आवश्यक है।

जिस समय संघ हैजा प्लेग आदि भयानक रोगो से या अन्य दारुण विपत्तियो से आक्रान्त हो गया हो, उस समय उनका प्रतिकार करने के लिए विद्या मन्त्रादि का उपयोग करना पड़ा हो, उसमे जो अतिचार हुआ हो उसकी भी स्पष्ट आलोचना करनी चाहिए।

अति दुर्भिक्ष के समय अवमौदर्य तप मे जो दोष लगे हो या अयोग्य पदार्थ का सेवन हुआ हो, अथवा अन्य मुनियों ने अनुचित भिक्षा ग्रहण जिस प्रकार की हो, उन सबका निवेदन करना चाहिए। अभिमान या प्रमाद आदि से जो जो दोष लगे हों उन सबको गुरु के निकट प्रकट कर देना मुनि का कर्तव्य है।

दर्पादि बीस अतिचार

दर्पादि के निमित्त से बीस अतिचार होते हैं। आगम के अनुसार उनका नीचे स्पष्टीकरण करते हैं।

(१) दर्प (गर्व) अनेक प्रकार का है—जैसे क्रीड़ा मे स्पर्द्धा करना, व्यायाम करना, छल-कपट करना, रसायन सेवन, हास्य करना, गीत मे श्रृंगार के वचन वोलना, उछलना कूदना, ये दर्प के प्रकार हैं।

(२) प्रमाद के पाच भेद हैं—विकथा, कषाय, इन्द्रियो के विषयों में आसक्ति, निद्रा और प्रेम। अथवा सक्लिष्ट हस्तकर्म, कुशीलानुवृत्ति, वाह्यशास्त्र, काव्य रचना करना, और समिति मे उपयोग न रखना इस प्रकार भी प्रमाद के पाच भेद होते हैं।

छेदन करना भेदन करना, पीसना, टकराना, चुभाना, खोदना, वांधना, फाड़ना धोना, रङ्गना, लपेटना, गूॅथना, भरना, राशि ना (इकट्ठा करना), लेपन करना, फेंकना, चित्र वनाना, इत्यादि काम करने को सक्लिष्ट हस्तकर्म कहते हैं।

ज्योतिःशास्त्र, छन्दःशास्त्र, अर्थशास्त्र, वैद्यकशास्त्र, लौकिकशास्त्र और मन्त्रशास्त्र इत्यादि शास्त्रों को वाह्यशास्त्र कहते हैं।

(३) अनाभोगकृत—उपयोग रखने पर भी जिन अतिचारो का ज्ञान नहीं होता है, उन्हें अथवा चित्त की प्रवृत्ति दूसरी ओर र जो अतिचार होते हैं, अनाभोगकृत अतिचार कहते हैं।

(४) आपात कृत—नदी का पूर आने पर, अग्नि काण्ड के उपस्थित होने पर भयानक आधी का तूफान आने पर, वृष्टि के ने पर, शत्रु की सेना से घिर जाने पर तथा ऐसे ही और कारणों के प्राप्त होने पर जो अतिचार, होते हैं उन्हें आपात अतिचार कहते हैं।

(५) आर्तताकृत—रोग जन्य पीडा, शोक जन्य क्लेश, और वेदना व व्यथा से होने वाले अतिचारों को आर्तताकृत अतिचार कहते हैं।

(६) तितिणदाकृत रसों मे आसक्ति होने से तथा अधिक बकवाद करने से जो अतिचार होते हैं। उन्हें तित्तिणदाकृत

अतिचार कहते हैं।

(७) शकित—पिच्छिका आदि उपयोगी द्रव्यो मे सचित्त या अचित्त का सन्देह रहते हुए भी उनको मोड़ना, पटकना तोड़ना, फोडना, छीलना एवं आहार उपकरण और वसतिका में 'उद्गमादि दोष हैं या नहीं' ऐसा सन्देह होने पर भी उनका सेवन करना ये शकित अतिचार हैं।

(८) सहसातिचार—अशुभ मानसिक विचारों में अथवा अशुभ वचनों मे बिना विचारे शीघ्र प्रवृत्त होना, उसको सहसा अतिचार कहते हैं।

(९) भयातिचार—एकान्त प्रदेश मे वसतिका होने पर इसमें चोर सर्प दुष्ट-हिंसक-पशु, व्याघ्र सिंहादि अन्दर घुस आवेंगे, इस भय से वसतिका के द्वार बन्द करने से होने वाले अतिचार को भयातिचार कहते है।

(१०) प्रदोप—तीव्र सज्वलन कषाय के उदय से होने वाले जल के ऊपर की रेखा के समान क्रोधादि चार कषाय के निमित्त से होने वाले अतिचारो को प्रदोष जन्य अतिचार कहते हैं।

(११) मीमासा—अपने और दूसरे के बल के तरतम भाव की परीक्षा करने से उत्पन्न होने वाले अतिचार को मीमांसा अतिचार कहते हैं।

अथवा सीधे हाथ को मोडना, मुड़े हुए हाथ को सीधा करना, धनुष आदि को चढाना, वजन दार पत्थर को ऊपर उठाना, उसे दूर फेंकना, दौड लगाना, काटे की बाड आदि को लांघना, पशु सर्पादि को मंत्रो की परीक्षा करने के लिए पकडना, औषधियो के सामर्थ्य की परीक्षा करने के लिए अजन और चूर्ण का प्रयोग करना, अनेक द्रव्यो को मिलाकर 'त्रस और एकेन्द्रिय प्राणियो की उत्पत्ति होती है या नहीं' उसकी परीक्षा करना, ऐसे कृत्य करने को परीक्षा कहते हैं। इन कामो से व्रतों में दोष उत्पन्न होते हैं।

(१२) अज्ञानातिचार—अज्ञानी मनुष्यो का आचरण देखकर उसमें दोष न समझ कर स्वयं भी वैसा ही आचरण करने अथवा अज्ञानी से प्राप्त हुए उद्गमादि दोष वाले उपकरणादि का सेवन करने से जो अतिचार उत्पन्न होते हैं, उन्हें अज्ञानातिचार कहते हैं।

(१३) स्नेहातिचार—शरीर, उपकरण, वसतिका, कुल, ग्राम,नगर,देश, वन्ध तथा पार्श्वस्थमुनि आदि मे ममत्व भाव रखने से जो अतिचार होते है, उन्हें स्नेहातिचार कहते हैं। यह मेरा शरीर है, ऐसा ममत्व रखने से यह शीत पवन मेरे शरीर को बाधा देती है, ऐसा विचार कर शरीर को चटाई से ढकता है, अग्नि का सेवन करता है, ग्रीष्मकाल की लू आदि से बचने के लिए वस्त्र ग्रहण करता है, शरीर पर

उबटन लगाता है, उसे स्वच्छ करता है, तैलादि मर्दन करता है, यह सब ठीक नहीं है। इससे अतिचार होते हैं।

मेरा उपकरण विनष्ट हो जायगा, इस भय से पिच्छिका द्वारा प्रमाजन न करना, तैलादि से कमण्डलु का संस्कार कर स्वच्छ रखना, इसे उपकरणातिचार कहते हैं।

वसतिका के तृणादि का भक्षण करते हुए पशु आदि का निवारण करना, वसतिका का भङ्ग होता हो तो उसका निवारण करना बहुत से यति मेरी वसति मे निवास नहीं कर सकेंगे ऐसा कहना, आजाने पर उन पर क्रोध करना, बहुत साधुओ को वसतिका मत दो-ऐसा निषेध करना, अपने कुल के मुनियो की ही सेवा वैयावृत्त्य करना, निमित्त ज्ञानादि का उपदेश देना, ममत्व भाव से ग्राम नगर या देश में रहने का निषेध न करना, अपने से सम्बन्ध रखने वाले मुनियो के सुख में सुखी और दु.ख मे दुःखी होना, पार्श्वस्थादि मुनियों की वन्दना करना, उनको उपकरणादि का प्रदान करना, उनके वचनादि का उल्लघन करने की सामर्थ्य न रखना, इत्यादि कार्यों से जो अतिचार होते हैं उन सबकी आलोचना करना चाहिए।

(१४) गारव अतिचार—ऋद्धि, रस और साता मे आसक्ति रखना। ऋद्धि मे आसक्ति रखने से परिवार में आदर भाव होता है। प्रिय भाषण करके उपकरण देकर दूसरे की वस्तु अपने अधीन करता है। रस मे आसक्ति के कारण प्रिय रस का त्याग नहीं करता है और अप्रिय रस मे अनादर भाव होता है। साता गारव से प्रिय मधुर सुहावने भोजन करता है और शरीर को सुख देने वाले शयनासनाआदि मे प्रवृति करता है। इससे जो अतिचार होते हैं, उन्हें गारव अतिचार कहते हैं।

(१५) परतन्त्रता जन्य अतिचार—उन्माद से, पित्त के प्रकोप से,भूत पिशाच के शरीर मे प्रवेश करने से परतन्त्रता होती है। ज्ञाति के लोगो के परवश होकर इत्र गन्ध पुष्प माला आदि का सेवन करना, रात्रि भोजन करना, छोडे हुए पदार्थों का सेवन करना, स्त्रियों के या नपुसको के साथ बलात्कार से मैथुन सेवन में प्रवृत्ति करना भी परतन्त्रता के कार्य हैं। इनसे जो अतिचार होते हैं वे परतन्त्रता-जन्य अतिचार कहलाते हैं।

(१६) आलस्य-अतिचार—आलस्य के वश वाचना पृच्छनादि स्वाध्याय मे प्रवृत्ति न करना, आवश्यक कृत्यो मे उत्साह नहीं रखना, इससे जो अतिचार होते है, उन्हें आलस्य-जन्य अतिचार कहते हैं।

(१७) उपधि-अतिचार—मायाचार को उपधि कहते हैं। छिपकर अनाचार मे प्रवृत्ति करना, दाता के घर का पता चलाकर अन्य मुनियों के पहुँचने के पहले वहा आहार के लिए प्रवेश करना। अथवा किसी कार्य के बहाने से दाता के घर मे इस प्रकार प्रवेश करना

जिसे दूसरे न जान सके। सुन्दर स्वादिष्ट भोजन करने के पश्चात् 'विरस भोजन किया' ऐसा कहना, रोग ग्रस्त-मुनि की या आचार्य की वैयावृत्य के निमित्त श्रावको से कुछ चीज माग कर स्वयं उसका सेवन करना आदि से अतिचार लगते हैं ये सब उपधि (माया) जन्य अतिचार कहे जाते हैं।

(१८) स्वप्नातिचार—निद्रा मे सोये हुए के स्वप्न मे अयोग्य पदार्थ का सेवन करने से जो दोष होता है, उसे स्वप्नातिचार कहते हैं।

(१६) पलिकुचन—द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव के आश्रय से जो अतिचार होते हैं, उनका अन्यथा वर्णन करने को पलिकुचन अतिचार कहते हैं। जैसे—सचित्त पदार्थ का सेवन करके अचित्त पदार्थ का सेवन प्रकट करना। स्वकीय आवास के स्थान मे जो दोष हुआ हो, उसे मार्ग मे हुआ कहना, दिन मे जो दोष किया है उसे रात्रि में किया हुआ निवेदन करना, तीव्र क्रोधादि भावो से किये गये अपराध को मन्द क्रोधादि किया गया कहना। ऐसे विपरीत वर्णन करने को पलिकुचन कहते हैं।

(२०) स्वय शुद्धि—आचार्य के समीप यथार्थ आलोचना करने पर आचार्य के प्रायश्चित देने मे पहले ही स्वय ही यह प्रायश्चित मैंने लिया है, ऐसा कहकर जो स्वय प्रायश्चित लेता है, उसे स्वयं शोधक कहते हैं। मैंने स्वय ऐसी शुद्धि की है ऐसा स्वय कहना। इस प्रकार दर्प आदि के निमित्त से जो २ अतिचार होते हैं, उनका स्पष्टता पूर्वक निवेदन करना चाहिए। अतिचार के क्रम का उल्लंघन करना कदापि ठीक नहीं है।

आचार्य का कर्तव्य

प्रश्न—जब मुनि आलोचना कर चुके तब आचार्य महाराज को क्या करना चाहिए ?

उत्तर—क्षपक द्वारा की गई सम्पूर्ण आलोचना को सुनकर आचार्य क्षपक से तीन बार पूछते हैं कि "हे क्षपक! तुमने क्या २ अपराध किये हैं, वे भली भांति ध्यान मे नहीं आये हैं, उन्हें फिर से कहो", क्षपक के वचन से और व्यवहार से जब गुरु देव को उसकी सरलता-निष्कपटता-प्रतीत होती है तब तो वे (आचार्य) क्षपक को प्रायश्चित देते हैं और जब उसके अन्तःकरण मे कपट मालूम होता है तब उसे प्रायश्चित नहीं देते हैं। क्योकि भाव शुद्धि के बिना पाप का निवारण नहीं होता है और न रत्नत्रय की शुद्धि होती है।

प्रश्न—निष्कपट आलोचना कौनसी है ? जिसको सुनकर आचार्य प्रायश्चित देते हैं और सकपट आलोचना कौनसी है? आचार्य जिसका प्रायश्चित नहीं देते हैं।

उत्तर—वैद्य रोगी को तीन बार पूछा करते हैं-तुमने क्या भोजन किया ? क्या आचरण किया, तुम्हारे रोग का क्या हाल है? शरीर काटा फास आदि लग जाने पर भी तुम्हारे काटा या फास आदि कहां लगा, कैसे लगा ? अब घाव अच्छा हुआ या नहीं-ऐसे तीन बार पूछते हैं। तीन बार पूछने पर यदि तीनों बार एकसी आलोचना करता है,तब उसकी वह निष्कपट आलोचना मानी जाती है और जो भिन्न भिन्न प्रकार से आलोचना की गई हो, उसे वक्रा (कपटयुक्त) आलोचना कहते हैं। उस आलोचना मे मायाचार रहता है।

द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के आश्रित उत्पन्न हुए दोपो को प्रति सेवना कहते हैं। अर्थात् सेवना के द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के विकल्प से चार भेद होते हैं। द्रव्य सेवना के तीन भेद हैं-सचित्त द्रव्य सेवना, अचित्त द्रव्य सेवना और मिश्र द्रव्य सेवना। जिस पुद्गल शरीर मे जीव रहता है, उस शरीर को सचित्त द्रव्य कहते हैं। जीव रहित पुद्गल को अचित्त द्रव्य कहते हैं। तथा सचित्त और अचित्त पुद्गल के समुदाय को मिश्र द्रव्य कहते हैं। जीव से ग्रहण किये हुए पृथ्वी जल अग्नि वायु और वनस्पति को सचित्त कहते हैं। जिस पुद्गल को जीव ने छोड दिया है, उस पुद्गल को अचित्त कहते है।

क्षेत्रादि के आश्रित होने वाले स्थूल व सूक्ष्म दोपो का यदि क्षपक ज्यों का त्यो वर्णन नहीं करता है तो प्रायश्चित शास्त्र के ज्ञाता आचार्य उसे प्रायश्चित नहीं देते हैं। आगम मे भी यही कहा है—

पडिसेवणादि चारे जदि आजपदि जहाकमं सव्वे।
कुव्वति तहा सोधिं आगमववहारिणो तस्स ॥ ६२१ ॥ (भग आ)

अर्थ—जब क्षपक द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के आश्रय से उत्पन्न हुए दोषों का प्रतिपादन यथाक्रम से करता है, तब उसको प्रायश्चित देने मे कुशल आचार्य प्रायश्चित देकर शुद्ध करते हैं।

प्रश्न—जब मुनिराज निर्दोष आलोचना करते हैं, तब आचार्य का क्या कर्त्तव्य होता है ?

उत्तर—जब आचार्य को निश्चय हो जाता है कि इस क्षपक की आलोचना निर्दोष है, तब प्रायश्चित्त आगम के वेत्ता आचार्य आगम से अपराधों की परीक्षा करते हैं। अर्थात् इस प्रायश्चित का विधान करने वाला यह सूत्र है, और इसका यह अर्थ है। इस अपराध का यह प्रायश्चित बतलाया है, इत्यादि रूप से आचार्य प्रथम प्रायश्चित्त का विचार करते हैं।

प्रश्न—दोप के अनुरूप प्रायश्चित का विचार करने वाले आचार्य को अतिचार सेवन करने के पश्चात् क्षपक के भावो का परि

एमन कैसा है, उस पर भी ध्यान देना चाहिए या नहीं ?

उत्तर—प्रतिसेवना के आचरण से क्षपक के भावी परिणामों में हानि या वृद्धि कैसी हुई है ? अर्थात् प्रति सेवना (विरुद्ध चरण) करने से जो उसके पाप हुआ है, उसके बाद इस क्षपक के संक्लेश भाव हुए हैं या संवेग भाव उत्पन्न हुए हैं। यदि उसके संक्लेश-परिणाम हुए हैं, तब तो इसका पूर्वोत्पन्न पापकर्म की वृद्धि हुई है और यदि उसके संवेग पूर्ण भाव हुए हैं तब उसके पूर्व दुष्कर्म की हानि हुई है। तथा जो पाप कर्म की हानि या वृद्धि हुई है, यह भी मन्द हुई या तीव्र हुई है ? इसका भी आचार्य विचार करते हैं।

जैसे—किसी क्षपक ने पहले असंयम का आचरण किया, पश्चात् उसका अन्त करण "हाय, यह मैंने बहुत बुरा किया" इत्यादि पश्चाताप से दग्ध हुआ। और बाद में संयमाचरण में प्रवृत्त हुआ। इस पश्चाताप पूर्वक संयमाचरण के प्रभाव से नवीन और संचित कर्म का एक देश निर्जरा अथवा सम्पूर्ण निर्जरा होती है। अर्थात् मध्यम या मंद परिणाम से एक देश निर्जरा होती है और तीव्र परिणाम से सम्पूर्ण कर्म की निर्जरा होती है।

इन सब बातों का विचार करके प्रायश्चित्त शास्त्र के ज्ञाता आचार्य, क्षपक के परिणामों को जानकर जितने प्रायश्चित से वह शुद्ध हो सकता है, उसे उतनाही प्रायश्चित देते हैं। जैसे स्वर्णकार अग्नि की शक्ति की न्यूनाधिकता को जान कर उसके अनुसार ही अग्नि को धमता है, वैसे ही प्रायश्चित का जिसे पूर्ण अनुभव है ऐसा आचार्य भी यह अपराध अल्प है यह महान् है, इसके क्रोधादि परिणाम तीव्र थे या मन्द थे-इत्यादि का विचार करके उसके अनुरूप ही प्रायश्चित देते हैं।

प्रश्न—दूसरे के परिणामों का ज्ञान आचार्य कैसे करते हैं ?

उत्तर—साधु के साथ रहने से उसके नित्य के कार्यों को देखकर आचार्य उसके परिणामों का पता चला लेते हैं, अथवा आचार्य साधु से पूछ लेते हैं कि जब तुमने प्रतिसेवना की थी, उस समय तुम्हारे परिणाम कैसे थे ? इत्यादि उपायों से साधुके परिणामों का ज्ञान आचार्य करते हैं।

आचार्य आयुर्वेद विशारद वैद्य के समान होते हैं। जैसे विद्वान् वैद्य रोगों का भली भांति परीक्षा कर साध्य, कष्ट-साध्य अथवा असाध्य व्याधि के अनुरूप औषध देकर उनकी चिकित्सा करता है, वैसे ही आचार्य भी अल्प प्रायश्चित मध्यम प्रायश्चित या महान् प्रायश्चित देकर साधु को दोष से मुक्त (विशुद्ध) करने का प्रयत्न करता है।

प्रश्न—आचार्य के आपने पहले आचारत्व आधारवत्त्वादि गुण बताये हैं, उनके धारण करने वाले आचार्य ही निर्यापक हो सकते

हैं? या नहीं ?

हैं। यदि कालादि दोष से उक्त गुण धारक आचार्य न मिलें तो अन्य मुनि भी क्षपक का समाधि मरण कर सकते हैं? या नहीं ?

उत्तर—उक्त गुणो का धारक आचार्य अथवा उन गुणो से शोभित उपाध्याय भी न हो तो प्रवर्तक मुनि या स्थविर (वृद्ध) अनुभवी मुनीश्वर अथवा बालाचार्य यत्न पूर्वक व्रतो मे प्रवृत्ति करते हुए क्षपक का समाधिमरण साधन करने के लिए निर्यापकाचार्य हो सकते हैं।

प्रश्न—प्रवर्तक किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो अल्पश्रुत का ज्ञाता होने पर भी संघ की सम्पूर्ण मर्यादा और चारित्र का ज्ञाता होता है, वह प्रवर्तक होता है।

प्रश्न—स्थविर किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो चिरकाल के दीक्षित तथा मुनि-मार्ग के अनुभवी मुनिवर होते हैं वे स्थविर मुनि हैं।

प्रश्न—आचार्य द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त का आचरण कर लेने के पश्चात् और देहत्याग करने का उचित काल प्राप्त नहीं होने के पूर्व क्षपक क्या करता है ?

उत्तर—जिसने अपने चरित्र को निर्दोष बना लिया है तथा शास्त्रोक्त विधि से गुरु के समीप रहकर अपने चरित्र को उत्तरोत्तर उज्ज्वल किया है वह क्षपक समाधिमरण के लिए धारण किये हुए विशेष चरित्र मे उन्नति करने की कामना करता हुआ वर्षाकाल मे नाना प्रकार के तपश्चरण कर हेमन्त मे संस्तर का आश्रय लेता है। क्योकि ग्रीष्मादि ऋतु की तरह हेमंत ऋतु में अनशनादि तप करने पर भी शरीर को विशेष कष्ट का अनुभव नहीं होता है।

प्रश्न—जिसने समाधि के सब साधनो का अभ्यास कर लिया है। अर्थात् अनेक कष्ट-प्रद तप का आचरण कर कष्ट सहन करने का जिसने सामर्थ्य उत्पन्न कर लिया है उसके लिए वसतिका का कुछ नियम है या नहीं ? अर्थात् उसे विघ्न बाधा रहित वसतिका मे ही रहना चाहिए या सबाध सविघ्न वसतिका मे भी वह रह सकता है ? यदि विशेष नियम है तो उसके लिए कौनसी वसतिका तो अयोग्य मानी गई है और कौनसी योग्य ?

उत्तर—अनेक दुर्धर तपश्चरणो का पालन कर जिसने कष्ट सहिष्णुता प्राप्त करली है, समाधि मरण के लिए संस्तर पर आरूढ हुए उस क्षपक के लिए भी निर्विघ्न और निर्बाध वसतिका ही योग्य मानी गई है। क्योकि क्षुधा प्यास आदि के सताने पर यदि शान्ति को देने वाली वसतिका नहीं होगी तो उसके परिणामो मे सक्लेश उत्पन्न हो सकता है ? अत उसे योग्य वसतिका मे ही ठहरना उचित है।

पू. कि. ५

सं. प्र.

प्रश्न—उसके लिए अयोग्य वसतिका कौनसी होती है ?

उत्तर—संगीतशाला, नृत्यशाला, गजशाला, अश्वशाला, तेली का घर, कुम्हार का घर, धोबी का घर, बाजे बजाने वालों का घर, डोमका घर, बांस के ऊपर चढकर खेल करने वालो का घर, रस्सी पर चढकर नाच करने वाले का घर इन सबके समीप की वसतिका मुनि के लिए योग्य नहीं होती है। तथा राज मार्ग (सड़क) के समीपवर्ती वसतिका भी मुनि के निवास के योग्य नहीं है।

लोहार, सुनार (बढ़ई), चमार, कोली, छीपे, ठठेरे, कलाल, भाड, व बन्दीगण (स्तुतपाठक) सिलावट, तथा करोत से काठ को चीरने वाले जहा रहते हों उस के निकट तथा वाटिका और कूए बावडी आदि जलाशय के समीप एवं जूआरी व्यभिचारी लोग तथा ऐसे ही अन्य दुष्कर्म करने वाले शराबी धीवर आदि अधम पुरुष जहा रहते हैं ऐसे स्थानो के निकट की वसतिका मे समाधि की इच्छा रखने वाले मुनीश्वरो को कदापि नहीं ठहरना चाहिए। क्योंकि उक्त स्थानो के समीप रहने वाले क्षपक के भावों मे उद्विग्नता तथा शान्ति का भग होने की पूर्ण सभावना बनी रहती है, इसलिए रत्नत्रय की उज्ज्वलता बढाने वाले क्षपक को उक्त अयोग्य वसतिका में कदापि नहीं ठहरना चाहिए।

प्रश्न—क्षपक साधु को कहा और किस प्रकार रहना चाहिए ?

उत्तर—क्षपक मुनि को ऐसे स्थान मे ठहरना चाहिए जहां उसकी पाचों इन्द्रिय शान्त रहें, जहां पर इन्द्रियो के विषयों को उत्तेजित करने वाले साधन न हों, जहा पर मन मे उद्वेग और विकार भाव उत्पन्न न हों, ऐसे शान्त वातावरण वाले, ध्यान में एकाग्रता के साधक स्थान मे त्रिगुप्ति के धारक मुनीश्वर रहते हैं।

प्रश्न—जहा पर मन मे क्षोभ उत्पन्न करने वाले इन्द्रियो के विषयों का प्रचार नहीं है ऐसी प्रत्येक वसतिका मुनि के निवास करने योग्य मानी गई है या नहीं ?

उत्तर—ऐसी वसतिका मुनि के निवास के लिए योग्य मानी है जो उक्त गुणो से युक्त होती हुई उद्गम उत्पादन और एषणा दोषों से रहित है। तथा जिसमें मुनि के उद्देश्य से लीपना पोतना सफेदी करना या अन्य सस्कार क्रिया नहीं की गई है। जिसमे जन्तुओं का निवास नहीं है तथा बाहर से आकर प्राणी वास नहीं करते हैं ऐसी वसतिका में मुनि ठहरा करते हैं।

प्रश्न—क्षपकादि मुनियो को कैसी वसतिका में प्रवेश करना चाहिए ?

उत्तर—जिस वसतिका मे बाल वृद्ध मुनि सुख पूर्वक प्रवेश कर सकते हैं और निकल सकते हैं, जिसका द्वार बन्द होता है,

जिसमें प्रकाश भी विपुल हो ऐसी वसतिका होनी चाहिए। इसमें कम से कम दो शालाएं या कमरे होने चाहिए। उनमें से एक में तो क्षपक के लिये। और दूसरी अन्य मुनि तथा धर्म श्रवणार्थ आए हुए श्रावकों के लिए। यदि तीन कमरे हों तो एक में क्षपक मुनि का संस्तर दूसरे में अन्य मुनियों का वास और तीसरे में धर्मोपदेश श्रवण करने के लिए आए हुए लोगों का ठहरना होता है।

वसतिका का द्वार यदि बन्द न होता है तो शीतवायु आदि का प्रवेश होने से जिस क्षपक के अस्थि व चर्म मात्र शेष रह गये हैं ऐसे क्षपक को अतिशय क्लेश उत्पन्न होगा। जिसका द्वार बन्द न होता हो अर्थात् खुला ही रहता हो ऐसी वसतिका में क्षपक शरीर के मल का त्याग कैसे कर सकेंगे? इसलिए वसतिका बन्द होने वाले द्वार की ही होनी चाहिए।

यदि वसतिका में अन्धकार होगा तो वहां पर रहने से जीव जन्तु का अवलोकन न हो सकने के कारण असंयम होगा। जिस वसतिका में अन्दर घुसने या बाहर निकलने में कठिनाई होती हो उसमें सिर मस्तक या घुटने आदि में चोट लगने की सम्भावना रहती है तथा संयम की भी विराधना होती है।

प्रश्न—क्षपक का संस्तर कैसे स्थान में होना चाहिए?

उत्तर—क्षपक का संस्तर ऐसे स्थान में होना चाहिए, जहां बालक वृद्ध तथा चार प्रकार का संघ सुगमता से आ जा सके। वसतिका के किवाड़ और दीवाल मजबूत होना चाहिए। उद्यान-गृह,गुफा या शून्य-गृह भी वसतिका के योग्य माने गये हैं। ऐसे निर्जीव स्थान में क्षपक का संस्तर करना चाहिए। दूसरे ग्राम या नगर के आगत व्यापारियों के ठहरने के लिए जो निवास बनाये गए हों, उनमें भी तथा ऐसे ही अन्य निर्दोष और निर्बाध स्थानों में क्षपक के संस्तर की योजना की जा सकती है।

प्रश्न—जहां उद्यान-गृह, शून्य-गृह, सराय, धर्मशाला, गुफा आदि क्षपक के संस्तर के योग्य स्थान (वसतिका) न मिले, वहां क्या करना चाहिए?

उत्तर—जहां पर क्षपक के योग्य उक्त प्रकार की वसतिका न मिले, वहां के श्रावकों का कर्तव्य होता है, कि वे बांस के बने टट्टी आदि से क्षपक के तथा वैयावृत्य करने वाले साधु आदि के सुन्दर वास के लिए कुटिया बना दें तथा धर्म-श्रवण के लिए आगत चतुर्विध संघ के बैठने आदि के लिए मजुल मण्डप की रचना करदे। परन्तु ध्यान रहे, इस कार्य में बहुत अल्प आरम्भ होना चाहिए। कहा भी है—

आगंतुघरादीसु वि कडएहिं य चिलिमिलाहिं कायव्वो।
खवयस्सोच्छागारो धम्मसवणमंडवादी य ॥ ६३९ ॥ (भग आ)

अर्थ—आगंतुक अतिथियों के लिए बने हुए घर तथा शून्य-घर, उद्यान-गृहादि मे क्षपक का संस्तर करना योग्य है। यदि उक्त प्रकार के योग्य स्थान उपलब्ध न हो तो श्रावकों का कर्त्तव्य है कि वे क्षपक के ठहरने के योग्य वास के टट्टे चटाई आदि से क्षपक व अन्य वैयावृत्त्य करने वाले साधुओं तथा आचार्य के वास के योग्य आवास स्थान करवा दे तथा धर्म श्रवण के लिए आने वाले चतुर्विध संघ के बैठने के लिए सुविधा जनक मडपादि भी करवाना उचित है।

प्रश्न—उक्त प्रकार की वसतिका मे क्षपक का संस्तर कैसा होना चाहिए ?

उत्तर—समाधिमरण करने वाले क्षपक के संस्तर चार प्रकार माने गये हैं। १. पृथ्वी संस्तर, २. शिला रूप संस्तर, ३. काष्ठमय संस्तर, और ४. तृणमय संस्तर। क्षपक की समाधि (सुख शान्ति) के लिए संस्तर का मस्तक पूर्व दिशा या उत्तर दिशा मे रखना आवश्यक है। क्योंकि अभ्युदय के कार्यों मे पूर्व दिशा प्रशस्त मानी गई है। तथा स्वयं प्रभादि उत्तर दिशा सम्बन्धी तीर्थंकरो की भक्ति के उद्देश्य से उत्तर दिशा भी शुभ कार्य मे प्रशस्त मानी है। क्षपक के समाधिमरण की साधना रूप कार्य भी अत्यन्त शुभ है, इसलिए उसकी सिद्धि के निमित्त पूर्व दिशा और उत्तर दिशा मे ही संस्तर का मस्तक भाग रखने के लिए आगम मे उपदेश दिया गया है।

(१) पृथ्वी-संस्तर—भूमि रूप संस्तर वही हो सकता है जिस पृथ्वी मे निम्नोक्त विशेषताएँ पाई जावें :—

"निर्जंतुका घना गुप्ता समाऽमृद्वि सुनिर्मला।
अनार्द्रा स्वप्रमाणा च सोद्योता संस्तरोधरा ॥ १ ॥"

जिस भूमि मे उद्देही आदि जन्तु न हो, दृढ़ हो, अप्रकट हो, सम हो, मृदु न हो, निर्मल हो, भीगी न हो, क्षपक के शरीर के प्रमाण हो, प्रकाश सहित हो ऐसी भूमि संस्तर के लिए उपयोगी होती है। भूमि मे यदि उद्देही आदि जन्तुओं की उत्पत्ति की योग्यता होगी तो सन्यास के समय उद्देही आदि निकलने लगेंगी तब क्षपक को काटेंगे, इससे उसको असमाधि उत्पन्न होगी, सुख शान्ति का भंग होगा, तथा उन जन्तुओ की विराधना होने से असंयम होगा, अतः संस्तर के योग्य भूमि निर्जंतुक होनी चाहिए। जो भूमि घन (दृढ़) न होगी, वह शरीर के भार से दबेगी, तब भूमि के भीतर के जीवो को बाधा होगी। तथा वह ऊँची नीची होजाने के कारण क्षपक के शरीर को कष्ट होगा। इसलिए भूमि घन (दृढ) होना आवश्यक है। यदि भूमि गुप्त (अप्रकट) न होगी, अर्थात् प्रकट होगी तो मिथ्यादृष्टि मनुष्यो का संसर्ग होता रहने से क्षपक के भावो मे अविशुद्धि की सम्भावना रहेगी; इसलिए क्षपक के संस्तर योग्य भूमि गुप्त (अप्रकट) होनी चाहिए। जो सम नहीं होगी, ऊँची नीची होगी तो क्षपक के शरीर को बाधा पहुँचेगी। मृदु भूमि क्षपक के शरीर हाथ पाव आदि से बाधित होगी।

जो भूमि निर्मल न होगी अर्थात छेद छिद्र और प्राणियों के विलों सहित होगी तो छिद्रो में प्रविष्ट हुए तथा उनसे निकले हुए जीव जन्तुओं को बाधा पहुचने से प्राणि सयम की विराधना होगी। भूमि यदि जल से भीगी होगी तो जल काय के जीवो को पीड़ा होगी, इसलिए भूमि सूखी होनी चाहिए। भूमि क्षपक के शरीर के बराबर होनी चाहिए। यदि शरीर प्रमाण से अधिक होगी तो प्रति लेखनादि का व्यासंग अधिक करना पड़ेगा। प्रमाण से न्यून होगी तो शरीर को सुकोड़ना पड़ेगा। प्रकाश रहित या अल्प प्रकाश वाली भूमि मे जीव जन्तु दिखाई न देने पर प्राणि सयम की रक्षा कैसे हो सकेगी। इसलिए उक्त गुण वाली भूमि ही क्षपक के सस्तर योग्य होती है।

(२) शिलामय सस्तर—जो पत्थर की शिला, अग्नि से तप कर प्रासुक होगई हो, या टाकी से, चारों ओर से उकेरी गई हो अथवा घिसी गई हो वह प्रासुक शिला सस्तर के योग्ये होती है। वह शिला टूटी फूटी न होनी चाहिए। निश्चल तथा चारों ओर से पापाण मत्कुण (खटमल) आदि के सम्पर्क से रहित और समतल एवं प्रकाश युक्त होनी चाहिए।

(३) काष्ठमय सस्तर—जो काष्ठ का फलक (तख्ता) अखंड एक है, आदमी के लेटने योग्य चौडा तथा हलका है-अर्थात् जिसको उठाने लाने रखने मे अधिक परिश्रम न करना पड़े ऐसा है, भूमि पर चारो तरफ से लगा हुआ है, अच्छा चिकना और छेद-दरारो से रहित है, जिस पर शयन करने या बैठने पर चूचा आदि शब्द नहीं होता है-ऐसा पुरुष प्रमाण निर्जन्तुक स्वच्छ काठ का तख्ता साधु के सस्तर के योग्य माना गया है।

(४) तृण संस्तर—क्षपक के लिए तृण का संस्तर वही प्रशस्त होता है, जो गाठ रहित तृण से बनाया गया हो, अन्तर रहित एक से लम्बे तृणो से जिसकी रचना की गई है। जिन तृणों से सस्तर बनाया जावे वे पोले न हो किन्तु ठोस हों। मृदु स्पर्श सहित तथा निर्जन्तुक हो जिस पर सोने से क्षपक को सुख मिले और शरीर मे खुजली आदि का क्लेश न हो। ऐसे तृण का सस्तर क्षपक के लिए योग्य माना गया है।

उक्त चारो प्रकार के सस्तरों मे निम्नोक्त गुण अवश्य होने चाहिए।

किसी भी प्रकार का सस्तर हो, वह यथोचित प्रमाण वाला हो। न तो अधिक छोटा हो और न अधिक बड़ा हो। सूर्योदय के समय व सूर्यास्त के समय दोनो वेला मे प्रति लेखन से शुद्ध किया जाता हो। अर्थात देख शोध कर जिसका भली भांति प्रमार्जन किया जाता है। शास्त्र कथित विधि से जिसकी रचना की गई हो। ऐसा गुण विशिष्ट सस्तर क्षपक के योग्य होता है।

क्षपक अपना आत्मा निर्यापकाचार्य को सौंप कर-उसका शरण मानकर-उक्त प्रकार के शास्त्र सम्मत संस्तर पर आरोहण करता है और विधि पूर्वक सल्लेखना का आचरण करना प्रारम्भ करता है।

सल्लेखना दो प्रकार की होती है। बाह्य सल्लेखना और आभ्यन्तर सल्लेखना। अथवा द्रव्य सल्लेखना और भाव सल्लेखना।

बाह्य सल्लेखना अथवा द्रव्य सल्लेखना–आहार का विधि पूर्वक त्याग करके शरीर कृश करने को बाह्य या द्रव्य सल्लेखना कहते हैं।

आभ्यन्तर या भाव सल्लेखना—सम्यक्त्व तथा क्षमादि भावना से मिथ्यात्व तथा क्रोधादि कषायों के कृश करने को आभ्यन्तर या भाव सल्लेखना कहते हैं।

इस प्रकार वसतिका और संस्तर का विवेचन पूर्ण हुआ।

वैयावृत्य–कुशल सहायक मुनि कैसे होने चाहिए ?

जिस समाधि के आराधक क्षपक ने समाधि के साधनों का भली भांति अभ्यास कर लिया है तथा जो आगमोक्त वसतिका में विधि पूर्वक संस्तर पर आरूढ़ होगया है, उसकी समाधि विधि को सफल बनाने के लिए निर्यापकाचार्य अड़तालीस सहायक (वैयावृत्य करने वाले) मुनियों की योजना करते हैं। वे वैयावृत्य कुशल सहायक मुनि कैसे होने चाहिए। उनका स्वरूप दिखाते हैं—

पियधम्मा दढधम्मा संवेगावज्जभीरुणो धीरा।
छंदण्हू पच्चइया पच्चक्खाणम्मि य विदण्हू ॥ ६४७ ॥
कप्पाकप्पे कुसला समाधिकरणुज्जदा सुदरहस्सा।
गीदत्था भयवंता अडदालीसं तु णिज्जवया ॥ ६४८ ॥ भग. आ.

अर्थ—जिनके साथ क्षपक को अहर्निश घनिष्ठ सम्पर्क में रहना है, क्षपक के जीवन का बनना व बिगड़ना जिनके आश्रित है वे साधु कैसे होने चाहिए–उसके विषय में बतलाते हैं कि वे धर्म–प्रिय होने चाहिए। क्योंकि जिनको स्वयं चारित्र–धर्म प्यारा नहीं होगा वे क्षपक को अशक्त अवस्था में चारित्र में प्रवृत्ति करने के लिए उत्साहित कैसे कर सकेंगे ? इसलिए आचार्य चारित्र प्रेमी साधुओं को क्षपक की सेवा के लिए चुनते हैं। सम्यग्दृष्टि होने के कारण साधु चारित्र प्रेमी तो हैं लेकिन चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से जो स्थिर चारित्र वाले नहीं हैं, वे क्षपक को चारित्र में सुस्थिर कैसे कर सकते हैं, इसलिए आचार्य धर्म प्रेमी साधुओं में से भी दृढ चारित्र वाले मुनियों को क्षपक की सेवा में नियुक्त करते हैं। जो पाप से नहीं डरते हैं, वे असंयम का त्याग नहीं कर सकते हैं, इसलिए जिनके हृदय में चतुर्गति में भ्रमण करने का तथा पापाचरण का भय सदा विद्यमान रहता है, वे ही चारित्र को दृढता से धारण करने में दत्तचित्त रहते हैं। धैर्य धारक मुनि परिषह के

आने पर अपने धर्म से कभी विचलित न होते हैं। अतः धीर मुनि सेवा के कार्य में निपुण होते हैं। वैयावृत्त्य करने वाले मुनि क्षपक के अभिप्राय को उसकी चेष्टादि से जान सकने वाले होने चाहिए। जो शरीर की चेष्टादि से क्षपक के अभिप्राय का ज्ञान करने में कुशल नहीं होते हैं, वे उसका भला नहीं कर सकते। इसलिए अभिप्राय के ज्ञाता साधु सेवा कार्य में नियुक्त किये जाते हैं। तथा जिन्होंने पहले भी वैयावृत्य कार्य में निपुणता प्राप्त की है तथा जो साकार और निराकार प्रत्याख्यान के क्रम के ज्ञाता होते हैं वे परिचारक होते हैं। तथा जो अनुभवी साधु क्षपक के योग्य तथा अयोग्य आहार पान के ज्ञाता होते हैं वे ही क्षपक को उचित आहार पान में प्रवृत्त कर सकते और अनुचित भोजन पान से निवृत्त कर सकते हैं। परिचारक प्रायश्चित शास्त्र के सन्यासी आगम रहस्य के वेत्ता तथा स्व और पर का उद्धार करने में दक्ष होने चाहिए। उक्त गुणों से अलंकृत परिचारक साधु एक क्षपक की वैयावृत्त्य के लिए अडतालीस होते हैं।

प्रश्न—परिचारक मुनि क्षपक की क्या २ सेवा करते हैं। किस २ परिचर्या के लिए कितने २ मुनि नियुक्त किये जाते हैं? इसका विवेचन कर स्पष्ट खुलासा करने की कृपा करें?

आमासणपरिमासणचंकमणासयण णिसीदणे ठाणे।
उव्वत्तणपरियत्तणपसारणा उटणादीसु ॥ ६४९ ॥
संजदकमेण खवगस्स देहकिरियासु णिच्चमाउत्ता।
चदुरो समाधिकामा ओलग्गंता पडिचरंति ॥ ६५० ॥ (भग. आ)

अर्थ—शरीर के एक देश के स्पर्श करने को आमर्श कहते हैं। सम्पूर्ण शरीर के स्पर्श करने को परिमर्शन कहते हैं। क्षपक की सेवा के लिए इधर उधर गमन करने को चंक्रमण कहते हैं। क्षपक को संस्तर पर सुलाना, आवश्यकता पड़ने पर उसे हस्तादि की सहायता देकर बैठाना उठाना, एक करवट से दूसरी करवट लेटाना, उनके हाथ पाव सकोचना, पसारना इत्यादि सेवा करते समय परिचारक मुनि मन वचन काय द्वारा सावधानी से मुनि मार्ग की रक्षा करते हुए क्षपक के शरीर और अन्त करण की समाधि (सुख शान्ति) का पूरा २ ध्यान रखते हैं।

भावार्थ—परिचारक मुनियों की मनोवृत्ति क्षपक के अन्त.करण के समाधान में लगी रहती है। जब क्षपक के हस्त पादादि किसी अवयव में पीड़ा का अनुभव होता है, तत्काल उस अवयव का कोमल स्पर्श द्वारा उसको दबाने सुलसुलाने लगते हैं। जब सम्पूर्ण शरीर में वेदना होने लगती है तब यथायोग्य रीति से उसके दुःख का पूरा ध्यान रखते हुए शरीर का शनै. शनै. मर्दनादि करने में तत्पर

रहते हैं। जब क्षपक को बैठे रहने की इच्छा होती है, तब उसे सावधानी से उठाकर बैठाते हैं। उसके इंगित (इशारे) से सोने की अभिलाषा जानकर आराम से सुलाते हैं। खडे होने का अभिप्राय जानकर शीघ्रता से खडा करते हैं। इधर उधर थोडा चलने की इच्छा होने पर उसे हस्तावलम्बन देकर घुमाते हैं। उसकी सेवा के लिए परिचारक साधुओ को इधर उधर जाना पडता है तो तत्काल निरलस होकर गमन करते हैं तात्पर्य यह है कि जिस समय (रात्रि मे या दिन मे) जिस परिचर्या की आवश्यकता प्रतीत होती है, उसी समय परिचर्या करने मे वे परिचारक साधु क्षण भर का भी विलम्ब नहीं करते हैं। अपने मन वचन और काय को क्षपक की परिचर्या मे सावधानी से लगाये रहते हैं। सब परिचर्या को करते हुए क्षपक के और अपने सयम की रक्षा का पूर्ण ध्यान रखते हैं। इस प्रकार चार परिचारक मुनि क्षपक की शरीर सम्बन्धी परिचर्या मे तन्मय रहते हैं।

चार मुनीश्वर विकथाओं का त्याग कर धर्म कथा कहकर क्षपक के अन्तःकरण को धर्म भावना मे दत्तचित्त रखते हैं।

प्रश्न—क्षपक के सम्मुख कौन २ सी विकथाएँ नहीं की जाती हैं ?

उत्तर—जिन कथाओ को सुनकर क्षपक के चित्त मे धर्म भावना नष्ट होकर आर्तरौद्रध्यान उत्पन्न होते हैं; उनको विकथा कहते हैं। जैसे-चार प्रकार के आहार का वर्णन करना आहार कथा है। स्त्रियों के सौन्दर्यादि का निरूपण करने वाली कथा स्त्री कथा है। राजाओ के वैभवादि का वर्णन करना राज कथा है। नाना प्रकार के देशो का वर्णन करने वाली वार्ता को देश कथा कहते हैं। काम विकार से उन्मत्त होकर हास्य मिश्रित असभ्य भण्ड वचन उच्चारण करने को कदर्प कथा कहते हैं। बांस के ऊपर रस्सी के ऊपर चढकर खेल करने नृत्य करने वाले गान वादित्रादि श्रृंगार रसादि का विवेचन करनेवाली सब कुकथाएँ हैं। वे स ा आत्मा के स्वरूप चिन्तन मे बाधा पहुँचाने वाली होती हैं। इसलिए इनका त्याग कर चार मुनीश्वर क्षपक को उचित समय पर सर्वदा धर्म कथाओ का उपदेश देते रहते हैं।

प्रश्न—धर्म कथाओ का श्रवण कराने वाले मुनीश्वर क्षपक को किस प्रकार धर्मोपदेश देते हैं ?

उत्तर—जिस समय जैसे धर्मोपदेश की आवश्यकता प्रतीत करते हैं, वे धर्मोपदेशक मुनिराज उस समय वैसा ही मधुर स्निग्ध और हृदयगम हितकारक धर्मोपदेश विचित्र २ कथाओ द्वारा देते हैं जिससे क्षपक का अन्तःकरण उस उपदेश को शीघ्र ग्रहण कर लेता है।

जिनमे वाक्पटुता होती है तथा जिनका वचनोच्चारण अत्यन्त स्पष्ट और गम्भीरता पूर्ण होता है, ऐसे ही वाग्मी चार मुनि धर्म कथाओ द्वारा क्षपक को धर्मोपदेश देते हैं।

वे मुनि जब धर्मोपदेश देते हैं, उस समये जिस अभिप्राय का विवेचन करना चाहते हैं उसी अभिप्राय को स्पष्ट करने वाले उनके शब्द निकलते हैं। उन शब्दों से कभी विपरीत अर्थ का भास नहीं होता है। एक ही शब्द का वे दो तीन बार उच्चारण नहीं करते हैं। उनके सब वचन असदिग्ध और प्रत्यक्षादि प्रमाण से अविरुद्ध निकलते हैं। उनका भाषण न तो अतिमन्द स्वर मे होता है और न अति उच्च स्वर मे ही होता है, किन्तु वे मध्यम स्वर मे ही भाषण करते हैं। वे अति शीघ्र नहीं बोलते और न रुक रुक कर ही उच्चारण करते हैं। अपितु मध्यम पद्धति से इस प्रकार शब्दो का शृंखलाबद्ध क्रम से उच्चारण करते हैं जिनको सुनकर श्रोताओं को अर्थ का स्पष्ट भास होता जाता है। उनका भाषण कर्ण-मधुर, मिथ्यात्व से हीन (सम्यक्त्व का पोषक) तथा सार्थक होता है। उनके भाषण मे पुनरुक्ति दोष नहीं होता है।

प्रश्न—संस्तरारूढ क्षपक को कौनसी कथा धर्मोपदेशक मुनि श्रवण कराते हैं। कौनसी कथा उसके लिए हितकारिणी हो सकती है?

उत्तर—जो कथा क्षपक के अन्तःकरण मे उत्पन्न हुए अशुभ परिणामों का निवारण कर सवेग और वैराग्य को दृढ़ करने वाली हो वही कथा क्षपक के लिए हितकारिणी हो सकती है। वही कहा है—

आक्खेवणी य संवेगणी य णिव्वेयणी य खवयस्स।
पाओग्गा होंति कहा ण कहा विक्खेवणी जोग्गा ॥ ६५५ ॥ [भग. आ]

अर्थात्—कथाएँ चार प्रकार की होती हैं। १ आक्षेपणी, २. विक्षेपणी, ३. सवेजनी और ४. निर्वेजनी। उनमें से विक्षेपणी को छोडकर शेष तीन कथाएँ क्षपक के योग्य होती हैं।

प्रश्न—आक्षेपणी कथा किसे कहते हैं? उसका स्वरूप सप्रमाण समझाने का अनुग्रह कीजिए।

उत्तर—आक्षेपणी व विक्षेपणी कथा का स्वरूप निम्न प्रकार है—

आक्खेवणी कहा सा विज्जाचरणमुवदिस्सदे जत्थ।
ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेवणी णाम ॥ ६५६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—जिसमे विद्या (सम्यग्ज्ञान) और चरण (सम्यक् चारित्र) का विवेचन किया जाता है उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं। तथा स्व सिद्धान्त और पर सिद्धान्त का निरूपण करने वाली कथा को विक्षेपणी कथा कहते हैं।

भावार्थ—मति,श्रुत, अवधि,मनःपर्यय और केवल ज्ञान के स्वरूप,लक्षण और भेदों का वर्णन जिस कथा में किया गया हो तथा सामायिक, छेदोपस्थापना,परिहार–विशुद्धि,सूक्ष्म-साम्पराय और यथाख्यात इन पाच प्रकार के चारित्र का अथवा अहिंसादि पांच महाव्रत, ईर्या भाषादि पाच समिति और मनोगुप्ति आदि तीन गुप्ति इस प्रकार तेरह प्रकार के चारित्र का स्वरूप विवेचन जिसमें होता है उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं।

जीवादि पदार्थ सर्वथा नित्य ही है, या सर्वथा क्षणिक ही है। सन्मात्र तत्त्व है,या विज्ञान मात्र तत्त्व है,या सर्व शून्य ही तत्त्व है इत्यादि पर(अन्य मत के) सिद्धान्तों को पूर्व पक्ष मे लेकर इन तत्त्वो मे प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण से विरोध दिखाकर कथचित नित्य, कथचित् अनित्य,कथचित् एक और कथचिद् अनेक तत्त्व रूप अपने सिद्धान्तों का समर्थन जिसमे किया जाता है उसे विक्षेपणी कथा कहते हैं।

प्रश्न—सवेजनी और निर्वेजनी कथा किसे कहते हैं ? उनका स्वरूप दिखाने की कृपा करें।

उत्तर—उनका स्वरूप वर्णन करने के लिए निम्न गाथा उद्धृत करते हैं।

सवेयणी पुण कहा णाणचरित्ततववीरिय इढिढ्गदा ।
णिव्वेयणी पुण कहा सरीरभोगे भवोघे य ॥ ६५७ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—ज्ञान का अभ्यास, चारित्र का पालन और तपश्चरण का आराधन करने से आत्मा मे जो जो दिव्य शक्तियां प्रकट होती हैं उनका स्पष्टता से विवेचन करने वाली कथा को सवेजनी कथा कहते हैं। शरीर भोग और जन्म परम्परा से वैराग्य उत्पन्न करने वाली कथा को निर्वेजनी कथा कहते हैं। यह शरीर अशुचि है, क्योंकि यह रस रक्त मास चर्बी हड्डी मज्जा और शुक्र इन सप्त धातुओं से पूरित है। यह शरीर और भोग सामग्री सर्वदा आत्मा को क्लेश का कारण होती है। देव पर्याय व मनुष्य पर्याय ये दोनों उत्तम मानी गई हैं। उन दोनों में भी मनुष्य जन्म अति दुर्लभ व श्रेष्ठ कहा गया है, क्योंकि इससे ही संयम और तप की आराधना हो सकती है। इस प्रकार का निरूपण जिस कथा मे होता है उसे निर्वेजनी कथा कहते हैं।

प्रश्न—क्षपक के लिए विक्षेपणी कथा का निषेध क्यों किया गया है ? स्व मत का समर्थन और पर मत का निकर्त्तन (खंडन) सुनने से तो धर्म मे श्रद्धा दृढ होती है और जिन-कथित चारित्र पालन करने मे उत्साह की वृद्धि होती है। क्षपक के लिए उसका श्रवण क्यो मना किया गया है ?

उत्तर—संस्तरारूढ क्षपक का जीवन किनारे आ लगा है। उस समय उसकी आत्मा मे राग द्वेष का अभाव होना आवश्यक है। क्रोधादि का त्याग और क्षमादि धर्म मे परिणाम तन्मय होना ही परम हितकर है। यदि ऐसे समय में उसके सामने स्वसिद्धान्त की सिद्धि और परमत मे प्रत्यक्षादि विरोध दिखाकर खडन मंडन का प्रसङ्ग छेड़ा गया और उसका चित्त उसमे तन्मय होगया और इतने मे ही कदाचित् उसकी आयु का अन्त हो गया तो उसके अन्त:करणमे क्रोधादि कषाय का प्रादुर्भाव और रागद्वेष की जागृति हो जाने से उसका समाधिमरण बिगड जावेगा। और यह भी हो सकता है कि वह खडन मंडन मे व्यामुग्ध होकर पूर्व पक्ष को ही सत्य मान बैठे, क्योंकि उस समय बुद्धि अस्थिर होती है।

शङ्का—मन्द बुद्धि क्षपक के लिए विक्षेपणी कथा अनुपयोगिनी है, किन्तु तीव्र बुद्धि बहुश्रुत क्षपक के लिए तो उपयोगिनी हो सकती है?

समाधान—विक्षेपणी कथा से आत्मा में राग द्वेष की उत्पत्ति होने से संस्तरारूढ क्षपक के लिए उसका (विक्षेपणी) आचार्यों ने सर्वथा निषेध किया है क्योंकि यह कथा समाधिमरण की बाधक होती है। इसलिए जो कथा समाधिमरण की साधक होती है उनका उपदेश क्षपक के रत्नत्रय आराधना का साधक होता है। शास्त्र मे कहा है।

अब्भुज्जदंमि मरणे संथारत्थस्स चरमवेलाए।
तिविहं पि कहंति कहं तिदंडपरिमोडया तम्हा ॥ ६६० ॥ [भग आ.]

अर्थ—अशुभ मन वचन काय का निवारण करने में लगे हुए आचार्य क्षपक की मृत्यु के सन्निकट समय में आक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेजनी इन तीन कथाओं का ही उपदेश देते हैं। विक्षेपणी कथा का कथन ऐसे समय में अनुचित मानते हैं। अतएव धर्मोपदेश के कार्य मे नियुक्त किये गये मुनीश्वर उक्त तीन कथाओं का मनोज्ञ एव हृदयस्पर्शी इस प्रकार निरूपण करते हैं जिनको सुनकर क्षुधा रोगादि की पीड़ा को भूल कर क्षपक का चित्त रत्नत्रय की आराधना मे तत्पर रहता है।

चार मुनीश्वर क्षपक की आहार विषयक योजना करने मे नियुक्त किये जाते हैं। यथा :—

चत्तारि जणा भत्तं उवकप्पेंति अगिलाए पाओग्गं।
छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ॥ ६६२ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—लब्धि सम्पन्न तथा मायाचार रहित और जिन्होंने ग्लानि पर विजय प्राप्त कर लिया है ऐसे चार मुनीश्वर क्षपक के योग्य उद्गमादि दोष रहित भोजन की उप कल्पना करते हैं।

भगवती आराधना की अपराजित सूरिकृत विजयोदया संस्कृत टीका तथा श्री पं. आशाधरजी कृत मूलाराधना संस्कृत टीका इन दोनों मे 'उवकप्पेंति' गाथा निर्दिष्ट पद का अर्थ 'आनयन्ति' किया है। इन दो टीकाओ के अतिरिक्त एक प्राचीन प्राकृत टीका और भी प्रतीत होती है। उक्त टीकाओं मे कई जगह इस प्राकृत टीका का मत उद्धरणो सहित दिया गया है। वह टीका हमको उपलब्ध नहीं हुई है। उसमे इसका क्या अर्थ किया गया है यह अनिश्चय की गोद मे है। किन्तु भगवती आराधना मूल मे भी क्षपक के लिए भोजन लाने का कई गाथाओ मे उल्लेख है। वह आगे दिया गया है।

भगवती आराधना के अतिरिक्त समाधिमरण का सविस्तर वर्णन करने वाला कोई संस्कृत या प्राकृत का प्राचीन ग्रन्थ हमको उपलब्ध नहीं हुआ है। इसलिए इसके विषय मे अन्य आचार्यों का क्या अभिमत है इस विषय मे लिखने के लिए हम असमर्थ हैं। आचार्य परम्परा का क्या सम्प्रदाय है? यह सन्देहापन्न है।

दिगम्बर साधु संस्था की अयाचक-वृत्ति होती है। वे आहारादि वस्तु अपने या दूसरे के लिए कभी नहीं मागते हैं। दूसरी बात यह है कि उनके पास पिच्छी कमण्डलु और ज्ञानोपकरण पुस्तकादि के अतिरिक्त कोई पात्रादि नहीं रहते हैं। वे मुनीश्वर क्षपक के लिए आहार पान के पदार्थ किस पात्र में लाते होगे। यदि गृहस्थ के यहा से पात्र भी माग कर लाते हैं तो ताबे पीतल आदि पात्र का ग्रहण करना उनके पद के अनुकूल नहीं है। इसमे सपरिग्रहता का दूषण आता है। पात्र मे भोजन लाकर क्षपक को मुनि आहार कराते हैं। उस आहार का ग्रहण करने वाले क्षपक के उद्दिष्टादि दोष युक्त आहार होता है। मुनि का आहार गृहस्थ के घर नवधा भक्ति से युक्त दाता के द्वारा दिया हुआ होना चाहिए। यह सामान्य नियम सब मुनियों के लिए आवश्यक विधान है। उसका पालन नहीं होता है। परिचारक मुनीश्वरो के द्वारा लाया हुआ आहार आधाकर्मादि से दूषित है या उद्गम उत्पादना एषणादि दोषों से दूषित है इसका संस्तरारूढ़ क्षपक को क्या ज्ञान हो सकता है? परिचारक मुनि उद्दिष्ट उद्गमादि दोष रहित आहार लेकर क्षपक के पास लेजावेंगे; किन्तु क्षपक के लिए उद्दिष्ट उद्गमादि दोषों का निवारण कैसे हो सकेगा? इत्यादि अनेक शकाएँ एक के बाद एक उठती रहती हैं। उनका समाधान करने वाला कोई ऋषि प्रणीत ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है। इसलिए हमने भगवती आराधना मूल और उसकी उपलब्ध दोनों संस्कृत टीकाओं का आधार लेकर इस विषय का प्रतिपादन किया है। इस विषय के विशेषज्ञ विद्वान् त्रुटि का संशोधन कर पढ़ने की कृपा करें।

सं प्र.

भगवती आराधना की टीकाओं का उद्धरण

विजयोदयाटीका—चत्तारि जणा चत्वारो यतय.। भत्त अशन। पाउग्ग प्रायोग्य उद्गमादि दोषानुपहतं। उवकप्पेंति आनयन्ति। अगिलाए ग्लानिमन्तरेण, कियन्त कालमानयाम इति सक्लेश विना। छदियं क्षपकेण इष्ट अशन पान वा क्षुत्पिपासापरीषहप्रशान्तिकरणक्षममित्येतावता तेनेष्ट न तु लौल्यात्। अवगददोसं वातपित्तश्लेष्मणामजनकं। क आनयन्ति ? अमाइणो मायारहिता. अयोग्यमिति ये नानयन्ति। लद्धिसपण्णा मोहान्तरायक्षयोपशमाद्धित्तालब्धिसमन्विताः। अलब्धिमान्क्षपकं क्लेशयति। मायावी अयोग्य योग्यमिति कथयेत्।

प. आशाधरजी कृत मूलाराधना संस्कृत टीका—

चत्वारस्तदर्थं समुचितमशनं उपनयन्तीत्यनुशास्ति—

उवकप्पेंति आनयन्ति। अगिलाए ग्लानिं विना कियन्त कालमानयामइति सक्लेश विना। छदियं भक्तपान क्षुत्पिपासादु खमसमाधिकर निराकरोतीत्येतावतैव क्षपकेणेष्ट। अवगददोष वातपित्तश्लेष्मणामजनक प्रशमकं च उद्गमादि दोषरहित वा। अमाइणो अयोग्य योग्यमिदमिति प्रतारणरहिता लाभान्तरायक्षयोपशमाद्धित्तालब्धिसमन्विताः। तयैव क्षपकस्यासक्लेशनात्॥

इनका अर्थ निम्न प्रकार है—

परिचर्या के लिए नियत किये गये चार मुनीश्वर 'कितने काल तक हम आहार लाया करेंगे' इस प्रकार की ग्लानि (संक्लेश) से रहित होकर उद्गमादि दोष रहित भोजन के वे पदार्थ क्षपक के लिए लाते हैं, जिनको क्षपक चाहता है। क्षपक भी आहार की लोलुपता नहीं रखता है। किन्तु वह भी उन्हीं पदार्थों की इच्छा करता है, जो पदार्थ उसकी भूख प्यास परिषह को शात करने मे समर्थ होते हैं। परिचारक मुनियो के अन्त.करण मायाचार रहित होते हैं। वे अयोग्य को योग्य कहकर क्षपक के प्रति कभी छल कपट का व्यवहार नहीं करते हैं। वे जो पदार्थ लाते हैं वे पदार्थ क्षपक के वात पित्त और कफ की वृद्धि नहीं करते, किन्तु उनको शान्ति करने वाले होते हैं। तथा वे उद्गमादि दोष से रहित होते हैं। आचार्य उन्हीं मुनिराजो को आहार के लिए नियुक्त करते हैं जिनको मोहनीय कर्म और अन्तराय कर्म के क्षयोपशम विशेष रूप लब्धि प्राप्त होती है। क्योंकि जिनके उक्त भोजन लब्धि प्राप्त नहीं हुई है उन परिचारकों से क्षपक को सक्लेश उत्पन्न होता है।

आचार्य अमितगति ने भगवती आराधना की प्रत्येक गाथा का अर्थ प्रतिपादन करने वाले सस्कृत पद्य तथा गद्य दिये हैं। उनने भी उक्त गाथा का अर्थ प्रतिपादन करने वाला निम्न लिखित श्लोक दिया है।

तस्यानयन्ति चत्वारो योग्यमाहारमश्रमाः ।
निर्माना लब्धिसम्पन्नास्तदिष्टं गतदूषणम् ॥ ६८८ ॥ [स. भग. आ.]

अर्थ—परिचारक चार मुनिराज क्षपक के योग्य आहार लाते हैं। वे आहार के लाने में श्रम की परवा नहीं करते हैं। वे निरभिमान और भोजन लब्धि से सम्पन्न होते हैं। आहार भी वही लाते हैं जो क्षपक को अभीष्ट होता है और सब दूषणों से रहित होता है।

चार मुनिराज पीने योग्य पदार्थ के लिए नियुक्त किये जाते हैं।

चत्तारि जणा पाणयमुवकप्पंति अगिलाए पाओग्गं ।
छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ६६३ ॥ [भग आ]

अर्थ—मायाचार रहित और भोजन पान लब्धि से सम्पन्न चार मुनिराज श्रम रहित होकर क्षपक के इष्ट उद्गमादि दोष रहित तथा क्षपक की प्रकृति के योग्य पीने योग्य पदार्थों की उपकल्पना करते हैं अर्थात् लाते हैं।

इसकी दोनो की सस्कृत टीकाए नीचे उद्धृत करते हैं—

विजयोदया—चत्तारि जणा इति स्पष्टार्था गाथा—सूरिणा अनुज्ञातौ निवेदितात्मानौ द्वौ द्वौ पृथग्भक्तं पृथक् पानं चानयतः॥
(अपराजित सूरिः)

मूलाराधना—चत्वारःक्षपकाय पानमानयन्तीत्याह—

मूलाराधना—स्पष्टम्।

टीकार्थ—आचार्य के आदेश से क्षपक के लिए पृथक् दो साधु भोजन और दो साधु पृथक् पीने योग्य पदार्थ लाते हैं।

चार मुनि लाये हुए भोजन पान के पदार्थों की रक्षा करते हैं

चत्तारि जणा रक्खंति दवियमुक्कप्पियं तयं तेहिं ।
अगिलाए अप्पमत्ता खवयस्स समाधिमिच्छंति ॥ ६६४ ॥ [भग. आ.]

पानं नयन्ति चत्वारो द्रव्य तदुपकल्पितम् ।
अप्रमत्ताः समाधानमिच्छन्तस्तस्य विश्रमाः ॥ ६८६ ॥ [अमितगति]

अर्थ—क्षपक के लिए लाये हुए भोजन पान के पदार्थों की चार मुनि प्रमाद रहित हुए रक्षा करते हैं। वे बड़ी सावधानी से इस का ध्यान रखते हैं कि उनमें ऊपर से त्रस जीव न गिर जावें तथा दूसरे उन पदार्थों को गिरा न सकें।

विजयोदया—तैरानीत भक्त पान वा चत्वारो रक्षन्ति प्रमाद रहिताः त्रसा यथा न प्रविशन्ति। यथा वापरे न पातयन्ति ॥

मूलाराधना—चत्वारस्तद्भक्तपान तरा रक्षन्तीत्याह। रखति यथा त्रसादयो न पतन्ति परे वा न पातयन्तीत्यर्थः। दविय द्रव्य। उवकप्पिय आनीत। तय भक्तपान वा ॥

इनका अर्थ स्पष्ट है। मूल अर्थ से विशेष अर्थ न होने से इनका भिन्न अर्थ नहीं लिखा गया है।

नोट—शास्त्रो मे नियम दो प्रकार का बताया गया है। एक उत्सर्ग और दूसरा अपवाद। साधुओं के लिए आगम मे उक्त दो प्रकार के नियम का वर्णन स्थान २ पर मिलता है। साधु के २८ मूल गुण का पालन करना साधु के लिए परमावश्यक माना गया है। यह उत्सर्ग मार्ग है। इन गुणो का अस्तित्व जिसमे नहीं पाया जाता है वह मुनि नहीं कहा जा सकता है। किन्तु २८ मूल गुणो के धारक तथा आगम के अनुकूल चारित्रादि के पालन करने वाले साधु को भी समाधिमरण करने वाले साधु का वैयावृत्त्य करने के लिए भगवती आराधना मूल तथा उसकी सस्कृत टीकाओ मे क्षपक के लिए भोजन पानादि उचित पदार्थों के लाने के लिए जो विशेष विधान किया गया है वह अपवादमार्ग है। उत्सर्ग मार्ग का सर्वदा और सर्वत्र पालन करने की आज्ञा है। अपवाद मार्ग का अमुक अवसर पर अमुक प्रकार आचरण करने को कहा गया है। यहा समाधिमरण का प्रकरण है। इस प्रकरण मे भगवती आराधना मे जो साधुओं को क्षपक के लिए भोजन पान सामग्री लाने का, तथा उसकी रक्षा करने का एव क्षपक को बहुत समझाने बुझाने पर आहार दिखलाकर उसको सतोष प्राप्त कराने के अनेक उपाय करने पर भी जब उसके चित्त मे व्याकुलता की शान्ति नहीं होती हुई देखते हैं तब आचार्य की आज्ञा से उसे चित्त शान्ति के लिए भोजन पान का सेवन भी करने का जो यह निरूपण शिव कोटि आचार्य ने किया है वह सब अपवादमार्ग है। साधु लोग वैयावृत्त्य के लिए गृहस्थ के यहा से उचित पदार्थ ला सकते हैं। भगवती आराधना मे तो समाधिमरण प्रकरण मे स्थान २ पर क्षपक के वैयावृत्त्य के लिए उचित वस्तु लाने के लिए स्पष्ट शब्दो मे कहा है। यद्यपि गाथा न. ६६२ व ६६३ में 'उवकप्पेंति' शब्द दिया है। तथापि उसका अर्थ टीकाओं में भोजन पान का लाना ही किया है। उस प्रकरण मे उक्त अर्थ ही सगत होता है। गाथा न. ६८८ मे क्षपक को कुरले करवाने के लिए तैल

और कसायले पदार्थ गृहस्थ के यहां से 'घेतव्वा' ग्रहण करने चाहिए अर्थात् लाने चाहिए-ऐसा स्पष्ट शब्द दिया है।

मूलाचार की टीका मे भी वैयावृत्त्य के निमित्त आहारादि की योजना करने मे निर्दोषता दिखाई है। इन सबका आशय यह है कि समाधिमरण के अवसर पर क्षपक की वैयावृत्त्य के लिए उचित भोजन पान व तैलादि औषध साधु गृहथ के घर से लाते हैं। यह अपवाद मार्ग है। वैयावृत्त्य के समय अपवाद मार्ग का आचरण करने के कारण परिचारक मुनियो को प्रायश्चित्त का आचरण करना पड़ता है।

चार मुनि क्षपक के मलमूत्रादि की प्रतिष्ठापना करते हैं तथा शय्यादि की प्रतिलेखना (प्रमार्जन) करते हैं।

काइयमादी सव्वं चत्तारि पडिट्ठवन्ति खवयस्स ।
पडिलेहंति य उवधोकाले सेज्जुवधि संथारं ॥ ६६५ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—चार मुनीश्वर क्षपक की विष्टा मूत्र कफ आदि का निर्जन्तु भूमि देखकर एकान्त मे क्षेपण करते हैं। तथा प्रात.काल और सायकाल दोनो समय मे क्षपक की शय्या पिच्छी कमण्डलु पुस्तकादि उपकरण का शोधन और प्रमार्जन करते हैं।

चार मुनि द्वारपाल का कार्य करते हैं तथा चार मुनि धर्म श्रवण मडप के द्वार पर रहते हैं।

खवगस्स घरदुवारं सारक्खंति जणा चत्तारि ।
चत्तारि समोसरणदुवारं रक्खन्ति जदणाए ॥ ६६६ ॥ [भग.आ.]

अर्थ—चार मुनिराज क्षपक की वसतिका के द्वार की यत्न पूर्वक रक्षा करते हैं। अर्थात् क्षपक के समीप असयत मनुष्यों को जाने से रोकते हैं। चार मुनि धर्मोपदेश देने के सभा मण्डप के द्वार का रक्षण सावधानी से करते हैं।

भावार्थ—क्षपक पवित्रात्मा है। उसके दर्शन के निमित्त कई ग्राम व नगरों से नरनारी जन आते रहते हैं। यदि उनको रोकने वाला न हो तो वे क्षपक के समीप जाकर क्षपक के अन्त.करण मे क्षोभ उत्पन्न कर देते है, इसलिए द्वार पर चार मुनिराजों को निर्यापकाचार्य नियुक्त करते हैं। वे उनको मधुर और शान्त वचन बोल कर आगे जाने से रोकते हैं। तथा किसी प्रकार का क्षोभ जनक वातावरण उत्पन्न न होने देते है। सदा क्षपक की समाधि का ध्यान रखते हुए वसतिका के द्वार पर बैठे हुए अपने कर्त्तव्य का भली भाति पालन करते रहते हैं।

आचार्य की आज्ञा बिना अतिरिक्त साधुओं के प्रवेश को भी रोकते हैं। न जाने वे अनुचित वार्तालाप करके या क्षपक के असुहाते वातावरण को उत्पन्न कर क्षपक के समाधान का भंग कर बैठें; इसलिए उन्हें भी भीतर जाने का निषेध करते हैं।

जो चार मुनिराज सभा मंडप के द्वार का रक्षण करते हैं, उनका कर्त्तव्य होता है कि वे आगन्तुक मनुष्यों के आकार, वाणी, वेषभूषादि से उनके स्वभाव को जानकर सभा मण्डप में प्रवेश करने दें। जिनसे सभा में क्षोभ उत्पन्न होने की सम्भावना होती प्रतीत होती है, उनको वे वहीं रोक देते हैं, सभा में भीतर नहीं जाने देते। यह सब कार्य वे प्रिय व मधुर वचनों द्वारा करते हैं।

चार मुनिराज रात्रि में जागते हैं और देशादि की वार्त्ता जानने के लिए नियुक्त किये जाते हैं।

जिदणिद्दा तल्लिच्छा रादौ जग्गंति तह य चत्तारि ॥
चत्तारि गवेसंति खु खेत्ते देसप्पवत्तीओ ॥ ६६७ ॥ [भग आ.]

अर्थ—निद्रा पर विजय पाने की इच्छा रखने वाले क्षपक की सेवा में तत्पर चार मुनीश्वर क्षपक के निकट जागते रहते हैं। जहां क्षपक व संघ का वास है, उस देश राज्यादि की क्षेम कुशलतादि (शुभाशुभ) वार्ता का निरीक्षण करने के लिए चार मुनीश्वर आचार्य द्वारा नियुक्त किये जाते हैं।

चार मुनिराज आगत श्रोताओं को उपदेश देते हैं—

वाहिं असद्दवडियं कहंति चउरो चदुव्विधकहाओ ।
ससमयपरसमयविदू परिसाए सा समोसदाए खु ॥ ६६८ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—क्षपक के आवास स्थान से कुछ दूर पर जहां से शब्द क्षपक के कानों में न पड़ सके वहां पर बैठकर स्वमत व परमत के रहस्य के वेत्ता चार मुनिराज सभामण्डप में आये हुए श्रोताओं को आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेजनी इन चार धर्मकथाओं का यथोचित व्याख्यान करते हैं।

भावार्थ—धर्म पिपासा से आगत धर्म-प्रिय जनता को धर्म श्रवण कराने के लिए आचार्य चार ऐसे मुनिराजों को नियुक्त करते हैं जिन्होंने अपने सिद्धान्त ग्रन्थों का तथा अन्य धर्म ग्रन्थों का भली भांति अनुशीलन किया है और जो अपने सिद्धान्तों का पोषण युक्ति

और अनेक शास्त्रों के प्रमाणों से कर सकते हैं। ऐसे वाग्मी चार साधु एक के पश्चात् एक सुललित और ओजस्विनी भाषा में धर्म का रहस्य समझाते हैं। जिसे सुनकर प्राणियों के हृदय में धर्म वासना जाग उठती है और श्रद्धालुओं के अन्तःकरण धर्म पर अत्यन्त दृढ हो जाते हैं एवं अनेक उच्च भावनाओं से पूरित हुए सन्तुष्ट होकर घर लौटते हैं।

उनकी स्वमत और परमत की विवेचनात्मक धर्म कथा को सुनकर जैनेतर धर्मवासित अन्तःकरण वाले मनुष्यों के हृदय भी सुसंस्कारित होकर कुसंस्कारों का त्याग करते हैं।

प्रश्न—यदि कोई मिथ्या अभिमान से उन्मत्त होकर सभा में वाद विवाद करने के लिए उद्यत हो जावे तो वे धर्मोपदेशक मुनिराज अपना धर्मोपदेश रोक कर उनके साथ वाद विवाद करने में प्रवृत होते हैं या धर्मोपदेश पूर्ण होने के पश्चात् उसको वाद विवाद करने का अवसर देते हैं?

उत्तर—धर्मोपदेश के समय वाद विवाद करने का अवसर नहीं देते हैं, क्योंकि उस समय श्रोताओं के धर्म-श्रवण में बाधा होती है। धर्मोपदेश समाप्त होने के बाद उसे वाद विवाद का अवसर दिया जाता है।

वाद विवाद के लिए चार वाग्मी मुनियों को आचार्य नियुक्त करते हैं, उनका केवल प्रतिवादी से वाद करना ही मुख्य कार्य होता है।

वादी चत्तारि जणा सीहाणुग तह अणेयसत्थविदू।
धम्मकहयाण रक्खाहेदुं विहरंति परिसाए ॥ ६६६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—सिंह के समान निर्भीक अनेक शास्त्रों के मर्मज्ञ चार वाग्मी मुनिराज धर्मोपदेशक मुनिराजों की धर्मकथा का रक्षण करने के लिए सभा स्थान में इधर उधर विचरण करते हैं।

उक्त प्रकार महाप्रभावशाली अड़तालीस निर्यापक मुनीश्वर जी तोड़ प्रयत्न करके समाधिमरण करने में तत्पर हुए क्षपक की समाधि (सुख शान्ति) के अर्थ सेवा करने में एकाग्रचित्त रहते हैं।

प्रश्न- समाधिमरण कार्य का सम्पादन करने के लिए क्या समस्त काल में अड़तालीस परिचारक मुनियों का होना आवश्यक माना गया है। या भिन्न २ काल में परिस्थिति के अनुसार हीनाधिक परिचारक मुनिराजों के लिए भी आगम में विधान है?

उत्तर—परिचारक मुनियों की सख्या में काल के अनुसार हीनाधिकता हुआ करती है। भरत और ऐरावत क्षेत्र में काल का परिवर्त्तन होता रहता है। और काल के प्रभाव से मनुष्यो के गुणो में भी जघन्यता, मध्यमता और उत्कृष्टता होती है। जब उत्कृष्ट काल का वर्त्तन होता है, उस समय मे अड़तालीस निर्यापक मुनिराज क्षपक का समाधिमरण सम्पन्न कराने मे सहायता करते हैं। क्योंकि उस समय परिचारक मुनि भद्र परिणाम वाले अधिक होते है वे हर्ष पूर्वक क्षपक की सेवा मे सलग्न रहकर अपने को कृतार्थ समझते हैं। मध्यम काल के प्रारम्भ मे चवालीस मुनिराज क्षपक की सेवा मे नियुक्त रहते हैं। पश्चात् ज्यो ज्यो काल में हीनता आती है, त्यों त्यों परिचारक मुनियों की सख्या अल्प होती जाती है। अर्थात् काल के अनुसार क्रम से चार २ मुनिराज कम किये जाते हैं। अन्त मे सक्लेश परिणाम युक्त काल मे चार मुनीश्वर के लिए भी क्षपक के समाधिमरण कार्य को सुसम्पन्न कराने की आज्ञा है। अतिशय सक्लेश परिणाम युक्त काल मे दो मुनिराज भी क्षपक की समाधि मृत्यु का साधन कर सकते हैं। किन्तु एक निर्यापक साधु समाधिमरण कार्य की साधना नहीं कर सकता है। आगम मे एक निर्यापक मुनि का कहीं पर उल्लेख नहीं मिलता है। वही कहा है—

जो जारिसओ कालो भरदेरवदेसु होइ वासेसु।
ते तारिसया तदिया चोद्दालीसं पि णिज्जवया॥ ६७१ ॥

एवं चदुरो चदुरो परिहावेदव्वगा य जदणाए।
कालंमि सकिलिट्ठंमि जाव चत्तारि साधेंति ॥ ६७२ ॥

णिज्जावयाया दोण्णि वि होंति जहण्णेण कालसंसयणा।
एक्को णिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते ॥ ६७३ ॥ [भग आ.]

अर्थ—भरत और ऐरावत क्षेत्र में जिस समय जैसा काल चक्र का वर्त्तन होता है, उस समय काल के अनुरूप निर्यापक मुनिराज होते हैं। उत्कृष्ट अडतालीस निर्यापक मुनियो की सख्या जो बताई गई है वह उत्कृष्ट है। उत्तम काल मे निर्यापक मुनियो की जघन्य सख्या चवालीस तक होती है। सक्लेश भाव की वृद्धि के अनुक्रम से चार चार निर्यापक मुनियो की सख्या हीन होती जाती है। और वह अन्त मे चार तक पहुंचती है। जब उत्कृष्ट सक्लेश परिणाम सहित काल का वर्त्तन होता है, उस समय दो निर्यापक मुनिराज भी क्षपक का समाधिमरण कार्य सिद्ध करते हैं। किन्तु किसी काल मे एक निर्यापक मुनि का उल्लेख जैनागम मे कहीं पर नहीं है।

प्रश्न—आगम जैसे जघन्य दो निर्यापक मुनि की आज्ञा देता है, वैसे ही एक निर्यापक मुनि के लिए आज्ञा क्यो नहीं देता ? उसमे क्या दोष दिखाई देता है ?

उत्तर—एक निर्यापक मुनि क्षपक का समाधिमरण करवाने मे सर्वथा असमर्थ होता है। इसलिए आगम मे एक निर्यापक का निषेध किया गया है। यदि अकेला निर्यापक मुनि साधु का समाधिमरण रूप अतिदुष्कर कार्य का भार ग्रहण करता है, तो वह निर्यापक अपना और क्षपक दोनों का विनाश करता है।

जब निर्यापक मुनि आहारादि कार्य के निमित्त क्षपक को अकेला छोडकर बाहर जावेगा उस समय क्षपक को क्षुधादि वेदना के कारण जो कष्ट होगा अथवा अन्य मिथ्यादृष्टियो या असयमीजनो के सम्पर्क से जो रत्नत्रय मे बाधा और चित्त में अशान्ति उत्पन्न होगी उसका प्रतीकार कौन करेगा ? यदि उस समय मरणकाल आ पहुचे तो उसके अशुभ ध्यान के कारण रत्नत्रय का विनाश होकर वह असद् गति का भाजन होगा।

अथवा अकेला क्षपक तीव्र क्षुधादि वेदना मे पीडित होकर अयोग्य सेवन करने लगेगा अर्थात पास मे किसी मुनिराज के न होने से बैठकर भोजन करने लगेगा, मिथ्यादृष्टि लोगों के समीप जाकर याचना करने लगेगा "मैं क्षुधा से मरा जाता हूँ, प्यास के मारे मेरा दम घुट रहा है, मुझे खाने को भोजन और पीने को पानी दो" इत्यादि याचना करने लगेगा। इस तरह अनेक दोष ऐसे उत्पन्न होते हैं, जिससे क्षपक के सयम का विनाश और दुर्ध्यान के प्रादुर्भाव से समाधिमरण का विनाश होता है, जिससे क्षपक दुर्गति का पात्र होता है।

अकेला निर्यापक अपना भी विनाश करता है। वह यदि सेवा को परम कर्तव्य समझकर क्षपक की परिचर्या मे तल्लीन रहेगा तो उसको आहार ग्रहण करने का, शयन करने का तथा शरीर-मल का त्याग करने का अवसर न मिलने से स्वय उसे असह्य क्लेश होगा। इससे उसका शरीर गिरने लगेगा। शरीर के क्षीण होने अथवा स्वयं रोगग्रस्त हो जाने पर वह क्षपक की परिचर्या भी न कर सकेगा और अपने धर्म का भी भलीभाति पालन न कर सकेगा—सामायिकादि छह आवश्यको का पालन न कर सकेगा। क्षपक को अकेला छोड़कर यदि वह अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है तो क्षपक की समाधि भग होती है। और यदि क्षपक को अकेला न छोडकर उसी के समाधान (सुख शान्ति) के लिए तत्पर रहता है तो अपने आवश्यक कर्त्तव्यो का आचरण न करने से कर्त्तव्य-विमुख होता है।

इस प्रकार एकाकी निर्यापक आत्म-विनाश, क्षपक का विनाश और आगम का विघात करने वाला होता है। आगम मे अकेले निर्यापक का निषेध किया गया है, उसकी अवहेलना करने के कारण वह आगमाज्ञा का विघातक भी होता है।

प्रश्न—समाधिमरण (सल्लेखना) से प्राण त्याग करने वाला जीव संसार में अधिक से अधिक कितने भव धारण करता है ?

उत्तर—जो जीव एक बार विधि पूर्वक सल्लेखना (समाधिमरण) से शरीर का त्याग करता है, वह जीव अधिक से अधिक सात या आठ भव ही धारण करता है। नवमा भव धारण नहीं करता है। आठवें भव में तो वह मोक्ष का पूर्ण अधिकारी हो जाता है। वही कहा है—

एगम्मि भवग्गहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो।
ण हु सो हिंडदि बहुसो सत्तट्ठभवे पमोत्तूणं ॥ ६८२ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—जो प्राणी एक भव मे समाधिमरण से युक्त मरण करता है, वह बहुत काल तक संसार में भ्रमण नहीं करता है। उसको सात आठ भवों मे अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है।

यह हम पूर्व विवेचन कर आये हैं कि समाधिमरण का प्रारम्भ से लेकर समाप्ति तक का उत्कृष्ट काल १२ वर्ष का है। उस काल के प्रारम्भ के चार वर्ष नाना प्रकार के उग्र काय क्लेशादि तप तीनो योगों द्वारा करता है। तत्पश्चात् मध्य के चार वर्षों में रसों का त्याग कर काय को तपश्चरण द्वारा कृश करता है। तदनन्तर आचाम्ल तप तथा नीरसाहार द्वारा दो वर्ष व्यतीत करता है। तथा एक वर्ष स्वल्प आहार द्वारा पूर्ण करता है और छह माह मध्यम तपश्चरण का आचरण करते हुए बिताता है। इस प्रकार साढे ग्यारह वर्ष स्वाध्याय ध्यान करते हुए, आवश्यक कार्य के लिए चलते फिरते हुए एव तपश्चरण द्वारा काय कृश करते हुए समाप्त करता है।

जब भक्त प्रत्याख्यान की मर्यादा का काल छह महिने अवशिष्ट रह जाता है उस समय अनेक प्रकार के उग्रोग्र तपस्या करने के कारण क्षपक का शरीर अत्यन्त कृश हो जाता है। तब वह संस्तरारूढ़ होता है। अर्थात् शय्या का शरण ग्रहण करता है। तब वह गुरु के निकट आलोचना करता है। उसके पश्चात् निर्यापक आचार्य द्वारा अधिक से अधिक ४८ मुनि और काल की अतिनिकृष्टता प्राप्त होने पर कम से कम दो मुनि परिचर्या में नियुक्त किये जाते हैं। इन सब बातो का स्पष्ट विवेचन पूर्व मे कर आये हैं। यहा सिंहावलोकन मात्र किया गया है।

क्षपक का शरीर और कषाय तपश्चरण द्वारा कृश हो जाते है। कृश शरीर को भी वे अत्यन्त कृश करते हैं। उसकी विधि का उल्लेख आगे करते हैं।

क्षपक का कर्तव्य है कि शास्त्र के ज्ञाता अनेक आचार्यों के विद्यमान होते हुए भी सन्यास विधि प्रारम्भ करते समय जिस आचार्य के निकट प्रथम आलोचना की हो, उसी आचार्य के चरणों के समीप प्रत्याख्यान-प्रतिक्रमण आदि आवश्यक कर्तव्यों का आचरण

करे। उन्हीं की आज्ञा का ग्रहण करे। उपदेश श्रवण, जल के अतिरिक्त तीन प्रकार के आहार का त्याग तथा प्रायश्चित्त का ग्रहण और सदिग्ध विषयो का समाधान करने के लिए प्रश्न करना इत्यादि सब कार्यों मे उसके लिए प्रथमाचार्य ही प्रमाण होते हैं। यदि प्रथमाचार्य उपदेश देने आदि कार्यों मे सामर्थ्यहीन हो तो उनकी आज्ञा के अनुसार दूसरे आचार्य के निकट प्रतिक्रमणादि कर्त्तव्य कर्मों का आचरण कर सकता है।

श्रीमत् शिवकोटि आचाय ने क्षपक की वचन सुनने की शक्ति का विकास और मुख तथा जिह्वा की मलीनता दूर करने के लिए तैल का प्रयोग और कषायले द्रव्यों से मिश्रित जल के कुरले करने को भी लिखा है। वह निम्न प्रकार है।

तेल्लकसायादीहिं य बहुसो गंडूसया दु घेत्तव्वा।
जिब्भाकण्णाण बलं होहिदि तुंडं च से विसदं ॥ ६८८ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—क्षपक को तैल और कषायले द्रव्यो के बहुत बार कुरले करने चाहिए। क्योंकि कान में तैल डालने से कानों में शब्द-श्रवण शक्ति बढती है। तथा जीभ पर जब मैल जम जाता है मुख मे मल का संचय बढ़ जाने से दुर्गन्ध आने लगती है। वचनोच्चारण मे क्षीणता बढ़ने लगती है। उन दोषों का निवारण करने के लिए कषायले द्रव्यों के कुरले कराये जाते हैं।

इसी का समर्थन अमितिगति आचार्य ने भी निम्न प्रकार किया है।

तेन तैलादिना कार्या गण्डूषाः सन्त्यनेकशः।
जिह्वावदनकर्णादेर्नैर्मल्य जायते ततः ॥ ७१५ ॥ [सं भग. आ]

उक्त गाथा का और इस श्लोक का अर्थ एकसा है। यह श्लोक ऊपर की गाथा का अनुवाद मात्र है।

तात्पर्य यह है कि क्षपक का यह अन्तिम व अतिप्रशस्त समय है। इस समय इसको योग्य उपदेश द्वारा समाधि में स्थिर करना उसके अन्तःकरण मे उत्पन्न हुए उद्गारो को जानकर उनके अनुकूल व्यवस्था करके उसको सन्तोष उत्पन्न करना निर्यापकाचार्य तथा निर्यापक मुनियों का परम कर्तव्य होता है। वह तभी हो सकता है कि क्षपक के कर्णों मे उपदेश सुनने की शक्ति तथा मन के उद्गारों को प्रकट करने के लिए क्षपक की वचन शक्ति बनी रहे, इसीलिए इस कार्य की सफलता के लिए क्षपक को तैलादि के कुरले करवाये जाते हैं।

क्षपक के विचारों पर बुरा प्रभाव न पड़े, इसलिए आगम के मर्मज्ञ मुनियो को भी क्षपक के समक्ष भोजनादि कथाओं का

वर्णन कदापि नहीं करना चाहिए। वही कहा है—

> भत्तादीण भत्ती गीदत्थेहिं वि ण तत्थ कायव्वा।
> आलोयणा वि हु पसत्थमेव कादव्विया तत्थ ॥ ६८७ ॥ भग. आ.

अर्थ—गीतार्थ (विशेषज्ञ) मुनियो को भी क्षपक के निकट भोजनादि की कथाओ को नहीं करना चाहिए। क्षपक के निकटवर्ती आचार्य के समीप अप्रशस्त आलोचना भी किसी मुनीश्वर को करना उचित नहीं है।

इस कथन का तात्पर्य यह है कि क्षपक के लिए उस समय उच्च आदर्श की आवश्यकता है। उस समय छोटा सा प्रतिकूल वातावरण उसके हृदय मे क्षोभ उत्पन्न कर सकता है। जैसे स्वच्छ व निष्कम्प जल मे स्वल्प वायु भी कम्पन और थोड़ा मैल मलीनता उत्पन्न कर देती है, वैसे ही क्षपक के स्वच्छ व निष्कम्प हृदय को विपरीत संयोग विकृत व उथल पुथल कर सकता है। इसलिए निर्यापक मुनियों को उसकी समाधि बनाये रखने के लिए प्रतिकूल संयोगों का निवारण और अनुकूल साधनों की योजना करने मे सावधान रहना पड़ता है।

प्रश्न—भक्त प्रत्याख्यान मर्यादा के छह महीने शेष रहने पर क्षपक को तीन प्रकार के आहार का त्याग करवाते हैं। तो क्या प्रत्येक क्षपक के लिए एकसा विधान है या क्षपक की प्रकृति की जाच करके उचित क्रम से भोजन का त्याग करवाते हैं? शास्त्रोक्त रीति से निरूपण करने की कृपा करें।

उत्तर—जब आचार्य क्षपक को जल के सिवा तीन प्रकार के आहार का त्याग करवाने के लिए प्रवृत्त होते हैं तो उसके पहले आचार्य क्षपक को सब प्रकार के आहार को दिखाते हैं। आहार दिखाने पर उसकी भोजन की लालसा का परिचय प्राप्त करते हैं। तत्पश्चात् त्याग करवाते हैं।

इस विषय मे शिवकोटि आचार्य ने भगवती आराधना मे निम्न प्रकार वर्णन किया है।

> दव्वपयासमकिचा जइ कीरइ तस्स तिविहवोसरण।
> कम्हिवि भत्तविसेसंमि उस्सुगो होज्ज सो खवओ ॥ ६८६ ॥
> तम्हा तिविहं वोसरिहिदित्ति उक्कस्सयाणि दव्वाणि।
> सोसित्ता संविरलिय चरिमाहारं पयासेज्ज ॥ ६६० ॥

पासित्तु कोइ तादी तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥ ६६१ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—यद्यपि क्षपक तीन प्रकार के आहार का त्याग करने के लिए उत्सुक हो रहा है, तथापि उसकी किसी प्रकार के आहार मे अभिलाषा बनी न रहे, इसलिए क्षपक को विचित्र विचित्र आहार दिखलाते हैं। यदि क्षपक को आहार दिखाये बिना ही उसमे तीन प्रकार के आहार का त्याग करवा दिया जावे तो उसके चित्त मे किसी आहार विशेष की अभिलाषा बनी रही तो वह उसके अन्तःकरण को व्याकुल करती रहेगी। इसलिए उसका त्याग करवाने के पूर्व तीनों प्रकार के उत्तम उत्तम आहार के पदार्थ बर्तन मे पृथक् पृथक रखकर क्षपक के समीप लाकर आचार्य दिखाते हैं। उन उत्तमोत्तम भोजन के पदार्थों को देखकर कोई क्षपक मुनिराज अपने अन्तःकरण मे विचार करते हैं कि "मैंने अनन्त काल तक इनसे भी उत्तम पदार्थों का भोजन किया, किन्तु मुझे इनसे कुछ भी तृप्ति नहीं हुई। अबतो इस भव के अन्तिम किनारे पर आ लगा हूँ। अब इनसे मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है,?" ऐसा सोचकर इनसे विरक्त होकर संसार से भयभीत हुए आहार का त्याग करने मे दृढ संकल्प होते हैं।

आसादित्ता कोई तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुपत्तो संवेगपरायणो होदि ॥ ६६२ ॥
देसं भोच्चा हा हा तीरं पत्तस्समेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुपत्तो संवेगपरायणो होदि ॥ ६६३ ॥
सव्वं भोच्चा धिद्धि पतस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥ ६६४ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—कोई क्षपक सम्मुख स्थित पदार्थों मे से थोडा चखकर विचार करते हैं कि इस थोडे से क्षण मात्र के जिह्वा के सुख से क्या सुख मात्रा प्राप्त होगी। मैं जीवन की अन्तिम सीमा पर पहुच चुका हूँ। मेरा भला इनका ग्रहण करने से नहीं, बल्कि त्याग करने से ही सिद्ध होगा-ऐसा विचार कर उनसे चित्त को हटाता है और ससार से भयभीत हुआ आहार के त्याग करने मे ही कटिबद्ध होता है।

कोई क्षपक उन नेत्र और मन को तृप्त करने वाले पदार्थों का कुछ भाग ग्रहण करके उनसे सहसा विरक्त होता है। विषय के स्वरूप का चिन्तन कर उद्विग्न होकर विषयो को धिक्कार देता है और सोचता है कि मेरी बुद्धि को धिक्कार है, जो इनकी ओर आकर्षित होती

(आगे पृष्ठ नं० ६३३ पढ़िए)

है। इस अन्तिम जीवन को सफल करने के लिए इनका त्याग ही श्रेयस्कर है–ऐसा सोचकर संसार भोग से विरक्त हुआ तीनों प्रकार के आहार का त्याग करने मे दृढ चित्त होता है।

कोई क्षपक मुनि चारित्र मोहनीय कर्म के उदय विशेष से उन मन लुभाने वाले उत्कृष्ट आहार के द्रव्यों को देखकर मोहित हुआ उन सब पदार्थों का भक्षण करता है। भक्षण करने के पश्चात् अन्तरङ्ग मे विवेक बुद्धि का प्रकाश होते ही उसका अन्तःकरण उद्विग्न हो उठता है। वह सहसा चौंक पडता है और विचारने लगता है कि हे आत्मन्! तेरी इस विषय मुग्धता को धिक्कार है। वर्षों तक के विवेक ज्ञान का अभ्यासी तू जिह्वा इन्द्रिय के विषय मे कैसे प्रवृत्त हो गया? इस कर्म की बलवत्ता को धिक्कार है। अब तेरा यही कर्तव्य है कि भुजङ्ग के भोग (शरीर) के समान इन भोगों से पृथक होकर अपना हित साधन कर। इस प्रकार ससार भोग से वैराग्य को प्राप्त हुआ वह क्षपक इन्द्रिय विषय भोग से विरक्त हुआ आहार का त्याग करने मे उत्सुकता धारण कर शीघ्र तीनो प्रकार के आहार का त्याग करने मे तत्पर होता है।

उक्त अर्थ का विवेचन अमितिगति आचार्य ने भी निम्न प्रकार किया है—

अप्रकाश्य त्रिधाहारं त्याज्यते क्षपको यदि।
तदोत्सुकः स कुत्रापि विशिष्टे जायतेऽशने ॥ ७१७ ॥
ततः कृत्वा मनोज्ञानामाहाराणा प्रकाशना।
सर्वथा कारयिष्यामि त्रिविधाहारमोचनम् ॥ ७१८ ॥
कश्चिद्दृष्ट्वा तदेतेन तीरं प्राप्तस्य किं मम ॥
इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७१९ ॥
आस्वाद्य कश्चिदेतेन तीरं प्राप्तस्य किं मम।
इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७२० ॥
अशित्वा कश्चिदंशेन तीरं प्राप्तस्य किं मम।
इती वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७२१ ॥
वल्भित्वा सर्वमेतेन तीरं प्राप्तस्य किं मम।
इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७२२ ॥ (सं भग. आ.)

इनका आशय ऊपर लिख चुके हैं। क्योंकि ये श्लोक भगवती आराधना की उक्त गाथाओं का अर्थानुवाद मात्र हैं। इनको यहा उद्धृत करने का अभिप्राय अमितिगति आचार्य का मत भी शिवकोटि आचार्य के अनुकूल है–ऐसा दिखलाना मात्र है।

प्रश्न—आहार दिखलाने से आचार्य को चार प्रकार के अभिप्राय वाले क्षपक का ज्ञान हुआ। एक तो विचित्र प्रकार के आहार को देखकर उससे विरक्त होने वाला उत्कृष्ट वैराग्यवान् क्षपक है। दूसरा दिखलाये गये आहार मे से किंचित् मात्र चखकर आहार से विरक्त होने वाला मध्यम वैराग्यवान् क्षपक है। तीसरा दिखलाई भोजन सामग्री के एक अश का भक्षण कर समस्त भोजन से विरक्त होकर त्याग मे प्रवृत्त होने वाला जघन्य वैराग्यवान् क्षपक है। तथा चौथा जघन्यतर वैराग्यवान् वह क्षपक है जो सम्पूर्ण आहार का सेवन कर पश्चात् उससे विरक्त होकर तीनों प्रकार के आहार का त्याग करने मे उत्सुक हुआ है।

इनके अतिरिक्त एक ऐसे क्षपक की सम्भावना होती है, जो चारित्र मोहनीय कर्म के तीव्र उदय के वशीभूत होकर दिखलाए गये आहार का सेवन कर उसके स्वाद मे आसक्त हुआ भोजन का त्याग न करे तो उसके उद्धार के लिए आचार्य क्या करते हैं ?

उत्तर—आपने उक्त प्रश्न मे प्रथम क्षपकों को जो चार भागों मे विभक्त किया है वह विभाग आहार दिखलाने से लेकर जब तक वे आहार का त्याग करने मे प्रवृत नहीं हुए हैं, तब तक के लिए ही हो सकते हैं। क्षपक सर्व उत्कृष्ट वैराग्य परायण होते हैं। तभी तो वे संन्यास मरण विधि मे तत्पर हुए हैं।

उक्त चार प्रकार के अतिरिक्त आहार मे आसक्त हुए क्षपक के विषय मे जो प्रश्न किया है। उसका खुलासा निम्न प्रकार है—

कोई तमादयित्ता मणुण्णरसवेदणाए संविद्धो।
तं चेवणुबंधेज्ज हु सव्वं देसं च गिद्धीए ॥ ६९५ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—यदि कोई क्षपक दिखलाए आहार का भक्षण कर मनोरम रस के स्वाद मे मूर्छित हुआ उस भक्षण किये गये सम्पूर्ण आहार को बारम्बार सेवन करने की लालसा करने लगे। अथवा उस दर्शित आहार सामग्री में से किसी एक पदार्थ को पुनः पुनः सेवन करने की उत्कण्ठा करने लगे, तो

तत्थ अवायोपायं दंसेदि विसेसदो उवदिसंतो।
उद्धरिदुं मणोसल्लं सुहुमं सण्णिव्ववेमाणो ॥ ६९६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—तब आचार्य मनोज्ञ आहार के भक्षण करने की आसक्ति से होने वाली हानि और लाभ को समझाते हैं। "हे क्षपक ! देखो ! तुम अपने मन को वश में न रखोगे तो तुम अनन्त काल में भी अति दुर्लभ इस इन्द्रिय संयम का विनाश करडालोगे और जिस मनुष्य ने इन्द्रियों पर अधिकार नहीं किया है। जो आत्मा इन्द्रियों का गुलाम हो जाता है, उसकी आत्म शक्ति विलीन हो जाती है। वह अपने कार्य की सिद्धि कभी नहीं कर सकता है।"

इस प्रकार गुरु के उपदेश को सुनकर घोर दु.ख का संहार करने मे समर्थ समाधि मरण को सफल बनाने के लिए वह विवेकी क्षपक तीन प्रकार के आहार का त्याग करने के लिए आतुर होता है।

यदि कोई क्षपक तीव्र मोहनीय कर्म के चक्र में फंसा हुआ आहार को छोड़ने में अपने को असमर्थ पाता है, तब भी आचार्य उस क्षपक पर दया करते हैं। उसको मधुर और प्रिय वचनों से समझा बुझा कर अनेक प्रकार के आहार पदार्थों मे से एक एक पदार्थ को क्रम से घटाते हैं। इसके विषय निम्न प्रमाण है—

अणुपुव्वेण य ठविदो संवट्टेदूण सव्वमाहारं।
पाणयपरिक्कमेण दु पच्छा भावेदि अप्पाणं ॥ ६९९ ॥ [भग. आ.]

अर्थात्—क्षपक का आयुष्य जब अल्प रह जाता है, तब निर्यापकाचार्य उसे उत्तमोत्तम विविध आहार वर्त्तन मे धरकर क्षपक की आहार त्याग की पुष्टि करने के लिए उसे दिखाते हैं। उन चित्ताकर्षक विचित्र आहार को देखकर क्षपक उसमे अत्यंत आसक्त हो जाता है और उन आहार के पदार्थों का पुनः पुनः सेवन करने का अत्यंत लोलुपी हो जाता है। आचार्य के अनेक उपदेशामृत का पान कराने पर भी उसकी आहार सम्बन्धी आसक्ति कम नहीं होती है। तब आचार्य उन समस्त आहार के सुन्दर २ पदार्थों मे से क्षपक को क्रम से एक एक आहार पदार्थ का त्याग कराते कराते सादे भोजन पर ले आते हैं। अर्थात् मिष्टान्नादि विशिष्ट आहार से विरक्त करके भात दाल आदि साधारण आहार पर नियत करते हैं। पश्चात् वह क्षपक साधारण भात दाल पूए आदि तीन प्रकार के आहार पदार्थों का क्रम क्रम से त्याग करता हुआ पानक आहार पर अपने को स्थिर करता है। अर्थात् जलादि पेय पदार्थ के अतिरिक्त सब प्रकार आहार का त्याग कर देता है। अपने शरीर को जलादि के आधार पर रखता है।

प्रश्न—पानक कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर—पानक पदार्थ आगम मे छह प्रकार के माने गये हैं।

सच्छं बहलं लेवडमलेवडं च ससित्थयमसित्थं ।
छव्विह पाणयमेयं पाणयपरिकम्मपाओग्गं ॥ ७०० ॥ [भग. आ.]

अर्थ—१ स्वच्छ, २ बहल, ३ लेवड, ४ अलेवड, ५ ससिक्थ और ६ असिक्थ इस प्रकार पानक के छह भेद हैं।

(१) स्वच्छ पानक—गर्म जलादि को 'स्वच्छ' पानक कहते हैं।

(२) वहल—कांजी, द्राक्षारस इमली का पानी तथा ऐसे ही अन्य फलादि के रस को वहल पानक कहते हैं।

(३) लेवड—हाथ पर लिपट जाने वाले दही के घोल वगैरह गाढे पानक को लेवड कहते हैं।

(४) अलेवड—जो हाथ पर नहीं लिपटता है, ऐसा चांवल का माड, तक्र आदि पतले पानक को अलेवड पानक कहते हैं।

(५) ससिक्थ पानक—जिसमे चावल आदि के सिक्थ पाये जावें ऐसे, माड आदि पानक को ससिक्थ पानक कहते हैं।

(६) असिक्थ पानक—जिसमें भात आदि के सिक्थ (कण) न पाये जावें ऐसे पानक को असिक्थ पानक कहते हैं।

इस प्रकार पानक छह प्रकार का माना गया है।

इन छह प्रकार के पानको मे भी आचार्य को क्षपक के स्वास्थ्य का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। अनुभवी अनेक शास्त्रो के ज्ञाता निर्यापकाचार्य आसन्न मरण वाले क्षपक की शारीरिक स्थिति के अनुकूल आयुर्वेद के सिद्धान्त के अनुसार वात, पित्त और कफ का शमन करने वाला उचित पानक क्षपक को देते हैं।

पानक पदार्थ का सेवन करवाने के पश्चात् उदर के मलकी शुद्धि करने के लिए क्षपक को माड के समान मधुर विरेचन पदार्थ देना चाहिए।

क्षपक के उदर स्थित मल का शोधन करने के लिए काजी से भीगे हुए विल्व पत्रादि से उदर का सेक करना चाहिए तथा सैंधा-नमक आदि की वत्ती बनाकर गुदा मे प्रवेश कर उदर का शोधन करना चाहिए।

प्रश्न—इतना महान् परिश्रम करके उदरस्थ मलका निवारण क्यो किया जाता है?

उत्तर—क्षपक के उदर में संचित हुआ मल यदि नहीं निकाला जावेगा तो वह महती वेदना उत्पन्न करेगा इसलिए उसे निकालने का प्रयास करते हैं।

प्रश्न—उक्त प्रकार उदर का शोधन करने के पश्चात् क्षपक के योग्य किस कार्य का आचार्य सम्पादन करते हैं।

उत्तर—क्षपक की उदर शुद्धि होने के बाद आचार्य को 'क्षपक अशन, खाद्य और स्वाद्य इन तीन प्रकार के आहार का यावज्जीव त्याग करेगा' इस प्रकार समस्त संघ से निवेदन करते हैं। तथा क्षपक तुम से क्षमायाचना करता है, इस प्रकार कहते हुए आचार्य ब्रह्मचारी आदि के हाथ में क्षपक की पिच्छी देकर उसे दिखाते हुए सम्पूर्ण संघ के मुनियो की वसतिकाओं में घुमाते हैं।

प्रश्न—क्षपक की पिच्छी दिखलाकर आचार्य क्षपक की ओर से सवस्थित मुनियो से याचना करते हैं यह ठीक, पर चलने फिरने की शक्ति से हीन क्षपक का अभिप्राय जानकर सम्पूर्ण संघ का उस समय क्या कर्त्तव्य होता है ?

उत्तर—समस्त संघ क्षपक को क्षमा प्रदान करते हैं। तथा क्षपक की रत्नत्रय आराधना निर्विघ्न सिद्ध होवे, इस हेतु से सम्पूर्ण संघ कायोत्सर्ग करता है।

प्रश्न—इसके अनन्तर क्षपक के प्रति निर्यापकाचार्य का क्या कर्त्तव्य होता है ?

उत्तर—निर्यापकाचार्य क्षपक को सकल संघ के मध्य चार प्रकार के आहार का अथवा तीन प्रकार का आहार का विकल्प सहित त्याग करवाते हैं। आचार्य जब क्षपक को क्षुधादि परिषह के सहन करने में भली भांति समर्थ पाते हैं, तब चारो प्रकार के आहार का कालादि के विकल्प पूर्वक त्याग करवाते हैं। यदि क्षपक को उतना सहनशील नहीं देखते हैं तो उसे तीन प्रकार के आहार का ही त्याग करवाते हैं। और उस की चित्त शान्ति के लिए छह प्रकार के पानक आहारों का ही सेवन करवाते हैं। इसके अनन्तर ज्यों२ क्षपक की शक्ति का ह्रास होता जाता है त्यों त्यो पानक पदार्थों मे परिवर्तन करते २ अन्तमे सब का त्याग करवा देते हैं।

प्रश्न—इसके बाद क्षपक क्या करता है ?

उत्तर—भक्त प्रत्याख्यान करने के बाद क्षपक के हृदय मे आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मी मुनि, कुल मुनि (दीक्षागुरुशिष्य परम्परा) गण मुनि (स्थविर मुनि शिष्य सन्तान) इन सब के विषय में जो क्रोध मान माया और लोभ होगा उन सब को निकाल फेंकता हैं। तथा 'मुमुक्षु का जो कर्त्तव्य होता है, उस सब का मैंने आचरण किया है' ऐसा विचार कर उसका चित्त आनन्द से उछलने लगता है।

प्रसन्नचित्त हुआ वह मस्तक पर दोनों हाथ जोड़ कर सकल सघ को नमस्कार करता है। सब से उचित शब्दों मे बोलने की शक्ति न होने के कारण हाथ जोड़ कर 'आप सब मुझे क्षमा करो' इस प्रकार क्षमा मांगने का अभिप्राय प्रकट करता है।

क्षपक अपने अन्तः करण मे अव्यक्त भाषा में कहता है कि हे सघ के मुनिराजो आप मेरे माता पिता से अधिक पूज्य व हितकारक हो, आप निष्कारण जगत् के बन्धु हो, सब के उद्धार करने मे कटिबद्ध हो, आप का मन वचन काय से कृत कारित और अनुमोदना द्वारा जो अपराध अज्ञात भाव से किया हो, उन सब की मैं क्षमा चाहता हूं, मैं भी सब को क्षमा करता हूँ।

इस प्रकार क्षपक और सम्पूर्ण सघ की परस्पर क्षमा क्षमापणा हो जाने के बाद आचार्य सस्तरारूढ़ क्षपक को श्रुत ज्ञान के अनुसार शिक्षा देते हैं और सवेग व वैराग्य का उत्पादक कर्णजाप देते हैं।

प्रश्न—वह कर्णजाप क्या है, जिसे निर्यापकाचार्य क्षपक को देते हैं ?

उत्तर—सस्तरारूढ़ क्षपक को उस समय के योग्य जो क्षपक के कर्ण के समीप शिक्षा देते हैं, उसे कर्णजाप कहते हैं। वह निम्न प्रकार है—

निस्सल्लो कदसुद्धी विज्जावच्चकर वसधिसंथारं।
उवधिं च सोधइत्ता सल्लेहण भो कुण इदाणिं ॥ ७२१ ॥ (भ. ग. आ.)

अर्थ—हे क्षपक राज! इस समय तुम वैयावृत्य करने वालो की तथा निःशल्य होकर रत्नत्रय की शुद्धि करने मे तत्पर रहो।

व्याधि (रोग) उपसर्ग परीषह असंयम मिथ्याज्ञान यह विपत्ति हैं। इस विपत्ति का प्रतीकार करने को वैयावृत्त्य कहते हैं। ऐसी वैयावृत्त्य करने वालों को, वैयावृत्त्यकर अर्थात् परिचारक कहते हैं। वैयावृत्त्य करने वाले मुनि असंयम के ज्ञाता हैं या नहीं-इसका ध्यान रखो। यदि वे असयम के ज्ञाता नहीं प्रतीत हों तो उन्हें पृथक् कर दो। और मन वचन तथा काय से जो असयम का निवारण करते हों, ऐसे मुनिराजों को परिचर्या करने की आज्ञा दो।

प्रातःकाल सायंकाल दोनों समय वसतिका, संस्तर और उपकरणो की प्रतिदिन शुद्धि करो। अर्थात् तुम क्षीण शक्ति हो, इसलिए परिचारकों को वसतिका, संस्तर और उपकरणों की मार्जना करने की प्रति दिन आज्ञा दो। आज्ञा देना ही तुम्हारा प्रतिलेखन (शुद्धि) करना सिद्ध होता है।

माया, मिथ्या और निदान ये तीन आत्मा को अनादि से क्लेश देते आये हैं इसलिए तत्त्व श्रद्धान पर दृढ़ रहकर मिथ्यात्व का नाश करो। सरलता, निष्कपट भाव धारण कर माया को हृदय से निकाल फेंको और भावी भोगों की निस्पृहता से निदान शल्य का नाश करो। इससे तुम्हारा रत्नत्रय शुद्धि को प्राप्त होगा।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की आराधना करने को रत्नत्रय की प्राप्ति कहते हैं। हे क्षपकोत्तम! मिथ्यात्व का वमन करने से सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। मिथ्यात्व संसार का मूल कारण है, और यह सब कर्मों से प्रधान है। इसलिए हे क्षपक! तू मन वचन और काय से इस मिथ्यात्व शत्रु का त्याग कर।

शंका—मिथ्यात्व को सब कर्मों से प्रधान कैसे कहा है? ज्ञानावरण, दर्शनावरण, आदि के अनुक्रम से आचार्यों ने इसे प्रधान नहीं कहा है? आत्मा के साथ अनादि काल से आठों कर्मों का सम्बन्ध हो रहा है। इसलिए उत्पत्ति की अपेक्षा भी मिथ्यात्व मोहनीय दर्शनावरणादि में पहले पीछे का सद्भाव नहीं है। अतः आपने मिथ्यात्व को प्रधान कैसे कहा है?

समाधान—मिथ्यात्व को सब कर्मों से प्रधान इसलिए कहा है कि यह आत्मा के ज्ञानादि गुण को विपरीत करता है। अन्यकर्म तो ज्ञानादि गुणों की शक्ति का ह्रास मात्र करते हैं, उनको विपरीत नहीं बनाते हैं। और मिथ्यात्व उन्हें सर्वथा उल्टा कर देता है। अर्थात् शुश्रूषा (सुनने की इच्छा), शास्त्र श्रवण करना, श्रवण कर हृदय मे धारण करना और धारण किया हुआ नहीं भूलना ये सब बुद्धि के गुण हैं। मिथ्यात्व इन को भी विपरीत करता है। तथा चारित्र, तपश्चरण भावना आदि सब मे विपरीतता उत्पन्न करता है, इसलिए मिथ्यात्व को सम्पूर्ण कर्मों में प्रधान व महान् कर्म कहा गया है। अतएव हे क्षपक!

परिहर तं मिच्छत्तं सम्मात्ताराहणाए दढचित्तो।
होदि णमोकारम्मि य णाणे वद भावणासु धिया ॥ ७२५ ॥
मयतण्हियाओ उदयत्ति मया मण्णंति वह सतण्हयगा।
सब्भूदंति असब्भूदं तध मण्णंति मोहेण ॥ ७२६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—तू इस मिथ्यात्व का परित्याग कर और सम्यक्त्व की आराधना मे चित्तको स्थिर कर। तथा परम भक्ति से अरिहंत आदि परमेष्ठी के भाव नमस्कार में रत हो। हाथ जोड़कर मस्तक झुका कर 'पंच परमेष्ठी को नमस्कार हो' ऐसा वचन उच्चारण करते हुए नमस्कार करने को द्रव्य नमस्कार कहते हैं। श्री अरहतादि पूज्य व्यक्तियों के गुणों मे अनुराग करना भाव नमस्कार है। तू निरन्तर भाव-

नमस्कार मे तथा ज्ञान की आराधना और व्रतों की भावना मे बुद्धि को लगा।

दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से यह जीव अविद्यमान वस्तु मे विद्यमान और विद्यमान वस्तु मे अविद्यमान प्रतीति करता है तथा अतत्त्व को तत्त्व समझता है, जैसे जल से व्याकुल हुआ मृग मरुस्थल की वालु रेत मे पड़ी हुई सूर्य की किरणों को लहराता हुआ जल समझ कर पानी पीने की आशा से दौड़ता है। वैसे ही मिथ्यात्व से आकुलित बुद्धि मनुष्य विवेकज्ञान रहित हुआ पर पदार्थ को अपना समझ कर दुःखी होता है। धतूरे का सेवन करने से उत्पन्न हुआ उन्मत्तपना (पागलपन कुछ दिन तक जीव को मोहित (मूर्छित) रखता है, वह एक भव मे भी कुछ काल पर्यन्त ही रहता है। किन्तु मिथ्यात्वमोह का सेवन करने से आत्मा अपरिमित काल तक पागल बना रहता है और वह अनेक कुयोनियो मे जन्म मरण परम्परा को उत्पन्न करता है। इसलिए मिथ्यादर्शन मोह सम्पूर्ण मोहो से अति निकृष्ट है। इसका त्याग करने से ही जीव सुखी होता है। अत हे क्षपक! तुम इस अपरिमित असह्य घोर दुःख के कारण मिथ्यात्व का परित्याग करो।

शङ्का—क्षपक ने तो इस मिथ्यात्व का पहले से ही त्याग किया है। इस समय तो सयम की रक्षा के लिए प्रयत्नशील हो रहा है। अतः सयम की दृढता का ही इस समय उपदेश देना चाहिए। मिथ्यात्व के त्याग करने का उसको उपदेश क्यों दिया गया है ?

समाधान—जीवो अणादिकालं पयत्तमिच्छत्तभाविनो संतो।
ण रमिज्ज हु सम्मत्ते एत्थ पयत्तं खु कादव्वं॥ ७२८॥ (भग. आ)

अर्थ—यह जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व के सस्कार से सस्कारित रहा है मिथ्यात्व के साथ जीव का अत्यन्त परिचय रहा है। अतः सम्यग्दर्शन मे यह रमता नहीं है। किंचिन्मात्र विपरीत निमित्त का सयोग मिलते ही इसका अन्त करण मिथ्यात्व की ओर झुक जाता है। इसलिए आचार्य क्षपक को सम्यक्त्व मे आसक्त रखने के लिए बारम्बार मिथ्यात्व के दुर्गुण बताकर उससे विमुख रखने के लिए उपदेश देते हैं। जिसका चिरकाल से जीव को अभ्यास हो रहा है, उसका त्याग बड़ी ही कठिनाई से होता है। जैसे सर्प अपने चिर परिचित बिल मे निवारण करने पर भी प्रवेश करता है, उसे नहीं छोडता है, वैसे ही इस जीव को मिथ्यात्व से अनन्त काल का परिचय हो रहा है, इसलिए आचार्य बार बार मिथ्यात्व का परित्याग करने और सम्यक्त्व मे दृढ़ रहने का उपदेश देते हैं। जैसे-प्रतीकार रहित विष से बुझे हुए बाण से बींधा गया मनुष्य बीहड जङ्गल मे पड़ा हुआ भयानक वेदना को सहकर मृत्यु को प्राप्त होता है, वैसे ही मिथ्यात्व शल्य से पीड़ित हुआ यह जीव भव भव मे नरकादि योनि के असह्य दुःखो को अनन्त काल तक सहता है।

हे क्षपक! सघश्री नाम के प्रधान मन्त्री के चक्षु महान् मिथ्यात्व के प्रभाव से नष्ट हुए। वह उसी भव मे दुःख से मरकर दीर्घ

ससारी हुआ।

इस मिथ्यात्व के दोष से आत्मा के सुन्दर और सुखद ज्ञानादि गुण निकम्मे हो जाते हैं, जैसे कड़ुवी तुम्बी में रखे हुए दुग्धादि मिष्ट पदार्थ भी कड़ुवे हो जाते हैं। कहा है :—

कडुगम्मि अणिव्वलिदम्मि दुद्धिए कडुगमेव जह खीरं।
होदि णिहिदं तु णिव्वलियम्मि य मधुरं सुगंधं च ॥ ७३३ ॥
तह मिच्छत्तकडुगिदे जीवे तवणाण चरणविरियाणि।
णासंति वतमिच्छत्तम्मि य सफलाणि जायंति ॥ ७३४ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—मूंदे सहित कड़ुवी तुम्बी में भरा हुआ दूध जैसे कड़ुवा हो जाता है और शुद्ध तुम्बी में रखा हुआ दुग्ध मधुर और सुगंधित रहता है, वैसे ही मिथ्यात्व से कटुता (विपरीतता) को प्राप्त हुए जीव के ज्ञान चारित्र तप और वीर्य नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् ज्ञान चारित्रादि मोक्ष के कारण नहीं होते हैं। तथा जब यह जीव मिथ्यात्व का वमन कर देता है, तब वे ही ज्ञानादि गुण स्वर्गादि के सुख एव मोक्ष के कारण होते हैं।

इसलिए हे क्षपक ! मिथ्यात्व की आत्मा में छाया तक मत पड़ने दो और सम्यक्त्व के आराधन में सदा सावधान रहो।

हे साधु श्रेष्ठ ! तुमने अनेक परीषह उपसर्गादि सहकर इतने काल तक जो ज्ञान चारित्र तप आदि की साधना की है, उसकी सफलता इस सम्यग्दर्शन से ही हो सकती है, इसके बिना उसका कुछ भी महत्त्व नहीं है। ये सम्यक्त्व बिना केवल आत्मा के भारभूत हैं। आत्मानुशासन मे कहा है :—

शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुसाम्।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसयुक्तम् ॥

अर्थ—क्रोधादि का उपशम ज्ञान चारित्र और तप का आचरण ये सब सम्यक्त्व के बिना आत्मा को पाषाण के समान भार भूत हैं। जब आत्मा मे सम्यक्त्व गुण उत्पन्न हो जाता है तब वे ही महामणि के समान पूज्य (प्रशस्त) हो जाते हैं।

णगरस्स जह दुवारं मुहस्स चक्खू तरुस्स जह मूलं।
तह जाण सुसम्मत्तं णाण चरण वीरिय तवाणं ॥ ७३६ ॥

अर्थ—जैसे नगर का दर्वाजा नगर में प्रवेश करने का उपाय है। वैसे ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र तप और वीर्यादि गुणों के प्रवेश करने का उपाय है। क्योंकि सम्यक्त्व के बिना सातिशय अवधिज्ञान तथा उत्कृष्ट निर्जरा का कारण यथाख्यात चारित्र सातिशय तपश्चरण और विशेष वीर्य का प्रादुर्भाव नहीं होता है। जैसे-चक्षु मुख की शोभा बढ़ाने वाली होती है। वैसे ज्ञानादि की शोभा सम्यक्त्व से होती है। बिना सम्यक्त्व के ज्ञानादि गुण मिथ्यापन से दूषित रहते हैं। सम्यक्त्व के उत्पन्न होते ही वे सब उक्त गुणों से मंडित होकर पूज्यता को प्राप्त होते हैं। जैसे वृक्ष की स्थिति का कारण मूल (जड़) होती है। वैसे ज्ञानादि गुणों की स्थिति का कारण सम्यक्त्व होता है। अर्थात् बिना सम्यक्त्व के सम्यक ज्ञानादि गुण आत्मा से निकल जाते हैं और आत्मा में मिथ्या ज्ञानादि का निवास हो जाता है। अतएव हे क्षपक तू नित्य सम्यक्त्व की आराधना में रत रह, क्योंकि—

दंसण भट्ठो भट्ठो दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झन्ति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झन्ति ॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है, वही भ्रष्ट समझा गया है। क्योंकि दर्शन भ्रष्ट जीव का निर्वाण नहीं होता है। चारित्र भ्रष्ट मोक्ष सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु दर्शन भ्रष्ट मुक्ति से वंचित रहते हैं।

सुद्धे सम्मत्ते अविरदो वि अज्जेदि तित्थयरणामं ॥
जादो दु सेणिगो आगमेसि अरुहो अविरदो वि ॥ ७४० ॥
श्रेणिको व्रतहीनोऽपि निर्मलीकृतदर्शनः।
आर्हन्त्यपदमासाद्य सिद्धिसौधं गमिष्यति ॥ ७६६ ॥

अर्थ—शुद्ध सम्यक्त्व के प्रभाव से व्रत रहित जीव भी तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करता है। संयम हीन श्रेणिक महाराज सम्यग्दर्शन की निर्मलता के कारण भविष्य काल में त्रिलोक चूडामणि अर्हन्त पद पाकर सिद्धि सौध (महल) में गमन करेंगे।

कल्याण परंपरयं लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्ता ।
सम्मद्दंसणरयणं णग्घदि ससुरासुरो लोओ ॥ ७४१ ॥

अर्थ—इस सम्यग्दर्शन को निर्मल करने से यह जीव देवेन्द्र पद, चक्रवर्तीय पद अहमिन्द्र पद और तीर्थंकर पद ऐसी उत्तरोत्तर कल्याण परम्परा को प्राप्त करता है। यह सम्यग्दर्शन इतना अमोघ अमूल्य रत्न है कि सुर और असुर सहित यह लोक भी इसके मोल की तुलना नहीं कर सकता है।

हे क्षपक! तुम समाधि मरण (रत्नत्रय पूर्वक मरण) के सम्पादन करने में प्रयत्नशील हो। इसलिए सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र और तप की आराधना में संलग्न रहो। इस आराधना की सिद्धि के लिए आराधना के नायक अर्हन्त सिद्ध परमेष्ठी तथा उनके चैत्य और प्रवचन में परम भक्ति धारण करो। यह भक्ति ही आराधना का मूल कारण है शास्त्र में कहा है :—

विधिणा कदस्स सस्सस्स जहा णिप्पादयं हवदि वासं ।
तह अरहादिग भत्ती णाणचरणदंसण तवाणं ॥ ७५१ ॥

अर्थ—विधि पूर्वक बोये हुए धान्य का उत्पादक जैसे वृष्टि या जल सिंचन है वैसे ही दर्शन ज्ञान चारित्र और तप की आराधना का निष्पादक कारण अर्हंतादि की भक्ति है।

वीएण विणा सस्सं इच्छदि सो वासमब्भएण विणा ।
आराधणमिच्छन्तो आराधनभत्तिमकरंतो ॥ ७५० ॥

अर्थ—आराधना व आराधक की भक्ति न करता हुआ जो मनुष्य दर्शन ज्ञान चारित्र तप की आराधना चाहता है वह बीज के बिना धान्य और मेघ के बिना वृष्टि की इच्छा करता है।

तात्पर्य यह है कि जिस मनुष्य के हृदय में अर्हंतादि में भक्ति नहीं है, उस का हृदय ऊसर भूमि के समान है। उस में बोया हुआ आराधना रूप बीज दर्शन ज्ञान चारित्रादि रूप सस्य (धान्य) को कभी उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता है।

जिस को चित्त भूमि मे भक्ति का स्रोत बहता है, उसको अनेक विद्याएँ सिद्ध होती हैं।

विज्जा वि भत्तिवंतस्स सिद्धिमुवयादि होदि सफला य।
किह पुण णिव्वुदिबीजं सिज्झहिदि अभत्तिमं तस्स ॥ ७४८ ॥

अर्थ—भक्ति परायण पुरुष के विद्या सिद्धि होती है। उसकी विद्या फलवती होती है। और तो क्या उसकी रत्नत्रय आराधना भी सफल होती है। जो भक्ति हीन है उस के मोक्ष के बीज भूत रत्नत्रय को क्या सिद्धि हो सकती है? अर्थात् भक्ति शून्य हृदय में रत्नत्रय की आराधना कभी नहीं हो सकती है।

तात्पर्य यह है कि रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने वाले पुरुष को अर्हतादि की भक्तिमें तन्मय रहना चाहिए। भक्ति के बिना सम्यग्दर्शनादि की आराधना आकाश पुष्प के समान असंभव है। इसलिए हे क्षपक! तुम निरन्तर अर्हतादि परमेष्ठी की भक्ति में तल्लीन रहो।

जो पुरुष अर्हतादि की भक्ति में तत्पर रहता है उसकी प्रवृत्ति णमोकार (पचपरमेष्ठी के नमस्कार) में अवश्य होती है। णमोकार से भक्तिका पोषण होता है। इसलिए—

आराधणा पुरस्सर मणण्णहिदओ निसुद्ध लेस्साओ।
संसारस्स खयकर मा मोचीओ णमोक्कारं ॥ ७५३ ॥

अर्थ—मुनिसत्तम! विषय कषायादि सब विकार भाव को हृदय से निकाल कर एकाग्रचित्त होओ। तथा कषाय की मंदता कर लेश्या को उज्ज्वल बनाकर ससार का क्षय करने वाले आराधना के अग्रेसर णमोकार मन्त्र को मत छोड़ो। इसका निरन्तर चिन्तन करो।

मरण के अवसर में श्रवण गोचर हुआ णमोकार मंत्र सद्गति का कारण होता है। देखो, मरणोन्मुख हुए कुत्ते ने जीवन्धर स्वामी द्वारा कान में सुनाये गये णमोकार मन्त्र को सुनकर देव गति प्राप्त की। और अन्तर्मुहूर्त में पूर्ण यौवनावस्था को प्राप्त हो तत्काल आकर उसी जगह मृत कुत्ते के शव के समीप बैठे हुए श्री जीवन्धर स्वामी की पूजा की।

दृढ़ सूर्य नामक चोर मरण समय णमोकार मन्त्र का स्मरण कर महर्धिक देव हुआ, यथा :—

दढसुप्पो सूलहदो पंचणमोक्कारमेत्त सुदणाणे।
उवजुत्तो कालगदो देवो जाओ महड्ढीओ ॥ ७७३ ॥

अर्थ—सूली पर लटकाया गया दृढ़शूर्प नाम का चोर पंच नमस्कार मात्र श्रुत ज्ञान में उपयोग रखता हुआ उस पंच नमस्कार मंत्र के प्रभाव से इस शरीर का त्याग कर महर्द्धिक देव हुआ। इसलिए हे साधो! पंच परमेष्ठी का नमस्कार स्वर्गादि की दिव्य सुख सामग्री देता है और परम्परा मोक्ष सुख को देने वाला है। इसलिए हे भाई! इस अपूर्व समाधिमरण के समय इसे किसी प्रकार मत भूलो। अन्य विषयों के स्मरण करने का यह समय नहीं है, अतएव सावधान होकर अर्हंतादि के नाम का स्मरण और उनके स्वरूप का चिन्तन करो।

निर्यापकाचार्य उक्त रीति से अनेक प्रकार उपदेश देकर उसको सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्र और तपश्चरण में सावधान करते हैं

संथारत्थो खवओ जइया खीणो हवेज्ज तो तइया।
वोसरिदव्वो पुव्वविधिणेव सो पाणगाहारो ॥ १४६२ ॥

अर्थ—सस्तर पर सोये हुए क्षपक का शरीर जब क्षीण हो जावे तब पहले वर्णन की गई जो तीन प्रकार के आहार करने की विधि उसके अनुसार पानक आहार का त्याग भी क्रम से करना चाहिए। अर्थात् पानक आहार द्रव्य के छह भेद पहले बताये गये हैं, क्षपक के बलाबल को देखकर आयुर्वेद के नियमों को ध्यान में रखते हुए क्रम से उनका त्याग करवाने में निर्यापकाचार्य को सावधान रहना योग्य है।

प्रश्न—वैयावृत्य करने वाले यति और निर्यापकाचार्य को क्षपक के शारीरिक पीड़ा उत्पन्न होने पर उसका प्रतिकार करने के लिए वैद्य की सम्मति लेकर औषधि की योजना करने का शास्त्रीय मत क्या है?

उत्तर—वैद्य के आदेशानुसार क्षपक के रोग का प्रतीकार प्रासुक द्रव्यों से अवश्य करना चाहिए। इसके लिए भगवती आराधना में निम्नोक्त आज्ञा है।

तो तस्स तिगिंछा जाणएण खवयस्स सव्वसत्तीए।
विज्जादेसेण वसे पडिकम्मं होइ कायव्वं ॥ १४६७ ॥
णाऊण विकारं वेदणाए तिस्से करेज्ज पडियारं।
फासुगदव्वेहिं करेज्ज वायकफपित्तपडियारं ॥ १४६८ ॥

अर्थ—प्रतिचारक यति व निर्यापकाचार्य (जो रोग की चिकित्सा, रोग का निदान व उसकी निवृत्ति का उपाय जानता है) को स्वयं अथवा वैद्य के उपदेश के अनुसार क्षपक के रोग का प्रतीकार प्रासुक औषध द्रव्यों के द्वारा अवश्य करना चाहिए। क्षपक के वात पित्त व

कफ का प्रतीकार साधु के योग्य निर्दोष द्रव्य से करना निर्यापकाचार्य व परिचारक मुनियों का परम कर्त्तव्य है।

प्रश्न—क्षपक के रोग का प्रतीकार करने के लिए निर्यापकाचार्य व परिचारक किन २ उपायों का आश्रय ले सकते हैं ?

वत्थीहिं अवदवणतावणेहिं आलेवसीदकिरियाहिं।
अब्भंगणपरिमद्दण आदीहिं तिगिंछदे खवयं ॥ १४६६ ॥

अर्थ—वस्ति कर्म (मल मूत्राशय में वत्ती करना-इनीमा करना) गर्म करने के लिए तपाना, औषधि का लेप करना, प्रासुक शीत जलादि का सेवन कराना, अग दबाना, शरीर मर्दन करना इत्यादि वैयावृत्त्य प्रासुक द्रव्यों द्वारा निर्यापक मुनि व धर्म परायण श्रावक क्षपक की वेदना निवारण करने के लिए करते हैं।

भावार्थ—जितने भी उचित उपाय रोग जन्य पीड़ा शमन करने के आयुर्वेद में बताये गये हैं, उन सब का प्रयोग कर क्षपक की शारीरिक वेदना का शमन करने में परिचारक प्रमाद नहीं करते हैं। किन्तु वे सब प्रासुक व मुनि के सेवनीय पदार्थों का ही सेवन कराते हैं अप्रासुक द्रव्यों का परित्याग और प्रासुक उचित द्रव्यों का ही उपयोग करते हैं।

प्रश्न—यथाशक्ति भरसक उपाय करने पर भी तीव्र वेदनीय कर्म के उदय से बाह्य उपचार कृतकार्य नहीं होते हैं। अर्थात् अनेक उपचार करने पर भी किसी के रोग की शान्ति नहीं होती है। और किसी के बाह्य उपायों से वेदना का प्रतीकार हो जाता है। इससे कर्मोदय की विचित्रता प्रकट सिद्ध होती है। कहा भी है :—

कस्यचित् क्रियमाणेऽपि बहुधा परिकर्मणे।
पापकर्मोदये तीव्रे न प्रशाम्यति वेदना ॥ १५६० ॥

उस समय मे अथवा-भूख प्यास आदि परिषहों से पीड़ित होकर क्षपक व्याकुल चित्त या चेष्टाहीन (मूर्छित) हो जाता है। कभी कभी तीव्र वेदना से अति पीड़ित परीषहों से घबराकर आपे से बाहर हो जाता है। ऊटपटांग बकने लगता है। कभी रात्रि भोजन-पानादि सयम विरुद्ध क्रिया करने के लिए भी उतारू हो जाता है उस समय निर्यापकाचार्य किस उपाय से उसको शान्त करते हैं ?

उत्तर—उस समय आचार्य बाह्य उपायों की ओर से उपेक्षा दृष्टि न रखते हुए भी उनसे अपनी मनोवृत्ति को हटाकर अन्तरग

औषध उपदेशामृत का पान कराते हैं। उसके स्वरूप का भान कराते हैं। उसके निज की महत्ता का स्मरण दिला कर उसके हृदय में आत्म-सम्मान का भाव जाग्रत करते हैं। तथा उसको अनेक प्रकार से धैर्य बंधाते हैं।

कोसि तुमं किं णामो कत्थ वससि को व संपही कालो।
किं कुणसि तुमं कहवा अत्थसि किं णामगो वाहं ॥ १५०५ ॥

हे क्षपकोत्तम! हे आत्म-कल्याण के इच्छुक! स्मरण करो! तुम कौन हो? तुम्हारा नाम क्या है? तुम कहां वसते हो? इस समय कौन सा काल है? अर्थात् अभी रात है या दिन? तुम क्या काम कर रहे हो? तुम क्या चाहते हो? मेरा नाम क्या है? इस प्रकार निर्यापकाचार्य क्षपक से बार बार पूछते हैं।

भावार्थ—दयालु आचार्य क्षपक की सावधानता या असावधानता की परीक्षा करने के लिए उससे अति प्रेम से भरे अनेक प्रश्न करते हैं। कोई क्षपक आचार्य महाराज के इस प्रकार पूछने पर सचेत हो जाता है और अपनी अवस्था पर विचार करता है कि मैंने संन्यास मरण प्रारम्भ किया है, मेरा इस समय क्या कर्त्तव्य है। ये परम दयालु आचार्य महाराज मेरे हित के लिए कितना कष्ट सहन कर रहे हैं। धन्य है इन दयालु महापुरुषों को, जो इतना काय क्लेश उठाकर मेरे कल्याण के अर्थ उद्योग कर रहे हैं। ऐसा चिन्तन कर शुभ ध्यान मे लीन होता है। कोई क्षपक आचार्य द्वारा अनेक बार सचेत करने पर चैतन्य को प्राप्त होकर तीव्र वेदना व क्षुधादि की दुस्सह परिषह उपसर्ग के सहन न कर सकने के कारण तीव्र अशुभ कर्म के वश पुनः अचेत (बेहोश) हो जाता है, तथापि परोपकार में तत्पर आचार्य महाराज उदासीनता धारण नहीं करते हैं। उसको पुनः कोमल शब्दों से प्रेम पूर्ण वाक्यों से पुनः सावधान करने का पूर्ण उचित उपाय करते हैं। उसे आराधना का स्मरण दिलाते हैं। तथा चार प्रकार के आहार की याद दिलाते है।

कोई सचेत हुआ भी, होश में आया हुआ भी, कर्म के उदय से परिषहो के क्लेश से संतप्त हुआ अयोग्य वचन बोलने लगता है। प्रतिज्ञा भंग करने पर उतारू हो जाता है, रुदन करने लगता है। तथापि आचार्य उसका तिरस्कार नहीं करते हैं। उसके प्रति कटु वचन का प्रयोग नहीं करते हैं। उसके प्रति आचार्य के हृदय मे पूर्ण सहानुभूति का वेग हो आता है और उसके कल्याण के लिए अधिक तत्परता दिखाते हैं।

विचक्षण बुद्धि, शक्ति शाली, धैर्य धुरन्धर आचार्य महाराज क्षपक को प्रेम पूर्ण कर्ण-प्रिय शिष्ट और मिष्ट आनद बढ़ाने वाले वचन उच्चारण करते हैं। जिनका श्रवण करते ही क्षपक का सर्व दुःख निवारण हो जाता है। आचार्य धीरे २ समझाकर वचन बोलते हैं। शीघ्रता नहीं करते हैं।

हे चारित्र धारक मुने। सचेत होवो। ख्याल करो, तुमने चार प्रकार के संघ के समक्ष महा प्रतिज्ञा धारण की है कि मैं मरण पर्यन्त आराधना का सेवन करूंगा, रत्नत्रय का निर्दोष पालन करूंगा, इस प्रतिज्ञा का स्मरण करो। अब क्या तुम भूल गये हो ?

हे धीर वीर ! 'मैं अवश्य शत्रु का पराजय करूंगा' ऐसी जनता के समक्ष जिसने दृढ प्रतिज्ञा की है, ऐसा कौन स्वाभिमानी वीर पुरुष शत्रु के निकट आने पर डर कर पलायमान होगा। कुलीन, शूर-वीर, पुरुष-सिंह, शत्रु को पीठ दिखाने की अपेक्षा समरांगण मे प्राणो का त्याग करना ही सर्व श्रेष्ठ समझता है। वैसे ही हे धीर मुने ! तुमने सम्पूर्ण संघ के समक्ष प्रतिज्ञा की है कि कठिन परीषह व घोर उपसर्ग के आने पर भी परित्यक्त आहारादि पदार्थों को अङ्गीकार नहीं करूंगा। मरणान्त विपत्ति आने पर भी प्रतिज्ञात व्रत नियमो का यथावत् पालन करूंगा। हे मुने ! क्या ऐसी प्रतिज्ञा लेकर स्वाभिमानी साधु कष्टों से घबराकर कायरता धारण करेगा। अपनी प्रतिज्ञा का भंग करेगा ? हे संयमिन ! वह कदापि अपने स्वाभिमान व वचन का भंग न करेगा। वह मरण को तुच्छ समझ अपने यश का विनाश न होने देगा। लज्जास्पद जीवन को अधम मनुष्य ही अच्छा समझता है। गौरव शाली मानव-पुंगव लज्जा युक्त जीवन से मृत्यु को ही उत्तम मानकर प्राणपण से अपना प्रतिज्ञा का पालन करता है।

हे मुने ! तुमतो महान् शूर वीर हो। क्या कायरता धारण करना शूर वीर पुरुषो को शोभा देता है ? शूर वीर पुरुषो के तो युद्धस्थल मे शत्रु की ललकार सुनकर पाव उठते हैं। वे प्रसन्न चित्त होकर अपनी वीरता दिखाने के लिए बड़ी उत्सुकता से सम्मुख गमन करते हैं। तथा शरीर मे जीवन ज्योति की किरण के प्रकाश मान न होते हुए कदापि रणांगण से पश्चात्पद नहीं होते हैं। हे शूर वीर मुने ! तुम तो महान् वीर और धीर हो। तुमको इन आगत परीषह व उपसर्ग का वीरता के साथ सामना करना चाहिए। तुम अनन्त शक्ति के धारक त्रैलोक्य साम्राज्य के अधिपति चैतन्य हो। ये जड़ तुम्हारे सामने कैसे ठहर सकते हैं। ये तो तुम्हे अपने कर्त्तव्य से च्युत करने के लिए तुमको त्रिजगत्पति बनने के कृत्य मे बाधा डालने के लिए शत्रुता कार्य कर रहे हैं। इसलिए यदि इस समय तुमने कायरपना धारण कर लिया तो तुम इन लुटेरों से लूट लिये जावोगे। ये तुम्हारे रत्नत्रय के भंडार को छीन लेंगे। और अपरिमित काल के लिए तुम्हें शक्ति हीन दरिद्री बना देंगे अतः यह तुम्हारे सावधान रहने का समय है।

हे मुने ! अपने कुल के, अपने गण के, तथा संघ के यश को उज्ज्वल बनाने वाले का जीवन मनुष्य समाज मे ही नहीं, देवों से भी पूज्य होता है। इसलिए तुम कुल, गण और संघ की लज्जा का ख्याल रखो। उस को मलिन कर जीवन धारण करना क्या उचित प्रतीत होता है ? तुम्हारे सरीखे महात्मा क्या ऐसे निन्दनीय कार्य कर सकते हैं ? अतएव हे मुनिश्रेष्ठ अब सावधान होकर अपने प्रतिज्ञात कर्त्तव्य का स्मरण करो।

सं. प्र.

कितने ही महापुरुष समस्त परिग्रहो का परित्याग कर अपने आत्मा के स्वरूप मे आपा धारण कर उपसर्गादि की परवाह न कर आपत्तियों को निमन्त्रण देने के लिए, अनेक विपत्तियो का आह्वान करने के लिए, सिंह-व्याघ्र-सर्प-दुष्ट हिंस्र तिर्यंच, मनुष्य और देवकृत तथा अचेतन कृत उपसर्गों से व्याप्त भयानक कानन मे, पर्वत की गुफाओ मे व शिखरो पर और श्मशानो मे जाकर निवास करते हैं। वहा पर ध्यान धरते हैं। वहा पर एकाकी रहकर उत्तमार्थ (रत्नत्रय) की आराधना मे कटिबद्ध रहते हैं। वे महात्मा अतिशीघ्र रत्नत्रय की पूर्णता कर परम सद्गति को प्राप्त करते हैं।

हे मुने! तुम्हारे समीप तो अनेक परिचारक मुनिराज वैयावृत्त्य करने मे सदा तत्पर रहते हैं। तुम को क्या इस समय धैर्य धारण करना उचित नही है? अन्य मुनि अनेक घोर उपसर्ग सहकर जो वस्तु प्राप्त करते हैं वह वस्तु तुम्हें थोडे से धैर्य धारण करने से, आत्मा मे सावधानी रखने से प्राप्त हो सकती है। इसलिए इस समय गाफिल मत रहो। पूर्ण सावधान होकर अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने मे दत्तचित्त हो जाओ।

हे क्षपकोत्तम! जिन्होने अलौकिक धैर्य धारण किया है, जिनके चारित्र मे लेशमात्र भी दूषण का सम्पर्क नहीं हुआ है, तथा जिन्होने श्रुतज्ञान का अवलम्बन लिया है ऐसे महामुनीश्वर जगली हिंसक पशुओ की तीक्ष्ण दाढ़ मे पहुंचकर भी उत्तमार्थ जो रत्नत्रय है उसकी सिद्धि करलेते हैं। वे प्रातः स्मरणीय महात्मा निम्नोक्त प्रकार हैं—

उपसर्गों से विचलित न होने वाले महामुनियों के कुछ उदाहरण

भल्लकिए तिरत्तं खज्जंतो घोरवेदणट्टो वि।
आराधणं पवण्णो ज्झाणेणावंतिसुकुमालो ॥ १५३९ ॥ [भग आ.]

भावार्थ—जिन अपूर्व पुण्यशाली पुरुष पुगव ने महलों मे भी मखमली गलीचो को छोडकर भूमिपर पाव नहीं रखा था, दिव्य रत्नों के दीपको की ज्योति के सिवा किसी दीपक के प्रकाश को नेत्रों से नहीं देखा था, सदा शीतल छाया मे ही अपना जीवन विताया था, कभी सूर्य तक का अवलोकन नहीं किया था, रात भर कमल के मध्य मे वासित उत्तम चॉवलों के अतिरिक्त कठोर पदार्थ का भोजन नहीं किया था, सरसो के दाने जिनके कमल सम कोमल शरीर मे शूल समान गड़ते थे, वे अवन्ति सुकुमाल मुनिराज देवोपम सब सुखों पर लात मारकर सब ऐश्वर्य का परित्याग कर वन मे कायोत्सर्ग कर आत्म-ध्यान मे आरूढ़ थे। उनके शरीर को तीन रात लगातार नोच २ कर शृगाली भक्षण करती रही। उनके अग प्रत्यग मे भयानक वेदना हो रही थी तथापि वे धीर वीर अवन्ति सुकुमाल महामुनि रत्नत्रय की

आराधना मे संलग्न रहे। शुभ ध्यान से रंचमात्र विचलित नहीं हुए। अन्ततक अपने शुभ ध्यान मे मग्न रहे और उन्होने उत्तमार्थ की सिद्धि की।

मोग्गिलगिरिम्मि य सुकोसलो सिद्धत्थदइय भयवंतो ।
वग्घीए वि खज्जंतो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५४० ॥ [भग आ]

अर्थ—मुद्गलनाम के पर्वतपर ध्यानारूढ सिद्धार्थ नृपतिके पुत्र सुकोशल महामुनिराज को उनके पूर्वभव की माता के जीव व्याघ्री ने भक्षण किया, तो भी उन महामुनीश्वर ने अपने शुभ ध्यान का त्याग न कर उत्तमार्थ (रत्नत्रय) की सिद्धि की। परम धेय के धारक मुनिपुंगव ने तिर्यंचकृत घोर उपसर्ग पर विवेकज्ञान बल से विजय प्राप्तकर अपने स्वार्थ की (आत्मकार्य रत्नत्रय की) प्राप्ति करली।

भूमीए समं कीलाकोट्टिददेहो वि अल्लचम्म व ।
भयवं पि गयकुमारो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५४१ ॥ [भग आ.]

अर्थ—भगवान गजकुमार मुनिराज को भूमिपर गिराकर उनके शरीर मे कीलें ठोककर गीले चर्म के समान भूमिपर निश्चल किया था, भूमि और शरीर को एक कर दिया था। ऐसे भयकर दुष्ट मनुष्यो से किये गये रोमाचकारी उपसर्ग को शान्ति मे सहकर उन धीर वीर आत्म ध्यानी मुनिराज ने उत्तमार्थ (रत्नत्रय) की प्राप्ति की थी। वे शुक्ल ध्यानाग्नि से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर मुक्ति साम्राज्य के अधिकारी बने।

हे मुने। जो गृहस्थावस्था मे चक्रवर्ती थे, वे सनत्कुमार नामा महामुनि सौ वर्ष पर्यन्त खाज, ज्वर, खासी, आमरोग, भस्मक-व्याधि, नेत्ररोग, उदरपीडा आदि उग्र रोग जनित तीव्र वेदना का सहन करते रहे। रंचमात्र सक्लेश परिणाम न कर ध्यान मे मग्न रहे। धैर्यावलम्बन लेकर अपने उत्तमार्थ की सिद्धि मे लगे रहे।

हे साधो। गङ्गा नदी के मध्य नाव मे डूबते हुए एणिक पुत्र मुनिराज ने शरीर के मोह का परित्याग कर आर्तध्यान के अवसर मे भी शुभ ध्यान धारण कर चार आराधनाओं को प्राप्त करते हुए मरण किया।

घोर अवमौदर्य तपश्चरण करते हुए भद्रबाहु मुनिराज तीव्र क्षुधा की पीडा से पीडित होने पर भी लेशमात्र सक्लेश परिणाम के वशीभूत नहीं हुए। शान्तभाव से शुभ ध्यान मे मग्न रहकर रत्नत्रय की प्राप्ति की।

कोसंबीललियघडा वूढा णइपूरएण जलमज्झे ।
आराधणं पवण्णा पावोवगदा अमूढमदी ॥ १५४५ ॥ [भग आ]

अर्थ—कौशाम्वी नगरी में ललितघट नाम से प्रसिद्ध इन्द्रदत्तादि बत्तीस महासम्पत्तिशाली श्रावक यमुना नदी के प्रवाह मे डूब कर भी सक्लेश परिणाम रहित प्रायोपगमन संन्यास धारण कर उत्तमार्थ को प्राप्त हुए।

चम्पानगरी के बाहर गङ्गा के तट पर धर्म घोप नामा महामुनि एक मास के उपवास धारण कर भयानक तृपा की वेदना से पीड़ित होने पर भी सक्लेश भाव रहित होकर उत्तमार्थ (आराधना सहित) मरण को प्राप्त हुए।

हे क्षपक ! श्री दत्त नामक मुनिराज के पूर्वभव के वैरी किसी देव ने विक्रिया द्वारा शीतल जल की वृष्टि व शीतल वायु उत्पन्न करके उन महामुनि को घोर क्लेश दिया। किन्तु वे महामुनि सक्लेश भाव रहित हुए उत्तमार्थ की साधना मे ही रत रहे।

श्री वृपभसेन महामुनि ने अत्युष्ण वायु तथा अत्यन्त उष्ण शिलातल और सूर्य के प्रखर किरण सताप से उत्पन्न हुई उष्ण परीपह का सहन कर सक्लेश परिणाम न करते हुए उत्तमार्थ की साधना की।

रोहेडयम्मि सत्तीए हओ कोंचेण अग्गिदइदो वि ।
तं वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५४६ ॥ [भग आ]

अर्थ—रोहेडग नगर में कौंच नाम के राजा ने अग्निराजा के पुत्र कार्तिकेय मुनिराज को शक्ति नाम के शस्त्र विशेष से मारा था। उस समय मुनिराज ने लेश मात्र भी परिणामो मे विकार भाव उत्पन्न नहीं किया। शान्त परिणाम से उस उपसर्ग को सहकर उत्तमार्थ का साधन किया।

हे मुने ! काकदी नाम की नगरी मे चंडवेग नाम के एक दुष्ट राजपुत्र ने अभयघोप मुनिराज के समस्त अगो को काट डाला। तथापि उन महामुनि ने रचमात्र रोप नहीं किया। किन्तु साम्य-भावना से उस रोमाचकारी दुःख को सहन कर रत्नत्रय की आराधना मे तन्मय रहे।

विद्युच्चर नामा चोर डास और मच्छरो से भक्षण किया गया किन्तु वह उनकी तीव्र वेदना को सक्लेश भाव रहित साम्य भावना से सहकर उत्तमार्थ (आत्म कल्याण मार्ग) को प्राप्त हुआ।

हस्तिनापुर के स्वामी गुरुदत्त नाम के मुनिराज द्रोणमति पर्वत पर तपस्या कर रहे थे। किसी दुष्ट नरपिशाच ने सवलिस्थाली के समान उनके मस्तक पर अग्नि जलाई थी। मिट्टी के पात्र मे हरे नाज की बालें भर कर उस पात्र के मुख पर आक के पत्ते भर देते हैं। पश्चात् उस पात्र को ओंधा भूमि पर रख कर उसके चारो तरफ अग्नि जला कर बालें भुनते है। उसे सवलिस्थाली कहते हैं। इस प्रकार उन मुनिराज के मस्तक पर अग्नि जला कर घोर उपसर्ग किया गया था। किन्तु वे मुनिराज तीव्र वेदना से सक्लेश भाव को प्राप्त न होकर साम्य भावना भाते हुए आराधना के फल को प्राप्त हुए।

किसी पूर्वभव के वैरी ने चिलातपुत्र नामक मुनिराज पर शस्त्र प्रहार किया। इसमे उनके शरीर पर अनेक घाव हो गये। पश्चात् उनके शरीर को स्थूल मस्तक वाली काली चींटियो ने खाकर चलनी के समान छिद्रमय कर दिया था। किन्तु उन धीर वीर महामुनिराज ने सुनने मात्र से रोमाच उत्पन्न करने वाली घोर वेदना को शान्ति से सहा और आराधना का निर्विघ्न साधन किया। अर्थात् रत्नत्रय की आराधना से रचमात्र भी नही टले।

दण्डनाम के मुनिराज पर यमुनावक्र नाम के किसी पापी पुरुष ने वाणो की वृष्टि करके उनका सम्पूर्ण शरीर वाणो से बींध दिया, तथापि उन मुनिराज ने रत्नत्रय की आराधना की, अपने समाधि मरण को नहीं विगाडा।

अभिणंदणादिया पंचसया णयरम्मि कुंभकारकडे।
आराधणं पवण्णा पीलिज्जंता वि यंतेण ॥ १५५५ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—कुभकारकट नाम के नगर मे अभिनदनादि पाच सौ मुनिराजों को घानी (कोल्हू) में डालकर पील दिया। लेकिन वे मुनिराज रत्नत्रय आराधना से विचलित न हुए।

गोठान (गायो के गृह) मे चाणक्य मुनि ने प्रायोपगमन सन्यास धारण कर रखा था। सुबधु नामा मत्री उनका शत्रु था। वहा कडों की राशि थी। उसमे आग लगा कर उसमे चाणिक्य मुनि को डालकर जलाया। किन्तु वे मुनिराज अपने सन्यास मरण से चलायमान नहीं हुए। साम्यभाव धारण कर रत्नत्रय को निर्मल वनाये रखा।

इसी प्रकार कुणाल नामक नगर के वहिर्भाग में अनेक शिष्य वर्ग के साथ वृषभसेन नामा मुनिराज ठहरे हुए थे। रिष्ट नामक राजमत्री ने आग लगाकर उनको दग्ध किया, किन्तु उन सव मुनिराजो ने उस उपसर्ग का सहन किया। रत्नत्रय आराधना मे वाधा न आने दी अर्थात् रत्नत्रय का त्याग नहीं किया।

जदिदा एव एदे अणगारा तिव्ववेदणट्टा वि।
एयागीऽपडियम्मा पडिवण्णा उत्तमं अट्ठं ॥ १५५८ ॥ [भग आ]

अर्थ—आगम प्रसिद्ध जगद्विख्यात पूर्वोक्त मुनीश्वरों ने अति घोर वेदनाओ से पीड़ित होकर भी उनका प्रतीकार नहीं किया। उनका कोई सहायक नही था। उनका वैयावृत्त्य करने वाला एक भी मुनि पास मे नहीं था। कोई वैद्य उनकी चिकित्सा करने वाला नही था। उनपर दुष्ट वैरियो ने रोमाचकारी उपसर्ग किये। जिनको सुनकर आत्मा काप उठता है। उन्हे अग्नि से दग्ध किया, शस्त्र से छिन्न भिन्न किया, कोल्हू मे पीला, कई पवर्तो से गिराये गये। दुष्ट तिर्यचो ने उनके शरीर का शनैः शनैः नोच नोच कर भक्षण किया-प्राण रहित किया तथापि उन्होने साम्य भाव का त्याग नहीं किया। आराधना के पालने मे वे शिथिल नहीं हुए। अपने आत्म-कल्याण के मार्ग से तनिक भी नहीं हटे।

हे क्षपकोत्तम! तुम्हारे तो अनेक सहायक हैं। वैयावृत्त्य परायण परम दयालु धैर्य के धारक तुम्हारे कल्याण के अभिलाषी हितोपदेश के देने मे उद्यमी समस्त आचार्यादि वैयावृत्त्य करने मे औषधि आदि का उपचार मे तन मन से लगे हुए हैं। समस्त सघ सम्पूर्ण उचित उपायो द्वारा तुम्हारे सुख व शान्ति की प्राप्ति मे लगा हुआ है। तुम्हारे ऊपर तो कोई तीव्र उपसर्गादि भी नहीं आया है। ऐसे सर्वानुकूल सामग्री के रहते हुए सुवर्णसम अवसर मे तुम आराधना ग्रहण करने मे क्यो शिथिल हो रहे हो? भो मुने! अब तुम को सम्भलना चाहिए। इसी अवसर के लिए तुमने कठिन मुनिव्रत धारण किया था। अनेक प्रकार के क्लेशो का सहा था। अब समय पर तुम क्यो कायरता धारण कर रहे हो? यह कायरता का समय नही है। धैर्य धारण करने और थोडा सा साहस रखने से तुम अपने इष्ट कल्याण को प्राप्त कर सकते हो। अत. अब सावधान होकर इस नश्वर शरीर के मोह का त्याग कर अपने आत्मा की सुध लो। आराधना देवी की भक्ति करो। इसमे ही तुम्हारा कल्याण है।

जिणवयणममिदभूदं महुर कण्णाहुदिं सुणंतेण।
सक्का हु संघमज्झे साहेदुं उत्तमं अट्ठं ॥ १५६० ॥ [भग. आ]

अर्थ—हे मुने! अमृत स्वरूप तथा मधुर कर्ण को तृप्त करने वाले जिनेन्द्र देव के वचनो का श्रवण समस्त संघ के मध्य तुम्हें प्रतिदिन मिलता रहा है। इसलिए इस सघ मे तुम को उत्तमार्थ (रत्नत्रय का आराधन) की सिद्धि कोई कठिन नहीं है।

हे क्षपक! यहा तुमको क्या दु.ख है जो तुम इतने शिथिल हो रहे हो?

नरकादि गतियों में भोगे हुए दुखों का दिग्दर्शन कराते हुए क्षपक का सम्बोधन

णिरयतिरिक्खगदीसु य माणुसदेवत्तणे य संतेण
जं पत्तं इह दुक्खं तं अणुचिंतेहि तच्चित्तो ॥ १५६१ ॥ [भग आ.]

अर्थ—हे साधो ! संसार में भ्रमण करते हुए तुमने नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति में जो दुःख भोगे हैं उनको चित्त लगाकर सुनो। ऐसा कोई दुःख बाकी नहीं रहा है, जिसको तुमने पहले संसार में नहीं सहा है। निरन्तर जलने वाली अग्नि में अनन्त बार दग्ध होकर तुम भस्म होते रहे। अनन्त बार जल में डूब डूब कर मरे। अनन्त बार पर्वत से गिर गिर कर तुम्हारे शरीर का चूर्ण हुआ। अनन्त बार कूपादि में गिर गिर कर मृत्यु को प्राप्त हुए। तथा तालाब में, समुद्र में और अनन्त बार नदी के प्रवाह में बह बहकर मरे। अनन्त बार शस्त्रों से विदारण किये गये। अनन्त बार कोल्हू में पीले गये। अनन्त बार दुष्ट तिर्यंच पशुओं से खाये गये। अनन्त बार पक्षियों से नोच नोच कर भक्षण किये गये। अनन्त बार चक्की में पीसे गये। सेंके गये। भुने गये। रांधे गये। कड़ाही में तले गये। इसी प्रकार तुम अनन्त बार भूख की तीव्र वेदना सहकर भूख के मारे बिलबिला कर मरे हो। अनन्त बार प्यास के मारे तड़फ २ कर मरे हो। अनन्त बार शीत की वेदना से सुकड़ २ कर तुमने प्राण गंवाये हैं। अनन्त बार उष्ण (गर्मी) की वेदना से छटपटाकर बुरी तरह मृत्यु पाई है। अनन्त बार वर्षा की बाधा से सड़ सड़ कर मरे हो। अनन्त बार पवन की पीड़ा से प्राणों का त्याग कर चुके हो। अनन्त बार विष भक्षण से शरीर और प्राणों का नाश हुआ है। अनन्त बार निरुपाय व्याधि की कठोर वेदना से मरे हो। अनन्त बार भय से व्याकुल होकर मरे हो। अनन्त बार शोक से झुर झुर कर मरे हो। अनन्त बार सिंह व्याघ्रादि तथा सर्पादि द्वारा मारे गये हो तथा दुष्ट जीवों से विदारण किये गये हो। अनन्त बार चोरों के द्वारा किये गये उपद्रव से, अनन्त बार भीलादि जगली जाति के मनुष्यों से तथा कोतवालादि एवं धर्म हीन दुष्ट राजाओं से, म्लेच्छ मनुष्यों से तुम अनन्त बार मारे गये हो। यह शरीर आयु पूर्ण होने पर किसी न किसी निमित्त से अवश्य नष्ट होता रहा है और अब भी अवश्य नष्ट होगा। अब इस अवसर पर मरण के भय से या वेदना के भय से संक्लेश भाव धारण कर रत्नत्रय की विराधना करना किसी प्रकार भी उचित नहीं है। अति भयानक दुःखों को सहते सहते तो अनन्त काल बिताया और अब संसार पार करने का अवसर मिला है, उसमें किंचिन्मात्र वेदना के प्राप्त होने पर संसार सागर से उद्धार करने वाले परम धर्म का आश्रय छोड़ देना कहां की बुद्धिमानी है ?

जदि कोइ मेरुमेत्तं लोहुण्डं पक्खविज्ज णिरयम्मि ।
उण्हे भूमिमपत्तो णिमिसेण विलेज्ज सो तत्थ ॥ १५६२ ॥ [भग आ]

अर्थ—हे क्षपक ! कोई देव या दानव उष्ण नरक मे मेरु समान लोहे का पिण्ड ऊपर से गिरा दे तो वह नरक भूमि पर गिरने के पूर्व ही नरक बिलों की उष्णता से क्षण मात्र मे पिघल कर बह जाता है।

तह चेव य तद्देहो पज्जलिदो सीयणिरय पक्खित्तो।
सीदे भूमिमपत्तो खिमिसेण सडिज्ज लोहखण्डं ॥ १५६४ ॥ [भग आ]

अर्थ—यदि वही नरक की उष्णता से पिघला हुआ लोहे का पिंड कोई देव या दानव इकट्ठा करके शीत नरक मे फेंक दे तो वह शीत नरक के बिलो की भूमि को प्राप्त करने के पहले ही मार्ग म बिलो के शीत से टुकडे टुकडे होकर बिखर जाता है।

हे क्षपकोत्तम ! वहा नरक भूमि मे लोहे से निर्मित मण्डप मे अतितप्त हुई अग्नि समान लाल वर्ण की लोहे की पुतलियां रहती है। तुमको उनके साथ बलात्कार से आलिंगन करवाया गया है। उस समय जो तुम्हें दु सह दु ख हुआ था, उसका स्मरण करो। तथा तुमको अनेक बार अत्यन्त क्षाररसयुक्त अग्नि से तप्तायमान कडुवारस पिलाया गया था, उसका तो ध्यान करो।

हे साधो ! वहा पर तुमको यत्र द्वारा मुख फाडकर बलात्कार से लोहे के जलते हुए अगारे खिलाये गये थे, तुमको कडाही मे पूरी कचोरी के समान तला था—उसका तो ख्याल करो।

नरक मे सब नारकी एक दूसरे के शत्रु होते हैं। वे परस्पर दु ख देने मे तत्पर रहते हैं। वे बाण, चक्र, तलवार, छुरी, करौंत, भाला, शूली, गदा आदि शस्त्र रूप बन जाते हैं। तथा कुत्ता बिल्ली भेडिया सिंह व्याघ्र सर्पादि दुष्ट तिर्यंच बन जाते है। कोई नारकी पर्वत बनकर दूसरे नारकी पर गिर पड़ता है। कोई नारकी करौत बनता है और दो न रकी करौत उठाकर दूसरे नारकी के शरीर को कतरते हैं। इसी प्रकार एक दूसरे को दुःख देने मे सहायक होते है। वहा पर ऐसे क्लेश तुमने अनन्त बार सहे हैं।

हे साधो ! नरक मे तुम्हारी आँखें निकाल ली गई थीं तथा तुम्हारी जीभ खींचकर बाहर निकाल ली गई थी। उस समय जितना घोर दुःख तुम्हें हुआ था, उसको सोचो।

हे क्षपक ! नरक मे तुम्हें अनेक प्रकार कुभीपाक मे पकाया गया था। तथा शूली मे पिरोकर अग्नि मे सेका था। भाड मे डालकर तुम्हें चने के समान भुना था। तुमको भात के समान बटलोई मे उबाला था। मास के टुकड़े के समान तेरे टुकडे २ किये गये थे। और आटे के समान तुम्हें घानी मे पीसा था।

हे मुने ! तुम नरक में पाक में [illegible] किये गये थे। शरीर में कई बार चीरे गये थे। कुल्हाड़ी [illegible] से काटे गये थे और तुम्हारे से तुम्हारा कचूमर निकाला था—उनको तो याद करो।

नरक में तुझे पाश में बांधकर ऊपर से [illegible] पर [illegible] पटके गये थे। और [illegible] [illegible] में तुझे औंधा गाड़ दिया था। वहां पर तुझे घसीटा था। तेरे शरीर को नमाकर तोड़ दिया था। [illegible] को पार से [illegible] करके तुझे चीर डाला था। तेरा शरीर खंडित किया गया था। लोहे के तिकोने [illegible] पर [illegible] गया था। [illegible] शरीर पर नारकी सारे चूर्ण का जल सींच कर ऊपर से छुआ करते थे। उनके [illegible] शक्ति नामक शस्त्र से [illegible] हुए थे ऐसी लाठियों से लोट पोट किये थे, कुचल गये थे। उससे तेरे शरीर में [illegible] की धारा बह रही थी। [illegible] गया था। पेट फूट गया था। अन्दर की आतड़ियां बाहर निकल आई थीं। [illegible] अन्दर सतत हो रहा था। [illegible] चूर्ण हो गया था। ऐसे भयानक दुःख तू नरक में अनेक बार भोग आया है। उसका चिन्तन कर। उन दुःख के मारे तेरे शरीर का अवयव कांपता था। तू दुःख से थर थर कांप रहा था। उन दुःखों के सामने हे [illegible] ! यह दुःख कुछ भी नहीं है।

हे श्रमणोत्तम ! तुमने अपूर्व पुण्य के उदय से मनुष्य जन्म पाया और [illegible] उसमें भी उत्तम संयम का पालन किया और अन्त में सर्वश्रेष्ठ समाधिमरण को भी स्वीकार किया। [illegible] तुम्हारे पूर्व संचित कर्म के उदय से किंचित वेदना आगई। जिससे तुम अपने परम पुनीत धर्म से चलायमान हो रहे हो। [illegible] समान धैर्यशाली शूर वीर पुरुष पुंगवों को शोभा देने वाला [illegible] है? [illegible] किया तुम्हारे [illegible] को मलिन करने वाली है। इस आत्मा के विनाशकारी कायरपन का त्याग कर सावधान होओ और [illegible] की रक्षा करो। [illegible] सम्भालो।

देखो, तुमने अनन्त काल तक इस धर्म के [illegible] में भ्रमण किया उसमें अनन्त बार तिर्यंच गति भी पाई। उनके दुःखों का किंचिन्मात्र वर्णन करते हैं, उसे तुम सावधान होकर सुनो। इन दुःखों को तुम अपनी आत्मा से प्रत्यक्ष कर रहे हो।

तिरियगदिं अणुपत्तो भीममहावेदणाउलमपारं ।
जम्मणमरणरहट्टं अणंतखुत्तो परिगदो ज ॥ १५८१ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—भयानक तीव्र वेदनाओं से व्याकुल, जिसका पार पाना अति कठिन है ऐसी तिर्यंच गति को प्राप्त हुआ तू [illegible] को

स प्र.

घड़ियों के समान लगातार जन्म मरण को प्राप्त होता रहा। उसके दु:खो का भी तू विचार कर, स्मरण कर, चिन्तन कर। अपने दोषों का स्मरण करने से गुणों की वृद्धि व प्राप्ति होती है। इसलिए अपने दोषो का स्मरण कर। देखो तिर्यंचगति प्राप्त करके तूने पृथिवीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, और वनस्पतिकाय एवं त्रसकाय मे जन्म धारण किया है।

हे क्षपक! मनुष्य शीत की बाधा होने पर निर्वात स्थान का आश्रय लेते हैं। गर्मी से पीड़ित होने पर उसका निवारण करने के लिए शीत जल मे स्नान करते हैं, ठडा पानी पीते हैं। भय उत्पन्न होने पर भय रहित स्थान का सहारा लेते हैं। द्वीन्द्रियादि त्रस जीव भी उक्त बाधाओ से बचने का यथोचित उपाय करने मे समर्थ होते हैं। परन्तु एकेन्द्रिय जीवों मे ऐसा सामर्थ्य नहीं होता है।

जैसे वैराग्य परायण मुनीश्वर सब प्रकार के उपसर्ग बाधाए स्वतत्र होकर सहते हैं, वैसे एकेन्द्रिय जीव परकृत व प्रकृति जन्य उपसर्ग बाधाओं को परतन्त्र हुए सह लेते हैं।

द्वीन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय जीव गाय बैल भैंस घोडे हाथी आदि पशुओं के पैर तले दब कर तथा गाड़ी रथ मोटर आदि वाहनो के नीचे कुचले जाकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

पचेन्द्रिय पशु पक्षी भी भूख प्यास शीत उष्ण का असह्य दुःख भोगते हैं। एक प्राणी का दूसरा प्राणी भक्षण कर लेता है। कई अधम मनुष्य प्राणी भी इनका घात करते हैं। इन दीन हीन प्राणियो का सहार कर कई अपने उदर-दानव की बलि चढ़ाते हैं। कई शरीर बल से तथा कई अन्य राज्यादि के ऐश्वर्य में उन्मत्त होकर इन दीन अशरण निहत्थे जीवो के प्राणो से क्रीडा कर प्रसन्न होते हैं, अपने निशाने के लक्ष्य बनाकर आनन्दित होते हैं। इन जीवो पर विपत्ति आने पर इनके माता पिता बान्धव मित्रादि सब दूर भाग जाते हैं। इनके शरीर मे रोग व्याधि आदि उत्पन्न होने पर कोई उनके दुःख का प्रतीकार नहीं करता है। उनको एकाकी असह्य होकर सब क्लेश स्वय भोगना पड़ता है। उनको छेदन भेदन ताडन बन्धन मोचन शीत उष्ण वृष्टि पवनादि जन्य जो २ दुःख सहन करने पड़ते हैं, वे वचनातीत हैं। उनको केवली भगवान के सिवा अन्य जानने मे असमर्थ हैं।

हे क्षपक! ऐसे दु:खों को अनन्त काल तक तूने भोगे हैं। निगोद में तू अनन्त काल तक निवास कर चुका है। निगोद ही तेरा सदा का निवास है। त्रस पर्याय तो प्रवास के समान है। जैसे कोई मनुष्य किसी निमित्त से विदेश मे प्रवास करता है और महीने दो महीने भ्रमण कर अपने घर पर वापिस लौट जाता है, वैसे ही यह अपने निगोद निवास से निकलकर किसी पुण्य कर्म के योग से त्रस पर्याय मे प्रवास करने के लिए आता है और कुछ (पूर्व कोटि पृथक्त्व) अधिक दो हजार सागर तक त्रस पर्याय मे भ्रमण कर पुनः

अपने निगोद रूप घर मे वापिस लौट जाता है। फिर वहां से अनन्त काल तक निकलना नहीं होता है। वहा पर वह एक श्वास मे अठारह बार जन्म मरण करता रहता है। वहा जो दु.ख होता है वह नरक के दुःखों से अनन्त गुणा दुःख है। उस दु ख को इस जीव ने अनन्त काल पर्यन्त सहा है। हे क्षपक! वहा पर तुम्हारा कोई भी सहायक नहीं था। अब तुम इस अल्प कालीन किंचिन्मात्र दुःख से इतने अधीर हो रहे हो। हे तत्त्वज्ञ मुने! अब सावधान होकर थोड़ा विचार करो और अपने कल्याण के मार्ग से मत गिरो।

मनुष्य गति में प्राप्त दुःख

दीणत्तरोसचिंतासोगामरिसग्गिपउलिदमणो जं।
पत्तो घोरं दुक्खं माणुसजोणीए संतेण ॥ १५६१ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—मनुष्य पर्याय मे अपने प्राणो से अधिक प्यारे पुत्रादि का, धन वैभव का वियोग जन्य दु.ख भोगा है। जिसका स्मरण मात्र करने से हृदय के टुकडे २ हो जाते हैं ऐसा दुःख अनन्त बार भोगा है। जिनका नाम मात्र सुनने से मस्तक मे शूल के समान वेदना होने लगती है, ऐसे अप्रिय महान् दुष्ट प्राणियों के सयोग से तुझे अनन्त बार घोर दुःख व सन्ताप हुआ है। अभीष्ट (वाछित) पदार्थ की प्राप्ति न हो सकने के कारण मनमें जो सन्ताप होता था उसके दु:ख का सहन भी तुमने किया है। सेवकपने मे पराधीन होकर, स्वाभिमान के नाशक अपमान जनक दुर्वचन सुनकर जो तुमको अन्त.करण मे दु ख हुआ है उसका हे मुने! तुम स्मरण करो। मनुष्य जन्म पाकर कभी तुम दीन हुए तब दीनता व दरिद्रता का मर्मभेदी दु ख तुमने पाया। कभी रोष उत्पन्न हुआ, कभी चिन्ता-ज्वाला मे तुम जलते रहे। कभी शोकाग्नि से झुलसते रहे। कभी असहनशीलता के कारण दुःख दावानल मे दग्ध होते रहे। ऐसे ही अनेक मानसिक वेदना से तुम रात दिन व्याकुल होकर दु.खो को सहन करते रहे हो, उनका चिन्तन करो। अब हे मुने! इस साधारण शारीरिक वेदना से क्या घबरा रहे हो? यह साहस धारण करने का समय है। इसलिए सावधान होकर अपने धर्म व कर्त्तव्य को सम्भालो।

मनुष्य गति मे इस जीव ने चारित्र मोहनीय कर्म से प्रेरित होकर किसी प्रकार का अपराध किया तब राजा ने तथा राजमत्री ने या राज्याधिकारी कोतवाल आदि ने तीव्र दण्ड दिया। बैंतों से तथा चाबुको से पीटा। इस जीवका मुण्डन कर अपमानित किया। अनेक प्रकार के लाछन लगा कर अपमानित किया। राजा ने सर्वस्व अपहरण किया। चोर डाकुओं ने धन का अपहरण किया। कोई आततायी दुष्ट मनुष्य भार्यादि का अपहरण करते हैं। अग्नि दाह से धनादि का विनाश हो जाता है। कभी प्रकृति के प्रकोप से भूकम्प, जल की अथाह वृष्टि आदि

से गृह धनादि का विध्वस होता है तब जीव को जो मानसिक व्यथा उत्पन्न होती है, उस दु.ख का भी तुमने अनेक बार अनुभव किया है। जिसका श्रवण करने से रोमाच उत्पन्न हो जाते हैं, उन दुःखो के सामने तुम्हारा यह स्वल्प दु.ख क्या चीज है। हे क्षपक! उनपर विचार तो करो।

मनुष्य गति मे भी विरोधी मनुष्य लाठियों से मार मार कर शरीर का कचूमर निकाल देते हैं। तलवार से सिर काट देते हैं। छुरा भोंक कर आतड़िया निकाल लेते हैं। अग्नि मे जला देते हैं। पानी मे डुबोते हैं। पर्वतादि से पटक कर शरीर के टुकडे २ कर देते हैं। मस्तक पर अग्नि जलाते है। अग्नि से तपे हुए लोहे के लाल सुर्ख गहने पहना कर दग्ध करते हैं। बदूक और तोपो से उड़ा देते हैं। बम गिराकर प्राणो का सहार करते हैं। धन सम्पत्ति गृह द्वारादि सब वस्तुओं का देखते देखते विनाश कर देते है। जहा स्वर्ग तुल्य दिव्य नगर था, उसे श्मशान तुल्य बना देते है। जो पूर्व क्षण मे सुन्दर लहलहाता हुआ हरा भरा पुष्प फलों से परिपूर्ण नन्दन वन सा उपवन था, उसे दूसरे क्षण मे भयानक जगल बना देते हैं। जो राजा था, उसका सर्वस्व नाशकर भिखारी बना देते हैं। असहाय और पुत्रादि से पृथक् कर बन्दीगृह की नरक समान यातना भोगने के लिए विवश करते हैं। वहा पर वह भूख प्यास ताडन बध बन्धनादि के असह्य दुःखो को भोगते भोगते मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। हे मुने! ऐसे दुःख यह सदा भोगता रहा है। उनको ध्यान मे लावो और सावधान होकर आत्मा का चिन्तन करो।

कण्णोट्ठसीसणासाछेदणदंताण भंजणं चेव।
अप्पाडणं च अच्छीण तहा जिब्भायणीहरणं ॥ १५६५ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—हे क्षपक! इस मनुष्य गति मे तुम्हारे कान काट लिये गये थे। होठों का छेदन किया गया था। छुरे से नाक उतारली गई थी। मस्तक तोड दिया गया था। दात तोडे गये थे। आखें निकाल ली गई थीं, फोडदी गई थीं। जीभ खींची गई थी। उनसे जो तुम्हें दुःख उत्पन्न हुआ था, उसके सामने यह दु.ख कितना सा है? हे क्षपक! तुम उनका चिन्तन करो।

हे मुने! तुम अनेक विष के प्रयोग से मरे हो। अग्नि काण्ड से जलकर मरण को प्राप्त हुए हो। अनेक शत्रु के द्वारा हनन किये गये हो। अनेक बार सर्प के द्वारा डसे गये हो। अनन्त बार सिंह व्याघ्र स्याल रीछ आदि दुष्ट हिंसक जन्तुओं के द्वारा भक्षण किये गये हो और नाना प्रकार के शस्त्रो के आघात से तुम मारे गये हो। उन दु खो को तुमने कई बार सहा है। हे क्षपक! अब इस थोडे से दुःख को सहने मे कायरता क्यों दिखा रहे हो? तुम समान शूरवीर आत्मज्ञानी महापुरुषों को ऐसी कायरता दिखाना क्या योग्य है? अब धैर्य और साहस का आश्रय लो और सावधान होकर इस परम उत्कृष्ट समाधिमरण को सुधारो। तुमने पूर्वकाल मे परवश होकर तो पूर्वोक्त भारी २ दुःख सहे हैं। उनस तुम्हें सिवा क्लेश के और नवीन कर्म बन्ध के कुछ हाथ नहीं लगा। इस समय तुम स्वतन्त्रता से इन आगत दु.खों को

शान्ति से सह लोगे तो तुम्हें इस समय भी क्लेश न होगा और पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होगी तथा नवीन कर्मों का संवर होगा। इसके फल स्वरूप तुम्हारा आत्मा सदा के लिए सुखी हो जावेगा। सम्पूर्ण कष्टों का संहार होगा और अनन्त काल तक शान्ति और नित्य आनन्द का अनुभव करोगे।

देवगति के दुःखों का वर्णन

हे क्षपक ! देवगति मे तुमने शारीरिक दुःखों की अपेक्षा आत्मा को दुःखाग्नि मे सतत जलाने वाले मानसिक संताप का बार बार अनुभव किया है।

सरीरादो दुक्खादो होइ देवेसु माणस तिव्वं ।
दुक्खं दुस्सहमवसस्स परेण अभिजुज्जमाणस्स ॥ १५९८ ॥
देवो माणी संतो पासिय देवे महड्ढिए अण्णे ।
जं दुक्खं संपत्तो घोरं भग्गेण माणेण ॥ १५९९ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—जब अल्प पुण्य के धारक आभियोग्य जाति के देव को महर्धिक-अधिक पुण्यशाली-देव वाहन बनाता है—उसे अश्व हस्ती बनाकर जब उसपर सवार होता है तब उस देव को जो मानसिक संताप होता है, वह असह्य होता है। वह दुःख तथा अन्य मनुष्यगति के दुःखो से—शारीरिक दुःखो से—बहुत अधिक होता है। एक स्वाभिमानी देव के जब दूसरे देव को अधिक ऋद्धिशाली, अनेक सुन्दर २ अप्सराओ के साथ, नाना प्रकार के वैभव के साथ क्रीडा करते देखकर जो मानसिक पीड़ा होती है, वह मरण के दुःख से भी अत्यधिक होती है। अणिमा गरिमादि अनेक ऋद्धियों और नाना प्रकार के विभूतिशाली देव के सम्मुख हीनशक्ति के धारक देव का गर्व जब चूर चूर हो जाता है, उस समय उसके अन्तःकरण के भी टुकड़े २ हो जाते हैं। देवगति मे वह दुःख बड़ा संताप उत्पन्न करने वाला होता है।

देवगति मे जब तुम्हारे गले मे यमराज (मृत्यु) का पाश आ गिरता है तो छह महीने पहले माला मुर्झाने लगती है। स्वर्ग के दिव्य कल्प वृक्षो से प्राप्त सुख सामग्री का, परम सुन्दरी देवांगनाओं के संयोग का जब त्याग करना पड़ा है, उस समय तुमको जो हृदय-विदारक दुःख हुआ है, हे मुने ! उसका विचार करो।

उस देवगति मे जब तुम्हारी आयुष्य समाप्त होने वाली थी उस समय वहा से चय कर जब तुम को गर्भ मे जन्म लेने का आभास हुआ था, तब तुमको कितना दुःख हुआ था ? उस समय तुमने संताप किया था कि मुझे महा दुर्गन्धमय गर्भ मे निवास करना

पड़ेगा और गर्भावस्था में अति दुर्गन्ध युक्त पदार्थ का आहार करना पड़ेगा। क्षुधा तृषादि की मुझे असह्य पीड़ा होगी। नवमास पर्यन्त माता के उदर में निरन्तर अग्नि की ज्वाला में पचता रहूंगा। माता खारा व चरपरा पदार्थ भक्षण करेगी, वह मेरे कोमल शरीर में भयानक वेदना उत्पन्न करेंगे। हाय! मैं देव पर्याय में अत्यन्त सुखी और पवित्र रहा हूं। अब मुझे अति दुःखी और महा अपवित्र विष्टाघर के समान उदर में एक दो दिन नहीं, नव मास पर्यन्त औंधे लटके रहना पड़ेगा। हाय! अब मैं क्या करूं? यह आगामी निकट समय में आने वाली विपत्ति कैसे टल सकती है? ऐसा विचार करते समय जो तुम्हें दुःख प्राप्त हुआ, उसका हे क्षपक! तुम विचार तो करो।

इस प्रकार हे मुने! चतुर्गति के दुःखों को तुमने सहा है, उनका अनन्तवां भाग भी यह दुःख नहीं है। हे आत्म ज्ञानिन्! इस समय तुम विवेक ज्ञान को जागृत करो। उसका उपयोग करो। यह दुःख उन दुःखों के सामने कुछ नहीं सा है। इससे घबराकर अपने कल्याणकारी मार्ग से च्युत होना तुम सरीखे समझदार महात्माओं को योग्य नहीं है। विपरीत समय आने पर अपने आत्मा को सन्मार्ग पर स्थित रखने वाला ही महापुरुष होता है। इस समय के लिए ही व्रतों का धारण, समिति का पालन और गुप्ति का साधन और अनेक तपश्चरण का आचरण किया जाता है। यदि इस समय तुम सावधान न रहे तो तुम्हारे व्रत नियम तपश्चरणादि उत्तम कृत्य निष्फल हो जावेंगे। इसलिए हे महात्मन्! अब सचेत हो जाओ और अपनी गति को सुधारो। तुम वीरात्मा हो, परम धैर्य के धारक हो, इस थोड़े से कष्ट से क्या घबरा गये हो?

हे मुने! जब सख्यात काल तथा असंख्यात काल पर्यन्त लगातार अति घोर दुःख नरकादि गतियों में परतन्त्रता से तुमने सह लिये हैं। तो अब स्वाधीनता से यह अत्यल्प कष्ट थोड़े समय के लिए भी तुम से सहन नहीं होते हैं क्या? उन दुःखों का तो निराकरण करने के लिए तुम्हारे पास कोई साधन नहीं था। इस समय तो दुःख घटाने का असली साधन तुमको प्राप्त है। उस साधन का उपयोग कर शान्ति का अनुभव करो।

प्रश्न—वह साधन कौनसा है। जिससे क्षुधा तृषादि की वेदना भी शान्त हो जावे?

क्षुधादि वेदनाओं को शान्त करने के साधन

सुदपाणएण अणुसट्ठिभोयणेण य मदोवगहिएणु।
उज्झाणोसहेण तिव्वा वि वेदणा तीरदे सहिदुं ॥ १६०८ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—संवेग निर्वेद उत्पन्न करने वाली, आत्म अनात्म पदार्थ का भेद विज्ञान कराने वाली धर्मकथा-श्रुतज्ञान रूप अमृत-का पान करने से तथा निर्यापकाचार्य की शिक्षा-उपदेश रूप भोजन का भक्षण करने से हे क्षपक! तुम्हारे आत्मा में बल का सचार होगा। शुभ

ध्यान रूप औषधि का सेवन करने से तुमपर इस वेदना का कुछ भी असर न होगा। और तुम उसका नाश करने में समर्थ हो सकोगे।

हे श्रमणोत्तम ! जब वेदनीय कर्म का तीव्र उदय होता है, उस समय उसका प्रतीकार करने में देवादि कोई भी समर्थ नहीं होते हैं। उस समय जो वेदना होती है उसका प्रतीकार साहस और धैर्य है। साहसी और धैर्यवान् आत्मा ज्ञान रूपी शीतल जल से उस दु:ख को शान्त करता है।

हे महात्मन् ! जब वेदनीय कर्म का तीव्र उदय होता है उस समय किसी का बल काम नहीं देता है। राजा महाराजाओं के पास सेवा शुश्रूषा करने वाले तथा विद्वान् अनुभवी बड़े २ वैद्य डाक्टरों के रहते हुए, असंयम का आचरण करने पर भी वे दु:ख से मुक्त नहीं हुए। तीव्र वेदनीय कर्म का उदय आने पर सब जीव दु:ख दूर करने में असमर्थ होते हैं। इसलिए ऐसे समय श्रुतज्ञानामृत का पान करने से ही दु:ख की निवृत्ति होती है। अतएव हे क्षपक ! तुमको उसीका पान करने में सावधान होना चाहिए।

मोक्खाभिलासिणो संजदस्स णिधणगमणं पि होदि वरं।
ण य वेदणाणिमित्तं अप्पासुगसेवणं कादुं ॥ १६१३ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—हे मुने ! मोक्ष के अभिलाषी संयमी जनों का मरण को प्राप्त होना तो श्रेष्ठ है, किन्तु वेदना का उपशम करने के लिए अप्रासुक द्रव्यों का सेवन करना सर्वथा अयोग्य है। संयम धन के रक्षक साधुओं को प्रासुक औषधादि मिल सके तो वे उनका सेवन करते हैं, अन्यथा प्राण जाने पर भी संयम का त्याग नहीं करते। क्योंकि अप्रासुक औषधि का सेवन करने से संयम का नाश होता है। संयम का रक्षण भव भव में सुख का अंकुर उत्पन्न करता है। मृत्यु केवल उसी भव का घात करती है। और असंयम का आचरण अनेक भवों में सैंकड़ों व हजारों पर्यायों में दु:ख के अंकुरों का उत्पादक होता है।

इस प्रकार परम दयालु निर्यापकाचार्य के शिक्षोपदेश को पाकर क्षपक अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर साहस व धैर्य का अवलम्बन लेकर अपने आत्मा के कल्याण के निमित्त शीघ्र सचेत होता है और पूर्ण शान्ति की पताका को फहराने लगता है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य इन चार भावनाओं के चिन्तन में तत्पर होता है। जब क्षपक का शरीर अत्यन्त क्षीण हो जाता है तब वह संस्तर का भी त्याग कर देता है। किसी से वैयावृत्त्य नहीं करवाता है। अपने शरीर का भी त्याग कर देता है और आत्म-भावना में तल्लीन रहता है।

एवं सुभाविदप्पाज्झाणोवगओ पसत्थलेस्साओ।
आराधणापडाय हरइ अविग्घेण सो खवओ ॥ १६२४ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—उक्त प्रकार जिसने आत्मा को शुभ ध्यान मे लीन किया है जो शुक्ल ध्यान और शुक्ल लेश्या को प्राप्त हुआ है, वह क्षपक निर्विघ्न पूर्वक आराधना पताका को हस्त मे ग्रहण करता है। अर्थात् वह चारों आराधनाओ के फल को प्राप्त करता है।

अह सावसेसकम्मा मलियकसाया पणट्ठमिच्छत्ता।
हासरइअरइभयसोगदुगुंछावेयत्तियम्महणा ॥ १६३० ॥
पचसमिदा तिगुत्ता सुसंवुडा सव्वसंगउम्मुक्का।
धीरा अदीणमणसा समसुहदुक्खा असमूढा ॥ १६३१ ॥
सव्वसमाधाणेण य चरित्तजोगे अधिट्ठिदा सम्म।
धम्मे वा उवजुत्ता ज्झाणे तह पढमसुक्के वा ॥ १६३२ ॥
इय मज्झिममाराधणमणुपालित्ता सरीरयं हिच्चा।
हुंति अणुत्तरवासी देवा सुविसुद्धलेस्सा य ॥ १६३३ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—हे क्षपक! जिनके कर्म बाकी रह गये है, जिन्होने अनन्तानुबन्धी आदि कषायों का मथन कर दिया है, तथा मिथ्यात्व का सहार किया है और हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा पुरुषवेद, स्त्रीवेद एव नपुसकवेद का उच्छेद किया है, जिन्होने पांच समिति का पालन और तीन गुप्ति का धारण किया है, आगामी कर्मों का निराधकर सवर किया है अर्थात् सवर का कारण जो तपश्चरण और ध्यान है उसका सेवन किया है, जो मिथ्यात्व कषायादि चौदह प्रकार के अन्तरङ्ग परिग्रह और क्षेत्रादि दश प्रकार के बाह्य परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर भावनिर्ग्रन्थावस्था को प्राप्त हुए हैं, जो अनेक कष्टो के आने पर धीरज धारण करते हैं, जिनके मन मे दीनता का भाव लेशमात्र भी नहीं है, जो सुख और दुःख मे समबुद्धि रखते हैं, जो शरीर मे भी मोह नहीं रखते हैं, जो मनोयोग, वचन योग और काययोग से आत्म स्वरूप मे स्थिर रहते हैं, अर्थात जो निरन्तर चारित्राचरण मे तत्पर रहते हैं, तथा जो धर्म्यध्यान मे तथा प्रथम शुक्ल ध्यान मे और द्वितीय शुक्ल ध्यान मे रत रहते हैं, इस प्रकार मध्यम आराधना का पालन करते हुए शरीर का त्याग करने वाले मुनिराज विशुद्ध लेश्या के स्वामी बनकर अनुत्तर विमान वासी देवों में उत्पन्न होते हैं।

हे क्षपक! कल्पवासी देवो मे जन्म देनेवाले रत्नत्रय से उत्कृष्ट—रत्नत्रय का पालन करने में जो समर्थ होते हैं अर्थात् उत्तम

ध्यान और उत्कृष्ट तप का आचरण करने मे जो संयमी सदा तत्पर रहते हैं, जिनके भावो मे विशेष निर्मलता रहती है, कल्पातीत देवो मे जन्म देने वाले विशेष पुण्यास्रव की प्राप्ति जिन्होने की है वे नवग्रैवेयक और नव अनुदिश विमानों मे अहमिन्द्र होते हैं। जिस सुख का अनुभव सौधर्मादि कल्पवासी देव दिव्य देवागनाओ के साथ भोग भोगकर नित्य नन्दन वनादि के सुन्दर ललित कुजो मे विहार व क्रीड़ा करके प्राप्त करते हैं उससे भी अनन्त गुणा सुख अहमिन्द्र देवो को प्रतिसमय निरन्तर प्राप्त होता है।

हे मुनिश्रेष्ठ ! जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और यथाख्यात चारित्र मे सदा तत्पर रहते हैं तथा तपश्चरण मे उत्तरोत्तर जिनके परिणाम वृद्धिगत होते रहते हैं तथा जिन की लेश्या सतत विशुद्धता धारण करती है ऐसे क्षपक इस औदारिक शरीर का त्याग कर अणिमादि गुणों से सब से बढे चढे देवेन्द्र के अन्तिम पद को पाते हैं।

हे श्रमणोत्तम ! जिनका अन्तःकरण श्रुत की आराधना से अति निर्मल हुआ है जिन्होंने उग्रोग्रतप और उत्तमोत्तम नियम आतपनादियोग और ध्यान से अपनी आत्मा को विशेष निमल बनाया व वे धैर्यगुण के धारक आराधक लौकान्तिक देव होते हैं।

तात्पर्य यह है कि इस जगत् मे जितनी ऋद्धियॉ और इन्द्रियजन्य सुख और ऐश्वर्य सम्पदाएँ हैं वे सब निर्मल भाव के धारक क्षपक को स्वतः आकर प्राप्त होती है।

तेजोलेश्या के धारक क्षपक की आराधना को जघन्य आराधना कहते हैं। इस आराधना का सेवन करने वाले क्षपक सौधर्मादि स्वर्गों मे जन्म लेते हैं। सौधर्मादि स्वर्गों के देवों से हीन देवों मे वे कभी जन्म नहीं लेते हैं।

किं जंपिएण बहुणा जो सारो केवलस्स लोगस्स।
तं अचिरेण लहंते फासित्ता आराहणं णिखिलं ॥ १६४१ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—अधिक कहा तक कहा जावे। तीनों आराधनाओं मे से किसी भी आराधना का सेवन करने वाला महात्मा सम्पूर्ण लोक के सार भूत पदार्थों को शीघ्र प्राप्त करता है।

तात्पर्य यह है कि उत्कृष्ट आराधना का आराधक तो उसी भव मे मोक्ष के दिव्य सुख का सदा के लिए भोग करता है। मध्यम आराधना का आराधक अहमिंद्रादि महर्द्धिक देव होकर स्वर्ग के दिव्य इन्द्रिय जन्य सुखों का अनुभव कर दूसरे या तीसरे आदि भव मे मुक्ति अगना का पति होता है। जघन्य आराधना का आराधक भी कम से कम सौधर्मादि स्वर्गों मे उत्तम देव होता है और वहा पर दिव्य

देवागनाओं के साथ अनेक प्रकार ऐन्द्रियक (इद्रियजन्य) सुख भोगकर अधिक से अधिक सात आठ भवों के अनन्तर अवश्य मुक्ति को प्राप्त होता है।

हे क्षपक ! जघन्य आराधना का सेवन करने वाले भी महा पुण्यशाली होते हैं। वे सौधर्मादि स्वर्गों में उत्तम देवो में जन्म लेते हैं। वहा से शुभध्यान पूर्वक चयकर मनुष्य जन्म धारण करते हैं। मनुष्य भव में भी उन्हें सम्पूर्ण विभूतियाँ व ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं। विश्व की सुख सामग्री सदा उनके चरणों मे पडी रहती है। उस विश्व-विभूति का भी त्याग कर मुनि धर्म का आचारण करते हैं और तपस्वाध्याय में मग्न रहते हैं। परिग्रह और उपसर्ग आने पर उनसे विचलित नहीं होते, किन्तु उनका धैर्य के साथ हृदय से स्वागत करते हैं। वे कभी श्रद्धा, सवेग और वैराग्य से नहीं डिगते हैं।

उनमें से कई क्षपक तो उसी मनुष्य भव मे यथाख्यात चारित्र और शुक्लध्यान से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर चतुर्गति के भ्रमण जाल से निकलकर मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

कई क्षपक मनुष्य भव मे अनेक दुर्धर तपश्चरण का आराधन कर स्वर्गलोक में महर्द्धिक देव होते हैं और वहा पर चित्त रंजन करने वाले दिव्य भोगो को भोगते हैं। मनोविनोद की अपूर्व सामग्री के अनुभव करने मे तल्लीन रहते हैं। वहा से आयुष्य को सुख पूर्वक बिताकर शान्ति से देव पर्याय छोड़कर पुनः मनुष्य जन्म पाते हैं। वहा पर चक्रवर्ती उत्तम विभूति के धारक होते हैं। अनेक मनोवांछित सुखों का अनुभव कर उसको नि.सार समझ मुनिदीक्षा ग्रहण करते है। तथा अनेक दुष्कर तप का आचरण कर शुक्ल ध्यानाग्नि से घाति व अघाति कर्मों को दग्ध कर शिवरमणी के रसिक होते हैं।

एवं संथारगदो विसोधइत्ता वि दंसणचरित्तं।
परिवडदि पुणो कोई झायंतो अट्टरुद्दाणि ॥ १६४६ ॥
ज्झायंतो अणगारो अट्टं रुद्दं चरिमकालम्मि।
जो जहइ सयं देहं सो ण लहइ सुग्गदिं खवओ ॥ १६४७ ॥ (भग. आ)

अर्थ—कई साधु संसार के सब विषयभोग का परित्याग कर निर्ग्रन्थावस्था धारण कर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का निर्विघ्न आराधन करने के लिए सस्तार का आश्रय लेते हैं और सम्यग्दर्शन व चारित्र की विशुद्धि करने पर भी पूर्व कर्म के भार से अन्त समय आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान में प्रवृत्त होकर अपने शुद्ध स्वरूप से भ्रष्ट होते हैं।

ध्यान और उत्कृष्ट तप का आचरण करने मे जो संयमी सदा तत्पर रहते हैं, जिनके भावो से विशेष निर्मलता रहती है, कल्पातीत देवो मे जन्म देने वाले विशेष पुण्यास्रव की प्राप्ति जिन्होने की है वे नवग्रैवेयक और नव अनुदिश विमानों मे अहमिन्द्र होते हैं। जिस सुख का अनुभव सौधर्मादि कल्पवासी देव दिव्य देवागनाओ के साथ भोग भोगकर नित्य नन्दन वनादि के सुन्दर ललित कुजो मे विहार व क्रीडा करके प्राप्त करते हैं उससे भी अनन्त गुणा सुख अहमिन्द्र देवो को प्रतिसमय निरन्तर प्राप्त होता है।

हे मुनिश्रेष्ठ ! जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और यथाख्यात चारित्र मे सदा तत्पर रहते हैं तथा तपश्चरण मे उत्तरोत्तर जिनके परिणाम वृद्धिगत होते रहते हैं तथा जिन की लेश्या सतत विशुद्धता धारण करती है ऐसे क्षपक इस औदारिक शरीर का त्याग कर अणिमादि गुणों से सब से वढे चढे देवेन्द्र के अन्तिम पद को पाते हैं।

हे श्रमणोत्तम ! जिनका अन्तःकरण श्रुत की आराधना से अति निर्मल हुआ है जिन्होंने उग्रोग्रतप और उत्तमोत्तम नियम आतपनादियोग और ध्यान से अपनी आत्मा को विशेष निमल बनाया है वे धैर्यगुण के धारक आराधक लौकान्तिक देव होते हैं।

तात्पर्य यह है कि इस जगत् मे जितनी ऋद्धियाँ और इन्द्रियजन्य सुख और ऐश्वर्य सम्पदाएँ हैं वे सब निर्मल भाव के धारक क्षपक को स्वतः आकर प्राप्त होती हैं।

तेजोलेश्या के धारक क्षपक की आराधना को जघन्य आराधना कहते हैं। इस आराधना का सेवन करने वाले क्षपक सौधर्मादि स्वर्गों मे जन्म लेते हैं। सौधर्मादि स्वर्गों के देवों से हीन देवों मे वे कभा जन्म नहीं लेते हैं।

किं जंपिएण बहुणा जो सारो केवलस्स लोगस्स।
तं अचिरेण लहंते फासित्ता आराहणं णिखिलं ॥ १९४१ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—अधिक कहा तक कहा जावे। तीनों आराधनाओ मे से किसी भी आराधना का सेवन करने वाला महात्मा सम्पूर्ण लोक के सार भूत पदार्थों को शीघ्र प्राप्त करता है।

तात्पर्य यह है कि उत्कृष्ट आराधना का आराधक तो उसी भव मे मोक्ष के दिव्य सुख का सदा के लिए भोग करता है। मध्यम आराधना का आराधक अहमिंद्रादि महर्द्धिक देव होकर स्वर्ग के दिव्य इन्द्रिय जन्य सुखों का अनुभव कर दूसरे या तीसरे आदि भव मे मुक्ति अगना का पति होता है। जघन्य आराधना का आराधक भी कम से कम सौधर्मादि स्वर्गों मे उत्तम देव होता है और वहा पर दिव्य

देवागनाओ के साथ अनेक प्रकार ऐन्द्रियक (इद्रियजन्य) सुख भोगकर अधिक से अधिक सात आठ भवों के अनन्तर अवश्य मुक्ति को प्राप्त होता है।

हे क्षपक ! जघन्य आराधना का सेवन करने वाले भी महा पुण्यशाली होते हैं। वे सौधर्मादि स्वर्गों में उत्तम देवो मे जन्म लेते हैं। वहा से शुभध्यान पूर्वक चयकर मनुष्य जन्म धारण करते हैं। मनुष्य भव में भी उन्हें सम्पूर्ण विभूतियाँ व ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं। विश्व की सुख सामग्री सदा उनके चरणों में पडी रहती है। उस विश्व-विभूति का भी त्याग कर मुनि धर्म का आचारण करते हैं और तपस्वाध्याय मे मग्न रहते हैं। परिषह और उपसर्ग आने पर उनसे विचलित नहीं होते, किन्तु उनका धैर्य के साथ हृदय से स्वागत करते हैं। वे कभी श्रद्धा, सवेग और वैराग्य से नहीं डिगते हैं।

उनमें से कई क्षपक तो उसी मनुष्य भव में यथाख्यात चारित्र और शुक्लध्यान से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर चतुर्गति के भ्रमण जाल से निकलकर मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

कई क्षपक मनुष्य भव मे अनेक दुर्धर तपश्चरण का आराधन कर स्वर्गलोक में महर्द्धिक देव होते हैं और वहा पर चित्त रंजन करने वाले दिव्य भोगो को भोगते हैं। मनोविनोद की अपूर्व सामग्री के अनुभव करने मे तल्लीन रहते हैं। वहा से आयुष्य को सुख पूर्वक विताकर शान्ति से देव पर्याय छोडकर पुनः मनुष्य जन्म पाते हैं। वहां पर चक्रवर्ती उत्तम विभूति के धारक होते हैं। अनेक मनोवांछित सुखों का अनुभव कर उसको नि सार समझ मुनिदीक्षा ग्रहण करते हैं। तथा अनेक दुष्कर तप का आचरण कर शुक्ल ध्यानाग्नि से घाति व अघाति कर्मों को दग्ध कर शिवरमणी के रसिक होते हैं।

एवं संथारगदो विसोधइत्ता वि दंसणचरित्तं।
परिवडदि पुणो कोई झायंतो अट्टरुद्दाणि ॥ १६४६ ॥
ज्झायंतो अणगारो अट्टरुद्दं चरिमकालम्मि।
जो जहइ सयं देहं सो ण लहइ सुग्गदिं खवओ ॥ १६४७ ॥ (भग. आ)

अर्थ—कई साधु ससार के सब विषयभोग का परित्याग कर निर्ग्रन्थावस्था धारण कर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का निर्विघ्न आराधन करने के लिए सस्तार का आश्रय लेते हैं और सम्यग्दर्शन व चारित्र की विशुद्धि करने पर भी पूर्व कर्म के भार से अन्त समय आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान मे प्रवृत्त होकर अपने शुद्ध स्वरूप से भ्रष्ट होते हैं।

हे क्षपक ! जो मरण काल मे आर्त रौद्रध्यान मे प्रवृत्ति करते हैं वे क्षपक आयुष्य के पूर्ण होने पर उत्तम गति नहीं पाते हैं ।

हे मुने ! जिस साधु ने पहले अपने आत्मा को आराधना से सुसंस्कृत किया था, वह भी संस्तर पर आरूढ होकर मरण समय मे सक्लेश परिणामो के उत्पन्न होने से उत्तम मार्ग से गिर जाता है तो क्या जो पार्श्वस्थ, कुशील, ससक्त, अवसन्न और स्वच्छन्द हैं वे पतित साधु सन्मार्ग से भ्रष्ट नहीं होते हैं ? अवश्य होते हैं ।

जो मूढबुद्धि पूर्वोक्त दोषों का वमन नहीं करते हैं, दोषो को धारण किये हुए मृत्यु को प्राप्त हुए हैं वे मायाचार तथा असत्य वचन के कारण देव दुर्भगता को अर्थात् नीच देव पने को प्राप्त होते हैं ।

प्रश्न—जो मुनि संघ सेवा नहीं करते हैं समय आने पर दूसरे मुनीश्वरों की वैयावृत्त्य नहीं करते हैं वे किस गति मे जाते हैं ?

किं मज्झ णिरुच्छाहा हवंति जे सव्वसंघकज्जेसु ।
ते देवसमिदिवज्झा कप्पंति हुंति सुरमेच्छा ॥ १९५८ ॥ [भग. आ]

अर्थ—मेरा इसमें क्या प्रयोजन है ? क्या मैं ही हूं ? मुझसे तो अपना भी कार्य नहीं होता है ? मैं किस किस का काम करूं ? इस प्रकार विचार कर जो साधु सम्पूर्ण संघ का कार्य करने मे उत्साह रहित होता है, किसी रोगी वृद्ध तथा अशक्त मुनि की वैयावृत्त्य करने मे उदासीनता दिखाता है वह स्वार्थी साधु देवसभा से बहिष्कृत होता है अर्थात् वह सभा के मध्य बैठने का अधिकारी नहीं होता है । सौधर्मादि स्वर्गों के अन्त भाग मे चाण्डालादि जाति का म्लेच्छ देव होता है ।

हे मुने ! जो कन्दर्प भावना के वश होकर मरण करते हैं, वे कन्दर्प जाति के नीच देव होते हैं । असत्य निन्द्य बोलने बुलवाने मे तथा काम रति मे लीन रहने को कन्दर्प भावना कहते हैं । जो तीर्थंकरो की आज्ञा से प्रतिकूल होकर संघ का चैत्य (प्रतिमा) का और जिनागम का अविनय अनादर करते हैं मायाचार करते हैं, उनके किल्विप भावना होती है, उस भावना में जो मरण करते हैं, वे किल्विप जाति के देव होते हैं ।

हे साधो ! जो मुनि तन्त्र मन्त्रादि तथा हसी मजाक तथा व्यर्थ बकवाद एवं वाग्जालादि का उपयोग करते हैं उनके आभियोग्य भावना होती है । इस भावना से जो प्राण त्याग करते हैं वे आभियोग्य जाति के बाहन बनने वाले देव होते हैं ।

हे क्षपक ! जो क्रोधी, मानी और मायावी होते हैं, तथा तपश्चरण मे और चारित्राचरण मे संक्लेश परिणाम रखते हैं, एवं दृढ़ वैर मे जिनकी रुचि होती है उनके आसुरी भावना होती है। उस भावना से युक्त होकर जो मरण करते हैं, वे असुर जाति के देवो में जन्म ग्रहण करते हैं।

हे मुने ! जो उन्माग का उपदेश देकर सन्मार्ग का उच्छेद करते हैं, तथा सच्चे वीतराग मार्ग को बिगाड़ कर राग वर्द्धक मार्ग की तथा नवीन माग की स्थापना करते हैं, मिथ्यात्व का उपदेश देकर संसार के जीवों को मोह उत्पन्न कर विपरीत मार्ग मे प्रेरित करते हैं, उनके सम्मोह भावना होती है। उस भावना से युक्त होकर जो मरण करते हैं वे सम्मोह जाति के देवो मे जन्म धारण करते हैं।

जे सम्मत्तं खवया विराधयित्ता पुणो मरेज्जएह ।
ते भवणवासिजोदिसभोमेज्जा वा सुरा होंति ॥ १९६३ ॥ भग. आ.

अर्थ—हे मुने ! जो क्षपक सम्यक्त्व की विराधना करके मरण करते हैं वे भवनवासी व्यन्तर अथवा ज्योतिष देव होते हैं। वे इन भवनत्रिक देवो मे ही जन्म लेते हैं और वहा से आयुष्य पूर्ण कर वहा से चयकर सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान से हीन हुए दुःख वेदना की लहरें जिसमें सतत उठा करती है ऐसे ससार सागर मे भ्रमण करते हैं।

हे क्षपक ! जो साधु मिथ्यात्व को प्राप्त होकर जिस लेश्या मे मरण करते हैं परभव मे उसी लेश्या के धारक होते हैं।

प्रश्न—जो साधु समाधिमरण से प्राण छोडता है उसके शरीर की क्या व्यवस्था होती है।

एव कालगदस्स दु सरीर मंतोवहिज्ज वाहिं वा ।
विज्जावच्चकरा तं सयं विकिंचति जदणाए ॥ १९६६ ॥ भग आ

अर्थ—जब क्षपक पूर्वोक्त सन्यास विधि से मरण करता है तब वैयावृत्त्य करने वाले साधु उसके शरीर को जो गाव मे अथवा बाहर की वसतिका मे पड़ा रहता है, यत्न पूर्वक ले जाते हैं।

भावार्थ—जो क्षपक गुरु के निकट आलोचना से लेकर निस्तरण पर्यन्त सम्यक् प्रकार सम्यक्त्वादि चार आराधनाओं का सेवन कर पवित्र हुआ है उसका शरीर नगर के भीतर किसी वसतिका मे हो अथवा बाहर किसी जगह वसतिका मे पडा हो उसे वैयावृत्त्य करने

वाले मुनीश्वर आगे कही जाने वाली विधि से यत्न पूर्वक ले जाते हैं।

क्षपक की निषीधिका

जहा क्षपक का मृत शरीर स्थापना करते हैं उसको निषीधिका (निषद्या) कहते हैं।

प्रश्न—साधु की निषीधिका कैसी होती है ? उसके लिए जिन २ बातों पर अवश्य ध्यान रखा जाना चाहिए उन सबको सक्षेप से समझाने का अनुग्रह कीजिए।

उत्तर—जहा पर साधु के मृत शरीर को रखते हैं, वह (निषीधिका) स्थान उद्देही (चींटी आदि) से रहित निश्छिद्रतादि गुणो सहित होना चाहिए। उसके लिए कहा है—

> अभिसुआ असुसिरा अघसा उज्जोवा वहुसमा य असिणिद्धा।
> णिज्जंतुगा अहरिदा अविला य तहा अणाबाधा ॥ १६६९ ॥
> जा अवर दक्खिणाए व दक्खिणाए व अथ व अवराए।
> वसधीदो वणिज्जदि णिसीधिया सा पसत्थत्ति ॥ १९७० ॥ भग आ.

अर्थ—क्षपक की निषीधिका उद्देहियो से रहित होनी चाहिए। भूमि में नीचे छेद या बिल न होने चाहिए। धसी हुई न होनी चाहिए। प्रकाश सहित तथा समतल धरा पर होनी चाहिए। भीगी तथा जन्तु सहित न होनी चाहिए। हरितांकुर रहित, तिरछे बिल रहित और बाधा रहित होनी चाहिए।

निषीधिका किस दिशा में होनी चाहिए

वह नैऋत्य दिशा मे, दक्षिण दिशा मे या पश्चिम दिशा मे प्रशस्त मानी गई है। पूर्वाचार्यों ने उक्त दिशाओ में ही क्षपक को निषीधिका योग्य बताई है।

प्रश्न—नैऋत्यादि दिशा मे ही क्षपक की निषीधिका प्रशस्त और पूर्वादि दिशाओ मे क्यों अपशस्त मानी गई है। उनका (प्रत्येक दिशा सम्बन्धी निषीधिका का) शुभाशुभ फल क्या है ?

सव्वसमाधी पढमाए दक्खिणाए दु भत्तगं सुलभं।
अवराए सुहविहारो होदि य उवधिस्स लाभो य ॥ १९७१ ॥
जदि तेसिं वाधादो दट्ठव्वा पुव्वदक्खिणा होइ।
अवरुत्तरा य पुव्वा उदीचि पुव्वुत्तरा कमसो ॥ १९७२ ॥
एदासु फलं कमसो जाणोज्ज तुमंतुमा य कलहो य।
भेदो य गिलाणं पि य चरिमा पुण कड्ढदे अण्णं ॥ १९७३ ॥ भग. आ.

अर्थ—नैऋत्य दिशा की निपीधिका सम्पूर्ण संघ की समाधि (शान्ति) की सूचक होती है। दक्षिण दिशा की निपीधिका से सर्व सघ के लिए आहार की सुलभता का सूचन होता है। पश्चिम दिशा सम्बन्धी निपीधिका संघ का सुख पूर्वक विहार और पुस्तकादि उपकरणों की प्राप्ति को प्रकट करती है।

इन दिशाओ मे निपद्या बनवाने मे यदि कोई बाधा उपस्थित होती हो तो आग्नेय, वायव्य, ऐशान पूर्व व उत्तर इन पाच दिशाओं मे से जिसमे भी सुविधा हो उसमे बनाना चाहिए।

परन्तु इन आग्नेयादि पाच दिशाओं मे निपद्या करने का फल अच्छा नहीं है। आग्नेयदिशा की निपद्या से सघ मे तू तू, मैं मैं होती है। अर्थात् तू ऐसा है, मैं ऐसा हूं, ऐसी स्पर्द्धा होती है। वायव्य दिशा की निपद्या से सघ में कलह उत्पन्न होता है। पूर्व दिशा की निपद्या से सघ मे फूट पड़ती है। उत्तर दिशा की निपीधिका से व्याधि उत्पन्न होती है। और ऐशान दिशा की निपद्या से सघ में खेंचातानी होती है या किसी मुनि का मरण होता है। अर्थात् आग्नेयादि पाच दिशाओं का फल उत्तरोत्तर अधिक २ अशुभ है। इसलिए इन दिशाओ मे जहा तक बन सके क्षपक की निपीधिका न करनी चाहिए। पूर्वोक्त नैऋत्य, दक्षिण या पश्चिम इन दिशाओं मे ही करनी चाहिए।

क्षपक के मृत्यु समय की क्रियाएँ

प्रश्न—क्षपक के मरण समय मे कोई विशेष कर्त्तव्य होता है क्या ?

उत्तर—हा, क्षपक का मरण होने पर निम्नप्रकार क्रिया की जाती है।

जं वेलं कालगदो भिक्खू तं वेलमेव णीहरणं।
जग्गणबंधणछेदणविधी अवेलाए कादव्वा ॥ १९७४ ॥ भग आ.

जिस समय क्षपक का मरण हुआ हो, उसी समय उसका शव लेजाना उचित है। यदि साधु का मरण रात्रि आदि अवेला (असमय) मे हुआ तो उस समय जागरण बन्धन और छेदन ये तीन विधि करना चाहिए।

प्रश्न—इन तीन विधियों को कौन करते हैं?

उत्तर—जो धीर वीर मुनि सघ मे होते हैं, वे ही इन विधियो को करते हैं। कहा है—

बाले वुड्ढे सीसे तवस्सिभीरूगिलाणय दुहिदे। भग. आ
आयरिए य विकिंचिय धीरा जग्गंति जिदणिद्दा ॥ १९७५ ॥

अर्थ—सघ मे जो बालक मुनि, वृद्ध मुनि, शिष्य मुनि (शैक्ष) तपस्वी, भीरु (भय युक्त) रोगी, दु ख पीडित और आचार्य इनको छोड कर जो धैर्य धारक मुनि होते हैं और जिन्होने निद्रा पर विजय पाया है वे मुनि ही जागरण करते हैं। अर्थात् रात्रि आदि असमय मे क्षपक का मरण हो जावे तब धीरता के धारक तथा निद्रा को जीतने वाले आत्मबली मुनि ही शव के समीप रहकर जागरण करते हैं।

प्रश्न—कौन मुनि किस अवयव का बन्धन व छेदन करते हैं।

उत्तर—जिन मुनियों ने आगम के रहस्य को भलीभाति जान लिया है तथा अनेक बार क्षपक के कृत्यों (वैयावृत्य सम्बन्धी कार्यों) का निर्वाह किया है और जो शारीरिक बल, आत्म बल एव धैर्य के धारक हैं ऐसे साधु श्रेष्ठ क्षपक के हाथ तथा पाव और अगूठे के कुछ भाग को बाधते हैं अथवा छेदन करते हैं।

प्रश्न—यदि क्षपक के शव की उक्त बन्धनादि क्रिया नहीं की जावे तो क्या हानि होती है?

जदि वा एस न कीरेज्ज विधी तो तत्थ देवदा कोई।
आदाय तं कलेवरमुट्ठिज्ज रमिज्ज बाधेज्ज ॥ १९७७ ॥ भग आ.

अर्थ—यदि क्षपक के शरीर की बन्धनादि क्रिया न की जावे तो उस स्थान का तथा आसपास मे निवास करने वाला कोई क्रीड़ाप्रिय भूत या पिशाच (व्यन्तर देव) उस शरीर मे प्रवेश कर जावे तथा उसको लेकर वह उठ खड़ा हो जावे, इधर उधर दौड़ धूप करने लगे, एवं अनेक प्रकार की ऐसी ही क्रीड़ा करने लगे तो इसको देखकर बाल मुनि अथवा भय प्रकृति वाले अन्य मुनि भयभीत होजावेंगे या अति भयातुर होकर मृत्यु को भी प्राप्त होजावें। कई अधीर मुनियो के श्रद्धान व चारित्र में शिथिलता आजावे अनेक उपद्रव उत्पन्न होजावे। अतः उक्त क्रिया करना अत्यन्त आवश्यक बताया गया है। हाथ पांव आदि छेदन या बन्धन कर देने पर उक्त दोष निवृत्त हो जाता है।

प्रश्न—मुनियों के पास चाकू आदि शस्त्र तो रहता नहीं और वस्त्र भी नहीं रहता है वे क्षपक के हस्त पाद या अगूठे के किसी भाग का किससे छेदन या बन्धन करेंगे ?

उत्तर—मुनि लोग सघ मे रहते हैं तब उनको चाहिए कि वे अपने दश अगुलियों के नखो मे से एक अगुलि के नख को सदा बढा हुआ रखे। काम पडने पर वे उससे अगुलि का चमडा विदारण कर सकें। तथा तृण का जो सस्तर (सथारा) होता है, उसमे से तृण लेकर उससे अगूठे आदि के भाग को बाध सकते हैं। इस उक्त कार्य के लिए एक नख रखने की सिद्धान्त मे आज्ञा है।

प्रश्न—जिन व्यन्तरदेवकृत उपद्रव का निवारण करने के लिए साधुओं को भी क्षपक के मृतक शरीर के निमित्त जागरण तथा बन्धन छेदन करना पड़ता है उन क्रीड़ाप्रिय व्यन्तर देवों का विशेष स्वरूप और उनके भेदों का भी विवेचन कीजिए।

व्यन्तर देवों का वर्णन

उत्तर—व्यन्तर जाति के देव कौतुक प्रिय होते हैं। वे केवल क्रीड़ा के लिऐ सब कौतुक करते हैं। अन्य मत वाले भूत पिशाचादि देवों को मासभक्षी रुधिर पान करने वाले कहते हैं। वह सर्वथा मिथ्या है। सब देव मात्र अमृत भोजी होते हैं। उनके आहार की इच्छा होते ही कण्ठ मे अमृत झरता है। उससे उनको तृप्ति होती है। मास भक्षण और रुधिर पान तो उत्तम जाति व कुल के मनुष्य भी नहीं करते हैं। तथा कई धर्म के ज्ञाता नीच जाति व कुल के लोग भी उन से दूर रहते हैं तो जिनके वैक्रियिक शरीर है जिस मे रुधिर मासादि कोई भी धातु नहीं है ऐसे उत्तम शरीर के धारक देव इस घृणित दुर्गन्धमय मॉस रुधिर का सेवन कैसे कर सकते हैं।

हॉं कई नीचकुल जाति से आये हुए नीच जाति के देव अपने पूर्व जन्म के सस्कार वश क्रीडा के निमित्त अशुचि पदार्थों का स्पर्श कर लेते हैं। मृतक शरीर से क्रीड़ा करने के निमित्त उसमे प्रवेश कर लेते हैं। इधर उधर दौडने लगते हैं इत्यादि क्रियाएँ करते हैं। उन

व्यन्तरो के मूल आठ भेद हैं—

व्यन्तरों के भेद प्रभेद

व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्ष राक्षस, भूत पिशाचा (तत्त्वार्थ सूत्र)

१ किन्नर, २ किम्पुरुष, ३ महोरग, ४ गन्धर्व, ५ यक्ष, ६ राक्षस, ७ भूत और ८ पिशाच ये व्यन्तरो के मूल आठ भेद हैं। इन के आवान्तर भेद निम्न प्रकार हैं:—

१ किन्नरों के दश भेद हैं। वे सब हरित वर्णीय सुन्दर सौम्य दर्शनीय मुकुट हार आदि भूषणो के धारक और अशोक वृक्ष ध्वजा वाले होते हैं।

(१) किन्नर, (२) किम्पुरुषा, (३) किम्पुरुषोत्तम, (४) किन्नरोत्तम, (५) हृदयगम, (६) रूपशालिन (७) अतिनन्दित, (८) मनोरम, (९) रतिप्रिय और (१०) रतिश्रेष्ठ ये दश भेद होते हैं।

(२) किम्पुरुष—इनकी जघा और भुजा अधिक शोभित होती है और मुख अति सुन्दर होता है। नाना प्रकार के अलकारो से तथा लेपनादि से भूषित होते है। और इनके चम्प वृक्ष की ध्वजा होती है। इन के भी दश भेद होते हैं। वे निम्नोक्त प्रकार हैं—

(१) पुरुष, (२) सत्पुरुष, (३) महापुरुष, (४) पुरुषवृषभ, (५) पुरुषोत्तम, (६) अतिपुरुष, (७) गुरुदेव, (८) मरुत, (९) मेरुप्रभ और (१०) यशस्वत।

(३) महोरगो के शरीर का वर्ण कृष्ण होता है। महावेगवान्, सौम्यदर्शनीय, स्थूलकाय, मोटीगर्दन और स्थूलकन्धोंवाले होते हैं। नाना अलंकारो के धारक और नागवृक्ष की ध्वजा वाले होते हैं। इनके दश भेद होते हैं। वे निम्नोक्त प्रकार हैं—

(१) भुजग, (२) भोगशालिन, (३) महाकाय, (४) अतिकाय, (५) स्कन्धशालिन्, (६) मनोरम (७) महावेग, (८) महेष्वक्ष, (९) मेरुकान्त और (१०) भास्वत्।

(४) गन्धर्व—इनके शरीर का वर्ण रक्त होता है। ये गभीर, प्रियदर्शनीय, पुरुप, सुन्दर मुखाकृति, सुस्वर, व मालाधारी होते होते हैं। इनकी ध्वजा वाद्यों के आकार की होती है। इन के भेद बारह होते हैं। वे निम्नप्रकार हैं—

(१) हाहा, (२) हूहू (३) तुम्बुरव, (४) नारद, (५) ऋषिवादी, (६) भूतवादी, (७) कादम्ब, (८) महाकादम्ब, (९) रैवत, (१०) विश्वावसु, (११) गतिरति और (१२) गतियश।

५) यक्ष—ये काले वर्ण वाले, गम्भीर, तोंदवाले, प्रिय-दर्शन, प्रमाणयुक्त रक्त हस्तपादादि अवयव वाले, चमकीले मुकुट तथा नाना भूषणों के धारक तथा वटवृक्ष की ध्वजावाले होते हैं। इन के तेरह भेद हैं। वे ये हैं—

(१) पूर्णभद्र, (२) मणिभद्र, (३) श्वेतभद्र, (४) हरिभद्र, (५) सुमनोभद्र, (६) व्यतिपातिकभद्र, (७) सुभद्र, (८) सर्वतोभद्र, (९) मनुष्ययक्ष, (१०) वनाधिपति, (११) वनाहार, (१२) रूपयक्ष और (१३) यक्षोत्तम।

(६) राक्षस—भयंकर दर्शन वाले, भयानक मस्तक मुखादि अगो वाले, अनेक आभूषणों के धारक तथा खट्वा (खटिया) रूप ध्वजा के धारी होते हैं। इनकी ध्वजा वर्तुलाकार (गोल) होती है। इनके सात भेद हैं। वे ये हैं—

(१) भीम, (२) महाभीम, (३) विघ्न, (४) विनायक, (५) जलराक्षस, (६) राक्षसराक्षस और (७) ब्रह्मराक्षस।

(७) भूत—ये कृष्ण वर्ण वाले, सुन्दर रूपवान, सौम्य, दुबले, नाना भक्ति युक्त और सुलस काले रङ्ग की ध्वजा के धारी होते हैं इनके ९ नव भेद हैं। वे निम्न प्रकार हैं :—

(१) सुरूप, (२) प्रतिरूप, (३) अतिरूप, (४) भूतोत्तम, (५) स्कन्दिक, (६) महास्कन्दिक, (७) महावेग, (८) प्रतिछिन्न, और (९) आकाशग।

(८) पिशाच—ये सुरूप, सौम्य, दर्शनीय, हाथो और गले मे मणि आदि रत्नालकारों के धारक तथा कदम्बवृक्ष की ध्वजा वाले होते हैं। इनके १५ पन्द्रह भेद हैं। वे निम्न प्रकार हैं—

(१) कुष्माण्ड, (२) पटका, (३) जोषा, (४) आह्नका, (५) काल, (६) महाकाल, (७) चौक्ष, (८) अचौक्ष, (९) तालपिशाच, (१०) मुखर पिशाच, (११) अधस्तारका, (१२) निदेह, (१३) महाविदेह, (१४) तूष्णीक और (१५) वनपिशाच।

मुनि के शव का क्या करना चाहिए ?

प्रश्न—मुनि के मृतक शरीर का सघ के मुनि क्या करते हैं ?

उत्तर—नगर के समीप या मनुष्यों के गमनागमनादि के मार्ग मे किसी वसतिका में मुनि का मरण हो जावे तो मुनि उसे एकान्त जंगल मे डालते हैं। मुनीश्वर शरीर के अनुरागी नहीं होते हैं। वे तो शरीर मे जब तक आत्मा रहता है तब तक ही उसका वैयावृत्य करते हैं। शरीर से आत्मा निकल जाने पर शव के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। वे उसे स्वय दग्ध नहीं करते और न किसी श्रावकादि को उसके दग्ध करने का उपदेश ही देते हैं। वे केवल उस शरीर को एकान्त वन मे जहा मनुष्यो आदि को बाधा न हो वहा रख देते हैं। जहा पर वह स्वयं धूप आदि से सूख जाता है अथवा वन के पशु पक्षी उसका भक्षण कर लेते हैं।

साधु लोग वनविहारी होते हैं। यदि उनका मरण किसी वन में, पर्वत की गुफा मे पर्वत के शिखर या कन्दरा मे, पुलो मे, वृक्षो की कोटर मे, श्मशान में एव नदियो के तट इत्यादि जन शन्य एकान्त स्थान पर हो जावे तो वहा उसे कौन उठावे? वह मुनि शव वहा ही पड़ा रहता है।

प्रश्न—किसी विख्यात स्थान पर किसी मुनि का मरण हो जावे तब गृहस्थो को क्या करना चाहिए?

उत्तर—मुनि का मरण ज्ञात होने पर उनका कर्त्तव्य होता है कि वे मुनि के शव का विधि-पूर्वक दाह कर्म करें। शास्त्रों मे कहा है :—

जदि विक्खादा भत्तपइण्णा अज्जा व होज्ज कालगदो।
देउलसागारित्ति व सिव्रियाकरणं पि तो होज्ज ॥ १९७९ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—जब जन समुदाय मे मुनि का भक्तप्रत्याख्यान नामक समाधिमरण प्रसिद्ध हो जावे तब वसतिका के स्वामी का एवं सम्पूर्ण गृहस्थों का परम कर्त्तव्य होता है कि वे मुनीश्वर आर्यिका अथवा क्षुल्लकादि त्यागी के शव का दाह कर्म करें। शिविका (पालकी) बनाकर उसमें शव को स्थापित करके उसे दग्ध क्रिया करने के लिए प्रभावना सहित ले जावें।

प्रश्न—यदि आर्यिका समाधिमरण करें तब मुनीश्वरों की भाति ही करें या उनके लिए कोई विशेष विधान है?

उत्तर—आर्यिकाओ की समाधिमरण विधि मुनीश्वरों के समान ही होती है। परन्तु उसमें थोड़ा सा अन्तर है। वह यह है कि आर्यिकादि स्त्रियों की वसतिका ग्राम के अति सन्निकट या ग्राम मे ही होनी चाहिए। तथा समाधिमरण करने वाली आर्यिकादि की वसतिका का प्रदेश अत्यन्त गूढ होना चाहिए। जहा पर पुरुषों का दृष्टि प्रवेश भी न हो सके। आर्यिकाओं के नग्न होने का निषेध है। यदि कोई परम विरक्त आर्यिका समाधिमरण के लिए नग्न वेश धारण करे तो उसको वसतिका के गूढ प्रदेश से बाहर निकलने का सर्वथा निषेध किया गया

है। उसे दिगम्बर रूप को धारण कर उसी गुप्त स्थान में निवास करना चाहिए। वहा पर मनुष्यो का गमनागमन कभी भी न होना चाहिए। आर्यिका का समाधिमरण हो जाने पर कोई भी आर्यिका शव को लेजाने या दग्ध करने आदि के सम्बन्ध मे गृहस्थों को नहीं कह सकतीं। क्योंकि वे भी उपचार से महाव्रत की धारण करने वाली हैं। वे कभी मोह वश रुदनादि नहीं कर सकतीं। उक्त बातों के सिवा सब विधि मुनियो के समान ही होती है।

आर्यिकाएँ तो सदा गृहस्थों के समीपवर्ती स्थान मे ही रहती हैं, इसलिए उनके मुनि के समान शव को उठाकर एकान्तादि ान में रखने की आवश्यकता है।

प्रश्न—श्रावक लोग मुनीश्वर अथवा आर्यिकादि के शव को किस विधि से लेजावें ?

तेण परं संठाविय संथारगदं च तत्थ बंधित्ता।
उड्ढेंतरक्खणट्ठं गामं तत्तो सिरं किच्चा ॥ १६८० ॥
कुसमुट्ठिं घेत्तूण य पुरदो एगेण होइ गंतव्वं।
अट्ठिदअणियत्तं तेण पिट्ठदो लोयणं मुच्चा ॥ १६८२ ॥
तेण कुसमुट्ठिधाराए अव्वोच्छिण्णाए समणिपादाए।
संथारो कादव्वो सव्वत्थ समो सगिं तत्थ ॥ १६८३ ॥ [भग. आ]

अर्थ—पहले गृहस्थ शिविका (पालकी) बनावे। उसके पश्चात् मुनि आदि के शव को शिविका मे स्थापत करे और संस्तर ा उसको रस्सी से बांध दे। जिससे उठाने मे वह सुरक्षित रहे। तथा बिना बाधे कभी २ मुर्दा शरीर ऐंठ कर उठ भी जाता है। बाधने ; उठ नहीं सकता है। शव का सिर गाव की तरफ करे। एक मनुष्य कुश का पूला हाथ से लिए हुए आगे २ चले। मार्ग मे बिना ठहरे २ चले जाना चाहिए। पीछे मुडकर नहीं देखना चाहिए।

पहले ही देखे हुए स्थान पर जाकर वह जानकार मनुष्य उस कुश (डाभ) के पूले को बराबर बिखेर कर सम सस्तर करे।

प्रश्न—जहा पर कुश (दर्भ) न मिले वहा क्या करे ?

जत्थ ण होज्ज तणाइं चुण्णेहिं वि तत्थ केसरेहिं वा । [भग आ.]
संथरिदव्वा लेहा सव्वत्थ समा अवोच्छिण्णा ॥ १९८४ ॥

अर्थ—जहा पर भूमि सम करने के लिए कुश तृण न मिले तो प्रासुक चावल मसूर आदि के आटे से अथवा ईंटों के चूर्ण से अथवा प्रासुक कमलादि के केसर से या सूखे पत्तो आदि से मस्तक से लेकर पाव तक की भूमि को समान करे। उसमे ऊँचा नीचा प्रदेश न रखे।

सस्तर भूमि के सम न होने से निमित्त ज्ञान मे हानि बतलाई गई है।

जो सस्तर ऊपर से विपम होगा तो उससे आचार्य का मरण एव शरीर मे व्याधि सूचित होती है। मध्य मे विपम होने से सघ मे प्रधान मुनि (ऐलाचार्य की मृत्यु या शारीरिक विशेष व्याधि सूचित होती है और यदि पाव के समीप मे नीचे का सस्तर विपम होगा तो सघ के अन्य मुनीश्वरो का मरण या उनमे भयानक रोग उत्पन्न होने की सूचना होती है। इसलिए सस्तर भूमि को सम बनाने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। उसमे किसी स्थान मे विपमता ऊँचा-नीचापन न रहे इस विषय मे पूरी सावधानी रखनी चाहिए।

साधु के मृत शरीर को गाँव की ओर मस्तक करके उस सम किये हुए स्थान पर रखना चाहिए और शरीर के पास पिच्छिका रख देनी चाहिए। कहीं २ मृत साधु के दाहिने हाथ मे पिच्छी स्थापित करने के लिए कहते हैं।

प्रश्न—ग्राम की तरफ सिर करने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—यदि वह शव व्यन्तर देव के निमित्त से उठ खड़ा हो और उसका मुख ग्राम की तरफ हो तो वह ग्राम मे प्रवेश करेगा इससे ग्राम के भीरु लोग भयभीत हो जावेंगे और जो अति भीरु होगे वे प्राण भी छोड देंगे, इत्यादि अनेक उपद्रव होंगे इसलिए शव का मस्तक ग्राम की तरफ करने से उक्त उपद्रवों का निवारण होता है।

प्रश्न—क्षपक के मरण का समय निमित्त ज्ञान से किन २ शुभाशुभ का सूचक होता है ?

णत्ता भाए रिक्खे जदि कालगदो सिवं तु सव्वेसिं।
एक्को दु समे खेत्ते दिवड्ढखेत्ते मरंति दुवे ॥ १९८८ ॥ [भग आ]

अर्थ—यदि अल्प नक्षत्र मे क्षपक का मरण हो तो समस्त सघ मे सुख शान्ति रहती है। मध्यम नक्षत्र मे मरण होने पर एक

और साधु का मरण सूचित होता है। और यदि महान् नक्षत्र म मरण हो जावे तो दो अन्य साधुओं के मरण की सूचना होती है।

भावार्थ—शतभिषज, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा और ज्येष्ठा ये छह पन्द्रह मुहूर्त्त वाले नक्षत्र जघन्य नक्षत्र कहलाते हैं। इनमे से किसी नक्षत्र मे या इनके अंश मे क्षपक की मृत्यु हो जावे तो संघका क्षेम कुशल प्रतीत होता है। अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, पूर्वा फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल, पूर्वाषाढ़ा, श्रवण, धनिष्ठा, पूर्वभाद्रपदा और रेवती इन नक्षत्रों को मध्यम नक्षत्र कहते हैं। इनका काल तीस मुहूर्त्त प्रमाण होता है। इनमे से किसी नक्षत्र मे या इनके अंश मे यदि क्षपक का मरण हो जावे तो एक दूसरे मुनि की मृत्यु होती है। तथा उत्तरा फाल्गुणी, उत्तराषाढा, उत्तरभद्रा, पुनर्वसु, रोहिणी और विशाखा ये उत्कृष्ट नक्षत्र कहे जाते हैं। इनका काल पैंतालीस मुहूर्त्त प्रमाण है। इन नक्षत्रो में से किसी नक्षत्र मे अथवा इनके अंश मे किसी क्षपक की मृत्यु हो जावे तो दो मुनि और मरण करते हैं। ऐसा निमित्त ज्ञान से सूचित होता है।

प्रश्न—क्षपक का मरण आयु कर्म के आधीन है। यदि मध्यम या उत्कृष्ट नक्षत्र में क्षपक का मरण हो जावे तो उक्त उत्पात का निवारण करने का कोई उपाय है या नहीं ?

उत्तर—हां, उपाय है। और वह निम्न प्रकार है—

गणरक्खत्थं तम्हा तणमयपडिबिंबयं खु कादूण।
एक्कं तु समे खेत्ते दिवड्ढखेत्ते दुवे देज्ज ॥ १९९० ॥
तट्ठाणसावणं चिय तिक्खुत्तो ठविय मडयपासम्मि।
विदियवियप्पिय भिक्खू कुज्जा तह विदियतदियाणं ॥ १९९१ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—संघ की रक्षा के निमित्त मध्यम नक्षत्र मे मरे हुए क्षपक के शव के समीप एक तृणमय प्रतिबिम्ब की स्थापना करे। अर्थात एक घास के पूले मे प्रतिबिम्ब की कल्पना करके उस पूले की स्थापना करे और 'इस मुनि के स्थान मे मैंने यह दूसरा (मुनि) स्थापित किया है, यह चिरकाल तक यहा रहे और तपस्या करे' ऐसा तीन बार उच्च स्वर से उच्चारण करे। उत्कृष्ट नक्षत्र मे मृत्यु को प्राप्त हुए मुनि के निकट दो तृणमय प्रतिबिम्ब की स्थापना करे। अर्थात् दो घास के पूलों मे प्रतिबिम्ब की कल्पना करके उन्हें स्थापित करे। तथा दोनों पूलों को स्थापन करके 'इन दोनों (मुनियों) के स्थान मे मैंने ये दो स्थापन किये हैं, ये चिरकाल तक यहां रहें और तप करें' ऐसा तीन बार उच्च-स्वर से उच्चारण करे।

प्रश्न—यदि घास का पूला न मिले तो शान्ति के निमित्त क्या करना चाहिए।

असदि तणे चुण्णेहिं च केसरच्छारिट्टियादिचुण्णेहिं।
कादव्वोथ ककारो उवरिंहिट्ठा यकारो से ॥ १९९२ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—तृण न मिलने पर चावल आदि के आटे से अथवा पुष्प की सूखी प्रासुक केसर या भस्म या ईंट अथवा पत्थर के चूर्ण से 'काय' ऐसा लिखे।

अथवा 'क' ऐसा लिखकर उसके ऊपर क्षपक के शव को स्थापन करे। तथा अर्हत्पूजा आदि से शान्ति करना भी इष्ट है ऐसा मूलाराधना नामक टीका मे कहा है—

महन्मध्यमनक्षत्रमृते शान्तिर्विधीयते ।
यत्नतो गणरक्षार्थं जिनार्चाकरणादिभिः ॥

अर्थ—उत्कृष्ट और मध्यमनक्षत्र में क्षपक का मरण होने पर गण की रक्षा के अर्थ यत्नपूर्वक जिन पूजादि क्रियाओ से शान्ति की जाती है।

आशय यह है कि संघ मे शान्ति बनी रखने का महान प्रयोजन है। वह जैसा साधुओ का कर्त्तव्य है वैसा श्रावकों का भी है। दोनो अपने२ पद के अनुसार अपना कर्त्तव्य करते हैं। साधुलोग तपश्चरण ध्यानादि द्वारा आगत विघ्न की शान्ति का उपाय करते हैं और श्रावक जिन पूजा दानादि द्वारा शान्ति, कर्म करते है। अतः श्रावको को जिन पूजादि कार्य करना उचित है और मुनियों को अनशनादि तपश्चरण व ध्यानादि का आचरण करना योग्य है। अथवा जिनेन्द्र देव की भाव पूजा मुनि भी कर सकते हैं, किन्तु द्रव्य पूजा श्रावक ही करते हैं।

क्षपक के शव के साथ पिच्छी व कमण्डलु भी स्थापित कर दे। यदि शिविका (पालकी) बनाई हो और उसमे उपकरण लगाये हों तो उनमे से जो उपकरण जिससे मागकर लाये हों वे उनको वापिस दे दें और जो नहीं देने योग्य हों उनको वहीं स्थापित करदें।

प्रश्न—आराधक की वसतिका मे जाकर समस्त सघ क्या करे ?

उत्तर—उसके पश्चात् हमको चारों आराधना को प्राप्ति हो इस हेतु से समस्त सघ को कायोत्सर्ग करना चाहिए। और क्षपक

की जहा आराधना हुई है उस वसतिका के अधिष्ठात् देवता से सम्पूर्ण मुनि इच्छाकार करें अर्थात् हम सब सघ के मुनि यहा पर तुम्हारी अनुमति से रहना चाहते हैं-ऐसा कहना चाहिए।

अपने सघ के मुनि का मरण हो जावे तो उस दिन सम्पूर्ण सघ के मुनियो को उपवास करना चाहिए। यदि मुनियो की गोचरी हो जाने के बाद कोई मुनि मरण को प्राप्त हो जावे तो दूसरे दिन उपवास न करे। मरण के दिन स्वाध्याय करना वर्जित है। यदि दूसरे सघ मे मुनि का मरण हो जावे तो उपवास करे या न करे अपनी इच्छा पर निर्भर है। किन्तु उस दिन स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

प्रश्न—साधु की मृत्यु होने के तीसरे दिन का क्या कृत्य है ?

उत्तर—सघ के सुख सहित विहार के लिए तथा क्षपक की गति जानने के लिए तीसरे दिन क्षपक के शरीर का अवलोकन करना चाहिए। जितने दिन तक क्षपक के शरीर को वृक (भेडिया आदि पशु और गृध्रादि पक्षी स्पर्श न करेंगे उसका शरीर अक्षत रहेगा उतने वर्ष पर्यन्त उस राज्य भर मे क्षेम कुशल रहेगा। ऐसा सूचित होता है।

उस मृतक शरीर को या उसके अवयव को पशु पक्षी जिस दिशा में ले गये हो उस दिशा में यदि सघ विहार करे तो संघ में क्षेम कुशल तथा कल्याण होता है। ऐसा निमित्त शास्त्र मे कहा गया है।

प्रश्न—मृत क्षपक की गति का ज्ञान कैसे होता है ?

जदि तस्स उत्तमंगं दिस्सदि दंता च उवरिगिरिसिहरे।
कम्ममलविप्पमुक्को सिद्धिं पत्तोत्ति णायव्वो ॥ १६६६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—यदि मृत क्षपक शरीर का उत्तमाग (सिर) या दात पर्वत के शिखर पर पड़े हुए दिखाई दें तो समझना चाहिए कि वह क्षपक कर्म मल से रहित होकर सिद्धावस्था को प्राप्त हुआ है।

जयनदी के टिप्पण मे कर्ममल का अर्थ मिथ्यत्वादि अल्प कर्म और सिद्धि का अर्थ सर्वार्थसिद्धि किया गया है। अर्थात् जिसके दांत अथवा सिर गिरि के शिखर पर पड़े हुए दिखाई दें तो उस क्षपक साधु के मिथ्यात्वादि का क्षय होगया है और वह सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त हुआ है ऐसा प्रतीत होता है। तथा प्राकृत टीका मे एवं विजयोदया टीका मे कर्ममल से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त हुआ है-ऐसा अर्थ किया गया है। उक्त दो मतो मे जयनन्दी का मत बुद्धिग्राह्य प्रतीत होता है किन्तु दूसरे मत को बुद्धि स्वीकार नहीं करती; कारण कि अति

अन्तकृत केवली भी होते तो देवों द्वारा उनका मोक्ष कल्याणक होना है। लेकिन देवो का आगमन न होने के कारण अन्य साधुओ के मोक्ष का निश्चय नहीं हो सकता है।

यदि क्षपक के मृतक शरीर का मस्तक उच्च प्रदेश मे दिखाई दे तो उसका जन्म वैमानिक देवों मे हुआ प्रतीत होता है। यदि वह समभूमि मे दीख पडे तो उसकी उत्पत्ति ज्योतिष देवों मे एव व्यन्तरों मे निश्चित होती है। कोई कोई आचार्य समभूमि मे मस्तक देखकर वानव्यन्तर जाति के व्यन्तर देवों मे ही जन्म मानते हैं और यदि गड्ढे मे मस्तक दिखाई दे तो भवनवासी देवों मे जन्म निर्धारित होता है।

क्षपक की गति के ज्ञान कराने वाले जो ऊपर निमित्त बताये हैं वे सूचना मात्र हैं। उनसे क्षपक की गति का यथार्थ निश्चय नहीं हो सकता है। यह तो केवलीगम्य है या अवधीज्ञान के गोचर है। इसलिए हम इसका पूर्ण निश्चय नहीं कर सकते हैं।

ते सूरा भयवंता आहचइदूण संघमज्झम्मि।
आराधणापडायं चउप्पयारा हिदा जेहि ॥ २००१ ॥ [भग आ]

अर्थ—वे मुनिराज क्षपक शूरवीर और पूज्य हैं जिन्होने सघ के मध्य प्रतिज्ञा लेकर आराधना ग्रहण की है।

भावार्थ—जिन महापुरुषों ने सासारिक सुख से मुह मोड कर इन्द्रियो के विषय और स्वच्छन्द प्रवृत्ति का निरोधकर खड्ग धार पर चलने के समान मुनिव्रत को अङ्गीकार किया है वे धन्य हैं, जगत् के पूज्य हैं। किन्तु जिन्होंने अपने शरीर को नि.सार समझ रत्नत्रय की आराधना के लिए समाधिमरण सरीखे दिव्य कर्त्तव्य को प्रतिज्ञा लेकर अन्तरग और बाह्य घोर तपश्चरण का आचरण कर शरीर और कषायो का शोषण करके समाधि पूर्वक मरण किया है अर्थात मरण पर्यन्त रत्नत्रय की आराधना का निर्वाह किया है वे जगत्पूज्य महामुनि धन्य हैं। वे महा भाग्यशाली व ज्ञानी हैं। जिन्होने अभीष्ट फल (मोक्ष) देने वाली आराधना को प्राप्त किया है। उन्होंने किस दुर्लभ पदार्थ को प्राप्त नहीं किया है? अर्थात् उन्होंने तीनों लोक मे जो दिव्य पदार्थ हैं उन सबकी प्राप्ति करली है। जो महाभाग एक बार जघन्य आराधना का सेवन कर चुके हैं वे सात आठ भवो के अनन्तर अवश्य मोक्ष के अधिकारो होते हैं। ऐसे भाग्यशाली महात्मा की महिमा का वर्णन कहा तक किया जावे? उनकी जितनी स्तुति की जावे वह थोडी है।

वे निर्यापक मुनि भी धन्य हैं, वे अपूर्व भाग्यशाली हैं, जिन्होने जगत्पूज्य क्षपक की आराधना को सफल बनाने मे पूर्ण यत्न पूर्वक सहायता की है। आदर भक्ति से अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर अनेक क्लेशों को सहकर रात दिन क्षपक का वैयावृत्य किया है। वे

परिचारक महाभागो का जन्म भी धन्य है। उन्हे ने क्षपक की आराधना को निर्विघ्न क्या किया है, अपनी भविष्य मे होने वाली आराधना को निर्विघ्न बनाया है। जो साधु दूसरे की आराधना को निर्विघ्न बनाते हैं वे निकट भविष्य मे सुख पूर्वक अपनी आराधना की पूर्ति करते हैं। शास्त्र में कहा गया है।

ते वि य महाणुभावा धण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स।
सव्वादरसत्तीए उवविहिदाराधणा सयला ॥ २००४ ॥
जो उवविधेदि सव्वादरेण आराधणं खु अण्णस्स।
संपज्जदि णिव्विग्घा सयला आराधणा तस्स ॥ २००५ ॥ [भग' आ]

इनका आशय ऊपर आगया है।

जो धर्मात्मा क्षपक के दर्शन के लिए यात्रा करते हैं वे भी पुण्यशाली होते हैं।

ते वि कदत्था धण्णा य हुंति पावकम्ममलहरणे।
ण्हायंति खवयतित्थे सव्वादरभत्तिसंजुत्ता ॥ २००६ ॥ [भग आ.]

अर्थ—उन मनुष्यो का भी जन्म कृतार्थ है जो अनादिकाल से आत्मा के साथ चिपके हुए पापकर्ममल को धोने के लिए क्षपक रूप तीर्थ मे श्रद्धा व भक्ति सहित स्नान करने के लिए जाते हैं।

भावार्थ—भक्त प्रत्याख्यान करके संन्यास मरण करने वाला क्षपक महान् पवित्रात्मा है। ऐसे पवित्रात्माओं के स्पर्श से क्षेत्र भी तीर्थ बन जाते हैं। उन तीर्थों मे जाकर लोग स्नान करके अपने को पवित्र हुआ मानते हैं। जिसके चरण स्पर्श मात्र से भूमि तीर्थ बनती है उसके दर्शन करने से पाप कर्म का क्षय हो तो इसमें आश्चर्य क्या है। इसलिए जिन भाग्यशाली पुरुषो को ऐसे क्षपक मुनीश्वर का दर्शन लाभ होता है वे धन्य है। ऐसा सुयोग पाकर प्रत्येक धार्मिक पुरुष को दर्शन स्पर्शन सेवादि सुकृत्य करके अपने जन्म को सफल बनाना चाहिए।

गिरिणदियादिपदेसा तित्थाणि तवाधणेहिं जदि उसिदा।
तित्थं कधं ण हुज्जा तवगुणरासी सयं खवओ ॥ २००७ ॥ [भग, आ.]

अथ—जहा पर तपोधनों ने निवास किया है वे पर्वत नदी वनादि क्षेत्र यदि तीर्थ हो जाते हैं तो फिर सतत उग्रोग्र तपस्या करने वाले गुणो के पुंज क्षपक के तीर्थ होने मे क्या सन्देह हो सकता है ?

पुव्वरिसीणं पडिमाओ वंदमाणस्स होइ यदि पुण्णं ।
खवयस्स वंदओ किह विपुलं णिउलं ण पावेज्ज ॥ २००८ ॥ [भग. आ]

अर्थ—प्राचीनकाल के ऋषि महर्षियों की प्रतिमाओ की वन्दना करने वालों को यदि पुण्य होता है तो साक्षात् क्षपक महर्षि की वन्दना करने वाला क्या विपुल पुण्य का अधिकारी न होगा ? अवश्य होगा । इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है ।

भावार्थ—आगम में पच परमेष्ठी की प्रतिमाएँ वन्दनीय और पूज्य मानी गई हैं । पच परमेष्ठी मे अठाईस मूल गुण के धारक मुनिराज भी एक परमेष्ठी हैं । कई क्षेत्रों मे साधु परमेष्ठी की प्रतिमाएँ इस समय भी नित्य प्रति पूजी जाती हैं । इतना अवश्य है कि जिनके भाव से मुनिपने का पूर्ण रूप से निश्चय हो जाता है उनकी ही प्रतिमाएँ हो सकती हैं और ऐसे निश्चित भाव-मुनियो की ही प्राचीन प्रतिमाएँ देखी जाती हैं । जैसे मन्दिरो मे सर्प के फण सहित पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा है वे सब मुनि अवस्था की प्रतिमाए हैं । लता वेल आदि से वेष्टित बाहुबलि की प्रतिमा भी मुनि अवस्था की ही है इत्यादि । उनके वन्दन पूजन करने से महान् पुण्य का बन्ध होता है । जब कि मुनि प्रतिमा के दर्शन वन्दन पूजनादि से पुण्य उत्पन्न होता है तो क्या परम तपस्वी अठाईस मूल गुण के धारक रत्नत्रय की निर्विघ्न आराधना करने के लिए शरीर का उत्सर्ग करने वाले कषायो का दमन कर उन्हें अत्यन्त कृश करने वाले वीतरागी क्षपक की वन्दना स्तुति करने वाला पुण्य का भागी न होगा ? अवश्य होगा । और तो क्या, जो क्षपक की यथाशक्ति उपासना करता है, जिसके अन्तःकरण मे भक्ति का स्रोत वहता रहता है, वह महापुरुष भी निकट भविष्य मे सम्पूर्ण आराधना को प्राप्त करता है ।

इस प्रकार यहा तक सविचार भक्त प्रत्याख्यान का वर्णन हुआ ।

अविचार भक्त प्रत्याख्यान

तत्थ अविचारभत्तपइण्णा मरणम्मि होइ आगाढे ।
अपरक्कम्मस्स मुणिणो कालम्मि असंपुहुत्तम्मि ॥ २०११ ॥

अर्थ—अकस्मात् मृत्युकाल उपस्थित हो जाने पर हीन शक्ति के धारक मुनि के उपरोक्त सविचार भक्त प्रत्याख्यान नहीं होता है। उस समय अविचार भक्त प्रत्याख्यान होता है। अर्थात् जिसमे अल्प शक्ति है और जिसकी आयु का काल अधिक नहीं बचा है, मरण शीघ्र होने वाला है, ऐसे मुनि के अविचार भक्त प्रत्याख्यान होता है।

अविचार भक्त प्रत्याख्यान तीन प्रकार का है—(१) निरुद्ध (२) निरुद्धतर (३) और परमनिरुद्ध।

प्रश्न—निरुद्ध नामक अविचार भक्त प्रत्याख्यान किसे कहते हैं।

तस्स विरुद्धं भणिदं रोगादंकेहिं जो समभिभूदो।
जंघाबलपरिहीणो परगणगमणम्मि ण समत्थो ॥ २०१३ ॥ [भग: आ.]

अर्थ—जो मुनि साधारण रोग अथवा भयानक रोग से निरन्तर पीडित रहता है और जिसकी जाघो मे गमन करने की शक्ति नहीं है अतएव जो दूसरे सघ मे नहीं जा सकता है उस मुनि के निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान होता है। इसकी शेष सब विधि सविचार भक्त प्रत्याख्यान के समान होती है।

भावार्थ—जब तक मुनि के पावों मे चलने फिरने की शक्ति रहती है तब तक वह अपने कार्यों को स्वयं करता है और जब शक्ति का अत्यन्त ह्रास हो जाता है तब सघ के मुनियो की सेवा स्वीकार करता है। अर्थात् सतत रोग से पीडित रहने के कारण अथवा अचानक भयानक बीमारी के आजाने पर जिसमे गमनागमन की शक्ति नहीं रहती है, जो अन्य सघ मे जाने के लिए असमर्थ हो जाता है, ऐसे मुनि के मरण को निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं। वह मुनि अपने सघ मे ही आचार्य के निकट रहता है। सविचार भक्त प्रत्याख्यान वाला मुनि अनियत विहार कर अन्य आचार्य संघ मे जाता है और यह अनियत विहार न करके अपने सघ मे ही रहता है; इसलिए इसको अविचार नाम से कहा है। यह अपने आचार्य के पादमूल मे रहकर मुनि दीक्षा से लेकर अब तक के जितने दोष हुए हैं उनकी आलोचना करता है। उनकी निन्दा गर्हा करता है। गुरु महाराज से दिये हुए प्रायश्चित्त का आचरण कर दोषों से निवृत्त होकर आत्म-शुद्धि करता है। तथा जब तक शक्ति रहती है तब तक दूसरों की सहायता के बिना रत्नत्रय की आराधना मे तत्पर रहता है। और जब चलने फिरने मे अशक्त हो जाता है तब अन्य मुनीश्वरो की सहायता लेकर रत्नत्रय की साधना करता है।

इसकी शेष सब विधि सविचार भक्त प्रत्याख्यान के समान ही जाननी चाहिए। वही मूलाराधना टीका मे कहा है—

मन्निरुद्धमवीचारं स्वगणम्यमितीरितम् ।
अपरः प्रक्रमः सर्वः पूर्वोक्तोऽत्रापि जायते ॥

अर्थ—अपने गण (संघ) में ही रहकर समाधिमरण सम्पन्न करने वाले मुनि के अविचार निरुद्ध भक्त प्रत्याख्यान होता है। इसके अतिरिक्त भक्त प्रत्याख्यान की सब प्रक्रिया पूर्वोक्त सविचार भक्त प्रत्याख्यान के समान होती है।

इस निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान के प्रकाश, और अप्रकाश ये दो भेद होते हैं।

जो भक्त प्रत्याख्यान (समाधिमरण) प्रकट रूप में किया जाता है उसे प्रकाश भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं और जो भक्त प्रत्याख्यान क्षपक के मनोबल (धैर्य) की हीनता तथा क्षेत्र की अयोग्यता आदि से प्रकट नहीं किया जाता है उसे अप्रकाश भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं।

यदि क्षपक धैर्य का धारण करने वाला न हो और क्षुधादि परीषहों के प्राप्त हो जाने पर पीड़ित होने लगे अथवा वसतिका एकान्त स्थान में न हो, या काल अतिरुक्ष हो, या क्षपक के पुत्र मित्रादि बन्धुगण सन्यास (भोजनादि के त्याग) में विघ्न बाधा उपस्थित करने वाले हों तो क्षपक का भक्त प्रत्याख्यान मरण गुप्त रखना चाहिए, क्योंकि प्रकाशित होने पर सन्यास कार्य में विघ्न बाधाओं की पूरी संभावना रहती है।

प्रश्न—निरुद्धतर भक्त प्रत्याख्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर—अग्नि आदि अचेतन कृत तथा सर्प व्याघ्रादि चेतन कृत उपसर्गों के प्राप्त होने पर या हैजा प्लेग आदि मारक रोगों की अचानक उत्पत्ति होने पर आयु के शीघ्र क्षय होने का निश्चय हो जावे उस समय सब प्रकार के आहारादि का त्याग करके आचार्य के निकट दीक्षा से लेकर अब तक के सब अपराधों की आलोचना गर्हा निन्दा करके आचार्य द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त का आचरण कर शुद्ध हो रत्नत्रय की आराधना में जब तक सुध बुध रहे तब तक लगे रहने को निरुद्धतर अविचार भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं। शास्त्रों में कहा है—

वालग्गिवग्घमहिसगयरिच्छ पडिणीयतेणमेच्छेहिं ।
मुच्छा विसूचियादीहिं होज्ज सज्जो हु वावत्ती ॥ २०१८ ॥ [भग. आ.]
जाव ण वाया खिप्पदि बलं च विरियं च जाव कायम्मि ।

तिव्वाए वेदणाए जाव य चित्तं ण विक्खत्तं ॥ २०१६ ॥
णच्चा सवट्टिज्जं तमाउगं सिग्घमेव तो भिक्खू ।
गणियादीणं सणिहिदाण आलोचए सम्म ॥ २०२० ॥ [भग आ]

अर्थ—सर्प, अग्नि, सिंह, व्याघ्र, भैंसा, हाथी, रीछ, शत्रु, चोर, तथा म्लेच्छ और मूर्छा हैजा आदि प्राण-घातक रोग के निमित्त से मृत्यु की कारण भूत वेदना या मरण के उपस्थित होने पर जब तक बोलने की शक्ति बनी रहे तथा जब तक शरीर में बल व वीर्य विद्यमान रहे तथा तीव्र वेदना से जब तक सावधानता का नाश न हो तब तक आयु को शीघ्र नष्ट होते हुए जानकर आचार्य के चरणों की शरण ग्रहण करे और उनके समीप अपने सम्पूर्ण दोषो की आलोचना करे एव सम्यक प्रकार, रत्नत्रय की आराधना मे तत्पर हुआ अपने शरीर का, उपकरणों का, तथा आहार संस्तर व वसतिका का और परिचारकों का त्याग करदे अर्थात इनपर से ममत्व भाव को हटाले।

आशय यह है कि विपत्ति आने पर बल वीर्य का ह्रास हो जाने से अन्य संघ मे जाने के लिए असमर्थ हुए साधु को निरुद्ध कहते हैं। और जब साधु उससे अधिक आकस्मिक विपत्ति आने पर अति असमर्थ होता है उस समय आचार्य का संयोग न मिले तो अन्य साधु के निकट आलोचना कर रत्नत्रय की आराधना मे सावधान रहने को निरुद्धतर कहते हैं और उसके मरण को निरुद्धतर अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं।

प्रश्न—परमनिरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर—सर्प, व्याघ्र, अग्नि आदि के उपद्रव के कारण जिन मुनीश्वरों की बोलने की शक्ति भी नष्ट हो गई हो जब वे मुनीश्वर अपने मन ही मन मे अरिहन्त सिद्ध आचार्यादि परमेष्ठी का स्मरण व ध्यान कर अपने दोषो की आलोचना कर अपने आत्म ध्यान मे अर्थात् रत्नत्रय की आराधना में दत्तचित हो जावें तब उनके मरण को परम निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं। जैसा कि कहा है—

वालादिएहिं जइया अक्खित्ता होज्ज भिक्खुणो वाया।
तइया परमणिरुद्धं भणिदं मरणं अविचारं ॥ २०२२ ॥ [भग आ]

अर्थ—जब साधु के शरीर मे सर्पादि के विष का सचार हो जावे या किसी अग्नि आदि के उपद्रव से अत्यन्त पीड़ित हो जावे और उसकी वचन प्रवृत्ति का भी भग हो जावे, बोलने की शक्ति भी नष्ट हो जावे उस समय परमनिरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण

होता है अर्थात् वचन उच्चारण करने की शक्ति न रहने पर परमनिरुद्ध मरण होता है। उस समय उस साधु को चाहिए कि अपने अन्तःकरण मे अर्हन्त सिद्ध साधु को धारण कर शीघ्र आलोचना करले और शान्तचित्त से अपनी आत्मा के सिवा शरीरादि सब पदार्थों से ममता हटाकर आत्म ध्यान मे लवलीन रहे। उस साधु के मरण को परमनिरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं।

जैसी आराधना की विधि पूर्व सविस्तर वर्णन की गई है वैसी ही शेष विधि इस अविचार भक्त प्रत्याख्यान मे भी समझना चाहिए।

पूर्वोक्त विधि से चार प्रकार की आराधना का प्रारम्भ करके यदि पूर्वोक्त सर्प विष अग्नि आदि आयु की शीघ्र उदीरणा (क्षय) करने वाले कारणों के उपस्थित हो जाने पर कोई आराधक शीघ्र प्राण त्याग करने का अवसर प्राप्त हो जावे तो कोई साधु इस पडित मरण से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके मोक्ष की प्राप्ति कर लेते हैं और कोई २ मुनीश्वर उक्त आराधना के फल स्वरूप वैमानिक देवो मे उत्पन्न होते हैं। तथा अपने २ भावो के अनुसार उत्तम मध्यमादि देवो में जन्म धारण करते हैं।

शङ्का—इतने अल्पकाल मे मोक्ष की प्राप्ति कैसे होगी ?

समाधान- बहुत लम्बे काल तक आराधना का सेवन करके ही मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है ऐसा नहीं समझना चाहिए। कोई २ लघुकर्मा मुनिराज अन्तर्मुहूर्त्त काल मे ही रत्नत्रय की आराधना करके संसार समुद्र को पार कर लेते हैं।

वधन नाम नृपति अनादि मिथ्यादृष्टि था। वह श्री देवाधिदेव ऋषभ तीर्थंकर के पादमूल मे आत्म स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर स्वपर का भेद-विज्ञानी होकर क्षणमात्र में निर्वाण पद का अधिकारी हुआ। जैसा कि कहा है :—

सिद्धो विवर्धनो राजा चिरं मिथ्यात्व भावितः।
वृषभस्वामिनो मूले क्षणेन धुतकल्मषः ॥ २१०० ॥

इसका अर्थ ऊपर आगया है।

सोलसतित्थयराणं तित्थुप्पण्णस्स पढमदिवसम्मि।
सामण्णणाणसिद्धी भिण्णमुहुत्तेण संपण्णा ॥ २०२८ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—श्री ऋषभ नाथ तीर्थंकर से लेकर शातिनाथ तीर्थंकर पर्यन्त सोलह तीर्थंकरो के जिस दिन दिव्य-ध्वनि की उत्पत्ति हुई थी उसी दिन कई महापुरुषों के मुनिदीक्षा केवलज्ञान और निर्वाण ये तीनो कार्य अन्तर्मुहूर्त्त काल मे निष्पन्न हुए।

इंगिणी मरण

पव्वज्जाए सुद्धो उवसंपज्जितु लिंग कप्पं च।

पवयणमोगाहित्ता विणयसमाधीए विहरित्ता ॥ २०३१ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—जो महानुभाव निर्ग्रन्थलिंग धारण करने योग्य है, अर्थात् दिगम्बर भेष धारण करने के लिए जो अयोग्यता पहले बता आये हैं उससे रहित है, वह मुनिदीक्षा धारण कर आगम का अवगाहन करता है। आचारागादि चारित्र-धर्म के निरूपण करने वाले तथा अन्य आगम ग्रन्थो का मनन करता है। विनय और समाधि में परिणमन करता है।

भावार्थ—पण्डितमरण का द्वितीय कल्प इगिणी मरण है। इगिणी मरण करने वाला साधु अपना वैयावृत्त्य आप खुद करता है। दूसरे से अपना वैयावृत्त्य नहीं करवाता है। जिसने आगम में वर्णन किये हुए मुनि पद धारण करने की योग्यता होने पर जिन लिंग (दिगम्बर भेष) को धारण किया है, तथा आचारागादि आगम अथवा आचार के प्रतिपादक अन्य शास्त्रों मे भले प्रकार अवगाहन किया है, उनके रहस्य को सम्यक प्रकार से जान लिया है, अपने आत्मा को विनय और समाधि मे प्रवृत्त किया है, ऐसा साधु इंगिणी मरण के लिए उद्यत होता है। यदि आचार्य इस पंडित मरण मे प्रवृत्ति करना चाहे तो उसे उचित है कि वह अपने सघ को इंगिणी मरण की विधि के साधन करने योग्य बनावे, पश्चात् वह एलाचार्य की स्थापना करके उसे संघ संचालन करने के योग्य उचित उपदेश (जैसा भक्त प्रत्याख्यान मरण मे कह आये हैं वैसा उपदेश) देकर सम्पूर्ण सघ से अपना सम्बन्ध छोड़कर उससे पृथक हो जावे और संघ के वृद्ध बाल आदि सब मुनियों से क्षमा याचना करे। रत्नत्रय के पालन मे जो अतिचार लगे हों उनकी आलोचना करे। सघ मे आचार्य की स्थापना करने के अनन्तर सम्पूर्ण सघ को भी पूर्व की भाति उपदेश देवे। मैं जीवन पर्यन्त तुम से पृथक होता हूँ ऐसा कहकर अपने को कृतार्थ मानता हुआ आनन्द से प्रफुल्लचित्त होकर वहा से प्रयाण करे।

प्रश्न—अपने सघ से निकलकर आचार्य अथवा अन्य मुनि क्या करे ?

एवं च णिक्कमित्ता अंतो बाहिं च थंडिले जोगे।

पुढवी सिलामए वा अप्पाणं णिज्जवे एक्को ॥ २०३५ ॥ [भग. आ]

पुव्वुत्ताणि तणाणि य जाचित्ता थंडिलम्मि पुव्वुत्ते ।
जदणाए संथरित्ता उत्तरसिर मधव पुव्वसिरं ॥ २०३६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—निज संघ से निकलकर योग्यमुनि वा आचार्य ऐसे स्थडिल प्रदेश (कठिन भूमि प्रदेश) का आश्रय ले जो समतल हो और ऊचा हो, जिसमें छिद्र व बिल न हो, तथा जीव जन्तु रहित हो। अथवा पाषाण शिला हो उसपर सस्तर की रचना करे। संस्तर बनाने के लिए बिना सधि (जोड़) वाले, छेद रहित, निर्जन्तुक व कोमल तृण पास के गाव या नगर मे जाकर, गृहस्थो से याचना कर ले आवे। तृण उतने ही लावे जिनपर उसका शरीर स्थिरता को प्राप्त हो सके और उनकी प्रतिलेखना भी अच्छी तरह कर सके। उन लाये हुए तृणों (घास) को स्थडिल भूमि या शिला पर बडे यत्न से बिछावे अर्थात् तृणों को पृथक २ कर देख शोधकर तथा सस्तर भूमि को पिच्छी से प्रमाजन करके संस्तर की रचना करे। अलग २ बिखेर कर शय्या रूप बिछावे। उत्तर दिशा मे या पूर्व दिशा मे संस्तर का शिर करे अर्थात् पूर्व या उत्तर दिशा मे मस्तक रखने योग्य तृण का उपधान (तकिया) बनावे । सस्तर की रचना करने के पश्चात् अपने मस्तक हाथ पाव आदि समस्त शरीर के अवयवों का पिच्छी से प्रमार्जन करे। तत्पश्चात् इगिणी मरण करने मे प्रवृत्त हुआ वह साधु उस सस्तर पर पूर्व दिशा या उत्तर दिशा की ओर मुख करके खड़ा हो जाता है और मस्तक व हाथ जोडकर अन्त.करण मे परिणामो को उज्ज्वल करता है। अरिहत, सिद्धादि को हृदय मे विराजमान कर उनके समीप अपने पूर्व कृत अपराधो की आलोचना करता है। निन्दा गर्हा करता है। उससे आत्मा को निर्मल करता हुआ रत्नत्रय को पवित्र बनाता है। अपनी लेश्या को विशुद्ध करता है। यावज्जीव चारो प्रकार के आहार का त्याग करता है तथा समस्त बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहो का त्याग करता है अर्थात उपकरणों से तथा शरीर से भी ममत्व हटा लेता है। अतः वह आगत परीषह और उपसर्गों का धैर्य से सहन करता है। अपने अन्तःकरण को निर्विकार रखता हुआ धर्मध्यान का आश्रय लेता है।

वह क्षपक महात्मा उक्त सस्तर पर कायोत्सर्ग में खड़ा रहकर या पर्यंक (पालथी) आदि आसनों से बैठकर या एक पार्श्व (पसवाडे) बाजू से लेटकर धर्मध्यान मे तत्पर रहता है। वह मुनिराज अपनी शरीर सम्बन्धी तथा प्रतिलेखनादि सब क्रियाए अपने आप करता है।

उपसर्ग रहित अवस्था मे प्रतिलेखन, प्रतिष्ठापना समिति, शौच क्रिया के पालन करने मे वह सदा सावधान रहता है। किसी कार्य मे वह दूसरों की सहायता नहीं लेता है।

यदि पूर्व के शत्रु किसी देव के द्वारा अथवा प्रतिपक्षी किसी मनुष्य के द्वारा अथवा दुष्ट तिर्यंच द्वारा किसी प्रकार का उपसर्ग उपस्थित हो जावे तो वह धीर वीर महामना मुनीश्वर उसका प्रतीकार नहीं करता है। उसके धैर्य रूपी दृढ़ कवच को घोर उपसर्ग रूपी तीक्ष्ण

शस्त्र भेदन नहीं कर सकते हैं। उसके अन्तःकरण में लेशमात्र भी क्षोभ नहीं होता है। क्योंकि उनमे पूर्ण कष्ट-सहिष्णुता होती है। इस इगिणी मरण की आराधना करने वाले महामुनि होते हैं। इनके आदिम तीन उत्तम सहनन होते हैं। हीन सहनन का धारक इस पंडित मरण का अधिकारी नहीं हो सकता। उनका सस्थान (शरीर का आकार) भी उत्तम होता है। वे निद्रा-विजयी होते हैं। उनका शारीरिक बल एवं आत्म-पराक्रम भी अपूर्व होता है।

वे आत्मध्यान मे लवलीन रहते हैं। उनके तपश्चरण के प्रभाव से वैक्रियिक ऋद्धि, आहारक ऋद्धि, चारण ऋद्धि, आदि अनेक ऋद्धिया उत्पन्न हो जाती हैं फिर भी वे उनका उपयोग नहीं करते।

वे सदा मौनव्रत धारण करते हैं। रोगादि की तीव्र वेदना होने पर भी उसका इलाज नहीं करते हैं। तथा शीत उष्ण भूख प्यास आदि का प्रतीकार करने की इच्छा तक नहीं करते हैं।

वीभत्स और भयानक रूप धारण करने वाले भूत वेताल राक्षस शाकिनी पिशाचिनी आदि क्षोभ उत्पन्न करने के लिए आये हुए दुष्ट देवी देवताओं के अनेक प्रयत्न करने पर भी जिनको लेश मात्र भीति उत्पन्न नहीं होती है।

अनेक सुन्दर रूपवाली किन्नर किम्पुरुषादि की देवकन्याएं उनको लुभाने का प्रयत्न करती हैं तो भी उनका मन-सुमेरु चलित नहीं होता है।

यदि सम्पूर्ण जगत् का पुद्गल समूह दुःख जनक पर्याय धारण कर उन धैर्य-धुरन्धर को पीड़ा देने के लिए उपस्थित हो जावे तो भी उनका चित्त ध्यान से च्युत नहीं होता है।

अथवा समस्त पुद्गल सुख जनक पर्यायो को धारण कर सम्मिलित हुआ उन परम ध्यानी को सुख देने के लिए चरणों में लौटा करे तो भी उन्हें विचलित करने के लिए समर्थ नहीं हो सकता है।

प्रश्न—व्याघ्र सिंहादि के द्वारा प्राणियों से व्याप्त भूमि पर गिरा देने पर वह साधु क्या करते हैं?

सचित्ते साहरिदो तत्थोवेक्खदि वियत्तसव्वंगो।
उवसग्गे य पसंते जदणाए थंडिलमुवेदि ॥ २०४९ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—हरी घास या अन्य जीवो से व्याप्त भूमि मे इगिणी मरण करने वाले साधु को यदि व्याघ्रादि लेजाकर फेंक दें तो भी वह मुनीश्वर उपसर्ग काल पर्यन्त शरीर से मोह ममत्व रहित हुए परम शान्ति का आश्रय लेकर वहां पर ही ध्यान मे लीन रहते हैं और उपसर्ग दूर हो जाने पर स्वयंमेव यत्न से स्थंडिल भूमि की ओर चले आते हैं।

इस प्रकार वे मुनिराज उपसर्ग और कषायो को जीतते हैं। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति द्वारा मन वचन काय की क्रियाओ को रोककर आत्म-ध्यान मे अपने को लगाते हैं। आध्यात्मिक तत्त्वो का चिन्तन करते हैं। इसके अतिरिक्त किसी विषय मे उनकी चित्त-प्रवृत्ति नहीं ठहरती है। वचन का उच्चारण नहीं करते, क्योंकि उन्होने मौन व्रत धारण किया है। काय से भी तो यदि कोई क्रिया करनी पडती हो तो वही क्रिया करते हैं जो आत्मध्यान की साधक होती है।

इस लोक और परलोक के पदार्थों मे, जीवित रहने और मृत्यु की प्राप्ति मे, सांसारिक सुख में और दुःख मे न राग करते हैं और न द्वेष करते हैं। विपत्ति मे धैर्य धारण कर दु.ख से कभी नहीं घबराते हैं। केवल आत्म स्मरण मनन चिन्तन और ध्यान मे लवलीन रहते हैं।

वे महामुनि वाचना, पृच्छना, परिवर्तन (पाठ) और धर्मोपदेश इन चार प्रकार के स्वाध्याय को छोडकर केवल अनुप्रेक्षा (चिन्तन) स्वाध्याय को ही करते हैं। दिन का पूर्व भाग, मध्याह्न (दिन का मध्य भाग), दिन का अन्त भाग और अर्धरात्रि इन चार कालों मे तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि होती है। ये स्वाध्याय के काल नहीं माने गये हैं। इनमे भी वे अनुप्रेक्षा (चिन्तन) रूप स्वाध्याय करते हैं।

तात्पर्य यह है कि रात्रि दिवस आठों पहर तत्त्व-चिन्तन मे रत रहते हैं। निद्रा नहीं लेते हैं। यदि लेना ही पडे तो अल्प निद्रा लेकर प्रमाद रहित हो पुन तत्त्व-चिन्तना करने लगते हैं।

प्रश्न—इगिणी मरण विधि का आचरण करने वाले मुनियो को स्वाध्याय काल का ध्यान (खयाल) रखना पडता है, उससे उनके चित्त में विक्षेप होता है तथा क्षेत्र अशुद्ध होने पर ध्यान मे प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, अतएव आपने उनके आठों पहर चौबीस घण्टे आत्मध्यान कैसे कहा ?

उत्तर—उन मुनिराज के स्वाध्याय के काल की गवेषणा और क्षेत्र की शुद्धि नहीं होती है। उनको तो श्मशान मे भी ध्यान करने का निषेध नहीं किया गया है।

प्रश्न—क्या वे मुनि के छह आवश्यक (सामयिकादि) कर्म भी नहीं करते हैं ? तथा उपकरणादि का प्रतिलेखन भी नहीं

करते हैं ?

उत्तर—वे यथासमय छह आवश्यक कर्त्तव्य कर्मों का आचरण अवश्य करते हैं। उपकरणो का प्रतिलेखन भी प्रयत्न पूर्वक प्रातः और साय दोनो समय बराबर करते हैं। किन्तु यदि आवश्यक क्रम मे स्खलन होजावे 'मिथ्या मया कृत' मैने मिथ्या किया ऐसा बोलते हैं और वन्दनादि क्रिया के लिए जाते समय 'आसिका' शब्द और वहा से निकलते समय 'निषीधिका' शब्द का उच्चारण करते हैं।

प्रश्न—उन महामुनीश्वरो के यदि पाव मे काटा लग जावे या नेत्र मे कुछ गिर पड़े तो वे उन्हें (कटकादि को) अपने हाथ से निकालते हैं या नहीं ?

उत्तर—उनके पादादि में कटकादि लग जावे या आखों में रज कूडा आदि गिर जावे तो उसको वे अपने हाथ से नहीं निकालते हैं। न किसी को निकालने के लिए कहते हैं। यदि स्वय दूसरा कोई मनुष्य निकालने लगे तो वे मौन धारण करते हैं। रोगादि का प्रतीकार भी नहीं करते हैं। तपश्चरण के प्रभाव से उत्पन्न हुई विक्रिया, चारण, क्षीरस्राविल्व आदि ऋद्धियो का उपयोग भी नहीं करते हैं।

प्रश्न—इगिणी मरण विधि का पालन करने वाले मौन व्रती मुनीश्वर किसी के प्रश्न करने पर उत्तर देते हैं या नहीं ?

उत्तर—देव या मनुष्य के धर्म विषयक प्रश्न करने पर थोडा धर्मोपदेश भी देते हैं ऐसा दूसरे आचार्यों का मत है।

इस प्रकार इगिणी मरण विधि का साधन कर कई कर्म-क्लेश का नाश कर निर्वाण पद प्राप्त करते हैं और कई वैमानिक देव होते हैं।

इस प्रकार इगिणी मरण का वर्णन समाप्त हुआ।

पंडितमरण का तृतीय भेद प्रायोपगमन

णवरिं तणसंथारो पाओवगदस्स होदि पडिसिद्धो।
आदपरपओगेण य पडिसिद्धं सव्वपरियम्मं ॥ २०६४ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—भक्त प्रत्याख्यान विधि का आचरण करने वाला मुनि अपना वैयावृत्त्य आप भी करता है तथा दूसरे से भी करवाता है। इगिणी मरण विधि का पालक अपना वैयावृत्त्य दूसरे से नहीं करवाता, वह अपना वैयावृत्त्य स्वय करता है। किन्तु प्रायोपगमन नामक पडित मरण का आचरण करने वाला महामुनीश्वर अपना वैयावृत्य आप भी नहीं करता है और दूसरो से भी नहीं करवाता है। उसके तृणो का सथारा

भी नहीं होता। उसके लिए सर्व प्रकार की शरीर-शुश्रूषा वर्जित है।

प्रश्न—रोगादि से पीड़ित होने पर औषधादि का सेवन, तथा परीषह उपसर्ग का निवारण, कटकादि का उद्धरण (निकालना) आदि क्रियाएँ वे स्वयं नहीं करते हैं, न दूसरे से करवाते हैं और कोई करना चाहे तो न करने देते हैं। किन्तु मलमूत्रादि का निराकरण तो वे अवश्य करते ही होंगे ?

उत्तर—वे महामुनीश्वर प्रयोग से अर्थात् स्व या परके प्रयत्न से मलमूत्रादि का निराकरण भी नहीं करते हैं। कहा है :—

सो सल्लेहिद देहो जम्हा पाओवगमणमुवजादि।
उच्चरादिविकिंचणमवि णत्थि पओगदो तम्हा ॥ २०६५ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—प्रायोपगमन मरण विधि का प्रारम्भ करने वाला महामुनीश्वर पहले से अपने शरीर को सम्यक् प्रकार से इतना कृश कर लेता है कि उसके शरीर में केवल अस्थि और चर्म ही शेष रह जाता है। पश्चात् प्रायोपगमन संन्यास विधि का प्रारम्भ करता है। अतएव उसके मलमूत्र की किसी प्रकार की बाधा नहीं होती है। बाधा के अभाव मे स्व तथा परके प्रयत्न से मलमूत्र का निराकरण करने की आवश्यकता ही नहीं होती है।

प्रश्न—प्रायोपगमन सन्यास विधि का सेवन करने वाले महामुनीश्वर को यदि व्याघ्रादि किसी दुष्ट तिर्यंच ने अथवा किसी पूर्व जन्म के वैरी मनुष्य या देव ने जीव जन्तुओ से संकुल भूमि भाग मे लेजाकर फेंक दिया हो तो वे क्या करेंगे ? वहा ही रहेंगे या वहा से उठकर अन्य जीव जन्तु रहित स्थान में चले जावेंगे ?

उत्तर—वे महामुनीश्वर परम धैर्य के धारक व एकाग्रचित्त होते हैं। वे वहा से नहीं उठते। उसी जगह आत्मध्यान में लीन रहते हैं। शास्त्र मे कहा है :—

पुढवीआऊतेऊवणप्फदितसेसु जदि वि साहरिदा।
वोसट्ठचत्तदेहो अधाउग पालए तत्थ ॥ २०६६ ॥ [भग. आ]

अर्थ—प्रायोपगमन विधि का सेवन करने वाले परम तपोधन को यदि कोई विरोधी मनुष्य या देव सचित्त पृथ्वी पर नदी समुद्रादि जलाशय मे, दहकती हुई अग्नि के पुंज मे, लहराती हुई सस्य आदि वनस्पति सहित बीहड़ वन में, या जीव जन्तु से व्याप्त किसी

भयानक प्रदेश मे लेजाकर पटक दे तो वे परम धीर वीर मुनीश्वर वहा मे नहीं उठते हैं। आयु पर्यंत उसी स्थान मे ज्यों के त्यो निश्चल रहकर आत्मध्यान में लीन रहते हैं।

मुनिमात्र जल स्नान के त्यागी होते हैं। यदि कोई अज्ञानी जीव भक्ति के वश उनका जलसे अभिषेक करने लगे या गध पुष्पादि से पूजा करने लगे तो वे उस पर प्रेम नहीं करते हैं। तथा कोई विरोधी जीव उनपर शस्त्रादि का प्रहार करने लगे तो वे उस पर क्रोध नहीं करते हैं। कहीं भी वे उठा कर गिरा दिये जावें तो ज्यों के त्यों पड़े रहेंगे। एकाग्रचित्त हो आत्म-स्वरूप मे मग्न रहना ही वे अपना कर्तव्य समझते हैं।

उपसर्ग से हरण किये हुए महामुनि का अन्य स्थान मे मरण होजाने पर वह नीहार मरण कहलाता है और उपसर्ग के अभाव मे मुनिराज का जो स्वकीय स्थान मे मरण होता है वह अनीहार मरण कहलाता है। इस प्रकार प्रायोपगमन सन्यास का वर्णन हुआ।

प्रश्न—उक्त तीन पंडित मरण के भेदों के अतिरिक्त भी पंडित मरण होता है या नहीं ?

आगाढे उवसग्गे दुब्भिक्खे सव्वदो वि दुत्तारे।
कदजोगिसमाधियासिय कारणजादेहिं वि मरंति॥ २०७२ ॥ [भग आ]

अर्थ—बलवान् (प्राणघातक) उपसर्ग के प्राप्त होने तथा दुर्निवार दुष्काल पड़ जाने पर तथा अन्य आयु नाशक कारणो के उपस्थित होने पर परीषह उपसर्ग का सहन करने म समर्थ धीर वीर मुनीश्वर रत्नत्रय की साधना के लिए आत्मध्यान मे लीन हुए प्राण त्याग करने में उत्साही होते हैं।

प्रश्न—इस प्रकार उपसर्गादि आने पर आत्म ध्यान मे लीन होकर प्राणो का उत्सर्ग करने वाले परम ध्यानी मुनि कौन २ हुए हैं ? उनका उदाहरण दीजिए।

उत्तर—धर्मसिंह वृषभसेनादि अनेक पुरुषपुगव हुए हैं। जिन्होने भयानक उपसर्गों के आने पर रत्नत्रय की आराधना करते हुए शान्ति से प्राणो का त्याग किया है।

कोसलय धम्मसीहो अट्ठं साधेदि गिद्धपुच्छेण।
णयरम्मि य कोल्लगिरे चंदसिरिं विप्पजहिदूण ॥ २०७३ ॥ [भग आ.]

अर्थ—अयोध्या के राजा धर्मसिंह ने चन्द्रश्री नाम की अपनी पत्नी का त्यागकर कोल्लगिरि नामक पर्वत पर गृद्धपिच्छ से युक्त होकर अपने आत्मीय अर्थ (रत्नत्रय) की साधना की।

पाटलीपुत्र (पटना) नगर मे अपनी सुता के निमित्त मामा का उपसर्ग सहकर वृषभसेन नाम के पुरुषोत्तम ने आत्मीय अर्थ (रत्नत्रय) का साधन करते हुए वैखानस मरण किया अर्थात् श्वास रोध कर आराधना की।

इस प्रकार अनेक उदाहरण आगम मे विद्यमान हैं। जिन्होंने प्राण घातक सकट के आ जाने पर शान्ति से पडित मरण कर आत्मा के कल्याणकारी सम्यग्दर्शनादि की साधना मे बाधा न आने दी।

साराश यह है कि यह शरीर किसी न किसी निमित्त को पाकर अवश्य नष्ट होने वाला है। इस मनुष्य शरीर को रत्नत्रय धर्म के आचरण मे लगाने से ही इस की सफलता है। इस लिए प्राणो का घात करने वाले भयानक सकट के उपस्थित होने पर भी भेद विज्ञान रूपी सजीवनी औषधि का सेवन करते हुए सब पदार्थों से ममत्व हटाकर आत्म ध्यान मे-आत्मा के स्वरूप चिन्तन मे—ही चित्त को एकाग्र करना उचित है।

अब पण्डित पण्डित मरण का निरूपण करते हुए प्रथम जीवन्मुक्ति की उत्पत्ति का क्रम दिखलाते है।

साहू जहुत्तचारी वट्टंतो अप्पमत्तकालम्मि।
झाणं उवेदि धम्मं पविट्ठिकामो खवगसेढिं ॥ २०८८ ॥ [भग. आ.]

अर्थ--आचार शास्त्रो (आचारागादि) के अनुसार आचरण करने वाला अप्रमत्तगुण स्थान में वर्त्तमान साधु क्षपक श्रेणि मे प्रवेश करने का इच्छुक हुआ उत्कृष्ट विशुद्धि को प्राप्त होकर धर्मध्यान का आश्रय लेता है।

धर्म ध्यान का अन्तरङ्ग कारण आत्म-विशुद्धि है,उसकी निरन्तर प्राप्ति होती रहे इसके लिए बाह्य निमित्त की आवश्यकता होती है। अत. ध्यान के बाह्य निमित्त का निरूपण करते हैं—

सुचिए समे विचित्ते देसे णिज्जंतुए अणुण्णाए।
उज्जुअआयददेहो अचलं बंधेत्तु पलिअंकं ॥ २०८८ ॥ (भग. आ.)

अर्थ-जिस स्थान पर मुनि ध्यान करे वह उसके स्वामी की आज्ञा से प्राप्त हो अर्थात् क्षेत्र के स्वामी मनुष्य देवादि से आज्ञा लेली गई हो। तथा वह स्थान पवित्र हो, समतल और जीव जन्तुओं से रहित हो। उस स्थान में ध्याता निश्चल चार अगुल अन्तर वाले दोनों पाँवो पर खड़ा रह कर अथवा पद्मासन, वीरासन, पर्यंकासनादि मे से जो आसन सुखकर प्रतीत हो उस आसन से बैठकर या उत्तानशयनादि से सोते हुए ध्यान कर सकते हैं। ध्यान की विधि पहले ध्यान के वर्णन में विशद रूप से कह आये हैं। उसको लक्ष्य मे रखकर जिस प्रकार प्रमाद रहित हुआ चित्त की एकाग्रता कर सके वैसे ध्यान का परिकर ग्रहण करे। ध्याता की लेश्या अतिविशुद्ध होनी चाहिए और जिनागम में वर्णित जीवादि तत्वों की तरफ अपना उपयोग केन्द्रित करे और निरन्तर आत्म परिणामों की धारा को उत्तरोत्तर निर्मल करता हुआ धर्म ध्यान मय उपयोग करे।

धर्म ध्यान मे लीन हुआ वह मुनि सप्तम गुण स्थान में अनन्तानुवन्धी क्रोध माना माया लोभ इन चार प्रकृतियों का विसंयोजन (अप्रत्याख्यानादि उत्तर प्रकृति रूप) करता है तथा मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति का क्रम से क्षय करता है। इन सात प्रकृतियों का क्षयकर क्षायिक सम्यक् दृष्टि होकर क्षपक श्रेणि के सम्मुख होता है और सप्तम गुण स्थान के सातिशय भाग में अधःप्रवृत्तकरण को प्राप्त करता है।

साराश यह है कि सम्यक्त्व की घातक उक्त सात प्रकृतियों का क्षय चौथे गुण स्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक चार गुण स्थानों मे कहीं भी होता है। जिस मुनि ने पहले के चतुर्थादि तीन गुण स्थानो मे उक्त सात प्रकृतियों का क्षयकर क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं प्राप्त किया है वह सातवें गुणस्थान मे उनका क्षयकर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर क्षपक श्रेणी का आरोहण करता है और वहा पर अध.प्रवृत्तकरण को प्राप्त करता है।

इसके पश्चात् वह क्षपक मुनि क्षपक श्रेणि की पहली सीढी जो अपूर्वकरण है उस पर आरूढ़ होता है। ये परिणाम कभी पहले प्राप्त नहीं हुए हैं इसलिए इनको अपूर्वकरण कहते हैं। क्योंकि अनादि काल से इस जीव ने धर्म्यध्यान का आराधन कर शुक्लध्यान का प्रथम भेद कभी प्राप्त नहीं किया है। अतः यह अपूर्व (पूर्व काल मे अप्राप्त) करण (परिणाम) कहलाते है।

जब वह मुनि उक्त प्रकार अपूर्वकरण गुणस्थान मे पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक शुक्ल ध्यान को प्राप्त कर लेते हैं तव उसके अनन्तर अनिवृत्ति करण नवमे गुणस्थान मे प्रविष्ट होकर १ निद्रा निद्रा, २ प्रचला प्रचला, ३ स्त्यानगृद्धि इन तीन निद्राओ का क्षय करते हैं। तथा ४ नरकगति, ५ नरकगत्यानुपूर्वी, ६ स्थावर, ७ सूक्ष्म, ८ साधारण, ९ आतप, १० उद्योत, ११ तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, १२ एकेन्द्रिय, १३ द्वीन्द्रिय, १४ त्रीन्द्रिय, १५ चतुरिन्द्रिय, १६ तिर्यंचगति इस प्रकार इन सोलह प्रकृतियो का क्षय अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के प्रथम भाग में करते हैं।

तत्पश्चात् अप्रत्याख्यान १७ क्रोध, १८ मान, १९ माया, २० लोभ तथा प्रत्याख्यान २१ क्रोध, २२ मान, २३ माया, २४ लोभ ये आठ मध्यम कषाय हैं, इनका अनिवृत्ति करण के दूसरे भाग मे क्षय करते हैं।

२५ नपुंसक वेद का अनिवृत्तिकरण के तीसरे भाग मे क्षय करते हैं।

२६ स्त्री वेद का विनाश इसके चतुर्थ भाग मे करते हैं।

२७ हास्य, २८ रति, २९ अरति, ३० शोक, ३१ भय, और ३२ जुगुप्सा इन छह प्रकृतियो का घात इसके पाँचवें भाग मे करते हैं।

छठे भाग में ३३ पुरुष वेद का निपातन करते हैं।

सातवें भाग मे ३४ सज्वलन क्रोध का विघात करते हैं।

आठवें भाग मे ३५ सज्वलन मान का विलय करते हैं।

नवमे भाग मे ३६ संज्वलन माया का क्षय करते है। और बादर-कृष्टि विभाग से लोभ को कृश करते हैं।

इस प्रकार उक्त छत्तीस प्रकृतियो का सहार वे क्षपक अनिवृत्तिकरण के नव भागो मे पृथक्त्व वितर्क वीचार शुक्लध्यान के द्वारा करके सूक्ष्मसाम्परायगुण स्थान मे पहुँचते हैं। वहा पर वे सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्त होकर संज्वलन सूक्ष्म लोभ का अनुभव करते हुए सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवर्ती होकर पृथक्त्व शुक्लध्यान के प्रकर्ष से सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के अन्त समय मे सूक्ष्मसंज्वलन लोभ का भी क्षय करते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण मोहनीय कर्म का क्षय होने पर क्षीणकषाय गुणस्थान को प्राप्त होते हैं। वहा पर वे क्षपक एकत्व वितर्क अवीचार शुक्लध्यान का आराधन करते हैं। अर्थात् क्षीणकषाय गुणस्थान के प्रथम समय मे शुक्लध्यान के द्वितीय भेद एकत्ववितर्क अवीचार की प्राप्ति करते हैं।

इस शुक्लध्यान के द्वितीय भेद के प्रभाव से यथाख्यात चारित्र होता। इस चारित्र के बल से जीव ज्ञानादि गुणो को अन्यथा करने वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिकर्मों का एक समय मे नाश करते हैं।

जैसे तालवृक्ष की मस्तक सूची का छेदन होने पर सम्पूर्ण ताल या वृक्ष सूख जाता है, उसमे नये पत्र पुष्प फलादि नहीं आसकते हैं। वैसे ही मोहनीय कर्म का नाश होने पर ज्ञानावरणादि घातिकर्मों का भी विनाश हो जाता है।

मोहनीय कर्म की सहायता पाकर ही वे ज्ञानावरणादि कर्म मे अज्ञानादि भावो को उत्पन्न करते थे। मोहनीयकर्म का विनाश

होने पर उनमे अज्ञानादि भाव उत्पन्न करने की शक्ति का ह्रास हो जाता है।

क्षीणकषाय के द्विचरम समय (उपान्त समय) मे निन्द्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों का नाश होता है और उसके अन्त समय में चौदह प्रकृतियो (५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण, ५ अन्तराय) का क्षय हो जाता है।

तत्तो णंतरसमए उप्पज्जदि सव्वपज्जयणिबंधं ।
केवलणाण सुद्धं तध केवलदंसणं चेव ॥ २१०३ ॥ [भग. आ]

अथ—उसके अनन्तर ही सम्पूर्ण द्रव्यो की त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों की युगपत् हस्तरेखा समान स्पष्ट प्रत्यक्ष जानने वाला सम्पूर्ण दोष रहित निर्मल केवलज्ञान व केवलदर्शन प्रादुर्भूत होता है। यह किसी पदार्थ में काल मे व किसी क्षेत्र में रुकता नहीं है, इसलिए अव्याघात है। यह निश्चयात्मक है इसलिए असदिग्ध है। समस्त गुणों मे उत्कृष्ट है, इसलिए उत्तम है। मतिज्ञानादि की तरह सकुचित नहीं है; इसलिए असकुचित है। यह नाश से रहित है इसलिए अनिवृत्त है। यह अधूरा नहीं है इसलिए सकल है। इसमें इन्द्रिय और मन की सहायता नहीं है अतएव यह केवल कहलाता है। जैसे भूत, भावी, वर्त्तमान पदार्थों के अनेक चित्र जिसमे लिखे हुए हैं ऐसे चित्रपट को वर्त्तमान मे हम स्पष्ट देख सकते हैं, वैसे ही त्रिकालवर्त्ती समस्त गुण पर्यायो सहित समस्त लोक अलोक का युगपत् एक समय मे चित्रपट की तरह वे केवल ज्ञान के धारक भगवान् केवली क्षपक अवलोकन करते हैं।

वह क्षपक भुज्यमान आयुकर्म के शेष भाग पर्यन्त केवली अवस्था मे विहार करते हैं। अर्थात् अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त्त सहित आठ वर्ष हीन एक पूर्व कोटी वर्ष पर्यन्त सयोग केवलज्ञान अवस्था मे अघाति कर्मों को भोगते हुए इस मनुष्य पर्याय मे रहकर आर्य-क्षेत्र मे विहार करते हैं और यथाख्यात चारित्र को वृद्धिंगत करते हैं।

उसके अनन्तर वे केवली भगवान् अघाति कर्मों का नाश करने के लिए अवशिष्ट जो सात प्रकार का योग है उसका निरोध करते हैं। वह योग निरोध बिना इच्छा के ही होता है। अर्थात् सत्य वचन योग, अनुभय वचन योग, सत्यमनोयोग, अनुभयमनोयोग, औदारिक काययोग, औदारिक मिश्रकाययोग, और कार्मणयोग इन सातो योगो के व्यापार को रोकते हैं।

समुद्घात का वर्णन

उक्कस्सएण छम्मासाउगसेसम्मि केवली जादा ।
वच्चंति समुग्घादं सेसा भज्जा समुग्घादे ॥ २१०६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—उत्कृष्ट रूप से आयु के छह मास बाकी रहने पर जिनको केवल ज्ञान उत्पन्न होता है वे अवश्य समुद्घात करते हैं। शेष केवलियों के लिए समुद्घात विकल्पनीय है।

भावार्थ—मूल शरीर को न छोड़कर आत्म-प्रदेशों का दण्ड कपाटादि रूप होकर शरीर के बाहर निकलना समुद्घात कहलाता है। जिनको उत्कृष्ट छह मास की आयु शेष रहने पर केवल ज्ञान उत्पन्न हो जावे वे तो नियम से समुद्घात करते हैं। जिनके नाम, गोत्र और वेदनीय की स्थिति आयु कर्म के समान होती है वे केवली समुद्घात नहीं करते हैं। जिनके नाम गोत्र और वेदनीय कर्म की स्थिति आयु कर्म से अधिक होती है वे केवली समुद्घात करते हैं।

प्रश्न—आयु का कितना काल शेष रहने पर केवली भगवान् समुद्घात करते हैं ?

उत्तर—भुज्यमान आयु का अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाता है, उस समय उक्त तीनों कर्मों की स्थिति आयु कर्म के समान करने के लिए केवली भगवान् समुद्घात करते हैं।

प्रश्न—समुद्घात करने से नामादि कर्मों की अधिक स्थिति कम कैसे हो जाती है ?

उत्तर—जैसे सिमटा हुआ गीला वस्त्र अधिक काल में सूखता है पर वही कपड़ा फैला देने पर शीघ्र सूख जाता है वैसे ही समुद्घात के द्वारा कर्म की स्थिति का कारण जो स्नेह (चिकनाई) है वह सूख जाती है और वह शीघ्र निर्जरा के योग्य हो जाता है। अर्थात् कर्मों की स्थिति कम हो जाती है।

प्रश्न—केवली भगवान् नामादि कर्मों को समान करने के लिए किस तरह समुद्घात करते हैं ? और उसमे कितना काल लगता है ?

उत्तर—केवली भगवान आत्म-प्रदेशों को प्रथम समय मे दण्डाकार निकालते हैं। दूसरे समय मे वे कपाट रूप होते हैं। तीसरे समय मे प्रतराकार होते हैं अर्थात् वातवलय को छोड़कर सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होते हैं। चौथे समय मे वातवलय सहित समस्त लोक मे व्याप्त हो जाते हैं। पाचवें समय में उनको सकोच कर प्रतराकार करते हैं। छठे समय मे कपाटाकार करते हैं। सातवें समय मे दण्डाकार करते हैं और आठवें समय मे वे आत्म शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। ये चार समय संकोच करने के हैं। इस प्रकार समुद्घात मे आठ समय लगते हैं।

इस प्रकार समुद्घात के द्वारा तीनो कर्मों को स्थिती आयु कर्म के समान करके मुक्ति की प्राप्ति के लिए योग का निरोध करते हैं

योगनिरोध

प्रश्न—योगो का निरोध किस क्रम से करते हैं ?

उत्तर—वे केवली भगवान् बादर वचनयोग और बादर मनोयोग का बादर काययोग मे स्थिर निरोध करते हैं। तथा बादर काययोग का सूक्ष्म काययोग मे स्थिर होकर निरोध करते हैं। तथा सूक्ष्म वचनयोग, सूक्ष्म मनोयोग को भी सूक्ष्म काययोग मे स्थिर होकर रोकते हैं।

उत्कृष्ट लेश्या के धारक वे केवली भगवान् सूक्ष्म काययोग से सातावेदनीय कर्म बन्ध करते हैं। तब उनके सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नाम का शुक्लध्यान होता है। उस ध्यान द्वारा वे सूक्ष्म काय योग का निरोध करते हैं। अब कोई योग नहीं रहता है, इसलिए उनके आत्म प्रदेश निश्चल हो जाते हैं। - ब उनके सातावेदनीय कर्म का भी बन्ध नहीं होता है। क्योकि उनके बन्ध का कारण केवल योग था उसका भी नाश हो जाने पर उनके समस्त बन्ध का अभाव हो जाता है।

योगनिरोध के बाद कौनसी कर्म प्रकृतियां रहती हैं ?

उस समय उनके १ मनुष्यगति, २ पचेन्द्रिय जाति, ३ पर्याप्ति, ४ आदेय ५ सुभग, ६ यशकीर्त्ति, ७ सातावेदनीय, या असातावेदनीय इन दोनों मे से एक, ८ त्रस, ९,बादर, १० उच्चगोत्र और ११ मनुष्यायु इन ग्यारह कर्मों का वे अनुभव करते हैं। जो तीर्थंकर केवली हैं, उनके एक तीर्थंकर प्रकृति अधिक होने से उनके १२ कर्मों का अनुभव होता है। जो मूक केवली हैं, उनके उक्त ग्यारह कर्मों का ही उदय रहता है।

औदारिक शरीर, तैजस शरीर तथा कार्मण शरीर इन तीन शरीर का बन्ध नष्ट करने के लिए वे अयोग केवली भगवान् समुच्छिन्न क्रियाप्रतिपाती (व्युपरतक्रियानिवर्त्ती) नामक शुक्ल ध्यान के अर्थ भेद को ध्याते हैं।

अयोग केवली गुणस्थान का काल 'अ इ उ ऋ लृ,' इन पाच ह्रस्वस्वर के उच्चारण काल के समान काल है। अर्थात जितना समय इन पाच स्वरों के उच्चारण करने मे लगता है, उतने समय तक वह इस शरीर मे रहते हैं।

इस गुणस्थान के उपान्त्य (द्विचरम) समय मे उदय मे नहीं आई हुई सब प्रकृतियों का क्षय करते हैं। अर्थात् तिहत्तर प्रकृतियो का क्षय करते हैं। और इसके अन्त समय मे वह अयोग केवली भगवान् यदि तीर्थंकर हो तो बारह प्रकृतियो का और सामान्य केवली हों तो ग्यारह प्रकृतियों का क्षय करते हैं।

नाम कर्म के क्षय से तैजस बन्ध का नाश होता है और आयु कर्म के नाश से औदारिक बन्ध का क्षय होता है। इस प्रकार बन्धन से मुक्त हुए वे केवली भगवान बन्धन मुक्त एरण्ड बीज के समान उत्कृष्ट वेग से ऊपर गति करके सिद्धालय में जाकर विराजमान होते हैं

शुद्ध जीव की गति कैसे होती है ?

जैसे मिट्टी आदि के लेप से युक्त तूम्बी जल में डूबी रहती है, लेप रहित होते ही जल के ऊपर आजाती है, वैसे ही जीव कर्म लेप से युक्त हुए संसार में पडे रहते हैं और कर्म लेप से रहित होकर प्रयोगवश से स्वभावतः ऊर्ध्व गमन कर लोक के शिखर में जाकर विराजमान होते हैं। वे एक समय में सात राजू क्षेत्र को पार कर वातवलय के अन्त भाग में जाकर निश्चल हुए आत्म-स्वरूप में लीन रहते हैं।

जैसे वायु के झोंके के अभाव में अग्नि की लौ सदा ऊर्ध्व गमन करती है वैसे कर्मोदय के झोंके से रहित हुए मुक्त परमात्मा स्वभाव से ऊर्ध्व गमन करते हैं। आगे गति में कारण भूत धर्म द्रव्य के न होने से लोक के अन्तिम सिरे पर जाकर वे स्थिर हो जाते हैं। अलोक में उनका गमन इसलिए नहीं होता है कि वहां धर्म द्रव्य नहीं है। धर्म द्रव्य ही गति करते हुए जीव पुद्गलों का गमन कर्म में सहायक होता है। जैसे रेल के गमन करने के लिए पटरी तथा मछली की गति के लिए जल सहायक होता है वैसे ही जीव और पुद्गलों की गमन क्रिया में धर्म द्रव्य सहकारी होता है। वह आगे नहीं है, अतः मुक्त जीव लोक की अन्तिम सीमा पर जो सिद्धालय है, वहां विराजमान हो जाते हैं। सो ही कहा है :—

सिद्धशिला कहां है ?

ईसप्पब्भाराए उवरिं अच्छदि सो जोयणम्मि सीदाए।
धुवमचलमजरठाणं लोगसिहरमस्सिदो सिद्धो ॥ २१३३ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—ईषत्प्राग्भारा नाम की आठवीं पृथ्वी है। उसके ऊपर किंचित् ऊन (कुछ कम) एक योजन प्रमाण वातवलय का क्षेत्र है। उसके अन्त मे जो लोक का शिखर है उसमें सिद्ध भगवान विराजमान हैं। वे शाश्वत और अचल हैं। तथा जरा जन्म मरणादि दोषों से रहित अनन्त चतुष्टय में मग्न हैं।

सारांश यह है कि लोक के अग्रभाग में ईषत्प्राग्भार नाम की एक पृथ्वी है। जो मध्य में आठ योजन मोटी (जाडी) है और फिर क्रमशः हीन (पतली) होती हुई अन्त में सिरे पर अंगुल के असंख्यातवें भाग पतली हो गई है। उसका विस्तार (लम्बाई-चौडाई)

पैंतालीस लाख योजन प्रमाण है। वह उत्तानित श्वेत छत्र के समान आकार वाली है। उसकी परिधि (गोलाई) १४२३०२४६ एक करोड बियालीस लाख तीस हजार दोसौ उनचास योजन प्रमाण है। उसके ऊपर कुछ कम एक योजन प्रमाण वातवलय है। उसके अन्तिम भाग में अपनी अपनी अन्तिम शरीर प्रमाण अवगाहना से सिद्ध भगवान् विराजमान हैं। वे शाश्वत हैं, अचल हैं और जरा मरणादि सब दूषणों से पृथक् हैं तथा अनन्त दर्शन-ज्ञान सुख और वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय से शोभित हैं।

सिद्ध भगवान् की अवगाहना (आत्मप्रदेशों का आकार) जिस शरीर से योग निरोध कर मुक्त हुए हैं, उस चरम शरीर से किंचित् न्यून होती है। अर्थात् नख केशादि जिन अवयवों में आत्म प्रदेश नहीं होता हैं, उतनी कम अवगाहना के धारक होते हैं।

सिद्धावस्था का सुख

प्रश्न—सिद्ध भगवान् को किस प्रकार का सुख होता है ?

देविंदचक्कवट्टी इंदियसोक्खं च जं अणुहवंति।
सद्दरसरूवगंधप्फरिसप्पयमुत्तमं लोए ॥ २१४८॥
अव्वाबाधं च सुहं सिद्धा जं अणुहवंति लोगग्गे।
तस्स हु अणंतभागो इंदियसोक्खं तयं होज्ज ॥ २१४६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—लोक में उत्कृष्ट सुख का अनुभव करने वाले देवेन्द्र तथा चक्रवर्ती उत्तमोत्तम स्पर्श रस गन्ध रूप व शब्द इत्यादि का सेवन कर जो सुख भोगते हैं वह सुख इस लोक मे सर्वोत्कृष्ट माना गया है। वह लोक का एकत्र किया हुआ सम्पूर्ण सुख सिद्ध भगवान् के सुख का अनन्तवाँ भाग है और यह कहना भी केवल समझाने के लिए है, क्योंकि संसार सुख और मुक्ति सुख की जाति भिन्न है।

भावार्थ—सिद्धों का सुख अतीन्द्रिय व आत्मजन्य है। संसार के सुख पराधीन इन्द्रियजन्य होने से तुच्छ हैं। सिद्धों का सुख अव्याबाध (बाधा रहित) है और सांसारिक सुख बाधा सहित है। अतः आत्मजन्य और पुद्गलजन्य सुख मे समानता किसी प्रकार नहीं हो सकती है। संसार का सुख सुख नहीं, किन्तु दुःख की किंचित् निवृत्ति रूप कल्पना मात्र है। इसलिए वास्तव मे सुख नहीं है और सिद्ध भगवान् के कर्मों का सर्वथा अभाव होने से लेश मात्र दुःख का अस्तित्व नहीं रहा है। वहाँ केवल निरन्तर अनुपम सुख का स्रोत बहता रहता है। अतः उनको अनन्त सुखी कहा जाता है। ऊपर दृष्टान्त द्वारा जो सिद्ध भगवान् के सुख की तुलना की गई है वह केवल मूढ बुद्धि ससारी

जीवों के समझाने मात्र के लिए है उनका अनिन्द्रिय सुख का निम्न प्रकार वर्णन किया गया है।

अणुवममेयमक्खयममलमजरमरुजममयमभवं च।
एयंतियमच्चवंतियमव्वाबाधं सुहमजेयं ॥ २१५३ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—हे भव्योत्तमों! इस जगत् मे सिद्धों के सुख के समान या उससे अधिक सुख दूसरा कोई सुख नहीं है जिसकी उपमा सिद्ध सुख को दी जा सके। इसलिए सिद्धों का सुख अनुपम (उपमा रहति) है। छद्मस्थ जीव सिद्धों के सुख को जानने में तथा उसका परिमाण प्रतीत करने मे असमर्थ है, अत वह अतुल (अमेय) है। इसमें प्रतिपक्षी दुःख का सर्वथा अभाव है, इसलिए यह अक्षय है। इसमे राग द्वेषादि का सम्पर्क नहीं है, अत यह अमल है। जरा (वृद्धावस्था) से रहित होने से यह अजर है। इसमे रोग का संसर्ग तक नहीं है; इस लिए यह अरुज है। भय रहित होने से यह अभय है। संसार भ्रमण से मुक्त है अतः येह अभव है। यह सिद्ध सुख आत्मा से ही उत्पन्न होता है, इसलिए इसको एकान्तिक असहाय कहते हैं। इस प्रकार यह अनिन्द्रिय सिद्धो का सुख सब बाधाओं से रहित होने के कारण अव्याबाध सुख है।

इस भगवती (समस्त ऐश्वर्य प्राप्त कराने वाली) सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपश्चरण की आराधना का आराधन (सेवन) करने से यह आत्मा तत्काल या सात आठ भव के भीतर परमानन्द पद को प्राप्त करलेती है। अतएव हे भव्य जीवो! इस भगवता का सेवन कर स्वय भगवान बनो।

इस प्रकार श्री १०८ दिगम्बर जैनाचार्य श्री सूर्यसागरजी महाराज द्वारा विरचित
सयम-प्रकाश नामक ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध की वृहत्समाधि अधिकार
नामक पञ्चम किरण समाप्त हुई।

❁ प्रकाशकीय ❁

संयम-प्रकाश की तृतीय किरण पाठको के हाथ में काफी विलम्ब के साथ पहुच रही है। यह विलम्ब पाठको को तो असह्य हुआ ही है पर स्वयं हमे भी असह्य होगया है। पर यह अकारण नहीं है, इसके कई कारण हैं। सब से बडा कारण तो प्रेस की अव्यवस्था है। किन्तु इस अव्यवस्था के लिए प्रेस स्वयं भी पूर्ण उत्तरदायी नहीं ठहराया जासकता। आजकल कर्मचारियो का मिलना बहुत मुश्किल होरहा है। यथोचित वेतन देने पर भी आदमी नहीं मिलते। इसके अतिरिक्त कागज आदि के सम्बन्ध मे समय २ पर कई ऐसी बातें होगई है जिनके कारण भी कुछ विलम्ब हुआ। आशा है इस विवशता का खयाल कर पाठक इस विलम्ब के लिए हमे क्षमा करेंगे। भविष्य मे ऐसा विलम्ब न हो इसके लिए हम अभी से काफी सतर्क हैं और यह आशा करते हैं कि इसकी "अनगार-भावना अधिकार" नामक चतुर्थ किरण पाठको के हाथो मे अप्रेल के अन्तिम सप्ताह तक पहुच जावेगी। प्रूफ सशोधन मे कई गलतिया रहगई हैं—प्रेस कर्मचारियो की असावधानी से पृष्ठ नं० ५२० उल्टा छप गया है-इसके लिए भी हम क्षमा-प्रार्थी हैं।

चैनसुखदास जैन न्यायतीर्थ,

मन्त्री—

श्री आचार्य सूर्यसागर दि० जैन ग्रन्थमाला समिति,

मनिहारों का रास्ता, जयपुर सिटी।

❁ विषय-सूची ❁

विषय	पृष्ठ संख्या
पचाचाराधिकार	
मङ्गलाचरण	३१३
आचार के भेद	"
दर्शनाचार	"
सम्यग्दर्शन की महिमा	३१४
सम्यग्दृष्टि के भोग भी निर्जरा के कारण कैसे हैं ?	३१५
अन्य कार्य करते हुए भी भेद-प्रतीति कैसे रहती है ?	३१६
सम्यग्दर्शन के भेद वर्णन में विवक्षा भेद	३१६
सराग और वीतराग सम्यक्त्व	३१७
प्रशमादि का स्वरूप	"
सम्यक्त्व होने का ज्ञान कैसे होता है ?	३१७
निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शन	३१८
क्षायिक सम्यग्दर्शन का स्वरूप	"
अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व का घात करती है या चारित्र का	३१९
क्षायिक सम्यग्दर्शन की महत्ता	३२०
क्षायिक सम्यग्दर्शन की स्थिति	३२१
" " किसके होता है ?	३२२
क्षायिक सम्यग्दर्शन होने पर भी जीव ससार को क्यों नहीं छोडता	३२३
क्षायिक सम्यक्त्व कौन से गुणस्थानों में उत्पन्न होता है	३२४
औपशमिक सम्यक्त्व का स्वरूप	"
क्षायिक और औपशमिक मे भेद	३२५
उपशम सम्यक्त्व के भेद	"
प्रथमोपशम सम्यक्त्व	"
द्वितीयोपशम सम्यक्त्व	३२६
क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का स्वरूप	३२७
क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का लक्षण	"
क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति और उसके गुणस्थान	३२८
सम्यक्त्व के नौ भेद	"
क्षायोपशमिक के तीन भेद	"
वेदक सम्यक्त्व के चार भेद	"
सम्यक्त्व के आज्ञादि दश भेद	३२९
आज्ञा सम्यक्त्व	"
मार्ग "	"
उपदेश "	३३०
सूत्र "	"
बीजज "	"
सक्षेप "	३३२
विस्तार "	"
अर्थ "	"

विषय	पृष्ठ संख्या
अवगाढ "	३३३
परमावगाढ "	"
सम्यग्दृष्टि के संवेग आदि आठ गुण	"
आठ अङ्गो से आठ गुणो का भेद	३३४
पच्चीस मल दोष	३३४
सम्यग्ज्ञानाचार	३३५
ज्ञान के भेद	३३६
मिथ्याज्ञानो का स्वरूप	"
कुमति ज्ञान	३३७
कुश्रुत "	"
कुअवधि "	"
मतिज्ञान के अवग्रहादि चार भेद	३३८
अवग्रहादि के विषय भूत बारह प्रकार के पदार्थों का वर्णन	३३९
परोक्ष ज्ञान और उसके भेद	३४१
स्मृति	"
प्रत्यभिज्ञान	"
तर्क	"
अनुमान	३४२
हेत्वाभास के भेद	"
अनुमान के अङ्ग	३४४
हेतु के भेद	३४५
आगम	३४६
श्रुतज्ञान	"

विषय	पृष्ठ संख्या
श्रुतज्ञान के दो भेद	३४७
श्रुतज्ञान के बीस भेद	३४८
पर्याय	"
पर्याय समास	"
अक्षर	३४९
अक्षर समास	३५०
पद	"
संघात	३५१
पदसमास	"
प्रतिपत्तिक	"
संघात समास	"
अनुयोग	"
प्रतिपत्तिकसमास	३५२
प्राभृतप्राभृत	३५२
अनुयोगसमास	"
प्राभृत	"
प्राभृतप्राभृतसमास	"
वस्तु	३५३
प्राभृतसमास	"
पूर्व	"
चौदह पूर्वों के नाम	"
वस्तुसमास	३५४
पूर्वसमास	"
चौदह पूर्वों मे वस्तु एवं प्राभृत अधिकार की सख्या	"
श्रुतज्ञान के भेदों का उपसंहार	"

विषय	पृष्ठ संख्या
द्वादशांग के पदो की संख्या	३५५
अङ्ग बाह्य के अक्षरो की संख्या	"
अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य के अपुनरुक्त अक्षर	३५६
अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य के अक्षरों का विभाग	३५७
अङ्गों और पूर्वों के पदों की संख्या	"
अङ्गो के भेद	३५८
आचाराङ्ग	३५८
सूत्र कृताङ्ग	"
स्थानाङ्ग	"
समवायाङ्ग	"
व्याख्या प्रज्ञप्ति	३५९
नाथ धर्मकथा (ज्ञातृ धर्मकथा)	३५९
उपासकाध्ययन	३६०
अन्तकृद्दशाङ्ग	"
अनुत्तरौपपादिक दशाङ्ग	"
प्रश्न व्याकरण	"
आक्षेपिणी कथा	३६१
विक्षेपिणी कथा	"
संवेजनी कथा	"
निर्वेजनी कथा	"
विपाक सूत्र	"
ग्यारह अङ्गो में से प्रत्येक अङ्ग के मध्यम पदो की संख्या	"
ग्यारह अङ्गों के सम्पूर्ण पदो का जोड	३६२
दृष्टिवाद अङ्ग	३६२
बारहवें दृष्टिवाद अङ्ग के भेद	३६३
१ परिकर्म	"
चन्द्र प्रज्ञप्ति	३६३
सूर्य "	"
जम्बूद्वीप "	"
द्वीपसागर "	"
व्याख्या "	३६४
२ सूत्र	"
३ प्रथमानुयोग	"
४ पूर्वगत	"
५ चूलिका	३६४
जलगता चूलिका	"
स्थलगता "	"
मायागता "	"
रूपगता "	"
आकाशगता"	३६५
परिकर्मादि एवं उनके भेदादि के पदों का प्रमाण	"
चौदह पूर्व और उनके पदों की संख्या	३६५
उत्पाद पूर्व	३६६
आग्रायणीय पूर्व	"
वीर्यानुवाद "	"
अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व	"
ज्ञान प्रवाद पूर्व	३६७
सत्यप्रवाद "	"

विषय	पृष्ठ संख्या
वचन गुप्ति	३६७
वचन संस्कार के कारण	,,
वचन प्रयोग	,,
१२ प्रकार की भाषा और उनका स्वरूप	३६८
आत्म-प्रवाद पूर्व	३६९
कर्म प्रवादपूर्व	३७१
प्रत्याख्यान ,,	,,
विद्यानुवाद ,,	,,
कल्याणवाद ,,	,,
प्राणवाद ,,	,,
क्रिया विशाल पूर्व	३७१
त्रिलोक बिन्दुसार पूर्व	,,
अङ्गबाह्य श्रुत के भेद	३७२
सामायिक	,,
चतुर्विंशति स्तव	,,
वन्दना प्रकीर्णक	,,
प्रतिक्रमण ,,	३७३
वैनयिक ,,	,,
कृतिकर्म ,,	,,
दशवैकालिक ,,	,,
उत्तराध्ययन ,,	,,
कल्पव्यवहार ,,	,,
कल्प्याकल्प्य ,,	,,
महाकल्प ,,	३७४
पुण्डरीक ,,	,,
महापुण्डरीक ,,	,,

विषय	पृष्ठ संख्या
निषिद्धिका ,,	३७४
श्रुतज्ञान की महिमा	,,
अवधिज्ञान का स्वरूप और उसके भेद	३७५
भवप्रत्यय अवधि	३७५
गुणप्रत्यय ,,	,,
अनुगामी व इसके भेद	३७६
क्षेत्रानुगामी	,,
भवानुगामी	,,
उभयानुगामी	,,
अननुगामी व उसके भेद	,,
क्षेत्राननुगामी	,,
भवाननुगामी	,,
उभयाननुगामी	,,
अवस्थित	३७७
अनवस्थित	,,
वर्द्धमान	,,
हीयमान	,,
अवधिज्ञान के देशावधि, परमावधि व सर्वावधि नामक ३ भेद	,,
देशावधि के जघन्य द्रव्य का प्रमाण	,,
देशावधि के जघन्य क्षेत्र, काल व भाव का प्रमाण	३६८
देशावधि के उत्कृष्ट द्रव्य व क्षेत्र का प्रमाण	,,
,, ,, काल व भाव का प्रमाण	३७९
परमावधि के विषयभूत द्रव्य का प्रमाण	३७९
,, ,, उत्कृष्ट द्रव्य ,,	,,
,, ,, क्षेत्र व काल ,,	३८०

विषय	पृष्ठ संख्या
असंख्यात गुणित क्रम का विधान	३८०
परमावधि के विषयभूत भाव	३८१
सर्वावधि को विषयभूत द्रव्य	३८१
,, क्षेत्र, काल व भाव	३८२
मनःपर्यय ज्ञान का स्वरूप	३८२
ऋजुमति मन पर्यय का स्वरूप, भेद और विषय	,,
विपुलमति मन पर्यय का लक्षण व भेद	३८४
विपुलमति के विषय आदि की मर्यादा	३८५
ऋजुमति और विपुलमति में अन्तर	३८६
अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में अन्तर	३८७
केवलज्ञान का स्वरूप	३८८
ज्ञानाचार के आठ अङ्ग	,,
कालाचार	३८९
स्वाध्याय का काल	,,
दिशाओं की शुद्धि	३९०
अस्वाध्याय काल	,,
द्रव्य-क्षेत्र और भाव शुद्धि	३९१
अकालादि में किन शास्त्रों का स्वाध्याय वर्जनीय है	३९१
अकाल में भी किनका स्वाध्याय वर्जनीय नहीं है	३९२
विनय शुद्धि	,,
बहुमान का स्वरूप	३९३
उपधान शुद्धि	३९३
अनिह्नव का स्वरूप	,,
शब्द, अर्थ और उभय शुद्धि	३९४
विनय का महात्म्य	,,

विषय	पृष्ठ संख्या
चारित्राचार	३९५
महाव्रत का स्वरूप	,,
तीन गुप्तियों का स्वरूप	,,
संयम का स्वरूप	३९७
संयम की उत्पत्ति का कारण	,,
सामायिक संयम का स्वरूप	३९८
छेदोपस्थापना संयम का स्वरूप	,,
परिहार विशुद्धि संयम का स्वरूप	३९९
सूक्ष्म-साम्पराय संयम का स्वरूप	४००
यथाख्यात संयम का स्वरूप	४०१
तप आचार	४०२
तप के भेद	४०३
बाह्य तप के भेद	,,
अनशन तप	४०४
अवमौदर्य तप	,,
रस परित्याग ,,	४०५
वृत्तिपरिसंख्यान ,,	,,
काय-क्लेश ,,	४०७
विविक्त-शय्यासन ,,	४०८
विविक्त-वसति किसे कहते हैं	,,
आभ्यन्तर तप के भेद	४०९
प्रायश्चित का लक्षण और उसके भेद	,,
आलोचना का स्वरूप	४१०
,, के दोष	,,
विनय तप	४१२

विषय	पृष्ठ संख्या
दर्शन विनय	४१३
ज्ञान विनय	"
चारित्र विनय	"
इन्द्रिय–कषाय–प्रणिधान क्या है	४१४
गुप्ति और उसके भेद	"
समिति और उसके भेद	"
तप विनय	४१५
उपचार विनय	४१६
उपचार विनय के भेद	"
प्रत्यक्ष कायिक विनय	४१७
वाचनिक विनय	४१८
मानसिक विनय	४१९
परोक्ष विनय	"
गुरु के अतिरिक्त अन्य का विनय	४२०
विनय के अभाव मे दोषो की उत्पत्ति	"
वैयावृत्य तप	४२१
साधु किसकी वैयावृत्य करे	"
दश प्रकार के साधु और उनका स्वरूप	४२२
वैयावृत्य की विधि	४२३
वैयावृत्य नहीं करने वालो के प्रति	"
वैयावृत्य करने से १६ गुण होते हैं उनका वर्णन	४२४
नोट—पृष्ठ ४२४ में सयम और सहायता को अलग २ गिना कर गल्ती से १७ बता दिये हैं सो ठीक करके पढ़ें।	
१ गुण परिणति	
२ श्रद्धा	"
३ वात्सल्य	"
	४२५

विषय	पृष्ठ संख्या
४ भक्ति	४२५
५ पात्रलाभ	"
६ सधान	"
७ तप	४२५
८ पूजा	"
९ तीर्थ की अव्युच्छित्ति	४२६
१० समाधि	"
११ आज्ञा पालन	"
१२ सयम सहायता	"
१३ दान	"
१४ निर्विचिकित्सा	"
१५ प्रभावना	४२७
१६ कार्यनिर्वाह	"
स्वाध्याय तप के भेद	"
१ वाचना	"
२ पृच्छना	४२८
३ अनुप्रेक्षा	"
४ परिवर्त्तन	"
५ धर्मकथा स्तुतिमगल	"
स्वाध्याय का महत्व	४२९
धर्मोपदेश (धर्मकथा) के भेद	४३०
ध्यान तप	
ध्यान का लक्षण	४३२
ध्यान के भेद	४३३
१ प्रशस्त ध्यान	"
२ अप्रशस्त ध्यान	"

विषय	पृष्ठ संख्या
प्रशस्त ध्यान का कारण	४३३
अप्रशस्त ध्यान का कारण	"
प्रशस्त व अप्रशस्त ध्यान के ४ भेद	४३४
चारो ध्यान किस गति का कारण है	४३४
आर्त्त और रौद्रध्यान मे किसका चिन्तन होता है	"
धर्म्यध्यान और शुक्ल ध्यान मे किसका चिन्तन होता है	४३५
आर्त्तध्यान के चार भेद	"
१ अनिष्टसयोगज आर्त्तध्यान	"
२ इष्ट वियोगज "	४३६
३ रोगी-पीडा-चिन्तन"	"
४ निदान "	"
आर्त्तध्यान की हेयता	४३७
आर्त्तध्यानी के कौनसा गुणस्थान होता है	४३८
छठे गुणस्थानवर्त्ती मुनि के आर्त्तध्यान कैसे ?	"
आर्त्तध्यानी के बाह्य चिह्न	४३९
रौद्रध्यान	४४०
रौद्रध्यान के चार भेद	"
हिंसानन्द नामा रौद्रध्यान	४४१
" " रौद्रध्यानी के विचार	४४२
रौद्रध्यान का काल और गुणस्थान	४४३
पाचवें गुणस्थान मे रौद्रध्यान कैसे ?	"
सम्यग्दृष्टि क्या रौद्रध्यान से नरक मे गमन करेगा ?	"
ानन्द नामा रौद्रध्यान	४४४
ोर्यानन्द नामा रौद्रध्यान	"
ानन्द नामा रौद्रध्यान	४४५
के बाह्यचिह्न	४४६

विषय	पृष्ठ संख्या
रौद्रध्यान का कारण और फल	४४६
धर्म्यध्यान का स्वरूप	४४७
धर्म्यध्यान का ध्याता कौन है	४४८
धर्म्यध्यान की चार भावनाएँ	"
१ मैत्री भावना	"
२ कारुण्य भावना	४४९
३ प्रमोद भावना	४५०
४ माध्यस्थ्य भावना	४५१
उक्त चारो भावनाओं का फल	४५२
ध्यान के अयोग्यस्थान	"
ध्यान के योग्य स्थान	४५४
ध्यान के उपयोगी आसन	४५६
स्थान और आसन ध्यान सिद्धि के उपाय हैं	४५८
ध्यान करने का पात्र	"
ध्यान के समय दिशा का विधान	४५९
धर्म्यध्यान के अधिकारी	"
धर्म्यध्यान के ध्याता के भेद	४६०
धर्म्यध्यान के ध्याता की मुद्रा	
प्राणायाम की उपयोगिता	४६१
प्राणायाम के भेद	४६२
१ पूरक	"
२ कुम्भक	"
३ रेचक	४६३
परमेश्वर वायु	४६३
मण्डल चतुष्टय का स्वरूप	४६४
१ पृथ्वी मण्डल	४६५

विषय	पृष्ठ संख्या
२ जल मण्डल	४६५
३ वायु मण्डल	"
४ अग्नि मण्डल	४६६
पृथ्वीमण्डल वायु के चिह्न	"
जलमण्डल वायु के चिह्न	"
पवनमण्डल वायु के चिह्न	४६७
अग्नि मण्डल	"
वायुओं का उपयोग	"
वायु का शुभाशुभ फल	४६८
स्वरोदय का विशेष स्वरूप	"
धर्म्यध्यान के भेद	४६९
१ आज्ञाविचय धर्म्यध्यान	४७०
२ अपायविचय "	४७२
ध्यान मे किस प्रकार चिन्तन करें	४७३
३ विपाकविचय धर्म्यध्यान	४७४
कर्मों की दश अवस्थायें और उनका स्वरूप	४७५
गुणस्थान कम से कर्म प्रकृतियो का बन्ध	४७५
" उदय	४७७
" की उदीरणा	४७८
" सत्ता	"
कर्म की आठ मूल प्रकृतिया और उनका स्वरूप	४७९
४ संस्थान विचय धर्म्यध्यान	४८१
लोक का स्वरूप	"
लोक के तीन भाग	४८२
अधोलोक का स्वरूप	"

विषय	पृष्ठ संख्या
नरक और वहा के निवासी नारकियो का वर्णन	४८२
मध्यलोक का वर्णन	४८६
ऊर्ध्वलोक का वर्णन	४८७
स्वर्गों का वर्णन	४८८
संस्थान विचय धर्म्यध्यान के भेद	४९३
१ पिण्डस्थ ध्यान और उसकी धारणाएँ	"
१ पार्थिवी धारणा	"
२ आग्नेयी धारणा	४९४
३ श्वसना (वायवीय) धारणा	४९५
४ वारुणी धारणा	"
५ तत्त्वरूपवती धारणा	"
पिण्डस्थ ध्यान का उपसहार	४९६
पिण्डस्थ ध्यान का प्रत्यक्ष फल	"
२ पदस्थ ध्यान	४९७
वर्णमातृका का ध्यान	४९८
वर्णमातृका के ध्यान से बाह्य लाभ	"
मन्त्रराज का ध्यान	४९९
मन्त्रराज के ध्यान की विधि	"
प्रणवमन्त्र (ॐ कार) के ध्यान का वर्णन	५०१
पञ्चपरमेष्ठी के नमस्कारात्मक मन्त्रों का ध्यान	"
पैंतीस अक्षरो का मन्त्र	५०२
सोलह "	"
छह अक्षरो के मन्त्र	"
पाच "	"
चार "	"

विषय	पृष्ठ संख्या
दो "	५०२
एकाक्षर मन्त्र	५०३
सब अक्षरो के मन्त्रो का वर्णन	५०३
नमस्कार मन्त्र का प्रभाव और फल	५०४
सोलह आदि अक्षरो के नमस्कार मन्त्रों की महिमा	"
तेरह अक्षरो का मन्त्र	५०६
पञ्चाक्षर मन्त्र	"
क्लेश नाशक मन्त्र	"
अष्टाक्षर मन्त्राराधन की विधि	५०७
'ह्रीँ' इस मन्त्रराज के ध्यान की विधि	"
उक्त मन्त्र का माहात्म्य	५०८
ह्रींकार के ध्यान से सर्वज्ञ का दर्शन	५०९
" " मुक्ति-प्राप्ति	५१०
'क्ष्वीँ' कार का महात्म्य	"
सप्ताक्षर मन्त्र	५११
तीन अक्षरो का महात्म्य	"
भिन्न भिन्न मन्त्रो की आराधन विधि और महात्म्य	५१२
सिद्ध-चक्र मन्त्र का स्वरूप	५१४
क्या वीतराग के लिए भी मन्त्राराधन का नियम है	"
३ रूपस्थ ध्यान	५१५
अर्हन्त देव के सहस्र नामों मे से कुछ नाम	५१६
४ रूपातीत ध्यान	५१७
आत्मातिरिक्त परमात्मा का चिन्तन चित्त मे अनैक्य पैदा करेगा यह शका और उसका उत्तर	५१७
रूपातीत ध्यान मे कर्म रहित,परमात्मा का चिन्तन	५१८

विषय	पृष्ठ संख्या
अमूर्त्त परमात्मा का पुरुषाकार कैसे सम्भव है	५१८
ध्यान की आवश्यकता और प्रभाव	५१९
धर्म्यध्यान का फल	५२०
धर्म्यध्यान के चिह्न	"
धर्म्यध्यानी मरकर कहा जन्म लेते हैं	"
शुक्ल ध्यान	५२२
शुक्ल ध्यान के भेद	"
शुक्ल ध्यान किस गुण स्थान मे होता है	५२३
पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्लध्यान	"
एकत्ववितर्क अविचार शुक्लध्यान	५२४
सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान	५२५
समुच्छिन्न क्रियानिवर्ती शुक्लध्यान	५२६
कर्ममुक्त भगवान् लोकाग्र तक कैसे गमन करते हैं	५२७
मन द्वारा चिन्तन रहित केवली के ध्यान का सद्भाव कैसे	५२८
व्युत्सर्ग तप और उसके भेद	"
अन्तरग परिग्रह के १४ भेद	५२९
बाह्य परिग्रह के १० भेद	५३०
वीर्याचार	"
अनुमति के तीन भेद	"
सयम के १७ भेद और उनका स्वरूप	५३२
परीषह के चार भेद	५३३
उपसर्ग और परीषह मे अन्तर	५३४
परीषहो के २२ भेद	"

विषय	पृष्ठ संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
१ क्षुधापरीषहजय	५३४	१२ मल परीषहजय	५३७
२ तृषा „	„	१३ तृणस्पर्श „	„
३ शीत „	५३५	१४ अज्ञान „	„
४ उष्ण „	„	१५ अदर्शन „	„
५ नग्न „	„	१६ प्रज्ञा „	५३८
६ याच्ञा „	„	१७ सत्कार पुरस्कार „	„
७ अरति „	५३६	१८ शय्या „	„
८ अलाभ „	„	१९ चर्या „	„
९ दंशमशक „	„	२० वधबन्धन „	„
१० आक्रोश „	„	२१ निषद्या „	„
११ रोग „	„	२२ स्त्री „	५३९

॥ समाप्त ॥

❀ अथ पंचाचाराधिकारः ❀

पूर्वार्द्ध—तृतीय किरण

अथ पंचाचाराधिकार

❀ मंगलाचरण ❀

अथ नत्वा जिनं पार्श्वं, पंचाचार-प्रकाशकम् ।
अधिकारं समासेन, वच्मि भव्य-हिताप्तये ॥

इस अध्याय मे मुनियो के पंचाचार का वर्णन किया जायगा। आचार का मतलब आचरण करना है। मुनियों के लिए जो आचरण अनिवार्य हैं वे ही आचार कहलाते हैं। उनके मुख्य रूप से ५ भेद हैं—सम्यगदर्शनाचार, सम्यगज्ञानाचार, सम्यकचारित्राचार, सम्यकृतपआचार और सम्यग्वीर्याचार।

दर्शनाचार

अच्छी तरह से सम्यग्दर्शन का आचरण करना अर्थात् अपने जीवन मे उतारना ही सम्यग्दर्शनाचार कहलाता है। सारे आचारों का मूल सम्यग्दर्शनाचार है। जब तक जीवन मे सम्यग्दर्शनाचार नहीं उतरता तब तक बाकी के चारों आचार मिथ्याचार कहलाते हैं। इसी लिए सबसे पहिले सम्यग्दर्शनाचार को कहा है। सम्यग्दर्शन की बहुत बडी महिमा है। बड़े २ आचार्योंने इसकी महिमा के वर्णन मे बहुत कुछ लिखा है। सम्यकदर्शन आत्मा की अनुभूति है। इसी अनुभूति के बल पर आत्मा में कर्मों के क्षय करने की योग्यता उत्पन्न हो जाती है। यह अनुभूति एक ऐसी दृष्टि है जिससे यह प्राणी, संसार, देह और भोगो को यथार्थ रूप मे जानने की क्षमता पा लेता है।

"एको मे शासदो आदा णाणदंसणलक्खणो ।
शेषा मे वाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥"

अर्थात् मेरा अकेला आत्मा ही शाश्वत (नित्य) है। वह ज्ञान दर्शन-लक्षण है। इसके अतिरिक्त जगत के सभी पदार्थ मुझ से बाह्य हैं, और सब जड़-पदार्थ के संयोग से प्राप्त होने वाले हैं। वे कोई भी मेरे नहीं हैं। इत्यादि विचार सम्यग्दर्शन के बिना

उत्पन्न नहीं हो सकते। सम्यग्दर्शन की ऐसी महिमा है कि यदि वह नरकों में भी उत्पन्न होजाय–जहाँ कि ताड़न, मारन, छेदन, भेदन इत्यादि नानाप्रकार के भयकर दुःखों से यह प्राणी प्रतिक्षण सतप्त होता रहता है–वहाँ भी अपने आप को सुखी अनुभव कर सकता है। यही सम्यग्दर्शन स्वर्गों के अपार वैभव में भी मनुष्य को विह्वल नहीं होने देता। इसीलिए प० दौलतरामजी ने अपने एक भजन मे कहा है कि "बाहरि नारकि कृत दुख भुगते अंतर सुख रस गटागटी। रमत अनेक सुरनिसग पै तिस परणतिते निज हटाहटी॥" अर्थात् बाहर मे नारकियो के द्वारा किए हुए अनेक दुखो को भोगता हुआ भी आत्मा भीतर में गटागट शांति-रस पीता रहता है। इसी तरह स्वर्गों का अपार वैभव भी सम्यग्दर्शन के कारण मनुष्य में किसी भी प्रकार का उन्माद उत्पन्न नहीं करता। जैसे सूर्य उदय होने और अस्त होने की दोनों हालतों में एकसा रहता है अर्थात उदय की अवस्था में भी सूर्य लाल रहता है और अस्त की अवस्था में भी लाल ही रहता है इसी तरह सम्यग्दृष्टि भी सपत्ति और विपत्ति दोनों में एकसा रहता है। न वह विपत्ति में घबड़ाता है और न संपत्ति मे उन्माद उत्पन्न होने देता है। यही कारण है कि सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाने के बाद इस आत्मा मे ऐसी विशेषता उत्पन्न हो जाती है कि इस के कारण यह ससार में अर्द्ध–पुद्गल–परावर्तन काल से अधिक नहीं रह सकता। इसके बीच मे यह अवश्य ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

सम्यग्दर्शन की महिमा

सम्यग्दर्शन के बिना यह आत्मा घोरातिघोर तपश्चरण करके भी मुक्ति को नहीं पा सकता। अधिक हुआ तो नवग्रीवक पहुँच गया। इसके बाद तो इसे वापस लौट कर आना ही होगा। अगर ११ अंग तक शास्त्रो का ज्ञान भी होजाय और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न हो तो उसका सारा ज्ञान व्यर्थ है। इसी तरह बिना सम्यग्दर्शन के तेरह प्रकार का चारित्र भी मनुष्य के लिए कोई फल प्रदान नहीं कर सकता। इस सम्यग्दर्शन के पालने मे ही शिवभूति मुनि को शास्त्र का एकाक्षर-ज्ञान नहीं होने पर भी केवल ज्ञान उत्पन्न होगया था। उसने किसी को उड़द की दाल धोते हुए देख कर यह ज्ञान पा लिया कि जिस तरह दाल का तुष दाल से भिन्न है उसी तरह आत्मा भी जड़ से भिन्न है। यह सम्यग्दर्शन की ही महीमा है कि चक्रवर्ति भरत अपार वैभव के बीच भी निर्लिप्त होकर रह सका। और इसी लिए कपड़े उतारने के अन्तर्मुहूर्त बाद ही उसको केवल ज्ञान उत्पन्न होगया। जैसे कमल जल मे रहता हुआ भी उससे निर्लिप्त होकर रहता है उसी तरह सम्यग्दृष्टि भोग भोगता हुआ भी उन में निर्लिप्त रहता है। और यही कारण है कि उसके भोग भी निर्जरा के हेतु कहलाते हैं।

प्रश्न—चाहे सम्यग्दर्शन की कितनी ही महिमा क्यो न हो पर यह कैसे हो सकता है कि उसके होने पर भोग भी निर्जरा के कारण हों। क्या सम्यग्दृष्टि जब भोगो में प्रवृत्त रहता है या अन्य किसी विचार मे लगा रहता है तब उसके बंध नहीं होता? और असख्यात गुणी कर्म-निर्जरा होती रहती है?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि चाहे कुछ भी करता रहे या किसी भी विचार मे लगा रहे—उसका आपा-पर का भेद-विज्ञान-रूप श्रद्धान बना ही रहता है। और उसी श्रद्धान के प्रभाव से वह जो कुछ काम करता है या सोचता विचारता है वह सब ठीक ही होता है। वह व्यापार करेगा आवश्यकता पड़ने पर युद्ध करेगा, स्त्री पुत्रादिको से प्रेम करेगा, इन्द्रियो के विषयो का उपभोग करेगा, हँसेगा, रोवेगा, पर उसकी ये सब क्रियायें उसके सम्यग्दर्शन का नाश न कर सकेंगी। क्योकि इन सबको करता हुआ भी वह इन्हें हेय समझता है। ये सब काम मिथ्यादृष्टि भी करता है, पर भेद-विज्ञान न होने के कारण ये सब उसके तीव्रबंध के ही कारण हैं। सम्यग्दृष्टि तो इन्हें करता हुआ भी कर्मों की असख्यातगुणी निर्जरा ही करता है। इसीलिए तो शास्त्रो मे कहा है कि सम्यग्दृष्टि के भोग भी निर्जरा के कारण हैं। यह सब श्रद्धान की महिमा है।

जैसे नाटक का पात्र (Actor) नाटक की रगभूमि मे राजा, रक, स्वामी, सेवक, स्त्री, पुरुषादि अनेक वेषो को धारण करता हुआ भी अपने को उन सब से भिन्न अनुभव करता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि-दुनियॉ के सब कामो को करता हुआ भी अपने आपको इन सब से भिन्न अनुभव करता है और जल मे कमल की तरह इनसे अलिप्त रहता है। शास्त्रो मे जो दुनियॉ के पदार्थों से सम्यग्दृष्टि के प्रेम की तुलना नगरनारी(वेश्या)के प्रेम, धाय के दूसरे बच्चे से प्रेम आदि के दृष्टात दिए हैं वे सब इसी आशय को प्रकट करते हैं।

प्रश्न—यह सब आपका कहना ठीक है पर यह कैसे हो सकता है कि सम्यग्दृष्टि के भोग भी निर्जरा के कारण हैं?

उत्तर—शास्त्रो मे यह बात सम्यग्दृष्टि की महत्ता को प्रकट करने के लिए कही गई है। वास्तव में भोग तो बंध के ही कारण हैं फिर भी सम्यक्त्व के साथ मे भोगो का विष नष्ट होजाता है जो तीव्र बध का कारण है। आसक्ति न रहने के कारण सम्यक्त्वी के भोगों मे मिथ्यात्वी के भोगो की अपेक्षा पाप-बीजता बहुत कम रहती है। इसी बात को ध्यान मे रखकर आचार्यों ने उपचार से सम्यक्त्वी के भोगो को निर्जरा का कारण कह दिया है। पर इसका मतलब यह नहीं है कि भोग उपादेय हैं। बुराई, बुराई ही है, वह कभी भलाई नहीं हो सकती। हॉ यह हो सकता है कि वह भलाई की मोजूदगी मे उतना असर न कर सके। एक बलवान आदमी अपथ्य सेवन (बदपरहेजी) करे तो वह शक्ति के कारण उतना असर नहीं करता। फिर भी बदपरहेजी तो बुरी चीज ही कहलावेगी और वह निर्बल व्यक्ति को एक ही बार मे दिखला देगी कि वह कितनी बुरी चीज है। यह बात नहीं है कि बलवान आदमी को बदपरहेजी हानि नहीं पहुँचाती, पर उसका असर निर्बलो पर जितना जल्दी और ज्यादा होता है उतना बलवानो पर नहीं होता। इसी तरह भोग सम्यग्दृष्टि को हानि ही पहुचाते हैं और यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि उन्हे छोडने को लालायित रहता है।

प्रश्न—अच्छा एक बात और बतलाइये। एक जीव (छद्मस्थ) के एक समय मे एक ही उपयोग होता है,ऐसी जैन सिद्धांत की मान्यता है। तब एक ही आत्मा (सम्यग्दृष्टि) एक ही समय मे विषय भोगो और आत्म-चिन्तन के विचार में कैसे रख सकता है? इसलिये

यह मानना चाहिये कि जब सम्यक्त्वी युद्धादि सांसारिक कार्यों मे प्रवृत्त होता है तब उसके आत्म-चिन्तन के विचार बिलकुल नहीं रहते, क्योकि एक समय में दो तरह के विचार कैसे रह सकते हैं? इसलिये यह क्यो न मान लिया जावे कि सासारिक विषयो मे प्रवृत्ति होने के समय सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है।

उत्तर—जिस समय सम्यग्दृष्टि जीव युद्धादि सांसारिक विषयों में प्रवृत्ति करता है उस समय आत्म-विषयक अथवा भेद-विज्ञान विषयक विचार नहीं करता यह ठीक है। किन्तु भेद-विज्ञान विषयक प्रतीति अवश्य बनी रहती है। एक ही समय मे दो चिन्तन अथवा दो उपयोग नहीं होते यह ठीक है। और इसी तरह यह भी ठीक है कि एक ही समय एक ही आत्मा मे परस्पर विरुद्ध दो प्रतीतियाँ नहीं ठहर सकतीं, किन्तु भिन्न विषयक प्रतीति और भिन्न विषयक चिन्तन तो ठहर ही सकते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि चिन्तन और प्रतीति का विषय सदा एक सा ही हो। जैसे एक मनुष्य खाते, पीते, चलते, फिरते, पढते, लिखते या किसी भी अन्य विषय का विचार करते समय अपनी इस प्रतीति को कभी नहीं भूलता कि वह नीरोग है। इसी तरह जब सम्यग्दृष्टि जीव आत्मातिरिक्त अन्य विषयो मे प्रवृत्ति करता है तब भी उसके यह प्रतीति बनी ही रहती है कि उसका आत्मा सब पर-पदार्थों से भिन्न है। सम्यग्दर्शन की लब्धि-अवस्था सदा बनी ही रहती है चाहे उपयोगात्मक ज्ञान किसी भी विषय का क्यो न हो। जब सम्यक्त्वी आत्म-चिन्तन पर आता है तब लब्धि और उपयोग का एक ही विषय हो जाता है। और जब यह चारित्र मोहनीय के उदय से पर-चिन्तन मे प्रवृत्त होता है तब दोनो का विषय भिन्न २ हो जाता है। इसलिये यह आवश्यक नही है कि आत्मातिरिक्त विषयक विचारो व तदनुकूल कार्यों के समय सम्यग्दर्शन की लब्धि भी नष्ट हो जाय।

सम्यग्दर्शन के भेद

अब सम्यग्दर्शन के भेदो का वर्णन करते है :—सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं—सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन। सम्यक्त्व के तीन भेद भी हैं—वेदक, क्षायिक और औपशमिक। आज्ञा, मार्ग आदि के भेद से इसके दश भेद भी हैं। एवं निसर्गज और अधिगमज की अपेक्षा भी दो भेद हैं।

इस प्रकार शास्त्रो मे सम्यक्त्व के भेदों का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। इनमे सम्यक्त्व के पहिले दो भेद स्वामित्व की अपेक्षा किये गये हैं। अर्थात् सम्यग्दर्शन के स्वामी सराग और वीतराग जीव दो तरह के होते हैं। तीन भेद कर्मों की क्षयादि अवस्थाओ की अपेक्षा किये गये हैं, और यही भेद प्रधान हैं। दश भेद उत्पत्ति के भिन्न २ कारणो की अपेक्षा किये हैं। और अन्त के दो भेद कारणत्व और अकारणत्व की अपेक्षा से हैं। क्रम से उक्त सभी भेदो का वर्णन करते हैं—

सराग और वीतराग सम्यग्दर्शन का स्वरूप

प्रशम, सवेग, अनुकम्पा, और आस्तिक्य जिसके होने पर प्रकट हो जावे वह सराग सम्यग्दर्शन है। यह सम्यक्त्व सरागी अर्थात् रागावाले चौथे गुणस्थान से दशवें सूक्ष्मसापराय गुणस्थान तक के जीवो के होता है। राग चारित्र-मोहनीय का एक भेद है और इसका उदय दशवें गुणस्थान तक होता है। इसलिये वहाँ तक के सम्यक्त्व को सराग सम्यक्त्व कहा है। इसके बाद वीतराग सम्यक्त्व होता है।

वीतराग सम्यक्त्व आत्म विशुद्धि मात्र ही है। क्योकि एकादशादि गुणस्थानो मे प्रशम संवेगादि का विकल्प नहीं होता। यह विकल्प तो दशवे तक ही रह जाता है जब तक कि राग भाव का उदय है।

प्रशमादि का स्वरूप

आत्मा पर रागादि वृत्तियो का प्रभाव न होना शम या 'प्रशम' कहलाता है और ससार के कारण पापो से डरना 'सवेग' है। सत्य तत्वो के विषय मे आस्तिक्य बुद्धि रखना-नास्तिक्य से उलटे-'आस्तिक्य' का लक्षण है। किसी भी जीव पर द्रोह बुद्धि न रखना 'अनुकम्पा' या 'दया' कहलाता है। इन चारो का आत्मा मे प्रकट होना सराग सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व होने का ज्ञान

आगे यह बताते हैं कि किस गुणस्थान तक सम्यग्दर्शन के हो जाने का पता जीवो को कैसे लगता है—

सूक्ष्म-लोभात अर्थात् सूक्ष्मसापराय नामक दशवें गुणस्थान तक के जीव चरणानुयोग की अपेक्षा से वर्णित अपने सम्यग्दर्शन को अपने आत्मा में उत्पन्न प्रशमादि चारो के द्वारा जान लेते हैं। और प्रमत्तविरत नामक छठे गुणस्थान तक के जीवो के सम्यग्दर्शन को दूसरे सम्यग्दृष्टि विद्वान् लोग भी उन जीवो के मन वचन और काय की चेष्टा से अनुमान के द्वारा जान लेते हैं।

प्रश्न—जैन शास्त्रो मे यह भी देखने मे आया है कि अपने सम्यग्दर्शन का पता अपने आप को भी नहीं लगता। शुक्ल लेश्या को धारण करने वाला द्रव्य-लिंगी मुनि जो नौ-पूर्व तक का जानने वाला होता है उसे भी अपने मिथ्यात्व का पता नहीं लगता। तब यहाँ अपने व दूसरे के सम्यक्त्व को जानने की बात कैसे कही गई ?

उत्तर—जैन शास्त्रो मे सम्यक्त्व का वर्णन विभिन्न अनुयोगो मे वर्णित है। चरणानुयोग के अनुसार जो सम्यक्त्व का वर्णन

है वह बाह्य चारित्र की अपेक्षा से है। पात्रो के उत्तम मध्यम और जघन्य जो तीन भेद किये है वे चरणानुयोग की अपेक्षा से ही हैं। अगर इन भेदो को करणानुयोग की अपेक्षा से माने तब तो जो मनुष्य थोड़ी देर पहिले ग्यारहवें गुणस्थान मे है वही अन्तर्मुहूर्त मे पहिले गुणस्थान मे आजाता है। और इस बात का पता दातार को लग नहीं सकता। तब पात्रापात्र की व्यवस्था कैसे बन सकती है? इसलिये इसे चरणानुयोग की अपेक्षा ही मानना चाहिये। इसी तरह छठे गुणस्थान तक सम्यक्त्व भी दो अनुयोगों द्वारा माना जाता है। चरणानुयोग मे सब व्यवस्था बाह्य चारित्र की अपेक्षा में है। इसलिये सम्यक्त्व का लक्षण भी बाह्य चारित्र की अपेक्षा से ही निर्धारित किया गया है। छठे गुणस्थान तक के जीवो के सम्यक्त्व को जो दूसरे लोग अनुमान मे जान लेते हैं, वह चरणानुयोग का सम्यक्त्व है, करणानुयोग का नहीं। करणानुयोग के अनुसार तो सम्यक्त्व घातक कर्मों के क्षय,क्षयोपशम और उपशम की अपेक्षा से है। वहाँ बाह्य चारित्र की इतनी प्रधानता नहीं। बाह्य चारित्र म कुछ गडबडी नहीं होने पर भी गुणस्थान उतर जाता है।

छठे गुणस्थान के ऊपर गुणस्थानो की व्यवस्था करणानुयोग के अनुसार ही है। यह कहना गलत है कि किसी को भी अपने सम्यक्त्व का पता अपने आप नहीं लगता। मिथ्यात्व का पता चाहे स्वय को न लगे पर सम्यक्त्व तो मालूम हो ही जाता है। अगर सप्तमादि गुणस्थान वाले जीवो को भी अपने सम्यक्त्व का पता न चलेगा तो फिर उन्हें आत्मानुभव ही क्या हुआ? पर चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थान तक के जीवो के सम्बन्ध मे तो यह बात फिर भी किसी अश मे सही हो सकती है।

निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शन का स्वरूप

सम्यग्दर्शन के दो भेद निसर्गज और अधिगमज के भेद से भी है। जो दूसरे के उपदेश की अपेक्षा के बिना अपने आप ही उत्पन्न हो जाता है वह नैसर्ग अथवा 'निसर्गज' सम्यग्दर्शन है। और जो दूसरे के उपदेश की सहायता मे उत्पन्न होता है वह'अधिगमज' है।

गुरु के उपदेश से, विद्वानो की सङ्गति से, तत्वचर्चा से शास्त्र स्वाध्याय आदि से आत्म स्वरूप की प्रतीति होना अधिगमज सम्यग्दर्शन है। पर इन ज्ञान के निमित्तो के बिना जो आत्म श्रद्धान होता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन है। बादलो की क्षणिकता, मनुष्यादि प्राणियो की आकस्मिक मृत्यु एव अन्य पदार्थों की क्षण भगुरता देख कर जो स्वय आत्म-प्रतीति होती है वह निसर्गज सम्यक्त्व के उदाहरण है।

आगे सम्यक्त्व के क्षायिकादि तीन भेदो का वर्णन करते हैं।

क्षायिक-सम्यग्दर्शन का स्वरूप

'अनन्तानुबन्धी क्रोध,मान,माया, लोभ और मिथ्यात्व,सम्यग्-मिथ्यात्व एवं सम्यक्-प्रकृति-ये सात कर्म प्रकृतियाँ सम्यक्त्व का

नाश करने वाली हैं। इनके क्षय से क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। और क्षायिक सम्यक्त्व हो जाने पर वह जीव तीसरे या चौथे भव में अवश्य संसार से मुक्त हो जाता है।

प्रश्न—अनन्तानुबन्धी तो चारित्र मोहनीय की प्रकृति है इसलिये वह चारित्र का ही घात करेगी, उसे सम्यक्त्व की घातक क्यों कहा? अगर वह सम्यक्त्व की ही घातक है तो फिर उसे दर्शन मोहनीय में ही गिनाना था।

उत्तर—अनन्तानुबन्धी के उदय से क्रोधादिरूप परिणाम उत्पन्न होते हैं, अतत्व श्रद्धान नहीं होता। इसलिये यह चारित्र को ही घातती है, सम्यक्त्व को नहीं। वास्तव में बात तो यही है, किन्तु अनन्तानुबन्धी के उदय से जिस तरह के क्रोधादिक भाव होते हैं उस तरह के क्रोधादिक परिणाम सम्यक्त्व के रहते हुए नहीं होते। इस तरह सम्यक्त्व और अनन्तानुबन्धी के अभाव के निमित्त और नैमित्तिक भाव है। जैसे त्रसपने की घातक तो स्थावर प्रकृति ही है किन्तु त्रस होते हुए एकेन्द्रिय जाति प्रकृति का उदय नहीं होता इसलिये उपचार से एकेन्द्रिय जाति प्रकृति को त्रसपने की घातक कह सकते हैं। वैसे ही यद्यपि सम्यक्त्व का घातक तो दर्शन मोहनीय है तो भी सम्यक्त्व के रहते हुए अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय नहीं होता। इसलिये उपचार से अनन्तानुबन्धी को भी सम्यक्त्व का घातक कह सकते हैं। अथवा अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व और चारित्र दोनों को घातने का स्वभाव रखती है। इसलिये सम्यक्त्व की उत्पत्ति में उसका अनुदय भी उतना ही आवश्यक है जितना कि दर्शन मोहनीय की प्रकृतियों का।

प्रश्न—अगर ऐसा है तो उसे चारित्र मोहनीय की प्रकृतियों में क्यों गिनाया?

उत्तर—प्रधानतया यह क्रोधादिकों को उत्पन्न करने वाली है। इसलिये जितनी उसमें चारित्र-घातकता रहती है उतनी दर्शन घातकता नहीं रहती।

प्रश्न—अगर ऐसा है तब तो उसका उदय न रहने पर कुछ चारित्र उत्पन्न होना चाहिये। किन्तु ऐसा तो नहीं होता, क्योंकि तीसरे और चौथे गुणस्थान में उसका उदय न रहने पर भी चारित्र पैदा नहीं होता।

उत्तर—कषायों के अनन्तानुबन्धी आदि भेद तीव्रता मन्दता की अपेक्षा से नहीं है। अर्थात् यह बात नहीं है कि जो कषाय तीव्र हो उसे अनन्तानुबन्धी और मन्द मन्दतर, मन्दतम को अप्रत्याख्यानादि कहते हैं। क्योंकि मिथ्यादृष्टि के चाहे तीव्र कषाय हो चाहे मन्द कषाय हो-अनन्तानुबन्धी आदि चारों का उदय युगपत् माना जाता है। मिथ्यादृष्टि के चारों कषायों के उत्कृष्ट स्पर्द्धक समान हैं। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि अनन्तानुबन्धी कषाय के साथ जैसा तीव्र उदय अप्रत्याख्यानादि का होता है वैसा उसके न रहने पर नहीं होता। वैसे ही अप्रत्याख्यान के साथ प्रत्याख्यान और संज्वलन का जैसा उदय होता है वैसा अप्रत्याख्यान के चले जाने पर नहीं होता। इसी तरह प्रत्याख्यान के

साथ जैसा सज्वलन का उदय होता है वैसा केवल सज्वलन का नहीं होता। इसलिये अनन्तानुबन्धी के चले जाने पर यद्यपि कषायो की मदता तो होती है, पर ऐसी मदता नहीं होती जिसे चारित्र कहा जा सके। क्योंकि आचार्यों ने असख्यात लोक प्रमाण कषायों के स्थानों के तीन भेद कर दिये हैं। जिनमें आदि के बहुत से स्थान तो असयम रूप हैं। इसके बाद कुछ देश सयम रूप है और फिर कुछ सकल संयम रूप हैं। पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान तक जो कषायो के स्थान है वे सब असयम रूप ही हैं। इसलिये कषायों की मदता होते हुए भी वे चारित्र नहीं कहलाते। यद्यपि वास्तव मे कषाय घटना चारित्र का अश है तथापि वह कषाय का घटना चारित्र कहलाता है जिससे यह जीव एक देश सयम या सकल सयम धारण कर सके। असयम मे ऐसी कषाय घटती नहीं इसलिये अनन्तानुबन्धी के उदय का अभाव होने पर भी चारित्र नहीं कहला सकता।

प्रश्न—आपने ऊपर कहा है कि अनन्तानुबन्धी वास्तव मे सम्यक्त्व को नहीं घातती, क्योकि वह चारित्र मोहनीय की प्रकृति है, तो फिर प्रश्न यह होता है कि इसके उदय होने पर जीव सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर सासादन गुणस्थान को कैसे प्राप्त हो जाता है?

उत्तर—अनन्तानुबन्धी के उदय से सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता, किन्तु उसके उदय होजाने के एक समय या अधिक से अधिक छह आवली के बाद सम्यक्त्व का नष्ट होना अवश्यभावी है। इसी अपेक्षा से अनन्तानुबन्धी को सम्यक्त्व का विराधक कह दिया गया है। वास्तव में तो सम्यक्त्व का नाश तभी होगा जब मिथ्यात्व का उदय हो जायगा। सासादन गुणस्थान तो सम्यक्त्व ही का काल है। क्योंकि सम्यक्त्व के नष्ट होने मे अधिक से अधिक छह आवली और कम से कम एक समय बाकी रहता है तभी सासादन गुणस्थान होता है। इसलिये जब तक मिथ्यात्व का उदय नहीं हो तब तक सम्यक्त्व का उदय ही मानना चाहिये। फिर भी—मनुष्य पर्याय के नाश का कारण भयङ्कर रोग उत्पन्न हो जाने पर जैसे हम किसी मनुष्य को मनुष्य पर्याय छोडने वाला कह देते हैं वैसे ही—सम्यक्त्व के नाश का कारण अनन्तानुबन्धी का उदय होने पर सासादन कह दिया जाता है। वस्तुतः तो सम्यक्त्व का नाश तभी होगा जब मिथ्यात्व का उदय हो जायगा। जैसे कि वास्तव में तो मनुष्य पर्याय का नाश तभी माना जायगा जब उसे छोड़ कर दूसरी पर्याय को जीव प्राप्त हो जायगा। इस तरह अनन्तानुबन्धी को भविष्यत की अपेक्षा उपचार से सम्यक्त्व का घातक कहा गया है।

अब यह बताते हैं कि क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाने पर उसका क्या महत्व है.—

क्षायिक सम्यग्दर्शन की महत्ता

क्षायिक सम्यग्दर्शन होजाने पर जीव कभी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता, और न कभी तत्वो मे सदेह को उत्पन्न करता है। इस सम्यक्त्व को धारण करने वाला जीव मिथ्यात्व से उत्पन्न होने वाले अतिशयो को देख कर भी आश्चर्य—चकित नहीं होता।

क्षायिक-सम्यग्दृष्टि-जीव के मिथ्यात्व कर्म के निषेकों का सर्वथा अभाव हो जाता है। इसलिये वापस मिथ्यात्व में लौटने का उसके कोई कारण नहीं है। और इसीलिये उसके प्रयोजनभूत जीवादि तत्वों में कभी संदेह नहीं होता, क्योंकि संदेह का कारण मिथ्यात्व कर्म तो नष्ट होगया। इस सम्यक्त्व का धारण करने वाला जीव देवी, देव, भूत, प्रेतादि की उपासना से अथवा मन्त्र, तन्त्र, यन्त्रादि के प्रयोजन से होने वाले अतिशय को देखकर भी कभी आश्चर्य नहीं करता। सच बात तो यह है कि यह जीव अतिशयों का महत्व बिलकुल नहीं मानता। क्योंकि अतिशय आत्मा की महत्ता के सूचक नहीं हैं। अधिकांश अतिशय तो झूँठे और पाखण्ड पूर्ण होते हैं। देवता की महत्ता भी इस बात से नहीं है कि वह अतिशय वाला है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने उनकी निःसारता प्रकट की है। उनने अपने 'देवागम स्तोत्र' में सर्व प्रथम लिखा है कि—

देवागमनभोयानचामरादि-विभूतयः । मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥ १ ॥
अध्यात्मं बहिरप्येप विग्रहादिमहोदयः । दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥ २ ॥

हे भगवन्! आपके लिये देवता आते हैं, आप आकाश में चलते हैं, आप पर चौसठ चमर ढुरते हैं, देवता, पुष्प-वृष्टि करते हैं। लेकिन इन बातों से आप हमारे पूज्य नहीं हो सकते, क्योंकि ये सब बातें तो मायावियों-इन्द्रजालियों में भी देखी जाती हैं। यदि इन्हीं बातों से कोई पूज्य बन जाता है तब तो आप में और इन्द्रजालियों में कोई भेद न रह जायगा और इन्द्रजाली भी पूज्य बन जावेंगे।

तब भगवान कहते हैं कि तुम्हारा यह कहना तो ठीक है लेकिन कई अतिशय ऐसे हैं जो इन्द्र जालियों में नहीं होते। अतः उनके कारण तो मुझे महान-पूज्य मानलो। इस पर स्वामी समन्तभद्र उत्तर देते हैं कि—नहीं। माना कि पसीना, मल-मूत्र आदि का कभी न आना आप के अन्तरङ्ग विभूति और गंधोदक की वर्षा होना वगैरह बहिरङ्ग विभूति सत्य हैं अर्थात् मायावियों के नहीं होतीं और दिव्य हैं अर्थात् मनुष्य तथा चक्रवर्ती वगैरह के नहीं होतीं, लेकिन अक्षीण कषायवाले देवों के तो होती हैं और वे हैं रागादियुक्त। अत आप इन की वजह से भी पूज्य नहीं हैं।

इस तरह समन्तभद्र स्वामी ने इस बात का खण्डन किया है कि 'कोई अतिशय विशिष्ट होने से ही पूज्य बन सकता है'। क्षायिक सम्यग्दृष्टि कभी अतिशयों को महत्व नहीं देता।

क्षायिक सम्यक्त्व की स्थिति

संसार की अपेक्षा से क्षायिक सम्यग्दर्शन की स्थिति कम से कम (जघन्य) अन्तर्मुहूर्त की और अधिक से अधिक (उत्कृष्ट) कुछ ज्यादह तेतीस सागर की है। और मुक्ति की अपेक्षा सादि अनन्त है। यह सम्यग्दर्शन हमेशा प्रकाशमान और अचल रहने वाला है।

संसार की अपेक्षा जो क्षायिक सम्यक्त्व की स्थिति उपर्युक्त प्रकार से वतलाई है उसका मतलब यह है कि यह सम्यक्त्व उत्पन्न होने के वाद जीव एक अन्तर्मुहूर्त मे भी मुक्ति को प्राप्त हो सकता है और अधिक से अधिक संसार मे रहे तो तेतीस सागर से कुछ ज्यादा अर्थात् सांतर्मुहूर्त आठ वर्ष कम दो करोड़ पूर्व-सहित तेतीस सागर ठहर सकता है। इस से अधिक नहीं। यह स्थिति इस प्रकार समझनी चाहिये कि किसी एक करोड़ पूर्व का आयु वाले मनुष्य के आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त के वाद क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ। इसके पश्चात् वह सारी मनुष्य आयु पूर्ण कर तेतीस सागर आयु का धारक सर्वार्थ-सिद्धि नामक अनुत्तर विमान का देव होगया। फिर वहाँ से चय कर एक करोड़ पूर्व की आयु का धारक मनुष्य होगया और फिर मुक्ति चला गया। इस तरह तेतीस सागर और अन्तर्मुहूर्त सहित आठ वर्ष कम दो करोड पूर्व तक क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव ससार मे रह सक्ता है।

प्रश्न—दो करोड पूर्व मे आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम करने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—किसी भी मनुष्य के आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त की आयु के पहले सम्यग्दर्शन नहीं हो सक्ता।

प्रश्न—जव मनुष्य की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य की है तो फिर यहाँ एक पूर्व की क्यो वतलाई ?

उत्तर—यद्यपि मनुष्य की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य की है किन्तु भोगभूमि के मनुष्य के क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं हो सकता। क्षायिक सम्यग्दर्शन तो कर्म भूमि के मनुष्य के ही होता है और कर्म भूमि के मनुष्य की उत्कृष्ट आयु एक करोड़ पूर्व की ही होती है।

प्रश्न—अगर क्षायिक सम्यग्दर्शन कर्म भूमि के मनुष्य के ही होता है तो भोग भूमि के मनुष्य के उसका सद्भाव कैसे पाया जाता है।

उत्तर—क्षायिक सम्यक्त्व का सद्भाव तो चारो ही गतियों मे पाया जा सकता है किन्तु होता कर्म भूमि के मनुष्य के ही है।

प्रश्न—भोग भूमि के मनुष्य के वह कैसे पाया जाता है ?

उत्तर—क्षायिक सम्यक्त्व का सद्भाव तो चारों ही गतियो मे पाया जा सकता है, किन्तु कर्म भूमि के मनुष्य के अतिरिक्त किसी गति के जीव के भी उसकी उत्पत्ति नहीं होती। अन्यत्र तो वह पहले जन्म से आया हुआ ही विद्यमान रहता है। जिस जीव के मनुष्यायु का वन्ध पहले हो जाता है और फिर क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है तो वह मरकर भोगभूमि का ही मनुष्य होता है, कर्मभूमि का नहीं। इसलिये भोगभूमि के मनुष्य के पहले भव से आया हुआ क्षायिक सम्यक्त्व है, वहाँ पैदा नहीं होता। इसी तरह तिर्यञ्च गति मे भी भोगभूमि के तिर्यञ्च के भी उसका सद्भाव पाया जाता है क्योकि तिर्यगायु के वन्ध करने के वाद अगर किसी मनुष्य के सम्यक्त्व हो जाय तो वह भोगभूमि का ही तिर्यञ्च होगा।

किसी भी सम्यक्त्व के लिये साधारणतया यह नियम है कि अगर सम्यक्त्व की उत्पत्ति के बाद आयु का वन्ध होगा तो देव आयु का ही होगा और वह जीव कल्पवासी देव मे ही उत्पन्न होगा। किन्तु सम्यक्त्व की उत्पत्ति के पहले अगर नरक आयु का वन्ध हुआ तो वह जीव प्रथम नरक से आगे न जायगा। मनुष्य आयु का वन्ध हुआ तो भोगभूमि का मनुष्य होगा। तिर्यंगायु का हुआ तो भोगभूमि का तिर्यञ्च होगा। और देवायु का वन्ध हुआ तो भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिपी देवो मे उत्पन्न न होकर कल्पवासियो मे ही पैदा होगा।

इस तरह ससार की अपेक्षा इस क्षायिक सम्यक्त्व की स्थिति वतलाई। मुक्ति की अपेक्षा तो इस की स्थिति सादि और अनन्त है। क्योकि मुक्ति की आदि तो है पर उसका अन्त नहीं है।

यह सम्यग्दर्शन आत्मा में सदा प्रकाशमान और अचल है अर्थात् एक वार उत्पन्न होने के पश्चात् कभी नष्ट न होनेवाला है। इसकी महिमा अपार है।

प्रश्न—क्या सम्यग्दृष्टि जिस समय सासारिक विपयो मे प्रवृत्त होता है उस समय भी क्षायिक सम्यग्दर्शन रहता है?

उत्तर—हाँ! अवश्य रहता है।

प्रश्न—तव फिर उसकी क्या उपयोगिता है जब कि उसके रहते हुए भी विपय भोगो मे प्रवृत्ति होती है?

उत्तर—सम्यग्दर्शन की यह उपयोगिता है कि उसके रहते ससार और शरीर की हेयता का श्रद्धान, आपापर का भेद-विज्ञान एवं जीवादि प्रयोजन-भूत तत्वों का श्रद्धान होजाता है।

प्रश्न—अगर ऐसा है तो यह जीव ससार को छोड क्यो नहीं देता?

उत्तर—संसार की हेयता का श्रद्धान होने पर भी जब तक चारित्र मोहनीय कर्म का उदय रहता है तब तक यह जीव ससार अथवा विपय भोगों को छोड़ नहीं सकता। इच्छा न रहने पर भी उन्हें ग्रहण करना ही पडता है। जैसे रोग होजाने पर कटु औपधि लेने की इच्छा न रहते हुए भी उसे औपधि लेनी ही पडती है। वैसे ही क्षुधा, तृपा, काम आदि वेदनाओ के आधीन होकर भोजन पान, स्त्री पुरुप आदि पदार्थों को सम्यग्दृष्टि जीव ग्रहण करता है पर मिथ्यादृष्टि की तरह इन पदार्थों को आसक्ति से ग्रहण नहीं करता और अन्तरङ्ग में समुचित अवसर आते ही उन्हें छोड़ देने का विचार रखता है। पर मिथ्यादृष्टि ऐसा नहीं होता। उसे विपयो मे विलकुल घृणा नहीं होती। वह अत्यन्त आसक्ति के साथ उनका उपभोग करता है और उनके संयोग वियोग मे आनन्द और शोक मानता है।

गुणस्थानों में क्षायिक सम्यक्त्व

अब आगे वताते हैं कि किस गुणस्थान से किस गुणस्थान तक क्षायिक सम्यक्त्व होता है :—

क्षायिक सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान से सिद्धो तक पाया जाता है। यह केवली अथवा श्रुत केवली की समीपता के विना नहीं प्राप्त होता।

चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक क्षायोयशमिक सम्यग्दृष्टि के ही यह क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होसकता है। ऐसा शास्त्र के पारगामी विद्वानो ने कहा है।

केवली अथवा श्रुत केवली के विना आत्म-परिणामो में उतनी स्वच्छता नहीं आती। इसलिये क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति मे इनकी समीपता अनिवार्य है। भावों की उत्पत्ति में निमित्तो की कारणता सर्वाभिमत और निर्विवाद है। इस सम्यक्त्व की उत्पत्ति चौथे से सातवें गुणस्थान तक कहीं भी क्षायोयशमिक सम्यग्दृष्टि के ही हो सकती है और उसका क्रम इस प्रकार है—

पहले अध:करण, अपूर्व करण और अनिवृत्ति करण इन तीन प्रकार के परिणामो द्वारा मिथ्यात्व के निषेको को सम्यङ्-मिथ्यात्वरूप परिणमन करे अथवा सम्यक्प्रकृतिरूप परिणमावे या निर्जरा करे–इस प्रकार मिथ्यात्व की सत्ता का नाश करे। फिर सम्यङ्-मिथ्यात्व के निषेको को सम्यक्प्रकृतिरूप परिणमन करे अथवा उनकी निर्जरा करे–इस तरह सम्यङ्-मिथ्यात्व प्रकृति का भी नाश करे। तथा सम्यक्त्वप्रकृति के निषेक उदय आकर अपने आपही खिर जावें अथवा उनकी स्थिति ज्यादा हो तो स्थिति कांडादि द्वारा उसे घटावे। जब घटते घटते उसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र रह जाती है तव वह जीव कृतकृत्य वेदक–सम्यग्दृष्टि कहलाता है और क्रम से इसके निषेकों का नाश करता है। तथा अन्नतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ के निषेको का विसयोजन कर उसकी सत्ता का नाश करता है तव क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है। अनन्तानुबन्धी का विसयोजन यद्यपि द्वितीयोपशम एवं किसी २ क्षायोयशमिक सम्यग्दृष्टि के भी होता है किन्तु ये तो जब मिथ्यात्व मे वापिस आते हैं तव फिर इनके अन्नतानुवन्धी की सत्ता का सद्भाव होजाता है, किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि कभी मिथ्यात्व मे नहीं आता, इसलिये उसके इसकी सत्ता का कभी सद्भाव नहीं होता।

औपशमिक सम्यक्त्व का स्वरूप

पहले वताई गई सात प्रकृतियो अर्थात् अनन्तानुवन्धी चतुष्टय, मिथ्यात्व, सम्यङ्-मिथ्यात्व और सम्यक्त्व—के दवजाने से उपशम सम्यक्त्व होता है। जिस प्रकार कीचड़ के विलकुल दवजाने से (पैंदे मे वैठ जाने से) पानी निर्मल होजाता है उसके रहते हुए भी पानी में कोई विकार नहीं होता उसी तरह उक्त सातों प्रकृतियों के दवजाने से आत्मा के सम्यग्दर्शन नामक शुद्धि उत्पन्न होजाती है। ये दबी

हुई प्रकृतियाँ सम्यक्त्व को रोकने में असमर्थ हैं।

क्षायिक और औपशमिक में भेद

आत्मविशुद्धि की अपेक्षा क्षायिक और औपशमिक सम्यक्त्व में कोई भेद नहीं होता। इन दोनों में अगर कोई भेद है तो यही है कि—एक (औपशमिक) क्षणस्थायी है और दूसरा (क्षायिक) अविनश्वर एवं नित्य है।

उपशम सम्यग्दृष्टि निमित्त मिलने से पुन प्रथम गुणस्थान मिथ्यात्व को प्राप्त होजाता है अथवा सासादन नामक दूसरे गुणस्थान में चला जाता है या तीसरे मिश्र गुणस्थान में गिरजाता है नहीं तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी बन जाता है। यह सम्यक्त्व पतनशील है।

उपशम का समय पूरा होने पर अगर मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आजाता है तो यह जीव पहले गुणस्थान में चला जाता है। इस उपशम सम्यक्त्व के काल में कम से कम एक समय तथा ज्यादा से ज्यादा छह आवली बाकी रहने पर अनन्तानुबन्धी चतुष्टय में से किसी एक का उदय आजाने पर जीव के सासादन गुणस्थान होजाता है। और मिश्र मोहनीय प्रकृति का उदय यदि होजावे तो तीसरा गुणस्थान होजाता है। यदि सिर्फ सम्यक्प्रकृति उदय में आजावे तो वह क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि बन जाता है।

उपशम सम्यक्त्व के भेद

जैन सिद्धान्त में उपशम सम्यक्त्व के दो भेद कहे गये हैं। एक प्रथमोपशम सम्यक्त्व और दूसरा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व। यहाँ संक्षेप से दोनों का ही स्वरूप बतलाया जाता है।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व

अनादि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व गुणस्थान में तीन करणों (अध: करण, अपूर्व करण और अनिवृत्ति करण) के द्वारा दर्शन मोह के उपशम करने से (अनन्तानुबन्धी चतुष्टय के अप्रशस्त और मिथ्यात्व के प्रशस्त उपशम करने से) जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहलाता है। इस प्रथमोपशम सम्यक्त्व में अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ का अप्रशस्त उपशम होता है।

प्रश्न—अप्रशस्त उपशम किसे कहते हैं ?

उत्तर—उपशम के दो भेद हैं—प्रशस्त और अप्रशस्त। करणों के द्वारा उपशम विधान से जो उपशम होता है वह प्रशस्त

उपशम कहलाता है और उदय के अभाव को अप्रशस्त उपशम कहते हैं। अनन्तानुबन्धी का प्रशस्त उपशम नहीं होता, अप्रशस्त ही होता है। मोह की अन्य प्रकृतियों का प्रशस्त उपशम होता है।

अनादि मिथ्यादृष्टि के अनन्तानुबन्धी चतुष्टय और मिथ्यात्व के दबजाने से जो उपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति बतलाई–उसका मतलब यह है कि उसके सम्यक्त्व-रोधक इन पाँच प्रकृतियों की ही सत्ता है। लेकिन एक बार सम्यक्त्व होजाने के बाद पुन मिथ्यात्व में आजाने पर जब फिर सम्यक्त्व होता है तब किसी के सात प्रकृतियों (अनन्तानुबन्धी चतुष्टय, मिथ्यात्व, सम्यङ्-मिथ्यात्व और सम्यक्) की सत्ता होने के कारण उसे सात प्रकृतियों को दबाना पड़ता है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व के समय मिथ्यात्व के जो तीन टुकड़े (मिथ्यात्व, सम्यङ्-मिथ्यात्व और सम्यक्-प्रकृति) हुए थे उनकी जिनके उद्वेलना नहीं हुई–उनके सात प्रकृतियों की सत्ता बनी हुई है। इसलिये इन सातों के दबनेसे ही उपशम सम्यक्त्व होगा। और जिनके उद्वेलना होकर तीनों प्रकृतियों की फिर एक प्रकृति होगई है उन सादि मिथ्यादृष्टियों के पाँच प्रकृतियों के उपशम से ही उपशम सम्यक्त्व होगा।

इस सब का सारांश यह है कि अनादि मिथ्यादृष्टि के तो उक्त पाँच प्रकृतियों के दबने से ही उपशम सम्यक्त्व होता है और सादि मिथ्यात्वी के किसी के पाँच के दबने से और किसी के सात प्रकृतियों के दबने से यह सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

अब सादि मिथ्यादृष्टि–जिसके सात प्रकृतियों के दबने से उपशम सम्यक्त्व होता है–की अपेक्षा उपशम सम्यक्त्व का लक्षण तथा उपशम सम्यक्त्व की स्थिति आदि का वर्णन करते हैं—

मिथ्यात्व गुणस्थान में करण त्रय (अधः करण, अपूर्व करण और अनिवृत्तिकरण) से जो सात कर्मों के दबाने से (अनन्तानुबन्धी के अप्रशस्तोपशम और दर्शन मोहनीय के प्रशस्तोपशम से) जो सम्यक्त्व होता है वह प्रथमोपशम सम्यक्त्व है। यह प्रथमोपशम सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक रहता है। उपशम सम्यक्त्व की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र है।

द्वितीयोपशम सम्यक्त्व

सातवें अप्रमत्त गुणस्थान मे जब जीव उपशम श्रेणी चढने के सन्मुख होता है तब क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से यह द्वितीयोपशम सम्यक्त्व होता है। इस द्वितीयोपशम सम्यक्त्व में अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन (अप्रत्याख्यानादि कषाय रूप परिणमन करना) होता है। यहाँ भी करण त्रय द्वारा तीन ही प्रकृतियों (मिथ्यात्व, सम्यङ्-मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति) का उपशम किया जाता है, क्योंकि यहाँ तीन ही प्रकृतियों की सत्ता पाई जाती है।

प्रश्न—उपशम किसे कहते हैं ?

उत्तर—अनिवृत्तिकरण मे किये गये अन्तरकरण विधान से जो सम्यक्त्व के समय उदय आने योग्य निपेक थे उनको अन्य समय उदय आने योग्य बना देना और अनिवृत्तिकरण में ही किये गये उपशम विधान द्वारा जो उस समय आने योग्य नहीं थे वे उदीरणा रूप होकर उस समय उदय न आसकें—ऐसे बना देना ही उपशम कहलाता है। उपशम में सत्ता तो पाई जाती है पर उदय नहीं होता।

यह क्षत योपशम सम्यक्त्व सातवें अप्रमत्तविरत गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें उपशांत मोह गुणस्थान तक पाया जाता है। और गिरते समय किसी जीव के छठे, पाँचवे, और चौथे गुणस्थान मे भी होता है।

क्षयोपशम सम्यक्त्व का स्वरूप

उपशम सम्यक्त्व का काल समाप्त होने पर सम्यक्प्रकृति उदय आजाने से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। यह सम्यक्त्व सादि मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्यात्व गुणस्थान से अथवा मिश्र गुणस्थान से भी हो सकता है। इस सम्यक्त्व का धारण करने वाला वेदक सम्यग्दृष्टि जीव वृद्ध पुरुष की लकड़ी के समान शिथिल श्रद्धानी होता है और इसी लिये खोटे हेतु और उदाहरणो के द्वारा शीघ्र ही इस जीव का सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है।

यह सम्यक्त्वे चल, मल, और अगाढ दोषो सहित है। अरहंत देवादि मे 'यह मेरा है', यह अन्य का है—इस–प्रकार समझना कहना चलपना है। शङ्कादि मलो का लगाना 'मलिन पना है'। शातिनाथ शाति कर्ता हैं—इत्यादि भाव रहना 'अगाढ पना' है। किन्तु यह इन दोषो के उदाहरण मात्र हैं। वास्तव मे इस सम्यक्त्व मे जो दोष लगता है उसे केवली ही जानते हैं।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का लक्षण

अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ और मिथ्यात्व तथा सम्यङ्–मिथ्यात्व के वर्तमान मे उदय आने वाले सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदयाभावी क्षय (बिना फल दिये झड जाना) और आगामी उदय आने वाले इन्हीं स्पर्द्धकों का सदवस्थारूप उपशम तथा देश घाती सम्यक्प्रकृति के उदय से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। इस सम्यक्त्व के शास्त्रो मे दो नाम मिलते हैं। एक वेदक और दूसरा क्षायोपशमिक। सम्यक्प्रकृति के उदय की प्रधानता से तो इसका नाम 'वेदक' है और अवशिष्ट छह प्रकृतियो के उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम की प्रधानता से 'क्षायोपशमिक' सम्यक्त्व कहलाता है।

शास्त्रों में उसका नाम 'कृतकृत्य सम्यग्दृष्टि' भी मिलता है। क्षायिक-सम्यग्दर्शन होते समय जब स्थिति कांडादि द्वारा सम्यक्प्रकृति की स्थिति घटते २ अन्तर्मुहूर्त मात्र रह जाती है तब वह जीव 'कृतकृत्य सम्यग्दृष्टि' कहलाता है।

क्षयोपशम सम्यक्त्व की स्थिति और उसका गुणस्थान

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति कम से कम अन्तर्मुहूर्त और ज्यादा से ज्यादा छियासठ सागर की है। यह सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक पाया जाता है।

सम्यक्त्व के नौ भेद

सम्यक्त्व के नौ भेद भी होते हैं और वे इस प्रकार हैं—क्षायिक का एक भेद, उपशम का एक भेद, क्षायोपशमिक के तीन भेद और वेदक सम्यक्त्व के चार भेद। क्षायिक और औपशमिक सम्यक्त्व का वर्णन तो पहिले किया जा चुका है। अब क्षायोपशमिक के जो तीन भेद बतलाये हैं उनका वर्णन किया जाता है।

क्षयोपशम के तीन भेद

दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों के उपशम से तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ के क्षय से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का पहला भेद होता है। और अनन्तानुबन्धी चतुष्टय और मिथ्यात्व, इन पाचों के क्षय तथा मिश्र(सम्यक्-मिथ्यात्व) और सम्यक्प्रकृति के उपशम से क्षायोपशमिक का दूसरा भेद होता है। अनन्तानुबन्धी चतुष्टय, मिथ्यात्व और मिश्र—इन छः के क्षय से और सम्यक्प्रकृति के उपशम से क्षायोपशमिक का तीसरा भेद बताया गया है।

वेदक सम्यक्त्व के चार भेद

अनन्तानुबन्धी चतुष्टय के क्षय से,मिथ्यात्व और सम्यक्-मिथ्यात्व के उपशम से तथा सम्यक्प्रकृति के उदय से वेदक सम्यक्त्व का पहला भेद होता है।

अनन्तानुबन्धी चतुष्टय और मिथ्यात्व के क्षय से,मिश्र मोहनीय (सम्यक्-मिथ्यात्व) के उपशम से तथा सम्यक्प्रकृति के उदय से वेदक सम्यक्त्व का दूसरा भेद होता है।

छह प्रकृतियों के क्षय और सम्यक्प्रकृति के उदय से वेदक सम्यक्त्व का तीसरा भेद होता है।

छह प्रकृतियो के उपशम से तथा सम्यक्प्रकृति के उदय से वेदक सम्यकत्व का चौथा भेद होता है।

इस प्रकार सम्यक्त्व के नव भेद समझने चाहिये। अब आज्ञादि भेद से सम्यक्त्व के दश भेदो का वर्णन करते हैं—

सम्यक्त्व के आज्ञादि दश भेद

आज्ञा, मार्ग, उपदेश, बीज, सूत्र, सक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ और परमावगाढ इस तरह सम्यक्त्व के दश भेद भी होते हैं। इनमे प्रारम्भ के आज्ञादि आठ भेद तो हेतु की अपेक्षा से और अन्त के दो भेद अवगाढ और परमावगाढ ज्ञान की अपेक्षा से हैं।

आज्ञा–सम्यक्त्व

वीतराग सर्वज्ञ कभी अन्यथावादी नहीं होते। उन्होने जो कुछ कहा है वह ठीक है। ऐसे दृढ निश्चय से जो सम्यक्त्व होता है उसे 'आज्ञा सम्यक्त्व' कहते हैं।

जिनेन्द्र भगवान ने दो तरह के तत्वो का वर्णन किया है–प्रत्यक्ष और परोक्ष। ये दोनो भी प्रयोजन-भूत और अप्रयोजन-भूत के भेद से दो प्रकार के हैं। इन मे जो जीवादि सातों तत्व प्रयोजन भूत हैं उनके सम्बन्ध मे तो मनुष्य को परीक्षा प्रधानी ही होना चाहिये। क्योकि परीक्षा प्रधानी हुए बिना श्रद्धा मे दृढता नहीं आती। अप्रयोजन भूत तत्वो की परीक्षा न हो तो भी आत्मा की कोई हानि नहीं होती। इसलिये ऐसे प्रत्यक्ष व परोक्ष पदार्थों के सम्बन्ध मे आज्ञा प्रधानी होना ही अधिक अच्छा है। भगवान के आगम मे जो कुछ कहा है वह ठीक है–इस तरह उनकी आज्ञा को प्रमाण करने से जो श्रद्धा उत्पन्न होती है वह आज्ञा–सम्यक्त्व कहलाता है। पर आज्ञा सम्यक्त्व का मतलब भगवान की आज्ञा मानना ही नहीं है, किन्तु उस आज्ञा से जो तत्व प्रतीति होती है वह सम्यक्त्व है।

मार्ग-सम्यक्त्व

चौदह प्रकार के अन्तरङ्ग (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद, नपुंसकवेद, मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया और लोभ) और दश प्रकार के बहिरङ्ग (क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य, और भाण्ड) परिग्रहों से रहित महर्षियो को निर्ग्रन्थ कहते हैं। उनका आचरण ही निर्ग्रन्थ–मार्ग कहलाता है। वे पवित्रता की मूर्ति हैं। वे साक्षात् सम्यक्त्व हैं। उन्हें भक्ति पूर्वक अवलोकन करने से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह 'मार्ग–सम्यक्त्व' है।

अन्तरङ्ग और वहिरङ्ग दोनो ही तरह के परिग्रह आत्मा का पतन करने वाले हैं। इनके रहते हुए कोई आत्मा ऊँचा नहीं उठ सकता। इसलिये स्वपर के उत्थान मे परिग्रही जीवो के जीवन से कोई मदद नहीं मिल सकती। किन्तु जिन्होने इन दोनो परिग्रहो को छोड़ दिया है, उनके दर्शन मात्र से ही जीवो का कल्याण होना सम्भव है। इसी लिये निर्ग्रन्थ मार्ग के अवलोकन को सम्यक्त्व उत्पन्न होने का कारण बतलाया है।

उपदेश सम्यक्त्व

तीर्थंकर आदि महापुरुषो के पवित्र चरित्र सुनने से जो सम्यक्त्व होता है वह 'उपदेश दृष्टि' या उपदेश-सम्यक्त्व है।

महापुरुषो के जीवन चरित्रो का मनुष्य पर विलक्षण प्रभाव पड़ता है। वह पतन की ओर से हट कर उत्थान की ओर अग्रसर हो जाता है। वह अपने जीवन मे उनके जीवन को उतारना चाहता है। इसीलिये प्रथमानुयोग के पुराण चरित्र आदि ग्रन्थों के अध्ययन करने का आचार्यों ने उपदेश दिया है और उनके निर्माण का भी यही उद्देश्य है कि यह मनुष्य बुराइयो को छोड़ कर भलाइयो की ओर ऋजु हो। अमुक महापुरुष ने किस तरह आत्मत्व प्राप्त कर अपने जीवन को सफल बनाया यह जान कर कोई भी मुमुक्षु भेद विज्ञानी बन सकता है। इस तरह तीर्थंकरादि महापुरुषो के चरित्रोपदेश से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है—उसे 'उपदेश-सम्यक्त्व' कहते हैं।

सूत्र सम्यक्त्व

मुनियो के आचरण का सागोपाग वर्णन करने वाले आचाराग सूत्र को अथवा मूलाचारादि आचार-प्रतिपादक ग्रन्थो को सुनने या अध्ययन करने से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है आचार्यों ने उसे 'सूत्र सम्यक्त्व' कहा है।

किस प्रकार चलना चाविये ? किस प्रकार खडे रहना चाहिये ? किस प्रकार बैठना चाहिये ? किस प्रकार शयन करना चाहिये ? किस प्रकार भोजन करना चाहिये ? किस प्रकार भाषण करना चाहिये और किस प्रकार आचरण करने से पाप कर्म नहीं बन्धता है ? ऐसे प्रश्न होने पर उनके अनुसार यह कहा जाय कि यत्न से चलना चाहिये, यत्न मे खड़े रहना चाहिये, यत्न से बैठना चाहिये, यत्न से शयन करना चाहिये, यत्न से भोजन करना चाहिये, यत्न से भाषण करना चाहिये, इस प्रकार आचरण करने से पाप कर्म का बन्ध नहीं होता। इत्यादि रूप से आचाराग सूत्र मे मुनियो के आचरण का वर्णन है। इसके सुनने से मुनि-जीवन की महत्ता हृदय पर अकित होती है। मुनि भेद-विज्ञान के मूर्तिमान आकार हैं। अत.इनके महान जीवन-क्रम को सुनकर भेद विज्ञान हो जाना सम्भव है। यही आपा पर भेद विज्ञान'सूत्र-सम्यक्त्व'है।

बीजज सम्यक्त्व

सम्पूर्ण सिद्धान्तो के विभिन्न सारांशो को 'बीज' कहते हैं। बीज सिद्धात के सूचक होते हैं। जैसे मन्त्रो मे बीजाक्षर होते हैं

और वे ही सम्पूर्ण मन्त्रों की सूचना कर देते हैं वैसे ही सिद्धान्तों के भी विभिन्न सूचक होते हैं। उदाहरणार्थ जैन सिद्धान्त का सूचक 'स्याद्वाद' है, साख्य सिद्धान्त का सूचक 'सत्कार्यवाद' है। ये सूचक ही इन दो सिद्धान्तो के बीज हैं। इसीलिये 'पुरुपार्थ-सिद्ध्युपाय' मे श्री अमृतचन्द्राचार्य ने स्याद्वाद को 'परमागम का बीज' कहा है। ऐसे बीज ज्ञान के निमित्त से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह 'बीजज-सम्यक्त्व' कहलाता है।

अथवा बीज का मतलब है गणितज्ञान का कारण। प्रखर गणित ज्ञान से जो मोहनीय कर्म का उपशमादि होता है उसे बीजज-सम्यक्त्व कहते है।

रेखा, अङ्क और बीज के भेद से तीन प्रकार का गणित है। यहाँ बीज शब्द उपलक्षण है। उससे तीनो ही प्रकार के गणित लेने चाहिये। गणित के अध्ययन से मन एकाग्र हो जाता है, मन मे एकस्थ होने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इसी लिये गणितज्ञ अच्छे विचारक होते है। मन को एकाग्र करने के जो साधन हैं वे ही सम्यक्त्व के साधन भी हो सकते हैं। जब गणित के द्वारा होने वाली मन की एकाग्रता से सम्यक्त्व उत्पन्न होजाय तब उसे 'बीजज सम्यक्त्व' कहते हैं।

जैनाचार्यों ने द्रव्यो को छोटा और बडापन, उनके गुणो की तीव्रता और मन्दता एव काल द्रव्य के परिमाण वगैरह का वर्णन गणित के द्वारा ही किया है। पर यह गणित लौकिक गणित नहीं, किन्तु अलौकिक गणित है। गणित का ऐसा वर्णन संसार के किसी भी साहित्य मे नहीं मिलता। इस अलौकिक गणित का स्वरूप लौकिक-गणित से बहुत कुछ विलक्षण है। लौकिक गणित से स्थूल पदार्थों का नाप किया जाता है, पर अलौकिक-गणित से सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अनन्त पदार्थों की हीनाधिकता का ज्ञान होता है।

इस अलौकिक-गणित के मुख्य भेद दो हैं-संख्यामान और उपमानमान। सख्यामान के मुख्य भेद तीन हैं। सख्यात, असख्यात और अनन्त। असख्यात के तीन भेद हैं-परीतासंख्यात, युक्तासख्यात और असंख्यातासख्यात। अनन्त के भी इसी तरह तीन भेद हैं-परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त और संख्यात का एक भेद, इस तरह सब मिलाकर सात भेद हुए। इन सातो के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से २१ भेद सख्यामान के होते हैं।

उपमानमान आठ प्रकार का होता है-१ पल्य, २ सागर, ३ सूच्यगुल, ४ प्रतरागुल ५ घनागुल ६ जगत् श्रेणी ७ जगत्प्रतर और ८ लोक।

हमने यहाँ केवल सूचनार्थ अलौकिक-गणित के भेदो के नाम मात्र गिनाये हैं। इनका स्वरूप गोमट्टसार की टीकाओ मे पूर्ण विस्तार के साथ लिखा है, वहाँ से देखना चाहिये। ऐसा आश्चर्य कारक गणित का वर्णन केवल यहाँ ही मिलता है। इसके पठन पाठन विचार आदि से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह बीजज-सम्यक्त्व है।

संक्षेप–सम्यक्त्व

देवशास्त्रगुरु और पदार्थों के संक्षेप ज्ञान से जो श्रद्धान होता है उसे 'संक्षेप–सम्यक्त्व' कहते हैं।

पदार्थों का ज्ञान संक्षेप और विस्तार दोनो ही प्रकार से होता है। कई जीव संक्षेप–ज्ञान से ही उतना प्रयोजन निकाल लेते हैं जितना विस्तार–ज्ञान से निकलता है। ऐसी बात नहीं है कि केवल विस्तृत ज्ञान ही वास्तविक प्रयोजन को सिद्ध करता है। योग्य व्यक्ति संक्षेप–ज्ञान से भी अन्तिम निष्कर्ष निकाल लेता है। "तुसमास घोसन्तो सिवभूदी केवली जादो"—अर्थात् जिस प्रकार उड़द अपने छिलके से अलग है उसी प्रकार शरीर आत्मा से भिन्न है, इस तरह विचार करता हुआ शिवभूति केवली होगया। द्वादशाग के विस्तृत ज्ञान का फल जो आत्म–विवेक है वह शिवभूति को कितने संक्षिप्त ज्ञान के द्वारा मिलगया। वास्तव मे यथार्थ अर्थात् प्रयोजन भूत ज्ञान ही उपयोगी है फिर चाहे वह संक्षिप्त हो या विस्तृत। दोनो ज्ञानो का उपयोग तो एक है। अगर वास्तविक फल का साधक न हो तब तो विस्तृत ज्ञान भी व्यर्थ ही है।

विस्तार–सम्यक्त्व

द्वादशांग–चौदह पूर्व और प्रकीर्णकों के सुनने से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है उसे आचार्य 'विस्तार–सम्यग्दर्शन' कहते हैं।

प्रश्न—द्वादशाग के जानने वाले का सम्यक्त्व तो 'अवगाढ–सम्यक्त्व' कहलाता है। फिर यहाँ उसे विस्तार–सम्यक्त्व कैसे कहा?

उत्तर—जिसको द्वादशाग का ज्ञान है वह तो सम्यग्दृष्टि है ही। क्योंकि सम्यक्त्व के विना द्वादशाग का ज्ञान नहीं होता। इसलिये द्वादशाग के ज्ञाता का सम्यक्त्व विस्तार–सम्यक्त्व नहीं है क्योंकि उसे तो आगे अवगाढ सम्यक्त्व कहने वाले हैं। विस्तार सम्यक्त्व तो उसे कहते हैं जो द्वादशाग के ज्ञाता से द्वादशाग सुनने से होता है। द्वादशाग का सुनने वाला द्वादशांग का ज्ञाता हो, ऐसी वात नहीं।

अर्थ–सम्यक्त्व

आगम–वाक्य के विना किसी भी पदार्थ का निमित्त पाकर जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है उसे आचार्य 'अर्थ सम्यक्त्व' कहते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि शिवभूति मुनि 'तुपमाप' को घोखते हुए केवली हो गये। यद्यपि 'तुपमाप' कोई आगम–वाक्य नहीं है फिर भी इसके द्वारा उन्हे आत्म–ज्ञान होगया। उड़द की दाल एक प्रकार का पदार्थ है। उसे देख कर जो उन्हें जो आत्म–विवेक हुआ उसे 'अर्थ सम्यक्त्व' कह सकते हैं। वादल वगैरह क्षण भगुर पदार्थों को देख कर भी आत्म–ज्ञान बहुतो को हुआ है। वास्तव में संसार का प्रत्येक

पदार्थ हमारे गहरे विचार का विषय बनकर सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण बन सकता है। इसका मतलब यह है कि सम्यक्त्व उत्पन्न होने के लिये आगम वाक्य ही अपेक्षित नहीं है। किसी भी पदार्थ के वास्तविक-ज्ञान से वह उत्पन्न हो सकता है। इसी लिये विद्वानों ने कहा है कि एक भी पदार्थ को जिसने पूरा जान लिया उसने सब कुछ जान लिया।

प्रश्न—अगर कोई भी पदार्थ सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण हो सकता है तब तो पत्थर वगैरह को भी उसकी उत्पत्ति का कारण मान लेना चाहिये।

उत्तर—अगर पत्थर का निमित्त पाकर किसी को भेद-विज्ञान, आत्म-विवेक होजाय तो उसे भी सम्यक्त्व का कारण माना जा सकता है। कहने का मतलब यह नहीं है कि प्रत्येक पदार्थ सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण होता ही है। अगर कोई पदार्थ-कारण होसके तो वह सम्यक्त्व 'अर्थ-सम्यक्त्व' कहलावेगा।

अवगाढ और परमावगाढ सम्यक्त्व

श्रुतकेवलियो के जो सम्यक्त्व होता है उसे 'अवगाढ-सम्यक्त्व' और केवलियो के सम्यग्दर्शन को 'परमावगाढ-सम्यक्त्व' कहते हैं।

प्रश्न—क्या श्रुतकेवली और केवलियो के सम्यक्त्व मे कोई वास्तविक भेद है?

उत्तर—उनके सम्यक्त्व मे कोई भेद नहीं है। दोनो ही क्षायिक-सम्यग्दृष्टि है। क्षायिक-सम्यक्त्व मे कोई भेद नहीं होता। सम्यक्त्व की अपेक्षा से तो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती क्षायिक-सम्यग्दृष्टि और केवली समान ही हैं। और तो क्या ससारी और सिद्धो के क्षायिक-सम्यक्त्व मे भी कोई भेद नहीं है। अवगाढ और परमावगाढ का भेद तो केवल ज्ञान की अपेक्षा से है-यह पहले ही कहा जा चुका है।

सम्यग्दृष्टि के आठ गुण

संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, भक्ति, उपशम, वात्सल्य और जीव-दया ये सम्यक्त्व के आठ गुण हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टि-जीव मे ये गुण अवश्य होते हैं।

संसार अथवा ससार के कारण पाप से डरने को 'सवेग' कहते हैं। संसार देह और भोगो से विरक्त होना 'निर्वेद' कहलाता पापो की अपने मनमें स्वय ही निन्दा करना 'निन्दा' है। अपने पापों की प्रकटरूप से निन्दा करना 'गर्हा' है। कषायो के दबने को

'उपशम' कहते हैं। अरहतादि पूज्य व्यक्तियो में अनुराग रखना 'भक्ति' है। धर्मात्माओं में निष्कपट प्रेम रखना 'वात्सल्य' है। प्राणीमात्र की दया पालन करना 'जीवदया' है।

प्रश्न—निःशङ्कित आदि सम्यक्त्व के आठ गुणों और इन गुणो में क्या भेद है ?

उत्तर—वे सम्यक्त्व के गुण नहीं किन्तु अङ्ग हैं। सम्यक्त्व के उत्पन्न होजाने के बाद आत्मा में ये गुण प्रकट होजाते हैं और ये आत्मा को चारित्र की ओर लेजाने वाले हैं। इन गुणों का सम्यक्त्व के साथ वैसा अविनाभाव नहीं है जैसा अङ्गो का होता है।

प्रश्न—निन्दा और गर्हा मे श्रेष्ठ कौन है।

उत्तर—निन्दा की अपेक्षा गर्हा का दर्जा ऊँचा है, क्योंकि दूसरो के सामने अपने पापों को प्रकट करने में अधिक आत्मबल की आवश्यकता है।

पच्चीस मलदोष

पच्चीस मल दोष रहित सम्यक्त्व ही पूजा करने योग्य बतलाया गया है। क्योंकि जब तक इसमें एक भी दोष रहता है तब तक सम्यक्त्व मे पूरी निर्मलता नहीं आती। इसलिये इन दोषों को नष्ट करने की कोशिश करते रहना चाहिये। पच्चीस दोषों के नाम ये हैं—

कुल, जाति, रूप, ज्ञान, धन, बल, तप और प्रभुता ये आठ मद, शङ्कादि आठ मल, तीन मूढताएँ और कुगुरु, कुदेव, कुधर्म तथा इन तीनों के सेवक, इस तरह छह अनायतन–कुल मिलाकर ये सम्यक्त्व के पच्चीस दोष होते हैं।

किसी वस्तु का घमंड करना मद कहलाता है। जिस कुल में मनुष्य उत्पन्न हुआ है उस कुल (पितापक्ष) का गर्व करना कि मेरा कुल सबसे अच्छा है, मैं उच्च कुल मे पैदा हुआ हूँ, कोई मेरी बराबरी नहीं कर सकता आदि विचार 'कुल मद' के द्योतक हैं। इसी तरह जिस जाति (मातृपक्ष) में उत्पन्न हुआ हो उस जाति का गर्व करना, अपने को उच्च जाति का मान कर औरों को घृणित दृष्टि से देखना, 'जाति मद' कहलाता है। इसी तरह रूप, ज्ञान, धन, शक्ति, तपस्या, और प्रभुता का मद भी होता है। परन्तु सम्यग्दृष्टि के ये मद तनिक भी नजदीक नहीं फटकते। वह अपने कुल आदि का घमंड नहीं करता।

सम्यग्दर्शन के आठ अङ्गों जिनका आगे वर्णन (करेंगे) ठीक उलटे शङ्कादि आठ दोष समझने चाहिये। देव-मूढता, गुरु

मूढता और लोक मूढता इन तीनों मूढताओ का स्वरूप पहले वर्णन किया जा चुका है। कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र तथा इन तीनों के मानने वाले छह अनायतन कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टि न इनको मानता है और न इनकी प्रशंसा करता है।

इस तरह उक्त पच्चीस दोप सम्यग्दृष्टि के नहीं होते।

आत्मा मे धर्म का अंकुर सम्यक्त्व से ही उगता है। इस कारण सम्यग्दर्शन सबसे अधिक महत्वशाली भाव है। सम्यक्त्व के बिना ज्ञान, चारित्र आत्मा का कल्याण नहीं कर पाते। इसी कारण आत्मा का सबसे अधिक हितकर सम्यग्दर्शन है और सबसे बड़ा शत्रु मिथ्यात्व है।

इस तरह यहां संक्षेप मे सम्यक्त्व का वर्णन किया गया है। इसका स्वयं आचरण करना व दूसरे से आचरण करवाना ही सम्यग्दर्शनाचार कहलाता है। सम्यग्दर्शन का उक्त वर्णन भावना-विवेक नामक ग्रन्थ से लिया गया है। इसका विशेष विवेचन आगे सागार प्रकरण में किया जावेगा।

सम्यग्ज्ञानाचार

सम्यग्दर्शनाचार का वर्णन करने के बाद अब सम्यग्ज्ञानाचार का वर्णन करते हैं। सम्यग्दर्शन ही ज्ञान में सचाई लाता है इसलिए सम्यग्दर्शनाचार का वर्णन पहले किया गया है और अब इसके बाद मे ही सम्यग्ज्ञानाचार का वर्णन करना उचित है।

प्रश्न—ज्ञान पहले होता है और श्रद्धान इसके बाद। इसलिए पहले ज्ञानाचार और फिर दर्शनाचार का वर्णन होना चाहिए, क्योंकि जाने बिना श्रद्धान कैसे हो सकेगा ?

उत्तर—यह ठीक है कि ज्ञान पहले होता है पर उसमें सचाई पहले नहीं आती-ज्ञान में सचाई तो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होजाने के कारण ही आती है। इसलिए पहले सम्यग्दर्शन का वर्णन करना ही न्याय-प्राप्त है।

सम्यग्ज्ञान की अपार महिमा है। ज्ञान के समान कोई पवित्र वस्तु जगत में नहीं है। ज्ञान ही कर्मों के नाश का कारण है। सम्यग्ज्ञान बिना सम्यक् चारित्र कभी नहीं हो सकता। इसलिए सम्यग्दर्शन की तरह सम्यग्ज्ञान भी आराधना करने योग्य है।

ज्ञान स्वय ही अपना फल है। वह किसी और फल की अपेक्षा नहीं करता। जो मनुष्य ज्ञान की आराधना में अपना जीवन खपाता है वह धन्य है। यथार्थ ज्ञान की परीभाषा करते हुए मूलाचार में श्री वट्टकेर स्वामी ने कहा है :—

जेण तच्चं विवुज्झेज्ज, जेण चित्तं णिरूज्झदि ।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज तं णाणं जिणसासणे ॥ ७० ॥ मू० ॥ पंचा ॥

अर्थ—जिससे वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाना जा सकें, जिससे मन विषयो में जाता हुआ रुक जाय, जिससे अपनी आत्मा-शुद्ध होजाय, जिन शासन में वही ज्ञान माना गया है।

ज्ञान के भेद

ज्ञान के ५ भेद माने गये हैं—मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल। इनमे आदि के तीन ज्ञान मिथ्यात्व के निमित्त से मिथ्या ज्ञान होजाने के कारण कुज्ञान कहलाने लगते हैं। इस तरह इन पाचों ज्ञानो मे कुमति, कुश्रुत और कुअवधि इन तीन मिथ्याज्ञानो के मिला देने के कारण ज्ञान के आठ भेद भी होजाते हैं। अवशिष्ट दो ज्ञान मन.पर्यय और केवल मिथ्यात्वी के नहीं होसकते। इस लिए कुज्ञान तीन ही हैं।

प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से यह पांचों ज्ञान दो प्रकार के हैं। पदार्थ को स्पष्ट जानने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष और अस्पष्ट जानने वाले को परोक्ष कहते हैं। आदि के दो ज्ञान परोक्ष और शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं, विकल और सकल। जो मूर्त पदार्थों की कुछ पर्यायो को स्पष्ट जाने उसे विकल प्रत्यक्ष कहते हैं, और जो सम्पूर्ण पदार्थों की समस्त पर्यायों को एक साथ स्पष्ट जाने, उसे सकल प्रत्यक्ष कहते हैं। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान विकल प्रत्यक्ष और केवल ज्ञान सकल प्रत्यक्ष है।

सामान्य रूप से ज्ञान एक ही प्रकार का है, किन्तु उसके पर्याय की अपेक्षा ये भेद किये गये हैं। इनमें से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान ये चार क्षायोपशमिक ज्ञान हैं। क्योंकि ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के उदयागत सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदयाभाव क्षय, (बिना रस दिये ही खिर जाना) तथा आगामी उदय आने वाले सर्वघाती स्पर्द्धकों का सदवस्था रूप उपशम एवं देशघाती स्पर्द्धकों का उदय होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे क्षायोपशमिक ज्ञान कहते हैं। ये चारों ज्ञान उक्त प्रकार से सर्वघाती स्पर्द्धको के क्षय तथा उपशम से होते हैं, अत इन्हें क्षायोपशमिक ज्ञान कहते हैं।

इन चारो ज्ञानों मे जिस ज्ञान के आवरण कर्म के सर्वघाती स्पर्द्धकों का क्षयोपशम होजाय, वही ज्ञान प्रकट होजाता है। अत ये चारो ज्ञान क्षायोपशमिक हैं। और ज्ञानावरण कर्म का अत्यन्त क्षय होजाने पर केवल ज्ञान प्रकट होता है, इसलिये यह ज्ञान क्षायिक है।

मिथ्याज्ञानों का स्वरूप

अब मिथ्याज्ञान की उत्पत्ति, कारण, स्वरूप, स्वामी और भेदो का वर्णन करते हैं। जैसा कि पहले कह आये हैं मतिज्ञान,

श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान ये तीनो ज्ञान मिथ्याज्ञान हैं, क्योंकि ये मिथ्यात्व के उदय सहित होते हैं। जैसे कडुवी तूम्बी में भरा हुआ दूध भी कडुवा होजाता है, वैसे ही ये तीनो ज्ञान मिथ्यात्वोदय के सम्बन्ध से दूषित होजाते हैं। इसलिये कुज्ञान कहलाते हैं। इनका स्वरूप निम्न प्रकार है।

कुमति-ज्ञान

परके उपदेश विना, तेल कर्पूर आदि के सयोग से जन्तु-मारण-शक्ति उत्पन्न करना अर्थात् विष बनाना, व्याघ्र-सिंह आदि हिंसक जीवों को पकडने के लिये काठ का ऐसा यन्त्र बनाना, जिसके भीतर बकरे आदि प्राणी बाध दिये जावें और उनको खाने के लिये सिंहादि के अन्दर घुसते ही किवाड़ लग जावें। इसी तरह मच्छ, कछुवा, चूहा इत्यादि को पकड़ने के लिये काठ आदि का कूट बनाना, तीतर, हिरण आदि को पकड़ने के लिये जाल पींजरा बनाना, ऊट और हाथी को पकड़ने के लिये धोखे के खड्डे (कपट गर्त) बनाना, पक्षियो के पकडने के लिये बडे बासो का ल्हासा बनाना, एवं दूसरो को ठगने, पर द्रव्य तथा परस्त्री को हरने, पराये जीवो को मारने धन को चोरने, अन्य भोले जीवो की आजीविका,जमीन, मकान को लेने, अन्य का अपमान करने, न्यायालय मे सत्यवादी को झूठा और झूठे को सच्चा करने, पर के दूषण लगाने, धर्मात्मा के चोरी लगाने, अन्याय से धर्मात्माओ को दूषण लगाने, कुदेव में देव-बुद्धि करने, पाखण्डियों को पुजवाने, स्वय पापी पाखण्डी होकर स्वय की प्रशसा कराने, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह बढाने आदि पापो के लिये दु प्रवृत्ति करना। कुमति ज्ञान है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति, तथा त्रस इन छह काय के जीवों का घात करना, नगर ग्राम आदि को दग्ध करना, देश, ग्राम, गृहवालो मे विरोध या कलह करना या कराना, तथा शत्रु की सेना को विध्वस करने के लिये शस्त्र, अग्नि, विष-फोटक बम गैस आदि पदार्थों का बनाना, पाखण्ड तथा मायाचारी करना आदि सभी कुमति ज्ञान हैं।

कुश्रुत ज्ञान

परके उपदेश से ऐसी कुबुद्धि उत्पन्न होना, जैसे चोरी, व्यभिचार मे प्रवृत्ति कराने वाले, राग बढाने वाले, विक्षेप-कलह उत्पन्न करने वाले, संग्राम-चातुर्य-वर्द्धक, खड्ग-राग-पोषक, पर जीवो की हिंसा मे प्रवृत्ति कराने वाले शास्त्रों की रचना या इसी तरह मन्त्र शास्त्रो का निर्माण करना, मिथ्या दर्शन से दूषित एव सर्वथा एकान्तवाद की पुष्टि करने वाले मनःकल्पित शास्त्रो की रचना करना, हिंसा-वर्द्धक व्याख्यान देना, हिंसामय तप की प्रशसा करना आदि कुश्रुत ज्ञान हैं। भगवान की भुजा से क्षत्रिय, मुख से ब्राह्मण, हृदय से वैश्य, तथा जंघा से शूद्र की उत्पत्ति हुई है-इस प्रकार असंभव को सभव तथा सभव को असभव बताने वाले ग्रन्थो का निर्माण करना भी कुश्रुत ज्ञान ही है।

कुअवधि ज्ञान

यह अवधि ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा को लिये

हुए रूपी द्रव्य को विषय करता है। मिथ्या दर्शन के उ.य के साथ रहने के कारण यह ज्ञान कुवधि कहलाता है। आप्त आगम और पदार्थ को विपरीत ग्रहण करने वाला यह कुअवधिज्ञान चारो गतियो मे पाया जाता है। मनुष्य और तिर्यंचगति में तीव्र काय क्लेश तप एव द्रव्य संयम का पालन करने से उत्पन्न होता है। अतः इसे गुणप्रत्यय कहते हैं।

देव और नारकियो के जन्म के साथ उत्पन्न होता है इसलिये यह भवप्रत्यय होता है। जो जीव देव और नारकियों का भव धारण करेगा, उसके अवधिज्ञान अवश्य होगा। लेकिन मिथ्यादृष्टि जीव का अवधिज्ञान मिथ्यात्व के प्रभाव से कुअवधि कहलाता है। यह ज्ञान मिथ्यात्वादिक कर्मों के बन्ध का कारण है। सम्यग्दृष्टि के यही ज्ञान सम्यक् अवधिज्ञान कहलाता है। जब किसी जीव को नरकादि गति मे पूर्व जन्म के पाप कर्म के फल से तीव्र दु:ख की वेदना होती है तो उसके ऐसा विचार होता है कि मैंने पूर्व जन्म मे हिंसादि पाप कर्मों का आचरण किया, तथा सप्त व्यसन का सेवन किया, उनके फल से नरक के दुख भोगने पडे। इस प्रकार अपने पाप की आलोचना करने वाले जीव के सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान का सद्भाव समझना चाहिये।

मतिज्ञान के चार भेद और उनका स्वरूप

मतिज्ञान के मूल चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणा। पदार्थ और इन्द्रियो के ग्रहण करने योग्य स्थान पर अवस्थित होने के बाद जो पदार्थ की सत्तामात्र का प्रतिभास होता है, उसे दर्शन कहते हैं। इसमें पदार्थ का संस्थान (आकार) वर्ण आदि प्रतिभास नहीं होता; इसलिए इसे निर्विकल्प उपयोग कहते हैं। यह चक्षु से होता है तब इसे चक्षुदर्शन कहते हैं, और जब स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रोत्र और मन से होता है तब इसे अचक्षुदर्शन कहते हैं।

दर्शन के अनन्तर ही वस्तु के संस्थान (आकार) वर्ण आदि का जो विशेष ज्ञान होता है, उसे अवग्रह कहते हैं। जैसे—यह श्वेत है, यह मनुष्य है, यह वृक्ष है इत्यादि।

अवग्रह से जाने हुए पदार्थ को विशेष जानने की इच्छा को ईहा ज्ञान कहते हैं। जैसे—श्वेत पदार्थ ध्वजा होना चाहिए, बक पंक्ति होना चाहिए, यह मनुष्य दक्षिण देश का होना चाहिए, यह वृक्ष बड़ होना चाहिए, इस प्रकार निश्चय की ओर झुकता हुआ ज्ञान ईहा ज्ञान कहलाता है।

शङ्का—ईहा ज्ञान में पदार्थ का निश्चय नहीं होता, अतः यह ज्ञान संशयात्मक होने से मिथ्याज्ञान है; क्योंकि संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय ये तीनो मिथ्याज्ञान माने गये हैं।

समाधान—ईहा ज्ञान-संशयात्मक नहीं है; क्योंकि यह अनेक पक्षों का अनिश्चयात्मक ज्ञान नहीं है। जो अनेक पक्षों का स्पर्श करने वाला ज्ञान है वह संशयज्ञान है; जैसे यह मनुष्य है या पेड़ है इत्यादि। ईहा ज्ञान एक ही पदार्थ को विषय करता है और निश्चय की ओर झुकता हुआ है। यह ज्ञान संशय को दूर करने वाला है, और जिसका आगे पूर्ण निश्चय होने वाला है, उसी को विषय करता है। जैसे श्वेत पदार्थ यदि ध्वजा है तो उसे ध्वजा होना चाहिए, और यदि बक पंक्ति है तो उसे बक पंक्ति होना चाहिए-इस प्रकार विषय करता है। अनेक पक्षों में झूलता हुआ ज्ञान न होने से यह संशय नहीं है।

ईहा से जाने हुए पदार्थ का निश्चय रूप जो ज्ञान होता है, उसे अवाय कहते हैं। जैसे यह ध्वजा ही है। यह बक पंक्ति ही है। यह दाक्षिणात्य ही है। यह बड़ का वृक्ष ही है इत्यादि। यह निर्णयात्मक ज्ञान होता है।

अवाय से जाने हुए पदार्थ को कालान्तर में नहीं भूलने की जो योग्यता उत्पन्न होती है, उसे धारणा कहते हैं। इसके न होने पर और पूर्व के तीनों अवग्रह ईहा अवाय ज्ञान के होने पर भी वस्तु का स्मरण नहीं होता है। इसके होने पर आत्मा में ऐसा संस्कार जम जाता है, जिससे स्मरण ज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिए वह स्मृति ज्ञान का कारण है।

इसका खुलासा यह है कि जब विषय और इन्द्रिय ये दोनों ठीक २ स्थान पर होते हैं, तब सत्तामात्र का निर्विकल्प प्रतिभास होता है, इसे दर्शन कहते हैं और इसके बाद ही पहले पहल जो वस्तु का विशेष ज्ञान होता है, वह अवग्रह ज्ञान है। अवग्रह से जाने हुए पदार्थ में विशेष जानने की जो इच्छा होती है, वह संशय को दूर करते हुए निश्चय की ओर झुकती हुई होती है, उसे ईहा ज्ञान कहते हैं। अवग्रह से वृक्ष का ज्ञान हुआ था और ईहा ने उसे यह वृक्ष बड़ का होना चाहिए, ऐसा जानकर संशय को दूर करते हुए निर्णय के सम्मुख किया है। अवाय ने उसके पत्ते आदि को देख कर 'यह बड़ ही है' ऐसा निश्चय रूप दिया तथा धारणा ने आत्मा में ऐसा संस्कार उत्पन्न किया जिससे आत्मा भविष्य में उस (बड़) का स्मरण कर सके। उक्त चारों ज्ञानों के बारह २ भेद हैं, वे निम्न प्रकार हैं—

अवग्रहादि ज्ञानों के भेद

बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम्। तत्त्वार्थ सूत्र ।१। १६ ॥

बहु, अल्प या एक-दो, बहुविध, एकविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, अनिःसृत, निःसृत, अनुक्त, उक्त, ध्रुव और अध्रुव-इस प्रकार पदार्थ के बारह भेद होते हैं। इनका अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ज्ञान होता है।

बहु—बहुत पदार्थों का अवग्रहादि होना। जैसे बहुत सी गायों में कोई काली, कोई पीली, कोई रंगी, कोई मुंडी, कोई सावली आदि सब का ज्ञान होना।

अल्प या एक दो—थोडेसे चावलादि, अथवा एक गाय या दो गाय आदि का ज्ञान होना होता है।

बहु विध—कई प्रकार के पदार्थों का ज्ञान होना। जैसे-मेना से-हाथी घोड़े ऊंट रथ आदि अनेक जाति के पदार्थों का ज्ञान होना।

एक विध—एक प्रकार के पदार्थों का ज्ञान होना। जैसे-घोड़े या हाथी आदि एक जाति के पदार्थों का ज्ञान।

क्षिप्र—शीघ्र गामी पदार्थ का ज्ञान होना। जैसे-जल प्रपात, दौड़ती हुई रेल गाड़ी, मोटर, वायुयान, आदि शीघ्रगति वाले पदार्थों का अवग्रहादि ज्ञान।

अक्षिप्र—मन्दगति वाले पदार्थों का ज्ञान होना। जैसे बैलगाडी आदि का ज्ञान।

अनिःसृत—पूर्ण पदार्थ के प्रकट न होने पर भी उसके एक देश (अवयव) को देख कर पूरे पदार्थ का ज्ञान करना। जैसे जल मे डूबे हुए हाथी की बाहर निकली हुई सूंड को देख कर हाथी का ज्ञान करना।

निःसृत—पूर्ण निकले हुए पदार्थ का अर्थात् प्रकट पदार्थ का ज्ञान करना। जल से बाहर निकले हुए हाथी को देख कर हाथी का ज्ञान होना।

अनुक्त—बिना वचन सुने अभिप्राय से पदार्थ को जान लेना। आकार आदि देख कर अभिप्राय को ताड़ लेना।

उक्त—वचन द्वारा कहे हुए पदार्थ का बोध होना।

ध्रुव—स्थिर पदार्थ का ज्ञान होना—जैसे पर्वत आदि।

अध्रुव—अस्थिर पदाथ का ज्ञान होना—जैसे बिजली आदि।

परोक्ष ज्ञान और उसके भेद

जो ज्ञान दूसरे की सहायता से पदार्थ को जानता है, उसे परोक्ष कहते हैं। उसके पाच भेद हैं–स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।

स्मृति

स्मृति—धारणा ज्ञान से उत्पन्न हुए संस्कार के जागृत होने पर 'वह' इस आकार से उत्पन्न होने वाला जो ज्ञान है, उसे स्मृति कहते हैं। अर्थात् पहले अनुभव किये हुए पदार्थ की याद हो जाना स्मृति ज्ञान है। जैसे हमने अमुक् दिन मुनि-दर्शन किया था, इत्यादि।

प्रत्यभिज्ञान

प्रत्यभिज्ञान—प्रत्यक्ष और स्मरण के विषय भूत पदार्थों मे जो जोड रूप ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे यह वही मुनीश्वर हैं, जिनका दर्शन अमुक् दिन किया था। इसके अनेक भेद हैं–एकत्वप्रत्यभिज्ञान, सादृश्यप्रत्यभिज्ञान, वैसादृश्य और तत्प्रतियोगी आदि।

एकत्व प्रत्यभिज्ञान-प्रत्यक्ष और स्मरण के विषय भूत पदार्थों मे एकपना दर्शाते हुए जो जोड़ रूप ज्ञान होता है, उसे एकत्वप्रत्यभिज्ञान कहते है। जैसे-ये वे ही मुनीश्वर है, जिनका कल दर्शन किया था।

सादृश्यप्रत्यभिज्ञान—प्रत्यक्ष और स्मरण के विषय भूत पदार्थों मे सादृश्य दिखाते हुए जो जोड़ रूप ज्ञान होता है, उसे सादृश्य प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे-यह गवय (रोझ) गाय के समान है।

वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञान—प्रत्यक्ष और स्मरण के विषय भूत पदार्थों मे विलक्षणता दर्शाते हुए जो जोड़ रूप ज्ञान होता है, उसे वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे-यह भैंस गाय से विलक्षण है।

तत्प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान—प्रत्यक्ष और स्मरण के विषय भूत पदार्थों में विशेषता दिखाते हुए जो जोड रूप ज्ञान होता है, उसे तत्प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे-यह स्थान उससे दूर है इत्यादि।

तर्क

तर्क—व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं।

व्याप्ति—अविनाभाव सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं।

अविनाभाव सम्बन्ध—जहाँ जहाँ साधन (हेतु) होता है, वहाँ वहाँ साध्य होता है और जहाँ जहाँ साध्य नहीं होता है, वहाँ वहाँ साधन भी नहीं होता है, इस प्रकार के सम्बन्ध को अविनाभाव सम्बन्ध कहते हैं। जैसे—जहाँ जहाँ धुआँ होता है, वहाँ वहाँ अग्नि होती है और जहाँ जहाँ अग्नि नहीं होती है, वहाँ वहाँ धुआँ भी नहीं होता है।

अनुमान

अनुमान—साधन से जो साध्य का ज्ञान होता है, उसे अनुमान कहते हैं। जैसे—धुएँ को देख कर अग्नि का ज्ञान करना।

साधन—साध्य के बिना जो न हो सके, उसे साधन कहते हैं। जैसे—धुआँ अग्नि के बिना नहीं हो सकता, इसलिए अग्नि का साधन (हेतु) धुआँ है।

साध्य—इष्ट, अबाधित और असिद्ध को साध्य कहते हैं।

इष्ट—वादी जिसको सिद्ध करना चाहे, उसको इष्ट कहते हैं।

अबाधित—जो दूसरे प्रमाणों से बाधित न हो उसे अबाधित कहते हैं। जैसे अग्नि-की शीतलता (ठंढापन) प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है; क्योंकि अग्नि छूने से उष्ण मालूम होती है, इसलिए अग्नि की शीतलता साध्य नहीं हो सकती।

असिद्ध—जो दूसरे प्रमाण से सिद्ध न हो, उसे असिद्ध कहते हैं। अथवा जिसका निश्चय न हो, उसे असिद्ध कहते हैं।

उक्त अनुमान ज्ञान साधन (हेतु) से होता है और साधनाभास से (हेत्वाभास से) जो ज्ञान होता है, उसे अनुमानाभास कहते हैं।

हेत्वाभास

हेत्वाभास—जो हेतु के समान मालूम देता हो, किन्तु उसमे हेतु के गुण न हो, अर्थात् दोष विशिष्ट हेतु को हेत्वाभास कहते हैं। यह चार प्रकार का होता है। असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक (व्यभिचारी) और अकिंचित्कर।

जिस हेतु की सत्ता (मौजूदगी) का निश्चय न हो; किन्तु उसके असत्त्व (अभाव) का निश्चय हो, अथवा उसके सद्भाव (अस्तित्व-मौजूदगी) मे सन्देह हो, उसे असिद्ध कहते हैं। जैसे-शब्द नित्य है, क्योकि वह चक्षु इन्द्रिय का विषय है। यहां जो चक्षु इन्द्रिय का विषय, यह हेतु दिया है, वह असिद्ध है; कारण कि शब्द श्रोत्र इन्द्रिय का विषय है। इसलिए उक्त हेतु असिद्ध हेत्वाभास है।

विरुद्ध हेत्वाभास-जिस हेतु की अपने साध्य से विपरीत के साथ व्याप्ति हो, उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं। जैसे-शब्द नित्य है, क्योकि वह परिणामी है। यहा पर जो परिणामी हेतु है, वह नित्य साध्य से विपरीत अनित्य के साथ व्याप्त है; इसलिए यह विरुद्ध हेत्वाभास माना जाता है।

अनैकान्तिक (व्यभिचारी) हेत्वाभास-जिस हेतु की पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीनों के साथ व्याप्ति हो, उसे अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं। जैसे-इस रसोई घर मे धुआ है, क्योकि इसमे अग्नि है। यहां पर अग्नि हेतु पक्ष (रसोई घर) सपक्ष-धुआ वाला दूसरा घर तथा विपक्ष धुएँ रहित जलते हुए कोयले वाली अँगीठी में भी पाया जाता है, इसलिए यह 'धुआ' हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास कहा जाता है।

प्रश्न—यहाँ पर पक्ष सपक्ष आदि का नाम उच्चारण किया है। उनका लक्षण-स्वरूप क्या है?

उत्तर—जहा साध्य के रहने का सन्देह हो, उसे पक्ष कहते हैं। जैसे यह पर्वत अग्निवाला है (पक्ष)। क्योकि यहा पर धुआं है (साधन)। जहा जहा धुआं होता है, वहां वहा अग्नि होती है, जैसे रसोई घर (अन्वयदृष्टान्त)। जहां २ अग्नि नहीं होती है, वहा २ धुआं भी नहीं होता है, जैसे तालाब (व्यतिरेक दृष्टान्त)। वैसा ही धुए वाला यह पर्वत है; (उपनय)। इसलिए यह अग्नि वाला है (निगमन) यह पञ्चावयव वाक्य है। इस वाक्य मे पर्वत पक्ष है, क्योकि यहा की अग्नि सिद्ध की जा रही है। जब तक यह अग्नि सिद्ध नहीं हो जाती, तब तक उसका निश्चय नहीं हुआ है, किन्तु उसमें सन्देह है।

सपक्ष—जहां साध्य के रहने का निश्चय हो, उसे सपक्ष कहते हैं। जैसे ऊपर के पञ्चावयव वाक्य मे 'रसोई घर' सपक्ष है, क्योकि वहां पर अग्नि के रहने का निश्चय है।

विपक्ष—जहा साध्य के अभाव का (न रहने का) निश्चय हो। जैसे-ऊपर के वाक्य मे तालाब विपक्ष कहा गया है, क्योंकि वहा अग्नि का अभाव निश्चित है।

प्रश्न—चौथा अकिंचित्कर हेत्वाभास किसे कहते हैं?

उत्तर—अकिंचित्कर हेत्वाभास उसे कहते हैं–जो हेतु अपने साध्य की किंचिन्मात्र भी सिद्धि न कर सके। इसके दो भेद हैं–सिद्धसाधन और वाधितविपय।

सिद्धसाधन हेत्वाभास–जिस हेतु का साध्य सिद्ध न हो उसे सिद्ध साधन कहते हैं। जैसे–अग्नि उष्ण है, क्योंकि वह छूने से गर्म मालूम होती है। यहां पर अग्नि का उष्णपना प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है। हेतु ने अपना कार्य कुछ भी नहीं किया, इसलिए यह अकिंचित्कर माना जाता है।

वाधित विपय हेत्वाभास–जिस हेतु का साध्य प्रत्यक्षादि प्रमाण से वाधित हो, उसे वाधित विपय कहते हैं। इसके अनेक भेद हैं–प्रत्यक्ष–वाधित, अनुमान–वाधित, आगम–वाधित और स्ववचन–वाधित आदि।

प्रत्यक्ष वाधित–जिस हेतु का साध्य प्रत्यक्ष प्रमाण से वाधित हो। जैसे–अग्नि ठंडी है, क्योंकि वह द्रव्य है। यहा पर जो द्रव्य हेतु दिया गया है, उसका साध्य अग्नि का ठंडापन है, वह प्रत्यक्ष से वाधित हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष से अग्नि गर्म सिद्ध है।

अनुमान वाधित—जिस हेतु के साध्य मे अनुमान से वाधा आवे, उसे अनुमान वाधित कहते हैं। जैसे—'पर्वत नदी घास आदि कर्त्ता के वनाये हुए हैं, क्योंकि ये कार्य हैं।' किन्तु इस 'कार्य' हेतु मे इस अनुमान से वाधा आती है—पर्वत नदी घास आदि किसी ईश्वरादि की वनाई हुई नहीं हैं, क्योंकि इनका वनाने वाला शरीरधारी नहीं है। जो २ शरीर धारी की वनाई हुई नहीं हैं, वे वे वस्तुएं किसी ईश्वरादि कर्त्ता की वनाई हुई नहीं हैं, जैसे आकाश। आकाश किसी शरीरधारी का वनाया हुआ नहीं है, इसलिए वह किसी ईश्वरादि कर्त्ता का वनाया हुआ भी नहीं है। वैसे ही पर्वतादि को भी समझना चाहिए।

आगमवाधित—जिस हेतु का साध्य शास्त्र से वाधित हो, उसे आगम वाधित कहते हैं। जैसे—पाप सुख का देने वाला है, क्योंकि वह कर्म है। जो जो कर्म होता है, वह २ सुख का देने वाला होता है, जैसे पुण्य कर्म। इस मे आगम प्रमाण से वाधा आती है, क्योंकि शास्त्रो मे पापकर्म को दु:ख देने वाला वताया है।

स्ववचनवाधित—जिस हेतु के साध्य मे अपने वचन से ही वाधा आवे। जैसे—कोई कहे कि मेरी माता वन्ध्या है, क्योंकि पुरुष का सयोग होने पर भी उसके गर्भ नहीं रहता है। इस अनुमान मे वन्ध्यापन स्ववचन से वाधित है।

अनुमान के अंग

अनुमान के पाच अंग होते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन।

प्रतिज्ञा—पक्ष के कहने को प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे—"यह पर्वत अग्निवाला है।"

हेतु—साधन के कहने को हेतु कहते हैं। जैसे—क्योकि "यह धुए वाला है"।

उदाहरण—व्याप्ति दिखाते हुए दृष्टान्त के कहने को उदाहरण कहते हैं। जैसे—जहा जहां धुआ होता है, वहा २ अग्नि होती है, जैसे—रसोईघर। और जहा २ अग्नि नहीं होती है, वहा २ धुआ भी नहीं होता है। जैसे—तालाव।

दृष्टान्त—जहा पर साध्य और साधन का सद्भाव अथवा अभाव दिखाया जावे उसे दृष्टान्त कहते हैं, जैसे—रसोई का घर अथवा तालाव।

दृष्टान्त के दो भेद हैं—अन्वय दृष्टान्त और व्यतिरेक दृष्टान्त।

अन्वय—जहाँ पर साधन के सद्भाव में साध्य का सद्भाव दिखाया जावे। जैसे—रसोई के घर मे धुएं का सद्भाव होने पर अग्नि का सद्भाव दिखाया गया है।

व्यतिरेक दृष्टान्त—जहा साध्य के अभाव मे साधन का भी अभाव दिखाया जावे, उसे व्यतिरेक दृष्टान्त कहते हैं। जैसे—सरोवर मे अग्नि के अभाव मे धुए का अभाव दिखाया गया है।

उपनय—पक्ष में दृष्टान्त की सदृशता दिखाते हुए हेतु के दोहराने को उपनय कहते हैं। जैसे—यह पर्वत भी वैसा ही धुए वाला है। पहले पंचावयव वाक्य, पक्ष के स्वरूप मे कह आये हैं, वहा देखलें।

निगमन—नतीजा निकालकर प्रतिज्ञा के दोहराने को निगमन कहते हैं। जैसे—इसलिए यह पर्वत भी अग्निवाला है।

हेतु के भेद

हेतु के तीन भेद हैं—केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वय व्यतिरेकी।

केवलान्वयी—जिस हेतु मे केवल अन्वय दृष्टान्त हो। जैसे—जीव अनेकान्त स्वरूप होता है; क्योकि वह सत्स्वरूप है। जो २ सत्स्वरूप होता है, वह वह अनेकान्तस्वरूप होता है। जैसे पुद्गलादि।

केवलव्यतिरेकी—जिस हेतु मे केवल व्यतिरेक दृष्टान्त हो। जैसे—जीवित शरीर मे आत्मा है, क्योकि इसमे श्वासोच्छ्वास

है। जहां २ आत्मा नहीं होता है, वहा २ श्वासोच्छ्वास भी नहीं होता है। जैसे—ईंट, चौकी इत्यादि।

अन्वय व्यतिरेकी—जिस हेतु मे अन्वय दृष्टान्त और व्यतिरेक दृष्टान्त दोनो ही पाये जावें, उसे अन्वय व्यतिरेकी हेतु कहते हैं। जैसे—यह पर्वत अग्निवाला है, क्योकि यह धुए वाला है। जहा २ धुआं होता है, वहा २ अग्नि होती है। जैसे—रसोईघर। जहां जहां अग्नि नहीं होती है, वहा २ धुआ भी नहीं होता है। जैसे—सरोवर।

आगम

आगम—आप्त के वचन, सकेत आदि से जो पदार्थ का ज्ञान होता है, उसे आगम कहते हैं।

आप्त—सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशक को आप्त कहते हैं।

इस प्रकार मतिज्ञान का सक्षेप से वर्णन किया गया। विशेष ग्रन्थान्तर से जानना चाहिए।

श्रुतज्ञान

मतिज्ञान से निश्चय किये गये पदार्थ का अवलम्बन लेकर उससे सम्बन्ध रखने वाले अन्य पदार्थ को जानने वाला जो ज्ञान है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। अर्थात् प्रथम मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से मतिज्ञान उत्पन्न होता है, तत्पश्चात् मतिज्ञान से निर्णीत अर्थ को लेकर उस अर्थ के बल से अर्थान्तर (भिन्न भिन्न पदार्थों) को श्रुत ज्ञान जानता है। मतिज्ञान की प्रवृत्ति न होने पर श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति का भी अभाव होता है। इसका आशय यह है कि प्रथमतः मतिज्ञान अवश्य होना चाहिए, मतिज्ञान की प्रवृत्ति होने के वाद श्रुतज्ञान होता है।

यहा पर यह शंका होती है कि घट शब्द को सुनकर उत्पन्न हुआ जो 'घट' इस शब्द का श्रावण-प्रत्यक्ष ज्ञान, अथवा घट को देखकर उत्पन्न हुआ जो कम्बुग्रीवादिमान् घट पदार्थ का चक्षुजन्य ज्ञान, अथवा पहले पहल मन द्वारा उत्पन्न हुआ घट पदार्थ का ज्ञान—ये तीनो मतिज्ञान हैं। इसके पश्चात् 'यह घट जल भरने के काम मे आता है' यह पहला श्रुतज्ञान हुआ, इसके बाद "इसमे जल ठंढा रहता है" यह द्वितीय श्रुतज्ञान, इसके अनन्तर 'यह अमुक २ उपायो से बनाया जाता है'—तीसरा श्रुतज्ञान, आदि उत्तरोत्तर जितने ज्ञान होते हैं वे द्वितीय तृतीयादि सव श्रुतज्ञान, श्रुतज्ञान पूर्वक हुए हैं।

शंका—प्रथम श्रुतज्ञान ही मतिज्ञान पूर्वक हुआ तो फिर सव श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होते हैं, यह कैसे सिद्ध हुआ ?

समाधान—मतिपूर्वक श्रुतज्ञान होता है, इसका आशय यह है कि पहले पहल मतिज्ञान का सद्भाव होने पर ही श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। मतिज्ञान के अभाव में श्रुतज्ञान नहीं होता। और जो द्वितीयादि श्रुतज्ञान श्रुतपूर्वक हुए वे भी प्रथम श्रुतज्ञान पूर्वक हुए हैं और उस के पहले मतिज्ञान अवश्य है, इसलिए उपचार से उन द्वितीयादि श्रुतज्ञान को भी मतिपूर्वक ही माना गया है। क्योंकि प्रथमतः यदि मतिज्ञान नहीं उत्पन्न होता, तो पहला श्रुतज्ञान नहीं होता और पहले श्रुतज्ञान के न होने पर द्वितीयादि श्रुतज्ञान भी उत्पन्न नहीं होते। अतः सिद्ध हुआ कि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक ही उत्पन्न होता है।

श्रुतज्ञान के दो भेद

श्रुत के २ भेद हैं—१ अक्षर रूप २ अनक्षर रूप अथवा १ शब्द जन्य २ लिङ्गजन्य। वर्ण, पद, वाक्य को सुनकर उत्पन्न हुआ पदार्थ-ज्ञान अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। और लिंग-हेतु जन्य ज्ञान अनक्षर श्रुतज्ञान है। अकारादि सत्ताईस स्वर, ककारादि तेतीस व्यंजन और ४ योगवाह (अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय उपध्मानीय)ये सब मिलकर ६४ वर्ण हैं। विभक्त्यंत पद होता है। परस्पर अपेक्षा सहित निरपेक्ष समुदाय वाक्य कहलाता है। वर्ण पद-वाक्य जन्य ज्ञान को अक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं। अक्षरात्मक श्रुतज्ञान मुख्य-प्रधान है, क्योंकि इसीसे देना, लेना, शास्त्र-अध्ययन, शिक्षाग्रहण आदि सब व्यवहार होते हैं। यद्यपि अनक्षर रूप श्रुतज्ञान एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के होता है, तथापि यह व्यवहार में उपयोगी न होने से अप्रधान माना जाता है। जैसे 'जीव विद्यमान है' ऐसा शब्द ज्ञान तो मतिज्ञान है, क्योंकि यह कर्णेन्द्रिय से होता है। इस कर्णेन्द्रिय-जन्य मतिज्ञान के पश्चात् 'जीव विद्यमान है' इस शब्द से वाच्य (कहा गया) जो आत्मा का अस्तित्व उसका ज्ञान होता है। वह श्रुतज्ञान है, क्योंकि यह वाच्य वाचक सम्बन्ध के संकेत ज्ञान पूर्वक होता है। जीव शब्द वाचक और जीव पदार्थ वाच्य है। इस प्रकार के सम्बन्ध का संकेत हो जाने के बाद जीव शब्द का उच्चारण करने पर जीव पदार्थ का ज्ञान होता है। इसलिए यह अक्षरात्मक श्रुत ज्ञान माना गया है। इस ज्ञान में अक्षर (शब्द) कारण है और पदार्थ ज्ञान कार्य है, अतः कारण में कार्य का उपचार करके अक्षर को ही ज्ञान कह दिया है।

शरीर के साथ वायु का स्पर्श होने पर वायु का शीत स्पर्श अनुभव किया गया, यह स्पर्शनेन्द्रिय मतिज्ञान है। इसके पश्चात् पवन का शीतस्पर्श वात प्रकृति वाले को "यह अमनोज्ञ है" "यह विकारी है" ऐसा जो प्रतीत होता है यह अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। अतः श्रुतज्ञान के अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक दो भेद कहे गये हैं। आगे श्रुतज्ञान के २० भेद कहेंगे, उनमें से पर्याय ज्ञान और पर्यायसमास ज्ञान अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। इनके असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं, और वे असंख्यात लोकमात्र बार षट्स्थान वृद्धि से वर्धित हैं।

अक्षरात्मक श्रुतज्ञान एक घाट एकट्ठी प्रमाण अपुनरुक्त अक्षरों की अपेक्षा से संख्यात भेद रूप हैं। एक घाट एकट्ठी प्रमाण अक्षरों की संख्या १८ ४४ ६७ ४४० ७३७० ९५५१६ १५ है।

श्रुतज्ञान के बीस भेद

१ पर्याय २ पर्यायसमास, ३ अक्षर, ४ अक्षरसमास, ५ पद, ६ पदसमास, ७ संघात, ८ संघातसमास, ९ प्रतिपत्तिक, १० प्रतिपत्तिकसमास, ११ अनुयोग, १२ अनुयोगसमास, १३ प्राभृत प्राभृत, १४ प्राभृत प्राभृत समास, १५ प्राभृत, १६ प्राभृतसमास, १७ वस्तु, १८ वस्तु समास १९ पूर्व, २० पूर्वसमास। ये श्रुतज्ञान के बीस भेद हैं।

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के जन्म होने के प्रथम समय मे सब से जघन्य शक्तिरूप पर्याय नामक ज्ञान होता है। यह ज्ञान निरावरण है, इसे ढकने वाला कोई कर्म नहीं हैं, इसलिए इसे नित्योद्‌घाट कहा है। अर्थात् इतना सदा उघडा रहता है, यदि यह सबसे लघुज्ञान भी ढक जाय तो आत्मा ज्ञान-शून्य होने से जड़ हो जायगा; अतः आत्मा का सद्भाव भी न रहेगा। इसलिए जो पर्याय ज्ञानावरण कर्म है वह ज्ञान के दूसरे भेद-पर्याय समास को आवृत करता है, पहले भेद पर्याय ज्ञान को नहीं।

इस सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के जन्म के पहले समय में होने वाले स्पर्शनेन्द्रियजनित मतिज्ञान पूर्वक इस सर्व जघन्य शक्तिरूप पर्याय ज्ञान को लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान कहते हैं। लब्धि नाम श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम का है। अथवा अर्थग्रहण करने की शक्ति को लब्धि कहते हैं। अक्षर का निरुक्त अर्थ 'नक्षरति इति अक्षरः' अर्थात् अविनश्वर है। इतने ज्ञान (अक्षर ज्ञान) का क्षयोपशम जीव के सर्वदा रहता है। सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के पर्याय नामक ज्ञान होता है, उस ज्ञान मे पदार्थ को जानने की शक्ति रूप अविभाग प्रतिच्छेद कितने हैं, वही कहते हैं।

द्विरूप वर्ग धारा २ का वर्ग ४ यह वर्ग का पहला स्थान, दूसरा वर्गस्थान, १६, तीसरा वर्ग स्थान २५६, चौथा वर्ग स्थान पणट्ठी ६५५३६, पाचवाँ वर्गस्थान बादाल ४२९४९६७२९६, छठा वर्गस्थान एकट्ठी १८४४६७४४०७३७०९५५१६१६। ऐसे परस्पर गुणनरूप अनन्तानन्त वर्ग स्थान गये जीवराशि का प्रमाण उत्पन्न होता है। उसके ऊपर अनन्तानन्त वर्ग स्थान गये काल के समय की राशि उत्पन्न होती है। उसके ऊपर अनन्तानन्त वर्ग स्थान गये आकाश के प्रदेशो की श्रेणी का प्रमाण उत्पन्न होता है। उसके ऊपर अनन्तानन्त वर्गस्थान गये धर्म अधर्म द्रव्य के अगुरुलघुनामक गुण के अविभागी प्रतिच्छेद उत्पन्न होते है। उसके ऊपर अनन्तानन्त वर्ग स्थान गये एक जीव सम्बन्धी अगुरुलघुगुण के अविभागी प्रतिच्छेद उत्पन्न होते हैं। उसके ऊपर अनन्तानन्त वर्ग स्थान गये सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक का जघन्य ज्ञान जो पर्याय ज्ञान उसके अविभागी प्रतिच्छेद उत्पन्न होते हैं। इसलिए सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के सब से जघन्य ज्ञान के जानने की शक्तिरूप अविभागी प्रतिच्छेद अनन्तानन्त है। उसके ऊपर का द्वितीयादि स्थान भेद षड्गुणी वृद्धि से वर्धित है। षड्वृद्धियाँ ये हैं–१ अनन्तभागवृद्धि, २ असख्यात भाग वृद्धि, ३ सख्यात भाग वृद्धि, ४ सख्यात गुण वृद्धि, ५ असख्यात गुण वृद्धि, ६ अनन्त गुण वृद्धि। ऐसे असख्यात लोक प्रमाण षट्स्थान वृद्धि

रूप संख्यात लोक प्रमाण पर्याय समास ज्ञान के भेद होते हैं।

अनन्तानन्त वर्ग स्थान जाने पर सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के पर्याय ज्ञान के जानने की शक्ति के अंशरूप जो अविभागी प्रतिच्छेद अनन्तानन्त कहे गये हैं उनमें जीवराशि प्रमाण अनन्त का भाग देने से जो लब्ध आवे, उसको पर्याय ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद में मिला देने पर जितने अविभाग प्रतिच्छेद हुए वह पर्याय समास ज्ञान के प्रथम भेद के अविभाग प्रतिच्छेद का प्रमाण होता है। इसी प्रकार इसमें फिर जीवराशि प्रमाण अनन्त का भाग देकर लब्ध को पूर्व पूर्व ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद में मिलाते जाना चाहिए। ऐसा करने से उत्तरोत्तर ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं। इस तरह पर्याय समास ज्ञान का दूसरा तीसरा आदि भेद निकलता है।

जो अनन्त का भाग देकर उसे बढाया जावे वह अनन्त भाग वृद्धि है, ऐसी अनन्त भाग वृद्धियाँ सूच्यंगुल के असंख्यात भाग प्रमाण हो जाने पर एक बार असंख्यात भाग वृद्धि होती है। फिर सूच्यगुल के असंख्यात भाग प्रमाण अनन्तभाग वृद्धियाँ हो जाती हैं, तब एक बार असंख्यात भाग वृद्धि होती है, ऐसे ही सूच्यगुल के असंख्यात, भाग बार अनन्त भाग वृद्धियाँ होने पर फिर एक बार असंख्यात भाग वृद्धि होने पर एक बार असंख्यात भाग वृद्धि होती है। इस क्रम से असंख्यात भाग वृद्धि भी सूच्यंगुल के असंख्यात भाग बार होजाने पर एक बार संख्यात भाग वृद्धि होती है। ऐसे करते करते सूच्यगुल के असंख्यातवें भाग बार संख्यातभागवृद्धि होजावे तब फिर सूच्यगुल के असंख्यातवें भाग बार अनन्त भाग वृद्धि होजावे, तब तो एक बार असंख्यात भाग वृद्धि होती है और ऐसे सूच्यगुल के असंख्यातवें भाग बार ...ख्यात भाग वृद्धि होजाने पर एक बार संख्यात भाग वृद्धि होती है। ऐसे ही सूच्यगुल के असंख्यातवें भाग बार संख्यात भाग वृद्धि होजाने संख्यात गुण वृद्धि होती है। उक्त प्रकार जितने पलटे लगकर एक बार संख्यात गुण वृद्धि हुई है, वैसे ही सूच्यगुल के असंख्यातवें ...ात गुण वृद्धि होजाने पर पिछले सब पलटे लगकर एक बार असंख्यात गुण वृद्धि होती है। ऐसे सूच्यगुल के असंख्यातवें भाग गुण वृद्धि होजाने पर पिछले सब पलटे लगकर एक बार अनन्त गुण वृद्धि होती है। जो यह अनन्त गुण वृद्धि रूप स्थान है ...का स्थान जानना चाहिए।

वर्ग की वृद्धि होते २ ... के ऊपर सूच्यगुल के असंख्यातवें भाग बार अनन्त भाग वृद्धि होजाने पर एक बार असंख्यात भाग वृद्धि होती मध्य के जितने ज्ञान के वि... ...न्त पट्स्थान वृद्धि होती है। ये सब भेद अनक्षरात्मक पर्याय समास ज्ञान के हैं। ज्ञान नरकादि चारो गति...

...ुत ज्ञान—असंख्यात लोक प्रमाण पट्स्थानो मे से अन्त के पट्स्थान मे जितने अविभागी प्रतिच्छेद हैं, उतने ...त्कृष्ट भेद है और पर्याय समास ज्ञान से अनन्त गुणा अर्थाक्षर ज्ञान है।

सं० ...र तीन प्रकार के होते हैं। १. लब्ध्यक्षर २. निर्वृत्त्यक्षर और ३. स्थापनाक्षर। उनमें पर्याय ज्ञानावरण से लेकर श्रुत

१ पर्याय ...न क्षयोपशम से उत्पन्न हुई जो आत्मा की अर्थ ग्रहण करने की शक्ति है, वह लब्धि है, उसे ही भावेन्द्रिय कहते हैं।
पत्तिकसमास, ११ अनुयो... लब्ध्यक्षर है। इसलिए लब्ध्यक्षर को अक्षर ज्ञान की उत्पत्ति मे हेतुपना है। कण्ठ, ओष्ठ ताल्वादिक स्थान और
समास १६ पूर्व, २० पूर्वसम... ...गलो से निवृत्तिमान (उत्पन्न) हुए अकारादि स्वर तथा ककारादि व्यजन मूलवर्ण हैं और मूलवर्णों के संयोग से
...क्षर है। पुस्तको मे अनेक देशो की अनुकूलता को लक्ष्य मे रखकर लिखे गये आकार को स्थापना अक्षर कहते
सूक्ष्म निर्ग्रन्थ करने से उत्पन्न होने वाले अर्थ ज्ञान को एकाक्षर श्रुतज्ञान कहते हैं।
ज्ञान निरावरण है. -
लघुज्ञान भी ढक
है वह ज्ञान है

पणवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं।
पेण्णवणिज्जाणं पुण अणंत भागो दु सुदणिबद्धो ॥ ३३४ ॥ गो० जी०।

अर्थ—अनभिलप्य (वचनागोचर), केवलज्ञान के गोचर जो जीवादि पदार्थ हैं, वे प्रज्ञापनीय हैं—तीर्थंकरो की सातिशय ...दिव्यध्वनि से कहे जाते हैं। इनके अनन्तवें भाग मात्र द्वादशाग श्रुत में व्याख्यान किये गये हैं। इसका आशय यह है कि जो पदार्थ केवल केवलज्ञान द्वारा जाने जाते हैं; किन्तु जिनका वचन द्वारा निरूपण नहीं कर सकते, ऐसे पदार्थ अनन्तानन्त हैं। ऐसे पदार्थों के अनन्तवें भाग प्रमाण वे पदार्थ हैं, जिनका वचन के द्वारा निरूपण कर सकते हैं, उन्हें प्रज्ञापनीय कहते हैं। जितने प्रज्ञापनीय पदार्थ हैं, उनके भी अनन्तवें भाग प्रमाण पदार्थ-श्रुत मे निरुपण किया गया है।

अक्षर समास

एयक्खराद उवरिं एगेगेणक्खरेण वड्ढंतो।
संखेज्जे खलु उड्ढे पदणाम होदि सुदणाणं ॥ ३३५ ॥ गो० जी०

अर्थ—अक्षर ज्ञान के ऊपर क्रम से एक २ अक्षर की वृद्धि होते २ जब संख्यात अक्षरों की वृद्धि होजाती है, तब पदनामक श्रुत ज्ञान होता है। एक अक्षर के ऊपर और एक अक्षर क्रम पद ज्ञान पर्यन्त जितने ज्ञान के विकल्प हैं वे सब अक्षर समास नामक श्रुतज्ञान के विकल्प हैं। वे सब अक्षर समास ज्ञान के भेद हैं।

पद तीन प्रकार का होता है-१ अर्थपद, २. प्रमाणपद, ३. मध्यमपद। इनका खुलासा निम्न प्रकार है।

१—अर्थपद-जितने अक्षर समूह से विवक्षित अर्थ जाना जाता है, उसे अर्थपद कहते हैं। जैसे किसी ने कहा कि-"गामभ्याज शुक्ला दण्डेन" सफेद गाय को लकड़ी से घेरो। तथा 'अग्नि आनय' अग्नि लाओ। इत्यादि अर्थ के लिए एक दो आदि पदो का जो प्रयोग

किया जाता है, उनको अर्थपद कहते हैं।

२—प्रमाणपद—श्लोक के चौथे भाग को एक पद कहते हैं। जैसे "नमः श्रीवर्धमानाय" ।—यह प्रमाण पद है।

३—मध्यमपद-अक्षर समूह को मध्यम पद कहते हैं। अर्थपद और प्रमाणपद तो हीनाधिक अक्षर वाले लोक व्यवहार से ग्रहण किये जाते हैं, किन्तु मध्यमपद का उक्त प्रमाण निश्चित है। और यहां लोकोत्तर परमागम में इसी का ग्रहण किया गया है।

संघात श्रुतज्ञान

एय पदादो उवरिं एगेगेणक्खरेण वड्ढंतो।
संखेज्जसहस्स पदे उड्ढे संघादणाम सुदं ॥ ३३७ ॥ गो० जी०

अर्थ—एक पद के ऊपर क्रमसे एक एक अक्षर बढते २ उक्त प्रमाण अक्षर समूह बढ़ते जाने पर पदज्ञान दूना हो जाता है। इसी प्रकार बढते २ जब सख्यात हजार पद बढ़ जाते हैं, तब संघात नामक श्रुतज्ञान का भेद होता है। पदज्ञान पर एक अक्षर अधिक से लेकर इस (सघातज्ञान) से एक अक्षर कम तक जितने बीच के भेद होते हैं, वे सब पद समास ज्ञान के भेद हैं।

प्रतिपत्तिक श्रुतज्ञान

एक्कदरगदिणिरूवय संघादसुदादु उवरि पुव्वंवा।
वण्णे संखेज्जे संघाते उड्ढम्हि पडिवत्ती ॥ ३३८ ॥ गो० जी०

अर्थ—चार गतियो मे से एक गति के स्वरूप का निरूपण करने वाला जो सघात श्रुतज्ञान है; उसके ऊपर क्रम से पूर्व की भाति वर्णों की वृद्धि होते २ जब सख्यात हजार सघात की वृद्धि हो जाती है, तब प्रतिपत्ति नामक श्रुतज्ञान होता है। संघात और प्रतिपत्ति श्रुतज्ञान के मध्य के जितने ज्ञान के विकल्प हैं, उतने ही सघात समास श्रुतज्ञान के भेद हैं। इस पर एक अक्षर बढ़ा देने पर प्रतिपत्ति ज्ञान होता है यह ज्ञान नरकादि चारो गतियो का विस्तृत स्वरूप जानने वाला है।

अनुयोग श्रुतज्ञान

चउगइ सरूवरूवय पडिवत्तीदो दु उवरि पुव्वं वा।

वण्णे संखिज्जे पडिवत्ती उड्ढम्हि अणियोगं ॥ ३३९ ॥ गो० जी०

अर्थ—चारो गति के स्वरूप का निरूपण करने वाले प्रतिपत्ति ज्ञान के ऊपर पूर्व की तरह क्रम से एक एक अक्षर बढ़ते २ जब संख्यात हजार प्रतिपत्ति बढ जावें तब एक अनुयोग श्रुतज्ञान होता है। प्रतिपत्ति के ऊपर एक अक्षर वृद्धि से लेकर एक अक्षर कम अनुयोग ज्ञान के पूर्व जितने विकल्प होते हैं, उतने सब प्रतिपत्ति समास ज्ञान के भेद हैं। इसमे एक अक्षर जोड़ने पर अनुयोग ज्ञान होता है। इस ज्ञान के द्वारा चौदह मार्गणाओं का विस्तृत स्वरूप जाना जाता है।

प्राभृतप्राभृतश्रुतज्ञान

चोद्दसमग्गणसंजुद अणियोगादुवरि वड्ढिदे वण्णे।
चउरादी अणियोगे दुगवारं पाहुडं होदि ॥ ३४० ॥ गो० जी०

अर्थ—चौदह मार्गणाओं का निरूपण करने वाले अनुयोग ज्ञान के ऊपर पूर्वोक्त क्रम के अनुसार एक एक अक्षर की वृद्धि होते होते जब चार आदि अनुयोगों की वृद्धि हो जाती है, तब प्राभृत प्राभृत श्रुतज्ञान होता है। अनुयोग ज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि से लेकर एक अक्षर हीन प्राभृत प्राभृत ज्ञान तक मध्य के जितने विकल्प होते हैं उतने सब अनुयोगसमास, समास ज्ञान के भेद हैं।

आगे वस्तु नामक श्रुतज्ञान का भेद कहेंगे, उसका जो एक अधिकार है, उसे प्राभृत कहते हैं, और प्राभृत के एक अधिकार को प्राभृतप्राभृत कहते हैं।

प्राभृत श्रुतज्ञान

दुगवारपाहुडादो उवरिं वण्णे कमेण चउवीसे।
दुगवारपाहुडे संउड्ढे खलु होदि पाहुडयं ॥ ३४२ ॥ गो० जी०

अर्थ—प्राभृतप्राभृत ज्ञान के ऊपर पूर्व की भांति क्रम से एक २ वर्ण बढते २ जब चौबीस प्राभृतप्राभृत बढ जावें, तब एक प्राभृत नामक श्रुतज्ञान होता है। प्राभृतप्राभृत के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि से लेकर एक अक्षर हीन प्राभृत तक जितने विकल्प होते हैं, उतने सब प्राभृतप्राभृतसमास ज्ञान के भेद हैं। इस पर एक अक्षर बढने पर प्राभृत ज्ञान होता है।

वस्तु श्रुतज्ञान

वीसं वीसं पाहुडअहियारे एक्कवत्थुअहियारो ।
एक्केक्कवण्णउड्ढी कमेण सव्वत्थ णायव्वा ॥३४३॥ गो० जी०

अर्थ—उस प्राभृतक ज्ञान के ऊपर पूर्व की भांति क्रम से एक २ अक्षर की वृद्धि होते २ जब बीस प्राभृत की वृद्धि होजावे तब एक वस्तु नामक श्रुतज्ञान होता है। प्राभृतक ज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि से लेकर एक अक्षर हीन वस्तु ज्ञान तक जितने विकल्प होते हैं, उतने सब प्राभृत समास ज्ञान के भेद हैं। इस पर एक अक्षर बढ़ा देने पर वस्तु नामा अधिकार श्रुतज्ञान होता है।

पूर्व श्रुतज्ञान

दस चोदसट्ठ अट्ठारसयं वारं च वार सोलं च ।
वीसं तीसं पण्णारसं च दस चदुसु वत्थूणं ॥ ३४४ ॥ गो० जी०

अर्थ—पूर्व ज्ञान के चौदह भेद हैं। उनमे क्रम से दश, चौदह, आठ, अठारह, बारह, बारह, सोलह, बीस, तीस, पन्द्रह, दश, दश, दश, दश वस्तु नामक अधिकार हैं।

चौदह पूर्व

उप्पायपुव्वगाणियविरियपवादत्थिणत्थियपवादे ।
णाणासच्चपवादे आदाकम्मप्पवादे य ॥ ३४५ ॥
पच्चक्खाणे विज्जाणुवादकल्लाणपाणवादे य ।
किरियाविसालपुव्वे कमसोथ तिलोयविंदुसारे य ॥ ३४६ ॥ गो० जी०

अर्थ—१. उत्पादपूर्व, २. आग्रायणीयपूर्व, ३. वीर्यप्रवाद, ४. अस्तिनास्तिप्रवाद, ५. ज्ञानप्रवाद, ६. सत्यप्रवाद ७. आत्मप्रवाद, ८ कर्मप्रवाद, ९. प्रत्याख्यान, १०. वीर्यानुवाद, ११. कल्याणवाद, १२. प्राणवाद, १३. क्रियाविशाल १४. त्रिलोकविंदुसार। इस प्रकार ये क्रम से पूर्वज्ञान के चौदह भेद हैं। इनके लक्षण आगे कहेंगे।

तात्पर्य—वस्तुज्ञान के ऊपर क्रम से एक एक अक्षर की वृद्धि लिए पदादि की वृद्धि होते २ दश वस्तु श्रुतज्ञान के ऊपर बढने पर उत्पादपूर्व नामक श्रुतज्ञान होता है। वस्तु नामक श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि से लेकर एक अक्षर हीन उत्पादपूर्व तक जितने विकल्प होते हैं, उतने वस्तु समास ज्ञान के भेद हैं। इसमें एक अक्षर मिलाने पर उत्पादपूर्व नामक श्रुतज्ञान का भेद होता है। इसके ऊपर क्रम से एक एक अक्षर की वृद्धि होकर पदादि की वृद्धि होते २ जब चौदह वस्तु की वृद्धि होजावे, तब आग्रायणीय पूर्व ज्ञान उत्पन्न होता है। उत्पादपूर्व के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि से लेकर एक अक्षर हीन आग्रायणीय पूर्व तक मध्य के सब विकल्प उत्पादपूर्व समास के भेद होते हैं। इसके ऊपर एक अक्षर बढा देने पर आग्रायणीय पूर्व नामा ज्ञान होता है। इसी क्रम से आगे २ आठ आदि वस्तु की वृद्धि होते २ वीर्यप्रवाद आदि पूर्व नामक ज्ञान होते हैं। और उनमे एक एक अक्षर हीन पर्यन्त पहले के ज्ञान का समास नामक ज्ञान होता है। अन्तिम त्रिलोक बिन्दुसार नामा पूर्व के आगे उसके समास ज्ञान का भेद नहीं होता है।

अब चौदह पूर्वों मे वस्तु नामक अधिकार की तथा प्राभृत नामा अधिकार की संख्या बताते हैं।

पणणउदिसया वत्थु पाहुडया तियसहस्सणवयसया।
एदेसु चोद्दसेसु वि पुव्वेसु हवंति मिलिदाणि ॥ ३४७ ॥ गो. जी

अर्थ—उत्पादपूर्व आदि चौदह पूर्वों मे जो वस्तु नामक अधिकार मिलाये गये, उनकी संख्या एकसौ पिच्यानवे १९५ है। तथा एक एक वस्तु मे वीस वीस जो प्राभृत कहे गये हैं उन कुल प्राभृतक अधिकारो की कुल संख्या तीन हजार नौ सौ ३९०० है।

अब पूर्वोक्त श्रुतज्ञान के वीस भेदो का उपसंहार करते हैं—

अत्थक्खरं च पदसंघातं पडिवत्तियाणिजोगं च।
दुगवारपाहुडं च य पाहुडयं वत्थु पुव्वं च ॥ ३४८ ॥
कमवण्णुत्तरवड्ढिय ताण समासा य अक्खरगदाणि।
णाणवियप्पे वीसं गंथे बारस य चोद्दसयं ॥ ३४९ ॥ गो० जी०

अर्थ—अर्थाक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्तिक, अनुयोग, प्राभृतप्राभृत, प्राभृत, वस्तु, पूर्व ये नौ भेद तथा क्रम से एक २ अक्षर की वृद्धि के द्वारा उत्पन्न होने वाले अक्षर समास, पद समास आदि नौ भेद, इस प्रकार अठारह भेद अक्षरात्मक द्रव्य श्रुत के होते हैं। इन द्रव्यश्रुत

के सुनने से उत्पन्न हुए ज्ञान के भी अठारह भेद हो जाते हैं। अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान के पर्याय और पर्याय समास ये दो भेद मिला देने पर सब श्रुतज्ञान के बीस भेद होजाते हैं। यदि ग्रन्थ (शास्त्र) रूप श्रुत की विवक्षा की जाय तो आचारांग आदि, बारह अङ्ग और उत्पाद पूर्व आदि चौदह पूर्व और सामायिक आदि चौदह प्रकीर्णक रूप द्रव्य श्रुत ज्ञान होता है। और उनके सुनने से जो ज्ञान होता है उसे भाव श्रुतज्ञान समझना चाहिए। पुद्गलद्रव्यस्वरूप अक्षर पदादि मय तो द्रव्यश्रुत है, और उसके सुनने से जो श्रुतज्ञान की पर्यायरूप ज्ञान होता है, यह भाव श्रुत है।

इस प्रकार पूर्व चौदह,वस्तु एकसौ पिचानवे १९५,प्राभृतक तीन हजार नौसौ ३९००,प्राभृतक प्राभृतक ९३६००,अनुयोग ३७४४००, प्रतिपत्तिक, सङ्घात और पद ये क्रम से सख्यात गुणे हैं। और एक पद के अक्षर सोलह से चौतीस करोड़, तियासी लाख,सात हजार, आठ सौ अठयासी हैं तथा समस्त श्रुत के अक्षर एक कम एकट्ठी प्रमाण है, इसमे पद के अक्षरो का भाग देने पर जो लब्ध आवे, वह द्वादशाग के पदों का प्रमाण है। और भाग देने पर जो शेष अक्षर रहें, वे अङ्गबाह्यश्रुत के अक्षर हैं।

द्वादशांग के पदों की संख्या

वारुतरसयकोडी तेसीदी तह य होंति लक्खाणं।
अट्ठावण्णसहस्सा पंचेव पदाणि अङ्गाणं ॥ ३५० ॥ गो० जी०

अर्थ—११२, ८३, ५८,००५ एकसौ बारह करोड़ तिरासी लाख अठावन हजार पाच पद सम्पूर्ण, द्वादशाग के होते हैं। अम्यते अर्थात् मध्य पदों से जो जाने जावें उन्हे अङ्ग कहते हैं। अथवा सम्पूर्ण श्रुत का आचारागादि एक एक अङ्ग अर्थात् अवयव है, अत. वे अङ्ग कहे जाते हैं।

अङ्ग बाह्य के अक्षरों की संख्या

अडकोडिएयलक्खा अट्ठसहस्सा य एयसदिगं च।
पण्णत्तरि वण्णाओ पइण्णयाणं पमाणं तु ॥ ३५१ ॥ (गो० जी०)

अर्थ—सामायिक आदि प्रकीर्णक (अगबाह्य) श्रुत के आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर (८०१०८१७५) अक्षर होते हैं। चार गाथाओ से इस अर्थ को समझने की प्रक्रिया बताते हैं—

तेत्तीसवेंजणाइं सत्तावीसा सरा तहा भणिया ।
चत्तारि य जोगवहा चउसट्ठी मूलवण्णाओ ॥ ३५२ ॥ गो० जी०

अर्थ—तेतीस व्यंजन, सत्ताईस स्वर, चार योगवाह इस प्रकार कुल चौंसठ मूल वर्ण होते हैं ।

जिनका स्वर के विना उच्चारण न हो सके, ऐसे अर्धमात्रिक वर्णों को व्यजन कहते हैं । जैसे—क् ख् ग् घ् ङ् च् छ् ज् झ् ञ् ट् ठ् ड् ढ् ण् त् थ् द् ध् न् प् फ् ब् भ् म् य् र् ल् व् श् ष् स् ह् ये तेतीस हैं । अ इ उ ऋ ऌ ए ऐ ओ औ ये नौ स्वर हैं । इन के ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत की अपेक्षा सत्ताईस भेद होते हैं । अनुस्वार अं, विसर्ग अः, जिह्वामुलीय क और उपध्मानीय प ये चार योगवाह हैं । सब मिलकर ६४ अनादिनिधन मूल वर्ण हैं । यद्यपि ऌ वर्ण सस्कृत भाषा मे दीर्घ नहीं होता है, तथापि अनुकरण मे तथा अन्य देश भाषा मे यह दीर्घ भी होता है । अत. वर्णों मे इनका भी पाठ है । ए ऐ ओ औ ये चारों संस्कृत मे ह्रस्व नहीं माने गये हैं, तथापि प्राकृत भाषा मे तथा अन्य देश भाषा मे ह्रस्व भी माने गये हैं ।

चउसट्ठिपदं विरलिय दुगं च दाऊण संगुणं किच्चा ।
रूऊणं च कए पुण सुदणाणस्सक्खरा होंति ॥ ३५३ ॥ गो० जी०

अर्थ—पूर्वोक्त मूल अक्षर प्रमाण चौसठ स्थानों का विरलन करके बरावर पक्तिरूप एक एक अक अलग २चौसठ जगह लिखकर प्रत्येक के ऊपर दो दो का अक देकर उन सम्पूर्ण दो के अको का परस्पर गुणा करने से जो एकट्ठी प्रमाण आवे, उसमे से एक घटाने पर सर्व द्रव्यश्रुत के अक्षरों का प्रमाण आता है ।

वे अक्षर कितने हैं, उनका प्रमाण बताते हैं :—

एकट्ठ च च य छसत्तयं च च य सुण्णसत्ततियसत्ता ।
सुण्णं णव पण पंच य एक्कं छक्केक्कगो य पणगं च ॥ ३५४ ॥ गो० जी०

अर्थ—उक्त दो २ के अको का परस्पर गुणा करने से उत्पन्न हुए अक्षरों का प्रमाण यह है—एक आठ चार चार छह सात चार चार शून्य सात तीन सात शून्य नव पाच पाच एक छह एक पाच १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५। इतने अगप्रविष्ट और अंगबाह्य सम्पूर्ण श्रुत के अपुनरुक्त अक्षर हैं । यह सख्या एक अक्षर-एकसयोगी, द्विसयोगी, त्रिसयोगी आदि चौंसठ सयोगी पर्यन्त अक्षरों की जाननी चाहिए । इनकी

उत्पत्ति का क्रम गोम्मटसारजी की बड़ी टीका से जानना चाहिए।

इन अक्षरों मे से अंगप्रविष्ट और अगबाह्य श्रुत के अक्षरों का विभाग इस प्रकार जानना चाहिए।

मज्झिमपदक्खरवहिदवण्णा ते अंगपुव्वगपदाणि।
सेसक्खरसंखा ओ पइण्णयाणं पमाणं तु ॥ ३५४ ॥ गो० जी०

अर्थ—एक कम एकट्ठी प्रमाण जो सम्पूर्ण श्रुत के अक्षर हैं, उनमें परमागम में प्रसिद्ध मध्यमपद के अक्षरो के प्रमाण का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतना अंग और पूर्व सम्बन्धी मध्यम पदों का प्रमाण निकलता है।

तात्पर्य—सोलह सौ चौतीस करोड, तिरासी लाख, सात हजार, आठ सौ अठासी अक्षरो का एक मध्यम पद होता है, तब एक कम एकट्ठी प्रमाण सम्पूर्ण श्रुत के अक्षरो के कितने पद होते हैं? इस प्रकार त्रैराशिक करने से अर्थात् सम्पूर्ण अक्षरो में मध्यमपद के अक्षरों का भाग देने पर जो लब्ध राशि आवे उसे समस्त मध्यम पदों का प्रमाण समझना चाहिए। इन समस्त मध्यम पदो के जितने अक्षर हैं, वे अङ्गप्रविष्ट श्रुत के अक्षर हैं, और जो शेप अक्षर रहते हैं वे अगबाह्य श्रुत के अक्षर हैं।

अगो और पूर्वों के पदो की सख्या आदि दिखाते हैं—

आयारे सद्दयडे ठाणे समवायणामगे अंगे।
तत्तो विक्खापण्णत्तीए णाहस्स धम्मकहा ॥ ३५५ ॥
तोवासयअज्झयणे अंतयडे णुत्तरोववाददसे।
पण्हाणं वायरणे विवाहसुत्ते य पदसंखा ॥ ३५६ ॥ गो० जी०

अर्थ—आचार, सूत्रकृत्, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, धर्मकथा, उपासकाध्ययन,अन्त. कृत्,अनुत्तरौपपादिकदश,प्रश्नव्याकरण और विपाक सूत्र ये ११ अङ्ग हैं।

द्वादश अङ्गो में प्रथम आचाराग को कहा है, कारण कि यह मोक्ष के कारण भूत सवर निर्जरा के कारण पचाचार आदि समस्त चारित्र का प्रतिपादक है। मुमुक्षु (मोक्षाभिलाषी) इसका आदर करते हैं, इसलिए इसे सबके प्रथम कहना युक्ति सगत है।

चार ज्ञान सम्पन्न सप्तऋद्धि के धारक गणधर देवों ने तीर्थंकरो के मुख-कमलं से उत्पन्न सर्व भाषामय दिव्यध्वनि को सुनकर और समस्त पदार्थों का अवधारण करके शिष्यो प्रशिष्यो के अनुग्रहार्थ द्वादशाग वाणी की रचना की,उसमे सब से प्रथम आचाराग का निर्माण किया है। आचरन्ति अर्थात् जिससे मोक्ष मार्ग का आचरण करते हैं-आराधन करते हैं, उसे आचाराग कहते हैं।

१-आचाराङ्ग—साधु कैसे चले ? कैसे खडा रहे ? कैसे बैठे ? कैसे सोवे ? कैसे बोले ? कैसे खावे? कैसे पाप न बंधे ? इत्यादि गणधर के प्रश्न करने पर आचाराग मे उत्तर दिया गया है कि यत्न से चले, यत्न पूर्वक खडा रहे, यत्न से बैठे, यत्न से सोवे,यत्न से बोले, यत्न से खावे, इत्यादि यत्न पूर्वक क्रिया करने से पाप कर्म का बन्ध नहीं होता है। इस प्रकार मुनीश्वरो के सम्पूर्ण आचरण का इस आचाराग मे निरूपण किया गया है।

२-सूत्रकृताङ्ग—सूत्रयति अर्थात् संक्षेप से अर्थ सूचक जो परमागम-वह सूत्र है। उस परमागम के लिए कारण भूत विनयादि निर्विघ्न क्रिया-विशेष जिसमें वर्णित हैं अथवा व्यवहार-धर्म-क्रिया का तथा स्वमत परमत का वर्णन जिसमे किया गया है, वह सूत्रकृत नामा दूसरा अग है।

३-स्थानाङ्ग—एक एक बढता हुआ स्थान जिस मे पाया जाता है, वह स्थान नामा तीसरा अंग है। उसमे ऐसा वर्णन है कि संग्रह नय से आत्मा एक है। व्यवहार नय से ससारी और मुक्त ऐसे दो भेद सयुक्त है। उत्पाद,व्यय और ध्रुव रूप से आत्मा तीन प्रकार का है। कर्म के निमित्त से जीव चारो गति मे भ्रमण करता है; इसलिए आत्मा चार प्रकार का भी है। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक भेद से आत्मा पाच प्रकार का है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधः, इस प्रकार छह दिशा मे गमन करता है,अतः छह का भी है। ससारी जीव आकाश प्रदेशाकी पंक्ति के अनुसार दिशा मे ही गमन करता है। विदिशा आदि मे नहीं करता। स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्ति अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य, स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य। इस प्रकार जीव सात प्रकार का है। आठ कर्मों के आस्रव से युक्त है, इसलिए आठ प्रकार का भी है। जीव,अजीव,आस्रव, बध, संवर, निर्जरा, मोक्ष,पुण्य, पाप इन नौ पदार्थों को जीव विषय करता है, जानता है, इसलिए नौ प्रकार का भी है। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, प्रत्येक वनस्पति, साधारण वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय इस तरह दश प्रकार का है। इत्यादि भेद द्वारा जीव का प्ररूपण स्थानाङ्ग मे किया गया है। पुनश्च पुद्गल सामान्य रूप से एक प्रकार, विशेष अपेक्षा से अणु व स्कन्ध के भेद से दो प्रकार, इस तरह कई भेदो से पुद्गल का वर्णन किया गया है। इस प्रकार एक से आदि लेकर एक एक बढता हुआ स्थान इस अग मे वर्णित है।

४-समवायाङ्ग—जिससे जीवादि तत्त्वो का ज्ञान होता है, वह चौथा समवायाग है। इसमे द्रव्य, क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा

समानता वर्णन की गई है। द्रव्य की अपेक्षा धर्मास्तिकाय से अधर्मास्तिकाय समान है। ससारी जीवो से ससारी जीव समान हैं। मुक्त जीवो मे मुक्त जीव समान हैं। इत्यादि द्रव्य की अपेक्षा समवाय है। क्षेत्र की अपेक्षा प्रथम नरक पृथ्वी के प्रथम प्रस्तार का सीमन्त नामक इन्द्रबिल, ढाई द्वीप (मनुष्यक्षेत्र) और प्रथम स्वर्ग का प्रथम पटल का ऋजुनामा इन्द्रक विमान, सिद्धशिला, सिद्धक्षेत्र, ये सब समान हैं। तथा सातवीं नरक का अवधिस्थान नामा इन्द्रक बिल, जम्बूद्वीप, सर्वार्थसिद्धि विमान ये सब समान हैं। इत्यादि क्षेत्र समवाय हैं। काल की अपेक्षा एक समय से एक समय समान है। आवली से आवली समान है। प्रथम पृथ्वी के नारकी, भवनवासी देव, और व्यन्तर देवो की आयु समान है। सातवीं पृथ्वी के नारकी और सर्वार्थसिद्धि के देवो की उत्कृष्ट आयु समान है, इत्यादि काल की अपेक्षा समवाय है। भाव की अपेक्षा केवलज्ञान और केवलदर्शन समान हैं इत्यादि भाव समवाय है। इस अग मे समानता दिखलाई गई है।

५–व्याख्याप्रज्ञप्ति—विविध प्रकार के आख्यात्रो गणधर देव कृत प्रश्नो की प्रज्ञप्ति–विवेचन जिसमे किया गया है, उसे व्याख्याप्रज्ञप्ति कहते हैं। अर्थात् इस अग मे भगवान तीर्थंकर के समीप गणधर देव कृत साठ हजार प्रश्नो के उत्तर का निरूपण किया गया है।

६–नाथ धर्मकथा (ज्ञातृधर्म कथा)—तीन लोक के स्वामी तीर्थंकर, परम भट्टारक के धर्म की कथा का जिसमें वर्णन किया गया है, वह नाथ धम कथा नामक छठा अंग है। इसमे जीवादि पदार्थों का स्वभाव वर्णन किया गया है। घातिया कर्म के नाश के अनन्तर केवलज्ञान के साथ उत्पन्न तीर्थंकर नामक पुण्य–प्रकृति के उदय से जिनके महिमा प्रकट हुई है ऐसे तीर्थंकर के—

"पूर्वाह्णे मज्झह्णे अवरह्णे मज्झिमाए रत्तीए।
छच्छग्घडियाणिग्गय दिव्वज्झुणी कहइ सुत्तत्थे ॥१॥"

पूर्वाह्, मध्याह्न अपराह्न और अर्धरात्रि–इन चारों काल मे छह छह घड़ी पर्यन्त बारह सभा के मध्य स्वाभाविक दिव्यध्वनि होती है। इनके सिवा दूसरे समय मे भी गणधर देव, देवेन्द्र और चक्रवर्ती के प्रश्न के अनन्तर दिव्यध्वनि होती है। और समस्त श्रोताओ को उद्देश करके उत्तम क्षमादि दश प्रकार तथा रत्नत्रय रूप धर्म को कहती है।

अथवा इस छठे अग का नाम ज्ञातृ धर्म कथा है। इसका अर्थ यह है कि जिज्ञासा पूर्वक गणधर देव के द्वारा किये गये प्रश्नो के अनुसार उत्तर स्वरूप धर्म कथा का वर्णन इस में किया गया है। जो अस्ति नास्ति इत्यादि रूप प्रश्न गणधर देव ने किये हैं उनका उत्तर इस अग मे वर्णित है। अथवा ज्ञाता जो तीर्थंकर, गणधर, इन्द्र, चक्रवर्ती इत्यादि उनकी धर्म सम्बन्धी कथाएं इसमे पायी जाती हैं, इसलिए इसे ज्ञातृधर्मकथा नाम का अङ्ग कहा है।

७–उपासकाध्ययन—आहारादि दान देकर तथा नित्यपूजनादि द्वारा सङ्घ की आराधना–सेवना करने वाले श्रावक को उपासक कहते हैं। उनका अध्ययन–कथन इसमे किया गया है; इसलिए इसे उपासकाध्ययन कहते हैं। इसमे दार्शनिक, व्रतिक, सामायिक, प्रोषधोपवास सचित्तविरति, रात्रिभुक्तिविरति, ब्रह्मचर्य, आरम्भनिवृत्ति, परिग्रहनिवृत्ति, अनुमतिविरति, उद्दिष्टविरति, इन गृहस्थ की ग्यारह प्रतिमाओं का अथवा व्रत, शील, आचार, क्रिया, मन्त्रादि का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है।

८–अन्तकृद्दशांग—एक एक तीर्थंकर के तीर्थकाल मे मनुष्यकृत, देवकृत, अचेतन तथा पशुकृत–चार प्रकार के घोर उपसर्ग सहकर इन्द्रादि कृत पूजा-प्रातिहार्य आदि प्रभावना को प्राप्त होकर पाप कर्म का क्षय कर ससार का जो अन्त करते हैं, उन्हें अन्तकृत् कहते हैं, उनका कथन जिस अङ्ग मे किया गया है, उसे अन्तकृद्दशाग कहते हैं। उसमें भट्टारक वर्धमान स्वामी के तीर्थ मे नमि, मतङ्ग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यम वाल्मीक, वलीक, निष्कविल, पालवष्टपुत्र ये दश अन्तकृत केवली हुए हैं। ऐसे ही वृषभादिक प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ मे दश दश अंतकृत् केवली होते हैं, उनका वर्णन इस अङ्ग मे किया गया है।

९–अनुत्तरौपपादिकदशांग—उपपाद है प्रयोजन जिनका, उनको औपपादिक कहते हैं। प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ में दश दश महामुनीश्वर दारुण महा उपसर्ग को सहकर प्रातिहार्य (पूजा) प्राप्त करके समाधिपूर्वक प्राण छोड़कर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन अनुत्तर विमानो मे उत्पन्न हुए हैं, उनका वर्णन इस अङ्ग में किया गया है, इसलिए इसे अनुत्तरौपपादिक दशांग कहते हैं। परम भट्टारक श्री वर्धमान स्वामी के तीर्थ मे ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिक, नन्द, नन्दन, शालिभद्र, अभय, वारिषेण और, चिलातपुत्र ये दश महामुनीश्वर घोर उपसर्गों को सहकर इन्द्रादि द्वारा पूजा प्राप्त कर अनुत्तर विमान मे उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार श्री परम भट्टारक वृषभादिक तीर्थंकरों के तीर्थ मे दश दश महामुनीश्वरो ने भयङ्कर उपसर्ग सहकर अनुत्तर विमानों में जन्म धारण किया है, उनका परिचय अन्य आगम से जानना चाहिए।

१०–प्रश्न व्याकरण—पूछने वाले पुरुष के प्रश्न का व्याकरण अर्थात् शुभाशुभादि फल रूप व्याख्यान–जिसमें किया गया है, उसे प्रश्न व्याकरण अङ्ग कहते हैं। जिस अङ्ग मे प्रश्न कर्त्ता के द्वारा पूछी गई वस्तु, मुट्ठी मे रखी वस्तु, धन, धान्य, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, जीवन, मरण, जय, पराजय इत्यादि के विषय में, अतीत अनागत वर्त्तमान सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर का उपायरूप व्याख्यान किया गया है, उसे प्रश्न व्याकरण नाम का दशवां अङ्ग कहते हैं।

अथवा शिष्य के प्रश्नानुसार १. आक्षेपिणी, २. विक्षेपिणी, ३. सवेजनी, ४. निर्वेजनी ये चार कथाएँ भी इस प्रश्न

व्याकरण अङ्ग मे प्रकट की गई हैं। तीर्थंकरादि का चरित्र वर्णन करने वाला प्रथमानुयोग, लोक का स्वरूप पतिपादक करणानुयोग, श्रावक-मुनि धर्म का वर्णन करने वाला चरणानुयोग तथा पञ्चास्तिकाय आदि तत्त्वो का निरूपण करने वाला द्रव्यानुयोग इन चारों अनुयोगों का कथन और परमत की शङ्का का निराकरण **आक्षेपिणी कथा** है। प्रमाण और नय रूप युक्ति के बल से सर्वथा एकान्तवादी परमतावलम्बियों से प्रतिपादित अर्थ का खड करना **विक्षेपिणी कथा** है। रत्नत्रय धर्म के अनुष्ठान के फलस्वरूप तीर्थंकरादि का ऐश्वर्य, प्रभाव, तेज, वीर्य, ज्ञान सुखादि का प्रतिपादन करने वाली **संवेजनी कथा** है। तथा ससार देह भोग राग से उत्पन्न हुए दुष्कर्मों के फल नरकादि के दु.ख, दुष्कुल में उत्पत्ति, दरिद्रता, अपमानादि के दु.खादि के वर्णन द्वारा वैराग्य उत्पादक कथा को **निर्वेजनी कथा** कहते हैं। इस प्रकार की कथाओं का व्याख्यान जिसमें किया गया है, उसे प्रश्न व्याकरण नामा अङ्ग कहते हैं।

११-**विपाकसूत्र**—कर्म के उदय रूप विपाक के सूत्रण-वर्णन करने वाले अङ्ग को विपाकसूत्र अङ्ग कहते हैं। इसमें द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के निमित्त से शुभाशुभ कर्मों के तीव्र मध्यम जघन्य अनुभाग का फलदानरूप परिणमन जो उदय है, उसका वर्णन किया गया है। इसलिए इसका नाम विपाक सूत्र कहा है।

अब इन ग्यारह अङ्गो में से प्रत्येक अङ्ग में जितने मध्यम पद हैं, उनकी संख्या बताते हैं:—

अट्ठारस छत्तीसं बादालं अडकडी अडवि छप्पण्णं।
सत्तरि अट्ठावीसं चोदालं सोलससहस्सा ॥ ३५७ ॥
इगिदुगपंचेयारं तिवीसदुतिणउदिलक्ख तुरियादी।
चुलसीदिलक्खमेया कोडी य विवागसुत्तम्हि ॥ ३५८ ॥ गो० जी०

अर्थ—पहले आचाराग मे १८००० पद हैं। दूसरे सूत्रकृतांग मे ३६००० हजार, तीसरे स्थानाग मे ४२०००, चौथे समवायांग मे १६४०००, पांचवें व्याख्याप्रज्ञप्ति में २२८०००, छठे ज्ञातृ धर्म कथा में ५५६०००, ७वें उपासकाध्ययनाग मे ११७००००, ८वें अंतकृद्दशाग में २३२८०००, ९वें अनुत्तरौपपादिक में ९२४४०००, १०वें प्रश्न व्याकरण मे ९३१६०००, ११वें विपाकसूत्र में १८४००००० इस प्रकार ग्यारह अङ्गों मे पदो की संख्या जाननी चाहिए।

ग्यारह अंगों के सम्पूर्ण पदों का जोड़

वापणनरनोनाणं एयारंगे जुदी हु वादम्हि ।
कनजतजमताननमं जनकनजयसीम बाहिर वण्णा ॥ ३५६ ॥ गो० जी०

अर्थ—इस गाथा मे तथा आगे भी अक्षरो की सज्ञा से अङ्गो के पदो की संख्या कही गई है।

"कटपय पुरस्थवर्णैर्नवनवपंचाष्टाक्षरैः क्रमशः ।
स्वरञन शून्यं संख्या मात्रोपरिमाक्षरं त्याज्यम् ॥ १ ॥

अर्थात्—इस सूत्र द्वारा ककार से लेकर झकार तक नौ अक्षरो की क्रम से एक दो तीन आदि नव पर्यन्त सख्या होती है। जैसे—ककार का १ अङ्क, खकार का २ अङ्क, गकार का ३ अङ्क, घकार का ४ अङ्क, ङकार का ५ अङ्क, चकार का ६ अङ्क, छकार का ७ अङ्क, जकार का ८ अङ्क, और झकार का ६ अङ्क लेना चाहिए। इसी प्रकार टकार से लेकर धकार तक नौ अक्षरो की क्रम से एक दो तीन आदि नौ तक अङ्क सख्या ली जाती है। तथा पकार से लेकर मकार पर्यन्त पाच अक्षरो से क्रमशः एक दो आदि पांच पर्यन्त अङ्को की संख्या ग्रहण की जाती है। और यकार से हकार पर्यन्त आठ अक्षरो से क्रमशः एक दो आदि लेकर आठ पर्यन्त अङ्को की सख्या मानी जाती है। एव स्वर, ञ वर्ण नवर्ण की शून्य (विन्दु) संख्या ली जाती है। और मात्रा तथा सयुक्ताक्षर में ऊपर का अक्षर छोड़ दिया जाता है, अर्थात् इनका कुछ भी अङ्क नहीं लिया जाता है। अतः यहां पर "वापणनरनोनान" इन अक्षरों से चार, एक, पाच, शून्य दो, शून्य, शून्य, शून्य ये अङ्क होते हैं। इनके चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार ४१५०२००० पद ग्यारह अङ्गो के जोड देने पर होते हैं।

१२—दृष्टिवाद—नाम बारहवें अङ्ग मे "कनजत जमताननम" एक, शून्य, आठ, छह, आठ, पाच, छह, शून्य, शून्य, पांच इन अङ्को से एक सौ आठ करोड, अड सठ लाख, छप्पन हजार, १०८,६८,५६,००५ पद हैं। दृष्टि नाम ३६३ मिथ्यादर्शनो का वाद—अनुवाद और निराकरण जिस अङ्ग मे किया गया है, उसको दृष्टिवाद नामा अङ्ग कहते हैं। तीनसौ तिरेसठ मिथ्यादृष्टियो मे एकसौ अस्सी क्रियावादी, चौरासी अक्रियावादी, सरसठ अज्ञान मिथ्यादृष्टि और बत्तीस वैनयिक दृष्टि है। इन मे क्रिया काड को मोक्ष का साधन मानने वाले कौत्कल, काठे-विद्धि, कौशिक, हरिस्मश्रु, मांधयिक, रोमश, हारीत, मुड, आश्वलायन आदि १८० क्रियावादी कुदृष्टि है। मरीचि, कपिल, उलूक, गार्ग्य व्याघ्रभूति, वाड्वलि, माठर, मौद्गलायन आदि ज्ञान को मोक्ष का प्रधान अङ्ग मानने वाले ८४ अक्रियावादी है। शाकल्य, वाल्कलि, कुथुमि, सात्यमुग्री, नारायण, कठ, माध्यदिन, मौद, पैप्पलाद, वादरायण, स्विष्टिक्य, दैत्यकायन, वसु, जैमिनि आदि अज्ञानमिथ्यादृष्टि के ६७ भेद हैं। वशिष्ठ,

पाराशर, जतुकर्ण, वाल्मीकि, रोमहर्षि, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, उपमन्यु, ऐन्द्रदत्त, अगस्ति, इत्यादि विनय को ही मुख्य धर्म मानने वाले विनयवादियो के ३२ भेद हैं। सब मिलकर ३६३ कुवादी मिथ्यादृष्टियो के भेद होते हैं।

अङ्गबाह्य जो सामायिकादि शास्त्र हैं, उनमे "जनकनजयसीम" आठ, शून्य, एक, शून्य, आठ, एक, सात, पांच, ये अङ्क हैं, उनके आठ करोड़, एक लाख, आठ हजार, एक सौ पिचहत्तर सख्याप्रमाण अक्षर जानना चाहिए।

बारहवें अङ्ग के भेद

चंदरविजंबूदवीयदीवसमुद्दयविवाहपएणत्ती।
परियम्मं पंचविहं सुत्तं पढमाणिजोगमदो ॥ ३६० ॥
पुव्वं जलथलमाया आगासयरूवगयमिमा पंच।
भेदा हु चूलियाए तेसु पमाणं इणं कमसो ॥ ३६१ ॥ गो० जी०

अर्थ—दृष्टिवाद नामक बारहवें अङ्ग मे पाच अधिकार हैं। १. परिकर्म, २. सूत्र, ३. प्रथमानुयोग, ४. पूर्वगत, और ५. चूलिका। जिसमे जोड़ बाकी गुणाकार, भागाकारादि गणित के करणसूत्रों का प्रतिपादन किया गया है, उसे परिकर्म सूत्र कहते हैं। परिकर्म पाच प्रकार का है। १. चन्द्रप्रज्ञप्ति, २. सूर्यप्रज्ञप्ति, ३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ४. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति।

चन्द्रप्रज्ञप्ति मे चन्द्रमा के विमान, आयु, परिवार, ऋद्धि, गमन हीन, वृद्धि, सकलग्रहण, अर्धग्रहण, चतुर्थांशग्रहण इत्यादि का निरूपण किया गया है।

सूर्य प्रज्ञप्ति मे सूर्य की आयु, मण्डल, परिवार, ऋद्धि, गमनप्रमाण ग्रहण आदि का वर्णन है।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे जम्बू द्वीप सम्बन्धी मेरुपर्वत कुलाचल,ह्रद, क्षेत्र, वेदिका, वनखड व्यन्तरो के आवासस्थान, महानदी आदि है।

द्वीपसागर प्रज्ञप्ति मे असख्यात द्वीप समुद्रो का स्वरूप और वहाँ रहने वाले ज्योतिषी देव, व्यन्तर और भवनवासी देवो के

आवासस्थान, और वहां पर जो अकृत्रिम जिनमंन्दिर हैं, उनका निरूपण है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति में रूपी, अरूपी, जीव, अजीव आदि पदार्थों का तथा भव्य, अभव्य के भेद तथा प्रमाण के लक्षण आदि का तथा अनन्तर सिद्ध, परम्परासिद्धो का और अन्य वस्तुओं का वर्णन है। इस प्रकार परिकर्म के पांच भेद कहे गये हैं।

सूत्र—सूत्रयति अर्थात् मिथ्यादृष्टियों के भेदो को सूचित करने वाले आगम को सूत्र कहते हैं। इसमें जीव अबन्धक हैं, अकर्ता है, निर्गुण है, अभोक्ता है, स्व और परपदार्थ का प्रकाश करने वाला है, जीव अस्ति रूप ही है, नास्तिरूप ही है इत्यादि का तथा क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद, विनयवाद, कुदृष्टियो का और तीन सौ तिरेसठ मिथ्यादृष्टियो का पूर्व पक्ष लेकर निरूपण किया गया है।

प्रथमानुयोग—प्रथम अर्थात् मिथ्यादृष्टि अव्रती अथवा अव्युत्पन्न (ज्ञानरहित) को उपदेश देने के निमित्त प्रवृत्ति करने वाले अनुयोग अधिकार को प्रथमानुयोग कहते हैं। इसमे चौवीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलदेव, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण इन तिरेसठ शलाका के पुरुषो का पुराण वर्णन किया है।

पूर्वगत के चौदह भेद आगे विस्तार पूर्वक कहेंगे।

चूलिका के पाच भेद—१ जलगता, २. स्थलगता, ३. मायागता, ४. रूपगता, और ५. आकाशगता।

१ जलगता चूलिका में जल का स्तंभन करना, जल में गमन करना, अग्नि का स्तंभन करना, अग्नि का भक्षण करना, अग्नि मे प्रवेश करना इत्यादि क्रियाओ के कारण भूत मन्त्र तन्त्र तपश्चरणादि का वर्णन किया गया है।

२ स्थलगता चूलिका में मेरुपर्वत, भूमि आदि में प्रवेश करना, शीघ्र गमन करना, इत्यादि क्रिया के कारण भूत मन्त्र तन्त्र तपश्चरणादि का विवेचन किया गया है।

३ मायागता चूलिका में मायामयी इन्द्रजाल, विक्रिया के कारण भूत मन्त्र तन्त्र तपश्चरणादि का प्रतिपादन किया गया है।

४ रूपगता चूलिका में सिंह, हाथी, घोड़ा वृषभ, हरिण, मनुष्य, व्याघ्र इत्यादि नाना प्रकार के रूप परिवर्तन कर अनेक रूप धारण करने के कारण भूत मन्त्र तन्त्र तपश्चरण आदि का निरूपण किया गया है। अथवा चित्र, काठ, लेप्यादि का लक्षण, अथवा धातु रसायन खनिज पदार्थों आदि का स्वरूप निरूपण किया गया है।

५ आकाशगता चूलिका मे आकाश मे गमन करने के कारण भूत मन्त्र तन्त्र तपश्चरणादि का वर्णन किया गया है।

अब इनके पदो का प्रमाण दिखाते हैं।

गतनम मनगं गोरम मरगत जवगातनोननं जजलक्खा।
मननन धममननोननामं रनधजधराननजलादी ॥ ३६३ ॥
याजकनामेनाननमेदाणि पदाणि होंति परिकम्मे।
कानवधिवाचनाननमेसो पुण चूलियाजोगो ॥ ३६४ ॥ गो० जी०

अर्थ—पूर्वोक्त विधान से अक्षर सज्ञा द्वारा अङ्क कहे गये है, इसलिए एक एक अक्षर से एक एक अङ्क पूर्व की भाति समझ लेना चाहिए। चन्द्रप्रज्ञप्ति मे 'गतनमनोनन' छत्तीस लाख पाच हजार ३६०५००० पद हैं। सूर्य प्रज्ञप्ति मे 'मनगनोनन' पाच लाख तीन हजार ५०३००० पद हैं। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे 'गोरमनोननं' तीन लाख पचीस हजार ३२५००० पद हैं। द्वीपसागर प्रज्ञप्ति मे 'मरगतनोनन' बावन लाख छत्तीस हजार ५२३६००० पद हैं। व्याख्याप्रज्ञप्ति मे 'जवगातनोनन' चोरासी लाख छत्तीस हजार ८४३६००० पद है। सूत्र मे 'जजलक्खा' अठ्यासी लाख ८८००००० पद हैं। प्रथमानुयोग मे 'मननन' पाच हजार ५००० पद है। सम्पूर्ण चौदह पूर्वों म 'धममननोननाम' पिच्यानवे करोड, पचास लाख, पाच ९५५००००० पद हैं। जलगतादि पाचो चूलिकाओ मे प्रत्येक के 'रनधजधरानन' दो करोड, नौ लाख, नवासी हजार, दो सौ २०९८९२०० पद हैं। चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि पाच प्रकार के परिकर्म के पदों का जोड 'याजकनामेनान' एक करोड इक्यासी लाख पाच हजार १८१०५००० पद हैं। पाचो चूलिकाओ का जोड़ 'कानवधिवाचनानन' दस करोड, उनचास लाख, छियालीस हजार १०४९४६००० पद हैं।

चोदह पूर्वों मे प्रत्येक पूर्व के पदो की सख्या बताते हैं—

पणदुदाल पणतीस तीस पण्णाम पण्ण तरसदं।
णउदी दुदाल पुव्वे पणवण्णा तेरसमयाइं ॥ ३६५ ॥
छस्सय पण्णामाइं चउसयपण्णास छसयपणुवीसा।
बिहि लक्खेहि दु गुणिया पंचम रूऊण छज्जुदा छट्ठे ॥ ३६६ ॥ गो० जी०

१ उत्पादपूर्व—द्रव्य के उत्पाद व्यय ध्रौव्य आदि धर्मों का पूरक उत्पाद पूर्व है, उसमें जीवादि द्रव्यो के नाना नयो की अपेक्षा क्रम और युगपत् होने वाले उत्पाद व्यय व ध्रौव्य ये तीन धर्म त्रिकाल सम्बन्धी नौ धर्म होते हैं। उन धर्मों से युक्त द्रव्य भी नौ प्रकार का होता है।

१. उत्पन्न हुआ, २ उत्पन्न हो रहा है, ३. उत्पन्न होगा, ४. नष्ट हुआ, ५. नष्ट हो रहा है, ६. नष्ट होगा, ७. स्थिर हुआ, ८ स्थिर है, ९ स्थिर रहेगा। इस प्रकार द्रव्य नौ प्रकार का है। इन उत्पन्न आदि में से प्रत्येक धर्म के नौ नौ भेद होते हैं, इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य के इक्यासी भेद होते है। इनका वर्णन करने वाला उत्पाद पूर्व है, इसमे एक करोड पद होते हैं।

२ आग्रायणीयपूर्व—द्वादशांग मे अग्र-प्रधान भूत वस्तु का अयन-ज्ञान है प्रयोजन जिसका, उसको आग्रायणीय पूर्व कहते है। उसमे सात सौ नय और दुर्नय, पञ्चास्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ आदि का वर्णन है। इसमे ९६००००० पद हैं।

३ वीर्यानुवादपूर्व—जिसमे जीवादिको के वीर्य (सामर्थ्य) का वर्णन है, उसे वीर्यानुवाद पूर्व कहते हैं। उसमे आत्मा का वीर्य, पर का वीर्य, उभय का वीर्य, क्षेत्र का वीर्य, काल का वीर्य, भाव का वीर्य, तप का वीर्य, इत्यादि समस्त द्रव्य गुण और पर्याय के सामर्थ्य का वर्णन है। इसमे सत्तर लाख पद हैं।

४ अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व—जिसमे अस्ति नास्ति आदि धर्मों की प्ररूपणा की गई है, उसे अस्तिनास्तिप्रवाद कहते हैं। इसमे जीवादि वस्तु स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा स्यात् अस्तिरूप है, तथा परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा स्यात् नास्तिरूप है। स्व-द्रव्य क्षेत्र काल भाव और पर-द्रव्य क्षेत्र काल भाव दोनो की क्रम से विवक्षा करने पर जीवादि वस्तु स्यात् अस्ति और नास्ति रूप है। स्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की तथा एक साथ स्वद्रव्यादि और परद्रव्यादि चतुष्टय की विवक्षा करने पर जीवादि वस्तु स्यात् अस्ति और अवक्तव्य है। परद्रव्यादि चतुष्टय की तथा एक साथ स्वद्रव्यादि चतुष्टय व परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से जीवादि वस्तु स्यात् नास्ति और अवक्तव्य है। तथा स्वद्रव्यादि चतुष्टय और परद्रव्यादि चतुष्टय इन दोनो की क्रमशः विवक्षा से जीवादि वस्तु स्यात् अस्ति नास्ति तथा स्वद्रव्यादि चतुष्टय और पर-द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से अवक्तव्य होने से वस्तु स्यात् अस्तिनास्ति और अवक्तव्य रूप होती है। जैसे अस्ति नास्ति धर्म की अपेक्षा सात भेद कहे गये हैं, वैसे ही एकानेक धर्म की अपेक्षा भी सात भङ्ग होते हैं। अभेद विवक्षा से जीवादि वस्तु एक है, और भेद विवक्षा से वही वस्तु अनेक रूप होती है। क्रमश भेद अभेद की विवक्षा से वस्तु एकानेक रूप है। युगपत् भेद अभेद की विवक्षा से वस्तु कही नहीं जाती, इसलिए अवक्तव्य है। अभेद की विवक्षा तथा युगपत भेदाभेद की विवक्षा से एक अवक्तव्य रूप है। भेद विवक्षा तथा युगपत् भेदाभेद की विवक्षा से वस्तु अनेक अवक्तव्य रूप है। क्रमश. भेदाभेद की विवक्षा तथा युगपत् भेदाभेद की विवक्षा से वस्तु एकानेक

अवक्तव्य रूप है। इसी प्रकार नित्यानित्यादि अनन्त धर्मों के सात सात भङ्ग होते हैं। इन सप्त भङ्गो मे एक एक धर्म के तीन तीन भङ्ग–अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य है। द्विसयोगी तीन भङ्ग–अस्तिनास्ति, अस्तिअवक्तव्य और नास्तिअवक्तव्य हैं। त्रिसयोगी अस्तिनास्तिअवक्तव्य यह एक भङ्ग है। इन सप्त भङ्गो के समुदाय को सप्त भङ्गी कहते हैं।

प्रश्न के वश एक ही वस्तु मे प्रयोजन के अनुसार अविरोध से सम्भव होने वाले नाना प्रकार के नय की मुख्यता और गौणता से वस्तु का निरूपण किया जाता है। स्याद् पद का अर्थ कथचित् है, यह सर्वथा नियमरूप एकान्त का निषेध करके अनेकान्त धर्म का प्रकट करने वाला है। इस अस्तिनास्तिप्रवाद नामक अङ्ग मे साठ लाख ६०००००० पद हैं।

५–ज्ञानप्रवादपूर्व—इसमे ज्ञान का निरूपण किया गया है। मति श्रुत अवधि मनःपर्यय और केवल इन पांच सम्यग्ज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत व विभग (कुवधि) इन तीन मिथ्या ज्ञान के स्वरूप, सख्या, विषय और फल की अपेक्षा से ज्ञान की प्रमाणता (सत्यता) और अप्रमाणता (असत्यता) का भिन्न २ वर्णन किया गया है। इसके एक कम एक करोड़ ६६६६६६६ पद हैं।

६–सत्यप्रवाद—इसमे सत्य का निरूपण किया गया है। वचनगुप्ति, वचन संस्कार के कारण, वचन के प्रयोग, बारह प्रकार की भाषा, वक्ताओ के भेद, अनेक प्रकार के मृषा (मिथ्या) वचन और दश प्रकार के सत्यवचन का वर्णन है।

वचनगुप्ति—असत्य न बोलना अथवा मौनधारण करना वचनगुप्ति है।

वचन सकार के कारण—वचन की उत्पत्ति के कारण दो हैं। स्थान और प्रयत्न। जिन मुख के अवयवों से शब्दों का उच्चारण होता है, उसे स्थान कहते हैं। वे आठ हैं—उर (हृदय) कंठ, मूर्धा, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, तालु और ओष्ठ। जैसे—अकार, कवर्ग, हकार और विसर्ग का स्थान कण्ठ है, इत्यादि अन्य स्थान भी व्याकरण शास्त्र से जानना चाहिए। जिन क्रियाओ से शब्द उच्चारण होता है, उन्हें प्रयत्न कहते हैं, वे पाच हैं—स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, ईषद्विवृत, विवृत और सवृत। जैसे—ककार से लेकर मकार पर्यन्त २५ वर्णों का स्पृष्ट प्रयत्न है। य र ल व इन चार वर्णों का प्रयत्न ईषत्स्पृष्ट है। श ष स ह इन वर्णों का ईषद्विवृत प्रयत्न है। स्वरो का विवृत प्रयत्न है। ह्रस्व अकार का प्रयोग करते सवृत प्रयत्न माना गया है। उच्चारण करते सयम मुख के अवयवो का दूसरे मुख के अवयवो के साथ स्पर्श होना स्पृष्ट प्रयत्न है। थोड़ा स्पर्श न होना ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न। मुख के भागो का थोड़ा खुलना ईषद्विवृत प्रयत्न है। मुख के अवयवो का खुलना विवृत प्रयत्न है और इन का न खुलना अर्थात् मुख के अवयवो का सवरण होना सवृत प्रयत्न है।

वचन प्रयोग—शिष्ट वचन (उत्तम वचन) और दुष्ट वचन (बुरावचन) इस तरह वचन प्रयोग दो प्रकार का है। अथवा संस्कृत प्राकृतादि का व्याकरण शास्त्र, वचन प्रयोग है। वचन के वारह भेद निम्न प्रकार हैं।

१–अभ्याख्यान—इसने ऐसा किया, इस प्रकार अनिष्ट कथन करना अभ्याख्यान है।

२–कलह वचन—आपस मे विरोध उत्पन्न करने वाले वचन को कलह वचन कहते हैं।

३–पैशुन्य—पर के दोष प्रकट करने को (चुगली खाने को) पैशुन्य वचन कहते हैं।

४–अबद्ध-प्रलापवचन—धर्म अर्थ काम और मोक्ष से सम्बन्ध न रखने वाले वचन को अबद्धप्रलाप वचन कहते हैं।

५–रतिवचन—इन्द्रिय के विषयो मे प्रेम उत्पन्न करने वाले वचन को रतिवचन कहते हैं।

६–अरतिवचन—विषयो मे अरति उत्पन्न करने वाले वचन को अरतिवचन कहते हैं।

७–उपधिवचन—परिग्रह के उपार्जन और संरक्षण मे आसक्ति उत्पन्न करने वाले वचन को उपधि वचन कहते हैं।

८–निकृतिवचन—व्यवहार मे ठगने के वचन को निकृतिवचन कहते हैं।

९–अप्रणतिवचन—तप ज्ञानादि मे अविनय उत्पन्न करने वाले वचन को अप्रणतिवचन कहते हैं।

१०–मोषवचन—चोरी के कारण रूप वचन को मोष वचन कहते हैं।

११–सम्यग्दर्शनवचन—सत्यमार्ग का उपदेश करने वाले वचन को सम्यग्दर्शन वचन कहते हैं।

१२–मिथ्यादर्शन वचन—मिथ्या मार्ग का उपदेश करने वाले वचन को मिथ्यादर्शन वचन कहते हैं।

उक्त प्रकार की १२ भाषाओ के वोलने वाले द्वीन्द्रिय से लेकर सञ्ज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीव हैं। अर्थात् इन वारह प्रकार की भाषाओ को व्यक्त रूप या अव्यक्त रूप से वोलने के कारण उनके वक्ता भी वारह प्रकार के हैं।

असत्यवचन द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा अनेक प्रकार का है। जनपद सत्य, स्थापना सत्य, आदि दश प्रकार के सत्य का विवेचन

पहले कर दिया गया है, इसलिए यहां नहीं किया गया है। इस सत्य प्रवाद पूर्व के एक करोड छह १००००००६ पद हैं।

७–आत्म–प्रवाद पूर्व—जिस मे आत्मा का निरूपण किया गया है, उसे आत्मप्रवाद कहते हैं।

"जीवो य कत्ता य वत्ता य पाणी भोत्ता य पुग्गलो।
वेदो विण्हू सयंभू य सरीरी तह माणवो ॥ १ ॥
सत्ता जंतू य माणी य माणी जोगी य संकुडो।
असंकुडो य खेत्तण्हू अन्तरप्पा तहेव य ॥ २ ॥"

जीव—व्यवहार नय से इन्द्रिय आदि दश बाह्य प्राणो का तथा निश्चय नय से केवल दर्शन, केवल ज्ञान, सम्यक्त्वरूप चेतना प्राणो का वर्त्तमान मे धारण करने वाला है, भविष्य मे प्राणो को धारण करेगा, तथा पहले भी प्राणो को धारण किया है,उसे जीव कहते हैं।

कर्त्ता—व्यवहार नय से शुभाशुभ कर्म का करने वाला है और निश्चय नय से चैतन्य पर्याय का करने वाला है, इसलिए आत्मा कर्त्ता है।

वक्ता—व्यवहार नय से सत्य व असत्यवचन बोलता है, इसलिए आत्मा वक्ता है। निश्चय नय से अवक्ता है।

प्राणी—व्यवहार नय से इन्द्रियादि दश प्राण और निश्चय नय से ज्ञान–दर्शन–सम्यक्त्व–रूप चेतना–प्राण आत्मा के पाये जाते हैं, इसलिए यह प्राणी है।

भोक्ता—व्यवहार नय से शुभ अशुभ कर्म–फल का भोगने वाला और निश्चय नय से अपने स्वरूप का भोगने वाला है, अतः यह भोक्ता है।

पुद्गल—व्यवहार नय से कर्मों (आठ कर्मों) और शरीरादि नो कर्मों का पूरण व गालन करने वाला है। अर्थात् कर्म नो कर्म पुद्गलों को ग्रहण करता है और छोड़ता है, इसलिए पुद्गल है। निश्चय नय से अपुद्गल है।

वेद—व्यवहार व निश्चय नय से लोक अलोक सम्बन्धी त्रिकाल गोचर सब पदार्थों का वेत्ता (ज्ञाता) है, इसलिए यह वेद है।

विष्णु—व्यवहार नय से आत्मा नाम कर्म के उदय से प्राप्त हुए शरीर मे व्याप्त होकर रहता है और समुद्घात करते समय सम्पूर्ण लोक को तथा निश्चय से ज्ञान द्वारा सब लोक को व्याप्त करता है; इसलिए यह विष्णु है।

स्वयभू—व्यवहार नय से जीव कर्मवश भव (पर्याय) मे परिणमता है, तथापि निश्चय नय से स्वय अपनी आत्मा मे ही ज्ञान दर्शन रूप परिणमता है, इसलिए स्वयभू है।

शरीरी—व्यवहार नय से आत्मा औदारिकादि शरीर वाला है और निश्चय से अशरीरी है, शरीर रहित है।

मानव—व्यवहार नय से मानवादि पर्याय रूप मे परिणत होता है, और निश्चय नय से मनु (ज्ञान) मे परिणत होता है,इसलिए यह मानव है।

सक्ता—व्यवहार नय से स्वजन मित्रादि परिग्रह मे आसक्त रहता है, इसलिए आत्मा सक्ता है। निश्चय से अनासक्त होने से (असक्त) है।

जन्तु—व्यवहार नय से चतुर्गति सम्बन्धी नाना योनियो मे जन्म लेता है, इसलिए जन्तु है। निश्चय से अजन्तु है।

मानी—व्यवहार नय से कर्म के वश से मान (अहकार) करने वाला है, इसलिए मानी है, निश्चय से अमानी है।

मायी—व्यवहार नय से कर्म के वशी भूत हुआ आत्मा माया (छल-कपट) करने वाला है और निश्चय से अमायी है। छलकपट रहित है।

योगी—व्यवहार नय से मन वचन काय की क्रिया से आत्मा के प्रदेशो मे किंचित् कम्पन होता है; इसलिए इसे योगी कहते हैं। निश्चयनय से योग रहित होने से अयोगी है।

सकुट—व्यवहार नय से सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना से आत्म प्रदेशो का सङ्कोच होता है, इसलिए आत्मा सकुट है। समुद्घात मे सम्पूर्ण लोक को व्याप्त करता है, इसलिए असकुट है। निश्चयनय से प्रदेशो का सङ्कोच विस्तार का अभाव होने से अनुभय रूप है, किंचित् ऊन चरम शरीर प्रमाण है, इसलिए सकुट और असकुट दोनो से रहित है।

क्षेत्रज्ञ—दोनो नय से आत्मा लोकालोक को तथा अपने स्वरूप को जानता है, इसलिए क्षेत्रज्ञ है।

अन्तरात्मा—व्यवहार नय से अष्ट कर्मों के अभ्यन्तर प्रवृत्ति करता है और निश्चय नय से चैतन्य के अभ्यन्तर प्रवृत्ति करता है, इसलिए अन्तरात्मा है।

उक्त गाथा मे दो च शब्द दिये गये है, उनसे उक्त और अनुक्त आत्म-धर्मो का समुच्चय (ग्रहण) होता है, अत आत्मा व्यवहारनय से कर्म नो कर्म पुद्गल-द्रव्यादि के सम्बन्ध से मूर्त्त है। निश्चयनय की अपेक्षा अमूर्त्त है। इत्यादि आत्मा के अन्य धर्मों का ग्रहण होता है। इसमे छब्बीस करोड २६००००००० पद हैं।

स० प्र०

(८) **कर्मप्रवादपूर्व**—इसमे कर्म का वर्णन किया गया है। मूलप्रकृति, उत्तरप्रकृति और उत्तरोत्तर प्रकृति के अनेक भेद युक्त बन्ध,उदय, उदीरणा, सत्ता रूप अवस्था को धारण करने वाले ज्ञानावरणादिक कर्मों के स्वरूप का तथा समवधान, ईर्यापथ,तपस्या,अधाकर्मादि का वर्णन किया गया है। इसमे एक करोड़ अस्सी लाख १८०००००० पद है।

(९) **प्रत्याख्यानपूर्व**—इसमे सावद्य कर्म का निषेध किया गया है। नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा जीवों का संहनन बल इत्यादि के अनुसार काल की मर्यादा रखकर अथवा जीवन पर्यन्त सावद्य (पापजनक) वस्तु का त्याग, उपवास की विधि, उसकी भावना, पञ्च समिति तीन गुप्ति आदि का प्रतिपादन किया गया है। इसके चौरासी लाख ८४००००० पद हैं।

(१०) **विद्यानुवादपूर्व**—इसमें विद्याओ का वर्णन है। अगुष्ठ प्रसेनादि सात सो लघुविद्या, रोहिणी आदि पाच सौ महाविद्या का तथा उनके स्वरूप, सामर्थ्य, साधन मन्त्र, तत्र, पूजा, विधान और विद्याओंके सिद्ध होने पर उनके फल विशेष का और अन्तरीक्ष, भौम अङ्ग,स्वर,स्वप्न,लक्षण,व्यंजन, छिन्न नामक अष्टमहा निमित्त ज्ञान का वर्णन किया गया है। इसके एक करोड दश लाख११००००००पद हैं।

(११) **कल्याणवाद पूर्व**—इसमे तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण, प्रति-नारायण आदि के गर्भ जन्मादि कल्याण महोत्सवो और उनके कारणभूत तीर्थंकरादि पुण्य प्रकृति और उनके हेतुभूत षोडश भावना तपश्चरण विशेषादि का तथा सूर्य,चन्द्रमा ग्रह नक्षत्र का गमन, ग्रहण, शकुनादि के फल वगैरह का वर्णन किया गया है। इसके छब्बीस करोड २६०००००००० पद है।

(१२) **प्राणावादपूर्व**—शरीर चिकित्सा आदि वैद्यक के अष्टांगो का,भूतपिशाचादि व्याधि दूर करने के कारण मन्त्रादि का, विष दूर करने वाले जागलिक कर्म का, इला, पिंगला, सुषुम्ना इत्यादि स्वरोदय तथा बहुविध श्वासोच्छ्वास के भेदो का एव दश प्राणो के उपकारक और अनुपकारक वस्तुओ का गत्यादि के अनुसार वर्णन किया गया है। इसके तेरह करोड़ १३०००००००० पद हैं।

(१३) **क्रियाविशालपूर्व**—यह नृत्यादि क्रियाओ से विशाल-विस्तीर्ण अथवा शोभमान है इसमे सङ्गीतशास्त्र,छन्द,अलङ्कारादि पुरुष की बहत्तर कलाओ तथा स्त्रियो के चोसठ गुणो का, शिल्पादि के विज्ञान का गर्भाधानादि चौरासी क्रियाओं का, सम्यग्दर्शनादि एक सौ आठ, देववन्दनादि पच्चीस तथा नित्य नैमित्तिक क्रियाओ का निरूपण किया गया है। इसमें नौ करोड़ ९००००००० पद हैं।

(१४) **त्रिलोकबिन्दुसारपूर्व**—जिसमे तीन लोक के बिन्दुओ (अवयवो) का और साररूप वस्तु का वर्णन किया गया है, उसे त्रिलोक बिन्दुसार पूर्व कहते हैं। इसमे तीन लोक का स्वरूप, छब्बीस परिकर्म, आठ व्यवहार, चार बीज इत्यादि गणित का तथा मोक्ष के

स्वरूप और उसमे गमन का कारण भूत क्रियाओं का और मोक्ष सुख के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया, है इसमें बारह करोड पचास लाख १२५०००००० पद हैं।

अङ्ग बाह्य श्रुत के भेद

सामाइयचउवीसत्थयं तदो वंदना पडिक्कमणं।
वेणइयं किदिकम्मं दसवेयालं च उत्तरज्झयणं॥ ३६७॥
कप्पववहारकप्पाकप्पियमहकप्पियं च पुंडरियं।
महपुंडरीयणिसिहियमिदि चोद्दसमंगबाहिरयं॥ ३६८॥ गो० जी०

अर्थ—१ सामायिक, २ चतुर्विंशतिस्तव, ३ वन्दना, ४ प्रतिक्रमण, ५ वैनयिक, ६ कृतिकर्म, ७ दशवैकालिक, ८ उत्तराध्ययन, ९ कल्पव्यवहार, १० कल्पाकल्प्य, ११ महाकल्प, १२ पुंडरीक, १३ महा पुंडरीक, १४ निषिद्धिका इस प्रकार ये १४ भेद अगबाह्य श्रुत (प्रकीर्णक) के हैं। इनका पृथक् पृथक् विवेचन करते हैं।

१—सामायिक—पर द्रव्य से निवृत्त होकर आत्मा मे उपयोग की प्रवृत्ति करना सामायिक है। जैसे—मैं ज्ञाता दृष्टा हूं अन्य सब मुझ से सर्वथा भिन्न हैं। इस प्रकार आत्मा मे उपयोग रखना चाहिए। क्योकि एक ही आत्मा जानने योग्य—ज्ञान का विषय होने से ज्ञेय है और जानने वाला है, इसलिए ज्ञाता है। अत अपने आपको ही ज्ञाता और दृष्टा अनुभव करता है। अथवा रागद्वेपरहित मध्यस्थ आत्मा को सम कहते हैं, उसमे उपयोग की प्रवृत्ति करने को आय कहते हैं, उस समाय (सम+आय) प्रयोजन वाली क्रिया को सामायिक कहते हैं। नित्य नैमित्तिक क्रिया-विशेष के अनुष्ठान (आचरण) को और उस सामायिक को प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को भी सामायिक कहते हैं। वह सामायिक नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र काल व भाव के भेद से छह प्रकार का है। इनका स्वरूप पूर्वार्द्ध की प्रथम किरण मे (पृष्ठ न० १२७) कह आये हैं।

२—चतुर्विंशति स्तव—जिस काल मे जिन २ तीर्थंकरो का प्रवर्त्तन हो उस काल में उन २ चौबीस तीर्थंकरो का नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का आश्रय कर ५च महाकल्याणक, चौतीस अतिशाय, अष्ट प्रातिहाय, परम औदारिक दिव्य शरीर, समवसरण सभा, धर्मोपदेशनादि, तीर्थंकरो की महिमा का स्तवन करना चतुर्विंशतिस्तव है। उनका प्रतिपादक शास्त्र चतुर्विंशतिस्तवनामा प्रकीर्णक है।

३—वन्दना प्रकीर्णक—एक तीर्थंकर का आलम्बन लेकर चैत्य चैत्यालय की स्तुति करना वन्दना है। उसका प्रतिपादन करने

वाला शास्त्र वन्दना प्रकीर्णक है।

४–प्रतिक्रमण प्रकीर्णक—दिन रात आदि मे प्रमाद से किये गये दोषो का जिससे निराकरण किया जाता है, उसे प्रतिक्रमण कहते हैं। वह प्रतिक्रमण सात प्रकार का है। १ दैवसिक, २ रात्रिक, ३ पाक्षिक, ४ चातुर्मासिक, ५ सांवत्सरिक, ६ ऐर्यापथिक, ७ औत्तमार्थिक। इनका स्वरुप प्रथम किरण (पृ० न. १४०) मे कह आये हैं।

भरतादि क्षेत्र, दु.षमादिकाल, छह सहननों से युक्त स्थिर व अस्थिर आदि पुरुषो के भेदों का आश्रय लेकर उस प्रतिक्रमण के निरूपण करने वाले शास्त्र को प्रतिक्रमण नामा प्रकीर्णक कहते हैं।

५–वैनयिक प्रकीर्णक—इस में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और उपचार इन पांच विनयो का प्रतिपादन किया गया है।

६–कृतिकर्म प्रकीर्णक—कृति (क्रिया) के कर्म (विधान) का जिस मे वर्णन किया जाता है, उसे कृतिकर्म कहते हैं। इस मे अर्हत, सिद्ध, आचार्य, बहुश्रुत (उपाध्याय), साधु, जिनधर्म, जिनमन्दिर, जिनप्रतिमा और जिनवाणी इन नव देवताओ की वन्दना के निमित्त आधीन होना आत्माधीनता है। तथा गृद्ध भ्रमण रुप तीन प्रदक्षिणा, भूमि पर अंग लगाकर तीन नमस्कार और सिर झुकाकर चार नमस्कार करना तथा हाथ जोड अंजलि को चारों ओर घुमाना रूप बारह आवर्त्तन आदि क्रियाओ के विधान का निरूपण किया गया है।

७–दशवैकालीक प्रकीर्णक—विशिष्ट काल मे होने वाली क्रियाओ को वैकाल कहते हैं, और दश वैकाल का जिसमे वर्णन है उसे दश वैकालिक कहते हैं। इस मे मुनियों का आचार और आहार की शुद्धि और उस के स्वरुप का वर्णन किया गया है।

८–उत्तराध्ययन प्रकीर्णक—इस मे चार प्रकार के उपसर्गों का,बाईस परीषहों को सहने की विधि का तथा उस से जन्य फल का और इस प्रश्न का ऐसा उत्तर होता है इस प्रकार उत्तर का विधान वर्णन किया गया है।

९–कल्प्य व्यवहारप्रकीर्णक—कल्प्य (योग्य) व्यवहार (अनुष्ठान-आचरण) का जिस मे वर्णन है, उसे कल्प्य व्यवहार कहते हैं। इस मे साधुओ के योग्य आचरण का विधान है, तथा अयोग्य आचरण होने पर प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

१०–कल्प्याकल्प्यप्रकीर्णक—कल्प्य (योग्य) और अकल्प्य (अयोग्य) का जिस में वर्णन है उसे कल्प्याकल्प्य कहते हैं। इस मे द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा मुनीश्वरो के लिए यह योग्य और यह अयोग्य है इस का विभाग किया गया है।

११–महाकल्प्य प्रकीर्णक—महापुरुषों के योग्य आचरण का वर्णन जिसमे किया गया है, उसे महाकल्प्य कहते हैं। इसमें जिन–कल्पी महामुनीश्वरो के उत्कृष्ट संहननादि के योग्य द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव में होने वाले प्रतिमायोग वा आतपनयोग, अभ्रावकाशयोग, वृक्षतलरूप त्रिकालयोग इत्यादिक आचरण का प्ररूपण किया गया है। तथा स्थविरकल्पी साधुओ की दीक्षा, शिक्षा, संघ का पोषण, यथा योग्य शरीर समाधान रूप आत्म सस्कार, सल्लेखना, उत्तमार्थ स्थान को प्राप्त उत्कृष्ट आराधना, आदि का विशेष निरूपण किया गया है।

१२–पुण्डरीक प्रकीर्णक—इसमे भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष, कल्पवासी विमानो मे उत्पत्ति के कारण, दान, पूजा, तपश्चरण अकामनिर्जरा, सम्यक्त्व, संयमादि के विधान का तथा वहां के उत्पाद, स्थान, वैभवादि का वर्णन किया गया है।

१३–महापुण्डरीक प्रकीर्णक—इसमें महर्द्धिक इन्द्र, प्रतीन्द्रादि मे उत्पत्ति के कारण, तपविशेषादि का आचरण निरूपण किया गया है।

१४–निषिद्धिका प्रकीर्णक—प्रमाद जन्य दोषों का निराकरण निषिद्धिका है। यह प्रायश्चित्त शास्त्र है। इसमें प्रमाद जन्य दोषो की शुद्धि के लिए अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त का वर्णन है। इस प्रकार चौदह प्रकार के अंगबाह्य श्रुत ज्ञान का निरूपण किया है।

श्रुतज्ञान की महिमा

सुदकेवलं च णाणं दोण्णिवि सरिसाणि होंति बोहादो।
सुदणाणं तु परोक्खं पच्चक्खं केवलं णाणं ॥ ३६९ ॥ गो० जी०

अर्थ—श्रुतज्ञान और केवल ज्ञान दोनों समस्त वस्तु के द्रव्य, गुण और पर्यायो को जानने के कारण समान हैं। अन्तर यह है कि श्रुतज्ञान परोक्ष है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है।

भावार्थ—परम उत्कृष्टता को प्राप्त हुआ भी श्रुतज्ञान अमूर्त्त पदार्थों में, अर्थ पर्यायों मे तथा अन्य सूक्ष्म अंशों मे स्पष्टरूप से प्रवृत्ति नहीं करता है, अर्थात् उन्हें स्पष्ट नहीं जानता है। तथा मूर्त्त पदार्थों को, व्यञ्जन पर्यायो को तथा स्थूल अंशो को जो कि इस ज्ञान का विषय है, उनको अवधिज्ञानादि की तरह प्रत्यक्ष नहीं जानता है। समस्त आवरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न हुआ केवलज्ञान मूर्त्त अमूर्त द्रव्यों को, अर्थ व्यञ्जन पर्यायो को तथा सूक्ष्म स्थूल सब अशों को विषय करता है और प्रत्यक्ष (स्पष्ट) जानता है। आत्मा के ही द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं और जो इन्द्रियादि परपदार्थ की सहायता से उत्पन्न होता है, उसे परोक्ष कहते हैं। इस निरुक्ति

से सिद्ध हुए प्रत्यक्ष व परोक्ष के लक्षण के भेद से इन दोनो मे भेद है।

श्रीमत्समन्तभद्रस्वामी ने भी कहा है—

स्याद्वादकेवलज्ञानेसर्वतत्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥ देवागम०॥

अर्थ—स्याद्वाद (श्रुतज्ञान) और केवल ज्ञान ये दोनो सर्वतत्व के प्रकाशक हैं। परन्तु प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से इन में भेद प्रतीत होता है। इन दोनो प्रमाणो मे से किसी एक को ही मानने से अवस्तुपना प्राप्त होता है। अर्थात् दोनो मे से किसी एक का अभाव मानने पर दोनो का अभाव सिद्ध होता है।

अवधिज्ञान का स्वरूप और उसके भेदः

द्रव्य क्षेत्र काल भाव की मर्यादा लिये हुए पुद्गल द्रव्य को प्रत्यक्ष जानने वाले ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान मति, श्रुत और केवलज्ञान की तरह अपरिमित विषय वाला नहीं है, किन्तु परिमित पदार्थ को विषय करने वाला है। इस के दो भेद हैं। भव प्रत्यय और गुण प्रत्यय। (१) जो ज्ञान भव (देवादि पर्याय) के निमित्त से उत्पन्न होता है, उसे भव प्रत्यय कहते हैं। (२) जो सम्यग्दर्शनादि गुण से उत्पन्न होता है उसे गुण प्रत्यय कहते हैं।

भवप्रत्यय अवधि—यह देव नारकी और किन्हीं तीर्थंकरो के होता है। जो देव और नारक भव धारण करता है उस के भव धारण के साथ २ अवधि ज्ञान होता है। तथा जिन तीर्थंकरो के अवधिज्ञान पूर्वभव से साथ आता है, उन तीर्थंकरो के अवधिज्ञान को भी भवप्रत्यय अवधि कहते हैं। भवप्रत्यय अवधि ज्ञान मे दर्शन विशुद्धि आदि गुण का सद्भाव होने पर भी भव की ही मुख्यता होने के कारण भव प्रत्यय ही माना गया है। यह सर्वांग से उत्पन्न होता है। क्योकि सम्पूर्ण आत्मा के प्रदेशो पर स्थित अवधि ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है, अतः सर्वांग मे क्षयोपशम होने से यह सर्वांग से उत्पन्न होता है।

गुणप्रत्यय अवधि—सम्यग्दर्शनादिगुण तथा तपश्चरणादि निमित्त से जो अवधि ज्ञान उत्पन्न होता है, वह गुण प्रत्यय अवधिज्ञान है। इसका क्षयोपशम नाभि के ऊपर शख, पद्म, स्वस्तिक, मत्स्य, कलशादि शुभ चिह्न युक्त आत्मा के प्रदेश मे रहने वाले अवधिज्ञान और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। यह पर्याप्त मनुष्यों तथा सज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंचो के होता है।

"क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्" । तत्वार्थ सूत्र १।२२

अर्थ—क्षयोपशम के निमित्त से होने वाला अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यंचो के होता है। वह छह प्रकार का है। १ अनुगामी, २ अननुगामी, ३ अवस्थित, ४ अनवस्थित, ५ वर्द्धमान और ६ हीयमान।

१—अनुगामी—जो अवधिज्ञान अपने उत्पन्न करने वाले स्वामी जीव के साथ गमन करे, उसे अनुगामी अवधिज्ञान कहते हैं। इसके तीन भेद हैं। १ क्षेत्रानुगामी, २ भवानुगामी और ३ उभयानुगामी।

१—क्षेत्रानुगामी—जो ज्ञान भरतादि क्षेत्र मे उत्पन्न हुआ और विदेहादि अन्य क्षेत्र मे विहार करने वाले जीव के साथ गमन करता है, परन्तु मर कर अन्य भव मे जाने वाले जीव के साथ नही जाता है, उसे क्षेत्रानुगामी अवधिज्ञान कहते हैं।

२—भवानुगामी—जो ज्ञान जिस भव मे उत्पन्न हुआ उससे अन्य भव मे गमन करने वाले अपने स्वामी जीव के साथ गमन करता है, उसे भवानुगामी अवधिज्ञान कहते हैं।

३—उभयानुगामी—जो ज्ञान जिस भव और जिस क्षेत्र मे उत्पन्न हुआ, उससे अन्य देवादि भव और विदेहादि क्षेत्र मे गमन करने वाले अपने स्वामी जीव के साथ गमन करता है, वह उभयानुगामी अवधिज्ञान कहलाता है।

२—अननुगामी—जो अवधिज्ञान अपने उत्पन्न करने वाले स्वामी जीव के साथ नहीं जाता है, उसे अननुगामी अवधिज्ञान कहते हैं। उसके भी तीन भेद हैं। १ क्षेत्राननुगामी, २ भवाननुगामी, ३ उभयाननुगामी।

१—क्षेत्राननुगामी—जो अवधिज्ञान जिस क्षेत्र मे उत्पन्न हुआ, उसी क्षेत्र मे नष्ट हो जाता है, दूसरे क्षेत्र मे विहार करने वाले अपने स्वामी जीव के साथ नहीं जाता है। अन्य मे जावे या न जावे, उसे क्षेत्राननुगामी कहते हैं।

२—भवाननुगामी—जो अवधिज्ञान अन्य भव में साथ नहीं जाता है। जिस भव में उत्पन्न हुआ, उसी भव मे विनष्ट हो जाता है। अन्य भव मे जावे या न जावे, उसे भवाननुगामी अवधिज्ञान कहते हैं।

३—उभयाननुगामी—जो अवधिज्ञान अन्य क्षेत्र मे और अन्य भव मे साथ नहीं जाता, वहीं रह जाता है। उसे उभयाननुगामी अवधिज्ञान कहते हैं।

३—अवस्थित—जो अवधिज्ञान सूर्य मंडल की भांति हानि वृद्धि से रहित होता है-एकसा बना रहता है, उसे अवस्थित अवधिज्ञान कहते हैं।

(४) अनवस्थित—जो अवधिज्ञान किसी समय बढ जाता है, किसी समय घट जाता है और किसी समय उतना ही बना रहता है, उसे अनवस्थित कहते हैं।

(५) वर्द्धमान—जो अवधिज्ञान शुक्लपक्ष के चन्द्र-मण्डल के समान अपनी उत्कृष्टता पर्यन्त बढता जाता है, उसे वर्द्धमान अवधिज्ञान कहते हैं।

(६) हीयमान—जो अवधिज्ञान कृष्ण पक्ष के मण्डल की तरह घटता हुआ अपने अन्तिम स्थान तक घटता चला जाता है, उसे हीयमान अवधिज्ञान कहते हैं।

अवधिज्ञान के सामान्य रूप से तीन भेद हैं। १ देशावधि, २ परमावधि ३ सर्वावधि।

उनमे पहले कहा गया जो भवप्रत्यय अवधिज्ञान वह नियम से देशावधि ही होता है। क्योकि देव व नारकियो के तथा गृहस्थ व तीर्थंकरो के परमावधि और सर्वावधि सम्भव नहीं है। परमावधि और सर्वावधि नियम से गुण प्रत्यय ही होता है। तथा महाव्रती, चरम शरीरी, तद्भव मोक्षगामी, वज्र वृषभनाराच संहनन के धारक मनुष्यो के ही परमावधि व सर्वावधिज्ञान होता है। देशावधिज्ञान देव, नारकी, मनुष्य, तिर्यंच तथा सयमी वा असयमी चारो गति के जीवो के होता है। परन्तु देशावधि का उत्कृष्ट भेद महाव्रती मनुष्य के ही होता है। अन्य तीन गतियो के जीवो के तथा असयमी मनुष्यो के नहीं होता है। प्रतिपाती अप्रतिपाती ये दो भेद देशावधि के ही होते हैं। परमावधि और सर्वावधि कभी नहीं छूटता, इसका धारक नियम से तद्भव निर्वाण पद प्राप्त करता है, इसलिए ये अप्रतिपाती ही हैं।

देशावधि और परमावधि मे अपने २ जघन्य द्रव्य क्षेत्र काल भाव मे लेकर अपने २ उत्कृष्ट पर्यन्त असख्यात लोक प्रमाण विकल्प हैं। ये दोनो ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा से रूपी पुद्गल-द्रव्य तथा पुद्गल-कर्म सहित ससारी जीव-द्रव्य को प्रत्यक्ष जानते हैं।

देशावधि के द्रव्यादि की अपेक्षा जघन्य उत्कृष्ट विषय को दिखाते है। पहले मन्त्र से जघन्य द्रव्य का प्रमाण दिखाते हैं।

णोकम्मुरालसंचं मज्झिमजोगज्जियं सविस्सचयं।
लोयविभत्तं जाणदि अवरोही दव्वदो णियमा ॥ ३७६ ॥ गो० जी०

अर्थ—मध्यम योग के द्वारा सचित विस्रसोपचयसहित नो कर्म औदारिक वर्गणा सचय मे लोक के असख्यात प्रदेशो का भाग देने से जितना द्रव्य लब्ध आता है, उतने द्रव्य को जघन्य अवधिज्ञान नियम से जानता है।

देशावधि-जघन्यज्ञान के विषयभूत जघन्य क्षेत्र का प्रमाण कहते हैं।

सुहंमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयम्हि।
अवरोग्गाहणमाणं जहण्णयं ओहिखेत्तं तु ॥ ३७८ गो० जी०

अर्थ– सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक की उत्पन्न होने से तीसरे समय मे जघन्य अवगाहना होती है, उसका जितना प्रमाण है, उतना ही अवधिज्ञान के जघन्य क्षेत्र का प्रमाण है।

भावार्थ—सूक्ष्म निगोदिया जीव की जन्म के प्रथम समय में आयताकार (लम्बाई अधिक व चौडाई कमवाली) अवगाहना होती है। जन्म के दूसरे समय मे समचतुर्भुज (समान लम्बी चौडी) अवगाहना होती है। तथा जन्म के तीसरे समय में वृत्ताकार (गोल) अवगाहना होती है। यह तीसरे समय की अवगाहना उक्त दोनो समय की अवगाहना से जघन्य होती है। उस अवगाहना प्रमाण क्षेत्र मे जितना उक्त जघन्य द्रव्य होगा, उसको जघन्य देशावधिज्ञान जानता है। इससे बाहर के द्रव्य को नहीं जानता है। उन द्रव्य की अवगाहना उत्सेधागुल के असख्यातवें भाग के घनप्रतररूप होती है।

देशावधि जघन्य ज्ञान के विषयभूत जघन्य काल और भाव का प्रमाण कहते हैं।

आवलिअसंखभागं तीदभविस्सं च कालदो अवरं।
ओही जाणदि भावे कालअसंखेज्जभागं तु ॥ ३८३ ॥ गो० जी०

अर्थ—काल की अपेक्षा से जघन्य अवधिज्ञान आवली के असख्यातव भाग प्रमाण द्रव्य की पर्यायो को जानता है। तथा काल की अपपेक्षा से जितनी पर्यायो को जानता है, उसके असख्यातवें भाग प्रमाण वर्त्तमान काल की पर्यायो को भाव की अपेक्षा से जानता है।

देशावधिज्ञान के उत्कृष्ट द्रव्य और क्षेत्र का प्रमाण कहते हैं।

कम्मइयवग्गणं धुवहारेणिगिवारभाजिदे दव्वं।
उक्कस्सं खेत्तं पुण लोगो संपुण्णओ होदि ॥ ४१० ॥ गो० जी०

अर्थ—कार्माण वर्गणा मे एक बार ध्रुवहार का भाग देने से जो लब्ध आता है, उतना देशावधि का विषयभूत उत्कृष्ट द्रव्य है। तथा सम्पूर्ण लोक उत्कृष्ट क्षेत्र का प्रमाण है।

देशावधि के उत्कृष्ट काल और भाव को दिखाते हैं।

पल्लसमऊन काले भावेण असंखलोगमेत्ता हु।
दव्वस्स य पज्जाया वरदेसोहिस्स विसया हु ॥ ४११ । गो० जी०

अर्थ—देशावधिज्ञान का विषयभूत उत्कृष्ट काल एक समय कम एक पल्य प्रमाण है। तथा सख्यात लोक प्रमाण द्रव्य की पर्यायें उत्कृष्ट भाव का प्रमाण है।

परमावधिज्ञान के विषयभूत द्रव्य को कहते है।

देसावहि वरदव्वं धुवहारेणवहिदे हवे णियमा।
परमावहिस्स अवरं दव्वपमाणं तु जिनदिट्ठम् ॥ ४१३ ॥ गो० जी०

अर्थ—देशावधि के उत्कृष्ट द्रव्य मे सिद्धो के अनन्तवें भाग प्रमाणरूप ध्रुवहार का भाग देने पर जो लब्ध आता है, वह परमावधि के विषयभूत जघन्य द्रव्य का प्रमाण निकलता है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

परमावधिज्ञान के विषयभूत उत्कृष्ट द्रव्य बताते हैं।

परमावहिस्स भेदा सगउग्गाहणवियप्पहदतेऊ।
चरमे हारपमाणं जेट्ठस्स य होदि दव्वं तु ॥ ४१४ ॥ गो० जी०

अर्थ—निज (तेजस्कायिक जीवराशि) अवगाहना के विकल्प (भेदो) का जो प्रमाण है, उसका तेजस्कायिक जीवराशि के साथ गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न होती है, उतने ही परमावधि के भेद हैं। इन मे से सर्वोत्कृष्ट अन्तिम भेद में द्रव्य ध्रुवहार प्रमाण होता है। अर्थात् उत्कृष्ट परमावधि के विषयभूत द्रव्य का प्रमाण ध्रुवहार मात्र है, और ध्रुवहार का प्रमाण सिद्धो के अनन्तवें भाग मात्र है।

परमावधि के विषयभूत क्षेत्र व काल का प्रमाण कहते हैं।

परमोहिदव्वभेदा जेत्तियमेत्ता हु तेत्तिया होंति।
तस्सेव खेत्तकालवियप्पा विसया असंखगुणिदकमा ॥ ४१६ ॥ गो० जी०

अर्थ—परमावधि के द्रव्य की अपेक्षा से जितने विकल्प (भेद) होते हैं, उतने ही विकल्प (भेद) क्षेत्र और काल की अपेक्षा से होते हैं। परन्तु उनका (क्षेत्र व काल का) विषय असंख्यातगुणितक्रम है।

असंख्यातगुणितक्रम किस प्रकार से होता है, इसे दिखाते हैं।

आवलिअसंखभागा इच्छिदगच्छधणमाणमेत्ताओ।
देसावहिस्स खेत्ते काले वि य होंति संवग्गे ॥ ४१७ ॥ गो० जी०

अर्थ—किसी भी परमावधि के विवक्षित क्षेत्र के विकल्प मे अथवा विवक्षित काल के विकल्प में सङ्कलित धन का जितना प्रमाण हो, उतनी जगह आवलिके असंख्यातवें भागो को रखकर परस्पर गुणा करने मे जो राशि उत्पन्न हो वही देशावधि के उत्कृष्ट क्षेत्र मे और उत्कृष्ट काल मे गुणकार का प्रमाण होता है।

भावार्थ—जो भेद विवक्षित हो वहा तक एक मे लेकर एक एक अधिक अङ्क माडकर उन सब अङ्को को जोडने पर जो प्रमाण आवे वह सङ्कलितधन होता है। जैसे प्रथम भेद मे एक ही अङ्क है, इसके पहले कोई अङ्क नहीं, इसलिए प्रथम भेद मे सङ्कलितधन एक ही समझना चाहिए। दूसरे भेद मे एक और दो को जोडने पर सङ्कलित धन तीन हुआ। तीसरे भेद मे एक दो और तीन अङ्को को जोडने पर छह होते हैं, यह तीसरे विकल्प का सङ्कलित धन हुआ। चौथे भेद मे चार और जोड़ने पर सङ्कलित धन दस हुआ। पाचवें भेद मे पाच और जोडने पर सङ्कलित धन पन्द्रह हुआ। छठे भेद में छह और जोडने से सङ्कलित धन इक्कीस हुआ। ऐसे ही अन्तिम भेद तक सङ्कलित धन निकाल लेना चाहिए। उदाहरणार्थ यहा विवक्षित परमावधिज्ञान छठा विकल्प (भेद) का सङ्कलित इक्कीस हुआ। इक्कीस जगह आवली के असंख्यात भागों को माडकर परस्पर गुणा करने पर जो प्रमाण आवे उतना परमावधि के छठे विकल्प के विषयभूत क्षेत्र निकालने के लिए गुणाकार जानना चाहिए। इस गुणाकार से देशावधि का विषयभूत उत्कृष्ट क्षेत्र जो लोकाकाश प्रमाण है उसको गुणन करने पर जो प्रमाण आवे उतना परमावधि के छठे विकल्प का क्षेत्र जानना चाहिए। इसी प्रकार परमावधि के अन्तिम विकल्प के सङ्कलित धन प्रमाण आवलि के असंख्यातवें

भाग मांडकर परस्पर गुणा करने पर जो राशि आती है, वह परमावधि के उत्कृष्ट क्षेत्र व काल को निकालने के लिए गुणाकार है। उससे देशावधि के उत्कृष्ट क्षेत्र लोक प्रमाण को गुणा करने पर परमावधि का विषयभूत उत्कृष्ट क्षेत्र निकलता है। तथा उक्त गुणाकार से उत्कृष्ट देशावधि का विषयभूत उत्कृष्ट काल जो एक समय कम एक पल्य है उसको गुणा करने पर परमावधि का उत्कृष्ट काल का प्रमाण निकलता है।

परमावधि के विषयभूत भाव को दिखाते हैं।

सव्वोहित्ति य कमसो आवलिअसंखभागगुणिदकमा।
दव्वाणं भावाणं पदसंखा सरिसगा होंति ॥ ४२३ ॥ गो० जी०

अर्थ—उत्कृष्ट देशावधि से लेकर सर्वावधि पर्यन्त अवधिज्ञान के विषयभूत भाव (पर्याय) निकालने के लिए आवलि का असख्यात भाग गुणित क्रम है। अर्थात्–जघन्य देशावधि का विषयभूत भाव जो आवलि के असख्यातवें भाग प्रमाण है, उसे आवलि के असख्यातवें भाग से एक बार गुणा करने पर देशावधि के दूसरे विकल्प का भाव निकलता है। दो बार गुणा करने पर तीसरे विकल्प के भाव का प्रमाण निकलता है। इसी प्रकार सर्वावधि पर्यन्त गुणा करने का क्रम समझना चाहिए। द्रव्यों के और भाव के पदो (विकल्प के स्थानो) की सख्या समान होती है। अर्थात्–जहां देशावधि के जघन्य द्रव्य की अपेक्षा प्रथम भेद होता हैं, वहा भाव की अपेक्षा भी आवली के असख्यातवे भाग प्रमाण प्रथम भेद होता है। और जहा पर द्रव्य की अपेक्षा दूसरा भेद होता है, वहा भाव की अपेक्षा भी प्रथम भेद से आवलि के असख्यातवे भाग गुणा दूसरा भेद होता है। जहा पर द्रव्य की अपेक्षा तीसरा भेद होता है, वहा पर भाव की अपेक्षा दूसरे भेद से आवली के असख्यातवे भाग गुणा तीसरा भेद होता है। यही क्रम सर्वावधि पर्यन्त समझ लेना चाहिए। द्रव्य की अपेक्षा से अवधिज्ञान के जितने भेद हैं, भाव की अपेक्षा से उतने ही भेद हैं। इसलिए द्रव्य तथा भाव की पद संख्या समान है।

अब सर्वावधि का विषयभूत द्रव्य दिखाते हैं।

सव्वावहिस्स एक्को परमाणू होदि णिव्वियप्पो सो।
गङ्गामहानइस्स पवाहोव्व धुवो हवे हारो ॥ ४१५ ॥ गो० जी०

अर्थ—उत्कृष्ट परमावधि का विषयभूत द्रव्य ध्रुवहार प्रमाण कह आये हैं, उसमें ध्रुवहार का भाग देने से लब्ध एक परमाणु आता है, वह निर्विकल्प (भेद रहित) परमाणु मात्र सर्वावधि का विषय होता है। भागहार गङ्गा महानदी के प्रवाह समान ध्रुव है।

भावार्थ—जिस प्रकार गङ्गा महानदी का प्रवाह हिमवान पर्वत से निकलकर निरन्तर अविच्छिन्न रूप से बहता हुआ पूर्व समुद्र में जाकर मिला है, उसी प्रकार यह भागहार भी जघन्य देशावधिज्ञान के द्रव्य प्रमाण से लेकर परमावधि के उत्कृष्ट भेद पर्यन्त अवधिज्ञान के सब भेदों में होता हुआ सर्वावधि के विषयभूत परमाणु पर्यन्त जाकर अवस्थित होता है। सर्वावधिज्ञान भी निर्विकल्प (भेद रहित) है और उसका विषयभूत परमाणु भी निर्विकल्प है।

सर्वावधि के क्षेत्र काल व भाव का प्रमाण यह है :—

असख्यात लोक के प्रमाण को पाच वार लोक के प्रमाण से गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न हो उतना सर्वावधिज्ञान के उत्कृष्ट क्षेत्र का प्रमाण है।

असंख्यात लोक को परमावधि के उत्कृष्ट काल प्रमाण के साथ गुणा करने से सर्वावधि के काल का प्रमाण निकलता है।

परमावधि के उत्कृष्ट ज्ञान के विषयभूत भाव प्रमाण को आवलि के असंख्यातवें भाग से गुणा करने पर सर्वावधिज्ञान का विषयभूत भाव का प्रमाण निकलता है।

मनः पर्यय ज्ञान का स्वरूप

वीर्यान्तराय और मनः पर्यय ज्ञानावरण का क्षयोपशम तथा अङ्गोपाग नामकर्म के लाभ के बल से जो पर के मन में स्थित रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है, उसे मन. पर्यय कहते हैं।

भावार्थ—भूत काल मे जिसका चिन्तन किया हो, अथवा भविष्यत् काल मे जिसका चिन्तन किया जायगा, अथवा वर्त्तमान में जिसका अर्धचिन्तन किया है, इत्यादि अनेक भेद रूप दूसरे के मन में स्थित पदार्थ, जिसके द्वारा जाना जाता है, उसको मनः पर्यय ज्ञान कहते हैं। इसके दो भेद हैं-ऋजुमति मन. पर्यय और विपुलमति मनः पर्यय।

ऋजु मति मनः पर्यय

ऋजुमति मनः पर्यय—सरल मन, सरल वचन और सरल काय के द्वारा ग्रहण किया गया पदार्थ जो दूसरे के मन में स्थित हो, उसको विषय करने वाले ज्ञान को ऋजुमति मनः पर्यय ज्ञान कहते हैं।

इसके तीन भेद हैं—१ ऋजुमनः कृतार्थ-विषय, २ ऋजुवचन कृतार्थ-विषय, ३ ऋजुकाय कृतार्थ-विषय।

ऋजुमनः कृतार्थ विषय—मन के द्वारा स्पष्ट अर्थ का चिन्तन किया, इस के कुछ समय बाद उसी अर्थ का उसने चिन्तन किया हो, ऐसे परके मन में स्थित अर्थ को जानने वाला ऋजुमनः कृतार्थविषय मनः पर्ययज्ञान होता है।

ऋजुवचनकृतार्थ विषय—धर्मादि युक्त वचन का स्पष्ट उच्चारण किया और कालान्तर में स्पष्ट उच्चारण किये हुए उस पदार्थ का कोई चिन्तन कर रहा है; ऐसे दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को जानने वाला ऋजुवचनकृतार्थविषय मन. पर्यय ज्ञान है।

ऋजुकायकृतार्थ विषय—उभय लोक सम्बन्धी फल की उत्पत्ति के अर्थ अङ्ग और उपाग का निपातन किया, सकोचन किया, खेंचा, प्रसारण किया इत्यादिक अनेक काय सम्बन्धी क्रियाएँ कीं, उनका कालान्तर मे दूसरा अपने मनमें चिन्तन कर रहा है,उसके मनमें स्थित उक्त कायिक व्यापार को जानने वाला ऋजुकायकृतार्थ विषय मनः पर्ययज्ञान है।

अथवा उक्त सरल मन वचन काय द्वारा किये हुए पदार्थ को भूलजाने के कारण वह उस का मन में चिन्तन करने में असमर्थ हो रहा है ऐसे पदार्थ को भी विषय करने वाला ऋजुमति मन. पर्यय ज्ञान होता है।

मन. पर्यय ज्ञानी से कोई प्रश्न करे तब वे मनः पर्यय ज्ञान के उपयोग को लगाकर उसके अन्तः करण में स्थित अर्थ को जानकर उत्तर देते हैं कि इस प्रकार तुमने पहले अमुक पदार्थ को काय द्वारा किया था, वचन द्वारा उच्चारण किया था अथवा मन द्वारा चिन्तन किया था। तथा विना पूछे भी ईहामति ज्ञान द्वारा "इसमे मन मे अमुक विचार है" ऐसा जानकर मनः पर्यय ज्ञान द्वारा सरल मन वचन और काय कृत पदार्थ को ऋजुमति मनः पर्यय ज्ञान स्पष्ट जान लेता है।

अपने और पर के चिन्तन, जीवित, मरण, सुख, दुःख, लाभ, अलाभ इत्यादि को मनःपर्ययज्ञानी जानता है। व्यक्त चित्त वाले मनुष्यों के चित्तमे स्थित पदार्थों को तथा उससे सम्बन्ध रखने वाले जीवन मरण लाभ अलाभादि को ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी जानता है। अव्यक्त (अस्पष्ट) चित्तवाले के मनमे स्थित पदार्थों को ऋजुमति मनः पर्यय ज्ञानी नहीं जानता है। कायादि कृत स्पष्ट अर्थ के चिन्तन करने वाले को व्यक्त चित्त वाला कहते हैं।

ऋजुमति मनः पर्यय ज्ञानी काल की अपेक्षा जघन्य अपने तथा दूसरे जीवों के दो तीन भव विषय करता है। और उत्कृष्ट सात आठ भव गत्यागति से जानता है।

क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य तो सात आठ कोश और उत्कृष्ट सात आठ योजन के अन्दर की बात जानता है,बाहर की नहीं जानता।

द्रव्य की अपेक्षा ऋजुमति का जघन्य विषय औदारिक शरीर का निर्जरा को प्राप्त हुआ समय-प्रबद्धप्रमाण द्रव्य है। और

उत्कृष्ट विषय चक्षु इन्द्रिय का निर्जरा को प्राप्त हुआ द्रव्य प्रमाण है।

भाव की अपेक्षा ऋजुमति का जघन्य और उत्कृष्ट विषय आवली के असंख्यात मात्र पर्यायें हैं। जघन्य और उत्कृष्ट दोनों विषय आवली के असख्यात भाग मात्र होने पर भी जघन्य से उत्कृष्ट का प्रमाण असख्यात गुणा है।

यह ऋजुमति मन. पर्यय ज्ञान त्रिकाल सम्बन्धी पुद्गल द्रव्य का वर्त्तमान काल मे कोई जीव चिन्तन कर रहा है, उसे ही जानता है, भूत मे चिन्तन किया अथवा भविष्यत् मे चिन्तन करेगा उसे यह ज्ञान नही जानता। विपुलमति ज्ञान ही उसे जान सकता है।

विपुलमति मनः पर्यय

त्रिकाल सम्बन्धी पुद्गल द्रव्य का भूत काल मे किसी जीव ने चिन्तन किया था, भविष्य मे चिन्तन करेगा और वर्त्तमान मे चिन्तन कर रहा है उन सब को विपुलमति मनः पर्यय ज्ञान विषय करता है।

इसके छह भेद हैं—१ ऋजुमनोगतार्थ विषय, २ ऋजुवचनगतार्थ विषय, ३ ऋजुकायगतार्थ विषय, ४ वक्रमनोगतार्थ विषय, ५ वक्रवचनगतार्थ विषय, ६ वक्रकायगतार्थ विषय।

अर्थात्—सरल मन युक्त होकर किसी जीव ने त्रिकालसम्बन्धी पदार्थों का चिन्तन किया, सरलवचन युक्त होकर त्रिकालसम्बन्धी पदार्थों का उच्चारण किया, तथा ऋजुकाय से युक्त होकर उक्त पदार्थों को काय द्वारा किया, पश्चात् विस्मरण होजाने के कारण उनका स्मरण करने में असमर्थ हुआ, मनः पर्यय ज्ञानी मुनीश्वर के सम्मुख आकर पूछता है अथवा चुपचाप बैठ जाता है, तब ऋजुमति ज्ञानी उसके मन मे स्थित उक्त पदार्थों को जान लेते है। तथा किसी ने सरल और वक्र मन वचन काय से युक्त होकर मन से विचारा था, विचार करेगा तथा विचार कर रहा है, वचन से उच्चारण किया था, उच्चारण करेगा, उच्चारण कर रहा है तथा काय से किया था, करेगा और कर रहा है, भूतकाल के पदार्थों का तो विस्मरण हो गया तब विपुलमतिमनः पर्यय ज्ञानी के सम्मुख आकर पूछता है, अथवा चुपचाप बैठ जाता है, तब वे मुनीश्वर उक्त सब पदार्थों को जिस ज्ञान से जान लेते हैं, वह विपुलमतिमन. पर्यय ज्ञान है।

इसके द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से जघन्य उत्कृष्ट विषय का निर्णय करते हैं। उनमें से प्रथम द्रव्य की अपेक्षा इसका जघन्य विषय कितना है? यह बताते हैं।

मणदव्ववग्गणाणमणंतिमभागेण उजुगउक्कस्सं।
खंडिदमेत्तं होदि हु विउलमदिस्सावरं दव्वं ॥ ४५२ ॥ गो० जी०

अर्थ—तेईस जाति की पुद्गल वर्गणा मे एक मनोवर्गणा है, इसके जघन्य से लेकर उत्कृष्ट पर्यन्त जितने भेद हैं, उनमें अनन्त का भाग देने पर जो एक भाग लब्ध आता है, वह मनः पर्यय ज्ञान के कथन में ध्रुवहार का परिमाण है। इसका ऋजुमति के उत्कृष्ट विषय भूत द्रव्यप्रमाण (चक्षु इन्द्रिय का निर्जीर्ण द्रव्य)में भाग देने से जो परिणाम आवे उतने परमाणुओ के स्कन्ध को जघन्य विपुलमतिज्ञान जानता है।

अब इसका उत्कृष्ट विषय दिखाते हैं।

अट्ठण्हं कम्माणं समयपबद्धं विविस्ससोवचयं।
धुवहारेणिगिवारं भजिदे विदियं हवे दव्वं ॥ ४५३ ॥ गो० जी०

अर्थ—विस्रसोपचय रहित आठ कर्मों का जो समय प्रबद्ध प्रमाण है, उस में एक बार उक्त ध्रुवहार का भाग देने से जो लब्ध आता है, वह विपुलमति मनः पर्यय ज्ञान के द्वितीय द्रव्य का प्रमाण है।

तव्विदियं कप्पाणमसंखेज्जाणं च समयसंखसमं।
धुवहारेणवहरिदे होदि हु उक्कस्सयं दव्वं ॥ ४५४ ॥ गो० जी०

अर्थ—विपुलमतिमनः पर्यय के दूसरे भेद सम्बन्धी उक्त द्रव्य मे असंख्यात कल्प काल के जितने समय होते हैं, उतनी बार ध्रुवहार का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतने परमाणुओं के स्कन्ध को उत्कृष्ट विपुलमतिमनः पर्यय ज्ञान जानता है।

विपुलमतिमनः पर्यय ज्ञान के जघन्य और उत्कृष्ट क्षेत्र को कहते हैं।

गाउयपुधत्तमवरं उक्कस्सं होदि जोयणपुधत्तं।
विउलमदिस्स य अवरं तस्स पुधत्तं वरं खु णरलोयं॥ ४५५ ॥ गो० जी०

अर्थ—ऋजुमतिमनः पर्यय ज्ञान का जघन्य क्षेत्र गव्यूति पृथक्त्व अर्थात् दो तीन कोश मात्र है और उत्कृष्ट क्षेत्र सात आठ योजन है। तथा विपुलमतिमनःपर्यय का जघन्य क्षेत्र आठ नौ योजन और उत्कृष्ट क्षेत्र मनुष्य लोक प्रमाण है। यद्यपि मनुष्य गोलाकार पैंतालीस लाख योजन का है, किन्तु विपुलमतिमनः पर्यय ज्ञान का विषय मनुष्य लोक समचतुरस (चौकोर) पैंतालीस लाख योजन घनप्रतर लेना चाहिए। अर्थात् पैंतालीस लाख योजन चौड़ा और इतना ही लम्बा जानना। यहा ऊंचाई कम है;इसलिए घनप्रतर कहा है। क्योंकि मानु-

पोत्तर पर्वत के बाहर के चारों कोनों में स्थित देव और तिर्यंचों के मन से चिंतित पदार्थों को भी उत्कृष्ट विपुलमतिमनः पर्ययज्ञान जानता है।

विपुलमतिमनः पर्यय ज्ञान का काल और भाव दिखाते हैं।

दुगतिगभवा हु अवरं सत्तट्ठभवा हवंति उक्कस्सं।
अडनवभवा हु अवरमसंखेज्जं विउलउक्कस्सं ॥ ४५७ ॥ गो० जी०

अर्थ—ऋजुमति मनः पर्यय ज्ञान का जघन्य विषय काल की अपेक्षा अतीत अनागतरूप दो तीन भव है और उत्कृष्ट विषय सात आठ भव है। विपुलमति मनः पर्यय ज्ञान का जघन्य विषय आठ नौ भव है और उत्कृष्ट पल्य का असंख्यातवा भाग मात्र है।

आवलि असंखभागं अवरं च वरं च वरमसंखगुणं।
तत्तो असंखगुणिदं असंखलोगं तु विउलमदी ॥ ४५८ ॥ गो० जी०

अर्थ—ऋजुमति का विषयभूत भाव जघन्य रूपसे आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण है और उत्कृष्ट भी आवली के असंख्यातवें भाग मात्र ही है, तथापि जघन्य से उत्कृष्ट असंख्यात गुणा है। विपुलमति का विषय भूत जघन्य भाव ऋजुमति के उत्कृष्ट से असंख्यात गुणा है, और उत्कृष्ट भाव असंख्यात लोक प्रमाण है।

अब ऋजुमति और विपुलमतिमनः पर्यय में अन्तर दिखाते हैं।

इंदियणोइंदियजोगादिं पेक्खित्तु उजुमदी होदि।
णिरवेक्खिय विउलमदी ओहिं वा होदि णियमेण ॥ ४४६ ॥ गो० जी०

अर्थ—ऋजुमतिमनः पर्ययज्ञान अपने अथवा पर जीव का स्पर्शनादि इन्द्रिय, मन तथा मन वचन काय योग की अपेक्षा से उत्पन्न होता है। तथा विपुलमतिमनः पर्ययज्ञान तो नियम से उक्त इन्द्रियादि की बिना अपेक्षा किये ही अवधिज्ञान की तरह निरपेक्ष उत्पन्न होता है।

पडिवादी पुण पढमा अप्पडिवादी हु होदि विदिया हु।
सुद्धो पढमो बोहो सुद्धतरो विदियबोहो हु ॥ ४४७ ॥ गो० जी०

अर्थ—ऋजुमति मनः पर्यय प्रतिपाती है और विपुलमतिमन पर्यय अप्रतिपाती है। विशुद्ध परिणामों की हानि होने से प्रतिपाती है, क्योकि उपशान्तकषाय वाले के चारित्रमोहनीय का उदय होने से ऋजुमति ज्ञान छूट जाता है। तथा विपुलमतिमन.पर्यय ज्ञान विशुद्ध परिणामो की वृद्धि से होता है, क्योकि यह क्षपक श्रेणी आरोहण करने वाले मुनीश्वरो के ही होता है। एव ऋजुमति तो विशुद्ध है, क्योकि यह प्रतिपक्षी कर्म के क्षयोपशम से निर्मल हुआ है विपुलमतिमनः पर्यय विशुद्धतर है, क्योकि यह प्रतिपक्षी कर्मो के विशेष क्षयोपशम से उत्पन्न होने के कारण अतिशय निर्मल हुआ है। द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से ऋजुमतिमन.पर्यय और विपुलमतिमनःपर्यय मे जो अन्तर है,वह पहले कह चुके हैं।

अब अवधिज्ञान और मन पर्यय ज्ञान मे अन्तर दिखाते हैं।

सव्वंगअङ्गसंभवचिण्हादुप्पज्जदे जहा ओही।
मणपज्जवं च दव्वमणादो उप्पज्जदे णियमा ॥ ४४२ ॥ गो० जी०

अर्थ—भव प्रत्यय अवधिज्ञान सर्वांग से उत्पन्न होता है और गुण प्रत्यय अवधिज्ञान शख पद्मादि अनेक चिह्नो से उत्पन्न होता है। और मनः पर्यय ज्ञान विकसित अष्टदलाकार (खिले हुए आठ पाखुड़ी वाले) कमल के समान द्रव्य मन से ही उत्पन्न होता है। कारण कि मनः पर्यय ज्ञान का क्षयोपशम द्रव्यमन के प्रदेशो मे ही होता है। अन्यत्र नहीं होता है।

मणपज्जवं च णाणं सत्तसु विरदेसु सत्तइड्ढीणं।
एगादिजुदेसु हवे वड्ढंतविसिट्ठचरणेसु ॥ ४४५ ॥ गो० जी०

अर्थ—मन. पर्ययज्ञान प्रमत्तसयत (छठे गुणस्थान) से लेकर क्षीण कपाय (बारहवें) गुणस्थान पर्यन्त सात गुण स्थानो मे होता है। तथा बुद्धि, तप, वैक्रियिक औषध, रस, बल और अक्षीण इन सात ऋद्धियों मे से एक दो आदि ऋद्धि से सयुक्त तथा वर्द्धमान विशिष्ट चारित्र के धारक महामुनियो के मन, पर्यय होता है।

अवधिज्ञान चारो गति के प्राणियो के होता है। असयमी और सयमी दोनो के होता है। मनःपर्ययज्ञान सयमी ही के होता है।

अवधिज्ञान से मनः पर्ययज्ञान विशुद्ध है, क्योकि क्षयोपशम की विशेष शुद्धि से उत्पन्न होता है। इसका विपय सूक्ष्म है। अवधिज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र असंख्यात लोक प्रमाण है और मनः पर्ययज्ञान पैतालीस लाख योजन चौकोर घनप्रतर प्रमाण है। अर्थात्

पैंतालीस लाख योजन प्रमाण लम्बा चौड़ा क्षेत्र इसका विषय है।

केवल ज्ञान का स्वरूप कहते हैं।

केवलज्ञान भूत भविष्यत् और वर्त्तमान त्रिकाल वर्त्ती सम्पूर्ण मूर्त्त अमूर्त्त द्रव्यो और उनके समस्त गुणों और पर्यायों को युगपत् हस्त की रेखा के समान स्पष्ट जानता है। ऐसी कोई वस्तु अथवा उसकी परिणति बाकी नहीं रहती, जो उस ज्ञान मे नहीं झलकती है। इसलिए इसे सम्पूर्ण, समग्र, केवल और असपत्नादि कहा है।

सम्पुण्णं तु समग्गं केवलमसवत्त सव्वभावगयं,
लोयालोयवितिमिरं केवलणाणं मुणेयव्वं ४६० गो०जी०

अर्थ—जीव द्रव्य के जो शक्ति रूप सर्वज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद थे वे सब व्यक्त (प्रकट) रूप होगये हैं, इसलिए यह सम्पूर्ण है। तथा ज्ञानावरण और वीर्यान्तिराय नामक कर्म के सर्वथा क्षय से जिसकी शक्ति किसी से रुकती नहीं है अथवा निश्चल है, इसलिए यह समग्र है। तथा इन्द्रियादि की सहायता से रहित है, इसलिए यह केवल है। और उसके प्रतिपक्षी चार घातिया कर्म्मों के नाश से अनुक्रमरहित सकल पदार्थों को प्राप्त करता है, इसलिए यह असपत्न है। एवं लोकालोक में अज्ञान-अन्धकार रहित प्रकाशमान यह विभाग रहित केवल ज्ञान है।

उक्त केवल ज्ञान से समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानकर भव्य जीवो के हितार्थ दिव्य ध्वनि से वस्तु स्वरूप का उपदेश किया गया है। उसका बुद्धि ऋद्धि के धारक गणधर महाराज ने बुद्धि के अतिशय से ग्रहण कर द्वादशाग की रचना की। तदनुसार गुरु परम्परा से शास्त्र रचना चली आरही है, उसीके प्रभाव से भव्य प्राणी शास्त्र स्वाध्याय करके तत्त्वज्ञान प्राप्त कर आत्म कल्याण करते हैं। इस पञ्चम काल में शास्त्र स्वाध्याय से अधिक हितकर आत्म कल्याण का मार्ग अन्य नहीं दिखाई देता है, इसलिए शास्त्रों का स्वाध्याय करना आत्म हितैषी जीव के लिए परमावश्यक है। और ज्ञान के आठो अङ्गों का पालन करना भी अत्यन्त आवश्यक है; इसलिए उनका दिग्दर्शन कराते हैं।

ज्ञानाचार के अष्टांगों का स्वरूप

काले विणए उवहाणे बहुमाणे तहेव णिन्हवणे।
वंजण अत्थ तदुभए णाणाचारो दु अट्ठविहो ॥ ७२ ॥

अर्थ—काल, विनय, उपधान, वहुमान, अनिह्नव, व्यजन (शव्द), अर्थ और उभय, इस प्रकार ज्ञानाचार के आठ अङ्ग हैं।

भावार्थ—शास्त्र स्वाध्याय ही आत्म-कल्याण का अप्रतिहृत मार्ग है। क्योकि शास्त्रो के अध्ययन-पठन, पाठन, मनन, चिन्तनादि से हेयोपादेय का ज्ञान होता है, वस्तु के यथार्थ स्वरूप की प्रतिपत्ति होती है। अनन्त काल से अध्यात्म-रोगो से पीडित आत्मा के रोगो का मूलकारण क्या है ? किन २ अपथ्य पदार्थों (विषय कषायो) का सेवन करके अध्यात्म रोगो (राग द्वेषादि) की वृद्धि हुई है ? उनकी उत्पत्ति के कारणो के नाश करने वाली औषधि क्या है ? इत्यादि उक्त रोगो की चिकित्सा जिनागम मे ही वताई गई है, क्योकि आगमोक्त चिकित्सा करके सर्वज्ञ वीतराग तीर्थंकरों ने स्वकीय आत्मा को उक्त रोगो से मुक्त करके भव्य प्राणियों के हितार्थ आगम का निरूपण किया है, जिसका ज्ञान प्राप्त कर तथा उसके अनुकूल आचरण कर आत्म-हितेच्छु नरपुगव आध्यात्मिक रोगो से छूट कर सदा के लिए सुखी वने है, वन रहे है और भविष्य मे भी सुखी वनेंगे। ऐसे परमोत्कृष्ट आगम का ज्ञान निर्विघ्न रूप से किस तरह प्राप्त हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर उक्त गाथा मे दिया गया है। जो भव्य जीव आगम ज्ञान को यथोचित प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें उक्त (काल विनयादि) आठ अङ्गो का पूर्ण पालन कर आगम का स्वाध्याय करना चाहिए। उन आठ अङ्गो का विवेचन किया जाता है।

कालाचार

काल—अस्वाध्याय काल को टाल कर योग्य समय में आगम का स्वाध्याय करना-पठन, पाठन, परिवर्त्तन (पाठ करना) व्याख्यानादि करना कालाचार है।

स्वाध्याय का काल

पादोसिय वेरत्तिय गोसग्गिय कालमेव गेण्हित्ता।
उभये कालम्हि पुणो सज्झाओ होदि कायव्वो ॥ ७३ ॥ मू० पञ्चा०

अर्थ—रात्रि का पूर्व भाग, दिन का अन्तिम भाग, दो घड़ी सहित अर्धरात्रि के वाद का काल तथा गोसर्गकाल अर्थात् सूर्योदय के पश्चात् और दो घडी सहित मध्याह्न के पूर्व, ये चार समय तथा निरन्तर पठन, पाठन, परिवर्त्तन (पाठ करना) व्याख्यानादि स्वाध्याय का काल माना गया है।

सूर्योदय होने के पश्चात् जघा की छाया जब सात विलश्त (वेंत) प्रमाण होती है तव स्वाध्याय का प्रारम्भ होता है और सूर्य के अस्त होने के उन्मुख होते समय जघा की छाया जव सात विलश्त (वेंत) प्रमाण होती है तव स्वाध्याय समाप्त करली जाती है।

इसका आशय यह है कि आगम का स्वाध्याय (पठन पाठनादि) सूर्योदय के वाद सात विलश्त प्रमाण जघा (पादतल से लेकर

अकालादि उक्त अस्वाध्याय के समय मे स्वाध्याय न करना चाहिए। क्योंकि गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्नदशपूर्व के ज्ञाताओ से निर्मित आगम को सूत्र कहते है।

तं पढिदुमसज्झाए णो कप्पदि विरदइत्थिवग्गस्स।
एत्तो अण्णो गंथो कप्पदि पढिदु' असज्झाए॥ ८१॥ (मू० पचा०)

अर्थ—उक्त सूत्रग्रन्थो को सयमियो और आर्यिकाओ को अस्वाध्याय कालादि मे नहीं पढ़ना चाहिए। इनके अतिरिक्त ग्रन्थो को अस्वाध्याय (काल शुद्धि आदि के अभाव) मे भी पढ सकते है।

वे अन्य ग्रन्थ कौन से है, जिनका अस्वाध्याय कालादि मे पठन-पाठन वर्जनीय नहीं है? इसे कहते हैं—

आराहणा णिज्जुत्ती मरणविभत्ती य संगहत्थुदिओ।
पचक्खाणावासय धम्मकहाओ य एरिसओ॥ ८२॥ (मू० पचा०)

अर्थ—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपरूप आराधनाओ के उद्योतन, उद्यवन, निर्वाहण, साधन आदि के निर्युक्ति ग्रन्थ, सत्रह प्रकार के मरण का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ, पचसग्रहादि सग्रहरूपग्रन्थ, देवागमादि स्तोत्र ग्रन्थ, तीन प्रकार के तथा चार प्रकार के आहार के त्याग का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ अथवा सावद्य द्रव्य-क्षेत्रादि के त्याग के प्रतिपादक ग्रन्थ, तिरेसठ शलाका के पुरुषो के चरित्र प्रतिपादक पुराण ग्रन्थ, तथा बारह भावना और भी इसी प्रकार के ग्रन्थ अस्वाध्याय कालादि मे पढे जासकते है। अर्थात् काल शुद्धि आदि न होने पर भी उक्त ग्रन्थो का स्वाध्याय वर्जनीय नहीं है। अकालादि मे भी इनका पठन पाठन कर सकते हैं।

विनय शुद्धि

पलियंकणिसेज्जगदो, पडिलेहिय अंजलीकदपणामो।
सुत्तत्थजोगजुत्तो पढिदव्वो आदसत्तीए॥ ८४॥ (मू० पंचा०)

आंखो से देखकर, पिच्छी से भूमि पुस्तकादि का मार्जन कर तथा शुद्ध प्रासुक जल से हाथ पाँव का प्रक्षालन कर अत्यन्त विनय सहित हाथ जोडकर पर्यंक (पालथी) आदि आसन से बैठे और अपनी शक्ति के अनुसार शुद्धोपयोग पूर्वक अर्थ सहित सूत्र का अध्ययन करे। इसी को विनय शुद्धि कहते हैं।

वहुमान का स्वरूप

सुत्तत्थं जप्पंतो वायंतो चावि णिज्जराहेदुं ।
आसादणं ण कुज्जा तेण किदं होदि वहुमाणं ॥ ८६ ॥ (मू० पचा०)

अर्थ—यथायोग्य सूत्रार्थ का उच्चारण करता हुआ तथा कर्म निर्जरा के निमित्त अन्य को पढाता हुआ आचार्य उपाध्याय आदि का तथा शास्त्र का और अन्य व्यक्तियो का तिरस्कार-अनादर नहीं करना, गर्व न करना ही वहुमान है। अर्थात् शास्त्रो का तथा आचार्यादि का तिरस्कार न करना, उनकी भक्ति करना ही उनका वहुमान करना कहलाता है।

उपधान शुद्धि

आयंविलणिव्वियडी अण्णं वा होदि जस्स कादव्वं ।
तं तस्स करेमाणो उपहाणजुदो हवदि एसो ॥ ८५ ॥ (मू० पचा०)

अर्थ—आचाम्ल तप, घी दूध दही तथा मिष्टान्न आदि का त्याग करके नीरस अन्न का आहार करना अथवा जिस शास्त्र के योग्य जो तप हो उस का आचरण कर शास्त्र का पठन-पाठन करना उपधान शुद्धि है। इसका तात्पर्य यह है कि साधु अवग्रह (आखडी) तथा रसादि का त्याग कर या उपवास, आचाम्ल आदि तपस्या कर के शास्त्र का पठन-पाठन प्रारम्भ करे। इस प्रकार वाह्यतप का आचरण कर शास्त्र का अध्ययन अध्यापन आरभ करने को उपधान शुद्धि कहते हैं।

अनिह्नव का स्वरूप

कुलवयसीलाविहूणे सुत्तत्थं सम्मगागमित्ताणं ।
कुलवयसीलमहल्ले णिण्हव दोसो दु जप्पंतो ॥ ८७ ॥ (मू० पचा०)

अर्थ—कुल व्रत और शील से हीन गुरु से सूत्रार्थ का ज्ञान सम्यक् प्रकार प्राप्त करके भी अपनी महत्ता वतलाने के लिए उनको गुरु न वताना और जो कुल व्रत और शील से महान् हो उन को अपना गुरु वताना निह्नव दोष है। गुरु सन्तति-गुरुपरम्परा को कुल कहते हैं।

अहिंसा आदि पालन को व्रत कहते हैं। व्रतो की रक्षा करने के आचरण को शील कहते हैं।

अथवा तीर्थंकर, गणधर, सप्त ऋद्धियो के धारक मुनीश्वरो के अतिरिक्त सब यतीश्वर कुल, व्रत शील से हीन हैं, उनसे सम्यक् प्रकार शास्त्र पढ़कर जो कुल, व्रत और शील मे महान हैं, उन्हें कहे कि कुल, व्रत, शील मे जो महान हैं उनसे मैंने शास्त्र-ज्ञान प्राप्त किया है। ऐसा कहने वाले को निह्नव दोष होता है। कारण कि उसने अपना गर्व प्रकट किया है, अतःउसके शास्त्र-निह्नव और गुरु-निह्नव दोष होता है और इस दोष से उसके महान कर्मबन्ध होता है।

जिनागम को पढकर तथा सुनकर किसी ने ज्ञान प्राप्त किया है, और वह दूसरो से कहता है कि मुझे जैन शास्त्रो से ज्ञान नहीं हुआ है, किन्तु नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक, धर्मकीर्ति के ग्रन्थ आदि से मुझे बोध हुआ है। अथवा जैनमुनियो से सम्यक्तया शास्त्र-ज्ञान प्राप्त करके अपनी पूजा प्रतिष्ठा के लिए ब्राह्मणादि को गुरु बताता है, उसको निह्नव दोष प्राप्त होता है। और वह इस दोष से तब तक मिथ्या दृष्टि माना गया है। इसका आशय यह यह है कि ज्ञान-दाता गुरु के नाम का अपलाप करना-छिपाना निह्नव नाम का दोष है।

शब्द, अर्थ और उभय शुद्धि

विंजणसुद्धं सुत्तं अत्थविसुद्धं च तदुभयपरिसुद्धं च।
पयदेण य जप्पंतो णाणविसुद्धो हवइ एसो ॥ ८८ ॥ (मू० पचा०)

अर्थ—व्याकरण के अनुसार शुद्ध शब्द का गुरु के उपदेशानुसार शुद्ध अर्थ का तथा शुद्ध शब्द और अर्थ दोनो का उच्चारण करने वाला अथवा दूसरो को उपदेश देने वाला विशुद्ध ज्ञानी होता है।

अर्थात् व्याकरण के नियमानुसार ह्रस्व दीर्घादि को जानकर जो सूत्र का पठन-पाठन करता है, तथा गुरु के उपदेशानुसार आम्नाय को समझ कर अर्थ का प्रतिपादन करता है—शब्द और अर्थ में हीनाधिकता अथवा उल्टापलटा नहीं करता है, उसका ज्ञान विशुद्ध होता है। उसीके शब्द अर्थ और उभय (शब्दार्थ) की विशुद्धि होती है और उसीका ज्ञान निर्मल होता है।

विनय का माहात्म्य (महिमा)

विणएण सुदमधीदं जदिवि पमादेण होदि विस्सरिदं।
तमुवट्ठादिपरभवे केवलणाणं च आवहदि ॥ ८९ ॥ (मू० पञ्चा०)

अर्थ—जिसने विनय पूर्वक सूत्र का अध्ययन किया, और यदि वह प्रमाद दोष से विस्मृत होगया—स्मरण न रहा तो भी वह परभव मे उपस्थित होता है—स्मरण हो आता है, और केवलज्ञान को प्राप्त कराता है। अर्थात् विनय पूर्वक किया गया आगम का अध्ययन परम्परा से केवलज्ञान की उत्पत्ति करता है।

चारित्राचार

महाव्रत–स्वरूप

चारित्र आत्मा मे तल्लीन होने को कहते है। आत्मा मे तल्लीन होने के बाह्य साधन जो महाव्रतादि हैं उन्हें भी चारित्र कह देते है। महाव्रतादि से मुख्य चारित्र प्राप्त हो सकता है इसलिए आचार ग्रन्थो मे व्रत समित्यादि रूप चारित्र का मुख्य रूप से वर्णन किया गया है। इस चारित्र के तेरह भेद है। पञ्च महाव्रत, पञ्च समिति और तीन गुप्ति। इनमे पञ्च महाव्रत और पञ्च समितियो का प्रथम मूल गुणाधिकार मे विशद वर्णन किया जा चुका है। इसलिए यहा उनके वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। यहां तो अविशिष्ट तीन गुप्तियो का वर्णन किया जायगा। गुप्तियो के स्वरूप का वर्णन करते हुए आचार्य वट्टकेर ने कहा है —

मणवचकायपउत्ती भिक्खू साचज्जकज्जसंजुत्ता।
खिप्पं णिवारयंतो तीहिं दु गुत्तो हवदि एसो॥ १३४॥ मू० पञ्चा०

अर्थ—हिंसादि कार्यों से मिली हुई मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को शीघ्र ही दूर करता हुआ साधु तीन गुप्ति का धारक होता है।

जा रायादि णियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणो गुत्ति।
अलि यादि णियत्ती वा मोणं होदि वचिगुत्ती॥ १३५॥
काय किरि याणि यत्ती काउ सग्गो सरीरगे गुत्ती।
हिंसादि णियत्ती वा सरीर गुत्ती हवदि एसा॥ १३६॥ (मू० पर्याप्त)

अर्थ—राग द्वेषादि से मन की निवृत्ति होजाना मनोगुप्ति है। तथा अलीक (सूत्र विरुद्ध) तथा अप्रिय वचनो से निवृत्त होना वचन गुप्ति है। अथवा असत्य वचनो की निवृत्ति भी वचन गुप्ति कहलाती है। मौन धारण करना, ध्यान, अध्ययन या चिन्तन मे लगे रहना भी वचन गुप्ति है।

काय (शरीर) की प्रवृत्ति को रोकना, कायोत्सर्ग करना, शरीर से ममत्व छोड़ना, आसन लगाकर ध्यान करना काय गुप्ति है।

जैसे खेत में अनाज की रक्षा के लिये खेत के चारों ओर कांटों की बाड़ खड़ी कर देते हैं, ताकि उसमें कोई पशु आदि घुस न सके एवं नगर की रक्षार्थ उसके चारों तरफ कोट, खाई आदि बना देते हैं जिससे कि शत्रु प्रवेश न करसके। वैसे ही आत्मा इन पाप रूपी प्रवृत्तियों में न फंस जावे, अतः इसकी रक्षार्थ मन, वचन, काय की गुप्ति रूपी खाई, कोट, तथा बाड़ की व्यवस्था की जाती है। अर्थात् जब आत्मा मन, वचन, काय पर विजय प्राप्त कर लेता है तब वह कभी पाप रूपी मल से लिप्त नहीं होता है। यही इन गुप्तियो के कथन का आशय है। ये गुप्तियां दश प्रकार के चारित्र की रक्षा करने वाली हैं। सूत्रकार ने गुप्तियो का लक्षण बताते हुए कहा है—

सम्यग्योग निग्रहो गुप्तिः ॥ अ० ॥ ६ ॥ सू० ॥ ४ ॥

टीका—सम्यक्प्रकारेण—लोकसत्कारख्यातिपूजालाभआकांक्षारहितप्रकारेण, योगस्य—कायवाङ्मनःकर्मलक्षणस्य, निरोधः—सम्यग्योगनिग्रहो विषयसुखाभिलाषार्थप्रवृत्तिर्निषेधः। यः सम्यग्योगनिग्रहो—मनोवाक्कायव्यापारनिषेधन सा गुप्तिरित्युच्यते। योगनिग्रहे सति आर्त्तरौद्रध्यानलक्षणसंक्लेश प्रादुर्भावो न भवति। तस्मिंश्च सति कर्म नास्रवति, तेन गुप्ति' संवरप्रसिद्ध्यर्थं वेदितव्या॥ श्रुतसागरी टीका॥

अर्थ—सत्कार, ख्याति, (प्रसिद्धि) पूजा, धनादि के लाभ की आकांक्षा रहित होकर मन, वचन और काय की क्रियाओं को रोकना ही सम्यक् प्रकार योग का निग्रह है। इसी को गुप्ति कहते हैं। अर्थात् विषय सुख की अभिलाषा के लिये जो मन-वचन-काय की प्रवृत्ति होती है उसका निरोध करना गुप्ति है। योग का निग्रह होने से आर्त्त रौद्र ध्यानात्मक संक्लेश परिणामो की उत्पत्ति नहीं होती है। और फिर अशुभ कर्मों का आस्रव भी नहीं होता है। इसलिये गुप्ति संवर की प्राप्ति का कारण होती है। मुनि का कर्त्तव्य है कि इन मन, वचन, काय की प्रवृत्ति रूप योगो को भले प्रकार रोके—चलायमान न होने दे। कृत, कारित एवं अनुमोदना द्वारा सावधान रहे। इनके लिए हमेशा ध्यान स्वाध्याय मे संलग्न रहे जिससे आत्म-स्वरूप से च्युत होने का कभी अवसर न आवे और कर्मों का आस्रव रुककर संवर हो।

ये पाच समिति और तीन गुप्ति रूप जो अष्ट प्रवचन माता है वह मुनि के ज्ञान, दर्शन, चारित्र की सदा रक्षा करती है। जैसे माता पुत्र की सावधान होकर रक्षा करती है वैसे ही चरण (समिति) और करण (गुप्ति) ये ही मुनि धर्म के रक्षण में जननी तुल्य हैं। अतः इनका सेवन बड़ी सावधानी से करना योग्य है। यह अष्ट प्रवचन मातृ का मुनि धर्म का आधार है। इसके बिना मुनि धर्म की स्थिति नहीं रह सकती इसी लिए इनको माता के समान आदरणीय पद दिया गया है।

संयम का स्वरूप

वदसमिदिकसायाणं दंडाण तहिंदियाण पंचण्हं ।
धारणपालणणिग्गहचागजओ संजमो भणिओ ॥ ४६५ ॥ गो० जीव०

अर्थ—जिससे आत्मा को सम्यक् प्रकार वश मे किया जाता है, उस आचरण को सयम कहते हैं। जैसे उन्मार्ग मे दौडने वाले घोडे को लगाम सुमार्ग मे स्थापित करती है। वैसे ही विषय कषाय मे दौड़ते हुए आत्मा को रोककर सुमार्ग मे (आत्महित कारक कृत्य में) लगाने वाला सयम है। वह पांच प्रकार का है—व्रतो का धारण, समितियो का पालन, कषायो का निग्रह, मन, वचन तथा काय की प्रवृत्ति का त्याग और इन्द्रियो का विजय।

हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, और परिग्रह रूप पापो का त्याग कर अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह रूप व्रतो का आचरण करना व्रत धारण है। गमनागमन करने मे प्रमाद पूर्वक प्रवृति को रोक कर जीव जन्तुओ की रक्षा करते हुए उपयोग पूर्वक प्रवृत्ति करना, असयत भाषा का त्याग कर हित-मित-प्रिय-वचन बोलना, रसादि विषय मे गृद्धि न करके केवल उदर पूर्ति के लिये आगमोक्त विधि से प्रासुक, संयम-वर्द्धक, निर्दोष आहार लेना, मल मूत्रादि की बाधा निवारण करने के लिये जीव-जन्तु रहित एकान्त स्थडिल भूमि मे शौचादि क्रिया करना ही समिति का पालन है। आत्मा को कर्म बन्ध रूप दड के देने वाले मन वचन और काय हैं, इनकी दुष्प्रवृत्ति का निग्रह करना गुप्ति है-तथा उत्कृट विद्वान एव दुर्धर तपस्वियों को उन्मार्ग मे घसीट लेजाने वाली पाच इन्द्रियाँ है, इन पर विजय प्राप्त कर अपने को ध्यान, अध्ययनादि कार्य मे लगाना चाहिये। इस प्रकार प्रवृत्ति करने वाले मुनीश्वरों के सयम की आराधना होती है। आत्मा बाह्य पुद्गलादि अन्य द्रव्यों में निवृत्त होकर आत्मीय कार्यों मे प्रवृत्ति करता है। इसलिये प्रतिक्षण अन्तरात्मा को सुमार्ग मे चलाने के लिये उक्त सयम रूप-अकुश की आवश्यकता है, क्योंकि मनुष्य का चित्त अत्यन्त चपल है, इसकी चपलता को रोकने वाला एक संयम ही अमोघ उपाय है। इसलिये इसका निरन्तर आराधन करना चाहिए।

संयम की उत्पत्ति का कारण

बादरसंजलणुदये सुहुमुदये समखये य मोहस्स ।
सयमभावो णियमा होदित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ ४६६ ॥ गो० जीव०

अर्थ—बादर सज्वलन कषाय का उदय, सूक्ष्म लोभ का उदय, एवं चारित्र मोहनीय का उपशम तथा क्षय होने पर नियम से

संयम भाव होता है—ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

तात्पर्य—प्रमत्त और अप्रमत्त इन दो गुण स्थानो मे-संज्वलन कषाय चतुष्क (क्रोध, मान, माया और लोभ) के सर्वघाती स्पर्द्धको का उदयाभाव (विना फल दिये झड जाना) रूप क्षय, देश घाती स्पर्द्धको का उदय और इन्हीं का सदवस्था रूप उपशम होने पर सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि सयम होते हैं। जिनमे परिहार विशुद्धि सयम तो छठे और सातवें गुणस्थान मे होता है। सामायिक और छेदोपस्थापना सयम छठे से अनिवृत्तिकरण ६वें गुणस्थान पर्यंत होता है। क्योकि वादर सज्वलन चतुष्क का इस नौवे गुणस्थान तक उदय रहता है। सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्त सज्वलन लोभ (सूक्ष्म लोभ) का उदय होने पर सूक्ष्म-सापराय-सयम होता है। सम्पूर्ण चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम से ग्यारहवे उपशान्त कषाय गुणस्थान मे एव इसके क्षय होने से क्षीण कषाय (वारहवे), सयोग केवली (तेरहवें) और अयोग केवली (चौदहवें) मे यथाख्यात सयम होता है।

सामायिक संयम का स्वरूप

संगहिय सयलसंजममेयजममणुत्तरं दुरवगम्मं।
जीवो समुव्वहंतो सामाइयसंजमो होदि॥ ४७०

अर्थ—व्रतधारण, समितिपालन आदि पाच प्रकार के
त्यागी हूँ' इस प्रकार संग्रहनय से सव का सग्रह करने
है। इसकी तुलना दूसरे सयम नहीं
धारण करने वाला

अर्थ—प्रथम सामायिक संयम को धारण कर फिर उससे गिर जाने पर पुनः अपने आत्मा को व्रत धारणादि पाच प्रकार के संयम धर्म मे स्थापित करना छेदोपस्थापना सयम है। छेद करके अर्थात् प्रायश्चित का आचरण करके जिसका उपस्थापन होता है उसे छेदोपस्थापना संयम कहते है,यह इसका शब्दार्थ है। अथवा अपने द्वारा किये गये दोष का प्रायश्चित (निवारण) करने के लिये पहले जो तप किया था, उसका उस दोष के अनुकूल छेदन करके पुन. निर्दोष सयम मे स्थापित करना छेदोपस्थापना सयम कहलाता है।

परिहार विशुद्धि संयम का स्वरूप

पंचसमिदो तिगुत्तो परिहरइ सदावि जो हु सावज्जं।
पंचेक्कजमो पुरिसो परिहारयसंजदो सो हु ॥ ४७२ ॥
तीसं वासो जम्मे वासपुधत्तं खु तित्थयरमूले।
पंचक्खाणं पढिदो संझूणदुगाउय विहारो ॥ ४७३ ॥ गो० जीव०

अर्थ—जो पांच समिति और तीन गुप्ति से सयुक्त होता हुआ सदैव हिंसा रूप सावद्य का परिहार (निवारण) करता है वह पुरुष सामायिकादि पाच सयमो मे परिहार विशुद्धि नामक विशिष्ट सयम का धारक होता है।

जिसने जन्मसे तीस वर्ष की आयु पर्यंत गृहस्थावस्था मे खान पान आदि के सुख का अनुभव किया हो, फिर दीक्षा लेकर पृथक्त्व (आठ) वर्ष तक तीर्थंकर केवली के पाद मूल मे प्रत्याख्यान नाम का नौवा अङ्ग पढा हो वह परिहार विशुद्धि सयम को अङ्गीकार करता है। वह तीन सन्ध्या काल को छोडकर सर्वदा दो कोश विहार करता है। रात्रि मे विहार नहीं करता है। वर्षाकाल मे उसके ठहरने का नियम नहीं है और विहार का भी कोई नियम नहीं है। कभी विहार करता है और कभी नहीं भी करता है।

प्राणियो के वध से निवृत्त होने का नाम परिहार है, इस परिहार सहित शुद्धि (निर्मलता) जिस सयम मे होती है उसे परिहार–विशुद्धि–सयम कहते है। इसका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है। कम से कम इतने काल तक परिहार विशुद्धि सयम मे रहकर आत्मा अन्य गुणस्थान को प्राप्त करता है। इसका उत्कृष्ट काल अडतीस वर्ष हीन एक पूर्व कोटि है। क्योकि एक करोड पूर्व की आयु वाला पुरुष तीस वर्ष गृहस्थावस्था मे सुख पूर्वक रहकर फिर दीक्षा ग्रहण कर आठ वर्ष पर्यन्त श्री तीर्थंकर केवली के पाद मूल मे प्रत्याख्यान नामक नौवे पूर्व का अध्ययन करता है और इसके बाद परिहार विशुद्धि सयम अङ्गीकार करता है। इसलिये ३८ वर्ष हीन एक करोड पूर्व इसका उत्कृष्ट काल होता है।

परिहारर्धिसमेतः जीवःषट्कायसंकुले विहरन् ।
पयसेव पद्मपत्रं न लिप्यते पापनिवहेन ॥ टीका—गो० जीव०

अर्थ—परिहार विशुद्धि नामक ऋद्धि से सयुक्त मुनीश्वर पट् काय के जीवो से भरे हुए स्थान मे विहार करते हुए भी जल से कमल पत्र की तरह पाप से लिप्त नहीं होते है।

इसका आशय यह है कि जिसने पूर्व जन्म मे सातिशय पुण्य का वन्ध किया है उसके फल स्वरूप वर्तमान भव मे जिसे पूर्ण सुख सामग्री उपलब्ध हुई है, तथा जो महावीर्य का धारक है और अति दुष्कर चर्या का आचरण करने वाला है, तथा तीर्थंकर के पाद मूल मे ८ वर्ष तक रहकर—प्रत्याख्यान पूर्व का अध्ययन करने से जिसकी आत्मा मे विशेष निर्मलता उत्पन्न हुई है, तथा जिसे जीवो की उत्पत्ति, मरण, योनि, जन्म एव द्रव्य के स्वभाव आदि का विशेष ज्ञान हो गया है—ऐसे महात्मा को परिहार विशुद्धि संयम होता है।

सूक्ष्मसाम्पराय संयम का स्वरूप

अणुलोहं वेदंतो जीवो उवसामगो व खवगो वा।
सो सुहुमसांपराओ जहखादेणूणओ किंचि ॥ ४७४ ॥ गो० जीव०

अर्थ—सूक्ष्म कृष्टि को प्राप्त हुए लोभ कपाय के अनुभागोदय का अनुभव करने वाला, उपशामक वा क्षपक जीव जिसके साम्पराय (कपाय) सूक्ष्म हो गया है, सूक्ष्मसाम्परायसयमी होता है। यह यथाख्यात सयमी महामुनि से चारित्र मे कुछ कम होता है।

भावार्थ—आठवें गुणस्थान से दो श्रेणिया प्रारम्भ होती है। एक उपशम श्रेणी और दूसरी क्षपक श्रेणी। उपशम श्रेणी मे चारित्र मोहनीय की इकईस प्रकृतियो का उपशम और क्षपक श्रेणी मे उनका क्षय करने का उद्यम होता है। ये दोनो श्रेणिया सूक्ष्मसाम्पराय दशवें गुणस्थान तक रहती हैं। इस गुणस्थान मे केवल सज्वलन कपाय का सूक्ष्म लोभ रह जाता है। इसके अन्त समय मे इस लोभ का उपशामक श्रेणी वाले तो उपशम (उदयाभाव) करते है। लेकिन वह सत्ता मे बना रहता है। तथा क्षपक श्रेणी वाले उस (लोभ) का सर्वथा नाश करते हैं, इसलिये उपशम करने वाले तो उपशान्त कपाय नामक ग्यारहवें गुणस्थान को प्राप्त होते है और क्षय करने वाले क्षीणकपाय नामक बारहवें गुणस्थान का आश्रय लेते हैं। उपशान्त कपाय वाले नियम से नीचे गिरते है। क्योकि यहां पर जो चारित्र मोहनीय की प्रकृतिया सत्ता मे थीं उनका उसने उपशम किया था अब वही प्रकृतिया उदय को प्राप्त होतीं हैं। तथा क्षीण-कपाय-गुणस्थानवर्त्ती के चारित्र

मोहनीय की समस्त प्रकृतियो का समूल नाश हो जाता है इसलिये उसका पतन नहीं होता है।

यथाख्यात संयम का स्वरूप

उवसंते खीणे वा असुहे कम्मम्मि मोहणीयम्मि।
छदुमट्ठो जिणो वा जहखादो संजदो सो दु ॥ ४७५ ॥ गो० जीव०

अर्थ—अशुभ रूप मोहनीय का उपशम अथवा क्षय होने पर उपशान्त कषाय गुणस्थान वर्त्ती और क्षीण कषाय गुणस्थान वर्त्ती छद्मस्थ एवं तेरहवे गुणस्थान वर्त्ती सयोगीजिन और चौदहवे गुणस्थान वर्त्ती अयोगीजिन के जो सयम होता है उसे यथाख्यात कहते हैं।

भावार्थ—यहा मोहनीय कर्म के लिए अशुभ विशेषण दिया गया है। यद्यपि सभी कर्म अशुभ हैं तथापि मोहनीय कर्म को ही अशुभ कहने का हेतु यह है कि ज्ञानावरणादि कर्म तो आत्मा के ज्ञानादि गुणो को केवल ढकते ही हैं उनका विपरीत परिणमन नहीं करते, किन्तु मोहनीय कर्म आत्मा के गुणो को विपरीत परिणमन कर देता है। ज्ञान को कुज्ञान, सम्यक्त्व को मिथ्यात्व और चारित्र को कुचारित्र बनाने वाला मोहनीय कर्म ही है। इसीलिये इसे अशुभ कर्म कहा है। सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के उपशम अथवा क्षय होने पर यथाख्यात चारित्र होता है। इसका अर्थ यह है कि कषाय के उदयाभाव में ही यथाख्यात चारित्र प्रकट हो सकता है। कषाय के उदय का अभाव जैसे बारहवें गुणस्थान, तेरहवें गुणस्थान और चौदहवें गुणस्थान मे है वैसे ग्यारहवें गुणस्थान मे भी है। इसलिये इन चारो गुणस्थानो मे यथाख्यात चारित्र माना गया है। आत्मा की स्वाभाविक अवस्था प्रकट होने से यथाख्यात चारित्र प्राप्त होता है।

जैसा आत्मा का स्वभाव है वैसा ही यह प्रकट होता है (यथा—जैसा, आख्यात—कहा जाना) इसलिये इसे यथाख्यात कहते हैं, अथवा इसे अथाख्यात भी कहते हैं। क्योकि पूर्व चारित्र धारक मुनियो ने मोहनीय कर्म के उपशम अथवा क्षय होने के पहले इसको प्राप्त नहीं किया इसलिये इसको अथाख्यात चारित्र भी कहते हैं।

उक्त चार गुणस्थानवर्ती मुनीश्वरो के यथाख्यात चारित्र होता है। उनमे से उपशान्त कषाय गुणस्थानवर्ती के चारित्र मोहनीय का उदय होने से यथाख्यात चारित्र छूट जाता है और शेष तीन गुणस्थानवर्ती मुनीश्वरो के सदा काल बना रहता है। अर्थात् इनका मोक्ष अवश्यभावी है वह यथाख्यात चारित्र—जो आत्मा के स्वभाव से जन्य है इसीलिए—मोक्ष मे भी विद्यमान रहता है। इसे ही क्षायिक चारित्र भी कहते हैं।

तपआचार का वर्णन

संसार के सब प्राणी इच्छा के वशवर्ती होकर ही अनेक प्रकार के पाप जनक कुकृत्य करते हैं। इच्छा का स्वभाव है कि उसे ज्यों ज्यों पूर्ति का साधन मिलता जाता है त्यों त्यों वह बढती जाती है। इच्छा की पूर्ति बाह्य पदार्थों से कभी नहीं होती, बल्कि बढती जाती है और इतनी बढती है कि समस्त संसार की विभूति प्राप्त होने पर भी वह शान्त नहीं होती। कहा भी है—

आशागर्त्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ॥ ३६ ॥ (आत्मा०)

"अर्थात्—इच्छा रूप खड्डा इतना गहरा है कि उसमें सम्पूर्ण विश्व का साम्राज्य भी अणु के समान है। यह इच्छा प्रत्येक प्राणी की चित्त में मौजूद है। विश्व तो एक है और उसके चाहने वाले प्राणी अनन्त हैं वह किस २ को मिल सकता है। किसके हिस्से में कितना आवे, पदार्थों की प्राप्ति होने पर इच्छाओं की उससे शान्ति नहीं होती, इसलिए संसार के विषय धनादि की इच्छा करना व्यर्थ है। इससे आत्मा को शान्ति नहीं मिलती इसलिए आचार्य कहते हैं कि धन–सम्पत्ति–पुत्र–कलत्रादि की बात ही क्या ? यह शरीर भी अपना नहीं है। यह भी आयु के पूर्ण होने पर आत्मा को छोड देता है। किन्तु मोहान्ध प्राणी इसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए भी लालसा के वशीभूत होकर अनेक पाप जनक कुकृत्यों को करता रहता है और उसके फल स्वरूप स्वयं नरक निगोदादि के दुःखों को अनन्त काल तक भोगता है। इसलिए आचार्य अपने तपस्यादि के शुद्ध भाव रूप सुकृत्यों को छोड़कर जीवों के हितार्थ शास्त्र निर्माण करते हैं और अपने उपदेशामृत से जीवों की फैलती विषयाभिलाषा रूपी दावाग्नि को शान्त करते हैं कि तपस्या ही आत्मा को शान्ति सुख देने वाली है। और वह इच्छाओं के निरोध से होती है। वही कहा है—

'इच्छा निरोधस्तपः'

अर्थात्—अनात्म पदार्थों (पौद्गलिक विषयों) में जो इच्छाएं दौड लगा रही हैं, उन्हें रोककर स्वाध्याय ध्यानादि आत्महितकर कार्यों में लगाना ही तप है। यह तप रूप अग्नि अनादि काल से आत्मा के साथ लगे हुए कर्म रूप ईंधन–राशि को क्षण भर में भस्मसात् करने वाली है। अतः क्षण भर भी अर्थात् काल का सूक्ष्म भाग भी तप से खाली नहीं जाने देना चाहिए। क्योंकि एक तपश्चरण ही तुम्हारे आत्मीय रोग की अमोघ औषधि है। अतः उसका आचरण करो।

वह तप दो प्रकार का है :-

दुविहो तवाचारो बाहिरब्भंतर मुणेयव्वो।
एक्केक्को वि य छद्धा जधाकमं तं परूवेमो ॥ १४७ ॥ मू० पचा०

अर्थ—तपश्चरण दो प्रकार का है-१ बाह्य और २ आभ्यन्तर इन दोनों में प्रत्येक के छह छह भेद हैं। यथाक्रम से उसका वर्णन करते हैं।

भावार्थ—कर्म मल को दग्ध करने लिए जो तपा जाता है, उसे तप कहते हैं। उसके दो भेद हैं—एक बाह्य तप और दूसरा अन्तरङ्ग तप। जिसका शरीर द्वारा आत्मा के साथ सम्बन्ध हो उसे बाह्य तप कहते हैं। और जिसका साक्षात् आत्मा के साथ सम्बन्ध हो, उसे अन्तरङ्ग या आभ्यतर तप कहते हैं।

बाह्य तप के भेद

अणसणअवमोदरियं रसपरिचाओ य वुत्तिपरिसंखा।
कायस्स वि परितावो विवित्तसयणासणं छट्ठं ॥ १४८ ॥ मू० पचा०

अर्थ—अनशन, अवमोदर्य, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, कायपरिताप और विविक्तशयनासन ये छह प्रकार का बाह्य है।

(१) अनशन—खाद्य स्वाद्य लेह्य और पेय इन चार प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन तप है।

(२) अवमौदर्य—भूख से कम खाना अवमौदर्य तप है।

(३) रसपरित्याग—अपनी इच्छानुसार स्निग्ध (घृत तेलादि), मिष्ट, खट्टा, कडुआ इत्यादि रस का त्याग करना, रसपरित्याग-तप है।

(४) वृत्तिपरिसंख्यान—घर, दाता, बर्त्तन, तथा भोजनादि की अटपटी आखड़ी लेना, वृत्तिपरिसंख्यान तप है।

(५) कायपरिताप (कायक्लेश)—गर्मी मे आतापन, शीतकाल मे अभ्रावकाश (खुले मैदान मे ठहरना), वर्षा मे वृक्ष के मूल मे ठहरना आदि क्रियाओं से कर्म का क्षय करने के लिए बुद्धि पूर्वक शरीर का शोषण करना कायक्लेश तप है।

(६) विविक्तशयनासन—स्त्री, पशु, नपुंसक आदि से शून्य स्थान में सोना, बैठना विविक्तशयनासन तप है।

अनशन तप के भेद

अद्धाणसणं सव्वाणसणं दुविहं तु अणसणं भणियं।
विहरंतस्स य अद्धाणसणं इदरं च चरिमंते ॥ २१४ ॥ भग०

अर्थ—अनशन तप के दो भेद हैं—अद्धानशन और सर्वानशन। अन्यत्र अद्धाशब्द का अर्थ काल है, किन्तु यहां पर चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम आदि से लेकर छह मास पर्यन्त जितने तप के भेद हैं, उन सब का ग्रहण अद्धानशन में होता है। धारणा पारणासहित उपवास को चतुर्थ कहते हैं। अथवा चार वेला के भोजन के त्याग को चतुर्थ कहते हैं। जैसे—अष्टमी के उपवास के पहले दिन सप्तमी की एक वेला (समय), अष्टमी की दो वेला तथा नवमी की एक वेला। इस प्रकार ४ वेला के भोजन के त्याग करने को चतुर्थ कहते हैं। चतुर्थ एक उपवास का नाम है। दो उपवास को षष्ठ और तीन उपवास को अष्टम कहते हैं। ऐसे ही आगेभी समझ लेना चाहिए। सन्यास धारण करने पर यावज्जीव चारों प्रकार के आहार का त्याग करना सर्वानशन है। ग्रहण और प्रति सेवना काल में मुनि अद्धानशन तप करते हैं। दीक्षा लेकर जब तक सन्यास ग्रहण नहीं किया जाता तब तक के काल को ग्रहण काल कहते हैं। तथा व्रतादिक में अतिचार लगने पर जो प्रायश्चित्त से उनकी शुद्धि के लिए कुछ दिन अनशन (उपवास) किया जाता है, उसे प्रतिसेवना काल कहते हैं।

अवमौदर्य (ऊनोदर) तप का स्वरूप

एगुत्तरसेढीए जावय कवलो वि होदि परिहीणो।
ऊमोदरियतवो सो अद्धकवलमेत्त सित्थं च ॥ २१७ ॥ भग०

अर्थ—स्त्री के भोजन के ग्रास का परिमाण अठाईस तथा पुरुष के भोजन के ग्रास का परिमाण बत्तीस कहा है। उसमें से एक दो आदि ग्रास कम करते करते एक ग्रास मात्र का आहार करना अवमौदर्य तप है। उस एक ग्रास में भी कम करते करते आधा चोथाई आदि से लेकर एक चावल मात्र का आहार करना अवमौदर्य तप है।

शंका—न्यून आहार का ग्रहण करना तप कैसे माना जावे ?

उत्तर—अधिक भोजन करने की अभिलाषा को रोककर थोड़ा भोजन करने से इच्छा का निरोध होता है, इसलिए यह तप कहा

रसपरित्याग तप

खीरदधिसप्पितेल्लं गुडाण पत्तेयदो व सव्वेसिं।
णिज्जूहणमोगाहिम पणकुसणलोणमादीणं ॥ २२० ॥ भग०

अर्थ—दूध, दही, घृत, तेल, गुड, नमक आदि रसों का तथा इनमें से एक दो आदि रस का परित्याग करना रसपरित्याग तप है।

भावार्थ—रसपरित्याग तप दो प्रकार का है—यावज्जीवन रसों का त्याग तथा परिमित काल तक रसों का त्याग। सन्यास काल में सब रसों का त्याग यावज्जीवन पर्यन्त होता है तथा सन्यास के समय के सिवाय रसो का त्याग परिमित काल के लिए एवं यावज्जीवन पर्यन्त भी होता है।

रसपरित्याग तप का आचरण करना सयमी जनो का कर्त्तव्य है। रसपरित्याग तप स्वयं धारण किया जाता है। अन्य को वचनादि द्वारा प्रकट नहीं किया जाता। सयमी को ध्यान मे रखना चाहिए कि दातार के घर पर गर्म भोजन मिले या ठंडा मिले, दूसरी वेला का वनाया हुआ मिले या ताजा मिले, रुखा, सूखा, नि.स्वादु, मिर्च मसाले रहित, उष्ण जल से मिला हुआ, घृत रहित रूखा सूखा भात आदि अथवा ज्वार, वाजरा, मक्का आदि की रोटी या दलिया आदि शुद्ध पदार्थ मिले उसे प्रेम पूर्वक ग्रहण करना चाहिए। रसपरित्याग करने से भोजन की लालसा नष्ट होती है।

वृत्तिपरिसंख्यान तप का स्वरूप

गत्तापच्चागदं उज्जुवीहि गोमुत्तियं च पेलवियं।
संबूकावट्टंपि य पदंगवीथी य गोयरिया ॥ २२३ ॥ भग०

अर्थ—जिस मार्ग से आहार के लिए गमन करे उसी मार्ग से लौटते समय यदि आहार मिलेगा तो मैं आहार का ग्रहण करूंगा अन्यथा नहीं—ऐसी प्रतिज्ञा करना गतप्रत्यागत है। सीधे रास्ते मे गमन करते हुए यदि आहार मिलेगा तो आहार लूंगा, अन्यथा नहीं लूंगा—ऐसी प्रतिज्ञा करना ऋजुवीथी है। मूतते हुए गमन करने वाले बैल के मूत्र का आकार जैसा होता है, वैसे आकार से मोड़े खाने वाले मार्ग मे यदि भोजन मिलेगा तो आहार ग्रहण करूंगा—ऐसी प्रतिज्ञा करने को गोमूत्रिक कहते हैं। वास की सीकों लकड़ी आदि से बने हुए चोकोर

वस्त्रालङ्कार रखने के ढक्कन सहित सन्दूक-पेटी के आकार चतुष्कोण भ्रमण करते हुए यदि मुझे आहार मिलेगा तो आहार ग्रहण करूंगा-ऐसी प्रतिज्ञा करने को पेलविग कहते हैं। शख के आवर्त्त के समान शहर के मुहल्ले मे भ्रमण करके बाहर निकलते हुए यदि भिक्षा मिलेगी तो लूंगा-ऐसी प्रतिज्ञा करना शंबुकावर्त्त है। पक्षियो की पंक्ति जैसे भ्रमण करती है वैसे भ्रमण करते मुझे आहार मिलेगा तो लूंगा-ऐसी प्रतिज्ञा करना पतङ्गवीथी है। अथवा जिस श्रावक के घर लेने का विचार किया है कि यदि अमुक श्रावक के यहां विधिपूर्वक भिक्षा मिलेगी तो आहार लूंगा अन्यथा आज आहार का त्याग है-ऐसी प्रतिज्ञा करने को पतङ्गवीथी कहते हैं। इस प्रकार आहार के लिए विविध नियम का ग्रहण करना वृत्तिपरिसख्यान तप है।

भावार्थ—वृत्ति परिसख्यान तप करने वाला अनेक प्रकार की प्रतिज्ञाएँ लेकर भिक्षा के लिए गमन करता है। यदि आज मुझे अमुक प्रकार भिक्षा के लिए पडगाहन करेगा तो आहार ग्रहण करूंगा, अन्य प्रकार नहीं लूंगा। ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार आहार न मिलने पर प्रतिज्ञा की अवधि तक प्रतिज्ञा बदलनी नहीं चाहिए। प्रतिज्ञा एक दिन की ली हो या दो दिन अथवा दस दिन की हो, तब तक उसका पूरी तरह निर्वाह करना चाहिए। प्रतिज्ञा की अवधि बढाना साधु की इच्छा पर निर्भर है, किन्तु उसकी अवधि को घटाना उसके अधीन नहीं। जितने काल की अवधि से ली हुई प्रतिज्ञा हो, उसका उतने काल तक तो बराबर पालन करना आवश्यक है। जैसे-आज मैं अमुक मुहल्ले मे भिक्षा के लिए जाऊगा, अमुक घर मे जाऊंगा, अमुक प्रकार से दातार पडगाहेगा, या अमुक घर मे दातार अमुक वस्तु हाथ मे लिए मिलेगा, कलश हाथ मे लिए मिलेगा, या माला, नारियल, छलना, दर्पण, पुस्तक पत्र हाथ मे लिए हुए मिलेगा तो घर मे आहार के लिए प्रवेश करूगा नहीं तो नहीं। आज अमुक प्रकार के बर्त्तन से दातार भोजन देगा, (मिट्टी स्वर्ण चादी ताबे पीतल कासे पात्र से) तो आहार ग्रहण करूगा, अन्यथा भोजन का त्याग करूगा। तथा स्त्री पुरुष, दो पुरुष या दो स्त्री होंगे या एक पुरुष होगा, तो भोजन ग्रहण करूगा अन्यथा नहीं। आज केवल मूग, मसूर, चना, गेहूं, चावल, मक्का, ज्वार, बाजरा, जो या कुलथी का ही आहार लूगा। आदि अनेकानेक प्रकार से यह तप होता है।

प्रतिज्ञा चाहे कैसी भी हो और कितने ही दिन की हो किसी पर प्रकट नहीं करना चाहिए। तभी प्रतिज्ञा का ग्रहण सार्थक है, और उसी को वृत्तिपरिसख्यान तप कहा है। यदि प्रतिज्ञा किसी तरह प्रकट करदी जावे तो वह तप नहीं होता, प्रत्युत ढोंग कहा जाता है। आत्मबल बढाने के लिए अथवा बहुत काल पर्यन्त साधन किये आत्मबल की परीक्षा के लिए एवं कर्म की निर्जरा के लिए उक्त प्रकार की प्रतिज्ञा साधु किया करते हैं। इसका अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि जिस प्रतिज्ञा से जीवो की विराधना होती हो अथवा जो व्यवहार से विरुद्ध मालूम पडती हो, वैसी प्रतिज्ञा कदापि न लेनी चाहिए। द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव एव व्यवहार को देखकर प्रतिज्ञा लेनी चाहिए। प्रतिज्ञा लेते समय अपनी शक्ति का ध्यान रखना परम आवश्यक है। पूर्व काल के साधुओ ने अमुक प्रकार की प्रतिज्ञा ली थी अत. हमे भी ले लेना

चाहिए, यह अनुकरण सर्वथा अनुचित है। प्राचीन काल के महामुनि उत्तम सहनन के धारक थे, महावीर्यवान् और परम धैर्यशाली थे। उनकी समानता की विडम्बना करना उचित नहीं है, अत शक्ति को देखकर प्रतिज्ञा ग्रहण करना चाहिए।

कायक्लेश तप

अणुसूरी पडिसूरी य उड्ढसूरीय तिरियसूरी य।
उब्भागेण य गमणं पडिआगमण च गंतूणं ॥ २२७ ॥ (भग०)

अर्थ—जिस दिन कडी धूप पड रही हो, उस दिन पूर्व दिशा से पश्चिम दिशा की ओर जाना–अनुसूरी गमन, तथा पश्चिम दिशा से पूर्व दिशा की ओर गमन करना अर्थात् सूर्य के सन्मुख जाना पडिसूरी, सूर्य जब मस्तक पर आ जावे उस समय मध्याह्न मे गमन करना उड्ढसूरी, सूर्य को तिर्यक रखकर गमन करना–तिरियसूरी एक गांव से दूसरे गाव मे विना विश्राम किए आहार के लिए गमन करना तथा जाकर वापिस लौट आना उब्भागमेण गमण है। यह सब गमनरूप कायक्लेश है।

प्रमार्जित स्तम्भ, भीत इत्यादि का सहारा लेकर खडा रहना यह साधारण कायक्लेश तप है। पहले स्थान से इस स्थान मे जाकर वहा एक पहर दिन आदि का प्रमाण लेकर खडे रहना, अथवा स्वस्थान मे ही निश्चल होकर खडे रहना, कायोत्सर्ग करना, पैरो को बराबर रख कर खडे रहना, एक पैर से खडे रहना, दोनो पक्ष फैलाकर उड़ते गिद्ध पक्षी की तरह दोनो भुजाएँ फैलाकर खड़े रहना। यह खड़े रहना रूप कायक्लेश है।

उत्तम पर्यकासन लगाकर (पालथीमाडकर) बैठना, उसकी पलटापलटी न करना, दोनो पैरो को नितम्ब के नीचे देकर बैठना, गौ को दुहते समय जिस प्रकार बैठते हैं, वैसा आसन लगाकर बैठना, भूमि को न छूते हुए पैरो को समान रखकर पैर के अग्रभाग से बैठना, मगर के मुख की भाति पैरो की आकृति बनाकर बैठना, नीचा सिर और ऊँचे पैर करके शीर्षासन लगाना, हाथी की सूड के समान एक पैर पसार कर या एक हाथ पसार कर बैठना, गवासन से बैठना, तथा अर्धपर्यकासन से बैठना, वीरासन से बैठना–दोनो पावो को दोनो जाघो पर रखकर बैठना, इत्यादि अनेक प्रकार के आसन लगाकर ध्यान करना कायक्लेश तप है। जिस आसन से ध्यान मे बाधा न आवे वही आसन लगाकर साधु को ध्यान करना चाहिए।

दडाकार शयन करना, खडे खडे सोना, शरीर को सुकोड कर शयन करना, चित शयन करना, नीचे मुख कर के शयन करना, एक पार्श्व से शयन करना, मृतक समान निश्चेष्ट होकर शयन करना, निरावरण (छाया रहित) प्रदेश मे शयन करना, नहीं थूकना, नहीं

खुजालना, तृण की शय्या अथवा काष्ठ के तख्ते पर, शिला एवं भूमि पर शयन करना, इधर उधर करवटें न लेना यह शयनकायक्लेश तप है। तथा मस्तक आदि के केशों का लुञ्चन करना अर्थात् अपने हाथ से केशों को उखाड़ना, आवश्यकता होने पर दूसरे से भी अपने केश उखड़वाना केशलोच नामक कायक्लेश तप कहलाता है। जिस आचरण से शरीर को कष्ट पहुंचे ऐसे अस्नान (स्नान नहीं करना) दांत नहीं माजना, रात्रि जागरण शीत उष्ण वृष्टि आदि जन्य क्लेश सब कायक्लेश तप हैं।

विविक्त शय्यासन तप

जत्थ ण सोत्तिग अत्थि दु सद्दरसरूपगंधफासेहिं।
सज्झायज्झाणवाघादो वा वसधी विवित्ता सा ॥ २२८ ॥ (भग०)

अर्थ—जिस वसतिका मे मनोज्ञ व अमनोज्ञ स्पर्श रूप रस गन्ध और शब्दों से अशुभ परिणाम नहीं होते तथा जिसमे स्वाध्याय व ध्यान मे विघ्न बाधा नहीं आती है वह वसति मुनियों के रहने योग्य होती है। वह खुले द्वार वाली हो या ढके द्वार वाली हो, समभूमि वाली, या विषम-(ऊँची नीची) भूमि वाली हो, अन्दर के भाग में हो या बाहर के भाग में हो, गाव के निकट हो या दूर हो, शीत या उष्ण हो, जीव जन्तुओं की बाधा से रहित हो, या सहित हो वह वसति योग्य मानी गई है, जिसमे स्त्री नपुसक और पशु का गमनागमनादि का सम्पर्क न हो। ग्राम के निकट की वसतिका में एक रात्रि, ग्राम के बाहर की वसतिका मे पाच रात्रि पर्यन्त साधु को निवास करना चाहिए, अधिक नहीं करना चाहिए। वर्षा ऋतु के सिवा अन्य काल मे बीमारी आदि किसी विशेष कारण के बिना कदापि नहीं रहना चाहिए।

कौनसी वसति विविक्त वसति कही जाती है ? इसे कहते हैं

सुण्णघरगिरिगुहारुक्खमूलआगंतुगारदेवकुले।
अकदप्पभारारामघरादीणि य विवित्ताइं ॥ २३६ ॥ (भग०)

अर्थ—सूना घर, पर्वत की गुफा, वृक्ष का मूल, यात्रियो के ठहरने के लिये बनी हुई धर्मशाला, देवमन्दिर, शिलाओं से स्वयं बना हुआ घर-अकृत्रिम घर, बाग बगीचों में क्रीड़ार्थ आने वालों के लिए बनाये गये घर इत्यादि ऐसे ही अन्य निर्दोष एकान्त स्थानों को विविक्त वसति कहते हैं।

जिन—चैत्यालय भी साधुओ के ठहरने योग्य बताया है, किन्तु उसमें यदि ठहरना ही पड़े तो विनय पूर्वक एक तरफ अपना शय्यासन करना चाहिए। जब दूसरा स्थान न मिले तब ही उसमें ठहरना चाहिए। दूसरे के द्वारा छोड़े हुए या छुड़ाये हुए स्थान में जिसमें ठहरने का निषेध न हो ऐसे विमोचित स्थान में साधु ठहर सकता है।

जहा पर 'यह वसति मेरी है, यह तेरी है इत्यादि विसवाद न होता हो, चित्त को व्यग्र करने वाला शोर गुल न हो, असंयमी जनो का सञ्चार व प्रसार न हो, मन को सक्लेश उत्पन्न करने वाले निमित्त न हो.विविक्त वसतिका के ऊपर ममत्व नहीं उत्पन्न होता हो, जहां आत्मचिन्तन और शास्त्र अध्ययनादि कार्यों में बाधा नहीं आती हो-ऐसी विविक्त वसति मे साधु–जन निवास करते हैं।

जहा पर गाय भैंस आदि तिर्यंचनियो का, वेश्या, व्यभिचारिणी स्त्रियों का भवनवासी व व्यन्तर देवियों का सम्पर्क हो उनका प्रचार हो-ऐसे स्थानों मे साधु शय्या आसन आदि नहीं करते।

आभ्यन्तर तप

पायच्छित्तं विणयं वेयावच्चं तहेव सज्झायं।
झाणं च विउस्सग्गो अब्भंतरओ तव एसो ॥ १६३ ॥ मू० पञ्चा०

अर्थ—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान, और व्युत्सर्ग ये आभ्यन्तर तप के छह भेद हैं।

प्रायश्चित—जिस तप से पूर्व कृत दोषों से-पापों से विशुद्धि होती है, व्रतो में लगे हुए दोषों की शुद्धि होती है, उसे प्रायश्चित कहते हैं।

प्रायश्चित्त के भेद

आलोयण पडिक्कमणं उभय विवेगो तहा विउस्सग्गो।
तव छेदो मूलं वि य परिहारो चेव सद्दहणा ॥ १६५ ॥ मू० पञ्चा०

अर्थ—आलोचना, प्रतिक्रमण उभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान ये प्रायश्चित के दश भेद हैं।

(१) आलोचना—आचार्य के सम्मुख जाकर अथवा आचार्य के अभाव में चारित्राचार पूर्वक उत्पन्न हुए दोषो का निवेदन करना आलोचना है।

(२) प्रतिक्रमण—रात्रि भोजन के साथ पाच महाव्रतो मे लगे हुए दोषो की निन्दा-गर्हा करते हुए उन दोषों का शोधन करना प्रतिक्रमण है।

(३) उभय (आलोचना-प्रतिक्रमण) आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनों के आचरण करने मे जो दोष दूर होता है, उसकी शुद्धि के लिए दोनो (आलोचना-प्रतिक्रमण) का आचरण करना उभय है।

(४) विवेक—काल की मर्यादा पूर्वक गण से तथा स्थान से साधु को पृथक् करना, विवेक है।

(५) व्युत्सर्ग—व्युत्सर्ग नाम कायोत्सर्ग का है। परिमित काल (एक आवलि मे लेकर एक मुहूर्त, दो दिन, तीन दिन, पक्ष, मास, छह मास पर्यन्त) शरीर से ममत्व त्याग कर एक स्थान पर स्थिरता से खड़े रहना कायोत्सर्ग है।

(६) तप—कर्म क्षय करने के लिए अनशनादि तप का अनुष्ठान करना, तप है।

(७) छेद—अपराध के अनुसार दीक्षा मे से पक्ष मासादि कम करना, अर्थात् दीक्षा को घटाना, छेद है।

(८) मूल—भयकर व्रत नाशक अपराध होने पर दीक्षा का छेदन कर नई दीक्षा देना, मूल प्रायश्चित है। राजवार्तिक आदि ग्रन्थो मे इसे उपस्थापना नाम से कहा है।

(९) कुछ काल के लिए उसे बहिष्कृत करना, परिहार नामा प्रायश्चित है, इस के दो भेद है—गणप्रतिवद्ध, गणाप्रतिवद्ध।

गण प्रतिवद्ध—जहा पर अन्य साधु लघुशकादि निवारण करते है, ऐसे स्थान मे अपराधी साधु को ठहराना। अपराधी पिच्छी को आगे करके अन्य साधुओ की वन्दना करता है, उसको कोई भी साधु वन्दना नहीं करता है, इस प्रकार गण में रहकर जो क्रिया की जाती है, उसे गण प्रतिवद्ध परिहार कहते हैं।

गणाप्रतिवद्ध—जिस देश मे लोग धर्म को नहीं समझते है उस देश मे मौन पूर्वक परिमित काल तक तपश्चरण करने का दण्ड देना गणाप्रतिवद्ध परिहार प्रायश्चित्त है।

(१०) श्रद्धान—तत्त्वों में रुचि रूप परिणाम को अथवा क्रोधादि के त्याग को श्रद्धान कहते हैं। अर्थात् मिथ्यात्व रूप तत्त्वों मे जिसे रुचि नहीं है, ऐसे साधु को तत्त्व में रुचि उत्पन्न करके पुनः दीक्षा की प्रार्थना करने पर दीक्षा देना श्रद्धान नामक प्रायश्चित है।

भावार्थ—कोई दोष तो ऐसा है जो आलोचना मात्र से शुद्ध होता है। कोई ऐसा होता है, जो प्रतिक्रमण से शुद्ध होता है। कोई दोष आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनो से शुद्ध होता है। कोई दोष विवेक से, कोई दोष कायोत्सर्ग से, कोई तप से, कोई छेद से, कोई मूल से तथा कोई परिहार से और कोई दोष श्रद्धान मात्र से शुद्ध होता है।

आलोचना का स्वरूप

कृत्वा त्रिशुद्धिं प्रतिलिख्य सूरिं प्रणम्य मूर्धस्थितपाणिपद्मः।
आलोचनामेष करोति मुक्त्वा दोषानशेषानपशल्यदोषः ॥ ५८६ ॥ (स० भग०)

अर्थ—मन वचन काय की शुद्धि करके पिच्छी से भूमि का प्रमार्जन करे तथा हाथ जोड मस्तक पर लगाकर आचार्य को सविनय प्रणाम करे। तीनो शल्यो से रहित होकर आलोचना के आगमोक्त दोषो को टालकर सब दोषो को आचार्य महाराज के पास प्रकट करना चाहिए। सिद्ध भक्ति व योग भक्ति पढकर वन्दना करनी चाहिये, ऐसा वृद्ध आचार्य कहते हैं। परन्तु श्री चन्द्राचार्य सिद्ध भक्ति, चारित्र भक्ति तथा शांति भक्ति पढकर वंदना करनी चाहिए-ऐसा कहते हैं।

आलोचना के दोष

आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च।
छण्णं सद्दाउलयं बहुजण अव्वत्त तस्सेवी ॥ ५६८ ॥ (भग०)

अर्थ—आकम्पित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवी ये दश आलोचना के दोष हैं। इनका खुलासा निम्न प्रकार है।

(१) आकम्पित—गुरु के मन में अपने विषय मे अनुकम्पा (दया) उत्पन्न कर आलोचना करना, आकम्पित दोष है।

(२) अनुमानित—किसी उपाय से गुरु के अभिप्राय को जानकर स्वकीय दोषों को कहना, अनुमानित दोष है।

(३) दृष्ट—जो दोष दूसरों ने देखे हैं, उन्हीं दोषो को प्रकट करना, नहीं देखे हुए दोषो को छिपाना दृष्ट दोष है।

(४) बादर—स्थूल-मोटे दोषों का कथन करना और सूक्ष्म दोष प्रकट नहीं करना बादर दोष है।

(५) सूक्ष्म—उत्पन्न हुए सूक्ष्म दोषों को प्रकट करना और स्थूल दोषों को छिपाना सूक्ष्म दोष है।

(६) छन्न—कोई साधु अमुक दोष करे तो उसका प्रायश्चित्त दिया जाता है, इस प्रकार पूछकर जो अपनी शुद्धि करता है, प्रकट रूप से अपने दोष को नहीं कहता है, उसके छन्न दोष होता है।

(७) शब्दाकुलित—पाक्षिक,चातुर्मासिक, सांवत्सरिक आलोचना के समय बहुत मुनिजन मिलकर आलोचना कर रहे हों, उस कोलाहल में, उनकी ध्वनि मे अपनी ध्वनि मिलाकर अपने दोषो की आलोचना करना, शब्दाकुलित दोष है।

(८) बहुजन—बहुत से साधुजनों के साथ २ आप भी खड़ा होकर अपने दोषों की आलोचना करना बहुजन दोष है। अथवा एक आचार्य को अपना अपराध निवेदन कर उस प्रायश्चित्त पर श्रद्धान न करके दूसरे आचार्य के पास पुन.अपने अपराध निवेदन कर प्रायश्चित चाहना बहुजन दोष है।

(९) अव्यक्तदोष—अज्ञानी साधु के समीप अपने दोषो की आलोचना करना अव्यक्त दोष है।

(१०) तत्सेवी—अपने लगे हुए दोषो के समान दोषों के सेवन करने वाले पार्श्वस्थादि साधुओं के समक्ष अपने दोषों की आलोचना करना तत्सेवी नाम का दोष है।

पुराने कर्मों का क्षय, क्षेपण, निर्जरा, शोधन, धावन, पुंछन, निराकरण, उत्क्षेपण, छेदन, द्वैधीकरण ये प्रायश्चित्त के नाम हैं।

विनय तप

दंसणणाणे विणओ चरित्ततवओवचारिओ विणओ।
पंचाविहो खलु विणओ पंचमीगइणायगो भणिओ ॥ १६७ ॥ (मू० पंचा)

अर्थ—दर्शन विनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय, तपविनय और उपचारविनय इस प्रकार विनय के पांच भेद हैं। यह विनय पचमी गति (मोक्ष) की प्राप्ति कराने वाला है, ऐसा आचार्यों ने कहा है। अब इनकी विशद व्याख्या करते हैं।

दर्शनविनय

उवगूहणादिआ पुव्वुत्ता तह भत्ति आदिआ य गुणा।
संकादिवज्जणं पि य दंसणविणओ समासेण ॥ १६८ ॥ (मू० पचा०)

अर्थ—परका दोप ढकना, अपनी प्रशंसा न करना, उपगूहन गुण है। निज की आत्मा को या पर को धर्म मे दृढ़ करना स्थिति करण गुण है। रत्नत्रय धर्म मे तथा उनके धारकों मे गोवत्स समान प्रीति करना वात्सल्य गुण है, इत्यादि इन सम्यक्त्व के आठ गुणों का पहले व्याख्यान कर आये हैं। इसलिए यहा नहीं किया गया है। अर्हन्तादि पचपरमेष्ठी में भक्ति, उनकी पूजा, और गुणों का कीर्त्तन करना, गुणानुकीर्त्तन नामक गुण है। किसी निमित्त से धार्मिक पुरुपो के अवर्णवाद का प्रसग आता हो तो, उस को तन मन और धन लगाकर दूर करना आसादना परिहार गुण है। शका, आकाक्षा, निर्विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि प्रशसा, तथा मिथ्यादृष्टि की स्तुति करना ये सम्यग्दर्शन के पाच अतिचार हैं। इनका स्वरूप का वर्णन पहले कर आये हैं, उनका निवारण करना दर्शन विनय है।

ज्ञान विनय

ग्रन्थार्थतद्वयैःपूर्णं सोपधानमनिह्नवम्।
विनयं बहुमानं च तन्वन् कालो श्रुतं भवेत् ॥ ११४ ॥ (अन० अ० ३)

अर्थ—सध्या, ग्रहण आदि अस्वाध्याय काल को टाल कर योग्य काल मे आगमोक्त विधि से आचाम्ल अनशनादि तपश्चरण धारण कर, सत्कार पुरस्कारादि बहुमान पूर्वक, अपने गुरु का नाम न छिपाते हुए, शब्द अर्थ तथा उभय (शब्दार्थ) रूप सूत्र का (महत्व प्रकट करते हुए) विनय पूर्वक अध्ययन करना ज्ञान विनय है।

चारित्र–विनय

इंदियकसायपणिधाणं पि य गुत्तीओ चेव समिदीओ।
एसो चरित्तविणओ समासदो होई णायव्वो ॥ ११७ ॥ (भग०)

अर्थ—इन्द्रियो के विषय एवं कषायों में मन की प्रवृति न होने देना, मन-वचन-काय गुप्ति का धारण, पाच समिति का पालन करना चारित्र का विनय है।

इन्द्रिय-कषाय-प्रणिधान-इन्द्र नाम आत्मा का है, उसका जो लिङ्ग-सूचक-ज्ञापक है, उसे इन्द्रिय कहते हैं। अथवा इन्द्र नाम नामकर्म का है, उससे जो निर्माण की जाती है, उसे इन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रिय के दो भेद हैं-द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय, इत्यादि। इसका विशेष विवेचन पहले कर चुके हैं। वे इन्द्रिया पाच है-स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु और श्रोत्र। यहा इन्द्रिय शब्द से इन्द्रियो के निमित्त से मनोज्ञामनोज्ञ रूप रसादि मे राग क्रोधादि रूप प्रतीति का ग्रहण है। अर्थात इन्द्रियो के विषयो मे राग द्वेष न करना चाहिए। कषन्ति-हिंसन्ति आत्म क्षेत्र इति कषाया' अर्थात् जो आत्मा के शुद्ध ज्ञानादि परिणामो का घात करते हैं, उन्हें कषाय कहते हैं। अथवा कषाय (वृक्ष की त्वचा (छाल) मे निकलने वाला चिकना रस) के समान जो कर्मरज के चिपकाने मे कारण है, उसे कषाय कहते हैं। वे चार है—क्रोध मान माया और लोभ।

गुप्ति—द्रव्य,क्षेत्र,काल, भव और भाव परिवर्तन को संसार कहते हैं, ससार के कारण ज्ञानावरणादि कर्म मे आत्मा की गोधन-रक्षण करना गुप्ति है। अर्थात मन वचन और काय की यथेच्छ प्रवृत्ति को रोकने को गुप्ति कहते हैं।

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्ति' (तत्त्वा०) यहां जो सम्यक् विशेषण दिया है, उससे सूचित होता है, कि सत्कार पूजादि की अपेक्षा रहित मन वचन काय को वशमे करना ही गुप्ति है। यही गुप्ति मोक्ष का साधन होती है। गुप्ति के तीन भेद हैं-मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति। मनमें रागादि की निवृत्ति होना ही—"जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणीहि त मणोगुत्ती"—मनोगुप्ति है।

असत्य, परुष, कठोर,मिथ्यात्व, असयमादि के निमित्त भूत वचन न बोलना वचनगुप्ति है। प्रमाद रहित होकर बिना देखे और बिना प्रमार्जन किये हुए भूमि भाग मे नहीं चलना, अथवा पदार्थों के उठाने,रखने,सोने, बैठने आदि क्रियाओं को न करना,अथवा कायोत्सर्ग करना काय गुप्ति है।

समिति—प्राणियों की पीडा का परिहार करते हुए देख शोध कर प्रवृत्ति करने को समिति कहते हैं। वह पांच-प्रकार की है-ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और व्युत्सर्ग।

शका—ईर्या भाषादि समिति और वचन काय गुप्ति मे क्या अन्तर है? क्योंकि प्राणियो को पीडा देने वाली जो कायादि की क्रिया है उस की निवृत्ति करना, कायादि गुप्ति है और समिति भी प्राणी पीडा का परिहार करके कायादि की प्रवृत्ति करना है।

समाधान—निवृत्तिरूप तो गुप्ति है और प्रवृत्तिरूप समिति है। इस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति के भेद से उक्त दोनो भिन्न २ हैं।

शंका—इन्द्रिय और कषाय मे अप्रणिधान (चित्त न लगाना) और मनोगुप्ति ये दोनो एक ही हैं। इन को पृथक्२ कहने का क्या कारण है ?

समाधान—राग द्वेष मिथ्यात्वादि अशुभ परिणामो के अभाव को मनोगुप्ति कहते हैं,यह तो सामान्य कथन है। तथा इन्द्रिय व कषाय से मन की निवृत्ति को जो मनोगुप्ति कहा है, वह विशेष कथन है। सामान्य और विशेष का कथचिद् भेद है, इसलिए पुनरुक्ति दोष नहीं है। मनोगुप्ति मे इन्द्रिय व कषाय अप्रणिधान आ जाता है, तथापि इनका भेद रूप से कथन करना चरित्रार्थी के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अथवा इन्द्रिय के विषय और कषाय को त्याज्य बताने के लिए इनका भिन्न २ कथन किया है। चारित्र शब्द से यहा पञ्च महाव्रत ही इष्ट हैं। तथा गुप्तिया व समितिया तो इसके परिकर रूप हैं।

कुछ आचार्यों ने पचीस भावनाओ को भी चारित्र विनय कहा है। "तत्स्थैर्यार्थं भावना पञ्च पञ्च" (तत्वा० अ० ७ सू० ३) अर्थात् अहिंसादि व्रतो की स्थिरता के लिए प्रत्येक व्रत की पांच २ भावनाएँ मानी गई हैं। उन भावनाओ का स्वरूप प्रथम किरण मे कह आये हैं।

तपविनय

उत्तरगुणउज्जमणे सम्मं अधिआसणं च सद्धाय।
आवसयाणमुचिदाणमपरिहाणी अणुस्सेओ ॥ १२१ ॥ (भग०)

अर्थ—उत्तरगुणो के आचरण करने मे उद्यम करना, सम्यक् प्रकार सक्लेश परिणाम से व दीनता से रहित होकर क्षुधादि परिषहो को सहना, तपश्चरण मे श्रद्धा करना, उचित समय मे षट् आवश्यको का भली भाति पालन करना, उनमे कमी बेशी न करना ही तप का विनय है।

भावार्थ—यहा उत्तर गुण शब्द से सयम का ग्रहण किया है, क्योकि सयम, सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के उत्तर काल मे होता है। विना श्रद्धान व ज्ञान के सयम मे प्रवृत्ति नहीं होती। कारण कि ज्ञान व श्रद्धाहीन पुरुष असयम का परिहार नहीं कर सकता।

इसका आशय यह है कि सयम के होने पर समम का उद्योत करने वाला तपश्चरण निर्जरा का कारण होता है। विना सयम के तप निर्जरा का कारण नहीं होता, इसलिए सयम तप का परिकर है। कहा भी है :—

'संजमहीणं च तवं जो कुणइ णिरत्थयं कुणइ'

अर्थात्—सयम हीन व्यक्ति का तपश्चरण निरर्थक है।

संक्लेश परिणाम व दैन्य भाव रहित होकर क्षुधादि परिषहों का सहना ही परीषह-सहिष्णुता है। परीषह बाईस हैं। वे इस प्रकार है—क्षुधा, पिपासा (प्यास) शीत-उष्ण, दशमशक, नग्नत्व, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या (बैठना), शय्या (शयन), आक्रोश,वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन। इनका विशेष विवेचन आगे वीर्याचार में किया जावेगा।

उपचार विनय

भत्ती तवोधिगंमि य अहीलणा य सेसाणं।
एसो तवम्मि विणओ जहुत्तचारिस्स साधुस्स ॥ १२२ ॥ (भग०)

अर्थ—अपने से (तपश्चरण में) अधिक मुनियों का दर्शन होने पर मुख पर प्रफुल्लता, हृदय मे उल्लास आदि उत्पन्न कर हार्दिक अनुराग प्रकट करना भक्ति है। तथा सम्यक् तपस्या मे अनुराग का प्रादुर्भाव होना भक्ति है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र पूर्वक जो तपस्या की जाती है, वही सम्यक् तपस्या है। इसके विपरीत मिथ्या दर्शनादि पूर्वक तपस्या संसार भ्रमण की कारण है, इसलिए उसे कुतपस्या कहते हैं। जो साधु अपने से तपस्या मे हीन हो, किन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान और सयम से विभूपित हों, उनका तिरस्कार नहीं करना चाहिए, क्योकि उनका तिरस्कार करना सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र का तिरस्कार करना है। इसलिए उनका बहुमान (आदर सत्कारादि) न करना ज्ञानातिचार है। उनमे वात्सल्य भाव का अभाव दर्शनातिचार है। जिसका ज्ञान और दर्शन सातिचार (सदोप) होता है, उसका चारित्र भी अशुद्ध होता है। आशय यह है कि तपश्चरण या तपस्वी का अविनय महा अनर्थ का कारण है। अतः उत्तरगुण में उद्यमादि उक्त गुणों का पालन करने वाले साधु के तपोविनय सिद्ध होता है।

उपचार विनय के भेद

काइयवाइयमाणसिओत्ति तिविधो हु पंचमो विणओ।
सो पुण सव्वो दुविहो पच्चक्खो चेव पारोक्खो ॥ १२३ ॥ (भग०)

अर्थ—उपचार विनय के कायिक विनय, वाचनिक विनय, मानसिक विनय इस तरह तीन भेद हैं। काय से जो विनय होता है, उसे कायिक, वचन से जो विनय प्रकट किया जाता है, उसे वाचनिक विनय तथा मन में जो विनीत भाव उत्पन्न होता है, उसे मानसिक विनय कहते हैं। इन तीनों के प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो दो भेद होते हैं। प्रत्यक्ष-कायिक-विनय और परोक्ष-कायिक-विनय। प्रत्यक्ष-वाचनिक-विनय और परोक्ष-वाचनिक-विनय। प्रत्यक्ष-मानसिक-विनय और परोक्ष-मानसिक-विनय।

प्रत्यक्ष कायिक विनय

अब्भुट्ठानं किदियम्मं णावंसणं अंजली य मुंडाणं।
पच्चुग्गच्छणमेंते पत्थिदस्स अणुसाधणं चेव ॥ १२४ ॥ (भग०)

अर्थ—गुरु आदि पूज्य महामुनियों के आने पर या प्रयाण करते समय आदर पूर्वक खड़े होना, तथा उनके सम्मुख गमन करना चाहिए। कृतिकर्मभक्ति वंदना का पाठ पढ़कर शरीर झुकाकर उन्हें वन्दना करना चाहिए। मस्तक पर दोनों हाथ जोड़ कर मस्तक झुकाना चाहिए। गुरु आदि बैठ जावें या खड़े होजावें तब उनके समीप जाना चाहिए, उनका स्वागत करना चाहिए। जब गुरु आदि जाने लगें तब उनके पीछे पीछे आदर पूर्वक थोड़े अन्तर से हाथ पाँव का शब्द न करते हुए शान्ति पूर्वक गमन करना चाहिए। यदि साथ गमन करना पड़े तो अपने शरीर प्रमाण भूमि के अन्तर से गमन करना चाहिए।

गुरु आदि के प्रतिष्ठित स्थान पर बैठ जाने या खड़े हो जाने पर शिष्य को उनसे नीचे स्थान पर अथवा पीछे इस प्रकार बैठना चाहिए, जिससे उनको अपने हाथ पाँव श्वास आदि से कष्ट न पहुँचे। अथवा सम्मुख बैठना ही पड़े तो गुरु आदि वाम भाग में (बाएँ हाथ की तरफ) उद्धततारहित अपने मस्तक को थोड़ा सा झुकाकर बैठे। गुरु आदि के तृण या काष्ठादि के आसन पर बैठ जाने के पश्चात् स्वयं भूमि पर बैठे। गुरु आदिके तृण काष्ठ शिलादि के गुरु की नाभि प्रमाण अन्तर वाले प्रदेश में अपना सिर रहे इतने दूर उन्नत आसन पर शयन करने पर आप निम्न स्थान पर शयन करे। जिससे अपने हाथ पाँव मस्तकादि की चोट गुरु के न आ जावे। अब वे बैठना चाहते हैं, ऐसा जानकर काष्ठादि के आसन को अथवा भूमि प्रदेश को नेत्रों से भली भाति देखकर तथा कोमल पिच्छी से शीघ्रता पूर्वक धीरे धीरे प्रमार्जन करके आसन देना चाहिए। जब गुरु को ज्ञान और संयम के उपकारक पुस्तक कमण्डलु आदि के ग्रहण करने की अभिलाषा प्रतीत होजावे तो उन्हें चीजें देना चाहिए। अथवा उद्गम उत्पादन एषणादि दोषों से रहित प्राप्त हुआ प्रति लेखन (पिच्छी) गुरुजी को देना चाहिए। शीत से पीड़ित गुरु आदि को निर्वात उष्ण स्थान और गर्मी से पीड़ित को शीतल हवावाला स्थान देना चाहिए। अथवा ग्राम नगर आदि में जहां आप निवास करता हो, वह स्थान देना चाहिए।

[illegible] गुरु आदि [illegible] मर्दन करना चाहिए। इसकी यह पद्धति है कि गुरु आदि के [illegible] समीप में खड़ा होकर [illegible] शरीर [illegible]। आगन्तुक जीवों को इस प्रकार से हटावे कि जिससे उन्हें बाधा न होने पावे। उनके शरीर को [illegible] मर्दन करे। गर्मी में [illegible] इस प्रकार कोमल स्पर्श करे, जिससे उनको शैत्य (शीतलता) का अनुभव होने लगे। [illegible] में गर्मी उत्पन्न करने वाला मर्दन करे।

[illegible], रुग्ण आदि [illegible] होती है, इसलिए उनकी अवस्था के अनुकूल वैयावृत्त्य कर उन्हें [illegible] देना चाहिए। गुरु जो आसन [illegible] पालन करना चाहिए। उनके सोने के लिए तृण का बिछौना (संस्तरण) कर देना चाहिए, [illegible] आदि के पट्ट [illegible] देना चाहिए। गुरु आदि के ज्ञान के उपकरण पुस्तकादि तथा संयम के उपकरण पिच्छी कमण्डलु आदि [illegible] के समय तथा [illegible] के समय पिच्छी से [illegible] प्रमार्जन करना चाहिए। इत्यादि यथावसर गुरुजनों की योग्यता के [illegible] में [illegible]। इसको कायिक विनय कहते हैं।

वाचनिक विनय

पूयावयणं हिदभासणं च मिदभासणं च महुरं च।
सुत्ताणुवीचिवयणं अणिट्ठुरमकक्कसं वयणं ॥ १२८ ॥ (भग०)

अर्थ—गुरु आदि पूज्य पुरुषों से वार्तालाप करते समय पूजा-सत्कार सूचक वचन का उच्चारण करना चाहिए। जैसे—हे पूज्य [illegible] मैं यह [illegible]। हे भगवन् ! आपकी आज्ञा लेकर मैं यह करना चाहता हूँ। हे स्वामिन् ! आपके पादपद्म के प्रताप से यहाँ ज्ञान [illegible] हो रही है, इत्यादि हित मित और मधुर वचन बोलना चाहिए। गुरु आदि के लिए दोनों लोक में हितकर वचनों का [illegible] है। [illegible] ही बोलना चाहिए जिसमें अपने अभिप्राय को गुरु आदि समझ जायें, उसे मित भाषण कहते हैं। सुनने में [illegible], उसे मधुर कहते हैं। शास्त्रानुकूल वचनोच्चारण को अनुवीचि भाषण कहते हैं। दूसरे के अन्तःकरण को पीड़ा न करने वाले [illegible] अनिष्ठुर कहते हैं तथा दूसरों के चित्त में क्षोभ उत्पन्न करने वाले वचन को अपरुष कहते हैं।

[illegible] पूज्य पुरुषों के [illegible] सूचक, लोकद्वयहितकर, परिमित, कर्णप्रिय, शास्त्रानुकूल तथा पर चित्त में पीड़ा के अनुत्पादक और [illegible] उत्पन्न नहीं करने वाले वचनों का व्यवहार करना चाहिए। इसे वाचनिक विनय कहते हैं।

[illegible] और [illegible] पुरुषों के वचन को [illegible] कहते हैं, ऐसे [illegible] गुरुओं के समान [illegible] चाहिए।

पृ० [illegible]

अयोग्य वचन बोलने वाले, मिथ्या दृष्टि व असयमी गृहस्थो के समान वचनालाप नही करना चाहिए। असि, मषि, कृषि आदि षट् कर्मों मे प्रवृत्ति कराने वाला वचन मुख से नहीं निकालना चाहिये, क्योकि इससे जीवो को बाधा होती है, इसलिए ऐसा वचन न बोलकर जीवों की रक्षा करने वाला भाषण करना उचित है। दूसरो की अवहेलना करने वाला वचन कदापि उचारण उचित नहीं है। इसे वाचनिक विनय कहते हैं।

मानसिक विनय

पापविसोत्तियपरिणामवज्जणं पियहिदे य परिणामो।
णायव्वो संखेवेण एसो माणसिओ विणओ ॥ १३० ॥ भग०

अर्थ—जिनसे जल प्रवाह के समान पाप कर्म समूह का अविच्छिन्न रूप से आगमन होता है, ऐसे अशुभ परिणामो को अपने हृदय मे स्थान देना ठीक नहीं है। यहां गुरु विनय का प्रकरण है, इसलिए गुरु के विषय मे अशुभ परिणाम अपने हृदय मे उत्पन्न न होने देना चाहिए।

जब गुरु शिष्य की स्वच्छन्द प्रवृत्ति का निवारण करते हैं, तब शिष्य यदि क्रोध उत्पन्न करता है, तो उसके अशुभ कर्म का आस्रव होने लगता है। शिष्य की उद्दण्ड प्रवृत्ति देख कर गुरु का शिष्य पर पूर्ववत् अनुराग नही रहता, तब शिष्य के मन मे अनेक विकल्प पैदा होते हैं-गुरुजी पूर्व की भांति मुझे नहीं पढाते, मेरे साथ सम्भाषण भी नहीं करते हैं। इससे शिष्य के अन्त करण मे रोष उत्पन्न होता है, और वह द्वेष के वशीभूत हुआ गुरु का विनय करने मे आलस्य करने लगता है और गुरु की अवज्ञा करता है। निन्दा और अनादर के भाव उसके मनमे उत्पन्न होने लगते हैं और उनके विपरीत चलने लगता है। इत्यादि सब पाप मय विचार हैं इनका त्याग करना चाहिए। जो प्रवृत्ति गुरु को प्रिय लगे और जिससे अपना भी हित हो वह प्रवृत्ति करना शिष्य का कर्तव्य है। यह सब मानसिक विनय है।

परोक्ष विनय

इय एसो पच्चक्खो विणओ पारोक्खिओ वि जं गुरुणो।
विरहम्मि विवट्टिज्जइ आणाणिद्देसचरियाए ॥ १३१ ॥ (भग०)

अर्थ—इस प्रकार कायिकादि तीन प्रकार के प्रत्यक्ष विनय का स्वरूप कहने के पश्चात् अब परोक्ष विनय का स्वरूप कहते हैं।

गुरु के निकट वर्त्ती होने पर गुरु का विनय करना प्रत्यक्ष-विनय है। गुरु के विद्यमान न होने पर गुरु की आज्ञा के अनुकूल सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय मे उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रवृत्ति करना ही उनका परोक्ष विनय है।

केवल गुरु का ही विनय नहीं, किन्तु अन्य का भी विनय शिष्य को यथायोग्य करना चाहिए, यही दिखाते हैं :

राइणिय अराइणीएसु अज्जासु चेव गिहिलग्गे।
विणओ जहारिहो सो कायव्वो अप्पमत्तेण ॥ १३२ ॥ (भग०)

जैसे-रत्न दुर्लभ होते हैं, किन्तु मिलजाने पर उनसे ही अभिलपित वस्तु की प्राप्ति होती है, वैसे ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चारित्र भी अत्यन्त दुर्लभ हैं किन्तु अभिलषित वस्तु जो मोक्ष है, उसकी इनमे ही उपलब्धि होती है, इसलिए ये रत्नत्रय कहे जाते हैं। यह रत्नत्रयरूप परिणाम जिनके अधिक उत्कृष्ट अथवा समान हो ऐसे मुनि को 'राइणिय' कहते हैं। जो रत्नत्रय मे अपने से हीन हैं ऐसी आर्यिकाएँ तथा गृहस्थ इनका भी प्रमाद रहित होकर यथायोग्य विनय सत्कार करना चाहिए।

विनय के अभाव में दोषो की उत्पत्ति

विणएण विप्पहूणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा।
विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्लाणं ॥ १३३ ॥ (भग०)

अर्थ—विनय हीन यति की सब शिक्षा निरर्थक होती है, क्योकि शिक्षा का फल पाच प्रकार का विनय बताया है। और विनय का फल पञ्च कल्याणको की प्राप्ति है। एवं आनुषगिक रूप से ससार के सुखो का पाना भी है।

इसका आशय यह है कि जिस शिक्षा से आत्मा मे विनीतता-नम्रभाव उत्पन्न होता है, वही शिक्षा सफल है। जिसने वर्षों तक घोर परिश्रम करके विविध शास्त्रो का अध्ययन किया, उनका स्मरण मनन चिन्तनादि किया और यदि आत्मा मे विनय धर्म की उत्पत्ति नहीं हुई तो उसका विद्याभ्यास का सब श्रम निष्फल है। कारण कि विद्याभ्यास का मुख्य फल विनय है। विनय के अभाव मे विविध शास्त्रो का अध्ययन गधे पर लदे हुए मिष्टान्नादि के समान केवल भार मात्र है। विनीत शिष्य पर ही गुरु आदि का अनुग्रह रहता है। और उसके हृदय मे विद्या का प्रवेश शीघ्र होता है, और वह अनायास ही सब गुणो का निवास स्थान बन जाता है।

विनय समस्त कर्मों के निर्मूलन करने मे कारण होने से मोक्ष का द्वार माना गया है। पांचों प्रकार के विनय मे तत्पर रहने वाले के सम्पूर्ण असयम का परिहार होता है, इसलिए विनय सयम का जनक है। ज्ञानादि के विनय मे प्रवृत्ति नहीं करने वाले अविनीत व्यक्ति की अनशनादि तपश्चरण मे प्रवृत्ति नहीं होती, अत विनय तपस्या का भी कारण सिद्ध होता है। ज्ञान तो विनय से ही प्राप्त होता है, इसलिए ज्ञान का हेतु विनय है। विनय से आचार्य प्रसन्न होते हैं और सम्पूर्ण सङ्घ विनयवान् मुनि का पक्षपाती व अनुरागी बन जाता है।

मानसिक, वाचिक और कायिक विनय का आराधक साधु आचाराग मे निरूपित सब आचरण का पालक होता है। दण्ड विधान करने वाले कल्पशास्त्र म अविनय करने वाले के लिए दण्ड-प्रयोग की व्यवस्था बताई गई है। विनीत सारे दण्डो से मुक्त रहता है। विनीत यति ही आचार-क्रम का व कल्पनीय-योग्य गुणो का प्रकाशन करता है। क्योकि उसके श्रुतज्ञान की आराधना होती है। विनय गुण से आत्म-शुद्धि होती है, इसलिए विनय ज्ञान, दर्शन और वीतरागता रूप आत्म शुद्धि का जनक है। विनय से वैमनस्य नष्ट होता है। विनय हीन पर गुरु आदि का अनुग्रह नहीं होता, इसलिए उसके चित मे व्यग्रता (आकुलता) बनी रहती है। विनय से सरलता आती है। अथवा जो विनय करता है वह आगम निर्दिष्ट आचरण का आराधन करने वाला होता है। विनय अभिमान का नाश करता है और उससे लाघव गुण प्रकट होता है। विनयवान की सब भक्ति करते हैं। विनय स दूसरे मनुष्यों के हृदय प्रफुल्लित होते हैं। अविनयी मनुष्य का मन सदा कुण्ठित रहता है और वह निन्दा व भर्त्सना का पात्र होता है, अत वह सदा दु खी रहता है। विनयवान् इन सब दुर्गुणो से दूर रहता है, इसलिए वह सर्वदा सुख का अनुभव करता है। सुख के अभिलाषियो को सबसे प्रथम विनय का पालन करना चाहिए।

वैयावृत्य तप

सत्तीए भत्तीए विज्जावच्चुज्जदा सदा होह।
आणाए णिज्जरेत्ति य सबालउड्ढाउले गच्छे ॥ ३०६ ॥ (भग०)

अर्थ—हे मुने ! तुम बालमुनि और वृद्धमुनि से व्याप्त मुनि-सङ्घ की अपनी शक्ति के अनुसार भक्ति पूर्वक वैयावृत्य करने मे उद्यत रहो। वैयावृत्य करना मुनियो का कर्त्तव्य है, ऐसी सर्वज्ञ देव की आज्ञा है। यह वैयावृत्य तप है और निर्जरा का कारण है। ऐसा समझ कर इसके करने मे सदा उद्यत रहो। साधु किस २ की व्यावृत्ति करे-उसके लिए सूत्रकार उमास्वामी कहते हैं।

आचार्योपाध्यायतपस्वीशैक्षग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम् ॥ तत्वा० अ० ६ सू २४ ॥

अर्थ—आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, सघ साधु और मनोज्ञ इन दश प्रकार के साधुओ की वैयावृत्य (कष्टो को दूर करना) सेवा टहल करना वैयावृत्य तप है।

आचार्य—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र गुण से सम्पन्न जिस महात्मा से भव्य जीव आत्म-हित के लिए व्रत धारण करते हैं, जो स्वय पचाचार का आचरण करता है और दूसरो से करवाता है उसे आचार्य कहते हैं।

उपाध्याय—जिस व्रत-शील-गुण के आधार भूत श्रुत के ज्ञाता मुनि से शिष्य विनय पूर्वक आगम का अध्ययन करते हैं, उसे उपाध्याय कहते हैं।

तपस्वी—अतिकठिन महान् तप का आचरण करने वाले साधु को तपस्वी कहते हैं।

शैक्ष्य—जो साधु व्रतादि गुण का पालन करता हुआ श्रुत का अध्ययन करने मे तत्पर रहता है, उसे शैक्ष्य कहते हैं।

ग्लान—जो साधु रोगादि से पीड़ित है, उसे ग्लान कहते हैं।

गण—स्थविर साधुओ की सन्तति को गण कहते हैं। अर्थात्–वृद्ध साधुओ की जो शिष्य परम्परा चली आरही हो, उसे गण नाम से कहते हैं।

कुल—दीक्षा देने वाले आचार्य की जो शिष्य परम्परा है, उसे कुल कहते हैं।

सघ—ऋषि, यति, मुनि, अनगार इन चारो प्रकार के मुनिसमूह को सघ कहते हैं।

साधु—चिरकाल के दीक्षित मुनि को साधु नाम से कहते हैं।

मनोज्ञ—जो विद्वान्, वाग्मी, (श्रेष्ठ वक्ता) महाकुलोत्पन्न तथा लोक मे मान्य हो उसे मनोज्ञ कहते हैं।

इन दश प्रकार के साधुओ के लिए निरवद्य (निर्दोष) औपध भोजनपानादि का सभव न होने पर अपने हस्तादि द्वारा उनके मुत्रादि से कफ नाक इत्यादि का मल निकाल कर उनके अनुकूल वैयावृत्य–सेवा टहल करना, उनके चित्त मे सावधानता की प्राप्ति कराना, धैर्य बंधाना इत्यादि अनेक प्रकार से वैयावृत्य करना चाहिए।

वैयावृत्य की विधि

सेज्जागासणिसेज्जा उवधी पडिलेहणाउवग्गहिदे ।
आहारोसहवायणविकिंचणुव्वत्तणादीसु ॥ ३०५ ॥ (भग०)

अर्थ—शयन का स्थान, बैठने का स्थान, पिच्छी कमण्डलु पुस्तकादि सयम और ज्ञान के उपकरण, इन सबका कोमल पिच्छी मे प्रमार्जन करना, उनके योग्य निर्दोष आहार, औषध देकर उपकार करना, उपदेश-प्रद व्याख्यान देना, शक्ति-हीन मुनि के मल मूत्रादि को दूर करना-धोना, उठाकर एक करवट से दूसरी करवट मे लेटाना इत्यादि क्रियाओं द्वारा वैयावृत्त्य-सेवा टहल करना चाहिए।

मार्ग के श्रम से थके हुए साधु की हस्तपादादिक के मर्दनादि द्वारा सेवा करना चाहिए। जो साधु चोर आदि से सताये गये हों, दुष्ट पशुओं से पीड़ित हो, अन्याय परायण राजा से उपद्रव को प्राप्त हुए हों तो उनके उपद्रवादि को दूर करना चाहिए। नदी से रुके हुए साधु को नदी पार करना, किसी ने साधु को रोक लिया तो उन्हें छुडाना, मारी रोग से पीडित साधु के रोग को निग्रादि से दूर करना तथा कोई मुनि दुर्भिक्ष से पीड़ित हो रहें तो सुभिक्ष देश मे लाकर उन की पीड़ा को दूर करना चाहिए। किसी भय से व्याकुल हुए साधु को 'आप मत डरो, इत्यादि कह कर धैर्य बँधाना उनका सब प्रकार से रक्षण करना चाहिए। ये सब वैयावृत्त्य के प्रकार हैं।

वैयावृत्य नहीं करने वालों के प्रति

अणिगूहिदबलविरिओ वेज्जावच्चं जिणोवदेसेण ।
जदि ण करेदि समत्थो संतो सो होदि णिद्धम्मा ॥ ३११ ॥ (भग०)

अर्थ—जो अपनी शक्ति के अनुसार जिनेन्द्र के द्वारा उपदिष्ट वैयावृत्त्य को नहीं करता है, वह धर्म हीन होता है। उसके हृदय मे धर्म की वासना नहीं रहती है, जो वैयावृत्त्व करने से जी चुराता है। वैयावृत्त्य के विना साधु का मार्ग भ्रष्ट हो जाता है, धर्म की प्रवृत्ति रुक जाती है। अत्युत्तम आचारवाले ज्ञानी मुनि भी रोगादि उपद्रव के आने पर वैयावृत्त्य के अभाव मे रत्नत्रय के पवित्र मार्ग से पतित होते देखे गये हैं। वह धर्मात्मा नहीं हो सकता, उसके हृदय में रत्नत्रय की सस्थिति भी नहीं होती—जो वैयावृत्य करने के भय से मुनि सघ का सहयोग छोड़ देता है। वैयावृत्य महान आत्मा ही करता है। स्वार्थी-हृदय-हीन व्यक्ति इससे दूर भागता है। पुण्यात्मा ही इसके महत्व को समझता है। पापी इसके गुण को नहीं समझ सकता। वैयावृत्य के प्रभाव से सर्वोत्कृष्ट तीर्थंकर पद मिलता है। इसलिए अपने कल्याण की

इच्छा रखने वालो को ही क्या सम्पूर्ण ससार के जीवो को वैयावृत्य अपने पद के अनुकूल करना चाहिए। इस लोक मे सच्चे वैयावृत्य के माहात्म्य से मनुष्य को दिव्य आनन्द का अनुभव होने लगता है। समस्त संसार मुक्त-कण्ठ से उसका यशोगान करने लगता है। इससे आत्मा मे सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र की निर्मलता होती और सनातन सुख का अनुभव होने लगता है। अत वैयावृत्य के अनुपम अवसर को कभी नहीं चूकना चाहिए और वैयावृत्य करने मे अपना सर्वोत्तम सौभाग्य समझना चाहिए। यह मनोवाञ्छित वस्तु देने वाला कल्पवृक्ष और चिन्तामणि, कामधेनु और कामघट से भी बढ कर है। ऐसा समझ कर इस वैयावृत्य तप का सतत आचरण करना उचित है।

वैयावृत्य करने से क्या २ गुण उत्पन्न होते हैं, उसे दिखाते हैं।

गुणपरिणामो सड्ढा वच्छल्लं भत्तिपत्तलंभो य।
संधाणं तवपूया अव्वोच्छित्ती समाधी य ॥ ३०९ ॥

आणा संजमसाखिल्लदा य दाणं च अविदिगिंछा य।
वेज्जावच्चस्स गुणा प्रभावणा कज्जपुण्णाणि ॥ ३१० ॥ (भग०)

अर्थ—वैयावृत्य करने वाले मे निम्नोक्त १७ गुण प्रकट होते हैं। १ गुणपरिणति, २ श्रद्धा, ३ भक्ति ४ वात्सल्य, ५ पात्रलाभ, ६ सधान, ७ तप, ८ पूजा, ९ तीर्थ की अव्युच्छित्ति, १० समाधि, ११ आज्ञापालन, १२ सयम, १३ सहायता, १४ दान, १५ निर्विचिकित्सा, १६ प्रभावना, १७ कायनिर्वाह।

(१) गुणपरिणति—ससार के सारे प्राणी धधगती हुई मोहरूपी अग्नि से जल रहा एव घोर दुःख पारहा है, किन्तु इन मुनीश्वर ने विवेक रूपी शीतल जल मे अवगाहन कर उस मोह रूपी अग्नि के प्रभाव को नष्ट कर दिया है। इन्होने मनोज्ञ और अमनोज्ञ इन्द्रियो के विषयो मे राग द्वेष रूप परिणति का सहार कर दिया है। रत्नत्रय ही इनका धन है। शारीरिक, वाचनिक और कायिक चेष्टाओं पर इनका पूर्ण नियत्रण है। ये लौकिक आदर-सत्कार की अपेक्षा नहीं करते। तेजोमय तपस्या के प्रभाव से ये कर्मरज का नाश कर रहे हैं, इस प्रकार यति के गुणो मे वास्तविक अनुराग रखते हुए वैयावृत्य करने वाले के गुणपरिणति नामा गुण होता है।

(२) श्रद्धा—रत्नत्रय मे श्रद्धा होने पर ही रत्नत्रय के आराधक साधु की वैयावृत्य सभव है। अथवा रत्नत्रय की मूर्ति स्वरूप साधु की वैयावृत्य करने से मोक्ष मार्ग (रत्नत्रय) मे श्रद्धा विशेष उत्पन्न होती है।

(३) वात्सल्य—जिसके हृदय मे धर्मात्मा और धर्म पर सच्चा अनुराग होता है,वही मुनि की सेवा टहल करता है। वैयावृत्य करने वाले का चित्त सहानुभूति से ओत-प्रोत होता है इसीलिए वह नव कोटि पूर्वक (मन,वचन,काय,कृत,कारित,अनुमोदना)मुनि का वैयावृत्य करता है, अतः वैयावृत्य वात्सल्य का सूचक है अर्थात् वात्सल्य गुण का प्रकाश वैयावृत्य के आचरण से होता है।

(४) भक्ति—गुणानुराग को भक्ति कहते हैं। यह भक्ति अर्हन्त,सिद्ध,आचार्य,उपाध्याय और साधु आदि पूजनीयों के गुणो में प्रीति उत्पन्न होने से होती है। साधु आदि का वैयावृत्य करने वाले के हृदय मे उनके गुणो मे प्रीति स्वत· उत्पन्न होती है, अतः साधु की वैयावृत्य भक्ति को प्रकट करता है।

(५) पात्रलाभ—उत्तम मध्यम और जघन्य तीन प्रकार के पात्र माने गये हैं। अविरत सम्यग्दष्टि जघन्य पात्र, पचमगुण-स्थानवर्ती श्रावक मध्यम पात्र तथा अठाईस मूलगुण के धारक निर्ग्रन्थ मुनि उत्तम पात्र हैं। जो मुनि का वैयावृत्य करता है, उसको उत्तम पात्रलाभ होता है जो कि आत्मा की सद्गति का कारण है, क्योकि उत्तम पात्रो की सेवा ही स्वर्गादि की प्राप्ति और निःश्रेयस (मोक्ष) की साधक होता है।

(६) संधान—मूर्तिमान् रत्नत्रय साधु ही होते हैं, क्योकि उनके शरीर से रत्नत्रय साक्षात् प्रकट होता है। उसकी सेवा शुश्रूषा करने से छूटे हुए रत्नत्रय का आत्मा मे पुन. सधान (सम्बन्ध) होता है, अत वैयावृत्य रत्नत्रय के संधान (फिर मिलाना) को करने वाला है।

(७) तप—वैयावृत्य करने वाला साधु सतत मुनि की परिचर्या मे लगा रहता है, वह अपनी सब इच्छाओ का निरोध कर अपने मन और इन्द्रियो को मुनि की सेवा मे लगाता है, अत उसके इच्छा का निरोध होने से आभ्यन्तर तपश्चरण का साधन होता है।

(८) पूजा—आगम में पचपरमेष्ठी की पूजा करना बताया है और वह (पूजा) अभ्युदय–स्वर्गादि की सम्पत्ति-तथा परम्परा मुक्ति का कारण बताई है। पचपरमेष्ठी मे अर्हन्त और सिद्ध को छोडकर शेष आचार्य,उपाध्याय और साधु ये तीनों मुनि हैं। यद्यपि अर्हन्त भी मुनि ही हैं, तथापि वैयावृत्य मे उनका ग्रहण नहीं है, क्योकि उनके वेदनीय कर्म का उदय होते हुए भी मोहनीय कर्म के नाश हो जाने से वह वेदनीय कर्म कुछ भी कार्य करने मे समर्थ नही रहा है, अत. उनके रोगादि जन्य शरीर मे पीड़ा नहीं होती है, इसलिए वे सब प्रकार के उपद्रवो से परे हैं। अतः आचार्य, उपाध्याय और साधुओ का जो मन वचन और काय से वैयावृत्य करता है, उनके शरीर की बाधा और मानसिक पीडा को दूर करना अपना कर्तव्य समझता है उसके उत्कृष्ट पूजा की प्राप्ति होती है। अत· वैयावृत्य करने से पूजा का फल उपलब्ध होता है।

(९) तीर्थ की अव्युच्छित्ति—धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति धार्मिक पुरुषों के अधीन है; क्योंकि 'न धर्मो धार्मिकैर्विना' धर्म का अस्तित्व धार्मिक व्यक्ति के बिना नहीं रह सकता, इसलिए यह सिद्ध हुआ कि जो पुण्यात्मा रत्नत्रय के आराधक मुनिगण की रक्षा करता है, उसकी सेवा शुश्रूषा करता है, वह धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति को अविच्छिन्न बनाता है।

(१०) समाधि—शरीर सम्बन्धी रोगादि बाधा को दूर करके जो पीड़ित साधु को शान्ति पहुँचाता है वह साधु के चित्त में शान्ति स्थापित करने का कारण बनता है। पीड़ादि से जो अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प भाव राग द्वेष रूप परिणाम होते हैं, उनका नाश हो जाने से साधु के समाधि उत्पन्न होती है। तथा वैयावृत्य करने वाले के भी चित्त में शान्ति उत्पन्न होती है। वैयावृत्य करते समय उसका अन्तःकरण राग द्वेषादि परिणति से रहित होता है। वह केवल पीड़ित साधु की सेवा में लगा रहता है, इसलिए उसको भी समाधि प्राप्त होती है।

(११) आज्ञा पालन—दश प्रकार के साधुओं का वैयावृत्य करने की भगवदाज्ञा है। वैयावृत्य करने वाला उक्त आज्ञा के अनुसार आचरण करता है। इसलिए उसके भगवदाज्ञा का पालन होता है।

(१२) संयम सहायता—संयमी का वैयावृत्य करने वाला साधु उसके संयम में आये हुए विघ्नों का परिहार करके संयम को निर्विघ्न बनाता है। यही उसकी संयम में सहायता पहुंचाना है।

(१३) दान—रोग-पीड़ित साधु के रत्नत्रय के साधन में बाधा आती है; क्योंकि वह रोगादि उपद्रव से बाध्य हुआ साधु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का अनतिचार आराधन नहीं कर सकता, इसलिए रोगादि उपद्रवों का निराकरण करने वाला व्यक्ति रत्नत्रय के निर्दोष आचरण का साधक होने से रत्नत्रय का दान करने वाला सिद्ध होता है।

(१४) निर्विचिकित्सा—अनेक प्रकार की व्याधियों से पीड़ित साधुओं के शरीर में ग्लानि पैदा करने वाले व्रण, घाव से पीप व खून बहता हो, मलमूत्र कफादि से शरीर में दुर्गन्ध आ रही हो तो उससे ग्लानि न करके उनके व्रण, घाव, मलमूत्रादि को शुद्ध प्रासुक जल से धोना, औषधि का योग मिलाना आदि सब सेवा में ग्लानि न करने से बन सकती है। ग्लानि करना पाप है। ग्लानि करने वाला रोगी की सेवा शुश्रूषा कदापि नहीं कर सकता। सेवा शुश्रूषा तो दूर रही उनके समीप भी नहीं जा सकता। उन व्याधि-पीड़ित साधुओं की औषध तथा मलादि का शोधन कैसे कर सकता है? इसलिए ग्लानि को पाप समझकर पीड़ित साधुओं का सब प्रकार से वैयावृत्य करना चाहिए। इस वैयावृत्य के करने से निर्विचिकित्सा गुण प्रकट होता है।

(१५) प्रभावना—धर्म प्रभावना अनेक उपायो से होती है। धन व्यय कर, जिनेन्द्र की पूजा प्रतिष्ठा आदि करवाकर, दु:खित, बुभुक्षित जीवो को भोजनादि देकर, चैत्यालयादि बनवाकर, तथा विद्वत्तापूर्ण धर्म का उद्योत करने वाले ललित तात्त्विक-व्याख्यान देकर और अनेक उपायो से धर्म प्रभावना की जाती है, वे सब प्रभावना के उपाय धनवान व विद्वान कोई भी कर सकते हैं। परन्तु धर्ममूर्त्ति रत्नत्रय-शरीर के धारक साधुओं की रोगादि पीड़ित अवस्था में अपने शरीर द्वारा सेवा टहल सब नहीं कर सकते। इसको तो अत्यन्त धर्मानुरागी व्यक्ति ही कर सकता है। इसलिए साधुजन की रोगादि अवस्था में वैयावृत्य करना उत्कृष्ट प्रभावना है।

(१६) कार्यनिर्वाह—साधु कर्मक्षय करने के लिए अनेक तप करते हैं। एक दो, चार, पाच, आठ दिन एक मास आदि के उपवास धारण करते हैं तथा अनेक प्रकार के कायक्लेश आदि तप करने को अपना मुख्य कर्तव्य समझते हैं। उनमे साधुओ का मुख्य कर्तव्य वैयावृत्य भी है। जिस मुनि ने वैयावृत्य तप का भली भाति पालन किया उसने अपने कार्य का पूर्ण प्रकार से निर्वाह किया समझना चाहिए। क्योंकि इसका आचरण करने वाला स्व और पर का उपकार करता है। वैयावृत्य तप का पालन करके वह अपने कर्म की निर्जरा करता है तथा पीड़ित साधु के रत्नत्रय की वृद्धि करता है, अत वह अपने उद्देश्य की सिद्धि करने के कारण स्वकार्य का निर्वाह करने वाला माना जाता है। क्योकि इस वैयावृत्य के प्रभाव मे वह त्रिलोक मे उत्कृष्ट तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृति का बन्ध करता है, जिसके कारण वह त्रिलोकाधिपति 'तीर्थंकर' पद प्राप्त करता है।

कहा तक कहा जाय वैयावृत्य करने वाले के ऐसे अनेक गुण प्रकट होते हैं। वे इस लोक में भी इसकी यशस्विता, महत्ता प्रकट करते हैं। वह सम्पूर्ण सङ्घ के नेत्रो मे ही नहीं हृदय मे बस जाता है। उसकी आत्मा उन्नति पथ पर अग्रसर होती जाती है और वह इस लोक मे भी सुख का अनुभव करता है तथा परलोक मे अनेक विभूतियों को पाकर परम पद को प्राप्त होता है।

स्वाध्यायतप

परियट्टणा य वायण पडिच्छणाणुपेहा य धम्मकहा।
थुदिमंगलसंजुत्तोपंचविहो होइ सज्झाओ ॥ १९६ ॥ (मूला० पञ्चा०)

अर्थ—वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, परिवर्त्तन (आम्नाय) और धर्मकथा स्तुतिमङ्गल ये पाच स्वाध्याय तप के भेद हैं।

(१) वाचना—बाह्य धनादि की अपेक्षा रहित तत्व का ज्ञाता मुमुक्षु पर के पति जो ग्रन्थ, अर्थ और उभय (ग्रन्थ और उसका

अर्थ) का प्रतिपादन करता है, उसे वाचना कहते हैं।

(२) पृच्छना—दूसरों को ज्ञान कराने के लिए या संशय दूर करने के लिए अथवा निश्चित-तत्व को स्थिर करने के लिए उपहास, स्पर्धा, हास्य आदि नहीं करते हुए ग्रन्थ (शब्द), अर्थ अथवा उभय के विषय में दूसरे से पूछना पृच्छना है।

मूलाचार की टीका में पृच्छना का अर्थ शास्त्र-श्रवण किया है। क्योंकि प्रश्न कर्ता के पूछने पर वक्ता द्वारा तत्व का विवेचन करने पर सब श्रोता उसे श्रवण करते हैं, अतः पृच्छना का परम्परागत अर्थ शास्त्र-श्रवण भी संगत होता है।

(३) अनुप्रेक्षा—चित्त को एकाग्र करके किसी विषय का बार २ चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।

मूलाचार की टीका में अनित्यत्व, अशरणत्व आदि बारह भावना के चिन्तन को अनुप्रेक्षा नामा स्वाध्याय कहा है।

(४) परिवर्तन (आम्नाय)—इस लोक व परलोक सम्बन्धी फल की अपेक्षा न करने वाले व्रती का द्रुतविलम्बित, पदच्युत, अक्षरच्युतादि उच्चारण दोष रहित शुद्ध ग्रन्थ का परिवर्तन (आवृत्ति) करना, वह परिवर्तन नामक स्वाध्याय है।

(५) धर्म कथा स्तुति मङ्गलादि—धर्मोपदेश करने के प्रत्यक्ष प्रयोजन का त्याग कर उन्मार्ग का निराकरण, सन्देह का निवारण तथा अपूर्व पदार्थ का प्रकाशन करने के लिए धर्मोपदेश देना धर्मकथा है।

मूलाचार की टीका में तिरेसठ शलाका के पुण्य पुरुषों के चरित्र को धर्मकथा कहा है। देववन्दना को स्तुति और नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक और शान्ति आदि रूप वचन वगैरह को मङ्गल कहते हैं।

भावार्थ—श्री परम भट्टारक तीर्थंकर देवाधिदेव ने अपनी दिव्य-ध्वनि द्वारा तथा अतिशय बुद्धि-ऋद्धि धारक गणधर महाराज ने उपदेश द्वारा कहा है कि अनादि काल से चिपटे हुए कर्मों का क्षय बारह प्रकार के तप से होता है। उनमें स्वाध्याय नामक तप के समान आत्मा का हित करने वाला दूसरा तप न है, न हुआ है और न होगा। क्योंकि स्वाध्याय से वस्तु-तत्त्व का ज्ञान होता है। आत्मा और कर्मों का भेद ज्ञान होता है। भेद विज्ञान से आत्मा में श्रद्धा और उपादेयता आती है और पुद्गलादि पदार्थों से विरक्तता और उपेक्षा होती है। इससे आत्मा में वीतरागता शान्ति और परमउज्ज्वलता आती है। आत्मा को ज्ञान द्वारा कर्मबन्धन की गाठें और उसके खोलने के कारण प्रत्यक्ष से दीखने लगते हैं। तब वह उन गाठों को सुलझाने के उपाय में तत्पर होता है। ये रागद्वेषादि भावकर्म बन्ध के कारण हैं, और पुद्गल कर्मों के निमित्त से आत्मा में उत्पन्न होते हैं। ये मेरे नहीं हैं। ज्ञानदर्शनादि मेरा स्वरूप है। शान्ति और सुख मेरा निजधन है। मैंने अज्ञान वश बाह्य

शरीरादि पदार्थों को सुख का साधन जानकर उन्हे तो अपनाया है और अपने वास्तविक सुख का साधन वैराग्य निर्मोह और निराकुलता आदि की उपेक्षा और अवहेलना की जिसके कारण मुझे असह्य जन्म-जरा-मरण के दुःख भोगने पडे हैं। इस प्रकार के विचार ज्ञान प्राप्त होने पर ही होते हे। इन विचारो से आत्मा की सम्यक्चारित्र मे प्रवृत्ति होती है, जिससे पूर्व सञ्चित कर्मों की निर्जरा होती है और आगन्तुक कर्मों का निरोध होने से संवर होता है। इसलिए स्वाध्याय के समान त्रिलोक मे आत्मा का हितकारी अन्य पदार्थ नहीं है। यह सब पदार्थों मे सर्वोत्तम और मान्य है।

अज्ञानी जीव घोर तपश्चरण कर जिन कर्मों का करोडो वर्षों मे क्षय करता है, उनसे असख्यातगुणा कर्मों का क्षय ज्ञानी जीव क्षण भर मे कर डालता है।

"अज्ञानी क्षपयेत् कर्म यज्जन्मशतकोटिभिः।
तज्ज्ञानी तु त्रिगुप्तात्मा निहन्त्यन्तर्मुहूर्त्ततः॥"

अर्थ—अज्ञानी आत्मा जितने कर्म करोडो भवों मे तप आदि द्वारा क्षय करता है, उन्हीं कर्मों को ज्ञानी पुरुष तीन गुप्ति धारण करके अन्तर्मुहूर्त्त मे ही समूल नष्ट कर देता है।

अज्ञानी व्रत, उपवास, यम, नियम, कायक्लेश आदि अनेक तप करके भी कर्मबन्ध करता है और ज्ञानी भोग भोगते हुए भी कर्मों की निर्जरा करता है।

जिसके आत्मा मे जड़ चेतन का भेद विज्ञान हुआ, वह अपने आत्मा को कर्मजाल मे मुक्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करता रहता है। चारित्र मोहनीय कर्म का प्रबल उदय होने से उसका कुछ वश नहीं चलता है, परन्तु प्रतिक्षण वह अवसर ढूढा करता है कि इस जाल से किस तरह छूटू। जब चारित्र मोहनीय कर्म का उदय मन्द होता है, उसी समय वह अति शीघ्र उस कर्मजाल को तोडने मे तत्पर होता है और तपस्या का आचरण कर उसे शीघ्र तोडने मे सफल होता जाता है। किन्तु अज्ञानी जो तप करता है, वह केवल इस लोक सम्बन्धी सुख की आकाक्षा से प्रेरित होकर अनेक भयानक कायक्लेश तप करता है, इसलिए उसका वह तप नवीन कर्मबन्ध का कारण होता है। उसकी सब क्रियाएँ गजस्नान के समान होती है। जो कार्य अन्य प्राणियो के बन्ध के कारण होते है, वे ही आत्मज्ञानी के निर्जरा के कारण बन जाते है। यह सब एक ज्ञान का माहात्म्य है। अत. आत्म हितैषी मनुष्य को सदा स्वाध्याय द्वारा ज्ञान को निर्मल बनाना चाहिए।

सज्झाय भावणाय य भाविदा होति सव्वगुत्तीओ।
गुत्तीहिं भाविदाहिं मरणे आराधओ होइ॥ ११२॥ (भग०)

अर्थ—स्वाध्याय मे तत्पर हुए व्यक्ति के कर्मबन्ध की कारण भूत मन वचन और काय की प्रवृत्तियां रुक जाती हैं। इनके रुक जाने से मनोगुप्ति, वचन गुप्ति और कायगुप्ति सहज ही मे पलती है। शरीरादि के द्वारा स्वय कार्य करना, दूसरे मे कार्य करवाना और स्वय कार्य करने वालो को अनुमति प्रदान करना अर्थात उनकी सराहना करना–इन तीनों योगो का निरोध रत्नत्रय की प्राप्ति से हो जाता है और यह रत्नत्रय स्वाध्याय से मुनि के स्वत: प्रकट होता है।

इसका आशय यह है कि अनन्त काल से अशुभ मन वचन काय-योगो का आत्मा को अभ्यास हो रहा है और उसका सहायक अशुभ कम का उदय है। इन सब का नाश अत्यन्त दुष्कर है। किन्तु स्वाध्याय के बल से ही इनका नाश किया जासकता है। स्वाध्याय से मन, वचन, काय की अशुभ प्रवृति नष्ट होती है और शुभ तथा शुद्ध प्रवृति उत्पन्न होती है,तथा गुप्ति का पालन होता है,इससे नवीन कर्म का बन्ध न होने के कारण सवर होता है और स्वाध्याय के समय सब इच्छाओ का निरोध होता है। अत.इस तप के प्रभाव से पूर्व सञ्चित कर्मों का क्षय होता है, इसलिए संवर और निर्जरा के कारण इस स्वाध्याय का सदा आराधन करना चाहिए। इसके समान दूसरा कोई उपाय नहीं, इसका आचरण कर मनुष्य सुगमता से सवर और निर्जरा करने मे समर्थ हो सकता है। वाल, वृद्ध, युवक धनवान्, निर्धन, सबल और निर्बल सब अवस्था और सब परिस्थिति वाले स्त्री पुरुष इस स्वाध्याय द्वारा अनुपम लाभ उठा सकते हैं।

धर्मकथा नाम धर्मोपदेश का है। धर्मोपदेश के निम्नलिखित चार प्रकार हैं :—

आक्षेपर्णी स्वमतसंग्रहर्णी समेची,
विक्षेपर्णी कुमतनिग्रहर्णी यथार्हम् ।
संवेजर्नी प्रथयितुं सुकृतानुभावं,
निर्वेदर्नी वदतु धर्मकथा विरक्तयै ॥ ८८ ॥ (अन० अ० ७)

अर्थ—समदर्शी-उपेक्षा बुद्धी का धारक मनुष्य, १ आक्षेपणी, २ विक्षेपणी, ३ सवेजनी, और निर्वेदनी इन चार प्रकार की धर्म कथा का उपदेश करे।

(१) आक्षेपणी—स्वमत का सग्रह करने वाली अर्थात् अनेकान्त मत का समर्थन करने वाली कथा को आक्षेपणी कहते हैं।

(२) विक्षेपणी—कुमत अर्थात क्षणिकादि एकान्त मत का निराकरण करने वाली कथा को विक्षेपणी कहते हैं।

(३) संवेजनी—पुण्य के फल को प्रकट करने वाली कथा संवेजनी है।

(४) निर्वेदनी—इन्द्रिय के विषय भोग और शरीर से विरक्ति (वैराग्य) उत्पन्न करने वाली कथा को निर्वेदनी कहते हैं।

भावार्थ—धर्मकथा करने वाले वक्ता मे सबसे पहले ससार के सब जीवो पर समभाव होना परमावश्यक है। जिसके हृदय मे दूसरे जीवो को सुख पहुचाने की उत्कण्ठा होगी, वही स्व और पर के कल्याण करने वाले उपदेश को देने मे समर्थ हो सकता है। इसलिए उसे वस्तुतत्त्व का ज्ञाता होना चाहिए। तत्त्वज्ञान के विना उपदेश करने वाला निज पर का उपकार न कर अपकार कर बैठता है। वह उस यमराज के तुल्य कुवैद्य के समान है, जिसे रोग का निदान तथा चिकित्सा का सम्यक परिज्ञान नहीं है। वह रोगी की विपरीत चिकित्सा कर उसको मृत्यु-मुख मे ढकेल देता है। ऐसे ही तत्वज्ञान हीन उपदेशक-धर्म कथा करने वाला-जनता को सम्यक् प्रकार वस्तु का स्वरूप न समझा सकने के कारण भयानक अनर्थ कर डालता है। इसलिए धर्मकथा करने वाले को जिस विषय का उपदेश करना हो, उसका गुरुमुख से वाचना (अध्ययन) पृच्छना (उसमे तर्क वितर्क करना) अनुप्रेक्षा(बार बार चिन्ता)और आम्नाय(घोष-शुद्ध उच्चारण)इन चार प्रकार के स्वाध्याय का अभ्यास करने के पश्चात पूर्ण योग्यता होने पर उपदेश करना चाहिए।

उपदेश करने वाले को अनेकान्त मत का उत्तम ज्ञान और उसके विवेचन करने की प्रवीणता और वाक्-चातुर्य अत्यन्त आवश्यक है। स्वमत का इतना अनुभव होना आवश्यक है कि उसका पूरी तरह दूसरो के समक्ष समर्थन कर सके। इसके साथ साथ परमतों का ज्ञान होना भी आवश्यक है, क्योकि उनका ज्ञान हुए विना उनका निराकरण कैसे कर सकेगा ? यदि किसी परमत के विद्वान् ने स्वमत की पुष्टि और अनेकान्तमत मे दूषण दिखाने की चेष्टा की तो विना उस मत का ज्ञान प्राप्त किये उसका निराकरण और स्वमत स्थापन कैसे हो सकता है? इसलिए स्वमत एवं दूसरे मतो का ज्ञान भी होना अत्यन्त आवश्यक है।

शङ्का—जैनेन्द्र मत वीतरागता का पोषक है,उसमे संवेजनी और निर्वेदनी ये दो कथाएँ ही होनी चाहिए। वे ही आत्मा के हित की करने वाली हैं। इनसे ही वीतरागता उत्पन्न होती है। आक्षेपणी और विक्षेपणी कथा से तो राग द्वेष की उत्पति होती है और राग द्वेप ही आत्मा का घातक है, अतः धर्मकथा मे इन दो कथाओ का समावेश कैसे किया गया ?

समाधान—वास्तव मे राग द्वेप आत्मा के अहितकर हैं, इनके निवारण करने के लिए ही धर्मकथा की जाती है। किन्तु धर्मकथा करने का अधिकारी वही शान्त-चित्त मन्द कषाय वाला पुरुप है, जिसके अन्तःकरण मे मनुष्य मात्र के कल्याण की सच्ची भावना है। वह स्वमत के अनुयायी पर रागवुद्धि और परमतानुयायी पर द्वेपवुद्धि नहीं रखता है। वह तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र व वीतरागता को स्वमत और इनके विपरीत, मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्या चारित्र व राग द्वेप आदि पुद्गलकर्मजन्य विभाव परिणति को परमत मानता है।

इसलिए किसी व्यक्ति पर वह द्वेष बुद्धि नहीं करता है। वह तो वस्तुस्वरूप को दिखलाने का प्रयत्न करता है। वस्तु का स्वरूप अनेकान्तमय है। उसका समर्थन करता है; एकान्त वस्तु का स्वरूप नहीं है, क्योंकि वह प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित है। वस्तु-स्वरूप का वर्णन राग द्वेष का कारण नहीं, प्रत्युत वीतरागता का कारण है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आक्षेपणी और विक्षेपणी कथा राग द्वेष की जनक नहीं बल्कि उसका नाश करने वाली है।

इस प्रकार स्वाध्याय का वर्णन कर अब ध्यानतप का वर्णन न करते हैं।

ध्यान का स्वरूप

उत्कृष्टकायबन्धस्य साधोरन्तर्मुहूर्ततः।
ध्यानमाहुरथैकाग्रचिन्तारोधो बुधोत्तमाः ॥ १५ ॥
एकचिन्तानिरोधो यस्तद्ध्यानं भावना परा।
अनुप्रेक्षार्थचिन्ता वा तज्ज्ञैरभ्युपगम्यते ॥ १६ ॥ (ज्ञाना० प्र० २५)

अर्थ—मन की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं। अनिश्चल ज्ञान का नाम ध्यान है। ध्यान में अन्य सब पदार्थों की चिन्ता को रोक कर केवल एक पदार्थ का विचार किया जाता है। अनुप्रेक्षा अथवा भावना का ध्यान से यही भेद है कि अनुप्रेक्षा अभ्यास रूप है और ध्यान उसका फल है। ध्यान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्तमात्र है और वह उत्कृष्ट सहनन वाले मुनीश्वरों के ही होता है।

भावार्थ—मन वायु से भी चञ्चल है। यह एक समय में ही तीनों लोकों तक को नाप लेता है और भ्रमण कर आता है। इसको गमनागमनाहारादि विषयकषायादि अनेक विभाव परिणामों से हटाकर एक पदार्थ में स्थिर करना ध्यान है। अतिशय बलवान् चित्त की चञ्चलता को रोककर एक विषय पर स्थिर कर देना साधारण शक्ति वाले पुरुष के सामर्थ्य से बाहर है। ध्यान के ध्याता उत्तम सहनन वाले ही होते हैं, इसलिए ध्यान करने का सामर्थ्य वज्रवृषभनाराच संहनन, वज्रनाराचसहनन और नाराचसंहननवाले महापुरुषों के ही माना गया है, शेष तीन सहननवालों के ध्यान की सिद्धि नहीं होती है। तीन उत्तम संहननवाले भी अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक ही ध्यान कर सकते हैं। आवली के ऊपर एक समय होजाने पर अन्तर्मुहूर्त का प्रारम्भ होता है और मुहूर्त (२ घड़ी-४८ मिनिट) में एक समय कम रहने तक उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त का प्रमाण माना गया है। उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ध्यान वज्रवृषभनाराचसहननवाले महामुनि के ही होता है। वज्रनाराच

और नाराच सहननवाले के उत्कृष्ट काल तक ध्यान नही हो सकता। इतने काल पर्यन्त चित्तवृत्ति को रोकने की शक्ति उनमे भी नहीं है। जघन्य व मध्यम काल तक वे दोनों ध्यान कर सकते हैं। इसलिए इन दो सहननो से मोक्ष नहीं होता। केवल वज्रवृषभनाराच संहनन से ही मोक्ष होता है। और इस सहननवाले की ही उत्कृष्ट रौद्र ध्यान मे प्रवृत्ति होती है, इसलिए वही सातवें नरक की आयु का बन्ध कर सकता है।

अर्धनाराच, कीलक और असंप्राप्तसृपाटिका सहनन इन तीनो सहनन वालो की चित्तवृत्ति एक पदार्थ मे नहीं रुक सकती है, इसलिए उनके ध्यान नहीं होता, एक अर्थ से दूसरे अर्थ के चिन्तन मे चित्त की वृति भ्रमण करती रहती है, अत उनके अर्थ-चिन्तन होता है। उसको भावना व अनुप्रेक्षा भी कहते हैं। कई आचार्यों ने इसे ध्यानपरम्परा के नाम से कहा है। यद्यपि यह ध्यानपरम्परा मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं है, तथापि कर्मक्षय करने मे अवश्य सामर्थ्य रखती है।

ध्यान के मूल दो भेद हैं-एक प्रशस्तध्यान और दूसरा अप्रशस्तध्यान।

प्रशस्तध्यान—जिस ध्यान से आत्मा मे साम्यभाव, निर्मलता और शान्ति आदि आत्मीय गुणो का विकास होता है, वह प्रशस्तध्यान है। उससे ही कर्मों का क्षय होता है और आत्मा की असली हालत प्रकट होती है।

अप्रशस्तध्यान—जिस ध्यान से आत्मा मे स्व और पर के अकल्याण-दुःख, क्लेश, संताप, हिंसादि पाप और क्रोधादि कषायो का आविर्भाव हो, उसे अप्रशस्त ध्यान कहते हैं। यह ध्यान आत्मा का पतन करने वाला है और नरकादि के दुःखो का कारण है।

शङ्का—प्रशस्तध्यान की प्राप्ति का कारण क्या है?

समाधान—एक साम्यभाव ही प्रशस्तध्यान का कारण है। वही कहा है :—

यदैव संयमी साक्षात्समत्वमवलम्बते।
स्यात्तदैव परं ध्यानं तस्य कर्मौघघातकम् ॥ ४ ॥ (ज्ञाना० अ० २५)

अर्थ—जिस समय संयमी साक्षात् समभाव का अनुभव करता है, उसी समय उसके कर्मपुंज का नाश करने वाला प्रशस्त ध्यान होता है।

शङ्का—अप्रशस्त ध्यान का कारण क्या है?

समाधान—आत्मा मे अनादिकाल से लगी हुई पापवासना ही अप्रशस्त ध्यान की कारण है। वही कहा है :—

अपास्य खण्डविज्ञानरसिकां पापवासनाम् ।
असद्ध्यानानि चादेयं ध्यानं मुक्तिप्रसाधकम् ॥ ८ ॥ (ज्ञाना० अ० २५)

अर्थ—क्षायोपशमिक रागादि सहित ज्ञान मे जो आसक्ति होती है वही पापवासना है, यही अप्रशस्त ध्यान का कारण है अर्थात् पापवासना ही अप्रशस्त ध्यान को जन्म देती है, इसलिए इस पापवासना को हृदय से निकाल कर मुक्ति के साधक प्रशस्तध्यान का ग्रहण करना चाहिए।

प्रशस्त और अप्रशस्त ध्यान के भेद

अट्टं च रुद्दसहियं दोण्णि वि झाणाणि अप्पसत्थाणि ।
धम्मं सुक्कं च दुवे पसत्थझाणाणि णेयाणि ॥ १९७ ॥ (मूला० पञ्चा०)

अर्थ—आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान, ये दो अप्रशस्त ध्यान हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये दो प्रशस्त ध्यान हैं। अप्रशस्त ध्यान तिर्यंच और नरकगति का कारण है और प्रशस्तध्यान देवगति और मोक्ष का कारण है। वही कहा है :—

तिरियगई अट्टेण णरयगई तह रउद्दझाणेण ।
देवगई धम्मेण सिवगइ तह सुक्कझाणेण ॥ १३ ॥ (ज्ञानसार)

अर्थ—आर्तध्यान तिर्यंचगति और रौद्रध्यान नरकगति का कारण है। तथा इसी तरह धर्मध्यान से देवगति और शुक्लध्यान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आर्तध्यान और रौद्रध्यान में किस का चिन्तन होता है इसे दिखाते है :—

तंबोलकुसुमलेवणभूसणपियपुत्तचिंतणं अट्टं ।
बंधणडहणवियारणमारणचिंता रउद्दंमि ॥ ११ ॥

अर्थ—ताम्बूल, पुष्प, चन्दनादि लेपन, सुवर्ण रत्नादि के आभूषण तथा पुत्रादि की प्राप्ति का वार बार चिन्तन करने से आर्त ध्यान होता है। किसी को बन्धन मे डालने, जलाने, विदारण करने, प्राण हरण करने के लिए जो आत्मा मे विचार धारा उत्पन्न होती है तथा

किसी के धन सम्पत्ति आदि के हरण करने के लिए असत्य वचन मे चतुराई प्रकट करने के लिए जो विचार परम्परा उत्पन्न होती है वह सब रौद्रध्यान है।

धर्मध्यान और शुक्लध्यान मे किन का चिन्तन होता है, इसे दिखाते हैं —

सुत्तत्थमग्गणाणं महव्वयाणं च भावणा धम्मं।
गयसंकप्पवियप्पं सुक्कज्झाणं मुणेयव्वं ॥ १२ ॥ (ज्ञानसार)

अर्थ—सूत्रो के अर्थ का चिन्तन, मार्गणा, गुणस्थानादि तत्त्वो का मनन और महाव्रतो की भावनाओ का सतत अनुभव करते रहने से धर्मध्यान होता है। शुक्लध्यान मे सकल्प और विकल्प का अभाव है। अर्थात उसमे शब्द अथवा द्रव्य या पर्याय का चिन्तन होता है।

भावार्थ—राग द्वेष रहित होकर आत्मा जब जीवादि पदार्थों का तथा धर्म के स्वरूप का, मार्गणा, व्रत, गुप्ति, समिति और बारह भावना आदि का चिन्तन करता है, उसे धर्म ध्यान कहते हैं।

अब उक्त चारो ध्यानो मे से प्रत्येक ध्यान के चार चार भेद होते हैं। उनमे से,पहले आर्त्तध्यान के चार भेद दिखलाते हैं।

आर्त्तध्यान के चार भेद

अनिष्टयोगजन्माद्यं तथेष्टार्थात्ययात्परम्।
रुक्प्रकोपात्तृतीयं स्यान्निदानातुर्यमङ्गिनाम् ॥ २४ ॥ ज्ञाना०

अर्थ—अनिष्ट पदार्थों के सयोग से उत्पन्न हुए आर्त्तध्यान को अनिष्ट सयोगज नामक आर्त्तध्यान कहते हैं। इष्ट पदार्थ के वियोग से उत्पन्न हुए आर्त्तध्यान को इष्टवियोगज नामा आर्त्तध्यान कहते हैं। शारीरिक रोग की पीड़ा से जो आत्मा मे अशान्ति उत्पन्न होती है, उसे रोग–पीडा–चिन्तन आर्त्तध्यान कहते हैं। आगामी काल मे भोगों की आकाक्षा करना निदान नामक आर्त्तध्यान होता है।

—इस ससार मे अपने प्रिय पदार्थ–पुत्र स्त्री आदि कुटुम्बी जन एवं धन–सम्पत्ति आदि इष्ट वस्तुओ के नाश करने वाले अग्नि, जल, विष, शस्त्रादि अचेतन पदार्थ,तथा सिंह सर्पादि तिर्यंच जीव और दुष्ट व्यन्तरादि देव एवं दुष्ट राजादि का सयोग होने से आत्मा मे जो सक्लेश परिणामो की धारा बहती रहती है वही आर्त्तध्यान कहलाता है। इसका आशय यह है कि अनिष्ट पदार्थ के सयोग होने पर उसे दूर करने के लिए जो बार बार विचार किया जाता है वह पहला अनिष्टसयोगज नाम का आर्त्तध्यान है।

राज्य, ऐश्वर्य, स्त्री कुटुम्ब, मित्र, सौभाग्य, भोगादि के विनाश होने पर तथा अन्तःकरण मे आह्लाद उत्पन्न करने वाले मनोज्ञ इन्द्रिय-विषयो का ध्वस होने पर सन्त्रास, पीडा, भ्रम, शोक, मोह के कारण निरन्तर खेद उत्पन्न होना और उनकी पुनः प्राप्ति का वार वार विचार करना दूसरा इष्टवियोगजन्य आर्तध्यान है।

आशय यह है कि जिन पदार्थों से अपने अभीष्ट इन्द्रियो के सुख सम्पन्न होते है तथा मन को आनन्द मिलता है, ऐसे पदार्थों का वियोग हो जाने से आत्मा मे शोक खेद, आदि सक्लेश भावो की सन्तति उत्पन्न होती है अत. उन पदार्थों की पुनः प्राप्ति के लिए जो वार वार विचार होता है वही आर्त्तध्यान का दूसरा भेद इष्टवियोगज नाम का आर्तध्यान है।

रोग, पीडा, चिन्तन, वातपित्त और कफ की विषमता से प्रकट हुए श्वास, खासी, भगदर, जलोदर, कोढ, संग्रहणी, विषमज्वर, क्षय आदि के उत्पन्न होने पर शारीरिक पीडा और मानसिक व्याकुलता व उद्विग्नता उत्पन्न होती है। उसे दूर करने के लिए जो वार २ विचार होता है उसे रोग पीडा चिन्तन नामक आर्त्तध्यान कहते हैं।

कासश्वासभगन्दरोदरजराकुष्टातिसारज्वरैः,
पित्तश्लेष्मसमत्प्रकोपजनितैः रोगैः शरीरान्तकैः।
स्यात्सत्वप्रबलैः, प्रतिक्षणभवैर्यद्व्याकुलत्वं नृणां,
तद्रोगार्त्तमनिन्दितैः प्रकटितं दुर्वारदुःखाकरम् ॥ ३२ ॥ ज्ञाना० अ० २५

इसका अर्थ ऊपर बता चुके हैं।

निदानज—भोगा भोगीन्द्रसेव्यास्त्रिभुवनजयिनी रूपसाम्राज्यलक्ष्मी
राज्यं क्षीणारिचक्रं विजितसुरवधूलास्यलीलायुवत्यः।
अन्यच्चानन्दभूतं कथमिह भवतीत्यादिचिन्तासुभाजाम्,
यत्तद्भोगार्थमुक्तं परमगुणधरैर्जन्मसन्तानमूलम् ॥ ३४ ॥ (ज्ञाना० अ० २५)

अर्थ—धरणीन्द्र के सेवन करने योग्य—सर्वोत्कृष्ट भोग मुझे किस प्रकार उपलब्ध हो? त्रिभुवन पर विजय प्राप्त करने वाली

रूप साम्राज्य की लक्ष्मी—सर्वातिशायी शरीर का सौन्दर्य—मुझ को कैसे मिले ? जिसमे शत्रुओ के समुदाय का क्षय होगया है ऐसा साम्राज्य तथा देवागनाओ के नृत्य की सुन्दरता को जीतने वाली स्त्रियाँ और इसी प्रकार की अन्य आनन्दवर्द्धक सामग्री कैसे पाऊँ—इत्यादि सुखभोग की वस्तुओ की प्राप्ति के लिए चिन्तन करने वाले मनुष्यो के जन्मसन्तान को उत्पन्न करने वाला निदान नामक आर्त्तध्यान होता है।

भावार्थ—पुण्योत्पादक जिनेन्द्र पूजन करके परमशान्त, महातपस्वी, पर हित मे सतत निरत रहने वाले, सुपात्र मुनीश्वरो को आहार, औषध, वसतिका आदि का योग्य प्रासुक दान करके तीर्थंकरो के पद की वाछा करना तथा विविध तपस्या आदि धर्मानुष्ठानो का पालन कर देवो की विभूति की आकाक्षा करना, इन्द्रियो को तृप्त करने वाली रूप, लावण्य सम्पत्ति, युवतियो एव यान वाहनादि भोग उपभोग की वस्तुओ की अभिलाषा करना तथा इन्हीं धर्माचरणो द्वारा शत्रु-समूह के विनाश की कामना करना और अपनी पूजा, प्रतिष्ठा, लाभ आदि की इच्छा करना, इत्यादि किसी भी भौतिक पदार्थ की धर्म सेवन से वाछा करना निदान नामा आर्त्तध्यान है सो ही कहा है —

"इष्टभोगादिसिद्ध्यर्थं रिपुघातार्थमेव वा ।
यन्निदानं मनुष्याणा स्यादार्त्तं तत्तुरीयकम् ॥"

अर्थ—मनुष्यो के मन को लुभाने वाले विषय भोगो की सिद्धि के लिए तथा शत्रु के विनाश के लिए जो चिन्तना होती है, उसे निदान नाम का आर्त्तध्यान कहते हैं।

यह चार प्रकार का आर्त्तध्यान आत्मा का अत्यन्त अहित करने वाला है। आर्त्तध्यानी के तिर्यंच गति और तिर्यंच आयु का बध होता है। जीव निगोद का पात्र इसी आर्त्तध्यान के कारण होता है। जीव की सब से निकृष्ट अवस्था यही है। एक श्वास मे अठारह वार जन्म मरण होता है और वहा अक्षर के अनन्तवे भाग ज्ञान रहता है। वहा का दु.ख वचनागोचर है, उस दु.ख का पूर्ण वर्णन करने की सामर्थ्य किसी मे भी नहीं है। उस दु ख का यथार्थ ज्ञान केवलज्ञानी को ही होता है। नरको का दु ख भी भयानक होता है, किन्तु वह दु ख निगोद के दु ख के अनन्तवे भाग मात्र है। ऐसी अत्यन्त निकृष्ट पर्याय आर्त्तध्यान करने वाला पाता है। इसकी अवधि अनन्त काल है। पुन. वहा से निकलना अतिदुष्कर है। आर्त्तध्यान का ऐसा भयानक परिणाम इस अज्ञानी जीव को भोगना पडता है इसलिए यदि पूर्वकृत पापकर्म के उदय से आर्त्तध्यान के कारण इष्ट वस्तु, धन, सम्पत्ति, पुत्र, कलत्रादि का वियोग तथा अनिष्ट पदार्थ का सयोग एव रोग जन्य भयकर पीडा प्राप्त हो जावे तो उस समय अपनी आत्मा मे ज्ञानामृत का सिंचन करो, शान्ति सुधा का पान करो, विचारो कि यह सब दु ख मेरे किये हुए दुष्कर्मों का फल है। इसको मैं शान्ति से साम्यभाव धारण कर भोग लूगा तो इस समय भी मेरे हृदय मे अधिक सताप न होगा और अशुभ कर्मों का बन्ध न होगा। और यदि अधीर होकर सहूगा तो भी ये दुष्कर्म अपना फल तो अवश्य देंगे, इनको मुझे सहना तो अवश्य पडेगा, किन्तु

आर्त्तध्यान होजाने से तिर्यंच गति का बन्ध होगा, जहां पर दुःख ही दुःख है। उससे मुझे भव भव में महादुःख भोगने पड़ेंगे। और इस समय भी अधैर्यभाव रखने से दुःख उग्ररूप धारण करेगा तब तीव्र आर्त्तध्यान उत्पन्न होगा। अतः दुःख से बचने के लिए आर्त्तध्यान करना विवेक हीन मनुष्यों का काम है। उस समय वस्तु स्वरूप का चिन्तन तथा सत्पुरुषों का समागम ही सुख देने वाला होता है।

यह आर्त्तध्यान इतना बलवान है कि मुनियों तक को नहीं छोड़ता है। इसकी दौड़ छठे गुणस्थान तक है। आदि के चार अविरत गुणस्थान, पांचवां-संयमासंयम गुणस्थान और छठा अप्रमत्त गुणस्थान इसका क्षेत्र है।

शङ्का—आपने आर्त्तध्यान आदि को छह गुणस्थानों में बता दिया है, सो कैसे? आर्तध्यानी के तिर्यंच गति का बन्ध होता है, लेकिन छठे, पांचवें और चौथे गुणस्थान में तिर्यंच गति का बन्ध सम्भव ही नहीं होता है। क्योंकि पांचवें गुणस्थान में अणुव्रत और छठे गुणस्थान में महाव्रत होता है। और यह नियम है कि व्रत उसी जीव के होता है, जिसने देवगति व देवायु का बन्ध किया हो या करने वाला हो। शेष तीन गति का बन्ध करने वाले के व्रत का धारण नहीं होता है। तथा चौथे गुणस्थानवर्त्ती सम्यग्दृष्टि जीव देवायु का ही बन्ध करता है। इसलिए चौथे, पांचवें और छठे गुणस्थानवर्त्ती जीव के तिर्यंच गति का बन्ध कैसे सम्भव होगा?

समाधान—आपकी शङ्का ठीक है। वास्तव में चौथे, पांचवें और छठे गुणस्थान में तिर्यंच गति का बन्ध नहीं होता है। जो आर्त्तध्यानी का तिर्यंच गति में गमन करना बताया है, वह मिथ्यात्व की अपेक्षा से है। अर्थात् आर्त्तध्यानी मिथ्यादृष्टि जीव तिर्यंच गति का बन्ध करता है। सम्यग्दृष्टि जीव देवगति के सिवाय अन्य गति का बन्ध नहीं करता है यह नियम है।

यही राजवार्तिक में रौद्रध्यान के प्रकरण में श्री भट्टाकलङ्क देव ने भी कहा है:—

'तत्पुनर्नारकादीनामकारणं सम्यग्दर्शनसामर्थ्यात्'

अर्थात्—जिसके सम्यग्दर्शन होता है, उसके सामर्थ्य से रौद्रध्यान नारक, तिर्यंचादि गति का कारण नहीं होता है। इसी प्रकार आर्त्तध्यानी भी सम्यग्दर्शन के सामर्थ्य से तिर्यंच गति का बन्ध नहीं करता है।

शङ्का—छठे गुणस्थानवर्त्ती साधुओं के आर्त्तध्यान का सम्भव कैसे हो सकता है?

समाधान—छठे गुणस्थान में सञ्ज्वलन कषाय का उदय रहता है, उसके तथा असातावेदनीय के तीव्र उदय से भयानक असह्य व्याधि के उत्पन्न होजाने पर पीड़ा उत्पन्न होती है उस समय आर्त्तध्यान उत्पन्न होजाता है तथा अत्यन्त प्रिय शिष्यादि का वियोग होजाने पर

उनके आर्त्तध्यान सम्भव होता है।

शङ्का—तब तो छठे गुणस्थानवर्त्ती संयमी के चारो प्रकार का आर्त्तध्यान बन सकता है ?

समाधान—छठे गुणस्थान मे निदान नाम का आर्त्तध्यान नहीं होता। शेष तीन आर्त्तध्यान के भेद हो सकते हैं। वही राजवार्तिक मे कहा है:—

"कदाचित्प्राच्यमार्त्तध्यानत्रयं प्रमत्तानां ॥ १ ॥ निदानं वर्जयित्वा अन्यदार्त्तत्रयं प्रमादोदयोद्रेकात्कदाचित्प्रमत्त-संयतानां भवति"॥

अर्थात्—निदान नाम के आर्त्तध्यान को छोडकर शेष आदि के तीन आर्त्तध्यान कदाचित प्रमाद के तीव्र उदय होने से प्रमत्त-सयत मुनि के हो सकते हैं।

यह आर्त्तध्यान कृष्ण लेश्या, नील लेश्या और कापोत लेश्या के वल से तथा अनादिकाल की अशुभ वासना-सस्कार के कारण उत्पन्न होता है और महापाप का कारण है। यह आर्त्तध्यान क्षायोपशमिक भाव है। इसका काल अन्तर्मुहूर्त्त मात्र है। एक ज्ञेय पदार्थ पर अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक नहीं टिक सकता, तत्पश्चात् दूसरे ज्ञेय पर चला जाता है।

आर्त्तध्यानी के बाह्यचिह्न

शङ्काशोकभयप्रमादकलहश्चित्तभ्रमोद्भ्रान्तयः।
उन्मादो विषयोत्सुकत्वमसकृन्निद्राङ्गजाड्यश्रमाः।
मूर्छादीनि शरीरिणामविरतं लिङ्गानि बाह्यान्यल—
मार्त्ताधिष्ठितचेतसां श्रुतधरैर्व्यावर्णितानि स्फुटम् ॥ ४२ ॥ (ज्ञाना० अ० २५)

अर्थ—आगम के रहस्य के ज्ञाता विद्वानो ने आर्त्तध्यान वालो के बाह्यचिह्न इस प्रकार वर्णन किये हैं कि उसे प्रथम तो हर एक वात में सन्देह पैदा होता है, पश्चात् शोक होता है, भय होता है, प्रमाद होता है–किसी काम में सावधानी नहीं होती, कलह करता है, चित्त-

भ्रम होजाता है, चित्त एक जगह नहीं ठहरता, बहकने लगता है, विषय सेवन करने में उत्सुकता होती है; बारम्बार नींद आती है, शरीर में जड़ता–शिथिलता होती है, थकावट प्रतीत होती है, मूर्छा उत्पन्न होती है, चित्त में उद्वेग इत्यादि अनेक चिह्न आर्त्तध्यानी के प्रकट होते हैं।

इस प्रकार का यह आर्त्तध्यान स्वयमेव बिना उपदेश के उत्पन्न होता है, आत्मा का अत्यन्त अहित करने वाला है, इसलिए इसका त्याग करना चाहिए।

रौद्रध्यान

रुद्रः क्रूराशयः प्राणी प्रणीतस्तत्वदर्शिभिः।
रुद्रस्य कर्म भावो वा रौद्रमित्यभिधीयते ॥ २ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ—क्रूर आशय–परिणाम–वाले प्राणी को तत्त्व के वेत्ता विद्वानों ने रुद्र कहा है। और रुद्र का जो भाव अथवा कर्म होता है उसे रौद्र कहते हैं। इसका आशय यह है कि क्रूर परिणाम वाले जीव के जो हिंसादि पाप रूप कार्यों का सतत चिन्तन होता है, उसे रौद्रध्यान कहते हैं।

रौद्रध्यान के चार भेद

तेणिक्कमोससारक्खणेसु तध चेव छव्विहारंभे।
रुद्दं कसायसहिदं झाणं भणियं समासेण ॥ १६६ ॥ (मूला० पञ्चा०)

अर्थ—(१) पर द्रव्य के हरण करने का अभिप्राय (चोरी) (२) प्राणियों को पीड़ा करने वाले असत्य वचन बोलने में तत्परता (३) यदि कोई मेरा द्रव्य चुरावेगा तो मैं उसको मारूंगा, ऐसे विचार से हाथ में शस्त्र लेकर चोरादि को मारने का अभिप्राय तथा (४) छह काय के जीवों की हिंसा जनक आरम्भ में अभिप्राय रखना, ये चार रौद्रध्यान के भेद हैं।

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन पांच स्थावरकाय के तथा त्रसकाय के जीवों की हिंसा करने उनके छेदन, भेदन, ताड़न, वध, बंधन, दहन आदि कार्यों में उद्यम करने में आनन्द मानना हिंसानन्द नाम का रौद्रध्यान है। प्राणियों को पीड़ा देने वाले असत्य वचन बोलने में आनन्द मानना मृषानन्द नाम का दूसरा रौद्रध्यान है। अपने धनादि अभीष्ट पदार्थों को चुराने वाले तथा धर्मायतनों को लूटने वाले, माता, बहिन, स्त्री आदि का सतीत्व नष्ट करने वाले, जबर्दस्ती उनका अपहरण करने वाले का शस्त्र हाथ में लेकर वीरता पूर्वक सामना करना, अन्याय करने वाले आततायी को दण्ड देना, रौद्रध्यान नहीं है, क्योंकि इसमें धर्म रक्षा के भाव अन्तर्हित हैं, धर्म की भावना

छिपी हुई रहती है तथा न्याय की रक्षा और अन्याय का परिहार करने का सङ्कल्प रहता है, इसलिए इसे रौद्रध्यान नहीं समझना चाहिए। रौद्रध्यान तो वह है कि किसी की अभीष्ट वस्तु चुराने, लूटने, आदि के विषय मे सतत ध्यान बना रहे एवं ऐसा करने में आनन्द माने। यही चौर्यानन्द नाम का तीसरा रौद्रध्यान होता है। तथा धन, सम्पत्ति, गाय, भैंस, वगैरह परिग्रह के अर्जनादि मे आनन्द मानना परिग्रहानन्द नामा चौथा रौद्रध्यान है।

हिंसानन्दनामा रौद्रध्यान

हते निष्पीडिते ध्वस्ते जन्तुजाते कदर्थिते ।
स्वेन चान्येन यो हर्षस्तद्धिंसारौद्रमुच्यते ॥ ४ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ—अपने अथवा अन्य के द्वारा जीव समूह के मारे जाने पर, अत्यन्त पीड़ित किये जाने पर एव प्रबल संताप पहुचाये जाने पर हर्ष मानना हिंसानन्द नाम का रौद्रध्यान है। और भी कहा है :—

हिंसाकर्मणि कौशलं निपुणता पापोपदेशे भृशम् ।
दाक्ष्यं नास्तिकशासने प्रतिदिनं प्राणातिपाते रतिः ।
सवासः सह निर्दयैरविरतं नैसर्गिकी क्रूरता ।
यत्स्याद्देहभृतां तदत्र गदितं रौद्रं प्रशान्ताशयैः ॥ ६ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ—मनुष्य मे जीव हिंसा के कार्य शिकार करने आदि में कुशलता, पाप जनक उपदेश देने में प्रवीणता, नास्तिक मत के निरूपण करने मे दक्षता, प्रतिदिन प्राणियो के घात करने मे अनुराग तथा निर्दयी पुरुषो की निरन्तर सङ्गति और स्वाभाविक क्रूरता आदि होना रौद्रध्यान है।

केनोपायेन घातो भवति तनुमतां कः प्रवीणोऽत्र हन्ता ।
हन्तुं कस्यानुरागः कतिभिरिह दिनैर्हन्यते जन्तुजातम् ॥

हत्वा पूजां करिष्ये द्विजगुरुमरुतां कीर्तिशान्त्यर्थमित्थम् ।
यत्स्याद्धिंसाभिनन्दो जगति तनुभृतां तद्धि रौद्रं प्रणीतम् ॥ ७ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ–इन जीवो का घात किस उपाय से किया जाय, यहा पर जीव वध करने मे कौन प्रवीण है, जीव घात करने में किस का
अनुराग है, यह जीवों का झुण्ड कितने दिनो मे मारा जायगा, इन जीवो को मारकर ब्राह्मण गुरु और देवो को बलि देकर पूजा करूंगा–
इत्यादि प्रकार से ससार मे जीव हिंसा करने मे जो आनन्द होता है, उसे हिंसानन्द नामक रौद्रध्यान कहते हैं।

जो जीव गगनतल मे स्वच्छन्द गमन करने वाले निरपराध दीन पक्षियो की शिकार करके उसमे वीरता समझते हैं एव एकान्त जन-
शून्य घने जंगलो मे निवास करने वाले अनाथ, निहत्थे, मृग, सिंह, व्याघ्र, शूकर, नीलगाय, गवय आदि असहाय निरपराध प्राणियो की शस्त्रास्त्रादि
अनेक उपायो से हिंसा करते हैं और उसमे बडी शूरता प्रकट करते हैं, ऐसी ही जलचर मत्स्य (मच्छ), मगर, घडियाल आदि जीवो का घात
कर अपनी बहादुरी बघारते है, तथा उक्त नभचर, थलचर और जलचर जीवों को बन्धन मे डालकर उनके आवास के क्षेत्र मे अग्निदाह
करके, छेदन भेदन करके तथा उनका चर्म नेत्र निकालकर, दात उखाडकर बड़ा कौतुक व आनन्द मानते हैं, उनके हिंसानन्द रौद्रध्यान होता है।

युद्ध मे किसी का घात चिन्तन करना और किसी की विजय देखकर प्रसन्न होना भी हिंसानन्द नामा रौद्रध्यान है।

जो मनुष्य जीवो के वध, बन्धन, दहनादि जनित तीव्र दु ख वा भयानक पराभव सुनकर, देखकर अथवा स्मरण कर अपने मन
मे आह्लादित होता है, उसके भी हिंसानन्द नामका रौद्रध्यान होता है।

मैं इस शत्रु से अपने वैर का बदला लेने के लिए क्या उपाय करू ? अभी मुझ मे शक्ति नहीं है; इसलिए यह जीवित है शक्ति
होती तो अभी मारडालता। इस समय शक्ति नहीं है तो न सही इसका परलोक मे तो अवश्य बदला लूगा, इस प्रकार सकल्प करना भी हिंसा-
नन्द नामका रौद्रध्यान है।

हिंसानन्दनामा रौद्रध्यानी के विचार

अभिलषति नितान्तं यत्परस्यापकारं, व्यसनविशिखभिन्नं वीक्ष्य यत्तोषमेति ।
यदिह गुणगरिष्ठं द्वेष्टि दृष्ट्वाऽन्यभूतिं, भवति हृदसशान्यस्तद्धि रौद्रस्यलिङ्गम् ॥ १३ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ—जो निरन्तर दूसरो का अपकार करने की अभिलाषा करता है, दूसरो को दुखी देखकर हृदय मे सतुष्ट होता है, दूसरो के वैभव एव उन्नति की बातें सुनकर दुखी होता है वह निश्चय से ही रौद्रध्यानी है।

हिंसा के उपकरणो का सचय करना, क्रूर दुष्ट परिणाम वाले जीवो का पालन पोषण करना, उनकी सहायता करना, हृदय मे निर्दयभाव का धारण करना और इन सभी बातो से प्रसन्न होना रौद्रध्यान है।

यह रौद्रध्यान चारो गति के जीवो के होता है। इसका उत्कृष्ट काल भी अन्तर्मुहूर्त्त मात्र है। इसके बाद एक पदार्थ को छोड़कर दूसरे पदार्थ को विषय करने लगता है। यह रौद्रध्यान पाँचवें गुणस्थान तक होता है। अर्थात् आदि के पाच गुणस्थान वर्त्ती जीवो के पाया जाता है। यह ध्यान नरकगति का कारण है। रौद्रध्यान के समय यदि बन्ध हो तो नरकगति का बन्ध होता है।

शका—आपने पॉचवे गुणस्थान वाले के रौद्रध्यान बताया है, सो कैसे? पॉचवें गुणस्थान मे हिंसा झूठ आदि पाच का त्याग होता है। वह जीव हिंसा मे आनन्द कैसे मानेगा। चौथे गुणस्थान वाला भी हिंसा का त्यागी न होने पर भी हिंसादि को बुरा समझता है, वह भी हिंसादि मे हर्ष नहीं मानता, फिर इनके रौद्रध्यान कैसे होगा?

समाधान—धन, धान्यादि परिग्रह की रक्षा के लिए, तथा धर्मायतन चैत्यालय व किसी सयमी जन पर अन्यायी दुष्ट मनुष्यो का बलात् आक्रमण होने पर उनकी रक्षा के लिए, तथा स्वराष्ट्र पर किसी अन्यायी राजाका आक्रमण होने पर उसे विफल करने के लिए युद्ध करते समय चौथे व पाचवें गुणस्थानवर्त्ती सम्यग्दृष्टि व अणुव्रती श्रावक के चित्तमे भी रौद्रध्यान का होना सभव है क्योकि अणुव्रती श्रावक के भी केवल सकल्पी त्रस हिंसा का त्याग होता है, विरोधी आदि हिंसा का त्याग नहीं होता है, इसलिए आत्मरक्षा धर्म रक्षा व न्यायरक्षादि के निमित्त वह युद्ध कर सकता है।

शका—जब सम्यग्दृष्टि के तथा अणुव्रती श्रावक के रौद्रध्यान होता है, और रौद्रध्यानी का नरक मे गमन होना बताया है तो क्या वह नरक मे भी गमन करेगा?

समाधान—रौद्रध्यान के निमित्त से जो नरक गमन बताया है वह मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा स कहा गया है, क्योकि सम्यग्दृष्टि और श्रावक तो देवगति का ही बन्ध करता है। सम्यक्त्व देवायु के अतिरिक्त किसी अन्य आयु के बन्ध का कारण कैसे हो सकता है? पहले आर्त्तध्यान के प्रकरण मे भी इस विषय का विवेचन कर आये है।

मृपानन्दनामा रौद्रध्यान

असत्यकल्पनाजालकश्मलीकृतमानसः ।
चेष्टते यज्जनस्तद्धि मृषारौद्रं प्रकीर्तितम् ॥ १६ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ—जो मनुष्य झूठे कल्पनाजाल से मलिन चित्त होकर पाप पूर्ण चेष्टायें करता रहता है, उसे निश्चय से मृपानन्द रौद्रध्यान कहते हैं। और भी कहा है।

विधाय वञ्चकं शास्त्रं मार्गमुद्दिश्य निर्दयम् ।
प्रपात्य व्यसने लोकं भोक्ष्येऽहं वांछितं सुखम् ॥ १७ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अथ—रौद्रध्यानी मनुष्य सन्मार्ग का उल्लंघन कर पाप मार्ग का इस प्रकार चिन्तन करता है कि मैं ठगाई के शास्त्र बनाकर, असत्य निर्दयता के पोषक मार्ग को चलाकर, लोगो को अनेक आपत्ति और कष्टो मे डालकर अपने अभीष्ट सुखका अनुभव करूंगा।

मैं अपनी बुद्धि के कौशल से ऐसे शास्त्र की रचना करूंगा, जिससे सब मनुष्य मेरे जाल मे आजावें, मैं अपने वाक् चातुर्य से इनको अपने वश मे करलूंगा, और इन से रुपया पैसा आदि ऐठ लूगा। मैं ऐसी युक्तियो का उपयोग करूंगा जिससे मनुष्यो को सन्मार्ग से हटाकर असन्मार्ग मे लगा दूंगा इत्यादि प्रकार से भोले जीवो को ठगना और ऐसा करके प्रसन्न होना मृपानन्द नामा रौद्रध्यान है।

चौर्यानन्दनामा रौद्रध्यान

चौर्योपदेशबाहुल्यं चातुर्यं चौरकर्मणि ।
यच्चौर्यैकपरं चेतस्तच्चौर्यानन्द इष्यते ॥ २४ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ– जिसकी चोरी के उपदेश देने मे अधिक प्रवृत्ति होती है जो चोरी के कार्यों में चातुर्य प्रकट करता है तथा जो चोरी करने मे तत्पर रहता है, उसके चौर्यानन्द नामा तीसरा रौद्रध्यान होता है। और भी कहा है—

यच्चौर्याय शरीरिणामहरहश्चिन्ता समुत्पद्यते,
कृत्वा चार्यमपि प्रमोदमतुलं कुर्वन्ति यत्संततम् ।
चौर्येणापि हृते परैः परधने यज्जायते संभ्रम–
स्तच्चौर्यप्रभवं वदन्ति निपुणा रौद्रं सुनिन्दास्पदम् ॥ २५ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ—जिन प्राणियो के चित्त मे हमेशा चोरी के लिए तत्परतावनी रहे तथा चोरी करके जो हर्ष मानता रहे, जो परधन का हरण करने वाले दूसरे चोर के कार्य मे प्रसन्नता प्रकट करे, इत्यादि चोरी सम्बन्धी कामो मे आनन्द मानने वाले के चौर्यानन्द नामा रौद्रध्यान होता है।

मैं सेना बनाकर अमुक जगह मे बहुकाल से सचित किये हुए धन को, विपुल रत्नराशि को अनेक उपायो से अतिशीघ्र हरण कर लाऊगा तथा डाका डालकर सम्पूर्ण मनुष्यो को भयभीत कर सम्पूर्ण धन लूट लाऊगा, ऐसा मुझमे सामर्थ्य है, इस प्रकार विचार करने वाले के चौर्यानन्दनामा तीसरा रौद्रध्यान होता है।

परिग्रहानन्द रौद्रध्यान

बह्वारभपरिग्रहेषु नियतं रक्षार्थमभ्युद्यते,
यत्संकल्पपरम्परां वितनुते प्राणीह रौद्राशयः ।
यच्चालम्ब्य महत्त्वमुन्नतमना राजेत्यहं मन्यते,
तत्तु यं प्रवदन्ति निर्मलधियो रौद्रं भवाशंसिनाम् ॥ २६ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ—इस ससार मे यह प्राणी बहुत आरम्भ और परिग्रह की रक्षा के लिये उद्यम करता है और रुद्र परिणाम धारण करके अनेक प्रकार के सकल्प विकल्प उत्पन्न करता रहता है। तथा अपने चित्त मे अपने को महान् समझकर मैं राजा हूं, अर्थात् मैं सब कुछ कर सकता हूं, यह सारी सम्पत्ति मेरी है इस प्रकार के विचार करना और इनसे प्रसन्न होना परिग्रहानन्द रौद्रध्यान है।

इस ससार में जितनी भी उत्तम वस्तुएँ हैं—रत्न भण्डार, देवागनाओं को तिरस्कृत करनेवाली रमणियां, सुन्दर उपवन, वाटिका, प्रासाद आदि हैं—वे सब वीर पुरुषों के उपभोग करने योग्य होती हैं, इसलिए मैं उनका स्वामी हूं, क्योकि मेरे समान इस ससार में कौन वीर है, इस प्रकार विचार करना परिग्रहानन्द नामा रौद्रध्यान है।

मैं अमुक व्यापार करूंगा, उसमें इतना धन आवेगा, उससे अमुक घोड़े, हाथी, मोटर, वायुयान आदि खरीदूंगा, सुन्दर बाग लगवाऊंगा। सुन्दर भवन का निर्माण करवाऊंगा, जिसमें सब प्रकार की विषय सेवन की सामग्री रखूंगा, उनकी रक्षा के लिए अमुक२ उपाय करूंगा, किसकी ऐसी शक्ति है जो मेरी सम्पत्ति की तरफ दृष्टि भी डाल सके, इत्यादि आरम्भ और परिग्रह में रुद्र आशय धारण करने वाले के परिग्रहानन्द नामा रौद्रध्यान होता है।

रौद्रध्यान के बाह्य चिह्न

क्रूरता दण्डपारुष्यं वञ्चकत्वं कठोरता।
निस्त्रिंशत्वं च लिङ्गानि रौद्रस्योक्तानि सूरिभिः ॥ ३७ ॥
विस्फुलिङ्गनिभे नेत्रे भ्रू वक्रा भीषणाकृतिः।
कम्पः स्वेदादिलिङ्गानि रौद्रे बाह्यानि देहिनाम् ॥ ३८ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ—क्रूरता, दण्ड देने में कठोरता, वंचकता (ठगना), कठोरता, निर्दयता, इस प्रकार के दूसरों को पीड़ा पहुंचाने वाले विचार तथा उनसे होने वाले कार्य जिसके होते हैं, उसके रौद्रध्यान समझना चाहिए।

जिसके नेत्र अग्नि के समान लाल हों, भौंहें टेढ़ी हों, जिसकी मुख की आकृति डरावनी हो, जिसका शरीर क्रोध से कांप रहा हो, शरीर पर पसीना हो इत्यादि शरीर में क्रोधादि कषाय के विकृत लक्षण दिखाई दें तो उन्हें रौद्रध्यान के चिह्न समझना चाहिए।

रौद्रध्यान का कारण और फल

रौद्रध्यान कृष्ण लेश्या के बल से उत्पन्न होता है नरक में जाना इसका फल है। और यह पांचवें गुणस्थान तक रहता है। अर्थात् आदि के पांच गुणस्थानवर्ती जीवों के पाया जाता है। और इसका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है। यह क्षायोपशमिक भाव है।

यद्यपि रौद्रध्यानी का नरक में गमन बताया है, तथापि यह कथन सम्यग्दृष्टि और संयतासंयत की अपेक्षा से नहीं समझना चाहिए। क्योंकि सम्यग्दृष्टि के देवायु का ही बन्ध होता है। और अणुव्रती भी देवआयु के सिवा अन्य आयु का बंध नहीं करता है। इसलिए रौद्रध्यानी की नरकगति में गमन मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से ही कहा गया है। इसका हम आर्तध्यान और हिंसानन्द नामक रौद्रध्यान में विशेष विवेचन कर आये हैं सो वहां से जान लेना चाहिए।

इस प्रकार आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान इन दो अप्रशस्तध्यान का वर्णन हुआ। अब धर्मध्यान का वर्णन करते हैं।

धर्मध्यान का स्वरूप

अथ प्रशममालम्ब्य विधाय स्ववशं मनः ।
विरज्य कामभोगेषु धर्मध्यानं निरूपय ॥ १ ॥ (ज्ञाना० अ० २७)

अर्थ—हे आत्मन्! सबसे पहले तू प्रशम (मन्द कषाय से उत्पन्न अपूर्व शान्ति) का आलम्बन कर, मन को अपने वश में कर तथा काम और भोगो से–पांच इन्द्रियों के विषयो के सेवन से–विरक्त होकर धर्मध्यान मे प्रवृत्त हो।

आत्मा के हितकर दो ध्यान हैं, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। उनमे से धर्मध्यान मे प्रवृत्ति करने वाले आत्मा को सबसे प्रथम कषाय मन्द करना चाहिए। जब तक कषाय की मन्दता नहीं होती, तब तक आत्मा मे शान्ति नहीं आसकती। जिस आत्मा के अन्दर कषाय रूप अग्नि की भट्टी दहकती रहती है, वहा शान्ति रूप शीतल जल का निवास नहीं हो सकता। इन दोनों का परस्पर मे विरोध है। जहा पर शान्ति-जल का निवास रहता है, उसी आत्मा मे धर्मवासना रूप कल्पवृक्ष का अकुर जमता है। इसलिए हे आत्मन्! अनादि काल से इस कषाय रूप भट्टी मे से दहकती हुई क्रोधादि ज्वालाओ से अनन्त काल तक तूने घोर सताप ज्वर का अनुभव कर अचिन्त्य दु:ख भोगे हैं जिनका वर्णन करना भी अशक्य है। अब उन दु:खो से बचकर शान्ति-सुधा का पान करने की यदि तेरा इच्छा है तो उन कषायों को मन्द करता चला जा। उस शान्ति-सुधा के प्राप्त होने पर धर्मध्यान रूप कल्पवृक्ष, तेरी आत्मा मे अकुरित हो उठेगा और ज्यो २ शान्ति-रस का उसमे सिंचन होता रहेगा त्यो त्यो वह धर्मध्यान-कल्पवृक्ष पनपता रहेगा और वह स्वर्गादि सुख रूप पुष्प देकर मोक्ष रूप फल को फलेगा, जिसका रसास्वादन कर तू सदा के लिए सुखी हो जावेगा।

शान्ति-सुधा रस का पान करने मे बाधक, मन मे अशान्ति उत्पन्न करने वाले काम-भोग हैं। स्पर्शनेन्द्रिय व रसनेन्द्रिय के विषय को काम और घ्राणेन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय के विषय को भोग कहा है। इन पाचो इन्द्रियो के विषय से मनमे व्याकुलता उत्पन्न होती है। और जब तक व्याकुलता रहती है, मन मे शान्ति नहीं आती इसलिए विषय-सेवन से विरक्त होना परमावश्यक है। जिसके अन्तःकरण में अशुभ कषाय का प्रादुर्भाव न होकर शुभ कषाय तथा मन्द कषाय होजाती है और कामभोगो से उदासीनता होकर जिसका मन अपने वश मे हो जाता है, वह महात्मा धर्मध्यान का पात्र बन जाता है।

धर्मध्यान का ध्याता कौन है ?

ज्ञानवैराग्यसंपन्नः संवृतात्मा स्थिराशयः ।
मुमुक्षुरुद्यमी शान्तो ध्याता धीरः प्रशस्यते ॥ २ ॥ (ज्ञाना० प्र० २७)

अर्थ—जो आत्मा यथार्थ वस्तु-तत्त्व का ज्ञाता और विषय भोगों से विरक्त है, जिसका मन और इन्द्रियां स्ववश में हैं, जिसका चित्त चञ्चलता से रहित-स्थिर है, जिसे मोक्ष की अभिलाषा है, तथा आलस्य हीन-उद्यम शील है, जिसके हृदय को क्रोधादि कषायें अशान्त नहीं कर रही हैं-परमशान्त है तथा विकार उत्पन्न करने वाले कारण जिसकी आत्मा में क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सकते हैं, ऐसा धैर्यवान् मनुष्य ही धर्मध्यान के लिए प्रशंसनीय माना गया है। उपर्युक्त गुणों का धारक उत्तम मनुष्य ही धर्मध्यान का आराधक होता है।

धर्मध्यान की सिद्धि के लिए चार भावनाएँ निरन्तर चित्त में धारण करनी चाहिए। उनका चिन्तन करना परम-हितकारी है। मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य ये चार भावनाएँ हैं।

मैत्री भावना

जीवन्तु जन्तवः सर्वे क्लेशव्यसनवर्जिताः ।
प्राप्नुवन्तु सुखं त्यक्त्वा वैरं पापं पराभवम् ॥ ७ ॥ (ज्ञाना० प्र० २७)

अर्थ—संसार के सब जीव क्लेश व आपदाओं से वर्जित रहकर जीवें, तथा आपस के वैर, पाप और अपमान को छोड़ कर सदा सुख पावें, इस प्रकार की भावना को मैत्री भावना कहते हैं।

अखिल विश्व के जितने भी सूक्ष्म, बादर, त्रस और स्थावर जीव हैं, वे सब मेरे बन्धु हैं, उनके साथ मेरा अनेक बार कौटुम्बिक सम्बन्ध रहा है। उनको सुख पहुंचाना मेरा परम कर्त्तव्य है। जिस प्रकार किसी आत्मीय बन्धु को कष्ट में पड़ा हुआ देखकर मनुष्य उसके कष्ट दूर करने की शक्ति न होने पर भी उसको सुखी देखना चाहता है, वैसे ही मैत्री भावना का चिन्तन करने वाला सब जीवों को क्लेशादि से रहित सदा सुखी रहने की भावना करता है। उसके परिणामों की विशुद्धि होती है, और धर्मध्यान में प्रवृत्ति होती है। इस मैत्री भावना से आत्मा में सब जीवों से वैरभाव का नाश होता है और अद्भुत शान्ति का प्रादुर्भाव होता है, जिसके बल से आत्मा अपूर्व पुण्य उपार्जन कर सद्गति का पात्र होता है।

कारुण्य भावना

दैन्यशोकसमुत्त्रासे रोगपीड़ार्दितात्मसु ।
वधबन्धनरुद्धेषु याचमानेषु जीवितम् ॥ ८ ॥
क्षुत्तृट्श्रमाभिभूतेषु शीताद्यैर्व्यथितेषु च ।
अविरुद्धेषु निस्त्रिंशैर्यात्यमानेषु निर्दयम् ॥ ९ ॥
मरणार्त्तेषु जीवेषु यत्प्रतीकारवांछया ।
अनुग्रहमतिः सेयं करुणेति प्रकीर्तिता ॥ १० ॥ (ज्ञाना० अ० २७)

अर्थ—जो प्राणी दीनता, शोक, त्रास तथा रोग पीडा आदि से पीडित हो, जिनका घात होता हो, बन्धन में बंधे हो, कारावास में रुके हुए हो, अथवा हमे कोई बचाओ इस प्रकार जीवन की याचना करते हों, तथा भूख प्यास परिश्रमादि से कष्ट पा रहे हो, शीत उष्णादि की बाधा से पीड़ित हों, दुष्ट लोगो से निर्दयता पूर्वक सताये जाते हुए मरण के दु.ख को प्राप्त हो रहे हो उन सब दुःखी जीवों को देखकर, उनकी यह अवस्था सुनकर उनके दु.ख दूर करने के उपाय करने की जो बुद्धि होती है, उसे कारुण्य भावना कहते हैं।

आत्महितैषी मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य है कि किसी मनुष्य को भूख प्यास आदि दुःख से पीडित देखकर उसको अन्न जलादि योग्य वस्तु देकर उसके कष्ट को दूर करे। यदि कोई कुलीन सद्गृहस्थ आर्थिक परिस्थिति ठीक न होने के कारण अपने कुटुम्ब का पालन पोषण करने मे अत्यन्त कष्ट का अनुभव कर रहा हो, लज्जावश अन्य से याचना करने की अपेक्षा मृत्यु का आलिंगन करना श्रेष्ठ समझता हो, ऐसे मनुष्यो को गुप्त धनादि सहायता देकर उनके कष्ट को मिटाना धार्मिक महानुभावो का कर्त्तव्य है। उनकी आजीविका का प्रबन्ध करना, उनकी सन्तान के लिए शिक्षा दीक्षादि का प्रबन्ध कर धर्म मे प्रवृत्त करवाना पुण्य बन्ध का कारण है। किसी का हृदय इष्ट-वियोग के कारण शोक दावानल से जला रहा हो, उसके शोक को उपदेश द्वारा दूर करने का उपाय करना चाहिए तथा उचित उपायो से उसके चित्त में शान्ति पहुचाना चाहिए। कोई अपनी दुष्टता से शारीरिक शक्ति और धनादि के मद मे उन्मत्त होकर असहाय जीवो को त्रास दे रहे हों, वध करते हों, बन्धन मे डाल रहे हों, तो उनसे उद्धार करने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करना दयावान धर्म-प्रिय पुरुषो का परम धर्म है। कई लोग धूर्त वञ्चक पुरुषों के द्वारा पथभ्रष्ट होकर धर्म के निमित्त, बलिदानादि के निमित्त, यज्ञादि के निमित्त मूक-दीन-जीवो का वध करते हैं, उन्हें धर्म का स्वरूप समझाकर हिंसा के पाप से बचाना चाहिए। वे मूक जीव अपनी बोली मे धार्मिक और समर्थ पुरुषो से अपने जीवन की भिक्षा मांगते हैं।

शक्तिशाली मनुष्यों के कर्त्तव्य हैं कि उचित उपायो द्वारा उनकी रक्षा करें। कई लोग अपनी क्रूरता के कारण एकान्त सुनसान भयानक जङ्गल में छिप कर रहने वाले मृगादि पशुओ की शिकार करते हैं। यह उनकी वीरता नहीं किन्तु कायरता है, जो आप शस्त्र-अस्त्र से सुसज्जित हो शस्त्र-अस्त्र हीन गरीब अनाथ पशुओ को छिपकर मारते हैं। उन निरपराधी जीवो को मारकर अपनी वीरता प्रकट करने वाले लोगो को समझकर या अन्य उचित उपायों का अवलम्बन लेकर उनकी रक्षा करना महान् पुण्य वन्ध का कारण है। यदि कोई रोग से पीड़ित हो तो उसके लिए औपधि का प्रवन्ध करना, उसकी परिचर्या करना, उसके पास मे बैठ कर उसे सान्त्वना देना, उसको शिक्षादि देकर उसके दुःख मे समवेदना प्रकट करना, यदि उसे किसी आवश्यक वस्तु की आवश्यकता हो तो उसको सहायता देना परम धर्म का कारण होता है। इसी प्रकार किसी अन्य दुःख से पीड़ित जीवों को दुःख से छुड़ाने का प्रयत्न करना कारुण्य भावना है। अपने निमित्त से किसी जीव को कष्ट न पहुचाना तथा उनको दुःख से उद्धार करने का सामर्थ्य न होने पर उनके दुःख विनाश की भावना करना भी कारुण्य भावना है। इस भावना से जीव तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध करता है। यदि तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं भी हुआ तो भी उसके सातिशय पुण्य का वन्ध होता है, जिससे परम्परा उसका अभ्युदय होते हुए मोक्ष का भागी बनता है। इसलिए कारुण्य भावना आत्मा का हित करने मे माता के समान है ऐसा समझकर इसका सदा अभ्यास करना चाहिए।

प्रमोद भावना

तपः श्रुतयमोद्युक्तचेतसां ज्ञानचक्षुपाम्।
विजिताक्षकपायाणां स्वतत्वाभ्यासशालिनाम्॥ ११॥
जगत्त्रयचमत्कारिचरणाधिष्ठितात्मनाम्।
तद्गुणेषु प्रमोदो यः सद्भिः सा मुदिता मता॥ १२॥ (ज्ञाना० अ० २७)

अर्थ—जिनके ज्ञान-चक्षु प्रकट हुआ है, अर्थात् जो समस्त पदार्थों को चर्म-चक्षु से नहीं देखते, किन्तु ज्ञान से उनकी वास्तविक अवस्था को जानते हैं, जो तपश्चरण, श्रुताभ्यास और यम पालन मे उद्यमशील रहते हैं, जिन्होंने इन्द्रियों और कपायो को अपने वश मे कर लिया है तथा आत्मा के अभ्यास मे तल्लीन हैं, संसार को चमत्कृत करने वाले तपश्चरण मे जिनका आत्मा तन्मय हो रहा है, ऐसे पुरुप पुंगवो के गुणो मे प्रमोद उत्पन्न होना प्रमोद भावना है।

यह निश्चित सिद्धान्त है कि जो मनुष्य जैसी भावना करता है, वह कालान्तर मे अभ्यास द्वारा उसी प्रकार का बन जाता है। सब प्राणी अपने आप को उन्नत और गुणवान् बनाना चाहते हैं। इसलिए उन्हें अपने अनुकूल आदर्शो की ही खोज करना चाहिए। जो अपने

जीवन को पवित्र बनाना चाहता है एवं जो परोपकारी अपूर्व विद्वान तथा श्रुत का पारगामी बनना चाहता है, उसका कर्त्तव्य होजाता है कि वह विशिष्ट ज्ञानशाली सत्पुरुषो की सङ्गति करे। उनका समागम होने पर अपने को धन्य माने और आनन्द मे ऐसा विभोर और उन्मत्त हो जावे, जैसा कि मयूर बादलो को देखकर आनन्द मे मग्न होकर नाचने लगता है। ज्ञानवान् और सरल प्रकृति वाले सत्पुरुष की सङ्गति आत्मा को विवेक शील और मजुल स्वभाव बनाती है। आगमाभ्यासी तथा सच्चरित्र के आराधक संयमी जनो का समागम आत्मा में विशुद्धि उत्पन्न कर आगम रहस्य के ज्ञाता और संयम पालन मे क्षम बनाता है। कषाय और इन्द्रिय को अपने काबू में रखने वाले महात्मा का योग सौभाग्य से मिलता है, उनका सङ्गम होने पर अपना अहोभाग्य समझना चाहिए। उनके ससर्ग से विषय और कषाय से विरक्तता का संस्कार आत्मा में उत्पन्न होता है। तपश्चरण का अनुष्ठान करने वालो की महिमा अनुपम है। आत्मा के साथ अनादि काल से लगा हुआ कर्म-मल का प्रक्षालन तपस्या से ही हो सकता है। इसलिए तपस्वी, विवेकशील-विद्वान-सयमी आदि महापुरुषो का सम्मेलन होने पर आनन्द का अनुभव करना प्रमोद भावना है ॥

माध्यस्थ्य भावना

क्रोधविद्धेषु सत्वेषु निस्त्रिंशक्रूरकर्मसु।
मधुमांससुरान्यस्त्रीलुब्धेष्वत्यन्तपापिषु ॥ १३ ॥
देवागमयतिव्रातनिन्दकेष्वात्मशंसिषु।
नास्तिकेषु च माध्यस्थ्यं यत्सोपेक्षा प्रकीर्त्तिता ॥ १४ ॥ (ज्ञाना० अ० २७)

अर्थ—जो प्राणी क्रोध स्वभाव वाले हो, निर्दय और क्रूर कर्म करनें वाले हों। मधु, मांस, मदिरा और पर स्त्री के लम्पटी हो व्यसनी हो, अत्यन्त पापी हो तथा देव शास्त्र गुरु के निन्दक हो, अपने आत्मा की प्रशसा करने वाले हों, तथा नास्तिक हो, ऐसे जीवों पर माध्यस्थ्य धारण करना उपेक्षा (माध्यस्थ्य) भावना है।

जिनके विचार हमारे विचारो से मेल न खाते हो, जिनका आचरण हमारे आचरण के प्रतिकूल हो, जो अकारण ही हम से विरोध रखते हों, क्रोध और मान के वशीभूत होकर हमारा अनिष्ट करने के लिए उद्यत हो, धर्म के विरोधी हों, देव और गुरुओं के निन्दा करने वाले हो, जिनका आचरण निन्दनीय हो, निर्दयी और कुत्सित घृणित कार्यों के करने वाले हो, मद्य पीने में आसक्त हों, मास भक्षी हो, परस्त्री गामी हो, अभक्ष्य-निन्दनीय पदार्थों का भक्षण करने वाले हो, व्यसनी हो, इत्यादि विपरीत व्यवहार वाले मनुष्यो से राग द्वेष न कर मध्यस्थ भाव धारण करना ही उचित है। क्योंकि ऐसे व्यक्तियो से राग द्वेष करने से आत्मा का बहुत अहित होता है। राग और द्वेष के

अभाव का नाम उपेक्षा है। यह उपेक्षा आत्मा में परम शान्ति उत्पन्न करती है। राग द्वेष से उत्पन्न हुई आकुलता की अग्नि उपेक्षा रूप शीतल जल की वृष्टि से शान्त हो जाती है और आत्मा मे अनुपम शान्ति, सुख का सञ्चार करती है, अतः इस उपेक्षा (माध्यस्थ्य) भावना का सतत चिन्तन व आचरण करना चाहिए।

अब इन भावनाओं का फल दिखाते हैं:—

एताभिरनिशं योगी क्रीडन्नत्यन्त निर्भरम्।
सुखमात्मोत्थमत्यक्षमिहैव वास्कन्दति ध्रु वम् ॥ १६ ॥
भावनास्वासु संलीनः करोत्यध्यात्मनिश्चयम्।
अवगम्य जगद्वृत्तं विषयेषु न मुह्यति ॥ १७ ॥ (ज्ञाना० अ० २७)

अर्थ—इन ऊपर कही गई चार भावनाओ में सतत रमण करने वाला योगी इसी लोक मे आत्मा से उत्पन्न हुए अनुपम सुख का आस्वादन करता है। तथा इन भावनाओ मे तल्लीन रहने वाला सयमी ससार के वृत्तान्त को भलीभाति समझ कर अध्यात्म तत्त्व का निश्चय करता है और विषयो में मुग्ध नहीं होता है।

यह भावनायें मनुष्य को आत्मीय शान्ति देने वाली हैं। इनसे आत्मा के विभाव भावो के नाश होने में सहायता मिलती है रागद्वेष के निमित्त से आत्मा मे अनेक प्रकार के सङ्कल्प विकल्प होते हैं। इन भावनाओ के बलसे उनका शमन होकर आत्मा मे निष्कम्पता आती है। योगी की मोह-निन्द्रा शान्त होती है और योग-निद्रा उत्पन्न होती है।

अब ध्यान की सिद्धि के लिए योग्य और अयोग्य स्थानो का निरूपण करने के लिए प्रवृत्ति करते हुए प्रथम ध्यान के अयोग्य स्थानो का स्वरूप दिखाते हैं—

यत्रायमिन्द्रियग्रामो न्या सङ्क्स्तेन विप्लवम्।
नाश्नुवीत तमुद्देशं भजेताध्यात्मसिद्धये ॥ (यशस्तिलक आ० ८)

अर्थ—ध्यान की सिद्धि के इच्छुक को उचित है कि जिस स्थान पर इन्द्रिय-समूह और चित्तवृत्ति उच्छृंखलता का अनुभव न करे, ऐसे स्थान को वह आत्मध्यान की सफलता के लिए स्वीकार करे।

ध्यान के अयोग्यस्थान

म्लेच्छाधमजनैर्जुष्टं दुष्टभूपालपालितम् ।
पाखण्डिमण्डलाक्रान्तं महामिथ्यात्ववासितम् ॥ २३ ॥
कौलिकापालिकावासं रुद्रक्षुद्रादिमन्दिरम् ।
उद्भ्रान्तभूतवेतालं चण्डिकाभवनाजिरम् ॥ २४ ॥
पण्यस्त्रीकृतसंकेतं मन्दचारित्रमन्दिरम् ।
क्रूरकर्माभिचाराढ्यं कुशास्त्राभ्यासवञ्चितम् ॥ २५ ॥
क्षेत्रजातिकुलोत्पन्नशक्तिस्वीकारदर्पितम् ।
मिलितानेकदुःशीलकल्पिताचिन्त्यसाहसम् ॥ २६ ॥
द्यूतकारसुरापानविटवन्दिव्रजान्वितम् ।
पापिसत्वसमाक्रान्तं नास्तिकासारसेवितम् ॥ २७ ॥
क्रव्यादकामुकाकीर्णं व्याधविध्वस्तश्वापदम् ।
शिल्पिकारुकविक्षिप्तमग्निजीविजनाश्रितम् ॥ २८ ॥ (ज्ञाना० अ० २७)

अर्थ—जिस स्थान मे म्लेच्छ व पापीजन रहते हो, जो स्थान दुष्ट राजा (जमींदार) के अधिकार मे हो, पाखण्डी लोगों से घिरा हुआ हो, जहा महामिथ्यात्व की वासना हो, कुल देवता व योगिनी का स्थान हो, रुद्र या क्षुद्र देवता का मन्दिर हो, जिस स्थान पर उद्धत होकर भूत वेताल नाचते हो, चण्डिका के मन्दिर का आंगन हो, व्यभिचारिणी स्त्रियो का जार पुरुषो से मिलने का जो सकेत किया स्थान हो, शिथिल चारित्र वाले पाखण्डियो का मन्दिर हो, तथा जहा क्रूर एवं हिंसक कर्म होता हो, जहां कुशास्त्रो का अभ्यास होता हो, यह हमारा स्थान है—यहा पर अन्य का प्रवेश सर्वथा वर्जित है ऐसा अभिमान का अभिप्राय जहा पर हो, जहा पर अनेक दु शील कुत्सित पुरुषो ने मिलकर कोई दुःसाहस का कार्य किया हो, जो स्थान द्यूत क्रीड़ा करने वाले जुआरी, मद्यपायी, व्यभिचारी और बन्दीजन इत्यादि के समूह से युक्त हो, पापी जीवो से घिरा हुआ हो, तथा नास्तिक मनुष्यो से सेवित हो, मासभक्षी और कामी लोगों से व्याप्त हो, व्याधों-शिकारियो

ने जहा जीववध किया हो, तथा शिल्पी (सिलावट कारीगर) कारुक आदि (छीपे मोची आदि) के कार्य से जहां चित्त को विक्षेप होता हो, जो स्थान श्रमिजीवी मनुष्यों (लोहार, सुनार, ठठेरे आदि) से युक्त हो-ऐसे चित्त मे विकार या खेद उत्पन्न करने वाले स्थानो को ध्यान के अयोग्य समझना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि ध्यान के लिए वे स्थान अयोग्य माने गये हैं जहा पर चित्त मे अशान्ति उत्पन्न हो, इन्द्रिया विषयो मे प्रवृत्त होने लगें, कषाय का प्रादुर्भाव हो तथा विकार उत्पन्न करने वाले कारण जहा पर उपस्थित हो, हिंसा आदि पाप कार्यों मे जहां पर प्रवृत्ति होती हो, मिथ्याज्ञान और दुराचरण की वासना वाले मनुष्यो का प्रचार हो, स्त्री, नपुंसक और पशुओं का गमनागमन जहां होता हो-इत्यादि बुरी वासना और इन्द्रिय तथा मन को विकृत करने के साधन जहा हो, वे स्थान ध्यान के अयोग्य बताये गये हैं।

जिस स्थान पर दंशमशकादि क्षुद्र जन्तुओ का आधिक्य हो, जहां असह्य शीत वा उष्ण हो, ऐसे स्थान भी ध्यानाभ्यास के लिए वर्जित बतलाये गये हैं।

जिस स्थान मे तृण,कंटक तथा सर्प की बाबी, चींटी आदि के बिल हो, जहां ऊँचे नीचे पत्थर तथा कीचड हो,जहा पर राख तथा उच्छिष्ट (जूठन) पड़ी हो, जो हड्डी, रक्त, मलमूत्रादि से दूपित हो ऐसे स्थान भी ध्यान करने वाले को त्याग देना चाहिए।

जहा कौवे, उल्लू, मार्जार, (बिल्ली) गीदड़, गधे आदि का शब्द होता हो, ऐसा स्थान ध्यानाभिलाषी के ध्यान मे विघ्न करने वाला होता है। ऐसे ही अन्य भी स्थान जो ध्यान मे विघ्न करने वाले हों, उन्हें भी त्याग देना चाहिए।

इस प्रकार ध्यान के अयोग्य स्थान का निरूपण करने के बाद अब ध्यान के योग्य स्थान का वर्णन करते हैं—

ध्यान के योग्यस्थान

सिद्धक्षेत्रे महातीर्थे पुराणपुरुषाश्रिते।
कल्याणकलिते पुण्ये ध्यानसिद्धिः प्रजायते ॥ १ ॥ (ज्ञाना० अ० २८)

अर्थ—जिस स्थान से तीर्थंकरादि महापुरुष सिद्ध हुए हैं, वह सिद्ध क्षेत्र, तथा पुराण पुरुष अर्थात् तीर्थंकरादि पुण्यवान् पुरुषों ने जहा आश्रय लिया हो, वह महातीर्थ, जो तीर्थंकर महाप्रभुओ की पवित्र पञ्चकल्याणक भूमि हो, ऐसे स्थान ध्यानसिद्धि के कारण माने गये हैं।

ध्यान की सिद्धि के लिए परिणामो की पवित्रता कारण है। परिणामों की पवित्रता के लिए अन्यान्य कारणों के साथ क्षेत्र की शुद्धि भी आवश्यक है। अयोग्य क्षेत्र भावो को बिगाड़ देता है। यही कारण है कि ध्यान के लिए योग्यायोग्य स्थान का बहुत विचार किया जाता है। योग्य स्थान पर चित्त मे निर्मलता और स्थिरता आजाती है; अत वहा पर ध्यान की सिद्धि सहज मे हो जाती है। ध्यान के अभ्यास तथा उसकी पूर्णता के लिए सिद्धक्षेत्र सर्वोत्तम स्थान माना गया है। जहा पर देवाधिदेव तीर्थंकरदेव ने तथा अन्य महापुण्यवान् पुरुष-पुंगवो ने निवास किया है, उस महातीर्थ भूमि की पवित्र रज चित्त को निर्मल बनाने मे अद्वितीय कारण है। वहा चित्त की एकाग्रता व स्वच्छता होना स्वाभाविक है। जिन स्थानो पर तीर्थंकर महाप्रभु के कल्याणक हुए हैं, वह कल्याण-भूमि ध्यान की सिद्धि मे सहायक हो तो इसमे क्या आश्चर्य की बात है? पाचो कल्याणको की पावन भूमि आत्मा मे शुद्धि का सचार करती है इसी लिए यह तीर्थ कहलाते हैं। ध्यान के योग्य और भी स्थान हैं जैसे—

सागरान्ते वनान्ते वा शैलशृङ्गान्तरेऽथवा ।
पुलिने पद्मखण्डान्ते प्राकारे शालसङ्कटे ॥ २ ॥
सरितां सङ्गमे द्वीपे प्रशस्ते तरुकोटरे ।
जीर्णोद्याने श्मशाने वा गुहागर्भे विजन्तुके ॥ ३ ॥
सिद्धकूटे जिनागारे कृत्रिमेऽकृत्रिमेऽपि वा ।
महर्धिकमहाधीरयोगी संसिद्धिवांछिते ॥ ४ ॥
मनः प्रीतिप्रदे शस्ते शङ्काकोलाहलच्युते ।
सर्वर्त्तु सुखदे रम्ये सर्वोपद्रववर्जिते ॥ ५ ॥
शून्यवेश्मन्यथग्रामे भूगर्भे कंदलीगृहे ।
पुरोपवनवेद्यन्ते मन्डपे चैत्यपादपे ॥ ६ ॥
वर्षातपतुषारादिपवनासारवर्जिते ।
स्थाने जागर्त्यविश्रान्तं यमी जन्मार्त्तिशान्तये ॥ ७ ॥ (ज्ञाना. प्र. १८)

अर्थ—संयमी ध्यान द्वारा जन्म मरण रूप संसार की पीड़ा को शान्त करने के लिए निम्नलिखित स्थानो में निरन्तर सावधान

चित्तवाला होकर रहता है, अर्थात्–निम्नाङ्कित स्थान ध्यान की सिद्धि मे प्रशस्त माने गये हैं।

समुद्र का तट, वन की मध्य भूमि, पर्वत का शिखर, नदी का तट, कमल वन का मध्य भाग, कोट का ऊर्ध्व भाग, वृक्षों के समूह से व्याप्त भूमि, नदियो का सङ्गम स्थान, द्वीप (टापू), प्रशस्त (शरीर बाधा रहित सुन्दर) वृक्ष की कोटर, पुराना बगीचा, स्मशान का एकान्त भाग, जन्तु रहित पर्वत की गुफा, सिद्ध कूट, कृत्रिम अथवा अकृत्रिम जिन चैत्यालय (मन्दिर), जहां महाऋद्धि के धारक महाधीर, वीर योगीश्वर सिद्धि की वांछा करते हैं-ऐसे स्थान, मन को प्रसन्न करने वाले स्थान, शङ्का और कोलाहल से वर्जित स्थान, छहो ऋतु में सुख देने वाला स्थान, रमणीय तथा सब उपद्रवो से रहित स्थान, शून्य गृह तथा शून्य ग्राम, भूमि के भीतर का गृह (तलघर) केलो के वृक्षो का मध्य वर्त्तीस्थान तथा नगर के उपवन की वेदी (पाली) का मध्य का भाग, वर्षा, आतप (घाम), हिम, शीतादि तथा प्रचंड पवनादि से वर्जित–ऐसे स्थान ध्यान की सिद्धि के लिए उपयुक्त माने गये हैं।

साराश यह है कि जिस स्थान पर चित्त मे उत्साह और शान्ति प्रकट हो, चित्त मे निर्मलता और स्थिरता की वृद्धि हो, इन्द्रियाँ अपने वश मे रहें, शरीर को बाधा पहुचाने वाले शीत उष्ण वर्षा तथा प्रचण्ड आधी की बाधा से वर्जित हो, ऊँचा नीचा स्थल न हो, किन्तु समतल भूभाग हो, बीहड जङ्गल का प्रदेश, समुद्र का तट, नदी का किनारा हो, इत्यादि एकान्त क्षोभ रहित, इन्द्रिय और मन की एकाग्रता का साधक स्थान ध्यान के लिए प्रशस्त माना गया है।

जहा रागादि दोषो का निरन्तर ह्रास हो, कषाय का प्रादुर्भाव न हो, इन्द्रिय–विषयो का ससर्ग न हो, वह स्थान ध्यान के लिए उचित माना गया है।

ध्यान के उपयोगी आसन

दारुपट्टे शिलापट्टे भूमौ वा सिकतास्थले।
समाधिसिद्धये धीरो विदध्यात्सुस्थिरासनम् ॥ ९ ॥
पर्यङ्कमर्धपर्यङ्कं वज्रं वीरासनं तथा।
सुखारविन्दपूर्वे च कायोत्सर्गश्च सम्मतः ॥ १० ॥ (ज्ञाना. अ. २८)

अर्थ—समाधि (ध्यान) की सिद्धि के लिए धीर पुरुष काठ के तख्ते पर, शिला पर, समतल भूमि पर, बालू रेत के स्थान मे सम्यक् प्रकार स्थिर आसन लगावे। पर्यंकआसन, अर्धपर्यंकआसन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, पद्मासन और कायोत्सर्ग (खड्गासन)

ये आसन ध्यान के योग्य माने गये हैं।

तात्पर्य यह है कि जिस आसन से सुख पूर्वक बैठे हुए मुनि अपने मन को निश्चल रख सकें और शरीर को कष्ट न हो, ऐसा ही आसन ध्यान करते समय स्वीकार करना चाहिए। यही कहा है —

कायोत्सर्गश्च पर्यङ्कः प्रशस्तं कैश्चिदीरितम् ।
देहिनां वीर्यवैकल्यात्कालदोषेण सम्प्रति ॥ १२ ॥ (ज्ञाना. अ. २८)

अर्थ—कई आचार्यों ने इस समय काल दोष से प्राणियों के वीर्य की विकलता होने से अर्थात् स्वाभाविक शारीरिक शक्ति की हीनता होने के कारण कायोत्सर्ग (खड्गासन) और पर्यङ्कासन (पालथी) ये दोनो आसन ध्यान के लिए प्रशस्त माने हैं।

प्राचीन काल मे योगीश्वर वज्रकाय अर्थात् उत्तम सहनन वाले थे। वे महापराक्रमी, सब अवस्थाओं मे अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थिति मे निश्चल रहते थे। उन्होने सब प्रकार के कठिन आसनो द्वारा ध्यान लगाकर शाश्वत सुख को पाया था। उनके चित्त को सुर, असुर, शत्रु तथा क्रूर सिंहादि तिर्यंचो के भयानक उपसर्ग भी चञ्चल करने मे कभी समर्थ नहीं हुए। सोही कहा है।

केचिज्ज्वालावलीढा हरिशरभगजव्यालविध्वस्तदेहाः ।
केचित्क्रूरारिदैत्यैरदयमतिहताश्चक्रशूलासिदण्डैः ॥
भूकम्पोत्पातवातज्वलनघनव्रातरुद्धास्तथाऽन्ये ।
कृत्वा स्थैर्यं समाधौ झटिति शिवपदं निःप्रपञ्चं प्रपन्नाः ॥ १६ ॥ (ज्ञाना. अ. २८)

अर्थ—पुरातन कालवर्त्ती कई महामुनि अग्नि की ज्वालाओं से दग्ध होकर ध्यान मे दृढ रहने के कारण तत्काल मोक्ष को प्राप्त हुए। कई मुनीश्वर सिंह, अष्टापद, हस्ती, सर्पादि से विध्वस्तशरीर शीघ्र मोक्षपथ के अनुयायी बने। कितने ही योगीश्वर क्रूरशत्रु दैत्यादि से निर्दयतापूर्वक चक्र,त्रिशूल,तलवार,दण्डादि शस्त्रास्त्रो द्वारा प्रतिहत हुए समाधि मे स्थिर रहकर तुरन्त शिव स्थान के पथिक बने। कई ऋषीश्वरों ने भूकम्पन, प्रबल पवन, वज्रपात मेघसमूहादि के उपसर्ग को शान्ति से सहकर सिद्धिपथ का अनुसरण किया। अन्य अनेक परमर्षियो ने नाना प्रकार के उपसर्गों को सहकर समाधि मे स्थिरता धारण कर अति शीघ्र शाश्वत शिवपद की उपलब्धि की। इस प्रकार के महामुनीश्वरो (उत्तम संहनन वालो) के लिए आसन का नियम नहीं है। पूर्वकाल के यतीश्वरो के बल वीर्य की तुलना वर्त्तमान काल के साधु कदापि नहीं

कर सकते, इसलिए पुरातन मुनियों की स्थिरता की समानता का दंभ करना उचित नहीं है। उन्हें तो अपनी शक्ति के अनुसार ही ध्यान के उपायों का अवलम्बन लेना चाहिए। क्योंकि—

स्थानासनविधानानि ध्यानसिद्ध र्निबन्धनम् ।
नैकं मुक्त्वा मुनेः साक्षाद्विक्षेपरहितं मनः ॥ २० ॥ (ज्ञाना. अ. २८)

अर्थ—स्थान और आसन ये दो ध्यान सिद्धि के उपाय हैं। इनमें से एक भी छोड़ दिया जावे तो मुनि का मन विक्षेप रहित नहीं होता है।

सारांश यह है कि काल दोष से इस समय संहनन (शक्ति) की कमी के कारण प्रतिकूल कारण का सम्पर्क होने से चित्त में शीघ्र क्षोभ उत्पन्न हो जाता है, इसलिए चित्त की स्थिरता के लिए अनुकूल बाधा रहित स्थान तथा प्रमाद निवारणार्थ सुखदेनेवाला आसन ग्रहण करना चाहिए। तभी तो ध्यान की सिद्धि हो सकती अन्यथा नहीं।

ध्यान करने का पात्र

संविग्नः संवृतो धीरः स्थिरात्मा निर्मलाशयः ।
सर्वावस्थासु सर्वत्र सर्वदा ध्यातुमर्हति ॥ २१ ॥ (ज्ञाना. अ. २८)

अर्थ—जो मुनि संसार के दुःखो से भयभीत हैं तथा संसार को बढ़ाने वाली क्रियाओं से निवृत्त होने से संवर को प्राप्त हुए हैं, विकार के कारणों का संयोग मिलने पर जिनके चित्त में विकार नहीं होता है, अतः जो धीर हैं, जिनकी आत्मा में स्थिरता है, जिनका निर्मल आशय है, अर्थात् जिनके भाव उज्ज्वल हैं, ऐसे मुमुक्षु सब अवस्थाओं, सब स्थानों में और सर्वदा ध्यान करने के योग्य हैं।

सारांश यह है कि पहले जो ध्यान के योग्य स्थान और आसन का निरूपण किया है, उनके सिवा अन्य आसन तथा अन्य स्थानों में भी यदि मुनि का चित्त स्थिरता का अनुभव करने लगे तो फिर स्थानों और आसनों के नियम को मानने की आवश्यकता नहीं है।

ध्यान के समय दिशा का विधान

पूर्वाशाभिमुखः साक्षादुत्तराभिमुखोऽपि वा ।
प्रसन्नवदनो ध्याता ध्यानकाले प्रशस्यते ॥ २३ ॥ (ज्ञाना. अ. २८)

अर्थ—ध्यान के समय में ध्यान करनेवाला मुनि प्रसन्न मुख होकर साक्षात् पूर्व दिशा अथवा उत्तर दिशा में मुख करके ध्यान करे, यह प्रशंसनीय कहा है। किन्तु फिर भी

चरणज्ञानसम्पन्ना जिताक्षा वीतमत्सराः ।
प्रागनेकास्ववस्थासु सम्प्राप्ता यमिनः शिवम् ॥ २४ ॥ (ज्ञाना. अ. २८)

अर्थ—पूर्व समय में चारित्र और ज्ञान से सम्पन्न, जितेन्द्रिय तथा मात्सर्य भाव रहित मुनीश्वर अनेक अवस्थाओं से मोक्ष को प्राप्त हुए ऐसे मुमुक्षुओं के लिए पूर्व तथा उत्तर दिशा के सन्मुखता का कुछ भी नियम नहीं है।

धर्म्यध्यान के अधिकारी

मुख्योपचारभेदेन द्वौ मुनी स्वामिनौ मतौ ।
अप्रमत्तप्रमत्ताख्यौ धर्मस्येती यथायथम् ॥ २५ ॥ (ज्ञाना. अ. २८)

अर्थ—धर्म्यध्यान के अधिकारी मुख्य और उपचार के भेद से छठे और सातवें गुणस्थान के मुनीश्वर माने गये हैं। मुख्याधिकारी तो सातवें अप्रमत्तगुणस्थान वर्ती मुनीश्वर होते हैं और उपचार से छठे प्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनीश्वर होते हैं।

जिनमें सब प्रकार के कष्टों की सहिष्णुता है जो कठोर परीषहों को सहन करने का सामर्थ्य रखते हों, देवदानवादि के भयङ्कर उपसर्ग जिनकी आत्मा में विकार उत्पन्न नहीं कर सकते हों, जो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर सकते हों, कर्मागमन के द्वारों को बन्द करने में तत्पर हों, पूर्व ज्ञान के धारक हों, वह यतीश्वर इस धर्म्यध्यान के धारक होते हैं; क्योंकि ऐसे मुनिराज ही सातिशयअप्रमत्त होकर श्रेणी चढ़ना प्रारम्भ करते हैं।

जो विकल श्रुत अर्थात् पूर्वज्ञान रहित हैं, भावश्रुत के धारक हैं, जो श्रेणी के नीचे ही प्रवृत्ति करते रहते हैं। ऐसे प्रमत्तसंयमी मुनि भी सूत्र मे धर्म ध्यान के ध्याता मान गये हैं। किंतु इन्हें उपचार से धर्म्यध्यान के अधिकारी कहा गया है।

धर्म्यध्यान के ध्याता के चार भेद

किं च कैश्चिच धर्मस्य चत्वारः स्वामिनः स्मृताः ।
सद्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्ता यथायोग्येन हेतुना ॥ २८ ॥ (ज्ञाना. अ. २८)

अर्थ—कई आचार्यों ने धर्म्यध्यान के स्वामी चार भी माने हैं सम्यग्दृष्टि, अणुव्रती श्रावक, प्रमत्त मुनि और अप्रमत्त मुनि।

इसका तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन के बिना धर्म्यध्यान नहीं हो सकता यद्यपि सम्यग्दृष्टि के अन्य ध्यान भी होते हैं। कहीं तीसरे गुणस्थान मे धर्म्य ध्यान का होना बतलाया गया है।

ध्यातारस्त्रिविधा ज्ञेयास्तेषां ध्यानान्यपित्रिधा ।
लेश्याविशुद्धियोगेन फलसिद्धिरुदाहृता ॥ २९ ॥ (ज्ञाना. अ. २८)

अर्थ—धर्म्यध्यान के ध्याता के दूसरे प्रकार से तीन भेद भी होते हैं अर्थात् जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट। इस ध्यान के भी इसी तरह तीन भेद होजावेंगे। लेश्याविशुद्धि के योग से फलसिद्धि मानी गई है।

जघन्य धर्म्यध्याता चौथे गुणस्थानवर्ती और पञ्चमगुणस्थानवर्ती संयतासंयत (अणुव्रती श्रावक) है। मध्यम धर्म्यध्यान का ध्याता छठे गुणस्थानवर्ती मुनि है तथा उत्तम धर्म्यध्यान का ध्याता अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि है। इस प्रकार धर्म्य ध्याता के समान धर्म्यध्यान के भी तीन भेद होते हैं। जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट। धर्म्यध्यान के फल की प्राप्ति लेश्या की विशुद्धि के अनुसार होती है। ज्यों ज्यो लेश्या की विशुद्धि होती जाती है त्यो त्यो धर्म्यध्यान मे उत्कृष्टता आती जाती है।

धर्म्यध्यान के ध्याता की मुद्रा

पर्यंकदेशमध्यस्थे प्रोत्ताने करकुड्मले ।
करोत्युत्फुल्लराजीव सन्निभे च्युतचापले ॥ ३४ ॥

नासाग्रदेशविन्यस्ते धत्ते नेत्रेऽतिनिश्चले ।
प्रसन्ने सौम्यतापन्ने निष्पन्दे मन्दतारके ॥ ३५ ॥ ज्ञाना. अ. २८

अर्थ—ध्यान करने वाला पर्यंकदेश के मध्य भाग मे दोनो हाथो की हथेली ऊपर नीचे रखे और उसके नेत्र चपलता रहित खिले हुए कमल पुष्प के समान खुले रहें। उन स्थिर नेत्रो को नासा के अग्रभाग मे लगावे। वे नेत्र सौम्य गुण से पूरित तथा प्रसन्न हो और मन्द तारावाले उन नेत्रो मे निष्पन्दता हो।

तात्पर्य यह है कि ध्यान के लिए सबसे सुगम पर्यंकासन है। अतः पर्यंकासन (लगाकर) अर्थात् पालथी माडकर अपने दोनो हाथो को उलटे (हथेली पर हथेली) रखे। बायें हाथ की हथेली को नीचे और दाहिने हाथ की हथेली को उसके ऊपर स्थापित करे। शरीर को तना हुआ रखे। अपने सौम्य और प्रसन्न दोनो नेत्रो को नासिका के अग्रभाग मे प्रवृत्त करे। नेत्र की ताराएँ निश्चल हो। दोनों भौहें विकार रहित हो—टेढी न होकर सीधी हो। दोनो ओष्ठ मिले हुए हो और मुख कमल उस सरोवर के समान विकार—चञ्चलता रहित हो, जिस (सरोवर) मे सब मत्स्य मछलियाँ सो रही हो। हृदय मे करुणा स्रोत बह रहा हो, मन मे सवेग और वैराग्य भाव उछलता हो, तथा शरीर की आकृति चित्राम की मूर्त्तिवत् निश्चल हो। जिसका अन्त करण विवेक रूप समुद्र की लहरों से निर्मल हो रहा हो। जिसके हृदय से रागादि पिशाच विज्ञान—मन्त्र से निकाल दिये गये हो। जो सागर के समान गम्भीर, मेरु के सदृश अचल हो। जिसके मन के सब विकार और शरीर सम्बन्धी सब क्रिया नष्ट हो गई हो। ऐसा निष्कम्प हो कि समीपवर्त्ती चतुर मनुष्य को भी ऐसा भ्रम होने लगे कि यह पाषाण की प्रतिमा है अथवा चित्राम की मूर्त्ति है। इस प्रकार ध्यान करने वाले की मुद्रा समझना चाहिए।

ध्यान की सिद्धि के बाह्य कारणो मे प्राणायाम भी अत्यन्त उपकारक माना गया है, इसलिए इसका भी यहा सक्षेप से वर्णन करते है।

प्राणायाम की उपयोगिता

प्राणवायु की साधना करने को प्राणायाम कहते हैं। जैनेतरमतों मे प्राणायाम के साधन का विस्तृत वर्णन मिलता है। परन्तु उनके प्रयोजन तथा स्वरूप मे भेद है। उन्होने समाधि के आठ अङ्गो मे प्राणायाम को भी एक अङ्ग माना है किन्तु उनका उद्देश्य प्राणायाम द्वारा लौकिक सिद्धिया प्राप्त करना भी है। किन्तु जैन शास्त्रो ने लौकिक सिद्धियो को हेय माना है। यहां तो प्राणायाम का केवल इतना ही उपयोग है कि इसके द्वारा मन निश्चल हो जाय जिससे कि वह आत्म—सिद्धि मे समर्थ होसके। आत्मा का अंतिम ध्येय परम पुरुषार्थ(मोक्ष) है। उसके पाने मे यदि प्राणायाम का उपयोग होसके तो अवश्य करना चाहिये, नहीं तो उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। तात्पर्य यह है कि

ध्यान की सिद्धि और मन की स्थिरता के लिए ही प्राणायाम उपयोगी है सो ही कहा है :—

सुनिर्णीतसुसिद्धान्तैः प्राणायामः प्रशस्यते ।
मुनिभिर्ध्यानसिद्ध्यर्थं स्थैर्यार्थं चान्तरात्मनः ॥ १ ॥ (ज्ञाना. प्र. २६)

अर्थ—ध्यान की सिद्धि के लिए तथा चित्तवृत्ति की स्थिरता के लिए सुनिर्णीत उत्तम सिद्धान्तों से मुनीश्वरों ने प्राणायाम को प्रशसनीय बताया है ।

प्राणायाम के भेद

त्रिधा लक्षणभेदेन संस्मृतः पूर्वसूरिभिः ।
पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम् ॥ ३ ॥ ज्ञाना. अ. २६

अर्थ—पूर्वाचार्यों ने पूरक, कुंभक और रेचक के भेद से प्राणायाम के तीन भेद माने हैं ।

पूरक का स्वरूप

द्वादशान्तात्समाकृष्य यः समीरः प्रपूर्यते ।
स पूरक इति ज्ञेयो वायुविज्ञानकोविदैः ॥ ४ ॥ ज्ञाना. अ. २६

अर्थ—तालु के छिद्र से अथवा बारह अंगुल पर्यंत से वायु को खींचकर यथाशक्ति अपने शरीर में पूरण करने को (भरने को) पूरक कहते हैं । ऐसा वायुविज्ञान वेत्ताओं का मत है ।

कुम्भक का स्वरूप

निरुणद्धि स्थिरीकृत्य श्वसनं नाभिपंकजे ।
कुम्भवन्निर्भरः सोऽयं कुम्भकः प्रकीर्त्तितः ॥ ५ ॥ ज्ञाना. अ. २६

अर्थ—उस पूरक वायु को नाभि कमल में स्थिर करके भरे हुए घड़े की तरह रोके रहने को कुम्भक कहते हैं। अर्थात् जो वायु खेंचकर भरी गई है, उसे नाभि कमल मे थांभे रहना—दूसरी जगह जाने न देना कुम्भक कहलाता है।

रेचक का स्वरूप

निःसार्यतेऽतियत्नेन यत्कोष्ठाच्छ्वसनं शनैः ।
स रेचक इति प्राज्ञैः प्रणीतः पवनागमे ॥ ६ ॥ ज्ञाना. अ. २६

अर्थ--जो कोष्ठ मे भरी हुई वायु है, जिसको नाभि कमल मे रोक रखा है, उसको धीरे धीरे नाक से निकालना रेचक है ऐसा प्राणायाम शास्त्र के ज्ञाता विद्वान् कहते हैं।

प्राणायाम करने वाले को बडा सावधान रहना आवश्यक है। अज्ञानतावश इससे बड़ी २ हानियाँ होती देखी गई हैं। प्राणायाम करते समय मुख द्वारा श्वासोच्छ्वास लेना बन्द रखना चाहिए। वायु को एक तरफ के नथुने (नाक के छिद्र) से तालुवे के छेद तक अथवा बारह अगुल दूर तक की वायु को शनैः शनैः खींचना चाहिए। इस वायु को तब तक खींचते रहना चाहिए जब तक अपनी शक्ति कार्य कर सके। इसके अनन्तर दोनो नाक के छिद्रो को बन्द कर देना चाहिए। उस खींची हुई वायु को नाभि कमल में स्थिर करके थांभे रहना चाहिए। अपनी शक्ति के अनुसार ही थाभना उचित है। शक्ति से अधिक देर तक थाभे रहने से हानि की सम्भावना रहती है।

इसलिए रोकने की शक्ति का ध्यान रखकर उतने समय तक ही कुम्भक करना चाहिए। पश्चात् एक तरफ के नाक के छेद को बन्द कर अर्थात् जिस ओर के नाक के छेद से वायु खींची है उधर के नाक के छेद को बन्द कर दूसरी ओर के नाक के छेद से वायु धीरे धीरे निकालना चाहिए। इस प्राणायाम का अभ्यास करने वाले को ब्रह्मचर्य पालन करने के साथ साथ खान पान आदि में सयम रखना चाहिए। बहुत लघु-पाचन-पदार्थ का भोजन करना ही प्राणायाम मे योग्य है। प्राणायाम के ज्ञाता के समक्ष ही प्राणायाम का अभ्यास करना ठीक माना गया है। इस प्राणायाम से शरीर के आरोग्य के साथ बुद्धि की निर्मलता और मन की एकाग्रता होती है, तथा आत्मा की शक्ति का विकास होता है।

परमेश्वर वायु

नाभिस्कन्धाद्विनिष्क्रान्तं हृत्पद्मोदरमध्यगम् ।
द्वादशान्ते सुविश्रान्तं तज्ज्ञेयं परमेश्वरम् ॥ ७ ॥ ज्ञाना. अ. २६

अर्थ—नाभि स्कन्ध से निकला हुआ हृदय कमल के मध्य भाग से होकर द्वादशान्त (तालुरन्ध्र) में विश्रान्त (ठहरा) हुआ जो पवन है, उसे परमेश्वर जानना चाहिए, क्योंकि वह वायु सब वायु का स्वामी है।

नभि से निकल कर हृदय कमल में होता हुआ जो वायु तालु रन्ध्र में जाकर ठहरता है, उस वायु की परमेश्वर संज्ञा बताई है। उसकी चाल, गति, तथा देह में स्थिति को जानकर आत्मा का काल, आयु तथा शुभ अशुभ फल के उदय का ज्ञान होता है। इस वायु का यत्न पूर्वक प्रमाद रहित होकर निरन्तर अभ्यास करने से योगी जीव की सब चेष्टाओं को जानता है।

प्राचीन आचार्यों ने भी तालुरन्ध्र से प्राणवायु को खींचकर उसका धारण करना पूरक तथा उस पूरक की हुई वायु को नाभि के मध्य रोक रखना कुम्भक और उस रुकी हुई वायु को धीरे धीरे बाहर निकालना रेचक है, इस प्रकार माना है।

उक्त प्रकार प्राणवायु का अभ्यास करने वाला योगी सावधान होकर प्राणवायु के साथ मन को धीरे धीरे हृदय कमल की कर्णिका में प्रविष्ट करके नियन्त्रण करे। इस प्रकार सतत अभ्यास करते रहने पर चित्त स्थिर होता है। चित्त के स्थिर होने पर अन्तः करण से विषय वासना नष्ट हो जाती है। मन में विकल्पों का प्रादुर्भाव नहीं होता है। तथा आत्मा में विशेष ज्ञान का प्रकाश होता है।

इस प्रकार भावना करते रहने पर अन्त. करण में अज्ञानान्धकार क्षण भर में विलीन होता है। इन्द्रियाँ मद हीन हो जाती हैं और कषाय शत्रु का क्षय होने लगता है।

इस पवन साधन के अभ्यास से ऐसा ज्ञान होता है कि इस श्वास रूप वायु का विश्राम तो कहां है, नाड़ियाँ कितनी और कौन कौन हैं, उन नाड़ियों की पलटना कैसे होती है, इसकी मण्डलगति कौनसी है, तथा इसकी प्रवृत्ति क्या है? इसके अभ्यास की प्रबलता से सम्पूर्ण जगत् का वृत्तान्त प्रत्यक्षसा प्रतीत होने लगता है।

जो योगी प्राणायाम का साधन करते हैं, उन्हें पृथ्वीमण्डल, जलमण्डल, तेजोमण्डल और वायुमण्डल का निश्चय करना चाहिए, क्योंकि इनका निश्चय होने पर ध्यान की समीचीन सिद्धि होती है।

मंडल चतुष्टय का स्वरूप

घोणाविवरमध्यास्य स्थितं पुरचतुष्टयम्।
पृथक् पवनसंवीतं लक्ष्यलक्षणभेदतः ॥ १६ ॥ ज्ञाना. अ. २६

अर्थ—नासिका के छिद्र को आश्रित करके उक्त चार मण्डल (पृथिवी मण्डल,जल मण्डल,तेजो मण्डल व वायु मण्डल) स्थित हैं। वे लक्ष्य और लक्षण के भेद से भिन्न २ हैं। अर्थात् इनका लक्षण पृथक् पृथक् है।

आशय यह है कि उक्त चार मण्डल अचिन्त्य हैं। अर्थात् इनका चिन्तन करना दुष्कर है। तथा इनका प्रत्यक्ष होना अति कठिन है। किन्तु महान् अभ्यास के बल से इनका बड़े कष्ट से स्वसंवेदन होता है। अर्थात् सतत अभ्यास करने से इनका स्वानुभव होने लगता है। इनका क्रम भी इसी प्रकार है। सबसे प्रथम पृथ्वीमण्डल को, तदन्तर जलमण्डल को जानना चाहिए। इसके पश्चात् वायुमण्डल और सबके अन्त में वृद्धिगत अग्निमण्डल को जानने का क्रम है।

पृथ्वी मण्डल का स्वरूप

क्षितिबीजसमाक्रान्तं द्रुतहेमसमप्रभम्।
स्याद्वज्रलांछनोपेतं चतुरस्रं धरापुरम् ॥ १९ ॥ ज्ञाना. अ. २९

अर्थ—जो पृथ्वी-बीजाक्षर से संयुक्त है, पिघले हुए सोने के समान पीत कान्ति वाली है, तथा वज्रचिह्न से उपलक्षित और चौकोर है वह पृथ्वी मण्डल है।

जल मण्डल का स्वरूप

अर्धचन्द्रसमाकारं वारुणाक्षरलक्षितम्।
स्फुरत्सुधाम्बुसंसिक्तं चन्द्राभं वारुणं पुरम् ॥ २० ॥ ज्ञाना. अ. २९

अर्थ—जिस का आकार अर्धचन्द्र के समान है, जो जल बीजाक्षर से संयुक्त है, स्फुरायमान अमृतजल से सींचा हुआ है, तथा चन्द्र समान कान्ति का धारक है, वह जल मण्डल होता है।

वायु मंडल का स्वरूप

सुवृत्तं बिन्दुसंकीर्णं नीलाञ्जनघनप्रभम्।
चञ्चलं पवनोपेतं दुर्लक्ष्यं वायुमंडलम् ॥ २१ ॥ ज्ञाना. अ. २९

अर्थ—जो गोलाकार है, विन्दुओ से व्याप्त है, नीलाञ्जन घन के समान नील वर्ण है, चञ्चल है और वायु बीजाक्षर सहित है तथा दुर्लक्ष्य है, जिसका दर्शन अति दुष्कर है वह वायुमण्डल होता है।

अग्निमडल का स्वरूप

स्फुलिंगपिंगलं भीममूर्ध्वज्वालाशतार्चितम् ।
त्रिकोणं स्वस्तिकोपेतं तद्बीजं वह्निमंडलम् ॥ २२ ॥ ज्ञाना अ. २६

अर्थ—जिसका अग्नि के स्फुलिंग (अग्नि के उछलते हुए कण) के समान चमकीला पीतवर्ण है, जो भीमरूप–रौद्ररूप है, ऊँची उडती हुई अग्नि की सैंकड़ो ज्वालाओ से जो युक्त है, जो त्रिकोण आकार वाला तथा स्वस्ति (साथिया) सहित और अग्नि बीजाक्षर से मण्डित है वह अग्नि मण्डल होता है।

पृथ्वी मंडल पवन को पहचानने के चिह्न

घोणाविवरमापूर्य किञ्चिदुष्णं पुरन्दरः
वहत्यष्टाङ्गुलः स्वस्थः पीतवर्णः शनैः शनैः ॥ २४ ॥ ज्ञाना. अ. २६

अर्थ—नासिका के छेद को भले प्रकार वायु से भरकर कुछ उष्णता लिए आठ अंगुल बाहर निकलता हुआ स्वस्थ अर्थात् चाचल्य रहित, मन्द मन्द बहता हुआ जो पवन हो उसे पृथ्वी मण्डल वायु कहते हैं। इसका स्वामी इन्द्र है।

साराश यह है कि प्रथम नासिका के छेद से वायु को भरले, तदन्तर उसको शनैः छोडे। यदि वह निकलती हुई वायु कुछ गर्म हो, आठ अगुल बाहर निकलती हुई प्रतीत हो, जिसमे चपलता न हो और जो मन्द गति से बहती हो, वह पृथ्वी मण्डल वायु है ऐसा समझना चाहिए।

जल मंडल वायु के चिह्न

त्वरितः शीतलोऽधस्तात्सितरुग् द्वादशाङ्गुलः ।
वरुणः पवनस्तज्ज्ञैर्वहनेनावसीयते ॥ २५ ॥ ज्ञाना अ. २६

अथ—जो शीघ्र गति वाला हो, शीतल हो, कुछ नीचे की ओर बहता हो, जिसकी कान्ति श्वेत हो, बारह अंगुल तक बहता हो इस प्रकार बहने वाले पवन को पवन शास्त्र के ज्ञाता विद्वानो ने जलमण्डल वायु कहा है। तात्पर्य यह है कि नासिका के रन्ध्र से निकलते हुए जिस पवन मे शीघ्र गति हो, शीतलता हो, जो नीचे की ओर बहता हो, जिसकी प्रभा (दीप्ति) श्वेत हो, नाक के छेद से लेकर बारह अंगुल प्रमाण दूर प्रदेश तक जिसकी गति हो ऐसे वायु को जल मण्डल वायु कहते हैं।

पवन मण्डल वायु के चिह्न

तिर्यग्वहत्यविशान्तः पवनाख्यः षडङ्गुलः।
पवनः कृष्णवर्णोऽसौ उष्णः शीतश्च लक्ष्यते ॥ २६ ॥ ज्ञाना. अ. २९

अर्थ—जो वायु निरन्तर तिरछा बहता रहे, जो छह अंगुल पर्यन्त बहे, जिसका वर्ण कृष्ण (श्याम) हो, तथा जो शीत और उष्ण रूप हो, ऐसे वायु को वायुमण्डल कहते हैं।

अग्निमण्डल वायु का स्वरूप

बालार्कसन्निभश्चोर्ध्वं सावर्त्तश्चतुरंगुलः।
अत्युष्णो ज्वलनाभिख्यः पवनः कीर्त्तितो बुधैः ॥ २७ ॥ ज्ञाना. अ २९

अर्थ—जो वायु उदय होते हुए सूर्य के सदृश (रक्त) वर्ण वाला हो, कुछ ऊँचे की ओर जिसकी गति हो, जो आवर्त्त (चक्र) सहित हो अर्थात् जो गोल चक्कर लगाता हुआ बहे, जो नासिका के छेद से चार अंगुल दूर तक बहे, जो अत्यन्त उष्णता लिए हुए हो, उसे विद्वानो ने अग्निनामक वायु कहा है।

इन वायुओं का उपयोग

मनुष्य को स्तम्भनादि कार्य करने हों तो पृथ्वी मण्डल की वायु शुभ रूप है। समस्त प्रकार के उत्तम कार्य करने हो तो जल मण्डल की वायु उत्तम मानी गई है। चल कार्य अथवा मलिन कार्यों के करने मे पवन मण्डल की वायु श्रेष्ठ मानी गई है और वशीकरणादि कार्यों मे अग्नि मण्डल की वायु श्रेयस्कर होती है।

वायु का शुभाशुभ फल

जिस समय पृथ्वी मण्डल पवन चलता हो, उस समय मनमें जो कार्य करना विचारा हो उसकी सिद्धि की सूचना करता है। यदि उसने धन, राज्य, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, राज्यादि की प्राप्ति का विचार किया हो तो उसकी सफलता ही होती है।

यदि जल मण्डल वायु नाक से बह रहा हो तो वह विभूति सहित अभीष्ट फल विद्या वीर्यादि की प्राप्ति कराता है। पुत्र, स्त्री आदि इष्ट वस्तुओं का संयोग करता है।

यदि अग्नि मण्डल का वायु नाक से निकल रहा हो तो यह दाह स्वभाव वाला वायु जीवों के भय, शोक, दुःख, पीड़ा, विघ्न-परम्परा और विनाश की सूचना करता है।

यदि पवन मण्डल का वायु चल रहा हो तो वह कृषि सेवा वाणिज्यादि से होने वाले सब सिद्ध फलों का नाश प्रकट करता है। यह वायु मृत्यु, भय, कलह, वैर तथा त्रास चिन्ता आदि को सूचित करता है।

स्वरोदय का विशेष स्वरूप

सूर्योदय के समय जो स्वर चलता हो, उससे ही शुभ अशुभ का ज्ञान होता है। शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा द्वितीया और तृतीया को प्रातः काल सूर्योदय के समय वाम (बायाँ) स्वर चलता हो तो श्रेष्ठ माना गया है। इसके पश्चात् तीन दिन (चतुर्थी पञ्चमी और षष्ठी) तक दक्षिण स्वर (दाहिना स्वर), फिर तीन दिन तक वामस्वर पुनः तीन दिन दक्षिण इस प्रकार तीन तीन दिन बदल बदल कर पूर्णिमा पर्यन्त स्वर का चलना शुभ माना गया है। तथा कृष्णपक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया व तृतीया को दक्षिण स्वर, फिर तीन दिन वामस्वर, पुनः तीन दक्षिण स्वर इस प्रकार तीन२ दिन स्वर का बदल २ कर अमावस्या तक चलना अच्छा माना गया है। इसके विपरीत चले तो अशुभ समझना चाहिए।

सूर्योदय के समय यदि चन्द्रस्वर (वामस्वर) प्रारम्भ हुआ हो तो सूर्यास्त के समय सूर्यस्वर (दक्षिणस्वर) होना श्रेष्ठ बताया है। यदि सूर्योदय के समय सूर्यस्वर (दक्षिणस्वर) चलता हो तो अस्त समय चन्द्रस्वर (वामस्वर) अच्छा माना गया है।

समझदार को चाहिए कि शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के दिन सूर्योदय के समय नाडी (स्वर) के द्वारा शुभाशुभ को यत्नपूर्वक देखे।

उसको किस प्रकार विचारे यह आगे बताते हैं।

प्रथम दिवस मे यदि पवन विपरीत चले, अथवा स्वर उलटा चले तो चित्त में उद्वेग उत्पन्न होता है। दूसरे दिन विरुद्ध चले तो धन की हानि की सूचना करता है। तीसरे दिन विपरीत बहे तो परदेश गमन को बतलाता है। और पाच दिन विपरीत बहे तो क्रम से इष्ट प्रयोजन का विनाश, विभ्रम, अपने पद से भ्रष्टता, महायुद्ध और दु ख ये पाच फल होते हैं। तथा इसी प्रकार आगे के पाच पांच दिन का फल अशुभ समझना चाहिए।

इस प्राणायाम का अभ्यासी मनुष्य घोड़े हस्ती आदि के शरीर में स्वेच्छा से प्रवेश कर सकता और निकल सकता है। जिसके शरीर मे प्रवेश करता है, उसके शरीर से निर्लेप रहता है। किन्तु आचार्य कहते हैं कि दूसरे शरीर में प्रवेश करना निकलना आदि क्रिया कौतुक मात्र है और अत्यन्त कठिनता से साध्य है। वही कहा है।

कौतुकमात्रफलोऽयं परपुरप्रवेशो महाप्रयासेन।
सिद्ध्यति न वा कथंचिन्महतामपि कालयोगेन ॥ १०० ॥
स्मरगरलमनोविजयं समस्तरोगक्षयं वपुःस्थैर्यम्।
पवनप्रचारचतुरः करोति योगी न सन्देहः ॥ १०१ ॥ ज्ञाना. अ. २६

अर्थ—पवन साधन करते करते ऐसा सामर्थ्य उत्पन्न होता है कि जिसके बल से पर पुर प्रवेश (दूसरे के शरीर मे प्रवेश) आदि हो सकता है। यह सब कौतुक मात्र है। इससे कोई आत्महित नहीं होता इसका सिद्ध होना भी बहुत कठिन है। किन्तु वायु का प्रचार करने में चतुर इसके अभ्यासी योगीजन काम विष से युक्त मन पर विजय प्राप्त करते हैं, इससे समस्त शारीरिक रोगो का क्षय करते हैं और शरीर मे स्थिरता की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार ध्यान के उपकारक साधनों का निरूपण करके अब धर्म्यध्यान का वर्णन करते हैं :—

धर्म्यध्यान का स्वरूप

एयग्गेण मणं णिरुंभिऊण धम्मं चउव्विहं झाहि।
आणापायविवायविचओ य संठाणविचयं च ॥ २०१ ॥ मूला. पञ्चा.

अर्थ—पाचों इन्द्रियो के व्यापार को रोक कर, मानसिक सकल्प विकल्पादि अनेक विचारो में भ्रमण करते हुए मन को थाम

कर, सत्य-असत्य वचन की प्रवृत्ति का निरोध करके तथा शरीर की गमनागमनादि क्रियाओं का त्याग कर अपने मन को जगदपाय आदि मे लगा देना धर्म्यध्यान है। इसके चार भेद हैं—१ आज्ञाविचय, २ अपायविचय, ३ विपाकविचय और ४ संस्थानविचय।

आज्ञाविचय धर्म्यध्यान

वस्तुतत्वं स्वसिद्धान्तं प्रसिद्धं यत्र चिन्तयेत्।
सर्वज्ञाज्ञाभियोगेन तदाज्ञाविचयो मतः॥ ६॥ (ज्ञाना अ ३३)

अर्थ—सर्वज्ञ देव की आज्ञानुसार अपने सिद्धान्त आगम मे प्रसिद्ध वस्तु के स्वरूप का चिन्तन करना आज्ञाविचय नामक ध्यान होता है।

आज्ञाविचय नामक धर्म्य ध्यान में विश्वतत्त्व के हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष-ज्ञाता सर्वज्ञ देव की आज्ञा-उपदेश का विचय-विचार-चिन्तन किया जाता है। सर्वज्ञदेव द्वारा प्रतिपादित तत्त्व अतिसूक्ष्म है, वह छद्मस्थ-अल्पज्ञ के प्रत्यक्ष ज्ञान गोचर नहीं होता है। उसमें हेतुओ से कोई बाधा नहीं आती है। हेतुओ के द्वारा उसके खण्डन करने की चेष्टा करना किसी तरह उचित नहीं है। उसे तो आज्ञा मानकर ही स्वीकार करना चाहिये। कहा भी है—

"सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्व हेतुभिर्यन्न हन्यते।
आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथा वादिनो जिनाः॥"

अर्थ—श्री जिनेन्द्र सर्वज्ञ देव द्वारा प्रतिपादित तत्त्व हेतुओ से बाधित नहीं होता वह तो आज्ञा सिद्ध होने के कारण ही ग्राह्य है। सर्वज्ञ की आज्ञा को प्रमाण मानकर ही उसे स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि सर्वज्ञ देव के केवलज्ञान में वस्तु जैसी झलकती है वे उसको वैसा ही प्रतिपादन करते हैं, उनके राग द्वेष का सर्वथा अभाव होगया है, इसलिए वे अन्यथावादी नहीं हैं, वस्तु का अयथार्थ कथन करने वाले नहीं हैं। वस्तु के अयथार्थ कथन करने के दो कारण हैं-अज्ञान और कषाय (राग द्वेष)। वस्तु का पूर्ण ज्ञान न होने से वस्तु का यथार्थ कथन नहीं होसकता तथा वस्तु का यथार्थ ज्ञान होने पर भी राग या द्वेष के वश विपरीत कथन होता है। जिसके ये दोनों कमियां नष्ट होगई हो वही यथार्थ उपदेश दे सकता है। जिनेन्द्र देव मे ये दोनों ही बातें नहीं पाई जाती, इसलिए वे यथार्थ वक्ता हैं। उनके उपदिष्ट तत्वो का चिन्तन करना धर्म्यध्यान माना गया है। प्रमाण, नय और निक्षेप आदि से निर्णय किया हुआ वस्तुस्वरूप ही वास्तविक तत्त्व है। वह उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से सयुक्त है। ऐसा तत्त्व सर्वज्ञ कथित स्याद्वादनय से सिद्ध है।

तात्पर्य यह है कि धर्म्यध्यान मे श्रुत निरूपित शब्द और अर्थ का चिन्तन करना चाहिए। श्रुतज्ञान सर्वज्ञ देव की दिव्यध्वनि से प्रतिपादित तत्त्वो को विषय करने वाला है। इसमें विश्व विद्याओ का समावेश है। इसमें संसार के समस्त पदार्थों का प्रकाश है। यह ग्यारह अग, चौदह पूर्व और अग बाह्य, प्रकीर्णक द्वारा समस्त विद्या और कला कौशल आदि का विशद व्याख्यान करने वाला है। यह श्रुतज्ञान अपार और अत्यन्त गम्भीर है; क्योंकि इसके अर्थ का अवगाहन सामान्य मनुष्य नहीं कर सकता है। चार ज्ञान के धारक गणधर भगवान ही इसमे प्रवेश कर सके हैं। यह पूर्वापरविरोध रहित है, महा पुण्यतीर्थ है, जो इसमे प्रवेश करता है वह अति पवित्र होजाता है। इसलिए इसका ध्यान करने से आत्मा मे पवित्र भाव उत्पन्न होते हैं।

मिथ्या मत के मद से उद्धत एकान्तमतानुयायी लोगो के मिथ्यात्व विष का नाश करने वाला एक श्रुतज्ञान ही है। जो मनुष्य इस श्रुतज्ञान का अवगाहन करलेता है वही मिथ्यात्व विष का वमन करने मे समर्थ होता है। इसके चार भेद हैं-प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। इस श्रुतज्ञान की महिमा का वर्णन करते हुए आचाय कहते हैं—

> वाग्देव्याः कुलमन्दिरं बुधजनानन्दैकचन्द्रोदयं
> मुक्तेर्मङ्गलमग्रिमं शिवपथप्रस्थानदिव्यानकम्।
> तत्वाभासकुरङ्गपञ्चवदनं भव्यान्विनेतुं क्षमं
> तच्छ्रोत्राञ्जलिभिः पिबन्तु गुणिनः सिद्धान्तवार्द्धेः पयः॥ २०॥ (ज्ञाना अ. ३३)

अर्थ—जो सरस्वती देवी के रहने का कुलगृह है, विद्वज्जनो के आनन्द को उत्पन्न करने के लिए अद्वितीय चन्द्रमा का उदय है, मुक्ति का मुख्य मङ्गल है, मोक्ष मार्ग में प्रयाण करने का दिव्य पटह (नगाड़े) का नाद है, तत्त्वाभास (मिथ्यातत्त्व-एकान्तमार्ग) रूप मृग का हनन करने के लिए सिंह के समान है, भव्यो को सुमार्ग की शिक्षा देने मे समर्थ है-ऐसे सिद्धान्तरूपी समुद्र के जल को हे गुणीजनो! कर्णरूपी अजलियो से पान करो।

ऐसे अनुपम श्रुतज्ञान द्वारा निरूपित शब्दार्थ का एकाग्रचित्त से चिन्तन करना आज्ञाविचय नाम का धर्म्यध्यान है।

अथवा जिनेन्द्र देव की आज्ञा का प्रकाश करने के लिए उपाय का चिन्तन करना भी आज्ञाविचय नाम का धर्म्यध्यान है।

जिसका अन्तःकरण सम्यग्दर्शन से विशुद्ध है तथा जो स्वसिद्धान्त व अन्यसिद्धान्त के रहस्य का ज्ञाता है, जिसने सर्वज्ञ प्रणीत धर्मास्तिकायादि सूक्ष्म पदार्थों का नय और प्रमाण से निश्चय कर लिया है तथा जो अन्य भव्य जीवो को अपने श्रुतज्ञान के सामर्थ्य

से नय प्रमाण और निक्षेप द्वारा यथार्थ वस्तु-स्वरूप समझाने मे तत्पर है उसके आज्ञाविचय नाम का धर्म्यध्यान होता है।

अपायविचय धर्म्यध्यान

अपायविचयं ध्यानं तद्वदन्ति मनीषिणः।
अपायः कर्मणा यत्र सोऽपायः स्मर्यते बुधैः ॥ १ ॥ ज्ञाना. अ. ३४

अर्थ— जिसमे कर्मों के नाश का उपाय चिन्तन किया जाता है उसे अपायविचय नामक धर्म्यध्यान कहते हैं।

मिथ्यात्व, अज्ञान और असच्चारित्र के निमित्त से यह जीव अनादि काल से ससार समुद्र मे गोते लगा रहा है और वचनातीत दुःखो को भोगता हुआ अत्यन्त दुःखी होगया है। उस दु.ख का विनाश करने वाला एक रत्नत्रय ही है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय ही मिथ्यात्व, अज्ञानादि अन्य कर्मों का क्षय कर शान्ति सुख का देनेवाला है।

अनादि काल से भयानक दु.ख रूप दावानल से प्रज्वलित भव कानन मे भ्रमण करते हुए मैंने अब सम्यग्ज्ञान रूप तट पाया है, यदि अब भी वैराग्य और विवेक ज्ञान (भेद ज्ञान) रुप पर्वत के शिखर से गिरूगा तो संसार रूप अन्ध कूप मे अवश्य पड़ जाऊगा। और कर्मबन्ध का कारण मिथ्यात्व और अविरति रूप नाग मुझे डस लेंगे, जिनसे छुटकारा पाना बड़ा अशक्य होगा। इसलिए मुझे सावधान हो जाना चाहिए। एक तरफ तो कर्मों की सेना है, और दूसरी ओर विपक्ष मे मैं अकेला हूं। यदि मैं असावधान रहा तो इसका फल अनन्त दुःख होगा। इसलिए मेरा कर्त्तव्य है कि मैं रत्नत्रयरूप शस्त्र को धारण किये रहूं। इस प्रकार चिन्तन करना अपायविचय धर्म्यध्यान है।

अथवा ऐसा चिन्तन करे कि इन जीवों के ज्ञान नेत्र मिथ्यादर्शन रूपी अन्धकार से ढक गये हैं, इसलिए अज्ञानवश ये कुचारित्र का आचरण कर रहे हैं। आत्मा को बन्धन मे डालने वाली अनेक कुक्रियाएँ कर रहे हैं और ससार परम्परा की वृद्धि कर रहे हैं। ये भोले जीव किस उपाय से इस कुमार्ग से निवृत्त हो सकेंगे इस प्रकार चिन्तन करने को राजवार्तिक में 'सन्मार्गापायचिन्तनमपायविचय:' सन्मार्गापाय (सन्मार्ग के त्याग से होने वाली हानि) का चिन्तन करना अपायविचय नामक धर्म्यध्यान कहा गया है।

अथवा मिथ्यादर्शन से जिनकी बुद्धि विक्षिप्त होती है, ऐसे मिथ्यादृष्टियो के द्वारा बताये हुए कुमार्ग से ये भोले जीव कैसे हटाये जावें। इस उन्मार्ग पर चलकर ये जीव घोर कर्मों का बन्ध कर रहे हैं। किस उपाय से उन्मार्ग से इनको अलग किया जावे-ऐसे विचार करने को राजवार्तिक में 'असन्मार्गापायचिन्तमपायविचय.' अर्थात् असत्यमार्ग से निवृत्त करने के लिए चिन्तन करना अपायविचय धर्म्यध्यान कहा है।

अथवा ये जीव राग द्वेप से मलीन चित्त वाले कुदेव, विपयाभिलापी तथा परिग्रह धारक कुगुरु और हिंसादि पापो एव रागादिकों का समर्थन करने वाले एकान्तमत के पोपक कुशास्त्रो का तथा इन तीनों के अनुयायिओ का सेवन करके महापाप वन्ध कर रहे है। वेचारे ये भोले जीव इससे किस प्रकार छूटे ऐसा चिन्तन करना भी अपाय विचय धर्म्यध्यान है।

अथवा इन ससारी जीवो की पाप जनक शारीरिक क्रियायें, स्व पर के अहितकारी-पापोत्पादक वचन और अशुभ मानसिक भावना किस प्रकार छूटे इस प्रकार चिन्तन करने को भी अपायविचय धर्म्यध्यान कहते है।

ध्यान मे किस प्रकार चिन्तन करे :—

कोऽहं ममास्रवः कस्मात्कथं वन्धः क्व निर्जरा ।

का मुक्तिः किं विमुक्तस्य स्वरूप च निगद्यते ॥ ११ ॥ ज्ञाना.अ. ३४

अर्थात्—मैं कौन हूं ? मेरे कर्मों का आस्रव किस कारण से होता है ? कर्मों का वन्ध कैसे होता है ? निर्जरा का कारण क्या है ? मुक्ति क्या वस्तु है ? तथा मुक्त जीव का स्वरूप क्या है ?

इन प्रश्नो का उत्तर मनुष्य अपने अन्त.करण मे विचारे। इनका चिन्तन कर उपादेय तत्त्व को ग्रहण करे और हेय तत्त्व को छोडदे। हेय तत्त्व (आस्रव वन्ध) का स्वरूप क्या है, उनके कारण कौन २ है, तथा उनका फल जीव को किस प्रकार भोगना पडता है इत्यादि विचार करे। सवर और निर्जरा उपादेय तत्त्व है। इनका स्वरूप,कारण और फलादि का भी इसी तरह चिन्तन करना चाहिए। इसी तरह मुक्ति के विपय मे भी नाना प्रकार के प्रश्नो को उठा कर विचार करना चाहिए। ऐसे विचारों से आत्मा का अशुभोपयोग नष्ट होता है। अशुभोपयोग आत्मा के लिए वडा अहितकर है।

अशुभोपयोग ससार का कारण है। यद्यपि शुभोपयोग भी वन्ध का कारण है फिर भी वह परम्परा मोक्ष का कारण वन सकता है, इसलिए जब तक शुद्धोपयोग की प्राप्ति न होती, तब तक वह उपादेय है। शुद्धोपयोग के प्राप्त होने पर तो वह भी हेय ही माना गया है। इसलिए धर्म्यध्यान मे चिन्तन किया जाता है कि मेरा आत्मा कर्म मल से मलिन होने के कारण अनेक दु.खो का अनुभव कर रहा है,लेकिन ये दु ख मेरा स्वरूप नहीं है,कर्मयोग जन्य पीडा हैं। मोक्ष मेरा स्वरूप है। यदि मैंने अपने आत्मा को जान लिया तो ससार भर को जान लिया मै ही सर्वज्ञ हूं, मैं सवदर्शी हूँ, मैं निरञ्जन हूं। समस्त ससार के अनन्त पदार्थ मेरे विशाल ज्ञान मे झलकते हैं। इसलिए मुझे एक निजात्मा का अवलोकन और मनन चिन्तन करना चाहिए। इसका अवलोकन होने पर समस्त ससार का अवलोकन और इसका प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर सम्पूर्ण ससार भर का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। कहा भी है—

"एको भावः सर्वभावस्वभावः सर्वे भावाः एकभावस्वभावः ।
एको भावस्तत्वतो येन बुद्धः सर्वे भावास्तत्वतस्तेन बुद्धाः ॥"

अर्थ—एक पदार्थ सम्पूर्ण पदार्थों के स्वभाव रूप है और सम्पूर्ण पदार्थ एक पदार्थ का स्वभावरूप है। जिसने एक पदार्थ का पूर्ण ज्ञान कर लिया, उसने सम्पूर्ण पदार्थों को भी जान लिया है।

जिसने आत्मा को स्पष्ट जान लिया है, उसने संसार के समस्त पदार्थ का ज्ञान प्राप्त कर लिया समझना चाहिए। आत्मा को जब अपने सब गुणों का स्पष्ट अनुभव हो जाता है तब वह संसार के समस्त द्रव्य और गुण पर्यायों को भी स्पष्ट जान लेता है। क्योंकि आत्मा में एक ज्ञान गुण ऐसा है, जिसमें समस्त लोक के पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं। आत्मा अपने ज्ञान गुण को स्पष्ट जानता है,तब उसमें प्रतिबिम्बित हुए सम्पूर्ण लोक के पदार्थों को भी वह स्पष्ट जानता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो एक आत्मा को जानता है, वह सब पदार्थों को जानता है।

जब तक मेरा बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध रहेगा, तब तक मेरा अपने आत्म-स्वरूप में स्थित रहना स्वप्न में भी सम्भव नहीं है; इसलिए मुझे अपने आत्मस्वरूप में ही स्थित रहना चाहिए, इस प्रकार मोक्ष मार्ग में स्थिर रहने का उपाय चिन्तन करना तथा कर्म के क्षय का चिन्तन करना और आत्म-सिद्धि (मोक्ष) के लिए उपायों का चिन्तन करना अपाय विचय नामक धर्म्यध्यान माना गया है।

इस प्रकार अपायविचय धर्म्यध्यान का वर्णन करके अब विपाकविचय नामक धर्म्यध्यान के तीसरे भेद का निरूपण करते हैं।

विपाक विचय का स्वरूप

स विपाक इति ज्ञेयो यः स्वकर्मफलोदयः ।
प्रतिक्षणसमुद्भूतश्चित्ररूपः शरीरिणाम् ॥ १ ॥ (ज्ञाना अ. ३५)

अर्थ—संसार के समस्त प्राणियों के पूर्वोपार्जित अपने शुभाशुभ कर्मों का जो सुख दुःखादिरूप फल उदय में आता है, उसे विपाक कहते हैं। यह सम्पूर्ण जीवों के क्षण क्षण में उदय में आता है। और उसके ज्ञानावरणादि अनेक भेद हैं।

यह जीव अनादि काल से कर्मबन्धन से बद्ध है इसके प्रत्येक समय में ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का उदय रहता है और द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के निमित्त को पाकर अपने स्वभाव के अनुसार नियम से सुख दुःखादि फल को देता है।

कर्मों का फल अनेक रूप मे इस प्राणी को प्राप्त होता है। वह विभिन्न गतियो मे नाना प्रकार के सुख दुःख भोगता रहता है।
वह अपने आपको भूला हुआ कभी शाति को प्राप्त नहीं होता। कर्म अनेक तरह से हमे सताते हैं। नरक के महादुःख, तिर्यंचगति की वध
बंधनादि पीडा,देवगति के मानसिक सताप और मनुष्य जन्म की इष्ट वियोगादि वेदनाएँ सभी कर्म विपाक के वैचित्र्य हैं। धनी-दरिद्र,विद्वान्-
मूर्ख,सुन्दर-असुन्दर आदि सभी पर्यायें कर्मों का ही फल है। ससार में जो साताजनित थोड़ा बहुत सुख प्राप्त हो जाता है वह भी कर्म कृत ही है

कर्मों की दश अवस्थायें हैं-बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण उपशम, निधत्त, और निकांचित।

बन्ध--जीव और कर्मों के मिलने को बन्ध कहते हैं। उदय-अपनी स्थिति को पूरी करके कर्मों के फल देने को उदय कहते हैं।
उदीरणा- तप आदि निमित्तों से स्थिति पूरी किये बिना ही कर्मों के फल देने को उदीरणा कहते हैं। सत्त-जब तक कर्म आत्मा के साथ सम्बन्ध
रखते हैं तब तक उनकी सत्ता कहलाती है। उत्कर्षण-जिस कर्म की जितनी स्थिति बाधी हो, उतनी से अधिक हो जाने को उत्कर्षण कहते हैं।
अपकर्षण-कर्मों की बन्धी हुई स्थिति के घट जाने को अपकर्षण कहते हैं। सक्रमण-किसी कर्म के सजातीय एक भेद से दूसरे भेद रूप हो
जाने को सक्रमण कहते हैं। उपशम-द्रव्य, क्षेत्र,काल, भाव के निमित्त से कर्म की शक्ति के प्रकट न होने को उपशम कहते हैं,अर्थात् जब कर्मों
की उदीरणा नहीं होती है तब उदय भी नहीं होता है, तब उपशम होता है। निधत्त-संक्रमण और उदीरणा न होने को अर्थात् जो कर्म प्रकृति
बाधी हो वह न दूसरे रूप हो और न उसकी, उदीरणा हो उसे निधत्त कहते हैं। निकाचित-बाधी हुई कर्म प्रकृतियो की स्थिति का घटना,
बढना, पररूप होना और उदीर्ण होना ये चारो बातें न हो उसे निकाचित कहते हैं।

विपाक विचय शुक्ल ध्यान मे कर्मों की विभिन्न प्रकृतियो के विभिन्न गुणस्थानो मे उदय, बंध और सत्ता आदि का भी विचार
किया जा सकता है,इसलिए यहा भी इनका विचार करना आवश्यक है। सर्व प्रथम यहा यह बतलाया जाता है कि किस गुणस्थान में कितनी२
कर्म प्रकृतियो का बन्ध होता है।

पहले मिथ्यात्व गुण स्थान मे ११७ प्रकृतियो का बन्ध होता है। कर्मों की सब मिला कर १४८ प्रकृतिया हैं। इनमे से स्पर्शादिक
२० प्रकृतियो का स्पर्शादिक ४ मे और ५ बन्धन एव ५ संघातो का पांच शरीरो मे अन्तर्भाव हो जाता है। इस कारण भेद विवक्षा से सब
१४८ और अभेद विवक्षा से १२२ प्रकृतिया हैं। इनमे से अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति इन दोनों का बन्ध
नहीं होता है। क्योकि इन दोनो की सत्ता सम्यक्त्व परिणामो से मिथ्यात्व प्रकृति के तीन खण्ड करने पर होती है। इसलिये अनादि
मिथ्यादृष्टि की बन्ध योग्य प्रकृतिया कुल १२० हैं। इनमे से मिथ्यात्व-गुणस्थान मे तीर्थंकर प्रकृति, आहारक शरीर और आहारक अङ्गोपांग
इन तीन प्रकृतियो का बन्ध नहीं होता है। क्योकि इन तीनो का बन्ध सम्यग्दृष्टियों के ही होता है। इस तरह पहले गुणस्थान में ११७
प्रकृतियो का बन्ध होता है।

दूसरे सासादन गुण स्थान में [illegible] ११७ [illegible] कहीं हुई ११७ प्रकृतियों में से मिथ्यात्व, [illegible], नरक [illegible], [illegible] [illegible], [illegible] आतप, सूक्ष्म, [illegible], साधारण इन सोलह प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है।

तीसरे मिश्र गुणस्थान में ७४ प्रकृतियों का [illegible] है। [illegible] १०१ प्रकृतियों का बन्ध होता है, उनमें से अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] संस्थान, [illegible] [illegible], [illegible], [illegible] [illegible], [illegible] [illegible], नीच गोत्र [illegible], [illegible] और [illegible] [illegible] २५ प्रकृतियों के [illegible] ७६ [illegible]। इनमें से मनुष्यायु और देवायु के [illegible] और [illegible] [illegible], क्योंकि इस गुणस्थान में [illegible] [illegible] होता है। [illegible] ७४ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

चौथे [illegible] में ७७ प्रकृतियों का [illegible] है। [illegible] ७४ और मनुष्यायु देवायु तथा तीर्थंकर ये तीन कुल ७७।

पांचवें गुणस्थान में ६७ प्रकृतियों का [illegible] है। [illegible] ७७ प्रकृतियों में से अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, मनुष्य गति, मनुष्य [illegible], [illegible], [illegible] शरीर, [illegible] और [illegible] संहनन, ये दश प्रकृतियां [illegible] [illegible] हैं।

छठे गुणस्थान में ६३ प्रकृतियों का बन्ध होता है। [illegible] ६७ [illegible] प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार को घटा देने से ६३ रहती हैं।

सातवें गुणस्थान में ५९ प्रकृतियों का बन्ध होता है। [illegible] गुणस्थान की ६३ [illegible] प्रकृतियों में से अस्थिर, अशुभ, असाता [illegible], अयश कीर्ति, अरति और शोक [illegible] [illegible] [illegible] आहारक [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] देने से ५९ होती हैं।

आठवें गुणस्थान में ५८ प्रकृतियों का बन्ध होता है। [illegible] ५९ में से [illegible] देवायु के घटाने से ५८ प्रकृतियों का बन्ध रहता है

नवमें गुणस्थान में २२ प्रकृतियों का बन्ध होता है। [illegible] ५८ में से [illegible] ३६ [illegible] प्रकृतियों को घटाने से २२ रहती हैं। निद्रा, प्रचला, तीर्थंकर, निर्माण, [illegible], [illegible], [illegible] [illegible], [illegible] शरीर, [illegible] शरीर, आहारक शरीर, आहारक अङ्गोपाङ्ग, समचतुरस्र संस्थान, वैक्रियक शरीर, वैक्रियक [illegible], [illegible], [illegible] [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], अगुरु लघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, [illegible], रति, जुगुप्सा, और भय।

दशवें गुणस्थान मे १७ प्रकृतियो का बन्ध होता है। ऊपर की २२ मे से पुरुष वेद, और संज्वलन क्रोध, मान, माया लोभ को घटाने मे १७ रहती है।

ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान मे केवल एक सातावेदनीय प्रकृति का बन्ध होता है। दशवें मे जिन १७ प्रकृतियों का बन्ध होता है, उनमे से ज्ञानावरणीय की ५ दर्शनावरणीय की ४, अन्तराय की ५, यश:कीर्ति और उच्चगोत्र इन १६ को घटाने से एक सातावेदनीय रह जाती है। अन्त के चौदहवें गुणस्थान मे किसी भी प्रकृति का बन्ध नहीं होता है। वह बंध रहित अवस्था है। इस तरह सब गुणस्थानो की बन्ध प्रकृतिया बतलाई। निश्चयनय से आत्मा को कर्म बन्ध से रहित जानना चाहिये।

अब आगे यह बतलाते हैं कि किस गुणस्थान मे कितनी कितनी प्रकृतियो का उदय होता है :—

मिथ्यात्व गुणस्थान मे ११७ प्रकृतियो का उदय होता है। १२२ मे से सम्यक्प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व, आहारक शरीर, आहारक अङ्गोपाग और तीर्थंकर प्रकृति इन पाच प्रकृतियो का उदय इस गुणस्थान मे नहीं होता। दूसरे गुणस्थान मे १११ प्रकृतियो का उदय होता है। पहले गुणस्थान की ११७ मे से मिथ्यात्व, आताप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण और नरकगत्यानुपूर्वी इन ६ प्रकृतियों का उदय नहीं होता है। तीसरे गुणस्थान मे १०० प्रकृतियो का उदय होता है। दूसरे गुणस्थान की १११ प्रकृतियो मे से अनन्तानुबन्धी ४ एकेन्द्रियादिक ४ और स्थावर १ इन ९ व्युच्छिन्न प्रकृतियो के घटाने से शेष रही १०२, उनमे से नरकगत्यानुपूर्वी के बिना (क्योंकि यह दूसरे गुणस्थान मे घटाई जा चुकी है) शेष की तीन आनुपूर्वी घटाने से (क्योकि तीसरे गुणस्थान मे मरण न होने से किसी भी आनुपूर्वी का उदय नहीं है) शेष रही ९९ और एक सम्यग्मिथ्यात्व का उदय यहा मिला—इस तरह इस गुणस्थान में १०० प्रकृतियो का उदय होता है। चौथे गुणस्थान मे 'सौ चौ' अर्थात् १०४ प्रकृतियो का उदय होता है। ऊपर की १०० प्रकृतियो मे से व्युच्छिन्न प्रकृति सम्यग्मिथ्यात्व के घटाने पर रही ९९, इनमे चार आनुपूर्वी और १ सम्यक्प्रकृति इन पाच के मिलाने से १०४ हुई। पाचवे गुणस्थान मे ८७ प्रकृतियो का उदय होता है। पूर्व की १०४ प्रकृतियो मे से अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, देवायु, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकायु, वैक्रियक शरीर, वैक्रियक अङ्गोपाग, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय, और अयश:कीर्ति इन सत्तरह व्युच्छिन्न प्रकृतियो के घटाने से ८७ रहती है। छठे गुणस्थान में ८१ प्रकृतियो का उदय होता है। पिछली ८७ मे से प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, तिर्यंगति, तिर्यगायु, उद्योत और नीच गोत्र इन आठ व्युच्छिन्न प्रकृतियो के घटाने से शेष रही ७९, इनमे आहारक शरीर, और आहारक अङ्गोपाग मिलाने से ८१ प्रकृतिया होती हैं। सातवे मे ७६ प्रकृतियो का उदय होता है। पिछली ८१ मे से आहारकशरीर, आहारकअङ्गोपाग, निद्रानिद्रा, प्रचला प्रचला, और स्त्यानगृद्धि के घटाने से ७६ प्रकृतिया रहती हैं। आठवे मे ७२ प्रकृतियो का उदय होता है। पिछली ७६ मे से सम्यक्त्व प्रकृति, अर्द्धनाराच, कीलक और असंप्राप्तसृपाटिका इन चार का उदय नहीं होता है। नवमे गुणस्थान मे ६६ का उदय होता है। पिछली ७२ मे

कि छींका के तो आधार है और यह निराधार है। इस लोक के चारों ओर घनोदधि नामक वातवलय है। उसके आधार पर यह लोक स्थित है। घनोदधि वातवलय के चारों ओर घनवातवलय वायु है, उसके आधार पर घनोदधिवातवलय है। तथा घनवातवलय के चारों ओर तनुवातवलय है, उसके आधार पर घनवातवलय है। और तनुवातवलय आकाश के आधार पर है और आकाश स्वप्रतिष्ठित है। इसका आधार भूत कोई दूसरा द्रव्य नहीं है। क्योंकि आकाश सर्वतो अनन्त है, इससे अधिक परिमाणवाला दूसरा कोई नहीं है।

यह लोक तीन भागों में विभक्त है। ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। अधोलोक का आकार वेत्रासन (मोढ़े) के आकार समान है। मध्यलोक झालर के आकार समान और ऊर्ध्वलोक मृदंग के आकार समान है।

यह सम्पूर्ण लोक पाव फैलाकर तथा कटि (कमर) पर हाथ रखकर खड़े हुए पुरुष के आकार समान है। नीचे पाव से लेकर कटि पर्यन्त के भाग के समान आकार वाला अधोलोक है। इसकी ऊँचाई सात राजू प्रमाण है। अधोलोक नीचे सात राजू चौड़ा है,पश्चात् क्रम से घटता हुआ कटि पर्यन्त भाग मे अर्थात् अधोलोक के अन्तिम भाग मे एक राजू चौड़ा रह गया है। उसके नीचे एक राजू प्रमाण क्षेत्र मे केवल निगोद जीव राशि है, और ऊपर के शेष छह राजू प्रमाण क्षेत्र मे सात नरक पृथिवियां हैं। जिनमे नारकी जीव निवास करते हैं। इस प्रकार अधोलोक सात राजू प्रमाण क्षेत्रवाला है। इसके ऊपर मध्यलोक है। इसकी चौड़ाई तो एक राजू प्रमाण है। जिसमे असंख्यात द्वीप समुद्रों का समावेश है। इसकी ऊँचाई मेरु प्रमाण–एक लाख योजन प्रमाण है। इसके ऊपर मेरु की चूलिका के अग्रभाग मे एक बालाग्रभाग के अन्तर पर सौधर्म स्वर्ग का ऋजु विमान है। यहां से ऊर्ध्वलोक का प्रारम्भ होकर तनुवातवलय के अन्तिम भाग मे ऊर्ध्वलोक का अन्त होता है। इसकी ऊंचाई भी सात राजू प्रमाण है। और चौड़ाई मध्यलोक के अन्तिम भाग में एक राजू है, उससे क्रमश बढ़ता हुआ ब्रह्म स्वर्ग मे पाच राजू प्रमाण चौड़ा होगया है। फिर वहां से क्रमश घटता हुआ अन्त मे एक राजू प्रमाण चौड़ा रह जाता है। इस प्रकार यह मध्यलोक चौदह राजू प्रमाण ऊँचा है। इसके मध्यभाग मे एक राजू प्रमाण चौड़ी और चौदह राजू प्रमाण ऊँची त्रसनाली है। इस त्रसनाली मे ही त्रस जीव निवास करते हैं इसके बाहर मारणान्तिक समुद्घात, उपपाद समुद्घात और केवली समुद्घात को छोड़कर त्रसजीव नहीं रहते हैं।

अधोलोक मे छह राजू के अन्दर जो सात भूमियां हैं उनमे नारकों का निवास है और वे निवासस्थान (बिल) अत्यन्त भयानक होते हैं। रत्नप्रभा नामक प्रथम पृथिवी से लेकर चार पृथिवियों के तथा धूम प्रभा नामक पाचवीं पृथ्वी के ऊपर के एकलाख बिल (नारकियों के निवास स्थान) वज्राग्नि के समान स्वाभाविक रूप से अत्यन्त उष्ण हैं। उनकी उष्णता इतनी उग्र है कि मेरुसमान एक लाख योजन प्रमाण लोहे का गोला यदि वहां डाला जावे तो वह तत्काल पिघल सकता है।

पाचवीं नरक भूमि के नीचे भाग के दो लाख और छठी तथा सातवीं भूमि के एक लाख बिल अत्यन्त शीत युक्त हैं। वे भी इतने ठंडे हैं कि उनमे भी मेरुप्रमाण एक लाख योजन प्रमाण लोहे का गोला डाला जावे तो अति शीघ्र विशीर्ण होजाता है अर्थात्

प्र

खंड २ होकर बिखर जाता है। उनमे इतना भयङ्कर शीत है।

हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और बहुत आरम्भादि उग्र पाप करने वाले महापातकी तथा मिथ्यात्व, अविरति, क्रोधादि तथा रौद्र ध्यान रूप अत्यन्त उग्र परिणाम के धारक, कृष्ण लेश्या के वशीभूत क्रूर जीव उन नरको मे जन्म लेते हैं।

उन नरको मे तलवार की धार के समान अत्यन्त तीखे पत्रोवाले वृक्ष जगह जगह पर हैं। अत्यन्त उग्र घाम की पीड़ा से बचने के लिए नारकी जीव उन वृक्षो की छाया का आश्रय लेने जाते हैं तो वृक्षों मे तलवार की धार से भी तीखे पत्ते उन पर गिरते हैं और उनके शरीर के खड २ होजाते हैं।

वहा पर सड़े, गले वसा (चर्बी) रुधिर पीप आदि का कीचड हो रहा है तथा पीप, सड़े हुए रुधिर, चर्बी आदि से भरी नदी सी वहती है, जिसमे वज्र के समान मुखवाले कीडे रहते हैं, उनमे नारकी गिराये जाते हैं। उन वज्रमुख कीडो के काटने से उनके असह्य वेदना होती है। उससे दु खि त होकर वाहर भागते हैं तब उन्हें गीदड, सिंह, व्याघ्र जन्तु नोच नोच कर खाते हैं। तथा ऊपर से गिद्ध उल्लू, काकादि तीक्ष्ण वज्रसमान चोच के धारक पक्षी उन्हें तीक्ष्ण चोचो मे चीथ डालते हैं।

वहा पर अतितीक्ष्ण वज्रसमान काटे वाले शाल्मलि आदि वृक्ष हैं। उनपर नारकी जीव ओधे मुख ऊपर पाव कर लटकाये जाते हैं। और उन काटो पर रगड कर खैंचे जाते हैं। जब वे असह्य वेदना से पीड़ित होकर चिल्लाते विलाप करते हुए नीचे गिरते हैं, तब वज्र समान दहकती हुई अग्नि वाली विशाल भट्टियो मे गिरते हैं। जिनमे लोहे के वज्रसमान काटे बिछे रहते हैं और जिनमे लोहा पिघलाया जाता है। उनम वे वारम्वार उछलते गिरते रहते हैं। उनका अणु समान खड २ होकर बिखर जाता है और पुन मिल जाता है। वे अनपवर्त्य आयुष्य वाले हैं, इसलिए आयु पूर्ण किये विना उनका मरण नहीं होता है।

तीसरी पृथ्वी पर्यन्त अम्बावरीषादि असुर कुमार जाति के देव जाते हैं, और उन्हें पूर्वविरोध स्मरण दिलाकर परस्पर नारकियो से लडाते हैं। तब नारकी अति क्रुद्ध होकर एक दूसरे को मारने को दौडते हैं। कोई सिंहादि का रूप बनाकर दूसरे को खाने लगता है। कोई गिद्धादि पक्षी वनकर नोचने लगता है। कोई करौत वन जाता है और दूसरे नारकी उस करौत को थाम कर तीसरे अपने विरोधी नारकी को कतरने लगता है। कोई तलवार नरछी आदि शस्त्र वनकर अपने शत्रु नारकी को छिन्न भिन्न कराने मे कारण वनता है।

वहा की अतुल गर्मी से भयङ्कर प्यास लगती है कि समुद्रो के पानी से भी प्यास शान्त न हो सके, किन्तु वहा एक बूद भी पानी नहीं मिलता। इसके विपरीत उन्हे पूर्वपाप का स्मरण दिलाकर वे असुर कुमार जाति के देव उन्हें पिघलाया हुआ लोहा और सीसा

तथापि वहा एक दाना भी नहीं मिलता।

पिलाते हैं। वहा क्षुधा इतनी होती है कि संसार भर के अन्न भक्षण कर जाने पर भी शान्त न हो, तथापि वहा एक दाना भी नहीं मिलता।

नारकी विक्रिया से तिर्यंच और शस्त्रादि का रूप धारण कर लेते हैं।

यह स्मरण रहे कि नारक भूमि में तिर्यंच प्राणी नहीं होते हैं। नारकी विक्रिया से तिर्यंच और शस्त्रादि का रूप धारण कर लेते हैं। हिंसक सिंह शूकर गिद्धादि तिर्यंच जीव रूप तथा शस्त्रादि रूप विक्रिया कर सकते हैं। वे नारकी शुभ विक्रिया करना चाहें तो भी नहीं कर सकते। नारकी अपने एक शरीर से दो या अधिक विक्रिया नहीं कर सकता है। उनके अपृथक् विक्रिया होती है। अर्थात् एक शरीर से नारकी एक विक्रिया कर सकता है। वहा पर तिर्यंचादि जन्तु न होने से वास्तविक मास रुधिरादि भी नहीं होते, किन्तु वहा की भूमि के पुद्गल वैसे ही दुर्गन्धादि के धारक होते हैं।

वहा की भूमि का स्वाभाविक स्पर्श इतना कठोर होता है कि तीक्ष्णातितीक्ष्ण शस्त्र से भी अधिक दुःखप्रद होता है। सहस्रो विच्छुओ के एक साथ डक मारने से जितना दुःख होता है, उससे भी सहस्र गुणित दुःख वहा की भूमि के स्पर्श से होता है।

वहां की भूमि का रस इतना कटु (कडुवा) व घिनौना होता है कि हालाहल विष भी उसकी उपमा धारण नहीं कर सकता।

वहा का गन्ध इतना भयानक होता है कि असख्य सडे हुए पचेन्द्रिय शरीरो से निकलने वाला दुर्गन्ध भी उसकी समानता नहीं कर सकता।

वहा का वर्ण (रूप) भी महाभयानक होता है। जिस पक्षी के पख नोच लिये गये हो और इसलिए जिसका विडू रूप आकार होगया हो, उससे भी असख्यगुणित असुन्दर वहा की भूमि का वर्ण (रूप) है।

वहा पर असह्य, प्रतीकार रहित सम्पूर्ण रोग एक साथ नारकियो के शरीर मे उत्पन्न होते हैं। जिनकी पीड़ा का वर्णन करना वचन शक्ति से वाहर है।

वहा के नारकियों के हुडक सस्थान है। अर्थात् उनका प्रत्येक अङ्ग उपाग वेडोल और वीभत्स (भयानक) है। उनके नेत्र अग्नि की चिनगारी के समान हैं। जिससे वे अत्यन्त क्रूर मालुम होते हैं तथा उनके सदा आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान ही रहता है।

वहा नित्य आर्त्तनाद-रोने चिल्लाने की कठोर ध्वनि सुनाई देती है और गीदड शार्दूल आदि क्रूर प्राणी के आकार दिखाई देते रहते हैं।

वहां पर जन्म लेते ही नारकी अन्तर्मुहूर्तमे परिपूर्णावयव होजाता है और उस रुद्र-भयङ्कर स्थान को देखकर अत्यन्त शङ्काकुल होकर मनमें सोचने लगते हैं कि यह भूमि कैसी है। मैं कौन हूं ?, मैं किन कर्मों के कारण यहा लाकर गिराया गया इत्यादि। इसके पश्चात्

विभङ्गावधि (कुअवधि) ज्ञान से वे जानते है कि हिंसादि पाप कर्मों के करने से उत्पन्न हुए रौद्रध्यान से मैं इस नरक समुद्र मे पड़ा हू , । ऐसा जानकर उन्हे अत्यन्त दु सह पश्चाताप होता है।

वह नारकी जीव विचारता है कि मैंने मनुष्य जन्म भी पाया था, किन्तु उसको विषयाशा मे व्यतीत करदिया, कषायो मे और रौद्रध्यान के कार्यों मे लगा रहा, जिससे आज मुझे यह घोर भयानक दु ख भोगने के लिए बाध्य होना पड़ा है। वे महापुरुष धन्य हैं; जिन्होने मनुष्य जन्म को पाकर सम्यक्त्वरत्न को अपनाया है, तथा ससार के भोग-भुजगो से उद्विग्न होकर विषयवासना से चित्त को हटाया और कामाग्नि को ब्रह्मचर्य-जल से बुझाकर जन्ममरणादि की पीड़ा को शान्त करने के लिए तपस्या का आचरण किया है। अपने शरीर पर-धैर्य धारण कर भयानक उपसर्गरूप अग्नि की वृष्टि की परवाह न कर उन्नत कर्म किये हैं। धर्म्य ध्यान व शुक्लध्यान द्वारा कर्मेंधन को भस्म कर जिनने अनुपम शान्ति सुख की प्राप्ति की है, वे महात्मा धन्य है, उनका जीवन धन्य है।

उन महापुरुषो के द्वारा दिये गये उपदेशो की मैंने अवज्ञा की तथा परुष (कठोर) और कटु शब्दो से उनकी निन्दा की।

अविद्या और विषय लालसा से शून्य हृदय हुए मैंने निर्दोष, निरपराध त्रस और स्थावर जीवो का घात किया। परधन की लालसा के वशीभूत हुए तथा परस्त्री सगम की लम्पटता और रौद्रध्यान में तत्पर हुए मैंने चिरकाल तक दुष्कर्म किये, जिसके फलस्वरूप इस अनन्त यातना के कारण दुरन्त नरक सागर मे आकर पड़ा हूं।

हाय ! मैं जब स्वतन्त्र था, तब भी मैंने आत्महित के कार्य नहीं किये। अब मैं सर्वथा परतन्त्र हूं। शुभकर्म तथा पुरुषार्थ से वर्जित हू , अब मै क्या कर सकता हू।

मैंने अपने शारीरिक बल के गर्व से उद्धत होकर अनेक दीन प्राणियो को सताया, धनिको का धन लूटा, अनेक अनीतिपूर्ण कार्यों मे प्रवृत्ति की। पुर नगरादि मे अग्नि लगाई, जल,स्थल और गगनचारी जीव जन्तुओ का वध किया। धन के मद मे उन्मत्त होकर अनेक दुर्व्यसनो का सेवन किया। मुनि, श्रावक और सधर्मी बन्धुओं को आहारादि दान न देकर, खोटे पाप कर्मों में अभिमान वश धन का व्यय किया। छल कपट तथा अन्याय से गरीबो का धन ग्रहण किया। उन दुष्कर्मों का स्मरण भी करौत के समान मेरे चित्त को भेदन करता है।

स्त्री, पुत्र, बन्धुगण, भृत्यादि अब कहा गये, जिनके लिए मैंने अपनी आत्मा का घात करनेवाले अनेक पापकृत्य किये। वे मेरे साथ एक कदम भी नहीं आये, मैं अकेला ही उन दुष्कर्मों का फल भोग रहा हूं।

इस प्रकार वह नारकी जीव विचारता है और अपने चित्त मे अत्यन्त व्याकुल होकर दु.ख का अनुभव करता है।

मध्यलोक का वर्णन

मध्यलोक झालर के समान आकारवाला है। इसका विस्तार एक राजू प्रमाण है। इसमें असख्यात द्वीप समुद्र हैं। उन द्वीप और समुद्रो के मध्य जम्बू द्वीप है। वह वलय (चूडी) के समान गोल है। उसका विस्तार एक लाख योजन प्रमाण है। उसके मध्यभाग मे एक लाख योजन ऊँचा मेरु पर्वत है। जम्बू द्वीप मे भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं। उन क्षेत्रों को विभक्त करने वाले हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी ये छह कुलाचल हैं।

जम्बूद्वीप को चारो ओर से घेरे हुए (वेढे हुए) लवण समुद्र है। उसका विस्तार दो लाख योजन का है। उसको चारो ओर से घेरे हुए धातकी द्वीप है। उसका विस्तार चार लाख योजन का है। उसमे जम्बूद्वीप से दूनी रचना है। अर्थात् चौदह क्षेत्र और बारह कुलाचल हैं। उसको चारो ओर से घेरे हुए कालोदधि है। उसका विस्तार आठ लाख योजन का है। उसको चारो ओर से वेढे हुए पुष्कर द्वीप है। इस प्रकार एक दूसरे को वेढे हुए दूने २ विस्तारवाले असख्यात द्वीप समुद्र हैं।

पुष्करद्वीप के ठीक मध्यभाग मे चारों ओर गोलाकार मानुषोत्तर पर्वत है। उस मानुषोत्तर पर्वत के पूर्व अढाई द्वीप हैं—जम्बू द्वीप, धातकीखण्डद्वीप और पुष्करार्ध। इन ढाई द्वीपो मे और दो समुद्रो मे मनुष्य पाये जाते हैं। मानुषोत्तर पर्वत के आगे मनुष्यो का गमन नहीं है। केवल तिर्यंच निवास करते हैं, वहा मनुष्य नहीं रहते हैं। अढाईद्वीप और दो समुद्र नरक्षेत्र कहलाता है। वह क्षेत्र अतिसुन्दर है तथा नदी, क्षेत्र पर्वतादि से शोभित है। उस मनुष्यक्षेत्र मे आर्य और म्लेच्छ दो प्रकार के मनुष्य हैं। क्षेत्र-जनित गुणो के कारण आर्य क्षेत्र के निवासी आर्य कहे जाते हैं और म्लेच्छक्षेत्र के निवासी मनुष्य म्लेच्छ कहलाते हैं।

अढाई द्वीप मे पन्द्रह कर्मभूमिया और भोगभूमिया हैं तथा लवण समुद्र व कालोदधि में अन्तर्द्वीप हैं, वे म्लेच्छ भूमियां हैं।

लवण समुद्र के आठ दिशाओं मे आठ, तथा उनके मध्य मे आठ और हिमवान् तथा शिखरी पर्वत इन दोनो पर्वतो के किनारो पर चार तथा दोनो विजयार्ध पर्वतो के किनारो पर चार, इस प्रकार कुल चौबीस अन्तर्द्वीप हैं। इसी प्रकार चौबीस अन्तर्द्वीप लवणोदधि के बाह्य पार्श्वभाग मे भी होते हैं। इतने ही ४८ अन्तर्द्वीप कालोदधि मे भी होते हैं। दोनो समुद्रो के अन्तर्द्वीप कुल मिला कर ९६ होते हैं। ये सब कुभोग भूमिया है। इनमे रहने वाले मनुष्यो की म्लेच्छ सज्ञा होती है। अर्थात् ये अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ कहे जाते हैं।

इस मध्यलोक मे व्यन्तरदेव भी निवास करते हैं। पर्वत की गुफाओ में, वृक्षो पर, शून्यगृहो मे, कूप, बावडी, सरोवर आदि

अनेक स्थानो मे व्यन्तर रहते हैं।

इस मध्यलोक मे तीर्थंकरादि पुण्यवान् महापुरुष जन्म लेते हैं। क्षायिक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति भी यहा ही होती है। क्योंकि कर्मभूमि मे उत्पन्न हुआ मनुष्य ही केवली तथा श्रुतकेवली के पादमूल मे दर्शनमोहनीय कर्म का क्षपण (नाश) प्रारम्भ करता है। क्षपण करते समय यदि मरजावे तो पहले चारो आयु मे से जिस आयु का बन्ध कर लिया हो, वहा जाकर निष्ठापन (समाप्ति) करता है। अर्थात् चारों गतियो मे जाकर दर्शनमोहनीयकर्म का क्षपण समाप्त कर क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है। चारित्र का धारण भी कर्मभूमिज मनुष्य ही कर सकता है। अन्य कोई नहीं कर सकता। चारित्र साक्षात् मोक्ष का साधन है, इसके बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान निष्फल हैं, पगु हैं। उस सर्वोत्तम चारित्र की प्राप्ति भी मनुष्य के ही होती है। सर्वाभ्युदय (स्वर्गादि प्राप्ति) और मोक्ष के कारणभूत संयम का आराधन भी कर्मभूमि का मनुष्य ही करता है। जिन महात्माओं ने मनुष्य जन्म पाकर रत्नत्रय की आराधना की है, उन्होने ही अपने मनुष्य जन्म को सफल किया है।

आकाश मे जो ज्योतिषी देवों के विमान हैं, वे सब एकसौ दस योजन के मोटे क्षेत्र मे आजाते हैं। जम्बूद्वीप के समतल भूमि भाग से सातसौ निव्वे योजन ऊँचे से ज्योतिश्चक्र प्रारम्भ होता है। और नौसौ योजन ऊँचे पर समाप्त होजाता है। इस एकसौ दस योजन परिमाण क्षेत्र मे ज्योतिषी देवो के विमान हैं, उनमे से अढाई द्वीप और दो समुद्र के अन्दर के क्षेत्रवर्ती जो विमान हैं, वे नित्यगतिमान हैं और इसके बाहर के विमान स्थिर हैं, वे गति नहीं करते हैं। इस सम्पूर्ण ज्योतिश्चक्र का मध्यलोक मे निवास है। इस प्रकार मध्य लोक के स्वरूप का चिंतवन करना संस्थान विचय धर्म्यध्यान कहलाता है।

उर्ध्वलोक का वर्णन

इनके ऊपर मेरु पर्वत की चूलिका के बालमात्र के अन्तर पर सौधर्म ऐशान स्वर्ग युगल का प्रारम्भ होता है। इन उर्ध्वलोक निवासी देवो को वैमानिक देव कहते हैं। वैमानिक देव दो प्रकार के हैं, कल्पोपपन्न और कल्पातीत। जिनमे इन्द्रादि भेदो की कल्पना होती है उन्हें कल्पोपपन्न कहते हैं और जहा इन्द्रादि भेदो की कल्पना नहीं है उन्हें कल्पातीत कहते हैं। इनमे सौधर्म ऐशान आदि से लेकर अच्युत स्वर्ग तक सोलह स्वर्ग हैं। वे कल्पोपपन्न हैं। इनके ऊपर देव कल्पातीत हैं। उनमे दो दो स्वर्गों के आठ युगल हैं। और वे युगल एक के ऊपर एक हैं। अर्थात् सौधर्म ऐशान कल्पयुगल के ऊपर सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्पयुगल है। इसके ऊपर ब्रह्म ब्रह्मोत्तर कल्पयुगल है। पुन इसके ऊपर लान्तव, कापिष्ट है। इसके ऊपर शुक्र और महाशुक्र कल्पयुगल है। इस प्रकार शतार, सहस्रार तथा आनत, प्राणत और आरण, अच्युत स्वर्गों के कल्प युगल एक के ऊपर एक हैं। इन सोलह स्वर्गों के आठ युगलो के ऊपर नवग्रैवेयक हैं। इन नौ ग्रैवेयकों के तीन २ के समुदाय रूप

अधोग्रैवेयक, मध्यमग्रैवेयक और उपरिमग्रैवेयक हैं। इनके ऊपर नव अनुदिश विमान हैं। आठ दिशाओ मे आठ और एक मध्य में स्थित है। इनके ऊपर पञ्च अनुत्तर विमान हैं। चार दिशाओं मे चार (विजय वैजयन्त जयन्त और अपराजित) विमान तथा इन चारो के मध्य मे सर्वार्थसिद्धि नाम का विमान है। उसके ऊपर पैतालीस लाख योजन प्रमाण वाली सिद्धशिला है। इस सिद्धशिला का आकार उलटे छत्र के समान है। इसकी मध्य मे आठ योजन की मोटाई है और फिर क्रमशः हीन होती हुई अन्त मे अगुल के असख्यात भाग प्रमाण अर्थात् मक्खी के पख के समान पतली है।

उन देवो के निवासस्थान विमानो मे रात दिन का विभाग नहीं होता है। क्योकि वहा सूर्य चन्द्रमा नहीं हैं, किन्तु वहा पर नेत्रो को आह्लाद देनेवाले रत्नों का उत्कृष्ट प्रकाश निरन्तर रहता है। उन स्वर्गों मे वर्षा, शीत और गर्मी आदि ऋतुओं के परिवर्त्तन से समय का परिवर्त्तन नहीं होता है, किन्तु सदा अतिशय सुख देने वाला वसन्तऋतुसा ही काल बना रहता है।

वहा पर उत्पात, भय, सन्ताप, शत्रु-चौरादि-जन्य त्रास, क्षुद्र जीव तथा दुर्जन स्वप्न मे भी नहीं दिखाई देते, निरन्तर सुख-सुधा रस का पान होता रहता है।

उन स्वर्ग के विमानो की भूमि कहीं २ तो चन्द्रकान्तमणि से निर्मित है, तथा कहीं २ मूगे के पत्र समान रत्नो से रची हुई है और कहीं २ नीलमणि आदि नाना प्रकार के सुन्दर उज्ज्वल रत्नो से निर्माण की गई है। स्वर्गों की बावडियां माणिक्य की किरणो के समूह से दसो दिशाओ को रञ्जित कर रही हैं। तथा सुवर्ण कमलों से आच्छादित तथा रत्नो के सोपान-सीढ़ियों से सुशोभित हैं।

वहा के सरोवर निर्मल स्फटिक मणि समान स्वच्छ जल से भरे हैं, जिनमे हस सारस आदि सुन्दर पक्षी मधुर ध्वनि कर रहे हैं, तथा मनोरम दिव्य रूपवती देवागनाऍ उनके घाटो को अतिरजित कर रही हैं।

स्वर्गों की देवागनाऍ छत्र, चॅवर, ध्वजादि से अलकृत विमानो मे बैठ कर अपने नियोगी देवो के साथ यत्रतत्र विचरती हैं तथा नन्दन वनादि मे, मन्दार वृक्षो की वीथियो मे (गलियों मे) विहार क्रीड़ा करती हैं। वहा यक्ष और किन्नर जाति के देव देवाङ्गनाऍ आनन्द मे मग्न होकर मधुर गान कर रहे हैं।

उन स्वर्गों के देव क्रीड़ा-पर्वत के कुञ्जों मे, क्रीडा-वन मे, मन्दार-चम्पक-अशोक-मालती आदि के उपवनो मे मन्द सुगन्ध पवन से आमोदित हुए पुष्पो के चुनने का कौतुक करते हैं तथा जल-क्रीड़ा मे अतिचतुर देवागानाओ के साथ जलक्रीड़ा विहार करते हैं। कोई २ देवाङ्गनाऍ वीणा लेकर सुन्दर स्वर से गीत गाने लगती हैं और कोई मुरज लेकर मधुर ध्वनि से आलापती हैं।

उन स्वर्गों में कल्पवृक्ष पर बैठी हुई कोकिलाएँ और चैत्य-मन्दिरो मे सुरसुन्दरियां सललित सुस्वर गान करती हैं, उनको सुनकर देवो के अन्त:करण मे आनन्दोल्लास होता है।

स्वर्गों मे पञ्चवर्णों के महारत्नों से निर्माण किये सात २ खन के अत्यन्त मनोज्ञ, सम्पूर्ण सुख-सामग्री-परिपूर्ण प्रासाद हैं-महल हैं, वापिका है तथा सङ्गीतादि से सम्पन्न अट्टालिकाएँ हैं।

स्वर्गों की पुरियां सुन्दर कोट, खाई, बड़े २ दर्वाजे और ऊँचे २ तोरण तथा चैत्यवृक्ष और देवो के सुन्दर २ भवनों से अति शोभित हैं। वे नगरिया देवो के महल के अग्रभाग मे लगे हुए रत्नो के पुञ्जों से अतिरञ्जित हो रही हैं इसलिए वे आकाश में सर्वदा इन्द्र धनुष की शोभा को धारण किये रहती हैं।

वहा पर देवो की हस्ती, अश्व, रथ, प्यादे, वृषभ (बैल), गन्धर्व, नर्तकी ये सात प्रकार की सेना है। आभियोग्य जाति के देव हस्ती अश्वादि वाहनरूप वैक्रियिक शरीर बना कर देवेन्द्र की सेवा करते हैं। वहा पर सेना युद्ध के काम मे नहीं आती, क्योंकि देवेन्द्र से युद्ध करने का सामर्थ्य किसी देव का नहीं है। अत. वहा पर सेना केवल प्रभुत्व तथा ऐश्वर्य का प्रदर्शन करने के लिए होती है।

स्वर्गों की देवागनाएँ विनय गुण सहित तथा अपनी इच्छानुकूलरूप बनाने मे प्रवीण हैं, महाऋद्धि की महिमा से परिपूर्ण है, हाव भाव विलास मे चतुर हैं। मानो वे शृंगार रस को एकत्र करके निर्माण की गई हैं। नूपुर की झनकार और कोकिल समान कण्ठ-ध्वनि से देवो के मन को आनन्दित करती गीत, नृत्य और वादित्र में उनकी नैसर्गिक दक्षता है। ऐसी अप्सराएँ स्वर्ग को आनन्द मय बना रही हैं। रहती हैं।

स्वर्गों के देव हार, केयूर, अङ्गद, कुण्डल, मुकुट आदि सुन्दर दिव्य अलंकार से विभूषित, अपनी महामनोहर ललित आकृति से देवागना के मन को प्रफुल्लित करते हैं और सदा मनोविनोद की सामग्री से परिपूर्ण उपवन वाटिका आदि मे नित्य विहार करते हुए सागरों पर्यन्त काल को सुख पूर्वक बिताते हैं।

वहा पर (स्वर्गों मे) कोई दु:खित, दीन, वृद्ध, रोगी, गुणहीन, विकलाङ्गी, निर्धन नहीं दिखाई देता है। सब सदा कल्पवृक्षों से मनोवाछित भोगसामग्री को पाकर सुख में मग्न रहते हैं।

स्वर्गों मे देवों का जन्म उपपाद शय्या मे होता है, जो कि अत्यन्त भव्य, कुन्द-पुष्प समान कोमल है, तथा सुन्दर महारत्नो से निर्मित विमान के एक भाग मे सपुटाकार एक मनोरम प्रदेश है, जो समस्त इन्द्रियो के सुख सामग्री से सुसज्जित है, जहा नित्य उत्सव होता

रहता है, गीत, नृत्य, वादित्रो की लीलाओ से परिपूर्ण हैं, तथा 'जय जय' जीव जीव अर्थात् तुम्हारी जय हो, तुम सदा जीवित रहो, इस प्रकार के शब्दो से व्याप्त रहता है। ऐसे स्थान मे उत्पन्न होने वाले देवो का सस्थान (आकार) अति सुन्दर होता है। उनका शरीर सप्तधातु से वर्जित होता है। उनके शरीर की प्रभा से दशो दिशाएँ जगमगा उठती हैं। उनका शरीर शिरीष कुसुम के समान अति कोमल तथा सुलक्षणो से लक्षित होता है। अणिमा महिमा आदि गुणो से विभूषित होता है। वे अवधिज्ञान आदि ज्ञान और अनेक चतुराइयो के धारक होते हैं। तथा चन्द्रमा के समान अन्य जन को शान्ति और आह्लाद देने वाले होते हैं। उनका चित्त शुभ है तथा अचिन्त्य महिमा से सहित है तथा भय क्लेश पीडा और चिन्ता से रहित है। उनके उत्सव प्रतिदिन वृद्धिगत होते रहते हैं। उनके शरीर वज्र समान दृढ़ हैं व पराक्रमशील हैं। देव अपने पूर्वभव सञ्चित पुण्य के योग से स्वर्ग मे उपपाद शय्या मे इस प्रकार जन्म लेते हैं, जैसे कोई सुख समुद्र के मध्यभाग से निकला ही हो। वे अन्तर्मुहूर्त्त मात्र मे नवयौवन युक्त शरीर की सम्पत्ति से विभूषित होते हैं।

उनके जन्म की सूचना फल फूल से भरे हुए तथा कोमल पत्तो से परिपूर्ण और कोकिल के सुमधुर आलाप से ध्वनित वृक्षो से होती है। वे देव उपपाद शय्या मे ऐसे उत्पन्न होते हैं जैसे कोई सोता हुआ उठे।

जन्म लेते ही वे देव सावधान होकर चारो ओर दृष्टिपात करते हैं और ऐसा विचार करते हैं कि अहो! यह क्या इन्द्रजाल है? अथवा मुझे क्या स्वप्न आ रहा है? यह कोई मायानिर्मित भ्रम है? यह दिखाई देने वाला दृश्य तो बडा आश्चर्यजनक है? चित्त मे सन्देह होता है, लेकिन निश्चय नहीं होता है कि यह वास्तव मे क्या है?

यह वस्तु अतिरमणीय है, सेवन करने योग्य है, यह सराहने के योग्य है, यह हितकर है, यह प्रिय व भव्य (सुन्दर) है, चित्त को प्रसन्न करने वाली है। यह आनन्द को अंकुरित करने वाला और सुख का आगार है। यह स्थान सब महाऋद्धियो की महिमा से परिपूर्ण, महर्द्धिक देवो से पूजनीय, सात प्रकार की सेना से सुसज्जित, देवेन्द्र के सभामण्डप के समान शोभित हो रहा है।

फिर वह देव सोचता है कि जो ये लोग सम्मुख खडे हैं, वे मुझे देखकर ही आनन्द मय क्रियाएँ कर रहे हैं। ये अति पवित्र और उज्ज्वलाकार हैं। अत्यन्त विनीत सराहने योग्य और अत्यन्त प्रेम मे मग्न हैं, अत्यन्त प्रीति दिखा रहे हैं।

यह कौनसा देश (स्थान) है जो सुख की खानि है, विशाल महिमा का आश्रय है, तथा सम्पूर्ण लोगो से अभिनन्दित है?

यह नगर अत्यन्त विशाल है और वन,उपवन,सरोवर,वापिकादि से सुशोभित है। तथा अपनी विभूति से विश्वभर को तिरस्कृत करके ध्वजा के हिलते हुए वस्त्रो से मानो नाच ही रहा है।

इस प्रकार उपपाद शय्या मे तत्काल उत्पन्न हुए देवेन्द्र के अभिप्राय को उसस्थान के मन्त्री देव अवधिज्ञान रूपी दिव्य नेत्रो से जानकर बडे विनय से झुककर नमस्कार करके कहते हैं कि 'हे' देव ! हम सेवको पर प्रसन्न हूजिये, हम पर प्रसाद पूर्ण दृष्टिपात कीजिए, तथा हमारे पूर्वापर परिपाटि के प्रकाश करनेवाले वचनो को सुनिए।

हे नाथ ! आपने यहा उत्पन्न होकर हम को धन्य बनाया है। हमारा जन्म आज सफल हुआ है। आपके जन्म लेने से यह स्वर्ग पवित्र होगया है। हे पुण्य के भण्डार ! आपकी जय हो, आप चिरकाल तक जीवित रहो। आपका यहा जन्म धारण करना पुण्यरूप है। आप अब इस सम्पूर्ण स्वर्ग के स्वामी हूजिए।

यह आपका छत्र है। यह पूजनीय आप का सिंहासन है। यह चमरो का समूह है। ये विजय पताकाएँ हैं। और ये आपकी अग्र महिषी (पट्ट देवियाँ) हैं। इनकी उत्तम देवाङ्गनाएं सेवा करती हैं।

हे नाथ ! यह आपका महा मनोहर ऐरावत देव हस्ती है। जो अणिमा, लघिमा, गरिमा आदि अष्ट गुणो के ऐश्वर्य से विश्व का तिरस्कार करने वाली शोभा को धारण करता है।

हे स्वामिन् ! यह आपकी सात प्रकार की देवसेना है। उसमे यह मदोन्मत्त हाथियो की सेना है। इधर मनके समान वेगवाले अश्वो की सेना है। ये स्वर्ण-निर्मित ऊँचे ऊँचे रथो की सेना है। ये प्यादो की सेना इधर उधर चल फिर रही है। ये ऊँचे स्कन्धो से सुन्दर वृषभो की सेना है। इधर ये गन्धर्वों और नर्त्तकियो की सेना चित्त को प्रफुल्लित कर रही हैं। ये सात प्रकार की देवसेना पूर्ववर्ती देवेन्द्रो से पालन की गई है, आपके चरण युगल को नमस्कार करती हैं और आपकी विनीत भाव से स्तुति कर रही है, दिव्य-सेवक समूह से शोभित यह सम्पूर्ण स्वर्ग का साम्राज्य आप के पवित्र पुण्य से सम्मुख स्थित है और ये सब देव आपको नमस्कार कर रहे हैं।"

इस प्रकार अत्यन्त स्नेहयुक्त अतिप्रिय बोलने वाले मन्त्री के पूर्वापर का वर्णन करने के पश्चात् वह सौधर्मस्वर्ग का इन्द्र उसी समय अवधिज्ञान का उपयोग कर समस्त पूर्वापर परिपाटी को जान लेता है। अर्थात् अवधिज्ञान रूपी नेत्र से सब वृत्तान्त को प्रत्यक्ष जान लेता है। और जानकर मन ही मन सोचता है कि अहो ! मैंने पूर्वकाल मे महा दुष्कर तपश्चरण किया था, तथा जीवित रहने की इच्छा रखने वाले प्राणियो को अभय दान दिया था, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप का धन किया था, देवाधिदेव सर्वज्ञ जिनेश्वर देव की आराधना की थी। इन्द्रियो के विषय वन का दहन किया था। ब्रह्मचर्य का सेवन कर काम-शत्रु का निपात किया था। क्षमा-मार्दवादि धर्म रूप परशु द्वारा कषाय रूपी वृक्षो का छेदन किया था। राग शत्रु का नियन्त्रण किया था। ये सब उन्हीं का प्रभाव है।

इसके अनन्तर वह देवेन्द्र पुनरपि विचारता है कि सम्यक्चारित्र रूपी शीतलजल का सिंचन किये विना यह प्राणियो की रागादि रूप अग्नि ज्वाला सैंकडो जन्मो मे भी शान्त नहीं हो सकती। उस सम्यक्चारित्र की प्राप्ति तो यहा असंभव है। इसलिए अब मुझे क्या करना चाहिए? इस देवो के निवास क्षेत्र स्वर्गलोक में सम्यग्दर्शन की योग्यता है, अतः मेरे स्वार्थ की सिद्धि करने के लिए तत्त्वार्थ की श्रद्धा रखना ही श्रेयस्कर है, तथा अर्हत देव के चरणयुगल की निश्चल भक्ति ही मेरे कल्याण को करनेवाली है। इसलिए यहां स्वर्गलोक के विमानो मे चैत्य वृक्षो पर अथवा अन्य मेरु आदि के उपवनो मे जो जिनेन्द्र भगवान के प्रतिविम्ब है, उनका प्रथम ही इस स्वग मे उत्पन्न हुए जल-गन्धाक्षत कल्पवृक्ष के पुष्प-नैवेद्य-दीप-धूप-फलादि अष्ट द्रव्य समूह से श्रद्धा भक्तिपूर्वक पूजन करके देवो से वन्दनीय इस स्वर्ग के वैभव को ग्रहण करना चाहिए। ऐसा मन मे विचार कर वह देवेन्द्र त्रैलोक्येश्वर सर्वज्ञ अर्हत देव की भक्ति पूर्वक पूजा करके महोत्सव पूर्वक स्वर्ग के साम्राज्य का स्वामी बनता है।

तत्पश्चात् वह देवेन्द्र तथा अन्य देव अपनी देवागनाओ को साथ मे लेकर मन के समान द्रुतगति वाले विमानो द्वारा स्वेच्छा-नुसार सुन्दर २ वन उपवन पर्वत तथा सागरान्त तटो पर क्रीडा करते फिरते हैं। तथा सात प्रकार की देव सेनाओ से सेवित और मानसिक सकल्प मात्र से समुत्पन्न इन्द्रिय और मन को तृप्ति देनेवाले दिव्य भोगों को भोगते हुए सुख से निवास करते है। तथा सुखसागर मे मग्न होकर बीते हुए सागरो पर्यन्त काल को भी नही जानते हैं।

स्वर्गों मे देव मद्यांग, तूर्यांग, गृहांग, ज्योतिरङ्ग, भूषाङ्ग, भोजनाङ्ग, मालाङ्ग, दीपाङ्ग, वस्त्राङ्ग, और पात्राङ्ग, जाति के दश कल्प वृक्षो से उत्पन्न भोग सामग्री द्वारा निरन्तर सुख का आस्वादन करते है, तथा कल्पनातीत वैभव के विनोद मे मग्न रहते हैं।

देवो को जो सुख स्वर्ग मे मिलता है, उसका वर्णन करने का सामर्थ्य किसी मे भी नहीं है। क्योकि वह सुख बिना खेद के उपलब्ध होता है, उसमे रोग, भय, त्रासादि नहीं है और वह सुख सम्पूर्ण इन्द्रियो को तृप्ति देने वाला है।

सौधर्म स्वर्ग से लेकर अच्युत स्वर्ग पर्यन्त सोलह स्वर्गों की कल्प संज्ञा है। क्योंकि इनमे दश प्रकार के देव भेदो की कल्पना होती है। ये सप्रविचार अर्थात् मैथुन सहित होते हैं इनके ऊपर के जो नव ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पाच अनुत्तर विमान हैं,उन्हें कल्पातीत (दश प्रकार की कल्पना रहित) कहते है। इनमे रहने वाले प्रत्येक देव अहमिन्द्र होते हैं। ये प्रवीचार (मैथुन) वर्जित हैं, इसीलिए वहा देवांगनाएँ नही होती हैं। उन देवो मे उत्तरोत्तर शुभ ध्यान बढता चला गया है। और सब शुक्ल लेश्या वाले हैं, परन्तु उत्तरोत्तर बढ़ती हुई शुक्लतर और शुक्लतम लेश्या है।

विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित इन चार अनुत्तर विमानवासी अहमिन्द्र देव दो भव मनुष्य के धारण कर निश्चय से

निर्वाण पद पाते हैं, तथा सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र एक मनुष्य भव पाकर अविनश्वर निःश्रेयसपद पाते हैं।

सौधर्म से लेकर अच्युत स्वर्ग पर्यन्त इन सोलह कल्पस्वर्गों के देव शुभलेश्या, आयु, इन्द्रियो के विषय तथा अवधिज्ञान और प्रभावादि मे उत्तरोत्तर अधिक २ बढ़ते हुए हैं।

अनुत्तर विमानो के ऊपर सिद्धशिला है, उसके आगे तीन वातवलय (घनोदधिवातवलय, घनवातवलय, और तनुवातवलय) हैं। तनुवातवलय का जो पाचसौ पच्चीस धनुष प्रमाण अन्तिम लोक का क्षेत्र है, उसमे सम्पूर्ण कर्म रहित सिद्ध परमेष्ठी का आधार-क्षेत्र है।

इस प्रकार संक्षेप से लोक का वर्णन किया है, उसका विशेष विवेचन लोकभावना मे करेंगे। धर्म्यध्यान मे प्रवृत्त करनेवाले यतीश्वर को ऊपर बताये गये लोक के स्वरूप का चिन्तवन करना चाहिए। इसको सस्थानविचय नामक धर्म्यध्यान कहते है। इस सस्थान विचय नामक धर्म्यध्यान मे पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ये ध्यान के चार भेद माने गये हैं। अब इनका निरूपण करते हैं।

पिण्डस्थ ध्यान

पिण्डस्थं पञ्च विज्ञेया धारणा वीरवर्णिताः।
संयमी यास्वसंमूढो जन्मपाशान्निकृन्तति ॥ २ ॥
पार्थिवी स्यात्तथाग्नेयी श्वसना वाथ वारुणी।
तत्वरूपवती चेति विज्ञेयास्ता यथायथम् ॥ ३ ॥ (ज्ञाना० अ० ३६)

अर्थ—श्रीवर्द्धमानस्वामी ने पिण्डस्थ ध्यान में पार्थिवी, आग्नेयी (अग्निधारणा) श्वसना (वायु धारणा) वारुणी (जल धारणा) तत्त्वरूपवती ये पाच धारणाएँ कही हैं। सयमी मुनी इन पाँचो मे अनासक्त होकर ससार रूपी पाश का छेदन करता है।

पार्थिवी धारणा का स्वरूप

इन्द्रिय और मनवचनकाय को रोककर तथा योग्य आसन लगाकर ध्यान का इच्छुक सयमी प्रथम मध्यलोक के समान क्षीर सागर का चिन्तन करे। जो नि. शब्द है, कल्लोल रहित है, तथा जो निर्मल बर्फ समान धवल जल से भरा हुआ है। उस क्षीर समुद्र के मध्यभाग मे सुन्दराकार देदीप्यमान दीप्तिवाले, तपाये हुए स्वर्ण कीसी प्रभावाले एक सहस्र दल के कमल का चिन्तन करे। जो कमल मध्यवर्ती

केसर समूह से रंजित है तथा चित्तरूपी भ्रमर को लुभानेवाला अतिसुन्दर एकलाख योजन के विस्तारवाला है, उस कमल के बीचो बीच मेरु के समान दिव्य कर्णिका का चिन्तन करे। जो कर्णिका अपनी अग्नि के कण समान प्रभा के पुंज से सब दिशाओं को पीतवर्णमय कर रही है।

उस कमल–कर्णिका के मध्य में शरदृऋतु के चन्द्रमा के समान श्वेतवर्ण के एक ऊँचे सिंहासन का चिन्तन करे। उस सिंहासन पर शान्तरूप क्षोभ रहित सुखपूर्वक अपने आपको बैठा हुआ चिन्तन करे। अर्थात ऐसा विचार करे कि मैं उस सिंहान पर शान्त-क्षोभादि रहित, रागद्वेषादि भाव कर्म, भवभव मे उत्पन्न हुए ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और नोकर्म के क्षय करने मे समर्थ, आसन लगाकर बैठा हुआ शान्त भावरूपी निर्मल जल मे कर्मरज को धोरहा हूँ। यह पार्थिवी धारणा का स्वरूप है।

आग्नेयी धारणा का स्वरूप

जब उक्त प्रकार के ध्यान मे चित्त स्थिर होने लगे, तब उसी सिंहासन पर बैठा हुआ अपने शरीर के भीतर नाभि मडल पर मनोहर, ऊपर की ओर उठे हुए सोलह दल (पत्र) के कमल का चिन्तन करे। और कमल के सोलहो पत्रो पर क्रम से अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः इन सोलह अक्षरो का चिन्तन करे। तथा उस कमल के मध्य जो कर्णिका है, उसमे चन्द्र के समान दीप्ति से सब दिशाओं को देदीप्यमान करने वाले महामन्त्र "र्हं" स्थापना कर ऐसा चिन्तन करे कि—

पूर्वोक्त पोडशदल के कमल के ऊपर हृदयस्थित अधोमुख (नीचे मुख किये हुए औंधे) अष्ट दल के कमल की रचना करे, और उस कमल के आठ पत्तों पर क्रम से ज्ञानावरण दर्शनावरणादि आठ कर्मों की स्थापना करे। तत्पश्चात् चिन्तना करे कि नाभिमंडल पर पोडश दल के कमल की कर्णिका पर जो महामन्त्र 'र्हं' स्थापित किया है उसके रेफ से निकलती धूमशिखा का चिन्तन करे। फिर अग्नि के कण की पक्ति निकल रही है ऐसा स्मरण करे। तत्पश्चात् निकलती हुई अग्नि की ज्वालाओ का चिन्तन करे। उस के बाद उन अग्निज्वालाओ से ज्ञानावरणादि कर्मों से अकित उस कमल को जलता हुआ चिन्तन करे। ऐसा ध्यान करने से अष्ट कर्मों का दहन होता है, यह चैतन्य परिणामो का सामर्थ्य है, क्योकि पदार्थों की शक्ति अचिन्त्य है। आत्मा भावो के बल से ही बन्धता है और बन्ध से विपरीत भावना के बल से ही कर्मों का क्षय करता है।

उस हृदयस्थित औंधे आठ पाखुडीवाले कमल के जल जाने के पश्चात् शरीर के बाह्य भाग मे त्रिकोण (तीन कोने वाला) अग्निमडल का चिन्तन करे। वह अग्नि निरन्तर उठती हुई ज्वालाओ से सतत जलती हुई बडवानल के समान है, तथा अग्नि के बीजाक्षर 'र' से व्याप्त है, और उसके अन्त के तीनों कोने 'स्वस्ति' से अङ्कित है, ऐसा विचार करे। इसके पश्चात् सोचे कि भीतर की अग्नि तो आठ कर्मों को भस्म कर रही है, तथा धक् धक् लपटें उठाती हुई बाहर की अग्नि शरीर को दग्ध कर रही है। इस प्रकार सम्पूर्ण कर्म और समस्त

शरीर भस्मीभूत हुआ–विचारे। तत्पश्चात् शनैः शनैः उस अग्नि की ज्वालाओं की शान्ति का चिन्तन करे। इसे आग्नेयी धारणा कहते हैं।

श्वसना (वायवीय) धारणा का स्वरूप

ध्यान परायण योगी एक ऐसे महाप्रबल वायुमण्डल का चिन्तन करे जो सम्पूर्ण आकाश को व्याप्त कर सञ्चरण कर रहा है। जो अपने तीव्र वेग से देवों की सेना को विचलित कर रहा है। जो सम्पूर्ण स्वर्ग भूमि तथा मेरु पर्वत को कम्पित कर रहा है, मेघ समूह को बिखेरता हुआ समुद्र को क्षोभित कर रहा है, समस्त लोक के मध्यभाग में गति करता हुआ, सम्पूर्ण दिशाओं में सञ्चरण करता हुआ, जगत् रूप भवन मे प्रवेश करके, उसकी सम्पूर्ण धूलि को तथा शरीरादि की जो भस्म हुई थी, उसको तत्काल इस प्रबल वायु मंडलने उडा दिया है–ऐसा चिन्तन करे। तत्पश्चात् ध्यानाभ्यास के बल से उस वायु को शनैः शनैः स्थिर चिन्तन करता हुआ पूर्णशान्त हुआ कल्पना करे।

वारुणी धारणा का स्वरूप

फिर ध्यानी मुनि इन्द्रधनुष की रचना, बिजलियों की चमचमाहट सहित घन घोर गर्जना करते हुए मेघ मण्डल से भरे हुए आकाश का ध्यान करे। उस मेघसमूह से उत्पन्न हुए अमृत समान जल की स्थूल मोतियों कीसी बूंदों से निरन्तर धारा–सपात वृष्टि करते हुए आकाश मण्डल का चिन्तन करे।

तदनन्तर अर्ध चन्द्राकार, अतिमनोहर, अमृत मय जलके प्रवाह से आकाश को प्लावित (जलमग्न) करते हुए वरुण (जल) मण्डल का चिन्तन करे। अचिन्त्य प्रभाव वाले दिव्य ध्यान से उत्पन्न हुए उस जल प्रवाह से शरीर के दग्ध होने से उत्पन्न हुए सम्पूर्ण भस्म को मैं धोरहा हूँ, ऐसा चिन्तन करे।

तत्त्वरूपवती धारणा का स्वरूप

तत्पश्चात् ध्यानी संयमी सप्तधातुवर्जित, पूर्णचन्द्र समान निर्मल कान्तिका धारक, सर्वज्ञ समान अपने आत्मा का ध्यान करे। इसके पश्चात् चिन्तन करे कि मैं गर्भादि कल्याण की महिमा से विशिष्ट हूँ। तथा देवेन्द्र, नागेद्र व असुरेन्द्र मेरी पूजा कर रहे हैं, ऐसा स्मरण करे। इसके अनन्तर चिन्तन करे कि मेरे अष्ट कर्मों का सर्वथा क्षय होगया है तथा मेरा आत्मा अति निर्मल स्फुरायमान हुआ पुरुषाकार को धारण किये हुए मेरे शरीर के अन्दर विराज रहा है। ऐसे ध्यान को तत्त्वरूपवती धारणा कहते हैं।

इस प्रकार पिण्डस्थ ध्यान करने मे जिस का चित्त अभ्यस्त होगया है, वह ध्याननिरत ध्याता संयमी दूसरों से असाध्य, अमृत रूप शिव (मोक्ष) सुख को अत्यल्पकाल मे ही प्राप्त कर लेता है।

पिण्डस्थध्यान का उपसंहार

उक्त कथनानुसार पिंडस्थ ध्यान मे अपने आत्मा को सर्वदोषो से रहित, नूतन अमृत पुञ्ज तथा घनीभूत चन्द्रकिरण तुल्य गौर वर्ण और श्रीमत्सर्वज्ञदेव समान चिन्तन करे। तथा सोचे कि मैं सुवर्ण गिरि (मेरु) के शिखर पर सिंहासन पर विराजमान हूँ। ससार के सब प्रपञ्चो से मै सर्वथा अलग हूं। सुरेन्द्र, असुरेन्द्र और नागेन्द्र से भी मेरा प्रभाव अचिन्तनीय है। समस्त ज्ञेय पदार्थ मेरे ज्ञान मे प्रतिबिम्बित होने से मैं विश्वरूप हू। सब कल्याणक की प्रसूति की आधार भूमि हू। तथा अष्टकर्म मल और रागद्वेषादि कलङ्क धो डालने मे पुरुषाकार सिद्ध स्वरूप हूं। इस प्रकार ध्यान करने को श्रुतज्ञान-समुद्र के पारंगत मुनीश्वरो ने पिण्डस्थ ध्यान कहा है।

पिण्डस्थ ध्यान का प्रत्यक्ष फल

विद्यामण्डलमन्त्रयन्त्रकुहककूराभिचाराः क्रियाः।
सिंहाशीविषदैत्यदन्तिशरभा यान्त्येव निःसारताम् ॥
शाकिन्यो ग्रहराक्षसप्रभृतयो मुञ्चन्त्यसद्वासना,
एतद्ध्यानधनस्य सन्निधिवशाद्भानोर्यथा कौशिकाः ॥ ३३ ॥ (ज्ञाना अ ३७)

अर्थ—जैसे-सूर्य का उदय होने पर उल्लू हतवीर्य होकर भाग जाते है, वैसे ही इस पिण्डस्थ ध्यान रूप धन के समीपस्थ होने पर सब विद्यामण्डल, मन्त्र, यन्त्र, इन्द्रजाल, छल-कपट, क्रूर अभिचार (मारणादि क्रिया, मूठ आदि) क्रियाएँ तथा सिंह, सर्प, दैत्य, दन्ती मदोन्मत्त हाथी, अष्टापद आदि नि सारता को प्राप्त होते है। अर्थात् उनका बल क्षीण हो जाता है। तथा शाकिनी, भूत, राक्षस, पिशाचादि अपनी बुरी वासनाओ को छोड देते है। अर्थात् वे कुछ भी उपद्रव करने मे समर्थ नही होते है।

शङ्का—ध्यान मे शुद्ध, बुद्ध, चैतन्य, चमत्कार, अनन्त ज्ञानादि गुण-मण्डित आत्मा का ही चिन्तन करना चाहिए। इन पृथिवी जल या अग्नि आदि की धारणा का चिन्तन करने से आत्मा को क्या लाभ होता है ?

समाधान—यह आत्मा अनादि काल से ज्ञानावरणादि अष्टद्रव्यकर्म, रागद्वेषादि भावकर्म तथा औदारिकादि नोकर्म के वशीभूत होने से पराधीन हो रहा है। तथा ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय से आत्मा मे रागद्वेषादि भाव उत्पन्न होते है और उनके कारण मनमे सङ्कल्प विकल्प उत्पन्न होते हैं, इसलिए आत्मा शुद्ध आत्मा के ध्यान मे स्थिर नही रहता। उसको स्थिर करने के लिए बाह्य, अनुभूत, साकार

पदार्थ के आलम्बन की आवश्यकता प्रतीत होती है। उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए पार्थिवी आदि धारणाओ की कल्पना की गई है। ध्याता प्रथम पार्थिवी धारणा से मन को थामने का अभ्यास करे। जब मन की चञ्चलता कुछ २ रुकने लगे तब ध्यानाभ्यासी आग्नेयी धारणा से कर्मो को और शरीर को भस्म करने की कल्पना द्वारा मनको रोके। तदनन्तर वायवीय धारणा से प्रबल वायु वेग से उस कर्म और शरीर सम्बन्धी भस्म को उडाने की कल्पना का चिन्तन करे। तत्पश्चात् जलीयधारणा से कर्म और शरीर की अवशिष्ट भस्म को धो डालने के विचार मे मन का स्तभन करे। तत्पश्चात् तत्त्वरूपवती धारणा मे औदारिकादि शरीर रहित तथा अष्ट कर्मो से शून्य शुद्ध चिदानन्दरूप आत्मा का ध्यान करे। इस प्रकार चित्त की चञ्चलता का स्तभन कर स्थिरता का अभ्यास करते २ जब आत्मा अपने अन्त.करण को निश्चल कर लेता है, तब शुक्ल ध्यान मे प्रवृत्ति करता है। शुक्लध्यान मे पृथक्त्ववितर्कविचार, एकत्ववितर्क अविचार, शूद्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवर्त्ती इन चारो भेदो को क्रम से प्राप्त होकर घातिया कर्म तथा अघातिया कर्म का नाश करके सदा सुखमय मोक्ष को प्राप्त होता है। अन्यमत मे भी पार्थिवी आदि धारणा के आराधन का वर्णन है तथा उसके अनुसार वे ध्यान करते हैं, किन्तु आत्मसिद्धि का अभाव होने से वे हेय हैं। कभी कभी उनसे लौकिक चमत्कार की सिद्धि होती है। परन्तु उससे आत्मा का कुछ भी हित नही होता, मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। मोक्ष की प्राप्ति तो तत्त्वश्रद्धा, तत्त्वज्ञान और तत्त्वज्ञानपूर्वक आचरण करने से होती है। इनका उनमे अभाव है, इसलिए वे आत्महित के मार्ग मे न लगकर ससार की क्रियाओ मे ही लगे रहते हैं, अत आचार्य महाराज ने इन पाच धारणाओ द्वारा सम्यक् प्रकार मनको रोकने के अभ्यास का उपदेश दिया है।

इस प्रकार पिण्डस्थ ध्यान मे पाचो धारणाओ का वर्णन समाप्त हुआ।

पदस्थ ध्यान

पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते।
तत्पदस्थं मतं ध्यानं विचित्रनयपारगैः॥ १ ॥ (ज्ञाना. अ ३८)

अर्थ—जिसमे योगीश्वर पवित्र मन्त्र पदो का आलम्बन लेकर चिन्तन करते हैं, उसे विविध नयशास्त्र के पारगामी योगीश्वरों ने पदस्थ नाम का ध्यान माना है। पदस्थध्यान मे मन्त्र पदो का ध्यान होता है। जिनका स्मरण मात्र भी पुण्य की वृद्धि करता है—ऐसे पवित्र मन्त्राक्षरो का चिन्तन करना, उनमे अपनी चित्तवृत्ति को रोकने का अभ्यास करना, पदस्थ नामा धर्मध्यान कहलाता है।

वर्णमातृका का ध्यान

अनादि सिद्धान्त मे प्रसिद्ध, सम्पूर्ण वाङ्मय रचना की जन्मभूमि तथा जगत् मे वन्दनीय वर्णमातृका है, उसका चिन्तन करना चाहिए ।

साराश यह है कि समस्त आगम की रचना की कारणभूत 'वर्णमातृका अर्थात् स्वर और व्यञ्जन है, उनका चिन्तन करना पदस्थ नामा धर्म्यध्यान है ।

ध्यान करनेवाला नाभिमण्डल के ऊपर षोडश दल (सोलह पाखुडी) के कमल की कल्पना करके उस कमल के प्रत्येक पत्र पर क्रम से फिरती हुई ' अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः' इस स्वरावली का चिन्तन करे ।

इसके पश्चात् ध्यान का अभ्यासी मनुष्य अपने हृदय स्थान पर कर्णिका सहित चौबीस पत्रो का कमल चिन्तन करे । उसकी कर्णिका तथा पत्रो मे क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म इन पच्चीस व्यञ्जनाक्षरो का चिन्तन करे ।

इसके बाद आठ पत्रो से विभूषित मुखस्थ कमल मे प्रत्येक पत्र पर भ्रमण करते हुए क्रम से य र ल व श ष स ह इन आठ व्यञ्जनाक्षरो का ध्यान करे ।

इस प्रकार अनादि प्रसिद्ध वर्ण–मातृका का निरन्तर ध्यान करता हुआ योगी भ्रान्ति रहित श्रुतज्ञान रूपी समुद्र का पारगामी होता है । अर्थात् उक्त प्रकार से वर्णमातृका का निरन्तर ध्यान करनेवाले मुनि के ज्ञानावरणादि कर्मों का विशेष क्षयोपशम होता है और निरन्तर उसका ध्यान करते रहने पर श्रुतज्ञानावरण का उत्कृष्ट क्षयोपशम होकर पूर्ण श्रुतज्ञान प्राप्त हो जाता है ।

उक्त ४६ वर्णमातृका के अक्षरो का ध्यान करनेवाला योगी कितने ही काल मे नष्ट तथा भावी (उत्पन्न होने वाले) पदार्थों का भी ज्ञान प्राप्त कर लेता है ।

वर्णमातृका के ध्यान से बाह्यलाभ

वर्णमातृका के ध्यान से बाह्यलाभ क्या होता है ? इसे ज्ञानार्णव मे 'उक्त च देकर उद्धृत किया है—

जाप्याज्जयेत् क्षयमरोचकमग्निमान्द्य ।
कुष्ठोदरात्मकसनश्वसनादिरोगान् ॥

प्राप्नोति चाप्रतिमवाङ्महती महद्भ्यः ।
पूजा परत्र च गतिं पुरुषोतमाप्ताम् ॥ २ ॥ (ज्ञाना अ० ३८)

अर्थ— उक्त वर्णमातृका का जाप करने से ध्यानी मनुष्य क्षयरोग, भोजन मे अरुचि, जठराग्नि की मन्दता, कुष्ठरोग, उदररोग कास श्वास आदि रोगो को जीतता है। तथा वचन सिद्धि, महान् प्रभावशाली पुरुषो से पूजा सत्कार और उत्तमोत्तम पुरुषो से प्राप्त की गई शुभगति को प्राप्त करता है।

मन्त्रराज का ध्यान

सब मन्त्रपदो का अधीश्वर समस्त तत्त्वो का नायक 'र्हं' बीजाक्षर है। यह मन्त्रराज सुरासुरो से वन्दनीय है, भयानक अज्ञान रूप अन्धकार का नाश करने लिए सूर्य समान है। तथा जिसने मस्तक पर स्थित जो अर्धचन्द्र है, उस की किरणो के आकार से सब दिशाओ के मध्य भाग को व्याप्त कर दिया है ऐसे 'र्हं' इस मन्त्रराज को कमल के मध्य भाग मे जो कर्णिका (गोल कुछ उठा हुआ भाग) है उस पर विराजमान करे। फिर उसका इस प्रकार चिन्तन करे कि वह मल और कलङ्क से रहित है, घनीभूत चन्द्रकिरणो के सदृश गौरवर्ण का धारक है। आकश मे गति कर रहा है तथा दिशाओ मे सचार कर रहा है। जिनेन्द्र देव के तुल्य है, ऐसा समझ करके इसका ध्यान करे।

कई लोग इस 'र्हं' मन्त्रराज को बुद्ध, कई लोग हरि, कितने ही ब्रह्मा, कई महेश्वर, कितने ही शिव, कितने ही सार्व और कई ईशान स्वरूप मानते हैं। वास्तव मे तो यह है कि इस 'र्हं' मन्त्रराज की शकल मे शान्तमूर्त्ति परम वीतराग सर्वज्ञ देवाधिदेव श्री जिनेन्द्रदेव ही स्वय विराजमान हैं। अर्थात् यह मन्त्रराज साक्षात् जिनेन्द्र देव का स्वरूप है।

यह मन्त्रराज ज्ञान का बीज है, जगत् मे वन्दनीय, जन्म सताप को शान्त करने के लिए मेघधारा के समान है तथा अत्यन्त पवित्र है ऐसे मन्त्रसम्राट् का ध्यान करो। जिसने इसका एक बार भी उच्चारण किया है, उसने मोक्ष के लिए पाथेय (कलेवा, सबल) ग्रहण किया है तथा जो इसको हृदय मे स्थित करता है, उसके कर्म का क्षय होता है और शीघ्र मोक्ष की प्राप्ति होती है।

मन्त्रराज के ध्यान की विधि

धैर्य का धारण करने वाला ध्याता कुम्भक प्राणायाम करके अर्थात् खैंचे हुए प्राण वायु को रोक कर इस मन्त्रराज को अपनी दोनो भौहो के बीच मे स्फुरायमान होता हुआ चिन्तन करे। पश्चात् अपने मुख कमल मे प्रवेश करता हुआ विचारे। इसके बाद तालु के छेद से गमन करता हुआ तथा अमृत जल से झरता हुआ चिन्तन करे। तत्पश्चात् नेत्र के पलको में स्फुरायमान होता हुआ तथा मस्तक के बालो मे

ठहरता करता हुआ चिन्तन करे। पश्चात् ज्योतिश्चक्र मे भ्रमण करता हुआ विचारे। तदनन्तर सोचे कि यह मन्त्रराज शान्ति,प्रकाश, आह्लाद देने वाले चन्द्रमा से स्पर्द्धा (बराबरी) कर रहा है और दिशाओ के मध्य संचार करता हुआ आकाश मे उछल रहा है। तथा कलङ्क समूह को छेदन करता हुआ,ससार की भ्रान्ति का संहार कर रहा है। तथा मोक्ष स्थान को प्राप्त करता हुआ मोक्ष लक्ष्मी का मिलाप कर रहा है–ऐसा ध्यान करे।

ध्यान कर्त्ता को चाहिए कि अनन्य शरण होकर अर्थात् ससार मे इस मन्त्रराज के सिवा मुझे कोई शरण देने वाला नहीं है ऐसा विचार कर उसमे तल्लीन हो जावे, तथा निश्चल होकर सब अवस्थाओ मे दोनो भ्रूलताओ (भौहो) के बीच मे अथवा नासिका के अग्र भाग मे उस मन्त्रराज का ध्यान करे। इसे अनाहत देव कहते हैं।

कई आचार्यों ने इस मन्त्रराज को नासिका के अग्रभाग मे तथा भ्रूलता (दोनो भौहो) के मध्य भाग मे निश्चल धारण करने के समय मे वर्णादि का भेद करके भिन्न २ स्वरूप कल्पित किया है। तथा मन्त्र मण्डल और मुद्रा आदि साधनो के भेद से इष्टसिद्धि का देने वाला माना है।

अर्थात् कई आचार्य कहते हैं कि 'अर्हं' यह परमतत्त्व है, जो इसे जानता है वही तत्त्ववेत्ता है। प्रथम तो इस 'अर्हं' पूर्ण बीजाक्षर का चिन्तन करना चाहिए। तत्पश्चात् 'अ' अवयवरहित तथा 'ह' अवयवरहित इसका चिन्तन करे। पश्चात् चन्द्र की कान्ति के समान बिन्दुमात्र का चिन्तन करे। इसके बाद मन्त्रराज को अनुस्वार रहित चिन्तन करे। अर्धचन्द्राकार हीन ध्यान करे। दोनो रेफ (र) रहित चिन्तन करे। इसके बाद अक्षर हीन तथा उच्चारण करने योग्य न रहे ऐसा चिन्तन करे।

ध्यान को प्रबल बनाने के लिए चित्तस्थिर करके उसी अनाहत स्वरूप मन्त्रराज को क्रमसे सूक्ष्म चिन्तन करे। इस प्रकार सूक्ष्म, सूक्ष्मतर चिन्तन करता हुआ उसे बाल के अग्रभाग समान सूक्ष्मतम चिन्तन करे। इस प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म चिन्तन करता हुआ योगी अशेष विषयो से चित्तवृत्ति का निरोध करके क्षणभर मे सम्पूर्ण ज्योतिर्मय जगत् को साक्षात् प्रत्यक्ष अवलोकन करता है।

इस अनाहत मत्र का ध्यान करने वाले योगी के अणिमा,महिमा आदि सब सिद्धियां सिद्ध होती हैं तथा देव दानव आकर सेवा करते हैं और आज्ञा ऐश्वर्य प्राप्त होता है, इस मे रचमात्र भी सन्देह नही है।

इस प्रकार ध्यान का स्थिर अभ्यास हो जाने के पश्चात् 'लक्ष्य वस्तु' साकार पदार्थ से ध्यान को हटाकर अलक्ष्य जो लिखने मे न आवे ऐसे अमूर्त्त पदार्थ मे मन को स्थिर करनेवाले ध्यानी मुनि के इन्द्रिय के अगोचर, अक्षय, अन्तर्ज्योति ज्ञान प्रकट होता है।

इस अनाहततत्त्व का तथा शिव नामक तत्त्व का अवलम्बन करके प्रशस्तमन के धारक योगीश्वरो ने क्लेश और त्रास से भरे हुए इस अनन्त ससार रूपी अटवी को पार किया है।

अथ प्रणव मन्त्र (ॐकार) के ध्यान का निरूपण करते हैं—

स्मर दुःखानलज्वाला प्रशान्तेर्नवनीरदम्।
प्रणवं वाङ्मयज्ञानप्रदीपं पुण्यशासनम् ॥ ३१ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—हे योगिन्! दुःख दावानल को शान्त करने के लिए नूतन मेघ के समान यह प्रणव नामा (ॐ) अक्षर है। यह समस्त वाङ्मय (सम्पूर्णश्रुत) का प्रकाश करने वाला दीपक तथा पुण्य का शासक है।

इस प्रणव से शब्द स्वरूप अति निर्मल ज्योति की उत्पत्ति हुई है। अर्थात् प्रणव समस्त वाङ्मय की उत्पत्ति का कारण है। तथा इसके साथ परमेष्ठी का वाच्य वाचक सम्बन्ध है। अर्थात् परमेष्ठी का वाचक तो प्रणव है और परमेष्ठी प्रणव का वाच्य है।

ध्यान करनेवाला संयमी स्वर और व्यञ्जन से वेष्टित (अकारादि स्वर और मकार जन्य अनुस्वार रूप व्यञ्जन संयुक्त) इस प्रणव (ॐ) को हृदय कमल की कर्णिका के मध्य मे विराजमान करे। जो प्रणव अत्यन्त बुद्धिमान अति दुर्धर्ष तथा देवेन्द्र और सुरेन्द्र (धरणेन्द्र) से पूज्य है, झरते हुए मस्तक मे चन्द्ररेखा के अमृत से आर्द्रित महाप्रभाव विशिष्ट है, कर्मरूप वन को दग्ध करने के लिए अग्नि के समान है—ऐसे इस महातत्व, महाबीज, महामन्त्र, उच्चपद स्वरूप तथा शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान गौरवर्ण इस ॐ को ध्यानी योगी कुंभक प्राणायाम से चिन्तन करे।

यदि इस प्रणव (ॐ) मन्त्र को गहरे सिन्दूर के वर्ण समान अथवा मूंगे की कांति के तुल्य चिन्तन किया जावे तो ध्याता संपूर्ण जगत् को क्षोभित कर सकता है। स्तंभन के कर्म मे स्वर्ण के समान पीत वर्ण चिन्तन करे और द्वेष के कर्म मे कज्जल के समान कृष्ण वर्ण तथा वशीकरण प्रयोग म रक्त (लाल) वर्ण और कर्मों का क्षय करने के लिये चन्द्रकान्ति के समान श्वेत वर्ण ध्यान करे।

इस प्रकार प्रणव अर्थात् ॐकार मन्त्र के ध्यान का विधान किया। अब पंच परमेष्ठी के नमस्कारात्मक मन्त्रो के ध्यान का विधान करते है।

पणतीससोलछप्पनचदुगमेगंच जवहज्झाएह।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरुवएसेण ॥ ४९ ॥ (द्रव्य स०)

अर्थ—परमेष्ठी के वाचक पैंतीस, सोलह, छह, पाच, चार, दो और एक अक्षर रूप मन्त्र हैं, उनका जाप करो तथा ध्यान

करो। इनके सिवा अन्य भी मन्त्र पद हैं, उनका भी गुरु के उपदेशानुशार जाप करो।

पैंतीस अक्षरो का मन्त्र—णमो अरिहंताण, णमो सिद्धाण, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायणं, णमो लोए सव्वसाहूण। यह पैंतीस अक्षर का मंत्र है। यह अनादि निधन महामन्त्र है। तथा पंच परमेष्ठी को नमस्कार रूप है, और सब पापकर्म का विनाश करने वाला है और अन्य मन्त्रो के प्रभाव को दलित करने वाला है। अर्थात् इसका जाप और चिन्तन करने वाले पर दूसरे मारणोच्चाटन वशीकरण आदि मन्त्रो का कुछ भी असर नहीं होता है। यह मंत्र सब मांगलिक कार्यों की प्रसूति (उत्पत्ति) का हेतु है। इसलिए जो भव्यजीव संसारिक सुख और मोक्ष की प्राप्ति का अभिलाषी है, उसको चाहिए कि वह इस महामंत्र का प्रतिदिन जाप व ध्यान करे और अपनी अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त करे।

सोलह अक्षरो का पंच परमेष्ठी मन्त्र द्रव्य सग्रह टीका मे इस प्रकार वर्णित है।

'अरिहंत सिद्ध आयरिय उवज्झाय साहू' इस प्रकार सोलह अक्षरो वाले पंच परमेष्ठी मन्त्र का जाप व ध्यान करे।

छह अक्षरों के मन्त्र—

१ अरिहंत सिद्ध। २ अरिहत साहू। ३ ॐ नमः सिद्धेभ्य। ४ ॐ णमो सिद्धाणं। ये छह अक्षरो के मंत्र ध्यान करने योग्य हैं

पांच अक्षरों के मन्त्र—

१ अ सि आ उ सा। २ णमो सिद्धाण।

चार अक्षरों के मन्त्र—

१ अरिहत। २ अ सि साहू।

दो अक्षरों के मन्त्र—

सिद्ध। अ सि। ॐ ह्रीं।

एकाक्षर मन्त्र—

प्रकार है अ अथवा ॐ। अकार अरिहंत का आदि अक्षर ग्रहण किया गया है तथा ॐ कार पंच परमेष्ठी का वाचक है। वह इस

अरिहंता असरीरा आयरिया तह उवज्झाया मुणिणो।
पढमक्खरणिप्पण्णो ॐकारो पंचपरमेट्ठी ॥ १ ॥ द्रव्यसं टी.

अर्थ—अरिहंत असरीर (शरीररहित-सिद्ध भगवान्) आयरिय, उवज्झाय और मुनि इन पंच परमेष्ठी के वाचक पाच पदों के आदि अक्षर अ अ आ उ म् हैं, इनकी सन्धि होकर ॐ शब्द सिद्ध होता है। अर्थात् अ+अ और + आ इन तीनों वर्णों की सवर्ण दीर्घ सन्धि होकर 'आ' वर्ण होता है। तथा आ+उ मिलकर 'ओ' रूप सिद्ध होता है तथा 'म्' का कातन्त्र व्याकरण के नियम से अनुस्वार होता है। इस प्रकार ओं, ॐ ऐसा बीजाक्षर रूप बनता है। और यह ॐकार पच परमेष्ठी का वाचक सिद्ध होता है। इसीको प्रणव नाम से कहते हैं। इस का महात्म्य पहले निरूपण कर आये हैं।

सब अक्षरों के मंत्र का वर्णन

स्फुरद्विमलचंद्राभे दलाष्टकविभूषिते ।
कञ्जे तत्कर्णिकासीनं मंत्रं सप्ताक्षरं स्मरेत् ॥ ३६ ॥
दिग्दलेषु ततोऽन्येषु विदिक्पत्रेष्वनुक्रमात् ।
सिद्धादिकं चतुष्कं च दृष्टिबोधादिकं तथा ॥ ४० ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—चमकते हुए निर्मल चन्द्र की ज्योत्स्ना के समान आठ पत्रो से सुशोभित कमल मे जो कर्णिका है, उस पर विराजमान 'णमो अरिहंताणं' इस सप्ताक्षर मन्त्र का चिन्तन करे। उस कर्णिका के चारो ओर आठ पत्रो मे से चार दिशाओ के चार पत्रो पर क्रमसे णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं, इन चार मन्त्र पदो का तथा शेष चार विदिशाओ के जो चार दल हैं, उन पर क्रमशः सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नम., सम्यक् चारित्राय नमः, सम्यक् तपसे नमः इन चार मन्त्र पदो का ध्यान करे। इस प्रकार कमल के अष्ट दल और एक कर्णिका मे उक्त नौ मन्त्रो का चिन्तन करे।

स० प्र०

नमस्कार मन्त्र का प्रभाव और फल

जगत के जितने भी योगीश्वरो ने आत्यन्तिकी लक्ष्मी (मोक्ष लक्ष्मी) प्राप्त की है, उन सबने एक मात्र इस महामन्त्र की आराधना कर के ही प्राप्त की है। इस महामन्त्र का पूर्ण प्रभाव योगीश्वरो के ही ज्ञान गोचर है। इसका पूरी तरह वर्णन तो वे भी नहीं कर सकते। इतने पर भी अनभिज्ञ, (अल्पज्ञ) मनुष्य इस महामन्त्र के प्रभाव का वर्णन करता है, वह सन्निपात रोग से ग्रसित प्रतीत होता है।

पापपङ्क से लिप्त हुए प्राणी इसी मन्त्र के आराधन से विशुद्ध होते हैं। इसी मत्र के महात्म्य से विचारशील मनुष्य ससार के क्लेश से मुक्त हुए है। यही एक ऐसा मत्र है जो इस ससारमे भव्यजीवो के सकट के समय बन्धु है। अर्थात् दुःख से उद्धार करने वाला सच्चा मित्र है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी पदार्थ जीवो पर समान दृष्टि से अनुग्रह करने वाला नहीं है। क्योकि इसी महामत्र ने महान् सकट रूप पाताल वाले इस ससार समुद्र मे डूबे हुए जगत् के जीवो को निकाल कर सुखमय मोक्ष मे स्थापित किया है।

इस महामत्र की महिमा कहा तक कहे। पूर्व समय मे हजारो पाप करके, अज्ञानवश सैकडो जतुओ का वधकर तिर्यञ्च भी इस महामत्र की शुद्ध भावो से आराधना करके स्वर्ग लक्ष्मी के स्वामी बने हैं।

जो मुनीश्वर अथवा पापभीरु श्रावक मन वचन और काय को शुद्ध करके इस महामत्र का एक सौ आठ बार आराधन करे तो वह आहार भोजन ग्रहण करता हुआ भी एक उपवास के पूर्ण फल को प्राप्त करता है।

सोलह अक्षर का नमस्कार मन्त्र तथा उसकी महिमा

स्मर पञ्चपदोद्भूतां महाविद्या जगन्नुताम्।
गुरुपञ्चकनामोत्थां षोडशाक्षरराजिताम् ॥ ४८ ॥
अस्याः शतद्वयं ध्यानी जपन्नेकाग्रमानसः।
अनिच्छन्नप्यवाप्नोति चतुर्थतपसः फलम् ॥ ४९ ॥ (ज्ञा० अ० ३८)

अर्थ—त्रिजगत् के जीव जिसको नमस्कार करते हैं, जो पाच पदो से उत्पन्न हुई है, जो इन सोलह अक्षरो से विभूषित है, पंच गुरुओ के नाम से अङ्कित है ऐसी "अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्वसाधुभ्यो नम." से विभूषित, उस महाविद्या का स्मरण करो। जो ध्यानी इस को दोसौ बार एकाग्र चित्त होकर जाप करता है वह बिना इच्छा के ही एक उपवास का फल प्राप्त करता है।

'अरिहंत सिद्ध' इस प्रकार छह अक्षरो के मन्त्र (विद्या) का तीन सौ चार जाप करने पर एक उपवास का फल मिलता है। इस मत्र को अजेय वतलाया है। अर्थात इस मत्र पर दूसरे का प्रभाव नही होता है। इस की शक्ति अचिन्त्य है।

'अरिहत' इन चार अक्षरो का यह मत्र धर्म अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थ के फल का देने वाला है। इसके चार सौ वार जाप करने पर एक उपवास का फल मिलता है।

'सिद्ध' यह दो अक्षरो का मन्त्र द्वादशाङ्ग वाणी का सार है। ससार जन्य समस्त क्लेशो का क्षय करने मे समर्थ यह मन्त्र मोक्ष । देने वाला है। सिद्धपद की आकाक्षा रखने वाला योगी इस का अवश्य ध्यान करे।

जो ध्यानी आनन्द से प्रफुल्लित चित्त हुआ एकाग्रचित्त होकर 'अ' इस एकाक्षर मन्त्र का पंचशत वार जाप करता है, वह एक ..वास से होने वाली कर्मों की निर्जरा करता है।

यहा पर इन मत्रो का एक उपवास रूप जो फल वताया है वह केवल मत्र जपने मे रुचि उत्पन्न करने के लिए ही है। वस्तुत' इसका फल तो स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति है।

ॐ ह्रॉं ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्र. अ सि आ उ सा नम.' यह मत्र पच तत्त्वोपलक्षित है। इस पञ्चाक्षरमयी विद्या को मुनीश्वरो ने बीज बुद्धि द्वारा द्वादशाग वाणी से उद्धृत किया है। इस विद्या के विषय मे निरन्तर अभ्यास करने मे अपने मनको वशीभूत करता हुआ योगी निश्शङ्क होकर जाप करता हुआ अतिदृढ ससार वन्धन को शीघ्र उच्छिन्न करता है।

मङ्गलशरणोत्तमपदनिकुरम्बं यस्तु संयमी स्मरति ।
अविकलमेकाग्रधिया स चापवर्गश्रियं श्रयति ॥ ५७ ॥ (ज्ञाना०अ० ३८)

अर्थ—चत्तारि मंगल-अरिहतमगलं, सिद्धमगल,साहूमगलं,केवलिपण्णत्तो धम्मो मगल । चत्तारि लोगुत्तमा-अरिहतलोगुत्तमा, सिद्धलोगुत्तमा, साहूलोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा । चत्तारि सरण पव्वजामि-अरिहतसरण पव्वजामि, सिद्धसरण पव्वजामि, साहूसरण पव्वजामि, केवलिपण्णत्त, धम्म सरण पव्वज्जामि । इस प्रकार मंगल, उत्तम शरण भूत इन पदो को जो सयमी एकाग्रचित से स्मरण करता है वह मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त होता है।

सिद्धेः सौधं समारोढुमियं सोपानमालिका ।
त्रयोदशाक्षरोत्पन्ना विद्या विश्वातिशायिनी ॥ ५८ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

सिद्धि (मोक्ष) महल पर चढने के लिए सोपान (सीढ़ी) की पंक्ति स्वरूप तथा विश्व मे महिमा उत्पन्न करने वाली तेरह अक्षरों वाली विद्या है। वह विद्या 'ॐ अर्हत् सिद्धसयोगकेवली स्वाहा' इस प्रकार है। मुनीश्वरों ने इस विद्या को मुक्ति कान्ता को मिलाने वाली दूती माना है, इसलिए जो मुक्ति स्त्री को प्राप्त करना चाहता है, उसे इस तेरह अक्षरों के मन्त्र का जाप व ध्यान करना चाहिए।

सकलज्ञानसाम्राज्यदानदक्षं विचिन्तय ।
मन्त्रं जगत्त्रयी–नाथ–चूडारत्नं कृपास्पदम् ॥ ६०॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—यह मन्त्र त्रलोकेश्वर मुकुट के रत्न समान है तथा सकल ज्ञान के साम्राज्य को देने मे प्रवीण है तथा कृपा का स्थान है, इसलिए 'ॐ ह्रीं श्रीं नमः' इस मन्त्र का चिन्तन करो।

नचास्य भुवने कश्चित्प्रभावं गदितुं क्षमः ।
श्रीमत्सर्वज्ञदेवेन यः साम्यमवलम्बते ॥ ६१ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—तीनो लोक मे कोई भी विद्वान् इसके प्रभाव को कहने मे समर्थ नहीं है। क्योंकि यह मन्त्र श्रीमत्सर्वज्ञ देव के साथ समानता रखता है।

स्मर कर्मकलङ्कौघध्वान्तविध्वंसभास्करम् ।
पञ्चवर्णमयं मन्त्रं पवित्रं पुण्यशासनम् ॥ ६२ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—हे भव्य ! तुम कर्मकलंक के समूह रूप अन्धकार का नाश करने के लिए सूर्य के समान, पुण्य का शासन, पंचवर्ण रूप 'णमो सिद्धाणं' इस पवित्र मन्त्र का चिन्तन करो।

सर्वसत्त्वाभयस्थानं वर्णमालाविराजितम् ।
स्मर मन्त्रं जगज्जन्तुक्लेशसन्ततिघातकम् ॥ ६३ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—हे संयमिन्! लोक के सब जीवों के क्लेश परम्परा का नाश करने वाला, सम्पूर्ण जीवों का अभयस्थान, वर्णमाला के अक्षरों से विराजमान इस 'ॐ नमोऽर्हते केवलिने परमयोगिनेऽनन्तशुद्धिपरिणामविस्फुरदुरुशुक्लध्यानाग्निनिर्दग्धकर्मबीजाय प्राप्तानन्तचतुष्टयाय सौम्याय शान्ताय मङ्गलाय वरदाय अष्टादशदोषरहिताय स्वाहा' का स्मरण करे।

स्मरेन्दुमण्डलाकारं पुण्डरीकं मुखोदरे।
दलाष्टकसमासीनं वर्णाष्टकविराजितम् ॥६४॥
ॐ णमो अरिहंताणमिति वर्णानपि क्रमात्।
एकशः प्रतिपत्रं तु तस्मिन्नेव निवेशयेत् ॥६५॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ-हे संयमिन्! चन्द्रमण्डल के आकार आठ पत्रोंवाले एक श्वेतकमल को अपने मुख में चिन्तन करो। उसमें 'ॐ णमो, अरिहंताण' इस आठ वर्ण वाले मन्त्र के एक एक अक्षर को क्रमशः कमल के एक एक पत्र पर स्थापित करो।

स्वर्णगौरीं स्वरोद्भूतां केशरालीं ततः स्मरेत्।
कर्णिका च सुधास्यन्दविन्दुव्रजविभूषिताम् ॥६६॥ (ज्ञा० अ० ३८)

अर्थ-इसके बाद स्वर्ण के समान गौर वर्णवाली, स्वरसे उत्पन्न हुई केशर की पंक्ति का स्मरण करो तथा अमृतमय प्रवाह के विन्दुओं से अलंकृत कर्णिका का चिन्तन करो।

प्रोद्यत्संपूर्णचन्द्राभं चन्द्रबिम्बाच्छनैः शनैः।
समागच्छत्सुधाबीजं मायावर्णं तु चिन्तयेत् ॥६७॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ-तत्पश्चात् उदय होते हुए पूर्णचन्द्र के समान कान्तिवाले, चन्द्रमण्डल से शनैः शनैः आते हुए सुधा (अमृत) के बीज मायावर्ण 'ह्रीं' इस बीजाक्षर का ध्यान करे।

मन्त्रराज के ध्यान कीविधि

इस मायावर्ण ह्रीं का किस प्रकार चिन्तन करे, इसे दिखाते हैं—

विस्फुरन्तमतिस्फीतं प्रभामण्डलमध्यगम् ।
सञ्चरन्तं मुखाम्भोजे तिष्ठन्तं कर्णिकोपरि ॥६८॥
भ्रमन्तं प्रतिपत्रेषु चरन्तं वियति क्षणे ।
छेदयन्तं मनोध्वान्तं स्रवन्तममृताम्बुभिः ॥६९॥

व्रजन्तं तालुरन्ध्रेण स्फुरन्तं भ्रूलतान्तरे ।
ज्योतिर्मयमिवाचिन्त्यप्रभावं भावयेन्मुनिः ॥७०॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ–इस ह्रीँ कार मन्त्र को देदीप्यमान अत्यन्तविशाल कान्ति मण्डल के मध्यमे विराजमान चिन्तन करे। इसके बाद मुखकमल मे सचार करता हुआ चिन्तन करे। पश्चात् कमल की कर्णिका के ऊपर स्थित हुआ विचारे, इसके बाद कमल के प्रत्येक पत्र पर भ्रमण करता हुआ चिन्तन करे। तदनतर क्षण मे गगनतल मे गमन करता हुआ ध्यान करे। तत्पश्चात् मानसिक अन्धकार का छेदन करता हुआ तथा अमृत जल को चुवाता हुआ स्मरण करे। इसके अनन्तर तालु के छिद्र से होकर गमन करता हुआ सोचे। पश्चात् भ्रूलता के मध्य (दोनो भौंहों के बीच) स्फुरायमान होता हुआ–चमचमाता हुआ चिन्तन करे। तथा ज्योतिस्वरूप (केवलीभगवान्) की तरह अचिन्त्य प्रभाव वाला यह ह्रीँ कार मत्र है, ऐसा ध्यान करे।

अब इस मन्त्र का महात्म्य (महिमा) दिखाते हैं—

वाक्पथातीतमाहात्म्यं देवदैत्योरगार्चितम् ।
विद्यार्णवमहापोतं विश्वतत्त्वप्रदीपकम् ॥७१॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ–इस मन्त्र का महात्म्य वाणी के अगोचर है। इसकी देवेन्द्र, असुरेन्द्र और नागेन्द्र पूजा करते हैं। तथा यह मन्त्र विद्या रूपी समुद्र मे अवगाहन करने के लिए जगी जहाज के समान है और विश्वभर के तत्त्व अथवा सम्पूर्ण तत्त्वो का प्रकाश करनेवाला विशाल दीपक है।

इतिध्यायन्नसौ ध्यानी तत्संलीनैकमानसः ।
वाङ्मनोमलमुत्सृज्य श्रुताम्भोधिं विगाहते ॥७२॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ–पूर्वोक्त प्रकार इस ह्रीँकार मन्त्र का तल्लीन मन से ध्यान करनेवाला संयमी वाणी और मन के दोष का सहार कर श्रुत समुद्र म प्रवेश करता है।

ततो निरन्तराभ्यासान्मासैः षड्भिः स्थिराशयः।
मुखरन्ध्राद्विनिर्यान्तीं धूमवर्त्तिं प्रपश्यति ॥७४॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—उक्त प्रकार स्थिरचित्त होकर छह मास पर्यन्त ह्रीँकार मन्त्र का निरन्तर अभ्यास करने पर मुख में से धुएँ की बत्ती निकलती हुई दिखाई देने लगती है।

ततः संवत्सरं यावत्तथैवाभ्यस्यते यदि।
प्रपश्यति महाज्वाला निःसरन्तीं मुखोदरात् ॥ ७५ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—इसके पश्चात यदि एक वर्ष पर्यन्त इस ह्रीँकार मत्र का पूर्वोक्त प्रकार अभ्यास किया जावे तो ध्यान करने वाला मुख से निकलती हुई अग्नि की महाज्वाला का दर्शन करता है।

ततोऽतिजातसंवेगो निर्वेदालम्बितो वशी।
ध्यायन् पश्यत्यविश्रान्तं सर्वज्ञमुखपङ्कजम् ॥ ७६ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—इसके पश्चात् लगातार इस मत्र का ध्यान करता हुआ ध्यानी मुनि जन अपनी इन्द्रियो और मन को वशमें करता हुआ सवेग (ससार से उद्विग्न) और निर्वेद (वैराग्य) परायण होता है, तब उसे सर्वज्ञदेव के मुख कमल का दर्शन होता है।

अथाप्रतिहतानन्दप्रीणितात्मा जितश्रमः।
श्रीमत्सर्वज्ञदेवेशं प्रत्यक्षमिव वीक्षते ॥ ७७ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—इसके अनन्तर वही ध्यान का करने वाला सयमी जन श्रम पर विजय प्राप्त करलेता है तथा निरन्तर आनन्द के अनुभव से आत्मा को तृप्त करता रहा है, तो श्रीमत्सर्वज्ञ देव का प्रत्यक्षमा दर्शन करता है।

भावार्थ—तीर्थंकर देवाधि देव सम्पूर्ण अतिशयो से परिपूर्ण हैं, दिव्यरूपवाले हैं, पंच कल्याणक की महिमा से सहित हैं, विश्व

के जीवो को अभयदान देरहे हैं, उनके चारो ओर प्रभा (कान्ति) का मडल बना हुआ है, उसके मध्य मे देवाधिदेव विराजमान हैं। वे भव्यजीवो के हृदय कमल को प्रफुल्लित कहरहे हैं तथा ज्ञान मे कीडा कररहे है,केवलज्ञानादि लक्ष्मी को धारण कररहे हैं। ऐसे देवाधिदेव का यह ध्यानी प्रत्यक्ष की तरह दर्शन करता है।

इसके अनन्तर ध्यानी मुनि इस मन्त्र के ध्यान मे प्रमाद रहित होकर इसके द्वारा सर्वज्ञ के स्वरूप का निश्चय हो जाने पर ससार के भ्रम को दूर करके लोक के अग्रभाग सिद्धक्षेत्र को निवास स्थान बना लेता है, जहा से पुनरागमन नहीं होता है।

इस प्रकार मुख मे अष्टदल कमल के आठ दलो में आठ अक्षरो की स्थापना करके कर्णिका के चारो ओर की केसर मे सोलह स्वर वर्णों की तथा कर्णिका के मध्य मे ह्रीं वर्ण की स्थापना करके पूर्वोक्त रीति से ध्यान करनेवाले को जो फल तथा महिमा उपलब्ध होती है, उस महिमा का वर्णन किया। अब आगे अन्य विद्या का निरूपण करते है—

'क्ष्वीं'कार का महात्म्य

स्मर सकलसिद्धविद्यां प्रधानभूता प्रसन्नगम्भीराम् ।
विधुबिम्बनिर्गतामिव क्षरत्सुधार्द्रां महाविद्याम्॥८१॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ–हे सयमिन् ! तुम, जिससे सम्पूर्ण विद्या सिद्ध होती है, जो सर्वप्रधान है, प्रसन्न तथा गम्भीर है, चन्द्र के बिम्ब से निकली हुई की तरह झरते हुए अमृत से आर्द्र है ऐसी–'क्ष्वीं' इस महाविद्या का ध्यान करो।

अविचलमनसा ध्यायँल्ललाटदेशे स्थितामिमां देवीम् ।
प्राप्नोति मुनिरजस्रं समस्तकल्याणनिकुरम्बम् ॥८२॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ–जो मुनि निश्चलचित्त होकर ललाट (भाल) प्रदेश पर इस 'क्ष्वीं' विद्यादेवी का ध्यान करता है,वह सम्पूर्ण कल्याण समूह को निरन्तर प्राप्त करता है।

अमृतजलधिगर्भान्निःसरन्तीं सुदीप्ता–
मलकतलनिषण्णा चन्द्रलेखा स्मर त्वम् ॥

अमृतकणविकीर्णां प्लावयन्तीं सुधाभिः
परमपदरिव्यां धारयन्तीं प्रभावम् ॥८३॥
एतां विचिन्तयन्नेव स्तिमितेनान्तरात्मना ।
जन्मज्वरक्षयं कृत्वा याति योगी शिवास्पदम् ॥८४॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ-हे मुनीश्वर ! अमृत समुद्र से निकलती हुई देदीप्यमान, अमृत कणों मे विखरती हुई, अमृत से प्लावित (अमृत मे डूबी हुई) मोक्ष की धरा मे अपने प्रभाव को धारण करने वाली इस चन्द्र लेखा को तू अपने ललाट प्रदेश पर विराजमान करके ध्यान कर । जो योगी इस विद्या का स्थिर चित्त होकर चिन्तन करता है, वह जन्म रूपी ज्वर का क्षय करके मोक्ष स्थान को प्राप्त होता है ।

सप्ताक्षर मंत्र

यदि साक्षात् समुद्विग्नो जन्मदावोग्रसंक्रमात् ।
तदा स्मरादिमन्त्रस्य प्राचीनं वर्णसप्तकम् ॥ ८५ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—हे मुने ! यदि तुम ससार रूपी दावानल मे भयङ्कर भ्रमण करने से अत्यन्त उद्विग्न हो तो आदि मन्त्र (पंच नमस्कार मत्र) के पहले के 'णमो अरिहंताणं' इस सात अक्षर के मत्र का स्मरण करो ।

तीन अक्षरों का महात्म्य

वदन प्रणव शून्यमनाहतमिति त्रयम् ।
एतदेव विदुः प्राज्ञास्त्रैलोक्यतिलकोत्तमम् ॥ ८६ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—इस ध्यान के प्रकरण मे अथवा इस लोक मे प्रणव (ॐकार), शून्य (बिन्दु) और अनाहत (चन्द्र की रेखा समान) इन तीनों ही को बुद्धिमान मनुष्य तीनो लोक मे तिलक के समान श्रेष्ठ समझें । अर्थात ये तीनो इस जगत् मे श्रेष्ठ हैं ।

नासाग्रदेशसंलीनं कुर्वन्नत्यन्तनिर्मलम् ।
ध्याता ज्ञानमवाप्नोति प्राप्य पूर्वं गुणाष्टकम् ॥ ८७ ॥

शंखेंदुकुंदधवला ध्याता देवास्त्रयो विधानेन ।
जनयंति सर्वविषयं बोधं कालेन तद्ध्यानात् ॥ ८८ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—जो ध्यान करने वाला उक्त तीन मन्त्रो को नासिका के अग्रभाग मे स्थापित करके ध्यान करता है, वह पहले अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा आदि आठ दिव्य गुणो को प्राप्त करके पश्चात् अत्यन्त निर्मल ज्ञान (केवल ज्ञान) को प्राप्त करता है। तथा इन तीनों (प्रणव, शून्य और अनाहत) देवो को शख के समान, कुन्द पुष्प के समान तथा चन्द्र की रेखा समान भिन्न २ ध्यान करता है, वह ध्यानी उनके ध्यान करने के सामर्थ्य से कुछ काल मे सब पदार्थों को विषय करने वाले ज्ञान (केवल ज्ञान) को प्राप्त करता है।

भिन्न २ मंत्र

प्रणवयुगलस्य युग्मं पार्श्वे मायायुगं विचिन्तयति ।
मूर्द्धस्थं हंसपदं कृत्वा व्यस्तं वितन्द्रात्मा ॥ ८९ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ -ॐकार का युगल, पार्श्व भाग मे माया अक्षर (ह्रीं) का युगल तथा इनके ऊपर भाग मे हस पद रखकर ध्यानी प्रमाद रहित हुआ भिन्न २ रूप चिन्तन करे। अर्थात् 'ह्रीं ॐ ॐ ह्रीं हस' इस मंत्र का ध्यान करे।

ततो ध्यायेन्महाबीजं स्त्रीकार छिन्नमस्तकम् ।
अनाहतयुतं दिव्यं विस्फुरन्तं मुखोदरे ॥ ९० ॥

अर्थ–तदनन्तर छिन्नमस्तक, महाबीज, अनाहत सयुक्त स्त्री इस दिव्य मन्त्र को मुख के मध्य मे स्फुरायमान हुआ चिन्तन करे। अर्थात् 'स्त्रीं' इस दिव्य महाबीजाक्षर मत्र को मुख मे दे दीप्यमान–चमकता हुआ चिन्तन करे।

श्रीवीर वदनोद्गीर्णां विद्यां चाचिन्त्यविक्रमाम् ।
कल्पवल्लीमिवाचिन्त्यफलसम्पादनक्षमाम् ॥९१॥
विद्यां जपति य इमा निरन्तरं शान्तनिश्चविस्पन्दः ।
अणिमादिगुणॉल्लब्ध्वा ध्यानी शास्त्रार्णवं तरति ॥९२॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—श्रीमत महावीर स्वामी के मुख कमल से उद्गत अचिन्तनीय पराक्रमवाली कल्पलता के समान अचिन्त्य फल प्रदान करने मे सामर्थ्य वाली ऐसी "ॐ जोग्गे मग्गे तच्चे भूदे भव्वे भविस्से अक्खे पक्खे जिण पारिस्से स्वाहा" विद्या का अथवा "ॐ ह्रीँ स्वर्हं नमो नमोऽर्हंताणं ह्रीँ नमः" इस विद्या का सब चंचलता को रोककर जो निरन्तर जाप करता है वह ध्यानी अणिमा आदि गुणो को प्राप्त करके शास्त्रसमुद्र का पारगामी होता है अर्थात् द्वादशांग वाणी का ज्ञाता—श्रुतकेवली होता है।

इस विद्या का सतत ध्यान करने से ध्याता को भूत भविष्यत् उत्पन्न वर्त्तमान—त्रिकाल का तथा विश्वतत्वो का ज्ञान होता है।

जिस मन्त्र के ध्यान के प्रभाव से ध्यान करनेवाले के उपसर्ग कर्त्ता सिंह सर्पादि क्रूरजन्तु तथा ध्यानमे विघ्न करनेवाले व्यन्तरादि देव उपशान्त हो जाते है। उस ध्यान का विस्तार पूर्वक वर्णन करते है।

'ॐ णमो अरहंताणं' का ध्यान निम्न प्रकार करे।

आठो दिशाओं मे रहने वाले आठ दल जिसके हैं, ऐसे कमल पर ग्रीष्मऋतु के सूर्यसमान प्रखर किरणों से देदीप्यमान अपने आपको विराजमान चिन्तन करे। अर्थात् उस कमल म मैं बैठा हुआ हूं ऐसा चिन्तन करे। तथा उस कमल के आठ दलो पर क्रम से उपर्युक्त मन्त्र के एक एक अक्षर को पूर्वादि दिशा के क्रम से स्थापित करे। इसके पश्चात् पूर्व दिशा मे प्रारम्भ करके प्रदक्षिणा करता हुआ प्रत्येक पत्र पर अङ्कित मन्त्राक्षर का चिन्तन करे। इस प्रकार कमल के प्रत्यक पत्र के सम्मुख स्थित होकर प्रदक्षिणा करता हुआ उक्त अष्टाक्षर के मन्त्र का ग्यारहसौ वार चिन्तन करे। इस प्रकार प्रतिदिन ध्यान करता हुआ आठ रात्रि पर्यन्त प्रसन्न चित्त होकर जाप करे। इसके अचिन्त्य दिव्य प्रभाव से हिंसादि क्रूर भाववाले सिंह सर्प व्याघ्रादि जन्तु अपने क्रूर आशय को इस प्रकार छोड देते हैं, जैसे कि सिंह से भयभीत हुए हाथी अपने गर्व को छोड देते हैं।

उक्त प्रकार आठ रात्रियो के बीत जाने के बाद इस अष्टदल कमल को मुख पर स्थापित करके उसके पत्रों पर स्थित वर्णों का अनुक्रम मे निरूपण करके अवलोकन करे। इस प्रक्रिया को प्रथम विघ्न की शान्ति के लिए सेवन करके पश्चात् प्रणव (ॐ) वर्जित सात अक्षर के 'णमो अरिहंताणं' इस मन्त्र का ध्यान करे। प्रणवसहित मन्त्र का ध्यान तो सम्पूर्ण इष्ट—सिद्धि का देनेवाला होता है और प्रणवरहित मन्त्र का ध्यान मोक्ष का देने वाला होता है।

स्मर मंत्रपदं वाऽन्यज्जन्मसंघातघातकम्।
रागाद्युग्रतमस्तोमप्रध्वंसरविमण्डलम् ॥ १०३ ॥ (ज्ञाना. अ ३८)

अर्थ—हे मुने ! तुम रागादि भयानक अन्धकार के पुंज का नाश करने के लिए सूर्यमण्डल समान जन्म सन्तान का घात करने वाला एक दूसरा "श्रीमद्वृषभादि वर्धमानान्तेभ्यो नमः" यह मन्त्र है, इसका ध्यान करो।

अब सिद्धचक्र नामक मन्त्र का स्वरूप व प्रभाव दिखाते हैं–

मनः कृत्वा सुनिष्कम्पं तां विद्या पापभक्षिणीम् ।
स्मर सत्वोपकाराय या जिनेन्द्रैः प्रकीर्त्तिता ॥ १०४ ॥
चेतः प्रसत्तिमाप्नोति पापपङ्कः प्रलीयते ।
आविर्भवति विज्ञानं मुनेरस्याः प्रभावतः ॥१०५॥
मुनिभिः संजयन्ताद्यैर्विद्यानादात्समुद्धृतम् ।
मुक्तिमुक्तेः परं धाम सिद्धचक्राभिधं स्मरेत् ॥१०६॥
तस्य प्रयोजकं शास्त्रं तदाश्रित्योपदेशतः ।
ध्येयं मुनीश्वरैर्जन्ममहाव्यसनशान्तये ॥१०७॥ (ज्ञा० अ० ३८)

अर्थ–ध्यान का कर्त्ता मनको निष्कम्प करके 'ॐ अर्हन्मुखकमलवासिनि पापात्मक्षयंकरि श्रुतज्ञानज्वालासहस्रप्रज्वलिते सरस्वति मत्पाप हन हन दह दह क्षां क्षीं क्षूं क्षौं क्षः क्षीरवरधवले अमृतसंभवे वं वं हूं हूं स्वाहा, इस पाप-भक्षिणी विद्या का पाप का नाश करने के लिए ध्यान करे। इससे चित्त में प्रसन्नता प्राप्त होती है, पापरूप कीचड़ नष्ट होता है, तथा मुनीश्वरों के विशिष्टज्ञान प्रकट होता है। इस सिद्ध चक्र नामक मत्र को संजयन्त आदि मुनियों ने विद्यानुवाद नामक दशमपूर्व से निकाला है। यह मत्र स्वर्गादि के सुख और मुक्ति का देनेवाला है। इस सिद्धचक्र का प्रयोजक जो शास्त्र है, उस का आश्रय लेकर उसके उपदेशानुसार मुनीश्वर महान् दुःख की शान्ति के निमित्त इसका ध्यान करे।

यह सब, मन्त्र तब तक ही आराध्य होते हैं जब तक आत्मा में कुछ भी शुभरागांश रहता है। वीतराग के लिए किसी वस्तु विशेष के ध्यान का नियम नहीं है। यही कहते हैं –

वीतरागो भवेद्योगी यत्किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।
तदेव ध्यानमाम्नातमतोऽन्यद् ग्रन्थविस्तरः ॥ २ ॥ (उक्तं च-ज्ञाना अ ३८ ११३ में)

अर्थ—वीतरागी मुनि जिस वस्तु का चिन्तन करता है, वह सब ध्यान माना गया है। इसके अतिरिक्त जितना वर्णन किया गया है, वह सब ग्रन्थ का विस्तार मात्र समझना चाहिए।

उक्त ध्यान का तथा ध्यान के योग्य मन्त्रो का जो विस्तार किया गया है; उसका प्रधान हेतु चित्त की एकाग्रता मात्र है। ध्यान करने वाला इन बताये गये मन्त्रो मे अपने मन को स्थिर करने का अभ्यास करे। अभ्यास करते २ जब अन्तःकरण में स्थिरता आजावे तब ध्यानी मुनि अपने आत्मा का ही ध्यान करे। बिना आत्मध्यान के मोक्षपद की प्राप्ति असभव है।

इस प्रकार पदस्थानामक धर्म्य ध्यान का वर्णन किया।

रूपस्थधर्म्यध्यान

आर्हन्त्यमहिमोपेतं सर्वज्ञं परमेश्वरम्।
ध्यायेद्देवेन्द्रचन्द्रार्कसभान्तस्थं स्वयम्भुवम् ॥ १ ॥ (ज्ञाना० अ० ३६)

अर्थ—जो सर्वज्ञ देवाधिदेव, परमात्मा, देवेन्द्र, ज्योतिष देवो के इन्द्र एवं चन्द्र सूर्यादि की सभा के मध्य मे विराजमान हैं, तथा जो समवसरणादि बाह्यमहिमा से विभूषित हैं, ऐसे परमभट्टारक (सयोगकेवली) भगवान् का ध्यान करे।

भावार्थ—इस रूपस्थध्यान में सवसरणादि विभूति सहित परमभट्टारक अर्हन्त देव का ध्यान किया जाता है। ये सयोगकेवली भगवान् राग द्वेष मोह (अज्ञान) आदि अठारह दोषो से रहित, अनन्तज्ञान (केवलज्ञान) मण्डित तथा सम्पूर्ण अतिशयो मे अलकृत एक हजार आठ व्यञ्जन तथा लक्षणो से विभूषित हैं। (तिल मसा आदि शरीर के चिह्न को व्यञ्जन कहते हैं। वे ६००, तथा श्रीवत्सादि १०८ शुभ लक्षण, इस प्रकार १००८ शुभव्यञ्जन व लक्षण से सुशोभित होते हैं।) देव, मनुष्य, तिर्यंचादि की बारह सभाओ के मध्य गन्धकुटी पर विराजमान हैं। जिन का परमौदारिक शरीर है। जिन का शरीर की कान्ति के मण्डल से सूर्य चन्द्रादिका प्रकाश छिपगया है। तयाकोटि सूर्य के प्रकाश को जिसने तिरस्कृत कर दिया है, उन प्रभा मण्डल मे भव्यजीव अपने सात भवो का अवलोकन करते हैं। जिन परमशान्त वीतराग अर्हन्त देव के सर्वाङ्ग से दिव्यध्वनि होरही है उस दिव्यध्वनि को प्रत्येक जीव अपनी २ भाषा मे कर्णगोचर कर रहे, हैं और वस्तु तत्त्व को समझकर अत्यन्त आनन्द से प्रफुल्लित हुए अपना आत्मकल्याण कर रहे हैं। ऐसे देवाधि देव सर्वज्ञ वीतराग अर्हन्त परम भट्टारक का ध्यान करना चाहिए।

उनका मुनिजन सहस्र नाम से स्मरण करते हैं, उनमें से कुछ नाम यहा अङ्कित करते हैं–१ अव्यक्त, २ कामनाशक ३ अजन्मा ४ अनन्त, ५ अतीन्द्रिय, ६ जगद्वन्द्य, ७ योगिगम्य ८ महेश्वर, ९ ज्योतिर्मय, १० अनाद्यनन्त, ११ सर्वरक्षक, १२ योगीश्वर, १३ जगद्गुरु, १४ अच्युत, १५ शान्त, १६ तेजस्वी, १७ सन्मति, १८ सुगत. १९ सिद्ध, २० जगत् श्रेष्ठ, २१ पितामह, २२ महावीर, २३ मुनिश्रेष्ठ २४ पवित्र, २५ परमाक्षर, २६ सर्वज्ञ, २७ परमदाता, २८ सर्वहितैषी, २९ वर्धमान, ३० निरामय, ३१ नित्य, ३२ अव्यय, ३३ परिपूर्ण, ३४ पुरातन, ३५ स्वयम्भू, ३६ हितोपदेशी, ३७ वीतराग, ३८ निरञ्जन ३९ निर्मल, ४० परमगम्भीर, ४१ परमेश्वर, ४२ परमतृप्त, ४३ अव्याबाध, ४४ निष्कलङ्क, ४५ निजानन्दी, ४६ निराकुल, ४७ नि.स्पृह, ४८ देवधिदेव, ४९ महाशाकर, ५० परमब्रह्म, ५१ परमात्मा ५२ पुरुषोत्तम, ५३ अमर, ५४ परमबुद्ध, ५५ अशरणशरण्य, ५६ गुणसमुद्र, ५७ सकलतत्वज्ञ, ५८ आत्मज्ञ, ५९ शुक्लध्यानी, ६० परमसम्यग्दृष्टि, ६१ तीर्थङ्कर, ६२ अनुपम, ६३ विश्वतत्वज्ञ, ६४ परमपुरुषार्थी, ६५ कमशैलवज्र, ६६ विश्वविद्याविशारद, ६७ निरावरण, ६८ स्वरूपासक्त, ६९ कृतकृत्य, ७० परमसयमी, ७१ सकलक्षेत्रज्ञ, ७२ स्नातकनिर्ग्रन्थ, ७३ सयोगिजिन, ७४ परमनिर्जराकारक, ७५ गणनायक, ७६ परमशुद्ध, ७७ मुनिगणश्रेष्ठ, ७८ परमसवरपति, ७९ तत्ववेत्ता, ८० आत्मरमण, ८१ मुक्तिस्त्रीवर, ८२ परमविरक्त, ८३ परमानन्द, ८४ परमतपस्वी, ८५ परमक्षमावान्, ८६ परमशान्त, ८७ परमशुचि, ८८ परमत्यागी, ८९ अखण्ड ब्रह्मचारी, ९० शुद्धोपयोगी, ९१ निरालम्ब, ९२ परमस्वतन्त्र, ९३ अशत्रु, ९४ निर्विकार, ९५ आत्मदर्शी, ९६ महर्षि, ९७ परमाकिञ्चन, ९८ जगदीश, ९९ विष्णु १०० ब्रह्मा, १०१ महेश, १०२ ईश्वर, १०३ जिनेन्द्र, इत्यादि नामो का उच्चारण कर उनके गुणो का चिन्तन करना चाहिए।

इस प्रकार श्रीमत अर्हन्त देव के गुण मे जिसका अन्त.करण तन्मय हो जाता है, वह ध्यानी अभ्यास के वश अर्हन्त देव के ध्यान मे तल्लीन हुआ अपनी आत्मा और अर्हन्तपरमात्मा के भेदभाव रहित हो जाता है, तब वह ज्ञानी अहर्निश आत्मा को सर्वज्ञ स्वरूप देखता है। उस समय वह ऐसा विचार करता है कि यह सर्वज्ञ देव है और मैं उनके स्वरूप मे लीन हू, अत. मैं भी उनके समान विश्वद्रष्टा (सर्वज्ञ) हू, अन्य नहीं हू।

आत्मा मे अनन्त शक्ति छिपी हुई है। जब यह आत्मा उसको प्रकट करने का ध्यान रूप सदुद्योग करता है, तब उसकी सब शक्तियाँ विकसित हो जाती हैं। उस समय वह चौदह भुवन को क्षोभित करने की सामर्थ्य रखता है।

इस प्रकार रूपस्थ ध्यान का वर्णन हुआ। अब रूपातीत ध्यान का निरूपण करते हैं।

रूपातीत ध्यान

अथ रूपे स्थिरीभूतचित्तः प्रक्षीणविभ्रमः ।
अमूर्त्तमजमव्यक्तं ध्यातुं प्रक्रमते ततः ॥१५॥
चिदानन्दमयं शुद्धममूर्त्तं परमाक्षरम् ।
स्मरेद्यत्रात्मनात्मानं तद्रूपातीतमिष्यते ॥१६॥ (ज्ञा० अ० ४०)

अर्थ–जब ध्यानी मुनि का रूपस्थ धर्म्यध्यान मे चित्त स्थिर हो जाता है, चित्त को सब भ्रान्ति नष्ट हो जाती है, तब ध्यानी अमूर्त्त, अजन्मा, अव्यक्त (इन्द्रियो के अगोचर) परमात्म तत्त्व का ध्यान करना प्रारम्भ करता है। जो परमात्मा चिदानन्द स्वरूप है, शुद्ध–द्रव्यकर्म और भावकर्म व नोकर्म से रहित है, शरीर रहित होने से अमूर्त्त है, परम अविनश्वर है, उस शुद्धात्मा का जो ध्यान किया जाता है, उसे रूपातीत ध्यान कहते हैं।

शका–चित्तवृत्ति के क्षोभरहित हो जाने को योगी जन ध्यान कहते हैं। तब मोक्षप्राप्त परमात्मा का चिन्तन कैसे किया जावे? क्योकि आत्मा के अतिरिक्त अन्य तत्त्व का ध्यान चित्त मे अनैक्य अवश्य उत्पन्न करता है। द्रव्यसग्रह मे भी कहा है–

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिन्तह किंवि जेण होइ थिरो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे झाणं ॥५६॥

अर्थ–हे मुने ! तुम कुछ भी शारीरिक चेष्टा न करो, अन्तर्जल्प तथा बाह्यजल्परूप कुछ भी वचन उच्चारण न करो, किसी दूसरे पदार्थ का चिन्तन न करो, ऐसा करने से तुम्हारी आत्मा अपने स्वरूप मे स्थिर हो जावेगी। इसे ही उत्कृष्ट ध्यान कहते हैं।

सामाधान–आत्मा को अपने स्वरूप मे स्थिर करने के लिए रूपातीत ध्यान का आश्रय लिया जाता है। क्योकि जब तक आत्मा को अपने गुणो मे स्थिर होने का अभ्यास नहीं हुआ है, तब तक इस ध्यान का अवलम्बन आवश्यक माना गया है। प्रथम परमात्मा के गुणो का पृथक् २ चिन्तन करे और उन गुणो के समूह से विशिष्ट परमात्मा का ध्यान करे, और अनन्य शरण होकर परमात्मा के स्वरूप से तल्लीन हो जावे। जब आत्मा परमात्मा के स्वरूप मे एक रूप हो कर मिल जाता है, तब ध्यानी के चित्त मे कुछ भी क्षोभ नहीं रहता है।

इस प्रकार शुद्धात्मा के गुणो द्वारा अमूर्त्त, शुद्धस्वरूप, परमात्मा का ध्यान करता हुआ ध्यानी मुनि अपनी आत्मा और परमात्मा

में अभेद भाव समझकर ऐसा विचार करे कि मैं और परमात्मा एक ही हूँ। मेरी आत्मा के और परमात्मा के स्वरूप में शक्ति की अपेक्षा से किंचिन्मात्र भी भेद नहीं है। केवल व्यक्ति की अपेक्षा से भेद है। परमात्मा कर्मरहित होगये हैं; इसलिए उनके सब गुण व्यक्त (प्रकट) होगये हैं और मेरी आत्मा कर्मविशिष्ट है, अत: वे गुण अव्यक्त (अप्रकट) हैं। लेकिन शक्ति रूपसे उनमे और मुझमे लेश मात्र अन्तर नहीं है।

कर्मरहित परमात्मा का स्वरूप यह है, जो रूपातीत ध्यान मे चिन्तन किया जाता है—

व्योमाकारमनाकारं निष्पन्नं शान्तमच्युतम्।
चरमाङ्गात्किञ्चिन्न्यूनं स्वप्रदेशैर्घनैः स्थितम् ॥ २२ ॥
लोकाग्रशिखरासीनं शिवीभूतमनामयम्।
पुरुषाकारमापन्नमप्यमूर्त्तं च चिन्तयेत् ॥ २३ ॥ (ज्ञाना० अ० ४०)

अर्थ—आकाश के आकार अर्थात् निराकार, पुद्गल के आकार से रहित, कृतकृत्य, शान्तस्वरूप, अपने स्वरूप मे अच्युत (स्थिर) चरम शरीर से किंचित् न्यून, अपने आत्माके निविड़ प्रदेशो में स्थित, लोक के अग्रभाग मे जो तनुवातलय है उसके अन्तिम भाग मे विराज मान, शिवस्वरूप अर्थात् पूर्व के अकल्याण रूप को छोड़कर कल्याण रूप हुए, आमय (शारीरिक व आत्मीय रोग) से वर्जित, पुरुषाकार को धारण करने वाले होते हुए भी अमूर्त्त अर्थात् पुद्गल के रूप रस गन्ध और स्पर्श रूप मूर्तधर्म रहित, ऐसे परमात्मा के स्वरूप का ध्यान करना चाहिए।

शका–जिस परमात्मा के शरीर नहीं है, जो द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म रहित है, कृतकृत्य है, चैतन्यस्वरूप और आनन्दमय है तथा महान् और जगत् मे सबसे श्रेष्ठ है, ऐसे अमूर्त्त परमात्मा के पुरुषाकार कैसे सम्भव हो सकता है ?

समाधान–जैसे-पीतल आदि धातु की मूर्ति बनाने के लिए मोम भर कर साचा बनाया जाता है, उसको अग्नि मे पकाने पर मध्यवर्ती जो मोम होता है वह गल जाता है और उसके मध्य के आकाश का आकारमात्र रह जाता है। वैसे ही आत्मा जिस शरीर से अष्ट कर्मों का क्षय करके मोक्ष-प्राप्त करता है, उस चरम (अन्तिम) शरीर से कुछ कम अर्थात् नासिका कर्ण आदि छिद्र और त्वचा नखादि से न्यून शरीर का आकार रहता है।

अथवा—समस्त अवयवो से परिपूर्ण और सब लक्षणो से परिपूर्ण निर्मल दर्पण में पड़े हुए प्रतिबिम्ब के समान कान्तिवाले परमात्मा का ध्यान करे।

इसका आशय यह है कि जैसे स्वच्छ दर्पण में पुरुष के सम्पूर्ण अवयव और लक्षणों से विशिष्ट पुरुष का आकार दिखाई देता है, वैसे ही परमात्मा के प्रदेश अवयव रूप परिणत हो रहे हैं और लक्षणों की तरह आत्मा के सम्पूर्ण गुण विद्यमान रहते हैं।

इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करते रहने से ध्यानी की आत्मा मे ऐसा दृढ संस्कार हो जाता है कि वह स्वप्नादि मे भी परमात्मा को ही प्रत्यक्ष सा देखता है। उस समय ध्यानी को ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि मैंही परमात्मा हूँ, मैं ही सर्वज्ञ हूँ, । ज्ञानद्वारा सर्व व्यापक मैंही हूँ, सिद्ध भी मैं ही हूँ और साध्य (सिद्ध करने योग्य) भी मैं ही हूँ, संसार से पृथक हूँ परमात्मा, परमज्योतिस्वरूप सम्पूर्णविश्व का दर्शक, और निरञ्जन (कर्मरूप अञ्जन रहित) मैं ही हूँ। जब ऐसे परमात्मा का ध्यान करने लगता है, उस समय वह निश्चल, अमूर्त्त, (अशरीरी) कलङ्क रहित जगद् का गुरु, ध्यान व ध्याता से रहित, महान् चैतन्य मात्र स्फुरायमान होता है। इस प्रकार ध्यानी भेद भाव का त्याग करके परमात्मा और अपने आत्मा मे ऐक्य भाव को इस तरह प्राप्त होता है कि उसे पृथक भाव प्रतीत ही नहीं होता है।

इस प्रकार रूपातीत ध्यान का वर्णन किया। अब संक्षेप से ध्यान की आवश्यकता और प्रभाव दिखाते हैं:—

हे आत्मन्! यदि तू संसार के शरीर जन्य रोगादि तथा इष्टवियोग, अनिष्ट-संयोग से उत्पन्न एवं मानसिक संकल्प और विकल्प के निमित्त से निष्पन्न व्याकुलता और जन्म मरण आदि भयानक दुःखों से सर्वथा दूर रहने वाले श्री अरहंत परमेष्ठी व सिद्धपरमेष्ठी के दिव्य आनन्द का रसानुभव करना चाहता है तो तू प्रत्येक अवस्था में अर्थात् अनुकूल तथा प्रतिकूल सब अवस्थाओं में सर्वदा प्रसन्नचित्त हो, सम शान्ति को धारण कर और सांसारिक विषयों मे दौड़ते हुए मन को रोक।

शंका—जिसका मन ध्यान में समर्थ न हो। अर्थात् अभ्यास न होने के कारण मन को एकाग्र करने की क्षमता न हुई हो तो उसे क्या करना चाहिए, जिससे ध्यान की सिद्धि हो जाय?

समाधान—सबसे पहले उसे पर पदार्थ मे जो ममत्व हो रहा है, उस को घटाने का प्रयत्न करना चाहिए। ज्यों ज्यों उस का परपदार्थ से ममत्वभाव कम होता जावेगा, त्यों त्यों उसके मन मे क्षोभ उत्पन्न करने वाले संकल्प और विकल्प का ह्रास होता चला जायगा, और मन की स्थिरता होने लगेगी।

जब तक उसका मन स्थिरता को प्राप्त न हो, तब तक उसे अनित्य, अशरण आदि बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करना चाहिए। अर्थात् संसार तथा शरीर विषयादि की क्षणभंगुरता का विचार करना चाहिए, आत्मा की अशरणता का विचार करना चाहिए। इस प्रकार अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन भी धर्म्यध्यान माना गया है। इनके चिन्तन मे मन की स्थिरता का अभ्यास करके पश्चात् अपने स्वरूप का निरूपण करे। अपने आत्मा मे अपने को स्थिर करने के लिए पूर्वोक्त पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान का अवलम्बन ले।

धर्म्यध्यान का फल

असंख्येयमसंख्येयं सद्दृष्ट्यादिगुणेऽपि च।
क्षीयते क्षपकस्यैव कर्मजातमनुक्रमात् ॥१२॥
शमकस्य क्रमात् कर्म शान्तिमायाति पूर्ववत्।
प्राप्नोति निर्गतातङ्कः स सौख्यं शमलक्षणम् ॥१३॥ (ज्ञाना० अ० ४१)

इस धर्म्य ध्यान के प्रभाव से दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय करने वाले सम्यग्दृष्टि नामक चौथेगुणस्थान से लेकर अप्रमत्त नामक गुणस्थान तक इन चार गुणस्थानो मे असख्यात असख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती है तथा दर्शन मोहनीय का उपशम करने वाले जीव के भी असख्यात असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। अत उक्त प्रकार धर्म्यध्यान करनेवाला, ससार के आतंक-त्रास से रहित हुआ शान्ति सुख का अनुभव करता है।

धर्म्यध्यान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है तथा इसमें क्षायोपशमिक भाव रहता है और लेश्या सदा शुक्ल ही रहती है।

धर्म्यध्यान के चिह्न

अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वं गन्धःशुभो मूत्रपुरीपमल्पम्।
कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च योगप्रवृत्तेः प्रथमं हि चिह्नम् ॥ (उक्तच-ज्ञाना० अ० ४१श्लो १५)

अर्थ—धर्म्यध्यान परायण महात्मा के चित्त में इन्द्रियो के विषयो की लम्पटता नहीं रहती है। उसके शरीर मे रोग नहीं रहता, अर्थात् शरीर नीरोग होता है। उसमे निष्ठुरता नहीं होती है। शरीर मे शुभगन्ध होता है। उसके मल व मूत्र स्वल्प होता है। शरीर कान्ति सहित होता है। वह सदा प्रसन्नचित्त रहता है। उसकी वोली मे मिठास होता है। वह योगप्रवृत्ति के प्रथम चिह्न माने गये है।

धर्म्यध्यानी मरकर कहा जन्म लेते है, यह बताते है—

अथावसाने स्वतनुं विहाय, ध्यानेन संन्यस्तसमस्तसङ्गाः।
ग्रैवेयकानुत्तरपुण्यवासे सर्वार्थसिद्धौ च भवन्ति भव्याः ॥ १६ ॥

देवराज्यं समासाद्य यत्सुखं कल्पवासिनाम् ।
निर्विशन्ति ततोऽनन्तं सौख्यं कल्पातिवर्तिनः ॥ १६ ॥
संभवन्त्यथ कल्पेषु तेष्वचिन्त्यविभूतिदम् ।
प्राप्नुवंति परं सौख्यं सुराः स्त्रीभोगलाञ्छितम् ॥ २० ॥ (ज्ञाना अ० ४१)

अर्थ—धर्म्यध्यान का आराधक भव्य पुरुष आयु के अन्त समय मे शुभध्यान से समस्त परिग्रहों का त्यागकर अपने शरीर को छोडता है। वह महानुभाव नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पॉच अनुत्तर विमानो मे जन्म लेता है। वहा पर जन्म लेनेवाले वे कल्पातीत विमानवासी देव सब अहमिन्द्र होते हैं। कल्पवासी देवों के इन्द्रो को जो सुख उपलब्ध होता है, उससे अनन्त गुणा सुख अहमिन्द्र देवो को प्राप्त होता है।

यदि धर्म्यध्यानी, कल्पातीत विमानो मे कदाचित् जन्म न ले तो धर्म्यध्यान के प्रभाव से कल्पवासी देवो मे तो अवश्य जन्म लेता ही है, अन्यत्र कदापि जन्म नहीं लेता। वहा पर कल्प स्वर्गों मे भी देवागनाओं सहित नित्योत्सव, दिव्य सुख का निरन्तर सागरो पर्यन्त भोग करता है।

तत्पश्चात वह देव दिव्य भोगो का अनुभव कर स्वर्ग से च्युत होकर मनुष्यो से वन्दनीय पवित्र उच्चकुल मे जन्म धारण करता है।

तत्पश्चात् वह शरीर और आत्मा को भिन्न अनुभव कर, उन दिव्य भोगो मे विरक्त होकर, जिनदीक्षा लेकर सम्यक् रत्नत्रय की शुद्धि के लिए अत्यन्त दुष्कर तपस्या तथा धर्म्य ध्यान और शुक्लध्यान को अपनी शक्ति के अनुसार स्वीकार करके कृत्स्न कर्मों का क्षयकर परम पद निर्वाण को पाता है।

इस प्रकार धर्म्यध्यान को इस लोक सम्बन्धी सुख का देनेवाला और दुःखो का क्षय करने वाला तथा परलोक मे स्वर्गादि की सम्पत्ति और अनेक अनुपम ऐश्वर्य व सुख का देने वाला समझकर इसका आराधन करना चाहिए। इसके आराधन से चित्त की मलिनता मिट कर चित्त मे आल्हाद उत्पन्न होता है। अनागत कर्मों का सवर और पूर्व बन्धे हुए कर्मों की निर्जरा होती है। इसलिए निरन्तर अपने चित्त को धर्म्यध्यान मे निरत रखना उचित है। धर्म्यध्यान के जो साधन पूर्व मे लिखे गये हैं, उनकी सहायता लेकर अपने चित्त को स्थिर करने का अभ्यास करे। कर्मों का क्षय करनेवाला एक ध्यान ही अमोघ साधन है। ध्यान का आराधन किये बिना कर्म का क्षय होना असभव है। जिन्होने मुक्ति को प्राप्त किया है उन महानुभावो ने ध्यान के धन का ही सचय किया था, ऐसा दृढ निश्चय कर शुभ ध्यान मे तत्पर रहना ही

मनुष्य का कर्तव्य है, यही साक्षात आत्मा का कल्याण करनेवाला है।

शुक्ल-ध्यान का स्वरूप

निष्क्रियं करणातीतं ध्यानधारणवर्जितम्।
अन्तर्मुखं च यच्चित्तं तच्छुक्लमिति पठ्यते ॥ ४ ॥ (ज्ञाना. अ ४२)

अर्थ—जो ध्यान निष्क्रिय है अर्थात कायादि की समस्त क्रियाओं से रहित है, इन्द्रियों से अतिक्रान्त है, ध्यान की धारणा से वर्जित है, अर्थात् मैं अमुक का ध्यान करूं ऐसी धारणा–इच्छा से रहित है, जिसमे चित्त अपनी आत्मा मे ही रत रहता है; बाह्य पदार्थ मे नहीं दौडता, उसे शुक्लध्यान कहते हैं।

चारो ध्यानो मे शुक्लध्यान ही सर्वोत्कृष्ट है, क्योकि वही कर्म-क्षय का साधकतम कारण है। शुक्ल का अर्थ श्वेत-स्वच्छ है। कर्मों का नाश होने से आत्मा स्वच्छ होजाता है। वह स्वच्छता शुक्लध्यान का कारण है, इसलिए इस ध्यान को भी स्वच्छ कहा गया है। शुक्ल ध्यान शुद्धोपयोग का अविनाभावी है। शुद्धोपयोग का यह कार्य भी है और कारण भी। इस लिए भी यह शुक्ल है।

यह शुक्लध्यान आदि के तीन संहनन वाले मनुष्यों के ही होसकता है, उत्तर के तीनो संहनन वालों के नहीं। ध्यान की परिभाषा है एक पदार्थ को मुख्य कर (उसे विषय बनाकर) अन्य चिन्तनाओ से मनको हटा लेना। यह ध्यान अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक ही ठहर सकता है। इसके बाद जो ध्यान होगा वह दूसरा ध्यान कहलावेगा और इस प्रकार ध्यान की परम्परा चलेगी। ध्यान की परम्परा भी ध्यान ही कहलाती है।

इस ध्यान के चार भेद हैं–पृथक्त्ववितर्कवीचार, एकत्ववितर्कविचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, व्युपरतक्रियानिवर्ति। पहले दो ध्यानों मे जो वितर्क शब्द आया है उसका अर्थ श्रुत ज्ञान है। अर्थात् ये दोनो ध्यान श्रुत ज्ञानियो के ही होते हैं, केवल ज्ञानियों के नहीं। श्रुतज्ञान की उत्कृष्ट मर्यादा चौदह पूर्व और जघन्य मर्यादा अष्ट प्रवचन मातृका (पाच समिति और तीन गुप्तियो का ज्ञान) है। श्रुत ज्ञान की जघन्य मर्यादा से लेकर उत्कृष्ट मर्यादा तक यही दोनो शुक्लध्यान होसकते हैं पर इसका मतलब यह कभी नहीं है कि यह दोनो ध्यान पूर्ण श्रुत केवली के ही हो। सूत्रकार के 'शुक्ले चाद्ये पूर्वविद.' सूत्र मे पहले के दोनो ध्यानो मे श्रुतज्ञान की उत्कृष्ट मर्यादा बतलाई गई है। उनका आशय यह नहीं है कि पूर्ण श्रुतज्ञानियो के बिना ये दोनो ध्यान नहीं होसकते। अगर यह नहीं माना जाय तो फिर दसवे और ग्यारहवें गुणस्थानवाले निर्ग्रन्थ मुनियो के जघन्य श्रुतज्ञान अष्ट प्रवचन मातृका क्यो माना ?

चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक धर्म्यध्यान होता है यह पहले कह चुके हैं। धर्म्यध्यान श्रेणी चढने के पहले होता है। धर्म्यध्यान से श्रेणी का प्रारम्भ नहीं होसकता। इसलिए श्रेणी चढने के पहले धर्म्यध्यान और इसके बाद शुक्लध्यान होता है। इस तरह आदि के दोनो शुक्लध्यान श्रुतज्ञानियो और अन्त के दोनो ध्यान केवलज्ञानियो के होते हैं।

जिसमे चारित्र मोहनीय की इक्कीस प्रकृतियो के दबाने का कार्य किया जाता है वह उपशम श्रेणी और जिसमे उक्त प्रकृतियों को क्षय किया जाता है वह क्षपक श्रेणी कहलाती है। इन दोनो ही श्रेणियो मे क्रमश प्रथम और द्वितीय शुक्ल होता है। अब इन ध्यानों का पृथक् २ वर्णन करते हैं —

पृथक्त्व वितर्क वीचार

जिस ध्यान मे पृथक् पृथक् भिन्न २ रूप से श्रुतज्ञान निरूपित अर्थ (द्रव्य व पर्याय) तथा व्यञ्जन (शब्द) मे योग (मन, बचन और काय योग) का सक्रमण-परिवर्त्तन होता है, उसे पृथक्त्ववितर्क वीचार नामक शुक्लध्यान कहते हैं।

इस ध्यान का आराधक-द्रव्य को छोडकर पर्याय मे आजाता है, तथा पर्याय का ध्यान करते २ द्रव्य मे आजाता है, अर्थात द्रव्य का ध्यान करने लगता है। इसे अर्थ-सक्रमण अर्थात् अर्थ का परिवर्त्तन कहते हैं। एक श्रुतवचन को ग्रहण कर पश्चात् उसे छोडकर दूसरे श्रुतवचन का ध्यान करने लगता है। उसको भी छोडकर दूसरे श्रुतवचन का विचार करने लगता है। इसे व्यञ्जन सक्रान्ति कहते हैं। काययोग का अवलम्बन भी त्याग कर मनोयोग का आश्रय लेता है। पुन इसे भी छोड़कर अन्ययोग का अवलम्बन लेता है। इस प्रकार के परिवर्त्तन (बदलने को) वीचार कहते हैं।

इस ध्यान का धारक वही होता है-जो आदि के उत्तम सहननो मे से किसी एक का धारण करने वाला हो, उत्तम (वज्रवृषभनाराच) सहनन होने के कारण परिषहो की बाधा को सहन करने मे समर्थ हो। वही सहिष्णु मुनि पर्वत की गुफा, शिखर, वृक्षकी कोटर, (खोह) नदीतट, श्मसान, पुराना वन, शून्य गृह उपवनादि मे से किसी एक ऐसे स्थान मे जहां पर पशु, पक्षी, स्त्री, नपुंसक, मनुष्यादि का गमनागमन न हो, जहा पर क्षुद्र जीव जन्तु न हो, और दूसरे स्थानो से वहा पर उनके आने की सम्भावना भी न हो, वह स्थान अत्यन्त उष्ण न हो और अत्यन्त शीत भी न हो, वहा पर अत्यधिक वायु का भी सचार न हो, वर्षा और आतप (गर्मी) की बाधा से वर्जित हो, बाह्य और अन्तरङ्ग के चित्तविक्षेप के कारण न हो, ऐसे पवित्र तथा अनुकूल स्पर्शवाले भूमि भाग पर सुखकर आसन लगाकर बैठे। पर्यङ्कासन (पालथी) पद्मासन आदि लगा कर अपने शरीर को तना हुआ रखे। अपनी गोद मे बाम (बाएँ) हाथ की हथेली रखे। दातो के अग्रभागो को परस्पर अत्यन्त न जोडे और न अधिक खुले रखे। मुख को थोड़ा सा झुका हुआ रखे। शरीर के मध्य भाग को सीधा और तना हुआ रखे, मुख की छवि प्रसन्न और नेत्र

दृष्टि सौम्य और निर्निमेष (पलक–टिमकार रहित) हो। निद्रा, आलस्य, काम, राग, रति, अरति, शोक, भय, हास्य, द्वेष, विचिकित्सा आदि का सर्वथा त्याग करे। तथा श्वासोच्छ्वास का मन्द मन्द प्रचार करे। इत्यादि क्रमपरिकर्मी साधु अर्थात् उक्त ध्यान के साधनों में सुसज्जित ध्याता नाभि के ऊपर हृदय, मस्तक अथवा भ्रूलता के मध्य, ललाट प्रदेशादि और भी अनेक स्थानों में स्वपरिचित किया हो वहां मनोवृत्ति को रोककर उस ध्यान का अभ्यास प्रारम्भ करे। परिचित–अभ्यस्त किसी स्थान पर मन को स्थापन करके राग द्वेष और मोह को शान्त करता हुआ निपुणता से शारीरिक क्रिया का निग्रह करे, श्वासोच्छ्वास की गति मन्द मन्द करे, विचार को निश्चल रक्खे और क्षमा का धारण करे, तथा बाह्य और आभ्यन्तर द्रव्य पर्याय का ध्यान करने से श्रुत ज्ञान के सामर्थ्य को प्राप्त हुआ मुनि का मन अर्थ (द्रव्य पर्याय) और व्यंजन (वचन) तथा काय योग और वचन योग में पृथक् पृथक् रूप से संक्रमण करता है अर्थात् द्रव्य से पर्याय में पर्याय से द्रव्य में तथा काय योग से वचन योग में और वचन योग से काययोग में भ्रमण करता है। उस समय वह ध्यानी मुनि चारित्र मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का शनैः शनैः अति मन्द गति से उपशमन अथवा क्षपण करना प्रारम्भ करता है। जैसे अति उत्साही मानव कुंठित कुल्हाड़ी से चिरकाल में तरु (वृक्ष) का छेदन करने में समर्थ होता है, क्योंकि उसके द्वारा चलाई गई वह कुंठित कुल्हाड़ी कभी किनार गिरती है और कभी स्थिर ठीक लक्ष्य पर अवस्थित नहीं रहती। उसी प्रकार इस ध्यान के धारक का चित्त अर्थ पर्याय और काय योग तथा वचन योग में भ्रमण करता है, इसलिए मन्दगति से मोह की प्रकृतियों को उपशमन अथवा क्षपण करता है।

यह ध्यान मनोयोग, वचनयोग और काययोग इन तीनों योगों के धारक मुनियों के होता है। चतुर्दश पूर्व के ज्ञाता श्रुतकेवली ही इस को ध्या सकते हैं।

एकत्ववितर्क अवीचार नामा शुक्ल ध्यान—

ज्ञेयं प्रक्षीणमोहस्य पूर्वज्ञस्यामितद्युतेः ।

सवितर्कमिदं ध्यानमेकत्वमतिनिश्चलम् ॥ २५ ॥ (ज्ञाना० अ० ४२)

अर्थ—जिसके चारित्र मोह का क्षय हो गया है, तथा जो पूर्व का ज्ञाता है, जिसकी तेजस्विता लोकोत्तर है, उसके अतिनिश्चल अर्थात् परिवर्तन रहित, अवीचार रूप एकत्ववितर्क नाम का शुक्लध्यान होता है।

भावार्थ-क्षीण मोही मुनि ही एकत्ववितर्क अवीचार नामक ध्यान का ध्याता होता है। उसका ध्यान निश्चल होता है। जिस द्रव्य, जिस अणु का, अथवा जिस पर्याय का वह चिन्तन करता है उसमें मनोवृत्ति निश्चल रहती है, योग का परिवर्तन नहीं होता है। उस निर्मल ध्यान रूपी अग्नि के प्रज्वलित होने पर ध्याता अनन्त गुणी विशुद्धि को प्राप्त हुआ योग विशेष का आश्रय लेकर ज्ञानावरण की सहायक हुतसी

प्रकृतियों का बन्ध रोकता है तथा उनकी स्थिति का ह्रास और क्षय करता है। श्रुतज्ञान में उसका उपयोग निश्चल रहता है। द्रव्य अथवा पर्याय में अथवा श्रुत वचन में उसका चित्त स्थिर रहता है। अर्थ (द्रव्य पर्याय) और व्यञ्जन (श्रुत वचन) और काय योग तथा वचन योग में मन का सक्रमण (परिवर्तन) नहीं होता है। सुमेरु की भाति अडोल अकम्प रहता है तथा सम्पूर्ण कषायों का क्षय हो जाने से वैडूर्य मणि के समान स्वच्छ होता है। जिस पदार्थ पर ध्यान होता है, उसको फिर नहीं बदलता है। इस प्रकार के ध्यान को एकत्व वितर्क अवीचार नाम का शुक्लध्यान कहते हैं। अन्त में इस एकत्ववितर्क अवीचार नामक शुक्लध्यान रूपी जाज्वल्यमान अग्नि से मुनि केवलज्ञान और केवल दर्शन के अवरोधक ज्ञानावरण, और दर्शनावरण, मोहनीय और अनन्त अभयदानादि में विघ्न करनेवाले अन्तराय कर्म इन चार घाति कर्मों को सर्वथा भस्म करते हैं।

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान

सर्वज्ञः क्षीणकर्मासौ केवलज्ञानभास्करः।
अन्तर्मुहूर्त्तशेषायुस्तृतीयं ध्यानमर्हति ॥ ४१ ॥ (ज्ञाना० अ० ४२)

अर्थ—जिनके चार घाति कर्म नष्ट होगये हैं, जिन्होने केवलज्ञान रूपी सूर्य से सम्पूर्ण लोकालोक को प्रकाशित कर दिया है, ऐसे सर्वज्ञ सयोगकेवली की जब अन्तर्मुहूर्त्त मात्र आयु शेष रहती है, तब वे इस सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक ध्यान का आराधन करते हैं।

भावार्थ—जब क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानवर्त्ती मुनीश्वर एकत्ववितर्कअवीचार नामक शुक्ल ध्यान से चार घाति कर्म का नाश करके सयोगकेवली भगवान् होजाते हैं, तब वे उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त सहित अष्ट वर्ष हीन पूर्व कोटि पर्यन्त लोक में विहार करते हैं। जब उनकी आयु अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहजाती है और नाम, गोत्र, तथा वेदनीय कर्म इन तीनों की भी उतनी (अन्तर्मुहूर्त्त मात्र) स्थिति रह जाती है, तब वे केवली भगवान् सब वचनयोग, मनोयोग तथा बादर काययोग का सर्वथा परित्याग करके सूक्ष्मकाययोग का आश्रय लेकर सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान का आराधन करते हैं, जब अन्तर्मुहूर्त्त मात्र शेष आयु रही हो और अन्य तीन कर्मों की स्थिति अधिक हो उस समय वे योगीश्वर सामायिक की सहायता सहित विशिष्टकरणरूप महासवर के कर्त्ता अति शीघ्र कर्म का परिपाचन करने के स्वाभाव वाले तथा सम्पूर्ण कर्म रज का विध्वस करने की स्वाभाविक शक्तिवाले आत्मा के उपयोगातिशय से दण्ड, कपाट, प्रतर और लोक पूरण रूप आत्मा के प्रदेशो को चार समय मे फैलाकर फिर चार ही समयो मे प्रतर कपाट दण्ड और आत्म-प्रवेश रूप आत्मा के प्रदेशो को सकोच करके सब कर्मों की स्थिति समान करलेते हैं और पूर्व शरीर प्रमाण होकर सूक्ष्मकाय योग से सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक शुक्ल ध्यान का आराधन करते हैं।

समुच्छिन्नक्रियानिवर्त्ती नामक ध्यान

द्वासप्ततिर्विलीयन्तेकर्मप्रकृतयो द्रुतम्
उपान्त्ये देवदेवस्य मुक्तिश्रीप्रतिबन्धकाः ॥ ५२ ॥
तस्मिन्नेव क्षणे साक्षादाविर्भवति निर्मलम् ।
समुच्छिन्नक्रियं ध्यानमयोगिपरमेष्ठिनः ॥ ५३ ॥ (ज्ञाना० अ० ४२)

अर्थ—श्रीमत् देवाधिदेव अर्हन्तदेव के अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान के उपान्त्य (अन्त समय के पहले) समय में मुक्तिलक्ष्मी की प्रतिबन्धक (बाधक) बहत्तर कर्म प्रकृतिया अतिशीघ्र क्षीण हो जाती हैं । उसी समय अर्थात् अयोगकेवली गुणस्थान के उपान्त्य समय मे अयोगकेवली भगवान् के निर्मल समुच्छिन्नक्रिया नामक शुक्लध्यान प्रकट होता है और अन्तिम समय तक रहता है।

भावार्थ–जिस ध्यान मे श्वासोच्छ्वास का प्रचार नष्ट हो जाता है, सम्पूर्ण शरीर,वचन व मन के योग नष्ट होजाने से आत्मा के सब प्रदेशो के परिस्पदन का अभाव हो-जाता है, उसका समुच्छिन्न क्रिय ध्यान कहते हैं । यह ध्यान अयोगकेवली के उपान्त्य(अन्त के पहले समय) मे होता है । उसी उपान्त्य समय मे [अयोगकेवली के साता असाता वेदनीय प्रकृति मे से एक प्रकृति, देवगति, औदारिक, वैक्रियिक आहारक, तैजसकार्मांण (शरीर बंधन, पाच सघात, छह सस्थान, औदारिक वैक्रियिक आहारक के अगोपाग, छहसहनन, पाच प्रशस्त और पांच वर्ण, दो गव, पाच प्रशस्त रस, और पाच अप्रशस्त रस, स्पर्श आठ, देवगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, गति, अपर्याप्तक, प्रत्येक शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ,अशुभ, दुर्भग, सुस्वर, दु.स्वर.अनादेय,अयश कीर्त्ति,निर्माणनाम,नीचगोत्र] का क्षय होता है । तथा अन्तिम समय मे–साता असाता वेदनीय मे मे एक प्रकृति, मनुष्यायु मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रियजाति, नुपूर्वी, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यश कीर्त्ति, तीर्थंकर नाम, उच्चगोत्र इन तेरह प्रकृतियो का विनाश होता है।

इस ध्यान के प्रभाव से वे अयोगकेवली भगवान् सम्पूर्ण कर्ममल से विमुक्त, अत्यन्त स्फटिक मणिवत् निर्मल, परमशान्त, निष्कलङ्क, निरायम और जन्म-मरण रूप ससार के दुर्निवार बन्ध के क्लेशो से रहित होजाते हैं । जिनका आत्मा सिद्ध और निष्पन्न अर्थात् ता को प्राप्त हो गया है, जो निरञ्जन–कर्मअञ्जन से रहित, क्रिया रहित है, शरीर रहित है, शुद्ध है, विकल्परहित है, और अत्यन्त जिनके यथाख्यात चारित्र पूर्ण हो गया है । अनन्तवीर्य प्रकट हो गया है । जिनके दर्शन और ज्ञान परमोत्कृष्टशुद्धि को प्राप्त हो योगों का अभाव होने से अयोगी हैं और केवल ज्ञान के उत्पन्न होने से केवली हैं, जिन्होने अपनी आत्मा को साध लिया है,

अपने (आत्मा के) स्वभाव को सिद्ध कर लिया है, अतः सिद्ध स्वभाव हैं, परमस्थान पर स्थित हैं, इसलिए परमेष्ठी हैं-ऐसे अयोगकेवली परमात्मा वन्धन से मुक्तहुए स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करते हैं, और लोक के अग्रभाग में अर्थात् लोक के अन्त मे जो तनुवातवलय है, उसके अन्तिम भाग मे जाकर विराजमान होते हैं।

शंका—कर्ममुक्त भगवान् के गमन के कोई कारण नहीं है, क्योकि जीव का गमन विहायोगति नाम कर्म के उदय से होता है। वह जिन भगवान के सर्वथा नष्ट हो गया है। फिर उनके गमन मे क्या कारण है, जिससे वे गमन करके लोक के अन्तभाग मे जाकर विराजमान होते हैं ?

समाधान—यद्यपि भगवान के गति कराने वाला विहायोगतिनामा नामकर्म नहीं है. तथापि निम्नोक्त पाँच कारणों से उनका गमन होता है। वही मोक्षशास्त्र, तत्त्वार्थसूत्र मे कहा है—

"पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च।"

अर्थात् जैसे कुम्हार के हाथ व दण्ड के संयोग से चाक का भ्रमण होता है किन्तु चाक के हाथ व दंडे का संयोग न रहने पर भी वह कुम्हार का चाक पूर्व संस्कार के वश कुछ देरतक घूमता रहता है। वैसे ही ससार अवस्था मे जीव ने मोक्ष की प्राप्ति के लिए बहुत बार प्रयत्न किया था उस प्रयत्न का अब अभाव होने पर भी पूर्व प्रयोग के कारण मुक्त जीव का गमन होता है। यह एक हेतु है। दूसरा हेतु है 'असंग' अर्थात्-जैसे मिट्टी से लिपटी हुई तुम्बी जल के ससर्ग स मिट्टी के दूर हो जाने पर निसग होने से पानी के ऊपर आजाती है, वैसे ही कर्म भार से दवा हुआ आत्मा कर्मवश नियम रहित ससार मे ऊँचा नीचा व तिरछा गमन किया करता था, अब कर्म सम्बन्ध न रहने से जीव ऊपर गमन करता है। तथा तीसरा हेतु है-बन्धन का छेदन।

जैसे-एरण्ड के बीज का कोश (ऊपर का छिलका) जब फट जाता है, तब उसका बीज ऊपर को उछलता है। वैसे ही मनुष्यादि पर्याय मे लेजाने वाले गति, जाति, शरीरादि सम्पूर्ण कर्मों का छेदन होने से जीव का ऊर्ध्व गमन होता है। चौथा हेतु यह है.-

जैसे-वायु के सम्बन्ध से रहित दीपक की शिखा स्वभाव से ऊपर को जाती है, वैसे ही कर्म सम्बन्ध से रहित मुक्तजीव भी स्वभाव से ऊपर की ओर गमन करते हैं। ऊर्ध्वगमन करने का उनका स्वभाव है। और स्वभाव मे तर्क नहीं होता है। जैसे अग्नि का स्वभाव उष्ण है, इसमें यह तर्क नहीं किया जाता कि अग्नि उष्ण क्यो है ? जल के समान शीतल क्यो नहीं 'स्वभावोऽतर्कगोचर' अर्थात् वस्तु के स्वभाव मे तर्क नहीं हो सकता।

शंका—मुक्तात्मा का ऊर्ध्वगमन करने का स्वभाव है, तो निरन्तर उसे ऊर्ध्वगमन करते रहना चाहिए। आपने तो उन की लोक के अग्रभाग में स्थिति मानी है सो कैसे ?

समाधान—प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिये दो कारणों की आवश्यकता होती है, एक अन्तरङ्ग और दूसरा बहिरंग। मुक्तात्मा के गमन रूप कार्य में अन्तरङ्ग कारण तो जीव का ऊर्ध्वगमन करने का स्वभाव है। और बहिरङ्ग कारण धर्म द्रव्य है, क्योंकि धर्म द्रव्य के निमित्त से जीव और पुद्गल गमन करते हैं। धर्म द्रव्य के अभाव में जीव गमन नहीं कर सकता। धर्म द्रव्य लोकान्त तक ही है, उस के आगे नहीं। तनुवातवलय के परे धर्म द्रव्य का अभाव होने से मुक्त जीव आगे गमन नहीं कर सकते, क्योंकि गति का बहिरङ्ग कारण नहीं है इसलिए मुक्तात्मा लोक के अग्रभाग में विराजमान रहते हैं।

इस प्रकार समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति नामा शुक्लध्यान का वर्णन किया।

यहां पर एक शंका उपस्थित होती है कि चित्त की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं। किन्तु जिसके मन द्वारा चिन्तन नहीं होता है, ऐसे केवली भगवान के ध्यान का सद्भाव कैसे कहा ?

समाधान—यद्यपि केवली भगवान के ध्यान नहीं होता है, तथापि उपचार से उनके ध्यान माना गया है। उपचार से ध्यान मानने का कारण यह है कि ध्यानकर्म-क्षय का साधक कारण है और कर्मक्षय तो केवली भगवान के भी होता है। इसलिए उनके उपचार से ध्यान माना गया है। तथा उनके द्रव्यमन विद्यमान है, इसलिए कर्म-क्षय रूप कार्य को देख कर उपचार से केवलियों के भी ध्यान मान लिया गया है।

व्युत्सर्ग तप

व्युत्सर्ग नाम त्याग का है। बाह्य और आभ्यन्तर उपधि के त्याग करने को व्युत्सर्ग कहते हैं यथा—

> दुविहो य विउस्सग्गो अब्भंतरबाहिरो मुणेयव्वो।
> अब्भंतरकोहादी बाहिरं खेत्तादियं दव्वं ॥२०९॥ मूला० पंचा०

अर्थ—परिग्रह के त्याग को व्युत्सर्ग कहते हैं। उसके दो भेद हैं—अभ्यन्तरपरिग्रहव्युत्सर्ग और बाह्यपरिग्रह व्युत्सर्ग क्रोधादि के त्याग को आभ्यन्तरपरिग्रहव्युत्सर्ग तथा क्षेत्रादि द्रव्य के त्याग को बाह्यपरिग्रहव्युत्सर्ग कहते हैं। इनका नाम अभ्यन्तरोपधित्याग और बाह्योपधिपरिग्रहत्याग भी है। उपधि का अर्थ परिग्रह है।

'अनुपात्तवस्तुत्यागो वाह्योपधिव्युत्सर्ग.' अर्थात् जो वस्तु आत्मा के एकत्व (अभेदपने) को प्राप्त नहीं है, आत्मा से भिन्न है, उसे वाह्य उपधि कहते हैं, उसके त्याग करने को वाह्योपधि व्युत्सर्ग कहते हैं।

"क्रोधादिभावनिवृत्तिरभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्ग" अर्थात् क्रोध मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, हास्य, रति, अरति, शोक, भय आदि दोषो की निवृत्ति (त्याग) को अभ्यन्तरउपधिव्युत्सर्ग कहते है। अथवा

"कायत्यागश्च नियतकालो यावज्जीवं वा" अर्थात् अभ्यन्तरउपधिव्युत्सर्ग नियतकाल (कालके परिमाण सहित) अथवा जीवन पर्यन्त शरीर का त्याग करना भी अभ्यन्तर उपधिव्युत्सर्ग है।

इसका आशय यह है कि शरीर का आत्मा से सन्निकट सम्बन्ध है,इसलिए इसे भी अभ्यन्तर उपधि कहा है। इसका अन्तर्मुहूर्त, एक पहर एक दिन, दोदिन, एक सप्ताह, एक पक्ष, एक मास, छह मास, बारह मास तक काल की अवधि लेकर शरीर से सर्वथा ममत्व के त्याग करने को नियतकाल (परिमित काल पर्यन्त) काय का त्याग नामक अभ्यन्तर उपधि व्युसर्ग कहा जाता है। तथा जीवन पर्यन्त शरीर से ममत्व के त्याग करने को यावज्जीवकाय त्याग नामक अभ्यन्तर व्युत्सर्ग माना गया है।

यह व्युत्सर्गतप निःसङ्गता (परवस्तु मे अनासक्ति) निर्भयता—जीवित रहने की आशा की निवृत्ति, दोषो का निराकरण, तथा मोक्ष मार्ग की भावना मे तत्पर रहने के लिए सेवन किया जाता है।

मूलाचार मे अन्तरङ्ग परिग्रह के चौदह भेद और बाह्य परिग्रह के दस भेद निम्नप्रकार कहे हैं —

चौदह प्रकार का अन्तरङ्ग परिग्रह—

मिच्छत्तवेदरागा तहेव हस्सादिया य छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया चोद्दस अब्भंतरा गंथा॥२१०॥ (मूला पञ्चा)

अर्थ–मिथ्यात्व, राग, द्वेष, वेद (स्त्रीवेद पुरुषवेद, नपुंसकवेद) हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा तथा क्रोध, मान, माया और लोभ–ये चौदह आभ्यंतर परिग्रह हैं। इनका त्याग करना आभ्यन्तरव्युत्सर्ग कहलाता है।

दश प्रकार का बाह्य परिग्रह—

खेत्तं वत्थु धणधण्णगदं दुपदचदुप्पदगदं च ।
जाणसयणासणाणि य कुप्पे भंडेसु दस होंति ॥२११॥ (मूला. पञ्चा)

अर्थ—धान्यादि के उत्पत्ति स्थान को 'क्षेत्र' कहते हैं । रहने के निवासस्थान घर हवेली महल बंगले आदि को 'वास्तु' कहते हैं । स्वर्ण चांदी, हीरा, मोती, माणिक आदि को 'धन' कहते हैं । शालि जो, गेहूं, ज्वार, मक्का, बाजरा, आदि को 'धान्य' कहते हैं । दासी, दास, नौकर, चाकर, आदि स्त्री पुरुष को द्विपद कहते हैं । गाय, भैंस, घोड़ा, हाथी, बैल आदि पशुओं को चतुष्पद (चौपाये) कहते हैं । रथ, गाड़ी, तांगे, मोटर, वायुयान आदि सवारी को यान कहते हैं । पलंग, शय्या, खाट, आदि सोने के साधन को शयन कहते हैं । कुरसी, कोच आदि बैठने के साधन को आसन कहते हैं । सूत के कपड़े ऊनी, वस्त्र, चन्दन आदि को कुप्य कहते हैं । सोने व चांदी के अतिरिक्त द्रव्य को भी कुप्य माना है । तथा लाटी संहिता में घृतादि पदार्थ को कुप्य कहा है । और राजवार्तिक में क्षौम (सूक्ष्म वस्त्र) कार्पास (सूती वस्त्र) कौशेय (रेशमी वस्त्र) तथा चन्दनादि को 'कुप्य' माना है, वस्तुत इन अर्थों में कुछ भी अन्तर नहीं प्रतीत होता है; क्योंकि सोने व चांदी से अतिरिक्त सब द्रव्य 'कुप्य' शब्द के अर्थ होते हैं । इसी प्रकार भाण्ड शब्द के अर्थमे भी भिन्न २ मत हैं । मूलाचार की टीका में 'भाण्ड' शब्द का अर्थ 'हींग मिरच आदि' किया है । ऐसा ही अर्थ भगवतीआराधना की संस्कृत टीकाओं में किया है लाटी संहिता में 'भाण्ड' शब्द का अर्थ भाजन (बर्त्तन) किया है । वह इस प्रकार है ।

कुप्यशब्दो घृताद्यर्थस्तद्भाण्डं भाजनानि वा । (सर्ग ६ श्लो० १०७)

अर्थात्—घृतादि पदार्थ को कुप्य कहते हैं और भाण्ड का अर्थ भाजन (पात्र) है ।

इस प्रकार चौदह प्रकार के अन्तरङ्ग और दश प्रकार के बाह्य परिग्रह के त्याग को व्युत्सर्ग तप मूलाचार में माना है । और राजवार्तिक मे परिमित काल तक तथा जीवन पर्यन्त शरीर के साथ ममत्व त्याग को भी व्युत्सर्ग माना है । इस का आशय यह है कि परिग्रह का त्याग तो महा व्रत मे ही हो गया है, इसलिए व्युत्सर्ग तप मे कायादि के ममत्व का त्याग करना ही श्रेष्ठ है ।

वीर्याचार का स्वरूप

अणुगूहियबलवीरिओ परक्कमदि जो जहुत्तमाउत्तो ।
जुंजदि य जहाथाणं विरियाचारोत्ति णादव्वो ॥ २१५ ॥ (मूला० पंचा०)

अर्थ—अपने बल और वीर्य को न छिपाते हुए जो मुनि आगमानुसार तपस्या और चारित्र मे उद्यमशील होकर उत्साह करते हैं तथा अपनी शारीरिक स्थिति के अनुसार आत्मा को तपस्या मे लगाते हैं, उसे वीर्याचार कहते हैं।

भावार्थ—आहार औषधि आदि से उत्पन्न हुई शारीरिक शक्ति को बल कहते हैं। वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से जन्य तथा सहनन की अपेक्षा रखने वाली स्थिरता और शरीर के अवयव हाथ पाव जघा कटि (कमर) स्कन्ध (कन्धे) आदि सुदृढ बन्धन की अपेक्षा करने वाले सामर्थ्य को वीर्य कहते हैं। उक्त बल और वीर्य को न छिपाकर जो मुनीश्वर शास्त्र विहित विधि के अनुसार, उत्साह पूर्वक, तीन प्रकार की अनुमति रहित, सत्रह प्रकार के सयम म अपनी शारीरिक स्थिति को ध्यान मे रखकर अपनी आत्मा को लगाता है, उसके वीर्याचार होता है।

इसका आशय यह है कि अपने बल और वीर्य के अनुसार तथा बाह्य परिस्थिति को ध्यान में रखकर सयम का अवश्य आचरण करना चाहिए। जो मुनि यथोक्त शारीरिक अन्तरग और बहिरग शक्ति के अनुसार सयम पालन में प्रमाद करता है, वह अमूल्य चिन्तामणि समान अवसर को हाथ से खोता है, तथा अपने आत्माके प्रति विश्वास घात करता है। इसलिए मुनीश्वरो को उचित है कि वे अपनी योग्यता के अनुसार तपस्या आदि को बढाते रहें, किन्तु शक्ति से अधिक तपस्या आदि को ग्रहण करने का दु:साहस भी न करें। जिस आचरण से आत्मा मे उत्साह बढता जावे वैसा ही आचरण करना चाहिए।

ऊपर तीन प्रकार की अनुमति का परिहार तथा सत्रह प्रकार के समय के पालन करने की बात कही है, उसे यथाक्रम से वर्णन करते हुए प्रथम तीन प्रकार की अनुमति का निरूपण करते हैं—

अनुमति के तीन भेद

पडिसेवा पडिसुणणं संवासो चेव अणुमदो तिविहा।
उद्दिट्ठं जदि भुंजदि भोगादि य होदि पडिसेवा ॥२१७॥ (मूला० पंचा०)

अर्थ—प्रति सेवा, प्रतिश्रवण और सवास इस प्रकार अनुमति के तीन भेद हैं। दाता ने पात्र का उद्देश करके आहारादिक बनाया अथवा वसतिका वा पिच्छी पुस्तक आदि उपकरण तैयार करवाया या मगवाया हो, और ऐसे आहारादि कोमुनि ग्रहण करे तथा उस उपकरणादि को स्वीकार करे तो उसके प्रतिसेवा नामक अनुमति दोष होता है।

उद्दिट्ठं जदि विचरदि पुव्वं पच्छाव होदि पडिसुणणा ।
सावज्जसंकिलिट्ठो ममत्तिभावो दु संवासो ॥ २१८ ॥ (मूला० पंचा०)

अर्थ—दाता पात्र को पहले ही कहदे कि मैंने आपके निमित्त प्रासुक आहारादि बनाया है, अथवा उपकरणादि तय्यार किया या करवाया है, उसे ग्रहण कीजिए। इस प्रकार सुनकर यदि साधु उस आहारादि का ग्रहण करले तो उससाधु के प्रतिश्रवण नामक अनुमति दोष होता है। अथवा पात्र को आहारादि अथवा उपकरणादि देकर दाता कहे कि यह आहारादि आपके निमित्त बनाया था, उसे आपने ग्रहण करलिया, अत. अब मुझे सन्तोष हुआ, ऐसा सुनकर चुप रहे अथवा संतोष धारण करले तो उसके प्रतिश्रवण नामक दूसरा अनुमति दोष होता है। जो साधु आहारादि तथा उपकरण के निमित्त सदा संक्लेश परिणाम करता हुआ गृहस्थो के साथ निवास करता है और उनमे ममेद 'भाव' (ममत्व भाव) करता है, उस के संवास नामक तीसरा अनुमति दोष होता है।

इस प्रकार अनुमति करने वाले साधु के यथोक्त बलवीर्य का आचरण नहीं होता है। उसने तो बलवीर्य को छिपाया है, इसलिए उसके वीर्याचार का सेवन नहीं होता है। अत वीर्याचार के आराधन करने वाले को उक्त तीन प्रकार की अनुमति का परिहार करना चाहिए।

सत्रह प्रकार का संयम

पुढविदगतेउवाऊवणप्फदी संजमो य बोधव्वो ।
विगतिगचदुपंचेंदिय अजीवकायेसु संजमणं ॥ २२० ॥
अप्पडिलेहं दुप्पडिलेहमुवेखवहट्टु संजमो चेव ।
मणवयणकायसंजमसत्तरसविधो दु णादव्वो ॥ २२१ ॥ (मूला० पचा०)

अर्थ—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, और वनस्पति कायिक इन पाँच स्थावरजीवो की रक्षा करना पांच प्रकार का सयम है तथा दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चोइन्द्रिय और पाचइन्द्रय इन चार प्रकार के त्रसजीवो की रक्षा करना चार प्रकार का सयम है। सूखे तृणआदि का छेदन न करना यह अजीवकायरक्षा नामक सयम है। ये दश प्रकार का सयम हुआ। शेष सात प्रकार का सयम निम्न प्रकार है—१ अप्रतिलेखसयम, २ दुःप्रतिलेखसयम, ३ उपेक्षा सयम, ४ अपहरणसयम, ५ मनःसयम, ६ वचनसयम और ७ काय-सयम।

(१) अप्रतिलेख-सयम—नेत्र से अथवा पिच्छी से किसी पदार्थ तथा पदार्थ के आधार भूत स्थान का देखना व शोधन करना, अप्रतिलेख-सयम है।

(२) दुःप्रतिलेख-सयम—यत्नपूर्वक प्रमादरहित होकर जीव रक्षा करते हुए वस्तु का प्रमार्जन करना दुःप्रतिलेख सयम है।

(३) उपेक्षा-सयम—प्रतिदिन उपकरण (पुस्तकादि) का निरीक्षण करना, पिच्छी से प्रमार्जन करना उपेक्षा-सयम है।

(४) अपहरण-सयम—उपकरणो से पचेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि जीवो को अन्य स्थान मे निक्षेपण न करना अपहरण-सयम है।

इसका आशय यह है कि कमण्डलु आदि मे कोई जीव आकर गिर पडे अथवा अन्दर घुसजावे तो उसकी रक्षा के निमित्त उसे यत्नपूर्वक अन्यत्र स्थापन करना दोषजनक नहीं है, किन्तु प्रमादवश या सहसा किसी जीव ने आकर अपना निवास स्थान बना लिया हो, उसको दूर करने से जीवबाधा प्रतीत होती हो तो उसे उस स्थान से पृथक् न करना चाहिए।

चारित्रसार मे अपहृत (अपहरण) सयम के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य तीन भेद बताये हैं। प्रासुक वसतिका और आहार मात्र बाह्य साधन की अपेक्षा रखने वाले, जिनके ज्ञान और चारित्र की क्रिया परतन्त्र है, अर्थात जो पुस्तक, कमण्डलु, पिच्छी, वसतिका आदि सयम के उपकरण की अपेक्षा रखने-वाले हैं, वो मुनीश्वर बाह्यजन्तु के आकर गिर जाने पर उन उपकरणादि को छोडकर जीवरक्षा के निमित्त आप स्वय अलग होजाते हैं, उनके उत्तम अपहृत सयम होता है। मृदु (अत्यन्त कोमल) उपकरण से मार्जन करके उन आगत जीवों को दूर करने वाले मुनि के मध्यम अपहृत सयम होता है। तथा दूसरे उपकरण की इच्छा मे पूर्व के उपकरणो को छोडनेवाले मुनि के जघन्य अपहृत सयम होता है।

उदर (पेट) मे उत्पन्न हुए कृमि आदि जन्तु का घात करने वाली औषधि का भी सेवन न करना अपहरण-सयम है। यदि किसी समय मुनीश्वर के उदर मे कृमि आदि उत्पन्न हो जावे तो मुनीश्वर किसी से कहते नहीं है। बिना कहे भोजन के समय विरेचन की औषधि यदि श्रावक दे देता है, और उससे कृमिविनाश की सभावना प्रतीत नहीं होती है, तो मुनीश्वर उदररोग के लिए उस विरेचक औषधि का ग्रहण कर सकते हैं।

(५) मन सयम—मन की कुप्रवृत्ति को-आत्मा के अहित कारक विचारो को रोकना मन. सयम है।

(६) वचन सयम—स्व व पर के अहित कारक तथा कटु, कठोरादि वचन का उच्चारण न करना बचन संयम है।

(७) कायसयम—हिंसादि दोष जनक कायजन्य क्रिया का परिहार करना कायसयम है।

इस प्रकार मुनीश्वरों को वीर्याचार का पालन करने के लिए उक्त १७ प्रकार के संयम का पालन करना चाहिए।

वीर्याचार के पालक मुनिराज उपसर्ग और परीषहो से भी कभी विचलित नहीं होते। उपसर्ग मनुष्यकृत, देवकृत तिर्यंचकृत और अचेतनकृत इस तरह चार प्रकार के होते हैं। इन उपसगो के उदाहरण प्रथमानुयोग के शास्त्रो मे पर्याप्त रूपसे मिलते हैं।

प्रश्न—उपसर्ग और परीषह मे क्या भेद है?

उत्तर—उपसर्ग आगन्तुक होते हैं और परीषह प्राकृतिक। भूख प्यास आदि की बाधा प्राकृतिक है, इसलिए ये परीषह कहलाती हैं। किन्तु कौरवो के भानजों ने पाडवो को तपस्या के समय जो लोहे के गर्म वख्तर पहनाये वह उपसर्ग था, यह मनुष्यकृत उपसर्ग का उदाहरण है।

परीषहो के बाईस भेद :—

(१) क्षुधा (२) तृषा (३) शीत (४) उष्ण (५) नग्नता (६) याचना (७) अरति (८) अलाभ (९) मच्छर आदि का काटना (१०) कुवचन सहन (११) रोग का दुःख (१२) शरीर का मल (१३) तृणादि का स्पर्श (१४) अज्ञान (१५) अदर्शन (१६) प्रज्ञा (१७) सत्कार पुरस्कार (१८) शय्या (१९) चर्या (२०) वध (२१) निषद्या (२२) स्त्री। इन २२ परिषहों को सहन करना चाहिये।

(१) क्षुधापरीषह जय—भूख की वेदना होने पर उसके वशवर्त्ती न होकर उसे सह लेना। जब मुनि को क्षुधा की वेदना होवे, इस प्रकार विचारना चाहिये कि—

हे जीव! तूने अनादि काल से ससार परिभ्रमण करके अनत पुद्गलो का भक्षण किया तोभी तेरी भूख नहीं गई। तूने नरक गति मे ऐसी तीव्र क्षुधा-वेदना सही कि जिसकी कोई उपमा नही है। अर्थात् तुझे वहा इतनी क्षुधा थी कि सुमेरु के पर्वत के बराबर अन्न राशि को खा जाय परन्तु फिर भी एक दाना भी नहीं मिल सकता था। मनुष्य, तिर्यंच गति मे, बदीगृह आदि मे पडे पडे बहुत बार क्षुधा सहन की। फिर अब मुनिव्रत को धारण करके क्यो इस अल्प वेदना से कायर बनता है? तुझे क्यों ऐसा दुखी होना चाहिये? अब तुझे अनत बार किये हुए भोजन की लालसा को त्याग कर ज्ञानामृत-आस्वादन-रूप भोजन करना चाहिये। इस प्रकार विचार कर क्षुधा जनित दुःख को सह लेना ही क्षुधा-परीषह-जय है।

(२) तृषा-परीषहजय—प्यास की असह्य वेदना के होने पर उसके वशीभूत न होकर उसे सह लेना ही तृषापरीषह-जय है। अतीव असह्य ग्रीष्म ऋतु मे गिरि के शिखर पर आरूढ़ मुनि के उपवास और ऋतु जन्य गर्मी की तीव्र उष्णता से घोर तृषा की वेदना होती है फिर भी वे धीर वीर होकर इस प्रकार विचारते हैं कि—

हे जीव ! तू ने ससार मे अनेक बार जन्म धारण कर अनेक गति मे अत्यन्त दु सह तृषा की वेदना जनित महान दु ख सहन किये हैं, नरक मे जब तू गया तब वहा पर ३३ सागर तक पीने के लिये एक पानी की बूद तक नहीं मिली है , फिर इस थोडी सी वेदना से कायर क्यो होता है ? इस प्रकार के विचारो से मुनि शान्ति रस का पानकर भूख की परीषह पर विजय प्राप्त करता है ।

३ शीतपरीषहजय—शीतऋतु मे सर्दी के कष्ट को सहना ही शीतपरिषहजय है । जिस समय शरीर मे सर्दी की वेदना होवे उस समय ऐसा विचारना चाहिए कि —

"हे जीव ! तूने उस छठे, सातवें नरक की भूमि का स्पर्श किया है, वहा पर सागरो पर्यन्त उस अत्यन्त भयकर शीत वेदना को सहा है , जिसकी तुलना मे यह वर्त्तमान शीत वेदना सुमेरु के सामने अणु के समान है । यदि तू उस महान उत्कृष्ट मुनिव्रत को धारण कर इसे जीतलेगा तो सदा के लिये तेरा इससे छुटकारा हो जायगा। यदि इसके सहने मे कायरता की तो फिर इससे भी महान दु·सह शीत वेदना इस ससार मे अनेक बार फिर सहना पडेगा, इस प्रकार शीत की वेदना को सहना ही शीतपरिषहजय है ।

४ उष्णपरीषहजय—गर्मी की भयकर वेदना को शान्त भाव से सहन करना ही उष्णपरीषहजय है । जिस समय समस्त ससार तप्त तवे के समान गर्म हो जाता है , समस्त जीव-जतु व्याकुल होकर घबरा जाते है, जगल के महा हिंसक जीव सिंह, व्याघ्र आदि तथा हिरण वगैरह पशु व्याकुलता के कारण वैर भावछोड कर एक स्थान म पडे रहते हैं, जलाशयो का जल सूख जाता है, तप्त लूओं के चलने से वृक्ष कुम्हला जाते हैं, ऐसे प्रचड ग्रीष्म काल मे मुनिजन वीरवीर होकर पर्वतो की उन्च शिखर की शिलाओं पर मेरु समान अचल स्थिर रहते हैं, और स्वसवेदन रूप ज्ञानामृत की धारा से उस उष्ण काल की वेदना का शमन करते हैं ।

५ नग्नपरिषहजय—जो समस्त परिग्रह का त्याग कर नग्न हो, तन्तुमात्र भी परिग्रह की चाह नहीं करते, सदा स्त्री पर्याय एवं अपने शरीर को मल मूत्र से भरे घट के समान समझ कर उनसे परम विरक्त रहते हुए अपने आत्म-स्वभाव मे लीन रहते हैं , जिन्होने ब्रह्मचर्य को ही अपना सर्वस्व समझा है , जो रेशम, ऊन, घास, वृक्ष, चर्मादि किसी भी प्रकार के वस्त्र न रख कर दशो दिशाओ को ही वस्त्र रूप समझ कर, सर्वत्र बालक के समान निर्विकार होकर गमन करते हैं , जिन के मन मे किसी प्रकार की कालिमा नहीं है , ऐसे मुनिराज ही नग्नपरिषहविजयी कहाते है ।

६ याच्ञा (याचना) परीषह-जय—किसी भी मनुष्य से किसी भी पदार्थ की याचना नहीं करना याच्ञा परीषह है । क्योकि याचना से ही सब ससारी जीव दीन बन रहे हैं । महा वैभव, ऋद्धि सम्पन्न,इन्द्र तथा चक्रवर्ती भी अभिलाषा वश रक हो रहे हैं । जैसे तीव्र गर्मी की ताप से वृक्ष का अत· सार नष्ट होकर वह सार रहित सूखा हुआ प्रतीत होता है । उसी प्रकार तपस्या द्वारा जिन्होने अपने शरीर

को शुष्क एवं अत्यन्त कृश कर दिया है, तथा इन्द्रिय और मन को पूर्ण वश कर लिया है, अत जो आहार न मिलने पर चाहे प्राणो को त्यागना भी पडे तो भी दीन भाव से कभी किसी श्रावक से याचना नहीं करते, परन्तु बिजली के समान अपने शरीर को दिखा मात्र देते हैं, सदैव सिंहवृत्ति को धारण करते हैं वे ही मुनि याचना परीषह पर विजय पाते हैं।

७ अरति-परीषह-जय—ससार के समस्त इष्ट और अनिष्ट पदार्थों मे ससारी जीव राग-द्वेष मान रहे हैं। किन्तु मुनिजनो ने सब प्रकार की सासारिक इच्छाओ को त्याग दिया है, अत मन्दिर, श्मसान, शहर-जगल, शत्रु-मित्र, कनक-पत्थर, सुख-दुःख आदि सभी पदार्थों मे समता भाव धारण किये रहते हैं सदा ध्यान, स्वाध्याय मे लीन रहते हैं, उन्हे कभी भी अनिष्ट पदार्थ का सयोग होने पर खेद नहीं होता। यही अरति-परीषह को जीतना कहलाता है।

८ अलाभ-परीषहजय—धीर वीर मुनिराज अनेक उपवास करते हैं, फिर पारणा के निमित्त दातारो के घरो मे जाते है, परन्तु अन्तराय कर्म का तीव्र उदय होने से उन्हें अहार का सयोग नही मिलता फिर भी वे रचमात्र भी खेदखिन्न नहीं होते, किन्तु लाभालाभ मे समान बुद्धि रखते हैं, मन, वचन और काय की गुप्तियों को पालते हुए सदा ज्ञानामृत भोजन मे तृप्त रहते हैं उसी को अपना अहार समझते हैं, भिक्षा नहीं-मिलने पर रच मात्र भी हताश नहीं होते, वे ही अलाभ को जीतने वाले कहलाते हैं।

९ दशमशक परीषहजय—डास और मच्छर आदि जानवरो द्वारा सताये जाने पर भी विचलित नहीं होना। इनकी बाधा को शान्त भावसे सहलेना। यहा दस, मसक से केवल डास और मच्छर ही न लेना किन्तु इसी तरह सताने वाले सर्प, बिच्छू, चीटी आदि से भी रीर मे बाधा होने पर किसी तरह विचलित न होना दस, मशक, परीषह का जीतना कहलाता है।

१० आक्रोश परीषहजय—मुनि की महादुर्धर नग्न दिगम्बर अवस्था को देखकर दुष्टजन उन्हें गालियाँ देते हैं, पत्थर तथा कडो की भयंकर चोट करते है, चोर, ठग, पाखडी, निर्लज्ज आदि कठोर शब्दो का प्रयोग कर हर प्रकार से निन्दा करते हैं, पर वे धीर निराज क्षमा रूपी ढाल को लेकर, किंचित् मात्र भी उनके दुर्वचन एवं शस्त्र प्रहार की चिंता नहीं करते, प्रत्युत अपने मन को आत्म-मनन लगाते हैं। कदाचित् कर्म निमित्त से उपयोग उस तरफ चला भी जावे तो उनका भला ही विचारते हैं, अरे। ये विचारे, गरीब, मेरे इस ड मास के पुतले शरीर को देख कर गाली देते हैं, अत ये मेरे निमित्त से व्यर्थ ही पाप बध कर रहे हैं, ये इस पाप से किस प्रकार , यह विचार मन मे रखकर उनको धर्म की ओर लगाने की चेष्टा करते हैं परन्तु उनका अनिष्ट कभी नहीं विचारते, उन मुनीश्वरो के कोश परीषहजय होता है।

११ रोग-परीषह-जय—यह शरीर मल मूत्र का पिटारा है, ऐसा समझ कर इसमे विरक्त हुए, मुनिश्वर ससार की अन्य

वस्तुओ के समान इसको भी अनित्य समझते है। उन्हें सिर्फ आत्मिक गुणों की ही परवाह है। अतः उनकी वृद्धि की ही उन्हें चिंता है। ऐसी अवस्था मे विरुद्ध आहार पान आदि की तीव्र शीतोष्णता से शरीर मे अनेक प्रकार की व्याधियाँ जैसे ज्वर-प्रकोप, वात विकार, चर्म-विकार, पित्त-कफ-विकार, उदर-रोग आदि हो जावे तो उनके दूर करने की रचमात्र भी फिकर नहीं करते। जल्लोपधि आदि ऋद्धियों के प्राप्त हो जाने पर उन रोगो का प्रतीकार करने की सामर्थ रखने पर भी उन्हें सहते हैं, ऐसे मुनिराज ही व्याधि परीषह को जीतते हैं।

१२ मल-परीषहजय—पृथ्वी कायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक, और वनस्पतिकायिक, तथा त्रसकायिक, इन षट् काय के जीवो की विराधना से मुनि दूर रहते हैं अत. वे स्नान क्रिया नहीं करते कारण कि स्नान करने से जीवों की विराधना होती है, और साधु होते हैं अहिंसा महाव्रती, छहकाय के जीवो की दया के पालक, अत. ऐसे दयालु ऋषि शरीर में पसीना आने से रज (धूल) बैठ जाय तो रचमात्र भी खेद नहीं करते, स्नान करने की इच्छा भी वो नहीं करते हैं, न विलेपन आदि करते हैं। इस परीषह के जय करने के लिये निम्न विचार करना चाहिए कि "हे जीव! यह शरीर इतना मलिन है कि सारे समुद्र के जल से भी धोया जावे तो भी पवित्र नहीं होता। और तू महा निर्मल, अमूर्त्तिक शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, तेरे साथ इन मूर्तिक पदार्थों का ससर्ग नहीं हो सकता, अत. इस पौद्गलिक देह से स्नेह छोड़ अपनी आत्मा में रमण कर।

१३ तृणस्पर्शपरीषह—जगत के जीव जरासी फास के लग जाने पर अपने मन में दुखी होते हैं, और उसके मिटाने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु मुनिराज इस प्रकार न करके तृण, कंटक, काच, फास, ककर आदि के शरीर या आखों में लग जाने पर भी खेदखिन्न नहीं होते, न उनके निकालने का प्रयत्न करते हैं, न अन्य से निकालने के लिये कहते हैं। ऐसे ही साधु इस परीषह को जीतते हैं।

१४ अज्ञान परीषहजय—ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से चिरकाल तक तपश्चर्या करने पर भी विशेष ज्ञान नहीं हो पाता। इस कारण यदि अन्य जन कहे कि तू मूर्ख है, अज्ञानी है, तब भी अपने चित्त मे मुनिराज रचमात्र भी खेद नहीं करते, प्रत्युत विचारते हैं कि "मेरे कर्म का तीव्र उदय है उससे ज्ञान नहीं होता", इस तरह वे सकल्प विकल्प नहीं करते हैं। यहीं अज्ञान परीषह जीतना कहलाता है।

१५ अदर्शन परीषह जय—समस्त ससारी जीव अपने प्रयोजन वश ही कार्य करते हैं। और प्रयोजन मे गडबडी होने पर मन मे दुख मानते हैं। परन्तु मैं रात दिन तप मे लीन रहता हूं, परम वैरागी हू, स्वाध्याय मे मन लगाता हूं, कषायो पर विजय पा चुका हूं, समस्त पदार्थो के स्वरूप का मुझे परिज्ञान है, अर्हंत सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, इन पाचो परमेष्ठियो मे तथा धर्म में दृढ़ विश्वास है, और चिर काल तक तपस्या की है तो भी मुझे अवधि-ज्ञान, मनः पर्यय ज्ञान व ऋद्धिया आदि प्राप्त नहीं हुई। क्या जैन दीक्षा या समय पालने का कोई फल नहीं होता? क्या मेरा तप पालन सब व्यर्थ ही जा रहा है? इस प्रकार के विचार दर्शन विशुद्धि के योग से उत्पन्न न होना ही अदर्शन परीषहजय कहा जाता है।

१६ प्रज्ञापरीषहजय—"मैंने अंग, पूर्व, प्रकीर्णक ज्ञान प्राप्त कर लिया, मेरे सामने प्रतिवादी ऐसे भागते है, जैसे सूर्य के प्रताप से अंधकार भाग जाता है। मै न्याय, व्याकरण तर्क, छंद, कला आगम, सिद्धान्त आदि शास्त्रो मे पारगत हू" इत्यादि अहकार पूर्ण भाव का न होना प्रज्ञापरीषह जय है।

१७ सत्कार पुरस्कार परीषहजय–देव, मनुष्य, तिर्यंच आदि सब ही जीव अपना आदर–सत्कार चाहते है, आदर करने वालो के प्रति मित्रभाव और नहीं करने वालो प्रति शत्रु के भाव रखते हैं। परन्तु मुनीश्वर सुरेन्द्रादिक महर्द्धिक देवो से सत्कार पाने पर भी अपने मन मे हर्ष नहीं करते। तथा ऐसा विचार नहीं करते हैं कि ये अविवेकी मूर्ख लोग क्यो नहीं मुझे नमस्कार करते है? मेरी पूजा क्यो नहीं करते? ढोगियो को तो पूजते फिरते है, व्यन्तर आदि मिथ्यादृष्टियो की भी पूजा करते है, ये मेरे लिये उठते भी नहीं है। मेरे प्रति भक्ति के परिणाम भी नही रखते है। इस प्रकार सत्कार पुरस्कार की भावना मे रहित जो मुनिराज होते हैं उनके सत्कार पुरस्कार परीषहजय होता है।

१८ शय्यापरीषहजय–स्वाध्याय, ध्यान एवं मार्गश्रम से जो खेद-खिन्न हो चुके हैं, फिर भी जो बहुत कम सोते हैं, और वह भी एक करवट ही। विषम, ककरीले कठोर, गर्म या ठडे स्थान का जिनको कोई विचार नहीं है। किसी लकडी या पत्थर की तरह, व्यन्तरादिकृत उपसर्ग आदि बाधाओ के उपस्थित होने पर भी शरीर को नहीं हिलाते, डुलाते, ऐसे सहनशील मुनियो के शय्या परीषह जय होती है।

१९ चर्या परीषहजय—अनशन, ऊनोदर आदि बाह्य प्रायश्चित आदि एव आभ्यन्तर तपो को धारण करने वाले निष्परिग्रही मुनीश्वर ककड, पत्थर, बालु, काच आदि से व्याप्त पृथ्वी पर जीवो की बाधा का परिहार करते हुए नगे चरणो से गमन करते हैं। और मार्ग चलने से जो खेद होता है उसे शान्त परिणामों से सहन करते है। यही चर्या परीषहजय कहा जाता है।

२० वधबंधनपरीषहजय— दुष्टो के द्वारा यदि वीतराग मुद्रा धारी तपस्वियो के शरीर मे तीक्ष्ण बाण, तलवार, मुद्गर, परशु, बन्दूक आदि से बाधा पहुँचाई जाय तो भी वे मुनि किन्चित् भी क्रोध नहीं करते, केवल अपने द्वारा पूर्व संचित किये हुए असाता वेदनीय कर्म का उदय समझ कर शरीर से ममत्व बुद्धि हटाकर अपनी आत्म-रक्षा (रत्नत्रय-रक्षा) मे तत्पर रहते हैं। ऐसे शान्त कषाय मुनिराज ही बन्धन परीषह को जीतने वाले कहलाते हैं।

२१ निषद्यापरीषह जय—निर्जन बनो में, (जहा सिंह, व्याघ्र, सार्दूल, भालू आदिहिंसक जीव है) व्यन्तर देवो के स्थानो मे, अंधकार युक्त पर्वतो की गुफा मे, सूने घर, स्मशान भूमि मे, वन मे, एक जगह बैठकर वीरासन, गोदूहन, पद्मासन, अर्द्ध पद्मासन, खड्गासन, मुर्दासन, मयूरासन, कुक्कटासन आदि आसनो से नियत काल तक स्थित रहकर जो ध्यान लगाते है। सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि भयानक जन्तुओ की गर्जना को सुन कर भी जिनका चित्त विचलित नहीं होता, कोई कितना भी उपसर्ग क्यो न करें परन्तु अपने आसन

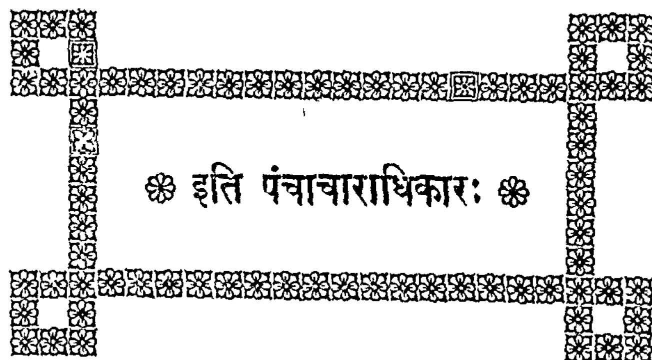
से चलायमान नहीं होते हैं,-अडिग रहते हैं। ऐसे मुनि निपद्यापरीपहजय होते हैं।

२२ स्त्री परीपह जय—जो महामनोहर रूपवाली देवागनाओं के समान स्त्रियो को देखकर भी विचलित नहीं होते, जिनके हृदय मे लेश मात्र भी विकार पैदा नहीं होता–ऐसे ही ब्रह्मचर्य के धारक धीर वीर मुनिराज स्त्री परीपह के जीतने वाले कहलाते हैं।

इन बाईस परीपहो को सहना मुनि के वीरत्व को प्रकट करता है। इस प्रकार वीर्याचार का वर्णन समाप्त हुआ।

उक्त प्रकार से सयम-प्रकाश के पूर्वार्द्ध की तृतीय किरण मे दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार तप-आचार और वीर्याचार नामक आचारो का वर्णन करते हुए पचाचार नामक अ




❀ इति पंचाचाराधिकारः ❀



मुद्रक:—

पं० श्रीप्रकाश शास्त्री,

श्री वीर प्रेस, मनिहारों का रास्ता, जयपुर।



श्री आचार्य सूर्यसागर दि० जैन ग्रन्थमाला

चतुर्थ पुष्प ।

—श्री १०८ दिगम्बर जैनाचार्य—

श्री सूर्यसागरजी महाराज विरचित

संयम-प्रकाश

पूर्वार्द्ध—चतुर्थ किरण

सम्पादक—
श्री पं० श्रीप्रकाश शास्त्री,
न्याय-काव्य-तीर्थ

सम्पादक—
श्री पं० भँवरलाल जैन,
न्यायतीर्थ

प्रकाशिका—
श्री आचार्य सूर्यसागर दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति,
जयपुर ।

प्रथम सस्करण
६५०

वीर सवत्
२४७२

मूल्य—
पूरे ग्रन्थ का १५) रुपया ।
चतुर्थ किरण का २||) रुपया ।

इस ग्रन्थ के
पूर्वार्द्ध की पञ्चम किरण
"बृहत्समाधि अधिकार"
शीघ्र ही प्रकाशित
हो रही है।



पुस्तक प्राप्ति—स्थान—
पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ,
मंत्री—श्री आचार्य सूर्यसागर दि० जैन ग्रन्थमाला समिति,
मनिहारों का रास्ता, जयपुर सिटी।

❋ विषय-सूची ❋

विषय	पृष्ठ सख्या
मङ्गलाचरण	५४१
भावना का महत्व	”
भावना शब्द का अर्थ और उसके भेद	५४२
बारह भावनाओ के नाम	५४३
अनित्य भावना	”
धन की अनित्यता	५४३
जीवन की अनित्यता	५४४
यौवन की अनित्यता	५४५
सब पदार्थों की अनित्यता	”
अशरण भावना	५४६
कर्मोदय की प्रबलता	५५०
शरण के भेद-प्रभेद	५५१
एकत्व भावना	५५२
एकत्व के भेद	”
प्रकारान्तर से एकत्व-भावना का स्वरूप	५५५
बन्धु आदि जीव के उपकारक नही	५५५
धर्म की प्रशंसा	५५६
ज्ञानवान को शरीर और धनादि में अनुराग क्यों नही होता ?	५५७
अन्यत्व भावना	५५८
अन्यत्व के ४ भेद	”
जीव से भिन्न अन्य वस्तु का स्वरूप	५५९
ससार में कौन किसका हुआ है ?	५६०
स्वजन व परजन का भेद	५६१
शत्रु व मित्र कौन है ?	५६२
संसारानुप्रेक्षा	५६३
संसार का स्वरूप	”
जीवो की अवस्था के भेद	”
(१) संसार	५६४
(२) असंसार	”
(३) नो ससार	”
(४) तत्त्रितय व्यपाय	”

विषय	पृष्ठ संख्या
चारों प्रकार के संसार का स्वरूप और उनका काल	५६४
पांच प्रकार का परिवर्तन	५६५
द्रव्य-परिवर्तन	५६५
क्षेत्र-परिवर्तन	५६७
काल-परिवर्तन	”
भाव का तात्पर्य	५६९
भाव-परिवर्तन का विस्तार पूर्वक वर्णन	”
भव-परिवर्तन	५७१
ससार मे जीव को सर्वत्र भय	५७२
जीव का चौरासी लाख योनियो में जन्म	५७३
संसार के छह भेद	५७४
संसार में दुःख ही दुःख	५७५
सांसारिक सुख के साथ दुःख	५७७
लोकानुप्रेक्षा	५७७
लोक के भेद	५७७
लोक का स्वरूप	५७८
लोक का आकार	”
वातवलयों के आधार पर लोक की स्थिति	५७९
अन्यमतों की अपेक्षा लोक का स्वरूप	५७९
सांख्य मत की अपेक्षा लोक का स्वरूप	५८०
सांख्यादि अन्यमतों का निराकरण	५८०

विषय	पृष्ठ संख्या
लोक के विभाग—	५५५
अधोलोक का वर्णन	”
निगोदिया जीवो का निवास	”
नरक पृथ्वियों का वर्णन	५८३
प्रथम पृथ्वी और उसके ३ विभाग	”
खर भाग की १६ पृथ्वियाँ	”
पंक भाग	”
अब्बहुल भाग	”
सातो नरको की मोटाई व रूढि नाम	”
नारकियो के शरीर की ऊंचाई	५८४
नरक मे ठंड और गर्मी	”
नारकियों के बिलों की स्थिति का प्रकार	५८५
नरक मे जन्म कौन लेता है ?	५८६
नारकों के उपपाद स्थानो का आकार व उनमे जन्म की दशा	५८७
नारकियो के दुःख	”
नारकियों की आयु व शरीर की ऊंचाई	”
नारक जीवो के अवधिज्ञान का क्षेत्र	५९१
नरक से निकले हुए जीवों का उत्पत्ति-क्रम	”
नरक मे गमन करने वाले जीवो का विभाग	”
नरक पृथ्वी मे जीवोत्पत्ति का अन्तर	”
भवनवासियों के आवास—	”
भवनवासी देवो के भेद	५९३
इन्द्रो मे परस्पर ईर्ष्या	”
भवनवासी देवो के चिह्न	”
भवनवासी देवो के भवनो की विशेषताएँ	”

विषय	पृष्ठ संख्या
व्यन्तरादि देवो के आवास-स्थान	५६४
देवो मे इन्द्र व प्रतीन्द्र का क्रम	"
इन्द्रो की सभा, सेना व देवागनाएँ	"
असुरादि देवो के श्वासोच्छ्वास तथा आहार का क्रम	५६५
देवो के शरीर का उत्सेध	"
व्यन्तर देव	५६६
व्यन्तरो के शरीर का वर्णन	"
व्यन्तरो के चैत्य वृक्ष	"
व्यन्तरो मे इन्द्र प्रतीन्द्र देवागना व सेना	"
व्यन्तरो के इन्द्रो के नगर	५६७
वाण व्यन्तरो के भेद, आवास स्थान और उनकी आयु	"
व्यन्तरो के निलय	५६८
व्यन्तरो के रहने के क्षेत्र	"
मध्यलोक	५६६
तिर्यक् लोक का वर्णन	"
जम्बूद्वीप का वर्णन	"
कुलाचलो का विस्तार और वर्णन	६००
कुलाचलो पर सरोवर	"
सरोवरों के मध्य कमल और उनपर सपरिवार देवियाँ	"
ह्रदो से नदियो का उद्गम	६०२
गङ्गा नदी के निकास व गमनादि	"
सिंधु " "	६०३
शेष नदियों का वर्णन	६०४
नदियों का विस्तार	६०५
भरतादि क्षेत्रो का विस्तार	"

विषय	पृष्ठ संख्या
विदेह क्षेत्र के मध्य मे स्थित मेरु का स्वरूप	६०६
अन्य चार मेरु पर्वत	"
सुमेरु पर्वत की चौडाई का क्रम	६०७
मेरु पर स्थित शिलाओं का वर्णन	६०८
जम्बू वृक्ष का वर्णन	"
विदेह क्षेत्र	६१०
वृषभाचल पर्वतों का वर्णन	६११
राजधानियों का वर्णन	६१२
नाभिगिरि का वर्णन	"
कूटों का वर्णन	"
कालचक्र का परिवर्तन	६१३
उत्सर्पिणी, अवसर्पिणीकाल और उनके ६ भेद	"
काल की अपेक्षा जीवो की आयु	"
कल्पवृक्षों के भेद	६१४
भोगभूमि का स्वरूप	६१५
कर्मभूमि के प्रवेश का अनुक्रम और कुलकरो की उत्पत्ति	"
कुलकरो का कार्य	६१६
तिरेसठशलाका के पुरुष	६१७
तीर्थंकरों के शरीरो की ऊँचाई व आयु का प्रमाण	"
तीर्थंकरों के अन्तराल	६१८
जिनधर्म का उच्छेदकाल	"
शक और कल्की की उत्पत्ति	६१६
नियत भोगभूमियाँ	"
कुभोग भूमि कहा कहा हैं ?	६२०
कुभोग भूमियो मे जन्म लेनेवाले जीव	"
धातकीखंड और पुष्करार्ध की रचना	६२१

विषय	पृष्ठ संख्या
लवण समुद्र के पाताल	६२१
अन्य द्वीप व समुद्र	६२२
समुद्रों के जल का रसास्वाद	६२३
ज्योतिष देवो का वर्णन	"
ज्योतिष देवों के विमाने	६२४
विमानो के आकार व वर्ण	"
ज्योतिष विमानो की गति	६२६
सूर्य व चन्द्रमा की संख्या	"
चन्द्रमा का विचरण क्षेत्र और वीथियाँ	६२७
ज्योतिषियो की आयु	६२८
ज्योतिष देवो की देवागनाएँ	"
ज्योतिष देवों मे उपपाद	"
उर्ध्वलोक	
उर्ध्वलोक का विस्तार	"
स्वर्गों मे इन्द्र-क्रम	६२९
नवग्रैवेयकादि वर्णन	"
प्रतर संख्या	"
विमानो की स्थिति	६३०
प्रकीर्णक विमानो की सख्या, विस्तार और वाहुल्य	६३१
विमानों का रंग	६३२
इन्द्र के निवास करने का विमान और उसका नाम	"
इन्द्रो के नगर	६३३
महादेवियाँ व विक्रिया परिवारादि का वर्णन	"
इन्द्र के आस्थान-मण्डप का स्वरूप	६३४
मानस्तम्भ और करण्डक	"

विषय	पृष्ठ संख्या
इन्द्र का उत्पत्ति गृह	६३५
कल्पवासिनी देवागनाओं के उत्पत्ति स्थान	"
देवो का प्रवीचार (काम सेवन)	"
वैमानिक देवो की विक्रिया, गमन-शक्ति और अवधिज्ञान	६३६
सौधर्मादि देवो के जन्म व मरण का विरह काल	"
इन्द्रादि का उत्कृष्ट विरहकाल	६३७
आभियोग्यादि अधम देव कैसी क्रिया व भावना से पर्याय पाते हैं	६३७
घातायुष्क की आयु	"
भवनत्रिक देवो मे घातायुष्क सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की आयु	६३८
लौकांतिक देवो का स्वरूप, अवस्थान आयु आदि का वर्णन	"
कल्पवासिनी देवियो की आयु का प्रमाण	६३९
गुणस्थान की अपेक्षा देवगति मे जन्म	"
देवो के जन्म का वृत्तान्त	६४०
देवादि की विभूति किनको प्राप्त होती है ?	६४१
ईषत्प्राग्भार नामक अष्टम पृथ्वी	"
अशुचि अनुप्रेक्षा	६४२
शरीरादि की अपवित्रता	६४२
शरीर का उपादान भी अशुचि है	५४३
शरीर की उत्पत्ति का क्रम	"
शुद्धि के भेद	"
लौकिक शुद्धि के ८ भेद और उनका स्वरूप	६४५
लोकोत्तर शुद्धि के ८ भेद और उनका स्वरूप	६४६
आस्रवानु प्रेक्षा	६४८
आस्रव का स्वरूप	"

विषय	पृष्ठ संख्या
मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग का स्वरूप	६४६
अनुकम्पा के तीन भेद और उनका स्वरूप	"
शुद्धोपयोग के भेद	६५१
मुनि का शुद्धोपयोग	६५१
गृहस्थ का शुद्धोपयोग	"
संवर भावना	६५२
संवर का स्वरूप	"
बंध का संक्षिप्त स्वरूप	"
१५ प्रमादों का कथन	६५३
इन्द्रिय के विषयों से विरक्ति	"
निर्जरानुप्रेक्षा	६५४
निर्जरा के २ भेद व उनका स्वरूप	६५५
धर्मानुप्रेक्षा	६५६
धर्म का स्वरूप	"
दशलक्षण धर्म	"
उत्तम क्षमा	६५७
उत्तम मार्दव	६६०
उत्तम आर्जव	६६३
उत्तम शौच	६६४
लोभ के भेद और उनका स्वरूप	"

विषय	पृष्ठ संख्या
उत्तम सत्य	६६६
सत्य के दश भेद	६६७
उत्तम सयम	६६८
सयम के भेद और उनका स्वरूप	"
संयमी का निवास	"
उत्तम तप	६६९
उत्तम आकिञ्चन्य	"
उत्तम ब्रह्मचर्य	"
बोधिदुर्लभ भावना	६७०
मनुष्य-जन्म कितना दुर्लभ है	"
अनगार-भावना अधिकार	६७२
१ लिङ्ग शुद्धि	६७२
दीक्षा योग्य पात्र	६७३
पात्र के सम्बन्ध मे विभिन्न शास्त्रो का उद्धरण	६७४
शूद्रो के पात्र की अपेक्षा भेद	६७५
दीक्षा लेकर कैसी अवस्था धारण करे	६७७
लिङ्गशुद्धि आयतन है	"
लिङ्गशुद्धि को प्रतिमा रूप से वर्णन	६७८
लिङ्गशुद्धि से लाभ	"
२ व्रत शुद्धि	६७९
३ वसतिका शुद्धि	६८०

विषय	पृष्ठ संख्या
भयानक वन मे मुनि का निवास	६८१
४ विहार शुद्धि	६८२
मुनि की पापभीरुता	,,
५ भिक्षा शुद्धि	६८४
भिक्षार्थ पर्यटन विधि	६८४
६ ज्ञान-शुद्धि	६८७
विद्वान् साधु कैसे होते हैं	६८९
७ उज्झन शुद्धि	६९०
उज्झन शुद्धि के ४ भेद और उनका स्वरूप	६९१
व्याधि उत्पन्न होने पर मुनि क्या करते हैं	,,
८ वाक्य शुद्धि	६९४
वचन प्रयोग	,,
लौकिक कथा निषेध	६९५
९ तप शुद्धि	६९८
कायक्लेश तप	
अभ्रावकाश योग	,,
आतपन-योग	,,
वृक्षमूल-योग	६९९
वचन-जन्य क्लेशतप	७००
शस्त्रादि प्रहार को सहने की क्षमता	,,

विषय	पृष्ठ संख्या
१० ध्यान शुद्धि	७०१
इन्द्रिय विजय	,,
इन्द्रिय-विजय से ही ध्यान सिद्धि होती है	७०२
मुनियों के पुलाकादि भेद और उनका सयमादि आठ अनुयोगों द्वारा वर्णन	७०३
लिंगकल्प के चार भेद	७०५
प्रतिलेखन (मयूरपिच्छिका) का स्वरूप	,,
प्रतिलेखन मे आवश्यक पाँच गुण	७०८
मयूरपिच्छि का ही प्रतिलेखन क्यों ?	७०९
दश प्रकार का श्रमण-कल्प	७११
भाव श्रमण बनने का उपदेश	७१२
भिक्षा शुद्धि कब होती है ?	७१३
क्या मुनि आदर के भूखे हैं ?	७१४
मुनि के ठहरने योग्य स्थान	,,
दुर्जन-संसर्ग त्याग	७१५
पापश्रमण का लक्षण	७१६
शास्त्र स्वाध्याय का महत्त्व	७१८
भेद चिन्तन	७१९
राग द्वेषादि का त्याग	७२०
पदार्थों से विरक्ति	,,
इन्द्रियों पर विजय	७२१
मैथुनेन्द्रिय विजय	,,
स्पर्शनेन्द्रिय विजय	,,
स्त्री-स्वरूप चिन्तन-त्याग	,,
ब्रह्मचर्य के भेद	७२३

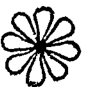
विषय	पृष्ठ संख्या
ब्रह्मचर्य रक्षार्थ दश दोषो से बचना	७२४
यति के दो प्रकार का त्याग	७२५
शील निरूपण	७२६
शील के १८००० भेदों का वर्णन	७२७
चौरासी लाख उत्तर गुण	,,
हिंसादि २१ भेद	७२८
शील विराधना के १० भेद	,,
आकम्पित आदि १० आलोचना के दोष	७२६
प्रायश्चित्त के दश भेद	,,

विषय	पृष्ठ संख्या
शील और उत्तर गुणों के विशद ज्ञान के लि ५ प्रकार	७२६
शील व गुणो की सख्या निकालने का नियम	७३०
प्रस्तार का उत्पत्ति क्रम	,,
सम प्रस्तार	७३१
विषम प्रस्तार	,,
अक्षसक्रमण का नियम	७३२
नष्ट निकालने की विधि	७३३
उद्दिष्ट का विधान	,,
पूर्वार्द्ध चतुर्थ किरण की समाप्ति	७३५

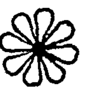


आगे बृहत्समाधि अधिकार देखो





अथ भावनाधिकारः



संयम—प्रकाश

पूर्वार्द्ध—चतुर्थ किरण

भावनाधिकार

❀ मङ्गलाचरण ❀

श्रीपतिं बोधिदं नत्वा, नाभेयादिजिनेश्वरम् ।
यतेर्भावं प्रवक्ष्यामि, प्रशमामृतवर्षिणम् ॥१॥

भावना का महत्व

प्रत्येक प्राणी का उत्थान और पतन उसकी भावनाओ पर निर्भर है। सद्भावनाओ से वह ऊँचा उठता है और असद्भावनाओं से वह नीचे गिरता है। भावना का उत्थान ही मनुष्य का उत्थान है और सद्भावना से गिरना ही मनुष्यत्व का पतन है। वास्तव मे देखा जाय तो भाव के अतिरिक्त मनुष्य और है भी क्या? मनुष्य भावनामय ही तो है। जीवन-निर्माण मे भावना का कम महत्व नहीं है। तीर्थंकर-प्रकृति ऐसे महान पुण्य का वन्ध भावना से ही होता है इसी से हम उसकी उपयोगिता और महत्व अच्छी तरह समझ सकते हैं।

भावना से पदार्थ की वास्तविक स्थिति मनुष्य के सामने आ जाती है। जब विवेकी मनुष्य अनित्य, अशरण आदि की भावना-अभ्यास—करता है तब उसे ससार, शरीर, भोग आदि की अस्थिरता एव हेयता स्पष्ट प्रतीत होने लगती है। इसीलिए कहा गया है कि अपने आत्मा का हित चाहने वाले भव्यो को अनित्य आदि द्वादश भावनाओ को अपने जीवन मे उतारना चाहिए।

सच्चे मनुष्यत्व का निर्माण करना है तो भावनाओ को जीवन मे उतारो। अक्षय सुख की प्राप्ति चाहते हो तो भावनाओ का अवलम्बन लो।

'भावना भव-नाशिनी ।'

भावना भव का नाश करने वाली है । यदि भव (ससार) को नष्ट करना चाहते हो तो भावनामय बनो । भावनामय बनने-भावनाओ मे घुल-मिल जाने—मे ही मनुष्य का कल्याण है । ज्यो ज्यो भावनाएँ दृढ़ होती जाती है त्यो-त्यो वह आगे बढ़ता जाता है और आत्मिक अक्षय सुख के निकट पहुँच जाता है ।

कोई योगी-जीवन यदि भावना-हीन व्यतीत हो तो उसे योगी-जीवन कहना सङ्गत नहीं । योगी-पद पर प्रतिष्ठित होने के लिए जो भी कुछ विशेपता या महत्ता आनी चाहिए वह भावना के बिना आ ही नहीं सकती । योगी ने ससार, शरीर आदि को अनित्य और अशरण समझ कर ही तो छोडा है। यदि वह उन भावनाओ को जीवन मे दृढ़ न करे, तो उसकी फिर ससार और शरीर मे आसक्ति हो सकती है । और यदि ऐसा हुआ तब तो उसका घोर पतन हो जायगा । इसलिए उसे बहुत ही संभल कर रहना होगा। योग और क्षेम दोनों को साथ लेकर चलना होगा । जो अनिश्चलता अप्राप्त है उसे पाना और पाई हुई अनिश्चलता की रक्षा करना यही मुनि का योग-क्षेम है । भावनाओ से ही वह इन दोनो चीजों को पाता है । भावनाएँ न हो तो न पाया हुआ कुछ भी शुभ कभी भी प्राप्त न हो सकेगा और तब प्राप्त की रक्षा भी असभव ही रहेगी ।

मुनि, यदि वस्तुतः वह मुनि है तो उत्तरोत्तर बढता ही जाता है । वह धर्म्य से आर्त्त-रौद्र मे नही आता । उसका प्रयत्न धर्म्य से शुक्ल मे जाने का होता है । वह पूरे आदर्श को पाना चाहता है । अपूर्ण मनुष्यत्व को नष्ट कर पूर्ण मनुष्यत्व को पा लेना ही उसका ध्येय होता है और वह भावनाओ के द्वारा अपने इस ध्येय की पूर्ति मे सफल होता है । यह भावनाएँ धर्म्य-ध्यान रूप तो है ही, किन्तु आगे जाकर यही शुक्ल-ध्यान का आकार भी ग्रहण करती हैं । शुक्ल-ध्यान मे जो कर्मों के क्षय करने की शक्ति मानी गई है वह भावनाओ के बिना कैसे प्राप्त हो सकती है ? अत: यह सिद्ध है कि योगी की सफलता का मुख्य कारण उसकी भावनाएँ ही होती है। अतएव योगियो के आचार-शास्त्र मे भावनाओ का वर्णन बहुत ही आवश्यक समझ कर वैराग्य की जननी बारह भावनाओ का वर्णन यहाँ किया जाता है ।

भावना शब्द का अर्थ और उसके भेद ।

भावना का अर्थ है एक प्रकार का अभ्यास । वैराग्य की स्थिरता और प्रशम-सुख की वृद्धि के लिए बारह प्रकार के अभ्यास उपयोगी बताये गये है । मूलाचार मे लिखा है :—

बारह भावनाओं के नाम

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णत्तसंसारलोगमसुचित्तं ।
आसव-संवर-णिज्जर-धम्मं बोधिं च चिंतिज्जो ॥ २ ॥

अर्थात्—(१) अनित्य, (२) अशरण, (३) एकत्व, (४) अन्यत्व, (५) संसार, (६) लोक, (७) अशुचि, (८) आस्रव, (९) संवर, (१०) निर्जरा, (११) धर्म और (१२) बोधि-दुर्लभ—यह बारह भावनाएँ हैं। इनका निरन्तर चिन्तन-अभ्यास-करना चाहिए।

अनित्य-भावना।

नित्य का अर्थ है हमेशा रहने वाली वस्तु। और अनित्य का अर्थ है विनाशमान। प्रत्येक वस्तु द्रव्य-दृष्टि से नित्य होते हुए भी पर्यायापेक्षया अनित्य है। साधारण रूप से दुनियाँ की दृष्टि वस्तु के जिस रूप पर पड़ती है वह उसकी पर्याय है और वह अनित्य है। दिखने वाली कोई पर्याय—वस्तु की कोई स्थिति, कोई रूप—नित्य नहीं। प्रतिक्षण वस्तु की कोई दूसरी ही स्थिति, कोई दूसरा ही रूप होता है। फिर भी यह मूर्ख प्राणी उसे नित्य समझ कर प्रेम करता है और स्वभाववश उसका विनाश होते देख दुःखी होता है। उसके वियोग में छटपटाता है। जब नाश होना वस्तु का स्वभाव है, धर्म है, तब उसके लिए खिन्न क्यों होना? किन्तु देखा यही जाता है कि प्रत्येक संसारी प्राणी, जिसे सम्यग्ज्ञान नहीं हुआ है, अपनी इष्ट वस्तु का वियोग देखकर दुःखी होता है, सुनहरी जवानी पूरी होकर बुढ़ापा आ जाता है तो रोता है, अपने जीवन की अन्तिम घड़ियाँ समीप आ जाती हैं तो विलाप करता है, पुत्र आदि किसी निकट सम्बन्धी की मृत्यु हो जाती है तो करुण-क्रन्दन मचाता है। इस दुःख से बचने का और कोई उपाय नहीं। एक अनित्यता की भावना ही ऐसी है जो वियोग के दुःख को सहने की क्षमता प्रदान करती है और अनन्त दुःखमय संसार में भी अव्याकुल होकर सुख और शान्ति के साथ जीवन बिताने की कला सिखलाती है।

अज्ञानी मनुष्य दुनियाँ के मोह में पड़कर अपने आपको भूलता है। क्षणिक वस्तुओं से नाता जोड़कर उनकी प्राप्ति का अभिमान करता है और उनके वियोग में क्लेश उठाता है। किन्तु ज्ञानी-मनुष्य वस्तु-स्थिति का अनुभव कर दुनियाँ से मोह तोड़ता है और आत्मा से प्रेम जोड़ता है। अनित्य-भावना इस अभ्यास को दृढ बनाती है और बढ़ाती है। यही इसकी उपयोगिता है और इसी से यह योगी-जीवन का मूल मानी जाती है।

धन की अनित्यता का विचार

अज्ञानी प्राणी थोड़ा-सा धन पा लेता है तो अभिमान से फूला नहीं समाता। वह अपने आपकी स्थिति को भूल जाता है।

मदिरा को पीने पर नशा चढा करता है किन्तु धन को पा लेने मात्र से ही उसमे उससे भी हजार गुणा पागलपन आ जाता है। उसे एक ऐसा
रोग उत्पन्न हो जाता है जिससे आँख होते हुए भी वह देखता नहीं,कान होते हुए भी सुनता नहीं और मुँह होते हुए भी बोलता नहीं। वह धर्म-
कर्म छोड देता है, व्यसनी बन जाता है। पर यह कभी नहीं सोचता कि यह लक्ष्मी कितने समय टिकने वाली है? यह तो चञ्चला है,आज तक
किसी के पास नहीं टिकी। पुण्योदय से यदि इसका समागम हुआ है तो मै इसे शुभ कार्यों मे खर्च करके इससे पुण्य की नवीन ज्योति
प्रकाशित करूँ। वह उसे पाप के कार्यों मे खर्च कर अपने आगे के मार्ग मे काटे बोता है या यह मुझे बाद मे काम आवेगी -इस विश्वास से
ठगाया जाकर गुलाम की तरह उसकी रक्षा मे लगा रहता है। अन्त मे उसे अपना या लक्ष्मी का वियोग होते देख दु खी होना पडता है और
रोना पडता है। आर्त्त-ध्यान से प्राण गँवाने पड़ते हैं। किन्तु ज्ञानी को, लक्ष्मी की अनित्यता का अनुभव करने वाले को, इस प्रकार का दुःख
नहीं होता। न उसे लोभ सताता है, न तृष्णा। न वह मद से उद्धत होता है और न इसके लिए दूसरो को सताता ही है। वह अस्थायी सम्पत्ति
से स्थायी स्वार्थ सिद्ध करता है। सत्कार्यों मे उसका उपयोग कर स्व-पर हित साधन करता है।

जीवन की अनित्यता

इस जगत् मे किसी का जीवन स्थिर नही। कोई राजा हो चाहे रङ्क, धनी हो चाहे निधन, मूर्ख हो चाहे विद्वान्, सबल हो
चाहे निर्बल, जिसने भी यहाँ जन्म लिया है उसे एक न एक दिन मरना होगा। भरत आदि अतुल बल और वैभवशाली चक्रवर्ती हुए, पर
आज उनका कहीं पता नहीं। अभिमानी रावण मारा गया, उसे मारने वाले रामचन्द्र भी न रहे। कौरव-पाण्डवो की कितनी प्रसिद्धि थी, पर
आज उनके अस्तित्व का कहीं पता नहीं। जब बडो-बडो की ही यह दशा है तब बेचारे साधारण मनुष्यो का तो यहाँ टिकाव हो ही कैसे
सकता है? ससार मे मृत्यु जैसा कोई निश्चित पदार्थ नहीं। वह हर एक के लिए अनिवार्य है। वह कब आवेगी यह कोई नहीं जानता, पर यह
सबको मानना ही होगा कि वह अवश्य आएगी। आज आवे, कल आवे १०-२० वर्ष मे आवे, या अभी आ जाय, उसे कोई रोक नहीं
सकता। अनन्त भूतकाल से अब तक मनुष्य ने उसको रोकने के लिए बहुत-बहुत प्रयत्न किये हैं, लेकिन उसने सभी को पछाडा है। ऐसा
ज्ञात होता है कि वह कभी न हारेगी। क्योकि वह वस्तु का स्वभाव है। जन्म के साथ मृत्यु लगी हुई है। जन्म लेने के दूसरे क्षण से ही मृत्यु
प्रारम्भ हो जाती है। आयु के क्षण पूरे होते जाते है, मृत्यु नजदीक आती जाती है। जिसे हम 'मृत्यु' कहते हैं वह तो उसका स्थूल रूप है।
आवीचिमरण सदा ही होता रहता है। जैसे छेद वाले घडे मे से थोडा-थोडा पानी हमेशा निकलता रहता है और इसी से थोडे समय मे वह
बिल्कुल रीता दिखाई देने लगता है वैसा ही हाल हमारे जीवन का है। प्रतिक्षण खिरने वाले आयु के निषेक जब पूरे हो जाते हैं तब हम
समझते है कि हमारी मृत्यु आ गई। पर यह भ्रम है। हमारा जीवन तो फूटे घडे के जल की तरह प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है, वह स्थिर है ही
कहाँ? उसका व्यर्थ व्यय यदि विचारणीय है तो उस पर प्रारम्भ से ही विचार करना चाहिए। अन्त मे उसका उपयोग करने के लिए कोई

चाहे कितना ही प्रयत्न करे कोई लाभ नहीं हो सकता। बीता हुआ जीवन वापिस नहीं आ सकता। अत. अनित्य जीवन से नित्य (हमेशा रहने वाले) धर्म का सञ्चय करना है तो प्रारम्भ से ही करना चाहिए। यही बुद्धिमानी है। ऊपर हम समझा आए हैं कि जीवन हमेशा किसी का भी स्थिर नहीं रहता और थोडे समय स्थिर रहने का भी कुछ भरोसा नहीं। क्या पता अभी आगे का श्वास भी आवे या न आवे। पर्वत की चोटी पर, जहाँ चारो ओर से जोर की हवा के झोके आया करते हैं, तेल के वल से जलने वाले तुच्छ दीपक का थोडी भी देर तक जलते रहना आश्चर्य है। बुझ जाना आश्चर्य नहीं। उसी प्रकार रोगादि की अनेक बाधा-ग्रस्त इस जीवन का थोडे भी समय टिका रहना आश्चर्य है। विनाश आश्चर्य की चीज नहीं है। हमारा यह जीवन-मनुष्यादि पर्याय-पौद्गलिक शरीर के सहारे टिका हुआ है और वह प्रतिक्षण नश्वर है। तब यह जीवन नित्य कैसे हो सकता है?

यौवन की अनित्यता

जब जीवन का ही यह हाल है तब उसी के बीच मे प्राप्त होने वाले यौवन को स्थिर मानना नितान्त भ्रम और मूर्खता ही है। सूर्य प्रात काल उगता है, अपनी सहस्र किरणो को विस्तृत कर मध्याह्न मे तेजी दिखाता है पर थोडी ही देर में सायकाल आ पहुँचता है। न उसकी वह तेजी रहती है और न स्वय उसका ही यहाँ अस्तित्व रहता है। जीवन मे यही हाल यौवन का है। वह तो चार दिन की चाँदनी है। बाद मे अँधेरा ही अँधेरा। पर्वत मे गिरने वाले नाले के पानी की तरह यौवन मे स्थिरता है ही कहाँ? आया और गया। यौवन के भोग चिरकाल तक नहीं टिक सकते। उनके साथ अनेक विपत्तियाँ लगी हुई हैं। 'भोगे रोग-भयम्।' भोगो की ओर झुको, रोग आ सतावेंगे। अत यौवन के मद मे अपने आपको भूलने वाला मनुष्य यह देखे कि मेरा यह अभिमान कितने दिन चल सकेगा? सामने व्याघ्री की तरह ताक लगाये मौत की छोटी बहन जरा खडी है, इससे मेरा छुटकारा कैसे होगा? आज जिन बुड्ढो का मैं उपहास करता हूँ क्या शीघ्र वही दशा मेरी होने वाली नहीं है? ओह! वह झुकी हुई कमर, झुर्रियाँ पडा हुआ शिथिल शरीर, पोपला मुँह, बहरे कान, गीड भरी हुई पानी झरने वाली आँखें, लड़खडाते हुए पैर, वेग-शून्य गति, आदर रहित व्यक्तित्व मेरे से कितने कम दूर है? यदि दीवानी जवानी के वशीभूत हो मैंने अपने कर्तव्य को छोड दिया, दूर पर उसे खडे रहने का उचित प्रबन्ध न किया तो वह और भी शीघ्रता से मेरे नजदीक आ जावेगी और तब सारा दीवानापन अपने आप दूर हो जायगा। वास्तव मे यौवन के नशे मे अपने आपको—अपने आत्मा को और अपने कर्तव्य को—भूलने वाला मनुष्य ज्ञानी नहीं। ज्ञानी वही है जो इसे अनित्य अनुभव कर परमार्थ साधन करता है और आगे के लिए जन्म-मरण को जीत लेता है।

सब की अनित्यता

ऊपर धन. जीवन और यौवन की अनित्यता मुख्य रूप से बताई गई है, क्योकि बहुधा इन्हीं के मोह मे फँस कर प्राणी अपने

आपका बहुत कुछ अहित करता है। किन्तु वस्तु-स्थिति पर विचार करने से तो यहाँ कोई भी वस्तु नित्य नहीं,जैसा कि पहले कहा जा चुका है। यह सारा ससार-ससार की सभी वस्तुएँ अनित्य हैं। ससार का अर्थ ही यही है, जो अनित्य हो, सदा एक-सा न रहे। यदि कहीं परिवर्तन नहीं तब तो वह ससार ही नहीं। सब वस्तुओ की अनित्यता का विचार कर श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना मे कहते हैं :—

लोगो विलीयदि इमो फेणोव्व स-देव-माणुस-तिरिक्खो।
रिद्धीओ सव्वाओ सिविणय-संदंसण-समाओ ॥ १७१६ ॥ (भग. आ.)

जैसे पानी के भाग या बुद्बुदे की स्थिति टिकाऊ नहीं, क्षणिक है-वह देखते-देखते नष्ट हो जाती है वैसे ही देव, मनुष्य और तिर्यंचो से भरे हुए इस लोक की स्थिति भी विनाशमान है। यहाँ मनुष्य और तिर्यंचो का ही नहीं, देवो का शरीर भी अनित्य है। हाथी, घोडे, रथ, पयादे, राज-भवन, छत्र, सिंहासनादि सब विभूतियाँ भी स्वप्न-दर्शनोपम हैं। स्वप्न की तरह जीवन के कुछ क्षणो मे तो दिखती हैं और फिर सर्वदा के लिए लुप्त हो जाती हैं।

विज्जूव चञ्चलाइं दिट्ठपणट्ठाइं सव्व-सोक्खाइं।
जल-बुब्बुदोव्व अधुवाणि हुंति सव्वाणि ठाणाणि ॥ १७१७ ॥ (भग आ)

ससार के समस्त सुख-पचेन्द्रिय जनित सुख बिजली के समान चञ्चल हैं-एक बार दिखे और नष्ट हुए। कोमल स्पर्शवाली शय्या, सुस्वादु भोजन-पान, सुगन्धित इत्र, सुन्दर दृश्य, मनोहर गायन आदि भोग क्या स्थायी हैं? क्या जीव को ससार मे सर्वदा मिल सकते हैं? पूर्व पुण्य से कोई सुख-सामग्री मिलती है तो वह सदा कहाँ रहती है? इस जीवन की सामग्री आगे के जीवन मे तो कभी साथ जाती ही नहीं। उसमे यहाँ भी आसक्ति उत्पन्न हुई तो वियोग का दु ख और आगे सुख के स्थान मे महा दु.ख। इसलिए सासारिक सभी सुख सामग्रियो की अनित्यता पर ध्यान दो। यह ग्राम, नगर, महल, मकान कोई भी सदा तुम्हारे रहने वाले नहीं। यह घर मेरा है, मैं यहाँ रहता हूँ, हमेशा रहूँगा- ऐसा कभी मत सोचो। इनमे स्थायिता का अभिमान तुम्हें इनके वियोग मे ममवेधी पीडा देगा। इसलिए जल-बुद्बुदोपम यह अनित्य हैं तो इनको अनित्य ही समझो।

णावागदाव बहुगइ-पधाविदा हुंति सव्व-संबंधी।
सव्वेसिमासया वि अणिच्चा जह अब्भसंघाया ॥ १७१८ ॥ (भग. आ.)

दुनियाँ का कोई सम्बन्ध सदा रहने वाला नहीं। नदी को पार करते समय जिस प्रकार नाव मे अनेक देशो के अनेक यात्री आ बैठते है, थोडी देर एक साथ रहते हैं और किनारा आते ही उतर कर अपने अपने मार्ग की सुध लेते हैं वैसे ही कुटुम्ब की दशा है। एक कुल रूपी नाव मे अनेक यात्रियो की तरह कुटुम्ब के अनेक लोग जन्म लेकर आ बैठते हैं और किनारो की तरह आयु का अन्त होते ही विदा होते हैं। इसी प्रकार स्वामी, सेवक, भ्राता, पुत्र, मित्र, स्त्री आदि किसी आश्रय को नित्य नहीं समझना, क्योंकि इन सब की स्थिति बादलो के समूह की तरह देखते-देखते बिछुडने वाली है। इसलिए यह समझना इनके सहारे से मैं जीता रहूंगा ठीक नहीं।

मंवासो वि अणिचो पहियाण पिण्डयां व छाहीए।
पीदी वि अच्छिरागोव्व अणिचा सव्वजीवाणं ॥ १७१९ ॥ (भग. आ.)

जैसे—अनियत नाना देशो से आये हुए पथिक (मुसाफिर) एक सराय या धर्मशाला मे निवास करते हैं, अथवा किसी घनी छाया वाले वट आदि वृक्ष के नीचे अनेक स्थानो के मनुष्य आकर मिलते है और दूसरे दिन अथवा कुछ काल के अन्तर अपना अपना मार्ग लेते हैं वैसे ही पूर्व कर्म के फल स्वरूप पुत्र, मित्र, स्त्री आदि पदार्थों का सयोग होता है। कर्म फल भोगने के पश्चात् वे भी कर्म से प्रेरित हुए वियुक्त हो जाते है। फिर कभी आकर नहीं मिलते। उनकी प्रीति भी स्थिर नहीं। निमित्त विशेष से जन्य नेत्रो की लालिमा के समान वह भी क्षणभगुर है। अर्थात् ससार के लोगो का प्रेम स्वार्थ का है। क्षणमात्र मे बदल जाता है। किसी का स्वार्थ न सधे तब देखो वह प्रेम रखता है या नहीं ? इससे अनित्यता स्पष्ट होगी।

रत्तिं एगम्मि दुमे सउणाणं पिण्डयां व संजोगो।
परिवेसोव अणिचो इस्सरियाणायणारोग्गं ॥ १७२० ॥ (भग आ)

अर्थ—सायकाल होने पर रात्रि के समय नाना देश व दिशाओं से आकर पक्षी एक वृक्ष पर निवास करते है उनका पहले से सकेत नहीं होता। पहले के सकेत के बिना ही वे आ मिलते हैं और प्रात.काल पुन नाना दिग्देशो मे चले जाते हैं। उसी प्रकार सकेत बिना ही अनेक गतियो से आये हुए कुटुम्बियो का सयोग होता है और वे मर कर पुनः त्रस, स्थावर आदि अनेक योनियो मे चले जाते हैं। तथा चन्द्रमा का परिवेप (उसके बिम्ब के आस पास कभी कभी होने वाला मण्डल) जिस प्रकार क्षणभगुर है, उसी प्रकार संसार का ऐश्वर्य-प्रभुत्व, आज्ञा, धन-सम्पत्ति, आरोग्य आदि सब अस्थिर है।

इंदियसामग्गी वि अणिचा संझाव होइ जीवाणं ।
मज्झण्हं व णराणं जोव्वणमणवट्ठिदं लोए ॥ १७२१ ॥
चंदो हीणो व पुणो विड्ढदि एदि य उदू अदीदो वि ।
णदु जोव्वणं णियत्तइ णदीजलमदिच्छिदं चेव ॥ १७२२ ॥ [भग आ]

अर्थ—इन्द्रिय-सामग्री भी अनित्य है। प्रथम तो इन्द्रियो की पूर्णता का होना ही कठिन है और कदाचित् क्षयोपशम विशेष से इन्द्रियो की अविकल प्राप्ति होती है और उनमे विषय ग्रहण करने की शक्ति भी विद्यमान होती है तो भयानक व्याधि के उपस्थित होने पर अथवा वीर्यान्तराय का तीव्रोदय होने पर अथवा अवस्था के ढलने पर उनकी वह विषय-ग्रहण की सामर्थ्य विलीन हो जाती है, अत. उसे संध्या की लालिमा के समान कुछ काल के लिए ही टिकाऊ समझना। मनुष्यो की यौवनावस्था भी मध्याह्न काल के सदृश अस्थिर है। अर्थात् जैसे दिवस का मध्याह्न काल सायकाल के आगमन पर अदृश्य होजाता है, उसी प्रकार जरा अवस्था के आने की सूचना मिलते ही यौवन भी अपना रास्ता लेलेता है।

चन्द्रमा कृष्णपक्ष मे क्षीण होता है और शुक्ल पक्ष में वृद्धिगत होता है। वसतादि ऋतुएँ बीत जाने पर पुनरपि आती हैं। किन्तु मनुष्य की यौवनावस्था बीत जाने पर फिर लौट कर नही आती, जैसे नदी का बहकर आगे गया हुआ जल फिर वापिस लौटकर नहीं आता है।

धावदि गिरिणदिसोदं व आउगं सव्वजीवलोगम्मि ।
सुकुमालदा वि हीयदि लोगे पुव्वण्हछाही व ॥ १७२३ ॥ [भग आ]

अर्थ—सम्पूर्ण जगत् के जीवो की आयु पर्वत से गिरने वाली नदी के प्रवाह के समान तीव्रगति से निरन्तर दौड रही है। और समस्त प्राणियो की सुकुमारता (कोमलपन) प्रात.काल की छाया के समान क्षण-क्षण मे क्षीण होती रहती है। सार यह है कि इस ससार मे जितने पदार्थ दिखाई देते हैं वे सब नष्ट होने वाले हैं यह स्पष्ट है। शरीर रोगो का घर है, उसके एक-एक रोम-कूप मे पौने दो दो रोगो की सत्ता है। यौवन के साथ बुढापा लगा हुआ है। बुढापे से बल और ज्ञान भी साथ छोड़ देते हैं। ऐश्वर्य विनाश से व्याप्त है—चक्रवर्ति,बलभद्र, नारायण सरीखो का भी वैभव नहीं रहा। स्त्री, पुत्र, मित्र आदि के जितने भी सयोग होते हैं उनका भी वियोग होता ही है। जीवन मरण का अविनाभाव है। अति बलवान भी मृत्यु से नहीं बचे। अनेक प्रकार के भोजन आदि से पुष्ट करते करते भी आयु के पूर्ण होते ही शरीर साथ छोड देता है। उसे तीर्थंकर ऐसे भी विनाश से नहीं बचा सके। इसलिए ससार,शरीर,भोग आदि सब को अनित्य समझ कर किसी से मोह मत

करो। दुनियाँ की किसी विभूति को देख कर मत लुभाओ। यह विनाशी है, तुम्हें धोखा देगी। अस्थिर को स्थिर समझ लेने से पद पद पर दुःख उठाना पड़ता है। तुम अपने अविनाशी आत्मा से प्रेम करो। शरीर के शीर्ण होने से पहले ही धर्म की सिद्धि करो। धोखे में मत रहो। धन, यौवन आदि के उन्माद मे या कुटुम्बियो के मोह मे पड़ कर अपने हित-साधन को न भूलो। अन्यथा 'देह खेह हो जायगी, फिर का करि है धर्म ?, ज्ञान का उपार्जन करना है तो शीघ्र करो, तप की वृद्धि करनी है तो शीघ्र करो, दान देना है तो शीघ्र देओ। दूसरों की सेवा शुश्रूषा, उपकार आदि जो भी कुछ करना है उसमे विलम्ब मत करो। आगे के भरोसे मत रहो। यह अनित्यता का अभ्यास तुम्हें अपूर्व सुख-शान्ति देगा।

अशरण-भावना

अपने को अशरण अनुभव करने का अभ्यास करना अशरण भावना है। कर्मोदय से प्राप्त होने वाले जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदि दु खो मे जीव को शरण देने वाला, इनसे वचाने वाला कोई नहीं अत. यह जीव अशरण है। कहा भी है :—

हयगयरहणरबलवाहणाणि मंतोसधाणि विज्जाओ।
मच्चुभयस्स ण सरणं णिगडी णीदी य णीया य ॥ ५ ॥
जम्मजरामरणसमाहिदम्हि सरणं ण विज्जदे लोए।
जरमरणमहारिउवारणं तु जिणसासणं मुचा ॥ ६ ॥ (मूला द्वा. अ.)

अर्थ—हाथी, घोडे, रथ, मनुष्य, सेना, वाहन, मन्त्र, औषधियाँ प्रज्ञप्ति आदि विद्याएँ जीव को मृत्यु से वचाने में असमर्थ हैं। मनुष्य दूसरो से अपनी रक्षा करने के लिए अनेक प्रकार रचना करते हैं और उसमे कभी२ सफल भी हो जाते हैं—साम, दान, दण्ड और भेद यह चार प्रकार की नीति अन्यत्र तो कृतकार्य हो भी जाती है, किन्तु मृत्यु के सामने ये सव हतवीर्य हैं, जैसे गरुड के सम्मुख काले नाग। मृत्यु का भय उपस्थित होने पर भाई वन्धु आदि कोई शरण नहीं होता है।

मरणभयम्हि उवगदे देवा वि सइंदया ण तारंति।
धम्मो ताणं सरणं गदित्ति चिंतेहि सरणत्तं ॥ ७ ॥ (मूला द्वा.अ.)

अर्थ—मरण का भय प्राप्त होने पर इन्द्र सहित सव देव मिल कर भी जीव की रक्षा नहीं कर सकते। एक जिनेन्द्र निरूपित धर्म

ही रक्षक है, इसलिए उसे ही शरण रूप चिन्तन करो।

णासदि मदी उदिण्णे कम्मे ण य तस्स दीसदि उवाओ।
अमदं पि विसं सच्छं तणं पि णीयं वि हुंति अरी ॥ १७२६ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—कर्म का उदय होने पर जीवो की बुद्धि नष्ट हो जाती है। कुछ उपाय नहीं सूझता। अमृत विष हो जाता है। तृण शस्त्र
रूप बनकर मृत्यु का कारण होजाते है। बन्धुजन शत्रु हो जाते हैं।

भावार्थ—अनादि काल से अज्ञान के वशीभूत हुआ यह आत्मा अपनी भूल से निरन्तर ज्ञानावरणादि कर्मों का ग्रहण करता है
और बँधता है। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के सयोग से जब उसका अप्रिय एव कटु फल मिलता है तब उसमे बचाने के लिए कोई समर्थ नहीं
होता है। इसलिए प्रत्येक आत्मा अपने आपको अशरण अनुभव करे। ससार मे दूसरा कोई कर्म-फल-भोग से बचाने वाला नहीं है।

प्रतीकार रहित कर्म का जब उदय आता है तब उसके फल स्वरूप दुःख को भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता। अर्थात् जन्म,जरा,
मरण, रोग, चिन्ता, भय, वेदना आदि के उपस्थित होने पर तज्जन्य कष्टो का भोग अवश्य करना पडता है। इस जगत् मे जीवो का रक्षक व
आश्रय दाता कोई नहीं होता है, यदि कोई जीव अपने कर्म के उदय से बचने के लिए किसी देव का सहायता से पाताल लोक मे भी चला
जावे तो भी उसका छूटना असम्भव है।

गिरि की कन्दरा, अटवी, पर्वत व समुद्र मे तो क्या, लोकान्त मे भी जीव निवास करने चला जावे तो भी यह अशरण जीव
उदयागत कर्म से कदापि छूटने क लिए समर्थ नहीं हो सकता है। अर्थात् लोक के अन्त मे जाना असम्भव है,यह असम्भव कार्य भी कदाचित्
सम्भव हो जावे तो हो जाओ, किन्तु निकाञ्चित (प्रतीकार रहित) कर्म का फल भोगे बिना छूटना सर्वथा अशक्य है।

द्विपद, चतुष्पद तथा पेट के बल चलने वाले जीवो का गमन भूमि पर ही होता है, मच्छर आदि जलचर जन्तुओ की गति जल
मे ही होती है, पक्षियो की गति आकाश मे ही होती है, किन्तु काल का गमन सर्वत्र अप्रतिहत है। इसकी गति को रोकने वाला संसार में
कोई भी नहीं है।

सूर्य, चन्द्र, पवन, और देव इनसे अगम्य प्रदेश हैं-अर्थात् सूर्य और चन्द्र का प्रताप व प्रकाश संसार के कोने कोने में पहुँचता
है, वायु प्राय. सर्वत्र बहती है और देवो का प्राय सर्वत्र गमन है, तथापि लोक मे ऐसे भी कई स्थान हैं जहाँ उक्त चारो का गमन नहीं होता,

किन्तु काल की सर्वत्र गति है। ऐसा कोई स्थान ससार में नहीं जहाँ काल का गमन न होता हो।

किन्तु काल की सर्वत्र गति है । ऐसा कोई स्थान ससार में नहीं जहाँ काल का गमन न होता हो । आत्मा का बल और हाथी घोडे रथ योद्धा आदि सेना बल, साम दान

विद्या बल, मन्त्र बल, औपधि बल, शरीर का बल, आत्मा का बल और हाथी घोडे रथ योद्धा आदि सेना बल, साम दान दण्ड भेद यह नीति बल, कर्म जन्य फल को मिटाने के लिए समथ नहीं है। जैसे उदयाचल के शिखर पर प्रयाण करने वाले सूर्य को रोकने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है, वैसे ही दु.ख देने मे प्रवृत्त हुए कर्म के उदय का प्रतिरोध करने की किसी मे भी शक्ति नहीं है।

भयानक तथा सघातक रोगो व महामारियो से बचने के उपाय हैं, किन्तु कमलिनी के वन का विध्वस करने वाले मदोन्मत्त हस्ती के समान ससार के जीवो का मर्दन करने वाले इस कर्म के उदय से बचने का कोई उपाय नहीं है। रोगो का भी प्रतीकार तभी हो सकता है जब कि कर्मों का मन्द उदय हो या उपशम हो। जिस समय कर्मों की उदीरणा या तीव्र उदय होता है उस समय उनका प्रतीकार करना सर्वथा अशक्य ही नहीं, असम्भव है।

निकाचित कर्मोदय को विद्याधर, वासुदेव, बलदेव और चक्रवर्ती तो क्या साक्षात् त्रिजगदीश्वर तीर्थंकर भी मिटा नहीं सकते तब साधारण अल्पशक्ति वाले मनुष्य की तो सामर्थ्य ही कहाँ ?

दिव्य शक्ति का धारक कोई महाबली पैदल चलकर पृथ्वी के दूसरे छोर तक भी पहुँच जावे, या भुजाओं से महासमुद्र को तैरकर उसको पार भी कर जावे, तो भी उदीर्ण कर्म के फल को उल्लघन करने के लिए कोई समर्थ नहीं है। उसे तो भोगना ही पड़ता है।

सिंह की डाढ मे पहुँचे हुए मृग को तथा महामत्स्य के उदर में पहुँचे हुए छोटे मत्स्य को बचाने वाला कोई नहीं, उसका मरण अवश्यभावी है, इसी प्रकार आयु कर्म के अन्त में काल के मुख मे पहुँचे हुए इस जीव का कोई शरण नहीं है।

ससार मे शरण (आश्रय) दो प्रकार का है। एक तो लौकिक शरण और दूसरा लोकोत्तर शरण। इन दोनो के तीन २ भेद हैं। अर्थात् लौकिक शरण तीन प्रकार का है- १ लौकिक जीव शरण, २ लौकिक अजीव शरण और ३ लौकिक जीवाजीव शरण। इसी प्रकार लोकोत्तर शरण भी तीन प्रकार का है-१ लोकोत्तर जीव शरण, २ लोकोत्तर अजीव शरण और ३ लोकोत्तर जीवाजीव शरण।

१ राजा, देवता आदि लौकिक जीव-शरण है।

२ कोट, खाई आदि लौकिक अजीव-शरण है।

३ कोट, खाई आदि सहित ग्राम, नगर, पर्वत आदि लौकिक मिश्र-शरण हैं।

१ लोकोत्तर जीव शरण—पञ्च परमेष्ठी-अरिहंतादि लोकोत्तर (अलौकिक) जीव शरण हैं।

२ लोकोत्तर-अजीव शरण—पञ्च परमेष्ठी के प्रतिबिम्बादि अलौकिक अजीव शरण हैं।

३ लोकोत्तर मिश्रशरण –धर्मोपकरणसहित साधुवर्ग अलौकिक जीवाजीव शरण हैं।

इस लोक सम्बन्धी भय से बचाने वालो को लौकिक शरण कहते हैं और परलोक सम्बन्धी भय से बचाने वालो को लोकोत्तर शरण कहते हैं। जैसे-बलवान् क्षुधातुर और मास के लम्पटी व्याघ्र के द्वारा एकान्त मे दबाए हुए मृग-बालक को उस व्याघ्र से छुडाने के लिए इस लोक मे कोई समर्थ नहीं है, उसी प्रकार जन्म, मरण, व्याधि, प्रिय वियोग अप्रिय संयोग, इष्ट पदार्थ की अप्राप्ति, दारिद्र्य आदि शारीरिक एव मानसिक दु खो से घिरे हुए इस जीव को कोई शरण देने वाला नहीं है। अनेक सुखो से उपलालित यह पुष्ट शरीर भी भोजन करनेमे ही आत्मा का सहायक होता है, कष्टो के आने पर आत्मा की सहायता करने मे समर्थ नहीं होता है। घोर परिश्रम से उपार्जन किया हुआ विपुल धन भी मृत्यु से रक्षा नहीं करता, और न आत्मा के साथ परभव मे साथ ही जाता है। सुख दु:ख के सहयोगी मित्र भी मरण का समय आने पर इस जीव का सरक्षण नहीं कर सकते। चारो तरफ सदा घिरे रहने वाले बन्धुजन भी इसको अन्त मे छोड कर अलग हो जाते हैं। परभव मे भी इसकी रक्षा करने वाला और प्रतिक्षण सहायता करने वाला यदि इस लोक मे कोई है तो वह एक धर्म ही है, दूसरा कोई रक्षक नहीं है। अतएव हे आत्मन्! जिस समय तुम्हें मृत्यु आकर घेर लेगी, उस समय इन्द्र भी उससे बचाने मे समर्थ नहीं होगा, न बन्धु होगे न मित्र-पुत्र-धन-बलादि। यदि सहायक होगा तो उत्तमता से आचरण किया हुआ एक धर्म ही होगा। इसलिए अपने को अशरण अनुभव करने का अभ्यास करो और धर्माराधन मे चित्त लगाओ।

एकत्व–भावना

इस जीव का कोई साथी नहीं। यह सदा अकेला ही है। अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है। जन्म, जरा, मरण, रोगादि की प्राप्ति मे कोई इसका हाथ नहीं बटाता। कर्मों के फल स्वरूप अनन्त दुःख, अपार वेदनाएँ, अकेले को ही सहनी पडती हैं। इस प्रकार अभ्यास करना एकत्व भावना है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से एकत्व चार प्रकार का होता है।

जीवादि छह द्रव्यो मे से किसी एक द्रव्य के द्रव्य एकत्व है। परमाणु जितने क्षेत्र में ठहरता है उतने क्षेत्र (प्रदेश) को क्षेत्र एकत्व कहते हैं। कालका जो एक समय है उसे काल एकत्व कहते हैं। मोक्ष मार्ग को भाव एकत्व कहते हैं।

संसार मे जो अनेकपन दिखाई देता है वह एकपने को लिए हुए है।

जिसने बाह्य व आभ्यन्तर परिग्रह त्याग करके सम्यग्ज्ञान से अपने एकपने का निश्चय कर लिया है,जिसकी एक यथाख्यात चारित्र रूप प्रवृत्ति हो रही है, उस आत्मा के मोक्ष मार्ग रूप से एकपना होता है। उस एकपने की प्राप्ति के लिए ऐसी भावना करना चाहिए कि मैं इस ससार मे अकेला ही हूँ। मेरा दूसरा कोई स्व अथवा पर नहीं है। मैं अकेला ही जन्म लेता हूँ और अकेला ही मरता हूं। कोई दूसरा स्वजन या परजन मेरे व्याधि, जन्म-मरणादि के दु खो को दूर नहीं कर सकता। मेरे बन्धुजन व मित्रादि श्मशान तक ही रहते हैं, आगे साथ नहीं रहते। एक धर्म ही मेरा साथी है। जैसा कि कहा भी है —

वित्तं गेहाद्द्धश्रितायां व्यावर्त्तन्त वान्धवाः श्मशानात् ।
एकं नानाजन्मवल्लीनिदानं याति शुभाशुभं कर्म जीवेन सार्धम् ।

अर्थ—जब आत्मा इस शरीर को छोड़कर परलोक मे जाता है तब उसका साथ कोई नहीं देते। बड़े कष्ट से उपार्जन किया हुआ धन, घर से ही साथ छोड देता है-वह तो घर मे ही रह जाता है। खूब लालन-पालन किया हुआ शरीर चिता में ही छूट जाता है। आगे साथ नहीं जाता। पुत्र, मित्र, भ्रातादि भी श्मशान से ही लौट जाते हैं। यदि कोई परभव मे साथ जाने वाला है तो वह शुभाशुभ (पुण्य-पाप) कर्म ही है। उसके अतिरिक्त जीव का कोई साथी नहीं है।

इस प्रकार एकत्व का अभ्यास करने वाले के अपने आत्मीय (कुटम्बी) जनो मे प्रेम-बन्ध और परकीय (शत्रु आदि) जनो मे द्वेष-सम्बन्ध नहीं होता। एकत्व भावना से उसके निःसगपना उत्पन्न होता है और परिग्रह का बोझा उतर जाने पर वह-ऊर्ध्वगमन करता है। अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है।

सयणस्स परियणस्स य मज्झे एक्को रुयत्तओ दुहिदो ।
वज्जदि मच्चुवसगदो ण जणो कोइ समं एदि ॥ ८ ॥
एक्को करेइ कम्मं एक्को हिंडदि य दीह संसारे ।
एक्को जायदि मरदि य एवं चिंतेहि एयत्तं ॥ ९ ॥ [मूला. द्वा. अ.]

अर्थ—यह प्राणी भाई भतीजा पुत्रादि स्वजन और दास मित्र आदि परिजन के मध्य अकेला ही व्याधि से पीड़ित होकर दुःख भोगता हुआ काल का ग्रास बनता है। साथ मे न स्वजन जाते हैं और न परिजन जाते हैं।

अकेला ही शुभाशुभ कर्म करता है और अकेला ही अपार संसार मे भ्रमण करता है। अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है। इस प्रकार एकत्व भावना का चिन्तन करना चाहिए।

पावं करेदि जीवो बंधवहेदुं सरीरहेदुं च।
णिरयादिसु तस्स फलं एक्को सो चेव वेदेदि ॥ १७४७ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—यह आत्मा वन्धुओं के लिए-उनकी शरीर-रक्षा तथा उनके मनोरंजनादि के लिए, और स्वयं अपने शरीर आदि के पोषण के लिए अनेक पाप करता है, किन्तु उन पापो का नरक निगोदादि मे फल अकेले को ही भोगना पड़ता है। उसमे हिस्सा बँटाने वाला कोई नहीं होता।

रोगादिवेदणाओ वेदयमाणस्स णिययकम्मफलं।
पेच्छंता वि समक्खं किंचि वि ण करंति से णियया ॥ १७४८ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—पूर्वोपार्जित असातावेदनीय कर्म के उदय से उत्पन्न हुई रोग की वेदना का अनुभव करते हुए प्रत्यक्ष देखकर भी ये स्वजन वन्धु लोग उसका प्रतीकार नहीं करते हैं।

भावार्थ—जब आत्मा पूर्वकाल मे संचित कर्मों के फल स्वरूप शरीर-विकार-वेदना-जन्य दुःख प्राप्त करता है उस समय उसे प्राण-समान प्रिय मानने वाले वन्धु क्या उन दु खो का निवारण कर सकते हैं? उनको तो उसे अकेले ही भोगना पडता है। तब हे आत्मन्! तुझे क्या करना चाहिए और तू क्या कर रहा है। जरा सोच। इस जन्म मे और परजन्म मे तेरा हित करने वाला, तुझे दु ख से छुटकारा दिलाने वाला धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। जो हर हालत मे सुख देता रहे वह धर्म ही है। इसे मत भूल। दूसरो के लिए अनर्थ करके व्यर्थ दु.खी मत बन।

तह मरइ एक्कओ चेव तस्स ण विदिज्जगो हवइ कोई।
भोगे भोत्तुं णियया विदिजया ण पुण कम्मफलं ॥ १७४९ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—स्वकीय आयु का क्षय होने पर यह अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होता है। इसका सहायक दूसरा कोई भी नहीं होता है। ये स्वजन वन्धु लोग सुख-भोग भोगने के लिए हैं, परन्तु कर्म फल भोगने के लिए ये वन्धु सहायक नहीं होते।

हे आत्मन् ! इन बन्धुओ के प्रेम जाल मे फँसकर जो तू अपने स्वरूप को ही भूल रहा है उनका स्वरूप तो समझ ले। अनेक सुख-भोग की सामग्री का जो तू सञ्चय करता है उसका सुखानुभव करने के निमित्त तो ये बन्धु आदि तेरे घनिष्ट सम्बन्धी बन जाते हैं, परन्तु जब तेरा मरण होने वाला होता है, तब उस मरण को अपने मे बाँटकर क्या तेरी सहायता करते हैं? कभी नहीं करते। यदि मरण में विभाग करते तो तू अकेला ही कैसे मृत्यु का ग्रास होता? अनेको का मरण एक साथ क्यो नहीं होता? इससे यह स्पष्ट है कि ये स्वार्थ के सगे और विपत्ति में दगा देने वाले वञ्चक (ठग) हैं ।

प्रकारान्तर से एकत्व-भावना का स्वरूप

णीया अत्था देहादिया य संगा ण कस्स इह होंति ।
परलोगं अण्णेत्ता जदिवि दइज्जंति ते सुट्ठु ॥ १७५० ॥ [भग. आ.]

अर्थ—परलोक मे गमन करते हुए जीव के साथ उसके प्रिय बन्धु, धन, शरीरादि, जिनको कि परलोक में साथ ले जाने की उसकी बहुत उत्कण्ठा होती है, कोई भी नहीं जाते। इस जन्म मे भी विपत्ति आने पर जब उक्त बन्धु आदि साथ छोड़कर अलग हो जाते हैं तो उनसे परलोक मे साथ रहने की तो आशा ही क्या की जा सकती है ? अतः यह जीव सदा अकेला ही है-यह स्पष्ट है।

इह लोग बंधवा ते णियया ण परस्स होंति लोगस्स ।
तह चेव धणं देहो संगा सयणासणादीयं ॥ १७५१ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—इस लोक मे जो बन्धु लोग हैं, उनका सम्बन्ध इस जन्म के साथ ही है, अर्थात् परजन्म के साथ नहीं है। धन, शरीर, शयन, आसन आदि परिग्रह का सम्बन्ध भी पूर्वोक्त प्रकार का ही है। बल्कि बन्धु, धन, शयनासन आदि परिग्रह कभी कभी इस जन्म में भी जीव की सहायता नहीं करते प्रत्युत उसका अपकार करने मे तत्पर हो जाते हैं, या इससे सर्वथा सम्बन्ध तोड देते हैं, तो वे इस जीव का उपकार परभव मे भी करेंगे-यह बात विश्वास करने योग्य कैसे हो सकती है ?

बन्धु आदि जीव के उपकारक नहीं, बल्कि बन्धन के कारण हैं।

शरणमशरणं बन्धवो बन्धमूलं,
चिरपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणाम् ।

विपरिमृशत पुत्राः शत्रवः सर्वमेतत् ।
त्यजत भजत धर्मं निर्मलं शर्मकामाः ॥ ६० ॥ [आत्मानु.]

अर्थ—शरण (घर) तेरा वास्तविक शरण (रक्षक) नहीं है। क्योंकि काल घर मे भी आकर जीव को दबोच लेता है। बन्धु लोग पाप कर्म का बन्ध कराने मे कारण होते हैं। क्योंकि यह जीव उनके मोह जाल में फँसकर उनके भरण-पोषण आदि के लिए अनेक पाप कर्म करता है। चिरकाल की परिचित (अनुभूत) पत्नी को सुख देने वाली समझना भी भ्रम है। वह भी पुरुष के अनेक आपत्ति रूप घर में प्रवेश करने का द्वार ही है। क्योंकि स्त्री के मोह से ही परमार्थ छोड़कर गृह-जाल मे फँसकर अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं। पुत्र भी शत्रु के समान होते हैं, क्योंकि जन्मते ही माता का यौवन और सौन्दर्य नष्ट करते हैं। बाल्यावस्था मे माता पिता के सुख में विघ्न करते हैं। उनके पालन-पोषण आदि सुख साधनो के लिए माता-पिता को अनेक दुष्कर्म करके धन का अर्जन करना पड़ता है। इस पर भी यदि वह कुपथगामी निकल जावे तो माता पिता को जन्म भर का सताप उत्पन्न हो जाता है। अत. उसके सब कर्म शत्रु के समान दु:ख दायक हैं। इसलिए हे आत्मन्! यदि तू दु ख और सताप से बचना चाहता है और सुख की लालसा रखता है तो इन सब से अपना सम्बन्ध तोड़ दे और धर्म से प्रेम सम्बन्ध जोड ले। यही तेरा सच्चा साथी या मित्र है। कहा भी है—

जो पुण धम्मो जीवेण कदो सम्मत्तचरणसुदमइओ ।
सो परलोए जीवस्स होइ गुणकारकसहाओ ॥ १७५२ ॥ [भग. आ]

अर्थ-इस भव मे जीव जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र रूप धर्म का पालन करता है, वही परलोक में इस जीव का गुणकारक (सुखदायक) व सहायक होता है। अर्थात् धर्म, स्वर्गादि की प्राप्ति रूप अभ्युदय और निश्रेयस (मोक्ष) को देनेवाला व परलोक में उपकारी होता है।

धर्म की प्रशसा में और भी कहा है—

दत्वा द्यावापृथिव्योर्वरविषयरतिं वीतभीशुग्विषादां
कृत्वा लोकत्रयीशं सुरनरपतिभिः प्राप्य पूजां विशिष्टाम् ।
मृत्युव्याधिप्रसूतिप्रियविगमजरारोगशोकप्रहीणे,
मोक्षे नित्योरुसौख्ये क्षिपति निरुपमे यः सःनोऽव्यात् सुधर्मः ॥ [भग. आ. संस्कृत टीका १७५२]

सं. प्र.

अर्थ—यह धर्म भय, शोक और विषाद (दुःख) का विनाश कर स्वर्गसम्बन्धी एवं भूतलसम्बन्धी समस्त विषय-सुख को देता है। इसका पालन करने वाला जीव त्रिलोक का अधिपति होकर नरेन्द्रो और सुरेन्द्रो से विशेष पूजित होता है। इस धर्म के प्रसाद से जीव को, जन्म, जरा-मरण, रोग, शोक, प्रिय-वियोग से रहित नित्य और सर्वश्रेष्ठ सुख से परिपूर्ण निरुपम मोक्ष प्राप्त होता है। इस प्रकार अपूर्व हितकारक रत्नत्रयरूप धर्म नित्य हमारी रक्षा करे।

शंका—एकत्व भावना अर्थात् असहायत्व की भावना के प्रकरण मे सहाय का निरूपण करना क्या उचित है ?

समाधान—यहाँ पर धर्म को सहायक बताकर अन्य वस्तु आदि को असहायक सिद्ध किया है। अतः इनमें उपकारकपने की बुद्धि का त्याग करने का उपदेश दिया गया है। क्योकि ससार मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप धर्म ही आत्मा का असली उपकारक है। क्योकि वह आत्मा का स्वभाव है। जो जिसका स्वभाव होता है, वही उसका उपकार कर्त्ता हो सकता है। कर्म के निमित्त से सयोग को प्राप्त हुए बन्धु धनादि बाह्य-पदार्थ आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, किन्तु आत्मा की विकार अवस्था (कर्म विशिष्ट अवस्था) के निमित्त से ये (बन्धु आदि) पदार्थ उपलब्ध हुए हैं। जैसे जल का स्वभाव शीतल है, वह शान्ति का कर्त्ता है, किन्तु अग्नि के सयोग से उत्पन्न हुआ उष्णपना जल का विकृत भाव है। वह शान्ति का कर्त्ता नहीं होता, प्रत्युत शान्ति का नाशक होता है। वैसे ही धर्म आत्मा का स्वभाव होने से आत्मा को शान्ति देने वाला है और बन्धु धन आदि आत्मा के कर्म-जन्य विभाव भाव-रागद्वेषादि भाव-कर्म से प्राप्त हुए हैं, इसलिए ये आत्मा की शान्ति के नाशक होते हैं। अत ये आत्मा के उपकारक नहीं हैं।

सम्यक्त्वादि आत्मा के शुभपरिणाम-प्रशस्तगति, प्रशस्तजाति, उच्चगोत्र, प्रशस्त-सघात, सहनन; आयु, सातावेदनीय आदि शुभ कर्मों को आत्मा मे उत्पन्न करके नष्ट हो जाते हैं। और इनके कारण यह आत्मा देव या मनुष्य पर्याय प्राप्त करता है, पचेन्द्रिय, पर्याप्त, कुलीन, शुभ-नीरोग-शरीर का धारक, दीर्घकाल तक जीने वाला होता है और सुख का अनुभव करने वाला होता है। यह सब धर्मानुबन्धी पुण्य के उदय से उपलब्ध होते हैं। इस पुण्यानुबन्धी पुण्य के उदय से भविष्य मे दीक्षा-ग्रहण करने के परिणाम और निरतिचार रत्नत्रय की प्राप्ति होती है। अतएव धर्म उपकार करने वाला मुख्य साधन है। इसलिए ज्ञानी धर्म मे अनुराग करता है।

ज्ञानवान् को शरीर और धनादि मे अनुराग क्यो नहीं होता, इसको कहते हैं—

वद्धस्स बंधणे व ण रागो देहम्मि होइ णाणिस्स।
विससरिसेसु ण रागो अत्थेसु महाभयेसु तहा ॥ १७५२ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—जैसे रस्सी सांकल आदि बन्धन से बधा हुआ मनुष्य बन्धन क्रिया के कारणभूत रस्सी आदि दुःख के देने वाले पदार्थों से प्रीति नहीं करता है, वैसे ही सुख दुःख के साधनो का जिसे पृथक् २ ज्ञान है; वह ज्ञानी मनुष्य दुःख के कारण, सारहीन, अस्थिर (नश्वर) और महा अपवित्र शरीर मे राग नहीं करता है। क्योकि बुद्धिमान पुरुष गुण के पक्षपाती हुआ करते है।

जैसे विष दुःख का देने वाला है और प्राणो का विनाशक होता है, वैसे ही धन भी उसके उपार्जन, रक्षण आदि मे लगे हुए मनुष्य को दुःख उत्पन्न करता है तथा प्राणो के विनाश मे भी वह निमित्त होता है। क्योकि संसार मे प्रायः जितने नरसंहारक संग्राम होते हैं, वे धन के लिए ही होते है। इसलिए धन-सम्पत्ति महान भय के उत्पन्न करने वाले होने से महाभयानक हैं।

जो पदार्थ जिसका अनुपकार करने वाला होता है, उस पदार्थ मे विवेकी पुरुष की सहाय बुद्धि नहीं होती है, जैसे कि विष कटक आदि मे नहीं होती है। शरीर धनादि भी आत्मा के अनुपकारी हैं, इसलिए विवेक-शील पुरुष को इसमे बारम्बार असहायता की भावना करनी चाहिए। अर्थात् ये कभी किसी के उपकारक नहीं हुए है। अतः मेरे ये उपकारक कैसे हो सकते हैं, इस प्रकार पुनः पुनः अभ्यास करना चाहिए।

अन्यत्व–भावना

अन्यत्व नाम भेद का है। संसार के समस्त पदार्थों से मेरा आत्मा सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार अभ्यास करने को अन्यत्व भावना कहते हैं।

अन्यत्व-नाम स्थापना, द्रव्य और भाव के आश्रय से चार प्रकार का है। आत्मा, जीव, प्राणी, यह भेद नाम की अपेक्षा से है। काष्ठ की प्रतिमा, प्रस्तर-प्रतिमा इत्यादि स्थापना से भेद हैं। जीव द्रव्य व अजीव द्रव्य यह द्रव्य से भेद है। एक ही जीव द्रव्य मे बालक, युवा, मनुष्य, देव इत्यादि भेद भाव की अपेक्षा से होता है।

जीव और कर्म का परस्पर बन्ध होकर दोनों का एकीभाव हो रहा है, तथापि लक्षण भेद से इनकी भिन्नता प्रतीत होती है। क्योकि जीव का लक्षण ज्ञान-दर्शन है और पुद्गल का लक्षण रूप, रस, गन्ध और स्पर्श है। इस प्रकार यह लक्षण कृत भेद होता है।

प्रत्येक समय मे अनन्तानन्त कर्म परमाणु योग के निमित्त से आकर कषाय के कारण से जीव के प्रदेशो में एकमेक होकर ठहरते है और प्रति समय अनन्तानन्त कर्मपुद्गल जीव से पृथक् होते हैं, इस प्रकार बन्ध की अपेक्षा से भेद (अन्यत्व) होता है। औदारिकादि शरीर के कारण नोकर्मवर्गणा के नवीन पुद्गल आकर क्षीर-नीर के समान जीव के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं और पुराने

प्र तक्षण निर्जरा को प्राप्त होते हैं।

जीव स्वय औदारिकादि शरीरनामकर्म के उदय से औदारिकादि शरीर का निर्माण करके शरीर में स्थिति करता हुआ भी जैसे नख, रोम, दन्त अस्थि आदि मे नहीं रहता है, वैसे ही रस, रुधिर, चर्बी, शुक्र,वीर्य, कफ,पित्त,मल,मूत्र, मस्तिष्क आदि प्रदेशों में भी नहीं रहता है। इस प्रकार कर्म तथा शरीर के अवयवो से जीव का भेद होता है। अतएव परम ध्यानी पुरुष तपस्या व ध्यान द्वारा शरीर से पृथक् होकर अनन्त ज्ञानादि गुणो से विशिष्ट हुआ मोक्ष मे अवस्थित होता है। उस मोक्षावस्था की प्राप्ति के लिए यह शरीर है। यह शरीर इन्द्रियगम्य है, मैं अतीन्द्रिय हूँ, अर्थात् इन्द्रियो के अगोचर हूँ। यह शरीर अज्ञ (ज्ञान हीन) है और मैं ज्ञाता हूँ, ज्ञानस्वभाव वाला हूँ। यह शरीर अनित्य है। मैं नित्य हूँ। इस शरीर का आदि और अन्त है। मैं आदि और अन्त से रहित हूँ। अनन्त काल ससार मे भ्रमण करते हुए मैंने अनन्त शरीर ग्रहण कर छोड़ दिये हैं, मैं उनसे भिन्न रहने वाला हूँ। इस प्रकार शरीर से जब मेरा सर्वथा भेद है तब बाह्य परिग्रहो से भेद के विषय मे कहना ही क्या है ? इस प्रकार की भावना करनी चाहिए। मूलाचार मे कहा है—

मादुपिदुसयणसंबंधिणो य सव्वे वि अत्तणो अण्णे।
इह लोग बंधवा ते ण य परलोगं समं णेंति ॥ १० ॥
अण्णो अण्णं सोयदि मदोत्ति मम णाहोत्ति मण्णंतो।
अत्ताणं ण दु सोयदि संसारमहण्णवे बुड्डं ॥ ११ ॥

अर्थ—माता, पिता, कुटुम्ब और परिवार के लोग व सगे सम्बन्धी सबही मुझ से अन्य हैं। इस भव के जो बन्धु लोग हैं, वे परभव मे साथ नहीं जाते हैं, न इनका किया हुआ कृत्य मेरे साथ जाने वाला है।

यह मूढ आत्मा, हाय मेरा नाथ मर गया, मेरा बन्धु मरगया इत्यादि अन्य जन का तो सोच-चिन्ता करता है, और संसार रूप महासागर मे गोते लगाते हुए, महा दुःख ज्वालाओ का आलिंगन करते हुए अपने आपका सोच नहीं करता है ?

भावार्थ—मोहनीय कर्म ने आत्मा के असली स्वरूप को भुलाकर पर पदार्थ मे उसे इतना रत कर दिया है कि यह अज्ञानवश पर पदार्थों को ही आत्मा मान बैठा है, तथा उनको ही सुख दुःख का मुख्य साधन समझ रहा है। तबही तो अपना प्रिय बन्धु या मित्र जब काल के गाल मे चला जाता है, तब अत्यन्त शोक सताप करने लगता है, किन्तु अपना आत्मा अनन्त काल से इस संसार समुद्र मे डुबकियाँ लगा रहा है, कभी कभी गोता लगाकर नीचे जाता है तब नरक निगोद मे जाकर जन्म धारण करता और वहाँ पर वचनागोचर एक श्वास

मे १८ वार जन्म मरण के दुःख को तथा छेदन-भेदन मरण आदि के वचनातीत दुःखो का अनुभव करता है, और डुवकी लगाकर ऊपर आता है तव तिर्यंच और मनुष्य भव के असह्य दुःखो को भोगता है। इन अपनी ही दुःख पूर्ण अवस्थाओ का सोच नहीं करता है। इसलिए हे आत्मन् ! अव उस भ्रम को छोड़ दे, और माता, पिता, पुत्र, मित्र, कलत्रादि को आत्मा से सर्वथा भिन्न समझ। उनको दुःखित व मरणोन्मुख देखकर दु.ख और शोक करना अज्ञानियो का कम है। कहा भी है :—

प्रीतिपूर्वं कृतं कर्म मनोवाक्कायकर्मभिः।
न निवारयितुं शक्यं संहृतैस्त्रिदशैरपि ॥ [भग आ. टीका १७५४]

अर्थ—जिस जीव ने मन वचन काय के द्वारा प्रीतिपूर्वक जो कर्म किया है, सव देव मिलकर भी उसका निवारण नहीं कर सकते, तव अन्य का क्या सामर्थ्य है जो उस कर्म का निराकरण कर सके।

शङ्का—पर-दु.ख का निवारण करने के लिए जव कोई समर्थ नहीं हो सकता, तव किसी दुःखित जीव के दुःख के प्रतीकार का प्रयत्न करना व्यर्थ हुआ। किसी व्याधि-पीडित मनुष्य को औषधि देने एवं उसकी वैयावृत्य आदि दुःख दूर करने के जो उपाय किये जाते हैं, उनका भी निराकरण हुआ। किसी के दु.ख के नाश के उपाय करने का भी निषेध हुआ। इस प्रकार आचरण करने से परस्पर में सहानुभूति व अनुकम्पा भाव का भी नाश हो जावेगा और कठोरता तथा निर्दयता का प्रचार होने लगेगा, जो कि धर्म भावना से विरुद्ध है।

समाधान—परदु ख के निवारण करने के लिए जो उचित प्रयत्न व उपाय किये जाते हैं, उनका निषेध नहीं किया गया है। निषेध तो इसका किया गया है कि यह मोही जीव परके दु ख व मरण आदि के निमित्त से आत्मा मे शोक, दुःख और संताप करता है, यह उसकी मूर्खता है। उचित उपाय करते हुए जव दु खादि दूर नहीं होते हैं, तो समझना चाहिए कि यह उनके पूर्वोपार्जित निकाचित बन्ध का परिणाम है। उनके निमित्त से अपनी आत्मा मे दुःख और शोक करके शोक व दुःख के दाता मोहनीय कर्म का वन्ध करना मूर्खता के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? दु खादि के निवारण का प्रयत्न करना दूसरी वात है और उनमे ममत्व परिणाम करके दु.ख शोक का अनुभव करना दूसरी वात है।

ससार मे कौन किसका हुआ है ? कोई किसी का सम्बन्धी नही है। कहा है—

संसारम्मि अणंते सगेण कम्मेण हरिमाणाणं।
को कस्स होइ सयणो सज्जइ मोहा जणम्मि जणो ॥ १७५५ ॥ [भग. आ]

अर्थ—यह ससार पॉच प्रकार के परिवर्त्तनो से युक्त है और अनन्त है। इसमे अनादि काल से मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद आदि आत्मा के परिणामो से उपार्जित कर्म पुद्गलो से बन्धे हुए जीव अनेक प्रकार की गतियो में भ्रमण करते रहते हैं-ऐसी हालत में कौन किसका नियत कुटुम्बी हो सकता है ? यदि कोई निश्चित सम्बन्ध होता तो, 'यह स्वजन है और यह परजन है' ऐसा विभाग हो सकता था, किन्तु ऐसा नहीं है। क्योकि कर्म से परतन्त्र हुए जीव के जो आज स्वजन है वे परभव मे परजन हो जाते हैं। इसलिए इस संसार में न तो कोई स्वजन है और न कोई परजन है, यह सब जीव राशि भिन्न-भिन्न मिथ्यात्वादि परिणामो के द्वारा अनेक अवस्थाओ का अनुभव करती हुई एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। ऐसा चिन्तन करने वाले ज्ञानी जीव के किसी पर दया व प्रेम नहीं होता है और न किसी पर निर्दयता व द्वेप उत्पन्न होता है। अर्थात् इस विपम भाव के न होने पर साम्यभाव प्रकट होता है। राग द्वेप के अभाव से आत्मा में निर्विकल्पक ध्यान प्रादुर्भूत होता है। क्योकि मोह से यह जीव मेरा यह भाई, है यह पिता है, पुत्र है, भानजा है, यह मेरा दास है, यह मेरा स्वामी है, इस प्रकार अन्यजनो पर आसक्ति करता है। भेद ज्ञान न होने से मैं इनसे भिन्न हूं और ये मुझ से पृथक् हैं ऐसा विचार उत्पन्न नहीं होता है।

इस प्रकार तत्त्व का चिन्तन करने वाले भेदज्ञानी-आत्मा के स्वपर का विवेक ज्ञान होने से किसी पर रागद्वेप नहीं होता है और सहज ही मे निर्विकल्प समाधि उत्पन्न होती है।

प्रकारान्तर से स्वजन और परजन के भेदभाव को दिखाते हैं—

सव्वोवि जणो सयणो सव्वस्स वि आसि तीदकालम्मि।
पते य तहाकाले होहिदि सजणो जणस्स जणो ॥ १७५६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—भूतकाल मे सव जीव सव जीवो के स्वजन (कुटुम्बी) बन चुके होगे और भविष्य काल में सव जीव सबके स्वजन वनेंगे। ऐसी अवस्था मे किसी एक दो को स्वजन मान लेना मिथ्या सकल्प है। वे सव जीव मुझ से अन्य (भिन्न) हैं और मैं भी उनसे अन्य (भिन्न) हूँ, ऐसा समझना ही वास्तविकता है।

इस जगत् के सव प्राणी वालुका के कणो के समान परस्पर भिन्न २ हैं। जैसे वालुका के कणो का सयोग जलादि द्रव पदार्थ के मिलने से होता है, जब उस द्रव पदार्थ का रस सूख जाता है, तब वे भी अलग २ होकर बिखर जाते हैं, उसी प्रकार वन्धु लोग कार्य-सिद्धि के उद्देश्य से ही सम्वन्ध को प्राप्त हुए हैं, कार्य-सिद्धि के पश्चात् सब पृथक् पृथक् हो जाते हैं।

आशय यह है कि जगत् मे कार्य के उद्देश्य से स्वजन व परिजन का विभाग होता है। उपकार से मित्रता और अपकार से

शत्रुता है।

यहाँ कोई किसी का स्वाभाविक मित्र व शत्रु नहीं होता। प्रतिकूल व्यवहार से शत्रु बन गया है, उसके साथ उपकार का वर्त्ताव करने से वह पुनः मित्र बन जाता है। जो प्राणों का घातक बन बैठा था, उपकार रूपी मन्त्र से उसका स्वभाव बदल जाता है और वही प्राणों की रक्षा करता हुआ देखा जाता है। तथा जो स्वभावतः प्रिय होता है, ऐसे पुत्र पर भी अपकार रूपी विष का प्रयोग होने पर वही प्राण संहारक शत्रु बन बैठता है। उपकार और अपकार क्रियाएँ हमेशा एकसी नहीं रहती हैं। अतः उनके निमित्त से होने वाला बन्धु-भाव और शत्रु-भाव भी एकसा नहीं रहता है। इसलिए किसी पर राग-द्वेष कभी नहीं करना चाहिए। बल्कि शत्रु, मित्र, स्वजन, परिजन आदि का वास्तव में अपने से कोई सम्बन्ध न समझ कर उनसे मोह हटा लेना चाहिए और संसार के सब सम्बन्धों को स्वार्थ-मूलक समझ कर अन्यत्व-भावना दृढ़ करनी चाहिए। अन्यथा शत्रु, मित्र आदि की कल्पना कर प्राणी अपने आपको भूलेगा तो कभी अपना हित-साधन न कर सकेगा। क्योंकि अज्ञानी प्राणी को अपने सच्चे शत्रु और मित्रों की भी तो परख नहीं। कहा है :—

शत्रु व मित्र कौन है ?

जो जस्स वट्टदि हिदे पुरिसो सो तस्स बन्धवो होदि।
जो जस्स कुणदि अहिदं सो तस्स रिवुत्ति णायव्वो ॥ १७६३ ॥ [भग आ.]

अर्थ—जो मनुष्य जिसके हितकार्य में प्रवृत्ति करता है वह उसका बन्धु व मित्र माना जाता है और जो मनुष्य जिसके अहितकार्य में प्रवृत्ति करता है वह उसका शत्रु कहा जाता है। अर्थात् हित करने वाले को बन्धु और अहित करने वाले को शत्रु कहते हैं। इसलिए हे आत्मन्! जिनको तूने अपना बन्धु समझ रखा है, वे वास्तव में तेरे शत्रु हैं, क्योंकि वे अभ्युदय (स्वर्गादि की प्राप्ति) और निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति के कारण धर्म में विघ्न करने वाले हैं। और तीव्र दुःख के कारण हिंसा असत्यादि असंयम को भी तुझ से वे ही करवाते हैं।

तात्पर्य यह है कि जिसकी आराधना करने से अष्ट कर्मों का नाश होकर सुख शान्ति के देने वाले मोक्ष की प्राप्ति होती है और सांसारिक उत्कृष्ट सुख के कारण अहमिन्द्रादि पद की उपलब्धि होती है, उस सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र (रत्नत्रय) रूप धर्म के धारण करने में बन्धुगण विघ्न बाधाएँ उपस्थित करते हैं। अर्थात् अनुपम सुख के कारणभूत धर्म का पालन करने में बाधक ही नहीं होते; अपितु आत्मा को नरक और निगोद के असीम दुःखों के कारण हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापों को भी वे ही करवाते हैं और नरकादि के घोर दुःखों से उद्धार करने वाले धर्म में ये बन्धु विघ्न करते हैं। इसलिए ये बन्धु तेरे मित्र नहीं, भयानक शत्रु हैं। क्योंकि हित में बाधा करने वाले और अहित में सहायता करने वाले शत्रु ही होते हैं।

स. प्र.

तम्हा णीया पुरिसस्स होंति साहू अणेयसुहहेदू ।
संसारमदीणंता णीया य णरस्स होंति अरी ॥ १७६७ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—सत्पुरुष प्राणियो को हित मार्ग मे लगाते हैं, तथा स्वर्गादि मे इन्द्रिय-सुख व मोक्ष सम्बन्धी, अतीन्द्रिय-सुख की प्राप्ति कराने मे कारण होते हैं; इसलिए वे ही असली बन्धु है। परन्तु जो पुत्र, मित्र, भ्रातादि बन्धु हैं,वे अनेक दु खो से व्याप्त अपार ससार समुद्र मे डुबोते है, इसलिए वे बन्धु बन्धु नहीं किन्तु शत्रु ही हैं।

इस गाथा मे अपने से भिन्न जो सत्पुरुष हैं, उन्हें सच्चे बन्धु और अपने से भिन्न जो पुत्र, भ्राता आदि बान्धव हैं, उन्हें असली शत्रु बतलाया है। इससे सत्पुरुषो के धर्मोपदेश मे अनुराग और आदर भाव उत्पन्न होता है और बन्धुओ मे अप्रीति व अनादरभाव पैदा होता है। क्योकि सत्पुरुष इस लोक के सम्पूर्ण उत्तम से उत्तम इन्द्रिय-जन्य सुख को देने वाले और अतीन्द्रिय अनुपम निराबाध मोक्ष के नित्य सुख को देने वाले हैं एव धर्म के मार्ग पर लगाते हैं और ये बन्धु लोग मनोवाछित सुख को देने वाले, रत्नत्रय रूप धर्म का पालन करने मे बाधा उपस्थित करते हैं। ससार-वर्धक हिंसादि जनक आरम्भादि क्रियाओ मे जीवो को प्रवृत्त करते हैं। अत सत्पुरुषो को उपकारी समझ कर उनमे आदर बुद्धि करना और स्वजन आदि के सम्बन्ध को अहित रूप समझ कर उनमें अनादर बुद्धि करना यही अन्यत्वानुप्रेक्षा का फल है।

ससारानपेक्षा

अब ससारानुप्रेक्षा का वर्णन करते हुए ससार का स्वरूप वर्णन करते है।

संसार का स्वरूप

मिच्छत्तेण छण्णो मग्गं जिणदेसिदं अपेक्खंतो ।
भमिहदि भमिकुडिल्ले जीवो संसारकंतारे ॥ १३ ॥ [मूला. द्वा. अ]

अर्थ—मिथ्यात्व रूप अन्धकार से आछन्न (ढका हुआ) यह आत्मा जिनेन्द्र भगवान् द्वारा दिखलाये गये मोक्ष मार्ग को नहीं देखता हुआ अज्ञानवश भयानक तथा मोहलतादि से अत्यन्त गहन ससार रूप बीहड वन मे निरन्तर भ्रमण करता है।

भावार्थ—जीवो की अवस्था चार प्रकार की हैं–१ ससार २ असंसार, ३ नो ससार, ४ तत्त्रितय व्यपाय (उक्त तीनो अवस्थाओं की निवृत्ति रूप अवस्था विशेष)

[१] ससार—चौरासी लाख योनियों के भेदवाली नरकादि चारो गतियों मे परिभ्रमण करने को संसार कहते हैं।

[२] असंसार—मोक्षपद मे परम अमृत रूप दिव्य-सुख मे प्रतिष्ठित होजाने को असंसार (संसार का अभाव) कहते हैं।

[३] नो संसार (ईषत् संसार)–तेरहवें गुणस्थान मे विराजमान सयोगकेवली (अरिहत) भगवान् के चतुर्गति रूप, संसार में परिभ्रमण का अभाव है अत. उनके ससार नहीं है। तथा ससार के अन्त (मुक्ति) की प्राप्ति नहीं हुई है, अतः असंसार भी नहीं इसलिए उनके ईषत् ससार को नो ससार कहते हैं।

[४] तत्त्रितयव्यपाय-उक्त तीनो अवस्थाओं की निवृत्ति रूप अवस्था विशेष–अयोगकेवली की अवस्था-को तत्त्रियव्यपायरूप अवस्था कहते हैं। इस अवस्था मे उक्त तीनों अवस्थाओ का अभाव पाया जाता है, क्योंकि अयोगकेवली के भव भ्रमण का अभाव होने से ससार अवस्था नहीं है। सयोगकेवली के समान इनके आत्म-प्रदेशो का परिस्पन्द (चञ्चलपना) नहीं होने से ईषत्संसार रूप नोसंसार भी नहीं है। तथा संसार का अन्त (मोक्ष) प्राप्त नहीं होने से उनके असंसार भी नहीं है। इन तीनो अवस्थाओ से अतिरिक्त यह एक चौथी ही अवस्था है।

शरीर का परिस्पन्द (हिलन-चलन) न होने पर भी समस्त प्राणियो के निरन्तर आत्मा के प्रदेशो का परिस्पन्द (कम्पन) होता है, इसलिए उनके सदा ससार माना गया है, किन्तु सिद्धो के व अयोग केवलियो के आत्म-प्रदेशो का परिस्पन्द नहीं होता है। क्योंकि उनके आत्म-प्रदेशो के परिस्पन्द की कारणभूत कर्म-सामग्री का अभाव है। इन दोनो के अतिरिक्त जीवो के तीन अवस्थाएँ होती हैं, जिनका निरूपण ऊपर कर आये हैं।

वह ससार अभव्य जीवो की अपेक्षा अनादि और अनन्त है। भव्य-सामान्य की अपेक्षा अनादि और सान्त है। भव्य विशेष (सम्यग्दृष्टि) की अपेक्षा से ससार सादि-सान्त है। क्योंकि अनादिकाल से जो मिथ्यात्वसहित संसार था, उसका सम्यक्त्व के उत्पन्न होने पर नाश हो जाने से सम्यक्त्व सहित ससार की आदि हुई है, और इसका अन्त होने वाला है। इसलिए इसे सादि सान्त कहा है।

असंसार सादि और सान्त है। अर्थात् मोक्ष अवस्था आदि सहित और अन्त रहित है।

तत्त्रितयव्यपाय (अयोगकेवली की अवस्था) का काल अन्तर्मुहूर्त्त मात्र है। अर्थात् अ इ उ ऋ लृ इन पाच ह्रस्व-स्वरो के उच्चारण करने मे जितना काल लगता है उतने काल पर्यन्त अयोगकेवली अवस्था रहती है। उसके अनन्तर मोक्ष हो जाता है।

नो संसार (ईषत् ससार) का काल अन्तर्मुहूर्त्त सहित आठ वर्ष कम पूर्वकोटि मात्र है। अर्थात् पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाला

चतुर्थ काल का जीव आठ वर्ष के अनन्तर तपस्या ग्रहण करके केवलज्ञान उत्पन्न कर सकता है। इसलिए अन्तर्मुहूर्त्त सहित आठ वर्ष हीन पूर्व-कोटिवर्ष पर्यन्त सयोगकेवली अवस्था रह सकती है। अत नोससार मादि सान्त है।

सादि-सान्त—ससार का काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त है और उत्कृष्टकाल अर्धपुद्गलपरावर्त्तन मात्र है। जो जीव अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि था उसने काललब्धि आदि के योग से सम्यक्त्व का ग्रहण किया, तब उसके सम्यक्त्व सहित संसार का आदि हुआ। वह संयम धारण कर अन्तर्मुहूर्त्त मे मोक्ष प्राप्त करले तो उसके ससार का काल अन्तर्मुहूर्त्तमात्र हुआ और वह सम्यक्त्व से च्युत होजावे और ससार मे अधिक से अधिक रहे तो अर्धपुद्गलपरावर्त्तनकाल तक रह सकता है, उसके अनन्तर उसका मोक्ष अवश्यभावी है।

वह ससार, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भव की अपेक्षा से पाच प्रकार का होता है।

मूलाचार की मूलगाथा मे चार प्रकार के (द्रव्य क्षेत्र काल भाव) परिवर्त्तन का निरूपण है; परन्तु सस्कृत टीकाकार ने पाचो परिवर्त्तनो का ग्रहण किया है। इसी प्रकार भगवतीआराधना मे भी मूलाचार के समान चार परिवर्त्तनो का ही विधान है। परन्तु सस्कृत टीकाकारो ने अन्य शास्त्रो के उद्धरण देकर भव-परिवर्त्तन को भी ग्रहण किया है। क्रमशः उक्त ग्रन्थो की गाथाओं को नीचे दिखाते हैं।

दव्वे खेत्ते काले भावे य चदुव्विहो य संसारो।
चदुगदिगमणणिबद्धो बहुप्पयोरहिं णादव्वो ॥ १४ ॥ [मूला.]

अर्थ—नरकादि चारगतियो मे गमन कराने का कारणभूत ससार (परिवर्त्तन) द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इस तरह चार प्रकार का तथा आगे कहे गये छह सात आदि प्रकार का जानना चाहिए।

द्रव्य-परिवर्त्तन

अण्णं गिण्हदि देहं तं पुण मुत्तूण गिण्हदे अण्णं।
घडिजंत व य जीवो भमदि इमो दव्वसंसारे ॥ १७७३ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—जिस प्रकार कूप मे लगा हुआ घटीयत्र (अरघट) भ्रमण करता हुआ पहले ग्रहण किये हुए जल का त्याग करता है और अन्य जल का ग्रहण करता है उसी प्रकार ससार कूप मे पडा हुआ यह प्राणी पूर्व ग्रहण किये हुए शरीर को छोड़ता और दूसरे शरीर

को धारण करता है, इस प्रकार भिन्न २ शरीरो का ग्रहण और त्याग करता हुआ यह जीव अनादिकाल से इस ससार मे भ्रमण कर रहा है। अनेक प्रकार के शरीरो के ग्रहण करने को ही द्रव्य-परिवर्त्तन कहते है।

भावार्थ—एक शरीर का ग्रहण कर, आयु पूर्ण करके उसे छोड दूसरे शरीर का ग्रहण करना और उसे भी छोड तीसरे शरीर का ग्रहण करना-इसी प्रकार निरन्तर शरीर के ग्रहण और त्याग करने को द्रव्य-परिवर्त्तन कहते है।

द्रव्य परिवर्त्तन दो प्रकार का है-१ नोकर्मद्रव्य-परिवर्त्तन और कर्म-द्रव्य-परिवर्त्तन।

१ नोकर्मद्रव्य परिवर्त्तन—तीन शरीर (औदारिक, वैक्रियिक, आहारक) तथा छह पर्याप्ति (आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा, मन) के योग्य जो पुद्गल है वे तीव्र मन्द-मध्यम भावों से युक्त स्पर्श (स्निग्ध रूक्ष) वर्ण, गन्ध आदि रूप जैसे थे वैसे ग्रहण किये और दूसरे तीसरे आदि समय मे वे निर्जरा को प्राप्त हुए। जिनका ग्रहण पहले नहीं किया था, ऐसे पूर्वोक्त पुद्गलों का अनन्त वार ग्रहण किया और त्याग किया तथा मिश्र (गृहीत और अगृहीत मिले हुए) पुद्गलो का अनन्तवार ग्रहण और त्याग किया। बीच बीच मे गृहीत पुद्गलो का भी ग्रहण व त्याग किया। काल पाकर पूर्व समय में जिन पुद्गलों को ग्रहण किया था उन्हीं को उसी प्रकार (तीव्र-मन्द-मध्यम भावो द्वारा स्निग्ध, रूक्ष वर्णादि रूप) वही जीव जितने काल मे नोकर्म रूप से ग्रहण करता है, उतने काल को नोकर्मद्रव्यपरिवर्त्तन कहते है।

कर्म-द्रव्य-परिवर्त्तन—किसी जीव ने एक समय मे ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप पुद्गल तीव्रादि भाव से युक्त स्निग्धरूक्षादि स्वरूप ग्रहण किये। एक समय अधिक एक आवली के अनन्तर द्वितीय आदि समय मे उनकी निर्जरा हुई। अनन्तवार अगृहीत कर्म पुद्गलो का ग्रहण कर निर्जरा की। मिश्र (गृहीत व अगृहीत मिले हुए) कर्म-पुद्गलों का ग्रहण कर निर्जरा की। मध्य मे गृहीत कर्म-पुद्गलों का ग्रहण कर निर्जरा की। इस प्रकार काल पाकर उन्हीं कर्म-पुद्गलपरमाणुओं का, जिनका पहले समय मे जिस प्रकार ग्रहण किया था—ग्रहण जितने काल मे हो जावे उतने काल को कर्मद्रव्य-परिवर्त्तन कहते है। कहा है—

सव्वे वि पुग्गला खलु कमसो भुत्तुज्झिया य जीवेण।
असइं अणंतखुत्तो पुग्गलपरियट्टसंसारे। (टीका. भग. आ १७७१)

इसका आशय ऊपर आगया है।

जैसे—रङ्ग-भूमि (नाटकघर) मे आकर नट नाना प्रकार की आकृति रग व स्वभाव को धारण करता और छोड देता है, वैसे ही द्रव्य ससार मे भ्रमण करनेवाला यह जीव नाना प्रकार की आकृति, वर्ण और स्वभाव को वार वार धारण करता और छोडता रहता है।

स प्र

क्षेत्र संसार

जत्थ ण जादो ण मदो हवेज्ज जीवो अणंतसो चेव ।
काले तीदम्मि इमो ण सो पदेसो जए अत्थि ॥ १७७५ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—इस लोक-क्षेत्र में ऐसा कोई प्रदेश नहीं बचा है, जहा पर यह जीव भूत काल में अनन्त वार नहीं जन्मा हो और न मरा हो ।

सव्वम्मि लोयखित्ते कमसो तं णत्थि जम्म उप्पण्णं ।
ओगाहणा य बहुसो परिभमिदो खित्तसंसारे ॥ १७७६ ॥ (भग. आ.)

भावार्थ—सबसे जघन्य शरीरवाला लब्ध्यपर्याप्तक सूक्ष्मनिगोदिया जीव लोक के आठ मध्य-प्रदेशों को अपने शरीर के प्रदेशों के मध्य में करके उत्पन्न हुआ, और क्षुद्र भव ग्रहण से जीकर मर गया, उसी क्षेत्र में वह जीव अंगुल के असख्यातवें भाग प्रमाण आकाश के जितने प्रदेश हैं उतनी बार जन्म लेकर मरण करता रहा है । उसके पश्चात् एक एक अधिक बढाते हुए उस जीवने सम्पूर्ण लोक-क्षेत्र को अपना जन्मक्षेत्र बना लिया । इसमें जितना काल लगता है उतने काल को क्षेत्र-परिवर्त्तन कहते हैं ।

ऐसे क्षेत्र—परिवर्त्तन इस जीव ने अनन्त किये हैं । सम्पूर्ण लोक-क्षेत्र में ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहां यह जीव अनेक अवगाहना धारण करके नहीं उत्पन्न हुआ हो । अर्थात् अनन्त वार प्रत्येक क्षेत्र में जन्म मरण कर चुका है ।

काल परिवर्त्तन

तक्कालतदाकालसमएसु जीवो अणंतसो चेव ।
जादो मदो य सव्वेसु इमो तीदम्मि कालम्मि ॥ १७७७ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के जितने समय हैं उन प्रत्येक में यह जीव अनन्त वार भूतकाल में जन्म मरण कर चुका है।

उवसप्पिणि-अवसप्पिणि-समयावलिगासु णिरवसेसासु ।
जादो मदो य बहुगो भमणेण दु कालसंसारे ॥ १७७८ ॥ (भग आ.)

अर्थ—यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के सम्पूर्ण समय की पंक्तियों मे अनेक भव धारण करके बहुत बार जन्म मरण कर चुका है। उसे काल संसार कहते हैं।

भावार्थ—किसी जीव ने उत्सर्पिणी के प्रथम समय मे जन्म लिया और अपनी आयु के क्षय होने पर मरण किया। फिर उसी जीव ने उत्सर्पिणी के दूसरे समय मे जन्म लिया और स्वकीय आयु के समाप्त होने पर मरण किया। वही जीव पुन तृतीय उत्सर्पिणी के तीसरे समय मे उत्पन्न हुआ और अपनी आयु के क्षय होने पर मृत्यु को प्राप्त हुआ। इसी क्रम से उस जीव ने सम्पूर्ण उत्सर्पिणी के समस्त जीवो मे यथाक्रम जन्म धारण किये और आयु की समाप्ति होने पर मरता रहा। इसी प्रकार अवसर्पिणी के प्रथम समय से लेकर अवसर्पिणी के अन्तिम समय पर्यन्त जन्म धारण करके स्व आयु के समाप्त होने पर मरण करता रहा। इस प्रकार निरन्तर जन्म कहे गये हैं। मध्य मे क्रम भग करके जन्म धारण किये, उनकी गिन्ती इनमे नहीं होती है। जिस प्रकार जन्म का क्रम दिखलाया गया, मरण का क्रम भी उसी प्रकार निरन्तर (अन्तर रहित) समझना चाहिए। इन जन्म और मरणो मे जितना काल लगता है, उसे काल परिवर्त्तन कहते हैं।

क्षेत्र-परिवर्तन

आत्मा के प्रदेशरूपक्षेत्र मे आत्मा के प्रदेशो का संसरण क्षेत्रपरिवर्त्तन है।

अट्ठपदेसे मुत्तूण इमो सेसेसु सगपदेसेसु ।
तत्तंपि व अद्दरणं उव्वत्तपरत्तणं कुणदि ॥ १७७९ ॥ (भग आ)

प्रदेशाष्टकमत्यस्य शेषेषु कुरुते भवी ।
उद्वर्त्तनपरावर्त्त संतप्तप्स्विव तंदुलाः ॥ १८४८ ॥ (टीका. भग. आ)

अर्थ—रुचकाकार जो आत्मा के मध्य के आठ प्रदेश हैं, उनको छोड़कर शेष सब प्रदेशो मे यह जीव उद्वर्त्तन और परावर्त्तन करता रहता है। आँधण मे (उफलते हुए जल मे) जिस प्रकार चावल ऊँचे-नीचे होते रहते हैं उसी प्रकार गोरतनाकार आठ

सं प्र.

प्रदेशो के अतिरिक्त आत्मा के सब प्रदेश ऊपर नीचे, ऊपर नीचे हुआ करते हैं अर्थात् उनमें स्पन्दन (चलनात्मक) क्रिया होती रहती है।

भाव संसार

लोगागास-पएसा असंखगुणिदा हवंति जावदिया ।
तावदियाणि हु अज्झवसाणाणि इमस्स जीवस्स ॥ १७८० ॥ (भग आ.)

अर्थ—लोक के असख्यात प्रदेशो को असख्यात से गुणित करने पर जितनी सख्या होती है, उतने एक जीव के अध्यवसाय स्थान होते है।

भावस्थानान्तराण्येवं देहवान् स प्रपद्यते ।
कर्केटुको यथानित्यं वर्णान् स्वीकुरुते बहून् ॥
अज्झवसाणठाणंतराणि जीवो विकुव्वइ इमो हु ।
णिच्चं पि जहा सरडो गिण्हदि णाणाविहे वण्णे ॥ १७८१ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—शरट (गिर्गट कर्कोटिया) जैसे अनेक रग बदलता रहता है, वैसे ही इस ससारी जीव के अध्यवसायों (भावो) मे नित्यप्रति परिवर्त्तन (परिणमन) होता रहता है। इसको भाव परिवर्त्तन कहते हैं।

भाव परिवर्त्तन का विस्तार पूर्वक निरूपण

पचेन्द्रिय सज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि किसी जीव ने अपने योग्य ज्ञानावरण कर्म-प्रकृति की सबसे जघन्य अन्त कोडा-कोडी (अन्त 'कोटि कोटि) सागर की स्थिति बाधी। उस जीव के उस स्थिति के योग्य कषाय-अध्यवसायस्थान (आत्म परिणाम विशेष) षट्स्थानपतित (अनन्त भागादि वृद्धि व हानिरूप) असख्यातलोक प्रमाण होते हैं। उन कषायाध्यवसाय स्थानो मे जो सर्व जघन्य कषायाध्यवसाय स्थान है, उसके निमित्तभूत अनुभागाध्यवसायस्थान भी असख्यातलोक प्रमाण होते हैं। इस प्रकार सर्वजघन्य स्थिति तथा सर्वजघन्य कषायाध्यवसायस्थान और सर्वजघन्य ही अनुभागाध्यवसायस्थान को प्राप्त हुए जीव के उनके योग्य सर्वजघन्य एक योगस्थान होता है। उसी स्थिति, उसी कषायाध्यवसाय व उसी अनुभागाध्यवसायस्थान के लिए असख्यातवृद्धियुक्त दूसरा योगस्थान होता है। तथा तृतीय चतुर्थ

आदि चारस्थान पतित हानि वृद्धिरूप असख्यातभागवृद्धि, सख्यातभागवृद्धि, सख्यातगुणवृद्धि, असख्यातगुणवृद्धि तथा असख्यातभागहानि, सख्यात भागहानि, सख्यातगुणहानि, असख्यातगुणहानिरूप) श्रेणी के असख्यात भाग प्रमाण योगस्थान होते हैं। जब श्रेणी के असख्यात भाग प्रमाण सब योगस्थान एक बार होजाते हैं, तब वही पूर्वोक्त स्थिति और वही पूर्वोक्त कषायाध्यवसायस्थान होता है, और अनुभागाध्यवसाय स्थान का प्रथमस्थान बदलकर द्वितीयस्थान हो जाता है। इस तरह एक २ बार श्रेणी के असख्यातभाग प्रमाण योग-स्थान होजाने पर अनुभागाध्यवसायस्थान का एक २ स्थान बदलते बदलते जब असंख्यात लोक प्रमित अनुभागाध्यवसायस्थान बदल जाते हैं तब स्थिति तो वही पूर्वोक्त रहती है और कषायाध्यवसाय का प्रथम स्थान बदलकर द्वितीय स्थान हो जाता है। इस द्वितीय स्थान के लिए पूर्वोक्त असख्यात लोक प्रमाण अनुभागाध्यवसाय स्थान होते हैं। अर्थात् एक एक अनुभागाध्यवसाय स्थान के निमित्त श्रेणी के असंख्यातभाग असख्यातभाग प्रमाण योगस्थान होते हैं। और एक एक कषायाध्यवसायस्थान के निमित्त असख्यातलोकप्रमाण असख्यातलोकप्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थान होते हैं।

इस प्रकार पूर्व की भांति एक एक बार सम्पूर्ण असख्यातलोकप्रमाण अनुभागाध्यवसाय स्थानो के होने पर कषायाध्यवसाय स्थान का एक एक स्थान बदलते बदलते जब वे असख्यातलोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थान एक बार हो जाते हैं तब पूर्वोक्त सर्वजघन्य स्थिति मे एक समय की वृद्धि होती है। इसी क्रम से स्थिति मे एक एक समय की वृद्धि होते २ ज्ञानावरण की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस कोडाकोडी सागर की पूर्ण होती है। कषायाध्यवसायादि स्थानो का परिवर्त्तन पूर्व की तरह समझलेना चाहिए।

इस प्रकार सम्पूर्ण कर्मों की मूलप्रकृतियो व उत्तर प्रकृतियो के परिवर्त्तन का क्रम जान लेना चाहिए। उक्त सम्पूर्ण मूलोत्तर कर्म-प्रकृतियो की जघन्यस्थिति से लेकर उत्कृष्टस्थिति तक परिवर्त्तन क्रम मे जितना काल लगता है, उतने काल को भाव परिवर्त्तन कहते हैं। वही कहा है .—

सव्वा पयडिठिदीओ अणुभागप्पदेसबंधठाणाणि।
मिच्छत्तसंसिदेण य भमिदा पुण भावसंसारे ॥ (भग. आ. टीका १७८१)

अर्थ—मिथ्यात्व के वशीभूत हुए इस जीव ने सम्पूर्ण कर्मों के प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, अनुभागबन्ध और स्थितिबन्ध के योग्य आत्मा के अध्यवसायो को धारण करके ससार मे परिभ्रमण किया है, इसे भाव ससार कहते हैं। ऐसे भाव ससार भी इस जीव ने अनन्त बार धारण किये हैं।

भवसंसार

एगविगतिगचउपंचिंदियाण जाओ हवंति जोणीओ ।
सव्वाउ ताउ पत्तो अणँतखुत्तो इमो जीवो ॥ १७७२ ॥ भग आ

अर्थ—नाम कर्म के गति, जाति आदि अनेक भेद माने है। उसमे जाति कर्म के पाच भेद हैं। जाति कर्म के उदय से एकेन्द्रिय आदि जीवो के जो आश्रय हैं, यहा उनको योनि माना है। सचित्त अचित्तादि चौरासी लाख भेद जो आगम मे अन्यत्र वर्णन किये गये है, उनका यहा ग्रहण नहीं किया है। यहा पर एकेन्द्रियादि के आश्रयभूत जो बत्तीस पर्यायें हैं उनका योनि शब्द से ग्रहण किया गया है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु कायिक जीवो मे से प्रत्येक के बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे चार चार भेद होते हैं। वनस्पतिकायिक जीवो के दो भेद है-साधारण और प्रत्येक। इनमे से साधारण वनस्पति कायिक के बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे चार भेद होते हैं। प्रत्येक वनस्पतिकायिकजीव बादर ही होते हैं, और उनके पर्याप्त और अपर्याप्त दो भेद होते हैं। इस प्रकार एकेन्द्रिय स्थावर जीवो के बाईस भेद हुए। तथा त्रसकाय के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय सञ्ज्ञी और पचेन्द्रिय असञ्ज्ञी ये पाच भेद होते हैं और इनमें प्रत्येक पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे दो दो भेद होने से दस भेद हुए। इस प्रकार सब मिल कर बत्तीस भेद हुए। इनमे जन्म धारण करते रहने को भव परिवर्त्तन कहते हैं।

दूसरे आचार्यों के मत से भव-परिवर्त्तन का स्वरूप निम्न प्रकार है.—

णिरयादिजहण्णादिसु जावदु उवरिल्लियादु गेवेज्जा ।
मिच्छत्तसंसिदेण दु भवठिदी भज्जिदा बहुसो ॥ (टीका भग.)

अर्थात्—नरकगति मे जघन्य आयु दश हजार वर्ष की है, उस आयु को धारण करके किसी ने वहाँ जन्म लिया और आयु पूर्ण होने पर ससार मे परिभ्रमण कर पुन पूर्वोक्त आयु धारण कर वही जीव उसी नरक मे जन्मा और आयु की समाप्ति के अनन्तर ससार में अन्य २ पर्यायें धारण करता रहा। पुन उसी आयु से उसी नरक मे दशहजार वर्ष के जितने समय होते हैं, उतनी वार जन्म धारण करके मरण करता रहा। उसके पश्चात् एक समय अधिक दशहजार वर्ष की आयु धारण कर उसी नरक मे उत्पन्न हुआ और मरा। इसी प्रकार एक एक समय अधिक की आयु धारण करते और मरते हुए उस जीवने नरक मे तेतीस सागर की उत्कृष्ट आयुस्थिति समाप्त की। उसमे असंख्यात वार जन्म मरण हुए।

तत्पश्चात् वह जीव सातवें नरक से निकलकर तिर्यंचगति मे उत्पन्न होकर सर्वजघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की आयु का धारक हुवा और अन्तर्मुहूर्त्त के जितने समय होते हैं, उतनी बार उसी पर्याय मे पूर्व की भाँति जन्म मरण करता रहा। इसके बाद एक एक समय अधिक की आयु धारण करते हुए पूर्वोक्त क्रमसे उत्कृष्ट तीन पल्य की आयु समाप्त की।

तदनन्तर वहाँ से निकलकर वह जीव मनुष्यगति मे आया और वहाँ भी तिर्यंचगति के समान सर्वजघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की आयु का धारक मनुष्य हुआ। अन्तर्मुहूर्त्त के जितने समय होते हैं, उतनी बार उतनी आयु की मनुष्य पर्याय धारण करके मरता रहा। तत्पश्चात् एक समय अधिक के क्रमसे उत्कृष्ट तीन पल्य की आयु समाप्त की।

तत्पश्चात् वहाँ से निकलकर देवगति मे उत्पन्न हुआ। वहाँ पर भी नरक के समान सर्वजघन्य आयु दश हजार वर्ष की धारण करके दशहजार वर्ष के जितने समय होते हैं उतनी बार उसी पर्याय में जन्म मरण करता रहा। उसके अनन्तर एक समय अधिक के क्रम से इकतीस सागर तक की आयु समाप्त की। क्योंकि नवग्रैवेयक तक ही मिथ्यादृष्टि का गमन है। आगे अहमिन्द्र सब नियम से सम्यग्दृष्टि होते हैं।

इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व के योग से नरक गति की जघन्य आयु से लेकर उत्कृष्ट आयु तथा इसी प्रकार तिर्यंच गति, मनुष्यगति और देवगति के उपरिम नवें ग्रैवेयक तक बहुत बार पर्याय धारण करते भवपरिवर्त्तन करता रहा है। अर्थात् इस जीव ने मिथ्यात्व के वश मे होकर उक्त भव-परिवर्त्तन अनन्त बार किये हैं।

इस ससार मे इस जीव को सब से भय लगा रहता है, किसी जगह भी सुख-शान्ति नहीं मिलती।

आगासम्मि वि पक्खी जले वि मच्छा थले वि थलचारी।
हिंसंति एक्कमेक्कं सव्वत्थ भयं खु संसारे ॥ १७८२ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—जब यह जीव कर्म-योग से पक्षी की पर्याय मे जन्म लेता है, और आकाश मे स्वच्छन्दवृत्ति से विहार करता है, तब श्येन (बाज) आदि विरोधी पक्षी उसे सताते हैं। जब जलचर जीवों मे जन्म धारण करता है तब छोटे मच्छो को महामत्स्य भक्षण करते हैं। जब थलचर मृगादि पशु होता है, तब सिंह, व्याघ्रादि हिंसक पशुओ से भक्षण किया जाता है, अर्थात् ससार मे एक दूसरे की हिंसा करने मे जीव तत्पर रहते हैं। ससार मे सर्वत्र भय लगा हुआ है। कहीं पर भी सुख व शान्ति नहीं दिखाई देती है।

ससउ वाहपरद्धो विलत्ति णाऊण अजगरस्स मुहं।
सरणत्ति मण्णमाणो मच्चुस्स मुवं जह अदीदि ॥ १७८३ ॥ (भग. आ)

अर्थ—व्याध (शिकारी) के भय से भगा हुआ शशक (खरगोश) अजगर के मुख को बिल समझकर उसको शरण (रक्षा का उपाय) मानकर उसमे जैसे प्रवेश करता है, वैसे ही यह जीव काल के मुँह मे प्रविष्ट होता है।

तात्पर्य यह है कि यह जीव इस ससार मे जिसको शरण समझता है, वही इसका घातक होता है। प्रत्येक जीव काल के मुख के निकट निवास करता है। अवसर पाते ही उसके मुख मे पहुच जाता है। अत धर्म ही इस जीव का शरण है, इस भव और परभव मे सुख और शान्ति का देनेवाला है। किन्तु अज्ञानी प्राणी मोहनीयकर्म के उदय से धर्म से विमुख होकर क्षुधा-तृषादि रूपी व्याधो से पीडित हुआ उनसे बचने के लिए भयानक दुख के देनेवाले ससार-रूप भुजग (कालेनाग) के मुख मे प्रवेश करता है।

ससार मे जितनी भी—चौरासी लाख-योनियाँ हैं, उनमे यह जीव अनन्तवार जन्म ले चुका है।

इस ससार म यह जीव तीर्थंकर, गणधर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण, पंचानुत्तर विमानवासी देव, लोकान्तिक देव, लोकपाल, शक्रादि दक्षिणेन्द्र तथा शक की पट्ट-महिषी नहीं हुआ। इनके अतिरिक्त सब पर्यायें यह जीव अनन्तवार धारण कर चुका है।

अच्चंधवहिरमूओ छादो तिसिओ वणे व एयाई।
भमइ सुचिरंपि जीवो जम्मवणे णट्ठसिद्धिपहो ॥ १७८८ ॥ (भग. आ)

अर्थ—इस ससार मे यह जीव कभी जन्म से अन्धा, बहरा व गूगा होकर जन्मा था। अनन्तवार भूख व प्यास से पीडित हुआ था। जैसे कोई सिद्धिनगर—मोक्षनगर-का पथभ्रष्ट (मार्गभूला) पथिक अकेला घने जगल मे इधर उधर भ्रमण करता है वैसे ही जीव अनादिकाल से ही मोक्षमार्ग से भ्रष्ट होकर इस भववन मे असहाय भ्रमण कर रहा है। और भी कहा है—

"कलुषचरितैर्नष्टज्ञानः सुसचितकर्मभिः
करणनिकरैः कर्मोद्भूतो भवार्णवपाततः।
दुर्निरवशो दुःखार्तोयं निमीलितलोचनो—
ऽभ्रमति कृपणो नष्टत्राणः शुभेतरकर्मकृत ॥"

अर्थ—यह अज्ञानी जीव मिथ्यादि परिणामो म बहुत कर्मो का सचय करके उनके फल स्वरूप कभी नेत्रहीन हुआ, कभी कानो की श्रवण-शक्ति से रहित हुआ, कभी वचन उच्चारण करने की शक्ति से विकल हुआ, कभी बौना, लूला, लगडा, टूचा हुआ, कभी वचन बोलने की शक्ति पाई तो दु खर मिला-निम्न जीवो के स्वरो को अप्रिय हुआ। कभी इन्द्रियो की पूर्णता पाई तो मूर्ख-विवेकरहित हुआ।

व्याधि से पीडित होकर आर्त्तध्यानी बना रहा। कभी व्यसनो में फंसकर अनेक पापक्रियाओ मे मग्न रहा। कभी इष्ट पदार्थों के वियोग से आतुर होकर शोक में दिन बिताये। कभी अपने से अधिक विभूति वाले मनुष्यो को देखकर मात्सर्य भाव धारण कर भयानक कर्मों का सचय किया। कभी अभिमानवश अधिक गुणवानो से विद्वेष कर ज्ञानावरणादि कर्मों का सचय करता रहा। कभी ससार के भोग विलास की लालसा के वशीभूत हुआ अन्य जीवो की धनादि प्रियवस्तुओ के ठगने मे निपुण रहा। इस प्रकार चिरकाल तक इन्द्रियों के विषय मे परतन्त्र हुआ यह जीव अशुभ कार्य करके इस ससार मे अशरण, दुःख पीडित और दीन होकर उसकी भ्रमण करता है।

विसयामिमारगाढं कुजोणिणेमि सुहदुक्खदढखीलं।
अण्णाणतुंवधरिदं कसायदढपट्टयावधं ॥ १७६१ ॥
बहुजम्मसहस्सविसालवत्तणिं मोहवेगमहिचवलं।
संसारचक्कमारुहिय भमदि जीवो अणप्पवसो ॥ १७६२ ॥ (भग आ.)

अर्थ—कर्म के परतन्त्र हुआ यह जीव ससार रूपी चक्र पर चढा हुआ सतत भ्रमण करता रहता है। इस संसार चक्र के विषयाभिलाषा रूपी मजबूत आरे हैं। नरकादि कुयोनि जिसके नेमि (पुठि) है। सुख दुःख रूप जिसके दृढ कील लगी है। अज्ञानावस्था रूप तुवे से जो धारण किया गया है। जिस ससार-चक्र पर कषायरूप लोहे की पट्टी चढी हुई है। अनेक जन्म रूप विशाल मार्ग पर भ्रमण करता है। मोहरूपी वेग से यह अत्यन्त चचल दिखाई देता है। ऐसे ससाररूपी चक्र पर चढे हुए इस जीव का निकल भागना अत्यन्त कठिन है। सत्संगति के प्रभाव से जब इस आत्मा के सत्यज्ञान का उदय होकर मोहान्धकार दूर होता है, तब इस ससार रूप चक्र का वेग मन्द हो जाता है और जीव उससे पृथक् होजाने की शक्ति प्राप्त करलेता है। ऐसे अवसर पर रत्नत्रय का आराधन यदि वह करले तो सदा के लिए उससे पृथक् होकर मोक्ष के अविनश्वर पद को प्राप्त कर लेता है।

संसार के छह भेद.

किं केण कस्स कत्थ व केवचिरं कदिविधो य भावो य।
छहिं अणिओगदारे हिं सव्वे भावाणुगंतव्वा ॥ १५ ॥ (मूला. द्वा. अ.)

अर्थ—१ ससार किसे कहते हैं ? २ यह किन भावो से होता है ? ३ किसके होता है ? ४ कहा है ? ५ कितने काल की स्थिति वाला है ? और कितने प्रकार का है ? इन छह अनुयोगद्वारो की अपेक्षा ससार के छह भेद होजाते हैं। केवल ससार का स्वरूप वर्णन करने

के लिए ही ये छह अनुयोग द्वार नहीं, किन्तु सम्पूर्ण पदार्थों का विवेचन करने के लिए छह अनुयोगद्वार समझने चाहिए। पदार्थों की व्याख्या करने के उपायों को अनुयोगद्वार कहते हैं। इन अनुयोगद्वारो द्वारा व्याख्या करने से पदार्थों का विशद विवेचन हो जाता है।

१ प्रश्न—ससार किसे कहते हैं ?

उत्तर—नरक तिर्यंच देव और मनुष्य इन चारो गतियो में जीव के भ्रमण करने को संसार कहते हैं।

२ प्रश्न—किन भावो से ससार होता है ?

उत्तर—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक भावो से संसार होता है। अर्थात् ससारी जीव के ये पाचों भाव पाये जाते है।

३—प्रश्न ससार किसके होता है।

उत्तर—अष्ट कर्मों से घिरे हुए नारक, तिर्यंच, देव और मनुष्य के होता है।

४ प्रश्न—यह ससार कहा रहता है ?

उत्तर—मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग में ससार पाया जाता है। अर्थात् संसार के आधार मिथ्यात्वादि परिणाम हैं। जहा ये होते है वहा ससार होता है। अथवा संसार का आधार तिर्यक लोक है।

५ प्रश्न—ससार का काल कितना है ?

उत्तर—इसका काल अनादि-अनन्त और अनादि-सान्त है। अभव्य की अपेक्षा संसार अनादि-अनन्त है तथा भव्य की अपेक्षा अनादि सान्त है।

६ प्रश्न—संसार कितने प्रकार का है ?

उत्तर—सामान्य रूप से चतुर्गति मे भ्रमण रूप ससार एक प्रकार का है। भव्यजीव और अभव्यजीव की अपेक्षा से दो प्रकार का है। अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त इस प्रकार ससार के तीन भेद होते हैं। क्षेत्र, द्रव्य, काल और भाव की अपेक्षा से ससार के चार भेद हैं। तथा उक्त भेदो में 'भव' भेद मिला देने पर ससार पाच प्रकार का है और उक्त गाथा मे वर्णित छह अनुयोग द्वारो की अपेक्षा से ससार के छह भेद हैं।

संसार में दुःख ही दुःख

* तत्थ जरामरणभयं दुक्खं पियविप्पओगवीहणयं।
अप्पिय संजोगं पि य रोगमहावेदणाओ य॥ १६॥ (मूला.द्वा. अ.)

अर्थ—उक्त प्रकार से संसार में जन्म से उत्पन्न होने वाला कायिक (काय-जन्य) वाचनिक (वचन-जन्य) मानसिक (मन से उत्पन्न) दुःख तथा प्रिय वस्तु के वियोग होने पर उत्पन्न होने वाला दुःख महा भयानक होता है। तथा अप्रिय-अनिष्ट वस्तु के संयोग-जन्य महादुःख होता है। इन के तथा ज्वरादि रोगों और खांसी, श्वास, वमन, कुष्ठ, राजयक्ष्मा आदि व्याधियों से उत्पन्न हुई वेदनाओं को यह जीव निरन्तर अनुभव करता रहता है। तथा

जायंतो य मरंतो जलथलखयरेसु तिरियणिरयेसु।
माणुस्से देवत्ते दुक्खसहस्साणि पप्पोदि ॥ १७ ॥ (मूला. द्वा. अ.)

अर्थ—यह जीव संसार में निरन्तर जन्म मरण करता हुआ तिर्यंचगति में जलचर, थलचर और खेचर (पक्षी) बनकर अनेक दुःख भोगता है। तथा नरकगति में जाकर के अगोचर भीषण दुःखों को भोगता है। यदि किसी पुण्य के योग से मनुष्यगति पा लेता है तो वहां पर इष्टानिष्ट मिथ्यात्व के निमित्त से अनेक संताप और इष्ट-वियोग, अनिष्ट संयोग आदि से उत्पन्न अनेक दुःखों का अनुभव करता है। यदि पुण्य के निमित्त से कभी देवगति में जन्म लिया तो वहां पर भी इसे सुख नहीं। उस महर्द्धिक के भारक देवों को देखकर नित्य झूरता है। मिथ्यात्वभाव के योग से तृष्णा-पिशाची वहां पर भी इसका पीछा नहीं छोड़ती। मोहकर्म की प्रबलता से उसी को सुख का साधन समझ लेता है और छह मास पूर्व माला के मुर्झाने पर अपने को स्वर्ग से च्युत हुआ समझ कर महान मानसिक पीड़ा को भोगता है। वहां पर वह रो रोकर समय बिताता है और पुनः एकेन्द्रियादि जीवों में जन्म लेकर अनन्त दुःख का अनुभव करता है।

इस जीव ने संसार में भ्रमण करते हुए सच्चे सुख का कभी अनुभव नहीं किया। जब कभी कुछ जिस सुख का अनुभव किया है वह इन्द्रियजन्य सुख है। सच्चा सुख नहीं, सुखाभास-मात्र की कल्पनामात्र। और यह काल्पनिक सुख भी यहां मिलनेवाले अनन्त दुःख के समक्ष समुद्र के नहीं के बराबर है। यही कहा भी है:—

जं णाणा,राइ णेरई देवा माणुस्सिया य अणुभूदं।
दुक्खं अणंतयुत्तं णिरिंद तिरिएसु जाणीसु ॥ १८ ॥ (मूला. द्वा. अ.)

अर्थ—कभी कभी आशावानता से भोगोपभोग तथा माता-पिता आदि, पुण्य प्रकृति के योग से देवगति और मनुष्य पर्याय में सुख नाम की सामग्री भी मिली; किन्तु नरक और तिर्यंच योनि में अनन्त बार घोर दुःख प्राप्त किया। उस दुःख के आगे वह सुख समुद्र में एक बूंद के समान भी नहीं।

सासारिक सुख के साथ दुःख

संजोगविप्पजोगा लाहालाहं सुहं च दुक्खं च।
संसारे अणुभूदा माणं च तहावमाणं च ॥ १६ ॥ (मूला. द्वा. अ.

अर्थ-- ससार मे इस जीव को पुण्य योग से इष्ट वस्तुओ का समागम प्राप्त हुआ तो साथ ही मे पाप प्रकृति के उदय से उन्हीं इष्ट पदार्थों के वियोग से महादु ख का अनुभव भी करना पडा। जहा लाभान्तरायकर्म के क्षयोपशम से मनोवाछित वस्तुओ का लाभ हुआ तो उसके साथ ही लाभान्तरायकर्म के उदय से उनका अलाभ भी हुआ अर्थात् उन अभीष्ट पदार्थों का असहयोग हुआ। सातवेदनीय कर्म के उदय से सुख प्राप्त हुआ तो वीर्यान्तिराय कर्म के उदय से उनका सुखानुभव न कर सका अथवा तत्काल असातवेदनीय कर्म का उदय होने पर दु ख के साधनो का सम्बन्ध हुआ और दु ख का अनुभव करने के लिए वाध्य होना पडा। यश कीर्ति कर्म के उदय से व अन्य पुण्य प्रकृति के सहयोग से ससार मे आदर सम्मानादि की वृद्धि हुई तो लगातार अयश-कीर्ति व अन्य पाप प्रकृति के उदय से अपमानादि के प्राण-घातक कष्टो को भोगना पडा। तात्पर्य यह है कि संसार मे यह जीव कर्म रूप मदारी के हाथ का मर्कट बना हुआ सदा परतन्त्रता के असीम दु खो का अनुभव कर रहा है। इसे कहीं सच्चा सुख नहीं मिलता। इस तत्त्व का अनुभव कर भव्यो को संसार-भ्रमण से उन्मुक्त होने का उपाय करना चाहिए और ससार मे कहीं सुख मिलने की लालसा छोड देनी चाहिए।

लोकानुप्रेक्षा

एगविहो खलु लोओ दुविहो तिविहो तहा बहुविहो वा।
दव्वेहिं पज्जएहिं य चिंतिज्जो लोयसब्भाव ॥ २१ ॥ (मूला० द्वा० अ०)

अर्थ—(१) सामान्य रूप से लोक एक प्रकार है—जिसमें जीवादि पदार्थ दिखाई दे उसे लोक कहते हैं। (२) ऊर्ध्व लोक और अधोलोक के भेद से लोक दो प्रकार का है। (३) ऊर्ध्वलोक अधोलोक और तिर्यक् लोक के भेद से लोक तीन प्रकार का है अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के भेद से लोक तीन प्रकार का है। (४) चारगति के भेद से लोक चार प्रकार का है। (५) जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, और आकाशास्तिकाय के भेद से लोक पाँच प्रकार का है। (६) उक्त पाँच अस्तिकाय और एक काल इन छह द्रव्यो के भेद से लोक छह प्रकार का है। (७) जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वो की अपेक्षा से लोक सात प्रकार का है। (८) ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की अपेक्षा लोक आठ प्रकार का है।

इस प्रकार लोक की रचना के द्रव्यों और पर्यायों का विचार करने से लोक अनेक प्रकार का सिद्ध होता है। उसके स्वरूप के अभ्यास करने को लोकानुप्रेक्षा कहते हैं।

लोक का स्वरूप

लोओ अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिप्पएणो।
जीवाजीवेहिं भुडो णिच्चो तालुरुक्खसंठाणो ॥ २२ ॥ (मू० द्वा० अ०)

अर्थ—यह लोक अकृत्रिम है। अर्थात् ईश्वर आदि किसी का बनाया हुआ नहीं है। अनादि (आदिरहित) और अनिधन (अन्तरहित) है। न तो इसकी किसी ने सृष्टि (रचना) की है और न इसका कोई प्रलय (नाश) ही कर सकता है। यह स्वभाव से निष्पन्न है। अर्थात् घटादि की तरह इसकी परमाणुओं के संयोग से उत्पत्ति नहीं हुई है। तथा यह जीव द्रव्यों और अजीव द्रव्यों से भरा हुआ है। अर्थात् यह मायामयी असत्यभूत कल्पनामात्र नहीं जैसाकि वेदान्ती इसे माया रूप (मिथ्या) मानते हैं, यह नित्य है। जैसा कि बौद्ध मत वाले सब पदार्थों को क्षणिक (क्षण विनश्वर) मानते हैं; वैसा नहीं है, किन्तु शाश्वत है। और इस प्रकार के इस लोक का आकार ताड के वृक्ष समान है। अर्थात् जैसे ताडका वृक्ष जड़ मे चौडा, मध्य मे सकडा और ऊपर मे चौड़ा होता है, उसी प्रकार यह लोक अधोभाग में सात राजू प्रमाण चौडा है, मध्य मे सकडा होकर एक राजू मात्र चौडा रह गया है और फिर ऊपर ऊर्ध्व लोक में ब्रह्म स्वर्ग के पास जाकर पांच राजूप्रमाण चौड़ा और फिर और ऊँचा जाकर अन्तमे एक राजू प्रमाण मात्र रहगया है।

त्रिलोकसार मे इस लोक का आकार डेढ खडी मृदंग के समान कहा है।

उब्भियदलेक्कदमुखद्धयसंचयसरिणहो हवेलोगो।
अध्दुदयो मुखसमो चोद्दसरज्जूदओ सव्वो ॥६॥ (त्रिलोकसार)

अर्थ—खडी रखी हुई डेढ मृदंग (आधो मृदंग के ऊपर एक मृदंग) समान आकृति वाला यह लोक है। मृदंग बीच में पोली होती है, किन्तु यह लोक उस की तरह पोला (खाली) नहीं है, मध्य मे भरा हुआ है। खड़ी की हुई अर्धमृदंग के समान अधोलोक और खड़ी हुई एकमृदंग के आकार समान ऊर्ध्वलोक है। दोनो मिलाकर सब लोक चौदह राजू ऊँचा जानना।

भावार्थ— आकाश के बहुमध्य भाग मे ३४३ तीनसौ तेतालीस घनाकार राजू प्रमाण यह लोक स्थित है। यह किसी के आधार पर नहीं है। घर के मध्यभाग मे जैसे छींका होता है, उसी प्रकार आकाश के मध्य भाग में लोक अवस्थित है। छींके के नो ऊपर

के क्षेत्र का आश्रय होता है, किन्तु यह लोक आश्रय रहित है। इसके चारो ओर तीन वातवलय-घनोदधिवातवलय घनवातवलय, तनुवातवलय हैं। इन तीनो वातवलय (वायुमण्डल) से यह लोक वेष्टित है। इस लोक के अधोभाग में तथालोक के नीचे दोनो पार्श्व भागो में एक राजू पर्यन्त तीनो वातवलयो की मोटाई बीस बीस हजार योजन है। यहा से (नीचे से एक राजू के) ऊपर सातवीं नरक पृथ्वी के निकट घनोदधि की सात, घन वातवलय की पॉच और तनुवातवलय की चार योजन मोटाई रह गई है। अर्थात् बीस हजार योजन से घट कर एकदम क्रमसे सात, पाच और चार योजन की मोटाई रह गई है। यहॉ से वातवलय की मोटाई घटते २ तिर्यंक्लोक तक क्रमसे पांच, चार और तीन योजन की मोटाई रह गई है। फिर यहाँ से क्रमसे बढते बढते ब्रह्मलोक के निकट तीनो वातवलयो का परिमाण क्रमशः सात पांच और चार योजन का होगया है। तथा यहा से क्रम से घटते घटते उर्ध्वलोक मे तिर्यक् लोक के समान पाँच, चार और तीन योजन मोटाई रह गई है। लोक के उपरिम भाग मे तीनो वातवलय का प्रमाण दो कोश, एक कोश, और एक कोश मे चारसौ पच्चीस धनुष कम मोटाई का प्रमाण है। अर्थात् घनोदधिवातवलय दो कोश प्रमाण, घनवातवलय एक कोश प्रमाण और तनुवातवलय पन्द्रहसो पचहत्तर धनुष प्रमाण मोटे हैं।

इस प्रकार के तीन वातवलय के आधार पर लोक स्थित है। लोक को चारों ओरों से घनोदधिवातवलय (जल मिश्रित मोटी वायु) वेष्टित किये हुए है। यह वायु इस लोक के चारो ओर समशक्ति अवस्थित हैं। अब इसी वायु के आश्रय पर लोक अवलम्बित है-ऐसा जानना। जैसे किसी पदार्थ को चारो ओर से समान शक्ति से धक्का लगता रहे तो वह पदार्थ बीच मे ही स्थिर रहता है, इसी प्रकार लोक के चारो तरफ समान शक्ति वाली वायु धक्का दे रही है, अत यह मध्य मे जहॉ का तहाँ अवस्थित होरहा है। घनोदधि वायु के आधार पर लोक है। यह घनोदधिवातवलय घनवातवलय के आश्रय पर है। यह वायु भी मोटी है, लेकिन उस मे जलका भाग नहीं है। और यह घनवातवलय तनुवातवलय के आश्रित है। सूक्ष्म वायु को तनुवात कहते हैं। तनुवातवलय आकाश के आश्रित है। और आकाश अमूर्त होने से किसी के आधार पर नहीं है। यह स्वप्रतिष्ठ है अपने आपके आधार है।

घनोदधिवात का रग गोमूत्र के वर्ण समान है, घनवात का रग मूग नाम के अन्न के समान हरा है और तनुवात का रग अनेक प्रकार का माना गया है।

अन्य मतो मे इस लोक के विषय मे भिन्न भिन्न अनेक मान्यताएँ है। कोई तो कहते हैं कि इस संसार मे सर्वत्र जल ही जल था। ईश्वर को सृष्टि करने की इच्छा उत्पन्न हुई। उस इच्छा मे एक अण्डा जल मे उत्पन्न हुआ और वह बहुत बड़ा हो गया। उसके दो विभाग (खड) हुए। एक नीचे के विभाग से पृथ्वी बनी और ऊपर के खड से आकाश की रचना हुई। उन दोनो के मध्य मे मनुष्य लोक, स्वर्ग लोक, और पाताल लोक का निर्माण हुआ।

कोई मानते है कि विष्णु इस जगत् की रचना करता है, ब्रह्मा इस का पालन करता है और रुद्र (महादेव) इसका प्रलय (सहार-नाश) करता है। इस प्रकार इसकी उत्पत्ति रक्षण और प्रलय होता रहता है।

यौग ईश्वर की इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और प्रयत्नशक्ति इन तीनो शक्तियो से जगत् की उत्पत्ति मानते है। वे कहते है की जीवो के शुभाशुभ कर्म के अनुसार ईश्वर जगत् की रचना करता है।

सांख्य मानते है कि सत्त्व रज और तम ये तीन धर्म प्रकृति मे रहते है। इन तीनो की जब तक समअवस्था रहती है, तब तक प्रकृति अपने स्वरूप मे ही रहती है और जब इन धर्मों मे विषमता होने लगती है, तब जगत् का निर्माण आरम्भ होता है। उनका सृष्टिक्रम निम्न प्रकार करते है।

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥ (सांख्यतत्त्व कौमुदी)

भावार्थ—प्रकृति और पुरुष ये दो मूल तत्त्व है। सत्त्व, रज और तम इनकी साम्यावस्था को प्रकृति या प्रधान कहते हैं। और जो चेतन है उसे पुरुष कहते है। यह चेतन केवल अपने स्वरूप का अनुभव मात्र करता है। बाह्य पदार्थों का ज्ञान बुद्धि से होता है और वह बुद्धि प्रकृति का धर्म है। क्योकि प्रकृति के सत्त्वादि गुणो मे जब विषमता उत्पन्न होती है; तब प्रकृति से महान (बुद्धि) की उत्पत्ति होती है। बुद्धि से अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार से सोलह तत्त्व उत्पन्न होते है-पॉच ज्ञानेन्द्रियॉ (स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र) पॉच कर्मेन्द्रियॉ (हाथ, पॉव सिर, गुदा और उपस्थ (जननेन्द्रिय) पॉच तन्मात्र अर्थात इंद्रियो के विषय (स्पर्श रस, गन्ध, वर्ण और शब्द और एक मन) तथा पॉच तन्मात्र (इन्द्रियो के विषय से पाच भूत (पृथ्वी जल अग्नि, वायु और आकाश) उत्पन्न होते है। यह सृष्टी-प्रक्रिया है।

इन पचीस तत्त्वो मे प्रकृति और पुरुष ये दो तत्त्व नित्य है। और शेष तेईस तत्त्व प्रकृति से जन्म लेते हैं। और प्रलय काल मे प्रकृति से जिस क्रमसे उत्पन्न हुए है, उसी क्रम से लीन हो जाते हैं। अर्थात् पचभूत तो पचतन्मात्र मे लीन हो जाते है। पचतन्मात्र पाँच ज्ञानेन्द्रियॉ व पॉच कर्मेन्द्रियॉ और मन ये सोलह तत्त्व अहंकार मे लीन हो जाते है और अहंकार महान् (बुद्धि) मे लीन होजाता है, और बुद्धि प्रकृति मे लीन हो जाती है। इस प्रकार प्रलय काल मे प्रकृति और पुरुष ये दो ही तत्त्व शेष रह जाते हैं।

उक्त रीति के अनेक मत प्रचलित हैं। उन सबका वर्णन करने से ग्रन्थ के विस्तृत होने का भय है, अतः विशेष नहीं लिखते हैं। किन्तु यह ध्यान रखना कि उक्त जैनेतर सब कल्पनाएँ युक्ति से असगत और बुद्धि से अग्राह्य हैं।

स प्र

इस संसार मे पहले केवल जल ही जल था-ऐसा जो मानते हैं उनको मोचना चाहिए कि सबसे पहले ज़ल ही जल था, और कुछ भी नहीं था, पृथ्वी आकाश भी नहीं थे, तो जल किस पर ठहरा हुआ था ? क्योंकि जल विना आधार के ठहरने में असमर्थ है। उसके लिए कोई पृथ्वी या अन्य कोई आश्रय मानना ही पड़ेगा।

दूसरी बात यह है कि ईश्वर (ब्रह्मा) की इच्छा से जल मे एक अंडा उत्पन्न हुआ और इसी कारण इस जगत् को लोग ब्रह्माण्ड कहने लगे। इसमें यह शंका उत्पन्न होती है कि उस अण्डे का उपादान (जिस द्रव्य या पदार्थ ने वह उत्पन्न हुआ है वह) क्या है, और वह कहाँ पर स्थित था ? तथा उस अण्डे को बनानेवाला ईश्वर किस स्थान पर निवास करता था ? उसके शरीर था या नहीं ?

शरीर धारण किये विना तो मूर्त्तद्रव्य उत्पन्न नहीं किये जा सकते ? क्योंकि मूर्त्तद्रव्य की उत्पत्ति मूर्त्तद्रव्य से ही होती है। अमूर्त्त से मूर्त्तद्रव्य की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती।

प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति मे उपादान कारण और निमित्त कारण की आवश्यकता होती है। जो कारण कार्यरूप परिणमन करता है उसे उपादान कारण कहते हैं। जैसे घड़े का उपादान कारण मिट्टी है, क्योंकि मिट्टी घड़े के रूप मे परिणत हुई है। जो कार्य की उत्पत्ति मे प्रयत्न करता है या सहायक होता है उसे निमित्त कारण कहते हैं। जैसे कुम्हार घड़े के बनाने में प्रयत्न करता है, अतःवह घड़े का निमित्त कारण माना जाता है। इसी प्रकार यदि ईश्वर उत्पादक-निमित्त कारण है तो जगत् का उपादान कारण अन्य होना चाहिए। जगत् का उपादान कारण ईश्वर तो हो नहीं सकता, क्योंकि वह अमूर्त्त है, तथा अचेतन व चेतन रूप जगत् का उपादान कारण भी वैसाही चेतन व अचेतन रूप होना चाहिए।

प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति मे ज्ञान, इच्छा, और प्रयत्न की आवश्यकता होती है। ईश्वर मे ज्ञान तो माना जा सकता है, किन्तु उसमे इच्छा और प्रयत्न का सद्भाव मानना किसी भी तरह युक्ति-सगत नहीं है। ईश्वर के यदि इच्छा का सद्भाव माना जाय तो प्रश्न उपस्थित होता है कि वह ईश्वर की इच्छा नित्य है या अनित्य ? यदि वह नित्य है तो उसके साथ कभी कार्यों का अन्वय-व्यतिरेक नहीं बन सकता। यदि उसे अनित्य माना जाय तो बतलाना होगा कि उस इच्छा की उत्पत्ति का कारण क्या है ?

जगत् मे कोई भी इच्छा विना कर्म के नहीं होती। यदि ईश्वर के इच्छा मानें तो उसे सकर्मा मानना होगा। पर ईश्वर को सकर्मा मानना तो बिल्कुल युक्ति-विरुद्ध है। क्योंकि तब हममे और ईश्वर में कोई भेद ही न रहेगा इस तरह जब ईश्वर के किसी भी युक्ति से इच्छा सिद्ध नहीं हो सकती तब उसके प्रयत्न भी कैसे माना जा सकता है ?

जो लोग (सांख्य) प्रकृति (प्रधान) से जगत् की रचना मानते हैं उनसे हम पूछते हैं कि प्रकृति जब जड है तो उससे बुद्धि (ज्ञान) कैसे उपन्न हो सकती है ? क्योंकि बुद्धि (ज्ञान) तो चेतन आत्मा का धर्म है।

सत्त्व, रज और तम की समानावस्था को प्रकृति कहते हैं। इन सत्त्वादि गुणों मे विपमता उत्पन्न करने वाला कौन है? पुरुप तत्त्व को तो उक्त कार्य करने मे असमर्थ माना गया है। वह तो अपने स्वरूप का अनुभव करता है, बाहर के कार्य मे वह अकिंचित्कर है। जगत् की उत्पत्ति और प्रलय को साख्यों ने प्रकृति के कार्य स्वीकार किये हैं, किन्तु उनका कारण प्रकृति नहीं हो सकती। क्योंकि प्रकृति का ठीक स्वरूप साम्यावस्था है। उसमे जब विपमावस्था उत्पन्न होती है तभी जगत् का निर्माण स्वीकार किया गया है। हम पूछते हैं कि उस वैपम्य (विपम अवस्था) को उत्पन्न करने वाला कौन है ?

इस प्रकार जगत की सृष्टि माननेवाले जितने भी जैनेतर मत हैं वे सब युक्तियो से निराकृत होते हैं इसलिए अमान्य हैं।

लोक की रचना के समान लोक के आश्रय के विपय मे भी अनेक मत हैं वे भी युक्ति-सगत नहीं। जैसे—

कुछ लोग इस पृथ्वी को गाय के सींग पर टिकी हुई मानते हैं। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि गाय के सींग पर नहीं किन्तु कछुवे की पीठ पर यह पृथ्वी ठहरी हुई है। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो यह कहते हैं कि यह सारी पृथ्वी शेपनाग के माथे पर ठहरी हुई है। पर इन मे से किसी का भी कहना ठीक नहीं हैं, क्योंकि यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह गाय, कछुवा और शेप नाग कहाँ पर ठहरे हुए हैं ? यदि इन का भी कोई आधार स्वीकार किया जाय तो फिर उस आधार के विपय में भी प्रश्न उपस्थित होंगे और इस तरह अनवस्था आजायगी। अत. जैनाचार्यों ने जो इस सारे लोक को तीन प्रकार की वायु के आधार पर माना है वही बुद्धि-ग्राह्य और युक्ति-सगत है।

लोक के विभाग

इस लोक के तीन विभाग हैं—अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक।

अधोलोक सात राजू प्रमाण ऊँचा है। इसके अधोभाग मे चौडाई सात राजू प्रमाण है। पुनः घटते २ अधोलोक के ऊपर के अन्तिमभाग-नरक की प्रथम पृथ्वी-मे जाकर इसकी चोडाई एकराजू प्रमाण रहगई है। इसका क्षेत्रफल (लम्बाई चोडाई) अठाईस राजू प्रमाण है।

इस अधोलोक के (नरक की सातवीं पृथ्वी के) नीचे एकराजू प्रमाण क्षेत्र में केवल निगोदिया जीवो का निवास है। उस एक राजू प्रमाण स्थान मे ठसाठस निगोदिया जीव भरे पडे हैं। इस अधोलोक के शेप छह राजू प्रमाण क्षेत्र मे सात नरक पृथ्वियाँ हैं।

नरक की पृथ्वियों का वर्णन

प्रथम पृथ्वी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है। इसके तीन भाग हैं–१ खरभाग, २ पंकभाग। ३ अब्बहुलभाग। उनमे से खरभाग सोलह हजार योजन मोटा है। उसमे एक एक हजार योजन की मोटी सोलह भूमियाँ हैं। उनके नाम ये हैं—

१ चित्रा, २ वज्रा, ३ वैडूर्या, ४ लोहिता, ५ कामसार कल्पा, ६ गोमेदा, ७ प्रवाला, ८ ज्योतिरसा, ९ अंजना, १० अंजनमूलिका, ११ अङ्का, १२ स्फटिका, १३ चन्दना, १४ सर्वार्थका, १५ वकुला, १६ शैला।

इन सोलह भूमियो मे से आदि की चित्रा और अन्त की शैला नाम की भूमि को छोड कर बाकी की चौदह भूमियो मे राक्षस और असुरकुमार देवो के अतिरिक्त सब व्यन्तर देवो और भवनवासी देवो के आवास स्थान बने हुए हैं। उनमे ये देव निवास करते हैं। जम्बूद्वीप से असख्यात द्वीप समुद्रों को छोडकर शेष द्वीप समुद्रो के नीचे के भूभाग मे भवनवासी और व्यन्तर देवो के उक्त निवास स्थान बने हुए हैं। अर्थात् जम्बूद्वीप और लवणसमुद्रादि असख्यात द्वीप समुद्रो के नीचे के भाग मे उक्त देवो के निवास स्थान नहीं बने हैं, किन्तु उक्त असख्यात द्वीप समुद्रो के आगे के अधोभाग मे उक्त निवासस्थान बने हैं।

दूसरा पंक भाग चौरासी हजार योजन का मोटा है। उसमे राक्षस नाम के व्यन्तर देवो के और असुरकुमार नामक भवनवासी देवो के निवासस्थान बने हुए हैं।

तीसरा अब्बहुल भाग है, उसमे प्रथम नरक है। उक्त तीनो भाग रत्नप्रभा नामक पृथ्वी के हैं। इन तीनों भागो के मध्य कोई पोल (रिक्त आकाश का अन्तराल) नहीं है। जैसे किसी पर्वत के किसी अपेक्षा से विभाग किये जाते हैं वैसे रत्नप्रभा पृथ्वी के ये तीन खण्ड हैं।

दूसरी शर्कराप्रभा पृथ्वी बत्तीसहजार योजन, तीसरी वालुकाप्रभा अठाईस हजार योजन, चौथी पंकप्रभा चौबीस हजार योजन, पॉचवी धूमप्रभा बीस हजार योजन, छठी तम प्रभा सोलह हजार योजन और सातवीं महातम प्रभा आठ हजार योजन मोटी है।

नरक की सात पृथिवियो के उक्त रत्नप्रभा आदि नाम भूमि के वर्ण (प्रभा) के साहचर्य के कारण निष्पन्न हुए हैं। इनके रूढ नाम तो ये हैं—१ घर्मा, २ वशा, ३ मेघा, ४ अजना, ५ अरिष्टा, ६ मघवी और ७ माघवी।

ये सातो पृथ्वियॉ लोक के अत (दोनो छोर) तक चली गई हैं। लोक मे कुल ८ धरा (पृथ्वियॉ) हैं। सात तो ये नरक धरा,

और आठवीं सिद्धधरा (सिद्धशिला) है। धरा उसीको कहते हैं जो पूर्व पश्चिम लोक के अन्त को प्राप्त हो। स्वर्ग-विमानो को धरा इसीलिए नहीं कहा है कि वे लोकान्त तक अखड रूप नहीं हैं।

ये सातो भूमियाँ एक दूसरी से असख्यात योजन के अन्तर पर हैं। इन भूमियो के चारों ओर उक्त तीनो प्रकार की वायु का वेष्टन है अर्थात् इन भूमियो को घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय चारो तरफ से वेढ़े हुए हैं। इन भूमियो मे प्रथम पृथ्वी के अब्बहुल भाग और द्वितीयादि पाच पृथ्वीयो में एक एक हजार योजन ऊपर नीचे का भूभाग छोडकर सातवीं पृथ्वी के ऊपर और नीचे बहुत भूभाग छोडकर मध्य भाग मे पटलो के अनुक्रम से नरक बिल हैं। शेष भूमिभाग में एकेन्द्रिय जीवो का ही निवास है।

नारकियों के शरीर की ऊँचाई

प्रथम नरक के नारकी का शरीर सात धनुष, तीन हाथ और छह अगुल ऊँचा है। दूसरे आदि नरक मे दूना २ ऊँचा होता चला गया है। अर्थात् दूसरे नरक के नारकी का शरीर साढ़े पन्द्रह धनुष, बारह अगुल (आधा हाथ) ऊँचा है। तीसरे नरक के नारकी का शरीर सवा इकतीस धनुष ऊँचा है। चौथे नरक के नारकी का शरीर साढ़े बासठ धनुष ऊँचा है। पाँचवें नरक के नारकी का शरीर एक सौ पचीस धनुष ऊँचा, छठे नरक के नारकी का ढाईसौ धनुष ऊँचा और सातवें नरक के नारकी का शरीर पाँचसौ धनुष ऊँचा है।

इन सात पृथिवियो मे कुल उनचास पटल (प्रस्तार–खन) हैं। जैसे हवेली या महल मे खन होते हैं, वैसे ही इन पृथ्वियो मे पटल हैं। पहली पृथ्वी (अब्बहुल भाग) मे तेरह, और द्वितीयादि पृथिवी मे क्रमसे ग्यारह, नव, सात, पाँच, तीन और एक पटल हैं।

उक्त सात पृथिवियो के उनचास पटलो मे कुल नारकियों के चौरासी लाख बिल हैं। अर्थात् पहली भूमि में तीस लाख, दूसरी मे पच्चीस लाख, तीसरी मे पन्द्रह लाख, चौथी मे दश लाख, पाँचवीं मे तीन लाख, छठी मे पाँच कम एक लाख और सातवीं में केवल पाँच बिल हैं।

नरक में ठंढ और गर्मी

नरक की प्रथम भूमि रत्नप्रभा से लेकर चार भूमियो के और पाँचवी पृथ्वी के चार भागो मे से तीन भाग (ऊपर के दोलाख) तक के सब बिल अग्नि से भी अधिक उष्ण हैं। इन पृथ्वियो मे इतनी उष्णता है कि मेरु पर्वत के समान लोहे या ताबे का गोला ऊपर से गिराया जावे तो मार्ग मे ही पिघल कर पानी-सा होकर बह जावे तथा पाँचवीं पृथ्वी के चतुर्थ भाग से लेकर अन्त तक (सातवीं भूमि तक) उसी प्रकार शीत की पराकाष्ठा है।

स प्र

नारकियों के बिलों की स्थिति का प्रकार

नरक की पृथ्वियो के पटलो मे तीन प्रकार के बिल हैं—इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक। जैसे एक हवेली में कई खन (मंजिल) होते हैं वैसे ही नरक भूमियो म कई पटल हैं। प्रत्येक खन मे जैसे बीचमें कोठा हो वैसे प्रत्येक पटल के बीच मे इन्द्रक नामका बिल है और उसकी चारो दिशाओ व विदिशाओ मे कोठो की पंक्तियाँ हो वैसे प्रत्येक पटल में दिशाओं व विदिशाओ मे श्रेणीबद्ध बिल हैं, एवं प्रत्येक खन मे जैसे इधर-उधर दिशा-विदिशा के बीच-बीच में कोठे हो वैसे दिशा विदिशा के बीच २ मे क्रमरहित बिल हैं, उन्हें प्रकीर्णक बिल कहते हैं। हवेली के खन पृथ्वी के ऊपर भाग म रहते हैं वैसे नरक रचना नहीं है किन्तु एक के नीचे एक पटल होते हैं और उन पटलो के अधोभाग में जैसे यहाँ भूमि-गृह होते हैं वैसे नरक बिल हैं। महल मे चढने के लिए सीढियाँ और दरवाजे आदि होते हैं वैसे नरक के बिलो मे नहीं होते हैं।

प्रथम नरक के प्रथम पटल के मध्य भाग मे एक इन्द्रक बिल है। ऐसे ही सम्पूर्ण पटलो मे एक एक इन्द्रक बिल होता है। प्रथम पटल की चारो दिशाओ म चार पंक्तियाँ हैं, उन हर एक पंक्तियो मे उनचास २, और ऐसे ही चारो विदिशाओं मे चार पंक्तियाँ हैं, उन प्रत्येक पंक्तियो मे अडतालीस अड़तालीस बिल हैं, उन्हे श्रेणीबद्ध बिल कहते हैं। ये बिल प्रतिपटल एक एक कम होते चले गये हैं। इसलिए सब के अन्तिम सातवीं भूमि के उनचासवें पटल की विदिशा मे श्रेणीबद्ध बिल का सर्वथा अभाव है। चारो दिशाओ मे भी एक एक ही बिल है। और मध्य मे एक इन्द्रक बिल है। इस प्रकार सातवें नरक मे केवल पाँच ही बिल हैं।

श्रेणीबद्ध और इन्द्रक बिलो की संख्या को सम्पूर्ण बिलो की संख्या मे घटाने पर जितनी संख्या आती है उतने प्रकीर्णक बिल हैं। जैसे प्रथम पृथ्वी म बारहजार चारसो बीस श्रेणीबद्ध बिल और तेरह इन्द्रक बिल इन दोनों को तीस लाख मे घटाने पर उनतीस लाख पिच्यानवे हजार पाँचसो सरसठ प्रकीर्णक बिलो की संख्या आती है।

जहाँ समान हानि या वृद्धि होती है उनका जोड़ लाने के लिए त्रिलोकसार मे करण सूत्र इस प्रकार है—'मुहभूमिजोगदले पदगुणिदे पदधणं होदि' अर्थात् मुख और भूमि का योग (जोड़) करके आधा करे और उसे पद (गच्छ) से गुणा करे तब सब स्थानो का जोड होता है।

भावार्थ—जितने स्थानो का जोड देना हो उन स्थानो को पद या गच्छ कहते हैं। स्थान स्थान प्रति जितने प्रमाण से हानि या वृद्धि होती है उसे चय कहते हैं। और आदि या अन्त के इन दो स्थानो मे से जो अधिक प्रमाणवाला स्थान है उसे भूमि कहते हैं और जो अल्प प्रमाणवाला स्थान है उसे मुख कहते हैं। जैसे प्रथम नरक के तेरह पटल के बिलो की संख्या का प्रमाण निकालना है तो यहाँ

पद की संख्या तेरह है और प्रति-पटल के श्रेणिबद्ध विमानो मे दिशा और विदिशा के विलो मे एक एक घटता गया है। 'जैसे-प्रथम पटल की दिशा की प्रत्येक पंक्ति मे उनचास-उनचास और विदिशा की प्रत्येक पंक्ति मे अडतालीस अडतालीस-विल हैं। नीचे के दूसरे पटल मे दिशा की प्रतिपंक्ति में अडतालीस-अडतालीस और विदिशा की प्रत्येक पंक्ति मे सैंतालीस-सैंतालीस विल है। इसी प्रकार प्रति पटल की दिशा व विदिशा की पंक्ति मे एक एक घटता हुआ चला गया है।' अत: प्रथम पटल के दिशा की पंक्ति मे उनचास और विदिशा की पंक्ति मे अडतालीस श्रेणिबद्ध विलो को जोडने पर सत्यानवे होते है, दिशा व विदिशा का प्रमाण चार है, अतः सत्यानवे को चौगुना करने पर प्रथम पटल के सम्पूर्ण श्रेणिबद्ध विलो का प्रमाण तीनसौ अठासी होता है। यह यहाँ पर भूमि है। अन्त के तेरहवे पटल मे दिशा मे सैंतीस और विदिशा मे छत्तीस श्रेणिबद्ध विल हैं, इनको जोडने पर तिहत्तर हुए। इनको चार दिशा व विदिशा के प्रमाण से गुना करने पर दोसौ वानवे हुए। इतने अंतपटल मे श्रेणिबद्ध विल हैं। यह यहाँ पर मुख है। प्रति पटल आठ-आठ श्रेणिबद्ध घटते जाते हैं, अत चय का प्रमाण यहाँ आठ है। 'मुहभूमिजोगदले' के अनुसार मुख तो दो सौ वानवे और भूमि तीन सौ अठासी का योग (जोड़) छहसौ अस्सी का दल (आधा) करने पर तीन सौ चालीस हुए। इन को पद तेरह से गुणा करने पर चार हजार चारसौ बीस प्रथम नरक के तेरह पटलो के सम्पूर्ण श्रेणिबद्ध विलो का प्रमाण होता है। इनमे तेरह इन्द्रक विलो का प्रमाण जोडने पर चार हजार चारसौ तेतीस होते हैं। इसी प्रकार द्वितीयादि नरक भूमि के श्रेणिबद्ध विलो का प्रमाण निकाल लेना चाहिए।

समस्त भूमियो के श्रेणिबद्ध विलो का प्रमाण भी उक्त प्रकार से निकाल लेना चाहिए। यहाँ पर मुख तो सप्तम भूमि सम्बन्धी श्रेणिबद्ध विल 'चार' हैं। तथा भूमि प्रथम भूमि के प्रथम पटल के श्रेणिबद्ध विल तीनसौ अठासी है। इनका योग तीनसौ वानवे के आधे एक सौ छियानवे को चय प्रमाण उनचास से गुणा करने पर नौ हजार छहसौ वावन सम्पूर्ण नरक भूमियो के श्रेणिबद्ध विल होते हैं।

नरक भूमियों के इन्द्रक विल का विस्तार सख्यात-सख्यात योजन, श्रेणिबद्ध विल का विस्तार असख्यात ? योजन और प्रकीर्णक विलका विस्तार सख्यात या असख्यात योजन है। अर्थात् कोई प्रकीर्णक विल सख्यात योजन का है और कोई असख्यात योजन का है।

प्रथम पटल का इन्द्रक विल मनुष्य क्षेत्र (पैंतालीस लाख योजन) प्रमाण और पटल का इन्द्रक सातवें नरक का उनचासवें विल जम्बूद्वीप (एकलाखयोजन) प्रमाण है। मध्य के पटलो के विल नीचे नीचे क्रमश: हीन प्रमाण वाले है। इसका विशेष वर्णन त्रिलोकसार से जानना।

नरक में जन्म कौन लेता है ?

नरक के बिल कुत्ते, विल्ली, शूकर आदि के अत्यन्त सडे हुए कलेवर से भी अत्यधिक दुर्गन्धमय हैं। उनमे वे जीव उत्पन्न होते है जिन्होने वहुत आरंभ व परिग्रह के उपार्जनादि मे रौद्र परिणाम करके नरकायुका सचय किया है।

नारकों के उपपाद स्थानों का आकार व जन्म की दशा

जैसे महल की छत मे कोई स्थान बना हो वैसे उन नरक के बिलो मे ऊपर की ओर ऊट आदि के मुख समान आकार वाले (भीतर से पोले सकड़े मुखवाले) उत्पाद स्थान हैं, उनमे नारकी जन्म लेते हैं। अन्तर्मुहूर्त मे उनकी पर्याप्ति पूर्ण हो जाती है। उसके पश्चात् वे उन उत्पाद स्थानो से छूटकर नीचे नरक बिलो के भूमितल पर जो तीक्ष्ण शस्त्र रहते हैं उन पर गिरते हैं और वहाँ से उछल कर फिर उनहीं पर गिरते हैं। घर्मा पृथ्वी के नारकी एकसौ पच्चीस मे सोलह का भाग देने पर जितनी सख्या आवे उतने योजन (सात योजन सवाकोश) ऊपर उछलते हैं। वंशादि भूमि मे इनसे क्रमश दूने २ उछलते हैं अर्थात् जिस भूमि में नारकियों की जितने धनुष ऊंचाई है उतने ही योजन प्रमाण वे ऊपर उछलते हैं।

नारकियों के दुःख

पुराने नारकी नवीन नारकियो को देखकर अत्यन्त कठोर वचन उच्चारण करते हुए आते हैं और उन्हें मारते हैं। शस्त्र पर गिरने से उनके शरीर पर जो घाव होजाते हैं उनपर अत्यन्त खारा जल सींचते हैं।

नवीन नारकी जीवो के पर्याप्ति पूर्ण होने पर कुअवधिज्ञान उत्पन्न होता है, उससे वे अपना पूर्व जन्म का वैर-सम्बन्ध जानकर तथा अपृथक् विक्रिया द्वारा हिंसक जन्तु या शस्त्रादि का आकार धारण कर पुराने नारकियो को मारते हैं तथा पुराने नारकी उन्हें मारते हैं। नारकियो के अपृथक् विक्रिया ही होती है। अत वे अपने शरीर को हिंसक-सिंह, व्याघ्र, शूकर घूक, काक, गिद्ध आदि मे किसी एक प्राणीरूप अथवा खड्ग, भाला, शूली, मुद्गर, अग्नि आदि शस्त्रादि रूप बनाकर दूसरो के हनन करने मे प्रवृत होते हैं।

वहाँ पर वेताल कीसी आकृति वाले भयानक पर्वत हैं, तथा दुःख देने वाले मकड़ा यत्र के समान गुफाएँ हैं। अग्नि से तपी हुई लोहे की मूर्त्ति के समान वहाँ स्त्री आदि की प्रतिमा हैं। तथा वहाँ असि-पत्र वन है, जो छुरी, असि, फरसा आदि के समान अति तीक्ष्ण पत्रो (पत्तो) से सयुक्त है।

वहाँ अतिक्षार जल वाली वैतरणी नामक नदी है और अति दुर्गन्ध घृणास्पद रुधिर मे सयुक्त महावीभत्स ह्रद है जो करोडो कीड़ो से भरे हुए हैं। नारकी जीव अग्नि के भय से दौडते हुए शान्ति के लिए उस वैतरणी नदी मे कूद पडते है तो उसके खारे जल से उनके क्षत-विक्षत हुए शरीर दग्ध हो जाते हैं। वहाँ से वे शान्ति के अर्थ असि-पत्र वन की छाया मे बड़े वेगसे दौडकर जाते है तो वहाँ पवन से गिरे हुए असि, छुरी, भाले आदि सरीखे तीक्ष्ण पत्तो से उनके शरीरा के खंड-खंड हो जाते हैं और वे घोर दुःख पाते हैं।

तप्त लोहे के समान जल से भरी हुई कुंभी में नारकियों को डालकर, जैसे हांडी में अन्न पकाते हैं वैसे, पकाते हैं। जैसे कड़ाही में तपे हुए तैल में अन्नादि तलते हैं वैसे नारकियों को कड़ाही में डालकर तलते हैं। इत्यादि अनेकप्रकार के दुःखों की सामग्री वहाँ पाई जाती है।

वहां की भूमि का स्पर्श तपेहुए लोहे के समान है। वह भूमि सूई सरीखी पैनी हरी घास से व्याप्त है। हजारों बिच्छुओं के काटने से जैसी वेदना यहाँ होती है उससे भी अधिक वेदना नरक की भूमि के स्पर्श मात्र से होती है। उन नारकियों के उदर, नेत्र और मस्तक आदि के रोगों से तथा क्षुधा, तृषा, भयादि से तीव्रवेदना निरन्तर हुआ करती है।

कुक्कुर (कुत्ता) बिलाव आदि निकृष्टजीवों की दुर्गन्धमय विष्टा से भी अत्यन्त दुर्गन्धमय प्रथम नरक की मिट्टी है। अत्यन्त भूखे नारकियों को वह मिट्टी बहुत थोड़ी खाने को मिलती है। दूसरे तीसरे आदि नरकों की मिट्टी और भी अधिक २ दुर्गन्धमय है।

पहले नरक के प्रथम पटल की मृत्तिका (मिट्टी), जिसका भक्षण वहाँ के नारकी करते हैं, वह यदि इस मनुष्य लोक में डाल दी जाय तो वह मृत्तिका अपनी दुर्गन्ध से आध २ कोश के जीवों को मारने में समर्थ होसकती है। ऐसे नीचे नीचे के प्रत्येक पटल की अनुक्रम से उस मिट्टी में आधे आधे कोश अधिक पृथ्वी में स्थितजीवों को मारने की शक्ति होती है। अर्थात् दूसरे पटल की मिट्टी में दुर्गन्ध से एककोशतक के जीवों को मारने की शक्ति है। तीसरे पटल की मृत्तिका में डेढ़ कोशतक के और चौथे पटल की मृत्तिका में दो कोशतक के जीवों का घात करने का सामर्थ्य है। इस प्रकार सातवें नरक की मृत्तिका में साढ़े चौवास कोश तक की पृथ्वी पर के जीवों का संहार करने की शक्ति होती है।

शस्त्रादि से उन नारकियों के शरीर के टुकड़े २ होजाते हैं, किन्तु वे अकाल (आयु पूर्ण हुए बिना) मृत्यु को प्राप्त नहीं होते हैं। उनके शरीर के हजारों खंड होने पर भी वे पारे (धातु) के समान तत्काल मिल जाते हैं।

जिनके तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता होती है। अर्थात् जो नरक से निकलकर तीर्थंकर होने वाले हैं उन जीवों के नरकायु के छह मास शेष रहने पर नरकम दूर उनके उपसर्गों का निवारण करते हैं। (इसी प्रकार जो जीव स्वर्ग से चय कर तीर्थंकर होने वाले होते हैं उन के छह मास पूर्व अन्य देवों की भाँति माला नहीं मुरझाती है।)

नारकियों की आयु अनपवर्त्य (अकाल मृत्युरहित) होती है। उनकी भुज्यमान आयु किसी निमित्त से नहीं घटती है। जितनी आयु है उसको पूर्ण भोगे बिना मृत्यु नहीं होती है। पवन से जैसे मेघ-पटल नष्ट होकर आकाश में विलीन हो जाते हैं वैसे ही नारकी जीवों के शरीर भी आयु के पूर्ण होने पर विलय को प्राप्त हो जाते हैं। मनुष्य व तिर्यंचों के मृतक शरीर के समान भूमिपर पड़े नहीं रहते हैं।

नारक जीवों को चार प्रकार के दुःख होते हैं-क्षेत्रजन्य-२ शरीरजन्य-३ मनोजन्य, व ४ असुरदेवजन्य।

१ क्षेत्रजन्य—नरक भूमि के अतितीक्ष्ण शस्त्र, कठोरस्पर्श, विष से अति कटु रस, सड़े हुए कुत्ते बिल्ली आदि के मृतक कलेवर से अत्यधिक दुर्गन्ध, जिसके पंख नोचलिये गये हैं ऐसे पक्षी के समान महावीभत्स रूप, कूटशालमली, वैतरणी नदी, वेताल सम भयानक पर्वत गुफा आदि से वचनातीत क्षेत्रजन्य दुःख नारक जीवों के होता है।

२ शरीरजन्य—शरीर में अनेक प्रकार के भयानक उदरशूलरोग, मस्तक में तीव्र पीड़ा, शरीर के व्रण (घाव) आदि की तीव्र वेदना होती है। यह शरीर-जन्य दुःख है।

३ मनोजन्य—चारों ओर के भय से निरन्तर आकुल परिणामों के कारण जो सतत आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान से उत्पन्न होने वाला अतिशय दुःख नारक जीवों को होता रहता है, वह मनोजन्य दुःख है।

४ असुरकुमारदेव जन्य—तीसरे नरक तक अम्बावरीषादि जाति के असुरकुमारदेव नारक जीवों को परस्पर लड़ाते हैं। उनको पूर्व वैर का स्मरण दिलाते हुए एक दूसरे को मारने का उपाय बतला कर दुःख देते हैं।

नारकियों की आयु

अब नारक जीवों की पटल-पटल प्रति जघन्य व उत्कृष्ट आयु को दिखाते हैं—

प्रथम पृथ्वी के प्रथम पटल में नारक जीवों की जघन्य आयु दश हजारवर्ष और उत्कृष्ट आयु नब्बै हजार वर्ष की होती है। दूसरे पटल में जघन्य आयु समयाधिक निब्बै हजार वर्ष और उत्कृष्ट आयु निब्बै लाख वर्ष की है। तीसरे पटल में जघन्य आयु समयाधिक निब्बै लाख वर्ष और उत्कृष्ट आयु असंख्यात कोटि वर्ष पूर्व है।(सत्तर लाखछप्पन हजार कोटि को पूर्व कहते हैं।) चौथे पटल में जघन्य आयु तीसरे पटल की उत्कृष्ट आयु से समयाधिक प्रमाण है और उत्कृष्ट आयु एक सागर का दशवाँ भाग प्रमाण है। इस प्रकार सर्वत्र ऊपर की उत्कृष्ट आयु नीचे पटलकी जघन्य आयु समझनी चाहिए। पाँचवें छठे आदि पटल में अनुक्रम से दो सागर के दशवें भाग, तीन सागर के दशवें भाग, चारसागर के दशवें भाग, पाँच सागर के दशवें भाग, छह सागर के दशवें भाग, सात सागर के दशवें भाग, आठ सागर के दशवें भाग, नौ सागर के दश भाग प्रमाण और एक सागर प्रमाण आयु समझना चाहिए।

अर्थात् प्रथम नरक पृथ्वी के नारकों की उत्कृष्ट आयु एक सागर प्रमाण है। दूसरी पृथ्वी मे तीन सागर, तीसरी मे सात सागर, चौथी में दशसागर, पाँचवी में सत्रह सागर, छठी मे बाईस सागर और सातवीं मे तेतीस सागर की उत्कृष्ट आयु है। पूर्व पूर्व

पृथ्वी की जो उत्कृष्ट आयु है वह समयाधिक उत्तर उत्तर पृथ्वी की जघन्य आयु जाननी चाहिए।

प्रथम नरक भूमि के अन्तिम पटल मे नारक जीवों की ऊँचाई सात धनुष, तीन हाथ और छह अंगुल प्रमाण है तथा द्वितीयादि भूमि में नारको के शरीरकी ऊँचाई दूनी दूनी होती गई है। सातवें नरक मे पाँचसौ धनुष की ऊँचाई है।

प्रथम नरक पृथ्वी के प्रथम पटल मे नारक जीवो के शरीर की ऊँचाई तीन हाथ प्रमाण है। प्रत्येक पटल के नारकियो की शरीर की ऊँचाई आयु आदि निकालने के लिए करण सूत्र कहते हैं —

"आदीअंतविसेसे रूऊणद्धाहिदम्हि हाणिचयं"

अर्थ—आदि के प्रमाण मे से अन्त प्रमाण घटाने पर जो शेप रहे उसमे एक कम गच्छ का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना नीचे के पटल पटल प्रति बढने का प्रमाण होता है। यहाँ प्रकृत मे प्रथम नरक के प्रथम पटल मे तीन हाथ का उत्सेध (ऊंचाई) है सो तो आदि जानना और प्रथम नरक के अन्तिम पटल का उत्सेध सात धनुप, तीन हाथ और छह अगुल प्रमाण है, सो अन्त जानना। इस अत मे से आदि तीन हाथ घटाने से सात धनुप और छह अगुल रहे। यहाँ तेरह पटल हैं सो गच्छ का प्रमाण तेरह मे से एक घटाने पर बारह रहे, उसका भाग सात धनुप के अठाईस हाथ में देने पर दो तो हाथ हुए और शेप चार हाथ रहे। उनके छियानवे अगुल हुए और पूर्व छह अंगुल थे उनको इनमे मिलाने पर एक सौ दो अगुल मे बारह का भाग देने पर आठ लब्ध आये सो ८ अगुल हुए। शेप छह रहे, उनमें बारह का भाग देने पर आधा अगुल और हुआ। इस प्रकार प्रति पटल दो हाथ, साढे आठ अगुल बढने का प्रमाण जानना चाहिए। इस प्रमाण को प्रथम पटल के उत्सेध तीन हाथ प्रमाण मे जोड़ने पर दूसरे पटल के नारक जीवो के शरीर का पाच हाथ, साढे आठ अंगुल प्रमाण उत्सेध होता है। (चार हाथ का एक धनुप और चौबीस अगुल का एक हाथ होता है।) उक्त प्रकार चय (दो हाथ साढे आठ अगुल) पूर्व पूर्व पटल के उत्सेध में मिलाने से उत्तर उत्तर पटल के उत्सेध का प्रमाण होता है। उक्त क्रमसे तीसरे पटल के नारको के शरीर का उत्सेध एक धनुप तीन हाथ सत्रह अगुल होता है। इसी प्रकार प्रथम नरक के सब पटलो में समझ लेना चाहिए।

द्वितीयादि पृथ्वी के विषय में भी पूर्व पृथ्वी के अन्त पटल का जो उत्सेध है वह तो आदि और विवक्षित पृथ्वी के अन्त पटल का जो उत्सेध है उसे अन्त स्थापन कर आदि को अन्त मे से घटाना चाहिए। यहा पर पूर्व पृथ्वी के अन्त पटल को आदि कहा है, इसलिए विवक्षित पृथ्वी मे जितने पटल का प्रमाण है उससे एक अधिक गच्छ कर उसमे से एक को घटाने पर जो प्रमाण हुआ उसका भाग देने पर जो लब्ध आता है वह चय होता है। जैसे द्वितीयादि पृथ्वी के विषय मे आदि तो सात धनुप, तीन हाथ, छह अगुल और अन्त पन्द्रह धनुप, दो हाथ,

बारह अंगुल है। यहाँ आदि को अन्त म मे घटाने पर सात धनुप, तीन हाथ, छह अंगुल रहे। उन मे द्वितीय पृथ्वी के पटल प्रमाण ग्यारह का भाग देने व धनुप आदि के हस्तादि करलेने पर दो हाथ, बीस अगुल और दो अगुल का ग्यारहवा भाग प्रमाण चय आया। इसी प्रकार तृतीयादि पृथ्वी मे भी चय का प्रमाण साधन करना चाहिए।

यहाँ प्रथम पृथ्वी के अन्त पटल के सात धनुप, तीन हाथ, छह अगुल उत्सध में चय का प्रमाण दो हाथ, बीस अंगुल और दो अंगुल के ग्यारहवें भाग को मिलाने पर द्वितीय पृथ्वी के प्रथम पटल का आठ धनुप, दो हाथ, दो अ गुल और दो अ गुल का ग्यारहवा भाग प्रमाण उत्सेध होता है। इसी प्रकार द्वितीयादि पटल का उत्सेध लाने के लिए पूर्व पटल के प्रमाण मे चय का प्रमाण जोडते जाना चाहिए। द्वितीय पृथ्वी के उत्सेध प्रमाण के अनुक्रम से तृतीयादि पृथ्वी के उत्सेध का प्रमाण साधन करना चाहिए।

नारक जीवों का अवधिज्ञान का क्षेत्र

रत्नप्रभा पृथ्वी के नारको का अवधिज्ञान का क्षेत्र चारकोश प्रमाण है। शर्करादि शेप छह पृथ्वी के नारको के अवधिज्ञान का क्षेत्र क्रमसे प्रति पृथ्वी आधा आधा कोश हीन होता गया है। अर्थात साढे तीन, तीन, ढाई, दो, डेढ और एक कोश क्षेत्र प्रमाण अवधिज्ञान क्रमसे द्वितीयादि पृथ्वी के नारकों का होता है।

नरक से निकले हुए जीवों के उत्पत्ति का नियम

नरक से निकले हुए जीव मनुष्य व तिर्यंच गति मे ही उत्पन्न होते हैं। देव और नरक गति मे जन्म नहीं लेते है। मनुष्य और तिर्यंचो मे भी कर्मभूमि के सज्ञी पर्याप्तक गर्भजो मे ही उत्पन्न होते हैं। सप्तम पृथ्वी के निकले हुए जीव कर्मभूमिज सज्ञी पर्याप्त गर्भज तिर्यंच ही होते हैं, मनुष्य नहीं होते। तिर्यंचो मे भी हिंसक सिंहादि क्रूर पशु ही होते हैं।

नरक से निकले हुए जीव नारायण, बलभद्र, चक्रवर्ती नहीं होते हैं। चतुर्थादि पृथ्वी से निकले हुए जीव तीर्थंकर नहीं होते हैं। पाँचवीं आदि पृथ्वी से निकले हुए चरमशरीरी नहीं होते। छठी आदि पृथ्वी से निकले हुए सकल-सयमी नहीं होते। तथा सातवीं पृथ्वी से निकले हुए सासादन, मिश्र (तीसरे गुणस्थान वर्ती), असयत व देशसंयत नहीं होते हैं।

नरक में गमन करने वाले जीवों का नियम

असज्ञी पञ्चेन्द्रिय और सरीसृप (गिर्गट छिपकली आदि) प्राणी और भेरुड आदि पक्षी, सर्प, सिंह, मानुषी स्त्री, मत्स्य और

मनुष्य इनकी प्रथमादि पृथ्वी मे निरन्तर उत्पत्ति आठ बार से लेकर दो बार तक जाननी चाहिए। अर्थात् असञ्ज्ञी मर कर प्रथम नरक में जाकर वहाँ से निकल संज्ञी हो मरकर फिर यहा हो असञ्ज्ञी हो, मरकर फिर प्रथम नरक जावे तब एक बार होता है। ऐसे असञ्ज्ञी अधिक से अधिक आठ बार प्रथम नरक में जाता है। नरक से निकला हुआ असञ्ज्ञी नहीं होता है, अतः मध्य मे एक सञ्ज्ञी पर्याय का अन्तर होना है। सरीसृपादि में एक अन्तर न ग्रहण करना। सरीसृप दूसरे नरक जाकर वहाँ से सरीसृप हो फिर दूसरे नरक मे जावे। ऐसे निरन्तर सात बार जा सकता है। ऐसे ही पक्षी निरन्तर तीसरे नरक मे छह बार जा सकता है। सर्प चौथे नरक मे पाँच बार जा सकता है। सिंह पाँचवें नरक मे चार बार जा सकता है। स्त्री छठे नरक में तीन बार निरन्तर जन्म ले सकती है। तथा मत्स्य व मनुष्य एक अन्तर देकर सातवें नरक मे निरन्तर दोबार उत्पन्न हो सकते हैं। उनमे से मत्स्य सातवे नरक जाकर वहाँ से निकल कर गर्भज तिर्यंच होता है। मरकर फिर मत्स्य होकर सातवें नरक मे जाता है। क्योकि यहाँ नरक से निकला हुआ सम्मूर्छन नहीं होता है और मत्स्य सम्मूर्छन है, इसलिए यहाँ एक अन्तर कहागया है। इसी प्रकार मनुष्य मे भी एक अन्तर जानना चाहिए। क्योकि सातवें नरक से निकला जीव मनुष्य नही होता है, इसलिए बीच में एक अन्तर कहा है। इस प्रकार दोबार उत्पत्ति का नियम कहा है।

यहाँ जीवो के उत्पन्न होने का भी नियम जान लेना चाहिए। असञ्ज्ञी जीव प्रथम पृथ्वी में ही उत्पन्न हो सकता है, द्वितीयादि पृथ्वी मे उत्पन्न नहीं हो सकता। सरीसृप दूसरी पृथ्वी पर्यन्त जन्म ले सकता है, तृतीयादि पृथ्वी मे जन्म धारण नहीं कर सकता। पक्षी तृतीय पृथ्वी तक उत्पन्न हो सकता है, आगे जन्म नहीं लेता। सर्प चतुर्थ पृथ्वी पर्यन्त जन्म ले सकता है आगे नहीं जा सकता। सिंह पाचवीं तक, स्त्री छठी तक और पुरुष एव मत्स्य सातवीं पृथ्वी पर्यन्त उत्पन्न हो सकते है।

नरक पृथ्वी मे जीवोत्पत्ति का अन्तर

प्रथम पृथ्वी मे कोई जीव उत्पन्न न हो तो उत्कृष्ट चौबीस मुहूर्त्त पयन्त उत्पन्न नही होता है और न मरता है। चौबीस मुहूर्त्त के पश्चात् कोई न कोई अवश्य जन्म लेता है अथवा कोई अवश्य मरता है। ऐसे ही द्वितीय पृथ्वी मे सात दिन का, तृतीय पृथ्वी में एक पक्ष का, चतुर्थ पृथ्वी मे एक मास का, पाँचवीं मे दो मास का, छठी मे चार मास का और सातवीं पृथ्वी मे छह मास का जन्म मरण का अन्तर है।

भवनवासियों के आवास

रत्नप्रभा पृथ्वी के खर भाग व पङ्क भाग मे भवनवासी व व्यन्तर देवो के भवन बने हुए है। उनमे से भवनवासी देवो का सक्षेप से वर्णन करते हैं—

असंख्यात द्वीप समुद्रो के बीतने के बाद शेष असख्यात द्वीप समुद्रो के नीचे भवनवासी और व्यन्तर देवो के भवन बने हुए हैं।

भवनवासी देवो के सात करोड़ बहत्तर लाख भवन हैं, तथा एक-एक भवन मे एक एक चैत्यालय है, इसलिए जितने भवन हैं, उतने ही चैत्यालय हैं।

भवनवासी देवों के भेद

भवनवासी देवो के दश भेद हैं—१—असुर कुमार, २ नागकुमार, ३ विद्युत्कुमार, ४ सुपर्णकुमार, ५ अग्निकुमार, ६ वातकुमार, ७ स्तनितकुमार, ८ उदधिकुमार, ९ द्वीपकुमार और दिक्कुमार। उक्त प्रत्येक भेद मे दो दो इन्द्र हैं।

असुर कुमार मे चमर और वैरोचन, नागकुमार मे भूतानन्द और धरणानन्द, विद्युत्कुमार में घोष और महाघोष, सुपर्णकुमार मे वेणु और वेणुधारी, अग्निकुमार मे अग्निशिखी और अग्निवाहन, वातकुमार मे वेलम्ब और प्रभजन, स्तनितकुमार में हरिषेण और हरिकान्त उदधिकुमार मे जलप्रभ और जलकान्त, द्वीपकुमार मे पूर्ण और वशिष्ट, दिक्कुमार मे अमितगति और अमितवाहन इस प्रकार प्रत्येक भेद में दो दो इन्द्र कहे गये है।

इन्द्रो में परस्पर ईर्ष्या

चमरेन्द्र तो सौधर्म इन्द्र (शक्र) के साथ और भूतानन्दइन्द्र वेणुइन्द्र के साथ तथा वैरोचन ईशानइन्द्र के साथ और धरणानन्द वेणुधारीइन्द्र के साथ स्वाभाविक ईर्ष्या करते है। अर्थात् दो दो इन्द्रो मे से प्रथम प्रथम इन्द्र सौधर्मादि युगलो के प्रथम इन्द्र के साथ, तथा द्वितीय, द्वितीयस्वर्ग के इन्द्र के साथ स्वभावत. ईर्ष्याभाव रखते हैं।

भवनवासी देवों के चिह्न

असुरादि देवो के मुकुट मे क्रमसे चूडामणि, सर्प, स्वस्तिक, गरुड, कलश, घोडा, वज्र, मगर (मच्छ), हस्ती और सिंह के चिह्न पाये जाते है। तथा चैत्यवृक्ष और ध्वजा भी इनके चिह्न हैं। अश्वत्थ, सप्तपर्ण आदि दश प्रकार के चैत्यवृक्ष भी इनके चिह्न हैं। इन वृक्षो के मूल मे प्रतिदिशा मे (हरएक दिशा) मे पाँच पाँच प्रतिमाएँ है, जिनकी देव पूजा करते हैं। इन प्रतिमाओ (चैत्य) के सम्बन्ध से इनको चैत्यवृक्ष कहते हैं।

भवनवासी देवों के भवनों की विशेषताएँ

भवनवासी देवो के भवन सुगंधित एव पुष्पो से वासित रत्नमय भूमि से भूषित है, उनकी दीवारें भी रत्नो की होती हैं और नित्य

पकाश युक्त है। वे सम्पूर्ण इन्द्रियो को सुख देनेवाले चन्दनादि पदार्थों से व्याप्त होते है और उनमे निवास करनेवाले असुरकुमारादि देव अणिमा, महिमा आदि अष्ट ऋद्धि के धारक होते है, तथा वे नाना प्रकार के मणिनिर्मित झिलमिलाते हुए मुकुट, कटक, अंगद, हार आदि अलंकारो से देदीप्यमान व अलंकृत होते है। वे अपनी पूर्व-सचित तपस्या के फल का भोग करते हैं। उनके भवन भूमिगृह (तहखाने) के समान हैं। वे रत्नप्रभा पृथ्वी के खरभाग और पंकभाग मे है। उन भवनो की चौडाई व लम्बाई जघन्य तो संख्यात कोटि योजन और उत्कृष्ट असंख्यात कोटि योजन प्रमाण है। ये भवन चौकोर होते हैं। उनकी ऊंचाई तीन सौ योजन प्रमाण है। प्रत्येक भवन के मध्य भाग मे सौ योजन ऊँचा एक २ पर्वत है। उसके ऊपर चैत्यालय बने हुए है।

व्यंतरादि देवों के आवास स्थान

चित्रा भूमि के नीचे एक हजार योजन जाकर व्यन्तर देवो के आवास बने हुए हैं। दो हजार योजन जाकर अल्प ऋद्धि धारक भवनवासियो के भवन हैं। तथा बियालीस हजार योजन जाकर महर्द्धि धारक भवनवासियो के भवन हैं और एक लक्षयोजन पर मध्यम ऋद्धि के धारक भवनवासियो के भवन हैं। भवनवासियो मे असुर कुमारो के और व्यन्तरो मे राक्षसो के भवन पङ्कभाग मे हैं।

देवों मे इन्द्र व प्रतीन्द्र का क्रम

ज्योतिष व व्यन्तर देवो मे त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं होते हैं। अर्थात् भवनवासी और सोलह स्वर्गों के विमानवासियो मे तो १ इन्द्र, २ सामानिक, ३ त्रायस्त्रिंश, ४ पारिषद्, ५ आत्मरक्ष, ६ लोकपाल, ७ अनीक ८ प्रकीर्णक, ९ आभियोग्य और १० किल्विषिक ये दश प्रकार के भेद प्रत्येक इन्द्र के साथ होते है। किन्तु ज्योतिष और व्यन्तरो मे त्रायस्त्रिंश और लोकपाल ये दो भेद नहीं होते। शेष आठ भेद ही होते हैं। सोलह स्वर्गों के ऊपर नवग्रैवेयक, नव अनुदिश और पचानुत्तर विमानो मे इन्द्रादि भेद नहीं होते। वे सब अहमिन्द्र होते हैं। अपने २ भेद मे उनमे हीनाधिकपना नहीं होता है। इन्द्र के साथ एक प्रतीन्द्र होता है, वह युवराज के समान माना गया है। भवनवासियो के प्रत्येक भेद मे दो दो इन्द्र और दो दो प्रतीन्द्र होते हैं। अर्थात भवनवासियो के बीस इन्द्र और बीस प्रतीन्द्र तथा व्यन्तरो मे सोलह इन्द्र और सोलह प्रतीन्द्र होते हैं। शेष ज्योतिष देवो मे एक इन्द्र और एक प्रतीन्द्र तथा वैमानिक सोलह स्वर्गों मे बारह इन्द्र व बारह ही प्रतीन्द्र होते हैं।

इन्द्रों की सभा, सेना व देवांगनाएँ

प्रत्यक इन्द्र के तीन तीन परिषद् (सभा) होती है—अन्त, मध्य और बाह्य परिषद्। अन्त परिषद् को समित कहते हैं, मध्य परिषद् को चन्द्रा और बाह्य परिषद् को जतु इस नाम से कहते है। ऐसे ही सम्पूर्ण देवो की सभाओ के नाम हैं।

म प्र

प्रत्येक इन्द्र के सात सात अनीक (सेनाएँ) होती हैं। असुर कुमार के १ महिष (भैंसा) २ घोटक (घोड़ा) ३ रथ ४ हाथी, ५ प्यादे, ६ गन्धर्व और ७ नर्तकी ये सात प्रकार की सेना है। उक्त सात प्रकार की सेना एक से दूसरे इन्द्र के दूनी दूनी होती चली गई है। असुर कुमार के अनीक के प्रथम भेद मे भैंसा था। नागकुमार के प्रथम भेद मे नाव या सर्प, सुपर्ण कुमार के गरुड़, द्वीप कुमार के हाथी, उदधिकुमार के मगर, विद्युत्कुमार के ऊट या गैंडा, स्तनित कुमार के सूर, दिक्कुमार के सिंह, अग्निकुमार के शिविका (पालकी) और वातकुमार के अश्व ये प्रथम भेद में है। शेष छह भेद असुर कुमार देवो के समान हैं।

-असुर कुमार के इन्द्र के छप्पन हजार देवाङ्गनाएँ हैं, उनमें से सोलह हजार वल्लभिका (अतिप्रिय देवागना), पांच महादेवियाँ, और पाच कम चालीस हजार परिवार देवियाँ हैं। नागकुमार इन्द्र के पचास हजार देवियाँ हैं। सुपर्ण कुमार इन्द्र के चवालीस हजार देवियाँ है। शेष द्वीप कुमारादि सात भेदो में बत्तीस बत्तीस हजार देवियाँ हैं। उनमें दो दो हजार तो वल्लभिका हैं, पाच पाच महादेवी हैं और शेष सामान्य देवागना हैं।

असुरकुमार, नागकुमार व सुपर्णकुमार इन तीन भेदों के इन्द्रो के महादेवियाँ यदि विक्रिया करे तो एक एक महादेवी आठ आठ हजार मूल शरीर सहित विक्रिया कर सकती है, और शेष सात भेदो के इन्द्रो की महादेवियाँ छह छह हजार मूलशरीर सहित विक्रिया करती हैं। अर्थात देवियो के इतने रूप धारण कर सकती हैं।

चमरेन्द्र की देवाङ्गनाओ की आयु ढाई पल्य प्रमाण, वैरोचनेन्द्र की देवाङ्गनाओ की आयु तीन पल्य प्रमाण, तथा नागेन्द्र की देवियो की आयु पल्य के आठवे भाग प्रमाण, गरुडेन्द्र की देवाङ्गनाओं की आयु तीन कोटि पूर्व प्रमाण और शेष इन्द्रो के देवियो की आयु तीन कोटि प्रमाण है।

असुरादि देवों के श्वासोच्छ्वास तथा आहार का क्रम

असुर कुमार जाति के देवो के एक पक्ष बीतने पर एक बार श्वासोच्छ्वास होता है व एक हजार वर्ष बीतने पर एक बार आहार होता है। नागकुमार, सुपर्णकुमार व द्वीपकुमार के साढे बारह मुहूर्त्त बीतने पर श्वासोच्छ्वास और साढे बारह दिन बीतने पर आहार होता है। उदधिकुमार, विद्युत्कुमार के बारह मुहूर्त्त बीतने पर श्वासोच्छ्वास और बारह दिन बीतने पर आहार होता है। अवशेष दिक्कुमार, अग्निकुमार और वातकुमार के साढे सात मुहूर्त्त बीतने पर श्वासोच्छ्वास और साढे सात दिन बीतने पर आहार होता है।

देवो के शरीर का उत्सेध

असुर कुमार देवो के शरीर का उत्सेध (ऊँचाई) पच्चीस धनुष प्रमाण और शेष कुमारों का शरीरोत्सेध दश धनुष प्रमाण है। व्यन्तर देवो के शरीर का उत्सेध दश धनुष और ज्योतिष देवो का सात धनुष प्रमाण है।

पू. कि. ४

सं. प्र.

व्यन्तर देव

व्यन्तर देवों के किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच ये आठ भेद हैं। राक्षस के अतिरिक्त सब व्यन्तर देवो के आवास खर पृथ्वी भाग के एक हजार योजन नीचे जाकर बने हुए हैं।

व्यन्तरों के शरीर का वर्ण

किन्नरों का प्रियंगुफल समान वर्ण है। किम्पुरुषों का धवल वर्ण है। महोरगो का काला (श्याम) वर्ण है। गन्धर्वों का स्वर्ण समान वर्ण है। यक्ष, राक्षस और भूत इन तीनों का श्याम वर्ण है। पिशाचों का काला वर्ण है। इन देवों के शरीर अगर, चन्दनादि के लेप व आभूषणों से भूषित हैं।

व्यन्तरों के चैत्यवृक्ष

उन व्यन्तरों के अनुक्रम से अशोक, चम्पक, नागकेसर, तुंबरु, वट, कंटतरु, तुलसी और कदम्ब ये चैत्यवृक्ष हैं। उनके मूल मे पल्यकासनवाली प्रतिमाएँ एक एक दिशा मे चार चार विराजमान हैं। वे प्रतिमाएँ चार तोरण द्वारों से सयुक्त हैं और जो भवन में चैत्यवृक्ष हैं उनका जम्बूद्वीप के वर्णन में जम्बू वृक्ष के परिकर का जो प्रमाण कहेंगे, उनसे अर्ध प्रमाण समझना चाहिए।

व्यन्तरो में इन्द्र, प्रतीन्द्र, देवांगना व सेना

उक्त आठ प्रकार के व्यन्तरों के प्रत्येक भेद मे दो दो इन्द्र और दो दो प्रतीन्द्र होते हैं। इनमें प्रत्येक इन्द्र के दो दो वल्लभिका (अतिप्रिय) देवियां होती हैं। ये प्रत्येक देवी एक एक हजार देवागना से संयुक्त होती है। एक एक इन्द्र सम्बन्धी दो दो गणिका महत्तरी होती हैं। जिस प्रकार यहाँ पर वेश्या होती हैं, उसी प्रकार वहाँ पर जो देवागना होती हैं, उन्हें गणिका कहते हैं और उन में जो प्रधान होती हैं उन्हें महत्तरी कहते हैं।

व्यन्तरो मे हर एक इन्द्र के सात सात प्रकार की सेनाएँ और प्रत्येक सेना के सात सात कक्ष (सेना) और होते हैं। सात प्रकार सेना के नाम हाथी, घोड़े, प्यादे, रथ, गन्धर्व, नर्तकी और वृषभ ये हैं। इन सेनाओं मे एक महत्तर (प्रधान) होता है। उनके अनुक्रम से १ सुज्येष्ठ, २ सुग्रीव, ३ विमल, ४ मरुदेव, ५ श्रीदामा, ६ दामश्री, और विशाल ये सात नाम हैं।

व्यन्तरों के इन्द्रों के नगर

अजनक, वज्रधातुक, सुवर्ण, मन:शिलक, वज्र, रजत, हिंगलुक और हरिताल-इन आठ द्वीपो मे क्रमसे किन्नरादि इन्द्रो के नगर बने हुए है। प्रथम इन्द्र के उत्तर मे और द्वितीय इन्द्र के दक्षिण मे नगर हैं। प्रत्येक इन्द्र के पाच पाच नगर हैं। एक मध्य मे और चार चारों दिशाओ मे होते हैं। मध्य मे जो नगर है, वह इन्द्र के नाम पर हैं और पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर मे जो नगर हैं उनके नाम इन्द्र के नाम के आगे क्रम से प्रभ, कान्त, आवर्त्त और मध्य ये लगादेने पर हो जाते है। जैसे किन्नरेन्द्र के पाच नगर उत्तर दिशा मे हैं। उनमे जो बीच मे है, उसका नाम किन्नरपुर है। उसकी पूर्व दिशा मे किन्नरप्रभ नगर है, दक्षिण दिशा मे किन्नरकान्त नगर है, पश्चिम दिशा में किन्नरावर्त्त नामक नगर और उत्तर दिशा मे किन्नरमध्य नामक नगर है। इसी प्रकार सब नगर इन्द्रो के नाम से होते हैं। इन्द्रों के ये सब नगर एक लक्ष योजन विस्तार वाले है और समतल भूमि पर हैं। न तो पर्वतादि ऊँचे प्रदेश पर हैं और न भूमि के नीचे हैं। उन नगरों चारो ओर प्राकार (कोट) है। उनकी ऊँचाई साढे सैंतीस योजन, चोडाई साढ़े बारह योजन और मोटाई ढाई योजन है। इन कोटो के द्वार (दर्वाजे) हैं, उनकी ऊँचाई साढ़े बासठ योजन और चौडाई सवा इकतीस योजन है। दर्वाजे पर पचहत्तर योजन प्रमाण ऊंचा द्र प्रासाद है। उस प्रासाद के अभ्यन्तरभाग मे सुधर्मा नामकी सभा है। वह साढे बारह योजन लम्बी, सवा छह योजन चौडी और नव योजन ऊची है। उसका अवगाह (मूल-नीव) एक कोश प्रमाण है। इसी प्रकार सब इन्द्रो के नगर प्राकारादि की रचना व प्रमाण जानना चाहिए।

रत्नप्रभा पृथ्वी के खर भाग मे भूतों के चोदह हजार भवन हैं और पकप्रभा मे राक्षसों के सोलह हजार भवन है। व्यन्तर देवों की जो गणिका महत्तरी है, उसके नगर अपने २ इन्द्र सम्बन्धी द्वीपो मे हैं और अपने २ इन्द्रपुरों के दोनो पार्श्व भागों मे हैं। उनकी लवाई व चोडाई चौरासी लाख योजन प्रमाण है। शेष जो व्यन्तर हैं उनके नगर अनेक द्वीप व समुद्रों मे पाये जाते हैं।

वाणव्यन्तरो के भेद, आवासस्थान और उनकी आयु

उक्त भेदो के अतिरिक्त व्यन्तर देवो मे जो वाणव्यन्तर हैं, उनके स्थान पृथ्वी के ऊपर है। १ नीचोपपाद, २ दिग्वासी, ३ अन्तरनिवासी, ४ कूष्माण्ड, ५ उत्पन्न, ६ अनुत्पन्न, ७ प्रमाणक, ८ गन्ध, ९ महागन्ध, १० भुजंग, ११ प्रीतिक, और १२ आकाशोत्पन्न ये उनके नाम हैं। पृथ्वी से एक हाथ ऊपर क्षेत्र मे नीचोपपाद वाणव्यन्तर है। उनके ऊपर दशहजार हाथ ऊचे क्षेत्र मे दिग्वासी वाणव्यन्तर देव हैं। उनके ऊपर दशहजार हाथ ऊचे क्षेत्र मे अन्तरनिवासी देव हैं। उनके ऊपर दशहजार हाथ उंचे क्षेत्र मे कूष्माण्ड हैं। उनके ऊपर वीस हजार हाथ ऊचे क्षेत्र मे उत्पन्न वाणव्यतर हैं। इसी प्रकार अनुत्पन्नादि मे वीस वीस हजार हाथ का अन्तराल समझना चाहिए।

नीचोपपाद देवों की आयु दशहजार वर्ष, दिग्वासी देवों की बीसहजार, अन्तरनिवासी की तीस हजार, कूष्माण्ड देवों की चालीस हजार, उत्पन्न देवों की पचास हजार, अनुत्पन्न देवों की साठ हजार, प्रमाणक देवों की सत्तर हजार, गन्ध देवों की अस्सी हजार, महागन्ध देवों की चोरासी हजार, भुजग देवों की पल्य के आठवें भाग प्रमाण, प्रीतिक देवों की पल्य के चौथे भाग प्रमाण और आकाशोत्पन्न देवों की आधे पल्य प्रमाण आयु है।

व्यन्तरों के निलय

व्यन्तरों के निवास स्थानों के तीन नाम हैं—भवनपुर, आवास और भवन। उनमें से द्वीप समुद्रों में भवनपुर पाये जाते हैं जलाशय (सरोवर आदि) वृक्ष, पर्वत आदि में आवास और चित्रा पृथ्वी के नीचे भवन पाये जाते हैं। जो पृथ्वी से ऊंचे स्थान में निवास स्थान हैं—उन्हें आवास कहते हैं, जो पृथ्वी के नीचे हैं—उन्हें भवन और जो पृथ्वी के समतल प्रदेश पर हैं—उन्हें भवनपुर कहते हैं। ऐसे तीन प्रकार के निलय है।

व्यंतरों के रहने के क्षेत्र

चित्रा और वज्रा पृथ्वी के मध्य सन्धि से लेकर जितनी मेरुपर्वत की ऊँचाई है वहा तक, और तिर्यग्लोक का जितना विस्तार है वहाँ तक, विस्तृत क्षेत्र में व्यन्तरों के यथायोग्य भवनपुर या भवन या आवास हैं और उनमें वे निवास करते हैं।

कितने ही व्यन्तरों के तो भवन ही हैं, तथा कितने ही के भवन और भवनपुर हैं। कई एक के भवन, पुर और आवास तीनों ही हैं।

असुरकुमार के सिवा अन्य कई एक भवनवासी देवों के भवन, भवनपुर या आवास तीन निलय पाये जाते हैं। इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि पृथ्वी के नीचे खरभाग और पंकभाग में तथा पृथ्वी से ऊपर पर्वतादि पर और समतल भूमि पर व्यन्तरों और भवनवासियों के स्थान पाये जाते हैं। जो उत्कृष्ट भवन हैं वे तो बारह हजार तीन सौ योजन ऊंचे हैं। तथा जितनी भवनों की ऊंचाई है, उसके तीसरे भाग प्रमाण ऊंचे कूट पाये जाते हैं और इन कूटों पर जिन मन्दिर हैं। उत्कृष्ट भवनों के चारों ओर आठ योजन ऊंची वेदी पाई जाती है तथा जघन्य भवनों के पच्चीस धनुष ऊंची वेदी होती है। जैसे बाग बगीचे के चारों ओर दीवार होती है उसी प्रकार वेदी होती है।

गोल आदि आकारवाले जो पुर हैं, उनका क्रमसे उत्कृष्ट विस्तार लक्ष योजन प्रमाण है और जघन्य विस्तार एक योजन

प्रमाण है। तथा गोल आदि आकार वाले जो आवास हैं उनका उत्कृष्ट विस्तार बारह हजार दोसौ योजन है और जघन्य विस्तार पौन योजन है। भवन प्रासादादि के कोट, द्वार, नृत्यशाला इत्यादि पाये जाते हैं।

व्यन्तरों के आहार कुछ अधिक पाँच दिन बीतने पर होता है और उच्छ्वास कुछ अधिक पाँच मुहूर्त्त जाने पर होता है।

मध्यलोक

इस चित्रा पृथ्वी के एक हजार योजन नीचे से लेकर मेरु पर्वत की चूलिका तक मध्यलोक माना गया है। मध्यलोक की ऊंचाई मेरु प्रमाण है। इसका आशय यह है कि एक हजार योजन का उसका अवगाह है और एक हजार योजन कम एक लक्ष योजन प्रमाण यह चित्रा पृथ्वी के समतल से ऊंचा है, तथा चालीस योजन प्रमाण उसकी चूलिका है।

उस मध्यलोक मे ही ज्योतिष देवों के विमान हैं। इस चित्रापृथ्वी के समतल भूभाग से सातसौ निब्बे योजन से ज्योतिष देवों का निवास क्षेत्र प्रारंभ होता है और नवसौ योजन पर उनका क्षेत्र समाप्त होता है। अर्थात् एकसौ दस योजन प्रमाण ऊंचे (मोटे) आकाश क्षेत्र मे ज्योतिष देवों के निवास (विमान) हैं। इसलिए इनका वर्णन भी इसी मध्यलोक में आगे करेंगे।

यहाँ पर तिर्यक्लोक का संक्षिप्त निरूपण करते हैं।

जंबूद्वीप का वर्णन

इस लोक मे तिर्यक् असंख्यात द्वीप व समुद्र हैं। उन सब के मध्य मे एक लक्ष योजन के विस्तार (लम्बाई चौडाई) वाला जम्बूद्वीप है। उसके ठीक मध्य भाग मे मेरुगिरि है। उसकी दक्षिण दिशा से लेकर १ भरत, २ हेमवत, ३ हरि, ४ विदेह, ५ रम्यक ६ हैरण्यवत और ७ ऐरावत ये सात वर्ष (क्षेत्र) हैं। इन क्षेत्रों (देशों) की सन्धि पर अर्थात् एक २ क्षेत्र के अनन्तर एक एक पर्वत है, जिन्हें कुलाचल कहते हैं। ऐसे कुलाचल छह हैं—१ हिमवान्, २ महाहिमवान्, ३ निषध, ४ नील, ५ रुक्मी और ६ शिखरी। भरत और हैमवत क्षेत्र के मध्य में (सन्धि पर) हिमवान् कुलाचल है। हैमवत और हरिक्षेत्र के बीच में महाहिमवान् कुलाचल है। हरिक्षेत्र और विदेहक्षेत्र की सन्धिपर निषधाचल है। इसी प्रकार सात क्षेत्रों की सन्धिपर छह कुलाचल हैं। क्षेत्रों का विभाग करने से इनको वर्षधर पर्वत भी कहते हैं।

कुलाचलों का विस्तार और वर्ण

हिमवान् आदि छहो कुलाचल मूल से लेकर ऊपर तक समान चौडाई वाले हैं। जसे महल भवनादि की दीवार नीचे से लेकर ऊपर तक समान चौडी होती है, वैसे ही ये छहों पर्वत नीचे, मध्य मे और ऊपर समान चौड़े है। अन्य पर्वतो की तरह हीनाधिक विस्तार वाले नहीं है। उनके पार्श्व भाग (पसवाडे) विविध मणियो से विचित्र है। उनके दोनों तरफ के सिरे समुद्र को स्पर्श करते हैं। अर्थात् जम्बूद्वीप के कुलाचलो के दोनो तरफ के तट लवण समुद्र को छूते है, तथा धातकीखंड के कुलाचलों के एक ओर के तट लवण समुद्र को और दूसरी ओर के तट कालोदधि को छूते है और पुष्करार्ध के कुलाचलो के एक ओर के तट तो कालोदधि को और दूसरी ओर के मानुषोत्तर पर्वत को छूते है।

इन पर्वतो के वर्ण क्रमश हेम (सुवर्ण), अर्जुन (चादी), तपनीय (तपाहुआ सोना), वैडूर्य (नीलमणि), रजत (चादी) और सुवर्ण के समान हैं। अर्थात हिमवान् सोने के समान, महाहिमवान् चॉदी के समान, निषध तपेहुए सोने के समान, नील वैडूर्यमणि के समान, रुक्मी चॉदी के समान और शिखरी सोने के समान पीतवर्ण हैं। हिमवान् एकसौ योजन ऊचा, महाहिमवान् दोसौयोजन, निषध चारसौ योजन, नील चारसौ योजन, रुक्मी दौसो योजन और शिखरी एकसो योजन ऊचा है। इन पर्वतो की जितनी ऊचाई है उसके चतुर्थ भाग (चौथाई) अवगाह (भूमि के अन्दर) है।

कुलाचलों पर सरोवर

उक्त छह कुलाचलो के ऊपर क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ये ह्रद (सरोवर) हैं। इनका व्यास (चौडाई), आयाम (लम्बाई) और अवगाह (गहराई) अपने पर्वत की ऊॅचाई से क्रमशः पॉचगुणा, दशगुणा और दशवें भाग प्रमाण है। अर्थात् पद्मह्रद का व्यास (चौडाई) पॉचसौयोजन, आयाम (लम्बाई) एक हजार योजन और अवगाह (गहराई) दश योजन प्रमाण है। महापद्म ह्रद की चौडाई एक हजार योजन, लम्बाई दो हजार योजन व गहराई बीसयोजन प्रमाण है। तिगिंछ ह्रद की चौड़ाई दोहजार योजन, लम्बाई चारहजार योजन और गहराई चालीस योजन प्रमाण है। इसी प्रकार अपने २ पर्वत की ऊॅचाई से ह्रद की चौड़ाई पाचगुनी, लम्बाई दशगुनी और गहराई दशवें भाग प्रमाण समझना चाहिए।

सरोवरो के मध्य कमल और उन पर सपरिवार देवियॉ

उन ह्रदो के मध्य मे कमल है, ह्रदों की गहराई के दशवें भाग प्रमाण उनके कमलों की ऊचाई व चौडाई है। वे कमल पृथ्वीमय है। वनस्पति काय नहीं हैं। अर्थात् पद्मह्रद के कमल की ऊंचाई व चौडाई एक योजन, महापद्म के कमल की दो योजन, तिगिंछ ह्रद

के कमल की चारयोजन। इसी प्रकार आगे के ह्रदों के कमलों की ऊचाई व चौडाई क्रमश. चार, दो और एक योजन प्रमाण है। ये कमल अपनी सुगन्ध से दशों दिशाओं को सुगन्धित करते हैं। इनकी नाल वैडूर्यमणि की बनी हुई है। उसकी ऊचाई बियालीस कोश प्रमाण है। जिसमें से चालीस कोश प्रमाण नाल तो जल के भीतर रहती है और जलतल से ऊपर दोकोश ऊची है। तथा एक कोशमोटी है। इसके अन्दरका मृणाल तीनकोश का मोटा रूप्यमय श्वेतवर्ण है। कमलके ग्यारह हजार दल (पाँखुडियाँ) है। कमल की जितनी ऊंचाई व चौडाई है उसके अर्द्ध भाग प्रमाण नाल जल के ऊपर निकली हुई है। कमल की कर्णिका की चौडाई कमल की ऊचाई व चौडाई से आधी है और प्रत्येक दल की चौडाई उससे चतुर्थ भाग प्रमाण है। जैसे पद्महद के कमल की ऊचाई व चौडाई एक योजन प्रमाण, अत: उसकी नाल उससे अर्ध (दोकोश) प्रमाण जल से ऊपर निकली है। उस कर्णिका की चौडाई दो कोश प्रमाण और उसका प्रत्येक पत्र एक २ कोश प्रमाण चौडा है। ऐसे ही अन्य ह्रदों मे समझलेना चाहिए।

पद्महद के कमल की कर्णिका पर श्रीदेवी का रत्नमय प्रासाद है, जो शरद्-पूर्णिमा के चन्द्रमा की द्युति को लजाने वाला है। उसकी लम्बाई एक कोश, चौडाई आधे कोश और ऊचाई पौन कोश प्रमाण है। जिस प्रकार पद्महद का वर्णन किया जैसाही महापद्मादि का हैं उनका प्रमाण यथासंभव समझ लेना चाहिए।

पद्महद के कमल की कर्णिका पर जैसे श्रीदेवी निवास करती है, ऐसे शेष ह्रदों के कमल की कर्णिकाओं पर क्रमश ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी देवी निवास करती हैं। इनकी आयु एक पल्य प्रमाण है। तथा एक एक कमल के परिवार रूप एक लाख चालीस हजार एकसौ पन्द्रह कमल उसी ह्रद मे स्थित है।

पद्महद सम्बन्धी कमलों पर श्रीदेवी का परिवार स्थित है उसे दिखाते हैं।

मूल कमल के अग्निकोण, दक्षिण, और नैऋत्य दिशा मे जो कमल हैं उनपर श्रीदेवी के आदित्य, चन्द्र और जतु परिषद् के पारिषद्देव निवास करते हैं। आदित्य (आभ्यन्तर) परिषद् के पारिषद् देव बत्तीस हजार हैं। चन्द्र (मध्य) परिषद् के पारिषद्देव चालीस हजार और जतु (बाह्य) परिषद् के पारिषद्देव अडतालीस हजार हैं। एक एक पारिषद् देव के निवास के लिए एक एक कमल पर प्रसाद बने हैं। सात प्रकार की सेना के देवो के निवास करने के लिए मूल कमल से पश्चिमदिशा मे सात कमलो पर प्रासाद हैं तथा सामानिक देवो के कमल उत्तर दिशा के दोनो कोनों मे चार हजार है। और इन कमलो के अभ्यन्तर मूल कमल की तरफ एक एक दिशा में चार-चार हजार आ गरक्षको के कमलो पर मन्दिर (प्रासाद) हैं। प्रतीहार महत्तरो के एक सौ आठ कमल, उन आ गरक्षको के कमलो के अभ्यन्तर मूल कमल के निकट दिशा व विदिशा में स्थित हैं।

ये सब परिवार-कमल भी मणिमय हैं। जलतल से ऊँचे नहीं हैं। तथा परिवार-कमल की ऊँचाई, चौडाई आदि मूल कमल से अर्घप्रमाण जाननी चाहिए। अर्थात् श्रीदेवी के प्रासाद की जितनी ऊँचाई-चौडाई आदि बतलाई गई है उससे आधी परिवार-कमलो की है।

श्री, ह्री व धृति ये तीन तो सौधर्म इन्द्र की देवियाँ हैं। और कीर्ति, बुद्धि व लक्ष्मी ये तीन ईशान इन्द्र की देवियाँ हैं।

ह्रदों से नदियों का उद्गम

उन ह्रदो से गंगा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्या हरित, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा ये चौदह महानदियाँ निकली हैं। इनमें से दो दो नदियो के सात युगलो में पूर्व की (गंगा, रोहित, हरित, सीता, नारी, सुवर्णकुला, रक्ता) ये सात नदियाँ पूर्वदिशा की ओर मुख करके तथा शेष नदियाँ पश्चिम दिशा की ओर मुख करके क्षेत्रों के बीच में स्थित पर्वतों की प्रदक्षिणा देकर समुद्र में मिली हैं।

उक्तनदियो के दोनो तट पुन्नाग, नागकेसर, सुपारी, अशोक, तमाल, कदली (केला), ताम्बूली, बडी इलायची, लवंग, मालती आदि के वृक्ष और लताओ से सुशोभित हैं।

आदि के पद्म ह्रद से गंगा, सिन्धु और रोहितास्या ये तीन नदियाँ और अन्त के पुण्डरीक ह्रद से रक्ता, रक्तोदा और सुवर्णकूला ये तीन नदियाँ निकली हैं। शेष चार ह्रदो से दो दो नदियाँ निकली हैं। भरत व ऐरावत में नाभिगिरि नहीं हैं, इसलिए इन क्षेत्रो में बहने वाली गंगा, सिन्धु और रक्ता, रक्तोदा इन चारो नदियो को छोडकर शेष नदियाँ क्षेत्र के मध्य में स्थित नाभिगिरि को आधायोजन छोडकर समुद्र में मिली हैं। विदेह क्षेत्र में मेरुपर्वत है, उसे यहाँ नाभिगिरि कहा है। हैमवत, हरिरम्यक और हैरण्यवत में नाभिगिरि विद्यमान ही हैं। नदियाँ ह्रद से निकल कर नाभिगिरि के सम्मुख सीधी आकर, आधे योजन दूर से मुडकर नाभिगिरि की अर्ध प्रदक्षिणा करके समुद्र में जा मिली हैं।

गंगा नदी के निकास और गमनादि

पद्म-ह्रद के पूर्वदिशा में वज्र द्वार है, उससे गंगानदी निकलकर हिमवान् पर्वत के ऊपर पूर्वदिशा की ओर पाँचसौ योजन जाकर हिमवान् पर्वत पर स्थित जो गंगा कूट है उससे आधा योजन पहले मुडगई है। वहाँ से दक्षिण दिशा की तरफ पाँचसौ तेईस योजन और कुछ अधिक आधे कोश जाकर पर्वत के तट पर पहुँची है। पर्वत पर गंगा नदी का व्यास सवा छह योजन प्रमाण है। जिस तट से गंगा नदी नीचे गिरती है, उस तटपर मणिनिर्मित दो कोश लम्बी व ऊँची प्रणाली है। उस प्रणाली के मुख, कान, जीभ और नेत्र के आकार तो सिंह के समान हैं तथा भौंहे मस्तक आदि का आकार गौके समान है, इसलिए मुख्यरूप से प्रणाली को वृषभाकार कहते हैं। उसमें गंगा

नदी हिमवान् पर्वत से पच्चीस योजन की दूरी पर काहला के आकार होकर (क्रमशः चौडाई बढती हुई) दशयोजन की चौडाई को लिये हुए भरत क्षेत्र में हिमवान् पर्वत के मूल में दश योजन गहरे और साठ योजन चौड़े गोल कुण्ड में गिरी है।

उस कुण्ड के बीच में जल से ऊपर आधा योजन ऊँचा और आठ योजन चौडा गोल द्वीप है। उस द्वीप के मध्य में वज्रमय दशयोजन ऊँचा एक पर्वत है। उसका व्यास (चौडाई) पृथ्वी पर चार योजन, मध्य में दो योजन और अग्रभाग में एक योजन प्रमाण है। उस पर्वत पर श्री देवी का मन्दिर है। जो नीचे तीन हजार धनुष, मध्य में दो हजार धनुष और ऊपर में एक हजार धनुष प्रमाण चौडा है और दो हजार धनुष ऊँचा है। उसका अभ्यन्तर का व्यास साढे सात सौ धनुष प्रमाण है। उस मन्दिर के द्वार की चौडाई चालीस धनुष और ऊँचाई अस्सी धनुष है। उस द्वार के वज्रमय दो कपाट हैं।

उक्त मन्दिर के मस्तक पर एक पार्थिव कमल है। उसकी कर्णिका पर सिंहासन है। उस पर जटा सहित जिनबिम्ब है। उस को अभिषेक करने के लिए ही मानों उसके मस्तक पर गंगा का अवतरण हुआ है। अर्थात् जिनबिम्ब के मस्तक पर गंगा नदी गिरती है।

कुंड से निकल कर गंगा नदी सीधी दक्षिण दिशा में जाकर विजयार्ध पर्वत की खंडप्रपात नामा गुफा में प्रवेश करती है। वहाँ यह आठ योजन चौडी होगई है और गुफा के उत्तर द्वार से बाहर निकली है। उक्त गुफा के पूर्व पश्चिम दिशा की दीवार के निकट दो कुण्ड हैं, उनमें दो योजन चौडी उन्मग्नजला और निमग्नजला नाम की दो नदियाँ निकली हैं और दोनों सीधी चलकर गंगा नदी में जा मिली हैं। गुफा की व गुफा के द्वार की ऊँचाई तो आठ आठ योजन की है, चौडाई बारह योजन की है और लम्बाई पचास योजन (विजयार्ध समान) है।

उक्त गुफा से निकल कर गंगा नदी दक्षिण भरत के अर्धभाग पर्यन्त सीधी दक्षिण को तरफ गई है और वहाँ से मुडकर पूर्व दिशा की ओर बहकर मागधनामक द्वार में होकर लवण समुद्र में मिली है।

सिन्धु नदी का निकास और गमनादि

गंगा का जिस प्रकार वर्णन किया है उसी के समान सिन्धु नदी का वर्णन समझना चाहिए। केवल इतना अन्तर है कि सिन्धु नदी पद्मह्रद के पश्चिम द्वार से निकल कर पश्चिम की ओर बहकर सिन्धुकूट के पहले मुडकर पर्वत के निकट आकर कुंड में गिरी है। वहाँ से निकल कर विजयार्ध पर्वत की तमिस्रा नामक गुफा में प्रवेशकर वहाँ से निकल जम्बूद्वीप के कोट के प्रभास नामक द्वार से पश्चिम समुद्र में मिलती है।

सं. प्र

पृ. कि. ४

शेष नदियों का वर्णन

रोहित नदी महापद्महद के दक्षिण द्वार से निकल कर सीधी महाहिमवान् पर्वत के तट पर्यन्त सोलह सौ पाँच योजन, उन्नीसवें भाग तक जाकर हैमवत क्षेत्र के कुंड मे पडी है। वहाँ से निकलकर सीधी नाभिगिरि के आध योजन पहले से मुडकर पूर्व दिशा के सम्मुख होकर पूर्व समुद्र मे गिरी है। रोहितास्या नदी पद्महद के उत्तर द्वार से निकलकर सीधी हिमवान् के तट तक दोसौ छहत्तर योजन और छह उन्नीसवें भाग (२७६–६/१९) तक आकर हैमवत क्षेत्र मे कुंड मे पडी है। और वहाँ से निकल कर सीधी नाभिगिरी के निकट आधे योजन की दूरी से मुडकर पश्चिम की ओर वहती हुई पश्चिम समुद्र में प्रवेश करती है। हरित नदी तिगिंछहद के दक्षिण द्वार से निकल कर सीधी निषध पर्वत क तट तक चवहत्तर सौ इकीस योजन, एक उन्नीसवें भाग तक जाकर हरि क्षेत्र के कुण्ड में गिरी है। वहाँ से निकल पूर्व की भाँति नाभिगिरी के समीपतक जाकर वहाँ से मुडकर पूर्व दिशा की ओर बहकर पूर्व समुद्र मे जामिली है। हरिकान्ता नदी महापद्म हृद क उत्तर द्वार से निकल सीधी महाहिमवान् के तटतक सोलह सौ पाचयोजन और पाँच उन्नीसवें भाग (१६०५–५/१९) पर्यन्त जाकर हरिक्षेत्र के कुण्ड में गिरी है, वहाँ से निकल कर सीधी पूर्ववत् नाभिगिरि के निकट जाकर और वहाँ से पश्चिम दिशा की ओर बहती हुई पश्चिम समुद्र में प्रवेशकर गई है। सीता नदी केसरी हृद के दक्षिण द्वारसे निकलकर सीधी नील पर्वत के तट पर्यन्त चोहत्तर सौ इकीस योजन और एक के उन्नीसवें भाग तक जाकर विदेह क्षेत्र के कुड मे गिरी है। और वहाँ से निकल कर सीधी मेरु गिरि के निकट तक जाकर उससे आधे योजन की दूरी से मुडकर पूर्वदिशा के सम्मुख होकर बहती हुई पूर्व समुद्र में जाकर मिली है। सीतोदा नदी तिगिंछ हृद के उत्तरद्वार से निकल कर सीधी निषधाचल के तट पर्यन्त चवहत्तर सौ इक्कीस योजन और एक के उन्नीसवें भाग तक जाकर विदेह क्षेत्र के कुड मे गिरी है। और वहाँ से निकल कर सीधी पूर्ववत् मेरुगिरि के निकट तक जाकर और उससे आधे योजन दूर से मुडकर पश्चिम की ओर वहकर पश्चिम समुद्र मे मिली है। नारी नदी महापुडरीक हृद के दक्षिण द्वार से निकल कर सीधी रुक्मी पर्वत के तट तक सोलह सौ पचास योजन पाँच उन्नीसवें भाग (१६०५–५/१९) पर्यन्त जाकर रम्यक क्षेत्र के कुड मे गिरी है और वहाँ से निकल कर सीधी नाभिगिरि के निकट उरली तरफ से मुडकर पूर्व की ओर वहती हुई पूर्व समुद्र मे प्रवेश कर गई है। नरकान्ता नदी केसरीहद के उत्तर द्वार से निकल सीधी नील पर्वत के तट तक चवहत्तर सौ इक्कीस योजन और एक के उन्नीसवें भाग पर्यन्त जाकर रम्यक क्षेत्र के कुण्ड मे गिरी है। और वहाँ से निकल सीधी नाभिगिरि के निकट उरली तरफ से मुडकर पश्चिम दिशा की तरफ वहती हुई पश्चिम मे जामिली है। स्वर्णकूला नदी पुण्डरीक हृद के दक्षिण द्वार से निकल सीधी शिखर पर्वत के तट तक दोसो त्रिहत्तर योजन, छह उन्नीसवें भाग (२७६–६/१९) पर्यन्त जाकर हैरण्यवत क्षेत्र के कुड मे गिरी है। और वहा से निकल सीधी नाभिगिरि के उरली ओर तक जाकर और वहाँ से पर्वत के सम्मुख मुडकर वहती हुई पूर्व समुद्र मे प्रवेश कर गई है। रूप्यकूला नदी महापुण्डरीकहृद के उत्तर द्वार से निकलकर रुक्मी पर्वत के तट तक सौलहसौ पाँच योजन एवं उन्नीसवें भाग पर्यन्त जाकर हैरण्यवत क्षेत्र के कुड मे गिरी है। तथा वहाँ स निकल सीधी नाभिगिरि के निकट जाकर उसके उरली तरफ से मुडकर

पश्चिम दिशा में बहती हुई पश्चिम समुद्र में मिली है। यहाँ पर्वत के ऊपर नदी के गमन करने का प्रमाण जम्बूद्वीप की अपेक्षा से कहा है। अन्यत्र घातकीखण्ड व पुष्करार्ध में उनकी अपेक्षा से यथासंभव प्रमाण जानना चाहिए।

गंगा तथा सिन्धु का जैसा वर्णन कर आये हैं, वैसा ही वर्णन रक्ता व रक्तोदा का भी समझना चाहिए। केवल इतना विशेष है कि यहाँ पुण्डरीक ह्रद और शिखरी पर्वत समझना। प्रणाली आदि का सब वर्णन समान जानना। शेष नदियों, प्रणाली, कुंडादि के व्यासादि का प्रमाण भरत ऐरावत सम्बन्धी नदियों से अनुक्रम से विदेह सम्बन्धी नदियों तक दूना दूना समझना।

नदियों का विस्तार

गंगा सिन्धु और रक्ता रक्तोदा इनकी चौडाई का प्रमाण ह्रद से निकलते समय सवाछह योजन है और समुद्र में प्रवेश करते समय दशगुना होगया है। अन्य सब विदेह पर्यंत नदियों का क्रम से दूना दूना प्रमाण होता चलागया है। जैसे गंगा नदी का समुद्र में प्रवेश करते समय विस्तार (चौडाई) साढे बासठ योजन है। समस्त नदियों की गहराई अपने २ चौडाई के प्रमाण से पचासवें भाग है। जैसे गंगा नदी की गहराई आधे कोश प्रमाण है इसी प्रकार अन्य नदियों का समझना चाहिए।

नदियों के निकलने के ह्रद-द्वार, समुद्र में प्रवेश करने के जम्बू द्वीपादि के कोट के द्वार, कुंड से निकलने के द्वार तथा अन्यत्र इन पर तोरण हैं, और उनपर जिनबिम्ब सहित दिक्कुमारियों के मन्दिर (प्रासाद) हैं।

उन तोरणों का विस्तार (चौडाई) अपनी २ नदियों के विस्तार प्रमाण है। तथा व्यास से डेढी ऊँचाई है। जैसे गंगानदी के निर्गम द्वार के तोरण की चौडाई का प्रमाण सवाछह योजन और ऊँचाई का प्रमाण नवयोजन तथा तीन के आठवें भाग प्रमाण है, और सर्वत्र तोरण का अवगाह (भूमि में गहराई-नींव) आधे योजन प्रमाण है।

गंगा और सिन्धु दोनों नदियाँ चौदह-चौदह हजार नदियों के परिवारवाली हैं। इनके आगे की नदियाँ प्रतिक्षेत्र में अनुक्रम से विदेह क्षेत्र पर्यन्त दूनी दूनी होती चली गई हैं। विदेह क्षेत्र के उत्तर में प्रतिक्षेत्र में आधी-आधी हीन होती गई हैं।

भरतादि क्षेत्रों का विस्तार

जम्बूद्वीप के एकसौ नव्वे भाग प्रमाण अर्थात् पाँचसौ छब्बीस योजन और छह के उन्नीसवें भाग प्रमाण भरत क्षेत्र के विस्तार का प्रमाण है। क्रमसे इससे दुगुने दुगुने पर्वत क्षेत्रादि विदेह पर्यन्त हैं।

भावार्थ—भरत क्षेत्र से दूना हिमवान् पर्वत, हिमवान् से दूना हैमवत क्षेत्र, उससे दूना महाहिमवान् पर्वत, महाहिमवान् से दूना हरिक्षेत्र, हरिक्षेत्र से दूना निषध पर्वत, तथा निषध से दूना विदेह क्षेत्र है। विदेह क्षेत्र के विस्तार (चौडाई) का प्रमाण तेतीस हजार छहसौ चौरासी योजन और एक योजन की उन्नीस कला में से चार कला प्रमाण है। इसके बीच में सीता व सीतोदा नदी का प्रवाह है। इसलिए विदेह की चौडाई में से नदी की चौडाई को घटाने पर शेष का जो आधा प्रमाण रहता है वही बत्तीस विदेह क्षेत्र, सोलह वक्षार गिरी, बारह विभंगा नदी, देवारण्यादि वन इनकी लम्बाई प्रमाण है। विदेह का विष्कंभ (चौडाई) प्रमाण ३३६८४-४/१९ में से पाँचसौ योजन नदी का व्यास घटाने पर ३३१८४-४/१९ योजन रहे। इस को आधा करने पर सोलह हजार पांचसौ बानवें योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से दो भाग प्रमाण लम्बाई का प्रमाण होता है।

विदेह क्षेत्र के मध्य में स्थित मेरु का स्वरूप

मेरु पर्वत गोलाकार है और वह विदेह क्षेत्र के मध्य में स्थित है। उसकी ऊँचाई निन्यानवे हजार योजन प्रमाण है। मूलमें भूमिपर दशहजार योजन चौड़ा और ऊपर एक हजार योजन चौडा है। और उसकी ऊपर ऊपर कटनियाँ हैं, उन पर चार वन सुशोभित हैं।

भूमि पर भद्रशालवन है जो मेरु के मूल में भूमि पर चारों तरफ है। उससे पांचसौ योजन ऊपर जाकर एक कटनी मेरु के चहुँ ओर है, उस पर नन्दनवन है। वहाँ से साढे बासठ हजार योजन ऊपर जाकर कटनी है और उसपर सौमनसवन है। वहाँ से छत्तीस हजार योजन ऊपर जाकर एक कटनी है और उस पर पाण्डुक वन है। इनमें मन्दार, आम्र, चम्पा, चन्दन, घनसार, कदली, नारियल, सुपारी इत्यादि के सुन्दर वृक्ष सुशोभित हैं। इन से वे अत्यन्त रमणीय होरहे हैं। इस प्रकार जम्बूद्वीप सम्बन्धी मेरु की ऊँचाई आदि का वर्णन किया।

अन्य चार मेरु पर्वत

धातकीखण्ड और पुष्करार्ध सम्बन्धी विजय, अचल, मन्दर और विद्युन्माली इन चारों मेरु पर्वतों के पृथ्वी पर भद्रशाल वन हैं। वहाँ से पांचसौ योजन ऊपर जाकर नन्दनवन है। वहाँ से पचपन हजार पांचसौ योजन ऊपर सौमनसवन है। तथा वहाँ से अठाईस हजार योजन ऊपर जाकर पाण्डुकवन है। इस प्रकार ये चारों मेरु चौरासी हजार योजन ऊँचे हैं। उक्त पाँचों मेरु की नींव एक हजार योजन प्रमाण है।

प्रत्येक मेरु के प्रत्येक वन की प्रत्येक दिशा में एक एक चैत्यालय है। इस तरह एक एक मेरु के प्रति सोलह चैत्यालय सुशोभित हैं। इन चैत्यालयों का वर्णन नंदीश्वरद्वीप का वर्णन करते समय करेंगे।

सुदर्शन मेरु के चारों गजदन्तों के मध्य चारों दिशाओं में भद्रशाल वन है, जो पूर्व पश्चिम दिशा में तो बाईस हजार योजन चौड़ा है और दक्षिण उत्तर में ढाईसौ योजन चौड़ा है। भद्रशालादि वन के बाह्य और आभ्यन्तर दोनों पार्श्व में वेदी है। जैसे बाग के चारों ओर कंगुरे रहित दीवार होती है वैसी ही वेदी है। वह वेदी एक योजन ऊँची, आधे योजन चौड़ी और पाव योजन नींव में है और सुवर्णमय है। तथा बड़े २ घंटे और छोटी २ घंटिकाओं से अलंकृत सुन्दर २ तोरणों से संयुक्त बहुत द्वार वाली है।

सुमेरु पर्वत की चौड़ाई का क्रम

मेरु की भूमि तल से लेकर नंदनवन तक क्रमशः चौड़ाई घटती गई है। यहाँ पर सर्वत्र चारों तरफ पाँचसौ योजन चौड़ी कटनी छूटी है, उस में नन्दनवन है। यहाँ दोनों तरफ की कटनी का एक हजार योजन प्रमाण मेरु की चौड़ाई घटी है इसलिए ग्यारह हजार योजन की ऊँचाई तक मेरु समान चौड़ा चलागया है। वहां तक चौड़ाई में कमी नहीं हुई है। उसके बाद पुनः क्रमशः घटता हुआ चलागया है। इसका गणित त्रैलोक्यसार ग्रन्थ से जानना।

मेरु नीचे से लेकर इकसठ हजार योजन की ऊँचाई पर्यन्त तो अनेक वर्णवाले नाना प्रकार के रत्नों से सुशोभित है और उसके ऊपर केवल सुवर्ण सदृशवर्ण से युक्त है।

नन्दनवन, सौमनसवन और पाण्डुकवन इन तीनों मे चार चार भवन हैं, उनके अधिपति सौधर्म इन्द्र के सोम, यम, वरुण और कुबेर नामक चार लोकपाल हैं। ये पूर्वादि दिशा मे रहते हैं और प्रत्येक लोकपाल के साढे तीन करोड साढे तीन करोड गिरिकन्या (व्यन्तरी) देवांगनाएँ पाई जाती हैं। इनमें से सोम और यम की आयु ढाई पल्य प्रमाण है तथा वरुण और कुबेर की आयु कुछ कम तीनपल्य प्रमाण है। सोमका लालवर्ण, यम का श्यामवर्ण, वरुण का काचनवर्ण और कुबेर का श्वेतवर्ण है। और ये अनेक प्रकार के आभूषणों से भूषित रहते हैं। इन लोकपालों के स्वर्ग में निवास करने के विमान हैं और यहाँ मेरु के ऊपर भी उनके भवन पाये जाते हैं।

नन्दन वन के उक्त चारों भवनों के दोनो पार्श्वो मे दो दो कूट बने हैं। सब कूट आठ हैं। प्रत्येक दिशा व विदिशा मे चार चार सुन्दर वापिकाएँ हैं जो मणिमय तोरण और रत्नमय सोपान (सीडियों) से सुशोभित हैं। तथा हंस मयूर आदि यंत्रों से युक्त हैं। ये पचास योजन लम्बी, पच्चीस योजन चौडी और दश योजन गहरी हैं। इनके मध्य मे सौधर्म और ऐशान के प्रासाद बने हुए हैं। स्वर्ग में सुधर्मा सभा मे जैसे इन्द्र अपने परिवार सहित बैठता है, वैसे ही यहाँ पर जब आता है तब यहाँ भी सभा लगाकर बैठता है।

मेरु पर स्थित शिलाओं का वर्णन

मेरु पर पाण्डुक वन में ईशानदिशा से लेकर चारों विदिशाओं में क्रम से १ सुवर्ण समान वर्णवाली पाण्डुकशिला, २ रूप्य (चांदी) समान वर्णवाली पाण्डुकम्बला शिला, ३ तपेहुए सुवर्ण समान वर्णवाली रक्ता शिला और ४ लोहित वर्णवाली रक्तकम्बला शिला-ये चार शिलाएँ हैं।

ये पाण्डुकादि शिलाएँ क्रमसे भरतक्षेत्र, पश्चिमविदेह, ऐरावत और पूर्वविदेह क्षेत्र में उत्पन्न हुए तीर्थंकरों के जन्माभिषेक से सम्बन्ध रखती हैं। भरत क्षेत्र के तीर्थंकरों का पाण्डुकशिला पर, पश्चिमविदेह के तीर्थंकरों का पाण्डुकम्बला पर, ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकरों का रक्ताशिला पर और पूर्वविदेह क्षेत्र के तीर्थंकरों का रक्तकम्बला पर जन्माभिषेक किया जाता है। ये शिलाएँ क्रमशः पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशा तक लम्बी हैं। ये सब अर्धचन्द्राकार हैं। सौ योजन लम्बी हैं। बीच में पचास योजन चौडी व आठ योजन मोटी हैं। इन शिलाओं के ऊपर तीन २ गोल सिंहासन हैं—बीच में श्रीमद्देवाधिदेव जिनेन्द्रदेव का सिंहासन है, उसकी दक्षिण दिशा में सौधर्म इन्द्र का भद्रासन है और उत्तर दिशा में ऐशान इन्द्र का भद्रासन है। उन आसनों की ऊँचाई पाँचसौ धनुष, नीचे चौडाई पाचसौ धनुष, ऊपर चौडाई ढाईसौ धनुष प्रमाण है। और वे आसन पूर्वदिशा के सम्मुख हैं।

पाण्डुकवन के मध्य मेरु की चूलिका है जो वैडूर्यमणिमयी है। उसकी ऊँचाई चालीस योजन है। नीचे चौडाई बारह योजन और ऊपर चौडाई चार योजन प्रमाण है।

पर्वत, वापिका, कूट पाण्डुकादि-शिला ये सब नाना प्रकार की मणियों से निर्मित वन, वेदी और तोरण से संयुक्त हैं अर्थात् पर्वतादि के चहुँ ओर वन हैं उनके वेदिका है और वेदी के तोरण से अलङ्कृत द्वार पाये जाते हैं।

जम्बूवृक्ष का वर्णन

मेरु के उत्तर (नील पर्वत के पास दक्षिण की ओर जाती हुई सीता नदी के पूर्व तट व मेरु पर्वत से ईशान विदिशा में) में उत्तर कुरुनाम की भोग भूमि है उसमें जम्बू वृक्ष की स्थली है। जैसे यहाँ वृक्ष के थावला होता है वैसे ही जम्बूवृक्ष के चारों ओर गोलाकार स्थली समझना। यह मूल में पाचसौ योजन चौड़ी है अन्त में दो कोश प्रमाण मोटी है। मध्य में आठ योजन ऊँची है, गोलाकार और सुवर्णमयी है। उस स्थली के बीच में एक पीठ है। उसकी ऊँचाई आठ योजन है। चौडाई बारह योजन और ऊपर चार योजन है। उसस्थली के ऊपर के भाग में बाहर की ओर बेढकर सुवर्ण के वलय समान आधे योजन ऊँची, एक योजन के सोलहवें भाग प्रमाण चौडी नानारत्नों से व्याप्त

बारह अम्बुजवेदिका हैं। अर्थात् स्थली के ऊपर पहली वेदी को बेढेहुए दूसरी वेदी है और दूसरी को बेढे हुए तीसरी है और तीसरी को बेढे हुए चौथी। इस प्रकार एक दूसरी को वेष्टित किये हुए बारह वेदियाँ हैं। बारह वेदियाँ चार चार द्वारों से संयुक्त हैं। बाह्य और आभ्यन्तर वेदी के बीच में अन्तराल है। अतः बारह वेदियों के बीच मे ग्यारह अन्तराल समझने। उनमें से चौथे अन्तराल में एक मूल जम्बू वृक्ष है और चार जम्बू वृक्ष अन्य हैं। तथा अन्य अन्तरालों में यथा संभव जम्बू वृक्ष हैं। सब मिलकर एक लाख चालीस हजार एकसौ बीस जम्बू वृक्ष हैं।

भावार्थ—उत्तरकुरु क्षेत्र के मध्य जम्बूवृक्ष की स्थली (थांवला) है जो तलभाग में पांचसौ योजन लम्बी चौड़ी है, जिसकी परिधि गोलाई चौडाई से कुछ अधिक तिगुनी है, और क्रमशः बाहर की तरफ से घटती २ मध्य में बारह योजन मोटी और अन्त में दो कोश मोटी है और वह एक सुवर्ण की पद्मवर वेदी से वेष्टित है, उसके मध्य भाग में नानारत्नों से निर्मापित एक पीठ (पीढा चौकी) है, जो आठ योजन लम्बा और चार योजन चौड़ा और चार योजन ही लम्बा है। उसको चारों ओर से बारह पद्मवेदिएँ बेढे हुए है। वह वेदिका एक दूसरी को बेढेहुए है। मुख पीठ के ऊपर एक दूसरा मणिमय उपपीठ है, जो एक योजन लम्बा चौड़ा और दो कोश ऊँचा है। उस उपपीठ के मध्यभाग में सुदर्शन नाम का जम्बूवृक्ष है।

जिसकी जड़ आधे योजन भूमि में है, पीठ की भूमि से ऊपर उसका स्कन्ध दो योजन ऊँचा है और वह मरकतमणि निर्मित है, उस स्कन्ध के ऊपर वज्रमय आठ २ योजन लम्बी और आध २ योजन चौडी चार शाखाएँ (डालियाँ) हैं। अनेक प्रकार के रत्नों से निर्मित उसके उपशाखाएँ (छोटी २ डालियाँ) हैं। प्रवाल (मूगे) के समान वर्ण वाले उसके फूल हैं। तथा मृदंग के समान उसके फल पाये जाते हैं। यह जम्बू वृक्ष पृथ्वीकाय है, वनस्पतिकाय नहीं है। जामुन के वृक्ष का सा आकार है। इसलिए इसे जम्बू वृक्ष कहते हैं। यह जम्बू वृक्ष दश योजन ऊँचा है, मध्य में छह योजन और ऊपर में चार योजन चौडा है। यह मण्डलाकार है।

इस सुदर्शन नामक मूल वृक्ष की उत्तर दिशा वाली (नील पर्वत की ओर) शाखा पर श्री जिनचैत्यालय है। और बाकी तीन शाखाओं पर आदर व अनादर यक्षों (व्यन्तर देवों) के भवन हैं। इस मूल वृक्ष के अतिरिक्त जितने परिवार वृक्ष हैं उनपर आदर व अनादर के परिवार देवों के आवास स्थान हैं।

मेरु पर्वत के दक्षिण में देवकुरु नाम की भोग भूमि है, उसमें मनोज्ञ रजतमय शाल्मली वृक्षों की स्थली है। उसमें शाल्मली वृक्ष सपरिवार अवस्थित हैं। इसका समस्त वर्णन जम्बूवृक्ष के समान समझना चाहिए। इतना विशेष है कि इसके दक्षिण दिशा की शाखा पर जिनचैत्यालय है। शेष तीन शाखाओं पर गरुड कुमार के स्वामी वेणु और वेणुधारी देव के मन्दिर (भवन) हैं। और शाल्मली के परिवार वृक्षों पर इन्हीं देवों के परिवार-देवों के आवास स्थान हैं।

विदेह क्षेत्र

मेरु पर्वत के पूर्व दिशा और पश्चिम दिशा में विदेह क्षेत्र है। पूर्व दिशा के विदेह क्षेत्र को पूर्व विदेह और पश्चिम दिशा के विदेह क्षेत्र को पश्चिम विदेह कहते हैं। पूर्व विदेह क्षेत्र के मध्य भाग में सीता नदी और पश्चिम विदेह क्षेत्र के मध्य भाग में सीतोदा नदी बहती है। इस प्रकार इन दोनों नदियों के दक्षिण व उत्तर तट से चार विभाग होगये हैं। एक एक विभाग में आठ आठ विदेह देश हैं। क्योंकि पूर्व और पश्चिम में भद्रशाल की वेदी है। उसके आगे वक्षार पर्वत है, उसके आगे विभङ्गा नदी–इस प्रकार चार वक्षार पर्वत और तीन विभङ्गा नदी हैं और अन्त में देवारण्य व भूतारण्य की वेदिका है। इस तरह भद्रशाल की वेदी, चार वक्षार, तीन विभङ्गा नदी, एक भूतारण्य या देवारण्य की वेदी–ऐसे नव हुए। इन नवों के बीच आठ देश एक विभाग के हुए। इसी प्रकार अन्य तीन विभागों में भी आठ आठ देश हैं। चारों विभागों के मिलकर विदेह सम्बन्धी बत्तीस देश होते हैं।

विदेह क्षेत्र में सात प्रकार के काले वर्ण के मेघ हैं और बारह प्रकार के श्वेत वर्ण के द्रोण नामक मेघ हैं। ऐसे ये उन्नीस प्रकार के मेघ वर्षाकाल में सात सात दिन तक वर्षा करते हैं। अर्थात् वहां पर वर्षाकाल में एक सौ तेतीस दिन तक वृष्टि होती है।

विदेह में दुर्भिक्ष नहीं होता। १ अतिवृष्टि, २ अनावृष्टि, ३ मूषक, ४ टिड्डी, ५ सूवा, ६ स्वराष्ट्र और ७ परराष्ट्र इस प्रकार की ईति नहीं होती है। महामारी आदि प्राणि-समूह के नाशक रोग सर्वथा नहीं होते। जिनेन्द्र देव के सिवा अन्य देव कुदेव और जिन लिङ्ग के सिवा अन्य लिंगी (कुलिंगी) और जिनोक्त मत के अतिरिक्त अन्य मत (कुमत) वहाँ नहीं होता है। तथा वह देश सर्वदा केवली, तीर्थंकरादि, शलाका पुरुष और ऋद्धि धारक मुनियों के विहार से पवित्र रहते हैं।

विदेह के बत्तीस देशों में से प्रत्येक देश में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, अर्धचक्री, नारायण और प्रतिनारायण एक एक हों तब उत्कृष्ट रूपसे पांच मेरु सम्बन्धी विदेह देशों में एकसौ साठ होते हैं। और जघन्य रूप से सीता व सीतोदा नदी के दक्षिण और उत्तर तट में एक एक होते हैं। इस तरह एक मेरु की अपेक्षा चार और पाँच मेरु पर्वतों की अपेक्षा बीस होते हैं। अर्थात् बीस तीर्थंकर, बीस चक्री आदि तो सदा बने रहते हैं। तथा उत्कृष्ट रूप से पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्र के दश और एकसौ साठ विदेह देश के मिलाकर कुल एकसौ सत्तर तीर्थंकरादि होते हैं।

विदेह क्षेत्र सम्बन्धी बत्तीस देशों के मध्य पूर्व-पश्चिम तक लम्बा विजयार्द्ध पर्वत है। चक्रवर्ती द्वारा विजय योग्य देश को अर्ध (आधे) करने वाले पर्वत को यहाँ विजयार्द्ध नाम से कहा है। भरत क्षेत्र में जैसे गंगा, सिन्धु और ऐरावत क्षेत्र में जैसे रक्ता, रक्तोदा नदियाँ

विजयार्ध की गुफा में से होकर निकली है वैसे ही प्रत्येक देश के दक्षिण विभाग में गंगा, सिन्धु और उत्तर विभाग में रक्ता, रक्तोदा नदी है। इस प्रकार प्रत्येक विदेह देश के छह खंड होगये हैं।

विजयार्ध शैल रजत (चाँदी) मय है। उस की ऊँचाई पच्चीस योजन प्रमाण है। भूमितल से लेकर दश योजन की ऊँचाई तक उसकी चौड़ाई बराबर पचास योजन की है। वहाँ पर दश दश योजन की उत्तर व दक्षिण में दो कटनियाँ छूटी हैं। अतः मध्य में तीस योजन की चौड़ाई रह गई है और उतनी चौड़ाई समान रूप से दश योजन की ऊँचाई तक चली गई है। तथा वहाँ पर दश-दश योजन की उत्तर दक्षिण में दो कटनियाँ और छूटी हैं, इसलिए मध्य भाग में उसकी चौड़ाई दश योजन प्रमाण रह गई है और उतनी चौड़ाई पाँच योजन तक बराबर चली गई है। जो प्रथम कटनी उत्तर दक्षिण में छूटी है,, उस पर दो विद्याधर श्रेणियाँ हैं:—उत्तर श्रेणी व दक्षिण श्रेणी। उन दोनों श्रेणियों में विद्याधरों के पचपन पचपन नगर हैं। जम्बूद्वीप के दोनों छोर पर जो भरत तथा ऐरावत क्षेत्र हैं, उनके विजयार्ध सम्बन्धी दक्षिण श्रेणी तथा उत्तर श्रेणी में क्रमसे पचास व साठ नगर हैं।

विजयार्ध की दूसरी कटनी (श्रेणी) पर सौधर्म सम्बन्धी आभियोग्य जाति के देवों के मणि-निर्मित विचित्र नगर हैं और विजयार्ध के शिखर पर सिद्धायतनादि नवकूट हैं। उनमें जो पूर्ण भद्रनामक कूट है, उसपर विजयार्धकुमारपति देव का निवास है।

विजयार्ध पर्वत पर उत्तर व दक्षिण दोनों श्रेणियों में एक सौ दश रत्नमय नगर हैं। उनमें (१) साधित (२) कुल और (३) जाति इन तीन विद्याओं से युक्त विद्याधर निवास करते हैं। जिसकी स्वयं साधना करते हैं, उस विद्या को साधित विद्या कहते हैं। जो पितृ कुल क्रम से चली आई है उसे कुल विद्या कहते हैं और जो मातृपक्ष (जाति) से चली आई है, उसे जाति विद्या कहते हैं। विद्याधर इज्या, वार्त्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप इन षट्कर्म का आचरण करने वाले होते हैं। पूज्यपुरुषों की पूजा करने को इज्या कहते हैं। असि मसि कृषि आदि छह जीवन के उपायों को वार्त्ता कहते हैं। दान देने को दत्ति, शास्त्रों के पठन पाठनादि को स्वाध्याय, अविरति के त्याग करने को संयम और अनशनादि को तपश्चरण कहते हैं। वे विद्या की साधना विशेष करते हैं, इसलिए उन्हें विद्याधर कहते हैं। उनकी अन्य सब क्रियाएँ भरतादि के मनुष्यवत् हैं।

वृषभाचल पर्वतों का वर्णन

विजयार्ध पर्वत के द्वारा किये गये छह खंडो में कुलाचल, विजयार्ध और दोनों नदियों के मध्य वर्ती म्लेच्छ खण्ड के बहुमध्य भाग में एक एक देश में एक एक वृषभाचल है। अर्थात् विजयार्ध और दो दो नदियों के द्वारा प्रत्येक विदेह देश के छह छह खण्ड हुए हैं। उन में पाँच म्लेच्छ खण्ड हैं और एक आर्य खण्ड है। पाँच म्लेच्छ खण्डों में से उत्तर के दो नदियों के मध्य वर्ती खण्ड में वृषभाचल है

वह प्रत्येक देश में एक एक है। इस प्रकार पाँच मेरु सम्बन्धी पाँच विदेहों में एकसौसाठ और पाँच भरत और पाँच ऐरावत सम्बन्धी दश ऐसे सब मिलाकर एकसौ सत्तर वृषभाचल हैं। वे सब सुवर्ण वर्ण के हैं और मणिमय हैं। सब सौ योजन ऊँचे, पृथ्वी पर सौ योजन चौड़े और ऊपर पचास योजन चौडे हैं। उन पर भूतकाल सम्बन्धी चक्रवर्तियों के नाम हैं। जितने चक्रवर्ती उस उस क्षेत्र के होते हैं वे सब अपना नाम उस पर अङ्कित करदेते हैं।

राजधानियों का वर्णन

उपसमुद्र (खाडी) के निकट आर्यखण्ड (दक्षिण भाग में) है। उसमें क्षेमा, क्षेमपुरी आदि नाम की एक एक राजधानी नगरी है। उसमें चक्रवर्ती निवास करता है। वह बारह योजन लम्बी और नव योजन चौडी है। अढाई द्वीप सम्बन्धी सब मिलकर एकसौ सत्तर राजधानियाँ हैं। उनके द्वारो पर रत्नमय कपाट हैं। प्रत्येक नगरी के एक एक हजार बड़े द्वार और पाँचसौ २ छोटे द्वार हैं। स्वर्णमय कोट हैं। नगर के अन्दर बारह हजार वीथियाँ (गलियाँ) हैं और एक एक हजार चौरहे बाजार हैं। नगर के बाहर तीनसौ साठ बाग-बगीचे हैं। नगर के मध्य श्री मज्जिनेन्द्रदेव के मन्दिर हैं और चक्रवर्ती के महल व अन्य समृद्ध जनों के प्रासाद हैं। वे सब रत्नमय सुशोभित हो रहे हैं।

नाभिगिरि का वर्णन

स्थिर भोगभूमि हमवत, हरि, रम्यक और हैरण्यवत हैं। उनके मध्य में गोलाकार नाभिगिरि हैं। वे एक-एक हजार योजन ऊँचे और उतने ही नीचे से लेकर ऊपर तक चौड़े हैं। खड़े किये गये ढोल के समान उनका आकार है। इस प्रकार पाँच मेरु सम्बन्धी कुल बीस नाभिगिरि हैं। वे श्वेतवर्ण के हैं और उनके शिखर पर सौधर्म और ऐशान इन्द्र के अनुचर देव निवास करते हैं।

कूटों का वर्णन

हिमवान् कुलाचल पर ग्यारह, महाहिमवान् के ऊपर आठ, निषध पर नव, नील पर नव, रुक्मी पर आठ, शिखरी पर ग्यारह तथा विजयार्ध पर नव नव कूट हैं। वे सब नीचे में अधिक चौड़े और ऊपर क्रमशः थोड़े थोड़े चौडे हैं। इनमें से जो पूर्व दिशा में कूट है उन पर जिन मन्दिर हैं और शेष कूटों पर देव और देवियाँ निवास करती हैं। ये गोल और रत्नमय हैं और अपने २ पर्वत की ऊँचाई के चौथे भाग प्रमाण ऊँचे हैं। इनकी भूमिपर चौड़ाई ऊँचाई के समान है और ऊपर में चौड़ाई नीचे से आधी रहगई है। सम्पूर्ण पर्वतों के मूल में, नीचे तथा ऊपर शिखरपर, और द्रहों के चारों ओर वन-खंड हैं। उनकी लम्बाई पर्वतों के समान है और चौड़ाई आधे योजन प्रमाण है। उनके चारों तरफ वेदी (कंगुरेरहित कोट) की चौडाई पाचसौ धनुष और ऊँचाई दो कोश है।

कालचक्र का परिवर्तन

विदेह क्षेत्र मे सर्वदा चतुर्थकाल की प्रवृत्ति रहती है। हेमवत, हरि, रम्यक, हैरण्यवत, उत्तरकुरु और देवकुरु-ये भोग भूमियाँ है। केवल भरत और ऐरावत में कालचक्र का परिवर्तन होता है। अत: उसके अनुक्रम का प्रतिपादन करते हैं —

उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी काल और उनके छह २ भेद

अढाई द्वीप सम्बन्धी पॉच भरत और पॉच ऐरावत क्षेत्रो में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ये दो काल-चक्र परिवर्तन करते हैं। जिसकाल मे जीवों की शरीर की ऊँचाई, आयु, शरीरबल आदि की क्रम से वृद्धि होती है, उसे उत्सर्पिणी काल कहते हैं और जिसमें इनकी क्रम से हानि होती है उसे अवसर्पिणी काल कहते हैं। इन दोनो के छह २ भेद है। १ सुपमासुपमा, २ सुपमा, ३ सुपमादु:पमा, ४ दु.पमासुपमा, ५ दु पमा और ६ दु पमा दु पमा (अति दु पमा) ये अवसर्पिणी काल के भेद हैं। इसके विपरीत क्रम को लिये हुए उत्सर्पिणी काल है। उसमे १ दु पमादु पमा, २ दु पमा, ३ दु पमासुपमा, ४ सुपमादु पमा, ५ सुपमा और ६ सुपमासुपमा ऐसा क्रम होता है।

बीसकोडाकोडी (बीसकोटि-कोटि) सागर का एक कल्पकाल होता है। उसमे से दशकोटि-कोटि सागर का अवसर्पिणी काल और दशकोटि-कोटि सागर का एक उत्सर्पिणी काल होता है। इनके जो छह २ भेद कहे गये हैं उनमे सुपमासुपमा काल चार कोटि कोटि सागर का, सुपमा तीन कोटि-कोटि सागर का सुपमा दु:पमा दो कोटि-कोटि सागर का दु पमा सुपमा बियालीस हजार वर्ष कम एक कोटि-कोटि सागर का तथा दु पमा इक्कीस हजार वर्ष का और दु पमादु:पमा भी इक्कीस हजार वर्ष का होता है।

काल की अपेक्षा जीवों की आयु

उन मे से सुपमा सुपम नामक प्रथम काल सम्बन्धी जीवो की आयु प्रारंभ मे तीन पल्य की होती है और अन्त मे दो पल्य की होती है। शरीर की ऊचाई प्रारम्भ मे छह हजार धनुप की और अन्त मे चार हजार धनुप की होती है। प्रारंभ मे अष्टभक्ताहार (तीन दिन बीतने पर एक बार भोजन) करने वाले तथा अन्त मे षष्ठ भक्ताहार (दो दिन बीतने पर एक बार भोजन) करने वाले होते हैं। और उदय होते हुए सूर्य व सोने के समान वर्णवाले होते हैं।

सुपम नामक द्वितीय काल सम्बन्धी जीवो की आयु आरंभ मे दो पल्य और अन्त मे एक पल्य की होती है। शरीर की ऊँचाई प्रारंभ मे चार हजार धनुप और अन्त मे दो हजार धनुप की होती है। तथा प्रारंभ मे षष्ठ भक्ताहार (दो दिन मे बीतने पर एक बार

भोजन) करने वाले और अन्त मे चतुर्थ भक्ताहार एक दिन वीतने पर एक वार (भोजन) करने वाले होते हैं। चन्द्र व शंख के समान उनका वर्ण होता है।

सुपम दुःपम नामक तृतीय काल मे जीवों की आयु आदि मे एक पल्य की और अन्त में एक पूर्व कोटि की होती है। शरीर की ऊँचाई प्रारभ मे दो हजार धनुप की और अन्त मे पॉचसौ धनुप की होती है। प्रारंभ मे एक दिन वीतने पर (दूसरे दिन) आहार करते हैं और अन्त में नित्य आहार करने वाले होते हैं। ये जीव हरित नील कमल के समान वर्ण वाले होते हैं।

दु:पम सुपम नाम चतुर्थ काल के आदि मे पूर्व कोटि की आयु और अन्त मे एकसौ वीस वर्ष की होती है। प्रारंभ मे नित्य आहार करने वाले और अंत मे दो वार भोजन आदि करने वाले होते हैं। शरीर की ऊँचाई प्रारभ में पॉचसौ धनुप और अन्त में सात हाथ प्रमाण होती है तथा पॉचों वर्ण के शरीर वाले होते हैं।

दु:पम नामक पचम काल मे जीवो की आयु प्रारभ में एकसौ वीस वर्ष और अन्त मे वीस वर्ष की होती है। प्रारभ में शरीर की ऊँचाई सात हाथ और अन्त में दो हाथ प्रमाण होती है। कान्ति हीन रुखे पॉचोंवर्ण के मिश्रित वर्ण वाले होते हैं।

दु:पम दु:पम नामक छठे काल के आदि में वीस वर्ष की आयु और अन्त में पन्द्रह वर्ष की आयु होती है। प्रारंभ में दो हाथ प्रमाण शरीर की ऊँचाई होती है और अन्त में एक हाथ रह जाती है। वे जीव धुएं के समान श्याम वर्ण युक्त होते हैं। और वे वारवार आहार करने वाले होते हैं।

प्रथम काल के जीव वदरी फल (छोटे वेर) वरावर, दूसरे काल के जीव अक्षफल वरावर, तीसरे काल के जीव ऑवले वरावर कल्प वृक्षों से प्राप्त दिव्य आहार करते हैं। वे मन्द कपायी होते हैं और मलमूत्रादि नीहार से रहित होते हैं। अर्थात् उनके मलमूत्रादि नहीं होते हैं।

कल्प वृक्षों के भेद

भोगभूमि मे दश प्रकार के कल्प वृक्ष होते हैं। १ तूर्याङ्ग कल्पवृक्ष से सव प्रकार के वादित्र (वाजे) प्राप्त होते हैं। २ पात्रांग से सव प्रकार के पात्र (भाजन–वर्त्तन) मिलते हैं। ३ भूपणाग से अनेक प्रकार के भूपण उपलब्ध होते हैं। ४ पानाग से पीने की सब वस्तुएं, ५ आहाराग से सव प्रकार के आहार, ६ पुष्पाग से सव प्रकार के पुष्प, ७ ज्योतिरग से प्रकाश, ८ गृहाग से सव प्रकार के मकान-महल, ९ वस्त्राग से वस्त्र और १० दीपाग मे दीपक प्राप्त होते हैं। इस प्रकार कल्प वृक्षों के दश भेद हैं।

भोगभूमि का स्वरूप

दर्पण के समान मणिमय भोगभूमि है। वह चार अ गुल प्रमाण ऊँचे उत्तम रस और गध युक्त कोमल तृणो से सुशोभित है और दुग्ध या इक्षुरस या जल अथवा मधु समान रस या घृत से परिपूर्ण बावडी और द्रह (सरोवर) से व्याप्त है।

वहाँ पर माता के गर्भ से एक साथ स्त्री पुरुप का युगल (जोडा) उत्पन्न होता है। वे युगल बालक जन्म दिन से लेकर सातदिन तक अपना अ गूठा चूसते हैं। फिर सात दिन में भूमि पर रेंगते हैं—पेट के बल चलते हैं। फिर सात दिन में लडखडाते चलने लगते हैं। तदन्तर सात दिन में स्थिरगति से चलने लगते हैं। उसके बाद सातदिन में कला गुण का ग्रहण करते हैं। पुन सातदिन में यौवन अवस्था प्राप्त कर लेते हैं। पश्चात सातदिन में परस्पर का दर्शन व ग्रहण करते हैं। इस प्रकार उनचास दिनो में परिपूर्णता प्राप्त करलेते हैं।

ये युगल दम्पति होते हैं। इनके वज्रवृषभनाराच सहनन होता है, और समचतुरस्रसंस्थान होता है। वे मन्द कषाय वाले होते हैं अत. आर्य नाम के धारक होते हैं। इनको पचेन्द्रियो के विपयों से अरुचि नहीं होती है। इनकी अनपवर्त्य आयु होती है। अर्थात् इनकी अकाल मृत्यु नही होती है। आयु के पूर्ण होने पर पुरुप तो छींक से और स्त्री जभाई से मृत्यु को प्राप्त होती हैं। इनका मृतक शरीर शरद् काल के मेघ समान विलीन होजाता है, इनके शरीर का अ श मात्र भी पडा नहीं रहता। ये मरकर देव पर्याय प्राप्त करते हैं। इनमे जो मिथ्या दृष्टि होते हैं वे तो भवनवासी, व्यन्तर या ज्योतिप देव होते हैं और जो सम्यग्दृष्टि होते हैं, वे सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में जन्म लेते हैं, अन्यत्र जन्म नही लेते हैं। इस प्रकार प्रथम काल की आदि में उत्कृष्ट भोग भूमि होती है। क्रम से घटते घटते द्वितीय काल के प्रारभ में मध्यम भोग भूमि होती है। और उससे भी क्रमश घटते घटते तृतीय काल के प्रारभ में जघन्य भोग भूमि होती है। इस प्रकार घटने का क्रम चलते हुए तृतीय काल के अन्त में कुलकर उत्पन्न होते हैं और फिर कर्म-भूमि का समय आता है।

कर्म-भूमि के प्रवेश का अनुक्रम और कुलकरों की उत्पत्ति

जब तृतीय काल पल्य के आठवें भाग प्रमाण शेप रहजाता है, तब कुलकर उत्पन्न होते हैं। वे चौदह होते हैं—१ प्रतिश्रुति, २ सम्मति, ३ क्षेमंकर, ४ क्षेमधर, ५ सीमकर, ६ सीमधर, ७ विमलवाहन, ८ चक्षुष्मान, ९ यशस्वी १० अभिचन्द्र, ११ चन्द्राभ, १२ मरुदेव, १३ प्रसेनजित और १४ नाभि। इन्हीं चौदहवें नाभि कुलकर के पुत्र प्रथम तीर्थंकर श्री आदिदेव हुए। जो पहले पात्र दान से पुण्य से मनुष्य आयु का बन्ध करते हैं और पश्चात् क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं, वे ही जीव आकर कुलकर होते हैं। वे क्षत्रिय कुल में उत्पन्न होते हैं। यद्यपि प्रकट रूप मे क्षत्रियादि कुल की प्रवृत्ति तब तक नहीं होती तथापि भावी का भूत मे उपचार करके इन्हे क्षत्रिय कुल मे उत्पन्नका हुए कहा

जाता है। अथवा भाव में क्षत्रियत्व उनमे विद्यमान था अत. क्षत्रिय कुलोत्पन्न कहा है। उन कुलकरो में से कई तो जातिस्मरण ज्ञानवाले होते हैं और कई को अवधिज्ञान प्राप्त होता है।

प्रथम कुलकर की आयु पल्य के दशवें भाग प्रमाण होती है और आगे आगे के कुलकरों की आयु दश दश गुणी हीन है। अर्थात् प्रथम कुलकर की पल्य के दशवें भाग, दूसरे की पल्य के सौवें भाग, तीसरे की पल्य के हजारवे भाग इस क्रमसे घटते २ अन्तिम कुलकर नाभि महाराज की आयु पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण रह गई है।

एक कुलकर के मरने के पश्चात् जितना काल बीतने पर दूसरा कुलकर उत्पन्न होता है, उसको कुलकरो का अन्तराल कहते हैं। चौदह कुलकरो के तेरह अन्तराल होते हैं। उनमे से प्रथम अन्तराल पल्य के अस्सीवें भाग प्रमाण है। प्रथम कुलकर की मृत्यु होने के बाद पल्य के अस्सीवें भाग बीतने पर दूसरा कुलकर हुआ है। इसी प्रकार बारह अन्तराल दश दश गुणे भागहार से भाजित पल्य प्रमाण जानने चाहिए।

आदि के पाच कुलकर अपराधियो को 'हा' ऐसा वचन बोल कर दण्ड देते है। 'हा' का अर्थ है–हाय यह बुरा किया। उनके बाद के पॉच कुलकर 'हामा' बोलकर दण्ड देते है। अर्थात्–'हाय बुराकिया, मत करो। वे अपराधियो को ऐसा कहते है। इनके पश्चात् वृषभदेव सहित पॉच कुलकरों ने 'हामाधिक्' का दण्ड विधान नियत किया। इस का अर्थ है–हाय बुरा किया, मत करो, धिक्कार है तुम्हे।

चक्षुष्मान और यशस्वी के शरीर का वर्ण श्याम था, तथा प्रसेनजित और चन्द्राभ कुलकर के शरीर का वर्ण धवल और शेष कुलकरों के वर्ण सुवर्ण समान थे।

कुलकरो का कार्य

ज्योतिरग जाति के कल्पवृक्षो के मन्द होजाने से सूर्य और चन्द्रमा दिखाई देने लगे। उनको देखकर प्रजा भयभीत हुई। प्रथम कुलकर ने प्रजा को समझा कर उसका भय दूर किया। दूसरे कुलकर ने ताराओ के दर्शन से उत्पन्नहुए प्रजा के भय को दूर किया। सिंह आदि जन्तुओ मे क्रूरता आने लगी। तब तीसरे कुलकर ने उनसे बचने का उपाय बतलाकर जनता को निर्भय किया। सिंहादि प्राणी अति क्रूर स्वभाव वाले होगये तब चौथे कुलकर ने उनको दण्ड देने का उपाय दिखलाकर लोगो को भयरहित किया। कल्पवृक्ष अल्पफल देने लगे तब प्रजा में परस्पर कलह होने लगा। पॉचवें कुलकर ने सीमा बाधकर उनके झगडे दूर किये। जब कल्पवृक्ष अत्यन्त मन्द होने लगे तब प्रजा में उस मर्यादा मे भी झगडा होने लगा तो छठे कुलकर ने विशेष चिह्नादि द्वारा सीमा को दृढ करके झगडा मिटाया। सातवें कुलकर ने घोडे आदि की सवारी नियत की। आठवें ने बालक का जन्म होने के पश्चात् भी कुछ कालतक जब उसके माता-पिता जीवित रहने लगे और बालक का

मुख देखकर भय करने लगे तब उनके भय का निवारण किया। बालक के उत्पन्न होने के बहुत समय पश्चात् तक जब माता पिता जीवित रहने लगे तो उन्हे नवमे कुलकर ने बालक को आशीर्वादादि देना सिखलाया। बालक की उत्पत्ति होने के पश्चात् और भी अधिक काल तक माता-पिता जीने लगे तब दशवें कुलकर ने उनको बालक को चन्द्रमा दिखाना आदि केलि-क्रीडाएँ सिखलाई। बालक के जन्म के बाद माता-पिता बहुत अधिक काल तक जीवित रहने लगे तब प्रजा को भय उत्पन्न हुआ उसका निवारण ग्यारहवें कुलकर ने किया। बारहवें कुलकर ने जब जलवृष्टि से नदी जलाशय आदि हुए तो उनमें तिरने के उपाय व नाव आदि का विधान बतलाया। जब जरायु सहित बालक उत्पन्न होने लगे तब तेरहवें कुलकर ने जरायु का छेदन करना सिखलाया। अब नाल सहित बालक उत्पन्न होने लगे तो चौदहवें कुलकर ने नाल छेदन करना सिखलाया और इन्द्र धनुप, विद्युत् (बिजली) आदि होने लगे तब उनके देखने से उत्पन्न हुए प्रजा के भय को मिटाया, तथा फलों के आकारादि का ज्ञान और भोजन-विधि का ज्ञान कराया। इसके पश्चात् कर्मभूमि की प्रवृत्ति हुई।

तिरेसठशलाका पुरुष

श्री आदि ब्रह्मा/ऋषभ देव तीर्थंकर ने नगर, ग्राम, पत्तनादि की रचना का ज्ञान, लौकिक कार्यों से सम्बन्ध रखने वाले शास्त्र, और असि मषि कृषि आदि जीवन के उपाय, और दयामूल धर्म की स्थापना की।

चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नव नारायण, नव प्रतिनारायण और नव बलभद्र ऐसे तिरेशठ शलाका पुरुष चौथेकाल में उत्पन्न होते हैं।

तीर्थंकर के शरीरों की ऊँचाई व आयु का प्रमाण

आदि तीर्थंकर के शरीर की ऊँचाई पाँचसौ धनुष की होती है। द्वितीय तीर्थंकर से लेकर आठ तीर्थंकरों के शरीर की ऊँचाई पचास-पचास धनुप कम होती गई है। तथा दशमे तीर्थंकर से लेकर पाँच तीर्थंकरों की दश दश धनुप कम और पन्द्रहवें से लेकर आठ तीर्थंकरों की पाँच पाँच धनुप कम शरीर की ऊँचाई है। पार्श्वनाथ के नव हाथ और वर्धमान के सात हाथ शरीर की ऊँचाई है।

प्रथम तीर्थंकर की आयु चौरासी लाख पूर्व, दूसरे की बहत्तर लाख पूर्व, तीसरे की साठ लाख पूर्व, चौथे तीर्थंकर से लेकर पाँच तीथकरो की दशदश लाख पूर्व कम, नवें की दोलाख पूर्व, दशवें की एक लाख पूर्व वर्ष की आयु है। ग्यारहवें से लेकर क्रम से चौरासीलाख बहत्तरलाख, साठलाख, तीसलाख, दसलाख, एकलाख, पिच्यानवे हजार, चौरासी हजार पचपनहजार, तीसहजार, दसहजार, एकहजार, एकसौ, और अन्तिम तीर्थंकर की बहत्तर वर्ष की आयु होती है।

तीर्थंकरों के अन्तराल

प्रथम तीर्थंकर के पश्चात् अगले तीर्थंकर जितने काल के बाद होते हैं उसे अन्तराल कहते हैं। ऐसे अन्तराल चौबीस तीर्थंकरों के तेईस होते हैं। प्रथम अन्तराल पचास कोटि सागर, तीन वर्ष, आठ महीने और एक पक्ष प्रमाण है। इतने काल के बीतने पर ऋषभदेव तीर्थंकर के पश्चात् अजितनाथ तीर्थंकर हुए। इसके बाद दूसरे से लेकर चौथे अन्तराल का काल क्रम से तीस लाख कोटि सागर, दशलाख कोटि सागर, नवलाख कोटि सागर है। इस के बाद पाँचवे अन्तर से लेकर पाँच अन्तरालो मे क्रम से प्रत्येक अन्तराल दशवें-दशवें भाग प्रमाण है। अर्थात् क्रमसे निब्बे हजार कोटि, नवहजार कोटि, नवसो कोटि, निब्बे कोटि और नव कोटि सागर प्रमाण अन्तराल है। इसके अनन्तर दशवॉ अन्तराल एकसौ सागर और छियासठ लाख छब्बीस हजार वर्ष हीन एक कोटि सागर प्रमाण है। इसके बाद ग्यारहवें आदि अन्तराल क्रमश चौवन सागर, तीस सागर, नव सागर, चार सागर प्रमाण है। पन्द्रहवॉ अन्तराल पौन पल्य हीन तीन सागर प्रमाण है। सोलहवॉ अन्तराल आधे पल्य का है। सत्रहवॉ हजार कोटि वर्ष हीन चौथाई पल्य प्रमाण है। इसके बाद अठारहवें आदि अन्तराल हजार कोटि वर्ष, चौवन लाख वर्ष, छह लाख वर्ष, पॉचलाख वर्ष, तियासी हजार सातसो पचास वर्ष प्रमाण है। और अन्तिम तेईसवॉ अन्तराल तीन वर्ष आठ महीने व एक पक्ष हीन दोसौ पचास वर्ष का है। अर्थात् दोसौ छियालीस वर्ष, तीन मास और एक पक्ष प्रमाण अन्तराल है। ये सब अन्तराल एक के मोक्ष काल से लेकर दूसरे के मोक्ष काल तकके हैं, जन्मादि की अपेक्षा से नहीं है। अर्थात् ऋषभ देव के मोक्ष गमन से अजित नाथ के मोक्षगमन तक मध्य काल प्रथम अन्तराल है। इसी प्रकार सब अन्तरालो मे समझ लेना चाहिए।

इन अन्तरालों मे अपनी अपनी आयु के काल को घटाने पर पूर्व तीर्थंकर से आगे के तीर्थंकर का अन्तराल होता है। जैसे प्रथम अन्तराल मे से अजित नाथ की आयु को घटा देने से प्रथम जिनेन्द्र के मोक्ष जाने और द्वितीय तीर्थंकर के जन्म-लेने के बीच का अन्तरकाल निकलता है। ऐसे ही अन्य का भी जान लेना चाहिए।

श्री महावीर जिनेन्द्र का तीर्थकाल इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण दुषम और इतना ही दुःषम दुषम है। यह सब मिलाकर बियालीस हजार वर्ष प्रमाण है।

तीसरे काल के तीन वर्ष आठ महीने और एक पक्ष शेष रहने पर प्रथम तीर्थंकर मोक्ष गये और चौथे काल के उतने ही (तीन वर्ष आठ मास और एक पक्ष) बाकी रहने पर श्रीमहावीर भगवान सिद्ध हुए।

जिनधर्म का उच्छेद-काल

पुष्पदन्त और शीतलनाथ के अन्तराल मे पाव पल्य, शीतल नाथ और श्रेयोनाथ के अन्तराल मे आधा पल्य, श्रेयोनाथ और

वासुपूज्य के अन्तराल मे पौन पल्य, वासु पूज्य और विमलनाथ के अन्तराल मे एक पल्य, विमलनाथ और अनन्तनाथ के अन्तराल मे पौन पल्य, अनन्तनाथ और धर्मनाथ के अन्तराल मे आधा पल्य, धर्मनाथ और शान्तिनाथ के अन्तराल मे पाव पल्य तक धर्म का उच्छेद (अभाव) चतुर्थ काल मे रहा। उक्त समय मे जिन धर्म के वक्ता, श्रोता, आचरण कर्त्ता के अभाव से समीचीन जिनधर्म का अस्तित्व नही रहता है।

शक और कल्की की उत्पत्ति।

श्री वर्धमान जिनेन्द्र के मोक्षजाने के पश्चात् छहसौ पॉच वर्ष और पॉच महीने बीतने पर शक (विक्रम) राजा उत्पन्न होता है। और उसके अनन्तर तीनसौ चौरानवे वर्ष और सात महीने बीतने पर कल्की का जन्म होता है।

नियत भोग भूमियॉ

भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्र के अतिरिक्त सब भोग भूमियॉ है। उनमे देवकुरु और उत्तरकुरु ये दो उत्कृष्ट भोग भूमियॉ हैं। ये मेरु के निकट दक्षिण और उत्तर मे हैं। इनकी परिस्थिति-जीवो की आयु, शरीरादि सब रचना प्रथम काल के आदि के समान सदा रहती है। हरिक्षेत्र और रम्यकक्षेत्र मे दूसरे काल के समान सब रचना प्रवृर्त्त होती है। ये मध्यम भोग भूमियाँ हैं। इनमे सर्वदा दूसरा काल (सुपम) रहता है। हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्र मे सदा तीसरा काल (सुपमदु पम) रहता है। और विदेह क्षेत्र मे सदा चतुर्थ काल अवस्थित है।

भरत और ऐरावत सम्बन्धी पॉच-पॉच म्लेच्छ खण्डो मे और विजयार्ध पर्वत पर विद्याधरो की श्रेणियों मे दु.षम सुषम काल की आदि से लेकर उसी के अन्ततक जैसी हानि वृद्धि होती है वैसी हानि वृद्धि होती रहती है। अत. अवसर्पिणीकाल मे तो चतुर्थ काल की आदि से लेकर अन्त पर्यन्त आय खड के अनुक्रम से आयु आदि की हानि होती है। वहॉ पर पचमकाल व छठा काल नहीं वर्त्तता है। तथा प्रथमादिकाल की भी प्रवृत्ति नहीं होती है। भाव यह है कि आर्यखण्ड मे प्रथमादि काल की प्रवृत्ति जिस समय होती है उस समय में भी उक्त म्लेच्छखडादि मे प्रथमादिकाल की प्रवृत्ति नहीं होती है, किन्तु अवसर्पिणी काल मे उस के चतुर्थ काल की आदि से अन्ततक और उत्सर्पिणी काल मे उसके तृतीय काल की आदि से लेकर अन्त पर्यन्त आर्य खड मे हानि वृद्धि जैसी होती है उसी के अनुसार वहॉ पर आर्य खण्ड मे अ ासर्पिणी व उत्सर्पिणी मे हानि वृद्धि होती है। अर्थात् वहा पर एक रूप वर्त्तना है।

देवगति मे सुपम-सुपम काल के समान सदा सुख की प्रवृत्ति होती है और नरकगति मे दु.पम दुःपम काल के समान सदा दु खमय प्रवृत्ति रहती है। मनुष्यगति और तिर्यंचगति मे छहो काल की प्रवृत्ति होती है।

स्वयंभूरमण नामक द्वीप के मध्य में चारो ओर मानुषोत्तर पर्वत के समान स्वयंप्रभ पर्वत है इससे उसके दो भाग होगये हैं। उन मे से स्वयभूरमण द्वीप के अग्रिमभाग मे तथा स्वयंभूरमण समुद्र मे दु पमकाल की सी मदा प्रवृत्ति रहती है।

'कुमनुष्य भोग भूमि जो समुद्र में है वहाँ तीसरे काल के समान प्रवृत्ति है।

कुभोग भमि कहाँ कहाँ हैं?

लवण समुद्र के अभ्यन्तर आठ दिशाओ मे आठ, और उनके मध्य मे आठ, तथा हिमवान् और शिखरी एवं भरत और ऐरावत के दोनों विजयार्ध के अन्तिम तटों पर आठ, इस प्रकार चौबीस द्वीपस्थ कुभोग भूमियॉ हैं। तथा लवण समुद्र के बाह्यतट पर उक्त प्रकार चौबीस कुभोग भूमियॉ लवण समुद्र सम्बन्धी है। और कालोदधि मे भी लवण समुद्र समान अडतालीस कुभोग भूमियाँ हैं। ये कुभोग भूमियॉ द्वीपों पर हैं।

जो दिशा सम्बन्धी द्वीप हैं, वे जम्बूद्वीप की वेदिका से पॉचसौ योजन दूरपर समुद्र मे स्थित हैं। विदिशाओं और अन्तर (मध्य) के जो द्वीप हैं वे वेदिका से साढे पाचसो योजन दूर पर अवस्थित है। और जो पर्वतों के अन्तिम तट पर अवस्थित हैं वे छहसौ योजन दूर पर हैं। दिशाओं के द्वीप सो योजन चोडे, विदिशाओं के पचास योजन और शैलान्त द्वीप पच्चीस योजन चौडे हैं। पूर्व दिशा सम्बन्धी द्वीपवर्त्ती कुभोग भूमि मे मनुष्य एक टागवाले, पश्चिम मे पूछवाले, उत्तर मे गूगे और दक्षिण मे सींगवाले हैं। विदिशाओं मे खरगोश के समान कान, पूडी के समान कान, ओढने के वस्त्र समान कान और लम्बे कान वाले है। अन्तराल (दिशाविदिशा के मध्य) वर्त्ती द्वीपों मे अश्व, सिंह, कुत्ते, भैंसे, शूकर, व्याघ्र, काक, घूक (उल्लू) और कपि के समान मुखवाले मनुष्य है। शिखरी पर्वत के दोनों तटों पर मेघ और विजली के समान मुखवाले मनुष्य है। हिमवान् पर्वत के दोनों अन्तिम तटोपर मत्स्य (मच्छ) मुख और काल मुख हैं। उत्तर विजयार्ध के दोनों अन्त तटों पर हस्ति समान और आदर्श (दर्पण) समान मुखवाले है। और दक्षिण विजयार्ध के आखिरी तटों पर गोमुख मेघमुखवाले मनुष्य है। उनमे जो एक टागवाले है वे गुफाओं मे निवास करते है और अतिमिष्ट मृत्तिका का आहार करते हैं। शेष सब पुष्प व फल का आहार करते हैं और वृक्षो पर निवास करते है। सब कुभोग भूमि के मनुष्यों की आयु एकपल्य प्रमाण होती है।

कुभोगभूमियों में जन्म लेने वाले जीव

जो जीव जिन लिंग (मुनि भेष) धारण करके मायाचार करते है। ज्योतिष, मन्त्र वैद्यक आदि से आहारादि रूप आजीविका करते है, रुपया पैसा आदि धन चाहते है, ऋद्धि, यश, सातारूप गौरव से सयुक्त है, आहार, भय मैथुन और परिग्रह सम्बन्धी संज्ञा (वाछा)

स प्र

रखते है, गृहस्थो के परस्पर विवाह सम्बन्ध का मेल मिलाते है, सम्यग्दर्शन की विराधना करते हैं, अपने व्रतादि मे लगे हुए दोषों की गुरु के निकट आलोचना नहीं करते हैं, अन्य जीवो को दोष लगाते है, या जो मिथ्यादृष्टि पचाग्नि आदि तप करते हैं, मौन रहित भोजन करते है वे कुभोग भूमि मे जन्म लेते है। इसी प्रकार जो गृहस्थ दान देने के अयोग्य अवस्था (सूतकादि अवस्था) मे दान देते है तथा कुपात्रों को दान देते हैं वे भी उक्त कुभोग भूमि मे जन्म लेते है।

धातकी खंड और पुष्करार्ध द्वीपों की रचना

जम्बूद्वीप से चतुर्गुण विस्तार वाला (चारलाख योजन) धातकी खंड है। उसमे जम्बूद्वीप से दूनी रचना है। और उतनी ही रचना पुष्करार्ध द्वीप मे है। उन दोनों द्वीपो के मध्य मे उत्तर दक्षिण तक लम्बे दो दो इष्वाकार पर्वत है जो सुवर्णमय हैं। पूर्व पश्चिम मे एक हजार योजन चौडे हैं और चारसौ योजन ऊँचे हैं और उत्तर दक्षिण मे अपने अपने द्वीपसमान क्रमसे चार लाख और सोलह लाख योजन प्रमाण लम्बे हैं। एक एक क्षेत्रादि की रचनारूप वसती के धारक हैं।

धातकी खड और पुष्करार्ध मे दो दो मेरु है। बारह २ कुलाचल और चौदह २ क्षेत्र आदि हैं। अर्थात् पर्वत व क्षेत्रादि संख्या में जम्बूद्वीप से दुगने २ है। विस्तार मे क्रमसे दुगने २ और अठगुने २ हैं। और ऊँचाई और गहराई आदि मे जम्बूद्वीप के कुलाचल ह्रदादि के समान ही हैं। धातकी खड और पुष्करार्ध के क्षेत्र और कुलाचलो का आकार पहिये के अरछिद्र और अरकाष्ट के आकार के समान हैं। अरछिद्र के आकार के समान क्षेत्र है और अरकाष्ठ के आकार के समान कुलाचल है। धातकी खड मे पृथिवी कायिक रत्नमय धातकी वृक्ष हैं और पुष्कर है। उनका वर्णन जम्बूद्वीप स्थित जम्बूवृक्ष के समान जानना चाहिए।

लवण समुद्र के पाताल

जम्बूद्वीप की चारों ओर की वेदिका से पिच्यानवे हजार योजन दूर लवण समुद्र मे जाकर चारों दिशाओं मे चार महापाताल हैं। उनके तल व पार्श्व भाग वज्रमय है। प्रत्येक एक लाख योजन के गहरे हैं और मध्य भाग में उतने ही (एक लाख योजन प्रमाण) चौड़े तथा मूल मे मुख भाग मे दशहजार योजन चौडे हैं। पूर्व दिशा मे पाताल, पश्चिम मे वडवामुख, उत्तर मे यूपकेसर और दक्षिण मे कलबुक नामक महापाताल हैं। इनमे से प्रत्येक के नीचे के तृतीय भाग मे वायु भरा है। मध्य के तृतीय भाग मे वायु और जल है और ऊपर के तृतीय भाग मे केवल जल है। रत्नप्रभा पृथ्वी के खरभाग मे भवनवासी देवो के भवन हैं। वहाँ पर वातकुमार देव और उनकी देवांगनाएँ क्रीडा करती हैं। उससे वायु मे क्षोभ उत्पन्न होता है। उस क्षुब्ध वायु के निमित्त से पातालों के वायु और जलका निष्कासन व प्रवेश होता है।

उसके निमित्त से जल वृद्धि होती है। तथा पाताल मे वायु के वेग का शमन होजाने पर जल हानि होती है। अर्थात् जल समान स्थिति मे आजाता है। चारो पातालों मे एक दूसरे का अन्तर दो लाख सत्ताईस हजार सात सौ योजन और कुछ अधिक तीन कोश प्रमाण है।

उन महापातालो के मध्य मे चारों विदिशाओ मे चार क्षुद्रपाताल हैं। उनकी गहराई दश २ हजार योजन है तथा मध्य में इतने ही चौडे हैं। और मूल और ऊपर मुख मे एक एक हजार योजन चौडे हैं। महापातालो की तरह उनके नीचे के तृतीय भाग मे वायु है, मध्य के त्रिभाग मे वायु और जल है तथा ऊपर के त्रिभाग में जल है।

उक्त आठों दिशा व विदिशा मे स्थित पातालों के अन्तरालों मे एक हजार क्षुद्रपाताल हैं। वे प्रत्येक एक एक हजार योजन के गहरे और मध्य मे उतने ही चौडे हैं तथा मूलतल मे व ऊपर मुख मे पांच पाँच सौ योजन चौडे हैं। उनके भी पूर्व की तरह तीन भाग हैं। पहले (नीचे) के त्रिभाग मे वायु, मध्य के त्रिभाग मे वायु और जल तथा ऊपर के त्रिभाग मे जल है।

भावार्थ—लवण समुद्र का जल समभूमि से ग्यारह हजार योजन ऊंचा है और पूर्णिमा को वह सोलह हजार योजन ऊँचा हो जाता है। कारण यह कि पातालों के मध्य त्रिभाग मे नीचे पवन और ऊपर जल है। सो कृष्णपक्ष मे प्रतिदिन पवन की जगह जल होता जाता है और शुक्ल पक्ष मे जल की जगह पवन होजाता है। इसलिए शुक्लपक्ष में जल अधिक ऊँचा होता २ पूर्णिमा के दिन सोलह हजार योजन ऊँचा हो जाता है। और कृष्णपक्ष में घटता घटता अमावस्या के दिन अपनी समान स्थिति में आजाता है। अर्थात् समतल भूमि से ग्यारह हजार योजन ऊँचा रहता है। यह इसकी स्वाभाविक स्थिति है। इसका विशेष वर्णन त्रिलोकसार आदि ग्रन्थों से जानना।

अन्य द्वीप व समुद्र

इस मध्य लोक मे असख्यात द्वीप समुद्र हैं। उनकी सख्या अढाई उद्धार सागर प्रमाण है। (दश उद्धार पल्य का एक उद्धार सागर होता है)। उन अढाई उद्धार सागर प्रमित द्वीप समुद्रों मे १ जम्बूद्वीप, २ धातकी खंड, ३ पुष्करद्वीप, ४ वारुणिवर, ५ क्षीरवर, ६ घृतवर, ७ क्षौद्रवर (मधुवर) ८ नन्दीश्वर, ९ अरुणवर, १० अरुणाभास, ११ कुडलवर, १२ शखवर, १३ रुचकवर, १४ भुजगवर १५ कुशागवर, १६ क्रौंचवर आदि असख्यात द्वीप हैं।

जम्बूद्वीप को चारों तरफ से लवण समुद्र वेढे हुए है, धातकी खड को कालोद समुद्र वेढे हुए है, पुष्कर द्वीप को पुष्कर समुद्र वेढे हुए है। इस प्रकार उत्तरोत्तर द्वीप व समुद्र एक दूसरे को वेढे हुए हैं। आगे के सब समुद्रों के नाम पूर्व-पूर्ववर्ती द्वीपों के समान हैं। जैसे पुष्कर द्वीप-पुष्कर समुद्र, वारुणि द्वीप-वारुणि समुद्र इत्यादि।

जम्बूद्वीप एकलाख योजन प्रमाण चौड़ा है और गोल है। उससे आगे द्वीप व समुद्र दूने २ चौड़े और पूर्व-पूर्व को घेरे हुए तथा गोल आकार के धारक हैं।

समुद्रों के जल का रसास्वाद

लवण समुद्र, वारुणि, क्षीरसागर, घृतवर, ये चार समुद्र अपने नामके अनुरूप स्वाद वाले हैं। लवण समुद्र में जल लवणसा खारे स्वाद वाला है, वारुणिसमुद्र मे मदिरा के समान स्वाद वाला जल है, क्षीरसागर में दुग्धसमान रसवाला जल है और घृतवर मे घृतसमान रस का धारक जल है। कालोद, पुष्कर और स्वयंभूरमण इन तीन समुद्रों मे जल के समान स्वादवाला जल है। इनके अतिरिक्त सम्पूर्ण समुद्रों के जल का स्वाद इक्षु (ईख-साठे) के रस के समान है।

लवणसमुद्र, कालोदसमुद्र तथा अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र में जलचर मत्स्यादि जीव पाये जाते हैं। क्योंकि ये तीनों समुद्र कर्म भूमि सम्बंधी हैं। शेष समस्त समुद्रों मे जलचर जीव नहीं हैं, क्योंकि वे भोगभूमि सम्बन्धी हैं और भोगभूमि में जलचर जीव नहीं होते हैं।

पुष्कर द्वीप के मध्य (बीचोबीच) वलयाकार गोल मानुषोत्तर पर्वत है। उसके भीतर-भीतर अर्थात् ढाई द्वीप और दो समुद्रों मे ही मनुष्य पाये जाते हैं। मानुषोत्तर पर्वत को लांघकर बाहर जाने की मनुष्य मे सामर्थ्य नहीं है।

मानुषोत्तर पर्वत के परे और स्वयंभूरमण द्वीप के मध्य मे स्थित स्वयप्रभ पर्वत के भीतर अर्थात् आधे स्वयभूरमण द्वीप तक भोगभूमिया तिर्यंच हैं। जैसे पुष्कर द्वीप के मध्य मे मानुषोत्तर पर्वत है, तथा कुण्डलवर द्वीप के बीचो बीच कुण्डलगिरि और रुचकवर द्वीप के मध्य मे रुचकगिरि है वैसे ही स्वयंभूरमणद्वीप के बीचोंबीच वलयाकार स्वयप्रभगिरि है। उससे स्वयंभूरमणद्वीप के दो विभाग होगये हैं। उसके परले विभाग मे तथा स्वयभूरमण समुद्र मे कर्मभूमि है। इतना विशेष जानना।

ज्योतिष देवों का वर्णन

चित्रा पृथ्वी के प्रारम्भ से मेरु की चूलिका के अन्तिम भाग तक मध्यलोक माना गया है। मेरुपर्वत की अवगाहना (भूमि के अन्दर-नींव) एक हजार योजन है। वहीं से चित्रा पृथ्वी का प्रारभ माना है और उसकी मोटाई एक हजार योजन (मेरु पर्वत की नींव प्रमाण) है। चित्रा पृथ्वी के ऊपर के सम भूमि भाग से सातसो निब्वे योजन ऊंचे से ज्योतिष देवों का निवास क्षेत्र प्रारभ होता है और नौसौ योजन की ऊँचाई पर समाप्त होता है। अर्थात एकसौ दश योजन मोटे क्षेत्र मे ज्योतिष देवो का निवास है। जैसा कि राजवार्तिक मे कहा है—

ज्योतिष् देवों के विमान

णवदुत्तर सत्तसया दससीदी चदुतिगंच दुगचदुक्कं।
तारारविससिरिक्खा बुहभग्गवगुरुअंगिरारसणी ॥ १ ॥

अर्थ—इस सम भूमिभाग से सातसौ नव्वे योजन ऊपर जाकर ताराओं का संचार है। उसके ऊपर दश योजन जाकर सूर्य का संचार है। उससे अस्सी योजन ऊपर जाकर चन्द्रमा का भ्रमण क्षेत्र है। उसके ऊपर तीन योजन जाकर नक्षत्र है। उसके तीन योजन ऊपर जाकर बुध विचरण करता है। उसके ऊपर तीन योजन जाकर शुक्र का सचार होता है। उसके ऊपर तीन योजन जाकर बृहस्पति भ्रमण करता है। उसके चार योजन ऊपर मगल का सचार क्षेत्र है। उसके ऊपर चार योजन जाकर शनैश्चर भ्रमण करता है।

त्रिलोकसार मे उक्त कथन से भिन्नता प्रतीत होती है, वह निम्न प्रकार है—

णवदुत्तरसत्तसए दससीदी चदुदुगे च तियचउक्के।
तारिणससिरिक्खबुहा सुक्कगुरुंगारमंदगदी ॥ ३३२ ॥

अर्थ—समतल भूमिभाग मे सातसौ निव्वे योजन ऊपर जाकर तारा है। उससे दश योजन ऊपर जाकर सूर्य का भ्रमण है। उससे अस्सी योजन ऊपर जाकर चन्द्रमा का सचार है। उससे चार योजन ऊपर जाकर नक्षत्र हैं। उससे चार योजन ऊपर जाकर बुध है। उससे तीन योजन ऊपर जाकर शुक्र है। उससे तीन योजन ऊपर जाकर बृहस्पति है। उससे तीन योजन ऊपर जाकर मगल है तथा उससे तीन योजन ऊपर जाकर मन्दगति (शनैश्वर) है।

राजवार्तिक मे नक्षत्रादि चार को तीन तीन योजन के अन्तर और मगल शनि को चार २ योजन के अन्तर पर कहा है। और त्रिलोक सार मे नक्षत्र तथा बुध को चार चार योजन के अन्तर पर और शुक्र, गुरु, मंगल और शनि को तीन २ योजन के अन्तर पर दिखलाया है।

अठासी ग्रहों मे से उक्त कथन से अवशिष्ट ग्रहों के विमान बुध और शनैश्चर के बीच अन्तराल मे है।

विमानो के आकार और वर्ण

सम्पूर्ण ज्योतिष देवों के विमान आधे गोले के आकार है। अर्थात् गोले के बीच मे से बराबर दो टुकड़े करने पर एक आधे

गोले का चौडा भाग ऊपर और सकडा भाग नीचे रखने पर जैसा आकार होता है ऐसा आकार ज्योतिष विमानों का है। उनमे देवों के नगर और जिन मन्दिर बने हुए हैं।

ज्योतिष देवों में चन्द्रमा तो इन्द्र है और सूर्य प्रतीन्द्र है। चन्द्रमा का विमान ५६/६१ योजन अर्थात् एक योजन के इकसठ भागों में से छप्पन भाग प्रमाण लम्बा चौडा है। तथा २८/६१ योजन मोटा है। अर्थात् एक योजन के इकसठ भागों में से अठाईस भाग प्रमाण उसकी मोटाई है। विमान का आधे गोले के समान आकार है। और उसको वहन करने (उठाने) वाले सोलह हजार देव हैं। निर्मल मृणाल के समान अकमणि से वह निर्मित हैं।

सूर्य का विमान तपे हुए सुवर्ण के समान कान्तिवाली लोहिताक्ष मणि से निर्मित है। उसकी चौडाई लम्बाई ४८/६१ योजन है। अर्थात् एक योजन के इकसठ भाग मे से अडतालीस भाग प्रमाण सूर्य-विमान लम्बा-चौड़ा है। और २४/६१ योजन प्रमाण उसकी मोटाई है। अर्थात् एक योजन के इकसठ भागो मे से चौबीस भाग प्रमाण मोटा है। उसके वाहक (उठानेवाले) देव सोलह हजार हैं।

राहु का विमान अंजन समान कृष्णवर्ण की अरिष्ट मणि से निर्मित है। उसकी लम्बाई चौडाई एक योजन प्रमाण है। और मोटाई ढाईसौ धनुष प्रमाण है। उसके वाहक देव चार हजार हैं।

शुक्र का विमान रजतमय हैं। एक कोशलम्बा चौडा है। इसके तथा आगे के सब विमानो के वाहक देव चार चार हजार हैं।

मुक्ता के समान श्वेतवर्ण अंक नामक मणि से बना हुआ बृहस्पति का विमान है। वह कुछ कम एक कोश लम्बा चौडा है।

सुवर्णमय पीतवर्ण बुध का विमान है और आधकोश लम्बा चौडा है।

मगल का विमान तपे हुए सोने के समान लोहितमणि का बना हुआ है तथा शनैश्चर का तप्त सुवर्ण मय है। इन दोनो की लम्बाई चौडाई आधा कोश प्रमाण है।

केतु का विमान श्यामवर्ण की मणि से निर्मित है तथा कुछ कम एक योजन प्रमाण लम्बा चौडा है।

तारा आदि के विमान कम से कम पाव कोश लम्बे चौडे हैं।

छह मास बीतने पर चन्द्रमा के नीचे राहु और सूर्य के नीचे केतु आता है। उनसे चन्द्रमा और सूर्य के विमान ढक जाते है। इसलिए चन्द्र और सूर्य हमको दिखाई नहीं देते। इसीको ग्रहण कहते है। चन्द्र-विमान और राहु-विमान का तथा सूर्य और केतु-विमान का परस्पर स्पर्श कभी नहीं होता।

राहु का विमान चन्द्र-विमान से और केतु का विमान सूर्य-विमान से चार प्रमाणागुल (दो हजार व्यवहारागुल अर्थात पौने चौरासी हाथ) नीचे रहता है।

जो ज्योतिष विमान (ताराआदि) समान क्षेत्र मे परिभ्रमण करते है वे भी परस्पर कभी नहीं मिलते। उनमे कमसे कम एक कोश के सातवें भाग प्रमाण (सदा दो फर्लांग से कुछ अधिक) अन्तर अवश्य रहता है। उनका संयोग कभी होता ही नहीं है।

ज्योतिष विमानों की गति

अढाई द्वीप और दो समुद्र सम्बन्धी ज्योतिष देवों के विमान निरन्तर भ्रमण करते है। मानुषोत्तर पर्वत के बाहर रहने वाले असख्यात द्वीप समुद्र सम्बन्धी ज्योतिष देवो के विमान स्थिर हैं। वे गमन नहीं करते हैं, अपने २ स्थान पर अवस्थित रहते है।

मानुषोत्तर पर्वत के आभ्यन्तर भाग मे ६५५३४ (पिच्यानवे हजार पाचसौ चौतीस) तारे ध्रुव स्थिर है। वे अपने स्थान को नहीं छोडते है। वे इस प्रकार है—जम्बूद्वीप म ३६, लवण समुद्र मे १३६, धातकी खंड मे १०१०, कालोद मे ४११२०, और पुष्करार्ध में ५३२३० हैं।

मानुषोत्तर शैल के आभ्यन्तर भाग के ज्योतिषदेवों के विमान मेरुपर्वत से ग्यारहसो इक्कीस योजन दूर पर मेरु की प्रदक्षिणा करते हैं। मेरु से ग्यारहसौ इक्कीस योजन तक कोई ज्योतिष-देव-विमान नहीं पाये जाते है। तथा सूर्य, चन्द्र और ग्रहण के सिवा सब ज्योतिष विमान एक मार्ग पर गमन करते हैं। और नक्षत्र एवं तारे अपनी २ एक परिधि मे भ्रमण करते है, भिन्न भिन्न मार्ग पर भ्रमण नहीं करते।

सूर्य व चन्द्रमा की संख्या

जम्बूद्वीप मे सूर्य और चन्द्रमा दो दो हैं लवण समुद्र मे चार चार हैं। धातकी खण्ड मे बारह, २ कालोद मे बियालीस २ और पुष्करार्ध द्वीप मे बहत्तर २ है। उत्तर पुष्करार्ध मे भी बहत्तर २ हैं। सब मिलाकर पुष्कर द्वीप मे एक सौ चवालीस हैं। इसके आगे के द्वीप समुद्रो मे दूने दूने होते चले गये है। जैसे पुष्कर द्वीप से दूने २८८ सूर्य चन्द्र पुष्कर समुद्र मे हैं और पुष्कर समुद्र से दूने ५७६ सूर्य चन्द्र वारुणि द्वीप मे है और इससे दूने ११५२ वारुणि समुद्र मे हैं। इसी प्रकार दूने दूने द्वीप समुद्रों मे सूर्य और चन्द्रमा समझ लेने चाहिए।

चन्द्रमा की सोलह कला (भाग) हैं। उनमे से कृष्णपक्ष की प्रत्येक तिथि में एक एक कला श्याम होती है। इसी को लोग 'घटना' कहते हैं। और शुक्ल पक्ष मे पुनः एक एक दिन मे एक एक कला श्वेतवर्ण होती जाती है। इसीलिए अमावस्या मे सम्पूर्ण श्याम होजाने से चन्द्रमा नहीं दिखाई देता और पूर्णिमा के दिन पूर्ण चन्द्रमा दिखाई देता है।

इसका आशय यह है कि चन्द्रविमान के नीचे राहु का विमान गमन करता है। उस राहु का भ्रमण सदा ऐसा ही होता है कि जिससे चन्द्रमा की एक एक कला (भाग) कृष्ण पक्ष मे तो आच्छादित होती जाती है और शुक्ल पक्ष मे एक एक कला प्रतिदिन प्रकट होती जाती है।

एक एक चन्द्रमा के साथ सम्बन्ध रखने वाले ग्रह अठासी नक्षत्र अठाईस और तारे छियासठ हजार नवसो पिचहत्तर कोटि कोटि (६६९७५००००००००००००००) हैं। राहु, केतु, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनैश्चर आदि ग्रहों के नाम हैं। अश्विनी, भरणी, कृत्तिका रोहिणी आदि अठाईस नक्षत्र हैं।

प्रत्येक द्वीप या समुद्र सम्बन्धी जो ज्योतिष-विमान हैं उनमे से आधे एक पार्श्व (पसवाडे) भाग मे हैं और आधे दूसरे पार्श्व भाग मे हैं।

चन्द्रमा का विचरण क्षेत्र और वीथिया

दो दो सूर्य या दो दो चन्द्रमा का चार क्षेत्र (गमन करने का आकाश प्रदेश) एक है। उसका परिमाण ५१० व ४८/६१ योजन है। इतने क्षेत्र में गलियाँ निर्धारित हैं उनका प्रमाण आगे कहेंगे। उनमे एक सूर्य और एक चन्द्रमा गमन करता है। उसीमे दूसरा सूर्य भी गमन करता है। इसलिए दो २ सूर्य और दो २ चन्द्रमा का एक चार-क्षेत्र है।

उक्त चारक्षेत्र मे चन्द्रमा की गलियाँ १५ और सूर्य की १८४ हैं। उनमें से एक एक गली मे एक एक दिन दो सूर्य और दो चन्द्रमा गमन करते हैं।

जो ५१० व ४८/६१ योजन चार क्षेत्र कहा गया है उसमे से जम्बूद्वीप सम्बन्धी सूर्य-चन्द्र का एक सौ अस्सी योजन प्रमाण चारक्षेत्र तो जम्बूद्वीप के भीतर आगया है और शेष चार-क्षेत्र लवण समुद्र मे है। जम्बूद्वीप के सिवा समस्त द्वीप समुद्र सम्बन्धी ज्योतिषों का चार क्षेत्र अपने २ द्वीप समुद्र मे ही है।

सब से मदगति से गमन करने वाला चन्द्रमा है। उससे शीघ्रगामी सूर्य है। सूर्य से शीघ्रगामी ग्रह, ग्रह से नक्षत्र और नक्षत्र से तारे अति शीघ्र गमन करते हैं।

ज्योतिषियों की आयु

चन्द्रमा की आयु एक लाख वर्ष अधिक एक पल्य प्रमाण है। सूर्य की आयु एक हजार वर्ष अधिक एक पल्य की है। शुक्र की आयु एक सौ वर्ष अधिक एक पल्य और वृहस्पति की आयु एक पल्य प्रमाण है। बुध, मंगल और शनैश्चर की आयु आधे पल्य प्रमाण है। तारा और नक्षत्र की उत्कृष्ट आयु पाव पल्य और जघन्य पल्य के आठवें भाग प्रमाण है।

ज्योतिष देवों की देवांगनाएँ

सूर्य और चन्द्रमा दोनों के चार २ पट्ट देवांगनाएँ हैं। और यह प्रत्येक पट्ट देवांगना विक्रिया द्वारा चार चार हजार शरीर धारण करने वाली होती है। प्रत्येक पट्ट देवांगना के चार चार हजार परिवार देवियाँ होती हैं।

ज्योतिष देवांगनाओं की आयु अपने पति देव से आधी होती है। इनमें सबसे हीन-पुण्य देव के भी कमसे कम बत्तीस देवांगनाएँ होती हैं।

ज्योतिष देवों में उपपाद

भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष देवों में वे जीव जन्म लेते हैं-जिन्होंने जिनमार्ग से विपरीत धर्म का आचरण किया हो, या निदान किया हो, या अग्नि में जल कर मरे हों, पानी में डूब कर मरे हों, वृक्ष पर्वत मकान आदि के से नीचे गिरकर मरे हों अथवा परतन्त्रता से बंधनादि के निमित्त से परिग्रह उपसर्ग सहन द्वारा निर्जरा कर मृत्यु प्राप्त की हो, अथवा पचाग्नि आदि द्वारा कुतपस्या की हो, या सदोष चारित्र का आराधन किया हो।

इस प्रकार मध्य लोक का वर्णन सम्पूर्ण हुआ अब ऊर्ध्व लोक का स्वरूप कहते हैं।

ऊर्ध्वलोक

ऊर्ध्वलोक का विस्तार

सुदर्शन मेरु की चूलिका से ऊपर सिद्धक्षेत्र पर्यन्त ऊर्ध्वलोक है। उसकी ऊँचाई सात राजू प्रमाण है। उसमें से डेढ राजू प्रमाण क्षेत्र में सौधर्म-ऐशान युगल के विमान हैं। उसके ऊपर डेढ राजू पर्यन्त सानत्कुमार-माहेन्द्र युगल के विमान हैं। उसके ऊपर आधे

आधे राजू के अन्तर पर छह युगल हैं। इस प्रकार छह राजू प्रमाण आकाश मे सोलह स्वर्ग है। उनके ऊपर सिद्ध क्षेत्र के बारह योजन नीचे तक क्रमसे नवग्रैवेयक, नव अनुदिश और पंच अनुत्तरविमान हैं।

स्वर्गों मे इन्द्र–क्रम

सौधर्म–ऐशान और सानत्कुमार-माहेन्द्र इन दो युगलों मे चार इन्द्र हैं। ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ट, शुक्र-महाशुक्र और शतार-सहस्रार इन चार युगलों मे चार इन्द्र है। तथा आनत-प्राणत और आरण-अच्युत इन दो युगलों मे चार इन्द्र हैं। इस प्रकार सोलह स्वर्गों मे बारह इन्द्र है।

इन सोलह स्वर्गों को कल्प कहते हैं। क्योंकि इनमे इन्द्र, सामानिक आदि भेदों की कल्पना होती है। इनके ऊपर नवग्रैवेयक आदि को कल्पातीत कहते हैं। क्योंकि उनमे रहने वाले सब अहमिन्द्र होते है। वहां इन्द्रादि भेद की कल्पना नहीं है।

नवग्रैवेयकादि का वर्णन

उक्त आठ स्वर्ग–युगलों के ऊपर नवग्रैवेयक हैं। उनमे अधोग्रैवेयक, मध्यग्रैवेयक और उपरिमग्रैवेयक ऐसे तीन भाग हैं और उन तीनों भागों मे तीन तीन ग्रैवेयक पटल है। उनके ऊपर नव अनुदिश विमान है। १ अर्चि, २ अर्चिमालिनी, ३ वैर, ४ वैरोचन, ये चार अनुदिश विमान पूर्वादि चारों दिशा मे तथा १ सोम, २ सोमरूप, ३ अंक और ४ स्फटिक ये चार विमान आग्नेयादि विदिशा मे स्थित हैं और इनके मध्य में ६ आदित्य इन्द्रक विमान है।

इनके ऊपर १ विजय, २ वैजयन्त, ३ जयन्त और ४ अपराजित ये चार अनुत्तर विमान पूर्वादि चारों दिशाओं में हैं और ५ वां सर्वार्थसिद्धि नामक इन्द्रक विमान उनके मध्य मे है।

प्रतर सख्या

सौधर्मादि स्वर्गो मे तिरेसठ प्रतर है। जैसे महल प्रासाद आदि मे खण्ड (मंजिल) होते हैं वैसे ही स्वर्गों मे प्रतर (खण्ड-पटल) है। एक प्रतर मे एक इन्द्रक-विमान मध्य मे होता है। सौधर्मयुगल मे इकतीस प्रतर हैं। सानत्कुमार युगल मे सात, ब्रह्मयुगल मे चार, लान्तवयुगल मे दो, शुक्रयुगल मे एक, शतार युगल मे एक, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत इन चार स्वर्गों मे छह प्रतर हैं। ग्रैवेयक मे नव प्रतर तथा अनुदिश मे एक और पंचानुत्तर मे एक प्रतर है। इस प्रकार सब तिरेसठ प्रतर है।

विमानों की स्थिति

मेरु की चूलिका से ऊपर एक बालाग्र के अन्तर पर सौधर्म युगल का ऋतु नामक पहला इन्द्रक विमान है। जो इन्द्रक का नाम है, प्रतर का भी वही नाम समझना चाहिए। इसी ऋतु विमान की सीध में ऊपर आगे के सब इन्द्रक विमान हैं। सौधर्म युगल के ऋतु नामक इन्द्रक विमान से विमल नामक दूसरा प्रतर (पटल) असंख्यात योजन के अन्तराल पर है। इसी प्रकार प्रत्येक पटल के असंख्यात २ योजन का अन्तराल है। अर्थात एक पटल के बाद असंख्यात योजन प्रमाण जगह खाली पडी है, उसके बाद दूसरा पटल है।

प्रथम इन्द्रक के चारों दिशाओं मे चार विमान श्रेणिया है। और विदिशा मे पुष्पप्रकीर्णक (बिखरे हुए फूलों के समान क्रमरहित) विमान हैं। एक एक श्रेणि (पंक्ति) मे बासठ बासठ विमान हैं। उन्हें श्रेणिबद्ध विमान कहते हैं। प्रति पटल एक एक विमान घटता गया है, इसलिए सौधर्म युगल के अन्तिम 'प्रभ' नामक पटल मे बत्तीस श्रेणिबद्ध विमान हैं। डेढ राजू मे सौधर्म युगल सम्बन्धी इकतीस पटल हैं। प्रत्येक पटल सम्बन्धी उत्तर दिशा के श्रेणिबद्ध विमान तथा वायव्य ईशान विदिशा सम्बन्धी प्रकीर्णक विमानों में तो उत्तर-इन्द्र ईशान की आज्ञा चलती है और तीन दिशा सम्बन्धी श्रेणिबद्ध विमानों मे (इन्द्र विमानों मे) तथा आग्नेय नैऋत्य विदिशा सम्बन्धी प्रकीर्णक विमानों मे दक्षिण इन्द्र सौधर्म का शासन है। जिन विमानों मे सौधर्म इन्द्र की आज्ञा चलती है उनके समूह को सौधर्म स्वर्ग कहते हैं और जिन विमानों मे ऐशान इन्द्र का शासन है उन के समूह को ऐशान स्वर्ग कहते है।

उसके पश्चात असंख्यात योजन का अन्तराल है। उसके बाद सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्ग युगल का प्रथम पटल है। वहाँ से असंख्यात योजन का अन्तराल छोडकर दूसरा पटल है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए। उन पटलों के मध्य मे इन्द्रक आदि विमान पूर्वोक्त प्रकार हैं। उत्तर श्रेणिबद्ध विमान और ऐशान कोण व आग्नेय कोण (विदिशा) के प्रकीर्णक विमानों मे उत्तर इन्द्र माहेन्द्र का आधिपत्य है तथा बाकी के सब विमानों पर दक्षिणेन्द्र सानत्कुमार का अनुशासन है। इसी अपेक्षा से उसके द्वारा शासित विमानों के समूह को सानत्कुमार का स्वर्ग कहते हैं। इसी प्रकार ऊपर के सब स्वर्ग पटलों मे भी समझ लेना चाहिए।

ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार इन आठ स्वर्गों मे चार इन्द्र हैं। वहाँ इन्द्र की अपेक्षा से नाम भेद नहीं है, किन्तु वसती की अपेक्षा से भेद है। जैसे यहाँ पर भी देश का एक अधिपति होता है, किन्तु नगरों के भिन्न २ नाम होते हैं इसी प्रकार वहाँ पर जानना चाहिए।

आनत-प्राणत, आरण-अच्युत इन चार स्वर्गों में चार इन्द्र हैं, उनमे से आनत और आरण तो दक्षिण इन्द्र हैं और प्राणत और अच्युत उत्तर इन्द्र हैं। वहाँ पूर्वोक्त प्रकार इन्द्र के भेद से स्वर्गों का भेद जानना चाहिए।

प्रत्येक पटल में एक एक श्रेणिबद्ध विमान घटता गया है, इसलिए अन्तिम ग्रैवेयक के सब से ऊपर के पटल में प्रत्येक दिशा में दो दो विमान है। उनके ऊपर असंख्यात योजन का अन्तराल छोडकर अनुदिश विमान या पटल है। उसके मध्य मे एक इन्द्र विमान है और चारों दिशाओं मे चार और विदिशाओंमे चार इस प्रकार नव विमान हैं। उनके ऊपर असंख्यात योजन का अन्तराल छोडकर पंचअनुत्तर विमान है।

पॉच अनुत्तर विमानों के ऊपर बारह योजन का अवकाश छोड़कर सिद्ध-क्षेत्र है। इस प्रकार ऊर्ध्वलोक रचना है। जिस प्रकार प्रत्येक पटल के ऊर्ध्व व अधोभाग मे अन्तराल है, उसी प्रकार प्रत्येक विमान के ऊर्ध्वभाग व अधोभाग और तिर्यग्भाग मे अन्तराल है। एक विमान दूसरे विमान से सर्वथा जुदा है। समान भाग मे एक इन्द्र की सीध मे रहने वाले विमानों का एक पटल माना गया है। नरक भूमियों के समान विमान एक दूसरे से जुडे हुए नहीं है, इसलिए उनको पृथ्वी नहीं कहा है। लोकान्त तक पहुचने वाले भूभाग को पृथ्वी कहते है। इसलिए सात नरक भूमियॉ और एक ईषत् प्राग्भार नामक सिद्धशिला ये आठ पृथ्वियॉ मानी गई हैं।

प्रकीर्णक विमानों की संख्या, विस्तार और बाहुल्य

सौधर्म स्वर्ग मे बत्तीसलाख, ऐशान मे अठाईस लाख, सानत्कुमार में बारहलाख, माहेन्द्र मे आठलाख, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर युगल मे चार लाख, लान्तव-कापिष्ट युगल म पचास हजार, शुक्र-महाशुक्र युगल म चालीस हजार, शतार-सहस्रार मे छह हजार विमान है। तथा आनतादि चार स्वर्गों मे समुदाय रूप सात सौ विमान है। अधोग्रैवेयक के तीन पटलों मे एक सौ ग्यारह विमान, मध्यम ग्रैवेयक के तीन पटलों मे एकसौ सात तथा उपरिम ग्रैवेयक के तीन पटलों मे इक्यानवे विमान है। एवं अनुदिश मे नव और अनुत्तर मे पॉच विमान है। इनमे से अपने २ स्वर्गों के इन्द्रक और पंक्तिबद्ध विमानों की सख्या को घटाने पर प्रकीर्णक विमानों की सख्या निकल आती है।

प्रथम ऋतु इन्द्रक विमान का विस्तार मनुष्य लोक समान पैंतालीस लाख योजन प्रमाण है और सब से अन्तिम सर्वार्थ सिद्धि विमान का विस्तार जम्बू द्वीप समान एक लाख योजन प्रमाण है। शेष मध्यवर्ती द्वितीयादि इन्द्रक विमानों का विस्तार क्रमश. अल्प २ प्रमाण है।

श्रेणिबद्ध विमानों का विस्तार (लम्बाई चौडाई) असंख्यात योजन प्रमाण है और प्रकीर्णक विमानों का विस्तार संख्यात योजन और असंख्यात योजन है। कई एक प्रकीर्णक संख्यात योजन विस्तार वाले है और कई एक असख्यात योजन विस्तार वाले हैं। समस्त कल्प विमानो के पॉचवें भाग प्रमाण विमान तो सख्यात योजन विस्तारवाले हैं और शेष विमान असख्यात योजन विस्तार वाले हैं। तथा अधोग्रैवेयकों मे तीन विमान, मध्य ग्रैवेयक मे अठारह और उपरिम ग्रैवेयकों मे सत्रह विमान एवं पंच अनुत्तरों मे एक विमान सख्यात योजन

विस्तार वाला है। शेप सब असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं। अर्थात् संख्यात योजन विस्तार वाले विमानों मे चोगुने असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं।

सौधर्मादि छह युगलों के छह स्थान, आनतादि चार स्वर्गों का एक स्थान, तथा तीन तीन अधोग्रैवेयकादि का एक एक स्थान, और अनुदिश व अनुत्तर का एक स्थान-ऐसे ग्यारह स्थान हुए। उनमे से आदि के स्थान (सौधर्म-ऐशान युगल) मे ग्यारह सौ इक्कीस योजन वाहुल्य (मोटाई) के धारक विमान है और शेप दश स्थानों मे निन्यानवे निन्यानवे योजन प्रमाण बाहुल्य प्रतिस्थान कम होता चला गया है। प्रथम स्थान मे ११२१, दूसरे से लेकर अन्ततक क्रमसे १०२२, ६२३, ८२४, ७२५, ६२६, ५२७, ४२८, ३२६, २३०, १३१ इस प्रकार विमानों का वाहुल्य (मोटाई) है।

विमानों का रंग

सौधर्म-ऐशान के विमान पाँच वर्णों के हैं। सानत्कुमार-माहेन्द्र कृष्ण वर्ण रहित चार वर्ण के हैं। ब्रह्मादि चारस्वर्गों में नीलवर्ण के भी विमान नहीं है, शेपतीन वर्ण के हैं। शुक्रादि चार स्वर्गों मे लाल रंग के भी नहीं हैं, शेप दो वर्ण के ही विमान पाये जाते हैं। आनत से लेकर अनुत्तर तक केवल शुक्लवर्ण के ही विमान हैं।

इन्द्र के निवास करने का विमान और उसका नाम

सौधर्म युगल के अन्तिम इकतीसवें पटल मे इन्द्रक विमान से दक्षिण दिशा सम्बन्धी अठारहवें श्रेणिबद्ध विमान मे तो सौधर्म इन्द्र निवास करता है और उत्तर दिशा के श्रेणिबद्ध के विमानो के अठारहवें विमान मे ईशान इन्द्र निवास करता है। सानत्कुमार युगल के अन्तिम पटल के दक्षिण दिशा सम्बन्धी सोलहवें श्रेणिबद्ध विमान मे सानत्कुमार इन्द्र और उत्तर दिशा सम्बन्धी सोलहवें विमान मे माहेन्द्र इन्द्र निवास करता है। ब्रह्म युगल के अन्तिम पटल के दक्षिण दिशा सम्बन्धी चौदहवें श्रेणिबद्ध विमान मे ब्रह्म इन्द्र निवास करता है। लान्तवयुगल के उत्तर दिशा सम्बन्धी वारहवें श्रेणिबद्ध विमान में लान्तव इन्द्रका निवास है। शुक्रयुगल के अन्तिम पटल के दक्षिण दिशा सम्बन्धी दशवें श्रेणिबद्ध विमान मे शुक्र इन्द्र का निवास है। शतार युगल के अन्तिम पटल के उत्तर दिशा सम्बन्धी आठवें श्रेणिबद्ध विमान मे शतार इन्द्र का निवास है। आनत युगल के अन्तिम पटल के दक्षिण दिशा सम्बन्धी छठे श्रेणिबद्ध विमान मे आनत इन्द्र का निवास हैं और उत्तर दिशा के विमान मे अच्युत इन्द्र का निवास है।

जिस विमान मे इन्द्र का निवास है, उस विमान का नाम स्वर्ग के नाम पर है। जैसे सौधर्म इन्द्र जिस विमान मे निवास करता है उसका नाम सौधर्म है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए।

इन्द्रों के नगर

सौधर्मादि चार स्वर्गों के चार स्थान, ब्रह्म युगलादि चार युगलों के चार स्थान, आनतादि चारस्वर्गों का एक स्थान-इन नवस्थानो मे अपनी २ देवांगनाओं सहित इन्द्रों के नगर हैं। उनमे से सौधर्म मे चौरासी हजार योजन प्रमाण, ऐशान मे अस्सी हजार, सानत्कुमार में बहत्तर हजार, माहेन्द्र म सत्तर हजार, ब्रह्मयुगल मे साठ हजार, लान्तव युगल म पचास हजार, शुक्र युगल में चालीस हजार, शतार युगल में तीस हजार, आनतादि चार स्वर्गों मे बीस बीस हजार योजन प्रमाण विस्तार के धारक चौकोर रमणीय नगर हैं। इन नगरों के चारों ओर, बहुत ऊँचे २ सुन्दर प्राकार (कोट) हैं, और उनके चारों दिशाओं मे चार चार गोपुर (दर्वाजे) हैं।

ऐसे पॉच पॉच कोट प्रत्येक नगर के हैं। एक कोट से दूसरे कोट के बीच का अन्तराल तेरह लाख योजन मे लेकर चौरासी लाख योजन तक का है। पाँच कोटों के चार अन्तराल होते हैं। उनमें से पहले अन्तराल मे सेना के अध्यक्ष और अ गरक्षक देव रहते हैं। दूसरे मे तीन जाति के पारिषद देव रहते हैं। तीसरे में सामानिक देव निवास करते हैं। तथा चौथे अन्तराल मे अश्वादिपर चढने वाले देव, आभियोग्य देव और किल्विषजाति के देव अपने २ योग्य भवनों में रहते हैं। उक्त पॉचवें कोट मे आधे लाख योजन की दूरी पर नन्दनवन है। वहाँ के वन आनन्द देने वाले हैं इसलिए उन्हें सामान्यरूप से नन्दनवन कहते हैं। वेंसे तो उनका नाम पृथक् पृथक् है। उन वनो में चम्पक, आम्र, अशोकादि सुन्दर व सुगन्धमय अति सुहावने वृक्ष हैं। पद्म-हद के समान हृद (सरोवर) हैं और प्रत्येक वन में एक एक चैत्य वृक्ष है। सौधर्मादि स्वर्गों में चारों वनों में चार चैत्यवृक्ष है। प्रत्येक चैत्यवृक्ष जम्बूवृक्ष के समान प्रमाण वाला है। प्रत्येक चैत्यवृक्ष के चारों पार्श्वभागों में एकएक पल्यंकासन जिन-प्रतिमा विराजमान है।

उन वनखंडो से कई योजन दूर पर पूर्वादि दिशाओं मे लोकपालों के नगर हैं, जो साढे बारह लाख योजन विस्तार वाले हैं। उनके समीप अग्नि कोणादि चारों विदिशाओं में गणिका-महत्तरियों के लाख लाख योजन के लबे चौडे नगर बने हैं। (वेश्याओं के समान जो देवागनाएँ होती हैं, उन्हें गणिका कहते हैं। और उनमे जो प्रधान देवागनाएँ होती है, उन्हे गणिका-महत्तरी कहते हैं।)

महादेवियाँ और उनकी विक्रिया, परिवारादि का वर्णन—

सम्पूर्ण इन्द्रो के आठ आठ महादेवियाँ होती हैं। सौधर्मादि छह युगलों के छहस्थान और आनतादि चार स्वर्गों का एक स्थान ऐसे सात स्थानों मे एक एक महादेवी की परिवार-देवियाँ महादेवी सहित आधी आधी होती हैं। अर्थात् क्रमसे सोलह हजार, आठ हजार, चार हजार, दोहजार, एक हजार, पाचसौ और ढाईसौ होती हैं। आठ २ महादेवियों में से प्रत्येक महादेवी के मूल शरीर सहित सोलह सोलह

हजार वैक्रियिक शरीर होते हैं। तथा उक्त सातों स्थानों में से शेष छहस्थानों में दूने दूने वैक्रियिक शरीर होते हैं। अर्थात् प्रथम सौधर्म युगल स्थान की महादेवी अपने मूल शरीर सहित सोलह हजार वैक्रियक शरीर बनाती है। सानत्कुमार युगल की महादेवी बत्तीस हजार वैक्रियक शरीर धारण करती है। उसी प्रकार आगे आगे के स्थानों की महादेवियां दूने २ वैक्रियिक शरीर बनाती हैं। इस तरह अन्त के आनतादि-स्थान की महादेवियाँ दसलाख चौबीस हजार वैक्रियिक शरीर बनाती हैं।

देवियों के परिवार में जो देवियाँ इन्द्र की वल्लभा (प्यारी) होती हैं उन्हें वल्लभिका कहते हैं। उक्त सात स्थानों में अर्थात् छह युगलों के छह और आनतादि का एक स्थान, इस प्रकार सातस्थानों में क्रमसे बत्तीस हजार, आठ हजार दोहजार पाचसौ, ढाईसौ, सवासौ और अन्त में तिरेसठ वल्लभिकाएँ होती हैं।

इन्द्र के आस्थान–मण्डप का स्वरूप

अमरावती नामक इन्द्र का पुर है। उसके मध्य इन्द्र के निवास करने के मन्दिर में ईशान विदिशा में सुधर्मा नामक आस्थान-मण्डप अर्थात् सभास्थान है। वह सौ योजन लम्बा, पचास योजन चौड़ा और पिचहत्तर योजन ऊँचा है। उसके पूर्व, उत्तर और दक्षिण दिशा में तीन द्वार हैं। उनमें से प्रत्येक द्वार की चौड़ाई तो आठ योजन और ऊँचाई सोलह योजन है। उस आस्थान के मध्य भाग में इन्द्र का सिंहासन है। उसके सिंहासन के सामने आठ महादेवियों के आठ आसन हैं। उन महादेवियों के आसन के बाहर पूर्वादि दिशाओं में १ सोम, २ यम, ३ वरुण और ४ कुबेर इन चार लोकपालों के चार आसन हैं। तथा इन्द्र के आसन से आग्नेय, दक्षिण और नैऋत्य दिशा में तीन प्रकार के परिषदों के क्रमसे बारह हजार, चौदह हजार, सोलह हजार आसन हैं। तथा त्रायस्त्रिंशत् देवों के तेतीस आसन भी नैऋत्य दिशा में ही हैं। पश्चिम दिशा में सेनाध्यक्षों के सात आसन हैं। वायव्य और ईशान दिशा में सामानिक देवों के आसन हैं। सौधर्म के चौरासी हजार, सामानिक देवों के आसनों में से बियालीस हजार तो वायव्य दिशा में और बियालीस हजार ही ईशान दिशा में हैं। अंगरक्षक देवों के आसन चारों दिशाओं में हैं। और वे प्रत्येक दिशा में चौरासी हजार हैं। ये आसन सुधर्मा सभा सम्बन्धी हैं।

मानस्तम्भ और करण्डक

उस आस्थान-मण्डप के सामने पीठ सहित एक मानस्तम्भ है जो एक योजन चौड़ा व बत्तीस योजन ऊँचा है। उसके सोलह धाराएँ हैं प्रत्येक धारा एक कोश के विस्तार (लंबाई) की धारक हैं। यहाँ मानस्तंभ बारह कोने वाला गोल है।

उस मानस्तम्भ में रत्ननिर्मित साकलें हैं। उनमें रत्नमय करण्डक (पिटारे) हैं। वे चौथाई कोश प्रमाण चौडे और एक

कोश प्रमाण लम्बे है। उनमे तीर्थंकर देवो के पहनने योग्य आभरण भरे रहते हैं। इन्द्र इनमे से आभरण निकालकर तीर्थंकरों के लिए पहुँचाता है। छत्तीस योजन ऊँचा मानस्तम्भ है। उसमे ऊपर से सवा छह योजन नीचे तक और नीचे पौने छह योजन की ऊँचाई तक करण्ड नहीं पाये जाते है, मध्य मे चौबीस योजन की ऊँचाई मे करण्ड पाये जाते हैं

सौधर्म स्वर्ग मे जो मानस्तम्भ पर करण्ड हैं, उनमे भरत क्षेत्र सम्बन्धी तीर्थंकरों के आभरण हैं। ईशान स्वर्ग में मानस्तम्भ पर जो करण्ड हैं उनम ऐरावत क्षेत्र सम्बन्धी तीर्थंकरों के आभरण हैं। सानत्कुमार स्वर्ग मे मानस्तभ पर जो करण्ड हैं उनमें पूर्वदेह सम्बन्धी तीर्थंकरों के आभरण हैं। माहेन्द्र स्वर्ग में मानस्तम्भ पर जो करण्ड हैं उनमे पश्चिम विदेह सम्बन्धी तीर्थंकरों के आभरण है। मानस्तम्भो पर तीर्थंकरो के आभरण पाये जाते है, इसलिए वे देवों से पूज्य हैं।

इन्द्र का उत्पत्ति—गृह

उक्त मानस्तम्भ के निकट आठ योजन चौड़ा, लम्बा और उतना ही ऊँचा उपपाद गृह है। उसमें दो रत्नमयी उपपादशय्या बनी हैं। यहाँ इन्द्र का जन्म स्थान है। इसके समीप अनेक शिखरों से अलकृत परमोत्कृष्ट जिन मन्दिर है।

कल्पवासिनी देवांगनाओं के उत्पत्ति-स्थान

स्वर्गों की सब देवागनाएँ सौधर्म और ऐशान इन दो स्वर्गों में ही जन्म लेती हैं। ऊपर देवियों का जन्म नहीं होता है। दक्षिण दिशा के स्वर्गों से सम्बन्ध रखने वाली देवागनाएँ तो सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न होती हैं और उत्तर दिशा के स्वर्गों से सम्बन्ध रखने वाली देवांगनाएँ ऐशान स्वर्ग में उत्पन्न होती हैं। जिन विमानों मे देव नहीं हैं, केवल देवांगनाएँ ही पाई जाती हैं ऐसे विमान सौधर्म स्वर्ग में चार लाख है। उनमें जब देवियाँ उत्पन्न हो जाती हैं तब जिस देव की जो नियोगिनी होती है उस देवी को वह देव वहाँ आकर अपने २ स्वर्ग स्थान में ले जाता है। शेष सौधर्म स्वर्ग में छब्बीस लाख और ऐशान मे चौबीस लाख विमान ऐसे हैं जो देवों और देवियों से सम्मिश्र हैं। उनमें देव भी उत्पन्न होते हैं और देवियाँ भी उत्पन्न होती हैं।

देवों का प्रवीचार

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग मे काय से प्रवीचार (काम-सेवन) होता है। उक्त दोनों स्वर्गों के देव देवागना मनुष्य जैसे काम सेवन करते है वैसे काम सेवन करते हैं। ऊपर के दो स्वर्ग (सानत्कुमार-माहेन्द्र) के देव-देवागना परस्पर शरीर का स्पर्श करके काम सेवन

की अभिलाषा का पूर्ण करते हैं। उनको शरीर स्पर्श करने मात्र से तृप्ति होती है। ब्रह्मादि चार स्वर्गों मे देव-देवाङ्गना एक दूसरे का रूप देखकर काम-तृप्ति का अनुभव करते हैं। शुक्रादि चार स्वर्गों के मे देव-देवाङ्गनाएँ एक दूसरे का शब्द सुनकर तृप्त हो जाते हैं। तथा इनके ऊपर आनतादि चार स्वर्गों के देव-देवाङ्गनाएँ मन से सकल्प करके तृप्ति का अनुभव करते हैं। इनके ऊपर ग्रैवेयक आदि मे अहमिंद्र हैं उनके प्रवीचार नहीं होता है। वे काम-सेवन की भावना से रहित हैं।

वैमानिक देवों की विक्रिया, गमन-शक्ति और अवधिज्ञान

अधोदिशा मे (नीचे के क्षेत्र मे) विक्रिया करके देव जितने क्षेत्र तक जा सकते है अवधि-ज्ञान द्वारा उतने ही क्षेत्र मे स्थित पदार्थों को जान सकते हैं। देवों के नीचे गमन करने की शक्ति और अवधिज्ञान द्वारा पदार्थ को जानने की शक्ति ये दोनो समान होती है। इसलिए इन दोनो का एक साथ वर्णन करते हैं। सौधर्मादि दो स्वर्गों के देवों की विक्रियाशक्ति व अवधिज्ञानशक्ति प्रथम नरक पृथ्वी पर्यन्त है। सानत्कुमारादि दो स्वर्गों मे दूसरी पृथ्वी पर्यन्त है। ब्रह्मादि चार स्वर्गों मे तीसरी पृथ्वी पर्यन्त है। शुक्रादि चार स्वर्गों मे चौथी पृथ्वी पर्यन्त है। आनतादि चार स्वर्गों मे पाँचवी पर्यन्त है। नवग्रैवेयकों मे छठी पृथ्वी पर्यन्त है। अनुदिश व अनुत्तर निवासियों की सातवीं पृथ्वी पर्यन्त है। सम्पूर्ण देवों का ऊर्ध्व दिशा सम्बन्धी अवधिज्ञान अपने २ स्वर्ग के ध्वजादण्ड पर्यन्त ही होता है। इससे ऊपर के क्षेत्र को अवधि ज्ञान से नहीं जान सकते हैं। नव अनुदिशवासी देव अपने विमान के शिखर से लेकर नीचे के वात्य तनुवातवलय पर्यन्त (कुछ कम चौदह राजू) क्षेत्र को अवधि ज्ञान द्वारा जानते हैं। अनुत्तर विमानवासी सम्पूर्ण लोकनाली को जानते हैं। सम्पूर्ण विमानवासी देव अवधिज्ञान से असंख्यात कोटि कोटि योजन प्रमाण क्षेत्र को जानते हैं। इतना विशेष है कि ऊपर ऊपर के देवों का ज्ञान अधिक २ होता है। और नीचे २ के देवों का हीन होता है। असंख्यात कोटि कोटि योजन क्षेत्र सामान्य रूप से कहागया है।

अवधि ज्ञान के क्षेत्र का प्रमाण यहाँ प्रकरण पाकर संक्षेप मे लिख दिया है। अवधिज्ञान के विषय भूत द्रव्य काल और भाव का स्वरूप ज्ञानाचार मे अवधिज्ञान के वर्णन मे विशद रूप से लिख आये हैं, इसलिए यहां नहीं लिखा गया है। विशेष जानने की अभिलाषा हो तो वहाँ से जान ले।

सौधर्मादि देवों के जन्म व मरण का विरहकाल।

जितने काल पर्यन्त किसी का वहाँ जन्म न हो उस जन्म का अन्तर और जितने काल पर्यन्त वहाँ पर किसी का मरण न हो मरण का अन्तर कहते हैं। उत्कृष्ट रूप से सौधर्म और ऐशान दोनो स्वर्गों मे सात दिन हैं। आगे के सानत्कुमारादि दो स्वर्गों मे पन्द्रह

दिन, ब्रह्मादि चार स्वर्गों मे एक मास, शुक्रादि चार स्वर्गों मे दो मास, आनतादि चार स्वर्गों मे चार मास, ग्रैवेयक आदि मे उत्कृष्ट जन्म व मरण का अन्तर (विरह) छहमास है।

इन्द्रादि का उत्कृष्ट विरहकाल

इन्द्र और इन्द्र की पट्टदेवी और लोकपाल इनका विरहकाल छहमास है। सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद् और अंगरक्षक इन का उत्कृष्ट विरहकाल चार मास है।

आभियोग्यादि अधम देव कैसी क्रिया व भावना से पर्याय पाते हैं ?

जो मनुष्य विशेष काम-वासना से वासित होकर स्त्रीगमनादि काम-चेष्टाएँ करते हैं, कन्दर्प परिणाम युक्त रहते हैं, वे स्वोपार्जित अन्य शुभ कर्म के अनुसार उत्कृष्ट से उत्कृष्ट ऐशान स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं, वहा पर भी कन्दर्प जाति के ही देव होते हैं। जो मनुष्य गानादि सगीत से आजीविका करते हैं, नाटन आदि के परिणाम से जिनका चित्त अनुरंजित रहता है वे कैल्विषिक परिणामवाले प्राणी स्वोपार्जित अन्य शुभ कर्म के अनुसार लान्तवस्वर्ग तक जन्म लेते हैं किन्तु वहाँ पर भी वे किल्विषिक जाति के देव ही होते हैं। जो मनुष्य पापक्रिया करते हैं तथा सेवक वृत्ति दासत्वादि धारण कर अपने हाथ से नाई आदि की नीच क्रियाएँ करते हैं, आभियोग्य भावना से भावित हैं वे अच्युत स्वर्ग पर्यन्त उत्पन्न होते हैं। और वहाँ पर भी वे आभियोग्य जाति के ही देव होते हैं। ये सब अपने अपने स्वर्ग सम्बन्धी जघन्य आयु को पाते हैं।

घातायुष्क की आयु

देवों की आयु हम पहले लिख आये हैं। केवल यहा पर घातायुष्क की आयु का विवेचन करते हैं।

किसी जीव ने पूर्वभव मे अधिक आयु का बंध किया था वह पश्चात् परिणामो की विशेषता वश उसे घटाकर अल्प करदेता है तो उस जीव को घातायुष्क कहते हैं। आयु का घात दो प्रकार का होता है, एक अपवर्त्तनघात और दूसरा कदलीघात। बध्यमान आयु का घटना तो अपवर्त्तनघात है और उदीयमान (भुज्यमान) आयु का घात करना कदलीघात है। यहाँ पर कदलीघात की संभावना ही नहीं होसकती क्योंकि अनपवर्त्य आयु है। इसलिए यहाँ पर अपवर्त्तनघात ही का ग्रहण किया है। पूर्वोक्त प्रकार घातायुष्क सम्यग्दृष्टि हो तो उस जीव के सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त पूर्वोत्कृष्ट आयु से आधे सागर अधिक आयु होती है। घातायुष्क की जघन्य आयु आधा सागर है, यह सौधर्म युगल की अपेक्षा से है। आगे आगे की घातायुष्क की जघन्य आयु पूर्व पूर्व की उत्कृष्ट आयु प्रमाण है।

भवनत्रिक देवों में घातायुष्क सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की आयु

घातायुष्क यदि सम्यग्दृष्टि हो तो उसकी आयु भवनवासी में आधा सागर और व्यन्तर ज्योतिष में आधा पल्य आयु अपनी २ उत्कृष्ट आयु से अधिक होती है। यदि घातायुष्क मिथ्यादृष्टि हो तो उसकी सर्वत्र भवनासी, व्यन्तर, ज्योतिष और वैमानिक देवो मे अपनी अपनी उत्कृष्ट आयु के प्रमाण से पल्य के असख्यातवें भाग अधिक आयु होती है।

लौकांतिक देवो का स्वरूप, अवस्थान, आयु आदि का वर्णन

समस्त लौकान्तिक देव परस्पर मे हीनाधिकता से रहित अर्थात् समान वैभव के धारक व विषयो से विरक्त होते है। देवों मे ऋषि समान होते हैं। इसलिए उन्हें देवर्षि कहते है। उनका चित्त निरन्तर अनित्यादि अनुप्रेक्षा (भावना) के चिन्तन मे रत रहता है। वे सम्पूर्ण इन्द्रादि के पूज्य होते है, चौदह पूर्वों के ज्ञाता होते है, तीर्थंकरो के निष्क्रमण कल्याण (तप. कल्याण) के समय प्रतिबोध करने आते हैं। लौकान्तिक देवों की आयु आठसागर प्रमाण होती है। इतना विशेष है कि अरिष्ट जाति के लौकान्तिक देवों की आयु नवसागर प्रमाण होती है। वे सब अतिविशुद्ध सम्यग्दर्शन के धारक होते हैं। एक मनुष्य भव धारण कर मोक्ष प्राप्त करते है।

वे ब्रह्मलोक (पॉचवेस्वर्ग) के अन्त मे निवास करते हैं। इसलिए उन्हें लौकान्तिक कहते है। सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट ये आठ क्रमशः पूर्वोत्तरादि दिशाओं मे निवास करते हैं।

अत्यन्त तीव्र अन्धकार रूप समुद्र समान गोलाकार एक तम.स्कन्ध (अन्धकार का समूह) अरुण समुद्र से उत्पन्न हुआ है। वह मूल मे असख्यात योजन प्रमाण विस्तार (लबाई चौडाई) वाला है और ऊपर मे क्रमसे बढता हुआ मध्य भाग व अन्त भाग मे सख्यात योजन मोटा होकर कुक्कुट कुटी के समान ब्रह्म युगल के अरिष्ट-इन्द्रक-विमान के अधोभाग मे अवस्थित हुआ है। उसकी आठ अन्धकार पक्तियॉ ऊपर की ओर उठकर अरिष्ट विमान के चारों तरफ होगई है। वहॉ पर उनके चारों दिशाओं मे दो दो विभाग हो गये है। और वे तिर्यक् लोक के अन्त तक फैल गई हैं। अर्थात् आठ अन्धकार पक्तियों की सोलह पक्तियॉ होगई हैं। उन सोलह अन्धकार पक्तियों के अन्तरालों मे सारस्वादि देव निवास करते हैं। पूर्वोत्तर कोण (ईशान) दिशा मे सारस्वत विमान, पूर्व दिशा मे आदित्य विमान, पूर्व दक्षिण (आग्नेय) दिशा मे वह्नि विमान, दक्षिण मे अरुण विमान, दक्षिण पश्चिम (नैऋत्य) दिशा मे गर्दतोय विमान, पश्चिम दिशा मे तुषित विमान, पश्चिम-उत्तर (वायव्य) दिशा मे अव्याबाध विमान और उत्तर मे अरिष्ट विमान हैं। इन आठ भेदों के अन्तराल (मध्यप्रदेश) मे अग्न्याभ-सूर्याभ आदि आठ जाति के लौकान्तिक देव हैं। वे इस प्रकार है—

सारस्वत-आदित्य के मध्य में अग्न्याभ-सूर्याभ जाति के देवों के विमान, आदित्य और वह्नि के मध्य में चन्द्राभ-सत्याभ के विमान, वह्नि और अरुण के मध्य मे श्रेयस्कर-क्षेमंकर के विमान, अरुण और गर्दतोय के मध्य मे वृषभेष्ट-कामचर के विमान, गर्दतोय और तुषित के मध्य मे निर्माणरज-दिगन्तरक्षित, तुषित और अव्याबाध के मध्य मे आत्मरक्षित-सर्वरक्षित, अव्याबाध और अरिष्ट के अन्तराल मे मरुत्-वसु, अरिष्ट और सारस्वत के अन्तराल मे अश्व-विश्व जाति के लौकान्तिक देवों के विमान हैं।

सारस्वत सातसौ सात, आदित्य सातसौ सात, वह्नि सातहजार सात, अरुण सातहजार सात, गर्दतोय नवहजार नव, तुषित नवहजार नव, अव्याबाध ग्यारहहजार ग्यारह, अरिष्ट ग्यारहहजार ग्यारह हैं।

अग्न्याभ देव सातहजार सात, सूर्याभ देव नवहजार नव, चन्द्राभदेव ग्यारहहजार ग्यारह, सत्याभ तेरहहजार तेरह, श्रेयस्कर पन्द्रहहजार पन्द्रह, क्षेमंकर सत्रहहजार सत्रह इस प्रकार आगे दो हजार दो प्रत्येक देवों मे बढाते जाना चाहिए।

कल्पवासिनी देवियों की आयु का प्रमाण

सौधर्म-ऐशान युगल में देवागनाओ की जघन्य आयु कुछ अधिक पल्य प्रमाण है। प्रथम स्वर्ग में उत्कृष्ट पाँच पल्य प्रमाण है। ऊपर के प्रत्येक स्वर्ग मे जघन्य आयु पूर्व पूर्व स्वर्गयुगल की उत्कृष्ट आयु के प्रमाण है। तथा उत्कृष्ट आयु ऐशान स्वर्ग से लेकर सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त ग्यारह स्वर्गों मे दो दो पल्य और आनतादि चार स्वर्गों मे सात सात पल्य बढती गई है। प्रथम स्वर्ग मे पाँच पल्य दूसरे मे सात पल्य, तीसरे मे नव पल्य, चौथे मे ग्यारह पल्य, पाँचवें मे तेरह पल्य, छठे मे पन्द्रह पल्य, सातवें मे सत्रह पल्य, आठवें मे उन्नीस पल्य, नवें मे इक्कीस पल्य, दशवें मे तेईस, ग्यारहवें मे पच्चीस, बारहवें मे सत्ताईस, तेरहवें मे चौतीस, चौदहवें मे इकतालीस, पन्द्रहवें मे अडतालीस और सोलहवें स्वर्ग मे पचपन पल्य प्रमाण उत्कृष्ट आयु होती है।

देवों के उच्छ्वास और आहार के विषय मे पूर्व लिख आये है। जितने सागर की देवों की आयु होती है, उतने पक्ष बीतने पर वे उच्छ्वास लेते है। तथा उतने ही सागर बीतने पर उनके आहार की इच्छा होती है। जैसे सौधर्म युगल के देवों की आयु दो सागर की होती है। उन देवों के दो पक्ष के अन्तर पर उच्छ्वास होता है और दो हजार वर्ष के अन्तर पर आहार की इच्छा उत्पन्न होती है। इसी प्रकार सब देवों मे समझ लेना चाहिए।

गुणस्थान की अपेक्षा देवगति में जन्म

असंयत व देशसयत मनुष्य और तिर्यंच अधिक से अधिक अच्युत स्वर्ग पर्यन्त जन्म लेते हैं। द्रव्य से जिन लिंग के धारक

(द्रव्य लिंगी मुनि) और भाव मे पहले, चौथे, या पॉचवें गुण स्थान मे हैं, तथा निरतिचार चरित्र का पालन करते हैं वे मरकर अन्तिम ग्रैवेयक पर्यन्त जन्म लेते हैं, उसके ऊपर नहीं जासकते। सम्यग्दृष्टि भाव-मुनि अर्थात् द्रव्य और भाव से मुनि धर्म का आचरण करनेवाले मुनि सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त जन्म धारण करते हैं। भोगभूमिज सम्यग्दृष्टि सौधर्मद्विक मे उत्पन्न होते हैं। भोगभूमिज मिथ्यादृष्टि जीव भवनत्रिक मे उत्पन्न होते हैं। पचाग्नि आदि तपश्चरण करनेवाले तापसी उत्कृष्ट रूप मे भवनत्रिक मे जन्म धारण करते हैं। चरक, एकदंडी, त्रिदण्डी सन्यासी अधिक से अधिक ब्रह्म स्वर्ग तक जन्म लेते हैं। कांजी आदि का आहार करनेवाले आजीवक साधु अधिक मे अधिक अच्युत स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं।

अनुदिश व अनुत्तर विमान से चयकर नारायण तथा प्रतिनारायण नही होते हैं।

सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र, उसकी शची नामा महादेवी, उसके सोम आदि चार लोकपाल और सानत्कुमार आदि दक्षिण इन्द्र, सब लौकान्तिक देव और सब सर्वार्थसिद्धि के देव ये सब चयकर मनुष्य भव धारण कर नियम से निर्वाण को प्राप्त होते है।

मनुष्यगति, तिर्यंचगति और भवनत्रिक से निकलकर जीव सीधे तिरेसठ शलाका के पुरुष नहीं होते हैं। (चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नव नारायण, नव प्रतिनारायण और नव बलभद्र इनको शलाका-पुरुष कहते है)।

देवों के जन्म का वृत्तान्त।

जैसे उदयाचल पर सूर्य उदित होता है वैसे उपपाद शय्यापर अन्तर्मुहूर्त्त मे छह पर्याप्ति पूर्ण करके मनोहर सुगन्धमय सुख रूप स्पर्शवाले पवित्र शरीर का धारक देव उत्पन्न होता है। जन्म के समय वहाँ आनंद रूप बाजे बजते है, जय जयकार आदि स्तुति रूप शब्द होता है, उन सबसे अपने को देव पर्याय मिली जानकर तथा वहाँ उपलब्ध हुए वैभव (ऐश्वर्य) व अपने देवांगनादि परिवार को देखकर भवप्रत्यय अवधिज्ञान से पूर्व-जन्म के वृत्तान्त को जानकर वह देव धर्म की प्रशंसा करता है कि धर्म के आचरण से मैं ऐसे दिव्य सुख सामग्री से परिपूर्ण स्वर्ग को प्राप्त हुआ हूँ। इस प्रकार धर्म की स्तुति करके वह निर्मल सुगन्धमय जल से परिपूर्ण ह्रद मे स्नान करता है। उसके बाद अन्य देव उसका पट्टाभिषेक करते है और दिव्य वस्त्राभूषण पहनाते है। सम्यग्दृष्टि देव तो स्वयमेव देवाधिदेव जिनेन्द्र का अभिषेक और पूजन करता है और मिथ्यादृष्टि देव अन्य देवों से संबोधित हुआ जिनेन्द्र भगवान की पूजन करता है। वहाँ के सब देव सुख रूप समुद्र मे मग्न होते हुए व्यतीत काल को नही जानते है। तीर्थंकरों की महापूजा और उनके गर्भादि पंच कल्याणको मे कल्पवासी देव आते हैं। और अहमिन्द्र देव अपने स्थानो मे ही सात पैंड तीर्थंकरो की दिशा मे चलकर रत्नमये मुकुट के धारक अपने मस्तक पर अंजुलि लगाकर अति विनीत भाव से नमस्कार करते हैं।

देवादि की विभूति किनको प्राप्त होती है ?

जिन जीवों ने अनेकप्रकार के तपश्चरणों से आत्मा को विभूषित किया है, सम्यग्दर्शन से जिनकी आत्मा पवित्र है और सम्यग्ज्ञान से जिन की आत्मा मे उज्ज्वल प्रकाश हो गया है, जो शील से सौम्य हैं उनही को स्वर्ग-मुक्ति-लक्ष्मी की प्राप्ति होती है।

ईषत्प्राग्भार नामक अष्टम पृथ्वी

तीन भुवन के मस्तक पर आरूढ ईषत्-प्राग्भार नामकी आठवीं धरा (पृथ्वी) है। उसकी चौडाई एकराजू, लम्बाई सात राजू और मोटाई आठयोजन प्रमाण है। वह लोक के अन्ततक चली गई है। उस अष्टम धरा के मध्य में रूप्यमय उत्तान (ऊपर से चौडी नीचे से सकडी) श्वेत छत्र के आकार गोल सिद्धशिला है। जिसका व्यास (लम्बाई चौडाई) पैंतालीस लाख योजन प्रमाण-मनुष्य लोक के बराबर-है। उसकी मोटाई मध्य मे आठ योजन प्रमाण है और चारों ओर से क्रम क्रमसे घटती चली गई है। उस सिद्धशिला के ऊपर मे जो तनुवात है, उसके अन्त भाग मे सम्यक्त्वादि आठ गुणो से भूषित आनन्द से परिपूर्ण तृप्त सिद्ध परमेष्ठी विराजमान हैं। इस लोक मे जिस पुरुषपुंगव के सत्यज्ञान उत्पन्न होजाता है, वस्तु का यथार्थ स्वरूप जिसके हृदय पटलपर प्रतिबिम्बित हो जाता है उसकी आत्मा में अद्वितीय सन्तोषामृतपानजनित अनुपम आह्लाद उत्पन्न होता है तब जो चराचर त्रिलोकवर्त्ती पदार्थों का साक्षात् अवलोकन करते रहते हैं, जो अनन्त सुखादि के स्वामी है उनके आह्लाद का क्या ठिकाना ? चक्रवर्ती के सुख से भोगभूमिज मनुष्य का सुख अनन्त गुणा है। उससे अनन्तगुणा सुख धरणेंद्र के मानागया है। धरणेन्द्र से अनन्तगुणा देवेन्द्र के है। उससे अनन्तगुणा अहमिन्द्र के होता है। अतीत अनागत वर्त्तमान सम्बन्धी उन सब सुखों को एकत्र किया जावे तो उससे भी अनन्त गुणा सुख सिद्धो के क्षणमात्र से उत्पन्न होता है। यह कथन भी बिल्कुल ठीक नहीं है। क्योंकि अन्य सब सासारिक सुख आकुलतामय हैं, पराश्रित (इन्द्रियजन्य) है और सिद्धों का सुख निराकुल और आत्मोत्थ है। उस सुख का ठीक ठीक कथन करने का वचन मे शक्ति नहीं है, वह वचनातीत है।

इस प्रकार लोक के आकार का और उसके मध्यवर्त्ती क्षेत्रादि का तथा उनमे निवास करनेवाले जीवो के कर्मानुसार प्राप्त अवस्थाओं का चिन्तन करने से आत्मा मे धर्माचरण की रुचि विशेष जागृत होती है। लोक मे जिन प्राणियों ने धर्मपालन किया व परभव मे स्वर्गादि सम्बन्धी दिव्य सुखों का अनुभव करते हुए निराकुल सिद्धावस्था को प्राप्त करके सदा के लिए सुखी बने। तथा जिन्होने धर्माचरण की उपेक्षा की, मिथ्यात्व का सेवन किया, विषयसेवन मे ही सुख समझा, हिंसादि पापों मे ही मग्न रहे, उनको नरकादि के हृदयविदारक दु ख उठाने पड़े, अनन्त काल के लिए उस निगोद पर्याय की वेदना के पात्र बनना पड़ा जहा से कि निकलकर बाहर त्रस पर्याय मे आना भी अति कठिन है। इत्यादि विचारों का लाभ लोक के स्वरूप का चिन्तन करने से होता है। अर्थात् लोक के स्वरूप का विधिवत् अभ्यास करने से लोक

मे कहाँ कहाँ कितना दु.ख है और कहाँ कहाँ कितना सुख है तथा नित्य निराकुल सुख कहाँ है—यह सब समझ में आजाता है, जिससे कि धर्म से प्रेम व पाप से भय उत्पन्न होता है और जीव का सुधार होता है। इसलिए 'लोकानुप्रेक्षा को बार-बार भाओ और अपने को कल्याण मार्ग मे लगा रखो।

अशुचि (अशुभ) अनुप्रेक्षा

णिरिएसु असुहमेयं तमेव तिरिएसु बंधरोहादी।
मणुएसु रोगसोगादियं तु दिवि माणसं असुहं ॥ ३० ॥ (मूला द्वा०)

अर्थ-नरकों मे सर्वदा और सर्वप्रकार दु ख ही होता है। वहाँ पर लेशमात्र भी (सुख) नहीं है। तिर्यंचों मे बध, बन्धन, रोध आदि जन्य दुःख प्राप्त होता है। मनुष्यों में रोग-शोकादि के निमित्ति से निरन्तर संक्लेश उत्पन्न होता है तथा देवों मे मानसिक दु ख सताप आत्मा को नित्य जलाता है।

और भी कहा है—

असुहा अत्था कामा य हुंति देहो य सव्वमणुयाणम्।
एओ चेव सुभो णवरि सव्व सोक्खायरो धम्मो ॥ १८१३ ॥ (भ० आ०)

अर्थ-अर्थ(धन) और काम (विषयाभिलाषा) अशुभ है। मनुष्यों का शरीर अशुभ है। संसार में सब जीवों को सुख देने वाला एक धर्म ही शुभ है। अर्थात् अर्थ कामादि सब आत्मा को अशुचि-अपवित्र करने वाले हैं। आत्मा को पवित्र करने वाला व सदा का अनुभव कराने वाला ससार म यदि कोई है तो वह एक धर्म ही है।

धन के लोभ से यह प्राणी राजदण्डादि भावी दु ख की परवाह न करके चोरी करता है। उत्तम कुल के अयोग्य अन्याय मार्ग पर गमन कर जनता मे निन्दनीय होता है। परलोक मे नरकादि के दुःखों को भोगता है, अतः धन मुक्ति का शत्रु, सब अनर्थों का मूल कारण और महाभय का जनक है।

विपय महाअपवित्र वघृणित शरीर से उत्पन्न होते हैं और वह शरीर रूपी कुटी (झोंपडी) अस्थि (हड्डी) रूपी पत्तों से बनी है। नमाजाल रूपी त्वचा (वक्कल) से बंधी है। मासरूपी मिट्टी से लीपी-पोती गई है, और अपवित्र रक्त, चर्बी मल मूत्रादि से भरी है और ग्लानि उत्पन्न करने वाली है। जिस प्रकार लकडी का कोयला जलादि से धोने पर भी शुद्ध नहीं होता, उसी प्रकार यह देह पवित्र और सुगन्धित जलादि पदार्थों से निरन्तर धोते रहने पर भी कभी पवित्र नहीं होती। बल्कि यह उन पवित्र और सुगन्धित जलादि को अपवित्र और दुर्गन्धमय बना देती है। क्या मल (विष्टा) से भरा हुआ घडा जलादि के द्वारा धोने पर कहीं पवित्र हो सकता है? यदि नहीं तो क्या महा अपवित्र रुधिरादि से भरा हुआ यह शरीर जलादि से पवित्र हो सकता है? सर्वथा पवित्र तो एक रत्नत्रय रूप धर्म ही है जिसका भली भाँति आचरण करने से जल्लौषधि, मलौषधि आदि अनेक ऋद्धियाँ मुनि को उत्पन्न होती हैं। जिनसे मुनि के शरीर के स्वेद मल मूत्रादि अपवित्र पदार्थ औषधि रूप हो जाते हैं और उनके स्पर्श को प्राप्त हुई वायु भी जीवों के भयानक और असाध्य रोगो का क्षण भर मे ध्वंस करती है। अत: धर्म ही परमपवित्र है, जो अपवित्र पदार्थों मे पवित्रता और अद्भुत शक्ति उत्पन्न करता है।

हे मुने! धर्म मे पवित्रता इसलिए है कि वह परम पवित्र शुद्ध आत्मा से उत्पन्न होता है और यह शरीर अपवित्र इसलिए है कि इसका उपादान कारण भी अपवित्र है।

वही कहा है—

कणिका शुद्धितः शुद्धः कणिकाघृतपूरकः।
वर्चोबीजः कथं देहो विशुद्ध्यति कदाचन ॥ १०३४ (सं. भ. आ.)

अर्थ—गेहूँ के आटे से बना हुआ घृतपूरक (घेवर) शुद्ध है, क्योंकि उसका कारण गेहूँ का आटादि शुद्ध है। रक्त और वीर्य से उत्पन्न हुआ शरीर कैसे शुद्ध हो सकता है? क्योंकि उसका उपादान कारण अशुद्ध है।

शरीर की उत्पत्ति का क्रम —

कललगदं दसरत्तं अच्छदि कलुसीकदं च दसरत्तं।
थिरभूदं दसरत्तं अच्छदि गब्भम्मि तं बीयं ॥ १००७ ॥

तत्तो मासं बुब्बुदभूदं अच्छदि पुणो वि घणभूदं ।
जायदि मासेण तदो मंसप्पेसी य मासेण ॥ १००८ ॥

मासेण पंच पुलगा तत्तो हुंति हु पुणो वि मासेण ।
अंगाणि उवंगाणि य णरस्स जायंति गब्भम्मि ॥ १००९ ॥

मासम्मि सत्तमे तस्स होदि चम्मणहरोमणिप्पत्ती ।
फंदणमट्ठममासे णवमे दसमे य णिग्गमणं ॥ १०१० ॥ (भ. आ)

अर्थ—माता के उदर के भीतर गर्भाशय (वच्चेदानी) में पहुचा हुआ माता का रज और पिता का वीर्य दश दिन पर्यन्त कलल पर्याय में रहते हैं । अर्थात् अग्नि के संयोग से पिघले हुए ताबे और चादी के समान रहते हैं । तथा दशदिन पर्यन्त कलुपित (मिश्रित मलीन) अवस्था मे रहते हैं । पश्चात् दशदिन पर्यन्त दृढ अवस्था मे रहते हैं । इस प्रकार एक मासक मे रजोवीर्य की तीन अवस्थाएँ होती हैं ।

इसके अनन्तर दूसरे मास मे उसकी बुलबुले की सी अवस्था होती है । तीसरे मास मे वह कठिन (ठोस) हो जाता है । इसके बाद वह चतुर्थ मास मे मास की पेशी (डली) के आकार होता है । पाँचवे मास मे उस मासपेशी से पाँच अ कुर निकलते हैं । नीचे के दो अंकुरों से दो पॉव, वीच के दो अ कुरों से दो हाथ और ऊपर के अंकुर से मस्तक का प्रारभ होता है । उक्त अवयवों की अ कुरावस्था रहती है । तदन्तर छठे मास मे हाथ पॉव नितम्ब (चूतड) छाती, पीठ और मस्तक इन आठ अ गो निर्माण होता है तथा आँख, कान, नाक, कपोल, ओष्ठ अ गुलि आदि उपागों की रचना होती है । सातवें मास मे गर्भ के अवयवों पर चर्म और रोम की उत्पत्ति होती है और हाथ पावों के नख उत्पन्न होते हैं । आठवें मास मे उस गर्भ मे हलन चलन क्रिया होने लगती है । नववें या दसवें मास मे गर्भस्थ बालक उदर मे बाहर निकलता है । अर्थात् कभी नववे या कभी दशवें मास मे जन्म होता है ।

जिनमे यह शरीर बना है उन घृणित पदार्थों का नाम मात्र उच्चारण करने से आगम में भोजन अन्तराय बताया है । फिरऐसे शरीर से प्रेम करना क्या उचित है ? इस शरीर मे सिवाय अशुचि पदार्थों के अन्य कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो पवित्र हो ।

शरीर के स्वरूप का वर्णन प्रथम किरण मे पृष्ठ ७४ पर कर आये हैं। इस महा अपवित्र पदार्थों से भरे हुए शरीर में जो राग करेगा उसे पुन: गर्भ मे निवास करना पडेगा। गर्भ मे जीव की कैसी दशा होती है ? सुनिए —

अमुइ विलविले गब्भे वसमाणा वत्थि पडल पच्छण्णा।
मादुइ सेभलालाइयं पु तिव्वासुहं पिवदि ॥ ३३ ॥ (मू. आ.)

अर्थ—मूत्र, विष्ठा, कफ पित्त रुधिरादि से घृणित माता के उदर मे निवास करता हुआ प्राणी जरायु से आवृत (ढका हुआ) रहता है। वहाँ पर माता के द्वारा भक्षणकिये हुए भोजन से बना हुआ जो कफ और लार मिश्रित रस है, जिसमें भयानक दुर्गन्ध होती है, उसे पीता है। गर्भ मे यह जीव जब ऐसे महा अपवित्र आहार का ग्रहण करता है तब सोचना चाहिए कि जिस शरीर की उत्पत्ति का मूल कारण ही अशुचि है, जिसके प्रारंभ का आहार भी अपवित्र है, तथा ससार मे जितने घृणाकारक पदार्थ हैं वे जिसमे सदा भरे रहते हैं, उसमे अनुराग की कौनसी वस्तु है ? इसमे जो जीव का अनुराग होता है उसका अज्ञान और मोह के सिवा कोई कारण दृष्टि-गोचर नहीं होता। क्या कोई बुद्धिमान् विष्टा रुधिरादि से भरे पात्र को शुचि समझेगा और उससे प्रेम करेगा ? जीव को अन्धा बनाने वाले इस मोह को धिक्कार हो।

शुद्धि के भेद

शुचिपना (शुद्धि) दो प्रकार का मानागया है—१ लोकिक और २ लोकोत्तर। लौकिक शुचिता का श्रावकधर्म मे विस्तृत वर्णन किया जावेगा, क्योकि यहाँ उसका सम्बन्ध नहीं। मुनियों के लोकोत्तर शुचिता मानी गई है। लेकिन नाम निक्षेप मात्र यहाँ भी लौकिक शुद्धि का निरूपण करदेते हैं।

लौकिक शुद्धि के ८ भेद और उनका स्वरूप

लौकिक शुद्धि आठ प्रकार की मानी गई है—१ कालशुद्धि २ अग्निशुद्धि, ३ भस्मशुद्धि, ४ मृत्तिकाशुद्धि, ५ गोमयशुद्धि, ६ जलशुद्धि, ७ पवनशुद्धि और ८ ज्ञानशुद्धि। श्री राजवार्त्तिक मे पवन शुद्धि के बजाय निर्विचिकित्सा शुद्धि मानी है। ये आठो शुद्धिया शरीर को शुद्ध करने मे असमर्थ हैं।

१ कालशुद्धि—रजस्वला स्त्री तीन रात्रि बीतने पर शुद्ध होती है। सूतक की शुद्धि दश दिन मे और पातक-शुद्धि बारह दिन मे मानी गई है। इत्यादि।

२ अग्निशुद्धि—शूद्रादि से स्पर्श किये हुए धातु–निर्मित पात्र अग्नि मे तपाने पर शुद्ध माने गये हैं।

३ भस्मशुद्धि—भोजन के उच्छिष्ट वर्त्तन भस्म से माजने पर शुद्ध होते हैं।

४ मृत्तिकाशुद्धि—मलमूत्रादि के हाथों को तथा उच्छिष्टादि के वर्त्तनों को मृत्तिका से धोने पर पवित्र माने गये हैं।

५ गोमयशुद्धि—भूमि को गोमय (गोवर) से लीपने पर उसकी शुद्धि होती है।

६ जलशुद्धि—वस्त्रादि की शुद्धि जल से धोने पर होती है, तथा कर्दमादि शरीर के लग जाने पर या अस्पृश्य पदार्थों का स्पर्श होने से जलस्नान करने पर शुद्धि मानी गई है।

७ पवनशुद्धि—भूमि, पापान, काष्ट-कपाट आदि की शुद्धि वायु से मानी गई है।

८ ज्ञानशुद्धि—ज्ञान द्वारा शुद्धि को ज्ञान शुद्धि कहते हैं। कालाध्ययनादि ज्ञान को विनय कर ज्ञान की आराधना भी ज्ञान शुद्धि है।

इस प्रकार लौकिक शुद्धि का संक्षेप से वर्णन किया। मुनिमार्ग मे लोकोत्तर शुद्धि कार्य-कारिणी है अत. अब उसका वर्णन करते हैं—

लोकोत्तर शुद्धि के आठ भेद और उनका स्वरूप

श्री भट्टाकलकदेव ने तत्त्वार्थराजवार्त्तिक मे लोकोत्तर शुद्धि आठ प्रकार की कही है–१भावशुद्धि, २ कायशुद्धि, ३ विनयशुद्धि, ४ ईर्यापथशुद्धि, ५ भिक्षाशुद्धि, ६ प्रतिष्ठापनशुद्धि, ७ शयनासन शुद्धि, ८ वाक्यशुद्धि।

१ भावशुद्धि—कर्मों के क्षयोपशम से मोक्षमार्ग मे रुचि उत्पन्न होने से तथा रागादि के अभाव से जो आत्म–विशुद्धि होती है वह भावशुद्धि है।

२ कायशुद्धि—निराभरण, संस्कार रहित, अंगविकार से शून्य, यथाजातरूप को धारण करने वाली, प्रफुल्लित वदन जो शरीर की परम शान्त वृत्ति है वह कायशुद्धि है।

३ विनयशुद्धि—परमभट्टारक श्री अरिहंत देव में, पूज्य गुरुओं मे तथा ज्ञानादि गुणों मे यथायोग्य भक्ति का होना, गुरु के अनुकूल सदा प्रवृत्ति करना, आगम का पठन पाठन करना तथा मनन करने के पश्चात् द्रव्य, क्षेत्र, कालादि के अनुसार आगमानुकूल उपदेश करना, आचार्य की अनुमति के अनुसार प्रवृत्ति करना विनय शुद्धि मानी गई है।

४ ईर्यापथशुद्धि—नाना प्रकार के जीवों के स्थानों व उत्पत्ति के स्थानों को जानकर जीवों की पीड़ा का परिहार करने के लिए सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित चार हाथ भूमि को अपने नेत्रों से पूर्ण सावधानतया शोधते हुए चलना, न तो बहुत शीघ्र चलना, न बहुत विलम्ब करते हुए चलना, संभ्रान्तचित्त होकर न चलना, इधर उधर दिशाओं का अवलोकन करते हुए न चलना, किन्तु सम्मुख मार्ग पर दृष्टि रखते हुए–खोये हुए रत्न को ढूढने वाले मनुष्य के समान उपयोग, पूर्ण दृष्टि से मार्गस्थ जीवों को बचाते हुए–गमन करना ईर्यापथशुद्धि कही जाती है।

५ भिक्षाशुद्धि—जिसने लौकिक और लोकोत्तर प्रवृत्ति का ज्ञान प्राप्त करलिया है, पिच्छिका से शरीर के ऊपर के और नीचे के भाग का प्रमार्जन कर लिया है, जो आचार शास्त्रोक्त काल और देश को जान कर उसमें प्रवृत्ति करने मे कुशल (प्रवीण) है, जिसको आहारादि पदार्थों की प्राप्ति मे हर्ष और अप्राप्ति मे विषाद नहीं होता है, जिसका चित्त मान से संतुष्ट और अपमान से कुंठित नहीं होता है, जो लोक–निंद्य कुलों मे गोचरी नहीं करता है, जो दीन व अनाथशाला का तथा विवाह याग सम्बन्धी घरों का भोजन ग्रहण नहीं करता है, भोजन के अलाभ मे जिस के चित्त पर लेश मात्र दीनता प्रकट नहीं होती, आचार शास्त्रोक्त निर्दोष व निरन्तराय प्रासुक आहार से ही वैयावृत्यादि करने के लिए अपने शरीर का रक्षण करता है, सरस नीरस आहार में तथा लाभ व अलाभ में जो समान वृत्ति वाला है, सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित युवति के द्वारा दिये हुए घास को चरने मे ही जैसे गाय लगी रहती है, और उस युवति के सौन्दर्य, वस्त्राभूषण और हाव भाव के अवलोकन करने में निरुत्सुक होती है, उसी प्रकार मुनीश्वर भिक्षा(भोजन) परोसने वाले मनुष्यों के सुन्दर ललित रूप, वेष, भूषा, विलासादि के तथा उनके द्वारा की गई अहार पान की योजना के अवलोकन करने में निरुत्सुक हुआ यथाप्राप्त निरवद्य सरस नीरस आहार को ग्रहण करता है उसे मुनि के भिक्षा शुद्धि मानी गई है।

६ प्रतिष्ठापनशुद्धि—शरीर के मलमूत्र कफ नख रोमादि का ऐसे जन्तु रहित एकान्त स्थान मे निक्षेपण करना जिससे कि किसी जन्तु को बाधा न हो और मनुष्यो को ग्लानि हो इसे प्रतिष्ठापन शुद्धि कहते हैं।

७ शयनासनशुद्धि—जिसस्थान पर स्त्री क्षुद्र–मनुष्य चोर मद्यपायी खटीक जुआरी आदि पापी मनुष्यों का निवास हो, जहा शृङ्गार रस का पोषण होता हो, सुन्दर ललित वेषवती वेश्यादि का तथा नपुंसक गौ महिषी आदि तिर्यंचों का गमनागमन होता हो, तथा गीत नृत्य वादित्रादि का प्रचार हो रहा हो, ऐसे स्थानों का परित्याग कर, जन्तु-बाधा रहित अकृत्रिम पर्वत की गुफा वृक्ष कोटरादि मे तथा सूने घरों में अपने उद्देश से रहित(खाली)किये गये या खाली कराये गये स्थानों मे शयनासन(सोने बैठने,) को शयनासन-शुद्धि कहते हैं।

८ वाक्यशुद्धि—जिनसे पृथिवीकायिकादि जीवों के आरम्भ मे प्रेरणा न हो, जिनमे दूसरे जीवों को पीड़ाजनक कटु

कठोर असुहावने वचनों का प्रयोग न हो, जो व्रत शील के पोषण करने वाले हों, इस प्रकार के हित, मित और प्रिय वाक्यों के उच्चारण करने को वाक्यशुद्धि कहते हैं।

आस्रवानुप्रेक्षा

दुक्खभय-मीण-पउरे संसार-महण्णवे परमघोरे।
जंतु जंतु णिमज्जदि कम्मासवहेदुयं सव्वं ॥ ३७ ॥ (मू० ग्रा०)

अर्थ—दुःखभय रूपी मत्स्य जिसमें भरे हैं—ऐसे महाभयानक संसार-समुद्र मे जो ये सब संसारी प्राणी डूबते हैं उसका मूल कारण आस्रव है।

भावार्थ—जिसकी आत्मा मे राग-द्वेष मोह का निवास है, उसके निरन्तर आस्रव होता रहता है। जिस भाव के द्वारा कर्मों का आगमन होता है उसे भावास्रव कहते हैं, और कर्मों के आगमन को द्रव्यास्रव कहते हैं। आगम मे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद कषायादि को आस्रव कहा है, वे सब राग द्वेष के ही परिणाम हैं। इनके निमित्त से आत्मा मे निरंतर कर्मों का आगम होता रहता है। जैसे समुद्र मे पडे हुए जहाज के पैंदे मे छेद होजाने पर उसमें निरन्तर जल भरता रहता है, उसी प्रकार संसार समुद्र मे पड़े हुए इस आत्मा के अन्दर भी राग द्वेष या मिथ्यात्वादि रूप छेद (आस्रव) हो रहे हैं, उनके द्वारा निरन्तर कर्म आते रहते हैं। उनके निमित्त को पाकर आत्मा के साथ लगे हुए कार्माण-वर्गणा रूप पुद्गल कर्म रूप बन जाते हैं।

कर्म बनने की योग्यता रखने वाले सूक्ष्म और बादर पुद्गल-परमाणुओं से यह लोक ठसाठस भरा हुआ है। जो शरीर का हिलना चलना, वचनों का उच्चारण तथा मन मे भले बुरे विचार निरन्तर होते हैं उनसे आत्मा के प्रदेशों मे क्रिया होती है और उससे वे कर्म-परमाणु खिंचते हैं तथा आत्मा से सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं। जैसे अग्नि से तपा हुआ गोला जल के मध्य पडा हुआ चारों ओर से जल को खींचता है, उसी प्रकार मन वचन काय की क्रिया से संतप्त आत्मा चारों ओर से कर्म परमाणुओं को प्रतिक्षण ग्रहण करता रहता है। ये आगत कर्म परमाणु तब तक कुछ भी बिगाड नहीं कर सकते, जब तक कि आत्मा में मिथ्यात्व, अविरति आदि का सद्भाव न हो। जैसे सूखे घडे पर लगी हुई रज चिकनाई के बिना उस पर नहीं ठहरती है—वायु के लगते ही दूर हो जाती है। अतः यह सिद्ध है कि ये मिथ्यात्व, अविरति आदि ही कर्म-शत्रुओं को उत्पन्न करने वाले हैं। ये ही महा शत्रु हैं। आस्रव से बचने के लिए इनको अपनी आत्मा से हटाना चाहिए। इनका स्वरूप संक्षेप मे इस प्रकार है—

वीतराग सर्वज्ञ अर्हत भगवान् के द्वारा जो द्रव्य, पदार्थ व तत्वों का स्वरूप वर्णन किया गया है, उसका संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित श्रद्धान न करना ही मिथ्यात्व है। हिंसा, असत्य, स्तेय (चोरी), अब्रह्म (मैथुन) और परिग्रह इनका त्याग न करना अविरति (असयम) है। प्रशस्त क्रियाओ के आचरण करने मे उदासीनता रखने को प्रमाद कहते हैं। क्रोध मान माया लोभ ये चार कषाय हैं। ये चारों राग द्वेष की सन्तान हैं। द्वेष से क्रोध–मान उत्पन्न होते हैं और राग से माया-लोभ की उत्पत्ति होती है। यह अज्ञानी जीव अपने हित अहित के विचार से पराङ्मुख हुआ अहित करने वाले शरीर, इन्द्रिय-विषय आदि मे तो अनुराग करता है और हितकर अहिंसा, सत्य, क्षमा आदि धर्म के आचरण से विरक्त रहता है–उनसे द्वेष करता है। आत्मा के शत्रु जो विषय कषाय हैं उनको सुख देने वाले समझ अपनाता है। आत्मा के मित्र सम्यक्त्व संयमादि को दु:खद (शत्रु) समझ उनसे दूर भागता है।

दुर्लभ मनुष्य भव पाकर धर्माचरण की तो उपेक्षा करता है और विषयादि की अभिलाषा करता है। यह विवेकहीन कुकृत्य उस अविवेकी मनुष्य के समान है, जो रत्न द्वीप मे जाकर रत्नो का तो त्याग करता है और काष्ठ का भार ग्रहण करता है। अथवा उस पुरुष के समान है जो पूर्व पुण्य के योग से सुन्दर उपवन मे पहुच कर भी अमृत फल को छोडकर विष फल का भक्षण करता है। यह नर भव पूर्व पुण्य के उदय से मिला है। इसे पाकर जीव को चाहिए कि वह इसे अमृतमय धर्म के पान करन मे लगावे। विषयादि रूप विष का पान करके तो पहले ही इसने अनन्त काल पर्यन्त वचनातीत दुःख पाये हैं। इसलिए उनका त्याग करना ही इसके लिए हितकर है। जिस दुष्ट योग पाप-जनक मन वचन काय की क्रिया से अशुभास्रव होता है वही जीव का शत्रु है, क्योंकि वही कर्म शत्रुओं का जनक है। अत. यहा शुभ अशुभ आस्रव का विशेष स्वरूप समझाते हैं। अनुकम्पा (दया) और शुद्धोपयोग पुण्य-कर्म के आस्रव द्वार हैं तथा इनसे विपरीत परिणाम पापास्रव के द्वार हैं। योग द्वारा आये हुए कर्मों मे पुण्य (शुभ) रूप परिणमन के उत्पन्न होने को पुण्य कहते हैं, और अशुभ रूप परिणमन के उत्पन्न होने को पाप कहते है।

अनुकम्पा के तीन भेद और उनका स्वरूप

अनुकम्पा (कृपा) तीन प्रकार की है—१ धर्मानुकम्पा, २ मिश्रानुकम्पा और ३ सर्वानुकम्पा। उनमे से धर्मानुकम्पा का स्वरूप इस प्रकार है—

धार्मिक पुरुषों पर भक्ति रूप परिणाम होने को धर्मानुकम्पा कहते हैं। उस धर्मानुकम्पा से प्रेरित हुआ विवेकी मनुष्य स्वशक्ति को न छिपाकर सयम मे तत्पर रहने वाले संयमीजनों के योग्य अन्न-पान, औषध, वसती, उपकरणादि संयम के साधक पदार्थों का दान करता है। उनपर आये हुए उपसर्गों का निवारण करता है। 'आज्ञा दीजिए, मै आपकी सेवा म उपस्थित हूँ' इत्यादि मधुर वचनों का उच्चारण करता

हुआ उनकी सेवा मे तत्पर रहता है। जिनको मार्ग मे भ्रम उत्पन्न होगया है उन्हें सन्मार्ग का उपदेश देता है। सयमियो का सयोग पाकर आनन्द मे विभोर होजाता है, और भाग्य को सराहता है कि मैं बडा पुण्यवान हूँ जो ऐसे सत्पुरुषों का योग मिला है। सभा मे उनके गुणों की महिमा गाता है। जो उन सत्पुरुषों के गुणों का कीर्तन करते है उनकी अनुमोदना करता है। उनका प्रतिक्षण स्मरण करता है, ऐसे महाभाग का सत्समागम मुझे कब मिलेगा, इस प्रकार उनके सम्मिलन की उत्कण्ठा रखता है। इत्यादि प्रकार से महापुरुषों की गुण-राशि मे हर्ष प्रकट करने से महान् पुण्य का आस्रव होता है।

जिन्होने असयम का त्याग किया है, मान-अपमान, लाभ-अलाभ, तृण-कचन मे समानबुद्धि करली है, इन्द्रिय और मन को अपने वश करलिया है, तीव्रकषाय और विषयो का त्याग किया है, शरीर को नश्वर, धन-वैभव को क्षणभगुर और दिव्य भोगो को रोग समझकर वैराग्य भावना मे अपने को रगलिया है, ससार समुद्र से भयभीत होकर जो रात्रि मे अल्पनिद्रा लेते और आत्मा की सुख साधना म सतत सचेत रहते हैं, जो उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों में ऐसे मग्न रहते हैं मानो साक्षात् उत्तम क्षमादि धर्म ही शरीर धारण कर दर्शन दे रहे हो—ऐसे महात्माओ पर उक्त प्रकार से अनुकम्पा करने को धर्मानुकम्पा कहते हैं।

२ मिश्रानुकम्पा—महान् अनर्थ के मूल हिंसा आदि महापातको का एक देश त्याग कर जो अणुव्रती बने है तथा सन्तोषामृत के स्वाद का अनुभव करते हैं तथा वैराग्य भावना से जिनका अन्त-करण ओत-प्रोत है, जो दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डत्याग व्रत इन तीन गुणव्रतों का आचरण कर आत्मा के गुणों का विकास कर रहे हैं, जिनके सेवन से महादोष प्रादुर्भूत होते हैं ऐसे भोग व उपभोग के पदार्थों का जितने त्याग किया है, जो पाप कृत्यों से डरकर नित्यप्रति यथाकाल स्वल्पदेश व किंचित्वस्त्रादि परिग्रह के सिवा अन्य सब पापकृत्यो का तथा परिग्रहादि का त्यागकर सामायिक करते हैं, पर्वदिनों में सब आरभ का त्यागकर जो उपवास कर धर्मध्यान से समय विताते हैं, जो अतिथि के आतिथ्य मे आदर पूर्वक मन की परिणति लगाकर अपने को अहोभाग्य समझते हैं-ऐसे संयतासयत (देशव्रती) पर अनुकम्पा करने को मिश्र-अनुकम्पा कहते हैं।

जो प्राणियों पर दया तो करते हैं, किन्तु दया का यथार्थ स्वरूप नहीं समझते हैं, जिनागम से वहिर्भूत अन्य पाखण्डी गुरुओ की सेवा करते हैं, कोमल और कष्टदायक कायक्लेश करते हैं उन पर अनुकम्पा करना भी मिश्रानुकम्पा है। क्योंकि गृहस्थो की धर्म मे प्रवृत्ति एक देशरूप है। उनको लौकिक व्यवहार और धर्म व्यवहार उभय का आचरण करना पड़ता है। जिस व्यवहार से सम्यक्त्व की हानि न होती हो ऐसी क्रिया करने मे उसे दोष नहीं होता है। इसलिए वह अन्यधर्म के दयालु व दुखी आदि जनों पर और स्वधर्मी गृहस्थादि पर अनुकम्पा करता है। दोनों पर अनुकम्पा करने के कारण उसकी अनुकम्पा को मिश्र-अनुकम्पा कहते हैं।

सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि जो स्वभावतः कोमलचित्त होकर, दयासे आर्द्र हृदय होकर, सम्पूर्ण प्राणियो पर दया करते हैं, उस दया को सर्वानुकम्पा कहते हैं। जिससे प्रेरित हुआ वह जीव अन्य प्राणियों के दुःख को अपने दुःख समान मानता हुआ उनको सुख पहुचाने के लिए प्रत्युपकार की अपेक्षा न रखकर सतत प्रयत्नशील रहता है, सत्य उपदेश देता है, ऐसी सर्वानुकम्पा भी पुण्यास्रव का कारण होती है।

शुद्धोपयोग के भेद

शुद्धोपयोग अर्थात् शुद्धपरिणाम–दोप्रकार का है। मुनि का शुद्ध परिणाम और गृहस्थ का शुद्धपरिणाम।

मुनि का शुद्धोपयोग–निर्मल व्रतों का धारण, निर्दोषशील का पालन, स्वाध्यायतत्परता और ध्यानादि में लवलीनता ये सब शुद्धोपयोग हैं। उनके आचरण से निज आत्मा का कल्याण और अन्यजीवों का उपकार होता है। इसके विपरीत आचरण करने वाला मुनि अपने धर्म को कलंकित करता है।

सिद्ध, अर्हंत, आचार्य, उपाध्याय, जिन–प्रतिमा, सघ, जिनधर्म-इन पर भक्ति रखना, विषय से वैराग्य, गुणों पर प्रेम, गुरु आदि का विनय, इन्द्रिय व प्राणिसयम, प्रमाद का त्याग कर स्वकृत्यों मे सावधानता, क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष आदि गुणों का धारण, आहारादि चार सज्ञाओं पर विजय, तीन शल्य और तीन गारव का त्याग, उपसर्ग और परिषहों पर विजय, सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की वृद्धि, सराग सयम, धर्म्यध्यान इत्यादि गुणो को धारण कर जिनेन्द्र की भक्ति का उपदेश, निःशङ्कितादि आठ गुण, तपस्याद्वारा कर्मक्षय करने की उत्कृष्ट भावना, पाचसमिति और तीनगुप्ति आदि मुनियों का शुद्ध उपयोग है। यहाँ पर शुद्धोपयोग से निर्मल परिणाम का ग्रहण है जो शुभोपयोग और शुद्धोपयोग रूप होता है।

गृहस्थ का शुद्धोपयोग–जो व्रत धारण किया है उसका पालन करने की उत्कण्ठा रखना, एक क्षण मात्र भी व्रतभंग को अनिष्ट व अकल्याण-कारक समझना। सदा मुनि-समागम की अभिलाषा रखना, श्रद्धापूर्वक यथाविधि मुनि को आहारादि दान करना, विषय भोगों के सेवन को रोगप्रतीकार का कारण समझते हुए उनका त्याग करने मे सामर्थ्य न होने पर भी उनकी निन्दा करना और गृहवास त्याग करने की भावना करते रहना, धर्म का श्रवण कर अत्यानन्द से उल्लासित होना, भक्ति से गद्गद हो पंचपरमेष्ठी की स्तुति करना, वन्दना प्रणाम करना, पूजा करना, अन्यजनों को भी धर्म मे लगाना, उनको स्थिर करना, उनके अज्ञानवश व प्रमाद कृत दोषों का उपगूहन करना (ढकना), साधर्मिक पुरुषों पर अतिप्रेम–वात्सल्य रखना, जिनेन्द्र के भक्तों का उपकार करना, जिनशास्त्रों का उद्धार प्रकाशन, पठन एव पाठन करना, जिनधर्म की प्रभावना करना आदि गृहस्थों के शुद्ध उपयोग हैं अर्थात निर्मल शुभ परिणाम हैं।

उक्त अनुकम्पा और शुद्धोपयोग के विपरीत परिणामों से अशुभ कर्मों का आस्रव होता है।

संवर–भावना

तम्हा कम्मासवकारणाणि सव्वाणि ताणि रुंधेज्जो।
इंदिय–कसाय–सण्णा–गारव रागादि आदीणि ॥४८॥ (मूला. द्वा)

अर्थ–इन्द्रिय, कपाय, सज्ञा गारव और रागादि इनसे कर्मों का आस्रव होता है। इन कारणों से निरन्तर आत्मा में कर्मों का आगमन होता है इसलिए इन सम्पूर्ण कर्मास्रव के कारणों को रोकना चाहिए।

भावार्थ—इन्द्रियाँ दुर्दान्त अश्व के समान हैं, ये आत्मा को विपय रूप उत्पथ (कुमार्ग) में लेजाकर नरकादि कुगति रूपी महागर्त (अगाध खड्डे) मे पटकती हैं। अर्थात् आत्मा पंचेन्द्रियों के विपय भोग मे लम्पट होकर महान् पाप कर्मों का वन्ध करके, उनका फल भोगने के लिए नरक निगोदादि दुर्गति मे जाता है। वहाँ उसे मनसे भी अचिन्त्य दुःख भोगने के लिए वाध्य होना पड़ता है। उनको रोकने के लिए, अपने वश में रखने के लिए ज्ञान और वैराग्य ये दो कारण हैं। जिस प्रकार दुर्दान्त अश्व को अपने वश मे रखने के लिए सवार के हाथ मे लगाम होती है, उसीसे वह अश्व को अनुचित मार्ग से रोक कर उचित सत्पथ पर ले आता है, उसी प्रकार विपय की ओर दौडती हुई इन्द्रियों को सन्मार्ग में लाने वाला विवेक-ज्ञान और विपय-वैराग्य है। क्योंकि विवेक ज्ञान और विपय–वैराग्य से अन्तःकरण की प्रवृत्ति विपयों से हटती है। उसकी चचलता दूर होकर एकाग्रता होती है। उसी मनकी एकाग्रता मे इन्द्रिय रूपी सर्पों का निग्रह होता है। जिस प्रकार विद्या, मन्त्र और औपधि से रहित मनुष्य मे जहरीले सर्पों को वश मे करने का सामर्थ्य नहीं होता उसी प्रकार ज्ञान वैराग्य से जिसका मन वश मे नहीं हुआ–है एकाग्र नहीं हुआ है वह विपय–विप के आस्वादन करने में चपल इन्द्रियों को अपने वश मे नहीं कर सकता है।

कपाय कर्मों के मूल कारण हैं। उन्हीं से स्थिति और अनुभाग (आत्मा को सुख दुःखादि देने की शक्ति) वंध होता है। अतः कपयो को रोकने पर सव कर्म–आस्रव रुक जाते हैं। अर्थात् योग द्वारा आये हुए कर्म भी कपाय के अभाव मे एक समय तक ठहर कर अपने आप निवृत्त हो जाते हैं। अधिक समय तक आत्मा के साथ सम्वन्ध नहीं रखते हैं। तथा एक समय तक भी आत्मा का भला बुरा नहीं कर सकते हैं। अत कपाय ही आस्रव का द्वार है। जिस प्रकार समुद्र मे पडी हुई नाव के छिद्र वन्द करने पर उसमे जल नहीं भरता है, वह जल मे नहीं डूवती है, उसी प्रकार कर्मों के द्वारभूत कपायों के रोक देने पर आत्मा में कर्मों का सम्वन्ध नहीं होता है, और आत्मा ससार समुद्र मे नहीं डूवती है। आशय यह है कि कपायों के रोकदेने पर मूल से सव आस्रव रुक जाते हैं। यद्यपि योगादि के द्वारा आस्रव होता है, तथापि उससे आत्मा की कुछ हानि नहीं होती।

प्रमादकथन

४ विकथा, ४ कषाय ५ इन्द्रियां, १ निद्रा और १ स्नेह इन पन्द्रह प्रमादों से जीवो के निरन्तर कर्मों का आश्रव होता रहता है। इनका निरोध अप्रमाद अवस्था से होता है। जैसे रणागण मे शत्रुओं के शस्त्र प्रहार को शूरवीर पुरुष ढाल से रोकते हैं, वैसे ही कर्मों को पराजित करने के लिए उनसे युद्ध करने वाला शान्त धीर वीर मुनि नवीन कर्म शत्रुओं का आगमन अप्रमाद (स्वाध्याय ध्यानादि) रूपी ढाल के द्वारा रोकता है।

स्वाध्याय और ध्यान मे एकाग्रता रूप अप्रमाद (सावधानी) से विकथा-प्रमाद-जन्य कर्मों का आगमन रुक जाता है। क्योंकि सत्य-भाषा, असत्यमृषाभाषा, स्वाध्याय और ध्यान मे चित्त की एकाग्रता ये विकथा-प्रमाद के प्रतिपक्षी हैं।

क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौच (सन्तोष) कषाय-प्रमाद के शत्रु हैं।

ज्ञान का सर्वदा अभ्यास करना, राग द्वेष उत्पन्न करने वाले इन्द्रियों के विषयों से अलग होकर एकान्त प्रदेश में रहना, ज्ञान यत्न से मन को निज स्वरूप मे एकाग्र करना, इन्द्रियों के विषयों का स्मरण न करना, विषयों की प्राप्ति होने पर उनमे आदर न करना, ये सब प्रमाद के विनाशक हैं।

इन्द्रिय के विषयों से विरक्ति

प्रश्न—मुनि इन्द्रियों के विषय प्राप्त होने पर उनमें किस प्रकार अनादर करते हैं ?

उत्तर—मुनि राग भाव से सुन्दर स्त्री के अवयवो पर दृष्टि नहीं डालते हैं। अकस्मात् दृष्टि पड जाने पर राग भाव उत्पन्न नहीं करते और दृष्टि को खींच लेते है। द्वेष के वश होकर अशुभ रुप को नहीं देखते और अशुभ रूप दिखलाई देने पर उससे द्वेष नहीं करते हैं। इस प्रकार मुनि नेत्रेन्द्रिय को अपने वश मे करते हैं।

उत्तम गायन व कर्णमधुर सगीत की ध्वनि तथा युवती महिलाओं के कोकिल कण्ठ से निकले मधुर मजुल स्वर सुनने की मुनि अभिलाषा नहीं करते हैं और अचानक सुनाई देने पर उनमें आसक्त नहीं होते हैं। तथा अनेक असुहावने कर्कश कठोर शब्दो को सुनकर क्रोधित नहीं होते, इस प्रकार कर्णेन्द्रिय पर अपना काबू रखते हैं।

जो मुनि, चन्दन, कर्पूर, केसर, चम्पक, गुलाब आदि की मनमोहक सुहावनी गन्ध को सूंघने की उत्कण्ठा नहीं करते तथा अचानक

सुगन्ध घ्राणगोचर हो जाने पर चित्त मे अनुराग नहीं करते है तथा अत्यन्त अप्रिय दुर्गंध का सम्बन्ध होने पर ग्लानि व द्वेप नहीं करते हैं वे मुनीश्वर घ्राणेन्द्रिय के विजयी होते हैं।

जो अतिमधुर सुस्वादु भोजन के रसास्वादन मे लोलुप नहीं होते हैं, तथा दैवयोग से विशिष्ट स्वादिष्ट रसीले भोजन के प्राप्त होने पर उसका आसक्त भाव से आस्वादन नहीं करते हैं, तथा असुहावने कटु अस्वादु भोजन के रस मे द्वेश भाव नहीं करते ऐसे मुनि रसनेन्द्रिय को स्वाधीन करते हैं।

सुन्दर कोमल शय्या, रूपवती स्त्री तथा अन्य सुखदस्पर्श मन का आकर्पण करते हैं। किन्तु जो मुनि विरक्त भावना से भावित होकर उनके सेवन की अभिलाषा तो दूर रही, उनका स्मरण तक नहीं करते हैं, तथा स्वाभाविक सुन्दर स्पर्श का सयोग होने पर उसके सेवन मे अनुरक्त नहीं होते हैं, शीतस्पर्श या उष्णस्पर्श वाली भूमि, पर्वतशिला अथवा कठोर तृणादि का स्पर्श होने पर मनमे खेद नहीं करते वे ही स्पर्शनेन्द्रिय के विजयी होते हैं।

जो अनशन, अवमौदर्य रसपरित्याग करते हैं, ससार से भयभीत रहते हैं, रत्नत्रय मे अनुराग रखते और अपने दुष्कृत्यो का स्मरण कर उन पर पश्चात्ताप करते हैं, वे मुनिराज सदा आलस्य का त्याग कर निद्रा को जीतते हैं।

स्नेह का नाश करने के लिये मुनि ऐसा चिन्तन करते हैं कि वन्धुगण आदि सव अस्थिर हैं, स्वार्थ परायण हैं, अपने प्रयोजन की पूर्ति पर्यन्त साथ देने वाले हैं। उनके निमित्त आरंभादि पापकर्म करने की चिन्ता होती है, जो नरकादि कुगति मे लेजाने वाली है। येही वन्धुगण धर्म मे विघ्नवाधा उपस्थित करते हैं, सदा आत्मा को विपरीत मार्ग मे लगाने वाले हैं इत्यादि। इस प्रकार अप्रमाद रूप ढाल हाथ मे लेकर मुनि प्रमाद शत्रु का मुकावला करता है। जिस प्रकार किले के द्वार वन्द कर देने पर वाहर से शत्रु का प्रवेश रुक जाता है, उसी प्रकार अप्रमाद के किवाड जुड देने से आत्मा मे कर्मशत्रु का प्रवेश रुक जाता है। जैसे-कोट खाई आदि से सुरक्षित नगर मे शत्रु सेना प्रविष्ट नहीं होसकती वैसे ही मनोगुप्ति, वचन गुप्ति और कायगुप्ति से सुरक्षित आत्मा मे कर्म-शत्रुओ का प्रवेश वद हो जाता है।

इसलिए उक्त प्रकार से आस्रव के कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कपाय के विपरीत सम्यक्त्व, सयम, स्वाध्याय, ध्यान और क्षमा मार्दव आर्जव सन्तोप का अभ्यास करके कर्मों के आस्रव का निरोध करने मे सतत उद्यत रहो।

निर्जरानुप्रेक्षा

रुद्धासवस्स एवं तवसा जुत्तस्स णिज्जरा होदि।
दुविहा य सावि भणिया देसादो सव्वदो चेव ॥ ५४ ॥ (मूला द्वा०)

अर्थ—जिसने कर्मागमन द्वार को ढक दिया है, एव जो तपस्या से युक्त है, उसके कर्मों की निर्जरा होती है। वह दो प्रकार की है-१ एकदेशनिर्जरा और २ सर्वनिर्जरा।

भावार्थ—आत्मा के साथ सम्बद्ध कर्म परमाणुओ के आत्मा से पृथक् होजाने को अर्थात् उन कर्म-परमाणुओं में आत्मा को परतन्त्र करने की शक्ति के नष्ट होजाने को निर्जरा कहते हैं।

निर्जरा के भेद और उनका स्वरूप

पुव्वकदकम्मसडणं तु णिज्जरा सा पुणो हवेदुविहा।
पढमा विवागजादा विदिया अविवागजाया य॥ १८४७॥ (भग-आ०)

अर्थ—पूर्वकाल मे किये हुए कर्मों का जीव के प्रदेशो से पृथक् होना निर्जरा है। उसके दो भेद हैं-१ सविपाक निर्जरा और २ अविपाक निर्जरा।

सम्पूर्ण ससारी जीवों के चाहे वह सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि सबके उदय में आये हुए कर्मों की सुख दु:खादि रूप फल देकर जो निर्जरा होती है उसे एकदेश निर्जरा कहते हैं। उसीका नाम सविपाक निर्जरा है। और जो तपस्या द्वारा विना फल दिये हुए कर्मों की निर्जरा होती है, अर्थात् तपश्चरण द्वारा कर्मों की फल देने की शक्ति का नाश करके जो निर्जरा होती है उसको अविपाक निर्जरा कहते हैं। इसका विशेष विवेचन पहले कर आये हैं।

आम्रादि फल दो तरह से पकते हैं। एक तो समय पर पकते हैं और दूसरे कच्चे फल तोडकर पाल में पकाये जाते हैं, इसी प्रकार निर्जरा भी दो तरह की होती है। कर्मों की स्थिति पूर्ण हो जाने पर अपना सुख दु:खादि फल (रस) देकर शुष्क हुए कर्म स्वय झड़जाते हैं—आत्मा से अलग हो जाते हैं वह सविपाक निर्जरा है। उस निर्जरा से आत्माका कुछ भी हित नहीं होता, क्योंकि वह नवीन कर्म को उत्पन्न करके पश्चात् होती है। दूसरी अविपाक निर्जरा है। जो सवर पूर्वक तपस्या से कर्मों का रस सुखाकर स्थिति पूरी हुए विना ही कर्मों की निर्जरा होती है, वही आत्मा का हित करने वाली है। इसीसे शनै: शनै: सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सवर रहित निर्जरा से नवीन कर्मों का वन्ध (सम्वन्ध) होता है, जैसे नौका के जल प्रवेश करने के छेद को न बन्द करने से नौका मे निरन्तर जल आता रहता है, वैसे ही विना कर्मास्रव का निरोध किये निरन्तर कर्मों का सम्वन्ध होता रहता है। और जब तपरूपी

अग्नि मे सुवर्ण रूपी आत्मा को ज्ञानरूपी सुहागा डालकर चारित्र रूपी भस्त्रा (धोकनी) से धमा जाता है तब कषायादि रूप कीट कालिमा नष्ट होती जाती है और सुवर्ण रूपी आत्मा शुद्ध होती जाती है। इस प्रकार होते होते सम्पूर्ण कर्मों की जब निर्जरा हो जाती है, तब यह आत्मा जन्मजरामरणरोगशोकादि बन्धन से विमुक्त होकर अनन्त आनन्द को पाता है। इसलिए इस निर्जरा की निरन्तर आराधना करो जिससे संसार के सब दुःखो से मुक्ति पाकर अविनाशी सुख के अधिकारी बनो।

धर्मानुप्रेक्षा

सव्वजगस्स हिदकरो धम्मो तित्थकरेहिं अक्खादो।
धण्णा तं पडिवण्णा विसुद्धमणसा जगे मणुया ॥ ६० ॥ (मूला० द्वा०)

अर्थ—सम्पूर्ण जगत का हितकारक धर्म है-ऐसा तीर्थंकरो ने कहा है। जिन मनुष्यो ने विशुद्ध अन्तःकरण से उस उत्तमक्षमादि रूप धर्म को धारण किया है-जगत् मे वे महात्मा धन्य हैं, कृतार्थ हैं।

धर्म का स्वरूप

ससार की दु.ख परम्परा से हटाकर जो निराकुल सुख शान्ति देने वाला है उसे धर्म कहते हैं। धर्म नाम वस्तु के स्वभाव का है। जिस वस्तु का जो वास्तविक स्वभाव होता है वही उसके लिए हितकारी है। जब वस्तु मे किसी अन्य पदार्थ का मेल होता है तब वह विकृत और मलीन होजाती है। जैसे पारे के साथ गन्धक का योग होने पर कजली हो जाती है, जो पारे के रङ्ग-रूप आदि गुण की विकृत अवस्था है। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव राग द्वेप रहित निराकुल अवस्था है। उसको कर्म के संयोग ने विकृत बनाकर राग द्वेप रूप बना दिया है। इस विकृतावस्था को दूर करने के उपाय को भी धर्म कहते हैं उस उपाय रूप धर्म का नाम चारित्र है। जैसे पारे के साथ गधक का सयोग होने पर कजली बनती है। पारे की उस विकृत अवस्था को दूर कर पुन. शुद्ध अवस्था मे लाने के लिए रासायनिक विधि से अग्नि मे तपा कर उसको गन्धक से अलग कर दिया जाता है। तब पारा अपनी शुद्ध अवस्था को प्राप्त होजाता है। उसी प्रकार कर्मों के सयोग से उत्पन्न हुई रागद्वेपादि रूप मलीन अवस्था को दूर करने के लिए विवेक ज्ञान रूप रासायनिक विधि से चारित्र रूपी अग्निद्वारा आत्मा को शुद्ध किया जाता है। इसलिए उस शुद्धि के उपाय भूत चारित्र को भी आगम में धर्म कहा है। इस प्रकार वस्तु के स्वभाव को तथा वस्तु को शुद्ध करने वाले-उसके शुद्ध स्वभाव को प्राप्त कराने वाले-उपायों को भी धर्म कहा है। अत. आगम मे धर्म के चार लक्षण बताये हैं :—

"धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो ।
चारित्तं खलु धम्मो जीवाणं रक्खणो धम्मो ॥"

अर्थात्—१ वस्तु का स्वभाव धर्म है। २ उत्तमक्षमादि दशलक्षण धर्म है। ३ महाव्रतादि तेरह प्रकार का मुनि-चारित्र और अणुव्रतादि गृहस्थ चारित्र धर्म है। ४ जीवों की रक्षा करना धर्म है। इनमें से पहला धर्म का मुख्य लक्षण जो वस्तु का स्वभाव है उसी को (आत्मा के स्वभाव को) स्पष्ट करने के लिए क्षमादि को धर्म कहा है। क्योंकि क्षमा मार्दव आर्जव सत्य शौचादि आत्मा के स्वभाव हैं। इसलिए इनका वस्तु-स्वभाव रूप धर्म के मुख्य लक्षण में समावेश होजाता है और जो तीसरा और चौथा धर्म का लक्षण है, दोनों वस्तु के स्वभाव की प्राप्ति के उपाय हैं। क्योंकि चारित्र का पालन करने से तथा स्वदया और परदया का आचरण करने से आत्मा की व्यावहारिक शुद्धि होती है और धीरे २ आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव को प्राप्त करता है।

इसका आशय यह है कि जिन जिन उपायों से आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव की ओर झुकता है, तथा जिनका आचरण-धारण व पालन करने से आत्मा में एकदेश व सर्वदेश निराकुलता की प्राप्ति होती है, उन्हें ही धर्म समझना चाहिए।

दश लक्षण धर्म

उत्तम क्षमा

यह शरीर मल का घड़ा है। आत्मा का शत्रु है। आत्मा में जितने भी क्रोधादि या राग द्वेषादि शत्रु उत्पन्न होते हैं वे इसी के निमित्त से उत्पन्न होते हैं। देखो जब तुम तप की साधना के लिए परगृह में आहार के लिए जाओ, प्रतिष्ठापनासमिति (मल मूत्र त्याग) के लिए जाओ, आगम की आज्ञा के अनुसार ग्रामान्तर के लिए मार्ग में ईर्या समिति का पालन करते हुए चलो, उपदेश देते होओ, ध्यान-निमग्न होओ या अन्य किसी स्थिति में होओ किसी भी समय कोई भी दुष्ट जीव अपने अशुभ कर्म के प्रेरित हुआ तुम्हें दुर्वचन कहे कि यह अज्ञानी पशु है, दम्भी है, पाखण्डी है, धूर्त है इत्यादि मन में क्षोभ उत्पन्न करने वाले मर्म भेदी कठोर निष्ठुर वचन बोले, तुम्हारी जन समाज के सम्मुख हंसी करे, अपमान और अनादर करे, तुम्हें पीटने लगे और प्राणघात का अवसर भी आवे, तो भी उस समय तुमको विचारना चाहिए कि ये दुर्वचनादि क्या पदार्थ हैं और ये दुर्वचन किसे कह रहा है? ये वचन तो पुद्गल हैं, इसने क्रोधादि के वश होकर अपनी आत्मा का घात करके कलुषित परिणामों से तथा अपने तालु ओष्ठ आदि के व्यापार से ये वचन उत्पन्न किये हैं। इनका मेरी आत्मा के साथ क्या सम्बन्ध? कोई सम्बन्ध नहीं है। मेरी आत्मा अमूर्त्त है और ये पुद्गल हैं। जैसे आकाश में जलती हुई अग्नि आकाश का कुछ भी बिगाड़

नहीं करसकती, क्योंकि वह अमूर्त्त है, उसी प्रकार मेरी अमूर्त्त आत्मा का ये कुछ भी विगाड़ नहीं कर सकते। आत्मा तो दूर रहा, ये दुर्वचन मेरे इस शरीर का भी कुछ विगाड़ नहीं करसकते। फिर रोप करना कितनी मूर्खता है? इसने जो दुर्वचन कहे या गाली दी है वह किस को दी है? इस शरीर को ही तो दी है। मुझे तो इसने देखा ही नहीं। इसकी चर्म-चक्षु मुझे देख नहीं सकती और यदि देख लेती तो यह कभी दुर्वचन नहीं बोलता। इस शरीर को देखकर इसने गाली दी है और यह मेरा नहीं है—इस प्रकार चिन्तन करो।

यदि कोई मारने लगे तो सोचो कि यह किसको मारता है? मुझ को तो नहीं मार रहा है। मैं तो अजर अमर हूँ। उस शरीर को मारता है, इससे मेरा क्या सम्बन्ध? यह शरीर तो कर्म-कृत है, मेरा इसमे क्या है? इस प्रकार विचार करो। यदि तुम उसपर क्रोध करोगे तुम्हारा ही अनिष्ट है। क्रोधी मनुष्य प्रथम अपने आत्मा की हिंसा करता है, अपने शुद्ध स्वभाव का घातकर द्वेप उत्पन्न करता है, अपने ज्ञान गुण का विनाश कर अज्ञानी बनता है। क्रोध आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा तो शान्ति स्वभाव है। यदि तुमने अपने शान्त स्वभाव का नाश कर क्रोध किया तो तुम्हारा जिनलिंग धारण करना व्यर्थ है। कहीं जल मे अग्नि लगते नहीं सुना और नहीं देखा। जिनेन्द्र समान रूप के धारक बनकर यदि तुम क्रोध करोगे तो मुनिपद की अवहेलना होगी। तुम्हारे निमित्त से जिनधर्म कलङ्कित होगा। शूर वीर मुनि की क्षमा ही ढाल है। दुर्वचनादि के प्रहार को क्षमा रूपी ढाल पर झेलने से शत्रु स्वय हार जावेगा, और तुम्हारी विजय होगी। यदि तुम उसे वास्तव मे पराजित करना चाहते हो तो उसका क्रोध शान्त होजाने पर तुम्हारा अपराध न होने पर भी तुम उससे विनीत भाव से क्षमा मागो और कहो कि हे सज्जन! तुम मेरे बड़े उपकारी हो। तुमने मुझे अपराध से सचेत किया। तुम्हारे चित्त को मेरे द्वारा बड़ा दुःख हुआ। मैं तुमसे इसकी क्षमा चाहता हूँ। यदि तुम्हारे मे उसके प्रति किसी प्रकार के उपकार करने की शक्ति है तो उसका ऐसा उपकार करो कि उस उपकार के भार से वह इतना दब जावे कि जन्म भर तुम्हारे गुण को न भूले। उसका अन्तःकरण अन्दर ही अन्दर तुम्हारे लिए धन्य धन्य की ध्वनि करता रहे। इससे तुम्हारी महिमा की महक अदृश्य ससार मे भी महकने लगेगी। जिसके पास क्षमा रूपी शस्त्र है उसका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

जिसने क्रोध शत्रु को जीत लिया है वही वीर पुरुप क्षमा को धारण कर सकता है। कायर मनुष्य इसे धारण नहीं कर सकता। जिसकी आत्मा बाह्य तुच्छ निमित्तों के संयोग से विकारवान् होती है वह क्रोध शत्रु से लोहा नहीं ले सकता है। उसको परास्त करना साधारण व्यक्ति का काम नहीं है, इसीलिए कहा है 'क्षमा वीरस्य भूपणम्' क्षमा वीर पुरुप का भूपण है।

क्षमा तभी मानी जाती है जब कि अपराधी के प्रति मन मे विकार भाव उत्पन्न न हो। किसी बलवान और समर्थ पुरुप के ऊपर बलहीन असमर्थ मनुष्य का वश न चलने पर वह मन ही मन मे क्रोध को दबाये रहता है और ऊपर से क्षमा भाव दिखाता है तो वह क्षमा नहीं है। क्योंकि उसके अन्त करण मे क्रोध की अग्नि दहक रही है। यदि उसके हृदय मे इतनी निर्मलता हो कि उसमे प्रति–

क्रिया (बदला लेने) के भाव न हो और परोक्ष मे भी वह उसकी वचनादि द्वारा निन्दा न कर प्रशंसा करे तो उस असमर्थ व्यक्ति के भी क्षमा कही जा सकती है, किन्तु जो समर्थ है और असमर्थ के ऊपर क्रोध न कर उसके प्रति उदार भाव प्रदर्शित करने के लिए उस अशक्त व्यक्ति पर उपकार करने का अवसर ढूढता है तथा अवसर मिलते ही उसका उपकार करके प्रसन्न होता है वह क्षमा श्लाघनीय है।

प्रश्न—क्षमादि के साथ जो उत्तम शब्द लगा है उसका क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—ख्याति, सासारिक लाभ, पूजा, सत्कार आदि की अभिलाषा न रखकर क्षमादि का धारण करना धर्म माना गया है। इस बात को सूचित करने के निमित्त उत्तम शब्द का प्रयोग किया गया है।

इस क्षमा के धारण से व्रत और शील की रक्षा होती है। क्षमा धारण करने वाले के कोई शत्रु नहीं होता। उसके स्वतः सब मित्र बन जाते हैं। इस लोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी दु.ख का विनाश होता है। समस्त प्राणी उसका आदर सम्मान करते हैं। उस को अलब्ध वस्तु का लाभ और ससार मे ख्याति होती है। इनके सिवा और भी अनेक गुण उत्पन्न होते हैं। और क्रोध करता है उसके निकट बन्धु भी शत्रु बन जाते हैं। माता पिता भी क्रोधी पुत्र का सयोग अनिष्ट कारक समझते हैं, धर्मपत्नी भी क्रोधी पति का अनादर करती है, पुत्र उसकी अवहेलना करता है, मित्र सम्बन्ध तोड लेते हैं, बिना कारण सारा ससार उसका शत्रु बन जाता है। उसके धर्म, अर्थ काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थ नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार क्रोध-जन्य दोषों का विचार कर क्षमा धारण करना चाहिए।

क्रोध के कारण उपस्थित होने पर आत्मा मे विचारना चाहिए कि इसमे मेरा दोष है या नहीं ? यदि मेरा दोष है तो मेरा क्रोध करना निष्कारण है। इसने क्या मिथ्या कहा ? जो मेरे मे दोष हैं, उसका प्रकाशन किया। मैं अपराधी हूं। मुझे अपने अपराध का दण्ड मिलना आवश्यक है। यदि अपना दोष न हो तो ऐसा विचार करे कि कोई मुझे बुरा भला कहे, गाली गलोच दे, या निन्दा करे तो मेरी क्या हानि है ? मैं निर्दोष हू, मुझे क्या डर है ? इससे मेरी आत्मा को कुछ भी हानि नहीं होती। इसलिए मुझे क्षमा धारण करना चाहिए। यह अज्ञानी है और मैं ज्ञानवान्, चारित्रवान् हूं। यदि मैं भी इसके समान क्रोध करूगा तो इसमे और मुझमे क्या अन्तर रहेगा ? मैंने वह जगत् पूज्य वेष धारण कर रखा है, जिसकी चक्रवर्ती और देवेन्द्रादि भी पूजा करते हैं। अज्ञानी लोग तो मारने लगजाते हैं। इसने मुझे मारा तो नहीं। दुष्ट जीव मारने भी लग जावें तो सोचे कि इसने मुझे प्राणरहित तो नहीं किया। क्योंकि क्रोधी दुष्ट जीव तो प्राणों का घात तक करते हैं। पुरातन समय मे सुकोशल, पंच पाण्डव आदि मुनियों पर कितना भयानक उपसर्ग किया गया था। यदि प्राणों के घात का अवसर आजावे तो विचारे कि कि मेरा अहो भाग्य है कि सावधान अवस्था मे मेरी मृत्यु का समय उपस्थित हुआ है। यह शरीर तो अवश्य छूटता, अनेक रोगादि पीडित अवस्था मे प्राण छूटते तो दुर्ध्यान से मरना होता। यह तो मुझे बड़ा लाभ हुआ जो सावधान और ज्ञानवैराग्य अवस्था मे प्राणों का वियोग होता है। इसमे इसका कुछ भी अपराध नहीं है। यह तो निमित्त मात्र है। मैंने पूर्व जन्म मे जैसा कर्म उपार्जन

किया उसका फल मुझे अवश्य भोगना पडेगा। यह बेचारा क्या कर सकता है ? प्राण-वियोग अवश्य होता, उसमें यह निमित्त मात्र है। यह नहीं तो दूसरा निमित्त अवश्य मिलता। मुझे इस समय क्षमा धारण करना श्रेयस्कर है। सबसे बड़ा लाभ मुझे यह है कि मेरी आत्मा की निधि जो रत्नत्रय है, वह सुरक्षित है। शरीर तो मेरी वस्तु नहीं है। यह तो कर्म ने दिया था और वह अपनी दी हुई वस्तु लेता है। मेरी वस्तु तो मेरे पास है। उसको कोई छीन नहीं सकता। यदि मैंने इस समय अपनी आत्मा मे क्रोध शत्रु को बुलाया तो वह दुष्ट मेरी चिर उपार्जित रत्नत्रय निधि को लूट लेगा और मैं दीन हीन होकर अनन्त काल के लिए दरिद्री बन कर न जाने कौनसी गति मे भटकता फिरूंगा। अत एव मुझे माता के समान सर्वदा सुख देने वाली क्षमा का ही आराधन करना चाहिए।

उत्तम मार्दव—

मान कषाय के अभाव से आत्मा में जो विनय (नम्र) भाव उत्पन्न होता है उसे मार्दव गुण कहते हैं। मान दो प्रकार का है—१ शुभ रूप २ अशुभ रूप। जिन कार्यों से आत्मा का पतन होता है, समाज और राज्य मे अपमान होता है उन नीच कार्यों को प्राणान्त कष्ट आने पर भी नहीं करना, उसे शुभमान कहते हैं। इसी का नाम स्वाभिमान है। कहा भी हैं:—

अपमानकरं कर्म येन दूरान्निषिध्यते ।
स उच्चैश्चेतसां मानः परः स्वपरघातकः ॥ ५६ ॥ (ज्ञाना०)

अर्थ—उन्नत चित्त वाले मनस्वी मानवों का वह मान प्रशस्त मानागया है, जिस मान से अपमान जनक कृत्यों का दूर से ही त्याग किया जाता है। मैंने उत्तम जाति मे जन्म लिया है। प्रशंसनीय कुल और सर्व श्रेष्ठ जिन धर्म को पाया है। क्या अधर्म व धर्महीन मनुष्यों के योग्य कार्यों को करूंगा ? कदापि नहीं। इस प्रकार के स्वाभिमान को प्रशस्त मान माना है। ऐसा मान तब तक उपादेय है, जब तक शुद्ध उपयोग तथा आत्मध्यान में प्रवृत्ति नहीं हो रही है। उस समय तो यह मान भी सर्वथा त्याज है। भाव यह है कि आत्मा की उन्नति के लिए तथा दूसरों को उन्नत मार्ग मे प्रवृत कराने के लिए मान पूर्वावस्था में उपादेय हो सकता है। किन्तु जो जाति, कुल, ज्ञान, शरीर, ऐश्वर्य, तपस्या आदि का अभिमान करना अशुभ मान है—सर्वथा उस मान का त्याग करना चाहिए। श्री स्वामी समन्तभद्राचार्य ने कहा है:—

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः ।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥ १ ॥ (रत्न करंड श्रा०)

मेरी जाति श्रेष्ठ है, मैं उत्तम कुल म उत्पन्न हुआ हूँ। तू नीच जाति व नीच कुल का है। मैं तुमसे श्रेष्ठ हूँ। मैंने बहुत ज्ञान प्राप्त किया है–मैं सबमें अधिक ज्ञानवान हूँ, तुम सब मूर्ख हो। मैं बड़ा भारी ऐश्वर्यवान हूँ। ये रंक मेरी बराबरी क्या करते हैं? मैं जगत् में पूज्य हूँ। सब मेरा सत्कार करते हैं। मेरे मे इतना सामर्थ्य है कि इन सबको क्षण भर में पीस डालूँ। ये अशक्त मेरी शक्तिको नहीं जानते हैं। इनको मजा चखा दूँगा। मैं बडा भारी तपस्वी हूँ। मेरी तपस्या के प्रभाव को ये रंक क्या समझते हैं? मेरा शरीर बड़ा सुन्दर है,ये सब कुरूप निन्दा के पात्र हैं, इत्यादि प्रकार से कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त हुए ज्ञान, आदर–सत्कार, कुल,जाति, बल, ऋद्धि (ऐश्वर्य), तप और शरीर का अभिमान करना अशुभमान है। क्योंकि यह अभिमान आत्मा को नीचे गिराने वाला है, इसका सम्बन्ध पुद्गल से है। इसका आश्रय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त तथा क्षणभगुर है। अपनी (आत्मा की) वस्तु नहीं है दूसरे की (कर्म की) थोड़े काल के लिए धरोहर है। दूसरे की सम्पत्ति से अपने को धनवान समझने वाला जैस हास्य व निन्दा का पात्र होता है,वैसे ही उक्त जाति आदि वस्तुओ के निमित्त से अभिमान करने वाला हास्य व निन्दा का पात्र होता है।

शङ्का—जाति कुल पूजा (आदर सम्मान), शरीरादि के बल, ऐश्वर्य (वैभव) और शरीर सौन्दर्य का अभिमान करना तो अनुचित है, क्योंकि पुद्गल–जन्य है, किन्तु ज्ञान और तपस्या ये दोनो तो आत्मा से उत्पन्न होने के कारण आत्मा के हैं। और आत्म–गुण का अभिमान करना अप्रशस्त पुण्य कैसे हो सकता है?

समाधान—जाति आदि की तरह ज्ञान और तपस्या भी कर्म के क्षयोपशम से होते हैं, इसलिए कर्मजन्य हैं। ज्ञानावरण के क्षयोपशम स जो क्षायोपशमिक मति श्रुतादि ज्ञान होता है, वही मद (गर्व) को उत्पन्न करता है। कर्म के सर्वथा क्षय (अभाव) से उत्पन्न होन वाला तो सिर्फ केवलज्ञान है। केवलज्ञान से गर्व नहीं होता, क्योकि वह आत्मजन्य है और सर्वथा मान का नाश होने से उत्पन्न होता है। इसके अति रक्त शेष मत्यादि चारो ज्ञान क्षायोपशमिक हैं। अर्थात् इन ज्ञानो के साथ कर्म का उदय रहता है, इसलिए ये अभिमान उत्पन्न करते हैं।

इसी प्रकार वही अपूर्ण तपस्या अभिमान पैदा करती है, जिसके साथ मोहनीय कर्म का सम्बन्ध है। मोहनीय कर्म के उदय से ही गर्व उत्पन्न होता है इसलिए क्षायोपशमिक और अपूर्ण तपस्या ये आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। इसलिए अभिमान को पैदा करते हैं। किन्तु इनका गर्व न करने पर ही आत्मा उन्नत–मार्ग पर लगा रहता है और अभिमान उत्पन्न होते ही उन्नत–मार्ग से गिर जाता है। जैसे ऊपर उछली हुई गेंद अवश्य नीचे गिरती है।

हे आत्मन्! तू जाति और कुल का क्या अभिमान करता है? जाति और कुल तेरा स्वरूप नहीं है। अनन्त काल से ससार में

भ्रमण करते हुए तूने अनन्त बार ऐसी जाति और ऐसा कुल पाया है। परन्तु उससे तेरा क्या भला हुआ ? तेरा भला तो इसी में है कि इनका अभिमान त्याग कर मार्दव धर्म को अङ्गीकार करे। इसके विना उत्तम जाति और उच्च कुल का पाना निष्फल है। मार्दव (विनय) धारण करने वाला मनुष्य सबका आदर-सम्मान पाता है। नम्रता से शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। कोमल आत्मा में ही जिनधर्म फलता और फूलता है। मानी का आत्मा कठोर पाषाण के समान होता है। उसमें जिनेन्द्र धर्म का तथा उत्तम गुणों का अंकुर नहीं जमता। विनयवान शिष्य पर गुरू का, विनीत पुत्र पर पिता का, नम्र भृत्य पर स्वामी का स्वतः अनुराग होता है, और वे गुरू, स्वामी आदि अपने विनीत शिष्यादि की सदा उन्नति चाहते हैं और उन्हें सदा सुखी रखने में प्रयत्नशील रहते हैं।

जो तूने थोडा बहुत ज्ञान प्राप्त किया है वह भी पराश्रित है, तीव्र वेदनीय कर्म के उदय से शरीर के निर्बल होने पर वह लुप्तसा हो जाता है। केवलज्ञानी और पूर्ण श्रुतज्ञानी के ज्ञान सूर्य के सामने तेरा यह अल्पज्ञान जुगनू के समान भी नहीं है। तू इस पर क्या इतराता है ? ज्ञान का फल तो चारित्र का आराधन और मोक्ष की प्राप्ति है। इस ज्ञान रूपी रत्न को तू अभिमान रूपी कीचड़ में क्यो फेंक रहा है। पुण्य-योग से यदि कुछ ज्ञान प्राप्त किया है तो नम्रता धारण कर अपनी आत्मा को सन्मार्ग में लगाने का प्रयत्न कर। यही तेरे ज्ञान प्राप्त करने का सुफल हो सकता है।

शरीरादि का बल भी क्षण-नश्वर है। शरीर में थोडी सी व्याधि के उत्पन्न होते ही यह विलीन हो जाता है। जो पहले बडे बलवान पहलवान थे वे शारीरिक व्याधि के उत्पन्न होने पर अतिनिर्बल होते देखे गये हैं। यदि तुमने वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से शरीरादि की शक्ति पाई है तो उसको ज्ञानाभ्यास, और तप के आचरण में लगाओ, जिससे सदा के लिए सुखी बन जाओ।

राज्यादि के वैभव का अभिमान करना भी महा अज्ञानता है। जो आज राज्य का अधिपति है कल वही प्राणों की भिक्षा मांगता दिखाई देता है। वह अपने प्राण बचाने में भी असमर्थ होकर इधर उधर छिपता फिरता है। जिस राज्य वैभव पर इतराता था वही उसके प्राणों का घातक और अतिनिन्दनीय पर्याय में जन्म लेने का कारण बन जाता है। कहा भी है—

> क्व मानो नाम संसारे जन्तुव्रजविडम्बके।
> यत्र प्राणी नृपो भूत्वा विष्टामध्ये कृमिर्भवेत् ॥ १ ॥ (ज्ञाना०)

अर्थ—सम्पूर्ण जीवों की विडम्बना करनेवाले इस संसार में मान किस वस्तु का किया जावे ? इस संसार में राजा भी विष्टा का कीडा बन जाता है। अर्थात् जो अभी राजा बना हुआ है वही भविष्य में मरकर विष्टा में कीडा उत्पन्न होता देखा जाता है। फिर अभिमान

किस बात का किया जावे ?

जो वैभव इस भव मे भी अनेक उपद्रव और पाप का जनक है और परभव में नीच गति का देने वाला है, उसका अभिमान कौन बुद्धिमान करेगा ?

शरीर का सौन्दर्य इन्द्र-धनुष के समान थोडी देर तक टिकने वाला है। जिसका शरीर बाल्यावस्था में अत्यन्त मनोहर था, चेचक आदि फोडा फुसी के हो जाने से युवावस्था मे वही भयानक दिखाई देने लगता है। यह रूप तो रुधिरादि घृणित पदार्थों से उत्पन्न हुआ है। जो युवती यौवनावस्था मे अपने को अप्सरा के समान समझती थी वह वृद्धावस्था मे अपने को चुडेल के समान देखकर पश्चाताप करती है। अतःपूर्व कर्म के उदय से यदि तुमने सुन्दर और निरोग शरीर पाया है तो इससे पुण्योपार्जन करना तथा तपश्चरणादि द्वारा कर्मों की निर्जरा कर उसको सफल बनाना चाहिए। जो उस रूप का अभिमान करता है वह अनेक दुष्कृत्यों में फँस कर अपना नाश करता है। इसलिए रूप का अभिमान आत्मा का अहित करने वाला जानकर उसका त्याग कर मार्दव धर्म धारण करो।

उत्तम आर्जव

माया का त्याग करने से आर्जव गुण उत्पन्न होता है। आर्जव नाम मन, वचन और काय की निष्कपट प्रवृत्ति का है। मायावी-कपटाचारी मन मे कुछ और विचारता है, वचन से कुछ और कहता है और शरीर के द्वारा कुछ और ही करता है। महात्मा और दुरात्मा की पहचान करने के लिए कहा है—

"मनस्यन्यद्वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद्धि पापिनाम्।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥ १ ॥"

जिनकी मन, वचन और काय की एकसी प्रवृत्ति है, अर्थात् जैसा मन में सोचते विचारते हैं वैसा ही मुख से बोलते और वैसा ही शरीर से करते हैं उन्हे महात्मा कहते हैं। और जो मन मे कुछ रखते है, मुख से कुछ और कहते हैं और करते कुछ और ही हैं-उनको दुरात्मा (दुर्जन) कहते हैं।

मायाचार रूई से लपेटी हुई अग्नि के समान है। जो थोडी देर तक ही छिपा रहकर बडी तेजी से बाहर प्रकट होता है। छल-कपट से किया हुआ दुष्कृत्य छिपा नहीं रहता। यह तो पानी में दबाये हुए मल के समान अवश्य सबके समक्ष प्रकट हो जाता है, मायाचारी मनुष्य का कोई विश्वास नहीं करता। उसका पद पद पर अपमान होता है। उसके परिणाम निरन्तर कलुषित रहते हैं और वह सदा

भय और शङ्का से व्याकुल रहता है। उसके हृदय मे अनेक संकल्प उत्पन्न होते रहते हैं। जिससे सतत अशुभ कर्मों का वन्धन होता है। निगोद उसकी भावी निवास भूमि होती है और इस भव मे भी वह सदा दुखी रहता है। जो लोग मायाचार करके थोडे देर तक अपने मनोरथ को सफल हुआ समझ कर हर्ष मानते हैं वे मूर्ख अमूल्य मानव जन्म को पापरूपी दलदल (की चड) मे फेंकते हैं। माया के विषय मे कहा है:—

जन्मभूमिरविद्यानामकीर्त्तेर्वासमन्दिरम् ।
पापपङ्कमहागर्त्तो निकृतिः कीर्त्तिता बुधैः ॥ १ ॥ ज्ञाना०

अर्थात्—यह माया अनेक अज्ञानो की जन्म भूमि है। अर्थात् मायाचारी मनुष्य मे अनेक खोटी २ बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनसे वह अपना व दूसरे का नाश करता है। वह अपयश का मन्दिर होता है। और पापरूपी कीचड का वह गहरा खड्डा होता है। अर्थात् उस की आत्मा मे पाप ठसाठस भरजाता है। इसीलिए वह निगोद का पात्र होता है।

मायाचार नाम कुटिलता का है। जिसका आत्मा कुटिल है उसके अन्दर अति सरल जैनधर्म कदापि निवास नहीं कर सकता, जैसे टेढे म्यान के भीतर सीधा खड्ग (खाडा) कभी नहीं जा सकता। जिसका मन आर्जव (सरलता) गुण से युक्त है वह प्रत्येक स्थान पर आदर पाता है। उसका आत्मा सदा प्रसन्न रहता है, उसमे अनेक गुण स्वतः आकर निवास करते हैं और वह प्राणी मात्र का विश्वास-पात्र होता है। इसलिए इस भव और पर भव मे दुख देनेवाली माया (छल-कपट) का त्याग कर आर्जव (सरलता) धर्म को अङ्गीकार करो।

उत्तम शौच

लोभ का परित्याग करने से जो सन्तोष उत्पन्न होता है उसे शौच कहते हैं। ससार मे आत्मा का सबसे महान् शत्रु लोभ है। जिसके मन मे निर्लोभता उत्पन्न हो जाती है उसको लोग देवता के समान पूजते हैं, उसपर विश्वास करते हैं, उसकी महिमा संसार मे सूर्य के प्रकाश के समान सर्वत्र फैलती है और वह सब गुणों का आश्रय हो जाता है।

लोभ के भेद और उनका स्वरूप

ससार मे लोभ चार प्रकार का होता है—१ जीवित रहने का लोभ २ आरोग्य का लोभ, ३ इन्द्रिय-विषय का लोभ और ४ भोगोपभोग का लोभ। ये चारों स्व और पर के भेद से दो दो प्रकार के हैं—

स प्र

स्वजीवित लोभ और परजीवित लोभ, स्वआरोग्य लोभ, और परआरोग्य लोभ । स्वइन्द्रियलोभ और परइन्द्रियलोभ । तथा स्व-भोगोपभोग-लोभ और पर-भोगोपभोग-लोभ

१ स्वजीवित व परजीवितलोभ—स्वयं बहुत काल तक जीवित रहने के लिए तथा आत्मीय बन्धु पुत्रादि को जीवित रखने के लिए मनुष्य अनेक प्रकार के अनुचित उपायों का अवलम्बन लेता है। अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण स्वयं करता और करवाता है। मिथ्या दृष्टि कुलिंगी चण्डी-मुण्डी भवानी भैरू आदि की आराधना करता है। पशुबलि समान घोर पातक करने में भी नहीं चूकता। अनेक प्रकार के कूट कपट करता है।

स्व-पर-आरोग्य लोभ—अपने को और पुत्र–स्त्री आदि को नीरोग करने के लिए मास-मदिरा-मिश्रित अशुद्ध औषधियों का स्वयं सेवन करता और पुत्रादि को भी करवाता है। उसका भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों का विवेक-ज्ञान नष्ट हो जाता है। रात्रि-भोजन आदि पापाचार करता है और लोकनिन्दा का तथा पर लोक का भय लुप्त हो जाता है। क्या अधर्मपूर्ण आचरण करने से वह या उसके इष्ट–कुटुम्बी चिर-काल तक जीवित और नीरोग रह जावेंगे ? यह उसके अज्ञान और मोह का माहात्म्य है जो इस नर भव समान कल्पवृक्ष को अनुचित लोभ के वश होकर भस्म के निमित्त जलाता है। जीवन और आरोग्य के लिए उचित धर्मयुक्त उपायों का आश्रय लेना तो आवश्यक है। इसके विपरीत मार्ग का आश्रय लेना इस भव और परभव को बिगाड कर परम्परा नरकादि गति का देने वाला है। ऐसा समझकर इस अनुचित लोभ का त्याग करना चाहिए।

स्व-इन्द्रिय विषय व पर-इन्द्रिय-विषय का लोभ—इन्द्रिय-विषय के वशीभूत हुए प्राणी ससार में दु ख ज्वाला मे निरन्तर जल रहे हैं। विषय-लोभ मे अन्धे होकर अपने प्राणों तक की आहुति दे रहे हैं। स्पर्शन इन्द्रिय के वश हाथी गर्त्त मे गिर कर बधबन्धादि अनेक कष्टों को सहता है। रसना-इन्द्रिय के वश मछली जल मे काटे से अपना गला छिदाती है। घ्राण-इन्द्रिय के वश भ्रमर कमल मे बन्द होकर मृत्यु का शिकार होता है। चक्षुइन्द्रिय के लोभ से पतङ्ग (कीड़ा) दीपक म गिर कर अपनी आहुति देता है। श्रोत्रन्द्रिय के अधीन हुआ हिरन बहेलिया के जाल मे फंसता है। तात्पर्य यह है कि एक एक इन्द्रिय के विषय के लोलुपी प्राणी अपने प्राणों से हाथ धो बैठते हैं। तो फिर यह मानवपशु पाचो इन्द्रियो के विषय की लालसा से ललचाकर किस सुख की इच्छा रखता है ? यह समझ मे नहीं आता। हे आत्मन् ! इन इन्द्रियों की प्राप्ति पूर्वजन्म कृत कठोर तपस्या से हुई है। इसलिए विषय–विष का भक्षण करके इनका विघात मत करो। अन्यथा भवभव मे इनके लिए तरसते रहोगे और निगोद मे या नरक मे सख्यातीत काल तक अचेत अवस्था मे या घोर सतापशील अवस्था मे पडे हुए अनन्त दु ख सहोगे।

ज्यो ज्यो ये इन्द्रिया मद की उत्कटता को धारण करती हैं त्यों त्यो मनुष्यों के कषाय रूप अग्नि अधिक प्रज्वलित होती जाती है। अत ज्ञान और वैराग्य भावना से कषाय अग्नि का शमन कर इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करो।

इन इन्द्रियों को लुटेरों व डाकुओ की सेना समझो क्योंकि ये तुम्हारे अन्त करण रूपी किले के भीतर सुरक्षित विवेक रूप रत्न को लूटती हैं।

इन्द्रिय विषयों से ठगे हुए मनुष्य की विषय-तृष्णा बढ़जाती है, सन्तोष नष्ट हो जाता है और विवेक विलीन हो जाता है।

विषयो को हालाहल विष से भी बहुत अधिक समझो। इनमे मेरु और सरसों का सा अन्तर है। कालकूट (विष) तो एक पर्याय का घातक है, अतः सरसों के सदृश है और विषय अनन्त भवो में आत्मा का विनाश करने वाला है अतः यह मेरु के समान है। इसलिए जो तुम्हें इनसे अपनी आत्मा की रक्षा करना है तो सत्संगति में रहकर विवेक-ज्ञान द्वारा परपदार्थ के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन करो। लोभ को सीमित कर शनैः शनैः इसका अभाव करो। जब तक आत्मा मे पर पदार्थ का लोभ रहता है, सन्तोष नहीं होता और सन्तोष के अभाव मे मन बाहर भटकता फिरता है।

संसार मे जितने भी अत्याचार अन्याय आदि महापातक होते हैं उनका मुख्य कारण लोभ है। इसलिए विषयादि के लोभ का त्याग कर ज्ञानोपार्जन का व शीलादि गुणो का लोभ करो जिससे तुम्हारी आत्मा इस मनुष्य जन्म मे भी आनन्द का अनुभव करे और परभव मे कैवल्यादि विभूति का भोगने वाला बने।

उत्तम सत्य

प्राणियो को पीड़ा उत्पन्न करने वाले वचन न बोलना तथा स्व और पर के लिए हितकारक, प्रिय और परिमित वचन का उच्चारण करना ही सत्य है।

असत्पुरुषो के सामने मौन धारण करना ही श्रेष्ठ है। क्योकि आचार्यों ने प्रशस्त (सज्जन) पुरुषों के मध्य साधु (उत्तम) वचन बोलने को सत्य कहा है। इसका आशय यह है कि ध्यानादि कर्त्तव्य मे जब चित्त ऊब जाता है–थक जाता है, उस समय यदि उपदेशादि के लिए वचनोच्चारण करना पड़े तो इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मेरा बोलना इस समय उपयुक्त है या नहीं ? जन समाज कैसी प्रकृति वाला है। शान्तस्वभाव है या उग्रस्वभाव। शान्तस्वभाव जनसमूह मे वचनोच्चारण करना–धर्म का व्याख्यानादि करना स्वपर का कल्याण करने वाला होता है और जो उग्रस्वभाव जन समूह हो तो मौन धारण करलेना अथवा अपने निज कार्य स्वाध्यायादि में लग जाना चाहिए। अन्यथा सदुपदेश का भी दुरुपयोग होजाता है और अशान्ति का वातावरण उत्पन्न हो जाता है।

आचार्यों ने सत्य के दश भेद कहे है–१ नाममत्य, २ रूपसत्य, ३ स्थापनासत्य, ४ प्रतीत्यसत्य, ५ संवृत्तिसत्य, ६ संयोजना-सत्य, ७ जनपद सत्य, ८ देशसत्य ९ भावसत्य, १० और समयसत्य। इनका विशेष वर्णन पहले किया जा चुका है।

उक्त सत्य के भेदो को जानकर उनके अनुकूल वचन का उच्चारण करना सत्य है।

सत्य वचन बोलनेवाला मनुष्य ससार मे पूज्य माना जाता है । उसपर शत्रु भी विश्वास करता है । प्राणीमात्र उसका आश्रय लेते है। मनुष्य जीवन की उत्कृष्टता सत्य वचन से ही मानी गई है। इसलिए जो वचन बोलने की शक्ति इस मनुष्य भव में प्राप्त हुई है उसको कटु कठोर तथा अधम पुरुषों के उच्चारण करने योग्य निन्द्य वचन बोलकर मत खोओ। सत्य होने पर भी वचन से दूसरे का चित्त पीडित हो ऐसे वचन को भी आगम मे असत्य माना है। जो मनुष्य लोभादि के वश असत्य बोलता है उससे उसका स्वार्थ भी बिगड़ जाता है और और वह लोक मे निन्दा का पात्र होता है। उसका बड़प्पन क्षणभर मे मिट्टी मे मिल जाता है। उसकी प्रतिष्ठा चरणोंपर लोटती है। उसकी पूज्यता पैरो से ठुकराई जाती है और वह सब के लिए भयानक जन्तु बन जाता है।

अन्य दुर्गुणों से दूसरे मनुष्यों का उतना अकल्याण नहीं होता, जितना कि असत्य वचन से होता है। इसी असत्य वचन से संसार मे मिथ्या शास्त्रों का प्रचार हुआ है। तीनसौ तिरेसठ पाखंड की प्रवृत्ति इस असत्यवचन द्वारा ही हुई है, जिसके कि जाल मे फँसे असंख्य प्राणी हिंसादि घोर पापो का आचरण कर रहे है।

नरसंहार करनेवाले सग्राम इस असत्य वचन से ही प्रारम्भ होते हैं । यदि मनुष्य शान्तचित्त होकर पूर्वापर हिताहित का विचार कर वचन निकाला करे, प्रिय, मधुर और स्वपर-हितकारक वचन बोला करे तो यह मर्त्यलोक स्वर्ग समान बन जावे।

असत्य वचन बोलने मे तो आत्मा के स्वाभाविक भावों को दबाने मे बडी शक्ति लगानी पड़ती है, आत्मा कुठित होता है, और सत्य वचन उच्चारण करने मे आत्मा को आह्लद होना है। उसका प्रभाव सब सुननेवाले जीवों पर स्वतः विदित हो जाता है। असत्य भाषी स्व और पर की हिंसा करता है। क्योंकि वह असत्य भाषण कर अपने सच्चे निराकुल भाव की हिंसा करता है और असत्य से सुनने वालो के चित्त मे गहरी चोट लगती है। उनका हृदय विदीर्ण हो जाता है । इसलिए असत्यभाषी आत्मघाती और परघाती मानागया है। इसलिए जब सत्य वचनामृत से अपनी व दूसरे की आत्मा को आनन्द मिलता है और उसके लिए कुछ कष्ट भी नहीं होता तो इस अमूल्य अमृत का आस्वादन क्यों नहीं करते ? इस सत्य के आधार पर सब संसार के कार्य होते हैं, इसलिए सत्य के आश्रित सारा ससार ठहरा है, ऐसा कहाजाय तो कोई अत्युक्ति नहीं है। सत्य ही जीवन का आधार है और ससार के सब कर्तव्यों का मुख्य साधन है। इसलिए वचन बोलते समय पूर्ण सावधानी रखना योग्य है।

उत्तम संयम

षट्काय के जीवों का रक्षण और पाँचों इन्द्रिय और मन का निग्रह करना संयम कहलाता है। लोभादि के वश विषय और कषाय मे भटकते हुए मन रुपी मातङ्ग (हाथी) को वश मे करने के लिए यह सयम अंकुश के समान है। अथवा कुमार्ग मे गमन करते हुए इन्द्रिय रूपी घोडों के लगाम के समान है—क्योंकि मन और इन्द्रिय को रोकने का नाम संयम है। इसका पालन करने से इन्द्रिय और मन का प्रचार रुककर आत्मा मे स्थिरता आती है।

संयम के भेद और उनका स्वरूप

सयम दो प्रकार का है—१ उपेक्षा-सयम और २ अपहृत-संयम।

(१) उपेक्षा-सयम—देश काल-विधि के ज्ञाता उत्कृष्ट शरीर वाले, मनोयोग, वचनयोग एवं काययोग का निग्रह कर तीन गुप्ति के धारण करनेवाले महामुनि के जो राग-द्वेष का अभाव होता है, उसे उपेक्षा-सयम कहते हैं।

(२) अपहृत-सयम—पाँच समिति का आचरण करने से अपहृत संयम होता है। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उत्सर्ग ये पाँच समिति हैं। इनका विवेचन पहले कर आये हैं, वहाँ से जान लेना चाहिये।

इन ईर्यादि पाच समितियों मे प्रवृत्ति करने वाले मुनि के प्राणी और इन्द्रियों का परिहार होता है। अर्थात् पृथिवी-कायादि पांच स्थावर और त्रसकाय के जीवों की रक्षा और इन्द्रियो का निग्रह होता है। इसीको अपहृत सयम कहते हैं।

वह अपहृत संयम तीन प्रकार का है—१उत्कृष्ट, २ मध्यम और ३ जघन्य। जिनके प्रासुक वसतिका और आहार ये दोनों ही बाह्य साधन हैं, तथा ज्ञान और चारित्र क्रिया जिनके पराधीन है, तथा बाहर के जन्तुओं की रक्षा का उपनिपात (सयोग) होने पर वसति का आदि का त्याग कर जन्तुओं की रक्षा करने वाले मुनि के उत्कृष्ट अपहृत-संयम होता है। अर्थात् वसतिका आदि मे जन्तुओं का ससर्ग हो जाने पर उन जन्तुओं को न हटाकर जो मुनि स्वय उस वसतिका आदि का त्याग कर देते हैं, उनके उत्कृष्ट अपहृत-संयम होता है। कोमल पिच्छिका से उन जन्तुओं प्रमार्जन करनेवाले मुनि के मध्यम अपहृत-संयम होता है। अन्य पुस्तकादि उपकरणों की इच्छा रखने वाले मुनि के जघन्य अपहृत-सयम है।

उस अपहृत-सयम का प्रतिपालन करने के लिए प्रभावशुद्धि आदि आठ शुद्धियाँ आवश्यक मानी गई हैं, उनका वर्णन पहले किया जा चुका है।

संयमी का निवास

संयमी का निवास तीन प्रकार का होता है। १ स्थान, २ आसन और ३ शयन।

(१) स्थान—दोनों पाँवों को चार अंगुल के अन्तर पर स्थापन कर ऊपर, नीचा अथवा तिरछा मुख किये हुए जिसमे अपना भाव लगा रहे, अपने बल व वीर्य के अनुसार कर्मक्षय करने के निमित्त सक्लेश परिणाम रहित होकर जो खड़ा रहता है उसे स्थान कहते हैं।

(२) आसन—यदि खड़ा न रह सके और खड़े रहने की प्रतिज्ञा न की हो तो पर्यंक (पालथी-माडकर बैठना) आदि आसन लगाकर बैठ जाये उसे आसन कहते हैं।

(३) शयन—यदि बहुत काल तक स्थान-आसन से खेद खिन्न(परिश्रम से थकना) हो जावे तो मुनि अपनी भुजा का तकिया बनाकर एक पसवाडे अंग सुकोड कर अल्पकाल पर्यन्त श्रम दूर करने के निमित्त शयन करे—इसको शयन कहते हैं।

साक्षात् मोक्ष के कारण भूत संयम के पाच भेद हैं-१ सामायिक, २ छेदोपस्थान, ३ परिहारविशुद्धि, ४ सूक्ष्मसाम्पराय, ५ और यथाख्यात चारित्र। इनका स्वरूप पहले कह आये हैं।

उत्तम तप

कर्म का क्षय करने के लिए बाह्य और आभ्यन्तर रूप से जो तपा जाता है उसे तप कहते हैं। उसके दो भेद हैं—१ बाह्य और २ आभ्यन्तर। इन दोनों के छह भेद हैं। उनका विशद विवेचन तप आराधना मे कर आये हैं। अभ्रावकाशयोग वृक्षमूलयोग और वर्षायोग इस प्रकार तीन योग को तप के अन्तर्गत समझना चाहिए। इनका वर्णन भी पूर्व कर आये है।

उत्तम त्याग

चेतन व अचेतन दश प्रकार के परिग्रह के तथा मिथ्यात्वादि चौदह प्रकार के परिग्रह के उत्सर्ग करने (छोडने) को त्याग कहते हैं।

उत्तम आकिञ्चन्य

मेरा संसार मे कोई नहीं है। यह शरीर भी मेरा नहीं है, अन्य पुत्र स्त्री आदि मेरे कैसे हो सकते हैं ? मैं यहा पर अकेला ही आया हूँ और अकेला ही जाऊँगा। आत्मा के सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र मेरे हैं। ये ही मेरे साथ परभव मे जाने वाले हैं। इस प्रकार अकिंचन भाव का चिन्तन करने से आकिञ्चन्य धर्म प्रकट होता है।

उत्तम ब्रह्मचर्य

(१०) ब्रह्म (आत्मा) मे चर्या करने को ब्रह्मचर्य कहते है। वह निश्चय ब्रह्मचर्य है। सम्पूर्ण स्त्रियों का त्याग

करना व्यवहार ब्रह्मचर्य है। स्त्रीमात्र के साथ रागद्वेष सम्बन्ध का त्याग करने से आत्मा अपने स्वरूप में रमण करती है इसलिए मुख्य ब्रह्मचर्य के साधन को भी ब्रह्मचर्य कहा है। इसका विशद विवेचन ब्रह्मचर्य महाव्रत में किया जा चुका है।

बोधि दुर्लभ भावना

हे आत्मन्! बोधि (सम्यक्त्व अथवा दीक्षा धारण करने की बुद्धि) का मिलना अति दुर्लभ है। तुमने अनन्त काल तो निगोद में निवास किया है। क्योंकि सम्पूर्ण संसार निगोद जीवों से भरा हुआ है। जीव का चिर निवासस्थान निगोद है। उससे निकल कर पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय अवस्था प्राप्त करना भी अति कठिन है। उससे निकल कर त्रसपर्याय प्राप्त करना बालू के समुद्र में खोई हुई हीरे की कणी के समान दुष्प्राप्य है। त्रस में विकलेन्द्रिय जीवों में जन्म हुआ तो किस काम का? उसमें निकलकर पंचेन्द्रिय पर्याय मिलना दुष्कर है। पंचेन्द्रिय में पशु पक्षी आदि तिर्यंचों में उत्पन्न हुए तो वहाँ पर हित अहित का विचार न होने से बोधि की प्राप्ति नहीं होती। मनुष्य होकर भी यदि नीच जाति, नीच कुल, म्लेच्छ क्षेत्रादि में जन्म हुआ तो वह मनुष्य जन्म भी निरर्थक है। तुम्हें सब योग मिलगया है। उत्तम कुल, जाति, निरोग शरीर, जैन-धर्म का शरण, सत्संगति आदि आत्म-कल्याण का सब योग प्राप्त हुआ है। यदि अब भी बोधि की प्राप्ति नहीं की तो अधिक से अधिक पूर्व कोटि पृथक्त्व सहित दो हजार सागर तक त्रस पर्याय में रहकर तुमको पुनः निगोद का शरण लेना पड़ेगा।

यह बोधि संसार में सब से श्रेष्ठ है। देखो! तीर्थंकर प्रकृति का उदय भी बोधि के प्राप्त हुए बिना नहीं होता है। तथा तीर्थंकर जब बोधि दुर्लभ भावना का चिन्तन करते हैं, तब ही लोकान्तिक देव आते हैं, गर्भादिक कल्याण में नहीं आते, इसलिए स्पष्ट है कि बोधि संसार में सर्वोत्कृष्ट है। अतः उसको हाथ से मत जाने दो।

मनुष्य जन्म कितना दुर्लभ है?

संसारम्हि अणंते जीवाणं दुल्लहं मणुस्सत्तम्।
जुगसमिलासंजोगो लवणसमुद्दे जहा चेव ॥ ६५ ॥ (मूला. द्वा.)

अर्थ—लवण समुद्र की पूर्व दिशा में युग (जूला-जूड़ा) डाला, और पश्चिम दिशा में डाली समिला (जूडे की कील)। उस कीला का जूडे के छेद में आकर प्रविष्ट होना जैसे अति दुर्लभ है, वैसे ही इस अनन्त संसार में चौरासी लाख योनियों के मध्य मनुष्य पर्याय का मिलना अति दुर्लभ है।

भावार्थ—मोहनीय कर्म रूपी पिशाच के वशीभूत हुआ यह जीव सद्गुरुओं के सदुपदेश को कानों से सुनकर भी हृदय में धारण नहीं करता है। जिसके संसार का अन्त सन्निकट है उसी निकट भव्य का मन बोधि की दुर्लभता को समझकर उसका आराधन करता है,

वही मनुष्य पर्याय की दुष्करता को समझता है। उसके चित्त मे देश, कुल, निरोगता आयु तथा, शारीरिक–सामर्थ्य का सदुपयोग करने की उत्कण्ठा जागृत होती है। प्राप्त हुए दिव्य जैन धर्म के असली स्वरूप का रहस्य उसी के अन्तःकरण में झलकता है। सत्पुरुषों के सत्संगरूप कल्पवृक्ष का लाभ वही लेता है। जिनागम के अमृत समान एक एक वचन को कर्णपुट द्वारा पान कर अपूर्व आनन्द का अनुभव करता है। इस नश्वर शरीर मे अविनश्वर पद देने वाली वोधि की प्राप्ति करने में ही अपना कल्याण मानकर इसके पालन में निरत हो जाता है। क्योंकि संसार के सब पदार्थ आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं रखते हैं। वे जड स्वरूप है और आत्मा को बन्धन में डालने वाले हैं। आत्मा के बन्धन को खोलने वाली एक 'वोधि' है।

जिसको रत्नत्रय मे अनुराग होता है, सम्यग्दर्शन की जिसको प्राप्ति होगई है, वह जीव अर्धपुद्गल काल के अन्दर मोक्ष–प्राप्ति की योग्यता रखता है। लेकिन जब तक वह चारित्र का अनुष्ठान नहीं करेगा उसको सिद्धस्थान प्राप्त होना दुर्लभ है। अतः चारित्र को पूज्य कहा है। चारित्र का धारक पूजा के योग्य माना है। अत हे आत्मन्! जो तुमको ऐसे सर्वोत्कृष्ट पूज्य पद तो प्राप्त करना है तो इस पूज्यता की कारण भूत चिन्तामणि रत्न के समान 'वोधि' को यदि पाकर तुमने खो दिया तो अनन्त काल के लिए दरिद्री बन जाओगे और दारिद्रय का अनुभव करने के लिए निगोदादि पर्याय मे जा पहुंचोगे, इसलिए पूर्ण सावधानी से इसका पालन करो।

तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति रूप वोधि तथा मुनि दीक्षा धारण करने की बुद्धि–रूप वोधि संसार में अति दुर्लभ है। ऐसा समझकर जीवादि तत्त्वों का यथार्थ बोध करके श्रद्धान करो तथा दीक्षा धारण करने के परिणाम को अति दुर्लभ समझो। उसकी प्राप्ति होना सुलभ नहीं है। कर्म के क्षयोपशमादि से यदि वह प्राप्त हो जावे तो चिंतामणिरत्न से अनन्त गुणा श्रेष्ठ समझकर उसे हाथ से मत जाने दो। जिन्होंने अचिन्त्यपद तथा सिद्धपद प्राप्त किया है, वह सब इसी वोधि का माहात्म्य है।

इस प्रकार बारह अनुप्रेक्षाओं का जीवन मे उतारते रहने से आत्मा मे दृढ संस्कार उत्पन्न होता है और उस संस्कार से संस्कृत हुई आत्मा धर्म से कभी नहीं डिगती है। क्रमशः कर्मों का क्षय करके निर्मल बन जाती है—विमल (मोक्ष) पद को प्राप्त करने में समर्थ हो जाती है।

अथ अनगार-भावना अधिकार

द्वादश भावनाओं के वर्णन के बाद अब अनगार भावनाधिकार का प्रारम्भ किया जाता है। … मुनियों में लिंग-शुद्धि आदि दश शुद्धियों का … महत्व है। … को विशुद्ध बनाने के लिए आगे कही जाने वाली शुद्धियों का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए और … नहीं करनी चाहिए। अनगार-भावना के दश अधिकार हैं।

लिंगं वदं च सुद्धी वसदिविहारं च भिक्ख णाणं च।
उज्झणसुद्धी य पुणो वक्कं च तवं तधा झाणं॥ ३॥
एदमणयारसुत्तं दसविधपदविणयअत्थसंजुत्तं।
जो पढइ भत्तिजुत्तो तस्स पणस्संति पावाइं॥ ४॥ (मू. भ. आ.)

अर्थ—इन्द्र, चन्द्र, नागेन्द्र, चक्रवर्ती आदि … को कृतार्थ समझते हैं—ऐसे … को इन पदों में विभाजित किया है।

(१) लिंगशुद्धि, (२) व्रतशुद्धि, (३) वसतिशुद्धि, (४) विहारशुद्धि, (५) भिक्षाशुद्धि, (६) ज्ञानशुद्धि, (७) उज्झनशुद्धि, (८) वाक्यशुद्धि, (९) तपःशुद्धि, (१०) ध्यानशुद्धि। ये दश प्रकार … का निरूपण करने वाले दश अधिकार … आचार सिद्धान्त के अर्थ … तथा मुनि-शिक्षा का … करने वाले हैं। … प्रक्षालन होता है।

(१) लिंगशुद्धि-अधिकार

चलचवलजीविदमिणं णाऊण माणुसत्तणमसारं।
णिव्विण्णकामभोगा धम्मम्मि उवट्ठिदमदीया॥ ७॥ (मू. भ. आ.)

अर्थ—यह मानव जीवन अस्थिर व विद्युत (बिजली) के चमत्कार के समान … है। इसमें कुछ भी सार … नहीं है।

प्रतिसमय इसका नाश हो रहा है, न जाने किस समय इसका सर्वथा क्षय जावे। अभीष्ट पदार्थ की कामना, स्त्री आदि उपभोग सामग्री आत्मा को व्याकुल करने वाली है, ताम्बूल कुंकुम पुष्पादि के समान एक बार सेवन करने के पश्चात उच्छिष्ट हुई पुनः सेवन करने योग्य नहीं है। इस प्रकार काम भोग से विरक्त होकर निर्ग्रन्थ लिंग धारण करने की बुद्धि करो।

भावार्थ—काम भोग की निःसारता और असेव्यता को समझकर इनसे विरक्त चित्त हुआ विवेकी मनुष्य अपने चञ्चल और विनश्वर जीवन को शीघ्र सफल बनाने को उत्सुक हुआ संसार से भयभीत होकर आचार्य के चरण की शरण ले और गद्गदकण्ठ हो प्रार्थना करे कि भगवन्! इस ससार सागर मे उद्धार करने की कृपा करो। मुझे अपने आत्मा का कल्याण करने के लिए शुद्ध-लिंग–दिगम्बर मुनिवेष–की दीक्षा प्रदान करो।

इस प्रकार प्रार्थना करने पर आचार्य निम्नोक्त बातो का पूर्ण विचार करे। दीक्षा के योग्य जो व्यक्ति हो, उसके गुणादि की परीक्षा करके पश्चात दीक्षा दे।

दीक्षा -योग्य पात्र

(१) जिसने उत्तम देश मे जन्म लिया हो, उसे ही दीक्षा दे, क्योंकि देश के संस्कार आत्मा में स्थायी रहते हैं और देश के अनुकूल शरीर संस्थान आत्मपरिणाम, सहनशीलता आदि होते हैं। इसलिए जन्म व निवास का देश शुद्ध होना चाहिए।

(२) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीन उत्तम वर्ण ही मुनि दीक्षा के योग्य माने गये हैं। श्री जयसेनाचार्य कृत प्रवचनसार की टीका मे कहा है—

वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणंगो तवोसहो वयसा।
सुमुहो कुंछारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो ॥१०॥

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णों मे से ही कोई मुनि–दीक्षा का अधिकारी होता है। इनमें से भी वही योग्य मानागया है जिसका शारीरिक स्वास्थ्य अच्छा हो, तप के योग्य जिनकी वय हो, अर्थात् अतिवृद्ध और बालक न हो। जिसका मुख विकारहीन हो अर्थात् निर्विकार शुद्धचैतन्य परिणाम की शुद्धि को प्रकट करने वाला प्रफुल्लित मुख जिसका हो। अथवा जिसके मुख में वक्रतादि न हो। लोक मे जिसे किसी प्रकार के दुराचार आदि के कारण अपवाद न लगा हो। ऐसा क्रोधादि रहित विनयगुण सहित ही मुनि दीक्षा के योग्य माना गया है।

(३) मुखादि विकार न हो। हीनांग न हो, और अधिकांग भी न हो।

(४) जिसने राज्य विरुद्ध कार्य न किया हो।

(५) जिसने लोकाचार के विरुद्ध आचरण न किया हो। अन्यथा संघ पर आपत्ति विपत्ति आने की सम्भावना रहती है।

भाव यह है कि यदि कोई दुराचारी, चोर, क्रूर-परिणामी, निर्दयी, पर-उच्छिष्ट का भक्षण करने वाला, आवारा फिरने वाला, असत्‌ व्यापार करने वाला, निन्दनीय आजीविका करनेवाला, परधन को हड़पनेवाला, ऋणी, हत्यारा, जातिच्युत, वर्णसंकर, उन्मत्त, अतिक्रोधी, मानी, मायाचारी, राजा देश जाति व कुल का अपराधी या ऐसे ही अन्य दोषों से युक्त हो तो आचार्य उसे दीक्षा न दे।

भगवती आराधना की ७७ वीं गाथा की अपराजित सूरिकृत-विजयाटीका और पण्डित आशाधरजी कृत मूलाराधना टीका इन दोनों संस्कृत टीकाओं में बाह्य लिंग-शुद्धि अत्यावश्यक बताई गई है—

जिसका पुरुष चिन्ह मुनि दीक्षा के योग्य हो अर्थात् लिंग (पुरुषचिन्ह) का अग्रभाग चर्म से ढका हो, (यदि चर्म रहित (उघाड़ा) हो तो दीक्षा के अयोग्य है), अतिदीर्घ व स्थूल न हो और जिसमें विकार भाव उत्पन्न न होता हो तथा अण्डकोष बड़े न हों। यदि इन दोषों से युक्त हो तो वह व्यक्ति दिगम्बर दीक्षा के सर्वथा अयोग्य होता है। जो आचार्य इन उक्त लिंग-दोषों की ओर ध्यान न देकर दीक्षा देता है, तथा उक्त दोषों में से किसी भी दोष सहित जो व्यक्ति दीक्षा ग्रहण करता है वे दोनों जिनागम-विरुद्ध आचरण करने वाले हैं और मुनि धर्म की जगत में निन्दा कराने के कारण होते हैं।

प्रवचनसार की टीका पर म आचार्य जयसेन लिखते हैं—"यथायोग्यं सच्छूद्राद्यपि" इसका आशय ऐसा समझना चाहिए कि सत् शूद्रादि मुनि-दीक्षा के योग्य न होने पर भी उनको आगम के अनुकूल क्षुल्लकादि दीक्षा दी जाती है। 'यथायोग्य' पद से उक्त अर्थ ध्वनित होता है।

इसी प्रकार पं. आशाधरजी ने सागारधर्मामृत में कहा—

शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपुःशुद्ध्याऽस्तु तादृशः।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्माऽस्ति धर्मभाक् ॥

अर्थ—वर्ण में हीन शूद्र का यदि रहन-सहन शुद्ध है, वह मद्य मांसादि का भक्षण नहीं करता है तथा स्नानादि से शरीर को पवित्र रखता है तो वह भी जिन धर्म के श्रवण करने का अधिकारी है। क्योंकि जातिमें हीन जीव भी कालादि लब्धि के आनेपर

श्रावक धम का धारण करने वाला होता है।

सत् शूद्र ऐल्लक दीक्षा के योग्य भी नहीं माना गया है क्योंकि जो उत्तम आर्य है वही ऐल्लक हो सकता है। शूद्र उत्तम आर्य न होने स ऐल्लक दीक्षा का अधिकारी नहीं होता है तब उसमे मुनि दीक्षा की योग्यता कैसे हो सकती है? धर्मसग्रह श्रावकाचार के नवें अधिकार मे कहा है—

पशुपाल्यात् कृषेः शिल्पाद्वृत्तिं न्ते तेषु केचन।
शुश्रूषन्ते त्रिवर्णी ये भाण्डभूषाम्बरादिभिः॥ २३२॥

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णो मे कई तो पशुपालन स अपना जीवन निर्वाह करते हैं, कई कृषि से अपनी जीविका करते हैं और कई शिल्पविद्या से अपना भरणपोषण करते हैं। जो उक्त तीनो वर्ण के मनुष्यों की वर्त्तन, भूषण और वस्त्रादि मे सेवा करते हैं, वे शूद्र है। शूद्रों के भेद इस प्रकार किये गये है—

शूद्रो के भेद

ते सच्छूद्रा असच्छूद्रा द्विधा शूद्राः प्रकीर्त्तिताः।
येषां सकृद्विवाहोऽस्ति ते चाद्याः परथा परे॥ २३२॥ धर्म. श्रा

अर्थ—उन शूद्रों के सत शूद्र और असत् शूद्र इस प्रकार दो भेद है। जिन शूद्रों के स्त्रियों का एक बार ही विवाह होता है वे सत शूद्र है और जिनके पुनर्विवाह (विधवा विवाह—वरेजा) होता है उन्हें असत् शूद्र कहते हैं। तथा—

सच्छूद्रा अपि स्वाधीनाः पराधीना अपि द्विधा।
दासीदासाः पराधीनाः स्वाधीनाः स्वोपजीविनः॥ २३४॥ धर्म. श्रा

अर्थ—सत शूद्रो के भी स्वाधीन और पराधीन के भेद से दो विकल्प है। जो दासी व दास हैं वे पराधीन सत शूद्र हैं और जो दास वृत्ति न करके अन्य प्रकार मे स्वतन्त्र आजीविका करके अपना निर्वाह करते हैं वे स्वाधीन सत शूद्र हैं।

निष्कर्ष यह है कि सत् शूद्र मुनिलिंग नहीं धारण कर सकता। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्ण के पुरुष ही मुनिदीक्षा के अधिकारी माने गये हैं।

उक्त प्रकार मुनि दीक्षा के योग्य व्यक्ति की पूरी छान-बीन करके पश्चात् आचार्य मुनि-दीक्षा देवे। क्योंकि मुनि-लिङ्ग जगत्-पूज्य है। इसलिए विकलांग, अधिकांग, लिंगदोप (पुरुषेन्द्रिय दोष), विकार युक्त मुख इत्यादि शरीर के दोषों से युक्त व्यक्ति को तथा दुराचार दुर्व्यवहार, अन्यायसेवी, क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, राज, समाज व देश विरोधी मनुष्य को भूलकर भी दीक्षा न दे। शान्त, गम्भीर, सुशील अव्यसनी, सौम्याकृति, सरल चित्त, परम वैराग्यवान, कुलीन, मन्दकषायी, विवेकी, विनत इत्यादि गुणों से युक्त मनुष्य को बहुत काल पर्यन्त साथ मे रख कर भलीभांति परीक्षा करके पश्चात् दीक्षा देवे। इसी मे दीक्षा लेने वाले व देने वाले का और जगत् का हित है। अन्यथा सब का अकल्याण और धर्म का अपवाद होने की सभावना रहती है और उसका कारण दीक्षा देने वाला आचार्य बनता है। उसका शिष्यमोह या प्रमाद समाज व धर्म का नाशक सिद्ध होता है। अत दीक्षकाचार्य को इस विषय मे पूर्ण सावधान रहना चाहिए।

(७) दीक्षकाचार्य को यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि दीक्षा का अभिलाषी व्यक्ति, स्त्री पुत्र माता पिता आदि कुटुम्बियों से लडाई झगडा करके तथा जाति में किसी से वैर बाँधकर तो दीक्षा नहीं ले रहा है। क्योंकि वह गुरु बनकर अपने पूर्व वैर का बदला लेने मे जगत्पूज्य मुनि भेष का दुरुपयोग करता है। और इस उत्कृष्ट विश्वसनीय परमशान्त मुनि धर्म की निन्दा व हास्य करवाता है। इसलिए सब प्रकार प्रकृति आदि सब बातों की जाचकर दीक्षा देनी चाहिए।

(८) जिसके धर्मपत्नी अल्पवय (छोटी उम्र) की हो या घर में पाच बाल-बच्चे हों और उनके भरण-पोषण शिक्षणादि का प्रबन्ध न हो, या जिसके सर पर धनका ऋण हो, माता पिता वृद्ध हो, और उनकी सेवाशुश्रु षा करने वाला अन्य कोई न हो उसे दीक्षा नहीं देनी चाहिए। आचार्य का कर्तव्य होता है कि जिसको दीक्षा देना हो, उसके माता पिता, स्त्री पुत्रादि की आज्ञा मिलने पर उसे दीक्षा देवे। मुख्य सम्बन्धियों की आज्ञा मिले बिना कदापि दीक्षा न दे। यदि बिना उन की अनुमति के दीक्षा देगा तो बड़ा उपद्रव उपस्थित हो जावेगा और उनकी निराधार पत्नी असहाय माता पिता व अनाथ बाल बच्चों के हाय विलाप करने व उनके करुण रोदन से उसका व समाज के अन्य दयालु मनुष्यों का हृदय फटने लगेगा। सम्पूर्ण विवेकी मनुष्य विरोधी बन जावेंगे। तथा अन्य विधर्मी भी मुनिधर्म की घोर निन्दा करने लगेंगे। वास्तव मे ऐसा अविवेक पूर्ण कृत्य निन्दा के योग्य ही माना गया है। इसलिए दीक्षाकाचार्य के लिए धर्मज्ञान के साथ व्यवहार ज्ञान का होना भी आवश्यक बताया गया है।

मुनि धर्म तो सब का हित चाहने वाला है, उसमे निर्दयता और अपवाद का क्या काम है? लेकिन अज्ञानी जीवों के निमित्त मे अनुचित, धर्म-विरुद्ध कार्यों के कारण धर्म की भी निन्दा होती है और इस जिनेन्द्र के समान मुनि भेष की हँसी होने लगती है। साधु छह काय के जीवों के परम बन्धु और परमदया की मूर्ति होते हैं उनसे, जो अज्ञानवश अनुचित कार्य होने से सम्पूर्ण मुनियों को निर्दय आदि होने का कलङ्क लगता है वह अदूरदर्शी व अज्ञानी साध्वाभासों से ही लगता है।

सं प्र

किस प्रकार के पुरुष व स्त्री को दीक्षा देना चाहिए ?

(१०) जिसके चित्त में सासारिक सम्बन्धियों का मोह ममत्व निकल गया हो, जिसका मन विषयों से परम विरक्त हो गया हो, जिसको जैन सिद्धान्त का ज्ञान हो, अपने शरीर से वैराग्य और ससार से भय उत्पन्न हो गया हो, केवल आत्म-कल्याण की भावना ही जिसके हृदय में लहराती हो, जिसे खोटे कार्यों से घृणा और पाप मे भय होता हो, जिसकी प्रत्येक क्रिया मे दया भाव पाया जाता हो, जो शान्त स्वभाववाला और अपने कर्त्तव्य को समझनेवाला हो, वह दीक्षा के योग्य है। किन्तु यदि किसी के सफेद कोढ हो, मृगी रोग हो या वह काना हो, बहरा हो, नपुंसक हो, या किसी सक्रामक रोग से पीड़ित हो तो परिस्थिति के विचार से आचार्य दीक्षा न दे।

दोषरहित और गुणसहित दीक्षा के योग्य श्रेष्ठ जाति कुल के व्यक्ति को ही दीक्षा देनी चाहिए।

दीक्षा लेकर कैसी अवस्था धारण करे ?

शरीर के सम्पूर्ण संस्कारो का त्याग कर, बालक के समान निष्कषाय और निर्विकार नग्न-दिगम्बर वेष धारण कर, इन्द्रिय और मन को अपने वश मे रखे। वैराग्य भावना मे तत्पर हुआ अपने दाढ़ी और मूंछ के बालों का लोच करे। जीवरक्षा के निमित्त मयूर की पिच्छी अपने हाथ मे धारण करे। शौच के लिए काष्ठ का कमण्डलु तथा ज्ञानाभ्यास के लिए योग्य पुस्तक ग्रहण करे। इस प्रकार जीव-रक्षा, शरीर-शुद्धि व ज्ञानाभ्यासके उपकरण के अतिरिक्त सम्पूर्ण बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना द्वारा नवकोटि त्याग करे, तथा निरन्तर आत्म-भावना मे अनुरक्त हुआ द्वादशानुप्रेक्षा का मनन चिन्तन करता रहे। एवं मन वचन व काय से लिंग शुद्धि दिगम्बर भेष की (निर्मलता) के लिए सदा सावधान रहे।

भगवान कुंदकुंदाचार्य ने ऐसे परमवीतराग दिगम्बर मुनि भेष को अर्थात् लिंग शुद्धि को आयतन कहा है—

मण-वयण-कायदव्वा आयत्ता जस्स इंदिया विसया।
आयदणं जिणमग्गे णिद्दिट्ठं संजयं रूवं ॥ ५ ॥
मयरायदोसमोहो कोहो लोहो य जस्स आयत्ता।
पंचमहव्वयधारा आयदणं महरिसी भणियं ॥ ६ ॥ (बोधपाहुड)

मन वचन काय द्रव्य तथा इन्द्रियो के विषय स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द ये जिसके आधीन हैं वह संयम विशिष्ट मुनि का

रूप जिन मार्ग मे आयतन कहा गया है।

जिस मुनि के आठ प्रकार के मदो मे से एक भी मद नहीं है, जिसके राग परिणति का सर्वथा अभाव है, बाह्य पदार्थ में तथा शरीर में भी जिसके मोह का लेश नहीं है, जिसकी आत्मा मे क्रोध लोभ और मायाचार का अश ढूढने पर भी नहीं मिलता और जो परम अहिंसा, उत्कृष्ट सत्य, महान अचौर्य, पूर्ण ब्रह्मचर्य और समस्त परिग्रह का त्याग इन पञ्च महाव्रतो के धारण करनेवाला है वह आयतन है। अर्थात ‍दर्शन, स्पर्शन और पूजन के योग्य उसकी उक्त प्रकार की अवस्था को लिंगशुद्धि कहा गया है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने लिंग-शुद्धि को ही प्रतिमा रूप से वर्णन किया है।

सपरा जंगमदेहा दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं।
णिग्गंथवीयराया जिणमग्गे एरिसा पडिमा ॥ १० ॥ (बध पाहुड)

अर्थ—दर्शन और ज्ञान से जिनका चारित्र निर्मलता को प्राप्त होगया है ऐसे मुनि का, आत्मा से भिन्न जो निर्ग्रन्थ, वीतराग शरीर है वह प्रतिमा स्वरूप है। अर्थात् जिसके बाल के अग्र भाग बराबर भी परिग्रह नहीं है, तथा जो वीतराग स्वरूप है, पर पदार्थ मे न राग है, न द्वेष है और न मोह है-इस प्रकार शान्त-मुद्रा का धारक परम वीतराग स्वरूप निर्ग्रन्थ मुनि का दर्शन, ज्ञान, चारित्र सम्पन्न जो जङ्गम शरीर है वह जिन मत मे प्रतिमा मानी गई है। इस प्रकार की अवस्था का नाम लिंग-शुद्धि है।

लिंग-शुद्धि से लाभ

विस्सासकरं रूवं अणादरो विसयदेहसुक्खेसु।
सव्वत्थ अप्पवसदा परिसह अधिवासणा चेव ॥ ८४ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—दिगम्बर मुद्रा सम्पूर्ण जीवो के विश्वास का कारण होती है। जगत् के प्राणी विचारते हैं कि ये अपने पास वस्त्र का खड तक नहीं रखते हैं, तब अन्य वस्तु का ग्रहण कैसे कर सकते हैं ? इनसे किसी को भय नहीं होता, क्योकि भय उत्पन्न करने वाले शस्त्र अस्त्रादि इनके पास नहीं होते हैं। गुप्त (छिपे हुए) शस्त्रादि की भी सम्भावना या शङ्का नहीं हो सकती, क्योकि शस्त्रादि छिपाने के लिए इनके पास वस्त्रादि कुछ भी नहीं है। तथा इनकी शान्त मुद्रा देख कर शत्रु भी विश्वास करने लगता है। उनके निर्विकार और कुरूप सस्कार रहित मलीन शरीर को देखकर दर्शक को विरक्ति उत्पन्न होती है। मुनि को भी मलीन सस्कार रहित शरीर के धारण करने से नित्य प्रतिक्षण

वैराग्य भावना की जागृति होती है। विषयों से विरक्ति उत्पन्न होती है। सम्पूर्ण मनुष्य (स्त्री या पुरुष) का उनपर पूज्य भाव पैदा होता है। वे सोचते हैं कि इनको अपने शरीर पर अनुराग नहीं है, अत. दूसरी वस्तुओ पर कैसे अनुराग कर सकते हैं? इसलिए उनका हृदय उनके प्रति निर्विकार और पवित्र रहता है। जातरूप धारक सयमी का मन भी नग्न वेष के धारण करने से व स्नानादि द्वारा शरीर का सस्कार न करने से विषय सुखों से सदा विरक्त रहता है। वह सदा चिन्तन करते हैं कि "मैं किस पर अनुराग करू? क्या मास, रुधिर और मल मूत्र की गदी झोपड़ी रूप अत्यन्त घृणित स्त्री आदि का शरीर अनुराग करने योग्य है? विवेकी पुरुष इस मास रुधिरादि की थैली का छूना तो दूर रहा देखना व स्मरण करना भी नहीं चाहते है। मैंने तो शुद्ध बुद्ध अतिनिर्मल आनन्दमय चैतन्य स्वरूप की प्राप्ति के लिए इस सर्वोत्कृष्ट मुनि धर्म को धारण किया है।" इस प्रकार वे विवेकज्ञान से अपने स्वरूप का चिन्तन करते हैं। इसलिए उनके मनमे विषय सुख के प्रति कभी आदर भाव उत्पन्न नहीं होता है। प्रेताकार समान मलिन मुनि के शरीर को देखकर अविवेकी महिलाजन भी उनसे अनुराग नहीं करती हैं। इसलिए ससार के सब प्राणियों का आदर भाव निर्ग्रन्थ लिंग मे होता है।

वस्त्रादि का सर्वथा त्याग करने से मुनि किसी के परतन्त्र नहीं होते। वस्त्रादि रखने से उनकी प्राप्ति के लिए संयमी की गृहस्थ के अधीन वृत्ति होती है। तथा उसी की रक्षा का सदा भय लगा रहता है। चोरादि के द्वारा चुराये जाने का भय बना रहता है। उनके प्रक्षालनादि के लिए आरम्भादि द्वारा हिंसादि दोष उत्पन्न होते हैं। वस्त्रादि के नाश के भय से उनकी रक्षा के लिए सयम के घातक उद्गमादि दोष सहित स्थान मे शयनासन करना पड़ता है।

दिगम्बर मुद्रा धारण करने से दश मशक शीत घामादि की परीषहों को सहने का सुअवसर प्रतिक्षण मिलता है जो कि कर्मनिर्जरा का मुख्य साधन है। इससे आत्मबल प्रकट होता है और अनेक उपसर्गों के आने पर भी चित्त चञ्चल नहीं होता है। धैर्य और सहिष्णुता की वृद्धि होती है। और सब प्रकार के परिग्रह के बोझ से रहित हुआ मुनि आत्मध्यान मे स्थिरता प्राप्त करता है। परिग्रहधारक के चित्त में निष्कम्पता नही आती है। उसके चित्त मे चञ्चलता रहती है। कहा तक इसके गुण वर्णन किये जावें। यह दिगम्बर भेष जिनेन्द्र भगवान् का प्रतिरूप (प्रतिबिंब) है और मुमुक्षु जीवो के लिए मुक्ति का उपाय है। इससे रागादि दोषों का परिहार होता है। और आत्मानुभूति की जागृति होती है। और भी बहुत से गुण इस जिनसदृश लिंग (दिगम्बर भेष) के धारण करने पर स्वत उत्पन्न होने लगते हैं।

(२) व्रतशुद्धिः

ते सव्वगन्थमुक्का अममा अपरिग्गहा जहाजादा।
वोसट्टचत्तदेहा जिणवरधम्मं समं णेंति ॥ १५ ॥ (मूला० अन०)

अर्थ—जिस संयमी ने मिथ्यात्व, वेद, कषाय (क्रोध,मान,माया, लोभ), राग, द्वेष, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन चौदह प्रकार के आभ्यन्तर तथा क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य, भाण्ड इन दश प्रकार के बाह्य परिग्रहों का नवकोटि से जन्म भर के लिए त्याग किया है वही नग्नमुद्रा का धारक मुनि अपने शरीर से भी ममत्व रहित, बालक समान निर्विकार होता हुआ तैलादि, मर्दन, उद्वर्त्तन (उबटना) स्नानादि में शरीर के संस्कार का त्यागी होता है और जिनेन्द्र प्रणीत धर्म को पर भव मे भी अपने साथ ले जाता है।

भावार्थ—दिगम्बर मुद्रा धारण करने वाला मुनि चौदह प्रकार के आभ्यन्तर और दश प्रकार के बाह्य परिग्रह का त्याग कर शरीर से भी ममत्व नहीं करता है। शरीर के संस्कार का त्यागी होता है। सम्पूर्ण आरंभ (प्राणी हिंसा के कार्य) से अलग रहता है। हिंसादि सब पापों का त्याग करता है। बाल के अग्रभाग प्रमाण भी परिग्रह को नहीं रखता है। जिस स्थान पर सूर्य अस्त हो जाता है, वहीं निवास करता है। किसी के अधीन नहीं रहता। सब प्रकार स्वतन्त्र होता है, विद्युत् के समान जिसका स्थान नियत नहीं होता है, अर्थात निश्चित रूप से एक स्थान मे निवास नहीं करता है।

(३) वसतिका शुद्धि

गामेयरादिवासी णयरे पचाहवासिणो धीरा।
सवणा फासुविहारी विवित्तएगंतवासी य ॥ १९ ॥ (मू० आ० आ०)

अर्थ—जिस बस्ती के चारों ओर कांटे आदि बाड़ हो, उसे गाँव कहते हैं उसमे मुनि एक रात्रि वास करते हैं। जिसमे प्रवेश चार बड़े दर्वाजे हो उसे नगर कहते हैं, उसमे पाच दिन तक निवास करते हैं। इससे अधिक नहीं ठहर सकते, क्योंकि पाच दिनों में तीर्थ यात्रादि सब काय सिद्ध हो जाते हैं। इससे अधिक निवास करने से उस स्थान से ममत्व उत्पन्न होता है। स्त्री, नपुंसक, पशु आदि से रहित एकान्त स्थान में निवास करने वाले, निर्दोष आचरण के पालक मुनियों का ग्राम में एक रात और नगर मे पाच दिन ठहरने का विधान है।

एकान्त स्थान का अन्वेषण करनेवाले गन्धहस्ती के समान मुनि विविक्त स्थान में ही सुख का अनुभव करते हैं। पर्वत की कन्दरा, गुफा, वृक्ष-कोटर, शून्य-गृहादि मे रहते हुए भी धैर्य से विचलित नहीं होते हैं। जिनाज्ञा में रमण करते हुए परम आनन्द चित्त होकर आत्मा को ध्यान मे संलग्न करते हैं।

जिस समय गाँव या नगर मे वास करते हैं, उस समय, वहा पर भी एकान्त मठ शून्य गृहादि निर्दोष स्थान मे वास करते हैं। उस स्थान से ममत्व सम्बन्ध नहीं जोडते। वहां पर कमल पत्र की तरह निर्लेप रहते हैं।

मुनीश्वर पर्वत के शिखर, कंदरा तथा गुफा आदि कायर पुरुषों को भय उत्पन्न करने वाले स्थानों में निवास करते हैं। जहां पर सिंह व्याघ्र आदि हिंसक जन्तुओं का प्रचार रहता है, उन विकट स्थानो मे रहकर वे ध्यान करने के लिए उत्सुक रहते हैं।

सिंह समान निर्भीक मुनि उन भयावह घने जंगल में जाकर ध्यान धरते हैं, जहां पर सिंह व्याघ्र शूकर रीछ आदि के शब्द गूंज रहे हो। उनकी त्रास जनक ध्वनि मुनीश्वरों के चित्त को लेशमात्र भी चंचल नहीं करती है। वे धीर वीर मुनि ऐसे भयानक स्थानों में उत्तम ध्यान सिद्धि प्राप्त करते हैं।

ऐसे भयानक वन मे मुनि किस विधि से रहते है ? उसे दिखाते हैं—

सज्झायझाणजुत्ता रत्तिं ण सुवंति ते पयामं तु।
सुत्तत्थं चिंतंता णिद्दाए वसं ण गच्छंति ॥ २८ ॥ (मूला. अ.)

अर्थ—भयंकर वनादि तथा एकान्त शून्य गृहादि मे निवास करनेवाले मुनि स्वाध्याय और ध्यान मे दत्तचित्त हुए रात्रि में नहीं सोते। श्रुत भावना मे और एकाग्रचित्त होकर ध्यान मे मग्न रहते है। रात्रि का प्रथम और अन्तिम प्रहर उक्त-प्रकार बिताते हैं। वे सूत्र तथा अर्थ और उभय (सूत्र व अर्थ) का चिन्तन करते रहते हैं, इसलिए वे निद्रा के वश नहीं होते हैं।

भावार्थ—निर्ग्रन्थ मुनि ध्यान स्वाध्यायादि के कारण जब शरीर मे थकान मालूम होती है, तब श्रम का परिहार करने के लिए रात्रि का पहला और पिछला पहर छोड़कर शयन करते हैं। हाथ का तकिया लगाकर एक करवट सोते हैं। बार बार करवट बदलते नहीं हैं। गोदूहन आसन वीरासन, मृतकासन, पद्मासन, पर्यंकासन इत्यादि आसनों मे जो ध्यान मे स्थिरता करनेवाला प्रतीत हो उस आसन से एकाग्रचित्त होकर आत्मा के स्वरूप का चिन्तन करते है। श्रुतज्ञान के पद पदार्थ का मनन-चिन्तन करते हैं। आत्मा धर्म्यध्यान या शुक्लध्यान मे रमण करता रहे ऐसे उपायों का अवलम्बन करते हैं। अनेक प्रकार के परीषह और उपसर्गों के आने पर उनके प्रतीकार की इच्छा तक नहीं करते। अपने शरीर से ममत्व का त्याग करने के कारण परीषह व उपसर्ग उनकी आत्मा में किसी प्रकार विकार उत्पन्न नहीं करते। जैसे किसी दूसरे के सूने घर मे अग्नि काण्ड आदि उपद्रव के उपस्थित होने पर मनुष्य के मन मे दुःख व शोक नहीं होता है उसी प्रकार भेद विज्ञान द्वारा शरीर को शून्य घर समझनेवाले मुनि के दुःख का आविर्भाव नहीं होता है। उस प्रकार की भावना जिनके अन्तःकरण मे निरन्तर निवास करती है वेही धीर वीर पापभीरु मुनीश्वर कर्मों का क्षय करने में समर्थ होते हैं।

(४) विहार शुद्धि

मुत्ता णिरावयेक्खा सच्छंदविहारिणो जहावादो।
हिंडदि णिरुव्विग्गा णयरायरमंडिय वसुहं ॥ ३१ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ—समस्त प्रकार के परिग्रह से सर्वथा निर्लेप, तथा किसी पदार्थ की आकांक्षा नहीं करने वाले मुनि, वायु के समान स्वच्छंद विहारी ग्राम नगर पत्तनादि से मण्डित वसु धरा (पृथ्वी) पर नित्यप्रति भ्रमण करते हैं। किन्तु किंचिन्मात्र भी उद्विग्न नहीं होते।

भावार्थ—नित्य विहार करनेवाले मुनि शुद्ध माने गये हैं। जो मुनि आगमोक्त विहार करने मे प्रमाद करते हैं, अथवा जिन शासन की अवहेलना करके विना विशेष कारण के महीनों तक एक स्थान मे निवास करते हैं वे मुनि सदोष हैं। मुनि की उत्तमता व निर्मलता तो वायु के समान निरन्तर स्वच्छंद विहार करने मे ही होती है। मुनि पैदल विहार करते हैं। किसी प्रकार की सवारी नहीं करते। क्योंकि चेतन बैल अश्वादि वाहन पर चढकर विहार करने से उन्हें पीडा पहुचती है और मार्गस्थित छोटे जन्तुओं की रक्षा नहीं हो सकती है। अचेतन मोटर वायुयान आदि की सवारी से भी जलकाय, पृथ्वीकाय, अग्निकायादि जन्तुओं की तथा मार्गस्थित त्रस जीवो की भारी हिंसा होती है। तथा वाहन पर सवारी करने से परतन्त्रता तथा दीनता आती है। समस्त परिग्रह के त्यागी मुनि के निकट रुपया पैसा नहीं होता और वे किसी से याचना नहीं करते। अतएव मुनि के सब प्रकार के वाहन का त्याग होता है। वे पदल विहार करते हैं। मुनीश्वर सब जीवों के निष्कारण बन्धु होते हैं। करुणा से उनका हृदय आर्द्र रहता है। वे भूमि पर के जीवों को बचाते हुए इस प्रकार चलते हैं कि मानो खोये हुए रत्न का ही अन्वेषण कर रहे हों। तथा माता जैसे पुत्र पर स्नेह करती और उसकी सर्व प्रकार रक्षा करती है उसी प्रकार मुनि सब जीवों के रक्षक होते हैं। वे जीवादि छह द्रव्य और नवतत्त्व के पूर्ण ज्ञाता होते हैं। उनके स्वरूप को ज्ञान रूपी उज्ज्वल प्रकाश में भले प्रकार जानते हैं, इसलिए पापजनक क्रियाओं का परिहार कर प्रवृत्ति करते हैं।

निर्ग्रन्थ साधु पाप भीरु होते हैं। अत. उनके यावज्जीव मन वचन काय व कृत कारित अनुमोदना द्वारा सम्पूर्ण पाप जनक कर्मों का त्याग होता है। वे प्रयोजन वश भी तृण का छेदन नहीं करते, वृक्ष का पत्ता नहीं तोड़ते। किसी हरितकाय-वनस्पति का छेदन नहीं करते। वृक्ष की त्वचा, शाखा, कोपल, कन्दमूलादि छेदन, भेदन, मोटन (मरोड़ना) आदि नहीं करते। छेदन तो दूर रहा, उनका स्पर्श तक नहीं करते। प्रमाद से अथवा भूल से किसी सचित्त वनस्पति का स्पर्श हो जाने पर प्रायश्चित लेकर उस दोष को दूर करते हैं। वे दूसरे से पत्र फलादि का आरम्भ नहीं करवाते और न उसको अनुमति देते हैं। जो साधु सचित्त वनस्पति के आरम्भ व भक्षणादि की प्रेरणा करता है उसको अहिंसा महाव्रत से च्युत समझना चाहिए।

दयापरायण परम अहिंसक निर्ग्रन्थ मुनि सचित्त मिट्टी आदि पृथ्वी आदि खोदना, पोटना, चूर्ण करना, कूटना आदि न तो स्वय करते और न दूसरे से करवाते हैं। जल का सिंचनादि कदापि नहीं करते। पंखा आदि हिलाकर वायुकाय के जीवो की विराधना कभी नहीं करते। अग्नि को न जलाते और न बुझाते और न अन्य किसी प्रकार उक्त जीवो को पीड़ा पहुंचाते हैं और न दूसरों के द्वारा उक्त जीवो को कष्ट दिलाते हैं। यदि अन्य पुरुष किसी प्रकार का सावद्य कार्य करता है तो उसकी अनुमोदना नहीं करते। बल्कि प्रिय मधुर वचन द्वारा उपदेश देकर पाप कार्य से होनेवाली हानि समझाकर सावद्य कार्यों से उसको बचाते हैं।

साधु सदा निर्भय निहत्थे सिंह समान विचरते है। समस्त प्राणियो पर साम्य भाव रखते हैं, इसलिए किसी प्रकार के शस्त्र अस्त्र धारण नहीं करते। हाथ मे डंडा तक नहीं रखते। उनका कोई शत्रु नहीं है। सब जीवों को मित्रवत् समझते हैं। सम्पूर्ण जीवों को आत्मवत् चिन्तन करते हैं। मेरे द्वारा किसी तरह किसी जीव को पीड़ा न हो जावे। यदि मेरे निमित्त से इन जीवों को दुःख पहुंचा तो वह दु ख मेरी आत्मा को बेचैन करदेगा उनका ऐसा स्वच्छ व दृढ़ सकल्प सम्पूर्ण जीवों की पीडा के परिहार में प्रवृत्ति करता है।

आत्म-साधना मे तत्पर रहने वाले निर्ग्रन्थों का अतिशान्त गम्भीर चित्त क्षुधा तृषा शीत उष्ण इत्यादि परीषहों के तथा देव-तिर्यंचादि कृत उपसर्गों के प्राप्त होने पर दीनता नहीं दिखाता, किन्तु रणागण मे उत्साहित शूरवीर पुरुष की तरह धैर्य धारण कर वैराग्य भावना रूपी शस्त्र का प्रयोग कर उन पर विजय प्राप्त करता है। साधु शत्रु मित्र पर माध्यस्थ भावना धारण कर रागद्वेष को परास्त करते हैं। कूर्म (कछुए) की तरह अपनी सब इन्द्रियों को सुकोड कर प्रिय व अप्रिय विषयों मे आदर व अनादर बुद्धि नहीं करते हैं। संसार के किसी पदार्थ की आकांक्षा न होने से उनके मन की चपलता दूर होकर स्थिरता उत्पन्न हो जाती है। उनके निर्मल अन्त करण में माया प्रपन्च का लेशमात्र सद्भाव न होने के कारण वे सब जीवों के विश्राम पात्र होते हैं।

जिनेन्द्र शासन रूपी मार्ग पर सदा दृष्टि रखते हैं। उसके उल्लघन मे आत्मा की महती हानि को समझते हैं। जन्म मरण के तथा सांसारिक इष्ट-वियोगादि जन्य दु खों मे भयभीत हुए गर्भावास के असह्य कष्टो मे घबराते हैं।

हे आत्मन्! घोर नरक के कुंभीपाक के समान दु खदेने वाले माता के उदर में बहुत काल तक मल, मूत्र, रुधिरादि से लिपटे हुए रहकर भयानक सताप भोगना पड़ता है। इसलिए उस गर्भ वसती मे अतित्रस्त होकर मुनि छुटकारा चाहते हैं।

ज्ञान-दीपक से जगत् के समस्त पदार्थों की असली हालत को देखकर कामभोग से विरक्त होते हैं और ज्ञान-चक्षु से अगर्भ-वास के स्थान को ढूढते हैं और वहा पर पहुचने के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का आश्रय लेकर वैराग्य भावना में लीन होते हैं। शरीर से निरपेक्ष हुए धैर्य रूप लगाम हाथ मे लेकर आत्मा का दमन कर ससार के मूल (मोह राग द्वेष) का छेदन करते हैं।

(५) भिक्षा शुद्धि

छट्ठट्ठमभत्ते हिं पारेंति य परघरम्मि भिक्खाए।
जमणट्ठं भुंजंति य ण विय पयामं रसट्ठाए॥ ४४ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ—मुनीश्वर अपने संयम की साधनाके लिए वेला,तेला,चोला,पंचोला आदिके पारणे निमित्त परघर भिक्षा से भोजन करते हैं। जो भोजन कृत कारित और अनुमोदना से रहित हो तथा उद्दिष्टादि दोषों से वर्जित हो उसे ही ग्रहण करते हैं। जिन्हारस की लोलुपता से अधिक भोजन नहीं करते हैं।

भावार्थ—साधु जन आहार को उपादेय नहीं समझते। जहाँ तक हो सके उसका त्याग करते हैं। अपनी शक्ति को न छिपाकर वेला तेलाआदि उपवास धारण कर निरन्तर आत्म-ध्यान, स्वाध्याय में लगे रहते हैं। जब देखते हैं कि आहार के बिना स्वाध्यायादि कार्यों मे बाधा उपस्थित होती है तब भिक्षा के लिए बस्ती मे निकलते हैं। क्षुधा व तृषा से अतिपीडित होने पर भी मुखादि द्वारा दीनता प्रकट नहीं करते। नवधा भक्ति के साथ दिया हुआ कृत कारित अनुमोदना से रहित नवकोटि विशुद्ध, उद्दिष्टादि दोषवर्जित तथा चौदह मल (नख रोमादि) रहित प्रासुक शुद्ध आहार पर-घर मे लेते हैं। जिस घर पर ममत्व हो उसमें आहार ग्रहण नहीं करते हैं। रस की लालसा रहित उतना आहार करते हैं जिससे स्वाध्यायनादि आत्मीय कार्य की सिद्धि हो सके। आधा उदर अन्न से और चौथाई जल से भरते हैं। चौथाई खाली रखते हैं। स्वादिष्ट भोजन की लोलुपता वश रस हीन भोजन का त्याग नहीं करते हैं। गृहस्थ जैसा भी शुद्ध और ग्राह्य भोजन देता है उसे मौन पूर्वक ग्रहण करते हैं और वह भी पाणि–पात्र मे है।

उद्दिष्टादि छियालीस दोष और बत्तीस अन्तराय रहित साधु का भोजन होता है। उसका विवेचन पिण्ड शुद्धि अधिकार में किया गया है। वहाँ से जान लेना चाहिए।

मुनि भिक्षा के लिए किस प्रकार भ्रमण करते हैं इसका खुलासा निम्न प्रकार है।

अण्णादमणुण्णादं भिक्खं णिच्चुच्चमज्झिमकुलेसु।
घरपंतिहिं हिंडंति य मोणेण मुणी समादिंति॥ ४७ ॥ (मूला० आ० अ०)

अर्थ—आज मुनीश्वर भिक्षा के लिए यहा पर आवेंगे इस प्रकार गृहस्थों को ज्ञात नहीं हो उसे अज्ञात कहते हैं। अनभिप्रेत

अर्थात् मुनि अमुक अभिग्रहादि धारण करेंगे व अमुक घर जावेंगे इत्यादि अभिप्राय का ज्ञान न हो उसे अनभिप्रेत कहते हैं। ऐसे अज्ञात और अनभिप्रेत घर मे चाहे वह धनिक का घर हो, या मध्यम स्थिति वाले का घर हो चाहे गरीब का घर हो, एक पंक्ति में आये हुए घरों को नहीं टालकर मौन पूर्वक भिक्षा ग्रहण करते हैं।

भावार्थ—मुनियों को चाहिए कि वे जो अभिग्रहादि करें उसका स्पष्ट ज्ञान गृहस्थों को न हो सके। तथा जिस घर मे मुनि आहार को जावें उसमें पहले अपने संघ का ब्रह्मचारी आदि जाकर सब अनुकूल व्यवस्था न करे। जहा पर संघ का कोई व्यक्ति गृहस्थ के घर जाकर पहले भोजनादि का प्रबन्ध करले और उसी घर में साधु का आहार हो तो इसमें उद्दिष्ट दोष ही नहीं अध कर्म दोष उत्पन्न होता है, जो मुनि के मुनित्व का नाशक माना गया है। तथा साधु चर्या के लिए निकले तब पंक्तिबद्ध घरों में जहा पर भी विधि मिल जावे वहां पर आहार के सम्पूर्ण दोषो को टालकर आहार ग्रहण करले। ऐसा न करे कि विधि मिलने पर किसी घर को बीच में छोड़ कर अपनी इच्छानुसार कहीं पर भोजन ग्रहण करे। इससे ममत्व और आहार की लालसा या अन्य किसी प्रकार का मोह प्रकट होता है। इसलिए गरीब, धनवान, साधारण नर के भेद भाव को ध्यान में न रखकर प्रासुक शुद्ध विधि सहित जहा पर भी योग्य सरस या नीरस आहार मिले उसको स्वीकार करले। भोजन ठंडा हो या गर्म हो, स्निग्ध हो या रूक्ष हो, लौना हो अलौना हो, स्वादु हो या बेस्वाद हो अपने मनके अनुकूल हो या प्रतिकूल हो, इन बातो का खयाल न कर प्रासुक शुद्ध आहार जहा पर मिल जावे वहा ही ग्रहण करले।

आजकल अत्यन्त शीत (ठंड) है यदि गर्म भोजनादि मिले तो अच्छा हो, आजकल गर्मी के दिन हैं इस समय शरीर में शीतलता करनेवाला पदार्थ मिले तो अच्छा हो, आज उपवास का पारणा है स्निग्ध सरस भोजन मिले तो शरीर क लिए हितकर होगा-इत्यादि बातो का कभी चिन्तन न करे। जैसा भी प्रासुक शुद्ध आहार मिले साधु को शान्ति पूर्वक इस प्रकार ग्रहण करलेना चाहिए–जैसा कि कोई व्यापारी अपनी मालसे भरी गाडी को इष्टस्थान पर ले जाने के लिए पहियो के मध्यभाग में तैल या घी का ओंगन देता है। यदि ओंगन न दिया जावे तो धुरे से अग्नि उत्पन्न हो जाती है और वह धुरा नष्ट भ्रष्ट होजाता हैं, गाड़ी इष्टस्थान पर पहुचने में असमर्थ हो जाती है। उसे अभीष्ट स्थान पर पहुंचने के लिए घृत या तैल का ओंगन आवश्यक होता है। उसी प्रकार साधु का शरीर रत्न-त्रयादि अमूल्य रत्नों से भरी हुई गाडी है। यदि इसका उचित समय में प्रासुक शुद्ध आहार रूपी ओंगन न दिया जावे तो वह अपने अभीष्ट स्थान (मोक्ष) में पहुचने के पहले मार्ग में ही नष्ट हो जावेगी तथा उसका संयम तपश्चरण ध्यानादि के विषय मे किया गया समस्त श्रम व्यर्थ हो जावेगा। साधु शरीर को मोक्ष मार्ग पर चलाने के लिए आहार रूपी ओंगन देना आवश्यक समझते हैं। राग बुद्धि से शरीर को पुष्ट करने के लिए साधु आहार नहीं करते हैं।

मुनि उक्त दृष्टि से गृहस्थ के घर चर्या के लिए जाते हैं। यदि दैवयोग से विधि न मिलने पर या अन्तराय आदि के हो जाने पर आहार न मिले तो उदास नहीं होते, चित्त मे विषाद नहीं करते। उसको कर्म की निर्जरा का कारण समझकर शान्ति से स्वाध्यायादि आत्म-हितकर कार्यों मे लग जाते हैं।

वे विचारते हैं कि आहार प्राण-धारण के लिए किया जाता है और प्राणो का धारण धर्म के आराधन के लिए है। अतः जितने काल शरीर प्राण मे है उतने समय तक उसे धर्म के आराधन मे ही लगाना चाहिए। ऐसे विचारों से वे धर्म कृत्यो मे एक समय भी प्रमाद नहीं करते है।

भोजन की प्राप्ति के लिए वे किसी की प्रशंसा स्तुति नहीं करते हैं। न किसी वस्तु की याचना करते हैं। क्योकि याचना करने वाले के दीनवृत्ति होती है। जिसके हृदय मे दीनता होती है वह गृहस्थो का दास बन जाता है तो उसका श्रोताओ के चित्तपर कुछ भी असर नहीं पडता है। द्रव्यादि की याचना करनेवाला साधु नहीं होता वह साधु भेष को लजाने वाला है। इसलिए साधु किसी वस्तु की याचना करना तो दूर रहा, उसकी इच्छा तक नहीं करते। क्योंकि उसको भी वे सयम का नाशक समझते हैं। आहार के लिए भी जब मौन धारण करके बस्ती मे जाते हैं तब आहार कर चुकने तक किसी प्रकार का सकेत तक नहीं करते। तब अन्य वस्तु को मुख से कैसे माग सकते है। देहि (दो) यह शब्द दीनता और करुणा का प्रकट करने वाला है। इसे कदापि अपने मुख से नहीं निकालते। पाच सात दिन आहार न मिलने से भूख के मारे मुनि का शरीर शिथिल व अशक्त हो गया हो, आखो के सामने अधेरा आने लगा हो, मस्तक शून्य हो गया हो, चक्कर आने लगे हो, हाथ पॉव हिलाने का सामर्थ्य भी नहीं रहा हो तथापि धीर वीर मुनि एक ग्रास तक नहीं मागते हैं। ऐसे स्वाभिमानी (मुनि धर्म का मान रखने वाले) मुनीश्वर अपने मुख मे क्या कोई अन्य वस्तु माग सकते है ?

मुनि भोजन न मिलने पर अपने हाथ से भोजन नहीं बनाते, न उपदेश देकर दूसरे से बनवाते हैं। न अपने लिए भोजन वाले की अनुमोदना करते हैं। क्योकि उन्होने भोजन बनाने का नवकोटि से त्याग किया है। भिक्षा के समय जो अन्न मिल जाता है उसीमे सतुष्ट रहते हैं। भिक्षा में भात रोटी आदि अशन मिले, अथवा दुग्धजलादि पेय पदार्थ मिलें, या लड्डू आदि पकवान मिले, अथवा राबडी आदि मिले या जलमात्र मिले, जो शुद्ध व प्रासुक हो, पाणिपात्र मे उसका प्रतिलेखन कर-देखशोधकर भक्षण करते हैं। जो भोजन विवर्ण (भद्दा) न हो, प्रासुक (सम्मूर्छनादि जन्तुरहित), मनोहर तथा एषणा के दोष से रहित हो, ऐसा भोजन भिक्षा मे मिले तो ग्रहण करते है। किन्तु बासा (दो तीन दिन का बना) भोजन नहीं करते। विवर्ण (भद्दा) तथा चींटी आदि जिसमे चल रही हो उसे अप्रासुक समझ कर उस भिक्षा-भोजन का त्याग करते हैं।

जिस भोजन के पदार्थ मे काली पीली नीली लाल श्वेत पाच रग की फूलन में से कोई फूलन आगई हो, जो चलित रस हो,

जिसमे दुर्गंध आती हो, साधु उसको अप्रासुक समझ कर त्याग करते हैं। क्योंकि फूलन में साधारण वनस्पतिकाय के अनन्त निगोदिया जीव होते हैं। इसलिए साधु ऐसे पदार्थ का भोजन करते हैं जो सर्वथा प्रासुक हो, शुद्ध हो और मनोज्ञ हो। जो आहार देखने मे भी भद्दा मालूम होता हो उसका भी ग्रहण नहीं करते हैं।

फलादि जब तक अग्नि से पकाये नहीं गये हो साधु उन्हें नहीं लेते है। क्योंकि बिना अग्नि के पकाये फलादि के टुकड़े प्रासुक नहीं होते हैं।

जिसमे बीज न हो ऐसा फलों का गूदा या रस पासुक किया हुआ ग्रहण करते हैं। जिसमे बीज हों ऐसा फल का गूदा रस आदि कभी नहीं लेते। तथा बिना बीजवाला रस वगैरह भी यदि प्रासुक न किया गया हो तो उसका ग्रहण नहीं करते हैं।

शुद्ध पासुक भिक्षा-भोजन करने पर भी प्रमादादिकृत दोषों का निवारण करने के लिए मुनि प्रतिक्रमणादि करते हैं। दिन मे भोजन की दो वेला होती है, किन्तु मुनि एक दिन मे एक बार ही भोजन करते हैं।

५ ज्ञान शुद्धि

ते लद्धणाणचक्खू णाणुज्जोएण दिट्ठपरमट्ठा।
णिस्संकिद णिव्विदिंगिछादबलपरक्कमा साधू ॥ ६२ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ—जिन महात्माओं ने ज्ञान-चक्षु प्राप्त कर लिया है, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यज्ञान के उज्ज्वल प्रकाश से म्पूर्ण लोक के सार पदार्थों को जान लिया है उनको आगम निरूपित पदार्थों मे शका नहीं होती है तथा संसार की किसी वीभत्स घृणास्पद) वस्तु पर जिन्हे घृणा नहीं है तथा कठिन से कठिन तपस्या करने पर भी आत्मग्लानि उत्पन्न नहीं होती है, आत्मबल अनुकूल पराक्रम द्वारा निरन्तर उत्साह सहित कार्य मे लगे रहते हैं।

जिस साधु को स्वसिद्धान्त का तथा परमत के सिद्धान्तों का रहस्य ज्ञान होता है वह साधु अपने आचरण से नहीं गिरता। ज्ञान रूप उज्ज्वल दीपक उसके आगे प्रकाश करता चलता है। वह ससार के सब पदार्थों का असली स्वरूप उघाडकर उसके सामने व देता है। यह पदार्थ तेरे लिए अमृत के समान ग्राह्य है और यह पदार्थ तेरे लिए विष के समान अहितकर होने के कारण त्याज्य है। अनुकूल क्रिया तेरे आत्मा को पवित्र और बलवान बनाने वाली है और यह विपरीत क्रिया तेरी आत्मा को मलीन व निर्बल बनाने ती है, इत्यादि बातों को सूचित कर श्रेयोमार्ग को प्रकाशित करने वाला एक सम्यग्ज्ञान ही है। यदि विपरीत कारणों के संयोग से

चारित्र के आराधन में साधु उत्साह हीन होने लगता है, कठिन परीषहों के प्राप्त होने पर चारित्र मे उदासीनता होने लगती है, तब यह ज्ञान उसका हाथ पकड़कर गिरने से बचाता है और उदासीनता दूर कर उत्साह को बढ़ाता है। उन्मार्गगामी मन को थाम कर मार्ग में लाता है। साधु को यथासमय भले बुरे की सूचना देनेवाला एक ज्ञान ही है।

ज्ञान बल से साधु तपस्यादि कार्यों में निरन्तर दृढ़-चित्त रहता है उसका धैर्य बढ़ानेवाला ज्ञान ही है। आत्मा मे गम्भीरता तथा अन्य गुणों की प्राप्ति ज्ञान से ही होती है। ज्ञान रूपी लगाम से ही इन्द्रिय रूपी बलवान घोड़े वश में रहते हैं। मन-मातङ्ग को आत्मा के वश में रखने के लिए ज्ञान अंकुश के समान है।

तपस्या से जिन साधुओं के कपोल सूखकर पिचकगये हैं, भृकुटि (भौंहें) ऊपर उठ आई हैं, आखें अन्दर घुस गई हैं, शरीर अस्थि पंजर मात्र हो गया है, वे साधु भी ज्ञान के बल से निरन्तर तपश्चरण मे उत्साहित रहते हैं और उनका वास्तविक स्वरूप जानते हैं। यही कहा है।

सुदरयणपुण्णकण्णा हेउणयविसारदा विउलबुद्धी।
णिउणत्थसत्थकुसला परमपयवियाणया समणा ॥ ६७ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ—जिन मुनि पुंगवों के कर्ण श्रुतज्ञान रूपी रत्न से भूषित हैं, जो हेतुवाद में पारङ्गत हैं, जिनकी बुद्धि विशाल है, जो व्याकरणशास्त्र, तर्कशास्त्र, साहित्य, छन्द, अलंकार आदि शास्त्रों में निपुण हैं, वे महामति साधु परमपद (मोक्षमार्ग) के वास्तविक ज्ञाता होते हैं।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन पूर्वक ज्ञान व चारित्र मोक्ष का मार्ग माना गया है। नय व प्रमाण से जीवादि पदार्थों के स्वरूप को जानकर उनपर श्रद्धान करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं। उस सम्यग्दर्शन सहित जितना भी ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान तथा जितना भी चारित्र है वह सम्यक् चारित्र होता है। सम्यग्दशन की उपलब्धि के लिए पदार्थों का यथार्थ ज्ञान आवश्यक है और पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्रमाण और नय के द्वारा होता है इसलिए सबसे प्रथम प्रमाण व नयों के स्वरूप का ज्ञान होना चाहिए। नय और प्रमाण के ज्ञान बिना वस्तु का यथार्थ ज्ञान होना असंभव है।

श्रुतज्ञान से निरूपित अर्थ के एक देश (अंश-धर्म) का निश्चय करनेवाले ज्ञान को नय कहते हैं। नैगम, संग्रह आदि उसके सात भेद हैं। उनका स्वरूप ज्ञानाचार में दिखा आये हैं। अथवा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से नय के दो भेद हैं। नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार नय द्रव्यार्थिक हैं, क्योंकि ये द्रव्य का ग्रहण करते हैं। और शेष तीन (शब्द, समभिरूढ और एवंभूत)

पर्यायार्थिक हैं। ये पर्याय का ग्रहण करते हैं। अथवा व्यवहार और निश्चय इस प्रकार नय के दो भेद हैं। वस्तु की शुद्ध अवस्था के ग्रहण करनेवाले नय को निश्चय नय कहते हैं। तथा अन्य वस्तु के सयोग से उत्पन्न हुई वस्तु की जो वर्तमान अवस्था है उसके ग्रहण करनेवाले नय को व्यवहार नय कहते हैं। अनन्त धर्मात्मक वस्तु को समस्त स्वरूप के ग्रहण करनेवाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। उसके प्रत्यक्ष व परोक्ष ये दो भेद हैं। इसका विशद विवेचन ज्ञानाचार मे किया गया है वहा जान लेना चाहिए।

जिसको आगम का ज्ञान है उस मुनि का चारित्र उज्ज्वल होता है। तथा वही अपना तथा दूसरे का कल्याण करने में समथ हो सकता है। श्रुतज्ञान विना मनुष्य अन्धे के समान होता है। जैसे अन्धा मार्ग-स्थित कण्टक, पत्थर, खड्डे आदि अनिष्ट वस्तु से बचकर ठीक मार्ग पर चलने म असमर्थ होता है वैसे ही ज्ञान हीन मनुष्य आत्मा के अहितकर मार्ग (चारित्र) से बचकर उत्तम निर्दोष मोक्षमार्ग पर चलने मे असमथ होता है। इसलिए आचार्य महाराज ने साधु के श्रुतज्ञान (आगमज्ञान) की आवश्यकता दिखाई है।

मुनि को व्यवहार ज्ञान भी होना चाहिए। जो द्रव्य क्षेत्र काल व भाव के अनुसार उपदेश नहीं देता है, उसके उपदेश से जनता को कुछ भी लाभ नहीं होता है, प्रत्युत कभी कभी उससे भयंकर हानि हो जाती है। द्रव्यक्षेत्रकालादि का विचार न करनेवाला मुनि अपने चारित्र को भी निर्मल नहीं रख सकता, इसलिए साधु को मतिमान होना चाहिए।

जो साधु व्याकरण, न्याय, छन्द, साहित्यादि शास्त्रों का वेत्ता होता है उसके द्वारा मुनिपद सूर्य के समान देदीप्यमान हो जाता है। वह विद्वानों के हृदय में स्थान पाता है। उसीसे जैन धर्म का उद्योत (प्रकाश) होता है। सच्ची धम की प्रभावना विद्वान् मुनि ही कर सकता है। उसकी ज्ञानमय आत्मा के मुख से निकले ओजस्वी वचनों से विरोधी विद्वान् भी नत मस्तक हो जाते हैं। शास्त्र निपुण विद्वान् आचार्यों ने ही सम्पूर्ण जीवों को सन्मार्ग दिखानेवाले शास्त्रो की रचना की है। उन शास्त्रों के आधार पर ही इस समय जैन धर्म टिका हुआ है और भव्य जीवों को मोक्ष मार्ग प्राप्त हो रहा है। इसलिए यह स्पष्ट है कि मोक्ष मार्ग के ज्ञाता व प्रणेता (उपदेशक) विद्वान् मुनिराज ही हो सकते हैं।

अनेक शास्त्रों के पारगामी विद्वान् साधु कैसे होते हैं, इसके लिए कहते हैं—

अवगद माणत्थंभा अणुस्सिदा अगव्विदा अचडा य।
दंता मद्दवजुत्ता समयविदण्हू विणीदा य ॥ ६८ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ— शास्त्र पारंगत मुनियों के लेश मात्र भी ज्ञान का गर्व नहीं है, ज्ञान के गर्व से उच्छृंखल (उद्दंड) होकर आगम विरुद्ध एक शब्द

भी उच्चारण नहीं करते है, उत्तम जाति, उच्च कुलादि का अभिमान उनके हृदय को स्पर्श तक नहीं करता है, क्रोध के कारण उपस्थित
होने पर भी उनके अन्त करण मे क्रोध का आविर्भाव नहीं होता है, इन्द्रियों का दमन उनने कर लिया है, वे मृदुता गुण से भूषित है।
स्वसिद्धान्त पर सिद्धान्त के विद्वान् है तथापि वे अत्यन्त विनयवान होते हैं।

भावार्थ—प्रकाण्ड विद्वान मुनि के सामने जगत् के उद्‌भट विद्वान् खद्योत के समान प्रतीत होते हैं । उनकी ज्ञान-तेजस्विता
से विख्यात-कीर्ति पंडित भी कांपते हैं। तथापि वे मुनिराज अपने ज्ञान का गर्व नहीं करते हैं। क्योंकि उन्हें वस्तु के यथार्थ स्वरूप का बोध
होगया है। पुण्य और पाप के कारणों का स्वरूप उनके हृदय मे अंकित होगया है। वे समझते हैं कि अभिमान पाप का बीज है। अभिमान
से आत्मा का पतन होता है। केवलज्ञान के सामने मेरा ज्ञान खद्योत के समान है। मैं जिसका अभिमान करूँ, वह क्षायोपशमिक ज्ञान
कर्माधीन है। तीव्र असाता कर्म तथा वीर्यान्तराय कर्म के उदय होने पर यह क्षायोपशमिक ज्ञान नष्ट हो जाता है। इस पराधीन और नश्वर
ज्ञान का अभिमान करना अज्ञानता है। मेरा स्वरूप तो केवलज्ञान है। उसकी प्राप्ति के लिए मैंने यह उत्कृष्ट मुनिपद धारण किया है।
यदि मैं अभिमान करूँगा तो इष्ट मार्ग से गिर जाऊँगा और मेरा सर्वस्व लुट जावेगा—ऐसा विचार कर साधु अभिमान को निकट तक नहीं
आने देते हैं। किन्तु इसके विपरीत विनीत भाव धारण करते हैं। अपने ज्ञान की अल्पता की ओर ध्यान रखते हैं। अभिमान वश किसी
का निरादर नहीं करते। उनके वचन मे, क्रिया मे नम्रता झलती है। निरन्तर ज्ञानोपयोग मे लवलीन रहते हैं। अपने चारित्र को उज्ज्वल
करने मे तत्पर रहते है। इन्द्रिय व मन पर विजय प्राप्त कर धर्मध्यान मे उपयुक्त रहते हैं।

(६) उज्झनशुद्धि

ते छिण्णणेहबंधा णिण्णेहा अप्पणो सरीरम्मि।
ण करंति किंचि साहू परिसंठप्पं सरीरम्मि ॥ ७० ॥ (मूला प्र)

अर्थ—जिसने पुत्र स्त्री आदि के प्रेम सम्बन्ध को छिन्न भिन्न कर दिया है और अपने शरीर से भी स्नेह सम्बन्ध तोड़ दिया
है वे साधु अपने शरीर का किंचिन्मात्र भी सत्कार नहीं करते है।

भावार्थ—उज्झन शुद्धि चार प्रकार की होती है। १ शरीर के संस्कार का त्याग, २ स्त्री पुत्रादि बन्धुवर्ग का सर्वथा त्याग,
३ सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग और ४ रागादि भाव का त्याग।

उज्झन शुद्धि के चार भेदों का स्वरूप

१ जिन महात्माओं ने अपने शरीर के ममत्व (मोह) का त्याग कर दिया है वे शरीर को आत्मा का शत्रु समझते हैं। क्योंकि जितने पापकर्म होते हैं उसका कारण यह शरीर ही है। इसलिए वे उसका किसी प्रकार का संस्कार नहीं करते। न वे मुँह धोते हैं, न नेत्रों पर जल छिड़कते हैं न दन्तधावन करते हैं। अर्थात् मंजन या दतौन लेकर या अंगुलि से रगड़कर दांत स्वच्छ नहीं करते हैं। सुगन्धित द्रव्यों का उबटना नहीं करते हैं। न पाँवों पर केशर आदि द्रव्यों को लगाकर उन्हें स्वच्छ करते हैं, न शरीर का मर्दन करवाते हैं, न मुक्के आदि से शरीर कुटवाते हैं, न किसी काष्ठादि यंत्र से शरीर को दबवाते हैं न शरीर के अङ्गोपांग को धूपादि से सुगन्धित करते हैं। अपने कंठ की शुद्धि के लिए अथवा स्वर को ठीक करने के लिए वमन नहीं करते हैं। अपने नेत्रों मे सुरमा कज्जलादि का अंजन नहीं करते। न पेट की शुद्धि के लिए या उदर पीडा का परिहार करने के लिए विरेचन लेते हैं। सुगन्धित तैलादि का शरीर पर मालिश नहीं करते हैं। चन्दन अगर कपूरादि का लेप नहीं करते हैं। कभी नेति धौती नहीं करते हैं। नासिका मे और उदर मे वस्त्र डालकर नासिका और उदर को स्वच्छ करने की क्रिया को नेति धौती कहते है, साधु उसे कभी नहीं करते हैं। न सिंगी आदि लगवाकर अपने शरीर का रुधिर निकलवाते हैं। इत्यादि शरीर सम्बन्धी कोई सस्कार नहीं करते हैं।

प्रश्न—मुनिराजों ने अपने शरीर के समस्त संस्कारों का त्याग कर दिया है, तो व्याधि आदि के उत्पन्न होने पर वे क्या करते हैं ?

उप्पएणम्मि वाही सिरवेयण कुक्खि-वेयणं चेव ।
अधियासिंति सुधिदिया कायतिगिंछं ण इच्छन्ति ॥ ७३ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ—ज्वर, जुकाम, खासी आदि रोगों के उत्पन्न होने पर, सिर की पीडा, उदर शूल, पेट मे दर्द अथवा इसी प्रकार अन्य असह्य पीड़ा के उत्पन्न होने पर वे परमधैर्य धारण करनेवाले मुनिराज चारित्र में दृढ़ता रखते हुए आत्मा को बेचैनी पैदा करने वाली वेदना की प्रतीकार की इच्छा भी नहीं करते हैं, किन्तु चित्त को ज्ञान दर्शन की भावना मे तल्लीन करते हैं।

भावार्थ—मर्मान्तक पीडा करनेवाले असह्य रोग-वेदना के उपस्थित हो जाने पर धैर्यधुरन्धर मुनिराज शरीर की ओर से ध्यान को हटाकर ज्ञान दर्शन भावना मे चित्त को लगा देते हैं। वे विचारते हैं कि हे आत्मन ! तेरे जो असाता वेदनीय कर्म का उदय आया है, वह अपना फल दिये बिना न रहेगा। तू व्यर्थ व्याकुलित हो रहा है। इस समय तुझे शान्ति धारण करना चाहिए। इसका उपार्जन तूने किया है, अब इसका फल भोगते समय क्यो कायर होता है ? यह कर्म का ऋण तूने किया है। ऋण को चुकाना सत्पुरुषों का कर्त्तव्य है। यदि तू इस समय धैर्य धारण कर इसे शान्ति से सहलेगा तो तू ऋण-मुक्त हो जावेगा। और यदि तू धैर्यहीन होकर हाय विलाप करेगा। आत्मा मे आर्त-

ध्यान उत्पन्न करेगा तो भी यह कर्म तुझे नहीं छोड़ेगा, अपना फल अवश्य देगा। बल्कि धीरज का त्याग करने में तुझे कई गुना अधिक कष्ट प्रतीत होगा और नये कर्म का बन्ध भी होगा। वह फिर तुझे भविष्य में इससे भी अधिक दुःख देगा। सोच! यह अवसर तेरे लिए बड़ा शुभ उपस्थित हुआ है, जो सचेत और ज्ञानोपयोग दशा में यह कर्म उदय में आया है। सब सुन्दर संयोग इस समय तुझे प्राप्त हैं। इस समय भी तू अज्ञान वश शोक संताप करेगा तो तेरे समान मूर्ख और कौन होगा? जरा सोचो! तुमने नरकों में कैसे २ दुःख सहे। जहाँ निरन्तर ताड़न छेदन, भेदन, भाड़ में भर्जन, शूल्यारोहण, अग्नि पाचन आदि घोर क्लेश सहे हैं, जिनका स्मरण मात्र हृदय को कम्पित कर देता है, उसके समक्ष यह आगत दुःख तो कुछ भी नहीं है। देखो! सुकुमाल मुनिराज के शरीर को नोच नोच दोनों बच्चों सहित स्यालनी ने भक्षण किया, तथापि लेशमात्र भी उनके मन में विकार नहीं हुआ। कहाँ वह सुकुमाल मुनीश्वर जिनके शरीर को सरसों भी काँटे समान दुःख देती थी, उनको स्यालनी द्वारा आधा भक्षण कर लेने पर रंचमात्र दुःख नहीं हुआ। पाँचों पाण्डव मुनिराजों के गले में अग्नि से तप्तायमान लोहे के जगमगाते हुए गहने डाले गये तथापि उन्होंने रंच मात्र दुःख नहीं किया। उनके शरीर के अवयव दग्ध होगये, किन्तु उनके भाव में विकार नहीं हुआ। गजकुमार मुनि के मस्तक पर अंगीठी बनाकर अग्नि जलाई गई, किन्तु मुनिराज का मन-सुमेरु तनिक भी चलायमान न हुआ। तुमको कष्ट है ही कहाँ? क्या यह शरीर तुम्हारा है? यह तो विनश्वर पुद्गल का पिण्ड है। तुम तो शुद्ध बुद्ध चैतन्य सुख स्वरूप आत्मा हो। ऐसे शरीर तो तुमने अनन्त बार पाये हैं। जैसे पुराने वस्त्र को उतार कर नये वस्त्र पहननेवाला मनुष्य अप्रसन्न नहीं होता है। उसी प्रकार इस जीर्ण और दुर्गन्ध शरीर को छोड़कर दिव्य अनुपम देवादि के शरीर को प्राप्त करनेवाले को क्या दुःख? संयमी इस काल में भी स्वर्ग का अधिकारी है। इस पंचमकाल में मोक्ष नहीं होता तो भी देवगति के सिवा संयमी दूसरी गतिमें नहीं जाता। यदि तुम आर्त्तध्यान करोगे तो तुम्हारे संयम रत्न को कषाय चोर लूटलेंगे और तुम्हें नरकादि गति में जाना पड़ेगा। इत्यादि ज्ञान द्वारा मुनिराज अपने शारीरिक रोगादि के प्राप्त होने पर शरीर का संस्कार नहीं करते हैं। न वेदना से मन को विकृत करते हैं—व्याकुल चित्त नहीं होते हैं। किंकर्तव्य विमूढ़ नहीं होते और मन में कायरता नहीं धारण करते, किन्तु महान धैर्य का अवलम्बन लेकर व्याधि, रोग, वेदनादि से न घबराकर उनसे उपेक्षा करते हैं। विवेक-ज्ञान से शरीर को अन्य समझ कर उसकी चिकित्सा आदि की इच्छा तक नहीं करते हैं।

शंका—क्या मुनिराज विरेचनादि सब औषधियों का त्याग करते हैं?

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं है।

शंका—तो किस की इच्छा करते हैं?

समाधान—मुनिराज जिनेन्द्र भगवान के वचन रूपी औषध का निरन्तर सेवन करते हैं। इन्द्रियों के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले विषय-सुख का विरेचन लेते हैं। अर्थात् विषय-सुख का त्याग करते हैं। ज्ञानामृत का पान करते और आत्मा के ध्यान में सन्तुष्ट रहते हैं।

आत्म-ध्यान जन्म जरा मरण रूप व्याधि के क्षय करने का कारण है। शारीरिक मानसिकादि समस्त दुःखों के क्षय का कारण है, तथा सम्पूर्ण कर्मों के नाश करने में समर्थ है।

जिनागम के तत्वो मे सम्यक्श्रद्धान रखने वाले चारित्रपरायण साधु जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का उल्लघन करके कोई क्रिया नहीं करते। जिनागम मे व्याधि-प्रतीकार करने के लिए औषधादि का सेवन करना साधु के लिए निषिद्ध है। अत प्राणों का नाश होते हुए भी साधु किसी प्रकार की औषधादि का सेवन नहीं करते हैं।

आत्महित-परायण मुनिराज शरीर को रोगादि-ग्रस्त हुआ जानकर विचारते हैं कि यह शरीर रोगों का मन्दिर है। इसमे सैंकडों व्याधिया उत्पन्न होती हैं। यह तो रोगों का प्रसूतिगृह है। एक रोग का प्रतीकार करने पर दूसरा उत्पन्न हो जाता है और उसका उप-शमन होते ही तीसरा रोग प्रकट हो जाता है। इसकी असली चिकित्सा असाता वेदनीय कर्म का क्षय करने से हो सकती है। यह शरीर जब तक रहेगा तब तक रोग का अस्तित्व मिट नहीं सकता, अतएव इसकी उत्पत्ति कभी न हो ऐसा उद्योग करना ही श्रेयस्कर है।

इस शरीर के साथ रोग व्याधि आदि का सम्बन्ध है। ये इसीको हानि पहुचा सकते हैं। इसमे मेरी क्या हानि है ? यह शरीर तो अशुचि है, महा अशुभ है, शुभ लेश्या से रहित है, नसों और आतडियों से वेष्टित है, चमडी से ढका हुआ है, हड्डियों की ठिठरी है जो मास चर्बी से लिपी हुई है, भीतर रुधिर शुक्र कलेजे आदि से भरा हुआ और मलमूत्र कफ आदि का स्थान है।

यह शरीर सडे हुए फोडे के समान घिनोना है। ससार के सब अपवित्र और घृणित पदार्थों से यह शरीर बना है। शरीर का सबसे उत्तम अवयव मुख है, वह कफ और लार युक्त है। आखों मे से कीचड, नासिका से कफ, कानों से कर्णमल निकलता रहता है। अधो-द्वार से मल मूत्र समय समय निकलते रहते हैं। सम्पूर्ण शरीर से स्वेद जल बहता रहता है। कहॉं तक कहा जावे यह शरीर मलगृह है, श्मशान के समान बीभत्स है। और इस पर भी इसके टिकने का कुछ भरोसा नहीं। कितने ही रक्षा के उपाय किये जावें तो भी अनियत काल मे नष्ट हो जाता है। इसकी क्षण भर रक्षा करने को भी त्रिलोकों म कोई भी समर्थ नहीं है।

जिस शरीर की रक्षा करने के लिए यह प्राणी निरन्तर दत्तचित्त रहता है-जिसको सुन्दर पवित्र, सुगन्धित, दुग्ध पक्वा-न्नादि पदार्थों का भोजन देता है उनको यह शरीर मल मूत्र रूप कर डालता है। यदि वह अन्नादि दातों मे लगा रह जावे तो रोग उत्पन्न कर देता है। इस शरीर के ससर्ग से सुन्दर भोजन जलादि मनोज्ञ पदार्थ कफ-लार-स्वेद-मल-मूत्रादि दुर्गन्ध पदार्थ बन जाते हैं, जिसका स्पर्श तो दूर रहा नेत्रों से देखना भी कोई नहीं चाहते।

प्रश्न—ऐसे शरीर को मुनि क्यों धारण करते हैं ? और आहारादि से उसका पोषण क्यों करते हैं ?

उत्तर—इस अत्यन्त अशुचि और विनश्वर शरीर से पवित्र और अविनाशी सुख देने वाले धर्म का आराधन करने के लिए इसकी आहारादि से रक्षा करते हैं, क्योंकि मनुष्य शरीर से ही चारित्र धर्म का पालन होता है, स्वाध्याय-ध्यान की सिद्धि होती है। जब तक वह स्वाध्यायादि मे साधक होता है, तब तक इसका पोषण करते हैं और इससे अपना खूब काम लेते हैं। और जब यह रोगादि से पीड़ित होता है, स्वाध्यायादि कार्यों मे उपयोगी सिद्ध नहीं होता है तब इससे अपना सम्बन्ध तोड़ देते हैं और अपने परिणामों में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होने देते। इसीको उज्झन शुद्धि कहते हैं।

७ वाक्य शुद्धि

भासं विणयविहूणं धम्मविरोही विवज्जए वयणं।
पुच्छिदमपुच्छिदं वा ण वि ते भासंति सप्पुरिसा ॥ ८७ ॥ (मूला. अ.)

अर्थ—सत्पुरुष मुनिराज धर्मविरोधी वचन का उच्चारण नहीं करते, धर्म से अविरुद्ध भाषा भी विनय रहित नहीं बोलते। पूछने पर या बिना पूछे कटु कठोर तथा व्यवहार-विरुद्ध या आगम विरुद्ध कोई वचन मुख से नहीं निकालते।

भावार्थ—पाप से भयभीत महापुरुष इस बात का पूर्ण ध्यान रखते हैं कि मेरे मुख से प्रमादवश ऐसा वचन न निकलने पावे जो लोगों को धर्म से विपरीत मार्ग पर चलाने वाला हो। प्रियवचन भी धर्म के अनुकूल ही होना चाहिए। अविनीत वचन भी जनता को सन्मार्ग पर लाने में समर्थ नहीं होता। भाषा के वेत्ता विद्वान् मुनि आर्यभाषा का उच्चारण करते हैं, जिससे श्रोताओं के अन्तःकरण में आर्यभाषा के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होने लगे। यदि समझाने के लिए किसी अन्य देश भाषा का प्रयोग करना पड़े तो भी ऐसी सरल और व्यवहार-मान्य भाषा का उपयोग करते हैं, जो हृदय ग्राह्य होती है। नीचजाति के उच्चारण करने योग्य रे! तू! आदि तुच्छ वचन कभी नहीं बोलते। बड़ों से तो क्या बालक के प्रति भी रे तू आदि हलके शब्दों का प्रयोग नहीं करते। उत्तम पुरुषों के उच्चारण करने योग्य तुम, आप, सज्जन, आदि वचनों का प्रयोग करते हैं। विनय पूर्वक बोला गया वचन श्रोताओं के हृदय को आकर्षित करता है। तथा वक्ता के प्रति आदर व पूज्य भाव उत्पन्न करता है। धर्मोपदेश के समय मुनि आगम के सिद्धांतों का घात करनेवाली भाषा नहीं बोलते। जिस विषय का ज्ञान न हो, उसका अपनी मति से कल्पित विवेचन नहीं करते, किसी के प्रश्न करने पर आगम के अनुकूल सरल चित्त से उत्तर देते हैं। यदि उस प्रश्न का उत्तर देने की शक्ति नहीं होती है, तो ऊटपटांग उत्तर न देकर अपनी अशक्ति प्रकट करते हैं। वे समझते हैं कि मेरे मुख से निकला हुआ वचन लोग सत्य मानते हैं। यदि मैंने अभिमान वश कुछ भी असत्य भाषण कर दिया तो इस मुनिवेष को लज्जित कर दिया। मुझे असत्य-भाषण करते हुए

देखकर लोगों की मुनिवेष से घृणा होने लगेगी। लोगों की सत्यभाषी मुनिराजों के प्रति भी अश्रद्धा होने लगेगी। मुनियों की सर्वोत्कृष्टता का नाश करके उनके प्रति अरुचि और अपूज्यता का और निन्दा का कारण हो जाऊँगा तो मेरे समान और कौन पापी होगा ? मुझसे यह गृहस्थ ही अच्छे हैं जो जैन धर्म की व मुनि वेष की प्रभावना व पूजा करते हैं। और मैं ऐसा पापी हुआ जो उनको निन्दा का कारण हुआ। इस सत्य महाव्रत के कारण ही सम्पूर्ण ससार मेरा विश्वास करता है। मेरे चरण पूजता है और मेरा दर्शन पूजन कर अपने जन्म को सफल व धन्य समझता है। मेरा कर्त्तव्य है कि मै प्राण जाने पर भी अज्ञानवश व अभिमानवश या मोहवश असत्य वचन न निकालूं।

मुनिगण शास्त्रों के पठन, पाठन, मनन-चिन्तन मे अपना समय व्यतीत करते हैं। विना प्रयोजन किसी गृहस्थ स्त्री व पुरुष से सभाषण नहीं करते। वे गृहस्थों के लौकिक झगडों मे नहीं बोलते। कहा भी है—

अच्छीहिं य पेच्छंता कण्णेहिं य बहुविहाइं सुणमाणा।
अत्थंति मूयभूया ण ते करंति हु लोइय कहाओ ॥ ८८ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ—मुनिराज भले बुरे रूप को, योग्य-अयोग्य वस्तु को आँखों से देखते हुए ऐसे रहते हैं, मानों वे नेत्रविकल हैं। कानों से सुनने योग्य व न सुनने योग्य अनेक प्रकार के वाक्यों को सुनते है, तथापि वे गूंगे व बहरे बन जाते हैं। मानो उन्होंने सुना ही नहीं हो, कहने के लिए उनके जीभ ही न हो। किसी भी समय लौकिकी कथा, गृहस्थों के झगडे टटे की बात को न सुनते हैं और न बोलते हैं।

सासारिक झगडों से, लोगों के घरेलू बखेडो से मुनिराज को क्या मतलब है ? उन्होंने लौकिक सब सम्बन्ध का त्याग कर मुनि दीक्षा धारण की है। उस त्यागे हुए व्यवहार का ग्रहण करना उच्छिष्ट का ग्रहण करना है। अत किसी लौकिक झगडे में पडनेवाले अपने आत्मा का घात तो करते ही हैं साथ मे निःस्पृह मुनिपद को भी कलकित करते हैं।

हे मुनियों! तुमने लौकिक कथाओं का वचन से ही नहीं, मन से भी त्याग किया है। अतः उनको मन मे भी स्थान देना तुम्हारे लिए लज्जा की बात है। तुम्हें स्त्री-सम्बन्धी कोई कथा नहीं करनी चाहिए। यह स्त्री सुरूप है, यह कुरूप है, यह सौभाग्यवती है, यह मधुर भाषणी है, यह कलहकारिणी है, यह अल्प-वयस्क है, यह प्रौढा है इत्यादि स्त्री सम्बन्धी कथा तुम्हारे लिए अत्यन्त अहितकारक है। ऐसे ही तुम्हें अर्थकथा भी नहीं करनी चाहिए। धन के उपार्जन करने के उपायों का वर्णन करना अर्थकथा है। राजादि की सेवा के द्वारा प्रसन्न करने से, अमुक वस्तु का वाणिज्य व्यवहार करने से, अमुक उपायों का अवलम्बन कर खेती आदि करने से, धातुओं के शोधन खननादि के साधनों को काम मे लाने से, मंत्रतन्त्रादि का प्रयोग करने से, धन की उपलब्धि होती है। इस प्रकार की कथा को अर्थ कहते हैं। भोजन से सम्बन्ध

रखने वाली कथा को भोजन कथा कहते है। उनके यहाँ सुन्दर अशन-पान-खाद्य आहार मे मिलते हैं। अमुक घर मे भोजन-सामग्री की सुव्यवस्था है। वे आहार मे बड़े स्वादिष्ट पदार्थ संयमी को देते हैं। वह स्त्री बड़ा स्वादिष्ट और मनोहर भोजन बनाती है। उस के हाथ के बने हुए भोजन मे बड़ा सुन्दर स्वाद आता है। अमुक घर मे रूखा सूखा भोजन मिलता है। उसके घर दुर्गन्धियुक्त बेस्वाद भोजन होता है। इत्यादि प्रकार से भोजन की कथा तुम्हें कभी नहीं करनी चाहिए। देश-नगर-ग्राम, खेटक, कर्वटादि की कथा को देश कथा कहते हैं। (नदी पर्वत से घिरे हुए प्रदेश को खेट कहते हैं। सब तरफ मे पर्वतो द्वारा घिरे हुए प्रदेश को कर्वट कहते हैं) अमुक खेट व कर्वट के निवासी बड़े युद्ध कुशल हैं। अमुक ग्राम (कांटों की की बाड़ से घिरे हुए प्रदेश) में धन धान्य की समृद्धि है। वहाँ के लोग बहुत धनिक हैं। वहाँ पर परचक का भय नहीं है। वह नगर धनधान्य से परिपूर्ण है, उसमे किसी शत्रु का प्रवेश करना असभव है। अमुक देश उत्तम यंत्र चालित सेनाओं से सुरक्षित है। उस पर शत्रु का प्रभाव नहीं हो सकता। इत्यादि नगर ग्राम द्रोणमुख देशादि की कथा कर्मबन्ध करने वाली है। अत साधुओं को लिए सर्वथा त्याज्य हैं तथा राजाओं की कथा करना राजकथा कही जाती है उसके मन्त्री चाणिक्यादि नीति मे प्रवीण हैं, योग और क्षेम मे वह राजा उद्योगशील है। (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति को योग और प्राप्त वस्तु के रक्षण को क्षेम कहते हैं) उसके पास चतुरंग सेना है. उसने अनेक घोर संग्रामों मे विजयलक्ष्मी पाई है, उसने सम्पूर्ण शत्रु-समूह को निर्मूलन कर निष्कंटक राज्य किया है। उस राजा के प्रताप के सामने किसी की तेजस्विता नहीं टिकती। उसकी सेना रण कुशल है। उसके पास शस्त्रास्त्रों के अ छुता है, इत्यादि राज-कथा करने से रौद्र परिणामो का प्रादुर्भाव होता है। इसलिए मुनियों को कदापि ऐसी कथाएँ नहीं करनी चाहिए। साधुओं को चोरी की कथा भी नहीं करनी चाहिए। अमुक नगर का निवासी चोर बड़ा निपुण है। यह वीरता से मार्ग मे लूटता है। घात लगाने मे उसकी बराबरी कोई नहीं कर सकता है। वह ऐसा गंठकटा है कि देखते देखते वस्तु को चुरा लेता है। आंखों म से कज्जल तक निकाल लेता है और पता नहीं चलने देता, वह ऐसा पश्यतोहर है। वह डाकू इतना शूर है कि उसको सेना ने चारों ओर से घेर लिया तथापि वह अकेला ही उससे लडकर भाग निकला। इत्यादि चोर, डाकू, गंठकटे, लुटेरे आदि की कथा चोरी का महत्त्व प्रकट करती है, आत्मा के परिणामो मे विकार भाव उत्पन्न करता है, इसलिए मुनियों को ऐसी कथाएँ कभी नहीं करनी चाहिए। अमुक देश में हीरा उत्पन्न होता है। अमुक जगह पन्ना की खाने हैं। अमुक खाडी मे मोती बहुतायत से पाये जाते है और बहुत सस्ते मिलते हैं। अमुक स्थान पर जाकर अमुक रत्नादि लाये जायें और अमुक स्थान मे बेचे जायें तो बड़ा लाभ होता है। वहाँ पर केसर आदि उत्तम और अल्पमूल्य मे मिलती हैं। अमुक नगर में बहुत महगी मिलती हैं और बहुत बिकती है। वह देश रमणीय है। वहाँ पर अन्न पान साधु को सुलभ है। वहाँ के लोगों का खान-पान, पहनाव, रहन-सहन बडा श्रेष्ठ और मनोहर है। अमुक नगर के लोग इत्र तैलादि सुगन्धित द्रव्यों का अधिक उपभोग करते हैं। इसी प्रकार अन्य भी कर्मबन्ध की कारणभूत कथाओं को साधु कदापि न करे और न उनके सुनने मे प्रीति करे।

मुनिराज नाटक के पात्रो (नटो) की, युद्ध मे कुशल सहस्रभट कोटिभटादि योद्धाओ की, कुश्ती करने मे प्रवीण पहलवानो की, मुष्टि आदि युद्ध मे कुशल मल्लों की, इन्द्रजालादि माया प्रपञ्च करने मे प्रवीण इन्द्र जालियो (बाजीगरो) की, 'मत्स्यवध करने वाले

मनुष्यो की चतुराई की, उडते पक्षियो पर निशाना लगाने वाले लक्ष्यवेधी मनुष्यो की, जुआ खेलने में चातुर्य (चालाकी) करने वाले जुवारियों की, हस्त पाद सिर आदि शरीर के अवयवो का भेदन करने मे कुशल तथा जीव हिंसा मे रति (प्रेम) रखने वाले मनुष्यो की, रस्सी व बास पर चढकर खेल करने वाले नटो की कथा मे कभी अनुराग नहीं करते हैं। वैराग्य परायण मुनीश्वर इन कथाओ का उच्चारण तो क्या, मनमे चिन्तन तक नहीं करते है। उक्त कथाओ को क्षण मात्र भी हृदय मे स्थान नहीं देते हैं। जिन परम वीतराग भावना मे रत हुए मुनियो का चित्त निरन्तर धर्म भावना मे रगा रहता है वे उक्त कथाओ का मन वचन काय से त्याग करते हैं। अर्थात् उक्त कथाओ के अर्थ को सूचित करने वाली काय द्वारा कोई चेष्टा नहीं करते हैं। हस्तादि से सकेत नहीं करते हैं। उनका वचन से उच्चारण तथा कर्ण से श्रवण नहीं करते हैं। और तो क्या, उनका मनसे चिन्तन तक नहीं करते हैं।

वैराग्य की मूर्ति साधु लोग हस्तादि द्वारा काम-क्रिया का सूचक सकेतादि नहीं करते, काम उत्पन्न करने वाले वचन नहीं बोलते, प्रहास-मिश्रित अशिष्ट वचन मुख से कभी नहीं निकालते, कभी खिलखिलाकर अट्टहास नहीं करते और न दूसरो को हसाते हैं, शृंगार रस के पाडित्य द्योतक रमणीय वचनो का उच्चारण नहीं करते, अपने हाथ से दूसरे के हाथ का ताडन नहीं करते और न पीठ आदि ठोकते हैं। क्योकि ये सब क्रियाए विकारी मनुष्यों के योग्य हैं। निर्विकार-मन वचन काय के विकार से विमुख, परम विरक्त मुनिराजों की सब चेष्टाएं उद्धतता से रहित होती हैं। वे समुद्र के समान गम्भीर होते हैं। उनका चित्त क्षोभ रहित स्थिर होता है। उनका अन्त.करण षट्-आवश्यक क्रियाओ-स्वाध्याय ध्यानादि मे-तल्लीन रहता है। परभव के सुधार की भावना निरन्तर उनके चित्त में जागृत रहती है और इस लोक के अनिष्ट से भयभीत रहते हैं। अपने सर्वोत्कृष्ट जगत्पूज्य पद का उन्हें सदा ध्यान रहता है। इसलिए वे कभी शरीर से, वचन से और मन से ऐसा कोई कार्य (विकथादि) नहीं करते, जिसमे मुनि भेष का अपवाद हो, धर्म की निन्दा हो और अपने आत्मा का अहित हो।

प्रश्न—यदि मुनिराज उक्त विकथाए नहीं करते तो कैसी कथाए करते हैं।

उत्तर—मुनिराज ऐसी कथाए करते हैं जिनसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्र रूप रत्नत्रय की प्राप्ति होती है या वृद्धि होती है। रत्नत्रय का स्वरूप प्रकट करनेवाली तथा उसमे दृढता उत्पन करनेवाली, शरीर भोगादि से वैराग्य उत्पन्न करनेवाली, परलोक म विश्वास पैदा करनेवाली, धर्म मे अभिरुचि करने वाली, स्व-पर का हित करने वाली धर्म कथाओ का वे उच्चारण करते हैं। आत्मा के कर्म बन्ध के कारणो तथा बन्ध का क्षय करने के उपायो का विवेचन करने वाली कथाओं को वे करते हैं। सर्व प्रथम तो वे मुनिराज अपने आत्महित के कार्य-षट् आवश्यक क्रियाओं का आचरण तथा ध्यानाध्यन-करते हैं। उससे जो समय बचता है उस समय को वे आत्महित साधक, जीवादि तत्त्वो का निरूपण करनेवाली, भेद विज्ञान प्रकट करनेवाली, पापकार्यों से अरुचि और पुण्यकार्यों में रुचि उत्पन्न करनेवाली, चारित्र में प्रेम बढानेवाली तथा वैराग्य भावना को पुष्ट करनेवाली पुण्यकथाओं मे लगाते हैं। वे मुनिराज एक उत्तम

वैद्य के समान होते हैं। क्योंकि वे विषय भोग रूपी अपथ्य सेवन करने वाले संसारी जीव रूपी रोगी को रत्नत्रय रूपी पथ्य औषध का दान देते हैं और स्वयं भी पथ्य और हितकर वैराग्य का सेवन करके स्व-पर का कल्याण करते हैं।

८ तपशुद्धि

णिच्चं च अप्पमत्ता, संजमसमिदीसु झाणजोगेसु
तवचरण-करण-जुत्ता, हवंति समणा समिदपावा ॥ ६६ ॥ (मूला. अ.)

अर्थ—तपस्या मे तत्पर मुनिराज सर्वदा पन्द्रह प्रकार के प्रमाद से रहित हुए प्राणी संयम व इन्द्रिय संयम (छहकाय के जीवों के रक्षण और इन्द्रियों के दमन) मे, पच समितियो के पालन मे, धर्म्यध्यान व शुक्लध्यान के चिन्तन मे, नानाप्रकार के अवग्रह (आखडी) के ग्रहण करने मे, वारह प्रकार के तपश्चरण के आचरण करने मे, तेरह प्रकार के चारित्र के पालन मे और तेरह प्रकार के करण मे उद्यत हुए सम्पूर्ण पापों का नाश करते हैं।

कर्मों का क्षय करने के लिए मुनिराज वाह्य और अभ्यन्तर तप को तपते हैं। उनमे कायक्लेश तप अति दुष्कर है। उस तपश्चरण का आचरण करने के लिए अभ्रावकाश योग, आतपन और वृक्षमूल योग का साधन करते हैं। इन योगो का वे ही महापुरुष साधन कर सकते हैं जिनकी आत्मा मे परम वीर्य-पराक्रम का उत्कर्ष है तथा शरीर में वल का प्रावल्य है। वे ही अपनी आत्मा से शरीर को सर्वथा भिन्न अनुभव करके तदनुकूल प्रवृत्ति करते हैं। वे ही महापराक्रमी धीरधुरन्धर परम विरक्त मुनिराज उस शरीर को सदा के लिए आत्मा से पृथक् कर देने के लिए अभ्रावकाशादि योगों की साधना करने मे कटिवद्ध होते हैं।

अभ्रावकाश-योग

जिस शीत से समस्त अटवी के वृक्ष जल गये हैं, सरोवरों के पानी पत्थर-से जम गये हैं, कमलों के सम्पूर्ण वन जलकर नष्ट हो गये है, पक्षी वृक्षों के घोसलों को छोडकर पर्वतों की गुफाओं और दरारों मे वसेरा लेने लगे हैं, सिंह और हिरन एक दूसरे के समीपवर्ती स्थित होने पर भी शीत के कारण शरीर की चेष्टाओं से शून्य होकर एक दूसरे को वाधा देने मे असमर्थ हो रहे हैं, कई पशु और पक्षी शीत के कारण अपने प्राणों से रहित हो गये हैं, रात दिन निरन्तर हिम (पाला) गिर रहा है, मनुष्यो के शरीर थरथर कॉपते है, कोई भी अपने घर के वाहर नहीं निकलता, उसी शीत के समय मे वे धीर वीर महामुनि अटवी मे नदी के तट या किसी जलाशय के निकट कायोत्सर्ग

धारण कर पत्थर के स्तम्भ की भांति खडे हुए ध्यान लगाते हैं। उस समय चरण से लेकर मस्तक पर्यन्त सम्पूर्ण शरीर हिम से ढक जाता है तो भी वे महामुनी शरीर से सब प्रकार का सम्बन्ध तोड़कर आत्म-ध्यान मे मग्न रहते हैं। उनके रोम मात्र मे भी विकार प्रतीत नहीं होता है। और वे कर्मों की प्रतिसमय असंख्यात गुणी निर्जरा करते हुए आत्मा की शुद्धि करते हैं।

आतपन–योग

ज्येष्ठ मास के सूर्य की प्रखर किरणो से तप कर समस्त भूतल अग्नि के समान होगया है। अग्नि ज्वाला के समान अत्यन्त उष्ण वायु से वन के सब वृक्ष व लताए सूखकर पत्र पुष्पादि से रहित हो गये हैं। नदियों और सरोवरों का जल सूख गया है। प्यास से व्याकुल हुए प्राणियों के कण्ठ सूख गये हैं। गर्म लू से दग्ध होकर पक्षियो के कलेवर प्राण–शून्य होगये हैं। मार्ग पथिक-विहीन हो गये हैं। मनुष्य अपने निवास स्थान से बाहर पॉव तक नहीं रखते। वन के पशु पर्वत की गुफाओं मे बेहोश पड़े हुए हैं। मनुष्य अपने घरों मे भी गर्मी के सन्ताप से व्याकुल होकर अनेक प्रकार के शीतोपचार करने पर भी शान्ति नहीं पा रहे हैं। उस समय मे धीरधुरीण महा मुनिराज पर्वत के शिखर पर जाकर सूर्य के सम्मुख हुए कायोत्सर्ग धारण कर खडे रहते हैं। शरीर को झुलसानेवाली कड़ी धूप उनके शरीर पर अटखेलियाँ करती है। पर्वत और भूमितल को अग्नि समान तपाने वाली उष्ण–वायु उनके शरीर के साथ रंग रेलियाँ करती हैं। तीक्ष्ण गर्मी से मुनिराज के कण्ठ ओष्ठ सूख गये हैं। तथापि वे महामुनि अनुभव रूपी अमृत का पान करने मे आशक्त हुए उस गर्मी की बाधा की कुछ भी परवाह न करके आत्म-ध्यान से च्युत नहीं होते हैं।

वृक्षमूल–योग

वर्षा के समय जब निरन्तर मूसलधार वृष्टि होनेसे सम्पूर्ण मार्ग जल मे पूरित होजाते हैं। मेघ की घनघोर गर्जना और बिजली की कडकडाहट से दिशाएँ गूंज उठती हैं, मेघ समूह के कारण भयानक अन्धकार मे भूतल का मार्ग–ज्ञान लुप्त होजाता है। बीच बीच मे बिजली के चमत्कार से वन की भयानकता और भी बढ जाती है अत्यन्त वायु के कारण प्राणियों के शरीर व्याकुल होते हैं। उस समय ध्यान के रसिया वे धीर वीर महा मुनीश्वर वृक्षके तल मे कायोत्सर्ग से खडे रहते हैं। जिस वृक्ष के मूल मे अनेक सर्पों ने अपना मुख्य स्थान बना रखा है, उस वृक्षके नीचे घोर अन्धकार मे खडे होकर ध्यान मे निश्चल बने रहते हैं। रंच मात्र चित्त मे भय और क्षोभ नहीं करते। मानों निश्चेष्टपाषाण प्रतिमा है अथवा पत्र शाखा रहित वृक्ष का स्कन्ध है।

इस प्रकार त्रिकाल योग के धारक महामुनीश्वर बड़े बड़े वृक्षों को जड से उखाड फेंकनेवाले भयानक आंधी के झोकों को

सहते हैं। बडी बडी नदी, तडाग, सरोवर आदि के जल को सुखा देने वाली भयंकर उग्र गर्मी की बाधा को सहते हैं। सम्पूर्ण शरीर के अवयवों को संताप देनेवाले तीव्र पिपासा (प्यास) के असह्य दु.ख को सहन करते हैं। शरीर के रुधिरादि को शोषण करने वाली, प्रलय काल की अग्नि के समान अत्युग्र बुभुक्षा के क्लेश को कुछ नहीं गिनते हैं। बीहड वन मे अनगिनत दंश मशक आदि जन्तुओं के काटने से शरीर मे उत्पन्न असह्य वेदना पर विजय प्राप्त करते हैं। तथा बिच्छु, सर्प,वराहादि के द्वारा किये गये घोर उपद्रव को सहते हैं। अधिक कहाँ तक कहा जावे अथवा देवकृत, तिर्यंचादिकृत सब उपसर्गों को केवल कर्मों का क्षय करने के निमित्त सहते हैं। इस लोक सम्बन्धी किसी भोगों की आकांक्षा नहीं करते।

इस प्रकार कायक्लेश तप का निरूपण कर अब वचन-जन्य क्लेश-तप का निरूपण करते हैं—

चट चटायमान उचटती हुई लोहे की चिनगारियों के समान सम्पूर्ण शरीर मे संताप पैदा करने वाले, मर्मभेदी दुर्जनों के अपवाद-जनक वचन सुनकर मुनिराज लेशमात्र भी चित्त मे क्षोभ नहीं करते। अविद्यमान दोषों के प्रकाश करनेवाले परुष-कठोर-तीक्ष्ण वचनों को सुनकर चित्त मे खेद नहीं करते। जाती और कुल को लाञ्छित करनेवाले तथा तू पशुवत् है, तू शास्त्र-ज्ञान रहित तिर्यंच है इत्यादि अपमान-जनक वचन अथवा भर्त्सना करने वाले दुर्वचनों को सुन कर मुनि मन मे विचारते हैं कि यह अज्ञानी भोले जीव इस हड्डी और मांसादि के कलेवर को दुर्वचन कहते हैं। क्योंकि इन्होंने आखों से इसी को देखा है और सुना है यह शरीर तो मेरा नहीं है। मैं इसके निमित्त से अपने परिणामों को कलुषित कर अपने आत्मा को कर्म बन्धन मे क्यों डालूं ? पशुआदि के अनेक शरीर मैंने धारण भी किये हैं। उनका नामोच्चारण कर यह उपकारी मित्र मुझे उनका स्मरण दिला रहा है। यदि मै क्रोधादि कषाय करूँगा तो वे नीच शरीर मुझे फिर मिलेंगे, अतः मुझे इन वचनों मे आनन्द मानना चाहिए। इस प्रकार विचार कर मुनि मन मे प्रफुल्लित होते हैं कि यह कर्म-निर्जरा करने का अवसर मिला है। शान्ति धारण करने से नवीन कर्म बन्ध नहीं होगा और संचित कर्मों की निर्जरा होगी। यह तो मेरे लाभ का कारण हुआ।

वचन-जन्य क्लेश के सहन करने के स्वभाव का निरूपण करके अब शस्त्र प्रहारादि के उपद्रव सहने की क्षमता का निरूपण करते हैं—

यदि कोई मिथ्यादृष्टि किसी मुनिराज को क्रोध से अन्धा होकर लकड़ी से पीटने लगे, उनपर कङ्कर पत्थर की वर्षा करने लगे, रेत मिट्टी फेंकने लगे, चाबुक बेंत का प्रहार करने लगे, खड्ग (तलवार) छुरी आदि से आक्रमण करने लगे अथवा छुरी आदि शस्त्रों का प्रहार भी करे तो भी वे परमशान्त गम्भीर मुनिराज प्रहार व चोट करने वाले मनुष्य पर टेढ़ी निगाह से भी नहीं देखते हैं। वे विचारते हैं कि मेरे पूर्वकृत कर्म का उदय आया है। यह बेचारा क्या करसकता है, यह तो निमित्त मात्र है। इसमे इसका क्या अपराध है ? यह निमित्त नहीं होता तो कोई दूसरा निमित्त मिलता। तीव्रकर्म उदय मे आया है, वह तो अवश्य फल देगा। मेरा शत्रु तो पूर्वोपार्जित कर्म है।

मैंने उसको उत्पन्न किया है। अब वह उदय को प्राप्त हुआ है। मेरी भूल मुझे दुःख दे रही है। इस शस्त्रादि के प्रहार करनेवाले का कोई अपराध नहीं है। मैं पागल कुत्ते के समान मूर्ख तो हूँ नहीं जो असली शत्रु को न समझकर बाह्य निमित्त को शत्रु मान बैठूं। मैंने जिनागम का अभ्यास किया है। आत्म-अनात्म का भेद-विज्ञान प्राप्त किया है। सब संसार से सम्बन्ध तोड़ कर कल्याण करनेवाली जिनदीक्षा ली है। क्या मैं अज्ञानवश इन निरपराध मनुष्यादि पर द्वेष करूं? यह मेरा काम नहीं है। ऐसा तो मिथ्यादृष्टि करते हैं, जिनको विवेक-ज्ञान नहीं हुआ है और जिनको अर्हंतदेव और जिनवाणी का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है। मुझे तो महापुण्य योग से यह सब कुछ मिला है। ऐसे अवसरों के उपस्थित होने पर यदि मैंने विवेकज्ञान का उपयोग नहीं किया तो मेरा मनुष्यजन्म पाकर ऐसे सुयोग का पाना व्यर्थ हो जावेगा इसलिए मुझे सावधान होना चाहिए। मेरे क्षमादि धर्म तथा रत्नत्रय रूप धर्म का घात न होना चाहिए। उसका घात ये मनुष्यादि नहीं कर सकते। ये शरीर का घात कर सकते हैं, जो कि मेरी वस्तु नहीं है। अतः यह रोष करने का अवसर नहीं है। इस प्रकार जो ज्ञान रूपी जल से आत्मा को अशान्त करने वाली अज्ञान-मोहनीय रूपी अग्नि को शान्त करते हैं वे मुनिराज शस्त्रादि के प्रहार से कभी आत्मा में क्षोभ उत्पन्न नहीं करते। सामान्य मनुष्य भी जो कि पांचों इन्द्रियों का निग्रह (दमन) करने में तत्पर रहता है वह भी, क्रोध नहीं करता है। जिनागम के वेत्ता मुनिराज उपद्रव करने वाले मनुष्य पर किस प्रकार क्रोध कर सकते हैं? अतः हे महात्माओ! क्षमा के गुण को भलीभांति जाननेवाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को अंगीकार करनेवाले क्षमामूर्ति आपको शत्रु पर क्षणमात्र रोष न करना चाहिए और अपने तपश्चर्यादि कार्य में दृढ़ता से संलग्न रहना चाहिए।

(१०) ध्यान शुद्धि

ध्यान की शुद्धि इन्द्रियों पर विजय प्राप्त किये विना नहीं होती अतः प्रथम इन्द्रियजय का निरूपण करते हैं।

विसएसु पधावंता चवला चंडा तिदंडगुत्तेहिं।
इंदियचोरा घोरा वसम्मि ठविदा ववसिदेहिं॥ १७॥ (मूला० अ०)

अर्थ—मन को लुभाने वाले रूप में, मधुर रसीले रस में, मनोमोहक सुगन्ध में, शरीर को सुहावने स्पर्श में तथा चित्ताकर्षक पंचम धैवतादि स्वरों और मनोज्ञ गानों में, दौड़ती हुई अति चपल तथा क्षुब्ध चक्षु आदि इन्द्रियाँ भयानक चोर हैं। इनको वश में रखना यद्यपि अति कठिन है तथापि मनवचनकाय पर काबू करनेवाले विषय-विरक्त एवं चारित्राचरण में लीन मुनीश्वर उन्हें वश में कर लेते हैं।

भावार्थ—जैसे अश्वारोही (सवार) लगाम को हाथ में सावधानी से थामकर दुर्दान्त अश्व को भी अपने काबू में कर लेता है, वैसे ही लगाम स्वरूप मन को अपने वश में रखता हुआ साधु इन्द्रियरूपी अश्वों को विषयरूप उन्मार्ग में जाने से रोक देता है।

ध्यानी मुनि मदोन्मत्त मन रूपी हस्ती को ध्यान व वैराग्य रूपी दृढ रस्सी से आत्मा रूपी आलान-स्तम्भ के इतना दृढ़ बाँध देते कि जिससे वह उन्मत्त-मनो-हस्ती विषयादि रूप वन या राजमार्ग मे दौडने के लिए असमर्थ हो जाता है।

इन्द्रियाँ बन्दर के समान चपल हैं। उनको तत्त्वज्ञान रूपी पाश से बाँधकर वैराग्य रूपी पींजरे मे बन्द किया जावे तभी उनकी उछल कूद बन्द होती है और शनैः शनैः अनुपम दिव्य सुख का आविर्भाव होने लगता है–विषयों से उदासीनता होती है।

तपरूपी दुर्ग (किले) मे निवास करनेवाले साधु का राग, द्वेष, मोह और इन्द्रिय रूपी डाकुओं का गिरोह कुछ भी बिगाड करने मे समर्थ नहीं होता है। उस दुर्ग के धैर्ययुक्त मति का कोट होता है। चारित्र का बहुत ऊंचा दर्वाजा है, और उसके क्षमा और सुकृत कर्म के दो किवाड लगे होते हैं। तथा सयम दुर्गरक्षक कोतवाल होता है। इस प्रकार सुरक्षित तपरूपी दुर्ग का आश्रय लेने वाले मुनी के रत्नत्रयरूप धन भडार को राग द्वेष-मोह इन्द्रिय चोर लूट नहीं सकते हैं।

इन्द्रिय को वश मे करने से ही ध्यानसिद्धि होती है:—

दतेंदिया महरिसी राग दोस च ते खवेदूणं।
झाणोवजोगजुत्ता खवेंति कम्मं खविदमोहा ॥ ११५ ॥ (मूला. अ.)

अर्थ—इन्द्रियों का दमन करनेवाले समीचीन ध्यान मे रत हुए महर्षि राग व द्वेष रूप आत्मा के वैभाविक भावों का क्षय करके, मोह रहित होकर सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करते हैं। क्योंकि सम्पूर्ण कर्मों का मूल कारण राग द्वेष हैं। उनका नाश होने पर सब कर्म सहज मे नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—हे मुनीश्वरो! राग द्वेष से प्रेरित हुए इन्द्रियरूपी अश्व विषयरूप बीहड वन के उन्मार्ग (ऊबड खाबड मार्ग) मे आत्मा को लेजाते हैं। जबतक ये इन्द्रिय-अश्व उन्मार्ग मे गमन करते रहते हैं, तब तक आत्मा को शुभध्यान रूपी उत्तम मार्ग प्राप्त नहीं होता है। इसलिए उत्तम-ध्यान रूप सुमार्ग मे आत्मा को लेजाने के लिए मन रूपी घोडों की लगाम को दृढता से थामलो तथा मन को विषयों से हटाने के लिए उसको शुभध्यान मे स्थिर करने के लिए सबसे प्रथम विषयों मे उत्पन्न होनेवाले राग द्वेष को क्षीण करो और व्रत उपवासादि का आचरण करके उद्धत हुई इन्द्रियों का दमन करो। उनको उपवासादि से निर्बल बनाओ। निर्बलता को प्राप्त हुई इन्द्रियाँ रूपी अश्व को वैराग्य भावना द्वारा स्थिर हुए मन रूपी लगाम के थाम लेने से विषयों से उदासीनता और सुध्यान मे रति उत्पन्न होती है। आर्त्तरौद्रध्यान का विनाश होकर शुभध्यान की जागृति होती है। अतः धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान मे परायण हुए मुनिराज के क्षमादि

दशधर्म तथा रत्नत्रय रूप आत्मीय धर्म प्रकट होते हैं और अष्टकर्मों का क्षय सहज में होने लगता है। जिस वृक्ष का मूल (जड़) नष्ट हो जाता है वह वृक्ष कितने कालतक खडा रह सकता है ? अथवा कितने समय तक वह हरा भरा रह सकता है ? अर्थात् उसका शीघ्र भूमि पर पतन होता है और वह अल्प समय मे ही सूखजाता है और वह पुनः भूमि मे नही जमता है। इसी प्रकार अष्ट कर्मों के मूल कारण कषाय राग द्वेष हैं। उनका ध्वंस होने पर सब कर्मों का सहज मे ध्वंस होजाता है और फिर वह आत्म-भूमि मे कभी नहीं उत्पन्न होते हैं। अतएव हे मुनिराजो! इष्ट वियोगादि से उत्पन्न होने वाले आर्त्तध्यान को तथा क्रोधादि कषायों की उग्रता से उत्पन्न होने वाले रौद्रध्यान को आत्मा के निकट मत आने दो। और धर्म्यध्यान व शुक्लध्यान का निरन्तर चिन्तन करो। इन शुभ ध्यानों को स्थिर करने के लिए शुक्ल लेश्या को प्रकट करो। यदि तुम इस प्रकार आचरण करने मे दत्तचित रहोगे तो तुम्हारी आत्मा मे क्रोधादि कषाय किसी प्रकार के विकार भाव उत्पन्न करने मे समर्थ न होगी।

निश्चल चित्तवाले मुनियों को कषायें दबा नहीं सकती हैं और न उनके मन को चंचल कर सकती हैं। जैसे कल्पान्त काल की उत्तर दक्षिण पूर्व व पश्चिम की प्रचण्ड वायु सुमेरु को कम्पित नहीं कर सकती है।

हे मुनियो! यदि तुम यथावत् छह आवश्यकों का पालन व आगमोक्त चारित्र का सम्यक् प्रकार आचरण करो तो प्रतिकूल परिस्थिति भी तुम्हारा कुछ भी बुरा नहीं कर सकती और तुम कर्मों की निर्जरा करने मे समर्थ हो सकते हो।

जो मुनि संसार से भयभीत, विषयों से उदासीन व शरीर से विरक्त है, जिसके हृदय मे अभिमान की मात्रा नहीं है, वह मन्द कषायी शास्त्रों का अधिक ज्ञान न होने पर भी भेदविज्ञान के जागृत होने से कर्मों का क्षय कर लेता है। लेकिन उस मुनि के २८ मूलगुण तो अवश्य होने चाहिए। यदि मूलगुण रहित होकर मुनिपद धारण करता है तो वह दृढ कर्मों का बन्धन कर नरक या निगोद में जाता है।

हे मुने! यदि तुम निर्दोष चारित्र का पालन करना चाहते हो तो प्रासुक निर्दोष आगमानुकूल भिक्षा भोजन करो। वन मे या एकान्त स्थान मे रहो। अल्प आहार करो। बहुत भाषण मत करो। दुःख आने पर चित्त मे विकार मत उत्पन्न होने दो। निद्रा को जीतो। सब जीवों के साथ मैत्री भाव रक्खो उत्तरोत्तर वैराग्य की वृद्धि करो। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मेरा स्वरूप है, इनके सिवाय कर्मजन्य भाव शरीरादि मेरे नहीं हैं। ऐसा सतत चिन्तन करो। श्रद्धान पूर्वक सम्यग्ज्ञान सहित जो तपस्या करते हैं उनके पूर्व कर्मों का क्षय व नवीन कर्मों का संवर होता है। सरागसंयम, शुभ लेश्या तथा सामायिकादि का आचरण करते हुए यदि मृत्यु होतो वह जीव स्वर्गों मे जाता है—जैसा कि निम्न विवेचन से स्पष्ट होगा.—

मुनियों के पुलाकादि भेद और उनका वर्णन

श्री भगवान् भट्टाकलंकदेव ने राजवार्तिक में नवें अध्याय (सूत्र ४७) मे कहा है —

"पुलाकादय सयमादिभि· साध्याः ॥४॥ एते पुलाकादय· पच निर्ग्रन्थविशेषा संयमादिभिरष्टभिरनुयोगै व्याख्येया इत्यर्थ'

पुलाक, वकुश, कुशील" निर्ग्रंथ और स्नातक ये पांचों प्रकार के मुनि निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) होते हैं। उनका सयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिङ्ग, लेश्या, उपपाद और स्थान इन आठ अनुयोगों से व्याख्यान किया जाता है। "तद्यथा-क कस्मिन् सयमे भवति ?" जैसे कि कौन किस सयम के आराधक होते हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर समाधान करते हैं—

"पुलाकवकुश प्रतिसेवनाकुशीला द्वयो सयमयो सामायिकच्छेदोपस्थापनयोर्भवति । कषायकुशीला द्वयो परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसाम्पराययो पूर्वयोश्च । निर्ग्रन्थस्नातका एकस्मिन्नेव यथाख्यातसंयमे ।"

अर्थ—पुलाक, वकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनि सामायिक तथा छेदोपस्थापना सयम के आराधक होते हैं। कषायकुशील मुनि पूर्वोक्त दो सयमों के तथा परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसाम्पराय सयम के आराधक होते हैं । निर्ग्रन्थ और स्नातक एक यथाख्यात सयम के ही आराधक होते हैं।

"श्रुत—पुलाक-वकुश-प्रतिसेवनाकुशीला उत्कर्षेणाभिन्नाक्षरदशपूर्वधरा । कषायकुशीला निर्ग्रन्थाश्चतुर्दशपूर्वधरा । जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु । वकुशकुशीलनिर्ग्रन्थाना श्रुतमष्टौ प्रवचनमातर । स्नातका अपगतश्रुता केवलिन· ।"

अर्थ—पुलाक, वकुश और प्रतिसेवना कुशील ये तीन प्रकार के मुनि अधिक से अधिक अभिन्नाक्षर दशपूर्व के धारक होते हैं। अर्थात् उनके नवपूर्वों का पूर्ण ज्ञान तथा दशवें पूर्व का अपूर्णज्ञान होता है। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ चौदह पूर्व तक के धारक होते हैं। पुलाकमुनि के जघन्य से जघन्य श्रुतज्ञान आचार वस्तु का होता है। वकुश, कुशील, प्रतिसेवना कुशील के कम से कम आठ प्रवचन माता (पाचसमिति व तीन गुप्ति) का ज्ञान होता है। स्नातक मुनि केवली होते हैं। उनके श्रुतज्ञान नहीं होता है।

"प्रतिसेवना—पचाना मूलगुणाना रात्रिभोजनवर्जनस्य च परामियोगात बलादन्यतम प्रतिसेवमान पुलाको भवति। वकुशोद्विविध, उपकरणवकुश शरीरवकुशश्चेति। तत्र उपकरणाभिष्वक्तचित्तो विविधविचित्रपरिग्रहयुक्तो बहुविशेषयुक्तोपकरणकाक्षी तत्संस्कारप्रतीकारसेवी भिक्षुरुपकरणवकुशो भवति। शरीरसस्कारसेवी शरीरवकुश । प्रतिसेवनाकुशीलो मूलगुणानविराधयन् उत्तर-गुणेषु काचिद्विराधना प्रतिसेवते। कषायकुशील निर्ग्रन्थस्नातकाना प्रतिसेवना नास्ति ।"

अर्थ—दूसरे किसी मनुष्यादि के बलात्कार से पुलाक जाति का मुनि पाच मूल गुण (अहिंसादि पच महाव्रत) और रात्रि-भोजन त्याग इनमें से किसी एक के विपरीत सेवन (विरुद्ध आचरण) कर लेता है। वकुशमुनि के दो भेद है—१ उपकरण वकुश और २

स प्र

शरीर बकुश। उनमे से उपकरण बकुश उसे कहते है जो उपकरण (कमण्डलु पुस्तकादि) मे विशेष आसक्ति रखता है, विविध और विचित्र परिग्रह (पुस्तकादि) मे युक्त होता है, विशिष्ट उपकरण की आकाक्षा करता है, तथा उनके सस्कारादि को करता है। शरीर के संस्कार को करने वाला शरीरबकुश होता है। प्रतिसेवनाकुशील उसे कहते है जो मूल गुणो की विराधना नहीं करता है किन्तु कभी २ उत्तरगुणों की विराधना कर बैठता है। कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक के किसी प्रकार की प्रतिसेवना (विरुद्धाचरण) नहीं होती है।

"तीर्थमिति—सर्वेषा तीर्थकराणा तीर्थेषु सर्वे भवन्ति।"

अर्थ—सम्पूर्ण तीर्थकरो के तीर्थ मे पुलाकादि सब प्रकार के मुनि होते हैं।

"लिङ्ग —द्विविध, द्रव्यलिंग, भावलिंग च। भावलिंग प्रतीत्य सर्वे पञ्चनिर्ग्रन्था लिङ्गिनो भवन्ति इति। द्रव्यलिंगं प्रतीय भाज्याः।"

अर्थ—लिङ्ग दो प्रकार का है—१ द्रव्यलिङ्ग और २ भावलिङ्ग। भावलिंग की अपेक्षा से सब पांचो निर्ग्रन्थ लिंगी होते हैं। द्रव्यलिंग की अपेक्षा विविध विकल्प होते है।

"लेश्या—पुलाकस्योत्तरास्तिस्रो लेश्या भवन्ति। बकुशप्रतिसेवनाकुशीलयो षडपि। कषायकुशीलस्य परिहारविशुद्धेश्चतस्र उत्तरा। सूक्ष्मसाम्परायस्य निर्ग्रन्थस्नातकयोश्च शुक्लैव केवला भवति। अयोगशैल प्रतिपन्ना अलेश्या.।"

अर्थ—पुलाक मुनि के पीत, पद्म और शुक्ल ये तीनो शुभ लेश्याएँ होती है। बकुश और प्रतिसेवना कुशील के छहो लेश्या होती हैं। कषाय कुशील और परिहारविशुद्धि सयमवाले के कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये चारो लेश्या होती हैं। सूक्ष्मसाम्पराय तथा निर्ग्रन्थ और स्नातक (सयोग केवली) के केवल एक शुक्ल ही होती है। अयोगकेवली के कोई भी लेश्या नहीं होती है।

"उपपाद.—पुलाकस्य उत्कृष्ट उत्पाद, उत्कृष्टस्थितिषु देवेषु सहस्रारे। बकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोर्द्वाविंशतिसागरोपमस्थिति-ष्वारणाच्युतकल्पयो'। कषायकुशीलनिर्ग्रन्थयोस्त्रायस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिषु सर्वार्थसिद्धौ। सर्वेषामपि जघन्य. सौधर्मकल्पे द्विसारोपम-स्थितिषु। स्नातकस्य निर्वाणमिति।"

अर्थ—पुलाक मुनि मरकर अधिक से अधिक सहस्रार स्वर्ग में उत्कृष्ट स्थितिवाले देवो मे जन्म लेते है। बकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनि आरण व अच्युतस्वर्ग मे बाईस सागर की स्थिति वाले देवो तक मे जन्म लेते हैं। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ मुनि तेतीस सागर की स्थिति वाले सर्वार्थसिद्धि तक के देवो मे उत्पन्न होते हैं। उक्त सब (चारो प्रकार के) मुनि कम से कम सौधर्म कल्प में दो सागर की स्थिति वाले देव होते हैं। तथा स्नातक महामुनि नियम से मोक्ष प्राप्त करते हैं।

'स्थान—असंख्येयानि संयमस्थानानि कषायनिमित्तानि भवन्ति। तत्र सर्व जघन्यानि लब्धिस्थानानि पुलाककषायकुशीलयो तौ युगपदसंख्येयस्थानानि गच्छत। ततः पुलाको व्युच्छिद्यते। कषायकुशीलप्रतिसेवनाकुशीलबकुशा युगपदसंख्येयानि स्थानानि गच्छन्ति। ततो बकुशो व्युच्छिद्यते। ततोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा प्रतिसेवनाकुशीलो व्युच्छिद्यते। ततोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा कषाय कुशीलो व्युच्छिद्यते। अतऊर्ध्वं अकषायस्थानानि निर्ग्रन्थः प्रतिपद्यते। सोऽप्यसंख्येयस्थानानि गत्वा व्युच्छिद्यते। अत ऊर्ध्वमेकं स्थानं गत्वा स्नातको निर्वाणं प्राप्नोति—इत्येषा संयमलब्धिरनन्तगुणा भवति इति।"

अर्थ—कषाय के निमित्त से संयम के असंख्यात स्थान होते हैं। उनमें सबसे जघन्य स्थान पुलाक व कषायकुशील के होते हैं। वे दो असंख्यात स्थानों तक तो एक साथ जाते हैं। पुलाक वहीं रह जाता है। वहां से से आगे कषायकुशील, प्रतिसेवनाकुशील और बकुश असंख्यात संयम स्थानों तक तो तीनों साथ जाते हैं पश्चात् बकुश उनसे अलग होकर वहीं रह जाता है। उसके आगे असंख्यात संयमस्थान आगे जाकर प्रतिसेवना कुशील अलग हो जाता है और उससे असंख्यात संयमस्थान आगे चलकर कषायकुशील भी रहजाता है। उसके ऊपर अकषाय स्थानों मे निर्ग्रन्थ पहुँचता है। यह असंख्यात स्थान आगे जाकर ठहर जाता है। उसके ऊपर एक स्थान जाकर स्नातक निर्वाण को प्राप्त करता है। इस प्रकार इन संयमियों की संयम की लब्धि (प्राप्ति) अनन्त गुणी अनन्तगुणी होती है।

भावार्थ—मुनि चारित्र, तप और ध्यान के प्रभाव से कम से कम सौधर्म स्वर्ग मे और पुलाक उत्कृष्ट सहस्रार स्वर्ग तक जाते हैं। बकुश और प्रतिसेवना कुशील अच्युत स्वर्ग मे बाईससागर की आयु वाले देवों तक होते हैं। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ उत्कृष्ट सर्वार्थसिद्धि तक जाते हैं। तथा स्नातक मोक्ष जाते हैं। मिथ्यादृष्टि भी मुनि-चारित्र व तप का आचरण कर नव ग्रैवेयक तक जाता है और वहाँ पर अपूर्व दिव्य सुख का अनुभव करता है। यदि सम्यग्दृष्टि चारित्र व तपस्या का आचरण करता है तो वह उत्तरोत्तर दिव्य-सुखों का उपभोग करता हुआ निर्वाण पद को पाता है। इसलिए हे मुने! सम्यग्ज्ञान पूर्वक चारित्र और तपश्चरण तथा ध्यान का आराधन करो। क्योंकि येही संसार के सम्पूर्ण सुखों के देने वाले हैं। इष्ट पदार्थों का संयोग और अनिष्ट पदार्थों का असंयोग करानेवाले हैं। मनोऽनुकूल सुख सामग्री जो कुछ इस लोक मे मिलती है उस के ये मूल कारण हैं। चक्रवर्ती की अनुपम विभूति और देवेन्द्र के दिव्य भोगोपभोग इनके सेवन करने से ही मिलतेहैं। इसी प्रकार के सुन्दर और अत्यन्त प्रिय स्वर्गादि के भोग प्राप्त कर निर्वाण की प्राप्ति इन्हीं से होती है। अत ऐसा सुअवसर पाकर इनके आचरण करने मे दत्त चित्त हो जाओ। किंचिन्मात्र प्रमाद न करो। इसीमे मनुष्य-जन्म की सफलता है।

यही भाव पाहुड मे कहा है—

धम्मम्मि णिप्पवासो दोसावासो य इच्छुफुल्लसमो।
णिप्फलणिग्गुणयारो णडसवणो णग्गरूवेण ॥ ७१ ॥

अर्थ—जिस साधु का निजस्वभाव रूप धर्म मे तथा उत्तम क्षमादि दश लक्षण धर्म मे वास नहीं है, वह दोषों का आवास है। तथा इक्षु के फूल के समान है। जैसे इक्षुका फूल फल रहित होता है, और गन्धादि गुण से भी शून्य होता है, वैसे उस साधु का मुनिभेष भी धर्म हीन होने से निष्फल है और क्षमादि गुण रहित है। वह साधु तो नग्न रूप धारण कर नाचनेवाले नट के समान है। अर्थात् नग्न साधु का स्वाग धारण करने वाला बहुरूपिया है।

भावार्थ—जो साधु के गुणों से हीन मुनि मनुष्यों को सम्यक्त्व व संयम-विरुद्ध उपदेश देकर उनको प्रसन्न करता है, तथा अपनी कषाय के पोषण करने मे आगम के विरुद्ध लोगों की प्रवृत्ति करता है वह स्वयं नष्ट होता है दूसरों का नाश करता है एवं धर्म के मार्ग को मलीन करता है। जो साधु के गुणों से शोभित है उसीसे निम्नोक्त लिंग कल्प शोभित होता है।

लिंगकल्प के चार भेद

अच्चेलक्कं लोचो वोसट्टसरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हु लिंगकप्पो चदुव्विधो होदि णायव्वो ॥ १७ ॥ (मू० स०)

अर्थ—१ सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग, २ केशलोच करना, ३ शरीर-सस्कार का त्याग, ४ तथा प्रतिलेखन लिंग कल्प है।

भावार्थ—यहाँपर आचेलक्य शब्द से सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग लिया गया है। यद्यपि आचेलक्य शब्द का अर्थ तो केवल वस्त्र का त्याग करना है तथापि यहाँ पर उपलक्षण से वस्त्रादि समस्त परिग्रह के त्याग का ग्रहण है। आचेलक्य और केशलोच के बारे में मूलगुणाधिकार मे विशेष लिखा जा चुका है।

शरीर के सस्कार-त्याग का वर्णन भी वहीं अस्नान (स्नानत्याग) नाम मूलगुण में कर आये हैं, इसलिए यहाँ उनका विवेचन न करके प्रतिलेखन के बारे मे कुछ विशेष लिखते हैं।

प्रतिलेखन (मयूरपिच्छी) का स्वरूप

रजसेदाणमगहण मद्दव सुकुमालदा लहुत्तं च।
जत्थेदे पंचगुणा तं पडिलिहणं पसंसंति ॥ १६ ॥ (मूला० सम०)

अर्थ—जो रज (धूल) और पसीने का ग्रहण न करे, अत्यन्त मृदु (मुलायम—कोमल) हो, जो देखने में सुन्दर प्रतीत हो, जो हलका हो—ऐसे पांच गुण जिसमें पाये जावे वह प्रतिलेखन प्रशसनीय माना गया है।

भावार्थ— हे मुने ! तुम्हारे सयम की रक्षा करनेवाला सयम का उपकरण प्रतिलेखन है। जो तुम्हारे पास प्रतिसमय रहना चाहिए ? जिसमें निम्नोक्त पाच गुण पाये जावे वही प्रतिलेखन प्रशसनीय माना गया है।

(१) रजोऽग्रहण—२ स्वेद का अग्रहण, ३ मृदुता, ४ सुकुमारता, और लघुता।

(१) साधु प्रतिदिन अपने उपयोग मे आने वाले शास्त्रो का प्रमार्जन करता है। निवास करने की वसतिका प्रदेश का पट्ट आदि का प्रमार्जन करता है। उस रजोहरण (प्रतिलेखन) मे ऐसा गुण होना चाहिए कि धूल आदि का सम्पर्क होने पर भी वह मलीन न हो ऐसा स्वाभाविक गुण जिसमे पाया जावे वही रजोहरण प्रशसनीय है और साधु के हाथ मे धारण करने योग्य है।

(२) स्वेदका अग्रहण - मुनि के शरीर पर यदि पसीना आ रहा है तो उसको प्रतिलेखन से पोंछना पडता है। पसीने से जो नही भीगे वही मुनि के ग्रहण करने योग्य माना गया है।

शङ्का—क्या मुनि शरीर के स्वेद (पसीने) को पिच्छी से पोंछते हैं ?

समाधान—मुनि अपने शरीर को किसी वस्त्र से कभी नहीं पोंछते, किन्तु जब मुनि धूप से छाया में या छाया से धूप में आते है, उस समय पिच्छी से अपने शरीर को पोंछ कर ही जाते हैं। यदि ऐसा न करें तो छाया के जन्तु धूप के ससर्ग से और धूप से जीवन प्राप्त करने वाले छाया मे पहुचने से मरण को प्राप्त हो जावेंगे। अतः मुनि को उचित है कि वह अपने शरीर को कोमल पिच्छी से पोंछ कर छाया से धूप मे और धूप से छाया मे जावे।

(३) मृदुल—नेत्र मे फिराने पर भी जो पीड़ा न पहुचावे ऐसा कोमल प्रतिलेखन उपादेय माना गया है। श्वेताम्बर साधु भेड की ऊन का प्रतिलेखन रखते हैं। उसमे यह गुण नहीं पाया जाता है। यदि भूल से वह आंख मे लग जावे तो आंख में भारी बाधा पहुचाता है। अतः सूक्ष्म (छोटे-बारीक) जन्तुओ के अति कोमल शरीर को वह प्रतिलेखन अवश्य बाधा पहुचावेगा है। इसलिए वह साधुओ के लिए उपादेय नही बताया है। दूसरी बात यह है कि उनमे असख्य जीव उत्पन्न होजाते हैं। तीसरा दोष यह है कि उसका मूल्य (कीमत) अधिक होता है। अतः वह सर्वथा अग्राह्य माना गया है।

(४) सुकुमारता—जिसमे अपूर्व सुकुमारता पाई जावे। अर्थात् उक्त गुणों के साथ जिसका रूप भी दर्शनीय हो। नेत्रेन्द्रिय व

मन को प्यारा लगनेवाला रूप जिसमें विद्यमान हो वही प्रतिलेखन मुनि के ग्रहण करने योग्य होता है।

(५) लघुता—वह इतना हल्का हो कि जिससे सूक्ष्म जन्तु के शरीर को भी किसी प्रकार की बाधा न पहुंचे। तथा उठाने रखने आदि में सुविधाजनक हो। अत्यन्त वृद्ध तथा अशक्त मुनि को भी उससे मार्जन करने मे किसी प्रकार का कष्ट न हो।

उक्त सब प्रकार के गुण मयूरपिच्छी मे ही पाये जाते हैं। ऊन आदि के बनाये गये रजोहरण में उपर्युक्त गुण नहीं होते। उनमे मयूरपिच्छ के समान कोमलता नहीं होती, अपने शरीर को भी कठोर प्रतीत होती है। तब अति कोमल सूक्ष्म प्राणियों को तो वह शस्त्रसा प्रतीत होती है। वह धूल-स्वेद आदि से मलीन होजाती है। उसमे दर्शनीय गुण भी नही होता। उसमें जीवों की उत्पत्ति होती है। चोरी होजाने का भय लगा रहता है। उसे बाजार में बेचकर-द्रव्य वसूल किया जा सकता है। ऐसे ही और भी अनेक कारण हैं जिनसे उनका प्रतिलेखन मुनियो के सयम की रक्षा करने मे समर्थ नहीं होता, बल्कि बाधक सिद्ध होता है। मयूरपिच्छ में गुण ही गुण हैं। इसके समान अन्य कोई ऐसा द्रव्य नहीं है जिसमे उक्त पांचों गुण हो और जो सयम का उपकारक हो। इसके चोरी जाने का भी भय नहीं रहता है।

शङ्का—ऊन तो ऐसा पदार्थ है जिसे भेडोंके स्वामी साल मे दो बार भेड़के शरीर परसे कतरनी द्वारा कतरकर उतार लेते हैं। उस के उतारने से भेड़ को कष्ट नहीं होता है और मयूर के पिच्छ उतारने से तो मयूर को दुःख होता है; इसलिए ऊन मयूर पिच्छ की अपेक्षा उत्तम है।

समाधान—भेड़ के शरीर से कतरनी द्वारा ऊन उतारते समय भेड को थोडा बहुत कष्ट अवश्य होता है और मयूरपिच्छ को तो मयूर अपने आप वर्ष मे एक बार कार्तिक मास मे अवश्य छोड़ता है। पुराने पिच्छ उसके स्वयं गिरते हैं और नये आते हैं। ऐसा प्राकृतिक नियम है। जो स्वतः गिरे हुए पंख होते हैं उनसे ही मुनि की पिच्छी बनाई जाती है। अतएव मयूरपिच्छी मे कोई दोष नहीं होता। उसके निमित्त मयूर को पीडा नहीं दी जाती है। वह तो स्वयं उसे छोडकर अपने को लघु बनाता है और उसमे आनन्द मानता है। क्योंकि बिना पुराने पिच्छ का त्याग किये नवीन पिच्छ उत्पन्न नहीं होते हैं।

उक्त प्रकार सब दोषो से निर्मुक्त और पाच गुणों से युक्त प्रतिलेखन मयूरपिच्छ के सिवा अन्य कोई नहीं है। इसलिए परम दयालु संयमनिष्ठ निर्ग्रन्थ आचार्यों ने सर्वगुण-सम्पन्न मयूरपिच्छ का ही सर्वश्रेष्ठ सयम का रक्षक प्रतिलेखन स्वीकार किया है।

शङ्का—नेत्र द्वारा जीवों को देखकर उनकी रक्षा कर सकते हैं तो फिर जीवरक्षा के निमित्त मयूरपिच्छ (प्रतिलेखन) की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—नेत्र इन्द्रिय द्वारा देख कर चलने फिरने आदि क्रियाओं के करने से जीवों की रक्षा होती है, किन्तु चक्षु इन्द्रिय छोटे छोटे सब जीवों को देखने में असमर्थ है। उनकी रक्षा के लिए मयूरपिच्छ की अत्यन्त आवश्यकता है। वही कहा है—

सुहुमा हु संति पाणा दुप्पेक्खा अक्खिणो अगेज्झा हु।
तम्हा जीवदयाए पडिलिहणं धारए भिक्खू ॥ २० ॥ (मूला० स०)

अर्थ—संसार में द्वीन्द्रियादि त्रसजीव व एकेन्द्रिय वनस्पति कायादि स्थावर जीव इतने छोटे२ होते हैं कि जिनका दिखाई देना अत्यन्त दुष्कर है। उनको चर्म-चक्षु देख नहीं सकती हैं। इसलिए उन जीवों की रक्षा के निमित्त साधु को मयूरपिच्छिका अवश्य धारण करनी चाहिए।

भावार्थ—साधु ने सम्पूर्ण जीवों के साथ मैत्रीभाव धारण किया है। उनको किसी प्रकार का कष्ट न देने की प्रतिज्ञा की है। वह उनके दुःख को अपना दुःख समझता है। दूसरे मनुष्यों को भी जीवों की रक्षा का उपदेश देता है। वह साधु जीवों के भेद, स्थान, योनि आदि आदि का ज्ञाता होता है। जो नेत्रेन्द्रिय के गोचर स्थूल जीव होते हैं उनको बचाकर गमनागमनादि क्रिया करता है। किन्तु कितने ही जीव ऐसे छोटे होते हैं जो इन चर्म-चक्षुओं से दिखाई नहीं देते हैं। उनकी रक्षा का उपाय एक मयूरपिच्छिका है। वह इतना कोमल व हल्का उपकरण है कि छोटेसे छोटे जन्तु को भी उससे बाधा नहीं होती है। उस सर्वोत्तम प्रतिलेखन से भी साधु बड़ी सावधानी से धीरे धीरे हल्के हाथ से प्रमार्जन करता है।

हे मुने! तुम प्रातःकाल नित्यप्रति अपने ज्ञान के उपकरण पुस्तकादि का तथा संयम के उपकरण कमण्डलु आदि का तथा अपने निवास स्थान वसतिका प्रदेश का मयूरपिच्छिका से प्रमार्जन करो। तुम्हें मलमूत्र की बाधा दूर करना हो, थूकना हो तो पहले उस स्थान को नेत्र से भले प्रकार देखकर तथा रात्रि में उठना बैठना, मलमूत्रादि का त्याग करना अथवा थूकना, हो तो मयूर पिच्छिका से प्रमार्जन करके उस स्थान को निर्जन्तु करके करो। तुम उठना चाहते हो तो उठने के पहले पाँव रखने की भूमि को, बैठना चाहते हो तो बैठने की भूमि आदि को, सोना चाहते हो तो शयन करने के स्थान को, आगे पाँव रखना चाहते हो तो पाँव रखने के स्थान को पहले मयूरपिच्छिका से प्रमार्जन करलो। यदि करवट लेना आवश्यक हो, हाथ पाँव फैलाना, सुकोड़ना हो तो मयूरपिच्छिकासे उस स्थान का अवश्य प्रमार्जन करो। कमण्डलु आदि उठाना हो तो कमण्डलु आदिको तथा उनको नीचे रखना हो तो उस स्थानको पहले प्रमार्जन करके पश्चात् नीचे रक्खो। कारणवश यदि वसतिका आदि के किवाड़ या खिड़की आदि खोलने या ढकने पड़ें तो बड़ी सावधानी रखो। कभी कभी किवाड़ों की चौखटों की संधियों में छिपकलियां, मकड़ियां व कसारियां पाई जाती हैं। इनके अतिरिक्त और भी छोटे २ जन्तु रहा करते हैं इसलिए उनको देखकर तथा पिच्छी से

प्रमार्जन कर खोलना व बन्द करना चाहिए। इसी प्रकार तुम्हारे शरीर पर खुजली चले या किसी जन्तु के काटने आदि की बाधा प्रतीत हो और यदि तुम उसको न सह सको तो सहसा न खुजलाओ, किन्तु पिच्छी से शनैः शनैः उसे प्रमार्जन करो। तात्पर्य यह है कि मयूरपिच्छी का प्रत्येक क्रिया के पूर्व, जहां उसकी आवश्यकता हो, अवश्य उपयोग करो। इस पिच्छी को आहार करते समय कुछ काल के लिए दूर रखो। शेष सब कामों में उसको सदा निकट रखो। एक क्षण के लिए भी उसे अपने पास से अलग मत करो। सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित स्थान में एक ,र भी यदि तुम को चलना पड़े तो पिच्छी को छोड़ कर मत चलो। उठो तब पिच्छी को हाथ में तथा बगल में दबा कर चलो व उठो।

शंका—मयूर की पिच्छी से जीव जन्तुओं को हटाने पर उन जीवों को बाधा होती है, इसलिए उसके धारण करने की क्या आवश्यकता है?

समाधान—मयूर की पिच्छी के अग्र भाग इतने कोमल होते हैं कि आँखों के अन्दर फिराने पर भी पीड़ा नहीं होती है। आँखों को भी सुहावने लगते हैं। तब उनसे जीवों को बाधा कैसे हो सकती है? जीव जन्तुओं की रक्षा करनेवाला यह अद्वितीय उपकरण है। उसका धारण करना साधु के लिए अत्यन्त आवश्यक है। प्रतिलेखन जीवों के हृदय में विश्वास उत्पन्न करनेवाला है। अतएव यह साधु के लिए सबसे अधिक आवश्यक उपकरण है। इस प्रकार इसका ग्रहण करना साधुके लिए युक्ति और आगम से परमावश्यक सिद्ध होता है। जिस प्रकार आहार की शुद्धि पर ध्यान रखना संयमी का परम कर्त्तव्य है, उसी प्रकार उपकरणों की शुद्धि पर ध्यान रखना भी परम कर्त्तव्य माना गया है। अत, सयम की रक्षा के लिए मयूरपिच्छिका होना आवश्यक है—इसमें कोई सन्देह नहीं।

मुनि इन चार लिङ्गों को धारण करके चारित्र का अनुष्ठान (आचरण) करते हैं। इनको धारण किये बिना मुनि पूर्णरूप से चारित्र का आराधन करने में समर्थ नहीं हो सकता, इसलिए इनका धारण करना मुनिमात्र के लिए परमावश्यक है। आचेलक्य (नग्नपना) तो स्वाभाविक चिह्न है। माता के पेट से बालक नग्न निकलता है, उस समय उस शरीर पर बाल के अग्रभाग मात्र भी कोई वस्त्रादि परिग्रह नहीं होता है। केशलोच सद्भावना प्रकट करने वाला चिह्न है। तथा शरीर के संस्कार का त्याग करने से वैराग्य भाव प्रकट होता है। जिसको शरीर से राग नहीं होता है वही उसको मैला कुचैला धूल से धूसरित देखकर भी उसको स्वच्छ नहीं करता है। तथा जीवों की रक्षा करने के लिए मयूरपंख की पिच्छी का उपयोग है ही। इस प्रकार मुनिलिंग के चार भेद बताये गये हैं।

सिद्धान्तों में दश प्रकार का श्रमण कल्प वर्णन किया गया है—

अच्चेलक्कुद्देसिय सेज्जाहर रायपिंड किदियम्मं।
वद जेठ्ठ पडिक्कमणं मासं पज्जो समणकप्पो ॥ (मूला० स०)

अर्थ—१ आचेलक्य अर्थात् सम्पूर्ण वस्त्रादि परिग्रह का त्याग, २ औद्देशिक (उद्दिष्ट) भोजनादि का त्याग, ३ शय्याधर वस-

तिका के स्वामी के घर के अहार का त्याग, ४ राजपिण्डत्याग, ५ कृति कर्म, ६ व्रतारोपण, ७ ज्येष्ठपने (बड़प्पन) का विचार, ८ प्रतिक्रमण, ६ स्थितिकल्प (एक मास ठहरना) और १० पर्या अर्थात् मुनि की निषद्यका जहाँ हो या पंच कल्याणक जिन स्थानों पर हुए हों उन स्थानों की यात्रा करने को पर्या स्थिति कल्प कहते हैं। अथवा वर्षाकाल मे चार मास पर्यन्त एक जगह ठहरने को पर्या कहते हैं। इस प्रकार मुनिकल्प (मुनि-व्यवहार) दश प्रकार का है।

उक्त भेदों का विशेष वर्णन पहले मूलगुणाधिकार के आचेलक्यादि प्रकरण में तथा समाचाराधिकार में आचार्य के ६३ गुणों के अवसर पर कर आये हैं।

भाव श्रमण बनो

निक्षेप की अपेक्षा श्रमणों के चार भेद किये जा सकते हैं—(१) नाम श्रमण, (२) स्थापना श्रमण, ३ द्रव्य श्रमण और ४ भाव श्रमण। इन चार निक्षेपो मे से आदि के तीन निक्षेप हेय हैं। शेष भावनिक्षेप ही उपादेय है। क्योंकि नामादि तीन निक्षेपों से जीव की इष्ट-सिद्धि नहीं हो सकती। उसमे वास्तविक पूज्यतादि लानेवाला भाव निक्षेप है। किसी का मुनि या साधु नाम रख लेने से वह मुनि का गौरव नहीं पा सकता। किसी विषयासक्त या परिग्रह धारक व्यक्ति मे मुनि की स्थापना करलेने से भी कोई लाभ नहीं। द्रव्य मुनि का भी वह महत्व नहीं। यदि स्व-पर का कोई लाभ है तो वह भाव मुनि बनने से ही है।

शंका—आधुनिक दिगम्बर मुनियों मे पुरातन मुनियों की स्थापना हो सकती है या नहीं ? यदि हो सकती है तो जीव में दूसरे जीव की स्थापना हो गई और आपने इसका पहले निषेध किया है सो कैसे ?

समाधान—पुरातन मुनियों की आधुनिक मुनियों मे स्थापना करके उनके समान उनको समझ कर व्यवहार करना सर्वथा अनुचित है। मुनि की पूज्यता उसके गुण के आश्रित है। यदि उसमें अठाईस मूलगुण हैं तो वह पूज्य है और यदि उन मे से एक भी कम है तो वह पूज्य नहीं है। केवल नग्नरूप मे पूज्यता की कल्पना करने पर नग्न रूप धारण करने वाला बहुरूपिया भी पूज्यता का अधिकारी बन जावेगा। अत पुरातन मुनियों की आधुनिक साधुओ मे कल्पना करके गुण न होने पर भी उनको पूज्य समझना मिथ्यात्व को बढ़ाना है। क्या किसी अल्पज्ञ संसारी जीव मे भगवान् महावीरादि की कल्पना हो सकती है ? जैसे तीर्थंकरादि की स्थापना किसी व्यक्तिविशेष में नहीं हो सकती, वैसे ही प्राचीन काल के मुनीश्वरों की स्थापना आधुनिक साधुओं में भी नहीं हो सकती है।

हे मुनियो ! तुम भावश्रमण बनो। अठाईस मूलगुणों का भंग मत होने दो। भिक्षाशुद्धि पर पूर्ण ध्यान दो। क्योंकि वह व्रत, शील व तप का आधार है। भिक्षाशुद्धि का विचार किस रीति से किया जाय इस विषय में निम्न उल्लेख पर ध्यान देना चाहिए।

भिक्षा शुद्धि कब होती है ?

भिक्खं सरीरजोग्गं सुभत्तिजुत्तेण फासुयं दिण्णं।
दव्वपमाणं खेत्तं कालं भावं च णादूण ॥ ५२ ॥
णवकोडीपडिसुद्धं फासुय सत्थं च एसणासुद्धं ।
दसदोसविप्पमुक्कं चोद्दसमलवज्जियं भुंजे ॥ ५३ ॥ (मूला. स..)

अर्थ—जो प्रासुक भिक्षा-भोजन नवधा भक्ति युक्त दातार के द्वारा दिया गया हो, उसमें साधु नवकोटि से शुद्धि की गवेषणा करे। यह भिक्षा-अन्न मन-वचन-काय द्वारा कृत, कारित व अनुमोदित तो नहीं है ? तथा उसकी प्रासुकता का विचार करे। इसमें किसी अप्रासुक द्रव्य का सम्मेलन या सयोग तो नहीं हुआ है, तथा कृतसादि दोषोंवाला तो नहीं है। इसमे दुर्गन्धादि दोष तो नहीं है। इसकी तथा एषणा शुद्धि की, उद्दिष्टादि दश दोष, चौदह मलदोषो के अभाव का तथा क्षेत्र काल भाव और द्रव्य प्रमाण की जाच करके सम्यग्दर्शनादि की रक्षा और क्षुधा के उपशमन करने के लिए उस आहार का ग्रहण करे।

भावार्थ—वीतरागी साधु उस आहार का ग्रहण करते हैं, जो दाता के द्वारा नवधा भक्ति पूर्वक दिया गया हो, प्रासुक हो। शरीर की रक्षा करनेवाला हो, जो नवकोटि से शुद्ध हो, जो साधु के निमित्त बनाया गया हो, छियालीस दोषों से विमुक्त हो, सड़ा गला दुर्गन्धमय न हो, जिसके द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की परीक्षा करली गई हो। अर्थात् जिस भोजन का द्रव्य शुद्ध हो, पवित्र क्षेत्र मे तैयार किया गया हो, योग्य काल में बनाया गया हो, जिसके गुणो मे व स्वरूप में विकृति उत्पन्न न हुई हो, जो एषणा समिति से शुद्ध हो, देखने मे भी सुन्दर हो, उसकी सर्व प्रकार से शुद्धि का ज्ञान होने पर मुनि रत्नत्रय की सिद्धि के निमित्त क्षुधा का उपशमन करने के लिए प्रमाण सहित आहार का ग्रहण करे।

हे मुने। रत्नत्रय को निर्मल बनाने के लिए शंकादि दोषों का परिहार करो और अहिंसादि व्रतों का पूर्णतया पालन कर चारित्र को शुद्ध बनाओ। तथा द्रव्य क्षेत्र काल व भाव के आश्रय से दोष लगे हों तो उनका निवारण करने के लिए गुरु महाराज के निकट जाकर विनयपूर्वक आलोचना करो और उनके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त का आचरण कर लौकिक-शुद्धि का पालन करो। लौकिक और लोकोत्तर दोनों शुद्धियों से आत्मा को निर्मल करो।

हे मुने ! जिस क्षेत्र में क्रोधादि कषाय जाग उठती हों, जहां भक्ति और आदर की हीनता प्रतीत हो, जहां पर धृष्टता व मूर्खता

की प्रबलता हो, जहा चक्षुआदि इन्द्रियों को ललचाने वाले राग बढानेवाले विषयों की प्रचुरता हो, चित्ताकर्षक शृंगार रस को रसिक स्त्रियों का जमघट हो अर्थात जिस क्षेत्र मे स्त्रिया शृंगार रसप्रिय हों, उनके आकार तथा अंगविकार विषय के पोषक हों, उनमे हाव भाव नृत्य गीतादि एव हास उपहास करने की आदत सी हो गई हो, जिस क्षेत्र में साधुओ को पद पद क्लेशों को सहने के लिए बाध्य होना पडता हो, तथा जो क्षेत्र उपसर्गों मे भरा हो, ऐसे स्थानों से साधु सम्यग्दर्शनादि को शुद्ध रखने के लिए दूर रहे—उस जगह न ठहरे।

शंका—क्या मुनि आदर के भूखे होते हैं? यदि नही होते तो आदर-सम्मान रहित क्षेत्र के परित्याग का उपदेश क्यों दिया गया है?

समाधान—मुनि आदर-अनादर को समान समझते हैं, किन्तु जिस स्थान मे इतर जनों द्वारा दिगम्बर मुद्रा की अवहेलना होती है, धर्म पर प्रीति का अभाव होता है वहाँ पर मुनि को नठहरना चाहिए। यदि कोई मुनि हठ करके ठहरता है तो वह मुनिधर्म का तिरस्कार करानेवाला है तथा जिनाज्ञा को उल्लघन करने के कारण मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्न—तो मुनि को कैसे स्थान मे ठहरना चाहिए?

उत्तर—जो मुनि वीर धीर है उसको पर्वतों की गुफाओं मे या श्मशान मे या सूने घर व मठादि में अथवा वृक्षों की कोटर (पोल) मे ठहरना चाहिए, क्योंकि ये स्थान वैराग्य की वृद्धि करने वाले और चारित्र का पोषण करने वाले हैं। किन्तु निम्नोक्त देश नगरादि मे अथवा उससे सम्बन्ध रखने वाले पर्वतादि मे भी साधु निवास न करे। जैसा कि कहा है—

णिवदिविहीणं खेत्तं णिवदी वा जत्थ दुट्ठओ होज्ज।
पव्वज्जा च ण लब्भइ संजमघादो य तं वज्जे ॥ ६० ॥
णो कप्पदि विरदाणं विरदीणमुवासयम्हि चेट्ठेदुं।
तत्थ णिसेज्ज उव्वट्टण सज्झायाहार वोसरणे ॥ ६१ ॥ (मूला० स०)

अर्थ—जिस क्षेत्र का कोई राजा न हो। अर्थात् जिस देश, नगर, गाँव या घर का कोई स्वामी न हो, वहाँ के रहने वाले मनुष्य स्वच्छन्दता से अपनी मनमानी प्रवृत्ति करते हैं। तथा जिस देश नगर गाँव या गृह का स्वामी दुष्ट स्वभाव का हो, दूसरों को सताने और धर्म की विराधना करने मे जिसको सतोष उत्पन्न होता हो, जिस देश मे शिष्यमण्डली न हो, धर्मोपदेश को सुनने वाले न हों, शास्त्रों का अध्ययन करने वाले न हों, व्रतों के रक्षण करने मे तत्पर न हों तथा जिन के मन मे मुनिधर्म की तथा श्रावकधर्म की दीक्षा

संयम मे अतिचार अविक लगने की सम्भावना हो, आत्म-हित का अभिलाषी साधु ऐसे सब स्थानों

ग्रहण करने की भावना भी न हो, जहाँ संयम मे अतिचार ... चाहिए-जिसमें शयन करने
का परिहार करे।

निर्दोष चारित्र के आराधक मुनियों और आर्यिकाओं को ऐसी वसतिका मे कभी नहीं रहना चाहिए-जिसमें शयन करने । स्वाध्याय करने मे विघ्न
की आगमोक्त योग्यता न हो, वैठने की योग्यता न हो, जहाँ से भिक्षा के लिए जाने में बाधा उपस्थित होती हो, जहाँ रहने से लोकापवाद होता हो
उपस्थित होता हो, तथा अन्य शरीर सम्बन्धी बाधा दूर करने मे अनेक प्रकार आपत्ति प्रतीत होती हो, ऐसे स्थान का यत्नपूर्वक परित्याग करदे।
अथवा व्रतभंग होने का सन्देह हो, अपने चारित्र को उज्ज्वल रखनेवाले साधु व आर्यिका ऐसे स्थान का यत्नपूर्वक परित्याग करदे।

क्योंकि उत्तम वस्तु के संसर्ग से सम्यग्दर्शनादि की शुद्धि होती है और निन्दनीय वस्तु के सम्पर्क से सम्यग्दर्शनादि में मलीनता
उत्पन्न हो जाती है। कभी २ उनका सर्वनाश भी हो जाता है। जैसे कमल के ससर्ग से जल का कुंभ सुगन्धमय और शीतल हो जाता है
और अग्नि आदि द्रव्य के संयोग से शीतल सुगन्धित जल-कुंभ उष्ण और वेस्वाद हो जाता है एवं पत्थर आदि के सयोग से उसका सर्व
नाश हो जाता है। इसलिए साधुओं को कुत्सित संसर्गों का त्याग करना चाहिए। उन कुत्सित (निन्दनीय) संसर्ग का वर्णन करते हैं।

चंडो चवलो मंदा तह साहू पुट्ठिमंस पडिसेवी।
गारव कसायबहुलो दुरासओ होदि सो समणो ॥ ६४ ॥ (मूला० स०)

अर्थ—जो चण्ड स्वभाव का हो, विष वृक्ष के समान जिस मे दूसरों के प्राण हरण करने वाली रुद्र प्रकृति हो, जो अत्यन्त
चंचल स्वभाव वाला हो, जिसके चित्त मे स्थिरता न हो। जिसके पेट मे कोई बात टिक नहीं सकती हो, जो चारित्र के पालन मे आलसी
हो, तथा जो पीठ पीछे निन्दा करनेवाला हो, चुगलखोर हो, अभिमान से भरा हो, अपने को सब से महान् समझ कर दूसरे की अवहे-
लना करता हो, जिसकी प्रकृति क्रोध मय हो, जो बात बात पर क्रोधित हो जाता हो, जो दुराशय हो-ऐसे साधु या अन्यजन का
संसर्ग त्याग करने योग्य है।

हे मुने। जो साधु रोगी, दुर्वल, व्याधि-पीडित आदि साधुओं का वैयावृत्यादि द्वारा उपकार नहीं करता है, जो पाच प्रकार के
विनय से विमुख है, अर्थात् अविनीत—उद्दण्ड है, जो कठोर वाणी का प्रयोग करता करता है, जिसका आचरण निन्दनीय है, दिगम्बर
मुद्रादि का धारक होने पर जिसमें वैराग्य नहीं है, राग भाव का उत्कर्ष है-ऐसे साधु का सम्पर्क सर्वथा त्याग करने योग्य है।
जो कुटिल स्वभाव का है, दूसरे को सताप देने वाला है, पर दोष का प्रकाश करने मे, आनन्द मानता है, मारण उच्चाटन

वशीकरण मन्त्र, यन्त्र, तंन्त्र का प्रयोग करनेवाला है, दूसरे को धोखा देने वाले इन्द्र जाल कोकशास्त्र, वात्सयनादि शास्त्रों में प्रीति रखता है इन दुर्गुणों से युक्त चिरदीक्षित साधु भी सर्प के समान त्याग देने योग्य है। हे मुने। ये दुर्गुण पाप-श्रमण में पाये जाते हैं। क्योंकि वह गुरु के अंकुश रहित अकेला रहकर अनेक दुर्गुणों का निवास स्थान बन जाता है और पाप-श्रमण की संज्ञा पाता है।

पाप-श्रमण का लक्षण

आयरियकुलं मुच्चा विहरदि समणो य जादुएगागी।
ण य गेण्हदि उवदेसं पावस्समणोत्ति वुच्चदि दु ॥ ६८ ॥ (मूला. स.)

अर्थ—जो मुनि आचार्य संघ को छोडकर अपनी इच्छानुसार भ्रमण करता है, मनमाना उपदेश देता है या स्वच्छन्दता पूर्ण वचनालाप करता है, भला बुरा सोचा करता है, किसी के हितकर उपदेश को नहीं सुनता है, किसी की शिक्षा की परवाह नहीं करता है। ऐसा बिना नकेल के बैल के समान अथवा बिना अंकुश के मदोन्मत्त हस्ती के समान स्वच्छन्द प्रवृत्ति करनेवाला संघभ्रष्ट एकलविहारी साधु पाप-श्रमण माना गया है।

जो दुर्वृत्ति साधु अपने गुरु की आज्ञा की अवहेलना कर, अपनी उद्दण्डता से उनके अंकुश की परवाह न कर आचार्य बनने की लालसा से मदमस्त हाथी के समान इधर उधर विचरने लगता है, तथा एक दो अपने समान साथियों को इकट्ठा कर आचार्य बन बैठता है-वह विवेक हीन साधु पाप-श्रमण है। वह पापमय प्रवृत्ति करके अपना नाश तो करता ही है और उनकी संगति करनेवाले संयमियों तथा श्रावकों को भी उन्मार्ग मे लगाता है। जैसे आम का वृक्ष नीम के सम्पर्क में आकर कडुवे फल देता है। उसी प्रकार संवेद भाव (ससार से भीति) रहित, धर्मानुरागहीन, शिथिलाचारी, साधु के कर्त्तव्यों से विमुख, दुराशय साधु का संसर्ग मत करो। उसकी सगति आत्मा को श्रद्धा और चारित्र से च्युत कर देती है।

नगर के मध्यभाग से निकले हुए नाले समान दुर्जनसाधु के वचन कूडे कर्कट के समान निकला करते हैं। जैसे नाले में बहकर आया हुआ मलमूत्र कूडा कर्कट दुर्गन्ध को फैलाता है वैसे ही दुर्जन साधु आगम विरुद्ध वचनों का उच्चारण कर समाज में अधर्म और दुराचार का विस्तार करता है। ऐसे साधु से सदा डरते रहना चाहिए। क्योंकि उसके वचन-भुजङ्ग आत्मा को डसते हैं। उसके विष की प्रभाव अनन्त भव तक बना रहता है, अतः वह भुजग (सर्प) से भी महा भयानक है। यद्यपि उसके वचन घोड़े की लीद समान ऊपर से चिकने चुपड़े होते हैं, बगुले के समान सुन्दर प्रतीत होते हैं, भुजङ्ग के भोग (शरीर) के समान कोमल मालूम होते हैं, किम्पाक फल के समान

आपात-रमणीय और मीठे होते हैं, किन्तु अन्त में आत्मा के घातक होते हैं। आत्मा को अनाचार रूप दुर्गन्ध से मलीन करनेवाले होते हैं। विष के समान आत्मा के घातक हैं।

हे मुने! कोई चिरकाल का दीक्षित होने से श्रेष्ठ नहीं माना गया है। साधु की श्रेष्ठता सच्चे वैराग्य से होती है। बहुत से साधु चिरदीक्षित होने पर भी मोक्षमार्ग से वञ्चित देखे जाते हैं। वैराग्यपरायण तीन दिन का दीक्षित अथवा अन्तर्मुहूर्त्त का दीक्षित भी मोक्ष का अधिकारी होता देखा गया है। अत आत्मा मे वैराग्य भावना को दृढ बनानेवाले परम विरक्त साधुओं का सत्सग करो। कई साधु ऐसे देखे जाते हैं जिनके उपदेश परम वैराग्य का निरूपण करते हैं परन्तु उनके अतःकरण लोभ और मान से गन्दे और मोक्षमार्ग से विमुख होते है। इसलिए सहसा किसी साधु को आत्मा के लिए हितकर मत समझो। उसके निकट सम्पर्क मे कुछ काल रहो। उसके विचारों और कार्यों का सूक्ष्मदृष्टि से निरीक्षण करो। तब तुम्हें प्रतीत होने लगेगा कि उसका बाह्यरूप घोडे की लीद के समान सुहावना है और उनका अन्तरंग कितना गन्दा और तुच्छ है। वे ऊपर से बगुले के समान सुन्दर दिखाई देंगे और उनके काम अति निन्दनीय और घृणा क योग्य प्रतीत होंगे। इसलिए जिन के ससर्ग मे तुमको अपने जीवन को सफल बनाना है अपने वैराग्य भाव को दृढ करना है-चारित्र को उन्नत बनाना है-तो उनकी जॉच मे असावधानी मत करो।

हे मुने! देखो कर्मबन्ध के कारण आत्मा के परिणाम हैं। इसलिए अपने आत्मपरिणामों को उज्ज्वल बनाये रखो। जो साधु दिखावे के लिए-अपने को उत्तम प्रकट करने के लिए-दूसरों के सामने तो अपने मन वचन काय की उत्तमता से प्रवृत्ति करता है, और जनता से पृथक् होते ही-एकान्त में-उनकी कुप्रवृत्ति करता है। मन मे निन्दनीय और तुच्छ विचारों को जन्म देता है। संकल्प और विकल्प रूपी जल तरंगों मे उसकी मनरूप नौका गोते खाने लगती है। अभिमान, लोभ और माया भरे महान असत्य वचनों का उच्चारण करता है और काय से जीवरक्षा रहित अज्ञानमय क्रियाएँ करता है वह साधु अपना भी विनाश करता है और उसके सम्पर्क मे रहने वाले सयमियों और श्रावक श्राविकाओं की भी मिथ्यामार्ग मे प्रवृत्ति होने लगती है। इसका कारण भावों की मलीनता ही है। इसलिए प्रतिसमय तुमको अपनी आत्मा का निरीक्षण करते रहना चाहिए। जो साधु विवेक-ज्ञान (भेद ज्ञान) रूपी दीपक लेकर अपने अन्तःकरण मे सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्ररूपी मार्जनी (बुहारी) से मिथ्यात्व, असयम व कषाय रूपी कूडे कर्कट को साफ करता रहता है उसकी आत्मा अल्पकाल मे परम पवित्र बन जाती है और उसके द्वारा ही ससार के जीवों का कल्याण होता है। वह शीघ्र मुक्ति-पद का अधिकारी होता है और उसके ससर्ग से अन्य जन भी मुक्तिपथ के पथिक बनते हैं। इसलिए तुमको मिथ्यात्व असयम और कषाय का सर्वथा त्याग कर अपनी आत्मा का प्रतिक्षण निरक्षण करते रहना चाहिए।

क्योंकि आत्मा के परिणामों के निमित्त को पाकर योग द्वारा प्राप्त हुए कार्मीण वर्गणा के पुद्गल, कर्मरूप परिणमन करते हैं।

जो आत्मा ज्ञानरूप परिणत होता है। जिसको भेद-विज्ञान जागृत हो गया है, वह आत्मा निरन्तर आत्मा का निरीक्षण करता रहता है, इस लिए वह कर्म के बन्धन से बद्ध नहीं होता है। अर्थात् उसके कर्मों का बन्धन नहीं होता है। अत चारित्र को ज्ञान दर्शन पूर्वक कहा है।

हे मुने। जो साधु मिथ्यात्व, असयम व कषाय को हृदय मे स्थान नहीं देता है, उसके ज्ञान व चारित्र की वृद्धि होती है। उसका चित्त एकाग्रता को प्राप्त होता है और चित्त की एकाग्रता को ही ध्यान कहते हैं। उसका शान्त-चित्त स्वाध्याय की ओर प्रवृत्त होता है। वह आगम का वाचन, पृच्छन, चिन्तन, स्मरण करता है। तथा वाचन-चिन्तनादि से उपलब्ध हुए तत्त्व को, आगम के रहस्य को, उपदेश द्वारा जनता मे प्रकट करता है। इस प्रकार प्रवृत्ति करनेवाला महात्मा संसार समुद्र से शीघ्र पार होता है और उसके सम्पर्क में रहने वाले पुण्यवान पुरुष भी संसार सागर से निकलने का साधन सन्मार्ग रूपी नौका प्राप्त करलेते हैं।

हे मुने। ज्ञान सन्मार्ग का प्रदर्शक है और तपश्चरण आत्मा को शुद्ध करनेवाला है। तपश्चरण मे भी स्वाध्याय सब से मुख्य है। क्योंकि आत्मा को तपश्चरण सरीखे कठोर कार्य मे स्थिर रखने वाला विवेकज्ञान है और वह ज्ञान स्वाध्याय से, सूत्र (आगम) का अभ्यास, मनन चिन्तन से उपलब्ध होता है। कहा भी है—

सूई जहा ससुत्ता ण णस्सदि दु पमाददोसेण।
एवं ससुत्तपुरिसो ण णस्सदि जहा पमाददोसेण॥ ८० ॥ (मूला० स०)

अर्थ—डोरे मे पिरोई हुई सूई प्रमाद से गिर जाने पर भी जैसे गुम नहीं सकती–अर्थात् कूडे कचरे में गिरी हुई सूक्ष्म सूई सूत्र (डोरे) के साथ होने से पुन. मिल जाती है–वैसे ही आत्मा के प्रतिकूल अनेक कारणों के उपस्थित होने पर, तपश्चरणादि कठोर क्लेशजनक आचरण से आत्मा मे चंचलता आजाने पर उसको सन्मार्ग मे स्थिर करने वाला सूत्र (आगम) का स्वाध्याय है। जो कोमल प्रकृतिवाला मनुष्य दुष्कर वृक्षमूलादि योग अथवा मासोपवास कायक्लेशादि तप करने मे असमर्थ है, वह यदि शुद्ध-चित्त से कषायादि का त्याग करके निरन्तर आगम के स्वाध्याय मे तल्लीन रहता है तो कर्मों का बहुत शीघ्र क्षय करलेता है।

हे मुने। शास्त्रस्वाध्याय और ध्यान की सिद्धि करने के लिए तुमको निद्रापर विजय प्राप्त करना चाहिए। क्योंकि निद्रा मनुष्य को अचेत (विवेकहीन) बना देती है। निद्रा मे साधु विवेक-शून्य होकर अनेक दोषों का सेवन करता है। निद्रा और आहार बढ़ाने से बढते और घटाने से घटते हैं। जो निद्रा के वश रहता है–उसको प्रमाद व आलस्य घेरे रहता है उसका मन न तो स्वाध्याय मे लगता है और न ध्यान मे लगता है। इसलिए शास्त्रज्ञान प्राप्त करने के लिए और चित्त को एकाग्र करने के लिए निद्रा–विजयी बनो। निद्रा–विजयी साधु जीवाजीवादि तत्त्वों का नयप्रमाण से सूक्ष्मज्ञान प्राप्त करता है। कर्मों के बन्धन और मोचन के कारणों को जानकर ध्यान द्वारा कर्म–बन्धन

की गुत्थियो को सुलझाता है। जैसे लक्ष्यवेधी मनुष्य धनुष पर सीधा बाण रखकर अपने दोनों नेत्रो को अर्धनिमीलित (आखें मूदकर) बाण को लक्ष्य से मिलाता है, इसी प्रकार प्रमाद रहित साधु शुभध्यान के लिए अर्धनिमीलित नेत्र होकर अपने चित्त को एकाग्र करके आत्मा में लगाता है।

हे मुने! संसार और भोगों से विरक्त होकर तुम ज्ञानावरणादि कर्मों का आत्मा के प्रदेशों के साथ सम्बन्ध का, आत्मा के साथ सम्बद्ध कर्मों के विश्लेषण के उपायो का तथा जीव और पुद्गलादि अजीव पदार्थों तथा उन पर्यायों के भेद प्रभेदों का चिन्तन करो।

हे साधो! इस जीव ने अनादिकाल से ससार में परिभ्रमण करते हुए द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन, भव परिवर्तन और भावपरिवर्तन अनेक बार किये हैं। किन्तु श्रीजिनेन्द्रदेव कथित धर्म का आश्रय इस को नहीं मिला है। यदि एक बार भी धर्म का अकुर आत्मा म उदित हो जाता तो उसको इतने असह्य दु ख न भोगने पड़ते। अब काललब्धि आदि के योग से यह सुअवसर उपलब्ध हुआ है। यदि उसको तपश्चरण और ध्यान के बिना खो दिया तो फिर पछताने के सिवा कुछ भी हाथ में न रहेगा। इत्यादि प्रकार से नित्य प्रतिसमय चिन्तन करो।

देखो, ये संसारी अज्ञानवश मोहाग्नि से झुलस रहे हैं, अत्यन्त असह्य दु ख का अनुभव करते हुए भी विषय भोगसे अधिका-धिक सम्बन्ध करते हैं। और अनन्त ससार से निकलने के द्वार को मोहान्ध होकर खो रहे हैं। संसार में धीर वीर साधु ही हैं जो अनेक उपसर्ग परिषहों को सहकर उस असार ससार से विरक्त होकर आत्म-कल्याण के मार्ग में दत्तचित्त है। हे मुने। यह शुभ-संयोग तुमको बड़े सौभाग्य से मिला है, अत, तुम शुभध्यान मे सदा रत रहकर कर्मों के जाल को तोड़कर अपनी निजनिधि को प्राप्त करो।

हे मुने! यदि तुम ध्यान में रत होना चाहते हो तो आरभ और लोभादि कषाय का परित्याग करो। जैसे नेत्र सूक्ष्मतम कचरे को भी नहीं सह सकता, उसको बाहर निकलने पर ही उसे चैन मिलता है। जैसे समुद्र अपने भीतर तृणादि कचरे को स्थान नहीं देता है, ऊपर निकाल फेंकता है। इसी प्रकार ध्यान भी आरम्भ और लोभादि कषाय को अपने निकट नहीं आने देता है। अर्थात् आरम्भ और कषाय के सद्भाव मे ध्यान की सिद्धि असम्भव है। जब आत्मा निष्कषाय होता है, उसके अत करण में कषाय की मलीनता नहीं रहती है-तब ही ध्यान की सिद्धि होती है।

हे मुने! यदि तुम ो ससार के दु खों से छुड़ाने वाले चारित्र का आराधन करना है तो आत्मा में कषाय को उत्पन्न मत होने दो। क्योंकि कषाय के अभाव को ही चारित्र कहते हैं। जो कषाय के वशीभूत हो, वह असयमी है। जिस समय कषाय उपशान्त रहती है-अर्थात् कषाय का उदय नहीं होता है उस समय आत्मा-सयमी होता है।

हे साधो ! शिष्यादि मे मोह उत्पन्न करना दुर्गति का कारण है। क्योकि उससे मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, रागद्वेषादि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। कारणों से दोष पैदा होते हैं और कारणो के अभाव से दोषो का अभाव होता है।

पच्चयभूदा दोसा पच्चय भावेण णत्थि उप्पत्ती ।
पच्चभावे दोसा णस्संति निरासया जहा वीयं ॥ ६३ ॥ (मूला० स०)

अर्थ—कर्म-बन्ध के कारणभूत शिष्यादि सम्बन्धी मोह से रागद्वेषादि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। रागद्वेषादि के कारणभूत मोह के अभाव से उन दोषो का प्रादुर्भाव नहीं होता है। इसलिये कारणभूत शिष्यादि सम्बन्धी मोह के अभाव से मिथ्यात्व, असंयम, कषाय रागद्वेषादि दोष स्वय नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि आश्रय के अभाव से दोष निर्मूल होकर नष्ट हो जाते हैं। जैसे बीज मे अकुर की उत्पत्ति पृथ्वी-जल-पवन-सूर्यकिरणो के सयोग से होती है। यदि पृथ्वी-जल-पवनादि का सयोग न मिले तो बीज अंकुर को उत्पन्न करने मे समर्थ नहीं होता है। जिन कारणो के सद्भाव मे जो दोष होते हैं उन कारणों का अभाव होने पर उनके फल (कार्य) स्वरूप उन दोषो की उत्पत्ति नहीं होती है।

अतएव हे साधुओ ! परिग्रह के कारणभूत क्रोध मान माया लोभ हैं। क्योंकि लोभादि के होने पर ही परिग्रहादि होते हैं और लोभादि का विनाश होजाने पर परिग्रहादि नहीं होते हैं। इसलिए सब साधुओ को लोभादि छोड़ना चाहिए जिससे परिग्रह की इच्छा उत्पन्न ही न हो।

हे साधो ! इस संसार म जीव जो नरकादि पर्यायो को प्राप्त करते हैं, उनका मूलकारण राग द्वेष और मोह है। राग द्वेष व मोह के वशीभूत होकर ही जीव नरकादि कुयोनियो मे भटकता है। ससार मे रागद्वेष मोह ही महाशत्रु हैं। इसलिए वैराग्य ज्ञान द्वारा पदार्थों से मोह को हटाओ। परमविरक्ति धारण करो। वही शिव सुख को देने वाली है।

अत्थस्स जीवियस्स य जिब्भे अत्थाणकारणं जीवो ।
मरदि य मारावेदि य अणंतसो सव्वकालं तु ॥ ६६ ॥
जिब्भो वत्थणिमित्तं जीवो दुक्खं अणादि संसारे ।
भत्तो अणंतसो तो जिब्भो वत्थे जयह दाणिं ॥ ६७ ॥

अर्थ—यह जीव इस संसार मे अर्थ के निमित्त-धन घर भूमि आदि के लिये, अपने जीवन के लिए-आत्म रक्षा के लिए, जिह्वा इन्द्रिय के विपय की प्राप्ति के लिए तथा उपस्थ इन्द्रिय के विषय के लिए-काम सेवन के लिए अपने प्राणों का बलिदान करता है, स्वय अन्य प्राणियो के प्राणो का हरण करता है तथा दूसरो से हरण करवाता है।

इन चारो मे भी रसनेन्द्रिय और मैथुन इन्द्रिय अति बलवान हैं। इनके निमित्त इस जीव ने अनन्त बार इस संसार में घोर दुःख सहे हैं। इसलिए इन दोनो इन्द्रियो पर पूर्ण विजय प्राप्त करो।

भावार्थ—यह अज्ञानी जीव सासारिक विपयों मे सुख समझकर उनकी रक्षा के लिए अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करता है। कभी धन घर गाय भैंस क्षेत्रादि भूमि की प्राप्ति व रक्षा के लिए चौर शत्रु आदि से लडता है। रणचण्डी के चरणो में अपने प्राणों की बलि चढ़ाता है। कभी अनेक निरपराध व दीन क्षीण प्राणियो के प्राण लेता है। अपने जीवन की रक्षा के लिए अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण करता है। अन्यायमार्ग का अनुसरण करता है। असहाय दीन जीवों पर अत्याचार करता है। जीवों के आहार संज्ञा इतनी तीव्र होती है कि जिसके वशीभूत हुआ प्रत्येक जीव रात दिन आहार की खोज मे लगा रहता है। छोटे जन्तु से लेकर बड़े से बड़ा प्राणी पेट की ज्वाला शान्त करने के लिए क्या २ अनर्थ नहीं करता ? एक जन्तु दूसरे जन्तु का भक्षण करता है। मनुष्य भी भोजन की लालसा के वशीभूत होकर भक्ष्य अभक्ष्य का विचार नहीं करता है। मैथुनइन्द्रिय के वश जीव अन्धा सा हो जाता है। विवेकी मनुष्य भी कामातुर होकर कुल, जाति, व सयमादि को भूल जाता है।

हे मुने ! तुम स्पर्शनेन्द्रिय को जीतने के लिए पूर्ण सावधान रहो। काठ की या मिट्टी की स्त्री (पुतली), चित्राम की स्त्री, व स्त्री की (तस्वीर) से भी भयभीत रहो। यह पुतली और स्त्री की तस्वीर भी तुम्हें ब्रह्मचर्य से पतित कर सकती है। क्योंकि इनको देखने से भी चित्त मे क्षोभ सभव है। वही कहा है—

बीहेदव्वं णिच्चं कट्ठत्थस्सवि तहित्थिरूवस्स।
हवदिय चित्तक्खोभो पच्चयभावेण जीवस्स ॥ ९९ ॥
घिदभरिदघडसरित्थो पुरिसो इत्थी बलंत अग्गिसमा।
तो महिलेयं ढुक्का णठ पुरिसा सिवं गया इयरे ॥ १०० ॥ मूला०

अर्थ—ब्रह्मचर्यव्रत को सुरक्षित रखने का अभिलाषी सयमी काठ व मिट्टी की बनी हुई स्त्री तथा चित्र लिखित स्त्री से भी डरता

रहे। क्योंकि वह भी साधु के चित्त में चंचलता व उद्वेग-विकार उत्पन्न कर देती है। चित्त में विकार उत्पन्न होने पर ब्रह्मचर्य का रहना असंभव है। क्योंकि घी से भरे हुए घडे के समान पुरुष है और जाज्वल्यमान अग्नि के समान स्त्री का रूप है। अग्नि के समीप मे रहने वाले घट की जैसी अवस्था होती है, वही हालत स्त्री के साथ संसर्ग करने वाले संयमी की होती है।

स्त्री के फोटो और चित्राम मे भी जब पुरुष के मन को क्षोभित करने की शक्ति है तब साक्षात् स्त्री का क्या कहना ? इसलिए हे साधो। यदि तुम अपनी रक्षा चाहते हो, संयम को स्थिर और ब्रह्मचर्यव्रत को निर्दोष रखना चाहते हो तो स्त्री को सर्प के समान समझो। जो सयमी स्त्री के सम्पर्क मे आये है-उनके साथ वार्तालाप हास्यादि किया है-उनका संयम-जीवन नष्ट होगया है। और जो इनका दूर से ही त्याग करते हैं, उनके साथ बात चीत तो दूर रही, पूर्ण-दृष्टि से भी जो उनको नहीं देखते हैं। वे ही पुरुष मोक्ष मार्ग पर स्थिर रहे हैं और शिवसुख के अधिकारी बने हैं। इसलिए

मायाए वहिणीए धूआए मूइ वुड्ढ इत्थीए।
वीहेदव्वं णिच्चं इत्थीरूवं णिरावेक्खं ॥ १०१ ॥ मूला

अर्थ—चाहे वह स्त्री माता हो, बहिन हो, पुत्री हो, गूगी हो या बाला वृद्धा क्यो न हो-स्त्री के शरीर से सदा डरना चाहिए। क्योंकि अग्नि कसी ही क्यों न हो वह अपना स्वभाव नहीं छोड़ती। जैसे चन्दन की अग्नि भी शरीर को तत्काल भस्मसात् करने मे समर्थ होता है, वैसे ही स्त्री मात्र का सम्पर्क ब्रह्मचर्य का घात करनेवाला है।

हे मुने। तुम ब्रह्मचर्य मे दृढ़ हो। तुम्हारा अन्त:करण पवित्र है। तुम्हारे चित्त मे वैराग्य भावना लहरा रही है। तुमने विषयों को भुजंग के भोग (शरीर) के समान समझकर निर्विकार अवस्था धारण की है। लेकिन संसार मे निमित्त बड़ा बलवान होता है। देखो। आखों मे जल भरने का कोई स्थान नहीं है तथापि अत्यन्त शोक व दुःख के प्राप्त होते ही आखों से आसुओं की धारा बहने लगती है। ग्राम्यशूकरी (शूरड़ी) के स्तनों मे दूध नहीं रहता है, किन्तु उसके बच्चों के मुंह लगाते ही उनके प्रेम से शूरडी के स्तनों में दूध उत्पन्न हो जाता है। संयोग पाकर शरीर के परमाणु जल और दूध रूप परिणत हो जाते हैं। बाह्यनिमित्त मे अचिन्त्य शक्ति है, बाह्यनिमित्त को पाकर चित्त मे विकार भाव उत्पन्न हो सकता है। अतएव स्त्री के अवयवों को कभी मत देखो। जिस स्त्री के हाथ पाँव भी छिन्न भिन्न हो गये हो, कानों से बहरी और नाक से नकटी हो, कोढ से जिसका शरीर झरता हो, अत्यन्त विद्रूप हो, यदि वह भी वस्त्रादि रहित नंगी हो तो उस की तरफ मत झाको। सत्ता मे बैठे हुए कर्म-शत्रु निमित्त पाते ही उदय मे आकर तुम पर विजय प्राप्त करलेंगे। क्योंकि स्त्री आत्मा के धैर्यादि गुण का नाश करके नरकादि दुर्गति मे लेजानेवाली है।

सं प्र

"परिभवफलवल्लीं दुःखदावानलाली,
विषमजलधिवेलां श्वभ्रसौधप्रतोलीम् ।
मदनभुजगदंष्ट्रा मोहतन्द्रासवित्री,
परिहर परिणामैर्धैर्यमालम्ब्य नारीम् ॥"

अर्थ—हे मुने ! तू धीरज का अवलम्बन लेकर स्त्री के सम्पर्क को चित्त से भी निकाल दे। अर्थात् स्त्री के आकार का चित्त मे भी चिन्तन मत कर। क्योंकि यह स्त्री तिरस्कार रूपी फल को उत्पन्न करने वाली वेल (लता) है। दुःख रूप दावानल की परम्परा को बढ़ाने वाली है। विषय रूप समुद्र की लहर है। नरक रूपी महल का बड़ा द्वार है। काल रूपी सर्प की दाढ़ है। मोह रूपी नींद की जन्मदात्री है। ऐसा जानकर ब्रह्मचर्य का पालन करने मे पूर्ण सावधान रहने की आवश्यकता है। ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध मे आचार्यों ने विभिन्न दृष्टियो से विचार किया है।

ब्रह्मचर्य के भेद

मणबंभचेर वचिबंभचर तह काय बंभचेरं च ।
अहवा हु बंभचेरं दव्वं भावं ति दुवियप्पं ॥ १०३ ॥मूला०

अर्थ—ब्रह्मचर्य तीन प्रकार का है। १ मानसिक ब्रह्मचर्य, २ वाचनिक ब्रह्मचर्य और कायिक ब्रह्मचर्य। अथवा द्रव्य ब्रह्मचर्य और भाव ब्रह्मचर्य इस प्रकार ब्रह्मचर्य के दो भेद हैं।

भावार्थ—मन मे स्त्री आदि के सम्बन्ध से विकार भाव के न रहने से तथा स्त्री के रूप का, उसके अवयवों का, शृंगार रस पूर्ण शास्त्रो का चिन्तन या मनन न करने से चित्त मे क्षोभ नहीं होता है। मास, मज्जा रुधिर, वात, पित्त, कफ, लार विष्ठा, मूत्रादि के पात्र, अत्यन्त घृणित स्त्री के अङ्गोपाङ्गों पर दृष्टि पड जानेपर उनके असली स्वभाव का विचार करने से मानसिक ब्रह्मचर्य की पालना होती है। काम विकार उत्पन्न करने वाले शृंगार रस के पोषक नाटक, काव्य आदि के न पढने से, कामाग्नि प्रज्वलित करने वाली कथा कहानी न करने तथा वैराग्य व विषय-विरक्ति उत्पन्न करने वाले शान्तरस पोषक वचनों के उच्चारण करने से वाचनिक ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है। कामोद्दीपन करनेवाले गरिष्ठ आहार का त्याग करने से, शरीर के सस्कार का त्याग करने से, परम वैराग्य की मूर्त्ति गुरु आदि महात्माओ के निकट

रहने से, एकाकी भ्रमण न करने से, एकान्त में माता व बहिन तथा परम विरक्त वृद्धा आर्यिका आदि से भी वार्तालापादि का सर्वथा त्याग करने से कायिक ब्रह्मचर्य सुरक्षित रहता है।

वचन से व काय से ब्रह्मचर्य का पालन करना द्रव्य ब्रह्मचर्य है। मन से भावब्रह्मचर्य का धारण करना भावब्रह्मचर्य है। भावब्रह्मचर्य से रहित केवल द्रव्य-ब्रह्मचर्य से आत्मा की सद्गति नहीं होती। अत. विषय रूपी वन मे रमण करनेवाले मन रूपी मस्त हाथी को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। जब तक मनरूपी मस्त हस्ती विषय वाटिकामे क्रीडा करता फिरता है तब तक सयमभाव उत्पन्न नहीं होता। इसलिए उसे वैराग्य रूपी साकल से विवेक-ज्ञान रूपी आलान (बन्धन स्तम्भ) के साथ बाधो। अन्यथा सयम की आशा करना व्यर्थ है।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए साधु को निम्नोक्त दोषों से बचना आवश्यक है—

पढम विउलाहारं विदियं कायसोहणं।
तदियं गधमल्लाइं चउत्थं गीयवाइयं ॥ १०५ ॥
तह सयणसोधणं पि य इत्थिसंसग्गं पि अत्थसंगहणं।
पुव्वरदि सरणमिदिय विसयरदी पणिदरससेवा ॥ १०६ ॥
दसविहमब्बंभमिणं संसार महादुहाणमवाहं।
परिहरइ जो महप्पा सो दढ बंभव्वदो होदि ॥ १०७ ॥ (मूला. स.)

अर्थ—ब्रह्मचर्य की रक्षा करने के लिए निम्नोक्त विषय का परित्याग करो। १–प्रचुरमात्रा मे भोजन मत करो। २–जलस्नान, तैलमर्दन, उबटन, आदि रागवर्धक कारणों से शरीर का संस्कार मत करो। ३–इत्र लवडर सेंट आदि सुगन्धित द्रव्यो का शरीर से सयोग मत होने दो। ४–गीतवादित्रादि के सुनने का तथा सुरीले गान का परित्याग करो। ५–रुई आदि के गद्दे पलंग आदि आराम देनेवाली शय्या पर शयन मत करो तथा काम को उत्तेजित करनेवाले क्रीडागृह–चित्रशालादि को मत देखो। ६–रागरंग मे निपुण कटाक्षनिरीक्षण एवं शृंगार रसप्रिय स्त्रियो के सपर्क का त्याग करो। ७–रुपये पैसे का तथा वस्त्राभरणादि का ग्रहण मत करो और न उनको छूओ। ८–पूर्व सयम मे भोगे हुए भोगो का स्मरण-चिन्तन मत करो। ९–काम के निमित्त कारण इन्द्रियो के व सुन्दर व मनोहर रूप रसादि विषयो की अभिलाषा मत करो। १०–पौष्टिक व काम को उत्तेजित करनेवाले पदार्थों के सेवन का त्याग करो। ये दश कारण ब्रह्मचर्य के घातक हैं, तथा ससारमे तीव्र दु ख के प्रधान कारण हैं। जो महात्मा इनका भले प्रकार त्याग करता है उसीके ब्रह्मचर्य सुरक्षित रहता है। जो इनका त्याग किये बिना ब्रह्मचर्य का

पालन करने की इच्छा करता है। वह आकाश के कुसुम से सुगन्ध चाहता है। उसका ब्रह्मचर्य बालू की भीत के समान है। ब्रह्मचर्यव्रत को दृढ़ बनाने के लिए उक्त दश त्याग आवश्यक हैं। भाव-ब्रह्मचर्य का धारण व रक्षण उतना ही आवश्यक है जितना कि आयु की रक्षा के लिए शरीर का रक्षण आवश्यक है, अथवा शरीर रक्षा के लिए आहार-ग्रहण आवश्यक है। जिस महात्मा ने द्रव्य-ब्रह्मचर्य को सुरक्षित बना रखने के लिए उक्त दश प्रतिकूल कारणों का त्याग किया है, उसी ने भाव-ब्रह्मचर्य की रक्षा कर आत्मा को कर्म-बन्धन से मुक्त किया है। क्योंकि ब्रह्मचय के होने पर ही चारित्र होता है। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से शरीर मे चारित्र के पालन करने की तथा आत्मा में ध्यान में स्थिर रहने की सामर्थ्य प्रकट होती है। ब्रह्मचर्य के प्रताप से ज्ञानबल के साथ आत्मा की सोई हुई सब शक्तियां जाग उठती हैं और वह आत्मा सहज ही में कर्म-शत्रुओं को परास्त कर अपने निज (शिव) पद को प्राप्त कर लेता है। सिद्धि प्राप्त करने के लिए दो प्रकार के त्याग आवश्यक हैं। कहा भी है—

चाओ य होइ दुविहो संगच्चाओ कलत्तचाओ य।
उभयच्चायं किच्चा साहू सिद्धिं लहू लहदि ॥ ११५ ॥ (मूला.)

अर्थ—यति के दो प्रकार का त्याग होता है। १ परिग्रह का त्याग और २ कलत्र (स्त्री) का त्याग। इन दोनों त्यागों को करके साधु शीघ्र ही सिद्धि को पा लेता है।

भावार्थ—परिग्रह-त्यागी और समस्त स्त्री का त्यागी शील व्रती मुक्ति का अधिकारी होता है। परिग्रहत्याग का ब्रह्मचर्य से भी सम्बन्ध है। जिसके दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग होता है उसके ही ब्रह्मचर्य की उत्कृष्टता होती है। भाव-ब्रह्मचर्य की पूर्ण प्राप्ति के लिए परिग्रह का त्याग अत्यन्त आवश्यक है।

कोहमदमायलोहेहिं परिग्गहे लयइ संसजइ जीवो।
तेणुभयसंगचाओ कायव्वो सव्वसाहूहिं ॥ १०८ ॥ (मूला)

अर्थ—जीव क्रोध से, मद से, माया से, व लोभ से परिग्रह मे आसक्त होता है। इसलिए साधुओं को क्रोधादि कषायों का तथा बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का और दोनों प्रकार के अब्रह्मचर्य का त्याग करना चाहिए।

भावार्थ—जिसको आत्मा ग्रहण करता है उसे परिग्रह कहते हैं। वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। किन्तु कषाय के वशीभूत हुआ आत्मा अपने स्वरूप से तो पृथक् होता है और आत्म-स्वरूप से भिन्न पदार्थों मे आसक्त होता है। क्रोध के आवेश में होकर क्रोध की शान्ति के लिए बाह्यपदार्थों का आश्रय लेता है। जिसपर क्रोधित हुआ हो उससे वैर निर्यातन करने के लिए शस्त्रादि का ग्रहण करता है। अभिमान

के वश होकर अपने को महान दिखाने के लिए अनेक प्रकार के परिग्रह का संचय करता है। मायाचार को सफल बनाने के लिए अथवा कपटाचार को छिपाने के लिए बाह्य आडम्बर दिखाता है। अथवा मायाचारसे दूसरों को ठगकर परिग्रह का संचय करता है। लोभवश अनेक वस्तुओं का अर्जन करता है। तात्पर्य यह है कि परिग्रह के अर्जन व रक्षण में कषाय ही कारण होती है। परिग्रह के त्याग करनेवाले को प्रथम कषायों का त्याग करना अत्यावश्यक है। जबतक आत्मा में कषाय जीवित है तबतक परिग्रह का त्याग होना असंभव है। अतः कषाय-त्याग पूर्वक दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करना चाहिए। परिग्रह का त्याग करने पर ब्रह्मचर्य का आराधन अति सुगम है। इसलिए हे साधो! तुमको सबसे प्रथम कषाय कृश करनी चाहिए। कषाय के मंद होने पर परिग्रह से अरुचि उत्पन्न होती है और परिग्रह से अरुचि आत्मा को ब्रह्मचर्य की ओर प्रवृत्त कराती है। इसलिए परिग्रह त्याग और ब्रह्मचर्य को दृढ़ करने के लिए तुमको कषाय का त्याग करना उचित है। जिस के अन्त करण में लोभादि कषाय धधक रही है उसकी आत्मा मे ब्रह्मचर्यादि व्रत व दोनों प्रकार के संयम का अंकुर नहीं जमता है। जाज्वल्यमान कषाय व्रत व संयम के बीज को क्षणभर में दग्ध कर देती है। अत: कषाय का त्याग ही परिग्रह का त्याग और ब्रह्मचर्य का साधक है।

ब्रह्मचर्य मे स्थिरता और परिग्रह के त्याग से साधु का अन्त करण सब पदार्थों से विरक्त और मोह रहित हो जाता है, शान्त तथा शुभ ध्यान में तत्पर रहता है, उसकी सब क्रियाएं निर्दोष होती हैं। उसकी भिक्षाचर्या में शुद्ध परिणति होती है, ध्यान स्वाध्याय में उसको अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है और वह पापक्रियाओं से निवृत्त रहता है।

व्रतो की रक्षा के लिए शील का होना नितान्त आवश्यक है इसलिए यहाँ शील के भेदों को भी समझा देते हैं।

शील-निरूपण

जोए करणे सण्णा इंदियभोम्मादि समणधम्मे य।
अण्णोण्णेहिं अभत्था अट्ठारह सीलसहस्साइं ॥ २ ॥ (मूला० शी०)

अर्थ—तीन योग, तीन करण, चारसंज्ञा, पाँच इन्द्रिय, दश पृथ्वीकायादि जीव और दश प्रकार मुनिधर्म इन को परस्पर गुणा करने से अठारह हजार शील के भेद होते हैं।

भावार्थ—योग और वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम होने पर औदारिकादि सात प्रकार की कायवर्गणाओं में से किसी एक के अवलम्बन से जो आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द (कम्पन) होता है उसे काययोग कहते हैं। शरीर नामकर्म के उदय से प्राप्त हुई वचनवर्गणा के आश्रय तथा वीर्यान्तराय और अक्षरात्मक मतिज्ञानावरण के क्षयोपशमादि आभ्यन्तर वचनलब्धि के होने पर

वचन उच्चारण करने में प्रवृत्ति करनेवाले के जो आत्म-प्रदेशों का परिस्पंद होता है उसे वचनयोग कहते हैं। तथा आभ्यन्तर वीर्यान्तराय व नोइन्द्रियावरण के क्षयोपशम रूप मनोलब्धि के होने पर तथा बाह्य में मनोवर्गणा के आलम्बन से जो आत्मा के प्रदेशों का कम्पन होता है उसे मनोयोग कहते हैं। इस प्रकार तीन योग हैं। यहाँ पर योग से मन वचन काय की शुभ प्रवृत्ति का ग्रहण है।

करण—कृत, कारित और अनुमोदना ये तीन करण हैं अथवा मन वचन और काय की अशुभ क्रिया को करण कहते हैं।

संज्ञा—संज्ञानाम अभिलाषा का है। वे चार हैं-१आहारसंज्ञा, २ भयसंज्ञा, ३ मैथुनसंज्ञा और ४ परिग्रहसंज्ञा।

इन्द्रिय—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाच इन्द्रियाँ हैं।

जीवराशि—१ पृथ्वीकायिक, २ जलकायिक, ३ तैजसकायिक, ४ वायुकायिक, ५ प्रत्येक वनस्पति कायिक, ६ साधारण वनस्पति कायिक, ७ दो इन्द्रिय, ८ तीन इन्द्रिय, ९ चार इन्द्रिय और १० पचेन्द्रिय जीव।

दश मुनिधर्म—१ उत्तम क्षमा, २ मार्दव, ३ आर्जव, ४ सत्य ५ शौच, ६ संयम ७ तप, ८ त्याग ९ आकिंचन्य, और १० ब्रह्मचर्य ये दश मुनि धर्म हैं।

इन सब को परस्पर गुणा करने से नीचे लिखे अनुसार भेद होते हैं।

$\frac{३ \times ३}{९} \times \frac{४ \times}{३६} \frac{५}{१८०} \times \frac{१० \times १०}{१८००} = १८०००$

इस प्रकार अठारह हजार शील के भेद होते हैं।

भावार्थ—जो श्रेष्ठ मुनीश्वर मन वचन काय से कृत कारित अनुमोदना रूप अशुभ परिणामों से रहित, आहारादि संज्ञा से रहित, स्पर्शनादि इन्द्रियों से संवृत, पृथिवी कायादि जीवों के रक्षक तथा उत्तम क्षमादि दशधर्मों के पालक होते हैं उनके अठारह हजार शील के भेदों का पालन होता है।

अब संयम के भेद रूप चौरासीलाख उत्तर गुणों का खुलासा करते हैं—

पाणिवहमुसावादं अदत्तमेहुणपरिग्गहं चेव।
कोहमदमायलोहा भयअरदिरदिदुगुंछा य ॥ ९ ॥

मणवयणकायमंगुल मिच्छादंसणपमादो य।
पिसुणत्तणमरणाणं अणिग्गहो इंदियाणं च ॥ १० ॥
अदिकमणं वदिकमणं आदिचारो तहेव अणाचारो।
एदेहिं चदुहि पुणो सावज्जो होइ गुणियव्वो ॥ ११ ॥ (मूला. शी)

अर्थ—१ हिंसा, २ असत्य, ३ चोरी, ४ अब्रह्म, ५ परिग्रह, ६ क्रोध, ७ मान, ८ माया, ९ लोभ, १० भय, ११ अरति, १२ रति, १३ जुगुप्सा, १४ मन, १५ वचन, १६ काय, १७ मिथ्यादर्शन, १८ प्रमाद, १९ पैशून्य, २० अज्ञान और २१ इन्द्रियो का अनिग्रह–ये इक्कीस भेद हुए। इनको अतिक्रिम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार इनचार भेदो मे गुणा करने पर चौरासी भेद होते हैं।

भावार्थ—विषय की अभिलाषा को अतिक्रम कहते हैं। अर्थात् विषयों के त्यागी सयमी के जो विषय–सेवन की मन मे इच्छा उत्पन्न होती है वह अतिक्रम दोष कहलाता है। जो सयमी मुनि सघ को छोडकर विषय के उपकरणों (साधनों) का संचय करने लगता है उसके व्यतिक्रम दोष उत्पन्न होता है। जो व्रत मे शिथिलता (ढीलापन) होती है, व्रत का कुछ अंश मे भग होता है उसे अतिचार कहते हैं। और व्रत के भग को, सर्वथा स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने को, व्रत का मूल नाश करने को अनाचार कहते हैं। इन चार दोषों से हिंसादि इक्कीस भेदो को गुणा करने से चौरासी भेद होते हैं।

१ पृथिवीकाय, २ अपूकाय ३ तेजकाय, ४ वायुकाय, ५ प्रत्येकवनस्पतिकाय ६ साधारण वनस्पति काय, ७ द्वीन्द्रिय, ८ त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और १० पचेन्द्रिय इन दश भेदो को परस्पर मे गुणा करने से १०×१०=१०० सौ भेद जीवो के होते हैं।

इन सौ भेदो को पूर्वोक्त चौरासी भेदो से गुणा करने पर ८४×१००=८४०० चौरासी सौ भेद होते हैं।

शीलविराधनाके दशभेद हैं१ स्त्रियोंके साथ हास्य वार्तालापादि करना,२ पौष्टिक(इन्द्रिय विकार जनक)आहार करना,३ सुगन्धित तैल इत्र आदि से तथा गुलाब चम्पा आदि के पुष्पों से शरीर का सस्कार करना, ४ कोमल सुखद शय्या पर सोना, कोमल आसनो पर वैठना ५ कटकादि आभूषण धारण करना, शरीर को सजाना, ६ सुन्दर सुललित रागवर्धक राग रागनियाँ गाना व सारंगी हारमोनियमादि बाजे बजाना व सुनना तथा नृत्य देखना या इन की अभिलाषा रखना, ७ रुपये पैसे सोना आदि द्रव्यों से सपर्क रखना, ८ कुशील (दुश्चरित्र) मनुष्यों की सगति करना, ९ विषयों के पोषण करने के लिए राजादि की सेवा करना, १० विना प्रयोजन रात्रि में घूमना। ये दश कारण शील के घातक आगम मे निरूपण किये गये हैं। इन दश भेदो से पूर्वोक्त चौरासी सौ को गुणा करने पर ८४००×१०=८४००० चौरासी हजार भेद होते हैं।

१ आकम्पित, २ अनुमानित, ३ दृष्ट, ४ बादर, ५ सूक्ष्म, ६ प्रच्छन्न, ७ शब्दाकुलित, ७ बहुजन, ९ अव्यक्त और १० तत्सेवी ये आलोचना के दशदोष हैं। इनका विशेष वर्णन तप आचार मे कर आये हैं।

पूर्वोक्त चौरासी हजार भेदों का इन दश भेदों से गुणा करने पर ८४०००×१०=८४०००० आठ लाख चालीस हजार भेद होते हैं।

प्रायश्चित्त के दश भेद

१ आलोचन, २ प्रतिक्रमण, ३ उभय, ४ विवेक, ५ व्युत्सर्ग ६ तप ७ छेद, ८ मूल, ९ परिहार, और १० श्रद्धान। इनका विशेष वर्णन भी पहले आचुका है। इन प्रायश्चित्त के दश भेदो को पूर्वोक्त आठ लाख चालीस हजार भेदों से गुणा करने पर ८४००००×१०=८४०००००० दोषो के चौरासी लाख भेद होते हैं। इन दोषो के विपरीत चौरासी लाख उत्तरगुण हैं।

जैसे—धीर वीर मुनि, हिंसा के त्यागी, अतिक्रम दोष रहित, पृथिवी के आरम्भ से विमुख, स्त्री सम्पर्क से दूर, आकंपित दोष रहित, आलोचना शुद्धिवाले होते हैं। मृषावाद से विरक्त (सत्यमहाव्रती), अति क्रम दोष हीन, पृथिवी के आरम्भ से विरक्त, स्त्री सम्पर्क से पृथक्, आकम्पितदोषरहित आलोचनशुद्धि वाले होते हैं। इसी प्रकार अदत्तादान विरत आदि मे भी अतिक्रमदोषरहित आदि लगालेना चाहिए। अतिक्रमदोष रहित का जब हिंसादि पाचो पापों के त्यागी के साथ सम्बन्ध हो जावे तब अतिक्रम के स्थान मे व्यतिक्रम को लगाकर पूर्ववत् सब पाठ को ज्यो का त्यो पढना चाहिए। जब व्यक्रिम का सम्बन्ध पाचो हिंसादि विरतों के साथ पूर्ण हो जावे तब व्यतिक्रम को हटाकर उसके स्थान मे अतिचार पद को जोडकर पूर्व की तरह सब पाठ ज्यो का त्यो रखना चाहिए। अब अतिचार का भी सम्बन्ध उक्त पांचो हिंसादि विरतो के साथ पूर्ण हो जावे तब अतिचार को निकालकर उसके स्थान 'अनाचार' पद जोड़ देना चाहिए। जब अनाचार का सम्बन्ध भी पाचों हिंसादि विरतो के साथ सम्पूर्ण हो जावे तब उसके आगे के भग सम्बन्धी 'पृथिवीकाय आरम्भ-त्यागी' को हटाकर उसके स्थान मे 'जलकायारभ-त्यागी' इस पद का सम्बन्ध कर लेना चाहिए। उक्त प्रकार पूर्व भग का सम्बन्ध अन्तिम भंग तक हो जाने पर उसको निकाल कर उसके आगे के भंग का सम्बन्ध करते चले जाना चाहिए। यह क्रम तब तक करते रहना चाहिए जब तक अन्तिम भग समाप्त न हो जावे।

अब शील और उत्तर गुणों का विशद ज्ञान होने के लिए निम्नोक्त पाँच विकल्पों का प्रतिपादन करते हैं:—

सीलगुणाणं संखा पत्थारो अक्खसंकमो चेव।
णट्ठं तह उद्दिट्ठं पंचवि वत्थूणि णेयाणि ॥ १९ ॥ (मू० शी०)

अर्थ—शील तथा गुणों के भेदों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए संख्या, प्रस्तार, अक्ष-संक्रम (अक्षों का परिवर्तन) नष्ट और उद्दिष्ट ये पाँच प्रकार हैं।

भेदों की गणना को संख्या कहते हैं। भेदों की संख्या निकालने अथवा रखने के क्रम को प्रस्तार कहते हैं। प्रथम भेद से दूसरे भेद पर पहुँचने के क्रम को अक्षसंक्रम कहते हैं। संख्या का ज्ञान होने पर भेदों के निकालने को नष्ट कहते हैं। भेदों को जानकर संख्या निकालने को उद्दिष्ट कहते हैं।

शील व गुणों की संख्या निकालने का नियम

सव्वे वि पुव्वभंगा उवरिमभंगेसु एक्कमेक्केसु ।
मेलंतेत्तिय कमसो गुणिदे उप्पजदे संख्या ॥ २० ॥ (मूला० शी०)

अर्थ—शील व गुणों के सब पूर्व भंग ऊपर के प्रत्येक भंग मे मिलते हैं। अतएव उनको क्रमसे गुणा करलेने पर संख्या निकलती है। जैसे—प्रथम भंग 'योग' के प्रमाण तीन को ऊपर के भंग 'करण' के प्रमाण तीन से गुणा करना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक योग का सम्बन्ध प्रत्येक करण के साथ पाया जाता है। इसलिए तीन करण से गुणा करने पर नव संख्या उत्पन्न हुई। इसको ऊपर के 'भंग' संज्ञा के प्रमाण चार से गुणा करना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक योग और प्रत्येक करण का सम्बन्ध प्रत्येक संज्ञा के साथ पाया जाता है। अतः नव को चार मे गुणा करने पर छत्तीस (३६) संख्या हुई। इसको ऊपर के भंग 'इन्द्रिय' के प्रमाण पाच से गुणा करना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक योग, करण और संज्ञा का सम्बन्ध प्रत्येक इन्द्रिय के साथ है। अत. छत्तीस को पाच से गुणा करने पर एकसौ अस्सी (१८०) संख्या हुई। इसको ऊपर के भंग पृथिवीकायादि जीवों के प्रमाण दश से गुणा करना चाहिए, क्योंकि योग, करण, संज्ञा और इन्द्रियों के प्रत्येक भेद का सम्बन्ध प्रत्येक पृथिवीकायादि जीव के साथ है। अत एकसौ अस्सी को दश से गुणा करने पर अठारह सौ (१८००) हुए। इनको आगे के भंग उत्तम क्षमादि मुनिधर्म के प्रमाण दश से गुणा करने पर कुल शीलों की संख्या अठारह हजार होती है। क्योंकि पूर्व के प्रत्येक भंग के भेदों का सम्बन्ध प्रत्येक उत्तम क्षमादि मुनिधर्म के साथ है। अत· सम्पूर्ण शील व्रत के भेदों की संख्या १८००० होती है।

प्रस्तार का उत्पत्ति-क्रम

पढमं सीलपमाणं कमेण णिक्खिविय उवरिमाण च ।
पिंडं पडि एक्केक्कं णिक्खित्ते होइ पत्थारो ॥ २१ ॥ (मूला० शी०)

अर्थ—प्रथम शील के प्रमाण का क्रमसे (विरलनरूप) निक्षेपण करके उसके विरलनरूप के प्रति अर्थात् एक एक रूप के प्रति ऊपर के पिंडरूप शील प्रमाण का निक्षेपण करना चाहिए। इस क्रम से निक्षेपण करने पर प्रस्तार उत्पन्न होता है।

जैसे—प्रथम शील 'योग' का प्रमाण तीन है। उसका विरलन कर के अर्थात् विखेर करके क्रमसे १ १ १ इस प्रकार निक्षेपण करके इसके ऊपर आगे के शील 'करण' के प्रमाण चार के पिंड को प्रत्येक एक के अंक ऊपर $\frac{३}{१}$ $\frac{३}{१}$ $\frac{३}{१}$ इस प्रकार निक्षेपण करना चाहिए। इसके अनन्तर 'करण' के प्रमाण को परस्पर जोड ने पर नव (९) होते हैं। इन ९ को प्रथम समझकर इनका विरलन कर (विखेरकर) एक एक अंक को नव बार १ १ १ १ १ १ १ १ १ इस प्रकार लिख कर आगे शील संज्ञा के प्रमाण चार के पिंड को प्रत्येक एक अंक के ऊपर $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ निक्षेपण करना चाहिए। पश्चात् प्रत्येक संज्ञा के पिण्ड को जोडने पर छत्तीस (३६) होते हैं। छत्तीस को प्रथम समझकर विरलनकर एक एक अंक को, छत्तीस जगह रखना चाहिए। और उन प्रत्येक छत्तीस एकों पर आगे के शील 'इन्द्रिय' के प्रमाण पाँच का निक्षेपण कर उनको जोडना चाहिए। जोडने पर एक सौ अस्सी सख्या होती है उनको भी पूर्व की भाति विरलनकर एक एक अंक को एक सौ अस्सी जगह रखना चाहिए। तथा उनके ऊपर आगे के शील जीव राशि प्रमाण दश के पिंड को प्रत्येक एक के ऊपर स्थापन करना चाहिए। तत्पश्चात् पहले की तरह उनको जोडने से अठारह सौ सख्या होती है। उस संख्या का विरलन कर एक एक अलग रखकर, आगे के शील मुनिधर्म के प्रमाण दश के पिंड को प्रत्येक एक के ऊपर रखना चाहिए। पूर्व की तरह उनको जोडने से अठारह हजार संख्या प्रणाम शील के भेद होते है। इस प्रकार भेद निकालने के क्रम को प्रस्तार कहते हैं। इस क्रम से यह ज्ञात हो जाता है कि पूर्व पूर्व के शील के प्रत्येक भेद उत्तर के समस्त शील के भेदों के साथ सम्बन्ध रखते हैं।

इस प्रकार सम प्रस्तार का निरूपण करके अब विषम प्रस्तार का निरूपण करते हैं—

णिक्खित्तु विदियमेत्तं पढमं तस्सुवरि विदियमेक्केक्कं।
पिंडं पडि णिक्खित्ते तहेव सेसावि कादव्वा ॥ २२ ॥ (मूला० शी०)

अर्थ—द्वितीय शील का जितना प्रमाण उतनी वार प्रथम शील के प्रमाण के पिंड को रख कर उसके ऊपर एक एक पिंड के प्रति द्वितीय शील के प्रमाण को एक एक करके रखना चाहिए। और आगे के भगों के लिए इसी क्रम से स्थापन करना चाहिए।

जैसे—द्वितीयशील 'करण' का प्रमाण तीन है। इसलिए तीन जगह प्रथम शील योग के प्रमाण तीन के पिंड को

२ ३ ३ इस प्रकार रखकर उस प्रत्येक पिंड के ऊपर द्वितीय शील 'करण' के प्रमाण को एक एक करके $\frac{१}{३}$ $\frac{१}{३}$ $\frac{१}{३}$ इस प्रकार रखना चाहिए। इनको जोड़ने से नव (९) होते हैं। इन ९ को प्रथम समझकर आगे के सज्ञा-शील का प्रमाण चार है अतः नौ के पिण्ड को चार जगह रखकर उस प्रत्येक पिण्डके ऊपर सज्ञा के प्रमाण को एक एक करके $\frac{१}{४}$ $\frac{१}{४}$ $\frac{१}{४}$ $\frac{१}{४}$ रखना चाहिए पश्चात् इनको जोडने पर छत्तीस होते हैं। इन छत्तीस को प्रथम मानकर इसके आगे के 'इन्द्रिय' शील का प्रमाण पाच है, इसलिए छत्तीस के पिंड को पाच जगह रखकर उस प्रत्येक पिंड के ऊपर इन्द्रिय प्रमाण पाच को एक एक करके स्थापन कर उनको जोड लेने पर एकसौ अस्सी (१८०) होते हैं। इन को प्रथम समझ कर इसके आगे का शील 'जीवराशि' का प्रमाण दश है इसलिए दश वार एकसौ अस्सी को रखना चाहिए और प्रत्येक एकसौ अस्सी के पिंड पर दश प्रमाण को एक एक करके स्थापन करना चाहिए। पश्चात् प्रत्येक पिंड को जोडने से अठारह सौ होते हैं। इनको भी प्रथम मानने से इसके आगे का शील 'मुनिधर्म' है, उसका प्रमाण दश है। इसलिए दश जगह अठारह सौ के पिंड को रखकर प्रत्येक पिंड के ऊपर दश के प्रमाण को एक एक करके रखना चाहिए। तत्पश्चात् प्रत्येक पिंड को जोडने से अठारह हजार शील के भेद होते हैं। इस प्रकार द्वितीय विषम प्रस्तार का क्रम समझना चाहिए। प्रथम समप्रस्तार एक एक के प्रति पिंड का निक्षेपण करने से होता है और पिंड के प्रति एक का निक्षेपण करने से द्वितीय विषम प्रस्तार होता है।

अक्षसंक्रमण (अक्षपरिवर्तन) का नियम

पढमक्खे अंतगदे आदिगदे संकमेदि विदियक्खो।
दोण्णि वि गंतूणंतं आदिगदे संकमेदि तदियक्खो ॥ २३ ॥ (मूला० शी०)

अर्थ—योग की गुप्ति रूप प्रथम अक्ष क्रम से घूमते हुए जब अंत तक पहुच कर फिर मनोगुप्तिरूप आदि स्थान पर आजाता है तब द्वितीय करण का स्थान मनकरण को छोड़कर वचनकरण पर आता है। इसी प्रकार जब द्वितीय करण स्थान भी क्रम से घूमता हुआ अन्त तक पहुच कर जब आदि मनकरण स्थान पर आता है तब तीसरा सज्ञास्थान बदलता है। अर्थात् आहार सज्ञा को छोड़कर भय सज्ञा पर आता है। जब सज्ञा स्थान भी पूर्व की भाँति क्रमशः भ्रमण करता हुआ अत तक जाकर वापिस आदिस्थान (आहार सज्ञा) पर आता है तब चौथा इन्द्रिय स्थान बदलता है। अर्थात् स्पर्शन को छोड़कर रसना पर आता है। इसी प्रकार इन्द्रिय स्थान भी जब क्रमशः घूमता हुआ अन्त तक पहुँचकर आदि स्थान (स्पर्शन) पर आता है तब पाचवाँ जीवराशिस्थान बदलता है। अर्थात पृथिवीकाय स्थान को छोड़कर जलकाय स्थान पर आता है। इसी प्रकार जब जीवराशि स्थान पर भी अन्त तक पहुच कर आदि स्थान स्पर्शन पर आता है तब छठा स्थान मुनिधर्म बदलता है। इस प्रकार अक्ष के परिवर्तन होने का क्रम समझना चाहिए।

नष्ट निकालने की विधि

सगमाणेहि विभत्ते सेसं लक्खितु संखिवे रूवं ।
लक्खिज्जंतं सुद्धे एवं सव्वत्थ कायव्वं ॥ २४ ॥ (मू शी.)

अर्थ—जिस संख्यावाला शील का भग जानना हो उतनी सख्या रखकर उसमे क्रम से शील के प्रमाण का भाग देना चाहिए। भाग देने पर जो रूप अर्थात् शेष रहे, उतनी सख्या का अक्षस्थान समझना चाहिए। यदि शेप कुछ भी न रहे अर्थात् शेष शून्य आवे तो अन्त का अक्षस्थान समझना चाहिए और लब्ध मे एक नहीं मिलाना चाहिए। जो संख्या लब्ध आवे, उसमे रूप (एक) मिलाकर आगे वाले शील के प्रमाण का भाग देना चाहिए। इसी प्रकार अन्त तक करते जाना चाहिए।

जैसे—दोहजार अस्सी सख्या का कौनसा भंग है ? इस प्रकार पूछने पर बताई हुई २०८० संख्या को रखकर उसमे प्रथम शील योग के प्रमाण तीन का भाग देने से लब्ध छहसौ तिरानवे ६९३ आये और शेष एक आया, इसलिए योग अक्षका प्रथम स्थान मनोयोग हुआ। लब्ध ६९३ मे एक मिलाकर आगे के शील करण के प्रमाण तीन का भाग देने पर दोसौ इकतीस लब्ध आये और शेष एक रहा। इसलिए करण अक्ष का प्रथम स्थान 'मनकरण' हुआ और लब्ध में एक मिलाना चाहिए। अत. दोसौ बतीस मे आगेके शील संज्ञा के प्रमाण चार का भाग देने पर लब्ध अठावन आये और शेष शून्य रहा, इसलिए लब्ध मे एक नहीं मिलाना और संज्ञा का अन्त स्थान परिग्रह संज्ञा समझना चाहिए। उक्त अठावन सख्या मे आगे के शील 'इन्द्रिय' के प्रमाण पाच का भाग देने पर ग्यारह लब्ध आये और शेष तीन रहे। इसलिए इन्द्रिय का तीसरा स्थान घ्राण समझना चाहिए। ग्यारह मे एक मिलाकर ऊपर के शील जीवराशि के प्रमाण दश का भाग देने पर लब्ध एक आया, उसमे एक मिलाना चाहिए। शेष दो रहे, इसलिए जीवराशि का दूसरा अप्काय स्थान समझना चाहिए। तथा दो मे आगे के शील मुनिधर्म के प्रमाण दश का भाग नहीं जाता है। अतः मुनिधर्म का दूसरा स्थान मार्दव समझना चाहिए।

दो हजार संख्या वाला भंग मनो गुप्ति पालक, मन करण का त्यागी, परिग्रह संज्ञा रहित, घ्राणइन्द्रिय-विरक्त, अप्काय सयमी, और मार्दव धर्म पालक हुआ है।

उद्दिष्ट का विधान

संठाविदूण रूवं उवरीदो संगुणित्तु सगमाणे ।
अवणिज्ज अणंकिदयं कुज्जा पढमंति जावेव ॥ २५ ॥ (मूला० शा)

अर्थ—रूप (एक) का स्थापन करके उसको ऊपर के शील का जितना प्रमाण है उसमें गुणा करना चाहिए तथा उसमें जो अनंकित हो उसका परित्याग करना चाहिए। इसी प्रकार अन्त तक करने से उद्दिष्ट का प्रमाण निकलता है।

भावार्थ—शील के भङ्ग को स्थापन कर संख्या निकालने को उद्दिष्ट कहते हैं। उसकी रीति निम्नोक्त प्रकार है।

जैसे—मनोगुप्ति पालक, मनकरण का त्यागी, घ्राणेन्द्रिय विरक्त, परिग्रह संज्ञा रहित, अप्कायारम्भत्यागी और मार्दव धर्म का पालक यह शील का भंग कितनी संख्या वाला है? इस प्रकार किसी के प्रश्न करने पर प्रथम एक का अङ्क स्थापन करके ऊपर के मुनिधर्म के प्रमाण दश से उस एकको गुणा करना चाहिए। गुणनफल दश हुए। उनमें से अनङ्कित आर्जव शौच सत्य संयमादि आठ धर्म हैं, क्योंकि पूछेगये भंग में मार्दव धर्मका ग्रहण है अतः शेष आर्जवादि धर्म आठ हैं उनको दशमें से घटाने से दो रहे। उनको ऊपर के शील जीवराशि के प्रमाण दश से गुणा करने पर बीस होते हैं। उनमें अनङ्कित तेज वायादि आठ हैं उनको बीस में से घटाने पर शेष बारह रहे। उनको आगे के शील स्पर्शनादि पांच इन्द्रियों के साथ गुणा करने पर साठ होते हैं। उनमें से अनङ्कित चक्षु इन्द्रिय और श्रोत्र इन्द्रिय दो घटाने से अठावन रहे। उनको आगे के शील संज्ञा प्रमाण चार से गुणा करने पर दोसौ बत्तीस होते हैं। संज्ञा में अनङ्कित कोई नहीं हैं, क्योंकि प्रश्न में परिग्रह संज्ञा का ग्रहण किया गया है। अतः दोसौ बत्तीस को आगे के शील 'करण' प्रमाण तीन से गुणा करने पर छहसौ छयानवे होते हैं। उनमें से अनङ्कित वचनकरण और कायकरण (दो) को घटाने से शेष छहसौ चौरानवे रहे। उनको आगे के शील योग गुप्ति प्रमाण तीन से गुणा करने पर दो हजार बियासी होते हैं। उनमें अनङ्कित वचन योग और काययोग को घटाने से शेष दो हजार अस्सी प्रमाण रहता है। यह दो हजार अस्सी शील की संख्या उक्त प्रश्न का उत्तर है। इसी प्रकार सर्वत्र भंगों से संख्या निकाल लेना चाहिए।

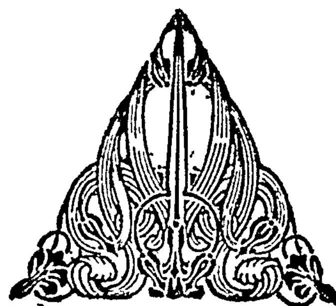
इस प्रकार शील व व्रतों के भेदों को जान कर उनके पालन का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए और साथ ही मूलगुणों के पालन में भी पूर्ण सावधानी रखनी चाहिए। यह मुनि-मार्ग बड़ा कठिन है। कहीं जरा भी चूका और गिरा। चाहे कोई कितना ही तपस्वी हो, यदि वह मूलगुणों की विराधना करता है तो सच्चा साधु नहीं। मूलाचार में स्पष्ट लिखा है—

मूलं छित्ता समणो जो गिण्हादी य बाहिरं जोगं।
बाहिरजोगा सव्वे मूलविहूणस्स किं करिस्संति ॥

जो साधु अहिंसा, सत्य आदि मूलगुणों का विनाश करके मासोपवास, वृक्षमूल, आतपन योग आदि उत्तरगुणों का आचरण करता है उसके वे दुर्धर कायक्लेशादि सब योग-जिसकी जड़ कट गई ऐसे वृक्ष के पत्र पुष्पादि के समान-निरर्थक हैं। अर्थात् जैसे वृक्ष की जड़

कट जाने पर उसके पत्ते फूल आदि किसी काम के नहीं रहते, सब सूख कर बेकार हो जाते हैं उसी प्रकार जिस साधु के अहिंसा, सत्य आदि अठाईस मूलगुण ही नहीं हैं, उनमें भी अनाचार दोष आता है उसके दुर्धर तप आदि सब बाह्य योग बेकार हैं। मूलगुणों के बिना उनका कोई फल नहीं मिल सकता। इसलिए सयमी को अपने प्रत्येक कर्तव्य पर पूरा ध्यान रखना चाहिए। आहारशुद्धि, उपकरणशुद्धि शय्याशुद्धि, वसतिका शुद्धि आदि शुद्धियों में किसी की भी उपेक्षा करने पर साधु गृहस्थ से भी बुरा बन जाता है। इसलिए अपने सम्पूर्ण कर्तव्य को अच्छी तरह समझकर उसका यथोचित पालन करना चाहिए।

यहाँ तक श्री आचार्य सूर्यसागरजी महाराज विरचित
संयम-प्रकाश नामक ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध में द्वादशानु
प्रेक्षा, अनगार भावना आदि अनेक
विषयों का प्रकाश करने वाली
चतुर्थ किरण समाप्त
हुई





मुद्रक

पं० भँवरलाल जैन न्यायतीर्थ,

श्री वीर प्रेस, मनिहारों का रास्ता, जयपुर।



श्री आचार्य सूर्यसागर दि० जैन ग्रन्थमाला

पञ्चम पुष्प ।

श्री १०८ दिगम्बर जैनाचार्य—

श्री सूर्यसागरजी महाराज विरचित

संयम-प्रकाश

पूर्वार्द्ध—पञ्चम किरण

सम्पादक—
श्री पं० श्रीप्रकाश शास्त्री,
न्याय-काव्य तीर्थ

सम्पादक—
श्री पं० भँवरलाल जैन,
न्यायतीर्थ

प्रकाशिका—
श्री आचार्य सूर्यसागर दिगम्बर जैन ग्रंथमाला समिति,
जयपुर ।

प्रथम संस्करण
५४०

वीर संवत्
२४७३

मूल्य—
पूरे ग्रन्थ का १५) रुपया ।
पञ्चम किरण का ३॥) रुपया ।

प्रकाशकीय

संयम प्रकाश की यह पांचवीं किरण काफी विलम्ब से निकल रही है। यह विलम्ब पाठकों को असह्य हो उठा और स्वय हमे भी। इसका हम दु:ख है, पर हम विवश थे। श्री प० भंवरलालजी व प० श्रीप्रकाशजी की अस्वस्थता, प्रेस-कर्मचारियों की अनुपस्थिति, प्रेस का बिजली न मिलना अथवा सीमित मिलना और कागज का अभाव आदि विविध कठिनाइयां के कारण यह विलम्ब होगया। हमने बार २ इन कठिनाइयों पर विजय पाना चाहा पर असफल रहे। इन कठिनाइयों के अतिरिक्त इस विलम्ब का एक यह भी कारण है कि यह किरण पीछे की सारी किरणों से बडी है। यह अकेली ही करीब दो किरणो के बराबर है। इसलिए प्रकाशित अन्य किरणों की अपेक्षा इसमे अधिक समय लगना उचित ही था। इसलिए अवश्य ही पाठक हम इस विलम्ब के लिए क्षमा करेंगे।

इस बार टाइप पुराना हो जाने से इस किरण मे गलतियें रह गई और छपाई भी संतोष जनक न हो सकी। प्रेस के भूतों की असावधानी से कुछ और भी गल्तिया रह गई है। जैसे पृष्ठ न० ६२८ के पश्चात् ६३३ लग गया है और इस तरह बीच के चार नम्बर रह गये हैं। पाठक इन्हें ठीक करलें।

एक बात पाठको से हमे और कहना है। वह यह है कि इस पाँचवीं किरण को मिला कर अब तक की सब किरणों के एक हजार से भी अधिक पृष्ठ होगये हैं। विषय सूची इनसे अलग है। अनुमान होता है कि सारी दशों किरणों के लगभग सतरह सौ पत्र हो जावेंगे। हमने पहले पूरे ग्रंथ का मूल्य पन्द्रह रुपये घोषित किया था वह केवल लागत मूल्य की सभावना मात्र से निर्धारित किया था। तब से अब तक कागज और छपाई आदि सभी का मूल्य काफी बढ गया है। इसके सिवाय उस समय यह खयाल भी नहीं था कि ग्रंथ का परिमाण इतना अधिक बढ़ जायगा। उस समय दशो किरणो के पत्रों के परिमाण का हमने लगभग तेरह सौ के अंदाजा लगाया था। पर वह अंदाजा गलत होता दिखता है। ऐसी अवस्था में अभी नहीं तो संभव है एक दो किरण और प्रकाशित होजाने के बाद हमे ग्रंथमाला के स्थायी ग्राहकों को मूल्य बढाने की प्रार्थना करने के लिए विवश होना पडे। आशा है ग्राहक महोदय हमारे इस उचित निवेदन पर ध्यान देकर कोई ऐसी व्यवस्था सुझावेंगे जिससे ग्रंथमाला को हानि न उठानी पड़े।

चैनसुखदास जैन न्यायतीर्थ,

मन्त्री—

श्री आचार्य सूर्य सागर दि० जैन ग्रन्थमाला समिति.

मनिहारों का रास्ता, जयपुर सिटी।

संयम—प्रकाश

पूर्वार्द्ध—पचम किरण

वृहद्–समाधि–अधिकार

❀ मंगलाचरण ❀

सन्मतिं प्रणिपत्याहं समाधिमरणाश्रय—
मधिकारमिमं वक्ष्ये मोक्षश्रीप्राप्तिकारणम् ॥

इस अध्याय में समाधिमरण का विस्तृत वर्णन किया जायगा। समाधि का अर्थ है अपने आपमे लवलीन होना। समाधि, ध्यान और योग ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। मृत्यु के समय शरीर, कुटुम्ब, धन, गृहादि पर पदार्थों से हटकर आत्मस्थ होना एव वीरता और शाति के साथ मृत्यु का आलिंगन करना समाधिमरण कहलाता है। समाधिमरण का प्राप्त होना सचमुच ही बहुत दुर्लभ है।

जिस आत्मा मे अशुभ परिमाणो की सतति बनी रहती है, उसको समाधि की प्राप्ति कैसे हो सकती है? इसलिए समाधि प्राप्त करने के लिए सर्व प्रथम अशुभ भाव उत्पन्न करने वाले बाह्य निमित्तो को त्याग कर शुभ भाव या शुद्ध भाव उत्पन्न करने का प्रयत्न करना आवश्यक है। जब तक मानसिक विकार आत्मा को मलीन करते रहें, तब तक समाधि (चित्त-शान्ति) की आशा करना व्यर्थ है। इसलिए चित्त मे अशान्ति उत्पन्न करने वाले कारणो का त्याग कर शुभ और शुद्ध परिणामो की जागृति करने वाले उपायों का आश्रय लेना उचित है। यदि एक बार भी सम्यक्त्व सहित समाधिमरण हो जावे तो वह आत्मा अवश्य ही कभी न कभी मुक्ति पद का अधिकारी होता है। वज्रवृषभनाराच सहनन आदि सकल साधन सयुक्त कोई जीव तो समाधि मरण के प्रभाव से उसी भव मे मोक्ष को प्राप्त होता है और कोई दो, तीन या सात, आठ भव बाद मोक्ष की प्राप्ति करता है। इसलिए सयमियो को समाधि के अनुकूल साधनो की ओर अग्रसर होते हुए सदा समाधिमरण के लिए तत्पर रहना चाहिए, क्योकि मृत्यु के आनेका कोई निश्चित समय नहीं है।

आयुर्बंध का नियम

कर्मभूमि मे जन्मा हुआ मनुष्य व तिर्यंच परभव की आयु का बन्ध भुज्यमान आयु के आठ अपकर्ष काल में करता है। अर्थात् वर्तमान आयु के बराबर तीन हिस्सों मे से दो हिस्से बीत जाने पर तीसरे भाग के पहले समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त्त तक पहला अपकर्ष काल है। इस अपकर्ष काल मे परभव सबधी आयु का बंध हो सकता है। यदि इस समय न हो तो फिर उस बचे हुए एक हिस्से के फिर तीन भाग करना चाहिए, उन तीन भागो मे पहले के दो भाग बीत जाने पर तीसरे भाग के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त्त तक दूसरा अपकर्ष काल कहलाता है, इस काल मे भी परभव सबधी आयु का बंध हो सकता है। यदि इनमें भी नहीं हुआ तो इसी तरह तीसरा, चौथा, पॉचवॉ, छटा, सातवॉ, और आठवॉ अपकर्ष काल होता है इनमे से किसी मे आयु का बंध हो सकता है। यदि इनमे भी न हुआ तो आयु के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त्त मे होगा। उदाहरणतया किसी कर्मभूमि के मनुष्य की भुज्यमान आयु छह हजार पाच सौ इकसठ वर्ष की है। इसके तीन भागो मे से दो भाग (तियालीस सौ चौहत्तर वर्ष) बीत जाने पर जब शेष एक भाग (इक्कीस सौ सत्यासी वर्ष) रह जाता है तब इस एक भाग के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त्त तक का काल प्रथम अपकर्ष काल कहलाता है। इस अपकर्ष काल मे परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। यदि इस काल मे आयु का बन्ध न हो तो उस एक तृतीय भाग (इक्कीस सौ सत्यासी वर्ष) मे से दो भाग (चौदह सौ अठावन वर्ष) बीत जाने पर जो शेष एक तृतीय भाग (सात सौ उन्तीस वर्ष) रहता है, उसके प्रारंभ के अन्तर्मुहूर्त्त तक का काल दूसरा अपकर्ष काल कहा जाता है। उस काल मे परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। यदि इस काल मे भी आयु का बन्ध न हो तो उस अवशिष्ट एक तृतीय भाग (सात सौ उन्तीस वर्ष) मे से दो भाग बीत जाने पर जो एक भाग (दो सौ तियालीस वर्ष) शेष रहता है उसके प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त का काल अपकर्ष काल कहलाता है। यह तीसरा अपकर्ष काल हुआ। उसमे परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। यदि इसमे भी आयु का बन्ध न हो तो शेष भाग (दो सौ तियालीस वर्ष) के प्रथम अन्तर्मुहूर्त्त मे आयु का बन्ध करने वाला चौथा अपकर्ष काल है, उसमे परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। यदि इसमे भी आयु का बन्ध न हो तो पाचवें, छटे, सातवें अथवा आठवें अपकर्ष काल मे आयु का बन्ध होता है। यदि आठों मे से किसी भी अपकर्ष काल मे आयु का बन्ध न हुआ हो तो भुज्यमान आयु के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त्त (आयु की अन्तिम आवली के असख्यातवें भाग प्रमाण काल से पूर्व के अन्तर्मुहूर्त) मे आयु का अवश्य बंध होता है।

इस प्रकार कर्मभूमिज मनुष्य व तिर्यंचो के परभव सम्बन्धी आयु के बन्ध होने का नियम कहा गया है। किन्तु भोगभूमि मे जन्मे हुए के लिए तथा देव, नारकियों के परभव सम्बन्धी आयु-बन्ध के विषय मे कुछ विशेषता है। वह निम्न प्रकार है—

भोग-भूमिज मनुष्य व तिर्यंचो के परभव आयु का बन्ध भुज्यमान आयु के अन्तिम नौ महिनो मे होने वाले आठ अपकर्षों के काल मे

होता है। अर्थात् उनकी आयु के जब नौ महीने शेष रहते हैं तब पूर्व की भाति आठ अपकर्ष होते हैं। नौ महिने मे से दो भाग बीत जाने पर जब तृतीय भाग (तीन महीने) शेप रहता है, तब उसके प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त का प्रथम अपकर्ष काल होता है। उसमें परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। जब उसमे आयु का बन्ध नहीं होता है, तब शेप एक तृतीय भाग (तीन महिने) मे से दो भाग (दो महिने) बीत जाने पर अवशिष्ट तृतीय भाग (एक मास) रहजाने पर उसको प्रथम अन्तर्मुहूर्त्त का दूसरा अपकर्ष काल होता है। उसमे आयु का बन्ध होता है। यदि उसमे भी आयु का बन्ध न हुआ तो तीसरे, चौथे, पाचवे, छटे, सातवे, या आठवें मे आयु का बन्ध होता है। यदि इनमे भी न हुआ हो तो पूर्व की भांति भुज्यमान आयु के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त्त मे तो अवश्य ही होता है।

देव तथा नारकियों के परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध भुज्यमान आयु के अन्तिम छह महिने शेप रहने पर होता है। अर्थात् शेप छह महिनों मे पूर्व की भाति आठ अपकर्षण होते हैं। उनमे परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। और यदि उन आठ अपकर्षों के काल मे भी आयु का बन्ध न हो तो पूर्व की तरह आयु के शेप अन्तर्मुहूर्त्त मे तो अवश्य ही आयु का बन्ध होता है। यहा यह भी याद रखना चाहिए कि यदि पहले के किसी अपकर्ष काल मे आयु का बन्ध हो गया हो तो उस के आगे के अपकर्ष कालों मे बंध होता रहेगा। आयु बध के इस उपयुक्त नियम से यह फलितार्थ निकलता है कि कोई भी यह नहीं कहसकता कि उसकी परभव की आयुका बंध कब होगा? इसलिए प्रत्येक समय मनुष्य को अपने भाव ठीक रखना चाहिये।

समाधि युक्त मरण का स्वरूप

मरण के वेत्ताओ ने इसके अनेक भेद बतलाये हैं। मरण का सामान्य अर्थ पर्याय का छोडना है। यह अर्थ सम्पूर्ण जीवों के साथ सम्बन्धित होता है। केवली भगवान हो या छद्मस्थ जीव हो, सब प्राप्त शरीर को छोडते है, इसलिए उन सबका मरण कहा जाता है। किन्तु केवली और छद्मस्थ के मरण मे इतनी विशेपता है कि केवली पूर्व शरीर का त्याग कर पुन नूतन शरीर का ग्रहण नहीं करते हैं। अत. उनका फिर मरण नहीं होता है। वे अजर अमर कहे जाते हैं। और छद्मस्थ जीव पहले के शरीर को छोडकर नवीन शरीर धारण करता है और पुन. मरण करता है। इसलिए मरण, पुन: पुन. जन्म-मरण का निमित्त होता है। ससार मे जितने भी दु ख हैं, उनमें सब से अधिक दु ख मरण का है। अनेक रोगों से पीडित व भयानक उपसर्गों से व्यथित छोटे से छोटा जन्तु भी मरण के नाम से कॉपता है, मरण के दु ख मे घबराता है। इसलिए इस महान दु.ख से उद्धार पाने का एक मात्र उपाय समाधिमरण ही है। यही इस दु.ख को समूल नाश करने वाली परमौपधि है।

पू. कि. ५

स. प्र

जिन महापुरुषो ने अपने जीवन मे विषय वासनाओ से मुख मोड़ा है, कषाय को मन्द करने का अभ्यास किया है, तथा उन का शुभ रूप परिणमन किया है–वे महात्मा महाव्रत का पूर्णतया पालन कर अन्त मे कषायो पर विजय करते हैं। उसका दिव्य फल समाधि मरण उनको ही मिलता है। ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है। यहाँ प्रसगानुसार मरण के भेदो का वर्णन करते हैं। मरण के भगवती आराधना मे १७ भेद बतलाये हैं:—

मरण के भेद

मरणाणि सत्तरस देसिदाणितित्थंकरेहिं जिणवयणे।
तत्थ वि पंच इह संगहेण मरणाणि वोच्छामि॥ २५ ॥ (भग० आ)

अर्थ.—उत्पन्न हुई पर्याय के नाश को मरण कहते है। अर्थात् देव, नारक, तिर्यंच और मनुष्य पर्याय का ध्वस होना ही मरण शब्द का अर्थ है। अथवा प्राणो के त्याग करने को मरण कहते है। क्योंकि 'मृङ्' धातु का अर्थ प्राण त्याग करना है। प्राण धारण करते रहने को जीवन और प्राण त्याग को मरण कहते हैं। प्राण दो प्रकार के है–भावप्राण और द्रव्यप्राण। ज्ञान दर्शन चारित्र भावप्राण हैं। यह सिद्धों के भी पाया जाता है। इसलिए इसकी अपेक्षा से यहा मरण नहीं लिया गया है। द्रव्यप्राणों (इन्द्रिय, बल, आयु और उच्छ्वास) के विनाश को मरण कहा है। आयु के उदय होने पर जीव जीता है और भुज्यमान आयु का विनाश होने पर मरता है।

यह मरण १७ प्रकार का है—(१) आवीचि-मरण, (२) तद्भव मरण, (३) अवधि मरण, (४) आद्यतमरण (५) बालमरण, (६) पडितमरण, (७) आसन्नमरण, (८) बालपडितमरण, (९) सशल्यमरण, (१०) पलायमरण, (११) वशार्त्तमरण, (आर्त्तविशमरण,) (१२) विप्राणमरण, (१३) गृध्रपृष्ठमरण, (१४) भक्तप्रत्याख्यान मरण, (१५) प्रायोपगमन मरण, (१६) इगिनी मरण, (१७) केवलिमरण।

इन सत्रह प्रकार के मरणों मे से पांच प्रकार के मरण ही विशेष उल्लेखनीय हैं। अतः आगम मे उन्हीं का विशेष वर्णन है। शेष बारह प्रकार के मरणो का वर्णन तो गौण रूप से है।

यहा इन सत्रह प्रकार के मरणो का सक्षेप से स्वरूप दिखाते है।

आवीचिमरण

(१) आवीचिमरण—जीवके प्रतिक्षण होने वाले मरण को आवीचि मरण कहते हैं। आवीचि का अर्थ है तरग-लहर। जिस

❋ विषय-सूची ❋

विषय	पृष्ठ संख्या
वृहत्समाधि अधिकार वर्णन	७३७
मंगलाचरण	"
समाधिमरण का अर्थ	"
समाधि की प्राप्ति	"
आयुबन्ध का नियम	७३८
समाधियुक्त मरण का स्वरूप	७३९
मरण के १७ भेद	७४०
१–आवीचिमरण	"
आवीचिमरण के भेद	७४१
१ प्रकृति आवीचिमरण	"
२ स्थिति " "	"
३ अनुभव " "	"
४ प्रदेश " "	"
२ तद्भव मरण	७४२
३ अवधि मरण	७४२
१ सर्वावधिमरण	"
२ देशावधि मरण	,
४ आद्यंत मरण	"
५ बालमरण	७४३
१ अव्यक्त बाल	"
२ व्यवहार बाल	"
३ दर्शन बाल	"
४ ज्ञानबाल	"
५ चारित्रबाल	"
६ दर्शन बाल के दो भेद	"
(१) इच्छा प्रवृत्तबालमरण	"
(२) अनिच्छा प्रवृत्तबालमरण	७४४
६ पण्डित मरण	७४४
१ व्यवहार पण्डित मरण	"
२ दर्शन "	"
३ ज्ञान "	"

विषय	पृष्ठ संख्या
४ चारित्र पण्डित मरण	७४४
७–अवसन्नमरण	७४५
८–बालपंडित मरण	,,
९–सशल्य मरण	७४६
द्रव्य और भावशल्य	,,
मायाशल्य	,,
मिथ्याशल्य	,,
निदानशल्य	,,
१ प्रशस्तनिदान	,,
२ अप्रशस्तनिदान	,,
३ भोग निदान	,,
१० पलायमरण	७४७
११ वशार्त्त (आर्त्तवश) मरण	,,
१ इन्द्रिय वशार्त्त मरण	,,
२ वेदना वशार्त्त मरण	७४८
३ कषाय वशार्त्त मरण	,,
१ क्रोध वशार्त्त मरण	,,
२ कुलादि आठ मान वशार्त्त मरण	,,
३ निकृति आदि पाच माया वशार्त्त मरण	७४९
४ लोभ वशार्त्त मरण	,,
४ नोकषाय वशार्त्त मरण	,,
१२–विप्पाणस (विप्राण) मरण	,,
१३–गृध्रपृठ मरण	७५०

विषय	पृष्ठ संख्या
१४–भक्त प्रत्याख्यान मरण	७५०
१५–इंगिनी मरण	,,
१६–प्रायोपगमन मरण	,,
१७–केवली मरण	,,
पंडितपंडितादि पांच मरणका विशेष वर्णन	७५०
मरण पांच ही क्यों ?	७५१
पंडितपंडितादि पांचों मरण का स्वरूप	,,
पंडित मरण के तीन भेद	७५२
प्रायोपगमन मरण	७५३
इगिनी मरण	,,
भक्त-प्रतिज्ञा (भक्त प्रत्याख्यान) मरण	७५५
भक्त प्रत्याख्यान के दो भेद	७५५
सविचार भक्त प्रत्याख्यान	,,
अविचार ,,	,,
सविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण के अर्ह, लिंगादि चालीस भेद और उनका संक्षिप्त स्वरूप	७५५
उक्त अर्ह लिंगादि के अधिकार द्वारा विशेष वर्णन	७५६
अर्हाधिकार	,,
आराधना योग्य साधु का वर्णन	,,
भक्त प्रत्याख्यान करने वाले के कौनसा लिंग होना चाहिए	,,
भक्त प्रत्याख्यान के समय आर्यिका के लिए नग्न भेष	७६१
उत्सर्ग लिंग के चार भेद	७६४

विषय	पृष्ठ संख्या
स्वाध्याय के सात गुण	७६५
१ आत्महित ज्ञान	७६६
२ भावसवर	”
३ नवीन २ संवेगभाव	”
४ मोक्ष मार्ग मे स्थिरता	७६७
५ तप वृद्धि	७६७
६ गुप्ति पालन मे तत्परता	”
७ परोपदेश सामर्थ्य	”
बुराइयो का कारण अज्ञान	७६८
अज्ञानी के जो कार्य कर्म बन्ध करते हैं वे ही ज्ञानी के कर्म क्षय करते हैं	”
विनय की महिमा	७७१
विनय के भेद	७७२
१ दर्शन विनय	”
२ ज्ञान विनय	”
३ चारित्र विनय	७७३
४ तप विनय	”
५ उपचार विनय	”
मन को वश मे करने की आवश्यकता	७७३
निरंतर विहार की उपयोगिता	७७४
समाधिमरण के लिए तत्परता	७७५
समाधिमरण में शुद्धियों की आवश्यकता और उनके भेद	७७७
१ आलोचना शुद्धि	७७८
२ शय्यासस्तर शुद्धि	”
३ उपकरण शुद्धि	७७८
४ भक्तपान शुद्धि	”
५ वैयावृत्त्यकरण शुद्धि	”
शुद्धियो के अन्य प्रकार से भेद	”
१ दर्शन शुद्धि	७७९
२ ज्ञान शुद्धि	”
३ चारित्र शुद्धि	”
४ विनय शुद्धि	”
५ आवश्यक शुद्धि	”
विवेक के भेद	७७९
१ इन्द्रिय विवेक	७८०
२ कपाय विवेक	”
३ उपधि विवेक	”
४ भक्त-पान विवेक	७८१
५ देह विवेक	”
विवेक के अन्य प्रकार से भेद	”
सल्लेखना के लिए उद्यत आचार्य का आचार्यपद त्याग	७८२
त्यागने योग्य ५ कुभावनाएं	७८३
पांच शुभ भावनाएं	”
१ तप भावना	”
तप भावना से रहित साधु मे दोष	७८४
२ श्रुत भावना	७८५
३ सत्त्व (अभीरुत्व) भावना	७८६

विषय	पृष्ठ संख्या
भिन्न २ पर्यायों में प्राप्त दुखों का स्वरूप दिखा कर आत्मा को निर्भय बनाना	७८७
४ एकत्व भावना	७९१
५ धृतिबल भावना	७९२
सल्लेखना के भेद	७९३
अनशन तप के दो भेद	७९५
अवमौदर्य तप	७९५
रसपरित्याग तप	७९६
वृत्ति परिसंख्यान तप	७९७
कायक्लेश तप	७९८
विविक्तशयासन तप	७९९
वसतिका सम्बन्धी आधाकर्म दोष	८००
१ उद्गम दोष के सोलह भेद और उनका स्वरूप	"
२ उत्पादन दोष के १६ भेद और उनका स्वरूप	८०२
३ एषणा दोष के दश भेद और उनका स्वरूप	८०४
वसतिका के अगारादि चार दोष और उनका स्वरूप	८०५
वसतिका के योग्य स्थान	८०६
बाह्यतप के गुण	८०८
सल्लेखना का आराधन अन्य २ प्रयोगों से	८१२
प्रतिमा योग	८१३
भिक्षु प्रतिमा और उसके सात भेद	"

विषय	पृष्ठ संख्या
आचाम्ल तप	८१४
भक्तप्रत्याख्यान का काल	"
भक्तप्रत्याख्यान काल की यापन विधि	८१५
कषाय से बचने के उपाय	८१७
सल्लेखना के आराधक आचार्य का कर्त्तव्य	८१८
शिष्य समूह आचार्य के लिए परिग्रह स्वरूप है	८१९
संघ का परित्याग करते समय आचार्य का उपदेश	"
ज्ञान के अतिचार	८२०
दर्शन के "	"
चारित्र के "	८२१
आचार्य के लिए ध्यान देने योग्य विषय	८२१
आचार्यों के लिए आवश्यक विनय और उसके भेद	८२४
दर्शन विनय	"
ज्ञान विनय	"
चारित्र विनय	"
तपोविनय	८२५
उपचार विनय	"
मुनि के लिए निद्रा हास्य क्रीडादि के त्याग का वर्णन	८२५
मुनि संघ की वैयावृत्य भक्ति पूर्वक करने का विधान	८२७
जनापवाद मार्ग पर जाने का मुनि को निषेध	८२९

विषय	पृष्ठ संख्या
पार्श्वस्थादि साध्वाभासों की संगति से साधु का पतन है	८३१
साधु को परोपकारी होना आवश्यक है	८३३
साधु आत्म-प्रशंसक न बने	८३४
साधु पर निन्दा न करे	८३५
पूर्व आचार्य के उपदेश का नवीन आचार्य व मुनिसंघ द्वारा उत्तर	८३६
संन्यास के लिए आचार्य का दूसरे संघ में गमन	८३७
अपने ही संघ में रहने में दोष	८३८
निर्यापकाचार्य (नवीन संघ के आचार्य) का कर्तव्य	८३९
निर्यापकाचार्य के अन्वेषण का क्रम	८३९
निर्यापकाचार्य के अन्वेषण का काल	८४०
निर्यापकाचार्यके अन्वेषण के लिए विहार की पांच प्रकार की विधि	"
१ एक रात्रि प्रतिमा कुशल	"
२ स्वाध्याय कुशल	८४१
३ प्रश्न कुशल	"
४ स्थंडिल शायी	"
५ आसक्ति रहित	"
यदि विहार काल में वाणी बन्द हो जावे या मृत्यु को प्राप्त हो जावे तो क्या वह आराधक है	८४१
निर्यापकाचार्य का आगत साधु के प्रति कर्तव्य	८४२
संघ के साधु व आगत साधु का परस्पर में परीक्षण	८४३
प्रति लेखन परीक्षा	८४५
वचन परीक्षा	"
स्वाध्याय परीक्षा	"
मलमूत्र-क्षेपण परीक्षा	"
भिक्षा परीक्षा	८४४
आचार हीन साधु को आश्रय देने में हानि	८४५
निर्यापकाचार्य के गुण	८४६
१ आचारवान	"
आचारवान का अन्य प्रकार से विवेचन	८४७
स्थित कल्प के दस भेद	८४८
१ नग्नत्व स्थिति कल्प	"
२ उद्दिष्ट भोजनादि त्याग कल्प	८५०
३ शय्याधर के पिंड का त्याग	"
४ राजपिंड त्याग	८५१
५ कृतिकर्म	८५२
६ मूलोत्तर गुण परिपालन	"
७ ज्येष्ठत्व	८५३
८ प्रतिक्रमण	८५४
९ एकमास निवास	८५५
१० पज्ज	"

विषय	पृष्ठ संख्या
आचारवान् आचार्य से क्षपक को लाभ	
२ आचार्य का आधारत्व गुण	८५६
सयम की सफलता	८५७
क्षपक को सिद्धान्त के वेत्ता आचार्य की आवश्यकता	८८५
क्षपक को परीषहो की बाधा से कैसे दूर किया जाय	,,
३ आचार्य का व्यवहार ज्ञत्वगुण	८५९
व्यवहार के ५ भेद और उनका स्वरूप	८६३
प्रायश्चित शास्त्र का सर्व साधारण को सुनने का अधिकार क्यों नहीं	,,
समान अपराध होने पर सबको प्रायश्चित समान रूप से देते हैं या उसमे भिन्नता होती है	,,
आचार्य मे व्यवहारज्ञत्व (प्रायश्चित शास्त्र ज्ञान) आवश्यक है	८६४
४ आचार्य का प्रकारत्व गुण	८६६
५ आचार्य का आयोपायदर्शित्व गुण	८६७
६ आचार्य का अवपीडकत्व गुण	८६८
क्षपक के प्रति आचार्य का उपदेश-	८७०
अवपीडक आचार्य का स्वरूप	,,
७ आचार्य की विशिष्टता	८७३
(यहा अपरिस्रावी मना छपने से रह गया है, शुद्ध करलें)	८७५
८ आचार्य का सुखकारी (निर्वापक) गुण	
सगुण आचार्य की प्राप्ति कैसे हो	८७६
क्षपक गुरुकुल को आत्म-समर्पण कैसे करे ?	८७८
	,,

विषय	पृष्ठ संख्या
प्रथम सामायिकादि षट् आवश्यक का विधान	८७८
वन्दना के पश्चात् सघ मे रहने की आज्ञा प्राप्ति	८७९
आचार्य में संघ में रखने की आज्ञा देना एवं आगत क्षपक की परीक्षा	८८०
क्षपक के लिए संघस्थ परिचारक साधुओं की सम्मति	८८०
एक आचार्य के पास कितने क्षपक समाधिमरण करते हैं	८८२
आचार्य का क्षपक के प्रति समस्त संघ के मध्य उपदेश	८८
आचार्य के ३६ गुण	८७७
प्रायश्चितादि का ज्ञाता अपराधों को दूसरो को क्यों कहे	८७
आलोचना का स्वरूप और भेद	
सामान्य आलोचना	८८६
विशेष आलोचना	८८६
शल्य के भेद	,,
अतिचार शोधन विना मृत्यु होने से हानि	,,
क्षपक कायोत्सर्ग कैसे करे	८८८
आलोचना के लिए काल स्थान आदि का विधान	८८९
(यहा आदि के स्थान मे 'वादि' छप गया है शुद्ध करलें)	८९०
आलोचना के आकम्पितादि दस दोष और उनका स्वरूप	८९२
साधु किन २ दोषों की कैसे आलोचना करे	८९६
दर्पादि बीस अतिचार और उनका स्वरूप	८९९
आलोचना के पश्चात् आचार्य का कर्त्तव्य	९०२

विषय	पृष्ठ सख्या
निष्कपट और सकपट आलोचना और उनका प्रायश्चित	”
आचारत्वादि विशिष्ट निर्यापक आचार्य के न मिलने पर समाधिमरण कौन करावे ?	६०४
प्रायश्चित्ताचरण के पश्चात् देह त्याग काल न होने पर क्षपक क्या करे ?	६०४
समाधिमरण करने वाले क्षपक के लिए वसतिका कैसी हो	”
क्षपक का संस्तर कैसा हो	६०७
संस्तर के चार भेद	६०८
१ पृथ्वी संस्तर	”
२ शिलामय ”	”
३ काष्ठमय ”	”
४ तृण ”	”
संस्तर के आवश्यक गुण	”
वैयावृत्य-कुशल सहायक मुनि कैसे होने चाहिए	६१०
क्षपक की क्या परिचर्या की जाती है और कौनसी परिचर्या के लिए कितने मुनि नियुक्त किये जाते हैं	६११
क्षपक के सम्मुख न करने योग्य विकथाएं	६१२
क्षपक को किस प्रकार धर्मोपदेश किया जाय	”
क्षपक के लिए कौनसी कथा उपयुक्त है	६१३
कथाओं के चार भेद	”
आक्षेपणी और विक्षेपणी कथा	”
सवेजनी और निर्वेजनी कथा	६१४
क्षपक के लिए विक्षेपणी कथा का निषेध	”
क्षपक की आहार विषयक योजना के लिए चार मुनि नियुक्त	६१५
चार मुनि पीने योग्य पदार्थ के लिए नियुक्त किए जाते हैं	६१८
चार मुनि भोजन पान के पदार्थों की रक्षा करते हैं	”
चार मुनि मलमूत्रादि की प्रतिष्ठापना एव शय्यादि का प्रमार्जन करते हैं	६२०
चार मुनि द्वार पाल का काम करते हैं	”
चार मुनि रात्रि मे जागते हैं	६२१
चार मुनि आगत श्रोताओ को उपदेश देते हैं	”
वाद विवाद के लिए चार वाग्मी मुनि नियुक्त	६२२
समाधिमरण के लिए ४८ परिचारक मुनि ही चाहिए या अधिक कम	”
सल्लेखना से प्राण त्याग करने वाला जीव संसार में कितने भव धारण करता है	६२५
समाधिमरण के काल का विभाजन	”
क्षपक के लिए तैल प्रयोग का विधान	६२६
क्षपक के समक्ष भोजनादि कथाएं नही करना चाहिए	”
क्षपक को तीन प्रकार के आहार का त्याग करना	”

(नोट—पृष्ठ न० ६२८ के पश्चात् पृष्ठ० न० ६३३ छपगया है, बीच के चार नम्बर छुट गय हैं। पाठक ठीक करले।)

विषय	पृष्ठ सख्या
पानक पदार्थ के ६ भेद और उनका स्वरूप	६३५
क्षपक के उदरस्थमल का निवारण	६३६

विषय	पृष्ठ संख्या
क्षपक द्वारा क्षमायाचना	९३७
क्षपक को कर्ण जाप	९३८
मिथ्यात्व का त्याग	९४०
सम्यक्त्व का स्वरूप व गुण समझाना	९४१
मृत्यु समय श्रवण गोचर हुए णमोकार मंत्र का प्रभाव	९४४
भिन्न २ रीति द्वारा निर्यापकाचार्य उपदेश देकर क्षपक को सम्यक्त्व में दृढ करते हैं	९४५
क्षपक के रोग का औषधादि द्वारा प्रतीकार	"
बाह्य उपचार को छोडकर अंतरंग शुद्धि के लिए प्रयत्न व उपदेश	९४६
उपसर्गों से विचलित न होने वाले महा मुनियों के कुछ उदाहरण	९४९
नरकादि गतियों में भोगे हुए दुःखों का दिग्दर्शन कराते हुए क्षपक को सम्बोधन	९५४
नरक गति के दुःख	"
तिर्यंच गति के दुःख	९५७
मनुष्य गति में प्राप्त दुःख	९५८
देवगति के दुःखो का वर्णन	९६०
आत्मचिंतन व आराधना द्वारा प्राप्त शुभ फल को	९६३
आर्त रोद्रादि भावों से कुगति की प्राप्ति	९६६
समाधिमरण द्वारा प्राण छोडने पर शरीर की व्यवस्था	९६७

विषय	पृष्ठ संख्या
क्षपक की निषीधिका (निषद्या)	९६८
निषीधिका किस दिशा में होनी चाहिए	"
क्षपक के मृत्यु समय की क्रियाएं	९६९
रात्रि मे मरण होने पर जागरण बन्धन, और छेदन क्रियाए	९७०
शव की बन्धनादि क्रिया क्यों ?	"
व्यन्तर देवो का वर्णन	९७१
व्यन्तरो के भेद प्रभेद	९७२
मुनि के शव का क्या करना चाहिए	९७३
आर्यिका का समाधिमरण मुनि की भाति ही होता है या भिन्न प्रकार से	९७४
श्रावक कि स[illegible]धि से शव ले जावें	९७५
संस्तर कैसा हो	"
क्षपक के मरण का समय निमित्त ज्ञान से शुभाशुभ फल का सूचक	९७६
मध्यम या उत्कृष्ट नक्षत्र में मरण होने पर उत्पात का निवारण	९७७
संघस्थ मुनि का मरण होने पर सङ्घ के मुनियों का कर्तव्य	९७८
मृत क्षपक की गति का ज्ञान	९७९
क्षपक की महानता	९८०
निर्यापक मुनि की महानता	"
क्षपक के दर्शन करने वाले धर्मात्माओं की पुण्य शालिता	९८१

संयम-प्रकाश

का

उत्तरार्द्ध छप रहा है।

शीघ्र ही पाठकों की सेवा में भेजा जावेगा।

विषय	पृष्ठ सख्या
क्षपक के वासस्थान तीर्थ हैं	„
अविचारभक्त प्रत्याख्यान का स्वरूप	९८२
अविचार भक्त प्रत्याख्यान के ३ भेद	९८३
१ निरुद्ध नामक अविचार भक्त प्रत्याख्यान	„
निरुद्ध के भेद	९८४
२ निरुद्धतर अविचार भक्त प्रत्याख्यान	„
३ परम निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान	९८५
अविचार भक्त प्रत्याख्यान के अल्प काल मे मुक्ति-प्राप्ति कैसे ?	९८५
इंगिनी मरण	९८७
पंडित मरण का तृतीय भेद प्रायोयगमन	९९१
तीन भेदों के अतिरिक्त भी पंडित मरण	९९३

विषय	पृष्ठ सख्या
उपसर्गादि आने पर आत्म ध्यानस्थ मुनियों के कुछ उदाहरण	९९३
जीवन्मुक्ति की उत्पत्ति का क्रम	९९४
ध्यान के बाह्य निमित्त	९९४
धर्म ध्यानस्थ मुनि द्वारा कर्म प्रकृतियों का विसंयोजन	९९५
केवली अवस्था	९९७
समुद्घात वर्णन	„
योगनिरोध „	९९९
योग निरोध के बाद कौनसी कर्म प्रकृतियां रहती हैं ?	„
शुद्धजीवकी गति कैसे होती है ?	१०००
सिद्धशिला कहां है ?	„
सिद्धावस्था का सुख	१००१
पंचम किरण समाप्त	१००२

तरह लहर एक दूसरे के बाद आती है और (प्रतिसमय) उनकी परपरा समाप्त नहीं होती, इसी तरह यह जीव भी प्रतिक्षण मरता रहता है। प्रतिसमय आयुकर्म का निषेक उदय मे आकर झडता रहता है, कभी यह प्रक्रिया समाप्त नहीं होती। इस आवीचिमरण का समूह ही महामरण है। भव्य जीवो की अपेक्षा यह आवीचिमरण अनादि सान्त है। क्योंकि भव्य जीव को जब मोक्ष प्राप्त हो जाता है, तब यह मरण नष्ट हो जाता है। इसलिए इसको सान्त कहते हैं। मोक्ष के होने के पूर्व अनादि काल से भव्यजीव के प्रतिसमय यह मरण होता रहता है इसलिये इसको अनादि भी कहते हैं। अत. यह मरण भव्य की अपेक्षा से अनादि सान्त होता है। अभव्यों की अपेक्षा तो यह आवीचिमरण अनादि अनन्त है। क्योकि उनके यह मरण अनादि से है और सदा रहेगा, इसलिए अनादि अनन्त है। भव की अपेक्षा से अथवा क्षेत्र की अपेक्षा से यह (आवीचिमरण) सादि कहा जाता है।

(१) आवीचि मरण के भेद

आवीचि-मरण प्रकृति, स्थिति अनुभाग और प्रदेश की अपेक्षा से चार प्रकार का होता है।

(१) प्रकृति-आवीचिमरण—एक आत्मा के एक भव में एक ही आयुकर्म की प्रकृति का उदय आता है। इसलिए एक आयु की प्रकृति के क्षय होने से आत्मा का मरण होता है। इसको प्रकृति आवीचिमरण कहते हैं।

(२) स्थिति-आवीचिमरण—आत्मा के कषायरूप परिणामो से बन्ध को प्राप्त हुए आयु के पुद्गलों में स्निग्धता उत्पन्न होती है, इसलिये वे पुद्गल आत्मा के प्रदेशो के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं। स्निग्धता के उपादान कारण तो पुद्गल कर्म ही हैं, किन्तु आत्मा के कषायभाव से पुद्गल कर्म मे स्निग्धता प्रकट होती है, अत कषाय भाव स्निग्धता के निमित्त कारण होते हैं। जितने समय तक पुद्गलकर्म आत्मा के साथ सम्बद्ध रहते हैं, उसको स्थिति कहते हैं। यह आयुनामक पुद्गल कर्म की स्थिति एक से लेकर बढती हुई देशोन तेतीस सागर के जितने समय होते हैं, उतने भेदवाली होती है। उत्कृष्टस्थिति तेतीस सागर की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त परिमाण वाली होती है। इन आयुकर्म की स्थितियों की तरगों के समान क्रम रचना है। इनका क्रमसे क्षय होने के कारण आत्मा के मरण को स्थिति-आवीचिमरण कहते हैं।

(३) अनुभव-आवीचिमरण—कर्मपुद्गलो का जो रस (फल) अनुभव गोचर होता है, उसको अनुभव कहते हैं। यह अनुभव पुद्गल कर्मो मे षड्गुणी हानि वृद्धि रूप समुद्र की तरगो के क्रम से स्थित रहता है, उसके क्षय होने को अनुभव आवीचिमरण कहते है।

(४) प्रदेश-आवीचिमरण—अयुकर्म के पुद्गल प्रदेश जघन्य निषेक से लेकर एक, दो, तीन आदि वृद्धि क्रमेण तरग के समान स्थित हैं उनके विनाश होने को प्रदेश आवीचिमरण कहते हैं। इस प्रकार आवीचिमरण नामक प्रथम भेद का वर्णन किया।

(२) तद्भवमरण

तद्भवमरण—भुज्यमान आयु का अतिम समय मे नाश होने को तद्भवमरण कहते हैं। अर्थात् वर्त्तमान पर्याय का नाश होकर उत्तर पर्याय की प्राप्ति को तद्भवमरण कहते हैं। यह मरण इस जीव ने अनन्त वार किया है, और जब तक रत्नत्रय की आराधना कर सिद्ध अवस्था प्राप्त न कर लेगा तब तक यह मरण होता रहेगा।

(३) अवधि मरण

अवधिमरण—का वर्त्तमान पर्याय के समान ही भविष्य पर्याय मे भी मरण का होना अवधिमरण है। इस अवधिमरण के दो भेद हैं-सर्वावधिमरण और देशावधिमरण।

(१) सर्वावधिमरण—जैसा आयुकर्म प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशो से वर्त्तमान काल मे उदय आरहा है वैसा ही प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशवाला आयुकर्म फिर वध को प्राप्त होकर उदय मे आवे, उसको सर्वावधि मरण कहते हैं।

(२) देशावधिमरण—जैसा आयुकर्म वर्त्तमान काल मे उदय को प्राप्त हो रहा है, उसकी कुछ सदृशता को लिए हुए आयु कर्म फिर वन्ध को प्राप्त होकर उदय मे आवे उसे देशावधिमरण कहते हैं।

इसका आशय यह है कि वर्त्तमान आयु का कुछ अश अथवा सर्वा श मे सादृश्य जिसमे पाया जाता है, उस अवधि (मर्यादा) से युक्त मरण को अवधिमरण कहते हैं। वर्त्तमान आयु का सम्पूर्ण सादृश्य जिस भावी आयु मे पाया जाता है उस मर्यादित मरण को सर्वावधि मरण और जिस भावी आयु मे वर्त्तमान आयु का एक अश सादृश्य रहता हो उस मर्यादित मरण को देशावधि मरण कहते हैं।

(४) आद्यंत मरण

आद्यत मरण—वर्त्तमान काल के मरण का सादृश्य जिस भावी मरण मे नहीं पाया जाता है उसको आद्यंत मरण कहते हैं। यहा पर आदि शब्द से प्रथम मरण लेना चाहिए। उसका अन्त (नाश–अभाव) जिस मरण मे पाया जाता है अर्थात् जो सर्वथा विसदृश मरण होता है उसको आद्यंत मरण कहते हैं।

(५) वाल मरण

वालमरण—वाल नाम अज्ञानी जीव का है। अज्ञानी जीव का जो मरण होता है, उसे वाल मरण कहते हैं। वाल (अज्ञानी) जीव पाच प्रकार के होते हैं-(१) अव्यक्तवाल, (२) व्यवहारवाल, (३) ज्ञानवाल, (४) दर्शनवाल, (५) चारित्रवाल।

१ अव्यक्तवाल—यहा अव्यक्त शब्द का अर्थ छोटा बच्चा है। जो धर्म, अर्थ, काम, पुरुपार्थ सम्बन्धी कार्यों को न समझता है और न उनका आचरण करने की शारीरिक शक्ति रखता है, उसको अव्यक्त वाल कहते हैं।

२ व्यवहार वाल—जिसको लौकिकव्यवहार तथा शास्त्रीय ज्ञान नहीं है, अथवा जो वालक है, उसको व्यवहार वाल कहते हैं।

३ दर्शन वाल—जो तत्त्वार्थ के श्रद्धान से रहित मिथ्यादृष्टि है उसे दर्शन वाल कहते हैं।

४ ज्ञान वाल—जिसे वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं है, उसको ज्ञान वाल कहते हैं।

५ चारित्र वाल—जो चारित्र के आचरण से रहित है, उसे चारित्र वाल कहते हैं।

इन पाच प्रकार के मरण को वाल मरण कहते हैं। ऐसा वाल मरण इस जीव ने भूतकाल मे अनन्तवार किया है, और अनन्त जीव इस मरण को करते रहते हैं।

यहाँ प्रकरण मे दर्शन वाल का ही ग्रहण है। अन्य वालो का यहाँ ग्रहण करणा आवश्यक नहीं है, क्योकि सम्यग्दर्शन सहित अन्य चार प्रकार के बाल दर्शन पडित कहे जाते हैं। अत उनका मरण सम्यग्दर्शन सहित होने से उस मरण को पण्डितमरण माना है। अर्थात् सम्यग्दर्शन युक्त मरण सद्गति का कारण होता है और सम्यग्दर्शन रहित मरण दुर्गति के दुःखो का जनक होता है।

दर्शन वाल मरण के सक्षेप से दो भेद हैं— १ इच्छाप्रवृत्तमरण और २ अनिच्छा प्रवृत्तमरण।

१ इच्छाप्रवृत्तमरण—जो प्राणी अग्नि मे जलकर, धूएँ से श्वास का निरोधकर, विषभक्षण कर, जल मे डूब कर, पर्वत से गिरकर, गले मे फॉसी लगाकर अथवा शस्त्राघात से, अत्यन्त शीत व उष्ण के पडने से, भूख से, प्यास से, जिह्वा के छेदन-उत्पाटन (उखाडने) से, प्रकृति विरुद्ध आहार करने से इत्यादि कारणो से इच्छा पूर्वक मृत्यु को प्राप्त होते हैं उस मरण को इच्छाप्रवृत्त वालमरण कहते हैं।

२ अनिच्छाप्रवृत्तबालमरण—जीने की इच्छा रखते हुए मिथ्यादृष्टि का जो काल में या अकाल में मरण होता है, उसको अनिच्छाप्रवृत्तबालमरण कहते हैं। जो दुर्गति में गमन करने वाले हैं, इसलिए जो विषयों में आसक्त रहते हैं, जिनका अन्त करण अज्ञान अन्धकार से आच्छन्न है, जो ऐश्वर्य के मद में उन्मत्त हैं, उनके उक्त बालमरण होता है। इस मरण से जीव तीव्र पाप का उपार्जन कर दुर्गति में दु खों का अनुभव करते हैं और जन्म जरा मरण के क्लेशों को बहुत काल तक सहते हैं।

पण्डित मरण—

पण्डित मरण के चार भेद हैं— १ व्यवहारपण्डित, २ सम्यक्त्वपण्डित, ३ ज्ञान पण्डित और ४ चारित्र पण्डित।

१ व्यवहार पण्डित—जो केवल लोक व्यवहार, वेदज्ञान तथा शास्त्रज्ञान में निष्णात होता है, उसको व्यवहार पण्डित कहते हैं। अथवा—

जो अनेक लौकिक शास्त्रों में निपुण हो तथा शुश्रूषा, श्रवण, मनन, धारणादि बुद्धि के गुणों में दक्ष हो उसको व्यवहार पडित कहते हैं।

२ दर्शन पण्डित—जिसको क्षायिक, क्षायोपशमिक अथवा औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त हो गया है, उसको दर्शन पण्डित कहते हैं।

३ ज्ञान पण्डित—मतिज्ञानादि पाच प्रकार के सम्यग्ज्ञानों में से यथासभव किसी ज्ञान से युक्त जीव को ज्ञान पण्डित कहते हैं।

४ चारित्र पण्डित—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात इन पाच चारित्रों में से किसी भी चारित्र में प्रवृत्ति करने वाले सयमी को चारित्र पण्डित कहते हैं। इन चार प्रकार के पण्डितों में से यहाँ ज्ञान पण्डित, दर्शन पण्डित और चारित्र पण्डित का ही ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि व्यवहार पण्डित मिथ्यादृष्टि होता है। इसलिए उसका मरण बालमरण माना गया है। केवल सम्यग्दृष्टि का मरण ही पण्डित मरण कहा गया है।

नरक में, भवनवासी देवों के स्थानों में तथा स्वर्गवासी और ज्योतिषी देवों के विमानों में, व्यन्तर देवों के निवास स्थानों में एव द्वीप व समुद्रों में दर्शन पण्डित मरण होता है, तथा ज्ञानपण्डित मरण उपर्युक्त स्थानों में तथा मनुष्य लोक में होता है, किन्तु मन – पर्ययज्ञानी तथा केवल ज्ञानी का ज्ञान पण्डित मरण मनुष्य लोक में ही होता है। चारित्रपण्डित मरण भी मनुष्य लोक में ही होता है।

(७) अवसन्न मरण

मोक्षमार्ग (रत्नत्रय) का पालन करनेवाले सयमियो के सघ का परित्याग करनेवाले सघभ्रष्ट साधु को अवसन्न कहते हैं। उसका जो मरण है वह अवसन्न मरण कहलाता है।

यहा पर अवसन्न शब्द का ग्रहण करने से पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील और ससक्त इन चार प्रकार के भ्रष्ट साधुओं का भी ग्रहण होता है।

"पासत्थो सच्छंदो कुसील संसत्त होंति ओसण्णा।
जं सिद्धिपच्छिदादो ओहीणा साहु सत्थादो" ॥ १ ॥ (भग० टीका गाथा २५)

अर्थ—पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील, ससक्त और अवसन्न ये पाच प्रकार के भ्रष्ट (पतित) साधु हैं। ये रत्नत्रय से हीन हैं और साधुओ के सघ से वहिष्कृत होते हैं।

ये साधु धनादि ऐश्वर्य मे प्रेम रखते हैं। रस (जिह्वा की लम्पटता) मे आसक्त होते हैं। सदा सुखो की अभिलाषा रखते एवं दुख. से डरते हैं। लोभादि कषाय के वशीभूत होते हैं। उनके आहारादि की तीव्र सज्ञा होती है। वे पाप जनक मन्त्रतन्त्रादि शास्त्रो का अभ्यास करते हैं। तेरह प्रकार की क्रियाओं के आचरण मे प्रमादी होते हैं। गृहस्थ की वैयावृत्य (सेवा) करते हैं। मूलगुणो से हीन होते हैं। समिति और गुप्ति के पालन करने का उद्योग नहीं करते अर्थात उनके समिति व गुप्ति नहीं होती है। वैराग्य भावना व ससार से भीरुता भी नहीं होती है। वे उत्तम क्षमादि दशधर्म मे बुद्धि नहीं लगाते। उनका चारित्र सदोष होता है। इस प्रकार के साधु को अवसन्न कहते हैं।

ऐसे साधु सहस्रों भवो मे भ्रमण करते रहते हैं। बारबार दुखो को भोगते हैं।

(८) बाल पण्डित मरण

सम्यग्दर्शन के धारक सयतासयत (अणुव्रती) श्रावक को बालपण्डित कहते हैं। उसके मरण को बालपण्डितमरण कहा है। क्योकि श्रावक बाल और पण्डित इन दोनो धर्मों से युक्त होता है। बाल तो इसलिए कहा जाता है कि इसके केवल एक देश से ही हिंसादि पापों का त्याग होता है, सम्पूर्ण रूप से हिंसादि का त्याग नहीं होता है। अतः चारित्र की अपेक्षा तो बाल है और पण्डित इसलिए है कि उसके सम्यग्दर्शन का सद्भाव है। अतएव इसको बाल पण्डित कहते हैं। यह बालपण्डितमरण, गर्भज पर्याप्त तिर्यच व मनुष्यों के होता है। देव तथा

नारकियों के नहीं होता, क्योंकि उनके सम्यग्दर्शन तो होता है, लेकिन देशसंयम नहीं होता। इसलिए उनके दर्शन पण्डित मरण हो सकता है।

(६) सशल्यमरण

शल्य दो प्रकार का है—१ द्रव्यशल्य और २ भावशल्य। मिथ्यादर्शन, माया और निदान रूप भावों को भावशल्य कहते हैं और इन भावों की उत्पत्ति के कारण द्रव्यकर्म को द्रव्यशल्य कहते हैं। इस प्रकार शल्य के दो भेद होते हैं, अत सशल्य मरण के भी दो भेद हैं। द्रव्यशल्यसहित मरण और भावशल्यसहित मरण। पृथ्वी, जल, अग्नि वायु और वनस्पतिकाय इन पाच स्थावर जीवों के मरण को तथा द्वीन्द्रियादि असज्ञी पर्यन्त त्रस जीवों के मरण को द्रव्यशल्यसहित मरण कहते हैं। सज्ञी पचेन्द्रिय जीव के ही भावशल्य सहित मरण होता है।

शका—क्या असज्ञी पर्यन्त (सज्ञी को छोडकर शेप) सब जीवों के भाव शल्य (माया, मिथ्यात्व और निदान) नहीं होता है ?

समाधान—माया, मिथ्यात्व और निदान ये तीन सम्यक्त्व के अतीचार माने गये हैं। सम्यक्त्व संज्ञी के अतिरिक्त स्थावरादि असज्ञीपर्यन्त जीवों के नहीं होता है। यह कथन व्यवहार सम्यग्दर्शन की अपेक्षा है।

छल-कपट करके सन्मार्ग को छिपाना, व असन्मार्ग को सन्मार्ग प्रकट करने के लिए दभ करना मायाशल्य है।

मोक्ष मार्ग को दूषण लगाना या उसका विनाश करना, सन्मार्ग का निरूपण न कर उन्मार्ग (विपरीतमार्ग) की प्ररूपणा करना मोक्षमार्ग पर स्थित जीवों को सन्मार्ग से चिगाना-यह सब मिथ्यादर्शन शल्य है।

आगामी काल में मुझे अमुक भोगादि सामग्री प्राप्त हो, इस प्रकार मन मे चिन्तन करने को निदानशल्य कहते हैं। यह निदान, तीन प्रकार का है १ प्रशस्तनिदान, २ अप्रशस्तनिदान और ३ भोगनिदान।

१ प्रशस्त निदान—पूर्ण सयम का पालन करने के लिए दूसरे जन्म में पुरुष आदि होने की वाछा करना प्रशस्त निदान है।

२ अप्रशस्तनिदान—मान कपाय के वश होकर आगामी भव में उत्तम कुल, सुन्दर रूपादि की आकाक्षा करना अप्रशस्त निदान है।

३ इस व्रत, संयम व शील के पालन करने से मुझे इस भव में अमुक भोग सामग्री प्राप्त हो, इस प्रकार की अभिलाषा करने को भोग निदान कहते हैं।

असयतसम्यग्दृष्टि के तथा सयतासयत (अणुव्रती श्रावक) के निदानशल्य मरण होता है। पार्श्वस्थादि भ्रष्ट साधु चिरकाल विहार करके विना आलोचन किये ही उसी अवस्था मे जो मरण करता है, उसके माया शल्य मरण होता है। यह मरण सयमी, अणुव्रती श्रावक तथा अविरतसम्यग्दृष्टि के भी होता है।

(१०) वलाय (पलाय) मरण

विनय, वैयावृत्त्य तथा देववन्दनादि नित्य नैमित्तिक क्रिया करने मे आलस्य (प्रमाद) करने वाला, इनमे आदर भाव न रखने वाला, व्रतो के आचरण करने मे प्रमादी, समिति और गुप्ति के पालन करने मे अपनी शक्ति को छिपाने वाला, धर्म के स्वरूप का विचार करते समय निद्रा वश हो जाने वाला, ध्यान नमस्कारादि कार्यों से दूर भगने वाले अर्थात् उसमे उपयोग न देने वाले का जो मरण है, उसे वलाय (पलाय) मरण कहते हैं। सम्यक्त्वपडित, ज्ञानपडित और चारित्रपंडित के यह वलाय मरण भी सभव हो सकता है।

जो पहले सशल्य मरण और अवसन्न मरण कह आये हैं वे दोनो प्रकार के मरण करने वालों के नियम से वलाय मरण है। तथा इनके अतिरिक्त जीवों का भी वलाय मरण होता है। क्योकि जो जीव नि शल्य (शल्यरहित) है और सवेगभाव से युक्त है, किन्तु सस्तर (शय्या) पर पडे हुए अर्थात मरणोन्मुख हुए उसके शुभ भावों का पलायन हो रहा है, उसके शुभ भाव नहीं ठहरते हैं। अत. सशल्य और अवसन्न मरण करने वालो से भिन्न जीवो के भी वलाय (पलाय) मरण होता है।

(११) वशार्त्त मरण (आर्त्तवश मरण)

आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान मे प्रवृत्त हुए जीव के वशार्त्तमरण होता है। इसके चार भेद होते हैं—१ इन्द्रियवशार्त्त-मरण २ वेदनावशार्त्त-मरण, ३ कपाय-वशार्त्त-मरण, ४ नोकपायवशार्त्त-मरण।

१ इन्द्रियवशार्त्त-मरण—स्पर्श रस गन्धादि पाच इन्द्रिय विपयों के भेद से इस मरण के भी पाच भेद हो जाते हैं। स्पर्शनेन्द्रिय-वशार्त्तमरण, रसनेन्द्रिय-वशार्त्तमरण आदि।

तत वितत घन और सुपिर (मृदग वीणादि) वाद्य जनित मनोज्ञ शब्दों मे राग और अमनोज्ञ (अप्रिय) शब्दों मे द्वेपयुक्त होकर मरण करने को श्रोत्रेन्द्रिय वशार्त्तमरण कहते हैं। खाद्य, स्वाद्य, लेह्य व पेय ऐसे चार प्रकार के आहार मे यदि वह इष्ट हो तो उसमें आसक्ति सहित और यदि वह अनिष्ट हो तो द्वेप सहित होकर मरण करने को रसनेन्द्रिय-वशार्त्तमरण कहते हैं। चन्दन पुष्पादि पदार्थों के

लुभाव, गंध मे प्रेम और अरुचिकर असुहावने में द्वेष युक्त होकर मरण करने को घ्राणेन्द्रिय-वशार्त्तमरण कहते हैं। तथा सुन्दर रूप व आकार मे रागभाव और असुन्दर रूप व आकार में द्वेषभाव युक्त होकर मरण करने को नेत्रेन्द्रिय वशार्त्तमरण और स्पर्शवाले पदार्थों के सुन्दर सुहावने स्पर्श मे प्रीति और असुहावने स्पर्श मे अप्रीति करने को स्पर्शनेन्द्रिय वशार्त्तमरण कहते हैं। इसी तरह मन के लिए भी समझना चाहिए। इन सबको इन्द्रियानिन्द्रियवशार्त्त मरण के नाम से कहते हैं।

२ वेदनावशार्त्त मरण—इस मरण के दो भेद हैं–सातवेदनावशार्त्त मरण और असातवेदनावशार्त्त मरण।

जो जीव शरीर और मन सम्बन्धी सुख मे उपयोग सहित मरता है, उसके सातवेदनावशार्त्त मरण होता है और जो शारीरिक तथा मानसिक दुःख मे उपयोग रखते हुए मरता हैं, उसके असातवशार्त्त मरण होता है।

३ कषायवशार्त्त मरण—कषाय के चार भेद हैं, अत: कषाय की अपेक्षा इस मरण के भी चार भेद होते हैं। अपने ऊपर, दूसरे पर अथवा स्व पर दोनो पर उत्पन्न हुए क्रोध से जो मरण करता है, उसे क्रोध वशार्त्त मरण कहते हैं। मानवशार्त्त मरण के आठ भेद होते हैं कुल, रूप, बल, शास्त्रज्ञान, प्रभुत्व, लाभ, प्रज्ञा और तपस्या से अपने को उत्कृष्ट समझते हुए प्राणी का अभिमानवश जो मरण होता है, उसको मानवशार्त्त मरण कहते हैं। उक्त आठ मदों से युक्त मरण को पृथक् २ कहते हैं।

मैं जगत् प्रसिद्ध विशाल व उच्चकुल मे उत्पन्न हुआ हूँ, ऐसे मानते हुए प्राणी का जो मरण होता है, वह कुलमानवशार्त्त मरण है। मेरे पांचों इन्द्रिया सुन्दर हैं तथा सम्पूर्ण शरीर के अवयव सुडौल और मनोज्ञ हैं, मैं तेजस्वी हूँ, नवयुवक हूँ, मेरा रूप सम्पूर्ण मनुष्यो के मन को मोहने वाला है, इस प्रकार के भाव रखते हुए जीव का जो मरण होता है, उसे रूपमानवशार्त्तमरण कहते हैं। मैं वृक्ष पर्वतादि को उखाड़ फेंकने मे समर्थ हूँ, मैं युद्ध शूर हूँ, तथा मेरे पास मित्रो का बल है, इस प्रकार बल का अभिमान करते हुए जीव का जो मरण होता है, उसे बलमानवशार्त्त मरण कहते हैं। मेरा परिवार बहुत है, मेरी आज्ञा को सब मानते हैं इस प्रकार अपनी प्रभुता (ऐश्वर्य) मे उन्मत्त पुरुष का जो मरण होता है उसको प्रभुता (ऐश्वर्य) मानवशार्त्त मरण कहते हैं। मैं लौकिकशास्त्र, व्यवहार, वेद, सिद्धान्तशास्त्रादि का ज्ञाता हूँ, इस प्रकार शास्त्र ज्ञान के अभिमानी के मरण को शास्त्रज्ञानाभिमानवशार्त्त मरण कहते हैं। मेरी अतिनिर्मल व तीक्ष्ण बुद्धि सब शास्त्रों मे प्रवेश करती है, मेरे तर्कज्ञान के आगे दूसरे की तर्क बुद्धि नहीं चलती है–इत्यादि प्रकार से अपनी बुद्धि के अभिमानी के मरण को प्रज्ञामानवशार्त्त मरण कहते हैं। मैं जिस व्यापार मे हाथ डालता हूँ, सबमे मुझे लाभ ही लाभ होता है, ऐसे लाभ सम्बन्धी मान का विचार करते हुए मनुष्य के मरण को लाभमानवशार्त्त मरण कहते हैं। मैं दुर्धर तपश्चर करने वाला हूँ, तपस्या मे मेरे समान अन्य कोई नहीं है, इस प्रकार चिन्तन करते हुए जीव का जो मरण होता है, वह तपमानवशार्त्त मरण कहलाता है।

माया के पाच भेद हैं—१ निकृति, २ उपधि, ३ सातिप्रयोग, ४ प्रणिधि और ५ प्रतिकुंचन। १ धन की तथा अन्य किसी विषय की अभिलाषा करने वाले मनुष्य द्वारा जाल फँसाने को निकृति नाम की माया कहते हैं। २ अपने असली भाव को छिपाकर धर्म के बहाने से चोरी आदि दुष्कृत्य मे प्रवृत्ति करने को उपधि नामक माया कहते हैं। ३ धन के विषय मे झूठा झगडा करना, किसी की धरोहर रखी हो उसको कम देना या सब का सब हजम कर जाना, किसी को झूठा दूषण लगाना या झूठी प्रशसा के पुल बांधना, यह सातिप्रयोगमाया है। ४ कम मूल्य की सदृश वस्तु को बहुमूल्यवाली वस्तु मे मिलाना, हीनाधिक नाप व तोल के उपकरण रखना, असली में नकली चीज की मिलावट करना अथवा असली कहकर नकली चीज देना यह प्रणिधि नाम की माया है। गुरु के सम्मुख आलोचना करते हुए दोषों को भले प्रकार प्रकट करना, उनको छिपाना, यह प्रतिकुंचन नाम की माया है।

लोभवशार्त्तमरण—पिच्छी, पुस्तक, कमडलु आदि उपकरणो मे, भोजन पान मे, क्षेत्र मे, शरीर मे और निवासस्थान में इच्छा या मूर्च्छा (ममत्व) रखने वाले का जो मरण होता है, उसको लोभवशार्त्त मरण कहते हैं।

नो कषायवशार्त्त मरण—हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्री वेद पुरुष, वेद तथा नपुंसक वेद से आक्रांत मनुष्य का जो मरण होता है, उसे नोकषायवशार्त्त मरण कहते हैं।

नोकषाय के वश आर्त्तमरण करनेवाला जीव मनुष्य और तियंच योनि मे उत्पन्न होता है। असुरजाति के देवों में (कंदर्प और किल्विषिक नीचदेवों मे) जन्म लेता है। मिथ्यादृष्टि के यही बालमरण होता है। दर्शनपण्डित, अविरतसम्यग्दृष्टि तथा संयतासयत (अनुव्रती श्रावक) भी वशार्त्तमरण करते हैं, उनका यह मरण बालपण्डिमरण या दर्शनपण्डित मरण समझना चाहिए।

(१२) विप्पाणस (विप्राण) मरण

विप्पाणस (विप्राण) मरण और गृध्रपृष्ठमरण इन दोनों मरणों की शास्त्रो मे न तो अनुज्ञा (अनुमति) मिलती है और न निषेध ही मिलता है।

जिस समय दुष्काल (दुर्भिक्ष) पडा हो, जिसको पार करना कठिन है ऐसे भयानक बीहड जंगल मे पहुंच गये हो, पूर्वकाल के प्राणघातक शत्रु से भय उपस्थित हुआ हो, दुष्ट राजा से भय प्राप्त हुआ हो, या चोर का भय उपस्थित होगया हो अथवा सिंहादि प्राण सहारक तिर्यंचकृत उपसर्ग उपस्थित होगया हो, और इनके द्वारा उत्पन्न हुए क्लेशो को सहन का सामर्थ्य न हो, अथवा ब्रह्मचर्य व्रत के नाश अथवा अन्य चारित्र के घात के पुष्ट कारण प्राप्त हो गये हों, ऐसे समय में ससार से संविग्न पाप से भयभीत संयमी कर्म के

तीव्र उदय को उपस्थित हुआ जान कर जब वह उससे बचने का उपाय नहीं देखता है, और उन क्लेशादि को सहन करने की क्षमता अपने मे नहीं पाता है, पापमय कोई प्रतिक्रिया नहीं करना चाहता है, तथा आत्मा के घातक मरण से डरता है तब वह उपयुक्त कारणों के उपस्थित होने पर क्या मेरा कुशल होगा ? ऐसा विचार करता है-यदि मैं उपसर्ग भय से त्रास को प्राप्त होकर सयम से भ्रष्ट हो जाऊगा तथा उपसर्ग वेदना को सहन न कर सकने से सम्यग्दर्शन से भी पतित हो जाऊगा तो मेरा आराधन किया हुआ रत्नत्रय हाथ से निकल जावेगा। जब उसको चारित्र व सम्यग्दर्शन के विनाश की संभावना का दृढ निश्चय हो जाता है तब वह मायाचार रहित हुआ दर्शन व चारित्र मे विशुद्धि धारण कर धैर्य का अवलम्बन करता है, ज्ञान का आश्रय लेता है, निदान रहित हुआ अर्हन्त भगवान् की साक्षी से अपने दोषों की आलोचना करके आत्मशुद्धि करता है, शुभलेश्या से अपने श्वासोच्छ्वास का निरोध करता है—उस मरण को विप्पणास (विप्राण) मरण कहते हैं।

(१३) गृध्रपृष्ठ मरण

ऊपर लिखे हुए कारणो के उपस्थित होने पर शस्त्र ग्रहण करके जो प्राणों का निसर्जन करता है, उसे गृध्रपृष्ठमरण कहते हैं।

(१४) भक्तप्रत्याख्यान, (१५) इंगिनी और (१६) प्रायोपगमनमरण

भक्तप्रत्याख्यान मरण (१५) इगिनीमरण और (१६) प्रायोपगमनमरण ये तीन उत्तम मरण हैं। ये महात्माओं के ही सभव है। इनका स्वरूप आगे कहेंगे।

केवलीमरण

केवलीमरण—ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और रागादि भावकर्म का विनाश पूर्वक जो सदा के लिए औदारिकादिशरीरो के सम्बन्ध का त्यागकर अनन्तचतुष्टय की प्राप्तिकर नित्यनिरंजन अक्षय अनन्त शिव पद को प्राप्त करते हैं उन केवली भगवान के शरीर त्याग करने को केवली मरण कहते हैं।

इस प्रकार सक्षेप से सत्रह प्रकार के मरणों का विवेचन किया। उन सत्रह मरणों को भी संक्षिप्त करने से पाच मरण होते हैं। पाच मरणों के विशेष विवेचन करने की शास्त्रकार ने प्रतिज्ञा की थी, अत उनका निरूपण करते हैं।

पंडितपंडितादि पंच मरण का विशेष वर्णन

श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना मे उक्त पाच मरणो का वर्णन करते हुए लिखते हैं.—

पंडिदपंडिदमरणं पंडिदयं बालपंडिदं चेव।
बालमरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च ॥ २६ ॥ (भग. आ,)

अर्थ—१ पंडितपंडितमरण, २ पंडितमरण, ३ बालपंडित मरण, ४ बालमरण, और ५ बालबालमरण ये पाच मरण हैं।

शंका—यहा पर आपने मरणों के पाच भेद ही कहे हैं। वे किस अपेक्षा से कहे गये हैं। यदि भव (मनुष्यादि) पर्याय के विनाश होने को मरण माना जाय तो पर्याये अनेक हैं, तो मरण भी अनेक हुए।

यदि प्राणियों के प्राणो का जो वियोग होता है, उसे मरण मानें तो भी मरण के पाच भेद सिद्ध नहीं हो सकते। क्योंकि सामान्य रूप से प्राण-वियोग की अपेक्षा से तो एक भेद ही होता है और विशेष की अपेक्षा लीजावे तो प्राण दश हैं,उनके वियोग रूप मरण के भी दश भेद सिद्ध होते हैं।

यदि उदय मे आये हुए कर्मों के खिरने को मरण कहा जावे तो कर्म प्रत्येक समय में खिरते हैं, उनको पाच तरह के कैसे कहते हैं ?

सामाधान—गुण भेद की अपेक्षा से जीवों को भी पाच प्रकार के मानकर तत्सम्बन्धी मरण के भी पाच भेद कहे गये हैं।

उक्त पाच प्रकार के मरणों को कई आचार्यों ने यथाक्रम से प्रशस्ततम, प्रशस्ततर, ईषत्प्रशस्त, अविशिष्ट और अविशिष्टतर इन नामो से भी कहा है।

(१) पण्डितपंडितमरण—जिनका ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में अतिशय सहित पांडित्य है, अर्थात् जो केवल ज्ञान के धारक हैं, क्षायिक सम्यग्दृष्टि व यथाख्यात चारित्र और उत्कृष्ट तपश्चरण के आराधक हैं, उन केवली भगवान् के शरीर त्याग करने को पण्डित पण्डितमरण कहते हैं।

(२) पण्डितमरण—जिनका ज्ञान चारित्रादि परम प्रकर्षता को प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसे प्रमत्तसंयतादि छठे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थानवर्त्ती साधुओं का जो मरण होता है, उसे पण्डितमरण कहा है।

* (१) पण्डित शब्द उत्तम तप, उत्तम सम्यक्त्व, उत्तम ज्ञान और उत्तम चारित्र इन चार अर्थों में व्यवहृत होता है।

(३) बाल पण्डित—संयतासंयत (पंचम गुणस्थान वर्ती श्रावक) को बालपण्डित कहते हैं। रत्नत्रय में परिणत होने वाली पडा (बुद्धि) जिसको प्राप्त होगई है उसे यहां पण्डित माना है। इसलिए श्रावक बालपण्डित कहा गया है। क्योंकि इसमें एक देशरत्नत्रय का आराधन करने और महाव्रत रूप सर्वदेश रत्नत्रय का पालन न करने के कारण बालपना और पण्डितपना दोनों धर्म पाये जाते हैं, अत यह बाल और पण्डित उभय रूप है। इस का मरण बालपण्डितमरण माना गया है।

(४) बालमरण—असयत सम्यग्दृष्टि बालमरण करता है। क्योंकि इसके सम्यग्दर्शन और ज्ञान होने पर भी चारित्र नहीं पाया जाता है।

(५) बालबालमरण—मिथ्यादृष्टि को बालबाल कहते हैं। क्योंकि इसके सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-चारित्रादि कुछ भी नहीं होता है। इसलिए यह अतिशय बाल है। इसके मरण को बालबाल मरण कहते हैं।

इन पाच प्रकार के मरणों मे से आदि के तीन मरण सद्गति देने वाले हैं, अत· जिनेन्द्रदेव ने इनकी प्रशंसा की है। वही कहा है:—

पंडिदपंडिदमरणं च पंडिदं बालपंडिदं चेव।
एदाणि तिण्णि मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसंति॥ १ ॥ (भग० आ० टीका गाथा २६)

अर्थ—पडितपंडितमरण, पण्डितमरण और बालपडितमरण इन तीनों की जिनेन्द्रदेव नित्य प्रशसा करते हैं।

पडितपडितमरण के स्वामी केवली भगवान् हैं।

अब पडित मरण किसके होता है ? ऐसी उत्पन्न हुई शंका का समाधान करते हैं—

पायोपगमणमरणं भत्तपइण्णा य इंगिणी चेव।
तिविहं पंडियमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस्स ॥ २९ ॥ (भग०अ०)

अर्थ—१ प्रायोपगमनमरण, २ इंगिनीमरण और ३ भक्तप्रतिज्ञामरण ये तीन भेद पडितमरण के हैं। ये तीनों आगमोक्त चारित्र का पालन करनेवाले मुनीश्वर के होते हैं।

(१) प्रायोपगमन मरण—जो साधु रोगादि से पीडित होने पर भी अपना वैयावृत्त्य दूसरे से नहीं करवाता है, और न आप भी करता है, जीवन पर्यन्त आहारादि का त्याग करके एक स्थान मे सूखे काठ की तरह व मृतककाय समान स्थित रहता है, तथा मन-वचन-काय की क्रिया रहित हुआ परम विशुद्धि से पर्याय का त्याग करता है, उसके प्रायोपगमन मरण होता है। यह मरण संसार का उच्छेद करने मे समर्थ सस्थान और सहननवाले के होता है। इस मरण को प्रयोग्यगमन मरण तथा पादोपगमन मरण भी कहते हैं।

(२) इगिनी मरण—निज अभिप्राय को इगित कहते है। जो अपने अभिप्राय के अनुकूल अपना वैयावृत्त्य आप ही करते हैं, दूसरे से अपना वैयावृत्त्य नहीं करवाते हैं, रोगादि अवस्था मे भी उठने, बैठने, शयन करने आदि क्रियाओ मे दूसरे की सहायता नहीं लेते हैं, सम्पूर्ण आहारादि का त्याग कर एकाकी वन मे शरीर का त्याग करते हैं, उनके मरण को इगिनी मरण कहते हैं।

(३) भक्त-प्रतिज्ञा (प्रत्याख्यान) मरण—जो साधु अपनी शुश्रूषा आप भी करते हैं और दूसरों से भी करवाते हैं, आगमोक्त चारित्र का पालन करते हुए अनुक्रम से आहार का त्याग करते हैं, तथा कषाय को कृश करते हैं उनके भक्तप्रतिज्ञा अर्थात् भक्त-प्रत्याख्यान मरण होता है। वाल पडित का वर्णन पहले कर ही चुके हैं। इस तरह प्रारभ के तीन मरण ही श्रेष्ठ हैं। वालमरण चारित्रहीन सम्यग्दृष्टि के होता है। यद्यपि यह उक्त तीन मरणो की अपेक्षा हीन है, किन्तु इसके स्वामी के तत्त्वश्रद्धान होता है, इसलिए यह वालवाल मरण की अपेक्षा श्रेष्ठ है। किन्तु संयम का सर्वथा अभाव होने से इसे प्रशसनीय नहीं कहा है। मिथ्यादृष्टि के मरण को वालवाल मरण कहा है। यह मरण ससार के सब एकेन्द्रिय से लेकर मिथ्यादृष्टि समस्त पचेन्द्रियों का होता रहता है। इस जीवने अनन्त वार यह मरण किया है। आचार्य शिवकोटि कहते हैं—

सुविहियमिमं पवयणं असद्दहन्तेणि मेण जीवेण।
वालमरणाणि तीदे मदाणि काले अणताणि ॥ ४२ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—वस्तु का यथार्थ स्वरूप प्रतिपादन करने वाले पूर्वापर विरोध रहित तथा प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रामाणो से अवाधित जिनेन्द्रदेव कथित आगम का श्रद्धान न करके इस जीवने पहले अनन्त वार वालवालमरण किये हैं। पर पडितमरण का एकवार भी सुअ-वसर प्राप्त नहीं हुआ। यदि एक वार भी पडितमरण हो जाता तो अधिक से अधिक सात आठ भव धारण करने के पश्चात् यह आत्मा इस जन्म मरण के दुःख से सदा के लिए छूट जाता। अत. ऐसा अवसर प्राप्त होने पर अपने आपको या दूसरों को यो समझाना चाहिए की हे आत्मन्! वड़ी कठिनता से महान पुण्य कर्म उदय से यह अनुपम स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ है। इसलिए परमागम की श्रद्धा मे दृढ़ रहो और अपने चारित्र को निर्मल वनाओ। जिन अतिचारों का पूर्व वर्णन कर आये हैं, उनमे से एक भी अतिचार अन्त समय मे मत लगने दो। क्योंकि

मनुष्य जन्म का पाना और अनुकूल साधनो का योग पाकर संयम का आराधन करना उत्तम कार्यों मे शिरोमणि है। इस संयम के लिए उत्कृष्ट सासारिक सुख के स्वामी सर्वार्थसिद्धि के देव भी तरसते हैं। वह सयमरत्न तुमने प्राप्त कर लिया है। क्या इसे साधारण पुण्य वाले पुरुष प्राप्त कर सकते हैं ? सुन्दर शरीर, विपुल धन सम्पत्ति, देवदुर्लभ ऐश्वर्य, मनोनुकूल इष्टभोग–विलासत था आहारादि सामग्री तो तुमने इस अपार ससार में न जाने कितनी बार उपलब्ध करली हैं, उससे क्या शान्ति मिली है ? मोहवश यह आत्मा आहार भोगादि से मिथ्या सुख शान्ति मान लेता है। सुख शान्ति प्राप्त करने का मार्ग तो सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्र हैं। इसलिए हे मुने ! मरण समय मे इन सुख दाता सम्यक्त्वादि का त्याग मत करो। यदि तुमने इनका त्याग किया तो अनत काल पर्यन्त ससार मे भ्रमण करना पडेगा। अतएव इस समय सम्यक्त्व की रक्षा करते हुए संयम का निरतिचार पालन कर आत्मा को इस ससार के रोमाचकारी दुःखो से मुक्त करने के लिए पडितमरण से शरीर का त्याग करो।

पडितमरण का फल केवल ज्ञान प्राप्त करना है। यदि ससार की अवधि अभी कुछ शेष रही तो पडितमरण करनेवाला सयमी कल्पवासी देवो मे जन्म लेता है और वहां पर दिव्य स्वर्गीय सुख सामग्री का अनुभव कर निकट भविष्य में निर्वाण पद का अधिकारी होता है। इसलिए इस समय काय और कषाय को कृश करना ही तुम्हारा परम कर्त्तव्य है।

ऊपर जो पाच प्रकार के मरण बताये हैं, उनमे से पंडितपडितमरण, बालपडितमरण, बालमरण और बालमरण को छोड़कर केवल पडितमरण का यहा ग्रहण होता है, क्योकि इस पचम काल के साधुओं के पडितपडितमरण नहीं होसकता है। केवली/ भगवान् औदारिक शरीर का त्यागकर निर्वाण के लिए गमन करते हैं, उनके यह मरण माना गया है और शेप तीन संयमहीन मनुष्यो के होते हैं। अत· वर्त्तमान सयमियो के एक पडित मरण ही उपादेय माना गया है। इसलिए उसीका निरूपण यहा करना है।

पंडित मरण के तीन भेद

इसके तीन भेद पहले वतलाये गये हैं। उनमे से प्रायोपगमन मरण और इंगिनीमरण का विवेचन आगे करेंगे। यहा पर केवल भक्त-प्रतिज्ञा (भक्तप्रत्याख्यान) मरण का निरूपण करना है। क्योंकि प्रायः मुनि इसीका आश्रय लेते हैं। यही कहा है

पुव्व ता वण्णेसिं भत्तपइण्णं हसत्थमरणेसु।
उस्सण्णं सा चेव हु सेसाणं वण्णणा पच्छा ॥ ६४ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—पडितमरण के प्रायोपगमन, इंगिनी व भक्तप्रत्याख्यान ये तीन भेद हैं। उनमे से प्रथम भक्तप्रत्याख्यान मरण का वर्णन

करते हैं, क्योकि साधुओ के बहुलता से यही मरण पाया जाता है। इसके पश्चात् शेष दो मरणों का वर्णन करेंगे। भक्तप्रत्याख्यान का स्वरूप सक्षेप से पहले वर्णन कर आये हैं। अब उसका विशेष विवेचन करने के लिए उसके भेद दिखाते हैं।

भक्त प्रत्याख्यान नामक पंडित मरण के भेद और उनका स्वरूप

दुविहं तु भत्तपच्चक्खाणं सविचारमध अविचारं।
सविचारमणागाढे मरणे सपरक्कमस्स हवे ॥ ६५ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—भक्तप्रत्याख्यान-मरण के दो भेद हैं-(१) सविचार भक्तप्रत्याख्यान मरण और (२) अविचार भक्तप्रत्याख्यान मरण।

(१) सविचारभक्तप्रत्याख्यान—जो साधु उत्साह बल से युक्त है, तथा जिसका मृत्यु काल सहसा (अकस्मात्) उपस्थित नहीं हुआ है, जो विधिपूर्वक अन्य सघ मे जाने की इच्छा रखता है, उसके मरण को सविचारभक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हैं।

(२) अविचारभक्तप्रत्याख्यान मरण—जो सामर्थ्य से हीन है और जिसका मृत्यु समय अचानक उपस्थित होगया है, उस पराक्रम रहित साधु के मरण को अविचारभक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हैं।

सविचार भक्त प्रत्याख्यान के ४० प्रकरणों के नाम व स्वरूप

उक्त दो भेदो में से प्रथम भेद सविचार भक्तप्रत्याख्यानमरण का विवेचन निम्नोक्त चालीस अधिकारो से किया गया है। उनके नाम ये हैं।

(१) अर्ह, (२) लिंग, (३) शिक्षा, (४) विनय, (५) समाधि, (६) अनियतविहार, (७) परिणाम, (८) उपधित्याग, (९) श्रिति (१०) भावना, (११) सल्लेखना, (१२) दिशा, (१३) क्षामणा, (१४) अनुशिष्टि, (१५) परगणचर्या, (१६) मार्गणा, (१७) सुस्थित, (१८) उपसम्पदा, (१९) परीक्षा, (२०) प्रतिलेख, (२१) आपृच्छा, (२२) प्रतीच्छन, (२३) आलोचना, (२४) गुणदोष, (२५) शय्या, (२६) सस्तर, (२७) निर्यापक, (२८) प्रकाशन, (२९) हानि, (३०) प्रत्याख्यान, (३१) क्षामण, (३२) क्षमण, (३३) अनुशिष्टि, (३४) सारणा, (३५) कवच, (३६) समता, (३७) ध्यान, (३८) लेश्या, (३९) फल और ४० शरीरत्याग। इनका प्रथम सामान्य अर्थ लिखते हैं।

(१) अर्ह—अमुक पुरुष भक्तप्रत्याख्यान के योग्य और अमुक योग्य नहीं है। इस प्रकार पुरुष की योग्यता के वर्णन करने अधिकार को अर्हाधिकार कहते हैं।

(२) लिंगाधिकार—शिक्षा विनय समाधि आदि क्रियाएँ भक्तप्रत्याख्यान की सामग्री है, उसका साधन लिंग है। अमुक लिंग (चिह्न) का धारण करने वाला भक्तप्रत्याख्यान कर सकता है और अमुक का नहीं-इसका वर्णन करनेवाला लिंगाधिकार है।

(३) शिक्षा—बिना ज्ञान के विनयादि का पालन नहीं होता है, इसलिए ज्ञानोपार्जन (श्रुताभ्यास) करना आवश्यक है। इसका विवेचन करने वाला शिक्षा अधिकार है।

(४) विनय—ज्ञानादि की भावना विनय से प्राप्त होती है, इसका वर्णन इस अधिकार मे किया गया है।

(५) समाधि— मन को एकाग्र करने को समाधि कहते हैं। अशुभोपयोग से हटाकर मन को शुभोपयोग अथवा शुद्धोपयोग मे लगाना समाधि है। इसका वर्णन इस अधिकार मे किया गया है।

(६) अनियत विहार—पूर्व मे नियत नहीं किये गये ऐसे अनेक नगर ग्रामादि मे विहार का वर्णन करनेवाला यह अधिकार है।

(७) परिणाम—साधु के कर्त्तव्य कर्मों का वर्णन करनेवाले अधिकार को परिणाम (कर्त्तव्य विचार) अधिकार कहते हैं।

(८) उपधित्याग—परिग्रह के त्याग का वर्णन करने वाला यह उपधित्याग अधिकार है।

(९) श्रिति—शुभपरिणामो की उत्तरोत्तर वृद्धि करना, इसका निरूपक श्रिति अधिकार है।

(१०) भावना—उत्तरोत्तर भावना को उत्कृष्ट बनाने का अभ्यास करने का विवेचक भावनाधिकार है।

(११) सल्लेखना—शरीर और कषायो को कृष करना सल्लेखना है इसका वर्णन इस अधिकार मे किया गया है।

(१२) दिशा—दिशा नाम एलाचार्य का है। सघ के नायक आचार्य ने यावज्जीव आचार्य पद का त्याग करके उस पद पर अपने समान गुणवाले जिस शिष्य को स्थापित किया है, उसे एलाचार्य कहते है। उसके स्वरूप व उपदेश का वर्णन करने वाले अधिकार को दिशा अधिकार कहते हैं।

(१३) क्षमणा—परस्पर क्षमा याचना का वर्णन करने वाला क्षमापणा अधिकार है।

(१४) अनुशिष्टि—आचार्य संघस्थित मुनियो के प्रति तथा आचार्य पद पर स्थापित अपने शिष्य के प्रति दिये हुए उपदेश का वर्णन करने वाला अनुशिष्टि अधिकार है।

(१५) परगणचर्या—अपने संघ को छोड़कर अन्य संघ मे गमन का वर्णन करनेवाला परगणचर्या अधिकार है।

(१६) मार्गण—रत्नत्रय की शुद्धि तथा समाधिमरण करवाने मे समर्थ आचार्य का अन्वेषण (तलाश) करने का वर्णन इस अधिकार मे किया गया है।

(१७) सुस्थित—परोपकार करने मे तथा आत्म-प्रयोजन (आचार्यपद के योग्य कार्य) साधन करने मे प्रवीण आचार्य का वर्णन इसमे किया गया है।

(१८) उपसम्पदा—आचार्य के पादमूल मे गमन करने का वर्णन उपसम्पदा अधिकार मे है।

(१९) परीक्षा—वैयावृत्त्य करनेवाले मुनि की आहारादि सम्बन्धी लालसा की तथा उसके उत्साह की परीक्षा करने का वर्णन इसमे किया गया है।

(२०) प्रतिलेख—आराधना की निर्विघ्न साधना करने के लिए उसके अनुकूल राज्य, देश, नगर, ग्रामादि का तथा उनके अधिकारी आदि के शोधन का निरूपण करनेवाला यह अधिकार है।

(२१) आपृच्छा—यह साधु हमारे संघ मे ग्रहण करने योग्य है या नहीं है ? इस प्रकार संघ से प्रश्न करने का वर्णन इसमे किया गया है।

(२२) प्रतीच्छन— प्रतिचारक मुनियों की सम्मति लेकर आराधना करने के लिए आये हुए मुनि का ग्रहण करने का वर्णन इसमे होता है।

(२३) आलोचना—गुरू के निकट अपने दोषोंका निवेदन करने का विवेचन इसमे हैं।

(२४) गुणदोष—आलोचना के गुण व दोषों का निरूपण करने वाले अधिकार को गुणदोषअधिकार कहा है।

(२५) शय्या—आराधक के योग्य वसतिका का निरूपण करनेवाला यह शय्या नाम का अधिकार है।

(२६) संस्तर—मुनि के योग्य संस्तर का वर्णन इसमे किया गया है।

(२७) निर्यापक—आराधक के समाधिमरण में सहायता करनेवाले आचार्यादि को निर्यापक कहते हैं। इसका वर्णन इस अधिकार मे किया गया है।

(२८) प्रकाशन—चरम (अन्तिम) आहार को दिखाना, इसका वर्णन करनेवाला यह प्रकाशन अधिकार है।

(२६) हानि—क्रम से आहार का त्याग करने का विधान करने वाला हानि नाम का अधिकार है।

(३०) प्रत्याख्यान—जलादि पेय पदार्थों के अतिरिक्त तीनों प्रकार के आहार का त्याग करने का वर्णन करने वाला प्रत्याख्यान अधिकार है।

(३१) क्षामण—आचार्यादि निर्यापको से आराधक की क्षमायाचना का वर्णन इसमें किया गया है।

(३२) क्षमण—अन्य सब साधु आदि के अपराधो को क्षमा करने का वर्णन करनेवाला क्षमणाधिकार है।

(३३) अनुशिष्टि—संस्तर मे स्थित साधु के प्रति निर्यापकाचार्य को शिक्षा देने का निरूपण इस अधिकार मे किया गया है। नं० १४ पर भी अनुशिष्टि नामक भेद ऊपर लिख आये हैं। भगवती आराधना मे भी दोनों स्थानों पर यही नाम आया है। नं० १४ पर लिखा है—अणुसिट्ठि—सूत्रानुसारेण शासनम्। और यहा न० ३३ पर है-अणुसट्ठी-अनुशासन शिक्षणं निर्यापकस्याचार्यस्य।

(३४) सारणा—दुःख की वेदना से मोह को प्राप्त हुए अथवा अचेत हुए साधु को सचेत करने का निरूपण सारणाधिकार में किया है।

(३५) कवच—जैसे सैंकडो बाणो का निवारण कवच (बख्तर) से होता है, वंसे ही निर्यापकाचार्य के धर्मोपदेश से संस्तर स्थित साधु के प्राप्त दुःख का निवारण होता हैं, इसका विवेचन करनेवाला यह कवचाधिकार है।

(३६) समता—जीवन मरण लाभ अलाभ सयोग वियोग सुख दुःखादि मे राग द्वेष न करना समताधिकार में वर्णित है।

(३७) ध्यान—एकाग्रचित्त का निरोध करना ध्यान है। इसमें ध्यान का वर्णन है।

(३८) लेश्या—कषाय से मिश्रित योग की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। लेश्याधिकार मे लेश्या का स्वरूप प्रतिपादन किया है।

(३६) फल—आराधना से सिद्ध होने वाले कार्य को फल कहते हैं। इसमे आराधनाजनित प्रयोजन का वर्णन किया गया है।

(४०) देहत्याग—आराधक के शरीर का त्याग इसमें वर्णित है।

इस प्रकार भक्तप्रत्याख्यान मरण मे चालीस अधिकार हैं, उनके सामान्य स्वरूप का वर्णन किया गया है। अब उनका विशेष वर्णन करते है।

अर्हाधिकार

कैसा साधु आराधना करने योग्य है यह दिखलाते हैं —

वाहिव्व दुप्पसज्झा जरा य सामण्णजोगहाणिकरी ।
उवसग्गा वा देवियमाणुसतेरिच्छया जस्स ॥ ७१ ॥
आणुलोमा वा सत्तू चारित्तविणासया हवे जस्स ।
दुब्भिक्खे वा गाढे अडवीए विप्पणट्ठो वा ॥ ७२ ॥
चक्खुं व दुब्बलं जस्स होज्ज सोदं व दुब्बलं जस्स ।
जंघावलपरिहीणो जो ण समत्थो विहरिदुं वा ॥ ७३ ॥
अण्णम्मि चावि एदाहिसंमि आगाढकारणे जादे ।
अरिहो भत्तपइण्णाए होदि विरदो अविरदो वा ॥ ७४ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—सयम का विनाश करनेवाला दु.साध्य रोग जिसके शरीर मे उत्पन्न होगया हो ऐसा साधु या गृहस्थ भक्त प्रत्याख्यान करने योग्य है। अर्थात् जिस सयमी या अणुव्रती श्रावक के शरीर मे ऐसी व्याधि उत्पन्न हो जाये जिसको मिटाने के लिए उसे संयम का त्याग करना पड़े और जिस व्याधि की शान्ति दुष्कर प्रतीत हो, ऐसी व्याधि से पीडित सयमी या देश सयमी या अव्रतसम्यग्दृष्टि को भक्त प्रत्याख्यान के योग्य माना है। जीवो के रूप, शरीरादि, वल, अवस्था आदि का नाश करनेवाली वृद्धावस्था इतनी वढ़ जावे कि मुनि तप आदि क्रिया मे असमर्थ हो जावे। तव वह भक्तप्रत्याख्यान के योग्य माना गया है। क्योंकि वृद्धावस्था मे शरीर वल घट जाता है तव साधक कायक्लेशादि तपश्चरण मे प्रवृत्ति नहीं कर सकता है। जो अत्यन्त वृद्धावस्था से युक्त हो जाता है, उसका ध्यान स्थिर नहीं रहता है। अर्थात् उसका यथार्थ वस्तु ज्ञान निश्चल नहीं होता है। इसलिए ध्यान योग का विनाश करनेवाली वृद्धावस्था जिसको प्राप्त हो जाती है, वह भक्त प्रत्याख्यान मरण के योग्य मानागया है। जब देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यंचकृत अथवा अचेतनकृत ऐसा भयानक उपद्रव उपस्थित हो जावे जिस को

निवारण करना अशक्य हो और उस उपद्रव से उत्पन्न हुई पीड़ा का प्रतीकार असभव प्रतीत हो, तब मुनि भक्त प्रत्याख्यान को अगी-कार करते हैं।

जब अनुकूल बन्धुगण स्नेहवश या अपने भरणपोषण के लोभ से प्रेरित हुए संयमी के सयम-धन का विनाश करने में तत्पर हों अथवा जब देव, मनुष्य व तिर्यंचों में से कोई उसके सयम को छुडाने के लिए उद्यत हो, तब वह सयमी भक्तप्रत्याख्यान के लिए योग्य कहा गया है।

उल्कापात के समान समस्त देशनिवासियों को अनुभव होनेवाले महा भयानक दुर्भिक्ष पड़ने पर साधक भक्तप्रत्याख्यान करते हैं। क्योकि दुष्काल मे निर्दोष आहार का मिलना असभव हो जाता है। उसमे चारित्र का नाश होना सभव है। अत अपने चारित्र की रक्षा के लिए साधक भक्तप्रत्याख्यान कर सल्लेखना करते हैं।

जब मुनि मार्गभ्रष्ट हो कर ऐसे महाभयानक बीहड वन मे पहुँच जाते हैं जिसमे क्रूर हिंसक जन्तु भरे पडे रहते हैं, तथा जिस से उद्धार पाने का कोई भी साधन नहीं देखते हैं, तब वे दिग्मूढ हुए आपने जीवन को विनाशोन्मुख पाते हैं, उस समय वे भक्तप्रत्याख्यान करने के योग्य होते हैं।

जब साधक के नेत्र सूक्ष्म जन्तुओ के अवलोकन करने का बल खो देते हैं एव कानों में शब्द ग्रहण करने का सामर्थ्य नहीं रहता है, अथवा पॉवो मे विहार करने की (जानें आने की) शक्ति नष्ट हो जाती है तब वह भक्तप्रत्याख्यान करने के योग्य होते हैं।

इसी प्रकार के अन्य प्रतिकार रहित स्थिती के उपस्थित होने पर मुनि अथवा गृहस्थ भक्तप्रत्याख्यान के योग्य माने जाते हैं। अर्थात् उनके सयम या देशसंयम के रक्षण का उपाय जब कोई दिखाई नहीं देता है; सब तरह से हताश हो जाते हैं, तब अन्ततो गत्वा इस भक्त-प्रत्याख्यान का आश्रय लेते हैं।

भक्तप्रत्याख्यान के लिए योग्य कौन हो सकता है ? इस प्रश्न का समाधान कर अब भक्तप्रत्याख्यान के लिए कौन अयोग्य है ? इस प्रश्न का समाधान करते हैं।

उस्सरइ जस्स चिरमवि सुहेण सामण्णमादिचारं वा।
णिज्जावया य सुलहा दुब्भिक्खभयं च जदि णत्थि ॥ ७५ ॥
तस्स ण कप्पदि भत्तपइण्णं अणुवट्ठिदे भये पुरदो।
सो मरणं पच्छितो होति हु सामण्णणिव्विण्णो ॥ ७६ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—जिसके सुख पूर्वक (निर्बाध) चारित्र का पालन हो रहा है तथा व्रतादि मे भी अतिचार लगने की कोई संभावना नहीं, वह भक्तप्रत्याख्यान के लिए अयोग्य माना गया है। समाधिमरण-सहायक निर्यापक आचार्य जब सुलभ हो और दुर्भिक्षादि का भय भी उपस्थित न हो ऐसे समय मे साधु को भक्तप्रत्याख्यान कर समाधिमरण नहीं करना चाहिए।

इसका आशय यह है कि सयम के विरोधी ऊपर की गाथा मे निर्दिष्ट दुर्भिक्षादि कारणों मे से कोई भी कारण उपस्थित न हुआ हो तो साधु भक्तप्रत्याख्यान के अयोग्य माना गया है।

जिसका चारित्र निर्विघ्न पल रहा है, तथा निर्यापकाचार्य जिसे सुलभ हैं, जिसको दुर्भिक्षादि का भय भी उपस्थित नहीं है, यदि वह साधु मरण की अभिलाषा करता है तो समझना चाहिए कि वह संयम से उदासीन होगया है, उसको चारित्र से अरुचि उत्पन्न होगई है, अन्यथा वह विना आपत्तिजनक कारणो के प्राप्त हुए मरने के लिए क्यो प्रयत्न करता है ?

यदि कोई साधु यह विचारे कि इस समय मुझे समाधिमरण करवानेवाले निर्यापक आचार्य सुलभ हैं और आगे दुर्भिक्षादि के भय की पूर्ण संभावना है, उस समय निर्यापकादि समाधिमरण के सहायक साधु मुझे न मिलेंगे, यदि मैं इस समय समाधि मरण न करूगा तो मेरा सयम रत्न लुट जावेगा और भविष्य मे पण्डितसमाधिमरण न कर सकूगा—ऐसा जिसको भय हो वह मुनि भक्तप्रत्याख्यान के योग्य है, ऐसा समझना चाहिए।

इस भक्तप्रत्याख्यान समाधिमरण को अव्रतसम्यग्दृष्टि, अनुव्रती श्रावक व मुनि तीनो कर सकते हैं।

भावार्थ—हे आत्मन् ? तुमने अनन्तवार जन्ममरण किये हैं। जो जन्म धारण करता है वह मृत्यु की ओर गमन करता है। जन्म और मरण का अविनाभाव सम्बन्ध है। तुमको ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे जन्म-मृत्यु के जाल से बच जाओ। वह प्रयत्न समाधि मरण है। आयु का क्षय होने पर समस्त प्राणियों का मरण निश्चित है। किन्तु सम्यग्ज्ञानी के मरण मे और अज्ञानी के मरण मे इतना ही अन्तर है कि सम्यग्ज्ञानी मरण करता हुआ मरण सन्तान का उच्छेद करता है और अज्ञानी मरण-सन्तान की वृद्धि करता है। क्योंकि काय से मोह और कषाय की तीव्रता के कारण जन्म मरण रूप ससार की वृद्धि होती है और कायसे निर्मोहिता धारण करने से और कषाय के अभाव से उक्त संसार का क्षय होता है। काय से ममत्व का अभाव तथा कषाय कृश करने का नाम ही समाधि है। इस समाधि को प्राप्त करने के लिए भक्तप्रत्याख्यान करना आवश्यक है।

अब यहा पर यह दिखाते हैं कि भक्तप्रत्याख्यान (आहार त्याग) करने वाले के कौनसा लिंग (भेष) होना चाहिये ?

उस्सग्गियलिंगकदस्स लिंगमुस्सग्गियं तयं चेव।
अपवादियलिंगस्स वि पसत्थमुवसग्गियं लिंगं ॥ ७७ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—जिसके उत्कृष्ट लिंग (दिगम्बर भेप) है, अर्थात् जिसने दिगम्बर-मुनि-दीक्षा धारण की है, उसके तो भक्त-प्रत्याख्यान के समय भी दिगम्बर भेप रहता है, किन्तु जिसने क्षुल्लकादि गृहस्थ भेप धारण कर रखा है, वह भी अन्तिम समय मे नग्न भेप धारण कर सकता है।

भावार्थ—समाधिमरण के अवसर मे भक्तप्रत्याख्यान (आहार का त्याग) कर समाधि युक्त मरण का इच्छुक जब संस्तर में स्थित होता है तब मुनि तो उस समय भी पूर्व की भाति नग्न लिंग ही रखता है, परन्तु जिसने पूर्व मे मुनि अवस्था नहीं धारण की है किन्तु गृहस्थ अवस्था को ही धारण किये हुये है—ऐसे क्षुल्लक, ऐलक व इसके नीचे की अवस्था के जो धारक हैं वे जब भक्तप्रत्याख्यान करते हैं तब नग्नभेप धारण कर लेते हैं।

प्रश्न—क्या प्रत्येक पुरुप भक्तप्रत्याख्यान के समय नग्नभेप धारण कर सकता है ?

उत्तर—नहीं, प्रत्येक पुरुप नग्नभेप धारण करने के योग्य नहीं होता है। जिसमे नग्नता की योग्यता है वही पुरुप इस भेप को धारण कर सकता है। जो ससार-भोगो से विरक्त होगया है और अपने मनुष्य भव को सयम पालन करते हुए सफल बनाना चाहता है, वही परम विरक्त मन्दकपायी नग्नता के योग्य कहागया है।

प्रश्न—जो ससार से उदासीन है जिसकी भावना वैराग्यपूर्ण है, जो ससार के दुःखो से उद्विग्न है—वह मन्दकपायी तो चाहे कोई भी दिगम्बर भेप को क्या धारण कर सकता है ?

उत्तर—हाँ, जो उक्त गुणो से भूपित है, वह पुरुप नग्नभेप धारण कर सकता है। परन्तु उसके पुरुप चिह्न में निम्नोक्त दोप न हो तभी वह नग्न भेप का अधिकारी माना गया है। जिसके पुरुपचिह्न का अग्रभाग चर्म रहित (उघाड़ा) न हो, पुरुपचिह्न अतिदीर्घ (लम्बा) न हो। बार बार चैतन्य न होता हो, ऊपर उठता न हो, तथा अण्डकोश बड़े न हो। वही दिगम्बर भेप को धारण कर सकता है। जिसमें इन दोपों मे से एक भी दोप हो वह मुनिभेप धारण नहीं कर सकता है। फिर भी वह समाधि मरण के समय भक्तप्रत्याख्यान कर जब संस्तर में स्थित होता है, तब नग्नता जरूर धारण कर सकता है, अन्य समय मे नग्नता धारण करने का आगम में सर्वथा निषेध है। आगम से विरुद्ध प्रवृति करने वाले को मिथ्यादृष्टि कहा है—

सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि।
सो चेव हवइ मिच्छादिट्ठी जीवो तदोपहुदि ॥ ३३ ॥ (भग०)

अर्थ —किसी मनुष्य ने अज्ञान से अथवा किसी के उपदेश से उल्टा श्रद्धान कर लिया हो और जब कोई आगम प्रमाण देकर उसे सम्यक् प्रकार वस्तु-स्वरूप दिखावे और वह उसकी अवहेलना कर सत्य-तत्त्व का श्रद्धान न करे, अपनी अवस्तुतत्त्व की श्रद्धा को न छोड़े और पूर्व की भांति मिथ्या-प्रवृत्ति ही करता रहे तो वह मनुष्य मिथ्यादृष्टि माना जाता है। इसलिए प्रत्येक को उक्त प्रमाणभूत आगम की आज्ञा का पालन करना चाहिए। जो आगम के विपरीत अपनी मन कल्पित प्ररूपणा करता है, आगम से अमान्य मुनिभेष को धारण करता है, उसके सम्पर्क में भी रहना उचित नहीं है, मिथ्यादृष्टि के सम्पर्क में रहने वाला, उसकी प्रशंसा करने वाला, उसकी कुप्रवृत्ति में सहायता देनेवाला भी मिथ्यादृष्टि होता है।

प्रश्न—भक्तप्रत्याख्यान के समय जब गृहस्थ भी दिगम्बर भेष धारण कर सकता है तो फिर आर्यिका के लिए क्या विधान है? क्या वह सवस्त्र ही समाधिमरण करती है? या वह भी सब परिग्रह का त्यागकर दिगम्बर मुद्रा धारण कर सकती है?

उत्तर—आर्यिका समस्त परिग्रह का त्यागकर एक साड़ी मात्र परिग्रह रखती है। उसमें उसको ममत्व नहीं होता, अतः उसके उपचार से महाव्रत माना गया है। क्योंकि आगम में उसके लिए साड़ी धारण करने की आज्ञा है। किन्तु जब उसका मृत्युकाल आगया हो, और वह भक्तप्रत्याख्यान करके संस्तर में स्थित हो तो योग्य स्थान में उस समय सब अनुकूलता होने पर वस्त्र का भी त्याग कर देती है। वह वसतिका के अन्दर ही रहती है और अपना समाधिमरण (पंडितमरण) करती है।

अन्य क्षुल्लिकादि श्राविकाएँ भी मृत्यु समय योग्य स्थान के सब अनुकूल साधनों के होने पर घर के भीतर दिगम्बर भेष धारण कर सकती हैं। इनके लिए दोनो मार्ग हैं। जो श्राविका महान ऐश्वर्यवाली तथा लज्जावती है और जिसके कुटुम्बीजन मिथ्यादृष्टि हैं उसके लिए दिगम्बर भेष में समाधिमरण करने का निषेध है। यथा—

इत्थीवि य जं लिंगं दिट्ठं उस्सग्गियं व इदरं वा।
तं तह होदि हु लिंगं परित्तमुवधिं करेंतीए ॥ ८१ ॥ (भग०)

अर्थ—स्त्री के भी समाधिमरण के समय उत्सर्ग लिंग (मुनिसमानभेष) तथा सवस्त्र लिंग दोनों ही आगम में वर्णन किये गये

है। आर्यिका मृत्युकाल उपस्थित होने पर योग्यस्थान में वसतिका के अन्दर रहकर मुनिवत् दिगम्बर भेष धारण करती है और श्राविकाएँ अपने परिग्रह को अल्प करती हुई अन्त समय मे योग्यस्थान मिलने पर घर मे ही नग्नता धारण कर सन्न्यास मरण कर सकती हैं। तथा अनुकूलस्थानादि न मिलने पर अन्य सब परिग्रह का त्यागकर वस्त्रमात्र धारण किये हुए उसमे ममत्व का त्याग कर भक्तप्रत्याख्यान पूर्वक पंडित मरण करती हैं।

प्रश्न—जिनागम मे उत्सर्गलिंग और अपवादलिंग ये दो लिंग माने हैं। दिगम्बर मुद्रा धारण करना उत्सर्गलिंग है तथा सवस्त्र आर्यिकादि के भेष को अपवादलिंग कहते हैं। क्या भयानक विघ्न बाधा उपस्थित होने पर या दुर्भिक्षादि के उपस्थित होने पर मुनि वस्त्र धारण कर सकते हैं?

उत्तर—मुनि के उत्सर्ग लिंग ही माना गया है और यह दिगम्बर मुद्रा धारण करने पर ही हो सकता है। जो अपवादलिंग है, वह मुनि के लिए नहीं है। आर्यिका तथा क्षुल्लकादि श्रावक के भेष को अपवादलिंग कहा है। मुनित्व का अपवाद (निन्दा) करनेवाले लिंग को अपवादलिंग कहते हैं। मुनि किसी भी परिस्थिति मे वस्त्र धारण नहीं कर सकता। जो वस्त्र धारण कर लेता है वह मुनिपद मे नहीं माना गया है। क्योकि साधु के २७ मूलगुण माने गये हैं। उसमे नग्नता मुख्य गुण है। इसके बिना अन्य सब महाव्रतादि गुण निरर्थक माने हैं। मुनि के उत्सर्गलिंग ही होता है और उसकी चार विशेषतायें हैं उनमे नग्नता को प्रथम स्थान दिया गया है। यथा.—

अच्चेलक्कं लोचो वोसट्टसरीदा य पडिलिहणं।
एसो हु लिंग कप्पो चदुव्विहो होदि उस्सग्गे ॥ ८० ॥ (भग०)

अर्थ—मुनित्व का उद्योतक जो चिह्न है, उसे उत्सर्ग लिंग कहते हैं। उसके चार प्रकार है—१ अचेलता (वस्त्र का अभाव–नग्नता) २ केश-लोच, ३ शरीर के सस्कार का त्याग और ४ प्रतिलेखन।

भावार्थ—जो मुनित्व को प्रकट करनेवाली उक्त चार बातें हैं जिनको कि देखकर व्यवहार मे मुनि को पहचाना जाता है, उनमे सबसे प्रधान नग्नता है। जिस व्यक्ति मे नग्नता नहीं है और शेष तीन बातें विद्यमान हैं तो वह साधु नहीं माना गया है। इसलिए साधुपद के लिए नग्नता अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना आत्म-शुद्धि नहीं होती और वह शिवमार्ग (रत्नत्रय) का पूर्णरूप से आराधक नहीं समझा जाता। नग्नत्व मे महान् गुण निहित हैं। उनका वर्णन मूलगुणो के निरूपण मे कर आये हैं। जिसके पास कोपीन (लगोटी) मात्र परिग्रह

है और इसके अतिरिक्त जिसने सब परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर दिया है, उसकी भी आत्म-शुद्धि तब ही होती है जब कि वह उस मोह के कारणभूत कोपीन को भी त्याग देता है। यथा:—

अववादियलिंगकदो विसयासत्तिं अगूहमाणो य।
णिंदणगरहणजुत्तो सुज्झदिउवधिं परिहरंतो ॥८७॥ (भग०)

अर्थ—कोपीन (लंगोटी) आदि वस्त्र का धारण करनेवाले ऐलक आदि अपनी शक्ति को न छिपाकर अन्य सब परिग्रह का त्याग कर देते हैं और वे सोचते हैं कि समस्त परिग्रह का त्याग करना ही मोक्ष का मार्ग है। इसके त्याग बिना पूर्ण आत्म-शुद्धि नहीं होती है। परन्तु क्या करें? हमारी आत्मा मे इतना बल उत्पन्न नहीं हुआ है कि सब, परिग्रह का त्याग कर यथाजात रूप धारण करलें। इस प्रकार मन मे पश्चात्ताप करते हुए अपनी निंदा करते हैं और गुरुजनों के निकट अपनी अशक्ति प्रकट करते हैं। आत्मगर्हा व निन्दा करने वाले वे मुमुक्षु अपने कर्मों की निर्जरा करते हुए क्रमसे सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर आत्मशुद्धि करलेते हैं।

प्रश्न—जो अव्रतसम्यग्दृष्टि और अणुव्रती श्रावक भक्तप्रत्याख्यान विधि से समाधि मरण करना चाहता है क्या उसको नग्नावस्था धारण करना आवश्यक है?

उत्तर—हाँ, जिसका मृत्युसमय निकट आगया हो, अपनी आत्मा के उद्धार के लिए जो पण्डितमरण करना चाहता हो तो उसको ससार के सब पदर्थों का त्याग कर एवं विधिपूर्वक भक्तप्रत्याख्यान (आहार-त्याग) कर अन्त समय मे वस्त्र-त्यागपूर्वक दिगम्बर-मुद्रा धारण करना चाहिए। किन्तु यदि वह अत्यन्त लज्जाशील हो या परम वैभवशाली हो या जिसके कुटुम्ब परिवार मे मिथ्यादृष्टियो का प्रावल्य हो तो उसे नग्नता धारण न करना चाहिए। उसको कम से कम वस्त्र धारण कर उसमे भी ममत्व का त्याग कर शान्ति से धर्म्यध्यान पूर्वक देह का त्याग करना चाहिए। आचार्यों ने उस मरण को भी पंडित मरण माना है।

स्वाध्याय के सातगुण

पंडितमरण के अभिलाषी मनुष्य को शास्त्र का निरन्तर स्वाध्याय करना चाहिए। क्योंकि जिनागम का स्वाध्याय करने वाले के आत्महित व परहित करने की बुद्धि आदि सात गुण प्रकट होते हैं। वे आत्महितादि गुण ये हैं.—

आदहिदपइण्णा भावसंवरो णवणवो न संवेगो ।
णिक्कंपदा तवो भावणा य परदेसिगत्तं च ॥१००॥(भग०)

अर्थ—१ जिनागम का अभ्यास करने वाले के आत्महित का ज्ञान होता है। २ पापकर्मों का सवर होता है। ३ नवीन नवीन सवेगभाव उत्पन्न होता है। ४ मोक्ष मार्ग मे स्थिरता आती है। ५ तपस्या की वृद्धि होती है। ६ गुप्तिपालन में तत्परता आती है। और ७ इतर भव्यजीवों को उपदेश करने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है। ये सात गुण जिनागम के स्वाध्याय करने वाले की आत्मा मे प्रकट होते हैं। इन सातों का संक्षेप स्वरूप यह है.—

१ आत्महितज्ञान—संसार के सब अज्ञ प्राणी इन्द्रियजन्य विषय सुख को ही अपना उद्देश्य समझते हैं। वे यह नहीं समझते कि इन्द्रिय सुख सुखाभास है। यदि यह वास्तव मे सुख होता तो इसके सेवन करने से आत्मा को अशान्ति और ग्लानि का अनुभव क्यों होता ? सुख तो उसे कहते हैं जिसका अनुभव करने से आत्मा को आह्लाद और शान्ति की प्राप्ति हो। किन्तु इन्द्रियजन्य विषयसुख में यह बात नहीं पाई जाती है। यह सुख आत्मा में रागान्धता उत्पन्न कर कर्मबन्ध करता है। तथा इसकी प्राप्ति के लिए आत्मा को अनेक प्रकार के कुकृत्य करने पडते हैं। इससे व्याकुलता की वृद्धि होती है। यह पराधीन है। जिनागम के अभ्यास से विषयो से उदासीनता उत्पन्न होती है और सच्चे सुख के साधनभूत रत्नत्रय के आराधन मे रुचि पैदा होती है। अतः जिनागम का स्वाध्याय करने से आत्महित-बुद्धि नाम का गुण प्रादुर्भूत होता है।

२ भावसवर—पापजनक विचारो का त्याग करने को भावसंवर कहते हैं। आगम का अध्ययन करने से पाप व पुण्य के कारणों का ज्ञान होता है। ज्ञानी जीव पापजनक अशुभ भावों को छोड़ता है और शुभ व शुद्ध भावो मे परिणति करता है। अर्थात् मन वचन काय से ऐसी क्रियाएँ करता है, जिनसे पुण्य बन्ध होता है या कर्मों का संवर और निर्जरा होती है। बिना जाने अज्ञानी जीव जिन क्रियाओं से पाप कर्मों का बन्ध करता रहता है, ज्ञानी जीव परिणाम की विशुद्धि से उन्हीं क्रियाओं से कर्म की निर्जरा करता है। यह भावों की विशुद्धि जिनागम के अभ्यास से ही होती है।

३ नवीन-नवीन-सवेंगभाव—जिनागम में संसार का सत्य स्वरूप का वर्णन किया है। इस आत्मा ने इस संसार में कैसे२ दुख किस २ गति मे भोगे हैं उनका बोध होने से आत्मा ससार से भयभीत होता रहता है, इसलिए जिनागमन का अभ्यास संवेग-भाव को उत्पन्न करके श्रद्धा को दृढ बनाता है। जो सयमी नित्य स्वाध्याय नहीं करता है उस पर किसी प्रकार सकट आने पर वह श्रद्धा से च्युत हो

जाता है। जो नित्य जिनवाणी का मनन करता है उसके चित्त में दृढ़ता रहती है और वह आपत्ति आने पर ज्ञानबल से उसको सह लेता है। उसका आत्मा श्रद्धान से भ्रष्ट नहीं होता है।

मोक्षमार्ग मे स्थिरता—जिनवाणी मोक्ष का तथा मोक्ष के मार्ग (सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र) का स्वरूप और महत्त्व का निरूपण करती है। रत्नत्रय आत्मा का स्वरूप है और जिसका जो स्वरूप है वही उसके कल्याण का करनेवाला होता है। श्रीवृषभादि तीर्थंकरों ने तथा अन्य महापुरुषो ने रत्नत्रय का आराधन कर शिव सुख प्राप्त किया है। अनेक भयानक उपसर्गों के आने पर भी उन महात्माओं ने मोक्षमार्ग के आराधन मे थोड़ी भी शिथिलता नहीं की है। वे मेरु के समान अडोल निष्कम्प रह कर सदा के लिए सुखी हुए हैं। इसलिए सुख की अभिलाषा करनेवाले को मोक्षमार्ग पर स्थिर रहना चाहिये ऐसा ज्ञान जिनागम के अभ्यास से होता है।

५ तपवृद्धि—जिनागम के वेत्ता ही जीवादि पदार्थों के स्वरूप को भले प्रकार जानकर भेदज्ञान प्राप्त करते हैं। शरीर और आत्मा को भिन्न समझकर उसको शरीर से पृथक् करने के लिए कर्मों का क्षय करनेवाले बाह्य और आभ्यन्तर तप का आचरण करते हैं। तत्त्वज्ञान के प्रभाव से तपस्या मे आत्मा की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है, स्वाध्याय स्वयं अन्तरंग तप है। अत: जिनागम के स्वाध्याय से तप में प्रवृत्ति होती है और निरन्तर उसकी वृद्धि होती रहती है।

६ गुप्ति के पालन मे तत्परता—मन, वचन और काय को शुद्धोपयोग मे लगाने को गुप्ति कहते हैं। इसके पालन करने में तत्पर रहने के लिए सुगम उपाय स्वाध्याय है। स्वाध्याय करनेवाले के अनायास मन, वचन, काय का निरोध होता है। मन, वचन, काय के निरोध करने का इससे सरल कोई दूसरा उपाय नहीं है। स्वाध्याय करनेवाले का चित्त जब जीवादि तत्वो के स्वरूप का विचार व मनन करने मे लगता है तब उसके मन, वचन और काय तीनों विषय-कषायादि से निवृत्त होकर शुद्ध स्वरूप में प्रवृत्त होते हैं। उस समय आत्मा अशुभोपयोग से निवृत्त होकर शुद्धोपयोग में प्रवृत्त होता है। अत: स्वाध्याय से गुप्ति के पालन मे तत्परता होती है। गुप्ति के पालन से कर्मों का संवर और निर्जरण होता रहता है।

(७) परोपदेश सामर्थ्य—जिसने जिनागम का अभ्यास किया है वही इतर भव्य प्राणियों को उपदेश दे सकता है। संसार को कल्याण का मार्ग दिखाना साधारण पुण्यकर्म नहीं है। संसार के उद्धार करने की उत्कट इच्छा होने से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है। तीर्थंकर उन्हें मोक्ष सुख का मार्ग दिखाता है। वह प्रमाण और नय से जीवादि तत्त्वों का स्वरूप समझाकर उनको कल्याणमार्ग में लगाता है। इसलिए जो जीवों को उपदेश देना चाहता है उसको निरन्तर आगम का मनन चिन्तन करते रहना चाहिए। जो आत्महित और परहित की इच्छा रखता है, उसे रात दिन जिनागम का अभ्यास करना आवश्यक है। जिसको जिनागम का रहस्य-ज्ञान नहीं है उसे आत्महित का ज्ञान

नहीं होता है। किसको हित कहते हैं ? और उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है ? इसको वह नहीं जान पाता है। ज्ञान बिना उसके सब कृत्य कर्मबन्ध के कारण होते हैं। वह अनेक प्रकार के कठिन दुर्धर तप करता है वह भी उसके कर्मबन्ध को वढ़ाने वाले होते हैं। इसका कारण यह है कि उसके ज्ञाननेत्र नहीं हैं। वह विपरीत मार्ग द्वारा पापकर्म रूप भयानक वन की ओर बढता जाता है और वहा वह अनेक आपदाओं में फँस जाता है। इन सब बुराइयो का कारण अज्ञान है। यथाः—

आदहिदमयाणंतो मुज्झदि मूढो समादियदि कम्मं।
कम्मणिमित्तं जीवो परीदि भवसायरमणंतं ॥ १०२ ॥ (भग०)

अर्थ—आत्मा का हित क्या है ? इसको न जानने वाला अज्ञानी जीव बाह्य पदार्थों मे मोहित होजाता है और मोह के कारण कर्मों का वन्ध करता है। इन कर्मों के कारण वह अनन्त ससार सागर मे भ्रमण करता है।

ज्ञानी जीव आत्मा के हित को समझता है। वह ज्ञान नेत्र से देखता है कि यह मार्ग आत्मा का हितकर है और यह अहितकर है। हितकर मार्ग मे प्रवृत्ति करता है और अहितकर कुमार्ग से निवृत्त होता है। इसलिए प्रत्येक आत्मा को हितकारी मार्ग जानने के लिए निरन्तर जिनागम का अभ्यास करना चाहिए।

ज्यों ज्यो जिनागम मे अधिक प्रवेश होता है, त्यो त्यो तत्त्वज्ञानामृत का रसास्वादन विशेष होता जाता है। जैसे आम्रफल मे रस भरा रहता है वैसे ही जिनागम के शब्दो मे तत्त्वामृत भरा हुआ है, उसकी मनन चिन्तन करने से उसका रसास्वादन होता है। उस रस का आस्वादन करने से आत्मा को परम आह्लाद का अनुभव होता है और उसकी धर्म मे विशेष प्रवृत्ति होती है।

आगम का वेत्ता मुनि निश्चय और व्यवहार धर्म को यथावत्समझता है। आत्मा का उत्थान करने वाले और अधः पतन करने वाले कार्यों को भलोभाति जानता है। वह कोई काम ऐसा नहीं करता, जिसके द्वारा मुनि धर्म को अपवाद का सामना करना पडे। आगम के अभ्यासी सयमी का प्रत्येक कृत्य ज्ञानपूर्वक होता है। उसकी प्रवृत्तिरूपक्रिया भी निर्जरा का कारण होती है। अज्ञानी जिन कार्यों से महान् कर्मबन्ध करता है उन्हीं कार्यों को करता हुआ ज्ञानी कर्मों का क्षय करता है कहा है:—

ज अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसय सहस्स कोडीहि।
तं णाणी तिहि गुत्तो खमेदि अंतोमुहुत्तेण ॥ १०८ ॥

छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं अण्णाणियस्स जा सोही ।
तत्तो बहुगुणदरिया होज्ज हु जिमिदस्स णाणिस्स ॥ १०६ ॥ (भग०)

अर्थ—अज्ञानी (जिनागम के ज्ञान से शून्य) लाखो करोड़ो भवो मे जिन कर्मों का क्षय करने में समर्थ नहीं होता है, उन कर्मों को जिनागम का वेत्ता तीन गुप्तियों का पालन करता हुआ मुनि अन्तर्मुहूर्त्त मे नष्ट करदेता है । तथा अज्ञानी मनुष्य वेला, तेला, चोला, पचोला, पाक्षिक, मासिकादि अनेक उपवासों का आचरण करके आत्मा मे जो विशुद्धि उत्पन्न करता है, ज्ञानी पुरुष भोजन को ग्रहण करता हुआ भी उससे बहुत अधिक आत्मा की विशुद्धि कर लेता है ।

इसका आशय यह है कि अज्ञानी जितना भी कार्य करता है वह वस्तु के स्वरूप को न समझ कर करता है। जैसे हाथी स्नान करने के पश्चात् अपने शरीर पर धूल डालकर उसे मलीन बना लेता है वैसे ही अज्ञानी जीव व्रत उपवासादि कायक्लेश तप करता है अथवा अन्य धार्मिक क्रियाओ का आचरण करता है, पर वह विवेकहीन उनका यथार्थ स्वरूप न समझने के कारण विपरीत श्रद्धान व प्रतिकूल आचरण करता है, अत मिथ्या-श्रद्धान और विपरीत-चारित्र के कारण उसके सब कृत्य पाप-बन्ध के हेतु होते हैं। तत्त्वज्ञान के बिना उसका मन रूपी मस्त हाथी विषय और कषाय के उपवन मे दौड लगाता है। सकल्प-विकल्प के जाल मे फसा हुआ उसका अन्तः करण संसार के बन्धन को दृढ करता है ।

अज्ञानी जीव दुख से डरकर सुख की प्राप्ति के लिए दोड-धूप तो करता है, किन्तु वह अविनाशी आत्मीय सहजानन्द को न समझने के कारण, उस पर विश्वास नहीं करता है । इन्द्रिय-जन्य सुख को आत्मा का हितकर मानता है और उसकी प्राप्ति के लिए लौकिक अथवा पुण्य रूप प्रयत्न करता है । वह यह नहीं समझता है कि पुण्य ओर पाप आत्मा को बन्धन मे डालने वाले हैं । वेडी सोने की हो या लोहे की दोनो मनुष्य को पराधीन बनाने वाली हैं । पुण्योपार्जन करने से स्वर्गादि की सम्पत्ति अथवा यहाँ पर चक्रवर्ती आदि विभूति भी मिल जावे तथापि आत्मा को जन्म मरण के दु.ख से छुटकारा नहीं मिलता है । वह पुण्योपार्जित सुख की सामग्री अज्ञानी आत्मा को अधिक अधिक मोहान्ध बना देती है और परम्परा दुःख जनक रागादि भावो को बढा देती है, जिससे यह आत्मा अपने स्वरूप को न पाकर अनगिनत भवो म दु ख को भोगता है ।

अज्ञानी आत्मा दुष्कर तपश्चरण का आचरण कर इस लोक मे चमत्कार उत्पन्न करनेवाली ऋद्धियो और विभूतियो की आकाक्षा करता है । वह चारित्र के चिन्तामणि समान फल को कोडियो मे वेचता है । वह यह नही समझता कि चॉवल की खेती करने वाले को तुष (भूसा) की कामना नहीं होती है । कृषक धान्य के लिए खेती का परिश्रम उठाता है भूसे के लिए नहीं । वह तो अनायास ही मिल जाता है ।

इसी प्रकार ज्ञानी धर्म का पालन आत्मीय सुख की प्राप्ति के लिए करता है। उसे स्वर्गादि के सुख भी आनुषंगिक रूप से मिलजाते हैं। उनका अनुभव करता हुआ भी उन सुखों को उपादेय नहीं समझता है और उसका लक्ष्य मोक्षपद-प्राप्ति का बना रहता है। वह दिव्य भोगों को भोगता है, देवांगनाओं के मध्य मनोहर क्रीडाएँ करता है, मन को लुभाने वाले अप्सराओं के लावण्य व सौन्दर्य का नेत्र-पात्र से पान करता है, उनके कोकिलसम कण्ठ से निकले मंजुल मधुर गान का रसास्वादन करता है, नन्दनवन मे अप्सराओं के साथ रमण करता है फिर भी उन सुखो मे उसकी आसक्ति नहीं है। वह अपने परतन्त्र आत्मा के असामर्थ्य का अनुभव कर सोने के पींजरे मे पडे हुए तोते के समान दुःखी रहता है। मिष्ट फल का आस्वादन करता हुआ भी परतन्त्रता से दुःखित हो बाहर निकल भागने का इधर उधर मार्ग ढूढा करता है, वह ससार से निकलने के लिए छटपटाता रहता है।

अज्ञानी जीव धन सम्पत्ति स्त्री पुत्र भवन उपवन आदि सामग्री को सुख देनेवाली समझकर उनकी प्राप्ति के लिए तथा प्राप्त होने पर उनकी रक्षा करने मे ही लगा रहता है। दैववशात् उनका वियोग हो जाने पर अत्यन्त दुःखित होजाता है। किन्तु ज्ञानी जीव धन सम्पत्ति स्त्री पुत्रादि की प्राप्ति को कर्म की देन मानता है। इन पदार्थों को कर्म की दी हुई धरोहर समझता है। जब उनका वियोग हो जाता है, तब दुःख नहीं होता, वह सच्चे साहूकार की तरह कर्म की रखी हुई धरोहर को उसे सहर्ष सौंपना ही अपना कर्त्तव्य समझता है। वह विचारता है कि कर्म ने ही इतने समय के लिए मुझे सौंपी थी और अब उसने उसकी वस्तु वापस लेली। इसमे विषाद क्या ? दूसरे की चीज़ पर अपना अधिकार कर लेना महान् अन्याय है। अन्याय करने वाला नरक निगोदादि बन्दीगृह मे डाला जाता है—ऐसा विचार कर ज्ञानी सदा सुखी रहता है। उसको अज्ञानी के समान वस्तु के सयोग से सुख तथा वस्तु के वियोग से दुःख नहीं होता है।

इस प्रकार के तत्त्वज्ञान से ज्ञानी ससार के कार्यों को करता हुआ भी कमल-पत्र के समान निर्लेप रहता है। अतएव ज्ञानी के भोग भी निर्जरा के कारण होते हैं और अज्ञानी की धार्मिक क्रिया भी अविवेक पूर्ण होने से बन्ध की कारण होती हैं।

इसलिए हे आत्मन् यदि संसार के दुःखो से, मानसिक सतापों से, इष्ट वियोग तथा अनिष्ट सयोग-जन्य क्लेशों से बचना चाहते हो तथा सदा आनन्दामृत का रसास्वादन करना चाहते हो तो तत्त्वज्ञान सम्पादन करो। वह तत्त्वज्ञान जिनागम का सतत अभ्यास करने मे उपलब्ध होता है।

शका—जिनागम का अभ्यास करने मे ही तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है, तो ग्यारह अग और अभिन्नदश पूर्व के पाठी मुनि को तो जरूर ही तत्त्व ज्ञान हो जाना चाहिए था। लेकिन उतने अधिक आगम के अभ्यास से भी तत्त्वज्ञान नहीं होता है और तुषमाष भिन्न ज्ञान

रखने वाले शिवभूति मुनि के समान अल्पज्ञ भी तत्त्वज्ञान (भेदविज्ञान) प्राप्त कर अपना कल्याण करलेते हैं, इसलिए आगम के अभ्यास से तत्वज्ञान उत्पन्न होता है—यह कैसे सिद्ध हुआ ?

समाधान—किसी समय एक शिवभूति नाम के मुनि थे। उन्हें शास्त्र के एकाक्षर का भी ज्ञान नहीं था। किसी को उन्होंने उडद की दाल से उसके तुषों को अलग करते हुए देखा। इसीसे उनने यह जानलिया कि जैसे दाल तुष से भिन्न है इसी तरह शरीरादि जड पदार्थों से आत्मा भिन्न है। किसी काल मे किसी निकट भव्य को जिनागम के अभ्यास के बिना तत्त्वज्ञान हो जावे और वह उस पर स्थिर रहकर अपने आत्मा का कल्याण करले तो वह सब के लिए राज मार्ग नहीं हो सकता है। जैसे किसी नगर के राजा का स्वर्गवास होगया, और वहां के निवासियों या राजवर्ग के मनुष्यो ने निश्चय किया कि जो पुरुष सबसे प्रथम नगर मे प्रवेश करेगा उसीको इस नगर का अधिपति पद दिया जावेगा। धन की अभिलाषा मे इधर उधर भटकता हुआ कोई दरिद्र उस नगर मे अचानक प्रविष्ट हुआ, और उसे राज्य प्राप्त होगया, तो क्या राज्य-प्राप्ति का वह मार्ग राजमार्ग माना जा सकता है ? राज्य के अभिलाषी क्या उसके मार्ग का अनुसरण कर अपने अभीष्ट की सिद्धि कर सकेंगे ? कभी नहीं कर सकते। अथवा किसी मनुष्य को जंगल मे भ्रमण करते हुए दैववश वहां स्वर्ण-निधि प्राप्त होगई तो सबको उसी प्रकार स्वर्ग का खजाना प्राप्त हो जावेगा ? उसको प्राप्त करने का तो वाणिज्य व्यवसाय कृषि आदि ही मार्ग हो सकता है। उसी प्रकार तत्त्वज्ञान प्राप्ति का साधन जिनागम का अभ्यास ही हो सकता है। जो सयमी या श्रावक शिवभूति मुनि के दृष्टान्त को सम्मुख रखकर जिनागम का अभ्यास न कर पशु समान तत्त्वज्ञान रहित होकर अपना काल विकथा आलस्यादि प्रमाद मे बिताते हैं वे अपना तो अहित करते ही हैं और अपने सम्पर्क मे रहने वाले अन्य भोले प्राणियो का भी महान् अहित करते हैं, अतएव प्रत्येक मनुष्य को अपना तथा परका हित सम्पादन करने के लिए निरन्तर स्वाध्याय करना उचित है। स्वाध्याय करने से आत्मा को शान्ति मिलती है, विषय भोग से उदासीनता आती है, धर्म मे अनुराग बढता है। संसार मे भय और शरीर से वैराग्य होता है, तत्त्वज्ञान जागृत होता है, कषाय मन्द होती है और चित्त की एकाग्रता होती है। चित्त की एकाग्रता के कारण ध्यान की सिद्धि होती है। और ध्यान से कर्म का क्षय होकर मोक्षपद प्राप्त होता है।

इस प्रकार जिनागम के स्वाध्याय करने से तत्त्वज्ञान की जागृति का वर्णन करके अब विनय का वर्णन करते हैं, क्योंकि ज्ञान का फल विनय है। जिस ज्ञानवान् को विनय गुण नहीं प्राप्त हुआ उसका तत्त्वज्ञान फलशून्य वृक्ष के समान अनादरणीय होता है।

विनय की महिमा

'विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम् '

ज्ञान की प्राप्ति विनय को जन्म देती है और विनयवान् आत्मा गुणो का पात्र (आधार) बनता है। तत्त्वज्ञान की सफलता

विनीत भाव धारण करने से ही होती है। जिसका आत्मा अविनीत है, उसका सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र, तप और व्यवहार शुद्ध नहीं होता है। क्योंकि अविनय उनमे मलीनता उत्पन्न करता है। अविनय नाम कठोरता का है। कठोर-हृदय पाषाण के समान मानागया है। जैसे पाषाण पर डाला हुआ उत्तम बीज भी बेकार हो जाता है, उसमे समय पर सिंचन किया हुआ जल बह जाता है, उसको आर्द्र व कोमल नहीं बना सकता है, अत उसमे अकुर का उदय नहीं होता। उसी प्रकार विनय हीन मनुष्य मे गुरु के उपदेश सत्सगति आदि के निमित्त से सदाचारादि गुण उत्पन्न नहीं होते हैं। सचतो यह है कि विनय रहित मनुष्य को ज्ञान की प्राप्ति ही नही होती है, क्योकि अविनीत शिष्य पर गुरु का प्रेम नही होता विनयवान् शिष्य को गुरु अपने से अधिक विद्वान् बनाने का उद्योग करता है। हृदय खोलकर शास्त्रो के रहस्य का उद्घाटन करता है। और अविनीत शिष्य को अपने निकट भी नहीं बैठने देता है। इसलिए विनयशील शिष्य ही ज्ञानादि गुणों का भडार होना है और वह सब का प्रिय होता है। उसके सहज मे सब मित्र बन जाते हैं और उसको सुखी बनाने मे प्रयत्नशील होते हैं। अविनीत के विना कारण सब शत्रु हो जाते हैं। और उसके उत्कर्ष को कोई नहीं चाहते हैं।

विनय के भेद और उनका स्वरूप

विनय पाच प्रकार का है— १ दर्शनविनय, २ ज्ञानविनय, ३ चारित्रविनय, ४ तपविनय और ५ उपचारविनय।

१ दर्शनविनय—सम्यक्त्व के शका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि की प्रशसा और स्तुति इन पाच अतिचारों का त्याग करना, सम्यग्दर्शन के निश्शङ्कितादि आठ गुणों को धारण करना, सम्यग्दर्शन का विनय कहलाता है।

(२) ज्ञानविनय-सम्यग्ज्ञान को धारण करना ज्ञान विनय है। ज्ञान विनय के ८ भेद हैं उनका क्रमशः यह स्वरूप है:— १ योग्यकाल मे आगम (सूत्रो) का अध्ययन करना कालविनय है। २ आगम व आगम के कर्त्ता की महिमा का वर्णन करना भक्ति विनय है। ३ जबतक यह ग्रन्थ पूर्ण नहीं होगा तब तक अमुक वस्तु का भोजन नहीं करूंगा अथवा इतने उपवास करूगा इत्यादि तपस्या करने को उपधानविनय कहते हैं। इससे कर्म का क्षय होता है और ज्ञान की जागृति होती है। ४ पवित्र होकर हाथजोड एकाग्रचित्त से अध्ययन करने को बहुमान विनय कहते हैं। ५ किसी गुरु से शास्त्रो का अध्ययन करके भी उसको गुरु न बताना अथवा उसके स्थान मे किसी अन्य व्यक्ति को गुरु प्रकट करना निह्नव कहलाता है। ऐसे निह्नव का न होना ही अनिह्नव नाम का विनय है। ६ गणधरादि द्वारा निर्मित आगम का शुद्ध उच्चारण करना व्यजन (शब्द) शुद्धि नाम का विनय है। ७ आगम का यथार्थ शास्त्रो के अर्थ का इस प्रकार प्रतिपादन करना जिससे श्रोताओ के ठीक ठीक समझ मे आजावे उसे अर्थशुद्धि नामका विनय कहते हैं। ८ आगम के शब्दरूप पाठ का तथा अर्थ का शुद्ध निरूपण

करते है। नियतस्थान पर निवास करने से मुनियों का परस्पर सम्मेलन नहीं होसकता और वे एक दूसरे से कुछ भी लाभ नहीं उठा सकते हैं। तथा अनेक देश नगर ग्रामादि के धर्म-प्रिय मनुष्य धर्म के मार्ग से वंचित रहते हैं। सतत विहार करनेवाले मुनि नाना देश के लोगों को धर्म का स्वरूप दिखाकर उन्हे धर्म के मार्ग पर लगाते हैं और धर्मात्माओ को धर्ममार्ग पर दृढ करते हैं।

नानादेशो मे विहार करने से मुनि मे क्षुधा तृषा चर्या शीत उष्णादि परिषहों के सहन करने की शक्ति बढती है। अनेक देशों का परिज्ञान होता है। वहा के धर्माचरणादि की परिस्थिति का परिचय होता है। भिन्न २ प्रकृति के मनुष्यों के साथ धर्मचर्चा करने से तत्वज्ञान मे प्रौढता आती है और तत्त्वविवेचन करने का वाक्चातुर्य प्राप्त होता है। अनेक देशों की भिन्न २ भाषाओं का परिज्ञान होता है।

अनियत विहारी के वसतिका मे, पुस्तकादि उपकरण में, ग्राम नगर देशादि में, तथा श्रावकों मे मोह उत्पन्न नहीं होता है। इसलिए निरन्तर विहार साधु के आचरण व ज्ञानादि को निर्मल करने वाला है।

यह याद रखने की बात है कि देशान्तर मे भ्रमण करने मात्र से अनियतविहारी नहीं होता है, किन्तु श्रावक लोगों मे ममत्व रहित होने से ही अनियतविहार की सफलता मानी गई है। जो साधु 'यह श्रावक मेरे भक्त हैं, मैं इनका स्वामी हूँ,' इस प्रकार मोह भाव रखता है वह आगमानुकूल देशान्तर मे पर्यटन करता हुआ भी अपने आत्मा को भक्त-प्रत्याख्यान-समाधिमरण करने के योग्य नहीं बना सकता है।

उक्त प्रकार निरन्तर विहार करता हुआ साधु व आचार्य समाधि मरण के अवसर का आगमन समझकर भक्तप्रत्याख्यान करने मे तत्पर होता है।

समाधिमरण के लिए तत्परता

आचार्य जब अपनी आयु को अल्प शेष रही जान लेते हैं, तब अथवा ऊपर बताये हुए प्राणघातक व्याधि दुर्भिक्षादि कारण उपस्थित होने पर समाधिमरण के लिए तत्पर होते हुए समस्त संघ का परित्याग करने के लिए उद्यत होते हैं उस समय वे विचारते हैं कि

अणुपालिदो य दीहो परियाओ वायणा य मे दिण्णा।
णिप्पादिदा य सिस्सा सेय खलु अप्पणो कादुं ॥ १५४ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—मैंने आगमोक्त विधि से चिरकाल पर्यन्त दर्शन, ज्ञान, चारित्र एवं तपरूप पर्याय की रक्षा की। मैंने शिष्यों को अध्य-

यन भी कराया। अनेक शिष्यो को भगवती दीक्षा भी दी। अब शिष्य भी योग्य व समर्थ होगये हैं। अत अब मुझे अपना हित करना चाहिए। इस प्रकार आचार्य के परिणाम उत्पन्न होते हैं और यह श्रेष्ठ भी है। क्योंकि—

आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं।
आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्व ॥ (भग० टीका १५४)

अर्थात्—जिसमे आत्मा का हित होता है, वही कार्य करना चाहिए यदि आत्महित करते हुए परहित करने का सामर्थ्य हो तो परहित भी अवश्य करना योग्य है। किन्तु जब परहित मे लगे रहने पर आत्मा का अहित होता हो, उस समय परहित की उपेक्षा करके आत्मा का हित करना ही उचित है। इस प्रकार भगवान कुन्दकुन्दाचार्य की आज्ञा है। अत. सघ के नायक आचार्य अन्त समय अपने आत्मा मे परम निराकुलता उत्पन्न करने के लिए शिष्यो के शासन कार्य का परित्याग कर देते हैं।

तथा सामान्यसाधु भी प्राणघातकव्याधि दुर्भिक्षादि के उपस्थित होने अथवा आयु के अन्तिम समय का निश्चय होने पर अपने आत्महित मे तत्पर होता है। आगम मे कहा है —

एवं विचारयित्ता सदि माहप्पे य आउगे असदि।
अणिगूहिदबलविरियो कुणादि मदिं भत्तवोसरणे ॥ १५८ ॥ (भग०)

अर्थ—अपने आत्महित का विचार कर स्मरण शक्ति के रहते हुए आयु के अन्तिम समय मे अपने बल व वीर्य को न छिपाकर साधु भक्तप्रत्याख्यान (समाधि मरण) करने का विचार करता है।

वह सोचता है कि जब तक मेरी स्मरण शक्ति बनी हुई है, शारीरिक शक्ति क्षीण नहीं हुई है, वचन उच्चारण करने मे भी कुछ त्रुटि नहीं उत्पन्न हुई है और आत्महित का विचार करने का बल जब तक नष्ट नहीं हुआ है, चक्षु श्रोत्र आदि इन्द्रियों की शक्ति भी जब तक नहीं घटी है तब तक ही मुझे अपना आत्महित कर लेना चाहिए। क्योंकि स्मृति भ्रष्ट होजाने पर रत्नत्रय का आचरण कैसे हो सकेगा? तथा शारीरिक शक्ति का क्षय होने पर आतपनादि योगो का अनशनादि तपश्चरण का और ईर्यासमिति आदि चारित्र का पालन कैसे कर सकूंगा? शक्ति के अभाव से चारित्र के पालन मे अरुचि उत्पन्न हो जाने पर मेरा सयम रत्न लुट जावेगा, चक्षु व श्रोत्र के आश्रित सयम का पालन होता है और जब ये उत्तर देदेंगे, तब मेरा जीवन का सार सयम नष्ट हो जावेगा। अत इन सब के अनुकूल रहते मुझे आत्म

करने को तदुभय (व्यजन व अर्थ) शुद्धि नाम का विनय कहते हैं। इन आठ प्रकार के ज्ञान के साधनों से आठ कर्मों का व्यपनयन (निराकरण) होता है। इसलिए इनको विनय नामसे कहा है। इस प्रकार ज्ञानविनय के आठ भेदो का वर्णन हुआ।

(३) चारित्रविनय—चारित्र धारण करना चारित्रविनय है। पांचव्रतो की जो पच्चीस भावनाएँ हैं ('तत्स्थैर्यार्थं भावना पञ्च २- जो इस तत्वार्थ सूत्र से निरूपण की गई हैं) उनके चिन्तन करनेका चारित्र विनय कहते हैं। अथवा इष्ट अनिष्ट शब्द रूपादि विषयों मे रागद्वेष न करने तथा क्रोधादि चार कषाय, इष्ट अनिष्ट हास्यरति अरति आदि नव कषायो का निग्रह करना चारित्र विनय कहलाता है।

(४) तपविनय—सयमपालन मे उद्यमशील होना, दीनता रहित होकर क्षुधादि परिषहों का सहना, तपस्या मे अनुराग रखना, सामायिक, प्रतिक्रमण, चतुर्विंशतिस्तव, वेदना, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यक का हीनाधिकता रहित पालन करना तपविनय कहलाता है।

(५) उपचारविनय—गुरू आदि पूज्य पुरुषों का मन वचन काय से प्रत्यक्ष व परोक्ष आदर सत्कार भक्ति करने को उपचार विनय कहते हैं।

इस प्रकार सक्षेप से विनय का वर्णन किया है। इसका विशेष विशद वर्णन 'विनयाचार' मे कर आये हैं। वहा से जान लेना चाहिए।

मनको वश में करने की आवश्यकता

जिनलिंग के धारक समाधिमरण के इच्छुक ने ज्ञानाभ्यास से विनय गुण उत्पन्न कर लिया है उसको अपना मन भी वश में करना चाहिए। क्योकि जिसका मन चचल है, वह अपने प्रयोजन की सिद्धि नहीं कर सकता है। उसका चारित्र तप आदि का आराधन निरर्थक होता है।

चालणिगयं व उदयं सामण्णं गलइ अणिहुदमणस्स।
कायेण य वायाए जदि वि जधुत्तं चरदि भिक्खू ॥१३३॥ (भग०)

अर्थ—जो सयमी शरीर से शास्त्रोक्त क्रियाओं को करता है, तथा वचन से आगमोक्तप्ररूपणा करता है, तथापि यदि उसका

चित्त काय और वचन के द्वारा किये गये सम्यक् आचरण में स्थिर नहीं है एवं विषयों में भ्रमण करता रहता है उस साधु का आचरण (मलन) चालनी में गिराये गये पानी के समान निकल जाता है। अर्थात् उसके आत्मा में चारित्र चलनी के पानी के समान नहीं टिकता है।

जब तक मनमें चंचलता है। बाहर विषयों की तरफ भटकने की आदत नहीं छूटती है तब तक वह अन्धे बहरे व गूंगे के समान है। जैसे अन्धा बहिरा व गूंगा वस्तु के सन्मुख रहते हुए भी उसको देखता सुनता नहीं है तथा वचन द्वारा कह नहीं सकता, वैसे ही अन्य विषयों में लगा हुआ मन सन्मुख स्थित वस्तु आदि का ज्ञान नहीं करता है। मन मदोन्मत्त हाथी के समान है। उसको रोकने के लिए स्वाध्याय-रूप शृंखला ही एक मुख्य उपाय है। जिसने स्वाध्याय से मन को स्थिर करने का अभ्यास किया है उसीका चित्त स्थिरता को प्राप्त होता है। तथा वही उसे अपने आत्मा में लगा सकता है।

शंका—मनको रोकने का उपाय करने पर भी यह अनिरोध इधर उधर क्यों दौड़ जाया करता है? विषयों से हटाने का विचार करते हैं तो भी उन वस्तुओं में पुनः पुनः चला जाता है, इसका क्या कारण है?

समाधान—जिन पदार्थों में अधिक अनुराग होता है, उसमें मन की प्रवृत्ति होती है। जैसे जैसे बाह्य पदार्थों से अनुराग घटता है वैसे वैसे उनमें मन निवृत्त होकर आत्मा में स्थिर होने लगता है। मनको स्थिर रखने के निमित्त ही सब परिग्रह के त्यागी साधुओं को भी सावधान रहने का उपदेश दिया है और यहां तक कहा है कि उनको गृहस्थों के घरों से बचना चाहिए। इसीलिए निरंतर विहार करने का भी उनको आदेश है। निरन्तर विहार का वर्णन हम पहले कर आये हैं। इसलिए यहां विशेष वर्णन न करके उससे होने वाले लाभ का संक्षेप में निरूपण करते हैं।

निरंतर विहार की उपयोगिता

सतत विहार करनेवाले मुनि के, तीर्थंकरों के गर्भ जन्म कल्याण के क्षेत्रों के अवलोकन करने से, उनकी तपस्या करने की पवित्र भूमि के स्पर्श करने से, केवल और मोक्ष कल्याण के परम पवित्र तीर्थों की यात्रा करने से सम्यग्दर्शन में विशुद्धि उत्पन्न होती है।

अनियत विहारी मुनि उत्कृष्ट चारित्र के आराधक होते हैं, उनको देखकर दूसरे शिथिल चारित्र वाले साधु भी अपने चारित्र को निर्मल बनाते हैं। उनकी ममाम्भीरता व उत्कृष्ट तपस्या को देखकर अन्य मुनि भी संसार से उद्विग्न हो तपश्चरण में लीन हो जाते हैं। उत्तम लेश्या के धारक मुनीश्वरों के निर्मल शान्त स्वभाव को देखकर इतर मुनि भी अपने परिणामों को निर्मल बनाते हैं। तात्पर्य यह है कि सतत विहार करने से साधुओं का परस्पर सहयोग होता है और उनमें जो कमी होती है, उसे एक दूसरे को देखकर वे निकालने का प्रयत्न

कल्याण के लिए भक्तप्रत्याख्यान समाधिमरण का आचरण करलेना उचित है। वह यह भी सोचता है कि इस समय मेरे शुभोदय से समाधिमरण के सहायक निर्यापक आचार्य तथा निर्यापक (वैयावृत्त्य करने वाले) साधु आदि भी सुलभ हैं। निर्यापकाचार्य ऋद्धिगारव रसगारव और सात गारव रहित होना चाहिए सो मुझे इस समय सुप्राप्य है। ऋद्धि-प्रिय आचार्य असयमी को भी निर्यापक पद पर स्थापित कर देते हैं। ये तीनों ही दोष निर्यापक मे नहीं होना चाहिए, क्योंकि असंयमो निर्यापक साधु को समाधि मरण मे क्या मदद दे सकता है ? जो स्वय असयम से नहीं डरता है वह असयम के कारणो का और असंयमाचार का परिहार कैसे कर सकता है ? और इसी तरह जो रस (आहारादि) तथा सात (सुख) गारव युक्त होता है, उससे क्लेशों का सहन कैसे हो सकता है ? जो अपने शरीरादि के कष्ट का सहन करने की शक्ति नहीं रखता वह आराधक के वैयावृत्त्य के क्लेश को कैसे सह सकता है ? किन्तु इस समय तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र का सुन्दर आचरण करने वाले निर्यापक का सयोग मिलरहा है। अतएव मुझे विद्वानों से मान्य भक्तप्रत्याख्यान का आचरण करके शरीर का त्याग करना आवश्यक है।

इस प्रकार के विचारों से मुनि के शान्ति पूर्वक शरीर त्याग करने की दृढता हो जाती है, यदि आसातावेदनीय कर्म के तीव्र उदय से उसके शरीर मे तीव्र वेदना भी उपस्थित हो जाय तो उक्त प्रकार से परिणामों में दृढता आजाने से उसको दुःख नहीं होता है, क्योंकि जीने की आशा उसके चित्त मे लेशमात्र भी नहीं है, वह तो शान्ति धारणकर मरण करने में उद्यमी हो रहा है, अतः उसके परिणामों मे निर्मलता बनी रहती है।

समाधिमरण करने मे तत्पर हुआ साधु पिच्छी और कमण्डलु के सिवा सब का परित्यागकर देता है। ज्ञान की साधनभूत पुस्तक भी उस समय परिग्रह मानी गई है। वह उसका भी त्याग कर देता है।

समाधिमरण में शुद्धियों की आवश्यकता और उनके भेद

समाधि मरण मे अग्रसर होने के लिए शुद्धियों की नितान्त आवश्यकता है और वे शुद्धियाँ पाच होती हैं। यथाः—

आलोयणाए सेज्जासंथारुवहीण भत्तपाणस्स।
वेज्जावच्चकराण य सुद्धी खलु पंचहा होइ ॥ १६६ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—आलोचना शुद्धि, शय्या सस्तर शुद्धि, उपकरण शुद्धि, भोजनपान शुद्धि और वैयावृत्त्य शुद्धि इस प्रकार शुद्धियों के पाच

भेद हैं। जिस साधु ने पडितमरण करने का दृढ निश्चय कर लिया है उसको उक्त पांच प्रकार की शुद्धियो को धारण कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। इन पाँचों शुद्धियों का सक्षिप्त स्वरूप यह है।

(१) आलोचनाशुद्धि—मायाचार रहित और असत्यभाषण रहित गुरु के निकट अपने अपराधों को प्रकट करना आलोचना शुद्धि कहलाती है। जो साधु अपने व्रताचरण मे लगे हुए दोषों को निष्कपट भाव से प्रकट नहीं करता उसका आत्मा मलीन रहता है, उस मलीनता को दूर करने के लिए गुरु के समीप अपने दोषो को ज्यों के त्यो प्रकट कर देना चाहिए। दोषों को प्रकट कर देने पर आत्मा स्वच्छ हो जाता है।

(२) शय्या-सस्तर शुद्धि—शय्या (वसतिका) और संस्तर मे उद्गम उत्पादनादि दोषो को नहीं लगाना तथा 'यह शय्या व सस्तर मेरा है' ऐसा ममत्व न रखना शय्या-संस्तर-शुद्धि है। उद्गम उत्पादनादि दोषों का स्वरूप एषणाशुद्धि के प्रकरण में कह आये हैं, वहा से जान लेना चाहिए। जो शय्या-सस्तर मे ममता रखता है, वह परिग्रही माना जाता है, उसमे ममत्व का त्याग करने से ही परिग्रह का अभाव होता है जो कि आत्मा को शुद्ध बनाने मे मुख्य कारण होता है।

(३) उपकरणशुद्धि—पिच्छी कमडलु भी उद्गमादि दोष रहित तथा 'ममेदं' इस ममत्व संकल्प से रहित होना चाहिए। जो उपकरण उद्गम उत्पादनादि दोष मे युक्त होते हैं, वे हिंसादि पापों के जनक होते हैं तथा उनमें ममत्व रहने से वे परिग्रह माने गये हैं, इसलिए निर्दोष उपकरण मे भी मोह का त्याग करना आवश्यक है नहीं तो आत्मा मे विशुद्धि नहीं आती।

(४) भक्तपानशुद्धि—अध कर्म, उद्गम, उत्पादना, उद्दिष्टादि दोष सहित भोजन और पान का ग्रहण न करने से भोजन पान शुद्धि होती है। निर्दोष भोजनपान मे भी मोह रहने से वह भी परिग्रह रूप होजाते हैं, इसलिए निर्दोष और मोहरहित शास्त्र विधि के अनुकूल आहारजलादि का ग्रहण करने से भक्तपान शुद्धि होती है।

(५) वैयावृत्त्यकरणशुद्धि—सयमी की सेवा (वैयावृत्त्य) जिस रीति से की जाती है, उस पद्धति का ज्ञान वैयावृत्त्य शुद्धि मानी गई है। जिसको मुनि के योग्य वैयावृत्त्य का ज्ञान नहीं है उसके वैयावृत्त्य शुद्धि का अभाव है।

दूसरी तरह से शुद्धियों के भेद।

दर्शनशुद्धि, ज्ञानशुद्धि, चारित्रशुद्धि, विनयशुद्धि, और आवासशुद्धि इस तरह भी शुद्धियों के पाच भेद माने गये हैं। इन शुद्धियों के धारण करने मे अशुभ योगादि भावदोषो का निरास होता है। इन भावदोषो के निवारण करने से परिग्रह का परिहार होता

है। इन शुद्धियो का सच्चेप स्वरूप यह है।

(१) दर्शनशुद्धि—निरशङ्कित आदि गुणों का आत्मा मे प्रकट होना ही दर्शनशुद्धि है। इस के प्रकट हो जाने से शंका, काक्षादि अशुभ परिणाम का नाश हो जाता है।

(२) ज्ञानशुद्धि—आगम का योग्य काल में अध्ययन करना, जिससे विद्या का अध्ययन किया है, उस गुरु का व शास्त्र का नाम न छिपाना इत्यादि आठ प्रकार की ज्ञान शुद्धि है। इस शुद्धि के उत्पन्न होने पर सूत्रों का अकाल मे अध्ययनादि क्रियाओं से जो ज्ञानावरण कर्म का आस्रव होता था उसका अभाव हो जाता है।

(३) चारित्रशुद्धि—अहिंसादि पाच व्रतो की पच्चीस भावनाओं का उत्तम रीति से पालन करने से चारित्र शुद्धि होती है। इन भावनाओं का परित्याग करने से अन्त करण मे मलिनता आती है और इससे अशुभपरिणाम उत्पन्न होते हैं। ये अशुभ परिणाम ही आभ्यन्तर परिग्रह हैं, इसलिए उन अशुभ परिणामो का परित्याग करना ही चारित्रशुद्धि मानी गई है।

(४) विनयशुद्धि—यश, सन्मान आदि लौकिक फल की अभिलाषा का त्याग कर पूजनीयों का विनय करना विनयशुद्धि है। इस विनय शुद्धि का आचरण करने से मानादिकषाय का अभाव हो जाता है।

(५) आवश्यकशुद्धि—पापजनक मन, वचन, काय की प्रवृत्ति का त्याग करना, जिनेन्द्र के गुणों मे भक्ति रखना, वंद्यमान आचार्यादि के गुणों का अनुसरण करना, किये हुए अपराधो की निन्दा करना, मन से अपराधों का त्याग करना, काय की नि सारता आदि का चिन्तन करना, ये सब आवश्यक शुद्धि है। इस शुद्धि के होने पर अशुभ (पापजनक) मन वचन काय की प्रवृत्ति का, जिनेद्र गुण मे अप्रीति का, आगम के महत्व मे अनादर का, आचार्यादि पूज्य पुरुषों के गुणों मे अरुचि का, अपराधो की अग्लानि का, त्याग रहित परिणाम का, संसार की सारता और शरीर की ममता का त्याग होता है। शुद्धियों की तरह सन्यासमरण धारण करनेवाले को पाच प्रकार का विवेक भी धारण करना चाहिए। इस, लिए प्रसगानुसार यहां विवेकों का वर्णन भी कर देते हैं।

पांच प्रकार का विवेक

इन्दियकसायउवधीण भत्तपाणस्स चावि देहस्स।
एस विवेगो भणिदो पंचविधो दव्वभावगदो ॥ १६८॥ (भग० आ०)

अर्थ—१ इन्द्रियविवेक, २ कषायविवेक, ३ उपधिविवेक, ४ भक्तपानविवेक, ५ देहविवेक, इस प्रकार विवेक के पाच भेद हैं।

(१) इन्द्रियविवेक—रूपादि विषयों में चक्षुआदि इन्द्रियों की जो राग द्वेष रूप प्रवृत्ति होती है, उसको रोकना इन्द्रिय-विवेक है। इसके दो भेद हैं —द्रव्य-इन्द्रिय-विवेक और भाव-इन्द्रिय-विवेक। मैं उसके कठोर कुचो को देखता हूँ, मैं उसके नितम्ब या रोमपक्ति का अवलोकन करता हूँ, उसके अत्यन्त पुष्ट जघन का स्पर्श करता हूँ, उसके मधुर गान को सुनता हूँ, उसके मुखकमल की सुगन्ध को सूघता हूँ, उसके बिम्ब समान ओष्ठ का रसास्वादन करता हूँ–इस प्रकार के विषयों मे अनुराग उत्पन्न करने वाले वचनों का उच्चारण न करना द्रव्य-इन्द्रिय-विवेक है। अचानक चक्षु आदि इन्द्रियो की रूपादि विषयो मे प्रवृत्ति हो जाने पर जो ज्ञान होता है उसमे रागद्वेष का मिश्रण न करना अर्थात् चक्षु आदि के द्वारा जाने हुए भले बुरे रूपादि विषयों मे राग व द्वेषरूप परिणाम उत्पन्न न करना भाव-इन्द्रिय-विवेक है।

(२) कषायविवेक—क्रोधादि के विषयभूत पदार्थ मे क्रोधादि न करने को कषाय-विवेक कहते हैं। कषाय विवेक दो प्रकार का है। १ काय जनित और २ वचनजनित। भौंहे सुकोड़ना, लालनेत्र करना, होठ डसना, शस्त्र हाथ मे लेना, इत्यादि काय द्वारा कषाय न करना कायजनित क्रोधकषायविवेक कहलाता है। मै तुझे जान से मारडालूंगा, पीटूगा, तुझे सूली पर चढ़ा दू गा इत्यादि कषाय युक्त वचन न बोलना यह वचन-जनित क्रोधकपायविवेक होता है। दूसरे के तिरस्कादि करने पर भी अपने मन मे क्रोध रूप परिणाम न होना भाव से क्रोध कपाय-विवेक होता है। इसो तरह मानकषाय-विवेक भी काय से और वचन से होता है। शरीर के अवयवों का अकड़ाना, सिर को ऊँचा उठाकर चलना, ऊँचे आसन पर बैठना इत्यादि अभिमान प्रकट करने वाला क्रियाओं को न करना कायजनित मानकपायविवेक होता है। मुझसे अधिक कौन आगम का वेत्ता है, कौन सच्चरित्र है? मुझ से उत्कृष्ट तपस्वी कौन है? इत्यादि अभिमान भरेवचन उच्चारण न करने को वचनजनित मानकषाय-विवेक कहते हैं। मैं ज्ञान, चारित्र व तप मे सबसे महान् हूँ, इस प्रकार का मन मे विचार न करने को भाव से मानकषाय विवेक कहते हैं। मायाविवेक भी दो प्रकार का है–किसी व्यक्तिविशेष के सम्बन्ध मे बोलता हुआ भी मानो किसी अन्य व्यक्ति के लिए बोल रहा है–इस तरह के वचन का त्याग करना, अथवा मायाचार के उपदेश का त्याग करना, या मैं माया न करूगा, न करवाऊगा और न माया करते हुए की अनुमोदना करूगा, यह सब वचनजनित मायाकपाय-विवेक कहलाता है। शरीर से करना कुछ, और लोगों को दिखाना कुछ इसका त्याग करने को काय जनित मायाकपायविवेक कहाजाता है। लोभविवेक-द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। जिस पदार्थ का लोभ है, उसको लेने के लिए हाथ फैलाना, द्रव्य के स्थान को सुरक्षित रखना, उस वस्तु को लेने की इच्छा रखने वाले मनुष्य को हाथ के इशारे या सिर हिलाकर मना करना, इत्यादि लोभ विषयक क्रियाओं के त्यागने से कायसे लोभकषाय का विवेक होता है। यह वस्तु मेरी है, इस धन ग्रामादि का मैं स्वामी हूँ–इत्यादि वचन न बोलने को वचनजनित लोभकषाय का विवेक कहते हैं। किसी वस्तु मे ममत्वरूप परिणाम न करने को मनोजनित लोभ-कषाय-विवेक कहते हैं।

(३) उपधि विवेक—शरीर से पुस्तकादि उपकरणों का ग्रहण न करना, न अन्य जगह उनको स्थापन करना और न कहीं पर

रख कर उनकी रक्षा करना यह कायजनित उपधिविवेक होता है। इन ज्ञानोपकरणों का मैंने त्याग किया इस प्रकार वचनों का उच्चारण करना यह वचन जनित उपधि विवेक होता है।

(४) भक्तपान-विवेक—भोजन और पान करने की वस्तुओं के खाने पीने का त्याग करना कायद्वारा होने वाला भक्त-पान का विवेक होता है। अमुक भोजन व पान का मैं त्याग करताहूं, ऐसे वचन को वचन द्वारा होनेवाला भक्त पान का विवेक कहा जाता है।

(५) देह-विवेक—यह देह विवेक भी शरीर और वचन के द्वारा होता है।

शंका—संसारी जीवो के शरीर से विवेक (पृथक् होना) कैसे हो सकता है ?

समाधान—अपने शरीर से अपने शरीर सम्बन्धी उपद्रव का निवारण न करना अर्थात् अपने किसी शरीर के हस्त पादादि अवयव में जहरीला फोडा उत्पन्न हो जाने पर उसका निवारण अपने शरीर से न करना यह शरीर द्वारा होने वाला अपने शरीर का विवेक कहलाता है। अथवा अपने शरीर पर उपद्रव करने वाले मनुष्य, तिर्यंच या देव को 'तुम उपद्रव मत करो' इस प्रकार के हस्त संकेत से अर्थात् हाथ हिलाकर जो मना नहीं करता है, शरीर को सताने वाले डांस मच्छर बिच्छू सर्पादि को जो अपने हाथ से नहीं हटाता है, पिच्छी आदि उपकरण से या लकडी आदि से दूर नहीं करता है तथा छत्र पिच्छिका चटाई आवरण आदि से शरीर की रक्षा नहीं करता है, उसके शरीर द्वारा होने वाला देह का विवेक होता है।

मेरे शरीर को पीडा मत दो, मेरी रक्षा करो-ऐसे वचनों का उच्चारण न करना, यह शरीर अचेतन है, मुझ से भिन्न है ऐसे वचन बोलना, वचन द्वारा होने वाला देह का विवेक होता है।

विवेक के दूसरे प्रकार से छह भेद

अहवा सरीरसेज्जा संथारुवहीण भत्तपाणस्स।
वेज्जावच्चकराण य होइ विवेगो तहा चेव ॥ १६९ ॥ (भग०)

अर्थ—शरीरविवेक, शय्याविवेक, सस्तारविवेक, उपधिविवेक, भक्तपानविवेक और वैयावृत्त्य करने वालों का विवेक इस प्रकार भी विवेक का वर्णन किया गया है।

विवेक के उक्त छह भेदों में से शरीरविवेक, उपधिविवेक और भक्तपानविवेक का वर्णन तो ऊपर हो ही चुका है। शेष शय्याविवेक, संस्तरविवेक और वैयावृत्त्य विवेक इन तीनों का स्वरूप दिखलाते हैं।

शय्याविवेक—पहले जिस वसतिका में रहते थे, उसमे नहीं ठहरना-यह शय्या का विवेक कायजनित होता है। मैं इस वसतिका का त्याग करता हूँ, ऐसे वचनों से वसतिका के त्याग करने को वचनजनित शय्या का विवेक कहते हैं।

संस्तरविवेक—पहले जिस संस्तर पर बैठते या सोते थे, उस पर न सोना व न बैठना इसको कायजनित संस्तर विवेक कहते हैं। मैं इस संस्तर का त्याग करता हूँ ऐसे वचन बोलकर संस्तर का त्याग करना वचनजनित संस्तरविवेक कहलाता है।

वैयावृत्त्यविवेक—जो शिष्यादि वैयावृत्त्य करने वाले हैं उनको शरीर से अलग कर देना, उनके साथ न रहना, यह कायजनित वैयावृत्त्यविवेक कहलाता है। तुम लोग मेरा वैयावृत्त्य मत करो, मैंने तुमम्हारा त्याग कर दिया है, इस प्रकार वचन बोलकर वैयावृत्त्य करने वालो का त्याग करना वह वचन जनित वैयावृत्य विवेक कहा जाता है। किन्तु यह सब विवेक भाव जनित ही होना चाहिए नहीं तो सब कुछ निष्फल है। सम्पूर्ण शरीरादि पदार्थो से अनुराग का त्याग करना अथवा उनके साथ ममत्व भाव न रखना ही भावविवेक होता है। भावविवेक ही सल्लेखना की जान है। सल्लेखना के लिए उद्यमी साधु सदा आत्मा के स्वरूप को पुद्गलादि से भिन्न अनुभव करता हुआ पुद्गल की पर्यायों से मोह का त्याग करता है, तथा उनके साथ शरीर का सम्पर्क भी नहीं रखता है। तथा शरीर में आहारादि से भी राग सम्बन्ध का त्याग करता है और समता भाव को स्वीकार करता है। सब परपदार्थों से अपने को भिन्न अनुभव करता हुआ वह अपने रत्नत्रय की वृद्धि में ही दत्तचित रहता है। उसको अपने शरीर से भी नितान्त उपेक्षा होजाती है। वह विचारता है कि यह शरीर निःसार है, महान् अशुचि पदार्थों का घर है, यह आत्मा के परिणामो को मलीन कर उसको कर्मबन्धन मे डालता है, यह जरामरण से युक्त है, नित्य दुःख देने वाला है। इस प्रकार चिन्तन कर शरीर से निःस्पृह होता है और आत्मा को सुखी बनाने वाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप आत्मा के भावो को उत्तरोत्तर अति उज्ज्वल करता है।

आचार्य पद का त्याग

जब संघ का नायक आचार्य सल्लेखना करने के लिए उद्युक्त होता है तब अपना आचार्यपद त्याग देता है और आचार्य पद के भार का वहन करने मे समर्थ जो साधु होता है उसे मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका चतुर्विध संघ के मध्य बिठलाकर सब संघ को सूचित करता है कि इसने समयतक मैंने संघ की सेवा की है, अब मैं आत्मा-कल्याण करने लिए संघ से अपना सम्बन्ध छोड़ता हूँ और इस पद पर चारित्र-क्रम के ज्ञाता, उत्तमशील स्वभाव वाले, व्यवहार निपुण, आगम के रहस्य के वेत्ता, इस साधु को स्थापित करता हूँ। आज से यह तुम्हारे

आचार्य है। यह अपना व तुम्हारा उद्धार करने मे तत्पर रहेंगे। अतः आप लोगों को इनकी आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करना चाहिए। इस प्रकार कहकर संघ का भार उस आचार्य पर रखकर परमशुभ परिणामों से सब से पृथक् हो जाते हैं और अपने आत्मा को निर्मल करने मे दत्तचित्त हो जाते हैं। वे अपने आत्मा को शुभ भावनाओ से संस्कृत करते और कुभावनाओं का सर्वथा परिहार करते हैं। वे कुभावनाएँ विद्वानों ने पाच प्रकार की बतलाई हैं। यथा.—

कांदर्पी कैल्विपी प्राज्ञैराभियोग्यासुरी तथा
सामोही पचमी हेया संक्लिष्टा भावना ध्रुवम् ॥ (भग० आ० संस्कृत १८१)

अर्थ—विद्वानो ने कांदर्पी, कैल्विपी, आभियोग्या, आसुरी और सामोही ये पाच भावनाएँ सदा त्याज्य मानी हैं। अर्थात इनका आत्मा मे एक क्षण भर के लिए भी रहना दृढ कर्म-बन्ध का कारण है। इन भावनाओं का स्वरूप पहले लिख आये हैं, इसलिए यहा नहीं लिखा गया है।

साधु को उक्त पाच कुभावनाओं का परित्याग कर पाच शुभ भावनाओं मे प्रवृत्ति करना चाहिए।

पांच शुभ भावनाएं

तवभावणा य सुदसत्तभावणेगत्तभावणे चेव ।
धिदिबलविभावणावि य असंकिलिट्ठावि पंचविहा ॥ १८७ ॥ (भग०)

अर्थ— १ तपभावना, २ श्रुतभावना, ३ सत्त्व (अभीरुत्व) भावना, ४ एकत्वभावना और ५ धृतिबल भावना ये पाच प्रकार की उत्कृष्ट भावनाएँ आत्मा को सद्गति मे लेजाने वाली हैं। इनका सक्षिप्त स्वरूप यह है:—

(१) तपभावना—छह प्रकार के बाह्य और छह प्रकार के अन्तरग तपो का अभ्यास करना तपभावना है। वार वार अनशनादि तप करने से पाचों इन्द्रियां वश मे होती हैं। इन्द्रियों का निग्रह होने से समाधिमरण के अभिलाषी आचार्य के समाधि के कारणभूत रत्नत्रय का आराधन होता है।

आशय यह है कि तपस्या से इन्द्रियों का दमन होता है और दमन को प्राप्त हुई इन्द्रियाँ मन मे काम विकार उत्पन्न करने में

समर्थ नहीं होती हैं। जब शरीर कृश होजाता है और इंद्रिया प्रशान्त हो जाती हैं तब स्त्री के साथ कामक्रीडा आलिंगनादि क्रियाओं में आदर भाव नहीं होता है यह सुप्रसिद्ध है।

शंका—अनशन (उपवास) आदि तपश्चरण मे प्रवृत्त हुए पुरुष को आहार के दर्शन से उसका विचार करने से, सुनने से भोजन करने की इच्छा उत्पन्न होती है, अत: तपोभावना से इन्द्रिया विषय से विरक्त होती हैं यह कहना अयोग्य है।

समाधान— आत्मा जब तक वस्तु का त्याग नहीं करता है, तब तक उसका चित्त उस वस्तु की ओर दौड़ता है और जब उसका त्याग करता है अर्थात् उस से अनुराग हटा लेता है, तब चित्त की प्रवृत्ति उतने समय के लिए उस वस्तु से हट जाती है। क्योंकि पदार्थ को ग्रहण करने की इच्छा अनुराग से होती है, अनुराग के अभाव मे उपेक्षाभाव उत्पन्न होता है और उपेक्षा के कारण आत्मा उपेक्षित पदार्थ से विरक्त होता है, अतः तपोभावना से आत्मा मे राग द्वेष का अभाव होता है और रागद्वेष के अभाव से कर्म का बन्ध नहीं होता किन्तु संवर और निर्जरा होती है।

जो तपो भावना से रहित है, उसमे क्या दोष उत्पन्न होता है इसे दिखाते हैं।

पुव्वमकारिदजोग्गो समाधिकामो तहा मरणकाले।
ण भवदि परीसहसहो विसयसुहपरम्मुहो जीवो ॥ १६१ ॥
जोग्गमकारिज्जतो अस्सो दुहभाविदो चिरंकालं।
रणभूमीए वाहिज्जमाणओ कुणदि जह कज्जं ॥ १६२ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—समाधिमरण करने के अभिलाषी जिस मनुष्य ने पहले क्षुधा तृषादि परीषह सहन करने का अभ्यास नहीं किया है वह आहारादि का लम्पटी मरण समय मे क्षुधादि की परिषहो को सहन करने मे असमर्थ होता है। उसका चित्त विषयो से पराङ्मुख (विरक्त) नहीं होसकता है। जिस घोड़े को पहले शब्दो का संकेत नहीं सिखाया गया है, उछलने, कूदने, घूमने आदि चालो की शिक्षा नहीं दी गई है, जो चिरकाल तक सुख से पाला गया है, जिसने शीत घाम आदि की बाधा को नहीं सहा है, वह घोडा रणाङ्गण मे किसी भी प्रकार उपयुक्त नहीं होता। वह युद्धस्थल से या तो भाग जाता है, या अपने और अपने स्वामी (अश्वारोही) योद्धा के भी प्राण खोदेता है। वैसे ही जिस साधु ने अनशनादि तप करके इन्द्रियों को वश मे करने की शक्ति नहीं प्राप्त की है वह मरण समय मे क्षुधादि परीषह को सहने

मे ममता नहीं रखता है। उसका मन आहारादि विषयों मे आसक्त रहता है, अत. वह समाधि (रागद्वेष के अभाव) को प्राप्त नही कर सकता है। अत मुनि को चाहिए कि वह चारित्र का सार जो समाधिमरण है उसको प्राप्त करने के लिए तपस्या का अभ्यास करता रहे। वह अभ्यास उसको अन्त समय मे महान सहायक सिद्ध होगा।

(२) श्रुतभावना—आगम का अभ्यास करने से वस्तु के स्वरूप का प्रतिभास होता है, जीव और अजीव का भेद-विज्ञान होता है। भेद-विज्ञान होने से सम्यग्दर्शन (शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभव) होता है। आगम के अभ्यास से चारित्र का महत्त्व प्रतीत होता है और उसमे प्रवृत्ति होती है, साम्यभाव की प्राप्ति होती है, कर्म की निर्जरा के साधनभूत तपश्चरण में अनुराग उत्पन्न होता है और सयम की ओर आत्मा का परिणमन होता है।

शका—आगम क अभ्यास से तो आत्मा मे ज्ञान की वृद्धि होती है, उससे सम्यग्दर्शन, चारित्र, तप, सयम की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? जैसे क्रोध का सेवन करने वाला क्रोधी वन जाता है, मायावी नहीं बनता। इसी प्रकार ज्ञान का सेवन करने वाला ज्ञानी हो सकता है किन्तु सम्यग्दष्टि, तपस्वी और सयमी नहीं हो सकता है। आपने आगम के अभ्यास से सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति होती है, ऐसा कैसे कहा है ?

समाधान—जो वस्तु जिसके विना नही होती है आर उसके होने पर ही होती है वह उससे उत्पन्न हुई कही जाती है। जैसे जो कृतक (किसी से उत्पन्न हुआ) होता है वह अनित्य होता है। ऐसी व्याप्ति है। उसी प्रकार जिसको आगम का ज्ञान है उसी के सम्यग्दर्शन, तप और सयम होते है। जिसको आगम का ज्ञान नहीं है उसके सम्यग्दर्शन, तप और सयम नहीं हो सकते हैं। ऐसा कहने मे कोई दोप नहीं आता है।

शका—आगम के ज्ञान मे सम्यग्दशन तो उत्पन्न हो सकता है किन्तु तप, सयम उत्पन्न नहीं हो सकता है। यदि हो तो असयत सम्यग्दृष्टि के भी सयम, तप आदि मानने पडेंगे और यदि उसके सयम तथा तप आदि मान लिया जाय तो उसको असयत कैसे कहा जावेगा ? इसलिए मानना पडेगा कि असयत सम्यग्दृष्टि के सयम व तप नहीं हैं। तो फिर आगमज्ञान के अभ्यास से तप सयम की उत्पत्ति का उपयुक्त कथन असत्य सिद्ध हुआ।

समाधान--जिनागम के अभ्यास से तप सयमादि उत्पन्न होते हैं इस कथन का आशय यह है कि यदि तप और सयम होगे तो आगम के ज्ञाता के ही हो सकते है। आगम के ज्ञान विना तप सयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। ऐसी व्याप्ति समझनी चाहिए। आगम के ज्ञाता के अवश्य तप सयम होते हैं, ऐसी व्याप्ति नही वताई है।

आशय यह है कि जिसको सम्यग्दर्शन की तथा तप और सयम की प्राप्ति करना है, उसे आगम का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। आगम के ज्ञान से काललब्धि आदि का योग मिलने पर सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है और निरन्तर आगम का अनुशीलन करने से तप व सयम मे आदर भाव उत्पन्न होता है उससे कर्मों की निर्जरा होती है। चारित्र मोहनीय के तीव्र कर्म (अप्रत्याख्यानादि) की निर्जरा होने पर तप व सयम की प्राप्ति होती है, अर्थात् चारित्र मोहनीय के क्षयोपशम सहित आगम ज्ञान से ही तप संयम होते है।

जो ज्ञानी है, आगम का मर्म समझने वाला है, उसका नित्य अभ्यास करने वाला है, वह क्षुधादि पीडाओं के उपस्थित होने पर भी मार्ग से विचलित नहीं होता है। आगम के निरन्तर अभ्यास से उसकी बुद्धि निर्मल रहती है। उस का ज्ञान ऊहापोह के सामर्थ्य से युक्त होता है। ऊहापोह के अभ्यास से उसका जिनागम के विषय मे संस्कार एव स्मृति-ज्ञान दृढ होता है, और वह संकट के समय भी बना रहता है। जितनी मनुष्य की प्रवृत्तिया होती है वे सब संस्कार के आश्रित होती हैं, अत. तप सयम की प्रवृत्ति मे भी आगम का संस्कार उपयोगी होता है। इस प्रकार ज्ञान के सामर्थ्य का वर्णन किया।

(३) सत्व (अभीरुत्व) भावना—जिस मनुष्य में आत्मबल है, वह भयानक उपद्रवों के उपस्थित होने पर भी भयभीत नहीं होता है। उसको चलायमान करने का सामर्थ्य देवों में भी नहीं होता, औरो की कौन कहे ? आगम में कहा है:—

देवेहिं भेसिदो वि हु कयावराधो भीमरूवेहिं।
तो सत्तभावणाए वहइ भरं णिब्भओ सयलं ॥ १९६ ॥
बहुसो वि जुद्धभावणाए ण भडो हु मुज्झदि रणम्मि।
तह सत्तभावणाए ण मुज्झदि मुणी वि वोमग्गे ॥ १९७ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—सत्वभावना (निर्भयता) का अभ्यास जिस साधुने किया है वह व्याघ्र, सिंह, सर्पादि रूपों को धारण करने वाले देवों से सताया गया, भयभीत किया गया भी सामने आये हुए सब कष्टों का आलिंगन करता हुआ संयम के समस्त भार को धारण करता रहता है। वह समझता है कि यह उपसर्ग मेरा प्राण-हरण कर सकते हैं, किन्तु उन प्राणो से मेरे आत्मा का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, मैं तो अजर अमर हूँ, शरीर ही का तो नाश होता है और यह तो कर्म जन्य है। मेरा धन तो रत्नत्रय है। यदि मैंने इन उपद्रवों से भयभीत होकर संयम का परित्याग कर दिया तो फिर कर्म-शत्रुओ का नाश करना अशक्य हो जावेगा। कर्मों का विनाश न होने से आत्मा को समय २ पर महती पीडाएँ भोगनी पड़ेंगी। अत भय सब अनर्थों का मूल कारण है। ऐसा निश्चय कर भय से विचलित नहीं होता है। जिस वीर योद्धा ने अनेक

सग्रामो का अनुभव किया है वह रणभूमि में जाकर भयभीत नहीं होता, किन्तु उत्साह पूर्वक अपनी रणकुशलता को दिखाने के लिए उद्यत होता है। वैसे ही जिस साधु ने निर्भीकता का अभ्यास किया है वह भयानक उपद्रवों के उपस्थित होने पर भी अपने सयम से विचलित नहीं होता है, वल्कि अपने को सबोधित करते हुए यो कहता है कि हे आत्मन् ! तुमने ससार के दु खो से भयभीत होकर उन दु'खों का समूलनाश करने के लिए यह वीर-भेप धारण किया है। अनादि काल से दु.ख देने वाले मोहादि शत्रुओ को तुमने पहचान लिया है और उनका मूलोच्छेद करने क लिए सयम-शस्त्र हाथ मे लिया है। वे मोहादि शत्रू तुमको अनेक प्रकार से धोखा देकर तुम्हारे हाथ से सयम-शस्त्र छीनना चाहते हैं। रणकुशल योद्धा शत्रु की चालबाजियो मे नहीं आता है।वह सदा सावधान रहता है। इसी प्रकार तुमको भी सदा चौकन्ना रहना चाहिए। ये अनेक प्रकार के भय संयम को लूटने वाले मोहनीय कर्म के सुभट हैं। इनसे सचेत रहो। यह तुम्हारा कुछ भी विगाड करने मे समर्थ नहीं हैं। तुम चिदानन्द चैतन्य स्वरूप हो। तुम्हारा धन रत्नत्रय है। उसका नाश करने की शक्ति किसी मे भी नहीं है। सिंह, व्याघ्र, सर्पादि जितने भी भयानक पदार्थ हैं, वे इस पुद्गलमय शरी का विनाश कर सकते हैं। पर यह शरीर तुम्हारा नहीं है। अत. इन आगन्तुक भयानक उपद्रवों से यदि भयभीत होकर विचलित होगये तो तुम्हारा रत्नत्रय धर्म नष्ट हो जावेगा। फिर इसका पाना अति दुष्कर है।

हे आत्मन् ! थोडा विचार कर। तूने पृथिवी शरीर धारण किया. उस समय खोदन, जलाने, हल के द्वारा विदीर्ण करने, कूटने, फोडने, पीसने, चूर्ण करने आदि की भयकर बाधाएँ तूने सही हैं।

जब तूने जल-प-ीय धारण की तब प्रखर सूर्य की किरणो से तथा दहकती हुई अग्नि की ज्वालाओ से तेरा शरीर अत्यन्त जलता रहा। पर्वत के दरारों, गुफाओ और शिखरो से अतिवेग से नीचे शिलाओ पर गिरने से महा दु'ख का अनुभव तुझे हुआ था। लवण, क्षार और खट्टे पदार्थों के साथ तेरा सयोग किया गया था, उस समय भयानक वेदना तैने सही थी। धगधगायमान अग्नि के ऊपर डालने से तुझे अतिशय दु.ख भोगना पडा था। वृक्षो पर गिरकर नीचे कठिन भूमि पर गिरने से, तैरते हुए मनुष्य आदि प्राणियो के पावो और हाथो के आघातों से, विशाल वक्षस्थल की चोट से, विशालकाय हाथी मगर मच्छादि जीवो के उछलने कूदने तैरने, सूड से जलको मथने आदि क्रियाओ से तेरे शरीर का मर्दन व विनाश किया गया उस समय के दु खो का वर्णन वचनागोचर है। ऐसे दुख भी तूने अनक बार सहे हैं।

जल पर्याय को छोड कर जब तूने वायुरूप शरीर-धारण किया तब पहाडों, वृक्षों, कटीली झाडियों से टकराकर तथा अग्नि के सयोग से जल कर पखे आदि के आघात से प्राणियो के कठिन शरीर के आघात से, शरीर की गर्मी के स्पर्श से, जलते हुए वन की ऊची ज्वालाओ तथा सदा काल-समान अग्नि का उगलने वाले ज्वाली मुखी पर्वतो मे गिरने से तूने रोमाचकारी दु खों को अनन्त वार सहन किया है।

जब वायु के शरीर को छोडकर तू अग्नि के शरीर मे गया अर्थात् अग्नि रूप शरीर धारण किया तब अनेक प्रकार की धूल से,

भस्म से, बालूरेत से तेरा शरीर नष्ट किया गया। जूतो से रौंदा गया। मूसल समान जलधारा डालकर तेरा नाश किया। काष्ट पत्थर आदि से ठोककर तेरा चूर्ण किया गया। मिट्टी के ढेलो और पत्थरो के नीचे दबाकर तेरा कचूमर निकाला गया। वायु के प्रबल धक्के खाकर तू दुःख से विह्वल होकर प्राणरहित हुआ।

जब अग्नि के शरीर को छोडकर तूने वनस्पति का शरीर धारण किया तब तू कभी फल हुआ, कभी पुष्प हुआ, कभी पत्र या कोमल अकुर रूप शरीर धारण किया। उस समय तुझे मनुष्यो ने एव पशु-पक्षियों ने तोडा, छिन्नभिन्न किया, खाया, मर्दन किया, दांतो से कुतर कुतर कर तेरे टुकडे २ किये गये। चाकू दातली आदि से छेदन भेदन किया। शिलाओं पर नमक मिर्च मसाला मिलाकर तुझे पीसा। अग्निपर भूजा। कडाही मे घी तैल मे तला गया। छोटे पौधे बेल लतादि अवस्था मे जड से उखाड़ा गया। मध्य भाग छेदन कर अन्यत्र रोपा गया। पशुओ और मनुष्यो के पावो से रौंदा गया। अग्नि से जलाया गया। जल के प्रवाह में बह गया या बहाया गया। बन दाह से भस्म हुआ। अति-शीत मे जल गया। इत्यादि वचनातीत दु खो का सहन कर अनन्त बार मरण किया।

जब तू स्थावर पर्याय से दो इन्द्रिय आदि त्रस पर्याय मे आया, तब तूने कुंथुआ, केचुआ, दीमक, कीडे, मकोडे आदि विकल-त्रय का शरीर धारण किया। तब अति वेग मे चलने वाले रथ गाडी आदि वाहनो के नीचे दबकर तथा गधे घोडे बैल आदि पशुओं के कठिन खुरो की चोट से, जलके वेगवान प्रवाह से, वन को अग्नि से, वृक्ष पत्थर आदि के शरीर पर गिरने से, मनुष्यो के पैरो द्वारा कुचलने से, विरोधी प्राणियों के द्वारा खाये जाने से अत्यन्त दु ख पूर्वक प्राणों का विसर्जन किया।

जब विकलत्रय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चोइन्द्रिय) शरीर को छोड़कर गधा, घोडा, ऊट, बैल, आदि पंचेन्द्रिय पशु का जन्म धारण किया तब मनुष्यों ने तुझ पर शक्ति से अधिक बोझ लादा और स्वय सवार होकर तुझे भारी क्लेश दिया। जब भार से दबा हुआ तू चल न सका अथवा धीरे २ चलने लगा तब मारे डडो के तुझे बेहाल कर दिया। चाबुकों की चोट से तथा लकड़ी मे लगी हुई लोहे की तीखी कीलों से तेरे शरीर को लोहू लुहान कर दिया। तुझ को समय पर घास पानी नहीं दिया। तेरी नाक को छेदकर नाक मे नकेल डाल दी गई। गर्दन मे रस्सी बाध कर खूटे पर बांध दिया। या मकान मे बन्द कर दिया। शीत की और घाम की अत्यन्त शीतल वायु और ज्येष्ट मास की अग्नि समान गर्म लू की भयानक वेदना के साथ भूख और प्यास की पीड़ा से तुझे बहुत दुःख हुआ। नाक कान छेदना, शरीर को गर्म लोहे से दागना, विदारण करना, कसाई आदि मांस भक्षी नर पिशाचो के द्वारा कुल्हाडी तलवार आदि तीक्ष्ण शस्त्रों से काटे जाना, जीते जी यंत्र पर चढाकर चमड़ा उखेड़ना आदि रोमाचकारी क्रियाओं से तूने महान् यातनाएँ सही हैं।

गाड़ी रथ आदि से जुतकर जब तू चाबुक आदि की मार के भय से बड़े जोर से दौड रहा था तब अचानक खड्डे आदि में गिरकर पाँव टूट गया, या बीमारी के कारण तेरा शरीर क्षीण हो गया अथवा हल गाडी आदि में अधिक जोतने और खाने को पूरा न देने स काम करने लायक न रहा, लाठी चाबुक आरा आदि की चोट से पीठ आदि मे जख्म होकर कीडे पड गये और तेरे स्वामियों ने तुझे घर से निकाल कर जगल मे छोड दिया, वहा चारा, घास, पानी न मिलने के कारण अशक्त होगया और कौवे, चील, गिद्ध आदि पक्षी तुझे नोच नोच कर खाने लगे। जगली क्रूर प्राणी कुत्ते स्याल आदि तेरा शरीर कुतर २ कर भक्षण करने लगे, उस समय उस दु.खको निवारण करने का कोई उपाय नहीं था। तू भागकर एक कदम भी चल नहीं सकता था। उस असह्य दु ख से तेरी आँखो से आसुओं की अखंड धारा बहती थी, पर कोई दयादिखलाने वाला न था। वह कितना भीषण अवसर था।

फिर जब दुष्कर्मों का उपशम हुआ तब तुझे दुलभ मनुष्य जन्म मिला। उसमे भी इन्द्रिय विकल, दारिद्रय के दु:ख से पीड़ित अथवा असाध्य रोग स रुग्ण हुआ। उस समय भी महा दुःखी रहा। उस समय जिसको तू प्रिय समझता था और जिसकी प्राप्ति के लिए छटपटाता था उस पदार्थ की प्राप्ति नहीं हुई, किन्तु उससे विपरीत अप्रिय दु ख देने वाले अनिष्ट पदार्थों का संयोग मिला। दूसरों की सेवावृत्ति करनी पडी। रात दिन सेवा मे लगे रहना पड़ा तो भी खाने पीने को भी पूरा न मिल सका। शरीर ढंकने को उचितवस्त्र भी न मिला। शत्रुओं के तिरस्कार को सहना पडा। रातदिन परिश्रम करने पर भी जीविका की चिन्ता लगी रही। जीविका के लिए महा पाप किये, नहीं करने योग्य काम किये, किन्तु कहीं पर सफलता नहीं मिली। रातदिन पशु समान दुष्कर कार्यों मे जुटा रहा। लेकिन वहा पर सुख के स्थान मे भयानक दु.खों का सामना करना पडा।

इसके बाद कुछ शुभकर्म के उदय से तूने देवों मे जन्म लिया, किन्तु नीच जाति का देव हुआ। तब "यहा से अलग हो, दूर हटो, यहा से शीघ्र चले आओ, प्रभु के आने का समय होगया है, उनके प्रस्थान की सूचना करने वाला नगारा बजाओ, अरे! यह ध्वज हाथ में लेकर सीधा खडा हो, अरेदीन इन देवियो की सेवा टहल कर, यहा ठहर, स्वामी की इच्छा के अनुकूल वाहन बनकर उनकी सेवाकर। क्या तू भूल गया कि तू विपुलपुण्यधन के स्वामी इन्द्रमहाराज का दास है जो इस तरह चुपचाप खडा है, आगे आगे क्यो नहीं दौडता है?" इस प्रकार अधिकारी देवों के कठोर असुहावने वचन सुनकर तू अनेक बार खेद खिन्न हुआ है। इन्द्र की अप्सराओ के अनुपम रूप लावण्य हाव भाव देखकर हाय ऐसी देवागनाएँ मुझे कब मिलेगी? ऐसी अभिलाषा तेरे मनमे उत्पन्न होकर दरिद्र के मनोरथ के समान सब निष्फल होने के कारण जो दुःख तुझे हुआ है, वह शब्द से नहीं कहा जा सकता। मृत्युकाल के छहमासपूर्व माला के मुर्झाने से मृत्युकाल निकट आया हुआ जानकर तूने स्वर्ग के दिव्य वैभव के वियोग जन्य महान दु.ख को सहा है।

जब तू कर्मयोग से नारकी हुआ उस समय जो क्षेत्रादि जन्य दु ख तूने भोगे हैं, उनका स्मरण मात्र ही आत्मा को विह्वल

वना देता है। वहां की पृथ्वी का रूप महाभयानक है, जिसको देखने से मनमें घबराहट उत्पन्न होती है। उसका रस हलाहलविष से भी अतिकटु है। जिसकी दुर्गन्ध इतनी बुरी है कि सातवीं पृथ्वी की मिट्टी का परमाणु यदि यहा कोई देव ले आये तो उसकी दुर्गन्ध से उनचास मील के दूर तक के पचेन्द्रिय जीव मरण को प्राप्त हो जावें। वहा की पृथ्वी के स्पर्श करने से उत्पन्न हुआ दु ख हजारों बिच्छुओं के एक साथ डक मारने से होने वाले दु ख से कहीं अधिक होता है।

यहां पर नारकी परस्पर तलवार छुरी आदि शस्त्रों से एक दूसरे पर वार करते हैं, छेदते हैं। करोत से चीरते हैं। भाड में भूजते और उवलते हुए कडाही के तेल मे तलते हैं। शूलोपर चढाते हैं। घनो से कूटकर कचूमर निकालते हैं। घाणी में पेलते हैं। चक्की मे पीस डालते हैं। अग्नि मे मोंक देते हैं। शरीर के अणु प्रमाण टुकडे कर देते हैं। गिद्ध, व्याघ्र, सिंह स्यालादि विक्रिया के धारक नारक नोच २ शरीर को खाते हैं। इत्यादि अनेक वचनातीत दु ख नरक मे सागरो पर्यन्त तूने भोगे हैं।

इन पहले भोगे हुए दु खों के सामने यह क्षुधा तृषा रोग व्याधि जन्य पीड़ा तथा उपसर्ग जन्य दु ख तुच्छ भी नहीं हैं। उपर्युक्त दु.ख अनन्त वार तू भोग चुका है। अब इस लेशमात्र दु ख के सहने में क्यों कायरता धारण करता है। यदि तू कायरता धारण करेगा तो भी उपसर्ग रोगादि जन्य दु.ख तो तुझको भोगना ही पड़ेगा और आर्त्त व रौद्र परिणामों के कारण महान अशुभ कर्मों का बन्ध करेगा। और जब उनका उदय आवेगा तब नरकादि मे असह्य दु.ख भोगना पड़ेगा। इसलिए कायरता का परित्याग कर तूने वीर भेष धारण किया है, इसलिए वीरता पूर्वक आगत दु खों को सहले। रणागण मे प्रविष्ट हुआ वीर शत्रु के आघातों से नहीं डरता है। तू ने भी कर्म-शत्रुओं से युद्ध करने के लिए इस वीर भेष को धारण किया है। यदि तू वीरता पूर्वक इन कर्म-शत्रु के द्वारा दिये गये उपद्रवों का सामना करता रहेगा तो ये स्वयं परास्त हो जावेंगे और सदा के लिए तेरे दास बन जावेंगे। फिर ये कभी तेरी तरफ झांक भी न सकेंगे। यह सब उपद्रव इस शरीर का विगाड़ कर सकते हैं। शरीर तो तेरा शत्रु है। तुझे शिव सुख से वंचित रखने वाला है। अब अच्छा अवसर आया है, तू शान्ति धारण कर। यदि तूने शान्ति धारण करली, रागद्वेषादि भाव उत्पन्न न किये तो यह शत्रुभूतशरीर समूल नष्ट हो जायेगा और फिर कभी तेरे साथ इसका सयोग न होगा। अत एव निर्भय होकर उपसर्गादि का शान्ति से सहन करने के लिए मनको सुदृढ़ बनाले। मन को उपसर्गों आदि से विचलित मत होने दे। अपने मनको मेरु के समान अडोल और अकम्प बनाले।

इस प्रकार सत्त्व भावना का आश्रय लेने वाला साधु मोह युक्त नहीं होता। जैसे बहुत वार युद्ध का अभ्यासी वीर पुरुष युद्ध में कायरता धारण नहीं करता है। इसी भाव को दृढ़ करने के लिए चौथी एकत्व भावना को कहते हैं।

सं प्र

एकत्वभावना

एयत्त भावणाए ण कामभोगे गणे सरीरे वा ।
सज्जइ वेरग्गमणो फासेदि अणुत्तरं धम्मं ॥ २०० ॥ (भग० आ०)

अर्थ—मैं अकेला हूं। मेरा कोई नहीं है, न मैं किसी का हूँ-इस प्रकार शरीरादिक अन्य द्रव्यों का चिन्तन करना एकत्व भावना है। इसका अभ्यास करने से आत्मा इन्द्रिय-सुखो के भोगने मे आसक्त नहीं होता है। शिष्यादि वर्ग मे तथा शरीर मे प्रीति नहीं करता है। एकत्व भावना का पुन पुन: मनन चिन्तन करते रहने से सब पदार्थों से राग भाव की निवृत्ति और वैराग्य भाव की परिणति होती है तथा चारित्र धर्म की आराधना होती है। एकत्व भावना के लिए इस प्रकार विचार करना चाहिए-हे आत्मन् ! तू अनन्त काल से जन्म-जरा-मरण के दु खो का अनुभव कर रहा है। क्या तेरे दु खो को किसी ने बाटा है ? अकेले ही तूने जन्म मरणादि के दु ख भोगे हैं। जो दु:खो को दूर करने मे सहायक होता है उसे लोग स्वजन समझते हैं और जो दु ख के समय सहायता नहीं करता है उसे परजन मानते हैं। स्वजन मे प्रीति और परजन मे अप्रीति करने लगते है। लेकिन यह कल्पना मिथ्या है। वास्तव मे सुख की उत्पत्ति और दु.ख का निवारण सातावेदनीय कम के उदय से होती है और दु.खका उत्पन्न करने वाला असाता वेदनीय कर्म का उदय है। यदि तेरे असातावेदनीय कर्म का उदय है और सातावेदनीयकम का उदय नहीं है तो ससार मे तुझे सुखी बनाने मे कोई समर्थ नहीं हो सकता है। जिन्हे तू स्वजन समझ रहा है, वे दु ख के निमित्त बन जाते है। और जब सातावेदनीय कर्म का उदय अथवा असातावेदनीय का उदय नहीं होता है उस समय जिनको तू परजन समझ रहा है, वे भी दु ख उत्पन्न करने मे समर्थ न होकर कभी २ सुख उत्पन्न करने वाले बन जाते है। इसलिए थोडा ज्ञान-दृष्टि से विचार कर देख। जिनको तू स्वजन समझ कर राग करता है और परजन समझकर द्वेप करता है यह तेरा भ्रान्त-ज्ञान है (मिथ्या ज्ञान) है। और इसी मिथ्या-ज्ञान द्वारा यह जीव अनन्तकाल से दु.खी हो रहा है। अत. अब तुझको सम्यग्ज्ञान धारण कर विचारना चाहिए कि मैं अकेला ही जन्म मरण के दु खो का कर्त्ता और भोक्ता हूं। मैंने शरीरादि को अपना समझकर मोह भाव से कर्मों का बन्ध किया है और उनका उदय होने पर दु.खादि मैंने अकेले ही भोगे हैं। वास्तव मे शरीरादि से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा चिन्तन करते रहना ही एकत्व भावना है।

इस एकत्व भावना के अभ्यास करने से मनुष्य कामभोग मे, शिष्यादि समुदाय मे, शरीर में और सुख मे आसक्त नहीं होता। स्वेच्छा से जिन पदार्थों का उपभोग किया जाता है, उनको कामभोग कहते हैं। लोग स्त्री आदि पदार्थों को सुख के साधन मान लेते हैं। परन्तु एकत्व भावना का अभ्यासी इनमे राग नहीं करता है। अज्ञानी मनुष्य बाह्य पदार्थों का संयोग होने पर मन मे सुख की कल्पना करता है। परन्तु बाह्य पदार्थों से उत्तरोत्तर लोभ की वृद्धि होती है, असतोप बढता जाता है, मन मे व्याकुलता उत्पन्न होती है, इसलिए इनका परित्याग करने से ही निराकुलता व सन्तोष सुख बढता है।

यह शरीर भी तेरा कुछ नहीं कर सकता। क्योंकि यह कर्म से उत्पन्न हुआ है और शुभाशुभ कर्म के उदय के अनुसार सुख दुःख मे निमित्त होता है। यह तो बेचारा अकिंचित्कर है। अज्ञानी आत्मा बाह्य जीव व अजीव पदार्थों मे 'यह मेरा उपकार करने वाला अथवा यह अनुपकार करने वाला है' ऐसा मिथ्या संकल्प करके उनमे राग द्वेष करता है और रागद्वेष के कारण कर्मों के जाल मे फंसकर घोर संसार-भ्रमण के दुःखो को भोगता है। इसलिए हे आत्मन्! इन बाह्य पदार्थों मे जो राग द्वेष बुद्धि हो रही है, उसे दूर हटाओ। तुम्हारे साथ इनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। तुम्हारी जाति चैतन्य है और ये अचेतन स्वरूप हैं। जो शिष्यादि चेतन पदार्थ हैं, उनका सम्बन्ध इस शरीर से है। तुम शुद्ध आत्म-स्वरूप हो, इसलिए इन शरीर धारक अशुद्ध आत्माओ से तुम्हारा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकार विचार करो। इनसे वैराग्य भाव उत्पन्न करने के लिए तथा उसकी वृद्धि करने के लिए इस (एकत्व) भावना का निरन्तर अभ्यास करो। इसका अभ्यास करने से बाह्य पदार्थों से विरक्ति और आत्म-गुणो से अनुरक्ति होती है। इसमे आत्मा मे स्थिरता उत्पन्न होती है और आत्मा मे स्थिर रहने को ही चारित्र कहते हैं। यह चारित्र ही सम्पूर्ण कर्मों का मूलोच्छेद करनेवाला है। अतः यदि तुमको मोक्ष महल के प्रधान सोपान पर दृढता से पाव रखना है तो उसका मुख्य कारण एकत्व भावना है। यह अज्ञान व मोह का त्याग करवाकर शिव सुख को देनेवाली है और कल्याण के इच्छुक मुनियों को परमप्यारी है। अतः इसका निरन्तर अभ्यास करते रहो।

पाँचवी धृतिबल भावना—

धिदिधणिदबद्धकच्छो जोधेइ अणाइलो तमव्वाहिओ।
धिदिभावणाए सूरो संपुण्णमणोरहो होइ ॥ २०३ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—जिसने धैर्य से कमर बाधली है, उस साधु के चित्त मे क्षोभ उत्पन्न नहीं होता है और वह परीषह और उपसर्गों की सेना से निर्बाध हुआ उसके साथ युद्ध करता है और धृति भावना के बल से उसका घात करता है।

भावार्थ—जो साधु साहस बल से युक्त है, जिसके हृदय में धीरता है वह कठिन से कठिन परीषह और देव, मनुष्य, तिर्यंचादि कृत उपसर्गों से चंचलचित्त नहीं होता है। उनके मन-सुमेरु को उग्र से उग्र क्षुधादि परीषह, दुष्ट देवो द्वारा दीगई विभीषिका मनुष्यो के शस्त्र-प्रहार तथा सिंहादि हिंसक प्राणियों के द्वारा दीगई बाधाएँ चलायमान नहीं करसकती है। चित्त मे क्षोभ उत्पन्न करने वाले कारणों के उपस्थित होने पर जिसका चित्त निर्विकार एव क्षोभ रहित होता है उसे ही धैर्यशाली माना है। कहा है कि—

"विकार हेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।"

अर्थात् विकार का कारण उपस्थित होने पर भी जिसके मन मे विकार उत्पन्न नहीं होता वही धीर वीर कहलाता है। धीरता ही सर्व सिद्धियों की जननी है।

हे आत्मन्! इस धैर्यबल के प्रभाव से ही अत्यन्त कोमलाङ्ग सरसों भी जिनको काँटे समान चुभती थी, ऐसे सुकुमाल मुनिराज बच्चों सहित स्यालनी द्वारा नोच नोंचकर खाये जाने पर भी टस से मस नहीं हुए, उनके रोम तक मे विकार नहीं हुआ। पाचो पाडवो को अग्नि से सन्तप्त लोहे के आभूषण पहनाये गये, गज कुमार मुनि के मस्तक पर अगीठी जलाई गई, परन्तु उनके चित्त मे रंचमात्र क्षोभ नहीं हुआ। वे अपने आत्महित मे लगे रहे। यह सब धैर्य का माहात्म्य है। इसलिए तुम भी यदि आत्मकल्याण की कामना रखते हो, अपने कार्य की निर्विघ्न सिद्धि चाहते हो तथा परम्परा सुख की अभिलाषा रखते हो तो धैर्य धारण करो। धीर वीर पुरुष के सामने शस्त्र पुष्पहार के समान, और विष अमृत समान हो जाता है। असातावेदनीय कर्म मे उत्पन्न हुई रोगादि वेदना भी उनके चित्त को दुःखी नहीं बना सकती है। अज्ञानी व मोही जीव धैर्यहीन होकर अल्प कष्ट को महान् कष्ट और न्यूनतम रोगादि पीडा को महती पीडा समझकर रोता और विलाप करता है और धैर्य का धारक वीर पुरुष उसकी परवाह न कर अधीरता का परित्याग कर शान्ति का अनुभव करता है। वह सोचता है कि मैंने नरकादि दुर्गतियों मे असहाय होकर महान् हृदय विदारक दुःखो को सहा है। यह दुःख क्या हैं? इस समय तो मेरे आचार्य परिचारक साधु आदि अनेक सहायक हैं। मुझे सन्मार्ग का उपदेश देने वाले हैं। मेरे कल्याण की कामना रखकर मुझे कुमार्ग से निवृत्त कर रहे हैं। यदि इस समय भी धैर्य हीन हुआ तो मेरे समान अज्ञानी और कायर कौन होगा! अतः इस सुयोग्य अवसर पर मुझे धैर्य का अवलम्बन लेकर शरीर से ममता हटाकर आत्महित के कार्य से विचलित नहीं होना चाहिए।

इस प्रकार पाच भावनाओं का संक्षेप से वर्णन किया है। इन भावनाओ का संस्कार जिसके अन्तःकरण मे अङ्कित होगया है, वह साधु सल्लेखना का आराधन सुगमता से करता है। भावना का अभ्यासी साधु बारह प्रकार के तपश्चरण द्वारा सल्लेखना का प्रारम्भ करता है।

सल्लेखना के भेद

सल्लेखना य दुविहा अब्भतरिया य बाहिरा चेव।
अब्भंतरा कसायेसु बाहिरा होदि हु सरीरे ॥ २०६ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—सल्लेखना के दो भेद हैं। १ आभ्यन्तर सल्लेखना और २ बाह्यसल्लेखना। क्रोधादि कषायों को कृश करने (घटाने) को आभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं और तपस्या द्वारा काय के कृश करने को बाह्यसल्लेखना कहते हैं।

भावार्थ—क्रोधादिभावों को मन्द करने के लिए दृढ़ प्रयत्न करना तथा अनशनादि तपश्चरण द्वारा शरीर व इन्द्रियों के दर्प को क्षीण करना सल्लेखना है। सल्लेखना आभ्यन्तर और बाह्य के भेद से दो प्रकार की होती है। आत्मा के कर्मजन्य वैभाविक भावों को क्षीण करना, अर्थात् क्रोधादि कषाय के तीव्र उदय होने हुए भी ज्ञान व भावना के बल से आत्मा में रागद्वेषादि रूप अथवा क्रोधादि रूप परिणति को न होने देना आभ्यन्तर सल्लेखना है।

इसका आशय यह है कि तीव्र कषाय के उदय होने पर आत्मा क्रोधादि के वश हो जाता है, उसकी ज्ञान-शक्ति उस समय अनुपयोगी सिद्ध होती है, किन्तु जिस साधु ने ऊपर लिखे अनुसार अपने आत्मा को वैराग्य गुणों से फलस्वरूप एवं शुभ भावना तथा एकत्वादि भावना से संस्कृत कर लिया है, वह विपरीत संयोगों के मिलने पर भी क्रोधादि कषायों का दमन करने का पूर्ण प्रयत्न करता है और वह ज्ञान तथा भावना के बल से कषायों को कम करने में कृतकार्य होता है। इसी को आभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं। ज्यों २ कषाय निग्रह करने का बल आत्मा में वृद्धिगत होता जाता है त्यों २ उसके आत्मा में क्रोधादि भावों की मंदता होती चली जाती है। क्रोधादि को मंद करने का जो उद्योग है उसीको आभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं।

कषाय की मन्दता करने में प्रवृत्त हुआ आत्मा तब तक पूर्णरूप से सफल नहीं होता है, जब तक इन्द्रिय और शरीर को अपने वश में नहीं कर लेता है। अतः उनपर अपना पूरी तरह काबू करने के लिए उनके बल को क्षीण करना आवश्यक होता है। क्योंकि क्रोधादि कषायों का प्रादुर्भाव शरीर और विषयों के मोह से उत्पन्न होता है। अतः आभ्यन्तर सल्लेखना की प्राप्ति करने के लिए शरीर और इन्द्रिय से मोह का त्यागकर इनको कृश करना उचित है। नियमानुसार शरीर इन्द्रिय के बल को क्षीण करने के प्रयत्न को सल्लेखना कहते हैं। शास्त्र में कहा है—

सव्वे रसे पणीदं णिज्जूहित्ता दुपत्तलुक्खेण।
अप्पणदरेणुवभागेण सल्लिहइ य अप्पयं कमसो ॥ २०७ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—इन्द्रियों के बल की वृद्धि करनेवाले पौष्टिक आहार का परित्याग कर अवग्रह (आखड़ी नियम) द्वारा रूक्ष आहार ग्रहण करता हुआ साधक अपने शरीर को कृश करता है।

भावार्थ—सल्लेखना का आराधक साधु सब पदार्थों का त्यागकरके अपने शरीर से भी मोहरहित हुआ इन्द्रिय और शरीर के दर्प को दूर करने के लिए पुष्टिकारक जितने भी आहार हैं, उनका त्याग करता है। रूक्ष आहार में भी अवग्रह करता है। अर्थात् अनशन अवमौदर्यादि तपश्चरण का आचरण करता हुआ रूक्ष आहार का भी नियमपूर्वक परित्याग करता है।

अनशन तप माधु कभी अनशन (उपवास) करता है। उस दिन चारो प्रकार के आहार का त्याग कर अनशन व्रत ग्रहण करता है। इसको चतुर्थ कहते हैं। चतुर्थ चार बार भोजन त्याग को कहते हैं। एक बार धारणा के दिन का, एक बार पारणा के दिन का, दोबार उपवास के दिन का भोजन का त्याग इसमे होता है, अतः इसे चतुर्थ कहते हैं। षष्ठ बेले (दोदिन का उपवास) को, अष्टम तेले और दशम चौले को कहते हैं। इसी प्रकार आगे के उपवास में भी समझ लेना चाहिए।

अनशन तप के दो भेद हैं—१ काल की अवधि वाला अनशन तप औरयावज्जीव अनशन तप। शास्त्र मे कहा है:—

अद्धासणं सव्वासणं दुविहं तु अणसणं भणियं।
विहरंतस्स य अद्धासणं इदरं य चरिमंते ॥ २०६ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—अनशन तप के दो भेद हैं—१ अद्धानशन और २ सर्वानशन। दीक्षा ग्रहण करके साधु जब तक सन्न्यास ग्रहण नहीं करता है तबतक काल की मर्यादा से जो अनशन व्रत ग्रहण करता है अथवा व्रतो मे लगे हुए दोषो के प्रतीकार के लिए जो अनशन किया जाता है उसे अद्धानशन कहते हैं। सन्न्यास के समय (समाधिमरण के अन्तिम अवसर मे) जो यावज्जीव चारो प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है उसे सर्वानशन कहते है।

भावार्थ—अद्धा शब्द का अर्थ काल है, यहा पर चतुर्थ, षष्ठ आदि से लेकर छह मास पर्यन्त का काल अद्धा शब्द से लिया गया है। अर्थात् चतुर्थ (एक उपवास) से लेकर छह मास तक के उपवास को अद्धानशन कहते हैं। अद्धानशन को मुनि दीक्षाधारण करने के समय से लेकर जब तक सन्न्यास ग्रहण नहीं करता है तब तक अपनी इच्छा एव आवश्यकतानुसार व्रतादि मे उत्पन्न हुए दोषो की निवृत्ति के प्रायश्चित रूप धारण करता है। इस प्रकार काल की मर्यादा पूर्वक धारण किये जाने वाले उपवास को अद्धानशन कहते हैं। सन्न्यास के समय चारो प्रकार के आहार का त्याग करना सर्वानशन तप कहलाता है।

अवमौदर्यतप—किसी समय मुनि अवमौदर्य तप करते हैं। जिसकी जितनी खुराक हो उस खुराक से कम भोजन करने को अवमौदर्य कहते हैं। पुरुषों का अधिक से अधिक भोजन (खुराक) बत्तीस ग्रास माना गया है और महिलाओं का भोजन अठाईस ग्रास कहा गया है। एक ग्रास एक हजार चॉवलों का माना गया है। अर्थात् एक हजार चॉवलों का जितना बडा पिंड होता है उतना बडा एक ग्रास का परिणाम होता है। उससे कम एक चॉवल के दाने तक के आहार को अवमौदर्य कहते हैं। यथा.—

"ग्रासोऽश्रावि महस्रतंदुलमितो द्वात्रिंशदेतेऽशनम् ।
पुंसो वैस्रसिकं स्त्रिया विचतुरास्तद्धानिरौचित्यतः ॥
ग्रासं यावदथैकमिक्थमवमौदौर्यं तास्तचरे—
द्धर्मावश्यकयोगधातुममतानिद्राजयाद्याप्तये ॥" (भग० आ० टीका २११)

अर्थात—प्राचीन शास्त्रों में ग्रास एक हजार चाँवल प्रमाण कहा गया है। पुरुषों के उक्त प्रमाण वाले ग्रास बत्तीस होसकते हैं और स्त्रियों के अठाईस अर्थात् पुरुष के लिए अधिक से अधिक बत्तीस ग्रास प्रमाण भोजन और स्त्रियों के अठाईस ग्रास प्रमाण भोजन होता है। इससे अधिक भोजन नहीं करना चाहिए। साधु का यह अधिक से अधिक आहार है। इसका आशय यह है कि अपने आहार में से एक ग्रास दो ग्रास आदि की कमी करते हुए एक ग्रास या एक चावल के आहार तक पहुंच जाना अवमौदर्य तप होता है। आवश्यक क्रियाओं में क्षमाभाव अर्थात उत्साह उत्पन्न होने के लिए, योग साधन के लिए, स्वाध्याय सिद्धि के लिए वात पित्त कफ की विषमता को दूर करने के लिए और निद्रापर विजय प्राप्त करने के लिए साधु इस तप का आचरण करते हैं। यथा—

निद्राजयः समाधानं स्वाध्यायः संयमः परः ।
हृषीकनिर्जयः साधोरवमौदर्यतो गुणाः ॥ २ १ ॥ (सस्कृत० भग०)

रसपरित्याग—सल्लेखना का आराधक रस परित्याग नाम का तप भी करता है। दूध दही घृत तैल गुड इन सब रसों का अथवा इन में से कभी किसी रस का और कभी किसी रस का त्याग करता है। अथवा पुष्प पत्र शाक नमक दाल आदि के त्याग करने को भी रस-त्याग माना गया है।

सल्लेखना का आराधक साधु भोजन में स्वाद की अपेक्षा नहीं रखता अपितु रूखा सूखा जैसा भोजन मिलजाता है वैसा ही करलेता है। शास्त्रों में कहा है—

अशनं नीरसं शुद्धं शुष्कमस्वादु शीतलम् ।
भुंजते समभावेन साधवो निर्जितेन्द्रियाः ॥ २१५ ॥ (सस्कृत० भग० आ०)

अर्थ—जिन्होने इन्द्रियो को वश मे कर लिया है ऐसे सयमी नीरस, रूखा, सूखा, स्वादहीन, ठढा, लवण घृत दुग्धादि से रहित शुद्ध भात चना रोटी आदि अन्न का भोजन करते हैं।

वृत्तिपरिसख्यान तप—किसी समय सल्लेखना का आराधक वृत्तिपरिसख्यान तप का आचरण करता है। अनेक प्रकारके अभिग्रह (आखडी नियम व प्रतिज्ञा) करने को वृत्तिपरिसंख्यान कहते हैं। वृत्तिपरिसंख्यान तप का सेवन करने वाला सयमी नियमो करता है कि आज मैं एक या दो मुहल्ला मे भोजन के लिए जाऊगा और वहा आहार मिलगया तो ग्रहण करूगा, अन्यथा आज मेरे भोजन का त्याग है। आज मैं एक पोल या गुवाडी मे ही जाऊगा और वहा आहार की विधि मिलेगी तो ठीक है अन्यथा आहार का त्याग है। आज मैं अमुक मुहल्ले म जाऊगा और उसके प्रारभ के घर म आहार की योग्य विधि मिलेगी तो आहार ग्रहण करूगा, अन्यथा आज आहार का त्याग है। एक बार भोजन जो परोसा जायगा वही लूगा दुबारा परोसा हुआ भोजन ग्रहण न करूगा। आज पडिगाहने मे एक आदमी होगा या दो होंगे तो आहार करूगा। आज में इतने ग्रास ही भोजन करूगा। आज पिंडरूप (ग्रास रूप) जो भोजन होगा, उसीका ग्रहण करूगा; खडी दूध आदि द्रव पदार्थ का सेवन न करूगा। आज द्रवरूप पदार्थ का ही ग्रहण करूगा। आज उसी पदार्थ का योग मिलेगा तो भोजन लूगा जो न तो केवल द्रवरूप होगा और न केवल पिंडरूप जैसे कढी आदि। आज चना चवला मसूर मूग आदि धान्य अन्न का ही आहार लूंगा। आज मैं केवल जलमात्र पाऊंगा। अमुक वस्तु हाथ मे लिए हुए पडिगाहेंगे तो आहार लूगा अन्यथा आज मेरे आहार ग्रहण करने का त्याग है। आज शाक के साथ मूग या कुल्माठ भात आदि मिश्रत होंगे तो मैं आहार लूगा अन्यथा आहार का त्याग है। थाली के मध्य में भात रख कर उसके चारों ओर शाक रखी होगी तो आहार लूगा। आज मध्य म अन्न रखा हो और उसके एक तरफ दाल शाक आदि रखे गये होंगे तो आहार लूगा। चटनी आदि स संयुक्त भात रोटी आदि होगी तो आज आहार ग्रहण करूगा। केवल शुद्ध जल से युक्त भात होगा तो आज ग्रहण करूगा। हाथ मे चिपकने वाला कोई अन्न मिलेगा तो लूगा। आज हाथ मे नहीं चिपकने वाला अन्न मिलेगा तो लूगा। आज घुले चावल आदि का आहार लूगा। आज बिना घुले पड़े चॉवल होगे तो आहार ग्रहण करूगा। इत्यादि अनेक प्रकार की प्रतिज्ञा लेकर साधु गोचरी को निकलते हैं। की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार विधिपूर्वक यदि आहार मिलता है तो ग्रहण करते हैं अन्यथा उस दिन अनशन करते हैं। इसको वृत्तिपरिसख्यान तप कहते हैं।

पत्तस्स दायगस्स य अवग्गहो बहुविहो ससत्तीए।
इच्चेवमादिविविधिणा णादव्वा वुत्तिपरिसखा ॥ २२१॥ (भग० आ०)

अर्थ—सुवर्ण के पात्र मे, चादी के भाजन में, कासे के वर्त्तन मे या मिट्टी के पात्र मे परोसागया भोजन ही आज ग्रहण करूंगा।

आज मै स्त्री के हाथ से ही आहार लूगा। वह स्त्री बाल्यावस्था वाली होगी या वृद्धा होगी या अलकार रहित होगी या ब्राह्मणी होगी या वैश्य वर्ण की होगी या राजपुत्री होगी तो उसके हाथ से आहार लूगा अन्यथा नहीं। इत्यादि पात्र, दाता, भोज्यवस्तु, गृहादि के विचार मे अपनी शारीरिक, मानसिक शक्ति की पूरी २ जाच कर जो प्रतिज्ञा की जाती है उसे वृत्तिपरिसख्यान तप कहते हैं।

कायक्लेशतप—कभी मुनि अपनी आत्मीयशक्ति को विकसित करने लिए शरीर मे ममत्व त्याग कर अनेक प्रकार के कायक्लेशकारी तपों का आचरण करते हैं। कायक्लेशतप करने वाला संयमी अपनी शक्ति को लक्ष्य में रखकर तपश्चरण करता है। जिस तप के आचरण करने से उत्तरोत्तर तप मे अनुराग और उत्साह की वृद्धि होती रहे उतना तप कर्मों की निर्जरा करनेवाला माना गया है। कायक्लेश तप कई प्रकार का होता है।

कोई कायक्लेश गमन से होता है। जिस समय ज्येष्ठ वैशाख मास की कड़ी धूप हो उससमय पूर्वदिशामे (सूर्य के सन्मुख) पश्चिम दिशा मे गमन करना, मध्याह्न के समय प्रचण्ड सूर्य की प्रखर किरणों से सतप्त भूतल पर गमन करना, पश्चिमदिशा से (सूर्य के सन्मुख) पूर्व दिशा मे गमन करना, सूर्य को पसवाडे मे करके गमन करना, एक ग्राम मे पहुच कर बिना विश्राम लिए दूसरे ग्राम की ओर गमन करना, एक ग्राम को जाकर वहा से बिना विश्राम लिए वापिस लौट आना यह सब गमन निमित्तक कायक्लेश तप है।

कोई कायक्लेश तप स्थान (खडे रहने) के विषयक होता है—प्रमार्जित स्तम्भ या भीत के सहारे खड़े रहना, पहले के स्थान से दूसरे स्थान मे जाकर वहा पर एक पहर एक दिन आदि काल का नियम लेकर खडे रहना, अपने स्थान पर ही निश्चल होकर खडे रहना, कायोत्सर्ग करना, अर्थात् समान अन्तर मे पाँव रखकर भूमि पर खडे रहना, एक पाव से खड़े रहना, आकाश मे उडते समय गृध्र पक्षी के जैसे पख फैलाते हैं, वैसे दोनों बाहु फैलाकर खडे रहना, पाँव के अग्रभाग के बल खडे रहना, पाँव के अगूठे के बल खडे रहना, इत्यादि अनेक प्रकार से काल की मर्यादा पूर्वक खडे रहना स्थान-कायक्लेश तप कहा जाता है।

अनेक आसन मॉडकर तपश्चरण करने को आसन कायक्लेश तप कहते हैं। एक पहर, दोपहर आदि का प्रमाण कर पालथी माडकर बैठे रहना पर्यंकासन कायक्लेश तप है। नितम्ब भाग (चूतड) के पाँव लगाकर बैठना समपदासन कायक्लेश तप है। गाय के दोहते समय एडियो को उठाकर पाँवो के अग्रभाग (पजो) के बल जैसा बैठते हैं, वैसा बैठना गोदोहासन कायक्लेश तप है। भूमि को नहीं छूते हुए दोनो पाँवों को मिलाकर और शरीर के ऊपर के भाग को सिकोड़कर बैठना उत्कुटिकासन कायक्लेश तप है। मगर के मुख समान दोनों पाँवों की आकृति बनाकर बैठना मगर-मुखासन कायक्लेश तप है। जैसे हाथी सूड को फैलाता है, वैसे एक पाँव को फैलाकर बैठना अथवा एक हाथ को फैलाकर बैठना हस्तिशुण्डासन कायक्लेशतप है। दोनो जंघाओ को सिकोड कर गौ जिस प्रकार बैठती है वैसे बैठने

को गवासन कायक्लेश तप कहते हैं। दोनो जाघो पर दोनो पांव रखकर बैठना अथवा दोनों पिंडलियों को दूर अन्तर पर स्थापन करना वीरासन कायक्लेश तप कहा जाता है। इस प्रकार अनेक आसन लगाकर ध्यान करने को आसननिमित्तक कायक्लेश तप कहते हैं।

अब शयन से जो कायक्लेश तप होता है, उसे कहते हैं। दण्ड समान शरीर को लम्बा करके सोना दंडायतशयन कायक्लेशतप है। खडे खडे सोना उद्भीभूशयन कायक्लेशतप है। अवयवोंको सुकोड़ कर सोना लगुडशयन कायक्लेश तप कहते है। मुखको ऊँचा रखकर चित सोने को उत्तानशयन कायक्लेशतप कहते हैं। मुखको नीचे रखकर औंधा सोने को अवमस्तकशयन कायक्लेश तप कहते है। बाईं या दाहिनी करवटो मे से किसी करवट से सोना पार्श्वशयम कायक्लेश तप माना गया है। मृतक के समान बिना हिलेचले चेष्टा रहित सोने को मृतकशयन कायक्लेश तप कहा जाता है। बाहर निरावरण प्रदेश मे (खुलें मैदान में) सोने को अभ्रावकाशशयन कायक्लेश तप कहते हैं। इस प्रकार अनेक प्रकार के शयन हैं, उनमे से अपनी शक्ति व सुविधा क अनुसार जिस प्रकार मोये हो वैसे ही नियत समय तक सोते रहना, शयन का परिवर्त्तन (बदला बदली) न करने से शयन निमित्तक कायक्लेश तप होता है। अब अन्य कायक्लेशो को कहते हैं।

थूकने की आवश्यकता होने पर भी नहीं थूकना, शरीर मे खुजली की बाधा उपस्थित होने पर भी शरीर को नहीं खुजलाना, सूखे तृण के ऊपर, काठ के पट्टे पर, पत्थर की शिला पर, तथा भूमि पर शयन करना, केशो का लोच करना, (उखाड़ना) रात्रि मे न सोना जागरण करना, स्नान नहीं करना, दातो को नहीं माजना, अतिशीत गर्मी तथा जलवृष्टि आदि की बाधा सहना, शरीर को क्लेश पहुचाने वाले अनेक साधनो को जुटाकर शरीर सम्बन्धी कष्टो को शान्ति मे सहन करना कायक्लेश तप कहा गया है।

विविक्त शय्यासन तप—जो प्रासुक हो, जिस वसतिका मे राग तथा द्वेष भाव को उत्पादन करने वाले मनोज्ञ व अमनोज्ञरूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द न पाये जावें तथा जहा पर स्वाध्याय और ध्यान मे विघ्न उपस्थित न होता हो, उस वसतिका को विविक्त कहते हैं। वही वसतिका मुनि के योग्य मानी गई है। ऐसी वसतिका मे सोने या रहने को विविक्त शय्यासन तप कहते हैं।

इस विविक्त शय्यासन मे स्त्रियों, नपुन्सकों, असमियों और पशुओं का सचार नहीं होना चाहिए। इनसे उनके ध्यानाध्ययन मे बाधा उपस्थित होती है और अपने कर्तव्य कर्म को निर्विघ्न रूप से नहीं कर सकते। आत्मगवेषियो के लिए एकान्त और पवित्र स्थान की अनिवार्य आवश्यकता है। इसीलिए विविक्त शय्यासन को एक तप का स्थान दिया गया है।

वसतिका के बारे मे यह खयाल रखना भी नितान्त आवश्यक है कि वह उद्गम, उत्पादना व एषणा दोषों से रहित हो अन्यथा वह सोने अथवा रहने योग्य नहीं है। उद्गम, उत्पादन, और एषणा दोषो से भयकर एक दोष और है जिसका नाम अध. कर्म है। अध कर्म अर्थात् सब से नीचा कर्म (कार्य)।

(१) आधाकर्म दोप—यह सब दोपों से महान् दोप है। इस दोप से मुनि के महाव्रतो का नाश होता है। वृक्षों को काट कर लाना, ईंटो को पकाना, पृथ्वी खोदना, नीव आदि को पत्थर मिट्टी आदि से भरना, पृथ्वी को कूटना, कीचड करना, खंभे तैयार करना, अग्नि से लोहे को तपाना व घनों से कूटना, करौत से काठ चीरना, बसोले से छीलना, फरसे से छेदन करना इत्यादि नाना प्रकार की क्रियाओ से छह काय के जीवों को पीडा देकर वसतिका स्वय बनाई हो या दूसरे से बनवाई हो, अथवा बनाने वाले का अनुमोदन किया गया हो तो वह आधाकर्म दोष है। यह महादोष है। इसका सेवन करने से मुनिपना नष्ट होता है।

उद्गम दोप

(१) उद्देशदोप—जितने भी दीन अनाथ कंगाल या भेष धारी हैं उन सब के लिए बनाई गई धर्मशाला आदि हो या पाखंडी साधुओ के लिए बनवाये गये मठ वगैरह अथवा बौद्ध साधुओं के लिए या निर्ग्रन्थ साधुओ के लिए बनवाये गये आश्रमादि हो वे सब उद्देशिक वसति कहलाते हैं। अर्थात् किसी पाखंडी आदि के उद्देश से बनवाई गई वसति मे रहने से उद्देश दोप होता है।

(२) अध्यधि दोप—गृहस्थ अपने उपभोग के लिए मकान बनवाता हो तब पत्थर ईंट चूना आदि अधिक मगवाकर साधुओं के लिए भी एक दो कमरे बनवाले और उसमे मुनि ठहरें तो अध्यधि दोप होता है।

(३) पूतिदोप—गृहस्थ ने अपने लिए मकान बनवाने के निमित्त बहुत से पत्थर ईंट काष्ठ आदि एकत्र कर रखे हों, उनमे थोडे से पत्थर ईंट काष्ठादि मुनि की वसतिका के निमित्त मिलावे तो पूति दोप होता है।

(४) मिश्रदोप—पाखडियो या गृहस्थो के ठहरने के लिए मकान बनवाते हुए गृहस्थ के मनमे विचार उत्पन्न हो जावे कि सयमीजनों के ठहरने के लिए भी इसमे वसतिका बनवाऊँ, इस उद्देश से पहले इकट्ठी की गई पत्थर चूना आदि सामग्री मे थोडा पत्थर चूना काठ आदि सामग्री और मिला दे तो मिश्र दोप होता है।

(५) स्थापित दोप—अपने लिए कोई गृह भवनादि बनवाया और पश्चात् विचार किया कि यह सयमियो के लिए ही नियत है ऐसा सकल्प करने से स्थापित दोप होता है।

(६) प्राभृतकदोप—जिस दिन साधु आवेंगे, उस दिन इस वसतिका की सफेदी पुताई वगैरह करवावेंगे, ऐसा विचार करके मुनिके आने पर वसतिका का सस्कार (धुलाई पुताई आदि) करवाने से प्राभृतदोप होता है। अथवा साधु के आने के काल को लक्ष्य मे रखकर वसतिका सँवारने मे विलम्ब करना इसको भी प्राभृतक दोप कहते हैं।

(७) प्रादुष्कार दोष—जिस मकान मे अन्धकार बहुत है उसमे प्रकाश लाने के लिए (मुनियों के निमित्त) भीत फोड़कर खिड़की या जाली निकालना, ऊपर के काठ के तख्ते आदि हटाना, दीपक जलाना—यह सब प्रादुष्कार दोष है।

(८) क्रीतदोष—गाय भैंस बैल आदि सचित्त (सजीव) द्रव्य देकर अथवा गुड, शक्कर, घृतादि अचित्त द्रव्य देकर संयमी के लिए वसतिका खरीदना क्रीतदोष है।

(९) भावक्रीतदोष—विद्या, मन्त्रादि देकर मुनि के लिए वसतिका खरीदना भावक्रीत दोष है।

(१०) पामिच्छ (प्रामिश्र) दोष—भाडा या व्याज देकर मुनि के लिए वसतिका लेना, वह पामिच्छ (प्रामिश्र) दोष है।

(११) परिवर्त्त दोष—'आपका मकान मुनियों के ठहरने के लिए दो और मेरे मकान मे आप रहो,' इस प्रकार विनिमय (बदला) करके मुनियो के निवास के लिए मकान लेने से परिवर्त्त दोष होता है।

(१२) अभिघट दोष—अपने मकान की दीवाल आदि के लिए जो छप्पर, स्तंभ, चटाई आदि सामग्री बनवाई थी, वह मुनियों की वसतिका के लिए लाना अभिघट दोष है। इस दोष के दो भेद है—१ आचरित अभिघट और १ अनाचरित अभिघट दोष जो सामग्री दूर देश से अथवा दूसरे गाव से लाई गई हो तो अनाचरित अभिघट दोष होता है अन्यथा आचरित अभिघट दोष। कहलाता है।

(१३) उद्भिन्न दोष—जो मकान ईंटो से, मिट्टी के पिंड से, कांटों की बाड से या किवाड़ों से ढका हो, उस पर से उनको हटाकर वह मकान मुनियो को देदेना उद्भिन्न दोष होता है।

(१४) मालारोह दोष—निसैनी आदि से चढकर 'आप यहा पधारिये, आपको विश्राम करने लिए यह स्थान दिया जाता हैं, ऐसा कहकर सयमियों को दुमंजिला या तीन मजिल पर मकान देना मालारोह दोष है।

(१५) आछेद्य दोष—राजा, मन्त्री या अन्य किन्हीं प्रधान पुरुषो का भय दिखला कर दूसरे के स्थान को मुनि के ठहरने के लिए दिलाना वह आछेद्य दोष है।

(१६) अनिसृष्ट दोष—दानकार्य मे अनियुक्त वसतिका के स्वामी से अथवा बालक से या परवश हुए स्वामी से जो वसतिका दी जाती है वह अनिसृष्ट दोष से युक्त होता है।

इस प्रकार सोलह उद्गम दोष हैं। ये दोष गृहस्थ के आश्रित हैं। मुनि को इन दोषो मे से किसी एक दोष का भी भान हो जावे तो उस वसतिका मे मुनि को नहीं ठहरना चाहिए। मालूम होजाने पर यदि साधु उस दूषित वसतिका मे ठहरता है तो वह दोष का भागी होता है।

उत्पादन दोष

अब उत्पादन दोष को कहते हैं। यह दोष साधु के आश्रित है। इस के भी सोलह भेद हैं। इन भेदो का सक्षेप स्वरूप यह है।

(१) धात्री दोष—ससार मे धात्री कर्म पाच हैं, उनमे से किसी एक के निमित्त से वसतिका की प्राप्ति करना धात्री दोष है। (१)कोई धात्री (धाय) वालक को स्नान कराती है। (२) कोई वालक को क्रीडा कराती है। (३) कोई वालक को वस्त्र अलङ्कारादि से सजाती है। (४) कोई वालक को खिलाती पिलाती है। (५ कोई वालक को सुलाती है। ऐसी पाच धात्रिया (धायें) होती हैं। जब कोई गृहस्थ अपने वालक को मुनि के निकट लावे, तब मुनि वालक के माता पिता को कहे कि वालक को इस प्रकार स्नान कराना चाहिए, इस तरह क्रीडा करवाने से वालक प्रफुल्लित रहता है, इस तरह के वस्त्र व अलङ्कारादि से अलकृत करने से वालक सुन्दर लगता है, वालक को अमुक २ पदार्थ का सेवन करवाने से उसकी शारीरिक व मानसिक शक्ति का विकास होता है तथा अमुक रीति से वालक को सुलाना चाहिए—इस प्रकार धात्री कर्म का उपदेश देकर साधु गृहस्थ को अपने ऊपर अनुरक्त करके यदि वसतिका प्राप्त करता है तो उसके धात्री दोष उत्पन्न होता है।

(२) दूतकर्म दोष—अन्य ग्राम नगर या देश मे रहने वाले गृहस्थ के पुत्र, पुत्री, दामाद या अन्य सम्बन्धियों के सन्देश-समाचारआदि कहकर वसतिका प्राप्त करने से दूतकर्म दोष होता है।

(३) निमित्त दोष—अङ्ग, व्यजन, लक्षण, छिन्न, भूमि, स्वप्न, अन्तरीक्ष और शब्द के भेद से आठ प्रकार का निमित्त ज्ञान होता है। इस निमित्त ज्ञान द्वारा वसतिका प्राप्त करना निमित्त दोष है। अर्थात् शरीर के अङ्ग उपाग का आकार एवं स्वरूप देखकर तिल मसे आदि व्यजन का अवलोकन कर, शरीर मे रहने वाले स्वस्ति, भृगार, कलश, दर्पण, भौंरी आदि लक्षणो को जानकर, वस्त्र, छत्र, आसनादि को चूहे, काटे आदि से अथवा शस्त्र अग्नि आदि से छिन्न भिन्न देख कर या सुनकर तथा भूमि की रुखाई, चिकनाई, रङ्ग रूपादि देखकर; शुभ या अशुभ स्वप्न को देखकर या सुनकर, आकाश मे ग्रह नक्षत्रादि की आकृति उल्कापात, दिशा का रूपादि देखकर एव चेतन अचेतन के स्वर (शब्द) का श्रवण कर जो भूत भविष्यत् वर्तमान मे घटित होने वाले शुभ अशुभ, सुख दु:ख, जय पराजय, सुभिक्ष दुर्भिक्षादि को उक्त अष्ट निमित्त ज्ञान से जानकर गृहस्थ को कहना कि पहले ऐसा हुआ था, इस समय ऐसा होने वाला है और भविष्य मे ऐसा होगा—इस प्रकार निमित्त ज्ञान द्वारा वसतिका प्राप्त करना निमित्त दोष है।

(४) आजीव दोप—अपना जाति, कुल, ऐश्वर्य आदि द्वारा अपनी महिमा (बडप्पन) प्रकट करके वसतिका की प्राप्ति करना आजीव दोप है।

(५) वनीपक दोप—कोई गृहस्थ साधु से पूछे कि 'हे भगवन्! दीन, अनाथ या पाखडी, भेप धारी आदि सबको आहार दान करने से या ठहरने को स्थान देने से पुण्य होता है या नहीं? इस प्रकार पूछने पर साधु विचारे कि यदि पुण्य नहीं होता है, ऐसा कहूंगा तो यह गृहस्थ अप्रसन्न हो जावेगा और वसतिका न देगा, ऐसा सोचकर गृहस्थ के अनुकूल उत्तर देकर वसतिका की प्राप्ति करने वाले साधु के वनीपक दोप होता है।

(६) चिकित्सा दोप—आठ प्रकार की चिकित्सा (वैद्य * विद्या) से वसतिका प्राप्त करना वह चिकित्सा दोप है।

(७) क्रोध दोप—क्रोध दिखाकर वसतिका प्राप्त करना कोध दोप है।

(८) मान दोप—मैं इतना बड़ा तपस्वी हू, मैं बडा विद्वान् हू, मेरी आत्मा मे शापानुग्रह शक्ति है-इत्यादि अभिमान दिखाकर वसतिका प्राप्त कर मान दोप है।

(९) माया दोप—छल कपट का प्रयोग करके वसतिका प्राप्त करना माया दोप है।

(१०) लोभ दोप—किसी प्रकार का लोभ दिखाकर वसतिका प्राप्त करना लोभ दोप है।

(११) पूर्वस्तुति दोप—मुनियों के लिए आपका घर ही आश्रय है, ऐसी बात हमने दूर दूर देशो मे सुनी है इस प्रकार पहले गृहस्थ की स्तुति करके वसतिका प्राप्त करना पूव स्तुति दोप है।

(१२) पश्चात् स्तुति दोप—कुछ काल वसतिका मे रह कर जाते समय गृहस्थ की प्रशसा इस अभिप्राय से करना कि भविष्य मे जब कभी यहा आवेंगे तो वसतिका की प्राप्ति होगी तो वह पश्चात् स्तुतिदोप मानागया है।

(१३) विद्यादोप—विद्या के प्रयोग से अथवा विद्या का लालच देकर गृहस्थ को वश मे कर वसतिका की प्राप्ति करना विद्यादोप है।

---

* शल्य, शालाक्य, काय चिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगदतत्र, रसायन और वाजीकरण यह आठ प्रकार की आयुर्वेद चिकित्सा है।

(१४) मन्त्रदोप—मन्त्र का प्रयोग करके या मन्त्र का लोभ देकर वसतिका प्राप्त करना मन्त्र दोप है।

(१५) चूर्ण दोप—नेत्रांजन, शरीरसंस्कार चूर्ण, वशीकरणादि चूर्ण का लोभ देकर वसतिका प्राप्त करना चूर्ण दोप है।

(१६) मूलकर्म दोप—विरक्तो को अनुरक्त करने का प्रयोग दिखाकर वसतिका प्राप्त करना मूल कर्म दोप है।

ये सोलह दोप पात्र (मुनि) के आश्रित हैं, इसलिए साधुओं को इन सब दोपों से रहित वसतिका का सेवन करना चाहिये।

एपणा दोप

अब एपणा दोप को कहते हैं। इसके दश भेद निम्न प्रकार हैं:—

(१) शकित दोप—यह वसतिका साधु के ठहरने योग्य है या नहीं ? इस प्रकार शका जिस वसतिका मे उत्पन्न हो जावे वह शकित दोप से दूपित मानी गई है।

(२) म्रक्षित दोप—जो वसतिका तत्काल लीपी, पोती गई अथवा सींची गई हो, जलका पात्र लुढकाकर उसी समय धोई गई हो, वह वसतिका म्रक्षित दोप युक्त होती है।

(३) निक्षिप्त दोप—सचित्त पृथ्वी, जल, हरितकाय, बीज या त्रसजीवों के ऊपर पट्टा (तख्ता आदि) फलक (काठका पट्टा) रखकर 'यहा आप शय्या कीजिए' ऐसा कहकर जो वसतिका दी गई हो, वह निक्षिप्त दोपसे दूपित होती है।

(४) पिहित दोप—हरितकाय, काटे, सचित्त मिट्टी आदि के आवरण को हटाकर जो वसतिका दीजावे वह पिहित दोप वाली मानी गई है।

(५) साधारण दोप—काष्ठ, वस्त्र, काटे आदि को घसीटते हुए अग्रगामी मनुष्य के द्वारा दी जानेवाली वसतिका साधारण दोप वाली कही गई है।

(६) दायकदोप—जो मनुष्य सूतक या पातक (जन्म या मरण की अशुचि) से अशुद्ध हो अथवा पागल हो, या नपुंसक हो, भूतप्रेतादि की बाधावाला हो या नग्न हो, ऐसे पुरुप से दीगई वसतिका दायक दोप से युक्त मानी गई है।

(७) उन्मिश्रदोप—जो पृथिवी जलादि स्थावरजीवो और चींटी, खटमल आदि त्रसजीवो से युक्त वसतिका हो, वह उन्मिश्र दोप से दूपित कही गई है।

(८) अपरिणत दोप—जो स्थान किसी के गमनागमन से मर्दित नहीं हुआ है, वह घर, मकान आदि वसतिका का स्थान अपरिणत दोप युक्त होता है।

(९) लिप्तदोप—जिस मकान मे गुड शक्कर घृत तैलादि लिप्त हो, जिसमे चींटी आदि जीव चिपक जावें–उस वसतिका को लिप्तदोप से सयुक्त समझना चाहिए।

(१०) परित्यजनदोप—जिस वसतिका के अल्प भाग का शय्या व आसन (सोने बैठने) के कार्यों में उपयोग हो और फिर भी उसका बहुत भाग रोकना पडे तो उसे परित्यजन दोप कहते हैं।

ये दश दोप एपणा के हैं, ये जिस वसतिका मे पाये जावें उस वसतिका मे सयमी को नहीं ठहरना चाहिए।

अगारादि चार दोप

इन उक्तदोपो के अतिरिक्त १ अगार, २ धूम, ३ सयोजना और प्रमाणातिरेक ये चार दोप और हैं।

(१) अंगारदोप—यह वसतिका सर्दी गर्मी, वायु आदि उपद्रवो से रहित है। यह न तो अति उष्ण है और न अतिशीत है, तथा वायु के उपद्रव से रहित बड़ी सुहावनी और विशाल है–इस प्रकार आसक्ति पूर्वक वसतिका मे निवास करने वाले साधु के अंगार दोष होता है।

(२) धूमदोप—यह वसतिका सर्दी गर्मी तथा वायु आदि के उपद्रवो से युक्त है, इस प्रकार निंदा करता हुआ वसतिका में नरहने वाले साधु के धूम दोप होता है।

(३) संयोजनादोप—जो सयमी के काम मे आने वाली वसतिका असंयमी पुरुपो के वाग वगीचे या रहने के निवास स्थान से मिली हुई हो तो वह संयोजना दोप से युक्त कही गई है।

(४) प्रमाणातिरेक—जो वसतिका साधु के शयनासन (सोने बैठने) आदि कार्यों के उपयोग मे तो अल्प आवे और बहुत सी भूमि ग्रहण करे तो उस साधु को प्रमाणातिरेक दोष प्राप्त होता है।

ऊपर विवेचन किये गये छियालीस दोपो से रहित वसतिका मे निवास करने वाले मुनि के विविक्त शय्यासन तप होता है। विविक्त शयनासन करने वाले मुनि को उस वसतिका मे भी नहीं ठहरना चाहिए जिसके प्रमार्जन में विवेक से काम नहीं लियागया है, जो अन्धाधुन्ध विना देखे भाले झाड़ी बुहारी यालीपी पोती गई हो, तथा जिसमे जीवो की उत्पत्ति और कीडे मकोडे आदि जन्तुओं की अत्यधिकता हो । तथा जिस मे राग द्वेप युक्त भेपधारी या असयमियो का शय्या आसन हो– ऐसी वसतिका सयामियों के योग्य नहीं मानी गई है। आगे उक्त प्रकार विविक्त स्थान मे शय्यासन करने वाले सयमी के निवास करने के लिए योग्य वसतिकाएँ कौनसी हैं, इसे दिखाते हैं—

सुण्णघरगिरिगुहारुक्खमूलआगंतुगारदेवकुले ।
अकदप्पब्भारारामघरादीणि य विचित्ताइं ॥ २३१ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—सूनाघर, पर्वतों की गुफाएँ, वृक्षो मूलभाग, देशदेशान्तर से आने वाले व्यापारी वर्गादि के मनुष्यो के लिए ठहरने के मकान, देवकुल (देवले-देव देवी के मन्दिर) स्वतः वना हुआ शिलागृह—अर्थात् किसी मनुष्य के द्वारा जिसका निर्माण नहीं हुआ हो ऐसा पत्थर की शिलाओ का वना हुआ घर, क्रीडा करने के लिए आने वाले मनुष्यो के लिए बनाये गये उपवन गृह (बाग बगीचों के घर) मठ आदि ये सब स्थान सयमियो के ठहरने योग्य विविक्त वसतिकाएँ हैं।

इन स्थानों मे विश्राम करने वाले साधुओ को किसी प्रकार का दोप नहीं लगता । वे 'तूतू, मैं मैं'से तथा 'यह वसतिका मेरी है, यह तेरी है' इत्यादि कलह से दूर रहते हैं। ऐसी एकान्त वसतिकाओं मे रहने से मन को क्षोभित करने वाले मनुष्यों के रोले नहीं सुनाई देते हैं, परिणामो मे सक्लेश ता नहीं होती, चितमे व्यग्रता नहीं होती। असयमी मनुष्यों का अनुचित ससर्ग नहीं होने से ध्यान और अध्ययन मे व्याघात नहीं होता।

शका—ध्यान और अध्ययन मे क्या अन्तर है ? क्योंकि वाह्य विपयो से चित्त का निवृत्ति तो दोनो मे समान है।

समाधान—एक विपय मे ज्ञान की सन्तान को स्थिर करना ध्यान कहलाता है। पर स्वाध्याय मे ऐसा नहीं होता। स्वाध्याय में ज्ञान का अनेक विपयों मे सचार होता है। अर्थात् जव ज्ञान परम्परा एक विपय मे कुछ समय तक स्थिर हो जाती है तव तो ध्यान होता है और जव ज्ञान धारा विपय से विपयान्तर एक प्रमेयसे दूसरे प्रमेय मे शीघ्र वदलती रहती है तव स्वाध्याय होता है।

शंका—कहीं शास्त्रो मे स्वाध्याय को शुभ ध्यान कहा है, सोकैसे ?

समाधान—स्वाध्याय ध्यान का कारण है इसलिए कारण मे कार्य का उपचार करके स्वाध्याय को भी ध्यान कह दिया गया है।

एकान्त वसतिका मे निवास करने वाला मुनि बिना क्लेश के सुख पूर्वक अनशनादि बाह्य तप तथा स्वाध्याय ध्यानादि अभ्यन्तर तप मे प्रवृत्त हुआ आत्म स्वरूप मे लवलीन रहता है। उसके चित्त को तथा इद्रियों को आकर्षित करने वाले प्रतिकूल सयोगों का सम्पर्क न होने से चित्त मे शान्ति और इन्द्रियो का दमन सुलभता से होता है। एकान्त मे रहने के कारण उसके पाच समितियो का पालन सहज मे होजाता है। वह मन, वचन और काय की अशुभ प्रवृत्ति रुकजाने से आत्महित के कृत्यों मे लवलीन रहता है। उसके स्वाध्याय ध्यानादि मे विघ्न करने वाले रागद्वेषादि भाव उत्पन्न नहीं होते हैं। परिणामों मे सक्लेश नहीं होने से चित्त मे परम विशुद्धि होती है। आत्म-स्वभाव मे स्थिर रहने से कर्मों के आस्रव का अभाव होकर सवर और निर्जरा होती है। शास्त्र में कहा है'—

जो णिज्जरेदि कम्मं असवुडो सुमहदावि कालेण ।
त संवुडो तवस्सी खवेदि अंतोमुहुत्तेण ॥ २३४ ॥ (भग० आ०)

अर्थ—जो साधु बाह्य विषयो मे दौडते हुए मन वचन काय को न रोककर मासोपवासादि कायक्लेशकारी उग्रोग्र बाह्य तपस्या के द्वारा बहुत काल मे जितने कर्मों की निर्जरा करता है, गुप्ति समिति, धर्म अनुप्रेक्षा तथा परिषहजय में तत्पर रहने वाला साधु उतने कर्मों की निर्जरा अन्तर्मुहूर्त्त मे करता है। क्योंकि गुप्ति आदि से जो कर्मों की निर्जरा होती है वह संवर पूर्वक होती है और समिति गुप्ति आदि रहित केवल बाह्य तपसे जो निर्जरा होती है वह संवर रहित होती है। सवर रहित निर्जरा मोक्ष मे उपयोगी नहीं होती है। क्योंकि संवररहित बाह्य तप से निर्जरा करने वाला साधु जैसी पुराने कर्मों की निर्जरा करता है, वैसे ही नवीन कर्मों का बन्ध भी करता है। और सवर पूर्वक निर्जरा करने वाला साधु पुरान कर्मों की निर्जरा भी करता है और नवीन कर्मों के आस्रव को भी रोकता है। अतः आगम मे संवर पूर्वक निर्जरा को ही महत्त्व दिया गया है। निर्जरा को सवर पूर्वक बनाने के लिए साधु को ऐसे तपश्चरण का आचरण करना चाहिए जिससे मन दुष्कृत्यों की ओर प्रवृत्त न हो। जैसे इन्द्रियों के विषयो का सेवन करना दुष्कर्म है, वैसा ही अथवा उससे अधिक दुष्कर्म क्रोधादि कषायो के वश मे होना है। इन्द्रियों और मन को वश मे रखकर प्रायश्चित्त स्वाध्यायादि तप की निर्बाध सिद्धि करने के लिए अनशनादि तप कियाजाता है। क्रोधादि का आवेश बढ़ जाने पर आत्मा प्रायश्चित स्वाध्यायादि तपस्या को करने में असमर्थ हो जाता है, इसलिए तप की वृद्धि के साथ क्रोधादि कषायो का उपशम भी होना परमावश्यक है। जिस तपस्वी के क्रोध मान माया या लोभ का आवेश होता है, वह

तपस्या को कलंकित और निष्फल करदेता है। यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि तपस्या वही श्रेष्ठ मानीगई है, जिससे चारित्र के पालन मे, सयम के आराधन मे उत्साह व उमग उत्तरोत्तर बढती रहे तथा पूर्व के धारण किये व्रत और नियमो का दृढ़ता से पालन होता रहे।

बाह्यतप के गुण.

इसके लिए बाह्यतप भी बहुत जरूरी है। बाह्यतप आत्मा को सन्मार्ग मे तत्पर करने का अपूर्व साधन है। इस तप से जीवका आलस्य नष्ट होता है तथा सुखिया स्वभाव दूर होता है। कष्ट सहिष्णुता बढ़ती है और परिषह सहन करने की प्रकृति बनती है। शरीर से सम्बन्ध छूटकर वैराग्य भाव मे दृढता आती है और ससार से चित्त उद्विग्न होकर आत्म-धर्म मे प्रवृत्त होता है।

यद्यपि ससार से भयभीत हुए बिना तपश्चरण मे तत्परता नहीं होती है तथापि बाह्यतप के आचरण करने वाले का आगम के पठन पाठन मनन मे सलग्न होजाता है और निरन्तर ज्ञानामृत का पान करते रहने से आत्मा मे पात्रता आजाती है। तब ससार से उद्विग्न होता है और उस संसार की असारता निश्चय होजाती है, इसलिए वह तपस्वी ससार के दुःखों से घबराकर आत्महितकर धर्म मे लग जाता है।

इन बाह्य तपों का उपयोग यही है कि अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान और रसपरित्याग इन चार तपों के द्वारा जिह्वा इन्द्रिय का दमन होता है। विविक्त शयनासन और काय क्लेश तपके द्वारा स्पर्शन, घ्राण, चक्षु और कर्णेंद्रिय का दमन होता है। मनका दमन तो सभी से होता है। एकान्त वसतिका मे स्पर्शनादि इन्द्रियो को लुभाने वाले विषयों का अभाव होता है अत. विविक्त वसतिका मे निवास करने से स्पर्शनादि इन्द्रिया आत्मा के वश मे रहती हैं।

आहारादि का त्याग करने से विषय-प्रेम घटता है और रत्नत्रय मे स्थिरता बढती है। क्योंकि विषयो मे व्याकुल हुआ चित्त रत्नत्रय मे स्थिर नहीं रहकर विषय सम्बन्धी अशुभ विचारो-संकल्प-विकल्पो के जाल मे गोता लगाता रहता है। बाह्य तप के कारण विषयों से उदासीनता बढती है और उत्तम कार्यों (स्वाध्यादि) मे प्रेम बढता है।

बाह्यतप के आचरण से शरीर मे कृशता आती है और आत्मशक्ति विकसित होती है। इससे मुनि की जीवित रहने की आशा व तृष्णा का क्षय होता है। विनश्वर शरीर से मोह हटकर आत्मीय गुणो (क्षमादि) में अनुराग उत्पन्न होता है। जो शरीर से मोह रखता है, वह मनुष्य बाह्य तप का अनुष्ठान करने से भय खाता है। उसकी आहारादि सम्बन्धी लम्पटता नहीं छूटती है। तथा वह असंयमादि का आचरण करके भी शरीर को सुखी रखने तथा प्राण धारण किये रहने की इच्छा रखता है। और वह रत्नत्रय के आराधन मे उपेक्षा धारण

करता है। अत शरीर से मोह का सम्बन्ध शिथिल करने के लिए वाह्यतप का आचरण करना चाहिए। शरीर विषयक मोह के घटने पर आत्म-गुणों मे प्रेम की वृद्धि होती है, सयम पर स्थिर रहने की भावना दृढ़ होती है तथा विनश्वर शरीर का उत्तम कार्यों मे उपयोग करने की सच्ची लगन उसके मन मे पैदा होती है।

मरण काल मे जो सम्पूर्ण आहार का परित्याग करना पड़ता है, उसका अभ्यास वाह्यतप के आचरण करने से ही होता है। जिसने पहले अनशनादि व्रत का अभ्यास किया है, वह समाधि मरण के अवसर पर सुगमता से आहार का त्याग कर सकता है और जिसने अनशनादि बाह्य तप का आराधन नहीं किया है; वह सहसा आहार का त्याग करने मे कृतकार्य नहीं होता है, उसे आहार का त्याग करने से भय उत्पन्न होता है। क्षुधा-तृपा की बाधा सहन करने का अभ्यास न होने से वह एकदम आहार का त्याग करने से व्याकुल चित्त हो जाता है। उसकी आखो के सामने अँधेरा सा आ जाता है, सिर चक्कर खाने लगता है और उसका मन अशान्त हो जाता है। अतः मरण को सुधारने के लिए अनशनादि तप का आचरण बराबर करते रहना चाहिए।

वाह्यतप के आचरण से निम्नलिखित गुण व्यक्त होते हैं :—

निद्रागृद्धिमदस्नेहलोभमोहपराजयः
ध्यानस्वाध्याययोर्वृद्धिः सुखदुःखसमानता ॥ २४२ ॥ (स. भग. आ.)

अर्थ—निद्रा आत्मा को ज्ञानोपयोग से रहित जड़ बना देती है। निद्रा के वशीभूत हुआ मुनि सामायिक, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, ध्यान से पराङमुख होता है। निद्रा मनुष्य को मृतक समान बना देती है और दर्शनावरणादि कर्मों का बन्ध करती है। उस पर विजय प्राप्त करने का मुख्य साधन अनशन अवमौदर्यादि बाह्य तप हैं। निद्राविजयी बनने के लिए यथाशक्ति तपस्या करना परमावश्यक है। जो नित्य भरपेट भोजन करता है, सरस आहार करता है वह मृदुस्पर्शयुक्त निरुपद्रव सुखप्रद स्थान मे निद्रा राक्षसी का ग्रास बनता है। उसको सामायिक स्वाध्याय व ध्यान करते समय निद्रा घेरलेती है। भरसक प्रयत्न करने पर भी वह अपने चित्त को सामायिक स्वाध्यायादि मे नहीं लगा सकता है। नींद पर नींद आने लगती है और वह चेतना शून्य होकर अशुभ विचारों के प्रवाह मे बहने लगता है अतएव निद्रा का त्याग करने के लिए बाह्यतप का नित्य यथाशक्ति अवश्य आचरण करना चाहिए।

गृद्धि (आहारादि की आसक्ति) सयमी को संयम से ढकेलती है। जिस साधु के मन में आहार की लम्पटता होती है, वह भक्ष्य अभक्ष्य का, प्रासुक अप्रासुक का, सदोष-निर्दोष का विचार नहीं करता है। वह तो अपनी लालसा को शान्त करना चाहता है जो वह

जिस इन्द्रिय के वशगत होकर अपने संयम रत्न को खो देता है। जो तप का अभ्यासी है, अनशनादि तप का अनुष्ठान करने वाला है, उसके आहारादि की लालसा नहीं होती है। वह जब शरीर में भी मोह नहीं करता है, तब आहारादि में आसक्ति कैसे कर सकता है? अतः बाह्य तप के आचरण करने वाले के आहारादि की लालसा भी नहीं होती है।

बाह्य तप के द्वारा ही सरजय अर्थात् इन्द्रियों का दमन होता है। उपवास, ऊनोदर, रसत्याग आदि यथायोग्य तपस्या को जो संयमी करता रहता है, उसकी इन्द्रियाँ रसहीन हो जाती हैं। इनमें विषय सेवन की जो उत्सुकता होती है, वह उपशान्त हो जाती है। इन्द्रियों की प्रकृति है कि जब उनको बल देने वाले अनुकूल विषयों का सम्पर्क मिलता है, तो उनके दर्प (मद) की वृद्धि होती है और उनको वश में रखना कष्ट-साध्य होता है। किन्तु उपवासादि तप के कारण अनुकूल सामग्री न मिलने से वे शक्तिहीन हो जाती हैं, तब उनका मद नष्ट होजाता है और वे मन्त्र-कीलित सर्प की भाँति मदहीन होकर संयमी के आधीन रहती हैं। इन्द्रियों के दमन करने का निर्दोष व प्रधान साधन तप के अतिरिक्त कोई नहीं है।

स्नेह, लोभ और मोह का पराजय करने के लिए शरीर दाह एक साधन है। तपस्या करने वाला अपने शरीर से भी स्नेह नहीं करता। उसको जब अपने जीवन का भी लोभ नहीं होता तब शरीर से मोह क्या करेगा? और ऐसी दशा में उसके स्त्री पुत्र व अन्य वस्तुओं से स्नेह, लोभ या मोह कैसे हो सकता है? क्योंकि जितनी भी बाह्य वस्तुएँ हैं, उनका साक्षात् सम्बन्ध शरीर के साथ है। शरीर द्वारा ही उनका परम्परा सम्बन्ध आत्मा के साथ है। जिसने शरीर से स्नेहादि सम्बन्ध तोड़ दिया है उसका स्त्री पुत्र धन या मित्रादि वर्ग के साथ स्नेहादि सम्बन्ध स्वतः ही टूट गया। अतः जो आत्म हितैषी मनुष्य अति कठिन मोहादि राक्षसों से अपना पिण्ड छुड़ाना चाहते हैं उनको अनशनादि तप का आचरण अवश्य ही करना चाहिए।

ध्यान की सिद्धि व वृद्धि चित्त की एकाग्रता से होती है। चित्त की एकाग्रता सम्पन्न करने के लिए अनशन, अवमौदर्यादि बाह्य तप का आचरण परमोपयोगी माना गया है। कारण कि उपवास या ऊनोदर आदि तपस्या के द्वारा अशक्त हुई इन्द्रियाँ अपने विषयों से उदासीन होती हैं। और इन्द्रियों को उदासीन होने से मन भी मुर्झा जाता है। वह विषयों से उदासीन हुआ आत्मीय ध्यानादि कार्यों में तल्लीन होता है। इन्द्रियाँ जिधर प्रवृत्त होती हैं, मन भी उधर खिंच जाता है। जब इन्द्रियाँ चञ्चलता का परित्याग कर स्थिरता धारण कर लेती हैं तब असहाय हुआ मन भी स्वतः स्थिर होने लगता है। और चित्त की स्थिरता को ही ध्यान कहते हैं। अतः ध्यान की सिद्धि व उसको उत्तरोत्तर वृद्धिगत करने के लिए अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग व विविक्तशय्यासन का आचरण करना नितान्त आवश्यक है।

स्वाध्याय वृद्धि के लिए भी बाह्य तप नितान्त आवश्यक है। जो बहुल भोजन करने वाला है या पुष्ट और गरिष्ठ रसीले आहार

का सेवन करता है, उसे आलस्य घेर लेता है, निद्रा आने लगती है और स्वाध्याय से चित्त ऊब जाता है। जिसने उपवास अवमौदर्यादि तप से आलस्य और निद्रा को दूर कर दिया है, वह निर्बाध होकर स्वाध्याय मे रम सकता है। अत स्वाध्याय की सिद्धि व वृद्धि के लिए बाह्य तप अपूर्व साधन है।

बाह्य तप का आचरण करने वाले मुनि के सुख दु ख मे समभाव होता है। अर्थात् उसके इन्द्रिय-जन्य सुख मे राग और क्षुधादि वेदना से उत्पन्न हुए दु ख म द्वेष भाव नहीं होता है। अत. वह सुख दुख म समभाव धारण करने वाला होता है।

तात्पर्य यह है कि बाह्यतप मुनि को बाह्य विषयो से पृथक् करता है और आत्मा के गुणों के विकास करने मे प्रवृत्त करता है। सयम का तो निष्कलक अलकार तप है। मुक्ति अङ्गना उसी के गले मे वर माला डालती है जो तप रूप भूषण से भूषित होता है। क्योकि ससार के मूल कारण कर्मों का समूल नाश तपश्चरण से ही होता है।

दूसरे मुनि का तपस्या को देखकर नये कोमलाग मुनियों को भी तपस्या मे अनुराग उत्पन्न होता है। उनके वैराग्य की वृद्धि होती है, शरीर से प्रेम नष्ट होता है, ससार मे आसक्त हुए रोगीजन भी तपस्वी मुनि के तपश्चरण का अवलोकन कर ससार से भयभीत होते हैं। वे विचारने लगते हैं, देखो! यह मुनिराज ससार से भयभीत होकर अपने शरीर से भी कितने विरक्त हैं, धन्य है इनको, जो ऐसे दुधर तपश्चरण का आचरण करते हैं। धिक्कार है हमको, जो ससार से निडर होकर शरीर के दास बने हुए हैं, हमको अपने कल्याण के अर्थ अवश्य तपश्चरण करना योग्य है। ऐसा चिन्तन कर तपस्या करने मे प्रवृत्त होते हैं। जिन धम से विमुख प्राणी भी तपस्वी साधुओं के दर्शन कर उनके दुधर तप से प्रभावित होते हैं और धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न कर अपना कल्याण करने मे तत्पर हो जाते हैं।

अनशनादि तप के अनुष्ठान से आत्मीय गुणों के विकास के साथ शरीर भी स्वस्थ होता है, शरीर का भारीपन मिटता है, मेदा (चर्बी) की वृद्धि रुकती है, वात और कफ की विषमता दूर होती है, अपच की बीमारी का नाश होता है, आलस्य दूर होकर स्फूर्ति बढती है, काय करने की क्षमता प्राप्त होती है, बुद्धि का विकास होता है।

मुनि को यदि सर्वोपरि ज्ञान प्राप्त करना है, अपनी बुद्धि और मेधा शक्ति की वृद्धि करना है, विश्व को आश्चर्य चकित करने वाले शास्त्रीय ज्ञान तथा दिव्य ज्ञान को उपलब्ध करना है तो तपस्या रूप औषधि का सेवन करो। इस तप रूप रसायन का सेवन कर जड-बुद्धि साधु अलौकिक दिव्य ज्ञान के धारक होगये हैं। द्वादशाङ्ग वाणी का पूर्ण ज्ञान तथा अवधि, मन. पर्याय और केवलज्ञान तपश्चरण से ही प्रकट होते हैं। ये ज्ञान शास्त्रो के अभ्यास से नही उत्पन्न होते हैं, इनका उत्पादक तपश्चरण ही है।

पूर्ण श्रुतज्ञानादि तो तपस्या से होते ही हैं, किन्तु जड-बुद्धि मनुष्य के ज्ञान का विशेष प्रादुर्भाव भी तपस्या के आचरण से हो सकता है। बहुत से अल्प बुद्धि मनुष्यो के ज्ञानावरण का चमत्कारी क्षयोपशम तपश्चरण से हुआ है। यह निःसन्देह है कि तपस्या से अवश्य ही ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम, उपशम या क्षय होता है। अतः यदि ज्ञानवान्, मेधावान्, विद्यावान् आदि बनना हो तो तप का अभ्यास करना चाहिए। इसीसे तेजस्विता, वाग्मिता और विद्वत्ता उत्पन्न होती है।

सल्लेखना के आराधन का फल यह है कि काय और कषाय को कृश करने में उद्यत हुआ संयमी अनशनादि तप की क्रमशः वृद्धि करता है। अर्थात् एक उपवास के बाद दो उपवास (बेला) करता है। तत्पश्चात् तीन उपवास (तेला) चोला आदि अनशन तप को बढाता है। मुनियों के अधिक से अधिक आहार का प्रमाण बत्तीसग्रास कहा है। उसमे एकग्रास, दोग्रास, तीनग्रास आदि की न्यूनता (कमी) करते हुए अवमौदर्य तप की वृद्धि करता है। एक रसका, दो रसों, तीन रसों आदि का त्याग क्रमसे करते हुए रसपरित्याग तप को बढाता है। "आज मैं एक मुहल्ले मे ही आहार के लिए भ्रमण करूगा, अथवा सात घरों में या तीन घरों मे ही आहार के लिए प्रवेश करूंगा। आज एकग्रास या दो चार दस बीस या इकतीस ग्रास ही ग्रहण करूंगा।" इस प्रकार ग्राम के प्रमाण का नियम कर वृत्तिपरिसंख्यान तप की वृद्धि करता है। जिनमे आतपन योग करके रात्रि में प्रतिमायोग धारण करने का नियम करता हुआ कायक्लेश तप की उन्नति करता है। सूने घर, पर्वत की गुफा, वनादि, एक वसतिका में आश्रय लेकर विविक्तशय्यासन तपको वृद्धिगत करता है। इस प्रकार तपों की वृद्धि करते हुए संयमी के थकावट मालूम होती है, तब वह उक्त अनशनादि तप का क्रम से न्यून (कम) करता है। बढी हुई तपस्या को शनैः शनैः घटाने को तप की हानि कहते हैं। अथवा सर्व प्रकार बढते हुए तपश्चरण से रूक्ष व रसहीन आहार को अल्प करते हुए शरीर को कृश करता है।

अथवा सल्लेखना का दूसरा प्रकार यह है कि कषाय और काय कृश करने को उद्यमी संयमी एकदिन अनशन (उपवास) ग्रहण करता है, दूसरे दिन वृत्तिपरिसंख्यान तप धारण करता है, तीसरे दिन अवमौदर्य तप अंगीकार करता है। अथवा प्रतिदिन आहार मे कमी करता हुआ अपने शरीर को और कषाय को घटाता जाता है।

सल्लेखना का आराधन अन्य २ प्रयोगों से

जब सल्लेखना करने वाले संयमी के आयुष्य शेष हो तथा शरीर मे योग्य सामर्थ्य विद्यमान हो तब वह अनगार के शास्त्रोक्त बारह प्रतिमायोगों को अंगीकार करता है। उस शक्तिशाली साधु के उन प्रतिमाओं के स्वीकार करने से शरीर व मन मे पीडा नहीं होती है। वह प्रसन्नता पूर्वक अपने शरीर व कषाय को कृश करने के लिए प्रतिमायोग अङ्गीकार करता है। जो साधु अपने बल की तुलना किये बिना प्रतिमायोग धारण करता है उसके योग का भंग होता है और चित्त मे संक्लेश परिणाम उत्पन्न होते हैं।

प्रतिमायोग

प्रतिमायोग का धारण साधारण शक्तिशाली मुनि नहीं कर सकता है। उनका धारण करने वाला मुनि उत्तम सहनन का धारक होना चाहिए। जो धैर्य और शरीर वल से वलिष्ठ होता है तथा आत्मीय शक्ति से सम्पन्न होता है और परिषह पर विजय करने में शूरता रखता है, जो धर्म्यध्यान और शुक्ल ध्यान को परिपूर्ण करने वाला है, जिस देश मे वह स्थित है, वहा पर वडी कठिनता से प्राप्त होने वाले आहार ग्रहण करने का नियम लेता है कि यदि एक मास के भीतर अमुक दुर्लभ आहार मिलेगा तो उसका आहार लूगा उसके अतिरिक्त एक महीने तक अन्य भोजन का त्याग है। इस प्रकार एक मास की प्रतिज्ञा करता है और उस मास के अन्तिम दिन में वह प्रतिमा योग धारण करता है। यह एक प्रतिमा है।

भिक्षु प्रतिमा और उसके ७ भेद

वह सयमी फिर पूर्वोक्त आहार से सौगुने उत्कृष्ट और दुलर्भ भिन्न प्रकार के आहार की दो मास की प्रतिज्ञा लेकर दो मास के अन्तिम दिन मे प्रतिमा योग धारण करता है। वह दूसरी भिक्षुप्रतिमा होती है।

पूर्व कथित आहार से सौगुने उत्कृष्ट और दुर्लभ आहार की तीन माम पयन्त प्रतिज्ञा धारण करता है। यदि तीन माह के भीतर अमुक भोजन मिलेगा तो ग्रहण करूगा, अन्यथा सब भोजन का तीन माहतक त्याग है। उस तीन माह के अन्तिम दिन मे प्रतिमा योग धारण करता है। उसे तीसरी भिक्षु प्रतिमा कहते हैं। इसी प्रकार उत्तरोत्तर सौ सौगुने उत्कृष्ट और दुर्लभ (कठिनता से मिलने वाले) भोजन की प्रतिज्ञा चार पाच छह व सात माह तक की क्रम स अगीकार करता है और चार माह, पाच माह तथा छह माह और सात माह के अन्तिम दिवसों मे प्रतिमा योग स्वीकार करता है,यह क्रमशः चौथी, पाचवी छटी और सातवीं भिक्षु प्रतिमा होती है। तत् तत्सम्बन्धी योग को तत् तत्प्रतिमा योग कहते है। इस प्रकार सात प्रतिमाओ के सम्पन्न होने पर पूर्वोक्त आहार से उत्कृष्ट और दुर्लभ भोजन की सात सात दिन तक की प्रतिज्ञा तीन बार अगीकार करता है। प्रतिज्ञा के अनुसार भोजन की प्राप्ति होने पर यथाक्रम तीने ग्रास, दो ग्रास और एक ग्रास ग्रहण करता है। ये आठवीं, नववीं और दशवीं तीन भिक्षु प्रतिमाए हैं। इसके अनन्तर रात और दिन प्रतिमा योग से खड़ा रहता है, यह ग्यारहवीं और उसके बाद रात्रि मे ध्यान स्थित रहता है, यह बारहवीं–प्रतिमा तत्पश्चात् प्रथम अवधिज्ञान और मन पर्यय ज्ञान प्रादुर्भूत होता है। और पश्चात् सूर्य का उदय होने पर केवल ज्ञान प्रकट होता है। यही कहा है :—

"मासिय दुय दिय चउ पंमास छम्मास सत्तमासीय।
तिण्णे व सत्तराइं राइदिय राइपडिमाओ ॥ १ ॥"

आचाम्ल तप

प्रश्न—सल्लेखना के कारण भूत उक्त जितने तप वर्णन किये गये हैं, उनमे सबसे श्रेष्ठ कौन है ?

उत्तर—शरीर को कृश करने के निमित्त भूत जो तप हैं, वे अनेक हैं, किन्तु उनमे 'आचाम्ल' तप सर्व श्रेष्ठ है।

प्रश्न—आचाम्ल तप की विधि क्या है ?

उत्तर—वेला, तेला, चोला और पचोला तक के उपवास के अनन्तर पारणे के दिन परिमित और शीघ्र पचने वाला काजी का आहार प्राय साधु किया करते हैं। अर्थात् आत्मा मे सक्लेश उत्पन्न न हो इस प्रकार अपनी शक्ति के अनुसार वेला (दो दिन का उपवास), तेला (तीन दिन का उपवास), चोला (चार दिन का उपवास) और अधिक से अधिक पचोला (पाच दिन का उपवास) करे। जिस दिन पारणा करना हो उस दिन परिमित और लघु (शीघ्र पचने वाला) काजी भोजन करे। इसे आचाम्ल भोजन कहते हैं। कहा भी है:—

"समोऽथपष्ठाष्टमकैस्तपोऽधिकैस्ततो विप्रकृष्टैर्दशमैः शमात्मकः।
तथा लघुद्वादशकैश्च सेवते मितमुदाऽऽचाम्लमनाविलोलघुः ॥"

अर्थात्—आचाम्ल तपस्या का इच्छुक सयमी प्रथम दो दिन का उपवास करे और अपने चित्त मे सक्लेश न हो, शान्ति का अनुभव होवे तब तीन दिन का उपवास करे। उतने उपवास से भी आत्मा मे सक्लेश भाव न हो तो चार दिन का उपवास करे। पश्चात् पाच दिन के उपवास की प्रतिज्ञा करे। प्रत्येक पारणे के दिन परिमित और लघु काजी का भोजन करे।

प्रश्न—इतना विवेचन आपने समाधिमरण के समय जो भक्तप्रत्याख्यान के विषय मे किया है उस भक्तप्रत्याख्यान का काल अधिक से अधिक कितना होता है ?

भक्त प्रत्याख्यान का काल

उत्तर—जब आयु बहुत बाकी हो तब भक्तप्रत्याख्यान का काल अधिक से अधिक बारह वर्ष का बताया गया है। अर्थात् आयु के अधिक होते हुए भी किसी ने पहले बतलाये गये समाधिमरण के कारणो मे से किसी कारण के उपस्थित होने पर भक्तप्रत्याख्यान प्रारम्भ कर दिया हो तो उसके भक्तप्रत्याख्यान का काल बारह वर्ष तक हो सकता है, इससे अधिक नहीं।

भक्तप्रत्याख्यान काल की यापन विधि

प्रश्न—भक्तप्रत्याख्यान के उक्त बारह वर्ष के काल को सयमी किस प्रकार बितावे ?

उत्तर—बारह वर्ष के काल मे से प्रथम चार वर्ष सयमी अनेक प्रकार के तपश्चरण मे बितावे। उन चार वर्षों मे अपने परिणामों को उज्ज्वल रखते हुए नाना प्रकार के कायक्लेश तप का आचरण करे। चार वर्षों के बीत जाने पर अगले चार वर्षों मे संयमी दूध दही घृत गुड आदि सम्पूर्ण रसो का त्याग कर रूखा सूखा व स्वल्प भोजन पान स्वीकार करता हुआ अपने शरीर को कृश करता रहे। इस प्रकार करने से उसका शरीर तो कृश होता है, किन्तु परिणामों मे निमलता की वृद्धि होती है। इस तरह आठ वर्ष व्यतीत करता है।

अवशिष्ट चार वर्षों मे से पहले दो वर्षों को आचाम्ल (काजी) भोजन तथा चटनी शाकादि स्वादिष्ट रस व्यजनादि से रहित भोजन से व्यतीत करता है। उन दो वर्षों के अनन्तर एक वर्ष केवल आचाम्ल भोजन से बिताता है। अन्तिम एक वर्ष प्रथम छह मास में मध्यम तपस्या का अनुष्ठान कर शरीर को कृश करता है और अन्तिम छह मास मे उत्कृष्टोत्कृष्ट कायक्लेश तपश्चर्या का आचरण कर शरीर को क्षीण करता है। इस तरह वह सयमी अपनी आयु के अन्तिम बारह वर्षों मे सल्लेखना का आराधन करता है।

प्रश्न—क्या सल्लेखना करने वाले सयमी को अपने आयु के अन्तिम वर्ष उक्त विधि के अनुसार ही बिताने योग्य हैं अथवा और कोई दूसरा भी प्रकार है ?

उत्तर—उक्त विधि से ही तपश्चरण करने का नियम नहीं है, किन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अनुकूलता और प्रतिकूलता से तपश्या का अनुष्ठान तथा आहारादि का ग्रहण व त्याग करना चाहिए। शास्त्रों मे कहा है :—

भत्तं खेत्त कालं धादु च पडुच्च तह तवं कुज्जा।
वादो पित्तो सिंभो व जहा खोभरण उवयंति ॥ २५५ ॥ (भग आ)

अर्थ—भोजन अनेक तरह का होता है। कोई भोजन ऐसा होता है, जिसमे शाक अधिक होती है, किसी मे दूध या दही या घृतादि अधिक मात्रा मे होते हैं। किसी मे जौ चना मूंग मोठ कुलथी आदि धान्य का भाग अधिक होता है। कोई भोजन शाक दाल आदि रहित होता है। इत्यादि अनेक प्रकार के भोजन होते हैं। क्षेत्र भी अनेक प्रकार के होते हैं–कोई अनूप देश होता है (जिस देश मे जल बहुत होता है–जलाशय अधिक होते हैं उसे अनूप देश कहते हैं) कोई देश जांगल होता है (जिसमे वृष्टि कम होती है और नदी आदि नहरो

से कृपि होती है, उसे जागल देश कहते हैं), कोई देश साधारण होता है (जिसमें उक्त दोनों लक्षण पाये जाते हैं, उसे साधारण देश कहते हैं)।

काल के शीतकाल ग्रीष्मकाल और वर्षाकाल ये भेद होते हैं।

अपने शरीर की प्रकृति को धातु कहते हैं। किसी की शरीर-प्रकृति वात प्रधान होती है, किसी की कफ प्रधान और किसी की पित्त प्रधान होती है। अपनी प्रकृति को लक्ष्य में रखकर वात, पित्त और कफ की समता रखते हुए योग्य भोजन का सेवन करना चाहिए। अनूप देश में वात और कफ वर्धक आहार का सेवन करना ठीक नहीं। जागल देश में पित्त प्रकुपित करने वाले आहार का ग्रहण अहितकर है। इसी प्रकार शीतकाल, ग्रीष्मकाल, वर्षाकाल के योग्य भोजन का ग्रहण और इनके अयोग्य भोजन का त्याग करना संयमी का कर्तव्य है।

इस प्रकार द्रव्य (भोजन) क्षेत्र और काल के अनुकूल तपश्चरण और भोजन का ग्रहण करने वाला संयमी अपने भावों की उत्तरोत्तर विशुद्धि करता हुआ सल्लेखना की सिद्धि करने में कृतकार्य होता है।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि यह सब प्रयास तभी सफल है जबकि भावों में उज्ज्वलता वृद्धिगत होती रहे। चाहे सल्लेखना की विधि का किसी भी प्रकार आचरण किया जाय यह अपनी इच्छा पर निर्भर है। परन्तु अपने भावों में मलीनता उदासीनता और संक्लेश न आवे इसी का ध्यान रखना चाहिए। जितनी भी सल्लेखना की विधियां हैं वे परिणामों में उज्ज्वलता उत्पन्न करने के लिए हैं। इसलिए संयमी को उचित है कि वह एक क्षणमात्र भी आत्मा की विशुद्धि का त्याग न करे। आत्मा की विशुद्धि के बिना जितना भी तप किया जाता है वह सब निरर्थक है, क्योंकि उससे आत्मा का हित नहीं होता। जो आत्म-हित के उद्देश्य के बिना तप करता है, उसे चाहे लोक में आदर सम्मान व पूजा प्रतिष्ठा की प्राप्ति हो जाय पर तुष खण्डनवत् है उसकी यह आकांक्षा उसको अधोगति में ले जाने वाली है। भाव रहित कायक्लेश तप से उसको कदाचित् देवगति भी प्राप्त हो जावे तो भी उसका अंतिम परिणाम कुगति है। इसलिए आत्मा का (अपना) हित करने की इच्छा रखने वाले को सांसारिक विषयों की अभिलाषाओं के लात मार कर कर्मों की निर्जरा और आत्म-गुणों को प्रकाशमान करने के लिए तपस्या करना चाहिए, क्योंकि कर्मों के क्षय होने से आत्म-सुख की प्राप्ति अवश्य होती है। वृक्ष के मूल में जल-सिंचन करने वाला मनुष्य वृक्ष के हरे भरे पत्तों की शीतल छाया और उसके पुष्पों की मकरन्द का अनुभव करता हुआ उसके मृदु, स्निग्ध और दिव्य फलों का अनुभव करता है। वैसे ही कर्मों की सवर पूर्ण निर्जरा करने वाला मोक्षमार्ग का पथिक महात्मा आनुषंगिक रूप से प्राप्त होने वाले नर लोक और देवलोक के सुखों का अनुभव करता हुआ शाश्वत दिव्य अनुपम सुखों को प्राप्त होता है।

कपाय से बचने के उपाय

उक्त प्रकार काय को कृश करने का उपाय दिखाकर अब कपाय को कृश करने के उपायों का वर्णन करते हैं। साधक को विचार करना चाहिए कि काय को कृश करना तभी कार्यकारी होता है, जबकि काय के साथ कपाय भी कृश हो जावे। क्योंकि कपाय को कृश (भेद) किये बिना केवल काय को कृश करना निष्फल है। ऐसी निष्फलता तिर्यंचादि गति मे अनेक बार इस जीव ने की है। उससे क्या लाभ हुआ? अत क्रोधादि कपायो को उपशम करने का भरसक प्रयत्न करना ही आवश्यक है, क्योकि सब दु.खों की जनक कपाय ही हैं। ससार मे जीव का शत्रु अन्य कोई नहीं, यह क्रोधादि कपाय ही सबके शत्रु हैं।

अत· क्रोधाग्नि को क्षमा जल से शान्त करो। मान रूपी पर्वत का मार्दव (विनय) रूपी वज्र से पतन करो। माया की कठोर ग्रन्थि (गाठ का आर्जव (सरलता) रूपी सूचिका (सूई) से भेदन करो। लोभ-समुद्र के प्रवाह को सतोप-सूर्य की प्रखर किरणों से सुखा दो।

प्रज्वलित हुई कपाय रूप अग्नि जीवन का सार तत्त्व जो चारित्र है, उसे क्षण भर मे भस्म कर देती है। इतना ही नहीं, वृद्धि को प्राप्त हुई यह कपाय-अग्नि, दुर्लभ सम्यक्त्व-पीयूष को भी सुखा कर आत्मा को अनन्त ससारी बना देती है। इसलिए इस कपाय को हृदय मे थोडा सा भी स्थान नहीं देना चाहिए। क्योकि थोडी सी कपाय अग्नि प्रतिकूल वचन का सयोग रूपी ईंधन और असहनशीलता रूपी अनुकूल वायु का ससर्ग पाकर उग्ररूप धारण करलेती है, इसलिए कपाय को उत्तेजित करने वाले वाह्य सयोगो से भी सदा दूर रहना चाहिए। यदि कपाय को उत्तेजना देने वाले वाह्य निमित्त प्राप्त होजावें तो इनसे बचने की चेष्टा करना ही श्रेयस्कर है।

जिस समय क्रोधादि कपायाग्नि अन्त करण मे प्रादुर्भूत हो उसी समय 'हे भगवन् मैं आपकी शिक्षा को शिरोधार्य करता हूँ, मेरा यह (कपाय जन्य) पातक मिथ्या (निष्फल) हो, मैं आपको नमस्कार करता हूँ,' इत्यादि वचन रूप जल से उसको शान्त करने की आवश्यकता है। इस कपाय रूप भयानक विपधर के विप को दूर करने का यह गारुडी मन्त्र है। जिस आत्मा मे इस गारुडी मन्त्र का सद्भाव रहता है, उस आत्मा पर कपाय रूपी विप का कुछ भी असर नहीं होता है। अत. जहा तक बन सके कपाय के उत्पादक कारणों के सम्पर्क से दूर रहना चाहिए। यदि उनका सयोग बलात्कार से उपस्थित हो जावे तो क्षमा, मार्दव, आर्जव और सतोप आदि से उनका शमन करना उचित है।

ऊपर लिखे कपाय रोग नाशक नुस्खे (प्रयोग) के सेवन करने वाले को निम्नोक्त अपथ्य से सर्वथा बचना चाहिये।

हास्य, रति, अरति, शोक, भयादि नव नोकपय और चार सज्ञाएँ (आहार,भय, मैथुन और परिग्रह की वाछा) हैं। इनसे सदा

दूर रहना चाहिए। क्योंकि हास्य (अट्टहास, हंसी, मजाक,) क्रोधादि के विकार को उत्तेजित करता है। रति (विषय प्रेम) और अरति (सत्कार्यों से चित्त की उद्विग्नता) तथा शोक, भय, ग्लानि, और कामक्रीडा के भाव रागद्वेष के जनक हैं। तथा आहारादि संज्ञा भी आत्मा में लोभादि कषायों को अंकुरित करती हैं।

इनके अतिरिक्त ऋद्धि, रस और सात इन तीन गारवों का भी त्याग करना आवश्यक है। ऋद्धि में तीव्र अभिलाषा ऋद्धि गारव, रसों में तीव्र अभिलाषा रस गारव और सुख की तीव्र अभिलाषा सात गारव है। इनसे भी क्रोधमानादि कषाय रूप विकार उत्पन्न होते हैं। साधुओं को कषाय की शान्ति के लिए इनका भी त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है।

कषाय को कृश करने में तत्पर हुए संयमी को अशुभ लेश्याओं का भी परित्याग करना चाहिए। कृष्ण, नील और कापोत ये तीन अशुभ लेश्यायें हैं। जिस आत्मा में यह उत्पन्न होती हैं, उसके चारित्र का विघात कर उसे चारित्रहीन असंयमी बना देती हैं। उनके द्वारा तीव्र अशुभ कर्मों का बन्ध होता है, अतः उनका आत्मा से समूल उच्छेद कर देना चाहिए।

इस प्रकार जिस संयमी ने बाह्य सल्लेखना (शरीर को कृश करना) और आभ्यन्तर सल्लेखना (कषाय को कृश करना) इन दोनों सल्लेखनाओं की सिद्धि के लिए पूर्वोक्त बाह्य तप आदि का आचरण किया है, संसार का त्याग करने में जिसने अपनी बुद्धि को लगाया है, वह संयमी सम्पूर्ण तपों में उत्कृष्ट तप जो धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान हैं, उनकी प्राप्ति करने में तत्पर रहता है। अर्थात् ऊपर की सब क्रियाओं का पालन धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान की सिद्धि के लिए ही किया जाता है। क्योंकि उक्त क्रियाएं साधन हैं और धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान साध्य हैं। इस प्रकार सल्लेखना का निरूपण किया।

सल्लेखना के आराधक के आराधक आचार्य का कर्त्तव्य

सल्लेखना के आराधक (यदि वह स्वय आचार्य है तो) का क्या कर्तव्य होता है, उसका प्रतिपादन करते हैं।

सल्लेखना करने में उद्युक्त हुए आचार्य को गण की हित कामना का पूर्ण ध्यान रखना पड़ता है। अपना आत्म-हित करने के लिए सल्लेखना का आराधन जैसा मुख्य कृत्य है, वैसा ही आगे के लिए संघ का सुप्रबन्ध करना भी उनका प्रधान कर्तव्य होता है। धर्मतीर्थ का विच्छेद न हो, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की अविच्छिन्न परिपाटी चलती रहे, इसके लिए वह आचार्य अपनी आयु का विचार कर अपने शिष्य समूह को तथा अपने स्थान में जिन बालाचार्य को स्थापित किया था, उन्हें बुलाकर सौम्य तिथि, करण, नक्षत्र और शुभ लग्न मुहूर्त देखकर शुभ प्रदेश में संघ का संबंधा त्याग करते हैं। तथा अपने समान आचार्य गुण से भूषित, सम्पूर्ण संघ की रक्षा शिक्षादि

कार्य-सञ्चालन करने मे समर्थ बालाचार्य को अपना भार सौंपते हैं। उस समय उनको परिमित शब्दो मे छोटा सा उपदेश देते हैं। उसके बाद वह बालाचार्य सम्पूर्ण सङ्घ का आचार्य माना जाता है। उस समय वे पूर्वाचार्य उस बालाचार्य के सामने अपने समस्त सङ्घ को भी सूचित करते हैं –हे मोक्षमार्ग के यात्रियो,तुम्हारा सम्यग्दर्शन,ज्ञान और चारित्र रूप रत्नत्रय निर्विघ्न चल रहा है उसपर सतत आगे बढते रहो, अत. तुम्हारे मार्ग मे विघ्न बाधाओंको दूर करने के लिए, इस रत्नत्रय धर्म की परिपाटी अविच्छिन्न चलती रहे इसके निमित्त इस बालाचार्य को सार्थवाह–सघपति–आचार्य नियत करता हूँ। आज से यह तुम्हारा आचार्य है। इसकी आज्ञा के अनुकूल चलना तुम्हारा परम कर्त्तव्य है। इसप्रकार समस्त सघ के समक्ष बालाचार्य को आचार्य पद पर नियुक्त करते हैं और आप सम्पूर्ण सङ्घ से अपना सम्बन्ध विच्छेद करते हैं।

तदनन्तर सम्पूर्ण सङ्घ और उस नवीन आचार्य तथा बालमुनि से लेकर वृद्ध मुनि पर्यन्त सम्पूर्ण साधुओं से मन वचन काय द्वारा क्षमा मांगते हैं। मेरा तुम्हारे साथ दीर्घकाल तक सहवास हुआ है, मैंने तुम्हारी इच्छा के अनुकूल प्रतिकूल हितकामना से जो शासन किया उसमे तुम्हारे चित्त को दु खित किया हो तो उस अपराध को अब क्षमा करो। इस तरह पूर्वाचार्य के क्षमा याचना करने के पश्चात् सम्पूर्ण सङ्घ के साधु व नवीन आचार्य, ससार के दु खो से रक्षण करने वाले, सबपर प्रेमामृत की वर्षा करने वाले, उत्तम क्षमादि दश धर्मों का तथा रत्नत्रय धर्म का स्वय पालन करने वाले और समस्त सङ्घ को पालन कराने वाले अपने पूर्वाचार्य की प्रथम बन्दना करते हैं पश्चात् पञ्चागो द्वारा मन वचन और काय से नमस्कार करते हैं। और मन वचन काय से पूर्वाचार्य को क्षमा प्रदान करते हैं तथा आप भी अपने पूर्व कृत अपराधों की क्षमा याचना करते हैं।

शिष्य समूह आचार्य के लिए परिग्रह स्वरूप है

जिस प्रकार स्त्री पुत्रादि परिग्रह हैं, वैसे ही सल्लेखना के आराधक आचार्य के शिष्य समूह भी उनके लिए परिग्रह है। जब तक उनका त्याग नहीं किया जाता है, आत्मा पर उनकी रक्षा शिक्षादि के प्रबन्ध का बोझ बना पर रहता है। अतः सब जीवादि तत्त्वों के रहस्य के वेत्ता, तथा प्रायश्चित्तादि शास्त्रो के अनुभवी आचार्य अपनी आत्मा के कल्याण करने मे तत्पर हुए पूर्वाचार्य, उस भार को उतार कर अपनी आत्मा को तत्सम्बन्धी रागद्वेषसे मुक्त कर परम आनन्द का अनुभव करते हैं और योग्य प्रायश्चित लेकर अपनी आत्मा को शुद्ध बनाने मे प्रवृत होते हैं। कारण कि आचार्य को सङ्घ के शिष्यों के हित के लिए अनेक प्रकार से शासन करना पडता है, उनको कटु कठोर किन्तु परिणाम मे हितकारी वचन भी कहने पड़ते हैं इत्यादि बातों से आचार्य को जो दोष उत्पन्न होता है, उसकी निवृत्ति करने के लिए वे उचित प्रायश्चित का भी आचरण करते हैं।

सङ्घ का परित्याग करते समय आचार्य का उपदेश

गच्छ (सङ्घ) का परित्याग करते समय आचार्य सङ्घ को जो उपदेश देते हैं वह निम्न प्रकार है :—

हे कल्याण के इच्छुक मुनीश्वरो। तुमने शान्ति सुख की प्राप्ति के लिए धन, धान्य गृह, पुत्र, कलत्रादि का परित्याग कर जिनेन्द्र सदृश जगत्पूज्य मुनिपद धारण किया है। इसकी शोभा रत्नत्रय रूप भूषण से है। अतः इसकी उत्तरोत्तर निर्मलता प्राप्त करना तुम्हारा मुख्य कर्त्तव्य है। दर्शनाराधना, ज्ञानाराधना और चारित्राराधना को उन्नत बनाने वाली प्रवृत्ति करने मे तुम्हारा सच्चा हित है।

हे सङ्घ नायक! महानदी जहा से निकलती है, वहा पर तो अल्पविस्तारवाली होती है, किन्तु आगे बढते ही विस्तृत होती हुई महान् रूप धारण कर समुद्र मे मिलती है। वैसे ही तुम भी प्रारम्भ मे गुण व शील को अल्प प्रमाण मे धारण कर उत्तरोत्तर क्रमशः वृद्धि करते हुए गुण और शीलों को विशाल रूप देने का पूर्ण प्रयत्न करो–इसी मे तुम्हारा कल्याण है।

तुम मार्जार के शब्द के समान चारित्र तप को मत आचरण करो। जैसे मार्जार (बिल्ली) का शब्द प्रारम्भ मे महान् और पश्चात् मद होता जाता है, वैसे ही प्रारम्भ मे अति दुर्धर चारित्र और तप की भावना (अनुष्ठान) मे प्रवृत्त होकर पश्चात् उसमे क्रमशः मन्दता (क्षीण पना) धारण करना तुम्हे उचित नहीं है। यदि तुमने ऐसा किया तो तुम अपना और सङ्घ का विनाश करोगे। क्योंकि जो आलसी अग्नि से जलते हुए अपने घर को भी नहीं बुझा सकता, वह दूसरे के घर की रक्षा करने मे कैसे समर्थ हो सकता है? तुमको चारित्र और तप से गिरते हुए देखकर दूसरे उत्कृष्ट तपस्वी और दृढ सयमी भी शिथिल होने लगेंगे। अतः हे गणाधिप! द्रव्य क्षेत्र कालादि को ध्यान मे रखते हुए तुम क्रमशः चारित्र और तपश्चरण को वृद्धि की ओर ले जाओ। हे सङ्घ की उन्नति के इच्छुक! तुम ज्ञान, दर्शन और चारित्र मे अतिचार मत आने दो। अतिचारो का स्वरूप निम्नोक्त प्रकार है।

ज्ञान के ८ अतिचार

अस्वाध्याय के काल मे गणधरादि कथित सूत्र (आगम) का स्वाध्याय करना, क्षेत्र शुद्धि, द्रव्य शुद्धि और भाव शुद्धि के बिना स्वाध्याय करना, अपने गुरु के नाम को छिपाना, आगम के मूल पाठ मे तथा उसके अर्थ में अथवा दोनो मे अशुद्धि करना, अर्थात् अशुद्ध पाठ उच्चारण करना तथा आगम के यथोचित्त अर्थ का प्रकाशन कर उसे हीनाधिक या विपरीत अर्थ समझना या दूसरो को समझाना, आगम का आगम के वेत्ताओं का बहुमान न करना–आदर सत्कार न करना–ये ज्ञान के आठ अतिचार हैं।

दर्शन के ५ अतिचार

शङ्का, काङ्क्षा, विचिकित्सा अन्य-दृष्टि प्रशंसा और संस्तवन ये पाच सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं। इनका विवेचन दर्शनविनय मे हो चुका है।

चारित्र के अतिचार

समिति का व भावनाओ का अभाव होना आदि चारित्र के अतिचार हैं। चारित्र के अतिचारो का वर्णन चारित्राचार के विवेचन के अवसर पर कर आये हैं, उन सब अतिचारो का तुम त्याग करो। देखो, स्वपक्षीय जैन धर्म पर आरूढ मुनिगण से तथा परपक्षीय इतर धर्मानुयायी प्राणियों से कदापि वैर विरोध मत करो। अन्त:करण की शान्ति का भङ्ग करने वाले वाद-विवाद का भी परित्याग करो। क्योंकि वाद-विवाद मे प्रवृत्त हुआ पुरुष अपने जय के उपायो और पर के पराजय के उपायो को ही ढूढता है, किन्तु वस्तु के तथ्य स्वरूप को प्रकट कर समाधान करना नहीं चाहता है। इससे क्रोधादि कषायों की जागृति होती है, जो कि आत्मा का परम शत्रु है। अतः इनसे सदा बचना चाहिए। हा, तत्त्वजिज्ञासा से कोई प्रश्न करे तो शान्ति से उसका समाधान करना आवश्यक है।

आचार्य के लिए ध्यान देने योग्य विषय

हे गणधर! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र मे जो अपने को और गण-सङ्घ को स्थापित करे, रत्नत्रय को आप धारण करे और गण को धारण करावे वह गणधर कहलाता है। जो इसके अनुकूल प्रवृत्ति न करे वह गणधर पद के योग्य नहीं माना गया है। अत: तुम अपने कर्त्तव्य पर आरूढ रहो। बहुत मुनिगण मेरे अधीन हैं, इसलिए मैं गणधर (आचार्य) हूँ, ऐसा अभिमान तुम्हारे हृदय मे कभी नहीं होना चाहिए। किन्तु तुम्हें यह विचार निरन्तर करते रहना चाहिये 'कि मुझे सङ्घ की सेवा का सौभाग्य मिला है, अतः मैं इस सेवा के कर्त्तव्य का पूर्ण रूप से पालन करू।' कर्त्तव्य पालन मे तुम्हारा थोडा सा प्रमाद अनेक पवित्रात्माओं की महती हानि का कारण होगा, इसलिए तुमको प्रतिक्षण सावधान रहना चाहिए।

जो साधु आहार, पिच्छी, कमडलु और वसतिका का शोधन न कर ग्रहण करता है, वह मूलस्थान को प्राप्त होता है अर्थात् वह मुनिपद से पतित हो जाता है उसको पुन मुनि दीक्षा लेनी पडती है। लेकिन जो साधु उद्गम, उत्पादन, एषणादि दोषों से रहित आहार, पिच्छी, कमडलु और वसतिका को चारित्र की रक्षा के लिए स्वीकार करता है वह उत्तम चारित्र का धारक माना जाता है।

ज्ञानाचारादि पञ्चाचार मे स्थिर रहने वाले तथा उनका निरतिचार स्वय पालन करने वाले और अन्य मुनियो को पालन कराने वाले आचार्यों की जिनागम मे उक्त मर्यादा वर्णन की गई है। परन्तु जो लोकानुवर्त्ती तथा सुखेच्छु हैं, उनका आचारण आगम-मर्यादा का उल्लघन करने वाला होता है। आगम मे असयमी जनो के साथ सम्पर्क रखने, मिष्ट तथा रसीले भोजन करने, कोमल शय्या में शयनासन करने, सब ऋतुओ मे रमणी स्थानों मे निवास करने आदि मे आसक्त रहने वाले साधुओं की यथेच्छप्रवृत्ति का निषेध किया है। उनमे रत

रहने वाले मुनि आचार्य पद के सर्वथा अयोग्य हैं। वे अपने मुनि पद को दूषित करते हैं।

हे आचार्य। जो साधु आगम निषिद्ध उद्गमादि दोषों से दूषित आहार वसतिकादि का उपभोग करता है, उसके इन्द्रिय संयम व प्राणी संयम नष्ट हो जाता है। वह दुर्बुद्धि साधु मूलस्थान को प्राप्त होता है। वह केवल नग्न द्रव्यलिंगी है। वह वास्तविक मुनि नहीं है तो फिर वह आचार्य कैसे हो सकता है?

जो साधु कुल, ग्राम, नगर और राज्य से अपना सम्बन्ध त्याग चुका है और फिर भी इनसे ममत्व रखता है—यह मेरा कुल है, यह मेरा ग्राम, नगर और राज्य है, इस प्रकार का सङ्कल्प करता है—वह संयम से शून्य नग्न पुरुष मात्र है। क्योंकि जिस पदार्थ में जो ममत्व रखता है, वह उसके संयोग में हर्षित और वियोग में दुःखित होता है, अतः जो रागद्वेष और लोभ में तत्पर रहता है वह असंयमी होता है ऐसा ध्रुव सत्य मानना चाहिए।

हे मुनिनायक! किसी साधु के अपराधों को किसी दूसरे पर प्रकट मत करना। उसने अपने संयम जीवन की बागडोर तुम्हें सौंप रखी है, अतः वह तुम पर विश्वास रखकर अपने गुप्त से गुप्त दोषों को प्रकाशित कर देता है। तुम्हारा परम कर्त्तव्य है कि तुम उनको कभी प्रकाशित न करो। तुम सब कार्यों में सबके प्रति समदर्शी रहो तथा बाल मुनि से लेकर वृद्ध मुनि तक समस्त सङ्घस्थित मुनियों का अपने नेत्र के बाल के समान संरक्षण करो।

हे सङ्घाधिपते। जिस देश में कोई राजा न हो, अथवा राज विप्लव हो रहा हो या दुष्ट राजा का शासन हो, वहां पर कदापि मत रहो। जहां पर धर्मपरायण श्रावक जन न हों या तुम्हारे संयम का विघात होता हो, उस देश में विहार मत करो। इस प्रकार संक्षेप से तुम्हें शिक्षा दी गई है। अतः अपना तथा सङ्घ का योग क्षेम साधन करते हुए, धार्मिक जनता को धर्म में स्थिर करना और धर्म के पात्र सरल चित्त मनुष्यों को धर्म पर लगाना अपना कर्त्तव्य समझो। आर्य प्रदेश में आगमोक्त विधि का पालन करते हुए इस प्रकार निरन्तर विहार करना ही मङ्गलकारी है।

हे मुनियो। तुमने मुनि पद को धारण किया है। उसके आवश्यक कर्त्तव्यों का पालन और सामायिकादि षडावश्यक क्रियाओं का पालन करना तुम्हारा आवश्यक कर्त्तव्य है। क्योंकि ये आवश्यक क्रियाएं तप और संयम की आधारभूत होती हैं। जब मुनि सामायिकादि आवश्यक क्रियाओं में तत्पर रहता है, उस समय उसके इन्द्रिय संयम और प्राणी-संयम दोनों संयमों का पालन होता है और असंयम का परिहार होता है। तथा सम्पूर्ण सावद्य क्रियाओं से निवृत्त होने के कारण कर्मों का संवर और आत्मीय कार्यों में लवलीन रहने से कर्मों की निर्जरा होती है, इसलिए तप की भी सिद्धि होती है क्योंकि जो कर्मों को तपता है, नष्ट करता है, उसे तप कहते हैं। ऐसे तप का

स्वरूप आवश्यक क्रियाओं में पाया जाता है। 'तपसा निर्जरा च' तपस्या से कर्मों का संवर और निर्जरा होती है। यह तप का कार्य आवश्यक क्रियाओं के सद्भाव मे पाया जाता है, अत. आवश्यक क्रियाओं के पालन करने में कभी प्रमाद मत करो।

देखो! यह मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ है, किन्तु विनाश के उन्मुख है और निस्सार है। तुमने मनुष्य जन्म को सफल बनाने के लिए अति दुर्लभ जिन दीक्षा ग्रहण की है, यह बड़े पुण्य के उदय से सुन्दर अनुपम अवसर मिला है। जिन दीक्षा धारण करना संसार में अपूर्व दिव्य लाभ है, अत. इसको सार्थक बनाने के लिए आवश्यक क्रियाओं मे सदा सावधान रहो।

हे महात्माओ! जिस समय तुम आवश्यक क्रियाओं से निवृत्त होकर अवकाश पाओ, उस समय तुमको अपने संयम चारित्र की रक्षार्थ गोचरी के लिए श्रावकों के गृहों में चर्या करनी पड़े, धर्म के पिपासुओं को धर्मोपदेश देना, अथवा उनके साथ धर्म सम्बन्धी वार्त्तालाप करना पड़े उस समय तुमको ईर्या भाषा एषणा आदि पाच समितियों का पालन करना आवश्यक है। ऋद्धि में रसों, मे और सुख मे तीव्र अनुराग व अभिलाषा नहीं रखना चाहिए। तीन गुप्ति का पालन करने में निरन्तर दत्तचित्त रहना चाहिए। जिनाज्ञा के विरुद्ध अपनी बुद्धि का उपयोग कदापि न करना चाहिए।

हे आत्मा का साधन करने वाले साधुओ! आहारादि चार सज्ञाओं और चार कषायों तथा आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का परिहार करो। ये आत्मा को गिराने वाले हैं। सयम और तप के विराधक हैं। इनमें से किसी एक के वशीभूत हुआ आत्मा सयम व चारित्र को खो देता है। तथा पाचो इन्द्रियों की दुष्ट प्रवृत्ति को रोको। ये लुटेरे के समान तुम्हारे सयम व व्रत को लूटने वाले हैं, अतः इनको जीतो अर्थात् अपने अधीन रखो। वे पुरुष पुंगव धन्य हैं, जो शब्दरसादि इन्द्रियों के विषयों से व्याप्त इस लोक मे आसक्ति रहित हैं। स्पर्शादि विषय जिनके अन्त.करण को आकुलित नहीं कर सकते हैं, वे ही सच्चे आत्म-गवेषी हैं। ज्ञान और चारित्र में तल्लीन रहने वाले ऐसे ही महात्मा सङ्घ के आदर के पात्र होते हैं।

हे साधुओ! जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र मे बड़े हैं, वे गुरु कहलाते हैं। अत. आचार्य, उपाध्याय और साधु ये गुरु हैं। आप लोग उनकी सेवा शुश्रूषा करो। सेवा शुश्रूषा करके लाभ, कीर्ति और आदर-सत्कार की इच्छा मत रखो। केवल गुणोंमें भक्ति श्रद्धा रखकर सेवा शुश्रूषा करो। जो जिसकी भक्ति करता है, उसके गुणों का प्रभाव भक्त श्रद्धालु की आत्मा पर अवश्य अकित होता है। वह भक्त भी कुछ समय के अनन्तर वैसा ही गुणी हो जाता है। तथा गुरुओं की शुश्रूषा करने से उनके रत्नत्रय के प्रति अनुमोदना होती है। और अनुमोदना से विना परिश्रम के पुण्य की उत्पत्ति होती है, जिससे सब सुयोग्य साधनों की प्राप्ति हो जाती है।

हे मुनियो! यद्यपि तुम्हारा कर्त्तव्य आवश्यक क्रियाओं का आचरण, स्वाध्याय, ध्यानादि हैं, अर्हन्त और सिद्ध की प्रतिमा का दर्शन तुम्हारे लिए आवश्यक नहीं है, जैसा कि गृहस्थ (श्रावक) को आवश्यक है, किन्तु उनका सुयोग मिलने पर प्रत्यक्ष मे अथवा परोक्ष मे कृत्रिम और अकृत्रिम अर्हन्त व सिद्ध-प्रतिमा की भक्ति अवश्य करनी चाहिए। जैसे मित्र तथा शत्रु का चित्र या मूर्ति आत्मा म शीघ्र रागद्वेप भावना को जन्म देती है, और जैसे मित्र या शत्रु का चित्र या मूर्ति ने तो तुम्हारा उस समय कोई उपकार या अपकार नहीं किया है, तो भी उनका गुण स्मरण हो जाने से प्रेम व वैरभाव उदित हो आता है, वैसे ही अर्हन्त और सिद्ध की प्रतिमा के दर्शन व भक्ति करने स, उनके गुणो का स्मरण होने पर आत्मा क वीतराग भाव की उत्पत्ति या पुष्टि होती है, रत्नत्रय के पालने मे तत्परता होती है। उनकी भक्ति सवर और पूर्व बन्धे हुए कर्मों की अपूर्व निर्जरा को करने वाली है। इसलिए चैत्यभक्ति अत्यन्त उपयोगी है, उसको नित्य करो।

आचार्यों के लिए आवश्यक विनय और उसके भेद

दर्शन ज्ञान चारित्र तप का और उनके पालक साधु महात्माओ का विनय करो। 'विलय नयति कर्ममलमिति विनय.' जो कर्म मल का नाशक है, उसे विनय कहते हैं।

दर्शनविनय—शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा आदि आठ मलदोप, देव मूढतादि तीन मुढता, छह अनायतन और आठ मद इन पच्चीस दोषों का परित्याग कर सम्यग्दर्शन को निर्मल करो। इन पच्चीस दोपो मे से जिस शङ्कादि दोप की उत्पत्ति की सम्भावना तुम्हारी आत्मा मे हो, उसको दूर करो इससे तुम्हारा सम्यग्दर्शन अत्यन्त निर्मल होकर तुम्हें मोक्ष के अतिनिकट पहुचावेगा।

ज्ञानविनय—आगम मे सूत्रों के वाचनादि का जो काल कहा गया, उसका विवेचन ज्ञानविनयाचार के प्रकरण मे कर आये हैं, उसके अनुसार योग्य काल मे स्वाध्याय करो। श्रुत का अध्ययन कराने वाले गुरु का नाम मत छिपाओ, उनकी भक्ति करो। कुछ तपस्या ग्रहण कर श्रुत का आदर पूर्वक अध्ययन करो। श्रुतज्ञान का शब्दशुद्धि, अर्थशुद्धि और उभयशुद्धि के साथ अध्ययन करो। इस तरह विनय पूर्वक अध्ययन किया गया श्रुतज्ञान कर्मों का सवर और निर्जरा करता है। किन्तु विनय रहित अध्ययन किया गया श्रुतज्ञान ज्ञानावरण कर्म का बन्ध करता है।

चारित्रविनय—अनन्त काल से जीव का इन्द्रियों के प्रिय व अप्रिय स्पर्शादि विपयों में रागद्वेप करने का अभ्यास हो रहा है। क्रोधादि कपायों का भी सब जीवों के उदय है, बाह्य निमित्त को पाकर वे प्रकट आ जाती है, उनके उदय से चारित्र का घात होता है। मन वचन और काय की अशुभ प्रवृत्ति से तथा रागद्वेप के आविर्भाव से कर्म आते हैं और चिपटते हैं। पृथ्वी जल, अग्नि, वायु और वनस्पति

कायिक ये पाच स्थावर जीव और द्वीन्द्रियादि त्रसजीव इन छह काय के जीवों को बाधा पहुचाने वाला गमनागमन करना, मिथ्यात्व या असयम मे प्रवृति करने वाले वचन बोलना, साक्षात् या परम्परा जीवों की पीड़ा पहुचाने वाले भोजन का ग्रहण करना, किसी वस्तु को विना देखे और विना पिच्छी स पोंछे भूमि पर धरना या उठाना, भूमि को विना देखे मल मूत्रादि क्रिया करना, ये सव क्रियाएँ पाप जनक हैं, इनका त्याग करने से चारित्र विनय होता है। ऊपर कही गई अशुभ क्रियाओ के त्याग के बिना चारित्र नहीं होता है। उक्त क्रियाए आरम्भ-जनक है। और आरम्भ करने वाले के चारित्र का अभाव होता है। इसलिए यत्नपूर्वक उन सव क्रियाओं का त्याग करके अपने चारित्र को उज्ज्वल बनाओ।

तपोविनय—अनशन (उपवास), अवमौदर्य (ऊनोदर)आदि तप के करने से उत्पन्न शारीरिक व मानसिक कष्ट को सहन कर लेना तपोविनय है। यदि तप के द्वारा आत्मा में सक्लेश भाव उत्पन्न हों तो उससे महान कर्म वन्ध होता है और अल्प निर्जरा होती है। इसलिए उतनी ही तपस्या करना योग्य है, जिससे तपश्चरण का उत्साह वृद्धिगत होता रहे।

उपचार विनय—गुरु आदि पूज्य पुरुषों का प्रत्यक्ष व परोक्ष आदर सत्कार, नमन, वदनादि करना उपचार विनय है। जो गुरु आदि का यथायोग्य विनय करता है, उसकी सव प्रशसा करते हैं और उसको उत्तम समझकर बुद्धिमान पूजते हैं और जो विनय नहीं करते हैं उसकी सव लोग निन्दा व अवहेलना करते हैं। जो साधु अपने गुरु आदि पूज्य पुरुषों की मन वचन काय से विनय नहीं करता है अर्थात् जो गुरु आदि की मन से अवज्ञा करता है, उनके आसन से उठने पर या बाहर से आने पर नहीं उठता है, जाते हुए के पीछे कुछ दूर तक नहीं जाता है, उनको हाथ जोडकर नमस्कार नहीं करता है, उनकी स्तुति नहीं करता है, उनसे आज्ञा नहीं लेता है, उनके सामने आसन पर बैठा रहता है, आते हुए सम्मुख नहीं जाता है, उनके आगे आगे चलता है, उनकी निन्दा करता है, कठोर वचन कहता है, गाली आदि अपमान जनक वचन बोलता है, वह साधु नीच गोत्र कर्म का बन्ध करता है। उसके फलस्वरूप वह ससार मे निन्दनीय कुल मे जन्म लेता है। अथवा कूकर शूकरादि योनि मे उत्पन्न होता है। अविनीत शिष्य को गुरु से रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती है। विनीत शिष्य को गुरु प्रेम से शिक्षा देते हैं, उसका सम्मान करते हैं, इसलिए तुमको विनय मे तत्पर रहना चाहिए। अविनय मे महान् दोष हैं और विनय मे महान् गुण हैं, ऐसा समझकर विनय मे तत्परता धारण करो। और नित्य स्वाध्याय मे अर्थात् जीवादि तत्त्वों के मनन मे उनके प्ररूपक शास्त्रो के अध्ययन मे लवलीन रहो। निद्रा, हास्य, क्रीडा आलस्य और लौकिक वार्तालाप का त्याग करो। शास्त्र मे कहा है —

"णिद्दं ण वहु मण्णेज्ज हासं खेडं विवज्जए।
जोग्गं समणधम्मस्स जुंजे अणलसो सदा ॥ १ ॥"

अर्थ—निद्रा को बहुमान मत दो अर्थात् अल्प निद्रा लो, कारण कि निद्रा आत्मा को चेतना (उपयोग) हीन अज्ञानमय बना देती है, और शुभ क्रियाओ से वंचित कर प्रमादी करती है। उतनी नींद लो, जिससे दिन भर का स्वाध्यायादि से जन्य श्रम दूर हो जाये। हसी मखोल मत करो। पूज्य पुरुषों (साधुओ) को असयमी जन के समान हसना शोभा नहीं देता है। किसी प्रकार की क्रीडा न करो। अर्थात् बालक के समान व्यर्थ के कामो मे मन को मत बहलाओ। तुम्हे तो आगम मे ही क्रीडा करनी चाहिए। तुम आलस्यहीन होकर मुनि-धर्म के योग्य कार्यों मे अपने चित् को लगाते रहो।

हे धर्म धुरन्धरो! तुम धर्म के प्रवर्त्तक हो, अत क्षुधा पिपासा आदि परीषह के प्राप्त होने पर तथा अशिष्ट ग्रामीण पुरुषों के अनुचित भाषण से या दुर्जनो के कटु कठोर गाली आदि सुनकर आत्मा मे ग्लानि उत्पन्न कर धर्म का कदापि त्याग न कर देना। कभी २ दुर्जन व क्रूर प्राणी ऐसे मर्मभेदी दुर्वचनों का प्रहार करते है, जिनका सहन करना अति कठिन हो जाता है; परन्तु वस्तुस्वरूप का चिन्तन कर मनको समझाना चाहिये।

हे मुनिवृन्द ! देखो, जो देवेन्द्रों से पूजनीय हैं, चार ज्ञान के धारक हैं, जिनको उसी पर्याय मे मोक्ष की प्राप्ति का पूर्ण निश्चय है, ऐसे तीर्थंकर भी अपने बल वीर्य को न छिपाकर तप मे पूर्ण उद्योग करते हैं, छह २ मास तक के उपवास और आतपन योगादि कायक्लेश तप के करने मे सदा तत्पर रहते हैं, तो अन्य साधुओं का क्या कहना ? उनको तो अपने महान् कर्मों का क्षय करना है। अतः उनको तो इसमे अधिक तत्पर रहना चाहिए।

हे आत्म-हित-चिन्तको ! तुम्हारी आयु, शरीर, बल और आरोग्य का विनाश न जाने कब हो जावेगा। इसका काल नियत तो है नहीं। क्योंकि मृत्यु दावानल के समान है, न जाने किस समय इस जगत् रूपी वन को भस्म करदे। हमको इसका ज्ञान नहीं कि मृत्यु कब आयगी ? काल की गति अति तीव्र है, एक क्षण भर मे इस शरीर का विध्वस कर सकती है। जब तक काल का आगमन नहीं हुआ तब तक इस शरीर से तपस्या करलो। काल के निवास करने का कोई क्षेत्र नियत नहीं है। जैसे गाड़ी रथादि भूतल पर ही गमन कर सकते हैं, सूर्य चन्द्र ग्रहादि आकाश मे ही भ्रमण करते हैं, मगर मच्छादि जल में ही गति करते हैं, वैसे मृत्यु के गमन प्रदेश निश्चित नहीं है। वह तो जल, स्थल और आकाश सर्वत्र अप्रतिहत गति है। ऐसे स्थान भी हैं, जहा अग्नि चन्द्र व सूर्य की किरण, शीत उष्ण वात और बर्फ का प्रवेश नहीं हो सकता है, किन्तु ऐसा कोई स्थान (क्षेत्र) नहीं हैं। जहा काल का प्रवेश नहीं है, वात पित्त कफ शीत वर्षा घाम आदि का प्रतीकार किया जा सकता है, किन्तु ससार मे काल (मृत्यु) का प्रतीकार करना अशक्य है। रोगों की उत्पत्ति के कारण वात पित्त कफ की विषमता तथा प्रकृति विरुद्ध आहार विहारादि हैं। परन्तु अकाल मृत्यु के तो कारण संसार के सब पदार्थ हैं। अर्थात् किसी भी बाह्य पदार्थ के निमित्त से प्राणियो का मरण हो सकता है।

हे ससार भीरुओ ! काल का कोई समय भी नियत नहीं है । वर्षा, शीत और गर्मी का समय नियत है, वैसा मृत्यु का कोई समय निश्चित नहीं है । जैसे जनशून्य महा अरण्य मे सिंह के मुख में प्रविष्ट खरगोश की रक्षा करने मे कोई समर्थ नहीं है, वैसे ही काल के मुख मे प्रविष्ट हुए इस प्राणी की रक्षा करने वाला इस ससार मे कोई नहीं है । मृत्यु के बिना भी अन्य वस्तुओं से भी उसे भय लगा ही रहता है । कभी रोग का भय होता है, तो कभी वज्रपातादि से भीति बनी रही है । जैसे वज्र अचानक आकाश से गिर पड़ता है, अचानक व्याधि उत्पन्न होकर शरीर को त्रस्त कर देती है, वैसे ही मृत्यु अकस्मात् आकर प्राणी को दबोच लेती है ।

हे मुनिवृन्द ! बाल और वृद्ध मुनियों से परिपूर्ण इस मुनि सघ का वैयावृत्त्य भक्ति पूर्वक करो । इस महान् कार्य में अपनी शक्ति को न छिपाओ । क्योकि वैयावृत्त्य करना मुनि का परम कर्त्तव्य है । यह अनेक सद्गुणों को उत्पन्न करने वाला है, ऐसी जिनेन्द्र देव की आज्ञा है । यह वैयावृत्त्य स्व पर के रत्नत्रय को उद्दीप्त करने वाला है तथा कर्म की निर्जरा करने वाला परम तप है । इसलिए वैयावृत्त्य करने मे उदासीनता मत धारण करो । प्रतिदिन उत्साह और उमङ्ग से वैयावृत्त्य करने मे तत्पर रहो ।

यदि मुनि रोगादि से अशक्त हो या वृद्ध हों, उनके शयन स्थान, बैठने का स्थान, उपकरण-पिच्छी, कमण्डलु, पुस्तकादि का प्रतिलेखन (मार्जन शोधन) करो । निर्दोष शास्त्रोक्त विधि सहित आहार व औषध की योजना करो। उनके आत्मा के भावों को निर्मल बनाने के लिए योग्य शास्त्र का स्वाध्याय या उपदेश (व्याख्यान) करो । शक्ति हीन या रोग ग्रस्त मुनियो के मलमूत्र को उठा कर स्वच्छ करो । उन शक्ति हीन साधुओं को उठाकर करवट बदलाओ, सुलावो, बैठे करो ।

जो मुनि मार्ग के श्रम से थक गये हो, उनकी पगचम्पी करो, हस्तादि का मर्दन करो । जिनपर चारो प्रकारों मे से किसी प्रकार का उपद्रव हुआ हो, दुष्ट पशुओं से पीडा हुई हो, जो अनीतिपरायण दुष्ट राजाओं से सताये गये हो, नदी के द्वारा या बदी करने वाले अन्यायी पुरुषो के द्वारा कष्ट पा रहे हों, जो हैजा प्लेग आदि महामारी के शिकार हो गये हो, उन मुनियों का कष्ट अपनी विद्यादि के बल से दूर करो । यदि कोई मुनि दुर्भिक्ष के कारण पीड़ा पा रहे हो तो उनको सुभिक्ष देश मे लेजा कर उनकी पीडा का निवारण करो । अधीर मुनियो को धैर्य बधाओ कि 'हे महात्माओ ! आप किसी बात का भय न करो, हम आपकी हर तरह सेवा टहल करेंगे, आपको किसी प्रकार का क्लेश न होने देंगे ।' ऐसे कोमल व सान्त्वना के वचन कहकर उनको धीरज बधाओ। इस प्रकार वैयावृत्त्य करने से मुनि धर्म की रक्षा होती है, धर्म मे उत्साह बढता है, और मुनियो का सरक्षण होता है । जिस सङ्घ में वैयावृत्त्य करने मे परायण और सेवा चतुर साधु होते हैं, उस सङ्घ के मुनियो की ससार मे ख्याति होती है, जनता की उनपर स्वाभाविक भक्ति होती है एवं मुनि-धर्म के प्रति रुचि बढती है ।

किन्तु, हे साधुओ ! [illegible] प्रमाद और [illegible] कर्म [illegible] है जो [illegible] के [illegible] है। मुनियों की वैयावृत्य की जिनेश्वर देव ने जैसी आज्ञा दी है, उसके अनुसार [illegible] वैयावृत्य धर्म की वृद्धि करने वाला होता है। जो साधु अपनी शक्ति को न छिपाकर पूर्ण रूप से वैयावृत्य करता है, [illegible] की आज्ञा के अनुकूल करता है वो उसको धर्म का [illegible] धर्मशील मानते हैं।

जो साधु अपने मुनिपद की [illegible] का [illegible] भी [illegible] करता है [illegible] अंगों और उपांगों का [illegible] करता है या उसकी औषधि आदि का [illegible] करता है, वह जिनेन्द्र के शासन का तिरस्कार करने वाला तथा मुनियों की महिमा का विनाश करने वाला है। साधुओं [illegible] भी [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] वैयावृत्य करने वाला [illegible] [illegible] ([illegible] वैयावृत्य [illegible]) [illegible] है। इसलिए हे साधुओ ! वैयावृत्य अवश्य करो, यह [illegible] प्रधान कर्तव्य है, किन्तु [illegible] जिनेन्द्र देव की आज्ञा के अनुकूल करो।

हे [illegible] मुनिराजो ! तुमने तो [illegible] जिनेन्द्र [illegible] (वेष) [illegible] है, अतः यदि तुमने जिनेन्द्र की आज्ञा का पालन न किया तो तुम [illegible] [illegible]। क्योंकि तुम धर्म के [illegible] जिनेन्द्र देव के [illegible] तुम ही धर्म की [illegible] हो। [illegible] वैयावृत्य करने से [illegible] की रक्षा होती है। [illegible] धर्म की [illegible] होती है। जो साधु वैयावृत्य करने में उदासीनता दिखाता है, [illegible] [illegible] [illegible] है। वैयावृत्य [illegible] [illegible] हीन साधु द्वारा मुनियों का [illegible] है। [illegible] वैयावृत्य [illegible] [illegible] साधु भी मुनि [illegible] में [illegible] होता है। इससे संघ का [illegible] नहीं [illegible] है। [illegible] वैयावृत्य [illegible] [illegible] [illegible] करते हैं। [illegible] आने पर [illegible] साधुजन भी उसकी उपेक्षा [illegible] होता है। [illegible] में [illegible] [illegible] [illegible] करते हैं। [illegible] [illegible] करने लगते हैं। धर्म की [illegible] होती है। [illegible] [illegible] पर्याय में [illegible] रहने के कारण [illegible] आत्मा का भी [illegible] सिद्ध होता है।

हे साधुओ ! स्वाध्याय करना उत्तमोत्तम तप है, तथापि वैयावृत्य करना उससे भी महान् कार्य है। क्योंकि स्वाध्याय करने वाला साधु केवल अपनी आत्मा की उन्नति कर सकता है, किन्तु वैयावृत्य करने वाला [illegible] अपनी व दूसरे की उन्नति करता है। गुण-परिणामादि जितने [illegible] [illegible] में वर्णन कर आये हैं वैयावृत्य करने वाले [illegible] आत्मा में [illegible] आकर निवास करते हैं। स्वाध्याय करने वाले पर आई हुई विपत्ति का निवारण वैयावृत्य करने वाला ही करता है। स्वाध्यायी भी वैयावृत्य करने वाले के मुँह की ओर ताकता है, उसकी सहायता की अपेक्षा रखता है। अतएव स्वाध्याय करने वाले से भी श्रेष्ठ वैयावृत्य करने वाला महात्मा है।

पृ. कि. ५

स. ५.

हे मुनियो ! तुम ब्रह्मचर्यरत्न की रक्षा करने में दत्तचित्त रहो । यद्यपि तुम्हारा आत्मा संवेग वैराग्य से परिपूर्ण है, तथा तुम्हारी दिनचर्या भी ऐसी है, जिसका पूर्णतया पालन करते रहने से उसका पोषण होता है, तथापि बाह्य सम्पर्क बडा बलवान् होता है । वह बलात्कार इस कर्म परतन्त्र आत्मा को अपने उत्तम कर्त्तव्य से विमुख कर देता है। इसलिए तुमको ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिए तथा रत्नत्रय भावना में तल्लीन रहने के लिए आर्यिकाओं का सम्पर्क न होने देना चाहिए । क्योंकि आर्यिका का संसर्ग अग्नि के समान चित्त में सन्ताप उत्पन्न करने वाला है तथा विष के समान संयम जीवन का विघात करने वाला है । वह अपकीर्ति की कालिमा लगाने वाली कज्जल की कोठरी है। आर्यिका के संसर्ग से संभव होने वाले चित्त-सक्लेश और संयम-जीवन का रक्षण तो दुर्धर तपस्वी कर भी सकते हैं, किन्तु जनापवाद से उत्पन्न होने वाली अपकीर्ति से बचना असंभव है।

मुनियों को जनापवाद के मार्ग पर ही न जाना चाहिए। शास्त्रों में कहा है :—

"काये पातिनि का रक्षा यशो रक्ष्यमपाति यत् ।
नरः पतितकायोऽपि यशःकायेन धार्यते ॥ १ ॥"

अर्थात्— यह विनश्वर शरीर तो अवश्य गिरने वाला है, नष्ट होने वाला है, इसकी रक्षा कैसे हो सकती है ? इसकी रक्षा का प्रयत्न करना निष्फल है । इसके द्वारा तो स्थायी रहने वाला यश उपार्जन करना चाहिए। क्योंकि भौतिक शरीर का नाश होने पर भी यह शरीर स्थिर रहता है । इसलिए अपने यश का सदा ध्यान रखना चाहिए । जिसको अपने आत्मीय गुणों की उच्चता का विचार नहीं है, वह कभी आत्मोन्नति करने में कटिबद्ध नहीं रह सकता । वह अपने आत्मा को पतन से नहीं बचा सकता है । अत. अपने ब्रह्मचर्य गुण की महत्ता का रक्षण करने के लिए कभी आर्यिका आदि स्त्रियों का सम्पर्क नहीं करना चाहिए ।

हे संसार भीरुओ ! तुमने संसार से डर कर एकान्त निवास किया है । अतः इस एकान्त में भी भय का कारण आर्यिका का सम्पर्क है । इसमें स्थविर (वृद्ध) अनशनादि तपस्या में निरन्तर उद्यत रहने वाले तपस्वी, बहु श्रुत (अनेक शास्त्रों के वेत्ता) और जगत् में माननीय प्रभावशाली साधु भी निन्दा के पात्र होते हैं तो शास्त्र के तत्त्व ज्ञान से शून्य, साधारण चारित्र का पालक तरुण (जवान) साधु इस अपवाद (निन्दा) से अपने को किस तरह बचा सकता है ? उसकी निन्दा होना अनिवार्य है । यदि कोई साधु अपने आत्मा को बलवान् व पूर्ण जितेन्द्रिय समझ कर निरर्गल आर्यिकाओं से सम्पर्क बढाता रहे तो उसे अपनी आत्मा का घातक ही समझना चाहिए । क्योंकि कितना भी कठिन जमा हुआ घृत क्यों न हो, वह अग्नि का सम्बन्ध पाकर अवश्य पिघल जाता है । आर्यिका का संसर्ग आत्मा को बांधने का ! दृढ बन्धन बन सकता है ।

हे सयमियो ! परम वैराग्य की मूर्ति, तपस्या में रत, शृंगार हीन,सयम परायण आर्यिकाओं का संसर्ग भी साधु के ब्रह्मचर्य व्रत मे विघ्न उपस्थित करने वाला माना है, तो सयम हीन, शृगार रस मे रङ्गी हुई ससार के भोग विलास में रत रहने वाली स्त्रियों का ससर्ग साधुओं के लिए कितना घातक हो सकता है ? इसमे प्रमाण व युक्ति की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती ।

इसलिए हे व्रतियो ! यदि तुमको अपने पुनीत व्रतों की रक्षा करनी है, ससार के दुःख से उद्धार करने वाले इस मुनिधर्म का पालन करना है, अपने आत्मा को पाप कालिमा से वचाना है तो तुम किसी भी स्त्री के साथ वार्त्तालाप तक मत करो, उसकी तरफ मत देखो। भुजङ्गनी से भी स्त्री को महा भयानक समझो। भुजगनी का विप तो स्पर्श करने (डसने) से शरीर में असर करता है; किन्तु स्त्री तो देखने मात्र से ही शरीर और अन्तःकरण को तत्काल विषाक्त कर देती है, और क्षण भर में सयम से रहित करके अनेक भवों में दुःख का अनुभव कराती है। इसलिए भूलकर भी स्त्री का सम्वन्ध न होने दो। यदि वह तुम्हारे निकट धम भावना से भी आकर वैठे तो तुम उस स्थान से अलग हो जाओ। निमित्त कारण वडा वलवान् होता है, वह अपना असर किये विना नहीं रहता है। वहुत दूर पड़े हुए नीवू में इतनी शक्ति होती है कि वह देखने वाले मनुष्य के मुख मे पानी उत्पन्न कर देता है। तीव्र शोक अथवा उत्कट सुख के कारणो का समागम होते ही आखों से अश्रुधारा वहने लगती है। ठीक ही है वाह्य निमित्त के सयोग से वस्तु में परिवर्त्तन हो जाता है। इसी प्रकार स्त्री का सम्पर्क भी मानसिक विचारों मे तत्काल परिवर्त्तन कर देता है। इसलिए जो तुम अपना हित चाहते हो तो स्त्री का सम्पर्क न होने दो, इसी में तुम्हारा कल्याण है। जो सयमी स्त्री का सम्पर्क करके भी अपने व्रत को अक्षुण्ण वनाये रखने की सम्भावना करता है, वह सर्प के मुख मे हाथ देकर जीने की इच्छा रखता है।

हे व्रतियो ! इनके अतिरिक्त रुपये पैसा आदि पदार्थ जो तुम्हारे व्रत संयम के नाशक हैं, उनका भी अवश्य दूर से परिहार करो। उनका स्पर्श तक न करो। व्रतों की रक्षा उसी सयमी के होती है, जो उनमें विघ्न वाधा पहुचाने वाले कारणो से सम्पर्क नहीं रखता है। व्रत वाधक पदार्थों का सयोग रखने वाला सयमी अपने सयम व्रत से अवश्य गिर जाता है। इसलिए तुम्हें उन सव विपरीत कारणो से किसी प्रकार का सम्वन्ध नहीं रखना चाहिए।

हे पवित्र चारित्र के पालको ! सङ्घ में चारित्रहीन साधुओ का सम्पर्क मत होने दो। पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त और मृग चारित्र ये पाच प्रकार के भ्रष्ट साधु हैं। इन पतित साधुओं का दूर से ही परित्याग करो। 'ससर्गजा दोष गुणा भवन्ति' जिसका संसर्ग होता है, उस व्यक्ति के गुण व दोप ससर्ग करने वाले मे अवश्य आते हैं। जैसे कस्तूरी के ससर्ग से वस्त्र मे सुगन्ध और लहसन के संगम से दुर्गन्ध स्वत. आती है, इसमे अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती है। इसी प्रकार हीनाचारी पुरुषों के समागम से आचार में

हीनता स्वत आजाती है। इसलिए अपने चारित्र को निर्मल व उन्नत बनाने वाले साधुओं को मलीन व भ्रष्ट चारित्र वाले साधुओं का समागम न करना चाहिए। पार्श्वस्थादि साध्वाभासो का स्वरूप पहले वर्णन कर दिया गया है। वहा से उनका स्वरूप जान कर उनकी सङ्गति का परित्याग करना चाहिए।

पार्श्वस्थादि साधुओ की सङ्गति करने वाले साधु का किस तरह पतन होता है—इसके विषय मे भगवती आराधना में निम्न प्रकार कहा है—

लज्जं तदो निहिंसं पारंभं णिव्विसङ्कदं चेव।
पियधम्मो वि कमेणारुहंतओ तम्मओ होइ ॥ ३४० ॥

अर्थ—पार्श्वस्थादि साध्वाभासों की सङ्गति करने वाले मुनि को पहले पहल तो लज्जा आती है। उसके यह विचार उत्पन्न होता है कि मुझे इन पातन साधुओं के साथ मे देखकर अन्य लोग क्या कहेंगे? पश्चात् मनमे ग्लानि भी होती है कि मैं आत्मा के पतन कराने वाले इस व्रत भङ्ग कारक कुकृत्य को कैसे करू, इमसे मेरा महान पतन होगा। तदनन्तर चारित्र मोह के उदय से व्रत भङ्ग कारक कार्य का प्रारम्भ करता है। व्रत भङ्ग करने के बाद वह साधु नि:शङ्क होकर आरम्भ परिग्रहादि पाप कृत्यों में प्रवृत्ति करता है। जो साधु पार्श्वस्थादि के ससर्ग होने के पहले धर्म प्रिय था। धर्म को प्राणो से भी प्यारा मानता था, वही साधु चारित्र हीन साधुओं के सम्पर्क से क्रमश. लज्जा ग्लानि पाप कार्यों मे प्रवृत्ति तथा उसमे शङ्का रहित होकर पार्श्वस्थादि साध्वाभासो के समान चारित्र हीन बन जाता है।

यद्यपि कोई संसार से भय भीत साधु पार्श्वस्थादि के ससर्ग से वचन और कार्य द्वारा आगम विपरीत कोई कार्य नहीं करता है, तथापि पार्श्वस्थादि का समागम उनके प्रति प्रेम की वृद्धि करता है। कारण कि अनादिकाल से इस जीव ने समार मे पतन करने वाले इन्द्रिय सुख को अच्छा मान रखा है और उसी का सतत अनुभव करता रहा है। चारित्र मोहनीय कर्म का मन्द उदय होने पर सद्गुरु के सयोग से उसने सयम ग्रहण किया है, किन्तु स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने वाले इन्द्रियो के दास पार्श्वस्थादि का ससर्ग पाकर पुन वह सासारिक सुख में झुक जाता है और उनमे स्नेह बढ जाता है। स्नेह के बढने से उनमे विश्वास होने लगता है। पश्चात् वह साधु स्वय पार्श्वस्थादि बन जाता है। जैसे नूतन मिट्टी के पात्र मे सुगन्धित पदार्थ रखने से वह सुगन्ध मय हो जाता है एव मिट्टी का तैल भरने पर उसमें वैसी ही दुर्गन्ध आने लगती है। वैसे ही पार्श्वस्थादि के ससर्ग से उस साधु में पार्श्वस्थादि के गुणों का सक्रमण उत्पन्न हो जाता है। यह उचित ही है जो वस्तु जिसका ससर्ग करती है, वह कुछ समय मे तन्मय हो जाती है। जैसे कसैला आवला शक्कर के रस का ससर्ग पाकर अपने कसैले स्वभाव को छोडकर मीठा हो जाता है। और अग्नि के सयोग से शीतल जल अपने स्वभाव का त्याग कर उष्ण हो जाता है। वैसे दुर्जन मनुष्यो के ससर्ग से सज्जन

प्रकृति का मनुष्य भी दुर्जन बन जाता है। अतएव हे साधुओ! रत्नत्रय से पतित आरम्भ परिग्रहादि मे आसक्त चारित्र हीन पार्श्वस्थादि की सङ्गति न करो। तुम ऐसा न समझो कि हम शुद्ध हैं तो उन (पार्श्वस्थादि) का ससर्ग हमारा क्या कर सक्ता है क्योंकि निमित्तो की प्रवलता कम नहीं होती।

हे सयमियो! तुममे से कई साधु ऐसा भी प्रश्न कर सकते है कि जो मुनीश्वर अति दृढ सयमी हैं, जिनका चित्त मेरु समान अचल है। यदि वे पार्श्वस्थादि के साथ सम्पर्क रखें तो उनको क्या हानि हो सकती है?

इसका उत्तर यह है कि निमित्त मे अचिन्त्य शक्ति है। प्राचीन काल के अनेक धीर वीर महर्पि भी विपरीत निमित्त को पाकर चारित्र से पतित होगये है। श्री माघनन्दी समान महामुनि भी प्रतिकूल निमित्त को पाकर संयम से हाथ धो बैठे थे, तो आधुनिक अल्पशक्ति के धारक साधुओ की कहा चली। मान भी लें कि अब भी किसी महा मनस्वी तीव्र तपस्वी पर पार्श्वस्थादि का ससर्ग कुछ भी असर नहीं कर सक्ता तथापि उनका लोकापवाद तो अवश्यभावी है। साधारण लोग समझने लगते है कि पार्श्वस्थादि सयम भ्रष्ट साधुओ का सङ्ग करने वाला यह साधु भी सयमहीन प्रतीत होता है, अन्यथा यह पार्श्वस्थादि के साथ सम्पर्क क्यों रखता।

कुत्सित आचरण वाले व्यक्ति का ससर्ग उग्र तपस्वी निर्मल चारित्र के पालक मुनि को भी दोपी प्रसिद्ध करता है और दुर्जन के दोप का फल सज्जन को भोगना पड़ता है। जैसे किसी चोर के साथ सम्बन्ध रखने वाला साहूकार भी चोर के अपराध से दोपी माना जाता है। पुलिस चोरी के अभियोग मे साहूकार को गिरफ्तार कर लेती है। तथा असयमी (भ्रष्ट सयमी) के साथ रहने से सयमी का भी चारित्र लुट जाता है। जैसे-किसी धनिक के साथ लुटेरो के द्वारा निर्धन मनुष्य भी लुट जाता है। जब मनुष्य दुश्चरित्र मनुष्यो के साथ रम जाता है, तब उसे सज्जन पुरुपो का साथ नहीं सुहाता है, जैसे पित्तज्वर के रोगी को मिश्री मिला दूध भी कडुवा लगता है। इसलिए दुर्जनों का सङ्ग कदापि मत करो। सदा सत्पुरुपो के सङ्ग मे ही रहो। देखो सत्पुरुषों के सङ्ग मे रहने वाला दुर्जन भी पूजा जाता है, प्रतिष्ठा पाता है। जैसे कि पुष्प माला मे पिरोया हुआ सूत का डोरा भी बडे २ राजा महाराजाओं और देवी देवताओं के गले मे शोभा आदर पाता है।

यद्यपि तुम ससार के दु:खो से भयभीत हो और सयम के पालन मे रत हो, तथापि तुम को अपने सवेग व संयम गुण की वृद्धि करने के लिए सविग्न और सयमी मुनिराजो के साथ ही रहना चाहिए। देखो, सङ्घ की शोभा साधु सख्या से नहीं होती, किन्तु सचारित्र से होती है। इसलिए लाखो पासत्थादि (पार्श्वस्थादि) चारित्र शून्य साधुओ की अपेक्षा एक सुशील मुनि अति श्रेष्ठ है। क्योंकि कुशील, सयम-हीन, शिथिलाचारी साधुओ के आश्रय से दर्शन शीलादि का ह्रास होता है और सुशील साधु के निमित्त से सङ्घ मे शील, दर्शन, ज्ञान और चारित्र की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। अत उत्तम शील व सयम के धारक मुनि का ही आश्रय करो। देखो, कडुवी तूम्बी मे रखा हुआ मिश्री

स न

मिश्रित दुग्ध भी कडुवा हो जाता है । और इक्षुकी जड़ मे सींचा गया खारा जल भी मिष्ट हो जाता है,क्योकि वस्तु को जैसा आश्रय मिलता है वह वैसी ही परिणत होती है । अत. तुम भी सत्पुरुषो की ही सङ्गति करो ।

तुमको सदा हित, मित व प्रिय वचन ही बोलना उचित है । कभी किसी के प्रति अप्रिय तथा अहितकर वचन उच्चारण मत करो। किन्तु ऐसा प्रिय वचन भी न कहो जिससे दूसरे की अवनति या दुर्गुणो की वृद्धि की सम्भावना हो। यदि किसी के हित के लिए अप्रिय वचन बोलना आवश्यक हो तो उसकी उपेक्षा न करो ।जीर्ण ज्वर से पीडित रोगी के लिए कटुक औषधि ही पथ्य (हितकर) होती है वैसे ही तुम्हारा कटु भाषण भी उसके दुर्गुण का नाश करने वाला होगा । अतः दूसरे के उपकार की ओर भी तुम्हारा ध्यान रहना चाहिए ।

परम भट्टारक देवाधिदेव तीर्थंकर भी भव्य प्राणियो के कल्याण के लिए धर्मविहार करते हैं। उन्होने दूसरों के दुःखोद्धार करने की उत्कट भावना से ही तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया है। स्वपर के आध्यात्मिकोत्थान के लिए कमर कसे रहना महान् पुरुषों का परम कर्त्तव्य है और परोपकार ही महत्ता का लक्षण है । किसी ने कहा है—

"क्षुद्राःसन्ति सहस्रशः स्वभरणव्यापारमात्रोद्यताः ।
स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणीः ॥
दुष्पूरोदरपूरणाय पिबति स्रोतःपतिं वाड़वो ।
जीमूतस्तु निदाघसंभृतजगत्संतापविच्छित्तये ॥ १ ॥"

अर्थ—ऐसे क्षुद्र प्राणी इस ससार मे हजारों हैं, जो अपने भरण पोषणादि (स्वार्थ सिद्धि) करने मात्र मे तत्पर हैं । किन्तु जो परार्थ को ही स्वार्थ मानते हैं, ऐसे सत्पुरुषों मे अग्रणी (अग्रेसर) पुरुष पुगव एक आध ही होते हैं । वे ही धन्य हैं । वडवानल अपने विशाल उदर को भरने के लिए सर्वदा समुद्र का जल पीता है । वह क्षुद्र मानव के समान स्वार्थ परायण है । परन्तु मेघ ग्रीष्म काल के सताप से पीडित समस्त ससार के प्राणियों के सताप को मिटाने के लिए ही समुद्र के जल को पीता है । वह जगत् में महान् माना जाता है और उसकी ओर समस्त संसार की आशा भरी दृष्टि लगी रहती है, तथा उसके दर्शन मात्र से जगत के जन्तु आनन्द का अनुभव करते हैं । इसलिए हे मुनियो ! तुम्हें सदा स्वपर कल्याण की ओर ध्यान देना चाहिए ।

तुम्हारा सब आचरण व कर्त्तव्य ही ऐसा होना चाहिए जिसका निर्दोष पालन करने से जगत् के प्राणियो का स्वतः उपकार हो

जाता हो। तुम्हारे परम वीतरागता का उद्योत करने वाले दिगम्बर भेष के दर्शन मात्र से जीवो के अन्तःकरण मे धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। तुम्हारे इन्द्रिय सयम की पराकाष्ठा लोगों को सयम का पाठ सिखाती है। तथा तुम्हारा प्राणी सयम (छह कायके जीवो की रक्षा का व्रत) अखिल विश्व के छोटे वडे सब जीवो को अभयदान देता है तथा तुम पर अटूट श्रद्धा और भक्ति का सञ्चार कराता है। तुम्हारा दिगम्बर शुद्ध स्वरूप ही सब प्राणियों के प्रतीति का कारण है। तुमने जो अहिंसादि व्रत धारण कर रक्खे हैं उनके कारण तुम्हारे आत्मा मे निरन्तर अति निर्मल विचार धारा वहा करती है। दया क्षमा निर्लोभता की पराकाष्ठा तुम मे ही नजर आती है। इसलिए तुम अपनी पदमर्यादा को कभी मत भूलो।

यदि तुम म भी सयो ।वश कोई शैथिल्य आजावे या तुम्हारे व्रतादि मे कोई त्रुटि दिखाई दे और गुरु आदि तुमको कटु कठोर शब्दो से सन्मार्ग मे प्रवृत्त करने के लिए उद्यत हों तो तुम्हें उनका उपकार मानकर कृतज्ञ होना चाहिए। गुरु आदि ने अपने कल्याण के काय स्वाध्याय ध्यानादि मे विघ्न करके जो मेरे हित की कामना स यह शिक्षा दी है, यह उनका महान् अनुग्रह है, बडा भारी उपकार है, शिक्षा को शिरोधार्य करना मेरा परम कर्त्तव्य है-इत्यादि सोचकर तुम्हें परिणाम मे हितकर कटु कठोर भाषण का उत्तम औषधि के समान आदर करना उचित है।

हे साधुवर्ग। तुम आत्म-प्रशसा कभी मत करो। जो अपने मुँह से अपनी प्रशसा करता है, वह अपने यश का नाश करता है। ह सत्पुरुषो की गोष्ठी मे तृण के समान लघु (हल्का) माना जाता है। उसका यश नष्ट होता है। जैसे खटाई से दूध फट जाता है, वैसे ही आत्म-प्रशसा से यश, अपयश का स्थान ग्रहण कर लेता है।

जो अपनी आप प्रशसा करता है उसके गुणों मे लोगो को सन्देह होने लगता है। कस्तूरी की सुगन्ध वचन से प्रकट नहीं की जाती है। वह तो स्वय फैलकर अपना स्वरूप व गुण प्रकट कर देती है। यदि कस्तूरी का व्यापारी अपनी कस्तूरी की सुगन्ध की प्रशंसा का पुल बाधने लगता है तो लोगो को उसकी कस्तूरी मे सन्देह पैदा हो जाता है कि इसकी कस्तूरी नकली मालूम देती है। कोई नपुसक जैसे स्त्री का भेप धारण कर स्त्री के समान हाव भाव करता है, किन्तु वह स्त्री नहीं हो पाता है।

गुणवान् सत्पुरुप का स्वभाव होता है कि कोई गुणग्राही सज्जन उसके गुण की प्रशसा करने लगता है तो उसका मुख नीचे झुक जाता है। वह अपने गुणों का वर्णन अपने मुख से कैसे कर सकता है? जो अपने गुण की स्वय प्रशसा नहीं करता है और अपने कार्य द्वारा गुण प्रकाशित करता है वह ससार मे भूरि भूरि प्रशसा का पात्र होता है। विद्वानो ने कहा है :—

"यदि संति गुणास्तस्य निकषे सन्ति ते स्वयम् ।
न हि कस्तूरिकागन्धः शपथेन विभाव्यते ॥ १ ॥"

अर्थ—किसी व्यक्ति मे यदि गुण विद्यमान हैं तो गुणग्राही मनुष्यो के परीक्षा रूपी कसौटी पर कसे जाने से वे स्वयं ही प्रगट हो जाते हैं। क्योकि कस्तूरी की गन्ध सौगन्ध खाने से नहीं मानी जाती, किन्तु वह स्वय प्रकाश में आजाती है।

अपने गुणो का वचन द्वारा कथन करना तो उनका नाश करना है और गुणों के अनुकूल प्रवृत्ति करना ही उनको प्रकाशित करना है। इसलिए हे मुनियो। तुम कभी अपने मुह से अपने गुणों का कीर्तन न करो। तुम्हारा सदाचार मे प्रवर्त्तन ही तुम्हारे गुणों को प्रकाशित करने वाली दुन्दुभि है। यदि गुणहीन पुरुष तुम्हारे गुण को न समझ पावें तो कोई हानि नहीं है। उनके सामने तुम अपने गुणों का कीतन करने पर भी महत्ता नहीं पा सकते, क्योकि वे तुम्हारे गुणो का महत्व ही नहीं समझते हैं। और गुणवानों व गुणज्ञो के मध्य मे तुम्हारे गुण बिना कहे ही प्रगट हो जावेंगे। अत. किसी भी जगह अपने गुण वचन द्वारा कभी प्रगट मत करो। वचन से अपने गुण प्रगट करने वाला महत्व न पाकर लघुता ही पाता है। कहा है :—

निर्गुणो गुणिनां मध्ये ब्रुवाणः स्वगुणं नरः ।
सगुणोऽप्यस्ति वाक्येन निर्गुणानामिव ब्रुवन् ॥ १ ॥

अर्थ—गुणवान मनुष्य भी जैसे गुणहीन मनुष्यो मे वचन द्वारा अपने गुणो का वर्णन करता हुआ अनादर पाता है, वैसे ही गुणहीन मनुष्य गुणवानो मे अपने गुण का बखान करके अपमान पाता है।

इसका आशय यह है कि गुणवान मनुष्य को अपनी प्रशसा अपने आप कभी नहीं करना चाहिए। अपने मुह से अपनी प्रशसा करने वाले की महिमा घटती है और निरादर होता है।

हे मुनियो! तुम अपने सङ्घ के अथवा पर सङ्घ के किसी मुनि की निन्दा मत करो। क्योंकि परनिन्दा संसार वृक्ष को विस्तृत करने मे जल के समान है। इस प्रकार परनिन्दा परभव में दुःख उत्पन्न करने वाली है। तथा परनिन्दा से इस भव मे अनेक प्रकार के शारीरिक कष्ट भोगने पडते हैं। वैर उत्पन्न होता है। दुःख व शोक होता है। परनिन्दा करने वाले को सदा भय बना रहता है उसकी लोक में लघुता (हलकापन) प्रगट होती है, तथा सज्जन पुरुषो का अप्रिय बन जाता है।

प्रायः मनुष्य अपने को अच्छा प्रगट करने के लिए दूसरों की निन्दा करता है। किन्तु उसकी यह निन्द्य प्रवृत्ति नितान्त मूर्खता को प्रगट करती है। क्या कोई रोगी दूसरे को कडुवी औषधि पिलाकर उस रोग से मुक्त हो सकता है। जो पर निन्दा करके अपने गुण का प्रकाश करने की चेष्टा करता है, वह मनुष्य अपने को उज्ज्वल बनाने की इच्छा से अपने शरीर के चारों तरफ कज्जल की वृष्टि करता है। अर्थात् जैसे कज्जल को चारो ओर उडाने वाला स्वय अछूता नहीं बचता है, उसी प्रकार दूसरो की निन्दा करने वाला स्वय निन्दा का पात्र होता है। तुम सत्पुरुष हो। सत्पुरुष उसे कहते हैं, जो सत्पुरुष का लक्षण धारण करे। शास्त्र कारो ने बताया है कि :—

"अप्पो वि परस्स गुणो सप्पुरिसं पप्प बहुदरो होदि।
उदए व तेल्लबिंदू किह सो जंपिहिदि परदोसं ॥"

अर्थ—परकीय स्वल्प गुण भी सत्पुरुष को पाकर विशाल रूप धारण कर लेता है। जैसे जल मे गिरी हुई तैल की बूद विशाल काय हो जाती है। अर्थात् जैसे जल के सम्बन्ध को प्राप्त हुई तैल की बूद को जल चारो ओर विस्तृत कर देता है वैसे ही सत्पुरुष छोटे से परकीय गुण की प्रशसा करके उसे महान् बना देता है।

अतएव हे मुनियो! तुम सदा ऐसा प्रयत्न करो, जिसके कारण ससार के समस्त विवेकी मनुष्य तुम्हें धन्य धन्य कहें और मुक्त कण्ठ से कहने लगें कि ये मुनि अखण्ड ब्रह्मचर्य के धारक हैं। ये प्रकाण्ड विद्वान् अनेक शास्त्रो के वेत्ता हैं, स्वमत और पर मतो के रहस्य के ज्ञाता है। ये किसी भी प्राणी को लेशमात्र दुःख नहीं देते हैं। इनका अनुपम चारित्र गङ्गा नदी के जल के समान निर्मल है। ये अपने गुणों का पूर्ण पालन करते हैं। धन्य है, इन महात्माओ को जो ससारी प्राणियों को अपना आदर्श स्वरूप दिखाकर धर्म मे जागृति उत्पन्न कर रहे हैं। इस प्रकार का तुम्हारा धवलयश ससार मे फैल कर धर्म प्राण जनता को सन्मार्ग मे प्रवृत्ति कराने वाला सिद्ध होता है। यही जैन धर्म की उत्तम से उत्तम प्रभावना है। तथा तुम्हारे आत्म कल्याण का मुख्य उपाय है।

इस पकार पूर्व आचार्य ने सङ्घ के नवीन आचार्य और सम्पूर्ण मुनिराजों को उपदेश दिया।

इस उपदेश को सुनकर सम्पूर्ण सङ्घ के मुनि समूह ने एक स्वर से कहा—हे स्वामिन् आपके इस मङ्गलमय उपदेश का हम सब हृदय से स्वागत करते हैं। यह अमृतमय कल्याण करने वाली शिक्षा हृदय पटल पर जीवन भर अङ्कित रहेगी तथा मोक्ष मार्ग की यात्रा मे दीपक का काम करेगी। इस प्रकार कहकर आत्म हित करने के लिए समस्त सङ्घ से पृथक् होने वाले गुरुदेव के गुणों का स्मरण करके भक्ति से आर्द्रचित्त होकर सम्पूर्ण साधुओ के नेत्रो से आनन्दाश्रु की धारा बहने लगती है और हाथ जोड़कर गुरुदेव के सम्मुख खड़े होकर प्रार्थना

करते हैं—

हे भगवन् ! आपके उपकार का वर्णन करने के लिए हमारे शब्द कोश मे कोई शब्द नहीं है। हम इसे कभी नहीं भूल सकते। अमुक कार्य करो, अमुक कार्य मत करो, ऐसी शिक्षा देकर आपने हमको सत्पथ पर लगाया है। ऐसी शिक्षा भाग्यवान् पुरुष ही पाता है। जिसने पूर्व भव मे तपस्या की है, उसे ही आप समान गुरुदेव का शरण मिलता है। हम जगत् मे परम धन्य हैं जिन्हें ऐसा लोह पारस का सा सम्बन्ध उपलब्ध हुआ है। लोह समान अधम हमारे आत्मा ने पारस मणि समान आपके सयोग को पाकर सुवर्णवत् उत्तम बनने की योग्यता प्राप्त की है। आपने ससार सागर के अगाध पापमय जल मे डूबते हुए हमको हस्तावलम्बन देकर उबारा है।

हे प्रभो ! हमने अज्ञान से, प्रमाद से अथवा राग द्वेषादि विकारों के आवेश मे आकर जो आपकी आज्ञा का लोप किया हो, परिणाम मे हितावह आपके आदेश की अवहेलना कर जो प्रतिकूल प्रवृत्ति की हो, उन सब अपराधो की हम हाथ जोड कर क्षमा याचना करते हैं।

हे स्वामिन् ! आपने हम हृदय हीनो को सहृदय बनाया है। आपके सदुपदेश ने हमारे अन्त करण मे विवेक सूर्य का उदय किया है। जिससे हम आत्म-हित व अहित को समझने लगे हैं। आपने हमको शास्त्रो का अध्ययन करवाकर सकर्ण और सनेत्र बनाया है। अर्थात् शास्त्रों को पढाकर ज्ञान सूर्य का प्रकाश कर कर्ण और नेत्रो को सफल बनाया है। तथा मोक्ष मार्ग मे चलाकर और जीव रक्षा की निमित्त भूत प्रतिलेखादि क्रियाओ मे प्रवृत्ति करवाकर हमारे चरण और हस्त को कृतार्थ किया है। इस प्रकार मनुष्य जीवन को सफल करने वाले सन्मार्ग (मोक्षमार्ग) मे लगाकर आपने हमको कृतार्थ किया है।

हे भगवन् ! आप सम्पूर्ण विश्व के प्राणियो के हित कर्त्ता हैं। आप ज्ञान और तप मे महान हैं। आप समस्त जगत् के जीवो के स्वामी हैं। आप अब प्रवास करने वाले हैं, अथवा सन्यास मरण को अङ्गीकार करने वाले हैं। अत हमको सब देश शून्य दिखाई दे रहे हैं तथा सब क्षेत्र अन्धकार मय प्रतीत हो रहे हैं। हे स्वामिन् ! आप शील से मण्डित और गुणो से भूषित हैं और ज्ञान के भण्डार हैं। आप सब जीवो को दु ख से छुडाकर सुख प्रदान करने वाले हैं। अब आप प्रवास करने वाले अथवा समाधिमरण धारण करने वाले हैं। ऐसे समय मे हमको सब देश शरण हीन प्रतीत हो रहे हैं।

इस प्रकार वियोग पीडित साधुओ के हृदय द्रावक करुणार्द्र वचन को सुनकर वस्तु स्वरूप के ज्ञाता आचार्य समस्त को सान्त्वना देकर आत्महित कारक रत्नत्रय मे अतिशय प्रवृत्ति करने मे उद्युत हुए आराधना के लिए परसङ्घ मे गमन करने की अभिलाषा करते हैं।

शङ्का—सङ्घ के आचार्य सन्यास ग्रहण करने के लिए पर सङ्घ मे क्यो जाते हैं, अपने सङ्घ मे ही क्यो नहीं रहते हैं?

समाधान-- यदि आचार्य अपने सङ्घ मे रहकर ही सन्यास ग्रहण करें तो आज्ञा-भङ्ग, कठोर भाषण, कलह, विपाद, खेद, निर्भयता, स्नेह, करुणा, और ध्यान-विघ्न आदि अनेक दोप उत्पन्न होते हैं। वह इस तरह है :—

यदि आचाय सङ्घ मे रहें और वृद्ध साधु अयश जनक कार्य कर बैठें तथा गृहस्थ की ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक क्षुल्लक कलह करने मे प्रवृत्त हो जाय तथा समाधि मरण की विधि के अज्ञाता शिष्य मुनि तीक्ष्ण स्वभाव वाले हो और आचार्य की आज्ञा का उल्लघन करने लग जावे तो आचार्य के चित मे अत्यन्त क्षोभ उत्पन्न हो सकता है।

शङ्का—परसङ्घ मे भी शिथिलाचारी वृद्ध मुनि, कलहकारी क्षुल्लक गृहस्थ तथा सन्यास विधि के अज्ञाता शिष्य साधु हो सकते हैं। वहा पर भी आचार्य के चित मे क्षोभ उत्पन्न होने की सम्भावना बनी रह सकती है।

समाधान—परसङ्घ मे जाकर सन्यास मरण विधि का आचरण करने वाले आचार्य वहा के साधुओं को आज्ञा-नहीं देते हैं। उन साधुओं को आज्ञा देने का कर्तव्य उस सङ्घ के आचार्य का है। इसलिए वहा आज्ञा-भङ्ग की सम्भावना नहीं है। यदि किसी समय आज्ञा करने का प्रसङ्ग उपस्थित होजावे और साधु या क्षुल्लक आज्ञा न माने तो आचार्य के चित मे क्षोभ नहीं होता है। आचार्य को उसी समय विचार होने लगता है कि मैंने इनपर कोई उपकार तो किया नहीं मेरे आदेश का पालन ये क्यो करने लगे? इस प्रकार चित मे समाधान हो जाता है।

स्थविर मुनि, कलह मे तत्पर क्षुल्लक गृहस्थ तथा मार्गानभिज्ञ शिष्य मुनि को सयम विरुद्ध आचरण करते हुए देखकर आचार्य, उनके प्रति कठोर शब्दो का प्रयोग करेंगे। और बहुत काल का परिचय होने से वे वृद्ध मुनि, क्षुल्लक व शिष्य साधु भी आचार्य के प्रति कठोर वचन उच्चारण करने लग जावें तो आचाय के चित मे अत्यन्त अशान्ति उत्पन्न होने की पूर्ण सम्भावना रहती है। इसी प्रकार-वृद्ध साधु, क्षुल्लक गृहस्थ या छोटे२ साधुओ को परस्पर कलह शोक सतापादि उत्पन्न करते हुए देखकर आचार्य के चित मे अशान्ति उत्पन्न हो सकती है। अथवा क्षुद्र या महान रोग या भयानक व्याधि से पीडित सङ्घ के शिष्यो को देखकर आचार्य के मन में मोह जन्य संताप उत्पन्न हो सकता है तथा उनपर स्नेह का प्रादुर्भाव होने से महान दु ख उत्पन्न होन की सम्भावना बनी रहती है।

समाधिमरण मे तत्पर हुए आचाय को क्षुधा पिपासा आदि की बाधा को शान्ति से सहन करना चाहिए। किन्तु वे अपने सङ्घ मे निर्भय हुए आहार जलादि की याचना करने लगेंगे। अथवा स्वन आहारादि का सेवन करने लगेंगे। तथा परित्यक्त भोजन पान के पदार्थों का भी सेवन करने लगेंगे उस समय उनको निवारण करने मे कौन समर्थ होगा? अपने सङ्घ मे रहने से ऐसे अनेक दोप उत्पन्न होते हैं। इसलिए आचार्य का अपने सङ्घ मे रहकर समाधि मरण का साधन करना आगम मे निपेध किया गया है।

जिनका आचार्य ने बाल्यावस्था से पालन किया है ऐसे बाल मुनियो को, वृद्ध मुनियो को और अनाथ आर्यिकाओ को देखकर अब इनसे मेरा अत्यन्त वियोग होगा, ऐसा विचार होने से आचार्य के मनमे स्नेह का आविर्भाव हो सकता है। तथा समाधि मरण के लिए उद्यमशील आचार्य को देखकर छोटे २ बाल मुनि, ब्रह्मचारी, क्षुल्लक, आर्यिका आदि वियोग जन्य दुःख से आर्त्तनाद करने लगते हैं। उनकी दु.ख भरी रोने की ध्वनि को सुनकर और नेत्रो से बहती हुई अविरल अश्रुधारा को देखकर आचार्य के अन्तःकरण मे कारुण्य का उदय हो आता है और उससे उनके धर्म्यध्यान या शुक्लध्यान के स्थान मे आर्त्तध्यान उत्पन्न हो सकता है।

उपर्युक्त सब दोष-अपने सघ मे रहकर समाधिमरण की साधना करनेवाले आचार्य को ही नहीं होतेहैं,बल्कि जो आचार्य समान उपाध्याय और प्रवर्त्तक मुनि होते हैं, उनके आत्मा मे भी इन दोषो की सम्भावना रहती है। अतएव इन दोषो से बचने के लिए आचार्यादि समाधि मरण का साधन करने के लिए परसघ मे प्रवेश करते हैं।

समाधि मरण की साधना के लिए आये हुए आचार्यादि को देखकर परसंघ के आचार्य व अन्य साधुवर्ग के मनमे उत्कट आल्हाद उत्पन्न होता है। हमारा अहोभाग्य है जो हम पर प्रेम व अनुग्रह करके अपने सघ का परित्याग कर ये महाभाग हमारे सघ मे पधारे हैं, ऐसे प्रेम से पूरित चित्त परसघ स्थित मुनिराज आगन्तुक की सेवा करने के लिए तत्परता दिखाते हैं और दत्तचित्त होकर आगन्तुक की परिचर्या करते हैं।

जो आगन्तुक आचार्यादि साधु के समाधिमरण की व्यवस्था करने वाला निर्यापकाचार्य होता है वह शास्त्र का वेत्ता और शुद्ध चारित्र का पालन करने वाला होना चाहिए। तथा उसका प्रधान कर्त्तव्य होता है कि वह आगन्तुक क्षपक (साधु) का पूर्ण आदर-सत्कार करे।

निर्यापकाचार्य आगम का वेत्ता, ससार से भयभीत, पाप कर्मों से डरने वाला, चारित्र का सुचारुता से पालन करने वाला और सन्यास विधि की व्यवस्था करने मे निपुण होता है। ऐसे आचार्य के पाद मूल मे समाधि मरण का साधक साधु रहकर अपनी आराधना की सिद्धि करता है। जिसमे उक्त गुण नहीं है,वह निर्यापकाचार्य होने योग्य नहीं माना गया है इसलिए समाधिमरण की सिद्धि के अभिलाषी को अपनी अपूर्व आराधना को सफल करने के लिए निर्यापकाचार्य के स्वभाव गुण आदि की परीक्षा करके उसकी शरण ग्रहण करना उचित है।

निर्यापकाचार्य के अन्वेषण का क्रम

प्रश्न— समाधिमरण का अभिलाषी यति निर्यापकाचाय का अन्वेषण करता है, उसका समग्र प्रमाण क्या है ? तथा जिस विधि से अन्वेषण करता है, वह विधिक्रम क्या है ?

उत्तर—समाधिमरण का आकाक्षी आचार्य अथवा अन्य साधु समाधिमरण की साधना के लिए निर्यापकाचार्य का अन्वेपण (तलाश) एक वर्ष, दो वर्ष, तीन वर्ष, अधिक से अधिक बारह वर्ष तक करता है। आगम मे उसका क्रम विधान निरूपण किया गया है। भगवती आराधना मे कहा है—

एकं व दो व तिण्णि य बारसवरिसाणि व अयरिसंतो ।
णिज्जवयणमणुण्णादं गवेसदि समाधिकामो दु ॥ ४०२ ॥ भग. आ.

अर्थ—समाधिमरण की कामना करने वाला साधु या आचार्य जिनागम के रहस्य के वेत्ता निर्यापकाचार्य की गवेपणा (तलाश) करता है। उसका काल एक वर्ष दो वर्ष तीन वर्ष उत्कृष्ट बारह वर्ष पर्यन्त कहा गया है। अर्थात् निर्यापकाचार्य की तलाश करने मे साधु खेद रहित होकर बारह वर्ष तक भ्रमण कर सकता है।

भावार्थ—आचारवान आदि गुणों से मण्डित आचार्य ही निर्यापकाचार्य समाधिमरण की साधना करवाने मे समर्थ हो सकते हैं। उनको ढूढने के लिए साधु सातसौ योजन पर्यन्त अथवा इससे भी अधिक दूर क्षेत्र मे विहार करता है। इस विहार काल का परिमाण बारह वर्ष तक का हो सकता है। निर्यापकाचार्य को ढूढने मे साधु बारह वर्ष तक व्यतीत कर सकता है।

प्रश्न—निर्यापकाचार्य की गवेपणा करने के लिये विहार करने वाले साधु का क्रम विधान क्या है? किस विधि से वह साधु निर्यापकाचार्य का अन्वेपण करता है?

उत्तर—निर्यापकाचार्य के अन्वेपण करने के लिए विहार करने वाले की विधि पाच प्रकार की है। १ एक रात्रि प्रतिमा कुशल, २ स्वाध्याय कुशल, ३ प्रश्न कुशल ४ स्थडिलशायी और ५ आसक्ति रहित ये पाच विधिया हैं।

प्रश्न—एक रात्रि प्रतिमा कुशल किसे कहते है?

उत्तर—निर्यापकाचार्य की तलाश मे निकलने वाला साधु तीन उपवास करता है और चतुर्थ रात्रि मे ग्राम या नगरादि के बाहर प्रदेश मे अथवा श्मशान मे पूर्व दिशा या उत्तर दिशा मे अथवा जिधर जिन प्रतिमा हो उधर मुह करके दोनो पावो के मध्य चार अगुल का अन्तर रखकर खडा हुआ नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि को निश्चल करके शरीर से ममत्व का परित्याग करता है। अर्थात् चित्त को स्थिर कर कायोत्सर्ग करता है। मनुष्य तिर्यंच देव तथा अचेतन द्वारा किये गये उपसर्ग का शान्ति से सहन करता है। सूर्योदय तक वह मुनि भय से उस स्थान को छोड कर न तो आगे पीछे होता है और न नीचे गिरता है। यह एक रात्रि की प्रतिमा है। इसमे जो कुशल होता है उसे

उसको एक रात्रि प्रतिमा कुशल कहते हैं।

प्रश्न—स्वाध्याय-कुशल किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो साधु स्वाध्याय करके दो कोश चलकर जिस क्षेत्र में आहार मिलने की योग्यता हो ऐसे क्षेत्र की वसतिका में जाकर ठहरता है अथवा यदि मार्ग अधिक हो तो सूत्र पौरुषी या अर्थ पौरुषी के समय मङ्गल करके आगे भोजन के लिए विहार करता है उस साधु को स्वाध्याय कुशल कहते हैं।

प्रश्न—प्रश्न-कुशल किसे कहते हैं ?

उत्तर—मार्ग मे पड़ने वाले स्थानों में विहार करते हुए मुनियों, आर्यिकाओं, बाल वृद्ध युवक श्रावकों को पूछता हुआ साधु निर्यापकाचार्य का अन्वेषण करता है। उसे प्रश्न कुशल कहते हैं।

प्रश्न—स्थंडिलशायी किसे कहते हैं ?

उत्तर—जहां भिक्षा भोजन उपलब्ध हुआ वहां काय शोधन के लिए (मलादि का त्याग करने के लिए) स्थंडिलभूमि (प्रासुक स्थान) का अन्वेषण करता है, रात्रि को स्थंडिल भूमि पर सोता है उसे स्थंडिलशायी कहते हैं।

प्रश्न—आसक्ति रहित किसको कहते हैं।

उत्तर—जो साधु निर्यापकाचार्य का अन्वेषण करने को निकला है, वह किसी देश, नगर, मनुष्य या भोजनादि मे आसक्ति रहित होकर विहार करता हुआ अपने सभोग के योग्य साधुओं के साथ मे मिलकर विहार करता है। अथवा एक दो साधु को अपने साथ मिलाकर विहार करता है उसे आसक्ति रहित कहते हैं।

प्रश्न—समाधिमरण करने की अभिलाषा से कोई साधु या आचार्य विहार कर रहा है और अकस्मात् वाणीभङ्ग हो जावे, अर्थात् मूकावस्था प्राप्त होजावे या मृत्यु को प्राप्त होजावे तो क्या वह आराधक माना जाता है ?

उत्तर—उसका उद्देश यह था कि गुरु या आचार्य के निकट जाकर अपने सम्पूर्ण दोषो की आलोचना करूंगा, इस अभिप्राय से निकले हुए साधु विहार करते हुए गूंगे होजावें या मृत्यु को प्राप्त होजावें तो वे आराधक ही माने गये हैं।

स. प्र.

पू. कि ५

शङ्का—जिन्होंने गुरु के समीप आलोचना नहीं की है तथा गुरु प्रदत्त प्रायश्चित का भी आचरण नहीं किया है वे साधु या आचार्य आराधक कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—अपराध करके जो साधु आलोचना नहीं करता है, वह मायावी होता है और जिसके हृदय मे माया शल्य रहती है, उसके रत्नत्रय की निर्मलता नहीं होती है। ऐसा सोचकर जिन्होंने अपने अन्तःकरण मे शल्य का उद्धार करने का निश्चय किया है; जिनके चित्त मे दुःख से परिपूर्ण ससार से भय उत्पन्न हुआ है, यह शरीर अपवित्र विनश्वर निःसार और सदा दुःख देने वाला है, तथा इन्द्रिय सुख आपात (प्रारम्भ मे) रमणीय अतृप्ति जनक और तृष्णा को बढ़ाने वाला है ऐसा विचार कर जो शरीर और इन्द्रिय सुख से विरक्त हुए हैं, जिनके मनमे सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र मे अतिउत्कृष्ट श्रद्धा उत्पन्न हुई है तथा जो अपराध निवेदन करने के लिए गुरु के निकट जा रहे हैं ऐसे साधु या आचार्य के, वचन-शक्ति का विनाश मार्ग मे ही होजावे या मरण को प्राप्त होजावे तो वे आलोचना किये बिना भी, आलोचना करने के निर्मल भाव होने के कारण रत्नत्रय के आराधक माने गये हैं।

गुरु का अन्वेषण करने के लिए आये हुए साधु या आचार्य को देखकर निर्यापकाचार्य सघ के साधु आदि का क्या कर्तव्य कर्म होता है, इसे दिखाते हैं।

आएसं एज्जंतं अब्भुट्ठिंति सहसा हु दट्ठूणं।
आणा संगह वच्छलदाए चरणे य णादुं च ॥ ४१० ॥ भग. आ.)

अर्थ—निर्यापकाचार्य संघ के साधु, अतिथि साधु को आते हुए देखकर शीघ्र खडे होजाते हैं। खडे होजाने से जिनाज्ञा का पालन होता है। आगत अतिथि का स्वागत व सग्रह होता है। वात्सल्य प्रदर्शन होता है। और आगत अतिथि के आचार व्यवहार का ज्ञान होता है।

सघ स्थित मुनि और आगन्तुक मुनि एक दूसरे की प्रतिलेखनादि क्रियाओं की परीक्षा करते हैं। कारण कि आचार्यों के आम्नाय व उपदेश भिन्न भिन्न होते हैं। इसलिए उनके आचार में भेद पाया जाता है। अतएव एक दूसरे की प्रतिलेखनादि आवश्यक क्रियाओं का आचरण देखते हैं। गुप्ति और समिति का पालन सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करते हैं।

आशय यह है कि अपने सघ को छोडकर जो साधु अपने चारित्र को उज्ज्वल करने आया है, वह भी सघ के मुनियो के स्वभाव, उनके सयम पालन व आवश्यक क्रियाओ के आचरणादि की परीक्षा करता है। तथा सघ के साधु भी आगन्तुक के स्वभाव उसके इन्द्रिय विजय रूप सयम और प्राणियों की रक्षा रूप सयम का निरीक्षण करते हैं। यह साधु प्रतिलेखनादि क्रियाओं मे किस प्रकार जीव रक्षा

पर ध्यान देता है तथा इसने इन्द्रियो के विषयो पर कितना विजय प्राप्त किया है तथा यह सामायिकादि आवश्यक क्रियाओ का यथा समय प्रमाद रहित होकर आचरण करता है या नहीं ? मन वचन काय की चचलता को रोकने की इसकी । शक्ति कैसी है ? इसका गमन, भाषण, भोजनादि आगम के अनुकूल है या नहीं ? इत्यादि वातों की परीक्षा करते हैं । शास्त्रों मे कहा है .—

वास्तव्यागन्तुकाः सम्यग्विविधैः प्रतिलेखनैः ।
क्रियाचारित्रबोधाय परीक्षन्ते परस्परम् ॥ ४२२ ॥
आवासयठागादिसु पडिलेहणवयणगहणणिक्खेवे ।
सज्झाए य विहारे भिक्खग्गहणे परिच्छंति ॥ ४१२ ॥ (भग आ)

अर्थात्—उस सघ मे निवास करने वाले व आगन्तुक मुनि परस्पर आचरण मे आने वाली क्रिया व चारित्र का पालन कैसा है इसकी परीक्षा करते हैं । एव आवास, स्थान, प्रतिलेखन, वचन, ग्रहण, निक्षेप, स्वाध्याय, विहार और भिक्षा ग्रहण की भी जाच करती है ।

अवश्य कर्त्तव्य को आवश्यक कहते हैं । अर्थात् सवर और निर्जरा के अभिलाषी साधु सामायिक प्रतिक्रमणादि क्रियाओ का अवश्य आचरण करते हैं । अतः उनको आवश्यक कहते है । उसका पालन समय पर और विधिपूर्वक करते हैं या नहीं करते ? इसका परस्पर परीक्षण करते हैं । मन वचन काय की शुद्धि पूर्वक दो नमस्कार बारह आवर्त्त तथा प्रत्येक दिशा की ओर एक एक नमस्कार करने से ४ नमस्कार करना इत्यादि क्रियाओ का पालन ठीक २ रीति से करते हैं, या नहीं ? इसका सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करते है । नेत्रों से उपकरणों का शोधन कर पिच्छी से मार्जन करना, देख शोध कर व पिच्छिका से मार्जन कर उपकरणादि को उठाना व रखना, हितमित प्रिय वचन बोलना, नेत्रो से चार हाथ भूमि देखकर गमन करना, निर्दोष भिक्षा का ग्रहण करना इत्यादि क्रियाओं मे सघ मे रहने वाले मुनि और आगन्तुक मुनि परस्पर परीक्षा करते हैं । योग्य काल मे और विधि पूर्वक सामायिकादि कर्त्तव्यो का पालन करते हैं या नहीं ? केवल द्रव्य सामायिक मे ही प्रवृत्ति करते हैं या भाव सामायिकादि मे भी प्रवृत्त होते हैं ? मुख से केवल सामायिकादि आवश्यक का पाठ (उच्चारण) करना तथा काय द्वारा सामायिकादि क्रिया करना, यह द्रव्य सामायिकादि कहे जाते हैं ? अशुभ मन वचन काय-योग का त्याग करना, तीर्थंकरो के गुणो तथा आचार्य उपाध्यायादि पूज्य पुरुषो के गुणो का स्मरण चिन्तन करना, अपने व्रत मे लगे हुए दोषों की गर्हा व निन्दा करना, त्याग करने योग्य पदार्थों का त्याग करना, शरीर से ममत्व का त्याग करना इत्यादि आवश्यको के पालन मे जो तल्लीनता दिखाई देती है उसे आवश्यक परिणति कहते हैं । इस आवश्यक परिणति की जाच परस्पर वास्तव्य और आगन्तुक साधु ध्यान पूर्वक करते हैं ।

स. प्र.

प्रतिलेखन परीक्षा

यह साधु, प्रतिलेखन क्रिया करने के पूर्व "यह प्रतिलेखन (पिच्छिका) योग्य है या नहीं ?" इस प्रकार देख भाल करता है या नहीं ? मृदु, लघु और सुकुमार प्रतिलेखन (पिच्छिका) से यत्नपूर्वक प्रमार्जन करता है या नहीं ? शीघ्र २ मार्जन करता हुआ दूर के जीवों को नीचे तो नहीं गिरा देता, उनको पीड़ा तो नहीं पहुँचाता या परस्पर विरोधी जीवों का सम्मिश्रण तो नहीं (सम्बन्ध) करता ? आहार करते हुए, आहार करने मे प्रवृत्ति करते हुए, अंडो को लेकर निकलते हुए, अपने निवास स्थान मे बैठे हुए या मूर्छा को प्राप्त हुए जीवों का तो प्रमार्जन नहीं करता है ? अर्थात् पिच्छिका से उन्हें तितर वितर करके पीड़ा तो नहीं देता है ? इसकी जाच करते हैं।

वचन परीक्षा

यह साधु कठोर वचन, परनिन्दा और आत्म प्रशंसा कारक वचन, आरम्भ व परिग्रह मे प्रवृत्ति कराने वाले वचन, मिथ्यात्व के पोषक वचन, मिथ्याज्ञान के उत्पादक वचन, असत्य वचन या गृहस्थों के उच्चारण करने योग्य वचन तो नहीं बोलता है ? जिसको उठाना या रखना हो उस वस्तु का तथा उनके आधार भूत स्थान का (दोनो का) प्रमार्जन करके उठाता या रखता है ? या विना प्रमार्जन किये ही उठाता धरता है ? इन बातों का परीक्षण करते हैं।

स्वाध्याय परीक्षा

यह कालादि की अशुद्धि का परिहार करके स्वाध्याय काल मे ही सूत्र ग्रन्थों का स्वाध्याय करता है या अस्वाध्याय कालादि मे भी सूत्र ग्रन्थो का स्वाध्याय करता है ? अथवा ग्रन्थ का उच्चारण व अर्थ का व्याख्यान किस प्रकार करता है ? इत्यादि स्वाध्याय की जाच करते हैं।

मलमूत्र क्षपण परीक्षा

मल मूत्रादि के त्याग करने की जाच इस प्रकार करते हैं कि मुनि अपने निवास स्थान से दूर प्रदेश मे एक हाथ या इससे अधिक परिमाण युक्त जीव जन्तु रहित, जीवो के विलादि से वर्जित, समतल स्थंडिल भूमि (जिसमे किसी का निषेध नहीं हो तथा जो मार्ग मे चलते हुए मनुष्यों की दृष्टि के अगोचर हो ऐसे) पर मलमूत्र का त्याग करता है या इसके विपरीत स्थान मे करता है ? इस प्रकार संघ के मुनि आगन्तुक साधु की व आगन्तुक मुनि सघ के साधुओ की परस्पर परीक्षा करते हैं—जाच करते हैं।

भिक्षा परीक्षा

भिक्षा की परीक्षा इस प्रकार करते है–भ्रामरी करते समय अर्थात् गोचरी मे निकला हुआ यह मुनि बिना परीक्षा किये शुद्ध अशुद्ध सब का ग्रहण करता है या नवकोटि से शुद्ध आगमोक्त भिक्षा करता है ?

प्रश्न—समाधिमरण की साधना के लिए आये हुए अतिथि मुनि को सघ के आचार्य अपने सघ मे शामिल करते हैं या नहीं ?

उत्तर—आगन्तुक मुनि विनय पूर्वक सघ के आचार्य की वन्दना करके अपने उद्देश्य को प्रकट कर उनसे सघ मे सम्मिलित करने की प्रार्थना करता है। तब आचार्य योग्य आचरण वाले उस साधु को तीन दिन तक ठहरने को स्थान देते हैं तथा चटाई आदि देकर सहायता करते हैं। किन्तु उसके साथ सभोग (साधु योग्य आचरण) का सम्बन्ध नहीं रखते हैं। तीन दिन पर्यन्त उसकी पूर्व कथित रीति से परीक्षा करने के लिए योग्य मुनियो को नियत करते हैं। वे मुनि आगत साधु की तीन दिन मे आचरणादि की जांच करके आचार्य महाराज से निवेदन करते हैं। उनका वचन सुनकर यदि मुनि आश्रय देने योग्य नहीं होता है तो उसको सवाटक दान (सघ मे सम्मिलित) नहीं करते हैं और वसतिका (ठहरने के लिए स्थान) और चटाई आदि की सहायता भी नहीं करते हैं।

आचारहीन साधु को आश्रय देने मे हानि

प्रश्न—अयुक्त आचरणवाले आगत साधु को आश्रय देने मे क्या हानि होती है ?

उत्तर—जो मुनि उद्गम, उत्पादना एव एषणा के दोषों को नहीं बचाता है, तथा अपने लगे हुए दोषो की आलोचना नहीं करता है ऐसे मुनि के साथ जो आचार्य रहता है अथवा अन्य मुनियो को उसके साथ रहने की आज्ञा व अनुमति प्रदान करता है, वह भी आगत मुनि के समान दोषी माना जाता है। अत. उस अयुक्त आचरण वाले आगन्तुक को सघ मे स्थानादि नहीं देकर सघ से सर्वथा पृथक् कर देना ही उचित है। क्योकि उसके ससर्ग से सघ के मुनियो मे भी आचार हीनता अथवा आचार मे शिथिलता आने की सम्भावना रहती है।

प्रश्न—योग्य आचार का पालक आगत साधु आचार्य की बिना परीक्षा किये ही सघ मे सम्मिलित होता है कि वह भी आचार्य की परीक्षा करता है। यदि परीक्षा किये बिना ही सङ्घ मे मिल जाता है तो उसके उत्तम कार्य (समाधिमरण) मे विघ्न उपस्थित होने की भी पूर्ण सम्भावना बनी रहती है। यदि आचार्य की परीक्षा करके सङ्घ मे सम्मिलित होता है तो उसे निर्यापकाचार्य के किन २ गुणो की परीक्षा करनी चाहिए, जिससे उसको इष्ट कार्य मे सफलता मिले।

स. प्र

उत्तर—समाधिमरण को निर्विघ्न सम्पन्न करने के इच्छुक आगन्तुक मुनि को आचार्य के गुणों की परीक्षा अवश्य करनी चाहिए जिसमे निम्नोक्त आठ गुण विद्यमान हो वह निर्यापकाचार्य समाधिमरण कार्य का भले प्रकार सम्पादन करने मे शक्तिमान् हो सकता है। इन गुणों का वर्णन आचार्य के गुणों का वर्णन करते समय द्वितीय किरण मे कर आये हैं फिर भी प्रसङ्गवश यहा भी थोडा सा वर्णन किया जाता है।

निर्यापकाचार्य के गुण

१. आचारवान्, २. आधारवान्, ३. व्यवहारवान्, ४. प्रकारक, ५. आयापायदर्शनोद्यत, ६. उत्पीडक, ७ अपरिस्रावी, ८. निर्वापक (सुखकारी) इन आठों गुणों से युक्त प्रसिद्ध कीर्ति आचार्य आगत अतिथि के मनोरथ को पूर्ण कर सकता है। भगवती आराधना मे वही कहा है :—

आयारवं च आधारवं च ववहारवं पकुव्वीय।
आयावायविदंसी तहेव उप्पीलगो चेव ॥ ४१७ ॥
अप्परिस्साई णिव्वावओ णिज्जावओ पहिदकित्ती।
णिज्जवणगुणोवेदो एरिसओ होदि आयरिओ ॥ ४१८ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—जो महात्मा आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, प्रकर्त्ता, आयापायदर्शनोद्यत, उत्पीडक, अपरिस्रावी, निर्वापक इन आठ गुणो से भूषित होता है वह प्रख्यातकीर्त्ति आचार्य निर्यापक होता है। अर्थात् आचार्य के यह प्रधान आठ गुण हैं। वे जिसमे पूर्ण रूप से पाये जाते हैं, वह निर्यापकाचार्य आगन्तुक मुनि के समाधिमरण का निर्वाह करने में समर्थ होता है।

आचारवान आचार्य का स्वरूप

प्रश्न—१ आचारवान् किसे कहते हैं ? उसका विशद विवेचन करके स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर—आचार्य का प्रथम गुण आचारवान् है, दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपश्चाचार और वीर्याचार इन पाच प्रकार के आचार का जो स्वय पालन करते हैं तथा अन्य शिष्यो को पालन करवाते हैं, उन्हें आचारवान् कहते हैं।

इसका आशय यह है कि जो आचाराग ग्रन्थ के तथा उसके रहस्य के वेत्ता हैं और पाच प्रकार के आचार के पालन मे स्वयं

प्रवृत्ति करते हैं और दूसरे मुनियो को भी प्रवृत्ति कराते हैं, उन्हें आचारवान कहते हैं।

जीव अजीवादि तत्त्वो का निर्मल श्रद्धान रूप जो परिणाम है, उसे दर्शनाचार कहते हैं। पाच प्रकार के स्वाध्याय मे दोष वर्जित प्रवृत्ति करने को ज्ञानाचार कहते हैं। हिंसादि से निवृत्ति रूप आत्म-परिणाम को चारित्राचार कहते हैं। चार प्रकार के आहार का त्याग करना, भूख से कम भोजन करना, दाता, गृह, आहार, वर्त्तन आदि की अटपटी प्रतिज्ञा लेना, रसों का त्याग करना, कायको कष्ट देना, एकान्त स्थान मे निवास करना इत्यादि तपस्या करने को तपआचार कहते हैं। तपश्चरण करने मे आत्मा की शक्ति को न छिपाना वीर्याचार कहलाता है। ये पाच प्रकार के आचार हैं।

शङ्का—विनय और आचार मे क्या भेद है? क्योकि सम्यग्दर्शनादि को निर्मल करना विनय है और उसी को आचार नाम से आपने कह दिया है।

समाधान—सम्यग्दर्शन ज्ञानादि को निर्मल करने के लिए जो यत्न किया जाता है वह तो विनय है और निर्मल किये गये सम्यग्दर्शनादि मे यथाशक्ति प्रवृत्ति करना आचार है। इस प्रकार विनय और आचार मे भेद है। शास्त्र मे कहा है :—

"दृग्धीवृत्ततपसां मुमुक्षोर्निर्मलीकृतौ।
यत्नो विनय आचारो वीर्याच्छुद्धेषु तेषु तु॥"

इसका तात्पर्य ऊपर आ गया है।

आचारवान् का अन्य प्रकार से विवेचन

दूसरी तरह भी आचारवत्व गुण का विवेचन निम्नोक्त प्रकार है—

दसविह ठिदिकप्पे वा हवेज्ज जो सुट्ठिदो सयायरिओ।
आयारवं खु एसो पवयणमादासु आउत्तो॥ ४२०॥ (भग. आ)

अर्थ—अचेलकतादि दश प्रकार का स्थिति कल्प है, उसमे जो उत्तमता से स्थिर है। तथा पाच समिति और तीन गुप्ति रूप अष्ट प्रवचन माता का पालक है, वह आचार्य आचारवान् गुण युक्त होता है।

स्थिति कल्प के दस भेद

प्रश्न—दश प्रकार के स्थिति कल्प मे स्थिर रहने वाले आचार्य को आचारवान् कहा है। वह स्थिति कल्प कौन सा है?

उत्तर—१. वस्त्रादि परिग्रह का त्याग करना अर्थात् नग्नपना धारण करना, २ उद्दिष्ट भोजनादि का त्याग, ३. शय्याघर के पिण्डका त्याग, ४. राजपिंड त्याग, ५. कृतिकर्म, ६. मूलोत्तर गुण परिपालन, ७. ज्येष्ठत्व ८. प्रतिक्रमण, ९ एक निवास और १० पज्ज पर्या अर्थात् वर्षा काल मे चातुर्मासिक निवास। इस प्रकार स्थिति कल्प के दश भेद आगम मे कहे गये है। इनका वर्णन निम्न प्रकार जानना चाहिए।

नग्नत्व स्थिति कल्प

(१) सम्पूर्ण वस्त्रादि परिग्रह के त्याग करने को अथवा नग्नत मात्र को प्रथम स्थिति कल्प कहा है। इसके बिना मुनिपना सम्पन्न नहीं होता है। समस्त वस्त्रादि का परिहार करने से या नग्नता धारण करने मे सयम मे विशुद्धता आती है। कारण कि वस्त्रादि धारण करने से उनको धोने से जलादि के जीवो का घात होता है। इससे सयम का विनाश अवश्यभावी है। नग्नता धारण करने से इन्द्रियो पर विजय होता है। वस्त्रादि का परित्याग करने से लोभादि कषाय का अभाव सिद्ध होता है तथा ध्यान और स्वाध्याय की निर्विघ्न सिद्धि होती है। परिग्रह का अभाव होने से निर्ग्रन्थता और वीतरागता का पोषण होता है। शरीर मे अनादर भाव (अप्रीति) तथा स्वातन्त्र्य प्राप्त होता है। चित्त मे विशुद्धि विशेष उत्पन्न होती है तथा मनोमालिन्य का अभाव तथा अन्त करण की निर्विकारता प्रकट होती है। सदा निर्भीकता रहती है। परिग्रह का त्याग करने से सब जीवों को विश्वास उत्पन्न होता है। प्रक्षालनादि आरम्भ जन्य पाप से निवृत्ति उत्पन्न होती है। शरीर की विभूषा और मूर्छा का अभाव होता है। परिग्रह रूप भार के उतर जाने से आत्मा मे लघुता (हल्कापन) आती है। तीर्थंकर भगवान् के समान आचरण का सद्भाव सिद्ध होता है। शारीरिक शक्ति और आत्मीय पराक्रम का प्रकाश होता है। ऐसे ही और भी अपरिमित गुणो की उपलब्धि होती है। इसलिए इसे स्थिति कल्प रूप से भगवान् ने निरूपण किया है।

भगवती आराधना की सस्कृत टीकानुसार इसका वर्णन यह है—वस्त्र पहनने या ओढने से पसीने से जीवो की उत्पत्ति होती है और उनको धोने से उन जीवों की हिंसा होती है, अतःवस्त्र का त्याग करने पर उक्त दोष का अभाव होने से सयम में विशुद्धि उत्पन्न होती है। लज्जाजनक शरीर के विकार को रोकने से इन्द्रिय विजय सिद्ध होता है। चौरादि पर क्रोधादि उत्पन्न करने का कारण वस्त्रादि परिग्रह है। उसका सर्वथा अभाव होने से कषाय का अभाव सम्पन्न होता है। वस्त्र फटजाने पर उसको सीने के लिए सूई धागा कपड़ा आदि प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है, उससे ध्यान और स्वाध्याय मे विघ्न बाधा उपस्थित होती है। वस्त्र के त्यागी के ध्यान व स्वाध्याय की निर्विघ्न

सिद्धि होती है। वस्त्रादि मे ममत्व होने पर ही मनुष्य उसे पहनता व ओढता है। वायु के कारण शरीर से वस्त्र हट जाने पर पुनः उसे हाथ से सभाल कर यथास्थान पर करते हैं। इन वातो से वस्त्र धारक के मूर्छा भाव सिद्ध होता है। दिगम्बर (नग्न) मुनि इस महा दूषण से सदा मुक्त रहते हैं। मनोज्ञ व अमनोज्ञ सव प्रकार के बाह्य परिग्रह का त्याग करने से रागद्वेष का अभाव (वीतराग भाव) सिद्ध होता है। नग्न मुनि शीत,वात और आतापादि की बाधाओ का सहन करते हैं,अत उनके शरीर से निस्पृहता सिद्ध होती है। निर्ग्रन्थों को देशान्तर मे गमन करते समय दूसरे की सहायता की अपेक्षा नहीं होती है, इसलिए उनके स्वतन्त्रपना सिद्ध होता है। विकार भाव को छिपाने के लिए लगोटी आदि पहनी जाती है। जिसने लगोटी आदि का परित्याग कर दिया है, उसके चित्त की निर्विकारता प्रकट होती है। वस्त्रादि परिग्रह रखने वालो को चौरादि से मारण ताडनादि सम्बन्धी भय लगा रहता है। दिगम्बर (नग्न) मुनि इस भय से सदा विमुक्त रहते हैं। वे सर्वदा निर्भय होकर विचरते हैं। नग्न मुनि को किसी द्रव्य से प्रयोजन नहीं होता है। जब कि वे शरीर पर लेशमात्र वस्त्र भी नहीं रखते हैं तब वे अन्य वस्तु का ग्रहण कैसे करेंगे, ऐसा समझ कर ससार के सब प्राणी उन पर विश्वास करते हैं। चौदह प्रकार के करण रूप परिग्रह के धारक श्वेताम्बर साधुओ के समान दिगम्बर मुनियो को बहुत प्रति लेखन नहीं करना पड़ता है तथा वस्त्रो का प्रक्षालन और बहुत भार का वहन आदि नहीं करना पडता है। वही कहा है—

"म्लाने क्षालनतः कुतः कृतजलाद्यारंभतः संयमः।
नष्टे व्याकुलचित्तताथ महतामप्यन्यतः प्रार्थनम् ॥ १ ॥
कौपीनेऽपि हृते परैश्च झगिति क्रोधः समुत्पद्यते।
तन्नित्यं शुचि रागहृच्छमवतां वस्त्रं ककुम्मण्डलम् ॥ २ ॥
विकारे विदुषां द्वेषो नाविकारानुवर्त्तने।
तन्नग्नत्वे निसर्गोत्थे को नाम द्वेषकल्मषः ॥
नैष्किञ्चन्यमहिंमा च कुतः संयमिनां भवेत्।
ये संगाय यदीहन्ते वल्कलाजिनवाससाम् ॥"

भावार्थ—शरीर के स्वेद से तथा धूलि आदि के सयोग से वस्त्र मेला हो जाता है। यदि उसे न धोया जावे तो उसमें सम्मूर्छन जीवों की उत्पत्ति होती है। और जल से धोने पर जलादि के जीवो की हिंसा अवश्यभावी होने से सयम की रक्षा कैसे हो सकती है? तथा

वस्त्र के खोजाने या नष्ट हो जाने पर चित्त मे व्याकुलता उत्पन्न होती है। महान् पुरुषो को भी अन्य से वस्त्र की याचना करनी पड़ती है। यदि चौर लुटेरे डाकू एक कौपीन (लंगोटी) को चुरालें या छीनने लगें तो उन पर जल्दी से क्रोध उत्पन्न होता है। वस्त्र के निमित्त से अनेक दोष पैदा होते हैं, इसलिए परम शान्त रागद्वेष के विजेता मुनीश्वरों ने दिग्मण्डल को ही स्थायी और पवित्र वस्त्र माना है।

विद्वानो ने इन्द्रिय विकार का सद्भाव होने पर ही नग्नता धारण करना निन्दनीय माना है। किन्तु जिनकी बालक के समान स्वाभाविक निर्विकार वृत्ति है, उनकी नग्नता आदरणीय होती है। विवेकी मनुष्य निर्विकार नग्न स्वभाव पर रोष नहीं करते हैं।

जो मनुष्य वृक्षों की छाल तथा चर्मादि के वस्त्र की इच्छा रखते हैं। अर्थात् किसी प्रकार के वस्त्र से शरीर ढकते हैं, उन संयमियो के आकिंचन्य और अहिंसा का सद्भाव कैसे हो सकता है? क्योंकि वस्त्र के कारण हिंसा और परिग्रह (मूर्छा) उत्पन्न होती है।

उद्दिष्ट भोजनादि त्याग कल्प

(२) उद्दिष्ट भोजनादि का त्याग—आधा कर्म तथा उद्दिष्ट भोजन वसतिका और उपकरण का त्याग करने पर उद्दिष्ट त्याग नामक द्वितीय स्थिति कल्प होता है। भिक्षादि मे आधा कर्म महान् दोष है। इसका स्वरूप पिंड शुद्धि अधिकार मे कह आये हैं। साधुओं को उद्देश्य करके बनाया गया आहार, जल तथा वसतिका और कमण्डलु आदि उपकरण मुनियों के लिए अग्राह्य माने गये हैं। इसलिए मुनि उद्दिष्ट भोजन उपकरणादि का त्याग करते हैं और अनुद्दिष्ट निर्दोष आहार, जल, वसतिका और उपकरणो का ग्रहण करते हैं।

शय्याधर के पिंड का त्याग

(३) शय्याधर गृह-पिंड त्याग—वसतिका का बनवाने वाला, तथा उसका संस्कार (लिपाने पोताने तथा मरम्मत) करवाने वाला और 'आप यहा ठहरिये' इस प्रकार वसतिका मे ठहरने की आज्ञा देने वाला ये तीनों शय्याधर माने गये हैं। साधु इनके घर का आहार ग्रहण नहीं करते हैं। यदि मुनि इनका आहार ग्रहण करने लगें तो लोक मे निन्दा होने की संभावना रहती है। लोग कहने लगते हैं कि मुनि इनकी वसतिका मे रहते हैं, इसलिए ये धर्म के लाभ से चुपचाप गुप्त रूप से उनके लिए आहार की योजना कर देते हैं। तथा दूसरा दोष यह उत्पन्न होता है कि यदि मुनि शय्याधर का आहार लेने लगें तो जो आहार देने मे असमर्थ हैं, दारिद्र्य से पीड़ित हैं—वह लोकापवाद के भय से मुनियो को निवास करने के लिए वसतिका नहीं देंगे। कारण कि लोग कहने लगते हैं देखो मुनि इनकी वसतिका मे रहते हैं और ये भाग्यहीन उनको आहार नहीं देते हैं। इत्यादि लोक निन्दा का भय उन्हें वसतिका प्रदान करने से वंचित रखेगा।

शय्याधर का भोजन पान ग्रहण करने से तीसरा दोष यह उत्पन्न होता है कि वसतिका और आहार देने वाले, बहुत उपकार के कर्त्ता दाता के लिए मुनि के चित्त मे स्नेह का आविर्भाव होने लगेगा। ये तीन दोष शय्याधर का आहार ग्रहण करने से उत्पन्न होते हैं,इसलिए वीतरागी साधु उक्त दोषो से मुक्त रहने के लिए शय्याधर के घर का भोजन ग्रहण नहीं करते हैं।

अन्य कोई आचार्य शय्याधर पिंडत्याग के स्थान मे शय्या-गृह-पिंडत्याग ऐसा पाठ मान कर उसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि मार्ग मे गमन करते हुए मुनि रात्रि के समय जिस घर मे शयन करते हैं, उसी घर मे दूसरे दिन आहार का परिहार करते हैं। उस घर का भोजन ग्रहण नहीं करते हैं।

कोई आचार्य इसका 'वसतिका सम्बन्धी द्रव्य के निमित्त से उत्पन्न हुए भोजन का त्याग' ऐसा अर्थ करते हैं। अर्थात् वसतिका से सम्बन्ध रखने वाले द्रव्य के निमित्त से जो आहार बना हो उसका ग्रहण मुनि नहीं करते हैं। इस प्रकार व्याख्या करते हैं।

राज पिंड त्याग

(४) राजपिंड त्याग—इक्ष्वाकु आदि राजवश मे उत्पन्न हुए राजा महाराजा के घर का तथा राजा लोगो के समान महर्द्धिक आमात्यादि के घर का आहार मुनि लोगों के लिए वर्जित माना है। इसका कारण निम्नोक्त प्रकार है। राजा महाराजाओं के या उनके समान महान् वैभव सम्पन्न आमात्यादि के घर मे आहार के निमित्त मुनि जावे तो वहा पर स्वच्छद विचरने वाले कुत्ते आदि दुष्ट जीवों के द्वारा तथा मुनि के रूप को देखकर वन्धन तुडाकर इधर उधर भागते हुए घोडे आदि के द्वारा मुनि पर उपद्रव होने की सभावना रहती है। तथा राज भवन मे निवास करने वाले गर्विष्ट दास दासी आदि मुनि का परिहास करने लगते हैं। और रोक रखी हुई मैथुन सज्ञा से पीडित भोग पत्निया (पासवान) तथा पुत्र की कामना रखने वाली वहा की स्त्रिया बलात्कार मुनि को उपभोग की कामना से घर मे प्रवेश करवा लेती हैं। इससे मुनि के अनिष्ट की सभावना बनी रहती है। राज भवन मे रत्न सुवर्णादि द्रव्य इधर उधर विखरे पडे रहते हैं, उनको दूसरा कोई चुरा ले तो भी सयमी पर लाछन आता है। लोग कहने लगते हैं कि यहा अमुक मुनि के सिवा अन्य कोई नहीं आया है, वे ही चुरा ले गये होगे। इस प्रकार चोरी का अपवाद होता है। राजा इस मुनि का विश्वास करके राज्य का विध्वस कर देगा, इस प्रकार कुद्ध हुए आमात्यादि मुनि का वध या वधन करने मे उद्यत होते देखे गये हैं। राजादि के घर मे चीर आदि की विकृति का सेवन होता है। तथा दरिद्र कुलोत्पन्न साधु के मन मे राज भवन के वहु मूल्य रत्नादि को देख कर लोभ कषाय का उदय होने पर उनका अपहरण करने की इच्छा का प्रादुर्भाव हो सकता है। सुन्दर देवागना समान उत्तम स्त्रियो का अवलोकन होने से मुनि के चित्त मे राग का उद्रेक हो सकता है। इन्द्र तुल्य राज भवन की विभूति का देखकर मोह के वशीभूत हुआ मुनि 'भविष्य मे मुझे ऐसी विभूति मिले' ऐसा निदान करने मे प्रवृत्त हो जाता है। इन दोषों की

सभावना जहा धनी रहती है, उनके घर का आहार मुनि के लिए निषिद्ध माना गया है। और जहां उक्त दोषों में से किसी दोष की संभावना न हो और अन्य स्थान मे आहार की योग्यता न मिले तो स्वाध्यायादि के विच्छेद का निवारण करने के लिए अर्थात् स्वाध्याय व ध्यान सम्पादन करने के लिए राजा के महलों का भोजन भी निषिद्ध नहीं माना गया है।

कृति कर्म

(५) कृतिकर्म—पांच नमस्कार, छह आवश्यक, आसिका और निषेधिका इन तेरह प्रकार के कर्त्तव्य कर्म का परिपालन करना कृतिकर्म कहलाता है।

अथवा गुरु का विनय करना तथा महान् पूज्य पुरुषो की शुश्रुषा करना कृतिकर्म है।

मूलोत्तर गुण परिपालन

(६) मूलगुणो और उत्तरगुणों का सुचारु रूप से पालन करना छठा स्थिति कल्प है। इसी को व्रतारोपणयोग्यता नाम का छठा स्थिति कल्प माना है।

जिस सयमी को जीवों का यथार्थ स्वरूप ज्ञात होगया हो उसीको नियम से मुनियों के व्रत देना, यह व्रतारोपण योग्यता नामक स्थिति कल्प है।

जिसने पूर्ण निर्ग्रन्थावस्था धारण की है, तथा उद्दिष्ट आहारादि का तथा राजपिंडग्रहण करने का त्याग किया है और जो गुरु-भक्त एव विनय शील है, उसको मुनि–व्रत के योग्य माना है।

व्रत प्रदान करने का क्रम निम्न प्रकार है—जिस समय गुरु आसन पर विराजमान हो उस समय आर्यिकाएँ सम्मुख बैठी हों उनको तथा श्रावक और श्राविकाओ को व्रत दिये जाते हैं। आसन पर बैठे हुए गुरु के वाम भाग मे बैठे हुए मुनि को व्रत देते हैं। अर्थात् दीक्षा ग्रहण करते समय साधु को आचार्य के बांये हाथ की ओर बैठना चाहिए।

अहिंसादि का स्वरूप समझ कर हिंसादि पापो से विरक्त होने को व्रत कहते हैं।

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरदेव ने रात्रि भोजन त्याग और पच महाव्रतों का उपदेश दिया है। प्रमत्त योग से अर्थात् कषाय

युक्त परिणाम से प्राणियो के प्राणो को पीडा पहुँचाने को हिंसा कहते हैं। इसके त्याग करने को प्रथम अहिंसा महाव्रत कहा है। असत्य भाषण से प्राणियो को दु ख होता है तथा अपनी आत्मा के सत्य परिणाम का घात होता है, ऐसा समझकर स्व पर की दया करने वाले दयालु मुनि असत्य भाषण का त्याग करते हैं। यह उनका द्वितीय सत्य महाव्रत है। यह मेरी है, ऐसा सङ्कल्प जिस वस्तु पर जिसने कर रखा है, उस वस्तु के स्वामी की विना आज्ञा ग्रहण करने से उसे क्लेश होता है, उसके वियोग से वह दारुण दु ख का अनुभव करता है। तथा ग्रहण करने वाले के परिणामो मे मालिन्य उत्पन्न होता है, इसलिए स्वपर के कल्याण की कामना करने वाले मुनि चोरी का परित्याग करते हैं। यह उनके तृतीय अचौर्य महाव्रत होता है। जैसे सरसो से भरी हुई नाली मे अग्नि से तपी हुई लोहे की शलाका (सलाई) डालने से सम्पूर्ण सरसो झुलस जाती है, इसी प्रकार योनि मे पुरुषेन्द्रिय का प्रवेश होने पर उसमे के सब सम्मूर्च्छन सूक्ष्म जीव नष्ट हो जाते हैं। इस मैथुन से तीव्रराग उत्पन्न होता है। जो कर्म बन्धन का प्रबल कारण है। ऐसा विचार कर दयालु मुनि उसका पूर्ण रूप से त्याग करते हैं। यह उनका चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत है। परिग्रह के निमित्त से षट्काय के जीवो की विराधना होती है। तथा यह ममत्व भाव उत्पन्न करने मे मुख्य कारण है, इसलिए सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करना परिग्रह त्याग नाम का पांचवा महाव्रत होता है।

इन महाव्रतो की पालना करने के लिए रात्रि भोजन का त्याग करना छठा व्रत है।

अहिंसा महाव्रत सब जीव मात्र को विषय करता है। अर्थात् सम्पूर्ण जीवों की हिंसा का त्याग करने अथवा उनकी रक्षा करने से अहिंसा महाव्रत सम्पन्न होता है। अचौर्य महाव्रत और परिग्रह त्याग महाव्रत सम्पूर्ण पदार्थों मे सम्बन्ध रखता है। अर्थात् वस्तु के स्वामी की आज्ञा बिना किसी भी पर पदार्थ का ग्रहण न करने से अचौर्य महाव्रत तथा सम्पूर्ण भूमि महल मकान धन धान्य वस्त्रादि का त्याग करने से परिग्रह त्याग महाव्रत सिद्ध होता है। तथा शेष सत्य महाव्रत और ब्रह्मचर्य महाव्रत द्रव्यो के एक देश को विषय करते हैं। कारण कि सत्य महाव्रत मे सत्य वचन का उच्चारण और असत्य वचन का त्याग किया जाता है और ब्रह्मचर्य व्रत मे समस्त स्त्री वर्ग सम्बन्धी विषय सेवन का त्याग मन वचन काय से किया जाता है। अत. ये दोनो समस्त जगत् के पदार्थों के एक भाग से सम्बन्ध रखते हैं।

ज्येष्ठत्व

(७) ज्येष्ठत्व—सयमी मुनि, माता–पिता, गृहस्थ उपाध्याय, तथा आर्यिकाओ से महान् होता है। यद्यपि गृहस्थ अवस्था मे माता पिता और गृहस्थ–गुरु पूज्य होते हैं, तथापि सयम धारण करने के पश्चात् पुत्र भी माता पिता तथा गृहस्थ-गुरु के पूजनीय हो जाता है। क्योकि चारित्र मे पूज्यता मानी गई है।

एक दिन का दीक्षित मुनि चिरकाल की दीक्षित आर्यिका से महान् होता है, पूज्य स्तुत्य और वन्दनीय होता है। इस प्रकार मुनि की श्रेष्ठता द्योतन करने वाला यह सातवा स्थिति कल्प है।

अर्थात् स्त्रियां पुरुषो से लघु मानी गई हैं। इसका हेतु यह है कि वे परमुखापेक्षी होती हैं। वे अपना रक्षण आप नहीं कर सकतीं। आत्म-रक्षा मे पुरुष का साहाय्य चाहती हैं। पुरुष द्वारा कामना किये जाने पर वे उसका प्रतीकार करने मे असमर्थ होती हैं। वे स्वभाव से भीरु होती हैं। उनका हृदय कमजोर होता है। पुरुष मे ये बातें प्राय नहीं होती हैं। इसलिए पुरुष महिलाओ मे श्रेष्ठ माना गया है।

प्रतिक्रमण

(८) प्रतिक्रमण—नग्नत्व आदि कल्प मे स्थित मुनि के व्रतो मे जो अतिचार लगते हैं, उन दोषो का निवारण करने के लिए मुनि प्रतिक्रमण करते हैं। यह आठवा स्थिति कल्प है।

अर्थात् धारण किये गये व्रतादि में अज्ञान प्रमादादि से जन्य अपराध का निराकरण करने के लिए साधु ऐर्यापथिक, रात्रिक, दैवसिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सावत्सरिक और उत्तमार्थ ये सात प्रकार के प्रतिक्रमण करते हैं। इनका सम्यक् प्रकार आचरण करने को प्रतिक्रमण नामक आठवा स्थिति कल्प माना गया है।

आदि तीर्थंकर श्री ऋषभ देव भगवान् और अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी ने अपराध हो या न हो मुनियो को प्रतिदिन यथासमय प्रतिक्रमण करने का आदेश दिया है। और मध्य के बाईस तीर्थंकरों ने अपराध होने पर ही मुनियो को प्रतिक्रमण करने की आज्ञा दी है। अर्थात् प्रथम तीर्थंकर के तीर्थ के मुनि भोले और महावीर स्वामी के तीर्थ के मुनि वक्र होते हैं। इसलिए इन दोनो तीर्थंकरो ने अपने तीर्थ के मुनियो को ईर्यापथिक रात्रिक दैवसिकादि प्रतिक्रमण अपराध होने पर या न होने पर यथासमय अवश्य करने का विधान किया है। और अजितनाथ आदि मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरो ने अपने तीर्थ के मुनियो को अपराध लगने पर प्रतिक्रमण करने का उपदेश दिया है। कारण कि उनके तीर्थ वर्ती मुनि विचक्षण और स्मरण शील होते हैं। वे अपराध को स्मरण रखकर किसी समय अपने अपराध का शोधन कर लेते हैं, इसलिए उन्हें ईर्यापथ से गमन करते हुए अपराध लगने पर उसका निवारण करने के लिए ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण ही कर लेने का आदेश दिया है। रात्रि मे अतिचार लगने पर रात्रिक प्रतिक्रमण और दिन मे दोष लगने पर दैवसिक प्रतिक्रमण करने का उपदेश दिया है। उनको सब प्रतिक्रमण करना आवश्यक नहीं बतलाया है।

एक मास निवास

(९) एक मास निवास—वसन्तादि छह ऋतुओं में एक एक ऋतु मे मुनि एक स्थान पर एक मास तक रह सकते हैं, इससे अधिक एक स्थान मे निवास करना वर्जित है। क्योंकि एक ही स्थान पर चिरकाल पर्यन्त निवास करने से भोजनादि मे उद्गमादि दोषों का परिहार करना अवश्य हो जाता है। वसतिका से मोह हो जाता है। सुखिया स्वभाव हो जाता है। कष्ट सहिष्णुता दूर हो जाती है। आलस्य घर कर लेता है। सुकुमारता की भावना उत्पन्न होती है। बहुत दिन एक जगह रहने से जिन श्रावकों के घर पहले आहार कर चुके हैं, फिर भी उन्हीं के घर आहार लेना पडता है। इत्यादि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। इसलिए मुनीश्वर चिरकाल पर्यन्त एक ही स्थान पर नहीं ठहरते हैं।

पज्ज

(१०) पज्ज—वर्षाकाल मे भ्रमण का त्याग कर चार मास पर्यन्त एक ही स्थान मे निवास करने को पर्या नामक दशवा स्थिति कल्प कहा है। वर्षाकाल मे चार मास तक मुनि विहार का त्याग करते हैं। तथा एक मील या दो मील आदि क्षेत्र का परिमाण कर उस क्षेत्र के भीतर गोचरी आदि आवश्यक कार्य के लिए गमनागमन करते हैं।

वर्षाकाल मे भूमि त्रस और स्थावर जीवो से आकुल (व्याप्त) हो जाती है। उस समय यदि एक स्थान न ठहर कर विहार करे तो छह काय के जीवो की विराधना होने से महान् असयम होता है। जल की वृष्टि तथा शीत वायु के चलने से शरीर को अत्यन्त बाधा पहुचती है। निमोनिया आदि अनेक रोगो की उत्पत्ति होना सभव है। मार्ग जलमग्न रहने से मार्ग स्थित कुए बावड़ी मे गिर जाने की सभावना रहती है। जल या कीचड़ मे छिपे हुए काटे पत्थर स्थाणु आदि की बाधा होती है। इसलिए मुनीश्वर एक सौ बीस दिन तक एक स्थान मे ही निवास करते हैं। यह उत्सर्ग (सामान्य) नियम है। कारण वश इसे हीन या अधिक काल भी माना गया है। आषाढ शुक्ला दशमी से लेकर कार्तिक की पूर्णिमा के आगे तीस दिन तक और मुनि एक स्थान पर ठहर सकते हैं। अध्ययन करने के लिए,वृष्टि की बहुलता से, विहार करने की शक्ति के न होने से,किसी साधु की वैयावृत्त्य करने के निमित्त इत्यादि प्रयोजन वश मुनि अधिक समय अर्थात् कार्तिक की पूर्णिमा के बाद तीस दिन अधिक ठहर सकते हैं। उक्त कारणो के बिना अधिक दिन निवास करना आगम विरुद्ध है।

प्लेग हैजा आदि सक्रामक रोगो का प्रकोप होने पर, दुर्भिक्ष हो जाने पर, देश या गाव पर महान् सङ्कट आजाने पर, सङ्घ पर विपत्ति की सभावना होने पर, मुनि वर्षाकाल मे भी अन्यत्र जा सकते हैं। यदि उक्त परिस्थिति मे भी मुनि वहा से विहार न करे तो रत्नत्रय की विराधना हो सकती है, अतः आषाढ शुक्ला पूर्णिमा के व्यतीत होने पर श्रावण कृष्णा प्रतिपदा आदि तिथि मे मुनि अन्य स्थान मे चले

जाते हैं। इसलिए एक सौ वीस दिनो में वीस दिन कम किये गये हैं। यह वर्षाकाल में निवास करने का हीन काल है। इस सबको दशवां स्थिति कल्प कहते हैं।

जो आचार्य इन उपर्युक्त दश प्रकार के आचरणो मे सदा तत्पर रहते हैं, जो सदा पाप कृत्यो से भयभीत रहते हैं, वे आचार्य आगमोक्त आचरण का साधुओ से पालन करवाते हैं—साधुओं के आचरण मे दोष दिखा कर उनको शुद्धाचरणी बनाते हैं।

आचारवान् आचार्य से क्षपक को लाभ

प्रश्न—आपने आचार्य का आचारवत्व गुण वर्णन किया है। आचार्य के आचारवान् होने से क्षपक साधु को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—जो आचार्य दर्शनाचारादि पचाचार मे स्वय तत्पर रहते हैं समस्त गमनादि क्रियाओ मे सम्यक् प्रवृत्ति करते हैं वे क्षपक को भी पचाचार मे सम्यक् प्रवृत्ति करवाते हैं।

प्रश्न—यदि आचार्य स्वय आचारवान् न हो तो उससे क्या हानि होती है ?

उत्तर—जो आचार्य दर्शनादि पचाचार के पालन करने मे शिथिल होता है, जिसका आचरण भ्रष्ट होता है वह आचार्य क्षपक को उद्गमादि दोष युक्त आहार वसतिका और पिच्छिका पुस्तकादि उपकरण की योजना करेगा। अथवा क्षपक की परिचर्या मे वैराग्य रहित मुनियो को नियुक्त करेगा। जो स्वय सदोष होता है वह साधुओं के दोषो को दूर करने में सफल मनोरथ नहीं होता है। समाधिमरण के काय मे उद्यमशील मुनि का हित ससार से भयभीत और वैराग्य भाव मे भरे हुए साधुओ के ससर्ग से ही होता है। इसका खयाल आचार हीन आचार्य को नहीं होता है। इसका परिणाम यह होता है कि क्षपक की शुश्रूषा करने की योग्य व्यवस्था न कर सकने के कारण क्षपक का समाधिमरण बिगड जाता है। उसका यह महान् अनिष्ट आचार हीन आचार्य द्वारा होता है। वह आचार्य क्षपक की सन्यास विधि को लोक मे प्रकट कर देगा, सयम विरोधी गन्ध पुष्प मालादि क्षपक के लिए लाने के लिए साधुओ को अनुमति प्रदान करेगा, क्षपक के परिणामो मे विकार उत्पन्न करने वाली कथा करेगा, क्षपक के हिताहित का विचार न कर मन चाहे जैसा बकने लगेगा। पतित आचरण वाला आचार्य रत्नत्रय मे प्रवृत्ति कराने वाला उपदेश नहीं देगा, रत्नत्रय से गिरते हुए मुनि को न रोकेगा, जिन क्रियाओ मे महान् आरम्भ होता है, ऐसी पूजा रथयात्रादि करवाने की लोगो को प्रेरणा करेगा। तात्पर्य यह है कि शिथिलाचारी आचार्य के सहवास से क्षपक का अनिष्ट होता है। वह अपने उद्देश्य से गिर जाता है। इसलिए आचारहीन आचार्य के सहवास का आत्म-हित के इच्छुक क्षपक को त्याग करना ही श्रेयस्कर है।

आचार गुण से भूषित आचार्य का आश्रय करने वाला क्षपक अपने समाधिमरण रूप उत्तम कार्य को भले प्रकार साधन कर सद्गति का पात्र बनता है, अत आचार्य के आचारवत्व गुण का वर्णन किया गया है। अब आचार्य के दूसरे आधारवत्व गुण का विवेचन करते हैं।

आचार्य का आधारवत्वगुण

चोद्दस-दस-णव-पुव्वी महामदी सायरोव्व गंभीरो।
कप्पववहारधारी होदि हु आधारवं णाम ॥ ४२८ ॥ (भग आ)

अर्थ—जो चौदहपूर्व या दशपूर्व अथवा नवपूर्व का वेत्ता होता है, जो दूरदर्शी–समुद्र के समान गम्भीर हृदयवाला है, प्रायश्चित शास्त्रों का सम्यक् प्रकार ज्ञान प्राप्त कर उसके अनुकूल प्रयोगो का अनुसरण करता है वह सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र और तप की उत्पत्ति स्थिति वृद्धि और रक्षा का आश्रय होता है। वह आधारवत्व गुण युक्त आचार्य नित्य प्रति साधुवर्ग को आगम का उपदेश देकर पापास्रव के कारण अशुभ परिणामों से हटाकर पुण्यास्रव के कारण शुभोपयोग मे तथा सवर निर्जरा के कारण शुद्धोपयोग में प्रवृत्त करता है। अत. आचार्य को आगम का ज्ञान अवश्य होना चाहिए।

प्रश्न—चारित्र का आराधन आत्म–कल्याण का साधन माना गया है। वह जिसमे पाया जावे वह आचार्य सघ के साधुओ का, आर्यिकाओ का व उनके सम्पर्क मे रहने वाले श्रावक श्राविकाओ का उद्धार करने में समर्थ हो सकता है ? अर्थात् आगम का ज्ञान न होने से भी आचार्य स्व पर का हित करने मे कुशल हो सकता है। अतः आधारवत्व गुण चारित्र से सम्बन्ध रखता है, न कि ज्ञान से। आपने आगम का ज्ञान होने पर ही आधारवत्व गुण का होना बताया है–इसका क्या कारण है ?

उत्तर—जिसको आगम का ज्ञान नहीं है, वह आचार्य मोक्ष मार्ग के अङ्गभूत दर्शन ज्ञान चारित्र और तप के स्वरूप को तथा उनके भेद प्रभेदो को और उनमे उत्पन्न होने वाले दोषो को कैसे जान सकेगा ? सघ मे स्थित मुनीश्वरो को उक्त दर्शनादि के स्वरूप को समझा कर उनमे लगने वाले अतीचारों से कैसे निवृत्त कर सकेगा ? व्रतादि मे लगे हुए अतिचारो की निवृत्ति (शुद्धि) के लिए प्रायश्चित का विधान कैसे करेगा ? समाधिमरण के लिए उद्यत हुए क्षपक को समय समय पर जीवादि तत्त्वों का यथार्थ उपदेश देकर आत्मा मे वैराग्य भाव किस प्रकार उत्पन्न कर सकेगा ? ससार मे भ्रमण कराने वाले मिथ्यात्व असयम दुर्ध्यानादि का स्वरूप दिखा कर सम्यक्त्व, सयम व धर्म्यध्यान शुक्लध्यान की महत्ता समझाकर उनका पालन करवाने मे कैसे सफल होगा ?

संयम की सफलता

अनन्त दुःख रूप जल से परिपूर्ण इस संसार सागर मे चक्कर लगाते हुए इस जीव ने अनन्त काल बिताया है। भयानक शारीरिक मानसिक क्लेशो को भोगते हुए इस जीव ने बड़ी कठिनाई से मनुष्य जन्म को प्राप्त किया है। जैसे साधु पुरुष के मुख से कठोर वचन के समान, सूर्य मण्डल मे अन्धकार के समान, अत्यन्त क्रोधी मनुष्य के मन मे दया भाव के समान, अति लोभी मनुष्य के मुख मे सत्य वचन के समान, महाभिमानी के मुख से परगुण की प्रशसा के समान, स्त्री वर्ग मे सरल चित्तता के समान, दुष्ट मनुष्य मे कृतज्ञता के समान, आप्ताभास द्वारा निरूपित मत मे तत्त्वज्ञान के समान इस पचपरावर्त्तन रूप ससार मे मनुष्य जन्म की प्राप्ति अति दुर्लभ है। आगम मे अति दुर्लभता के विषय मे उक्त दश दृष्टान्त मिलते हैं। उनसे भी मनुष्य जन्म पाना अति दुर्लभ है। महान् पुण्य के उदय से किसी तरह मनुष्य जन्म पा लिया तो तपस्या के योग्य उत्तम धर्म-प्रधान देश का मिलना अति दुर्लभ है। उत्तम देश का योग होने पर उत्तम कुल व उत्तम जाति का मिलना अति दुष्प्राप्य है। माता के वश को जाति और पिता के वश को कुल कहते हैं। उसके पश्चात् उत्तम शरीर की आकृति (इन्द्रियों की परिपूर्णता) व शरीर मे उत्तम सहनन का प्राप्त होना अति दुलभ है। शरीर की नीरोगता, दीर्घायु, उत्तम बुद्धि, हितोपदेश का श्रवण, सद्गुरु कथित तत्त्व का ज्ञान तथा उसमे श्रद्धा की उत्पत्ति उत्तरोत्तर अति दुर्लभ हैं। उन सबसे दुर्लभ सयम का प्राप्त करना है। समस्त दुलभ पदार्थों से दुर्लभतम सयम है, उसकी सफलता समाधिमरण के आराधन से होती है।

क्षपक को सिद्धान्त के वेत्ता आचार्य की आवश्यकता

उस अत्यन्त दुर्लभ समाधिमरण के साधन के लिए क्षपक ने रागद्वेष को जीतने की यद्यपि प्रतिज्ञा की है, तथापि शरीर की सल्लेखना करने वाले उस क्षपक के क्षुधादि परीषह के प्राप्त होने पर अल्प पराक्रम के कारण रागद्वेष की उत्पत्ति व क्रोधादि कषाय का प्रादुर्भाव हो सकता है, उसकी निवृत्ति अर्थात् कषाय का उपशम, रागद्वेष की अनुत्पत्ति, चारित्र की सम्यक् आराधना अल्पज्ञ-सिद्धान्त के अज्ञाता-आचार्य के संसर्ग से नहीं हो सकती है। क्योंकि कर्म-परवश हुआ यह प्राणी अन्न के आश्रय से अपना जीवन यापन कर रहा है। उस अन्न का त्याग करने से यह अन्नाश्रित जीव तिलमिला जाता है। उसकी आखो के सामने अंधेरा छा जाता है। सिर चक्कर खाने लगता है। तात्पर्य यह है कि अन्न बिना यह प्राणी आर्त्त रौद्रध्यान से आकुलित हो जाता है। उस समय उसके दर्शन, ज्ञान चारित्र व तप की आराधना कैसे हो सकती है, यदि उसमे स्थिर करने के लिए सिद्धान्त वेत्ता आचार्य न हो ? यही कहा है :—

"अयमन्नमयोजीवस्त्याज्यमानोऽधसा कदा
अतिरौद्राकुली भूतश्चतुरगे प्रवर्त्तते ॥"

अर्थात्—यह जीव अन्नमय है। भोजन के आधार इसकी सब शारीरिक मानसिक प्रवृत्ति होती है। अन्न के अभाव में आर्त्त व रौद्रध्यान से आकुलित हुए इस जीव का दर्शन ज्ञान चारित्र व तप रूप चतुरंग मे प्रवृत्ति करना अति कठिन हो जाता है।

ऐसे अवसर मे बहु श्रुत पारगामी आचार्य अनेक आगम निरूपित उपदेश को सुनाकर मृदु मनोहर व अनेक शिक्षा पूर्ण वचनो का उच्चारण कर, ससार के भयानक स्वरूप का वर्णन कर तथा शरीर की अनित्यता को समझाकर क्षपक के सवेग और वैराग्य की वृद्धि करता है और क्षुधा तृषा से उत्पन्न हुई भोजन पान की कामना को शान्तकर आत्मध्यान में व धर्म्यध्यान मे तत्पर करता है।

आगम ज्ञान से शून्य आचार्य क्षुधा तृपादि की पीडा से व्याकुल–चित्त क्षपक को आत्म–अनात्म का, जड़–चेतन का भेद विज्ञान करवाकर आगम के अनुकूल हित शिक्षा नहीं दे सकता है, ससार से भय और शरीर से विरक्तता उत्पन्न नहीं कर सकता है। अत क्षुधा और तृषा की पीडा से क्षपक की भोजन पान की अभिलाषा बढकर आर्त्त व रौद्रध्यान की वृद्धि करती है। उससे क्षपक का समाधिमरण बिगड जाता है। क्षुधा और पिपासा से पीडित मनुष्य के हृदय से विवेक बुद्धि निकल जाती है।

जिस क्षपक ने अपन शरीर को अत्यन्त कृश कर दिया है, शक्ति हीन कर दिया है उसको जिस समय क्षुधादि की बाधा सताती है,और वह बाधा इतनी बढ जाती है कि वह असह्य हो जाती है,उस समय विवेकहीन हुआ जीव करुणाजनक आक्रन्दन करने लगता है। भोजन की याचना करता है और दीनता प्रदर्शित करता है। तथा बैठकर अयोग्य काल मे अपने हाथों से भोजन पान करने लगता है। अर्थात् क्षुधा तृपा से पीड़ित होकर आगम विरुद्ध आहार पान ग्रहण करता है।

क्षुधादि के कष्ट को सहने न करके वह क्षपक धर्म से विमुख होता है। मिथ्यात्व भाव को प्राप्त होकर असमाधि युक्त मरण को प्राप्त होता है।

क्षुधादि से पीडित साधु के रोदन को सुनकर यदि आगमहीन आचार्य उसकी निन्दा करने लगेगा तो वह सङ्घ का परित्याग कर भाग जावेगा। इससे धर्म का अपवाद होगा। अथवा उसको योग्य उपदेश न मिलने पर उसका आर्त्तनाद बढकर जन साधारण के चित्त मे करुणा और क्षोभ उत्पन्न कर देगा। समाधिमरण के स्वरूप को न समझने वाले मनुष्य साधुओं को करुणा हीन व आत्मघाती कहने लगेंगे। यह सब दोप ज्ञान हीन आचार्य के योग से होते हैं।

क्षपक को परीपहों को बाधा से कैसे दूर किया जाय ?

प्रश्न—भूख व प्यास से पीडित क्षपक की बाधा को आगम के ज्ञाता आचार्य किस प्रकार दूर करते हैं ?

उत्तर—आगम के ज्ञाता आचार्य क्षपक को समाधिमरण के समय के अनुकूल आगमोक्त क्रियाओं का आचरण कराते हैं। यथावसर उसे हितकर प्रिय मधुर वचनों से शिक्षा देकर उसके परिणामों को उज्ज्वल करते रहते हैं। धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यान में लगाये रखने का सतत प्रयत्न करते रहते हैं। शुभ व शुद्ध ध्यान रूपी अग्नि को सदुपदेश रूपी आहुतियों द्वारा निरन्तर वृद्धिगत करते रहते हैं। जिस समय क्षपक को क्षुधादि पीड़ा असह्य होने लगती है तब गीतार्थ आचार्य उसकी इच्छा के अनुकूल ऐसे मंजुल और विश्राम जनक वचनों का उच्चारण करते हैं, जिनको सुनकर उसको भोजन व पान करने से जैसी तृप्ति होती है, वैसी तृप्ति व सन्तोष उत्पन्न हो जाता है। प्राचीन मुनीश्वरों के उपसर्ग परीषह विजय की कथाओं को सुनाकर उसके अन्तकरण में धैर्य व साहस को उत्पन्न करते हैं। तिर्यंच गति व नरक गति में इस जीव ने कैसी २ क्षुधा और तृषा की पीड़ा का सहन किया है। इस समय की पीड़ा तो उसके सामने कुछ भी नहीं है। वह बाधा तुमको परवश होकर सहन करनी पड़ी थी और यह तुम अपने आत्म हित के लिए सहन कर रहे हो। यदि तुम अपने चित्त में संक्लेश भाव उत्पन्न करोगे तो तुम्हें पुनः पुनः वे तिर्यंच व नरक गति के घोर दुःख सहन करने पड़ेंगे। फिर ऐसा क्लेश निवारण करने का, सदा के लिए उन दारुण दुःखों से पीछा छुड़ाने का अवसर न मिलेगा। इसलिए हे सद्बुद्धे क्षपक ! तुमको इस पीड़ा से दुःखित न होना चाहिए। इत्यादि उपदेश द्वारा गीतार्थ आचार्य क्षपक के धर्म भावना द्वारा धर्मध्यान में तल्लीन करते हैं।

क्षपक की क्रोधमय प्रकृति से ऊब कर परिचारक मुनि क्षपक को छोडकर अलग हो जाते हैं। वे क्षपक के निकट जाना भी पसन्द नहीं करते हैं। उस समय आचार्य अपने बुद्धि कौशल से क्षपक की कोपमय प्रकृति को शिक्षा पूर्ण वाक्यों द्वारा शान्त करते हैं। उसको सब प्रकार का आश्वासन देते हैं। उसके साहस हीन व अधीर स्वभाव को दूर कर उसकी आत्मा में अपूर्व साहस और धैर्य का संचार करते हैं। वैयावृत्य करने से विमुख हुए परिचारक साधुओं को वैयावृत्य के स्वरूप और महत्त्व को समझाकर उनको पुनः वैयावृत्य के कार्य में संलग्न करते हैं।

हे मुनियो ! यह क्षपक महापुरुष है। क्षुधादि की पीड़ा से व्याकुल होकर यदि इसने तुमको कदाचित् अयुक्त वचन कह दिये हों तो तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम इसे मृदु वचनों से शान्त करो। वैयावृत्य (सेवा धर्म) का यथोचित पालन करने वाले के तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है। सच्ची वैयावृत्य करने वाले को कटु वचन अमृतमय और शस्त्रप्रहार पुष्पमाला समान भासते हैं। वैयावृत्य करने का सौभाग्य महापुण्यवान् को ही मिलता है। क्योंकि वैयावृत्य करने वाला अपने और जिसकी वैयावृत्य करता है उसके रत्नत्रय की रक्षा और वृद्धि करता है। इसलिए हे साधुओ ! तुम्हें इस उत्तम कर्त्तव्य से विमुख न होकर तन और मन से इस सुकृत्य में तत्पर रहना चाहिए। देखो, शरीर और आहार ये दो पदार्थ संसार में दुस्त्याज्य हैं। इनका त्याग साधारण मनुष्य नहीं कर सकता। इसका इसने त्याग किया है। इसलिए यह महात्मा सेवा करने योग्य है। ऐसा कहकर साधुओं को क्षपक की सेवा करने में उत्साहित करते हैं।

स. प्र.

हे क्षपक ! तुम विचार तो करो । तुमने किस महान् सुकृत्य का प्रारंभ किया है । तुमने कषाय और काय को कृश करने की दृढ प्रतिज्ञा ली है । और उसका पालन करने के लिए तुमने आगे कदम बढ़ाया है । क्या इस समय तुमको कषाय करना उचित है । क्या तुम्हें इस कार्य मे सहायता देने वाले महात्माओ को कटु कठोर वचन उच्चारण करना चाहिए । तुमको तो उनका कृतज्ञ होना चाहिए । क्योकि वे तुम्हारे निज धन रत्नत्रय की रक्षा करने का उद्योग कर रहे हैं । तुमको किसी प्रकार की चिन्ता न कर शान्ति धारण करना उचित है । हम तुम्हारी सेवा मे सदा तत्पर है । तुम अपने कर्त्तव्य पर आरूढ रहो और तुम्हारा वैयावृत्त्य करने वाले साधुओ का उपकार मानकर उनका विनय करो । इस प्रकार शिक्षा–वचनो द्वारा क्षपक को कर्त्तव्य मार्ग पर दृढ करते हैं ।

आगम वेत्ता आचार्य साधु के लिए उपादेय प्रासुक वस्तु कौनसी है ? इसका ध्यान रखते हैं ।

क्षुधादि की दारुण वेदना से व्यथित मुनि को आगम का उपदेश रूप पेय पदार्थ और शिक्षा वचन रूपी आहार देकर उसकी बुभुक्षा और पिपासा को शान्त करते हैं । इस उपदेश और शिक्षा रूपी भोज्य और पान का आस्वादन कर क्षपक संतुष्ट हुआ आत्मध्यान मे दत्तचित्त हो जाता है ।

गीतार्थ आचार्य अवसर पाकर क्षपक को संसार अर्थात् पंच परावर्त्तन का स्वरूप प्रतिपादन करते हैं । द्रव्यपरिवर्त्तन, क्षेत्र-परिवर्त्तन, कालपरिवर्त्तन, भवपरिवर्त्तन और भावपरिवर्त्तन का विशद विवेचन कर उसको संसार से भयभीत करते हैं । इसका विशद विवेचन पहले किया जा चुका है ।

हे क्षपक ! यह शरीर आत्मा का बन्दीगृह है । आयुकर्म या कार्माण कर्म ने इस आत्मा को शरीर मे कैद कर रखा है । आत्मा का असली निवास स्थान मोक्ष है । उससे वंचित रखने वाला यह शरीर रूपी कारागृह है । यह शरीर अपवित्र अशुचि पदार्थों का निधान है । इसके मुख नासिका आदि अवयव अशुचि दुर्गन्धमय पदार्थों से ही निर्मित हैं। इसमें एक भी पदार्थ सारयुक्त नहीं है । यह अनेक क्लेश और आपत्तियों का निवास स्थान है । यह रोगरूपी धान्य की उत्पत्ति का क्षेत्र (खेत) है। अथवा रोग रूपी शत्रुओ का निवास स्थान है। वृद्धावस्था रूपी पिशाचिनी का यह श्मशान गृह है । जगद्वन्द्य कुल मे उत्पन्न हुआ धवल व विशाल कीर्त्तिवाला, अनेक महनीय गुणो से भूषित मनुष्य भी दारिद्र्य से पीडित होकर इस शरीर का पोषण करने के लिए अत्यन्त नीचकर्म का आचरण करता है । धनवानो की अपमान दूषित सेवा करता है । अपने मान–अपमान को भूलकर नहीं करने योग्य कृत्यों को करता है । इस शरीर की रक्षा के लिए उच्छिष्ट भोजन को खाकर अपने धर्म कर्म से विमुख होता है । आचार्यों ने कहा है—

"नान्तर्गतोऽथनबहिर्न च तस्य मध्ये, सारोस्ति येन मनसा परिगम्यमानः ।
तस्मिन्नसारजनकांक्षित-कामसारैः कोऽन्यः करिष्यति मनः प्रतिबद्धसारः ॥"

अर्थ—इस नश्वर शरीर के भीतर बाहर और मध्य मे ऐसा कोई सारभूत पदार्थ नहीं है, जिसे अन्तरात्मा स्वीकार करसके। इसलिए सार तत्त्व के ज्ञाता विवेकी जन तुच्छ अविवेकी जनो के द्वारा कामपूर्ति के निमित्त अङ्गीकार किये गये इस तुच्छ शरीर पर प्रेम नहीं करते हैं।

"वायु प्रकोप जनितैः कफपित्तजैश्च, रोगैः सदा दुरितजैः प्रविभज्यमानः ।
देहोऽयमेवमतिदुःखनिमित्तभूतो नाशं प्रयाति बहुधेति कुरुष्व धर्मम् ॥"

अर्थ—असाता वेदनीय कर्म का उदय होने पर किसी समय वायु के प्रकोप से कोई वातजन्य रोग उत्पन्न होता है तो कभी कफ की वृद्धि से और कभी पित्त के प्रकोप से किसी रोग का आविर्भाव होता है। उनसे यह शरीर पीड़ित होता रहता है। यह शरीर दुःखो का कारण है। इसलिए हे क्षपक! तू इस नश्वर और दु.ख जनक शरीर से धर्म का आचरण कर।

"संघातजं प्रशिथिलास्थितरुप्रगाढं स्नायुप्रबद्धमशुभं प्रगतं शिराभिः ।
लिप्तं च मांसरुधिरोदककर्दमेन रोगाहितं स्पृशनि देहविशीर्णगेहम् ॥"

अर्थ—हे क्षपक! जिस घर मे निवास कर रहा है, वह शरीर-गृह रज व वीर्य के सयोग से बना है। हड्डी रूपी खभों से इसकी रचना हुई है। चारो तरफ से छोटी और बडी नसों से जकडा हुआ है। मांस और रुधिर के कीचड़ से लीपा पोता गया है। और इसको रोगो ने अपना आश्रय बना रखा है। ऐसे अशुभ, अपवित्र व दु.खद शरीर को अज्ञानी मोही आत्मा के सिवा अन्य कौन स्पर्श करना चाहेगा? हे क्षपक! तुमसे विवेकी पुरुषों को इस शरीर पर क्या अनुराग करना उचित है? इत्यादि अनेक वैराग्य जनक उपदेश द्वारा गीतार्थ आचार्य क्षपक को शरीर स विरक्ति उत्पन्न कर क्षुधादि वेदना जन्य कष्ट का निवारण करते हैं और आत्म-भावना मे प्रवृत्त करते हैं।

आगम के ज्ञाता आचार्य के पाद मूल मे निवास करने वाले क्षपक के चित्त म उक्त उपदेश द्वारा सक्लेश परिणामो की निवृत्ति होती है और रत्नत्रय के आराधन मे किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती है। इसलिए उक्त आधार गुण विशिष्ट अर्थात् आगमज्ञ आचार्य का शरण प्राप्त करना ही क्षपक के लिए कल्याणकारी है।

स. प्र

आचार्य का व्यवहारज्ञत्व गुण

प्रश्न—व्यवहारज्ञता नामक आचार्य के तीसरे गुण का स्वरूप क्या है ?

उत्तर—जो पाच प्रकार के व्यवहार (प्रायश्चित) का स्वरूप विस्तार पूर्वक भले प्रकार जानते हैं, जिन्होंने प्रायश्चित देते हुए आचार्यों को देखा है और स्वय अन्य साधुओ को प्रायश्चित दिया है, ऐसे प्रायश्चित शास्त्र के वेत्ता अनुभवी आचार्य को व्यवहारवत्त्व गुण वाला कहते हैं।

व्यवहार के भेद

प्रश्न—पाच प्रकार के व्यवहार (प्रायश्चित) कौन से हैं ?

उत्तर—व्यवहार (प्रायश्चित) के आगम, श्रुत, आज्ञा, जीद और धारणा ये पांच भेद हैं। यथा :—

व्यवहारान्ते मतो जीदश्रुताज्ञागम धारणा ।
एतेपा सूत्रनिर्दिष्टा ज्ञेया विस्तारवर्णना ॥ ४६१ ॥

अर्थ—१ आगम, २ श्रुत, ३ आज्ञा, ४ जीद और ५ धारणा ये पाच प्रकार का व्यवहार (प्रायश्चित) माना गया है। इसका विस्तार सहित वर्णन सूत्रों मे किया गया है। इसलिए वहा से जान लेना चाहिए ।

भावार्थ—ग्यारह अगो मे प्रतिपादन किये गये प्रायश्चित को आगम व्यवहार कहते हैं। चौदह पूर्व ग्रन्थो मे कथित प्रायश्चित को श्रुत व्यवहार कहते हैं। अन्यत्र विचरने वाले आचार्य द्वारा अपने महान् दोप की आलोचना करके अपने ज्येष्ठ शिष्य के हाथ अन्य आचार्य के पास भेजे हुए प्रायश्चित को आज्ञा प्रायश्चित कहते हैं। एकाकी (एकल विहारी) साधु चलकर आचार्य के निकट जाने की शक्ति न होने से वहां ही अपने स्थान पर रहता हुआ पूर्व धारणा के अनुसार अपने दोपों का प्रायश्चित लेता है उसे धारणा व्यवहार कहते हैं। बहत्तर प्रकार के पुरुपो के स्वरूप को जानकर उनकी अपेक्षा से आधुनिक आचार्यों ने जो शास्त्रो मे प्रायश्चित का वर्णन किया है, उसे जीद व्यवहार कहते हैं। इनका विशेप विवेचन शास्त्रान्तर मे किया है। उस विवेचन करने व सुनने का अधिकार सर्व साधारण को नहीं बताया है। इसलिए यहा उनका विशेप वर्णन नहीं किया जाता है।

प्रश्न—प्रायश्चित का विवेचन सर्व साधारण के सम्मुख नहीं करना चाहिए। इसमे क्या प्रमाण है ?

उत्तर—अनुभवी आगम वेत्ता आचार्य द्रव्य क्षेत्र प्रकृति और दोष के स्वरूप को तथा अन्य सब परिस्थिति को लक्ष्य में रखकर शास्त्रोक्त प्रायश्चित दिया करते हैं। यदि वह प्रायश्चित सब साधारण को प्रकट कर दिया जावे तो सयमी दोषों का आचरण करने से भयभीत न होंगे। अमुक प्रायश्चित लेकर दोष से निवृत्त होजावेंगे, ऐसा विचार करके वे उच्छृंखल होकर दोषो का आचरण करलेंगे। इसलिए प्रायश्चित विधान का श्रवण करना सर्व साधारण के लिए निषिद्ध है। यथा :—

"सव्वेण वि जिणवयणं सोदव्वं सद्दिदेण पुरिसेण।
छेदसुदस्स हु अत्थो ण होदि सव्वेण सो दव्वो ॥ १ ॥"

अर्थ—सब श्रद्धालु पुरुष जिनेन्द्र वचन का श्रवण कर सकते हैं, किन्तु प्रायश्चित शास्त्र का अर्थ सब लोगो को सुनने का अधिकार नहीं है।

प्रश्न—व्यवहारवान् (प्रायश्चित शास्त्र वेत्ता) आचार्य पर प्रकाशित दोषो का प्रायश्चित किन २ बातो पर लक्ष्य रखकर देते हैं अर्थात् समान अपराध होने पर सबको एकसा प्रायश्चित देते हैं, अथवा उसमे कुछ अन्तर भी रहता है ?

उत्तर—द्रव्य क्षेत्र काल भाव तथा सयमी के उत्साह शारीरिक शक्ति, दीक्षा काल, आगमज्ञान वैराग्यादि का विचार करके प्रायश्चित देते हैं। यथा :—

दव्वं खेत्तं कालं भावं करणपरिणाममुच्छाहं।
संघदणं परियायआगमपुरिसं च विण्णाय ॥ ४५० ॥
मोत्तूण रागदोसे ववहारं पट्ठवेइ सो तस्स।
ववहारकरण कुसलो जिणवयणविसारदो धीरा ॥ ४५१ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—जिनागम मे निपुण प्रायश्चित देने मे कुशल धैर्यवान् आचार्य द्रव्य क्षेत्र काल भाव, प्रायश्चित आचरण करने का परिणाम (नतीजा) प्रायश्चित लेने वाले का उत्साह उसका शरीर बल, दीक्षा की अवधि, आगम का परिज्ञान इतनी बातो को लक्ष्य मे रखकर रागद्वेष का परित्याग कर प्रायश्चित देता है।

भावार्थ—आचार्य प्रथम सयमी के द्वारा किये गये अपराध के निदान (कारण) का अन्वेपण करते हैं। यह अपराध यदि

द्रव्य की प्रतिसेवना से उत्पन्न हुआ है, तो वह पृथिवीकाय, अप्काय, तेजकाय, वायुकाय, प्रत्येक वनस्पतिकाय, अनन्तकाय तथा त्रसकाय रूप सचित्त द्रव्य की प्रतिसेवना से हुआ है, अथवा तृण फलक (काठ के पट्टे) चटाई आदि उचित द्रव्य की प्रतिसेवना से हुआ है, या जीव युक्त काष्ठ फलक तृणादि की प्रतिसेवना से उत्पन्न हुआ है, उसका विचार करते हैं।

यदि क्षेत्र के निमित्त से यह अपराध हुआ हो तो उसपर निम्न प्रकार विचार करते हैं। मुनि वर्षाकाल मे आधाकोश, कोश या दो कोश पर्यन्त गमन कर सकते है। यदि वे उससे अधिक क्षेत्र मे गमन करें तो क्षेत्र प्रतिसेवना होती है। उक्त प्रतिसेवना करने वाला प्रायश्चित के योग्य होता है। जहा पर गमन करना निषिद्ध है, ऐसे क्षेत्र मे गमन करने से, राज्यविरुद्ध क्षेत्र (स्थान) मे गमन करने से, उन्मार्ग द्वारा गमन करने से, जहा पर मार्ग टूट गया है उस स्थान मे गमन करने से, अन्त पुर मे प्रवेश करने से, जहां जाने की अनुमति नहीं है या मनाई है वहा जाने से क्षेत्रप्रतिसेवना होती है।

आवश्यकों का जो काल नियत है उसका उल्लंघन करके सामायिक प्रतिक्रमण आदि आवश्यक का आचरण करने से, वर्षायोग काल का उल्लंघन करने से तथा इसी प्रकार उचित काल मे की जाने वाली क्रियाओं का कालातिक्रम करने से काल प्रतिसेवना होती है।

दर्प, प्रमाद (असावधानता), उन्माद, सहसा भय इत्यादि परिणामों से प्रवृत्ति करने से भाव प्रतिसेवना होती है अर्थात् भाव के निमित्त से अपराध उत्पन्न होता है।

इस प्रकार द्रव्य क्षेत्रादि के द्वारा जन्य अपराध को भली भांति जानकर प्रायश्चित के रहस्य के ज्ञाता आचार्य प्रायश्चित दिया करते हैं।

प्रायश्चित देने वाले आचार्य को आहार द्रव्य का ज्ञान होना आवश्यक है। कोई आहार द्रव्य रस प्रचुर होता है, कोई धान्य प्रचुर या शाक बहुल होता है। तथा किसी मे लपसी तथा शाक की मुख्यता होती है। कोई पदार्थ पेय (पीने योग्य पतला) होता है। इत्यादि आहार के पदार्थों के स्वरूप और प्रकृति का ज्ञान प्रायश्चित दाता को होना आवश्यक है।

प्रायश्चित लेने वाले और देने वाले को क्षेत्र (देश) का भी ज्ञान रखना चाहिए। यह देश अनूप (जल बहुल प्रदेश) है, या जांगल (अल्प जलवाला) है अथवा साधारण है।

प्रायश्चित देते समय आचार्य को वर्षाकाल, ग्रीष्मकाल और शीतकाल का ध्यान रखकर प्रायश्चित देना चाहिए। तथा प्रायश्चित ग्रहण करने वाले के क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोषादि भावों का तथा प्रायश्चित देने के परिणाम का भी विचार कर लेना चाहिए।

प्रायश्चित आचार करने मे तत्पर हुआ यह साधु क्या सङ्घ मे सद्भाव करने के उद्देश से अथवा यश के लोभ मे अथवा कर्मों की निर्जरा करने के लिए प्रवृत्ति करता है, इसका ध्यान भी आचार्य को रखना आवश्यक है।

आचाय को प्रायश्चित का निर्णय करते समय प्रायश्चित लेने वाले के उत्साह और शारीरिक बल की ओर भी दृष्टि रखना परमावश्यक है। जिस प्रायश्चित मे अपराध शुद्धि के साथ उत्साह की वृद्धि होती रहे तथा उसका शरीर उस प्रायश्चित का सहन करले वैसा ही योग्य प्रायश्चित विद्वान् आचार्य दिया करते हैं।

जो चिरकाल का दीक्षित है तथा जो नवीन दीक्षित है, उनके समान अपराध होने पर भी प्रायश्चित मे अन्तर होता है। चिरकाल के दीक्षित की सहिष्णुता और नवीन दीक्षित की सहनशीलता एकसी नहीं होती है, अत. आचार्य उनके प्रायश्चित मे भी अन्तर रखते हैं।

आगम के ज्ञाता व आगमज्ञान हीन के प्रायश्चित मे भी विशेषता होती है। कोई भय से प्रायश्चित का ग्रहण करता है और कोई आदर बुद्धि से अपना कर्त्तव्य समझकर प्रायश्चित का ग्रहण करता है। इत्यादि सब बातों को लक्ष्य मे रखकर गम्भीरता व दूरदर्शिता से विचार कर आचार्य प्रायश्चित देते हैं और मुनिवर्ग को शुद्ध करते हैं।

प्रश्न—प्रायश्चित शास्त्रों के ज्ञान से शून्य जो आचार्य अपने सङ्घ स्थित साधुवर्ग को तथा श्रावक आर्यिका आदि को शुद्ध करने के हेतु प्रायश्चित देते हैं, उसमे क्या हानि होती है?

उत्तर—जिसको प्रायश्चित शास्त्र का ज्ञान नहीं है, तथा जिसने आचार्यों के प्रायश्चित देने के क्रम को नहीं जाना है, वह आचार्य पद के योग्य नहीं है। क्योंकि आचार्य के गुणो मे व्यवहारवत्व नाम का तीसरा गुण माना गया है। वह गुण उसमे अवश्य होना चाहिए, उसके बिना कोई आचार्य नहीं बन सकता है। जो साधु आचार्य योग्य गुण के न होने पर भी आचार्य बन बैठता है, वह अनन्त ससार का भोगी होता है, यथा :—

ववहारमयाणंतो ववहरणिज्जं च ववहरतो खु।
उस्सीयदि भवपंके अयसं कम्मं च आदि यदि ॥ ४५२ ॥ (भग आ.)
व्यवहारापरिच्छेदी व्यवहार ददाति यः।
अवाप्यैपोऽयशो घोरं संसारमवगाहते ॥ ४६४ ॥ (सं. भग आ.)

अर्थ—जिसको प्रायश्चित का निरूपण करने वाले ग्रन्थों का, उनके अर्थ का तथा प्रायश्चित कर्म का ज्ञान नहीं है और जो आलोचनादि नव प्रकार के प्रायश्चित का आचरण अपनी मन कल्पना से करवाता है, वह तुण्डाचार्य (मन कल्पित मुख से प्रायश्चित देने वाला) दूसरे को शुद्ध नहीं करता है। स्वय ससार रूपी गहन पक मे फसता है। संसार से भयभीत यतीश्वरों को व्यथ क्लेश देता है। कारण कि किस अपराध का कौनसा प्रायश्चित होता है, ऐसा ज्ञान उसको नहीं होता है और साधु वर्ग को अनुचित दण्ड' देकर वृथा सताता है। आगमविपरीत उन्मार्ग का उपदेश व सन्मार्ग का विनाश करने के कारण वह आचार्य दर्शन मोहनीय कर्म का बन्ध करके अनन्त संसार की वृद्धि करता है। उसका लोक मे घोर अयश होता है। इसलिए ससार से डरने वाले को प्रायश्चित शास्त्रो का ज्ञान न होने पर अपने को झूठे आचार्य पद से कलंकित न करना चाहिए। 'हम आचार्य हैं हमने जिस प्रायश्चित का आचरण करने का आदेश दि ा है, उसे तुमको पालन करना होगा' ऐसा स्वेच्छा से कभी न बोलना चाहिए।

हे क्षपक। जो मूर्ख व नवीन शिष्य मण्डली को बनाकर अज्ञ मनुष्यो से आदर पाकर अहकार को प्राप्त होगया है। उसके निकट आत्म शुद्धि की आशा स मत जाओ। उसका वाक् जाल व ऊपर के दिखावे मे आकर अपनी आत्मा का विनाश न करो। जो वैद्य रोग का स्वरूप नहीं समझता है, वह अज्ञ वैद्य रोग की चिकित्सा करने मे समर्थ नहीं हो सकता है। वैसे ही जो आचार्य प्रायश्चित शास्त्रों के ज्ञान से शून्य है, वह रत्नत्रय को निर्मल करने की अभिलाषा रखते हुए भी उसको निर्मल करने मे कृतकार्य नहीं होता है। इसलिए हे क्षपक। तुम्हें प्रायश्चित शास्त्रो के रहस्य के ज्ञाता आचार्य के पादमूल मे ही निवास करना उचित है। उनके सम्पर्क मे रहने से ही तुम्हारे दर्शन की विशुद्धि, ज्ञान की प्राप्ति व वृद्धि और चारित्र की उन्नति हो सकती है। धर्म्यध्यान व शुक्लध्यान की सिद्धि और आत्मा की विशुद्धि भी उनकी शरण लेने से ही हो सकती है।

आचार्य का प्रकारत्व गुण

जब क्षपक साधु वसतिका मे प्रवेश करता है, उस समय आचार्य उसे उचित स्थान देता है। जब बाहर जाना चाहता है, तब उसके अनुकूल परिस्थिति की योजना करता है। शय्या सस्तर और उपकरण की आवश्यकता की पूर्ति करता है, तथा वसतिका शय्या उपकरणादि के शोधन करने मे तथा रुग्णावस्था मे अथवा उठने बैठने की सामर्थ्य न रहने पर साधु को हस्तावलबन देकर या अन्य साधुओं को वैयावृत्त्य के लिए नियत करके अशक्त साधु को उठाने, बैठाने, शय्या पर सुलाने, पाद चम्पन, शरीर के मलमूत्रादि की शुद्धि करने मे अनुग्रह करता है। तथा आहार पानादि की अनुकूलता सम्पादन करके समस्त सङ्घ का उपकार करता है। ऐसे उचित और आवश्यक साधनो द्वारा क्षपक का उपकार करने वाले आचार्य को प्रकारक (प्रकुर्वी) कहते हैं।

पू. कि. ५

सं प्र.

प्रकारत्व गुण के धारक आचार्य अवसर आने पर छोटे मे छोटे और बडे मे बडे विद्वान् या अल्पज्ञ समस्त साधुओं की सब प्रकार की सेवा करने मे स्वय तत्पर रहते हैं, सेवा शुश्रूषा करने मे अत्यधिक परिश्रम होने पर खिन्न चित नहीं होते हैं, सदा प्रसन्नचित होकर सेवा में सलग्न रहते हैं। वह आचार्य उक्त गुण से अलंकृत होते हैं। इसलिए क्षपक को प्रकारक गुरु की छत्रछाया में ही निवास करना चाहिए।

आचार्य का आयोपायदर्शित्व गुण

जो क्षपक (समाधिमरण का इच्छुक साधु) आत्म-विशुद्धि करने मे प्रयत्नशील हो रहा है, आहार का त्याग करके काय को कृश कर रहा है, सल्लेखना और सुध्यान का आश्रय लेकर कषाय को भी मन्द करने मे तत्पर है, जो मोक्ष प्राप्ति के निकट पहुच रहा है, अथवा मनुष्य पर्याय के अन्त के सन्निकट प्राप्त हो गया है उस क्षपक के भी क्षुधादि की असह्य वेदना के उपस्थित होने पर रागद्वेष उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। क्योंकि जब वह क्षुधा तृषा की दारुण वेदना से पीड़ित हो जाता है उस समय मोहनीय कर्म के उदय से उसकी परिणति मलीन हो जाती है। तब समाधिमरण का कार्य प्रारम्भ करते समय उसने प्रतिज्ञा की थी कि मुनि दीक्षा ग्रहण करने के काल से लेकर अब तक रत्नत्रय मे जो अतिचार उत्पन्न हुए हैं, उन सबको गुरु महाराज के निकट प्रकट करूगा। किन्तु पश्चात उसके लज्जा तथा मान का उदय होने पर वह दोषो की स्पष्ट आलोचना करने मे हिचकिचाने लगता है। वह अभिमान वश सोचता है कि यदि मेरे अपराध आचार्य को विदित हो जावेंगे तो वे मेरी अवहेलना करेंगे। या अन्य मुनि जो मेरी वन्दना करते हैं, आदर सत्कार करते हैं, मेरे दोष प्रकट हो जाने पर ये मेरी वन्दना व आदर सत्कार न करेंगे। मुझे घृणा की दृष्टि से देखने लगेंगे इत्यादि कल्पना करके अपने को निर्दोष और शुद्ध सिद्ध करने के अभिप्राय से गुरुदेव के समीप अपने दोषो की आलोचना करने के लिए पीछे हटता है। उसे यह भय लगा रहता है कि यदि मैं अपने सब अपराध कह दूगा तो कदाचित आचार्य मुझे सघ से बहिष्कृत कर देंगे। इत्यादि अनेक आशकाएं उस क्षपक के अन्त करण मे घर बनाये रहती हैं। इसलिए वह उन्नत विचार वाला पवित्रात्मा शरीर का उत्सर्ग करने के लिए उद्यत हुआ भी क्षपक अपने दोष गुरु से निवेदन नहीं करता है। उसको आयोपायदर्शन गुण के धारक आचार्य दोषो की आलोचना करने से होने वाले लाभ को और आलोचना न करने से उत्पन्न होने वाली हानि को भलीभांति दिखाते हैं। क्षपक को मधुर और हितकर शब्दों मे समझाते हैं।

हे महात्मन्! यदि तुम अपने अपराधों को प्रकाशित न कराओगे तो तुम्हारा यह दुर्लभ रत्नत्रय नष्ट हो जायगा। जैसे किसी के गुप्त अङ्ग मे विपाक्त (जहरीला) फोड़ा हो जावे और वह चिकित्सक से लज्जादि के वश न कहे तो वह विनाश का कारण होता है। उसी प्रकार जो क्षपक अपने रत्नत्रय को मलीन करने वाले अतिचारों (अपराधो) का रत्नत्रय के विशोधक आचार्य के समीप नहीं कहता है तो वह रत्नत्रय रूप अपने दुर्लभ जीवन की हत्या करता है। और जो निष्कपट भाव से अपने दोषो का ज्यों का त्यों वर्णन कर देता है, वह

रत्नत्रय जीवन को विशुद्ध और अमर बनाता है। इसलिए हे पवित्र-हृदय महापुरुष! तुमको अपने कल्याण के निमित्त, रत्नत्रय रूप चिन्तामणि रत्न को उज्ज्वल बनाने के लिए लज्जा, मान व भय का परित्याग कर दीक्षा काल से लेकर आज तक के सब अपराधों का यथार्थ प्रकाशन करो।

हे साधो! तुमने अपार और अनन्त संसार का उच्छेद करने के लिए संयम का आराधन किया है। अनन्त काल से यह जीव चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण कर रहा है। संसार में भ्रमण करते हुए जीवों में विरले ही भाग्यशाली जीव हैं, जिनको यह दुर्लभ संयमरत्न मिलता है। दैवयोग से तुमको यह संयमरत्न प्राप्त होगया है। कौन ऐसा मूर्ख मनुष्य होगा जो शल्य सहित मरण कर उसे प्राप्त हुए संयमरत्न का नष्ट करेगा। क्योंकि जिस आत्मा में शल्य का निवास होता है, उसमें रत्नत्रय नहीं रहता है। जैसे जहां अन्धकार का साम्राज्य है वहां प्रकाश नहीं रहता है। वैसे ही जिसकी आत्मा में शल्य रहता है उसमें रत्नत्रय नहीं रहता है। इसलिए रत्नत्रय के शत्रु मायाशल्य का सर्वथा परित्याग कर देना ही तुम्हारे लिए हितावह है।

हे क्षपक! कांटा बाण आदि द्रव्य शल्य जैसे शरीर के पांव आदि में प्रवेश करके प्रथम छिद्र करता है, मांस और नाड़ी में घुस कर पीड़ा देता है, पश्चात् शरीर के अवयव को सड़ा कर उसे निकम्मा बना देता है। उसी प्रकार मायादि भावशल्य भी आत्मा को दूषित करता है। तथा व्रत शीलादि गुणों का विनाश करता है। लज्जा, भय और अभिमान उत्पन्न होने पर माया शल्य उत्पन्न होता है। और मायाशल्य के उत्पन्न होने पर साधु अपराध छिपाने का प्रयत्न करता है।

हे महात्मन्! यदि तुमने मायाशल्य धारण कर दुर्लभ बोधि रत्न को गुमा दिया तो याद रखो जन्ममरण रूपी भवर से अति गम्भीर महा भयानक, चौरासी लाख योनि से आकुल, इस अनन्त संसार में भ्रमण करते हुए कुयोनियों में पचते हुए तुमको अनगिनत काल तक हृदय विदारक दुःख व संताप भोगने पड़ेंगे।

इस प्रकार आचार्य क्षपक को अपराध प्रकट करने से उत्पन्न होने वाले गुण को और छिपाने से अनन्त संसार (अर्धपुद्गल परावर्तन काल तक) भ्रमण रूप महान् दुःख को अनेक युक्तियों से समझाते हैं, जिससे क्षपक मायाशल्य का त्याग कर अपने दोषों की आलोचना द्वारा रत्नत्रय की विशुद्धि करता हुआ भव भ्रमण के दुःख से मुक्त होता है। इसलिए जिसमें आयोपायदर्शकता नामक गुण पाया जावे, उस आचार्य के पादमूल का आश्रय लेकर रत्नत्रय की आराधना को परिपूर्ण करना चाहिए।

आचार्य में अवपीडकत्व गुण

प्रश्न—यदि कोई क्षपक आलोचना के गुण व दोष का भली भांति निरूपण करने एवं अनेक शिक्षा देने पर भी आचार्य के समीप मान लज्जा भय तथा क्लेश सहन करने की सामर्थ्य का अभाव इत्यादि कारणों से अपने दोषों को व्यक्त करने में प्रवृत्त न हो तो निर्यापक आचार्य क्या करें ?

उत्तर—आचार्य में अवपीड़कत्व नाम का गुण होता है। उसके बल से आचार्य साधु के हृदय में छिपे हुए गुप्त अपराधों को प्रकट करवा लेते हैं। जैसे सिंह के सामने शृगाल (सियार) उदरस्थित मांस को वमन कर देता है, उसी प्रकार आचार्य की तेजस्विता और प्रभाव से प्रभावित हुआ साधु अपने सब अपराधों को व्यक्त कर देता है।

प्रश्न—आचार्य क्षपक के अपराध व्यक्त करवाने के लिए प्रथम ही इस प्रभाव जनक अवपीडकत्व गुण का उपयोग क्यों नहीं करते ?

उत्तर—राजा की नीति के समान आचार्य की नीति होती है। राजा अपनी प्रजा के सुख व शान्ति के लिए जैसे अनेक प्रकार की नीति का अवलंबन करता है, वैसे ही सङ्घ के कल्याण के लिए आचार्य को भी विविध साधनों का प्रयोग करना पड़ता है। आवश्यकता अनुसार ही उनके अवपीडकत्व गुण का प्रयोग होता है।

प्रश्न—आचार्य प्रथमतः क्षपक को अपराध प्रकट करने के लिए किस प्रकार सान्त्वना देकर उत्साहित करते हैं ?

उत्तर—जब आचार्य क्षपक को अपराध के अभिव्यक्त करने से लाभ और अभिव्यक्त न करने से हानि दिखाकर अपने को सफल मनोरथ नहीं पाते हैं अर्थात् हानि लाभ दिखाने पर भी क्षपक जब लज्जा भय मानादि को छोड़ कर अपने अपराधों की आलोचना नहीं करता है, तब निर्यापक आचार्य क्षपक के प्रति स्नेहपूर्ण आत्मीयता प्रकट करने वाले एवं मधुर हृदयस्पर्शी मनोज्ञ भाषण करते हैं। क्षपक के अन्तःकरण को सुखी बनाने वाला उपदेश आचार्य जिस प्रकार देते हैं, उसका दिग्दर्शन निम्न प्रकार किया जाता है।

हे आयुष्मन् ! तुमने सन्मार्ग को अङ्गीकार किया है। और तुम अन्तःकरण से रत्नत्रय को निर्मल करने के लिए सदा दत्तचित्त रहते हो। इसलिए हे महात्मन् ! तुम लज्जा, भय और गौरव को तिलाञ्जलि देकर अपने दोषों का ज्यों का त्यों प्रकाशन करो। गुरुजन तो माता पिता के तुल्य होते हैं। उनके सामने अपराध प्रकट करने में लज्जा कौनसी ? गुरुजन सदा शिष्य की उन्नति और गौरव की कामना करते हैं। वे शिष्य के अपराध को अपना समझते हैं। वे किस तरह तुम्हारे दोषों को दूसरों पर प्रकट कर सकते हैं। जैसे पुत्र अपने

भयङ्कर अपराध को माता पिता के समक्ष करने मे नहीं हिचकता, वह समझता है कि माता पिता मेरे हितचिन्तक हैं तथा मेरे कल्याण करने मे प्रयत्नशील रहते हैं। इसलिए वह लज्जा को ताक मे रखकर गुप्त अपराध निवेदन कर देता है। वैसे ही उत्तम शिष्य अपने गुरु को ससार मे सबसे अधिक हितकर्त्ता समझता है। क्योंकि वे सर्वदा अपने आत्म कल्याण के कार्य की उपेक्षा कर शिष्यों के कल्याण की साधना मे अहर्निश लगे रहते हैं। माता पिता तो स्वार्थवश पुत्र के रक्षण शिक्षणादि कार्य मे प्रवृति करते हैं। किन्तु गुरुदेव शिष्य के परलोक सम्बन्धी सुख की प्राप्ति के लिए निस्वार्थ हितचिन्तन मे उद्यत रहते हैं। उनके समक्ष लज्जा करना उचित नहीं है।

लज्जा भी सब जगह श्लाघनीय नहीं मानी गई है यथा :—

"धनधान्यप्रयोगेषु विद्यासंग्रहणेषु च।
आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्ज सुखी भवेत्॥"

अर्थ—धन और धान्य का उचित प्रयोग करने मे, विद्या का ग्रहण (अध्ययन) करने मे तथा आहार और व्यवहार मे जो लज्जा नहीं करता है वह सुखी होता है।

हे क्षपक। तुम्हें कदाचित् यह भय हो कि मेरे द्वारा आलोचना किया गया दोष ये (आचार्य) प्रकाशित कर देंगे तो ऐसा भय मुझसे तुम्हें न करना चाहिए। क्योंकि धर्माचार्य ससार मे धर्म के प्रवर्त्तक होते हैं। वे सदा मुनियो की और मुनि धर्म की निन्दा व अपमान का दूर करने मे कटिबद्ध रहते हैं। वे समाधि की सिद्धि के लिए उपस्थित हुए आप सरीखे महात्माओ द्वारा निवेदन किये गये दोषों को किस प्रकार प्रकट करेंगे? सहधर्मी बन्धु का दोष प्रकाशित करना सम्यग्दर्शन का दूषण माना गया है और परनिन्दा करन से नीच गोत्र का बन्ध होता है। तथा परनिन्दा करने वाला जगत् मे निन्दनीय होता है और वह दूसरे के चित मे असह्य सताप उत्पन्न करने के कारण दारुणदुःख का जनक असातावेदनीय कर्म का बन्ध करता है। सघ के साधु तथा अन्य साधु जन ऐसे आचार्य की अवहेलना करते हैं। क्या मैं अपने धर्म रूपी उज्ज्वलरत्न को इस प्रकार पापपङ्क से मलीन करूगा? क्या पूर्णिमा के चन्द्र के समान धवलयश पर अपयश रूपी कज्जल की कालिमा पातूगा? कौन सुबुद्धि इस महान् अनर्थ के मूल परदोष प्रकाशन को करके अपने उन्नत मस्तक पर कालिमा का टीका लगावेगा। इसलिए हे मुमुक्षु! दैवयोग से अथवा प्रमाद या अज्ञान स जा सम्यक्त्वादि म अतिचार हो गये हो वे छिपाने योग्य नहीं है। निमल हुआ रत्नत्रय महा माहमा को प्राप्त होता है। और वह शाश्वत लोकोत्तर (मोक्ष) पद देता है। इसलिए अपन सब दोषो को निर्भय होकर मुझपर प्रकट करो। पूर्ण विश्वास रखो, वे दोष किसी के सामने कभी प्रकट न किये जावेगे।

पू कि ५

स. प्र.

इस प्रकार आचार्य के विश्वसनीय सुमधुर भाषण की भी अवहेलना करके जब क्षपक अपने कृत अपराधों को सम्यक् प्रकार प्रकट नहीं करता है तब आचार्य क्षपक की कल्याण कामना से प्रेरित हुए अवपीडक गुण द्वारा उसके अन्तःस्थल में छिपे हुए दोषों को अपनी तेजस्विता के बल से बाहर निकाल लेते हैं। जैसे सिंह शृगाल के उदरस्थित मास को बाहर वमन करवा लेता है। वे क्षपक को इस प्रकार कहते हैं।

हे साधो! अपराध शरीर के मल के समान या सड़े हुए फोड़े के समान हैं। उनको बाहर निकाल फैंकने से ही हित साधन होता है। भीतर छिपा रखने से दुर्गन्धि फैलती है और उससे अनेक हानिया होती हैं। तुम उनको छिपा रहे हो, इसलिए हमारे यहा से हट जाओ। क्योंकि वैद्य के निकट वही रोगी जाता है, जिसे अपनी व्याधि मिटाने की इच्छा होती है। तथा निर्मल जलाशय के समीप वही गमन करता है जिसको जलकी आवश्यकता होती। ऐसे ही रत्नत्रय में लगे हुए दोषों का निराकरण करने के लिए गुरुओं का आश्रय लिया जाता है। और तुम रत्नत्रय की विशुद्धि करने में लापरवाह हो तो फिर तुमने इस समाधिमरण का आडम्बर क्यों रचा है? सल्लेखना (समाधिमरण) की सिद्धि चतुर्विध आहार का त्याग करने मात्र से नहीं होती है। किन्तु उसकी सिद्धि के लिए कषायों का त्याग करना भी परमावश्यक है। कषाय का त्याग करने वाले के संवर और निर्जरा होती है। कषायों से नवीन कर्मों का रसबंध और स्थिति बन्ध होता है। अत मुमुक्षु उनका निग्रह करते हैं। क्रोधादि कषायों में माया कषाय अति निन्दनीय है। क्योंकि माया से तिर्यंच योनि का बन्ध होता है। उस माया को छोड़ने में तुम असमर्थ हो। तुमने तो तिर्यंच योनि में प्रवेश करने का साधन जुटा रखा है। संसार से निवृत्त होने का तुम्हारा उद्योग कैसे सार्थक होगा? संसार रूप महापङ्क से उद्धार होना अति दुष्कर है। वस्त्र फैंक देने मात्र से निर्ग्रन्थपने का अभिमान करना न्याय संगत नहीं है। यदि नग्न होने से ही निर्ग्रन्थता प्राप्त हो जाती है, ऐसा मान लिया जावे तो तिर्यंच भी निर्ग्रन्थ माने जावेंगे। परम भट्टारक तीर्थंकर देवने दश प्रकार के बाह्य और चौदह प्रकार के अन्तरङ्ग परिग्रह की गाठ को उतार फैंकने पर मुनिपना बताया है। और वही मोक्ष का अमोघ उपाय है। यद्यपि क्षेत्र वस्तु आदि दश प्रकार परिग्रह का त्याग किये बिना भाव मुनि पना नहीं होता है, तथापि भाव मुनित्व की सिद्धि के लिए बाह्य परिग्रह के त्याग के साथ २ कषायादि का भी त्याग करना आवश्यक है।

हे मुमुक्षो! जो कर्मों का बन्ध होता है वह जीव और पुद्गल द्रव्य के सम्बन्ध मात्र से नहीं होता है, किन्तु जीव के कषायादि परिणाम से होता है। वह कषाय भाव (माया कषाय) तुम्हारी आत्मा में जाज्वल्यमान हो रहा है, अत. कर्म बन्ध से निवृत्त होने का तुम्हारा प्रयास विडम्बना मात्र है।

हे रत्नत्रय के पालक! अतिचार से दूषित सम्यक्त्वादि मुक्ति के कारण नहीं हो सकते हैं। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग' यह आगम वचन तुम्हारे कर्णगोचर नहीं हुआ है? उसमें निरतिचार दर्शनादि को ही मुक्ति का मार्ग (उपाय) बताया है।

अतिचार सहित दर्शनादि को सम्यग्दर्शनादि नहीं वताया है। और वह सम्यग्दर्शनादि की निरतिचारता गुरु द्वारा वताये गये प्रायश्चित का आचरण करने से ही प्राप्त होती है। गुरु उसी को प्रायश्चित देते हैं जो उनके समक्ष अपने अपराधों की आलोचना करता है। तुमतो अपराधों की आलोचना नहीं कर रहे हो इसलिए तुम दूरभव्य या अभव्य प्रतीत होते हो। अन्यथा ऐसी महान् मायाशल्य को हृदय मे स्थान कैसे देते और मुनियों के वन्दना के पात्र भी कैसे होते ? अर्थात् मायाचार से दूपित होने के कारण मुनि द्वारा अवदनीय होकर भी तुमने मुनियों से वन्दना करवाई है, अत॰ तुम दूरभव्य या अभव्य ज्ञात होते हो।

'समणं वदिज्ज मेघावी संजदं सुसमाहिदं।'

अर्थात्—विचारवान् साधु को उचित है कि वह उसी साधु की वन्दना करे जो समचित्तता का धारक हो।

जो साधु जीवन और मरण मे, प्रशसा और निन्दा मे,लाभ और अलाभ मे समान वुद्धि रखता है, उसे समचित कहते हैं। मैं अतिचार की आलोचना करूगा तो मेरी सब मुनि निन्दा करेंगे, प्रशसा न करेंगे–ऐसा तुम मन मे विचार कर रहे हो, तुम सम–वुद्धि नहीं हो, अत. वदना योग्य कैसे हो सकते हो ? तुम शायद यह समझकर आलोचना नहीं कर रहे हो कि मेरे दोषो को ससार मे कोई नहीं जानता है। यह तुम्हारी भूल है। तुम्हारे अपराधो को मैं जानता हूँ और अन्य मुनीश्वर भी जानते हैं। इस प्रकार युक्ति सङ्गत ओजस्वी भाषण द्वारा उसके अन्त.करण मे अपना वर्चस्व स्थापित करके उसके अन्तःकरण के प्रच्छन्न अपराधों को प्रकाशित करवा लेते हैं, जैसे सिंह के समक्ष शृगाल अपने उदरस्थित मासादि को वाहर निकाल देता है। ऐसे गुण के धारक आचार्य को अवपीडक गुण विशिष्ट कहते हैं।

अवपीडक आचार्य का लक्षण

उज्जस्सी तेजस्सी वचस्सी पहिदकित्तियायरिओ।
सीहाणुओ य भणियो जिणेहिं उप्पीलगो णाम ॥ ४८७ ॥
कंठीरव इवौर्जस्वी तेजस्वी भानुमानिव।
चक्रवर्त्तीव वचस्वी सूरिरुत्पीड़कोऽकथि ॥ ४६२ ॥ (भग आ)

अर्थ—उत्पीड़क गुण के धारक आचार्य सिंह के समान ओजस्वी (प्रभावशाली वलवान्) होते हैं। सूर्य के समान तेजस्वी (प्रतापी) होते हैं। जिनके आगे सब कापते हैं और जो किसी के प्रभाव (रोव) मे नहीं आते हैं उन्हें तेजस्वी कहते हैं। अर्थात् सब यतीश्वरों

पर उनका प्रभाव होता है। जो चक्रवर्ती के समान अप्रतिहत शासन होते हैं, स्वकीय सङ्घ के और अन्य सङ्घ के मुनि जिनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते हैं उन्हें वर्चस्वी कहते हैं। वे प्रश्न का उत्तर देने मे निपुण होते हैं। उनका धवल यश संसार मे विस्तृत होता है। और वे सिंह के समान अधृष्य (क्षोभरहित) होते हैं।

अवपीडक गुण के आधार आचार्य हितचाहने वाली उस माता के समान होते हैं जो रोते हुए बालक के मुह को बलात्कार से खोलकर उसे दूध पिलाती है। आचार्य भी माया शल्य सहित अपने दोषो की आलोचना न करने वाले साधु को बलात्कार से दोषो की आलोचना करने के लिए बाध्य करते हैं। यद्यपि कडुवी औषधि रोगी को बुरी लगती है, तथापि परिणाम मे सुखप्रद होती है। वैसे ही दोषो का प्रकाशन क्षपक को बुरा लगता है, किन्तु भविष्य मे कल्याण का कर्त्ता होता है। अर्थात् दोषो की आलोचना करने पर गुरु द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित का आचरण कर क्षपक भविष्य मे ससार परिभ्रमण के दुःख से मुक्त होता है।

जो गुरु शिष्यों के प्रति मृदु भाषणादि सद्व्यवहार तो रखते हैं, लेकिन उनके दोषों का निराकरण नहीं करते हैं, उनकी अपेक्षा वे गुरु दुर्लभ हैं, जो शिष्यों की हितकामना से पादप्रहार करके भी उनके दोषो का निवारण करते हैं। कारण कि इस लोक मे अपने हितकर कार्य मे तत्पर रहने वाले तथा परहित कार्य मे उपेक्षा करने वाले ही मनुष्य बहुत पाये जाते हैं। अपने हित के समान परहित का चिन्तन करने वाले बहुत कम दिखाई देते हैं। अर्थात् जो आत्महित करते हुए परहित मे निरत रहते हैं, वे ही नरपुगव कटुकठोर अप्रियवचन बोलकर भी शिष्य का कल्याण करते हैं। ऐसे जगद्गुरु इस लोक मे अतिशय दुर्लभ हैं।

शङ्का—यदि कोई शिष्य अपने पूर्व दोषो की आलोचना न करे तो वह भविष्य मे निर्दोष सयम का पालन करने मे कटिबद्ध रह सकता है या नहीं ?

समाधान—जो साधु अपने दोषो से निवृत्त नहीं होता है, वह भविष्य मे निर्दोष आचरण करने मे समर्थ नहीं हो सकता है। जैसे किसी मनुष्य के व्रण (घाव) सड गया है, उस सडे भाग का आपरेशन या इजेक्शन आदि के प्रयोग से जब तक शोधन नहीं किया जाता है, तब तक उसकी प्रवृत्ति (चेष्टा) सुखमय नहीं होती है। उसी प्रकार जब तक पूर्व अपराधों (दोषो) का शोधन नहीं किया जाता है, तब तक उसके अन्तःकरण मे दोषो की वासना बनी रहने के कारण गुणो मे अप्रतिहत प्रवृत्ति नहीं होती है।

जब तक आत्मा मे दोषो का सद्भाव रहता है तब तक रत्नत्रय की शुद्धि नहीं होती है और रत्नत्रय की शुद्धि के बिना ससार-चक्र से निकलकर मोक्ष के निकट पहुचना असभव है, इसलिए अवपीड़क गुण के धारक आचार्य जैसे बने वैसे क्षपक (समाधि के आराधक) के हृदय से दोषो का वमन करवाकर उसका कल्याण करते हैं।

स. प्र.

आचार्य को विशिष्टता

प्रश्न—साधु को अपने दोष गुरु महाराज के निकट मायारहित होकर स्पष्ट निवेदन करना आवश्यक है। तथा उसके निवेदनन करने पर आचार्य प्रथम मधुर स्नेह युक्त वचन से और पश्चात् कटु कठोर प्रभावशाली वचन से क्षपक को अपने दोष प्रकट करने के लिए बाध्य करते हैं। लेकिन आचार्य साधु के गुप्त दोषों को यदि प्रकरण पाकर या द्वेषवश मुनि समाज में प्रकट करदें तो क्षपक की महती हानि होने की सभावना रहती है। अतएव आचार्य का उस समय क्या कर्त्तव्य-धर्म होना चाहिए ?

उत्तर—आचार्य वही हो सकता है, जिसका हृदय गभीर होता है। जैसे अग्नि से तपा हुआ लोहे का गोला पानी का शोषण करता है, शोषण किया हुआ पानी उससे कभी बाहर नहीं निकलता है, वैसे ही आचार्य के अन्तःकरण में रखा हुआ साधु का दोष जीवन पर्यन्त कभी बाहर प्रकट नहीं होता है। उसकी हवा भी किसी निकटवर्ती मुनि को नहीं मिलती है। आचार्य के मुख से तो क्या उनके इंगिताकार से (चेष्टा से) भी कोई इंगितज्ञ पता नहीं चला सकता है। ऐसे गभीर हृदय वाले आचार्य को अपरिस्रावी गुण का धारक कहा है। जिनमें यह गुण नहीं है, वह आचार्य पद के योग्य नहीं होता है। आचार्य पर विश्वास करके साधु अपने भयानक दोषो को भी स्पष्ट प्रकट कर देता है। यदि वह साधु के दोषो को प्रकट करदे तो उसे आगम मे धर्म से पतित माना है वही कहा है।

आयरियाणं वीसत्थदाय भिक्खू कहेदि सगदोसे।
कोई पुण णिद्धम्मो अण्णेसिं कहेदि ते दोसे ॥ ४८८ ॥

अर्थ—साधु आचार्य पर विश्वास कर अपने दोषों का प्रकाशन करते हैं और यदि वह आचार्य उन दोषों को अन्य साधुओं पर प्रकट करदे तो वह आचार्य जिनोक्त धर्म से बहिर्मुख हुआ समझा जाता है। अर्थात् जिनागम मे आचार्य के लिए साधु के आलोचना किये गये दोषों को किसी भी प्रकार से प्रकट नहीं करने की आज्ञा है। यदि वह इसके विपरीत आचरण करता है तो वह जिनाज्ञा का उल्लघन करनेवाला धर्म-भ्रष्ट माना गया है, तथा विश्वासघात के महापाप से दूषित कहा गया है।

प्रश्न—कोई आचार्य यदि साधु का अपराध अन्य के समक्ष व्यक्त करदे तो उससे साधु की क्या हानि होती है ?

उत्तर—जिस साधु के दोष आचार्य ने अन्य साधु आदि पर प्रकट किये हैं वह लज्जा या मान के वश क्रुद्ध होकर आचार्य का ही नहीं, कभी २ रत्नत्रय का भी त्याग कर देता है। और यदि वह साधु यशस्वी और जगन्मान्य हो तो कभी २ आत्महत्या तक कर बैठता है वह कलंकित जीवन से मृत्यु को श्रेष्ठ समझकर क्रोध से अन्धा हुआ महापाप जनक आत्मघात करने में भी प्रवृत्त हो जाता है।

साधु के आलोचित दोष प्रकट करने वाले आचार्य का वह साधु तथा अन्य सङ्घ के साधु परित्याग कर उसके शासन की उपेक्षा करने लगते हैं। सङ्घ मे खलबली मच जाती है। जिस साधु का आलोचित दोष आचार्य ने प्रकट किया है, वह मुनि सब साधुओं को 'आज इसने मेरे दोष सबके सम्मुख प्रकट किये हैं, कल तुम्हारे भी करेगा' ऐसा कहकर आचार्य के प्रति विरुद्ध और श्रद्धाहीन कर देता है। आचार्य के प्रति विपरीत हुए साधु उस आचार्य से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेते हैं।

इतना ही नहीं मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका यह चतुर्विध सङ्घ भी उस आचार्य का परित्याग करता है।

परदोष का प्रकाशक आचार्य अपना और साधुओं का तथा सङ्घ का ही अनिष्ट नहीं करता, बल्कि पवित्र जैन धर्म का और साधु धर्म का अपवाद करने वाला होता है। लोग कहने लगते हैं कि—

आचार्यो यत्र शिष्यस्य विदधाति विडम्बनाम्।
धिक् धिक् निर्धर्मा साधूनिति वक्ति जनोखिलः॥ ५०९॥
विश्वासघातका एव दुष्टाः सन्ति दिगम्बराः।
ईदृशीं कुर्वते निन्दां मिथ्यात्वाकुलिता जना॥ ५१०॥ (स. भग. आ.)

अर्थात्—जिस सम्प्रदाय में आचार्य शिष्य की विडम्बना करते हैं, शिष्य का दूषण प्रकट करते हैं, उस सम्प्रदाय के साधुओं को सम्पूर्ण जनता धिक्कार देती है। दिगम्बर साधु विश्वास घातक और दुष्ट होते हैं, ऐसी निन्दा मिथ्यात्व दूषित मनुष्य करने लगते हैं।

अपरिस्रावी गुण के धारक आचार्य दोष प्रकट करने से उत्पन्न होने वाले इस प्रकार के सब दूषणों को भली भांति जानते हैं। बिना पूछे वे दोष का प्रकाशन कैसे कर सकते हैं। किसी के पूछने पर भी अपने मुख से कभी दोष प्रकाशित नहीं करते हैं। इसलिए हे क्षपक साधुओ। दोष का निगूहन करने वाले रहस्य का भेदन न करने वाले आचार्य का आश्रय करो।

आचार्य का सुखकारी गुण

प्रश्न—आचार्य में एक सुखकारी गुण माना गया है, उसका स्वरूप क्या है। क्षपक के लिए आचार्य किस प्रकार के सुखो का साधन करते हैं?

स. प्र.

उत्तर—क्षपक के योग्य भोजन पान की योग्यता को मिलाकर आचार्य उसे शान्ति पहुँचाते हैं। उचित परिचारको को वैयावृत्त्य मे नियुक्त करके तृण के सस्तर आसनादि की अनुकूल व्यवस्था करके उसे आराम देते हैं। क्षपक के चित्त मे क्षुधादि के कारण क्षोभ उत्पन्न होने पर या परिचारको के प्रमाद से अथवा शीतादि की परीषह से या रोग की तीव्र वेदना से अति सक्लेश उत्पन्न होजाने पर उसके चित्त मे मर्यादा भङ्ग करने की परिणति होने लगती है। ऐसे समय शान्तचित्त क्षमाशील धैर्य धारण कर निर्यापकाचार्य क्षोभ रहित होकर स्नेह युक्त मधुर चित्त प्रसन्न करने वाली कर्ण-प्रिय कथाओ को कहकर क्षपक के चित्त मे शान्ति और सुख का सञ्चार करते हैं। और उसको संयम मे दृढ करते हैं। यथा :—

सुखकारी दधात्येनं मज्जन्तं दुस्तरे भवे।
पूतरत्नभृतं पोतं कर्णधार इवार्णवे ॥ ५१९ ॥
शीलसंयमरत्नाढय यतिनावं भवार्णवे।
निम्मज्जन्ती महाप्राज्ञो विभर्ति सूरिनाविकः ॥ ५२० ॥ (स. भग आ.)

अर्थ—जैसे समुद्र की गहराई उतराई का ज्ञाता कुशल कर्णधार रत्नों से भरे हुए जहाज को समुद्र के भीतर भँवर चट्टान आदि से बचाकर सायात्रिकों (जहाजी व्यापारियो) को मधुर और प्रिय वाक्यों से धैर्य बधाता हुआ अभीष्ट स्थान पर सुख से ले जाता है, वैसे ही सघ का नायक आचार्य ससार समुद्र मे डूबती हुई शील सयमादि गुण रत्नों से परिपूर्ण यति नौका को अपनी बुद्धि की पटुता से मोक्ष नगर के निकट पहुँचाता है।

भावार्थ—रत्नादि बहु मूल्य से भरे हुए जहाज का खेवटिया वही हो सकता है, जिसने अथाह समुद्र मे ऊँची उछलती हुई तरंगों मे जहाज को निरन्तराय पार करने का पूर्ण अभ्यास किया हो तथा जिसको प्राप्त होने वाली विघ्न बाधाओं का तथा उनके निवारण करने के उपायो का पूर्ण अनुभव ज्ञान प्राप्त हो। उसी प्रकार निर्यापकाचार्य भी वे ही हो सकते हैं जिन्होंने जिनागम के रहस्य का पूर्ण अनुभव किया है। सयम से परिपूर्ण यति पोत (मुनि रूप जहाज) क्षुधा पिपासादि तरङ्गों के आघात से जब उछलने लगता है, ससार समुद्र मे डूबने के उन्मुख हो जाता है ऐसे समय मे वह आचार्य बुद्धि कौशल से हृदयग्राही मधुर वचन से उसको बचाकर लक्ष्य स्थान पर ले जाते हैं। उनकी वाणी मे ओज होता है। धैर्य और साहस उसमे उत्पन्न करने की शक्ति होती है। दु खित हृदय मे आनन्द का स्रोत बहाती है। नीरस जीवन मे सरसता उत्पन्न करती है। उसकी मधुरता कर्ण और अन्त करण मे मधुरिमा की वृष्टि कर देती है। शरीर से परम वैराग्य उत्पन्न कर मुक्ति अङ्गना के अनुपम और अविनश्वर सहजानन्द की झलक का अनुभव कराती है। ऐसी वाणी के धारक, आत्मानुभव रस के

आस्वादन करने वाले, ज्ञानामृत के अवगाहक, चारित्र नन्दनवन मे रमण करने वाले महात्मा ही आचार्य पद को सुशोभित कर शरणागत शिष्य जनो को उक्त गुणो का अपने आचरण और मधुर भाषण से आस्वादन कराकर उन्हें दु.खी से सुखी बनाते हैं।

उक्त आचारवान् से लेकर सुखकारी पर्यन्त आठ गुणों का सद्भाव जिसमे पाया जाता है, उस आचार्य का अन्वेषण कर शरण लेने से ही साधक के उद्देश्य की पूर्ति होगी और वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगा।

सगुण आचार्य की प्राप्ति कैसे हो

प्रश्न—मुमुक्षु साधु को उक्त गुण रत्नो से अलकृत आचार्य की शरण प्राप्त करने के लिए क्या करना चाहिए।

उत्तर—परहित-निरत, आगमामृत भोजी, चारित्र पीयूष पान से सतृप्त आचार्य की प्राप्ति गुरुकुल (मुनि सघ) को आत्म-समर्पण करने से अर्थात् आचार्य के शासन को शिरोधार्य कर उनके पाद मूल मे निवास करने से होती है।

गुरुकुल (मुनि सघ) को आत्म-समर्पण करने का समाचार-क्रम निम्न प्रकार है—

क्षपक गुरुकुल को आत्म समर्पण कैसे करे ?

जब साधु आचार्य के चरणों की शरण मे जावे तब प्रथमतः मन वचन और काय से सामायिकादि छह आवश्यक को पूर्ण करके दोनो हाथ जोड़ कर मस्तक नवाकर वन्दना करे।

सामायिक, प्रतिक्रमण, चतुर्विंशति सस्तव, वन्दना, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग—इन छह आवश्यक क्रियाओ को मन वचन और काय से करना चाहिए। अर्थात प्रत्येक आवश्यक मनोयोग, वचनयोग और काययोग के भेद से तीन तीन प्रकार का हो जाता है। मन द्वारा सर्व सावद्य योगों का त्याग करना मनोयोग सामायिक, 'मैं सम्पूर्ण सावद्य योगों का त्याग करता हूँ' ऐसा वचन उच्चारण करना वचन योग सामायिक काय से सर्व सावद्य योग क्रिया का त्याग करना काय योग सामायिक, इस प्रकार सामायिक के तीन भेद होते हैं। इसी प्रकार प्रतिक्रमणादि के भी तीन २ भेद होते हैं। पूर्वकृत अतिचारों का मन से त्याग करना, हाय हाय मैंने अमुक२ पाप कार्य किया है, ऐसा चिन्तन कर मनमें पश्चाताप करना मन. प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण के सूत्रो का उच्चारण करना वचन प्रतिक्रमण और काय द्वारा उन अतिचारो का आचरण न करना काय प्रतिक्रमण है।

मनसे चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का स्मरण करना, वचन से 'लोगस्सोज्जोयगरे' इत्यादि पाठ पढ़कर तीर्थंकरो की स्तुति करना, मस्तक पर हाथ जोड कर जिनेन्द्र देव को नमस्कार करना ये चतुर्विंशति संस्तव के तीन भेद हैं।

वदना करने योग्य गुरुओ के गुणो का स्मरण करना मनो वन्दना, वचन द्वारा उनके गुणो की महिमा वर्णन करना वचन वन्दना और प्रदक्षिणा देना, मस्तक झुका कर नमस्कार करना यह काय वन्दना है।

भविष्य मे 'मैं मनसे अतिचार न करूगा' ऐसा चिन्तन करना यह मन प्रत्याख्यान है, वचन से 'मैं भविष्य मे अतिचार न करूगा' यह वचन प्रत्याख्यान और काय से भविष्य काल मे अतिचार का आचरण करना काय प्रत्याख्यान है।

'यह शरीर मेरा नहीं है' ऐसा मन मे विचार कर मन से शरीर प्रेम को दूर करना मनःकायोत्सर्ग, 'मैं शरीर से प्रेम का त्याग करता हूँ' ऐसा वचनोच्चारण करना वचन कायोत्सग तथा हाथों को नीचे लटकाकर दोनों पैरों में चार अगुल का अन्तर रखकर नासाग्रदृष्टि किये हुए शरीर सम्बन्धी अनेक उपसर्गादि द्वारा विघ्न बाधा उपस्थित होने पर भी निश्चल खडे रहना काय द्वारा कायोत्सर्ग है।

प्रसन्न चित्त गुरु जब एकान्त मे विराजमान हों उस समय शनै शनै (विनय पूर्वक) आकर शरीर और भूमि का प्रतिलेखन कर (पिन्छी द्वारा प्रमार्जन कर) आचार्य के न तो अधिक निकट और न बहुत दूर बैठकर हाथ जोड कर 'हे भगवन् मैं कृतिकर्म वन्दना करना चाहता हूँ' ऐसी आलोचना करे। गुरु महाराज से अनुज्ञा प्राप्त होने पर धीरे से उठकर मस्तक पर हाथ जोड कर न तो अधिक शीघ्र और न बहुत धीरे मध्यम वृत्ति से सामायिक पाठ का उच्चारण करे।

सूत्र के अनुसार निश्चल विकार रहित खड़ा हो कायोत्सर्ग करे। पश्चात् चतुर्विंशति स्तव (चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति) पढ़कर आचाय पर अनुराग धारण करता हुआ गुरु की स्तुति पढे। इसे कृतिकर्म वन्दना कहते हैं। वन्दना करने के बाद आचार्यवर्य से हाथ जोड कर निवेदन करे।

तुज्झेत्थ वारसंगसदपारया सवणमंघणिज्जवया ।
तुज्झं खु पादमूले सामण्ण उज्जवेज्जामि ॥ ५१० ॥
पव्वज्जादी सव्व कादूणालोयणं सुपरिसद्धं ।
दंसणणाणचरित्ते णिसल्लो विहरिदुं इच्छे ॥ ५११ ॥ (भग आ.)

अर्थ—हे गुरुदेव । आप द्वादशाग श्रुतज्ञानरूपी सागर के पारगामी हैं । तपस्वी मुनिश्वरो को सुख पूर्वक समाधिमरण कराने मे कुशल हैं । मैं आपके पादपद्म का शरण प्राप्त कर अपने मुनि धर्म को उज्ज्वल करना चाहता हू । दीक्षा धारण करने से लेकर आज तक जो अपराध हुए हैं, उनकी आकम्पित अनुमानितादि दश दोष रहित आलोचना करके दर्शन, ज्ञान और चारित्र मे निःशल्य प्रवृत्ति करना चाहता हूँ।

इस प्रकार क्षपक जब अपना अभिप्राय आचार्य के निकट प्रकट करता है, तब आचार्य कहते हैं—हे मुमुक्षो । तुमने बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग किया है, अतएव अब तुम निर्विघ्न उत्तम प्रयोजन रत्नत्रय को सिद्ध करो ।

हे महाभाग । तुम जगत् मे धन्य हो, जो नारकादि चतुर्गति मे भ्रमण कराने वाले दुष्कर्मों का तथा ससार मे उत्पन्न होने वाले जन्म जरा मरण आधि व्याधि जन्य असह्य दु.खो का सहार करने वाली रत्नत्रय की साधना रूप समाधिमरण-आराधना के ग्रहण करने का निश्चय किया है । इससे कर्मों का क्षय होता है । और कर्मों के क्षय होने पर उससे उत्पन्न होने वाले दु खों का निवारण होता है ।

हे महात्मन् । तुम निशङ्क होकर हमारे सघ मे निवास करो । अपने मन से सम्पूर्ण व्याकुलता को दूर करो । हम तुम्हारे प्रयोजन के विषय मे परिचारकों के साथ विमर्श करके निश्चय करेंगे ।

इस प्रकार आचार्य आगन्तुक समाधिमरण के अभिलाषी मुनि को कहकर उसे गुरुकुल मे निवास करने की अनुमति देते हैं । तत्पश्चात् आचार्य क्षपक के समाधिमरण की निर्विघ्न साधना के लिए राज्य, क्षेत्र, देश, गाव, नगर, तथा उसके अधिपति सघ और स्वय अपनी योग्यता की परीक्षा (जाच) करते हैं । क्योकि इनके अनुकूल होने पर सम्यक्त्वादि की वृद्धि होती है । और प्रतिकूल होने पर प्रयोजन की सिद्धि नही होती है । तथा कभी २ विपरीत परिणाम भी हो जाता है ।

सबसे प्रथम आचार्य आगन्तुक क्षपक की परीक्षा करते हैं—उसकी आहार मे लम्पटता है या नहीं ? इसकी जाच करते हैं । यदि क्षपक आहार का लम्पटी हुआ तो वह अहर्निश आहार का चिन्तन करता रहेगा वह आराधना को सफल कैसे बना सकेगा ? उसकी क्षुधा तृषादि के सहन करने की सामर्थ्य की भी परीक्षा करते हैं । यदि उसमे सहन शक्ति न हुई तो क्षुधादि से पीडित होकर चिल्लाने लगेगा और धम को दूषित करेगा ? क्षपक की आराधना मे विघ्न उपस्थित होगा, या न नहीं होगा ? आचार्य इसका विचार किये विना यदि क्षपक को ग्रहण कर लेगा तो विघ्न उपस्थित होने पर बीच मे ही उसे त्याग करना पडेगा, इससे क्षपक का भी प्रयोजन सिद्ध न होगा और आचार्य की भी लोक मे निन्दा होगी ।

इसका विचार करने के अनन्तर आचार्य राज्य क्षेत्र देश नगर गाव आदि की परीक्षा करके निर्णय करते हैं कि यह राज्यादि

इस क्षपक के कार्य के साधक नहीं हैं तो अन्यत्र राज्य क्षेत्र देशादि का आश्रय लेते हैं। वहा पर क्षपक की कार्यसिद्धि,गण (सघ) की शान्ति (उपद्रवादि का अभाव) तथा स्वय अपने सब कार्यों मे सुलभता पाते हैं तब क्षपक के समाधिमरण कार्य का प्रारम्भ करते हैं। जो आचार्य इन सब साधन सामग्री का परीक्षण न करके कार्य प्रारम्भ करते हैं, वह क्षपक का उपकार करने मे तथा अपने हित साधन में विफल होकर क्लेश के भाजन होते हैं।

क्षपक के लिए सघस्थ परिचारक साधुओं की सम्मति

प्रश्न —राज्य देश नगरादि के शुभ अशुभ की परीक्षा करलेने के बाद आचार्य क्या करते हैं ?

उत्तर—आचार्य क्षपक की प्रकृति तथा क्षपक के उत्तम प्रयोजन के अनुकूल देशादि की परीक्षा (जाच) करलेने के अनन्तर परिचारक साधुओं से पूछताछ करते हैं। उनकी इस कार्य मे क्या सम्मति है ? और वे इसमे उत्साह पूर्वक सहयोग दे सकेंगे या नहीं ? यह सब जानने के लिए उनसे पूछते हैं—

हे वैयावृत्त्य परायण महात्माओ ! यह आगन्तुक साधु समाधिमरण का आराधन करने के लिए हमारी सहायता चाहता है। 'साधु समाधि और वैयावृत्त्य करना' तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कारण है, इसका आपको भली भाति निश्चय है। इसलिए आप सोच विचार कर उत्तर दें ? क्या इस साधु पर अनुग्रह किया जाय या नहीं ? लोक व्यवहारी मनुष्य भी प्रायः परहित साधन मे कटिबद्ध रहते हैं, तो यति महात्माओ के लिए क्या कहना है ? वे तो समस्त निकट भव्य जनो का ससार समुद्र से उद्धार करने मे उद्यत रहते हैं। 'आदहिदं कादव्वं जइसक्कइ परहिदं च कादव्वं' ऐसा आचार्यों का वचन है। इसलिए हमको इस शरणागत साधु पर अवश्य अनुग्रह करना चाहिए। इस प्रकार परिचारक साधुओं को पूछने पर उनकी स्वीकारता मिलने पर आचार्य आगन्तुक साधु को अङ्गीकार करते हैं। परिचारको से पूछे विना यदि आचार्य आगन्तुक साधु का कार्य प्रारम्भ करदें तो आचार्य, क्षपक तथा समस्त सघ को सक्लेश उत्पन्न होने की सभावना रहती है। 'मैंने इस क्षपक का कार्य प्रारम्भ कर दिया है, और ये साधु परिचर्या द्वारा सहायता नहीं करते हैं, इस प्रकार आचार्य को सक्लेश उत्पन्न हो सकता है। 'हम लोगो से आचार्य ने इस कार्य में सम्मति नहीं ली है, ऐसा विचार कर क्षपक की परिचर्या (वैयावृत्त्य) मे तत्परता न रखने के कारण क्षपक के मन मे 'मेरी ये साधु उचित परिचर्या व भक्ति नहीं करते हैं' ऐसा सक्लेश भाव उत्पन्न होता है। 'इस कार्य मे बहुत जनों की आवश्यकता होती है, अकेला कोई इसे नहीं कर सकता है' गुरु महाराज ने इसमे हमारी अनुमति नहीं ली, न हमारे बल अबल की परीक्षा की और इस कार्य को प्रारम्भ कर दिया इस प्रकार परिचारको के अन्त करण में संक्लेशभाव उत्पन्न हो सकता है।

इसलिए स्व परहित में निपुण आचार्य क्षपक का कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व परिचारक साधुओं की सम्मति प्राप्त कर लेते हैं। उसके पश्चात् समाधिमरण के कार्य का प्रारम्भ करते हैं।

एक आचार्य के पास कितने क्षपक समाधिकरण करते हैं?

प्रश्न—एक आचार्य के संरक्षण में कितने क्षपक समाधिमरण कार्य का प्रारम्भ कर सकते हैं?

उत्तर—जिनेन्द्र देव के उपदेशानुसार एक निर्यायकाचार्य की शरण में एक क्षपक संस्तर पर आरूढ़ हुआ तपरूपी अग्नि में अपने शरीर का हवन करता है और एक साधु उग्र अनशनादि तप द्वारा अपने शरीर का शोषण करता है।

अर्थात्—संघ की अनुमति मिलने पर भी आचार्य एक साधु को ही समाधिमरण कार्य के लिए दो साधुओं पर अनुग्रह कर सकता है। उनमें से एक तो संस्तर पर आरूढ़ हुआ जिनेन्द्र देव के आदेशानुसार तपश्चरणाग्नि में अपने शरीर की आहुति देता है और दूसरा उग्र उग्र अनशनादि तपश्चरण का आचरण कर अपने शरीर को कृश करता है। इन दो साधुओं के अतिरिक्त एक आचार्य के रक्षण में तीसरे साधु को समाधिमरण कार्य प्रारम्भ करने की जिन शासन में आज्ञा नहीं है। क्योंकि दो या तीन साधु समाधिमरण के लिए संस्तर पर आरूढ़ हो जावें तो उनके अन्तःकरण को धर्म में स्थिर रखने के लिए विनय वैयावृत्त्यादि कार्य यथायोग्य नहीं हो सकने के कारण उनके चित्त में सक्लेश होना अवश्यंभावी है, इसलिए एक क्षपक संस्तरारूढ़ हो सकता है और एक उग्र तपस्या कर सकता है।

इस प्रकार आचार्य संघ की सम्मति से उक्त प्रकार क्षपक साधु को स्वीकार कर संघ के मध्य उसको उपदेश देते हैं।

आचार्य का क्षपक के प्रति उपदेश

प्रश्न—क्षपक को एकान्त में उपदेश न देकर आचार्य समस्त संघ के मध्य उपदेश क्यों देते हैं? इसमें क्या रहस्य है?

उत्तर—सम्पूर्ण संघ के बीच क्षपक को उपदेश देने का कारण यह है कि संघ को भी समाधि का स्वरूप विदित हो जावे, तथा आगन्तुक क्षपक का भी सबको परिचय हो जावे और इस उत्तम कार्य में सबकी साक्षी भी हो जावे।

प्रश्न—आचार्य क्षपक को क्या उपदेश देते हैं, उसका अभिप्राय प्रकट करने की कृपा करें।

उत्तर—निर्यापकाचार्य समाधिमरण का कार्य प्रारम्भ करने वाले साधु को इस प्रकार शिक्षा देते हैं—हे क्षपक! तुम सुरिया

स्वभाव का परित्याग कर चारित्र का पालन करो। सुख स्वभाव से चारित्र में शिथिलता आती है। सुखिया प्रकृति का मुनि आहार उपकरण और वसतिका की शुद्धि के विषय मे उदासीन रहता है। क्योकि मनोज्ञ आहार का लम्पटी भिक्षा शुद्धि की ओर ध्यान नहीं देता है। जिह्वा की लोलुपता उसे उद्दिष्टादि दूषित आहार का ग्रहण करने मे भी प्रेरित करती है। सुन्दर उपकरण का अभिलाषी उद्गमादि दोषो का निवारण नहीं करता है और कष्टासहिष्णु जिस किसी की सजी सजाई वसति मे ठहर जाता है। इसलिए सुखिया स्वभाव का परित्याग करो अर धैर्य व साहस का आश्रय लेकर सम्पूर्ण परीषह सेना पर विजय प्राप्त कर चारित्र का संरक्षण करो।

हे क्षपक! यह अज्ञानी जीव मोह के वश इन्द्रियों के अधीन हुआ स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द इन विषयो मे प्रेम उत्पन्न करता है। तुमने ज्ञान और वैराग्य प्राप्त किया है, इसलिए ज्ञान और वैराग्य के बल से इन पर विजय प्राप्त करो। तथा क्षमा मार्दव आर्जव और शौच भावना के बल से क्रोध मान माया और लोभ का निग्रह करो।

हे इन्द्रिय विजयी साधो! जो जिसके वश मे नहीं होता है, वह उसका विजेता कहलाता है। जैसे जो स्त्री पुरुष के वश मे नहीं रहती है, वह पुरुष विजयिनी कही जाती है,ऐसा लोक मे प्रसिद्ध है। इसी प्रकार जो शब्दादि विषयो के तथा क्रोधादि कषायों के अधीन नहीं होता है, वह शब्दादि का तथा कषायो का विजेता कहा जाता है। अतएव हे साधो! तुम इन्द्रियो के तथा कषाय के अधीन न होकर इन्द्रिय विजेता और क्षमादि धर्म के आराधक बनोगे।

प्रश्न—गुरु का उपदेश सुनकर क्षपक प्रश्न करता है, हे भगवन् इन्द्रिय विजय और कषाय निग्रह करने के अनन्तर मेरा क्या कर्त्तव्य है?

उत्तर—हे क्षपक! इन्द्रिय पर विजय और कषाय का निग्रह करके तुम ऋद्धिगारव, रसगारव, और सातगारव को जीतो। उसके पश्चात् राग द्वेष का मर्दन कर आलोचना शुद्धि करो। राग द्वेष असत्य वचन के जनक हैं, इसलिए उनका त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। तथा राग भाव से मनुष्य के दोष दृष्टि गोचर नहीं होते हैं। और द्वेष वश वह सद्गुणो का ग्रहण नहीं करता है। जिसको अपने अपराधों (दोषो) का त्याग और सद्गुणों का ग्रहण करने की अभिलाषा, है जो अपने आत्मा से कषाय मल धोना चाहता है, उसे राग द्वेष को तिलाजलि देकर अपना कार्य साधन करना चाहिए।

प्रश्न—यहा क्षपक गुरु महाराज के प्रति कहता है कि हे गुरुदेव! मेरे व्रतों मे अतिचार उत्पन्न नहीं हुए, अतः मैं अपने अपराधो की आलोचना कैसे करू?

उत्तर—हे क्षपक! प्रायश्चित शास्त्रो के वेत्ता छत्तीस गुणके धारक आचार्य को भी आत्म शुद्धि के लिए अन्य आचार्यों के निकट

अपराधो की आलोचना करनी पड़ती है। बिना आलोचना के रत्नत्रय मे लगे दोष शुद्ध नहीं होते हैं।

प्रश्न—आचार्यों के छत्तीस गुण कौन २ से हैं?

उत्तर—आचार्य के छत्तीस गुण के विषय मे भगवती आराधना मे संस्कृत विजयोदया टीका आठ ज्ञानाचार, आठ दर्शनाचार, बारह प्रकार के तप, पाच समिति और तीन गुप्ति इस प्रकार छत्तीस गुण वर्णन करती है। तथा प्राकृत टीका में साधु के अठाईस मूल गुण और आचारवान् आधारवान् आदि आठ गुण इस प्रकार छत्तीस गुण प्रतिपादन किये गये हैं। दूसरी जगह दश आलोचना गुण, दश प्रायश्चित गुण, दश स्थिति कल्प और छह जीत गुण इस प्रकार छत्तीस गुण बताये हैं।

आचार्य के छत्तीस गुणो का निरूपण करने वाली भगवती आराधना मे एक गाथा दी है वह निम्न प्रकार है—

आयारवमादीया अट्ठगुणा दसविधो य ठिदिकप्पो।
बारस तव छावासय छत्तीसगुणा मुणेयव्वा ॥ ५२६ ॥ भग आ.

अर्थ—आचारवान् आदि आठ गुण, दश प्रकार का स्थित कल्प, बारह प्रकार का तपश्चरण और छह आवश्यक ये आचार्य के छत्तीस गुण हैं।

इस गाथा को श्री पंडित प्रवर आशाधरजी ने प्रक्षिप्त बताया है।

समस्त तीर्थंकर, अनन्त केवली तथा मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषायो पर विजय पाने वाले आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधुओं की आज्ञा भी यही है कि आचार्य के समीप अपने अपराधो का निवेदन कर उनके द्वारा दिये गये प्रायश्चित से शुद्धि होती है। इसलिए छद्मस्थ मुनियो को आचार्य के निकट आलोचना कर प्रायश्चित का आचरण करना उचित है।

प्रायश्चित्तादि का ज्ञाता अपराधों को दूसरों को क्यों कहे ?

प्रश्न—जो साधु अतिचारो के निवारण का क्रम नहीं जानता है, उसे तो दूसरो को अपने अतिचार निवेदन करना चाहिए, किन्तु जो अपराधो के प्रायश्चित का स्वयं ज्ञाता है, वह अपने अपराध दूसरों को क्यो कहे और उनके द्वारा दिये हुए प्रायश्चित का आचरण क्यो करे ?

स. प्र.

उत्तर—जैसे उत्तम वैद्य या चिकित्सक भी अपने रोग या व्याधि की उत्पत्ति के कारण, चिह्न व चिकित्सा तथा पुनरुत्पत्ति के निरोध करने मे प्रवीण होने पर भी उसकी चिकित्सादि दूसरो से ही करवाता है, उसको अपने रोग या व्याधि का हाल कहकर उससे चिकित्सा करने की प्रार्थना करता है, वैसे ही प्रायश्चित के ज्ञाता मुनीश्वर को भी अपनी उत्तम विशुद्धि करने के लिए आत्मसाक्षी और पर-साक्षी से प्रायश्चित लेना चाहिए। इसी को उत्कृष्ट विशुद्धि माना है।

"प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत्।
तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमितीरितम् ॥"

अर्थ—प्राय शब्द का अर्थ लोक (लोग) है, और उसके मनको चित्त कहा है। लोगो के चित्त को निर्मल करने वाले कर्म को प्रायश्चित कहते हैं। अर्थात् परसाक्षी से अपराध का दण्ड लेने पर लोग समझते है कि इसने आत्म-विशुद्धि की है। अर्थात आचार्यादि विज्ञ मुनीश्वरो के द्वारा दिये गये दड रूप प्रायश्चित से ही आत्म-शुद्धि होती है।

यदि प्रायश्चित शास्त्रों के रहस्य वेत्ता किसी मुनिश्रेष्ठ या आचार्य को अपने आप प्रायश्चित लेते हुए देखेंगे तो दूसरे मुनि भी अपने आप प्रायश्चित लेने लगेंगे क्योंकि प्राय लोग गतानुगतिक होते हैं। इस प्रकार प्रवृत्ति होजाने पर मार्ग मलीन हो जायगा, आत्म-विशुद्धि का मार्ग लुप्त हो जायगा। इसलिए परसाक्षी से प्रायश्चित करने का आगमानुमोदित (जिनोक्त) मार्ग है। कहा है :—

तम्हा पव्वज्जादी दंसणणाणचरणादिचारो जो।
त सव्व आलोचेहिं णिरवसेसं पणिहिदप्पा ॥ ५३० ॥ भग आ.

अर्थ—हे क्षपक! आत्म-विशुद्धि परसाक्षी से प्रायश्चित का आचरण करने स हो होती है, इसलिए सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र मे दीक्षा काल से लेकर आज तक जो अपराध हुए हों, उन सब दोपो की एकाग्रचित्त होकर गुरु के निकट परिपूर्ण आलोचना करो।

आलोचना का स्वरूप और भेद

प्रश्न—परिपूर्ण आलोचना किसे कहते है ?

उत्तर—मन से, वचन से और काय से अमुक देश मे, अमुक काल मे, अमुक भाव से जो दोप जिस प्रकार हुए हों, उनका गुरु के

निकट सरल चित्त होकर ज्यों के त्यों निवेदन करने को परिपूर्ण आलोचना कहते हैं।

आलोचना दो प्रकार की होती है। एक सामान्यालोचना और दूसरी विशेषालोचना।

सामान्य आलोचना—जिसको मूल प्रायश्चित आता है। अर्थात् व्रतभंगादि महा अपराध करने पर दीक्षा का छेदन कर जिसको नवीन मुनि दीक्षा दी जाती है, वह मुनि दोषों की सामान्य आलोचना करता है। हे भगवन्! मुझसे अमुक व्रत का भंग या मिथ्यात्व का सेवन हुआ है। इस प्रकार सामान्य रूप से अपराध का निवेदन करता है। यथा :—

ओघेन भाषतेऽनल्पदोषो वा सर्वघातकः।
इतः प्रभृति वांछामि त्वत्तोऽहं संयमं गुरो॥ ५५४॥ (भग. आ. सं.)

अर्थ—हे गुरुदेव! मुनि धर्म का घातक व्रत भंग या मिथ्यात्व सेवन रूप महान् अपराध मुझ से होगया है। हे स्वामिन्! मैं आपसे नवीन दीक्षा ग्रहण करना चाहता हूँ। इसलिए आज से मुझे नव दीक्षित कीजिए।

प्रश्न—विशेष आलोचना किसे कहते हैं?

उत्तर—जिस काल में जिस देश में जिस परिणाम से जिस प्रकार अपराध हुआ हो, उसका उसी प्रकार निःशल्य रूप से निवेदन करना विशेष आलोचना है।

तात्पर्य यह है कि मन वचन काय से जिस समय जिस जगह, जाने अनजाने, स्ववश या परवश होकर जो अपराध हुआ हो उसको शल्य निकालकर निवेदन करने से ही आलोचना शुद्ध मानी गई है। शल्य रखकर जो आलोचना की जाती है वह आत्म-शुद्धि का कारण नहीं होती है। जैसे जिसके हस्तपाद आदि में कांटा लगा है वह दुःख से पीड़ित रहता है, उसके सम्पूर्ण शरीर में वेदना होती है। वैसे ही जिसके अन्तःकरण में मायाशल्य है, वह सम्यक्त्वादि में लगे हुए दोषों का प्रकाशन भली भांति न करने के कारण छिपाये हुए दोष से मलीन चित्त रहता है। वह दोष रूपी दुःख उसकी आत्मा को सदा दुःखी रखता है। जब वह अपने दोष को साफ साफ गुरु के निकट निवेदन कर देता है, उसका चित्त निर्दोष हो जाने से आनन्द का अनुभव करने लगता है।

शल्य के भेद

प्रश्न—शल्य के कितने भेद हैं? इसका भी निरूपण यदि स्पष्टतः कर दिया जावे तो ठीक हो।

उत्तर—शल्य के दो भेद हैं-भावशल्य और द्रव्यशल्य।

प्रश्न—भावशल्य किसे कहते हैं ?

उत्तर—आत्मा को दु ख देने वाले भाव को भावशल्य कहते हैं।

प्रश्न—भावशल्य कितने हैं ?

उत्तर—भावशल्य तीन हैं-१ मायाशल्य, २ मिथ्यादर्शनशल्य और ३ निदानशल्य। तथा दर्शन, ज्ञान और चारित्र और तप को मलिन करने वाले भावों को भावशल्य कहते हैं।

दर्शनशल्य—शङ्काकांक्षादि सम्यग्दर्शन के दोषो को दर्शन शल्य कहते हैं।

ज्ञानशल्य—अकाल मे सूत्रों का अध्ययन व अविनयादि को ज्ञानशल्य कहते हैं।

चारित्रशल्य—समिति और गुप्ति के आचरण में अनादर करने को चारित्रशल्य कहते हैं।

तपःशल्य—अनशनादि तप मे अतिचार लगाने को तप शल्य कहते हैं। तप का चारित्र में अन्तर्भाव होता है, इसलिए दर्शन-शल्य, ज्ञानशल्य और चारित्रशल्य इस प्रकार शल्य के तीन भेद ही होते हैं।

प्रश्न—द्रव्यशल्य कितने प्रकार का है ?

उत्तर—द्रव्यशल्य भी तीन प्रकार का है। १ सचित्त द्रव्यशल्य, २ अचित्त द्रव्यशल्य और ३ मिश्र द्रव्यशल्य।

सचित्तद्रव्यशल्य—दासादि सचित्त द्रव्य शल्य हैं।

अचित्तद्रव्यशल्य—सुवर्ण रजतादि पदार्थ अचित्त द्रव्यशल्य हैं।

मिश्रद्रव्यशल्य—ग्रामादि मिश्रद्रव्यशल्य हैं।

ये सब द्रव्यशल्य चारित्राचार सम्बन्धी भाव शल्य के कारण हैं। क्योंकि इनके निमित्त से चारित्र मे दोष उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न—भावशल्य का उद्धार न करने से अर्थात् भावशल्य का त्याग न करने से क्या हानि होती है ?

उत्तर—जैसे काटा, बाण की नोक आदि द्रव्यशल्य शरीर के भीतर जब तक रहते हैं तब तक सुख की सामग्री के उपस्थित रहते हुए भी प्राणी को सुख नहीं होता है, वैसे ही भय, लज्जा व प्रमाद का जनक भावशल्य (माया मिथ्या निदान) आत्मा से जब तक पृथक् नहीं होता है तब तक उसे मलीन करता रहता है और सम्यग्दर्शनादि की आराधना मे बाधक होता है, द्रव्यशल्य एक जन्म मे ही दुख देता है परन्तु भावशल्य जन्म-जन्मान्तर मे दारुण दुःख का जनक होता है।

इसलिए आचार्यों ने आराधना की सिद्धि के लिए अतिचारो का तत्काल शोधन करने का उपदेश दिया है। आज अपराध उत्पन्न हुआ है, उसका शोधन करने के लिए उसी क्षण गुरु के निकट निवेदन करना चाहिए। कल परसों या परले दिन गुरु के चरणों मे जाकर निवेदन करेंगे, ऐसा विचार करना उचित नहीं है। आयुष्य कितना शेप रहा है, इसका किसको ज्ञान है ? न जाने आयु का अन्तिम क्षण अति निकट आ लगा हो और दोषो की आलोचना किये बिना यदि मरण हो गया और दोप सहित अवस्था मे आयु का बन्ध हुआ तो मायाशल्य के कारण तिर्यंच आयु का बन्ध होगा। अत. दोप के होते ही उसकी गुरु के निकट आलोचना कर गुरु प्रदत्त प्रायश्चित्त का आचरण कर शुद्ध हो जाना चाहिए। क्योंकि रोग शत्रु और दोषो की उपेक्षा करने से वे दृढमूल हो जाते हैं। जब उनकी जड जम जाती है तब उनका उच्छेद करना जड से उखाड़ फेकना अति कठिन हो जाता है। अथवा बहुत दिन बीत जाने पर अतिचार का विस्मरण हो जाता है। तथा उसके काल (सध्या रात्रि या दिनादि) का ठीक स्मरण नहीं रहता है। वैसे ही क्षेत्र भाव और अतिचार के कारण का भी यथार्थ ज्ञान नहीं रहता है। अर्थात् बहुत समय बीत जाने पर आचार्य के पूछने पर शिष्य अतिचार का द्रव्य क्षेत्र काल भाव और कारण यथार्थ निवेदन नहीं कर सकते हैं। इसलिए अतिचार के होते ही अवसर पाकर गुरु के निकट दोपो की आलोचना कर लेना चाहिए। काल बीतने पर मायाशल्य अन्त.करण मे प्रविष्ट होकर आत्मा को उसकी आलोचना से विमुख कर देती है।

प्रश्न—अतिचार का शोधन किये बिना मरजाने से क्या हानि है।

उत्तर—जो क्षपक राग या द्वेष के वश होकर दोपो की आलोचना किये बिना मरण करते हैं। वे दु.ख रूपी शल्यों से परिपूर्ण इस ससार कान्तार (वन) मे परिभ्रमण करते हैं। कहा है .—

रागद्वेषादिभिर्भग्ना ये म्रियन्ते सशल्यकाः ।
दुःखशल्याकुले भीमे भवारण्ये भ्रमन्ति ते ॥ ५६४ ॥ (सं. भग. आ.)

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र सम्बन्धी दोष दुःख के उत्पन्न करने वाले हैं। इसलिए ऋद्धि गौरव, रस गौरव और सात गौरव से रहित होकर सम्यग्दर्शनादि का निरतिचार पालन करना ही दुःखों के विनाश का कारण है।

जह वालो जंपतो कज्जमकज्जं व उज्जुअ भणइ ।
तह आलोचेदव्वं मायामोसं च मोत्तूणं ॥ ५४७ ॥ भग. आ.

अर्थ—जिस प्रकार भय, मान, असत्य और माया रहित हुआ बालक सरल हृदय से अपने पिता के सामने अपने भले बुरे कार्य का स्पष्ट रूप से निवेदन करता है, उसी प्रकार साधु को भी भय-मान-लज्जा और असत्य का परित्याग कर सरल स्वभाव होकर अपने कृत्यों अकृत्यों की स्पष्ट आलोचना गुरु के समीप ज्यों की त्यों करनी चाहिए।

इस प्रकार आलोचना सम्बन्धी उपदेश को सुनकर समाधिमरण का अभिलाषी भिक्षु हर्षातिरेक से रोमाचित हो जाता है।

क्षपक कायोत्सर्ग कैसे करे ?

पाचीणोदीचिमुहो चेदियहुत्तो व कुणदि एगंते ।
आलोयणपत्तीयं काउस्सग्गं अणावाधे ॥ ५५० ॥ भग आ

अर्थ—क्षपक आलोचना की निर्विघ्न प्राप्ति के लिए पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करके अथवा जिन-प्रतिमा के सम्मुख खड़ा होकर कायोत्सर्ग करता है। कायोत्सर्ग मे अपने पूर्व उत्पन्न हुए दोषों को याद करता है। यह कायोत्सर्ग बाधारहित एकान्त मे तथा मार्ग छोड़ कर करता है। क्योंकि जन समूह मे तथा अपने आने के मार्ग में कायोत्सर्ग करने से चित्त एकाग्र न होने के कारण दोषों का स्मरण करने मे बाधा उपस्थित होती है। प्राकृत टीका मे कायोत्सर्ग का 'सामायिक दण्डक स्तुति पूर्वक, बृहत् सिद्ध भक्ति करके बैठकर सिद्ध-भक्ति करना' ऐसा अर्थ किया है। गुरु आम्नाय भेद से समाचार विधि में कहीं २ भेद हो जाता है।

आलोचना के लिए कालवादि का विधान

प्रश्न—कायोत्सर्ग कर दोषों का स्मरण करने के पश्चात् क्षपक क्या करता है ?

उत्तर—उक्त प्रकार सरल स्वभाव को प्राप्त हुआ क्षपक तीन बार दोषों का स्मरण कर विशुद्ध लेश्या धारण करता हुआ अतिचारों का उद्धार करने के निमित्त आचार्य महाराज के निकट गमन करता है।

उज्ज्वल परिणाम वाले इस क्षपक की आलोचना प्रतिक्रमणादि क्रियाएं दिन में और शुद्ध स्थान में होती हैं। दिन के पूर्वभाग (प्रथम पहर) में या अपराह्न (दिन के तीसरे पहर) में सौम्य तिथि, सौम्य नक्षत्र और शुभ काल में होती है। आशय यह है कि आलोचना के लिए परिणामों की शुद्धि के साथ क्षेत्र (स्थान) कालादि की शुद्धि का भी ध्यान रखा जाता है।

प्रश्न—आलोचना के लिए प्रशस्त स्थान होना आवश्यक माना गया है तो कौन स्थान प्रशस्त है और कौन अप्रशस्त है ? उनका विवेचन करना चाहिए। प्रथम अप्रशस्त स्थानों का विवेचन कीजिए ?

उत्तर—जो स्थान पत्रयुक्त वृक्षों से हीन हो, कंटकाकीर्ण हो, बिजली गिरने से जो फट गया हो, जहां सूखे वृक्ष हों, जो कटु रस वाला तथा जला हुआ हो, शून्य घर या रुद्र का मन्दिर हो, जहां ईंटों या पत्थरों के ढेर हों। जिसमें तृण सूखे पत्ते और काठ के पुंज हों, जहां राख पड़ी हो, अपवित्र वस्तुओं से युक्त भूमि तथा श्मशान भूमि हो, जहां पर टूटे फूटे बर्तन तथा गिरे पड़े मकान हों, चण्डिका भवानी आदि क्षुद्र देवताओं के स्थान हों वे सब वर्जनीय माने गये हैं। इनके अतिरिक्त ऐसे ही अन्य अशुभ स्थान आलोचना के अयोग्य अप्रशस्त कहे गये हैं। क्योंकि ये स्थान आलोचना करने वाले साधु और सुनने वाले आचार्य के असमाधान के कारण हैं। इन स्थानों में आलोचना करने से क्षपक के कार्य की सिद्धि नहीं होती है। इसलिए आचार्य ऐसे स्थानों में क्षपक की आलोचना नहीं सुनते हैं।

प्रश्न—आलोचना के लिए कौन से स्थान प्रशस्त माने गये हैं, जहां पर आचार्य क्षपक की आलोचना सुनते हैं।

उत्तर—अरहन्त और सिद्ध चैत्यालय, समुद्र तथा तालाब आदि जलाशय के समीपवर्ती स्थान, जहां वट वृक्ष अशोकादि के वृक्ष तथा पुष्पों या फलों से भरे हुए वृक्ष हों ऐसे स्थान, उद्यान व अन्य सुन्दर स्थान क्षपक की आलोचना सुनने के योग्य प्रशस्त माने गये हैं।

प्रश्न—आचार्य किस प्रकार बैठकर क्षपक की आलोचना सुनते हैं ?

उत्तर—पूर्व दिशा तथा उत्तर दिशा की ओर मुख करके तथा चैत्य (जिन प्रतिमा) अथवा जिनालय के सम्मुख एकान्त में बैठकर आचार्य एक क्षपक की आलोचना सुनते हैं।

प्रश्न—अन्धकार को दूर कर जगत् मे प्रकाश करने वाले सूर्य का उदय पूर्व दिशा मे होता है, अतः वह दिशा उदय दिशा कही जाती है। कार्य की उन्नति का अभिलाषी मनुष्य पूर्व दिशा की ओर मुख करके कार्य करता है। स्वयंप्रभादि तीर्थंकर विदेह क्षेत्र मे विराजमान हैं, ऐसा चित्त मे विचार करके उनकी तरफ मुख करने से मेरे कार्य की सिद्धि होगी, इस अभिप्राय से उत्तराभिमुख होकर कार्य प्रारम्भ करता है तथा जिन प्रतिमा के सामने मुख करके स्थित होने से परिणामों मे निर्मलता आती है और वह निर्मलता पुण्य की वृद्धि करके प्रारब्ध कार्य की सिद्धि मे कारण होता है। किन्तु आचार्य को कौनसा कार्य सिद्ध करना है जो पूर्व दिशा उत्तर दिशा, या जिन प्रतिमा की तरफ मुख करके बैठते हैं ?

उत्तर—आचार्य क्षपक की आलोचना सुनकर भविष्य मे दिये जाने वाले प्रायश्चित रूप कार्य की निर्विघ्न समाप्ति हो, ऐसी क्षपक के लिए शुभ कामना धारण कर उत्तर या पूर्व दिशा के सम्मुख अथवा जिन प्रतिमा के सामने मुख करके बैठते हैं।

प्रश्न—जब आचार्य आलोचना सुनने के लिए निर्व्याकुल चित हो कर बैठते हैं, उस समय गुरु वा पूज्य पुरुष रहें तो क्या हानि होती है ?

उत्तर—अन्य व्यक्तियो के उस समय वहां उपस्थित रहने से आचार्य का चित्त एकाग्र नहीं रहने से क्षपक के प्रति अनादर भाव प्रकट होता है। दूसरी बात यह है कि अनेक पुरुष सुनने वाले होंगे तो क्षपक के अन्त:करण मे लज्जा उत्पन्न होगी जिससे वह अपने दोषों को स्पष्ट निवेदन करने का इच्छुक होता हुआ भी मन मे खेदखिन्न होगा और सब अपराध को स्पष्ट न कह सकेगा। इसलिए आलोचना के समय एकाकी आचार्य ही श्रोता होना चाहिए। आगम मे भी यही बताया है कि आलोचना सुनने के लिए आचार्य के सिवा अन्य न रहें। आलोचना को गुप्त रखने की आज्ञा है। यदि अनेक सुनने वाले होंगे तो वह गुप्त नहीं रह सकती। कहा है—

'षट्कर्णोभिद्यते मन्त्र.' छह कर्णों मे गई हुई गुप्त बात अवश्य प्रकट हुए बिना नहीं रहती है। इसलिए आगम में एकाकी आचार्य को एकान्त मे एक क्षपक की आलोचना सुनने के लिए कहा है।

प्रश्न—क्षपक जब गुरु के निकट आलोचना करने के लिए उपस्थित हो, उस समय उसको क्या करना चाहिए। वह किस विधि से आलोचना प्रारम्भ करे ? उस विधि पर प्रकाश डालने की कृपा करें ?

उत्तर—आलोचना करने वाला क्षपक प्रथम गुरु आचार्य की वन्दना करे। वह वन्दना सिद्ध भक्ति और योग भक्ति पढ़कर करे ऐसा वृद्धाचार्यों का मत है। श्री चन्द्राचार्य तो सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति पढ़कर वन्दना करना कहते हैं। वन्दना कर चुकने के बाद दक्षिण पार्श्व (दाहिनी बगल) मे पिच्छी लेकर भाल प्रदेश मे दोनों हाथ जोड़कर मन वचन और काय से शुद्ध हुआ आगमोक्त दोषों से रहित आलोचना करे।

आलोचना के दस दोष

प्रश्न—आलोचना के दश दोष कौन से हैं?

उत्तर—आकंपिय अणुमाणिय ज दिट्ठ बादरं च सुहुम च। छण्णं सद्दाउलयं बहुजण अव्वत्त तस्सेवी ॥ ५६२ ॥ [भग. आ.]

१. आकम्पित २. अनुमानित ३. दृष्ट ४ बादर ५ सूक्ष्म ६ छन्न ७. शब्दाकुलित ८ बहुजन ९. अव्यक्त और १०. तत्सेवी ये आलोचना के दश दोष हैं। इनका संक्षिप्त सा वर्णन तो पहले कर आये हैं फिर भी थोड़ा सा खुलासा कर दिया जाता है।

(१) आकम्पित दोष—शिक्षा प्राप्त होने के कारण स्वय प्रवर्त्तक बनकर आचार्य महाराज की उद्गमादि समस्त दोष रहित आहार जल से वैयावृत्त्य करके तथा उनको निर्दोष पिच्छी कमण्डलु पुस्तकादि उपकरण देकर विशेष विनयादि पूर्वक वन्दनादि कृतिकर्म करके, गुरु के अन्त करण मे अपने विषय में करुणा उत्पन्न करने के पश्चात अपने दोषों की आलोचना करना यह आकम्पित दोष है।

आलोचक शिष्य का गुरु के चित मे अनुकम्पा उत्पन्न करने का अभिप्राय यह है कि गुरु आहारादि द्वारा उचित वैयावृत्त्य से सन्तुष्ट होकर मुझे गुरुतर प्रायश्चित न देंगे, लघु प्रायश्चित देंगे, इसलिए मैं सूक्ष्म और स्थूल सब अपराधो का निवेदन कर सकूंगा। मेरी संपूर्ण दोषों की आलोचना भी हो जावेगी और महान प्रायश्चित से बच जाऊँगा। इस प्रकार शिष्य गुरु को आहारादि लोभ का असद्दोषारोपण कर मानसिक अविनय का आचरण करता है। तथा अपने अन्तःकरण मे मायाचार की उत्पत्ति करता है। अतः यह सदोष आलोचना मानी गई है।

(२) अनुमानित दोष—शिथिलाचार का पालक सुखिया साधु गुरु से प्रार्थना करता है :—हे भगवन्! धीर-पुरुषों से आचरण किये गये सब प्रकार के तप जो मुनि करते हैं वे भाग्यवान हैं धन्य हैं और महात्मा हैं। इस प्रकार अपनी धार्मिकता प्रकट करता हुआ कहता है :—हे दयालो! मुझ मे जितना शारीरिक बल है,वह आप से छिपा नहीं है। मेरी जठराग्नि अति दुर्बल है। मैं सदा किसी न किसी रोग से ग्रस्त रहता हूँ,इसलिए मैं उत्कृष्ट तप का आचरण करने मे असमर्थ हूँ,यदि आप मुझ पर अनुग्रह कर अल्प प्रायश्चित देंगे तो मैं अपने समस्त

अपराधों को निवेदन करूंगा और आपकी महती कृपा से सब दोषो से रहित होकर शुद्ध हो जाऊगा ।

ऐसा कहकर और गुरु मुझे अल्प प्रायश्चित देंगे ऐसा अनुमान ज्ञान से जानकर पश्चात् जो मुनि अपने अपराधों की आलोचना करता है उसके अनुमानित दोष होता है ।

यह आलोचना परिणाम मे उस प्रकार दु.ख देने वाली है जैसे सुखाभिलाषी दुःख देने वाले अपथ्य आहार का सेवन कर उसे सुख देने वाला समझता है; किन्तु वह परिणाम मे दु ख प्रद होता है । अर्थात् उक्त आलोचना से रत्नत्रय की शुद्धि कदापि नहीं होती है । जैसे अपथ्य आहार से सुख की प्राप्ति नहीं होती ।

(३) दृष्ट दोष—किसीने देखे हो या न देखे हो, सम्पूर्ण दोषों को निष्कपट भाव से गुरु के समीप निवेदन करना चाहिए । किन्तु ऐसा न कर जो मुनि उन्ही दोषों को गुरु के निकट प्रकाशित करता है, जिनको दूसरों ने देख लिया है, उसे दृष्ट दोष कहते हैं ।

जैसे—बालु रेत के मैदान में किसी मनुष्य ने खड्डा खोदने का प्रयास किया । किन्तु वह खड्डा खोदते खोदते ही बालु रेत से भर गया । खोदने वाले का परिश्रम व्यर्थ हुआ । उसी प्रकार जो पुरुष प्रथम मायाशल्य से रहित होकर आलोचना करने के लिए उद्यत हुआ और पश्चात माया का आश्रय लेकर अदृष्ट दोषों को छिपा कर केवल दृष्ट दोषो का प्रकाशन करने लगा, उसके अन्तःकरण में मायाशल्य ज्यो का त्यों बना रहने के कारण वह रत्नत्रय की शुद्धि से वंचित रहता है ।

(४) बादर दोष—जो साधु स्थूल (बडे) दोषो का तो गुरु के निकट प्रकाशन करता है और सूक्ष्म दोषों को छिपाता है, वह जिनेन्द्र भगवान् के वचनो की अवहेलना करता है, इसलिए वह दोषी होता है । क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश स्थूल और सूक्ष्म दोषो को गुरु के पादपद्म मे निवेदन करने का है । उसका पालन न कर केवल बादर दोषों का प्रकाश करने वाला बादर दोष नामक दोष से दूषित माना गया है ।

जैसे कासे का कलश ऊपर से स्वच्छ होने पर भी भीतर से नीला होने से मलीन होता है. वैसे ही इस आलोचना करने वाले के अन्तरङ्ग मे माया दोष विद्यमान होने से उसकी आलोचना सदोष होती है ।

(५) सूक्ष्म दोष—जो साधु भय गर्व और माया से सूक्ष्म दोषों को छिपा कर स्थूल दोषों का निवेदन करता है, वह आलोचना के सूक्ष्म नामक दोष से दूषित माना गया है ।

प्रश्न—सूक्ष्म दोष कौन से हैं ?

उत्तर—उठने बैठने सोने सस्तर बिछाने गमनादि से उत्पन्न हुए दोष सूक्ष्म दोष हैं। इन दोषों को गुरु के निकट प्रकट करते समय शिष्य कहता है। हे भगवन् ! जिस भूमि में ओस आदि बहुत थी, उस भूमि पर ईर्या समिति में चित्त सावधान करके न चला सका था। पिच्छिका से भूमि का मार्जन(शोधन) किये बिना बैठ गया था,सोया था,करवट बदली थी,और खड़ा हो गया था। उचित काल में मैंने सामायिकादि आवश्यक का पालन नहीं किया था। जल से शरीरादि का स्पर्श किया था। मैं सचित्त रज पर बैठा था, खड़ा हुआ था,सो गया था। धूलि से भरे हुए पावों से जल मे प्रवेश किया था। जल से गीले पावों से मैंने धूलि मे प्रवेश किया था। आठ या नव मास की गर्भवती स्त्री से मैंने आहार लिया था। रोते हुए या स्तन पान करते हुए बालक को छोड़ कर आई हुई स्त्री ने मुझे आहार दिया था। इत्यादि सूक्ष्म दोषो का निवेदन करता है।

इस प्रकार छोटे २ दोषो को प्रकट कर स्थूल (बड़े २) दोषों को छिपाता है। बड़े दोष यदि प्रकट कर दूंगा तो आचार्य मुझे महान् प्रायश्चित देंगे इस भय से अथवा मेरा परित्याग कर बैठेंगे इस भय से स्थूल दोषों को प्रकट नहीं करता है। सूक्ष्म दोषों को प्रकाशित करने और स्थूल दोषों को छिपाने के कारण उसका कपट स्वभाव स्पष्ट होता है। मैं सङ्घ के सब मुनियों से निर्दोष चारित्र का पालन करने वाला हूँ, इस अभिमान से स्थूल दोषो को व्यक्त नहीं करता है, वह सूक्ष्म दोष का भागी माना गया है।

(६) प्रच्छन्न दोष—मुझे अमुक अतिचार या अनाचारजन्य अपराध हुआ है,ऐसा स्पष्ट न कहकर आचार्य से पूछता है। अहो गुरु महाराज! यदि किसी मुनि के अठाईस मूलगुणों मे या अनशनादि तप उत्तर गुणो मे एव अहिंसादि महाव्रत मे अतिचार लग जावे तो उसको कौनसा प्रायश्चित दिया जाता है ? वह किस उपाय से शुद्ध हो सकता है ? इस प्रकार प्रच्छन्न रूप से पूछता है। गुरु महाराज से गुप्त रूप से पूछकर अपनी शुद्धि कर लेना चाहता है। यह प्रच्छन्न नामक आलोचना का छठा दोष है।

शङ्का—अपराध की शुद्धि उचित प्रायश्चित के आचरण से होती है। किसी प्रकार गुरु महाराज से अपने दोष की शुद्धि करने वाले प्रायश्चित को जानकर यदि वह उस प्रायश्चित को ठीक तरह आचरण करता है, तो उसकी शुद्धि कैसे नहीं मानी जा सकती है ?

सम धान—दोष की शुद्धि करने के लिए निष्कपट भाव से गुरु महाराज के सामने अपने दोषों की यथार्थ आलोचना करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रच्छन्न रूप से मायाचार द्वारा गुरु महाराज से अपराध का प्रायश्चित पूछकर उसका आचरण किया है। उसके हृदय से माया भाव नहीं निकला है। अतः उसकी शुद्धि होना असभव है, अत. इसे दोष ही माना गया है।

सं प्र

(७) शब्दाकुल दोष—सम्पूर्ण मुनि मिलकर पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक या वार्षिक दोषों की आलोचना कर रहे हों, उस समय महान् कोलाहल होता है। ऐसे अवसर को पाकर अपनी इच्छानुसार दोषो की आलोचना करना वह शब्दाकुल दोष है।

क्योकि कोलाहल मे जब गुरु उसके अपराध को स्पष्ट नहीं सुन पाते हैं, उस समय अपराध कह सुनाने से गुरु उसको यथार्थ प्रायश्चित देने मे समर्थ नहीं हो सकते हैं, इसलिए यह शब्दाकुल नामक दोष माना गया है।

(८) बहुजन दोष—जिसने प्रत्याख्यान नामक नवमे अङ्ग का अध्ययन किया है, तथा अङ्ग बाह्य में कल्प नामक प्रकरण है उसका और शेष अङ्गो मे तथा प्रकीर्णकों में जहां जहां प्रायश्चित का निरूपण आया है उन सबका मनन किया है, उस आचार्य के द्वारा अर्थात् उपलब्ध सब प्रायश्चित ग्रन्थो के ज्ञाता आचार्य के द्वारा दिये गये प्रायश्चित पर विश्वास न करके यदि कोई मुनि अन्य आचार्यों से उस प्रायश्चित के औचित्य या अनौचित्य के विषय मे पूछे तो वह बहुजन दोष माना गया है।

(९) अव्यक्त दोष—जो मुनि आगमज्ञान से शून्य है, वह आगम बाल है, तथा जो चारित्र से हीन है, वह चारित्र बाल है। उस ज्ञान चारित्र हीन मुनि के सम्मुख अपने अपराधों की आलोचना करने वाले को आलोचना का अव्यक्त नामक दोष होता है। यद्यपि आलोचक ने मन वचन काय से कृत कारित और अनुमोदना जन्य सब अपराधो की आलोचना की है तथापि उसकी आलोचना निष्फल है क्योकि आगम बाल या चारित्र बाल आचार्य से उचित प्रायश्चित द्वारा अपराधो की शुद्धि नहीं हो सकती है। अत.इसे अव्यक्त दोष कहा है।

(१०) तत्सेवी दोष—यह पार्श्वस्थ (भ्रष्ट मुनि) मेरे सुखिया स्वभाव को तथा मेरे सब दोषों को जानता है। यह भी मेरे समान दोषी है, इसलिए मुझे यह महान् प्रायश्चित न देगा ऐसा विचार कर जो पार्श्वस्थ (भ्रष्ट मुनि) के निकट जाकर अपने सब अपराधों की आलोचना करता है, उसको तत्सेवी नाम का दोष होता है।

जैसे–रुधिर से भीगा वस्त्र रुधिर मे धोने पर शुद्ध नहीं होता है, वैसे ही दोष सहित पतित मुनि के पास आलोचना करके कोई मुनि अपने अपराध से मुक्त नहीं होता है। क्योंकि रुधिर वस्त्र स्वच्छ जल से धोने पर ही शुद्ध होता है। वैसे ही दोषों का निवारण निर्मल चारित्र के धारक आचार्य के पाद मूल मे आलोचना करके उनके द्वारा दिये गये प्रायश्चित का आचरण करने से ही हो सकता है। अन्यथा नहीं होता। इसलिए हे क्षपक ! जो मुनि जिनप्रणीत आगम के वचनों का लोप करते हैं और दुष्कर पाप का आचरण करते हैं, उनका मोक्ष अनन्त काल मे भी जैसे नहीं होता है, वैसे ही जो मुनि अन्त.करण मे मायाशल्य रखकर अपने दोषों की आलोचना करते हैं, उनको भी मोक्ष की प्राप्ति अत्यन्त दूर है।

अतएव मुनियों का कर्तव्य है कि भय, माया, मृषा, मान और लज्जा का परित्याग कर उक्त ऐसा दोषों से रहित आलोचना करे। क्योंकि दूषित आलोचना आत्मा को निर्दोष बनाने में समर्थ नहीं होती है।

साधु किन २ दोषों की कैसे आलोचना करें ?

प्रश्न—साधु किन २ दोषों की किस प्रकार आलोचना करे ?

उत्तर—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चोइन्द्रिय और पचेन्द्रिय इन जीवों में से जिसकी विराधना हुई हो, उनकी आलोचना करे।

पृथिवी काय जीव अनेक प्रकार के हैं—जैसे मिट्टी, पाषाण, शर्करा (कंकर) वालुरेत, नमक, अभ्रक आदि अनेक भेद हैं। उनको खोदने, हलादि से विदारण करने, जलाने फोड़ने मोड़ने पटकने फेंकने आदि में से मैंने अमुक पाप किया है।

जल कायिक जीवों के भी पानी बर्फ ओस ओले आदि अनेक भेद हैं। उनका पान करने, उसमे स्नान करने, कूदने, तैरने, हाथ पैरो से या शरीर से मर्दन करने वगैरह में मैंने उनका अमुक प्रकार से घात किया है।

अग्निकायिक जीवों के ज्वाला दीपक जलती हुई लकड़ी आदि कई भेद हैं। उनके ऊपर मैंने पत्थर मिट्टी जल डालकर इनका विनाश किया है। अथवा पाषाण या लकड़ी आदि से पीटा है, मर्दन किया है। इनके अतिरिक्त भी अनेक तरह के आरम्भ में से मैंने अमुक प्रकार से अग्नि कायिक जीवों को बाधा पहुंचाई है।

वायु कायिक जीवों के झंझावात मंडलिक आंधी आदि भेद हैं। जल वृष्टि सहित जो वायु बहती है, उसे झंझावात कहते हैं। जो वायु गोलाकार भ्रमण करती हुई बहती है,उसे मंडलिक वायु कहते हैं। तेज वायु को आंधी कहते हैं। इत्यादि प्रकार से बहने वाली वायु को मैंने पंखे से, वस्त्र से सूप से प्रतिघात किया है, वायु को किवाड़ इत्यादि से रोका है। पंखे आदि से उसे सताया है, बाधा पहुंचाई है। वायु के सम्मुख गमन किया है। इत्यादि प्रकारों में से जिस प्रकार से वायुकाय के जीवों को बाधा पहुंचाई हो, उसका निवेदन करे।

वनस्पति कायिक जीव—साधारण (अनन्त कायिक नीलन फूलन काय आदि वनस्पति, प्रत्येक वनस्पति वृक्षादि बीज, बल्ली लता छोटे पौधे के समूह, पुष्प फल तृणादि वनस्पति कायिक जीवों के अनेक भेद हैं। उनमें से अमुक को मैंने जलाया है, या तोड़ा है। या उनका छेदन भेदन किया है ? अथवा मर्दन मोटन (मरोड़ना) बंधन, रौंदन आदि अनेक क्रियाओं में से अमुक द्वारा उनका घात किया

है। उनको बाधा पहुचाई है।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रि और पचेन्द्रिय जीवों मे से अमुक का अज्ञान व प्रमाद से जाने या बिना जाने विघात किया है। या उनका छेदन भेदन ताड़न बन्धन किया है। उनकी गति का निरोध कर सताया है। या गमनागमन करके उन्हें पीड़ा या बाधा पहुचाई है।

आहार, उपकरण, वसतिका का अङ्गीकार करते समय मुझ से उद्गम उत्पादन एषणा आदि अमुक २ दोष हुए हैं।

गृहस्थियों के कुभ कलश सकोरा आदि भाजनों मे से किसी भाजन मे कोई वस्तु रखी या उन भाजनो मे से किसी से कोई वस्तु ग्रहण की हो तो ये सब चारित्रातिचार हैं। क्योकि इन पात्रो का भीतर से प्रतिलेखन (मार्जन) करना अत्यन्त कठिन है।

छोटी चौकी वेत्रासन खाट पलग इन पर बैठने से अपराध हुआ हो। क्योकि इनमे अनेक छिद्र होते हैं। उनमे जो प्राणी निवास करते हैं, वे नेत्रों से दिखाई नहीं देते। यदि वे दिखाई दें तो उन्हें निकालना अशक्य होता है। इसलिए ऐसे छोटे चौकी वगैरह आसनों पर बैठने से अहिंसा व्रत मे अतिचार उत्पन्न होता है। अथवा आहार के लिए श्रावक के घर जाकर वहा पर बैठना भी निषिद्ध है। क्योकि श्रावक के घर बैठने से ब्रह्मचर्य व्रत का विनाश हो सकता है। भोजनार्थी मनुष्यो के भोजन में विघ्न उपस्थित होता है। वे लोग मुनियों के समक्ष भोजन करने मे सङ्कोच करते हैं। क्षुधादि से पीड़ित होने के कारण उनके मनमें सक्लेश उत्पन्न होता है। लोग कहने लगते हैं कि ये मुनि महिलाओ के बीच किस लिए बैठे हैं? आहार सम्पन्न हो जाने के अनन्तर यहा बैठे रहने की क्या आवश्यकता है? इनको यहा से अब तो चला जाना चाहिए? इत्यादि उनके अन्तःकरण मे कोपावेश से दुर्विचार उत्पन्न होने लगते हैं।

स्नान करना, उबटन लगाना, मस्तकादि शरीर के अवयवों का प्रक्षालन करना इन क्रियाओ को 'वाकुस' कहते हैं। ठडे जल से या गर्म जल से स्नान करने पर आखों मे अजन शरीर पर उबटन करने से शरीर पर स्थित प्राणी नष्ट होते हैं। तथा बिलो में रहने वाले प्राणी और भूमि के छोटे २ छेदों मे निवास करने वाले कीडे मकोडे आदि जन्तु मृत्यु के मुख मे प्रविष्ट होते हैं। इसलिए आगम मे मुनियो के लिए स्नान का निषेध है। मुनियो को आजीवन यह घोर व्रत पालन करना परमावश्यक होता है। लोध्र आदि सुगधित पदार्थों का उबटन भी मुनियो के लिए वर्जित है।

बिना दिये हुए पदार्थ का तथा रात्रि भोजन का त्याग मुनियों को रहता ही है। बिना आज्ञा के किसी वस्तु का ग्रहण करना क्या है, मानो उस वस्तु के स्वामी के प्राणो का हरण करना है। क्योकि धन प्राणियों का बाह्य प्राण है। जो दूसरो की वस्तु का हरण करता है, उसको राजा दण्ड देते हैं।

रात्रि भोजन अनेक असयम का मूल कारण है। रात्रि मे भोजन करने से त्रस और स्थावर जीवो का वध होता है। तथा जिसका त्याग किया उसका और अयोग्य वस्तु का भक्षण हो जाता है। रात्रि मे दाता की परीक्षा नहीं हो सकती है। अपने हाथ मे रखे हुए भोजन की, हाथ से उच्छिष्ट भोजन जिस जगह गिरता है उस भूमि प्रदेश की तथा दाता के गमनागमन मार्ग की, दाता के खड़े रहने तथा अपने खडे रहने के प्रदेश की भली भाति देख भाल (यह जीव रहित है या जीव सहित है ऐसी जाचे) नहीं कर सकते हैं। ऐसे अनेक दोष रात्रि भोजन करने से उत्पन्न होते है। इसलिए रात्रि मे आहार ग्रहण करना सर्वथा निषिद्ध है। मैथुन सेवन, परिग्रह धारण और असत्य भाषण आदि महा पापो के तो मुनि सर्वथा त्यागी होते ही हैं।

"सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्याचार मे मन वचन काय द्वारा कृत कारित अनुमोदना से जो अतिचार उत्पन्न हुए हो, उनकी मैं आलोचना करता हूँ।

शङ्का काक्षा आदि दोष सम्यग्दर्शन के अतीचार हैं। सम्यग्ज्ञान की क्या आवश्यकता है। तपश्चरण और चारित्र ही फल देने वाला है इसलिए उन्हीं का आचरण करना चाहिए। इस प्रकार मन से सम्यग्ज्ञान की अवज्ञा करना अथवा सम्यग्ज्ञान को मिथ्याज्ञान समझना व वचन से प्रकट करना मन से वचन से व काय से सम्यग्ज्ञान मे अरुचि प्रकट करना, मुह बिगाड कर मुह मोड कर अथवा सिर हिला कर यह सम्यग्ज्ञान नहीं है ऐसा प्रकाशित करना। आदि ज्ञान के अतिचार हैं।

तपस्या करते समय असयम मे प्रवृत्ति करना तप का अतिचार है। अपनी शक्ति को छिपाना वीर्याचार का अतिचार है। ये सब अतिचार कृत कारित और अनुमोदना के भेद से तीन २ प्रकार के होते हैं। स्वयं करना, स्वय कराना और करते हुए की स्वय अनुमोदना करना। दूसरे को प्रेरित करना, प्रेरित कराना और प्रेरित करते हुए की अनुमोदना करना। इस तरह प्रत्येक अतिचार के तीन २ भेद होते हैं।

दूसरे देश के राजा का आक्रमण होने पर जब देश के सम्पूर्ण गमनागमन के मार्ग रुक जाते है, उस समय वहां से निकलना कठिन हो जाता है। ऐसे अवसर पर भिक्षा दुर्लभ होने से अन्त:करण मे सक्लेश होता है। कदाचित् उस काल मे अयोग्य पदार्थ का सेवन कर लिया हो तो क्षपक को आलोचना करते समय ऐसे सब दोषो का खुलासा करना चाहिए। अमुक अतिचार रात्रि के समय या अमुक अतिचार दिन के समय हुआ है, उन सब का स्पष्ट निवेदन करना आवश्यक है।

जिस समय सब हैजा प्लेग आदि भयानक रोगो से या अन्य दारुण विपत्तियो से आक्रान्त हो गया हो, उस समय उनका प्रतिकार करने के लिए विद्या मन्त्रादि का उपयोग करना पड़ा हो, उसमे जो अतिचार हुआ हो उसकी भी स्पष्ट आलोचना करनी चाहिए।

अति दुर्भिक्ष के समय अवमौदर्य तप मे जो दोष लगे हों या अयोग्य पदार्थ का सेवन हुआ हो, अथवा अन्य मुनियों ने अनुचित भिक्षा ग्रहण जिस प्रकार की हो, उन सवका निवेदन करना चाहिए। अभिमान या प्रमाद आदि से जो जो दोष लगे हों उन सवको गुरु के निकट प्रकट कर देना मुनि का कर्त्तव्य है।

दर्पादि बीस अतिचार

दर्पादि के निमित्त से बीस अतिचार होते हैं। आगम के अनुसार उनका नीचे स्पष्टीकरण करते हैं।

(१) दर्प (गर्व) अनेक प्रकार का है—जैसे क्रीड़ा मे स्पर्द्धा करना, व्यायाम करना, छल-कपट करना, रसायन सेवन, हास्य करना, गीत मे शृंगार के वचन बोलना, उछलना कूदना, ये दर्प के प्रकार हैं।

(२) प्रमाद के पाच भेद हैं—विकथा, कषाय, इन्द्रियो के विषयों मे आसक्ति, निद्रा और प्रेम। अथवा संक्लिष्ट हस्तकर्म, कुशीलानुवृत्ति, वाह्यशास्त्र, काव्य रचना करना, और समिति मे उपयोग न रखना इस प्रकार भी प्रमाद के पाच भेद होते हैं।

छेदन करना भेदन करना, पीसना, टकराना, चुभाना, खोदना, वाधना, फाड़ना धोना, रङ्गना, लपेटना, गूँथना, भरना, राशि करना (इकट्ठा करना), लेपन करना, फेंकना, चित्र बनाना, इत्यादि काम करने को सक्लिष्ट हस्तकर्म कहते हैं।

ज्योतिःशास्त्र, छन्द शास्त्र, अर्थशास्त्र, वैद्यकशास्त्र, लौकिकशास्त्र और मन्त्रशास्त्र इत्यादि शास्त्रो को वाह्यशास्त्र कहते हैं।

(३) अनाभोगकृत—उपयोग रखने पर भी जिन अतिचारो का ज्ञान नहीं होता है, उन्हें अथवा चित्त की प्रवृत्ति दूसरी ओर होने पर जो अतिचार होते हैं, अनाभोगकृत अतिचार कहते हैं।

(४) आपात कृत—नदी का पूर आने पर, अग्नि काण्ड के उपस्थित होने पर भयानक आधी का तूफान आने पर, वृष्टि के होने पर, शत्रु की सेना से घिर जाने पर तथा ऐसे ही और कारणों के प्राप्त होने पर जो अतिचार, होते हैं उन्हें आपात अतिचार कहते हैं।

(५) आर्तताकृत—रोग जन्य पीडा, शोक जन्य क्लेश, और वेदना व व्यथा से होने वाले अतिचारों को आर्तताकृत अतिचार कहते हैं।

(६) तितिणदाकृत रसों मे आसक्ति होने से तथा अधिक बकवाद करने मे जो अतिचार होते हैं। उन्हें तित्तिणदाकृत

अतिचार कहते हैं।

(७) शकित—पिच्छिका आदि उपयोगी द्रव्यों में सचित्त या अचित्त का सन्देह रहते हुए भी उनको मोड़ना, पटकना तोड़ना, फोड़ना, छीलना एवं आहार उपकरण और वसतिका में 'उद्गमादि दोष हैं या नहीं' ऐसा सन्देह होने पर भी उनका सेवन करना ये शकित अतिचार हैं।

(८) सहसातिचार—अशुभ मानसिक विचारों में अथवा अशुभ वचनों में बिना विचारे शीघ्र प्रवृत्त होना, उसको सहसा अतिचार कहते हैं।

(९) भयातिचार—एकान्त प्रदेश में वसतिका होने पर इसमें चोर सर्प दुष्ट-हिंसक-पशु, व्याघ्र सिंहादि अन्दर घुस आवेंगे, इस भय से वसतिका के द्वार बन्द करने से होने वाले अतिचार को भयातिचार कहते हैं।

(१०) प्रदोष—तीव्र सञ्ज्वलन कषाय के उदय से होने वाले जल के ऊपर की रेखा के समान क्रोधादि चार कषाय के निमित्त से होने वाले अतिचारो को प्रदोष जन्य अतिचार कहते हैं।

(११) मीमांसा—अपने और दूसरे के बल के तरतम भाव की परीक्षा करने से उत्पन्न होने वाले अतिचार को मीमांसा अतिचार कहते हैं।

अथवा सीधे हाथ को मोडना, मुड़े हुए हाथ को सीधा करना, धनुष आदि को चढ़ाना, वजन दार पत्थर को ऊपर उठाना, उसे दूर फेंकना, दौड लगाना, कांटे की बाड आदि को लांघना, पशु सर्पादि को मंत्रो की परीक्षा करने के लिए पकडना, औषधियो के सामर्थ्य की परीक्षा करने के लिए अंजन और चूर्ण का प्रयोग करना, अनेक द्रव्यो को मिलाकर 'त्रस और एकेन्द्रिय प्राणियों की उत्पत्ति होती है या नहीं' उसकी परीक्षा करना, ऐसे कृत्य करने को परीक्षा कहते हैं। इन कामों से व्रतों मे दोष उत्पन्न होते हैं।

(१२) अज्ञानातिचार—अज्ञानी मनुष्यों का आचरण देखकर उसमें दोष न समझ कर स्वयं भी वैसा ही आचरण करने अथवा अज्ञानी से प्राप्त हुए उद्गमादि दोष वाले उपकरणादि का सेवन करने से जो अतिचार उत्पन्न होते हैं, उन्हें अज्ञानातिचार कहते हैं।

(१३) स्नेहातिचार—शरीर, उपकरण, वसतिका, कुल, ग्राम, नगर, देश, बन्धु तथा पार्श्वस्थमुनि आदि मे ममत्व भाव रखने से जो अतिचार होते हैं, उन्हें स्नेहातिचार कहते हैं। यह मेरा शरीर है, ऐसा ममत्व रखने से यह शीत पवन मेरे शरीर को बाधा देती है, ऐसा विचार कर शरीर को चटाई से ढकता है, अग्नि का सेवन करता है, ग्रीष्मकाल की लू आदि से बचने के लिए वस्त्र ग्रहण करता है, शरीर पर

उबटन लगाता है, उसे स्वच्छ करता है, तैलादि मर्दन करता है, यह सब ठीक नहीं है। इससे अतिचार होते हैं।

मेरा उपकरण विनष्ट हो जायगा, इस भय से पिच्छिका द्वारा प्रमाजन न करना, तैलादि से कमण्डलु का संस्कार कर स्वच्छ रखना, इसे उपकरणातिचार कहते हैं।

वसतिका के तृणादि का भक्षण करते हुए पशु आदि का निवारण करना, वसतिका का भङ्ग होता हो तो उसका निवारण करना बहुत से यति मेरी वसति मे निवास नहीं कर सकेंगे ऐसा कहना, आजाने पर उन पर क्रोध करना, बहुत साधुओं को वसतिका मत दो-ऐसा निषेध करना, अपने कुल के मुनियो की ही सेवा वैयावृत्त्य करना, निमित्त ज्ञानादि का उपदेश देना, ममत्त्व भाव से ग्राम नगर या देश में रहने का निषेध न करना, अपने से सम्बन्ध रखने वाले मुनियों के सुख में सुखी और दुःख मे दु.खी होना, पार्श्वस्थादि मुनियों की वन्दना करना, उनको उपकरणादि का प्रदान करना, उनके वचनादि का उल्लघन करने की सामर्थ्य न रखना, इत्यादि कार्यों से जो अतिचार होते हैं न सब की आलोचना करना चाहिए।

(१४) गारव अतिचार—ऋद्धि, रस और साता में आसक्ति रखना। ऋद्धि मे आसक्ति रखने से परिवार में आदर भाव होता है। प्रिय भाषण करके उपकरण देकर दूसरे की वस्तु अपने अधीन करता है। रस में आसक्ति के कारण प्रिय रस का त्याग नहीं करता है और अप्रिय रस मे अनादर भाव होता है। साता गारव से प्रिय मधुर सुहावने भोजन करता है और शरीर को सुख देने वाले शयनासनादि मे प्रवृति करता है। इससे जो अतिचार होते हैं, उन्हें गारव अतिचार कहते हैं।

(१५) परतन्त्रता जन्य अतिचार—उन्माद से, पित्त के प्रकोप से,भूत पिशाच के शरीर में प्रवेश करने से परतन्त्रता होती है। ज्ञाति के लोगों के परवश होकर इत्र गन्ध पुष्प माला आदि का सेवन करना, रात्रि भोजन करना, छोड़े हुए पदार्थों का सेवन करना, स्त्रियों के या नपुंसकों के साथ वलात्कार से मैथुन सेवन में प्रवृत्ति करना भी परतन्त्रता के कार्य हैं। इनसे जो अति ार होते हैं वे परतन्त्रता-जन्य अतिचार कहलाते हैं।

(१६) आलस्य-अतिचार—आलस्य के वश वाचना पृच्छनादि स्वाध्याय मे प्रवृत्ति न करना, आवश्यक कृत्यो मे उत्साह नहीं रखना, इससे जो अतिचार होते हैं, उन्हें आलस्य-जन्य अतिचार कहते हैं।

(१७) उपधि-अतिचार—मायाचार को उपधि कहते हैं। छिपकर अनाचार मे प्रवृत्ति करना, दाता के घर का पता चलाकर अन्य मुनियो के पहुँचने के पहले वहा आहार के लिए प्रवेश करना। अथवा किसी कार्य के वहाने से द के घर में इस प्रकार प्रवेश करना

'विरस भोजन किया' ऐसा कहना, रोग ग्रस्त-मुनि की या आचार्य की वैयावृत्य
जिसे दूसरे न जान सकें। सुन्दर स्वादिष्ट भोजन करने के पश्चात् 'विरस भोजन किया' ऐसा कहना, रोग ग्रस्त-मुनि की या आचार्य की वैयावृत्य अतिचार लगते हैं ये सब उपधि (माया) जन्य अतिचार कहे
के निमित्त श्रावकों से कुछ चीज माग कर स्वय उसका सेवन करना आदि से अतिचार लगते हैं ये सब उपधि (माया) जन्य अतिचार कहे
जाते हैं।

(१८) स्वप्नातिचार—निद्रा मे सोये हुए के स्वप्न मे अयोग्य पदार्थ का सेवन करने मे जो दोष होता है, उसे स्वप्नातिचार
कहते हैं।

(१९) पलिकुंचन—द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के आश्रय मे जो अतिचार होते हैं, उनका अन्यथा वर्णन करने को पलिकुंचन
अतिचार कहते हैं। जैसे-सचित्त पदार्थ का सेवन करके अचित्त पदार्थ का सेवन प्रकट करना। स्वकीय आवास के स्थान से जो दोष हुआ हो,
उसे मार्ग मे हुआ कहना, दिन मे जो दोष किया है उसे रात्रि मे किया हुआ निवेदन करना, तीव्र क्रोधादि भावो से किये गये अपराध को
मन्द क्रोधादि किया गया कहना। ऐसे विपरीत वर्णन करने को पलिकुचन कहते हैं।

(२०) स्वय शुद्धि—आचार्य के समीप यथार्थ आलोचना करने पर आचार्य के प्रायश्चित देने मे पहले ही स्वय ही यह
प्रायश्चित मैंने लिया है, ऐसा कहकर जो स्वयं प्रायश्चित लेता है, उसे स्वय शोधक कहते हैं। मैंने स्वय ऐसी शुद्धि की है ऐसा स्वय कहना। इस
प्रकार दर्प आदि के निमित्त से जो २ अतिचार होते हैं, उनका स्पष्टता पूर्वक निवेदन करना चाहिए। अतिचार के क्रम का उल्लघन करना
कदापि ठीक नहीं है।

आचार्य का कर्तव्य

प्रश्न—जब मुनि आलोचना कर चुके तब आचार्य महाराज को क्या करना चाहिए ?

उत्तर—क्षपक द्वारा की गई सम्पूर्ण आलोचना को सुनकर आचार्य क्षपक से तीन वार पूछते हैं कि "हे क्षपक ! तुमने क्या २
अपराध किये हैं, वे भली भांति ध्यान मे नहीं आये हैं, उन्हें फिर से कहो", क्षपक के वचन से और व्यवहार से जब गुरु देव को उसकी
सरलता-निष्कपटता-प्रतीत होती है तब तो वे (आचार्य) क्षपक को प्रायश्चित देते हैं और जब उसके अन्त करण मे कपट मालूम होता है
तब उसे प्रायश्चित नहीं देते हैं। क्योकि भाव शुद्धि के विना पाप का निवारण नहीं होता है और न रत्नत्रय की शुद्धि होती है।

प्रश्न—निष्कपट आलोचना कौनसी है ? जिसको सुनकर आचार्य प्रायश्चित देते हैं और सकपट आलोचना कौनसी है? आचार्य
जिसका प्रायश्चित नहीं देते हैं।

उत्तर—वैद्य रोगी को तीन बार पूछा करते हैं.-तुमने क्या भोजन किया ? क्या आचरण किया, तुम्हारे रोग का क्या हाल है? शरीर काटा फास आदि लग जाने पर भी तुम्हारे काटा या फास आदि कहा लगा, कैसे लगा ? अब घाव अच्छा हुआ या नहीं-ऐसे तीन बार पूछते हैं। तीन बार पूछने पर यदि तीनों बार एकसी आलोचना करता है,तब उसकी वह निष्कपट आलोचना मानी जाती है और जो भिन्न भिन्न प्रकार से आलोचना की गई हो, उसे वक्रा (कपटयुक्त) आलोचना कहते हैं। उस आलोचना में मायाचार रहता है।

द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के आश्रित उत्पन्न हुए दोषों को प्रति सेवना कहते हैं। अर्थात् सेवना के द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के विकल्प से चार भेद होते हैं। द्रव्य सेवना के तीन भेद हैं—सचित्त द्रव्य सेवना, अचित्त द्रव्य सेवना और मिश्र द्रव्य सेवना। जिस पुद्गल शरीर मे जीव रहता है, उस शरीर को सचित्त द्रव्य कहते हैं। जीव रहित पुद्गल को अचित्त द्रव्य कहते हैं। तथा सचित्त और अचित्त पुद्गल के समुदाय को मिश्र द्रव्य कहते हैं। जीव से ग्रहण किये हुए पृथ्वी जल अग्नि वायु और वनस्पति को सचित्त कहते हैं। जिस पुद्गल को जीव ने छोड दिया है, उस पुद्गल को अचित्त कहते हैं।

क्षेत्रादि के आश्रित होने वाले स्थूल व सूक्ष्म दोषों का यदि क्षपक उनों का त्यों वर्णन नहीं करता है तो प्रायश्चित शास्त्र के ज्ञाता आचार्य उसे प्रायश्चित नहीं देते हैं। आगम मे भी यही कहा है—

पडिसेवणादि चारे जदि आजवदि जहाकमं सव्वे।
कुव्वंति तहा सोधिं आगमववहारिणो तस्स ॥ ६२१ ॥ (भग आ.)

अर्थ—जब क्षपक द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के आश्रय से उत्पन्न हुए दोषों का प्रतिपादन यथाक्रम से करता है, तब उसको प्रायश्चित देने मे कुशल आचार्य प्रायश्चित देकर शुद्ध करते हैं।

प्रश्न—जब मुनिराज निर्दोष आलोचना करते हैं, तब आचार्य का क्या कर्तव्य होता है ?

उत्तर—जब आचार्य को निश्चय हो जाता है कि इस क्षपक की आलोचना निर्दोष है, तब प्रायश्चित आगम के वेत्ता आचार्य आगम से अपराधों की परीक्षा करते हैं। अर्थात् इस प्रायश्चित का विधान करने वाला यह सूत्र है, और इसका यह अर्थ है। इस अपराध का यह प्रायश्चित बतलाया है, इत्यादि रूप से आचार्य प्रथम प्रायश्चित्त का विचार करते हैं।

प्रश्न—दोष के अनुरूप प्रायश्चित का विचार करने वाले आचार्य को अतिचार सेवन करने के पश्चात् क्षपक के भावों का परि

णमन कैसा है, उस पर भी ध्यान देना चाहिए या नहीं ?

उत्तर—प्रतिसेवना के आचरण से क्षपक के भावी परिणामों में हानि या वृद्धि कैसी हुई है ? अर्थात् प्रति सेवना (विरुद्धाचरण) करने से जो इसके पाप हुआ है, उसके बाद इस क्षपक के सक्लेश भाव हुए हैं या सवेग भाव उत्पन्न हुए हैं। यदि उसके संक्लेश-परिणाम हुए हैं, तब तो इसका पूर्वोत्पन्न पापकर्म की वृद्धि हुई है और यदि उसके सवग पूर्ण भाव हुए हैं तब उसके पूर्व दुष्कर्म की हानि हुई है। तथा जो पाप कर्म को हानि या वृद्धि हुई है, वह भी मद हुई या तीव्र हुई है ? इसका भी आचार्य विचार करते हैं।

जैसे—किसी क्षपक ने पहले असयम का आचरण किया, पश्चात् उसका अन्तःकरण "हाय, यह मैंने वहुत बुरा किया" इत्यादि पश्चाताप से दग्ध हुआ। और बाद में सयमाचरण मे प्रवृत्त हुआ। इस पश्चाताप पूर्वक सयमाचरण के प्रभाव से नवीन और सचित कर्म का एक देश निजरा अथवा सम्पूर्ण निर्जरा होती है। अर्थात् मध्यम या मद परिणाम से एक देश निर्जरा होती है और तीव्र परिणाम से सम्पूर्ण कर्म की निर्जरा होती है।

इन सब बातो का विचार करके प्रायश्चित शास्त्र के ज्ञाता आचार्य, क्षपक के परिणामो को जानकर जितने प्रायश्चित से वह शुद्ध हो सकता है, उसे उतनाही प्रायश्चित देते हैं। जैसे स्वर्णकार अग्नि की शक्ति की न्यूनाधिकता को जान कर उसके अनुसार ही अग्नि को धमता है, वैसे ही प्रायश्चित का जिसे पूर्ण अनुभव है ऐसा आचार्य भी यह अपराध अल्प है यह महान् है, इसके क्रोधादि परिणाम तीव्र थे या मन्द थे-इत्यादि का विचार करके उसके अनुरूप ही प्रायश्चित देते हैं।

प्रश्न—दूसरे के परिणामों का ज्ञान आचार्य कसे करते हैं ?

उत्तर—साधु के साथ रहने से उसके नित्य के कार्यों को देखकर आचार्य उनके परिणामो का पता चला लेते हैं, अथवा आचार्य साधु से पूछ लेते हैं कि जब तुमने प्रतिसेवना की थी, उस समय तुम्हारे परिणाम कैसे थे ? इत्यादि उपायों से साधुके परिणामो का ज्ञान आचार्य करते हैं।

आचार्य आयुर्वेद विशारद वैद्य के समान होते हैं। जैसे विद्वान् वैद्य रोगों का भली भांति परीक्षा कर साध्य, कष्ट-साध्य अथवा असाध्य व्याधि के अनुरूप औषध देकर उनकी चिकित्सा करता है, वैसे ही आचार्य भी अल्प प्रायश्चित मध्यम प्रायश्चित या महान् प्रायश्चित देकर साधु को दोष से मुक्त (विशुद्ध) करने का प्रयत्न करता है।

प्रश्न—आचार्य के आपने पहले आचारत्व आधारवत्वादि गुण बताये हैं, उनके धारण करने वाले आचार्य ही निर्यापक हो सकते

हैं। यदि कालादि दोष से उक्त गुण धारक आचार्य न मिले तो अन्य मुनि भी क्षपक का समाधि मरण कर सकते हैं ? या नहीं ?

उत्तर—उक्त गुणों का धारक आचार्य अथवा उन गुणों से शोभित उपाध्याय भी न हो तो प्रवर्तक मुनि या स्थविर (वृद्ध) अनुभवी मुनीश्वर अथवा बालाचार्य यत्न पूर्वक व्रतों में प्रवृत्ति करते हुए क्षपक का समाधिमरण साधन करने के लिए निर्यापकाचार्य हो सकते हैं।

प्रश्न—प्रवर्त्तक किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो अल्पश्रुत का ज्ञाता होने पर भी संघ की सम्पूर्ण मर्यादा और चारित्र का ज्ञाता होता है, वह प्रवर्त्तक होता है।

प्रश्न—स्थविर किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो चिरकाल के दीक्षित तथा मुनि-मार्ग के अनुभवी मुनिवर होते हैं वे स्थविर मुनि हैं।

प्रश्न—आचार्य द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त का आचरण कर लेने के पश्चात् और देहत्याग करने का उचित काल प्राप्त नहीं होने के पूर्व क्षपक क्या करता है ?

उत्तर—जिसने अपने चरित्र को निर्दोष बना लिया है तथा शास्त्रोक्त विधि से गुरु के समीप रहकर अपने चरित्र को उत्तरोत्तर उज्ज्वल किया है वह क्षपक समाधिमरण के लिए धारण किये हुए विशेष चरित्र में उन्नति करने की कामना करता हुआ वर्षाकाल में नाना प्रकार के तपश्चरण कर हेमन्त में संस्तर का आश्रय लेता है। क्योंकि ग्रीष्मादि ऋतु की तरह हेमंत ऋतु में अनशनादि तप करने पर भी शरीर को विशेष कष्ट का अनुभव नहीं होता है।

प्रश्न—जिसने समाधि के सब साधनों का अभ्यास कर लिया है। अर्थात् अनेक कष्ट-प्रद तप का आचरण कर कष्ट सहन करने का जिसने सामर्थ्य उत्पन्न कर लिया है उसके लिए वसतिका का कुछ नियम है या नहीं ? अर्थात् उसे विघ्न बाधा रहित वसतिका में ही रहना चाहिए या सबाध सविघ्न वसतिका में भी वह रह सकता है ? यदि विशेष नियम है तो उसके लिए कौनसी वसतिका तो अयोग्य मानी गई है और कौनसी योग्य ?

उत्तर—अनेक दुर्धर तपश्चरणों का पालन कर जिसने कष्ट सहिष्णुता प्राप्त करली है, समाधि मरण के लिए संस्तर पर आरूढ़ हुए उस क्षपक के लिए भी निर्विघ्न और निर्बाध वसतिका ही योग्य मानी गई है। क्योंकि क्षुधा प्यास आदि के सताने पर यदि शान्ति को देने वाली वसतिका नहीं होगी तो उसके परिणामों में संक्लेश उत्पन्न हो सकता है ? अतः उसे योग्य वसतिका में ही ठहरना उचित है।

प्रश्न—उसके लिए अयोग्य वसतिका कौनसी होती है ?

उत्तर—सगीतशाला, नृत्यशाला, गजशाला, अश्वशाला, तेली का घर, कुम्हार का घर, धोबी का घर, बाजे बजाने वालों का घर, डोमका घर, बास के ऊपर चढ़कर खेल करने वालो का घर, रस्सी पर चढकर नाच करने वाले का घर इन सबके समीप की वसतिका मुनि के लिए योग्य नहीं होती है। तथा राज मार्ग (सडक) के समीपवर्त्ती वसतिका भी मुनि के निवास के योग्य नहीं है।

लोहार, सुनार (वढ़ई), चमार, कोली, छीपे, ठठेरे, कलाल, भाड, व वन्दीगण (स्तुतपाठक) सिलावट, तथा करोत से काठ को चीरने वाले जहा रहते हों उस के निकट तथा वाटिका और कूए वावड़ी आदि जलाशय के समीप एवं जूआरी व्यभिचारी लोग तथा ऐसे ही अन्य दुष्कर्म करने वाले शरावी धीवर आदि अधम पुरुष जहा रहते हैं ऐसे स्थानो के निकट की वसतिका मे समाधि की इच्छा रखने वाले मुनीश्वरो को कदापि नहीं ठहरना चाहिए। क्योंकि उक्त स्थानो के समीप रहने वाले क्षपक के भावों में उद्विग्नता तथा शान्ति का भंग होने की पूर्ण सभावना बनी रहती है, इसलिए रत्नत्रय की उज्ज्वलता बढाने वाले क्षपक को उक्त आयोग्य वसतिका में कदापि नहीं ठहरना चाहिए।

प्रश्न—क्षपक साधु को कहां और किस प्रकार रहना चाहिए ?

उत्तर—क्षपक मुनि को ऐसे स्थान मे ठहरना चाहिए जहां उसकी पाचों इन्द्रिय शान्त रहें, जहां पर इन्द्रियों के विपयों को उत्तेजित करने वाले साधन न हों, जहा पर मन मे उद्वेग और विकार भाव उत्पन्न न हों, ऐसे शान्त वातावरण वाले, ध्यान मे एकाग्रता के साधक स्थान मे त्रिगुप्ति के धारक मुनीश्वर रहते हैं।

प्रश्न- जहा पर मन मे क्षोभ उत्पन्न करने वाले इन्द्रियों के विपयों का प्रचार नहीं है ऐसी प्रत्येक वसतिका मुनि के निवास करने योग्य मानी गई है या नहीं ?

उत्तर—ऐसी वसतिका मुनि के निवास के लिए योग्य मानी है जो उक्त गुणो मे युक्त होती हुई उद्गम उत्पादन और एपणा दोपों से रहित है। तथा जिसमें मुनि के उद्देश्य से लीपना पोतना सफेदी करना या अन्य सस्कार क्रिया नहीं की गई है। जिसमे जन्तुओं का निवास नहीं है तथा बाहर से आकर प्राणी वास नहीं करते हैं ऐसी वसतिका में मुनि ठहरा करते हैं।

प्रश्न—क्षपकादि मुनियो को कैसी वसतिका मे प्रवेश करना चाहिए ?

उत्तर—जिस वसतिका मे बाल वृद्ध मुनि सुख पूर्वक प्रवेश कर सकते हैं और निकल सकते हैं, जिसका द्वार बन्द होता है,

जिसमें प्रकाश भी विपुल हो ऐसी वसतिका होनी चाहिए। इसमे कम से कम दो शालाए या कमरे होने चाहिए। उनमें से एक में तो क्षपक के लिये। और दूसरी अन्य मुनि तथा धर्म श्रवणार्थ आए हुए श्रावकों के लिए। यदि तीन कमरे हों तो एक में क्षपक मुनि का संस्तर दूसरे में अन्य मुनियों का वास और तीसरे मे धर्मोपदेश श्रवण करने के लिए आए हुए लोगों का ठहरना होता है।

वसतिका का द्वार यदि बन्द न होता है तो शीतवायु आदि का प्रवेश होने से जिस क्षपक के अस्थि व चर्म मात्र शेष रह गये हैं ऐसे क्षपक को अतिशय क्लेश उत्पन्न होगा। जिसका द्वार बन्द न होता हो अर्थात् खुला ही रहता हो ऐसी वसतिका में क्षपक शरीर के मल का त्याग कैसे कर सकेंगे? इसलिए वसतिका बन्द होने वाले द्वार की ही होनी चाहिए।

यदि वसतिका मे अन्धकार होगा तो वहा पर रहने से जीव जन्तु का अवलोकन न हो सकने के कारण असयम होगा। जिस वसतिका मे अन्दर घुसने या वाहर निकलने मे कठिनाई होती हो उसमे सिर मस्तक या घुटने आदि मे चोट लगने की सम्भावना रहती है तथा सयम की भी विराधना होती है।

प्रश्न—क्षपक का संस्तर कैसे स्थान मे होना चाहिए?

उत्तर—क्षपक का सस्तर ऐसे स्थान मे होना चाहिए, जहा वालक वृद्ध तथा चार प्रकार का सघ सुगमता से आ जा सके। वसतिका के किवाड और दीवाल मजबूत होना चाहिए। उद्यान-गृह,गुफा या शून्य-गृह भी वसतिका के योग्य माने गये हैं। ऐसे निर्बाध स्थान मे क्षपक का सस्तर करना चाहिए। दूसरे ग्राम या नगर के आगत व्यापारियो के ठहरने के लिए जो निवास बनाये गये हों, उनमे भी तथा ऐसे ही अन्य निर्दोष और निर्बाध स्थानो मे क्षपक के सस्तर की योजना की जा सकती है।

प्रश्न—जहा उद्यान-गृह, शून्य-गृह, सराय, धर्मशाला, गुहा आदि क्षपक के सस्तर के योग्य स्थान (वसतिका) न मिले, वहा क्या करना चाहिए?

उत्तर—जहा पर क्षपक के योग्य उक्त प्रकार की वसतिका न मिले, वहा के श्रावकों का कर्त्तव्य होता है, कि वे वास के बने टट्टी आदि से क्षपक के तथा वैयावृत्य करने वाले साधु आदि के सुखद वास के लिए कुटियां बना दें तथा धर्म-श्रवण के लिए आगत चतुर्विध सघ के बैठने आदि के लिए मजुल मण्डप की रचना करदे। परन्तु ध्यान रहे, इस कार्य में बहुत अल्प आरम्भ होना चाहिए। कहा भी है—

आगंतुघरादीसु वि कडएहिं य चिलिमिलाहिं कायव्वो।
खवयस्सोच्छागारो धम्मसवणमंडवादी य ॥ ६३६ ॥ (भग आ.)

अर्थ—आगन्तुक अतिथियों के लिए बने हुए घर तथा शून्य-घर, उद्यान-गृहादि में क्षपक का संस्तर करना योग्य है। यदि उक्त प्रकार के योग्य स्थान उपलब्ध न हों तो श्रावकों का कर्तव्य है कि वे क्षपक के ठहरने के योग्य बांस के बने चटाई आदि से क्षपक व अन्य वैयावृत्त्य करने वाले साधुओं तथा आचार्य के वास के योग्य आराम स्थान कराते हैं तथा धर्म श्रवण के लिए आने वाले चतुर्विध संघ के बैठने के लिए सुविधा जनक मण्डपादि भी करवाना उचित है।

प्रश्न—उक्त प्रकार की वसतिका में क्षपक का संस्तर कैसा होना चाहिए?

उत्तर—समाधिमरण करने वाले क्षपक के संस्तर चार प्रकार माने गये हैं। १. पृथ्वी संस्तर, २. शिला रूप संस्तर, ३. फलकमय संस्तर, और ४. तृणमय संस्तर। क्षपक की समाधि (सुख शान्ति) के लिए संस्तर का मस्तक पूर्व दिशा या उत्तर दिशा में रखना आवश्यक है। क्योंकि अभ्युदय के कार्यों में पूर्व दिशा प्रशस्त मानी गई है। तथा स्वयं प्रभादि उत्तर दिशा सम्बन्धी तीर्थंकरों की भक्ति के उद्देश्य से उत्तर दिशा भी शुभ कार्य में प्रशस्त मानी है। क्षपक के समाधिमरण की भावना रूप कार्य भी अत्यन्त शुभ है, इसलिए उसकी सिद्धि के निमित्त पूर्व दिशा और उत्तर दिशा में ही संस्तर का मस्तक भाग रखने के लिए आगम में उपदेश दिया गया है।

(१) पृथ्वी-संस्तर—भूमि रूप संस्तर वही हो सकता है जिस पृथ्वी में निम्नोक्त विशेषताएं पाई जावें :—

"निर्जंतुका घना गुप्ता समाऽमृद्वि सुनिर्मला।
अनार्द्रा स्वप्रमाणा च सोद्योता संस्तरोधरा ॥ १ ॥"

जिस भूमि में उदेही आदि जन्तु न हों, दृढ़ हो, अप्रकट हो, सम हो, मृदु न हो, निर्मल हो, भीगी न हो, क्षपक के शरीर के प्रमाण हो, प्रकाश सहित हो ऐसी भूमि संस्तर के लिए उपयोगी होती है। भूमि में यदि उदेही आदि जन्तुओं की उत्पत्ति की योग्यता होगी तो सन्यास के समय उदेही आदि निकलने लगेंगी तब क्षपक को काटेंगी, उससे उसको असमाधि उत्पन्न होगी, सुख शान्ति का भंग होगा, तथा उन जन्तुओं की विराधना होने से असंयम होगा, अतः संस्तर के योग्य भूमि निर्जंतुक होनी चाहिए। जो भूमि घन (दृढ़) न होगी, वह शरीर के भार से दबेगी, तब भूमि के भीतर के जीवों को बाधा होगी। तथा वह ऊँची नीची हो जाने के कारण क्षपक के शरीर को कष्ट होगा। इसलिए भूमि घन (दृढ़) होना आवश्यक है। यदि भूमि गुप्त (अप्रकट) न होगी, अर्थात् प्रकट होगी तो मिथ्यादृष्टि मनुष्यों का संसर्ग होता रहने से क्षपक के भावों में अविशुद्धि की सम्भावना रहेगी; इसलिए क्षपक के संस्तर योग्य भूमि गुप्त (अप्रकट) होनी चाहिए। जो सम नहीं होगी, ऊँची नीची होगी तो क्षपक के शरीर को बाधा पहुँचेगी। मृदु भूमि क्षपक के शरीर हाथ पांव आदि से बाधित होगी।

जो भूमि निर्मल न होगी अर्थात छेद छिद्र और प्राणियों के बिलों सहित होगी तो छिद्रो मे प्रविष्ट हुए तथा उनसे निकले हुए जीव जन्तुओं को वाधा पहुचने से प्राणि संयम की विराधना होगी। भूमि यदि जल से भीगी होगी तो जल काय के जीवों को पीड़ा होगी; इसलिए भूमि सूखी होनी चाहिए। भूमि क्षपक के शरीर के वरावर होनी चाहिए। यदि शरीर प्रमाण से अधिक होगी तो प्रति लेखनादि का व्यासंग अधिक करना पड़ेगा। प्रमाण से न्यून होगी तो शरीर को सुकोड़ना पड़ेगा। प्रकाश रहित या अल्प प्रकाश वाली भूमि में जीव जन्तु दिखाई न देने पर प्राणि सयम की रक्षा कैसे हो सकेगी। इसलिए उक्त गुण वाली भूमि ही क्षपक के सस्तर योग्य होती है।

(२) शिलामय सस्तर—जो पत्थर की शिला, अग्नि से तप कर प्रासुक होगई हो, या टाकी से चारो ओर से उकेरी गई हो अथवा घिसी गई हो वह प्रासुक शिला सस्तर के योग्य होती है। वह शिला टूटी फूटी न होनी चाहिए। निश्चल तथा चारों ओर से पाषाण मत्कुण (खटमल) आदि के सम्पर्क से रहित और समतल एवं प्रकाश युक्त होनी चाहिए।

(३) काष्ठमय सस्तर—जो काष्ठ का फलक (तख्ता) अखड एक है, आदमी के लेटने योग्य चौडा तथा हलका है—अर्थात् जिसको उठाने लाने रखने मे अधिक परिश्रम न करना पड़े ऐसा है, भूमि पर चारों तरफ से लगा हुआ है, अच्छा चिकना और छेद-दरारो से रहित है, जिस पर शयन करने या वैठने पर चूचा आदि शब्द नहीं होता है—ऐसा पुरुष प्रमाण निर्जन्तुक स्वच्छ काठ का तख्ता साधु के सस्तर के योग्य माना गया है।

(४) तृण संस्तर—क्षपक के लिए तृण का संस्तर वही प्रशस्त होता है, जो गाठ रहित तृण से वनाया गया हो, अन्तर रहित एक से लम्बे तृणो से जिसकी रचना की गई है। जिन तृणों से सस्तर वनाया जावे वे पोले न हो किन्तु ठोस हों। मृदु स्पर्श सहित तथा निर्जन्तुक हों जिस पर सोने से क्षपक को सुख मिले और शरीर मे खुजली आदि का क्लेश न हो। ऐसे तृण का सस्तर क्षपक के लिए योग्य माना गया है।

उक्त चारो प्रकार के सस्तरों मे निम्नोक्त गुण अवश्य होने चाहिए।

किसी भी प्रकार का सस्तर हो, वह यथोचित प्रमाण वाला हो। न तो अधिक छोटा हो और न अधिक वड़ा हो। सूर्योदय के समय व सूर्यास्त के समय दोनो वेला मे प्रति लेखन से शुद्ध किया जाता हो। अर्थात देख शोध कर जिसका भली भांति प्रमार्जन किया जाता है। शास्त्र कथित विधि से जिसकी रचना की गई हो। ऐसा गुण विशिष्ट सस्तर क्षपक के योग्य होता है।

क्षपक अपना आत्मा निर्यापकाचार्य को सौंप कर—उसका शरण मानकर—उक्त प्रकार के शास्त्र सम्मत संस्तर पर आरोहण करता है और विधि पूर्वक सल्लेखना का आचरण करना प्रारम्भ करता है।

सल्लेखना दो प्रकार की होती है। बाह्य सल्लेखना और आभ्यन्तर सल्लेखना। अथवा द्रव्य सल्लेखना और भाव सल्लेखना।

बाह्य सल्लेखना अथवा द्रव्य सल्लेखना—आहार का विधि पूर्वक त्याग करके शरीर कृश करने को बाह्य या द्रव्य सल्लेखना कहते हैं।

आभ्यन्तर या भाव सल्लेखना—सम्यक्त्व तथा क्षमादि भावना से मिथ्यात्व तथा क्रोधादि कषायों के कृश करने को आभ्यन्तर या भाव सल्लेखना कहते हैं।

इस प्रकार वसतिका और संस्तर का विवेचन पूर्ण हुआ।

वैयावृत्य—कुशल सहायक मुनि कैसे होने चाहिए?

जिस समाधि के आराधक क्षपक ने समाधि के साधनों का भली भांति अभ्यास कर लिया है तथा जो आगमोक्त वसतिका में विधि पूर्वक संस्तर पर आरूढ़ होगया है, उसकी समाधि विधि को सफल बनाने के लिए निर्यापकाचार्य अड़तालीस सहायक (वैयावृत्य करने वाले) मुनियों की योजना करते हैं। वे वैयावृत्य कुशल सहायक मुनि कैसे होने चाहिए। उनका स्वरूप दिखाते हैं—

पियधम्मा दढ़धम्मा संवेगावज्जभीरुणो धीरा।
छंदण्हू पच्चइया पच्चक्खाणम्मि य विदण्हू ॥ ६४७ ॥
कप्पाकप्पे कुसला समाधिकरणुज्जदा सुदरहस्सा।
गीदत्था भयवंता अडदालीसं तु णिज्जवया ॥ ६४८ ॥ भग. आ.

अर्थ—जिनके साथ क्षपक को अहर्निश घनिष्ठ सम्पर्क में रहना है, क्षपक के जीवन का बनना व बिगड़ना जिनके आश्रित है वे साधु कैसे होने चाहिए–उनके विषय में बतलाते हैं कि वे धर्म–प्रिय होने चाहिए। क्योंकि जिनको स्वयं चारित्र–धर्म प्यारा नहीं होगा वे क्षपक को अशक्त अवस्था में चारित्र में प्रवृत्ति करने के लिए उत्साहित कैसे कर सकेंगे? इसलिए आचार्य चारित्र प्रेमी साधुओं को क्षपक की सेवा के लिए चुनते हैं। सम्यग्दृष्टि होने के कारण साधु चारित्र प्रेमी तो हैं, लेकिन चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से जो स्थिर चारित्र वाले नहीं हैं, वे क्षपक को चारित्र में सुस्थिर कैसे कर सकते हैं, इसलिए आचार्य धर्म प्रेमी साधुओं में से भी दृढ़ चारित्र वाले मुनियों को क्षपक की सेवा में नियुक्त करते हैं। जो पाप से नहीं डरते हैं, वे असंयम का त्याग नहीं कर सकते हैं, इसलिए जिनके हृदय में चतुर्गति में भ्रमण करने का तथा पापाचरण का भय सदा विद्यमान रहता है, वे ही चारित्र को दृढ़ता से धारण करने में दत्तचित्त रहते हैं। धैर्य धारक मुनि परिषह के

आने पर अपने धर्म से कभी विचलित न होते हैं। अत: धीर मुनि सेवा के कार्य मे निपुण होते हैं। वैयावृत्त्य करने वाले मुनि क्षपक के अभिप्राय को उसकी चेष्टादि से जान सकने वाले होने चाहिए। जो शरीर की चेष्टादि से क्षपक के अभिप्राय का ज्ञान करने मे कुशल नहीं होते हैं, वे उसका भला नहीं कर सकते। इसलिए अभिप्राय के ज्ञाता साधु सेवा कार्य मे नियुक्त किये जाते हैं। तथा जिन्होंने पहले भी वैयावृत्य कार्य मे निपुणता प्राप्त की है तथा जो साकार और निराकार प्रत्याख्यान के क्रम के ज्ञाता होते हैं वे परिचारक होते हैं। तथा जो अनुभवी साधु क्षपक के योग्य तथा अयोग्य आहार पान के ज्ञाता होते हैं वे ही क्षपक को उचित आहार पान मे प्रवृत्त कर सकते और अनुचित भोजन पान से निवृत्त कर सकते हैं। परिचारक प्रायश्चित शास्त्र के सन्यासी आगम रहस्य के वेत्ता तथा स्व और पर का उद्धार करने मे दक्ष होने चाहिए। उक्त गुणों से अलकृत परिचारक साधु एक क्षपक की वैयावृत्त्य के लिए अडतालीस होते हैं।

प्रश्न—परिचारक मुनि क्षपक की क्या २ सेवा करते हैं। किस २ परिचर्या के लिए कितने २ मुनि नियुक्त किये जाते हैं? इसका विवेचन कर स्पष्ट खुलासा करने की कृपा करें?

आमासणपरिमासणचंकमणासयण णिसीदणे ठाणे।
उव्वत्तणपरियत्तणपसारणा उटणादीसु॥ ६४९॥
सजदकमेण खवयस्स देहकिरियासु णिच्चमाउत्ता।
चदुरो समाधिकामा आलग्गता पडिचरंति॥ ६५०॥ (भग आ.)

अर्थ—शरीर के एक देश के स्पर्श करने को आमर्श कहते हैं। सम्पूर्ण शरीर के स्पर्श करने को परिमर्शन कहते हैं। क्षपक की सेवा के लिए इधर उधर गमन करने को चक्रमण कहते हैं। क्षपक को सस्तर पर सुलाना, आवश्यकता पडने पर उसे हस्तादि की सहायता देकर बैठाना उठाना, एक करवट से दूसरी करवट लेटाना, उसके हाथ पाव सकोचना, पसारना इत्यादि सेवा करते समय परिचारक मुनि मन वचन काय द्वारा सावधानी से मुनि मार्ग की रक्षा करते हुए क्षपक के शरीर और अन्त करण की समाधि (सुख शान्ति) का पूरा २ ध्यान रखते हैं।

भावार्थ—परिचारक मुनियों की मनोवृत्ति क्षपक के अन्त:करण के समाधान मे लगी रहती है। जब क्षपक के हस्त पादादि किसी अवयव मे पीड़ा का अनुभव होता है, तत्काल उस अवयव का कोमल स्पर्श द्वारा उसको दबाने सुलसुलाने लगते हैं। जब सम्पूर्ण शरीर में वेदना होने लगती है तब यथायोग्य रीति से उसके सुख का पूरा ध्यान रखते हुए शरीर का शनैः शनैः मर्दनादि करने मे तत्पर

रहते हैं। जब क्षपक को बैठे रहने की इच्छा होती है, तब उसे सावधानी से उठाकर बैठाते हैं। उसके इंगित (इशारे) से सोने की अभिलाषा जानकर आराम से सुलाते हैं। खडे होने का अभिप्राय जानकर शीघ्रता से खडा करते है। इधर उधर थोडा चलने की इच्छा होने पर उसे हस्तावलम्बन देकर घुमाते है। उसकी सेवा के लिए परिचारक साधुओ को इधर उधर जाना पडता है तो तत्काल निरलस होकर गमन करते हैं तात्पर्य यह है कि जिस समय (रात्रि मे या दिन मे) जिस परिचर्या की आवश्यकता प्रतीत होती है, उसी समय परिचर्या करने मे वे परिचारक साधु क्षण भर का भी विलम्ब नहीं करते हैं। अपने मन वचन और काय को क्षपक की परिचर्या में सावधानी से लगाये रहते हैं। सब परिचर्या को करते हुए क्षपक के और अपने सयम की रक्षा का पूर्ण ध्यान रखते हैं। इस प्रकार चार परिचारक मुनि क्षपक की शरीर सम्बन्धी परिचर्या मे तन्मय रहते हैं।

चार मुनीश्वर विकथाओं का त्याग कर धर्म कथा कहकर क्षपक के अन्त करण को धर्म भावना में दत्तचित्त रखते हैं।

प्रश्न—क्षपक के सम्मुख कौन २ सी विकथाएँ नहीं की जाती हैं?

उत्तर—जिन कथाओ को सुनकर क्षपक के चित्त में धर्म भावना नष्ट होकर आर्तरौद्रध्यान उत्पन्न होते हैं, उनको विकथा कहते हैं। जैसे-चार प्रकार के आहार का वर्णन करना आहार कथा है। स्त्रियो के सौन्दर्यादि का निरूपण करने वाली कथा स्त्री कथा है। राजाओ के वैभवादि का वर्णन करना राज कथा है। नाना प्रकार के देशो का वर्णन करने वाली वार्ता को देश कथा कहते हैं। काम विकार से उन्मत्त होकर हास्य मिश्रित असभ्य भण्ड वचन उच्चारण करने को कंदर्प कथा कहते हैं। वांस के ऊपर रस्सी के ऊपर चढ़कर खेल करने नृत्य करने वाले गान वादित्रादि शृ गार रसादि का विवेचन करनेवाली सब कुकथाएँ हैं। वे स। आत्मा के स्वरूप चिन्तन मे बाधा पहुँचाने वाली होती हैं। इसलिए इनका त्याग कर चार मुनीश्वर क्षपक को उचित समय पर सर्वदा धर्म कथाओ का उपदेश देते रहते हैं।

प्रश्न—धर्म कथाओ का श्रवण कराने वाले मुनीश्वर क्षपक को किस प्रकार धर्मोपदेश देते हैं?

उत्तर—जिस समय जैसे धर्मोपदेश की आवश्यकता प्रतीत करते है, वे धर्मोपदेशक मुनिराज उस समय वैसा ही मधुर स्निग्ध और हृदयगम हितकारक धर्मोपदेश विचित्र २ कथाओ द्वारा देते हैं जिससे क्षपक का अन्तःकरण उस उपदेश को शीघ्र ग्रहण कर लेता है।

जिनमे वाक्पटुता होती है तथा जिनका वचनोच्चारण अत्यन्त स्पष्ट और गम्भीरता पूर्ण होता है, ऐसे ही वाग्मी चार मुनि धर्म कथाओ द्वारा क्षपक को धर्मोपदेश देते हैं।

सं. प्र.

वे मुनि जब धर्मोपदेश देते हैं, उस समय जिस अभिप्राय का विवेचन करना चाहते हैं उसी अभिप्राय को स्पष्ट करने वाले उनके शब्द निकलते हैं। उन शब्दों से कभी विपरीत अर्थ का भास नहीं होता है। एक ही शब्द का वे दो तीन बार उच्चारण नहीं करते हैं। उनके सब वचन असंदिग्ध और प्रत्यक्षादि प्रमाण से अविरुद्ध निकलते हैं। उनका भाषण न तो अतिमन्द स्वर मे होता है और न अति उच्च स्वर मे ही होता है, किन्तु वे मध्यम स्वर मे ही भाषण करते हैं। वे अति शीघ्र नहीं बोलते और न रुक रुक कर ही उच्चारण करते हैं। अपितु मध्यम पद्धति से इस प्रकार शब्दों का शृंखलाबद्ध क्रम से उच्चारण करते हैं जिनको सुनकर श्रोताओं को अर्थ का स्पष्ट भास होता जाता है। उनका भाषण कर्ण-मधुर, मिथ्यात्व से हीन (सम्यक्त्व का पोषक) तथा सार्थक होता है। उनके भाषण मे पुनरुक्ति दोष नहीं होता है।

प्रश्न—सस्तरारूढ क्षपक को कौनसी कथा धर्मोपदेशक मुनि श्रवण कराते हैं। कौनसी कथा उसके लिए हितकारिणी हो सकती है?

उत्तर—जो कथा क्षपक के अन्तःकरण मे उत्पन्न हुए अशुभ परिणामों का निवारण कर संवेग और वैराग्य को दृढ करने वाली हो वही कथा क्षपक के लिए हितकारिणी हो सकती है। वही कहा है—

आक्खेवणी य संवेगणी य णिव्वेयणी य खवयस्स।
पाओग्गा होंति कहा ण कहा विक्खेवणी जोग्गा ॥ ६५५ ॥ [भग. आ.]

अर्थात्—कथाएँ चार प्रकार की होती हैं। १. आक्षेपणी, २ विक्षेपणी, ३ संवेजनी और ४. निर्वेजनी। उनमे से विक्षेपणी को छोडकर शेष तीन कथाएँ क्षपक के योग्य होती हैं।

प्रश्न—आक्षेपणी कथा किसे कहते हैं? उसका स्वरूप सप्रमाण समझाने का अनुग्रह कीजिए।

उत्तर—आक्षेपणी व विक्षेपणी कथा का स्वरूप निम्न प्रकार है—

आक्खेवणी कहा सा विज्जाचरणमुवदिस्सदे जत्थ।
ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेवणी णाम ॥ ६५६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—जिसमे विद्या (सम्यग्ज्ञान) और चरण (सम्यक् चारित्र) का विवेचन किया जाता है उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं। तथा स्व सिद्धान्त और पर सिद्धान्त का निरूपण करने वाली कथा को विक्षेपणी कथा कहते हैं।

भावार्थ—मति,श्रुत, अवधि,मनःपर्यय और केवल ज्ञान के स्वरूप,लक्षण और भेदों का वर्णन जिस कथा में किया गया हो तथा सामायिक, छेदोपस्थापना,परिहार-विशुद्धि,सूक्ष्म-साम्पराय और यथाख्यात इन पाच प्रकार के चारित्र का अथवा अहिंसादि पांच महाव्रत, ईर्या भाषादि पाच समिति और मनोगुप्ति आदि तीन गुप्ति इस प्रकार तेरह प्रकार के चारित्र का स्वरूप विवेचन जिसमें होता है उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं।

जीवादि पदार्थ सर्वथा नित्य ही है, या सर्वथा क्षणिक ही है। सन्मात्र तत्त्व है,या विज्ञान मात्र तत्त्व है,या सर्व शून्य ही तत्त्व है इत्यादि पर(अन्य मत के) सिद्धान्तों को पूर्व पक्ष मे लेकर इन तत्त्वों मे प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण से विरोध दिखाकर कथचित् नित्य, कथचित् अनित्य,कथचित एक और कथचिद् अनेक तत्त्व रूप अपने सिद्धान्तों का समर्थन जिसमे किया जाता है उसे विक्षेपणी कथा कहते हैं।

प्रश्न—सवेजनी और निर्वेजनी कथा किसे कहते हैं ? उनका स्वरूप दिखाने की कृपा करें।

उत्तर—उनका स्वरूप वर्णन करने के लिए निम्न गाथा उद्धृत करते हैं।

सवेयणी पुण कहा णाणचरित्ततववीरिय इड्ढिगदा।
णिव्वेयणी पुण कहा सरीरभोगे भवोघे य ॥ ६५७ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—ज्ञान का अभ्यास, चारित्र का पालन और तपश्चरण का आराधन करने से आत्मा में जो जो दिव्य शक्तियां प्रकट होती हैं उनका स्पष्टता से विवेचन करने वाली कथा को सवेजनी कथा कहते हैं। शरीर भोग और जन्म परम्परा से वैराग्य उत्पन्न करने वाली कथा को निर्वेजनी कथा कहते हैं। यह शरीर अशुचि है, क्योंकि यह रस रक्त मास चर्बी हड्डी मज्जा और शुक्र इन सप्त धातुओं से पूरित है। यह शरीर और भोग सामग्री सर्वदा आत्मा को क्लेश का कारण होती है। देव पर्याय व मनुष्य पर्याय ये दोनों उत्तम मानी गई हैं। उन दोनों मे भी मनुष्य जन्म अति दुर्लभ व श्रेष्ठ कहा गया है, क्योंकि इनसे ही संयम और तप की आराधना हो सक्ती है। इस प्रकार का निरूपण जिस कथा मे होता है उसे निर्वेजनी कथा कहते हैं।

प्रश्न—क्षपक के लिए विक्षेपणी कथा का निषेध क्यों किया गया है ? स्व मत का समर्थन और पर मत का निकर्त्तन (खंडन) सुनने से तो धर्म मे श्रद्धा दृढ होती है और जिन-कथित चारित्र पालन करने मे उत्साह की वृद्धि होती है। क्षपक के लिए उसका श्रवण क्यों मना किया गया है ?

उत्तर—संस्तरारूढ क्षपक का जीवन किनारे आ लगा है। उस समय उसकी आत्मा मे राग द्वेप का अभाव होना आवश्यक है। क्रोधादि का त्याग और क्षमादि धर्म मे परिणाम तन्मय होना ही परम हितकर है। यदि ऐसे समय मे उसके सामने स्वसिद्धान्त की सिद्धि और परमत मे प्रत्यक्षादि विरोध दिखाकर खडन मडन का प्रसङ्ग छेड़ा गया और उसका चित्त उसमे तन्मय होगया और इतने मे ही कदाचित् उसकी आयु का अन्त हो गया तो उसके अन्त करणमे क्रोधादि कपाय का प्रादुर्भाव और रागद्वेप की जागृति हो जाने मे उसका सामधिमरण विगड जावेगा। और यह भी हो सकता है कि वह खडन मंडन में व्यामुग्ध होकर पूर्व पक्ष को ही सत्य मान बैठे; क्योंकि उस समय बुद्धि अस्थिर होती है।

शङ्का—मन्द बुद्धि क्षपक के लिए विक्षेपणी कथा अनुपयोगिनी है, किन्तु तीव्र बुद्धि बहुश्रुत क्षपक के लिए तो उपयोगिनी हो सकती है?

समाधान—विक्षेपणी कथा से आत्मा मे राग द्वेप की उत्पत्ति होने से संस्तरारूढ़ क्षपक के लिए उसका (विक्षेपणी) आचार्यों ने सर्वथा निपेध किया है क्योंकि यह कथा समाधिमरण की बाधक होती है। इसलिए जो कथा समाधिमरण की साधक होती है उनका उपदेश क्षपक के रत्नत्रय आराधना का साधक होता है। शास्त्र मे कहा है।

अब्भुज्जदंमि मरणे संथारत्थस्स चरमवेलाए।
तिविहं पि कहंति कहं तिदंडपरिमोडया तम्हा ॥ ६६० ॥ [भग आ]

अर्थ—अशुभ मन वचन काय का निवारण करने मे लगे हुए आचार्य क्षपक की मृत्यु के सन्निकट समय मे आक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेजनी इन तीन कथाओं का ही उपदेश देते हैं। विक्षेपणी कथा का कथन ऐसे समय में अनुचित मानते हैं। अतएव धर्मोपदेश के कार्य मे नियुक्त किये गये मुनीश्वर उक्त तीन कथाओ का मनोज्ञ एव हृदयस्पर्शी इस प्रकार निरूपण करते हैं जिनको सुनकर क्षुधा रोगादि की पीड़ा को भूल कर क्षपक का चित्त रत्नत्रय की आराधना मे तत्पर रहता है।

चार मुनीश्वर क्षपक की आहार विपयक योजना करने मे नियुक्त किये जाते हैं। यथा —

चत्तारि जणा भत्तं उवकप्पेंति अगिलाए पाओग्गं।
छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ॥ ६६२ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—लब्धि सम्पन्न तथा मायाचार रहित और जिन्होंने ग्लानि पर विजय प्राप्त कर लिया है ऐसे चार मुनीश्वर क्षपक के योग्य उद्गमादि दोष रहित भोजन की उप कल्पना करते हैं।

भगवती आराधना की अपराजित सूरिकृत विजयोदया संस्कृत टीका तथा श्री पं आशाधरजी कृत मूलाराधना संस्कृत टीका इन दोनों में 'उवकप्पेंति' गाथा निर्दिष्ट पद का अर्थ 'आनयन्ति' किया है। इन दो टीकाओं के अतिरिक्त एक प्राचीन प्राकृत टीका और भी प्रतीत होती है। उक्त टीकाओं में कई जगह इस प्राकृत टीका का मत उद्धरणों सहित दिया गया है। वह टीका हमको उपलब्ध नहीं हुई है। उसमें इसका क्या अर्थ किया गया है यह अनिश्चय की गोद में है। किन्तु भगवती आराधना मूल में भी क्षपक के लिए भोजन लाने का कई गाथाओं में उल्लेख है। वह आगे दिया गया है।

भगवती आराधना के अतिरिक्त समाधिमरण का सविस्तर वर्णन करने वाला कोई संस्कृत या प्राकृत का प्राचीन ग्रन्थ हमको उपलब्ध नहीं हुआ है। इसलिए इसके विषय में अन्य आचार्यों का क्या अभिमत है इस विषय में लिखने के लिए हम असमर्थ हैं। आचार्य परम्परा का क्या सम्प्रदाय है? यह सन्देहापन्न है।

दिगम्बर साधु संस्था की अयाचक-वृत्ति होती है। वे आहारादि वस्तु अपने या दूसरे के लिए कभी नहीं मांगते हैं। दूसरी बात यह है कि उनके पास पिच्छी कमण्डलु और ज्ञानोपकरण पुस्तकादि के अतिरिक्त कोई पात्रादि नहीं रहते हैं। वे मुनीश्वर क्षपक के लिए आहार पान के पदार्थ किस पात्र में लाते होंगे। यदि गृहस्थ के यहां से पात्र भी मांग कर लाते हैं तो तांबे पीतल आदि पात्र का ग्रहण करना उनके पद के अनुकूल नहीं है। इसमें सपरिग्रहता का दूषण आता है। पात्र में भोजन लाकर क्षपक को मुनि आहार कराते हैं। उस आहार का ग्रहण करने वाले क्षपक के उद्दिष्टादि दोष युक्त आहार होता है। मुनि का आहार गृहस्थ के घर नवधा भक्ति से युक्त दाता के द्वारा दिया हुआ होना चाहिए। यह सामान्य नियम सब मुनियों के लिए आवश्यक विधान है। उसका पालन नहीं होता है। परिचारक मुनीश्वरों के द्वारा लाया हुआ आहार आधाकर्मादि से दूषित है या उद्गम उत्पादना एषणादि दोषों से दूषित है इसका संस्तरारूढ क्षपक को क्या ज्ञान हो सकता है? परिचारक मुनि उद्दिष्ट उद्गमादि दोष रहित आहार लेकर क्षपक के पास लेजावेंगे, किन्तु क्षपक के लिए उद्दिष्ट उद्गमादि दोषों का निवारण कैसे हो सकेगा? इत्यादि अनेक शंकाएँ एक के बाद एक उठती रहती हैं। उनका समाधान करने वाला कोई ऋषि प्रणीत ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है। इसलिए हमने भगवती आराधना मूल और उसकी उपलब्ध दोनों संस्कृत टीकाओं का आधार लेकर इस विषय का प्रतिपादन किया है। इस विषय के विशेषज्ञ विद्वान् त्रुटि का संशोधन कर पढने की कृपा करें।

सं प्र.

भगवती आराधना की टीकाओं का उद्धरण

विजयोदयाटीका—चत्तारि जणा चत्वारो यतय.। भत्त-अशन।पाउग्ग प्रायोग्य उद्गमादि दोषानुपहतं। उवकप्पेंति आनयन्ति। अगिलाए ग्लानिमन्तरेण, कियन्तं कालमानयाम इति सक्लेश विना। छंदिय क्षपकेण इष्ट अशन पान वा क्षुत्पिपासापरीषहप्रशान्तिकरणक्षममित्येतावता तेनेष्ट न तु लौल्यात्। अवगददोस वातपित्तश्लेष्मणामजनकं। क आनयन्ति ? अमाइणो मायारहिताः अयोग्यमिति ये नानयन्ति। लद्धिसपण्णा मोहान्तरायक्षयोपशमाद्भिक्षालब्धिसमन्विताः। अलब्धिमान्क्षपकं क्लेशयति। मायावी अयोग्य योग्यमिति कथयेत्।

पं. आशाधरजी कृत मूलाराधना संस्कृत टीका—

चत्वारस्तदर्थं समुचितमशनं उपनयन्तीत्यनुशास्ति—

उवकप्पेति आनयन्ति। अगिलाए ग्लानिं विना कियन्त कालमानयामइति सक्लेश विना। छंदियं भक्तपान क्षुत्पिपासादु'खमसमाधिकर निराकरोतीत्येतावतैव क्षपकेणेष्टं। अवगददोष वातपित्तश्लेष्मणामजनक प्रशमक च उद्गमादि दोषरहित वा। अमाइणो अयोग्य योग्यमिदमिति प्रतारणरहिताः लाभान्तरायक्षयोपशमाद्भिक्षालब्धिसमन्विता। तयैव क्षपकस्यासक्लेशनात्॥

इनका अर्थ निम्न प्रकार है—

परिचर्या के लिए नियत किये गये चार मुनीश्वर 'कितने काल तक हम आहार लाया करेंगे' इस प्रकार की ग्लानि (संक्लेश) से रहित होकर उद्गमादि दोष रहित भोजन के वे पदार्थ क्षपक के लिए लाते हैं, जिनको क्षपक चाहता है। क्षपक भी आहार की लोलुपता नहीं रखता है। किन्तु वह भी उन्हीं पदार्थों की इच्छा करता है, जो पदार्थ उसकी भूख प्यास परिषह को शांत करने मे समर्थ होते हैं। परिचारक मुनियो के अन्त करण मायाचार रहित होते हैं। वे अयोग्य को योग्य कहकर क्षपक के प्रति कभी छल कपट का व्यवहार नहीं करते हैं। वे जो पदार्थ लाते हैं वे पदार्थ क्षपक के वात पित्त और कफ की वृद्धि नही करते, किन्तु उनकी शान्ति करने वाले होते हैं। तथा वे उद्गमादि दोष से रहित होते हैं। आचार्य उन्हीं मुनिराजो को आहार के लिए नियुक्त करते हैं जिनको मोहनीय कर्म और अन्तराय कर्म के क्षयोपशम विशेष रूप लब्धि प्राप्त होती है। क्योकि जिनके उक्त भोजन लब्धि प्राप्त नहीं हुई है उन परिचारकों से क्षपक को सक्लेश उत्पन्न होता है।

आचार्य अमितगति ने भगवती आराधना की प्रत्येक गाथा का अर्थ प्रतिपादन करने वाले सस्कृत पद्य तथा गद्य दिये हैं। उनने भी उक्त गाथा का अर्थ प्रतिपादन करने वाला निम्न लिखित श्लोक दिया है।

तस्यानयन्ति चत्वारो योग्यमाहारमश्रमाः ।
निर्माना लब्धिसम्पन्नास्तदिष्टं गतदूषणम् ॥ ६८८ ॥ [स. भग. आ.]

अर्थ—परिचारक चार मुनिराज क्षपक के योग्य आहार लाते हैं। वे आहार के लाने मे श्रम की परवा नहीं करते हैं। वे निरभिमान और भोजन लब्धि से सम्पन्न होते हैं। आहार भी वही लाते हैं जो क्षपक को अभीष्ट होता है और सब दूषणो से रहित होता है।

चार मुनिराज पीने योग्य पदार्थ के लिए नियुक्त किये जाते हैं।

चत्तारि जणा पाणयमुवकप्पंति अगिलाए पाओग्गं ।
छंदियमवगददोमं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ६६३ ॥ [भग. आ]

अर्थ—मायाचार रहित और भोजन पान लब्धि से सम्पन्न चार मुनिराज श्रम रहित होकर क्षपक के इष्ट उद्गमादि दोष रहित तथा क्षपक की प्रकृति के योग्य पीने योग्य पदार्थों की उपकल्पना करते हैं अर्थात् लाते हैं।

इसकी दोनो की सस्कृत टीकाए नीचे उद्धृत करते हैं—

विजयोदया—चत्तारि जणा इति स्पष्टार्था गाथा—सूरिणा अनुज्ञातौ निवेदितात्मानौ द्वौ द्वौ पृथग्भक्तं पृथक् पानं चानयतः॥
(अपराजित सूरिः)

मूलाराधना—चत्वार'क्षपकाय पानमानयन्तीत्याह—

मूलाराधना—स्पष्टम् ।

टीकार्थ—आचार्य के आदेश से क्षपक के लिए पृथक् दो साधु भोजन और दो साधु पृथक् पीने योग्य पदार्थ लाते हैं।

चार मुनि लाये हुए भोजन पान के पदार्थों की रक्षा करते हैं

चत्तारि जणा रक्खंति दवियमुवकप्पियं तयं तेहिं ।
अगिलाए अप्पमत्ता खवयस्स समाधिमिच्छंति ॥ ६६४ ॥ [भग. आ.]

..नं नयन्ति चत्वारो द्रव्य तदुपकल्पितम् ।
अप्रमत्ताः समाधानमिच्छन्तस्तस्य विश्रमाः ॥ ६८६ ॥ [अमितगति]

अर्थ—क्षपक के लिए लाये हुए भोजन पान के पदार्थों की चार मुनि प्रमाद रहित हुए रक्षा करते हैं। वे बड़ी सावधानी से इस का ध्यान रखते हैं कि उनमे ऊपर से त्रस जीव न गिर जावें तथा दूसरे उन पदार्थों को गिरा न सकें।

विजयोदया—तैरानीत भक्त पान वा चत्वारो रक्षन्ति प्रमाद रहिता. त्रसा यथा न प्रविशन्ति। यथा वापरे न पातयन्ति ॥

मूलाराधना—चत्वारस्तद्भक्तपान तरा रक्षन्तीत्याह। रक्षति यथा त्रसादयो न पतन्ति परे वा न पातयन्तीत्यर्थः। दविय द्रव्य। उवकप्पिय आनीत। तय भक्तपान वा ॥

इनका अर्थ स्पष्ट है। मूल अर्थ से विशेष अर्थ न होने से इनका भिन्न अर्थ नहीं लिखा गया है।

नोट—शास्त्रो मे नियम दो प्रकार का बताया गया है। एक उत्सर्ग और दूसरा अपवाद। साधुओं के लिए आगम में उक्त दो प्रकार के नियम का वर्णन स्थान २ पर मिलता है। साधु के २८ मूल गुण का पालन करना साधु के लिए परमावश्यक माना गया है। यह उत्सर्ग मार्ग है। इन गुणों का अस्तित्व जिसमे नहीं पाया जाता है वह मुनि नहीं कहा जा सकता है। किन्तु २८ मूल गुणो के धारक तथा आगम के अनुकूल चारित्रादि के पालन करने वाले साधु को भी समाधिमरण करने वाले साधु का वैयावृत्त्य करने के लिए भगवती आराधना मूल तथा उसकी सस्कृत टीकाओ मे क्षपक के लिए भोजन पानादि उचित पदार्थों के लाने के लिए जो विशेष विधान किया गया है वह अपवादमार्ग है। उत्सर्ग मार्ग का सर्वदा और सर्वत्र पालन करने की आज्ञा है। अपवाद मार्ग का अमुक अवसर पर अमुक प्रकार आचरण करने को कहा गया है। यहा समाधिमरण का प्रकरण है। इस प्रकरण मे भगवती आराधना मे जो साधुओं को क्षपक के लिए भोजन पान सामग्री लाने का, तथा उसकी रक्षा करने का, एव क्षपक को बहुत समझाने बुझाने पर आहार दिखलाकर उसको सतोष प्राप्त कराने के अनेक उपाय करने पर भी जब उसके चित्त मे व्याकुलता की शान्ति नहीं होती हुई देखते हैं तब आचार्य की आज्ञा से उसे चित्त शान्ति के लिए भोजन पान का सेवन भी करने का जो यह निरूपण शिव कोटि आचार्य ने किया है वह सब अपवादमार्ग है। साधु लोग वैयावृत्त्य के लिए गृहस्थ के यहा से उचित पदार्थ ला सकते हैं। भगवती आराधना मे तो समाधिमरण प्रकरण मे स्थान २ पर क्षपक के वैयावृत्त्य के लिए उचित वस्तु लाने के लिए स्पष्ट शब्दो मे कहा है। यद्यपि गाथा न. ६६२ व ६६३ मे 'उवकप्पेंति' शब्द दिया है। तथापि उसका अर्थ टीकाओ में भोजन पान का लाना ही किया है। उस प्रकरण मे उक्त अर्थ ही सगत होता है। गाथा न ६८८ मे क्षपक को कुरले करवाने के लिए तैल

और कसायले पदार्थ गृहस्थ के यहा से 'घेतव्वा' ग्रहण करने चाहिए अर्थात् लाने चाहिए-ऐसा स्पष्ट शब्द दिया है।

मूलाचार की टीका में भी वैयावृत्त्य के निमित्त आहारादि की योजना करने मे निर्दोषता दिखाई है। इन सबका आशय यह है कि समाधिमरण के अवसर पर क्षपक की वैयावृत्त्य के लिए उचित भोजन पान व तैलादि औषध साधु गृहस्थ के घर से लाते हैं। यह अपवाद मार्ग है। वैयावृत्त्य के समय अपवाद मार्ग का आचरण करने के कारण परिचारक मुनियो को प्रायश्चित्त का आचरण करना पडता है।

चार मुनि क्षपक के मलमूत्रादि की प्रतिष्ठापना करते हैं तथा शय्यादि की प्रतिलेखना (प्रमार्जन) करते हैं।

काइयमादी सव्वं चत्तारि पडिट्ठवन्ति खवयस्स।
पडिलेहंति य उवधोकाले सेज्जुवधि संथार ॥ ६६५ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—चार मुनीश्वर क्षपक की विष्टा मूत्र कफ आदि का निर्जन्तु भूमि देखकर एकान्त मे क्षेपण करते हैं। तथा प्रातःकाल और सायकाल दोनो समय में क्षपक की शय्या पिच्छी कमण्डलु पुस्तकादि उपकरण का शोधन और प्रमार्जन करते हैं।

चार मुनि द्वारपाल का कार्य करते हैं तथा चार मुनि धर्म श्रवण मडप के द्वार पर रहते हैं।

खवगस्स घरदुवारं सारक्खंति जणा चत्तारि।
चत्तारि समोसरणदुवारं रक्खन्ति जदणाए ॥ ६६६ ॥ [भग.आ]

अर्थ—चार मुनिराज क्षपक की वसतिका के द्वार की यत्न पूर्वक रक्षा करते हैं। अर्थात् क्षपक के समीप असंयत मनुष्यों को जाने से रोकते हैं। चार मुनि धर्मोपदेश देने के सभा मण्डप के द्वार का रक्षण सावधानी से करते हैं।

भावार्थ—क्षपक पवित्रात्मा है। उसके दर्शन के निमित्त कई ग्राम व नगरों से नरनारी जन आते रहते हैं। यदि उनको रोकने वाला न हो तो वे क्षपक के समीप जाकर क्षपक के अन्तःकरण मे क्षोभ उत्पन्न कर देते हैं, इसलिए द्वार पर चार मुनिराजों को निर्यापकाचार्य नियुक्त करते हैं। वे उनको मधुर और शान्त वचन बोल कर आगे जाने से रोकते हैं। तथा किसी प्रकार का क्षोभ जनक वातावरण उत्पन्न न होने देते हैं। सदा क्षपक की समाधि का ध्यान रखते हुए वसतिका के द्वार पर बैठे हुए अपने कर्त्तव्य का भली भाति पालन करते रहते हैं।

आचार्य की आज्ञा बिना अतिरिक्त साधुओ के प्रवेश को भी रोकते हैं। न जाने वे अनुचित वार्तालाप करके या क्षपक के असुहाते वातावरण को उत्पन्न कर क्षपक के समाधान का भग कर बैठे, इसलिए उन्हें भी भीतर जाने का निषेध करते हैं।

जो चार मुनिराज सभा मडप के द्वार का रक्षण करते हैं, उनका कर्त्तव्य होता है कि वे आगन्तुक मनुष्यों के आकार, वाणी, वेषभूषादि से उनके स्वभाव को जानकर सभा मण्डप मे प्रवेश करने दें। जिनमे सभा में क्षोभ उत्पन्न होने का सम्भावना होती प्रतीत होती है, उनको वे वहीं रोक देते हैं, सभा मे भीतर नहीं जाने देते। यह सब कार्य वे प्रिय व मधुर वचनों द्वारा करते हैं।

चार मुनिराज रात्रि मे जागते हैं और देशादि की वार्त्ता जानने के लिए नियुक्त किये जाते हैं।

जिदणिद्दा तल्लिच्छा रादौ जग्गंति तह य चत्तारि ॥
चत्तारि गवेसंति खु खेत्ते देसप्पवत्तीओ ॥ ६६७ ॥ [भग आ]

अर्थ—निद्रा पर विजय पाने की इच्छा रखने वाले क्षपक की सेवा में तत्पर चार मुनीश्वर क्षपक के निकट जागते रहते हैं। जहा क्षपक व सघ का वास है, उस देश राज्यादि की क्षेम कुशलतादि (शुभाशुभ) वार्ता का निरीक्षण करने के लिए चार मुनीश्वर आचार्य द्वारा नियुक्त किये जाते हैं।

चार मुनिराज आगत श्रोताओ को उपदेश देते हैं—

वाहिं असद्दवडियं कहंति चउरो चदुव्विधकहाओ ।
ससमयपरसमयविदू परिसाए सा समोसदाए खु ॥ ६६८ ॥ [भग आ]

अर्थ—क्षपक के आवास स्थान स कुछ दूर पर जहा स शब्द क्षपक के कानों म न पड़ सके वहा पर बैठकर स्वमत व परमत के रहस्य के वेत्ता चार मुनिराज सभामण्डप मे आये हुए श्रोताओ को आक्षेपणी, विक्षेपणी, सवेजनी और निर्वेदनी इन चार धर्मकथाओं का यथोचित व्याख्यान करते हैं।

भावार्थ—धर्म पिपासा से आगत धर्म-प्रिय जनता को धर्म श्रवण कराने के लिए आचार्य चार ऐसे मुनिराजों को नियुक्त करते हैं जिन्होंने अपने सिद्धान्त ग्रन्थों का तथा अन्य धर्म ग्रन्थो का भली भाति अनुशीलन किया है और जो अपने सिद्धान्तों का पोषण युक्ति

और अनेक शास्त्रों के प्रमाणों से कर सकते हैं। ऐसे वाग्मी चार साधु एक के पश्चात् एक सुललित और ओजस्विनी भाषा मे धर्म का रहस्य समझाते हैं। जिसे सुनकर प्राणियों के हृदय मे धर्म वासना जाग उठती है और श्रद्धालुओं के अन्तःकरण धर्म पर अत्यन्त दृढ हो जाते हैं एवं अनेक उत्तम भावनाओं से पूरित हुए सन्तुष्ट होकर घर लौटते हैं।

उनकी स्वमत और परमत की विवेचनात्मक धर्म कथा को सुनकर जैनेतर धर्म वासित अन्तःकरण वाले मनुष्यों के हृदय भी सुसंस्कारित होकर कुसंस्कारों का त्याग करते हैं।

प्रश्न—यदि कोई मिथ्या अभिमान से उन्मत्त होकर सभा मे वाद विवाद करने के लिए उद्यत हो जावे तो वे धर्मोपदेशक मुनिराज अपना धर्मोपदेश रोक कर उनके साथ वाद विवाद करने मे प्रवृत होते हैं या धर्मोपदेश पूर्ण होने के पश्चात् उसको वाद विवाद करने का अवसर देते हैं ?

उत्तर—धर्मोपदेश के समय वाद विवाद करने का अवसर नहीं देते हैं, क्योंकि उस समय श्रोताओं के धर्म-श्रवण में बाधा होती है। धर्मोपदेश समाप्त होने के बाद उसे वाद विवाद का अवसर दिया जाता है।

वाद विवाद के लिए चार वाग्मी मुनियों को आचार्य नियुक्त करते हैं, उनका केवल प्रतिवादी से वाद करना ही मुख्य कार्य होता है।

वादी चत्तारि जणा सीहाणुग तह अणेयसत्थविदू।
धम्मकहयाण रक्खाहेदुं विहरंति परिसाए ॥ ६६६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—सिंह के समान निर्भीक अनेक शास्त्रों के मर्मज्ञ चार वाग्मी मुनिराज धर्मोपदेशक मुनिराजों की धर्मकथा का रक्षण करने के लिए सभा स्थान मे इधर उधर विचरण करते हैं।

उक्त प्रकार महाप्रभावशाली अड़तालीस निर्यापक मुनीश्वर जी तोड़ प्रयत्न करके समाधिमरण करने मे तत्पर हुए क्षपक की समाधि (सुख शान्ति) के अर्थ सेवा करने में एकाग्रचित्त रहते हैं।

प्रश्न- समाधिमरण कार्य का सम्पादन करने के लिए क्या समस्त काल में अड़तालीस परिचारक मुनियों का होना आवश्यक माना गया है। या भिन्न २ काल में परिस्थिति के अनुसार हीनाधिक परिचारक मुनिराजों के लिए भी आगम मे विधान है ?

उत्तर—परिचारक मुनियो की संख्या मे काल के अनुसार हीनाधिकता हुआ करती है। भरत और ऐरावत क्षेत्र मे काल का परिवर्त्तन होता रहता है। और काल के प्रभाव से मनुष्यो के गुणो मे भी जघन्यता, मध्यमता और उत्कृष्टता होती है। जब उत्कृष्ट काल का वर्त्तन होता है, उस समय मे अड़तालीस निर्यापक मुनिराज क्षपक का समाधिमरण सम्पन्न कराने मे सहायता करते हैं। क्योंकि उस समय परिचारक मुनि भद्र परिणाम वाले अधिक होते हैं वे हर्ष पूर्वक क्षपक की सेवा मे सलग्न रहकर अपने को कृतार्थ समझते हैं। मध्यम काल के प्रारम्भ मे चवालीस मुनिराज क्षपक की सेवा मे नियुक्त रहते हैं। पश्चात् ज्यों ज्यो काल मे हीनता आती है, त्यों त्यों परिचारक मुनियों की सख्या अल्प होती जाती है। अर्थात् काल के अनुसार क्रम से चार २ मुनिराज कम किये जाते हैं। अन्त मे सक्लेश परिणाम युक्त काल मे चार मुनीश्वर के लिए भी क्षपक के समाधिमरण कार्य को सुसम्पन्न कराने की आज्ञा है। अतिशय सक्लेश परिणाम युक्त काल मे दो मुनिराज भी क्षपक की समाधि मृत्यु का साधन कर सकते हैं। किन्तु एक निर्यापक साधु समाधिमरण कार्य की साधना नहीं कर सकता है। आगम मे एक निर्यापक मुनि का कहीं पर उल्लेख नहीं मिलता है। वही कहा है—

जो जारिसओ कालो भरदेरवदेसु होइ वासेसु।
ते तारिसया तदिया चाददालीसं पि णिज्जवया ॥ ६७१ ॥

एव चदुरो चदुरो परिहावेदव्वगा य जदणाए।
कालंमि सकिलिट्ठंमि जाव चत्तारि साधेंति ॥ ६७२ ॥

णिज्जावयाया दोण्णि वि होंति जहण्णेण कालमंसयणा।
एक्को णिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते ॥ ६७३ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—भरत और ऐरावत क्षेत्र मे जिस समय जैसा काल चक्र का वर्त्तन होता है, उस समय काल के अनुरूप निर्यापक मुनिराज होते हैं। उत्कृष्ट अड़तालीस निर्यापक मुनियो की सख्या जो बताई गई है वह उत्कृष्ट है। उत्तम काल मे निर्यापक मुनियो की जघन्य सख्या चवालीस तक होती है। सक्लेश भाव की वृद्धि के अनुक्रम से चार चार निर्यापक मुनियो की सख्या हीन होती जाती है। और वह अन्त मे चार तक पहुचती है। जब उत्कृष्ट सक्लेश परिणाम सहित काल का वर्त्तन होता है, उस समय दो निर्यापक मुनिराज भी क्षपक का समाधिमरण कार्य सिद्ध करते हैं। किन्तु किसी काल मे एक निर्यापक मुनि का उल्लेख जैनागम मे कहीं पर नहीं है।

प्रश्न—आगम जैसे जघन्य दो निर्यापक मुनि की आज्ञा देता है, वैसे ही एक निर्यापक मुनि के लिए आज्ञा क्यों नहीं देता ? उसमें क्या दोष दिखाई देता है ?

उत्तर—एक निर्यापक मुनि क्षपक का समाधिमरण करवाने में सर्वथा असमर्थ होता है। इसलिए आगम में एक निर्यापक का निषेध किया गया है। यदि अकेला निर्यापक मुनि साधु का समाधिमरण रूप अतिदुष्कर कार्य का भार ग्रहण करता है, तो वह निर्यापक अपना और क्षपक दोनों का विनाश करता है।

जब निर्यापक मुनि आहारादि कार्य के निमित्त क्षपक को अकेला छोड़कर बाहर जावेगा उस समय क्षपक को क्षुधादि वेदना के कारण जो कष्ट होगा अथवा अन्य मिथ्यादृष्टियों या असंयमीजनों के सम्पर्क से जो रत्नत्रय में बाधा और चित्त में अशान्ति उत्पन्न होगी उसका प्रतीकार कौन करेगा ? यदि उस समय मरणकाल आ पहुंचे तो उसके अशुभ ध्यान के कारण रत्नत्रय का विनाश होकर वह असद् गति का भाजन होगा।

अथवा अकेला क्षपक तीव्र क्षुधादि वेदना से पीड़ित होकर अयोग्य सेवन करने लगेगा अर्थात् पात्र में किसी मुनिराज के न होने से बैठकर भोजन करने लगेगा, मिथ्यादृष्टि लोगों के समीप जाकर याचना करने लगेगा "मैं क्षुधा से मरा जाता हूँ, प्यास के मारे मेरा दम घुट रहा है, मुझे खाने को भोजन और पीने को पानी दो" इत्यादि याचना करने लगेगा। इस तरह अनेक दोष उसमें उत्पन्न होते हैं, जिससे क्षपक के संयम का विनाश और दुर्ध्यान के प्रादुर्भाव से समाधिमरण का विनाश होता है, जिससे क्षपक दुर्गति का पात्र होता है।

अकेला निर्यापक अपना भी विनाश करता है। वह यदि सेवा को परम कर्तव्य समझकर क्षपक की परिचर्या में तल्लीन रहेगा तो उसको आहार ग्रहण करने का, शयन करने का तथा शरीर-मल का त्याग करने का अवसर न मिलने से स्वयं उसे अत्यन्त क्लेश होगा। इससे उसका शरीर गिरने लगेगा। शरीर के क्षीण होने अथवा स्वयं रोगग्रस्त हो जाने पर वह क्षपक की परिचर्या भी न कर सकेगा और अपने धर्म का भी भलीभांति पालन न कर सकेगा—सामायिकादि छह आवश्यकों का पालन न कर सकेगा। क्षपक को अकेला छोड़कर यदि वह अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है तो क्षपक की समाधि भंग होती है। और यदि क्षपक को अकेला न छोड़कर उसी के समाधान (सुख शान्ति) के लिए तत्पर रहता है तो अपने आवश्यक कर्त्तव्यों का आचरण न करने से कर्तव्य-विमुख होता है।

इस प्रकार एकाकी निर्यापक आत्म-विनाश, क्षपक का विनाश और आगम का विघात करने वाला होता है। आगम में अकेले निर्यापक का निषेध किया गया है, उसकी अवहेलना करने के कारण वह आगमाज्ञा का विघातक भी होता है।

प्रश्न—समाधिमरण (सल्लेखना) से प्राण त्याग करने वाला जीव संसार मे अधिक से अधिक कितने भव धारण करता है ?

उत्तर—जो जीव एक बार विधि पूर्वक सल्लेखना (समाधिमरण) से शरीर का त्याग करता है, वह जीव अधिक से अधिक सात या आठ भव ही धारण करता है। नवमा भव धारण नहीं करता है। आठवें भव में तो वह मोक्ष का पूर्ण अधिकारी हो जाता है। वही कहा है—

एगम्मि भवग्गहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो।
ण हु सो हिंडदि बहुसो सत्तट्ठभवे पमोत्तूणं ॥ ६८२ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—जो प्राणी एक भव मे समाधिमरण से युक्त मरण करता है, वह बहुत काल तक संसार मे भ्रमण नहीं करता है। उसको सात आठ भवों मे अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है।

यह हम पूर्व विवेचन कर आये हैं कि समाधिमरण का प्रारम्भ से लेकर समाप्ति तक का उत्कृष्ट काल १२ वर्ष का है। उस काल के प्रारम्भ के चार वर्ष नाना प्रकार के उग्र काय क्लेशादि तप तीनो योगों द्वारा करता है। तत्पश्चात् मध्य के चार वर्षों मे रसो का त्याग कर काय को तपश्चरण द्वारा कृश करता है। तदनन्तर आचाम्ल तप तथा नीरसाहार द्वारा दो वर्ष व्यतीत करता है। तथा एक वर्ष स्वल्प आहार द्वारा पूर्ण करता है और छह माह मध्यम तपश्चरण का आचरण करते हुए बिताता है। इस प्रकार साढ़े ग्यारह वर्ष स्वाध्याय ध्यान करते हुए, आवश्यक कार्य के लिए चलते फिरते हुए एव तपश्चरण द्वारा काय कृश करते हुए समाप्त करता है।

जब भक्त प्रत्याख्यान की मर्यादा का काल छह महिने अवशिष्ट रह जाता है उस समय अनेक प्रकार के उग्रोग्र तपस्या करने के कारण क्षपक का शरीर अत्यन्त कृश हो जाता है। तब वह संस्तरारूढ़ होता है। अर्थात् शय्या का शरण ग्रहण करता है। तब वह गुरु के निकट आलोचना करता है। उसके पश्चात् निर्यापक आचार्य द्वारा अधिक से अधिक ४८ मुनि और काल की अतिनिकृष्टता प्राप्त होने पर कम से कम दो मुनि परिचर्या में नियुक्त किये जाते हैं। इन सब बातो का स्पष्ट विवेचन पूर्व मे कर आये हैं। यहा सिंहावलोकन मात्र किया गया है।

क्षपक का शरीर और कषाय तपश्चरण द्वारा कृश हो जाते है। कृश शरीर को भी वे अत्यन्त कृश करते हैं। उसकी विधि का उल्लेख आगे करते हैं।

क्षपक का कर्तव्य है कि शास्त्र के ज्ञाता अनेक आचार्यों के विद्यमान होते हुए भी संन्यास विधि प्रारम्भ करते समय जिस आचार्य के निकट प्रथम आलोचना की हो, उसी आचार्य के चरणों के समीप प्रत्याख्यान-प्रतिक्रमण आदि आवश्यक कर्तव्यों का आचरण

करे। उन्हीं की आज्ञा का ग्रहण करे। उपदेश श्रवण, जल के अतिरिक्त तीन प्रकार के आहार का त्याग तथा प्रायश्चित्त का ग्रहण और सदिग्ध विषयो का समाधान करने के लिए प्रश्न करना इत्यादि सब कार्यों में उसके लिए प्रथमाचार्य ही प्रमाण होते हैं। यदि प्रथमाचार्य उपदेश देने आदि कार्यों मे सामर्थ्यहीन हो तो उनकी आज्ञा के अनुसार दूसरे आचार्य के निकट प्रतिक्रमणादि कर्त्तव्य कर्मों का आचरण कर सकता है।

श्रीमत् शिवकोटि आचार्य ने क्षपक की वचन सुनने की शक्ति का विकास और मुख तथा जिह्वा की मलीनता दूर करने के लिए तैल का प्रयोग और कषायले द्रव्यों से मिश्रित जल के कुरले करने को भी लिखा है। वह निम्न प्रकार है।

तेल्लकसायादीहिं य बहुसो गंडूसया दु घेत्तव्वा।
जिब्भाकण्णाण बलं होहिदि तुंडं च से विसदं ॥ ६८८ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—क्षपक को तैल और कषायले द्रव्यों के बहुत बार कुरले करने चाहिए। क्योकि कान मे तैल डालने से कानों मे शब्द-श्रवण शक्ति बढती है। तथा जीभ पर जब मैल जम जाता है मुख में मल का संचय बढ़ जाने मे दुर्गन्ध आने लगती है। वचनोच्चारण मे क्षीणता बढने लगती है। इन दोषों का निवारण करने के लिए कषायले द्रव्यों के कुरले कराये जाते हैं।

इसी का समर्थन अमितिगति आचार्य ने भी निम्न प्रकार किया है।

तेन तैलादिना कार्या गण्डूषाः सन्त्यनेकशः।
जिह्वावदनकर्णादिर्नैर्मल्य जायते ततः ॥ ७१५ ॥ [सं भग. आ.]

उक्त गाथा का और इस श्लोक का अर्थ एकसा है। यह श्लोक ऊपर की गाथा का अनुवाद मात्र है।

तात्पर्य यह है कि क्षपक का यह अन्तिम व अतिप्रशस्त समय है। इस समय इसको योग्य उपदेश द्वारा समाधि में स्थिर करना उसके अन्तःकरण में उत्पन्न हुए उद्गारो को जानकर उनके अनुकूल व्यवस्था करके उसको सन्तोष उत्पन्न करना निर्यापकाचार्य तथा निर्यापक मुनियों का परम कर्तव्य होता है। वह तभी हो सकता है कि क्षपक के कर्णों में उपदेश सुनने की शक्ति तथा मन के उद्गारों को प्रकट करने के लिए क्षपक की वचन शक्ति बनी रहे, इसीलिए इस कार्य की सफलता के लिए क्षपक को तैलादि के कुरले करवाये जाते हैं।

क्षपक के विचारो पर बुरा प्रभाव न पड़े, इसलिए आगम के मर्मज्ञ मुनियों को भी क्षपक के समक्ष भोजनादि कथाओं का

वर्णन कदापि नहीं करना चाहिए। वही कहा है—

मत्तादीण भत्ती गीदत्थेहिं वि ण तत्थ कायव्वा।
आलोयणा वि हु पसत्थमेव कादव्विया तत्थ ॥ ६८७ ॥ भग. आ.

अर्थ—गीतार्थ (विशेषज्ञ) मुनियो को भी क्षपक के निकट भोजनादि की कथाओं को नहीं करना चाहिए। क्षपक के निकटवर्ती आचार्य के समीप अप्रशस्त आलोचना भी किसी मुनीश्वर को करना उचित नहीं है।

इस कथन का तात्पर्य यह है कि क्षपक के लिए उस समय उच्च आदर्श की आवश्यकता है। उस समय छोटा सा प्रतिकूल वातावरण उसके हृदय मे क्षोभ उत्पन्न कर सकता है। जैसे स्वच्छ व निष्कम्प जल मे स्वल्प वायु भी कम्पन और थोड़ा मैल मलीनता उत्पन्न कर देती है, वैसे ही क्षपक के स्वच्छ व निष्कम्प हृदय को विपरीत सयोग विकृत व उथल पुथल कर सकता है। इसलिए निर्यापक मुनियों को उसकी समाधि बनाये रखने के लिए प्रतिकूल सयोगों का निवारण और अनुकूल साधनों की योजना करने मे सावधान रहना पड़ता है।

प्रश्न—भक्त प्रत्याख्यान मर्यादा के छह महीने शेष रहने पर क्षपक को तीन प्रकार के आहार का त्याग करवाते हैं। तो क्या प्रत्येक क्षपक के लिए एकसा विधान है या क्षपक की प्रकृति की जाच करके उचित क्रम से भोजन का त्याग करवाते हैं? शास्त्रोक्त रीति से निरूपण करने की कृपा करें।

उत्तर—जब आचार्य क्षपक को जल के बिना तीन प्रकार के आहार का त्याग करवाने के लिए प्रवृत्त होते हैं तो उसके पहले आचार्य क्षपक को सब प्रकार के आहार को दिखाते हैं। आहार दिखाने पर उसकी भोजन की लालसा का परिचय प्राप्त करते हैं। तत्पश्चात् त्याग करवाते हैं।

इस विषय मे शिवकोटि आचार्य ने भगवती आराधना में निम्न प्रकार वर्णन किया है।

दव्वपयासमकिच्चा जइ कीरइ तस्स तिविहवोसरणं।
कम्हिवि भत्तविसेसम्मि उस्सुगो होज्ज सो खवओ ॥ ६८९ ॥
तम्हा तिविहं वोसरिहिदित्ति उक्कस्सयाणि दव्वाणि।
सोसित्ता संविरलिय चरिमाहारं पयासेज्ज ॥ ६९० ॥

पासित्तु कोइ तादी तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥ ६६१ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—यद्यपि क्षपक तीन प्रकार के आहार का त्याग करने के लिए उद्यत हो रहा है, तथापि उसकी किसी प्रकार के आहार में अभिलाषा बनी न रहे, इसलिए क्षपक को विचित्र विचित्र आहार दिखलाते हैं। यदि क्षपक को आहार दिखाये बिना ही उससे तीन प्रकार के आहार का त्याग करवा दिया जावे तो उसके चित्त में किसी आहार विशेष की अभिलाषा बनी रही तो वह उसके अन्त-काल को कलुषित करती रहेगी। इसलिए उसका त्याग करवाने के पूर्व तीनों प्रकार के उत्तम उत्तम आहार के पदार्थ थाल में पृथक् पृथक् रखकर क्षपक के समीप लाकर आचार्य दिखाते हैं। उन उत्तमोत्तम भोजन के पदार्थों को देखकर कोई क्षपक मुनिराज अपने मन में विचार करते हैं कि "मैंने अनन्त काल तक इनसे भी उत्तम पदार्थों का भोग किया, किन्तु मुझे इनसे कुछ भी तृप्ति नहीं हुई। अब तो इस भव के अन्तिम किनारे पर आ लगा हूँ। अब इनसे मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है," ऐसा सोचकर इनसे विरक्त होकर संसार से भयभीत हुए आहार का त्याग करने में दृढ़ संकल्प होते हैं।

आसादित्ता कोई तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुपत्तो संवेगपरायणो होदि ॥ ६६२ ॥
देसं भोच्चा हा हा तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुपत्तो संवेगपरायणो होदि ॥ ६६३ ॥
सव्वं भोच्चा विदि पत्तिहिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥ ६६४ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—कोई क्षपक सम्मुख स्थित पदार्थों में से थोड़ा चखकर विचार करते हैं कि इस थोड़े से क्षण मात्र के स्वाद के सुख से क्या सुख मात्रा प्राप्त होगी। मैं जीवन की अन्तिम सीमा पर पहुँच चुका हूँ। मेरा भला इनका ग्रहण करने से नहीं, बल्कि त्याग करने से ही सिद्ध होगा-ऐसा विचार कर उनसे चित्त को हटाता है और संसार से भयभीत हुआ आहार के त्याग करने में ही कटिबद्ध होता है।

कोई क्षपक उन नेत्र और मन को तृप्त करने वाले पदार्थों का कुछ भाग ग्रहण करके उनसे सहसा विरक्त होता है। विरक्त के स्वरूप का चिन्तन कर शुभ होकर विषयों को धिक्कार देता है और सोचता है कि मेरी बुद्धि को धिक्कार है, जो इनको घोर अहित होती

है। इस अन्तिम जीवन को सफल करने के लिए इनका त्याग ही श्रेयस्कर है–ऐसा सोचकर ससार भोग से विरक्त हुआ तीनों प्रकार के आहार का त्याग करने मे दृढ़ चित्त होता है।

कोई क्षपक मुनि चारित्र मोहनीय कर्म के उदय विशेष से उन मन लुभाने वाले उत्कृष्ट आहार के द्रव्यो को देखकर मोहित हुआ उन सब पदार्थों का भक्षण करता है। भक्षण करने के पश्चात् अन्तरङ्ग मे विवेक बुद्धि का प्रकाश होते ही उसका अन्तःकरण उद्विग्न हो उठता है। वह सहसा चौंक पडता है और विचारने लगता है कि हे आत्मन्! तेरी इस विषय मुग्धता को धिक्कार है। वर्षों तक के विवेक ज्ञान का अभ्यासी तू जिह्वा इन्द्रिय के विषय मे कैसे प्रवृत्त हो गया? इस कर्म को वलवत्ता को धिक्कार है। अब तेरा यही कर्तव्य है कि भुजङ्ग के भोग (शरीर) के समान इन भोगों से पृथक होकर अपना हित साधन कर। इस प्रकार ससार भोग से वैराग्य को प्राप्त हुआ वह क्षपक इन्द्रिय विषय भोग से विरक्त हुआ आहार का त्याग करने मे उत्सुकता धारण कर शीघ्र तीनो प्रकार के आहार का त्याग करने मे तत्पर होता है।

उक्त अथ का विवेचन अमितिगति आचार्य ने भी निम्न प्रकार किया है—

अप्रकाश्य निधाहारं त्याज्यते क्षपको यदि।
तदोत्सुकः स कुत्रापि विशिष्टे जायतेऽशने ॥ ७१७ ॥
ततः कृत्वा मनोज्ञानामाहाराणां प्रकाशना।
सर्वथा कारयिष्यामि त्रिविधाहारमोचनम् ॥ ७१८ ॥
कश्चिद्दृष्ट्वा तदेतेन तीरं प्राप्तस्य किं मम ॥
इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७१९ ॥
आस्वाद्य कश्चिदेतेन तीर प्राप्तस्य किं मम।
इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७२० ॥
अशित्वा कश्चिदंशेन तीर प्राप्तस्य किं मम।
इती वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७२१ ॥
चम्भित्वा सर्वमेतेन तीरं प्राप्तस्य किं मम।
इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७२२ ॥ (सं. भग आ.)

इनका आशय ऊपर लिख चुके हैं। क्योंकि ये श्लोक भगवती आराधना की उक्त गाथाओं का अर्थानुवाद मात्र हैं। इनको यहां उद्धृत करने का अभिप्राय अमितिगति आचार्य का मत भी शिवकोटि आचार्य के अनुकूल है-ऐसा दिखलाना मात्र है।

प्रश्न—आहार दिखलाने से आचार्य को चार प्रकार के अभिप्राय वाले क्षपक का ज्ञान हुआ। एक तो विचित्र प्रकार के आहार को देखकर उससे विरक्त होने वाला उत्कृष्ट वैराग्यवान क्षपक है। दूसरा दिखलाये गये आहार में से किंचित् मात्र चखकर आहार से विरक्त होने वाला मध्यम वैराग्यवान् क्षपक है। तीसरा दिखलाई भोजन सामग्री के एक अंश का भक्षण कर समस्त भोजन से विरक्त होकर त्याग में प्रवृत्त होने वाला जघन्य वैराग्यवान् क्षपक है। तथा चौथा जघन्यतर वैराग्यवान् वह क्षपक है जो सम्पूर्ण आहार का सेवन कर पश्चात् उससे विरक्त होकर तीनों प्रकार के आहार का त्याग करने में उत्सुक हुआ है।

इनके अतिरिक्त एक ऐसे क्षपक की सम्भावना होती है, जो चारित्र मोहनीय कर्म के तीव्र उदय के वशीभूत होकर दिखलाए गये आहार का सेवन कर उसके स्वाद में आसक्त हुआ भोजन का त्याग न करे तो उसके उद्धार के लिए आचार्य क्या करते हैं?

उत्तर—आपने उक्त प्रश्न में प्रथम क्षपकों को जो चार भागों में विभक्त किया है वह विभाग आहार दिखलाने से लेकर जब तक वे आहार का त्याग करने में प्रवृत्त नहीं हुए हैं, तब तक के लिए ही हो सकते हैं। क्षपक सर्व उत्कृष्ट वैराग्य परायण होते हैं। तभी तो वे सन्यास मरण विधि में तत्पर हुए हैं।

उक्त चार प्रकार के अतिरिक्त आहार में आसक्त हुए क्षपक के विषय में जो प्रश्न किया है। उसका खुलासा निम्न प्रकार है—

कोई तमादयित्ता मणुण्णरसवेदणाए संविद्धो।
तं चेवणुबंधेज्ज हु सव्वं देसं च गिद्धीए॥ ६९५॥ [भग. आ.]

अर्थ—यदि कोई क्षपक दिखलाए आहार का भक्षण कर मनोरम रस के स्वाद में मूर्छित हुआ उस भक्षण किये गये सम्पूर्ण आहार को बारम्बार सेवन करने की लालसा करने लगे। अथवा उस दर्शित आहार सामग्री में से किसी एक पदार्थ को पुनः पुनः सेवन करने की उत्कण्ठा करने लगे, तो

तत्थ अवायोपायं दंसेदि विसेसदो उवदिसंतो।
उद्धरिदुं मणोसल्लं सुहुमं सण्णिव्वेमाणो॥ ६९६॥ [भग. आ.]

अर्थ—तब आचार्य मनोज्ञ आहार के भक्षण करने की आसक्ति से होने वाली हानि और लाभ को समझाते हैं। "हे क्षपक ! देखो ! तुम अपने मन को वश में न रखोगे तो तुम अनन्त काल मे भी अति दुर्लभ इस इन्द्रिय सयम का विनाश करडालोगे और जिस मनुष्य ने इन्द्रियो पर अधिकार नहीं किया है। जो आत्मा इन्द्रियों का गुलाम हो जाता है, उसकी आत्म शक्ति विलीन हो जाती है। वह अपने कार्य की सिद्धि कभी नहीं कर सकता है।"

इस प्रकार गुरु के उपदेश को सुनकर घोर दुःख का संहार करने मे समर्थ समाधि मरण को सफल बनाने के लिए वह विवेकी क्षपक तीन प्रकार के आहार का त्याग करने के लिए आतुर होता है।

यदि कोई क्षपक तीव्र मोहनीय कर्म के चक्र में फंसा हुआ आहार को छोड़ने में अपने को असमर्थ पाता है, तब भी आचार्य उस क्षपक पर दया करते हैं। उसको मधुर और प्रिय वचनों से समझा बुझा कर अनेक प्रकार के आहार पदार्थों में से एक एक पदार्थ को क्रम से घटाते हैं। इसके विषय निम्न प्रमाण है—

अणुपुव्वेण य ठविदो संवट्टदूण सव्वमाहारं।
पाणयपरिक्कमेण दु पच्छा भावेदि अप्पाणं ॥ ६९९ ॥ [भग. आ.]

अर्थात्—क्षपक का आयुष्य जब अल्प रह जाता है, तब निर्यापकाचार्य उसे उत्तमोत्तम विविध आहार वर्त्तन में धरकर क्षपक की आहार त्याग की पुष्टि करने के लिए उसे दिखाते हैं। उन चित्ताकर्षक विचित्र आहार को देखकर क्षपक उसमे अत्यत आसक्त हो जाता है और उन आहार के पदार्थों का पुनः पुनः सेवन करने का अत्यंत लोलुपी हो जाता है। आचार्य के अनेक उपदेशामृत का पान कराने पर भी उसकी आहार सम्बन्धी आसक्ति कम नहीं होती है। तब आचार्य उन समस्त आहार के सुन्दर २ पदार्थों में से क्षपक को क्रम से एक एक आहार पदार्थ का त्याग कराते कराते सादे भोजन पर ले आते हैं। अर्थात् मिष्टान्नादि विशिष्ट आहार से विरक्त करके भात दाल आदि साधारण आहार पर नियत करते हैं। पश्चात् वह क्षपक साधारण भात दाल पूए आदि तीन प्रकार के आहार पदार्थों का क्रम क्रम से त्याग करता हुआ पानक आहार पर अपने को स्थिर करता है। अर्थात् जलादि पेय पदार्थ के अतिरिक्त सब प्रकार आहार का त्याग कर देता है। अपने शरीर को जलादि के आधार पर रखता है।

प्रश्न—पानक कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर—पानक पदार्थ आगम मे छह प्रकार के माने गये हैं।

सच्छं वहलं लेवडमलेवडं चससित्थयमसित्थं ।
छव्विह पाणयमेयं पाणयपरिकम्मपाओग्गं ॥ ७०० ॥ [भग. आ.]

अर्थ—१ स्वच्छ, २ वहल, ३ लेवड, ४ अलेवड, ५ ससिक्थ और ६ असिक्थ इस प्रकार पानक के छह भेद हैं।

(१) स्वच्छ पानक—गर्म जलादि को 'स्वच्छ' पानक कहते हैं।

(२) वहल—काजी, द्राक्षारस इमली का पानी तथा ऐसे ही अन्य फलादि के रस को वहल पानक कहते हैं।

(३) लेवड—हाथ पर लिपट जाने वाले दही के घोल वगैरह गाढे पानक को लेवड कहते हैं।

(४) अलेवड—जो हाथ पर नहीं लिपटता है, ऐसा चांवल का माड, तक्र आदि पतले पानक को अलेवड पानक कहते हैं।

(५) ससिक्थ पानक—जिसमें चावल आदि के सिक्थ पाये जावें ऐसे, माड आदि पानक को ससिक्थ पानक कहते हैं।

(६) असिक्थ पानक—जिसमें भात आदि के सिक्थ (कण) न पाये जावें ऐसे पानक को असिक्थ पानक कहते हैं।

इस प्रकार पानक छह प्रकार का माना गया है।

इन छह प्रकार के पानकों में भी आचार्य को क्षपक के स्वास्थ्य का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। अनुभवी अनेक शास्त्रों के ज्ञाता निर्यापकाचार्य आसन्न मरण वाले क्षपक की शारीरिक स्थिति के अनुकूल आयुर्वेद के सिद्धान्त के अनुसार वात, पित्त और कफ का शमन करने वाला उचित पानक क्षपक को देते हैं।

पानक पदार्थ का सेवन करवाने के पश्चात् उदर के मलकी शुद्धि करने के लिए क्षपक को माड के समान मधुर विरेचन पदार्थ देना चाहिए।

क्षपक के उदर स्थित मल का शोधन करने के लिए काजी में भीगे हुए विल्व पत्रादि से उदर का सेक करना चाहिए तथा सैंधा-नमक आदि की वत्ती बनाकर गुदा में प्रवेश कर उदर का शोधन करना चाहिए।

प्रश्न—इतना महान् परिश्रम करके उदरस्थ मलका निराकरण क्यों किया जाता है?

उत्तर—क्षपक के उदर मे सचित हुआ मल यदि नहीं निकाला जावेगा तो वह महती वेदना उत्पन्न करेगा इसलिए उसे निकालने का प्रयास करते हैं।

प्रश्न—उक्त प्रकार उदर का शोधन करने के पश्चात् क्षपक के योग्य किस कार्य का आचार्य सम्पादन करते हैं।

उत्तर—क्षपक की उदर शुद्धि होने के बाद आचार्य को 'क्षपक अशन, स्वाद्य और खाद्य इन तीन प्रकार के आहार का यावज्जीव त्याग करेगा' इस प्रकार समस्त सघ से निवेदन करते हैं। तथा क्षपक तुम से क्षमायाचना करता है, इस प्रकार कहते हुए आचार्य ब्रह्मचारी आदि के हाथ मे क्षपक की पिच्छी देकर उसे दिखाते हुए सम्पूर्ण सघ के मुनियों की वसतिकाओं मे घुमाते हैं।

प्रश्न—क्षपक की पिच्छी दिखलाकर आचार्य क्षपक की ओर से सघस्थित मुनियो से याचना करते हैं, यह ठीक पर चलने फिरने की शक्ति से हीन क्षपक का अभिप्राय जानकर सम्पूर्ण सघ का उस समय क्या कर्त्तव्य होता है ?

उत्तर—समस्त सघ क्षपक को क्षमा प्रदान करते हैं। तथा क्षपक की रत्नत्रय आराधना निर्विघ्न सिद्ध होवे, इस हेतु से सम्पूर्ण सघ कायोत्सर्ग करता है।

प्रश्न—इसके अनन्तर क्षपक के प्रति निर्यापकाचार्य का क्या कर्त्तव्य होता है ?

उत्तर—निर्यापकाचार्य क्षपक को सकल सघ के मध्य चार प्रकार के आहार का अथवा तीन प्रकार का आहार का विकल्प सहित त्याग करवाते हैं। आचार्य जब क्षपक को क्षुधादि परिषह के सहन करने मे भली भांति समर्थ पाते हैं, तब चारो प्रकार के आहार का कालादि के विकल्प पूर्वक त्याग करवाते हैं। यदि क्षपक को उतना सहनशील नहीं देखते हैं तो उसे तीन प्रकार के आहार का ही त्याग करवाते हैं। और उस की चित्त शान्ति के लिए छह प्रकार के पानक आहारों का ही सेवन करवाते हैं। इसके अनन्तर ज्यों२ क्षपक की शक्ति का ह्रास होता जाता है त्यों त्यो पानक पदार्थों में परिवर्तन करते २ अन्तमे सब का त्याग करवा देते हैं।

प्रश्न—इसके बाद क्षपक क्या करता है ?

उत्तर—भक्त प्रत्याख्यान करने के बाद क्षपक के हृदय मे आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मी मुनि, कुल मुनि (दीक्षागुरुशिष्य परम्परा) गण मुनि (स्थविर मुनि शिष्य सन्तान) इन सब के विषय मे जो क्रोध मान माया और लोभ होगा उन सब को निकाल फेंकता हैं। तथा 'मुमुक्षु का जो कर्त्तव्य होता है, उस सब का मैंने आचरण किया है' ऐसा विचार कर उसका चित्त आनन्द से उछलने लगता है।

प्रसन्नचित्त हुआ यह मस्तक पर दोनों हाथ जोड़ कर सकल संघ को नमस्कार करता है। सब से उचित शब्दों में बोलने की शक्ति न होने कारण हाथ जोड़ कर 'आप सब मुझे क्षमा करो' इस प्रकार क्षमा मांगने का अभिप्राय प्रकट करता है।

क्षपक अपने अन्तः करण में अव्यक्त भाषा में कहता है कि हे सब के मुनिराजो आप मेरे माता पिता से अधिक पूज्य व हितकारक हो, आप निष्कारण जगत् के बन्धु हो, सब के उद्धार करने में कटिबद्ध हो, आप का मन वचन काय से कृत कारित और अनुमोदना द्वारा जो अपराध अज्ञात भाव से किया हो, उन सब की मैं क्षमा चाहता हूँ, मैं भी सब को क्षमा करता हूँ।

इस प्रकार क्षपक और सम्पूर्ण संघ की परस्पर क्षमा क्षमापणा हो जाने के बाद आचार्य संस्तरारूढ़ क्षपक को श्रुत ज्ञान के अनुसार शिक्षा देते हैं और संवेग व वैराग्य का उत्पादक कर्णजाप देते हैं।

प्रश्न—वह कर्णजाप क्या है, जिसे निर्यापकाचार्य क्षपक को देते हैं?

उत्तर—संस्तरारूढ़ क्षपक को उस समय के योग्य जो क्षपक के कर्ण के समीप शिक्षा देते हैं, उसे कर्णजाप कहते हैं। वह निम्न प्रकार है—

निस्सल्लो कदसुद्धी विज्जावच्चकर वसधिसंथारं।
उवधिं च सोधइत्ता सल्लेहण भो कुण इदाणिं ॥ ७२१ ॥ (भ. ग. आ.)

अर्थ—हे क्षपक राज! इस समय तुम वैयावृत्य करने वालों की तथा निःशल्य होकर रत्नत्रय की शुद्धि करने में तत्पर रहो।

व्याधि (रोग) उपसर्ग परीषह असयम मिथ्याज्ञान यह विपत्ति हैं। इस विपत्ति का प्रतीकार करने को वैयावृत्त्य कहते हैं। ऐसी वैयावृत्त्य करने वालों को, वैयावृत्त्यकर अर्थात् परिचारक कहते हैं। वैयावृत्त्य करने वाले मुनि असंयम के ज्ञाता हैं या नहीं-इसका ध्यान रखो। यदि वे असयम के ज्ञाता नहीं प्रतीत हों तो उन्हें पृथक् कर दो। और मन वचन तथा काय से जो असंयम का निवारण करते हों, ऐसे मुनिराजो को परिचर्या करने की आज्ञा दो।

प्रातःकाल सायंकाल दोनों समय वसतिका, संस्तर और उपकरणों की प्रतिदिन शुद्धि करो। अर्थात् तुम क्षीण शक्ति हो, इसलिए परिचारकों को वसतिका, संस्तर और उपकरणों की मार्जना करने की प्रति दिन आज्ञा दो। आज्ञा देना ही तुम्हारा प्रतिलेखन (शुद्धि) करना सिद्ध होता है।

माया, मिथ्या और निदान ये तीन आत्मा को अनादि से क्लेश देते आये हैं इसलिए तत्त्व श्रद्धान पर दृढ़ रहकर मिथ्यात्व का नाश करो। सरलता, निष्कपट भाव धारण कर माया को हृदय से निकाल फेंको और भावी भोगों की निस्पृहता से निदान शल्य का नाश करो। इससे तुम्हारा रत्नत्रय शुद्धि को प्राप्त होगा।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की आराधना करने को रत्नत्रय की प्राप्ति कहते हैं। हे क्षपकोत्तम! मिथ्यात्व का वमन करने से सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। मिथ्यात्व संसार का मूल कारण है। और यह सब कर्मों से प्रधान है। इसलिए हे क्षपक! तू मन वचन और काय से इस मिथ्यात्व शत्रु का त्याग कर।

शका—मिथ्यात्व को सब कर्मों से प्रधान कैसे कहा है? ज्ञानावरण, दर्शनावरण, आदि के अनुक्रम से आचार्यों ने इसे प्रधान नहीं कहा है? आत्मा के साथ अनादि काल से आठों कर्मों का सम्बन्ध हो रहा है। इसलिए उत्पत्ति की अपेक्षा भी मिथ्यात्व मोहनीय दर्शनावरणादि मे पहले पीछे का सद्भाव नहीं है। अतः आपने मिथ्यात्व को प्रधान कैसे कहा है?

समाधान—मिथ्यात्व को सब कर्मों से प्रधान इसलिए कहा है कि यह आत्मा के ज्ञानादि गुण को विपरीत करता है। अन्यकर्म तो ज्ञानादि गुणो की शक्ति का ह्रास मात्र करते हैं, उनको विपरीत नहीं बनाते हैं। और मिथ्यात्व उन्हें सर्वथा उल्टा कर देता है। अर्थात् शुश्रूषा (सुनने की इच्छा), शास्त्र श्रवण करना, श्रवण कर हृदय मे धारण करना और धारण किया हुआ नहीं भूलना ये सब बुद्धि के गुण हैं। मिथ्यात्व इन को भी विपरीत करता है। तथा चारित्र, तपश्चरण भावना आदि सब में विपरीतता उत्पन्न करता है, इसलिए मिथ्यात्व को सम्पूर्ण कर्मों मे प्रधान व महान् कर्म कहा गया है। अतएव हे क्षपक!

परिहर तं मिच्छत्तं सम्मात्ताराहणाए दढचित्तो।
होदि णमोकारम्मि य णाणे वद भावणासु धिया ॥ ७२५ ॥
मयतण्हियाओ उदयत्ति मया मण्णंति वह सतण्हयगा।
सब्भूदंति असब्भूदं तध मण्णंति मोहेण ॥ ७२६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—तू इस मिथ्यात्व का परित्याग कर और सम्यक्त्व की आराधना मे चित्तको स्थिर कर। तथा परम भक्ति से अरिहृत आदि परमेष्ठी के भाव नमस्कार में रत हो। हाथ जोड़कर मस्तक झुका कर 'पच परमेष्ठी को नमस्कार हो' ऐसा वचन उच्चारण करते हुए नमस्कार करने को द्रव्य नमस्कार कहते हैं। श्री अरहतादि पूज्य व्यक्तियो के गुणों मे अनुराग करना भाव नमस्कार है। तू निरन्तर भाव-

नमस्कार में तथा ज्ञान की आराधना और व्रतों की भावना में बुद्धि को लगा।

दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से यह जीव अविद्यमान वस्तु में विद्यमान और विद्यमान वस्तु मे अविद्यमान प्रतीति करता है तथा अतत्त्व को तत्त्व समझता है, जैसे जल मे व्याकुल हुआ मृग मरुस्थल की बालु रेत मे पड़ी हुई सूर्य की किरणों को लहराता हुआ जल समझ कर पानी पीने की आशा से दौड़ता है। वैसे ही मिथ्यात्व से आकुलित बुद्धि मनुष्य विवेकज्ञान रहित हुआ पर पदार्थ को अपना समझ कर दुखी होता है। धतूरे का सेवन करने से उत्पन्न हुआ उन्मत्तपना (पागलपन कुछ दिन तक जीव को मोहित (मूर्छित) रखता है, वह एक भव मे भी कुछ काल पर्यन्त ही रहता है। किन्तु मिथ्यात्वमोह का सेवन करने मे आत्मा अपरिमित काल तक पागल बना रहता है और वह अनेक कुयोनियों में जन्म मरण परम्परा को उत्पन्न करता है। इसलिए मिथ्यादर्शन मोह सम्पूर्ण मोहों मे अति निकृष्ट है। इसका त्याग करने से ही जीव सुखी होता है, अत: हे क्षपक ! तुम इस अपरिमित असह्य घोर दुःख के कारण मिथ्यात्व का परित्याग करो।

शङ्का—क्षपक ने तो इस मिथ्यात्व का पहले से ही त्याग किया है। इस समय तो संयम की रक्षा के लिए प्रयत्नशील हो रहा है। अतः संयम की दृढता का ही इस समय उपदेश देना चाहिए। मिथ्यात्व के त्याग करने का उसको उपदेश क्यों दिया गया है ?

समाधान—जीवो अणादिकालं पयत्तमिच्छत्तभाविदो सतो।
ण रमिज्ज हु सम्मत्ते एत्थ पयत्तं खु कादव्वं ॥ ७२८ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—यह जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व के संस्कार से संस्कारित रहा है मिथ्यात्व के साथ जीव का अत्यन्त परिचय रहा है। अतः सम्यग्दर्शन मे यह रमता नहीं है। किंचिन्मात्र विपरीत निमित्त का संयोग मिलते ही उसका अन्तःकरण मिथ्यात्व की ओर झुक जाता है। इसलिए आचार्य क्षपक को सम्यक्त्व मे आसक्त रखने के लिए बारम्बार मिथ्यात्व के दुर्गुण बताकर उससे विमुख रखने के लिए उपदेश देते हैं। जिसका चिरकाल से जीव को अभ्यास हो रहा है, उसका त्याग बड़ी ही कठिनाई से होता है। जैसे सर्प अपने चिर परिचित बिल मे निवारण करने पर भी प्रवेश करता है, उसे नहीं छोड़ता है, वैसे ही इस जीव को मिथ्यात्व से अनन्त काल का परिचय हो रहा है, इसलिए आचार्य बार बार मिथ्यात्व का परित्याग करने और सम्यक्त्व मे दृढ़ रहने का उपदेश देते हैं। जैसे-प्रतीकार रहित विष से बुझे हुए बाण से बींधा गया मनुष्य बीहड़ जङ्गल मे पड़ा हुआ भयानक वेदना को सहकर मृत्यु को प्राप्त होता है, वैसे ही मिथ्यात्व शल्य से पीड़ित हुआ यह जीव भव भव मे नरकादि योनि के असह्य दुःखों को अनन्त काल तक सहता है।

हे क्षपक ! संघश्री नाम के प्रधान मन्त्री के चक्षु महान् मिथ्यात्व के प्रभाव से नष्ट हुए। वह उसी भव मे दुःख से मरकर दीर्घ

म प्र.

ससारी हुआ।

इस मिथ्यात्व के दोष से आत्मा के सुन्दर और सुखद ज्ञानादि गुण निकम्मे हो जाते हैं, जैसे कडुवी तुम्बी मे रखे हुए दुग्धादि मिष्ट पदार्थ भी कडुवे हो जाते हैं। कहा है :—

कडुगम्मि अणिव्वलिदम्मि दुद्धिए कडुगमेव जह खीरं।
होदि णिहिदं तु णिव्वलियम्मि य मधुरं सुगंधं च ॥ ७३३ ॥
तह मिच्छत्तकडुगिदे जीवे तवणाण चरणविरियाणि।
णासंति वंतमिच्छत्तम्मि य सफलाणि जायंति ॥ ७३४ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—गूदे सहित कडुवी तुम्बी मे भरा हुआ दूध जैसे कडुवा हो जाता है और शुद्ध तुम्बी मे रखा हुआ दुग्ध मधुर और सुगधित रहता है, वैसे ही मिथ्यात्व से कटुता (विपरीतता) को प्राप्त हुए जीव के ज्ञान चारित्र तप और वीर्य नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् ज्ञान चारित्रादि मोक्ष के कारण नहीं होते हैं। तथा जब यह जीव मिथ्यात्व का वमन कर देता है, तब वे ही ज्ञानादि गुण स्वर्गादि के सुख एवं मोक्ष के कारण होते हैं।

इसलिए हे क्षपक ! मिथ्यात्व की आत्मा मे छाया तक मत पड़ने दो और सम्यक्त्व के आराधन मे सदा सावधान रहो।

हे साधु श्रेष्ठ ! तुमने अनेक परीषह उपसर्गादि सहकर इतने काल तक जो ज्ञान चारित्र तप आदि की साधना की है, उसकी सफलता इस सम्यग्दर्शन से ही हो सकती है, इसके बिना उनका कुछ भी महत्त्व नहीं है। वे सम्यक्त्व बिना केवल आत्मा के भारभूत हैं। आत्मानुशासन में कहा है :—

शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुसाम्।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसयुक्तम् ॥

अर्थ—क्रोधादि का उपशम ज्ञान चारित्र और तप का आचरण ये सब सम्यक्त्व के बिना आत्मा को पाषाण के समान भार भूत हैं। जब आत्मा में सम्यक्त्व गुण उत्पन्न हो जाता है तब वे ही महामणि के समान पूज्य (प्रशस्त) हो जाते हैं।

णगरस्स जह दुवारं मुहस्स चक्खू तरुस्स जह मूलं।
तह जाण सुसम्मत्तं णाण चरण वीरिय तवाणं ॥ ७३६ ॥

अर्थ—जैसे नगर का दरवाजा नगर में प्रवेश करने का उपाय है। वैसे ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र तप और वीर्यादि गुणों के प्रवेश करने का उपाय है। क्योंकि सम्यक्त्व के बिना आभिनिबोधिक अवधिज्ञान [illegible] [illegible] का कारण यथाख्यात चारित्र [illegible] तपश्चरण और विशेष वीर्य का प्रादुर्भाव नहीं होता है। जैसे—चक्षु मुख की शोभा बढ़ाने वाली होती है। वैसे ज्ञानादि की शोभा सम्यक्त्व से होती है। बिना सम्यक्त्व के ज्ञानादि गुण निष्प्रयोजन से प्रतीत रहते हैं। सम्यक्त्व के उत्पन्न होते ही वे सब उस दूषण से रहित होकर पूर्णता को प्राप्त होते हैं। जैसे वृक्ष की स्थिति का कारण मूल (जड़) होती है। वैसे ज्ञानादि गुणों की स्थिति का कारण सम्यक्त्व होता है। अर्थात् बिना सम्यक्त्व के सम्यक् ज्ञानादि गुण आत्मा से निकल जाते हैं और आत्मा में [illegible] का निवास हो जाता है। अतएव हे भव्य तू नित्य सम्यक्त्व की आराधना में रत रह, क्योंकि—

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है, वही भ्रष्ट समझा गया है। क्योंकि दर्शन भ्रष्ट जीव का निर्वाण नहीं होता है। चारित्र भ्रष्ट मोक्ष सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु दर्शन भ्रष्ट मुक्ति से वंचित रहते हैं।

सुद्धे सम्मत्ते अविरदो वि अज्जेदि तित्थयरणामं ॥
जादो दु सेणिगो आगमेसि अरुहो अविरदो वि ॥ ७४० ॥
श्रेणिको व्रतहीनोऽपि निर्मलीकृतदर्शनः।
आर्हन्त्यपदमासाद्य सिद्धिसौधं गमिष्यति ॥ ७३६ ॥

अर्थ—शुद्ध सम्यक्त्व के प्रभाव से व्रत रहित जीव भी तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करता है। संयम हीन श्रेणिक महाराज सम्यग्दर्शन की निर्मलता के कारण भविष्य काल में त्रिलोक पूजनीय अर्हन्त पद पाकर सिद्धि सौध (महल) में गमन करेंगे।

कल्याण परंपरयं लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्ता ।
सम्मद्ंसगारयणं णग्वदि ससुरासुरो लोओ ॥ ७४१ ॥

अर्थ—इस सम्यग्दर्शन को निर्मल करने से यह जीव देवेन्द्र पद, चक्रवर्त्तीय पद अहमिन्द्र पद और तीर्थंकर पद ऐसी उत्तरोत्तर कल्याण परम्परा को प्राप्त करता है। यह सम्यग्दर्शन इतना अमोघ अमूल्य रत्न है कि सुर और असुर सहित यह लोक भी इसके मोल की तुलना नहीं कर सकता है।

हे चपक ! तुम समाधि मरण (रत्नत्रय पूर्वक मरण) के सम्पादन करने मे प्रयत्नशील हो। इसलिए सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र और तप की आराधना मे सलग्न रहो। इस आराधना की सिद्धि के लिए आराधना के नायक अर्हन्त सिद्ध परमेष्ठी तथा उनके चैत्य और प्रवचन मे परम भक्ति धारण करो। यह भक्ति ही आराधना का मूल कारण है शास्त्र मे कहा है —

विधिणा कदस्स सस्सस्स जहा णिप्पादयं हवदि वासं ।
तह अरहादिग भत्ती णाणचरणदंसण तवाणं ॥ ७५१ ॥

अर्थ—विधि पूर्वक बोये हुए धान्य का उत्पादक जैसे वृष्टि या जल सिंचन है वैसे ही दर्शन ज्ञान चारित्र और तप की आराधना का निष्पादक कारण अर्हतादि की भक्ति है।

वीएण विणा सस्सं इच्छदि सो वासमब्भएण विणा ।
आराधणमिच्छन्तो आराधनभत्तिमकरंतो ॥ ७५० ॥

अर्थ—आराधना व आराधक की भक्ति न करता हुआ जो मनुष्य दर्शन ज्ञान चारित्र तप की आराधना चाहता है वह बीज के बिना धान्य और मेघ के बिना वृष्टि की इच्छा करता है।

तात्पर्य यह है कि जिस मनुष्य के हृदय मे अर्हतादि मे भक्ति नहीं है, उस का हृदय ऊसर भूमि के समान है। उस मे बोया हुआ आराधना रूप बीज दर्शन ज्ञान चारित्रादि रूप सस्य (धान्य) को कभी उत्पन्न करने मे समर्थ नहीं होता है।

जिस की चित्त भूमि मे भक्ति का स्रोत बहता है, उसको अनेक विद्याएँ सिद्ध होती हैं।

विज्जा वि भत्तिवंतस्स सिद्धिमुवयादि होदि सफला य।
किह पुण णिव्वुदिवीजं सिज्झहिदि अभत्तिमं तस्स ॥ ७४८ ॥

अर्थ—भक्ति परायण पुरुष के विद्या सिद्धि होती है। उसकी विद्या फलवती होती है। और तो क्या उसकी रत्नत्रय आराधना भी सफल होती है। जो भक्ति हीन है उस के मोक्ष के बीज भूत रत्नत्रय को क्या सिद्धि हो सकती है? अर्थात् भक्ति शून्य हृदय मे रत्नत्रय की आराधना कभी नहीं हो सकती है।

तात्पर्य यह है कि रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने वाले पुरुष को अर्हंतादि की भक्तिमे तन्मय रहना चाहिए। भक्ति के बिना सम्यग्दर्शनादि की आराधना आकाश पुष्प के समान असंभव है। इसलिए हे क्षपक! तुम निरन्तर अर्हंतादि परमेष्ठी की भक्ति में तल्लीन रहो।

जो पुरुष अर्हंतादि की भक्ति में तत्पर रहता है उसकी प्रवृत्ति णमोकार (पचपरमेष्ठी के नमस्कार) मे अवश्य होती है। णमोकार से भक्तिका पोषण होता है। इसलिए:—

आराधणा पुरस्सर मणण्णहिदओ विसुद्ध लेस्साओ।
संसारस्स खयकरं मा मोचीओ णमोक्कारं ॥ ७५३ ॥

अर्थ—मुनिसत्तम! विषय कषायादि सब विकार भाव को हृदय से निकाल कर एकाग्रचित्त होओ। तथा कषाय की मंदता कर लेश्या को उज्ज्वल बनाकर ससार का क्षय करने वाले आराधना के अग्रेसर णमोकार मत्र को मत छोडो। इसका निरन्तर चिन्तन करो।

मरण के अवसर मे श्रवण गोचर हुआ णमोकार मंत्र सद्गति का कारण होता है। देखो, मरणोन्मुख हुए कुत्ते ने जीवन्धर स्वामी द्वारा कान मे सुनाये गये णमोकार मन्त्र को सुनकर देव गति प्राप्त की। और अन्तर्मुहूर्त मे पूर्ण यौवनावस्था को प्राप्त हो तत्काल आकर उसी जगह मृत कुत्ते के शव के समीप बैठे हुए श्री जीवन्धर स्वामी की पूजा की।

दृढ सूर्य नामक चोर मरण समय णमोकार मन्त्र का स्मरण कर महर्धिक देव हुआ, यथा :—

दढसुप्पो सूलहदो पंचणमोक्कारमेत्त सुदणाणे।
उवजुत्तो कालगदो देवो जाओ महड्ढीओ ॥ ७७३ ॥

अर्थ—सूली पर लटकाया गया दृढशूर्प नाम का चोर पंच नमस्कार मात्र श्रुत ज्ञान मे उपयोग रखता हुआ उस पंच नमस्कार मंत्र के प्रभाव से इस शरीर का त्याग कर महर्द्धिक देव हुआ। इसलिए हे साधो! पच परमेष्ठी का नमस्कार स्वर्गादि की दिव्य सुख सामग्री देता है और परम्परा मोक्ष सुख को देने वाला है। इसलिए हे भाई! इस अपूर्व समाधिमरण के समय इसे किसी प्रकार मत भूलो। अन्य विषयों के स्मरण करने का यह समय नहीं है, अतएव सावधान होकर अर्हंतादि के नाम का स्मरण और उनके स्वरूप का चिन्तन करो।

निर्यापकाचार्य उक्त रीति से अनेक प्रकार उपदेश देकर उसको सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्र और तपश्चरण में सावधान करते हैं

संथारत्थो खवओ जइया खीणो हवेज्ज तो तइया।
वोसरिदव्वो पुव्वविधिणेव सो पाणगाहारो ॥ १४९२ ॥

अर्थ—सस्तर पर सोये हुए क्षपक का शरीर जब क्षीण हो जावे तब पहले वर्णन की गई जो तीन प्रकार के आहार करने की विधि उसके अनुसार पानक आहार का त्याग भी क्रम से करना चाहिए। अर्थात् पानक आहार द्रव्य के छह भेद पहले बताये गये हैं, क्षपक के बलाबल को देखकर आयुर्वेद के नियमो को ध्यान मे रखते हुए क्रम से उनका त्याग करवाने मे निर्यापकाचार्य को सावधान रहना योग्य है।

प्रश्न—वैयावृत्त्य करने वाले यति और निर्यापकाचार्य को क्षपक के शारीरिक पीड़ा उत्पन्न होने पर उसका प्रतिकार करने के लिए वैद्य की सम्मति लेकर औषधि की योजना करने का शास्त्रीय मत क्या है?

उत्तर—वैद्य के आदेशानुसार क्षपक के रोग का प्रतीकार प्रासुक द्रव्यों से अवश्य करना चाहिए। इसके लिए भगवती आराधना में निम्नोक्त आज्ञा है।

तो तस्स तिगिंछा जाणएण खवयस्स सव्वसत्तीए।
विज्जादेसेण वसे पडिकम्मं होइ कायव्वं ॥ १४९७ ॥
णाऊण विकारं वेदणाए तिस्से करेज्ज पडियार।
फासुगदव्वेहिं करेज्ज वायकफपित्तपडियारं ॥ १४९८ ॥

अर्थ—प्रतिचारक यति व निर्यापकाचार्य (जो रोग की चिकित्सा, रोग का निदान व उसकी निवृत्ति का उपाय जानता है) को स्वयं अथवा वैद्य के उपदेश के अनुसार क्षपक के रोग का प्रतीकार प्रासुक औषध द्रव्यों के द्वारा अवश्य करना चाहिए। क्षपक के वात पित्त व

कफ का प्रतीकार साधु के योग्य निर्दोष द्रव्य से करना निर्यापकाचार्य व परिचारक मुनियों का परम कर्त्तव्य है।

प्रश्न—क्षपक के रोग का प्रतीकार करने के लिए निर्यापकाचार्य व परिचारक किन २ उपायो का आश्रय ले सकते है ?

वत्थीहिं अवदवणतावणेहिं आलेवसीदकिरियाहिं।
अब्भंगणपरिमद्दण आदीहिं तिगिंछदे खवयं ॥ १४९९ ॥

अर्थ—वस्ति कर्म (मल मूत्राशय मे बत्ती करना–इनीमा करना) गर्म करने के लिए तपाना, औषधि का लेप करना, प्रासुक शीत जलादि का सेवन कराना, अंग दबाना, शरीर मर्दन करना इत्यादि वैयावृत्त्य प्रासुक द्रव्यों द्वारा निर्यापक मुनि व धर्म परायण श्रावक क्षपक की वेदना निवारण करने के लिए करते हैं।

भावार्थ—जितने भी उचित उपाय रोग जन्य पीड़ा शमन करने के आयुर्वेद मे बताये गये हैं, उन सब का प्रयोग कर क्षपक की शारीरिक वेदना का शमन करने मे परिचारक प्रमाद नहीं करते हैं। किन्तु वे सब प्रासुक व मुनि के सेवनीय पदार्थों का ही सेवन कराते हैं अप्रासुक द्रव्यों का परित्याग और प्रासुक उचित द्रव्यों का ही उपयोग करते हैं।

प्रश्न—यथाशक्ति भरसक उपाय करने पर भी तीव्र वेदनीय कर्म के उदय से बाह्य उपचार कृतकार्य नहीं होते हैं। अर्थात् अनेक उपचार करने पर भी किसी के रोग की शान्ति नहीं होती है। और किसी के बाह्य उपायों से वेदना का प्रतीकार हो जाता है। इससे कर्मोदय की विचित्रता प्रकट सिद्ध होती है। कहा भी है :—

कस्यचित् क्रियमाणेऽपि बहुधा परिकर्मणि।
पापकर्मोदये तीव्रे न प्रशाम्यति वेदना ॥ १५६० ॥

उस समय में अथवा–भूख प्यास आदि परिषहों से पीड़ित होकर क्षपक व्याकुल चित्त या चेष्टाहीन (मूर्छित) हो जाता है। कभी कभी तीव्र वेदना से अति पीड़ित परीषहों से घबराकर आपे से बाहर हो जाता है। ऊटपटाग बकने लगता है। कभी रात्रि भोजन-पानादि सयम विरुद्ध क्रिया करने के लिए भी उतारू हो जाता है उस समय निर्यापकाचार्य किस उपाय से उसको शान्त करते हैं ?

उत्तर—उस समय आचार्य बाह्य उपायों की ओर से उपेक्षा दृष्टि न रखते हुए भी उनसे अपनी मनोवृत्ति को हटाकर अन्तरंग

औषध उपदेशामृत का पान कराते हैं। उसके स्वरूप का भान कराते हैं। उसके निज की महत्ता का स्मरण दिला कर उसके हृदय में आत्म-सम्मान का भाव जाग्रत करते हैं। तथा उसको अनेक प्रकार से धैर्य बंधाते हैं।

कोसि तुमं किं णामो कत्थ वससि को व संपही कालो।
किं कुणसि तुमं कहवा अत्थसि किं णामगो वाहं ॥ १५०५ ॥

हे क्षपकोत्तम! हे आत्म-कल्याण के इच्छुक! स्मरण करो। तुम कौन हो? तुम्हारा नाम क्या है? तुम कहां वसते हो? इस समय कौन सा काल है? अर्थात् अभी रात है या दिन? तुम क्या काम कर रहे हो? तुम क्या चाहते हो? मेरा नाम क्या है? इस प्रकार निर्यापकाचार्य क्षपक से बार बार पूछते हैं।

भावार्थ—दयालु आचार्य क्षपक की सावधानता या असावधानता की परीक्षा करने के लिए उससे अति प्रेम से भरे अनेक प्रश्न करते हैं। कोई क्षपक आचार्य महाराज के इस प्रकार पूछने पर सचेत हो जाता है और अपनी अवस्था पर विचार करता है कि मैंने सन्यास मरण प्रारम्भ किया है, मेरा इस समय क्या कर्त्तव्य है। ये परम दयालु आचार्य महाराज मेरे हित के लिए कितना कष्ट सहन कर रहे हैं। धन्य है इन दयालु महापुरुषों को जो इतना काय क्लेश उठाकर मेरे कल्याण के अर्थ उद्योग कर रहे हैं। ऐसा चिन्तन कर शुभ ध्यान में लीन होता है। कोई एक आचार्य द्वारा अनेक बार सचेत करने पर चैतन्य को प्राप्त होकर तीव्र वेदना व क्षुधादि की दुस्सह परिषह उपसर्ग के सहन न कर सकने के कारण तीव्र अशुभ कर्म के वश पुनः अचेत (बेहोश) हो जाता है, तथापि परोपकार में तत्पर आचार्य महाराज उदासीनता धारण नहीं करते हैं। उसको पुनः कोमल शब्दों से प्रेम पूर्ण वाक्यों से पुनः सावधान करने का पूर्ण उचित उपाय करते हैं। उसे आराधना का स्मरण दिलाते हैं। तथा चार प्रकार के आहार को याद दिलाते हैं।

कोई सचेत हुआ भी, होश में आया हुआ भी, कर्म के उदय से परिषहों के क्लेश से संतप्त हुआ अयोग्य वचन बोलने लगता है। प्रतिज्ञा भंग करने पर उतारू हो जाता है, रुदन करने लगता है। तथापि आचार्य उसका तिरस्कार नहीं करते हैं। उसके प्रति कटु वचन का प्रयोग नहीं करते हैं। उसके प्रति आचार्य के हृदय में पूर्ण सहानुभूति का वेग हो आता है और उसके कल्याण के लिए अधिक तत्परता दिखाते हैं।

विचक्षण बुद्धि, शक्ति शाली, धैर्य धुरन्धर आचार्य महाराज क्षपक को प्रेम पूर्ण कर्ण-प्रिय शिष्ट और मिष्ट आनंद बढाने वाले वचन उच्चारण करते हैं। जिनका श्रवण करते ही क्षपक का सर्व दुःख निवारण हो जाता है। आचार्य धीरे २ समझाकर वचन बोलते हैं। शीघ्रता नहीं करते हैं।

हे चारित्र धारक मुने। सचेत होवो। ख्याल करो, तुमने चार प्रकार के सघ के समक्ष महा प्रतिज्ञा धारण की है कि मैं मरण पर्यन्त आराधना का सेवन करूगा, रत्नत्रय का निर्दोष पालन करूगा, इस प्रतिज्ञा का स्मरण करो। अब क्या तुम भूल गये हो ?

हे धीर वीर। 'मैं अवश्य शत्रु का पराजय करूंगा' ऐसी जनता के समक्ष जिसने दृढ प्रतिज्ञा की है, ऐसा कौन स्वाभिमानी वीर पुरुष शत्रु के निकट आने पर डर कर पलायमान होगा। कुलीन, शूर-वीर, पुरुष-सिंह, शत्रु को पीठ दिखाने की अपेक्षा समरांगण मे प्राणो का त्याग करना ही सर्व श्रेष्ठ समझता है। वैसे ही हे धीर मुने। तुमने सम्पूर्ण सघ के समक्ष प्रतिज्ञा की है कि कठिन परीषह व घोर उपसर्ग के आने पर भी परित्यक्त आहारादि पदार्थों को अङ्गीकार नहीं करूंगा। मरणान्त विपत्ति आने पर भी प्रतिज्ञात व्रत नियमो का यथावत् पालन करूगा। हे मुने। क्या ऐसी प्रतिज्ञा लेकर स्वाभिमानी साधु कष्टो से घबराकर कायरता धारण करेगा। अपनी प्रतिज्ञा का भग करेगा ? हे सर्वामिन। वह कदापि अपने स्वाभिमान व वचन का भंग न करेगा। वह मरण को तुच्छ समझ अपने यश का विनाश न होने देगा। लज्जास्पद जीवन को अधम मनुष्य ही अच्छा समझता है। गौरव शाली मानव-पुंगव लज्जा युक्त जीवन से मृत्यु को ही उत्तम मानकर प्राणपण से अपनी प्रतिज्ञा का पालन करता है।

हे मुने। तुमतो महान् शूर वीर हो। क्या कायरता धारण करना शूर वीर पुरुषो को शोभा देता है ? शूर वीर पुरुषों के तो युद्धस्थल मे शत्रु की ललकार सुनकर पाव उठते हैं। वे प्रसन्न चित्त होकर अपनी वीरता दिखाने के लिए बडी उत्सुकता से सम्मुख गमन करते हैं। तथा शरीर मे जीवन ज्योति की किरण के प्रकाश मान न होते हुए कदापि रणागण से पश्चात्पद नहीं होते हैं। हे शूर वीर मुने। तुम तो महान् वीर और धीर हो। तुमको इन आगत परीषह व उपसर्ग का वीरता के साथ सामना करना चाहिए। तुम अनन्त शक्ति के धारक त्रैलोक्य साम्राज्य के अधिपति चैतन्य हो। ये जड़ तुम्हारे सामने कैसे ठहर सकते हैं। ये तो तुम्हें अपने कर्त्तव्य से च्युत करने के लिए तुमको त्रिजगत्पति बनने के कृत्य मे बाधा डालने के लिए शत्रुता कार्य कर रहे हैं। इसलिए यदि इस समय तुमने कायरपना धारण कर लिया तो तुम इन लुटेरों से लूट लिये जावोगे। ये तुम्हारे रत्नत्रय के भडार को छीन लेंगे। और अपरिमित काल के लिए तुम्हें शक्ति हीन दरिद्री बना देंगे अत: यह तुम्हारे सावधान रहने का समय है।

हे मुने। अपने कुल के, अपने गण के, तथा संघ के यश को उज्ज्वल बनाने वाले का जीवन मनुष्य समाज मे ही नहीं, देवों से भी पूज्य होता है। इसलिए तुम कुल, गण और संघ की लज्जा का ख्याल रखो। उस को मलिन कर जीवन धारण करना क्या उचित प्रतीत होता है ? तुम्हारे सरीखे महात्मा क्या ऐसे निन्दनीय कार्य कर सकते हैं ? अतएव हे मुनिश्रेष्ठ अब साधधान होकर अपने प्रतिज्ञात कर्त्तव्य का स्मरण करो।

कितने ही महापुरुष समस्त परिग्रहों का परित्याग कर अपने आत्मा के स्वरूप मे आपा धारण कर उपसर्गादि की परवाह न कर आपत्तियों को निमन्त्रण देने के लिए, अनेक विपत्तियो का आह्वान करने के लिए, सिंह-व्याघ्र-सर्प-दुष्ट हिंस्र तिर्यंच, मनुष्य और देवकृत तथा अचेतन कृत उपसर्गों से व्याप्त भयानक कानन मे, पर्वत की गुफाओ मे व शिखरो पर और श्मशानो मे जाकर निवास करते हैं। वहा पर ध्यान धरते हैं। वहा पर एकाकी रहकर उत्तमार्थ (रत्नत्रय) की आराधना मे कटिबद्ध रहते हैं। वे महात्मा अतिशीघ्र रत्नत्रय की पूर्णता कर परम सद्गति को प्राप्त करते हैं।

हे मुने! तुम्हारे समीप तो अनेक परिचारक मुनिराज वैयावृत्त्य करने मे सदा तत्पर रहते हैं। तुम को क्या इस समय धैर्य धारण करना उचित नहीं है? अन्य मुनि अनेक घोर उपसर्ग सहकर जो वस्तु प्राप्त करते हैं वह वस्तु तुम्हें थोडे से धैर्य धारण करने से,आत्मा मे सावधानी रखने से प्राप्त हो सकती है। इसलिए इस समय गाफिल मत रहो। पूर्ण सावधान होकर अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने मे दत्तचित्त हो जाओ।

हे क्षपकोत्तम! जिन्होने अलौकिक धैर्य धारण किया है, जिनके चारित्र मे लेशमात्र भी दूषण का सम्पर्क नहीं हुआ है, तथा जिन्होने श्रुतज्ञान का अवलम्बन लिया है ऐसे महामुनीश्वर जगली हिंसक पशुओ की तीक्ष्ण दाढ़ मे पहुचकर भी उत्तमार्थ जो रत्नत्रय है उसकी सिद्धि करलेते है। वे प्रात: स्मरणीय महात्मा निम्नोक्त प्रकार हैं—

उपसर्गों से विचलित न होने वाले महामुनियों के कुछ उदाहरण

भल्लकिए तिरत्तं खज्जंतो घोरवेदणट्टो वि।
आराधणं पवण्णो ज्झाणेणावंतिसुकुमालो ॥ १५३६ ॥ [भग आ.]

भावार्थ—जिन अपूर्व पुण्यशाली पुरुष पुगव ने महलों मे भी मखमली गलीचो को छोड़कर भूमिपर पाव नहीं रखा था, दिव्य रत्नों के दीपको की ज्योति के सिवा किसी दीपक के प्रकाश को नेत्रों से नहीं देखा था, सदा शीतल छाया मे ही अपना जीवन विताया था, कभी सूर्य तक का अवलोकन नहीं किया था, रात भर कमल के मध्य मे वासित उत्तम चॉवलो के अतिरिक्त कठोर पदार्थ का भोजन नहीं किया था, सरसो के दाने जिनके कमल सम कोमल शरीर मे शूल समान गडते थे, वे अवन्ति सुकुमाल मुनिराज देवोपम सन सुखों पर लात मारकर सब ऐश्वर्य का परित्याग कर वन मे कायोत्सर्ग कर आत्म-ध्यान मे आरूढ थे। उनके शरीर को तीन रात लगातार नोच २ कर शृगाली भक्षण करती रही। उनके अग प्रत्यग मे भयानक वेदना हो रही थी तथापि वे धीर वीर अवन्ति सुकुमाल महामुनि रत्नत्रय की

आराधना मे सलग्न रहे। शुभ ध्यान से रंचमात्र विचलित नहीं हुए। अन्ततक अपने शुभ ध्यान मे मग्न रहे और उन्होने उत्तमार्थ की सिद्धि की।

मोग्गिलगिरिम्मि य सुकोसलो सिद्धत्थदइय भयवंतो।
वग्घीए वि खज्जंतो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५४० ॥ [भग. आ.]

अर्थ—मुद्गलनाम के पर्वतपर ध्यानारूढ सिद्धार्थ नृपतिके पुत्र सुकोशल महामुनिराज को उनके पूर्वभव की माता के जीव व्याघ्री ने भक्षण किया, तो भी उन महामुनीश्वर ने अपने शुभ ध्यान का त्याग न कर उत्तमार्थ (रत्नत्रय) की सिद्धि की। परम धैर्य के धारक मुनिपुगव ने तिर्यंचकृत घोर उपसर्ग पर विवेकज्ञान बल से विजय प्राप्तकर अपने स्वार्थ की (आत्मकार्य रत्नत्रय की) प्राप्ति करली।

भूमीए समं कीलाकोट्टिददेहो वि अल्लचम्मं व।
भयवं पि गयकुमारो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५४१ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—भगवान गजकुमार मुनिराज को भूमिपर गिराकर उनके शरीर मे कीले ठोककर गीले चर्म के समान भूमिपर बिछादिया था, भूमि और शरीर को एक कर दिया था। ऐसे भयकर दुष्ट मनुष्यो से किये गये रोमांचकारी उपसर्ग को शान्ति से सहकर उन धीर वीर आत्म ध्यानी मुनिराज ने उत्तमार्थ (रत्नत्रय) की प्राप्ति की थी। वे शुक्ल ध्यानाग्नि से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर मुक्ति साम्राज्य के अधिकारी बने।

हे मुने ! जो गृहस्थावस्था मे चक्रवर्ती थे, वे सनत्कुमार नामा महामुनि सौ वर्ष पर्यन्त खाज, ज्वर, खासी, श्वासरोग, भस्मक-व्याधि, नेत्ररोग, उदरपीडा आदि उग्र रोग जनित तीव्र वेदना का सहन करते रहे। रचमात्र सक्लेश परिणाम न कर ध्यान मे मग्न रहे। धैर्यविलम्बन लेकर अपने उत्तमार्थ की सिद्धि मे लगे रहे।

हे साधो ! गङ्गा नदी के मध्य नाव मे डूबते हुए एणिक पुत्र मुनिराज ने शरीर के मोह का परित्याग कर आर्त्तध्यान के अवसर मे भी शुभ ध्यान धारण कर चार आराधनाओं को प्राप्त करते हुए मरण किया।

घोर अवमौदर्य तपश्चरण करते हुए भद्रबाहु मुनिराज तीव्र क्षुधा की पीडा से पीड़ित होने पर भी लेशमात्र सक्लेश परिणाम के वशीभूत नहीं हुए। शान्तभाव से शुभ ध्यान में मग्न रहकर रत्नत्रय की प्राप्ति की।

कोसबीललियघडा वूढा गाइपूरएग जलमज्झे ।
आराधगं पत्तएगा पावोवगदा अमूढमदी ॥ १५४५ ॥ [भग आ]

अर्थ—कौशाम्बी नगरी मे ललितघट नाम से प्रसिद्ध इन्द्रदत्तादि बत्तीस महासम्पत्तिशाली श्रावक यमुना नदी के प्रवाह मे डूब कर भी सक्लेश परिणाम रहित प्रायोपगमन सन्यास धारण कर उत्तमार्थ को प्राप्त हुए ।

चम्पानगरी के बाहर गङ्गा के तट पर धर्म घोष नामा महामुनि एक मास के उपवास धारण कर भयानक तृषा की वेदना से पीड़ित होने पर भी सक्लेश भाव रहित होकर उत्तमार्थ (आराधना सहित) मरण को प्राप्त हुए ।

हे क्षपक । श्री दत्त नामक मुनिराज के पूर्वभव के वैरी किसी देव ने विक्रिया द्वारा शीतल जल की वृष्टि व शीतल वायु उत्पन्न करके उन महामुनि को घोर क्लेश दिया । किन्तु वे महामुनि सक्लेश भाव रहित हुए उत्तमार्थ की साधना मे ही रत रहे ।

श्री वृषभसेन महामुनि ने अत्युष्ण वायु तथा अत्यन्त उष्ण शिलातल और सूर्य के प्रखर किरण सताप से उत्पन्न हुई उष्ण परीषह का सहन कर सक्लेश परिणाम न करते हुए उत्तमार्थ की साधना की ।

रोहेडयम्मि सत्तीए हओ कोंचेण अग्गिदइदो वि ।
तं वेयणमधियासिय पडिवएणो उत्तमं अट्ठं ॥ १५४६ ॥ [भग आ]

अर्थ—रोहेडग नगर मे क्रौच नाम के राजा ने अग्निराजा के पुत्र कार्तिकेय मुनिराज को शक्ति नाम के शस्त्र विशेष से मारा था । उस समय मुनिराज ने लेश मात्र भी परिणामो मे विकार भाव उत्पन्न नहीं किया । शान्त परिणाम से उस उपसर्ग को सहकर उत्तमार्थ का साधन किया ।

हे मुने । काकदी नाम की नगरी मे चडवेग नाम के एक दुष्ट राजपुत्र ने अभयघोष मुनिराज के समस्त अगो को काट डाला । तथापि उन महामुनि ने रचमात्र रोष नहीं किया । किन्तु साम्य-भावना से उस रोमाचकारी दुःख को सहन कर रत्नत्रय की आराधना मे तन्मय रहे ।

विद्युच्चर नामा चोर डास और मच्छरो से भक्षण किया गया किन्तु वह उनकी तीव्र वेदना को सक्लेश भाव रहित साम्य भावना से सहकर उत्तमार्थ (आत्म कल्याण मार्ग) को प्राप्त हुआ ।

हस्तिनापुर के स्वामी गुरुदत्त नाम के मुनिराज द्रोणमति पर्वत पर तपस्या कर रहे थे। किसी दुष्ट नरपिशाच ने सवलिस्थाली के समान उनके मस्तक पर अग्नि जलाई थी। मिट्टी के पात्र मे हरे नाज की वालें भर कर उस पात्र के मुख पर आक के पत्ते भर देते हैं। पश्चात् उस पात्र को ओंधा भूमि पर रख कर उसके चारों तरफ अग्नि जला कर वालें भुनते हैं। उसे सवलिस्थाली कहते हैं। इस प्रकार उन मुनिराज के मस्तक पर अग्नि जला कर घोर उपसर्ग किया गया था। किन्तु वे मुनिराज तीव्र वेदना मे सक्लेश भाव को प्राप्त न होकर साम्य भावना भाते हुए आराधना के फल को प्राप्त हुए।

किसी पूर्वभव के वैरी ने चिलातपुत्र नामक मुनिराज पर शस्त्र प्रहार किया। इससे उनके शरीर पर अनेक घाव हो गये। पश्चात् उनके शरीर को स्थूल मस्तक वाली काली चींटियों ने खाकर चलनी के समान छिद्रमय कर दिया था। किन्तु उन घोर वीर महामुनिराज ने सुनने मात्र से रोमाच उत्पन्न करने वाली घोर वेदना को शान्ति से सहा और आराधना का निर्विघ्न साधन किया। अर्थात् रत्नत्रय की आराधना से रचमात्र भी नहीं टले।

दण्डनाम के मुनिराज पर यमुनावक्र नाम के किसी पापी पुरुष ने बाणो की वृष्टि करके उनका सम्पूर्ण शरीर बाणो से वींध दिया; तथापि उन मुनिराज ने रत्नत्रय की आराधना की, अपने समाधि मरण को नहीं बिगाड़ा।

अभिणंदणादिया पंचसया णयरम्मि कुंभकारकडे।
आराधणं पवण्णा पीलिज्जंता वि यंतेण ॥ १५५५ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—कुभकारकट नाम के नगर मे अभिनन्दनादि पाच सौ मुनिराजों को घानी (कोल्हू) मे डालकर पील दिया। लेकिन वे मुनिराज रत्नत्रय आराधना से विचलित न हुए।

गोठान (गायो के गृह) मे चाणक्य मुनि ने प्रायोपगमन सन्यास धारण कर रखा था। सुबंधु नामा मत्री उनका शत्रु था। वहा कडों की राशि थी। उसमें आग लगा कर उसमे चाणिक्य मुनि को डालकर जलाया। किन्तु वे मुनिराज अपने सन्यास मरण से चलायमान नहीं हुए। साम्यभाव धारण कर रत्नत्रय को निर्मल बनाये रखा।

इसी प्रकार कुणाल नामक नगर के वहिर्भाग में अनेक शिष्य वर्ग के साथ वृषभसेन नामा मुनिराज ठहरे हुए थे। रिष्ट नामक राजमत्री ने आग लगाकर उनको दग्ध किया, किन्तु उन सब मुनिराजो ने उस उपसर्ग का सहन किया। रत्नत्रय आराधना मे बाधा न आने दो अर्थात् रत्नत्रय का त्याग नहीं किया।

जदिदा एवं एदे अणगारा तिव्ववेदणट्टा वि ।
एयागीऽपडियम्मा पडिवण्णा उत्तमं अट्ठं ॥ १५५८ ॥ [भग आ]

अर्थ—आगम प्रसिद्ध जगद्विख्यात पूर्वोक्त मुनीश्वरों ने अति घोर वेदनाओ से पीड़ित होकर भी उनका प्रतीकार नहीं किया। उनका कोई सहायक नहीं था। उनका वैयावृत्त्य करने वाला एक भी मुनि पास मे नहीं था। कोइ वैद्य उनकी चिकित्सा करने वाला नहीं था। उनपर दुष्ट वैरियो ने रोमाचकारी उपसर्ग किये। जिनको सुनकर आत्मा कांप उठता है। उन्हें अग्नि से दग्ध दिया, शस्त्रों से छिन्न भिन्न किया, कोल्हू मे पीला, कई पवतो से गिराये गये। दुष्ट तिर्यंचो ने उनके शरीर का शनैः शनैः नोच नोच कर भक्षण क्रिया-प्राण रहित किया तथापि उन्होने साम्य भाव का त्याग नहीं किया। आराधना के पालने मे वे शिथिल नहीं हुए। अपने आत्म-कल्याण के मार्ग से तनिक भी नहीं हटे।

हे क्षपकोत्तम ! तुम्हारे तो अनेक सहायक है। वैयावृत्त्य परायण परम दयालु धैर्य के धारक तुम्हारे कल्याण के अभिलाषी हितोपदेश के देने मे उद्यमी समस्त आचार्यादि वैयावृत्त्य करने मे औषधि आदि का उपचार मे तन मन से लगे हुए हैं। समस्त सघ सम्पूर्ण उचित उपायो द्वारा तुम्हारे सुख व शान्ति की प्राप्ति मे लगा हुआ है। तुम्हारे ऊपर तो कोई तीव्र उपसर्गादि भी नही आया है। ऐसे सर्वानुकूल सामग्री के रहते हुए सुवर्णसम अवसर मे तुम आराधना ग्रहण करने मे क्यो शिथिल हो रहे हो ? भो मुने ! अब तुम को सम्भलना चाहिए। इसी अवसर के लिए तुमने कठिन मुनिव्रत धारण किया था। अनेक प्रकार के क्लेशो का सहा था। अब समय पर तुम क्यो कायरता धारण कर रहे हो ? यह कायरता का समय नहीं है। धैर्य धारण करने और थोडा सा साहस रखने से तुम अपने इष्ट कल्याण को प्राप्त कर सकते हो। अतः अब सावधान होकर इस नश्वर शरीर के मोह का त्याग कर अपने आत्मा की सुध लो। आराधना देवी की भक्ति करो। इसमे ही तुम्हारा कल्याण है।

जिणवयणममिदभूदं महुरं कण्णाहुदिं सुणंतेण ।
सक्का हु संघमज्झे साहेदुं उत्तमं अट्ठं ॥ १५६० ॥ [भग. आ]

अर्थ—हे मुने ! अमृत स्वरूप तथा मधुर कर्ण को तृप्त करने वाले जिनेन्द्र देव के वचनो का श्रवण समस्त सघ के मध्य तुम्हें प्रतिदिन मिलता रहा है। इसलिए इस सघ मे तुम को उत्तमार्थ (रत्नत्रय का आराधन) की सिद्धि कोई कठिन नही है।

हे क्षपक ! यहा तुमको क्या दुःख है जो तुम इतने शिथिल हो रहे हो ?

नरकादि गतियों में भोगे हुए दुखों का दिग्दर्शन कराते हुऐ क्षपक का सम्बोधन

णिरयतिरिक्खगदीसु य माणुसदेवत्तणे य संतेण
जं पत्तं इह दुक्खं तं अणुचिंतेहि तच्चित्तो ॥ १५६१ ॥ [भग. आ]

अर्थ—हे साधो । ससार मे भ्रमण करते हुए तुमने नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति मे जो दुःख भोगे हैं उनको चित्त लगाकर सुनो । ऐसा कोई दु.ख बाकी नहीं रहा है, जिसको तुमने पहले ससार मे नहीं सहा है । निरन्तर जलने वाली वज्राग्नि मे अनन्त वार दग्ध होकर तुम भस्म होते रहे । अनन्त बार जल मे डूब डूब कर मरे । अनन्त बार पर्वत से गिर गिर कर तुम्हारे शरीर का चूर्ण हुआ । अनन्त वार कूपादि मे गिर गिर कर मृत्यु को प्राप्त हुए । तथा तालाब मे, समुद्र मे और अनन्त वार नदी के प्रवाह मे बह बहकर मरे । अनन्त बार शस्त्रो से विदारण किये गये । अनन्त बार कोल्हू मे पीले गये । अनन्त बार दुष्ट तिर्यंच पशुओं से खाये गये । अनन्त बार पक्षियो से नोच नोच कर भक्षण किये गये । अनन्त बार चक्की मे पीसे गये । सेके गये । भुने गये । राधे गये । कडाही मे तले गये । इसी प्रकार तुम अनन्त बार भूख की तीव्र वेदना सहकर भूख के मारे बिलबिला कर मरे हो । अनन्त बार प्यास के मारे तड़फ २ कर मरे हो । अनन्त बार शीत की वेदना से सुकड़ २ कर तुमने प्राण गवाये हैं । अनन्त वार उष्ण (गर्मी) की वेदना से छटपटाकर बुरी तरह मृत्यु पाई है । अनन्त वार वर्षा की वाधा से सड सड़ कर मरे हो । अनन्त वार पवन की पीडा मे प्राणो का त्याग कर चुके हो । अनन्त वार विष भक्षण से शरीर और प्राणों का नाश हुआ है । अनन्त वार निरुपाय व्याधि की कठोर वेदना से मरे हो । अनन्त बार भय से व्याकुल होकर मरे हो । अनन्त वार शोक से झुर झुर कर मरे हो । अनन्त वार सिंह व्याघ्रादि तथा सर्पादि द्वारा मारे गये हो तथा दुष्ट जीवों से विदारण किये गये हो । अनन्त बार चोरों के द्वारा किये गये उपद्रव से, अनन्त बार भीलादि जगली जाति के मनुष्यो से तथा कोतवालादि एव धर्म हीन दुष्ट राजाओ से, म्लेच्छ मनुष्यो से तुम अनन्त बार मारे गये हो । यह शरीर आयु पूर्ण होने पर किसी न किसी निमित्त से अवश्य नष्ट होता रहा है और अब भी अवश्य नष्ट होगा । अब इस अवसर पर मरण के भय से या वेदना के भय से संक्लेश भाव धारण कर रत्नत्रय की विराधना करना किसी प्रकार भी उचित नहीं है । अति भयानक दुःखों को सहते सहते तो अनन्त काल बिताया और अब ससार पार करने का अवसर मिला है, उसमे किंचिन्मात्र वेदना के प्राप्त होने पर ससार सागर से उद्धार करने वाले परम धर्म का आश्रय छोड देना कहा की बुद्धिमानी है ?

जदि कोइ मेरुमेत्तं लोहुण्डं पक्खविज्ज णिरयम्मि ।
उण्हे भूमिमपत्तो णिमिसेण विलेज्ज सो तत्थ ॥ १५६३ ॥ [भग आ]

अर्थ—हे क्षपक ! कोई देव या दानव उष्ण नरक मे मेरु समान लोहे का पिण्ड ऊपर से गिरादे तो वह नरक भूमि पर गिरने के पूर्व ही नरक बिलों की उष्णता से क्षण मात्र मे पिघल कर बह जाता है।

तह चेव य तद्दहो पज्जलिदो सीयणिरय पक्खित्तो।
सीदे भूमिमपत्तो खिमिसेण सडिज्ज लोहुएडं ॥ १५६४ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—यदि वही नरक की उष्णता से पिघला हुआ लोहे का पिंड कोई देव या दानव इकट्ठा करके शीत नरक मे फेंक दे तो वह शीत नरक के बिलो की भूमि को प्राप्त करने के पहले ही मार्ग मे बिलो के शीत से टुकडे टुकडे होकर बिखर जाता है।

हे क्षपकोत्तम ! वहा नरक भूमि मे लोहे से निर्मित मण्डप मे अतितप्त हुई अग्नि समान लाल वर्ण की लोहे की पुतलिया रहती हैं। तुमको उनके साथ बलात्कार से आलिंगन करवाया गया है। उस समय जो तुम्हें दु:सह दुःख हुआ था, उसका स्मरण करो। तथा तुमको अनेक बार अत्यन्त क्षारत्वयुक्त अग्नि से तप्तायमान कडुवारस पिलाया गया था, उसका तो ध्यान करो।

हे साधो ! वहा पर तुमको यन्त्र द्वारा मुख फाडकर बलात्कार से लोहे के जलते हुए अगारे खिलाये गये थे, तुमको कड़ाही मे पूरी कचोरी के समान तला था—उसका तो ख्याल करो।

नरक मे सब नारकी एक दूसरे के शत्रु होते है। वे परस्पर दुःख देने मे तत्पर रहते हैं। वे बाण, चक्र, तलवार, छुरी, करौंत, भाला, शूली, गदा आदि शस्त्र रूप बन जाते हैं। तथा कुत्ता बिल्ली भेडिया सिंह व्याघ्र सर्पादि दुष्ट तिर्यंच बन जाते हैं। कोई नारकी पर्वत बनकर दूसरे नारकी पर गिर पडता है। कोई नारकी करौत बनता है और दो नारकी करौत उठाकर दूसरे नारकी के शरीर को कतरते हैं। इसी प्रकार एक दूसरे को दु:ख देने मे सहायक होते है। वहा पर ऐसे क्लेश तुमने अनन्त बार सहे है।

हे साधो ! नरक मे तुम्हारी आँखे निकाल ली गईं थीं तथा तुम्हारी जीभ खींचकर बाहर निकाल ली गई थी। उस समय कितना घोर दु:ख तुम्हें हुआ था, उसको सोचो।

हे क्षपक ! नरक मे तुम्हें अनेक प्रकार कुभीपाक मे पकाया गया था। तथा शूली मे पिरोकर अग्नि मे सेका था। भाड़ मे डालकर तुम्हें चने के समान भुना था। तुमको भात के समान बटलोई मे उबाला था। मास के टुकड़े के समान तेरे टुकडे २ किये गये थे। और आटे के समान तुम्हे चक्की मे पीसा था।

हे मुने ! तुम नरक मे चक्र मे छेदन किये गये थे। करौत से कई बार चीरे गये थे। कुल्हाडी फरसे से फाडे गये थे और मुद्गरों से तुम्हारा कचूमर निकाला था-उनको तो याद करो।

नरक में तुझे पाश मे बांधकर ऊपर से मस्तक पर घन पटके गये थे। और पश्चात् अति तीक्ष्ण खार के कीचड़ में तुझे औंधा गाड दिया था। वहा पर तुझे घसीटा था। तेरे शरीर को नमाकर तोड़ दिया था। एक टाग को पाव से दबाकर दूसरी टाग ऊंची करके तुझे चीर डाला था। तेरा शरीर मर्दित किया गया था। लोहे के तिकोने तीक्ष्ण कांटा पर तू लुढ़काया गया था। तेरे छिन्न भिन्न हुए शरीर पर नारकी खारे चूर्ण का जल सींच कर ऊपर से डाला करते थे। उसके अनन्तर शक्ति नामक शस्त्र से तथा जिनके अग्र भाग मे लोहे के कांटे लगे हुए थे, ऐसी लाठियों से लौट पौट किये थे, घुमाये गये थे। उसमे तेरे शरीर मे रुधिर की धारा बह रही थी। शरीर का चमड़ा नीचे लटक गया था। पेट फूट गया था। अन्दर की आंतडिया बाहर निकल आई थी। हृदय अत्यन्त सन्तप्त हो रहा था। आंखे फूट गई थीं। तेरे शरीर का चूर्ण हो गया था। ऐसे भयानक दु ख तू नरक मे अनेक बार भोग आया है। उसका चिन्तन कर। उस दु ख के मारे तेरे शरीर का अवयव काँपता था। तू दु ख मे थर थर धूज रहा था। उन दु खो के सामने हे साधक! यह दुःख कुछ भी नहीं है।

हे श्रमणोत्तम! तुमने अपूर्व पुण्य के उदय से मनुष्य जन्म पाया और देव दुर्लभ मर्त्यलोक पूज्य मुनि धर्म भी अङ्गीकार किया उसमें भी उत्तम सयम का पालन किया और अन्त मे मर्त्य श्रेष्ठ समाधिमरण को भी अङ्गीकार किया। इस परमोत्तम धर्म के पालन करते हुए तुम्हारे पूर्व सचित कर्म के उदय से किंचित वेदना आगई। जिससे तुम अपने परम पुनीत धर्म से पलायमान हो रहे हो। यह क्या तुम्हारे समान धैर्यशाली शूर वीर पुरुष पुगवों को शोभा देने वाला कृत्य है? यह लज्जा जनक क्रिया तुम्हारे यश को मलीन करने वाली है। इस आत्मा के विनाशकारी कायरपन का त्याग कर सावधान होओ और स्वाभिमान की रक्षा करो, तथा पतनोन्मुख होते हुए अपनी आत्मा को सम्भालो।

देखो, तुमने अनन्त काल तक इस धर्म के अभाव से भ्रमण किया उसमे अनन्त बार तिर्यंच गति भी पाई। उसके दु खो का किंचिन्मात्र वर्णन करते हैं, उसे तुम सावधान होकर सुनो। इन दु खो को तुम अपनी आंखों से प्रत्यक्ष देख रहे हो।

तिरियगदिं अणुपत्तो भीममहावेदणाउलमपारं।
जम्मणमरणरहट्टं अणंतखुत्तो परिगदो जं ॥ १५८१ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—भयानक तीव्र वेदनाओं से व्याकुल, जिसका पार पाना अति कठिन है ऐसी तिर्यंच गति को प्राप्त हुआ तू अरहट्ट की

घडियों के समान लगातार जन्म मरण को प्राप्त होता रहा। उसके दु.खो का भी तू विचार कर, स्मरण कर, चिन्तन कर। अपने दोषो का स्मरण करने से गुणों की वृद्धि व प्राप्ति होती है। इसलिए अपने दोषो का स्मरण कर। देखो तिर्यंचगति प्राप्त करके तूने पृथिवीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, और वनस्पतिकाय एव त्रसकाय मे जन्म धारण किया है।

हे क्षपक। मनुष्य शीत की बाधा होने पर निर्वात स्थान का आश्रय लेते हैं। गर्मी से पीड़ित होने पर उसका निवारण करने के लिए शीत जल मे स्नान करते हैं, ठडा पानी पीते हैं। भय उत्पन्न होने पर भय रहित स्थान का सहारा लेते हैं। द्वीन्द्रियादि त्रस जीव भी उक्त बाधाओ से बचने का यथोचित उपाय करने मे समर्थ होते हैं। परन्तु एकेन्द्रिय जीवों मे ऐसा सामर्थ्य नहीं होता है।

जैसे वैराग्य परायण मुनीश्वर सब प्रकार के उपसर्ग बाधाए स्वतत्र होकर सहते हैं, वैसे एकेन्द्रिय जीव परकृत व प्रकृति जन्य उपसर्ग बाधाओं को परतन्त्र हुए सह लेते हैं।

द्वीन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय जीव गाय बैल भैंस घोडे हाथी आदि पशुओं के पैर तले दब कर तथा गाडी रथ मोटर आदि वाहनो के नीचे कुचले जाकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

पचेन्द्रिय पशु पक्षी भी भूख प्यास शीत उष्ण का असह्य दु.ख भोगते हैं। एक प्राणी का दूसरा प्राणी भक्षण कर लेता है। कई अधम मनुष्य प्राणी भी इनका घात करते हैं। इन दीन हीन प्राणियो का सहार कर कई अपने उदर-दानव की बलि चढाते हैं। कई शरीर बल से तथा कई अन्य राज्यादि के ऐश्वर्य में उन्मत्त होकर इन दीन अशरण निहत्थे जीवो के प्राणो से क्रीडा कर प्रसन्न होते हैं, अपने निशाने के लक्ष्य बनाकर आनन्दित होते हैं। इन जीवो पर विपत्ति आने पर इनके माता पिता बान्धव मित्रादि सब दूर भाग जाते हैं। इनके शरीर मे रोग व्याधि आदि उत्पन्न होने पर कोई उनके दु.ख का प्रतीकार नहीं करता है। उनको एकाकी असह्य होकर सब क्लेश स्वय भोगना पडता है। उनको छेदन भेदन ताडन बन्धन मोचन शीत उष्ण वृष्टि पवनादि जन्य जो २ दुःख सहन करने पड़ते हैं, वे वचनातीत हैं। उनको केवली भगवान के सिवा अन्य जानने मे असमर्थ हैं।

हे क्षपक! ऐसे दु खों को अनन्त काल तक तूने भोगे हैं। निगोद मे तू अनन्त काल तक निवास कर चुका है। निगोद ही तेरा सदा का निवास है। त्रस पर्याय तो प्रवास के समान है। जैसे कोई मनुष्य किसी निमित्त से विदेश मे प्रवास करता है और महीने दो महीने भ्रमण कर अपने घर पर वापिस लौट जाता है, वैसे ही यह अपने निगोद निवास से निकलकर किसी पुण्य कर्म के योग से त्रस पर्याय मे प्रवास करने के लिए आता है और कुछ (पूर्व कोटि पृथक्त्व) अधिक दो हजार सागर तक त्रस पर्याय में भ्रमण कर पुनः

अपने निगोद रूप घर मे वापिस लौट जाता है। फिर वहां से अनन्त काल तक निकलना नहीं होता है। वहा पर वह एक श्वासे मे अठारह वार जन्म मरण करता रहता है। वहा जो दु:ख होता है वह नरक के दु खों से अनन्त गुणा दु:ख है। उस दु:ख को इस जीव ने अनन्त काल पर्यन्त सहा है। हे क्षपक ! वहा पर तुम्हारा कोई भी सहायक नहीं था। अब तुम इस अल्प कालीन किंचिन्मात्र दुःख से इतने अधीर हो रहे हो। हे तत्त्वज्ञ मुने। अब सावधान होकर थोड़ा विचार करो और अपने कल्याण के मार्ग से मत गिरो।

मनुष्य गति में प्राप्त दुःख

दीणत्तरोसचिंतासोगामरिसग्गिपउलिदमणो जं।
पत्तो घोरं दुक्खं माणुसजोणीए संतेण ॥ १५६१ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—मनुष्य पर्याय मे अपने प्राणो से अधिक प्यारे पुत्रादि का, धन वैभव का वियोग जन्य दु ख भोगा है। जिसका स्मरण मात्र करने से हृदय के टुकडे २ हो जाते हैं ऐसा दु:ख अनन्त बार भोगा है। जिनका नाम मात्र सुनने से मस्तक मे शूल के समान वेदना होने लगती है, ऐसे अप्रिय महान् दुष्ट प्राणियों के सयोग से तुझे अनन्त बार घोर दु ख व सन्ताप हुआ है। अभीष्ट (वाञ्छित) पदार्थ की प्राप्ति न हो सकने के कारण मनमे जो सन्ताप होता था उसके दु:ख का सहन भी तुमने किया है। सेवकपने मे पराधीन होकर, स्वाभिमान के नाशक अपमान जनक दुर्वचन सुनकर जो तुमको अन्त करण मे दुःख हुआ है उसका हे मुने। तुम स्मरण करो। मनुष्य जन्म पाकर कभी तुम दीन हुए तब दीनता व दरिद्रता का मर्मभेदी दु:ख तुमने पाया। कभी रोष उत्पन्न हुआ, कभी चिन्ता-ज्वाला मे तुम जलते रहे। कभी शोकाग्नि से झुलसते रहे। कभी असहनशीलता के कारण दु ख दावानल मे दग्ध होते रहे। ऐसे ही अनेक मानसिक वेदना से तुम रात दिन व्याकुल होकर दु खो को सहन करते रहे हो, उनका चिन्तन करो। अब हे मुने। इस साधारण शारीरिक वेदना से क्या घबरा रहे हो ? यह साहस धारण करने का समय है। इसलिए सावधान होकर अपने धर्म व कर्त्तव्य को सम्भालो।

मनुष्य गति मे इस जीव ने चारित्र मोहनीय कर्म से प्रेरित होकर किसी प्रकार का अपराध किया तब राजा ने तथा राजमंत्री ने या राज्याधिकारी कोतवाल आदि ने तीव्र दण्ड दिया। बेंतों से तथा चाबुकों से पीटा। इस जीवका मुण्डन कर अपमानित किया। अनेक प्रकार के लाञ्छन लगा कर अपमानित किया। राजा ने सर्वस्व अपहरण किया। चोर डाकुओं ने धन का अपहरण किया। कोई आततायी दुष्ट मनुष्य भार्यादि का अपहरण करते हैं। अग्नि दाह से धनादि का विनाश हो जाता है। कभी प्रकृति के प्रकोप से भूकम्प, जल की अथाह वृष्टि आदि

से, गृह धनादि का विध्वस होता है तब जीव को जो मानसिक व्यथा उत्पन्न होती है, उस दु ख का भी तुमने अनेक बार अनुभव किया है। जिसका श्रवण करने से रोमाच उत्पन्न हो जाते है, उन दुःखो के सामने तुम्हारा यह स्वल्प दु.ख क्या चीज है। हे क्षपक! उनपर विचार तो करो।

मनुष्य गति मे भी विरोधी मनुष्य लाठियों से मार मार कर शरीर का कचूमर निकाल देते हैं। तलवार से सिर काट देते हैं। छुरा भोंक कर आतडिया निकाल लेते हैं। अग्नि में जला देते हैं। पानी मे डुबोते हैं। पर्वतादि से पटक कर शरीर के टुकडे २ कर देते हैं। मस्तक पर अग्नि जलाते हैं। अग्नि से तपे हुए लोहे के लाल सुर्ख गहने पहना कर दग्ध करते हैं। बदूक और तोपों से उड़ा देते हैं। बम गिराकर प्राणो का सहार करते हैं। धन सम्पत्ति गृह द्वारादि सब वस्तुओं का देखते देखते विनाश कर देते हैं। जहा स्वर्ग तुल्य दिव्य नगर था, उसे श्मशान तुल्य बना देते हैं। जो पूर्व क्षण मे सुन्दर लहलहाता हुआ हरा भरा पुष्प फलों से परिपूर्ण नन्दन वन सा उपवन था, उसे दूसरे क्षण मे भयानक जगल बना देते हैं। जो राजा था, उसका सर्वस्व नाशकर भिखारी बना देते हैं। असहाय और पुत्रादि से पृथक् कर बन्दीगृह की नरक समान यातना भोगने के लिए विवश करते हैं। वहा पर वह भूख प्यास ताडन वध बन्धनादि के असह्य दु.खो को भोगते भोगते मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। हे मुने! ऐसे दु ख यह सदा भोगता रहा है। उनको ध्यान मे लावो और सावधान होकर आत्मा का चिन्तन करो।

कण्णोट्ठसीसणासाछेदणदंताण भजणं चेव।
अप्पाडणं च अच्छीण तहा जिब्भाणणीहरणं ॥ १५९५ ॥ (भग. आ)

अर्थ—हे क्षपक! इस मनुष्य गति मे तुम्हारे कान काट लिये गये थे। होठों का छेदन किया गया था। छुरे से नाक उतारली गई थी। मस्तक तोड दिया गया था। दात तोडे गये थे। आखें निकाल ली गई थीं, फोडदी गई थीं। जीभ खींची गई थी। उनसे जो तुम्हें दु.ख उत्पन्न हुआ था, उसके सामने यह दुःख कितना सा है? हे क्षपक! तुम उनका चिन्तन करो।

हे मुने! तुम अनेक विष के प्रयोग से मरे हो। अग्नि काण्ड से जलकर मरण को प्राप्त हुए हो। अनेक शत्रु के द्वारा हनन किये गये हो। अनेक बार सर्प के द्वारा डसे गये हो। अनन्त बार सिंह व्याघ्र स्याल रीछ आदि दुष्ट हिंसक जन्तुओ के द्वारा भक्षण किये गये हो और नाना प्रकार के शस्त्रों के आघात से तुम मारे गये हो। उन दुःखो को तुमने कई बार सहा है। हे क्षपक! अब इस थोडे से दुःख को सहने मे कायरता क्यो दिखा रहे हो? तुम समान शूरवीर आत्मज्ञानी महापुरुषों को ऐसी कायरता दिखाना क्या योग्य है? अब धैर्य और साहस का आश्रय लो और सावधान होकर इस परम उत्कृष्ट समाधिमरण को सुधारो। तुमने पूर्वकाल मे परवश होकर तो पूर्वोक्त भारी २ दुःख सहे हैं। उनसे तुम्हें सिवा क्लेश के और नवीन कर्म वन्ध के कुछ हाथ नहीं लगा। इस समय तुम स्वतन्त्रता से इन आगत दु.खों को

शान्ति से सह लोगे तो तुम्हें उस समय भी क्लेश न होगा और पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होगी तथा नवीन कर्मों का संवर होगा। इसके फल स्वरूप तुम्हारा आत्मा सदा के लिए सुखी हो जावेगा। सम्पूर्ण कष्टों का सहार होगा और अनन्त काल तक शान्ति और नित्य आनन्द का अनुभव करोगे।

देवगति के दुःखों का वर्णन

हे क्षपक ! देवगति में तुमने शारीरिक दुःखों की अपेक्षा आत्मा को दुःखाग्नि में सतत जलाने वाले मानसिक संताप का बार बार अनुभव किया है।

सरीरादो दुक्खादो होइ देवेसु माणसं तिव्वं ।
दुक्खं दुस्सहमवसस्स परेण अभिजुज्जमाणस्स ॥ १५६८ ॥
देवो माणी संतो पासिय देवे महड्ढिए अण्णे ।
जं दुक्खं संपत्तो घोरं भग्गेण माणेण ॥ १५६९ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—जब अल्प पुण्य के धारक आभियोग्य जाति के देव को महर्धिक-अधिक पुण्यशाली-देव वाहन बनाता है—उसे अश्व हस्ती बनाकर जब उसपर सवार होता है तब उस देव को जो मानसिक संताप होता है, वह असह्य होता है। वह दुःख तथा अन्य मनुष्यगति के दुःखों से—शारीरिक दुःखों से—बहुत अधिक होता है। एक स्वाभिमानी देव के जब दूसरे देव को अधिक ऋद्धिशाली, अनेक सुन्दर २ अप्सराओं के साथ, नाना प्रकार के वैभव के साथ क्रीड़ा करते देखकर जो मानसिक पीड़ा होती है, वह मरण के दुःख से भी अत्यधिक होती है। अणिमा गरिमादि अनेक ऋद्धियों और नाना प्रकार के विभूतिशाली देव के सम्मुख हीनशक्ति के धारक देव का गर्व जब चूर चूर हो जाता है, उस समय उसके अन्तःकरण के भी टुकड़े २ हो जाते हैं। देवगति में वह दुःख बड़ा संताप उत्पन्न करने वाला होता है।

देवगति में जब तुम्हारे गले में यमराज (मृत्यु) का पाश आ गिरता है तो छह महीने पहले माला मुर्झाने लगती है। स्वर्ग के दिव्य कल्प वृक्षों से प्राप्त सुख सामग्री का, परम सुन्दरी देवांगनाओं के संयोग का जब त्याग करना पड़ा है, उस समय तुमको जो हृदय-विदारक दुःख हुआ है, हे मुने ! उसका विचार करो।

उस देवगति में जब तुम्हारी आयुष्य समाप्त होने वाली थी उस समय वहां से चय कर जब तुम को गर्भ में जन्म लेने का आभास हुआ था, तब तुमको कितना दुःख हुआ था ? उस समय तुमने संताप किया था कि मुझे महा दुर्गन्धमय गर्भ में निवास करना

पड़ेगा और गर्भावस्था मे अति दुर्गन्ध युक्त पदार्थ का आहार करना पडेगा। क्षुधा तृषादि की मुझे असह्य पीड़ा होगी। नवमास पर्यन्त माता के उदर मे निरन्तर अग्नि की ज्वाला मे पचता रहूगा। माता खारा व चरपरा पदार्थ भक्षण करेगी, वह मेरे कोमल शरीर मे भयानक वेदना उत्पन्न करेंगे। हाय ! मैं देव पर्याय मे अत्यन्त सुखी और पवित्र रहा हूँ। अब मुझे अति दुःखी और महा अपवित्र विष्टाघर के समान उदर मे एक दो दिन नहीं, नव मास पर्यन्त औंधे लटके रहना पडेगा। हाय ! अब मैं क्या करू ? यह आगामी निकट समय में आने वाली विपत्ति कैसे टल सकती है ? ऐसा विचार करते समय जो तुम्हें दु.ख प्राप्त हुआ, उसका हे क्षपक ! तुम विचार तो करो।

इस प्रकार हे मुने ! चतुर्गति के दुःखो को तुमने सहा है, उनका अनन्तवा भाग भी यह दुःख नहीं है। हे आत्म ज्ञानिन् ! इस समय तुम विवेक ज्ञान को जागृत करो। उसका उपयोग करो। यह दुःख उन दु खो के सामने कुछ नहीं सा है। इससे घबराकर अपने कल्याणकारी मार्ग से च्युत होना तुम सरीखे समझदार महात्माओं को योग्य नहीं है। विपरीत समय आने पर अपने आत्मा को सन्मार्ग पर स्थित रखने वाला ही महापुरुष होता है। इस समय के लिए ही व्रतों का धारण, समिति का पालन और गुप्ति का साधन और अनेक तपश्चरण का आचरण किया जाता है। यदि इस समय तुम सावधान न रहे तो तुम्हारे व्रत नियम तपश्चरणादि उत्तम कृत्य निष्फल हो जावेंगे। इसलिए हे महात्मन् ! अब सचेत हो जाओ और अपनी गति को सुधारो। तुम धीरात्मा हो, परम धैर्य के धारक हो, इस थोडे से कष्ट से क्या घबरा गये हो ?

हे मुने ! जब सख्यात काल तथा असख्यात काल पर्यन्त लगातार अति घोर दु ख नरकादि गतियो मे परतन्त्रता से, तुमने सह लिये हैं। तो अब स्वाधीनता से यह अत्यल्प कष्ट थोड़े समय के लिए भी तुम से सहन नहीं होते हैं क्या ? उन दु खों का तो निराकरण करने के लिए तुम्हारे पास कोई साधन नहीं था। इस समय तो दु ख घटाने का असली साधन तुमको प्राप्त है। उस साधन का उपयोग कर शान्ति का अनुभव करो।

प्रश्न—वह साधन कौनसा है। जिससे क्षुधा तृषादि को वेदना भी शान्त हो जावे ?

क्षुधादि वेदनाओं को शान्त करने के साधन

सुइपाणएण अणुसट्ठिभोयणेण य सदोवगहिएणु।
ज्झाणोसहेण तिव्वा वि वेदणा तीरदे सहिदुं ॥ १६०८ ॥ [भग आ.]

अर्थ—सवेग निर्वेद उत्पन्न करने वाली, आत्म अनात्म पदार्थ का भेद विज्ञान कराने वाली धर्मकथा-श्रुतज्ञान रूप अमृत-का पान करने से तथा निर्यापकाचार्य की शिक्षा-उपदेश रूप भोजन का भक्षण करने से हे क्षपक ! तुम्हारे आत्मा मे बल का सचार होगा। शुभ

ध्यान रूप औषधि का सेवन करने से तुमपर इस वेदना का कुछ भी असर न होगा। और तुम उसका नाश करने मे समर्थ हो सकोगे।

हे श्रमणोत्तम ! जब वेदनीय कर्म का तीव्र उदय होता है, उस समय उसका प्रतीकार करने मे देवादि कोई भी समर्थ नहीं होते हैं। उस समय जो वेदना होती है उसका प्रतीकार साहस और धैर्य है। साहसी और धैर्यवान् आत्मा ज्ञान रूपी शीतल जल से उस दु ख को शान्त करता है।

हे महात्मन् ! जब वेदनीय कर्म का तीव्र उदय होता है उस समय किसी का वल काम नही देता है। राजा महाराजाओं के पास सेवा शुश्रूपा करने वाले तथा विद्वान् अनुभवी बड़े २ वैद्य डाक्टरों के रहते हुए, असयम का आचरण करने पर भी वे दु.ख से मुक्त नही हुए। तीव्र वेदनीय कर्म का उदय आने पर सब जीव दु ख दूर करने में असमर्थ होते हैं। इसलिए ऐसे समय श्रुतज्ञान मृत का पान करने से ही दु.ख की निवृत्ति होती है। अतएव हे क्षपक ! तुमको उसीका पान करने मे सावधान होना चाहिए।

मोक्खाभिलासिणो संजदस्स णिधणगमणं पि होदि वरं।
ण य वेदणाणिमित्तं अप्पासुगसेवणं कादुं ॥ १६१३ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—हे मुने ! मोक्ष के अभिलाषी सयमी जनों का मरण को प्राप्त होना तो श्रेष्ठ है, किन्तु वेदना का उपशम करने के लिए अप्रासुक द्रव्यों का सेवन करना सर्वथा अयोग्य है। सयम धन के रक्षक साधुओं को प्रासुक औषधादि मिल सकें तो वे उनका सेवन करते हैं; अन्यथा प्राण जाने पर भी सयम का त्याग नहीं करते। क्योंकि अप्रासुक औषधि का सेवन करने से संयम का नाश होता है। सयम का रक्षण भव भव मे सुख का अकुर उत्पन्न करता है। मृत्यु केवल उसी भव का घात करती है। और असयम का आचरण अनेक भवों मे सैंकड़ो व हजारो पर्यायो मे दु ख के अकुरों का उत्पादक होता है।

इस प्रकार परम दयालु निर्यापकाचार्य के शिक्षोपदेश को पाकर क्षपक अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर साहस व धैर्य का अवलम्बन लेकर अपने आत्मा के कल्याण के निमित्त शीघ्र सचेत होता है और पूर्ण शान्ति की पताका को फहराने लगता है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य इन चार भावनाओं के चिन्तन मे तत्पर होता है। जब क्षपक का शरीर अत्यन्त क्षीण हो जाता है तब वह संस्तर का भी त्याग कर देता है। किसी से वैयावृत्त्य नहीं करवाता है। अपने शरीर का भी त्याग कर देता है और आत्म-भावना में तल्लीन रहता है।

एवं सुभाविदप्पाज्झाणोवगओ पसत्थलेस्साओ।
आराधणापडाय हरइ अविग्घेण सो खवओ ॥ १६२४ ॥ (भग आ)

अर्थ—उक्त प्रकार जिसने आत्मा को शुभ ध्यान मे लीन किया है जो शुक्ल ध्यान और शुक्ल लेश्या को प्राप्त हुआ है, वह क्षपक निर्विघ्न पूर्वक आराधना पताका को हस्त में ग्रहण करता है। अर्थात् वह चारों आराधनाओं के फल को प्राप्त करता है।

अह सावसेसकम्मा मलियकसाया पणट्ठमिच्छत्ता।
हासरइअरइभयसोगदुगुंछावेयत्तियम्महणा ॥ १९३० ॥
पंचसमिदा तिगुत्ता सुसंवुडा सव्वसंगउम्मुक्का।
धीरा अदीणमणसा समसुहदुक्खा असमूढा ॥ १९३१ ॥
सव्वसमाधारणेण य चरित्तजोगे अधिट्ठिदा सम्म।
धम्मे वा उवजुत्ता झाणे तह पढमसुक्के वा ॥ १९३२ ॥
इय मज्झिममाराधणमणुपालित्ता सरीरयं हिच्चा।
हुंति अणुत्तरवासी देवा सुविसुद्धलेस्सा य ॥ १९३३ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—हे क्षपक! जिनके कर्म बाकी रह गये है, जिन्होंने अनन्तानुबन्धी आदि कषायों का मथन कर दिया है, तथा मिथ्यात्व का संहार किया है और हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा पुरुषवेद, स्त्रीवेद एवं नपुंसकवेद का उच्छेद किया है, जिन्होंने पांच समिति का पालन और तीन गुप्ति का धारण किया है, आगामी कर्मों का निरोधकर संवर किया है अर्थात् संवर का कारण जो तपश्चरण और ध्यान है उसका सेवन किया है, जो मिथ्यात्व कषायादि चौदह प्रकार के अन्तरङ्ग परिग्रह और क्षेत्रादि दश प्रकार के बाह्य परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर भावनिर्ग्रन्थावस्था को प्राप्त हुए हैं, जो अनेक कष्टों के आने पर धीरज धारण करते हैं, जिनके मन मे दीनता का भाव लेशमात्र भी नहीं है, जो सुख और दुःख में समबुद्धि रखते हैं, जो शरीर मे भी मोह नहीं रखते हैं, जो मनोयोग, वचन योग और काययोग से आत्म स्वरूप मे स्थिर रहते हैं, अर्थात जो निरन्तर चारित्राचरण मे तत्पर रहते हैं, तथा जो धर्म्यध्यान में तथा प्रथम शुक्ल ध्यान मे और द्वितीय शुक्ल ध्यान मे रत रहते हैं, इस प्रकार मध्यम आराधना का पालन करते हुए शरीर का त्याग करने वाले मुनिराज विशुद्ध लेश्या के स्वामी बनकर अनुत्तर विमान वासी देवो मे उत्पन्न होते हैं।

हे क्षपक! कल्पवासी देवो में जन्म देनेवाले रत्नत्रय से उत्कृष्ट—रत्नत्रय का पालन करने में जो समर्थ होते हैं अर्थात् उत्तम

ध्यान और उत्कृष्ट तप का आचरण करने में जो संयमी सदा तत्पर रहते हैं, जिनके भावों में विशेष निर्मलता रहती है, कल्पातीत देवों में जन्म देने वाले विशेष पुण्यास्रव की प्राप्ति जिन्होंने की है वे नवग्रैवेयक और नव अनुदिश विमानों में अहमिन्द्र होते हैं। जिस सुख का अनुभव सौधर्मादि कल्पवासी देव दिव्य देवांगनाओं के साथ भोग भोगकर नित्य नन्दन वनादि के सुन्दर ललित कुंजों में विहार व क्रीड़ा करके प्राप्त करते हैं उससे भी अनन्त गुणा सुख अहमिन्द्र देवों को प्रतिसमय निरन्तर प्राप्त होता है।

हे मुनिश्रेष्ठ ! जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और यथाख्यात चारित्र में सदा तत्पर रहते हैं तथा तपश्चरण में उत्तरोत्तर जिनके परिणाम वृद्धिगत होते रहते हैं तथा जिन की लेश्या सतत विशुद्धता धारण करती है ऐसे क्षपक इस औदारिक शरीर का त्याग कर अणिमादि गुणों से सब से बढ़े चढ़े देवेन्द्र के अन्तिम पद को पाते हैं।

हे श्रमणोत्तम ! जिनका अन्तःकरण श्रुत की आराधना से अति निर्मल हुआ है जिन्होंने उग्रोग्रतप और उत्तमोत्तम नियम आतपनादियोग और ध्यान से अपनी आत्मा को विशेष निर्मल बनाया है वे धैर्यगुण के धारक आराधक लौकान्तिक देव होते हैं।

तात्पर्य यह है कि इस जगत् में जितनी ऋद्धियाँ और इन्द्रियजन्य सुख और ऐश्वर्य सम्पदाएँ हैं वे सब निर्मल भाव के धारक क्षपक को स्वतः आकर प्राप्त होती हैं।

तेजोलेश्या के धारक क्षपक की आराधना को जघन्य आराधना कहते हैं। इस आराधना का सेवन करने वाले क्षपक सौधर्मादि स्वर्गों में जन्म लेते हैं। सौधर्मादि स्वर्गों के देवों से हीन देवों में वे कभी जन्म नहीं लेते हैं।

किं जंपिएण बहुणा जो सारो केवलस्स लोगस्स।
तं अचिरेण लहंते फासित्ता आराहणं णिखिलं ॥ १९४१ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—अधिक कहां तक कहा जावे। तीनों आराधनाओं में से किसी भी आराधना का सेवन करने वाला महात्मा सम्पूर्ण लोक के सार भूत पदार्थों को शीघ्र प्राप्त करता है।

तात्पर्य यह है कि उत्कृष्ट आराधना का आराधक तो उसी भव में मोक्ष के दिव्य सुख का सदा के लिए भोग करता है। मध्यम आराधना का आराधक अहमिंद्रादि महर्द्धिक देव होकर स्वर्ग के दिव्य इन्द्रिय जन्य सुखों का अनुभव कर दूसरे या तीसरे आदि भव में मुक्ति अंगना का पति होता है। जघन्य आराधना का आराधक भी कम से कम सौधर्मादि स्वर्गों में उत्तम देव होता है और वहां पर दिव्य

देवागनाओ के साथ अनेक प्रकार ऐन्द्रियक (इद्रियजन्य) सुख भोगकर अधिक से अधिक सात आठ भवो के अनन्तर अवश्य मुक्ति को प्राप्त होता है ।

हे क्षपक ! जघन्य आराधना का सेवन करने वाले भी महा पुण्यशाली होते हैं । वे सौधर्मादि स्वर्गों मे उत्तम देवों में जन्म लेते हैं । वहा से शुभध्यान पूर्वक चयकर मनुष्य जन्म धारण करते हैं । मनुष्य भव में भी उन्हें सम्पूर्ण विभूतियाँ व ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं । विश्व की सुख सामग्री सदा उनके चरणों मे पडी रहती है । उस विश्व-विभूति का भी त्याग कर मुनि धर्म का आचारण करते हैं और तपस्वाध्याय में मग्न रहते हैं । परिषह और उपसर्ग आने पर उनसे विचलित नहीं होते, किन्तु उनका धैर्य के साथ हृदय से स्वागत करते हैं । वे कभी श्रद्धा, सवेग और वैराग्य से नहीं डिगते हैं ।

उनमें से कई क्षपक तो उसी मनुष्य भव मे यथाख्यात चारित्र और शुक्लध्यान से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर चतुर्गति के भ्रमण जाल से निकलकर मोक्ष को प्राप्त होते हैं ।

कई क्षपक मनुष्य भव मे अनेक दुर्धर तपश्चरण का आराधन कर स्वर्गलोक मे महर्द्धिक देव होते हैं और वहा पर चित्त रंजन करने वाले दिव्य भोगो को भोगते हैं । मनोविनोद की अपूर्व सामग्री के अनुभव करने मे तल्लीन रहते हैं । वहा से आयुष्य को सुख पूर्वक विताकर शान्ति से देव पर्याय छोडकर पुनः मनुष्य जन्म पाते हैं । वहा पर चक्रवर्ती उत्तम विभूति के धारक होते हैं । अनेक मनोवांछित सुखों का अनुभव कर उसको नि सार समझ मुनिदीक्षा ग्रहण करते है । तथा अनेक दुष्कर तप का आचरण कर शुक्ल ध्यानाग्नि से घाति व अघाति कर्मों को दग्ध कर शिवरमणी के रसिक होते हैं ।

एवं संथारगदो विसोधइत्ता वि दंसणचरित्तं ।
परिवडदि पुणो कोई झायंतो अट्टरुद्दाणि ॥ १६४६ ॥
ज्झायंतो अणगारो अट्टंरुद्दं चरिमकालम्मि ।
जो जहइ सय देहं सो ण लहइ सुग्गदिं खवओ ॥ १६४७ ॥ (भग. आ)

अर्थ—कई साधु ससार के सव विषयभोग का परित्याग कर निर्ग्रन्थावस्था धारण कर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का निर्विघ्न आराधन करने के लिए सस्तार का आश्रय लेते हैं और सम्यग्दर्शन व चारित्र की विशुद्धि करने पर भी पूर्व कर्म के भार से अन्त समय आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान मे प्रवृत्त होकर अपने शुद्ध स्वरूप से भ्रष्ट होते हैं ।

हे क्षपक ! जो मरण काल मे आर्त रौद्रध्यान मे प्रवृत्ति करते हैं वे क्षपक आयुष्य के पूर्ण होने पर उत्तम गति नहीं पाते है।

हे मुने ! जिस साधु ने पहले अपने आत्मा को आराधना से सुसंस्कृत किया था, वह भी संस्तर पर आरूढ होकर मरण समय मे सक्लेश परिणामो के उत्पन्न होने से उत्तम मार्ग से गिर जाता है तो क्या जो पार्श्वस्थ, कुशील, ससक्त, अवसन्न और स्वच्छ है वे पतित साधु सन्मार्ग से भ्रष्ट नहीं होते हैं ? अवश्य होते है।

जो मूढबुद्धि पूर्वोक्त दोषों का वमन नहीं करते हैं, दोषो को धारण किये हुए मृत्यु को प्राप्त हुए है वे मायाचार तथा असत्य वचन के कारण देव दुर्भगता को अर्थात् नीच देव पने को प्राप्त होते हैं।

प्रश्न—जो मुनि सघ सेवा नहीं करते है समय आने पर दूसरे मुनीश्वरो की वैयावृत्त्य नहीं करते हैं वे किस गति मे जाते है ?

किं मज्झ णिरुच्छाहा हवंति जे सव्वसंघकज्जेसु ।
ते देवसमिदिवज्झा कप्पंति हु ति सुरमेच्छा ॥ १९५८ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—मेरा इसमे क्या प्रयोजन है ? क्या मै ही हू ? मुझसे तो अपना भी कार्य नहीं होता है ? मैं किस किस का काम करू ? इस प्रकार विचार कर जो साधु सम्पूर्ण संघ का कार्य करने मे उत्साह रहित होता है, किसी रोगी वृद्ध तथा अशक्त मुनि की वैयावृत्त्य करने मे उदासीनता दिखाता है वह स्वार्थी साधु देवसभा से बहिष्कृत होता है अर्थात् वह सभा के मध्य बैठने का अधिकारी नहीं होता है। सौधर्मादि स्वर्गों के अन्त भाग मे चाण्डालादि जाति का म्लेच्छ देव होता है।

हे मुने ! जो कन्दर्प भावना के वश होकर मरण करते है, वे कन्दर्प जाति के नीच देव होते हैं। असत्य निन्द्य बोलने बुलवाने मे तथा काम रति मे लीन रहने को कन्दर्प भावना कहते हैं। जो तीर्थंकरो की आज्ञा से प्रतिकूल होकर संघ का चैत्य (प्रतिमा) का और जिनागम का अविनय अनादर करते हैं मायाचार करते हैं, उनके किल्विष भावना होती है, उस भावना मे जो मरण करते हैं, वे किल्विष जाति के देव होते हैं।

हे साधो ! जो मुनि तत्र मन्त्रादि तथा हंसी मजाक तथा व्यर्थ बकवाद एव वाग्जालादि का उपयोग करते हैं उनके आभियोग्य भावना होती है। इस भावना से जो प्राण त्याग करते हैं वे आभियोग्य जाति के वाहन बनने वाले देव होते हैं।

हे क्षपक ! जो क्रोधी, मानी और मायावी होते हैं, तथा तपश्चरण मे और चारित्राचरण में संक्लेश परिणाम रखते हैं, एव दृढ वैर मे जिनकी रुचि होती है उनके आसुरी भावना होती है। उस भावना से युक्त होकर जो मरण करते हैं, वे असुर जाति के देवो मे जन्म ग्रहण करते हैं।

हे मुने ! जो उन्मार्ग का उपदेश देकर सन्मार्ग का उच्छेद करते हैं, तथा सच्चे वीतराग मार्ग को विगाड़ कर राग वर्द्धक मार्ग की तथा नवीन मार्ग की स्थापना करते हैं, मिथ्यात्व का उपदेश देकर संसार के जीवों को मोह उत्पन्न कर विपरीत मार्ग में प्रेरित करते हैं, उनके सम्मोह भावना होती है। उस भावना से युक्त होकर जो मरण करते हैं वे सम्मोह जाति के देवो मे जन्म धारण करते हैं।

जे सम्मत्तं खवया विराधयित्ता पुणो मरेज्जएह ।
ते भवणवासिजोदिसभोमेज्जा वा सुरा होंति ॥ १९९३ ॥ भग. आ.

अर्थ—हे मुने ! जो क्षपक सम्यक्त्व की विराधना करके मरण करते हैं वे भवनवासी व्यन्तर अथवा ज्योतिष देव होते हैं। वे इन भवनत्रिक देवो मे ही जन्म लेते हैं और वहा से आयुष्य पूर्ण कर वहा से चयकर सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान से हीन हुए दुःख वेदना की लहरें जिसमे सतत उठा करती है ऐसे ससार सागर मे भ्रमण करते हैं।

हे क्षपक ! जो साधु मिथ्यात्व को प्राप्त होकर जिस लेश्या मे मरण करते हैं परभव मे उसी लेश्या के धारक होते हैं।

प्रश्न—जो साधु समाधिमरण से प्राण छोडता है उसके शरीर की क्या व्यवस्था होती है।

एवं कालगदस्स दु सरीर मंतावहिज्ज बाहिं वा ।
विज्जावच्चकरा तं सयं विकिंचति जदणाए ॥ १९९६ ॥ भग. आ

अर्थ—जब क्षपक पूर्वोक्त सन्यास विधि से मरण करता है तब वैयावृत्त्य करने वाले साधु उसके शरीर को जो गाव मे अथवा बाहर की वसतिका मे पड़ा रहता है, यत्न पूर्वक ले जाते हैं।

भावार्थ—जो क्षपक गुरु के निकट आलोचना से लेकर निस्तरण पर्यन्त सम्यक् प्रकार सम्यक्त्वादि चार आराधनाओं का सेवन कर पवित्र हुआ है उसका शरीर नगर के भीतर किसी वसतिका मे हो अथवा बाहर किसी जगह वसतिका मे पडा हो उसे वैयावृत्त्य करने

वाले मुनीश्वर आगे कही जाने वाली विधि से यत्न पूर्वक ले जाते हैं।

क्षपक की निषीधिका

जहां क्षपक का मृत शरीर स्थापना करते हैं उसको निषीधिका (निषद्या) कहते हैं।

प्रश्न—साधु की निषीधिका कैसी होती है ? उसके लिए जिन २ बातों पर अवश्य ध्यान रखा जाना चाहिए उन सबको संक्षेप से समझाने का अनुग्रह कीजिए।

उत्तर—जहां पर साधु के मृत शरीर को रखते हैं, वह (निषीधिका) स्थान उद्दे ही (चींटी आदि) से रहित निश्छिद्रतादि गुणो सहित होना चाहिए। उसके लिए कहा है—

अभिसुआ असुसिरा अघसा उज्जोवा बहुसमा य असिणिद्धा।
णिज्जंतुगा अहरिदा अविला य तहा अणाबाधा ॥ १९६९ ॥
जा अवर दक्खिणाए व दक्खिणाए व अध व अवराए।
वसधीदो वणिज्जदि णिसीधिया सा पसत्थत्ति ॥ १९७० ॥ भग आ.

अर्थ—क्षपक की निषीधिका उद्देहियो से रहित होनी चाहिए। भूमि में नीचे छेद या बिल न होने चाहिए। धसी हुई न होनी चाहिए। प्रकाश सहित तथा समतल धरा पर होनी चाहिए। भीगी तथा जन्तु सहित न होनी चाहिए। हरितांकुर रहित, तिरछे बिल रहित और बाधा रहित होनी चाहिए।

निषीधिका किस दिशा में होनी चाहिए

वह नैऋत्य दिशा में, दक्षिण दिशा में या पश्चिम दिशा मे प्रशस्त मानी गई है। पूर्वाचार्यों ने उक्त दिशाओं मे ही क्षपक की निषीधिका योग्य बताई है।

प्रश्न—नैऋत्यादि दिशा मे ही क्षपक की निषीधिका प्रशस्त और पूर्वादि दिशाओ मे क्यों अप्रशस्त मानी गई है।-उनका (प्रत्येक दिशा सम्बन्धी निषीधिका का) शुभाशुभ फल क्या है ?

सव्वसमाधी पढमाए दक्खिणाए दु भत्तगं सुलभं ।
अवराए सुहविहारो होदि य उवधिस्स लाभो य ॥ १६७१ ॥
जदि तेसिं वाघादो दट्ठव्वा पुव्वदक्खिणा होइ ।
अवरुत्तरा य पुव्वा उदीचि पुव्वुत्तरा कमसो ॥ १६७२ ॥
एदासु फलं कमसो जाणेज्ज तुमतुमा य कलहो य ।
भेदो य गिलाणं पि य चरिमा पुण कड्ढदे अण्णं ॥ १६७३ ॥ भग. आ.

अर्थ—नैऋत्य दिशा की निपीधिका सम्पूर्ण संघ की समाधि (शान्ति) की सूचक होती है। दक्षिण दिशा की निपीधिका से सर्व सघ के लिए आहार की सुलभता का सूचन होता है। पश्चिम दिशा सम्बन्धी निपीधिका संघ का सुख पूर्वक विहार और पुस्तकादि उपकरणों की प्राप्ति को प्रकट करती है।

इन दिशाओ मे निषद्या बनवाने मे यदि कोई बाधा उपस्थित होती हो तो आग्नेय, वायव्य, ऐशान पूर्व व उत्तर इन पाच दिशाओं में से जिसमें भी सुविधा हो उसमे बनाना चाहिए।

परन्तु इन आग्नेयादि पाच दिशाओं में निषद्या करने का फल अच्छा नहीं है। आग्नेयदिशा की निषद्या से सघ मे तू तू, मैं मैं होती है। अर्थात् तू ऐसा है, मैं ऐसा हूं, ऐसी स्पर्द्धा होती है। वायव्य दिशा की निषद्या से सघ में कलह उत्पन्न होता है। पूर्व दिशा की निषद्या से सघ मे फूट पड़ती है। उत्तर दिशा की निपीधिका से व्याधि उत्पन्न होती है। और ऐशान दिशा की निषद्या से सघ मे खेंचातानी होती है या किसी मुनि का मरण होता है। अर्थात् आग्नेयादि पाच दिशाओं का फल उत्तरोत्तर अधिक २ अशुभ है। इसलिए इन दिशाओ मे जहा तक बन सके क्षपक की निपीधिका न करनी चाहिए। पूर्वोक्त नैऋत्य, दक्षिण या पश्चिम इन दिशाओ मे ही करनी चाहिए।

क्षपक के मृत्यु समय की क्रियाएँ

प्रश्न—क्षपक के मरण समय मे कोई विशेष कर्त्तव्य होता है क्या ?

उत्तर—हा, क्षपक का मरण होने पर निम्नप्रकार क्रिया की जाती है।

जं वेलं कालगदो भिक्खू तं वेलमेव णीहरणं ।
जग्गणबंधणछेदणविधी अवेलाए कादव्वा ॥ १९७४ ॥ भग. आ.

जिस समय क्षपक का मरण हुआ हो, उसी समय उसका शव लेजाना उचित है। यदि साधु का मरण रात्रि आदि अवेला (असमय) मे हुआ तो उस समय जागरण वन्धन और छेदन ये तीन विधि करना चाहिए।

प्रश्न—इन तीन विधियों को कौन करते हैं?

उत्तर—जो धीर-वीर मुनि सघ मे होते हैं, वे ही इन विधियो को करते हैं। कहा है—

बाले वुड्ढे सीसे तवस्सिभीरुगिलाणय दुहिदे । भग आ
आयरिए य विकिंचिय धीरा जग्गंति जिदणिद्दा ॥ १९७५ ॥

अर्थ—सघ मे जो बालक मुनि, वृद्ध मुनि, शिष्य मुनि (शैक्ष) तपस्वी, भीरु (भय युक्त) रोगी, दुःख पीडित और आचार्य इनको छोड कर जो धैर्य धारक मुनि होते हैं और जिन्होंने निद्रा पर विजय पाया है वे मुनि ही जागरण करते हैं। अर्थात् रात्रि आदि असमय मे क्षपक का मरण हो जावे तब धीरता के धारक तथा निद्रा को जीतने वाले आत्मबली मुनि ही शव के समीप रहकर जागरण करते हैं।

प्रश्न—कौन मुनि किस अवयव का वन्धन व छेदन करते हैं।

उत्तर—जिन मुनियों ने आगम के रहस्य को भलीभाति जान लिया है तथा अनेक बार क्षपक के कृत्यो (वैयावृत्य सम्बन्धी कार्यों) का निर्वाह किया है और जो शारीरिक वल, आत्म वल एव धैर्य के धारक हैं ऐसे साधु श्रेष्ठ क्षपक के हाथ तथा पाव और अगूठे के कुछ भाग को बाधते हैं अथवा छेदन करते हैं।

प्रश्न—यदि क्षपक के शव की उक्त वन्धनादि क्रिया नहीं की जावे तो क्या हानि होती है?

जदि वा एस न कीरेज्ज विधी तो तत्थ देवदा कोई ।
आदाय तं कलेवरमुट्ठिज्ज रमिज्ज बाधेज्ज ॥ १९७७ ॥ भग. आ

अर्थ—यदि क्षपक के शरीर की बन्धनादि क्रिया न की जावे तो उस स्थान का तथा आसपास मे निवास करने वाला कोई क्रीड़ाप्रिय भूत या पिशाच (व्यन्तर देव) उस शरीर मे प्रवेश कर जावे तथा उसको लेकर वह उठ खड़ा हो जावे, इधर उधर दौड़ धूप करने लगे, एवं अनेक प्रकार की ऐसी ही क्रीडा करने लगे तो इसको देखकर बाल मुनि अथवा भय प्रकृति वाले अन्य मुनि भयभीत होजावेंगे या अति भयातुर होकर मृत्यु को भी प्राप्त होजावें। कई अधीर मुनियो के श्रद्धान व चारित्र में शिथिलता आजावे अनेक उपद्रव उत्पन्न होजावे। अत: उक्त क्रिया करना अत्यन्त आवश्यक बताया गया है। हाथ पांव आदि छेदन या बन्धन कर देने पर उक्त दोष निवृत्त हो जाता है।

प्रश्न—मुनियों के पास चाकू आदि शस्त्र तो रहता नहीं और वस्त्र भी नहीं रहता है वे क्षपक के हस्त पाद या अंगूठे के किसी भाग का किससे छेदन या बन्धन करेंगे ?

उत्तर—मुनि लोग संघ मे रहते हैं तब उनको चाहिए कि वे अपने दश अगुलियों के नखों में से एक अंगुलि के नख को सदा बढ़ा हुआ रखे। काम पडने पर वे उससे अगुलि का चमडा विदारण कर सकें। तथा तृण का जो संस्तर (सथारा) होता है, उसमें से तृण लेकर उससे अगूठे आदि के भाग को बाध सकते हैं। इस उक्त कार्य के लिए एक नख रखने की सिद्धान्त में आज्ञा है।

प्रश्न—जिन व्यन्तरदेवकृत उपद्रव का निवारण करने के लिए साधुओ को भी क्षपक के मृतक शरीर के निमित्त जागरण तथा बन्धन छेदन करना पडता है उन क्रीडाप्रिय व्यन्तर देवों का विशेष स्वरूप और उनके भेदों का भी विवेचन कीजिए।

व्यन्तर देवों का वर्णन

उत्तर—व्यन्तर जाति के देव कौतुक प्रिय होते हैं। वे केवल क्रीड़ा के लिऐ सब कौतुक करते हैं। अन्य मत वाले भूत पिशाचादि देवों को मासभक्षी रुधिर पान करने वाले कहते हैं। वह सर्वथा मिथ्या है। सब देव मात्र अमृत भोजी होते हैं। उनके आहार की इच्छा होते ही कण्ठ मे अमृत झरता है। उससे उनको तृप्ति होती है। मास भक्षण और रुधिर पान तो उत्तम जाति व कुल के मनुष्य भी नहीं करते हैं। तथा कई धर्म के ज्ञाता नीच जाति व कुल के लोग भी इन से दूर रहते हैं तो जिनके वैक्रियिक शरीर है जिस में रुधिर मांसादि कोई भी धातु नहीं है ऐसे उत्तम शरीर के धारक देव इस घृणित दुर्गन्धमय माँस रुधिर का सेवन कैसे कर सकते हैं।

हाँ कई नीचकुल जाति से आये हुए नीच जाति के देव अपने पूर्व जन्म के संस्कार वश क्रीडा के निमित्त अशुचि पदार्थों का स्पर्श कर लेते हैं। मृतक शरीर से क्रीडा करने के निमित्त उसमें प्रवेश कर लेते हैं। इधर उधर दौड़ने लगते हैं इत्यादि क्रियाएं करते हैं। उन

व्यन्तरों के मूल आठ भेद हैं—

व्यन्तरों के भेद प्रभेद

व्यन्तराः किन्नरकिं पुरुपमहोरगगन्धर्वयक्ष राक्षस, भूत पिशाचा (तत्त्वार्थ सूत्र)

१ किन्नर, २ किम्पुरुप, ३ महोरग, ४ गन्धर्व, ५ यक्ष, ६ राक्षस, ७ भूत और ८ पिशाच ये व्यन्तरो के मूल आठ भेद हैं। इन के आवान्तर भेद निम्न प्रकार हैं:—

१ किन्नरों के दश भेद हैं। वे सब हरित वर्णीय सुन्दर सौम्य दर्शनीय मुकुट हार आदि भूपणो के धारक और अशोक वृक्ष ध्वजा वाले होते हैं।

(१) किन्नर, (२) किम्पुरुपा, (३) किम्पुरुपोत्तम, (४) किन्नरोत्तम, (५) हृदयंगम, (६) रूपशालिन (७) अतिनन्दित, (८) मनोरम, (९) रतिप्रिय और (१०) रतिश्रेष्ठ ये दश भेद होते हैं।

(२) किम्पुरुप—इनकी जघा और भुजा अधिक शोभित होती है और मुख अति सुन्दर होता है। नाना प्रकार के अलंकारो से तथा लेपनादि से भूपित होते हैं। और इनके चम्प वृक्ष की ध्वजा होती है। इन के भी दश भेद होते हैं। वे निम्नोक्त प्रकार हैं—

(१) पुरुप, (२) सत्पुरुप, (३) महापुरुप, (४) पुरुपवृपभ, (५) पुरुपोत्तम, (६) अतिपुरुप, (७) गुरुदेव, (८) मरुत, (९) मेरुप्रभ और (१०) यशस्वत।

(३) महोरगों के शरीर का वर्ण कृष्ण होता है। महावेगवान्, सौम्यदर्शनीय, स्थूलकाय, मोटीगर्दन और स्थूलकन्धोंवाले होते हैं। नाना अलंकारों के धारक और नागवृक्ष की ध्वजा वाले होते हैं। इनके दश भेद होते हैं। वे निम्नोक्त प्रकार हैं—

(१) भुजग, (२) भोगशालिन, (३) महाकाय, (४) अतिकाय, (५) स्कन्धशालिन्, (६) मनोरम (७) महावेग, (८) महेश्वक्ष, (९) मेरुकान्त और (१०) भास्वत्।

(४) गन्धर्व—इनके शरीर का वर्ण रक्त होता है। ये गंभीर, प्रियदर्शनीय, पुरुप, सुन्दर मुखाकृति, सुस्वर, व मालाधारी होते होते हैं। इनकी ध्वजा वाद्यों के आकार की होती है। इन के भेद वारह होते हैं। वे निम्नप्रकार हैं—

(१) हाहा, (२) हूहू (३) तुम्बुरव, (४) नारद, (५) ऋषिवादी, (६) भूतवादी, (७) कादम्ब, (८) महाकादम्ब, (९) रैवत, (१०) विश्वावसु, (११) गतिरति और (१२) गतियश।

५) यक्ष—ये काले वर्ण वाले, गम्भीर, तोंदवाले, प्रिय-दर्शन, प्रमाणयुक्त रक्त हस्तपादादि अवयव वाले, चमकीले मुकुट तथा नाना भूषणों के धारक तथा वटवृक्ष की ध्वजावाले होते हैं। इन के तेरह भेद हैं। वे ये हैं—

(१) पूर्णभद्र, (२) मणिभद्र, (३) श्वेतभद्र, (४) हरिभद्र, (५) सुमनोभद्र, (६) व्यतिपातिकभद्र, (७) सुभद्र, (८) सर्वतोभद्र, (९) मनुष्ययक्ष, (१०) वनाधिपति, (११) वनाहार, (१२) रूपयक्ष और (१३) यक्षोत्तम।

(६) राक्षस—भयंकर दर्शन वाले, भयानक मस्तक मुखादि अंगो वाले, अनेक आभूषणों के धारक तथा खटवा (खटिया) रूप ध्वजा के धारी होते हैं। इनकी ध्वजा वर्तुलाकार (गोल) होती है। इनके सात भेद हैं। वे ये हैं—

(१) भीम, (२) महाभीम, (३) विघ्न, (४) विनायक, (५) जलराक्षस, (६) राक्षसराक्षस और (७) ब्रह्मराक्षस।

(७) भूत—ये कृष्ण वर्ण वाले, सुन्दर रूपवान, सौम्य, दुबले, नाना भक्ति युक्त और सुलस काले रङ्ग की ध्वजा के धारी होते हैं इनके ९ नव भेद हैं। वे निम्न प्रकार हैं :—

(१) सुरूप, (२) प्रतिरूप, (३) अतिरूप, (४) भूतोत्तम, (५) स्कन्दिक, (६) महास्कन्दिक, (७) महावेग, (८) प्रतिछिन्न, और (९) आकाशग।

(८) पिशाच—ये सुरूप, सौम्य, दर्शनीय, हाथो और गले मे मणि आदि रत्नालकारो के धारक तथा कदम्बवृक्ष की ध्वजा वाले होते हैं। इनके १५ पन्द्रह भेद हैं। वे निम्न प्रकार हैं—

(१) कुष्माण्ड, (२) पटका, (३) जोपा, (४) आह्नका, (५) काल, (६) महाकाल, (७) चौक्ष, (८) अचौक्ष, (९) तालपिशाच, (१०) मुखर पिशाच, (११) अधस्तारका, (१२) विदेह, (१३) महाविदेह, (१४) तूष्णीक और (१५) वनपिशाच।

मुनि के शव का क्या करना चाहिए ?

प्रश्न—मुनि के मृतक शरीर का सघ के मुनि क्या करते हैं ?

उत्तर— नगर के समीप या मनुष्यों के गमनागमनादि के मार्ग मे किसी वसतिका मे मुनि का मरण हो जावे तो मुनि उसे एकान्त जगल मे डालते हैं। मुनीश्वर शरीर के अनुरागी नहीं होते हैं। वे तो शरीर मे जब तक आत्मा रहता है तब तक ही उसका वैयावृत्त्य करते हैं। शरीर से आत्मा निकल जाने पर शव के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। वे उसे स्वय दग्ध नहीं करते और न किसी श्रावकादि को उसके दग्ध करने का उपदेश ही देते हैं। वे केवल उस शरीर को एकान्त वन मे जहा मनुष्यो आदि को वाधा न हो वहा रख देते हैं। जहा पर वह स्वय धूप आदि से सूख जाता है अथवा वन के पशु पक्षी उसका भक्षण कर लेते हैं।

साधु लोग वनविहारी होते हैं। यदि उनका मरण किसी वन मे, पर्वत की गुफा मे पर्वत के शिखर या कन्दरा मे, पुलों मे, वृक्षो की कोटर मे, श्मशान में एव नदियो के तट इत्यादि जन शून्य एकान्त स्थान पर हो जावे तो वहा उसे कौन उठावे ? वह मुनि शव वहा ही पड़ा रहता है।

प्रश्न—किसी विख्यात स्थान पर किसी मुनि का मरण हो जावे तब गृहस्थो को क्या करना चाहिए ?

उत्तर—मुनि का मरण ज्ञात होने पर उनका कर्त्तव्य होता है कि वे मुनि के शव का विधि-पूर्वक दाह कर्म करें। शास्त्रों मे कहा है —

जदि विक्खादा भत्तपइण्णा अज्जा व होज्ज कालगदो।
देउलसागारित्ति व सिन्नियाकरणं पि तो होज्ज ॥ १९७९ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—जब जन समुदाय मे मुनि का भक्तप्रत्याख्यान नामक समाधिमरण प्रसिद्ध हो जावे तब वसतिका के स्वामी का एव सम्पूर्ण गृहस्थो का परम कर्त्तव्य होता है कि वे मुनीश्वर आर्यिका अथवा क्षुल्लकादि त्यागी के शव का दाह कर्म करें। शिविका (पालकी) बनाकर उसमे शव को स्थापित करके उसे दग्ध क्रिया करने के लिए प्रभावना सहित ले जावें।

प्रश्न—यदि आर्यिका समाधिमरण करें तब मुनीश्वरों की भाति ही करें या उनके लिए कोई विशेष विधान है ?

उत्तर—आर्यिकाओं की समाधिमरण विधि मुनीश्वरों के समान ही होती है। परन्तु उसमे थोड़ा सा अन्तर है। वह यह है कि आर्यिकादि स्त्रियों की वसतिका ग्राम के अति सन्निकट या ग्राम मे ही होनी चाहिए। तथा समाधिमरण करने वाली आर्यिकादि की वसतिका का प्रदेश अत्यन्त गूढ होना चाहिए। जहा पर पुरुषों का दृष्टि प्रवेश भी न हो सके। आर्यिकाओं के नग्न होने का निषेध है। यदि कोई परम विरक्त आर्यिका समाधिमरण के लिए नग्न वेश धारण करे तो उसको वसतिका के गूढ प्रदेश से बाहर निकलने का सर्वथा निषेध किया गया,

है। उसे दिगम्बर रूप को धारण कर उसी गुप्त स्थान मे निवास करना चाहिए। वहां पर मनुष्यो का गमनागमन कभी भी न होना चाहिए। आर्यिका का समाधिमरण हो जाने पर कोई भी आर्यिका शव को लेजाने या दग्ध करने आदि के सम्बन्ध मे गृहस्थों को नहीं कह सकतीं। क्योंकि वे भी उपचार से महाव्रत की धारण करने वाली हैं। वे कभी मोह वश रुदनादि नहीं कर सकतीं। उक्त बातों के सिवा सब विधि मुनियो के समान ही होती है।

आर्यिकाएँ तो सदा गृहस्थों के समीपवर्ती स्थान मे ही रहती हैं, इसलिए उनके मुनि के समान शव को उठाकर एकान्तादि स्थान में रखने की आवश्यकता है।

प्रश्न—श्रावक लोग मुनीश्वर अथवा आर्यिकादि के शव को किस विधि से लेजावें ?

तेण परं संठाविय संथारगदं च तत्थ बंधित्ता।
उड्ढंतरक्खणट्ठं गामं तत्तो सिरं किच्चा ॥ १६८० ॥
कुसमुट्ठिं घेत्तूण य पुरदो एगेण होइ गंतव्वं।
अट्ठिदअणियत्त तेण पिट्ठदो लोयणं मुच्चा ॥ १६८२ ॥
तेण कुसमुट्ठिधाराए अव्वोच्छिण्णाए समणिपादाए।
संथारो कादव्वो सव्वत्थ समो सगिं तत्थ ॥ १६८३ ॥ [भग. आ]

अर्थ—पहले गृहस्थ शिविका (पालकी) बनावे। उसके पश्चात् मुनि आदि के शव को शिविका मे स्थापित करे और संस्तर सहित उसको रस्सी से बाध द। जिससे उठाने मे वह सुरक्षित रहे। तथा बिना बाधे कभी २ मुर्दा शरीर ऐंठ कर उठ भी जाता है। बाधने से वह उठ नहीं सकता है। शव का सिर गाव की तरफ करे। एक मनुष्य कुश का पूला हाथ मे लिए हुए आगे २ चले। मार्ग मे बिना ठहरे शीघ्र २ चले जाना चाहिए। पीछे मुड़कर नहीं देखना चाहिए।

पहले ही देखे हुए स्थान पर जाकर वह जानकार मनुष्य उस कुश (डाभ) के पूले को बराबर बिखेर कर सम संस्तर करे।

प्रश्न—जहा पर कुश (दर्भ) न मिले वहा क्या करे ?

जत्थ ण होज्ज तणाइं चुण्णेहिं वि तत्थ केसरेहिं वा । [भग. आ.]
संथरिदव्वा लेहा सव्वत्थ समा अवोच्छिण्णा ॥ १९८४ ॥

अर्थ—जहां पर भूमि सम करने के लिए कुश तृण न मिले तो प्रासुक चावल मसूर आदि के आटे से अथवा ईंटों के चूर्ण से अथवा प्रासुक कमलादि के केसर से या सूखे पत्तो आदि से मस्तक से लेकर पाव तक की भूमि को समान करे। उसमे ऊँचा नीचा प्रदेश न रखे।

सस्तर भूमि के सम न होने से निमित्त ज्ञान मे हानि बतलाई गई है।

जो संस्तर ऊपर से विषम होगा तो उससे आचार्य का मरण एव शरीर मे व्याधि सूचित होती है। मध्य मे विषम होने से संघ मे प्रधान मुनि (ऐलाचार्य की मृत्यु या शारीरिक विशेष व्याधि सूचित होती है और यदि पाव के समीप मे नीचे का संस्तर विषम होगा तो सघ के अन्य मुनीश्वरो का मरण या उनमे भयानक रोग उत्पन्न होने की सूचना होती है। इसलिए सस्तर भूमि को सम बनाने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। उसमे किसी स्थान मे विपमता ऊँचा-नीचापन् न रहे इस विषय मे पूरी सावधानी रखनी चाहिए।

साधु के मृत शरीर को गॉव की ओर मस्तक करके उस सम किये हुए स्थान पर रखना चाहिए और शरीर के पास पिच्छिका रख देनी चाहिए। कहीं २ मृत साधु के दाहिने हाथ मे पिच्छी स्थापित करने के लिए कहते हैं।

प्रश्न—ग्राम की तरफ सिर करने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—यदि वह शव व्यन्तर देव के निमित्त से उठ खड़ा हो और उसका मुख ग्राम की तरफ हो तो वह ग्राम मे प्रवेश करेगा इससे ग्राम के भीरु लोग भयभीत हो जावेंगे और जो अति भीरु होगे वे प्राण भी छोड़ देंगे, इत्यादि अनेक उपद्रव होगे इसलिए शव का मस्तक ग्राम की तरफ करने से उक्त उपद्रवों का निवारण होता है।

प्रश्न—क्षपक के मरण का समय निमित्त ज्ञान से किन २ शुभाशुभ का सूचक होता है ?

णत्ता भाए रिक्खे जदि कालगदो सिवं तु सव्वेसिं।
एको दु समे खेत्ते दिवड्ढखेत्ते मरंति दुवे ॥ १९८८ ॥ [भग आ.]

अर्थ—यदि अल्प नक्षत्र में क्षपक का मरण हो तो समस्त सघ मे सुख शान्ति रहती है। मध्यम नक्षत्र मे मरण होने पर एक

और साधु का मरण सूचित होता है। और यदि महान् नक्षत्र मे मरण हो जावे तो दो अन्य साधुओ के मरण की सूचना होती है।

भावार्थ—शतभिषज, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा और ज्येष्ठा ये छह पन्द्रह मुहूर्त्त वाले नक्षत्र जघन्य नक्षत्र कहलाते हैं। इनमें से किसी नक्षत्र मे या इनके अंश मे क्षपक की मृत्यु हो जाने पर सबका क्षेम कुशल प्रतीत होता है। अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, पूर्वा फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल, पूर्वाषाढ़ा, श्रवण, धनिष्ठा, पूर्वभाद्रपदा और रेवती इन नक्षत्रो को मध्यम नक्षत्र कहते हैं। इनका काल तीस मुहूर्त्त प्रमाण होता है। इनमे से किसी नक्षत्र मे या इनके अश मे यदि क्षपक का मरण हो जावे तो एक दूसरे मुनि की मृत्यु होती है। तथा उत्तरा फाल्गुणी, उत्तराषाढ़ा, उत्तरभद्रा, पुनर्वसु, रोहिणी और विशाखा ये उत्कृष्ट नक्षत्र कहे जाते हैं। इनका काल पैंतालीस मुहूर्त्त प्रमाण है। इन नक्षत्रो मे से किसी नक्षत्र मे अथवा इनके अश मे किसी क्षपक की मृत्यु हो जावे तो दो मुनि और मरण करते हैं। ऐसा निमित्त ज्ञान से सूचित होता है।

प्रश्न—क्षपक का मरण आयु कर्म के आधीन है। यदि मध्यम या उत्कृष्ट नक्षत्र मे क्षपक का मरण हो जावे तो उक्त उत्पात का निवारण करने का कोई उपाय है या नहीं ?

उत्तर—हा, उपाय है। और वह निम्न प्रकार है—

गणरक्खत्थं तम्हा तणमयपडिबिंबयं खु कादूण।
एकं तु समे खेत्ते दिवड्ढखेत्ते दुवे देज्ज ॥ १९९० ॥
तट्ठाणसावणं चिय तिक्खुत्तो ठविय मडयपासम्मि।
विदियवियप्पिय भिक्खू कुज्जा तह विदियतदियाणं ॥ १९९१ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—सघ की रक्षा के निमित्त मध्यम नक्षत्र मे मरे हुए क्षपक के शव के समीप एक तृणमय प्रतिबिम्ब की स्थापना करे। अर्थात एक घास के पूले मे प्रतिबिम्ब की कल्पना करके उस पूले की स्थापना करे और 'उस मुनि के स्थान मे मैंने यह दूसरा (मुनि) स्थापित किया है, यह चिरकाल तक यहा रहे और तपस्या करे' ऐसा तीन वार उच्च स्वर से उच्चारण करे। उत्कृष्ट नक्षत्र मे मृत्यु को प्राप्त हुए मुनि के निकट दो तृणमय प्रतिबिम्ब की स्थापना करे। अर्थात् दो घास के पूलों मे प्रतिबिम्ब की कल्पना करके उन्हे स्थापित करे। तथा दोनो पूलों को स्थापन करके 'उन दोनों (मुनियों) के स्थान मे मैंने ये दो स्थापन किये हैं, ये चिरकाल तक यहा रहें और तप करें' ऐसा तीन वार उच्च-स्वर से उच्चारण करे।

प्रश्न—यदि घास का पूला न मिले तो शान्ति के निमित्त क्या करना चाहिए।

असदि तणे चुण्णेहिं च केसरच्छारिट्टियादिचुण्णेहिं ।
कादव्वोथ ककारो उवरिंदिट्ठा यकारो से ॥ १९९२ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—तृण न मिलने पर चावल आदि के आटे से अथवा पुष्प की सूखी प्रासुक केसर या भस्म या ईंट अथवा पत्थर के चूर्ण से 'काय' ऐसा लिखे।

अथवा 'क' ऐसा लिखकर उसके ऊपर क्षपक के शव को स्थापन करे। तथा अर्हत्पूजा आदि से शान्ति करना भी इष्ट है ऐसा मूलाराधना नामक टीका में कहा है—

महन्मध्यमनक्षत्रमृते शान्तिर्विधीयते ।
यत्नतो गणरक्षार्थं जिनार्चाकरणादिभिः ॥

अर्थ—उत्कृष्ट और मध्यमनक्षत्र में क्षपक का मरण होने पर गण की रक्षा के अर्थ यत्नपूर्वक जिन पूजादि क्रियाओं से शान्ति की जाती है।

आशय यह है कि संघ में शान्ति बनी रखने का महान प्रयोजन है। वह जैसा साधुओं का कर्तव्य है वैसा श्रावकों का भी है। दोनों अपने२ पद के अनुसार अपना कर्त्तव्य करते हैं। साधुगण तपश्चरण ध्यानादि द्वारा आगत विघ्न की शान्ति का उपाय करते हैं और श्रावक जिन पूजा दानादि द्वारा शान्ति, कर्म करते हैं। अतः श्रावकों को जिन पूजादि कार्य करना उचित है और मुनियों को अनशनादि तपश्चरण व ध्यानादि का आचरण करना योग्य है। अथवा जिनेन्द्र देव की भाव पूजा मुनि भी कर सकते हैं, किन्तु द्रव्य पूजा श्रावक ही करते हैं।

क्षपक के शव के साथ पिच्छी व कमण्डलु भी स्थापित कर दे। यदि शिविका (पालकी) बनाई हो और उसमें उपकरण लगाये हों तो उनमें से जो उपकरण जिससे मांगकर लाये हों वे उनको वापिस दे दें और जो नहीं देने योग्य हों उनको वहीं स्थापित कर दें।

प्रश्न—आराधक की वसतिका में जाकर समस्त संघ क्या करे ?

उत्तर—उसके पश्चात् हमको चारों आराधना की प्राप्ति हो इस हेतु से समस्त संघ को कायोत्सर्ग करना चाहिए। और क्षपक

की जहा आराधना हुई है उस वसतिका के अधिष्ठातृ देवता से सम्पूर्ण मुनि इच्छाकार करें अर्थात् हम सब सघ के मुनि यहा पर तुम्हारी अनुमति से रहना चाहते हैं-ऐसा कहना चाहिए।

अपने सघ के मुनि का मरण हो जावे तो उस दिन सम्पूर्ण सघ के मुनियों को उपवास करना चाहिए। यदि मुनियो की गोचरी हो जाने के बाद कोई मुनि मरण को प्राप्त हो जावे तो दूसरे दिन उपवास न करे। मरण के दिन स्वाध्याय करना वर्जित है। यदि दूसरे सघ मे मुनि का मरण हो जावे तो उपवास करे या न करे अपनी इच्छा पर निर्भर है। किन्तु उस दिन स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

प्रश्न—साधु की मृत्यु होने के तीसरे दिन का क्या कृत्य है ?

उत्तर—सघ के सुख सहित बिहार के लिए तथा क्षपक की गति जानने के लिए तीसरे दिन क्षपक के शरीर का अवलोकन करना चाहिए। जितने दिन तक क्षपक के शरीर को वृक (भेड़िया आदि पशु और गृध्रादि पक्षी स्पर्श न करेंगे उसका शरीर अक्षत रहेगा उतने वर्ष पर्यन्त उस राज्य भर मे क्षेम कुशल रहेगा। ऐसा सूचित होता है।

उस मृतक शरीर को या उसके अवयव को पशु पक्षी जिस दिशा मे ले गये हो उस दिशा मे यदि सघ विहार करे तो संघ में क्षेम कुशल तथा कल्याण होता है। ऐसा निमित्त शास्त्र में कहा गया है।

प्रश्न—मृत क्षपक की गति का ज्ञान कैसे होता है ?

जदि तस्स उत्तमंग दिस्सदि दंता च उवरिगिरिसिहरे।
कम्ममलविप्पमुक्को सिद्धिं पत्तोत्ति णायव्वो ॥ १६६६ ॥ [भग. आ]

अर्थ—यदि मृत क्षपक शरीर का उत्तमाग (सिर) या दात पर्वत के शिखर पर पडे हुए दिखाई दें तो समझना चाहिए कि वह क्षपक कर्म मल से रहित होकर सिद्धावस्था को प्राप्त हुआ है।

जयनदी के टिप्पण मे कर्ममल का अर्थ मिथ्यात्वादि अल्प कर्म और सिद्धि का अर्थ सर्वार्थसिद्धि किया गया है। अर्थात् जिसके दांत अथवा सिर गिरि के शिखर पर पड़े हुए दिखाई दें तो उस क्षपक साधु के मिथ्यात्वादि का क्षय होगया है और वह सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त हुआ है ऐसा प्रतीत होता है। तथा प्राकृत टोका मे एव विजयोदया टीका मे कर्ममल से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त हुआ है-ऐसा अर्थ किया गया है। उक्त दो मतो मे जयनन्दी का मत बुद्धिग्राह्य प्रतीत होता है किन्तु दूसरे मत को बुद्धि स्वीकार नहीं करती, कारण कि यदि

अन्तकृत केवली भी होते तो देवों द्वारा उनका मोक्ष कल्याणक होता है। लेकिन देवों का आगमन न होने के कारण अन्य साधुओं के मोक्ष का निश्चय नहीं हो सकता है।

यदि क्षपक के मृतक शरीर का मस्तक उन्न प्रदेश में दिखाई दें तो उसका जन्म वैमानिक देवों मे हुआ प्रतीत होता है। यदि वह समभूमि मे दीख पडे तो उसकी उत्पत्ति ज्योतिष देवों में एवं व्यन्तरों मे निश्चित होती है। कोई कोइ आचार्य समभूमि मे मस्तक देखकर वानव्यन्तर जाति के व्यन्तर देवों मे ही जन्म मानते हैं और यदि गढ्ढे मे मस्तक दिखाई दे तो भवनवासी देवों में जन्म निर्धारित होता है।

क्षपक की गति के ज्ञान कराने वाले जो ऊपर निमित्त बताये हैं वे सुचना मात्र हैं। उनसे क्षपक की गति का यथार्थ निश्चय नहीं हो सकता है। यह तो केवलीगम्य है या अवधीज्ञान के गोचर हैं। इसलिए हम इसका पूर्ण निश्चय नहीं कर सकते हैं।

ते सूरा भयवंता आहच्चइदूण संघमज्झम्मि।
आराधणापडायं चउप्पयारा हिदा जेहिं ॥ २००१ ॥ [भग आ.]

अर्थ—वे मुनिराज क्षपक शूरवीर और पूज्य हैं जिन्होने सघ के मध्य प्रतिज्ञा लेकर आराधना ग्रहण की है।

भावार्थ—जिन महापुरुषों ने सासारिक सुख से मुह मोड़ कर इन्द्रियो के विषय और स्वच्छन्द प्रवृत्ति का निरोधकर खड्ग धार पर चलने के समान मुनिव्रत को अङ्गीकार किया है वे धन्य हैं, जगत के पूज्य हैं। किन्तु जिन्होंने अपने शरीर को नि सार समझ रत्नत्रय की आराधना के लिए समाधिमरण सरीखे दिव्य कर्त्तव्य की प्रतिज्ञा लेकर अन्तरंग और बाह्य घोर तपश्चरण का आचरण कर शरीर और कषायो का शोषण करके समाधि पूर्वक मरण किया है अर्थात् मरण पर्यन्त रत्नत्रय की आराधना का निर्वाह किया है वे जगत्पूज्य महामुनि धन्य हैं। वे महा भाग्यशाली व ज्ञानी हैं। जिन्होने अभीष्ट फल (मोक्ष) देने वाली आराधना को प्राप्त किया है। उन्होंने किस दुर्लभ पदार्थ को प्राप्त नहीं किया है ? अर्थात् उन्होंने तीनों लोक मे जो दिव्य पदार्थ हैं उन सबकी प्राप्ति करली है। जो महाभाग एक वार जघन्य आराधना का सेवन कर चुके हैं वे सात आठ भवों के अनन्तर अवश्य मोक्ष के अधिकारी होते हैं। ऐसे भाग्यशाली महात्मा की महिमा का वर्णन कहा तक किया जावे ? उनकी जितनी स्तुति की जावे वह थोडी है।

वे निर्यापक मुनि भी धन्य हैं, वे अपूर्व भाग्यशाली हैं, जिन्होने जगत्पूज्य क्षपक की आराधना को सफल बनाने मे पूर्ण यत्न पूर्वक सहायता की है। आदर भक्ति से अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर अनेक क्लेशों को सहकर रात दिन क्षपक का वैयावृत्य किया है। वे

परिचारक महाभागो का जन्म भी धन्य है। उन्होंने क्षपक की आराधना को निर्विघ्न क्या किया है, अपनी भविष्य में होने वाली आराधना को निर्विघ्न बनाया है। जो साधु दूसरे की आराधना को निर्विघ्न बनाते हैं वे निकट भविष्य मे सुख पूर्वक अपनी आराधना की पूर्ति करते हैं। शास्त्र मे कहा गया है।

ते वि य महाणुभावा धण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स।
सव्वादरसत्तीए उवविहिदाराधणा सयला ॥ २००४ ॥
जो उवविधेदि सव्वादरेण आराधणं खु अण्णस्स।
संपज्जदि णिव्विग्घा सयला आराधणा तस्स ॥ २००५ ॥ [भग आ.]

इनका आशय ऊपर आगया है।

जो धर्मात्मा क्षपक के दर्शन के लिए यात्रा करते हैं वे भी पुण्यशाली होते हैं।

ते वि कदत्था धण्णा य हुंति पावकम्ममलहरणे।
ण्हायंति खवयतित्थे सव्वादरभत्तिसंजुत्ता ॥ २००६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—उन मनुष्यो का भी जन्म कृतार्थ है जो अनादिकाल से आत्मा के साथ चिपके हुए पापकर्ममल को धोने के लिए क्षपक रूप तीर्थ मे श्रद्धा व भक्ति सहित स्नान करने के लिए जाते हैं।

भावार्थ—भक्त प्रत्याख्यान करके संन्यास मरण करने वाला क्षपक महान् पवित्रात्मा है। ऐसे पवित्रात्माओं के स्पर्श से क्षेत्र भी तीर्थ बन जाते हैं। उन तीर्थों मे जाकर लोग स्नान करके अपने को पवित्र हुआ मानते हैं। जिसके चरण स्पर्श मात्र से भूमि तीर्थ बनती है उसके दर्शन करने से पाप कर्म का क्षय हो तो इसमें आश्चर्य क्या है। इसलिए जिन भाग्यशाली पुरुषो को ऐसे क्षपक मुनीश्वर का दर्शन लाभ होता है वे धन्य है। ऐसा सुयोग पाकर प्रत्येक धार्मिक पुरुष को दर्शन स्पर्शन सेवादि सुकृत्य करके अपने जन्म को सफल बनाना चाहिए।

गिरिणदियादिपदेसा तित्थाणि तवाधणेहिं जदि उसिदा।
तित्थं कधं ण हुज्जा तवगुणरासी सयं खवओ ॥ २००७ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—जहां पर तपोधनों ने निवास किया है वे पर्वत नदी वनादि क्षेत्र यदि तीर्थ हो जाते हैं तो फिर सतत उग्रोग्र तपस्या करने वाले गुणों के पुंज क्षपक के तीर्थ होने में क्या सन्देह हो सकता है ?

पुव्वरिसीणं पडिमाओ वंदमाणस्स होइ यदि पुण्णं ।
खवयस्स वंदओ किह विपुलं विउलं ण पावेज्ज ॥ २००८ ॥ [भग. आ]

अर्थ—प्राचीनकाल के ऋषि महर्षियों की प्रतिमाओं की वन्दना करने वालों को यदि पुण्य होता है तो साक्षात् क्षपक महर्षि की वन्दना करने वाला क्या विपुल पुण्य का अधिकारी न होगा ? अवश्य होगा । इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है ।

भावार्थ—आगम में पंच परमेष्ठी की प्रतिमाएँ वन्दनीय और पूज्य मानी गई हैं । पंच परमेष्ठी मे अठाईस मूल गुण के धारक मुनिराज भी एक परमेष्ठी हैं । कई क्षेत्रों मे साधु परमेष्ठी की प्रतिमाएँ इस समय भी नित्य प्रति पूजी जाती हैं । इतना अवश्य है कि जिनके भाव से मुनिपने का पूर्ण रूप से निश्चय हो जाता है उनकी ही प्रतिमाएँ हो सकती हैं और ऐसे निश्चित भाव-मुनियो की ही प्राचीन प्रतिमाएँ देखी जाती हैं । जैसे मन्दिरों मे सर्प के फण सहित पार्श्वनाथ भगवान् की प्रतिमा हैं वे सब मुनि अवस्था की प्रतिमाए हैं । लता वेल आदि से वेष्टित बाहुबलि की प्रतिमा भी मुनि अवस्था की ही है इत्यादि । उनके वन्दन पूजन करने से महान् पुण्य का वन्ध होता है । जब कि मुनि प्रतिमा के दर्शन वन्दन पूजनादि से पुण्य उत्पन्न होता है तो क्या परम तपस्वी अठाईस मूल गुण के धारक रत्नत्रय की निर्विघ्न आराधना करने के लिए शरीर का उत्सर्ग करने वाले कषायो का दमन कर उन्हें अत्यन्त कृश करने वाले वीतरागी क्षपक की वन्दना स्तुति करने वाला पुण्य का भागी न होगा ? अवश्य होगा । और तो क्या, जो क्षपक की यथाशक्ति उपासना करता है, जिसके अन्तःकरण मे भक्ति का स्रोत बहता रहता है, वह महापुरुष भी निकट भविष्य मे सम्पूर्ण आराधना को प्राप्त करता है ।

इस प्रकार यहा तक सविचार भक्त प्रत्याख्यान का वर्णन हुआ ।

अविचार भक्त प्रत्याख्यान

स प्र.

तत्थ अविचारभत्तपइण्णा मरणम्मि होइ आगाढे ।
अपरक्कमस्स मुणिणो कालम्मि असंपुहुत्तम्मि ॥ २०११ ॥

अर्थ—अकस्मात् मृत्युकाल उपस्थित हो जाने पर हीन शक्ति के धारक मुनि के उपरोक्त सविचार भक्त प्रत्याख्यान नहीं होता है। उस समय अविचार भक्त प्रत्याख्यान होता है। अर्थात् जिसमें अल्प शक्ति है और जिसकी आयु का काल अधिक नहीं बचा है, मरण शीघ्र होने वाला है, ऐसे मुनि के अविचार भक्त प्रत्याख्यान होता है।

अविचार भक्त प्रत्याख्यान तीन प्रकार का है—(१) निरुद्ध (२) निरुद्धतर (३) और परमनिरुद्ध।

प्रश्न—निरुद्ध नामक अविचार भक्त प्रत्याख्यान किसे कहते हैं।

तस्स विरुद्धं भणिदं रोगादंकेहिं जो समभिभूदो।
जंघाबलपरिहीणो परगणगमणम्मि ण समत्थो ॥ २०१३ ॥ [भग आ]

अर्थ—जो मुनि साधारण रोग अथवा भयानक रोग से निरन्तर पीडित रहता है और जिसकी जाघो मे गमन करने की शक्ति नहीं है अतएव जो दूसरे सघ में नहीं जा सकता है उस मुनि के निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान होता है। इसकी शेष सब विधि सविचार भक्त प्रत्याख्यान के समान होती है।

भावार्थ—जब तक मुनि के पावों मे चलने फिरने की शक्ति रहती है तब तक वह अपने कार्यों को स्वय करता है और जब शक्ति का अत्यन्त ह्रास हो जाता है तब सघ के मुनियो की सेवा स्वीकार करता है। अर्थात् सतत रोग से पीडित रहने के कारण अथवा अचानक भयानक बीमारी के आजाने पर जिसमे गमनागमन की शक्ति नहीं रहती है, जो अन्य सघ मे जाने के लिए असमर्थ हो जाता है, ऐसे मुनि के मरण को निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं। वह मुनि अपने सघ मे हा आचार्य के निकट रहता है। सविचार भक्त प्रत्याख्यान वाला मुनि अनियत विहार कर अन्य आचार्य सघ मे जाता है और यह अनियत विहार न करके अपने सघ मे ही रहता है, इसलिए इसको अविचार नाम से कहा है। यह अपने आचार्य के पादमूल मे रहकर मुनि दीक्षा से लेकर अब तक के जितने दोष हुए हैं उनकी आलोचना करता है। उनकी निन्दा गर्हा करता है। गुरु महाराज से दिये हुए प्रायश्चित्त का आचरण कर दोषो से निवृत्त होकर आत्म-शुद्धि करता है। तथा जब तक शक्ति रहती है तब तक दूसरों की सहायता के बिना रत्नत्रय की आराधना मे तत्पर रहता है। और जब चलने फिरने मे अशक्त हो जाता है तब अन्य मुनीश्वरो की सहायता लेकर रत्नत्रय की साधना करता है।

इसकी शेप सब विधि सविचार भक्त प्रत्याख्यान के समान ही जाननी चाहिए। यही मूलाराधना टीका मे कहा है—

सन्निरुद्धमवीचारं स्वगणस्थमितीरितम् ।
अपरः प्रक्रमः सर्वः पूर्वोक्तोऽत्रापि जायते ॥

अर्थ—अपने गण (संघ) में ही रहकर समाधिमरण सम्पन्न करने वाले मुनि के अविचार निरुद्ध भक्त प्रत्याख्यान होता है। इसके अतिरिक्त भक्त प्रत्याख्यान की सब प्रक्रिया पूर्वोक्त सविचार भक्त प्रत्याख्यान के समान होती है।

इस निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान के प्रकाश, और अप्रकाश ये दो भेद होते हैं।

जो भक्त प्रत्याख्यान (समाधिमरण) प्रकट रूप मे किया जाता है उसे प्रकाश भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं और जो भक्त प्रत्याख्यान क्षपक के मनोबल (धैर्य) की हीनता तथा क्षेत्र की अयोग्यता आदि से प्रकट नहीं किया जाता है उसे अप्रकाश भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं।

यदि क्षपक धैर्य का धारण करने वाला न हो और क्षुधादि परीषहो के प्राप्त हो जाने पर पीड़ित होने लगे अथवा वसतिका एकान्त स्थान मे न हो, या काल अतिरुद्ध हो, या क्षपक के पुत्र मित्रादि बन्धुगण सन्यास (भोजनादि के त्याग) मे विघ्न बाधा उपस्थित करने वाले हों तो क्षपक का भक्त प्रत्याख्यान मरण गुप्त रखना चाहिए, क्योंकि प्रकाशित होने पर सन्यास कार्य मे विघ्न बाधाओ की पूरी सभावना रहती है।

प्रश्न—निरुद्धतर भक्त प्रत्याख्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर—अग्नि आदि अचेतन कृत तथा सर्प व्याघ्रादि चेतन कृत उपसर्गों के प्राप्त होने पर या हैजा,रोग आदि मारक रोगों की अचानक उत्पत्ति होने पर आयु के शीघ्र क्षय होने का निश्चय हो जावे उस समय सब प्रकार के आहारादि का त्याग करके आचार्य के निकट दीक्षा से लेकर अब तक के सब अपराधों की आलोचना गर्हा निन्दा करके आचार्य द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त का आचरण कर शुद्ध हो रत्नत्रय की आराधना में जब तक सुध बुध रहे तब तक लगे रहने को निरुद्धतर अविचार भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं। शास्त्रो मे कहा है—

बालग्गिवग्घमहिसगयरिच्छ पडिणीयतेणमेच्छेहिं ।
मुच्छा विसूचियादीहिं होज्ज सुज्जो हु वावत्ती ॥ २०१८ ॥ [भग. आ.]
जाव ण वाया खिप्पदि बलं च विरियं च जाव कायम्मि ।

तिव्वाए वेदणाए जाव य चित्तं ण विक्खत्तं ॥ २०१६ ॥
वाचा सवहिज्जं तमाउगं सिग्घमेव तो भिक्खू ।
गणियादीणं सरिणहिदाण आलोचए सम्म ॥ २०२० ॥ [भग. आ]

अर्थ—सर्प, अग्नि, सिंह, व्याघ्र, भैंसा, हाथी, रीछ, शत्रु, चोर, तथा म्लेच्छ और मूर्छा हैजा आदि प्राण-घातक रोग के निमित्त से मृत्यु की कारण भूत वेदना या मरण के उपस्थित होने पर जब तक बोलने की शक्ति बनी रहे तथा जब तक शरीर में बल व वीर्य विद्यमान रहे तथा तीव्र वेदना से जब तक सावधानता का नाश न हो तब तक आयु को शीघ्र नष्ट होते हुए जानकर आचार्य के चरणों की शरण ग्रहण करे और उनके समीप अपने सम्पूर्ण दोषों की आलोचना करे एवं सम्यक प्रकार, रत्नत्रय की आराधना मे तत्पर हुआ अपने शरीर का, उपकरणों का, तथा आहार संस्तर व वसतिका का और परिचारकों का त्याग करदे अर्थात इनपर से ममत्व भाव को हटाले।

आशय यह है कि विपत्ति आने पर बल वीर्य का ह्रास हो जाने से अन्य संघ में जाने के लिए असमर्थ हुए साधु को निरुद्ध कहते हैं। और जब साधु उससे अधिक आकस्मिक विपत्ति आने पर अति असमर्थ होता है उस समय आचार्य का संयोग न मिले तो अन्य साधु के निकट आलोचना कर रत्नत्रय की आराधना मे सावधान रहने को निरुद्धतर कहते हैं और उसके मरण को निरुद्धतर अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं।

प्रश्न—परमनिरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर—सर्प, व्याघ्र, अग्नि आदि के उपद्रव के कारण जिन मुनीश्वरों की बोलने की शक्ति भी नष्ट हो गई हो जब वे मुनीश्वर अपने मन ही मन मे अरिहन्त सिद्ध आचार्यादि परमेष्ठी का स्मरण व ध्यान कर अपने दोषों की आलोचना कर अपने आत्म ध्यान मे अर्थात् रत्नत्रय की आराधना में दत्तचित हो जावें तब उनके मरण को परम निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं। जैसा कि कहा है—

वालादिएहिं जइया अक्खित्ता होज्ज भिक्खुणो वाया ।
तइया परमणिरुद्धं भणिदं मरणं अविचारं ॥ २०२२ ॥ [भग आ]

अर्थ—जब साधु के शरीर मे सर्पादि के विष का संचार हो जावे या किसी अग्नि आदि के उपद्रव से अत्यन्त पीड़ित हो जावे और उसकी वचन प्रवृत्ति का भी भग हो जावे, बोलने की शक्ति भी नष्ट हो जावे उस समय परमनिरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण

होता है अर्थात् वचन उच्चारण करने की शक्ति न रहने पर परमनिरुद्ध मरण होता है। उस समय उस साधु को चाहिए कि अपने अन्तःकरण मे अर्हन्त सिद्ध साधु को धारण कर शीघ्र आलोचना करले और शान्तचित्त से अपनी आत्मा के सिवा शरीरादि सब पदार्थों से ममता हटाकर आत्म ध्यान मे लवलीन रहे। उस साधु के मरण को परमनिरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं।

जैसी आराधना की विधि पूर्व सविस्तर वर्णन की गई है वैसी ही शेष विधि इस अविचार भक्त प्रत्याख्यान मे भी समझना चाहिए।

पूर्वोक्त विधि से चार प्रकार की आराधना का प्रारम्भ करके यदि पूर्वोक्त सर्प विष अग्नि आदि आयु की शीघ्र उदीरणा (क्षय) करने वाले कारणों के उपस्थित हो जाने पर कोई आराधक शीघ्र प्राण त्याग करने का अवसर प्राप्त हो जावे तो कोई साधु इस पंडित मरण से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके मोक्ष की प्राप्ति कर लेते हैं और कोई २ मुनीश्वर उक्त आराधना के फल स्वरूप वैमानिक देवों मे उत्पन्न होते हैं। तथा अपने २ भावों के अनुसार उत्तम मध्यमादि देवों में जन्म धारण करते हैं।

शङ्का—इतने अल्पकाल मे मोक्ष की प्राप्ति कैसे होगी ?

समाधान- वहुत लम्बे काल तक आराधना का सेवन करके ही मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है ऐसा नहीं समझना चाहिए। कोई २ लघुकर्मा मुनिराज अन्तर्मुहूर्त्त काल मे ही रत्नत्रय की आराधना करके ससार समुद्र को पार कर लेते हैं।

वधन नाम नृपति अनादि मिथ्यादृष्टि था। वह श्री देवाधिदेव ऋषभ तीर्थंकर के पादमूल मे आत्म स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर स्वपर का भेद-विज्ञानी होकर क्षणमात्र मे निर्वाण पद का अधिकारी हुआ। जैसा कि कहा है :—

सिद्धो विवर्धनो राजा चिरं मिथ्यात्व भावितः।
वृषभस्वामिनो मूले क्षणेन धुतकल्मषः ॥ २१०० ॥

इसका अर्थ ऊपर आगया है।

सोलसतित्थयराणं तित्थुप्पएणस्स पढमदिवसम्मि।
सामएणणाणसिद्धी भिएणमुहुत्तेण संपएणा ॥ २०२८ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—श्री ऋषभ नाथ तीर्थंकर से लेकर शातिनाथ तीर्थंकर पर्यन्त सोलह तीर्थंकरो के जिस दिन दिव्य-ध्वनि की उत्पत्ति हुई थी उसी दिन कई महापुरुषों के मुनिदीक्षा केवलज्ञान और निर्वाण ये तीनो कार्य अन्तर्मुहूर्त्त काल मे निष्पन्न हुए।

इंगिणी मरण

पव्वज्जाए सुद्धो उवसंपज्जितु लिंग कप्पं च । /
पवयणमोगाहित्ता विणयसमाधीए विहरित्ता ॥ २०३१ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—जो महानुभाव निर्ग्रन्थलिंग धारण करने योग्य है, अर्थात् दिगम्बर भेष धारण करने के लिए जो अयोग्यता पहले बता आये हैं उससे रहित है, वह मुनिदीक्षा धारण कर आगम का अवगाहन करता है। आचारांगादि चारित्र-धर्म के निरूपण करने वाले तथा अन्य आगम ग्रन्थो का मनन करता है। विनय और समाधि में परिणमन करता है।

भावार्थ—पण्डितमरण का द्वितीय कल्प इगिणी मरण है। इगिणी मरण करने वाला साधु अपना वैयावृत्त्य आप खुद करता है। दूसरे से अपना वैयावृत्त्य नहीं करवाता है। जिसने आगम मे वर्णन किये हुए मुनि पद धारण करने की योग्यता होने पर जिन लिंग (दिगम्बर भेष) को धारण किया है, तथा आचारांगादि आगम अथवा आचार के प्रतिपादक अन्य शास्त्रों मे भले प्रकार अवगाहन किया है, उनके रहस्य को सम्यक प्रकार से जान लिया है, अपने आत्मा को विनय और समाधि मे प्रवृत्त किया है, ऐसा साधु इगिणी मरण के लिए उद्यत होता है। यदि आचार्य इस पडित मरण मे प्रवृत्ति करना चाहे तो उसे उचित है कि वह अपने सघ को इंगिणी मरण की विधि के साधन करने योग्य बनावे, पश्चात् वह एलाचार्य की स्थापना करके उसे सघ संचालन करने के योग्य उचित उपदेश (जैसा भक्त प्रत्याख्यान मरण मे कह आये हैं वैसा उपदेश) देकर सम्पूर्ण सघ से अपना सम्बन्ध छोडकर उससे पृथक हो जावे और संघ के वृद्ध बाल आदि सब मुनियों से क्षमा याचना करे। रत्नत्रय के पालन मे जो अतिचार लगे हों उनकी आलोचना करे। सघ मे आचार्य की स्थापना करने के अनन्तर सम्पूर्ण सघ को भी पूर्व की भाति उपदेश देवे। मैं जीवन पर्यन्त तुम से पृथक होता हूँ ऐसा कहकर अपने को कृतार्थ मानता हुआ आनन्द से प्रफुल्लचित्त होकर वहा से प्रयाण करे।

प्रश्न—अपने संघ से निकलकर आचार्य अथवा अन्य मुनि क्या करे ?

एवं च णिक्कमित्ता अंतो बाहिं च थंडिले जोगे ।
पुढवी सिलामए वा अप्पाणं णिज्जवे एक्को ॥ २०३५ ॥ [भग. आ.]

पुव्वुत्ताणि तणाणि य जाचित्ता थंडिलम्मि पुव्वुत्ते ।
जदणाए संथरित्ता उत्तरसिर मधव पुव्वसिरं ॥ २०३६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—निज संघ से निकलकर योग्यमुनि वा आचार्य ऐसे स्थंडिल प्रदेश (कठिन भूमि प्रदेश) का आश्रय ले जो समतल हो और ऊचा हो,जिसमे छिद्र व बिल न हो, तथा जीव जन्तु रहित हो। अथवा पाषाण शिला हो उसपर सस्तर की रचना करे। संस्तर बनाने के लिए बिना संधि (जोड) वाले, छेद रहित, निर्जन्तुक व कोमल तृण पास के गाव या नगर मे जाकर गृहस्थो से याचना कर ले आवे। तृण उतने ही लावे जिनपर उसका शरीर स्थिरता को प्राप्त हो सके और उनकी प्रतिलेखना भी अच्छी तरह कर सके। उन लाये हुए तृणों (घास) को स्थडिल भूमि या शिला पर बडे यत्न से बिछावे अर्थात् तृणों को पृथक २ कर देख शोधकर तथा सस्तर भूमि को पिच्छी से प्रमाजन करके सस्तर की रचना करे। अलग २ बिखेर कर शय्या रूप बिछावे। उत्तर दिशा मे या पूर्व दिशा मे सस्तर का शिर करे अर्थात् पूर्व या उत्तर दिशा मे मस्तक रखने योग्य तृण का उपधान (तकिया) बनावे । सस्तर की रचना करने के पश्चात् अपने मस्तक हाथ पाव आदि समस्त शरीर के अवयवों का पिच्छी से प्रमार्जन करे। तत्पश्चात् इगिणी मरण करने मे प्रवृत्त हुआ वह साधु उस सस्तर पर पूर्व दिशा या उत्तर दिशा की ओर मुख करके खडा हो जाता है और मस्तक व हाथ जोड़कर अन्त.करण मे परिणामो को उज्ज्वल करता है। अरिहत, सिद्धादि को हृदय मे विराजमान कर उनके समीप अपने पूर्व कृत अपराधो की आलोचना करता है। निन्दा गर्हा करता है। उससे आत्मा को निर्मल करता हुआ रत्नत्रय को पवित्र बनाता है। अपनी लेश्या को विशुद्ध करता है। यावज्जीव चारो प्रकार के आहार का त्याग करता है तथा समस्त बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहो का त्याग करता है अर्थात उपकरणों से तथा शरीर से भी ममत्व हटा लेता है। अत. वह आगत परीषह और उपसर्गों का धैर्य से सहन करता है। अपने अन्तःकरण को निर्विकार रखता हुआ धर्मध्यान का आश्रय लेता है।

वह क्षपक महात्मा उक्त सस्तर पर कायोत्सर्ग में खडा रहकर या पर्यंक (पालथी) आदि आसनो से बैठकर या एक पार्श्व (पसवाडे) बाजू से लेटकर धर्मध्यान में तत्पर रहता है। वह मुनिराज अपनी शरीर सम्बन्धी तथा प्रतिलेखनादि सब क्रियाए अपने आप करता है।

उपसर्ग रहित अवस्था मे प्रतिलेखन, प्रतिष्ठापना समिति, शौच क्रिया के पालन करने मे वह सदा सावधान रहता है। किसी कार्य मे वह दूसरों की सहायता नहीं लेता है।

यदि पूर्व के शत्रु किसी देव के द्वारा अथवा प्रतिपक्षी किसी मनुष्य के द्वारा अथवा दुष्ट तिर्यंच द्वारा किसी प्रकार का उपसर्ग उपस्थित हो जावे तो वह धीर वीर महामना मुनीश्वर उसका प्रतीकार नहीं करता है। उसके धैर्य रूपी दृढ़ कवच को घोर उपसर्ग रूपी तीक्ष्ण

शस्त्र भेदन नहीं कर सकते हैं। उसके अन्तःकरण में लेशमात्र भी क्षोभ नहीं होता है। क्योंकि उनमें पूर्ण कष्ट-सहिष्णुता होती है। इस इंगिणी मरण की आराधना करने वाले महामुनि होते हैं। इनके आदिम तीन उत्तम सहनन होते हैं। हीन सहनन का धारक इस पंडित मरण का अधिकारी नहीं हो सकता। उनका संस्थान (शरीर का आकार) भी उत्तम होता है। वे निद्रा-विजयी होते हैं। उनका शारीरिक बल एवं आत्म-पराक्रम भी अपूर्व होता है।

वे आत्मध्यान में लवलीन रहते हैं। उनके तपश्चरण के प्रभाव से वैक्रियिक ऋद्धि, आहारक ऋद्धि, चारण ऋद्धि, आदि अनेक ऋद्धिया उत्पन्न हो जाती हैं फिर भी वे उनका उपयोग नहीं करते।

वे सदा मौनव्रत धारण करते हैं। रोगादि की तीव्र वेदना होने पर भी उसका इलाज नहीं करते हैं। तथा शीत उष्ण भूख प्यास आदि का प्रतीकार करने की इच्छा तक नहीं करते हैं।

वीभत्स और भयानक रूप धारण करने वाले भूत वेताल राक्षस शाकिनी पिशाचिनी आदि क्षोभ उत्पन्न करने के लिए आये हुए दुष्ट देवी देवताओं के अनेक प्रयत्न करने पर भी जिनको लेश मात्र भीति उत्पन्न नहीं होती है।

अनेक सुन्दर रूपवाली किन्नर किम्पुरुषादि की देवकन्याए उनको लुभाने का प्रयत्न करती हैं तो भी उनका मन-सुमेरु चलित नहीं होता है।

यदि सम्पूर्ण जगत् का पुद्गल समूह दुःख जनक पर्याय धारण कर उन धैर्य-धुरन्धर को पीड़ा देने के लिए उपस्थित हो जावे तो भी उनका चित्त ध्यान से च्युत नहीं होता है।

अथवा समस्त पुद्गल सुख जनक पर्यायों को धारण कर सम्मिलित हुआ उन परम ध्यानी को सुख देने के लिए चरणों में लौटा करे तो भी उन्हें विचलित करने के लिए समर्थ नहीं हो सकता है।

प्रश्न—व्याघ्र सिंहादि के द्वारा प्राणियों से व्याप्त भूमि पर गिरा देने पर वह साधु क्या करते हैं?

सच्चित्ते साहरिदो तत्थोवेक्खदि वियत्तसव्वंगो।
उवसग्गे य पसंते जदणाए थंडिलमुवेदि ॥ २०४९ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—हरी घास या अन्य जीवों से व्याप्त भूमि में इगिणी मरण करने वाले साधु को यदि व्याघ्रादि लेजाकर फेंक दें तो भी वह मुनीश्वर उपसर्ग काल पर्यन्त शरीर से मोह ममत्व रहित हुए परम शान्ति का आश्रय लेकर वहां पर ही ध्यान मे लीन रहते हैं और उपसर्ग दूर हो जाने पर स्वयंमेव यत्न से स्थंडिल भूमि की ओर चले आते हैं।

इस प्रकार वे मुनिराज उपसर्ग और कषायों को जीतते हैं। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति द्वारा मन वचन काय की क्रियाओ को रोककर आत्म-ध्यान मे अपने को लगाते हैं। आध्यात्मिक तत्त्वो का चिन्तन करते हैं। इसके अतिरिक्त किसी विषय मे उनकी चित्त-प्रवृत्ति नहीं ठहरती है। वचन का उच्चारण नहीं करते, क्योंकि उन्होने मौन व्रत धारण किया है। काय से भी तो यदि कोई क्रिया करनी पड़ती हो तो वही क्रिया करते हैं जो आत्मध्यान की साधक होती है।

इस लोक और परलोक के पदार्थों में, जीवित रहने और मृत्यु की प्राप्ति मे, सांसारिक सुख मे और दुःख में न राग करते हैं और न द्वेप करते हैं। विपत्ति मे धैर्य धारण कर दुःख से कभी नहीं घबराते हैं। केवल आत्म-स्मरण मनन चिन्तन और ध्यान मे लवलीन रहते हैं।

वे महामुनि वाचना, पृच्छना, परिवर्तन (पाठ) और धर्मोपदेश इन चार प्रकार के स्वाध्याय को छोडकर केवल अनुप्रेक्षा (चिन्तन) स्वाध्याय को ही करते हैं। दिन का पूर्व भाग, मध्याह्न (दिन का मध्य भाग), दिन का अन्त भाग और अर्धरात्रि इन चार कालों मे तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि होती है। ये स्वाध्याय के काल नहीं माने गये हैं। इनमे भी वे अनुप्रेक्षा (चिन्तन) रूप स्वाध्याय करते हैं।

तात्पर्य यह है कि रात्रि दिवस आठों पहर तत्त्व-चिन्तन मे रत रहते हैं। निद्रा नहीं लेते हैं। यदि लेना ही पडे तो अल्प निद्रा लेकर प्रमाद रहित हो पुनः तत्त्व-चिन्तना करने लगते हैं।

प्रश्न—इगिणी मरण विधि का आचरण करने वाले मुनियो को स्वाध्याय काल का ध्यान (खयाल) रखना पडता है, उससे उनके चित्त मे विक्षेप होता है तथा क्षेत्र अशुद्ध होने पर ध्यान मे प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, अतएव आपने उनके आठों पहर चौबीस घण्टे आत्मध्यान कैसे कहा ?

उत्तर—उन मुनिराज के स्वाध्याय के काल की गवेषणा और क्षेत्र की शुद्धि नहीं होती है। उनको तो श्मशान मे भी ध्यान करने का निषेध नहीं किया गया है।

प्रश्न—क्या वे मुनि के छह आवश्यक (सामयिकादि) कर्म भी नहीं करते हैं ? तथा उपकरणादि का प्रतिलेखन भी नहीं

करते हैं ?

उत्तर—वे यथासमय छह आवश्यक कर्त्तव्य कर्मों का आचरण अवश्य करते हैं। उपकरणों का प्रतिलेखन भी प्रयत्न पूर्वक प्रातः और सायं दोनो समय बराबर करते हैं। किन्तु यदि आवश्यक कर्म में स्खलन होजावे 'मिथ्या मया कृत' मैंने मिथ्या किया ऐसा बोलते हैं और वन्दनादि क्रिया के लिए जाते समय 'आसिका' शब्द और वहा से निकलते समय 'निषीधिका' शब्द का उच्चारण करते हैं।

प्रश्न—उन महामुनीश्वरो के यदि पाव मे काटा लग जावे या नेत्र मे कुछ गिर पड़े तो वे उन्हें (कटकादि को) अपने हाथ से निकालते हैं या नहीं ?

उत्तर—उनके पादादि मे कटकादि लग जावे या आखो में रज कूड़ा आदि गिर जावे तो उसको वे अपने हाथ से नहीं निकालते हैं। न किसी को निकालने के लिए कहते हैं। यदि स्वय दूसरा कोई मनुष्य निकालने लगे तो वे मौन धारण करते हैं। रोगादि का प्रतीकार भी नहीं करते हैं। तपश्चरण के प्रभाव से उत्पन्न हुई विक्रिया, चारण, क्षीरस्रावित्व आदि ऋद्धियों का उपयोग भी नहीं करते हैं।

प्रश्न—इगिणी मरण विधि का पालन करने वाले मौन व्रती मुनीश्वर किसी के प्रश्न करने पर उत्तर देते हैं या नहीं ?

उत्तर—देव या मनुष्य के धर्म विषयक प्रश्न करने पर थोड़ा धर्मोपदेश भी देते हैं ऐसा दूसरे आचार्यों का मत है।

इस प्रकार इगिणी मरण विधि का साधन कर कई कर्म-क्लेश का नाश कर निर्वाण पद प्राप्त करते हैं और कई वैमानिक देव होते हैं।

इस प्रकार इगिणी मरण का वर्णन समाप्त हुआ।

पंडितमरण का तृतीय भेद प्रायोपगमन

णवरिं तणसंथारो पाओवगदस्स होदि पडिसिद्धो।
आदपरपओगेण य पडिसिद्धं सव्वपरियम्मं ॥ २०६४ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—भक्त प्रत्याख्यान विधि का आचरण करने वाला मुनि अपना वैयावृत्त्य आप भी करता है तथा दूसरे से भी करवाता है। इगिणी मरण विधि का पालक अपना वैयावृत्त्य दूसरे से नहीं करवाता, वह अपना वैयावृत्त्य स्वय करता है। किन्तु प्रायोपगमन नामक पडित मरण का आचरण करने वाला महामुनीश्वर अपना वैयावृत्य आप भी नहीं करता है और दूसरों से भी नहीं करवाता है। उसके तृणो का सथारा

भी नहीं होता। उसके लिए सर्व प्रकार की शरीर-शुश्रूषा वर्जित है।

प्रश्न—रोगादि से पीड़ित होने पर औषधादि का सेवन, तथा परीषह उपसर्ग का निवारण, कंटकादि का उद्धरण (निकालना) आदि क्रियाएँ वे स्वयं नहीं करते हैं, न दूसरे से करवाते हैं और कोई करना चाहे तो न करने देते हैं। किन्तु मलमूत्रादि का निराकरण तो वे अवश्य करते ही होंगे?

उत्तर—वे महामुनीश्वर प्रयोग से अर्थात् स्व या परके प्रयत्न से मलमूत्रादि का निराकरण भी नहीं करते हैं। कहा है:—

सो सल्लेहिद देहो जम्हा पाओवगमणमुवजादि।
उच्चारादिविकिंचणमवि णत्थि पओगदो तम्हा ॥ २०६५ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—प्रायोपगमन मरण विधि का प्रारम्भ करने वाला महामुनीश्वर पहले से अपने शरीर को सम्यक् प्रकार से इतना कृश कर लेता है कि उसके शरीर मे केवल अस्थि और चर्म ही शेष रह जाता है। पश्चात् प्रायोपगमन सन्यास विधि का प्रारम्भ करता है। अतएव उसके मलमूत्र की किसी प्रकार की वाधा नहीं होती है। बाधा के अभाव मे स्व तथा परके प्रयत्न से मलमूत्र का निराकरण करने की आवश्यकता ही नहीं होती है।

प्रश्न—प्रायोपगमन सन्यास विधि का सेवन करने वाले महामुनीश्वर को यदि व्याघ्रादि किसी दुष्ट तिर्यंच ने अथवा किसी पूर्व जन्म के वैरी मनुष्य या देव ने जीव जन्तुओं से संकुल भूमि भाग मे लेजाकर फेंक दिया हो तो वे क्या करेंगे? वहा ही रहेंगे या वहा से, उठकर अन्य जीव जन्तु रहित स्थान मे चले जावेंगे?

उत्तर—वे महामुनीश्वर परम धैर्य के धारक व एकाग्रचित्त होते हैं। वे वहां से नहीं उठते। उसी जगह आत्मध्यान में लीन रहते हैं। शास्त्र मे कहा है:—

पुढवीआऊतेऊवणप्फदितसेसु जदि वि साहरिदो।
वोसट्टचत्तदेहो अधाउगं पालए तत्थ ॥ २०६६ ॥ [भग. आ]

अर्थ—प्रायोपगमन विधि का सेवन करने वाले परम तपोधन को यदि कोई विरोधी मनुष्य या देव सचित्त पृथ्वी पर नदी समुद्रादि जलाशय में, दहकती हुई अग्नि के पुंज मे, लहराती हुई सस्य आदि वनस्पति सहित बीहड वन मे, या जीव जन्तु से व्याप्त किसी

भयानक प्रदेश में लेजाकर पटक दे तो वे परम धीर वीर मुनीश्वर वहा से नहीं उठते हैं। आयु पर्यंत उसी स्थान में ज्यो के त्यो निश्चल रहकर आत्मध्यान में लीन रहते हैं।

मुनिमात्र जल स्नान के त्यागी होते हैं। यदि कोई अज्ञानी जीव भक्ति के वश उनका जलसे अभिषेक करने लगे या गंध पुष्पादि से पूजा करने लगे तो वे उस पर प्रेम नहीं करते हैं। तथा कोई विरोधी जीव उनपर शस्त्रादि का प्रहार करने लगे तो वे उस पर क्रोध नहीं करते हैं। कहीं भी वे उठा कर गिरा दिये जावें तो ज्यों के त्यों पड़े रहेंगे। एकाग्रचित्त हो आत्म-स्वरूप मे मग्न रहना ही वे अपना कर्तव्य समझते हैं।

उपसर्ग से हरण किये हुए महामुनि का अन्य स्थान में मरण होजाने पर वह नीहार मरण कहलाता है और उपसर्ग के अभाव मे मुनिराज का जो स्वकीय स्थान मे मरण होता है वह अनीहार मरण कहलाता है। इस प्रकार प्रायोपगमन सन्यास का वर्णन हुआ।

प्रश्न—उक्त तीन पडित मरण के भेदों के अतिरिक्त भी पडित मरण होता है या नहीं ?

आगाढे उवसग्गे दुब्भिक्खे सव्वदो वि दुत्तारे।
कदजोगिसमाधियासिय कारणजादेहिं वि मरंति॥ २०७२ ॥ [भग आ.]

अर्थ—बलवान् (प्राणघातक) उपसर्ग के प्राप्त होने तथा दुर्निवार दुष्काल पड़ जाने पर तथा अन्य आयु नाशक कारणो के उपस्थित होने पर परीषह उपसर्ग का सहन करने में समर्थ धीर वीर मुनीश्वर रत्नत्रय की साधना के लिए आत्मध्यान मे लीन हुए प्राण त्याग करने में उत्साही होते हैं।

प्रश्न—इस प्रकार उपसर्गादि आने पर आत्म ध्यान में लीन होकर प्राणो का उत्सर्ग करने वाले परम ध्यानी मुनि कौन २ हुए हैं ? उनका उदाहरण दीजिए।

उत्तर—धर्मसिंह वृषसेनादि अनेक पुरुषपुगव हुए हैं। जिन्होने भयानक उपसर्गों के आने पर रत्नत्रय की आराधना करते हुए शान्ति से प्राणो का त्याग किया है।

कोसलय धम्मसीहो अट्ठं साधेदि गिद्धपुच्छेण।
णयरम्मि य कोल्लगिरे चंदसिरिं विप्पजहिदूण॥ २०७३ ॥ [भग आ]

अर्थ—अयोध्या के राजा धर्मसिंह ने चन्द्रश्री नाम की अपनी पत्नी का त्यागकर कोल्लगिरि नामक पर्वत पर गृद्धपिच्छ से युक्त होकर अपने आत्मीय अर्थ (रत्नत्रय) की साधना की।

पाटलीपुत्र (पटना) नगर मे अपनी सुता के निमित्त मामा का उपसर्ग सहकर वृषभसेन नाम के पुरुषोत्तम ने आत्मीय अर्थ (रत्नत्रय) का साधन करते हुए वैखानस मरण किया अर्थात् श्वास रोध कर आराधना की।

इस प्रकार अनेक उदाहरण आगम में विद्यमान हैं। जिन्होंने प्राण घातक सकट के आ जाने पर शान्ति से पडित मरण कर आत्मा के कल्याणकारी सम्यग्दर्शनादि की साधना में बाधा न आने दी।

साराश यह है कि यह शरीर किसी न किसी निमित्त को पाकर अवश्य नष्ट होने वाला है। इस मनुष्य शरीर को रत्नत्रय धर्म के आचरण मे लगाने से ही इस की सफलता है। इस लिए प्राणों का घात करने वाले भयानक सकट के उपस्थित होने पर भी भेद विज्ञान रूपी सजीवनी औषधि का सेवन करते हुए सब पदार्थों से ममत्व हटाकर आत्म ध्यान में-आत्मा के स्वरूप चिन्तन में—ही चित्त को एकाग्र करना उचित है।

अब पण्डित पण्डित मरण का निरूपण करते हुए प्रथम जीवन्मुक्ति की उत्पत्ति का क्रम दिखलाते है।

साहू जहुत्तचारी वट्टंतो अप्पमत्तकालम्मि।
झाणं उवेदि धम्मं पविट्ठिकामो खवगसेढिं ॥ २०८८ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—आचार शास्त्रो (आचारागादि) के अनुसार आचरण करने वाला अप्रमत्तगुण स्थान मे वर्तमान साधु क्षपक श्रेणि में प्रवेश करने का इच्छुक हुआ उत्कृष्ट विशुद्धि को प्राप्त होकर धर्मध्यान का आश्रय लेता है।

धर्म ध्यान का अन्तरङ्ग कारण आत्म-विशुद्धि है, उसकी निरन्तर प्राप्ति होती रहे इसके लिए बाह्य निमित्त की आवश्यकता होती है। अत ध्यान के बाह्य निमित्त का निरूपण करते हैं—

सुचिए समे विचित्ते देसे णिज्जंतुए अणुण्णाए।
उज्जुअआयददेहो अचलं बंधेत्तु पलिअंकं ॥ २०८९ ॥ (भग आ.)

अर्थ-जिस स्थान पर मुनि ध्यान करे वह उसके स्वामी की आज्ञा से प्राप्त हो अर्थात् क्षेत्र के स्वामी मनुष्य देवादि से आज्ञा लेली गई हो। तथा वह स्थान पवित्र हो, समतल और जीव जन्तुओं से रहित हो। उस स्थान में ध्याता निश्चल चार अगुल अन्तर वाले दोनों पाँवो पर खड़ा रह कर अथवा पद्मासन, वीरासन, पर्यंकासनादि मे से जो आसन सुखकर प्रतीत हो उस आसन से बैठकर या उत्तानशयनादि से सोते हुए ध्यान कर सकते हैं। ध्यान की विधि पहले ध्यान के वर्णन मे विशद रूप से कह आये हैं। उसको लक्ष्य मे रखकर जिस प्रकार प्रमाद रहित हुआ चित्त की एकाग्रता कर सके वैसे ध्यान का परिकर ग्रहण करे। ध्याता की लेश्या अतिविशुद्ध होनी चाहिए और जिनागम मे वर्णित जीवादि तत्त्वो की तरफ अपना उपयोग केन्द्रित करे और निरन्तर आत्म परिणामों की धारा को उत्तरोत्तर निर्मल करता हुआ धर्म ध्यान मय उपयोग करे।

धर्म ध्यान मे लीन हुआ वह मुनि सप्तम गुण स्थान में अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ इन चार प्रकृतियों का विसयोजन (अप्रत्याख्यानादि उत्तर प्रकृति रूप) करता है तथा मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति का क्रम से क्षय करता है। इन सात प्रकृतियों का क्षयकर क्षायिक सम्यक् दृष्टि होकर क्षपक श्रेणि के सम्मुख होता है और सप्तम गुण स्थान के सातिशय भाग मे अर्ध:प्रवृत्तकरण को प्राप्त करता है।

सारांश यह है कि सम्यक्त्व की घातक उक्त सात प्रकृतियों का क्षय चौथे गुण स्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक चार गुण स्थानों मे कहीं भी होता है। जिस मुनि ने पहले के चतुर्थादि तीन गुण स्थानों मे उक्त सात प्रकृतियों का क्षयकर क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं प्राप्त किया है वह सातवें गुणस्थान मे उनका क्षयकर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर क्षपक श्रेणी का आरोहण करता है और वहा पर अर्ध:प्रवृत्तकरण को प्राप्त करता है।

इसके पश्चात् वह क्षपक मुनि क्षपक श्रेणि की पहली सीढी जो अपूर्वकरण है उस पर आरूढ होता है। ये परिणाम कभी पहले प्राप्त नहीं हुए हैं इसलिए इनको अपूर्वकरण कहते हैं। क्योंकि अनादि काल से इस जीव ने धर्म्यध्यान का आराधन कर शुक्लध्यान का प्रथम भेद कभी प्राप्त नहीं किया है। अतः यह अपूर्व (पूर्व काल मे अप्राप्त) करण (परिणाम) कहलाते हैं।

जब वह मुनि उक्त प्रकार अपूर्वकरण गुणस्थान मे पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक शुक्ल ध्यान को प्राप्त कर लेते हैं तब उसके अनन्तर अनिवृत्ति करण नवमे गुणस्थान मे प्रविष्ट होकर १ निद्रा निद्रा, २ प्रचला प्रचला, ३ स्त्यानगृद्धि इन तीन निद्राओ का क्षय करते हैं। तथा ४ नरकगति, ५ नरकगत्यानुपूर्वी, ६ स्थावर, ७ सूक्ष्म, ८ साधारण, ९ आतप, १० उद्योत, ११ तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, १२ एकेन्द्रिय, १३ द्वीन्द्रिय, १४ त्रीन्द्रिय, १५ चतुरिन्द्रिय, १६ तिर्यंचगति इस प्रकार इन सोलह प्रकृतियो का क्षय अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के प्रथम भाग मे करते हैं।

तत्पश्चात् अप्रत्याख्यान १७ क्रोध, १८ मान, १९ माया, २० लोभ तथा प्रत्याख्यान २१ क्रोध, २२ मान, २३ माया, २४ लोभ ये आठ मध्यम कषाय हैं, इनका अनिवृत्ति करण के दूसरे भाग मे क्षय करते हैं।

२५ नपुंसक वेद का अनिवृत्तिकरण के तीसरे भाग मे क्षय करते हैं।

२६ स्त्री वेद का विनाश इसके चतुर्थ भाग मे करते हैं।

२७ हास्य, २८ रति, २९ अरति, ३० शोक, ३१ भय, और ३२ जुगुप्सा इन छह प्रकृतियो का घात इसके पॉचवें भाग मे करते हैं।

छठे भाग मे ३३ पुरुष वेद का निपातन करते हैं।

सातवें भाग मे ३४ सज्वलन क्रोध का विघात करते हैं।

आठवें भाग मे ३५ सज्वलन मान का विलय करते हैं।

नवमे भाग में ३६ संज्वलन माया का क्षय करते है। और वादर-कृष्टि विभाग से लोभ को कृश करते हैं।

इस प्रकार उक्त छत्तीस प्रकृतियो का सहार वे क्षपक अनिवृत्तिकरण के नव भागो मे पृथक्त्व वितर्क वीचार शुक्लध्यान के द्वारा करके सूक्ष्मसाम्परायगुण स्थान मे पहुँचते हैं। वहा पर वे सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्त होकर सज्वलन सूक्ष्म लोभ का अनुभव करते हुए सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवर्ती होकर पृथक्त्व शुक्लध्यान के प्रकर्ष से सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के अन्त समय मे सूक्ष्मसंज्वलन लोभ का भी क्षय करते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण मोहनीय कर्म का क्षय होने पर क्षीणकपाय गुणस्थान को प्राप्त होते हैं। वहां पर वे क्षपक एकत्व वितर्क अवीचार शुक्लध्यान का आराधन करते हैं। अर्थात् क्षीणकपाय गुणस्थान के प्रथम समय मे शुक्लध्यान के द्वितीय भेद एकत्ववितर्क अवीचार की प्राप्ति करते हैं।

इस शुक्लध्यान के द्वितीय भेद के प्रभाव से यथाख्यात चारित्र होता। इस चारित्र के वल से जीव ज्ञानादि गुणों को अन्यथा करने वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिकर्मों का एक समय मे नाश करते हैं।

जैसे तालवृक्ष की मस्तक सूची का छेदन होने पर सम्पूर्ण ताल का वृक्ष सूख जाता है, उसमे नये पत्र पुष्प फलादि नहीं आसकते हैं। वैसे ही मोहनीय कर्म का नाश होने पर ज्ञानावरणादि घातिकर्मों का भी विनाश हो जाता है।

मोहनीय कर्म की सहायता पाकर ही वे ज्ञानावरणादि कर्म मे अज्ञानादि भावो को उत्पन्न करते थे। मोहनीयकर्म का विनाश

होने पर इनमे अज्ञानादि भाव उत्पन्न करने की शक्ति का ह्रास हो जाता है।

क्षीणकषाय के द्विचरम समय (उपान्त समय) मे निन्द्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों का नाश होता है और उसके अन्त समय में चौदह प्रकृतियो (५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण, ५ अन्तराय) का क्षय हो जाता है।

तत्तो णंतरसमए उप्पज्जदि सव्वपज्जयणिबंधं।
केवलणाणं सुद्धं तध केवलदंसणं चेव ॥ २१०३ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—उसके अनन्तर ही सम्पूर्ण द्रव्यो की त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों की युगपत् हस्तरेखा समान स्पष्ट प्रत्यक्ष जानने वाला सम्पूर्ण दोष रहित निर्मल केवलज्ञान व केवलदर्शन प्रादुर्भूत होता है। यह किसी पदार्थ मे काल मे व किसी क्षेत्र में रुकता नहीं है, इसलिए अव्याघात है। यह निश्चयात्मक है इसलिए असदिग्ध है। समस्त गुणों मे उत्कृष्ट है, इसलिए उत्तम है। मतिज्ञानादि की तरह संकुचित नहीं है, इसलिए असकुचित है। यह नाश से रहित है इसलिए अनिवृत्त है। यह अधूरा नहीं है इसलिए सकल है। इसमें इन्द्रिय और मन की सहायता नहीं है अतएव यह केवल कहलाता है। जैसे भूत, भावी, वर्त्तमान पदार्थों के अनेक चित्र जिसमें लिखे हुए हैं ऐसे चित्रपट को वर्त्तमान मे हम स्पष्ट देख सकते हैं, वैसे ही त्रिकालवर्त्ती समस्त गुण पर्यायो सहित समस्त लोक अलोक का युगपत् एक समय में चित्रपट की तरह वे केवल ज्ञान के धारक भगवान् केवली क्षपक अवलोकन करते हैं।

वह क्षपक भुज्यमान आयुकर्म के शेष भाग पर्यन्त केवली अवस्था मे विहार करते हैं। अर्थात् अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त्त सहित आठ वर्ष हीन एक पूर्व कोटी वर्ष पर्यन्त सयोग केवलज्ञान अवस्था मे अघाति कर्मों को भोगते हुए इस मनुष्य पर्याय मे रहकर आर्य-क्षेत्र मे विहार करते हैं और यथाख्यात चारित्र को वृद्धिंगत करते हैं।

उसके अनन्तर वे केवली भगवान् अघाति कर्मों का नाश करने के लिए अवशिष्ट जो सात प्रकार का योग है उसका निरोध करते हैं। वह योग निरोध बिना इच्छा के ही होता है। अर्थात् सत्य वचन योग, अनुभय वचन योग, सत्यमनोयोग, अनुभयमनोयोग, औदारिक काययोग, औदारिक मिश्रकाययोग, और कार्मणयोग इन सातो योगों के व्यापार को रोकते हैं।

समुद्घात का वर्णन

उक्कस्सएण छम्मासाउगसेसम्मि केवली जादा।
वच्चंति समुग्घादं सेसा भज्जा समुग्घादे ॥ २१०६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—उत्कृष्ट रूप से आयु के छह मास बाकी रहने पर जिनको केवल ज्ञान उत्पन्न होता है वे अवश्य समुद्घात करते हैं। शेष केवलियों के लिए समुद्घात विकल्पनीय है।

भावार्थ—मूल शरीर को न छोड़कर आत्म-प्रदेशो का दण्ड कपाटादि रूप होकर शरीर के बाहर निकलना समुद्घात कहलाता है। जिनको उत्कृष्ट छह मास की आयु शेष रहने पर केवल ज्ञान उत्पन्न हो जावे वे तो नियम से समुद्घात करते हैं। जिनके नाम, गोत्र और वेदनीय की स्थिति आयु कर्म के समान होती है वे केवली समुद्घात नहीं करते हैं। जिनके नाम गोत्र और वेदनीय कर्म की स्थिति आयु कर्म से अधिक होती है वे केवली समुद्घात करते हैं।

प्रश्न—आयु का कितना काल शेष रहने पर केवली भगवान् समुद्घात करते हैं ?

उत्तर—भुज्यमान आयु का अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाता है, उस समय उक्त तीनों कर्मों की स्थिति आयु कर्म के समान करने के लिए केवली भगवान् समुद्घात करते हैं।

प्रश्न—समुद्घात करने से नामादि कर्मों की अधिक स्थिति कम कैसे हो जाती है ?

उत्तर—जैसे सिमटा हुआ गीला वस्त्र अधिक काल मे सूखता है पर वही कपड़ा फैला देने पर शीघ्र सूख जाता है वैसे ही समुद्घात के द्वारा कर्म की स्थिति का कारण जो स्नेह (चिकनाई) है वह सूख जाती है और वह शीघ्र निर्जरा के योग्य हो जाता है। अर्थात् कर्मों की स्थिति कम हो जाती है।

प्रश्न—केवली भगवान् नामादि कर्मों को समान करने के लिए किस तरह समुद्घात करते हैं ? और उसमे कितना काल लगता है ?

उत्तर—केवली भगवान आत्म-प्रदेशों को प्रथम समय मे दण्डाकार निकालते हैं। दूसरे समय मे वे कपाट रूप होते हैं। तीसरे समय मे प्रतराकार होते हैं अर्थात् वातवलय को छोडकर सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त होते हैं। चौथे समय मे वातवलय सहित समस्त लोक मे व्याप्त हो जाते हैं। पाचवें समय मे उनको सकोच कर प्रतराकार करते हैं। छठे समय मे कपाटाकार करते हैं। सातवें समय मे दण्डाकार करते हैं और आठवें समय मे वे आत्म शरीर मे प्रविष्ट हो जाते हैं। ये चार समय संकोच करने के हैं। इस प्रकार समुद्घात मे आठ समय लगते हैं।

इस प्रकार समुद्घात के द्वारा तीनो कर्मों की स्थिती आयु कर्म के समान करके मुक्ति की प्राप्ति के लिए योग का निरोध करते हैं

योगनिरोध

प्रश्न—योगो का निरोध किस क्रम से करते हैं ?

उत्तर—वे केवली भगवान् वादर वचनयोग और वादर मनोयोग का वादर काययोग मे स्थिर निरोध करते हैं। तथा वादर काययोग का सूक्ष्म काययोग मे स्थिर होकर निरोध करते हैं। तथा सूक्ष्म वचनयोग, सूक्ष्म मनोयोग को भी सूक्ष्म काययोग में स्थिर होकर रोकते हैं।

उत्कृष्ट लेश्या के धारक वे केवली भगवान् सूक्ष्म काययोग से सातावेदनीय कर्म बन्ध करते हैं। तब उनके सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नाम का शुक्लध्यान होता है। उस ध्यान द्वारा वे सूक्ष्म काय योग का निरोध करते हैं। अब कोई योग नहीं रहता है; इसलिए उनके आत्म प्रदेश निश्चल हो जाते हैं। व उनके सातावेदनीय कर्म का भी वन्ध नहीं होता है। क्योंकि उनके वन्ध का कारण केवल योग था उसका भी नाश हो जाने पर उनके समस्त वन्ध का अभाव हो जाता है।

योगनिरोध के बाद कौनसी कर्म प्रकृतियां रहती हैं ?

उस समय उनके १ मनुष्यगति, २ पचेन्द्रिय जाति, ३ पर्याप्ति, ४ आदेय ५ सुभग, ६ यशकीर्त्ति, ७ सातावेदनीय, या असातावेदनीय इन दोनों में से एक, ८ त्रस, ९,वादर, १० उच्चगोत्र और ११ मनुष्यायु इन ग्यारह कर्मों का वे अनुभव करते हैं। जो तीर्थंकर केवली हैं, उनके एक तीर्थंकर प्रकृति अधिक होने से उनके १२ कर्मों का अनुभव होता है। जो मूक केवली हैं, उनके उक्त ग्यारह कर्मों का ही उदय रहता है।

औदारिक शरीर, तैजस शरीर तथा कार्मण शरीर इन तीन शरीर का वन्ध नष्ट करने के लिए वे अयोग केवली भगवान् समुच्छिन्न क्रियाप्रतिपाती (व्युपरतक्रियानिवर्त्ती) नामक शुक्ल ध्यान के अथ भेद को ध्याते हैं।

अयोग केवली गुणस्थान का काल 'अ इ उ ऋ लृ,' इन पांच ह्रस्वस्वर के उच्चारण काल के समान काल है। अर्थात जितना समय इन पाच स्वरों के उच्चारण करने मे लगता है, उतने समय तक वह इस शरीर मे रहते हैं।

इस गुणस्थान के उपान्त्य (द्विचरम) समय मे उदय मे नहीं आई हुई सब प्रकृतियों का क्षय करते हैं। अर्थात् तिहत्तर प्रकृतियो का क्षय करते हैं। और इसके अन्त समय मे वह अयोग केवली भगवान् यदि तीर्थंकर हो तो वारह प्रकृतियो का और सामान्य केवली हों तो ग्यारह प्रकृतियों का क्षय करते हैं।

नाम कर्म के क्षय से तैजस बन्ध का नाश होता है और आयु कर्म के नाश से औदारिक बन्ध का क्षय होता है। इस प्रकार बन्धन से मुक्त हुए वे केवली भगवान् बन्धन मुक्त एरण्ड बीज के समान उत्कृष्ट वेग से ऊपर गति करके सिद्धालय मे जाकर विराजमान होते हैं

शुद्ध जीव की गति कैसे होती है ?

जैसे मिट्टी आदि के लेप से युक्त तूम्बी जल मे डूबी रहती है, लेप रहित होते ही जल के ऊपर आजाती है, वैसे ही जीव कर्म लेप से युक्त हुए ससार मे पडे रहते हैं और कर्म लेप से रहित होकर प्रयोगवश से स्वभावत. ऊर्ध्व गमन कर लोक के शिखर मे जाकर विराजमान होते हैं। वे एक समय मे सात राजू क्षेत्र को पार कर वातवलय के अन्त भाग मे जाकर निश्चल हुए आत्म-स्वरूप मे लीन रहते हैं।

जैसे वायु के झोके के अभाव मे अग्नि की लौ सदा ऊर्ध्व गमन करती है वैसे कर्मोदय के झोके से रहित हुए मुक्त परमात्मा स्वभाव से ऊर्ध्व गमन करते हैं। आगे गति मे कारण भुत धर्म द्रव्य के न होने से लोक के अन्तिम सिरे पर जाकर वे स्थिर हो जाते हैं। अलोक मे उनका गमन इसलिए नहीं होता है कि वहा धर्म द्रव्य नहीं है। धर्म द्रव्य ही गति करते हुए जीव पुद्गलो का गमन कर्म मे सहायक होता है। जैसे रेल के गमन करने के लिए पटरी तथा मछली की गति के लिए जल सहायक होता है वैसे ही जीव और पुद्गलों की गमन क्रिया मे धर्म द्रव्य सहकारी होता है। वह आगे नहीं है, अतः मुक्त जीव लोक की अन्तिम सीमा पर जो सिद्धालय है, वहा विराजमान हो जाते हैं। सो ही कहा है :—

सिद्धशिला कहां है ?

ईसप्पब्भाराए उवरिं अत्थदि सो जोयणम्मि सीदाए।
धुवमचलमजरठाणं लोगसिहरमस्सिदो सिद्धो ॥ २१३३ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—ईषत्प्राग्भारा नाम की आठवीं पृथ्वी है। उसके ऊपर किंचित् ऊन (कुछ कम) एक योजन प्रमाण वातवलय का क्षेत्र है। उसके अन्त मे जो लोक का शिखर है उसमे सिद्ध भगवान विराजमान हैं। वे शाश्वत और अचल हैं। तथा जरा जन्म मरणादि दोषों से रहित अनन्त चतुष्टय मे मग्न हैं।

साराश यह है कि लोक के अग्रभाग मे ईषत्प्राग्भार नाम की एक पृथ्वी है। जो मध्य में आठ योजन मोटी (जाडी) है और फिर क्रमश हीन (पतली) होती हुई अन्त मे सिरे पर अगुल के असंख्यातवें भाग पतली हो गई है। उसका विस्तार (लम्बाई-चौडाई)

पैतालीस लाख योजन प्रमाण है। वह उत्तानित श्वेत छत्र के समान आकार वाली है। उसकी परिधि (गोलाई) १४२३०२४६ एक करोड़ बियालीस लाख तीस हजार दोसौ उनचास योजन प्रमाण है। उसके ऊपर कुछ कम एक योजन प्रमाण वातवलय है। उसके अन्तिम भाग में अपनी अपनी अन्तिम शरीर प्रमाण अवगाहना से सिद्ध भगवान् विराजमान हैं। वे शाश्वत हैं, अचल हैं और जरा मरणादि सब दूषणों से पृथक् हैं तथा अनन्त दर्शन-ज्ञान सुख और वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय से शोभित हैं।

सिद्ध भगवान् की अवगाहना (आत्मप्रदेशों का आकार) जिस शरीर से योग निरोध कर मुक्त हुए हैं, उस चरम शरीर से किंचित् न्यून होती है। अर्थात् नख केशादि जिन अवयवो में आत्म प्रदेश नहीं होता हैं, उतनी कम अवगाहना के धारक होते हैं।

सिद्धावस्था का सुख

प्रश्न—सिद्ध भगवान् को किस प्रकार का सुख होता है ?

देविंदचक्कवट्टी इंदियसोक्खं च जं अणुहवंति।
सद्दरसरूवगंधप्फरिसप्पयमुत्तमं लोए ॥ २१४८ ॥
अव्वाबाधं च सुहं सिद्धा जं अणुहवंति लोगग्गे।
तस्स हु अणंतभागो इंदियसोक्खं तयं होज्ज ॥ २१४६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—लोक मे उत्कृष्ट सुख का अनुभव करने वाले देवेन्द्र तथा चक्रवर्त्ती उत्तमोत्तम स्पर्श रस गन्ध रूप व शब्द इत्यादि का सेवन कर जो सुख भोगते हैं वह सुख इस लोक मे सर्वोत्कृष्ट माना गया है। वह लोक का एकत्र किया हुआ सम्पूर्ण सुख सिद्ध भगवान् के सुख का अनन्तवाँ भाग है और यह कहना भी केवल समझाने के लिए है, क्योंकि संसार सुख और मुक्ति सुख की जाति भिन्न है।

भावार्थ—सिद्धो का सुख अतीन्द्रिय व आत्मजन्य है। ससार के सुख पराधीन इन्द्रियजन्य होने से तुच्छ हैं। सिद्धों का सुख अव्याबाध (बाधा रहित) है और सासारिक सुख बाधा सहित है। अतः आत्मजन्य और पुद्गलजन्य सुख में समानता किसी प्रकार नहीं हो सकती है। संसार का सुख सुख नहीं, किन्तु दु.ख की किंचित् निवृत्ति रूप कल्पना मात्र है। इसलिए वास्तव मे सुख नहीं है और सिद्ध भगवान् के कर्मों का सर्वथा अभाव होने से लेश मात्र दुःख का अस्तित्व नहीं रहा है। वहाँ केवल निरन्तर अनुपम सुख का स्रोत बहता रहता है। अतः उनको अनन्त सुखी कहा जाता है। ऊपर दृष्टान्त द्वारा जो सिद्ध भगवान् के सुख की तुलना की गई है वह केवल मूढ बुद्धि ससारी

जीवों के समझाने मात्र के लिए है उनका अनिन्द्रिय सुख का निम्न प्रकार वर्णन किया गया है।

अणुवममेयमक्खयममलमजरमरुजमभयमभवं च।
एयंतियमच्चंतियमव्वाबाधं सुहमजेयं ॥ २१५३ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—हे भव्योत्तमों! इस जगत् मे सिद्धों के सुख के समान या उससे अधिक सुख दूसरा कोई सुख नहीं है जिसकी उपमा सिद्ध सुख को दी जा सके। इसलिए सिद्धों का सुख अनुपम (उपमा रहित) है। छद्मस्थ जीव सिद्धों के सुख को जानने में तथा उसका परिमाण प्रतीत करने मे असमर्थ हैं, अतः वह अतुल (अमेय) है। इसमे प्रतिपक्षी दुःख का सर्वथा अभाव है; इसलिए वह अक्षय है। इसमे राग द्वेषादि का सम्पर्क नहीं है, अत यह अमल है। जरा (वृद्धावस्था) से रहित होने से यह अजर है। इसमें रोग का संसर्ग तक नहीं है, इस लिए यह अरुज है। भय रहित होने से यह अभय है। संसार भ्रमण से मुक्त है अतः यह अभव है। यह सिद्ध सुख आत्मा से ही उत्पन्न होता है, इसलिए इसको एकान्तिक असहाय कहते हैं। इस प्रकार यह अनिन्द्रिय सिद्धों का सुख सब बाधाओ से रहित होने के कारण अव्याबाध सुख है

इस भगवती (समस्त ऐश्वर्य प्राप्त कराने वाली) सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपश्चरण की आराधना का आराधन (सेवन) करने से यह आत्मा तत्काल या सात आठ भव के भीतर परमानन्द पद को प्राप्त करलेती है। अतएव हे भव्य जीवो! इस भगवती का सेवन कर स्वय भगवान बनो।

इस प्रकार श्री १०८ दिगम्बर जैनाचार्य श्री सूर्यसागरजी महाराज द्वारा विरचित
सयम-प्रकाश नामक ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध की बृहत्समाधि-अधिकार
नामक पञ्चम-किरण समाप्त हुई।